

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE



पण्डितराज श्रीजगन्नाथ विरचितः

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकारः

मैथिलश्रोत्रियकविशेखर—

पण्डित श्री बदरीनाथ झा

मुजफ्फरपुरस्वरानकोपसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्यः

हिन्दीव्याख्याकारः

व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य—

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्वरानकोपसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः



चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

प्रकाशकः—

चीखम्बा विद्या भवन,

चौक, बनारस

(अस्य पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकारा प्रकाशकाधीनः)

Chowkhamba Vidya Bhawan,

Chowk, Banaras-1

1955

मुद्रकः—

विद्याविलास प्रेस,

बनारस



प्रस्तावना

अलङ्कार-शास्त्र

'उपकारकश्चादलङ्कारः सप्तममङ्गल' इति यामाचरीयः, (काव्यमीमांसा)

'उपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अङ्ग (वेदाङ्ग) है'

कविराज राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ के शास्त्र-निर्देशाध्याय में जिस अलङ्कार-शास्त्र की खोज की है, वह कौन सा शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु है ।

विचार करने से विदित होता है कि उक्त विचार-पुञ्ज की अलङ्कार-शास्त्र कहते हैं, जो राजशेखर के कथनानुसार पञ्चदश विधा-स्थान^१ काव्य-पदार्थ का शासन करता है अर्थात् काव्यरूप-रक्ष के लक्षण जिस शास्त्र में किये गये हों, उसका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विविध आलोचनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है, जिनके द्वारा काव्य की बारीकियों, अच्छा और बुरापन शात हो सके ।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र भी कहते हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि-स्वरूप में 'वाक्य' रूप व्यापक अर्थ में भी साहित्यपद का प्रयोग होता है, राजशेखर ने साहित्य शब्द का अर्थ 'काव्य' माना है^२, तथापि शास्त्रपद के साथ प्रयुक्त साहित्यपद का तात्पर्यार्थ काव्य-नियामक-विषय ही समझा जाता है ।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार के विषय में विचार करनेवाला सबसे प्राचीन निबन्ध 'अभिपुराण' उपलब्ध होता है, उसमें शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, विभाव और रीति आदि के विवेचन किये गये हैं, अतः अलङ्कार-शास्त्र का मूल अभिपुराण की ही मानना पड़ेगा । परन्तु इन विवेचनों की शास्त्र कहलाने का गौरव दण्डी, भामह आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अभिपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कार विषयक निबन्ध इन्हीं महात्मियों को प्राप्त हुए और इन्हीं ही सर्व प्रथम काव्य के नियम करनेवाली आलोचनाओं की अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया ।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

यद्यपि उक्त काव्य-नियामक शास्त्र में अलङ्कारों के साथ साथ रस, गुण, दोष आदि सभी काव्याङ्गों का निरूपण किया गया है, तथापि 'अलङ्कार-शास्त्र' ही नाम क्यों पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह देते हैं कि नामपटक अलङ्कार पर 'अलङ्क्रियते अनेन' इस करणव्युत्पत्ति से अनुप्राप्त आदि का बोधक नहीं, अपि तु 'अलङ्कृति अलङ्कारः' इस भावव्युत्पत्ति से दोष-त्याग और गुणालङ्कारादि-प्रदण प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण उक्त शास्त्र का व्यवहार 'अलङ्कार-शास्त्र' नाम से किया गया है । इस तर्क की

१. 'सकलविधास्थानैकायतनं पञ्चदश काव्य विधास्थानम्'

२. 'शब्दार्थयोर्दोषसद्भावेन विधा साहित्यविधा'

पुष्टि 'वामन' के सन्दर्भ से भी होती है। उन्होंने ने कहा है कि 'अलङ्कार-युक्त होने से काव्य का ग्रहण (ज्ञान) करना चाहिये। सौन्दर्य की ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पद भावसाधन होने से अलङ्कृति-परक है। करणव्युत्पत्ति मानकर इस पद का प्रयोग यमक, उपमा आदि में भी होता है। वद सौन्दर्य काव्य में दोष का त्याग और गुण, अलङ्कार आदि के ग्रहण से उत्पन्न होता है।'

वस्तुतः 'अलङ्कार शास्त्र' के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्डी, भामह, भट्टोज्ज्वाल, रुद्रट और वामन पर्यन्त जिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रबन्धों की रचना की वे सब के सब ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-कोटि में ही समाविष्ट किये। अत एव उन लोगों ने काव्य में अलङ्कार को ही सर्व-प्रधान माना, फिर तो 'प्रधान के अनुसार व्यवहार होते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवास रहने पर भी महप्रधान ग्राम में 'महग्राम' ऐसा व्यवहार होता है' इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का 'अलङ्कार-शास्त्र' यह नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता 'आनन्दवर्धन' ने अनेक युक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, तदनन्तर मावी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में भी रस आदि असंख्यक्रमव्यङ्ग्यों के ही सर्व प्रधान होने की व्यवस्था दी, तदनुसार यद्यपि आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम उक्त युक्ति से 'ध्वनिशास्त्र' अथवा 'रस-शास्त्र' होना चाहिये, तथापि ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि हम भारतीय सदा से रूढ़ि के भक्त रहे, फिर यहा एकबार ही उस भक्ति को कैसे मुला देवने ? फलत हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य-नियामक प्रबन्धों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में जितनी गम्भीर आलोचनायें की जानी हैं, उतनी अधिक मर्मस्पर्शिता उसमें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलभूत काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता सम्पन्न होती है।

प्रायः सभी समालोचक एक स्वर से हम बात को स्वीकार करते हैं कि अखिल भाषा साहित्यों का उद्गमस्रोत वह सस्कृत वाङ्मय ही है जिसका साहित्य अनादि है और अन्तस्फलस्पर्शी साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से क्रमशः मार्मिकता की चरम सीमा पर पहुँच चुका है। प्रायः प्राचीन काल से आज तक सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निबन्धों में इस बात का मार्मिक विचार किया है कि 'रुधिरार्थक शब्दों का समुच्चिन सन्निवेशरूप काव्य' किन् किन् साधनों से सङ्घटनों के हृदयावर्जन करने में अधिक सक्षम होगा। स्थूल रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) एक युग वद था, जब विच्छिन्ति-विशेषवती पद-रचना की ही आलङ्कारिक लोग काव्य की आत्मा मानते थे, और काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ में परिलक्षित होने वाले

१ 'काव्यं ब्राह्ममलङ्काराद्, सौन्दर्यमलङ्कार । अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कार-शब्दो यमकौपमादियु वनन्ति । स दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम् ।' (अलङ्कारसूत्र)

२ 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति, मत्तयामादिवत् ।'

३ 'तीतिरात्मा काव्यस्य' । (वामन)

अलङ्कार का ही काव्य में चमत्कार का कारण बनते थे। ग़ामद आदि कविषय विद्वानों की दृष्टि वाच्य से आगे बढ़ गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समझा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने वाच्य का ही पोषक माना, अतः एव उनके मतानुसार व्यङ्ग्य भी अलङ्कार-श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि रसमाय आदि पदावली को भी कुछ निकाला, तथापि उनमें भी अपने साहित्यिक पूर्वजों का संस्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने वाच्यार्थ का पोषक मान कर रसमायादि को भी 'रसवत्' 'प्रेय' आदि अलङ्कारों की ही सजा प्रदान की।

(२) बाद में अलङ्कार-ग्रन्थ का दूसरा युग आया, जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इन तीनों दृष्टियों से भिन्निकृत व्यङ्ग्यदृष्टि की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा वाच्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के वादीवाद के बाद सुदृढरूप में सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्वान्निधाय होने के कारण सर्वप्रधान समझा गया, तथा उत्तम सशक्त ध्वनिकाव्य का कारण बतलाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वारस्य के अनुसार मम्मटमठ आदि आलङ्कारिकशिरोमणि बलु, अलङ्कार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वह युग भी उपस्थित है, जब उक्त तीनों ध्वनियों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसरूप ध्वनि को ही विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तर को गवेषणा करता हुआ आलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्वान्निधायन रस को पकड़ ही सुमसब्र हो सका।

ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वसाहित्य के जन्मदाता सस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर तात्विक आलौचन करने में संप्रेक्ष्य हुई।

अलङ्कारशास्त्र की यह मार्मिक आलोचनापद्धति पण्डितराज आचार्य सतत आरुद्र शिक्षान्त हो गई। इनके बाद आज तक किसी ने समग्र काव्यालोचन सर्वमान्य आलोचनात्मक निरन्तर की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज भी सस्कृत का अलङ्कारशास्त्र सर्वथा नवीनता में हीन नहीं है, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रसगङ्गाधर की श्रेणी में आने योग्य निरन्तर की रचना न मिले हुई और न आने ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलङ्कारशास्त्र का प्राणभूत है, अतः अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उल्लेखना और अवकृष्टना के तारतम्य-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किस ग्रन्थ की आलोचना-पद्धति कैसी है ?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जिनना साग उपलब्ध है और उसमें अलङ्कारशास्त्र का तो जो विषय प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के ग्रन्थों की अपेक्षा अति विशद है और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित प्रतिपादन वाली के द्वारा स्थिर किया गया है तथा वादयुग के अनुकूल नव्यन्याय की भाषा में वर्णित हुआ है, जिससे अब अलङ्कार-क्षेत्र में जिस किसी की उक्ति दृष्टी वस्तु समझ कर प्रविष्ट नहीं हो

सकती। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि इसमें सभी विषयों की अन्तस्त्वल्लोचनी आलोचना की गई है।—प्राचीनों के निबन्धों में उस प्रकार की आलोचना करने के लिए उतनी सुविधा भी नहीं थी, क्योंकि प्रायः वे सभी निबन्ध पद्यबद्ध थे। पद्यनिर्माण में निपुणतम विद्वान् भी गिनेगिनाय अक्षरों में उन उन शब्दों के सभी अतिशयों को समाविष्ट नहीं कर सकते। काव्य-प्रकाश की कारिकाओं से नया सभी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट अवगत होते हैं? यदि हा, तो फिर मम्मटमठ स्वयं घृष्टि में उन्हीं विषयों को विशद करने की चेष्टा क्यों करते?

दूसरी असुविधा यह थी कि प्राचीन साहित्य निबन्धकारों के समय में बहुत विषय ऐसे थे, जिनके स्वरूप ही सर्वथा निर्गोत नहीं हो सके थे, जैसे वामन आदि के समय में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की चरम आलोचना उन निबन्धों में कैसे हो सकती थी? बहुत विषय ऐसे होते हैं जो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार क्रमिक आवर्तन-परिवर्तनों से ज्ञाना प्रकार की परिस्थितियों का अनुभव कर लेने के बाद ही पूर्ण परिनिष्ठित होते हैं।

काव्यों की जितनी अधिक सृष्टि होगी है, अलङ्कारशास्त्र में गुण-दोषों की गवेषणा, नानाविध उदाहरणों के सामने में रदने से, उतनी ही अधिक मर्माभिमुखी होती है। ऐसा होना समुचित और स्वाभाविक भी है, क्योंकि अनेक प्रकार के लक्ष्यों के उपस्थित रहने पर ही लक्षणसबन्धी प्रचुर विचारों का अवसर प्राप्त होना है, अत एव व्याकरणशास्त्र में यह एक सिद्धान्त ही मान लिया गया है कि 'उत्तरोत्तर मुनि प्रमाणभूत' है^१।

रसगङ्गाधर में वे सभी सुविधायें जुट गईं। नाट्यशास्त्रप्रवर्तक भरत मुनि से लेकर आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त आदि तक के विद्वानों ने काव्य के जीवानुभूत जिन तत्त्वों की गवेषणा की, वे वादि-प्रतिवादियों के नानाविध सधर्षों के बाद सिद्धान्तित होकर पण्डितराज जगन्नाथ से प्राकृतन आचार्यों के निबन्धों में पूर्ण परिनिष्ठित हो चुके थे। अतः उन तत्त्वों के स्थापन में पण्डितराज को आयास नहीं करना पड़ा, केवल पूर्वस्थापित विषयों में मार्मिक परिष्कार करना ही उनके लिये अवशिष्ट रहा, जिमको उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सकल रीति से सम्पन्न किया है। इसकी पुष्टि करने के लिये मैं उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझता, अधिकारप्राप्त सहृदय पाठक ग्रन्थ के अध्ययन करने पर स्वयमेव इस बात की सत्यता का अनुभव करेंगे।

विषयप्रतिपादनशैली

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली बहुत ही प्राञ्जल है। वक्तव्य वस्तु का प्रतिपादन देवे नये मुठे, प्रौढ तथा साध साध मधुर अक्षरों के द्वारा किया गया है, जिसमें सन्देह विना अर्थान्तर-कल्पना का थोड़ा भी अवकाश नहीं रह जाता। पद्यबद्ध लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह विशद होकर लेखक को वर्णनीय विषय का सकीच करना पड़ता है अथवा अन्वय के देर-फेर से अर्थान्तर-कल्पना का अवसर दीक्षकारों को प्राप्त हो जाता है, उस प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं होता।

'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार के दोष अत्यधिक मात्रा में दोष पढ़ते हैं। उस ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली इतनी सक्षिप्त और अस्पष्ट है, कि अनेकानेक टीका टिप्पणियों के होने पर भी उस ग्रन्थ की दुरुहता ही ज्यों कि त्यों नहीं बनी रही, अपितु टीकाकारों की परस्पर विरोधिनी नाना-विध व्याख्याओं से और अधिक भ्रान्ति की ही सृष्टि हुई। मेरा यह कथन कहाँ तक सत्य है,

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के मर्मत पाठक स्वयं कर सकते हैं, अतः काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर संस्कृत प्रस्तावना का काव्यवर्धन व्यर्थ है।

रसगद्गाधर की प्रतिपादनशैली इन दोनों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के ढङ्ग की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिससे नव्यन्याय से सर्वथा परिचय नहीं रखने वाले अल्पश व्यक्तिओं को आपाततः यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता भिन्न प्रकार की वस्तु है, इसके रचने पर भी उक्त दोनों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होता भी नहीं है।

कुछ लोग यद्यपि यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों जाए, जिससे बेचारे नव्यन्यायगतमित्य पाठक इस ग्रन्थ के रसास्वादन से वञ्चित रहें? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर उम वादयुग से पूछना चाहिये, जिसमें बिना उक्त भाषा को अपनाये या उक्त शैली का अनुसरण किये, किमी का निरन्ध पण्डितमण्डली की प्रसर कसौटी पर सरा उतर ही नहीं सकता था। संस्कृत साहित्य का वह एक बड़ा ही विचित्र वादयुग था, उस युग में एक, दूसरे का खण्डन करने के लिये मुँह बाँधे खड़ा रहता था। यदि किमी के ग्रन्थ में भाषाकृत अथवा शैलीकृत किंवा विषयजन्य भोजों भी शिथिलता भा जाती थी, तो अविलम्ब ही प्रतिवादी उसको टुकड़े टुकड़े करके दूर फेंक देते थे, फलतः लेखक को कर्मों के बदले मनीषि ही हाथ आनी थी। अतः पण्डितराज को विषय होकर उक्त प्रकार की प्रौढ भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिवादियों के प्रहार से बचने के लिये यही एक रास्ता था।

इस प्रकार की भाषा तथा शैली को अपनाने का दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व साहित्यशास्त्र को उसी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ पण्डित हीनदृष्टि से देखते थे और विद्या की यह पवित्र शाखा न्यभार्या हो रही थी, सभी उक्त पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अथकचरे संस्कृत में साहित्यशास्त्र में अपनी नोंच गढ़ाने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराज को सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में उस प्रौढशैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इस ग्रन्थ के निर्माण हो जाने के बाद अलङ्कारशास्त्र एक अभिषेक हुआ ही गया। अतः इस शास्त्र में साधारण संस्कृतों का प्रवेश ही ही नहीं सकता। प्रौढ पण्डितों के लिये भी अब यह शास्त्र हीन दृष्टि से देखने योग्य नहीं समझा जाना है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इसके उचित अधिकारी हैं। मेरी तो यदा तक धारणा है कि बिना उक्त शैली को अपनाये विषय का तदस्वर्ण विश्लेषण होता ही नहीं, बिलकत आभास पाठकों को अग्रिम सन्दर्भ से प्राप्त होगा।

विषयों का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितराज ने रसगद्गाधर में विषयों का जैसा स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण किया है, वैसा अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में जित्त विषयों को एकत्र है, उसको मूर्तरूप मानो पाठकों के सामने खड़ा कर दिया है। इस बात की जाँच करने के लिये इस ग्रन्थ का रसनिरूपण देखिये। अभिनवयुग के अंत की श्यामला काव्यप्रकाश में मम्मट ने और

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाशमात्र के अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होना है? भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है?' इस स्वाभाविक जिज्ञासा की ज्ञानिा करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक शब्दों में विशदरूप से लिखा है।

'नवों रसों के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, मम्मटभट्ट ने भी लिखा है, परन्तु क्यों वे स्थायीभाव हैं? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होगा असम्भव है।

शब्दरस के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और साहित्य से थोड़ा भी सन्ध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, किंतु यदि साधारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकरण्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझे, तो इसमें उनका क्या दोष?

वस्तुतः सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य नहीं विवक्षित है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शब्दासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में जो सयोग वर्णित होता है, वह असंगत ही आपणा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे विचरुचरियाँ विवक्षित हैं, यत्प्रयुक्त 'सयुक्त हूँ' और 'वियुक्त हूँ' इस तरह की बुद्धि होती है। यह है रसगङ्गाधर का विश्लेषण।

कितना गिनाया जाय, पाठकों को पद पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विषय-विश्लेषण पाण्डित्य परिलक्षित होगा, अलंकार-प्रकरण में पण्डितराज की यह विश्लेषणात्मक और अधिक प्रकट हुई है। परन्तु उस प्रकरण से प्रस्तुत भाग का सम्बन्ध नहीं है, अतः उन प्रकरण का विवेचन शिथिल भाग की प्रस्तावना में ही देखिये

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यद्यपि काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य अर्थ है, परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ का भी आधार शरीरस्थानीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतंत्र महत्त्व है। कान्ता-समिन्त-उपदेश जो एक काव्यका प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये विनियों को अभिमुख करनेवाले काव्य-तत्त्वों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्व प्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन को आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उससे आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही कौन करेगा? अतः कवि में पद-रचना-बौद्धिक सर्वाधिक समप्रेक्षित है। आकर प्रश्नों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अलंकार तो बाह्य हैं, वस्तुतः वचनों की अलंक्षिति स्पष्ट तथा शिष्ट की

व्युत्पत्ति है। इसी को सौश्रम्य कहते हैं, अर्धव्युत्पत्ति ऐसी बस्तु नहीं है।^१ अतिप्राचीन आचार्यों ने तो पद-रचना की यहाँ तक गौरव-प्रदान किया कि उन्नी को कान्य वी आत्मा स्वीकार कर लिया।^२ सध्वकाण्डिक आचार्यों ने भी उत्तरोत्तर उसका महत्त्व अधिक ठहराया है। पदन्मूलक ही और निम्न प्रशंसोक्तियों हैं—

‘किंवा कवितया राजन् ! किंवा वनितया तथा ।

पदविन्यासमाग्रेण मनो नापहतं यथा ॥’

अपि च—

‘अद्विदितगुणापि सख्खविभगितिः कर्णेणु वमति मधुधाराम् ।

अनविगतपरिमलापि च इतं हरति मालती-माला ॥’

‘उस कविना अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद-विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन की नहीं हर लेनी।^३ एवम् ‘गुणाद्यान न होने पर भी सत्कवियों को उक्ति कानों में मधुधारा बरसाती है। ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माला दृष्टि का हरण करती ही है।’

किन्तु व्याकरण के षट्ठि नियमों से बद्ध इस संस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुम्फन कठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है। इस उक्ति से संस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक घबरावें नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से गैरे रूपन पर विचार करें। टर्कों, झप्, सयोग आदि को छोड़ कर कश्म, विमलम्भ आदि कीयतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं तादृश रचना करने का प्रयास कभी किये होंगे। देखिये—पूर्वकाण्डिक अर्ध पद-पद पर आना है, और वहाँ के लिये अनुशिष्ट ‘क्त्वा’ प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-सुक हृन्त धातु को भी ‘इद्वा’ ‘ऊद्वा’ इत्यादि कडुतरूप में परिणत कर देता है।

यदि उनमर्ग जोड़ कर ‘व्यप्’ के रूप में उसको लाते हैं, तबार्थ दो व्यञ्जनों का सयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह हृन्त धातु से ‘क’ ‘तुमुन्’ आदि प्रत्यय करने पर भी कटाक्षरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अमरक के समान महाकवि—जिनका एक-एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान माना जाता^४ है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। आचार्य मम्मट भट्ट भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पद्यों को उद्धृत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अपरिचित से ही प्रणीत होते हैं। क्योंकि अमरक के एक पद्य^५ को

१. ‘रूपकादिरलकारं बाह्यमाचक्षते परे। सुप्रां निवा च व्युत्पत्तिं वाचां वाङ्मन्यलकृतिम् ॥

२. ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ । ३. ‘अमरककवेरेक पद्यं प्रबन्धशतायते’ ।

४. शल्य वास-गृह विलीन्यशयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः ।

निद्रान्यानुपागतस्य शुचिर्त्तं निर्वण्यपत्युर्मुखम् ॥

विश्रम्भं परिचुम्ब्य जातपुलकामालीन्य गण्डस्थलीम् ।

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता नाला चिर चुम्बिता ॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निद्रा, निर्वण्यपत्युर्मुखम्, विलम्बम्, परिचुम्ब्य, लज्जा-नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं ।

उन्होंने शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। सत्य बात तो यह है कि अलङ्कार-शास्त्र-प्रणेता भाचार्यों ने माधुर्य गुण के लिये 'द्वर्गहोन, समुक्ताक्षर-रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अवश्य की है, परन्तु प्रयोग में उसका निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र की कोरें भी सुस्तक उदाहरे उसमें मधुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कतिपय पद्य ही ऐसे मिलेंगे, जो सर्वथा निषिद्ध समुक्ताक्षरादि से रहित होकर निर्दोष सिद्ध हों।

प्रायः प्राकृत साहित्य के सहयोग से संस्कृत के कवियों ने भी जब पदरचना-विषयक इस मार्मिकता को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेंगे कि मम्मट भट्ट के समय में संस्कृत भाषा की मधुर रचना के विषय में जितना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण काल में उसका विचार कुछ अधिक होने लगा। अत एव स्वयं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के द्वारा अथवा तत्समकालिक अन्य कवियों के द्वारा रचे हुए संस्कृत के पद्य, अधिक ललित पदावली से अलंकृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल यह था जब संस्कृत साहित्य से सुन्दर-गुन्दर अंशों को लेकर समृद्ध होनी हुई मजभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। सन्त छत्र, तुलसी और 'सुनसरी' के निर्माता विहारीलाल द्वारा हिन्दी कविता अधिक प्रफुल्लित हो उठी थी। हिन्दी भाषा में-तद्भव शब्दों के द्वारा अक्षरों को लघु तथा गुरु बना लेने की बड़ी स्वतन्त्रता थी, जिससे विहारीलाल की रचना में महान् सौविध्य प्राप्त हुआ। विहारीलाल का प्रत्येक पद्य प्रायः इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे दृष्टि, सुति, गात्र, कर्कश और स्पर्श आदि शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः दीठि, दुति, गात, करकस और परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं^१, जिससे मूल संस्कृत शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की अपेक्षा उन तद्भव शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में लाल गुना माधुर्य बढ गया है इस बात को कौन सहृदय नहीं मानेगा। पण्डितराज विहारी लाल की कविताओं से पूर्ण परिचिन ये अत्र. उन पर विहारीलाल की कीमलमान्तपदावली का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से संस्कृत की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था, जैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी प्रचुर प्रभाव संस्कृत-पद-रचना पर पड़ा होगा। अब हिन्दी के कवि शृङ्गार-करण आदि रसों में तदनुकूल मधुरवर्ण-योजना का यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्द्वारा रसपरिपोष का प्रसार होता है, तब संस्कृत भाषा में ही यह नियम शिथिल होकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों में ही पड़ा रहे-प्रयोग में नहीं आसके-यह सर्वतोमुख प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज को कैसे सहा हो सकता, अत एव संस्कृत साहित्य के सभी विषयों को अपने विचार-निरूपण पर बसने वाले पण्डितराज ने रस-गङ्गाधर में पद-रचना विषयक नियमों को दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में समुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों का आनिर्धान किया है। उसके स्वरूप से परिचित होने के लिये पाठक को रसगङ्गाधर का उक्त प्रकरण देखना चाहिये।

१. 'दीठिन मङ्गल समान दुति वनक, केनक से गात ।

भूषण कर करकस लगत परस पिछाने जात ॥'

पण्डितराज प्रतिमाराठी विद्वानों में चूहामणि हैं, उन पर उन्हें ने संस्कृत सम्बन्धी तादृश मार्मिक विचार को जन्म दिया, जिसके सामने हिन्दी के षोषकों को भी होना पड़ा है। किम वर्ण के अनन्तर विस्र वर्ण के बरने से कड़वा बढ जाती है इसके विषय में मार्मिक विचार को पण्डितराजने मस्तुत किया है, वह किन्तो भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज वाग्देवतावतार मन्मथ के समान केवल नियमनिर्माण में ही प्रवीण नहीं प्रत्युत स्वरचित उदाहरणों में उत नियमों का अनुवर्तन भी पूर्णरूप से करते थे। रचना के ऐसे पक्ष उदाहरण^१ वे रसगद्गाधर में बना कर दिये हैं, जिनमें मतिपक्षी किसी दोष नहीं दिखला सकता।

अनुप्रास की छटा

वेसे तो अनुप्रास, धमक आदि शब्दालङ्कारों का विधान सती आलङ्कारिकों ने अपने निरन्धों में किया है और संस्कृत के कवियों ने स्थान-स्थान पर उनके प्रयोग भी किये हैं, पण्डितराज के समय में मगभाषा-कवियों के द्वारा विशेषरूप प्रभावशाली छन्दों में^२ का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लग्य था। इस अन्तानुप्रास का प्रयोग प्राचीन संस्कृत ध्वन्या नहीं हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत ही जगह उसका प्रयोग सफल रूप में पाया जाता है। पण्डितराज के पद्यों में विशेषतः मालभारणी वृत्तमें^३ पदान्तानुप्रास की एक निराली ही छटा दोस पकती है,। इसी प्रकार शिरारिणी छन्द में भी इस अनुप्रास का प्रयोग शङ्कराचार्य आदि ने भी किया है^४, परन्तु पण्डितराज की शिरारिणियों में इस अनुप्रास का लोकोत्त प्रयोग हुआ है।

अथवाही छन्द में जिस तरह का अनुप्रास होता है, ठीक उसी तरह की अनुप्रासों का हिन्दी भाषाके अमृतध्वनि आदि अन्य छन्दों में भी हैं और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों की अधिक सफलता भी मिली है। फिर भला पण्डितराज उम धमत्कार की संस्कृत में बिना लाये कैसे रहते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उस तरह के अनुप्रासों का परिष्क प्रयोग किया^५। कहने का सारांश यह है कि समसामयिक हिन्दी कवियोंकी कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्रासशैली से प्रभावित होकर ही पण्डितराजने संस्कृत में उसका प्रयोग प्रारम्भ किया यह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपनी प्रतिभा से उसमें और अधिक परिष्कार लाये।

सुखम दृष्टि से देखने पर पण्डितराज के हर एक पद्य में गवेषकों को शब्दकृत चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में व्यक्त-व्यक्त चमत्कार के साथ साथ शब्दकृत अतिशय भी कोई न कोई अवश्य रहता है और उसका रहना आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

१. 'वस्तुरैकतिलकमालि । विभाय सायम्... ' इत्यादि (पृ. २६१-६२)

२. तुलसी विलोकि अकुलानी जलुधानी कहै, चित्रहूके कपिसौं निसावर न लाधिहैं, ।

'बीती औपि आवन की लाल मनभावन की लण भई बौवन की सावन की रतिबाँ ।'

३. 'नितरा हितवश निद्रया मे बत यामे चरते निवेदितायाः... ' (पृ. ३०६)

४ 'तवोस्तुके गङ्गे यदि पतनि कावस्तनुपूनाम् ।

तदा मातः शान्तकवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥' (शङ्कराचार्य)

५. 'बलाद्गण्डिवमुत्तकाण्डवलयम्बालागलीताण्डव... ' (पृ. ३०६)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगद्गाधर के हिसाब से उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा श्रम्य भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं ।

अन्य सभी अलङ्कार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से दस्तावेरूप स्थायीभाव के चार भेद मानकर वीर रस के चार ही प्रकार प्रतिपादित हुये हैं, किन्तु रसगद्गाधर का कथन है कि गृहकार रस के समान वीर रस के भी बहुत भेद हो सकते हैं और तदनुसार युक्ति एवम् उदाहरण देकर सलवीर, पाण्डित्यवीर, शमावीर और बलवीर ये चार भेद अधिक उसमें प्रतिपादित हुये हैं ।

सभी प्राचीन आलङ्कारिक निबन्धनों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धरत्न रसगद्गाधर में प्रचुर खण्डन मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म लिए किये गये हैं ।

प्राक्तन सभी अलङ्कारग्रन्थों में भावध्वनि के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावमग्नि और भाव-शबलना की ध्वनियों की व्यवस्था की गई है, किन्तु रसगद्गाधर में ये ध्वनियाँ भी भावध्वनि में ही गन्तव्य कर दी गई हैं और गन्तव्यता के लिये दी गई युक्तियों भी बड़ी मार्मिक हैं ।

सभी अन्य निबन्ध रसभावादि को असत्त्वयक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं, परन्तु रसगद्गाधर स्थानविशेष में रसभावादि को भी सत्त्वयक्रम बतलाता है ।

द्वितीय आनन में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मनभेद हैं, जो द्वितीयभाग की भूमिका में दिखलाये गये हैं ।

रसगद्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

इस मननत्र जीवगत सत्कार में नर-देह दुर्लभ है और नर-देह प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है इसी प्रकार विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर शक्ति (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है^१ । शारदा के बरदपुत्र पण्डितराज में इन सभी दुर्लभ गुणों का समन्वय समाविष्ट था । वे अपने युग के महामानव होने के साथ साथ विद्वान्कवि विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे ।

किसी भी अन्य अलङ्कार-निबन्ध-निर्माता में उक्त सभी गुण उत मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराज में थे । यीमान् मम्मटमट्ट विद्वान् बहुत बड़े अवश्य थे, अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे. अतः उन्हें अपने प्रसिद्ध अलङ्कार निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ा । प्रायः यही कारण था कि काव्याय विविध वस्तुओं के कितने भेद बुद्धि में स्फुरित होने पर भी उदाहरणभाव से उन्होंने नहीं लिखे । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यद्यपि अपने ही अष्टादश-भाषा-व्याख्यासिन्धी-मुजह्म की उपाधि से विभूषित किया है और यत्र तत्र 'इदं सम' कदकर स्वनिर्मित पद्य की उदाहरण के रूप में उपस्थित भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हें पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें उच्चकोटि की कवित्वशक्ति होती, तो वे अपने निबन्ध 'साहित्यदर्पण' में परकीय पद्यों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते ? अन्य अलङ्कार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिये गये हैं ।

१. 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा । कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥' .

किन्तु एक पण्डितराज ही इस भंश में अपवादभूत हैं। उनकी प्रतिष्ठा है कि 'कस्तुरी का जन्म देनेवाला मृग पुष्पो का गन्ध-ग्रहण नहीं करता। मैं इस रसगङ्गाधर में एक भी परकीय पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा'। इस प्रतिष्ठा की पूर्ति उन्होंने खूब ही की है। एक से एक सु दर स्वनिर्मित पद्य उदाहरण रूप से सम्पूर्ण रसगङ्गाधर में उपस्थित किये हैं। वे पद्य भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग पर भिन्न-भिन्न रसों से श्रोत-श्रोत हैं, रसगङ्गाधर में ध्याये हुये ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि उन पद्यों में से कतिपय पद्य पण्डितराज के अन्य काव्य तथा श्लोक ग्रन्थों में भी आ चुके हैं, तथापि ऐसे भी श्लोक कम नहीं हैं, जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगङ्गाधर अलङ्कारशास्त्र के निबन्धराट्ट होने के साथ साथ एक सुन्दर मुक्तक कविताओं का संग्रहात्मक काव्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कतिपय प्रधान विषयों का विस्तार विवेचनः—

काव्य-प्रयोजन

'मन्दबुद्धियों की भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती' इस न्याय के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में प्रयोजनकथन की रीति प्रचलित है। अत एव काव्य-लक्षणकारों में भी लक्षण करने से पहले काव्य-प्रयोजन के प्रतिपादन करने की परम्परा है, पण्डितराज ने भी रसगङ्गाधर में इस परम्परा को रक्षा की है अर्थात् इन्होंने भी काव्य के प्रयोजन दिखलाये हैं, परन्तु सङ्क्षेप में इनकी अपेक्षा मम्मट और विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में इनके विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्हीं तीनों आचार्यों के कथनों का विवेचन हम प्रकरण में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में जो काव्य-प्रयोजन दिखलाये गये हैं उनमें दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काव्य-निर्माण के और कुछ काव्याध्ययन के।

यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अनर्थ-निवृत्ति, परम सुख और कान्तासम्मित उपदेश इन काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख मम्मट ने किया है। इनमें यश, अर्थ और अनर्थनिवृत्ति ये तीन काव्यनिर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहार-ज्ञान और उपदेश ये दो काव्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अवशिष्ट 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का ही सङ्गता है। अन्य पाठकों के समान काव्य-निर्माता भी अपने काव्य के पाठक होते हैं, अतः काव्याध्ययनजन्म सुख तो उन्हें मिलता ही है साथ साथ काव्य-निर्माण-प्रयुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलना है, काव्यनिर्माण से जो सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं की ही हो सकता है, पाठकों को चाहिये कि उस सुखानुभव का भी यत्न करें।

हमके बाद मम्मट आता है दर्पणकार विश्वनाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय की सुखपूर्वक प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन कहा है तथा काव्य से इन प्रयोजनों

१ 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप काव्य मयात्र निहित न परस्व विविधम्। (पृ० ६)

२ 'प्रयोजनानुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

३ 'काव्य यश्चेत्कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्गतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥

४ 'चतुर्वर्ग-कल-प्राप्ति-सुखादरूपिवावपि। काव्यादेव यतरतैन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥'

की प्राप्ति कैसे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी सुक्तियाँ भी बतलाई हैं, उन सुक्तियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माता और अभ्येता दोनों के लिये बराबर हैं।

पण्डितराज ने काव्य-प्रयोजन के संबन्ध में केवल एक पङ्क्ति लिखी है, जिसमें यश, परम आनन्द और गुरु, राजा तथा देवता आदि की प्रशंसा ये काव्य-प्रयोजन बतलाये गये^१ हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य-निर्माण के ही हो सकते हैं, काव्याध्ययन के नहीं। यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य-निर्माण की ओर होगी और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा।

वस्तुतः इन प्रयोजनों का उल्लेख लोगों को काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उम्र प्रकार का एक प्रयोजक उपायमात्र है, निरा तरह का विक्रोतों का सीरी के नमकीले टुकड़ों के विषय में क्लेशों के प्रति यह कथन होता है कि 'ये बड़े अच्छे मोती हैं, जरूर सरीद लंबिये'। परमार्थतः काव्य का प्रयोजन (साक्षात्-मूलक आनन्दातिशय ही है। यद्यपि लोग कीर्ति आदि के लिये भी काव्य-निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि के लिये भी काव्य पढ़ते ही हैं, तथापि ये सब काव्य के अनन्य साधारण प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि कीर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिये भी विविध उपाय किये जा सकते हैं। इन सब गौण प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर काव्य का लिखना-पढ़ना सर्वथा सफल भी नहीं होता। कहने का अभिप्राय है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सफल हो सकता है, एवम् रसास्वाद के लिये किया गया काव्याध्ययन ही वास्तविक अध्ययन कहा जा सकता है।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूर्व कविसम्बन्धार्थ का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म'^२ अतः कविसम्बन्धार्थ का ज्ञान बिना कराये काव्यपदार्थ का ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

अच्छा, तो हम पहले यही विचार करें कि कवि किसे कहते हैं ? शब्द-स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमोमांसा में 'कवृ वर्णे' धातु से कविपद की सिद्धि मानी गई है^३। कुछ लोगों का कथन है कि 'कवृ वर्णे' धातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह पवर्णोपसर्ग है, अतः 'कुवृ शब्दे' धातु से कविपद की सिद्धि करनी चाहिये। यदि यही व्युत्पत्ति ठीक हो, तथापि अर्थ में कोई अधिक अन्तर नहीं होता क्योंकि उदत्तुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है। कोष में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया^४ है। अतः योग तथा रूढ़ि दोनों की समन्वयात्मक दृष्टि

१. 'कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकरय काव्यस्य' 'श्लोकादि' (५८)।

२. 'शुभावचनमाग्रादिभ्यः कर्मणि च' इति ध्वन्।

३. 'कविसम्बन्ध कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्त्तृनो रूढम्' (काव्यमीमांसा)।

४. 'संख्यावान् पण्डितः कवि' (अमर)

से विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वत्र परमात्मा को कवि कहा गया है^१। इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'आदि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह प्रायः पुराणयुग तक सभी (सुन्दर अथवा असुन्दर) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होना रहा, अतः एव राजनीति विषयों के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि सज्ञा दी गई^२ है।

किन्तु पुराणयुग के बाद वर्णयितामान को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पदवी का अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारमय वर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओं के मानस में परमानन्द की रश्मि बँचिया उठने लगती थी। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भी सृष्टिकारों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि आज के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बनाते हैं—जैसे कवि कौन है? इत प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ है। वह एक ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपभोग करता है, और जब उन्मत्त हो जाता है, तब उसके प्रलपरूप में उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसार सहृदय जनों को मिल जाता है। वह प्रलप ही काव्य है। तत्त्ववेत्ता और कवि में अन्तर है। तत्त्ववेत्ता मस्तिष्क का निवासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्य भाव के है। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझने ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाग्मी में शक्ती नहीं होती कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में यही अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद की इस तरह की सभी व्याख्याओं का आधार वही पूर्वोक्त कवि पद का स्वारसिक अर्थ है यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

अस्तु, यह तो हुई कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कर्म क्या है? कवि क्या करता है किसको काव्यपद भ्यक्त करता है? इसका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि कवि विषय का चमत्कृतिपूर्ण-श्रोताओं को सुग्ध कर देने वाला-वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अतः यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं गढ़ता, अपितु उनका ज्वलित गुम्फनमात्र को रचता है, तथापि सलिल गुम्फन से युक्त वह पदावली कवि का कार्य कहलानी है, जैसे घटनिर्माणकर्ता कुम्भकार का कार्य घट कहलता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि कवि कितने विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनसहृदयकारी, वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं।

१. 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्.' (शुक्लयजु संहिता अ. ४० म ८)

२. 'उद्युता भार्गव कवि' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र। अब विवेचनीय यह है कि किम किसने अपनी प्रतिभारूप तूलिका से रङ्ग भरकर उस रेखाचित्र का केमा केमा रूप तैयार किया है। अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण लक्षण में परिवर्तन-परिवर्धन करके भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यलक्षण तैयार हुये हैं, यही इस प्रकार का विवेच्य विषय है।

अब तक प्रायः निम्नलिखित आचार्यों प्रधान काव्यलक्षणकार हुये हैं। (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रुद्रट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) मोज, (७) मम्मट, (८) चाणूक्य, (९) वीरभद्र, (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज जगन्नाथ।

अब यहाँ क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यलक्षणों की चर्चा संक्षेप में की जायगी।

(१) 'अभिष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाली पदावली काव्य' है। यह लक्षण अग्निपुराण में किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वक्तव्य विषय को सुन्दर ढर से प्रतिपादित करने वाला नया-सुला परसमूहात्मक वाक्य काव्य कहलाता है। संक्षेप पद का लक्षण में समावेश करने से लक्षणकार का अभिप्राय यह है कि व्यर्थ पदों का आढम्बर काव्य में नहीं होना चाहिये। अग्निपुराण का निर्माणकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उपलब्ध काव्यलक्षणों में सबसे प्रथम लक्षण यही है।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्प' नामक निबन्ध में जो काव्यलक्षण किया है, उसे अग्निपुराण के लक्षण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'स्पष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नयी-नुली) पदावली काव्य का शरीर' है। यह जो उनका लक्षण है, उसमें अग्निपुराणलक्षणगत 'संक्षेपाद्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों को केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे। कारण यह कि 'व्यवच्छिन्न' तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं। दण्डी का काल अनुमान के आधार पर छठी शताब्दी माना जाता है।

(३) इसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यलक्षण में एक महान् परिवर्तन उपरिष्ठ किया। अब तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता रहा, वह उनको गवेषणात्मक सतन्त्रबुद्धि में ठीक नहीं बना, अतः उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य कहने लगे। तात्पर्य यह कि उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ युग्म ही काव्य सिद्ध हुआ। विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलभूत अर्थ जो 'कविकी कृति' है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही कृति होता है अर्थात् काव्य में वर्णित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन् केवल कल्पना-प्रभूत रहते हैं, इतिहासप्रसिद्ध पदावली को भी कवि अपने दृष्टि से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है। भास की वासवदत्ता, कालिदास की शकुन्तला और श्रीहर्ष की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकाएँ होकर भी वास्तविक से सर्वथा भिन्न हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि बाल्मीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) के कृष्ण अर्जुन भी

१. 'संक्षेपाद् वाक्यविद्यार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम्' ... ।

२. 'शरीरं तावद्विद्यार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'।

३. 'ननु शब्दार्थो काव्यम्'।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ भिन्न ही है। प्रकरण (जो एक रूपक का भेद है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है। भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित मालती तथा माधव आदि और सूत्रक (१) के 'गृन्थकविक्रम' में वर्णित वसन्तसेना स्वर्ण चारुदत्त आदि का तो इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अगर या घन पात्रों को तो कवि-कृति मानना ही पड़ेगा, फिर उसी दृष्टान्त से इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के विषय में भी यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कवि के ही गढ़े हुए होते हैं। 'काव्यात्मक अनन्त सरार में कवि ही स्रष्टा होता है, उसके वसन्त के मुताबिक ही जगत् को बन जाना पड़ता है।' यह लिखकर आलङ्कारिकशिरोमणि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी काव्यवर्णित पदार्थों को मानस होने की बात की पुष्टि की है। अतः रद्रट का शब्दार्थयुगल-काव्यतावाद नितान्त तर्कमद्भन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानतः वासन में पूर्व का माना जाता है।

(५) इसके अनन्तर अलङ्कारसूत्रकार वामन ने काव्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कही। उन्होंने कहा कि 'अलङ्कार रहने के कारण काव्य ब्रह्म है' और 'अलङ्कार कहते हैं सौन्दर्य को'। इस तरह उनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का ब्रह्मण करना समुचित है। अब जिज्ञासा यह उठती है कि काव्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है? इनका उत्तर वामन यह देते हैं कि 'दोषों के त्याग और गुण तथा अलङ्कारों के ब्रह्मण करने से काव्य में वह सौन्दर्य उत्पन्न होता है'। अतः एक अन्तमें उन्होंने काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में कहा है कि 'यह काव्य शब्द, गुण तथा अलङ्कारों से सुसंरक्षित शब्दार्थयुगल का वाचक है'।

गुणालङ्कारहीन शब्दार्थयुगल में प्रयुक्त काव्य पद को उन्होंने लक्ष्यगिक माना है। उनके कथन का आशय यह होता है कि वस्तुतः गुणालङ्कार युक्त शब्दार्थ समूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन भाषावर्षों ने जब केवल शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहा, तब से काव्य पद शब्दार्थयुगल में रूढ़ हो गया, अतः आज भी लोग केवल शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहा करते हैं। परमार्थतः तादृश प्रयोग में 'कलिङ्ग साहसी है' के समान रूढिमूला लक्षणा ही समझनी चाहिये, वामन का समय नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पूर्व का माना जाता है।

(६) ध्वनिमार्ग-प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में काव्यलक्षण नहीं लिखा है। काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य भी नहीं था, ध्वनि का स्थापन करना जो उनका उद्देश्य था, उसको पूर्ण उन्होंने खूब ही की है। व्यक्तिविवेक के लेखक महिममट्ट को छोड़कर प्रायः सभी अनन्तरभाषी आलङ्कारिक बहुत अंशों में उनके अनुयायी ही हैं। अस्तु, प्रकृत में मुझे कहना यह है कि काव्य का लक्षण न लिया कर भी आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थ युगल ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपनी सम्मति प्रकट की है, क्योंकि प्रमद्वयश एक स्थान पर ध्वन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है'। इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जाता है।

१. 'अपारो काव्य-संतारे बधिरिव प्रजापति । यथास्मै रोचते विध तथेव परिवर्तते ॥'

२. 'काव्य ब्रह्ममलङ्कारात्' । ३. 'सौन्दर्यमलङ्कारः' । ४. 'स दोषगुणालङ्कारादानाम्पान्'।

५. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोरन्तरे'।

६. 'मत्वा तु शब्दार्थमत्रवचनो गृह्यते' । ७. 'शब्दार्थशरीरं त्रयस्य काव्यम्' ।

(६) इसके बाद संस्कृत के परम अनुरागी, संस्कृतियों के कल्पतरु, अथवा अनेक कमनीय निबन्धों के निर्माता धाराधिपति भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यलक्षण पर खासकर अपनी लेखनी नहीं चलवाई, तथापि काव्य-प्रशंसा के प्रसङ्ग पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'सरस्वती कण्ठामरण' में एक पद्य लिखकर काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उस पद्य का भाव यह है कि 'दोषरहित, गुणरहित, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य को बनाने वाला कवि कीर्ति के साथ मृग को भी पाता है'।^१ इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा सगन नहीं हो सकता, कारण ? रसका केवल शब्दसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। और 'अलंकारों से' इस बहुवचन से शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों ही उनके विवक्षित ध्यान होते हैं, यदि शब्दमात्र में उन्हें काव्यरस अभिमत होना तो अर्थालङ्कार का समावेश क्यों करते ? अर्थालङ्कार शब्द को अलंकृत नहीं कर सकता। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

(७) अब अलङ्कार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकाश के लेखक वाग्देवता के अपर अवतार महामान्य मम्मट का उदय हुआ। इन्होंने काव्यलक्षण में बामन का अनुवर्तन किया, परन्तु गुण तथा अलङ्कारों का समान स्थान काव्य में इन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से नान्दरीयक समझा गया और अलङ्कार का होना आमुपत्तिक। स्पष्ट आशय यह हुआ कि अलङ्कार के रहने पर काव्य की श्रेष्ठता इन्हें मो स्वीकृत है, किन्तु उसके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व इन्हें स्पष्ट है, अतः इन्होंने 'दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ से काव्य कहा और अलङ्कार के विषय में कहा कि अधिकतर स्थानों में अलङ्कार या रहना आवश्यक है, पर कहीं यदि स्पष्ट अलङ्कार न भी रहे तो कीर्ति क्षान्ति नहीं'।^२

एक बात और यद्यपि मम्मट ने काव्यलक्षण में रस की चर्चा नहीं की, तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है, यह बात काव्यप्रकाश के अन्य अंशों से विदित होती है, क्योंकि त्रिन गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आवश्यकतम बतलाया है, उनको वे स्पष्ट शब्दों में रसका परम मानते हैं^३। इनका आविर्भाव काल बारहवीं शताब्दी निश्चित है।

(८) मम्मट के बाद उसी शताब्दी में एक वाग्मय नाम के आचार्यद्वये, जिनका वाग्मयालङ्कार नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्षनाचार्य ने ध्वनि की स्थापना कर दी थी, ध्वनियों में भी रस आदि असलक्ष्यकमन्वद्गुणों की प्रधानता निश्चित हो चुकी थी, अतः इन्होंने बामन तथा मम्मट दोनों के मतों को जोड़ कर एक नवीन काव्यलक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दार्थों का समूह काव्य है'^४।

(९) इसके अनन्तर चन्द्रालोक नामक निबन्ध के निर्माता 'पीयूषवर्ष' उपाधि से भूषित जयदेव का अवसर आया। इनसे पूर्व भावी आचार्यों के द्वारा निबन्धने काव्यतत्त्व निरूपित हुये थे,

१. 'निर्दोष गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् । रसान्वित कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति ॥'

२. 'तददोषी शब्दार्थं सयुगावनलंकारी गुणः कावि ।'

३. 'ये रसरसाङ्गिनो परमाः शौर्यादय इवात्मनः । उल्लसद्वैतवस्तेसुरचलस्थितयो गुणाः ॥'

४. 'गुणालंकाररीतिसौषेत् साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम् ।'

उन सभी तत्वों को इन्होंने काव्यलक्षण में समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया' १।

परन्तु इनके लक्षण में बहुत पदार्थों का समावेश हो जाने के कारण अव्ययि अतिव्ययि आदि दोषों की शंका अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुगत भी नहीं हो सकता, अतः इसको लक्षण न मानकर काव्यगत्वों का सम्प्राप्त वाक्यमात्र माने तो अधिक उपयुक्त होगा। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है।

(१०) इसके अनन्तर काव्य-जगत् में कुछ नवीन सन्देश लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ स्वतंत्र हुए। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर पीयूषवर्ष तक के आचार्यों ने जो उत्तरोत्तर लम्बा काव्यलक्षण तैयार किया था उसको काट छाँट कर सक्षिप्त कर दिया और काव्य में केवल रस-भाव आदि असलक्ष्यक्रम कहे जानेवाले व्यङ्ग्यार्थों का रहना आवश्यक समझा। अलङ्कार इनके विचारानुसार केवल उत्कर्ष के कारण हैं—स्वरूपापायक नहीं। इसी तरह दोष केवल अपकर्ष के हेतु हैं—स्वरूपविषयक नहीं। यह विचार उनका ठीक भी है। अलङ्कारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की हानि नहीं होती और काण्ठवादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व को नहीं खोता। अतः इन्होंने 'रसात्मक वाक्य' २ को काव्य कहा और 'रस' पद से आश्वासयोग्य 'रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशदलता इन सभी असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों का समग्र किया। यद्यपि विश्वनाथ का यह लक्षण सर्वथा अभिन्न नहीं है। इनसे बहुत पहले शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने अपने अलङ्कारवृत्त में 'रसादिमत्' ३ वाक्य को काव्य कहा था, तथापि आदि पद से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने रसके समकक्ष ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केवल मिश्र ने अलङ्कारशेखर में लिखा है कि रस अथवा अलङ्कार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहलाता है। परन्तु विश्वनाथ को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं जचा, अतः इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि पद को स्थान नहीं दिया। विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णयित सा है।

(११) इसके बाद नम्बर आता है गोविन्दठकुर का। यद्यपि ये मूलकार नहीं हैं, तथापि काव्यप्रकाश पर लिखा हुआ इनका 'प्रदीप' बहुत अशों में मौलिकता रखता है, अतः पद आल्ङ्कारिक जगत् में इनकी प्रतिष्ठा किसी मूलकार से कम नहीं है।

इन्होंने काव्यप्रकाशीय काव्यलक्षण का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि मम्मट रसहीन और रस्य अलङ्कार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलङ्कार ये दोनों पदार्थ काव्य में चमत्कारजनक हैं, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहीं से आवेगा और जहाँ चमत्कार ही नहीं हो, उसे काव्य कहेंगे ही कैसे ! कारण यह कि काव्य में चमत्कार ही साह है। अतः यह मानना उचित होगा कि सरस स्थल में भले ही अलङ्कार की अपेक्षा नहीं हो, पर नीरस स्थल में अलङ्कार का

१ 'निर्दोष गुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यम्'।

२ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

३ 'रसादिमत् वाक्यं काव्यम्'।

रहना आवश्यक है^१ । फलतः इनके कथन से भी वही बात सिद्ध हुई जो केशव मिश्र ने कही थी। गोविन्द ठक्कर मैथिल ब्राह्मण थे और इनका समय सौन्दर्यी शशास्त्री का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१२) इसके अनन्तर ही रसगद्गाधर के निर्माणा पण्डितराज जगन्नाथ का काल माना है। इन्होंने काव्यलक्षण का जो रूप स्थिर किया है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ मार्मिक बातें कही हैं, वे सब प्रकृत पुस्तक में देखी जा सकती हैं, अतः उनका उल्लेख यहाँ विष्टपेयण समझकर नहीं किया जाता है, जिशासुओं को ग्रन्थ में वे बातें देखनी चाहिये।

अब हम प्रकरण के उपसंहार-भाग में मुझे यह कहना है कि—प्राग्म में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वागों को काव्य कहा जाता था। शरदमें केवल सौन्दर्यपूर्ण वर्णन ही काव्य कहा जाने लगा, पर अवनक काव्य का कोई साम लक्षण नहीं बना था। सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का सात लक्षण किया गया, जिसके अनुसार सौन्दर्यमय अर्थों का सुन्दर प्रतिपादन करनेवाले शब्द काव्य समझे जाने लगे। दण्डी तरु यह शब्दमात्र काव्यता-वाद चला। इसके अनन्तर रुद्रट के काल में शशास्त्रीभयकाव्यतावाद की घोषणा हुई, जो मम्मट मठ तक चलता रहा। पर सौन्दर्य का कारण क्या है इस विषय में इस बीच के आचार्यों में भी मतभेद बना रहा। वामन आदि कविय आचार्य सौन्दर्य का कारण समानरूप से गुण तथा अलङ्कार को मानते रहे। आ^१ चलकर मम्मट ने अलङ्कार को गौण बना दिया और गुण तथा गुणव्यञ्जक रचना को प्रमुण माना। काव्य में दोष का न होना वामन से लेकर मम्मट पर्यन्त आचार्यों के मत में समानरूप से आवश्यक समझा जाता रहा।

विश्वनाथ के समय में आकर पुनः काव्यलक्षण का रस बढ़ता। अब फिर शब्दमात्र को काव्य माना जाने लगा, अर्थ को काव्यलक्षण से नहिष्कृत कर दिया गया। इस युग में आकर गुणालङ्कारों का स्थान भी नगण्य सा होगया अर्थात् ऐसा समझा जाने लगा कि गुण अलङ्कार काव्य में रहें, तो अच्छी बात है, पर वे यदि न भी रहें, तब भी शब्दविशेष को काव्य कहलाने में बाधा नहीं हो सकती। हम समय में दोषों पर भी कुछ दया दिखाई गई। तात्पर्य यह है कि उसके रहने पर भी शब्दविशेष को काव्य कहने में लोगों को आपत्ति नहीं रही। प्राचीन मान्यताओं में इन सब शिथिलताओं के आगमन का प्रधान हेतु यह हुआ कि विश्वनाथ तथा उनके समकालीन अन्य विद्वज्जन काव्य में सौन्दर्य का कारण एकमात्र रस को मानने लगे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि रस पद से यहाँ सरुल असम्बन्धकर्मों का समझ अभीष्ट है।

यद्यपि वस्तु, अलङ्कार और रसादिरूप त्रिविध ध्वनियों का अन्वेषण तथा प्राधान्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही आनन्दवर्षण के द्वारा स्थापित हो चुका था, परन्तु काव्यलक्षण में ध्वन्यर्थ का प्रवेश विश्वनाथ से पहले किसी ने नहीं कराया था। ध्वन्यर्थों में भी केवल रस को काव्य की

१ 'नन्नलङ्कारोऽतिव्याप्तिः, सालङ्कारत्वविशेषणानुपादानादिति न वाच्यम्, यतः 'कापि'-
स्थानेनैतदुक्तम्-यत्सर्वत्रसालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्, क्वचिद् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वदानिः,
नजोऽप्यर्थकत्वात्, अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्वे एव विधामात् । नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्ट-
मेवेति ऋजुः पन्थाः । वयं तु पदयाम्-नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्का-
रश्च द्वय चमत्कारहेतुः । तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारावेष्टा । नीरसे तु यदि न
स्फुटालङ्कारः स्यात् तर्तिकृतश्चमत्कारः स्यात् । चमत्कारसारञ्च काव्यम् इत्यवश्यं स्फुटालङ्कारावेष्टा ।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंकाररूप ध्वनि की विभनाथ ने गीण बना दिया । पण्डितराज ने केवल रस को काव्यसौन्दर्य का साधन न मानकर सभी भयों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य) को सौन्दर्य का स्वरूप योग्य कारण माना है, अन्य अर्थों में पण्डितराज विभनाथ का ही समर्थन करते हैं ।

काव्य-कारण

इस प्रकरण में मुझे भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों के आधार पर वह विचार करना है कि काव्य का कारण क्या है ?

अच्छा तो पहले यह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों के दो मत हैं । रुद्रट, वाग्मन और पण्डितराज आदि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और दण्डी, वाग्मट और वीथूषवर्ष आदि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण बतलाते हैं । काव्यमीमांसाकार राजशेखर इस विषय में इन सबों से कुछ भिन्न ही मत रखते हैं ।

अब मैं उनके विचारों को संक्षेप में यहाँ उपस्थित करता हूँ, जिससे पाठक उन सब विचारों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़कर अपना मत निश्चित कर सकें ।

दण्डी का कथन है कि 'स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर और दीर्घहीन शास्त्र-श्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति, एवम् परिपूर्ण अभ्यास-अर्थात् पुनः पुनः काव्य बनाते रहना ये सब काव्यसम्पत्ति अर्थात् काव्य की उत्कृष्टता के कारण हैं' ।

इसके आगे उन्होंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म की वासना के गुणों से संबद्ध अद्भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रश्रवण-अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न-अर्थात् अभ्यास के द्वारा सेवित वाग्देवी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करती है' ।

इन उक्तियों से दण्डी का अभिप्राय ऐसा ज्ञान पड़ता है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों कारण हैं पर साधारण काव्य प्रतिभा के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से बन सकता है ।

रुद्रट केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही कारण मानते हैं और शक्ति का विवेचन इसप्रकार करते हैं—

'जिसकी प्राप्ति होने पर, समाधिस्थ (सर्वथा प्लब्ध) मन में अनेक प्रकार के गर्भ स्फुरित होते हैं और कोमल कान्त पदावली दृष्टिगोचर होने लगती है, उसको 'शक्ति' कहते हैं ।'

इसके आगे पुनः वे लिखते हैं कि 'उस शक्ति के दो भेद हैं—एक सद्ब्रज अर्थात् स्वभावसिद्ध, जो ईश्वर-प्रदत्त अथवा भद्रदृष्ट-जन्म होती है और दूसरी उत्पाद्य-अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली, जो

१ 'नैसर्गिकी च प्रतिभा शुभं च बहु निर्मलम् ।

अमन्दश्चाभिधोयोऽस्या' कारणं काव्य-सम्पद, ॥'

२. 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववातनाशुणानुशब्धिप्रतिमानमद्भुतम् ।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता भव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥'

३ 'मनसि सदा शुभमापिनि विश्फुरणमनेहनाडभिधेयस्य ।

अभिलष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति' ॥'

उत्कृष्ट न्युत्पत्ति से उत्पादित होती है।^१ इस कथन से यह आशय निकलता है कि प्रतिभा की प्रकार की होती है, एक अदृष्टमन्य और दूसरी न्युत्पत्ति-जन्य।

इसके बाद वामन ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है। उनका कथन है कि 'वचित्त्व का बीज प्रतिमान' है।^२

इससे आगे चम्पार काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पुनः दण्डी के कारणप्रवाद को भंगनाया। वे काव्यप्रकाश में लिखते हैं कि 'शक्ति (प्रतिभा) और लोकम्पनहार, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता (न्युत्पत्ति) एवम् परम्यश अर्थात् काव्य के निर्माण तथा समालोचयिना से शिक्षा प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के कारण^३ हैं।' मम्मट को इस उक्ति में दण्डी की उक्त उक्ति से नवीनता केवल इतनी है कि न्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्यान सुचारुरूप से कर दी गई है।

वाम्भट इस प्रसङ्ग में लिखते हैं कि—'प्रतिभा काव्य का कारण है, न्युत्पत्ति भूषण है और अभ्यास काव्यरचना में प्रगति लाता है।'^४ इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य की उत्पन्न केवल प्रतिभा करती है न्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होता है। फलतः घुमा फिरा कर तीनों को वाम्भट कारण मानने हैं।

पीयूषदर्प भी वाम्भट की बात को ही दृष्टान्त के साथ दुहराते हैं। उनका कथन है कि—'न्युत्पत्ति तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा उसी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिततरह मृत्तिका और जल के सहयोग से बीज लता के प्रति'^५ इसका भी अभिप्राय बही होता है कि बीजे लता का बीज उत्पादक, मृत्तिका पोषक और जल सम्बर्धक कारण है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उत्पादक, न्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास सम्बर्धक कारण है।

शिव पण्डितराज इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि—काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और प्रतिभा के स्थलभेद से दो कारण हैं, कहीं देवता अथवा महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण न्युत्पत्ति-अभ्यास^६।

अब यह भी एक विचारणीय बात है कि प्रतिभा क्या चीज है? इसके रूप के विषय में भी उक्त भाचार्यों का परस्पर नवा मत-भेद है। दण्डी के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है। यद्यपि शब्दतः उन्होंने प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा में जिन दो विशेषणों को उन्होंने जोड़ा है, उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। उन्होंने एक जगह प्रतिभा का विशेषण 'नैर्तागकी' कहा है और दूसरी जगह 'पूर्ववांसनायुष्मानुबन्धि'। ये दोनों

१. 'सहजोत्पादा च सा दिधा भवति, उत्पादा तु कश्चित् न्युत्पत्त्या जन्यते परया।'

२. 'कवित्वस्य बीज प्रतिमानम्' यस्माद् विना काव्य न निष्पद्यते, निष्पन्न वा हास्यायतन स्यात् ॥

३. 'शक्तिनिपुणता लोकरासकाव्यापवेक्षणाय। काव्यशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदङ्गवे ॥'

४. 'प्रतिभा कारणं तस्य न्युत्पत्तिस्तु दिभूषणम्। शशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादिकवित्तकथा ॥'

५. 'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति। हेतुर्गुदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिलैतमिव ॥'

६. 'तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः कविदेवतामहापुरुषा-

दिजन्यमदृष्टम्। कविश्च विलक्षणन्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ।'

ही विशेषण—यदि प्रतिभा का अर्थ अदृष्ट अथवा संस्कार—विशेष किया जाय—तब सगन नहीं होते, क्योंकि अदृष्ट पुरुष—प्रयत्न से उत्पन्न किया जाता है, फिर वह नैसर्गिक—स्वभाविक कैसे हो सकता है ? संस्कार भी अनुभवजन्य होने से पुरुष—प्रयास—साध्य ही है, स्वभाविक नहीं, और वह वासना रूप ही है, वासना गुणानुबन्धी नहीं, अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रतिभा का अर्थ उन्हें बुद्धि ही अमीष्ट है ।

दृष्ट की भी प्रतिभारपरपर्यायाशक्ति बुद्धि ही हो सकती है, अदृष्ट अथवा संस्कार नहीं, क्योंकि द्वितीय भेद उल्लासशक्ति को उन्होंने व्युत्पत्तिजन्य माना है और व्युत्पत्ति से अदृष्ट अथवा संस्कार की उत्पत्ति विद्वज्जन-सिद्धान्त-सम्मत नहीं । हाँ, बुद्धि-ज्ञान-की व्युत्पत्ति से उत्पत्ति अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तानुकूल भी है ।

वामन ने प्रतिभा की व्याख्या शब्दत की है और प्रतिभा का अर्थ संस्कार माना है^१ ।

मम्मट ने भी वामन की व्याख्या की ही उन्हीं शब्दों में दुहराया^२ है, अतः उनके मत से भी प्रतिभा का अर्थ संस्कार ही सिद्ध होता है ।

वाग्भट और पीयूषवर्ष ने भी तो प्रतिभा की शब्दत कुछ व्याख्या की है और न कोई ऐसा विशेषण उसमें जोड़ा है, जिससे यह ध्यान हो सके कि ये प्रतिभा का क्या अर्थ मानते थे ।

पण्डितराज प्रतिभा की व्याख्या में लिखते हैं कि 'जिनसे काव्य बनसके, ऐसे शब्दार्थों की उपरिपत्ति प्रतिभा है'^३ । इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का ही नाम है ।

प्रतिभा की यह व्याख्या उस आसन्नोक्ति से भी समर्थित होनी है, जिसमें 'उस बुद्धि-विशेष को प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा नई-नई सूझ पैदा हो'^४ ।

ये तो हुये उन आचार्यों के मत, अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, तो पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्यों कि काव्य बनाने में शक्ति की सुन्दर पदों तथा अर्थों की योजना ही तो कारणी पड़ती है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो सकता है । सकृच्चन्द्रनादिके समान अदृष्ट से यह सिद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता और न शुशस्वरूप संस्कार से ही बन सकता है । हाँ, यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनवोन्मेषशास्त्रिणी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और संस्कार कारण हो सकते हैं ।

काव्यकारण के विषय में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विशद विचार किया है, जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहाँ पाठकों के शानवैशेष के लिये संक्षेप में उनके विचारों को उपरिपत्त कर देना अच्छा समझता हूँ ।

१ 'कवित्वस्व बीज प्रतिभानम्' की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि 'कवित्वस्व बीज संस्कार-विशेष-कश्चित्'

२ 'इति कवित्वबीजरूप संस्कार-विशेष, या बिना काव्य न प्रसरेत्, प्रसृत वा उपदमनी-यम् स्यात् ।'

३ 'सा (प्रतिभा) च काव्यपटनानुकूलशब्दार्थोपरिपत्ति ।'

४ बुद्धिर्नवनवोन्मेषशास्त्रिणी प्रतिभा मत्ता ।'

काव्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं:—

'काव्यकर्म' में कवि की 'समाधि' सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, यह श्यामदेव का मत है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते हैं। समाधिस्थ चित्त अर्थों को देखता है। 'अभ्यास' काव्य-कर्म में सब से बड़ा सहायक है, यह मन्नल का मत है। लगातार काव्य-निर्माण-प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास सब में सर्वविषयक हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य को अधिकशाल बना देता है।

वायावर (राजशेखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास वाद्य प्रयास है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और उन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही काव्य का कारण है। यह शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति की उत्पन्न करती है। शक्तिशाली को ही कुछ मासिग होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारतन्त्र और उक्ति-शैली एव इसी तरह की अन्य कवित्वापेक्षित विषयों को जो हृदय में झरका दे, उसी को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा होने के लिये सामने की वस्तु भी परोक्ष के समान ही रहती है और प्रतिभाशालियों के लिये जहाँ से दूर की वस्तु भी प्रत्यक्ष के समान हो जाती है।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इन दोनों में प्रथम पुनः तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहावां और औपदेशिकी। ये तीनों कवि के उपकारक होने से कारयित्री कहलानी है। भावुक-सहृदयों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलानी है। वही कवि के श्रम तथा अभिप्राय का शान करानो है। कवि-व्यापार-वृक्ष वही के चलते सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जायगा^१।

कितने सुन्दर हैं काव्यमीमांसा के ये विचार ! पाठकों को पूर्वोद्धृत मतों की अपेक्षा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतरे नवीन विचार उस ग्रन्थ में शिथे गये हैं, जिनको मैं यहाँ विस्तार-मय से उद्धृत नहीं कर सका हूँ। जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रस

रस पर कुछ कहने से पूर्व ईश्वरकाण्ड की उत्पत्ति के विषय में ही शब्द कह देना आवश्यक

१. 'काव्यकर्मणि कवे समाधिः पर व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहित चित्तमर्थान्तरं पश्यति। 'अभ्यास' इति मन्नलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। तदि सर्व-गापी सर्वत्र निरतिशय कौशलमाधत्ते। समाधिरागारः प्रयत्नो वाद्यस्त्वभ्यासः। ताडुभावपि शक्ति मुक्तासयतः। 'सा केवल काव्ये हेतुः' इति बाधावरीयः। विप्रसृतिश्च (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभा-व्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिर्गुरुंके हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणः। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। सा शब्दग्राममयसंसारमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्वदपि तथाविधमपिहृदय प्रतिभासपति सा प्रतिभा। अप्रतिमस्य पदार्थसार्थवरोक्ष इव, प्रतिभावनः पुनस्त्वयतोऽपि प्रयत्न इव। सा द्विधा कारयित्री-भावयित्री च। कवैश्चक्रवांग कारयित्री। सा हि द्विधा सहजाऽऽप्यौपदेशिकी च। भावकस्योप-क्रवांग भावयित्री। सा हि कवेः श्रमगभिप्रायश्च भावयति। तथा सतु फलितः कवैर्व्यापारतलः अन्यथा सोऽवकेनी स्यात्। (काव्यमीमांसा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिए करना है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्वरूप से किया अथवा कराया जा सकता है।

हार्दिक आनन्दतिरेक के सख्त बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अभिष्ट का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ सी आ जाती है, उस आनन्द की बड़ी बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केंद्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ता है और वे उछल-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहायगृहीत रहने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द-प्रदर्शन (उछल-कूद) बड़े अभिभावकों को भी रधिकर ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इस तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होते देखा, तब कुछ जागरूक और सज्जना-शील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल कूदोंके साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ। आज भी उस तरह के अनुकरणात्मक पद्यबद्ध खेल ग्रामों में यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गईं, उसके अनेक भेद (आश्रितिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) है।

प्रारम्भ में उदापीह वाले शिक्षित जन उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये अन्त करण के द्वारा विवश किये गये कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द सिद्ध रहता है।

उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके^१।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नद अथवा नदी को अभिनय करते देख कर जिम प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो जाता है और उन स्मृतिपथारूढ प्रेमी-प्रेमिकाओं के नार-नार अनुसन्धान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आन्वय साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक वह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है'^२।

कुछ दिनों के बाद लोगों का विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त असंगत प्रतीत

१. 'रस्यते= आस्वाद्यते इति रस'।

२ 'भान्यमानो विभाव एव रस'।

होने लगा, क्योंकि उन परिनिर्मित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आलस्य विभाव ही रस रूप ही, तब उस आलस्य विभाव-स्थानीय नट में रति आदि के अनुकूल चेष्टाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये, परन्तु यह होगा नहीं, अतः विभाव रस नहीं है प्रत्युत उसकी वे चेष्टायें अपवाद अनुभाव ही रस है जो पुनः पुनः भाग्यमान होकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपातनः स्थिर हुआ कि 'पुनः पुनः अनुमधीयमान अनुभाव ही रस है'।^१

इस विचार से कुछ समय के लिये लोगों के मन में द्रष्टि मिली, परन्तु आगे चलकर लोगों को एक विचार में द्रष्टि प्रतीत होने लगी और लोगों की गवेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये छटपटा उठी।

उक्त सिद्धान्त में असन्तोष का कारण यह हुआ कि लोगों की दृष्टि आलस्य विभाव की चित्त-वृत्तियों पर पड़ी, उनपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें मान होने लगा कि ये चित्तवृत्तियाँ ही आनन्ददायिनी हैं—विभाव अथवा उनकी चेष्टायें नहीं, क्योंकि नट अथवा नटी नाना प्रकार की प्रेमपात्रीय चेष्टाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा पाते, जब तक कि वे प्रेमी की हर्ष, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सफल प्रदर्शन नहीं करते। अतः उन विचारकों ने यह स्थिर किया कि 'पुनः पुनः अनुसंधान के द्वारा व्यभिचारी भाव (हर्षादिक चित्त-वृत्तियाँ) ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं'।^२

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का जब क्रमिक विकास हो चुका, तब उन मतों पर आलोचार्थ होने लगी और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से नियमतः किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी किसी में रमणीय-रूप-माधुरी-नेदुर-नट को देख कर ही आनन्द का अनुभव होता है, तो किसी नाटक में नट के आह्विक अभिनयों को देख कर दर्शक मुग्ध हो उठते हैं, एवं किसी नाटक में नट के द्वारा किया गया मनोभावों का कथित चित्रण ही लोगों को चमत्कृत करता है। अतः यह मानना उचित है कि 'इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार-होन होने पर कोरं भी रस नहीं है।'^३

इसमें पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस-विषयक गवेषणा का क्रम जारी ही रहा, जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा चित्तवृत्त्यात्मक व्यभिचारी-भाव प्रधान है और उनसे भी रति, शोक, उत्साह, रोष, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक एक भी देता है, जो भिन्न-भिन्न नाटकों में आदि से अन्त तक प्रतीत होता रहता है। जैसे शृङ्गार रस प्रधान नाटक में रति और करुण प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐसे ज्ञात हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कभी नहीं।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम स्थायी रखा जो नाटक भर में प्रतीयमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये, जो कभी कभी अनुभूत होते थे।

इस प्रकार जब विद्वानों की स्थायीभावों का ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों

१. 'अनुभावत्वया'। २. 'व्यभिचार्यैव तथा तथा परिणमति'।

३. त्रियुष एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा त्रयोऽपि न'।

ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रोद्र वीभत्स अद्भुत और शान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत हो कर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग के हो जाने पर फिर विद्वानों के समक्ष 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उपस्थित हुआ, क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मनुष्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की यह प्रतीति बिल्कुल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्याघ्र, वीर, रोद्र और भयानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है, जैसे अश्रुपात, शृङ्गार, करुण और भयानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भी नियमित नहीं है, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव शृङ्गार, वीर, करुण तथा भयानक इन सभी रसों के पोषक होते हैं।

अब तोचिये कि इस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से किसी एक को (चाहे वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रस कैसे माना जा सकता है, क्योंकि जब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किसी निश्चित रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अतः लोगों ने स्थिर क्रिया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है'।^१ इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावानिश्चित में से एक-एक मूले ही अनेक रस साधारण हो, पर उन तीनों का समूह भिन्न-भिन्न रस का भिन्न-भिन्न निश्चित ही रहेगा, अतः अब नियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इसके बाद ही नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि का आविर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के दिवोले में इधर-उधर झूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस को एक ऐसी सुन्यवस्थित परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से रसाधीभाव रसरूप में परिणत हो गया है'।^२

तात्पर्य यह है कि 'जैसे मोहन-विशेषण नमक, तेल और मसाले आदि नाना विध वस्तुओं से बने द्रव्य-व्यञ्जनों के साथ मिलाकर भात खाते हैं और व्यञ्जनों के मिश्रण से भात में एक विलक्षण आस्वाद का अनुभव करते हैं, वैसे ही विद्वज्जन भावों (विभावदिकों) और अभिनयों से सम्बद्ध रसाधीभावों का आस्वादन करते हैं'।^३

इस सिद्धान्त के मूल में यह समालोचना काम करती है, जिसके द्वारा यह विदित होता है कि रति आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—जो नाटक मर में प्रवीणमान होने के कारण रसाधीभाव कहलाती हैं—को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव यदा-कदा उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अतः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव उनके उपकरणभाव हैं, प्रधान वे चित्तवृत्त्यात्मक आठों भाव ही हैं, वे ही अभिनय

१. 'विभावोदयस्य समुद्रिता रसा'। २. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्ररानिष्पत्तिः'।

३. 'यथा बहुद्रव्ययुनेर्बन्धनेर्बहुभियुनेम् । आस्वादयन्ति मुञ्जाना मक्त मक्तविदो बन्वा ॥

भावानिष्पन्नम्बद्धान् रसाधीभावस्तथा मुषा । आस्वादयन्ति मनसा तरमात्रात्परसा सृता ॥

में भग्न-दायक है, और वहीं आठों भावों का आस्वारण हम मन्थन करते हैं, फिर तो उन्हीं को रस मानना सुकियुक्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों की पृथक्-पृथक् अथवा समुद्रित रूप में रस मानना सुकियुक्त अतः एव अनुचित है।

हमके उपरान्त रस के विषय में भरतमुनि की उक्त परिभाषा को प्रमाणाभूत मानकर उसकी व्याख्या आरम्भ हुई। मट्ट लोहट, शंकर, मट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरत-सूत्र के प्रधान व्याख्याकार हुए। यद्यपि अभिनवगुप्त के अनिर्दिक्त प्रथम तीन आचार्यों के व्याख्यायन्य आन उपलब्ध नहीं होते, तथापि काव्यप्रकाश आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके मतों का अनुवाद नामोद्वेगपूर्वक किया गया है, त्रिमते यह अनुमान किया जा सकता है कि किमी युग में उन आचार्यों के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे थे।

उक्त चारों आचार्यों ने रससम्बन्धी भरतसूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। चारों व्याख्याओं में प्रधानतया दो बातों पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है, एक तो हम पर कि रस का या रसात्मक बोध कैसा है? अर्थात्—ज्ञान के जो अनेक प्रतिद्वन्द्वी भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द आदि उनमें से रस का कौन सा ज्ञान होता है? और दूसरे इस पर कि जिस रस का हमें अनुभव होता है, वह वस्तुन किम में रहता है? अनुकार्य रामादि में अथवा अनुकर्ता नटादि में, किंवा सदृश्य सन्धों में?

इन दोनों ही प्रश्नों का समाधान उक्त चारों आचार्यों ने भरने-गपने बहू से अपनी-अपनी व्याख्या में किया है।

(१) प्रथम व्याख्याकार मट्ट लोहट ने कहा है कि रस वस्तुन अनुकार्य रामादि में ही रहता है, परन्तु नट आदि अनुकर्ता में जो राम आदि के आरोप कर लेने के कारण रह सकता है। उनके मत के अनुसार रस का ज्ञान 'सीनाविषयक रति से युक्त यह (नट) राम है इत्यादि' रूप से होता है जो प्रत्यक्षात्मक है और 'सुरभिचन्द्रनम्' के समान सामने में उपस्थित विशेष्यभूत नट' अर्थ में लौकिक तथा सामने में अनुपस्थित सीनादि के अर्थ में अलौकिक माना जाता है। इनकी व्याख्या भीमामादर्शन के अनुसार समझी जाती है।

(२) द्वितीय व्याख्याकार आचार्य शङ्कर की लोहट का मत ठीक नहीं जवा। इन्होंने कहा—संसार में सम्यग्ज्ञान, निष्प्राज्ञान, सशयज्ञान और सादृश्यज्ञान ये चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं। 'यह राम ही है', 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इन तीनों ज्ञानों में क्रमशः 'इसके राम न होने का' 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का' और 'इसके सर्वथा राम न होने का' निवारण होता है। इन्हीं निवारणों को क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं।

'यह राम नहीं है' इस तरह के उत्तरकालिक वाचकान से पूर्वकाल में होने वाले 'यह राम है' इस तरह के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। 'यह राम है या नहीं' इस प्रकार के एकधर्मेकनिरिक्त विशेषणद्वयावगाही ज्ञान को सशय-ज्ञान कहते हैं। 'यह राम के सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्य ज्ञान कहते हैं।

परन्तु अभिनेता नट ही देखकर जो उसमें 'यह राम है' इत्यादि ज्ञान हमें होता है, यह उक्त चारों ज्ञानों से भिन्न है, वह उसी तरह का ज्ञान है। जिस तरह का ज्ञान जिस में पीछे की देखकर 'यह पीछा है' इत्यादि रूप से होता है।

इस तरह के ज्ञान के द्वारा नट को राम आदि सपत्न लेने पर अभिनव-निपुण नट के कौशल से स्थायीभाव के कारण कार्य और सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं, और तब सहृदय सामाजिक, रामादि कृती सीतादि-विषयक रति की अनुमिति नट में कर लेते हैं। उसी अनुमिति का नाम रस है। इस मत के अनुसार नरसिंह रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उसका आत्वादन अनुमिति द्वारा सामाजिकों को होता है अतः 'सामाजिकों में रस है' ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। ज्ञान इस मत में अनुमित्यात्मक सिद्ध हुआ। इसका मत न्यायदर्शन से प्रभावित माना जाता है।

(३) भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक को यह मत भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—काव्य के तीन व्यापार होते हैं, अभिधा, यावना और भोगकृत्व रसमें से प्रथम व्यापार के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ ज्ञात होते हैं। द्वितीय व्यापार से राम, सीता आदि नाटकीय पात्र साधारण कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तिविशेषधर्म—रामत्व-सीतात्व आदि से रहित होकर केवल नायक-नायिका आदि के रूप में उपस्थित करा दिये जाते हैं और तृतीय व्यापार के जरिये रस का अनुभव होता है। परमार्थन आत्मनन्द में विश्राम ही भोग है अतः वही रस है। इस मत के अनुसार रस सामाजिकों में रहता है और उसका ज्ञान आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मत साध्यदर्शनानुयायी कहलाता है।

(४) भरत सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त का मत रस के विषय में सर्वाधिक मान्य है, अतः एव प्रचार भी आज तक इसी मत का सबसे अधिक है। उन्होंने भट्टनायक के मत में भी दोष दिखला कर कहा कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ज्ञात रति आदि स्थायीभाव रस है'। इस मत के अनुसार सामाजिकों की आत्मा में वासनारूप से स्थित अपनी रति आदि चिन्तितियाँ ही इस रूप हो जाती हैं, ज्ञान इस मत के अनुसार शब्द है, पर शब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' शब्दादि वाच्यब्रह्मबोध शब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है।

कुछ नवीन विद्वानों का कथन है कि काव्य-शब्द अथवा नाटक-दर्शन से विचारार्थियों के ज्ञान ही जाने पर सहृदय पुरुष व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा रामादिनिष्ठ सीतादिविषयक रति का ज्ञान करते हैं, तदनन्तर सहृदयतासद्वृत्त पुनः पुनः अनुमन्थान रूप भावनात्मक दोष से सामाजिकों अथवा श्रोताओं को अन्तरात्मा अज्ञानावृत्त हो जाती है, फिर उस अज्ञानावृत्त आत्मा में, सीत में भावों के समान अनिर्वचनीय रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका सहृदयों को आत्मचैतन्य के साथ अनुभव होता है उन्हीं रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्यादि ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, न अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना की ही आवश्यकता है। अभिनेता अथवा पाठकों की चेष्टा आदि से सीता आदि की रत्यादि राम आदि में अनुमिति होती है और तदनन्तर एक भावनात्मक दोष से अपने को राम आदि समझने वाले सहृदयों में एक धर्म उत्पन्न होता है कि 'मैं सीताविषयक रतिवाला राम हूँ'। इसी अर्थ को रस समझना चाहिये।

इस तरह रस के विषय में २१ मतों का बखूब पण्डितराज ने अपने रसज्ञापन में किया है और प्रथम तीन मतों को छोड़ कर शेष नौ मतों में भरत-सूत्र का समर्थन भी किया है। परन्तु

होल्ट, शङ्क, भङ्गनायक और अग्निवसुत के मनों से भिन्न मनों की चर्चा अन्यत्र नहीं कीर पडती, धनः मुझे देना मातृज पडना है कि पण्डितराज ने हरयन् उन मनों का आविष्कार अपनी प्रसर-प्रतिभा के द्वारा किया है ।

रसों की सख्या के संबन्ध में भी तागा मत-भेद है, अधिक लोग पूर्वीक नौ रस मानते हैं । किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शान्तरस नहीं मानते विशेषकर नाटक में उन्को भक्तम्भ बनलाते हैं^१ ।

भवभूति केवल करण रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को उसी के विचार करते हैं^२ । धारापटापीय भोज केवल शृङ्गार को ही रस कहते हैं और अन्य रसों में रसप्रसिद्धि को ऐतिह्य-मूलक बनलाते हैं^३ । नारायण पण्डित अद्भुत को ही रस मान कर अन्य रसों का प्रत्याख्यान करते हैं^४ ।

अग्निपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न ही ढङ्ग का उपलब्ध होता है । उसमें कहा गया है कि 'शान्तरसंग के द्वारा जो व्यापक नित्य परमज्ञ प्रतिपादित हुआ है, उसमें सहज आनन्द विद्यमान है । वह आनन्द किसी किसी समय पर प्रकट होता है, उसी आनन्दाभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार और रस कहते हैं । उस आनन्दाभिव्यक्ति का प्रथम विकार ही अहङ्कार है । उस अहङ्कार से अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है, जिस ममता में समस्त विनीकी आवद्ध है । उसी ममता से रति (प्रेम) उत्पन्न होती है । वही रति व्यभिचारीभावों की समानता से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाती है । उसी के हास्य आदि अनेक भेद हैं । वही रति सत्वादि गुणों के प्रसार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और सकोच इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें राग से शृङ्गार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से भीरु की और सकोच से भीमत्न की उत्पत्ति होती है । अतः स्वभावतः ये चार ही रस हैं । किन्तु अनन्तर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करण, भीरु से अद्भुत और भीमत्न से मयानक की सृष्टि हुई तथा रति के अभावरूप निर्वेद से शान्त की सृष्टि हुई^५ ।

१. 'शान्तस्य रामसाध्वत्वान्ते च तदसंभवात् । अष्टावैव रसा नाट्ये न शान्तस्य सुन्यते ॥'

२. 'ध्वको रसः करण एव निमित्तभेदाद् भिन्नान् धृषक् पृथग्निदानयते विवर्तान् ।

आवर्तमुद्धर-तरङ्गमयान् विकारान्मयी यथा सत्तिलमेव च तत्समस्तम् ॥'

३. 'शृङ्गारवीरकरणादभुतौद्रहास्य-वीभक्तकसलभयानकशान्तनाम्नः ।

आम्नातिपुरंदारासान् श्रुधियो बय गु शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम् ॥'

'बोरादभुतादिषु च वेद रसप्रसिद्धि' सिद्धाकुनोऽपि वडयशुवदाविभानि ।

लोकगतानुमतिद्रकत्ववशादुपेतामेतां भिक्तवितुषेप परिश्रमो नः ॥'

४. 'रते सारथमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तत्त्वमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यदभुतो रसः ॥

तरसाददभुतमेवाह कृती नारायणो रसम् '.....' ।

५. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमत्रे विभुम् । वैशान्तेषु बदनत्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥

आनन्दः सहजस्वरय व्यज्यते स कदाचन । शक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कारसाहया ॥

आकृष्टस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्थितः । ततोऽभिमानसत्त्वेन समाप्तं सुवनप्रथम् ॥

अभिमानाद् रतिः सा च परिषोषमुपेयुषी । व्यभिचारादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥

गुण-

इस प्रकार में मुझे निम्नलिखित विषय-सूचकों पर विचार करना है । (१) गुणों का सङ्घन,
(२) गुणों का कान्य में स्थान और (३) गुणों के लक्षण ।

(१) गुण-निर्लक्षण-परक-गुणों को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक प्राचीनों का मत, दूसरा नवीनों का मत । नवीन-मत में गुणों की सङ्ख्या निश्चित सी हो गई है, परन्तु प्राचीन मत में उनकी सङ्ख्या सर्वथा अनिश्चित है ।

प्राचीन मत के प्रथम आविष्कारक भरतने इलेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, भोज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दश गुण मानते हैं^१ ।

अग्निपुराणकार ने इलेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सर्वा और यौगिको ये सात शब्दगुण^२, माधुर्य सविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व ये छ अर्थगुण,^३ एवम् प्रसाद, सौभाग्य, यथासक्य, उदारता, प्रक और राग ये छ उभय गुण-अर्थात् शुभ और अर्थ दोनों के गुण^४ मिलाकर त्रयोस गुण बतलाये हैं ।

वामन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विशद विवेचन किया है । प्राचीन मतों में इनकी अधिक प्रचार इन्हीं के मत का हुआ, अत एव परवर्ती मम्मट आदि धावर्गों ने इन्हीं के मत का सृष्टन अपने अपने ग्रन्थों में किया है । इनके हिसाब से गुणों की सङ्ख्या बीस है, जिनमें दश शब्द गुण और दश अर्थगुण, वहाँ जो नाम दश शब्दगुण के हैं, वे ही अर्थ गुणों के भी रहस्य गये हैं, किन्तु लक्ष्यों में भेद कर दिए गये हैं । ये नाम हैं—इलेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्थ-व्यक्ति, उदारता, भोज कान्ति और समाधि^५ । प्रकृत पुस्तक में वामन के मत का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है ।

भोजरत्न ने वामन के दशशब्द गुणों के अनिश्चित उदात्तता, कर्मिता, प्रेमान्, सुशुद्धता, सूक्ष्मता गन्धारता, विस्तर, सक्षेप, समित्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या त्रयोस कर दी है^६ ।

वदभेदाः काममितरे हास्याया अप्यनेकदा । स्वस्वस्थायि विशेषोत्थरिपोपस्तलक्षणा ॥

सखादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः । रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रलौहप्यात्प्रजायते ॥

वीर्येऽददृश्वभ्रज* सकोचभ्रूवीभ्रस इभ्यते । शृङ्गारज्जायते हासो रीद्रासु करुणी रस ॥

वीर्यन्वाद्भ्रुनिय्यति स्वाद्भीमत्साद्भ्रवानक* । शृङ्गारवीरकल्पौद्रवीरभयानका ॥

वीर्यत्साद्भ्रुनजान्ताहवाः स्वमातृत्वपुरो रसा । लक्ष्मीरिव विना सागात्रवाणी मातिनीरसा ॥

१. इलेष प्रसाद समता समाधिमाधुर्यमीयं परसौकुमार्यम् ।

अर्थस्व च व्यक्तिउदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणदशैवे ॥ (नाट्यशास्त्र)

२. इलेषो लालित्यगाम्भीर्यं सौकुमार्यमुदारता । प्रौढि यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥

३. माधुर्यं सविधानं च कोमलत्वमुदारता । प्रौढि सामयिकत्वं च तदभेदाः षट् प्रकाराणि ॥

४. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासक्यमुदारता । पादो राग इति प्राक् षट् प्रकाराः प्रपञ्चिताः ॥

५. इलेष प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिउदारत्वभोज कान्तिरसमाभयः ॥

६. भोज प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुपा कान्तिउदारत्वमुदात्तता ॥

इसके अतिरिक्त दण्डी, वाग्भट और पीयूषवर्ष ने भी गुण पर लेखनी चलाई है परन्तु इनके मतों में कोई खास तबीयत नहीं है। दण्डी और वाग्भट तो भरत मत के एक तरह से अनुवादक मात्र हैं। पीयूषवर्ष ने भरत के गुणों में से ही कान्ति को गृह्यार-रस में और अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण में गतार्थ मानकर उनकी सल्लाह दस से घटाकर आठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों की सख्या में ही मतभेद नहीं है, अपितु लक्ष्य में भी परस्पर बहुत अधिक मन-भेद है। फलतः यही कहना पड़ता है कि इन आचार्यों के समय में गुण के सन्ध में पूर्ण विचार नहीं किया गया, एक ने दूसरे के कथन की निष्पक्ष समालोचना नहीं की, बरन, जिसके मन में जर जो बात आई, उसी को उसने अपने ग्रन्थ में लिख दिया, जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराबकता की सी स्थिति बनी रही।

गुण के विषय में नवीन मत के आविर्भावक प्रथम आचार्य मामह हुए। इन्होंने प्राचीनों के मतों की अत्यधिक समालोचना करके सिद्ध किया कि गुण तीन हैं—भोज, प्रसाद और माधुर्य।

मामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन तो किया, परन्तु इस मत का पूर्ण प्रचार हुआ मम्मट के समय में। मम्मट ने प्राचीनों के कल्पित गुणों को दोषाभावरूप, कुञ्ज को घृनि और गुणीभूत न्यह्यरूप तथा कुञ्ज को वैचिन्त्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष को इन्हीं तीनों गुणों में गतार्थ कर दिया। तब से आज तक इसी त्रिगुणवाद का प्रचार है। पण्डितराज ने भी गुणों की संख्या के विषय में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में वामन तथा भोज का कथन है कि— 'काव्य युवती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवती का रूप शील पातित्राय आदि अच्छे गुण और अच्छे-अच्छे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी माधुर्यादिगुण और अनुपास तथा उपमादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक रुचिकर होता है, एवम् गुणहीन काव्य यौवनविहीन नायिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में जन-प्रिय अलंकार भी अधीनकर हो जाते हैं^१।' इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'तालकार होने पर भी गुण-हीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता। क्योंकि गुण और अलंकार के योग में गुण का योग प्रधान है^२।'

ओमस्तथान्यदौर्जित्य प्रेषानथ सुशब्दता। तदत्र सनाधिः सौख्यं च गान्भीर्यमथ विलरः ॥
सञ्चेर. सम्मितत्व च भाविकत्व गतिस्तथा। रीतिकक्तिस्तथा प्रीतिःइत्यादि^१।

(सारस्वतीकण्ठाभरण)

१. युवतीरिव रूपमत्रकाव्यं स्वदत्ते शुद्धगुण तदन्वतीव ।

विदितप्रणय निरन्तराभिः सदलंकारविश्लेषकल्पनाभिः ॥

यदि भवति वचदच्युत गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनाया ।

अपि जनदयितानि दुर्मंगल नियतमलकरणानि सम्रयन्ते ॥

२. अलङ्कनमपि शब्द न काव्य गुणवर्जितम् । गुणयोगस्तयोर्मुक्त्वौ गुणालंकारयोगयोः ॥

काव्यप्रकाशकार आदि ने भी काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्वीकार की है, क्योंकि वे कहते हैं कि गुण साक्षात् रस को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्द-अर्थ के द्वारा।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि काव्य में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊपर और रसादि आत्मस्थानीय व्यञ्जनों से नीचा है।

(३) गुण के लक्षण के संबंध में भी विद्वानों का एकमत नहीं है। भरत दोषों का निरूपण करके लिखते हैं कि 'इन दोषों के विपरित जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं'।

अग्निपुराणकार कहते हैं कि 'काव्य में विपुल शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्द गुण है'। 'शब्दप्रतिपाद्य जिस किसी वस्तु को उत्कृष्ट बनानेवाली चीज अर्थगुण है'। और 'शब्द तथा अर्थ दोनों का उपकारक जो हो वह शब्दार्थोभय गुण है'।

दण्डी का कथन है कि 'जो वस्तु विशिष्ट रचना का प्रगण्य हो, वह गुण है'। वामन कहते हैं कि 'काव्य-शोभा-कारक धर्मगुण है'।

इसके अनन्तर यह शका उत्पन्न हुई कि जब शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाने वाले पदार्थ-विशेष ही गुण और अलंकार भी हैं, तब इन दोनों में भेद क्या है ?

इसके उत्तर में वामन ने कहा कि 'काव्यशोभा के जन्मदायक धर्मगुण हैं और उस शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म अलंकार हैं'।

परन्तु आनन्दवर्धन के द्वारा आविष्कृत ध्वनिवाद के अनुसार रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों की काव्यात्मता स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि 'आत्मा के शौर्य आदि के समान काव्य में अज्ञिभूत रस (असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) के उत्कर्ष धर्मगुण हैं और ये गुण काव्य में अचलस्थिति-अर्थात् अवश्य रहने वाले हैं'। इस कथन से गुणालंकार में परस्पर भेद भी सिद्ध हो जाता है—अर्थात् रस के धर्म और काव्य में निमग्न रहनेवाले गुण और शब्दार्थ के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अलंकार हैं। एतन्मूलक ही ध्वनिकारानुयायियों का यह कथन है कि 'शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शून्यता आदि के समान हैं, दोष कालत्वादि के मुख्य हैं और अलंकार कटककुण्डलादिकों के सङ्घ हैं'।

यह तो हुई गुण के सामान्य लक्षण की बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये। प्राचीनों के गुणों के खण्डन हो जाने के बाद जिस त्रिगुणवाद की स्थापना नवीनों ने की उसके अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणों के रखे गये, उसके मूल में कोमल-कठोर

२. 'गुणाविपरिदायम्'। २ 'य काव्ये महती ज्ञायामनुगृह्णाति असौ गुणः'।

३ 'उच्यमानस्य शब्देन पश्य कस्यापि वस्तुन । उत्कर्षमानद्वयौ गुण इत्यभिधीयते ॥'

४. 'शब्दार्थोपपञ्जुर्वाणो नाम्नोभयगुण रचन ।'

५. 'यत्ते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता ।' (काव्यादर्श)

६ 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा ।' (अलंकारसूत्र)

७ 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।'

८ 'ये रसत्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन । उत्कर्षहेतवस्तेत्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

९. 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीर, रसादिश्चात्मा, गुण शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् ।'

और स्वार्थक यह रचना भी त्रिविधता ही है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों की रचनाएँ ही मानने लगे।

परन्तु आगे चलकर जब यह विचार किया गया कि शृंगार, करुण और शान्तरसों के लिये कोमल, बीर, रौद्र और वीरमत्प रसों के लिये कठोर तथा सगी रसों के लिये स्वार्थक रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों के आस्वादन से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्तद्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त उदीप्त होता है और स्वार्थक-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त विकसित होता है।

कुछ और अधिक गम्भीर आलोचन करने पर यह भी ज्ञात हुआ कि चित्त पर उक्त प्रकार के प्रभावों की डालने वाली रचनाएँ नहीं हैं बल्कि रस हैं, क्योंकि विरह रस में विरह रचना उस तरह का प्रभाव नहीं डाल पाती। फलतः यह निर्णय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली आह्लाद-कता ही माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उद्दीपकता ही भोज है और शुष्केष्यन में अग्नि के समान शीघ्र चित्त को व्याप्त करने वाली विकासकता ही प्रसार है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुतः रस-धर्म हैं परन्तु आरोप के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होते हैं।

पण्डितराज के विचार से द्रुति, दीप्ति और विकास ये चित्तवृत्तियाँ ही क्रमशः माधुर्य, भोज और प्रसार गुण हैं, रस उनके प्रयोजक हैं, अतः प्रयोजकता संबन्ध से रस में भी ये गुण रहने वाले हुये अत एव 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। एक बात उन्होंने और कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोजक होते हैं, उसी तरह शब्द, अर्थ और रचना भी, अतः इनमें भी प्रयोजकता संबन्ध से वे गुण रहते ही हैं, फिर उपचार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार को सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ज्ञानिन थे^१। इनके पिता का नाम पेरुमट्ट^२ अथवा पेरमभट्ट^३ था। इनकी जननी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी^४। इनके पिता पेरुमट्ट अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने शानेन्द्रमिश्र नामका मिती सत्यामी से वेदान्तशास्त्र का, मदेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का, खण्डदेवीनाथ्याय से पूर्व भौमनामा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया^५ था। इतना ही नहीं, इन शास्त्रों से भिन्न वेदादि शास्त्रों में भी वे परम प्रवीण थे^६।

पण्डितराज ने अपने सर्वविद्याविदारद पिता से ही सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरु शेषवीरेश्वर से भी प्रायः कुछ पढा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि मनोरमा

१. "तैलङ्गकुलाजन्तं पण्डितजगन्नाथेन" (आसक्तविलास का आरम्भ)

२. 'तं कवे पेरुमट्टाख्यम्' (५० २) ३. प्राणागारण में।

४. 'लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्' (५० ३) ५. 'श्रीमद्शानेन्द्रमिश्री' इत्यादि (५० ३)

६. रसगंगाधर के 'सर्वविद्याधर' पद से सूचित होता है।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में पण्डितराज ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है^१।

पण्डितराज स्वयं भी सब शास्त्रों में प्रगाढ़ पण्डित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। इस बात की पुष्टि रसगङ्गाधर में स्थान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होनी है, अतः इसकी पुष्टि के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली समझे जा सकते हैं, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के कृपा-पात्र बन गये और उन्हीं से 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक बिताये^२। शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन पण्डितराज ने अपने 'जगदाभरण' नामक निबन्ध में किया है, अतः दाराशिकोह की छत्रच्छाया में भी इनके जीवन का कुछ अंश व्यतीत हुआ था ऐसा भी लोगों का अनुमान है।

स्थितिकाल

यह निश्चित है कि पण्डितराज शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के विषय में इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरङ्गजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया, तथा १६६६ ई० में मर गया, अतः यह निश्चित होता है कि पण्डितराज का भी स्थितिकाल वही है। हाँ यह सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी पण्डितराज अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हों।

किंवदंतियाँ

पण्डितराज के विषय में अनेक तरह की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदंतियाँ कुछ अंशों में भिन्न होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अतः उन किंवदंतियों में तथ्य अवश्य होगा ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'पण्डितराज अध्ययन के बाद आरम्भ में जयपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वहीं दिल्ली से आये हुये किसी काजी को, मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थों को शीघ्र पढ़कर विवाद में परास्त कर दिया। जब वह काजी जयपुर से लौटकर दिल्ली गया तब बादशाह के आगे उसने पण्डितराज को बड़ी प्रशंसा की। बादशाह काजी के मुख से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को दिल्ली बुला लिया।

विलासतनय दिल्ली दरबार में बादशाह के कृपाभाजन बने हुये पण्डितराज किमी यवन-कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस यवनी प्रेयसी के साथ पाणि-ग्रहण करने में भी समर्थ हुये। इस तरह इन्होंने अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक बिताई। परन्तु शूद्र होने पर उस यवन प्रेयसी को साथ लेकर वे काशी चले आये। किन्तु काशी में अप्यय दीक्षित आदि विद्वानों ने 'यवनी-समर्ग-दूषित' कह कर इनका बहुत अपमान किया और खातिन्धुत भी कर दिया।

१ 'अरमद्गुरपण्डितवीरेश्वराणाम्' (मनीरमाकुचमर्दन)

२ 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीत नवीनं वय ' (भासिनीविलास)

काशी में पण्डितराज अपने की पवित्र सिद्ध करने के लिये गङ्गा-तट पर मग से ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर तत्काल रविन स्वर्गोप पर्वो से (जिनका समग्र गङ्गानद्री नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे। आपको स्तुति से गंगा जी प्रसन्न होकर प्रति पय पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई बावनवें पय पर आपके निकट पहुँच गईं और यवननन्या सहित आप गंगा जी के पावन जल में समाहित हो गये।

इम्प्रांति काशीवासी पण्डित-मण्डल पण्डितराज के इस चमत्कार को देख कर चकित हो उठे और वही दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे।

कुछ लोग कहते हैं कि—‘बादशाह की कृपा से अतुल सम्पत्ति प्राप्त पण्डितराज पनोन्मत्त हो उठे, यौवनरूप वृद्धि में उस सम्पत्ति ने घृताहुति का काम किया, उसकी त्रिवेक-ज्योति छुप्त हो गई और वे अन्ध होकर निम्नी यवन-तस्मी पर आसक्त हो गये। परन्तु कुछ ही समय के बाद उस यवनी की मृत्यु हो गई। उसके मरण से पण्डितराज के हृदय पर बड़ी चोट लगी, दिहो भी उन्हें अप्रिय प्रतीत होने लगी, अन्त में दिहो छोड़ कर काशी चले आये, किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, प्रेयसी का विरह तो इन्हें सता ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी इन्हें सनाना आरम्भ कर दिया। यवनी ससर्ग की बात सुन कर काशी के पण्डित वान-वान में इनका अनादर करने लगे। अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से ऊब गये और वर्षा की उमड़ती हुई गङ्गा की धारा में स्व-निर्मित गंगालद्री का पाठ करते हुये कूद पड़े-दूब मरे।’

एक किंवदन्ती यह भी है कि—‘वृद्धावस्था में एक दिन काशी के गङ्गा-तट पर पण्डितराज अपनी यवन-प्रेयसी को बगल में दबाये तो रहे थे और इनकी कुछ शिखा सदिया से नीचे लटक रही थी, मुझ वस्त्र से उका था। इसी समय समय से अप्पयदीक्षित उसी पाठ पर स्नान करने के लिये आये और एक वृद्ध का पैसा निकट आचरण देख कर कह उठे—

‘किं निरराष्ट्र सेवे सेवे यवसि च्चमागते मृत्यौ ।’

‘इस शेष वय में जब मृत्यु क्षिर पर लटक रही है—इस तरह निरराष्ट्र होकर क्या तो रहे हो।’—अब मो तो विषय-भोग से मुक्त मोडो, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो।

इस पलाश को सुनकर पण्डितराज ने जब मुझ निकाल कर उनकी ओर देखा, तब उन्हें पहचान कर दीक्षित जो क्षत कह उठे—

‘अथवा सुखं शयीथा निकटे जागतिं ज्ञाह्वयी भवतः ॥’

‘अथवा आप सुख से सोयें, क्योंकि आपके निकट में गङ्गा जी वर्तमान है।’

कुछ लोग इससे भी कुछ भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं। उत्पन्न साराश यह है कि ‘पाठावस्था में ही जयपुरनरेश निरजा राजा जयसिद्ध जी काशी से इन्हें जयपुर ले आये। कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुला लोग उक्त जयपुरनरेश पर आक्षेप करते हुये कहते थे कि ‘आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं, क्योंकि पशुराम जी ने जब शकौश वार इस पृथ्वी को निःसृजित बना डाला, तब आपके पूर्वज बने कैसे ? दूसरे यह कि भरती भाषा संस्कृत से प्राचीन है’।

यह आक्षेप जयपुर नरेश को बरानर खटकता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर सूझ नहीं पड़ता था, अतः वे किसी ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् के अन्वेषण में थे, जो उन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वह स्फुरन्मुखी प्रतिमा दीख पड़ी, उनसे उन्होंने उक्त आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज ने उन मुद्दों को निरुत्तर करने की प्रतिज्ञा की, इसके बाद पण्डितराज जयपुर लगे गये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर तो मैं अभी दे सकता हूँ, परन्तु द्वितीय आक्षेप के उत्तर देने के लिये मुझे अरबी का अध्ययन करना आवश्यक होगा, इस पर जयपुरनरेश ने आगरे में रख कर पण्डितराज को अरबी पढ़ने का अवसर दिया। जब पण्डितराज ने अरबी का अध्ययन कर लिया, तब जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के साही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'परशुराम ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय किया' इस लोकोक्ति का यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, क्योंकि यदि वैसा अर्थ माना जाय तब २१ बार वाली बात मिथ्या हो जायगी—अर्थात् प्रथमवार में ही जब सब क्षत्रिय मारे जा चुके, तब फिर क्षत्रिय आये ही कहाँ से जो फिर-फिर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया? अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षत्रियों के मर जाने पर भी कुछ क्षत्रियशिशु बचे रहे फिर यदि २० बार तक कुछ कुछ क्षत्रिय बच रहे, तो २१ वीं बार भी कुछ बच गये होंगे और वे ही इन क्षत्रिय राजाओं के पूर्वज हैं।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुसलमानों के 'हदीस' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सर्वथा विपरीत आचरण करना चाहिये, वही उनका धर्म है'।

इस वाक्य से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था और धर्म भाषा के बिना हो नहीं सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं की कोई धार्मिक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत से अनिरीकृत हो नहीं सकती, अतः एव यह निर्णीत हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा प्राचीन है।'

इन उत्तरों को सुनकर गुणग्राही बादशाह शाहजहाँ परम प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को अपने यहाँ आदरपूर्वक रख लिया।

इन किंवदन्तियों से जो तथ्य निकलते हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का बादशाह के दरबार में प्रवेश जयपुर महाराज के द्वारा हुआ। वहाँ पण्डितराज ने किसी यवनी पर आसक्त हो कर उसकी अपनी प्रेयसी बनाया। अन्तिम अवस्था में वे काशी में अल्पयदीक्षित आदि विद्वानों से अपमानित हुये। पण्डितराज किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त थे इस बात की पुष्टि उन्हीं के बनाये धर्मोपदेश पत्रों से भी होनी है।

१ 'यवनी नवनीनकोमलाङ्गी, शयनीये यदि नीयते कदापि।

अवनीतलमेव सापु मन्ये, नवनी माधवनी विनोदहेतु ॥

न याचे गजालि न वा बाजि राज, न विसेपु चित्तं मदीय कदापि।

इय मुस्तानी मस्तकन्धस्तहस्ता, लवङ्गी कुरङ्गी इगङ्गी करोतु ॥

सुरभुनिमुनिरुन्वे! तारये पुण्यवल्गम्।

अप्ययद्रीक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अप्ययद्रीक्षित के समकालीन नहीं थे, क्योंकि द्रीक्षित जी के भातृपौत्र नीलकण्ठ द्रीक्षित अपने नीलकण्ठ-विजय चम्पू में लिखते हैं कि 'यद् नीलकण्ठ विजयचम्पू कलियुग के ४७३८ वर्ष नीतने पर लिखा गया है' ।

यह समय ईसवी सन् १६२९ के लगभग होना है, जो शाहजहाँ का राज्य-काल था। भयः यह सिद्ध होना है कि नीलकण्ठ द्रीक्षित ही पण्डितराज के समकालीन थे, न कि उनके पितामह-भ्राता अप्ययद्रीक्षित।

पण्डितराज अप्ययद्रीक्षित के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि—'शेर शीकण्ड के पुत्र शेरवीरेश्वर पण्डितराज के पिता के गुरु थे और शेषशीकण्ड के छात्र थे भट्टोजि द्रीक्षित, जो अप्ययद्रीक्षित के समकालीन थे, फिर पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के कान में होने वाले द्रीक्षित के समकालीन कैसे हो सकते हैं! और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, तब इन दोनों में परस्पर विरोध की बात भी निराधार ही है इत्यादि।'।

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व असंगत नहीं प्रतीत होगा, क्योंकि इन दोनों के समकालीन होने में किंचदन्वियों के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी प्राप्त होते हैं, जैसे—'सिद्धान्तेश्वरप्रसङ्ग' के कुमकौगवाले संस्करण की भूमिका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'गर्वाले द्राविड (अप्ययद्रीक्षित आदि) के दुराग्रहकृत-भूतानेष्ट से गुरद्रीशो भट्टोजिद्रीक्षित ने भरी सभा में विना सोचे-समझे पण्डितराज को मरेक्य कह दिया था, जिसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनको (भट्टोजिद्रीक्षित की) मनोरमा का लुच मर्द करके सत्य कर दिखाया, अर्थात् उनके मनोरमा नामक ग्रन्थ का संपदन कर दिया और अप्ययद्रीक्षित आदि (भट्टोजिद्रीक्षित के समर्थक) देखते ही रह गये।'।

हृष्यदुद्राविहदुर्महमहवशान्छिष्ट मुहुरोहिणा,

यम्भलेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदति प्रौढेऽपि भट्टोजिना ।

तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यास व्यमृद्नात् कुचम्,

निर्धन्याऽस्य मनोरमामवसयन्नप्यप्यवादान् स्थितान् ।

'स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महारम् ।

यदि हि वचनकन्या पाथिनी मा पुनीदि,

तदिदं तत्र महान् तन्महत्वं महत्तम् ॥

वचनी रमणी विपदाः शमनी, कमनीयतमा नवनीवसणा ।

उद्दि ऊर्हि वचोऽमृतपूर्णगुली स सुखी जगतीह वदङ्गणा ॥'

२. 'अष्टत्रिंशदुपस्थासतम्यताधिकचतुःसहस्रेषु ।

कलियुगेषु यत्तेषु अथित' किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥'

इस पथ से सिद्ध होता है कि भट्टोजिदीक्षित, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज एक काल में ही इस पथ को सुशोभित कर रहे थे।

एक दूसरा भी इन्हीं इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—
‘अप्पयदीक्षित अपने जीवन के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् याग करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करते हुये भट्टोजिदीक्षित आदि सकल विद्वानों को विजय किया और जत प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ (जो पहले जातिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् याग करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सज्जनों के सामने आत्मव्योति को प्राप्त कर गये।’

यष्टु विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,

भट्टोजिप्रमुखा, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।

पूर्वैर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्यान्दस्य सद्बिभ्रजि-

द्यान्नी यश्च चिदम्बरे स्वमभजत् ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इस श्लोक के अनुसार भी पण्डितराज, अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होना है।

वात रही उक्त दोनों विरोधी युक्तियों को, पर उनका समाधान भी बठिन नहीं है, क्योंकि प्रथम युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्पयदीक्षित के मातृ-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीन सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान भी ली जाय, तथापि पण्डितराज और अप्पयदीक्षित के समकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होती अर्थात् यह सम्य है कि ‘नीलकण्ठ-विजय’ के निर्माणकाल तक अप्पयदीक्षित जीवित रहे हों। युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध आज भी सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, उन युग में तो द्योग और अधिक दीर्घायु होने थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्पयदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं, बरन मातृ-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि ३० वर्ष के मातृ-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के पितामहभ्राता वर्तमान रहा हो।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी इसी तरह किया जा सकता है—अर्थात् भट्टोजिदीक्षित और अप्पयदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्णय है और भट्टोजिदीक्षित शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे, एवं शेषश्रीशर-जो पण्डितराज के गुरु थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्पयदीक्षित की समकालीनता में सन्देह करने का कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जी वृद्ध हो गये होंगे, अन एव द्राविड, महाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सहभोजी जातियों में उनकी सरपत्नी तथा उनके द्वारा पण्डितराज की जातिच्युति की बात भी संगत होनी है।

स्यभाव

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र था, वे कडु सत्य को भी अनायास व्यक्त करने में सजुबिन नहीं होते थे। एक समय त्रिमी ने पण्डितराज को अपनी कविता सुनाना चाहा। परन्तु उन्होंने कविता सुनने के पहले ही कह दिया—‘मित्र ! यदि भाव पूर्ण परिपक्व होने के कारण चूने हुये दास के रस को मधुरता के गर्व को रस कर देने में समर्थ बचनों

के मर्मज्ञ हैं, तब तो मेरे सामने छुट से अपनी कविता पढिये। अन्यथा यदि आप उस तरह की बागी के मर्मज्ञ न हों तो स्वकृत पापावरण के समान अपनी कविता की छदय से बाहर मन कीजिये^१।

विधाना ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को कूट-कूट कर भर दिया था। इनकी गर्वोक्तिों सङ्कत ममाव में प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं—'दुनिया में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु मृद्धिज्ञापात्र अर्थात् अत्यन्त मधुर-बागी का आचार्य में ही हूँ, इस पद के अधिकारी होने का सीमाव्य दूसरे को कहीं^२ ?' जिनकी बड़ी गर्वोक्ति है ? किसी नायिका के वर्णन में आप करते हैं—'वह नायिका मेरी कविता के समान^३ मनोहर है ? गर्व को अभिव्यक्त करने की कैसा निरासी छटा है ? आपकी कविता में जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होता, उन्हें आप जीवन-मृतक कहते हैं।^४

उम्र स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रनिष्ठित से प्रनिष्ठित विद्वानों की उक्तियों में दोष दिखाने में नहीं चूकते। अपयशदीक्षित से तो पण्डितराज का सामाजिक विरोध ही था, अतः यदि उनके ग्रन्थों का सङ्ग्रह उन्होंने दुराग्रहपूर्वक किया है तो उनका अनुचित नहीं, क्योंकि विरोधियों का सङ्ग्रह सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दवर्धन, मम्मट आदि विद्वानों का स्थान स्थान पर आने आदर से स्मरण किया है, उनके वचनों में भी पत्र-पत्र दोष-दर्शाने में आप बाज नहीं आते हैं।

धर्म और अन्तिम काल

पण्डितराज ने यद्यपि रत्न-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण मङ्गलरूप में किया है, तथापि आप प्रधानतया वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, ऐसा प्रतीत होता है। आपके जीवन का अन्तिम महत्त्वपूर्ण समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ।^५

- १ निर्घाते यदि मार्मिकोऽस्ति नितरात्पत्यन्तप्राकट्यवत्
मृद्धीकामपुमाधुरीमदपरोक्षरोक्षताया गिरात् ।
काव्ये तर्हि सत्ते सुखेन कथय स्व सम्पुजे माधुर्या,
नो चेदुष्कृतमात्मना कृतमिव स्या तादृदिर्मा कृथा ॥
- २ 'आमूलादत्तसानोर्मलयवल्किनादा च कूलत्पयोधेः,
यावन् सन्ति काव्यप्रगयनादवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्धीकामप्य निर्वन्मद्युगसप्तरीमाधुरीभाम्यभाजां,
वाचाभाचार्यताया पदमनुभक्ति कोऽस्ति धन्यो मदन्व ॥'

३ 'स मामस्त्रीवदवित्तेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयानि ।'

४ 'धुव वे जीवन्तोऽप्यहह मृतकामन्दसतयो,
न येषामानन्द जनयति जगत्पथ-भगिति ।'

५ 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्र पर चिन्त्यते'

यह पाठ भामिनोविलास के कुछ पुलकों में है और कुछ पुलकों में ती-

'सम्प्रत्युञ्जिनवासन मधुपुरीमध्ये हरि-सेव्यते' ऐसा पाठ है।

‘सचिवा’ संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत प्रथम भाग में कविशेखर ५० बदरीनाथ झा जी की सरकृत टीका प्रकाशित हुई है, यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें सरल शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के भर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। यह टीका न अधिक विस्तृत है और न अधिक सक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीका के आधार पर भली प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षार्थी छात्रों के लिये तो यह टीका अत्यधिक उपादेय है।

‘कविशेखर जी’ की सरकृत टीका के साथ साथ मेरी हिन्दी टीका यत्र-तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, शिस्तका कारण-वैसा करने का मेरा दुरामद् नहीं वरन जटिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयासमात्र है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों को ग्रन्थ के रहस्यों को समझने में जो सुविधा होगी, वह सक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्र भाषा को पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो छुट्टि रह गई हो, उससी सूचना पाठक मुझे दें, ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन किया जा सके।

एक बात और यह कि कहीं कहीं मुझे समालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध भी लिखना पड़ा है। परन्तु वह विरुद्ध आलोचना कहीं तक ठीक हुई है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है, सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना तो मेरा काम नहीं, वह विद्व पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर की हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविशेखर ५० श्री बदरीनाथ जी झा की सरकृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने की मेरी स्वीकृति पाते ही प्रकाशक महोदय ने झाजी की सरकृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक सुयोग ही बढ़ना चाहिये। यदि उनकी टीका मेरे पास न होनी, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं—आपसे मेरा मत-भेद भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आपसे मिलकर एकवचनता कर लेता, परन्तु समयभावाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु, यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत सगत हों, तो उसका श्रेय भी आप गुरुजनों को ही प्राप्त है और यदि मेरे मत सगत नहीं हैं, तो उसका दोषी मैं हूँ, एवम् उस स्थिति में मैं इस घृष्टता के लिये आदरणीय ‘गुरुवर’ से क्षमा प्रार्थी हूँ।

उपकारकों में दूसरा स्थान है ५० श्री पुष्पोत्तम रामा जी चतुर्वेदी के अनुवाद का। उनके अनुवाद से भी मुझे स्थान-स्थान पर अत्यधिक सहायता मिली है। इस पुरतक की भूमिका के विषयविशेषण भाग की तो आधार-भित्ति उनकी भूमिका ही है।

उपकारकों में सम्माननीय मधुरानाथ जी मट्ट का नाम भी स्तुति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी ‘सरला’ टीका से भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषण भूमिका लिखने में तो आपकी भूमिका अधिक पथप्रदर्शक हुई है।

कृतज्ञता-शापन

जिन-जिन महात्माओं की कृतियों से मैं इस टीका के प्रगयन में लाभान्वित हुआ हूँ उनके प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता शापन करूँ, वे शब्द दूढ़े नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन एक प्रथमावस्था है। वास्तविक कृतज्ञता-शापन तो हृदय से होना है, अतः आप महात्मान मेरी मूक पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता-शापन के प्रसङ्ग पर मैं मेष्ठिवर बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त, अथवा 'चौखम्बा सरकृत सौरिज' तथा 'चौखम्बा विद्या भवन' बनारस को भी नहीं भूल सकता, जिनके सहजसौजन्य से मुझे इस टीका के निर्माण का सुखदसर प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने अहृत्त्रिम स्नेही बन्धु प० श्री रामचन्द्र जी दा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा संबन्ध उक्त कार्यालय से हुआ।

गुरुभूमिमा }
सं० २०१२ }

विनोत—
मदनमोहन झा

निवेदनम्

'धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृङ्गाटकविहारिणीम् ।

नित्यं प्रगल्भवाचालामुपतस्थे सरस्वतीम् ॥'

जनजीवने क्षणा श्रयान्ति यान्ति च तत्र पुण्यास्ते क्षणा यत्र जन- विमपि महत्त्व-
मयं कार्यमारभते, समारब्धकर्मपरिसमाप्तये सपरिकरबन्ध प्रयतते, प्रारब्धपरिममाप्तौ
परितुष्यति च ।

अहमपि निवृत्तजीवन्तस्य तान् क्षणान्तिपुण्यमयान् जाने यत्र तिलिलालङ्कारप्रन्ध-
गर्वखर्वणान्तिपुण्यस्य श्रीजगन्नाथपण्डितराजनिबद्धस्य रसगङ्गाधराख्यस्य महानिबन्धस्य
व्याख्या मयाऽऽरभ्यते, प्रब्रूहव्यूहैः साकं सङ्गसुपकाम्यता तत्परिसमापनाय् प्रायस्यते,
तत्परिसमाप्तौ च वृत्तकृत्यताजन्मा महागन्धोऽन्वभूयते ।

रसगङ्गाधरव्याख्यातावसरलाभः

मैथिलब्राह्मणजातीयश्रीत्रियशास्त्रायां लज्जजन्माऽभिनन्दनीयकविर्दत्ता पूजनीय कवि-
शेखरधीवदरीनाथमाशार्मा विहारप्रान्तीयसुजपकरपुरस्य-राजकीय-धर्म-समाजसंस्कृतमहा-
विद्यालयस्यप्रधानाचार्यपदध्यालङ्घर्वन् 'ध्वन्यालोक-दीपिति'- 'रसगङ्गाधर-सुरभी'-त्याद्यनेकान्
व्याख्याप्रन्थान् 'राधापरिणय'-प्रवृत्तीन् चिन्तन्ती मौलिक-संस्कृतकाव्यनिबन्धाश्च निर्माय प्रका-
शितान् विधाप्य च ततो लब्धदीर्घावकाशो भ्रामे धर्माचरणवर्णं जीवन् यापयन् वार्यक्य-
प्रमान-परवशोऽप्यर्हानस्फूर्ति- रसगङ्गाधरप्रथमानन्तस्य चन्द्रिकाख्यां सस्कृतभाषामयी
व्याख्यां विरचय्य प्रकाशनाय चौखम्बा-विद्याभवनानिधाने धारागर्भागते प्रन्थालये
प्रायच्छन् ।

उक्तप्रन्थालयाधिपतिः श्रेष्ठिप्रवर श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयश्च तदीयां ता व्याख्यां
हिन्दीव्याख्याया सहैव प्रकाशयितुं कामयमानो हिन्दीव्याख्यामपि विधातुं तमेव लब्धप्रतिष्ठ-
माचार्यप्रवरं प्राक् प्रार्थयामास । परं ततो नकारात्मकमुत्तरेणुपलभ्य तदनुमन्यैव मह्यं
तावतो भागस्य हिन्दीव्याख्यां कर्तुं भारमार्पयत् । इत् पूर्वमेव मम 'रसगङ्गाधररहस्य'-
नामकमेकं लघुपुस्तकं परोक्षार्थिच्छाप्रजनातुरोध-बल-लब्ध-समुद्भवं तस्मिन् प्रन्थालये
प्रकाशितमासीत् ।

यदा तं भारं प्रदातुमुक्तप्रकाशकमहोदयो मम पुरः समुपस्थितोऽभूत् तदा प्रथमं
रसगङ्गाधरस्य नव्यन्यायभाषासन्देहस्य हिन्दीव्याख्याया दुष्करतामिवानुभ्यायजहं
तं भारमन्वीकर्तुमेव मनसाऽनुमतोऽभवम्, परन्तु तदभिनक्षण एव बीणापाणिप्रेरितं
कियपि विलक्षणं तादृशं मम मानसे समचरत् । यत्कळं मन्मुखात्तद्भाररखीकारोकिनिरञ्जितः
समभूत् । भारो मयाऽज्ञोहृत । किन्तु यदा तद्भारवहनाय स्कन्धो योजितौ तदा विविधा
विना सम्मुक्तमापतितः । कदाचिदनुभूतोऽस्मिन् स्कन्धावेवान्दोलनमिवाकल्पयन्ती प्रतप्येतेस्म,
वृत्ताचितामयाभावोऽनुभूयतेस्म, कदाचिदस्वास्थ्यादीनि मार्गरोषकानि प्रतिभान्तिस्म ।

परमेताद् विद्वान् विदाव्य यथाकथञ्चिदहं तं महान्तं भारं वहन् व्याख्यानिर्माणसरणा-
चप्रेऽसरम् । अस्याश्चाप्रेसरताया तत्साहसमेव सर्वाधिकं सहायक रामगवत् ।

अन्ततस्तेऽपि दिवसा समागता यदा रसगङ्गाधरप्रथमाननस्य हिन्दीव्याख्या
सम्पूर्णा, विशाला प्रस्तावनाऽपि प्रस्तुता, प्रकाशनाय यन्त्रमाह्वा च ।

यदा तत्पुस्तक यन्त्रस्थमतिष्ठत्तदा ममान्त करणे के के भावा प्रादुर्भूय विनश्यन्तिस्म
तान् कथं कथयामि, 'मम व्याख्यामवलोक्य विद्वांसः किं कथयिष्यन्ति ? स्तोष्यन्ति ?
निन्दयिष्यन्ति वा ?' इत्यादयो भयमिश्रितास्ते भावा आसन्, एतावदेव साम्प्रतं वक्तुं
पारयामि । परन्तु यदा प्रकाशित तत्पुस्तक विदुषा करेषु स्थानमापत्तदाऽसन्तोषस्य कोऽप्य-
वसरो नोपस्थित, यतो विद्वांसो मम व्याख्याया प्रशंसा यदि नाकुर्वन् तर्हि निन्दामपि नैव
प्राकटयन्, प्रत्युत कर्णाकर्णितया तस्या व्याख्याया प्रशंसैव श्रुतिपवातिष्यमयासीत् ।

अथ तेनैव प्रकाशकश्रेष्ठेन श्रेष्ठिवरेण श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन रसगङ्गाधराग्रिमभाग-
स्यापि पूर्वभागस्यैव संस्कृत हिन्दी-टीका-द्वयोपेत संस्करण प्रकाशयितुकामेन पुन स एव
विख्यातकीर्ति प्रथमभागसंस्कृतटीकाकारो द्वितीयभागटीकाकरणायामन्वित । किन्तु
माहेशभद्राचनतासख्यजनसौभाग्येन जीवन्नपि स वार्धक्यवराहौकिकप्रपञ्चवैमुख्यवशाच्च
द्वितीयभागस्य व्याख्या कर्तुं नैच्छत् । तत पुनस्तदादेशेनैव श्रेष्ठिप्रवरोऽसौ रसगङ्गाधर-
द्वितीयभागस्य द्वितीयाननायुत्प्रेक्षान्तस्य संस्कृत-हिन्दी-भाषा-शुगलनिबद्धा व्याख्या विधातुं
मामन्वरुणत् ।

मयापि प्रथमभागगतहिन्दीटीकासाफल्यसमुत्साहितेन सहर्षं तथा विधातुं स्वीया
स्वीकृतिर्षितीर्णा समारब्धा च प्रथमभागगतसंस्कृतटीकाकारविधृतचन्द्रिकाख्ययैव संस्कृत-
व्याख्यया सह राष्ट्रभाषाहिन्दीव्याख्यया ।

परिस्थितिः

भाववेशदशाया विहित एव लेखो भावकेभ्यो रोचत इति प्रायः समेषा लेखकाना
तुल्योऽनुभवः । भाववेशदशासम्पत्तिश्च तदैव सम्भवति, यदि निश्मत समयापहारकं
किमपि कार्यान्तरं न भवेत्, जीवनयापनोपयोगिनोऽर्थस्य कार्कश्यं न तिष्ठेत्, कोऽपि
व्याधिः कायं नाकानेत्, आधिहृदयं न पुम्नेत्, लेखकज्जोपयुक्तरह प्रकीर्णभावो वा
न भवेत् ।

मम पुरस्तु व्याख्याकरणकाले पुरोदीरितनन्वर्धप्रतियोगिन एव नियमतोऽतिष्ठन् ।
यतो महाविद्यालयेऽध्यापकपदासीनस्य मम समयापहारक महाविद्यालयसम्बन्ध्याप-
नादिकार्यं नियमतरित्त्येव ।

अथाधिरेव विधिविधानाधीनोऽवशिष्यते । सोऽपि भादृक् प्रकृतटीकाटीकनकाले समु-
पस्थितो, न तादृक् प्राक् कदाचिन्मम जीवने । यमवलोक्य नानाविध मनोरय कुर्वाण आसम्
यो न ममैव, अपि तु समस्तस्य परिवारस्य प्राणोभ्योऽपि प्रियोऽभवत्, यो लघुनि निज-
जीवने भविष्यताया अनेकानि प्रमाणानि प्राकटयत्, यदीया रूपमाधुरी यदीयं स्वभाव-
सौन्दर्यं, यदीय आचारकमो नात्मीयानेव, किन्तु तटस्यानपि प्राभाक्यन्, स सप्तवर्षीयो
वीरेन्द्रमोहनाभिधस्तन्योऽरुस्माच्चिकिन्साया श्वसरमदत्त्वैव विस्विकारोणेण हृदतोऽ-

स्मानपहाय परमपितुः कोडे क्रीडितुमिव लोकान्तरमगमत् । हन्त । भगवन् । नैतादृशं
दुरवसरं कस्मैचिदेहि ।

देवदुर्विलासासादितयाऽन्या दुर्घटनया तादृश आघातोद्दयेऽलगाद् येन प्रकान्तव्याख्या-
पूर्ते सम्भावना समाप्तप्राया समजति । परन्तु समयः सर्वं शमयति । ममापि शोकः
क्रमशः सश्रुतामातादयत् । पुनरहं 'विप्रैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना' प्रारब्धमुत्तमगुणा
न परित्वजन्ति' इत्याप्तजनोक्तिननुस्मरन् व्याख्याकर्तृणि सलमोऽभवन् ।

अस्या विषमपरिस्थितेः सुनिश्चित परिणामोऽयमभवद्यन्महाविलम्बेन व्याख्याकार्यं
समपद्यत । समपद्यत, एतदेव बहु मन्तव्यम् ।

'आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बिसिद्धयो चर्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ?'

संस्कृतव्याख्या

मदीया संस्कृतव्याख्या क्रीडशी सज्जाताऽस्तीति यद्यपि न मम निर्णयो विषयः, अपि
तु सहृदयानामालोचनात्मकदृष्टिकोणं पुरो विधाय पाठकानामेव, तथापि वक्तव्यमेव मयाप्ये-
तावद्यस्या व्याख्याया ग्रन्थकारस्य हृदयं स्पष्टं महान् श्रमो विहितः यज्ञतः प्रतिपादन-
शैली सरलाकृता, सर्वत्रावतरण-ग्रन्थलापनयोरनन्तरं साराशो लिखितः ।

इयं व्याख्याशैली भवेदन्यैर्व्याख्याकारैरन्यत्र क्षुण्णा, परन्तु मया ज्ञानपुरस्तरं न
कस्यापि शैली समनुहृता । सम्भवति—टीकाकारो प्रथमप्रवृत्तस्य मम तद्विषयकाचातुर्येण
बुद्धिदोषेण वा कियत्येत्सुष्टयो भवेयुरिति ।

हिन्दीव्याख्या

व्याख्याजुवाइयोर्महदन्तरं भवतीति सर्वानुभवसाक्षिकं वस्तु । मया यद्यपि हिन्दी-
भाषायामपि व्याख्यैव कृता, नानुवादस्तथापि क्वचित्कचिदनुवादशैली-छाया तत्र लभ्येत
भावकैः । तत्र व्याख्या-शैली-समपेक्षित-द्विरुक्तादिदोष-प्रस्त-पङ्क्ति-वृद्धि-परिग्रहीर्षव
हेतुः । सम्भवति—दुरुद्दस्पष्टीय-भावस्फोरणं कामयमानैवापि मया सर्वथा हिन्दीभाषायां
न कृतं भवेदिति । इदमपि सम्भवति भाषा सर्वथा परिमार्जिता न स्यादिति । यद्यप्येवमा-
दिभिर्दोषैर्मुक्तं निजलेखं मुक्तं रक्षितुं मया नाल्पं समबधानं स्वीकृतम् तथापि स्वतः समासादि-
विधिवशात् स्वल्पैरेवाशरैर्विरात्मर्थेणातं मोडीकुर्वत्यां, परतो नव्य-न्याय-शैली-समुपवृद्धि-
ताया संस्कृतभाषायामुपनियद्स्य प्रौढतरस्य निबन्धस्य माय-स्फोरणं तादृशवैशिष्ट्यविर-
हिते भाषान्तरे दुष्करं भवतीति ते दोषा नासम्भविन् ।

प्रस्तावना

अद्यत्वे ग्रन्थगतविषयाणां संक्षेपतो दिग्दर्शनेन सहैव तेषु विषयेषु विभिन्नाचार्याणां
मतानि यथा विज्ञातानि भवन्ति तादृश्यै एवालोचनात्मिकार्यै अत एव दीर्घार्थै प्रस्तावनायै
सृष्टयन्ति पाठका इत्यनुभवता प्रकाशकमहाभागेनानुरुद्धोऽहमपि तादृशमेव प्रस्तावना
पुस्तकेऽस्मिन् निर्माणं समयो जयम् ।

प्रस्तावनायामस्या केचन तथाविधा अपि सैद्धान्तिका विषया प्रतिपादिताः सन्ति
येऽप्युवाचि मया हत्वलेनाङ्गीकृता अपि परेषामनभिमता भवेयुः तत्र यदि केऽपि युक्तियुक्तं

विरोधं विधास्यन्ति तदा तत्कालादारभ्याहमारे स्वविचारं परिवर्तयिष्यामि, तदनुभारे समुचितं संशोधनमपि भाविनि संस्करणे करिष्यामीति ।

साहाय्यम्

व्याख्याकरणकाले विख्यातकौर्तिभिः विद्वच्चूडामणिभिर्नागेशभट्टैः कृतया गुरुमर्मप्रकाशाख्यया व्याख्यया, कविवरैः श्रीमधुरानायमठमहोदयैः कृतया सरलमिथया टिप्पण्या च सयुक्तं मूलरसगङ्गाधरपुस्तकम्, विद्वद्वरैः श्रीपुण्डरीकशर्मचतुर्देदिमहोदयैः लिखितं हिन्दोरसगङ्गाधरपुस्तकञ्च ममाप्रेऽवर्तताम् । रसगङ्गाधरस्य तैभ्योऽन्यटीकाटिप्पण्यादिकमुपलब्धमपि नास्त्येव । अतो यदल्पं महद् वा साहाय्यं समभूत्त एवेति स्वीकरणे न मम राद्धान् । भूमिकाभागे तु चतुर्वेदमहोदयानां पुस्तकेन सहैव लब्धप्रतिष्ठस्य समालोचक-मूर्धन्यश्रीवलदेवोपाध्यायमहारायाव भारतीयसाहित्यसाम्प्रदायिकेन पुस्तकेनपि विपुलसाहाय्यं मम कृतमिति सत्यतरं वच ।

धन्यवादज्ञापनम्

येषां पुस्तकेभ्यो मया साहाय्यं लब्धं तेष्यो प्रायुक्तनामधेयेभ्यो विद्वद्भ्यः शतधा-सहस्रधा वा धन्यवादानं मनसा विदधामि । सहैव यैरत्रत्यैः सहवासिभिर्व्यस्यकर्त्तृभिर्द्विद्वि-साक समये समये कृता व्याख्येयधन्यगुण्डस्थलविचारवार्ता मार्गदर्शिका समभूत् तानपि धन्यवाद्भवोभिः संवर्धयामि ।

आलोचकान् प्रति

नवप्रकाशितस्य मौलिकग्रन्थस्य व्याख्याग्रन्थस्य वा समालोचनं कर्तव्यमेव विद्वैरा-लोचकैः यत आलोचनैव नव-नव-रहस्योन्मेषजननी । परन्तु समालोचकैर्दोषैर्कटुमिर्तं भाव्यम् । गुणानपश्यन्तः पश्यन्तोऽपि वाऽप्रकटयन्तो दोषदश समालोचका व्रणमात्र-भवेपिकाभिर्मक्षिकाभिरेवोपमोयन्ते । अतो गुणदोषोभयप्रकटनपरैः पशुपातरहितैः स्वयं कृतकृतिभो राजशेखराभिनन्दिदत्तकोटिकैस्तत्त्वाभिनिवेशिभिरालोचकैर्भवेदित्यम् ।

उपसंहारः

दोषमयेऽरिमन् प्रपञ्चे न निर्दोषं किञ्चित् । लेखका सदोषा, सम्पादका सदोषा, प्रकाशका सदोषा, प्रकाशनयन्त्रमपि सदोषमेव । एव दोषकवलितानां समाजे स्वरूपं लभमानं पुस्तकं सर्वथा निर्दोषं स्यादिति दुःशामात्रम् । अतः प्रकाशमेष्यतोऽन्य पुस्तकस्य सम्भावितानां दोषाणां कृते क्षमासारान् सतः पाठकान् क्षमामहं याचे, प्रयाचे च दोषान् सूचयितुम् । सूचिता दोषा कालान्तरे दूरीकर्तुं शक्या भवेयुरित्याशासे ।

अन्ते चाहम्—

'व्याख्ये मे विदुषा प्रीतिं प्राप्नुतामिति साञ्जलिः ।

करुणाकारिणं याचे पार्वती-रमणं प्रभुम् ॥'

प्रस्तावना

(द्वितीय भाग)

उपक्रम

‘विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित् प्रपते कवीनाम् ।

आलम्बते साक्ष्यमममसीव विस्तारमन्यत्र न तौल्यविन्दुः ॥’ (मद्भक्त)

वस्तुतः कवनीय-कविता-कालिन्दी वा एक कृत् यदि कवि है तो दूसरा कृत् आलोचक । कवि यदि आनन्दानुभूति की सामग्री प्रस्तुत करता है तो आलोचक आनन्दानुभावक दृष्टि प्रदान करता है । यदि साहित्यमर्मज्ञालोचकों की नानाविध आलोचनाएँ सामने न आतीं तो आज हम वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास, भक्तभूति आदि की कविताओं को पढ़कर एव नाटकों को देखकर बह आनन्द प्राप्त न कर सकते, जो आज प्राप्त करते हैं ।

उन्हीं आलोचकों में से एक मुकुटपमान आलोचक की आलोचनाओं का सिद्धाबलोकन इस प्रस्तावना द्वारा कराने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है ।

पूर्वाभास

प्राचीन आलोचक आचार्यों में से कतिपय आचार्यों ने काव्य के उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूतम्यङ्गल) और अधम (व्यङ्ग्यमय्य) ये तीन भेद माने हैं । अन्य (रससम्प्रदायवादी) आचार्यों ने प्रथम दो भेदों को ही स्वीकृत किया है—रसध्वनि होने के कारण तृतीय (अधम) भेद में उन्हें साम्यत्व अभीष्ट नहीं है ।

प्रकृत निबन्ध-प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने तो काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम ये चार भेद किये हैं । उत्तमोत्तम नामक प्रथम काव्य-भेद के पुनः स्थूलरूप में पाँच भेद किये गये हैं । इन भेदों का विवरण प्रकृत निबन्ध में निम्न रूप से किया गया है—

‘अभिधा और रक्षगामूलध्वनि दो प्रकार की होती है । उनमें प्रथम के पुनः तीन प्रकार होते हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि । द्वितीय के भी पुनः दो प्रकार हो जाते हैं—अर्थान्तरसकवितदान्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ।’ - - -

इसका तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्य अर्थ अथवा व्यङ्ग्य शब्द के भेद से ‘ध्वनिकाव्य’ का भेद होता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तब होती है जब शब्द अभिधा अथवा रक्षगाद्वारा अपना अर्थ उपस्थित कर लेते हैं । अभिधा अथवा रक्षगाद्वारा शब्द का कोई अर्थ प्राप्त हुए बिना व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकता । अतः व्यङ्ग्य अर्थ सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—एक वे जो अभिधाद्वारा शब्दार्थज्ञान होने के बाद प्रतीत होते हैं, दूसरे वे जो रक्षगाद्वारा शब्दार्थ ज्ञानोत्तर प्राप्त होते हैं । इनमें पहले को अभिधामूलक व्यङ्ग्य और दूसरे को रक्षगामूलक व्यङ्ग्य कहते हैं । इन्हीं को साम्यप्रयोगवाचक आदि, क्रमशः ‘विवक्षितान्यपरवाच्य’ और ‘अविवक्षितवाच्य’ भी कहते हैं ।

‘रसध्वनि’ नामक जो अभिधामूलक ध्वनिभेद कहा गया है उसको ‘असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य’ और शेष भेदों को ‘सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य’ कहते हैं ।

‘ध्वनि’ शब्द के पाँच अर्थ होते हैं—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जना वृत्ति, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति और व्यङ्ग्यार्थ-प्रधान काव्य ।^१ इन पाँचों अर्थों में ‘ध्वनिकार आनन्दवर्धन’ ने ‘ध्वनि’ शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है । रसगङ्गाधरकार प्रायः व्यङ्ग्य और काव्य अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं ।

उपर्युक्त पाँचों अर्थों में से अन्तिम अर्थ के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ-प्रधान सर्वोत्कृष्ट (उत्तमोत्तम अथवा प्राचीन मत से उत्तम) काव्य की सजा ‘ध्वनि’ मानी गई है जिसके पाँच भेद पहले लिखे गये हैं ।

रसध्वनि के भेद व्यङ्ग्य-भेद के आधार पर न करके व्यञ्जक-भेद के आधार पर हमलिये किये गये हैं कि रसादिरूप व्यङ्ग्यों की सत्या अनन्त हो जाती है—उनकी गणना समभव नहीं । अतः असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रूप से वहाँ व्यङ्ग्य का एक ही भेद माना जाता है ।

प्रकाशकारादि के मत से व्यञ्जक-भेद छै प्रकार के होते हैं—प्रबन्ध (पूरा ग्रन्थ), वाक्य, पद, पदैकभाग (प्रकृति प्रत्यय), वर्ण और रचना । इन भेदों के कारण ही उक्त ध्वनिकाव्य के भी छै भेद वे लोग मानते हैं । किन्तु रसगङ्गाधरकार वर्ण तथा रचना को रस-व्यञ्जक न मानकर गुण-व्यञ्जक ही मानते हैं, अतः उनके मत से चार ही भेद होते हैं । यह बात दृमरी है कि रसगङ्गाधरकार राग आदि को भी रसव्यञ्जक मानते हैं और तदनुसार और भी भेद हो सकते हैं ।

[यहाँ तक का विवेचन प्रथम भाग (प्रथमानुबन्ध) में आ चुका है । प्रसङ्गवश पूर्वाभास के रूप में, उचित समझकर, यहाँ भी उसका दिग्दर्शन कर दिया गया है ।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि-भेदों के निरूपण से द्वितीय आनन्द आरम्भ होता है । मध्य में प्रसङ्गवश अभिधा तथा लक्षणावृत्तियों का और लक्षणानिरूपण के मध्य में ही प्रसङ्ग आ जाने से, ‘उपमा’ तथा ‘रूपक’ अलङ्कारों के भेदों का विशद विचार किया गया है । शेष अंश में अलङ्कारों का निरूपण है ।]

विषय-विवेचन

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद

वाच्यार्थ की प्रतीति होने के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, यह सूत्र उपक्रम में सूचिन किया जा चुका है । व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का हो सकता है—गढ़ला वस्तुरूप और दूररा अलङ्काररूप । यद्यपि अलङ्कार भी ‘वस्तु’ के अन्दर आ जाता है, पर यहाँ अलङ्कार का

१ ‘इह हि काव्य पुरुषावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनि शब्द, ध्वन्यन्ते-ऽनेनेति ध्वनि शब्दादिशक्तिः, ध्वन्यन्ते (व) इति रसादिरर्थः, ध्वनन ध्वनिरिति रसादिप्रतीति, ध्वन्यन्तेऽस्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येव ध्वनियोगा उपलभ्यन्ते । इति साहित्यदर्पणभूमिकायां म० म० श्रीदुर्गाप्रसादमहाभागा ।’ (चतुर्वेदीजी के हिन्दी रसगङ्गाधर की भूमिका से उद्धृत)

पृथक् ग्रहण करने से 'वस्तु' के अन्दर अलङ्कारातिरिक्त वस्तुओं का समावेश समझना चाहिये । फलतः 'वस्तु' पद से साधारण वस्तु का और 'अलङ्कार' पद से वैचित्र्य-विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है । इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिये 'प्रकाशकार' आदि ने 'अविचित्र' और 'विचित्र' नाम से भेद किया है ।

उक्त दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ कहीं शब्द-सामर्थ्य से और कहीं अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं । शब्द-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ शब्दशक्तिमूलक और अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ अर्थशक्तिमूलक कहलाते हैं । इस तरह सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रथम-ये ही दो भेद होने हैं । उनमें शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य के उक्त रीति से वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि ये दो ही भेद होते हैं । पर अर्थशक्तिमूलक के आठ भेद हो जाते हैं, क्योंकि निम्न अर्थ के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य-प्रतीति की बात कही गई है वह अर्थ भी साधारणतया वस्तुरूप और अलङ्काररूप भेद से दो प्रकार का होता है और काव्य-त्रय में आकर उन दोनों प्रकारों के भी पुनः दो-दो प्रकार—अर्थात् वस्तुरूप और अलङ्काररूप अर्थ भी स्वामाविक तथा कविकल्पित दो-दो प्रकार—के हो जाते हैं । अलङ्कारशास्त्र में स्वामाविक अर्थ को 'स्वन-मम्मवो' और कविकल्पित अर्थ को 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक अर्थ चार प्रकार के होते हैं—स्वन-मम्मवी वस्तु, स्वन-मम्मवी अलङ्कार, कविप्रौढोक्तिमिद्ध वस्तु और कविप्रौढोक्तिमिद्ध अलङ्कार । इन चार प्रकार के व्यञ्जक अर्थों से अमिव्यक्त होनेवाला (व्यङ्ग्य) अर्थ भी वस्तुरूप तथा अलङ्काररूप—दोनों प्रकार का हो सकता है । अतः सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अर्थशक्तिमूलक भेद आठ होने हैं । फलतः पूर्वोक्त शब्दशक्तिमूलक दो भेदों को लेकर, 'पण्डितराज' के मत से सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक 'ध्वनि'-काव्य के कुल दस भेद होते हैं ।

यद्यपि काव्यप्रकाशकार आदि इन भेदों के अतिरिक्त चार भेद और मानते हैं, क्योंकि उन लोगों के विचार से कविकल्पित व्यञ्जक अर्थ के समान कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी व्यञ्जक हो सकता है । इस प्रकार के अर्थों की सहा उन लोगों ने 'कविनिबद्धवत्प्रौढोक्ति-सिद्ध' रखा है । यह कविनिबद्धवत्प्रौढोक्तिमिद्ध अर्थ भी वस्तु तथा अलङ्कार भेद से दो प्रकार का हो सकता है और इन दोनों अर्थों के सामर्थ्य से होनेवाले व्यङ्ग्य भी वस्तु तथा अलङ्कार दोनों रूप हो सकते हैं, अतः उनके मत से, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद और शब्दशक्ति-मूलक के उक्त दो भेद (इस तरह कुल चौदह भेद) सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के होते हैं ।

पण्डितराज का तर्क यहाँ यह है कि—कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी वस्तुतः कविकल्पित अर्थ ही है, अतः तत्प्रयुक्त पृथक् भेदों की गणना उचित नहीं । यदि इस तरह भेद-संख्या में वृद्धि की जायगी तो कविकल्पित वक्ता से कल्पित वक्ता आदि द्वारा कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर अतन्त्र भेदों की कल्पना हो जायगी ।

यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ के उद्घाटन में शब्द तथा अर्थ दोनों का अनुसन्धान अपेक्षित होता है, अतः सभी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक भी होते ही हैं, फिर कुछ को केवल शब्दशक्तिमूलक और कुछ को केवल अर्थशक्तिमूलक मानना आपाततः अनुक्त प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः वैसा मानना अनुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा मानने का तात्पर्य है—वैसा

व्यवहार करना और व्यवहार होता है प्रधानानुरोधी । जैसे सामान्य लोगों के रहने पर भी अधिकतर पहलवान से-युक्त ग्राम में 'महलग्राम (पहलवानों का ग्राम)' ऐसा व्यवहार होता है । इस दृष्टिकोण से सोचने पर, जहाँ परिवृत्तिसह (जिनका पर्यायान्तरद्वारा परिवर्तन कर देने पर भी व्यङ्ग्य होता ही रहे ऐसे) शब्दों की प्रचुरता हो वहाँ शब्दशक्ति रह कर भी प्रधानशक्ति की अनुगामिनी अर्थशक्ति प्रधान सिद्ध होती है, अतः वैसे स्थलों में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सर्वथा उचित है । इसी तरह जहाँ परिवृत्तिसह (परिवर्तन को न सह सकने वाले) शब्दों की अधिकता रहेगी, वहाँ शब्दशक्ति की ही प्रधानता और अर्थशक्ति की अनुगामिता सिद्ध होगी, अतः वैसे स्थलों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सुसगत ही है ।

इसी विश्लेषण से एक और साहित्यिक तथ्य उद्भूत हो जाता है कि जहाँ परिवृत्तिसह तथा परिवृत्तिसह दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में हों—किन्हीं एक प्रकार के शब्दों की प्रचुरता न हो—वहाँ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक व्यङ्ग्य की सत्ता ही माननी पड़ेगी, अतः वैसे स्थलों में 'द्वयुत्थ (शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियों से उत्पन्न)' ध्वनि का ही व्यवहार होगा । फलतः असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक और भेद सिद्ध हो जाता है ।

उपरोक्त भेदों के अतिरिक्त लक्षणात्मक ध्वनि-भेदों का प्रसङ्ग इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है जिसका सारांश यह है कि रुढिमूला लक्षणा के स्थल में व्यङ्ग्यार्थ का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता । बची प्रयोजनमूला लक्षणा, उसके छै भेद होते हैं—सारोपा गौणी, साध्यवसाना गौणी, जहत्स्वार्था शुद्धा, अजहत्स्वार्था शुद्धा, सारोपा शुद्धा और साध्यवसाना शुद्धा । इन छै भेदों में से केवल जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद ही ऐसे हैं जहाँ 'ध्वनिकाव्यता' सम्भव है, क्योंकि अन्य चार भेद अलङ्काररूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात् गौणी सारोपा रूपक अलङ्काररूप में, गौणी साध्यवसाना अतिशयोक्ति अलङ्काररूप में और शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना शुद्धा हेतु अलङ्काररूप में परिणत हो जाती हैं । यह सर्वमत सिद्ध सिद्धान्त है कि जहाँ अलङ्कार की प्रधानता हो जाती है वहाँ ध्वनिकाव्य का लक्षण सघटित नहीं होता । फलतः लक्षणात्मक ध्वनि के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था मूलक दो भेद होते हैं । प्राचीन (प्रकाशकार आदि) आचार्य इन दोनों (जहत्स्वार्था—अजहत्स्वार्था) लक्षणाओं को उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा कहते हैं ।

यहाँ पण्डितराज उक्त ध्वनिभेदों में से द्वयुत्थ ध्वनि को केवल वाक्यगत और अन्य सभी भेदों को पदगत तथा वाक्यगत मानते हैं ।

इस तरह रमणदाहरकार के मत में असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि के चार, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ, शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक और लक्षणात्मक ध्वनि के दो, इस प्रकार कुल सत्रह ध्वनिभेद प्रथमतः होते हैं । उनमें शब्दशक्तिमूलक दो, अर्थशक्तिमूलक आठ और लक्षणात्मक दो—इन बारह भेदों के पुनः पदगत तथा वाक्यगत भेद से दो-दो भेद हो जाते हैं । फलतः उक्त सत्रह में बारह और जोड़ देने पर कुल उनतीस ध्वनिभेद होते हैं । ध्वनिभेद के विषय में पण्डितराज ने द्रष्टव्य इतनी ही बातें कही हैं ।

ध्वनिभेद के सम्वन्ध में प्रकाशकारादि के मत

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रकाशकार असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के छै भेद और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदों में से अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद मानते हैं । साथ-साथ वे उन बारह भेदों के

पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगतरूप से पुनः तीन-तीन भेद करते हैं, अतः उनके मत से अर्धशक्तिमूलक के कुल छत्तीस भेद होने पर ध्वनि के शुद्ध भेद इक्यावन होते हैं । उनका विवरण इस प्रकार है—अर्धशक्तिक्रम के प्रबन्धगत, वाक्यगत, पदगत, पदांशगत, वर्णगत और रचनागत छे भेद एवं सलक्ष्यक्रम में अभिधामूलक के एकतालिस भेद (शब्दशक्तिमूलक के पदगत वस्तु, पदगत अलकार, वाक्यगत वस्तु और वाक्यगत अलकार—चार भेद, अर्धशक्तिमूलक के उक्त रीति से छत्तीस तथा उभयशक्तिमूलक का एक भेद) और लक्ष्यामूलक के चार (अर्धान्तरसंक्रमित पदगत, वाक्यगत और अत्यन्ततिरस्कृत पदगत, वाक्यगत) । इस तरह उक्त इक्यावन सख्या सिद्ध होती है ।

काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक से दूसरे का मिश्रण भी चार प्रकार का माना गया है जिसमें सदेहसकार, अहाकिभावसकार तथा एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूपसकार, ये तीन प्रकार के सकार और एक प्रकार की सृष्टि है । तदनुसार एक-एक भेद के इक्यावन भेदों को चौगुने करने पर $(49 \times 49 \times 4) = 98008$ (दस हजार चार सौ चार) मिश्रित भेद भी होते हैं । इन मिश्रित भेदों में शुद्ध भेदों (इक्यावन) को जोड़ देने पर प्रकाशकार के मत से समग्र ध्वनिभेद 98049 (दस हजार चार सौ पचपन) होते हैं ।

साहित्यदर्पणकार का मत

मूलभूत इक्यावन भेदों को प्रकाशकार के समान दर्पणकार भी मानते हैं, पर मिश्रित भेदों को सख्या में वे प्रकाशकार का विरोध करते हैं । उनका कथन है कि एक तो अपने साथ अपना कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का सकार दूसरे के साथ लिख दिया गया तब दूसरे के साथ उक्त भेद का सकार भी वही वस्तु हुई—अर्थात् जब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अर्धान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तब फिर अर्धान्तरसंक्रमितवाच्य का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता, अतः ऐसे भेदों को गणना नहीं करना चाहिए । फलतः उनके मत से कुल मिश्रित भेद 49008 (पाँच हजार तीन सौ चार) होते हैं । उनमें शुद्ध इक्यावन भेदों को जोड़ने पर समग्र ध्वनिभेद उनके मत में 49049 (पाँच हजार तीन सौ पचपन) होते हैं ।

साहित्यदर्पणकार के मत का खण्डन

काव्यप्रकाश के सुप्रसिद्ध टीकाकार मेखिल पण्डित श्री गोविन्द ठकुर ने उक्त दर्पणकार के मत का खण्डन किया है । उनके कथन का सारांश यह है कि—एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपों में आवे—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके सकार तथा सृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं । अतः 'अपने साथ अपना मिश्रण नहीं हो सकता' यह दर्पणकार का कथन असुक्त है एवं दर्पणकार का यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'अर्धान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के मिश्रण को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भेदों में गिन देने पर अर्धान्तरसंक्रमितवाच्य के भेदों में वैसे भेदों को गिनना अनुचित है । क्योंकि जैसे सभी रस (ईश) रस के साधारण दृष्टि से एकरूप होने पर भी रसवेदियों की दृष्टि में पीठे आदि विशिष्ट ईश के रस तथा साधारण रस के रस के हवादा में भेद होता ही है, ऐसी अवस्था में जहाँ पीठे के रस की अधिकता

और पौंडे के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनों मिश्रणों को—एक रूप नहीं कहा जा सकता, जैसे ही जहाँ जिस व्यङ्ग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यङ्ग्य के साथ अन्य व्यङ्ग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य का। अतः दर्पणकार की दूसरी युक्ति भी शिथिल हो जाती है। अब यदि यहाँ यह शक हो कि—जहाँ दोनों भेद समान मात्रा में मिश्रित होंगे, किसी एक की प्रधानता नहीं रहेगी, वहाँ एक भेद और मानना पड़ेगा—तो इसका समाधान यह है कि वैसी स्थिति में उस भेद का दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है। फिर उसका तीसरा नाम रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

पर्यवसितार्थ

इस तरह पर्यवसित यह हुआ कि प्रकाशकार आदि द्वारा माने गए मूलभूत इक्यावन भेदों में बारस भेदों को पण्डितराज नहीं मानते। वे बारस भेद निम्न हैं—असंलक्ष्यक्रम में वर्णगत तथा रचनागत दो, अर्धशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धत्वमूलक चार और इस प्रकार स्वमतसिद्ध अर्धशक्तिमूलक आठ भेदों को प्रबन्धगत नहीं मानने से गुणनप्रक्रिया में घट जाने वाले सोलह। अभिप्राय यह है कि प्रकाशकार आदि व्यञ्जक अर्थ के स्वतः सम्यगी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध—तीन प्रकार मानते हैं और वे तीनों ही प्रकार वस्तु और अलंकारभेद से दो दो प्रकार के होते हैं, अतः उनके मत से व्यञ्जक अर्थ छै प्रकार के हो जाते हैं और उनसे जमिव्यक्त होनेवाले अर्थ भी वस्तु एवं अलंकारभेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह उनके मत से अर्धशक्तिमूलक के जो पहले बारस भेद कहे गये हैं उन बारहों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होने से समग्र भेद छत्तीस हो जाते हैं। पर पण्डितराज के मत में व्यञ्जक अर्थ चार ही प्रकार के सिद्ध होते हैं और उनसे वस्तु तथा अलंकार द्विविध अर्थ की अभिव्यक्ति होने से आठ भेद बनते हैं और उन आठ के पदगत तथा वाक्यगत होने से सोलह भेद हो जाते हैं।

अब यहाँ विचार यह करना है कि पण्डितराज के मत में यह भेदों की कमी वास्तविक है अथवा युक्तिपूर्ण। इस प्रसङ्ग में ध्वन्यालोक की ओर अनायास ध्यान धरना जाता है, क्योंकि ध्वनिविचार में परवर्ती सभी आचार्यों के उपजीव्य ध्वन्यालोककार ही हैं। ध्वन्यालोककार वर्ण और रचना को भी असंलक्ष्यक्रम-व्यञ्जक मानते हैं।^१ पण्डितराज उन दोनों को गुण-व्यञ्जक कहते हैं। पर वस्तुतः जब वे खास-खास वर्णों तथा रचनाओं को खास-खास रस के प्रति प्रतिकूल अथवा अनुकूल मानते हैं, तब उन्हें रसव्यञ्जक भी मानना ही चाहिये।

ध्वन्यालोककार ने भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध की चर्चा नहीं की है और तदनुसार पण्डितराज ने भी उसको नहीं माना है और न मानने में युक्ति भी दी है। यद्यपि नागेश ने पण्डितराजोक्त युक्ति का खण्डन किया है, तथापि इस विषय में पण्डितराज का ही मत सुन्दर प्रतीत होता है।

१. 'वस्तुलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिवर्णपदार्थिषु।

वाक्ये सङ्घटनायाच्च श प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥' (ध्वन्यालोक)

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत मानने या न मानने की बात ध्वन्यालोक में भी विवादास्पद ही है। मूलध्वन्यालोक की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे आपात-उक्त ध्वनि का प्रबन्धगत होना सिद्ध होता है, पर प्रसिद्ध रमवारी आचार्य अभिनवगुप्त ने श्लेषन में उन पंक्तियों की जो व्याख्या की है उस व्याख्या के अनुसार वे पंक्तियाँ रसध्वनिपरक सिद्ध होती हैं। ध्वन्यालोक की 'दीपिति' टीका के रचयिता कविरोजर आचार्य बदरीनाथ झा जी ने काव्यप्रकाश आदि के स्वारस्यानुकूल उन पंक्तियों की व्याख्या में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को ही प्रबन्धगत सिद्ध किया है। पण्डितराज यहाँ अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हैं। यद्यपि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत न मानने में कहीं किसी ने कुछ भी सुक्ति नहीं दी है, तथापि उनकी दृढ़वर्ण सुक्तियों का तर्क किया जा सकता है, और वे सुक्तियाँ प्रायः ये हैं—एक तो प्रबन्ध से किन्ती एक अर्थ अथवा अलंकार को अभिव्यक्ति नहीं होनी यह अनुभवसिद्ध है, दूसरे जिन महाभारतगत शुभ-गोमाल-सुभार को उक्त ध्वनि के उदाहरणरूप में चुना गया है उसको अनेक वाक्यों का एकवाक्यतापर नशावाक्यरूप वाक्य भी माना जा सकता है—अर्थात् प्रबन्ध पद से किन्ती पूरे प्रबन्ध का ही बोध मानना उचित है और वह वैसा नहीं है।

सकर-ससृष्टि प्रयुक्त होने वाले भेदों के विषय में भी रसगद्गाथारकार का मत स्पष्ट नहीं है। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि-सकर तथा ध्वनि-ससृष्टि का विस्तृत विवेचन किया है। पण्डितराज ध्वनिसंकर को भी नहीं मानते अथवा नहीं मानना चाहते ऐसी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उभय (शब्द-अर्थ) शक्तिमूलक ध्वनि का निरूपण करते समय 'जहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियाँ समानभाव से किन्ती अर्थ की अभिव्यक्ति में काम करती हैं वहाँ शब्दशक्ति-मूलक और अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों का संकर ही मान लिया जाय—अतिरिक्त उभयशक्तिमूलक ध्वनिभेद मानने की क्या आवश्यकता?' इन शंका के उत्तर में उन्होंने 'व्यङ्ग्यमेद् एव सङ्कर-स्येष्टे' लिखकर ध्वनिसकर की बात स्वीकार की है। फिर भी जो उन्होंने उन भेदों का निरूपण या खण्डन नहीं किया इसके कारणों में एक तो यह हो सकता है कि वे आगे किसी प्रसङ्ग पर उन भेदों की चर्चा करते, पर ग्रन्थ की अपूर्णता से ऐसा नहीं हो सका। दूसरे, उनकी प्रायः ऐसी ही मान्यता है कि 'वे भेद शास्त्रार्थप्रक्रिया से सिद्ध तो किए जा सकते हैं, ध्वनि की मद्द्वा सिद्ध करने को एकमात्र लक्ष्य मानकर ध्वनिकार ने वैसा किया ही है, पर वस्तुतः उन भेदों में परस्परविलक्षण ध्वनिकार अनुभूत नहीं होता और जितने भेद माने गए हैं उन सभी के उदाहरण भी प्राप्त नहीं होते। अतः उन भेदों की गणना करना एक प्रकार व्यर्थ ही है'।

मेरे विचार से तो उभयशक्तिमूलक ध्वनि के सङ्घ में भी पण्डितराज ने अपनी एकान्त सम्मति नहीं दी है, क्योंकि उसको न माननेवाले मत का भी उन्होंने सुक्तिपूर्ण उल्लेख किया है। जो भी हो, ध्वनिसंकर के सङ्घ में अधिक संभव यही है कि—अग्रिम ज्ञानन (जो दुर्भाग्यवश नहीं लिखा गया) में पण्डितराज उसका विचार करते। इस आधार पर यदि पण्डितराज के मत से ध्वनिसकर आदि का हिसाब लगाया जाय तो मिश्रित भेद तीन हजार तीन सौ चौमठ होंगे और उनमें कुछ उनकीस भेदों को जोड़ देने पर समग्र भेद तीन सौ तिरानवे हो जायेंगे।

इसके बाद काव्यभेदों में गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि का प्रसङ्ग आता है, पर इस अपूर्ण निबन्ध में वे सब प्रसङ्ग नहीं आ सके। उन प्रसङ्गों पर पण्डितराज क्या विचार करते इसकी जानकारी तो

अब अर्त्सम्ब ही है और प्रकाशकार आदि ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है उसमें अधिक मतभेद किया जाटिलता नहीं है, अतः उनको चर्चा यहाँ नहीं की जाती। जिज्ञासुओं को उनके विषय में अपेक्षित जानकारी तत्तद्ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती है।

शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्यार्थ के विषय में शास्त्रार्थ

द्वितीयानुन के प्राग्भ में ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लक्ष्य स्थिर करने के लिये एक लम्बा विवरण उपस्थित किया गया है। प्राचीनों के मत से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि बही होती है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों क्योंकि श्लेष से भिन्न स्थानों पर अनेकार्थक शब्दों का एक ही अर्थ प्रस्तुत रहता है, दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर ऐसी स्थिति में भी जो कही-कही दूसरा अर्थ भी हमें प्रतीत हो जाता है, वह अभिधा से नहीं, अपितु व्यञ्जना से प्रतीत होता है और उमा अप्राकरणिक अर्थ को वैसी स्थिति में शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य कहने हैं। तात्पर्य यह कि यदि बहनोई आदि परिहासी कुटुम्बों जनों के भोजन के समय सारे लोग कहें कि 'सैन्धवमानय (सैन्धव छाओ)' तो उसका अर्थ अभिधा से 'नमक लाओ' होगा, क्योंकि प्रकरण (भोजन) से उमा अर्थ का सम्बन्ध है, पर वहाँ उस वाक्य का 'बोटा लाओ' अर्थ भी महद्वयों को ज्ञात अवश्य होता है और वह व्यञ्जना से हो होता है।

यहाँ 'अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से क्यों नहीं होता?' इस प्रश्न का उत्तर देने में शास्त्रार्थ उठ सड़ा होता है। प्राचीनों ने उक्त प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से किया है, जिसका रूप नकारात्मक है अर्थात् उन दोनों ही प्रकारों में 'उक्त अर्थ का बोध अभिधा से नहीं होता' यह सिद्ध किया गया है। पर पण्डितराज ने उन दोनों प्रकारों का प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन करके सिद्ध कर दिया है कि—'अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होता है'। उक्त तीनों मतों का मारास निम्न रूप का है—

१—अनेकार्थक शब्दों का भ्रम होने पर यद्यपि प्रथम उस शब्द के सभी अर्थ स्मृति-पथ में आते हैं, क्योंकि बोध आदि से उस पद का सकेत समानरूप से सभी अर्थों में ज्ञात हुआ रहता है, पर प्रकरण आदि (सयोगो विप्रयोगश्च... इत्यादि, जिसका विशद वर्णन इस ग्रन्थ में इसी प्रसङ्ग पर आगे किया गया है) से वक्ता का तात्पर्य किसी एक ही अर्थ में ज्ञात होता है और इस तात्पर्यनिर्णय के होने-होते प्रथम स्मृति विलीन ही हो जाती है, अतः पुनः पदार्थ का स्मरण होता है और यह द्वितीय बार का स्मरण केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है। अतएव अभिधा से उक्तरीत्या स्मृत एकमात्र प्राकरणिक अर्थ का बोध हो पाता है, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं। ऐसी स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति जब व्यञ्जना की सहायता से होती है तब उसका बोध होता है, अतः वह अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है, वाच्य नहीं। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि प्रकरण आदि व्यञ्जनाद्वारा होने वाली अप्राकरणिकार्थस्मृति को क्यों नहीं रोकते? तो इसका समाधान यह है कि प्रकरण आदि वैदिक स्मृति को नहीं रोकते, क्योंकि व्यञ्जना का प्राटुर्भाव ऐसे ही अर्थों का स्मरण कराने के लिये हुआ है। (यह है प्रथम मत का सांगत)।

२—अनेकार्थक शब्दों से होने वाले अर्थ-बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय भी एक हेतु है, अतः बोध आदि द्वारा समानरूप से सभी अर्थों में सकेत ज्ञात होने के कारण अनेकार्थक

शब्द-अवगोचर सभी अर्थों का स्मृति होने पर भी अन्वयबोध प्राकरणिक अर्थ का ही होगा है, क्योंकि प्रकरण आदि द्वारा वक्ता का तात्पर्य उसी अर्थ में निर्णीत होता है। इस तरह वक्तृ-तात्पर्यविषयोन्भूत अर्थ का जो बोध होता है वह व्यञ्जना के बिना अन्य किसी उपाय से साध्य नहीं है। व्यञ्जना से होने वाले बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय सर्वत्र अपेक्षित नहीं है क्योंकि जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ भी अनेक हों वहाँ वैयक्तिक बोध में भी तात्पर्यनिर्णय हेतु है किन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ एक ही हो वहाँ वैयक्तिक बोध में तात्पर्यनिर्णय हेतु नहीं होता। (यह है द्वितीय मत का सारांश)।

प्रथम और द्वितीय मत में अन्तर यह हुआ कि प्रथम मत में दुबारा केवल एक अर्थ का स्मरण मानना पड़ता था और प्रकरण आदि के ज्ञान से अप्राकरणिक अर्थ के स्मरण का प्रतिबन्ध (रुकावट) स्वीकार करना पड़ता था, किन्तु द्वितीय मत में ये दोनों बार्ने नहीं माननी पड़ती।

इ—‘अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों’ में, प्रकरणादि के द्वारा, केवल एक अर्थ का ही स्मरण होता है, अन्य का नहीं’ यह जो प्रथम मत में कहा गया है वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि सत्कार तथा उद्बोधक दोनों के रहने पर स्मरण का न होना असम्भव है। यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो ‘पय सुन्दर है’ इस वाक्य के ‘पय’ शब्द का अर्थ जब वक्ता के तात्पर्य (दूध) के विरुद्ध कोई ‘जल’ कहता है तब जो प्रकरणादि समझनेवाला यह कहता सुना जाता है कि ‘महाशय ! यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं’ वह नहीं बन सकता, निषेध करने वाले को प्रकरण आदि ज्ञान रहने से अप्राकरणिक (जल-रूप) अर्थ उपस्थित ही नहीं होगा, फिर उन्का निषेध वह कैसे कर सकता है। अतः प्रथम मत अजुक्त है।

द्वितीय मत में वक्तृतात्पर्यनिर्णय को आभिधिक अन्वय-बोध के प्रति कारण मानकर प्राकरणिक अर्थ का ही अभिधा से बोध समर्थित हुआ है, पर वह समर्थन असंगत है, क्योंकि आभिधिक अथवा वैयक्तिक—फिती भी प्रकार के अर्थ-बोध में वक्तृतात्पर्य-निर्णय को कारण मानना अनुचित है। यदि ऐसा कार्यकारणभाव माना जाय, तब शुद्ध आदि पशुओं के द्वारा उक्त वाक्यों का अर्थबोध ही नहीं होगा, क्योंकि वहाँ वक्ता (पशुओं) का किसी भी अर्थ में तात्पर्य नहीं रहता। ये (पशु) तो किसी अर्थ का बोध कराने की इच्छा से वाक्य नहीं बोलते वरन् सुने हुए वाक्यों को बिना अर्थ समझे दुहरा भर देते हैं। इस पर यदि कहा हो कि तात्पर्य-निर्णय का क्या कहीं कुछ उपयोग है ही नहीं तो इसका समाधान यह है कि उसका उपयोग अर्थबोध में नहीं, अपितु बोद्धा की प्रवृत्ति में है अर्थात् अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थों को समझ कर भी बोद्धा प्रवृत्त उसी अर्थ में होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य उसे निर्णीत होता है। अतः अनेकार्थक शब्द के सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का अभिधा से बोध मानने में कोई बाधा नहीं। यह बात तो तब हुई जब सभी अनेकार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को भी नियमत प्रतीति माना जाय।

पर यदि वक्तृतात्पर्य के ज्ञान अथवा श्रोता की विशिष्ट बुद्धि-शक्ति को कारण मानकर यह माना जाय कि अप्राकरणिक अर्थ को समझाने वाली व्यञ्जना कहीं प्रादुर्भूत होती है और कहीं नहीं, तो यह भी संगत नहीं, क्योंकि तात्पर्य-ज्ञान को वैयक्तिक बोध-स्थल में कारण नहीं

माना जाता। रही श्रोता को बुद्धि शक्ति, सो उसे व्यञ्जना का प्रादुर्भावक मानने की अपेक्षा प्रकरणादि के ज्ञान से दबी हुई अभिधाशक्ति को उद्भूत करने वाली ही क्यों न माना जाय ? वह किसी पद की अप्राकरणाधिकारोपरस्थापक अभिधा को उद्भूत न करके व्यञ्जना को उद्भूत करे, यह मान्यता युक्तिविहीन है। इस तरह दोनों मत रूढ़ित हो जाते हैं।

अब यदि कहा जाय कि जहाँ अप्राकरणाधिक अर्थ अवाधित रहेगा वहाँ उसका बोध भले ही अभिधा से हो पर जहाँ अप्राकरणाधिक अर्थ जुगुप्सित अतएव बद्धिकरणक सेक के समान बाधित रहेगा वहाँ तो उसका बोध अभिधा से नहीं हो सकता, क्योंकि बाध निश्चय को तदज्ञानबुद्धि के प्रति सभी प्रतिबन्धक मानते हैं, अतः वैसे अप्राकरणाधिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना की ही शरण लेनी पड़ेगी, क्योंकि वैयञ्जनिक बोध में बाधनिश्चय प्रतिबन्ध नहीं करता, तो हमका ममाधान यह है कि जैसे अपद्धति, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के स्थल में वाच्य अर्थ ही बाधित रहते हैं—अतः शब्दज्ञान में बाध निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता वैसे यहाँ भी बाधित अप्राकरणाधिक अर्थ का बोध अभिधा से ही हो जा सकता है।

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि अनेकार्थक शब्दस्थल में द्वितीय (अप्राकरणाधिक) अर्थ का बोध व्यञ्जना द्वारा नहीं, किन्तु अभिधा द्वारा ही होता है। हाँ, प्राकरणाधिक और अप्राकरणाधिक अर्थों की उपमा अवश्य ही व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होती है।

इस प्रकार प्राचीनों की शिथिल होती हुई युक्ति को बल देने के लिये पण्डितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ निकाला है जहाँ व्यञ्जना के बिना द्वितीय अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। वह स्थल है—योगरूढ शब्दों से बने पद्य।

‘रुद्धिर्योगापहारिणी’ हम निवम के अनुसार योगरूढ शब्दों के रूढ अर्थ ही अभिधाद्वारा ज्ञान हो सकते हैं। वहाँ योगिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से ही करना पड़ेगा। अतः वस्तु-शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का लक्ष्य वैसे ही पद्य हो सकता है जो योगरूढ पदों से बना हो। इनका कह देने के बाद यह भी कहा जा सकता है कि जब योगरूढ शब्द-स्थल के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ी तब अनेकार्थक शब्दस्थल में भी द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जना से मानना ही सरल पक्ष है। यह है दुर्नाय मत का माराश। वहाँ हम माराश सकलन का प्रयोजन यह है कि ग्रन्थगत विशद शास्त्रार्थ को समझने में पाठकों को सुविधा हो।

शब्द-शक्ति

अब यहाँ शब्दों की उन शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना है जिनके आधार पर उक्त विशाल ‘ध्वनि प्रामाद’ खडा किया गया है। उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् विवेचन से पूर्व सामान्य ज्ञान के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि ये शक्तियाँ सख्या में तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। यद्यपि अन्य शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा ये दो ही शब्द शक्तियाँ मानी गई हैं तथापि यहाँ अलङ्कार-शास्त्र के माध्यम से ही शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में विचार करना है और अलङ्कार-शास्त्र में उक्त तीनों ही शक्तियाँ स्वीकृत हुई हैं, अतः शक्तियों की सख्या तीन ही समझते हुए यह भी समझना चाहिए कि अलङ्कारशास्त्र के समान व्याकरणशास्त्र में भी उक्त

तीन शक्तियों समर्पित हुई हैं। इन शक्तियों का वर्णन शास्त्रों में 'वृत्ति' शब्द से भी किया गया है, अतएव अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग केवल 'अभिधा' के लिये ही हुआ है अर्थात् अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' पद का अर्थ 'अभिधा' समझना चाहिए।

अलङ्कारशास्त्र के जिन ग्रन्थों में, मुख्यरूप से इन वृत्तियों का विवेचन किया गया है, वे ग्रन्थ निम्न हैं—

अभिपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्तिक और रसगङ्गाधर। इनमें अभिपुराणगत वृत्ति-निरूपण कुछ भिन्न ही प्रकार का है, अतः उनकी चर्चा यहाँ तीनों वृत्तियों का विवेचन कर लेने के बाद ही की जायगी।

अभिधावृत्तिमातृका में प्रायः मीमांसकों के मतानुसार अभिधा तथा लक्षणा को ही मान्यता दी गई है और व्यञ्जना नहीं मानी गई है। शब्दव्यापारविचार और काव्यप्रकाश के निर्माता एक ही व्यक्ति (मम्मट) हैं, अतः उनमें मतभेद की सम्भावना ही नहीं है। साहित्यदर्पण भी इस अर्थ में बहुत कुछ प्रकाश का ही अनुगमन करता है। और जो कुछ विशेष है उसका उल्लेख दयावसर आगे किया जायगा। वृत्तिवार्तिक के रचयिता अप्ययदीक्षित के मत का तो सर्वत्र पण्डितराज सन्देह ही करते हैं, अतः वृत्तिविचार में भी उनके मत का उल्लेख ही इस ग्रन्थ में किया गया है।

अभिधा

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक संबन्ध विशेष का नाम अभिधा है। यह संबन्धविशेष शब्द-शक्ति-स्वरूप एक स्वतन्त्र पदार्थ है यह कुछ लोगों (मीमांसकों) का मत है। नैयायिक लोग इस संबन्ध विशेष अथवा अभिधा को 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए' इस रूप में होने वाली अथवा 'यह पद इस अर्थ को समझावे' इस रूप में होने वाली ईश्वर की इच्छा अथवा किसी तरह आधुनिक मनुष्यों की इच्छा मानते हैं। पर यहाँ प्रथम मत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि, द्वितीय मत में एक तो यह प्रतिबन्धी सटी हो जाती है कि यदि उत्त्प्रकारक ईश्वरेच्छा को अभिधा माना जाय तब उत्त्प्रकारक ईश्वर-ज्ञान को ही अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? दूसरे, यदि अभिधा को ईश्वरेच्छारूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः रूढिमूला लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों नहीं माना जाय ? फलतः सिद्ध हुआ कि अभिधा का अर्थ ही पद और पदार्थ का पारस्परिक संबन्ध और वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है—एक प्रकार की शब्द-शक्ति है, इच्छा आदि रूप नहीं।

इसी प्रसङ्ग पर यह भी समझ लेना चाहिए कि उक्त अभिधा को समझने का साधन क्या है ? शास्त्र में, शक्तिग्रह (अभिधा-ज्ञान) के ये आठ साधन बतलाए गए हैं^१। व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और सिद्ध पद का साभिष्य। इन साधनों में व्यवहार को शक्तिग्राहक-शितोमणि (सबसे मुख्य साधन) कहा गया है। अतः, उक्त मुख्य साधन के आधार पर ही यहाँ इस प्रसङ्ग का कुछ भीमासा की जाती है।

१. शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याव्यवहारतथ ।

वाक्यस्य शेषादिद्वेवैदन्नि साभिष्यतः सिद्धपदस्य वृत्ता ॥

देखा जाता है कि किसी व्यक्ति से 'गामानय (गौ को लाओ)' मात्र कहते ही वह गौ को ले आता है। अब यदि वहाँ कोई बालक (जिसको उक्त वाक्य का अर्थज्ञान नहीं रहता) उपस्थित रहता है, तो उसे उक्त व्यवहार में उक्त वाक्य का (अन्त में उस वाक्य के अन्दर आए हुए पदों का भी) शक्ति-ग्रह होता है और वह इस प्रकार होता है कि पहले बालक प्रत्यक्ष प्रमाण से उन वस्तुओं को देखना तथा सुनता है अर्थात् वाक्य को जान से सुनता है और वक्ता के बोद्धव्य (जिसके प्रति वक्ता उक्त वाक्य कहता है) को तथा लाई जानी हुई गौ को आँसों से देखता है। इसके बाद वह बालक बोद्धव्यगत ज्ञान का अनुमान करता है अर्थात् 'इस बोद्धव्य व्यक्ति ने, उक्त वाक्य से अवश्य ही गौ का लाना समझा है, क्योंकि उसको चेष्टा उसी तरह की हो रही है—वह गौ को ला रहा है' यह समझता है। इसके बाद उस बालक के मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा उठती है कि क्यों इसने (बोद्धव्य ने) उक्त वाक्य का वही अर्थ (गौ का लाना) समझा, दूसरा कोई अर्थ क्यों नहीं समझा, अतः अवश्य ही उक्त वाक्य का उस ('गामानय' का 'गौ का लानारूप अर्थ') के साथ कोई सम्बन्ध है। इस तरह, उक्त वाक्य तथा उक्त वाक्यार्थ के बीच जिस पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति) की सहायता से, बालक को होता है वही अभिधा है और उस अभिधा का उक्त प्रकार से होने वाला ज्ञान ही व्यवहार द्वारा होनेवाला 'शक्ति-ग्रह' है। पर यह शक्ति-ग्रह अरुण्ड वाक्य का अरुण्ड वाक्यार्थ में हुआ, अर्थात् उक्त व्यवहार से बालक इतना समझ सका कि 'गामानय' यह एक अरुण्ड वाक्य है जिसका 'गौ का लानारूप अर्थ के साथ सम्बन्ध है। यह नहीं समझ सका कि इस वाक्य के अन्दर 'गाम्' एक पद है और उसका सम्बन्ध 'गौ' से है, इसी तरह 'आनय' दूसरा पद है और उसका सम्बन्ध 'लाने' से है। इस तरह का पद-शक्ति-ज्ञान बालक को तब होता है, जब वक्ता कहता है—'गाम् कथान (गौ को बाँध दो) 'अश्वन् आनय (घोड़े को ले आओ)'। तात्पर्य यह कि जब उक्त वाक्य को सुन कर तदनुसार आचरण करते हुए बोद्धव्य को बालक देखता है तब उक्त प्रक्रिया से बालक को उस पद की अभिधा प्राप्त होती है। उसी का नाम 'बोधबोधभाव' अथवा 'बोधजनकता' किंवा 'तादात्म्य' है।

यहाँ यह भी समझ लेना उचित है कि अभिधा-ज्ञान से शब्दार्थ का ज्ञान कैसे होता है। सबन्धियों के विषय में यह नियम है कि—एक सबन्धी का ज्ञान होने पर दूसरे सबन्धी का अपने आप स्मरण हो आता है^१, जैसे 'मोहन' का घर देखने पर 'मोहन' का स्मरण तुरन्त हो आता है। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु का और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है तथा इस प्रकार से स्मृतिपथ में आए हुए अर्थों का पीछे अन्वयबोध होता है। उक्त नियम के अनुसार शब्दप्रवण के अनन्तर उक्त शब्द से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ का स्मरण उन्हीं को होता है जो उस सबन्ध (अभिधा) को जानता रहता है। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त सबन्धरूप अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

१. एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिन स्मारयति ।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढि, योग और योगरूढि । कुछ लोग वीगिकरूढि नामका एक चतुर्थ भेद भी मानते हैं । इन सबका सोदाहरण विवरण प्रकृत ग्रन्थ में ही यथास्थान विशद रूप में आया है ।

वाच्य अर्थ

इस अभिधा किंवा शक्तिनामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसको वाच्य अर्थ कहते हैं । शब्दान्तर में इस प्रकार कह सकते हैं कि उक्त अभिधाशपक साधनों से जिस अर्थ का बोध होता है उसका नाम वाच्य अर्थ है । यह वाच्य अर्थ अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी कहा जाता है ।

वाचक शब्द

अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ का बोध कराने वाला शब्द वाचक कहलाता है ।

लक्षणा

प्रायः देखा जाता है कि शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ से अन्य अर्थ में भी कभी-कभी होता है । सहृदय पुत्र्य अपकार करने वाले से कहा है—‘तुमने बड़ा उपकार किया, तुम ली बरस जीओ’ । इन वाक्यों में क्रमशः ‘उपकार’ का अर्थ ‘अपकार’ और ‘जीओ’ का अर्थ ‘नहीं जीओ’ है । पर उक्त दोनों पदों के उक्त दोनों अर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि उन अर्थों में उन शब्दों की अभिधा, कोष किंवा व्याकरण अथवा व्यवहार आदि से छात नहीं होती और तब तक किसी शब्द का कोई अर्थ हो नहीं सकता जब तक उस शब्द में उस अर्थ की बोधिका कोई वृत्ति न हो । ऐसी ही स्थिति में, ऐसी ही अर्थों को सिद्ध करने—समझाने—के लिये ‘लक्षणा’ की आवश्यकता होती है ।

लक्षणा का स्वरूप

विश्लेषण करने पर विदित होता है कि शब्द पहले अपने साक्षात् सम्बन्ध—अभिधा के द्वारा वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध पड़ता है, तब उस पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे अर्थ को उस पद का अर्थ मानना पड़ता है जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होता है । अभिप्राय यह कि ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्धद्वारा नहीं, अपितु पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण शान होता है ।

स्पष्ट रूप में हम बात को यों भी कह सकते हैं कि पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात्सम्बन्धद्वारा और दूसरे परंपरा-सम्बन्ध (अपने सवन्धी-वाच्य-अर्थ के संबन्ध) द्वारा । इनमें प्रथम सवन्ध को अभिधा और द्वितीय सवन्ध को लक्षणा कहते हैं । जब केवल प्रथम संबन्ध कार्यकारी नहीं होता (वक्ता के तात्पर्य के विपरीत अर्थ का बोधक नहीं हो पाता) तभी द्वितीय संबन्ध का उपयोग किया जाता है । अतएव अभिधा प्रथम वृत्ति और लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत वृत्ति समझी जाती है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि शक्य वाच्य (मुख्य) अर्थ के सवन्ध का नाम लक्षणा है । लक्षणा का यही स्वरूप (लक्षण)

प्रकृत निबन्ध में स्वीकृत हुआ है। न्यायदर्शनप्रणेता आचार्यों ने भी लक्षणा के इस स्वरूप का ही समर्थन किया है।

अभिधावृत्तिमादृकाकार मुकुल भट्ट की यह उक्ति भी लक्षणा के इसी स्वरूप की ओर इतिहास करती है। वे कहते हैं—'शब्द के व्यापार से जिसकी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और शब्द के अर्थद्राता जो अर्थ शाप होता है अर्थात् जिसे अर्थ के समझने में मुख्य अर्थ मध्य में पड़ता है उस अर्थ को रक्ष्य (लक्षणाद्वारा ज्ञात) समझना चाहिए।'

लक्षणास्वरूप के विषय में मतान्तर

कतिपय प्राचीन विशाल् 'वाच्य अर्थ के सन्बन्धद्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ के ज्ञान (स्मरण) को लक्षणा मानते हैं।^१ काव्यप्रकाशकार मम्मदभट्ट-कृत लक्षण से भी लक्षणा का यही प्राचीन-सम्मत-स्वरूप फलित होता है क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश में कहा है—'मुख्य अर्थ का वाच्य रहने पर रुचि अथवा प्रयोजन से जो अन्य अर्थ ज्ञात होता है वह शक्ति लक्षणा है, शब्द में यह लक्षणा आरोपित की जाती है।'^२ इस लक्षण में 'अन्य अर्थ जो लक्षित होता है वह लक्षणा है' इतना अर्थ स्वरूपकथन-परक है और अन्य अर्थ लक्षणा-हेतु-कथनपरक है। इस लक्षण से लक्षणा का उक्त प्राचीनानुसृत स्वरूप ही पर्यवेक्षित होता है।

यद्यपि कतिपय टीकाकारों ने मम्मदीय लक्षणास्वरूपबोधक कारिका की व्याख्या अपने दृष्ट से करके 'रक्ष्य-सन्बन्ध लक्षणा है' ऐसा अभिप्राय निराला है, पर वह अभिप्राय पस्तुतः मम्मद का नहीं है, क्योंकि मम्मद ने 'मुख्यार्थवाचादिश्रयं हेतु' लिखकर स्पष्ट शब्दों में 'रक्ष्य-सन्बन्ध' को लक्षणा का कारण माना है और 'रक्ष्य-सन्बन्ध' लक्षणा का कारण 'रक्ष्यसन्बन्ध' ही नहीं समझा।

भट्टवाकिककार कुमारिल भट्ट (भीमात्मक) का लक्षण भी बहुत कुछ इसी दृष्ट का है। उनका कथन है—'मुख्य अर्थ को स्वीकार करना यदि अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) से विरुद्ध पड़ता हो तब अभिधेय (वाच्य) अर्थ से सम्बन्ध अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है वह लक्षणा है।'^३ इन सभी मतान्तरों का सारांश एक होने से इन सब को एक मतान्तर कह सकते हैं।

कुछ लोग 'रक्ष्यतावच्छेदकारोप' को लक्षणा कहते हैं। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि मुख्य अर्थ में रहने वाले जसाधारणधर्म का मुख्यार्थ से सम्बन्ध अन्य अर्थ में आरोप करना ही लक्षणा का स्वरूप है। जैसे—'गद्गा में घोष' इस वाक्य में गद्गापदरक्ष्यतावच्छेदक गद्गात्व का गद्गापदार्थ-प्रवाह-विरोध से सम्बन्ध तद में आरोप करना। अन्य लोग वक्ता के तात्पर्य (इच्छा-विरोध) को ही लक्षणा कहते हैं।

१. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।

वर्षावसेवस्थ पुनर्लक्ष्यनाश्वमुच्यते ॥

२. 'रक्ष्यसन्बन्धेनाश्रयभतिपरिश्रुगा' इति प्राचा लक्षणम्।

३. मुख्यार्थवाधे तयोपे रुचितोऽर्थप्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्ना लक्षणादीपिता क्रिया ॥

४. 'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्वापरिग्रहे।

अभिधेयविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेच्यते ॥

समीक्षा

यहाँ प्रथम मतान्तर संगत नहीं, क्योंकि शब्द से अर्थ का स्मरण होने में वित्तका ज्ञान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द को वृत्ति अथवा शक्ति कहलाना है। वैसा पदार्थ स्मरण नहीं यदि तु सम्बन्धविशेष ही हो सकता है, क्योंकि 'पूर्वोक्त स्मरण (ज्ञान) का ज्ञान' लक्ष्य अर्थ के बोध का कारण नहीं है। सारांश यह कि ज्ञान का कारण वृत्ति है, ज्ञान ही नहीं। अतः संबन्ध को ही लक्षणा मानना उचित है, न कि स्मृति को।

यदि किसी तरह मन्त्र की कारिका से शक्य-संबन्ध का लक्षणा होना सिद्ध किया जा सके, और अग्रिम तदीय-व्यन्य का विरोध परिहृत कर दिया जाय, तब प्रकारगत लक्षणा को ही ठीक माना जा सकता है।

इसी तरह कुमारिलमठ के वार्तिक की व्याख्या यदि 'अभिधेयाभिनाभूतप्रतीतिः' पद का 'अभिधेयसम्बन्ध अर्थ की प्रतीति हो जितसे' वह पदार्थ अर्थ मानकर की जाय तब वह लक्षणा भी ठीक ही है।

शक्यतावच्छेदकारोप को लक्षणा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर—

‘कचतलस्यति धदनं वदनात् कुचकुड्मलं विभेति ।

मध्याद् विभेति नयनं नयनादपरः समुद्रिजति ॥

अर्थात् केश से मुख बरना है, मुख से उर्दुंग स्तन भीत होगा है, मध्यभाग (काटि) से नयन नयनीय है और नयन से अपर उद्विग्रह हो उठता है।'

इस पद्य में लक्षणा करने का कोई फल नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि—यहाँ कच, वदन, कुचकुड्मल, मध्य, नयन तथा अपर शब्द, क्रमशः राहु चन्द्र, कमल, सिंह, हरिण और पठवरूप अर्थ में लाक्षणिक हैं। अब यदि शक्यतावच्छेदकारोप की लक्षणा माना जाय तब कचत्व आदि का राहु आदि में आरोप किया जायगा, पर एतसे प्रकृत में कोई लाभ नहीं, क्योंकि वस्तु तरह के आरोप से राहु आदि भी केश आदि ही समझे जायेंगे, फिर उनसे चन्द्र आदि के बरने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा।

अग्निम मन भी अच्छा नहीं है क्योंकि आगे दिसलाया जायगा कि लक्षणा का एक कारण तात्पर्य की अनुपपत्ति है। यदि तात्पर्य ही लक्षणा हो तब पूरा कार्यस्वरूप ही कारण के पेट में समा जायगा, फिर उक्त दोनों पदार्थों का कार्यकारणभाव कैसे बन सकता है।

लक्षणा के कारण

अब यहाँ शका यह उठती है कि—लक्षणा किन्हीं कारणों के आधार पर होती है अथवा वैसे ही ? इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि—कारणों के आधार पर ही लक्षणा होती है क्योंकि यदि वहाँ ही लक्षणा की जाय तब सर्वत्र सभी पदों की जिस किसी सबद्ध अर्थ में लक्षणा मान ली जा सकेगी। अब देराना यह है कि वे कारण कौन से हैं जिनके आधार पर लक्षणा होती है। प्रथम कारण वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, अर्थात् जब किसी पद के मुख्य अर्थ से वक्ता का तात्पर्य (जो कुछ वक्ता कहना चाहता है वह वाक्यार्थ) सिद्ध नहीं हो पाता तब उस पद की लक्षणा होती है।

कुछ लोग अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का प्रथम कारण मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—जब मुख्य अर्थ का अन्वय वाक्यान्तर्गत अन्य पद के अर्थ के साथ नहीं हो सके तब लक्षणा होती है। पर यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि इसी कारण के आधार पर लक्षणा हो तब तो 'गङ्गा में घोष' ऐसा कहने पर जो नियमत गङ्गा पद की तट में लक्षणा मानी जाती है वह आवश्यक नहीं रह जायगा—अर्थात् घोषपदार्थ में गङ्गापदार्थ का अन्वय नहीं हो सकने के कारण ही अब लक्षणा का आश्रयण करना ठहरा, तब हमको क्या आवश्यकता कि गङ्गा पद की ही लक्षणा तट में मानी जाय। घोष पद की मीन-शैवाल आदि में लक्षणा मानकर भी 'गङ्गा में मीन अथवा शैवाल' यह अन्वित अर्थ किया जा सकता है।

इसी तरह 'कौओं से दही की रक्षा कीजिए' इस प्रसिद्ध लक्षणोदाहरण में लक्षणा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जायगा, क्योंकि यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् केवल कौओं से दही की रक्षा कर देने पर भी वाक्य अभिन्नार्थक हो ही जाता है।

तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का कारण मानने वालों के मत से तो यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उन सभी प्राणियों से दही की रक्षा करने में है जिनसे दही की बरबादी संभव हो, फिर यदि कौओं से बचाकर भी कुत्तों से दही नष्ट करा दिया जाय तब वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न होता है, अतः काक पद को लक्षणा दृष्ट्युपघातक में होती है। इसी तरह अन्य भी दोष हो सकते हैं। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का प्रथम कारण मानना चाहिए—अन्वयानुपपत्ति को नहीं।

यदि तात्पर्यानुपपत्तिरूप एक ही कारण लक्षणा का माना जाय तो वक्ता कुछ भी बोले, कुछ भी अर्थ लगावे, उसे रोका नहीं जा सकता, और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किन अर्थ में है यह समझना पक्कम असंभव हो जाय, अतः लक्षणा के ये दो नियामक कारण और हैं—रूढि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अतः तात्पर्यानुपपत्ति के अतिरिक्त इन दोनों में से किन्ना एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सब का सारांश यह हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनों में से एक—ये लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हों तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के भेद

पण्डितराज का मत

रूढि (प्रसिद्धि) तथा प्रयोजनरूप कारणों के भेद से प्रथमतः लक्षणा के दो भेद होते हैं। उनमें रूढि के कारण होनेवाली लक्षणा को रूढा किंवा निरूढा और प्रयोजन के कारण होनेवाली लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने रूढा लक्षणा के भेद नहीं माने। पण्डितराज ने भी अशुचिग्रहण रूप में ही उनके भेद किए हैं, क्योंकि उन्होंने उक्त प्रकार से दो भेद करके कहा है कि उन दोनों (रूढा तथा प्रयोजनवती) भेदों में द्वितीय (प्रयोजनवती) के पुनः दो भेद होते हैं—गौणी तथा शुद्ध। उनमें प्रथम (गौणी) के भी दो भेद होते हैं—सारांश और साध्यवसाना। और द्वितीय (शुद्ध) के चार भेद होते हैं—वह्दत्त्वाभा, भ्रज

त्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना । इतना कहकर रुद्रों के दो उदाहरण दिए गए जिनमें एक वाङ्मय का संबन्ध सादृश्य और दूसरी अण्ड सादृश्य से मिश्ररूप देखा गया, अतः रुद्रा लक्षणा के भी गौणी और शुद्धा—दो भेद मानते हैं ऐसा लिखा, फिर प्रयोजनवती के उदाहरणों का विचार आरम्भ किया । इस कथन-क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रा लक्षणा के एक दो भेदों के विषय में ग्रन्थकार की पूर्ण मम्मति नहीं है । श्री कुल भा हो, इस तरह पण्डितराज के मत से प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा अहत्स्वार्था, शुद्धा अनहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छह भेद होते हैं । इन छह भेदों में यदि रुद्रा के दो भेद मानकर उन्हें भी सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल लक्षणाभेद आठ और यदि उसका एक ही भेद मान कर सम्मिलित कर लें तो पण्डितराज के मत से कुल लक्षणाभेद सात सिद्ध होते हैं ।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था का नामान्तर

अन्यत्र जहत्स्वार्था को जहत्लक्षणा अथवा लक्षणलक्षणा और अजहत्स्वार्था को अजहत्लक्षणा अथवा उपादान-लक्षणा भी कहा गया है ।

जहदजहत्स्वार्था भेद का निराकरण

वृत्तिवार्तिक के रचयिता भण्णवरीक्षित ने वेदान्तियों के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहत्स्वार्था नामक भेद और माना है । पर प्रकृत ग्रन्थ में उस भेद की कहीं चर्चा ही नहीं हुई है, अतः यह मानना पड़ता है कि पण्डितराज इस भेद को नहीं मानते क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अन्य अर्थ के लिये अपने अर्थ (वाच्य) को अपित कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होगी है । यह बात दूसरी है कि वह अर्थ को सर्वांश में अथवा किमी अंश-विशेष में छोड़े । इस प्रकार जिस तरह सर्वांश में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ देने की स्थिति में जहत्स्वार्था मानी जाती है, उसी तरह किमी अंश विशेष में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ने की स्थिति में भी जहत्स्वार्था मानी हो जा सकती है, फिर द्वितीय स्थिति में जो एक जहदजहत्स्वार्था नामक नवीन भेद कहा जाता है उसकी कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् जिसकी आप नवीन भेद मानना चाहते हैं वह जहत्स्वार्था नामक भेद में ही अन्तर्भूत हो जाता है । यह विचार काव्यप्रकाश की प्रदीप तथा उद्योत नामक टीकाओं में व्यक्त किया गया है । वृत्तिवार्तिककार ने भी कुछ और शास्त्रांगीय दृष्टि की सुक्तियों के आधार पर इसी तथ्य को पुष्ट किया है ।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

लक्षणा के आठ भेदों में निरुद्धा लक्षणा व्यङ्ग्यरहित होती है, अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई सुन्दर उपयोग नहीं होना, अर्थात् उसके आधार पर न तो कोई प्वनिकाव्य होना है, न अलंकार । प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का अति-शयोक्ति अलंकार में और शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना (दोनों) का हेतुअलंकार में उपयोग होता है । यह बात प्रसङ्गवश पहले भी लिखी जा चुकी है । रहे दो भेद, उनमें से शुद्धा अहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थान्तरसम्प्रमितवाच्य' नामक दो प्वनिभेद होते हैं ।

मम्मट का मत

मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेद इस प्रकार किए हैं—लक्षणाप्रथमतः दो प्रकार की होती है—रुदिमूला तथा प्रयोजनमूला। उनमें प्रयोजनमूला के प्रथमतः दो भेद होते हैं—शुद्धा और गौणी। उनमें प्रथम भेद (शुद्धा) के चार भेद हो जाते हैं—शुद्धा उपादान-लक्षणा सारोपा, शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना, शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा और शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना। गौणी के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनमूला के छै भेद होते हैं। इन छै भेदों के पुनः दो दो भेद हो जाते हैं, क्योंकि प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्य गूढ (सद्दयमात्रवेच) तथा अगूढ (सर्वजनवेच) भेद से दो प्रकार का हो सकता है। फलतः मम्मटभट्ट के मत से, रुदिमूला का एक और प्रयोजनमूला के चार—इस तरह समग्र लक्षणभेद तेरह सिद्ध होते हैं।

यद्यपि अन्य कतिपय धालोचर्यों ने रुदिमूला के भी गौणी शुद्धा भेद मान कर मम्मट के मत से कुल चौदह लक्षणाभेद माने हैं, पर काव्यप्रकाश में रुदिमूला लक्षणा के दो भेदों की कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती, अतः मम्मट के मत से उक्त भेद-संख्या सगत नहीं हो सकती। काव्य-प्रकाश के प्रतिद टीकाकार वामनाचार्य ने भी अपनी टीका में तेरह भेद ही माने हैं।^१

विश्वनाथ का मत

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज लक्षणा के प्रथमतः दो भेद करते हैं—रुदिमूला और प्रयोजनमूला। इन दोनों भेदों के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा-भेद से पुनः दो दो भेद मानते हैं। इस तरह सिद्ध किए गए चार भेदों के पुनः सारोपा तथा साध्यवसाना-भेद से दो दो भेद कर देते हैं। इस तरह लक्षणा के आठ भेद सिद्ध किए जाते हैं। ये आठों भेद पुनः गौणी शुद्धा भेद से दो दो प्रकार के माने जाते हैं। इस प्रकार लक्षणा के प्रधान भेद सोलह सिद्ध किए जाते हैं। इस तरह उनके मत से, १—रुदिमूला उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा, २—रुदिमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ३—रुदिमूला लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा, ४—रुदिमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ५—रुदिमूला उपादानलक्षणा सारोपा गौणी, ६—रुदिमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी, ७—रुदिमूला लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी और ८—रुदिमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी—ये आठ रुदिमूला लक्षणा के और इसी तरह इन्हीं नामों वाले आठ प्रयोजनमूला लक्षणा के भेद होते हैं। इनमें रुदिमूला के उक्त आठ ही भेद रह जाते हैं, पर प्रयोजनमूला लक्षणा के उक्त आठों भेदों के पुनः प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य के गूढगूढभेद से दो दो भेद कर दिए जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के सोलह भेद सिद्ध होते हैं और ये सोलहों भेद पुनः फल (प्रयोजन) के धर्मों तथा धर्मगत होने से दो-दो प्रकार के बन कर बर्तीत हो जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के बर्तीत और रुदिमूला के आठ—कुल चाँलिस भेद लक्षणा के का दिए जाते हैं। किन्तु इतने पर भी दर्पणकार को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि जिस तरह वैयाकरण लोग अर्धमात्रा लघव से पुत्रोत्सव मनाते हैं^२,

१. 'तथा च व्यङ्ग्यरहिता रुदिलक्षणा एकविधा, उक्तवहविधा प्रयोजनलक्षणा गूढव्यङ्ग्या-गूढव्यङ्ग्यात्वेन द्विविधा, मिलित्वा लक्षणा प्रबोधशविधा बोधा।

२. अर्धमात्रात्वात्वेन पुत्रोत्सव मन्वन्ते वैवाकरणाः ।

वसी तरह आलंकारिक लोग भेद-वर्धन से अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। फलतः उक्त चालीस भेदों को भी पदगत और वाक्यगत मान कर विश्वनाथ कविराज लक्षणा-भेदों को अतसी तक खींच ले गये हैं।

विभिन्न मतों की समीक्षा

पाठक रूपया इस सूत्र का ध्यान रखें कि प्रकृतोपयोग तथा चरम बिन्दु तक पदार्थका सूक्ष्मतम विच्छेपण, इन दो दृष्टिकोणों से लक्षणा के विषय में—किसी भी पदार्थ के विषय में—विचार किया जा सकता है। यह जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार का लक्षणा निरूपण दृष्टिगोचर होता है उसका रहस्य बहुत कुछ उक्त दृष्टिकोण-विभिन्नता में ही निहित है। अभिप्राय यह कि—रसगहापर का लक्षणा विचार सर्वथा अलंकारशास्त्र में उसके उपयोग को दृष्टि में रखकर किया गया है। काम्यप्रकाश का लक्षणा विचार भी यद्यपि उसी दृष्टिकोण को मुख्य मान कर हुआ है तथापि उसमें कुछ-कुछ दूसरा दृष्टिकोण भी झलकता है। साहित्यदर्पण का लक्षणा-विचार विशुद्ध पदार्थविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किया गया प्रतीत होता है।

अलंकारशास्त्र में होने वाले उपयोग को दृष्टि में रख कर यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः निरुद्धालक्षणा का भेद दिखलाना ही नहीं, एक तरह से उसकी चर्चा ही निरर्थक है क्योंकि निरुद्धालक्षणा तो फलतः अभिधा ही है। चिरप्रसिद्धि के कारण जब कोई शब्द अपने योगार्थ को छोड़ कर सदा के लिये अन्य अर्थ में रुढ़ हो जाता है तब उसमें वाचक शब्द से कुछ अन्तर नहीं रह जाता। जैसे—आज 'लापण्य' शब्द के योगबल्लभ्य 'नमकीन' रूप अर्थ की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाना, बिना अशान्तर शक्य सन्धादि शान के उस पद से सौन्दर्य विशेष की प्रतीति आशान्तर को होती है। फिर ऐसे निरुद्धालक्षणिक शब्दों में 'यहाँ शक्य का संबन्ध क्या है' इत्यादि बातों की छानबीन करना भाषाविज्ञान की दृष्टि में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से तो सर्वथा उक्त छानबीन निरर्थक है, क्योंकि अलंकारशास्त्र में शब्द के उपयोगानुपयोग या विचार व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर ही किया जाता है, स्पष्ट शब्दों में ध्वनिमार्गप्ररथापक परमाचार्य आनन्दवर्धन ने महाकवियों को यत्पूर्वक व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्दों को ही पहचानने की सलाह दी है^१। और उक्त निरुद्धालक्षणिक शब्दों के स्थल में व्यङ्ग्यार्थ रहता नहीं है।

ऐसी स्थिति में कम से कम साहित्यिकों के लिये इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि—लक्षणा का एक निरुद्ध भेद भी होता है—इससे अधिक की उन्हें आवश्यकता नहीं है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीनों ने और मम्मटमट्ट ने भी निरुद्धालक्षणा के भेद करना उचित नहीं समझा और पण्डितराज ने भी परकीय मत के रूप में—सादृश्य तथा सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धमूलक योगी-शुद्धा—दो भेद उसके लिए कर मौन साध लिया।

पर साहित्यदर्पणकार का दृष्टिकोण दूसरा था—वे लक्षणा का निरूपण शुद्ध पदार्थ-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से करना चाहते थे, अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से नहीं, अतः

१. सौर्जस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कथनम्।

यज्ञतः प्रत्यभिधेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ (ध्वन्यालोक)

उन्होंने निरुद्धालक्षणा के भी आठ भेद खोज निकाले जो उचित हैं, क्योंकि उन्होंने उन आठों भेदों के जो उदाहरण उपस्थित किए हैं वे सर्वथा उपयुक्त हैं, तथा उन्हीं के आधार पर वे भेद माने जा सकते हैं। विस्तार-भय से यहाँ उन उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया गया है।

रसगङ्गाधरकार तथा काव्यप्रकाशकार ने प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के नदस्त्वार्था-अनदस्त्वार्था भेद नहीं किए क्योंकि उन भेदों का प्रकृत शास्त्र में उपयोग नहीं है और उन आचार्यों की दृष्टि पदार्थविश्लेषण की अपेक्षा प्रह्नोपयोग पर अधिक थी। यद्यपि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उक्त भेदों को असम्भव भी ठहराया है—कतिपय आलोचकों ने भी उक्त टीकाकारों को युक्तियों को उद्धृत कर दर्पणकार को गलत कहा है, पर वह एक शास्त्रार्थ की शैली है, उस शैली से दर्पणकार के मत को भी ठीक किया जा सकता है। चैते—

उक्त टीकाकारों से उक्त भेदों को असम्भविता में युक्ति दी है कि—‘जहाँ प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के जहत्स्त्वार्था-अनदस्त्वार्था भेद कहे जाते हैं वहाँ लक्षणा का बोजभूत (प्राचीन मत से) लक्षणास्वरूप (नवीन मत से) सम्बन्ध सादृश्य है अथवा अन्य ? यदि सादृश्य है तब वहाँ अनदस्त्वार्थाभेद नहीं हो सकता, क्योंकि नद भेद तभी होता है जब लक्ष्य अर्थ के अन्दर-मुख्य अर्थ भी रहे—उसका त्याग न होता हो और सादृश्य को सर्वन्ध मानने पर लक्ष्य के अन्दर मुख्य का रहना सम्भव नहीं, क्योंकि अपने में अपना सादृश्य नहीं हो सकता—अर्थात् सादृश्य भेदव्यति पदार्थ है, अतः वह दूसरे में दूसरे का ही हो सकता है। यदि सादृश्य से अन्य कोई सम्बन्ध नहीं माना जाय तब उस भेद को गौणी नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्यसम्बन्ध-मूलक लक्षणा को ही गौणी मानते हैं।’ यही है उनकी युक्ति और काव्यप्रकाश का समर्थन करने के लिये वह ठीक भी है, पर साहित्यदर्पण के समर्थन में यह भी तो कहा जा सकता है कि यहाँ सादृश्य पदार्थ को भेदाव्यति ही मानते हैं—रूपकालकार में भेदाव्यति सादृश्य का ही विशेष अधिकारियों ने माना है, अन अपनी सादृश्य अपने में हो ही सकता है और तदनुसार प्रयोजनवती गौणी का अनदस्त्वार्थाभेद मानने में कोई बाधा नहीं। काव्यप्रकाश में जहाँ उक्त विरोधि युक्ति है वहीं प्रसिद्ध विद्वान् नागेश ने अपने ‘उपोत्तर’ में इस (मेरे द्वारा उपस्थित की गई) युक्ति का उल्लेख किया है।

व्यङ्ग्य के गुडागूढत्व भेद से होने वाले लक्षणा भेदों का रसगङ्गाधरकार उल्लेख नहीं करते। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि—पण्डितराज व्यङ्ग्य की भिन्नरूपता के आधार पर लक्षणा का प्रभेद करना उचित नहीं समझते, क्योंकि व्यङ्ग्य की भिन्नता से शब्दसम्बन्धात्मक लक्षणारत्नरूप में निगी तरह की भिन्नता नहीं होती। काव्य के भेद करते समय अवश्य व्यङ्ग्य भेद का मूल्य होना है।

काव्यप्रकाशकार ने व्यङ्ग्य के गुडागूढत्व के आधार पर लक्षणा के भेद माने हैं। इस अर्थ में ‘लक्षणा में एक वह भी वैचित्र्य होता है’ इस बात को प्रकट करना ही उनका सही अभिप्राय हो सकता है। वस्तुतः व्यङ्ग्यभेद लक्षणा के भेदक नहीं हो सकते।

दर्पणकार ने तो व्यङ्ग्य के गुडागूढत्व के आधार पर जो भेद किए वह किए हैं, फल को धर्मों तथा धर्मगत मानकर भी भेद माने, पदगतत्व और वाक्यगतत्व के आधार पर भी भेद

किर । इस भेदबुद्ध का रहस्य लक्षणात्पत्नीय विविध वैचित्र्य का विरलेपन द्वारा प्रकटन ही है । प्रकृतोपयोग की दृष्टि से देखने पर इन भेदों की कोई आवश्यकता नहीं है, यह वाचन अत्रान्त सत्य है । किसी आलोचक का यह कथन कि 'लक्षणा वस्तुतः अर्थ का सवन्ध है, अतः उमका पद अथवा वाक्य में रहना नहीं बन सकता,' कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि आखिर लक्षणा को पदनिष्ठ वृत्ति तो सभी मानते ही हैं और आरोप अथवा परम्परासवन्ध के आधार पर ही ऐसा मानते हैं, फिर उस रीति से वाक्य में भी उमको क्यों नहीं रखा जा सकता ? वाच्यलक्षणावादी भी कुछ आनाय हैं ही । जाति गुण-क्रिया आदि के आधार पर लक्षणा के भेद नहीं किए गए, अतः जो भेद किए गए वे असंगत ही ऐसा तो नहीं कहा जा सकता । लक्षणा का सूक्ष्म विरलेपन करते समय यदि जैसे भेद भी किए जाय तो उसको असंगत नहीं कहा जा सकता । किन्तु अलन्कारशास्त्र में जैसे भेदों का कोई खास उपयोग नहीं है, यह आरम्भ में ही ठिकता जा चुका है ।

सातत्य यह है कि—शुद्ध पदार्थविरलेपनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने के कारण दर्शककार के वही हुए भेद भी अपनी जगह पर ठीक हैं और प्रकृतोपयोग के दृष्टिकोण से विचार करने के कारण रसगङ्गाधरकार तथा काव्यप्रकाशकार के भेद भी सुमंगत हैं ।

लक्ष्य अर्थ तथा लाक्षणिक शब्द

लक्षणा द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थ लक्ष्य, औपचारिक, लाक्षणिक, अमुल्य आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं । इस तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के बोधक शब्द को लक्षक किंवा लाक्षणिक कहते हैं ।

व्यञ्जना

वृत्ति-विवेचन-प्रसङ्ग में अब व्यञ्जना का पर्याय प्राप्त है । यद्यपि रस अतम्पूर्ण रसगङ्गाधर निबन्ध में व्यञ्जना-निरूपण प्रकरण नहीं आ सका, तथापि साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्व रखने वाली रस व्यञ्जना वृत्ति के विवेचन से विरहित यह प्रसङ्ग अधूरा न रहे, इसलिये ग्रन्थान्तर के आधार पर यहाँ व्यञ्जना का विचार प्रस्तुत किया जाता है ।

सामान्य परिचय

शब्द में अमिषा और लक्षणा के अतिरिक्त एक अन्य वृत्ति भी रहती है । उदाहरण रूप में 'चन्द्र-गण्डल उदित हुमा' इस वाक्य को यदि यों विरहिणी सखी के तमछ कहती है तो सखी को नायिका का यह अभिप्राय प्राप्त होता है कि 'यह अब अपने जीवन को अतम्मान मान रही है,' यदि दूती अभिसारिका से कहती है तो वह (अभिसारिका) समझती है कि 'अभिसार की तैयारी करनी चाहिए,' यदि अभिसारिका ही दूती से कहती है तो वह (दूती) समझती है कि 'बाँदनी में पड़चाने जाने के मय से यह अभिसार का निषेध कर रही है' इत्यादि ।

उक्त वाक्य के ये अर्थ किसी कोष में नहीं लिखे हैं तब इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे ही अन्य अर्थ कैसे प्राप्त होते हैं ? इस वाक्य से ये अर्थ प्राप्त होते ही नहीं ऐसी बात तो कोई अनुभव शक्ति-सम्पन्न जन कह नहीं सकता । अतः मानना पड़ेगा कि इन अर्थों की समझने की शक्ति भी इस वाक्य में अवश्य है ।

पर इस शक्ति को 'अभिधा' नहीं कह सकते, क्योंकि इस वाक्य में रहनेवाली 'अभिधा' को कोष आदि की सहायता से पूर्णरूपेण जानने वाला जो सहृदयता आदि के अभाव में उन अर्थों को नहीं समझ पाता। 'लक्षणा' भी इस शक्ति को नहीं मान सकते, क्योंकि मुख्यार्थवाच और रुदिप्रयोजनान्तररूप कारणों के अभाव में 'लक्षणा' का प्रसङ्ग ही नहीं आता—और यहाँ न मुख्य अर्थ का वाच है, न रुदि है, न प्रयोजन, अतः यहाँ 'लक्षणा' नहीं मानी जा सकती। फलतः उक्त वाक्य में उक्त अर्थों को समझाने वाली जो एक तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी उसी का नाम 'व्यञ्जना' है।

लक्षणा

व्यञ्जना का जो सामान्य परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उसी के आधार पर साहित्यदर्पण-कारादि प्रायः सभी आलम्बारिक व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार करते हैं—'अभिधा आदि वृत्तियों के विरत हो जाने पर (अपने-अपने अर्थों का बोध कराकर क्षीण हो जाने पर) जिससे अन्य (वाच्य तथा लक्ष्य से मिल) अर्थ का बोध होता है उस वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं ।'

जामेशमट्ट ने व्याकरणग्रन्थ में व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार किया है—'उत्त सस्कार-विशेष का नाम व्यञ्जना है जो बिना मुख्यार्थवाच की अपेक्षा किये अर्थ का बोध कराता हो, जो मुख्य अर्थ से सबद्ध तथा असंबद्ध—दोनों तरह के अर्थों का बोधक होता हो, जो प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध—दोनों ही प्रकार के अर्थों को अपना विषय बनाता हो और जो वक्ता आदि की विलक्षणता के शून्य तथा प्रतिभा आदि से उद्बुद्ध होता हो' ।

सारार्थ यह कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (सकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं, और लक्षणा मुख्य अर्थ से सबद्ध अर्थों को ही समझा सकती है और वह भी तब, जब मुख्य अर्थ बाधित हो, किन्तु व्यञ्जना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह तो सर्वत्र अप्रतिहन रूप से अपना स्थान बनाती है। अतएव 'चन्द्रमण्डल उदित हुआ' इस वाक्य के पूर्वोक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण तथा कोष में उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पड़ती है और न मुख्य अर्थ के बाधित होने की।

अन्य वृत्तियों की अपेक्षा व्यञ्जना की एक खास विलक्षणता

अभिधा तथा लक्षणा ये दोनों वृत्तियाँ शब्द में ही रहती हैं, उनका क्षेत्र शब्द तक ही सीमित है, पर व्यञ्जना का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। यह वृत्ति शब्द (वाक्य, पद, पदेकदेश = प्रकृति तथा प्रत्यय, वर्ण, प्रकरण, प्रबन्ध), अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, स्वङ्गव) और श्लेष आदि में समान रूप से रहती है। सारार्थ यह कि व्यञ्जना अर्थ की भनीति जिस तरह किसी शब्द विशेष से होती है उसी तरह उक्त सभी व्यञ्जनों (व्यञ्जना के आखरों) से होती है।

१. 'विरतास्वभिधाघासु यथायौ बोध्यते पर ।

सा वृत्तिव्यञ्जना नाम..... ॥' (साहित्यदर्पण)

२ 'मुख्यार्थवाचनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसबन्धासबन्धसाधारण. प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्तादिवैशिष्ट्यमानप्रतिभापुद्बुद्धः सस्कारविशेषो व्यञ्जना ।' (परमलघुमञ्जूषा)

व्यञ्जक

व्यञ्जना द्वारा अर्थ-प्रतिपादक, शब्द अर्थ आदि सभी व्यञ्जक कहलाते हैं। 'ध्वनि' शब्द के जो अनेक अर्थ पहले लिखे जा चुके हैं उनमें एक के अनुसार व्यञ्जक को 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यङ्ग्य अर्थ

व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। उक्त अनेक अर्थों में से एक के अनुसार उसे 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यञ्जना के विरुद्ध मत

संस्कृत वाच्य के इतिहास में 'व्यञ्जनावाद' एक प्रेमा विषय है जिसके विरोध में मित्र-मित्र संप्रदाय के आचार्यों द्वारा बहुतेरे आक्षेप किए गए हैं जिनमें से कनिष्क प्रमुख आक्षेपों की चर्चा यहाँ की जाती है—

(१) अमिथावादी आचार्यों का कथन है कि 'व्यञ्जना' 'अमिथा' में ही गतार्थ है अर्थात् अमिथा से अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की कोई वृत्ति नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन अर्थों को लोग व्यङ्ग्य कहना चाहते हैं वे अमिथेय (वाच्य) अर्थ ही हैं, उनका बोध भी अमिथा से ही होता है।

(२) लक्षणावादी आचार्यों की मान्यता है कि—लक्ष्य से अन्य व्यङ्ग्य कोई वस्तु नहीं है, अतः व्यञ्जना भी लक्षणा से अतिरिक्त वृत्ति नहीं है।

(३) अनुमानवादी आचार्यों का कहना है कि—अमिथा और लक्षणा ये दो ही वृत्तियाँ हैं। अब यदि कुछ ऐसे अर्थ हैं जिनका बोध उक्त दोनों में से किसी भी वृत्ति से नहीं हो पाता तो हम स्थिति में भी उन अर्थों का बोध करने के लिये किसी नवीन वृत्ति (व्यञ्जना) की आवश्यकता नहीं है, अपितु उस तरह के अर्थों का बोध अनुमान से होता है यही मानना चाहिए।

(४) कुछ लोगों का कथन है कि—व्यञ्जनावृत्ति की बात असंगत है, क्योंकि व्यञ्जना मानने के बाद भी प्रश्न उठेगा कि यह व्यञ्जना स्वरूपसती (अज्ञान रूप से रहनेवाली) बोधक है अथवा ज्ञाता ? दोनों ही पक्ष दोषग्रस्त हैं क्योंकि स्वरूपसती व्यञ्जना को बोधक मानने पर व्यञ्जक पद से सदा सभी को व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होना चाहिए जो होता नहीं, ज्ञाता व्यञ्जना को बोधक मानना बन ही नहीं सकता, क्योंकि जिस तरह अमिथा-वाचक कोप-व्याकरण आदि हैं उस तरह व्यञ्जनाव्यापक ही कोरं नहीं है, फिर व्यञ्जना ज्ञाता ही ही नहीं सकती। अतः व्यङ्ग्य अर्थों का मानस बोध ही मानना चाहिए।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि—'अर्थापत्ति-प्रमाण' से व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थों का बोध होता है, अतः व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं।

(६) अन्य कतिपय विद्वान् कहते हैं कि वे अर्थ 'सूचनबुद्धिवेय' ही हैं जिनको आप व्यङ्ग्य कहते हैं।

उपर्युक्त सभी आक्षेपों के मूल में रहस्यभूत वस्तु एक यही है कि ध्वनिस्वापक आनन्दवर्धन से पूर्व स्वतन्त्र व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता से प्रायः विदग्मण्टली अपरिचित ही थी, अतः जब उक्त

ध्वनिरुपायक आचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक विलक्षण निबन्ध बना कर व्यङ्ग्य और व्यञ्जना की स्थापना ही नहीं, अपितु साहित्यशास्त्र में प्रमुखता भी सिद्ध कर दी तब विद्वन्मण्डली में एक तूफान-सा उठ पड़ा। पुरानी लीक पर आँख मूँद कर चलने वाले विद्वानों ने व्यञ्जना का विरोध किया, व्यञ्जना के विरोध में युक्तियों खोजी जाने लगीं, निबन्ध बनने लगे। इस तरह ध्वनिकार के बाद में और पहले भी उक्त व्यञ्जनाविरोधी मतों की सृष्टि हुई। पर ध्वन्यालोक के निष्पन्न अध्येता आलंकारिकों ने और महावैयाकरण नागेश मट्ट ने अपने निबन्धों में उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन कर ध्वनि (व्यञ्जना) का स्थापन किया और आचार्य आनन्दवर्धन को अलंकारशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ मौलिक आलोचक सिद्ध कर दिया।

यद्यपि आनन्दवर्धन को 'ध्वनि' के विषय में व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्त (ध्वनि व्यङ्ग्य स्फोटारमक शब्द) से प्रेरणा अवश्य मिली थी, पर इससे उनकी मौलिकता पर आँच नहीं आती। क्योंकि 'ध्वनि' शब्द की चर्चा रहने पर भी नागेश से प्राचीन व्याकरणशास्त्रीय निबन्धप्रणेतता किन्ती आचार्य ने पृथक् रूप से व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण अपने निबन्धों में नहीं किया। अस्तु, उक्त आक्षेपों का समाधान संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम आक्षेप का खण्डन

व्यञ्जना अभिधा में गतार्थ तभी हो सकती है जब व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ में गतार्थ हो जाय- अर्थात् व्यङ्ग्य तथा वाच्य अर्थों की एकरूपता सिद्ध हो सके। किन्तु वस्तुस्थिति उन दोनों अर्थों की एकरूपता सिद्ध नहीं होने देती, क्योंकि वाच्य अर्थ का बोधा पद-पदार्थ-ज्ञान वाला कोरा वैयाकरण भी होता है और व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञाना सहृदय ही होता है, वाच्य जहाँ विधिरूप रहता है वहीं व्यङ्ग्य निषेधरूप हो जाता है, वाच्य जिस पद का पद रहता है उससे होने वाले व्यङ्ग्य अनेक हो जाते हैं, वाच्य का ज्ञान पहले होता है व्यङ्ग्य का पीछे, वाच्य का विषय दूसरा रहता है व्यङ्ग्य का दूसरा और वाच्य का आशय शब्द मात्र होता है व्यङ्ग्य का आशय शब्द, शब्द का एकदेश, अर्थमघटना आदि सभी होते हैं। इतने भेदों के रहने पर व्यङ्ग्य वाच्य नहीं हो सकता और जब वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ सिद्ध है तब वाच्यार्थबोधक वृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्यार्थबोधक वृत्ति भी माननी ही पड़ेगी, नाम उस वृत्ति का व्यञ्जना रक्ते अथवा और कुछ।

अभिधा की गति अधिक से अधिक वाक्यार्थ तक होती है (वस्तुतः पदार्थतक ही) और व्यङ्ग्य अर्थ वाक्यार्थज्ञान के बाद विदित होता है फिर वहाँ तक अभिधा की गति सम्भव भी नहीं है। और भी बहुत सी युक्तियाँ हम प्रसङ्ग पर ग्रन्थों में दी गई हैं, पर यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं।

द्वितीय आक्षेप का खण्डन

लक्षणा में व्यञ्जना गतार्थ तब हो सकती जब नियमन व्यङ्ग्य अर्थ का बोध मुख्य अर्थ के बाधित रहने पर ही होता, पर ऐसा होना नहीं है, क्योंकि वहाँ भी व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होते देखा जाता है जहाँ मुख्य अर्थ बाधित नहीं रहता। दूसरे, लक्षणा वृत्ति नियमन अभिधा की अपेक्षा करती है—अभिधा जब तक अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर लेती तब तक लक्षणा का

प्रसन्न ही नहीं आता, पर व्यञ्जना में ऐसा नियम नहीं है, वह तो चेष्टा (ब्यारे) आदि में भी रहती है, फिर उसे अभिधा की अपेक्षा क्या ? लक्षणा द्वारा नियमन मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ हो शक्य होता है, पर व्यञ्जना द्वारा कहीं मुख्यार्थ से संबद्ध, कहीं असंबद्ध और कहीं असंबद्ध-संबद्ध सभी तरह के अर्थ प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यञ्जना को लक्षणा से गतार्थ कहना दुराग्रह मात्र है।

तृतीय आक्षेप का खण्डन

अनुमान में हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, अतः अनुमान से व्यङ्ग्य अर्थ नहीं समझे जा सकते। न्यायग्रन्थों में जिन पाँच तौषों का निरूपण किया गया है उनमें से यदि एक भी दोष हेतु में रहेगा तो उस हेतु से अनुमिति नहीं हो सकती। पर व्यञ्जना में यह बात नहीं होती, वहाँ हेतु (व्यञ्जक) दुष्ट हो अथवा अशुद्ध, उससे व्यङ्ग्य अर्थ को प्रतीति होती ही है और काव्य में कल्पनामूलक हेतुओं में दोष का रहना निश्चितप्राय है। दूसरी बात यह कि शास्त्ररचक में किसी तरह अनुमिति के कारण लुप्य भी जाँय तो चेष्टा आदि से होने वाले व्यङ्ग्य-बोध स्थल में उनका लुप्य सर्वथा असम्भव है, अतः व्यञ्जना अनुमान में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकती।

चतुर्थ आक्षेप का खण्डन

चतुर्थ आक्षेप में व्यङ्ग्यों का मानस बोध मानने की बात कही गई है जो संगत नहीं है क्योंकि मानस बोध से वैयक्तिक बोध में विलक्षणता उपलब्ध होती है। हम यदि भावना द्वारा दुष्पन्न-शकुन्तला आदि के वृत्तान्तों को अपने अन्दर लाकर उनका मानस बोध करते हैं तब ऐसा आनन्द नहीं आता, जैसा उन्हीं वृत्तान्तों का काव्यशब्द द्वारा वैयक्तिक बोध करने पर आता है, अतः मानना पड़ता है कि वैयक्तिक बोध मानस बोध से भिन्न वस्तु है। अत्र रसात्मक आक्षेप का यह अर्थ जिसमें व्यञ्जना का स्वरूपसत्ता अथवा शाब्दात्मिकी भी रूप में बोधक न हो सकने की बात कही गई है, पर उम श्लोकी को भी बड़े सुन्दर ढंग से आलङ्कारिकों ने सुलझाया है। उन्होंने कहा है कि—व्यञ्जना स्वरूपसत्ता ही बोधक होती है—अर्थात् व्यञ्जना को रहना भर आदिष्ट, उसका शाब्दात्मिक होना आवश्यक नहीं है। यदि यह शक्य की जाय कि—वचन सभी को सदा व्यञ्जना से अर्थबोध क्यों नहीं होता ? तो इसका समाधान यह है कि—व्यङ्ग्य बोधके प्रति वासना (प्राकृतन और इदानीनन संस्कारविशेष) कारण है, अतः जिसमें वह वासना नहीं रहती अथवा रह कर भी प्रसन्न रहती है, उसको व्यङ्ग्य बोध नहीं होता।

पञ्चम आक्षेप का खण्डन

पञ्चम आक्षेप में 'अर्थापत्ति' से व्यङ्ग्य बोध की बात कही गई है जो समुचित नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न वस्तु नहीं है, क्योंकि जिस तरह अनुमान व्याप्ति रहने पर होता है उसी तरह अर्थापत्ति भी व्याप्ति के रहने पर ही बोधक होती है। 'जीवति चात्र गोष्ठ्यान् भविष्यमानश्रैः' अर्थात् इस गोष्ठे में अनुपस्थित चैत्र जीता है? ऐसा कहने पर जो चैत्र का बाहर कहीं रहना ज्ञान होता है उसी को अर्थापत्ति का उदाहरण माना जाता है, पर वस्तुतः यह अनुमान का ही उदाहरण है—अर्थात् 'जो जीता है वह कहीं न कहीं अवश्य रहता है' इस तरह की व्याप्ति निश्चित रहने पर ही एक वाक्य से चैत्र का बाहर रहना शाब्दात्मिक होता है, 'फलतः'

यहाँ अनुमान का ही यह प्रकार हुआ कि—'नेत्र बाहर कहीं अवश्य है, क्योंकि यहाँ नहीं है और जीवित है।'

इस तरह जब अर्थापत्ति अनुमानरूप सिद्ध हुई, तब उससे व्यङ्ग्यबोध की बात चल ही नहीं सकती क्योंकि अनुमान से व्यङ्ग्यबोध के न हो सकने की बात पहले कही जा चुकी है।

षष्ठ आक्षेप का खण्डन

'सूचन बुद्धि' भी अनुमान का ही एक प्रकार है, क्योंकि विनेता अँगुली के इशारे से भी अपने सहायकों को मूल्य आदि की बात समझा देता है, वही 'सूचन बुद्धि' का उपयोग माना जाता है और वहाँ विनेता के इशारे से उनके सहायकों को उस बस्तु का ज्ञान स्थलिये हो जाना है कि पहले उसे यह व्याप्ति छूट करा दी गई रहती है कि मैं यदि एक अँगुली दिखाऊँ तो तुम उसका अर्थ २० समझ लेना, फलतः वह अनुमान ही हुआ और अनुमान से व्यङ्ग्यबोध की अगत्यार्थता की बात दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

एक चतुर्थ वृत्ति भी है

शास्त्रों में उक्त तीन वृत्तियों से निम्न एक चतुर्थ वृत्ति (तात्पर्य) का भी उल्लेख हुआ है। यह वाक्य की वृत्ति मानी जाती है अर्थात् यह वृत्ति पद में नहीं, अपितु पद-समूहात्मक वाक्य में ही रहती है। इस वृत्ति से पदार्थों के सम्बन्ध का बोध होता है। इस वृत्ति को जानने में युक्ति यह दी जाती है कि—वाक्यान्तर्गत पदों में रहने वाली अभिधा अपने अर्थों का बोध कराकर विरत (ज्ञान) हो जाती है, अतः उस वृत्ति से एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता—अर्थात् दो पदार्थों का सम्बन्ध उस वृत्ति से काट नहीं हो सकता, अतः उस सम्बन्ध का बोध कराने के लिये तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता मानी जाती है। इस युक्ति के आविष्कारक आचार्य 'अभिहितान्धववादी' कहलाते हैं, जिसका अर्थ होता है अभिहित=अभिधा द्वारा बोधित अर्थों का अन्वय=सम्बन्ध, अन्य पदार्थों के साथ होता है ऐसा कहने वाले। दूसरे आचार्य ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि अन्वित अर्थ का ही अभिधा से बोध होता है—अर्थात् अन्वयार्थ का भी बोध अभिधा से ही हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य वृत्ति का मनना आवश्यक नहीं। ऐसे आचार्य 'अन्विताभिधाववादी' कहलाते हैं।

नेत्रादिक लोग सम्बन्धाद्य को आकांक्षा भाव्य मानते हैं—अर्थात् 'राजा का पुरुष' ऐसा कहने पर राजा और पुरुष का बोध तो उन दोनों पदों की अभिधा से होता है, पर सम्बन्ध (स्वस्वामिमान) का बोध अपने आप हो जाता है, क्योंकि राजा पुरुष अद्य में और पुरुष राजा अद्य में सार्वज्ञ है, अतः सम्बन्धाद्यबोधक वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती।

सार्वज्ञ यह हुआ कि यह वृत्ति एकदेशीय है, गौण है। अतएव पहले उक्त तीन वृत्तियों के साथ इसकी चर्चा नहीं की गई।

अभिपुराणगत वृत्ति-विचार

पहले लिखा जा चुका है कि—वृत्ति-विचार के अन्त में अभिपुराणगत वृत्ति-विचार प्रस्तुत किया जायगा, अतः अब अभिपुराण का यह अन्त हिन्दी दसगुणधरकार श्रीमान् आचार्य पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी जी की भूमिका से उद्धृत किया जाता है—

‘साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम श्रुतियों का विचार अभिपुराण में ही किया गया है। अभिपुराण में तीन प्रकार के शब्दकारों का वर्णन है—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार। इनमें शब्दार्थालङ्कारों के वर्णन में ही श्रुतियों का भी विचार है। वहाँ ‘अभिव्यक्ति’ नाम से एक शब्दार्थालङ्कार माना गया है, जिसका विवरण करते हुए अभिपुराणकार ने लिखा है—‘शब्द से अर्थ के प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-रक्षणा) तथा आशेष (व्यञ्जना)। इनमें शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना श्रुति कहलाता है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त = प्रयोजन को मानकर होने वाली) और पारिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली—अर्थात् रूढ़ि)। बिना किसी निमित्त के किए गए शब्दों को परिभाषा कहते हैं, उनके द्वारा होनेवाली श्रुति पारिभाषिकी कहलाती है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्य (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस प्रकार दो तरह की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाच्य में जिसकी स्थिति रखित हो रही है ऐसा अर्थात् वाच्य अर्थ को ठीक ठीक प्रतिपादन न करने वाला शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रूढ़ि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रूढलक्षणाकारूप) कहते हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाच्य अर्थ के साथ (साधारण) सम्बन्ध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा गुणों के अनन्त होने के कारण अनन्त प्रकार की होती है। वहाँ लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन न करते हुए (अर्थात्—पारम्परिक समय को न तोड़ते हुए) व्यक्ति के द्वारा ‘गौणी’ के कथन की दृष्टा से अन्य वस्तु का धर्म अन्य वस्तु में आरोपित किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होने वाला अर्थ जिस वृत्ति के द्वारा सहृदयों को प्रतीत होता है, वह श्रुति ‘आशेष’ कहलाती है और वही ध्वनि है, क्योंकि ध्वनि के द्वारा वहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं वहाँ किसी विशेष को बताने की दृष्टा से निषेध सा होता है उसे भी आशेष कहते हैं।^१

१. ‘प्रकटत्वमभिव्यक्ति’, श्रुतिरक्षेप इत्यपि । तस्या भेदो श्रुतिस्त्वत्र शब्दं स्वार्थसमर्पणम् ॥
 भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा । संकेतं परिभाषेति तत्र । स्वात्पारिभाषिकी ॥ मुख्यो-
 पचारिकी चैति सा च सा च दिधा दिधा ॥ सा(स्वा)भिधेयस्सलक्ष्णिरुल्लक्षणार्थत्व वाचकः ।
 यथा शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिको ॥ सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः । अभिधे-
 या विनाभूतप्रतीतिलक्षणेच्यते ॥ अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः । वैपरीत्यात् क्रिया-
 योगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥ गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता, सदिरक्षया । अन्यधर्मस्ततोऽन्यथ
 लोकसीमानुरोधिना । सम्बन्धाधीयते यत्र स समाधिरेव स्मृतः ॥ श्रुतेःलक्ष्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति
 सचेतसाम् । स आशेषो ध्वनिः स्वाद्य ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥ शब्देनार्थेन यमार्थः कृत्वा स्वय-
 म्प्राज्ञेनम् । प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषमितिस्तथा ॥ तत्रलक्षेणं प्रुवन्त्यथ.....॥^१

उपमा और रूपक में भेद

'मुख चन्द्र—अर्थात् मुख चन्द्र है' यह जो रूपक का प्रसिद्ध उदाहरण है वही गौणी सारोपा लक्षणा का भी उदाहरण होता है। तात्पर्य यह कि रूपकस्थल में सर्वत्र नियमत सारोपा गौणी लक्षणा रहती ही है। लक्षणा यहाँ चन्द्रपद की चन्द्रसदृश अर्थ में होती है, चन्द्रसादृश्यरूप धर्म में नहीं, क्योंकि विसा करने पर चन्द्रपदार्थ (चन्द्रसादृश्य) का मुखपदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि दो नामार्थों में अभेद से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होता यह नियम है और यहाँ चन्द्रसादृश्य का मुख के साथ अभेद बाधित है। फलतः ऐसे स्थलों में चन्द्र आदि पदों की स्वसदृश अर्थों में ही लक्षणा माननी पड़ती है और तदनुसार 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' इत्यादि रीति से ही बोध मानना पड़ता है।

अब प्रश्न उठता है कि—जब 'मुख चन्द्र' इस रूपकस्थल में 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है तब 'चन्द्रसदृशम् मुखम् चन्द्र इव मुखम्' इस उपमा से उक्त रूपक में भेद क्या रहा—अर्थात् ये दो अलङ्कार कैसे हुए, क्योंकि इन उपमावाक्यों से भी 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' ऐसा ही बोध होता है। प्राचीन आचार्य तीन प्रकार से इसका समाधान करते हैं।

(१) प्रथम समाधान का सारांश यह है कि—शेषस्थल के समान उक्तरूपकस्थल में चन्द्र तथा सत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक चन्द्रपद से ही होती है, अतः यहाँ एकपदोपादानरूप युक्ति के बल से व्यञ्जना का उत्थान होता है जिससे उक्त सामान्यबोध के बाद मुख में चन्द्र का ताद्रूप्य प्रतीत होता है और उक्त उपमास्थल में चन्द्र तथा सत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक पद से नहीं, अपितु दो पदों (चन्द्र और सदृश अथवा इव) से होती है, अतः एकपदोपादानरूप युक्ति के अभाव में व्यञ्जना का उत्थान नहीं होता, फलतः यहाँ चन्द्रताद्रूप्य की प्रतीति मुख में नहीं होती। इस तरह से सिद्ध यह हुआ कि उपमा और रूपक के स्वरूप में यद्यपि कोई भेद नहीं होता, तथापि फलांश (लक्षणा के फल अंश) में भेद होने से दोनों अलङ्कारों में भेद हो जाता है।

(२) द्वितीय समाधान का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लाक्षणिक चन्द्रपद से यद्यपि चन्द्रसदृश रूप में ही अर्थ की उपस्थिति होती है, तथापि मुख के साथ अन्वयबोध होता है चन्द्ररूप में ही—अर्थात् रूपकस्थल में 'चन्द्राभिन्न मुख' ऐसा ही बोध होता है। क्योंकि उन-उन पदों की लक्षणा के ज्ञान को—उन-उन पदों के शक्यताबच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) जिसमें प्रकार हों और लक्ष्य (मुख आदि) जिसमें विशेष्य हों ऐसे—बोध के प्रति हेतु मानते हैं। यहाँ यदि कहे कि पदार्थ की उपस्थिति और पदार्थ के शाब्दबोध में जो समानाकारता का नियम है—अर्थात् यह जो नियम है कि जिस रूप से पदार्थ की उपस्थिति हो, शाब्दबोध भी उसी रूप से हो, उसका क्या होगा ? अभिप्राय यह कि आप जिस तरह बोध करते हैं उसमें उक्त नियम का विरोध होता है—अर्थात् चन्द्रसदृश रूप में पदार्थोपस्थिति और चन्द्ररूप में पदार्थबोध मानने में उक्त नियम का अतिक्रमण होता है, तो इसका उत्तर यह है कि लाक्षणिक पदों से होनेवाले बोधों में इस तरह की विलक्षणता होती है यह अनुभव से ही सिद्ध है, अतः उक्त समानाकारतानियम को लाक्षणिकबोध से अन्यस्थलपरक मानना चाहिए। इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूपज्ञानकृत तथा फलज्ञानकृत दोनों ही प्रकार का भेद स्पष्ट है।

(३) तृतीय समाधान का अभिप्राय यह है कि—सादृश्य दो तरह का होता है, एक में भेद का प्रवेश माना जाता है और दूसरे में नहीं—अर्थात् एक मत से 'तद्विभ्र में तद्वत् अधिकतर धर्मों का रहना' सादृश्य है और दूसरे मत से 'तद्वत् अधिकतर धर्मों का रहना' मात्र सादृश्य है, इन दोनों में भेद का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इन दो तरह के सादृश्यों में से प्रथम—अर्थात् भेदपटिनसादृश्य उपमा का नियामक है और द्वितीय—अर्थात् भेदावहितसादृश्य गौबी सारोपा लक्षणा का। अतः उपमास्थल में चन्द्र का भेद गुण में छात होता है और रूपकस्थल में उक्तका उसमें अभेद। इस तरह दोनों के स्वरूप ज्ञान में ही भेद सिद्ध हो जाता है, फिर फलज्ञानरूप भेद तक जाना व्यर्थ ही है।

उपयुक्त तीन प्रकार के समाधान प्राचीनों के हैं। नवीन विद्वान् (अण्वयदीक्षित आदि) तो उक्त तीनों प्रकारों से भिन्न एक चतुर्थ प्रकार से ही उक्त प्रय का उत्तर करते हैं। उनके कथन का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लक्षणा होता ही नहीं, लक्षणा के बिना ही 'मुख चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में मुख तथा चन्द्र का अभेदान्वय होता है। "—'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की विद्यमानतादशा में 'चन्द्राभिन्न मुख' यह अभेदान्वयरोध कैसे हो सकता है" इस प्रश्न का उत्तर वे यह देते हैं कि—जैसे आहार्यरोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते, वैसे शब्दान्वय रोध को भी नहीं रोकते ऐसा मानना चाहिए। अतएव 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि—अर्थात् जो नर्ष (आकाशपुष्प आदि) वस्तुतः दुनिया में नहीं भी रहते, उनका भी ज्ञान शब्द करा ही देता है' यह प्राचीनों का कथन भी संगत होता है।

अथवा रूपकस्थल में आहार्य शब्दरोध ही मानना चाहिए और आहार्यरोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते यह सर्वमतसिद्ध सिद्धान्त है। 'प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही आहार्य होता है' यह एक नियम है, फिर परोक्ष्वात्मक शब्दज्ञान आहार्य कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि—उक्त नियम में कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी ज्ञान आहार्य हो सकते हैं। इस मत के अनुसार रूपकस्थल में सादृश्य का बोध होता ही नहीं और उपमास्थल में वह होता है, अतः दोनों में भेद स्वतः सिद्ध है।

उपयुक्त नवीन मत का खण्डन पण्डितराज ने किया है और खण्डन में युक्ति यह दी है कि—चमत्कारी साधारणधर्म जब तक उपस्थित नहीं होता तब तक उपमा के समान रूपक की भी सिद्धि नहीं होती यह बात सभी सद्वदों के अनुभव से सिद्ध है, अन्यथा 'यह नगर चन्द्रमण्डल है' इतने वाक्य को सुन लेने पर भी जो रूपक छात नहीं होता, वही रूपक, उक्त वाक्य में नगर का 'सकलकाल' विशेषण कह देने पर जो छात होने लगता है वह नहीं संगत होगा। वास्तव्य यह कि 'कलकलचन्द्रसहित' और 'सकलकलायुक्त' इन दो अर्थों वाले उक्त शिष्ट विशेषण के मयण होने पर एक विशेषणविशिष्टस्वरूप साधारणधर्म की उपस्थिति होने से रूपक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। यह बात 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकस्थल में भी है, अर्थात् वहाँ भी आकाशकाल आदि साधारणधर्म की उपस्थिति होने पर ही रूपक छात होता है। अन्तर इतना ही है कि अपसिद्ध साधारणधर्मबोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा होती है, अन्यथा उसकी उपस्थिति नहीं ही पती और प्रसिद्ध साधारणधर्मबोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती, उक्तके बिना भी उक्तकी उपस्थिति हो जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि रूपकस्थल में भी साधारणधर्मोपस्थिति आवश्यक है। अब आप सोचें कि—यदि साधारणधर्मवत्त्वरूप सादृश्य का प्रवेश रूपक में नहीं माना जाय तब जो साधारणधर्म की अनुपस्थितिदशा में रूपक सिद्ध नहीं होता, चमत्कार की प्रतीति नहीं होती, सो क्यों ? आहार्य अभेदबुद्धि तो साधारणधर्म की अनुपस्थिति-दशा में भी हो सकती थी। फलतः रूपकस्थल में लक्षणा अवश्य होती है और फिर भी जो उपमा तथा रूपक दो अलंकार माने जाते हैं उसका कारण प्राचीन मतों में कथित रूपकस्थलीय ताद्रूप्यप्रतीति ही है।

अलंकारों का उद्गम

अलंकारों का उद्गम प्रायः वाल्मीय के साथ ही हुआ, क्योंकि संस्कृतवाल्मीय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं में अलंकार का प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में अलंकारशास्त्र का निर्देश नहीं मिलता, तथापि मूलभूत अलंकार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलंकारों में उपमा अत्यन्त प्राचीन है। इसका सभन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। इसीलिये कर्तपय आचार्य उपमा को अन्य सभी अर्थालंकारों की जननी मानते हैं^१ और राजशेखर उपमा को कवि-माता कहते हैं^२। हम उपमा का तो उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होता ही है साथ साथ अन्य अलंकारों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाविषयक एक ऋचा में एक साथ चार उपमाओं का प्रयोग किया गया है—

‘अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गतारुगिव सनये धनानाम् ।

जायेव पत्य उशती शुचाता, उपा हस्तेव निरिणीते अस्स ॥’ (ऋ. वे. १।१२४।७)

अतिशयोक्ति अलंकार का भी प्रयोग किया गया है—

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समान वृक्ष परिपस्वजाते ।

तयोरन्वः पिप्पल स्वाद्द्वत्यनक्षत्रन्वो अभिचाकशीति ॥’ (ऋ. वे. १।१६१।२०)

रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के एक मन्त्र में किया गया है—

‘आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥’ (कठोपनिषद् १।३।३)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलंकारों की सत्ता स्पष्ट विद्यमान है। यही क्यों ? उपमाशब्द भी ऋग्वेद (५।३।४९, १।३।१६५) में उपलब्ध होना है जिसका अर्थ सायण ने किया है—उपमान या कृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया था। यह सामान्य निर्देश मात्र है।

इसके बाद निरुक्त तथा निषण्ड में उपमा अलंकार का विवेचन शास्त्रीय ढङ्ग पर उपलब्ध होता है। निषण्ड में वैदिक उपमा के श्रोतक नारद गिराणों (अश्वघोष) का उल्लेख मिलता है।

१. उपमैषा शैलूरी सप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।

रञ्जयति काण्दरजे सत्यन्ती तदिदा चेत. ॥

२. उपमा कविविशय मातृवैति मतिर्मम ।

इसी प्रसङ्ग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयकरण द्वारा रचित उपमा-लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य हैं। उनका उपमा-लक्षण इस प्रकार है—'उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उतनी के सदृश हो।' साय-साय गार्ग्य ने यह भी कहा है कि—'उपमान सामान्यतः उपमेय की अपेक्षा अधिकगुणयुक्त होता है, पर वहीं-वहीं न्यूनगुण-युक्त उपमान से भा अधिक-गुणयुक्त उपमेय की तुलना की जाती है।' यह उपमानलक्षण मम्मट के उपमा लक्षण^२ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन दिया है। उपमाद्योतक निपात-इव, यथा, न, चिद, तु और भा हैं। इन वाचक पदों का प्रयोग रहने पर यास्क के अनुसार 'कर्मोपमा' होती है। 'आजन्तो अद्गयो यथा' (ऋ वे १।५०।३) = 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है। 'भूयोपमा' वहाँ होती है जहाँ उपमेय स्वयम् उपमान बन जाता है। 'होरोपमा' वहाँ होती है जहाँ उपमेय उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता रखता है। 'मितोपमा' में उपमान स्वतःतिष्ठ रहता है और एक विशिष्ट गुण वा कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढकर रहता है। 'वत्' प्रथम के जोड़ने पर यह उपमा निश्चय होती है, जैसे—'बाह्यगवत्', 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद 'अर्थोपमा' है जिसका दूसरा नाम 'उत्तोपमा' है। यह पञ्चादकालिक मालद्वारिक का रूपकालङ्कार है।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय में अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

इसके अनन्तर पाणिनि के समय में उपमा की यह शास्त्रीय कवचना सर्वत्र स्वीकृत हो चुकी थी यह स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि का अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलङ्कारशाल के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।^३

इसके बाद मगवान् पनञ्जिने भी पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान'पद की व्याख्या महाभाष्य (२।१।५५) में की है। उनका कथन है कि—मान उन वस्तु की समान है जो किसी अज्ञान वस्तु के निर्धारण के लिये प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है, जैसे—'गौरिव गवथः' = गाय के समान नीलगाय होता है^४। यद्यपि काव्यपद्धति से चमत्कार-विहीन होने के कारण 'गौरिव गवथः'

१. उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिवि गार्ग्यः। उदासी कम ज्यायसा वा गुणेन प्रत्युत्पन्नमेव वा कनीयास वा प्रत्यात्त योपभावते, अद्यापि कनीयसा ज्यायासम्। (निरुक्त २।१३)

२. सादृश्यमुपमाभेदे। (कान्यप्रकाश)

३. तुल्यार्थैरनुलोपमाभ्यां तुल्यान्यतरस्याम्। (२।३।७२)

उपमानानि सामान्यवचनैः। (२।१।५५)

उपमितं न्यासादिभिः सामान्याप्रयोगे। (२।१।५६)

४. मान हि नाम अनिर्ज्ञानार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातवर्षं शाक्यामीति। तत्समीपे यत् नाल्पन्दाय मीमते तद् उपमानम् गौरिव गवथ इति। [पाणिनि पर महाभाष्य २।१।५५]

उपमालङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शाब्दिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमानिरूपण महत्त्व रखता है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में अब तक जिन बातों का निर्देश किया गया है वे अलङ्कारशास्त्र के प्रारम्भिक युग को कही जा सकती हैं—अर्थात् अलङ्कारशास्त्र का इतिहास जब से आरम्भ होता है उससे पहले की वे बातें हैं, क्योंकि अलङ्कारशास्त्र का इतिहास भरत के नाट्यशास्त्र से ही आरम्भ होता है।

यद्यपि कुछ विद्वान् अग्निपुराण को नाट्यशास्त्र से भी प्राचीन मानते हैं और तदनुसार अलङ्कारशास्त्रीय इतिहास का आरम्भ नाट्यशास्त्र से न मानकर अग्निपुराण से मानते हैं, पर नवोनतम अन्वेषणों से निश्चित रूप में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अग्निपुराण का वह भाग—जिसमें अलङ्कारशास्त्रीय विषयों का वर्णन प्राप्त होता है—उतना प्राचीन नहीं है, अपितु उसका काल भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्य का है, अतः अलङ्कारों के विकास का मूल खोजने के लिये, पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य के बाद भरत के नाट्यशास्त्र की ओर ही अग्रसर होना पड़ता है।

भरत का नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र का आदिग्रन्थ ही नहीं, अपितु अलङ्कारशास्त्र का विश्वकोष है। इसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, अलङ्कार, छन्द, मूल्यकला, रस, अभिनय, सज्जन आदि का सुन्दर और साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होगा है। भरत के पहले यद्यपि राजशेखर के द्वारा काव्यमीमांसा में वर्णित इतिहास के अनुसार अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी, तथापि आज उन ग्रन्थों को उपलब्धि न होने के कारण अलङ्कार तथा रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय भरतको ही प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में नाचिक अभिनय निरूपण-प्रसङ्ग पर अलङ्कारों का भी निरूपण किया गया है। पर अलङ्कारनिरूपण होने के बावजूद भी इस महाविन्य का नाम नाट्यशास्त्र ही हुआ और 'अलङ्कारशास्त्र' यह नाम प्रागभाष रूप में उसके अन्दर समाविष्ट रहा।

'अलङ्कारशास्त्र' यह नाम समार में तब प्रकट हुआ जब आचार्य भामह का भाषिर्भाव इस धराधाम में हुआ। यद्यपि भरत और भामह के मध्य का लंबा काल अलङ्कारशास्त्रीय विवेचनों से सर्वथा शून्य ही रहा हो यह समझ नहीं है—भामह ने अपने ग्रन्थ में मेधावी रुद्र नामक किसी एक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थप्रणेता आचार्य और उनके वरिष्ठ सिद्धान्तों का उल्लेख किया भी है, पर उनका ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं होता। फलतः भामह ही स्वतन्त्र अलङ्कारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

भामह का 'काव्यालङ्कार' ही अलङ्कारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। भामह ने यद्यपि रसवादी आचार्य भरत से ही प्रेरणा प्राप्त की है, पर ये भरत के समान रसवादी न रह कर अलङ्कारवादी बन गए। इसका कारण यह हुआ कि भामह शून्यकाव्य के विविध उपादानों का विवेचन करने के लिये प्रकृत हुए थे और उन्हें ग्रन्थकार्यों में रस की प्रधानता अभीष्ट नहीं थी—दृश्यकाव्यों में ही रस की मुख्यता उन्हें मान्य थी। अतः भामह ने अपने काव्यालङ्कार में मुख्यतया अलङ्कारों का ही विवेचन किया। यह बातें दूरची हैं कि काव्यस्वरूप दोष, गुण आदि अन्य काव्यतत्त्वों का भी वर्णन उनके ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उद्देश्य उनका अलङ्कारों को स्पष्ट करना ही था। उनके लिये ऐसा करना उचित भी था क्योंकि वे अलङ्कार को ही काव्य में मुख्य मानते थे।

मामह ने जब अलंकारशास्त्र का स्वतन्त्र भरित्व कायम कर दिया तब इस शास्त्र को विकसित करने वाले बहुतेरे आचार्य हुए जिन्होंने इस शास्त्र के भिन्न भिन्न अंशों का विश्लेषण सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में करके इस शास्त्र को चरम विकास की अवस्था में पहुँचा दिया। इन अलंकारशास्त्र-विकासक आचार्यों में मामह के बाद दण्डी, वामन, दण्डट, रदट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, भोजराज, मम्मट, इत्यक, विश्वनाथ, वाग्मट, जयदेव, विधाधर, विद्यानाथ, अप्पयरीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख हैं।

ये आचार्य 'काव्य में मुख्यता किस तत्त्व की है' इस प्रश्न के उत्तर में यद्यपि भिन्न-भिन्न मत रखते हैं, तथापि अलंकारतत्त्व का अपनाप किमी ने नहीं किया और प्रधान अथवा गौण रूप में अलंकारों का विवेचन सभी ने अपने अपने ग्रन्थ में सुन्दर ढङ्ग से किया है।

इस तरह सुशोभ काल में भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा जो अलंकारतत्त्व का विश्लेषण हुआ उसमें दृष्टिकोण से मतभेद का होना स्वाभाविक ही था, वह मतभेद भी परु अंश में नहीं, प्रत्युत अनेक अंशों में हुआ है, जैसे—अलंकारों के मूलभूत तत्त्व के विषय में, अलंकारों के स्वरूप के विषय में, अलंकारों से अलङ्कृत होनेवाले काव्यतत्त्व के विषय में और अलंकारों की सख्या के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य मामह ने वक्रोक्ति को समस्त अर्थालंकारों का मूल माना है^१। अतिशयोक्ति ही मामह की वक्रोक्ति है क्योंकि वक्रोक्ति का लक्षण मामह ने नहीं किया और अतिशयोक्ति का लक्षण 'निदिष्टतो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तयोचरम्—अर्थात् वह उक्ति जिसमें लोक (साधारण जन) के कथन का अतिक्रमण (उलङ्घन) किया गया हो।' इस तरह से करके उसके साथ वक्रोक्ति की समता दिखलाई दे। वक्रोक्ति से भिन्न उक्ति को मामह 'वार्ता' कहते हैं^२।

आनन्दवर्धन भी इस विषय में मामह के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने कहा है कि 'समो अलंकारो में मूलतत्त्व के रूप में अतिशयोक्ति रखी जा सकती है। अतिशयोक्ति जिस अलंकार के अन्दर विराजती रहती है उसमें कश्चिन्निभादेतुक चारत्वातिशय का योग रहता है, फलतः वैसा अलंकार ही वस्तुतः अलंकार है, इससे भिन्न तरह के अलंकार तो केवल काम भर के अलंकार हैं, अतः अलंकरणयोग्यतासंप्राप्त होने के कारण अतिशयोक्ति ही सकल-अलंकाररूप है^३।'

१—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयोर्धो दिग्गन्धते।

यत्रोऽस्वा कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'

२—'गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

रत्नैवमादि किं काव्यम् ? वार्तामिना प्रचक्षते ॥'

१. 'अतिशयोक्तिरनेन सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया । उच्चातिशयोक्तिर्व्यमलंकारमपि तिष्ठति कवि-प्रतिभावावशात्तस्य चास्वातिशययोगोऽन्यस्य स्वकारमात्रतैवेति । सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वे-नाभेदोपचारात्सर्वं सर्वालंकाररूपा ।'

दण्डी 'स्वभावोक्ति' को आदिअलकार कहते हैं। उपमादि अलकारों का मूल उनकी दृष्टि में भी वक्तोक्ति ही है^१।

दृढ औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलकारमूल मानते हैं। एकावलीकार विधापर औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलङ्कारमूल कहते हैं। अलकारों के स्वरूप में भी भेद प्राप्त होता है। भामह के विचार से जो वक्तोक्ति 'लोकातिक्रान्त गोचर वचन' रूप सिद्ध होकर सभी अलकारों का मूलभूत सामान्य अलकार था, वह वामन के विचार से 'सादृश्यात् लक्षणा वक्तोक्ति' होकर अर्थालंकारविशेष हो गया, और दृढ के विचार से वही वक्तोक्ति अपछव मूलक शब्दालंकाररूप हो गया।

वामन ने आक्षेपनामक एक अलकार मानकर उसके दो भेद किए हैं, पर मम्मट ने उनमें से एक भेद को प्रतीप अलकार का और दूसरे को समासोक्ति अलकार का रूप दे दिया। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है, सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर भिन्न भिन्न आलंकारिकों के मत से अनेक अलकारों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो परवर्ती आचार्यों ने जो पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किए गये तत्त्व अलकारों के लक्षणों का खण्डन करके नवीन नवीन लक्षण प्रस्तुत किए हैं वह कैसे समभव हो पाता? आखिर एक लक्षण का खण्डन कर अन्य लक्षण का निर्माण करना लक्षणीय वस्तु के स्वरूप को भिन्न सिद्ध करना ही तो है।

अलंकार्यं कहे जाने वाले काव्यतत्त्व के विषय में भी प्रचुर मतभेद उपलब्ध होता है। अलंकार-सम्प्रदायवादी आचार्य शब्द और मुख्य वाच्यार्थ को ही अलकारों से अलङ्कृत होनेवाले काव्यतत्त्व के रूप में स्वीकार करेंगे, दूसरा रास्ता ही नहीं है, क्योंकि वे रस आदि प्रतीयमान काव्यतत्त्व को काव्य में मुख्य मानते ही नहीं हैं। वक्तोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वस्तुत्वमात्र को ही अलंकार्यं कहा है^२। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ (वस्तु-अलंकार रसादिरूप त्रिविध व्यङ्ग्य) को अलंकार्यं माना है। रसवादी आचार्यों ने केवल अमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम से व्यवहृत होने वाले रस आदि व्यङ्ग्यों को अलंकार्यं बोधि में रखा है। रसगहापरकार ने तो कवितात्पर्य-विषयीभूत मुख्य वाच्यार्थ (ऐसा अर्थ उनके विचार से कहीं रसादि, कहीं तद्विन्न व्यङ्ग्य, कहीं रमणीय वाच्यार्थ भी हो सकता है) को अलकारों से उपलङ्कृत होने वाला कहा है^३।

१ 'श्लेष' सर्वास्तु पुष्पाति प्रायो वक्तोक्तिषु श्रियम् ।

दिशामिन्न स्वभावोक्तिर्वक्तोक्तिश्चेति षाड्भयम् ॥' (काव्यादर्श)

'स्वभावोक्तिरालंकार' । वक्तोक्त्याब्देन उपमादयः सकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते ।'

(हृदयगंगा टीका)

२ 'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।

अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥

शरीर चेदलंकार किमलङ्कृतेऽपरम् ।

आत्मेव नात्मनः स्वार्थं कश्चिदप्यथिरोहति ।'

३ 'इयं चैवभेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रथमानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोप-
स्कारकतया पञ्चधा ।' (मट्ट मथुरानाथ कृत सस्करण, पृष्ठ २२५)

अलंकारों की संख्या के विषय में तो सबसे अधिक मतभेद है। प्रायः किन्हीं दो आलंकारिकों के मन इस विषय में समान नहीं हैं।

नाट्यशास्त्र में अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन चार ही अलंकारों का नाम-निर्देश मिलता है, अतः मानता पड़ेगा कि मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं जिनमें एक (अनुप्रास) शब्दालंकार है और तीन अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर कुबलयानन्द में अलंकारों की संख्या १२५ तक पहुँच गई है, जो प्रायः अलंकारों के सबन्ध में सबसे बड़ी संख्या है। अन्य आलंकारिक इन्हीं दो संख्याओं के मध्य की भिन्न भिन्न संख्या अलंकारों की मानते हैं, जैसे—काव्यादर्शकार दण्डी अलंकारों की संख्या ३५ मानते हैं। अलंकारसारसंग्रहप्रणेता जङ्गल मट्ट अलंकारों की संख्या ४१ बताते हैं। सरस्वतीकण्ठामरण-रचयिता भोजराज शब्दालंकार २४, अर्थालंकार २४ और उपमाअलंकार भी २४—कुल अलंकार-संख्या ७२ कहते हैं। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र शब्दालंकार ६ और अर्थालंकार २९—कुल अलंकार-संख्या ३५ मानते हैं। वाग्मटालंकार वाग्मट शब्दालंकार ४ और अर्थालंकार ३५—कुल ४९ अलंकार संख्या लिखते हैं। काव्यानुशासनकार वाग्मट द्वितीय ६३ अर्थालंकार और ६ शब्दालंकार—कुल ६९ अलंकारों की गणना करते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट कुल अलंकारसंख्या ६७ मानते हैं जिसमें शब्दालंकारों की संख्या ६ और अर्थालंकारों की संख्या ६१ है। मम्मट मट्ट ने काव्यप्रकाश में निम्नलिखित अलंकारों का वर्णन अथवा स्वसम्मत अलंकारों में अन्तर्भाव दिखलाया है—१-अभ्युक्ति, २-अनुगुण, ३-अनुशा, ४-अनुपलब्धि, ५-अनुमान, ६-अर्थारति, ७-प्रत्यय, ८-मवशा, ९-असमव, १०-असम, ११-उदाहरण, १२-उन्मीलित, १३-उपमान, १४-उत्पास, १५-उल्लेख, १६-उज्जरित, १७-हेतुबन्ध, १८-गूढोक्ति, १९-श्लोकोक्ति, २०-जाति, २१-निरुक्ति, २२-परिकार, २३-परिणाम, २४-पिहित, २५-पूर्वक, २६-प्रत्यय, २७-प्रस्तुताङ्कुर, २८-प्रवर्धन, २९-प्रेष, ३०-प्रौढोक्ति, ३१-माषा, ३२-मिथ्याप्रवृत्ति, ३३-मुद्रा, ३४-युक्ति, ३५-रत्नावली, ३६-रसवत्, ३७-ललित, ३८-लेख, ३९-लोकोक्ति, ४०-वर्षमान, ४१-वाक्यार्थरूपक, ४२-विकल्प, ४३-विकल्पर, ४४-विचित्र, ४५-वितर्क, ४६-विधि, ४७-विवृत्तोक्ति, ४८-विशेष, ४९-विषाद, ५०-शब्द, ५१-समव, ५२-समाहित और ५३-हेतु।

इनमें कतिपय अलंकारों का पण्डितराज ने अपने रत्नगोशर में सयुक्तिक पुनः स्थापन किया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ बहिराज ६ शब्दालंकार और ७२ अर्थालंकार—कुल ७८ अलंकार मानते हैं। इमी तरह मासक, रत्नक, चामन आदि आलंकारिकों का भी अलंकार संख्या विषयक मत समान नहीं है।

अलंकारों की संख्या के विषय में दृष्टिगोचर होनेवाला यह मतभेद कोरं आश्चर्य में डालने-वाली बात नहीं है क्योंकि उक्ति की विधिवत्ता ही अलंकाररूप में परिणत होती है और उक्ति-वैधिव्य की कोरं शयत्ता नहीं है—वह अनन्त है—‘शामन्ता चाहम्यस्यास्य गोपस्थेध विधिप्रता’ यह सिद्धांत बहुत ही प्राचीन है। अतः भिन्न आचार्यों को जितने प्रकार के उक्ति-वैधिव्य प्रतिपा-सित हुए वतने वतने प्रकार के अलंकारों की कल्पना कर ली।

अब तक जितने प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की जा चुकी है, मविष्य में उनसे और अधिक प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की जा सकती है।

अलङ्कार की सामान्य परिभाषा

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श)

इस परिभाषा के द्वारा आचार्य वण्डी को उन सभी काव्यतरवों का समूह अमीष्ट है जो काव्य में चमत्कारोत्पादक हैं। इस तरह उनके हिसाब से प्रसाद, माधुर्य आदि गुण ही नहीं, प्रस्तुत नाट्य के शोभाविधायक अङ्ग—सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति आदि भी अलङ्कार शब्द के अर्थ हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप में लिखा है कि 'शास्त्रान्तर में जो तत्त्व सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि पदों से अभिहित हुए हैं वे सभी गुण अलङ्काररूप से ही इष्ट हैं'।

इस व्यापकता को हटाने के लिये कतिपय आचार्यों ने कहा—

'काव्यशोभाया' कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।'

अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले तत्त्व गुण हैं और गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा को अतिशयित करनेवाले तत्त्व अलङ्कार हैं।

पर इन उल्लेखों से वस्तुस्थिति सर्वथा स्पष्ट हुई नहीं, अतः भिन्न भिन्न आलङ्कारिकों के फुटकर उल्लेखों के आधार पर प्रस्तुत अलङ्कारतत्त्व की कुछ और ध्यान दीन करना आवश्यक है।

आनन्दवर्धन ने अलङ्कार की मूल भावना का निर्देश इन शब्दों में किया है—'अलङ्कारो हि चारुवद्देतुः प्रसिद्धः'—अर्थात् अलङ्कार काव्य में चारुता के कारणरूप से प्रसिद्ध तत्त्व है। अभिनव गुप्त ने अलङ्कार को सशरी विच्छित्ति प्रकार स्वीकार किया है। कुन्तक ने अलङ्कार-स्वरूप में दो बातों पर विशेष जोर दिया है—वैचित्र्य और कविप्रतिमानिर्वर्तित्व। यद्यपि ये दोनों लक्षणा काव्य की ही मूल कल्पना के साथ सम्बद्ध हैं, तथापि अलङ्कार में भी इनका अस्तित्व अवश्य रहना है।

अलङ्कार को विविध और चारुत्वसम्पन्न होना ही चाहिए और इसके लिये आवश्यक है कि वह कवि की प्रतिभा के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये भिन्न आलङ्कारिकों ने अपने ग्रंथों में अलङ्कार के प्रसङ्ग में विच्छित्ति, चारु, सुन्दर आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विच्छित्तिविशेष का सामान्य अभिधान अलङ्कार है—'वैचित्र्यमलङ्कारः।' कुन्तक की इस अलङ्कारत्वमीमाणा का प्रभाव अवान्तरकालीन आलङ्कारिकों पर विशेषरूप से पडा है। मम्मट भी अलङ्कार को वैचित्र्यरूप ही मानते हैं। वही अलङ्कार काव्य का शोभाविधायक हो सकता है जो विचित्रता या रुचिरता उत्पन्न करे। वे अलङ्कार के साथ रसजन्य चमत्कार के भी पक्षपाती हैं, परन्तु रस के अभाव में अलङ्कार के ही कारण उक्ति की विचित्रता में किमा प्रकार का हास नहीं होना। मम्मट की स्पष्ट उक्ति है—'यत्र तु नास्ति रसः तत्र उक्तिवैचित्र्यमात्र-पदं वसायिनः।'

१. 'यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्ग लक्षणायागमान्तरे।

व्यावर्गितमिदं चैष्टमलङ्कारतयैव नः ॥' (काव्यादर्श)

'हेतु' को अलंकार की 'धेगी' में स्थान न देने का कारण मम्मट ने 'स्पष्ट' वैधर्म्य का अभाव कहा है—'वैधर्म्याभावात्तु हेतुर्नालङ्कारः ।' स्वयं भी इस विषय में कुन्तक से प्रभावित है। वे भी अलंकार की कविप्रतिभोत्थित मानते हैं। संदेहलङ्कार के विषय में उनका कहना है—'कविप्रतिभोत्थिते संदेहे संदेहलङ्कारः ।' 'आन्ति' अलंकार के विषय में भी कविप्रतिभोत्थित आन्ति को ही उन्होंने अलंकार कहा है।

इन विवेचनों से कुन्तक की दृष्टि में अलंकार का सामान्य स्वरूप होगा—'कविप्रतिभोत्थितः विचित्रविशेषः अलंकारः' अर्थात्—कवि की प्रतिभा से उत्पन्न विचित्र विशेष-चमत्कार का एक प्रकार ही अलंकार है। पर यह परिभाषा भी व्यापक हो जाती है और कान्यारव नियामक सभी तत्वों को अपने अन्दर समेट लेती है, अतः यदि उक्त परिभाषा में कथित प्रतिभोत्थित विचित्रविशेष का संबन्ध शुद्ध अथवा अर्थ के साथ जोड़ दें, अर्थात् यह कहें कि 'शुद्ध अथवा अर्थ में रहने वाले कविप्रतिभोत्थित विचित्र विशेष, का नाम अलंकार है' तो अलंकार की सही-सही सामान्य परिभाषा बन जाती है।

'शब्दाशयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तो तेऽलंकारा अङ्गदादिवत् ॥'

अर्थात् शुद्ध अर्थ के अनियत शोभातिशायी और रस आदि के उपकारक धर्मों का नाम अलंकार है। यह नाम लौकिक अङ्ग आदि अलंकारों की समता के कारण प्रचलित है। इस परिभाषा में दो विशेषणों पर ध्यान देना है—एक 'अस्थिरा' और दूसरा 'रसादीनुपकुर्वन्तः'। इनमें से प्रथम विशेषण गुणों को अलंकार धेगी से पृथक् करने के लिये कहा गया है। गुणों में भी सभी अन्य अलंकारत्व नियामक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, पर वे काव्य के स्थिर (नियत) धर्म हैं और अलंकार हैं अस्थिर (अनियत)। दूसरा विशेषण अलंकारों के कर्तव्य की ओर इतिहास करता है, अर्थात् कान्यारव के मुख्य अर्थ को उपकृत करना—पुष्ट बनाना ही अलंकारों का कर्तव्य है, उक्त कर्तव्य से विमुक्त तत्त्व अलंकार पद से अभिहित ही हो नहीं सकते।

यहाँ पण्डितराज अलंकारनिरूपण के आरम्भ में अवतरणरूप से लिखते हैं कि—'अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यदास्यतोऽव्ययस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते ।' इस अवतरणग्रन्थ में 'रसादेः' न लिए कर 'व्यङ्ग्यस्य' जो लिखा गया है उससे पण्डितराज का यह अभिमत निकाला जाता है कि—'पण्डितराज त्रिविध (वस्तु, अलंकार तथा रसादि) व्यङ्ग्यों को कान्यात्मा मानते हैं ।' किन्तु उपमानिरूपण प्रकरण में एक स्थल पर पण्डितराज लिखते हैं—'दृष्ट चैवमेतद्वैपमा वस्तुलकाररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानाम् वस्तुलकारयोश्चोपरकारकतया पञ्चधा ।' प्रसङ्गवश पहले भी यह पङ्क्ति टिप्पणी में उद्धृत की जा चुकी है। इसका अर्थ है—'उपमा पाँच प्रकार की होती है क्योंकि वह (उपमा) कहीं वस्तुरूप प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं अलंकाररूप प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं रसादिरूप प्रधानव्यङ्ग्य को—इस तरह त्रिविध व्यङ्ग्य को—और कहीं प्रपान वाच्यवस्तु को तथा कहीं प्रधानवाच्य अलंकार को अलङ्कृत करती है ।' इस उल्लेख से तो पण्डितराज की कान्यात्मत्वविवेक धारणा कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है, क्योंकि यह निश्चित है कि जिस तत्त्व को भी कान्यात्मा माना है वह उसी तत्त्व को अलंकार्य

बतलाता है। इस हिसाब से यदि पण्डितराज त्रिविध व्यङ्ग्य भाष को काव्यात्मा मानते होते तब वाच्यवस्तु (अलंकार) को अलंकार्य (उपस्कार्य) नहीं कहते। ऐसा लगता है कि पण्डितराज सभी प्रकार के रमणीय अर्थों को काव्यात्मा मानने वाले हैं। इस धारणा की पुष्टि पण्डितराज की अन्य उक्ति से भी होती है। उपमालक्षण में सादृश्य का विशेषण 'वाक्यार्थोपस्कारकम्' कहा गया है, 'व्यङ्ग्यार्थोपस्कारकम्' नहीं। इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज-केवल रमणीय वाक्यार्थ के रहने पर भी, अर्थात् रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ के नहीं रहने पर भी, वाक्य को काव्य मानते हैं। विचार करने की बात है कि—काव्यात्मभूत तत्त्व के अभाव में भी क्या काव्यत्व माना जा सकता है? नहीं। अतः माना जाता है कि पण्डितराज आलंकारिक जगत् में ध्वनिवादी होते हुए भी रमणायतावादी हैं।

उक्त अवतरण के बाद उपमानिरूपण से अलंकारनिरूपण प्रकारण आरम्भ होता है। अलंकार-सामान्य की परिभाषा—जो विशेषविषयक शिक्षा के प्रति सामान्य ज्ञान को कारण मानने वालों के मत से आवश्यक समझी जाती है—नहीं दी गई है।

यद्यपि नागेश ने उक्त अवतरणग्रन्थ में ही अलंकारसामान्यलक्षण, खोज निकाला है। अर्थात् नागेश की दृष्टि में उक्त अवतरण का 'व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजकाः' यह अर्थ अलंकारसामान्य का लक्षण है। फलतः नागेश के कथनानुसार पण्डितराज का अलंकारसामान्य-लक्षण हुआ 'व्यङ्ग्यरमणीयताप्रयोजककाव्यधर्मत्व'। पर यह सगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि रूपर दिसलाया जा चुका है कि पण्डितराज अलंकार को केवल व्यङ्ग्य अर्थ की रमणीयता का प्रयोजक नहीं मानते हैं। वस्तुतः स्पष्ट उल्लेख नहीं रहने पर भी पण्डितराज के मन से अलंकारसामान्य का लक्षण—'कविप्रतिभानिर्वर्तितमुख्यवाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरशब्दार्थ-धर्मत्व' समझा जा सकता है, क्योंकि रमणालंकारनिरूपण में एक जगह पण्डितराजने लिखा है—'प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेषु अलंकारलक्षणेषु देश्यम्', सप्तदेहालंकारगत रमणीय विशेषण की व्याख्या—'चमत्कारिणीत्यर्थः' इन शब्दों में करके कहा—'एतच्च विशेषण सामान्यालंकारलक्षणप्राप्तमेव। एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम्'। इसी तरह आग्निमान् अलंकार के लक्षण का विवरण करते हुए कहा है—'चमत्कारीति। कविप्रतिभानिर्वर्तित इत्यर्थः।' इन उल्लेखों से उक्त अलंकारसामान्यलक्षण ही फीलत होता है, जो बहुत कुछ पूर्वोक्त कुन्तक के विचार से प्रभावित है।

रसगणधर ग्रन्थ में निम्न ७० अलंकारों का निरूपण किया गया है—

१ उपमा, २ उपमेयोपमा, ३ अनन्वय, ४ असम, ५ उदाहरण, ६ स्मरण, ७ रूपक, ८ परिणाम, ९ सप्तदेह, १० अर्थात्मान्, ११ उल्लेख १२ अपद्युति, १३ उग्रोक्ता, १४ अतिशयोक्ति, १५ तुल्ययोगिता, १६ दीपक, १७ प्रतिवस्तुपमा, १८ दृष्टान्त, १९ निदर्शना, २० व्यतिरेक, २१ सशोक्ति, २२ विनोक्ति, २३ समासोक्ति, २४ परिकर, २५ श्लेष, २६ अप्रत्युत्पन्नशब्दा, २७ पर्यायोक्त, २८ व्याजस्तुति, २९ आक्षेप, ३० विरोध, ३१ विभावना, ३२ विशेषोक्ति, ३३ असंगति, ३४ विषम, ३५ सम, ३६ विचित्र, ३७ अधिक, ३८ ध्वन्योन्वय, ३९ विशेष, ४० व्यापार, ४१ कारणमाला, ४२ पकावली, ४३ सार, ४४ काव्यलिङ्ग, ४५ अर्थान्तरम्भास, ४६ अनुमान, ४७ यथामरूप, ४८ पर्याय, ४९ परिपृच्छि, ५० परिसरला,

५१. अर्धांशति, ५२. विकल्प, ५३. समुच्चय, ५४. समाधि, ५५. प्रत्यनोक, ५६. प्रतीप, ५७. शीघोक्ति, ५८. ललित, ५९. प्रहर्षण, ६०. विषादन, ६१. उल्लास, ६२. भवशा, ६३. अनुष्ठा, ६४ तिरस्कार, ६५. लेश, ६६. मद्गुण, ६७ अनद्गुण, ६८. मीलित, ६९. सामान्य और ७० उत्तर। यहाँ अन्तिम उत्तरालकारनिरूपण में ही अकरमाह ग्रन्थ स्रष्टित होकर समाप्त हो गया है। इस प्रकार समाप्ति होने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो लिखते समय ही लेखक को अकरमाह गृह्य हो जाना और दूसरा किमी कारणवश अग्रिम अक्षर का पण्डितराज-लिखित मूल प्रति से नष्ट हो जाना। जो भी हो, इस स्थिति में आज यद्यपि पण्डितराजाभिमत अक्षरकारों की सख्या बतलाना असम्भव है तथापि इतना निश्चित है कि पण्डितराज अलकार-निरूपण में चन्द्रालोक्रीय अर्थात्कारानुक्रमगिका को ही आधार मानकर चले हैं, क्योंकि उक्त सूत्र अलकारों में केवल उदाहरण, तार, अनुमान और तिरस्कार ये चार ही अलकार देने हैं जो चन्द्रालोक्रीय अर्थात्कारानुक्रमगिका से बहिर्भूत हैं। चन्द्रालोककार पौशुषवर्ष ज्येष्ठदेव ने अपने अनुक्रमगिका में सौ अक्षरों का निर्देश किया है जिसमें उत्तरालकारपर्यन्त अलकारों में से आशुति, दीपक, परिकराहुर, प्रस्तुताहुर, व्याजनिन्दन, असम्भव, अल्प, मालादीपक, साधक, कारकदीपक, विद्यस्वर, सभावन, मिथ्याभ्यवसिति, रक्षावली, पूर्वरूप, उन्मीलित और निमीलित इन सोलह अलकारों की चर्चा पण्डितराज ने स्वतन्त्र अलकार के रूप में न करके अन्य अलकारों में ही उनका अन्तर्भाव दिसाया है। फलतः उच्चर के आगे चन्द्रालोकगत सूक्ष्मपिहित, न्यायोक्ति, गूढोक्ति, त्रिवृत्तौक्ति, युक्ति, स्तोत्रोक्ति, ऐकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वमावृत्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि और हेतु ये सोलह अलकार बच जाते हैं। इन सोलहों के सबन्ध में पण्डितराज क्या लिखते, इन्हें स्वतन्त्र अलकार मानते अथवा नहीं, यह आज नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पण्डितराजाभिमत अलकारों की सख्या भी प्रायः सौ के लगभग ही होती।

(१) उपमा

आरम्भ में अति उपयुक्त उपमा लक्षण कहा गया है। तदनन्तर लक्षण में निविष्ट पदों के फल स्पष्ट किए गए हैं। इसके बाद कवितोपमा—जिसमें उपमान कल्पित पदार्थ रहता है, अतः जिसे प्राचीन आलंकारिक अलकारान्तर की संज्ञा प्रदान करते हैं—को उपमा के अन्दर सयुक्तिक समूहित किया गया है। इसके अनन्तर साधारणभर्म के विषय में विचार करते हुए 'बिम्बप्रति-बिम्बभाव' तथा 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का इतना सुन्दर विश्लेषण किया गया है जैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसके बाद एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीन आचार्यों के द्वारा रचित उपमालक्षणों की आलोचना की गई है जिसमें अप्यवदीक्षित, विद्यानाथ, मम्मट, अलकारसर्वस्वकार, अलकाररत्नाकरकार आदि के लक्षणों का सयुक्तिक खण्डन किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीनोक्त पञ्चोस भेदों को गिनाकर उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसके बाद 'इहान्यानिधि भेदान्त्ये निगदन्ति' से आरम्भ करके कतिपय प्राचीनमतसिद्ध अन्य भेदों की चर्चा की गई है और उनमें से कुछ का खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यत्र-तत्र अप्यवदीक्षित के मत का भी खण्डन किया गया है। इसके बाद उपकार्यभेद से तर्पणा के पाँच भेद करके उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में अलकार से अलकार भी उपरंकार्य

कैसे हो सकता है इस बात की सुन्दर मोर्मासा की गई है जो अन्यत्र अप्राप्य ही है । इस तरह पचीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत से प्रत्येक के पञ्चविध हो जाने से एक सौ पचीस और बत्तीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत में एक सौ साठ भेद हो सकते हैं यह बात कही गई है । इसके बाद पण्डितराज ने अपनी प्रतिभा के बल से और बहुत भेदों की उद्गावना की है । साधारण-धर्म के अनुगामी, केवल शिबप्रतिबिम्बभावापन्न, उभय, वस्तुपतिवस्तुमात्रकारम्बित शिबप्रतिबिम्ब-भावापन्न, उपचरित और केवल शब्दात्मक भेद मानकर उपमा के भेद किए गए हैं और सभी भेदों के सूटीक उदाहरण भी उपस्थित किए गए हैं । इसके बाद भी 'प्रकारान्तर च सुधीभिः स्वयमुच्येतुं शक्यम्' कह कर एक विश्लेषण भेद और दिखलाया गया है जिसमें उपमा को ही उपमा का साधारणधर्म सिद्ध किया गया है । उदाहरण भी इस भेद का देखने योग्य दिया गया है । अन्त में भेदों के सम्बन्ध में 'इयमेवभेदा प्राचीनैर्भेदैर्गुणैः वागगोचर भूमान भज्जमान्ना नेथत्तासर्हति' लिख कर ही ग्रन्थकार ने सन्तोष किया है । इसके बाद शब्दशेष का विचार विशद रूप से किया गया है जो अलकारशान्न को न्याय आदि शास्त्रों के समान प्रीति प्रदान करता है । अन्तः यह निश्चित है कि उपमा का वैसा मर्मस्पर्शी तथा विशद विचार इस ग्रन्थ में हुआ है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हुआ है ।

(२) उपमेयोपमा

उपमेयोपमा को यद्यपि पण्डितराज उपमा का ही प्रभेद मानते हैं,^१ तथापि इसका निरूपण उन्होंने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में किया है और लक्षण, उदाहरण आदि सब कुछ अलग लिखे हैं । उनका उद्देश्य है कि इसके भी उपमा की तरह अनन्त भेद हो सकते हैं^२ । उपमेयोपमा निरूपण में भी अप्यदोक्षित, अलकारसर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मर्मों का खण्डन किया गया है ।

(३) अनन्वय

अनन्वय निरूपण में लक्षण, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दिखलाने के बाद भेदकथन है । उपमा के समान अनन्वय का भी पहले पूर्णतुल्य भेद माना गया है, फिर पूर्णभेद के पूर्णोपमा की तरह ही भेद हो सकने की बात कही गई है । तुल्यभेद में धर्मतुल्य के पुनः पाँच भेद मान कर वाचकतुल्य भेद भी दिखलाया गया है । धर्मवाचकीमयतुल्यभेद भी स्वीकृत हुआ है । अतुन्दर होने के कारण इसके उपमानतुल्यभेद नहीं हो सकते इस वचन से भेदविवरण समाप्त किया गया है । इसके बाद लोकार के विविध अनन्वयलक्षण तथा उदाहरणों का उल्लेख करके खण्डन किया गया है और अलकारसर्वस्वकार तथा अप्यदोक्षित की उत्क्रियों का भी खण्डन किया गया है ।

१. 'यथा जनायाः स्वकानितायाः स्नावनमे नितराः सनासि ।

तथा कृता पल्लविनी सगर्वे शोभापरायाः सद्दृष्टी तथापि ॥'

२. 'मुल्लभिव चन्द्र इति प्रतीये, चन्द्र इव मुल्ल मुल्लभिव चन्द्र इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वात्प्रतिप्रसङ्गं अङ्कनीयं, तयोः संग्राह्यात्वात् ॥' (उपमानिरूपणे)

'अथास्या एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते—' (उपमेयोपमानिरूपणस्यावतरणग्रन्थ)

३. 'यव पूर्णात्तसादयोऽप्यस्याः (उपमेयोपमाया) उपमाया इव प्रायश सर्वेऽपि भेदाः सम्भवन्ति ।'

(४) असम

अलंकार-संसार में अस्व-भक्त-समर्पित 'असम' अलंकार को मान कर इस अलंकार का निरूपण करते समय लघुगोस्तेरा के बाद सर्वप्रथम पण्डितराज कहते हैं कि 'यद्यपि असम-पदार्थ अनन्वय में नियमतः व्यञ्ज्य होगा है, तथापि वहाँ यह अलंकार पदभ्यवहार्य होने योग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ यह अनन्वय के चमत्कार का ही बोधक रहता है, इसीलिये रूपक-दीपक आदि में नियमतः अभिव्यक्त होने पर भी उपमा अलंकारपद से ब्यवहान नहीं होती। जहाँ 'असम' वाच्य रहता है वहाँ यह स्वयम्भ्र चमत्कार का उदाहरण होता है, और तब उसको स्वतन्त्र अलंकार भी मानना ही चाहिए।' रसाकर के मत का खण्डन यहाँ भी हुआ है। यह छद्मा भी की गयी है कि— 'असमालंकार' ध्वनन से ही चमत्कार उत्पन्न होना है ऐसा मानकर 'अनन्वय' का अस्वोकार क्यों नहीं कर दिया जाय ? उत्तर में कहा गया है कि उपमा ध्वनन से कृतार्थता मान कर दीपकादि का भी अपलाप क्यों नहीं कर देते ? इत्यादि। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि प्राचीन इस अलंकार को नहीं मानते।

(५) उदाहरण

यह अलंकार भी अलंकारजगत् के आचार्यों का बहुमत नहीं प्राप्त कर सका है। पर पण्डितराज का समर्पण इसे प्राप्त है। 'सामान्य विशेष का वाच्य अवयवावयविभाव' इसका लक्षित स्वरूप है। इव, यथा, निदर्शन, दृष्टान्त आदि शब्दों को इस अलंकार का बोधक माना गया है। इव और यथा शब्द सादृश्य-वाचक हैं, सामान्यविशेषभाव के बोधक ये कैसे हो सकते हैं इस शका के समाधान में कहा गया है कि—अभिराश्रुति द्वारा भले ही इव और यथा पद सामान्य-विशेषभाव के बोधक नहीं हों, पर लक्षणाश्रुति द्वारा तो हो ही सकते हैं। अन्यथा जग्रेष्ठा-बोधक भी ये पद नहीं हो सकेंगे। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य'—इस कालिदासीय प्रसिद्ध पद्य में पण्डितराज यही (उदाहरण) अलंकार मानते हैं। 'अर्थांतरन्यास' से इसमें वैलक्षण्य यह माना गया है कि—इसमें अवयवावयविभावबोधक इत्यादि पद श्युक्त होते हैं और सामान्य विशेष दोनों अर्थों का अन्वय एक ही विधेय (किया) के साथ होता है, अर्थांतरन्यास में ये दोनों बातें नहीं होतीं। सामान्य-विशेषात्मक दो पदार्थों में सादृश्य उल्लसित ही नहीं हो सकता, अतः उपमा में भी इसकी गतार्थता नभव नहीं। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि—प्राचीन इस अलंकार को उपमा में ही गतार्थ मानते हैं और 'सामान्य' विशेष से अतिरिक्त नहीं होता—अतः सादृश्योद्भास की व्यवस्था दे देते हैं।

(६) स्मरण

पण्डितराजकृत स्मरणालंकार के लक्षण में बहुत कुछ नवीनता है। अलंकारसर्वस्व, रसाकर आदि में 'सदृशपदार्थानुभवजन्य सृष्टि' को स्मरणालंकार माना गया है। अन्यत्र भी स्मरण-पदार्थ का स्वरूप अनुभवजन्यत्वधरित ही प्रायः माना गया है। पर पण्डितराज का कथन है कि—यदि सदृशानुभवजन्य स्मरण को ही अलंकार माना जाय तब जहाँ सदृशपदार्थ के स्मरण से सस्तरासिद्धबोधकमेव स्मरण उत्पन्न होता है वहाँ स्मरणालंकार नहीं हो सकेगा। उदाहरण भी वैसा (स्मरणप्रयोज्य स्मरण का) सुन्दरतम उपस्थित किया गया है। अतः पण्डितराज ने

'सादृश्यमान से उद्भूत जो स्वरूप उससे साक्षात् अथवा परम्परा सम्पन्न होनेवाले स्मरण' को स्मरणालङ्कार माना है। यह लक्षण उक्त सभी स्मरणों में स्पष्टित होता है।

(७) रूपक

पण्डितराजकृत रूपक-विचार भी अतलस्पर्शी और विवाद है। लक्षण ही पहले विलक्षण है। विलक्षणता नवीनपदार्थ निर्वचनार्थ में नहीं है, अपितु परम्परागत रूपकपदार्थ के स्फुटीकरणार्थ में है। परमत् को समीक्षा भी सुन्दर ढङ्ग से की गई है। रत्नाकर ने उपमान-उपमेय के अभेद की तरह कार्य-कारण के अभेद को भी रूपक माना है, पर पण्डितराज ने उसका सयुक्तिक सण्डन करके सादृश्यमूलक—फलतः, उपमानोपमेय के—तादात्म्य को ही रूपक कहे जाने का प्रमाण-पत्र दिया है। अप्यदीक्षित का खण्डन करना तो पण्डितराज के आवश्यक कर्तव्यों में था अतः उस कर्तव्य की पूर्ति रूपकनिरूपण में भी खूब की गई है। रूपक के प्रभेदों के विषय में भी पण्डितराज ने अपनी मौलिक प्रतिभा का चमत्कार परिपूर्ण मात्रा में दिखलाया है।

आरम्भ में प्रकाशकारादिसम्मत आठ भेदों की साङ्गोपाङ्ग चर्चा की गई है। इसी प्रसङ्ग में परम्परितरूपकत्वनिवामक आरोपद्वय का उपायोपेयभाव कैसे सम्भव है ? 'शशिपुण्डरीक' आदि में पुण्डरीकरूपक का व्यवहार कैसे होता है क्योंकि पुण्डरीक-तादात्म्य की प्रतीति नहीं होती, प्रतीति होती है शशितादात्म्य की, तदनुसार शशिरूपक का व्यवहार होना चाहिये, इत्यादि शङ्काओं का विलक्षण समाधान उपस्थित किया गया है जो सर्वथा नवीन प्रतीत होता है। तदनन्तर पण्डितराज ने अपनी नवनवीनोपशालिनी बुद्धि से अनेक नवीन भेदों की कल्पना की है, जिसमें वाक्यार्थरूपक की कल्पना सर्वथा नवीन ज्ञात होती है। इसी अवसर पर 'रूपक में विन्व प्रति-विन्वभाव नहीं होता' इस प्राचीन मत का प्रबल युक्तियों के आधार पर सण्डन किया गया है। अन्त में नव्यन्याय की शैली से शाब्दबोध का विचार करके अलङ्कारशास्त्रीय आलोचना-पद्धति को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया गया है।

(८) परिणाम

'उपमान जहाँ उपमेयरूप से ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता हो, स्वतन्त्रतया नहीं, वहाँ परिणाम होता है' यह लक्षण पहले किया गया है। फिर 'परिणाम में विषय का अभेद विषयी में उपयोगी सिद्ध होता है, रूपक में ऐसा नहीं होता' यह परिणाम तथा रूपक में परस्पर भेद बतलाया गया है। इसके बाद समानाधिकरण परिणाम के वाक्यगत समासगत दो भेद और व्यवधिकरण परिणाम का एक भेद इस तरह कुल तीन भेद करके उन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं और दक्षिणोक्त व्यवधिकरण परिणामोदाहरण का सण्डन किया गया है, सर्वस्वकारकृत लक्षण उदाहरण दोनों का सयुक्तिक सण्डन किया गया है और 'केचित्तु' कह कर उन प्राचीनों का मत उपस्थित किया गया है जो परिणाम को रूपक से भिन्न धरकार नहीं मानते और कहते हैं कि—कहाँ केवल उपमेय अपने रूप में प्रकृतकार्य में उपयुक्त नहीं सिद्ध होता, अतः आरोप्यमाण (उपमान) से अभिन्न रूप में स्थित होकर उपयुक्त होता है ऐसी जगह आरोप्यमाण परिणाम होता है। वहीं आरोप्यमाण (उपमान) अपने रूप से उपयुक्त न हो सकने के कारण उपमेय से अभिन्न होकर उपयोग (लाम) कर्ता है वहाँ विषयपरिणाम होता है,

पर वस्तुतः ये दोनों ही प्रकार रूपक के ही हैं, क्योंकि उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक में से किसी एक को भागे रख कर निश्चित किया जाने वाला उपमान अथवा उपमेय ही रूपक का स्वरूप है। अन्त में परिणामवाक्य के शाब्दबोध का विचार किया गया है।

(९) ससन्देह

वैसे तो अलङ्कार आदि सभी काव्यतत्त्वों के निरूपण में पण्डितराज ने अपनी विद्वान् विद्वत्ता का परिचय दिया है, पर ससन्देहालङ्कार के निरूपण में तो आपकी प्रतिभा दर्शनीय है। लक्षण लक्षण, पवित्र पदकल्प-कथन प्रणाली, उदाहरणों की अगुपन अनुरूपता। यहाँ तक कहा जाय। वस्तु, एक लक्षण लिए लेने के बाद 'यद्वा' कहकर दूसरा भी लक्षण किया गया है। लक्षण के बाद पहले प्राचीनों के हिसाब से शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इन तीन भेदों का उल्लेख करके उन भेदों के उदाहरण दिए गये हैं। उन उदाहरणों में वर्णित सद्य में विटारी में बन्द कायक-कुण्डलादि की तरह अलङ्कार-व्यवहार माना गया है, अर्थात् स्वय-प्रधान वाचनार्थरूप के सशय उपपत्तात्मकता के अभाव से केवल स्वरूपयोग्यता के कारण अलङ्कारपद से न्यवहृत होते हैं। सादृश्यमूलक सद्य ही अलङ्काररूप होता है, इस सिद्धान्त के समर्थन में प्रत्युदाहरणरूप से विचित्र हृदयमाही तत्कालरचिन वाक्य उपस्थित किया गया है। 'अद्भुत शैव, वीर्य और शान्तीर्य से युक्त तथा एक क्षण के लिये भी प्राणमिया सीता को समीप से हटाने में अक्षम भगवान् रामचन्द्र को जो पहले देख चुका था, वह उनकी दीन तथा प्रियाविरहकातर देखकर 'यह राम हैं अपना नहीं' इस सद्य में पढ़ गया।' भाव माधुर्य तो इस न्याय्या से परस में आ गया, अब पदमाधुरी भी देखें—

'तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतशैववीर्यशान्तीर्यमक्षणविमुक्तसमीपजानिम् ।

वीर्याथ दीनमवलाविरहव्यथार्तं रामो न वापमिति सशयमाप लोकः ॥' (५ ५६४)

कैसी सीधी-सादी पर कितना गहरा असर डालने वाला भाषा है। 'अवला' पद की ध्वनि कितनी मार्मिक है। अपने लिये भगवान् राम को उतना दुःख नहीं, जितना उम 'अवला' के लिये है। सन्देहालङ्कार आरोपमूलक होता है, पर विमर्शिनीकार उसको अध्वबसानमूलक भी मानते हैं, उदाहरण भी यथान्ताध्य उपयुक्त उपस्थित करते हैं। किन्तु पण्डितराज की कसौटी पर बसे जाने के बाद यह उदाहरण भी आरोपमूलक ही टरता है। सशयालङ्कार-निरूपण में अनेक बार भिन्न भिन्न प्रसङ्ग पर दक्षिणतम की आलोचना की गई है और सभी आलोचनाओं का निष्कर्ष दीक्षित के विरुद्ध ही निकला है। अभिनव भेद भी बहुतेरे किए गए हैं। ध्वन्यालौकिकता आनन्दवर्धन का स्मरण विरुद्ध रूप में और अत्यादर के साथ यहाँ किया गया है।

(१०) भ्रान्तिमान्

लक्षण-कथन के बाद सर्वप्रथम यह कहा गया है कि अलङ्कार का नाम वस्तुतः भ्रान्ति है भ्रान्तिमान् नहीं, भ्रान्तिमान् तो वह वाक्सुन्दर कहला सकता है, जिसमें यत्किंचिदत्र भ्रान्ति का अनुवाद किया जाता है। इस अलङ्कार के मूल में भी सादृश्य का रहना पण्डितराज आवश्यक मानते हैं। अर्थात् एक ही निश्चय को अलङ्कार सिद्ध करने के लिये पण्डितराज ने लक्षण में 'यः' ...

में भ्रान्ति-लक्षण प्राप्ति का 'निरास हो। दीक्षितोक्त लक्षण का खण्डन करते समय उनके द्वारा उत्तरोत्तर भ्रान्ति के उदाहरणरूप में उद्धृत निम्न पद्य की आलोचना की गई है—

‘शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं सुम्बितं चञ्चरीकैः,

तत्रासोह्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः।

तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिता काकलोकै-

रित्थं - चौलेन्द्रसिंह स्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ॥’ (५, ५९७)

चोल-नरेश की यह स्तुति है। कवि कहता है—‘राजन् ! तुम्हारे शत्रुओं की कामिनियों के लिये अरण्य भी शरण-दायक नहीं हो सका, क्योंकि चञ्चरीकों ने उनके स्तनकलशयुगल को मञ्जरी-भ्रम से चूम लिया, उनके भय से उल्लसित ललित लीलाओं वाले करों को कीरों ने किसलय-भ्रान्ति से काट खाया, और उनके वारणार्थ अनाप-दानाप बकती हुईं उन कामिनियों को कौओं ने कोकिल-कलरव-भ्रम से ताटना दी।’

कितना अच्छा पद्य है। पण्डितराज की आलोचना से पूर्व प्रायः इस पद्य में किसी को कोई दोष नहीं दिखलाई पटा था—दीक्षित जैसे मर्मज्ञ विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस पद्य को आदर के साथ स्थान दिया। पर पण्डितराजीय आलोचना के बाद वही पद्य दोष का आकर बन गया। पण्डितराज इस पद्य को उद्धृत करके प्रकृत निबन्ध में लिखते हैं—

“तत्र विचार्यते स्तनकलशयुगे हि न तावन्मञ्जरीसादर्यं क्विसमयसिद्धम्, येन तन्मूला चञ्चरीकाणां भ्रान्तिरुपनिबध्येत। दोषान्तरमूला तु सा नालङ्कारः। अपि च धर्मिणि कलशरूपकानुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिबध्यमानमुद्वेजकमेव सहृदयानाम्। न हि सादर्यमूलैकालङ्कारान्च्छिन्ने सादर्यमूलमलङ्कारान्तरं शोभते” । प्रत्युत फलस्वरूपकेण मञ्जरीसादर्यतिरस्फाराच्च । ‘तत्रासोह्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः’ इत्यत्र विधेयाविमर्शाद्विधेयान्तरमाकाशितम् । कीरदृष्टा इति तु भाष्यम् । जाता इत्यध्याहारेऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमविवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत । एवं ‘तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिता काकलोकै’ इत्यत्र न तावत्पिकनिनदा-स्तादनयोग्या काकानाम् येन तद्विया आलपन्त्यस्तैस्ताल्लयेन् । नापि पिकनिनदध्रम आलपन्तीषु सम्भवति । सम्भवन् वा न सादर्यमूल । पिकनिकरधियेति तु भाष्यम् ।” इत्यादि ।” (५, ५९७)

अन्त में सर्वस्वकारकृत भ्रान्ति-लक्षण को भी पण्डितराज ने कुलक्षण सिद्ध कर दिया है।

(११) उल्लेख

लक्षण (तदीय पदकृत्य) कथन के बाद श्लोक (अलङ्कारान्तरं से अमिश्रित) उल्लेख का एक उदाहरण दिया गया है। ईदृशोदाहरण-दान-श्रयास उन आलङ्कारिकों के सुखसुदुःखार्थ किया गया है जो उल्लेखालङ्कार को नियमत अलङ्कारान्तर से मिश्रित ही मानते हैं। इसके बाद सर्वांग भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में दीक्षितमत का खण्डन किया गया है। दीक्षितजी ने अपभ्रुतिसर्कीण उल्लेख में अतिव्याप्तिनिराकरणार्थ उल्लेखलक्षण में ‘नियेधासृष्ट’ विशेषण जोड़ने की जो बात कही है उसका खण्डन पण्डितराज ने यह कह कर किया है कि यदि सर्कीण उल्लेख आपको

मान्य नहीं हो तब तो उक्त विशेषण से, निर्वोद नहीं होगा क्योंकि भ्रान्ति आदि अन्य अलङ्कारों से सकीर्णतास्थल में अतिव्याप्ति रह ही जायगी। यदि उल्लेख के सकीर्णभेद भी आपके अभिमत हों तब उक्त विशेषण की आवश्यकता ही क्या है? अपहृतिस्कीर्ण उल्लेख मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद स्वरूपोल्लेख, फलोल्लेख आदि भेदों को मानकर उन भेदों के उदाहरण दिए गए हैं और एक भिन्न प्रकार के उल्लेख का दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किया गया है। अनन्तर द्विविध उल्लेखों में भेदक तत्वों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि एक प्रकार में शब्दाद्य चमत्कारी रहता है और द्वितीय प्रकार में केवल प्रकाराद्य। इसके बाद एकरूपण दोनों रसों का अनुगम करने का प्रयास किया गया है। अन्त में उल्लेखध्वनिषो उदाहृत हुई है।

(१२) अपहृति

सर्वप्रथम दृष्टान्त किया गया है। तदुत्तर रूपक से हममें भेद दिखलाते हुए कहा गया है कि अपहृति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध किया जाता है जिससे उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक (उपमेय उपमान में रहने वाले जास-रास भर्मा) का विरोध अभिव्यक्त होता है और रूपक में वह विरोध निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का सामानाधिकरण्य रहता है। इसके बाद अपहृति के सावयव-निरवयव आदि भेद उदाहरण द्वारा दिखलाये गए हैं। हेत्वपहृति भी उन्हीं उदाहरणों में कही गयी है। इसके अनन्तर यह स्पष्टीकरण किया गया है कि अपहृति में कहीं वाक्यभेद होता है और कहीं वाक्येक्य। जहाँ नञ् आदि द्वारा साक्षात् अथवा परमत्सिद्धता की चर्चा करके—अर्थात् दूसरे ऐसा कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता, इस तरह से—उपमेय का निषेध होता है वहाँ वाक्यभेद हो जाता है, पर जहाँ मिष, छल आदि पदों द्वारा उपमेय का निषेध किया जाता है वहाँ वाक्यभेद नहीं होता। इसके बाद इस बात की चर्चा की गई है कि अपहृति में कहीं पहले निषेध होता है बाद में आरोप, कहीं पहले आरोप ही कर लिया जाता है फिर निषेध, कहीं निषेध और आरोप दोनों शब्दतः कथित होते हैं, कहीं इन दोनों में से कोई एक ही शब्दतः उक्त होता है और कहीं दोनों के दोनों अनुक्त रहकर भी अर्थतः श्रात होते हैं। कहीं अपहृति निषेध होती है और कहीं अनुवाच। इस तरह अनेक प्रकार अपहृति के हो सकते हैं, पर इनमें सभी प्रकारों को अलङ्कार-कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि सर्वत्र वैचित्र्य नहीं उपलब्ध होता और वैचित्र्य ही अलङ्कार है। अन्ततः सिद्ध यह हुआ कि जहाँ-जहाँ वैचित्र्य प्रतीत हो वहाँ-वहाँ अलङ्कारता मान्य होगी, अन्यत्र नहीं।

अपहृति-विरूपण में कुमटयानन्दकार दीक्षिण के मत को बहुत विस्तार रूप में उद्धृत किया गया है और स्पष्टन भी उतने ही विस्तृत रूप में किया गया है, जिसका सारांश यह है कि दीक्षिण के मत से अपहृति का एक पर्यत्यापहृति नाम का भी भेद होता है, जिसका उदाहरण 'नार्य सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' यह वाक्य है, पर पण्डितराज के विचार से यह भेद अपहृति का नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ 'अपहृतितामान्यलक्षण ही स्पष्टित नहीं होता अतः उक्त वाक्य को दृढारोप रूपक का ही उदाहरण मानना चाहिये। अपहृतिध्वनि के दीक्षिणोक्त उदाहरण का भी उल्लेख किया गया है।

(१३) उत्प्रेक्षा

प्रस्तुत निबन्ध में उत्प्रेक्षा-निरूपण भी अति विस्तृतरूप से किया गया है। प्रायः सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षालङ्कार के मूलतः दो भेद मानते हैं, एक धर्म्युत्प्रेक्षा और दूसरा धर्मोत्प्रेक्षा। पर इसके आगे आलङ्कारिकों में दो मत हो जाते हैं अथवा यह समझिए कि पण्डितराज ही मतभेद उत्पन्न करते हैं, क्योंकि इनसे पूर्व के अतिप्राचीन तथा मध्यकालीन आचार्य इस अर्थ में प्रायः एकमत ही थे। मतभेद का विषय यह है कि—प्राचीन एकधर्मी में दूसरे धर्मी की संभावना को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं और एक धर्म में दूसरे धर्म की संभावना को धर्मोत्प्रेक्षा, फलतः उनके विचार से दोनों ही स्थलों पर सबन्ध तादात्म्य ही होता है और पण्डितराज धर्म्युत्प्रेक्षा के सबन्ध में उक्त प्राचीनों के कथन से सहमत होते हुए भी धर्मोत्प्रेक्षा के सबन्ध में भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ एक धर्मी में अन्य धर्मगत धर्म की संभावना की गई होती है। फलतः पण्डितराज के मत से दोनों स्थलों पर सबन्ध दो हो जाते हैं—अर्थात् प्रथमस्थल में ठीक तादात्म्यसंबन्ध होता है पर द्वितीय स्थल में तादात्म्य नहीं, अपितु तदितर समवायादि-संबन्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि पण्डितराज के मत में उत्प्रेक्षा का लक्षण दो प्रकार का होगा—एक तादात्म्यसंबन्धघटित-अर्थात् भेदघटित और दूसरा सबन्धान्तरघटित अर्थात् अत्यन्ताभावघटित। इन दोनों प्रकार के लक्षणों का उल्लेख पण्डितराज ने एक ही वाक्य द्वारा अग्रन्त में किया है। लक्षण में प्रविष्ट पदों के फल बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिखलाए गए हैं। इसके बाद उत्प्रेक्षा के प्रधान दो भेदों (वाच्य, प्रतीयमान) की व्यवस्था की गई है। प्राचीनों ने भी यह व्यवस्था ठीक इसी रूप में दी है। पर इन दोनों भेदों की स्थिति कब कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण पण्डितराज जैसा प्राचीनों ने नहीं किया। पण्डितराज का स्पष्टीकरण इस विषय में यह है कि, ह्य, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, सकंयामि, शङ्के, उद्येये इत्यादि वाचक पद हों और उत्प्रेक्षा की सामग्री (रमणीय सभान्यधर्म सबन्धादिरूप) भी, तब वाच्य, और उक्त वाचक पदों के अभाव में उक्त सामग्री के रहने पर प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

जहाँ सामग्री के अभाव में केवल वाचक पद हों वहाँ सम्भावना मात्र है उत्प्रेक्षा नहीं—अर्थात् अलङ्काररूप नहीं। फिर स्वलोत्प्रेक्षा हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नाम से उक्त दोनों भेदों के तीन-तीन भेद किए गए हैं। प्राचीनों ने भी ये भेद किए हैं। पर प्राचीनों ने इन तीनों ही भेदों के और बहुत से भेद किए हैं। जैसे—जाति की जाति में, गुण की गुण में, क्रिया की क्रिया में और द्रव्य का द्रव्य में उत्प्रेक्षा, और वह भी कहीं जाति को निमित्त बनाकर, कहीं गुण को निमित्त बनाकर, कहीं क्रिया को निमित्त मानकर और कहीं द्रव्य को निमित्त ठहरा कर, उसमें भी कहीं एक को निमित्त मानकर, कहीं अनेक को, इत्यादि। इन भेदों का वर्णन यद्यपि पण्डितराज ने भी सङ्गोपाङ्ग (उदाहरणादिसहित) किया है, पर अन्त में लिख दिया है कि प्राचीनों के अनुरोध से ये सब भेद उदाहरण हुए हैं। वस्तुतः इन सभी भेदों में अनुभूत होने वाले चमत्कारों में कोई परस्पर विलक्षणता अनुभूत नहीं होती, अतः ये सब भेद उदाहरणीय नहीं हैं। हाँ, हेतु, फल और स्वरूप की उत्प्रेक्षाओं में विलक्षण-विलक्षण चमत्कार अवश्य अनुभूत होता है, अतः ये भेद उदाहरण के योग्य हैं।

इसके बाद पूर्वोक्त प्राचीन-तबीन के मतभेदों की बात विरुद्ध रूप में कही गई है। इसी के मध्य में प्रसङ्गवश व्याकरणशास्त्रीय विवाद (आख्यान क्या है ? उतका अर्थ क्या है ? शाब्दबोध में प्रधानता किमकी होती है ? 'भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्यादि वाक्यों के क्या तात्पर्य हैं ? इत्यादि) उठाया गया है। इसी क्रम में दीक्षितोक्ति का भी खण्डन किया गया है। अलङ्कारसर्वस्वकारकृत उल्लेखाविचार की समीक्षा भी की गई है। अन्त में अपना विशिष्ट मत प्रस्तुत किया गया है। अपना मत स्मरण लेने के बाद 'इत्यलं स्वगोत्रकलहेन' बहकर हम प्रसङ्ग को समाप्त किया गया है। इसके अनन्तर उल्लेखा-लक्षणा-निविष्ट धर्म का विश्लेषण अपने ढङ्ग से अतिगुन्दर किया गया है जिसमें कहा गया है कि धर्म कोई स्वतन्त्र-साधारण (उपनानोपमेयोपमवृत्ती) होता है और कोई उपाय द्वारा साधारण बनाया जाता है। साधारण बनाने के उपाय स्थलभेद से रूपक, इलेन, अपद्धति, विन्धप्रतिविन्धभाव, उपचार और अनेक-ध्यवसाय हो सकते हैं। इन सभी उपायों का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा किया गया है।

काव्यात्मा

अब यद्यपि इस द्वितीयानुसन्त के उल्लेखालङ्कारान्त द्वितीय भाग के प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन समाप्त है और इसके साथ ही प्रस्तुत प्रस्तावना की भी समाप्ति होनी चाहिए। पर आरम्भ-साम में कृत प्रतिज्ञा के अनुसार एक अति आवश्यक अथ च व्यापक विषय (जो इस ग्रन्थ में प्राति-स्निकरूपेण-विवेचित नहीं हो सका है) का विवेचन अवशिष्ट रह गया है। वह विषय है काव्यात्मा।

काव्याङ्गमूल अनेक तत्वों में वह कौन-सा तत्व है जो सबसे प्रधान है—जिसे आरम्भ-प्रदान किया जाय—जिसे के बिना काव्यत्व सत्ताकट्ट नहीं हो सके, इस प्रश्न का समाधान देना अलङ्कारशास्त्रियों के लिये परमावश्यक था। पर इस प्रश्न का समाधान देने में अलङ्कारशास्त्रप्रवर्तक आचार्य एकमत नहीं हो सके। यह एकमत्य का अभाव कुछ तो क्रमिक विकासवाद-सिद्धान्त की सत्यता के कारण हुआ है, कुछ इष्टिकोणभेद के कारण भी। अस्तु उक्त प्रश्न का सबसे प्राचीन समाधान 'रस' शब्द से किया गया है—यह सर्वसम्मत क्या है, क्योंकि आज परिचित अलङ्कार-शास्त्रियों में भरत अथवा अभिपुराणकार ही सर्वपुटातन आचार्य हैं। जो रसवादी हैं, वे काव्य में सबसे मुख्य तत्व 'रस' को मानते हैं, अतः उनके हितान से 'रस' ही काव्य की आत्मा ठहरता है। यद्यपि अभिपुराण की इनकी प्राचीनता विवादग्रस्त है, तथापि भरतकृत नाट्यशास्त्र की परम प्राचीनता सकललोचक-स्वीकृत-अस्तु है। दूसरा उत्तर उक्त प्रश्न का 'अलङ्कार' शब्द से किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि भरत के बाद सबसे पहले आचार्य भामह का ही नाम हम इतिहास में पाते हैं जो अलङ्कारवादी हैं। भामह अलङ्कार को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रधान काव्य-तत्व व्यङ्गीकार करते हैं।

यद्यपि यह कुछ विचित्र सा लगता है कि 'रस' जैसे सूक्ष्मतरुण पर पहुँच कर फिर 'अलङ्कार' जैसे स्थूल तत्व पर केंद्रे साहित्यसंसार झूट जाया, पर मनन करने पर यह विचित्रता ध्वनी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती क्योंकि प्राचीन रससिद्धान्त नाट्य तक सीमित सा था, भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य का ही विचार किया है, करना अभीष्ट भी था, जो 'नाट्यशास्त्र' इस

नाम से भी सूचित होता है। श्रव्यकाव्य की। चर्चा भी भरत ने नहीं की है। ऐसा लगता है जैसे उस समय तक श्रव्यकाव्य की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। यद्यपि राजशेखर ने जो अपनी 'काव्य-नीर्माता' में साहित्यशास्त्र के विकास का इतिहास दिया है, उससे ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि भरत से पूर्व भी अथवा उनके समकाल में ही नाट्यातिरिक्त काव्यों के निर्माण भी हो गए थे, श्रव्यकाव्यादि भेदों से लोगों का परिचय हो चुका था, पर आज उनके बनाए गये उपलब्ध नहीं, नाम भी उन आचार्यों के मूब से गए, राजशेखर से अन्य ग्रन्थकार उनका स्मरण भी प्रायः नहीं करते।

भरत के बाद कई शताब्दियों तक का इतिहास अन्धकारपूर्ण है। उनके बाद के सर्वप्रथम आचार्य भामह उनसे अनेक शताब्दियों का अन्तराल रखने हैं। ऐसा लगता है कि बीच में किसी अज्ञात कारणवश भरत के द्वारा आरम्भ आलोचनापद्धति की परम्परा नष्ट हो गई हो। अतः भामह के युग में प्रायः रस का संबन्ध नाट्य के साथ ही मान लिया गया। भरत सिरे से श्रव्यकाव्य को माध्यम बनाकर आलोचना शुरू हुई। श्रव्य-काव्य को नाट्य से सर्वथा पृथक् वस्तु समझा गया और श्रव्यकाव्य में शब्दार्थ की ओर—उसकी विलक्षणताओं की ओर—अधिक ध्यान दिया गया। यह कुछ अंश में उचित भी था, क्योंकि दृश्यकाव्यों के दर्शक अब श्रव्य-काव्य के पाठक बन गए थे। दृश्यकाव्य में जहाँ सद्दव नेत्रों के द्वारा आनन्दजनक सामग्री को प्राप्त करते थे वहाँ श्रव्यकाव्य में वे कानों के द्वारा उक्त सामग्री को प्राप्त करने लगे। फलतः शब्द-अर्थ की ओर आकृष्ट आलोचक भी शब्दार्थधर्म अलंकार को काव्य में मुख्य तत्त्व मानने लगे। अतः उस युग में 'अलंकार' काव्यात्म पद पर आसीन हुआ।

इतनी बात कही जा सकती है कि इस युग में प्रायः काव्य पद से श्रव्यकाव्य ही अभिप्रेत रहता था। अग्निप्राय यह कि काव्य पद प्रवृत्ति निमित्त 'श्रव्य' तक ही सीमित हो गया था। उनका दृष्टिकोण प्रायः यह था कि कविकृतित्व की प्रधानता 'श्रव्य' में ही है, दृश्य में ती अभिनेतृ-कृतित्व की प्रधानता है। दृश्य को प्रायः काव्य समझा ही नहीं जाना था, उसको नाट्य समझा जाता था जो गद से सबन्ध जोड़े हुए है। प्रथम अवश्य ही काव्य है और कवि से सबन्ध जोड़े हुए है। इस युग के व्यापक प्रभाव के कारण ही आज तक 'नाट्य-काव्य' ऐसा दो सम्मानान्तर तत्त्वों के लिये प्रयोग किया जाता है। फलतः अलंकारशास्त्र का प्रथम अध्याय भामह से ही आरम्भ होता है, उससे पूर्व नाट्यशास्त्र था। अलंकारसर्वस्वकार ने भी अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्त विकास की समीक्षा भामह के अलंकारप्राधान्य-परक युग से ही शुरू किया है।

'अलंकारतरव की प्रधानता इस युग में किस हद तक मानी गई इसका स्पष्ट आभास हमें परवर्ती अलंकारसम्प्रदायानुयायों आचार्य चन्द्रालोककार जयदेव की उम उक्ति से मिलता है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'जो अलंकाररहित शब्द-अर्थ को काव्य मानने के पक्षपाती हैं वे विद्वज्जन अनुष्ण पदार्थ को अग्नि क्यों नहीं मानते?' भला अग्नि की उष्णता के समान अलंकारात्मक-काव्यतत्त्व के सामने अन्य किस काव्यतत्त्व को आत्म-यत्न दिया जा सकता था?

१. 'अग्नीकरोति यः काव्यं शब्दार्थानलकृतौ।

२. 'अग्नी च मयते कदमांशुष्णमनल कृती ॥

‘अलंकारतत्त्व को काव्यात्मा माननेवाले प्रधान आचार्य रामह, उद्भट, रुद्रट, जयदेव आदि हैं। इन्हें रसतत्त्व भी अपरिचित नहीं था, होता भी कैसे, जब कि इनसे पूर्व भारत का रसवाद पूर्ण प्रचार प्राप्त कर चुका था, पर उस रसतत्त्व को भी ये लोग अलंकारतत्त्व के अन्दर ही काव्यक्षेत्र में समाविष्ट समझते थे। रसवशादि अलंकार इती युग में कल्पित हुए हैं। प्रतीयमान अर्थ—जिसका विरलेपग बहुत बाद में आनन्दवर्धन ने व्यापक रूप से किया—का भी पता अलंकारप्राधान्यवादी आचार्यों को अवश्य था, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ के आधार पर ही समासोक्ति, अमरानुसंधान आदि अलंकारों की कल्पना की गई है। अलंकारयुग का महत्त्व इस शास्त्र के इतिहास में सर्वाधिक है, क्योंकि अलंकारों के गम्भीर मनन-चिन्तन से ही परवर्ती ध्वनि-युग, वक्रोक्तियुग आदि का आविर्भाव सम्भव हो सका है। काव्यक्षेत्र में स्वतन्त्र रसयुग का उदय भी अलंकारयुग के मथन का ही परिणाम है। इस युग का प्रभाव बाद के युग में अवतीर्ण होने वाले आचार्यों पर इतना गहरा पड़ा कि कि प्रधानता काव्य में अलंकारोत्तर तत्त्व की मानकर भी ये लोग अलंकारतत्त्व के निरूपण में अलंकारप्राधान्यवादियों से भी आगे बढ़ गए। यद्यपि ‘अलंकार काव्य की आत्मा है’ ऐसा कहीं स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ नहीं उपलब्ध होता, पर उसकी सर्वाधिक महत्ता मानने का ही अर्थ ही जाता है कि उस युग में अलंकार ही काव्यात्मक तत्त्व माना जाता था।

27211

इसके बाद उक्त प्रश्न का समाधान ‘रीति’ शब्द से किया गया—अर्थात् वामन ने रीति को काव्य में सर्वातिशयोक्ति वरन् स्वीकार किया, अतः उन्होंने घोषणा की—‘रीतिरामा काव्यस्य’ और रीति है विशिष्ट रचना। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलंबित रहती है। इसलिये ‘रीतिमत’ ‘गुणसंप्रदाय’ के नाम से पुकारा जाता है। रीतियों के स्पष्ट विभाजन का श्रेय आचार्य इण्डी को है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन का कथन है कि काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण हैं और उसके अतिशय करनेवाले धर्म अलंकार हैं। रीति-काव्यात्मतावादी आचार्य वामन भी रसतत्त्व किंवा ध्वनितत्त्व से अपरिचित नहीं थे, अपितु अलंकारकाव्यात्मतावादी आचार्यों की अपेक्षा, उनका परिचय उन तत्वों से गहरा ही था, क्योंकि अलंकारप्राधान्यवादियों ने रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बाह्य साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्तिनामक गुण के अन्दर रस का अन्तर्भाव मान कर काव्य में रस की महत्ता पर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनितत्त्व का अन्तर्भाव वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा से अत्रि वक्रोक्ति में किया है। पर काव्य को आत्मा उन्होंने रीति को ही माना। उनका दृष्टिकोण प्रायः यह था कि विशिष्ट वक्र से पदों की योजना करने से ही काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है।

- इसके अनन्तर उक्त प्रश्न का उत्तर अलङ्कारजगत् में युगान्तरकार आनन्दवर्धन ने ‘ध्वनि’ शब्द से किया। अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का नाम तत्रा अजर-अमर रहेगा। व्याकरणशास्त्र में जी ह्यान पाणिनि को प्राप्त है तथा भद्वै वेदान्त में जो स्थान संकराचार्य को मिला है, अलङ्कारशास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन

यथायं है कि—ध्वन्यालोककार (आनन्दवर्धन) ने आलङ्कारिकों का मार्ग, सदा के लिये व्यवस्थित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' वस्तुतः युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आनन्दवर्धन ने प्राक्तन आचार्यों के द्वारा उद्घाटित अलङ्कारतत्त्व के गम्भीर चिन्तन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य में शरीरस्थानीय शब्द-अर्थ दोनों ही गौण हैं, उनके धर्म अलङ्कार आदि भी गौण हैं। मुख्य तो हैं प्रतीयमान अर्थ, क्योंकि उन्हीं अर्थों के ज्ञान से सङ्घटनों को आनन्दविशेष प्राप्त होता है, अतः इन्होंने स्थिर किया कि 'काव्यस्यास्य ध्वनिः' अर्थात् ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) ही काव्य की आत्मा है। प्रतीयमान अर्थ के प्रधानतः इन्होंने तीन भेद किए—रस आदि, वस्तु और अलङ्कार। इन तीनों में यद्यपि रस आदि की मुख्यता ध्वनिकार की भी अभिमत है, पर ऐसी बात नहीं है कि वे रस आदि के रहने पर ही काव्यता स्वीकार करते हों, चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य के रहने पर भी काव्यत्व उन्हें मान्य है, अतः सामान्यतः ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) ही उनके मत से काव्य की आत्मा है, रसादि ध्वनिमात्र नहीं। इसी युग में दृश्य तथा अन्य दोनों को स्पष्टरूप से काव्यात्मक एक तह की दो शाखायें माना गया और दोनों ही शाखाओं में काव्यत्वनियामक तत्त्व एक ही प्रतीयमान को माना गया और उसी आत्मभूत तत्त्व के पोषक वन्य अलङ्कार गुण, रीति आदि काव्यतत्त्वों को स्थिर किया गया। इस मत के अनुयायी सबसे अधिक हैं। मम्मट आदि प्रसिद्ध आचार्यों इसी मत के समर्थक हैं।

इसके बाद आचार्य कुन्तक ने उक्त प्रश्न का उत्तर 'वक्रोक्ति' शब्द से दिया—अर्थात् इन्होंने कहा—'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् (वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है)' और वक्रोक्ति का लक्षण इन्होंने किया 'विदाप्यभङ्गीभणितिः वक्रोक्तिः'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से विषय, अलौकिक ढङ्ग से कथन। यह मत आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप में उत्पन्न हुआ। अभिप्राय यह कि—अलङ्कारसिद्धान्त पर मुख्य कुन्तक के हृदय में ध्वनिसिद्धान्त की जानकारी होने पर नहीं झुँझलाहट पैदा हुई। इन्होंने सोचा कि—क्या अलङ्कारसिद्धान्त में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो ध्वनि के समकल होकर खड़ा हो सके? आखिर इन्होंने ध्वनि के समकक्ष तत्त्व वक्रोक्ति को खोज निकाला। इस खोज में उन्हें प्राक्तन अलङ्कारवादी आचार्यों के विभिन्न विचारों से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई।

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से संस्कृत वाक्य में चला आ रहा है और यह शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। वागभट्ट ने कादम्बरी में इस पद का प्रयोग अनेक बार किया है। इन्होंने चन्द्रापीठ की राजधानी का वर्णन करते हुए वहाँ के विद्यापीठों को वक्रोक्तिनिपुण बतलाया है—'वक्रोक्तिनिपुणेन विद्यासिजनेन।' अन्यत्र शुक के द्वारा शारिका के लिये कहा गया है—'एपापि सुष्यत एव एतावती वक्रोक्ती।' यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीडा कलापरिहासकत्वा के अर्थ में किया गया है। भक्तशतक में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में दीख पड़ता है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ ही है वक्रोक्ति—मर्दाव देव कथन। प्राचीनकाल से आलङ्कारिकों ने काव्य में किसी अनिश्चय कथन की सत्ता माना है। साधारण बोलचाल में शब्दों का जिन अर्थों में व्यवहार होता है, क्या वही अर्थों को लेकर कथनीय काव्य की रचना हो सकती है? कदापि नहीं। इसके लिये किसी न किसी प्रकार

की विचित्र उक्ति की आवश्यकता होती है। कान्य में व्यापार की ही तो प्रधानता रहती है। साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। अलङ्कारजगत् में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाधो विभाव्यते ।

यतोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया यिना ॥

(भामह—काव्यालङ्कार)

भामिनवयुत ने भामह के 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा प्राचामलङ्कृतिः ।' इस पद्य को उद्धृत करके वक्रोक्ति का लक्षण यह दिया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, श्लोकोत्तीर्णन रूपेणावस्थानम्' (लोचन) । शब्द तथा अर्थ को वक्रता क्या है ? इनकी लोकोत्तर रूप से स्थिति । भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार किस रूप से होता है उस रूप में न हो कर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाना है । जैसे 'वह नर गया' ऐसा न कह कर 'वह कीर्तिरोष हो गया' कहना वक्रोक्ति के भीतर आता है ।

भानुचर्य दण्डी ने समग्र वाङ्मय की दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति तथा (२) वक्रोक्ति । स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थानों का अन्वर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो । स्वभावोक्ति ही 'काव्यादर्श' में जाति नामक व्याप अलङ्कार के रूप में गृहीत हुई है । स्वभावकथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय-कथन' का समावेश किया गया है । इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेय आदि रससम्बद्ध अलङ्कार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं । इस प्रकार दण्डी ने भामह को वक्रोक्ति-कल्पना को स्वीकार किया है । भामह में वक्रोक्ति सब अलङ्कारों की भूल थी । परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से पृथक् कर दिया है क्योंकि इस अलङ्कार के लिये वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते ।

वामन में भी वक्रोक्ति का वर्णन है परन्तु उसका रूप भामह-प्रदर्शित वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है । जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का सामान्य मूलभूत मर्यादा माना था, वहाँ वामन उसे अर्थालङ्कारों में परिमणित करते हैं । वक्रोक्ति उनकी दृष्टि से साहित्य के ऊपर अभिहित होने वाली लक्षणा ही है ।

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालङ्कार बन जाता है । परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विच्छिन्न है । कुन्तक ने उक्त विचारों से प्रेरणा ग्रहण करके जो अपनी मौलिक प्रतिभा से वक्रोक्ति के स्वरूप को अतिशयापक बना दिया । उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया । वक्रोक्ति को काव्य का जीवन—आत्मा—मानने के कारण ही कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' पृष्ठाढा है । कुन्तक, बटे ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे । उनकी मौलिकता के कारण यदि उन्हें आनन्दवर्चन के समकक्ष माना जाय तो अनुचित नहीं होगा । वे रस ध्वनि आदि समस्त उपादेय तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति में ही करते हैं । प्रधानतया वक्रोक्ति के छे भेद—१. वर्ण-वक्रता, २. पदपूर्ववक्रता, ३. पदोत्तरार्धवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता, और

द. प्रबन्धकता नाम से उन्होंने किए हैं। इन भेदों के अवान्तर भेद भी बहुत हैं। उपचार-वक्रता नामक भेद में ध्वनि के प्रचुर भेदों को गतार्थ किया गया है। खेर है कि इस मत के अनुयायी बाद के आचार्य नहीं हुए और इस सिद्धान्त को किसी ने अप्रमत्त नहीं किया। साहित्य-दर्पण आदि में जो 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का उल्लेख किया गया वह सर्वथा वक्रोक्तिजीवित-कार के अभिप्राय को नहीं समझ कर। ऐसा लगता है कि जैसे 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ को उल्लेखकर्ताओं ने नहीं देखा, केवल 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इस एक पंक्ति को कहीं से मुन्न लिया और वक्रोक्ति का स्वरूप वही समझ लिया जो रुद्रट ने लिखा था।

इसके अनन्तर आलङ्कारिक समय ने पलटा खाया और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि आचार्यों ने असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाने वाले रस, भाव आदि को काव्य की आत्मा कहना आरम्भ किया। इस मत के प्रवर्तक आचार्यों में सबसे प्रधान लोचनकार अभिनवगुप्त हैं। अभिनव-गुप्त आलङ्कारिक होने के साथ बहुत बड़े दार्शनिक भी थे। 'शैवागम' के प्रधान ग्रन्थकार आप ही हैं। आधुनिक रसवाद पर शैवागम का प्रभाव आपके सम्बन्ध से ही विद्वज्जन मानते हैं। आप भरवकृत नाट्यशास्त्र के ऊपर एक मात्र उल्लेख टीक अभिनव भारती के रचयिता हैं। अतः भरत के रसवाद का ग्रहण आपने सर्वात्मना किया है। इतना कहा जा सकता है कि भरत के समय में प्रायः 'रस' शब्द का अर्थ शृङ्गार, वीर आदि तन्वित रस ही था, पर अभिनवगुप्त के आलोचनाकाल में 'रस्यते = आस्वाद्यते' इस व्युत्पत्ति के बल पर उसका अर्थ समस्त असलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य हो गया जिसको मानकर विश्वनाथ आदि ने 'रससामक चाव्यम् काव्यम्' यह काव्यलक्षण प्रस्तुत किया।

यहाँ आकर अभिप्रायकार से भी एकवाक्यता हो गई, क्योंकि उन्होंने भी 'वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस पृथग्न जीवितम्' कहा है। ध्वनिविरोधी आचार्य मदिममट्ट ने भी इसी मत में अपनी आस्था प्रकट की है, क्योंकि उनका भी 'काव्यस्यात्मनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः' ऐसा कथन है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने रसभोग के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी और अनुमान से रस का भोग माना। हम सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि वस्तु, अलङ्कार आदि विविध व्यङ्ग्यों के रहने पर भी रसानुभव का भूखा सदृश्यों का हृदय रसानु-भव से ही सन्तुष्ट हो पाता है। रस आनन्दरूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु सत्कार में मय, शोक आदि को भी उत्पन्न करती है अथवा क्रोध का कारण बनती है वह भी काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसीलिये वह आनन्द का उद्भवन करती है।

साहित्य में रस मत की महत्ता अवश्य है। लौकिक संस्कृत का प्रथम पद्य, जो कौञ्जवध से प्रभावित महर्षि वाल्मीकि के मुख से उद्गत हुआ था, रसमय ही था। इस सिद्धान्त का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्गतिनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र छोटा-सा प्रतीत होने पर भी परमसारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। परन्तु पीछे के टीकाकारों ने इस सीधे तथा सरल सूत्र की व्याख्या करने में अपना सारा बुद्धि-बल खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य

के देखने से चित्त में जो भौतिक आनन्द हुआ करता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करने में भरत के टीकाकारों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से इसका विभिन्न प्रकार से अर्थ किया है। वेसे तो पण्डितराज ने रस के विषय में ग्यारह मनों का उल्लेख करके उनमें से आठ मनों में उक्त सूत्र की संपत्ति किया है, पर रस विषय में चार मन अनौच्य समझिये। इन मनों के व्यवस्थापक आलङ्कारिकों के नाम ये हैं—(१) मट्ट लोचन, (२) मट्ट गङ्गक, (३) मट्ट नायक तथा (४) अभिनवगुप्तार्य। इनके मनों का सारांश-सङ्गन पूर्वभाग की भूमिका में किया जा चुका है। यहाँ इतना मर कहना है कि—मट्टनायक का मत विलम्बा है और विलम्बता यह है कि इन्होंने रसबोध के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी, और काव्य में व्यापारों की प्रधानता स्वीकार की। इनके मत से अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व इन तीन व्यापारों की सहायता से रस प्राप्त होता है। भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। हम व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोड़ कर सामान्य पुरुषरूप में ही गृहीत होता है। इस साधारणीकरण की चर्चा अभिनवगुप्त के मत में भी की गई है और यह तथ्य भी है कि रसानुभव से पूर्वश्रम में विभाव, अनुभाव आदि सभी पदार्थों का अनुभव सामान्य रूप से ही होता है, व्यक्तिविशेष के सम्बन्धीरूप में नहीं। इस तरह सामान्यरूप से गृहीत विभावादिकों से ही रस की अभिव्यञ्जना होती है।

ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारणरूप से ही तथा संबन्ध-रहित होकर ही लोच्य होता है। किसी वादिका में लगे हुए गुलाब के फूल की रोमा देखते हुए जब आपका चित्त आह्लादित होता है तब उसके प्रति कैसी भावना होती है, उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़ने के लिये आगे बढ़ते, शत्रु का समझते तो उससे दैव उत्पन्न होता, यदि किसी तटस्थ व्यक्ति का समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुलाब का सुन्दर फूल न तो आपका है, न वो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन का है।

इस विषय में सबन्ध के ग्रहण तथा परित्याग की कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललितकला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। रसमीमांसा के अवसर पर भी इस सामान्य नियम का प्रयोग मट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों ने किया है। पर अभिनवगुप्त जहाँ रस पदार्थ की प्रधानता स्वीकार कर उसको काव्य की आत्मा करते हैं, वहाँ मट्टनायक पदार्थ की नहीं, अपितु उसको समझाने वाले व्यापार की प्रधानता मानते हैं, और वही है उनका तीसरा व्यापार भोजकत्व अथवा भोग किंवा मुक्ति। इस तरह यद्यपि मट्टनायक के मत से यह भोग-व्यापार ही काव्य का आत्मा है तथापि इस मत को रसमत में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। हम तरह काव्यात्मा के विषय में निम्नलिखित छे मत पर्यवेक्षित होते हैं—

(१) अलङ्कार काव्य की आत्मा है। (मामह, उल्लट, रुद्र आदि)

(२) रीति काव्य की आत्मा है। (वामन)

(३) ध्वनि = त्रिविध (वस्तु अलङ्कार रसादि) व्यङ्ग्य काव्य की आत्मा है।

(आनन्दवर्धन-आदि)

१—परस्पर न परस्परैति मनेति न मनेति च ।

उदात्तादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ (साहित्यदर्पण)

(४) वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है । (कुन्तक)

(५) रस (असलक्ष्यकगव्यरूप) काव्य की आत्मा है । (अभिनवगुप्त विश्वनाथ आदि)

(६) योग काव्य की आत्मा है । (भट्टनायक)

काव्यात्मतत्त्व के विषय में मतभेद होने के कारण ही अलङ्कारशास्त्र में सम्प्रदायों की सृष्टि हुई । वे सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

(१) अलङ्कारसम्प्रदाय ।

(२) गुण अथवा रीति-सम्प्रदाय ।

(३) वक्रोक्तिसम्प्रदाय ।

(४) ध्वनिसम्प्रदाय ।

(५) रससम्प्रदाय (भट्टकायक के भोगवाद को इसी में अन्तर्भूत समझना चाहिए)

इस विषय का स्पष्टीकरण अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने बड़े अच्छे ढङ्ग से किया है । उनका कथन है कि—विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं । शब्द अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से सभव हो सकती है—

(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से ।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य । अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्म की । अनित्य धर्म है अलङ्कार और नित्य धर्म का नाम है गुण । इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार-सम्प्रदाय (२) गुण या रीतिसम्प्रदाय । व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—मणित्व-वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगहृत्त्व । इस प्रकार व्यापारमूलक वैशिष्ट्यप्रतिपादक भी दो सम्प्रदाय होने चाहिये—(१) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और (२) भोगसम्प्रदाय । पर भोगसम्प्रदाय स्वतन्त्र नहीं हो सका, क्योंकि आखिर भट्टनायक ने रस की निष्पत्ति समझाने के लिये ही इस व्यापार की कल्पना की थी, अतः यह रस सम्प्रदाय के ही अन्दर समाविष्ट समझा जाता है । यद्यपि समुद्रबन्ध ने स्वतन्त्र रससम्प्रदाय का भी उल्लेख नहीं किया है क्योंकि ध्वन्यालोकीय सिद्धान्त का विवरण करने वाले मूल सर्वस्वकार के आधार पर ही अपनी व्याख्या उन्हें प्रस्तुत करनी थी और ध्वन्यालोक में त्रिविध व्यङ्ग्य को एक कोटि में हा रखा गया है जिसका विवरण समुद्रबन्ध व्यङ्ग्यमूलक वैशिष्ट्य कह कर करते हैं तथापि मरत, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि के मतानुसार स्वतन्त्र रससम्प्रदाय भी पूर्ण सम्मानित है ।

समुद्रबन्ध के उक्त विवरण में औचित्यसम्प्रदाय भी असंगृहीत है । इस सम्प्रदाय का समग्र समुद्रबन्ध के विवरण में इसलिये नहीं हो सका है कि उनसे अर्वाचीन है औचित्यसम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र । क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में औचित्य का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है तथा औचित्य को ही काव्य में सबसे मुख्य तत्त्व अतएव आत्मपदप्राप्तियोग्य ठहराया

१ 'इह विशिष्टो शब्दार्थो काव्यम् । तथोश्च वैशिष्ट्य धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमु-
खेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽपि अलङ्कारो गुणो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि मणित्ववैचित्र्येण
भोगहृत्त्वेन वेति द्वैधम् । इति पद्यस्य पद्येषु आद्य उद्भवादिमिरहीकृत द्वितीयो नामनेन, तृतीयो
वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन पद्यम आनन्दबर्धनेन ।'

है। इस प्रकार कान्यात्मन के विषय में पूर्वोक्त छे मतों के अतिरिक्त एक सातवाँ मत भी है (औचित्यमात्रमा कान्यस्य) ऐसा समझना चाहिए।

औचित्य साहित्यशास्त्र का न्यापकनम सिद्धान्त है। इसे कान्य की आत्मा मानने का श्रेय यद्यपि छेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना, साहित्यसंसार में बहुत ही प्राचीन काल से चली आती थी। भरत के नाट्यशास्त्र में ही सिद्धान्तरूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार-रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि—लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस देश में व्यवहृत होती है उस देश के नाटक-नायिकाओं का चित्रण वही रूप में करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक अतिसारगमित है—

‘अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति ।

भेदलोचरसिद्धान्धे च हास्यायैव प्रजायते ॥’ (नाट्यशास्त्र)

जिस देश का जो वेश है, जो अभूषण जिस अङ्ग में पहना जाता है उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई भेदलक्ष्य को छाती पर पहन ले तो वह हास्यास्पद ही होगा। इस पद्य से सिद्ध है कि भाष्य आलोचक भरत को कलितकाल में औचित्य का सिद्धान्त मान्य था। आनन्दवर्धन ने भी औचित्य को व्यापक कान्यत्व स्वीकार किया है। रसमग की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने कहा है—

‘अनौचित्यात् श्रुते नान्यद्द्रसमङ्गस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिबन्ध परा ॥’ (ध्वन्यालोक)

अनौचित्य ही रसमग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक कान्य में उत्पन्न नहीं होता। रस के उन्नेष का मुख्य रक्षक है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन, कान्य में कल्पना और विधान। इसके अन्वये अन्य प्राचीन अलङ्कारग्रन्थप्रणेता भाचार्यों ने भी औचित्यत्व को स्वीकार किया है। पर औचित्य को न्यापक कान्यत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है आचार्य छेमेन्द्र ने ही। औचित्य कितने कहते हैं? उचित का भाव औचित्य कहलाता है और जो वस्तु जिसके सट्टा ही, जिससे जिसका मेल मिले उसे कहते हैं ‘उचित’।

‘उचित प्राङ्गुराचार्याः सहस्रं किल यस्य यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥’ (औचित्यविचारचर्चा)

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, प्राण है तथा कान्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्चणे ।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुर्वतेऽधुना ॥’ (औचित्यविचारचर्चा)

छेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, काव्य, उक्ति, बचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र नउल-कर छेमेन्द्र ने साहित्यरसिकों का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार छेमेन्द्र ने औचित्य को साहित्यशास्त्र में व्यवस्थित रूप दिया है। पर उन्हें ही इस तत्व का उद्गावक नहीं कहा जा सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि छेमेन्द्र ने औचित्य के विषय में भरत तथा आनन्द-

वर्षन से प्रेरणा प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, क्षेमेन्द्र का औचित्यविषयक निम्ननिर्दिष्ट पद्य भी पूर्वोक्त भारतीय पद्य का परिष्कृत रूपान्तर मात्र प्रतीत होता है।

‘कण्ठे मेखलया, गितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।

‘शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायाम्बिके हास्यतां

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते मालंकृतिनो गुणा ॥’

यह तो हुआ प्राकृतन भाचार्यों के मतों का सकलन। अब यहाँ पर विचार कर लेना भी उचित होगा कि पण्डितराज का काव्यात्मा के सम्बन्ध में क्या मत है? पण्डितराज उक्त सम्प्रदायों में से किस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं? जैसे तो पण्डितराज अथवा उनके ग्रन्थों की अब तक बहुत धोली आलोचना हो सकी है, पर जो भी आलोचना हुई है, उसमें पण्डितराज को ध्वनिसम्प्रदायानुयायी सिद्ध किया गया है, तदनुसार पण्डितराज के मत से ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) को काव्यात्मा ठहराया गया है। वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ विश्वनाथ आदि के समान रसवादी नहीं हैं—अर्थात् वे केवल रस (असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) को काव्य की भावना नहीं मानते, क्योंकि ऐसी मान्यता का परिणाम यह होता कि चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा चमत्कारी अलंकारव्यङ्ग्य की प्रतीति होते रहने पर भी रस प्रतीति के अभाव में किसी गद्य अथवा पद्य को वे काव्य नहीं मानते, किन्तु उनके ग्रन्थ (रसगङ्गाधर) में एक नहीं, अनेक ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर सबल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे रस-व्यञ्जक होने पर भी रमणीय वस्तुअलंकाराभिव्यञ्जक पद्य को काव्य अवश्य मानते हैं।

त्रिविध व्यङ्ग्यों को अलङ्कारोपस्कार्य मानना भी पण्डितराज को ध्वनिवादी ही सूचित करता है, रसमात्रवादी नहीं। ऐसी स्थिति में पण्डितराज को मम्मट, अप्पयदोक्षित आदि के समान ध्वनिसम्प्रदायानुयायी मानना समुचित ही है। परन्तु रसगङ्गाधर के मनन से ऐसा भास होता है कि—पण्डितराज ध्वनिवादी होते हुए भी अन्य ध्वनिवादियों से कुछ अधिक प्रगतिशील थे। जिस तरह रसवादी रस की, ध्वनिवादी त्रिविध व्यङ्ग्यों में से किसी एक व्यङ्ग्य की सत्ता को काव्यत्व के लिये आवश्यकतम मानते हैं, उस तरह पण्डितराज नहीं मानते। वे तो रमणीय अर्थ (वह अर्थ चाहे रस ही अथवा वस्तु तथा अलंकारव्यङ्ग्य ही, किं वा वाच्य तथा लक्ष्य ही हो) की सत्ता को काव्यत्व के लिये अपेक्षित समझते हैं, इसीलिये वे ‘रमणीयार्थ-प्रतिपादक’ शब्द ‘काव्यम्’ इस काव्य-लक्षण में ‘व्यञ्जक’ पद नहीं कह कर वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीनों प्रकार के शब्दों के समुदाय सामान्य ‘प्रतिपादक’ शब्द कहते हैं। इतना ही नहीं, व्यङ्ग्य अर्थों के साथ-साथ वाच्य-अर्थविशेष-को भी पण्डितराज अलङ्कारों से अलंकृत होने वाला कहते हैं। ऐसी स्थिति में अकामेनापि यह मानना पड़ेगा कि—किसी तरह का चमत्कारी

१ यद्यपि पहले भी प्रसङ्गवश यह विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँ कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक था।

२. देखिए—रसगङ्गाधर का उपमालक्षण तथा उपमानिरूपण का वह अग्रिम भाग जो पीछे अलंकारविवेचन के अन्तर्गत पर उद्धृत भी किया जा चुका है।

व्यङ्ग्य न हो और रमणीय वाच्यार्थ हो तब भी पण्डितराज को काव्यत्व इष्ट है। अब यदि पण्डितराज केवल व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) को काव्यात्मा मानते होते, तब उसके अभाव में उन्हें काव्यत्व कैसे इष्ट हो सकता था ? आत्मभूत तत्त्व के अभाव में तो किसी भी संप्रदाय के आचार्यों को काव्यत्व इष्ट नहीं होता। अतः वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य कोई भी अर्थ रहे पर यदि वह रमणीय हो—लोकोत्तर आद्यात्मनक हो—तो उसे पण्डितराज काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में थे, 'रमणीयोर्यः काव्यस्यात्मा' यही पण्डितराज का मत है फलतः पण्डितराज का संप्रदाय साहित्यब्रह्म में अभिनव ही है। यदि उस संप्रदाय का नामकरण किया जाय तो मेरे विचार से उसका नाम 'रामणीयक-संप्रदाय' होना चाहिए।

उपसंहार

जो स्वयं षड्कोटिका कवि नहीं, उसे षड् कोटि की कविता की परछाई कैसे हो सकती है ? काव्य-शास्त्र का सच्चा आलोचक बड़ा हो सकता है जो स्वयं षड् कोटि का कवि हो। आचार्यों का यह कथन सत्य ही है—'कविर्भावयति भावकश्च कविः'—कवि ही भावना करता है और भावक ही काव्य सृष्टि करता है। भावक (आलोचक) कवि कभी अधम दशा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी प्रतिष्ठा सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक होनी है—

'प्रतिभातारतम्येन, प्रतिष्ठा भुवि भूरिवा।

भावकस्तु कविः प्रायो, न भजत्यधर्मां दृशाम् ॥' (काव्यमीमांसा)

बात यह है कि कारयित्री तथा भावयित्री दोनों तरह की प्रतिमाओं की स्थिति एकत्र असंभव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

इसीलिये तो काव्यमीमांसाकार राजशेखर को भी कहना पड़ा—

'नद्येकस्मिन्नतिशयवतां सञ्चिपातो गुणानाम्।

एकं सूते कनकमुपलस्तारपरीषाद्यमोऽन्यः ॥'

पर, इसके साथ ही, इनी पद्य के प्रथम दो चरणों के रूप में ही, यह भी कहना पड़ा—

'कश्चिद् वार्त्ता रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्ताम्।

कण्ठ्याणी ते अतिरुमयथा विस्मय नस्तनोति ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ की सर्जक और आलोचक उभयविध प्रतिभा विश्व पाठकों को विस्मय में डाल देती है। भाग्यवान् हैं वे शशीजन जिन्हें पण्डितराजीय प्रतिभा से विरिमत होने का सुभवत्तर प्राप्त होगा है। अन्त में रसधाम पनस्याम से मेरी प्रार्थना है कि वे विद्वन्मण्डल के मन में रसगङ्गाधराध्ययन द्वारा एक विस्मय-सरोवरावगाहन की प्रेरणा प्रदान करें।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

विनीत-

मदनमोहन मत्त

रसगङ्गाधरे प्रमापकाः

प्रथमानने

	पृष्ठाङ्काः		पृष्ठाङ्काः
अम्पयदीक्षितः	४४	भरतमुनिः	१७५
अभिनवगुप्ताचार्यपादाः	९२	भागवतम्	१७४
अलङ्काररत्नाकरः	२२८	मम्मटमहः	८८
आनन्दवर्धनाचार्यः	३६३	महाकवि (भाष आदि)	७३
करुणालहरी	१४५	महाभारतम्	१६७
काव्यप्रकाशः	४७	यमुनावर्णनम्	७०
काव्यप्रकाशटीकाकाराः	२१४	योगवासिष्ठम्	३७२
गीतगोविन्दम्	१९८	रत्नावली	"
गीता	१६७	रामायणम्	"
चित्रमीमांसा	४४	व्यक्तिविवेककृत	५३
जयदेवः	१९८	शार्ङ्गदेवः	१६९
ध्वनिकारादयः	१६	श्रीवत्सलाञ्छनः	१५५
पञ्चलहर्म्यं	३७२	सङ्गीतरत्नाकरः	३७
महनायकः	९२	साहित्यदर्पणः	२३

द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तभागे

	पृष्ठाङ्काः		पृष्ठाङ्काः
अलङ्कारभाष्यकाराः	५००	वादरायणचरणाः	३५
आख्यातवादशिरोमणिब्याख्याकाराः	३१९	ब्रह्मसूत्रम्	"
अलङ्कारिकाः	२६७	महाभाष्यम्	१८९
उत्तरमीमांसा	३५	विद्याधरः	५४९
कालिदासः	३७१	विद्यानाथः	२१६
कुबलयानन्दः	४३२	विमर्शिनीकारः	४५४
कैयटः	२४७	श्रुतिवार्तिकम्	१२८
नैयायिकाः	३३८	नैयाकरणाः	२५२

विषय-सूची

(प्रथमानन्तः भागः)

विषयः	पृष्ठाः	विषयः	पृष्ठाः
मङ्गलान्वरणादि	१	वीर	१५०
काव्यलक्षणम्	११	शङ्कत	१६५
काव्यप्रकाशोक्तलक्षणे आक्षेपः	१४	तत्र प्रकाशोदाहरणे आक्षेपः	१६६
साहित्यदर्पणलक्षणे " "	२३	हास्य	१६८
प्रतिभाया एव काव्यकारणता	२५	भयानक	१७०
काव्यस्य चातुर्विध्यम्	३३	बीभत्सः	"
उत्तमोत्तमलक्षणम्	"	रसाना संख्यानियम	१७६
उत्तम " "	६१	रसाना विरोधाविरोधचिन्ता	"
मध्यम " "	७०	रसदोषा	१८८
अध्यम " "	७२	गुणनिरूपणम्	२०१
प्रकाशकृद्भेदेषु कटाक्षः	७४	गुणनिरूपणे स्वमतम्	२०८
रसस्वरूपम्	८०	गुणनिरूपणे वामनादीना मतम्	२०९
रसस्यैकादशभेदाः	८३	शब्दगुणानां लक्षणम्	३
भरतसूत्रस्याष्टधा व्याख्यानम्	"	श्लेषः	"
रसानां नवधात्वम्	१२१	प्रसाद	२१०
शान्तस्य रसत्वव्यवस्थापनम्	"	समता	२११
रतिलक्षणम्	१२५	माधुर्यम्	२१२
शौकलक्षणम्	१३०	सुकुमारता	२१३
करुणविप्रलम्भस्याशतं करुणशतध	१३०	अर्थव्यक्तिः	"
शृङ्गारेऽन्तर्भावः	"	उदारता	२१४
निर्वेदः	१३२	श्लेष	२१५
क्रोधः	"	कान्ति	२१६
उत्साहः	"	समाधि	"
विस्मयः	१३३	अर्थगुणानां लक्षणम्	"
हासः	"	श्लेष	२१८
भयम्	"	प्रसाद	२१९
सुगुप्ता	१३४	समता	२२०
विभावदिस्वरूपम्	"	माधुर्यम्	"
शृङ्गारद्विविध्यम्	१३८	सुकुमारता	२२१
करुणः	१४३	अर्थव्यक्तिः	२२२
शान्तः	"	उदारता	२२३
रौद्रः	१४६		

विषयाः	पृष्ठा०	विषयाः	पृष्ठा०
श्रोज	२२३	सुप्तम्	३००
कान्तिः	२२७	विबोधः	३०२
समाधिः	"	अमर्षः	३०६
अर्थे तेषां त्रिष्वेवान्तर्भावः	२३१	अवद्विस्पृम्	३०७
गुणानां व्यष्टिका रचना	२३३	उपता	३०८
रचनायां वर्जनीयम्	२३९	उन्माद	३१०
तत्र विशेषतो वर्जनीयम्	२५०	मरणम्	३११
भावश्चनितिरूपणम्	२६४	वितर्कः	३१४
भावलक्षणम्	२६९	विपादः	३१५
हर्ष	२७३	श्रौत्स्वयम्	३१८
स्मृतिः	२७४	श्रावणः	३१९
श्रीहा	२७९	जडता	३२०
मोहः	२८०	श्रालक्ष्यम्	३२३
धृतिः	२८२	असूया	३२५
राद्धा	२८३	अपत्मारः	३२८
ग्लानिः	२८४	अपलता	३२९
दैन्यम्	२८५	निर्वेदः	३३१
चिन्ता	२८८	व्यभिचारिणां संख्या	३३४
मदः	२८९	रसाभासः	३३५
धमः	२९२	भावशान्तिः	३४७
गर्वः	२९४	मायोदयः	३४८
निद्रा	२९६	भावसन्धिः	३४९
मतिः	"	भावशयलता	३५०
व्याधिः	२९८	अलक्ष्यकमध्वनेरपि कचिन्नक्षयकमता	३६२
शासः	२९९	वर्गरचनादीनां रसाभिन्नसकत्व- निराकरणम्	३७०

विषय-सूची

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

विषया	पृष्ठा०	विषया	पृष्ठा०
संलक्ष्यकमध्वनि	१	कविप्रौढीकिसिद्धवस्तुना अलङ्कारध्वनि	११२
शब्दशक्तिमूलकध्वनौ गम्भद्रमतम्	२	” अलङ्कारेण	११४
” ” ” ध्वनिकारमतम्	९	उभयशक्तिमूलको ध्वनि	११७
” ” ” स्वमतम्	१३		
नानार्थे शक्तिनियामकरूपेणम्		अथ लक्षणामूला	
संयोग	३९	जहत्स्वार्थामूलको ध्वनि	१२०
विप्रयोग	४०	अजहत्स्वार्थामूलको ध्वनि	१२१
साहचर्यम्	४२	अभिधानिरूपणम्	१२३
विरोधिता	४७	वाचकशब्दनिरूपणम्	१३८
अर्थ	५४	लक्षणाराकिनिरूपणम्	१४९
प्रकरणम्	५६	काशिकवाक्यानां शब्दबोधनिरूपणम्	१५५
लिङ्गम्	५७		
शब्दस्थान्यस्य सञ्ज्ञिभि	”	अलङ्कारनिरूपणम्	
सामर्थ्यम्	६१	उपमाक्षणम्	१९५
श्रीचिन्ता	६४	प्राचीनोत्प्रेक्षाभेदलक्षणम्	२१६
देशः	६५	” भेदालोचनम्	२४५
कालः	६६	उपमास्यलौयशब्दबोधविचार	३१०
व्यक्तिः	६७	सादृश्यस्य समानधर्मरूपत्वे बोध	३३४
स्वरः	”	उपमादोषा	३३९
		उपमेयोपमा	३५६
शब्दशक्तिमूलका ध्वनिः		अतन्वय	३८०
शब्दशक्तिमूलाऽलङ्कारध्वनि	७०	अनस	४००
शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि	८७	उदाहरणम्	४०९
		स्मरणम्	४२०
अर्थशक्तिमूलको ध्वनिः		रूपकम्	४४६
भवत् सम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनि	९३	परिणाम	५३१
” ” अलङ्कारध्वनि	९८	ससन्देहः	५५८
” अलङ्कारेण वस्तुध्वनि	१०५	आन्तिमान्	५९०
” ” अलङ्कारध्वनि	१०८	उल्लेख	६०४
कविप्रौढीकिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनि	१०९	अपह्नुति	६२५
” अलङ्कारेण ”	१११	उत्प्रेक्षा	६४३



॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

पुण्यममाचूनुसू

स्मृतापि तरुणातपं करणया हरन्ती नृणा-
ममहुरतनुत्विपां बलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुण्यरत्नैकौ गौरी-गङ्गाधरतामवापितौ तपसा ।
मायाविद्यानायौ प्रगम्य कल्पानिधौ पितरौ ॥
प्रसूहपद्मस्तक-क्षौद- प्रतिभाप्रभातहस्तशु ।
तन्वो स्पृतिरपि यस्या निघाय ता भारतीमन्त ॥
नित्यं ब्रजे लमन्तो सितशित्तिमहसी नमस्यता शश्वत् ।
रसगङ्गाधरविभूतिर्वदरीनागेन चन्द्रिका कियते ॥

अत्र साहित्यपदार्थानामान्वीक्षिणीप्रथितपथेन यथायथं सूक्ष्मसमीक्षया परोक्षकप्रेक्षायतां प्रसादाय, प्रतिपक्षस्मयान्पतमसावसादाय च तैलद्रुपण्डितराजो जगन्नाथभट्टः कमपि नूतनं प्रबन्धमारम्भाणस्तत्सामितिप्रचारदिप्रतिबन्धकान्तरावसन्ततिशान्तये श्रुतिबोधितेतिर्कर्तव्यताकं मङ्गलमानरत्न शिष्यान् विशिष्य शिष्ययितु निवधाति—स्मृतापीति ।

स्मृता स्मरणविषयोक्ताऽपि (विमुक्त स्मर्यमाणा, दृष्टा स्पृष्टा वा न तु दृष्टैव दृष्टिद्वारा स्पृष्टैव वा) नृणा मनुष्याणाम्, (सर्वेषां, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तरुणं प्रौढं तीव्रमिति यावत्, आतपं दिनकरयोतं तत्त्वेनाथवसितमाधिभौतिकदिसन्तापम्, कल्पया निजनैस-मिकजीवानुकम्पया, हरन्ती नाशयन्ती (न पुनर्हंतवती हरिष्यन्ती वा) तथा—अमहुरा अनन्धैस्तनुनां वपुषा त्वियः कान्तयो भासां, तास्तयोका, तासा विद्युता चपलाना तत्त्वे-नाथवसितानामाभीरवामभुवा, शतैरनेकशतसङ्घपाभिः (वस्तुतस्तत्सङ्घपाभामिस्ताभिः) बलयिता परिभृता, तथा—कलिन्दगिरिनन्दिन्या यमुनाया, तटे तीरे (वृन्दावने विद्यमानान्) सुरद्रुमान् मन्दारादिदेववृक्षान् हरिप्रियापरपर्यायतया कदम्बपादपान् वा, यद्वा—तद एव सकलाभिलाषपूरकत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अवलम्बते स्वविलासाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छीला, काऽप्यनिर्वचनीयत्वेन प्रसिद्धकादम्बिन्या विलक्षणा, कादम्बिनी मेघमाला तरुदेशाव्यवसिता शृङ्गाराधिष्ठातृदैवतभ्रीकृष्णमूर्ति, मदीयमतेर्मागकीनबुद्धे, चुम्बिनी विषयीभूता भवत्वित्यर्थः ।

तथा च 'प्रकाशोद्योत आतप' 'नीपप्रियक-कदम्बास्तु हरिप्रिय' 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर । इह यद्यपि विशाखायाः सदैकरत्ने सर्वा सङ्घवेयसङ्घपयो ॥ इत्यमरानुशासनेन सङ्घपा-
चावकस्य शतशब्दस्यैकवचनान्तत्वमेव प्राप्तम्, किन्तुनेकशतसङ्घथाविवक्षायां 'सङ्घपाऽयं
द्विवहुत्वे स्त' इति तस्यैवानुशिष्टे 'सार्धं मनोरथशतैस्त्व धूर्त ! कान्ता' 'कृतास्पदाम्भि-
भृता सहस्रै' इत्यादिवद् बहुवचनान्तत्वं प्रयुक्तम् । अत एव 'दासीना सुकुमारोणा द्वे शते
समलङ्कृते ॥' 'हर्षस्थान-सहस्राणि शोकस्थानशतानि च ॥' इत्यादयो भागवत-भारत-
प्रयोगा सङ्गच्छन्ते । न चैव तदनुशासने सदापदोपादानवैयर्थ्यप्रसङ्ग, तस्य द्वित्वबहुत्वान-
वच्छिन्नशतत्वसङ्घथा-सदवच्छिन्नयोर्विवक्षणे सार्धव्यस्य व्यवस्थापनान् । सङ्घथाया आश्रय-
द्वारा बल्यनक्रियाया कर्तृत्वमिति कर्तारि तृतीया । श्रमेदे तृतीयेति कथित । वस्तुतस्त्वेता-
दृशस्थलेषु शतशब्दस्तन्त्रेण सङ्घथाया सङ्घवेयाना च वाचक इति सङ्घवेयनिष्ठैवात्रापि
कर्तृता, विद्युत्प्रशतत्वसङ्घथाविशिष्ट-तत्कर्तृत्वबल्यनस्यैव प्रतीतिश्च । बलयितेत्यत्र बलयं
करोतीत्यर्थे णिच्, तदन्ताच्च क ।

आतपत्वेन त्रिविधमन्तापस्य, विद्युत्त्वेन बलववरवर्णिनीनाम्, कादम्बिनीत्वेन श्रीकृष्ण-
मूर्तेःश्रोपभेयाना निगरणाद्भेदेऽभेदाध्यवसानादिमकाऽतिशयोक्ति । प्रसिद्धा हि कादम्बिनी
क्षणभङ्गशीलरान्तिभिर्विद्युत्प्रज्जताभिर्विष्टिता, जडतया सुतरा कारुण्यविरहिणी, दर्शनादेव, वृष्टि-
द्वारा स्पर्शनादेव वा, वैपाथित्वाच्चिच्छिन्नाशतले विद्यमानानामेव प्रीणमिहिरातप हरति ।
इयन्त्वातपसन्तापहारित्वादितावर्त्यनामपि पूर्वप्रतिपादितप्रकारैस्तद्विलस्येति व्यतिरेक ।
स्मृताऽपीत्यपिना दर्शनाद्यर्थापादानादर्थापत्ति । तत्र एव मुरहुम इति पद्ये रूपकश्च । तत्र
मियोनिरपेक्षान्यामर्थापत्तिरूपकाभ्या सङ्कीर्णा व्यतिरेकोऽतिशयोक्ति पुष्पातीति तयोरङ्गाङ्गि-
भावेन सहस्रोऽलङ्कार । रूपकानिशयोक्तेरनिरिकालद्वारत्वेनाङ्गीकारस्त्वर्वाचामरोचक जन-
यतीत्यवसरे प्रतिपादयिष्याम । 'नियनिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिवच्चोपमेयवैलक्षण्यममर्ष-
कविशेषैरेवोपमान-साम्ययोरावापाद् व्यतिरेकसत्ता न दुर्घटा । कालिन्दीकूलस्थलवैधुर्यात्
कालिकाया, वर्णवैपरीत्याद् राधायाश्च कादम्बिनीत्वेनाप्यवसान तु दुरवसानमेव ।

अपि कैमुतिकन्यायेन दर्शनादेरधिकतापापनोदत्वम्, तापस्य तापस्यसहनीयत्वद्वारेण
त्वस्याऽपनयनौचितीम्, करुणयेति तापोपरामनस्य बुद्धिपूर्वकत्व-सार्धविक्रमे, शतुग्रन्थयो
हरणस्व वर्तमानमलिकरत्वेन स्पृहणीयतमत्वम्, नृणामिति बहुवचनं सावन्त्यमुपेनान्यतो
व्यतिरेकम्, तनुत्विडभङ्गरता विजातीयताम्, विद्युत्त्वेन गोपनितम्बिनीनां निगरणसद्वितीय-
सौन्दर्यसाम्राज्यम्, शतैरित्येकशतदिव्यचल्येदद्वारा प्रसिद्धवैजात्यम्, बलयितेति सयोग-
स्याङ्गणकत्वेन सुपमाऽतिरेकम्, कालिन्दीकूलनिलिम्पपादपावलम्बिता स्वैतरव्यतिरेकम्,
श्रीकृष्णमूर्तेः कादम्बिनीन्वाध्यवसानं सयत्फलदानार्हताशोभोत्कर्षा, मतेरमूर्ततया चुम्बन-
कर्मत्वाम्भवात् तच्चन्दन नियतविषयविषयिभावसम्बन्धम्, भवत्विति लोटलकारं प्रार्थनाम्,
समस्त सन्दर्भं कविममेत श्रीकृष्णविषयमरतिभाव न व्यनक्ति । पृथ्वी छन्द ॥ १ ॥

सारर करता हू अपित, शच प्रणति पुत्र प्रमु पद पर ।

यद् नव आरम्भ सफल हो, है, यही याचना एतुतर ॥

ग्रन्थसमाप्ति में प्रतिबन्ध उपरिधत् करने वाली सम्भावित विन्न वाधाओं के प्रदानन
की कामता से ग्रन्थकार विद्वज्जन परम्परा प्राप्त मङ्गलबोधक पद्य की रचना करते हैं—
'स्पृष्टापि'-इत्यादि ।

जो स्मृतिमात्र नियम होकर मो (न कि दृष्टि किंचा दृष्टिद्वारा स्वर्ग का नियम होकर
ही) मनुष्यों के (न कि किसी एक व्यक्ति के) शीघ्र आतप (आधिदधिक, आधिभौतिक,

आध्यात्मिक त्रिविध ताप) को दया से हर लेती है, जो कभी भ्रम नहीं होने वाली शरीर प्रमा से युक्त (न कि शृणभर चमकने वाली) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो कलिन्दकन्या-यमुना के तीर (वृन्दावन) के सुरतर (कदम्ब) को (विलास के लिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त घनघटा (घनरयाम श्रीकृष्णचन्द्रजी की मनोहर मूर्ति) मेरी मति को चूमने वाली बने—सदा उत मञ्जुल मूर्ति का ज्ञान मुझे होता रहे।

भावार्थ यह है कि जो मेघमाला प्रसिद्ध है, वह देखने पर ही व्यन्धिविदोष के ताप को दान्त करती है, उसको परिवृत्त करने वाली विजली शृणभदुर है, यमुनातट के कदम्ब-तरु उसका आलम्बन भी नहीं है, अचेतन होने से उसमें कर्णा की सम्भावना भी नहीं, इन सब कारणों से कवि की विवक्षित मेघमाला वह नहीं अपितु कृष्णमूर्ति हो सकती है। इसी अतिरेक को स्पष्ट करने के लिए कवि ने 'कादम्बिनी' का विशेषण 'कादम्बि' कहा है। अत एव इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार है और सन्ताप, गोपिकायें, तथा कृष्ण मूर्ति, जो यहाँ उपमेय हैं, उनका क्रमशः आतप, विद्युत्, कादम्बिनी रूप उपमानों से निगमण होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है। इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर सापेक्ष रहने से सङ्कर नामक तृतीय अलङ्कार होता है। (तत्त्वपदों से हुंने वाले अलङ्कारों का ज्ञान संस्कृत टीका से करना चाहिये।)

अथ स्तोत्रेणोपादेयतमत्वं योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन त्रियाजन्मवंशवो परिशुद्धिं पयदयेन प्रतिपादयति—

श्रीमज्जानेन्द्रभिन्नोरभिगतसकलत्रयविद्याप्रपञ्चः,

काणादीराजपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।

देवाद्देवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,

शेषाद्द्रुप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥ २ ॥

पापाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ॥

तं वन्दे पैरुमहाद्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥ ३ ॥

य (पेशभः) श्री सरस्वती, तद्वाश्रसौ ज्ञानेन्द्रस्तजामा मिधु सन्न्यासी, तस्माद्दु-पाध्यायात्, अधिगतौ ज्ञातं पठित इति यावत्, सकल कृत्स्नो प्रयविद्याया वेदान्तस्य प्रपञ्चो विस्तरो येन तादृशः । तथा यः, महेन्द्रात् तदाख्यविदुषः, काणादी कणादेन प्रोक्ता वैशेषिकरूपा, अपिच—अज्ञपादी अज्ञपादेन गौतमेन प्रोक्ता न्यायलक्षणा, गहनगिरो गम्भीरार्थकवाणी, अवेदीत्—अज्ञानी पपाठेति यावत् । तथा य स्मरहरस्य शिवस्य नगरे वास्याम्, देवान् सङ्घवेयनामकण्डिताश्च (ननु यत्, कुतश्चित्) जैमिनीयं जैमिनिना प्रोक्तं शासनं पूर्वमीमांसादर्शनशास्त्रम्, अध्यगीष्टापठोत् । तथा य शेष इत्यङ्को नामैकदेशतया विहं यस्य स शेषाद्, तस्माच्छेषविरेश्वरकोविदान् प्राप्ता लब्धा ज्ञाता इत्यनर्थान्तरम्, शेषस्य पतञ्जले, अमला निर्दूषणा भणितयो व्याकरणमहाभाष्यरूपिरो येन, तथाभूत् सन्, सर्वविद्याधर सर्वासा चतुर्दशानामष्टादशाना वा विद्याना धारकोऽभूत् ।

किञ्च यस्य लीलया शिक्षणश्रेष्ठ्या पक्षे समीहया, पापाणादपि जडत्वेन प्रस्तरतुल्यादपि (अतः, क्रिमुता कुतश्चन विद्वद्वात्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूषं माधुर्येणामृततुल्यं काव्यम्, पक्षेऽमृतम्, स्यन्दते प्रादुर्भवति, पक्षे स्रसति । तं लक्ष्म्याः तजाम्न्या भातु पक्षे रमाया, कान्तं यल्लभम्, पैरुमहाद्यं पैरुमहत्त्वात्मात्म्, महान्तं जलन-सर्वविद्याशिक्षणाभ्या पक्षे रसस्येन श्रेष्ठम्, गुरुं पितरं पक्षे महनीयं विष्णुम्, वन्देऽभिरादयामौत्सर्ग्यं ।

इह श्रीशब्दस्य सरस्वतीनाचक्रत्वे 'श्रीशब्दे लक्ष्मीष परन्वौ' इति श्रुतिः, 'श्रीलक्ष्मी-

रमणं नौमि' इत्यादयः प्रयोगाश्च प्रमाणम् । तस्य ब्रह्मवर्चसवाचकता तु केनचित् कल्पितैव प्रमाणानुपलम्भात् । एवमेवशब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमप्यप्रतिद्वम् । सत्यभामा सत्येतिवत् खण्डदेवो देवपदेन बोध्यते । शेषोपाधे श्रीकृष्णादौ सत्त्वेऽप्यौचित्याद् वीरेश्वरस्य ग्रहणम् । अधिगतविद्यानामुपादानं तु क्रमविरुद्धम्, सर्वतः प्राग्बेदान्तस्य सर्वान्ते व्याकरणस्य बोधादानात् ।

गुरोः सर्वविद्याऽधिगन्तुतथा स्वस्मिन् सर्वात्तामपि ताप्ता सङ्गच्छन्ति, तथा स्वपाण्डित्यप्ररूपमुखेन स्वोक्तेरुपादेयतमत्वम्, स्वस्वकीयरचनोद्भवयोः पापाण-पीयूषघरतादात्म्य-प्रदर्शनेन स्वरस्य विनय-स्वरत्वनयाश्वमत्कारकत्वं च, अपिनाऽर्थापत्तिपञ्चकेन परत्र तत्सौकर्यातिशय, लोलामात्रस्यैव तावत्सम्पादकत्वेन गुरोरद्भुतमहिमशालिता, तथा बन्दनौचिता च सूच्यते ।

पूर्वस्मिन् पद्ये यमकाद्युपसत्सृष्ट काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्नर्थापत्ति-काव्यलिङ्गोपस्कृता समासोक्तिरतिशयोक्तिर्वाऽलङ्कार, क्रमेण स्रग्धराऽनुष्टुप् च छन्दः ॥ २-३ ॥

ग्रन्थकार गुरुवन्दन—व्याज से अपने विद्या तथा जन्मवर्षों की परिशुद्धि को दिखलाते हैं—'श्रीमन्शान' इत्यादि ।

श्रीमान् 'शानेन्द्र' नामक संन्यासी से जिन्होंने सन्नम ब्रह्मविद्या का विस्तार वेदान्तशास्त्र (लक्षण या उस शास्त्र का ज्ञान यहाँ विवक्षित है) प्राप्त किया, काणाद् तथा गौतम की (अर्थात्बहुल होने से) गम्भीर उक्तियाँ (वैशेषिक तथा न्यायदर्शन) 'महेन्द्रशास्त्री' से समझीं, 'खण्डदेवोपाध्याय' से जैमिनीयशास्त्र (पूर्व भीमासा) काशी में रह कर पढ़ा और 'शेष' उपाधिधारी वीरेश्वर पण्डित से शेषाचतार पत्रपत्रिका की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) अधिगत कीं, इस प्रकार जो सब विद्याओं का धारण करने वाले हुए ।

जिनकी लीला-शिक्षणचेष्टा और हृच्छा से पापाण-पृथल, अथ च पापाण तुल्य नीरस मुझसे भी अमृत-अथ च अमृत तुल्य सरस काव्य क्षर रहा है—प्रादुर्भूत हो रहा है, उन जन्म तथा शिक्षा दोनों के प्रदायक लक्ष्मीकान्त (लक्ष्मी नाम्नी मेरी माता के पति अथवा विष्णुगुरुप) 'पेरुभट्ट' नामक महान्—पूज्य गुरुदेव—पिताजी को मैं प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ संन्यासी से ब्रह्मविद्याज्ञानलाभ की बात कह कर स्वजनया गृहस्थों में ब्रह्मविद्याज्ञान की अपरिपक्वता को सूचित करते हैं, 'अवेदीत्' इस क्रियापद से 'वैशेषिक तथा न्यायदर्शन को उन्होंने समझा न कि केवल रट लिया' इस विशेष को अभिव्यक्त करते हैं और गुरु को सर्वविद्यानिधान बतला कर उनके मेधावी शिष्य अपने में भी उन विद्याओं के सम्क्रमण को व्यक्त करते हैं । इसी तरह अपने में पापाण के तथा अपनी कविता में पीयूष के तादात्म्य का प्रदर्शन कर अपने में विनय एवं अपनी कविता में यमकाश-विशय को सूचित करते हैं । प्रथम पद्य में 'यमक तथा अनुग्राम' इन दोनों शब्दालङ्कारों से संसृष्ट काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्वितीय पद्य में काव्यलिङ्ग से सहकृत अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

स्वप्रबन्धस्य सुविचार्य विहितत्वेन धेयस्त्व सूचयति—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलघेरन्तरुदर, मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्धान्तं हृदयमधिरुढो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

मननमनुष्ठानमेव गम्भीरतया जलघि समुदस्तस्य, अन्तरुदरम् उदरमध्येऽन्तस्तल इति भावः, क्लेशैर्वहुभिर्दुःखैः (नलनायासम्) नितरामत्यन्त मननेन (नन्वीपदेव प्रविष्टेन) मया जगन्नायेन, लोके मर्त्यमुत्पन्ने, उद्ध्वं नीत उद्धृत उपर्यानीत इत्यनर्थान्तरम्,

ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा सुन्दरो रसगङ्गाधरस्तच्चात्माऽयं प्रबन्ध एव स्फुटपदार्थप्रतिभासकत्वेन मणि, गुणवता वैदग्ध्यश्रुता (नलसहृदयानाम्) हृदयं चित्तं वक्ष्य, अग्रिहृद् प्रविष्ट आरूढश्च, अन्तर्ध्वान्तं मानसिकं साहित्यपदार्थविषयकाज्ञानम् आन्तरालिकं तमश्च, हरषपनयन्, सर्वानशेषान् (ननु कतिपयानेव) अलङ्कारान् लङ्कार-प्रतिपादकान् ग्रन्थान् भूषणानि च, शलितः स्वयमेव च्युतो गर्वोऽसाधारण्यमदो गेयां तादृशान्, रघयतु करोतित्यर्थः ।

अत्र परेषामपि स्तोत्रारिणा समुद्राभ्यन्तरे चिरं मनेन दुष्करप्रयत्नैर्दहतो मणिर्मही-यसा वक्षस्यलमास्व स्वैतरभूषणानि स्वापेक्षया हीनकान्तीनि करोतीति प्रतीति रूपकानु-प्राणित समासोक्तिरलङ्कारः । अन्तरराज्यस्य द्विरुपादानं द्विविद् विच्छिद्यति विच्छिद्यति । सम्पूर्णं सन्दर्भेण सुचिन्त्य विहितोऽर्थं प्रबन्धं परकीयालङ्कारप्रबन्धेभ्यः सर्वथोत्कृष्ट इति वदताऽभिधेयचतुष्टयं प्रकाशयते । गुणवतामित्यनेन 'मनुकिमेदन्तमदयति सुवीभूय सुभिम', किमस्या नाम स्यादलसपुष्पानादरभर' ॥ इति पदार्थार्थं प्रतिपाद्यते । अलङ्कारेषु गर्वस्य चित्तवृत्तिविरोधात्मनोऽयोग्यतया उल्लङ्घनस्यासम्भवेन तिरस्कृतवाच्यत्वम् । रचयति चि प्राग्बन् प्रार्थनाया लोट् । शिखरिणी छन्द ॥ ४ ॥

अपने प्रबन्ध की प्रशंसा करते हैं—'निमग्नेम' इत्यादि ।

मैने (साहित्यिक पदार्थों के) अनुचिन्तनरूप समुद्र के अन्तस्थल में बड़े दुःखों से-न कि अनायास, निश्चेष मग्न होकर—न कि थोड़ा सा प्रविष्ट होकर, संसार में इस 'रसगङ्गाधर' रूप सुन्दर मणि को निकाला है । इस तरह निकाली गई यह (रसगङ्गाधर रूप) मणि, गुणिगणों के हृदयों में प्रविष्ट होकर आन्तरिक अन्धकार (साहित्यशास्त्र विषयक अज्ञान) को हरण करती हुई, सभी अलङ्कारों (अलङ्कारसम्बन्धी निबन्धों तथा आभूषणों) को गर्वरहित कर दे । तात्पर्य यह है कि—मैने खूब सोच समझ कर इस ग्रन्थ को लिखा है, यह अलङ्कार ग्रन्थों में मणि रूप है, इससे साहित्यशास्त्र विषयक समस्त अन्त धारणायें दूर हो जायेंगी, अतः सहृदय जन इस ग्रन्थ को अपने हृदयों में स्थान अवश्य देंगे, इस ग्रन्थरस के प्रभाव से और-और अलङ्कार ग्रन्थ नगण्य हो जायेंगे । सम्पूर्ण सन्दर्भ से यह बात निकली कि इस निबन्ध में अन्य निबन्धों की अपेक्षा बहुत बड़ा महत्ता है, अतः उपादेय है ।

यहां यह अर्थ प्रतीत होता है कि—किसी ने बड़े क्लेशों से समुद्र में गोता लगा कर एक मणि निकाली, सौकीनों ने उसे दार में रूँथ कर अपने उरस्थल पर धारण किया और उसकी पवित्र प्रभा के सामने सब सुवर्णादि निर्मित अलङ्कारों की प्रभा हीन हो गई । इसलिये इस पद्य में रूपकानुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार है ।

इत्थं स्वग्रन्थस्य प्राचीनैरप्यतार्थत्वं प्रतिपाद्य नवीनैरपि स्वसजातीयग्रन्थान्तरैरगतार्थत्वं प्रतिपाद्यति—

परिष्कुर्यन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये,

तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्यो न भविता ।

तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधे, पुनरिमे,

किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरे ॥ ५ ॥

कतिपये कतिचन (भूयांसोऽपि) सहृदयधुरीणा सचेतता प्रवरा, अर्थान् साहित्य-शास्त्रीयपदार्थान्, परिष्कुर्यन्तु स्वप्रतिभास्वरूपं यथेच्छं (ग्रन्थान् रचयन्तः) विवेचयन्तु । तथाऽपि तेषां विवेचनेनापि, मे मम, क्लेश एतद्ग्रन्थरचनाप्रयास-कथमपि केनापि प्रकारेण (ईषदपि) गतार्योऽन्यथासिद्धप्रयोजनक, न भविता नैव भविष्यति इमे ऐकैरैरयमाना,

तिमोन्द्रा महामत्स्या, पुनर्भूयः, पयोधेः सागरस्य, सङ्क्षोभं मुहुर्द्वर्ततेः सम्भ्रगालोढनम्, विदधतु कुर्वन्तु, एतेन तिमोन्द्रास्फलनेन, मन्दरागिरेर्मन्याचलस्य, आयासो रत्नोद्धारस्य समुद्रमन्थनपरिश्रम, किं विफलो व्यर्थो भवति ? अश्वितु न भवतीत्यर्थः ।

इह यथा तिमोन्द्रास्फलनेन रत्नोद्धारणरूपप्रयोजनादिपत्त्या कथमपि मन्दरस्य प्रयासो न निष्फलो भवति, तथैव साहित्यपदार्थानामितरनिवृत्तपरिष्कारेण विद्वान्तावधारणलक्षणप्रयोजनासिद्धया कथमपि ममैतद्ग्रन्थरचनाश्रमो गतार्थो न भविष्यतीति वाक्यार्थसाम्यस्य गम्यत्वात्, सत्त्वाभावरूपस्यैकस्यैवोभयसाधारणधर्मस्य 'न भविता' 'किं भवति' इति शब्दभेदेन वाक्यद्वये द्विनिर्देशाच्च प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । नत्वर्थान्तरन्यास, वाक्यार्थयोः सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणभावयोरभावात् ।

भवितेति भविष्यत्सामान्यबोधकनृटोऽप्रयोगेण स्वतुल्यकाले कियन्तामेतादृशप्रवन्धरचनाश्रमाणा विचक्षणानां सद्भावस्य सम्भवेऽप्यग्रे सर्वथा तदसम्भवं सूच्यत इति केचित् । शिखरिणी छन्दः ॥ ५ ॥

सहृद्यों में मूर्खन्य माने जाने वाले कुछ पण्डित अर्थों का परिष्कार करें—ग्रन्थ बना-बना कर साहित्य पदार्थों का विवेचन करते रहें, परन्तु उन लोगों के विवेचन से मेरा कष्ट—'रसगङ्गाधर'—निर्माण में होने वाला धम—किसी तरह, गतार्थ—निष्प्रयोजन नहीं हो सकता । ये प्रत्यक्ष दीख पढ़ने वाले बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र को घुन्घ करते हैं, सो करें, परन्तु इससे क्या मन्दराचल का धम—मथनप्रयासनिष्फल होता है ? यहां 'जैसे मत्स्यों के आलोढन से रत्नोद्धारण रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होने के कारण रत्नों को निकालने वाला मन्दराचल का मथनरत्नोद्धारण विफल नहीं होता, उसी तरह अन्य विद्वानों के विवेचनों से साहित्यसिद्धान्त-निर्णय-रूप-प्रयोजन की सिद्धि न होने के कारण, साहित्यसिद्धान्त-निर्णयक रूप ग्रन्थ के निर्माण में होने वाला मेरा धम भी किसी तरह व्यर्थ नहीं, अश्वितु सर्वथा सार्थक है' ऐसा वाक्यार्थ गम्यमान है और 'न भविता, तथा किं भवति' इन दोनों से एक ही सत्ता का अभाव रूप धर्म दो वाक्यों में निर्दिष्ट है, अतः प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है ।

स्वपाण्डित्यप्रकर्षं प्रकाशयन्नेतत्प्रवन्धस्य सजातीयव्यतिरेकं प्रदर्शयति—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।

किं सेव्यते सुमनसा मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥६॥

उदाहरणानुरूपं चानिगुणालङ्कारादिलक्ष्यत्वयोग्यम्, नूतन नवीन भाषिणीविलासाल्प्यं काव्यम्, मया निर्माय रचयित्वा, अत्र रसगङ्गाधरे, परस्थान्यस्य, किञ्चिदीपदपि 'उदाहरणम्' न निहितं नैव निबद्धम् । कस्तूरिकाजननशक्तिभृता कस्तूर्युत्पादनसामर्थ्यभाजा, मृगेण, सुमनसा कुसुमाना, गन्ध परिमल, मनसाऽपि (किं पुनर्नासिकया) किं सेव्यत उपादीयते ? अपि नेत्यर्थः ।

अत्र पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । कस्तूरिकाभृतेत्यनुक्त्वा तज्जननशक्तिभृतेति कथनं स्वस्य यावदपेक्षितपयोत्पादनसमत्वम्, समस्तवाक्यार्थश्च परेषां साहित्यग्रन्थकाराणां परवीयोदाहरणप्रहणान् तदभावम्, तत आत्मनेस्तेभ्य, एतद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थेभ्यो वैलक्षण्यमवगमयति । वसन्ततिलक छन्दः ॥ ६ ॥

अन्य निबन्धों से अपने निबन्ध में विद्यमान विशेष का दिग्दर्शन करते हैं—'निर्माय' इत्यादि ।

इस निबन्ध में उदाहरणों के अनुरूप-चरित्रगुण अलङ्कारों में जिसका जैसा लक्ष्य होना चाहिए वैसा—काव्य बनाकर मैंने उपरिपत किया है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया,

(श्रीक ही है) जो कस्तूरी की छटि कर सकता है वह भृगु क्या कभी मन से भी किली पुष्पसौरभ की सेवा करने की कामना करता है ? यहाँ भी पूर्ववत् प्रतिवस्तुपणा अलङ्कार समझना चाहिये ।

'कस्तूरी को धारण करने वाला' ऐसा न कहकर 'कस्तूरीजनन की शक्ति को धारण करने वाला' इस कथन से स्वागत-समस्त-काण्ड-निर्माण-सामर्थ्य और समग्र वाक्यार्थ से अन्य अलङ्कार-ग्रन्थ-भिर्माताओं में परकीय उदाहरणों के ग्रहण करने के कारण उस कवित्वशक्ति का अभाव व्यङ्ग्य होता है, उस व्यङ्ग्य से भी अन्य-पण्डितापेक्षया अपने में तथा तरकृत ग्रन्थापेक्षया स्वकृत ग्रन्थ में वैलक्षण्य व्यक्त होता है ।

'सिद्धार्थं सिद्धमन्वन्धं श्रोतुं श्रौता प्रवर्तते ॥ शास्त्रादी तेन वक्तव्यं सम्बन्धं सप्रयोजनं ॥'
इत्यभिद्युक्तोफेरभिधेयस्य प्रद्यक्षाय प्रतिजानोते—

मननतरितीर्णविद्याऽर्णवो जगन्नाथपरिडत्तनरेन्द्रः ।

रसगङ्गाधरनाम्नी करोति कुतुकेन काव्यमीमांसां ॥ ७ ॥

मननमेव पारतापकत्वेन तर्जनीं, तत्रा तीर्णं प्राप्तपारं, विद्या एव गाम्भीर्येण पुस्तार-
तया वाऽर्णव समुद्रो येन स, जगन्नाथधासी पण्डिताना नरेन्द्रः पण्डितनरणाभिन्द्रः
पण्डितेषु नरेन्द्र इव, पण्डितधासी नरेन्द्रो नरप्रभं पण्डितराजपराभिधानो वा, इमां रसग-
ङ्गाधरनाम्नी काव्यस्य (तद्ज्ञानामलङ्कारादीना च) मीमासा विचार उद्देशलक्षणपरीक्षा
यत्र, तादृशी रचना, कुतुकेन कुतूहलेन (न तु क्लेशेन) करोतीत्यर्थः ।

इह रूपकामनुपासथालङ्कार । पूर्वार्धेन प्रगल्भपण्डितवदितितकेन ग्रन्थस्योपादेयत्वम्,
काव्यमीमांसामित्यनेन विषयः प्रयोजनं च, कुतुकेनेत्यनेन स्वस्यैतादृशग्रन्थरचनेऽपि
फलैरानावदारेण पाण्डित्यातिरेकश्च व्यज्यते । आर्यां दुन्द- ॥ ७ ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय (प्रतिपाद्य विषय उस विषय के साथ ग्रन्थ का
सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी) अधरय कहना चाहिये अन्यथा उस ग्रन्थ के अभ्ययन
में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है । अतः प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय
क्या है ? इसकी सूचना देने के साथ साथ ग्रन्थकार अपना तथा अपने ग्रन्थ का नाम
निर्देश करते हैं—'मननतरि' इत्यादि । जिसने मननरूप (विद्या समुद्र से पार ले जाने
की शक्ति रखने के कारण) नीकर से दुरवगाह होने के कारण विद्या-रूप-समुद्र को पार
कर लिया है, वह पण्डितराज 'जगन्नाथ' कोतुक से (न कि अग्रास से) काव्य-विवेचन-
मय 'रसगङ्गाधर' नामक-निबन्ध की रचना करता है । यहाँ 'मननतरि' इत्यादि विशेषण
से ग्रन्थकार-गत-ग्रीड-पाण्डित्य सूचित होता है, जिससे त्रिविधित प्रबन्ध में उपदैयता
व्यक्त होती है, 'काव्यमीमांसा' इस पद से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है ।
अलङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुपास है ।

स्वग्रन्थस्य प्रचारमाशंसति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु ।

किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यङ्चिरञ्जयतु ॥ ८ ॥

रसा एवास्वाद्यत्वेन गङ्गा, तस्मा धर प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेन धारकं, यद्वा
रसाना प्रतिपादनेन गङ्गाधर शब्द इव, रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृशं, अयं धुदि-
गोवरीकृत, सन्दर्भं पद्याङ्गवाक्यरूपो ग्रन्थः, चिरमनन्वकालं, अयत्तु सर्वेभ्य साहित्य-
ग्रन्थेभ्य उत्कृष्टतया वर्तताम् । किञ्च तथा, निसर्गात् स्वभावात् (न तु व्याजात्) सम्यन्ति
सन्ध्याव्यविरचन-विवेचनव्यसनितया समीचीनानि, कवीनां चण्यस्य निर्मातृणां विवेचकस-
हृदयनिर्दुषा च, कुलानि इन्दानि, रचयत साहित्यसिद्धान्तनिष्कर्षोपेनेनातन्द्बलित्यर्थः ।

अत्र यमकमलद्वारः । वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—‘विषयो विशयधैव पूर्वपक्षस्तयोत्तरम् ॥ निर्णयध्वेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥’ इत्यनेन भट्टवरणैर्दर्शितानि । ‘सङ्गधावान् पण्डित कवि’ इत्यमरातुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्वाचकत्वमपि । कुलपदस्यात्र वंशपरत्वं तु चिन्त्यमेव, तद्वंशपरम्पराया वैदुष्ये प्रमाणाभावाद् रक्षणानर्हत्वात् । श्रार्था छन्दः ॥ ८ ॥

ग्रन्थकार स्वकृत ग्रन्थ के प्रति अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं—रसगङ्गाधर इत्यादि । ‘रसगङ्गाधर’ (रसरूप गङ्गा को धारण करने वाला, अथवा रस के विषय में गङ्गाधर-शिव के सदृश) नामक यह निबन्ध चिरकाल तक विजयी बने सर्वोत्कृष्ट होकर रहे और अजय मनोहर स्वभाव से ही उत्तम कवियों (काव्यकारों तथा काव्यालोचक-कौविदों) के समार्यों का अनुरक्षण करता रहे । परोत्कर्षासहिष्णु दुराग्रही दुर्जनों का मनोरक्षण भले ही इस ग्रन्थ से न हो पर जो सज्जन गुणप्राही होंगे, उनका हृदय इस ग्रन्थ के अध्ययन से अवश्य ही सुखी होगा, यह बात यहाँ ‘निसर्गसुन्दर’ इस कविकुल विशेषण से अभिव्यक्त होती है । अलङ्कार यहाँ यमक है ।

तत्र तावत् काव्यलक्षणसूत्रमन्वतारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽवच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

तत्र चिकीर्षिते ग्रन्थे । कीर्तिर्दश, परमाह्लादो वेदान्तरसम्पर्कान्वत्वेनाद्वितीय आनन्दः, गुरुणा राज्ञा देवतानां च प्रसादः स्तुतिविरचनाकलाभ्यां प्रसङ्गता चादियेषां, तानि तादृशान्यनेकानि प्रयोजनानि फलानि यस्य तत् तथोक्तम्, तथाभूतस्य, काव्यस्य वक्ष्यमाणलक्षणक-कथिकर्मविशेषस्य, व्युत्पत्तेर्नैपुण्यलक्षण-ताद्विषयकविशेषज्ञानस्य, कवे काव्यकर्तुः, सहृदयस्य तद्रसा-स्वाप्रयुक्तं, परमावश्यकतया नितरामपेक्षितत्वेन, गुणा माधुर्यादयः, अलङ्कार अनुप्रसोपमाऽऽदयश्चादभो येषां तादृशै रसभावप्रवृत्तिभिर्हेतुभिः, निरूपणीय उद्देशलक्षण-परीक्षाभिर्विवेचनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताऽवच्छेदकं का च निष्ठायां ‘रमणीयार्थप्रतिपादकं शब्द काव्यम्’ इति शब्दचोषीयविशेष्यतायां, अवच्छेदकमन्यूनानतिप्रसक्तो धर्मः, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ ‘का च अन्येतरैर्भ्यो भिन्न रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्’ इति भेदानुमितौ, साधनं हेतुभूतं, तस्य काव्यस्य लक्षणं तावदादौ निरूप्यते प्रतिपाद्य विवेच्यत इत्यर्थः । इह तत्रैति तावन्निरूप्यत इत्यनेन सम्बद्धम् । प्रथमेनादिपदेन व्यवहारज्ञान-कान्तासम्मितोपदेशयोरेवादानम्, कीर्ति-परनिर्णयो कथ्यत, धनप्राप्ते राजप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यवाययुतेषु गुरु-देवताप्रसादाध्यत्वेन प्रतिपादनात् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—

‘काव्यं यशसेऽर्कहृते व्यवहारविदे शिवैतरदातये ।

सद्यः परनिर्णये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥’ इति ।

अत्रैव चतुर्वर्गप्राप्तेरप्यन्तर्भावः ।

प्रदीपकदर्शितादिशा कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनभेदे यथायथमवधार्य । कवे कवित्वं न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव । आवश्यकतागबदस्य साधनमस्मद्रसमञ्जरी-शुरभिष्टिप्पनेऽवलोकनीयम् । द्वितीयेनादिपदेन रसभावाद्यष्टकस्य प्रवृणम् । निरूपणं हि शाब्दयोधातुदूले व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षास्य । तस्मिन्निहितं सप्तम्यर्थो निष्ठत्वम् । वेपाचिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वस्वीकारान् काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्वमक्षुण्णमवधारणीयम् । काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन ताद्विषयकेच्छ्रीयविषयताऽवच्छेदकत्वं च तस्यैवावसेयम् ।

अथ अन्यकार काव्यलक्षण की अवतारणा करते हैं—'नय वीरि' इत्यादि। पद्म, लोकोत्तर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता, प्रभृति अनेक भिन्न काव्य के प्रयोजन हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति (निवृत्तता-रूप-तद्रूप-विषयक-विशिष्ट-ज्ञान) कवि, (काव्यनिर्माता) और सद्बुद्ध (काव्यानन्द का अनुभव करने वाला) के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये पहले काव्यलक्षण का निरूपण करते हैं। यदि यहाँ आप यह शङ्का करें कि कविसद्बुद्धों को काव्यज्ञान कराने के लिये पहले काव्यलक्षण निरूपण की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के ज्ञान से ही तो काव्य का ज्ञान होगा, फिर उन्हीं वस्तुओं का निरूपण पहले करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि गुण अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद जो 'काव्यं गुणादिमत्' ऐसा ज्ञान होगा—चाहे कराया जायगा, वह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्याय का ज्ञान न हो जाय। यदि आप पूछेंगे ऐसा क्यों? तो मैं कहूँगा कि उक्त ज्ञान में काव्य विशेष्य है, और गुणादि विशेषण अतः 'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पहले से रहना आवश्यक है, कारण? यदि विशेष्य स्वयम् अविज्ञ-अज्ञात रहेगा तब उसमें विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' इस विशिष्ट ज्ञान में काव्यत्व-रूप-विशेषण-ज्ञान (जो कारण है) की अपेक्षा है, अतः 'काव्यं गुणादिमत्' इस ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक (जो प्रवर्तक ज्ञान विषय होने से इष्टतावच्छेदक भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दस्वरूप' काव्यत्व का निरूपण पहले करते हैं। पहले लक्षण निरूपण करने का दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी है, उस भेदज्ञान के बिना कोई व्यवहार चल ही नहीं सकता, मान लीजिये कोई जड़ली 'जो घट तथा पट में कोई भेद नहीं समझता' अगर व्यवहार में प्रयुक्त हो तो क्या होगा? घट का कार्य पट से और पट का कार्य घट से लेने लगेगा। अथ यह बात स्पष्ट हो गई कि 'किसी एक वस्तु में तदतिरिक्त समस्त वस्तुओं से भेद है' यह समझना आवश्यक है। यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू होगा अर्थात् काव्य अतिरिक्त सकल पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, अन्यथा लोग काव्यानन्द को घटों में खंदने लग जायें, और काव्य में इतरभेद ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं, कारण? काव्य अमूर्त वस्तु है, फिर आगत्या उस ज्ञान के लिये अनुमान प्रमाण की क्षरण लेनी होगी, जैसे—'काव्यं काव्येतरस्मात् भिन्नम्'—काव्य काव्यातिरिक्त वस्तु से भिन्न है, क्यों? 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक-शब्दवात्'—रमणीय अर्थों का प्रतिपादन करने वाला जो शब्द तद्रूप होने से, यही हेतु दिया जायगा अर्थात् सब जगह इतर भेदानुमिति में लक्षण ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम काव्यलक्षण निरूपण की आवश्यकता समझनी चाहिये।

काव्यं लक्षयति—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

रमणीयस्य स्वज्ञानद्वारक-विलक्षणचमत्कारकारणतया सुन्दरस्वार्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या-न्यतमस्य, प्रतिपादको बोधक शब्द-काव्य काव्यपदेन व्यपदेश्य इति शब्दार्थ । रमणी-यार्थप्रतिपादकत्वे सति शब्दत्वमिति तावद्व्यङ्गम् । तत्र रमणीयस्यातुरागार्थस्य व्यञ्जके कदाचननिर्घोषाद्येतिन्यासि शरयितुं विशेष्यदत्तम् । अत्र चमत्कारकार्यबोधके 'घटमात्रय' इत्यादिवाक्येतिप्रसन्ननिरासार्थमर्थस्य रमणीयत्वविरोधम् । रमणीयार्थनिरूपितस्य वाच-कत्वस्य निवेशो तादृशार्थव्यञ्जके, व्यञ्जकत्वस्य निवेशे च तथाविधार्थवाचके शब्देऽन्यासि तिरयितुं तदुभयसाधारणस्य प्रतिपादकत्वस्य प्रवेश । रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणोऽ-तिन्यासि परिहृतुं चार्थस्य प्रवेशोऽवरोध ।

काव्य लक्षण के स्वरूप कहते हैं—'रमणीय' इत्यादि।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला—अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध

हो, वह शब्द काव्य है। इस लक्षण में यदि 'शब्द' पद नहीं कहें, अर्थात् 'रमणीय अर्थ' के प्रतिपादन करने वाला जो हो वह काव्य है' इतना ही लक्षण करें, तो रमणीय अनुराग रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला रमणी-वटास-निक्षेप भी काव्य हो जायगा, अतः 'शब्द' का निवेश लक्षण में किया गया है। अर्थ में रमणीय विशेषण लगाने का फल, अरमणीय-अर्थ-बोधक 'घटमानय' इत्यादि साधारण वाक्यों में काव्यत्व का निरास समझना चाहिये। वाचक, लक्षक, व्यञ्जक ये जो तीन प्रकार के शब्द साहित्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं, वे तीनों ही काव्य कहला सकते हैं, यदि उनके अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य) रमणीय हों, इसी अर्थ को सूचित करने के लिये लक्षण में 'वाचक अथवा व्यञ्जक' न कहकर सामान्य 'प्रतिपादक' पद कहा गया है। रमणीय शब्द के प्रतिपादक तो व्याकरण के भी शब्द हैं, उनमें काव्यत्वापत्ति न हो जाय इसलिये 'अर्थ' पद का निवेश समझना चाहिये।

लोकदर्शिवैचित्र्येणार्थनिष्ठाया रमणीयताया अव्यवस्थानाद्ब्यवस्थितिमाचष्टे—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ।

चकाररत्नार्थक । लोकोत्तरस्यालौकिकस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादक यज्ज्ञान, तद्गोचरतातन्त्रिरूपितविषयतारुपाऽर्थनिष्ठा रमणीयतेत्यर्थः ।

अर्थ में रमणीयता क्या हो 'सकती है? यदि आप कहें अच्छा लगना ही अर्थ में रमणीयता है, तो मैं कहूँगा कि घात आपकी ठीक है, परन्तु यह रमणीयता अव्यवस्थित होगी, कारण? रुचिभेद से एक ही अर्थ किसी को अच्छा और किसी को बुरा लग सकता है, अतः प्रन्थकार व्यवस्थित रमणीयता का निर्बचन करते हैं—'रमणीयता च' इत्यादि।

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है।

नन्वाह्लादनिष्ठं लोकोत्तरत्वं सातिशयं निरतिशयं वा ? आद्ये तन्निवेशेऽपि बहुविधा-
नामानन्दानां पूर्ववत् सङ्ग्रहेणानुगम, द्वितीये तु अज्ञानन्दस्यैव तेन ग्रहणादनुपपत्ति-
रित्यतो लोकोत्तरत्वं निर्वाक्ति—

लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः ।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठ, चमत्कारत्वं विस्मयलक्षण-चित्तविस्तारात्मकवृत्तिवृत्तिधर्म-
विशेषोऽपर पर्यायो नामान्तर यस्य तादृश, तथा अनुभव सहृदयसमवेत प्रत्यक्ष चर्यालक्षण
साक्षी प्रमाण यस्मिंस्तथाभूतत्वं, जातिविशेषो विलक्षणसामान्यम् । अनुभवसाक्षिकत्वकथनेन
'सचेतनामनुभव प्रमाणं तत्र केवलम्' इति दर्पणदर्शितमत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणविरहो
वोध्यते । तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशलोकोत्तरत्ववैधुर्यात् सङ्ग्रहीतुमशक्यत्वात्तदोपेय ।

अब प्रश्न यह उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किसको कहेंगे? अर्थात् आनन्दगत
लोकोत्तरत्व यदि सातिशय (जिससे बड़ा दूसरा भी आनन्द हो सकता हो, ऐसा)
विवक्षित मानेंगे, तब लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि व्यक्तिभेद से-रुचिभेद से
भिन्न-भिन्न आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायगा, जिसमें अव्यवस्था घनी ही रहेगी। यदि
आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरतिशय (जिससे बड़ा दूसरा आनन्द न हो) विवक्षित कहेंगे,
तो प्रधानन्द के अतिरिक्त आनन्द (कायानन्द, जिसको विषयसंगृह्य होने के कारण
ग्रहानन्द सहोदर होने पर भी उससे भिन्न माना गया है) संगृहीत नहीं हो सकेगा,
जिसका संग्रह करना ही इस आयोजन का मुख्य उद्देश्य है, इसलिये इन दोनों से विलक्षण
लोकोत्तरत्व का निर्बचन करते हैं—'लोकोत्तरत्वञ्च' इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है
कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय, कुछ नहीं, घटत्व, पतत्व जैसा आनन्द में
रहने वाला एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व जिसका दूसरा नाम है, सहृदयों का अनुभव
ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिस जिस आनन्द में सहृदयों को 'लोकोत्तर,
लोकोत्तर' ऐसा, अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने

भी इस प्रसङ्ग में कहा है—'सधेनसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' अथ अव्यवस्था की शक्ति नहीं हो सकती है।

नन्दोदशं लोकोत्तरचमत्कारं को जनयतीत्यावाङ्भाषायामाह—

कारणं च तदवच्छिद्ये भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा ।

चत्वर्ये । तदवच्छिद्ये चमत्कारस्वरूप-लोकोत्तरत्वजात्यवच्छिद्येऽलौकिकाज्ञादे, पुन-पुनरनुसन्धानं काव्यार्थस्य भूयोभूय समानविषयकं स्मृतिविरोध आस्ताम्वहर्षं यस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थः । इह न्यायनयोक्तानावाङ्भाष्यसंस्कारस्य व्यवच्छेदात् पुनरित्याद्युपात्तम् । काव्यार्थस्य निरन्तरस्मरणैर्नैव लोकोत्तराज्ञादो जन्यते, नन्वन्यादृशार्थज्ञानमात्रेणेत्याशयः । केचिन् ताकिंजाज्ञीकृतभावनायां संस्कारात्मरूपेण ज्ञानजन्यत्वात् पुनःपुनरनुसन्धानादान्मा यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिरिहेत्वपि वदन्ति ।

पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—'कारण च' इत्यादि । चमत्कारत्वापरिपर्याय लोकोत्तरत्व जाति से भवच्छिद्य परिचित अर्थात् विभिन्न लोकोत्तर आनन्द में पुनः पुनः अनुसन्धावरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शब्दबोधधामक-अनुभव ही कारण है । सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाच्य को सुनते हैं, तब शक्ति स्मरणादि जो शब्दबोध की सामग्री मानी गई है, तदनुसार पहले वाच्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ रहा, तो स्पष्टता वृत्ति द्वारा उसका बोध होता है, जो सहृदयों को अन्दा लगता है, अतः सहृदयजन चार चार उस बोध को करना चाहते हैं, जिसके लिए पुनः पुनः उन शब्दों को पढ़ते हैं, इस तरह स्मरण की गयी वह बोधधारा सहृदयों की आत्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ नहीं रहता, वहाँ विलक्षण वाच्यार्थ को तादृश बोधधारा (भावना) ही आनन्द की सृष्टि करती है ।

आज्ञादे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फलं दर्शयति—

'पुत्रस्ते जातः' 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः ।

प्रसक्तिरुपपत्तिः । यद्यप्येतद्वाक्यद्वयार्थज्ञानेनापि कथनानन्दो जन्यत एव, किन्तु तदानन्दस्य प्रायुक्तभावनाविशेषजन्यत्वानावाङ्भाष्यलोकोत्तरत्वस्य विरहेण रमणीयार्थप्रतिपादकत्वविधुरतया नैतद्वाक्यद्वये काव्यलक्षणातिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः ।

आनन्द में लोकोत्तर विशेषण लगाने का फल कहने हैं—'पुत्रस्ते' इत्यादि । यद्यपि 'तुम्हारे घर में लटका पैदा हुआ' 'तुमको मैं धन दूँगा' इन वाक्यों से होने वाली भावना भी आनन्ददायिनी है, तथापि ये वाक्य काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इन वाक्यार्थों की भावना से होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं है, सहृदयों को उस आनन्द में लोकोत्तरत्व की प्रतीति नहीं होती । मूल लक्षण में यद्यपि 'शब्दः' यह एकवचनान्त प्रयोग किया गया है, तथापि वह पुरुष संख्या विवक्षित नहीं है, अतः संक्षेपतः काव्य का यह स्वरूप हुआ कि 'जिस शब्द-अथवा जिन शब्दों के अर्थ की भावना करने से किसी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको काव्य कहते हैं' ।

अथ काव्यलक्षणनिकर्षं मनेण प्रपञ्चयति—

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्रम्, स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकनासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् ।

इत्यममुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्या, चमत्कारस्य लोकोत्तराज्ञादस्य अनिवा या भावना धार्यार्थविषयकपुनःपुनरनुसन्धानम्, तस्या विषयो योऽर्थः, तस्य प्रतिपादकत्वे सति

शब्दत्वं काव्यत्वमिति फलितमिति सर्वत्रान्वयः । अस्मिन् प्रथमलक्षणे प्रागुक्तं ज्ञानपद विहाय भावनापदप्रवेशस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, ध्रुवताम्—शत्रु कस्यचित् पुत्र साम्प्रो-
 धलेन काव्यार्थविषयक तदितराद्यमत्कारार्थविषयक चैकमेव समूहालम्बनात्मकं ज्ञानं जायेत,
 तत्र तदितराद्यमत्कारार्थस्यापि चमत्कारजनक-तत्पुरुषसमवेत-काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयता-
 ऽऽश्रयत्वेन तदप्रतिपादकराब्दे काव्यवदकाव्येऽपि काव्यत्वं तदितरायाक्ये प्रसज्येत । भावना-
 निवेशे तु, तस्या स्मृतिविशेषरूपत्वेन समूहालम्बनात्मकविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञाने
 प्रवेशामम्भवात् दोषः । घुन-पुनरनुसन्धानस्य हि युगपदनेकविषयकताया फलवलेन
 साम्प्रोसंबलनासम्भवः कथञ्चित् कल्पनीयः । सत्कारस्यापि क्वचित् समूहालम्बनत्वमन्यत्र
 व्ययस्थापितमिति तदुपादानाच्च दोषनिस्तारः ।

अत्रापि लक्षणोऽतिव्याप्तेर्यत्प्रतिपादितेत्यादिना द्वितीयं लक्षणं विहितम् । तथाहि—
 यत्र कस्यचित् काव्यवाक्यार्थविषयिका निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी स्मृतिविशेषरूपा
 भावना जायेत, तत्र चमत्कारजनकभावनाविषयीभूताना सर्वेषामेव समानाकाराणां तेषां
 वाक्यार्थानां प्रतिपादकत्वात्सर्वे तादृशवाक्यकदम्बके काव्यलक्षणातिव्याप्ति स्फुटैव । तत्र
 हि सर्वेषां तादृशवाक्यानां चमत्कारानुपायकत्वात् काव्यत्व न कस्यापि सम्मतम्, अपि-
 त्वेकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेपितुमपि न शक्या । येन यादृशानुपूर्वीमता शब्देन,
 प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा पृथग्विनी, वा विषयता, तन्निष्पिदा वा भावनानिष्ठा
 विषयिता, तदवच्छेदकं भावनात्वम्, चमत्कारनिष्ठाजन्यतानिरूपित-भावनानिष्ठाजनकताया
 विषयतासम्बन्धेनावच्छेदकम्, तादृशानुपूर्वीमन्व काव्यत्वमिति लक्षणार्थः । तथा च प्रकृत-
 वाक्यसमूहरूपशब्दस्य चमत्कारजनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमन्वभावनात्तातिव्याप्तिः ।
 श्रानुपूर्वी तु तद्वर्णितर-तद्वर्णित्वरूप धावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदको धर्मः ।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपाद्यार्थानां प्रकारतया शब्दबोधे विषयीभावाद्
 च्छिन्नज्ञानार्थानुपस्थितानां कारणत्वेनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोरव्यवस्थितार्थरू-
 पताऽननुगमश्च द्रवणं दुर्द्वारमिति स्वविशिष्टेत्यादिना तृतीयं लक्षणमभिहितम् । अत्र हि
 संसर्गविषया भासमानानां तदर्थानामुपस्थिते शब्दबोधेऽनपेक्षणाप्लाघवम्, यत्तच्छब्द-
 विरटादननुगमाभावश्च व्यक्तगवसीयते । स्वशब्दस्तुपात्तोऽपि वैशिष्ट्यघटकार्थोपस्थापकत्वे-
 नानुगतार्थक एव । स्वशब्देनात्र चमत्कारत्वस्य प्रदृग्म् । तथा च स्वविशिष्टा चमत्कारत्वा-
 वच्छिन्नजन्यतानिरूपिता या भावनानिष्ठा जनकता भावनायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन
 विशेषणात् । तदवच्छेदको योऽर्थः, तदप्रतिपादकत्वं सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्व-
 विशिष्टत्वे सति शब्दत्वं काव्यत्वमिति पर्यवसितम् ।

तादृशचमत्कारत्ववत्त्वसमानाधिकरणं तदेव काव्यं 'काव्य'मित्याद्यनुगतप्रतीतिविषय-
 ताऽवच्छेदकतयाऽऽत्वादविशेषजनकताऽवच्छेदकतया वा सिद्धं जातिविशेषरूपमुपाधिर्लक्ष्णं वा
 लक्ष्यताऽवच्छेदकमिति व्याख्यातारः ।

लक्षणमिदं जगत्तापत्रं न सर्वथा स्वोपशम् 'सत्तेषां वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥
 काव्यम्' इत्यामेयेन, काव्यमुपक्रम्य 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डि-
 भट्टेन च प्रतिपादनात् । खण्डनन्तु केवलशब्दवृत्तिकव्यवस्थाश्रीकानिर्वाणसङ्घेन पुरस्तात्-
 कोभविष्यति ।

अथ नव्य म्याद की शैली से काव्यलक्षण का परिष्कार करते हैं—'चमत्कारजनक'
 इत्यादि । चमत्कार (लोकोत्तर जानन्द) को उत्पन्न करने वाली जो भावना (ज्ञानधारा)

उसका विषय (जिसकी भावना हो वह) जो अर्थ, प्रतिपादक शब्द का नाम हुआ काव्य और तादृश शब्दत्व का काव्यत्व । इस प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञान पद न कह कर ज्ञानधारा-वाचक-भावना-पद क्यों कहा गया, इस शब्द का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये । कभी-कभी ज्ञातव्य विषयक ज्ञान सामग्री से होने वाला ज्ञान अस्मत्त्व विषयान्तरोद्बोधक सामग्री के जुट जाने से उदासीन वस्तु को भी विषयक बना लेता है— अर्थात् ज्ञातव्य तथा उदासीन-दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता है, ऐसे ज्ञान को समूहात्म्य ज्ञान कहते हैं, अथ आप कहना कि जिनके कि—जहाँ 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उद्बोधकान्तर-समवधान से घटरूप अर्थ भी भासित हो गया, वहाँ काव्यार्थ विषयक होने के नाते चमत्कार-जनक-ज्ञान का विषय घटरूप अर्थ भी हुआ, अतः उस घटरूप अर्थ के प्रतिपादन करने वाला 'घटः' इत्यादिक शब्द में भी काव्यत्व प्राप्त हो जायगा, वही काव्यत्वापत्ति को हटाने के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कहा गया है । भावना पद कहने पर आपत्ति इसलिये नहीं हुई कि एक बार मले ही उद्बोधकान्तर के जुट जाने से काव्यार्थ विषयक ज्ञान में घटरूप अर्थ भासित हो जाय परन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उसका भासित होना असम्भव है, कारण ? अस्मत्त्व जुटने वाला उद्बोधक द्वारा जुटता रहेगा, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है । यदि कोई वादी ऐसा दुराग्रह करे कि—हां, महाशय, जब-जब काव्यार्थ-विषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उद्बोधक जुटता ही रहे, उदासीन घटादि रूप अर्थ उस ज्ञान में भासित होता ही गया, तब तो भावना पद निवेदा से भी निस्तार नहीं, अतः 'यत्प्रतिपादितार्थ' इत्यादि द्वितीय परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता हुई, जिससे वादी का उक्त दुराग्रह भी दूर हो जाय, कहने का आशय यह है कि—'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्य वाक्य तथा 'घटः' इन दोनों शब्दों से प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना के एक होने पर भी काव्य शब्द प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्व एवं 'घटः' इत्यादि उदासीन शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व एक नहीं, भिन्न है । इस स्थिति में चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक (परिचायक) काव्य शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व ही हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्यून (अल्पदेश में न रहने वाला) और अतिप्रसक्त (अधिक देश में न रहने वाला) होता है, वही धर्म उसका अवच्छेदक हो सकता है, उदासीन 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्व शुद्ध 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावना पर भी है, जहाँ चमत्कार-जनकता नहीं है, अतः वह अधिक वैशक्ती (अतिप्रसक्त) धर्म होने से चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक समूहात्म्यत्व स्वयं में नहीं होगा, फिर द्वितीय लक्षण के हिसाब से उक्त स्थल में आपत्ति नहीं हुई । किन्तु इस द्वितीय लक्षण में भी एक नई आपत्ति यह उपरिष्ठ हो जाती है कि—यह लक्षण उस चतुर् और तत् पद से घटित है, जिसका अर्थ अनुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, अतः तादृश यत्त्व पद घटित लक्षण भी अनुगत होगा, फिर लक्षण बनाने का उद्देश्य (अनुगम करना) सिद्ध नहीं हो सकेगा, दूसरी बात यह है कि काव्यपद शक्यतावच्छेदक पद हो जाने से गौरव भी होगा, अर्थात् लक्षण को लघु होना चाहिये, तो नहीं हुआ, इसलिये 'स्वविशिष्टजनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का अवतार समझना चाहिये । तृतीय परिष्कार के अनुसार काव्य का लक्षण 'चमत्कारस्वत्व' मात्र हुआ, जो न घटा है, न यत्, तत् पद घटित ही, अतः गौरव किंवा अनुगम की शङ्का जाती रही । यहाँ लोकोत्तरत्व का पर्यायवाची चमत्कारत्व जाति विशेष माना गया है, जो, यद्यपि साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) से चमत्कार-लोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि ग्रन्थोक्त 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्य प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा । यद्यपि यह सम्बन्ध लम्बा अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लक्षण घटक नहीं कहलाता, इसलिये अथ उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित हो सकता,

ऐसा समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारव का प्रहण करना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उमकी (तद्विरूपित) जनकता रहेगी भावना (ज्ञानभारा) में, उस जनकता से निरूपित विषयता सम्बन्धावलिष्ठ अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह (काव्यार्थ) भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा—उस, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से स्व (चमत्कारव) शब्द में रहेगा । इसी तरह से लक्षण का समन्वय करना चाहिये ।

इत्थं स्वकीयं काव्यलक्षणं प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथमं विशेष्यदलेऽर्थस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु ग्राह्यः—‘अदोषी सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्’ इत्याहुः । तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, ‘काव्यमुच्चैः पठ्यते’ ‘काव्यादर्थोऽवगम्यते’ ‘काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः’ इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।

तुना वक्ष्यमाणाऽऽचि सूच्यते । ग्राह्य काव्यप्रकाशकारा । आहुरित्यभिप्रेणान्वय । विनार्यते गुक्तानुक्तत्वमिति शेष । विश्वेभ्य सर्वेभ्यो जनेभ्यो द्वितो विश्वजनीनो व्यवहार । प्रत्युतोक्तैः परीत्ये । एवकार शब्दार्थयोरर्थमात्रस्य व्यवच्छेदक ।

प्राचीनैः शब्दार्थोभयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न शोभनम्, यत शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य ज्ञापकं किञ्चिदपि प्रमाणं नोपलभ्यते । किञ्चार्थस्य कण्ठतात्वाद्यभिघातजन्योच्चारणलक्षणपाठयोग्यत्वेन ‘काव्यमुच्चैः पठ्यते’ इत्यादिरूप, अर्थस्यापि काव्यपदार्थत्वेन पृथक् तदुल्लेखानर्हत्वात् ‘काव्यादर्थोऽवगम्यते’ इत्यादिरूप, अर्थस्य श्रवणसम्भवात् काव्यपदार्थत्वेनैव सम्प्राप्तत्वाच्च ‘काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः’ इत्यादिरूपश्च सर्वानुमतो व्यवहारो नोपपद्यते । अर्वाचीनमते तु प्रमाणान्तराभावेऽपि, शब्द विरोधमात्रस्य काव्यत्वाभ्युपगमेन प्रादुर्भवन्ती तद्व्यवहारोपपत्तिरेव प्रमाणीभवतीति तत्त्वम् ।

अथ पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षणं निरूपणं कर लेने के बाद प्राचीन आचार्य द्वारा किए गये काव्य लक्षणों के खण्डन प्रसङ्ग में सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार मम्मट कृत लक्षण की चर्चा करते हैं—‘यत्तु ग्राह्य’ इत्यादि । काव्यप्रकाशकार ने ‘दोषरहित, गुण तथा अलङ्कार सहित शब्दार्थ युगल’ को काव्य माना है, हा, अलङ्कार के अंश में इतनी छूट उन्होंने अवश्य दी है कि—कहीं—कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहने पर भी और अंश के रहने पर शब्दार्थसमूह को काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के विचार से यह लक्षण ठीक नहीं है, कारण ? पहले ‘शब्दार्थ युगल’ को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं । प्रत्युत ‘काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना अर्थ ज्ञात न हो सका’ इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं क्योंकि ‘शब्द और अर्थ’ दोनों को काव्य मानने पर उक्त व्यवहार नहीं बन सकते—अर्थात् यदि अर्थ भी काव्य होता तो उमका पाठ कैसे सम्भव हो सकता, अर्थ के भी काव्य के अन्दर आ जाने पर काव्य से अर्थ का समझना भी नहीं बन पड़ता, और अर्थमिश्रित काव्य का श्रवण भी समुचित नहीं जान पड़ता, अतः शब्दमात्र को ही काव्य मानना ठीक है ‘शब्द अर्थ’ दोनों को नहीं ।

प्रतिपक्षिपक्षमुपक्षिव्याक्षिपति—

व्यवहार, शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमतं शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात् । तदेव तु न पश्यामः ।

व्यवहार- 'काव्यमुच्चै पठ्यते' इत्यादिशब्दप्रयोगह्यः । अत्रयदात्रयविभावरूपशक्य-
सम्बन्धमूलकगौणवृत्त्या । परागिनते काव्यप्रकाशकारादिसम्भते । काव्यराजदशाके काव्यपद-
निष्ठाभिधाया । प्रमाणकं ज्ञापकम् । तदेव शब्दार्थोभयशक्तिप्राहकं प्रमाणमेव ।

यथा 'पूर्वं पद्यात्' इत्यादौ सनस्तपञ्चालदेशवाचकतां पञ्चालादिशब्दानां तदैकदेशी
लक्षणाया प्रयोगः, तथैवोक्तव्यवहारेषु शब्दार्थोभयवानकस्य काव्यशब्दस्य स्वार्थैकदेशी शब्द-
मात्रे लक्षणायाः स्वीकारेण व्यवहाराणामुपपत्तिः स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, काव्यपदनि-
ष्ठाया शब्दार्थोभयनिष्पेताभिधाया प्राहकस्य कस्यचिदपि प्रमाणत्वात्पुलम्भादिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि—जहाँ शब्दमात्र के लिये काव्य पद का प्रयोग किया गया हो, वहाँ
लक्षणावृत्ति से काम लिया गया है, अर्थात्—उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्यपद का
छात्रात्मिक प्रयोग है, शब्दार्थ युगल वाचक काव्यपद का प्रयोग लक्षणावृत्ति के द्वारा केवल
शब्द में भी हो सकता है, जैसे समस्त-पाञ्चाल-देश-वाचक पाञ्चाल शब्द का प्रयोग
'पूर्वं पाद्यात्' इत्यादि स्थलों में देश के एक भाग में भी लक्षणा से होता है, इस तर्क का
उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि—आप का यह (लक्षणा द्वारा काम चलाने वाला) कथन
तब सङ्गत हो सकता था, जब आप किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्यपद
का मुख्य (वाच्य) अर्थ 'शब्द और अर्थ' दोनों ही हैं । परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं
दृष्टिगोचर होता ।

ननु तत्र कथं प्रमाणभावः, प्रमाणान्तरविरहेऽपि काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनोक्तरेषु
प्रमाणत्वादित्यत आह—

चिन्तितवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव ।

अनुपपत्तिप्रकटनेन तन्मतनिराकरणपरैरस्माभिस्तद्वाच्यमेव कथं प्रमाणत्वेन विश्वसनीय-
मिति भावः ।

यदि आप कहें कि प्रमाण क्यों नहीं दृष्टिगोचर होता ? क्या आप शब्दप्रमाण को नहीं
मानते ? अर्थात् आचार्य मम्मट का वाक्य ही शब्दार्थ युगल को काव्यपद वाच्य होने
में प्रमाण है । हाँ, शब्द को भी प्रमाण मानता हूँ, परन्तु आप के शब्द को—यात्री के शब्द
को नहीं, मम्मट तो यात्री हैं उन्हीं के साथ मेरा विश्वास है फिर उनके शब्द को ही
प्रमाण कैसे मान लें ?

उपसंहरति—

इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिप्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद्
व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्धवन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे ।

इत्थं प्रतिपश्चिवाक्यस्याश्रद्धेयत्वेनाप्रामाण्येन । प्रागुक्ताद् 'काव्यमुच्चै पठ्यते' इत्यादि-
स्मान् । शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमात्रे । को नाम नैदकश्चिन् । ईष्टे शक्नोति ।

इदमुच्यते—'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशासवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ।'

इति तार्किकसिद्धान्तादिह व्याकरणादिशक्तिप्राहकप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्वं कथितो
व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दमात्रशक्तिग्रहे प्रमाणम्, तस्यापि शक्तिप्राहककोटानुल्लेखान् ।

इस तरह जब कि 'शब्द और अर्थ' दोनों में काव्यपद की अविभाज्यशक्ति को सिद्ध
करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, तब पूर्वाक्त व्यवहाररूप प्रमाण से शब्दमात्र में सिद्ध होने
वाली काव्य-पद-शक्ति को कौन रोक सकता है ।

एक तरफ़े विनिगमनाविरहादुभयत्र शब्दार्थयोः काव्यशब्दशक्तिं स्वीकुर्वता मतं निराकरोति—
एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति अत्युक्तम् ।

एतेन पूर्वोक्तव्यवहाररूपविनिगमकसद्भावेन । एकतरपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना । प्रत्युक्तं सङ्घितम् ।

इसी से 'शब्दमात्र को काव्य मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है, इसलिये 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानना चाहिये' इस तर्क का भी उत्तर हो जाता है, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने में पूर्वोक्त-लौकिक-व्यवहाररूप-विनिगमक (एकतरपक्षपातिनीयुक्ति) वर्तमान है ।

पर्यवसितमाचष्टे—

तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य ।

प्राक् प्रदर्शितव्यवहारैर्यदा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिर्निर्धारिता, तदा तादृश-शब्दमात्रवृत्त्येव काव्यस्य लक्षणं कथयितुमुचितम्, न पुन शब्दार्थोभयवृत्तीति सारम् ।

इस तरह विशिष्ट प्रकारक शब्द को ही काव्य सिद्ध हो जाने पर तदनुसार शब्दमात्र-गत-काव्यलक्षण बनाना उचित है, न कि अपनी ओर से काव्यरूप में कल्पित-शब्दार्थ युगल-गत लक्षण बनाना ।

स्वमत द्रष्टयितु प्रसज्जादाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः । अन्यथा तत्रापीय दुरवस्था स्यात् ।

एषैव शब्दविशेषमात्रवृत्तित्वस्वीकृतिरेव । गतिरुपाय । आदिपदेनेतिहासप्रभृतिपरिग्रह ।

अन्यथा वेदत्वादेरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्वीकारे । दुरवस्थातत्तद्व्यवहारविरोधापत्ति ।

'वेद उच्चं पठ्यते' 'वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेद श्रुत, अर्थो न ज्ञात' इत्यादितत्तद्व्यवहारैरभ्यो वेदपुराणादिशब्दानामपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमात्रवृत्त्येव वेदादिलक्षण विधेयम् । शब्दार्थोभयवृत्तित्वलक्षणनिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहारविरोध स्फुट एवेत्याशय ।

एतच्च 'स्वगतविशेषजनकताऽवच्छेदकजातिभेदकफलोद्देश्यकभ्रमाजन्यप्रयत्नविषयवाक्य-परम्परा ग्रन्थ । तद्वृत्तिग्रन्थत्वं जाति । ग्रन्थत्वव्याप्या एव वेदत्वादिजातयः ।' इत्यादि-सन्दर्भेण काव्यप्रकाशशिखरौ धिस्तरेण प्रपद्यितम् ।

स्वमत को पुष्ट करने के लिये प्रसङ्ग प्राप्त विषयान्तर की चर्चा करते हैं—'एषैव च' इत्यादि । वेद, पुराण, इतिहास, प्रभृति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही उपाय करना होगा, अर्थात् इन सबों का लक्षण भी शब्दविशेष मात्र वृत्ती ही बनाना चाहिये अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ी होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि शब्दार्थ समूह को वेद आदि मानेंगे तो 'वेद जोर से पढ़ा जाता है, वेद से अर्थ समझा जाता है, वेद सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विरुद्ध हो जायेंगे ।

प्राचीनमत पुनरापाद्यावदति—

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-मित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मत-त्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याङ्गाना सर्वेषामपि प्रायशस्तया-त्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव ।

आहुरित्यनेन चत्विष्यन्वेति । अत्रिशिष्ट तुल्य साधारणमिति यावत् । रागस्य सङ्गीतानु-शासनोक्त-गीतस्वरविशेषस्य भैरवादिसङ्गकस्य । गीतरागानां रसव्यञ्जकता ध्वनिकृता तृतीयोद्घोते दर्शिता । लक्षणीयत्वापत्ते रागस्यापि रसव्यञ्जकताऽऽस्वादोद्बोधकत्वलक्षण-

लक्ष्यताऽवच्छेदनान्तरेण तत्र काव्यलक्षणातिव्याप्यापत्तेः । सर्वेषां नाट्याङ्गानां भरतीक्षानां
मन्तोयकरणाग्रहारादीनाम् । प्रायशो पाहुष्येन, तेन कस्यचित् तदभावोऽपि । तथाप्येना-
स्तादौघोपनत्वेन । तथात्वापत्तिः । वाच्यत्वातिव्याप्तिः ।

'अलौकिकास्तादस्यैव काव्यस्य प्रधानप्रयोजनत्वेनाभियुक्तोत्तरेण प्रत्येकमेव काव्यत्वं
सक्तुं युक्तम् । आस्तादव्यञ्जिता च क्वचिच्छब्दे क्वचिदर्थे क्वचिबोभयत्रेत्यनायत्वा शब्दार्थयो-
रेव काव्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न पुनः शब्दमात्रे' इति केषाचिन्मतमनङ्गत्वं, आस्तादव्यञ्ज-
कत्वमानस्य रसन्यञ्जकेषु रागेषु सतिपयेषु नाट्याङ्गेषु चातिप्रसङ्गत्वं । न चेष्टाऽऽपत्तिः,
तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादित्याहृतम् ।

यहाँ मगमट-मत-समर्थक कुछ लोग एक और नवीन तर्क उपस्थित करते हैं । उनका
कथन यह है कि—काव्य उसको कहना चाहिये, जिससे रस का उदोष होता हो, जिससे
सहृदयों को भौतिक आह्लाद प्राप्त होता हो और उस आह्लाद को देने की शक्ति शब्द
और अर्थ दोनों में समानरूप से है, अतः 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य कहना न्याय
प्राप्त है । रघुदत्तराज का कथन है—अपका यह तर्क ठीक नहीं । यदि रस को उद्बुद्ध
करने वाली जो भी चीज हो उसको काव्य माना जाय तो राग को भी काव्य मानना
पड़ेगा क्योंकि ध्वनिहार 'आनन्दवर्धन' आदि सभी साहित्यिक मनोवियों ने राग को रस
व्यञ्जक माना है । यदि आप कहें कि—राग को भी काव्य मान लेने में आपत्ति ही क्या
है, तो सुनिये—रसभञ्जक होने से यदि किसी को काव्य माना जाय, तो फिर राग मात्र
को ही काव्य मान लेने से छुटकारा धोड़े ही मिल जायगा, नाटक के जितने अङ्ग (नृत्य,
वाद्य, नेपथ्य सामग्री, आदि) हैं सभी को काव्य मानना पड़ेगा, जो किसी को भी इष्ट
नहीं हो सकता ।

आदिकं मतान्तरं निरस्यति—

एतेन रसोद्घोषसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् ।

एतेन रागादिप्यतिप्रसङ्गेन । रसोद्घोषसामर्थ्यं व्यञ्जना, तच्च शब्दवदर्थेऽप्यञ्जतमित्यु-
भयोरेव वाच्यत्वम् । लक्ष्यत्वं काव्यत्वस्येति शेषः । अपिना पूर्वमतसंग्रहः ।

इसो कारण से 'जो रसोद्घोषन में समर्थ हो—जिससे सहृदयों का आनन्द प्राप्त
हो उठे—वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है' यह कथन भी रघुदत्त समझना चाहिये ।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन वृषयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा ?
नाथः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यन काव्यम्' इति व्यवहारस्या-
पत्तेः । न द्वितीयः, एकास्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।

प्रवृत्तिनिमित्तं शक्यताऽवच्छेदकम्, 'वाच्यत्वे सति, वाच्यवृत्तित्वे सति, वाच्योपस्थि-
तिमकारत्वम्' इति तल्लक्षणस्यान्यत्राभियानान् । व्यासक्तं व्यासज्यवृत्ति एकमेवोभयं व्याप्य
तिष्ठत् । प्रत्येकमेकस्मिन्कस्मिन् शब्दे चार्थे च पर्याप्तं पर्याप्तिसम्बन्धेन वियमानम्,
नतूहायवृत्तिः । वाराब्धो विकल्पार्थकः । नाथ पशः सङ्गत इति शेषः, स च वाच्यत्वस्य
शब्दार्थोभयव्यासकत्वप्रतिपादकः । द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्तत्वप्रतिपादकः ।

प्रत्येकवृत्तिपर्याप्तच्छिन्नानुयोगितानिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिभर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरू-
पकस्य तु भेदस्येष्टत्वात् 'एको न द्वौ' इति व्यवहारः 'पटो न घटपटौ' इत्यादि व्यवहारवद्
यथाभवति, तथैव प्रवृत्ते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितया स्वाकारे रत्येकवाच्यत्व-
व्यवहारापर्याप्तितिरहाच्छ्लोकाक्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक-सादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकभेदस्य सुवचत्वेन 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत् । शब्दमात्र-पर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकानुयोगिताऽवच्छेदकमोरैक्याद् 'ध्वजे न घटः' इत्यादिबन्ध तथा व्यवहारस्यापत्तिः । शब्दे अर्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्वं पर्याप्त्या वर्तते इत्यास्थाने पुनः शब्दारो पृथक् काव्यत्वेम् अर्थांशे च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मिन्नपि काव्ये 'काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः । न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम् । तादृशस्थले 'नैकं काव्यम्' इत्याकारकौत्तरकालिकवाधप्रहचिरहात् 'एकं काव्यम्' इति प्रमाऽऽत्मकप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति नावः ।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणास्तु—'यद्यप्यर्थो न कविकर्म, तथाऽपि प्रथमप्रकाश्य-मेवात्र कर्माभिधीयते । अन्यथा शब्दनित्यतावादे मौनिना लिखित्वा ज्ञापिते च शब्देऽपि कविकर्मत्वं न स्यात् । तथाच विनिगमनाविरहादर्थविशेषावरुद्धः शब्द इव शब्दविशेषावरुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमित्युभयो प्राधान्येन निर्देशः । 'काव्यं शृणोति' इति व्यवहारस्त्वर्थारोऽपि शाब्दबोधार्थकशृणोतिनोपपादयितुं शक्यते 'आत्मा श्रोतव्यः' इति च । यस्तु 'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' इति वचनम्, तत्र व्यवच्छेद समुच्चय एव, नत्ववच्छिन्नत्वम्, विनिगमनाविरहान् । 'रसवच्छब्दार्थोभयत्वं काव्य-लक्षणम्' । तत्र गीतादावित्यातेर्वारणार्थ, अभिनेयार्थवारणाय शब्दोऽप्युपात्तः ।' इत्याहुः ।

नागेशमहास्तु—'यदित्वात्वादव्यञ्जकत्वस्याप्युभयत्राप्यविशेषा चमत्कारिव्यञ्जनकज्ञान-विषयताऽवच्छेदककर्मवत्त्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यताऽवच्छेदक-स्थोभयवृत्तित्वाच्च 'अन्य पठिताम्' 'श्रुतं काव्यम्' 'बुद्धं काव्यम्' इत्युभयविव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त व्यासज्यवृत्तिः । अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादक 'तदधीते' इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते । लक्षणयाऽन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न द्वौ' इति बन्ध तदापत्तिः । तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षण प्रकाशोक्तं निर्वाच्यम् । एव मास्वादादी वैलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि निर्वाचयति नान्यमतमपि दुष्टमित्युच्यते, तर्ह्यस्तु तथा ।' इत्याचक्षते ।

म० म० गङ्गाधरराक्षिणास्तु—'अत्रेदमवधेयम्' 'तददोषो शब्दार्थो' 'अदोष गुणवत् काव्यम्' इत्यादिषु प्रदर्शिताना दोषाभावगुणालङ्काराणां काव्यसामान्यलक्षणोद्देश्यताऽवच्छेद-ककरोटिप्रवेशो नास्त्येव । उद्देश्यता पुनः शब्दार्थयोरेव, न तु शब्दमात्रे, शब्दमात्रे कविसं-रम्भगोचरत्वायोगेन लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मताया उभयत्राप्यविशेषात्, कव्युच्चारणकर्म-ताया शब्दे, कविसमवेतरसवोद्योपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थे सत्त्वात् । अर्थपदेन वाच्यलक्ष्यव्यञ्जनात्मनश्चिन्विनस्यापि विवक्षाया सर्वैरेवालङ्कारिकैर्लितयनिरूपणेना-घरयमभ्युपगन्तव्यतया सर्वविषयापि व्यञ्जयस्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यत्वस्य दुर्वारत्वान् । इत्थं च कविकर्मकरसविषयकज्ञानौपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानविषयत्व शब्दार्थयो-रनुगत काव्यत्वम् 'अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता' 'अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सह-

१ तवाच 'तदधात तद्द' । किमर्थमुच्चार्यार्थो निर्दिश्यते । न याऽधीते वेत्यप्यसौ । यस्तु वेत्यधीतेऽप्यसौ । नैनयोरावश्यक समावेशः । यवतिदि कश्चिन् सङ्घाठ पठति नवेति, तथा कश्चिद् वेति, न च सङ्घाठ पठति ।' इति भाष्यम् । 'यो द्वि य मन्वमधीते, स त रस्वरतोऽवद्व वेति । य च स्वरूपतो वेति, सोऽवदर्थमरीच इति भावः । नैतदोरिति—अर्थावबोधो वेदनमभिप्रेतम्, न तु स्वरूपमात्रवेदनम् । तत्र परस्परव्यभिचारदर्शनादुभयापदानमित्यर्थः । सङ्घाठमिति—अर्थनिरपेक्ष स्वाध्याय पठनीत्यर्थः ।' इति च तदवदीपः ।

कारितया मतः ।' इत्युक्तिशोभ्यस्यापि निदणसामग्रीपटकतायाः सूपपादत्वान् । इत्थं च न सास्याज्ञाना काव्यत्वापत्तिः, तस्य कविकर्तृकनिरुचज्ञानविषयतायाः अभावात्, विषयान्तर-व्यासक्तसामाजिकनृणां तद्विषयाभिमुख्यपरिहारपूर्वकं काव्यार्थभावना प्रवणतासम्पादकत्वेन रसोद्बोधं प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि प्रदर्शितयामग्रीपटकतायाः अभावाच्च ।

अत एवार्थदोषाणामर्थयुगानामर्यातङ्काराणामर्थशक्तिमूलकध्वनीनां च निरूपणमुप-पद्यते । शब्दमात्रस्य वाच्यत्वे तद्गतानामेव दोषयुगालङ्कारध्वनीनां निरूपणस्यैवचित्येन भूयसामर्यगतानां तेषां निरूपणस्याप्रसक्त्या तद्विरूपणस्योन्नतप्रलापत्वारसते । न च दोषा-मुत्तमायन्यतमकाव्यपदार्थप्रवेशाभावेऽपि रसोपयोगिताभावेण निबन्धनमुपपद्यत इति वाच्यम्, काव्याङ्गनिरूपणं प्रतिहाय तेषां निरूपणस्यासङ्गत्वापत्तेर्दुस्सनाधानत्वान् । प्रत्युत त्वदापादितप्रकारेण सास्याज्ञाना निरूपणीयताऽऽपत्तेस्त्वन्मत एव दोषत्वाद । एवं च 'काव्यं शुभम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि शक्तत्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तितया महाभाष्यकारादिनिरु-क्तत्वेन 'शब्दं पठति' इत्यादिप्रतीतीनामिव भाक्तत्वमेव ।

'एतेन वाच्यं रसानकं काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगिता प्रतिजा-नानं, स्वयमेवाग्ने-हरदध्रव्यविभेदेन पुनः काव्यं द्विधानतम्' इत्यभिदधत् । पूर्वापरनिरोधन-प्लगादलपय दर्पणप्रन्योऽन्योऽपि तन्वातीयो प्रन्यद्विन्त्य एवेति सहृदया विभावयन्तु ।' इति व्याहरन्ति ।

तदेतद्विरालमपि समासेन प्रदर्शितमस्माभिः साहित्यमीमासाया काव्यलक्षणनिरूपण-प्रसङ्गेन ।

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं हैं इस सिद्धान्त के समर्थन में पण्डितराज कुल और नवीन युक्ति प्रस्तुत करते हैं— 'शब्द' इत्यादि । इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी समुदाय में ही रहने वाला धर्म व्यासङ्गवृत्ति कहलाता है—जैसे द्वित्व, बहुत्व आदि, और एक में रहने वाला धर्म कहलाता है, प्रत्येक पर्याप्त जैसे मनुष्याव आदि । अथ विचार यह करना है कि काव्य-पद-मृत्ति-निमित्त (काव्यत्व) किम कोटि का धर्म है ? शब्दार्थ समूह में रहने वाला, व्यासङ्गवृत्ति ? किंवा शब्द और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक् ? यदि आप प्रथम पद को क्यूँल करते हैं, तब तो जैसे 'एक, दो नहीं है, घट, घट-पटोभय नहीं है' ये सब व्यवहार होते हैं—अर्थात् एक में दो का भेद मानते हैं, दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह 'श्लोक वाक्य काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् श्लोक वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वाक्य, काव्य का एक अवयव मात्र है । यदि द्वितीय पद को अपनाते हैं, सब भी एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् शब्दभाग को लेकर एक काव्य और अर्थभाग को लेकर दूसरा काव्य कहलायगा, इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, कारण ? इष्टापत्ति करने से एक पद में होने वाली 'यह एक काव्य है' इस प्रमाणक प्रतीति का उच्छेद हो जायगा । 'यह प्रतीति प्रमाणक नहीं है' यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि जब उत्तरकाल में आप ज्ञान नहीं होता, तब उस प्रतीति को भ्रम कैसे माना जा सकता है ।

पर्यवसितं निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्यैव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठत्वैवोचिता ।

शास्त्रं स्मृतिदर्शनादि । एवकारोऽप्यभिष्टत्वं व्यवच्छिन्नति । इह वक्तव्यं प्रत्युक्तमेव ।

इसलिये वेद, शास्त्र, (स्मृति, दर्शन प्रमृति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण भी शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये । अर्थात् शब्दमात्र को काव्य मानना चाहिये,

शब्द-अर्थ दोनों को नहीं। यद्यपि महामहोपाध्याय 'भोकुलनाथ उपाध्याय', महावैयाकरण 'नागेशभट्ट' और महामहोपाध्याय 'गङ्गाधरशास्त्री' नेमिस-मिस्र युक्तियों से शब्द-काव्यत्व-वाद का खण्डन कर शब्दार्थ युगल में काव्यत्व को स्थिर किया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारभयसे थहाँ उन सब युक्तियों का उल्लेख नहीं करता हूँ। जिज्ञासुओं को संस्कृतटीका से उनका ज्ञान करना चाहिये।

इत्थं मम्मटभट्टोक्तनाव्यलक्षणघटक विशेष्यदत्त निरस्थ विशेषणदत्तमपि निरसितुमुपपद्यते—
लक्षणो गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः, 'उदितं मण्डलं विधो' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाधिरहिएयाविसमुदीरितेऽभिसरणविधिविषेधजीवनाभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे। प्रथमेनादिपदेन दोषाभवा, मध्यमेन सहचरीप्रभृति, चरमेण च वल्लभासत्तिप्रमुख परामृश्यते। 'उदितं मण्डलं विधो' इति चन्द्रविम्बकर्तृमौदय-क्रियाऽर्थकम्। दूत्याद्युदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यै सह यथासङ्गमन्वयः। तथा चाभिसरणस्य विधिव्यङ्ग्यो दूत्या, निषेधोऽभिसारिकाया, जीवनाभावश्च निरहिण्या 'गतोऽस्तमर्कः' इति च सूर्यकर्तृकास्तज्ञमनार्थकम्। अव्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात्।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे समुणत्वं सालङ्कारत्वं शब्दार्थयोर्निवेश्येत, तर्हि 'उदितं मण्डलं विधो' इति वाच्यस्य दूत्या नायिका प्रत्यभिरितस्याभिसार कुर्वितिव्यञ्जकतया, अभिसारिकया दूतीं प्रति कथितस्य 'तममा घसादिदानीं कथमभिसरिष्यामि' इति व्यञ्जक-तया, विरहिण्योदीरितस्य 'वियोगवेदनावाहुत्येन मम जीवनमधुनाऽसम्भवि' इति व्यञ्जक-तया च काव्यत्वेन सर्वसम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्यात्तत्त्व न स्यादित्यव्याप्ति स्पष्टैव। एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्ष्येन तत्तदर्थव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याभ्यातिरापद्येत। तस्मान्न सामान्यलक्षणे गुणालङ्कारनिवेशः समुचितः। न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि। 'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरय' इत्यादि पद्ये तत्तदर्थव्य-ञ्जकतया ध्वनिकारादिभिर्दत्तमकाव्यत्वेनाभ्युपपत्तेऽपि द्विधा विषेया निमर्शादोषसंस्पर्शान् काव्यत्वस्यापि स्यादभ्यातिरिति तात्पर्यम्।

प्रदीपनारास्तु—'नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वय चमत्मारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानम्, न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कारविरहेऽपि छायाऽति-शय पुष्पाति।' इति तस्मात् सालङ्कारत्वमात्रं न विशेषणम्, किन्तु स्फुटालङ्काररक्षण्यत-ल-वत्त्वम्।' इत्यवोचन्।

परेतु गुणालङ्कारयोः काव्ये सर्वत्र स्थितिरावश्यकी, तदभावे विच्छिन्नविरोधानाधानात् काव्यत्वमेव दुर्बलम्, तत्त्वस्य तदप्रयोज्यत्वात्। अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्णनपररामितिहास-भागानामपि तत्त्वापत्तिः। अत एव 'नहि कथेरिति वृत्तगोत्रवर्णनेनात्मलाभ, इतिहासादेरेव तत्पिद्धे।' इति ध्वनिकारेणाप्युक्तम्। लोकदृशान्तस्तलौकिके ऋष्यवस्तुनि गर्वया नोप-युज्यते। अन्यथा लोकविरुद्धा दुःखकारणेभ्योऽपि काव्ये सुखोदात्तिर्नोपपद्येत। विभावादि-निमित्तनारगनाशोऽपि स्वरूपकार्यनाशाभावश्च लोकरूपिकूलो नोपपद्येत। गुणमत्तया रस-सत्ताऽप्यवसानुं शक्यैव, व्यापकत्वान्। 'नहि प्रथिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा' इति केनाप्युच्यते' इत्यादि कस्यचिदुक्तिः त्वाप्रवृत्तिवन्वयैव, उपादादव्यधुर्यात्। अन्यथा भीमासकाज्ञोक्तार्थापत्तिर्विहस्तीभवति। शब्दार्थयोर्गुणवत्ता तु व्यङ्ग्यव्यञ्जक-

भावेन 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्यभिमुक्ताके । निर्गुणशब्दार्थयोः काव्यलक्षणव्याप्तिस्तिष्ठैव, 'अचलस्थितयो गुणा' इत्यभिधानात् । अलङ्कारस्त्वस्फुटोऽपि चमत्कारक, स्फुटस्तु सुतराम्, 'न कान्तमपि निर्भूयं विभाति वनिताऽऽननम्' इतिप्रतिपादनात् । किञ्च ननोऽल्पार्थकत्वेन तस्या स्फुटत्वे तस्य च विवक्षितप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवसानाददोषत्वमपि काव्यसामान्यलक्षणघटकशब्दार्थविशेषणमुचितमेव । तथाच 'न्यङ्कारः' इत्यादौ तत्तद्व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिजनितचमत्कृतिसम्पदा कशीयान् विभेषादिमर्याां विवक्षिता रसादिप्रतीतिं प्रतिबन्धुं तिरोहितशक्तिरूपेण नेष्ट इति तत्र काव्यत्वव्याप्तिरसम्भवः । तादृशकाव्यमेव 'दुष्ट काव्यम्' इत्यादि व्यवहारविषयः । 'स्यामनुनायते कुच्युग पत्रावृतम्' इत्यादौ तु तादृशव्यङ्ग्यपोषणचमत्कारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोधानविरहादकाव्यत्वमिष्टमेव' इत्याहुः ।

इस तरह मग्मटोक्त लक्षणों में विशेष्य दल का रण्डन हो चुका, अब विशेष्य दल का रण्डन करने के लिये लिखते हैं—'लक्षणे गुणालङ्कार' इत्यादि । मग्मट ने जो काव्य लक्षण में 'शब्दार्थों' के साथ सगुण, सालङ्कार और अदोष ये तीन विशेषण लिखाये हैं, वे भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि गुण और अलङ्कार के रहने पर ही काव्य कहलावे, तब 'उदित मण्डल विधोः' (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) और 'गतोऽस्तमकः' (सूर्य अस्त हुआ) ये सब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के कारण काव्य नहीं कहे जा सकेंगे । यदि आप पहले कि—इन वाक्यों को काव्य मानते ही क्यों हैं ? इनको काव्य माना ही जाय, यह जरूरी तो है, नहीं, फिर अगर ये वाक्य काव्य कहलावें, तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ (जो काव्य का जीवन माना गया है) जब यहाँ है तब उन वाक्यों को काव्य कैसे नहीं मानें ? अर्थात्—उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य को जब कोई दूती बोलती है, तब 'चान्दनी धरत रही है, मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है, अब काटे पृथने का भय नहीं, अतः सौक से तुम अभिसार करने के लिये सङ्केत स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात होता है । उसी वाक्य को जब अभिसारिका स्वयं बोलता है, तब 'चन्द्रमा के इस प्रसन्न प्रकाश में सङ्केत स्थान तक कैसे जाऊँ ? दूर से भी देर कर लोग मुझे पहचान लेंगे, फिर तो मेरी सब प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी' यह व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि वह वाक्य विरहणी के मुख से निकलता है, तब 'उद्धोषक इस चन्द्रिका को देर कर मेरी विरह वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा मरण निश्चित है' यह व्यङ्ग्य विदित होता है । द्वितीय वाक्य से भी प्रसन्न भेद प्रयुक्त अलंकरण व्यङ्ग्य अवगत होते हैं, जैसे चरवाहों को 'अब गाँवों को रोको,' दूर जाने वाले पथिकों को 'अब आगे नहीं जाना चाहिये' दिन भर धूप में चलने वालों को 'अब ताप नहीं है' धार्मिकों को 'अब सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये' इत्यादि व्यङ्ग्य ज्ञान होता है । अतः इन वाक्यों को काव्य मानना आवश्यक है ।

संस्कृत टीकाकार महोदय ने यहाँ भी प्राचीनों की विविध युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ मग्मट-मत की मरमती की है, जिसको जिज्ञासुजन संस्कृत टीका देख कर समझें ।

पुनराशङ्क समावधाति—

न चेद्गकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालङ्कारत्यादेरनुगमाच्च । 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च ।

इदम् 'उदितं मण्डल विधोः' इति वक्तव्यम् । अत्राव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात् । चमत्कारित्वं चमत्कार ।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारशून्यत्वादाव्याप्तिरिष्टैवेति चेत्, मैवम्, यतश्चमत्कृतिरेव काव्यताया प्रधानं साधनम् । तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविधं व्यङ्ग्यमु-

त्वादयति । तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि चर्यास्त्येवेति कुत काव्यत्वाव्याप्तिः । अन्यथा पटैः प्रकाशकारादिभिर्गुणालङ्कारयुक्तत्वाद् न च किञ्चित् काव्यमित्यङ्गीक्रियते, तदस्माभिरपि व्यवस्थापकविरहादकाव्यमित्युच्येत । तस्माच्चमत्कार एव प्राधान्येन तत्त्वप्रयोजकोऽङ्गीकार्यः । इत्थं चमत्कृतेरिहाप्यनुव्यवसीयमानतयाऽकाव्यत्वमस्य वक्तुं न युक्तम् । किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीननवीनमतभेदेनानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं चानुगतं न सम्भवतीति कथं तयोः काव्यलक्षणे प्रवेशः स्यात् ।

यदि च 'रसवृत्तित्वे सति रसोपयोगित्वम्' गुणत्वम्, 'शब्दार्थान्वयतरवृत्तित्वे सति परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं चानुगतमित्युच्यते, तर्हि शब्दार्थयोरिहादोषाविति विशेषणाद् दोगमाव एव काव्यत्वाद् दुष्टं काव्यम् इति सर्वजनीनव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या । न च 'दुष्ट काव्यम्' इत्यत्र काव्यपदस्य गुणालङ्कारमात्रवस्त्वेन काव्यसदृशो शब्दार्थोभये लक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्, काव्यलक्षणे दोषाभावनिवेशो बलवत्प्रमाणविरहेण मुख्यार्थान्वयवाचलक्षण-लक्षणाकारणवैशुष्येण लक्षणाया असम्भवात् । अधिकमिह वक्तव्यं तु प्रागुक्तमेव ।

'यह काव्य नहीं है' ऐसा आप किसी तरह नहीं कह सकते, कारण ? काव्य के जीवातुभूत चमत्कार के रहने पर भी यदि आप उन वाक्यों को काव्य नहीं मानेंगे तो आप जिसे काव्य मानेंगे, उसको भी दूसरे काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होंगे । काव्य लक्षण में गुण और अलङ्कार के निवेश को अमद्गत सिद्ध करने का यह भी दूसरा पर्याप्त कारण है कि—गुणत्व और अलङ्कारत्व का अनुगमनी नहीं है—अर्थात् आज तक यह निश्चित नहीं हो सका कि गुण और अलङ्कार क्या हैं, कितने हैं, भिन्न-भिन्न अलङ्कारिक उनकी भिन्न-भिन्न सध्या मानते हैं । इस स्थिति में अनुगमक लक्षण में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो स्वयम् अनुगत (अनिश्चित) हैं, वे दूसरे को अनुगत (निश्चित) नहीं बना सकते । यदि आप 'रस में रह कर जो साक्षात् रस को उपकृत करे वह गुण है और जो शब्द अथवा अर्थ में रह कर परम्परया रस का उपकार करे, वह अलङ्कार है' इस तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगम कर दिलायेंगे, तब भी 'दोष रहित' कहना तो अनुचित ही है, क्योंकि लोक में 'यह काव्य दुष्ट है' ऐसा श्यवहार होता है । अर्थात् काव्यपद दोष रहित ही में नहीं अपितु दोष सहित में भी प्रयुक्त होता है । यदि आप कहें कि—दोष सहित में काव्यपद का प्रयोग मुख्य नहीं, गौण है—अर्थात् निर्दोष वाचक काव्य पद की सदोष में वहाँ लक्षण है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण ? मुख्यार्थवाच, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रुढ़ि अथवा प्रयोजन (जो लक्षण के कारण माने गये हैं) के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती ।

प्राचीनमतेन पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च संयोगाभाववान् वृत्तः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, 'मूले महीरुहो विहङ्गमसयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्य पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तित्वाया अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिव-दात्मधर्माणां गुणानां हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरपटकत्वानुपपत्तेश्च ।

स्वरसवाहिन स्वारसिकस्य । विश्वजनीनानुभवस्य सर्वलोकानुबूलप्रत्यक्षस्य । अपि पूर्वोक्तखण्डनदेतुं समुचित्तेति । तस्य दोषाभासस्य । अयोगादसम्भवात् ।

यथा तार्किकवृक्षस्य मूलवच्छेदेन पक्षिसंयोगं शाखावच्छेदेन तदभावं चावसाय पक्षिसंयोगाभावं तत्राव्याप्यवृत्तिं मनानाः 'पक्षिसंयोगवान् वृक्षः पक्षिसंयोगाभाववान्' इति व्यनहरन्ति, तथैव प्रकृते काव्ये यत्किञ्चिद्देशावच्छेदेन दोषस्य तदितरदेशावच्छेदेन दोषाभावस्य च सम्भवाद्भाव्याप्यवृत्तिं दोषाभावगादाय 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारः सम्भवत्येवेति न काचिद्गुणपत्तिरिति चेत्, स्यादेवम्, यदि तद्वत्, 'इदं वाच्यं पूषार्थावच्छेदेन (दोष-निरहान्) काव्यम्, उत्तरार्थावच्छेदेन तु (दोषवत्तया) अकाव्यम्' इति सर्वलोकानुभवः स्यात् । स एव तु नानुच्यवसीयते । तर्हि कथमव्याप्यवृत्तित्वं दोषाभावस्य स्वीकर्तुं शक्यम् । तस्याव्याप्यवृत्तित्वाभावे वा कथं व्यवहार उपपद्यताम् । अथ यदि काव्यस्य सामान्य-सम्भवे दोषाभावगनिवेश विरोधलक्षणे च निवेश्य काव्यसामान्यतात्पर्येण 'दुष्ट काव्यम्' इति व्यवहार उपपाद्येत, तदा सगुणौ शब्दाकारविशिष्टोपपन्नमेव शब्दार्थयोर्नोपपद्यत इति दोषस्तदवस्थ एव । तथाहि—यथा शौर्यादयो गुणा लोकस्यात्मनिष्ठा, हारादयश्चालङ्कारा शरीरनिष्ठा, ननु शरीरीभूता, तथा माधुर्यादयो गुणा काव्यस्य रसनिष्ठा, अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चालङ्कारारशब्दार्थनिष्ठा, ननु तद्गुणा एवेति शब्दार्थलक्षणस्य काव्यस्य सगुणत्वादिविशेषणानुपपत्तिरिति तात्पर्यम् ।

नस्तुतात्त्वतद्द्वाराणामुपस्कारकत्वेऽपि शब्दार्थाव्यतिरेकस्य ध्वनिकारायज्ञीकाराख शरीरघटवत्त्वात्तुपपत्तिः । समाधानान्तरमपि प्रागुच्यते विधेयम् ।

'अदोष' इति विशेषण को सद्गत सिद्ध करने के लिये प्राचीनों ने एक और नवीन युक्ति दी है, उसका भी खण्डन करते हैं 'न च संयोगाभाववान्' इत्यादि । पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि जैसे एक ही तरह के मूल देश में पक्षि प्रकृति का संयोग और शाखा देश में उसका अभाव जब रहता है, अर्थात् वृक्ष की जड़ में पक्षी बैठा हो और शाखा पर वह न बैठा हो तब 'संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगी' (सपण रहित वृक्ष संयोग वाला है) ऐसा व्यवहार होता है, उसी तरह एक भी वाच्य अर्थ भेद से दोष रहित (काव्य) और दुष्ट (अकाव्य) कहलायगा । परन्तु यह कथन भी उनका उचित नहीं, क्योंकि 'मूले महीरुहो विहङ्गमस्योगो न शाखायाम्' (वृक्ष की जड़ में पक्षी है और शाखा पर नहीं) ऐसी स्वारसिक प्रतीति सब लोगों को होती है, अतः संयोग को अव्याप्यवृत्ती माना है, तद्वत् यदि 'यह पद्य पूर्वार्थ में काव्य है और उत्तरार्थ में नहीं' ऐसी प्रतीति होती रहती, तो काव्यत्व को भी अव्याप्यवृत्ती मान सकते थे, सो होती नहीं । अर्थात् अव्याप्यवृत्ती पदार्थ ही एक आधार पर अर्थ भेद से कहीं रहता, कहीं नहीं भी रहता, जैसे, उक्त संयोग। जो पदार्थ व्याप्यवृत्ती है, (जैसे काव्यत्व) वह तिल में तेल जैसे जब रहेगा, तब सम्पूर्ण आधार में ही, नहीं तो कहीं नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त के मुताबिक दोष रहित दुष्ट यह व्यवहार नहीं हो सकता है । एक बात और है—जिसके कारण गुण तथा अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते । यह यह है कि जिस तरह सूरता एवं वीरता प्रकृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं, शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर हैं) में नहीं रह सकते हैं और जिस तरह अलङ्कार (द्वार आदि) शरीर को शोभित करने वाली चीजें हैं, शरीर के अवयव नहीं, उसी तरह काव्यालङ्कार, अनुप्रास, उपमा प्रकृति काव्य शरीर-शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले हैं, अतः उसके (शरीर स्थानीय शब्द अर्थ के) अवयव नहीं हो सकते हैं ।

पर्यन्ते विश्वनाथकृतं काव्यलक्षणमाक्षिपति—

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्तुतत्त्वद्वारा-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । नचेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-

कुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कधिभिर्वर्णितानि, कपिवालादिविलसितानि च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवैतिवाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौध्वलति' 'मृगो.धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यव्यतमत्वादिति दिक् ।

रसवद् रसादिव्यञ्जकं वाक्यमितिशेष । यस्त्वलङ्कारप्रधानानां प्रधान्येन वस्तुव्यञ्जकानाम् 'पन्थिश्च ! ण एत्थ' इत्यादीनाम्, प्रधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम् 'महिलामहसभरिए' इत्यादीनां च । अकाव्यत्वापत्ते रसादिव्यञ्जकत्वाभावात् । सम्प्रदाय-पारम्परिक समुदाचार' । आकुलीभाव उच्छेद' । तथा चेत्यादीनां सम्प्रदायस्य प्रदर्शनम् । जलस्य प्रवाहो निपतनं नौचैर्गमनम्, उत्पतनमुच्चैर्गमनं च । कर्षाणां मालानां घालिकानां च विलसितानि क्रीडाश्लेषात्वा । आदिपदेन पक्षिप्रभृतीनां परिग्रह' । तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनेष्वपि । यथाऋषित् परम्परया स्वव्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकरत्वेन । स्पर्श सम्बन्ध । अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन । अप्रयोजकत्वान्निष्फलत्वान् । अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम् ।

रसादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तुमात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जकेषु वाक्येष्वव्याप्तिः । तदापत्तेरनुपगमे तु प्राचीनसम्प्रदायस्योच्छेदः । तत्रक्षर्ये तेषु विभावादिद्वारकरसादिसम्बन्धरूपनाया तु 'गौध्वलति' इत्याद्यचमत्कारकाक्येष्वतिव्याप्तिः स्यादितिसारम् ।

इह शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्यन्याकलनीयानि ।

शास्त्रिचरणास्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणस्यमानिरत्यादिविषयकमस्कारोद्बोधकताया असार्वत्रिकत्वादिय प्रौढि, विशिष्टवाक्यार्थानां रसतात्पर्यकत्वाभावे तत्सामग्रीघटकोद्बोधकताया अभावात् । यत्र त्वस्ति तत्तात्पर्यकत्वम्, तत्राङ्गेषादिष्यत एव विशिष्टबोधजननमुखेन चमत्कारित्वम् । यथाऽऽह—

'सद्भावधेद् विभावादेर्गोरेकस्य वा भवेत् ।

फादित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥' इति ।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽप्युक्तरीत्या महावाक्यार्थवीक्षारा वा रसोद्बोधकत्वस्य सत्त्वात् काव्यत्वस्य न क्षतिः ।' इति व्याजः ।

अथ पण्डितराज, दर्पणकार विश्वनाथकृत काव्य लक्षण की खण्डनारम्भ समीक्षा करते हैं—'यत्' इत्यादि । 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके हिसाब से काव्य में रस का रहना नितान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहला सकता । परन्तु उनका उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं जँचता । कारण ? यदि उनका कथन मान लिया जाय, तब जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक ! नात्र सत्तरमस्ति, महिलासहस्रभरिते' इत्यादि स्थलों में जहाँ क्रमशः वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य का बोध ही अस्मरकारजनक है—वे सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे । वे सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इष्टापत्ति तो नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसी इष्टापत्ति करने पर महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्यावहारिक परम्परा उच्छिन्न हो जावगी । उन लोगों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छ्वलन और भ्रमण, पुत्र यन्दनों और घालकों की क्रीडाओं का वर्णन अपने में किया है । क्या आप उनको अकाव्य कहेंगे ? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अकाव्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं और हस्तलिपे काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि वे सब वर्णित

पदार्थं किसी न किसी रस के उद्दीपन विभाव ही जो रहते, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया। इसका उत्तर पण्डितराज कहते हैं वाहजी, ऐसा रस स्पर्श भी कहीं काव्य कहलाने का कारण हो सकता है ? यदि हाँ, तो फिर 'गौश्लथि, मृगो धावति' (बैल चलाता है, मृग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य कहलाते ? जब कि किसी तरह रसस्पर्श यहाँ भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ विभाव-शुभभाव क्षयवा व्यभिचारी भाव हो सकती हैं, फिर तो दुनिया के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायँ। अतः रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिसङ्गत नहीं। म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने यहाँ भी पण्डितराज के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारदौली संस्कृत टीका में देखनी चाहिये।

इत्थं काव्यस्य लक्षणं निरूप्य कारणं निरूपयति—

तस्य च कारणं कविगता केयला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलरागा-
र्थोपस्थितिः। तद्वत्तं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिवि-
शेष उपाधिरूपं वा खण्डनम्।

तस्य काव्यस्य । नस्त्वर्यक- । कविगता कविसमवेता। केयला तन्मात्रम्, न तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि। प्रतिभा तथ नवोन्मेषशालिनी बुद्धि, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते।' इति प्राच्योक्तं। सा प्रतिभा। काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य जनकस्य शब्दार्थोभयस्य उपस्थिति स्मृतिभक्तिरि स्फूर्तिरिति यावत्। अनुकूलत्वान्त-
रुपस्थितिविशेषणं वा। तद्वत्तं प्रतिभानिष्ठम्। स्वविषयवद्भानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यं प्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्मानुकूलतर्कमूलकात् 'स्वविषयज्ञान-
समवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतां निरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रति-
भानिष्ठा कारणता किञ्चिदमर्वावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, घटनिष्ठकारणतानिरूपितदण्डनिष्ठ-
कारणतावत्' इत्यनुमानात् सिद्धः प्रमाणित', 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' इति जाति-
लक्षणसमन्वयाच्च जातिविशेषः। उपाधित्वस्य त्यागे जातित्वस्य चाङ्गोकारे तत्र बीजानुप-
लब्धमाश्रीलघटत्ववत् ससम्बन्धोपाधिरूपं वा प्रतिभात्वम्। तस्य च नवनवोन्मेषशालित्ववैशिष्ट्या-
दखण्डत्वासम्भवाद् 'अखण्डम्' इति पाठस्वसङ्गत एव।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्वं तु न विचारसहम्, अतुपहसनीयकाव्यत्यावच्छिन्नकार्य-
तानिरूपितकारणताया दण्डनञादिन्यायेन प्रत्येकं प्रतिभाप्रभृतिषु त्रिष्वपि स्वीकारस्यापरि-
हार्यत्वात्। तथा चाहु- शास्त्रिण-—अत्र 'प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्,
भृशोत्पत्तिक्रुद्भ्यासः' इति क्रमेण विशिष्टकाव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वाद् एवो-
पपन्नः। शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च। आद्यया पदसङ्घातस्य योजनेऽपि,
द्वितीयस्या अभावे विनेयसमवेतविलक्षणवाक्यार्थधियोऽसम्भवेन लोकोत्तरनर्णनानिपुण्यस्य
कविगतस्याभावाद् विशिष्टविकर्मतायास्तत्सत्त्वं एव सम्भवात्। तत्र द्वितीयैव निपुणता
नाम। अभ्यासो लोकोत्तरत्वं प्रत्येवोपयुज्यते। तथा च लोकोत्तरनर्णनानिपुणताविशिष्टक-
विकर्मरूप काव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वमुचितमेव।' इति।

इदं पुनरिहावगन्तव्यम्—केचन 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणगनेकधाऽभिधे-
यस्य। अक्रिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' इत्यभिरुचोक्तं शक्तिशब्दव्य-
पदेश्यं कवित्वबीजभूत भावनामयं वासनास्वरूपं वा देवताप्रसादादिजन्यं संस्कारविशेषं काव्य-
धारणोभूतप्रतिभात्वेनोदरीकुर्वन्ति। तथा च 'प्रणिधानसहकृते चेतसि यो भवति सुदुष्यते

क्लिष्टपदपदार्थगोचर- संस्कार', सा प्रतिभा विद्वदादिपदप्रवृत्तिनिमित्तम् ।' इति तदीय-
माल्यानम् ।

परे तु 'असौ कविरमुं विषयं घटयत्विति सारस्वतेच्छास्वरूप देवताप्रसादमेव शक्तिमभि-
धाय तत्त्वेनाभिदधते । अपरे तु देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्युगत्य कवित्वस्य
निमित्ततयाऽचक्षते ।

तत्र नाय पक्षः श्लोदक्षम, संस्कारस्य तादृशस्मृत्यात्मकस्फूर्तिगात्रजनकत्वेन काव्यं
प्रत्यजनकत्वात्, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते' इति कोशानुशासनविरोधाच्च । न
वा द्वितीय, तादृशदेवतेच्छाया कालादिवत्साधारणकारणत्वेनासाधारणकारणतया परिगण-
नानुपपत्तेः । नापि तृतीय, कार्यमात्रं प्रत्यदृष्ट्यापि साधारणकारणताया एव सर्वसम्मतत्वात्,
अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाणत्वेन काव्यं प्रत्यन्यथासिद्धेदुर्वारत्वाच्च ।

तस्मादुल्लिखितकोशसाहाय्येन काव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकम्पटितिस्फूर्तिवपुषं बुद्धि-
विशेषमेव प्रतिभापदार्थं काव्यजनकतया निश्चिन्वन्त्यर्थाच्च ।

पूर्वोक्त रीति से काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद पण्डितराज काव्यकारण का
निर्देश करते हैं—'तस्य च कारणम्' इत्यादि । मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति,
निष्पुणता और अभ्यास' इन तीनों को काव्य के प्रति कारण माना है । परन्तु पण्डितराज
ऐसा नहीं मानते, वे कहते हैं—केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा
कहते हैं—काव्यनिर्माण के लिये जो शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनसे काव्य
निर्माण हो सके, उनको उपस्थिति को, अर्थात् काव्यनिर्माण के लिये जहाँ जिस शब्द की
और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल उसका स्मरण हो जाना प्रतिभा है । कोश-
कार ने भी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कही है । प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व
एक जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातें समझनी चाहिये—
जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुगताकार
(एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब घटों में
होने वाली 'घटः, घट' इस तरह की एकाकार आपात प्रतीति से होती है और किसी-
किसी जाति की सिद्धि अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति की । अब हमें यह
विचार करना है कि प्रसङ्ग प्राप्त प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी ? उत्तर यह है कि
अनुमान से । अर्थात् स्व (काव्य) विषयक-ज्ञान-समवायिस्व-सम्बन्ध से काव्य के प्रति
सम्बन्ध स्व-सम्बन्ध से, प्रतिभा, कारण है, दूसरे कारण-कारण, भाव के सिद्ध हो, उत्रे, पर
तन्मूलक अनुमान (जिसका आकार संस्कृत टीका में लिखित है) प्रतिभात्व जाति की
सिद्धि होगी । आशय यह है कि सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न हुआ
करती हैं, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी
और वह धर्म प्रतिभात्व से अतिरिक्त हो नहीं सकता । यद्यपि यहाँ भी यह शङ्का उपस्थित
की जा सकती है कि—उक्त अनुमान से जिस प्रतिभात्व की सिद्धि हुई, वह जातिरूप है,
धर्ममात्र नहीं, इसमें क्या प्रमाण ? इसका उत्तर यह है कि उस प्रतिभात्वको धर्ममात्र मानने
से उसका अनन्त ध्वंस, अनन्त प्रागभाव और अनन्त सृष्टि मानने पड़ेंगे, क्योंकि धर्मरूप
में वह प्रतिभात्व अनित्य हो होगा । इसी गौरव के भय से प्रतिभात्व को नित्य जाति मान
लेते हैं, ऐसा मान लेने से कोई छति हुई ही नहीं और छाद्य हुआ, सो लाभ अलगा ।
अथवा प्रतिभात्व को जाति न मान कर नीलघटत्व के ऐसे सत्पण्ड उपाधि ही मान लें ।

काव्यकारणीभूताया प्रतिभाया कारणमाह—

तस्याश्च हेतु कचिद् देयतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, कचिच्च विल-
क्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ ।

तस्याः प्रतिभाया । क्वचिन्न तु सर्वत्र । महापुरुषा विपुलतपोमाहात्म्यभाजः सिद्धपुरुषाः । प्रसादोलुप्रहृ इत्यनर्थान्तरम् । आदिपदेनोपेतप्रत्ययप्रवृत्तेः परिग्रहः । अदृष्टं पुण्यम् । विलक्षणा मानविषलोकदृष्ट-शास्त्र-वाक्येतिहासप्रवृत्तिपर्यालोचनप्रसूता । व्युत्पत्तिर्निपुणता विशिष्टज्ञानमिति यावत् । विलक्षणः काव्यज्ञानशास्त्रयोज्यः । काव्यस्य कारणे निर्माणोऽभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति शेषः ।

काव्यनिर्द् देवताऽऽदिप्रसादजन्यादृष्टेनैव, कस्यचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवोत्पादिता प्रतिभा काव्यं जनयतीति सारम् ।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का कया कारण है, हमका अथ विचार करते हैं— 'नशाश्च हेतुः' इत्यादि । प्रतिभा के कारण दो हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महारमा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भावविशेष और दूसरा—विलक्षण (विविध लोकाचार, शास्त्र, काव्य, इतिहास, प्रवृत्ति के पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निपुणता—विशिष्ट ज्ञान) और पुनः पुनः काव्य बनाने का अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महारमाओं की कृपा से नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, दोनों ही प्रतिभाओं का कार्य यह होता है कि काव्यभाग अवाहित हो उठती है—उक्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति काव्य-निर्माण करने में सफल सिद्ध होता है ।

अदृष्टादीना स्वातन्त्र्येण प्रतिभा प्रति कारणत्वं व्यवस्थापयति—

न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ त्रिणाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः ।

त्रयमदृष्टं व्युत्पत्तिरभ्यासश्च, कारणमिति शेषः । तौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ । प्रसादपदं तज्जन्त्यादृष्टपरम् । प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः ।

अर्थ भाव — प्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमग्निन्यायेनैव कारणता, अन्यथा कर्णपूरप्रवृत्तीनां वाक्य एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनाद् व्यभिचारः स्यात् । पृथक्कारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककोटानव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन व्यभिचारे कारणत्वम् ।

नागेशभट्टास्तु—'विलक्षणत्रितयजन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्यं काव्यं चातिविलक्षणमेवेति न दोषः' इति वदन्ति ।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण हैं, सम्मिलित नहीं, इसी बात को युक्ति से स्पष्ट करने हैं—'न तु त्रयमेव' इत्यादि । कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं है, शक्ति पूर्वक रीति से कहीं अदृष्ट स्वतन्त्र तथा प्रतिभा का उत्पादक होता है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर प्रतिभा की सृष्टि करते हैं । यदि तीनों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक में महापुरुषों के रूपामात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है, (कवि कर्णपूर के विषय में इस तरह की कविदन्ती है) वहाँ उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचारित हो जायगा, अर्थात् जिस वक्त्रे ने कभी व्युत्पत्ति नहीं बनायी, अभ्यास नहीं किया फिर भी उसमें केवल महापुरुष कृपा से प्रतिभा उत्पन्न हो गई, उसमें सम्मिलित कारणवादी के हिसाब से कारण के बिना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार कहते हैं ।

१ पञ्चमर्षवयस्कस्य मूढस्य कर्णपूरस्य मुखे प्रसन्न शीकृष्णचैतन्यैवाऽङ्गवदप्र प्रवेद्य सद्यो विलक्षण कविताशक्तिरनिर्णीतेति जनश्रुतिः ।

दर्शितस्य व्यभिचारस्य वारणमाशङ्क्य निरस्यति—

न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पन वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात् कार्य-
स्थान्यथाऽप्युपपत्तेश्च ।

तत्र महापुरुषादिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तिस्यले । तयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः । तस्मिन्नेव
वालेऽन्यस्मिन्नमनि विद्यमानयोः । कल्पनमनुमानम् । न चेति वाच्यमित्यनेनानुपपत्तम् ।
गौरव तादृशानुमानविधानेन । मानाभावस्तत्रितयस्य समुदितस्य कारणतायाम् । कार्यस्य
प्रतिभाया । अन्यथाऽपि केवलदृष्टेनापि ।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय
जन्मान्तरीय तन्मङ्गलमनुनीयते, तथैव कथिकर्णपुरादिवालेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यभ्यासयो-
र्विरहेऽपि प्रतिभोत्पत्तिदर्शनाजन्मान्तरीयौ व्युत्पत्त्यभ्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात्
त्रयाणां समुदितानां कारणतायां सिद्धिरिति पूर्वपक्षाशयः ।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासयोरिहानुमितौ गौरवम् । तथा मङ्गलसमाप्त्योः कार्यकारण-
भाव प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र क्वचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानभारः सोढव्यो
भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव । किञ्च यदि
व्युत्पत्त्यभ्यासौ विनाऽदृष्टात् क्वचिदपि प्रतिभा नोत्पद्येत, तदैवानायत्या तत्कल्पनमौचित्यं
चुम्बेत् । न तु तथा प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । एतावतैव कार्यानुपपत्तिरेवात्र
मानमित्यपि न वक्तुं शक्यम् । तस्मात् कुतो व्युत्पत्त्यभ्यासयोरिह कल्पना, कथं वा
समुदितानां त्रयाणां कारणतेत्युत्तरपक्षस्य तात्पर्यम् ।

अदृष्ट आदि समुदित कारणतावादी द्वारा उक्त व्यभिचार वारण के लिये उपस्थित
क्रिये गये समाधान का खण्डन करते हैं—'न च तत्र तयो' इत्यादि । जहाँ कहीं आपको
व्युत्पत्ति अभ्यास के बिना अदृष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होती दीखती है, वहाँ भी अदृष्टमात्र
से प्रतिभा नहीं हुई है, अपितु अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास इन तीनों से ही, यद्यपि उसने इस
जन्म में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास नहीं किये, तथापि जन्मान्तर (पूर्वजन्म) में अवश्य
किये होंगे, ऐसी कल्पना करेंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति तथा
अभ्यास की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति सामग्री को जुटाने में
गौरव होगा । दूसरी बात यह कि—इन तीनों को सम्मिलितरूप में प्रतिभा के प्रति कारण
मानने में प्रमाण भी नहीं है । यदि आप कहें कि प्रमाण है, क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी
तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण बिना माने कार्य होता नहीं, अतः तीनों को
कारण मानिये ? परन्तु यह दर्लोल भी सन्नत नहीं, कारण ? जब अदृष्टमात्र से कार्य होते
देखते हैं, तब कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण का यहाँ अवसर ही नहीं है ।

उत्तरपक्षस्याशयं विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पञ्चादुपस्थि-
तस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि
कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिप-
त्तिरेव जायते ।

लोके सर्वत्र प्रकृतेतरस्थलेषु । आगम श्रुति, तदादय स्मृतीतिहायप्रवृत्तयः ।
प्रमाणस्य बलवत्त्वं श्रुत्यादिरूपत्वात् । अन्यथा बलवत्तरश्रुत्यादिप्रमाणहेतुककारणतानिर्णया-
भावे तु । पूर्ववृत्ते प्राग्जाते कारणतायां निर्णये निषयात्मकज्ञाने । भ्रमत्वस्य प्रतिपत्ति-
प्रतीतिः । एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यासाधकत्वं सूचयति ।

यदि श्रुत्यादिप्रमाणैः कार्यकारणभावेऽवधारितेऽपि क्वचिद्ब्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवाणेषु जन्मान्तरीयकारणानुमानविधानगौरव-मगत्या नृष्यते । तादृशप्रमाणविरहे तु तादृशकार्यकारणभावज्ञानत्वेन प्रमात्नस्त्वमतीक्रियत इति सम्प्रदायः । प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमितिरिति भावः ।

उक्त बातों का ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लोके हि' इत्यादि । नास्तिक ग्रन्थों में मद्बल के बिना समाप्ति हो जाने से उपस्थित व्यभिचार वारण के लिये जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मद्बल की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सद्य माना है, उसी तरह यहाँ जन्मान्तरीय श्रुत्यपत्ति एवम् अम्यास की कल्पना करने में जो गौरव होगा, उसको सहना चाहिये । हाँ, अदृशान्त तो आपने मोज निकाला, परन्तु यहाँ वह छागू नहीं हो सकता, क्योंकि वेदादि प्रयुक्त प्रमाणों से जब किसी कार्य के प्रति कोई कारण निश्चित हो चुका रहता है और किसी स्थलविशेष पर उस कार्यकारणभाव से व्यभिचार (कारण के बिना भी कार्य हो जाना या कारण के रहने पर भी कार्य का न होना) उपस्थित होता है, तब अगत्या (क्योंकि वेदादि मिथ्या नहीं हो सकते) जन्मान्तरीय कारण की कल्पना की जाती है, परन्तु जहाँ वेदादि प्रमाण से कार्यकारणभाव निश्चित नहीं हुआ है यद्यपि स्वयं हम आप एक प्रकारके कार्यकारण भाव को मान बैठे हैं, यहाँ यदि पीछे किसी जगह व्यभिचार आपतित होता है, तब यही समझा जाता है कि हम लोगों का कार्यकारणभाव ज्ञान सही नहीं था, भ्रम था अर्थात् 'मद्बल समाप्ति के प्रति कारण है' ऐसा कार्यकारणभाव वेदशोधित है, अतः नास्तिक ग्रन्थ में व्यभिचार होते देखकर नास्तिक-कृत-जन्मान्तरीय मद्बल की कल्पना की जाती है, यहाँ तो प्रतिभा के प्रति अदृशान्तितय की कारणता वेदादिवोधित नहीं अर्थात् स्वरूपित है, अतः इस जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय श्रुत्यपत्ति अम्यास की कल्पना नहीं की जा सकती है वरन् समुचित कारणता ज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में असमर्थ है, यही भाषा जायगा ।

तत्र मतान्तरं निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तंचित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भा-यस्य दर्शनात् ।

नापिति वदितुं शक्यमित्यनेनान्वेति । केवलपदं स्पष्टार्थम्, एवकारोपादानात् । कारणं प्रतिभा प्रतीति शेषः । अदृष्टं पुण्यम्, पापस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपि प्रागुक्तपक्षस्य समुच्चारक । काव्यकारणेऽशक्त्यव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेण प्रतिभातुदयान् । कथंचपि केनापि तादृशविद्वद्विरतसहवासादिना प्रकारेण । व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतीरिति शेषः ।

अदृष्टमावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासान्भ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरुपलम्भेन व्यभिचारात् सर्वा प्रतिभाः प्रत्यदृष्टमेव कारणम्, किन्तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । किञ्च यद्यदृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः प्रागपि कदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्य जनयेदि-त्यभिप्रायः ।

अब अदृष्टमात्र कारणतावाद का निराकरण करते हैं—'नापि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि श्रुत्यपत्ति तथा अम्यास को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है ? अदृष्टमात्र को तब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो सो भी ठीक नहीं, कारण ? कतिपय मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो बहुत काल तक काव्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह श्रुत्यपत्ति तथा अम्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है, वे काव्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् यहाँ अदृष्ट के अभाव में

भी केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अतः उन दोनों को भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है।

तत्राप्याशङ्का खण्डयति—

तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः ।

तत्रापि किञ्चित्कालानन्तरोत्पन्नव्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्त्यायमानप्रतिभोत्पत्तावपि । अदृष्ट-
स्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेष । ताभ्यां व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्याम् । तस्या प्रतिभाया ।
प्रसक्तेरुत्पत्त्यापत्ते ।

ननु तादृशास्थले तत्र पुरुषेऽदृष्टं तिष्ठत्येवेति तैर्नैव प्रतिभा जन्यते, न तु व्युत्पत्त्यभ्या-
साभ्यामिति चेत्, तदादृष्टस्य तत्र जन्मग प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्ते पूर्व-
मपि प्रतिभोत्पत्तिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्वं दुर्बलमेवेति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि अदृष्ट तो अदृष्ट ही है वह दृष्टिगोचर तो होता नहीं, फिर वहां
(जहां आप व्युत्पत्ति अभ्यासमात्र से प्रतिभोत्पत्ति मानते हैं) अदृष्ट नहीं है इसमें क्या
प्रमाण ? मैं कहूँगा कि वहां भी अदृष्ट है, उसीसे प्रतिभा उत्पन्न होती है, तो यह दलील
भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि यदि वहां अदृष्ट था और उसीसे प्रतिभा उत्पन्न हुई, तो
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पहले उनमें वह अदृष्ट प्रतिभा को क्यों पैदा कर दिया ? व्युत्पत्ति
तथा अभ्यास से पूर्व वे क्यों काव्य बनाने में असमर्थ रहे ? अर्थात् 'वदुदितः स हि यो
यदनन्तरः' के हिसाब से व्युत्पत्त्यभ्यास प्रयुक्त ही वहां प्रतिभोत्पत्ति माननी पड़ेगी ।

भूयोऽनाभिनिवेशिनो मतमुपन्यस्य निरस्यति—

न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशा-
नेकस्थलगततादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने
लाघवात् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव श्यायसी ।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुपक्तम् । तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राकाशिः अदृष्टहेतुकप्रतिभोत्पत्तौ ।
अदृष्टान्तरमन्यददृष्टं पापहृत्पम् । कल्प्यं प्रतिभाऽनुत्पत्तेरनुमेयम्, प्रत्यक्षाविषयत्वात् ।
एकमदृष्टं प्रतिभोत्पत्तौ साधकम्, अपरं च साधकमित्यदृष्टद्वयम् । व्युत्पत्त्यभ्यासयो क्लृप्तत्व
च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन । एवमशब्दोऽदृष्टद्वयकल्पनाव्यावृत्तिपरः । लाघवन्त्वत्र पक्षे
प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनाभावात् । प्रागुक्ता सरणि क्वचिददृष्ट क्वचिच्च व्युत्पत्त्यभ्यासौ
प्रतिभाया कारणमित्येवं स्वीकारः । श्यायसी श्रेष्ठा दोषवैयुर्थात् ।

नन्वत्र व्युत्पत्त्यभ्यासतः प्राक् प्रतिभाया उत्पादकदृष्टस्य सत्त्वेऽपि प्रतिबन्धकादृष्टस्य
सत्त्वात् तदुत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि नवीनादृष्ट-तत्रप्रतिबन्धकत्वयो कल्पनागौरवमेव दूषणम् ।
मतान्तरे तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ पुन क्लृप्तावेव, तद्धेतुता केवलं कल्पनीयेति लाघवम् ।
तस्माददृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणियमिन्यायेन पृथगेव प्रतिभा प्रति कारणत्वमिति
प्रागुक्तमेव युक्तमिति सारम् ।

यदि आप कहें कि जिस मनुष्य में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देवने में आती है, उसमें
पहले कोई घुटा अदृष्ट था, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति के कुछ दिनों के लिये रोक रखा था,
किसी तरह उस दूरदृष्टि के हटने पर शुभ अदृष्ट ने अपना काम किया, प्रतिभा उत्पन्न हुई, इस
तरह अदृष्ट मात्र को प्रतिभा के प्रति कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं दीए पड़ती, यथैव
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को कारण की श्रेणी में घुसेदने से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है
कि—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होने पर ही काव्य बनाने वाले प्रायः अधिक होते हैं, इसलिये
अनेक जगहों पर दो-दो (अदृष्टे और घुटे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा प्रतिभोत्पत्ति को

रोक देने वाले दुरदृष्ट के नाश करने के लिये आप जिन द्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करते हैं—जिनके आगमन से प्रतिबन्धक दुरदृष्टि नष्ट हो जाता है, उन्हीं (द्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अदृष्टि को हटाने के लिये जब आपको भी द्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब एक प्रतिभोरपादक अदृष्ट और एक प्रतिभोरपत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट इन दो-दो अदृष्टों को मान कर व्यर्थ गौरव-भार को दोनों से क्या छाम ? अतः पूर्वोक्त भाग (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और द्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है ।

नन्वेवमप्यदृष्टमात्रोत्पत्तिप्रतिभास्यत्वे व्युत्पत्त्यभ्यासरूपतत्कारणाभावेऽपि प्रतिभालक्षण-कार्योत्पत्तिदर्शनाद् व्यतिरेकव्यभिचारः स्यादेवेत्यत आह—

तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छे-
दकम्, अतो न व्यभिचारः ।

प्रतिभादृष्टिवैलक्षण्यमदृष्टव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरोत्पद्य-
मानत्वं च ।

अदृष्टाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्ववच्छिन्नं प्रत्यदृष्टं कारणम्, व्युत्पत्त्यभ्यासा-
व्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रति तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति कार्यताऽवच्छे-
दकत्वेऽव्यवहितोत्तरत्वनिवेसाददृष्टोत्पत्तिप्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न कारणमिति व्युत्प-
त्त्यभ्यासयोरभावेऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार इत्यभिसन्धिः ।

अब यहाँ यह शङ्का उठनी है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अदृष्ट को अलग और द्युत्पत्ति-अभ्यास को अलग कारण कहते हैं—अर्थात् दो कार्यकारण भाव मानते हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अदृष्ट के बिना द्युत्पत्ति-अभ्यास से और उसके बिना अदृष्ट से प्रतिभा होगी । इसका उत्तर यह है कि—अदृष्ट के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अदृष्ट और द्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के द्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही मेरा अभीष्ट—अर्थात् जैसे कारण दो हैं, वैसे कार्य भी दो ही हैं, एक नहीं, अतः व्यभिचार की शङ्का समाप्त हो गई ।

नन्वपि भिन्नयोर्व्यो प्रतिभयोर्द्वे कान्ये प्रति पृथक्कारणत्वे त्रियो व्यभिचार आपत्ते-
देवेत्याक्षेपे—

प्रतिभात्वं च कवितायाः कारुणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा
विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः ।

अत्रापि द्वितीयस्मिन् प्रतिभाकाव्यकार्यकारणभावेऽपि । स व्यभिचारः ।

प्रतिभात्वं हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकतयैव सिद्धमतः काव्यं
प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्याकारणैव कार्यकारणभावः । तथासति यदि व्यभिचार
आपद्यते, तर्हि पूर्वोक्तं वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकाव्यं प्रति विलक्षणप्रतिभा कारणमित्येवं
विशेषाकारेण कार्यकारणभावमवलम्ब्य व्यभिचारो वारणाय इत्याश्रितम् ।

इह निकल्पार्थक-वाशब्दोपादानेन कल्पद्वयमुपस्थाप्यते । तत्र प्रथमं कल्पं प्रसङ्गादे-
वोपात्तं प्रकृतानुपयोगित्वात् । यदा सामान्यरूपेण कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव
'वयोविशेषेण कार्यकारणभावः, तयोः सामान्येनापि' इति न्यायात् ।

अब कहने हैं कि—अच्छा भाई, यहाँ तो आपने व्यभिचार-वाप से पिण्ड छुदाया,
परन्तु जब दो तरह की (अदृष्टजन्य और द्युत्पत्ति-अभ्यासजन्य) प्रतिभा से काव्यरूप
एक कार्य होगा, तब फिर वह व्यभिचार उपस्थित हो जायगा । यहाँ समाधान दो प्रकार

से हो सकता है—१. एक तो यह कि जैसे काव्यरूप कार्य एक मानते हैं, वैसे प्रतिभा रूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्यत्व विशेषण नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेंगे जिसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि काव्य निर्माण के लिये प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी ? किससे बनी ? इस गवेषणा की आवश्यकता नहीं, सब प्रतिभाओं से कार्य (काव्य) एक सा ही होगा । २. दूसरा समाधान पूर्वोक्त शीति से कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृष्टजन्य प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति अदृष्टजन्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा को कारण मान लेने से व्यवभिचार की सम्भावना जाती रहेगी ।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यवभिचारमापाद्यापनुदति—

न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति, तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात् ।

कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावो ह्यन्वयव्यभिचार, स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणसत्त्वेऽपि प्रतिभाहूपकार्यानुत्पत्ते प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठं वैलक्षण्य कार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि, तच्च वैलक्षण्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यदि स्यात्, तदा प्रतिभा जायेतैव, न च जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभाववतोऽव्युत्पत्त्यभ्यासयोरत्रोदासीनतया तत्सत्त्वे प्रतिभाऽनुद्दयस्य व्यवभिवाररूपत्वाभावादिति भाव ।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचारणी यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर व्युत्पत्ति और अभ्यास करते रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने की लालसा उनकी अपूर्ण ही रह गई । अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ ? और जब किसी भी हेतु से कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब अन्वय व्यवभिचार क्यों नहीं हुआ ? उत्तर दोनों का एक है कि—विलक्षण व्युत्पत्ति अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर आप जहाँ सामान्यतः उसके रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखते, वहाँ समझना चाहिये कि उस व्युत्पत्ति-अभ्यास में वह विलक्षणता नहीं थी, अतः प्रतिभा नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यवभिचार कैसा ?

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठं वैलक्षण्यमदृष्टासहकृतत्वमेव वक्तव्यम्, तच्चात्र तयोरस्त्येवेति कृतो व्यवभिचार इत्यहमे पक्षान्तरमुपाददाति ।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः ।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासतः प्रतिभोत्पत्तौ । पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य । दोषो व्यवभिचार । सत्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावादेव न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति नान्वयव्यभिचार इति भाव ।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-गत-वैलक्षण्य का निर्वचन असम्भव है, अतः पक्षान्तर कहते हैं—'पापविशेषस्य' इत्यादि । कहने का आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हो तो, वहाँ कोई विशिष्ट प्रकार का पाप (घुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक था, अतः कारण विशेष (व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई ।

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणताकल्पनादेव शौरवमित्यत आह—

प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितरास्त्यादित्रयहेतुतानादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा ।

अविशिष्टा तुल्या ।

प्रतिबन्धकान्नाभावस्य कारणत्वकल्पनं न नवीनम्, यन्मे गौरवाय कल्पेत, अपि तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यामानां समुदिताना कारणत्वं वदद्भिर्भूतद्विरपि कल्पनीयमेव प्रतिबन्धक-संगर्गाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणतायां सर्वसिद्धान्तसिद्धत्वादित्याशयः ।

यदि आप कहें कि—इस तरह प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा, तो इसका उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि यह गौरव मुझे ही नहीं सबको सहना पड़ता है, क्योंकि प्रतिबन्धकभावको कार्यमात्र के प्रति सामान्य कारण माना गया है, अतः यह गौरव, शक्ति आदि तीनों दृष्टों के कारण मानने वाले सम्मत के मत में भी दुर्निवार ही है।

हेतुप्रदर्शनेनोत्तमं द्रव्यति—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि धाक्स्तम्भे विहितानेक-प्रबन्धस्यापि कवेः काव्यामुदयस्य दर्शनात् ।

कवेर्विहितैत्यादिविशेषण प्रतिभाऽऽदिनारणसमवधानप्रत्यायकम् ।

यत्रानेकव्यानिरचितवतोऽपि कवे मुद्ध प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेण कियतो दिवसान् यावद् वाचः स्तम्भेन करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि काव्यं तदा नोत्पद्यते, कवि-तत्प्रतिभाप्रभृतिकारणानां सद्भावेऽपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य सत्त्वादितोऽपि यदि प्रतिबन्धकमधिधानात् कार्यं न जायते, तर्हि न किञ्चिदद्भुतमित्यभिप्रायः ।

शक्यादि समुदित हेतुतावादी के मत में भी प्रतिबन्धकभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'प्रतिवादिना' इत्यादि । ऐसा देखने में आता है कि जो पूर्ण प्रतिभाशाली है, अनेक उत्तम काव्य घनाकर कवि के प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त हो चुका है, वह भी तब कुछ काल के लिये काव्य बनाने में असमर्थ हो जाता है, जब कोई तान्त्रिक प्रतिवादी उसकी वाणी को मन्त्रवत् से स्तम्भित कर देता है, अब सोचिये कि ऐसा क्यों होता है ? प्रतिभा उसमें है ही, फिर उससे काव्य क्यों नहीं बनता ? अगत्या प्रतिवादि-कृत-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, अतः प्रतिबन्धक सामान्यभाव को कारणता मेरे मत (प्रतिभामात्र काव्य के प्रति कारण है, इस पक्ष) में और आपके मत (शक्यादि समुदित कारणतावाद) में भी अत्यन्त सिद्ध है।

इत्थं काव्यस्य कारण निरूप्य प्रसारान् व्याहरति—

तद्योत्तमोत्तमो-त्तम-मध्यमा-धमभेदाश्चतुर्धा ।

तत् काव्यम् उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अधमं चेति चतुर्विधमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्यकारण के निरूपण कर लेने के बाद काव्य के भेदों को कहते हैं—'तच्च' इत्यादि । जिस काव्य के सम्बन्ध में इतनी विवेचना की गई है, उस काव्य के चार भेद हैं । १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम ।

तत्र प्रथमं प्रकारं सूत्रेण लक्षयति—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

यत्र काव्ये, शब्दो पत्वङ्, अर्थो वाच्यश्च^१ गुणीभावित्वात्मानौ व्यङ्ग्यपापपित्तयाऽप्रधानी-कृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिशयाधानेनानिर्वचनीयं प्रधानमर्थम् अभिव्यङ्क्तौ व्यञ्जनया बोधयतः, तत् काव्यमाद्यनुत्तमोत्तमं भवतीत्यर्थः । एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैरभिहितम् ।

१. वाच्यपदमिह लक्षव्यङ्ग्यशोरपि सप्रामाहकम् । अन्यथा तदोरुपसर्जनीभावेन व्यञ्जकतायामभ्यासि ।

तथा च ध्वनिप्रत्ययः—

‘यत्रार्थः शब्दो वा तन्मर्तुपरार्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्यं, काव्यविशेषं स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितं ॥’ इति ।

जिसमें शब्द और अर्थ (वाक्य, वाक्य, व्यङ्ग्य) दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी (चमत्कार जनक अतः प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—इसप्रकार की वृत्ति द्वारा समझावें, उसे ‘उत्तमोत्तम’ काव्य कहते हैं ।

लक्षणपदकनदकृत्यमभिधाति—

कमपीति-चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोनिरासः । अपराङ्ग-वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय—गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्रधान्याभिप्रायकम् ।

भूमिराश्रयस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदनसुन्दरव्यङ्ग्यस्याप्युत्तमत्वम् । निरासो व्यावृत्तिः । अपरादिपदस्य सन्दिग्धप्रधान्य-तुल्यप्रधान्य-काङ्क्षितव्यङ्ग्यपानामप्युत्तमत्व-त्वम् । इति विशेषणतोपस्थापकं, तद्विशेषणमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् । स्वशब्दो व्यङ्ग्यमहाहो । गुणीभावितेत्यादिविशेषणानाप्यतिगूढव्यङ्ग्यादीनां निरासं सम्भवतीति सूचयितुं द्वयोः सहैवोक्तिः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराद्येभ्यः लक्षणस्य नातिव्याप्तिः, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुटव्यङ्ग्या-सुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाथावकत्वात्, तेषु ततोऽवशिष्टेषु च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थापेक्षया प्रधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कार-जनकत्वाच्च प्रथमांशेनैव निर्वाह इत्याशयः ।

लक्षण वाक्य में निविष्ट पदों का फल दिखलाते हैं—‘कमपीति-चमत्कृतिभूमि’ इत्यादि । इस लक्षण में ‘कमपि’ पद से चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः जिसमें व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ (छिपा हुआ) अथवा अत्यन्त स्पष्ट (वाक्य सा) हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहते हैं । असुन्दर व्यङ्ग्य का भी कारण इसी विशेषण से समझना चाहिये । अपराङ्ग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग) और वाच्यसिद्धयङ्ग (अर्थात् जिसके बिना वाक्य अर्थ की सिद्धि असम्भव हो) व्यङ्ग्य भी चमत्कारजनक होते हैं, अतः इस भेद में उनका भी ग्रहण न हो जाय, इसलिये लक्षण में ‘अपने को गौण बनकर’ कहा गया है जिसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ (वाच्यदि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होनी चाहिये, सो अपराङ्ग प्रकृत व्यङ्ग्यों में नहीं होती अर्थात् वे सब व्यङ्ग्य स्वयं गौण रहते हैं, अतः वे (साक्षात् व्यङ्ग्य वाले) काव्य भी उत्तमोत्तम नहीं हो सकते हैं ।

प्रतिशान्तरूपं स्वयं पयमुदाहरति—

उदाहरणम्—

कश्चिन्नवधूवृत्तान्तं वर्णयति—

‘शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयितानाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥’

अहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सविधौ, शयिताऽपि अणयितस्योवननिर्वन्धाद् भोगवास्तस्य विविक्तत्वादनुरागाङ्कुरोत्पत्तेय कृतशयनाऽपि, मनोरथान् स्वहृदि विद्यमानानानाम्ऽऽकारकतुलादिपयश्चभिन्नादान्, सफलीकृतं चरितार्थयितुं तदनुत्पन्नाचरितुनिति यावत्, अनीश्वरा श्रयासाध्वसातिरेकेणसमर्थं, दयिता अज्ञातानतयैव सम्प्रति मन शीघ्रं नवोदप्रिया इत्युक्ते प्रेयसी नादिकः, दरमीपन्मील्यती श्रयौत्सुक्यसाहचर्येण सङ्गच्छती नयने

लोचने चस्यास्तादृशी सती, दयितस्य परिचयवरोन किञ्चित्प्रणयोदयनात् प्रियस्य, आन-
नाम्बुजं मुञ्चकमलं, निरीक्षते केवलं विलोकते, न तु चुम्बितुमालिङ्गितुमाप्राप्तुं शोचममते, नापि
नयने नितरा निमीलयति, न वा तादृहनिरीक्षणद् विरमतीत्यर्थः ।

इह सविधशयनरूपकारणस्य सत्वेऽपि मनोरथसफलीकरणलक्षणकार्यानुदनाद् विरो-
पोक्तिमहोशब्दः प्रकाशयति । वियोगिनी छन्दः ।

अथ 'निर्मायनूतनमुद्राहरणानुरूपम्' इस प्रतिज्ञा के अनुसार पण्डितराज स्वरचित
पद्य उक्तमोक्षम काव्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं—'तयिना' इत्यादि। नयनपू अपने
प्रियतम के समीप सोई है, परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने मनोगत मनोरथों को सफल
बनाने में थमनर्ष है—वह चाहती तो बहुत कुछ है, किन्तु लज्जा और भय ने उसे इस
प्रकार दबा रखा है, जिनसे वह कुछ कर नहीं पाती, इस स्थिति में प्रियतम की
अभिलाषायें भी पूर्ण नहीं हो पातीं, यह स्वतः विद्र है, फिर भी वह प्रियतम की दयिता
है, प्रेयसी है, हो क्यों नहीं, केलि-विमुक्त भी नवोद्गा पानी सहृदय प्रेमियों के लिये,
अप्रीतिकर नहीं, अपितु प्रीतिवर्धक ही होती है। इससे पाठक यह नहीं समझें कि वह
केवल पति के बगल में मुर्दा सी पड़ी है, वह बराबर प्रियतम के सुरकमल को देग रही
है, चूमने का, आलिङ्गन करने का साहस मले ही उसे न हो पर श्रेयने से वह विरत नहीं
होती, हाँ, उसके देखने में भी कुछ विलम्बगता अवश्य है, इच्छा रहने पर भी उसकी उरसुक
आँखें सर्वथा विस्फारित नहीं, वरन् कुछ कुछ मुंदी हुई सी रहती हैं। यहाँ 'अहो' पद
समीपशयनरूप कारण के रहने पर भी मनोरथ साफल्यरूप कार्य के अभावरूप विरोपेति
अलङ्कार को प्रकाशित करता है।

अत्र व्यङ्ग्यं निर्दिशति—

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविधशयनात्तिस्य रहःस्थानादेरहीपनस्य च
विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेस्तुभावस्य, त्रपीत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः संयो-
गाद् रतिरभिन्वयते ।

रह एकान्तम्, तथा च यदि तत्र स्थानमेकान्तं न स्यात्, तदा साऽत्रप्रपात्वरयान्
तत्र नायकस्य समीपे कथमपि न शक्येति नायकसमीपशयनान्पात्तुपपत्त्या तत्स्थानस्थै-
कान्तत्वं कल्प्यते । निरीक्षणौ तादृशत्वमीयन्सुकुलीकृतनेनकल्पम् । नयनेऽनमीलनेन लज्जा,
निरीक्षणेन चौत्सुक्यं सूच्यते । संयोग आलम्बनादिभिः सह स्थायिभावस्य रतेः सम्बन्धः ।
रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽश्रया, तस्याद्येऽ परिपोषेण निरीक्षणस्य च प्रवृत्तत्वेन
सम्मोगऽश्चाररसरूपता ।

इह नायिकानिष्ठरते स्थायिभावस्य नायकरूपालम्बनविभावेन, एकान्तस्थानरूपोद्दीपन-
विभावेन, सुकुलीकृतनयननिरीक्षणलक्षणानुभावेन, लज्जासुक्यरूपाभ्यां व्यभिचारिभावान्ना
च सम्बन्धात् प्राधान्येन सम्मोगऽश्चाररसास्वाद, वाच्यवाचक्योस्तु शुगीभाव एवेति सुत-
रामुत्तमोत्तमत्वमस्य काव्यस्य सिद्धयतीत्याशयः ।

अब यहाँ ग्रन्थकार इस पद्य से होने वाले उस व्यङ्ग्य को दर्शाते हैं, जिसके बल पर
यह श्लोक उक्तमोक्षम काव्य का उदाहरण होता है—'अह' इत्यादि। यहाँ नायिका-निष्ठ-
रति का, आलम्बनविभावनयक वाच्य है, एकान्तस्थानरूप-उद्दीपन-विभाव, पति-
पत्नी के समीपशयन से आदिष्ट होता है, नायिका-कर्तृक-नायक-मुख-निरीक्षणरूप-
अनुभाव भी वाच्य ही है, लज्जा तथा औत्सुक्यरूप-व्यभिचारी भाव क्रमशः नयन-यान-
दर मीलन से और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं। इन सब भावों के संयोग से नायक-
विषयक-नायिका-निष्ठ-रति (स्थायी भाव) व्यङ्ग्य होती है, जो दरिपुष्ट होने से सम्मोग

मृत्कार, रस, रूप है—सहृदय पाठकों का आस्वाद्य है। यहाँ का यह व्यङ्ग्य अत्यन्त चमत्कारी है तथा शब्द अर्थ गौण है, अतः उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण सघटित हुआ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किं स्वरूपाणीत्याकाङ्क्षायामाह—
आलम्बनादीनां स्वरूपं वदयते ।

वदयते पुरस्तादस्मिन्नेवानने 'एवमेवा स्थायिभावानाम्' इत्यादिना सन्दर्भेण ।

आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप भागों (इसी आतन में) कहेंगे।

अत्र नायिकेच्छाविशेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाशङ्क्य परिहरति—

नच 'यद्यय शयितः स्यात्, तदाऽस्थाननं चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमत्रेति वाच्यम्, 'मनोरथान् सफलीकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः, स्वशब्देन मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण तादृशेच्छाया अपि निषेदनात् ।

अयं नायकः । शयित इति जाग्रतो लज्जा-प्रत्यालिङ्गनादिभीत्यो सम्भव । इति शब्दो नायिकेच्छाऽऽकारपरामर्शकः । एवकार प्रागुक्तव्यङ्ग्यव्यावर्तनपर । स्वशब्देनेत्यस्य विवरणं मनोरथपदेनेति ।

नायिकाया सनीध सस्पृष्ट च नायकमुखनिरोद्धणेन मूलोल्लिखिताकारिकेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अद्युक्तमेव, यत सर्वेषां मनोरथानां नायिकाया हृदि सद्भावो मनोरथान् सफलीकर्तुमनीश्वरेत्यनेन विशेषणेन रूच्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बन-विषयकेच्छयोः सामान्यविशेषभावादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्म-प्रकारकप्रतीतिगोचरः कियत् एवेति वाक्यपदवीमारूढश्चमत्कारविशेषानाधानाच्च प्रधान-मितिसारम् ।

इस श्लोक में नायिका का इच्छा विशेष ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—'न च यद्यय शयित' इत्यादि। शङ्का करने वालों का अभिप्राय है कि इस पद्य में 'सलज्जित नायिका सस्पृष्ट भाव से नायक के मुख को बारबार देख रही है' यह बात वर्णित है, जिससे 'यदि यह (नायक) सो गया हो, तो मैं इसका मुख चूम लूँ' इस तरह की नायिका की इच्छा व्यङ्ग्य होती है, फिर इसी व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर यहाँ काव्यलक्षण का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त रतिरूप व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर नहीं। समाधान का आशय यह है कि नायिका की उक्त इच्छा यहाँ व्यङ्ग्य ही ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' यह बात इस पद्य में वर्णित है, जिससे यह सूचित होता है कि नायिका के हृदय में सब मनोरथ वर्तमान हैं, और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—जो सामान्यरूप से मनोरथ पद का वाच्य अर्थ ही होता है, फिर व्यङ्ग्य कैसे होगा?

पुनराशङ्क्य समावृत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वे किं साधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात् ।

विषयविशेषश्चुम्बनम् । चमत्कारपदं तदतिशयपरम्, चत्किञ्चिच्चमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवान् । अन्यथा वाच्यप्रधानभेदस्य काव्यत्वानापत्तिः, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीय-हेतुप्रदर्शनानवकाशश्च ।

सामान्यपरमैरेच्छात्वेनावेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मैश्चुम्बनेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वं कुतो न स्यादित्यापि वक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधावोप्यत्वेनोत्तमोत्तमवाच्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारातिरागस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि मनोरथ पद से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बन विषयक इच्छा (जो विशेष है) वाच्य हुई नहीं, फिर उसको व्यङ्ग्य होने में क्या बाधा है ? इसका समाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—अलौकिक ध्यानत्व की अनुभूति नहीं होगी—यस, यही बाधक है ।

व्यङ्ग्यस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्कर्षाजननेन गुणभावात्त प्राधान्यमिति भाव । तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात् ।

हि यत् । विशेषाकारेण विशेषपरमावच्छिद्यत्वेन । अभिहितोऽभिधावृत्त्या बोधितो वाच्यः । चमत्कृतिस्तदुत्कर्ष । ईष्टे क्षमते । कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तथाऽनालिङ्गितस्याबोधितस्य । एवञ्चोदो वाच्यव्यवच्छेदक ।

अलङ्कारिका हि—

‘नान्धोपयोधर इवातितरा प्रकाशो नोगुर्जरीस्तन इवातितरा निगूढः ।

अर्थो गिरामपिहित विहितश्च शब्दश्च सौभाग्यमेति मरुद्भवधुक्कुचाश्च ॥’

इत्यभियुक्तोर्केव्यञ्जनावृत्तिमात्रप्रोध्यस्वार्थस्य चमत्कारोत्कर्षावाच्यत्वं मन्यते । प्रकृतो तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदवृत्त्यभिधया बोधितत्वाच्च चमत्कृतिप्रकारोत्पादकत्वमित्याकृतम् । एतच्च गूढव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रशान्तिरूपणे पञ्चमोक्तासे, रसदोषनिरूपणे सप्तमोक्तासे च वाच्यप्रकाशो स्फुटम् ।

इस पर यदि आप पूर्ण कि आपके कहने ही से चमत्कार नहीं होगा ? या उसके न होने में कुछ युक्ति भी है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रग्धकार कहते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं कहता, अपितु अलङ्कार शास्त्र के सभी भर्मज्ञों ने एक स्वर से उसी व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे, अतः जो प्रदार्थ सामान्यरूप से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप से व्यङ्ग्य होने पर भी सहृदयों के मन में चमत्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता—अभिधावृत्ति मानो वह छूत का रोग है, जिससे छू जाने पर स्वस्थ व्यङ्ग्य भी अस्वस्थ हो जाता और उसकी चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है ।

अनु कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वान्युपगमे ‘यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तयोच्यते ।’ इति भग्मदशोक्तेः पर्यायोक्तान्द्वारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्युच्ये पूर्वोक्तगणनस्य हेतुन्तरं व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभायतयैव सुन्दरत्वेन तदव्यञ्जने ‘चुम्बेयम्’ इति शब्द-बलाच्चुम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च ।

रतिपदं तत्संवायिक्रमज्ञारपरम् । एवकाररतदितरप्रकारव्यावृत्तिमूकः । सुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन । तच्छब्देन रतिहेतुवृत्तारस्य परामर्शः । ‘चुम्बेयामि’ इति पाठस्तु श्रान्तिमूलक, शिज्यासङ्गते । शब्देत्यादेः शब्दजन्यप्रतीतिविषयीभूतेच्छावदित्यर्थः ।

यदा रतिस्थाविकः शृङ्गार प्रधानतया व्यज्यते, तदैव तदनुभावरत्नेन व्यज्यमानावाधु-
म्वनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षकनकत्वम्, इतरथा तु शान्दबोधगोचरीभूततादृशेच्छातो वैलक्ष-
ण्याभावात् तत्त्वम्, अतः शृङ्गारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वमिहोचितमिति तात्पर्यम् । इदं
पुरः- 'सर्वथा वाच्यवृत्त्यनुम्वितस्यैव तथात्वमिति धनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्त्वान् ।' इति
सन्दर्भेण ससन्देहालङ्कारनिरूपणे स्फुटीकरिष्यति प्रत्यक्तम् ।

नायिका की इच्छा को प्रधान व्यङ्ग्य न मानकर रति को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में
दूसरी शक्ति भी दैते हैं—'सुम्वनेच्छाया' इत्यादि । सुम्वनेच्छा रति (प्रेम) का फल है,
यदि रति न हो, तो सुम्वनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण से ही भी तो
उसमें सौन्दर्य नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में जब उसकी प्रतीति होती है
तभी वह शक्ती लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, सुम्वनेच्छा
व्यङ्ग्य होकर भी उसी तरह अचमत्कारी होगी, जिस तरह 'सुमंगला' इस शब्द से अभिहित
होने पर वह अचमत्कारी होती है । अतः रति को प्रधानतया व्यक्त होना आवश्यक है,
उसके अभिध हो जाने के बाद यदि उसीके अनुभावरूप से उक्त इच्छा भी अभिव्यक्त हो,
तो कोई आपत्ति नहीं ।

इत्यभिच्छाया प्रधानव्यङ्ग्यता निरस्य लज्जाया अपि परेणाशङ्क्यमाना वा निराकरोति—

एवं प्रयाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवायताऽवच्छेदकतया
प्रतीतार्या तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् ।

एवं चगत्कारविशेषानुत्यादकत्वेन । अपि पूर्वोक्तेच्छासंप्राप्तक । अत्रत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्ये-
ष्टत्वात् प्राधान्येनेति । अनुवायतोद्देश्यत्वम् । तस्यां प्रयायाम् । मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात्
प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयतासम्बन्धामावात् ।

एवमिह दरेत्यादिपदेन यद्यपि लज्जा व्यज्यते, तथाऽपि तस्या न प्राधान्यम्, यतोऽत्र
दरमीलनयनात्वमुद्दिश्य निरीक्षणं विधीयत इति निरीक्षणनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताया
उक्तविशेषणनिष्ठया अवच्छेदकत्वं लज्जाया उद्देश्यविशेषणभूताया इत्युद्देश्यताऽवच्छेदकतया
प्रतीयमाना लज्जाऽत्र न विधेयीभवितुमर्हति । न चाविधेयीभूयोऽर्थस्तात्पर्यायमुख्यविशे-
य्यतामाश्रयितुं शक्नोति । न वा तदनाश्रयस्येऽपि कस्यचन प्राधान्यमित्यमिसन्धिः ।

'लज्जा ही इस पद्य में प्रधान व्यङ्ग्य है' इस मत का खण्डन करते हैं—'एवं प्रयाया'
इत्यादि । किसी-किसी का मत है कि यहाँ 'नेत्रों को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई'
इस नायिकाविशेषण से जो लज्जा व्यक्त होती है, उसीको प्रधान व्यङ्ग्य मान कर इस
श्लोक में तामूलक काव्यता स्वीकार करनी चाहिये । परन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि
यहाँ नायिका को उद्देश्य बना कर निरीक्षण का विधान किया गया है और उस उद्देश्यभूत
नायिका का विशेषण है, 'दरमीलनयना—' 'कुछ-कुछ नेत्रों को मुकुलित करती हुई'
जिससे लज्जा अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार से लज्जा की प्रतीति उद्देश्यतावच्छेदक
(उद्देश्य विशेषण) रूप में होती दीखती है, फिर वह लज्जा, प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो
सकता है ? अर्थात् जो उक्त विधेय रहता है, उसीमें पारस्य का सात्पर्य होता है और
सात्पर्यविषयभूत अर्थ ही मुख्य वाक्यार्थ कहलाता है, अतः लज्जा किसी तरह मुख्य
वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता है ।

पुनरपरणाऽऽशङ्क्य समादधाति—

न च दरमीलनयनात्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवायताऽवच्छेदकत्व
तस्या इति वाच्यम्, एयमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्त्वार्थत्वेऽपि दरमीलनय-
नात्वनिरीक्षणनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् ।

उभयत्र वैशिष्ट्यं सामानाधिकरूप्येन । तस्या व्रथायाः । एवमपि विशिष्टस्य विधानेऽपि । तत्कार्यत्वेऽपि त्रपाजन्यत्वेऽपि । मात्रशब्देन त्रपाप्रवृत्तीनां व्यावृत्तिः ।

इदमुच्यते—दरमीलनयनात्विशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि लब्धाया विधेयश्लोक्ति-प्रविष्टेन नयनेपत्तिमौलनेन व्यङ्ग्यतया नोर्हैस्मताऽवच्छेदकत्वम्, तथाऽपि तस्याः प्राधान्यं दुरूह्येव, यतो नयनेपत्तिमौलनमेव लब्धाजन्यमिति तेनैव स्वकरणभूता लब्धा व्यङ्ग्यते, समस्तौ नयनेपत्तिमौलनविशिष्टश्लोकेन विधेयेन तु स्वहेतुभूता रतिरेव सूचयितुं शक्यत इति सर्वतोमुखं पार्यन्तिहं प्राधान्यं लब्धाया न सम्भवति ।

यदि आप कहें कि लज्जा को प्रधान चावपार्य न मानने में आपने जो युक्ति दी है, वह तब ठीक होती, यदि हम लज्जा का मान उद्देश्यतावच्छेदक रूप में मानते होते, उसीको हम नहीं मानते हैं, हम तो दरमीलनयनात् विशिष्ट निरीक्षण को विधेय मान कर विधेयतावच्छेदक (विधेय विशेषण) रूप में ही उसका मान स्वीकार करते हैं—अर्थात् वह निरीक्षण ऐसा है, जिसमें नेत्र कुङ्कु-कुङ्कु सुकुलित हो रहे हैं, यही वक्ता का अभिप्राय है, अथ तो लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं उठ सकती। इसका उत्तर यह है कि इस तरह लज्जा को आप विधेयकोटि में ले आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह सुल्य नहीं हो सकती, क्योंकि नेत्रों का कुङ्कु-कुङ्कु सुकुलित होना, भले ही लज्जा का कार्य हो, किन्तु निरीक्षण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (प्रेम) का ही कार्य है, फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण से अभिन्नक होने वाली रति को प्रधान न मान कर, विधेय विशेषण-नयन-गत-दर-मौलन से व्यक्त होने वाली लज्जा को प्रधान मानना युक्ति-सम्मत नहीं होगा ।

ननु मौलनयनात्प्रमात्र विधेयमास्ताम्, तथा च सनप्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया त्रपायाः प्राधान्यमक्षतमेवेत्याशङ्का निराकरोति—

त्रपाया एव सुखत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरतिप्रयोजनकत्वापत्तेः ।

यत्र प्रमात्रस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं कवेरभिमतं स्यात्, तर्हि स निरीक्षणवर्तन्तं नोपादधीत, ईष्ययनमौलनेनैव तद्विशिष्टस्य त्रपाजन्यस्य सिद्धे अधिकोपादानस्य निष्फलत्वापत्तेः । रतेः कार्यत्वेन तद्रूपकं निरीक्षणमनुपादधत्ता कविना प्राधान्येन रतिरेव व्यङ्ग्यता बोधिता । तस्मात्त्रा त्रपाया प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वस्य धोपनाधिपन्मौलनयनात्स्य विधेयतेत्यभिप्रायः ।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमाणित करें कि हम निरीक्षण को भी विधेय नहीं मानेंगे, अर्थात् निरीक्षण करने वाली नायिका को उद्देश्य बनाकर दरमीलनयनात् का ही विधान करेंगे, फिर तो प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के नाते लज्जा प्रधान होगी। इस प्रमाण का उत्तर यह है कि—हाँ! भाई! आप वाद में बड़े निपुण हैं, इस तरह लज्जा को प्रधान बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं चाहिये, कारण ? यदि इस तरह से लज्जा को ही प्रधानतया व्यक्त करना कवि को अभिमत होता, तो कवि निरीक्षण की बात ही नहीं उठाते, केवल इतना ही कहते कि 'आँखों को सुकुलित कर रही है', लज्जा की अभिव्यक्ति तो वावन्मात्र से हो ही जाती, अर्थात् लज्जा को प्रधान मानने में 'देवती है' यह कथन निष्प्रयोजन ही नहीं होता वरन् बाधक भी होता है, अतः रति को ही प्रधान व्यङ्ग्य मानना चाहिये, लज्जा को नहीं ।

ननु विधेयश्लोकी विशेष्यविशेषणभावं विषयस्य निरीक्षणविशिष्टेपन्मौलनयनात्स्य विधेयी-करणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्याशब्दव्यङ्ग्यत्वेन त्रपायाः प्राधान्यं स्यादेवेत्याशङ्का निरस्यति—
चाच्यनुच्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव, व्यङ्ग्य-
नया तस्यां तथा अपि गुणीभाप्रत्ययौचित्यात् ।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिर्व्यापारोऽभिधा तथा वाच्यवृत्त्या । अनुभावत्वं लोके तत्कार्य-
त्वेन । तस्या रतौ । तस्याऋपाया । गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रत्यय प्रतीति ।

अभिधावृत्त्या यथा रतेरनुभावो निरीक्षण प्राधान्येन, त्रपाया अनुभावो नयनेपत्तिमौल-
नन्तु तदङ्गत्वेन प्रत्याप्यते, तथैव व्यञ्जनयाऽपि रते प्राधान्येन, त्रपायास्तदङ्गत्वेन प्रत्या-
यनमेवोचितम्, इतरथा 'भावप्रधानमाप्त्यात्, सत्प्रधानानि नामानि' इति यास्कसिद्धान्त-
विरोधो दुःखरोगो भवेदिति तात्पर्यम् ।

लज्जा को गौण व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होती है इसी बात को स्पष्ट
करते हैं—'वाच्यवृत्त्या इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'देखना' और लज्जा
का कार्य 'आँसों को कुछ कुछ मुकुलित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य
'देखना' प्रधान है और लज्जा का कार्य 'आँसों को कुछ कुछ मुकुलित करना' गौण है,
अथ आप सोचिये कि इन दोनों कार्यों से व्यक्त होने वाले कारण-रति तथा लज्जा में
किसको प्रधान होना उचित है ? उत्तर स्पष्ट है कि वाच्य कोटि में जिसका कार्य प्रधान है,
व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से व्यक्त होने वाला वह कारण प्रधान और वाच्यकोटि में
जिसका कार्य गौण है व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से अभिव्यक्त होने वाला वह कारण गौण
ही यही समुचित है, क्या अब भी रति को प्रधान और लज्जा को गौण होने में कुछ सन्देह
किया जा सकता है ? नहीं, अर्थात् वाच्यकोटि में जब निरीक्षण प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकोटि
में उस निरीक्षण से अभिव्यक्ति रति प्रधान होगी और वाच्यकोटि में गौण-नयन-गत-
दर-मीलन से व्यक्त होने वाली त्रपा व्यङ्ग्यकोटि में भी गौण ही रहेगी ।

व्युत्पत्तिनिमित्तं किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा चा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना । नायको वयस्य व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।

दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत् ॥'

गुरूणा श्वभ्रूप्रभृतीना मध्यगता तन्निकटस्थानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतौचित्र्यात् सत्त-
तावयवा, सा, मया, नीरजकोरकेण कमलमुकुलेन, मन्द शनैर्निभृतमिति यावत्, निहता
नितरा ताडिता, दरमीपत् कुण्डलस्य ताण्डवं नटन, यत्र, तद् यथा स्यात्, तथा, किय
नताऽस्थानजलीकरणजन्यमन्युना नन्नीभूता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्, तथा, चकितं
श्वरमादिसाक्षिभ्यान्मयि साभ्यस्तथ च माम्, अवलोक्य ('भृष्ट ! किमेव गुरुजनमप्ये खली-
करोषि' इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता धान्ताऽऽसीदित्यर्थः ।

निघातस्य मान्येन कुण्डलताण्डवस्येपत्त्य, गुरुमध्ये निघातेन भ्रूनमन चोपपाद्यत इति
हेतुहेतुमद्भावेन काव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च ।

इह 'दुर्विदग्ध ! किमिदं रहसि विधेयं गुरुजननिकटेऽपि विहितवानसि' इति वस्तुव्यञ्ज-
नपुरस्सरं नायकविषयकोऽमर्षो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकापेक्षयाऽधिकव्यमत्कारितया
प्राधान्येन व्यज्यत इत्यस्योत्तमोत्तमकाव्यत्वम् ।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (सम्भोग शृंगार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि
व्यभिचारीभाव) का उदाहरण देते हैं—'गुरुमध्यगता' इत्यादि । नायक अपने मित्र से
कह रहा है अथवा स्वयं मन में सोच रहा है—सास, नन्द प्रभृति गुरुजनों के बीच घंटी
हुई तथा शालीनता को प्रकट करने के लिये नन्प्रमुखी, प्रिया को मीने धीरे से—अर्थात्
छोगों की आँसु बचा कर एक कमल कलिका से मार दिया । (मार पड़ने के बाद) उसने
तीर्थक शक्ति से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घूम गई—मुख फेर लिया । परपि

गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई नवीना वृत्कामिनी का पति की ओर देरना शाहीनता का विरोधी था पर वह बेचारी करे तो क्या ? पति महोदय के असामयिक आचरण से वह दुःख हो उठी थी—उसके हृदय में अनर्पभाव जगमगा उठा था, अतः पति पर एक तीर्यक् दृष्टि डालने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शाहीनता-मर्यादा का ध्यान था, अतएव वह साफ मस्तक उठा कर न देखा सकी, तथा अपने अनर्प को ही स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकी, उसका देखना ऐसा हुआ, जिससे कान के कुण्डल चोदा नाच उठे तथा झूलतायें नीची हो गई—अर्थात् उसके इस दर्शन व्यापार को पति के अतिरिक्त कोई जान भी न सका। यहाँ प्रहार-गत-मान्य-कथन से कुण्डल-नर्तन की लक्ष्यता तथा गुरुजनों के मध्य में उस प्रहार के होने से झूलता का नक्षीभाव उत्पन्न किये जाते हैं, अतः हेतुहेतुमज्ञानमूलक का स्पष्ट अलङ्कार वाच्य है।

तदेवाचष्टे—

अत्र 'घूर्णिताऽऽसीत्' इत्यनेन 'असमीच्यकारिन् ! किमिदमनुचितं कृत-
वानसि' इत्यर्थसंरक्षितोऽमर्पश्रवणाविश्रान्तिधामत्यान् प्राधान्येन व्यज्यते ।
तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः ।

संरक्षितो विशिष्टः, वैशिष्ट्य चाङ्गान्निभावेन, तथाहि—इस्वरूपव्यङ्ग्यस्यामर्पं प्रति
पोषकत्वेनाङ्गत्वम् । विश्रान्तिधामत्वं पार्यन्तिः स्यादपि प्रत्यम् । तत्रामर्पे । श्रयो वाच्यो
वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यश्च । गुणोऽङ्गप्रधानमिति यावत् । पूर्वोदाहरणे व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थापेक्षयै
प्राधान्यं दर्शितम्, इह तु वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽपीति वैलक्षण्यमीक्षणीयम् ।

इस श्लोक में 'घूर्णितासीत्-धूम गई' इस उक्ति से 'वे अत्रिचारिन्- असामयिक काम
करने वाले ! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया' इस अर्थ से युक्त अमर्प (व्यभिचारीभार)
प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ वस्तु व्यङ्ग्य के रहने पर भी उक्त भावव्यङ्ग्य ही
क्यों प्रधान होगा, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये उसकी प्रधानता में कारण का निर्देश
करते हैं—'श्रवणाविश्रान्तिधामत्यात्'। आशय यह है कि सहृदयहृदयों में उक्त वस्तु-
व्यङ्ग्य को आधार बना कर उठी हुई आस्वादधारा पूर्वदसान में उक्त भावव्यङ्ग्य के
आस्वाद में ही विश्रान्त होती है, अतः वह भावव्यङ्ग्य ही प्रधान है। प्रथम उदाहरण में
वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता दिखलायी गई थी और इस द्वितीय उदाहरण में
वाच्यार्थ तथा वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ दोनों की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य की प्रधानता कही गई है।

पुनः किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा चा—

अचिरप्रवत्यस्यपतिरुनवोद्वधूस्त कश्चिद् वक्ति—

'तल्पगताऽपि च सुतनु' श्वासासङ्गं न या सेहे ।

सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणि मन्दमाक्षिपति ॥'

या नवोद्वधूः, सुतनु सुन्दरी नितरा कोमलाङ्गी, अत एव तल्पे कैलिनिलयस्यशम्भ्याया,
गताऽपि कथञ्चन सहचरोसहस्रातुरोधेन शयितापि च (का चर्चा बहि स्थितायाः)
श्वासस्य पत्युर्निश्वासस्य, श्वासप्रतीकसम्पर्कम् (का कथोपगूहनादीनाम्) न सेहे नैव ममर्प
(किन्त्वज्ञानि समकोच्यद् यहिरपससार ता) सा (सैव, न त्वन्या) सम्प्रति प्रियनिदेश-
यात्रापूर्वरात्राविदानो, हृदयगतं सराङ्गेन त्रियेण हृदये वक्षसि निहितं, प्रियस्य पाणि करम्,
मन्दं भाविनिरहातङ्गेन शनैः (न तु प्रागिव तरसैव) आक्षिपति नवोदा जातिस्वभावात्
स्वस्थानं प्राप्यन्त्यपसारयतीत्यर्थः । काव्यलिङ्गालङ्कार उपगोतिरङ्गन्दधः ।

इह श्राप्तेन सहाचर्यकः प्रियस्वान्वय पदार्यैकदेशतया दुर्घटः । उद्देश्यप्रतिनिर्देश-
भावव्यभावेन गतशब्दस्य पौनःपुन्यं च सहस्रानां हृदयं डुनोति ।

ग्रन्थकार पुनः उत्तमोत्तम काव्य का ही एक और विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विलक्षणता क्या है? इस जिज्ञासा की शान्ति अग्रिम प्रसन्न से होगी। जिसका पति कहीं दूर देश में जाने के लिये तैयार बैठा है, उस प्रवत्स्यपतिका नवोदा वधू का वृत्तान्त 'तत्प्रगताभिव' इस पद्य में वर्णित है। पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—जो अतिकोमलाङ्गी सुन्दरी, नव-प्रणयिनी (सहचरियों के अनुरोध से) पल्ल पर सोई हुई भी, पति के स्वास के ईपरसम्पर्क को भी (आलिङ्गनादि की बात ही क्या?) नहीं सह सकती थी—अर्थात् पति के स्वास के लगने से भी अङ्गों को सिकोचने लगती थी, वही सम्प्रति (पति के विदेश जाने की पूर्व रजनी में) हृदय पर रखे हुये शङ्कित पति के हाथ को भाविविरहात्क से धीरे-धीरे (न कि पूर्ववत् शीघ्रता से) हटा रही है। यहाँ 'सम्प्रति' पद्य के अर्थ से आक्षेप-गत-मान्य की उपपत्ति की जाती है, अतः 'काव्यलिङ्ग' जलज्वार है।

उदाहरणमिदं विवरीतुमवतरणिका भणति—

इदञ्च पद्यं मन्निर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकाङ्क्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यायते—

अथ तल्पगतेत्यादिश्लोकौ यद्यपि जगन्नाथपण्डितराजरचिते भामिनीविलासामिधप्रबन्धे नवोदाप्रकरणे पठित इति तत्प्रकरणघटकश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्यातुमशक्नोऽपि विशिद्ब्याख्यायत इति सारम् ।

यह पद्य पण्डितराज-रचित—'भामिनीविलास' नामक-प्रबन्ध का है, अतः इसका सम्बन्ध दूसरे पद्यों से भी है, इसलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, तथापि दिशा प्रदर्शन के अभिप्राय से कुछ-कुछ व्याख्या कर दी जाती है।

व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधूः पत्यङ्कशयिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणापि सङ्कुचदङ्गलतिकाऽभूत्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वराजन्या प्रवत्स्यपतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पित हृदि पाणिं नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम् ।

पत्यङ्ग खट्वाविशेष । श्वासस्यासहनादेवाङ्गलतासङ्कोच । आसङ्गाक्षेपपद्योराशीप-दर्थक । प्रवत्स्यन् विदेश गमिष्यन् पतिर्यस्या सा प्रवत्स्यपतिका । स्वभाव एव स्वाभाव्यम्, द्राक्षणादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभावशब्दस्य पाठे कल्पयित्वा 'गुणक्वचनद्राक्षणादिभ्यः कर्मणि च' इति पाणिनीयसूत्रेण स्वार्थे ष्यजोविधानाद् रूप साधनीयम् । नववधूना जतेर्नववधूत्वस्य स्वाभाव्याभिसर्गात् । प्रियस्य पाण्यपणे शङ्का प्राग्वत् संरभमनिवारणपलायनादे । आक्षेपस्य मान्यर्थे प्रवत्स्यपतिकालोचिता सत्वर-भाविप्रियविप्रयोगाद् भीतिरुपपादिका ।

जो बात पद्य के अर्थरूप में लिखी गई है उसीको ग्रन्थकार अपनी भाषा में कहते हैं— 'या नववधू' इत्यादि। कहने का अभिप्राय यह है कि—नवोदाओं के हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहता है, अथवा अल्प प्रेम रहता है, ऐसी बात नहीं है प्रेम तो अधिक ही रहता है, परन्तु उस प्रेम के साथ लज्जा और शय का भाव भी मिले रहते हैं, जो स्वाभाविक भी है अतः वे (नवोदायें) पति के पास जाने में हिचकिचाती रहती हैं, लेकिन सत्वियों की-बातानी कर उन्हें पति की शय्या पर सुलाकर ही छोड़ती हैं। इस तरह वे पति की शय्या पर पड़ी अवश्य रहती हैं पर कुछ खिची-चानी सी अर्थात् पति जो कुछ चाहते रहते हैं उनमें वे सम्मिलित नहीं होतीं, स्थिति यह हो जाती है कि पति के श्वासों का लगना भी उन्हें असह्य सा प्रतीत होता रहता है, फिर अगर पति उनके देहों पर हाथ रखना चाहें तो उसको वे नवोदायें केने बर्दास्त कर सकती हैं, फल यह होता है कि जभी पति महाशय उनके अङ्गों पर हाथ रखते, तभी वे उन हाथों को उठाकर दूर फेंक देती हैं, इसी तरह नवदम्पतियों की रातें आशा तथा असफलताओं के बीच में झूलती रहती हैं, परन्तु

जब वह रात आती है, जिसके प्रभात में पति महाशय चले जायेंगे, तब स्तिपति बहुत कुछ बदल जाती है, उस अन्तिम रात में पति सदाइ होकर भी कुछ साहस से काम लेने के लिए कृत सङ्कल्प से हो जाते हैं, परन्तु उन्हें प्रायः साहस से काम लेने का अवसर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उपर नववधुओं की दशा-मनोवृत्ति भी पहले जैसी नहीं रह जाती, वे सोचती हैं क्या आज भी वे निगोड़ी लज्जा और भय मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे ? यदि ऐसी बात हुई, सब तो क्या अनर्थ होगा, न जाने कब फिर उनसे (पति से) भेट हो, नहीं, आज किसी तरह भय या लज्जा को अपने पास फटकने नहीं दूँगी, इस तरह वे नबोढायें प्रस्थान पूर्व रजनी में ससज्ज होकर ही पति की शय्या पर जाती हैं, फिर भी जब पति के हाथ उनके हृदय पर पड़ते हैं तब वे एक धार कुछ चौंक उठती हैं, और पति के हाथों को भी अपने हृदय पर से अलग अवरय करती हैं। हाँ ! इतना अन्तर अवरय रहता है कि आज पति के हाथों को दूर हटाने में बह वेग नहीं रहता जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नववधु-आति-स्वभाव से बढ होने के माते वे हाथों को हटाती जरूर हैं, परन्तु धीरे-धीरे ।

तपादानसङ्गतये व्यङ्ग्यं प्रकटयति—

अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याक्ष्यः स्थायी संलक्ष्य-
क्रमतया व्यज्यते ।

अत्र तल्पेत्यादिपद्ये । शनैर्न तु वेगेन । स्वस्थानप्रापणमात्मा स्वरूपं यत्येति बहुमीहितः । एतेन रभसनिवारणामात्रः सूचितः । आक्षेपे मान्यं रतेरनुभावः, प्रणयसद्भाव एव तस्य सम्भवात् । रतेः स्थायितोपादानाद् रसरूपत्वं प्रतीयते । संलक्ष्यक्रमत्वमेव रतिव्यक्तपत्येद् पूर्वोदाहरणद्वयाद्विशेषः ।

यहाँ 'मन्दाक्षिरति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे अपने स्थान पर रस देना, जिससे रतिनामक स्थायीभाव (जो सम्भोगशृङ्गार के रूप में परिणत हो जाता है) संलक्ष्यक्रम होकर अभिव्यक्त होता है, क्योंकि रति के बिना हाथ का धीरे-धीरे हटाना सम्भव नहीं है ।

ननु रत्यादीना स्थायिनामन्यत्र सर्वैरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापनादिह रतेः संलक्ष्यक्रमतया व्यङ्ग्यत्वमसङ्गतमित्यतोऽभिदधाति—

उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

उपपादयिष्यते रसनिरूपणप्रकरणेऽनैवानने मयेति शेषः । तथाहि—यत्र प्रकरणस्य स्पष्टार्थकतया हततरं प्रतीयमानैर्विभावादिभिः सहृदयानामतिशीघ्रं रसपदवीमासावयतां रत्यादीना प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावेन कतिपयस्यापि पूर्वापरि-
भावरूपस्य क्रमस्थाशुभ्रभावितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेनासंलक्ष्यक्रमत्वम् । यत्र तु प्रकरणस्थास्पष्टार्थकतया विभावादीना प्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवी-
प्रापकस्वामीसंबलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् लक्ष्यता, तत्र रत्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम् । यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसन्दर्भसम्बन्धेन 'तस्या नववधुभावे पूर्वमन्यादृशः सङ्कोच आसीत्, सम्प्रति तु क्रमेण न्यूनतयाऽन्यादृश एवाभूत्' इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादिप्रतीतिर्विलम्बितया संलक्ष्यक्रमत्वम् ।

परे तु—'वाच्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्वास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेर्न संलक्ष्यक्रमत्वम् । व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्थास्पष्टार्थकत्वे तु गूढ-
व्यङ्ग्यवचनत्कारोदयविलम्बात् सहृदयवैमुख्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कृतो रत्यादिव्यङ्ग्यस्य संलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति ।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि आजतक सभी आलङ्कारिक आचार्यों ने तो रति आदि स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को संलक्ष्य क्रम-व्यङ्ग्य क्यों और कैसे कहते हैं, इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार लिखते हैं—'उपपारिष्यते च' इत्यादि। अर्थात् स्थायीभाव भी क्यों और कैसे संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जाते हैं, यह बात आगे कही जायगी, तात्पर्य यह है कि प्राचीन सभी आचार्य स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य मानते हैं, उनका आशय है कि यद्यपि स्थायीभावों-रसों की प्रतीति के पूर्व विभाव आदि की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि उन दोनों प्रतीतियों में कार्य-कारणभाव है, विभावादि-प्रतीति, कारण है, और रसादि-प्रतीति, कार्य, अतः उन दोनों में पूर्वापरीय (आगे पीछे का) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका वह क्रम (पूर्वापर भाव) हमें लक्षित नहीं होता, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों को एक के ऊपर एक के हिसाब से रखकर उनमें सूई को चुभाते हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे पत्ते में छेद होता होगा पर मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्तों में छेद हो गया। इसके विरुद्ध पण्डितराज का कथन है कि हाँ, स्थायी-भाव असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर सब जगह नहीं, जहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावादि-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता और सहृदयों को ऐसा ही भान होता है कि एक साथ ही विभावादि तथा स्थायीभाव की प्रतीति हो गई, और जहाँ प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावादि की प्रतीति में ही अति विलम्ब हो जाता है, फिर वहाँ क्रम लक्षित क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्थायीभाव भी दोनों प्रकार के होते हैं, कहीं संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य और कहीं असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः यहाँ का रतिरूप स्थायीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है। ध्वनिकार आनन्दबर्धन का भी यही सिद्धान्त है।

अस्य वाक्यप्रकारस्य स्वकपोलकल्पितत्वं परिहर्तुं प्राचीनमतसंवादं दर्शयति—

अनुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति ।

अमुमुत्तमोत्तमरूपम् । अभ्यासार्थकस्यापि, मनतेरुपसर्गयोगात् स्वीकारार्थकत्वम् । ध्वनिकारप्रभृतय इति शेष । व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकपक्षयोऽधिकचमत्काराधायकत्वे ध्वनिकार-प्रभृतय प्राचीनाचार्या यं ध्वनिमाचक्षते, [स एवायम्, न तु नूतन कथित प्रकार इति भाव । वाक्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि काव्य कहते हैं ।

अथ 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्ये ध्वनित्वस्थापनार्थमप्यदीशितावर्लाभ्यता व्याख्यानपद्धतिं दूषयितुमुपपादयति—

यत्तु 'चित्रमीमांसायामप्यदीक्षितैः' 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इति पद्य ध्वन्यु-दाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्पण्येन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरि-हाराय निश्शेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोग-चिह्नोद्घाटनाय तदग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तत्र तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते, इयमाश्लेषकृतैव ।

तथा 'निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टरागः' इति रागस्य निश्शेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय 'अधरः' इति विशिष्य-ग्रहणम् । 'उत्तरोष्ठे सरागोऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव ।' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम् ।' इत्यन्तेन सन्दर्भेण 'तटादिषट्ठिता वाक्यार्थाः स्नानवशात्तट्टिता सम्भोगाद्धानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्य-ङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति ।' इति ।

'निरशेषच्युतचन्दनं स्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे

वापी स्नातुमितो गताऽसि, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिरुम् ॥'

इत्थयं पूर्णं श्लोरोऽमरुशतकषटकं । नायकमानेतुं प्रहृिता तमुपभुज्य समायातां
दूतीमुद्दिश्य स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोगं प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया उक्तिरि-
यम् । अत्रि ! मिथ्यावादिनि ! 'मत्प्रसादनेनापि नायको नयातः' इति मृगाभाषिणि ।
बान्धवजनस्य बान्धवो 'बन्धुमित्रयो' इति हेमकोशाद् मद्रूपस्य मित्रजनस्य अज्ञातः
स्वार्थान्धतयाऽविभाषित पीडाऽऽगम' क्लेशप्राप्तिर्भया, तथाभूते !, दूति ! सन्देशहारिणि !
(न तु सति ! नापि यथार्थवादिनि ! मत्प्रतारणाकर्तृत्वान्) इतो मदन्तिकान्, स्नातुं
मलिलापगाहनं कर्तुम्, वापीं दीर्घिकाम्, गताऽसि, अधमस्य नितरामनुचितानाणाशोचस्य,
तस्य नायकस्य, अन्तिकं समीपं तु पुन, न गताऽसि । (यत) ता स्तनयोर्देशोजयोः,
तटं प्रान्तसमदेश उपरिभागे वा निरशेषं यथा स्यात् तथा च्युतं गालनं चन्दनं श्रीतण्डं
शुचुणं वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो निम्नोष्ठः, निरशेषं यथा स्यात्तथा (न त्वीदत्)
मृष्टं प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलसरकिमा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूरं
प्रान्तभागेऽत्यन्तं वा अतश्चने कज्जलरहिते स्तः । तथा—इयं पुरोलक्षमाणा तनुर्देहयतिः
तन्वी (सद्यः स्नानान्) कोमला, पुलकिता जातरोमाया चास्तीत्यर्थः ।

उत्तरीयवसनसहर्षणादपि स्तनयोश्चन्दनच्युति सम्भवतीति तत्परिहाराय—निरशेषे-
त्युक्तम् । तथा च निरशेषं चन्दनच्युति उत्तरीयवसनसहर्षणात् सम्भवति, किन्तु सम्मर्दन-
बहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निरशेषचन्दनच्युते प्रक्षालनप्रधानान् स्नानादपि सम्भव
इति तादोयं स्नानसाधारण्यं निवारयितुं-तदपदमुपात्तम् । तेन तु स्तनोपरिदेश एव चन्दन-
च्युति सम्भोगादेव न तु स्नानादिति सम्भोगस्य व्यञ्जनम् । एवं ताम्बूलभक्षणे विलम्बा-
दपि पूर्वरागस्य म्लानि सम्भनतीति-निरित्युपसर्ग उपात्तः । तथा च ताम्बूलभक्षणविलम्बाद्
रागस्यान्धन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु सम्भोगादेवाधरपानप्रधानान् 'कामिनामधरास्यादः-
सुरतादतिरिच्यते' इति कामशास्त्रानुशासनान् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लाने, स्नानादपि
सम्भन इत्यसाधारण्यं सम्भोदयितुमधरपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरीयस्य सुम्यनं कामशा-
स्त्रप्रतिकूलमित्यधरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानि सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदियदप्रतिपा-
द्यन्तु नेत्रयोरजनात्यन्तराहित्यं तनोस्तानत्रं पुलकितत्वं च । तथा चाजनप्रहृणविलम्बात्
स्नानात् नेत्रयो- क्रियिदेवाजनराहित्यं सम्भवति, न त्वत्यन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताजनराहित्येन
सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्यञ्जनम् । एवं तनोस्तानत्रं पुलकितत्वं च काश्यात् स्नानादपि क्रियि-
देव सम्भवति, न तु प्रभूततरमौदशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्यतोऽपि तद्व्यञ्जनम् ।
दूरशब्दस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, प्रान्तभाग इति तु मानसिकोऽर्थः । 'तयादिषट्ठिता'
इत्यादि 'आचरन्ति' इत्यन्तं वाक्यं निर्गलितार्थबोधकम् । वाक्यार्था निरशेषेत्यादीनां
विशेषणवाक्यानामर्था । आदिपदेन सुरतसम्मर्दवृत्तम् । प्रधानव्यञ्ज्य सम्भोगः साहाय्यं
सहायस्य कर्म-उपकरणम् ।

इह स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनोऽपि स्तनचन्दनच्युतिप्रवृत्तिपदार्था निरादिशम्भो-
सम्बन्धमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रस्थाप्यमाना प्रतिपादयिष्यमाद्योगाभयपदार्थानोप-

स्त्रियमाणा. प्राधान्येन सम्भोगमेवावगमयन्त. काव्यस्य ध्वनित्वं सम्पादयन्तीत्याकृतम् ।

प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'अप्ययदीक्षित' ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने निबन्धन में 'निशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना है और उसमें ध्वनिकाव्यता की सिद्धि करने के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पण्डितराज' को अभिमत नहीं, अतः 'पण्डितराज' 'दीक्षित' के मत का खण्डन करने के लिये पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—'यत्' इत्यादि । किसी विरहिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने प्रियतम को बुला देने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उससे सम्भोग करके लौट आई और नायिका के पास आकर झुंझूट बात बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आया' इत्यादि । चतुर नायिका को असल बात समझ में आ गई, परन्तु वह उस बात को स्पष्ट कैसे कहे, अतः उस नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उस बात को व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग पर 'निशेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरशतक' में कहा गया है, (सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में देरना चाहिये) अर्थ इसका यह है कि—हे झूठ बोलने वाली दूती ! तू अपने चान्धय की (मेरी) पीड़ा को नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो वेदना है—उसको नहीं जान सकी, अतएव तू उस अधम (नायक) के पास न आकर वावदी नहाने चली गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो रही है, देरों, तेरे स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की लाली (ताम्बूलकृत) बिलकुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त अश्रम रहित हो गए हैं और दुर्बल यह तेरा शरीर रोमाञ्चयुक्त हो उठा है यह तो हुई इस पद्य की सामान्य व्याख्या, अब 'दीक्षित की विधिष्ट' व्याख्या सुनिये—उनका कथन है कि 'स्तनों का चन्दन वस्त्र के सहर्ष से भी मिट सकता है, सो नहीं समझा जाय इसलिये नायिका के मिटने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होता है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना वस्त्र के सहर्ष मात्र से सम्भव नहीं । इसी तरह स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, उस सम्भावना को दूर करने के लिये चन्दन का विशेषण 'ऊपर भाग का' कहा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है क्योंकि स्नान से जब चन्दन मिटेगा, तब समग्र स्थान का, पर तैरा चन्दन तो स्तन के ऊपरी भाग में ही मिटा है ऐसा आलिङ्गन से ही हो सकता है । इसी प्रकार ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने से भी होठ की लाली नष्ट हो जा सकती है, परन्तु यहाँ सो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूल नाश का विशेषण 'बिलकुल' कहा, अर्थात् ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की लाली बिलकुल नष्ट नहीं हो सकती, अलवचे कुछ फीकी हो जाय, इसी तरह स्नान से भी यह लाली नष्ट नहीं हुई है इस बात को सूचित करने के लिये 'अधर' पद कह दिया, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह लाली का विनाश सुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि लाली नष्ट होती तो ऊपर तथा नीचे दोनों ही होठों की, न केवल निचले होठ की ही, सुम्बन से तो ऐसा सम्भव है, क्योंकि ऊपरी होठ का सुम्बन कामशास्त्र में निषिद्ध है । यहाँ से लेकर 'यह भी ध्वनि का उदाहरण है' यहाँ तक के सन्दर्भ से 'दीक्षित' ने यह सिद्ध किया है कि 'ऊपर भाग' आदि पदों से युक्त उक्त वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अङ्ग—आलिङ्गन, सुम्बन आदि के व्यञ्जन या प्रतिपादन के द्वारा मुख्य व्यङ्ग्य (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में साहाय्य प्रदान करते हैं । सारांश यह है कि इस तरह की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूती के अङ्गों में परिलक्षित होने वाले वे विकार नायक के साथ किये गये सम्भोग से ही उत्पन्न हुए हैं, दूसरे किसी तरीके से नहीं ।

खण्डयति—

तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम्, प्राचीनसकलप्रन्यविद्वत्तत्त्वानु-
पपत्तिविरोधात् ।

उपपत्त्युक्तिरौचित्यनर्णान्तरम् ।

अथ परिष्कृतं तान् 'दीक्षित' कृत पूर्वोक्त विवेचन का खण्डन करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि । 'दीक्षित' का उक्त विवेचन अनभिज्ञता का सूचक है, अर्थात् वे अलङ्कार शास्त्रों के मर्म को नहीं समझते, अतः वैसा कहते हैं, क्योंकि उनका उक्त विवेचन प्राचीन सब ग्रन्थों से तथा युक्तियों से विरुद्ध है ।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य सन्दर्भं विरोधं दर्शयितुमुपन्यस्यति—

तथाहि पञ्चमोऽज्ञासशेषे—'निशेषेत्पद्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादी-
न्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्ता-
नीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम् ।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन । कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि । उपभोग
एव प्रतिबद्धानि—अथदमिते कर्तृकृतसम्मोगरूपसाध्यव्याप्तानि । अनैकान्तिकानि—स्नान-
साधारण्येन व्यभिचारितानि । अस्मिन्नेव पद्ये स्नानजन्यत्वेनोपादीयमानत्वाच्चिन्दनच्युतिर्हि
सम्मोगात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न सम्मोगव्याप्या, तस्मान् कृतस्तथा व्यभिचारिण्या सम्मो-
गोऽनुमातुं शक्य इति सम्मोगावगमनाय व्यजनाहातिरभ्युपेयैवेति तदग्रन्याशयः ।

चन्दनच्यवनादीनां सम्मोगव्यभिचारित्वं प्रतिपादयताऽमुना ग्रन्थेन सह सम्मोगवाप्यत्वं
प्रतिपादयती दर्शितचित्रमीमांसाग्रन्थस्य विरोधः स्फुटोऽवधारणीयः ।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दिखलाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देते हैं—
'तथाहि पञ्चमोऽज्ञासशेषे' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'प्रकृत (निमेषव्युत्त इत्यादि)
श्लोक में जो सम्मोगरूप अर्थ व्यङ्ग्य माना जाता है, उसके ज्ञान के लिये अज्ञानवृत्ति की
आवरणकता नहीं है, अनुमान से ही उस अर्थ का ज्ञान हो जा सकता है' इस मत के
खण्डन प्रसङ्ग में मम्मट कहते हैं कि सम्मोग का ज्ञान अनुमान से तब होता, यदि श्लोक में
उक्त चन्दनच्युति प्रकृति सम्मोग व्याप्य होते—अर्थात् सम्मोग से ही वे सब (चन्दन-
च्युति आदि) होने वाले रहते, सो तो है नहीं, क्योंकि सम्मोग से अतिरिक्त कारणों से भी
वे हो सकते हैं, जैसे इसी पद्य में उनको स्नानरूप कारण का कार्य कहा गया है, इसलिये
चन्दनच्युति पौरुह सम्मोग के व्यभिचारी (उसके बिना भी होने वाले) हैं, अतः उन
हेतुओं से सम्मोग की अनुमिति नहीं हो सकती । यहाँ इस सन्दर्भ को उद्धृत करने
का तात्पर्य है कि मम्मट चन्दनच्युति प्रकृति को सम्मोग, ज्ञान आदि अनेक कारणों
से होने वाला साधारण पदार्थ मानते हैं और आप (दीक्षित) धनते हैं, उसको
सम्मोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ । अतः मम्मट के ग्रन्थ से आपका
विवेचन विरुद्ध हुआ ।

काव्यप्रकाशस्यैव पुनः स्पष्टान्तरं विरोधप्रकाशानार्थमुपाददाति—

तथा तत्रैव तेन—

'भम धम्मिअ । वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मरिओ देण ।

गोलाणइकच्छनिक्कुडंगयासिणा दरिअसीदेण ॥'

इत्यादी लिङ्गजलिङ्गिज्ञानरूपेणातुमानेन व्यक्तिगतार्थयतो व्यक्तिविवेक-
कृतो मतं प्रत्याचक्षणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिग्धमानादपि लिङ्गाद्
व्यञ्जनमभ्युपगतम् ।

तत्रैव—काव्यप्रकाशपद्यमोल्लास एव । तेन—मम्मटमतेन—

धम धार्मिक । विश्वस्त स शुनकोऽय मारितत्तेन ।

गोदानर्दाकच्छनिक्कुडंगयासिणा दत्तित्तेन ॥' इति सस्कृतच्छाया ।

पुष्पावचयाय स्वसङ्केतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्जं प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कस्यचित् स्वरहस्यप्रकाशाद्वया धारणाय कस्याधन पुंश्वल्या भणितिरियम् । धार्मिक । हे धर्मात्मन ! विश्वस्त' सदिश्वास स्वैरमिति यावत् , न तु प्राग्यत् सत्रासम् , भ्रम कुसुमान्यवचेतुं (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सधर । यत् स त्वत्प्रास्यहिकत्रासस्य हेतुतया प्रसिद्ध-शुनक श्वा कुञ्जुर , अथ-अस्मिन्नहनि तेन दुर्दान्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन , प्रायस्त्वया केवलमज्ञातेन , गोदानया गोदावरीसरित , कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे , वासिना सार्वदिकनिवसनशीलेन , न त्वकस्मादागतयेन , एतेन प्रसह्य जीवजीवनापहरणदर्पोद्धतेन , सिंहेन केसरिणा , मारितो हत इत्यर्थ । जघनविपुला छन्द ।

अत्र शासकारणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धार्मिकस्य गृहपरिसरे भ्रमणविधानं वाच्यम् । शुनोऽपि भीरोस्तस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसङ्कावप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु वस्तुरूप पुंश्वल्या दक्षण्या वैशिष्ट्येन व्यङ्ग्य । विशेषविचारस्त्वस्मदीयव्यन्यालोकोद्दिष्टा-वालौचनीय ।

लिङ्गं पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतु , तज्जन्य यल्लिङ्गिनः साप्यस्य ज्ञानं , तदेवानुमानम् । व्यक्तिर्व्यजना । व्यक्तिविवेक कृतस्तार्किकमतानुयायिनो महिमभक्ष्य । प्रत्याचक्षायेन खण्डयता । अभ्युपगतमज्ञोऽकृतम् । तेनेत्यभ्युपगतमित्यनेन सम्बद्धम् ।

अथमाशय-—'गोदावरीतीरनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणायोग्यम् , सिंहवत्त्वात्' इत्यनुमितिरे-वात्र भ्रमणनिषेधलक्षण व्यङ्ग्य गोचरयितुमलम् , कृत व्यजनाया स्वीकारेणेति महिमभक्ष्यस्य मतं काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्व्यभिचारित्वमसिद्धत्वं च प्रदर्शयित्वा खण्डयत् । तथाहि-कचि-दार्थिकत्वेन स्पर्शोपाच्छुनो भीरोरपि चोरस्वभावस्य गुरु-प्रभुनिदेश-प्रियाऽनुराग-निवि-लाभसम्भाषनाऽऽदिपारवश्येन सिंहाधिष्ठानेऽपि स्थाने गमनस्य दर्शनाद्धेतौ व्यभिचार , तत्र सिंहसङ्कावस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धत्वेन पुंश्वल्युच्चारितत्वादप्रमाणीभूततादृशवाक्यमात्रवे-द्यतया चासिद्धत्वमिति द्विधा दुटेन हेतुनाऽनुमिति सर्वथाऽसम्भव । व्यजनापत्ते तु व्यभि-चारिण सन्देहगोनरादपि हेतोर्निर्वाधे व्यङ्ग्यार्थावगम , तत्र व्याप्त्याद्यनुसन्धानानपेक्ष-णात् । तथा च प्रकृते हेतोर्व्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासात् काव्यप्रकारेण सह विरोध-रुफुट एव बोध्यः ।

प्राचीन ग्रन्थ से 'दीक्षित' मत में पढ़ने वाले विरोध को दृढ़ करने के लिये पुनः काव्यप्रकाश के ही दूसरे स्थल को उद्धृत करते हैं—'तथा तत्रैव तेन' इत्यादि। 'भ्रमणनिषेध!' इत्यादि श्लोक संलक्ष्य क्रमशः (नस्तुव्यङ्ग्य) का उदाहरण है। किसी व्यभिचारिणी नायिका ने गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी कुञ्ज को अपना सङ्केत स्थान बना रखा था, परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ नित्य पुष्प चुनने के लिये जाता करता था, अतः उस व्यभिचारिणी ने अपने स्वैर विहार में बाधा पड़ती देख कर उस धार्मिक से कहा—हे धर्म धुरन्धर ! अथ आप विश्वास पूर्वक (न कि पहले जैसे डरते हुए) धूमिये (फूल चुनने के लिये मेरे घर के अगल-बगल न कि गोदावरी तट पर फिरते रहिये) क्योंकि जिस कुत्ते का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश की झाड़ी में बसने वाले (न कि अकरमात् आये हुये) भक्त सिंह ने मार डाला। सारांश यह है कि घर के पास कुत्ते से भी डरने वाले पण्डितजी ! अथ आप धोखे से भी गोदा के कुञ्ज में मत जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह रहता है, यदि जाने का हुस्साहस कीजियेगा, तो माणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस तरह से यहाँ भ्रमण का विधान (धूमो) वाच्य है और

अमण-निषेध (मत धूमो) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का मत है, परन्तु लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान—जो अनुमान है—उससे व्यञ्जना को गतार्थ (व्यर्थ) करने वाले व्यक्ति विवेकदार महिममदृ का कथन है कि यहाँ अमण निषेध का ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदावरी तटवर्ती कुञ्ज कुत्तो से डरने वालों के अमण करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उसका (अमण निषेध का) ज्ञान हो ही जायगा । व्यक्ति विवेकदार के इस मत के लक्षण के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि उक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अन्यगामित्व तथा असिद्धत्व का सन्देह है अर्थात् रसार्थ दोष से बचने वाला धार्मिक यदि धीर हो तो कुत्ते से डरकर भी सिंह से नहीं डरेगा । अथवा डरते रहने पर भी गुह अथवा प्रभु की आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग तथा निधि लाभ की आशा से सिंह युक्त स्थान में भी जा सकता है, इसलिये उक्त हेतु में व्यभिचारित्व (अमणभावरूप साध्यरहित पद में रहने का) सन्देह है और 'गोदावरी तट पर सिंह है' इसका निर्गद्य कैसे होगा ? स्वयं तो उस धार्मिक ने देखा नहीं, पुँथली नायिका का कथन तो प्रमाण नहीं हो सकता, वह झूठ कहती हो ऐसा भी सम्भव है, अतः उक्त हेतु में अनिश्चि का संशय है, यदि आप पूछें कि व्यञ्जनावादियों को भी तो 'सिंह है' इस उक्ति से ही अमण निषेध का ज्ञान होता है, सा कैसे ? इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादियों को 'सिंह है' यह उक्ति सत्य है किंवा मिथ्या इस बात की खोज नहीं करनी पवती, क्योंकि व्यङ्ग्यकरण में व्यञ्जक का सत्य होना असाधारण (अव्यभिचारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का वैसा होना आवश्यक माना गया है । अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिग्ध तथा साधारण व्यञ्जक से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले इस प्रकार प्रत्येक सन्दिग्ध तथा असाधारण व्यञ्जक से ही व्यक्ति का समर्थन करने वाला दीक्षित ग्रन्थ विरुद्ध है ।

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि मतसंवादं दर्शयति—

इत्थमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोह्योते ।

अभ्युगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेषः ।

वाच्य-व्यार्थयोः स्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिकारोऽप्यत्र व्यभिचारसिद्धिद्वयितादपि सिंहसद्भावरूपादेतोर्व्यङ्ग्यस्य प्रमणनिषेधस्यावगमं स्वीचकारेति तदपि हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्यप्यदोक्षितस्य प्रकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिरुचिः ।

इसी प्रकार ध्वन्यालोककार राजानक 'आनन्दपर्यन्ताचार्य' ने भी ध्वन्यालोक का प्रथम उद्धोत में कहा है, अर्थात् उन्होंने भी 'अमणमिन्न' इस पद में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यङ्ग्य का होना स्वीकार किया है, अतः ध्वन्यालोक ग्रन्थ से भी दीक्षित के उक्त विवेचन विरुद्ध होता है ।

तदेवाचष्टे—

एवं च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहासाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः ।

एवमुक्तप्रकारेण । व्यञ्जकानां चन्दनच्यवनादीनाम् । साधारण्यं व्याख्या व्याप्यत्वं व्यभिचारित्वमिति यावत् । ग्रन्थैः कव्यप्रकाशादिभिः । तव ग्रन्थस्य चित्रमीमांसावा ।

प्रामाणिक-प्राचीनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीति प्रतिपादिता, त्वया पुनः प्रकृते व्यञ्जकहेतुनाप्यव्यभिचारित्वसम्पत्तये गृहीयान् प्रयासः श्रियत इत्येतत् सर्वथा प्राचीनपथप्रतिकूलत्वादप्रामाणिक्योपेक्षणायमेव स्यादितिसारम् ।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनच्युति आदिकी साधारणता (व्यङ्ग्य तथा तदतिरिक्त वस्तुओं से सम्बन्ध रचना) के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशकार

आदि के ग्रन्थों से व्यञ्जक की असाधारणता (व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखना) का प्रतिपादक अल्पव्य दीक्षित का ग्रन्थ विरह अवश्य है।

ननु व्यञ्जकाना साधारण्येऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थकारैरसाधारण्ये
तेषां तद् सुतरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जनं प्रतिपादयतीति मद्ग्रन्थस्य
तद्ग्रन्थैः सह नास्ति निरोध इत्यतोऽरुचेरुपपत्तिविरोधलक्षणं दूषणान्तरं क्रमेणोपपादयति-
'किञ्च यदिदं निश्शेषेत्याद्यन्तरेवाक्रयार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण
व्यङ्ग्यसाधारण्यं सम्पाद्यते, तत् किमर्थमिति पृच्छामः। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनार्थ-
मिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात्।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्थानि
निश्शेषचन्दनच्यवनादयः। व्यावृत्तिव्यर्थच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। सम्पाद्यते त्रियते त्वयेति शेषः।
व्यङ्ग्यस्य सम्भोगस्य। उपायत्वं प्रयोजकता।

व्यञ्जकाना वाक्यार्थानामव्यभिचारित्वसम्पादनार्थमियानयं प्रयासस्तथाऽपि विफल,
व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतशोऽनुभवादिति भावः।

यदि आप कहें कि जब साधारण व्यञ्जक से भी व्यङ्ग्य का होना प्रकाशकार आदि
प्राचीन आचार्यों को अभिमत है, तब असाधारण व्यञ्जक से उसका होना तो सुतराम
उन लोगों का अभिमत सिद्ध होता है, फिर तो असाधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना
(जो दीक्षित का अभिप्राय है) विरह नहीं होता। अतः अप पण्डितराज युक्तिविरोध
दिखलाने हैं—'किञ्च यदिदम्' इत्यादि। पण्डितराज दीक्षितजी से पूछते हैं कि आप जो
'ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि चीज के वाक्यों के अर्थों को वापी
ज्ञान में सङ्गत नहीं होने वाले बता कर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही सङ्गत होने वाले
(असाधारण) रचाने हैं, सो क्यों? व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो सके इसलिये? यह उत्तर
ठीक नहीं, क्योंकि व्यञ्जक का असाधारण होना अर्थात् व्यञ्जक वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से
सम्बन्ध रखे और किसीसे नहीं, इस बात का होना आवश्यक नहीं है।

देव व्यभिचारस्यलमुदाहरति—

'श्रीणिहं दोब्बल्लं चिंता अलसंतर्णं सणीससिअम्।

मह मद्भाङ्गीणिए केरं सहि । तुह वि परिभवइ ॥'

'श्रीभिद्रथं दौर्वल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्चसितम्।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि । त्वामपि परिभवति ॥' इति संस्कृतच्छाया।

कामुकान्तिके प्रहिता स्वयमेव तमुपभुञ्ज्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्ती सखी प्रति विदित-
सकलरहस्याया कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम्। अपि सखि । मन्द' शोभनकलाजि-
कृष्ट्यासौ भागो भागधेयमस्त्यस्यामिति मन्दभागिनी हीनभाषया, तस्या मम कृते मदर्थम्,
श्रीभिद्रथं निद्राराहित्यं प्रजागर इति यावत्, दौर्वल्यं दुर्बलता, चिन्ता विषयानुपानम्,
सनिश्चसितं निश्चयाससहितम्, अलसत्त्वमालस्यं च त्वामपि परिभवति पीडयतीत्यर्थः।

तथा च 'अर्थे कृतेऽप्ययं तावत् सादर्ये-वर्तते द्वयम्' इति कोशसार, 'भागो रूपाधिके
प्रोक्तो भागधेयैकदेशयो' इति विश्वः। आर्या छन्दः। काव्यप्रकाशसम्भते पाठे तु चतुर्थ-
चरणोऽहहेत्यधिकशब्दसमावेशेन मात्रात्रयाधिक्याद् गीतिरछन्दः।

'व्यञ्जक का असाधारण्य होना आवश्यक नहीं है' इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह
का उदाहरण दितलाते हैं, जहाँ हीन-साधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य हुआ है—'श्रीणिहं' इत्यादि।
नायक से स्वयं सम्भोग करके आई हुई दूती की चेष्टाओं को देख कर उससे नायिका

कहती है—हे सखि ! मुझ भगार्गी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और दम फूलना, ये सब पीदा दे रहे हैं अर्थात् मेरा दुर्भाग्य ऐसा प्रयत्न है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, साथ-साथ मेरे लिये तुझे भी कष्ट भोगना पड़ता है ।

प्रकृतोपादानमुपपादयति—

इत्यादी साधारणानामेवोन्निद्रादीनां चक्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्ज-
कताया अभ्युपगतेः ।

आदिमेनादिपदेन दौर्बल्यप्रवृत्तीना द्वितीयेन न प्रतिपाद्याया राह्या संग्रहः। अर्थविशेष-
कामुकोपभोगः ।

अत्रौनिद्रादीनां सेवान् प्रथमतःप्रयोगान्वापि सम्भव इति रोग-वियोगोभयसापा-
रणस्येऽपि वक्ष्या इतरहस्याया निवृत्ततर्जनपरमा नायिकाया, प्रतिपाद्याया- पूर्वमनेकदा
दृष्टदुष्टचेष्टाया सङ्घाथ वैशिष्ट्यात् तस्मान्मुकोपभोगो व्यज्यत इत्याचार्यैरङ्गीकृतम् । तथौ-
निद्रादीनां व्यञ्जकनामसाधारण्यविरहात्सङ्गत स्यादित्यसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वं
निश्चयत इत्याशयः ।

यहाँ जागरण आदि व्यञ्जक पदार्थ सर्वथा साधारण हैं, अर्थात् सम्भोग, वियोग, रोग प्रवृत्ति कतिपय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यञ्जकों से दूती का सम्भोग व्यङ्ग्य होता है, ऐसा सभी आचार्यों ने माना है । यद्यपि आप यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि भाई ! जब जागरण आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो सम्भोग, वियोग, रोग सबसे हो सकते हैं, तब इनसे सम्भोग ही क्यों व्यङ्ग्य हुआ ? इसका समाधान यह है कि बोलने वाली नायिका और प्रतिपाद्य दूती में कुछ ऐसी विलक्षणता है, जिस पर गौर करने से सहृदयों के मन में सम्भोगरूप अर्थ अभिप्रेक्त हो उठता है । अर्थात् कहने वाली नायिका का मुख तमतमाया सा है, वाणी रच है, जो समवेदनासूचक नहीं हो सकती इसी तरह दूती के मुख पर भय की छाया है, उसकी दुष्ट चेष्टायें अनेक बार पहले पकड़ी जा चुकी हैं, इन सब विलक्षणताओं पर ध्यान देने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि दूती अपराधिनी है और नायिका उसे प्रबुद्धरूप से तर्जना दे रही है । इतना समझ लेने पर दूती के (नायिका के पति के साथ) सम्भोगरूप अपराध को समझने में किसी सहृदय को विलम्ब कैसे हो सकता है ? इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक का असाधारण होना व्यङ्ग्य होने का उपाय नहीं है, किन्तु वक्ता और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही उसका नियामक है ।

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वेऽपि क्वचित्पुनस्तस्य सति तंगवे कथनं कथम-
सङ्गतमित्यरुचेदोपान्तरमाह—

प्रत्युत्सासाधारण्यस्य च्याप्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिफूलत्वाच्च ।

प्रत्युत्पुनैपरीत्यार्थकमव्ययम् । व्यप्यत्वेनाभिमतस्य व्यापकाभावाधिकरणारत्तित्वं
व्याप्तिः । यदि व्यञ्जवानामपि हेतूनामनुमितिहेतुवद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्यं कथमपि भवेत्,
तर्हि ततो व्यङ्ग्यस्य सुतरामनुमितरेव स्यात्, तथाच व्यञ्जनाया आनर्थन्यमिति व्यञ्जक-
साधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनोच्छेदलक्षणं विपरीतमेव फलमापद्येत, तस्मान्नासाधारण्यं व्यञ्ज-
कानामुचितमित्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि सर्वत्र असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी भले ही न हों परन्तु स्थलविशेष में अगर व्यञ्जक असाधारण हो तो उसका प्रतिपादन असङ्गत क्यों होगा ? इसी अर्थवि को ध्यान में रखकर अन्वयान्तर दोषान्तर का उल्लेख करते हैं—'अपुनः' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी नहीं हो सकता,

अपित् प्रतिकूल ही होगा, क्योंकि असाधारण्य अर्थात् व्यञ्जक अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ मात्र से सम्बन्ध रखना व्याप्तिरूप ही सिद्ध होगा, फिर तो उस व्याप्ति से विशिष्ट, व्यञ्जक-रूप हेतु से व्यङ्ग्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनाव्याप्ति ही ही अभिमत नहीं हो सकता है ।

व्यञ्जनासाधारण्यं पुनरपरथा निराकरोति—

अथ तटादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, सलिलार्द्रवसनकरणकप्रोच्छ्रनादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन क' पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्यस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च ।

प्रथम आदिराब्देऽनुरागमलान्यतिशयादीन्, द्वितीयरतुश्लविन्दुपातादीन् राष्ट्र्याति । रलिलेनार्द्रं क्लृप्तं यद्बसनं, तत्करणं यस्य यत्र वा, तत्ताहशं प्रोच्छ्रनं वक्ष = प्रश्लेषणानाम् । 'वापीस्नानव्यावर्तनेत्यत प्राक् 'तटाद्युपादानात्' इति शेष । पुरुषार्थं पुरुषोचमफलम् । व्यभिचारस्य तथाऽपि जागरूकत्वं फलभावे हेतु । 'ज्ञाताया' इत्यत्र 'जाताया' इति पाठस्तु कस्यचिचिन्त्य एव व्यभिचारस्य ज्ञातस्थैव (न तु स्वरूपसत) व्याप्तिप्रहविषटकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धकत्वात् ।

तटाद्युपादानेन वापीस्नानं व्यावर्त्य निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां कामुकोपभोगसाधारण्य सम्पिपादयिषतस्तवामीष्टसिद्धिर्दुर्घटैव, तथा स्तनतटात्यन्तचन्दनचयवनादीनामार्द्रवसनकरणकप्रोच्छ्रनादिभिरपि जननसम्भवात् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैधुर्येण व्यभिचारस्य जागरूकतयाऽसाधारण्यस्य प्रतिष्ठानासम्भवान् । इत्थं च यथाऽनेकेषु स्थलेषु, तथा कुत्रचिदेकत्रापि स्थले दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमिते प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्यभिचारितया त्वन्मते व्यङ्ग्यघोषविरह एवापद्येत । मन्मते तु वैयञ्जनिकघोषे हेतुसाधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वाच्च क्षतिरिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'नि शेषव्युत्तचन्दनम्' इस पद्य में 'उपरिभागवाचक तट आदि पदों से रचित वाक्यों का अर्थ यद्यपि ऐसा है जो स्नान प्रभृति में नहीं लग सकते, तथापि वे असाधारण नहीं हैं अर्थात् सम्भोगमात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीले कपड़े से पोंछे देने पर भी सर्वथा ऊपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे असाधारण नहीं होंगे, तब अनुमान की बात उठ नहीं सकती, इसके उचार में हम प्रश्नकर्त्ता से यह पूछना चाहेंगे कि जब आप 'ऊपरभाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक वाक्यार्थ को असाधारण नहीं बनाना चाहते अर्थात् गीले कपड़े से पोंछने पर भी होने वाले ही मानते हैं, तब वापी स्नान से वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या लाभ उठाये ? क्योंकि जैसे एक स्थान पर व्यभिचरित होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना, अनुमान के प्रतिकूल और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी । अतः चन्दन मिटने का सम्बन्ध सबसे रहने क्षीयिष्ये, किसी से उसके सम्बन्ध को विच्छिन्न करने का प्रयास व्यर्थ है ।

नन्विद्वैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते' इत्येवकारघटितवाक्यमुल्लिखन्निर्ममटमद्वैर्यदेव व्यञ्जकानामसाधारण्य सूचितम्, तदेव गयाऽपि वापीस्नानव्यावर्तनमुखेनोक्तम्, न तु नूतनं किञ्चिदिति मनसिकृत्याभिधत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकमामनं रमणरूपफलाशयेति द्वयं घटकम् । तत्र तात्र तदन्तिक गताऽसीत्यंशस्य त्वन्मते

व्यङ्ग्यत्वं दुरुपपादम्, त्वदुक्करीत्या विरोपणवाक्यार्थानां निश्शेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वान् वाच्यकदागतप्रधानवाक्यार्थीभूत-विधि-निषेधप्रतिपादकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विषेध प्रतीतेरुपपत्तेः ।

आपि चेति सङ्गतप्रकारान्तरत्वसूचकम् । शरीरनाशः स्वरूपमिति जावत् । घटकं तदन्तर्बर्तितं । तन्नात इत्यनेन स्वमते तद्व्यङ्ग्यतायां सुपपादत्वं सूच्यते । त्वदुक्करीत्या विरोपणवाक्यार्थानां तदादिपठितत्वेन सम्भोगासाधारण्यमित्येवंरूपया । वापीस्नाने तेषां बाधितत्वं सम्भोगासाधारण्यैव । वाच्यकदागतामभिधेयकैट्टै गतौ प्रातौ, प्रधानवाक्यार्थी-भूतौ 'वापीस्नानुमितौ [गताऽसि] 'तस्याद्यनस्यान्तिकं पुनर्नगताऽसि' इति वाक्यार्थयोः क्लेनेन प्रधानीभूतौ यौ विधि-निषेधौ, तयोः प्रतिपादकत्वां बोधकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादिबद्धवैपरीत्यलक्षणसम्बन्ध-मूलकलक्षणलक्षणया, क्लेनेन (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतेत्यनेन) विषेध प्रतीतेरिति सम्बन्धः ।

यदित्त्वदभिमत निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगनाशजन्यत्वं स्यात्, तदा वापीस्नान-जन्यस्वाभावात् तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतलक्षणया गतेत्यनेन गतिनिषेधस्य, न गते-त्यनेन गतिविषेध प्रतीतिः, तन्मूलकभ्रमजनना पुनः प्रयोजनस्य रमणरूपस्य केवलस्य प्रतीतिः स्यादिति 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽमी'ति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वम-सम्भवमेव । मन्त्रते तु विरोपणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्यमावाद् वापीस्नानेऽपि वापि-तत्वविरहेणात्र लक्षणायाः प्रसरणाभावात् समस्तवाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमशतमेवेति तेषाम-साधारण्यं विरोपणवाक्यार्थानां दुरुपपादनेवेत्याहृतम् ।

दीक्षित-भक्त-खण्डन-प्रसङ्ग में अथ एक दूसरी युक्ति ग्रन्थकार देते हैं—'अनिचात्र' इत्यादि, 'नि-शेषव्युत्पन्नत्वम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'तूँ (दूती) उसके पास रमण करने गई थी ।' इस व्यङ्ग्य में दो अंश हैं । उनमें से एक अंश है 'उसके पास गई थी' यह और दूसरा अंश है 'रमण' जो फलरूप है । अब दीक्षित की व्याख्या के अनुसार 'उसके पास गई थी' यह अंश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी व्याख्या के मुताबिक 'नि-शेषव्युत्पन्नत्वम्' इत्यादि वाच्यों का जो मुख्य अर्थ है 'वापी में स्नान करने गई थी, उस अर्थ के पास नहीं' वह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता । अतः अन्वया 'मुष्णार्थं गणे तद्व्युक्त' इत्यादि रीति से यहाँ विनयी लक्षणा करनी पड़ेगी, जिससे वाच्यकोटि में जहाँ 'नहीं गई थी' है वहाँ 'गई थी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई थी' है, वहाँ 'नहीं गई थी' अर्थ होगा, अन्यथा वाच्य अर्थ सङ्गत ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणावृत्ति से ही 'उसके पास गई थी' यह अंश ज्ञात हो जायगा, तब उस अंश को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

ननु तदन्तिकमनाशस्याप्रबाधितत्वेन लक्षणजन्यत्वेऽपि व्यङ्ग्यतावैयर्थ्यं कुनो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थवाच्येनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवैयर्थ्यतोचिता ।

उन्मीलिते लक्षणया बोधिते । व्यक्तिवैयर्थ्यता व्यङ्ग्यताद्योप्यता ।

मुख्यार्थवाच्यहेतुत्वापित्तलक्षणाजन्यप्रतीतिविशेषोऽर्थो यस्माद् व्यङ्ग्यजन्यबोधोपनिषो न भवति, तस्मान् तदन्तिकमनाशस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवीति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से समस्त में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—'नदि मृत्पाथ' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि साहित्य जगत् में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है । 'अनीधित्या

इते नान्यदसम्भ्रस्यकारणम्' कहा गया है। और किसी भी वृत्ति से समझ में आ जाने वाले अर्थ को पुनः व्यञ्जना से समझें यह अनुचित तथा व्यर्थ है। अतः लक्षणा से समझा गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से समझने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है।

उदाहरणप्रदर्शनोक्तमर्थं द्रव्यति—

यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः ।' इत्यत्र कर्तृविशेषणात्पुपपत्त्यधीनोद्भासे पूर्णत्वाभावे ।

शुष्ककल्पं तडागं निन्दत कस्यचिद् भणितिरियम् । यत्र यस्मिन् सरसि लुठन्त इतस्तत् परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमक्कु शक्यन्वन्त, मानवा, स्नान्ति, तादृशमिदम्, अहो अद्भुतं, पूर्णं सलिलैररिक्तं, सर सरोवरमस्तीत्यर्थ । कर्तृणा स्नानकर्तृणा विशेषणस्य लोठनस्यानुपपत्त्यधीन सरस पूर्णत्वेऽन्वयानुपपत्त्या जनित ध्वत्सातो लक्षणिको बोधो यस्य, तादृशो पूर्णत्वाभावे रिक्तत्वे न व्यञ्जनेति शेष ।

'लुठन्त' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्वयस्य बाधाहक्षणया प्रत्याख्यमानः पूर्णत्वाभावो यथा व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रकृते भवदुक्तव्यङ्ग्यप्रथमाशोऽपि न भवेदिति भावः ।

अमुमेवार्थं चित्रमीमासाखण्डने—'एवं च तटादिघटिताना वाक्यार्थाना मुख्यार्थवापी-स्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधिलक्षणाया 'वापीं स्नातु न गताऽसि, किन्तु तदन्तिकम्' इति प्रतिपत्तौ विगलितव्यञ्जनाव्यापारेण यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्त स्नान्ति मानवा' इत्यत्र 'लुठन्त' इति विशेषणस्य मुख्येऽर्थेऽनुपपत्त्या विरुद्धोऽर्थो भासमानोऽपि न व्यङ्ग्य ।' इति सन्दर्भेण पण्डितराज स्वयं स्फुटीचकार ।

लक्षणा-बोध-अर्थ व्यङ्ग्य नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण [दिललाकर बंद करते हैं—'यथा' इत्यादि । 'अहा ! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य लोटते हुए स्नान करते हैं'। जो जलाशय जल से पूर्ण रहेगा उसमें लोग लोटते हुए स्नान नहीं करते, अपितु बुयकियाँ लगाते हैं, और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'लोटते हुये' कहा गया है, जिससे सरोवर का विशेषण जो कहा गया है 'भरा हुआ' उसका अर्थ बाधित हो जाता है अर्थात् उसका अन्वय 'लोटते हुए' के साथ नहीं बैठता, अतः पूर्ण पद की पूर्णत्वाभाव (नहीं भरा हुआ) में विपरीत लक्षणा करनी पड़ती है, इस स्थिति में जैसे 'सरोवर पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाता है, व्यङ्ग्य नहीं, वैसे ही दीक्षित की शैली से 'उसके समीप गई थी, नहाने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षणा के विषय हो जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयाशस्य व्यञ्जनावोच्यत्वत्वक्षतमेकेत्याक्षेपं समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलारास्य लक्ष्यशक्तिमूलध्वननवेद्यत्वमव्याहृतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना सन्दर्भेण भवतैरार्यापत्तिवेद्यतायाः स्फुटं पचनात् ।

लक्षणावेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणाजन्यबोधविषयत्वेऽपि । रमण कामुकोपभोग । लक्ष्यस्य बोधिका शक्तिर्लक्षणा मूल यस्य, तादृशं ध्वननं लक्षणा मूला व्यञ्जना । चित्रमीमासाग्रन्थ-संवादाय 'वक्षोत्वस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहित । उक्तप्रतिपत्तिनायिकाया अपकृष्ट-णातिवनायकेऽनुरागानौचित्यात् तन्नायिकायास्तत्कपनानौचित्यम् । आदिशब्देन 'नापि

स्वापराधपर्यवसायिदूतीसम्भोगादिहीनकर्मातिरिचि न कर्मणा । ताद्यं दूतीप्रेषणात् प्राचीनं सर्वं श्लोकेवेति नोद्घाटनाईम् । अन्यथा स्वयं दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेः । इत्यादि पुरस्तान्मूलेऽप्युपदेक्ष्यमाणं चित्रमीमांसाप्रकरणं परागृह्यते ।

अप्यप्यदीक्षितप्रते रमणरूपफलाशस्यापि व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्तिगम्यत्वमेव, यतस्तदुक्तरीत्या रमणं विना नायकाधमत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तेनार्थापत्त्यैव स्वोपपादकं तद् बोध्यते, न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्याभ्यते । तथाहि—जात्या नायकस्याधमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्बलमेव, दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधानां सोढत्वाच्च तैरप्यधमत्वं दुष्पपादमेवेत्यनायत्या दूतीसम्प्रेषणोत्तरकालिकं दूतीसम्भोगलक्षणमेव प्रामाण्यशासनगर्हितं नायकस्य कर्म तदुपपादकमागूर्यत इति स्फुटतरं तदीयसन्दर्भाशयेऽर्थापत्तिवेद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्रायः ।

अथ यदि यहाँ आप कहें कि 'उसके पास गई थी' यह अंश लक्षणा से ज्ञात हो जाने के कारण स्पष्ट नहीं हो सकता, न हो 'रमण' जो फलरूप होने से मुख्य है—अंशतो-लक्षणांमूला व्यञ्जना से व्यङ्ग्य होगा ही और उसी मुख्य व्यङ्ग्य को लेकर इस श्लोक में ध्वनिकाव्य का लक्षण सङ्घटित करेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमांसा' में उस अंश को भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से समझने योग्य कहा है । यदि कोई पूछे कि कैसे ? तो सुनिये—'चित्रमीमांसा' में उसने कहा 'अधम का मतलब है अपकृष्ट और अपकृष्ट कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जाति से अथवा कर्म से । अथ सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नायक के लिये अधम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस आशय से ? जाति से अपकृष्ट समझकर अथवा कर्म से ? उत्तर स्पष्ट है कि कर्म से ही अपकृष्ट समझकर उक्त प्रयोग नायिका ने किया होगा, क्योंकि उत्तम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को जाति से हीन होने के नाते अपकृष्ट नहीं समझ सकती और न उसके चलते अधम ही कह सकती' इत्यादि । अब जरा सद्बुद्धयगण गौर करें कि 'रमण' 'अर्थापत्ति' से ज्ञात होगा या नहीं ? मैं कहूँगा जबरन होगा, क्योंकि नायिका जिस कर्म के चलते नायक को अधम समझने लगी वह कर्म दूतीप्रेषण से पूर्वकाल का नहीं हो सकता, अन्यथा दूती को वह भेजती ही नहीं, फलतः दूती के भेजने के बाद का जो (अपकृष्ट) है, उसी में नायक के द्वारा किये गये किसी कुकर्म को लक्ष्य कर नायिका नायक को अधम कह रही है यह निश्चित है फिर तो अधम कहने से माध्यकालिक नायक का यह दूती-सम्भोग-रूप-कुकर्म अर्थात् लक्ष्य हो ही जायगा ।

ननु दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आक्षेपे—
अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थताया अस्वीकृतेः ।

'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ' इति सिद्धान्तेन प्रकृते दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिव्योप्यत्वेऽन्यलभ्यत्वाद् व्यञ्जनावेद्यत्वं न स्यादित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थापत्तिवेद्य होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलायगा ? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'अनन्य' इत्यादि । 'अन्य किसी भी युक्ति से जो समझ में नहीं आ सकता हो, उसी को किसी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है । अतः अन्य—अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य समझ में आने योग्य उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है ।

नन्वर्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिवियैव चारिताभ्यात् प्रमाणान्तरत्वस्य तार्किकादिभिरनभ्युपगमाद् धृतिवाभावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्वेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वं निर्बाधमेवेत्याशङ्कामन्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुरु वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न तवेष्ट-

सिद्धिः, वाच्यानां निरशेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्-
रीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

यथाकथञ्चिदर्थोपत्तेरतिरिक्तत्वाभावादस्वीकारेण । तव विशेषणवाक्यार्थासाधारण्य-
वादिन । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यङ्ग्यत्वतया प्रकृतकाव्ये ध्वनित्वस्य न सिद्धिः । त्वदु-
क्रीत्याऽसाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा जात्या वा । गुणीभूतव्य-
ङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्धयङ्ग्यत्वव्यङ्ग्यत्वरूपस्य प्रसङ्गादापत्तेः ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्ववैऽपि त विना वाच्यावमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्य
वाच्यसिद्धयङ्ग्यत्वतया गुणीभूतत्वादस्य काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वं भवदभि-
मतमिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'अर्थापत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, नैयायिकों ने उसको
अनुमान में ही गतार्थ किया है, फिर उसको पृथक् प्रमाण मानकर उससे किसी अर्थ को
समझने की बात करना उन्नत प्रलाप सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई
आपत्ति नहीं है, तो पण्डितराज इस तर्क को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का
खण्डन करते हैं—'अपि न' इत्यादि कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किसी तरह
व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बात मान ली जाय तथापि आप को इष्टसिद्धि नहीं हो
सकती, अर्थात् यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'रतनों के ऊपर
भाग का चन्दन मिटना, नीचले होठ का हीरक उड़ना तथा नायक का अधम होना' ये
सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिमाय से केवल दूती सम्भोग से ही हो सकते हैं,
वापीस्तान आदि से नहीं और वह दूती सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह सिद्ध
हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य ही वाच्य अर्थ को सङ्गत बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ
की अपेक्षा गौण हो जायगा, जिससे यह पद्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य का
उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य का नहीं ।

उपसहरति—

एव अपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

एननुक्तीत्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च ।
अपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकारायनुरोधत्यागधापिना सूच्यते दूरणम् ।
इम तरह से दीक्षित के मन में युक्ति विरोध भी है, अतः उनका मत असङ्गत है ।
इयमत्राप्यव्यदीक्षितदर्शितदिशा सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य काव्यप्रकाशाद्यनुरोध-
परवशः स्वमतेन पुनरपरथा स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद्वाच्यार्थासाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषण-
वाक्यार्थानाम् ।

तस्माद्साधारण्याङ्गीकारे प्रायुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्ताने साधारण्यमेव, न तु
व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च 'द्वयै पदैः पिशुनयेव रहस्य-
वस्तु' इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्तानयो साधारण्या एव तदुक्तेरौचित्यम्, न तु
पामरनारीवत् स्पष्टतरार्थायाः । निरूपिताना योधिताना कथिताना वा ।

इसलिये यह समझना चाहिये कि अति अनुर नायिका के मुख से निकले हुए 'निरशेष-
च्युतचन्दनम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा ही होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्तान)
और व्यङ्ग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लय सके, व कि ऐसा
जो केवल व्यङ्ग्य सम्भोग में ही लगे ।

न हि विदग्धानायाः स्फुटतरं वक्तुं शक्नुयाद्दृश्यमिति वाच्यव्यङ्ग्योभयसाधारण्यमेवो-
चितं विशेषणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्तद्यं विवृणोति—

तथाहि—‘अपि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ! स्वार्थपरायणे ! स्नानका-
लातिक्रमभयवशेन नदी-मदीयप्रिययोरन्तिकमगत्यैव, वापीं स्नातुम्, इतो मद-
न्तिकाद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्ति-
न्तिकम् । यतो निरशेषच्युतचन्दनं स्तनयास्तदभैत्र नीरःस्थलम्, वापीगतवहु-
लद्युनजन-त्रपापारवस्यादसद्व्यलम्नाम-स्वस्तिकीकृत-भुजलतायुगलेन तदस्यै-
वोन्नततया मुहुरामर्शान् । एव त्वरया सम्यगज्ञानेनोत्तरोष्ठो न निर्गृष्टरागः,
अधरस्तु तदपेक्षया गण्डूपजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसम्भवेनाह-
तीति तथा । किं च—सम्यगज्ञानेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग
एमानञ्जने । शीतप्रशात् तानवाय तव तनुः पुलकिता, इति । एव तस्या विदग्धा-
या गूढतात्पर्येणोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्तेः ।

एवं साधारण्येषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे वाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य ऋटित्य-
नाकलनात् कुनोऽत्र लक्षणाऽवकाशाः । अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्यकृत्योद्ध-
व्य-नायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीती सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःख-
दातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तर-निमित्तक-दुःख-
दातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक-दुःखदातृत्वानुरेण
पर्ययस्यतीत्यालङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः ।

स्वार्थपरायण इत्यनेन बान्धवैत्यादिसम्बोधनफलितार्थरूपनम् । यथा नायिकाप्रियस्य
च दूरस्थतया तदन्तिकवागमने वापीगमने च स्नानकालातिक्रमो हेतुः । इत इत्यस्य विवरणं
मदन्तिरिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय परेत्याद्यधमत्वतत्प्रादकोपादानम् ।
वाच्यार्थं गतं स्नानकालं स्थिता, बहुला भूयासो ये युवजना, तैम्बरतत्सम्बन्धिनां वा
यात्राया ता युवत्या लब्ध, तस्या पारवश्यात् तन्वारतन्व्यात् । असद्व्ये स्वन्धसुगले, लम्बः
सम्बद्ध, अप्र कररूपोऽप्रभागो यस्य, तादृशं स्वस्तिकीकृतमर्धमुकुलीकृतं च यद् भुजलता-
युगलं तेनेति मन्मन्थ । मुहुरामर्शं स्तनतटौघत्यं हेतु । एवं-त्रपापारवश्यात् । त्रपापारव-
शयं त्वरामा मूलम्, त्वरामूलश्च सम्यक् क्षालनाभाव । तथा-निर्गृष्टरागः । मात्रशब्दे-
नाङ्गुलिसंसर्गव्यवच्छेद । शीतेति भावप्रधाननिर्देश । तानवं कोमलता अशयं च । व्याख्या-
नपर्यवसानसूचक इति शब्दः । एवमुक्ते प्रकारः । तस्या वक्तव्या नायिकायाः । गूढं साजा-
रणशीलाङ्गिजनवियं तात्पर्यमाशयो यस्या इति बहुव्रीहिः । उक्तगूढतात्पर्ये धीर्जं वैदग्ध्य-
मेव । अत एवोक्तेरगूढार्थक्ये तद्गुह्यप्रसङ्ग । मुख्यार्थवाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुभय-
साधारण्यं हेतुः । एवं मुख्यार्थवाधविरहाङ्गुल्याया अप्रसङ्गे । मुख्यार्थे वापीस्नाने । अनन्तरं
वाच्यार्थबोधोत्तरम् । वनत्री विदग्धोत्तमनायिका, बोद्धव्या पुंश्ली दूती, काठप्रवृत्तिव्यादिपदेन
प्रतिपाद्यते । तात्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवैतेच्छान्विषयीभूतलक्ष्यार्थस्य ऋटिति व्यञ्जनाव्यापारेण
विनाऽनाकलनादनुपस्थिते । स्वप्रवृत्तिप्रयोजक-स्वोच्चारणकारणीभूत । अपराधान्तरं तीव्र-
विरहवेदनोपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्तं यस्य, तादृशं दुःखदातृत्वम् । तच्च दुःखं

वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तकं, व्यङ्ग्यप्रतीतौ तु निषिद्धदृतीसम्भोगनिमित्तकं भासते ।
श्रालङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्ष इत्यनेन स्वमतस्य द्रष्टिमा सूच्यते ।

इदमाकृतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यक्ततरार्यक्याक्योपादानानौचि-
त्याद् विशेषणवाक्यार्थाना सम्भोगासाधारण्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिरूपाम्नीष्टसिद्धेरभावात्, तेषा
सम्भोगस्नानयोरुक्तरीत्या साधारण्यमेवोचितम् । अधमत्वसम्पादकधर्मोऽपि तु खदातृत्वरूप
एव प्रहीतुं युक्तं, वाच्यव्यङ्ग्यकक्षयोरन्वयानुकृत्यात् । पदार्थोपस्थितिकाल एव वाच्यार्था-
न्वयवाधप्रवृत्तौ च न विपरीतलक्षणा । किन्तु स्नानपक्षीयवाच्यार्थप्रतीतौ वाच्यमात्रविदा-
मवसिताया, प्रकरणादिपर्यालोचनेन काव्यार्थभावनाप्रसाधितयिया सम्भोगपक्षयोर्धर्म आधा-
न्येन वैयञ्जनिकप्रतीतिपदवामवतरं चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन्
ध्वनित्वेन व्यपदेशयति । दीक्षितदर्शितदिशा तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो वञ्चलेपायित एव ।

अब जिससे उक्त दोषों का अवकाश न हो, तथा यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण
हो सके, ऐसी व्याख्या उक्त श्लोक की पण्डितराज करते हैं—'तथादि' इत्यादि । 'वो अर्थ
वाले पदों से रहस्य वस्तु को सूचित करना चाहिये' इस नियम के अनुसार चतुर नायिका
दूती से कहती है—'हे दूति ! तू बड़ी स्वाधीनी हो, तभी तो मुझ जैसी सखी के दिल में
बढ़ती हुई पीड़ा का कुछ भी खाल न कर अपने स्नान समय के चूक जाने के भय से मेरे
प्रिय के पास नहीं गई, न नदी किनारे ही गई (क्योंकि वह भी दूर था) और सीधे मेरे
पास से बापी पर स्नान करने चली गई । दूसरे की पीड़ा को (जानते हुए भी) न
जानकर तू ख देने वाला मेरा वह नायक भी अधम ही है (अन्यथा बुलाने के लिये तुझे
भेजने की अपेक्षा ही नहीं पड़ती) तू उस अधम के पास नहीं गई वरन स्नान करने चली
गई यह बात तेरी चेष्टाओं से ही सूचित हो रही है । देखो तेरी छाती में चन्दन
ज्यों का त्यों बना हुआ है पर स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है और
पेसा इसलिये हुआ है कि बापी पर बहुतरे सुक स्नान करते रहे होंगे, अतः तूने लज्जा के
मारे अपने मुँह हुये हाथों को कन्धे पर रखकर केदुनी से स्तनों को मला होगा, जिससे
ऊँचे स्तन के ऊपर भाग पर ही सङ्घर्ष हो सका, निम्नभाग में नहीं इसी तरह शीघ्रता
से ठीक से न धो सकने के कारण ऊपर के होठ की लाली कुछ-कुछ घनी रही परन्तु नीचे
का होठ उपरी होठ की अपेक्षा अधिक तुल्लों का जल, दांत स्वच्छ करने की अहुली आदि
के सङ्घर्ष लगाने से सर्वथा स्वच्छ हो गया और ठीक से नहीं धो सकने के कारण ही
धोखों में जल का ही संसर्ग ही पाया (अहुलियों का नहीं) इसलिये ऊपर ऊपर का ही
कज्जल मिट सका (भीतर का नहीं) इसी तरह अधिक लण्ड पड़ने से दुबला, पतला
तेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया है ।' इस प्रकार चतुर नायिका की उक्ति ऐसी ही होनी
चाहिये, जिसका अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी ।
इसी तरह से जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से
होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने के लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा, वक्ता
का तात्पर्य श्रुत से समझने में नहीं आवेगा, अतः लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा ।
वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिसके प्रति यह पद्य कहा जा
रहा है, उस दूती जिसको बुलाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा
वक्तव्य की विलक्षणताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् जब काव्य मर्मज्ञ सहृदय सोचेंगे कि
यह नायिका विरहणी है, दूती स्वेच्छाचारिणी है, इस तरह पतिव्रता प्रेयसी की उपेक्षा
करने वाला नायक भी ब्यभिचारी होगा और नायिका की उक्ति भी अनेक अर्थों से युक्त है,
अगर स्नान की ही बात कहनी होती तो फिर इस तरह के दो दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग
करने की क्या आवश्यकता थी ? इत्यादि सद्य सहृदयों के भक्तिष्क में यह बात आयागी
कि हमने जो 'नायिका साधारण हुरग देने के कारण ही नायक को अधम कह रही है' ऐसा

वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है अथवा कोई विशेष कष्ट नायिका को नायक ने दिया है, अतः वह नायक को अधम कह रही है, परन्तु वह विशेष कष्ट कौन सा हो सकता है ? इस तरह निशासा उत्पन्न होने पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि नायक ने इस दूती से सम्भोग किया है जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ श्लेष भी, अतः पूव नायिका पतिव्रता होकर भी पति के प्रति कटु वचन का प्रयोग कर रही है, अधम कह रही है। यही अलङ्कारशास्त्रमर्मज्ञों के सिद्धान्त का सार है।

पूर्वोक्तनोत्थैव पुनरप्यव्यर्थाक्षितोत्तमपदपर्यायव्याख्यानमपि दूषयति—

एतेन—अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति। नापि स्वापराधपर्यवसायि-दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा। तादृशं च दूतीसम्प्रेषणात् प्राचीन सोढमेवेति नोद्धाटनार्हमितीतरव्यापृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति। इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्, विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमलितमामनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसह्यतया दूती प्रति प्रतिपिपादयिपितत्वादिति शिक्।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकायाः कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सखीसमक्षं स्पष्टमुद्रायितुमत्यन्तमनर्हत्वेन, नर्शितदिशा व्यक्त्यपर्यादयैश्च तद्वोधनौचित्येन च। अधमेत्यादिश्लेषमोनासाप्रयोगो दीक्षितस्य। जात्याऽधमत्वं द्विजातिभिन्नानाम्, कर्मणा तु द्विजातीनामपि। नायिकाया उत्तमत्वमुच्चकुलोत्पन्नत्वेन विदग्धतया प्रकृत्या च। जात्यपकर्षकयने नायिकाया नोचकुलोत्पन्नानाकानुरागानौचित्यादुत्तमत्वमङ्गप्रसङ्गः। स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीकर्मकोपभोग आदियेषा तानि यावन्ति हीनान्यपकर्षप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन भिद्येन। अतितमाप्राचीन-दूती-प्रेषणात् पूर्वश्लेषे विहितम्। इतरव्यापृत्त्याऽधमत्वप्रयोजकमन्तरव्यवच्छेदेन। इतिशब्दः प्रकृतविवारपर्यवसानम्, दिक्छन्दस्तदमिमच्छेदिसम्भावना च सूचयतः।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाख्याने नायिकाया वैदग्ध्यमङ्गप्रसङ्गात् पूर्ववदधमपदमन्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जकमेवेति सारम्।

महामहोपाध्यायगङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—‘इदमत्र दीक्षिताकृतम्। वाच्यसिद्धपङ्ग (व्यञ्ज्य)-रूपमध्यमज्ञव्यता तत्रैव, यत्र व्यञ्ज्यार्थोपस्कृतं वाच्यं धर्षणाविभ्रमधाम, न तु व्यञ्ज्यार्थान्तरोपस्कारकमपि। यथा त्वयैवोदाहृते—‘राघवविरह—’ इत्यादि पद्ये। ‘कुप्यन्ति’ इति कोपसर्व्वं व्यञ्ज्यार्थोपस्कृतस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्यन्यद्वन्पते।

यत्र तु वाच्यार्थताऽवच्छेदकमेव स्वरूपेणातुपपन्नं व्यञ्ज्यं स्योपपादकतया न्यग्भावयति, यथा—‘गच्छाम्यच्युत !’ इत्यादि पद्ये, ‘आमन्त्रणमङ्गिसूचित-’ इति सूचनपदार्थताऽवच्छेदकस्याच्युतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाष्यैव निराकाङ्क्षशान्दधीपर्यवसायित्वम्, तत्र विशिष्टवोधोपीयप्राधान्यविरहेऽपि कविसंरम्भपर्यवसानभूनितासामान्यात् पूर्वप्रदर्शितस्वरूपकत्वं न हीयते।

अन्यथा ‘स नास्ति कश्चिद् विषयः’ इत्यादि प्रकाशदर्शितदिशा सामाजिकप्रतिमानात्रकल्पनीयव्यञ्ज्यविरहासम्भवेन सर्पस्यैव काव्यस्य मध्यमध्वन्यदल एवोदाहरणोपपादोऽपत्तेः।

अत एवाहुः—‘प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति’ इति । प्राधान्य चात्रार्थं न तु शाब्दम्, तस्य प्रवृत्त्यादावौदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रकृतेऽधमपदव्यञ्जनीय-सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोक्ष्यमाणाना स्तनतटा-दिपदद्योत्यार्थाना गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च स्वतर्कितत्वप्रकारकसुबोधविपालक्षणार्थप्राधान्यमद्भावेन तत्प्रयुक्तमुत्तमत्वं को निवारयेत् ।

अन्यथा भवदुर्दशितदिशावपि वापीगमनोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं कथं निवारणीयम् । प्रत्युत भवदुर्दशितकम एव दोषो दुर्बारे वापीगमनस्य वाच्यत्वान् । सम्भोगस्य तु व्यङ्ग्यत्वेन धैपरीत्यात् ।

यदि तु नायिकाविधान्तिभूमितायाः सम्भोग एव कल्पनेन परिहरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यता-मनपहुत्य तुष्यतु भवान् । अत एव च नाय कव्यलिङ्गस्य विषय, उपपाद्योपपादकयो-रुभयोरेपि व्यङ्ग्यत्वात् । तटादिपदार्थाना केवलाभिधावलेनोपस्थिताना स्तनसम्भोगसाधारणत्वेन विदग्धनायिकात्रैशिष्यनिश्चयव्यञ्जनीयावधारणाना पुलकितैत्यत्र तयाविधविरोधस्य च व्यङ्ग्यताया दुरपह्यत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्तनतटाधवधारणव्यञ्जनीयत्वाभ्युपगमेऽनुमानप्रसारान्तपातितया व्यञ्जनाव्यापारनैरर्थभयेन साधारण्येन बोधविषयतोपपादनम्, तत् प्रकाराद्यमोल्लाम-शेपदर्शितदिशाऽवमत्वादेरिव स्तनतटादिमात्रचन्दनचयव(नादेरपि)प्रमाणप्रतिपन्नताविरहे-णाप्रमितस्यानुमापकतानङ्गकारेण व्याप्तिपरामर्शज्ञाने अनपेक्ष्य, प्रतिभामात्रद्योत्यताया अनुभवसिद्धत्वेन च न शिष्यत् । इतरथा ‘उन शिष्यल !’ इत्यादावपि निस्पन्दत्वेनाश्वस्त-ताया अनुनेयस्वैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्’ इत्याहुः ।

उक्त नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखलाते हैं—‘एतेन’ इत्यादि । ‘अधम पद का अर्थ अपकृष्ट-हीन है और अपकृष्टता मनुष्य में दो तरह से आसकती है—एक जाति द्वारा दूसरा कर्मद्वारा, अर्थात् हीन जातिके होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा हीन कर्म करने से हीन हो सकता है । उन दोनों में अपने नायक की जातिमूलक हीनता को उत्तम नायिका जवान पर नहीं ला सकती है । अब रही कर्म मूलक हीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती है, कारण ? हीन बनाने वाले कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूती सम्भोगरूप हीन कर्म करने वाले अपने नायक को ही उच्चम नायिका हीन-अधम कहती है, वह भी इस लिये कि दूती सम्भोगरूप हीनकर्म, घुमा फिरा फेर नायिका का अपना ही अपराध सिद्ध हो जाता है, इस तरह के हीन कर्म करने वाले नायक की उत्तम से उत्तम नायिका को भी लोग कह बैठते हैं—कि जब तुम में कोई खास दुर्गुण है, तब न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी कुलीना को छोड़कर एक साधारण दूती पर आसक है । और वैसे कर्म भी जो दूती को भेजने से पहले हुए थे वे सब सह ही लिप गए थे, अतः वे अब बोलने योग्य रह ही नहीं गए, इस लिये और सब कर्मों के छूट जाने से नायक का दूतीसम्भोगरूप हीन कर्म ही ऐसा सिद्ध होता है, जिससे यह अथवा सिद्ध होकर नायिका उसको अधम कहने लगी है’ इत्यादि जो दीक्षित ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त खण्डन युक्ति से ही पण्डित है, क्योंकि चतुर तथा उत्तम नायिका सरियों के समूह में ही उस (दूती) के साथ किए गए सम्भोग रूप अपने नायक के अपराध को स्पष्ट कहे, यह परम अनुचित है, अतः यह समझना चाहिए कि सह लिप गए नायक के पुराने अपराध ही आज नायिका के मन में किसी कारण से असह्य हो उठे हैं, जिससे नायिका उन अपराधों को ही दूती के सामने बोल उठी ।

एवं प्रथमं प्रस्तासुतमोत्तमं निरूप्य द्वितीयसुतमं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधानं व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यपेक्षया च गुणीभूतम् । एवञ्च-
शेषवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थः । द्वितीयसुतमं काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधानं व्यङ्ग्यार्थः
स्वज्ञानद्वारा चमत्कारस्य जनको भवति, तद् द्वितीयसुतमं काव्यमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्य के प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निरूपण कर चुकने के बाद अब
काव्य के द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में व्यङ्ग्य
अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय 'उत्तम' नामक काव्य कहलाना है,
अर्थात् जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा भी गौण हो—
किसी भी अर्थ से सुस्पष्ट नहीं हो—फिर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' काव्य है ।

लक्षणवाक्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यपेक्षया प्रधानीभूत व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायातिव्या-
प्तियारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

प्रधानीभूतं गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव विशेषणं न विरुद्धम्, वाच्य-व्यङ्ग्यान्तररूप-
निरूपकभेदान् । तेन द्वितीयसुतमव्यङ्ग्यात्समन्वयेन, तस्यापरव्यङ्ग्यात्प्रधानीभूतव्यङ्ग्यस्य, ध्वनित्व-
सुतमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यपेक्षया प्राधान्यात् ।

एवशाब्दस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयमित्येव
लक्षणं स्यात् । तथासति—'अथ स रसनोत्कर्षा पीनस्तनविमर्दनः । नाम्बूछनपनस्पर्शा
नीवीचिखंसनः करः ॥' इत्यादिष्वपराङ्गव्यङ्ग्योदाहरणेषु शृङ्गाररूपव्यङ्ग्यस्य वाच्यपेक्षया
प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यकक्षरमापेक्षयाऽप्रधान्याल्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् ।
एवशाब्दस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाऽप्राधान्यं विवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यपेक्षया
प्राधान्याल्लक्षणसङ्गमनाभावान्नातिव्याप्तिः

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया शोकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशेऽप्यतिव्याप्तिः
स्यादेवेति वाच्यम्, व्यङ्ग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुनः प्राधान्यं निवृत्ततश्चमत्कारोत्कर्षस्य सद्भावे
प्रमाणाभावात्, प्रदीपोदबोधतयोः शृङ्गारस्यैव कर्णोत्कर्षकताऽभिधानाच्च, वाच्यपेक्षया शृङ्गार-
स्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्वयत्र शृङ्गाररसस्थाधिभावरतिपरम्, रसस्यापरिच्छिन्नात्मकतया पराङ्गता-
सम्भवात् । प्रधानीभूतकक्षररसमादाय ध्वनित्वम्, गुणीभूतं शृङ्गाररूपाधिरतिमादाय चापर-
ङ्गव्यङ्ग्यरपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लक्षणवाक्य में 'अप्रधान होकर ही' इस अवधारण-नियम का निवेश क्यों किया गया
इसका फल दिखलाते हैं—'वाच्यपेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त अव-
धारण नहीं करेंगे, तब 'व्यङ्ग्य अप्रधान होकर चमत्कारजनक हो' यही लक्षण होगा,
और ऐसा लक्षण होने पर जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ से प्रधान और सुस्पष्ट व्यङ्ग्य से
गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, जैसे 'अथ स रसनोत्कर्षा, पीनस्तन
विमर्दनः । नाम्बूछनपनस्पर्शा, नीवीचिखंसनः करः ॥' इस अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यम
काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा कर्ण दोनों रस व्यङ्ग्य हैं, परन्तु आलम्बन नायक

की शृंगु हो जाने से कर्ण मुख्य और शृङ्गार तदपेक्षया गौण है) वाच्य से प्रधान होने पर भी शृङ्गार रूप व्यङ्ग्य कर्ण से तो गौण है, अत उक्त लक्षण के सञ्चित हो जाने से यह श्लोक उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कहलाने लगेगा। अत. 'अवधारण' का निवेश किया गया है। निवेश करने पर दोष नहीं हुआ, क्योंकि उस निवेश से यह मतलब निकलता है कि जो व्यङ्ग्य किसी से प्रधान न हो—सब से गौण ही हो, और वहाँ का शृङ्गार कर्ण से गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है। इस प्रकरण में शृङ्गार अथवा कर्ण पद से रति तथा शोकरूप स्थायीभाव समझना चाहिए अन्यथा रसों के सिद्धान्त दृष्टि से अपरिच्छिन्न पूर्ण घनानन्दस्वरूप माने जाने के कारण उनमें गौण प्रधानभाव असंगत होगा।

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजन प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रातिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि ।

लीनव्यङ्ग्यमस्फुटव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेद । वाच्यचित्र-मर्थालङ्कारोपस्कृतमविवक्षितव्यङ्ग्य चित्राख्य चतुर्थमधमकाव्यम् । तत्र व्यङ्ग्यस्य सर्वथाऽ-प्राधान्याद् द्वितीयभाव्यलक्षणतिव्याप्ति स्यादतश्चमत्कारकारणमिति निवेशितम् । तन्निवेशे तु तयोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वविरहाच्च दोष । 'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता । नादृष्टेन न दृष्टेन भवतालभ्यते सुखम् ।' इत्यस्फुटव्यङ्ग्योदाहरणे 'यथाऽदृष्टः कदाऽपि न स्या, तथा कुर्व' इति व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेऽपि सुखेन सहृदयैरपि प्रत्येतुमशक्यतया यथाऽचमत्कारित्वम्, तथैव 'वाणीर-कुलद्वृष्टीण सउणि-कोलाहल सुणन्तीण । घरकम्म-वापडाए बहुए सीअन्ति अज्ञाई ।'

'वानीरकुञ्जोऽनीशरकुनिकोलाहल शृङ्गारया । शृङ्गारमव्यापृताया च्च-। सीदन्त्यज्ञानि ॥'

(इतिच्छाया) इत्यमुन्दरव्यङ्ग्योदाहरणे 'दत्तसङ्केतो नायको वेतसीलताकुञ्ज प्रविष्ट' इति व्यङ्ग्यस्यापीति तदुपलक्षणमपीदमवगन्तव्यम् । इतरेषां तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराणां पूर्वेणैव व्यावृत्ति । एव वाच्यचित्रपद शब्दचित्रस्याप्युपलक्षकम् । यत्तु शब्दचित्रे व्यङ्ग्यभाव इति कैश्चिदुक्तम्, तन्न, तत्रापि बहुत्र भावव्यक्तेरानुभविक्त्वादव्यङ्ग्यपदस्याविवक्षितव्यङ्ग्यपरत-यैवाभियुक्तव्याख्यानान् ।

अथ लक्षणघटक व्यङ्ग्य में जो 'चमत्कार का कारण हो' ऐसा विशेषण दिया गया है, उसका प्रयोजन कहते हैं—'लीनव्यङ्ग्य' इत्यादि । वाच्यचित्र काव्यों में व्यङ्ग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्य उपमा रूपक आदि के चमत्कार में उसका चमत्कार विरोधित हो जाता है, फलतः व्यङ्ग्य में चमत्कार नहीं रहता, अत उन काव्यों में यह लक्षण नहीं जाता है, अथ चमत्कार कारण नहीं कहने पर लक्षण उनमें भी चला जायगा, इस लिये 'चमत्कार कारण' कहते हैं । कुछ लोग यहाँ की मूल पक्ति में लीन व्यङ्ग्य और वाच्य चित्र को अलग अलग दो परस्परल मानते हैं, उनके हिसाब से लीन व्यङ्ग्य अर्थात् अस्फुट व्यङ्ग्य नामक सुतीय काव्य और वाच्यचित्र नामक चतुर्थ काव्य दोमें जगह अतिव्याप्तिवारण के लिये लक्षण में चमत्कार-कारण विशेषण लगाया गया है, ऐसा समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रसङ्गवद्गत्या भट्टमम्मटकृततल्लेखे व्याख्यातुनिवेशित चित्रान्यत्व निराकरोति-यत्—'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इत्यादिकाव्यप्रकाशागतलक्षण्ये चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम्, तन्न, पर्यायोक्त-समासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वव्याप्त्या-पत्ते । तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्यतयायाश्चित्रतायाश्च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वात् ।

'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यं तु मध्यमम् ।' इति पूर्ण लक्षणम् । ल्लेखे गुणीभूत-व्यङ्ग्यलक्षणमध्यमकाव्यप्रकारइत्येति शेष । चित्रान्यत्व चित्रकाव्यभिन्नत्वं दत्त निवेशितम् । पर्यायोक्तसमासोक्तादय प्रधानानि येष्विति बहुव्रीहिः । आदिपदेन चमत्कारिव्यङ्ग्यभाजा-भावेपाप्रस्तुतप्रशसाप्रवृत्तीनामलङ्काराणां परिग्रह ।

यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यकल्पलक्षणे चित्रभिन्नत्वं निवेशयेत्, तर्हि पर्यायोक्तप्रभृत्यलङ्कार-
युक्तानां काव्यानामर्थचित्रत्वसत्त्वाद् व्यावृत्त्याऽऽप्रधानोभूतचमत्कारजनकव्यङ्ग्यसद्भावादिष्ट-
मपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यादतश्चित्रान्यत्वं न निवेशनीयम् । न चैकत्रैव काव्यद्वयव्यव-
हारोऽऽसिद्ध इति वाच्यम्, व्यवहारस्य सर्वालङ्कारिकसम्प्रदायसिद्धत्वादित्याकृतम् ।

इदं पुनश्चिन्तनीयम्—पर्यायोक्ताद्यलङ्कारकाव्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया भवदभि-
मतायाः सद्भावेनव्यङ्ग्यत्वरूपाया अविशितव्यङ्ग्यत्वलक्षणाया वा चित्रताया असम्भवान् ।
तथाहि—'चकाभिधातप्रसमाश्रयैव, चकार यो राहुवधूजनस्य । आलिङ्गनोद्गमविलासवन्ध्यं,
रतोत्सवं बुन्वनमात्रशेषम् ।' इत्यादौ पर्यायोक्तोदाहरेण राहुशिरस्त्वेदनात्मनो व्यङ्ग्यस्य
यद्यविशितत्वम्, तर्हि न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, अपवा यदि विशितत्वम्, तदा कृतधि-
ज्ञता, व्यङ्ग्यस्य विशितानिविशितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्ध-
त्वाद् । इत्य च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वमपि चिन्त्यमेव, घनिकार-मम्मट-प्रदोपकृदाद्य-
सम्मतत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम् ।

यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रसङ्ग उपस्थित है, अतः धृक् और विचार करना आवश्यक
सीखता है, यह विचार यह है कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'अतादृशगुणीभूत व्यङ्ग्य
व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के लक्षण में चित्रान्यत्व का निवेश आवश्यक
कतलाया है । उनका आशय यह है कि जहाँ अलङ्कार प्रधान हो, वह चित्रनामक काव्य का
एक पृथक् भेद है । उसमें गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं जाना चाहिए । परन्तु मम्मट
का उक्त लक्षण उसमें भी चला जायकता है, अतः यह कहना उचित है कि गुणीभूत व्यङ्ग्य
काव्य वही है, जो 'चित्र (अलङ्कार प्रधान) काव्य न हो । पर उन टीकाकारों का उक्त
कथन समुचित नहीं, क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आशेष, अपस्तुत प्रशसा प्रभृति
अलङ्कार जहाँ प्रधान हैं, अत एव चित्रकाव्यत्व इष्ट है, वहाँ चित्रान्यत्व घटित गुणीभूत-
व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं घट सकेगा, यदि कोई कहे कि जब उन अलङ्कारप्रधान
काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब तो वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण न घटे वही उचित
है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसका उत्तर यह है
कि उन अलङ्कार प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व दोनों ही इष्ट हैं, अर्थात्
अलङ्कारिकों ने उन अलङ्कार प्रधान काव्यों को दोनों (चित्र तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य) ही माना है ।

द्वितीयं काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरहसन्तापं वनवासिनो रामचन्द्रस्य कश्चिद् वर्णयति—

'रावधविरहज्वाला-सन्तापितसहस्रशैलशिखरेषु ।

शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥' इति ।

रावधस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वैदेहीवियोगः, तस्य वडेरिवान्तर्बहिर्दाहकत्वाद्
या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तथा सन्तापितेपूष्पमयीकृतेषु, सख्यस्य तदाख्यदाशिषात्प-
शैलस्य, शिखरेषु शृङ्गेषु, शिशिरे शीततीर्णं, सुखं वज्राद्यभावेऽप्यशीतकेशं यथा स्यात्,
तथा शयानाः स्वपन्तः, कपयः सुप्रीवस्यः वानराः, पवनतनयाय (वैदेहीकुशलवार्तासूचनेन
रामस्य सन्तापं शमितवते) हनुमते, कुप्यन्ति पुनरशीतवाधां सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य
कुप्यन्तीत्यर्थः । इह रघुनाथसुप्रीवयोरतिवह्मभं कपीनामपि सर्वदा हितकरं हनुमन्तं प्रति
तेषामाकस्मिन्ने वाच्यभूतं कोपोऽन्यथाऽनुपपन्न इति तदुपपादकाकङ्कायामनायत्या जानकी-
कुशलसूचनविहितरामविरहसन्तापानोदनात्मा व्यङ्ग्यार्थ एव पुरः परिस्फुरन्नता भज्जपि,

यथा दौर्भाग्येण दासीभावमापन्नाऽपि राजमहियो, काञ्चनविलक्षणा नैसर्गिकीं सुभामायावृत्ति, तथैव कश्चिद् विलक्षणं चमत्कारं करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभाषेऽपि चमत्कारितोत्कर्षेण द्वितीयकाव्योदाहरणत्वमेतस्य ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'राघव' इत्यादि । रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वाला की उक्ति से विरह में बहिरूपता व्यङ्ग्य होती है) तप्त धनाये गये सह्यनामक पर्वत के शिखरों पर, शीत ऋतु के समय में, सुख पूर्वक सोने वाले बन्दर पवनतनय-हनुमान् पर प्रकुपित होते हैं—क्रोध करते हैं ।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद् राजकलत्रमित्र कामपि कमनीयतामायहति ।

शिशिरीकृत शीतलीकृत ।

इस पद्य का व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि 'हनुमान् ने जानकी की कुशलवार्ता सुनाकर रामचन्द्र को शीतल बना दिया, अर्थात् हनुमान् के मुख से सीता की सकुशल लट्का में रहने की बात सुनकर रामचन्द्र का वियोग-ताप शान्त हो गया' और वाच्य-अर्थ है 'हनुमान् पर बन्दरों का सहसा होने वाला क्रोध' । इन दोनों (व्यङ्ग्य तथा वाच्य) अर्थों में अङ्ग-अङ्गी (पोष्य-पोषक) भाव है, अर्थात् व्यङ्ग्य है पोषक और वाच्य है पोष्य, क्योंकि जो हनुमान् रामचन्द्र तथा सुग्रीव दोनों का कृपापात्र था—स्नेहभाजन था और बन्दरों का भी प्रिय-हित-चिन्तक था, उसी पर अकरमात् बन्दर सब क्रुद्ध हो उठे, यह वाच्य अर्थ तब तक संगत प्रतीत नहीं होता, जब तक उक्त व्यङ्ग्य अर्थ न समझ लिया जाय अर्थात् जब हम 'हनुमान् ने राम के विरहताप को शान्त कर दिया, जिससे विरह-ज्वाला-तप्त सह्य-शिखर, शीतल हो गये और शीत के मारे बन्दरों के सुख-शयन में बाधा पड़ने लगी' इस व्यङ्ग्य अर्थ को समझ लेते हैं, तब हनुमान् पर बन्दरों का क्रोध संगत लक्ष्यता है । इस तरह से उक्त व्यङ्ग्य अर्थ, वाच्य-अर्थ के साधक होने के कारण यद्यपि गौण ही गया तथापि जिस प्रकार बुरदृष्ट की मारी हुई कोई राजाहना, किसी की दासी धनकर रहने पर भी, अपने सहज-सौन्दर्य को नहीं छोड़ती अर्थात् उस दशा में भी उसकी सुन्दरता झलकती ही है, उसी प्रकार उक्त व्यङ्ग्य में भी (गौण होने के फलस्वरूप) विलक्षण चमत्कार परिलक्षित होता है । अब 'जहाँ व्यङ्ग्य गौण होकर चमत्कार-जनक हो' इस लक्षण का समन्वय, उक्त पद्य में, स्वयं स्पष्ट है ।

'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहणे द्वितीयकाव्योदाहरणता-माशङ्क्य समादधाति—

नन्वेव प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमान व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न यतो ह्यनुदिनसख्युपदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमान मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्चणागोचरतामाधातुम् ।

प्राक् उत्तमोत्तमसाम्यतृतीयोदाहरणे 'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादौ । व्यङ्ग्येनैव विप्रलम्भरतिरूपश्रृङ्गारस्वायिभावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपादयते सङ्गतीक्रियते । अतनुदिन प्रत्यहं यं सखीनामुपदेशं केलिकलामु वामतापरित्यागाय शिक्षा, स आदिर्येया, ते तदादय सततसाक्षिष्य प्रञ्जुरपरिचयप्रवृत्तयः, तै । इदमाक्षेपगतं मान्द्यम् । प्रथमचित्त-चुम्बिनीं प्रागेव बुद्धिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूपं (मन्दत्व) मात्रेण । परनिर्वृते परमानन्दस्य, या चर्चणाऽऽस्वाद, तस्या गोचरता विषयताम् । आपानुं वोढुम् ।

- यथा प्रकृते वाच्यस्य हनूमदुपरि कपिकोपस्यान्यथाऽगम्भवादिनुपपन्नस्य, हनूमता सीताकुशलनिवेदनैः रामस्य शीतलश्लोकं व्यङ्ग्यं कपिसुखमुषित्व्याघातादुपपादकं वाच्या-
ज्ञीभूय, काव्यमिदमुत्तमोत्तमकक्षातोऽपकर्षति, तथैव 'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादौ
पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यतुतीयोदाहरणे, वाच्यस्य प्रियकराक्षेपमान्यस्य नवोदवधूस्वभाव-
विरुद्धत्वादन्यथाऽनुपपन्नस्य, व्यञ्ज्यमाना विप्रलम्भश्चकार-यायिनी रतिरुपपादिकाऽज्ञोभव-
तीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम्, वैषम्ये बीजाभावादिति न वाच्यम्, उभयोर्वैषम्यस्य
जागरूकत्वात् । तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यपान्तरं वाच्यस्योपपादकं नोपलब्धुं
शक्यते । 'तल्पगताऽपि च' इत्यादौ त्वाक्षेपमान्यं वाच्यं, यथा व्यङ्ग्या विप्रलम्भरति', तथैव
प्रात्यहिकसतीशियाप्रभृतिरप्युपपादयितुमर्हतीत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्विरह इत्यभिप्रायः ।

'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-काव्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में
'वह भी द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? वरिष्ठ वही होता उचित
है' इस शङ्का का उत्थान कर स्पष्टन करते हैं—'नवोदवधू' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जैसे
'राघव-विरह-शवाला' यहाँ पर अन्यथा (व्यङ्ग्य-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला,
हनूमान् के ऊपर अकस्मात् बन्दरों का मोक्ष, (वाच्य) हनूमान् के द्वारा राम की विरह-
साप-शान्ति (व्यङ्ग्य) से उपपन्न किया जाता है, अतः वह व्यङ्ग्य गौण हो जाने से
चमत्कारजनक होकर भी स्वव्यञ्जक-पदावली को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, वैसे ही
'तल्पगताऽपि च सुतनु' यहाँ पर भी 'प्रियकर को मन्द मन्द हटाना' रूपवाच्य, नव-वधू-
स्वभाव-विरह होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोद का यही स्वभाव होता है कि अपने
अनों पर धरे हुये पति-करों को झट से हटा देती है और यहाँ 'नवोद मन्द मन्द
प्रियकर को हटा रही है' ऐसा कहा हुआ है जो असंगत सा दीखता है । फिर तो
रतिरूप व्यङ्ग्य से ही वह (वाच्य) उपापन्न बनाया जायगा अर्थात् जब हम यह
समझ लेंगे, कि—उस नवोद को अब पनि से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस
प्रीतिलता पर विरह के छोले गिरने वाले हैं, तभी नववधू का धीरे-धीरे प्रियकर को
हटाना सङ्गत प्रतीत होगा, इस स्थिति में यहाँ का विप्रलम्भ रतिरूप व्यङ्ग्य भी वाच्य
अर्थ के उपपादक होने से गौण ही हुआ, अतः उसे भी उत्तमोत्तम-काव्य-व्यवहार-
नियामक नहीं होना चाहिये क्योंकि इन दोनों स्थलों के व्यङ्ग्यों की स्थिति समान है,
इसलिये दोनों पद्य उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है
शङ्का । समाधान यह है कि आपने दोनों पद्यों के व्यङ्ग्यों को समान कोटिक समझ रहे हैं,
वह आप का भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में वैषम्य स्पष्ट है, देखिये—'राघव-विरह-शवाला'
यहाँ का व्यङ्ग्य ऐसा है जिसके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यङ्ग्य से
भिन्न कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तल्पगताऽपि' यहाँ का व्यङ्ग्य
ऐसा नहीं है अर्थात् यहाँ का व्यङ्ग्य ऐसा है जिससे भिन्न बातें भी वाच्य को सिद्ध कर
सकती हैं, जैसे दिन दिन के सलियों के उपवेश, सतत साङ्घिष्य, प्रचुर परिचय आदि से
भी 'प्रियकर को धीरे-धीरे हटाना' रूपवाच्य सिद्ध हो सकता है, अतः उसको सिद्ध
करने के लिये विप्रलम्भ रति की ही विशेष आवश्यकता नहीं है । फलतः यह सारा
निकला कि वाच्यसिद्धि का अङ्ग वही व्यङ्ग्य कहलाता है, जो वाच्यसिद्धि का एक मात्र
कारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है, अतः वह गौण नहीं हुआ फिर
वह 'तल्पगताऽपि' इस पद्य को उत्तमोत्तम काव्य क्यों नहीं बना सकता ? यदि आप
कहें कि जब सत्युपदेशादि से भी 'तल्पगता' का वाच्य सिद्ध हो जाता है, तब उक्त
वाच्य से विप्रलम्भ रतिव्यङ्ग्य होगी ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि भाषिक सहृदयों के
हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधू होकर भी जो यह धीरे धीरे स्वाह-
पतित-पति-करों को हटा रही है, अरु नहीं, वह आसचविरहकालिक प्रेम की फल-

है। इसको बिना ध्वनित किए सख्युपदेशादि से होने वाला मान्य (धीरे धीरे हटाना) पर-आनन्द (जिसके सम्बन्ध में 'प्रह्लात्वादादतहोदर.' कहा हुआ है) के आस्वाद का विषय हो भी तो नहीं सकता।

तुल्यन्यायादाचष्टे—

इत्थं 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्येष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः।

अधमत्व नायकस्य। व्यङ्ग्यातिरिक्तेन दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यभिधेनापराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेणार्थेन। आपाततन्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्यत्र तात्पर्यविरहाद् दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्। निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि, वाच्याधमत्वस्य दूतीसम्भोगातिरिक्तापराधैरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो व्यङ्ग्यस्य।

इसी तरह 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पद्यों में भी अधमत्व प्रकृति वाच्य की सिद्धि जैसे व्यङ्ग्य दूती-सम्भोग से हो सकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती-सम्भोग से भिन्न अपराध) से हो सकती है, अतः उक्त व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का एक मात्र कारण नहीं है। इसलिये न वह व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धि का अङ्ग हुआ, न गौण, यह विदित करना चाहिये।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्भोगेन विधीयते, तथैव वाच्यार्थप्रत्ययावमरेऽपराधान्तरेणापि विधातुं शक्यत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिवैधुर्याद् दूतीसम्भोगरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति भावः। ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारितायास्तुल्यतया चान्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोर्भेदं कृतं स्वीक्रियत इत्याशङ्क्या प्रवीति—

अनयोर्भेदयोरनपह्वनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः।

अनयोर्भेदयोरनपह्वनीयचमत्कारयोः। भेदयोः काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोः। प्राधान्याप्राधान्याभ्यां व्यङ्ग्यस्येति शेषः। विशेषो वैलक्षण्यं भेदे इति यावत्।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसद्भावात् तुल्यत्वमेव, किन्तुतमोत्तमे व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयाङ्गीकार इत्यभिसन्धिः।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविशेषः' इति ध्वनिकारानुशासने जाप्रति, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यापेक्षया चमत्कारोत्कर्षः, तर्हि नाप्राधान्यम्, अथाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षः। यदि च व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽङ्गत्वमिष्यते, तदा तदङ्गत्वमप्यकिञ्चिदकरम्, चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्याहतत्वात्। किञ्च यत्र तुल्यचमत्काराधायकत्वे न वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं सन्दिग्धं वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारयोर्भेदवन्मते कुत्रान्तर्भावः? न चाव्याप्तिरेषितुं शक्यते, 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। आमद-न्यश्च चो मित्रमन्यथा दुर्मनायते।' 'हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तपैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बु-राशिः। उमासुखे विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापलापानर्हत्वेन मध्यमकाव्यताया सर्वसम्मतत्वात्।

यद्यपि उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दोनों काव्य-भेदों में व्यङ्ग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यङ्ग्य की चमत्कार-जनकता का अललाप नहीं किया जा सकता, तथापि उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य प्रधान रहता है और उत्तम का अधिमान अर्थात् उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य वाच्य-

सिद्धि का अङ्ग नहीं रहता और उच्चम ग्राह्यहृद्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ विशेष अवश्य है, जिसे सहृदयहृदय वाले ही समझ सकते हैं। दोनों प्रभेदों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाय इस राझा का अवसर नहीं है। यही इस विशेष प्रदर्शन का तात्पर्य है।

‘प्रहरविरतौ’ इत्यादावप्यन्वदीक्षितप्रतिपादितं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं निरस्यति—

यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम् ।

चित्र-मीमांसाकार अस्पष्टदीक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण का खण्डन करते हैं—‘यत्तु’ इत्यादि। चित्र-मीमांसाकार ने जो कहा है।

बालप्रियस्य प्रवासनिवृत्तिकारणं कथिद् व्याहरति—

‘प्रहरविरतौ मध्ये बाह्वस्ततोऽपि परेण वा,

किमुत सकले याते वाऽहि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।

इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो

हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥’ इति ।

हे प्रिय ! बल्लभ ! (प्रवासानन्तरं पुनः) त्वं, प्रहरस्यैकयामस्य, विरतौ समाप्तौ ? वाऽपवा, अहो विवरास्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराले ! वा यद्वा, ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्णे तृतीयप्रहर इति यावत् ? किमुत वा किंवा, सकले सम्पूर्णं, अदि दिने, याते विगते सायं समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि ? इतीत्येवं रूपै, सबाष्पगलज्जलैर्वाष्प-वन्निष्पतद्भ्रुमिधितै, आलापै प्ररनात्मकभाषणै, दिनाना शतैः (ननु पञ्चपैदिनै, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्यं गन्तुं योग्यं (दूरतरं) देशं जनपदं, यियासतं कार्यानुरोधेन गन्तुमिच्छत, प्रियस्य बल्लभस्य, गमनं प्रस्थानं, बाला नववधूर्मुग्धा हरति निवारयतीत्यर्थः । पृथ्वीछन्दः ।

अस्मिन् पद्ये प्रियपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वम् । जलशब्दस्य पृथक्कथनाद् वाष्प उष्णमात्रम् । अथि च मधेण प्रहरान्तमध्याह्ना-पराह्ण-दिनान्तमात्रस्य प्रियागमनसमयस्य, नाधिकया प्ररनगोचरी-हरणेन व्यज्यमानम् ‘समस्तं दिनमेव परमोऽवधिस्तद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्परं तु त्वदनागमने नाहं कथमपि जीविष्यामीति वस्तु’ आलापै प्रियस्य गमनं बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकर्तृकालापकरणकप्रियगमननिवारण-स्योपपादकत्वाऽऽज्ञमिति धाध्यसिद्धयज्ञव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति दीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्तत्र वाष्पवद्विगलद्भ्रुमिधितालापरूपं वाच्यमेव गमननिवारणलक्षणं व्यङ्ग्य-मुपपादयितुमीष्टे, न तु तद्वर्षं व्यङ्ग्यत्वापेक्षा । तादृशालापाना गमननिवारणमिया प्रति प्रकृ-ष्टतमकारणत्वरूपकरणत्वामाने करणे तृतीयाऽनुपपत्तिश्च वाच्यस्यैव वाच्योपपादकता साधयति । तस्मान्नात्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्थन्तिकविश्रान्तिधामतया ध्वनित्वमेव ।

कोई नवोढा का पति, किसी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था यात्रा की सब तैयारी कर चुका था, परन्तु गया नहीं, क्यों ? इसका कारण किसी ने बतलाया है— ‘प्रहरविरतौ’ इत्यादि। प्रिय ! क्या तुम एक पहर के बाद छोट आभोगे या दोपहर में अथवा उसके भी बाद ? किंवा समूचा दिन धीत जाने पर ही लौटोगे ? गरम-गरम आँसू-सहित इन आलापों से बाला (नवोढा), जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचा जा सकेगा, उस देश में जाने के लिये उद्यत अपने प्रेमी के गमन का कारण कर रही है ।

तदाह—

अत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्धयङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तन्न,

सबाष्पगलज्जलानां 'प्रहरविरता' वित्याद्यालापानामेष प्रियगमननिवारणरूपधा-
च्यसिद्धयङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । 'आलापै'रिति तृतीयया प्रकृत्य-
र्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः ।

गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रकृत्यर्थस्थालापपदवाच्यत्वम् ।

पूर्वोक्लिखितवाच्यव्यङ्ग्यभयोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्धयङ्गतया वाच्य एव विनि-
गमनाहेतुः करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्यः ।

इस श्लोक में नवोढानायिका अपने प्रेमी से एक पहर के बाद, दो पहर में, अपराह्न
में, अथवा शाम तक आने की बात पूछती है और उसके बाद में आने की बात नहीं
पूछती—अर्थात् कल, परसों, तरसों, आभोगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिससे सारा दिन
पूर्ण अवधि है, उसके बाद तेरे विरह में मैं न जी सकूंगी यह व्यङ्ग्य होता है । परन्तु यह
व्यङ्ग्य प्रेमी के गमन का निवारणरूप वाच्य की निद्रि में अङ्गभूत है अर्थात् प्रेमी का गमन
तभी रुक सकता है, जब वह यह जानले कि 'यह मेरी नवोढा प्रेयसी मेरी अनुपस्थिति
में एक दिन के बाद न जी सकेगी' । इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि के अङ्ग हो जाने
से गौण है और चमत्कारी भी, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण
है । परन्तु यह चित्रमोमांसाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण-अधुधारा-मिश्रित
'क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे' इत्यादि उक्ति से ही 'प्रियगमन-निवारण रूप
वाच्य उपपन्न हो जाता है इसके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य
अवगत होने पर ही यह वाच्य उपपन्न होगा ऐसी बात नहीं है, 'आलापै'—आलापों से
यहाँ करण अर्थ में तृतीया हुई है और करण वही कहलाता है जो क्रिया का प्रकृतम
साधक हो, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने वाले
हैं । अतः उक्त व्यङ्ग्य गौण नहीं है, फिर यह पद्य गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण
कैसे हो सकता है ? यह तो ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य का ही उदाहरण है, क्योंकि उक्त
वस्तु व्यङ्ग्य बहुत ही चमत्कारी है और प्रधान भी ।

पुनराशङ्क्य समापत्ते—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्धयङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्,
'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादाविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया दूतीसम्भो-
गादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः ।

व्यङ्ग्यस्य तत्रपर प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य । ध्वनिनाऽऽलपरूपो वाच्यार्थः
समुच्चोच्यते ।

गमननिवारणरूपवाच्यस्य तदशालापरूपवाच्येनोपपत्तावपि, तत्रपरमित्यादिव्यङ्ग्य-
स्यापि वाच्योपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य काव्यस्य न दुर्-
क्षमिति न युक्तम्, यत एवं सति, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि नायकाधामत्वरूप-
वाच्यस्य निश्शेषस्तनचन्दनच्यवनादिरूपवाच्येनैवोपपत्तावपि दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यस्यापि
तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गताया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं भवतोऽप्यनभिमतमापद्यते ।
तस्माद् वाच्येनैवोपपत्तौ, व्यङ्ग्यरूपोपपादकत्वसम्भवेऽपि न गुणीभाव इति भावः ।

उक्त खण्डन के बाद क्षीयित मतको सिद्ध करने वाली एक और नवीन युक्ति का
उत्थान कर पुनः खण्डन करते हैं—'न च' इत्यादि । यदि आप कहें कि 'प्रहर विरता' यहाँ
'आलापों से' इस तृतीयान्त पद के वाच्यार्थ से यद्यपि 'गमननिवारण' रूप वाच्य की
सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य से भी तो उस वाच्य की सिद्धि हो सकती है, अतः एव
हमने उस व्यङ्ग्य को गुणीभूत कहा है, तो यह युक्ति भी आपकी समत नहीं है क्योंकि
वाच्य सिद्धि की क्षमता मात्र रखने पर यदि व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाय तो 'निरुपच्युत-

चन्द्रम' इत्यादि पद्य में भी 'दूती सम्भोग' रूप व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जायगा, क्योंकि यह व्यङ्ग्य भी नायक को अधमतरारूप वाच्य को सिद्ध करने की योग्यता रखता है, और उस दूतीसम्भोग को गुणीभूत मानना तो आपको भी इष्ट नहीं है, अतः ऐसा मानना चाहिये कि वाच्य से यदि वाच्य की सिद्धि हो जाती हो तब व्यङ्ग्य से उसकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर भी उस (व्यङ्ग्य) को गुणीभूत नहीं समझा जाय।

ननु नायिकायास्तादृशालापा नायकस्य गमनोत्तरं विदेशे विरहितेतिवारकत्वेनापि कृतकृत्या भवितुं शक्नुवन्तीतिपूर्वोक्ताच्योपपादनसामर्थ्यमिह व्यङ्ग्यस्यैव, न तु वाच्यस्यापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपगत्य प्रहारान्तरेण ध्वनित्वं व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यस्य वाच्य-सिद्धयङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, वाग्पादेरनुभावस्य, चित्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्।

अस्तु चेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्धः। तथाऽपि तादृशसंलक्ष्यकमव्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि। ध्वनित्वं कव्यस्येति शेषः।

यद्यपि वस्तुलक्षणं व्यङ्ग्यमिह गुणीभवति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसह्यव्याप्त्यस्य प्रापान्तेन काव्यस्य ध्वनित्वं सेत्स्यत्येवेत्याशयः।

नागेशभट्टस्तु—'शान्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहारस्योपपादानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्' इति चिन्त्यम्, अन्यथा 'प्रागतक्षणम्' इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्योयप्रशाराद्युक्तोदाहरणानामप्यसद्गत्यापत्तौ व्याकुलीत्यात्। तत्रापि व्यङ्ग्यसङ्केतमन्त्रेण वाच्यसुरमालिन्यातिशयरूपानुभावमुत्प्रेष्य विप्रलम्भाभासपोषणम्, न केवलेन सङ्केतभङ्गेन, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्' इतीह व्याजहुः।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यङ्ग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेशः, किन्त्वान्तरालिकेनापि सः। इतरथा 'प्रागतक्षणम्' इत्यादौ पार्यन्तिकव्यङ्ग्ये शृङ्गाररसामासे जायते, ध्वनित्वस्यैवानिवार्यतयाऽऽन्तरालिक वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहित आलङ्कारिपरम्पराया गुणीभूतव्यङ्ग्यवसिद्धान्तो नितरा व्याकुप्येत। तस्मादयं पण्डितराजस्य प्रौढिवाद एवेति तदभिप्रायः।

उक्त वस्तुव्यङ्ग्य को गुणीभूत मान लेने पर भी 'प्रहर विरती' इत्यादि पद्यको मुख्य विप्रलम्भ-शृङ्गाररूप व्यङ्ग्य के अनुसार ध्वनिकाव्य का ही उदाहरण मानना समुचित है, यही बात अद्य कहते हैं—'अस्तु वा' इत्यादि। तात्पर्य है कि यदि आप कहें कि नायिका के 'एक प्रहर वाद् आञ्जो' इत्यादि अधुमिश्रित आलाप तो 'विदेश में अधिक दिनों तक नहीं ठहरना' इस बात को सिद्ध करके भी परिताप्य हो सकते हैं, फिर उन आलापों में 'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि है तो 'उसके बाद मैं न जी सकूंगी' इस व्यङ्ग्य में ही, अतः यह व्यङ्ग्य गुणीभूत अवश्य है। इस पर पण्डितराज कहते हैं—अच्छा, उक्त व्यङ्ग्य को वाच्यसिद्धि का अङ्ग बनाकर गौण समश्लेषे किन्तु नायक प्रभृति विभाव, अश्रु आदि अनुभाव तथा चित्तावेग आदि सवारीभागों के संयोग से व्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनि काव्यता हम पद्य में प्राप्त होती है, उसको कौन रोक सकता है। वस्तुतः यहाँ दीक्षित मत के उपलक्ष्य करने में पण्डितराज जगन्नाथ का दुराग्रह ही शलकत है। क्योंकि सर्वत्र परम व्यङ्ग्य के आधार पर ही 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य की व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के) व्यङ्ग्य के आधार पर नहीं, ऐसा निरम आलङ्कारिकों से जाटत नहीं है, अन्यथा (तादृश-

नियम के आधार करने पर) 'प्रामतरणम्' इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गारसामास रूप व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनि काव्यता ही हो जायगी, फिर तो 'सकेत भग' रूप शीघ्र के व्यङ्ग्य को आधार मान कर उक्त पद्य की गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असंगत ही हो जायगा। इस दृष्टिकोण से देखने पर 'इसके बाद मैं न जी सकूँगी' इस आन्तरालिक व्यङ्ग्य को आधार मानकर 'प्रहर-विरतौ' इत्यादि श्लोक की गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना दीक्षित का अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

अथ तृतीयप्रकार मध्यमकाव्यं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणोऽवर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरण । तत्त्वं च वाच्य-
चमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात् ।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिजन्यचमत्कारो लेशतः प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य सर्वतोमुखीनस्यान्तर्निर्गोर्णं स्पष्टतयाऽनुभवगोचरता नाचामति, तत् तृतीयं मध्यमं काव्यमित्यर्थः ।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽसद्भावस्तु नाभिधेय, तथासति वाच्यचमत्कारस्याप्यस-
म्भव इत्यनुपदमेव स्फुटीकरिष्यति मूलकृत् ।

अब काव्य के तृतीय भेद 'मध्यम' का लक्षण करते हैं—'यत्र' इत्यादि। जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में क्षन्तशुभ्र हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह 'मध्यम' नामक काव्य कहलाता है।

मध्यमं काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलाधिजठरप्रविष्ट-हिमगि-
रिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति ।

तनय (हिमालयस्य) सुतश्चासौ मैनाकस्तजामा शैल, तस्य (इन्द्रभिया समुद्रान्त-
र्लीनस्य) गवेषणायान्वेषणाय, लम्बीकृताऽऽयतीकृता, जलधे समुद्रस्य, जठर उदरे, प्रविष्टा,
हिमगिरेर्हिमान्वलस्य, भुजा बाहुरिवाचरतीति तस्या, भगवत्या परमेश्वर्या, भागीरथ्या
गङ्गाया, सखी सहचरी, यमुनेत्यर्थः ।

अत्र श्वेतायतपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य भुजेव, समुद्रपूरे निमगस्य तनयस्य मैनाक-
स्यान्वेषणाय प्रविष्टेति सदृशाचारार्थकव्यञ्ज सत्त्वादुपज्रम उपमाया, पर्यवसाने तु सम्भाव-
नाया प्रतीतेरुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कारस्य कारणम् । गङ्गाया स्वच्छता-पाताल-
पर्यन्तानुधावनप्रभृति व्यङ्ग्यं तु पश्चात् प्रतीतिपदवीमवतरदपि तावन्तमेव चमत्कारं कर्तुं
प्रभवति, यावान् वाच्यचमत्कारकुशावेव निक्षिप्तो भवति, न स्वधिकं पृथक् प्रतीयते, यथा
स्वभावगौराङ्गपाऽनभिह्वनायिकया कल्पितस्य काश्मीरद्रवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या ध्यानां
गौरता तिरोधीयते ।

तदथात्र व्यङ्ग्यचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निलीनतयाऽस्फुटत्वाद् व्यङ्ग्यचमत्कारा-
समानाधिकरण्यं वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशयः ।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा यमुनावर्णने' इत्यादि। (यह यमुना) उस
गङ्गा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को खोजनेके लिये लम्बी की हुई तथा
समुद्र के उदर में पेठी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है ।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः । शैत्य-पातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो
लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकारमीर-
द्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते ।

एवकारः शैत्यादिव्यङ्ग्यं व्यवच्छिनन्ति । चमत्कृतिहेतुत्वं ज्ञानद्वारकम् । मैनाकस्य समु-
दास्त-पातालद्वारस्यतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीतिः । सन्नप्रीति कल्पनेनात्रभेदे व्यङ्ग्यचम-
त्कारसद्भावनिवेशाभावः पुंशते । नायिकाया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनानभिज्ञता सूच्यते ।
कारमीरं सम्प्रति 'केसर' इति प्रसिद्धं गन्धद्रव्यम् । इवो रसः । यथा प्रसाधनानभिज्ञया प्रान्य-
नायिकाया स्वतः सुप्रमाजनकमपि स्वकीयाङ्गगौरत्वं कल्पितेन पीततरकारमीराङ्गरानेणाच्छा-
दितं नैव मुह्यतमां सुप्रमां जनयति, तथा प्रकृतोदाहरणे व्यज्यमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कार-
जनकोऽपि भागोरथीश्वेतिमादिष्वमत्कारकृतमदाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादितं प्राधान्यं नाद-
धातीति काव्यतृतीयप्रभेदत्वमेवैतस्येति तात्पर्यम् ।

यहाँ संस्कृत में 'वयट्' प्रत्यय से और हिन्दी में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली
उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है । यहाँ उत्प्रेक्षा शब्द नहीं अपितु उपमोप-
प्रेक्षा है, यह समझना चाहिए क्योंकि 'वयट्' प्रत्यय सहस्र आचार अर्थमें व्याकरण से
अनुशित है, अतः आरम्भ में उपमा की प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में सम्भावना की ही
प्रतीति स्थिर रहती है । यद्यपि इस गद्यांश में, गद्गा में की गई हिमालय-भुजोत्प्रेक्षा से
गद्गा की 'श्वेतता' और 'पुत्र मैनाक को खोजने के लिये समुद्र के उदर में पैठी हुई' इस
उक्ति से गद्गा का 'पाताल के तह तक पहुँचना' व्यङ्ग्य होते हैं, जो किसी अंश में चमत्कार-
जनक भी है ही, तथापि वह चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के भीतर द्विपा हुआ है,
जैसे किसी प्राग्य नायिका की गौरता, केसर-रस के लेप के भीतर द्विप जाती है । कहने
का सारांश यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रतीति से होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—प्रदीप्त है,
और उसके सामने उक्त व्यङ्ग्य की प्रतीति से पीछे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—छोप
है, अतः यह मध्यम काव्य का उदाहरण ठीक है ।

सर्वथा व्यङ्ग्यासद्भावनिवेशाभावबीजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो
रमणीयतामघातुं प्रभवति ।

मनागीयत् । अनानुष्टप्रतीयमानोऽस्पृष्टव्यङ्ग्यो व्यङ्ग्यसम्बन्धशून्य इति यावत् । व्यङ्ग्य-
सम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कारिता, सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात् काव्यत्वमेव न
स्यादतो यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यकः । अत एव व्यङ्ग्यासद्भावो न निवेशित इति भावः ।

इस मध्यम नामक काव्य के तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है,
क्योंकि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा है ही नहीं, जो थोड़ा भी व्यङ्ग्य अर्थ के साथ बिना
सम्बन्ध रखे स्वयं चमत्कार को पैदा कर सके—अर्थात् वाच्य अर्थ की चमत्कारी होने के
लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध किसी व्यङ्ग्य से रहे । फिर यदि इस
तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना ही अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव
ही हो जायगा—एक भी छन्द नहीं मिलेगा ।

• नन्वलङ्कारप्रधानानि काव्यान्तेषु प्रभेदेषु कान्तर्भवन्तीत्यावाङ्क्षायानभिधाति—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं
निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम् ।

एवशब्द प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदकः । जागरूको 'राषवविरह'-इत्यादाविव चमत्का-

रविरोषाधावकतया चर्वणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादकत्वेनाप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्र, तथाऽजागरूक 'तनयमैनाक'—'इत्यादाविव चमत्कारविशेषानाधावकतया चर्वणाऽगोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपेक्षयाऽप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्रेति च बहुव्रीहिः । इत्यमलङ्कारश्चमत्कारितया प्रधानं यत्र तदलङ्कारप्रधानम् । अलङ्कारपदमर्थालङ्कारपरं सन्दर्भशुद्धपतुरोधात् ।

इदमुच्यते—समासोक्तिप्रभृतिष्वलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया तत्प्रधानककान्यस्य द्वितीयभेदेऽन्तर्भावः । दीपकादिष्वलङ्कारेषूपमाऽऽदिरूपव्यङ्ग्यस्य तु तदभावात् तत्प्रधानसाध्यस्य तृतीयभेदेऽन्तर्भावः । इत्यमलङ्कारप्रधानं सकलमपि काव्यमुक्तभेदद्वय एवान्तर्भवति ।

अलङ्कार प्रधान कान्यों का अन्तर्भाव किस भेद में होगा ? इस जिज्ञासा की शान्ति करते हैं—'अनधारेव' इत्यादि । इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) ही भेदों में व्यङ्ग्य यद्यपि गुणीभूत रहता है, तथापि, एक (द्वितीय) में, व्यङ्ग्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार-विशेषजनक होने से अनुभव योग्य रहता है, और एक (तृतीय) में व्यङ्ग्य, चमत्कार-विशेष-जनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य । अतः समासोक्ति प्रभृति जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण होकर भी चमत्कारी हों उन अलङ्कारों से युक्त कान्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण तो हों ही, साथ-साथ चमत्कारी भी नहीं हों, उन अलङ्कारों से युक्त कान्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए ।

अथ चतुर्थ प्रकार काव्यस्य लक्षयति—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् ।

शब्दार्थयोश्चमत्कृतिजनकलमलङ्कारनिमित्तकं प्रतीतिद्वारकं च । उपस्कारो गुणाधानम् । अत एवाज्ञता शब्दचमत्कृतावर्षचमत्कृते ।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतीतिजन्यचमत्कारपोषितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य प्राधान्यम्, न तु कश्चित् सतोऽप्ययोग्यतयाऽविवक्षितस्य व्यङ्ग्यस्य, तदधम नाम चतुर्थं काव्यमित्यर्थः ।

अब काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अधम' का लक्षण करते हैं—'यत्रार्थचम' इत्यादि । जिस काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो, उसको 'अधमकाव्य' कहते हैं । इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यङ्ग्य अवश्य रहता है, परन्तु वह रह कर भी चमत्कार जनक न होने से अविवक्षित रहता है अतः उसकी प्रधानता नहीं रहती ऐसा समझना चाहिए ।

चतुर्थं काव्यमुदाहरति—

यथा—

भक्त कश्चिद् भगवन्त स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशात्रवे ।

गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

मित्र सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य, तस्मै, त्रय्या ऋग्यजुस्तामवेदाना शात्रवस्थापहारकतया रिपोर्हयप्रीवदेत्यस्य शात्रवे नाशकाय, गोत्राणा पर्वताना पक्षच्छेदनादरेरिन्द्रस्य गोत्रजान् वंश्यान् देवाद्यायते रक्षतीति तयाम्भूताय, गो पृथिव्या गर्वा धेनूना वा प्रात्रे रक्षकाय, ते विष्णवे नमो नमोऽस्त्विति विष्णुपक्षेऽर्थः । शिवपक्षे तु त्रय्या ध्वसनाच्छात्रवस्थापमसुराणाम्, यद्वा त्रय्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्थ कामदेवस्य शात्रवे, गोर्हयस्य प्रात्रे, ते शिवापेति विशेषः ।

तथा च 'सूर्याचन्द्रमधौ विराज' पुरुषस्य दक्षिणवामे चक्षुषी' इति प्रसिद्धिः । 'मित्र

सुद्धि न द्वयो । पुंसि सूर्ये 'गोत्र, शैले गोत्रं कुजाख्ययो' इति मेदिनी । 'त्रियामृत्साम-
यजुषी इति वेदाख्यत्रयो' इत्यमर । 'गोः स्वर्गे इयमे ररमौ वजे शीतकरे पुमान् । अर्जुनी-
नेत्रदिग्याण-भूवागादिषु योपिति' इति विश्वध ।

इह इत्यनुप्रासत्नवशब्दालङ्कारप्रयोज्यथमत्कार एव कविसंरम्भगोचरतया प्रधानम् ।
वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा, भगवद्विषयक-वक्त्रनिष्ठ-रतिभावादिष्वङ्गप्रतीतिजन्मा वा लेखतः
सद्यपि ननत्कारोऽस्तुत्वालोऽनोऽहतामेव भजतीति निर्वापयतुर्यथा-वलक्षणसमन्वय ।

चतुर्थे 'अधम' काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा, मित्रात्रि' इत्यादि । कोई भक्त
मगरान् की स्तुति करता है—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र जिनके नेत्र हैं, त्रयी वेदों
के शत्रुओं (असुरों) के जो शत्रु हैं तथा गोत्र-पर्वत के शरि-शत्रु (दृग्) के गोप्रजों-
वंशजों (देवताओं) के प्राता-रचक हैं, उन गोप्राता (गोपाल) अथवा घृषमवाहन
(शिव) आपको शर-दार नमस्कार है ।

तदाह—

अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृती लीना ।

यहाँ इत्यनुप्रासरूप दान्दालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य
प्रयास उसी वंश में हुआ है यह शब्द ध्वज से स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थ का चमत्कार
अथवा भक्तनिष्ठ भगवद्विषयक भावरूप व्यङ्ग्य का चमत्कार 'लेखत' यद्यपि है तथापि
वह शब्द के चमत्कार में छिपा हुआ है ।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपद्यमप्रकारानिरूपणस्याकरणान्मन्यतानामादयति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तन्पञ्चममधमाधममपि
काव्यविधासु गणयितुमुचितम् । अर्थैकाक्षर-पद्यार्थावृत्तियमक-पद्याबन्धादि ।

काव्यस्थ विधा प्रकार' । एकाक्षरानुप्रासो यथा—'दाददो दुददुदादो दादादो दूददो-
दपोः । दुदादं दददे दुहे ददाददददोऽदद' । इति । सनुदापरनामकं पद्यार्थावृत्तियमकं
यथा—'अयसोऽभिदुरालोके कोपधामरणाहते । अयसोभिदुरालोके कोपधा मरणाहते ॥'
इति । पद्यबन्धो यथा—'भारमागुपथा चाहृत्वा मारवधूतना । मातधूर्ततमावासा सा वामा
मेऽस्तु मारया ॥' इति । अक्षिपदेन द्वयसरायनुप्रासमहायमकापराख्यपद्यावृत्तियमक-चक्र-
खड्ग-मुरज-दार-नाग-शक्ति-गौमूत्रिका-सर्वतोभद्रवन्धादीनि दुस्करशब्दसंश्लेषानि
शुद्धान्ते ।

मित्रात्रोत्यादिपद्येऽर्थचमत्कारोऽस्तुटोऽप्यस्त्येव । यत्र पुनरेकाक्षरानुप्रासादिशालिपयेषु
धाममर्षचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवलं शब्दचमत्कारः स्फुरति, तादृशानामपि बहूनां
कान्यानामुपतन्माच्छब्दचमत्कृतिमाप्रवात् पद्यगोऽपि काव्यप्रकार- हुनो नात्र गणित
इत्यभिप्रायः ।

यद्यपि जिस काव्य में अर्थ का चमत्कार बिलकुल नहीं हो और शब्द का चमत्कार हो
जैसे एकाक्षरपद्य, अर्थावृत्तियमक, पद्यबन्ध आदि, उस काव्य के पाँचवाँ भेद 'अधमाधम'
की भी गणना काव्य प्रभेदों में करनी चाहिए ।

समादधाति—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दस्वरूप-काव्यसामान्यलक्षणानाकान्ततया
वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरन्धानैस्तत्रतत्र काव्येषु
निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोधत्वात् ।

अर्थ मान.—एकाक्षरादिचित्रैर्भाषिकचमत्कारस्य सर्वथाऽनुपलम्भाद् रमणीयार्थप्रति-

पादकशाब्दत्वरूप मदुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते वास्तविकं काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषां गणना स्यात् । क्व वा तदगणने प्रत्यस्य न्यूनता स्यात् ।

ननु माघादिमहाकविभिरिशुपालवधादिमहाकाव्येषु सञ्जिवेशितानामेकाक्षरादिचित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविकं काव्यत्वम्, रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वाभावात् । तैस्तु गतानुगतिकत्वमेव प्राचीनानां महाकवीनां परम्परायां अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविवेकेन । तद्विवेकपुरस्सरं प्रवर्तमानैरस्माभिस्तु तातकूपशा-रजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरणस्यानौचित्यात् ।

तदाहुरिह शास्त्रिणः—‘सर्वथाऽर्थरहितसञ्जिवेशमात्रे चमत्कृत्यनिर्वाहकतया तुष्करशब्द-सञ्जिवेशनिर्वाहणीयविशिष्टवाच्यार्थधीजनकस्यैकाक्षरादिचित्रस्य कथञ्चिदपि कृत्याकृत्यप्रवृ-त्तिनिवृत्त्यौदासीन्याच्चमत्कृतिविशेषजनकरवेऽपि काव्यत्वं नाङ्गीक्रियते । इति ।

वयन्तु—न होकाक्षरादिचित्रेषु ‘सर्वथाऽर्थरहितम्, चमत्कृतिराहित्यं वा, अनुभव-विरोधात्, तच्छुभ्रूपया प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तौ । आर्थिक एव चमत्कार काव्यत्वप्रयोजको-न तु शाब्दिक इति त्वभिसुक्तोक्त-चित्रोदाहरणेष्वव्याप्तिमुपेक्षमाणेन प्राचीनस्थितिलङ्घनैक-व्रतेन भक्तैव केवलं व्याह्रियते, न तु केनाप्यन्येन । कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यं तु ‘भ्रमं धम्मिञ्च ।’ इत्यादावपि तुल्यमेव । एवं सत्यर्थचमत्काराच्छब्दचमत्कारस्य निकर्षेऽपि प्राचीनकविपरम्पराऽनुगतं निकृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्वाधमेवेति विद्मः ।

किन्तु ‘एकाक्षरपद्य’ आदि रचनाशौं में जब अर्थकृत चमत्कार बिलकुल नहीं रहता, तब तो वे शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य का सामान्य लक्षण ही सङ्घटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा असङ्गत है । यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने काव्यों में जहाँ तहाँ उस तरह की रचनायें की हैं, तथापि हमने उस तरह का काव्य-भेद हतलिये नहीं माना कि वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्धपरम्परा का ।

मम्मटादिसम्मत काव्यस्य त्रिप्रकारत्वमात्रं निराकर्तुमुपक्रमते—

केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते ।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रगतय प्राचीनाचार्या, इमानिहोक्तानुत्तमोत्तमादीन्, चतुर काव्यस्य भेदान् प्रकारानपि, अगणयन्तोऽमन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाधमत्वेन च त्रिविध त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारक काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थः । नामानुक्तेष्वेन तन्मतेऽऽचि सूच्यते ।

बुद्ध सज्जन काव्य के ये चार भेद नहीं मानते। वे—उत्तम मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं ।

निराकरोति—

तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुट-मुपलब्धेः ।

अर्थालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यं अर्थचित्रम्, शब्दालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यन्तु शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण दुश्यतया, अधमत्वं निवृत्तकाव्यत्वं वक्तुमयुक्तम्, तारतम्यस्य तयोर्न्यूनाधिकभावस्य, स्फुट स्पष्टम्, उपलब्धेरनुभवादित्यर्थः ।

अर्थचित्रेऽपि क्वचनमत्कारस्य शब्दचित्रे च न्यूनचमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात् काव्य-
प्रकाराकारादिसम्मतमुभयोः साम्यमपुष्कमित्याशयः ।

इह तत्रतयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तत्रतमशब्दात् ध्वन् । अथवा केवलप्रत्यय-
परताया साधुत्वं दुर्गटम् ।

उनके सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि अर्थ-चित्र (अर्थालङ्कारों से युक्त
अविवक्षित व्यङ्ग्य काव्य, जो प्रकृत ग्रन्थ के हिसाब से तृतीय भेद में आता है) और
शब्द-चित्र (शब्दालङ्कारों से युक्त अश्रित व्यङ्ग्य, काव्य, जो इस ग्रन्थ के अनुसार
चतुर्थ भेद में समाविष्ट होता है) दोनों को एक सा-अधम-ही कहना समुचित नहीं,
क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनाधिक भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अर्थचित्र
में अधिक चमत्कार का और शब्द चित्र में उसकी अपेक्षा कम चमत्कार का अनुभव
होता है, फिर दोनों को एक कोटि में घसीट कर लाना अनुचित है

पूर्वोक्तमपुष्किसुपपादयति—

को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्मामन्दिरान्' 'स छिन्नमूलः क्षतजेन
रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छ्रलद्-' इत्यादीनां पामररलाख्यानामवि-
शेषं ज्ञेयान् । सत्यपि तारतम्ये यथेकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययो-
रीपदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ।

'भवत्पुपश्रुत्य यहच्छयाऽपि यम् । ससम्भ्रमेन्द्रहुतपातितार्गला, निर्मालिताक्षीवभियाऽ-
मरावती ॥' इति प्रथमस्य, 'तस्योपरिष्ठान् पवनावधूत । अज्ञारशेषस्य हुतारानस्य,
पूर्वोदितो धून इवावभासे ॥' इति द्वितीयस्य, 'अच्छक्रच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-मूच्छं-
न्मोहमहर्षिहर्षनिहितस्नानादिकाऽङ्गाय व । भियादुयदुदारदुर्दुर्दरोदीर्षादधिद्रुम-द्रोहोद्रेक-
गहोर्मिन्दुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।' इति तृतीयस्य च पद्यस्य शेषाः । प्रथमं मम्मट-
मंडन, द्वितीयमप्ययदीक्षितेन चार्थचित्रोदाहरणतयोपन्यस्तम्, तृतीयन्तु मम्मटेन शब्दचि-
त्रोदाहरणतयेत्यवसेनाम् ।

आययोरुत्प्रेक्षाऽर्गलङ्कारस्यैव चमत्कारितया, व्यङ्ग्यस्य लेशात् सतोऽपि चमत्कारानु-
पधानादर्थचित्रत्वमिति सम्प्रदायविदः ।

प्रदोषकारास्तु—'विनिर्गतम्' इत्यादौ ह्यधोवप्रभावातिरायलक्षणव्यङ्ग्यस्य जागृक्तया
विवरुणादर्थचित्रत्वं व्यपास्य 'मध्ये व्योम स्फुरति सुमनो धन्वन' शाणचक्र, मन्दाकिन्या
विपुलपुलिनाम्भायतो राजहंस । अहश्छेदे त्वरितचरण्यासमाकाशलक्ष्म्या, संसर्पन्त्या-
श्रवणपतितं पुण्डरीकं मुयांशु ॥' इति रूपकप्राचुर्यशालिनि स्वकीयपद्ये तद् व्यवस्थापयामासुः ।

एवं तत्तारतम्याभिज्ञतया । काव्यार्थभावनापरिपक्वद्विशाली रसास्वादकुशलो वा
सहृदय, आहारादिमात्रनिपुणोऽज्ञो प्राम्यजनस्तु पामरः । अविशेषमवैलक्षण्यं तुल्यस्व-
मिति यावत् ।

इदमाकृतम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यदिरुदयर्माध्यासः कारणभेदर्थ' इत्यभि-
शुकोत्तरस्यन्तविजातीयचमत्कारवत्तया विरुद्धर्माध्यासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दार्थचित्रयो-
र्यथेकप्रकारत्वं स्वीक्रियते, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्रात्पहेतुकभेदभाजोर्ध्वनेर्गुणी-
भूतव्यङ्ग्यस्य च काव्ययोर्विभिन्नप्रकारत्वं कुनोऽज्ञीक्रियते, तयोरप्येकप्रकारत्वमूरीक्ष्यताम् ।

कौन ऐसा होगा जो सहृदय होकर—

विनिर्गतं मानदमात्मामन्दिरान्भवत्पुपश्रुत्य यहच्छयाऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताचीव भियाऽमरावती ॥^१

तथा

सच्छिद्यमूल चतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्वनावधृतः ।

अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽवभासे ॥^२

इत्यादि काव्यों के साथ—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा

मूर्च्छन्मोहमहर्विहर्षविहितस्नानादिकाऽह्वाय वः ।

भिन्नादुद्युद्गदारदहुरदरी दीर्घा दरिद्रदुम-

द्रोहोद्रेकमहोन्मिसेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥^३

इत्यादि काव्यों का केवल निगमश्रेणी के अल्पज जन जिनकी प्रशंसा करते हैं, साम्य कह सकता है। और तारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में गिना जाय, तब जिनमें बहुत ही कम (व्यङ्ग की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अन्तर है, उन 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को अलग अलग भेद में गिनने का दुराग्रह क्यों? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिसङ्गत है।

ननु यत्र लक्ष्ये शब्दचमत्कारिर्ध्वजमत्कृतिश्च सदैव तिष्ठत, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत्, न तथोश्चमत्कृत्योः सामानाधिकरण्येऽपि सूक्ष्मेक्षिकया क्वचिदेकस्या प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं लक्षितं स्यादेव । ततश्च पूर्वोक्तलक्षणासुसारमर्थचमत्कृते सूक्ष्मेऽपि प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वम्, शब्दचमत्कृते प्राधान्येऽधमकाव्यत्व व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षण व्यवहर्तव्यम् ।

ऐकाधिकरण्य समानाधिकरणत्वम् ।

जिस लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या काव्य का एक अतिरिक्त (पञ्चम) भेद होगा? नहीं तो उसका समावेश किस भेद में होगा? इसका उत्तर देते हैं—'यत्र च' इत्यादि। आशय यह है कि यदि किसी काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहेगा, तब वहाँ विचार से काम लेना होगा

१ इस पद्य में इत्यग्रेव राक्षस का प्रभाव वर्णित है। इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने शत्रुओं को सम्मान देने वाले तथा अनिष्टजनों के सम्मान को नष्ट करने वाले जिस इत्यग्रेव का स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि बाह्यकरण करने के लिये) अपने भवन से निकलना सुनकर घबराए हुए इन्द्र के द्वारा शीघ्रता से गिरवार गई है अग्लें (खलें) जिसमें ऐसी अमरावती (देव-पुत्री) मानी भव से नेत्र मूंद ली है।

२ यह पद्य युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग का है। इसका अर्थ इस प्रकार है—सैन्य-सम्भ्रम से जो धूलि उठी, उसकी जड़ शोणित ने काय दी अर्थात् शोणित से धरा आर्द्र हो गई जिससे भूतल से ऊपर उठती हुई धूलि का तौता टूट गया, पर अकाश में धूलि उठती ही रही। (इस अवस्था में) वह धूलि ऐसी शोभित होती थी मानी आग के केवल अङ्गारे शेष रहे गए हैं उससे जो पहले निकल चुका था वह धुआँ ऊपर उठ रहा है।

३ यह गङ्गा का वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—वह गङ्गा आपकी मन्दता-अज्ञान की शीघ्र दूर करे, जल प्रायः प्रदेश के गड्ढों में छात = दुर्बल-तदितर = प्रबल, स्वल्पतापूर्वक उछलते हुए, और स्वच्छ जल की परम्परा से नष्ट हो रहे हैं मोह-अज्ञान जिनके ऐसे मर्दविगण, हर्षपूर्वक जिसमें स्नान तथा दैनिक कर्म (सन्ध्यावन्दन) करते हैं और जो (गङ्गा) दोष पढ़ने वाले, विशाल गेदकों का आवास स्थानभूत कन्दराओं से युक्त हैं और बड़े बड़े पत्थों के द्रोह (गिराने) में अधिक-शक्तिशाली महान् तरङ्ग ही जिस (गङ्गा) का गहरा गर्व है।

अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रधान होगा तो चतुर्थमध्यम काव्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रधान होगा तो तृतीय मध्यम काव्य में समावेश किया जायगा। भक्तिरिक्त काव्यभेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

ननु यत्र सूत्रैश्चिकित्सायामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्यो तुल्यमेव, (न त्वेकस्याः कस्याधि-
न्यूनमधिकं वा) प्राधान्यं स्यात्, तत्र का गतिरित्याद्युक्त्यायामाख्याति—

समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

मध्यमता प्रागुक्तत्रयवृत्तीयप्रकारत्वम्, व्यङ्ग्यवचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्यचमत्कृ-
तेरुपलम्भात् । शब्दचमत्कृतिप्राधान्यस्य रूपलम्भेऽप्यविरोधित्वम् ।

यदि सूत्रम-विचार करने पर भी प्रधानता का निर्णय न हो अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—उसका समावेश कहाँ किया जायगा ? इसका समाधान करते हैं—‘समप्राधान्ये’ इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में उसको मध्यम काव्य ही माना जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य-चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार * वहाँ उपलब्ध रहेगा और शब्द-चमत्कार की प्रधानता रहने से भी कोई विरोध नहीं होगा।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यसुदाहरति—

यथा—

कविरुदितं भानुमन्तं वर्णयति—

‘उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां

निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः

सह्यातः कोऽपि घाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥’

फुल्लानां विवसितानां, पङ्केरुहाणां कमलानां, पटलात् समूहान्, पटले समूहे वा पतन्तो निस्सरन्तः, पतन्तः प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्धया अमरा, तेषामुल्लासो नैशकु-
शयबोरायन्धनमोचकत्वात्, स्वच्छन्दमरन्दभरास्वादसामग्रीसम्पादनाद्वा आनन्दः, दहेतुर्वा, शोकः प्रियतमविप्रयोगजन्मा वित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदानाद् दावानलो बनवहिः, तेन विकलं चिह्नं, हृदयं मनो यासां तां शोकदावानलविकलहृदां, तासां शोकदा-
वानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाक्यधूनाम्, आश्वासनविधानाभिस्तारशोक-
सागरपारगमनं तत्सम्पादको वा, तामसानां तिमिरगिकराणां तमस्त्वभावतया तमस्विनी-
सघरणशीलोलूकादीनां वा, उत्पातो विनाश उच्चाटनं तन्निदानं वा, उपहतं तिमिरावरणाद्
विनष्टं महःपदार्यसार्थप्राहकप्रकाशो येषां, तादृशा चक्षुषा दृशा तन्निमिरावरणतिरोचापनाद्
पक्षपातः साहायकं तत्कारको वा, अयमुदीच्यमाणः, कोऽपि दीपक-खद्योतादिविलक्षणः,
घाम्ना तैजसा, सह्यातः समुदायः सूर्यः, उदयगिरेः पूर्वाचलस्य प्रान्ततः शिखरात्, प्रादुरा-
सीत् प्रातराविरभूदित्यर्थः ।

इहायमिति निर्देशोऽद्यतनभूतकाले लङ्विधिश्चिन्त्यः । नैवशिकत्वाङ्गीकारेण चोपपाद-
पकाराद्यन्तरासकृदाश्रिते ‘अनेकस्पर्कया साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकया । एकस्य सकृदप्येव वृत्त्य-
नुप्रास दृश्यते ।’ इति वर्णलक्षितो वृत्त्यनुप्रासः शब्दालङ्कारः, पूर्वोक्तवर्णावृत्तौर्वात्यनुप्रासस्य
वैशिष्ट्यात् ‘आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः । श्लोकः स्यात्’ इति प्राचीनलक्षित श्लो-
कोऽभिधानशब्दगुणश्च शब्दं भूयति, तथाऽञ्जसैव स्फुटतयाऽर्थावगमात् ‘अस्मादन्त-स्थित-
सर्वः स्पष्टमर्थोऽवभासते । सलिलस्यैव सूक्तस्य सप्रसाद इति स्मृतः’ इति प्राचीनलक्षितः

प्रसादनामाऽर्थगुणः, सूर्यरूपे तेजस्सद्घाते पुष्पन्धयोऽस्त्वात्त्व-कोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारत्व-
तामसोत्पातत्व-चक्षुःपक्षपातत्वलक्षणधर्मचतुष्टयारोपात् 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'
'माला तु पूर्ववत्' इति प्रकाशलक्षितं मालारूपरुम, उल्लासादिधर्मकरणस्य तेजःपुञ्जस्थो-
ल्लासादिकाण्यैरभेदेनाभिधानात् 'अभेदेनाभिधा हेतुहेतोर्हेतुमता सह' इति पुनर्दपणलक्षितो
हेत्वलङ्कारो वा वाच्यार्थं प्रसाधयतीति शब्दस्यार्थस्य च चमत्कारस्तुल्यकक्ष एवेत्युच्यते
प्राधान्यान्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणालङ्कारयोरुपन्यासेनात्र क्रम-
विपर्यासोऽवश्येयः । ताद्रूप्यारोपापेक्षया तादात्म्याभ्यासे विच्छित्तिविशेष इत्यर्थालङ्कारान्तरो-
पादानस्य निदानम् । 'यत्तूल्लासादीना तत्कार्यत्वात् कथं रूपक'मित्यलङ्कारान्तरोपादानबीज-
प्रदर्शनं टीकाकृतं, तच्चिन्तनीयम्, 'सुखं चन्द्र' इत्यादावपि बाधप्रहे जाप्रत्येय तात्पारोपाद्
रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोरभेदस्याप्येवं बाधप्रासादलङ्कारान्तरोपादानस्या-
प्यसङ्गतत्वाच्च ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समानरूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करते हैं—'यथा, उल्लास' इत्यादि । 'मयूरभट्ट' अपने सूर्यशतक नामक ग्रन्थ में उदयाचलावलम्बी प्रातः कालिक सूर्य का वर्णन करते हैं । खिले हुए कमलों के समूह से निकलते हुए अथवा खिले हुए कमलों के समूह पर गिरते हुए (रातभर मधुपान करने के कारण अथवा मधुपान की आशा में) मत्त, भ्रमरों का उल्लास, (आनन्ददायक) शोकरूप दावानल से विकल हृदय वाली चक्रवाकियों का निरतार (मिय-वियोग-सम्पादक होने से शोक-कारणीभूत-रात्रि का अन्त करके दुःख का नाशक) अन्धकार के समूहों का उत्पात (नाशक) और अन्धकार के कारण जिनके तेज नष्ट हो गए हैं उन नेत्रों का पक्षपात, (सहायक) यह कोई तेज पुञ्ज, उदयाचल के प्रातः-भाग से प्रादुर्भूत हुआ ।

तदेवाह—

अत्र घृत्यनुप्रासप्राचुर्यादौजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगाद-
नन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्करयोस्तुल्यस्क-
न्धत्वात् सममेव प्राधान्यम् ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्घृत्यनुप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजस शब्देन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकमा-
वात् प्रकाशनोक्ति । तुल्यस्कन्धत्व साम्भम् । अन्यत् सुगमम् ।

यहाँ पकारादि अक्षरों की बारबार आवृत्ति होने से घृत्यनुप्रास की प्रचुरता है और सम्पूर्ण श्लोक में उस घृत्यानुप्रास के वर्तमान रहने से हम पद्य की पदावली 'ओजगुण' को व्यक्त करती है, इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद-गुण-युक्त होने से शब्द-ध्वनि के बाद शीघ्र ज्ञात हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्कार-रूप वाच्य-अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । अतः इस पद्य को मध्यम काव्य कहना उचित है ।

अथ रसध्वनिलक्षणाद्य समायेन ध्वनिप्रकारान् निर्हेतुमवतरणमभिदधाति—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासङ्ग-अभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

तत्र तेषु चतुर्षु बाण्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वने । असङ्ग-
भेदस्यापि विभावादिभेदान्त्यप्रयोज्यानन्तप्रकारकवचन-रसादिध्वनिघटितत्वात् प्राति-
स्विकरूपेणानुपनीयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽविशेषरूपेण, केऽपि साधारणा, भेदा प्रकारा,
निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

यद्यपि रसादिध्वनिघटितत्वाद् ध्वनिप्रकार विशेषरूपेण सङ्गधातुमशक्या इति तत्रि-
रूपणमशक्यमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरवाच्या-विवक्षितवाच्यत्वादिसा-
मान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके यद्यपि अलङ्कार-भेद हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अनन्त हो सकते हैं अतः उन सब भेदों का एक एक कर उल्लेख करना असम्भव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति—

द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्रायस्त्रिविधः—रस-वस्त्व-लङ्कारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस भाव-तदामास-भाव-शान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानां ग्रहणम् । द्वितीयश्च द्विविधः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

अन्यत्राभिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वने. प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकृताहन्वाये-नोपादानलाघवाल्लक्षणांमूलस्याविवक्षितवाच्यध्वनेरेव श्लेषोपादानम् । इह लभियाया लक्ष-णोपजीव्यत्वात् । तन्न्यायमुपेक्ष्य प्राकृतमेव असमनुसृत्य तदिति न विपर्यासः । द्विविध-सामान्यरूपेणैतिशेष । एवमप्येऽपि बोध्यम् । अभिधामूलत्वादेव विवक्षितवाच्यत्वं, लक्षणा मूलत्वादेव चाविवक्षितवाच्यत्वमवसेयम् । तथाहि—विवक्षितो वाच्यताऽवच्छेदकरूपेणान्वय-बोधविषयत्वेनापेक्षितोऽन्यपरोव्यङ्ग्योपसर्जनीभूतो वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवा-च्योऽभिधामूलो ध्वनि, पदार्थोपस्थित्यवसर एवान्वयराधे जागरुकेऽविवक्षितो वाच्यजात्या-दिरूपेणान्वयबोधविषयतयाऽपेक्षितो वाच्योऽर्थो यत्र, स चाविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनि । चकार' समुच्चयार्थकः । तत्र तयोर्ध्वन्योर्मध्ये । अथोऽभिधामूलो विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनि । त्रिविधो रसध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिश्चेति त्रिप्रकारकः । रसपदं रस्यन्त-प्राप्तायन्त इति न्युत्पत्तियोगाद् रस-भाव-रसामास-भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-भाव-सन्धि-भावशबलत्वानामुपलक्षणं प्रत्यायकम् ।

अन्यत्र रसध्वने' पद्यादिदिष्टत्वेऽपीह सर्वप्राधान्यबोधनाय पूर्वनिर्देशः । द्वितीयो लक्षणा-मूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनि' । चकारस्त्वर्थकः । पदार्थान्तपान्वययोग्यत्वाद्योग्यत्वाभ्यां वाच्यस्य विवक्षान्विचने बोधे ।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक । उनमें प्रथम अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य के पुनः तीन भेद होते हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि । यहाँ 'रस-ध्वनि' पद, असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जक-ज्ञान और व्यङ्ग्य-ज्ञान के बीच में होने वाला क्रम (पूर्व-पश्चाद्-भाव) लक्षित नहीं होता) का बोधक है, अतः 'रस-ध्वनि' पद से रस, रसामास, भाव, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता सब का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वे सब असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं । द्वितीय अर्थात् लक्षणामूलक-ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । (यहाँ यह विशेष समझना चाहिये कि 'अभिधामूलक ध्वनि' को 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' और 'लक्षणामूलकध्वनि' को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहते हैं) ।

रसध्वने. प्राधान्यं शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयति—

एव पश्चात्तमके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—
एवं—पूर्वोत्तररसध्वन्यादिभिः प्रकारैः, पश्चात्तमके-पद्यस्वरूपे, ध्वनौ (पद्यरसस्य सत्-म्यर्थतया) ध्वनिघटकस्य, रसध्वने प्रथमस्य, परमरमणीयतयाऽलौकिकास्वादनकत्वेन, तदात्मा तस्य रसादिध्वने, आत्मा जीवनावायकत्वात् प्रधानम्, रसो वक्ष्यमाणस्वरूपः, तावदादौ (सर्वेभ्यः प्रथमम्) अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः ।

रसादिध्वने परमरमणीयत्वं तु 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' इतीतरव्यवच्छेदार्थमेवकारमु-
पनिबध्नाता ध्वनिकृताऽपि प्रतिपादितम् ।

इस तरह ध्वनि-काव्य के सामान्यतः पांच भेद हैं । उनमें 'रम-ध्वनि' सबसे अधिक
रमणीय (आस्वाद-जनक) होता है, इसलिये रसध्वनि की आत्मा (साररूप होने से
प्रधान) जो 'रस' है, उसका निरूपण पहले करते हैं ।

प्रथममाचार्याभिनवगुप्तादिसम्मतं रसस्वरूपमाह—

समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदय-
हृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विग-
लितदुःखान्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदे-
श्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुदीपनकारणैः,
अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भा-
वितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशव्यवस्थाज्ञानेनात-
एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्त-
वेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवामना-
रूपो रत्यादिरेवरसः ।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूल, अत एव ललितो मनोरमः, सन्निवेश शब्दार्थयुग्म-
नम्, तेन चारुणा सुन्दरेण, काव्येनोक्तलक्षणो कविकर्मविरोधेण, समर्पितैरुपस्थापितैः,
अत एव सहृदयाना सचेतसा, (न त्वत्चेतनामपि) हृदय प्रविष्टैर्यमत्कारितया मनोरमैः,
तदीया तेषा सहृदयसामाजिकाना सम्बन्धिनी (तज्जिज्ञा) या सहृदयता वैदग्ध्य (रसा-
स्वादनवातुरी) तथा सहकृतेन विहितसाहाय्येन (उपोद्बलितेन) भावनाविशेषस्य सहृदये-
तरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकतदर्शानुसन्धानस्य, महिम्ना प्रभावेण, विगलित प्रती-
त्यविषयोभूत शकुन्तलादिनिष्ठो दुःखान्तरमणीत्वादिभिरलौकिकोऽसाधारणधर्मो येषां तैः, लोको-
त्तर-विभावानुभावन-व्यभिचारणव्यापारवत्तयाऽलौकिकविभावानुभाव-व्यभिचारि (भाव)-
शब्दै (नामभि) व्यपदेश्यैर्व्यवहार्यैः, शकुन्तलादिभि (आदिशब्दो नायिकान्तरयोवक)
आलम्बनकारणैरालम्बनविभागाद्यैः, चन्द्रिकादिभिः (आदिना सत्स्वन्दनादिप्रदृष्टम्) उदी-
पनकारणैरुदीपनविभागाद्यैः, अश्रुपातादिभि (आदिपदेन कटाक्षमुज्ज्वोपादि गृह्यते) कार्यै-
रनुभावाद्यैः, च पुन, चिन्तादिभि (आदिपद उज्ज्वोपादिगृह्यते) सहकारिभिर्व्यभिचारि-
भावाद्यैः, (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणैः) सम्भूय विभाव्यदिभावकभावादिसम्बन्धैर्मिलित्वा,
प्रादुर्भावितेनोत्पादितेन, अलौकिकेन लोकोत्तरेणाद्भुतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरप-
र्यायेण भावनाविशेषरूपेण (कारणेन), तत्काले तस्मिन् भावनाविकरणे एव समये, तत्काले
वा, निवर्तितमपसारितम्, आनन्दांशस्य चिदात्मस्वरूपस्य, आवरणमवरोधकमज्ञानं यस्य,
तादृशेन (भावनाविशेषरूपसारित-सच्चिदानन्दस्वरूपात्माज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत
एव-आवरणरूपाज्ञानापसारणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्त परिमितप्रमातृ-
त्वादिस्वरूपावत् (परिच्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रवृत्तिनिर्जामी जीवात्मनैसर्गिकधर्मो यस्य,
सादृशेन, प्रमात्रा ज्ञात्रा (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यात्माभेदेनात्मनैव प्रति-

भागान्) प्रकाशान्तराप्रकारयत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयताया सत्येन, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेर्मिजस्थात्मनः स्वरूपेणानन्देन, सहभेदेन ('रसोऽहम्' इत्यादिप्रतीतेः) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमानः, प्राक् पूर्वं जन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च, विनिविष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूपं यस्य, तादृशो रत्यादी रत्युत्साहप्रमृतिस्तत्तद्रसस्याधिगाव एव रस इत्यर्थः ।

इदमुच्यते—रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वगुणोत्कर्षे, श्रव्यस्पर्शध्वनिध्वनेन, दृश्यस्पर्शव्याभिनयदर्शनेन वा, धन्यानां केषांचन सहृदयानां हृदये, रत्यादेः, शकुन्तला—चन्द्रिकाप्रमृती-म्यालम्पनोदीपनशरणाणि, श्रुपातादीनि कार्याणि, चिन्तादीनि सहकारिकारणानि च, वस्तु-सौन्दर्येण चर्च्यमाणानि, सहृदयसामानिहृदिप्रवैदग्धीपरिपोषिताया भूयोभूयोऽनुसन्धान-लक्षणविलक्षण-भावनाया यत्नेन, लौकिकसाधारण-शकुन्तलात्प-दुष्यन्तरमणीत्वादि-धर्माण्य प्रमोषेऽलौकिक-साधारण-कान्तात्वादिधर्मपुरस्कारेण ह्यायनानान्यलौकिकविभावनादि-व्यापारवत्त्वाऽलौकिकविभावादिपदनाच्यस्वं प्रतिपद्यन्ते । तैश्च परस्परं सद्गते प्रभावाद-लौकिको भावकत्वव्यापारः प्रादुर्भाव्यते । तेन तु व्यापारेण, सद्य एव, सच्चिदानन्दरूप-स्यात्मनो दीपस्येव शरावादिरावणरूपमज्ञानमपसार्यते । अथाज्ञानस्य विगल्बनादेव, तस्य सचेतसः, परिच्छिन्नज्ञातृत्वमित्यन्तित्यन्त्रितस्तुमात्रवेदित्वगोदियेषां, तेषु जीवधर्मेषु विन-ष्टेषु, समुज्ज्वलितेषु च सार्वरथादिषु परमात्मधर्मेषु, रसस्यात्मनश्च नित्यत्वाज्ज्ञानरूपत्वा-दानन्दरूपत्वाभिभवेन, जन्मान्तराणामेतज्जन्मनश्च वासनाहयसंस्काररूपेण पूर्वं हृदि प्रविष्टो भोजकत्वापरपययिण रसनाव्यापारेण, आस्वादपदवीं नीयमानो रत्यादिस्तत्तद्रसस्यायी भाव एव रसोऽस्ति ।

तथा चोक्तम्—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तं सद्धारिणा तथा । रसतामेति रत्यादि-स्थायीभावः सचेतसाम् ॥'

'सत्त्वोद्रेकादस्रण्ड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेदान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राण बौद्धित् प्रमातृभिः । स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥'

'पुण्यवन्तः प्रतिष्पन्ति योगिवद्रसस्तन्ततिम् । सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ॥'

निर्वासनास्तु रज्जान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभा ॥ इत्यादि ।

अथ रस-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'भ्रमट तथा अभिनवगुप्त' आदि विद्वानों के अभिमत—'रस'-स्वरूप का उल्लेख करते हैं—'मनुचित' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किसी का सोच, कभी किसी पर क्रोध करता है तो कभी किसी पर घृणा, कभी किसी से भय खाता है, तो कभी किसी काम में उत्साह दिखलाता है, कभी किसी पर ईर्ष्या है, तो कभी किसी बात पर आश्चर्य (विस्मय) प्रकट करता है । इसी तरह कभी यह शान्ति का अनुभव भी करता है । ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका सस्कार सदा के लिये अमिट हो जाता है अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं । वे ही वासनारूप से मानव हृदयों में बसने वाले भाव साहित्यशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, श्रुगुप्सा, नीति, उत्साह, हास, विस्मय और घम इन नामों से स्थायीभाव कहलाते हैं, जो वस्तुतः एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे । जब वे स्थायीभाव 'सत्य विज्ञानमानन्द तद्व' इत्यादि वेदवाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' सत्ता

को प्राप्त करते हैं। उसी अवस्था में 'रसोऽहं' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तब तक नहीं हो सकता, न उनके साथ उनका अनुभव ही तबतक किया जा सकता, जबतक उस आनन्द स्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (किया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकत्व'। जब वह लोकोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-आत्मा को ढकने वाले उस अज्ञानावरण को हटा देता है, तब अनुभवकर्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, वह कुछ पदार्थों का ही ज्ञाता हो पाता है-संसार के समस्त पदार्थों का नहीं, वह नष्ट हो जाता है अर्थात् मनुष्य में जो जीवधर्म (अल्पज्ञता परस्पर का भेद-भाव आदि) रहते हैं, वे लुप्त हो जाते हैं और परमात्म-धर्म-सर्वज्ञत्व आदि जागरित हो जाते हैं। तब उस अनुभवकर्ता को आत्मानन्द के साथ रति आदि स्थायीभावों का अनुभव होने लगता है। उस लोकोत्तर 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव परस्पर मिलकर करते हैं। अब यहाँ उस 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि करने वाले विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी-भावों का परिचय प्राप्त करना पाठकों को आवश्यक प्रतीत होगा, अतः सक्षेप में उन भावों का परिचय कराया जाता है। आत्मानन्द के साथ अनुभूत होने पर 'रस' सज्ञा को प्राप्त करने वाले चित्त-वृत्ति-विशेष-स्वरूप, 'रति' आदि स्थायीभाव जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे उन स्थायीभावों के आलम्बन कारण कहलाते हैं, और अपने अपने आलम्बन कारणों से उत्पन्न वे स्थायीभाव, जिनसे उद्दीप्त होते हैं, वे कहलाते हैं उद्दीपन कारण। इसी प्रकार उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के उत्पन्न होने पर उनके परिणाम-स्वरूप शरीर आदि में जो कुछ विशेष प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, वे कहलाते हैं कार्य। इसी तरह उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के साथ ही कुछ और चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो स्थायीभावात्मक चित्तवृत्तियों की सहायता करने के कारण सहकारी कारण कहलाती हैं। उदाहरण के द्वारा ये बातें और अच्छी तरह समझी जा सकती हैं। अतः निम्नलिखित एक उदाहरण पर ध्यान दीजिये—शकुन्तला को देखकर उसके विषय में दुष्यन्त के हृदय में रति-प्रेम उत्पन्न हुआ, अतः उस रति का उत्पादक होने के नाते शकुन्तला आलम्बन कारण हुई, एकान्त स्थान चन्द्र-ज्योत्स्ना, कुसुमित कानन आदि उस प्रेम को उद्दीप्त करने वाले हुये, अतः वे तथा उसी तरह की दूसरी चीजें उद्दीपन कारण हुईं। इस तरह प्रेम के हृद हो जाने पर अकरमात् शकुन्तला दुष्यन्त के लिये हर्लभ हो गई, उसके विरह में दुष्यन्त रोने लगे उनका वह रोना उस रति का कार्य हुआ और उस प्रेम के साथ ही दुष्यन्त के हृदय में चिन्ता ने भी जन्म-ग्रहण किया—अर्थात् 'शकुन्तला कसे मिलेगी' इत्यादि तरह की चिन्ता उस रति की सहायता करने वाली हुई, अतः यह सहकारी-कारण हुई। यह उदाहरण तो केवल शृङ्गार-रस विषयक हुआ, इसी तरह करुण आदि रसों के स्थायीभाव शोक आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अब उक्त रीति से लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होते हैं, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे सयोगावस्थान में रोमाञ्च आदि और वियोगावस्था में अधुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, एवं हर्ष अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे ही सब जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उपयुक्त तथा सुन्दर शब्दों के गुम्फन से मनोहर काव्यों के द्वारा उपस्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्व, दुष्यन्तत्व आदि धर्म उनमें से निकल जाते हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जाते हैं, अतः जो कारण थे वे विभाव, जो कार्य थे वे अनुभाव और जो सहकारी थे वे व्यभिचारी-भाव कहलाने लगते हैं। इसी अलौकिकीकरण के लिये 'दर्पणकार' आदि आचार्यों ने काव्य में 'साधारणीकृति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारोऽस्ति विभादे, नाम्ना

साधारणीकृतिः' इत्यादि । इन्हीं अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा स्वभिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकाव व्यापार से अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'भोजकत्व अथवा रसना किंवा व्यञ्जना' नामक व्यापार से आस्वाद्य बनाया गया, रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है ।

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकृत्यति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः सतैत्रिभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ।' इति ।

आहुरिस्त्रय 'काव्यप्रकारो मम्मठभट्टा' इति शेष । बहुवचनेन तदुक्तौ गौरवं सूच्यते । आचार्य मम्मठ भी अपने काव्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्त' इत्यादि । अर्थात् विमादिकों से जब स्थायीभाव (रसि प्रवृत्ति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलाता है ।

कारिकाघटक 'व्यक्त' पदं विवृणोति—

व्यक्तो व्यक्तविषयीकृतः ।

रसनाजन्यास्वादाभिन्नचैतन्यगोचरीकृत इत्यर्थः ।

ममश्लोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' पद की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तो व्यक्ति-विषयीकृतः' इति । 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना ।

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेर्निरासार्थमाह—

व्यक्तिश्च भग्नाधरणं चित् ।

चस्त्वर्थे । भ्रमभावरणमज्ञानं यस्यास्तादृशी शुद्धा चिचेतन्यमास्वाद इह व्यक्तिर्न तु तदास्वाद करणीभूता रसनाइति । सा हि—

'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते पुषैः ।

रसन्यक्तौ पुनर्वृत्ति रसनाख्या परे विदुः ॥' इति ।

दर्पणोक्तेर्व्यञ्जनाप्रकारविशेषः ।

व्यक्ति पद का अर्थ अन्यत्र व्यञ्जनावृत्ति प्रसिद्ध है, अतः यहाँ भी उस पद का अर्थ वही होगा इस भ्रम के निराकरणार्थ कहते हैं—'व्यक्ति भग्नावरणं चित्' इति । अर्थात् व्यक्ति पद से यहाँ यह शुद्ध आस्वादनरूप चैतन्य विवक्षित है जिनका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है, न कि व्यञ्जनावृत्ति ।

निर्दर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिस्वलिप्तान् रत्यादीन् ।

हेत्वर्थको हि —

यथा शरावादिना मृन्मात्रविशेषेण, सिद्धि आच्छादितो दीपः (न प्रकाशयति पदार्थान्, न वा स्वयं प्रकाशते) तस्मात्प्रकाशस्य निवृत्तावपसरणे तु, सन्निहितान् समोपस्थान् पदार्थान् घटपदादीन्, प्रकाशयति त्वभासा लोक्लोचनगोचरीकरोति, स्वयं दीपश्च, प्रकाशते ह्यविषयीभवति, एवं तथा, आत्मैव ज्ञानरूपत्वाच्चैतन्यम्, अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितान्तन्करणवृत्तितया सन्निकृष्टान्, विभाव्यविभावकभावोदिसम्बन्धैर्विभावादिभिः स्वलिप्तान् सम्बद्धान् रत्यादिस्थायिभावान् प्रकाशयति चर्चणागोचरीकरोति, स्वयं च 'रसो वै स' इत्यादियवम्पा तद्भेदेन प्रकाशत आस्वाद्यविषयोभनतीत्यर्थः ।

दृष्टान्त दिखला कर उक्त विषय का समर्थन करते हैं—'यथा हि' इत्यादि । जैसे 'कदोरे' आदि से हँका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, न स्वयं

प्रकाशित हो पाता है और उस (कशोरे आदि) दृक्कन के हट जाने पर निकटस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी दृष्टिगोचर होता है, इसी तरह आत्मरूप-चैतन्य, अज्ञानरूप-आवरण के हट जाने पर अन्तःकरण-वृत्ति-रूप होने से सन्नहित तथा विभावादि से मिश्रित रति आदि स्थायीभावों को प्रकाशित करता है—आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—'रति वै स' इस युक्ति के अनुसार रति आदि से अभिन्न होकर आस्वाद का विषय होता है।

ननु 'मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्' इति परिभाषितस्यान्तःकरणस्य, ये धर्मा वासनारूपा रत्यादयः, ते साक्षादात्मना भासिता भवन्तु, ये तु घटपटादय इव विभावाद्योऽन्तःकरणधर्मतो मित्रा बाह्या पदार्था अन्तःकरणसंयोगेन परम्परयाऽऽत्मना भासनीया, तेषां कथं साक्षादात्मभास्यत्वमित्वाशङ्काया व्याहरति—

अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः ।

साक्षिभास्यत्वं साक्षादात्मभास्यत्वम् । पञ्चम्यर्थो हेतुरभिमेणा विरुद्धं मित्यनेनान्वेति ।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादयः साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्या, बाह्यत्वादनन्तःकरणधर्मा घटपटादिपदार्थास्त्वन्तःकरणद्वारेण परम्परिकमन्वन्धेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते । एवं सति प्रकृते वासनारूपाणां रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽपि, विभावादीनामन्तःकरणद्वारेण घटादीनामिव परम्परामन्वन्धेनात्मभास्यानां साक्षादात्मभास्यत्व विरुद्धमिति न विभावनीयम्, लोके नायिकादिपदार्था घटादय इव बाह्या अपि, काव्ये लोकोत्तरविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकशर्धर्षणावसरे रत्याद्येकीभूतास्तद्वदन्तःकरणधर्मता भजन्त साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गते सत्त्वादित्याकृतम् ।

'रति आदि स्थायीभावों को आत्म-चैतन्य प्रकाशित करता है' इसमें युक्ति बतलाते हैं—'अन्तःकरण' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं, सब केवल आत्मा (ब्रह्म) है, बाह्य घट, पट आदि पदार्थ, आत्मा के घृत्ति-रूप हैं अर्थात् अन्तःकरणरूप नली के द्वारा आत्मा-प्रकाश ही घट-पट-रूप में भासित होता है, और अन्तःकरण की घृत्तियों सुख-दुःख आदि भी आत्मा-प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं, अन्तर केवल यह होता है कि वाह्य-पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है और अन्तःकरण घृत्तियों (सुख आदि) को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उनको आत्मा स्वयं प्रकाशित करती है अतएव अन्तःकरण घृत्तियों साक्षि (आत्म) भास्य कहलाती हैं । रति आदि स्थायीभाव भी अन्तःकरण के धर्म (घृत्तियों) हैं अतः साक्षि-भास्य हैं—आत्मा से प्रकाशित होने वाले हैं ।

तदेव दृष्टान्तद्वयदर्शनेन द्रढयति—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रत्नरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम् ।

अपीरत्यादिसमुच्चायक । स्वप्नतुरगादि स्वप्नावस्थादृष्टान्त, रत्नरजतादिस्तु जाग्रदशा-दृष्टान्त इत्युभयनिर्देशः । तुरगोऽथ, रत्नं रजतं च घातु ।

यथा—स्वप्नदशायां प्रत्यक्षीक्रियमाणस्तुरगादयो वाह्यपदार्था कात्पनिता इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्याः । यथा वा—जाग्रदशायां चाकचिन्सदोषाद् रत्ने रजतस्य ध्रान्तौ जायमानाया रजतं वाह्यं प्रातिभासिकमितिन्द्रियमयोग्यं साक्षादात्मभास्य, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिता साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम् ।

रति आदि श्यायीभाव अन्तःकरण के घर्म होने के कारण साधि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव आदि अर्थात् शकुन्तला प्रभृति—जो घट-पट के जैसे वाद्य-पदार्थ हैं—का केवल आत्मा के द्वारा भाव कैसे होगा—साधिभास्य वे कैसे कहलायेंगे अर्थात् उनके भाव में घट आदि वाद्य पदार्थों के जैसे आत्मा को अन्तःकरण को सहायता लेनी पड़ेगी, इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—‘विभवादीनामरि’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि घोड़े, रत्न और रजत वे सब वाद्य पदार्थ हैं अतः साधिभास्य कहलाने योग्य नहीं है परन्तु सपने में जब घोड़े का ज्ञान होता है अथवा जागते में जब राँगे में रजत का भ्रम, दूरत्व तथा चाकचिच्य आदि दोषों से होता है, तब वे (घोड़े तथा रजत) साधिभास्य ही माने जाते हैं अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भाव होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुतः वे चीजें हैं नहीं केवल काव्यनिक हैं, उसी तरह उन विभावादि को भी साधिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूढ़ होने पर वास्तविक नहीं काव्यनिक ही हैं अतः उस अवस्था में उन सबों का भाव भी आत्मचेतन्य-मात्र से हो सकता है चाहे चन्द्रादि इन्द्रियों से नहीं ।

नन्वेवमात्मनैतन्याभिज्ञत्वान्नीकारे रसस्य नित्यत्वे, ‘उत्पन्नो रसः’ ‘वित्तो रसः’ इति सर्वातुभवगोचरो तदुत्पत्तिविनाशौ कथमुपपादनीयानिति शङ्का समादवादि—

व्यञ्जकविभावादिचर्चणाया आवरणभङ्गस्य बोधोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्यते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकतात्वादिब्यापारस्य गकारादौ । व्यञ्जकत्वं रसादिनिवृत्तितम् । चर्चणाऽऽस्तादः । आवरणभङ्गः प्रायुक्ताज्ञानाशः । उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतौ पञ्चमी, उत्पत्तिविनाशयोः सत्त्वादिति बोधयति । उपचार आरोपः । वर्णानां नित्यता वैयाकरणानां मीमांसकानां चाभिमतम् । गकारादावुत्पत्तिविनाशाधुपचर्यते इति सम्बन्धः ।

यथा वैयाकरणादिमते ‘उत्पन्नो गकारः’ ‘वित्तो गकारः’ इत्यादिप्रतीतिगोचरबोधोत्पत्तिविनाशयोर्नित्येषु वर्णेषु वस्तुतोऽसम्भवात् तद्व्यञ्जककण्ठतात्वादिब्यापारेषु च सम्भवादापोषः, तथैव रसादिषु नित्येषु ‘उत्पन्नो रसः’ ‘वित्तो रसः’ इत्यादिप्रतीतिगोचरबोधोत्पत्तिविनाशयो रसादिव्यञ्जकानां विभावादिचर्चणाया विद्यमानयोश्चर्चणाविपर्ययोर्भूतेषु रसादिधारोप इत्यर्थः ।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्चणाया रसाद्यभिज्ञतया वास्तविकशुत्पत्तिविनाशौ न सम्भवत इति धटादिकार्येषु विद्यमानावुत्पत्तिविनाशौ प्रथमं कादाचित्कत्वेन साधन्येण रसादिचर्चणाया, पश्चात् तद्विपर्ययतया रसादिधारोप्येते इति साक्षात्सम्बन्धाभावेऽप्यारोपाङ्गीकाररूपाहचे पक्षान्तरसुपस्थापितमावरणभङ्गस्य चेति । आवरणभङ्गीयोत्पत्तिविनाशयोर्विभावादिव्यञ्जकरसादिचर्चणायामारोप इति तदर्थः । तथा चोक्तम्—‘यद्यपि रसगन्धतया चर्चणत्यापि न कार्यत्वम्, तथापि तस्य कादाचित्कतयोपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।’ इति । भङ्गरस्यात्तल्लभ्यतया ताभ्यादिव्यापारस्य गकारादौ’ इति नोप्यतम्, किन्त्वज्ञरसमात्मानायेऽकारस्य, स्थानेषु च कण्ठस्य प्रायन्वेनोपदेशाद् ‘व्यञ्जककण्ठतात्वादिब्यापारस्याकारादौ’ इतीह मूले पठितमुचितम् । तथा-व्यापारस्य = ‘उत्पत्त्यादे’ इति त्वपव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुबलकण्ठा-यभिघातविषयाया एव तद्व्यपारपदार्थद्विदुत्पत्तेरभिन्त्यक्त्या तन्नन्यत्वेन तद्विज्ञत्वात् ।

रस को आत्म-चेतन्य-स्वरूप मानने पर ‘रस उत्पन्न हुआ, रस वित्त हुआ’ इत्यादि स्पष्टांतर अत्यन्त हो जायेंगे क्योंकि आत्म-चेतन्य नित्य है, अतः तत्स्वरूप रस भी नित्य होगा, इस शङ्का का समाधान करते हैं—‘व्यञ्जक’ इत्यादि । जैसे वैयाकरणों के मत में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ साह्य आदि स्थानों के ध्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप वर्णों में करके ‘गकार उत्पन्न हुआ,

गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार रस के निश्च होने पर भी उसके (रस के) व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-भङ्ग में होने वाले उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होते हैं, जिससे 'रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ 'विभावादि-चर्वणा' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-भङ्ग' ऐसा उल्लेख इसलिये किया गया है कि रसादि-व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है, फिर तो जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश असम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभावादि-चर्वणा के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था। गकारवर्ण, व्याकरण के मत से ताल्लस्थानीय नहीं है अतः 'व्यञ्जकतात्त्वादि-व्यापारस्य गकारादौ' यह मूलपाठ सङ्गत नहीं होता, इसलिये 'व्यञ्जक-कण्ठादि-व्यापारस्य अकारादौ' ऐसा मूलपाठ मानना चाहिए क्योंकि वर्ण-समाह्वय में अकार प्रथम है और स्थान में कण्ठ।

नन्वावरणभङ्गे जाते विभावादिचर्वणोपरतावपि, रत्यादिस्थायिना कथं न तथाऽवभास इत्याक्षेपं क्षपयति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृत्तत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

विभावादिचर्वणाऽवधि' सीमा (तदुत्तरं तदसत्त्वाद्) यस्येति बहुव्रीहि । तस्या विभावादिचर्वणायाम् । प्रकाशस्य चिदानन्दास्वादस्य । विद्यमानः सूदमाकारेणान्तरिति शेषः । यथासमाधिकारणसत्तावधिरेव कार्यरता, तथाऽऽवरणभङ्गस्तावदेव तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणाय विनश्यामावरणभङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रकाशे पुनरज्ञानेनावृते, शरावपिहितदीपवदन्तस्तिष्ठतोऽपि रत्यादिस्थायिनो नास्वाद् इत्यभिप्रायः ।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि जब रति आदि स्थायीभाव, चासनारूप में सदा वर्तमान रहता है, तब सर्वदा रस-रूप में उसका भाग क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जमी तक आत्मा के ऊपर रहने वाला आवरण अज्ञान हटा रहता है, तभी तक आत्मा, रति आदि को भासित करती है, बाद में नहीं और अज्ञान का आवरण आत्मा पर से तभी तक हटा रहता है, जब तक विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है अर्थात् जब विभाव आदि की चर्वणा समाप्त हो जाती है तब आवरण-भङ्ग भी नहीं रहता—आत्मा फिर अज्ञानावरण से ढंक जाती है, अतः उस दशा में स्थायी (रति आदि) विद्यमान रह कर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक के ढँक जाने पर समीप में पड़ी हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पातीं।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यपारोऽधिकः कल्पनीयो भवतीत्यरुचेर्लक्षणाय पक्षान्तरमुपन्यस्यति—

यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत् ।

सहृदयस्य निजसहृदयतावशात् स्ववैदग्ध्यवलात्, उन्मिषितेनाभ्युदितेन, विभावादीनां या चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रमावेण (कारणेन) योगिनः समाधी योगचरमात्रे निविकल्पनामनोव, तैस्तैश्च स्थायिभो रत्यादिभिः, उपहितं विषयतया सम्यग्, स्वमात्मा सच्चिदानन्द-रक्षण स्वरूपं यस्या (अत एव) आनन्द आशयो यस्यास्तादृशी सच्चिदानन्दात्मरूप-रसाभिज्ञा तन्मयीभावरूपा रसात्मतादात्म्यावगाहिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानम् (आस्वाद) उपजायते भवतीत्यर्थः ।

चिदानन्दाकारेत्यस्य सद्भिष्येति विवृतिर्न युक्ता, आनन्दस्य रसात्मरूपेण (न तु विषय-

तया) प्रतीतेः । तथा निर्विकल्पकसमाधानान्दाकारवृत्तितेरभावमभिधाय समाधिपदेन सविकल्पकसमाधेरेव प्रहृणमित्यभिधानमसमञ्जसम्, आनन्दात्मचैतन्यस्य निर्वीजतामावा-
वपि सर्वांजुमतत्वात् । अत एव रसाद्यास्वादस्य ब्रह्मास्वादसहोदरत्वं सङ्गच्छते । एवं
तन्मयीभवनमित्यस्य 'आनन्दविषयतया तरप्रचुरेत्यर्थः' इति विवरणमपि नोपपत्तिसहम्,
आनन्द-रस-चैतन्यानां तादात्म्येन विषयविषयिभावासम्भवात् स्वरूपार्थ एव (न तु
प्राचुर्यायै) मयद्योऽत्र विधानौचित्यात् । अद्याज्ज्ञे तु भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनीयमिति
सुधीभिराकलनीयम् ।

अत्र मते रसात्मकतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवलं काव्यव्यञ्जनाद्यस्य रसनापरपर्याय-
भोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुटं लापवम् । ननु भावकत्वव्यापार-
मन्तरेणाज्ञानावरणभिरासौ दुर्यट इति चेत्, न, यतः प्रकृत्यर्थप्रकारस्यैव भावत्वाद् भावनैव
भावकत्वम् । सा च सहृदयस्य स्वोयसहृदयतासहकारेण काव्यार्थविषयिणी पूर्वोत्पन्नैव
विभावादीना साधारणीकरणं प्रमातुरावणमत्र च कर्तुमीशीतेति न तदर्थमावान्तरिक-व्यापा-
रान्तरकल्पनाऽऽवश्यकीत्याशयः ।

उक्त प्रथम पक्ष में अज्ञानावरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (भावकत्व)
की कल्पना करनी पड़ती थी, जिससे गौरव होता था, अतः अब पदान्तर का उल्लेख करते
हैं—'यद्वा' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप आवरण को हटाने के लिये किसी
नवीन व्यापार की कल्पना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की सहायता से परिपक्व
धनी हुई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही सहृदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञानावरण को
दूर कर देगी और विभावादि का साधारणीकरण भी करेगी, 'भावकत्व' भी तो भावना से
अतिरिक्त कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, 'प्रकृति-जन्य-बोधे प्रकारभूतो धर्मो भाव-
प्रत्ययार्थः' इस नियम के अनुसार भावराय का पर्यवसित अर्थ भावना ही होगा । इस
लिये ऐसा समझना चाहिए कि उक्त भावना से साधारणीकृत विभावादिकों का जो
आस्वादन सहृदय-जन करते हैं, उसका प्रभाव उनके ऊपर सहृदयता के कारण गहरा
पड़ता है, और उस प्रभाव के द्वारा काव्यवर्ती व्यञ्जना-वृत्ति से सहृदयों के चित्तों में रति
आदि स्थायीभावों से युक्त, अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति
उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदयगण उस आनन्द में डीन हो जाते हैं—डूब जाते हैं तन्मय हो
जाते हैं, जैसे योगियों के चित्तों में सविकल्पक समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है
अर्थात् उस अवस्था में योगियों को सांसारिक किमी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे
तब ब्रह्मानन्द में डीन रहते हैं, उन्हीं स्थायीभावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति को
साहित्यशास्त्र में 'रस' कहते हैं ।

मन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपस्यानन्दस्य लौकिकतया, लौकिक-स्रक्चन्दनाद्युपभोग-
जन्यसुखेभ्योऽविशेषो विशेषो वा १ आद्ये तानि विहाय किमिति परोक्षकः सहृदयोऽस्मि प्रव-
र्तेत । द्वितीये को नाम स इत्याकाब्क्षां मनसिकृत्याह—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वान् ।

अयं पूर्वोक्तचित्तवृत्तिविशेषरूप आनन्दः (सुखविशेष) ब्रह्मानन्दभिन्नत्वाल्लौकिक-
सामयोजन्यत्वाच्च लौकिकोऽपि, यान्यन्यानि स्रक्चन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिकसुखानि, तैः
साधारणस्तुरयो नास्ति (किन्तु तद्विरुद्धोऽस्ति), अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वादान्तःकरण-
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वाभावात् ।

अन्येषां हि लौकिकसुखानामन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नविदूष्यत्वं, रसरूपानन्दस्य तु शुद्ध-
चैतन्यरूपतयाऽन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वान्दान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-

चैतन्यरूपत्वम् । रसात्मकानन्दानुभवे चित्तवृत्तेरानन्दरूपतयैव परिणमनादेतदानन्दस्य तद्बृ-
त्तिरूपावच्छेदकभावात्परिचच्छिन्नतया, लौकिकसुखान्तरानुभवे त्वन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदक-
सद्भावान्परिचच्छिन्नत्वाभावान्निगो वैलक्षण्यमिति सारम् ।

यदि कोई कहे कि यह चित्त-वृत्ति-विरोधात्मक आनन्द तो अलौकिक नहीं है, अतः
लौकिक सुखों से इसमें कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई
अन्य लौकिक सुखों को छोड़कर इस काव्यसुख की स्पृहा क्यों करेगा, इस सवाल का उत्तर
देते हैं—'आनन्दो ह्ययम्' इत्यादि । यद्यपि ब्रह्मानन्दसे भिन्न तथा लौकिक कारणोंसे उत्पन्न
होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्तवृत्ति विरोधात्मक आनन्द (सुखविरोध) लौकिक अवश्य है,
तथापि अन्य (सूक्त, चन्दन, वनितादि-उपनोग-जन्य) लौकिक सुखों के समान नहीं
अपितु विलक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्तःकरण की वृत्तियोंसे युक्त चैतन्य-
स्वरूप रहते हैं अर्थात् उन सुखोंके अनुभव करते समय चैतन्य का अन्तःकरण की
वृत्तियोंके साथ सम्बन्ध रहता है, और यह रसरूप आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियोंसे
युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अर्थात् रसात्मक आनन्दके अनुभव
करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूपमें ही परिणत हो जाती है, अतः वह चित्तवृत्ति उस
आनन्दका अवच्छेदक (ह्ययत्ता-ग्राहक) नहीं हो पाती, जिससे यह आनन्द अनवच्छिन्न
(ह्ययत्ता-रहित) ही रहता है, यही अन्य लौकिक सुखोंकी अपेक्षा इस रसात्मक सुख
में विलक्षणता है ।

उपसंहारति—

इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो
रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् ।

इत्युक्तरीत्याऽभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादीना ये ध्वन्यालोकलोचन-काव्यप्रकाशप्रभृतयो
ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनाभिप्रेततया, भग्नमज्ञानरूपमावरण यस्या सा भग्नावरणा चित्त
(विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितं पर्य-
वसप्तमित्यर्थः ।

काव्यप्रकाशे रसानिरूपणप्रकरणे चतुर्यस्याचार्याभिनवगुप्तमतस्यैव सर्वाभ्यर्हितत्वानोपा-
त्तस्य, साधारणीकृत-चैतन्यविषयीभूतरत्यादिस्थायिभाव एव रस इति सारम् ।

अथ अभिनवगुप्तादि सम्मत रससम्बन्धी मत का उपसंहार करते हैं—'इत्थं च'
इत्यादि । इस तरह अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की लोचन नामक टीका को बनाने वाले)
तथा मम्मट (काव्यप्रकाश के रचयिता) आदि के ग्रन्थोंके अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण
से युक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' है' यह शिघ्र हुआ ।

नन्वेव रसस्य रत्यादिस्थायिरूपतया चैतन्यभिन्नत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादित्वा 'रतो
वै स' इत्यादिश्रुतयो विरुद्ध्यन्तीति सिद्धान्तमतमभिदधाति—

वस्तुतस्तु यद्यमाणाश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।

रत्यादीना विषयतया चिदवच्छेदकत्वम् । रत्यादिविषयक भग्नावरणं चैतन्यमेव रसो
न तु चैतन्यविषयीभूतरत्यादि, श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गादित्याशयः ।

इस प्रक्रियाके अनुसार जब रस रति-आदि स्थायीभावके स्वरूप हुआ चैतन्य-
स्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रसको अभिन्न बतलाने वाली 'रतो वै स' इत्यादि श्रुति
विरुद्ध हो जायगी, अतः सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि ।
आशय यह है कि उक्त श्रुतिके अनुरोधसे रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों, ऐसे
आवरणयुक्त शुद्ध चैतन्यको ही 'रस' कहना चाहिए, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को ।

मतद्वयेऽपि रसस्य नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय, नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम् ।

सर्वथैव—उभयथाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽनच्छेद्यावच्छेदकभावेन विद्विशिष्टरत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, अस्या रसादिव्यक्ते रसादिरूपतया मतामाश्रितौ वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रस्यादेर्विशेषणत्वाद् विशेष्यं वा चिदंशं चैतन्यरूपम्, आदायावलम्ब्य, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशरहित्यं, स्वप्रकाशत्वं प्रकाशान्तराप्रकारयत्वं च सिद्धं निष्पन्नमित्यर्थः ।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चित्तोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीनां नित्यता स्वप्रकाशता च परिहीयतेति सारम् ।

दोनों ही मनों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध ही है' यही बात कहते हैं— 'सर्वथैव' इत्यादि । ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायीभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आशिकरूप से हैं, भन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य है और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण । दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है ।

ननु यथा 'नित्यो रसः', 'स्वप्रकाशो रसः' इत्यादिव्यवहार रसविषयका भवन्ति, तथैव 'उत्पन्नो रसः' 'विनश्ये रसः' 'इतरमास्यो रसः' इत्यादयोऽपि व्यवहारा ये भवन्ति, तेषां कथमुपपत्तिरिति पृच्छाया व्याहरति—

रत्यांशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च ।

अस्या विशेष्यं विशेषणं वेति शेषः ।

अस्या रसव्यक्तेः, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिन् कल्पे विशेषणं रत्यांशमादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशरहितत्वम्, इतरभास्यत्वं परप्रकारयत्वं च सिद्धमित्यर्थः ।

रत्यादेरनित्यत्वमितरभास्यत्वं चारोप्य रसविषयकः प्रागुक्त व्यवहारा उपपादनीया इत्यभिसन्धिः ।

'रस उत्पन्न हुआ, रस विनश्य हुआ' इत्यादि व्यवहारों से प्रतीत होने वाली रस की अनित्यता के सम्बन्ध में कहते हैं—'रत्यांश' इत्यादि । कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह चैतन्यांश को लेकर रस नित्य और स्वप्रकाश है, उसी तरह रति आदि अंश को लेकर रस अनित्य भी है और परप्रकाश भी । अतः उक्त व्यवहार भी असंगत नहीं कहे जा सकते ।

'नर्व्यमाणो रसः' इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्चणा निरूपयति—

चर्चणा चास्य चिद्रूपावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा ।

अस्य रसस्य पूर्वकल्पे (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्रूपावरणभङ्गचैतन्यावरणाज्ञानध्वंस एव, नाऽभनोत्तरकल्पे (यद्वा मते) तदाकारा रत्यावच्छिन्नात्मानन्दरूपाऽन्तःकरणवृत्ति-ध्वंसैव चर्चणेत्यर्थः ।

रसचर्चणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन सौकोत्तरवन्तकारप्राणत्वादिह चर्चणायाः पूर्वकल्पोक्तमावरणभङ्गरूपत्वमचमत्कारित्वापत्तेर्नोचितमिति पश्चान्तरोपन्यासोऽप्यस्य । उभयोस्तादात्म्ये 'रसध्वंसते' इत्यादिव्यवहारास्तु भेदारोपान्तिर्वाहणीया ।

'रस' ध्वंसते' ऐसा व्यवहार प्राचीनकाल से होता आ रहा है, अतः रस की यह

चर्वणा क्या चीज है ? ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी जिज्ञासा की प्रान्ति के लिये चर्वणा का निर्वचन करते हैं—'चर्वणा च इत्यादि । चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस की चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्त करण की आनन्दाकार घृत्ति को रस-चर्वणा समझनी चाहिए । यहाँ अभिनवगुप्त मत की प्रथम व्याख्या के हिसाब से पूर्वस्वरूप और उनकी द्वितीय व्याख्या के हिसाब से उत्तररूप कहा गया है ऐसा समझना चाहिए ।

इदानीं रसचर्वणाया ब्रह्मास्वाद नैलक्षण्य वर्णयति—

इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंबलितनिदान-
न्दालम्बनत्वात् । भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात् ।

इयं पूर्वोक्ता रसचर्वणा परब्रह्मण सच्चिदानन्दस्यास्वादे यत्र तादृशात् समाधेरसम्प्र-
ज्ञातयोगचरभाज्ञात् (वस्तुतस्तु तदभालोत्पद्यमानपरब्रह्मासाक्षात्कारात्) विलक्षणा भिन्ना,
विभावादिभिर्विषयैर्ज्ञेय संबलितो निश्चितनिदानन्दो रस आलम्बनं विषयो यस्यास्तत्त्वात् ।
च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवलया व्यञ्जनया (न तु श्रवणादिव्यापारै) भाव्यो-
त्पाया भवतीत्यतोऽपि ब्रह्मासाक्षात्काराद् गिज्ञेत्यर्थः ।

परब्रह्मासाक्षात्कारो विषयासंबलितत्वाद् विशुद्धब्रह्मविषयक श्रवणादिव्यापारजन्यश्च,
रसास्वादस्तु विभावासंबलितत्वाद् विशिष्टरसविषयको व्यञ्जना (रसना) मात्रजन्यश्चेति
तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषो नं यत्रप्रतिपाद्यः । साम्यं पुनरलौकिकनित्यानन्दचिन्म-
यत्वेन स्फुटम् । न च भेदाङ्गीकारे 'ब्रह्मैव रस' 'रसो वै स' इत्याद्यभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः,
तासामपि 'आदित्यो यूष' इत्यादीनामिव सादृश्य एव तात्पर्यपर्यवसानात् ।

अत्रापि समाधिपदस्य सन्निकर्षकयोगपरत्व परोक्षं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्तौ, समाधौ
ब्रह्मासाक्षात्कारो न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य सिद्धत्वेनासाध्यत्वाच्च ।

ब्रह्मास्वाद से रस-चर्वणा में जो वैलक्षण्य है उसका वर्णन करते हैं—'इयं च' इत्यादि ।
सन्निकर्षक समाधिकाल में जो ब्रह्मानन्दस्वाद होता है, उससे यह रस-चर्वणा (रसास्वाद)
विलक्षण—भिन्न तरह की है क्योंकि रस-चर्वणा का आलम्बन विभावादि-विषयों
(सांसारिक पदार्थों) से मिश्रित आत्मानन्द है और काव्य की व्यञ्जना (व्यापार) से
ही यह चर्वणा होती है इसके विरुद्ध ब्रह्मानन्दास्वाद का आलम्बन, विषय-विहीन-शुद्ध
आत्मानन्द है और श्रवण, मनन, निदिष्यासनरूप व्यापारों से वह होता है । अतः ब्रह्मास्वाद
तथा रसास्वाद में कारण पूर्व विषय दोनों के भिन्न होने से भेद है ऐसा समझना चाहिए ।

अथ रसचर्वणाया आनन्दमयत्व वाक्येवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्यां मुखाशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्धाने किं मान-
मिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् ।

अस्यां रसास्वादलक्षणाया चर्वणायाम् । पर्यनुयोगस्य प्रतिप्रश्नस्य ।

यथा समाधिकालिकप्रतीतौ भवदभिमतमानन्दमानन्दस्य मानम्, तथैव रसचर्वणा-
यामपि मदभिमतं तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—'यत्रोभयो समो दोष परिहारोऽपि
तादृशः । नैक पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥' इत्युक्तेरेकस्यैव शिरसि प्रश्नसमाधानभा-
वारोपो नोचित इति भावः ।

यदि आप पूछें कि इस रसास्वाद में सुख का अन्त भासित होता है इसमें प्रमाण
क्या है ? तो हम पूछेंगे कि समाधि में भी सुख भासित होता है, इसमें क्या प्रमाण है ?
सात्पर्य यह है कि जैसे समाधि में सुख का मान मानते हैं वैसे ही रसास्वाद में भी सुख
का मान मानना चाहिए ।

ननु नोभयोस्तुल्यता समाधौ सुखाशमाने शब्दप्रमाणस्य जागरूकत्वादित्याह—

‘सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिप्राहमतीन्द्रियम् ।’ इत्यादिः शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत् ।

तत्र समाधिसुखाशमाने—आत्यन्तिकं सकललौकिकसुखातिशयि, बुद्धिप्राह्यं बुद्धिमात्र-
वेद्यम् । अतएवातीन्द्रियं ‘मनसस्तु पराबुद्धिः’ इत्युक्तेन्द्रियागोचरीभूतं, यत् सुखं परमाह्लादं,
तद्, अयं योगी, वेत्तिशास्त्रात्करोतीत्यर्थकं शब्दो गीतापद्याभ्यामे भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति
नोभयो- साम्यमिति चेद् यदि, कथ्यत इत्यर्थः । ‘वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।’
इति पद्योक्त्या ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख भान को ‘सुखमात्यन्तिकम्’ इत्यादि गीता के शब्द
प्रमाणित करते हैं अर्थात् गीता में कहा हुआ है कि ‘समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह
बुद्धि-मात्र से वेद्य है इन्द्रियों से नहीं’ । इस तरह से ‘समाधि में सुख का भान होता
है’ इसमें शब्द प्रमाण मिलता है, और रसास्वाद में सुख का भान होता है इसमें तो कुछ
प्रमाण नहीं मिलता ।

रसचर्चणायामपि सुखाशमाने प्रमाणद्वयं दर्शयति—

अस्त्यत्रापि ‘रसो वै सः’ ‘रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति’ इत्यादिश्रुतिः,
सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।

अत्रापि रसास्वादे सुखाशमानेऽपि, स सच्चिदानन्दरूप आत्मा, यै निश्चयेन, रस- इत्य-
र्थिना, हि निश्चयेन अप्रमात्मा, रसं, लब्ध्वाऽऽस्त्वाद्य, एव न त्वन्यथा आनन्दीभवति परमा-
ह्लादरूपता प्रतिपद्यत इत्यर्थिका च श्रुतिर्वेद-, काव्यरसास्वादसमये सकलसहृदयानां सर्वविद-
ग्धानां, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति कथं न तुल्यतेत्यर्थः ।

रसास्वाद में भी सुख का भान नानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—‘रसो वै सः’
(वह आत्मा इसरूप है) और ‘रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति’ (रस को पाकर ही
यह आनन्दरूप होता है) इस तरह से समाधि में सुखभानका प्रमाणक यदि गीता का
शब्द है तो रसास्वाद में उसका प्रमाणक वेद-शब्द है, अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि
किधर का पल्ला भारी है, इतना छो नहीं, ‘रसास्वाद में सुखका भान होता है’ इसमें तो
सकलसहृदय समाज का हृदय भी प्रबलतम दूसरा प्रमाण उपस्थित है । सभी सहृदय
रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अथ रसचर्चणया प्रसङ्गाच्छान्दापरोक्षज्ञानात्सकलं व्यवस्थापयति—

येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्चणोपन्यस्ता, सा शब्दव्या-
पारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका ।

द्वितीयपक्षे श्रेयसिमते, या इयमुपादीयमाना, रसचर्चणा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता, सा
शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिशब्दनिष्ठवृत्तिजन्यत्वाच्छाब्दी शब्दबोधरूपा, अपरोक्षं
प्रत्यक्षविषयीभूतं यत् सुखमानन्द आत्मलक्षणं, तदालम्बनत्वान् तादिपयत्वाच्च, अपरोक्षात्मिका
प्रत्यक्षरूपा चास्तीति शेषः ।

अब इस भात की व्यवस्था करते हैं कि रसचर्चणा शब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षा-
त्मक है—‘वेद्यम्’ इत्यादि । ‘यद्वा’ मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रस की चर्चणा
कही गई है वह (चर्चणा) शब्दके व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः शाब्दी अर्थात्
शब्द बोधरूप है और प्रत्यक्षसुख अर्थात् आनन्द उंस (चर्चणा) का आलम्बन है
अतः अपरोक्षात्मक-प्रत्यक्षरूप भी है । कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि शब्दबोध की

गगना परोक्षज्ञान में ही अन्यत्र की गई है तथापि रसचर्वणा शाब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षारमक है ।

दृष्टान्तोपन्यासेनैकस्या एव प्रतीते शाब्दत्वं प्रत्यक्षत्वं चोपपादयति—

तत्त्वं वाक्यजबुद्धिवत् ।

भवेन्न्यायादिनये शाब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोधः, किन्तु वेदान्तमते, वाक्य 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिवाक्यं, तस्मान्वाता बुद्धिजीवम्रक्षैव्यप्रतीति, तस्या यथा वेदान्तिभिः शाब्द-अन्यत्वाच्छाब्दत्वात्, अपरोक्षप्रज्ञालम्बनत्वाच्चापरोक्ष (प्रत्यक्ष)त्वं चाङ्गीक्रियते, तस्यैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्वं च स्यादित्यर्थः ।

एक ज्ञान में शाब्दत्व तथा प्रत्यक्षात्मकत्व दोनों कहीं कहीं रहते हैं, इसमें दृष्टान्त दिखलते हैं—'तत्त्व मित्यादि। आशय यह है कि शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैवाधिक लोग मानते हैं, वेदान्ती नहीं, वे तो—'तत्त्वमसि' इस वेद वाक्य से जो जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य बुद्धि होती है,—उस बुद्धि को शाब्दजन्य होने के कारण शाब्द और अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने से प्रत्यक्षरूप मानते हैं, उसी तरह साहित्यिक भी रसचर्वणा को प्रत्यक्ष और शाब्द दोनों मानते हैं ।

आद्यमभिनवगुप्ताचार्यमतमन्यत्रसितमत्रगमयति—

इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः ।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सहृदयस्य हृदयं प्रविष्टो रत्यादिस्तत्सहृदयत्व-सहकृतभावनाप्रभावविधितसाधारण्यलौकिकविभावादिभाव-विभावादिप्रादुर्भावितभावनाविशेष-रूपभावकत्वव्यापारसम्पादितावरणाज्ञानध्वसेन समुदितसार्वरयेन सहृदयेनात्मस्वरूपे-णानन्देन सहृदयभावेनास्वाद्यमानस्तथाविधरत्याद्यात्वाद्दो वा रस इत्यवसितस्य प्रथम-मतस्य सारम् ।

यह प्रथम मत आचार्य अभिनव गुप्त का है ।

अथ हृदयदर्पणादिनिर्मातुर्भेदनायकस्य मर्ममन्मतेनाप्युपातं मतं द्वितीयत्वेनोपदिशति—

(२) भट्टनायकस्तु—तादस्येन रसप्रतीतात्रनास्वाद्यत्वम् । आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलाऽऽदीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् ।

तादस्येनौदासीन्येन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्या-कारवत्त्वेनेति यावत् । अनास्वाद्यत्वमचमत्कारित्वम् । आत्मगतत्वेन स्वसम्बन्धितया 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्याकारवत्त्वेनेत्यनर्थान्तरम् । प्रत्यय आस्वादात्मिका प्रतीतिः । दुर्घटोऽसम्भवः । सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वाद् दुष्यन्तेतरसहृदयनिष्ठश्चरसालम्बनत्वा-भावात् ।

अभिज्ञानशकुन्तलाभिनयदर्शनावसरे यदि सामाजिकाना 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकर-रतिमा'नित्याकारिका प्रतीतिः स्यात्, तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याथमत्कारित्वं न स्यात् 'सर्वं खल्व्वात्मनः कर्माय प्रियं भवति' इत्यादिध्वषणम् । तथा च तत्र रसत्वमेव न स्यात्, 'रसे सारथमत्कारः' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' इत्याद्युक्ते । शकुन्तला मातृवन्मम पूज्येति ज्ञाने जागृस्के, 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'निति प्रतीतेरप्यसम्भव इत्यर्थः ।

साम्प्रदायिकास्त्वत एव सम्यन्वविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिसाधारण्येन, विभा-वादिप्रतीतिमूरीकुर्वन्तीति—'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ॥ तदास्वादे विभावादे-परिच्छेदो न विद्यते ॥' इत्यादिनाऽन्यत्र स्फुटम् ।

अथ पण्डितराज 'हृदय-दर्पण' आदि ग्रन्थों के निर्माता भट्टनायक के मत को रस-निरूपण-प्रसङ्ग में द्वितीय स्थान देते हैं—'भट्टनायकास्त' इत्यादि । भट्टनायक का कथन है कि तदर्थभाव से अर्थात् 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला है' इस रूप से रसकी प्रतीति होने पर उसमें आस्वादा-चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे ? क्योंकि 'रसे सास्वमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त सर्व-सम्मत है । उदासीन भाव से शकुन्तलादि रति की प्रतीति होने पर उसमें चमत्कार का न होना भी समुचित ही है क्योंकि 'सर्वं खल्व्वाभनःकामाय प्रियं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रतीयमान किमी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो सकता है । यदि आप कहें कि अपने में ही रस की प्रतीति मानिये अर्थात् 'मै शकुन्तला-विषयक रतिवाला हूँ' ऐसी ही प्रतीति इष्ट है, तब तो आस्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नहीं है—उनसे सामाजिकों का कोई नाता नहीं है, तब तब प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् उदासीन शकुन्तला का प्रेम अपने में समक्षता बन ही नहीं सकता है ।

ननु विभावादिप्रतीति विनैव रसप्रतीतिर्भवत्वित्याशाङ्कामपास्यति—

विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः ।

अनालम्बनस्यालम्बनविभावरूपाधारशून्यस्य । आदिपदेनातुमानादिपरिग्रहः । तेषूदी-पनादिशून्यस्येति योज्यम् ।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्धमालम्ब्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणानुभवि-क्यपि रसादिप्रतीति सामाजिकानां न सम्भवतीति भावः ।

विभाव के विना ही रस की प्रतीति मानें ? सो भी संगत नहीं, कारण ? आलम्बन रहित रति आदि का ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् प्रेम पात्र के अभाव में भी कोई अपने को प्रेमी समझे यह कैसे संभव है ।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्वं साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, अप्रा-माप्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विरोध्यतासम्बन्धावच्छि-न्नप्रतियोगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटायवर्यं निवेश्यत्वान् ।

अत्रापि शकुन्तलाऽऽदिभूमिका रहोतवत्यां नद्यामपि, साधारणविभावताऽवच्छेदक-मालम्बनविभावतासमनियतसामान्यधर्मः, कान्तात्वं नायिकात्वम्, अस्त्येव, तस्मात् तदात्मन्त्यैव रसोद्गमः स्यादिति च न वाच्यम्, 'माविज्ञानमप्रमाणम्' इति निश्चयो यद्विष-यको नामभूत्, तदप्राप्त्यनिश्चयानालिङ्गितं यद् 'इयं ममागम्या' इत्याकारकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानम्, तस्य विरहोऽभावस्तस्य, विशेष्यैव सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना वा प्रतियोगिता तन्निरू-पकस्य, (तादृशाभाववैशिष्ट्यस्य) विभावताया आलम्बनविभावताया, अवच्छेदकत्व समनियतधर्मस्य, कोटौ कुशौ, अवश्यं नियमेन, निवेश्यत्वादित्यर्थः ।

ननु कल्पितशकुन्तलायामपि विभावताऽवच्छेदकसामान्यधर्मं कान्तात्वमस्त्येवेति तस्या आलम्बनविभावत्वे निर्वाधे, रसप्रतिपत्ति स्यादेवेति चेत्, न, यत्-न केवलं कान्तात्वमालम्बनविभावताऽवच्छेदकम्, अपि तु स्वल्पादौना तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय, विरो-ध्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्राप्त्यनिश्चयाविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानभावेन सामा-न्यैकरूप्यसम्बन्धेन विशिष्टं कान्तात्वमितीदृशाकान्तात्वरूपालम्बनविभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावात्प्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम् ।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने आयमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चये रति न कार्यसिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितत्वं ज्ञानविशेषणम् ।

अनालिङ्गितत्वमविषयत्वम् 'ज्ञानविशेष' इति त्वपव्याख्यान ज्ञानविषयतयोर्भेदात् । अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान विशेष्यतया कान्तायामिति विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-स्तदभावोऽपेक्षित । 'विशेष्यतासम्बन्ध समवाय' इति विवृतिरपि चिन्तनीयैव, समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानाभावस्य सर्वत्र कान्तामुसद्धावात् तादृशभाववि-शिष्टकान्तात्वस्य विभावताऽवच्छेदकोटौ निवेशोऽपि 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि' इति न्यायेन न स्वसादेस्तत्त्वस्य परिहार इत्यापत्ते स्फुटत्वात् । कान्तात्वस्य तादृशज्ञाना-भावस्य चैकत्र कान्ताया सत्त्वात् परस्परं समानाधिकरण्यसम्बन्धः ।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ आलम्बन का अभाव घोड़े ही है ? शकुन्तला प्रभृति आलम्बन उपस्थित है, तब रही बात यह कि शकुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती सो बात भी अकिञ्चित् कर ही है क्योंकि किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहलाने के लिये कान्ता-सुन्दर नायिका का होना ही पर्याप्त है और शकुन्तला आदि सुन्दर नायिकायें हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं होगी ? इसका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकमात्र की रति के आलम्बन कारण बनने के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मानली जाय तब तो कान्ता होने के नाते मां वहन भी पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन कारण हो जाँय अतः यह कहना पड़ेगा कि जिस नायिका में जिस नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगयोग्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका उसी नायक की रति के आलम्बन-विभाव हो सकती है, मां वहनों में तो पुत्र भ्रातादिकों को वैसे (यह अगम्य है) ज्ञान रहता ही है अतः वे उनके प्रेम के कारण नहीं होती । एक बात और कल्पना कीजिये किसी नायिकाके सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नायिका अगम्य है' और इस ज्ञान के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय हुआ अर्थात् उस नायिका को मेरा अगम्य समझना अप्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ, तब क्या होगा ? वह नायिका उसकी रति का विभाव होगी या नहीं ? उत्तर 'हाँ' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उस नायिका में विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव तो नहीं है अर्थात् 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान ही उस नायिका में विशेष्यता सम्बन्ध से है, फिर वह तत्पुरुषीय रति का आलम्बन विभाव कैसे होगी ? बात ठीक है, इसीलिये ग्रन्थकार अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान में 'अप्रामाण्यनिश्चयाना-लिङ्गित' विशेषण लगाया है अर्थात् उस नायिका में शुद्ध अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव के न रहने पर भी अप्रामाण्य निश्चयानालिङ्गितत्वविशिष्ट उक्त ज्ञान का अभाव रहेगा, इसी तरह के अभाव को 'विशेषणभावप्रयुक्तविशिष्टभाव' कहते हैं, अतः वह नायिका उस नायक के प्रेम का आलम्बन भवश्य हो सकती है । अच्छा अब प्रकृत में विचार कीजिये कि इस परिष्कार के अनुसार शकुन्तला आदि सामाजिकों की रति के आलम्बन विभाव होगी या नहीं ? उत्तर ग्रन्थकार का नकारात्मक है कारण ? शकुन्तला आदि—जो पृथ्वी कोटि में हैं—में 'अगम्य' इत्याकारक ज्ञान ही सामाजिकों को रहता है और उस ज्ञान में कभी अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् 'अगम्य' यह ज्ञान मिथ्या है ऐसी धारणा भी नहीं होती, अतः विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव-विशिष्टकान्तात्वरूप विभावतावच्छेदकधर्म शकुन्तला आदि में नहीं है । सारांश यह कि आलम्बनत्वेन रसकी प्रतीति नहीं हो सकती—अर्थात् 'शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता है ।

उक्तनिवेशाभावे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वप्नादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावताऽनच्छेदकोटापुक्तनिवेशाकरणे । स्वप्नादिपदेनागम्या-
ज्ञानान्तरपरिग्रहः । तत्त्वं भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका-
भावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावताऽनच्छेदकतयाऽनभ्युपगमे, भगिनीप्रपृष्ट्यग-
म्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य सत्त्वाद्, भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्व-
मापद्येत, तस्मादुक्तनिवेश आवश्यक इत्यभिप्रायः ।

कान्तामात्र को रति का विभाव मान लेने पर जो दोष होगा, उसका उल्लेख करते हैं—'अन्यथा' इत्यादि । कहने का सारांश यह है कि रति के आलम्बन विभाव होने के लिये नायिका में जिन सब विशेषों का रहना आवश्यक बतलाया गया है, उनका अङ्गीकार यदि न किया जाय, केवल कान्तात्व को ही विभावतावच्छेदक माना जाय, अर्थात् नायिका होना ही रति के आलम्बन होने के लिये पर्याप्त समझा जाय, तब मूर्ख होने भी कान्ता होने के नाते पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन हो जायगी, यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

रसान्तरेष्वप्येवं निवेशास्यावश्यकता प्रकटयति—

एवमशोच्यत्व-कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

अशोच्यत्वमशोचनीयत्वं, तत्र पुंसः सर्वथा कृतकृत्यत्वाजीवद्शाजायमानविषमयातना-
निवर्तनाद्वा, कापुरुषत्वं तु पौरुषोचितानाचरणात् कदाचरणाद्वा । तथाविधस्य विशेष्यतास-
म्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एवं शृङ्गाररसोक्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताऽनच्छेदकोटावशोच्यत्वकापुरुषत्व-
प्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनसमानाधिकरणविनिष्ठपुष्टत्वमेवाल-
म्बनविभावताऽनच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टस्याशोच्यत्वापि पुरुषत्वं विनष्टपुरुषत्वादिसामा-
न्यधर्मयोगात् करुणरसालम्बनविभावत्वमापद्येत (एवमेव रसान्तरेष्वप्युहनीयम्) इत्याशयः ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अपितु अन्य रसों के विभाव के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार करना पड़ेगा, यही बात कहते हैं—'एवम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आलम्बन विभावनावच्छेदक केवल कान्तात्व को न मान कर उक्त विशेषणविशिष्ट कान्तात्व को माना गया है, उसी तरह करुण रस के विभावतावच्छेदक भी केवल मृत जनत्व को न मान कर अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित, अशोच्यत्व अथवा कापुरुषत्व प्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टमृतजनत्व को मानना चाहिये, अर्थात् करुण रस का-शोक का-आलम्बन-विभाव (कारण) केवल मरा हुआ व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, अन्यथा वह व्यक्ति भी शोक का आलम्बन हो जायगा, जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मरा है—जिसको जीवन मरण में कोई विशेष नहीं भासित होता था, अथवा जो कापुरुष था—निन्दित था, अर्थात् जिसके मरण से लोगों को खुशी ही होती है, अपितु वह व्यक्ति विशेष ही मृत होकर शोक का आलम्बन होता है, जिसमें 'वह अशोच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विभाव-निरूपण के अनुसार ही करना चाहिये ।

नन्वच्छेदककोटिप्रवेशितस्तादृशज्ञानाभाव-सुलभ इत्यत आह—

तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

तादृशस्याप्रामाण्यज्ञानविषयागम्यात्वादिप्रकारकं भ्रमज्ञानं, तस्मानुत्पादोऽनुत्पत्तिः, तु

पुनः, तत्रनिबन्धकान्तराणां तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामन्येषां, निर्वचनं निरूपणम्, अन्तरेण विना, दुरुपपादो दुर्वच इत्यर्थः ।

शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारकज्ञानं तावन्नावरुध्येत, यानदेतद्भिन्नं तत्रप्रतिबन्धकं किञ्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेद्ये तु विशिष्टविभाक्ताऽच्छ्रेयदकविरहात् प्रकृते रसप्रतीत्यभाव इति भावः ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सामाजिकों को 'ये हमारे लिये आगम्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामाजिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस शगवे को सुलझाने के लिये कहते हैं 'तादृश' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि परलौमात्र के विषय में 'यह आगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्पुरुष के लिये उचित तथा सम्भव है, सीता, शकुन्तला, दमयन्ती प्रभृति की तो बात ही क्या ? उन सबको सभी पूज्य समझते हैं, अतः उनके विषय में उक्त ज्ञान का होना अनिवार्य सा है, हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सकता, यदि उस ज्ञान की उत्पत्ति को रोक देने वाला कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु वैसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान होगा ही ।

तत्र पुनराशङ्क्य समादधाति—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न, नायके धराधीरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुपत्वादेर्वधर्मस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोध-स्यैव दुर्लभत्वात् ।

स्वात्मनीति सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । तथाऽगम्यात्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धका । धराधीरेयत्वं भूभारवाहनश्मस्यम् । धीरत्वं प्रकृतमत्त्वं धृतिविशेषशालित्वं वा । प्रथमेनादि-शब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्यानां प्राचीनकालवृत्तित्व-लोकोत्तरशौर्यादिगुणानां द्वितीयेन चाल्यहत्वादीनां स्वदोषाणां प्रदहनम् । वैषम्यं विरुद्धो धर्मः । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् ।

स्वात्मविशेष्यकं दुष्यन्तप्रकारकमभेदसंसर्गकं 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकं सामाजिकस्य यदि जायेत, तर्हि शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारक ज्ञानं सामाजिकविरहाद्यैतोत्पद्येत, तर्हि तादृशज्ञानमुत्पत्तये प्रतिबन्धकान्तराणां, दुष्यन्ताभेदबुद्धयैवागम्यात्वप्रकारकज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्वमभेदादिति कथनं तु न सङ्गतम्, स्वात्मन्यसम्भाव्यानां धराधीरेयत्वादीनां दुष्यन्तगुणानां, दुष्यन्तेऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वादीनामात्मदोषाणां च मियोविरुद्धधर्माणां ज्ञाने स्फुटं विद्यमाने, यावितस्य स्वात्मविशेष्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्तयेवाशङ्क्यत्वादिस्वभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान को रोकने वाला प्रतिबन्धक आपको दृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो आपका दृष्टि-बोध है, मैं तो प्रतिबन्धक को देगता हूँ और आपको भी दिखला सकता हूँ, देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तला आदि के अभिनय देखते समय मयके सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझता रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनकी शकुन्तला आदि प्रियमिथी थीं) और अपने में होने वाली अभेद-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि ही शकुन्तला आदि में आगम्यात्व ज्ञान की प्रतिबन्धिका है, यह भी तर्क ठीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधीरा और धीर पुरुष थे और हम इस युग के क्षुद्र मानव हैं, यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होता रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अभेद ज्ञान का होना ही दुर्लभ है—असम्भव है ।

ननु कथं चैव ज्ञाने कथं चिदजाते, जातेवेच्छामूलकमाहार्यरूपं दुष्यन्ताभेदज्ञानं भवेदेवे-
त्यहचे; प्रकारान्तरैः स्वडनमुपक्रमते—

किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छब्दीति चेत्, न व्यावहा-
रिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्वयिनीनामिवास्या अप्यदृष्टत्वापत्तेः ।

क्रियेत्यादिना प्रथमकोप्युपपादनं तत्स्वडनं च । इयं रसत्वेनाभिमतता, प्रतीतिः का कि-
मात्मिकेति प्रश्नः । प्रमाणान्तराणां प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम् । शाब्दी शब्दजन्या शब्दबो-
धरूपा । व्यावहारिकशब्दान्तराणि काव्यातिरिक्तलौकिकव्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दाः ।
नायकमिथुनं नायिका नायकश्च । वित्तिर्बोधः । अस्या काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतिः । अदृष्टत्व-
मचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतैयं सामाजिकप्रतीतिः शब्दजन्यत्वादमिधाऽऽदिवृत्तिसापेक्ष-
त्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्याप्तिप्रहायनपेक्षणाभाजुमानम् । सादृश्यज्ञानामूलकत्वाच्च नोपमानमि-
त्यनाशत्या, शब्दबोधस्वरूपैवानुपगता स्यात् । एवं सति प्रत्यक्षतिरिक्तज्ञानानामचमत्कार-
ित्वस्य सर्वसम्मतत्वादस्या अपि चमत्काररून्यतया 'रसे सारथमत्कारः' इत्युक्ते रसत्वं
न स्यात् । अन्यथा नायकमिथुनवृत्तान्तबोधककाव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारक-
प्रतीतेरपि रसत्वमापयेति भावः ।

अभिनेयकाव्यजप्रतीति- शब्दजन्यत्वाभावाच्छब्दत्वं तु चिन्तनीयम् ।

यदि किसी कारण से उक्त विरुद्ध धर्म का ज्ञान न हो, अथवा उक्त विरुद्ध धर्म के ज्ञान
होने पर भी इच्छामूलक 'दुष्यन्तोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान तो हो ही सकता है क्योंकि
आहार्यज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान ही वाप्यनिश्चय का प्रतिबन्ध होता है, अतः प्रकारान्तर से
स्वडन का उपक्रम करते हैं—'किञ्च' इत्यादि । अब हम आपसे पूछते हैं—जिसको आप
रस कहते हैं वह सामाजिकों की आत्मा में होने वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका
स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा वमिधा आदि वृत्ति-सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप
नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं करने से अनुमिति रूप भी उसको
नहीं कह सकते, सादृश्य-ज्ञान-मूलक नहीं होते, उपमिस्थात्मक भी नहीं मानी जा सकती,
फिर अगत्या शब्द-प्रमाणजन्य होने से शब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को कहेंगे,
परन्तु सो ठीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को सब लोग अचमत्कारी मानते हैं और
शब्दबोध भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अतः यह भी अचमत्कारी होने से रसरूप नहीं हो सकेगा,
क्योंकि 'रसे सारथमत्कारः' ऐसा सिद्धांत है, अन्यथा दिन रात व्यवहार में आने वाले
काव्य भिन्न शब्दों के द्वारा ज्ञान हुए स्त्री-पुरुषों के वृत्तान्तों का ज्ञान भी रस संज्ञा को
प्राप्त कर लेगा ।

ननु सा प्रतीतिर्मानस्यैव भवेदित्याशङ्क्यामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या
वैलक्षण्योपलम्भात् ।

अपि- प्रागुक्तराब्दधीसमुच्चायक ।

मानमी ज्ञानलक्षणप्रत्यानात्तिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितुमर्हति,
चिन्तया पुनरनुमानान्वानुमानव्यवहारात्, उपनीतानां 'मुरभिचन्दनम्' इत्यत्र सौरभाराध-
लौकिकप्रत्यक्षगोचरोक्तानां, तेषां शकुन्तलाऽऽदीनामेव पदार्थानां या मानमी प्रतीतिः,
तस्याः (सकाशात्) अस्या काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतिः, वैलक्षण्यस्य चमत्कृतिसुखभेदस्य,
उपलम्भादनुभववदित्यर्थः ।

अयमाशयः—पुरमिचन्दनमित्यादौ ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षेण सौरभादीना स्मरण-
मिव भानमेव भवति, न तु तद्वद्वत् कथन चमत्कारः । इह तु चमत्कारोऽपीत्युभयोः
कार्यभेदाद् भेदस्यानुभवसिद्धत्वान्नैकस्यम् ।

यदि आप उस प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक
प्रत्यक्षरूप कहना चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुन पुनः अनुसन्धान-
रूप भावना) के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये अर्थात् समझे गये उन्हीं
शकुन्तला आदि पदार्थों की मानस प्रतीति से काव्यशब्दजन्यरसप्रतीति में विलक्षणता
उपलब्ध होती है अर्थात् 'सुरमिचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक
सम्बन्ध से होने वाले सौरभान-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत नहीं होता और यहाँ
रसात्मकप्रतीति में वह अनुभूत होता है, अतः रसात्मकप्रतीति मानस नहीं हो सकती ।

नन्वेवमनुभूतिमिच्छा सा प्रतीति स्मृतिरेवाङ्गीक्रियतामित्यत आचष्टे—

न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात्

चक्षरेण प्रायुक्तशब्दबोधोदिसहग्रहः । अस्तीति शेषः ।

स्मरणानुभवयोः कार्यकारणभावस्य सर्वत्र निर्णीतत्वादिह शकुन्तलादिपदार्थविषयका-
नुभवस्य प्रागभावादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वमित्याशयः ।

अस्या प्रतीति स्मृतिरूपताऽङ्गीकारे परोक्षात्मकतयाऽचमत्कारित्वप्रसङ्गः स्यादित्यपि
न विस्मरणीयम् ।

स्मृतिरूप भी रस प्रतीति को नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव
कारण है अर्थात् जिन चीजों का जिस रूप में पहले अनुभव हुआ करता है उन्हीं चीजों का
उस रूप में पीछे स्मरण होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का उसरूप में पहले
कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर उनका स्मरण कैसे हो सकता है ?

इत्थं विवक्ष्यान् निरस्य भवनायकममृत रसस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्माद्भिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरो-
धिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते । एवं
साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदिषु, पद्वौ पूर्व-
व्यापारमहिम्नि, तृतीयस्य भौगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना, निर्गीर्णयो रजस्तमसो-
रुद्रिकसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणैः साक्षात्कारेण,
विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः ।

तस्मात्-पूर्वोक्तरीत्या प्रकारान्तरसम्भवात् । निवेदिता—अन्वकाव्येऽभिधया बोधिता,
दृश्यकाव्येतिन्द्रियसन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयता नीता । पदार्था दुष्यन्तादयो रत्यादयश्च ।
भावकत्वं हि साधारणीकरणलक्षण काव्ये विभावादिव्यापार, तदुक्तम्—

‘व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।

तत्प्रभावेण यस्या सन् पाषोधिप्लवनादयः ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥’ इति

‘साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते ॥’ इति च ।

अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा-शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिकप्रकारकम्
(अत एव) रसस्य ज्ञानलक्षणस्य प्रतिबन्धकत्वाद् विरोधि प्रतिकूल, यज्ज्ञान तस्य
प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्धं प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्तात्वादयो
ये रसानुकूल रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्मा, तेषां पुरस्कारेण वैशिष्ट्येन । अवस्थाप्यन्ते

प्रतीतिविषयीकियन्ते । एवम्—उक्तभावस्त्वव्यापारेण । साधारणीकृतेषु सामान्यधर्माव-
च्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मानवच्छिन्नतया) बोधितेषु । सीतादिशब्दवच्छकुन्तलाशब्दस्य
पूर्वनिपात उचित । देश उपवनादिस्यानम् । कालो वसन्तादिसमयः । वयो बाल्यादि ।
श्रवस्या संयोगविप्रयोगादिदशा । आदिपदेन रत्यादि स्थायि-लक्षादिब्यभिचारि-कटाक्ष-
विज्ञेयायतुभावादीना प्रहणम् । पद्मी कृतकृत्यत्वाद् विरते सर्तीति शेष । पूर्वव्यापारो भावक-
त्वम् । तृतीयत्वं भोजकत्वस्याभिधा-भावकत्वापेक्षया बोध्यम् । भोगकृत्वं भोजकर्वामित्यन-
र्थान्तरम् । निगरणमव-करणमभिभव इति यावत् । तद्विषयं रजस्तमोगुणवभिभूयाविर्भूतं
यत् सत्त्वं (गुण) तन्नितेनेति साक्षात्कारविशेषणम् । निजा स्वोया (आत्मरूपा)
वित्त्वभावा चैतन्याकार, या निर्वृतिरानन्दो विभ्रान्तिर्विषयान्तरपरिहारेणाप्रस्थिति-
लक्षणं स्वरूपं यस्य, तादृशेन, साक्षात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृतौ गौचरता नीत ।
भावनयोपनीत उपस्थापित. (अत एव) साधारणात्मा सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नरूपः ।

अभिधयोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतेषु विभावादिषु, भोजरत्वेन साक्षात्का-
रविषयता नांतो रत्यादिः स्थायोवेद्यान्तरस्पर्शरून्य सच्चिदानन्दरूपो रस इत्येतन्मतनिष्कर्षः ।
इस तरह से अनेक विकल्पों का खण्डन कर अथ मट्टनायकामिमत् रसस्वरूप का
उपपादन करते हैं—'रत्यादिभिधया' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त एक ही प्रकार
ठीक नहीं हो सका, अतः ऐसे समझना चाहिए कि ध्वजराज्य में अभिधा के द्वारा और
धरयकाय में चक्षुरिन्द्रिय से पहले शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके
बाद कान्य में रहने वाले 'भावकरव' व्यापार से—शकुन्तला आदि के विषय में जो
रस विरोधी 'असत्या इयम्' इत्यादि ज्ञान होता था—यह रोक दिया जाता है और
कान्ताव आदि रसोपयोगी धर्म के साथ उन (शकुन्तला आदि) पदार्थों की उपस्थिति
करा दी जाती है । इस तरह वह 'भावकत्व' व्यापार शकुन्तला, मुप्यन्त, देश, काल, वय
और संयोग, वियोग आदि दशा सबको साधारण धमा देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार
की विशेषता नहीं रहने देता कि जिससे रसोद्दीप में बाधा पड़े । वस, इतना कार्य करके
वह व्यापार विरत हो जाता है । इसके बाद 'भोगकृत्व-भोजकत्व' नामक तृतीय काम्य
व्यापार से रसोगुण और तमोगुण निर्गम्य कर लिये जाते हैं—दया दिये जाते हैं और सत्व-
गुण उद्विक्त-प्रवृद्ध हो जाता है, जिससे हम (सामाजिक) सासारिक समस्त विषयों से
छुटकारा पाकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते हैं, वस, उसी
साक्षात्कार-आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' कहलाता
है, जिस स्थायीभाव को पूर्वोक्त 'भावकत्व-भावनाविशेष' साधारण रूप में उपस्थित कर
लुका था । यहाँ यह भी एक समझ लेने की बात है कि सत्वगुण के उद्रेक से जो
आत्मानन्द प्रकाशित होता है, उसी चैतन्यात्मक ज्ञान को 'भोग' कहते हैं, जिसके विषय
वन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की सज्ञा 'रस' पड़ती है ।

श्रुतिस्वारस्यरक्षायै प्राग्बद् विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उभयं भोगविषयीभूतरत्यादी रत्यादिविषयकभोगरचेति-
विकल्पनाद् इयम् ।

उक्तिश्रुतिविरोधरूपविनिगमकस्योपलम्भेऽपि 'विनिगमनाविरहादाह—'इत्यवतरणं तु
चिन्तनीयम् ।

इस पद में भी प्रथम पद की तरह ही भोग 'किये जाते हुए' अर्थात् चैतन्य से युक्त
रति आदि स्थायीभाव अथवा रति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त
चैतन्य ये दोनों ही 'रस' हैं ।

आस्वादात्मनोऽस्य रसभोगस्य, प्रज्ञास्वादाद् वैलक्षण्यं सादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकृत्यति-
सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् प्रज्ञास्वादसविषयवर्तीत्युच्यते ।

विषयसंवलनात्-स्वेतरविषयसम्बन्धात् । प्रज्ञास्वादस्य सविषयवर्ती-निकटस्य सदृश-
(नत्वेक) इति यावत् ।

इदमुच्यते-प्रज्ञास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयासम्पृक्तो निर्विषय, रसभो-
गस्तु विभावादिविशिष्टस्याप्यविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयसम्पृक्त सविषय इत्युभयोर्भेद,
सच्चिदानन्दशाब्दापरोक्षसाक्षात्काररूपतया च तुल्यत्वम् । रजस्तमसोः सत्त्वेनाभिभूतत्वा-
दनयोः साक्षात्कारयोः केवलानन्दरूपता, लौकिकसुखसाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरभिभावात् कदा-
चित् दुःखनोदयोरपि सम्भेदस्य सम्भवात् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसा क्रमेण सुखदुःखनोद-
रक्षणपरिणतेः साङ्गणानिमित्तत्वात् ।

यह भोग-रसास्वाद, प्रज्ञास्वाद का सविषयवर्ती-सहोदर अर्थात् सदृश कहलाता है,
प्रज्ञास्वादरूप नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद-भोग, विभाव आदि से विशिष्ट स्याद्विभाव को
विषय रूप में साथ रखे रहता है और प्रज्ञास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को
विषयरूप में साथ नहीं रखता अर्थात् रसास्वाद सविषयक होता है और प्रज्ञास्वाद
निर्विषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी शब्दजन्य, सच्चिदानन्द-
मय, अपरोक्ष-साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान कहलाने योग्य अवश्य हैं ।

इदानीमुपसंहरति—

एवं च त्रयोऽंशाः काव्यस्य—‘अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च ॥’
इत्याहुः ।

अंशा व्यापारा । अभिधेति लक्षणेन्द्रियसन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम्, लाक्षणिकदृश्यकाव्य-
भोत्तुरोघात् । भोगीकृतिर्भोगस्य निदानं भोजकत्वम् । भोगो भुक्तिस्वाद इत्यनर्थान्तरम् ।
आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन ‘भट्टनायका’ इत्यनेन सम्बन्धः ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंश हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार
रहते हैं—एक अभिधा, जिसमें सर्वप्रथम काव्यार्थों को समझा जाता है, यहाँ अभिधा
पद को दृश्य तथा श्रव्यकाव्य के अनुरोध से लक्षणा तथा इन्द्रिय सन्निकर्षों का भी
उपलक्षण समझना चाहिए । दूसरा अंश काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिससे
शकुन्तला आदि का साधारणीकरण होता है और तीसरा अंश है भोगीकृति या भागकृत्व
अथवा भोजकत्व, जिससे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है ।

अभिनवगुप्तताद् भट्टनायकमतस्य विशेषमविशेष च दर्शयति—

मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ।
भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु सैव सरणिः ।

एतस्य भट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मात् प्रागुक्ताद् अभिनवगुप्तस्य मताद्, भावकत्वमेव
व्यापारान्तरं पूर्वोक्ताद् भिन्नं व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैधर्म्यम्, अस्तीति शेषः ।
एवमप्रेऽपि रोजनीयम् । भोगस्तु भुक्तिर्व्यक्तिर्भगनावरणचिद्रूप आस्वाद इति यावत् । भोग-
कृत्त्वं भोजकत्वरूपं तु हुन, व्यञ्जनाद् रसनाद्वयवृत्ते, अविशिष्टमविलक्षणमभिन्नमित्यनर्था-
न्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽभिनवगुप्तोक्ता, एव, न तु तद्विज्ञा, सरणि पदतिरित्यर्थः ।

प्रथममते यथा व्यञ्जनाऽज्ञानावरणमपसार्य, सत्त्वोद्रेके सति, भगनावरणचिद्वच्छिद्य-
रत्यार्दि, रस्याद्यवच्छिद्य-भगनावरणचितं वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवर्ती नीत्वा रसत्वेन व्यक्-
धारयति । तमेव द्वितीयमते भोजकत्वं सत्त्वोद्रेके सति, स्वीयभगनावरणसच्चिदानन्दरूपेण

साक्षात्कारेण, इत्यादि गोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति व्यञ्जनास्यानीयमेव भोजकत्वम् ।
केवलं भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन इत्याहृतम् ।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः'
इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यमतेऽन्यभ्युपगमादिति चेत्, उच्यते,
आद्यमते विभावादीनां साधारण्यं सहृदयनिष्ठ-तदीयसहृदयत्वप्रभावित-भावनाविशेषमहि-
म्नैव सम्पद्यते । इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठस्य नूतनव्यापारस्याङ्गीकार इत्युपयोर्भेदः ।
'व्यापारोऽस्ति विभावादेः' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी । तस्या आद्यमतानुसारिता तु
भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन बोध्या ।

पूर्व मत से इस मत में क्या अन्तर है इसकी समीक्षा करते हैं—'मनस्वेनस्य' इत्यादि ।
अमिनचगुप्त ने जिस वस्तु को 'भङ्गावरणचित्' कहा है, उसी वस्तु को महत्वायक 'मोग'
कहते हैं, अर्थात् संज्ञामात्र के भेद रहने पर भी पदार्थ में कोई भेद नहीं है । मोगकृत्व या
भोजकत्व व्यञ्जना का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का कार्य एक ही है अर्थात् दोनों ही
सत्वगुणोद्रेक द्वारा अज्ञानावरण को हटा कर रसरूप आत्मानन्द का अनुभव कराते हैं ।
और तौर-तरीके भी प्रायः दोनों मतों में समान ही हैं, हाँ, एक विशेष इस द्वितीय मत
में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत
में साधारणीकरण के लिये एक विशेषण भावकत्व या भावना नाम का व्यापार काव्य के
शब्दों में अमिषा आदि के जैसे मान लिया गया है और प्रथम मत में सहृदयतासहकृत,
कान्ध्यायों का पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होगा, इसके लिये
काव्य शब्दों में किसी मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा उपसहार
में मान लिया गया है ।

अथ तृतीयं नव्यमतनुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावा-
दिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सह-
दयतोल्कासितस्य भातन्याविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वात्-
च्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकले इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽ-
निर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-इत्यादिवेव रसः ।'

नव्या इत्यस्य 'इत्याहु' इत्यनेन सम्बन्धः । विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य पृथगुपा-
दानात्) ध्व्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तौर्यत्रिक्रमये गट्टाग्निनेये दृश्यकाव्ये, कविना शब्दैर्नटेन
चतुर्विधाभिनयैश्च प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्तु, व्यञ्जनव्यापारेण व्यक्त्या, शकुन्तलादिरतौ
शकुन्तलादिविषयकरतौ, दुष्यन्तादौ दुष्यन्ताद्यधिकरणे, सहृदयेन गृहीतायां ज्ञाताया सत्याम्
अनन्तरं तदनु, सहृदयस्य या सहृदयता, तयोल्कासितस्य प्रादुर्भावितस्य, बोधितस्य वा,
भावनाविशेषरूपस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनात्मकस्य, दोषस्य मह्यमागममकारणस्य, महिम्ना
प्रभावेण, कल्पितमात्मन्यसदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविकं, यद्दुष्यन्तत्वं तेनावच्छादितेतदव-
च्छिन्नविरोध्यात्तद्वृत्ति अज्ञानावच्छिन्ने तदभाववाद्दिशेष्यक-सत्प्रकारकज्ञानस्यैव अमत्वाभ्युपग-
माद् दुष्यन्तत्वाभाववन्तमप्यात्मानं दुष्यन्तत्वेन जानाने, सहृदयस्य स्वात्मनि, शुक्तिकाशकले
शुक्तिशब्दे वास्तविकरजतत्वाभाववत्यपि रजतत्वेन हायमाने, इव यथा, समुत्पद्यमानः प्राति-
भासिकसत्ताप्रितत्वाज्जायमानः, अनिर्वच्यो वास्तविकत्वाभावात् सन् प्रत्यक्षगोचरत्वाच्च
नोत्पत्तिं सदत्तद्विलक्षणतया निर्वचनानर्हः, रजतखण्डः, तथैव साक्षिभास्योऽन्तःकरणमा-

स्वत्वात् साक्षादात्मभास्य, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत्)
रसोऽस्तीत्यर्थः ।

चाकचिचयदोषेण शुक्तिखण्डे रजतभ्रमे यथाऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यश्च रजतखण्डः
प्रातिभासिकसत्ता लभते, तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादि-
रत्यादिमद्दुष्यन्तादिभ्रमे, रत्यादि' प्रतिभासमानो रसत्वं लभत इति मतेऽस्मिन् न नवीन-
व्यापारकल्पनापेक्षेति सारम् ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के नृतीय मत का प्रतिपादन करते हैं—'नव्यास्तु'
इत्यादि । अभिप्राय यह है कि श्रव्य-काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव
और सञ्चारीभावों को प्रकाशित करता है, दृश्यकाव्य में नट अभिनयों के द्वारा उनको
प्रकाशित करता है, हम (समाजिकों) को श्रव्यकाव्य के पठन से और दृश्य के अवलोकन
से उन विभावादिकों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यञ्जना-वृत्ति से
दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् व्यञ्जना
वृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्'—दुष्यन्त
शकुन्तला का प्रेमी था । इसके बाद हमारी सहृदयता हममें एक प्रकार की भावना पैदा
करती है अर्थात् हम सहृदय होने के नाते दुष्यन्त आदि के सम्बन्ध में पुनः पुनः
अनुसन्धान करने लग जाते हैं, और वह भावना पुनः पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में
अनुसन्धान—एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित
हो जाती है, अर्थात् उस भावनारूप दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते
हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी
समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से
आच्छाद्य आत्मा में कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे
दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविकरूप में
नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिचय दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो
जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं । यद्यपि न हम में
शकुन्तला आदि की रति वास्तविकरूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन तथापि
साक्षी-आत्मा उनका मान करा देती है । इस तरह वे दोनों (हम में भासित होने वाली
शकुन्तला आदि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चाँदीपन) अनिर्वचनीय हैं,
अर्थात् उनको कल्पित होने के कारण सत् नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने के
कारण असत् भी नहीं मान सकते, अतः वे सत् असत् इन शब्दों से नहीं कहे जाने योग्य
होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं । वस, उक्त भावना दोष से 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम
में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक
रति आदि स्थायीभाव ही 'रस' है ।

'उत्पन्नो रस' 'विनष्टो रस' इत्यादिव्यवहारमिदमे रसोत्पत्तिविनाशयोः कारणे प्रतिपादयति-
अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाशश्च तन्नाशस्य ।

अयं रस । च पुनः । दोषविशेषस्य प्राणुक्तविलक्षणभावनाया । कार्यो निष्पाद्य प्रादु-
र्भाव्य इति वा । तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषध्वंसस्य । नाशयो ध्वंस्यस्तिरोघाप्तो वा ।

विलक्षणभावनाया सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्या विनश्यामेव विनश्यतीति तद्भावनाया'
सत्त्वात्त्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः, यथा शुक्ति-धर्मिकभ्रान्तेः सत्त्वात्त्वयोरेव
रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः । इतरथा नित्ये तस्मिन्सत्त्वव्यवहारानुपपत्तिरित्यभिसन्धिः ।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उस दोष के नाश के अर्धीन ही
उसका नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मत में रस को नित्य माना गया है अतः परकीय

उत्पत्ति-विनाश के आरोप से 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु हम तृतीय मत में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को इस मत में स्वयम् उत्पत्ति-विनाश-शाली मान लिया गया है, उक्त दोष ही रस का उत्पादक है और उसके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उक्त दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक शकुन्तला आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और जब उस दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब उस रति की प्रतीति भी अपने में नहीं होती। ठीक भी है, बाध-निधय हो जाने पर भ्रम दूर हो ही जाता है, जब हम चाँदी समझकर सीप के टुकड़ों के समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सीप के टुकड़े हैं (रजत नहीं) तब रजतत्व (चाँदीपन) की प्रतीति नहीं ही होती है।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्दरूपता प्रतिपादयति—

स्योत्तरभाविना लोकोत्तराद्वादेन भेदाप्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति ।

स्वं रसस्तदुत्तरं तदव्यवहितानन्तरं भावी भविता यो लोकोत्तराद्भेदो लौकिकमुखवि-
लक्षणं परमानन्दः, तेन, सहास्य भेदाप्रहात् 'तस्मादयं भिन्न' इति ज्ञानाभावात् साहा-
स्येन ज्ञायमानत्वात्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) सुखानन्दप्रवृत्तिरानन्देन,
व्यपदेश्यो व्यवहार्यः, अयं रसो भवतीत्यर्थः ।

रसानन्दयोस्तत्पत्तिर्वाप्येण भेदेऽप्यतिसन्निकर्षाद् दूरस्थमित्तवस्तुद्वयवद् भेदाज्ञाना-
दैक्यव्यवहार इति तात्पर्यम् ।

यद्यपि यह (रस) वास्तविक में सुखरूप नहीं है, तथापि 'में शकुन्तला विषयक रति वाला दुष्यन्त हूँ' इत्यादि प्रतीति के बावजूद जो अलौकिक सुख होता है, उसमें और उक्त रतिरूप रस में भेद (जो वस्तुतः है) ज्ञात नहीं होता अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार किया जाता है।

ननु रसस्य लोकोत्तराद्वादेन सह भेदाप्रहात् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कशून्यतया व्यङ्ग्यत्वम्,
अनिर्वचनीयतया वर्णनीयत्वं च न सम्भवतीत्याशङ्क्यानामभिधाने—

स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदप्रहात् तद्रतित्वेनैकत्वाभ्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो
वर्णनीयश्चोच्यते ।

स्वस्माद् रसात् (रसोत्पत्तेः) पूर्वं प्राक् (अव्यवधानेन) उपस्थितेन व्यञ्जनया प्रती-
तिगोचरीभूतेन व्यङ्ग्येन, कल्पनिकत्वाभावाच्चिर्वचनीयेन च इत्यादिना (दुष्यन्तादिनिष्ठेन)
सह, अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविरोपकल्पित-रस्यादिरूपरसस्य, तदप्रहाद् भेदाज्ञानाद्, भेदा-
प्रहेऽपि परकीयधर्मलाभासम्भवे तु, वाऽयथा, तद्रतित्वेनैकत्वाभ्यवसानाद् व्यङ्ग्यपरि-कल्पित-
रस्योरैक्यारोपान्, अयं रसः, व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च, उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ।

सहदमद्वये यः प्राग् वासनारूपेण विनिविष्टो इत्यादिः, स व्यञ्जनागम्यो निर्वचनार्हश्च
प्रसिद्धः, तेन सहास्य रसस्य भेदाप्रहादैक्यारोपाद्वा व्यङ्ग्यत्वं वर्णनीयत्वं चोपपद्यत इत्याशयः ।

इसी तरह रस वास्तुतः न व्यङ्ग्य है न वर्णन करने योग्य, परन्तु इस रस के उत्पन्न होने से पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से जो शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति आदि गृहीत-ज्ञात हुये थे, उसका और दोष के कारण अपने में भासित होने वाली, झूठी, स्वरूप, शकुन्तला आदि की रति आदि का भेद ज्ञात नहीं होता अथवा उस वास्तविक और इस कल्पित रति को एक समझ लेते हैं अतः यह रस व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहलाता है अर्थात् दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक वास्तविक रति आदि का ज्ञान वस्तुतः हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उसका वर्णन भी कविगण वस्तुतः काव्यों में करते

हैं अतः यह रति आदि वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय है, अथ यह कल्पित रसरूप रति आदि यदि वस्तुतः व्यङ्ग्य से ज्ञात न भी होता, कवि उसका वर्णन न भी करता, तथापि उस वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय रति से इस कल्पित रति को अभिन्न समझ लेने के कारण हम ऐसा कहते हैं कि यह व्यङ्ग्यनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

सचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमाचष्टे—

अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव । अवच्छादकत्वं च रत्यादिपिशि-
ष्टधोषे विरोष्यताऽवच्छेदकत्वम् ।

यथा सहृदयस्यात्मनि इत्यादि कल्पनिकत्वादननिर्वचनीय, तथैव 'शकुन्तलाविषयकर
तिमाद् दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकप्रतीतौ रत्यादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितस्वात्मनिष्ठविरोष्यताय
अवच्छेदकमवच्छादकप्रतिपार्थं दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्पत्त्यादननिर्वचनीयमेवेति साएव

जिस तरह हम सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि की रति कल्पना मात्र प्रसू
होने से अनिर्वचनीय है उसी तरह सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाले
दुष्यन्तत्व भी कल्पनिक होने के कारण अनिर्वचनीय ही है। उस दुष्यन्तत्व में अवच्छाद
कत्व अर्थात् आत्मा का अवच्छादन करना क्या वस्तु है यह भी समझ लेना चाहिये
वह यह है कि 'शकुन्तलाविषयकर रति वाला मैं दुष्यन्त हूँ' इत्याकारक रत्यादि विशि
ष्टान में विरोष्यतावच्छेदक होना ही दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व है अर्थात् उक्त ज्ञान में
शकुन्तला की रति 'मैं' पदार्थ में प्रकारतया-विशेषणरूप से भासित हुई है अत उक्त
ज्ञान में विशेष्य हुआ 'मैं' जो वस्तुतः दुष्यन्त नहीं है, इसलिये उस 'मैं' पदार्थ में रहने
वाली विरोष्यता का अवच्छेदक-परिचायक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये धरन 'मैं
पदार्थ में रहने वाले धर्म आत्मत्व या स्वत्व को होना चाहिये परन्तु जिस लिये मैं अपने
आपको दुष्यन्त समझ रहा था, इसलिये दुष्यन्तत्व ही विरोष्यता का अवच्छेदक होगया
और यही अवच्छेदक हो जाना आत्मा को अवच्छादित करना हुआ।

पर्यवसितं प्रतिवादिमतनिरासं प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनस्वाद्यत्वाच्च रसत्वम् । स्वनिष्ठस्य तु
तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः । स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्य-
भेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता ।' इत्यादिकमपास्तम् ।

एतेन भावनाविरोष्यस्य दोषत्वाङ्गीकारेण। अतत्सम्बन्धिभिः सहृदयनिष्ठरत्याद्यालम्बनत्व-
शून्यै । इत्यादिकं प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्वयः ।

विरक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादननिर्वचनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकु-
न्तलाविषयकरतैरनिर्वचनीयाया रसत्वेनाभिमताया भागं न बाधितम्, न वाऽवमत्वारिती
सर्वसामञ्जस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ता परकीयाच्चेपा निरस्ता इत्यभिप्रायः ।

भट्टनाथक के द्वारा द्वितीय मत में उठाई गई अनेक शङ्काओं का इस मत में अवकाश
नहीं रह जाता, यही दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि। आशय यह है कि 'दुष्यन्त आदिमें रहने
वाली शकुन्तला आदि की रति रसरूप नहीं हो सकती, क्योंकि उदासीन होने से उस
रति में सामाजिकों के लिये आस्वात्ता नहीं रहती। स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति उस
शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों? जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहें कि
अपने को दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना
घनिष्ठ सम्बन्ध टहर जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो
सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त प्राचीन युग के घोर सत्तात् मे और मैं
वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ, 'अतः मैं दुष्यन्त से अभिन्न नहीं हो सकता'

ऐसा वाच्य-निश्चय है, तब उक्त अभेदबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शब्दाओं का इस मत में अवसर ही नहीं आता, क्योंकि इस मत में सहृदयतामूलक भावना विशेषरूप दोष से दुष्यन्त आदि की अभेद-बुद्धि सिद्ध की गई है, जिस (अभेद-बुद्धि) को वाच्य-निश्चय नहीं रोक सकता। कारण ? दोषविशेषाजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं हो उस बुद्धि के प्रति ही वाच्य-निश्चय को प्रतिपन्थक माना गया है।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनेव आरायत इत्याद्येषं समादधाति—

यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादि-शब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोष-विशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्पये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यद्यपि, विभावादीनां साधारण्यं शकुन्तलादीनां कान्तात्वा-दिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि निसर्गतं शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रकार-कबोधजनकैः शकुन्तलादिशब्दैः काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, विलक्षणभावना-त्मकदोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादं दुःखेनोपपादयितुं योग्यं यतोऽस्ति, अतोऽस्माद् विभा-वादिसाधारण्यसम्पादकत्वादेतो, दोषविशेषेऽवश्यकल्पये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि स्वधर्मिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादादुत्तेनोपपादयितुं योग्येत्यर्थः।

ब्रह्मघटकानां शकुन्तलादिशब्दानां शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मावच्छिन्ने शक्यत्वाच्छ-कुन्तलादीनां कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वस्य साधारण्यं दोषविशेषप्रभावे-णैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकल्पना प्राचीनैरप्यङ्गीकृतत्वाच्च नवीना। तदर्थं कल्पिते च दोषविशेषे, 'एका क्रिया द्वयर्थकरो' इति न्यायेन तेनैव शुक्लौ रजताभेदबोध इव सहृदया-त्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबोधोऽपि सम्पद्यत इति भावः।

दोष-विशेष की कल्पना भी इस मत की नयी चीज नहीं है, प्राचीन-मतों में भी यह कल्पना करनी पड़ती है यही बात कहते हैं—'यद्यपि' इत्यादि। मम्मटमठ आदि प्राचीन आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावादिकों का साधारणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण व्यापार के बल से शकुन्तला आदि अपने व्यक्तिगत धर्म शकुन्तलात्व आदि को छोड़ कर कान्तात्व आदि साधारण धर्म के साथ सहृदयों के सामने उपस्थित होते हैं, परन्तु यह बात दोषविशेष की कल्पना किये विना घन नहीं सकती क्योंकि काव्योंमें शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन किया रहता है जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है ? अतः भावभारूप दोष की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी अर्थात् यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सहृदयतामूलक भावभारूप दोष के कारण ही हमें (सहृदयोंको) शकुन्तला, साधारण कान्ता के रूप में समझ पड़ती है, इस तरह जब वह दोष मानना ही पड़ा, तब उसी से सहृदयों को अपने में दुष्यन्त की अभेद-बुद्धि भी हो जायगी।

अथ अराहान् करुणादिरसस्यायिन शोकादेर्दुःखजनकतामाशङ्कते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुण-रसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लाद-हेतुत्वम् ? प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम्, न कल्पितस्यैति नायकाना-

मेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्, रज्जुसर्पादिभयकम्पाशनुत्पादकतापत्तेः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत् ।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे साधितेऽपि रतिर्पूनी प्रीति, शोकस्त्वभीष्टनाशादिजन्यं वैकल्यम् । शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-जुगुप्साना प्रहणम् । प्रत्युत्तोकवैपरीत्ये । न चेत्यादिनाऽऽन्तरिकी शब्दा, रज्ज्वत्यादिना तदुत्तरं च निर्दिश्यते । सत्यस्य वास्तविकस्य । क्लृप्तं निश्चितम् । कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य । नायकानामित्यत्रैकवचनमुचितं सन्दर्भशुद्धयनुरोधात् । रज्जौ भ्रान्त्या भासित सर्पे रज्जुसर्पः । अनुचितापतनमापत्ति । उचिता-सङ्घटनमनुपपत्ति । इति चेदित्यन्तं शब्दादलम् ।

प्रणयात्मिकाय रतेल्लोके नायक इव, काव्ये सहृदये सुखविशेषोत्पादकत्वाच्छृङ्गाररसस्यानन्दमयताया सिद्धावपि, शोक-भय-क्रोध-जुगुप्साना वैकल्यादिरूपाणा पुनर्लोक इव काव्येऽप्यनुभावकदुःखजनकत्वस्यैवचित्यात् करुण-भयानक-रौद्र-बीभत्सरसानामानन्दमयत्वं नोपपद्यते ।

ननु लोके शोकादीना वास्तविकत्वाद्दुःखजनकत्वमुचितम्, काव्ये तु कल्पनिकत्वात् कथं तत्त्वमिति चेत्, न, तथाऽज्ञोकरे रज्जौ भ्रान्तिभासितस्य सर्पस्याप्यवास्तविकत्वाद् भयकम्पादिजनकताऽऽनुभविकस्यपि न सिध्येत्, काव्ये रतेरपि कार्पनिकत्वेन सुखजनकता न स्यादिति शङ्कापक्षं स्थेयानिति भावः ।

अब यहाँ एक शब्दा यह उपस्थित होती है कि आपने 'रस यद्यपि स्वतः सुखरूप नहीं है तथापि अनिर्वचनीय रति आदि स्थायीभावस्वरूप रस की प्रतीति के बाद जो विलक्षण सुख उत्पन्न होता है, उससे उक्त रति आदिरूप रस में भेद का ज्ञान नहीं होता अतः रस को सुखरूप कहा जाता है' इस विवेचन के द्वारा जो 'अनिर्वचनीयस्थायीभावामकरस-प्रतीति के बाद विलक्षण सुख की उत्पत्ति' स्वीकार की है, वह सर्वांश में ठीक नहीं जचता, क्योंकि वास्तविक शकुन्तला को रति वास्तविक दुष्यन्त में सुख-जनक होती है अतः कल्पित शकुन्तला विषयक रति, कल्पित दुष्यन्त स्वरूप सहृदयों में भी सुख को उत्पन्न कर सकती है, परन्तु वास्तविक, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि तो ससार में दुःख-जनकरूप से प्रसिद्ध हैं, फिर वे जहाँ कल्पित होकर रस बनेंगे, वहाँ उनसे सहृदयों में सुख कैसे उत्पन्न होगा ? और वे रस सुखरूप कैसे कहलायेंगे ? प्रत्युत उनसे जैसे वास्तविक नायक को दुःख हुआ था उसी तरह सहृदयों को भी उनसे दुःख ही होना चाहिए । यदि आप कहें कि सबे शोक आदि से दुःख होता है कल्पित से नहीं, अतः नायकों को जिनमें शोक आदि सत्य थे—दुःख हुआ होगा और कल्पित शोक आदि के अनुभव करने वाले सहृदयों को दुःख नहीं होता, यह तर्क भी सगत नहीं, क्योंकि हम रसों में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भय, कम्प होते देखते हैं, आपके हिसाब से यह नहीं होना चाहिए । दूसरी बात यह कि जब आप कल्पित शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति नहीं मानते, तब सहृदयों में कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं माननी चाहिए, परन्तु शृङ्गाररस-स्थल में वैसा मान चुके हैं ।

अभ्युपगम्य प्रथमकल्पेन समापत्ते—

सत्यम्, शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवल-ह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाज्ज्ञो-कोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिद्य, दुःसप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम् ।

सत्यं यथार्थमित्यभ्युपगम । शृङ्गाररसप्रधानानि शकुन्तलादीनि, करुणरसप्रधानानि चोत्तररामचरितादीनि काव्यानि । केवलो दुःखासम्भिन्न आह्लाद एव, न तु दुःखमिश्रित ।

सहृदयानां हृदयं साक्षात्कारित्वात् प्रमाणं नत्र स सहृदयहृदयप्रमाणक । कार्यानुरोधेन कारणानि कल्पन्त इति सिद्धान्तः । लोकोत्तरव्यापारोऽत्र मते दोषात्मा विलक्षणभावता ।

यथा शाकुन्तलाद्यमिनयदर्शनाद् रसास्वादसमये सहृदयानां देशतोऽपि न दुःखानुभवः, तथैव यद्युत्तररामचरिताशमिनयदर्शनाद् रसास्वादसमयेऽप्यनुभवसिद्धः, तर्हि सहृदय-प्रत्यक्षप्रमाणत्वाद् दुःखोत्पत्त्यभावरूपकार्यानुरोधेन दोषरूपविलक्षणभावनेव तत्र (दुःखानुत्पत्तौ) प्रतिबन्धकत्वेन निर्णयः । अन्यत्रापि सुरतावसरे मखदशनाभातरूपविलक्षण-व्यापारस्य सुखविशेषजनकत्वं दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं च प्रसिद्धमेव । एवं भावनया प्रतिबन्धं दुःखं तत्र नोत्पद्यत इत्यारायः ।

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि जिस प्रकार शृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी तरह करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही उत्पन्न होता है यह थात यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा प्रमाणित हो चुकी हो, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम के अनुसार लोकोत्तर दोषात्मक उक्त भावना में आनन्द-जनकताके जैसे दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस तरह उक्त भावनाको आनन्दका उत्पन्न करने वाला मानते हैं, उसी तरह उसको दुःख का रोकनेवाला भी मान लेंगे । सम्भोग कालीन दन्तचतादि व्यापार में सुख-जनकत्व तथा दुःख-प्रतिबन्धकत्व दोनों प्रसिद्ध ही हैं ।

प्रतिवादिमतं सर्वधोन्मूलयितुं द्वितीयं कल्पमुपन्यस्यति—

अथ यद्याह्लाद एव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । स्वस्वकारणवशाद्योभयमपि भविष्यति ।

अपेति प्रदर्शयन् । आदादशब्दस्य पुंत्वात् प्रमाणसिद्धमित्यस्य विभक्तिविपरिणामः । प्रतिबन्धकत्वं दुःखोत्पत्तिरिति शेषः । उभयं सुखं दुःखं च ।

कव्यान् सुखाय दुःखस्योत्पत्तौ सहृदयहृदयानुभव एव प्रमाणमिति करुणरसप्रधान-कव्याकल्पनात् सहृदयं सुखमिव दुःखमन्यनुभवति, तदा कार्यानुरोधेन दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं लोकोत्तरव्यापारस्य न कल्पनीयम्, दुःखोत्पत्तेरेव तत्र सुखस्य कारणान् दुःखोत्पत्तिः, दुःखस्य च कारणान् दुःखोत्पत्तिरिति कारणभेदादेकर विरुद्धयोरपि सुखदुःखयोश्चोत्पत्तौ न बाधः ।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से सुख और दुःख दोनों ही होते हैं यही बात यदि सहृदय-हृदय-द्वारा प्रमाणित होती हो, तब उक्त भावना में दुःख-प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि उक्त भावना दुःखोत्पत्ति को रोकती है ; अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनों होने अर्थात् काव्य के अलौकिक व्यापार से सुख की और शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति होगी ।

दुःखोत्पत्तिस्वीकारिणि द्वितीयमते पुनराशङ्कते—

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत् ।

तत्र करुणरसप्रधानकाव्ये कवीनां कर्तुं सहृदयानां श्रोतुं न प्रवृत्तिः कथं स्यात्, प्रवृत्तिः प्रतीयसाधनत्वप्रवृत्तस्य कारणतायाः प्रसिद्धेः । प्रकृते दुःखरूपानिष्टसाधनत्वप्रवृत्तस्य सद्भावात्ततो निवृत्तेरेवोचितत्वादिति पूर्वपक्षः ।

अथ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि करुण आदि रस प्रधान काव्यों से दुःख की उत्पत्ति होती है, तब ऐसे काव्यों की रचना करने के लिये कवि की और सुनने के लिये सहृदयों की प्रवृत्ति क्यों होती है ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट (दुःख) के साधन हैं, तब उनसे निवृत्त होना ही उचित है ।

द्वितीयमत उत्तरयति—

इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रव्यलोपनादायिव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।

घर्षणादिप्रमज्जन्यदुःखरूपानिष्टस्याल्पत्वात् सौरभशैत्यानुभवजन्यमुरारूपेण ननु
उत्पन्नं यथा चन्दनद्रव्यलोपे सर्वेषु निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिर्भवति, तथैवात्रापि दुःखलोपेन
सुखस्य बाहुल्यात् प्रवृत्तिर्भवतीत्यभिप्रायः ।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—'इत्येति' । अर्थात् करुण आदि रसों में दुःख के होने पर
भी उसकी मात्रा अल्प रहती है और सुख की मात्रा अधिक, अतः करुण आदि रस-प्रधान
काव्यों में प्रवृत्ति होती है, जैसे चन्दन घिसने में अंधात, दुःख के रहने पर भी सौम्य-
शीतलता आदि के अनुभव से सुख अधिक होने के कारण चन्दन-लेवन में लोगों की
प्रवृत्ति होती है ।

प्रथममते प्रवृत्त्युपपादनप्रयोजनाभावात्—

केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्युद्भवैव ।

केवलाह्लादवादिनां—

'हेतुत्वं शोचद्दपदिर्गतेभ्यो लोकेकसंश्रयात् । शोकेहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लैकित्वा ॥
अलौकिकविभावत्वं प्रसेभ्य' काव्यतंत्रश्रयात् । सुखं सहायते तेभ्य' सर्वेभ्योऽपीति का शक्तिः ॥
इत्यादिना करुणरसप्रधानकाव्यादपि सुखमात्रोत्पत्तिवादिनां मतेऽनिष्टसाधनत्प्रदर्शन-
सम्भवात् तत्र प्रवृत्तिनिष्प्रत्युद्भा निर्वापैव स्यादिति सारम् ।

जो लोग उक्त भावनात्मक व्यापार को दुःख-प्रतिबन्धक मानकर करुण रस प्रधान
काव्यों से भी केवल सुख ही मानते हैं उन लोगों की प्रवृत्ति में तो कोई विषय बाधा है ही नहीं।
ननु प्रथममते तत्र दुःखानुभवात् दुःखकार्याणि कव्यमधुपातादीनि जायन्त इत्यादि
समादधाति—

अधुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्याभावात्, न तु दुःखात् ।

अधुपातप्रवृत्तयो न केवलं दुःखादेव, अपि तु सुखादपि भवन्तीति प्रकृतेशुभापातादीनां
मानन्दजन्यानां सम्भवात् क्षतिः । तदुक्तम्—

'अधुपातादयस्तद्वद् दृढत्वाच्चेतसो मता' । इति ।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही होता है ऐसी मान्यता वालों से
यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि करुण आदि रसों में भी केवल सुख ही सुख होता
है, तब उनके अनुभव से अधुपात आदि क्यों होते हैं ? इसी का उत्तर देते हैं—'अधुपाता-
दयोऽपि' इत्यादि । अधुपात केवल दुःख से ही होता है ऐसी बात नहीं है, किसी-किसी
आनन्द के अनुभव से भी वह होता है, करुण रस के अनुभव करते समय जो अधुपात
होता है वह आनन्दातिरेक के कारण ही—दुःख के कारण नहीं ।

निदर्शनदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनाकर्षणाद्दधुपातादय उपपद्यन्ते । न हि तत्र
जात्यपि दुःखानुभवोऽस्ति ।

अत एव सुखादन्वधुपातादिसम्भवादेव । उपपद्यन्ते युज्यन्ते । जातु कदाचित् ।
भगवद्दर्शनप्रवणजन्य-दुःखाद्यन्मिच्छसुखजन्यानामधुपातादीनां भगवद्भक्तोपे दर्शनात् केवल
दयानन्दाद्दधुपातादीनामुत्पत्तिनिश्चितैवेति भावः ।

आनन्द से भी अधु-पात होता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'अत एव' इत्यादि
भगवत्-कथा-प्रवण-काल में भक्तों की आँसुओं से अदिरल लघु-धारा प्रवाहित हो

रहती है, यह क्या दुःख से ? नहीं दुःख का तो वही लेश भी नहीं रहता, अत्यधिक आनन्द का ही वह फल है, उसी तरह कण्ठरसाधुभव से होने वाला अधुपात आनन्द-विरक्त का ही सूचक है, दुःख का नहीं ।

कण्ठरसादावाडादौत्पत्तेरयोग्यतां पुनरुच्यते—

न च कण्ठरसादौ स्यात्मनि शोकादिमदशरथादितादात्म्यारोपे यथाह्लादः, तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्यात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम् ।

न चेति वाच्यमित्यत्रान्वेति । स्वात्मनि सहृदयस्येति शेषः । सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा । सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽपस्मारदिरोगान्तरे वा । तदारोपे शोकादिमदशरथादितादात्म्यारोपे । स आह्लादः । आनुभविकमनुभवप्रमाणसिद्धम् । इहापि कण्ठरसादावपि । तदेव दुःखमेव ।

सहृदयस्य पुत्रवियोगजरोक्वदशरथोऽहमित्याकारक-शोचद्विप्रकारक-स्वात्मविरोध्यरु-प्रतीतेरेव यदिः कण्ठरसादावाडादौ स्वोक्तिमते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचिद् सहृदयस्य तादृश्याः प्रतीतिः सम्भवत् तत्राप्याह्लादः स्वोक्तिमताम्, पूर्वोक्तादात्म्यारोप-स्योभयत्र तुल्यत्वात् । न च तत्राप्याडादौऽभ्युपगन्तुं शक्यं, स्वप्नादितादृशयोवाद् दुःख-स्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात् । एवं सति कण्ठरसादावपि तादृशप्रतीतिः केवलदुःखोत्पत्तिरेव युक्तेतिपूर्वपक्षमिप्राम्यः ।

यदि आप यह प्रश्न करें कि कण्ठ आदि रसों में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का अभेद अपने में मान लेने पर जब सहृदयों को आनन्द होता है, तब स्वप्न आदि में भ्रमवा सन्निपात आदि रोग में अपने में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिये, परन्तु अनुभव सिद्ध तो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अतः यहाँ (कण्ठ आदि रसों में) भी केवल दुःख होना ही उचित है ।

उत्तरयति—

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोग्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनादिति । यत्प्रयोग्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषया । य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा पदार्था, त एव काव्ये समुपनिबद्धास्तदीयव्यञ्जनाव्यञ्जना-व्यापारमहिम्नाऽलौकिकीभूता अलौकिकं सुखमेव जनयन्ति, न तु प्रागपि दुःखमिति सर्वानु-भवविरुद्धत्वात् कण्ठरसादौ न तु सोत्पत्तिरित्युत्तरप्रकाराय ।

इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) की महिमा है कि उसके द्वारा प्राप्त किये गये अनुन्द (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं ।

काव्यव्यापारप्रतीतेरलौकिकनया वैलक्षण्यमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापार आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात् ।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुभवानामचमत्कारितया न कमनीयता, काव्यव्यापारजन्या-स्वादरूपानुभवस्य त्वलौकिकतया चमत्कारित्वेन कमनीयतेत्युभयोर्नैलक्षण्यमित्याकृतम् ।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अपेक्षा काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाले आस्वाद (अनुभवविशेष) विलक्षण है । अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है ।

नन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाच्चान्यत्वाभावात् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्टे—

जन्यत्वं च स्यजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

एवं काव्यव्यापारो व्यञ्जना, तज्जन्या वा तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तज्जन्यत्वे सति रत्यादिविषयकत्वमास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमितिस्वीकारे रसास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाच्चान्यत्वविरहेऽपि तत्त्वमबाधनित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस मत में अलौकिक आनन्दजनक भास्वाद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं होता, फिर पूर्वोक्त वाक्य के 'काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला' इस अंश का क्या अर्थ हो सकता है ? इस जिज्ञासा की दान्ति करने के लिये कहते हैं— 'जन्यत्वम्' इत्यादि । उक्त अंश का अर्थ यह है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली उक्त दोषात्मक भावना से उत्पन्न रति आदि का भास्वाद । अतः अथ उक्त अंश के अर्थ में दीख पड़ने वाली असंगति समाप्त हो गई ।

तदाह—

तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादित्याशयः ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसास्वाद साक्षात् काव्यव्यापारव्यञ्जना से उत्पन्न होने वाला नहीं भी है, तथापि कोई क्षति नहीं ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरणं नव्यमतमुपसंहरति—

शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते । इत्याहुः ।

शकुन्तलादिविशेष्यकमगम्यात्वप्रकारकं रसविरोधिज्ञानं सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकेण स्वात्मविशेष्यक-दुष्यन्ताभेदप्रकारक-ज्ञानेन प्रतिबद्ध भोत्वत्तुं तत्र शकुन्त्यादिति तृतीय नन्याना मतं सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवाज्ञीकृताया भावनाया दोषत्वस्य, रसानां प्रातिभासिकत्वेनानिर्वचनीयत्वस्य चाज्ञीकृति, न तु व्यापारान्तरस्य नवीनस्य कल्पनेति लाघवम् ।

अब रही एक बात और यह यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह ज्ञान हम सहृदयों को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि दोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उसी बुद्धि से उक्त अगम्यात्वज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् जब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, तब फिर शकुन्तला को स्वसंभोग योग्य नहीं समझें, यह असम्भव है ।

अथ चतुर्थं परकीयमतानुपपन्नस्यति—

(४) परे तु—व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेज्ञानभ्युपगमेऽपि, प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनानजन्मा विलाक्षणविषयताशाली रसः ।

तुरीय मतमिदम् । परेतित्ति बन्तीत्वनेनान्वेति ।

व्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्तलादिविषयकरतिप्राहकस्य, अनिर्वचनीयख्याते 'साक्षिभास्य सदसद्विलक्षण-शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्यनुभवविषयी-भूतानिर्वचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽज्ञीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽनज्ञीकारेऽपि, प्राक् तृतीयमते, उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्नाप्रभावेणैव, स्वात्मनि स्वात्मविशेष्यक, दुष्यन्तादितादात्म्यावगाहो दुष्यन्ताद्यभेदविषयक, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोध शकु-

न्तलाद्विषयकरत्यादिमदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारको यो मानसो मनस्मधिकर्षजन्मा, काव्यार्थस्य भावनाया जन्म यस्य तादृश, विलक्षणविषयता-शाली लोकोत्तर इत्यादिनिष्ठविषयतानिरूपक, यत्र श्यास्वाद, स एव रस इत्यर्थः ।

अथ रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि व्यञ्जना ध्यापार के जिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् क्रिमी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं) और अनिर्वचनीय रसात्ति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को व्यङ्ग्य अथवा अनिर्वचनीय मानना आवश्यक नहीं है। फिर रस है क्या ? मुनि ये—मृतीय मत में जिस भावनात्मक दोष की चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मन-मन्तिकर्ष से उत्पन्न होने वाला (जिमें यादृ इन्द्रियों के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं पड़ती) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है। उस ज्ञान में सहृदयों की आत्मा विशेष्य होती है, जिम (आत्मा) में दुष्यन्त आदि का तादात्म्य-अभेद भावित होता रहता है और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मं दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति बाळा हू' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से होता है। लोकोत्तर-विलक्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं अत एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-शाली कहा जाता है। सचैव में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहते हैं।

नन्वेवं स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—

स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः । तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः ।

स्वप्नकालिद्ये हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सजिकर्षजन्यः सद्यपि, न काव्यार्थभावनाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविशेष आपद्यत इत्यभिप्रायः ।

आप कहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो इसीप्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा इसी शङ्का का समाधान देते हैं—'स्वप्नादिस्तु' इत्यादि। स्वप्न आदि में भी इस तरह का मानसज्ञान होता है, यह बात सही है, परन्तु वहाँ का वह ज्ञान काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला सकता और न उसमें उस प्रकार का आनन्द ही आ-सकता है, क्योंकि काव्यार्थ के अनुसन्धान से होने वाले उस प्रकार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है।

सहृदये वास्तविकरतौभावानुभवे च विषयसत्त्वस्य कारणतयाऽपेक्षयात् प्रकृते रत्यादिवोधस्यासम्भव इत्याशङ्कते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ? ।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि, स्वस्मिन् सहृदयात्मनि । इतरत् स्फुटम् ।

इस तरह मानने पर भी एक शङ्का यह रह जाती है कि जो रति आदि हम में हैं ही नहीं केवल मनगढ़न्त हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा ? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-सत्ता के कारण माना गया है।

समादधाति—

मैत्रम्, नह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनाश्रयं विषयसद्भावोऽपेक्ष-णीयः स्यात् । अपि तु भ्रमः ।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, भ्रमे तु रज्जावसतोऽपि सर्पस्य भ्रान्तमिति सहृदयसमवेतरत्यादिप्रतीतेर्दोषजन्यत्वाद् भ्रमत्वेन न वास्तविकविषय-सद्भावापेक्षेति भावः ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही विषय-सत्ता कारण है अर्थात् लौकिक अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिन वस्तुओं का अनुभव होता है वे शक्ति, कान, नाक आदि ज्ञान-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य उपस्थित रहते हैं, भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् भ्रम विषय के बिना भी होता है, जैसे रस्मी में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) के न रहने पर भी होता है, भावनारूप द्योपप्रयुक्त यह रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उस रति आदि विषय के वस्तुतः न रहने पर भी उसके ज्ञान होने में किसी तरह की बाधा नहीं हो सकती ।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुत्पत्तेरास्वादो रसविषयक इति व्यवहारो नो पपद्यत इत्यतोऽभिपत्ते—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वान्बन्धनः इत्यपि वदन्ति ।

भ्रमरूप-रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरसपदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिपरत्वस्य विवक्षणादिति तात्पर्यम् ।

आप कहेंगे कि जब रस भ्रमारमक ज्ञान रूप है, तब 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार असङ्गत हो जायगा क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं—'आस्वादनस्य' इत्यादि रति आदि जो भ्रम का विषय है अर्थात् जिस रति आदि के विषय में भ्रम होता है उसका आस्वादन हो सकता है, होता भी है, वम उसी विषय (रति आदि) गत आस्वादन का विषयी (भ्रमारमक रस) में आक्षेप करके उक्त व्यवहार होता है । वस्तुतः रस का आस्वादन ही नहीं होता । वे लोग यह भी कहते हैं ।

तुरीयमते विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानरूपरसस्य विनिगमनाविरहान् त्रैविध्यं प्रतिपादयति—

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्त्वधर्मिताऽवच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तता-दात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः ।

एतैस्तुरीयमतालम्बिभिः । एतैरित्यभ्युपेयमित्यनेनान्वेति । स्वं सहृदय । रतिवैशिष्ट्यं धर्मो दुष्यन्तत्व धर्मा । दुष्यन्तत्व धर्मिताऽवच्छेदकं । अत्र, तादृश यच्छकुन्तलाविषयकरति-वैशिष्ट्यम्, तदवगाहीतद्विषयक 'अहं दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारक एको मानसो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य तादात्म्य-मभेदमवगाहते विषयीकरोति, तादृश शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारको द्वितीयो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलाविषयकरतेषु यद् वैशिष्ट्यं सम्बन्ध, तदव-गाही 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमांसाहम्' इत्याकारकश्च तृतीयो बोधः ।

त्रिषु विषयैक्येऽपि विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभावभेदाद् बोधभेदः । त्रिविधोऽयं बोध एवात्र भवेत् रसपदार्थतयाऽभ्युपेय' स्वीकार्य इत्यर्थः ।

इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहते हैं, उसका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है यही दिखलाते हैं—'एतन्न' इत्यादि । ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं—
१. दुष्यन्त आदि में रहनेवाली जो शकुन्तला आदि की रति है, उस (रति आदि) से युक्त मैं हूँ । २. मैं शकुन्तलादि-विषयकरति-युक्त-दुष्यन्त से अभिन्न हूँ । ३. मैं दुष्यन्तत्व से और शकुन्तला विषयकर रति से भी युक्त हूँ । इन तीनों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार रस मानना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने में कोई खास युक्ति नहीं है । यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा ही है, तथापि उद्देश्य-विधेय-भाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में 'मै' उद्देश्य है और दुष्यन्त में रहने वाली रति विधेय । द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वही 'मै' है परन्तु विधेय है शकुन्तला-विषयकरति युक्त-दुष्यन्त का अभेद । और तृतीय ज्ञान में भी उद्देश्य 'मै' ही है किन्तु विधेय दो हैं—एक दुष्यन्तत्व और दूसरा शकुन्तला-विषयकर-रति, अत एव यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है ।

मतेऽस्मिन् रत्यादिप्राहकस्यानुमानस्यावरयकृतानाच्चे—

तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्, व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ।

तत्र बोधश्रे, स्वामनि विशेषणीभूता या रतिः, तस्या शब्दादप्रतीतत्वाच्चा-शब्दादज्ञातत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतियोधिकाया, व्यञ्जनायाश्चाप्रमतेऽनभ्युपगमादस्वीकाराच्च, आदौ प्रथमम्, चेष्टा नटादिन्यापर एव लिङ्गं हेतुर्वन्न, तादृशम् 'अयं (नटरूपो) दुष्यन्त' शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयकरकटाक्षमुज्वितोपादिचेष्टावत्त्वात्' इत्याकारकमनुमानं विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपेयमज्ञीकरणोयमित्यर्थः ।

अथ मते पूर्वं दुष्यन्तत्वेन क्षते नटे चेष्टया शकुन्तलरतेरनुमानम्, पश्चात् तादृश-दुष्यन्तेन सहात्मनस्तादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति सारम् । तुरीयं मतमवसितम् ।

इस मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, इसी बात का प्रतिपादन करते हैं—'नव' इत्यादि । आशय यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण-रूप से प्रविष्ट है अतः इन ज्ञानों के होने से पूर्व रति का ज्ञान हो जाना आवश्यक है, परन्तु उसका ज्ञान होगा कैसे ? काव्य के शब्दों से ही नहीं सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते और उसका बोध करानेवाली जो व्यञ्जना अन्य मतों में स्वीकृत थी, उसका स्वीकार इस मत में किया ही नहीं गया है, फिर तो अगत्या विशेषणीभूत उस रति आदि के ज्ञान के लिये अनुमान की शरण इस मत में लेनी ही पड़ेगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों से पहले नट आदि की चेष्टा को हेतु बनाकर 'दुष्यन्त, शकुन्तला विषयकर रति वाला है, क्योंकि उस रति से होने वाली चेष्टा उसमें विद्यमान है' ऐसा अनुमान करना पड़ेगा ।

पञ्चमं भट्टोल्लटादीना मतमुपपादयति—

(५) 'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाशभितय-प्रदर्शनकोधिदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तारि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते' । इत्येके ।

मुख्यतया साक्षात्सम्बन्धेन वस्तुतः, दुष्यन्तादिगतोऽनुकार्यवृत्तिरेव, तत्त्वतुक्त-नटादिज्ञातः, तत्र तत्सारोपितरवैनावास्तविकत्वाद् । कमनीयो यो विभावादीनामभिनयोऽ-

वस्थानुकार, तस्य प्रदर्शने कोविदो निपुण' । दुष्यन्तादीनामनुकर्ताऽनुकरणकृत । इदं दृश्यकाव्ये, श्रव्यकाव्ये त्वनुकरणाभावात् काव्यपाठके स्वात्मनि समारोपः । एके प्राचीनेष्वपि प्रसिद्धतमा भट्टलोल्लटप्रभृतयो वदन्तीति शेष ।

अथ रस के विषय में भट्ट लोल्लट आदि कतिपय पण्डितों के मतों का उपपादन करते हैं—'मुख्यतया' इत्यादि । वस्तुतः सत्रात् सवन्ध से दुष्यन्त आदि अनुकार्य में रहने वाले रति आदि ही रस हैं, उन रति आदि को ही नाटक में विभाव आदि के सुन्दर अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का पाठ करने वाले नट पर और काव्य में उसके पाठकों के ऊपर आरोपित करके हम उनका अनुभव करते हैं ।

एतन्मतप्रतिपाद्य शेषमाचष्टे—

भतेऽस्मिन् साक्षात्कारो 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान्' इत्यादिः प्राग्बद्धमर्थो लौकिक आरोप्यांशो त्वलौकिकः ।

साक्षात्कार प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम् । प्राग्बद्धतुर्धमत इव विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेय-भाववैलक्षण्येन त्रिविध । धर्मो इदन्त्वेन गृह्यमाणो नट, तस्य चक्षुस्सन्निकृष्टत्वात् साक्षात्कारो लौकिक । आरोप्यं दुष्यन्तत्वादि, तस्य चासन्निकृष्टत्वादलौकिक साक्षात्कारो भवतीति शेषः । भरतसूत्रव्याख्याता भट्टलोल्लटो भीमासक इत्येतन्मतं भीमासकमतरत्वेनान्य-प्रोल्लिखितम् । तथाहि—'विभावैर्जनित', अनुभावं प्रकाशित', व्यभिचारिभावैश्च पोषितश्च शकुन्तलादिविषयको दुष्यन्तादावनुकार्ये वास्तविक' अभिनयकौशलेन दुष्यन्तादित्वेन ज्ञायमानेऽनुकर्तारि नटे आरोपित, सहृदये पश्चाद् भावनारूपदोषजन्य-नटतादात्म्याभ्या-साक्षात्तमनि साक्षात्क्रियमाणो रत्यादि' स्याथो रस इत्यन्यत्र तन्मतम् । पञ्चममत सम्पूर्णम् ।

इस मत में भी रस-ज्ञान का स्वरूप, पूर्वमत की तरह 'शकुन्तला विषयक रति से युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि रीति से उद्देश्य-विधेय-भाव में भेद होने के कारण तीन प्रकार का होगा यह समझना चाहिये । ये तीनों ही ज्ञान नटरूप धर्मों (विशेष्य) अथ में उसके आँखों के सामने उपस्थित रहने के कारण लौकिक और आरोप्य (जिसका आरोप करते हैं) दुष्यन्तत्व अथ में अलौकिक होते हैं क्योंकि पह अंश आँखों के सामने उपस्थित नहीं रहता ।

काव्यप्रकाशेद्वितीयमतत्वेनोपात्त पद्यं तार्किकश्रीशङ्कुकमतमभिधत्ते—

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते, विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः, भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादानुमीय-मानो रसः ।' इत्यपरे ।

अपरे वदन्तीति शेष । दुष्यन्तत्वेन गृहीते 'दुष्यन्तोऽहम्' इति दुष्यन्तत्वप्रकारक-ज्ञानविषयीकृते, नटेऽनुकर्तारि शैलूपे, पक्षे सन्दिग्धसाध्यवति, कृत्रिमै क्रियया निर्दूतैः शिभाभ्यासादिमात्रविदितत्वाद्वास्तविकैरपि, अकृत्रिमतया गृहीतै साम्यातिशयेन वास्तविक-तया ज्ञातै, विभावादिभिर्हेतुभूतै, समाने विषये प्रत्यक्षसागमया बलवत्त्वेऽपि, विभिन्नविषयेऽ-नुमितिसामग्र्या एव बलवत्त्वाच्चविषयकप्रत्यक्षप्रतिबन्धनादानुमीयमानो दुष्यन्तादावनुकार्यगत शकुन्तलादिविषयको रत्यादिरेव रस । अथमपि भरतसूत्रस्य व्याख्याता ।

इदमिहावगन्तव्यम्—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षमुज्ज्वि-धेवादिचेष्टावत्त्वात्' इत्यनुमित्याकार । अनुभेयवस्तुसौन्दर्यबलादस्यानुमानस्येत रानुमानेभ्यो रमणीयत्वम्, मृदादिपटेभ्य इव कनकरूपस्य । इन्द्रियसन्निकर्षरूप-नटविषयकप्रत्यक्षसामग्री-सद्भावेऽपि, रत्यादिसाध्यविषयकानुमितिसामग्र्या विभिन्नविषयकत्वेनेतरप्रतीतिप्रतिबन्धक-

त्वाद् रत्याद्यनुमितिरैव भवति, ननु नटप्रत्यक्षम् । परोक्षज्ञानस्याचमत्कारित्वं चात्र पक्षे-
श्चिद्योजम् । षष्ठं मतं समाप्तम् ।

अब रस के विषय में श्रीराहुक के छठे मत का प्रतिपादन करते हैं—‘दुष्यन्तारिगती’
इत्यादि । अभिप्राय यह है कि जब हम ‘अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटक देखते रहते हैं
उस समय नट में हमें दुष्यन्त आदि का ज्ञान होता है और वह ज्ञान-चित्र-लिखित चरित्र
को देखकर जो ‘यह घोड़ा है’ ऐसा ज्ञान होता है—ठीक वैसा ही है अर्थात् वह ज्ञान
सम्यक्, मिथ्या, सादर्य ज्ञानों से विलक्षण रहता है क्योंकि वस्तुतः दुष्यन्त से भिन्न में
होने के कारण उस ज्ञान को सम्यक् (प्रमात्मक) नहीं कह सकते, उत्तर-काल में बाध
न होने से उसको मिथ्या (समात्मक) भी नहीं मान सकते, सादर्य-अंश की प्रतीति
न होने से सादर्यज्ञान भी उसको नहीं बतला सकते, फलतः वह ज्ञान विलक्षण है, यही
कहा जासकता है । वस्तुतः पूर्वमत की तरह विशेष्य अंश में लौकिक और विशेषण अंश
में अलौकिक अमात्मक ज्ञान ही वह है । इस तरह हम सहृदयों से दुष्यन्त आदि रूप में
समझा गया और अभिनय करने में विपुण नट आदि के द्वारा प्रकाशित विभाव आदि—
जो वस्तुतः कृत्रिम-अवास्तविक रहते हैं—अकृत्रिम-वास्तविक मालूम पड़ने लगते हैं,
अतः वास्तविक-स्वामाविक मालूम पड़ने वाले उन विभावों से दुष्यन्तादि रूप से
समझे गये नट रूप पक्ष में शाकुन्तला आदि की रति की अनुमिति होती है और उसी
अनुमिति का विषयीभूत रति आवि ‘रस’ है । यद्यपि अन्य अनुमितियों में चमत्कार-
आस्वाद नहीं होता अतः इस अनुमिति में भी वह नहीं होगा ऐसी शङ्का यहाँ की
जासकती है, तथापि यहाँ अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य से अनुमिति में चमत्कार पैदा हो
जाता है ऐसा समझना चाहिये अत एव सहृदयजन पार धार उस अनुमिति को करते
हैं, जिससे उस रति आदि की चर्चणा उन्हें होती है । यद्यपि अनुमान के द्वारा किसी चीज
की एक बार सिद्धि हो जाने पर दुबारा उस चीज की अनुमिति उसी व्यक्ति के द्वारा
नहीं की जासकती क्योंकि सिद्धि को अनुमिति का प्रतिबन्धक माना गया है तथापि
अनुमिता-अनुमिति की इच्छा के रहने पर सिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती यह ज्ञात होना
चाहिये । अनुमिति का आकार यह होता है कि ‘यह (नट) दुष्यन्त-शाकुन्तला-विषयक
रतिवाला है, क्योंकि तद्विषयक कटाक्ष भुजरोप आदि चेष्टाओं से वह युक्त है’ । एक बात
और—यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि जिस चण में अनुमिति होती है उस चण में
वहाँ और और भी बहुतसी दर्शनीय वस्तुयें आसों के सामने उपस्थित रहती हैं, जिससे
उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी अवसर प्राप्त रहता है, फिर उस समय में उक्त अनुमिति न
होकर उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही नया नहीं होता ? पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिये
कि एक काल में दो ज्ञान नहीं हो सकते, अतः दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगी
यह बात नहीं कही जासकती । इसका उत्तर यह है कि जहाँ एक ही समय में एक वस्तु
की प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु की अनुमिति-सामग्री जुट जाती है, वहाँ उस स्थिति
में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक
अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिबन्धक माना है । यद्यपि उसको प्रतिबन्धक माना
गया है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए ।
भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति-सामग्री को प्रतिबन्धक मानने का
पहला कारण यह है कि उस स्थिति में अनुमिति का होना ही अनुभव सिद्ध है । दूसरा
कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री की अपेक्षा अनुमिति-सामग्री गुरु-भूत रहती है,
अर्थात् प्रत्यक्ष-सामग्री (चक्षुःसन्निकर्ष आदि) को जुटाना नहीं पड़ता अगर किसी अंश
में जुटाना भी पड़े तो उसमें बहुत अल्प आभ्यास करना पड़ता है और अनुमिति-सामग्री
(व्याप्तिज्ञान आदि त्रिमकी सख्या अधिक है) को जुटाना पड़ता है जिसमें बहुत
अधिक आभ्यास करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में अगर उक्त दोनों सामग्रियों में से किसी

एक सामग्री को व्यर्थ करना पड़े तो लोग किसको व्यर्थ करना चाहेंगे ? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष-सामग्री को, क्योंकि वह थोड़ी है और उसमें आयास भी कम करना पड़ा था। अब नाटक देखते समय भिन्न विषयक प्रत्यक्ष-सामग्री के जुटी रहने पर भी शकुन्तलादि विषयक रति की अनुमिति ही क्यों होती है इस शङ्का का उत्तर पाठकों को स्पष्ट रूप से समझ आ जायगा। यह तो हुई नाटक की बात, काव्य में उसके पाठकों पर ही यह जगद्गा धजता है अर्थात् उन्हीं को दुष्यन्त आदि समझा जाता है और उन्हीं को पुरुषनाकर रति आदि की अनुमिति की जाती है।

अथ प्रकीर्णं मतपक्षके प्रथमं पूर्वक्रमाच्च सप्तमं मतं निर्दिशति—

(७) 'विभावाद्यस्त्रयः समुदिता रसा' इति कतिपये ।

'समुदिताः परस्परं मिलिता', विभावादयो विभावानुभावव्यभिचारित्यायिगाना एव रसा रसनव्यापारयोगादास्वाद्या इति कतिपये कियन्तो व्याहुरन्तीत्यर्थः ।

'प्रतीयमान प्रथमं प्रत्येकं हेतुव्ययते । तत सम्मिलितः सर्वो विभावादि' सचेतसाम् ॥

प्रपाणकरसंन्यायाचर्यमाणो रसो भवेत् ॥'

इत्युक्ते खण्डमरिचादीनामिव विभावादीना मियस्सम्मेलनेन प्रपाणकरस इव काव्यरस' कोऽपि निष्पद्यत इत्याशयः ।

अब रस-विषयक सप्तम मत का प्रतिपादन करते हैं—'विभावादय' इत्यादि। कुछ लोगों का कहना है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाते हैं।

द्वितीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतमुपन्यस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः । अन्यथा तु त्रयोऽपि न ।' इति बहवः ।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, य एवान्यतम स्वपौपकमामग्रीप्रकर्षात्, चमत्कारी विच्छित्तिविशेषशालो, स एव, न तु चमत्कृतिरून्योऽपि, रसो भवतीति शेषः । अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुक्तैः, न रस इति बहवो व्याहुरन्तीत्यर्थः । लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वात् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः ।

अब रस-सम्बन्धी अष्टम मत का उपादान करते हैं—'त्रिषु' इत्यादि। कतिपय विद्वानों का कथन है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है और यदि चमत्कारी न हो, तब एक ही बात ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते क्योंकि लोकोत्तर चमत्कार को ही काव्य का प्राण माना गया है।

तृतीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतं प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये ।

भाव्यमान पुनः पुनरनुसन्धानरूपभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आलम्ब्यनोदीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणात्पि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः ।

प्रादुर्भावेषु विभावस्यैव प्राथम्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम् ।

अब रस-सम्बन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमान' इत्यादि। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान क्रिया गया विभाव (आलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है (अनुभाव और सञ्चारी नहीं) ।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशमं मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे ।

संयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति, योगादित्यस्य भाव-
कत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्वेत्यस्य सत्त्वोद्रेकोद्भूतित-रत्यादिविषयक-स्वात्मानन्द-
रूपार्थकं स्थाय्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य भुक्त्यपरपर्याय-भोगात्मकसाक्षात्कारविषयी-
करणार्थक भोगाह्येनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः ।

द्वितीय भट्टनायक-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि ।
'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (स+योग) सम्यक् अर्थात् साधारणरूप से
योग अर्थात् भावस्वरूप व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप उपाधि के सहित
सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वकीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग
नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है ।

तृतीये नव्यमते सूत्रव्याख्यां प्रवीति—

विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्या-
निर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये ।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव संयोग, अनिर्वचनीयभावापन्नो दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्त-
लादिविषयकरत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विशेषः ।

तृतीय 'नव्य' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव,
अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयता मूलक काव्यार्थभावनारूप
दोष से दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति'
यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है ।

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्या प्रभूते—

'विभावादीनां संयोगाज् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः।' इति चतुर्थे ।

अत्र संयोगो ज्ञानम्, रसश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेषः ।

चतुर्थ 'पर' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभावादीनाम्' इत्यादि ।
'विभाव आदि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान-विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात्
उत्पत्ति' यह चतुर्थ मत में सूत्र का अर्थ है ।

पञ्चमे भट्टलोकहटमते सूत्रव्याख्यां व्याहरति—

'विभावादीनां सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे ।

इह संयोग सम्बन्धः, नट आरोप्यमाणो रत्यादी रसः, निष्पत्तिरारोपः । सामाजिकस्य
तु भावनात्मकदोषवशात् कथञ्चिद्वेन सह तादात्म्याप्यासादास्वाद इति विशेषः ।

पञ्चम भट्ट लोकहट-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि ।
'विभाव आदि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट
आदि पर आरोप' यह पञ्चम मत में सूत्र का अर्थ है ।

षष्ठे श्रीशङ्करमते सूत्रव्याख्या प्रतिपादयति—

'विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्य-
रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे ।

अत्र संयोगोऽनुमितिहेतु-व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम्, अनुमेयो रत्यादी रसः, निष्पत्तिधा-
नुमितिरिति विशेषः ।

षष्ठ श्रीशङ्कर मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभावादिभिः' इत्यादि । 'कृत्रिम
होने पर भी स्वामाविक रूप में समझे गए विभावादिकों (हेतु) के साथ संयोग अर्थात्

व्याप्ति नामक सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति (नट रूप पद्य में) यह पद्य मत में सूत्र का अर्थ है ।

सप्तमे वृत्तिपर्ययते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

‘विभावादीनां त्रयाणां संयोगात् समुदायाद् रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहारः’ इति सप्तमे ।

इह संयोगो मिश्रसम्मेलनेन समुदायः, निष्पत्ती रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश इति विशेषः ।

सप्तम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—‘विभाव आदि तीनों से संयोग अर्थात् सम्मेलन से रस की निष्पत्ति अर्थात् उस समूह में रस पद का व्यवहार’ यह सप्तम मत में सूत्र का अर्थ है ।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्या निगदति—

‘विभावादिषु सम्यग् योगाच्चमत्कारात्’ इत्यष्टमे ।

अत्र संयोगश्चमत्कार इति विशेषः ।

अष्टम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—‘विभाव आदि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस कहलाता है’ यह अष्टम मत के अनुसार सूत्र का अर्थ है ।

उपसंहरति—

तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः ।

एवमुक्तप्रकारेण, केवलं पूर्वोक्तेषु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्, त्रिष्व-
प्रियेषु त्वेकैकमात्रोपादानाद् विभावादीनां त्रयाणामनुपादानाद् भरतसूत्रस्य प्रायुहित्वितस्य,
विरोधः पर्यवसित इत्यर्थः ।

भरतसूत्रानुसारि मत्वाष्टकमेव साधयि, तद्विरुद्धमतत्रयं तु निर्मूलकत्वादनुपादेयमे-
वेति सारम् ।

इदमपीहाकलनीयम्—यथा भरतसूत्रविरोधादिहान्तिमं मतत्रयं हेयम्, भावकृत्वरूपा-
धिकव्यापारस्वीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादोपत्वकल्पनागौरवाद्, रसस्यानिर्वचनीयत्वा-
ज्ञाकारेऽवास्तविकत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य भ्रमत्वाभ्युपगमेऽतात्त्विकत्वा-
पत्तेस्तुरीयम्, रसस्य नटवृत्तेर्वस्तुतः सामाजिकवृत्तित्वानज्ञाकारेण विलक्षणास्वादासम्भवाद्
पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारित्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारेऽ-
चमत्कारित्वप्रसङ्गात् षष्ठम्, विभावादिषुमहानमात्रेण लोकोत्तरसत्त्वप्राप्तिसम्भवाद् सप्तमम्,
एकस्य विभावाद्यन्यतमस्य रससारचमत्कार-परिपूर्णताऽसङ्गात्वाद्दृष्टं च मतमवधिप्रासाद-
नादेयमेव ।

अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र का अर्थ सगत नहीं होता, अतः उन मतों में सूत्र का
विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे मत स्वतन्त्र हैं, सूत्रानुसारी नहीं ।

ननु भरतसूत्र एव सन्मिलितानां विभावादीनां त्रयाणामुपादानस्य किं बीजम् ? ये
नात्र विभावादिष्वेकमात्रावलम्बि चरमं मतत्रयं सूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याशङ्का निरस्यति—

विभावाद्यनुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरस-
व्यञ्जकताऽनुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम् ।

इदमुक्तं भवति—विभावाद्यनुभावा व्यभिचारिणश्च क्रियन्तोऽनेकरससाधानत्वेकरसनि-
यताः सन्तीति तत्रैकमात्रोपादाने रसप्रतीतावनियमः स्यात्, मिलिता विभावाद्यलक्ष्यत्वे-

करसाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे मिलिताना त्रयाणामुपादानमावश्यकम् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'व्याघ्रादयो विभावा भयानकरयेव रौद्राद्भुतवीराणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावा शृङ्गारस्येव कर्षणभयानकयो, चिन्तादयो व्यभिचारिण शृङ्गारस्येव कर्षणवीरभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टा ।' इति । 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादौ केवलविभावानाम्, 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादौ केवलानुभावानाम्, 'दूरादुत्सुकमागते विचलितम्' इत्यादौ केवलव्यभिचारिणा चोपादाने शृङ्गाररसप्रतीतेः प्रसिद्धत्वात् त्रयाणा मिलितानामुपादानमावश्यकमित्युक्तिर्निर्मूलैति चेत्, न, उक्तस्यलेखेकमात्रस्य शृङ्गाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव ऋटित्यात्तेषां त्रयाणामव्यभिचारासम्भवात् । तदुक्तम्—

'सद्भावधेद्विभावान्देह्योरेकस्य वा भवेत् ।

ऋटित्यन्यसमात्तेषु तदा दोषो न विद्यते ।' इति ।

विभावादिकों में से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इस शंका का समाधान देते हैं—'विभावानुभाव' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इनमें से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारीभाव किसी नियत रस का व्यञ्जक नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनुभाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक रस का हो सकता है, जैसे व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, उसी तरह वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी, अश्रु पात आदि जिस तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह कर्षण और भयानक रस के भी, चिन्ता आदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं, उसी तरह कर्षण, वीर और भयानक रस के भी । अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख किया गया है ।

तदेवाह—

एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र कचिदेकस्मादेवासाधारणाद् रसोद्बोधः, तत्रेतरद्वयमात्तेषुप्यम्, अतो नानैकान्तिकत्वम् ।

अनैकान्तिकत्वं व्यभिचारः ।

इस तरह जब यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव) सम्मिलित रूप में ही किसी खास रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कही, किसी असाधारण (जो किसी एक ही रस का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहाँ जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से आक्षेप कर लेना चाहिये, अतः सूत्र का विरोध वहाँ नहीं होगा । इस प्रसङ्ग में मम्मट ने उदाहरणार्थं निम्नलिखित तीन श्लोक काव्य प्रकाश में उद्धृत किये हैं । (१) 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादि । (२) 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादि । (३) 'दूरादुत्सुकमागते विचलितम्' इत्यादि । इन श्लोकों में क्रमशः प्रथम में केवल विभावों का, द्वितीय में केवल अनुभावों का और तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव असाधारण हैं अर्थात् केवल शृङ्गार रस में ही होने वाले हैं, अतः यहाँ अनेक रसों के व्यञ्जक होने का सन्देह नहीं हो सकता । तब बात रही यह कि शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा, जिसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है कि वर्णित से अतिरिक्त दो का आक्षेप कर लिया जायगा ।

महत्त रसस्वरूपनिर्हणमुपसंहरति—

इत्थं च नानाजातीयाभिः शोमुपीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः

परमाज्ञादाविनाभावितया प्रतीयमानः, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।

इत्यमुक्त्वा, नानाजातीयाभिरनेकविधाभिः, श्रेणुपीभिर्जुदिभिः, मनीषिभिः काव्यज्ञे-
विदै, नानारूपतयाऽनेकप्रकारकत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि, परमाज्ञादाविनाभावि-
तया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीमवतरन्, रसः, अस्मिन् प्रपञ्चे
सन्दर्भे विश्वस्मिन् वा, रमणीयतामावहति सुप्रमाविशेषं चमत्कारोत्कर्षं वाऽऽदवातीति निर्वि-
वादं निर्णीतमिन्यर्थः ।

बुधानां बुद्धिवैविष्येन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारबाहुल्येऽपि विच्छिन्नविशेषाचार-
कत्वे न काचित्प्रतिरिक्त्यभिप्रायः ।

हस प्रकार विद्वज्जनों ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा रस को अनेक रूपों
में समझा है, तथापि इस बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अलौकिक
ज्ञानम् का व्याप्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय वस्तु है ।

एवं रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानावष्टे—

स च—

‘शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।

हास्यो भयानकश्चैव, वीभत्सश्चेति ते नव ॥’

इत्युक्तेर्नवधा ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अथ रस के भेदों को देखलाते हैं—‘न च’ इत्यादि । पूर्वोक्त रस के शृङ्गार, करुण,
शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स ये नौ भेद हैं ।

नन्वेतदुच्यते किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

मुनिवचनं चात्र प्रमाणम् ।

अत्रास्वां रसनवविधासुचौ, मुनेर्महर्षिर्नारदस्य—‘शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-
भयानकाः । वीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥’ इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं
च (चकारात्सहृदयानुभवः) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

रस की इस सङ्ख्या में नारद मुनि का वचन ही प्रमाण है । अपने नाट्यशास्त्र में भरत
मुनि ने ‘शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः । वीभत्साद्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः
स्मृताः ॥’ यह वचन कहा है ।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

‘शान्तस्य शमसाध्यत्वाश्रिते च तदसम्भवान् ।

अश्रावैव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥’ इत्याहुः ।

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यासुचिप्रस्तता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्याधिकत्वात्, नटे वास्तविकसहृदयताविधुरे
केवलशिशुभ्यासादिनाऽनुकरणपटीयसि, तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽभिनेयकान्ये,
अथै शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमा-
भावात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुरित्यनेन सम्बन्धः ।

शान्तरसस्याधिरामस्य नटेऽप्यहृदयेऽसम्भवान्नाट्ये शान्तातिरिक्ता एवाथै रसा इति
पूर्वपक्षस्य सारम् ।

नाटक में शान्त-रस नहीं हो सकता इस परकीय शब्दा का स्वरूप दिखलाते हैं— 'केचित्तु' इत्यादि । नाटक में आठ ही रस होते हैं, शान्त नहीं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं और वे अपने कथन में युक्ति यह देते हैं कि शान्त रस की सिद्धि शम (शान्ति) से ही हो सकती है, जो (शान्ति) वैराग्य से सम्बन्ध रखता है और नट ठहरा सांसारिक झमेलों में आसक्त जीव, अतः उसमें शान्ति की सम्भावना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस हो, तो, कैसे ?

समादधाति—

तच्चापरे न क्षमन्ते । तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसाभिव्यक्तेरस्यीकारात् । सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

इदमुच्यते—नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके । नटे तु 'यत् कश्चित् रसं स्वदते नट' इत्युक्तेनैव रसास्वादाभावः । सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽवच्छेदकं न तु नटत्वम् । यच्च कश्चिन्नटस्यास्वाद, स तस्य काव्यार्थभावनेया, सहृदयत्वेनैव 'काव्यार्थभावनेनायमपि सम्यपदास्पदम्' इति दर्पणात् । किञ्च—वक्ष्यमाणक्रमेण ध्रुव्ये महाभारतादौ शान्तरसस्वीकृतौ न कस्यापि विमति । इत्येकवाक्ये तु नटे वास्तविकशमाभावादभिनयासम्भवात् केचित्तु मन्यन्ते । परंतु तत्रापि 'अथावेव रसा नाद्ये—त्विति केचिदचूचुदन् । तदचाह, यत्, 'कश्चित् रसं स्वदते नट' ॥' इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रसं साक्षत्कृत्य च तमूरीकुर्वन्ति । तस्य स्थायिनं केचन निर्वेदं मन्यन्ते । अपरे निर्वेदस्य विश्वविषयात्मप्रत्ययात्मकस्यात्मावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभावं व्यपदिश्य, सकलतुष्णानिष्टित्जगत्यात्मपरिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च काम सुख लोके, यच्चदिव्य महत्सुखम् । तुष्णाक्षय-सुखस्यैत नार्हत पोडशीं कलाम् ।' इत्युक्तमहिमान शममेव तथा व्याह्रन्तीति दिक् ।

उक्त शब्दा का समाधान करते हैं—'तच्चापरे' इत्यादि । दूसरे लोग उक्त शब्दा-कारक की बात को मानना नहीं चाहते । उनका कथन है कि नाटक में शान्तरस के न होने में आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', यह सगत नहीं, क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानते ही नहीं, फिर उसकी शान्ति कथवा अशान्ति से हमें क्या लेना देना ? जहां हम रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सामाजिक यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहां उसके होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं ।

नटे शमान्तीकारेऽनुपपत्ति प्रकाश्य निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशत्वानुपपत्तिरिति धाच्यम्, तस्य-भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः ।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च भयक्रोधादेः परामर्शः ।

यदि नटे शम स्यात्, तदा स तदभिनयं विधातु क्षमेत् । न च तथा, तस्मादभिनय-काव्ये शान्तरसो नोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविक कोऽपि स्थायी न तिष्ठति, तथापि शिक्षाभ्यासादिवलेन तदभिनय सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्यविरहेऽपि तदभिनयानुष्ठानेनासङ्गतिः । अन्यथा नटे रौद्रस्थायिक्रोपस्य, भयानकस्थायिभयस्य चासत्त्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम् ।

यदि आप कहें कि शान्ति-विहीन नट शान्त-रस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सकता, तब हम आपसे कहेंगे कि नट, भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, यह तो आप भी मानते हैं, परन्तु आपके शान्तरस विषयक इस नूतन चर्के के अनुसार वह भी असगत हो जायगा, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं

रहती, उसी तरह वास्तविक भय और क्रोध भी नहीं रहते, अतः इस कारण से अथवा शान्तरस के अभिनय करने का अधिकारी वह नहीं होता तो भयानक और रौद्र रस के अभिनय का अधिकारी न होना भी उसके लिये उचित प्राप्त है।

पुनरुत्पन्नं विधाय निराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधवन्धवादीनामुत्पत्त्य-
सम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्तिबाधकमिति नि-
रीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि शत्रूणां वधवन्धप्रकृतौनि
नोत्पत्तुं सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वाद्वास्तवानि तत्कार्याणि गर्जनतर्जनादीनि
शिक्षाभ्यासादिवलाद् वाचकवैधुर्यात् कथं नोत्पद्येरन्निति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्द्वैपन्यमालोक्यते
चेत्, तर्हि नटोऽपि वास्तवशमाभावेन वास्तवशमाकार्याणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेर-
भावेऽपि, कल्पितरामकार्याणामक्षिणमौलनादीनां शिक्षाभ्यासादिवलादुत्पत्तिबोधकभावात्
कथं न स्यादुभयैर्द्वैपन्यनिरहादित्याशयः ।

यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण क्रोधादिक के वास्तविक
कार्य वध-बन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वध-बन्धन आदि
की शिक्षा और अभ्यास आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे
कि यहाँ भी वैसा ही समझिये अर्थात् वास्तविक शम के अभाव में वास्तविक शम-कार्य
शरीर में अनास्था आदि के न होने पर भी शिक्षादि से नट बनावटी शम के कार्यों को
दिखाया सकता है।

पुनरशङ्कते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्, सामाजिकेष्वपि विषयवैसु-
ख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत् ।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण श्रोतुर्मनः सिन्वन्तीति विषया मनोविशेषकृतः, तेषां
शमविरोधिना नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयैभ्यो वैमुह्यनारामास्वरूपं यस्य, तादृशस्य
विषयविशदस्वभावस्य शान्तरसस्य, सहृदयेऽपि (किमुत नटे) कथम्, उद्रेक आधिर्मायो
भवेत् ? तस्मात् नाट्ये शान्तो रस इति पूर्वपक्षमिप्रायः ।

एक शङ्का आप यह उपस्थित कर सकते हैं कि नाटक में शान्त रस के विरोधी गीत,
वाद्य आदि वस्तुओं के विद्यमान रहने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उदय कैसे होगा ?
क्योंकि विषयों से विमुक्त होना ही शान्त रस का स्वरूप है।

उत्तरयति—

नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात् तद्गीतवाद्यादेस्तमिन् विरोधि-
ताया अकल्पनात् ।

ये नाट्येऽपि शान्तं रसं स्वीकुर्वन्ति, ते देवविषयकभावे विषयवैमुह्यतद्भावेऽपि, तद्भावा-
नुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधिता न मन्यन्ते, तथाऽप्यापीत्युत्तरपक्षारथः ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि शान्तरस-प्रधान नाटक के वर्णन से सहृदय सामाजिकों में
शान्त रस का उदय होते देखते हैं, अतः नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने वाले उन
गीत-वाद्यादिकों को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेंगे, क्योंकि फल के अनुसार ही कारण
की कल्पना की जाती है।

उत्तरपक्षं समर्पयन्नुक्तव्यवस्थातिक्रमे दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य संसारा-

नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

तत्र शान्तरसे । पुण्यवनानि वृन्दावन-गैमिपारण्यप्रश्रुतीनि । तीर्थानि कारवादीनि ।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरसविरोधीति गीतवाद्याद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि, न नाट्ये शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीपनयोरपि विषयत्वाच्छ्रव्यकाव्येऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः ।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-मात्र को यदि शान्त रस के विरोधी मान लिया जाय, तब शान्त रस का आलम्बन-सत्कार का अनित्य होना एवम् उसके उद्दीपन-पुराणों का सुनना, सत्सङ्ग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन आदि भी विषय ही हैं, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो जायेंगे । इसलिये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे भजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं हैं, अपितु उसके अभिव्यञ्जक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

उक्तार्थे प्राचीनसम्मतिं दर्शयन् निगमयति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

‘अष्टावेव रसा नाट्ये-ध्विति केचिदधुचुदन् ।

तदचारु, यतः कश्चिन्न रसं स्वदत्ते नटः ॥’

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् ।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः । सङ्गीतरत्नाकरनामा प्राचीनसङ्गीतविद्या-प्रबन्धः । अचूचुदन् व्याहृष्टः । अचारु सङ्गतिरन्यतयाऽमुन्दरम् । यत इत्यादिना तद्वैत-पन्थासः । कश्चित् कश्चिदपि । स्वदत्त इत्यन्तर्भावितण्यर्थात्नादास्वादयतीत्यर्थकम् । अन्यथाऽ-र्थासङ्गतिर्नटपदाक्षतुर्प्या दुर्निवारत्वं च स्यात् ।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्वं स्वीक्रियते, तथैव शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये धोजानुपलम्भादित्याकृतम् ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखलाते हैं—‘अत एव च’ इत्यादि । जिसलिये ये गीत-वाद्य, शान्त रस के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसी लिये ‘संगीत रत्नाकर’ के अन्तिम अध्याय में ‘अष्टावेव रसानाट्ये इत्यादि अर्थात् नाटकों में आठ ही रस होते हैं’ ऐसा कुछ लोग कहे हैं, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता-इत्यादि अर्थ के द्वारा-नाटकों में भी शान्त रस होता है यह सिद्ध किया है ।

नाट्ये शान्तरसाभावान्युपगमेऽप्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकेत्याह—

वैरपि नाट्ये शान्तो रसोनास्तीत्यनुपगम्यते, तैरपि बाधकाभावान्महाभार-तादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽ-वश्य स्वीकार्यः ।

नाट्ये शान्तरसाभाव वदन्तोऽपि बाधकानुपलम्भाद् महाभारतप्रश्रुतिप्रबन्धेषु शान्त-रसप्रधान्यस्य सकलसद्वयानुभवसिद्धतयाऽनपलपनीयत्वेन शान्तरसस्य नाट्येतरकाव्ये सप्ता-मवश्य स्वीकुर्येतिर्येतावताऽपि शान्तरससत्ता, रसानां नवता च सिध्यत्येवेत्यभिसन्धिः ।

नाटकों में शान्त रस को न मानने पर भी काव्य में उसका मानना आवश्यक है इसी बात का उल्लेख करते हैं—‘वैरपि’ इत्यादि । धारण यह है कि जो लोग नाटकों में शान्त रस नहीं मानते हैं उन्हें भी काव्यों में उसको (शान्त रस को) अवश्य मानना

चाहिए क्योंकि उनके हिसाब से भी वहाँ उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महामारत आदि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है' यह यान सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

पुन शान्तरससत्तामेव समर्पयन् सन्दर्गमुपसंहरति—

अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य, 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति मम्मटमट्टा अप्युपसमहार्षुः।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव । उपक्रम्य प्रारभ्य । उपसमहार्षुः समाप्तिमकार्षुः ।

शब्दबोधेऽपि शान्तरसान्नीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इत्युपसंहारोक्तिर्मम्मट-भट्टानां शान्तरसस्यं, तत्रैवमत्वस्य साम्राज्यं सहच्छेद, तस्मात् काव्ये शान्तरससत्ता निर्विवादवैति सारम् ।

इसीलिये मम्मट भट्ट ने भी 'नाटकों में आठ रस होते हैं' इस तरह से आरम्भ करके 'शान्त नामक एक नवम रस भी है' इस रूप में उपसंहार किया है। अर्थात् काव्यों में शान्त रस का होना मम्मट भट्ट के मतानुसार भी सिद्ध है। अतः रसों की कुल संख्या नौ है, यह निस्सन्देह बात है।

एवं रसान् परिगणय्य, तीक्ष्णभावादे भेदाभावान्मियोऽभेदे प्रसक्ते, स्थायिभेदेन भेदं दिदर्शयितुः स्थायिभावान् नमेण परिगणयति—

अमीषां च—

रतिः शोकश्च निर्वेद-क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः ।

हासो भयं जुगुप्सा च, स्थायिभावाः क्रमादमी ॥

अमीषां शृङ्गारदिरसानाम् । क्रमात् शृङ्गारस्य रतिः, करुणस्य शोकः, शान्तस्य निर्वेदः, रौद्रस्य क्रोधः, वीरस्योत्साहः, अद्भुतस्य विस्मयः, भयानकस्य भयम्, बीमत्सस्य च जुगुप्सा स्थायिभावः । एतेषां स्वरूपमग्रे स्फुटीभविष्यति ।

अब इन रसों के स्थायीभावों के नाम गिनते हैं—'अमीषां च' इत्यादि। उक्त रसों के क्रमशः रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और जुगुप्सादि स्थायीभाव होते हैं। अर्थात् शृङ्गार का रति, करुण का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीमत्स का जुगुप्सा स्थायीभाव होता है।

अथ प्रागुक्तमतभेदेन रसानां स्थायिभ्यो भेदं दर्शयति—

रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादर्पटाद्यवच्छिन्नाक्राशादिव प्रथम-द्वितीयमतयोः, सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः ।

अभिनवगुप्त-भट्टनायकमतयो रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रसत्वाङ्गीकारात् तयोरेवच्छेद्या-वच्छेदभावरूपो भेदः। तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरस्यादेरसत्वाङ्गीकारात् तयोः सादस्यात्मा-भेदः। चतुर्थे परकीयमते रसाच्चिद्विषयज्ञानस्य रसत्वाङ्गीकारात् विषयविषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थः।

पञ्चमपञ्चमतयोस्तु रस-स्थायिनोरभेदः। सामाद्विषु तु गतेषु स्थायिनोऽनुपादानमेवेति मतचतुष्टय एव भेदो वर्णितः।

रसों और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन मतभेद से करते हैं—'रसेभ्यः' इत्यादि। अभिनव गुप्त और भट्टनायक के मतों (जो इस ग्रन्थ में प्रथम

और द्वितीय है) के अनुसार रस और स्थायीभाव में परस्पर वैसा ही भेद है, जैसा घट और उसके अन्तर्गत आकाश में है। अर्थात् जैसे व्यापक आकाश घटरूप उपाधि के अन्दर बिर कर छोटा सा हो जाता है, उसी तरह व्यापक चैतन्य रति आदि स्थायीभाव रूप उपाधि से प्रस्त होकर केन्द्रित सा हो जाता है। तृतीय नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्य-चाँदी और काष्पनिक चाँदी में है अर्थात् रस काष्पनिक चाँदी सा है और स्थायीभाव सत्य चाँदी सा। चतुर्थ परकीय मत के हिसाब से उन दोनों में उस तरह का भेद है, जिस तरह का भेद ज्ञान और उसके विषय में होता है अर्थात् रस ज्ञानरूप है और स्थायीभाव विषयरूप।

ननु रत्यादीनां पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्थायित्वमित्यत आचष्टे—

तत्र आ प्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम् ।

रत्यादीनां वस्तुतः कूटस्थत्वविरहेऽपि, तत्र काल्येषु, आप्रबन्धं प्रबन्धमभिव्याप्य, स्थिरत्वात् स्थायित्वमित्यर्थः ।

रत्यादयो हि कूटस्थतया न स्थायिनः, किन्तु व्यभिचार्यपेक्षया नियमेन प्रबन्धव्यापक-स्थितिशालित्वादिति सारांशः ।

ये पूर्वोक्त भाव सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—‘तत्र’ इत्यादि। ये भाव कूटस्थ नित्य नहीं हैं, धरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनेक बार आते, जाते और बदलते रहते हैं, उस तरह ये भाव बदलते नहीं अर्थात् ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त बने रहते हैं, अत एव स्थायी कहलाते हैं।

पुनरशङ्कते—

न च चित्तवृत्तिविशेषरूपाणामेवामाशुयिनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्यतिप्रसक्तमिति वाच्यम् ।

एषा रत्यादीनाम् । अतिप्रसक्तमभिव्याप्तम् ।

चित्तस्यातिचपलत्वात् तद्ब्रह्मतीनां क्षणमहुरतया बह्व्यमाणरीत्या तदेकरूपाणा रत्यादीनां स्थिरत्व न सम्भवति । न च तेषां क्षणिकत्वेऽपि तद्वासनाख्यसंस्काराणामक्षणिकत्वात् तद्गुणाणामेव तेषां स्थिरत्वं सम्भवति, एवं सति, व्यभिचारिवासनाया अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्थायित्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः ।

यदि आप कहें कि ये रति आदि भाव तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अत एव क्षणभर के बाद नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इसलिये सम्पूर्ण ग्रन्थ में इनका स्थिर रहना असम्भव है, फिर ये (भाव) स्थायी कैसे कहला सकते हैं? और वासना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारी भाव भी स्थायी कहलाने लगेंगे, क्योंकि वासनारूप से ये भी अन्तःकरण में सदा वर्तमान रहते हैं।

समादधाति—

वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् । व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्योतप्रायत्वात् ।

अमीषां रत्यादीनाम् । मुहुर्मुहुरभिव्यक्ते पुनःपुनःप्रतीतेः । विद्युद्योतप्रायत्वात् कदाचित्कत्वात् ।

नैतन्तर्षेण भूयो भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम् । तत्र स्थायिनामेव, न तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रतिद्वन्वादित्युक्तम् ।

उक्त शब्द का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति ही यहाँ स्थिरता विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र ग्रन्थ में बार बार प्रतीत होते

है वही उनकी स्थायिता है व्यभिचारी भावों को अभिव्यक्ति तो विजली की तरह चण-
भङ्गुर होती है अर्थात् जिस तरह विजली कभी कभी ही धमकती है बराबर नहीं, उसी
तरह ग्रन्थ मर में दो चार बार भले ही किसी व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो जाय,
परन्तु नियमतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में उसकी प्रतीति नहीं होती अतः ये स्थिर नहीं कहला सकते ।

उत्तार्य प्रमाणयति—

यदाहुः—

‘विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं न जयत्याहुः, स स्थायी लवणाकरः ॥

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।

रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

चिरमिति व्यभिचारिवारणाय । अनुबन्धिभिर्विभावाद्यैः ।

तथा—

‘सजातीयविजातीयै-रतिरस्कृतमूर्त्तिमान् ।

यावद्रसं वर्तमानः, स्थायिभाव उदाहृतः ॥’ इति ।

अनुबन्धिभिः सम्बन्धिभिर्विभावादिभिः । लवणाकरः क्षारसमुद्रसदृशः ।

यथा क्षारसमुद्रः स्वादिष्टैरस्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिश्रितोऽपि स्वभावं न जहाति, किन्तु तानेव
स्वभावं प्रापयति, तथैव यो भावः प्रतिकूलैरनुकूलैर्वा विभावादिभिर्मिलितोऽपि स्वभावं न
जहाति (विच्छेदं न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभावं प्रापयति, स स्थायी भाव
इति प्रथमकारिद्वार्य ।

ये (वासनारूपेण) चिरं (ननु व्यभिचारित्वं कदाचिदेव) चित्ते तिष्ठन्ति, तथाऽनु-
बन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता भवन्ति, किञ्च रसत्वं प्राप्नुवन्ति, तेऽत्र काव्ये स्थानियो
भावः प्रसिद्धा भवन्तीति द्वितीयकारिकार्यः ।

सदृशैरसदृशैर्वा भावैर्यस्य स्वरूपपरिवर्तनं न भवति, तथा च ‘सकम्पन्न्यायेन रस-
सत्तामभिव्याप्य तिष्ठति स काव्ये स्थायीभावः कथितो भवतीति तृतीयकारिकार्यं । तदेवोक्त-
मन्यत्रापि—विरुद्धा ‘अविरुद्धा वा, यं तिरोपातुनशना’ । आत्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ, भावः
स्थायीति सञ्जित’ ।’ इति । विरुद्धत्वं तु तत्र केवाधिद्व्यभ्युच्चरिभावाना वौध्यम् ।

उक्त अर्थ को प्राचीनों की सम्मति दिखलाकर प्रमाणित करते हैं—‘यदाहुः’ इत्यादि ।
प्राचीनों ने भी उक्त अर्थ को अपनी अपनी सम्मति देकर प्रमाणित किया है । उन लोगों ने
लिखा है कि स्थायीभाव उसको कहते हैं, जो विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिद्य
नहीं होता, परन्तु विरोधीभावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, और
क्षारसमुद्र के समान है अर्थात् जिस तरह क्षार समुद्र में जाकर सब वस्तुएँ क्षार हो जाती
हैं, उसी तरह जिससे मिलकर सब तद्रूप हो जाते हैं । जो भाव बहुत काल तक चित्त में
यासना रूप से रहते हैं, विभावादिकों के साथ सम्बद्ध होते हैं और अन्त में रसरूप बन
जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य में) स्थायीभाव नाम से प्रसिद्ध हैं । तथा—जिस भाव का
स्वरूप, सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत अर्थात् परिवर्तित न हो सके,
और जो जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक वर्तमान रहे, उसीको स्थायीभाव कहते हैं ।

स्थायिलक्षणे मतान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः, तत्र, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररुद्धे-
ऽन्यस्याप्ररुद्धस्य व्यभिचारित्वोपगमात् ।

यतो रत्यादयः स्वरूपेणैव न स्थायिभावाः, किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेऽपि प्ररुद्धस्य

भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्या स्थितौ, रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमिति लक्षणस्य, नाममात्रेण स्थायिषु, प्ररोहाभावात् व्यभिचारितामापक्षेषु रत्यादिध्वेवातिव्याप्तिः । तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः । यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररूढत्वं निवेश्येत, तथापि तत्तद्विभक्तत्वस्यान्यतमत्वादनुयोगि-प्रतियोगित्वाभ्यां जगत् प्रवेशेन गौरवमापतेत् । तत्तद्भेदकूटप्रतियोगिकाभाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गीकारे तु न गौरवमिति विभावनीयम् ।

स्थायीभाव के लक्षण के विषय में परमत का उल्लंघन कर उसका खण्डन करते हैं— 'केचित्' इत्यादि । कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायीभाव कहलाने के लिये पर्याप्त परिचय है । परन्तु वह परिचय पर्याप्त हो नहीं सकता, क्योंकि वे रति आदि भाव तत्तन्नामधारी होने पर भी जहाँ अपररूढ अर्थात् दूधे हुए रहते हैं, वहाँ उन्हीं रति आदि भावों में से जो प्ररूढ अर्थात् समृद्ध रहता है उसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । इस स्थिति में यदि रति आदि नामधारी होने से वे भाव स्थायी भी कहलाने लगें, तब तो, वहाँ भी वे स्थायी कहलाने लगेंगे जहाँ अपररूढ होने के कारण वस्तुतः वे व्यभिचारी हो गये हैं । अतः उक्त परिचय-पत्र (लक्षण) ठीक नहीं । इसके अतिरिक्त उस लक्षण में अन्यतमत्व का प्रवेश कराया गया है और अन्यतमत्व पदार्थ तत्तद्भेद-कूट-प्रतियोगिकाभाववत्त्व रूप है, जिसमें अनेक तन्त्रार्थ सन्निविष्ट हैं, अतः उक्त लक्षण गौरव-प्रस्त होने के कारण भी अग्राह्य-कोटि में जा पड़ता है, यह समझना चाहिए ।

प्रसङ्गाद् भावानां प्ररोहाप्ररोहौ निरूपयति—

प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे अल्पविभावजत्वे ।

बहुविभावजन्यत्वं प्ररूढत्वम्, अल्पविभावजन्यत्व त्वप्ररूढत्वमित्यर्थः ।

ऊपर के ग्रन्थ में आये हुए 'प्ररूढ' और 'अपररूढ' शब्द की व्याख्या करते हैं—'प्ररूढ' इत्यादि । अर्थात् बहुत विभावों से जिसकी उत्पत्ति हो वह प्ररूढ और थोड़े विभावों से जिसकी उत्पत्ति हुई हो, वह अपररूढ कहलाता है ।

तत्र दार्ढ्याय प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तं राजाकरे—

'रत्याद्यः स्थायिभावाः, स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।

स्तोकैर्विभावैरुपज्ञा-स्त एव व्यभिचारिणः ॥' इति ।

भूयिष्ठं विपुलं स्तोकं चाल्पम् । विभावपदमनुभाव-व्यभिचारिभावयोरप्युपलक्षकम् । अत्रैव सङ्गीतरत्नाकरोपात्त-विभावपदोत्तरबहुवचनस्वरसः । भूयिष्ठैर्विभावादिभिर्जनितः 'वारण-गुणा कार्यगुणानारभन्ते' इत्युक्तोर्बलवत्तमा रत्याद्यः स्थायिभावा, अल्पैर्विभावादिभिर्जनितस्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थः ।

प्ररूढ और अपररूढ पद की स्वकृत व्याख्या को प्राचीनों के उद्धरण देकर प्रमाणित करते हैं—'तदुक्त राजाकरे' इत्यादि । रत्नाकरकार ने भी उक्त व्याख्या के अनुकूल भाव व्यक्त किये हैं । उन्होंने लिखा है कि प्रभूत विभादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही अल्प विभाव आदि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

द्वन्द्वों करय स्थायिनः कुत्र रसे व्यभिचारित्वमविनाभावित्वं च भवतीत्याख्याति—

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हामः, व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च ।

सम्पदधकारो भिन्नकर्मः सहायनुरोधान् ।

एकभावप्ररोहेऽपरभावाप्ररोहाभ्युपगमादुत्साहप्ररोहेण वीररसे प्रधाने, रौद्रस्याप्यपि दोषोऽप्ररूढत्वेन व्यभिचारी, क्रोधं विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्यकतया नान्तरीय-
कश्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्याप्युत्साहः, शृङ्गाररसे प्रधाने हास्यस्यापि हासश्च
व्यभिचारी नान्तरीयकश्च भवतीत्यर्थः । एवमेकन्वैकत्र स्थायितायाः परत्र व्यभिचारितायाश्च
प्ररोहाप्ररोहाभ्यां दर्शनाद् रत्याद्यन्यतन्त्रं स्थायिलक्षणं न सङ्गतमिति भावः ।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और शृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और उनका वहाँ रहना आवश्यक भी है अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना शृङ्गार रस हो भी नहीं सकते, क्योंकि वे ही उन रसों के पोषक हैं ।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभात्रजः क्रियते, तदा तु रसालङ्कार इत्यादि बोध्यम् ।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गभूतो भावोपि, बहुविभावजो रसत्वसम्पादकविभावादिसामग्रीसंबलितः क्रियते, तदा सामग्रीसमवधानाद् रसत्वनापन्नस्य तस्य प्रवानोभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवदलङ्कारो भवतीत्यर्थः । तदुक्तं ध्वनिकारेण—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसाद्यः ।

अन्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥’ इति ।

अन्यत्र तु रतेरन्योन्यनिष्ठत्वे शृङ्गारस्यायित्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपत्तिविषयकत्वादौ च भावाभासत्वम् । तथाहि—‘रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽङ्गितः । भावः प्रोक्तः’ इति प्रकाशे । ‘रत्यादिष्वेतिरक्तः स्याद् देवादिविषयोऽयथा । अन्याङ्गभावभाग् वा स्यात् तदा स्थायिराब्दभाक् ॥’ इति प्रदीपे । ‘उपनायकमंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च । बहुनायकविषयायां, रतौ तथाभयनिष्ठयाम् । प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वदभयपत्रत्रिर्यगादिगते शृङ्गारेऽनौचित्यम्’ इति दर्पणे च ।

कथितं पुनः—नायकमिथुनान्योन्यविषयिका रतिः शृङ्गाररसस्थाविभावः, देवादिपूज्य-
विषयिका च श्रद्धामक्तिरसस्थाविभावः, पुत्राद्यनुकम्पनीयविषयिका च चात्सल्यं वरसल-
सस्थानिभावेः, प्रत्यपाद्यत ।

जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस अङ्गभूत क्रोध आदि को भी बहु-विभाव-
जन्य बना देते हैं, तब वे व्यभिचारी भाव न कहलाकर ‘रसवत्’ अलंकार कहलाते हैं—
इत्यादि समझना चाहिए ।

अथ स्थाविभावान् क्रमेण सञ्चननादौ शृङ्गाररसस्थायिरतिं लक्षयति—

तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थाविभावः ।

गुरु-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

तत्र तेषां स्थाविभावानां मध्ये, नायिकानिष्ठो नायकविषयकः, नायकनिष्ठो नायिकाविषय-
कश्च प्रेमाख्यः प्रीत्यपरपर्यायश्चित्तवृत्तिविशेषः ‘रतिर्मनोऽनुकूलेऽयं मनसः प्रवणायितम्’
इत्युक्तस्वरूपो मनसः उत्कटवेश एव ‘सर्वं वाक्यं रावधारणम्’ इतिदर्शनाद् रतिः शृङ्गाररसस्य
स्थाविभावो भवति विपुलविभावादिजन्यत्वादित्यर्थः ।

अथ स्थायीभावों के लक्षण करने के क्रम में सर्व प्रथम रति का लक्षण करते हैं—‘लो

पुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं । वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारीभाव कहलाता है ।

द्वितीयं करुणरसस्यायिभावं शोक लक्षयति—

पुत्रादिधियोग-मरणादिजन्मावैकलव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यभीष्टसम्बन्धिना वियोगान्मरणादेश्च जन्मोत्पत्तिर्नस्य, तादृशो वैकलव्याख्योऽवसादलक्षण 'इष्टनाशादिभिद्येतो वैकलव्यं शोकशब्दभाक्' इत्यन्यत्रोक्तस्वरूप-श्चित्तवृत्तिविशेषो बहुविभावज शोक' करुणरसस्य स्यायिभावो भवतीत्यर्थ ।

अन्ये तु—'इष्ट नाशादिनिष्ठाते करुणाख्यो रसो भवेत्' इत्यादिदर्शनादिष्टनाशवदनिष्ठाते-रपि वैकलव्यजनकत्वम्, मनुष्याणामिव मनुष्येतराभीष्टप्राणिनाम्, प्राणीतराभीष्टवस्तूना च विनाशाद्, अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाचोत्पन्न चित्तावसादं शोक करुणरसस्या-यिनं व्याहरन्ति ।

शोक का लक्षण करते हैं—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-वृत्ति होती है उसको शोक कहते हैं । यहाँ एक बात और समझने योग्य है । 'इष्टनाशादिनिष्ठातेः करुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण नामक रस होता है । इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कतिपय विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति से भी, साथ साथ उस इष्ट अथवा अनिष्ट का मनुष्य होना ही आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अचेतन वस्तु हो सकती है, इस तरह से पर्यवसित यह हुआ कि किसी भी इष्ट पदार्थ के नाश से अथवा किसी भी अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और करुण रस का स्थायी भाव भी है । इस मत के अनुसार प्रिय लुप्ता का मरण, प्रिय भँगूठी का कहीं खो जाना तथा लिपू गये कर्ज के रुपये मागने के लिये आया हुआ प्यादा आदि को भी आधार बनाकर करुण रस प्रधान काव्य की सृष्टि की जा सकती है ।

मनु लक्षणपटकपुत्रादिपत्न्याश्चापि म्रहणात् तद्वियोगेऽपि शोकस्याङ्गीकाराद् विरहहेतुको विप्रलम्भशृङ्गारो निविषय स्यादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैकलव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैकलव्य तु सञ्चारिमात्रम् ।

स्त्रीपुंसयोर्जीवपुमांश्च तयो, वियोगे विभिन्नस्थानवासे, एकत्रापि दर्शनाद्ययोगे, जीवितत्वज्ञानदशायां मम प्रणयिजनो जीविति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ, वैकलव्येन पोषितायाः शृङ्गारस्यायिरतेरेव प्राधान्याद्धेतो, विप्रलम्भाख्यो विरहहेतुकविप्रलम्भनामा शृङ्गार' (न तु करुण') रस, करुणस्यायिचित्तवैकलव्यस्याप्राधान्यादित्यर्थ ।

स्त्री पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है, परन्तु वह शोक करुण रस का स्थायीभाव सभी हो सकता है यदि वह प्रेमपात्र के मरण-ज्ञान के साथ हो, अन्यथा अर्थात् 'प्रेम-पात्र कहीं जीता है' ऐसे ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, बरन् व्यभिचारीभाव मात्र होता है, क्योंकि उस अवस्था में शोक से पुष्ट की गई रति की ही प्रधानता रहती है, अतः वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही होता है ।

करुणरसस्य विषयमभिधाति—

मृतत्वज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य वैकलव्यस्येति करुण एव ।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाते तु, रतिरूपालम्बनस्य विच्छेदाद् दौर्बल्येनाङ्गभूतया रत्या योषितस्य करुणस्यायिनो मनोवैकल्यस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु शृङ्गार इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है उस को पुष्ट करने वाली, अतः उस स्थिति में करुण रस ही होगा। यह बात में पहले भी लिख चुका हूँ।

तत्रैव वियोगमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित् स्यात्, तदात्मन्वनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रयास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादिना केनापि कारणेन, पुनरुत्पत्त्युज्जीवनज्ञानं भवेत्, तर्हि चिरप्रयासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेशवास इवात्राप्यालम्बनस्य प्रणयिजनस्यात्यन्तविच्छेदाभावाद् रतेरेष प्राधान्याद् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता की प्रसन्नता आदि से किसी तरह, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलम्बन (प्रेम-पात्र) के सर्वदा के लिये वितट न हो जाने के कारण चिरकालिक परदेश-वास की तरह विप्रलम्भ ही होता है, करुण नहीं।

सं विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा-चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतायाक्येषु।

महारवेतायाः पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनचारिपचनात् पुनरुत्पत्त्युज्जीवनज्ञानस्य जननालम्बनान्त्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरी प्रवन्धे महारवेतौकिषु विप्रलम्भशृङ्गार एव रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः।

ईदृश विप्रलम्भ का उदाहरण दिसलाते हैं—'यथा' इत्यादि। कादम्बरी-प्रवन्ध में चन्द्रापीड के प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य कहे हैं, उनमें इसी तरह का 'विप्रलम्भ' अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानती हुई भी महाश्वेता आकाशवाणी के द्वारा उसके पुनः जीवित होने की बात जान चुकी थी।

इह भवान्तरमुपन्यस्यति—

केचित्तु—रसान्तरमेवात्र करुण-विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।

अत्र पुनरुत्पत्त्युज्जीवनज्ञानस्यते। तदुक्तं दर्पणे—

'यूनोरेकतरस्मिन्, गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।

विमनायते यदैक-स्तादा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यं ॥' इति।

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहे, करुणविप्रलम्भरूपरसान्तरस्वीकारो व्यर्थ इत्यस्मिन् केचित्चित्यनेन सूच्यते।

परे तु—चिरप्रयासे विरलेषु सत्यप्यालम्बनध्वंसाभावाद् रतेरविच्छिन्नतया प्राधान्येन, वैकल्यस्य यथाकादाचित्कत्वेनाल्पविभावजत्वाद् सवारितम्, तथा मरण-पुनरुत्पत्त्युज्जीवन-योर्ज्ञाने न सम्भवति, तत्रालम्बनध्वंसस्य कालिकाव्याप्यवृत्तित्तेऽपि पास्तद्विक्रमेन इति-स्रोतस-पूर्वपिक्षया किञ्चित्हीनप्रायत्वेन, वैकल्यस्य चेपदायिज्येन, करुणरसेन योषितस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य करुणविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य स्वीकारेऽपि न गौरवम्, नवा रसान्तर-त्वमिन्युदाहरन्ति।

कुछ लोगों की इच्छा है कि जहाँ प्रेम-पात्र के मरणोत्तर काल में किसी कारण वश पुनः

उस के जोवित हो जाने की आशा है-विश्वास है, वहाँ न 'करुण रस' का होना उचित है, न 'विप्रलम्भ शृङ्गार रस' का, अतः वहाँ 'करुण-विप्रलम्भ' नामक एक तृतीय रस मानना चाहिए ।

तृतीय शान्तरसस्थायिभावं निर्वेदं लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः ।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ब्रह्मजगतोर्विचारद्विवेकजन्म यस्य तादृशः, विषयेभ्योऽनित्य-वस्तुभ्यो विरागाख्यो वितृष्णीभावरूपचित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः ।

अब निर्वेद का लक्षण करते हैं—'नित्यानित्य' इत्यादि । वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (ससार) वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय-विरक्ति (अनित्य वस्तुओं से वितृष्णा-वैमुख्य) नामक चित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं ।

क्षणिको निर्वेदस्तु न स्थायी, किन्तु व्यभिचार्येवेत्याह—

गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी ।

आदिपदमन्येषामपि कादाचित्कनिर्वेदकारणानामुपलक्षकम् । निर्वेदस्य निरन्तरस्थिते-रभावान्न स्थायित्वमित्यवशेषम् ।

घरेलू झगड़ा आदि से उत्पन्न, 'निर्वेद' तो व्यभिचारी भाव कहलाता है, स्थायीभाव नहीं ।

चतुर्थं रौद्ररसस्थायिभावं क्रोधं लक्षयति—

गुरुबन्धुवधादि-परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः ।

गुरुणा पित्रादीना बन्धूना च वधादिर्हत्याऽऽदियेषा तादृशेभ्य परमापराधेभ्यो जन्म यस्य, स प्रज्वलनाख्यचित्तस्य दीप्तत्वरूपो वृत्तिविशेष क्रोधो रौद्ररसस्थायिभाव इत्यर्थः ।

अपराधाना परमत्वं गुह्यतमत्वेनासहनीयत्वम् ।

'क्रोध' का लक्षण करते हैं—'गुरुबन्धु' इत्यादि । गुरु, अथवा पुत्र-प्रभृति-बन्धु की हत्या आदि परम (असहनीय) अपराध से उत्पन्न होनेवाली प्रज्वलन (जलन) नामक चित्त-वृत्ति 'क्रोध' है ।

रौद्ररस-स्थायिक्रोध-व्यभिचार्यमर्पयोगेदं दर्शयति—

अयं च परयिनाशादिहेतुः । क्षुद्रापराधजन्मा तु पुरुषवचनासम्भाषणादि-हेतुः । अयमेवाभर्षाख्यो व्यभिचारीति विवेकः ।

अयं परमापराधजन्यः च तु, परेषामपराधिना (रिपूणां) विनाशादेहेतुनिमित्तं क्रोधः स्थायी, क्षुद्रोऽवज्ञादिरूपोऽल्पमात्रो योऽपराधः, तस्माद्बन्ध यस्य तादृशस्तु चित्तवृत्तिविशेषोऽल्पविभावत्वात् पुरुषवचनं कर्तृकं, असम्भाषणमपराधिना सदानालपनमादियेषां तादृश-कार्याणां हेतुः, अमर्षाख्यो व्यभिचारीभावो भवतीत्युभयोर्विवेकः पार्थक्यमस्तीत्यर्थः ।

कारणगौरयलापवाभ्यां कार्यगौरवलापवाभ्यां च क्रोधामर्षयोगेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

क्रोध शत्रु के विनाश आदि का कारण होता है । यही जलन रूप वृत्ति यदि किसी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न होती है, तब वह शत्रु-विनाश का कारण न होकर केवल फटोर वचन, अपराधी के साथ बोल-चाल का बन्द करना आदि का कारण होती है, और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलाती है, क्रोध नहीं, 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है ।

पद्यमं वीररसस्थायिभावमुत्साहं लक्षयति—

परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ।

परंपरान्येषां रिपूणां वा, पराक्रमस्य दानादेव स्थाप्यकर्मणः, स्मृत्याः स्मरणान्नम यस्य, तादृशचित्तस्यैवत्यरूपो वृत्तिविशेष उत्साहो नीररसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।' इति लक्षणम्, 'कार्यारम्भेषु, सन्निकृष्टकार्येषु स्थेयान् संरम्भ उक्तञ्च आवेश उत्साह' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

पष्ठमद्भुतरसस्थायिभावं विस्मयं लक्षयति—

अथ 'उत्साह' का लक्षणं लिखते है—'परपराक्रम' इत्यादि । दूसरे के पराक्रम तथा दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होनेवाली उत्सुकता नामक चित्त वृत्ति को 'उत्साह' कहते हैं । कहीं कहीं 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् उपस्थित कार्यों में उत्कट भावह उत्साह कहलाता है, यह उत्साह का लक्षण किया गया है ।

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ।

अलौकिकाना लोकोत्तराणा वस्तूना दर्शनादेः साक्षात्कारस्मरणप्रभृतेः, जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्भुतरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु, लोकसीमातिवर्तिषु । विस्फारधेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।' इति लक्षणम्, 'लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारप्रातिक्रान्तेषु, विस्फारो विस्तारः । स च दृष्टदेतुभ्योऽमम्भवित्त्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापाररूपः ।' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

अथ 'विस्मय' का लक्षण करते हैं—'अलौकिक' इत्यादि । लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विकास-(आश्चर्य)-नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय' कहते हैं ।

सप्तमं हास्यरसस्य स्थायिभावं हासं लक्षयति—

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।

अन्यस्य वाचि-शब्देषु, आदिपदेन वैषे भूषणे च विकारस्यान्यथाभावस्य दर्शनात् (क्वचित् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशचित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषो हासो हास्यरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'वागादिवैकृतैश्चेतो-विकारसो हास इष्यते ।' इति ।

अथ 'हास' का लक्षण करते हैं—'वागङ्गादि' इत्यादि । दूसरों के अङ्ग, वचन, वेष और भूषण में विकार (अन्यथाभाव-बादबद्दी) के दर्शन से (कहीं कहीं ध्वनण से भी) उत्पन्न होनेवाली विकास (मज़ल खाना) नामक चित्त-वृत्ति 'हास' कहलाती है ।

अष्टमं भयानकरसस्य स्थायिभावं भयं लक्षयति—

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैकल्यख्याः स भयम् ।

व्याघ्रपदमन्येषामपि सद्योमरणानाम्, आदिपदं सन्निकर्षस्मरणयोषोपलक्षणम् । परमानर्थविषयको मरणावनर्त्यसम्पादकः । वैकल्यं विह्वलत्वम् ।

व्याघ्रादिसद्योमरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य वैकल्यरूपो वृत्तिविशेषो भयं भयानकरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अथ 'भय' का लक्षण लिखते हैं—'व्याघ्र' इत्यादि । व्याघ्र आदि के दर्शन (जिससे परम अनर्थ-मरण सम्भावित हो) से उत्पन्न होनेवाली वैकल्य-विह्वलता-नामक चित्त-वृत्ति 'भय' कहलाती है ।

स्थायिनोभयस्य व्यभिचारिणस्त्वासाद् भेदमाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी ।

स एव चित्तवैकल्यरूपवृत्तिविशेष एव, परमानर्थविषयकत्वाभावे सद्योमरणप्रयोजकत्वा-

भावे ध्रुवचैक्यसम्पादकत्वे, श्रासोऽल्पविभावजत्वाद् भयानकरसस्य व्यभिचारी, ननु स्थायीभावो भवतीत्यर्थः ।

अत्र हि कार्यभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽवधारणीयः ।

'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैकल्यमयं भयम्' इति परोक्षं लक्षणं चिन्तनीयम्, चित्तवैकल्यस्यैव भयत्वान् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वमङ्गप्रसङ्गात् ।

यदि व्याघ्रादि-दर्शन-जन्य-विद्वलता से परम अनर्थ-भरण की सम्भावना नहीं हो, तो वह भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' न कहलाकर उसी रस का व्यभिचारीभाव 'त्रास' कहलाता है । भय और त्रास में परस्पर यही भेद है ।

भयत्रासयोः स्वरूपभेदे मतान्तरमुल्लिखति—

अपरे तु—औत्पातिकप्रभयस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्यं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः ।

महावात—वज्रनिर्घातप्रभृत्युत्पातप्रभूत (स्वरूप) मनःक्षोभत्रासः, स्वापराधद्वारोत्यं गुह्यतरनिजापराधजन्यं यलवचित्तचापल्यं तु भयमित्युच्यते । कारणभेदाद् भेद-मपर आहुरित्यर्थः ।

इह 'उत्पातप्रभवस्त्रास' स्वापराधोत्यं भयम्' इति मूलवाक्यं समुचितं । अथौत्पातिक उत्पातजन्य-प्रभय उत्पत्तिर्यस्य स, स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्पद्यमानं स्वापराधद्वारोत्य-मिति कथयिष्वापनीयम् ।

बुद्ध विद्वान् कहते हैं कि भयङ्कर आंघी, वज्र-पात आदि उत्पातों से उत्पन्न होने वाली विद्वलता का नाम 'त्रास' और अपने अपराधों से उत्पन्न होने वाली विद्वलता का नाम 'भय' है । यही भय और त्रास में भेद है ।

नवमं वीमत्सरसस्थापिभावं जुगुप्सां लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।

कदर्याणां पृणोत्पादकत्वात् कुत्सिताना वस्तूनां विलोकनाच्च न्य यस्य, स विचिकित्साख्य-श्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा वीमत्सरसस्थापिभाव इत्यर्थः ।

'विचिकित्सा तु संशय' इत्यमरकोशे, 'जुगुप्सा गर्हणाऽर्शानां दोषसन्दर्शनादिभिः' । इत्यन्यत्र च दर्शनाद् विचिकित्सास्थाने मूले गर्हणाया उपदानमुचितं प्रतिभाति ।

अथ 'जुगुप्सा' का लक्षण करते हैं—'नरयं' इत्यादि । किसी पृथग्वस्तु के देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा (पृणा) नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं ।

इत्थं रसानां स्थापिभावबलक्षयित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभाववर्तिलक्षयिषु-प्रथमं विभावानुलक्षयति—

एवमेपां स्थापिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयो-
द्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययोव्यज्यमानेषु
विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

नायकपदं तत्तत्स्थापिभावाश्रयपरम् । आलम्बनत्वमुद्दीपनत्व च प्रसिद्धौ हेतुः, कारणत्व च प्रकारः ।

एवममुना प्रसारेण, एषां रत्यादिस्थापिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आलम्बनतयो-
द्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु इत्यादिस्थापिभावेषु काव्यनाट्ययो
व्यज्यमानेषु रससु, तान्यालम्बनोद्दीपनकारणानि, विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते
व्यवहियन्त इत्यर्थः ।

अथ विभाव-पदार्थ का परिचय कराते हैं—'एवमेवाग्' इत्यादि । सांसारिक नायक नायिकाओं में हम इन पूर्वोक्त रति आदि (स्थायी) भावों का अनुभव दिन रात करते हैं और इनके (रति आदि भावों के) कारणों का भी अनुभव करते हैं, जो (कारण) दो प्रकार के होते हैं, एक आलंबन अर्थात् रति आदि जिनके विषय में होते हैं, वे—जैसे रति का विषय नायिका । दूसरा उद्दीपन अर्थात् उन स्थायी भावों में जो जोस पैदा करते हैं—जैसे रति में जोस पैदा करने वाले, एकान्त ध्यान आदि । इस तरह कारण रूप में हम जिन आलंबन और उद्दीपन को जानते हैं, वे ही जद्य काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थायीभावों के प्रसङ्ग होते हैं, तब विभाव कहलाते हैं ।

विभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावायन्तीतिव्युत्पत्तेः ।

इतौ पद्यमीति विभावशब्देन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनैरान्वयः ।

विभावयन्ति स्थादीन् विशेषेणास्वादाङ्कुरयोग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्त इत्यर्थः । क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार, विभाव-शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावों को विरो-परूप से आस्वाद के योग्य बनाना होता है ।

अनुभावास्तैश्चयति—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन ।

उक्त स्थायीभावानां यानिकार्यतया प्रसिद्धानि, काव्यनाट्ययोग्यमानानां स्थायिनां तान्यनु (पश्चाद्) भावयन्ति (वहिःप्रकाशयन्ति) इत्यनुभावा उच्यन्त इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैः-वहिर्भाविं प्रकाशयन् ।

लोकै य' अर्थरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥' इति ।

'उच्चा' स्त्रीणामलङ्कारा अह्ज्वाद्य स्वभावजाः ।

तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेशः परा अपि ॥' इति च ।

अनुभाव पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि च' इत्यादि । उन रति आदि स्थायी-भावों के जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं—जैसे रति के रोमाञ्च आदि । उनको काव्य तथा नाटक में अनुभाव कहते हैं ।

अनुभावसञ्ज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनुपश्वाङ्गात् उत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः ।

अनुभावानां स्थायिकार्यत्वान् पश्चादुत्पत्तिः । उपर्यं प्राचीनपरम्पराऽनुरोधेन द्वितीय व्युत्पत्त्युपन्यासे बोधम् ।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाला भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अथवा विभावों के द्वारा आस्वादयोग्य बने हुए स्थायीभावों का अनुभव कराने वाला भाव होता है ।

व्यभिचारिभावस्तैश्चयति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन ।

यानि हर्षादीनि स्थानिभावेन सहचरन्ति फेनबुद्बुदन्यायेन सम्मिलन्ति, तानि व्यभि-चारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेषः । तदुक्तम्—

'विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।

स्थानियनुन्मत्त-निर्मत्ता-अयर्हिदृशद्य तद्भिदाः ॥' इति ।

'यिदपकर्तुमामान्ति स्थानिनं रसमुत्तमम् ।

उपहृत्य च गच्छन्ति, ते मता व्यभिचारिणः ॥' इति च ।

अथ व्यभिचारी पदार्थ का परिचय करते हैं—'यानि' इत्यादि । रति आदि स्थायीभावों के साथ अनियमित रूप से रहने वाली चित्तवृत्तियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—जैसे चिन्ता आदि ।

अथ रसानो विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विभज्य दर्शयन्नादौ शृङ्गाररसस्य समा-
हृत्य दर्शयति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रहस्या-
नादय उद्दीपनविभावाः, तन्मुखावलोकन-तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽन्ये सात्त्विक-
भावाश्चानुभावाः, स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः ।

तत्र तेषु रसेषु । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुंसौ, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम् । आदि-
मादिपदेन मलयानिल-मधुपगुञ्जन-कोकिलकूजनप्रभृतयः सप्राख्या । तच्छब्देन रतिविययो-
भूतव्यक्तिर्वोध्या । मध्यमादिपदेन ललनालङ्कार-कटाक्षभुजविद्योपादयो ज्ञेयाः । 'विकाराः
सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः' इत्यन्यत्र लक्षिता, 'स्तम्भ-स्वेदोऽय रोमाञ्चः स्वर-
भङ्गोऽय वेपथुः । वैवर्ण्यमधु प्रलय इत्यथै सात्त्विका स्मृता ।' इति परिगणिताश्च सात्त्विक-
भावाः । तेषां चेष्टात्वेऽपि गोवलीवर्दन्यायेन पृथगुपादानम् । 'त्यक्तौभग्न्यमरणालम्बनगुप्ता
व्यभिचारिणः' इति व्यवच्छिन्नोऽन्ये हर्षप्रभृतयोऽन्तिमादिपदावसेया ।

अथ उक्त नव-विध रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का पृथक्-पृथक्
प्रदर्शन करने के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गाररस सम्बन्धी उन भावों का वर्णन करते हैं—'तत्र'
इत्यादि । शृङ्गार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव, चन्द्र-ज्योत्सना, वसन्त श्रुत, अनेक
तरह के वाग-वगोचे, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र के मुख का दर्शन,
उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन प्रभृति तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प,
विवर्णता, अश्रुपात, प्रलय ये भावों 'सात्त्विक भाव' अनुभाव, स्मरण और चिन्ता आदि
व्यभिचारी भाव होते हैं ।

करुणस्यालम्बनादीनि दर्शयति—

करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि, तत्सम्बन्धिगृहतुरगाभरणदर्शनादय-
स्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः, गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावाः, ग्लानिक्षयमोह—
विषाद-चिन्तौत्सुक्य-दीनता-जडतादयो व्यभिचारिणः ।

प्रयमादिशब्देनानिष्टाप्ते संग्रह, 'इष्टनाशादनिष्टाप्ते' इत्याद्युक्ते । गात्राणामज्ञाना शोक-
वेगप्रकर्षाद् विह्वलानामितस्ततो न्यासः क्षेप ।

अथ करुण-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'करुणस्य' इत्यादि । करुण-रस के
हृदयनों के विनाश आदि आलंबन विभाव, उसके व्यवहार में आने वाली वस्तुओं (घर,
बोदे, आभूषण आदि) के दर्शन आदि तथा उसके संबन्ध में कही गई बातों का श्रवण
आदि उद्दीपन विभाव, अज्ञों का इष्टर उष्टर फेकना और अश्रुपात आदि अनुभव और
ग्लानि, चय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जडता आदि व्यभिचारी-
भाव होते हैं ।

शान्तस्य विभावादीन् दर्शयति—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञात जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-ताप-
सदर्शनाद्युद्दीपनम्, विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्य-चेष्टाज्ञान-नासामदृष्ट्या-
दयोऽनुभावा, हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः ।

अगतोऽनित्यत्वेन ज्ञानमेव तद्विषयकनिर्वेदोत्पापकम् । विषयेषु सांसारिकभोग्यवस्तुष्य-
रुचिरप्रीतिः । शत्रुमित्रयोरोदासीन्य समानभावः । चेष्टाज्ञानिनिरुद्धरवेन प्रवृत्तिराहित्यम् ।

अथ शान्त-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'शान्त' इत्यादि । शान्त-रस के अनियत रूप से समझा गया संसार आलंबन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का अर्थ तपोवन तथा तपस्वियों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव, सांसारिक वस्तुओं से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता (समान भाव), निश्चेष्टता, नास्तिका के अग्र भाग पर धारण इष्टि को जमा कर रखना आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

रौद्रस्य विभावादीन् दर्शयति—

रौद्रस्यागस्कृत्पुरुषादिरालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधादिरुद्दीपकः, यद्यन्धादि-फलको नेत्रारुण्य-दन्तपीडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभावः, अमर्ष-वैगौ-ग्न्य-चापलादयः सञ्चारिणः ।

आगस्कृदपराधोऽपराधो पुच्छ । आदि पदेन तादृग् बोधिरपि । तच्छन्दोऽपराधिवोधकः । यद्योन्धादिषु फलं यत्येति बहुव्रीहि । अमर्षो वैगौग्न्यं चापलं च पुयक् सञ्चारी ।

अथ रौद्र-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'रौद्रस्य' इत्यादि । रौद्र-रस के अपराध करने वाला पुरुष आदि आलंबन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उद्दीपन विभाव, आँखें लाल करना, दाँत कटकटाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि जिनका फल (अपराधी का) यद्य अथवा दंडन आदि होते हैं, अनुभाव और अमर्ष, वैगौ, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

वीर्यभूतहास्यभयानकयोभस्वरससम्बन्धिविभावाद्यनभियानोत्पन्न्यूनतां परिहरति—

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः, स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीपका-नीति बोध्यम् ।

एवं शृङ्गारायुक्तीत्या, यस्याश्चित्तवृत्तेर्यस्य स्याद्विभावस्य, यो विषयो भवति, स तस्या चित्तवृत्तेः स्याद्विभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभावः, यानि च तस्या निमित्तानि कारणानि, तान्युद्दीपकान्युद्दीपनविभावः, यानि पुनस्तत्कार्याणि, तान्यनुभावयानि च तस्योपकारिणि सञ्चारिभाव इत्यर्थः ।

तथाहि—वीररसस्य द्विपदाश्चालम्बनम्, तत्पराम्पदरोगायुद्दीपनम्, प्रहारप्रतिप्रहारा-दिरनुभावः, हर्षवेगादिषु व्यभिचारिभावः अद्भुतरसस्यातौकिकचमत्कारकृद्दस्तालम्बनम्, तत्साङ्गत्कारायुद्दीपनम्, नेत्रविस्फारस्तम्भरोमाद्यादिरनुभावः, वितर्कादिषु व्यभिचारिभावः । हास्यरसस्य विकृतवागादिमत्पुरुषादिरालम्बनम्, तद्विकृतिरुद्दीपनम्, रदनप्रक्षरादिरनुभावः, भ्रमोद्देगादिषु व्यभिचारिभावः । भयानकरसस्य मयावहवस्त्वालम्बनम्, तद्विकृतव्या-पारायुद्दीपनम्, सुदृशोपपलायनादिरनुभावः, जाड्यकम्पादिषु व्यभिचारिभावः । वीमत्सर-सस्य च लुगुप्सितवस्त्वालम्बनम्, तद्गन्धायुद्दीपनम्, निद्रोपनादिरनुभावः, ग्लान्यादिषु व्यभिचारिभाव इत्यन्यत्र स्फुटम् ।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिसके विषय में होती है, यह (विषय) उस (रति आदि) चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) का आलंबन और जिस चित्तवृत्ति (स्थायी-भाव) के जो निमित्त (कारण) हैं, वे उसके उद्दीपन होते हैं—यह समझना चाहिए । इसी प्रकार जिस चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) उस (चित्त-वृत्ति) के अनुभाव और जिस चित्तवृत्ति का पोषण जो चित्तवृत्तियाँ करती हैं, वे वृत्तियाँ उस वृत्ति के व्यभिचारीभाव होती हैं, यह भी ज्ञात करना चाहिए । जैसे—वीररस के शत्रु आलंबन शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, दोमों ओर से होने वाले प्रहार आदि अनुभाव और हर्ष, वैगौ आदि व्यभिचारी हैं । अद्भुत रस के आश्चर्य-जनक वस्तु आलंबन, उस वस्तु

के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विकास, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य-रस के विकृत-वाणी-अङ्ग-वेप आदि से युक्त व्यक्ति आलम्बन उसके घे अङ्गादि-विकार उद्दीपन, दांत निपोदना आदि अनुभाव और श्रम, उद्देग आदि व्यभिचारी हैं। भयानक-रस के व्याघ्र आदि भयावह वस्तु आलम्बन, उस भयावह वस्तु की भयङ्कर क्रियायें उद्दीपन, मुस का सूखना, भागना आदि अनुभाव और जड़ता कम्प आदि व्यभिचारी हैं। विभ्रस-रस के घृणारसपद वस्तु आलम्बन, उसके गन्ध आदि उद्दीपन, धूकना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं।

अथ शृङ्गाररसस्य प्रकारद्वयं निरूपयति—

तत्र शृङ्गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च । रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः ।

संयोग-सम्भोग' सयुक्ता सयुक्तो वाऽस्तीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेष, वियोगो विप्रलम्भो वियुक्ता वियुक्तो वाऽस्तीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषश्च चरि मन् काले भवति, तत्कालवर्तिनी वा रति, सा कालस्यावच्छेदकतया संयोगकालावच्छिन्ना सयुक्तत्वप्रकार-ज्ञानसमकालिकी, तत्सत्ये प्रथम प्रकार शृङ्गारस्य संयोगो भवति । रतेर्वियोगकालावच्छिन्नत्वे वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकत्वे तु द्वितीय प्रकार शृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः ।

अथ रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में पहले शृङ्गार-रस के अवांतर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन करते हैं—'तत्र' इत्यादि। शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ। रति जब-छी पुरुषों के संयोग काल में उप-युक्त होती रहती है, तब 'संयोग-शृङ्गार' और जब रति छी पुरुषों के वियोगकाल में उपयुक्त नहीं होती रहती है, तब 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' कहलाता है।

संयोगस्यैकाधिकरणवृत्तिरूपता, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तिरूपता निरा-कृत्य, प्रागुक्त-सयुक्तत्व-वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपता व्यवस्थापयति—

संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकस्यायनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विश्र-लम्भस्यैव वर्णनात् । एवं वियोगोऽपिन वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद् द्वाविभौ संयोगवियोगख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषी, यत् सयुक्तो वियुक्तश्चा-स्मीति धीः ।

यदि जायापत्यो सामानाधिकरण्य संयोगो वैयधिकरण्य च वियोग स्यात्, तदा तयो-रैकस्यां शय्यायां शयितयोरपि हृदीर्ष्यायां आप्त्यां सर्वाभिमतस्य विप्रलम्भस्याभान, सर्वा-नभिगतस्य संयोगस्य च सद्भाव प्रसज्येत । तयो रन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपत्वाङ्गीकारे तु ज्ञानविशेषरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वाच्च चाऽपि दानिरित्याशयः ।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ 'छी-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि हृष्यां आदि रहता है, तब विप्रलम्भ शृङ्गार का ही वर्णन प्राचीन काल से आज तक कवि लोग करते आये हैं। इसी प्रकार वियाग पद का अर्थ भी यहाँ, अलग-अलग रहना नहीं है, क्योंकि दोप उक्त है अर्थात् ऐसा मानने पर सुन' छी-पुरुषों के एक शय्या पर रहने की हालत में 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का वर्णन असंगत हो जायगा। इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि 'संयोग और वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ हैं, जिनके चलते 'मिठा हुआ हूँ' और 'वियुक्त हुआ हूँ' ये ज्ञान होते हैं अर्थात् 'मिठा हुआ हूँ' इन प्रकार का मनोभाव ही संयोग है और 'वियुक्त हुआ हूँ' इन प्रकार का मनोभाव ही वियोग है।

सम्भोगश्चरमुदाहरति—

तत्राग्रे यथा—

संयोग और निप्रलम्भ के मध्य में संयोग जैसे—

तत्र संयोग-निप्रलम्भयोः ।

‘शयिता सविधेऽप्यनीश्वर’ इत्यत्र निरूपितः ।

निरूपित उत्तमोत्तमध्वोदाहरणप्रसङ्गेन पूर्वमिति शेषः ।

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से ‘शयिता सविधे’ इत्यादि श्लोक में निरूपित हो चुका है ।

अप्यप्यदीक्षितदर्शितं सम्भोगश्चरमुदाहरणं दूषयति—

यत्तु चित्रमीमांसाधाम्—‘वागर्थ्याविव सम्पृक्तौ’ इत्यत्र रसध्वनिः, निरतिशय-यप्रेमशालिताध्यञ्जनात् इति, तद् ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्, पार्वतीपरमेश्वरविषयक-कावरी प्रधाने निरतिशयप्रेमणो गुणीभावात् ।

सुख्यार्यत्वे प्रधानशब्दो भिन्न्यनपुमकलिङ्ग इति न लोकेन्द्रनिर्देशः । ‘वागर्थ्यप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।’ इति पद्यस्वावशिष्टशतः । वागर्थ्यं वाणी-तदभिधेया-विव सम्पृक्तावन्वोन्मं सदागम्मिलितौ, न तु कदाचिदपि विक्रिष्टौ, जगतः स्यावरजज्ञमा-त्मकविश्वस्य, पितरौ प्रसृजन्वितारौ, पार्वती-परमेश्वरौ गिरिजागिरीशौ, वागर्थ्योः शब्दा-भिधेययोः, प्रतिपत्तये ज्ञानत्व, वन्दे नौमीति तदर्थः ।

अत्र नतिकर्माभूतयोगौरोगिरीशयोर्वागर्थ्यवञ्जित्यकारलेपात् तत्कारणीभूतरतेः प्राधान्येन व्यञ्जयानन्त्यात् सम्भोगश्चरमुदाहरणमिति चित्रमीमांसाकर्तुरभिधानं ध्वनि-सिद्धान्तविरुद्धम्, दृष्ट श्लोके कवि (कालिदास) निष्ठाया गौरीगिरीशविषयाया अतुष्टयाद्वा-वरूपाया रतेरेव प्राधान्येन व्यञ्जयतया, पार्वतीपरमेश्वरश्चरस्य च ततोपकृतेनाज्ञतया रसाधनेरसम्मवादित्याकृतम् ।

अब अप्यप्य दीक्षित द्वारा दिये गये सम्भोग श्चरमुदाहरण का खण्डन करते हैं—‘यत्तु’ इत्यादि । ‘चित्रमीमांसा’ में जो यह लिखा है कि ‘वागर्थ्याविव सम्पृक्तौ वागर्थ्य-प्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ’ (अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह परस्पर सटे हुए, संसार के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को शब्द और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रणाम करता हूँ) इस श्लोक में श्चर-रस को ध्वनि है, क्योंकि यहां को ‘वागर्थ्या-विव सम्पृक्तौ’ अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह सदा सटे हुए कभी अलग नहीं रहने वाले इस उपमा से सदा सटे रहने का कारण शिव-पार्वती के निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है । यह ध्वनिमात्रं अज्ञान-मूलक है । क्योंकि इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति-जो भाव कहलाती है—प्रधान है और शिव पार्वती का परस्पर प्रेम ध्वन्यमान होकर भी उस (कविनिष्ठ रति) की अपेक्षा गौण हो गया है ।

उक्तमेवार्थं समर्थयति—

नहि गुणीभूतस्य रत्याद् रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्, ‘भिन्नो रसाद्य-लङ्कारदलद्वयितया स्थितः’ इति सिद्धान्तान् ।

‘रगभाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरकम्.’ इति काव्यप्रकाशे कारिकाया -पूर्वाद्यः ।

इदमिहाकलनीयम्—ध्वनिमज्ञानाना उद्भूतमज्ञानायापिन कतिपये रसादीना प्राधान्ये रसवदायलङ्कारेण, गौणत्वे तदातालद्वारद्वितीयप्रकारमूरीकुर्वन्ति । ध्वनिकारस्तु—‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्रात्रन्तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।’ इत्या-दिसन्दर्भेण रसादीना प्राधान्येऽलङ्कारत्वेनालङ्कारत्वाभावाच्चमत्कारोत्कर्षाच्च रसादिध्वनीन्,

गौणत्वे तु रसवदाद्यलङ्काराद्य निर्णयन्ति । तदेवामिप्रेत्य महम्ममटोऽपीमा कारिकासुपन्य-
स्यति—अकमोऽसंलक्ष्यकमव्यङ्ग्योऽलङ्कार्यतयाऽङ्गितया स्थितो रसादिः, रसाद्यलङ्काराद्
रसवदाद्यलङ्काराद्, मिथोऽङ्गत्वाभावादतिरिफोऽस्तौति तदर्धः । एवं सति 'वागर्थाविव'
इत्यादौ शृङ्गारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि कविनिष्ठरतिभावाङ्गत्वाऽलङ्कार्यत्वविरहाच्च ध्वनिव्यवहारवा-
रणत्वमिति ।

गौण रति आदि 'यहां रस-ध्वनि है' इस व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता अर्थात्
गौण रति आदि को लेकर रस-ध्वनि नहीं हो सकती, कारण ? यह सिद्धान्त है—मिथो-
रसाष्टंकारादलंकार्यतया स्थितः' अर्थात् जिसको अलंकार आदि से शोभित किया जाता
है, वह (रस आदि) रस-भाव आदि को शोभित करने वाले अलंकार रूप रस आदि से
भिन्न है । अभिप्राय यह है कि अप्रधान रस आदि अलंकार कहलाते हैं, ध्वनि नहीं, अतः
उक्त स्थल (वागर्थाविव) में शृङ्गार-रस व्यङ्ग्य होकर भी अलंकार ही कहलायगा, जिससे
निव-पार्वती विषयक कवि-निष्ठ भाव अलङ्कृत होता है, फलतः यह पद्य भाव-ध्वनि का
उदाहरण हो सकता है, रस-ध्वनि का नहीं ।

विप्रलम्भाख्यं द्वितीयं शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीय प्रकारः ।

'वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पन्त्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमाहतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निश्वासासंगलपिताधरोपरिपतद्वाष्पाद्र्वक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ' शिव !! प्राणेश मालोकते ॥'

प्रयाणसमये प्रणेशस्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्गलिकी-
कथ्याणप्रयोजना 'शिवास्ते सन्तु पन्नानः' इत्यादिका, वाचो वाणी, अनल्पमजस्रं, जल्पति
व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य कौतुकागारस्य, माहतायनमुखे गवाशाप्रभागे, विन्यस्तं तद्दि-
दक्षौस्तुक्नेन संलक्ष्मीकृतं वक्षाम्बुमुखकमलं यथा, तादृशी, निश्वासे सद्योभवद्विप्रयोगजयात-
नावशान्तिस्सरङ्गिर्नासानिलैः ग्लपितस्य शोषान्त्वपितस्याधरस्य, उपर्युध्वभागे, पतङ्गिर्नि-
रन्तरं स्वलोद्धि, चापैरश्रुभिः, आद्रौ किलनौ वक्षोरुहौ कुचौ यस्या, सा लोलीविलोचना प्रती-
धरोनवधारणात् तरलनयना, बाला मुग्धा, शिवशिव । आ कष्टं, प्राणेशं प्राणनायम्,
आलोकते प्रतिषेधासमतया केवलं पर्यति, नत्वपत्रपया प्रयाणतिषेधकवचनं किञ्चिदुच्चा-
रयतीत्यर्थः ।

अथ 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का उदाहरण देते हैं—'द्वितीयो यथा' इत्यादि । 'वाचो माङ्ग-
लिकी' इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है । नायिका की
सखी अपने मन में सोचती है, अथवा एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव पर-
देश के लिए यात्रा कर रहे हैं, शुभचिन्तक लोग जोर-ओर से माङ्गलिक वचनों की बोल
रहे हैं, परन्तु वह बाला (मुग्धा) रति-मन्दिर के वातायनों में मुख-कमल को ढाड़ कर
बैठी है, उसके आस प्रबल वेग से चल रहे हैं, जिससे उसके अधर झुंक होकर ग्लान हो
चुके हैं और उन अधरों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली अश्रु धारा से
उसके उरोज भीग गये हैं, शिव ! शिव ॥ इस दुर्दशा में पक्षी हुई वह (बाला) चञ्चल
नेत्रों से अपने प्राणेश को देख रही है । उस बेचारी को यात्रा फाट में अश्रु-पात से होने-
वाले अशकुन का बोध नहीं है, लोक-लज्जा की दाँडा भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है ।

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निररवासाश्रुपातादेरनुभावस्य, विषादचिन्ताऽ-
वेगादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, वियोगकालावच्छिन्नत्वाद्
विप्रलम्भरसपदव्यपदेशहेतुः ।

अत्रापि 'वाचो माग्निलिप्ती.' इत्यादिपद्येऽपि । आलम्बनस्य नायिका निररतेरिति शेषः ।
संयोगो विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धः । रतिरिह वियोगकालावच्छिन्नत्वं विप्रलम्भशृङ्गार-
रसन्यपदेशनिदानम् ।

इस श्लोक में नायक-रूप आलम्बन, विभाव, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विषाद,
चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती
है, जो वियोग काल में रहने के कारण 'विप्रलम्भ रस' शब्द से व्यवहृत होती है ।

स्थूणभिक्षननन्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः

कान्तिः काचिन्निखिलतनयनाकर्षणे कर्मणज्ञा ।

श्यासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।

शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥'

यदवधि यस्मात् कालादारभ्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-
लोकलोचनासेचनकृतया मधुसूताविणो, निखिलतनयानो सकलजीवलोचनानाम्, आकर्षणे वशी
करौ, कर्मणज्ञा कर्मणं तद्वशोकरणसाधकमन्त्रादि जानातीति तथाभूता, अस्मैव वशीका-
रिणी, काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहद्युतिः, आविर्भूता प्रकटीभूताऽभूत्, तदवधि तस्मात्काल-
ादारभ्य, कुलमृगदृशां कुलीनहरिणास्तीना, रमणाशमत्वात् मुखे दीर्घः श्वासः, गण्डयुग्मे
कपोलयुगले, पाण्डिमा पीतभावः, चेतसि चित्ते, विरादोत्कर्षेण शून्या निरालम्बना, वृत्ति-
र्व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्राकटीदित्यर्थः ।

इह कार्यकरणयोः पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिरलङ्कारः । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य, श्वा-
सादेरनुभावस्य, तद्वयङ्ग्यविषादप्रभृतेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् व्यज्यमाना, कुलीनमृगा-
स्तीनिष्ठा वियोगकालावच्छिन्ना रतिर्विप्रलम्भशृङ्गारत्वं भजति ।

विप्रलम्भ रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा वा' इत्यादि । 'आविर्भूता' इत्यादि
पद्य भी विप्रलम्भ शृङ्गार रस का उदाहरण है । शोकलवासिनी कोई नायिका अपने मन
में सोच रही है—जब से मधु-वृष्टि करने वाली और जीवमात्र के नेत्रों को आकृष्ट करने
का जादू जानने वाली नन्द-तनय कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-द्युति संसार में प्रकट
हुई, सभी से कुलाङ्गनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, कपोल-युगल में श्वेतता तथा चित्त
में शून्यवृत्ति (ज्ञान-राहित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ कृष्णचन्द्ररूप आलम्बन, श्वास
आदि अनुभाव, वयङ्ग्य विषाद आदि व्यभिचारी भाव के संयोगसे कुलकामिनी निष्ठ,
वियोगकालिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्भ शृङ्गार का यह उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'नयनाञ्जलावमर्शः, या न कदाचित् पुरा सेहे ।

आलिङ्गिताऽपि जोषं, तस्थौ सागन्तुकेन दयितेन ॥'

या नवोढा, पुरा प्रस्थानदिवसात् पूर्वम्, नयनाञ्जलस्य लोचनाप्रभागत्य कटाक्षस्य,

श्रवणसंस्पर्श (किमुत समप्रनयननिरीक्षणम्) द्वियाभिया वा, न सेहे नागृष्यत्, सा से नत्वन्त्या, गन्तुकेन जिगमिपुणा निर्णीतविदेश-गमनेनेति यावत्, प्रियेण वल्लभेन, आल्लिजि गाढमुपगूढाऽपि, जोष तूष्णीं तस्यौ, न तु चचाल, नवा निवारयाश्चकारेत्यर्थ ।

नयनाञ्जलवमशमित्यस्य नयनपद्मस्पर्शमिति विवरणन्त्वर्थासङ्गतेक्षिन्त्या ।

पुनः विप्रलम्भ का ही एक और उदाहरण देते हैं—'नयनाञ्जल' इत्यादि । प्रवक्ष्यति का नायिका की बात किसी से कोई कह रहा है—जो नायिका, (नवोढा) पहले कर्मपति-नयक-फोण (कटाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनखी से कर्मपति को अपनी ओर देखते देखकर भाग खड़ी होती थी, वही परदेश जाने के लिये उद्यम प्रिय से आल्लिजित होकर भी चुप ही रही—भागने की बात कया, मुख से भी निवारण नहीं की अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भध्वनित्वं प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणी ।

इह नयनेत्यादिपद्ये । अपि. 'आविर्भूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपादान् विप्रलम्भव्यञ्जकसमुच्चिनोति । सहजस्य स्वाभाविकस्य चाश्चर्यस्य निवृत्ति स्तिमितीभावोऽनुभाव', तत्कारणतया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभाव', प्रिय आलम्बनविभावश्च सम्भूय, नवोढाया प्रवसत्यतिकाया वियोगकालावच्छिन्ना रति विप्रलम्भपद्वी नयति ।

इस श्लोक में भी स्वाभाविक चाञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और जडता व्यभिचारिभाव है । अर्थात् उक्त अनुभाव, व्यभिचारीभाव और प्रियरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहाँ भी विप्रलम्भ शृङ्गार व्यक्त होता है ।

गम्मटाद्यभिमतं विप्रलम्भस्य भेदपद्यकं निरस्यति—

इसं च पञ्चविधं प्राञ्च प्रवासादिभिरुपाधिमिरामनन्ति । ते च प्रवासाभिलाष-विरहेर्ष्या-शापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः ।

इमं विप्रलम्भम् । चस्त्वर्थक ।

प्राञ्च काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भशृङ्गाररसं, प्रवासेनानुरक्तयोरपि गुरुकार्य-वशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वसंगरूपेण कदाचिदप्यसमागतयोरपि नायकयो-र्गुणश्रवणादिनैकतरानुरागेण परस्परप्रेम्णया वा, विरहेण समानाविकरणयोरपि गुरुजनलज्जा-पारवस्यादिप्रतिवन्धेन, ईर्ष्या मानजनन्या, शापेन वियोगजनक-तपस्विवाग्विशेषेण चोपाधिभिर्निमित्तैरुपलक्षित, पञ्चविधं प्रवासादिनिमित्तप्रकारपद्यकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति ।

अस्माभिरुतु प्रवासाद्युपाधीना विशेषस्य मिथोवैलक्षण्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीतिगोचर-त्वाभावात्, ते भेदाः प्रवासनिमित्तकादिप्रकारा, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण वर्णिता, किन्त्वेकप्रकार एवायं सामान्येनासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवद् गणित इत्यर्थः ।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढवाद एव, प्रवासादिषु वियुक्तत्वप्रकारकत्वद्वेरेकरूपत्वेऽपि तद्वृद्धिकारणाना भेदस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात्, कार्येऽपि भेदस्वावरयनभ्रुपेयत्वाद्, 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् विरुद्धधर्माप्यास कारणभेदश्च' इत्याद्यभियुक्तोक्ते । अ-यथाऽ-न्यथापि भेदावगमो दुर्घटं स्यात् । 'भूनोरेकतरस्मिन्' इत्यादिना लक्षितं कर्तव्यविप्रलम्भा-ख्यमपि प्रकार प्रागुक्तीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भिः परीक्षणीयम् ।

प्राचीन आचार्यों ने इस विप्रलम्भ रस को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है परन्तु प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शापरूप पाँच उपाधियों के कारण जो विधेय होता है उनमें किसी वैलक्षण्य की उपलब्धि न होने से हमने विस्तारपूर्वक उनका वर्णन नहीं किया । यहाँ अब प्रवासादि का स्वरूप भी हमसे लेना चाहिये अनुरक्त-

नायक-नायिका में से किसी एक के कार्यवश परदेश में रहने पर प्रवास, समागम से पहले ही गुणध्वज आदि से अभिलाष, गुरुजनों की लज्जादि के कारण समागम से वञ्चित रहने पर विरह, मान से ईर्ष्या और किसी सपत्नी आदि के अपराधी होने पर उनके वाग्द्वेषरूप क्षाप कहलाते हैं ।

करुणासं निरूपयति—

करुणो यथा—

अथ 'करुण' रस का उदाहरण देते हैं—'करुणो यथा' इति । 'करुण' रस जैसे—
सयोमृतं पुत्रमुदिस्य पिता प्रवीति—

'अपहाय सकलबान्धव-चिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।

हा तनय ! विनयशालिन् ! कथमिह परलोकपथिकोऽभूः ॥'

हा विनयशालिन् सुविनीत ! तनय पुत्र । सकलबान्धवानां, भ्रात्रादिद्वर्तनीयजनानां, भां विना कथमेते प्राणान् धारयिष्यन्ती'ति चिन्ताम्, अपहाय स्वकत्वाऽऽहृत्वेति यावत् । तथा गुरुकुलस्योपाध्यायगृहस्य पित्रादिपूज्यजनस्य वा प्रणयं प्रमाणम् (भक्तिम्) उद्वास्य सगु-
पेक्ष्यानगणयित्वेत्यनर्थांतरम्, कथमिह केन प्रकारेण, त्वं परलोकस्य पथिकोऽप्यन्योऽभूत्स्पर्षः ।
बन्धुवर्गचिन्ता गुरुजनप्रणयं चोपेक्ष्य तवासमये परलोकप्रस्थानं सर्वथाऽनीचित्येन
नितरां शोचनीयमित्यभिसन्धिः ।

तुरत मरे हुए पुत्र को उद्धरण कर पिता कहता है—'अपहाय' इत्यादि । अपात हाथ !
अति-विनीत पुत्र ! तू सब बन्धुओं की चिन्ता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी
विसारकर कैसे परलोक का पथिक हो गया ?

तत्र विभावादेन दर्शयति—

अत्र प्रयात्तनय आलम्बनम्, तत्कालाभिच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम्,
रोदनमनुभावः, दैन्यादयः सञ्चारिणः ।

अत्रापहायेत्यादिपद्ये । प्रमीतोमृताद्यासौ तनय इति कर्मधारयः । तत्कालो मरणस्य
कालः । कालस्यावच्छेदकत्वमधिकरणत्वेन । 'स्वजनस्य हि दुःखममतो विद्वत्तद्वारमिवोप-
जायते' इत्याद्युक्ते पान्यध्वजनदर्शनस्य शोकौद्दीपकत्वम् ।

इहालम्बनविभावादिदिसाम्प्रतिमवधानाच्छोकस्त्यायिक-करणरसस्याभिन्त्यकिर्णवति । अस्य
करणविप्रलम्भाद् भेदस्तु स्थाविभेदेनान्यत्र दर्शितः ।

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, उस समय में वहाँ पर उपस्थित बान्धवों का दर्शन आदि
उद्दीपन है, रोना अनुभाव है और दीनता आदि ध्वनिधारी भाव है ।

शान्तरसं निरूपयति—

शान्तो यथा—

कथिन् स्थितप्रज्ञः परमाश्रयति—

'मलयानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः ।

खपचात्मभुयोर्निरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥'

मलयानिलोदक्षिणपवनः सुसजनकतयोऽनुकूल, कालकूटोऽपरलं शत्रुजनकतया प्रतिकूल-
स्तयोः, तथा रमण्या ललनाया, कुन्तलेशिकुरोऽनुकूल, भोगिनो भुजगस्य भोगः फणादि-
शयः प्रतिकूलस्तयोः, एवं खपचखण्डात्से नीचतया प्रतिकूल आत्ममूर्खत्वाऽऽत्मज्ञानीवाऽ-
स्तुकृतायाऽनुकूलस्तयोः, निरन्तरा निर्वैलक्षण्या (तुल्या) स्थितिधारणाप्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा
मम समदृश, परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पत्ताऽभूदित्यर्थः ।

अथ 'शान्त-रस' का उदाहरण देते हैं—'शान्तो यथा' इत्यादि। किसी आत्म-ज्ञानी की उक्ति है—मलयपर्वत के पवन और विप में कामिनियों के केश-कलाप और सर्प की फणा में पुवम् चाण्डाल तथा प्रह्ला में तुष्य अर्थात् भेद-भाव-रहित मेरी स्थिति परमात्म में हो गई है।

उदाहरणों विभावादीन् निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्चः सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभावः, मत्यादयः सञ्चारिणः।

सर्वोऽपि प्रपञ्चश्चाचररूपः क्षणमहुरतया निर्धारित आलम्बनविभावस्तमालम्ब्यैव निर्वेदोद्गमात्, सर्वत्रोत्तमेष्वपनेषु च, अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु वा, साम्यं समादृष्टिरनुभावो निर्वेदस्य कार्यत्वात्, मत्यादिपदोपस्थाप्य। धृतिप्रभृतयः सञ्चारिणावाश्च निर्वेदेन स्थायिना सम्भूय शान्तरसास्नादं जनयन्ति।

यहाँ सम्पूर्ण ससार आलम्बन है, सब पदार्थों में समानता की बुद्धि अनुभाव है और मति आदि सञ्चारीभाव हैं।

उक्तोदाहरणै भ्रमप्रक्रमत्पन्नाराह्य निराकरोति—

यद्यपि प्रथमार्धे उत्तमाधमयोरुपक्रमः, द्वितीयार्धेऽधमोत्तमवचनं प्रक्रम-भङ्गभावहृति, तथापि वक्तुर्महात्मकतयोत्तमाधमज्ञानयैकल्यं सम्पन्नमिति द्योत-नाय क्रमभङ्गो गुण एव।

आवहृति जनयति। तथा चाक्रमत्वदोषाद्दुष्ट काव्यमिति विवृतिस्तु चिन्तनीयैव, अक्रमत्वस्य वाचकातिरिक्तक्रमव्यत्यासस्थल एवाङ्गोकारत्।

प्रथमार्धे आदिचरणद्वये, उत्तमस्य मलयानिलस्य रमणीकृन्तलस्य च पूर्वम्, अधमस्य कालकूटस्य भोगिभोगस्य च पश्चान्निर्देशो य उपमन्तः, उत्तरार्धेऽधमस्य श्वपचस्य पूर्वम्, उत्तमस्यात्मभुवश्च पश्चान्निर्देशेन व्यत्यासः कृत इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षाविषयीकृतप्रचरेण पश्चादनुक्तेः प्रक्रमभङ्गान् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावनीयम्, यतो ब्रह्ममयमासादितवत्-सर्वत्र समदशो वक्तुरुत्तमाधमत्वादिप्रकारकज्ञानरान्यत्वाद् वचसि प्रक्रमभङ्गो वक्तुः स्थित-प्रज्ञत्वातिशयमेव प्रकाशयन् गुणत्वमेव प्रयाति, न तु दोषत्वमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में यह क्रम है कि पहले मलय-पवन आदि उत्तम वस्तुओं का निर्देश, बाद में विप आदि अधम वस्तुओं का, परन्तु उत्तरार्ध में उस क्रम को छोड़कर पहले अधम चाण्डाल का, बाद में उत्तम ब्रह्मा का निर्देश किया गया है। अतः क्रम-भङ्ग दोष यहाँ होता है, तथापि 'वक्ता ब्रह्म-रूप हो जाने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से शून्य हो गया है' इस बात को प्रकाशित करने से 'क्रम-भङ्ग' गुण ही है।

विशिष्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कविद्रुगवद्भ्रष्टस्तदीयसाक्षात्कारमाशंसति—

'सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन् नयनयो-

विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विपयान्।

विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुराया चिति कृदा,

निमग्नः स्यां कस्यां चन नवनभस्याम्बुदरुचि ॥'

अहं कदा कस्मिन् काले, सुरस्रोतस्विन्या देवना गङ्गाया, पुलिनं तीरम्, अधितिष्ठन् पुलिने वर्तमान, नयनयोर्देशो, अन्तर्मुद्रामभ्यन्तरनिमीलितं तत्पूर्वप्यानम्, विधाय कृत्वा, अथ तदनु, सपदि शीघ्रं, विपयानिन्द्रियप्राणबाह्यपदार्थान्, विद्राव्य स्वयित्वा, विधूतं

ज्ञानोदयाद् विष्वस्तमन्तर्धान्तं मानसाज्ञानं यस्य, तादृशः सन्, कस्यां च नानिर्वचनीयार्थां, मयुःमयुरायामतिमनोरमायां, नवनमस्याम्बुदक्षि नवीनमाद्रपदीयजलदकान्तौ, चित् चैतम्यात्मनि श्रीकृष्णचन्द्रे, निमग्नो नितरा लीनः, स्यां भवेयमित्यर्थः ।

पथोऽस्मिन्नन्तरराज्यस्य द्विरुपादानं सौन्दर्यं किञ्चिदाकृष्यतीति चिन्त्यम् ।

अब जिज्ञासुओं के विशद-ज्ञान के लिये 'शान्त-रस' के प्रत्युदाहरण भी दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यं' इत्यादि । कोई भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार की आशांता करता है—सुरनदी (गङ्गा) के तीर में बैठा हुआ मैं अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख बनाकर शीघ्र समस्त सांसारिक विषयों को दूर हटाकर, अत एव अन्तःकरण के अन्धकार (अज्ञान) से हीन होकर मादोमास के मवीन जलद के मुख्य कान्ति वाले किमी (अनिर्वचनीय) अतिमयुर चैतम्य (कृष्णचन्द्र) में कब निमग्न होऊँगा ?

इह निर्वेदस्य म्यङ्गपत्वेऽपि, यथा न शान्तरसव्यव्यपदेशं स्तथा प्रतिपादयति—

अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बनः सुरस्रोतस्विनीतटाद्युशीपितो नयननिमी-
लनादिभिरनुभावितः स्यायी निर्वेदः प्रतीयते, तथापि भगद्वासुदेवालम्बनायां
कविरतो गुणीभूत इति न शान्तरसव्यपदेशो हेतुः ।

अत्रापि त्वयिः पूर्वपयसमुच्चारकः । तथा च पूर्वश्लोक इवाग्र श्लोके निर्वेदस्य शान्त-
स्यायिनः विषयसमुदयालम्बन-सुरधुनीतीराद्युशीपन-नेत्रनिमीलनाद्यनुभावसम्बन्धाच्छान्-
न्तरसव्यव्यवहारो न भवति, निर्वेदस्य म्यङ्गपत्वेऽपि सर्वप्राधान्येन व्यज्यमानाया कवि-
निष्ठाया धीकृष्णविषयकरतौ सामग्रीसङ्घनामावादपुष्टतया भावे, गुणीभावाद् भावचने रस-
वदलङ्कारस्य वा व्यपदेशत्वाच्चित्वादित्वाकृतम् ।

यद्यपि इत श्लोक में भी विषयों के अनादररूप आलम्बन से अङ्कुरित गङ्गा के तीर
आदि उदीपन से उशीपित दृष्टि के अन्तर्मुखीकरण आदि अनुभवों से प्रतीति घोस्य
बनाया गया स्यायीभाव निर्वेद प्रतीयमान है, तथापि कृष्णचन्द्र-विषयक कवि-निष्ठ
रति की अपेक्षा वह शौण हो गया है, अतः उसके रहने पर भी यहाँ 'शान्त-रस' की
ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान स्यायीभाव ही रसरूप में परिणत होता है यह
पहले लिखा जा चुका है । कारण यह है कि यहाँ का 'निर्वेद' कथञ्चित् रसालङ्कार ही कहला
सकता है । एक बात और—यहाँ का 'विषयगणालम्बनः' यह मूलपाठ भ्रामक है, क्योंकि
'विषय-समूह शान्त रस का आलम्बन है' यह अर्थ उस पाठ से प्रतीत होता है, जो
सङ्गत नहीं लैखता, क्योंकि ? शान्तरस में विषयों से विमुक्तता अपेक्षित मानी गई है,
फिर विषय उस रस का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरणीयत्वेन ज्ञात' यह विशेषण
'विषय' में जोड़ना पड़ेगा, तब कहीं मूलपाठ सङ्गत हो सकेगा, इससे अच्छा है कि
'विषयावगणनालम्बनः' ऐसा मूलपाठ माना जाय, जिससे भ्रम का अवसर ही न आ सके ।

मालम्बनित्त्वमेवोक्तपथस्य समर्थयति—

इदं च पद्यं मन्निर्मितायां भगवद्भक्तिप्रधानायां 'करुणालहरी' मुपनिषद्भूमिति
तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवार्हति ।

भक्तिर्भगवद्विषयारतिः । तस्या करुणालहरीं प्रधानं यौ भावः (रति) तस्य प्राधान्य-
मेव, न तु गुणीभूतनिर्वेदस्य ।

करुणालहरीप्रबन्धे रतिभावप्राधान्यात् तद्वद्वेऽस्मिन् पथोऽपि यतो भावप्राधान्यमेव
शुक्लम्, अतरशान्तरसव्यव्यवहारो सम्भवतीत्याशयः ।

यह पद्य तण्डितराज रचित 'करुणा-लहरी' का है और उस ग्रन्थ में भगवान् की
भक्ति-भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी भाव की ही प्रधानता समुचित है ।

पुनरन्यथा शान्तरसाप्राधान्यमिह दर्शयति—

शान्तरसाननुगुणध्वयमोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहार्यमैवैतत् ।

ओजस्वितया शान्तरसाननुगुणत्वम् । अयं सुरस्रोतस्वीत्यादिश्लोक । ओजस्वी वक्ष्य-
माणपरिपाठ्यौजोगुणव्यञ्जक । गुम्फो रचितश्लोकसन्दर्भ । इतिहेतौ । चकार. समुचये ।

अस्य श्लोकस्य समासरेफ-संयोग-टवर्गादिघटितत्वाच्छान्तरसप्रतिकूलौजोगुणव्यञ्ज-
कत्वादपि न शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमुचितमिति भाव ।

दूसरी बात यह है कि इस श्लोक की रचना समास रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से
सुक्त होने के कारण ओजस्विनी है, जो शान्तर-रस के प्रतिकूल पवती है, इसलिये भी इस
पद्य को शान्तरस का उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

नन्वेवं मलयेत्यादिपद्येषुपि वञ्चनिष्ठ-परमात्मविषयकरते प्रतीतेस्तस्य कथं शान्तरस-
ध्वन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपास्यति—

पूर्वपद्ये तु 'परमात्मनि स्थितिः' इत्यनेन तत्प्राप्त्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः ।

तस्य परब्रह्मणस्तादृश्यस्य तदैकान्त्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिरप्रतीतिः ।

सादात्म्ये पूज्यपूजकभाववसायाभावाद् रतेरसम्भवात् प्रतीतिरिति न तत्प्राधान्यस्य
सम्भव इति तुराब्दव्यञ्जपमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिरोहितमित्यभिप्राय ।

यदि कहें कि 'मलयानिलकालकूटयोः' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति
का वर्णन है', अतः वहाँ भी भाव की प्रधानता होनी चाहिये, 'शान्तर-रस' के उदाहरणरूप
में उसको कैसे उपरिघट्ट कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति'
इस उक्ति के द्वारा वक्ता की ब्रह्म-रूपता दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वक्ता का
प्रेम नहीं प्रकीर्त होता, क्योंकि प्रेम, प्रेम-पात्र और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही
घन सकता है, उन दोनों में ऐक्य-ज्ञान होने पर नहीं ।

अथ रौद्ररसं निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासनभङ्गध्वनिभङ्गसमाधि समुदीपितकोप परशुरामो ब्रवीति—

'नवोच्छलितयौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे, मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति ।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूद्रलस्खलद्गुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः ॥'

नवोच्छलितेन नूतनोच्छलितेन, यौवनेन तादृश्येन, स्फुरन् विजृम्भमाणं, अखर्वोऽनयो
गर्वोऽभिमान एव तापकत्वाज्ज्वर सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोर्मशराज-
न्याभ्यापकस्य शम्भो, कार्मुक धनु, गलितसाध्वस निर्भय यया भवति, तथा वृश्चति
छिन्दति, उत्कटापराधकारित्वादप्राधान्यमनि जने, अयमुत्तोल्यमान, दलितेभ्य, समरे खण्डि-
तेभ्य, दसानां दपोद्धतानां, भूश्चता क्षितिपतीनां गलेभ्य कण्ठेभ्य, स्खलतो निष्पतत,
रुधिरस्य शोणितस्त्र, घस्मर पाता, ममाद्भुतपराक्रमस्य भार्गवस्य, परस्वध परशु, निर्दयं
निष्करणं यया भवति तथा, पतन्वित्यर्थ ।

अथ 'रौद्र-रस' का उदाहरण देते हैं—'रौद्रो यथा' इत्यादि । शिव-धनु-भङ्ग से प्रकृत्य
परशुराम की उक्ति है । नवीन उच्छलती हुई युवावस्था के कारण घड़े हुए अत्यधिक
अभिमानरूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु-नियत्री-के धनुष को तोड़
हाला है । अथवा, अथ युद्ध में काटे गये गर्वीले भूषों के गले से चूते हुये शोणितको
पीने वाला यह मेरा भयङ्कर फरसा उसके ऊपर निर्दयतापूर्वक गिरे ।

प्रकृते रौद्रसव्यञ्जकसामप्रपां प्रथममालम्बनविभावं दर्शयति—

अत्र तदानीं रामत्वेनाज्ञातो गुरुकार्मुकमञ्जक आलम्बनम् ।

अत्रोक्तोदाहरणे । तदानीं क्रोधोद्रेकावसरे । रामत्वेनाज्ञातो रामोऽप्यमित्याक्षरकक्षाना-
विषयीकृतं, गुरुधर्मुकमञ्जकः शिवधनुस्त्रोटको राम आलम्बनं क्रोधस्येति शेषः ।

गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ने वाला वह राम वहाँ आलम्बन है, जिसका
रामरूप से ज्ञान परशुरामजी को उस समय तक नहीं था ।

तत्र रामनामालुपादानस्य हेतुं दर्शयन्तुं समर्पयति—

अत एव विशेष्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणानौचित्यात्, क्रोधाविष्काराद्वा ।

अत एव गुरुद्रोहस्य बलवदपरायस्य वा कर्तुर्जनस्याप्राप्त्यनामत्वादेव । विशेष्यस्य
रामस्यानुपादानं नामाग्रहणम् । क्रोधस्याविष्कार उद्रेकः ।

इदमुच्यते—‘आत्मपाद् आक् परशुरामेण दारारधिरामस्य नाम न ज्ञातम्, ज्ञातमपि
वा दुःशमापराधविवानजन्यमन्युमरेण नोपात्तमिति क्रोधोद्रेकव्यञ्जनादुचितमेव । अन्यथा
नवेत्यादिविशेषणद्वयोपादानेऽपि विशेष्यरामालुपादानमनुचितमेव प्रतिभायात् ।

अथवा गुरु-द्रोही का नाम नहीं लेना चाहिए इस कारण, या क्रोध उत्पन्न हो जाने के
कारण ‘तोड़ने वाला’ यह विशेषण-मात्र कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का
नाम) नहीं कहा गया ।

उद्दीपनविभावं वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निरशाङ्गधनुर्मङ्ग उद्दीपकः ।

ध्वनिविशेषो धनुर्मङ्गोऽस्तिपतस्तुमुलनिवाक, स च धनुषो निरशाङ्गमञ्जनं विना कथमपि न
सम्भवतीत्यनुमानेन गृहीतं तादृशं रामस्य धनुर्मञ्जनसाहसमिह क्रोधस्योद्दीपनमिति सारम् ।

विलक्षण ढङ्ग की जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ ‘निर्मम होकर धनुष का
चौड़ देना’ उद्दीपन है ।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः ।

भार्गवस्य ऋचि क्रोधस्य कार्यत्वादनुभाव इति तात्पर्यम् ।

कटु वचन अनुभाव है ।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोपत्वाद्यः सञ्चारिणः ।

गर्व उभ्रता चादि पदमाह्ला अनर्पप्रभृतयो व्यभिचारिभावाः क्रोधस्य पोषकत्वात् ।

गर्व और उभ्रता आदि व्यभिचारी हैं ।

प्रचरणं प्रकाशयति—

एषा च धनुर्मङ्गध्वनि-भग्नसमाचेर्भर्गवस्योक्तिः ।

एषां नवेत्यादिः । अरुस्मादुत्कृष्टशब्दध्रवणात् समाचेर्भङ्गः । तथाच क्रोधोदयौचित्यम् ।

यह धनुष के मङ्ग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है ।

रौद्रसालुकूलवृत्तिदर्शनादप्युक्तं समर्पयति—

वृत्तिरप्यत्र महोद्धता रौद्रस्य परमौजस्वितां परिपुष्णाति ।

महोद्धता दीर्घसमासबहुला संयुक्ताश्रमयो पक्षयान्मनी वृत्तिरप्यत्र पये ओजोयुगा-
थयस्य रौद्रसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्रसस्य पोषिक्यस्तीति रौद्रसोदाहरणमिदम् ।

छन्दे समासों से युक्त, संयुक्ताश्रमय, ‘पक्षया’ नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) सी
इस पद्य में ‘रौद्र-रस’ की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है ।

पुना रौद्ररसव्यञ्जनक्षमतामेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वार्थ-
लक्षणांमूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कर्षस्यैव प्रकाशनात् स्फुटं गम्यमानेन
विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्यं गम्यते ।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे । अहम्भावोऽहङ्कारः । प्रकृते क्रोधोद्रेके । अजहत्स्वार्थोपा-
दानलक्षणा, वाच्यस्यापि लक्षणेन सह 'प्रधानप्रतीति विषयत्वात् । अक्रुद्धावस्थाया, गुरोः
स्मरणे, विनयोदयादहङ्कोपशमस्यैवौचित्यम् । सम्प्रति क्रोधदशायान्तु, मदीयेत्यस्मच्छ-
ब्देनैकविंशति वारान् शित्तिनिःक्षत्रियत्वसम्पादननिरशङ्कं मातृभ्रातृवधानुष्ठानपित्रादेशपरिपा-
लनाद्यद्भुतकर्मशालिस्वात्मन्युपादानलक्षणया, व्यज्यमानेन, बीजभूतेन गर्वोत्कर्षेण, विवेक-
शून्यत्वं द्वारौकृत्य, व्यज्यमानं क्रोधाधिक्यं, रौद्ररसं गोचरवतीति रौद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम् ।

यद्यपि, वहाँ क्रोध का अपसर नहीं रहता, गुरु का स्मरण होने पर विनय-भाय के
उदित हो जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं हुआ है, यह बात
स्पष्ट है क्योंकि यहाँ गुरु में जो 'मदीय' (मेरे) विशेषण लगाया गया है, वह लाक्षणिक है
अर्थात् मदीय पद की इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाने वाले अस्मच्छदार्थ में
अजहत्स्वार्था (उपादान) लक्षणा है, जिससे अस्मच्छदार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष
ध्वनित होता है, उससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत होती है, (गुरु के सामने
अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेक-हीनता का सूचक होता है) उस (प्रतीयमान-विवेक-
हीनता) से भी परशुराम का क्रोधाधिक्य व्यक्त होता है । इस तरह स्थायीभाव 'क्रोध'
की सब तरह से पुष्टि होने के कारण यह पद्य 'रौद्र-रस' का उदाहरण होता है ।

प्रस्युदाहरणं व्याहरति—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

क्रुद्धं परशुरामं कथिद् वर्णयति—

'धनुर्विदलनध्वनिश्रवण-सत्क्षणाविर्भवन्

महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधृताधरः ।

विलोचनविनिस्सरद्बहलविस्फुलिङ्गप्रजो

रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥'

धनुषः शिवकामुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्भूत) ध्वनिर्निनादः, तस्य श्रवणा-
दाकर्णनात्, तत्क्षणे सद्यः, आविर्भवन्ती समुत्पद्यमाना, महागुरोः पितुर्जमदग्निमुनेः,
वधस्य सहस्रबाहुसुकर्तृकधातस्य, स्मृतिः स्मरणं यस्य सः, तथा श्वसनस्य क्षत्रियकृता-
पराधस्मरणोद्भूतक्रोधोद्भावितास्य, वेगेन रंहसा, धृत कम्पितोऽधरो निम्नोऽहो यस्य,
सः, तथा विलोचनाभ्यां भ्रोकलेहितनेत्राभ्यां, विशेषेण प्राचुर्येण, निस्सरन् निर्गच्छन्,
बहलो विपुलो विस्फुलिङ्गवज्रोऽग्निकणगणो यस्य, तादृशो रघुप्रवरं रामचन्द्रम्, आक्षिपन्
धनुर्भङ्गनापराधकारित्वादाक्रोशन्, जामदग्न्यो जमदग्निधनुर्मुनिः परशुरामो जयति सर्वो-
त्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ।

रौद्र-रस का प्रस्युदाहरण दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि । 'धनुर्विदलन'
यह श्लोक 'रौद्र-रस' के उदाहरणरूप में उपस्थित करने योग्य नहीं है । कोई, क्रुद्ध-
परशुराम का वर्णन करता है—धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, जिसको महागुरु-
पिता जमदग्नि की सहस्रबाहुतनय द्वारा की गई हत्या का स्मरण हो आया, अत एव
निःसास-वायु के वेग में नीचे का होठ फड़कने लगा और आँखों से आग की चित्तारियों

का महान् पुञ्ज झरने लगा, वे ऐसी स्थिति में, रामचन्द्र पर आशेष करते हुए मुनि परशुराम, सचसे उरुहृष्ट हैं !

धनुर्विद्यादिपद्यस्य कुतो न रौद्रध्वनुदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितो धनुर्विदलनध्वनिश्रवणेनोदीपितो निश्वास-नेत्रञ्जलनादिभिरनुभावितो महागुरुबधम्यूति-गर्वोभ्रवादिभिश्च सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववर्णनबीजभूतायां कविरसौ गुणीभूत इति न रौद्रसध्वनिक्यपदेशाहेतुः ।

अपि पूर्वश्लोकसमुच्चार्यक । अत्राद्यो धनुर्मञ्जनरूप, तदनुष्ठायो रामचन्द्र आलम्बनम्, धनुर्मञ्जनिश्रवणमुदीपनम्, निदृष्टासौ नेत्रज्वलनादिष्वानुभाव, पितृवपस्त्वितिर्गर्व उग्रता च व्यभिचारिभाव, सम्भूय भौधं रौद्रस्यायिनं रसत्वं नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्तम्, किन्तु 'जयति जामदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वर्णनीयजामदग्न्यविषयक-कविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनेरेवेदमुदाहरणम् । श्लोचस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि रतेः पोषकत्वेनाङ्गभूत एवेति नैदं रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिसन्धिः ।

यद्यपि इस पद्य में भी उस 'क्रोध-रूप' स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसका आलम्बन, अपराधी रामचन्द्र है, उद्दीपन, धनु-र्मञ्ज-ध्वनि का श्रवण है, अनुभाव, आस तथा नेत्रों का जलना है और सञ्चारी—पिता की हत्या का स्मरण, गर्व, एवम् उग्रता आदि हैं, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस (परशुराम विषयक) कवि-निष्ठ-रति को अपेक्षा वह गौण हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने 'भाव' को ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, रौद्र-रस' के स्थायीभाव क्रोध को नहीं । अतः यह श्लोक रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है ।

काव्यप्रकाशोक्तिसहितमुदाहरणं द्रष्टव्यम्—

काव्यप्रकाशगत रौद्ररसोदाहरणौ तु—'कृतमनुकृतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इतिपद्ये रौद्रसध्वनञ्जनक्षमा नास्ति धृतिः, अतस्तत्कवेरशक्तिरेव ।

वच्यमाणाश्चित्तुना सूच्यते । 'मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्मवङ्गिष्याद्युषैः ॥ नरकरिपुणा-सार्धं समीपकिरीडिना-भयपङ्कगच्छन्प्रेरोमांसैः करोमि दिसा रजिम् ॥' इति यथावशिष्टाशाः । वेगीसंहारे-द्रोणाचार्यशिररच्छेदात् क्रुद्धस्याश्वत्याम्नोऽर्जुनं प्रत्युफिरियम् । रौद्ररसस्य व्यञ्जने समा समास-सध्व्युक्ताश्रवहुता पश्या वृत्तिः । रामेव गौडी रीतिं वामनादयो मन्यन्ते । तत्कवेरैर्गोसंहारकर्तुर्मदनाशयणस्य । अराकिः प्रतिभाऽल्पता, एव नत्वत्र कथञ्चन समाधिः सम्भवः ।

रौद्ररसोचितायाः परुषाया वृत्तेरनिबन्धनात् कवेरशक्तिरिह प्रतीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अव्युत्पत्तिहतो दोष' शक्त्या संप्रियते कवेः । यत्त्वरशक्तिरुत्तस्तस्य स म्हादित्येव भासते ।' इति ध्वनिकारोचेरित्याकृतम् ।

परंतु—श्रोजो निरूपणमुपक्रम्य द्वितीय उद्घोषे—'तत्राकारानपरखायोऽनपेक्षितदार्पसमासरचना प्रसप्तवाचक्षभिषेव । यथा—'यो यः शब्दं विभक्तिं स्वभुजगुहमदः' इत्यादौ । तृतीये पुनः 'तथा रौद्रादिष्वसमासा हरयन्ते । यथा—'यो यः शब्दम्' इत्यादौ ।' इति ध्वनिकृतेव समासादिप्रयोज्यशब्दकाठिन्यविरहेऽप्यर्थकाठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रयरौद्रादिरसन्य च व्यज्यमानताया निर्वाचनमिवासात् 'कृतमनुकृतम्' इत्यादौ रौद्ररसव्यञ्जनात्मकवृत्ति-निबन्धनात् कवेरशक्तिरुत्तदोषस्योद्घोष-पण्डितराजस्यैव विवेकाशक्तिं सूचयति, न तु कवेः, सद्दयानुभवसाक्षिकपिच्छितेरकृतत्वादिति व्याहरन्ति ।

अथ काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में कृपण दिखलाने हैं—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि । मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखलाने के लिये उद्धृत किया है—

'कृतमनुमत दृष्ट वा' ... 'करोमि दिशां बलिम् ॥'

'वेणीसठार' नाटक में द्रोणाचार्य की हत्या से क्रुद्ध अश्वत्थामा की, अर्जुन के प्रति यह उक्ति है—क्षत्र उठाने वाले 'मर्यादा-रहित, जिन, नर-पशुओं ने यह (द्रोणवधरूप) महापाप किया है या अनुमति दी है अथवा उसकुर्म को आँखों के सामने होता देला है—कृष्ण के साथ साथ—उन, भीम, अर्जुन प्रभृति सभी लोगों के शोणित, मञ्जा तथा मौस से मैं अकेला ही दिक्पालों की बलि करता हूँ । इस पद्य की रचना 'रौद्र-रस' को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है क्योंकि इसकी रचना में न समास की बहुलता है, न संयुक्ताक्षरों की और संयुक्ताक्षर-बहुल रचनारूप 'परपा' शृत्ति अथवा वामन आदि अाचार्यों के मत से तादृश गौणी रीति की ही 'रौद्ररस'-व्यञ्जक माना गया है । अतः यहाँ यही मानना पड़ेगा कि कवि में शक्ति की कमी थी, जिससे वह रौद्ररसाभिव्यक्ति की अभिलाषा रख कर भी तद्योग्य पदावली की रचना नहीं कर सका ।

अथ वीररसं विभज्य निरूपयति—

वीरश्रतुर्धा, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात् ।

तदुपाधेर्वीररसोपादानस्योत्साहस्य दान-दया-युद्ध-धर्मरूपविषयभेदेन निघतयोपधे-यस्य वीररसस्यापि चतुर्भेदकत्वं भवतीत्यर्थः ।

अथ 'वीररस' का विभाग प्रदर्शनपूर्वक निरूपण करते हैं—'वीर' इत्यादि । 'वीररस' के चार भेद हैं क्योंकि वीररस का स्थायीभाव 'उत्साह' दान, दया, युद्ध और धर्मरूप विषय के भेद से चार प्रकार का हो सकता है ।

दानवीरमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

विप्रवेणैव याचमानायेन्द्रायादेयकवचादिदानाङ्गीकारमाकलय्य चकितान् सभ्यान् कर्णो प्रवीति—

'क्रियद्विदमधिकं मे यद् द्विजायार्थमित्रे
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि' ।

अकरुणमवकृत्य द्राक् कृपायोन निर्दयं-
बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥'

मे यस्मै कस्मै चिदपि याचकाय महाधर्ममपि सदा सोल्लास वितरणात् प्रसिद्धस्य कर्णस्य मम, अर्थयित्रे याचमानाय, द्विजाय विप्राय, श्रमणीयं चर्मरूपत्वादसुन्दरम्, सुवर्णनिर्मित-त्वात् साधारण्ये कुण्डले च, यद् अपर्यामि ददामि, इदं तत् क्रियदधिकम् (अत्युत्तममेव) । दान् भद्रमिति, अकरुणं निर्दयं यथा स्यात् तथा कृपायोन खड्गेन, अवकृत्य छित्त्वा, निर्दयी निस्त्रवन्ती बहला विपुला रुधिरस्य धारा यस्मात् तादृश मौलिमात्ममस्तकम्, आवेदयामि समर्पयामीत्यर्थः ।

शोदीयः कवचादिदानादेव मय किमिति चकितः ! अहं तु प्राज्ञेन याचितः सयः स्वशिरोऽपि छित्त्वा समर्पयितुमर्हामीति सारम् ।

उभयें प्रथम अर्थात् दानवीर जैसे—याचक-रूप में द्राघण-वेध धारण करके उपस्थित इन्द्र की कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर उस दान से चकित सभ्यों के प्रति

कर्ण की उक्ति है—मेरे लिये यह कौम बड़ी घात है कि मैं याचक प्राज्ञण को, साधारण, कवच और कुण्डल अर्पण कर रहा हूँ । निर्दयता-पूर्वक, सलवार से तत्काल काट कर बहती हुई प्रगाढ़-रधिर-धारा से युक्त अपने मस्तक को भी उनके धामे निवेदित करता हूँ—समर्पित कर सकता हूँ ।

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेपायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितान् सभ्यान् प्रत्युक्तिः ।

पित्रा भगवता मास्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीनां दत्त्वादेयानामपि दानोद्यमेन सम्माननामाश्चर्यम् । एषेत्युक्तिविशेषणम् ।

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अवतरणरूप में ऊपर किया जा चुका है ।)

शालम्बनादीन् दर्शयति—

अत्र याचमान आलम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुद्दीपिका । कवचादिविचित्रं तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिकं चानुभावः । 'मे' इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युत्पापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिस्मृतिश्च सञ्चारिणौ ।

अत्र 'किय' दित्याद्युदाहरणे । याचमानोऽर्थो द्विजवेप इन्द्रः । स्तुतिर्याचककृता प्रशंसा । तत्र कवचादिषु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छ्रुत्वज्ञानम् । 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चारयित्रभिषेऽभिधा, निरशङ्कं समस्तैर्धनदानदशत्वादिष्वर्भविशिष्टस्वार्थेऽजहत्स्वार्थां प्रयोजनवती लक्षणा, स्वकीया द्वितीवदानशौण्डत्यादिप्रयोजने च व्यजनेत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः । तेन व्यज्यमानो-गर्वं श्रात्मनोऽमत्यादित्यजन्यत्वस्मृतिभावश्च व्यभिचारिभावो विनावादिभिः सम्भूय दानो-त्साहं दानवीररसत्वं प्रापयन्तीति हृदयम् ।

यहाँ याचक (द्विज-वेप-पारी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशंसा उद्दीपन है, कवच आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद के 'मेरे लिये' पद से व्यक्त होने वाला गर्व तथा अलौकिक पिता सूर्य से अपनी उरपति का स्मरण सञ्चारी भाव है । यहाँ 'मे' अथवा 'मेरे लिये' पद से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भी समझ लेना चाहिए—'अस्मद्' शब्द उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः उस पद के न रहने पर भी वाक्य के वाच्यार्थ मे कोई कमी नहीं रहती, फिर वह पद कहा ही क्यों गया ? इसका उत्तर यह होगा कि 'मे' पद लाक्षणिक है—वाचक नहीं, अतः उस पद से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, वरन् विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविशिष्ट उच्चारणकर्ता का बोध होता है । जिससे उक्त अर्थ—जो लक्षणा का प्रयोजन है—व्यक्त होता है । इसीसे अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं ।

इत्यवृत्तेरपि रसालुकृतां प्रकटयति—

वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम—विरामशालितया सहृदयैकचमत्कारिणी । तथाहि—उत्साहपोषकं कवचकुण्डलार्पणयोर्लघुत्वनिरूपणं विधातुं पूर्वार्थे तदनु-कूलशिथिलब्रन्धात्मिका । उत्तरार्थे तु 'मौलि'तः प्राग् वक्तृगत-गर्वोत्साहपरिपोष-णायोद्धता । ततः परं ब्राह्मणे सविनयत्वं प्रकाशयितुं तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं धनयितुं पुनः शिथिलैव । अत एवावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि धितरामीति वा ।

अत्रोदाहरणे । वृत्तिरपनागिरिकादित्रितयान्यतमरूपा । तत्तदर्थानुरूपोद्गमविरामशालि-तया—तस्य तस्य चार्थस्यानुरूपौ तुल्यौ यादुद्गमविरामौ आरम्भसमाप्ती, ताभ्या शालितया तद्वत्त्वेन । एकशब्दो मुख्यार्थक, मुख्यत्वं चाल्पन्तत्वपर्यवसायि । कवचस्य कुण्डलोच्चार-

गस्य दानस्य यत्नधुत्वस्य तुच्छताया निरूपणम्, तत् तदानविषयकोत्साहस्य पोषकम् । शिथिलबन्धात्मिका मृदुलवर्णघटिता कोमलाख्या वृत्ति । मौलिको 'मौलि'मित्यस्मात्, निर्वि-
मत्तिकानुकरणात्तसिन् । उद्धता कर्कशवर्णघटितापरुषा वृत्ति । शिथिला कोमलैव, न तु परुषा ।
ददामीत्यादेर्गर्वप्रकाशासम्भवः ।

अयं भावः—इह पद्ये वर्णनीयार्थानुसारी वृत्तिसन्निवेशः सहृदयसहृदयद्वयम् । तथा चादि-
मचरणद्वये देयकवचादिलघुत्वविभावनाद् दातुस्तसाहस्य पुष्टिरिति धीररसोचिता परुषा वृत्तिः ।
तृतीय-चतुर्थचरणयोः 'मौलिम्' इति शब्दात् पूर्वं वक्षु कर्णस्य, गर्वोत्साहयोर्वोचनाद्य
सैव वृत्तिः । तदूर्ध्वं धानीयविप्रस्तापान्दौद्धत्यपरिहारनप्रताप्रदर्शनयोरौचित्येन तदनुकूला
कोमला वृत्तिः सन्निवेशिता । ददामि वितरामोत्याद्युक्तौ पञ्जरि दातृत्वाभिमान प्रतीयते, सम-
र्पणार्थकान्देद्यामीति कथनेन तु विनयातिशय इति विवेकः ।

इस पद्य में वृत्ति (पद-योजना की शैली) भी उन-उन अर्थों के अनुकूल कहीं पीढ़
और कहीं कोमल होने के कारण सहृदयमात्र को चमत्कृत करने वाली है । देखिए—
पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का भाव—जो उत्साह को पुष्ट करता
है—कराने के लिये पद-योजना शिथिल (कोमल) है और उत्तरार्ध में ' 'मौलि' से
पढ़ते, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट बनाने के लिये, उद्धत (पीढ़) है, उसके बाद
फिर माह्वण के विषय में विनय प्रकाशित करने के लिये, विनय के मूलभूत गर्वराहित्य को
अभिप्रेत करने वाली कोमल रचना है । इसीलिये 'आवेद्यामि—निवेदन करता हूँ—' कहा,
किन्तु 'ददामि—देता हूँ' 'वितरामि—वितरण करता हूँ' नहीं कहा ।

प्रत्युदाहरणं दर्शयति—

इदन्तु नोदाहरणीयम्—

'दानवीर' का यह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

दानवीरं नरेशं कथिद् वर्णयति—

'यस्योद्दामदिवानिशार्थिखिलसद्दानप्रवाहप्रथा-

माकर्यावनिमण्डलागत-वियद्वन्दीन्द्रघृन्दाननात् ।

ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकर-ध्यावलगाद् धस्त्रयत्-

पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते ॥'

यस्य गृपस्य, तस्यो निरन्तरप्रवृत्तत्वादनवद्वन्, दिवानिशं रात्रिन्दिवम्, अथियु या-
चक्रेषु, विलसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाहः परम्परा, तस्य प्रथा ख्यातिम्, अवनिमण्ड-
लाद् भूलोकाद्, आगतस्य वियद्वन्दीन्द्रघृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठकत्रेष्ठसमूहस्य, आननान्गुलात्,
आकर्ष्यं श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरभिर्देवराजकामधेनु, ईर्ष्या प्रतिस्पर्धिदानयशास्समुत्कर्षवर्णनासहि-
ष्णुतया, निर्भरमतिमात्रं फुल्लोऽश्वितो रोमनिकरो लोमपालिर्यस्य, तादृशम्, अत एव ध्याव-
लात् क्षोभेण सधलद्, यद् ऊयं स्तनमार, तस्मात् धवतां निर्गलतां, 'पीयूषाणा नवीन-
दुग्धानां, प्रकरैः पूरैः (हेतुभिः) प्रावृट्पयोदायते वर्णनमेव इवाचरतीत्यर्थः ।

यस्य राशः सार्वदिकदानातिशयप्रवणान् कामधेनु, प्रतिस्पर्षया वर्णनमेव इव नितरां पयः
प्रवाहयति, तादृशो दानिनामप्रणीरेप राजेति तात्पर्यम् ।

इन्द्र शब्दस्यात्र, द्विषदादानं चारतां किञ्चिदपकर्षतीति सहृदयवैषम्यम् ।

कवि किसी दानी राजा का वर्णन करता है—भूमण्डल से छोट कर आये हुये स्वर्गीय
बन्दीजनों के मुख से, उस दान-प्रवाह—जो बिना रुकावट के रातदिन याचकों को दिया
जाता है—की ख्याति को सुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उन्मुक्त (कण्टकित)

रोमराजि से तने हुये स्तन-मार से चूते हुये अमृत शिरय नवीन दुग्ध के समूहों से वर्षा काष्ठिक जलद सी हो जाती है अर्थात् राजा की दानकीर्ति को सुन कर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अङ्गों के रोंगटे सखे हो जाते हैं और रोम के सखे हो जाने से उसके स्तन-स्थान में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा होती है जिससे दूध की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है ।

कुतो नैदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बनः, अथनिमण्डलागत-वियद्वृन्दी-
न्द्रवदनरिनिर्गत-राजदानवर्णनोद्दीपितः, ऊच्यप्रस्तुतपीयूषप्रकरैरमुभाषितः, असं-
यादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगन्धीगत उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत
इति न रसव्यपदेशहेतुः ।

इह 'यस्ये'त्यादिपद्ये यद्यपि देवसमाप्तान्तवर्णनान् तत्सदस्य वर्गालम्बनस्य, भूलोक-
गतवन्दिकृतराजदानवर्णनरूपोद्दीपनस्य, कामधेनुस्तनक्षीरक्षरणलक्षणागुभावस्य, ईर्ष्याजनक-
तया व्यङ्ग्यस्यासुयादेय व्यभिचारिभावस्य, सम्बन्धान् कामधेनुनिष्ठो दानोत्साहो दानवीर-
रसत्वमासादयति, तथान्यसौ रस स्तुतिव्यङ्ग्याया वन्दिनिष्ठराजरता वक्तिभूतायामहत्वमेव
वधातीति नैद दानवीररसध्वनेरुदाहरणम्, अथपि तु रतिभावध्वनेरित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस पद्य में भी कामधेनु का उल्लाह अभिमुख्य होता है क्योंकि उसके
अभिमुख्य एक सामग्री यहाँ वर्तमान है, जैसे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब दूरान्त
आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य बन्दीजनों के मुख से निस्सृत, राजा के दान का
वर्णन (तत्परक वाच्य) उद्दीपन है, स्तनमार से चूते हुये अमृतोपम नूतन दुग्धसमूह
अनुभाव है और ईर्ष्या की उक्ति से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण असुया आदि सञ्चारी-
भाव हैं । तथापि यह उल्लाह 'दानवीर' रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि
यह कवि-विवक्षित राजविययक स्तुति की अपेक्षा गौण है अर्थात् कविनिष्ठ राजविययक
रतिभाव ही यहाँ प्रधान है और उक्त उल्लाह उसके पोषक होने से अह्न है, अतः यह
श्लोक भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है—रसध्वनि का नहीं ।

वीररसस्याहृत्वादन्यथापि तद्वन्निव्यपदेशामावं दर्शयति—

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

कलिवामनवृत्तं कश्चिद् वर्णयति—

'साग्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां

सयां घामपि, सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः ।

प्रादुर्भूतपरप्रमोद-विदलशोभाञ्चितस्तत्क्षणं

व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरोन्यस्तवान् ॥'

अग्निभिः सप्तभिः क्षारदिभिः समुद्रैः, द्वीपैः सप्तभिः पार्श्वद्वयतोयारतभूमौ पुष्करा-
दिभिः, कुलाचलैः सप्तभिर्विन्ध्यादिभिर्पराऽवष्टम्भ-पर्वतैश्च सहिता वसुमती पृथ्वीम्, अपि
तथा सप्तान्तरां स्वरादिसप्तप्राकारां, सर्वां सम्पूर्णां, यामूर्ध्वमुदनावलीम्, पद्मथाम्,
आक्रम्य, सस्मितेन परपराजयजनितेपद्मसितेन, हरिणात्रिविक्रमेण, मन्दं (द्वाभ्यामेव पद्मार्थं
छलेन सर्वस्वप्रहणात्) स्तिमितं यथा स्यात् तथा समालोकितो दृष्टः, प्रादुर्भूतो भगवत्साश-
स्कारेणोत्पन्नः, पर आनन्दान्तरेभ्य उत्कृष्टो यः प्रमोदः सुसुविशेषः, तेन विदलन् विकसन्
शोभाद्यो रोमपिच्छाह सजातो यस्मिन्स्तादृशः, तत्क्षणं सदयः, (प्रणामाय) व्यानम्रीकृता

विशेषण नतीकृता कन्धरा प्रीवा येन, तादृशश्च, असुरचरो दैत्यधेष्ठो बलि, मौलि मस्तकम् (तृतीयचरणारोपणाय) पुरो भगवतोऽप्रे, न्यस्तवानतिश्रिपदित्यर्थः ।

कोई कवि बलि तथा वामनावतार भगवान् का वर्णन करता है—सात समुद्रों, सात द्वीपों तथा सात प्रधान पर्वतों से युक्त पृथ्वी को और सात परकोट वाले सम्पूर्ण स्वर्ग को भी चरणों से आक्रमण कर लेने के बाद जब भगवान् त्रिविक्रम ने इंद्राश्व पूर्वक राजा बलि की ओर तिरछी नजर से देखा, तब उस असुरराज ने उत्कृष्ट सुख की उपलब्धि के कारण रोमाञ्चित होकर उसी काल में नतानव होकर मस्तक सामने रख दिया । सारांश यह है कि भगवान् राजा बलि को झुलने के लिये बौने का रूप धर कर उसके द्वार पर गये और तीन पग पृथ्वी उससे मांगें, उदार चूड़ामणि बलि ने इस साधारण याचना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु भगवान् ने एक पग में समग्र भूलोक और दूसरे पग में सम्पूर्ण स्वर्गलोक को माप लिया, फिर 'तीसरा पग मापने के लिये तुम्हारे पास अगह नहीं है, अब अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति कैसे करोगे ?' इस मनोभाव को झटकाने के लिये बलि की ओर देख कर कटाक्ष करने लगे, तब बलि उन्हें साक्षात् परमेश्वर समझ उनके दर्शन से आनन्दमन्थर हो उठा और तीसरा पग धरने के लिये अपना मस्तक उनके आगे रख दिया, इस व्यापार से उसने यह प्रार्थना की कि मेरा मस्तक तो आपने अभी तक मापा नहीं, वह मेरा अभी तक अपना है, अब आप उसीको माप कर मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें ।

अत एवेत्येतदभिप्रेतमर्थं प्रकाशयति—

इह च भगवद्दामनालम्बनः, तत्कृत्कमन्दनिरौत्तणोद्दीपितः, रोमाञ्चादिभि-
रनुभावितः, हर्षादिभिः पोषितः, उत्साहो व्यज्यमानोऽपि गुणः ।

अत्र श्लोके त्रिविक्रमेणालम्बनेन, तत्कृतमन्दालोक्तोद्दीपनेन, रोमाञ्चादिभिरनुभावैः, हर्षादिभिर्बन्धनैश्च सम्भूयाभिव्यज्यमानो बलिनिष्ठो दानोत्साहो दानवीरसत्त्वभासाद-
यद्यपि बलिस्तुते प्रधानीभूताया उपकारकत्वादङ्गमिति नेदं वीरसत्त्वनेहदाहरणमित्याशयः ।

प्रमोदपदेनेह सुखमुच्यते, दर्पस्तु तदंशावच्छिन्नावरणभङ्गकश्चित्तृप्तिविशेष इति न हर्षस्य वाच्यत्वम्, न च तस्य वाच्यत्वे व्यभिचारिवाच्यत्वरूपरसदोषापातः ।

इस श्लोक में भी यद्यपि भगवान् वामनरूप आलम्बन, तत्कृत ईषत् दर्शनरूप उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव और हर्ष आदि सद्भाती भावों के संयोग से बलि का 'उत्साह' व्यक्त होता है तथापि वह गौण है ।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिदं समर्थयति—

प्रागन्यगतस्वेव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

हेतौ षष्ठमौ ।

प्राग् 'यस्ये'त्यादिरलोकेऽन्यगतस्य । कामगवीरुतेरुत्साह(स्यायिकवीररस)स्य यथावर्ण-
नीयरजस्तुतेरुत्कर्षकत्वम्, तथा प्रकृते 'साब्धी'त्यादिरलोके राजा बलिस्तन्निष्ठस्यापि तस्योत्साह(स्यायिकवीर)स्य स्वकीयस्तुतेरुत्कर्षकत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयो पूर्वव मिश्रसम्बन्ध-
नित्वम्, प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेनाविशेषादुभयोरप्युत्साह-
(स्यायिकवीर)योरङ्गत्वमेव ननु प्राधान्यमिति भावः ।

उत्साह को गौण होने का कारण यह लाते हैं—'प्रागन्य' इत्यादि । पूर्व (यस्योहाम इत्यादि) पद में अन्य (कामधेनु) का उत्साह जिस तरह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट बनाने वाला था, उसी तरह यहाँ राजा (बलि) का उत्साह भी राजा बलि की स्तुति को उत्कृष्ट बनाता है । अतः इन दोनों पदों में स्तुति प्रधान और उत्साह गौण है ।

सारवोधिण्या काव्यप्रकारविशुतौ श्रीवत्सलान्छनमहाचार्येणोद्धितं दानवीरोदाहरणं
खण्डयति—

एतेन 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्सलान्छ-
नोक्तमुदाहरणं परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाह-
रणीयत्वात् ।

'उत्तत्तिर्जमदग्निः, य मगवान् देवः पिनाकी गुरु-वीर्यं यत्तु, न तद् गिरां पयि,
ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः ॥ त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः, सत्यब्रह्मतपो-
निषेर्भगवतः किं किं न लोकेतरम् ॥' इत्ययं सम्पूर्णः श्लोकः । एतेन—परशुरामनिष्ठी-
त्साहस्याधिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, कविनिष्ठद्विषयकरतौ गुणीभूतत्वेन । तस्य—
उत्साहस्याधिकवीरस्य । अत्रत्वाद् गुणीभूतत्वम् ।

श्रीवत्सलान्छनमहाचार्येण 'त्याग' इत्यादिपद्यस्य दानवीररसध्वन्युदाहरणत्वं यदुक्तम्,
तदसमग्रसम्, 'साव्यी'-त्यादाविवात्राप्युत्साहस्याधिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि परास्तया
गुणीभावादित्यभिसन्धिः ।

इससे 'सार-वोधिनी' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में 'श्रीवत्सलान्छन' महाचार्य
के द्वारा दिया गया 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण भी खण्डित हो गया, ऐसा
समझना चाहिए । उन्होंने—

'उत्तरत्तिर्जमदग्निः.....न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को वीररस ध्वनि का उदाहरण कहा है । यह श्लोक 'महावीरचरित' नाटक
के द्वितीय अङ्क में आया है, धनुर्भङ्ग से ऋद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—
मगवान् ! आपका क्या-क्या लोकोत्तर नहीं है अर्थात् आपकी सभी कियों अलौकिक ही
हुई हैं, आपका जन्म जगत्प्रसिद्ध जमदग्नि मुनि से हुआ है; धनुर्धारी साक्षात् शिवजी आपके
गुरु हैं—उन्हीं से आपने धनुर्विद्या प्राप्त की है, आपका पराक्रम आपके कर्मों से ही प्रकट
होता है—बचनों से यह प्रकट नहीं किया जा सकता, रथाग भी आपका निराला ही है,
सात समुद्रों से परिघेष्टित अर्थात् समूची पृथ्वी का अकण्ठ भाग से दान कर देना
साधारण बात नहीं है । आप अत्रिघोषित तथा माहृणोचित दोनों तरह की तपस्या के
निधान हैं । परन्तु यह पद्य 'रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का
'उत्साह' रूप स्थायीभाव वाला 'दानवीररस' व्यङ्ग्य होकर भी कविनिष्ठ परशुराम
विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, अतः यह श्लोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अथवा
भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है ।

तुल्यन्यायेनाधिपति—

ननु 'अकरुणमवकृत्य' इत्यत्रापि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य; कर्णस्तुल्यङ्गत्वात्
कथं ध्वनित्वमिति चेत् ।

पूर्वोक्त 'त्रिभुविदम्' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानस्य दानवीररसस्याभ्येवं कर्णस्तुतेरङ्गत्वेन
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कथं रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्योत्तराशयः ।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि 'अकरुणमवकृत्य ...' इत्यादि पद्य में भी जिस
'दानवीर रस' की प्रतीति होती है, वह भी कर्ण की स्तुति का पोषक है अतः अङ्ग है—
शौच है—गंधान नहीं, फिर वह पद्य भी 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो
सकता ।

वसरयति—

सत्यम्, अत्र कवेः कर्णवचनानुवादमात्रतात्पर्यकरत्वेन कर्णस्तुतौ तात्पर्य-
विरहात् ।

नात्र तुल्य न्यायावसरः, एतयोस्तौल्याभावात्, तथाहि—‘अकृष्णमवकृत्य’ इत्यादि-
पद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादमात्रे तात्पर्यम्, न तु कर्णस्य स्तुतौ, तेन कर्णस्तुते-
स्तात्पर्यविषयस्वभावासाङ्गित्वम्, नवा वीररसस्य तदङ्गत्वम् । ‘साङ्घिद्वीपे’त्यादौ तु स्तुते-
रेव वक्ष्यतात्पर्यविषयत्वात्, प्राधान्यमित्युभयोर्वैषम्यमित्याशयः ।

उक्तं शङ्का ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिये, वहाँ कवि का
तात्पर्य केवल कर्ण के वचनों का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में ।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतौ तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव चेदात्मस्तुतौ तात्पर्यम्, तर्हि न
कयं स्तुते प्राधान्यमित्याशङ्कां निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वेनात्मस्तुतौ तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव ।

चस्त्वर्थकः । महाशय उदात्तमवा । तात्पर्यस्यानुपपत्तिरसङ्गतिः । अवाक्यार्थस्तात्पर्य-
विषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधविषयः ।

न हि महाशया आत्मरत्नाधिना भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मस्तुतौ तात्पर्यासम्भ-
वाद्वा स्तुते सत्त्वेऽपि, तात्पर्यविषयत्वाभावाच्च प्राधान्यसम्भावनेति वीररसस्य गुणीभावा-
भावाद् रसध्वनेरेवेदमुदाहरणमित्याकृतम् ।

यदि आप कहें कि प्रशंसा-सूचक होने से उक्त श्लोक स्तुतिवाक्य तो अवश्य है,
तब रही बात यह कि कवि उस वाक्य का अनुवादक मात्र है, अतः उसका स्तुति में
तात्पर्य नहीं माना जा सकता, ठीक है, परन्तु मूल वक्ता कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति
में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण महाशय पुरुष है और अपने मुख से अपनी
स्तुति कोई छुदाशय ही कर सकता है । फलतः स्तुति उस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत
अर्थ नहीं है ।

ननु ‘कियदिदम्’ इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपलियितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्वविर-
हाद् यदि न शाब्दधीविषय, तर्हि कागतिरित्यत आह—

परन्तु वीररसप्रत्ययानन्तरं तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनुमीयते
राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतौ तात्पर्याद्वाक्यार्थतैव तस्याः ।

लिङ्गेन हेतुना । स्वाधिकरणे धोतुरात्मनि । सा स्तुतिः ।

दानवीररसप्रधानक—शाब्दात्मकवाक्यार्थबोधे पर्यवसन्ते, ध्यङ्क्या प्रतीतेन कर्णस्यो-
त्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि ‘कर्ण स्तुत्यो (विभावाद्यभिष्यक्त) दानविषयकोत्साहवत्त्वात्’
इत्याकाराऽनुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिरत्रानुमितेर्गोचरो नतु शाब्दबोधस्येत्याशयः ।

इतनी बात अवश्य है कि ‘दानवीर रस’ की प्रतीति हो जाने के बाद उस उत्साहरूप
हेतु से सहृदयों के हृदय में वह (कर्ण की स्तुति) अनुमित होती है । इस तरह से यहाँ
को स्तुति की प्रतीति होता है, वह अनुमितरूप है—शाब्दबोधरूप नहीं । परन्तु जहाँ राजा
का वर्णन किया गया हो, वहाँ तो राजा की स्तुति में ही श्लोक वाक्य का तात्पर्य रहता है
अतः वहाँ स्तुति की प्रधानता माननी ही पड़ती है ।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

दूसरा दयावीर, जैसे—

राजा शिवि शरणापन्नं कपोतरूपं धर्मं वक्ति—

‘न कपोत ! भवन्तमएवपि, स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम् ।

इदमद्य मया तृणीकृतं, भवदायुःकुशलं क्लेवरम् ॥’

हे कपोत पारावत ! श्येनात् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भवं उत्पत्तिर्यस्य, तादृशं भयं भवन्तम्, अहमपि मनागपि, न स्पृशतु (द्रागपि श्येतान्माभयोः) यत् इदं पुरोवर्ति, भवदायुःकुशलं रक्षकत्वाद् भवदायुषः क्षेमकरं, क्लेवरं (स्वस्य) शरीरम्, अद्य, मया दीनदयावतिना शिविना, तृणीकृतं भवद्रक्षणाय श्येनाय भक्षयितुं समर्प्यमाणत्वात् तृणवत्तुच्छं मतमित्यर्थः ।

इह शिवेर्दयालुतापरीक्षायै श्येनरूपीणेत्रेणाक्रम्यमाणो भीतः कपोतरूपो धर्मः प्राण-परित्राणाय शिविं शरणमगात् । स च दयार्द्रचेता स्वशरीरसमर्पणेन श्येनात् कपोतमरक्षी-दिति पौराणिकमिति रत्तम् ।

अत्र दयाविषयकशिवविभूतिरुत्साहः स्थायो, कपोत घालम्बनम्, तदीयव्याकुलत्व-मुद्योगनम्, शरीरार्पणमनुभावः, घृत्यादयश्च व्यभिचारिणः सम्भूय दयावीररसमास्वाद-पदवी नयन्ति ।

हे पारावत ! (क्यूतर !) बाज से उत्पन्न होने वाला भय थोड़ा भी तेरा स्वर्ण न करे, (यह मैं चाहता हूँ) अर्थात् तू बाज से मत डर । (क्योंकि) आज मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ इस अपने शरीर को नृग बना दिया है । तापर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बच्चे मैं अपना शरीर बाज का दे रहा हूँ, जिसके भक्षण से नृग होकर बाज तेरे ऊपर आघात नहीं करेगा, फिर तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है ।

कपोतापेक्षया श्येनं प्रत्युक्त्या भूयो भयनिवृत्ते सम्भवात् पाठान्तरं कल्पयति—

अथवेत्रं विन्यासः—

विन्यास पदानामिति शेषः ।

अथवा इम पद्य के रथान पर हस्ततरह की रचना समक्षिये—

शिविः श्येनं वृत्ते—

‘न कपोतकपोतकं तव, स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा ।

इदमद्य मया समर्पितं, भयते चाहतरं क्लेवरम् ॥’

हे श्येन ! तव स्पृहा जिघत्सा, मनागपि, कपोतक-पोतकं पारावतस्यानुगम्पनीयशावकं न स्पृशतु । यत् इदं चाहतरं कपोतशरीरपेक्षयाधिकमासक्तत्वादिति मनोरमं क्लेवरम्, अद्य मया भवते समर्पितमित्यर्थः ।

हे श्येन ! (बाज !) तेरी स्पृहा (मारने की इच्छा) दयनीय इस क्यूतर के बच्चे का थोड़ा भी स्पर्श न करे (ऐसी मेरी अभिलषणा है) । मैंने आज तेरे लिये इन सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया अर्थात् तू मेरे शरीर को खाकर अपनी घृणा-उदाला को शान्त कर और क्यूतर के उस बच्चे को मत मार । प्रथम पद्य में क्यूतर के बच्चे को निर्भय रहने का आश्वासन दिया गया है और द्वितीय पद्य में बाज को, कपोत-पोतक का हनन नहीं करने की सम्मति दी गई है जा उक्त आश्वासन की अपेक्षा अधिक सङ्गत है । अत एव प्रत्यकार ने प्रथम पद्य को द्वितीय पद्य में बदलना आवश्यक समझा । इष्ट श्लोकार्थ का आधार एक पौराणिक कथा है—राजा शिवि की दयालुता की ख्याति बहुत हो चुकी थी, इन्द्र ने उनको दयालुता की परीक्षा करना चाही, अतः इन्द्र स्वयं बाज बन गये और धर्म को कपोत बनाया । फिर उस बाज से अभिद्रुत होकर उस कपोत ने राजा शिवि की शरण ली ? और शिवि ने अपना शरीर देकर बाज से कपोत की रक्षा की ।

प्रकरणमालम्बनादि च प्रकृत्यति—

एषा शिवैः कपोतं श्येनं प्रति चोक्तिः । अत्र कपोत आलम्बनम्, तद्रतं व्याकुलीभवनमुदीपनम्, तस्य कृते स्वकलेवरापणमनुभावः ।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः । तद्रतं कपोतनिष्ठम् । तस्य कृते कपोतस्य जीवनरक्षायै । श्रुत्यादिव्यभिचारिभावश्च बोध्यः ।

यह राजा शिवि की प्रथम श्लोक में कवूतर के बच्चे के प्रति [और द्वितीय श्लोक में बाज के प्रति उक्ति है । यहां कवूतर का बच्चा आलम्बन है, उसकी व्याकुलता उद्दीपन है और उसकी रक्षा के लिये अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है । इसी तरह धैर्य आदि सञ्चारी हैं, यह भी समझ लेना चाहिये । सारांश यह है कि इन सब भावों के संयोग से 'दया-वीररस ध्वनि' के व्यवहार का कारण होता है ।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद् दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनकपोतयोर्भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन शिविशरीरस्यार्थिनोऽभावात् तदप्रतिपत्तेः ।

प्रत्ययो ज्ञानम् । श्येनो भक्षक, कपोतश्च भक्ष्य । श्येन कपोतशरीरस्यार्थी, ननु शिविशरीरस्येत्यर्थिनोऽभावः शिविशरीरस्य । तदप्रतिपत्तेः शरीरदानाप्रतीतेः ।

अत्र पद्ये कपोतरक्षायै शिविकर्तृक-श्येनोद्देश्यक-शरीरदानं प्रतीयत इति पूर्ववद् दानवीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः ।

श्येनो हि भक्ष्यस्य कपोतशरीरस्यार्थी, नत्वभक्ष्यस्य शिविशरीरस्य, तस्माद्याचक्ष्याभावेऽत्र दानप्रतीतेरभ्रमभावात् दानवीररसध्वनिरित्युत्तरपक्षश्चावसेयः ।

यहां शरीर-दान की प्रतीति होती है अतः यह पद्य 'दानवीर ध्वनि' का ही उदाहरण है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि बाज का श्राव्य कवूतर है, अतः वह कवूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं, और जिस चीज का याचक जहां नहीं हो, वहां उस चीज का दान कैसे हो सकता है अर्थात् यहां दान की प्रतीति होती ही नहीं है ।

ननु शिविकृत शरीरार्पणमेव दानमिति कृतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्यामभिदधाति—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपोतशरीरान्नाणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्यत्वात् ।

उपाधिः प्रयोजनरूपं निमित्तम् ।

अतः शिवि कपोतशरीररक्षायै तत्परिवर्ते स्वशरीरमार्पितम् । ततो (द्रव्यस्य) विनिमयो न तु दानं प्रतीयते, निरुपाधिकस्यैव एव दानस्य प्रत्ययादित्याशयः ।

यदि आप कहें—शिवि के द्वारा शरीर का अर्पण दान नहीं तो क्या है ? इसी का उत्तर देते हैं—'श्येनशरीर' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर की रक्षा के लिये शिवि ने अपना शरीर दिया है, फिर वह दान कैसे कहलाता ? क्योंकि किसी चीज के बदले में जो दूसरी चीज दी जाती है वह विनिमय (छेन-देन) कहलाता है—दान नहीं ।

सुद्धवीररसध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

तृतीय 'सुद्धवीर' जैसे—

-समराक्षणे सन्नदं रावणं श्रीरामो ब्रवीति—

'रखे दीनान् देवान् दशयदन ! विद्राग्य, वहति,

प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽय परिकरः ।

ललाटोद्यज्ज्वाला-कवलितजगज्जालविभवो

भवो मे कोदण्डच्युतविशिरवेगं फलयतु ॥'

रे दशवदन रावण ! दीनात् निरतिगणपरान्तमहीनतया दुर्गतात्, देवानिन्द्रादीन्, रणे समरे, विद्राव्य कान्दिशोकान् विधाप्य, प्रभावप्रागल्भ्यं प्रभुत्वप्रौढिमनुभावनश्रुता वा, बहति धारयति (स्वल्पबलमरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुनः, मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकरः समराय सन्नाहः समारम्भो वा, कोऽयं कीदृशः ? । (किन्तु) ललाटाद् मालाद् उद्यन्त्या, ज्वालाया तृतीयनयनानलशिखया, क्वलितो, भक्षितः (भस्मीकृतः) जगज्जालस्य घ्नान्नाण्डमण्डलस्य, विभवो विभूतिर्वैन, तादृशः (तृतीयनेत्रोन्मीलनमात्रभस्मीकृतत्रिभुवनस्त्वत्साहाय्यार्यमुपस्थितः) भवः स्वयं भगवान् पिनाकी, मे रामस्य, कोदण्डाद् घनुय, घ्युनस्य निर्गतास्य बाणस्य वेगं रंहः, कलयतु, धारयतु जानातु वैतर्यः ।

क्षुद्रवीर्यामरविजयमात्रेण प्रभुत्वगर्वाध्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्धं नोचितम्, केवलमेकनेत्रोन्मीलननस्मोकृतायोपभुवनैव भवेनैव मे युद्धमुचितमिति भावः ।

हे दशमुख रावण ! पराक्रमहीन-वीर-देवताओं को युद्ध में खदेड़ कर महा-सामर्थ्य-शाली बनने वाले तेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवीर की) तैयारी क्या हो सकती है, हाँ, जिनके ललाट से निकलती हुई ज्वालार्थे ममघ सृष्टि के वैभव को घास कर लेती हैं, वे देवाधिदेव महादेव मेरे घनुप से निकले हुये बाणों के वेग को समझें। अभिप्राय यह है कि मैं तुझे तो अपने सामने कोई खोज ही नहीं समझता, परन्तु यदि समस्त संसार के संहारक महाकाल हर भी युद्ध में मेरे सामने आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर विस्मित हुये घिना नहीं रहेंगे ।

भगवन् प्रसन्नादि दर्शयति—

एषा दशवदनं प्रति भगवतो रामस्योक्तिः । इह भव आलम्बनम्, रणदर्शनमुद्दीपनम्, दशवदनावज्ञाऽनुभावः, गर्वः सञ्चारी । वृत्रिरत्र देवानां प्रस्तावे तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा धीररसानालम्बनत्यावगतयेऽनुद्धतैव, दशवदनप्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धनाऽपि, तस्यावहाया रामगतोत्साहनालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकर्षवती, भगवतो भवस्य तु परमोत्तमालम्बनविभावत्वान् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्योजस्विनो धीररसस्य निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता ।

गर्वा रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्यः । तद्गतस्य देवनिष्ठस्य, कातर्यस्य भीदत्वस्य । अयुद्धता कोमला वृत्तिर्दशवदनेति यावत् । उद्धता परया प्रागन्भ्य यावत् । तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य । न प्रकर्षवती नाधिकोद्धता । उत्तरार्थे तु शिवस्य प्रस्ताव उपादानम् । थोजस्विनश्रोत्रोणुणाश्रयस्य । निष्पत्तिरस्वादः । प्रकृष्टोद्धताऽतिपरया ।

इदमुच्यते—पयोऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्यावज्ञापात्रतया रावणो गालम्बनम् । तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीतिः । अत एव द्वितीयचरणे रावणस्यामरविद्रावण-रामर्थ्यमूवनाय यच्चयुद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धतावृत्तिः । विश्वविदितपराक्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीतिः । तस्मादुत्तार्थे तदनुकूलैव प्रकृष्टोद्धता वृत्तिः । सर्वत्र रसानुसारिणी वृत्तिव्यवस्था बोध्या ।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है । यहां निच आलम्बन है, युद्ध-दर्शन उद्दीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व सञ्चारीभाव है । वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाँठ) नहीं है अर्थात् कोमल है, जिससे उनकी (देवताओं की) कातरता प्रकट होती है और कातरता की अभिव्यक्ति से यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनको वीररस का आलम्बन नहीं समझते । हाँ, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन

करने वाली उसकी वीरता का प्रतिपादन करने के लिये रचना उद्भूत अवश्य है, परन्तु उस औद्भत्य में प्रकर्ष नहीं है क्योंकि राम ने उसका तिरस्कार किया है, उसको अपनी घरावरी का नहीं समझा है अतः वह उनके उस्ताह का आलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर उसको आलम्बन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु भगवान् शंकर आयुक्तम आलम्बन विभाव हैं और उनको आलम्बन मान कर ही भोजागुणयुक्त वीररस की सिद्धि हांती है, अतः उनके प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्भूत है।

धर्मवीररसम्भजिमुदाहरति—

चतुर्थो यथा—

चतुर्थ धर्मवीर जैसे—

अधर्मेणापि शत्रुविजयं विधेहीति वदन्तं युधिष्ठिरो व्याहरति—

‘सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मी-रूपरि पतन्त्यथवा कृपाणधाराः ।

अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो-मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात् ॥’

राज्यलक्ष्मी (मम), सपदि शीघ्रं, विलयं नाशम्, एतु प्राप्नोतु । अथवा (मम) उपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, धाराः पतन्तु । (अथवा) कृतान्तोऽन्तकः (मम) शिरः, अपहरतुतरां नितरा छिनत्तु । तु पुनः (तथापि) मम धर्मैकनिष्ठस्य युधिष्ठिरस्य, मतिर्बुद्धिः धर्मात्, मनागपिदपि, न, अपैति नापसरतीत्यर्थः ।

राज्यनारा-शरीराघात-शिररछेदापेक्षयाऽपि धर्मपिक्षा मे दुस्सहेत्याशयः ।

चाहे राज्य-लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा खड्गों की धारयें मेरे ऊपर गिरें, किंवा स्वयं यम मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होती ।

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एषाऽधर्मेणापि रिपुर्जेतव्य इति वदन्तं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिः । अत्र धर्म-विषय आलम्बनम्, ‘न जातु कामान्न भयान्न लोभा-द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।’ इत्यादिवाक्यालोचनमुदीपनम्, शिररछेदाद्यद्गीकारोऽनुभावः, धृतिः सञ्चारिणी ।

धर्मस्य विषय सम्बन्धनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषय । ‘धर्मो नित्य-सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥’ इति भारतीयपद्यस्यावशिष्टांशः । आलोचनं समीक्षा ।

यह ‘अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिये’ ऐसा कहने वाले के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है । यहा धार्मिक विषय आलम्बन है, ‘काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना प्राण के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये’ इत्यादि वचनों का विचार करना उदीपन है, मस्तक कर्तन आदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धर्म सञ्चारीभाव है ।

वीररसस्य प्रकारचतुष्टयवत्त्वेऽरुचिं सूचयन्नुपसहरति—

इत्थ वीररसस्य चातुर्विध्यं प्रपञ्चितं प्राचामनुरोधात् ।

प्राचां मम्मटादीनामनुरोधात्, न तु स्वविचारात् ।

इस तरह मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस के चार भेद दिखा-किये गये हैं ।

तमेव स्वविचारं प्रकाशयति—

यस्तु तस्तु—बहयो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते । तथाहि—प्राचीन एव ‘सपदि विलयमेतु’ इत्यादिपद्ये ‘मम तु मतिर्न मनागपैति

सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवात् ।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते । तथाहीत्यादिना प्रकारबाहुल्यप्रतिपादनम् ।

एवं यदि किञ्चिद्वैलसम्भवात् प्रकाशभेदः स्यात्, तर्हि शृङ्गाररसवद् वीररसस्यापि भूयासः प्रकारा भवेयुः । तस्मान्नेदं प्रकारभेदकल्पनं युक्तमिति स्पष्टम् ।

वस्तुतः शृङ्गार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद विश्लेष्ये जा सकते हैं । देखिये,— यदि पूर्वोक्त 'सररि विलयमेतु' इत्यादि पद्य को 'मम तु मतिर्न मनागपैतिसत्यात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो थोड़ा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इस तरह अतुल्य चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, सब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है ।

प्राचीनपद्यपाती शङ्कते—

न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति-
वाच्यम् ।

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि गतार्थतया नाधिकप्रकारकल्पनासम्भव इत्यभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, अतः 'सत्य-वीर' की भी अन्तर्भाव 'धर्म-वीर-रस' में ही हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

समादधाति—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरान् पृथग्गणनानौचित्यात् ।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययोः परामर्शकः ।

यथा सत्यं धर्म एव, तथैव दानं दया चेति तुल्यन्यायात् सत्यवीरस्य दानवीर-दया-वीरयोरप्युपादानं पृथक् न सञ्चल्यते । तस्मात् प्राचा प्रकारपरिगणना नोचितेत्याशयः ।

सब में कहूँगा कि दान और दया भी तो धर्म के अन्तर्गत ही है, फिर 'दान-वीर' और 'दया-वीर' को भी पृथक् भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है ।

सत्यवीररूपनवीनप्रकाराभ्युपगमेऽपि न निस्तार इत्याचष्टे—

एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते ।

एवं-दानादिवीरवत् ।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' की भी प्रतीति होती है ।

उदाहरति—

यथा—

हयम्रीवोपासनालम्बसिद्धिः कश्चन पण्डितः सदसि ब्रूते—

'अपि वक्ति गिरा पतिः स्वयं, यदि तासामधिदेवताऽपि वा ।

अयमस्मि पुरो हयानन-स्मरणोल्लाङ्घिताङ्गमयाम्बुधिः ॥'

यदि स्वयं गिरा पतिर्ब्रूहस्पतिरपि (का कथा मानवपण्डितानाम्) वक्ति शास्त्रार्थविचारे पूर्वपक्षमुपक्षिपति, यदि वा तासा गिराम् अधिदेवता वादेवी (स्वयं) सरस्वत्यपि वक्ति, (तर्हि) हयाननस्य भगवतो हयप्रोवस्य, स्मरणेन, उल्लाङ्घित उत्तमो वाङ्मय शब्दब्रह्मवा-पारत्वादम्बुधिर्येन, तादृशो हयप्रोवस्यानासादितसकलशास्त्रतत्त्वावगम, अय सम्मुखस्योऽहम्, पुरस्तदुत्तरदानायात्रेऽस्मि भवापोत्सर्गम् ।

हयम्रीवोपासनालम्बपाण्डित्यसिद्धिरहं साशाद्ब्रूहस्पतिना सरस्वत्या वा शास्त्रार्थविचारे न मनागपि विभेति, किमुतान्यैः सहेति सारम् ।

जैसे—हयग्रीव की उपामना से अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त करने वाला कोई पण्डित सभा में बैठ कर कह रहा है—'अपि वक्ति' इत्यादि। यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साक्षात् पागधिष्ठात्री देवी भी बोलें तथापि हयग्रीव के स्मरण से समस्त वाङ्मय-समुद्र को पार करने वाला यह मैं भागे में उपस्थित हूँ अर्थात् जब मैं बृहस्पति तथा सरस्वती से भी वाद में डरने वाला नहीं हूँ तब इस सभा में उपस्थित आप जैसे साधारण पण्डितों की बात ही क्या ? जिमका मन करे, आकर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर सकता है।

स्वोक्तं समर्थयितुमालम्बनादाह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनः सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानुभावितो गर्वेण सञ्चारिणा पोषित उत्साहो वक्तुं प्रतीयते ।

स्थायिन उत्साहस्य बृहस्पतिः सरस्वती चालम्बनम्, सभा तद्वदकपण्डितमण्डली चेश 'चोद्दीपनम्, सभास्यसकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभाव', पाण्डित्यविषयको गर्वश्च व्यभिचारीति वक्तुं गतस्य पाण्डित्यवीररसप्रतीतिर्भवतीति शेषः ।

यहां बृहस्पति और सरस्वती आलम्बन हैं, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली का तिरस्कार करना अनुभाव है और गर्व सञ्चारीभाव है, इन भावों से वक्ता का पाण्डित्य-विषयक उत्साह अभिव्यक्त होता है, जो 'पाण्डित्य-वीर-रस' का स्थायीभाव होकर उस रस के व्यवहार को प्रथम देगा।

पाण्डित्यवीरं युद्धवीरेप्रागुक्तेऽन्तर्भाव्याद्येपरिहारमाशङ्कते—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत् ।

शस्त्रयुद्ध-शास्त्रयुद्धयोर्विजिगीषेकमूलकत्वेन युद्धत्वस्योभयत्रापि सत्त्वेनाभेदात् पाण्डित्य-वीरस्य युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वतिरिक्त इति शङ्कापक्षशयः ।

यदि आप कहेंगे कि यह तो 'युद्ध-वीर' ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी वीजगीषा रहती है, अतः युद्ध से उसका भी समझ हो जाता है।

समादधाति—

क्षमावीरे किं क्रूया ?

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भावेऽपि क्षमावीररूप प्रकरो नूतनोऽपत्प्रवितुमशक्य एवेति प्राचा प्रकरपरिगणनमशङ्कतमेवेति भावः ।

तो, मैं भी आप के कथनानुसार कथंचित् वाद को युद्ध मान लेता हूँ किन्तु फिर भी तो आप की इष्ट-निदिष्टि होती नहीं दीखती, क्योंकि 'क्षमा-वीर' के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ? अर्थात् उसका अपलाप तो नहीं किया जा सकेगा।

क्षमानोमुदाहरति—

यथा—

क्षमावान् व्याहरति—

'अपि बदलदहनजालं, मूर्ध्निरिपुर्मे निरन्तरं धमतु ।

पातयतु वाऽसिधारा महमणुमात्रं न किञ्चिदभाषे ॥'

रिपु शत्रुर्मे मम मूर्ध्नि शिरसि, वहत्वं भूयिष्ठम्, दहनजालमग्निपुञ्जम्, अपि निरन्तरं सन्ततं धमतु क्षानुमयोनेन कर्षयतु, अतिधारा करवाललता, वा पातयतु, (तथापि) अहं तितिष्ठुः, अणुमात्रमोषदपि, न किञ्चिद् श्राभाषे निवारकवचनं वदामोत्यर्थः ।

जैसे—शत्रु भले ही मेरे मस्तक पर अग्नि-पुञ्ज को फूंक-फूंक कर षड़ार्थें (प्रज्वलित करें) अथवा तलवार को गिरावें, पर मुझे कुछ भी डोलना नहीं है।

प्रसङ्गमाह—

क्षमास्त उक्तिरियम् ।

अत्रोत्साहस्य रिपुहतापकार आलम्बनम्, तदस्य प्रसांतापुद्दीपनम्, मौनमनुभावो धृतिश्च व्यभिचारिभावः ।

यह किसी क्षमा-शील पुरुष की उक्ति है। यहाँ शत्रुकृत अपराधरूप आलम्बन से अङ्कुरित, उदासीन व्यक्ति-कृत प्रशंसारूप उद्दीपन से उद्दीपित मौन-धारण-रूप अनुभाव से अनुभावित और धैर्य आदि सञ्चारी भावों से पोषित वक्ता का क्षमाविययक उत्साह-जो 'क्षमा-वीर' का स्थायीभाव है—प्रतीयमान होकर 'क्षमा-वीर-रस-व्यवहार' का कारण होता है।

क्षमावीरवद् बलवीररूपप्रकारस्यापि सम्भवात् परिगणनमयुक्तमेवेत्याह—

बलवीरे वा कि समादभ्याः ?

उक्तरीत्या बलवीरोऽपि प्रकारः सम्भनतीति तत्प्रश्ने कि समाधानं कुर्याः । न हि तस्य प्रकारान्तरेऽन्तर्भावः कथमपि कर्तुं शक्य इत्याशयः ।

. अथवा 'बल-वीर' के विषय में क्या समाधान देंगे ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'वीर-रस' का एक भेद अक्षरय स्वीकार करना पड़ेगा।

बलवीररसश्चनिमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो चासवं द्रवीति—

'परिहरतु धरां फणिप्रवीर', सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय ।

अहमिह पुरुहूत ! पन्नकोणे, निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि ॥'

हे पुरुहूत गडेन्द्र ! फणिप्रवीर सर्पश्रेष्ठ शेषः, धरां शिरसि धृता वज्रधा, परिहरतु परित्यजतु, कमठः कूर्मो भगवानपि ता पृष्ठस्था पृष्ठी विहाय विस्तृत्य सुखं स्वास्वदम्, अयतां प्राप्नोतु । अहं वैनतेय, इहात्र पन्नस्य गहता, कोण एकदेशे (न तु सनस्ते पक्षे) इदं प्रत्यङ्गोचरम्, निखिलं सम्पूर्णं, (धारादिघटितं) जगदण्डकं ब्रह्माण्डमण्डलं, वहामि (हेत्यैव) धारयामोन्वयः ।

इह शेषः शिरसः, कमठः पृष्ठेन च कथञ्चन पृष्ठी विर्मात, अहं पुनः पन्नकोणेनाप्य-खण्डब्रह्माण्डमण्डलं हेळया नोदुमलमिति शेषकमठापेक्षयाऽऽत्मनो व्यतिरेकं प्रतीयते ।

जैसे—सर्पों में सच से घोर शेषनाग अपने ऊपर से पृथिवी को हटा दें और कञ्चप भगवान् भी उसे त्याग कर सुन्न-लाम करें । हे देवेन्द्र ! मैं अकेला ही अपने पंख के एक कोने पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मण्डल को धारण कर लेता हूँ ।

प्रसङ्गमभिधत्ते—

पुरुहूतं प्रत्येषा गरुत्मत उक्तिः ।

अत्रापि शेषकूर्मालम्बनस्य, तत्प्रशंसाकर्णनाशुद्दीपनस्य, धराधारणोद्यमाद्यनुभावस्य, गर्वादिव्यभिचारिणश्च प्राप्तवद्भूतो विधेयः । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यात्रनुमतः पाठ एवाज्ञीकृतः । 'जगदण्डकम्' इति पाठस्तु व्यतिरेकप्रेषकत्वाद्युचितोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सर्वापेक्षया महत्तमत्वेन वीरचोत्कर्षबोधकत्वात् परित्यक्तः ।

यह इन्द्र के प्रति गरुड की उक्ति है। यहाँ 'बल-वीर-रस' की प्रतीति होती है।

उक्तोदाहरणत्रये वीररसश्चनेरभावमाशङ्कते—

ननु 'अपि वाक्' 'परिहरतु धराम्' इति पद्यद्वये गर्व एव, नोत्साहः । मध्य-

स्थपद्ये तु घृतिरेव ध्वन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत् ।

मध्यस्थं पद्यम् 'अपि बहले'त्यादि ।

प्रथम-तृतीयपद्ययोः प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपद्ये च घृतेरेव व्यभिचारिभावस्य, ननुसाहस्य स्थायिनः प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽङ्गित' इत्युक्तेरिति श्रीयपि भावध्वनेरेव, न तु रसध्वनेरुदाहरणानीति शङ्कादलतात्पर्यम् ।

यहाँ शङ्का यह होती है कि 'अपि वक्ति "...." और 'परिहरतु धराम्' इन दोनों जिनको आप क्रमशः 'पाण्डित्य-वीर' और 'बल-वीर' के उदाहरण मानते हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, और 'अपिबहल "...." इत्यादि पद्य में धैर्य की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, अतः ये तीनों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते, वरन्, 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाऽङ्गित' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यव्यमान व्यभिचारी भावों को 'भाव' माना गया है ।

समादधति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितामेव किं न ब्रूयाः ? रसध्वनिसामान्य-मेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतार्थयेः ?

'तद्व्यभिचारिध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्नाशुदेस्तिरस्कृत ।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषुच्यते, तदा दानदयायुद्धवीरेष्वपि गर्वस्य, सत्यवीरे च घृतेर्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुच्यताम्, वीररसध्वनेरुच्छेद एव कियताम् । अथवेत्यं सर्वेषु रसध्वनिषु तत्तद्रसव्यभिचारिभावस्यावश्यं प्रतीते सर्वत्र भावध्वनिरेवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिर्गतायीक्रियताम्, इत्थं हि सकलरसतन्त्रस्याकुलीभावः स्यादित्यहो तव मूलच्छेदो पाण्डित्यप्रकर्ष इति समाधानपञ्चाराय ।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनियों का स्वीकार किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भी गर्व आदि भावों की ध्वनियों ही क्यों नहीं मान ली जाय ? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वीरों के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के उदाहरणों में धैर्य की प्रतीति अवश्य ही होती है । अथवा जहाँ जिस रस की ध्वनि होती है, वहाँ उस रस के समुचित व्यभिचारी भावों की प्रतीति का होना आवश्यक ही है, फिर उन सब जगहों में उन उन व्यभिचारीभावों की ध्वनियों को ही मान कर 'रस-ध्वनिमात्र' का उच्छेद क्यों नहीं कर दिया जाय ? अर्थात् आपके हिसाब से 'रसध्वनि' नाम की कोई चीज ही साहित्यशास्त्र में नहीं रह जायगी ।

ननु रसध्वनिषु व्यभिचारिभाषापेक्षया स्थायिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तद्वलादसध्वनिष्वपदेशः, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिभ्यविचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति भावध्वनित्वमेवोच्यत इति चेत्, न, उभयत्रोत्साहस्यैव स्थायिभावस्योत्कटत्वेन प्रतीयमानत्वान् । किञ्च बलवीरागुदाहरणेषुत्साहस्य प्रतीतिर्न भवति, दानदयायुद्धवीरोदाहरणेषु तु भवतीति कस्यचिदुक्तिरपि राजाशेषोपपत्तिविचारवधितैव, उभयत्र वैषम्याननुभवात् । तस्मात् प्राचीनानां वीररसप्रकारपरिगणनमसङ्गतमित्येवाह—

स्थायिप्रतीतिर्दरपहवा चेत्, तुच्यं प्रकृतेऽपि । अनन्तरोक्तपद्ये तु नोत्साहः प्रनीयते, दयावीरादिषु प्रतीयत इति राजाज्ञामात्रम् ।

दुरपहवत्वेनोत्कटत्वं प्रतीते । अनन्तरोक्तपद्ये 'परिहरतु' इत्यादि ।

यदि आप कहें कि 'रस-ध्वनि' के जो सर्वसम्मत उदाहरण हैं, उनमें व्यभिचारीभावों की अपेक्षा स्थायीभावों की प्रतीति उत्कट रूप से होती है, अतः वहाँ रस-ध्वनि मानते हैं, तब मैं कहूँगा—यहाँ (पाण्डित्य-वीर आदि में) भी उत्साहरूप स्थायीभाव की उत्कट

प्रतीति होती है, अतः यहां भी वीर-रस-ध्वनि मानिये । 'युद्ध-वीर' आदि में उत्साह की प्रतीति होती है और 'पाण्डित्य-वीर' आदि में नहीं, ऐसा कथन तो राजाजामात्र होगा-युक्ति सगत नहीं। सारांश यह है कि प्राचीनों की 'वीर-रस के चार भेद हैं' यह मान्यता अवश्य ज्ञतामूलक है, वस्तुतः उसके बहुत भेद हो सकते हैं।

अथाद्भुतरसध्वनिमुदाहरति—

अद्भुतो यथा—

अथ 'अद्भुत-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं—'अद्भुतो यथा' इति। 'अद्भुत-रस' जैसे—
वदानन्तर्गतविश्वदर्शनचकिता यशोदा गोविन्दं वदति—

'चराचरजगज्जाल-सदनं वदनं तव ।

गलद्रगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥'

हे कृष्ण ! चराचरजगज्जालस्य स्थावरजङ्गमात्मकविश्वमण्डलस्य, सदनमधिकरणम्, गलद्रगयद् गगनस्य व्योम्नः (किमुतान्यक्स्वप्नाम्) गाम्भीर्यमगाधत्वं यस्मान्, तादृशम्, तव धालकृष्णस्य, वदनं मुखं, वीक्ष्य विलोष्य, हृतचेतना विस्मयातिशयेन जडीभूताऽऽनीत्यर्थः ।

जो स्थावर और जङ्गम-सम्पूर्ण ससार का निवास-स्थान है और जिसके सामने मैं गगन की भी गम्भीरता नष्ट हो जाती है, उस तेरे मुख को देख कर मेरा चैतन्य लुप्त हो गया है—आश्चर्य से मैं हत-बुद्धि हो गई हूँ ।

प्रकरणादि प्रदर्शयति—

कदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यशोदाया इयमुक्तिः ।
अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुदीपनम्, हृतचेतनत्वम्,
तेन गम्यं रोमाञ्च-नेत्रस्फारणादि चानुभावः, त्रासादयो व्यभिचारिणः ।

कदाचिज्जन्मावसरे, तथा च श्रीमद्भागवते—'पीतप्रायस्य जननी, सा तस्य हचिर-
स्मितम् । मुखं लालयती राजन् । जृम्भतो ददृशे हृदम् ॥ सं रोदसी ज्योतिरनीकमाशा,
सूर्येन्दुमङ्घ्रिसनान्मुधीश्व । क्षीपान् नगात्तद्दुहितृर्वनानि, भूतानि यानि स्थिरनङ्गमानि ॥
सा वीक्ष्य विरवं सहस्र, राजन् ! सञ्जातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी, नेत्रे आसीत्
सुविस्मिता ॥' अन्तर्गतं कृष्णमुखमध्यस्थम् । तेन हृतचेतनत्वेन गम्यं वाचकशब्दविरहात्
कार्यतया व्यङ्ग्यम् । नेत्रयोः स्फारणमतिविकासनम् ।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनो विस्मयरसालम्बनादिसामग्रीसमवधानाद्-
द्भुतरसध्वनिः ।

यह किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण के विवृत वदन को देखने के बाद यशोदा की उक्ति है। यहां विवृत-मुख आलम्बन है, उसके अन्दर सम्पूर्ण स्थावर जगत्मात्मक संसार का अवलोकन उदीपन है, चैतन्य-छोप तथा उससे व्यक्त होनेवाले रोमाञ्च एवं नयन-विकास आदि अनुभाव हैं और त्रास आदि सञ्जारीभाव हैं। तात्पर्य यह है कि इन सब भावों के सयोग से अभिव्यक्त विस्मयाख्य स्थायीभाव की यहा प्रधानता है, अतः 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहां होती है।

अत्र रतिभाध्वनित्वमाशङ्कितं खण्डयति—

नैवात्र पुत्रगता प्रीतिः प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात् ।

नन्वत्र यशोदानिष्ठाया पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्ये व्यज्यमानत्वाद् माध्वनेरिदमु-
दाहरणं नन्वद्भुतरसध्वने, विस्मयस्य प्राधान्येनाप्रत्यवादिति चेत्, न, पुत्रविषयकरतेरेव
व्यञ्जकविरहेण व्यङ्ग्यत्वादित्याशयः ।

यहां यशोदा का पुत्र-प्रेम, वस्तुतः रहकर भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसकी प्रतीति

कराने वाला एक भी पद इस पद्य में नहीं है, अतः पुत्र-विषयक रति-रूप-भाव-ध्वनि का ही यह उदाहरण है—'अद्भुत-रस-ध्वनि' का नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीतायां वा तस्यां विस्मयस्य गुणत्वं न युज्यते ।

तस्या पुत्रतौ । गुणत्वमप्राधान्यम् ।

प्रकरणपर्यवेक्षणान्नात्र पुत्रगतिप्रतीतियुक्तानुभविकी, तथापि तस्या अद्भुत्वाद् इतचेतनत्वेन मुख्यतया व्यज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वात् रतिभावध्वनि, अपित्वद्भुतरसध्वनिरैवेति भावः ।

यदि प्रकरण-पर्यालोचन से यहां पुत्र-प्रतीति की प्रतीति होती है यह बात अनुभव-सिद्ध हो, तब भी वह (पुत्र-प्रतीति) चैतन्य-लोप की बात से प्रधानतया व्यक्त होनेवाले विस्मय की अपेक्षा गौण ही होगी, विस्मय उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्वं केनाप्याराद्धितं निराकरोति—

एवं 'कश्चिन्महापुरुषोऽयम्' इति भक्तिरपि, तस्या. 'पुत्रो ममायं बालः' इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तमेव नेष्टे। अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः।

एवं विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्ती । तस्या यशोदाया । ईष्टे शक्नोति । तस्या भक्तौ ।

ननु वदनान्तर्गतविश्वविलोकनाद् यशोदाया 'कोऽपि महापुरुषः' इत्याकारकबुद्धानुत्पत्त्या जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्पौष्टकत्वाद् अङ्गमितिपुनर्नायमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदाया 'पुत्रो ममायं बालः' इत्याकारकनिश्चयात्मकप्रतीतौ जागरूक्यां, समाने विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् 'महापुरुषोऽयम्' इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहानुत्पत्तेर्भङ्गे सर्वथाऽप्यन्मवादिति तात्पर्यम् ।

इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ कर भक्ति भी यहां उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह बालक मेरा पुत्र है' इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है, अतः भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है।

अथ काव्यप्रकाशकृतं दत्तमद्भुतरसध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यसु सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतम्—

'चित्रमहानेप नवानतारः, क कान्तिरेपाऽभिनयैव भङ्गि' ।

'लोकोत्तरं धैर्यमहो ! प्रभावः, काऽप्याकृतिर्नूतन एव सर्गः ॥' इति ।

चित्रमाश्चर्यम्, एष महान् परमोत्कृष्टः, नवानतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भावः, एषाऽस्य शरीरे विद्यमाना कान्तिर्युति क ? (कुत्राप्यन्यत्र न) अभिनवाऽभूत्पूर्ववास्य भङ्गीरीति, लोकोत्तरं मनुष्यलोकात्प्राप्य, धैर्यं धृति, अहो अद्भुत प्रभावोऽनुभावः, काऽप्यनिर्वचनीयं च, आकृतिराकारः (अङ्गाभिनेत) एष (तरमाद् धातु) नूतनोऽभूत्पूर्व, सर्गं सृष्टिरस्तीत्यर्थः ।

अथ काव्यप्रकाशकार द्वारा उपस्थित 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरण को दूषित करने के लिये उसका स्वरूप पहले दिखलाते हैं—'स्तु' इत्यादि । सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों ने 'चित्रमहानेप ...' इत्यादि श्लोक को 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरणरूप में लिखा है । उस श्लोक का अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवतार आश्चर्य-जनक है, ऐसी कान्ति आज तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई, यह चलने, बैठने, बोलने और देखने का उद्ग भी सर्वथा नवीन ही है, अलौकिक धैर्य है, विलक्षण-आश्चर्य-चकित कर देनेवाला प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है, यह एक नई सृष्टि है अर्थात् अब तक ऐसा कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जरूर इस रूप में यह किसी महापुरुष का आविर्भाव हुआ है । यह भगवान् धामन के दर्शन से विरमित बलि की उक्ति है ।

• इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यतयाऽद्भुतरसश्चनिरिति भट्टमम्मटः । तन्मतं व्यक्तयति—
तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयतां नाम्नात्र विस्मयः, परन्त्वसौ कथङ्कारं ध्वनिव्यप-
देशहेतुः ? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोत्रगतभक्तेः प्रक-
र्षकत्वेनास्य गुणीभूतत्वात् ।

तत्र मम्मटोक्तविषये । असौ विस्मयः । कथङ्कारं केन प्रकारेण ।

अत्रोदाहरणे प्रतीयमानोऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया भक्तेरङ्गीभूताया
वक्तव्यप्रयोजकत्वाद्गन् । तस्मान्महापुरुषविषयकभक्तिप्राधान्याद् भावध्वनेरेवोदाहरणमि-
दं स्वच्छतरसञ्चने, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः ।

यहाँ प्रधानतया विस्मय व्यङ्ग्य होता है, अतः यह 'अद्भुत-रस-ध्वनि' का उदाहरण
है; इस मम्मट-मत का खण्डन करते हैं—'तत्रेदं वक्तव्यम्' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि इस
पद्य में 'विस्मय' स्वार्थीभाव की प्रतीति होती है, हो, मैं उसका अपलाप करना नहीं
चाहता, पर उस विस्मय के कारण यहाँ अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार कैसे हो सकता
है ? क्योंकि इस श्लोक में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में
स्तुति करने वाले (वलि) की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है और विस्मय उसको
उत्पन्न बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा वह गौण हो गया है ।

निदर्शनदर्शनेन स्वमतं द्रष्टव्यम्—

यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य—'पश्यामि देवांस्तव देव !
देहे, सर्वांस्त्वया भूतविशेषसङ्घान् ॥' इत्यादी वाक्यसन्दर्भे ।

पार्थस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्बन्धः ।

यथा भगवतो विश्वरूपं विलोक्यार्जुनेनाभिहिताया 'परयामि देवांस्तव देव ! देहे'
इत्यादिभगवद्गीताषट्कवाक्यपरम्पराया भक्ति (भयवद्विषया रति) प्रतीयमाना प्रधानम्,
अदृष्टपूर्वस्वरदर्शनजन्यो विस्मयस्तु भक्तिोपकृतयाऽङ्गमिति भावध्वनिरद्भुतरसस्याङ्गत्वेन
रसवदलङ्कारश्च, तत्रैव प्रकृते 'चित्रम्' इत्यादावपि भक्तेः प्राधान्यमद्भुतस्य चाङ्गत्वमित्यभिसन्धिः ।

ऐसे स्थलों पर भक्ति की ही प्रधानता होती है और विस्मय गौण रहता है इसमें
दृष्टान्त दिखलते हैं—'यथा' इत्यादि । भगवान् ने भुग्ध अर्जुन को अपना विराट् रूप
दिखलाया, जिसको देखकर अर्जुन भगवान् से कहते हैं—हे देव ! मैं आपके शरीर में सब
देवताओं को तथा माना तरह के सब प्राणियों को देख रहा हूँ । इत्यादि गीता के वाक्यों
में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उस भक्ति की अपेक्षा वह गौण है, जो
अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति उत्पन्न हुई । तात्पर्य यह है कि जैसे यहाँ विस्मय की
प्रधानता नहीं है, वैसे ही उक्त पद्य में भी उसकी प्रधानता नहीं ही है ।

पर्यवसितमाह—

इत्थं चास्य रसालङ्कारत्वमुचितम् ।

अस्य प्राचीनोक्ताद्भुतरसध्वन्युदाहरणस्य । रसालङ्कारत्वं रसवदलङ्कारोदाहरणत्वम् ।
एतद् भावध्वन्युदाहरणत्वस्याप्युपलक्षकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधम् ।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि 'चित्रं महानेप' ... इत्यादि श्लोक अद्भुत-रस-ध्वनि
का उदाहरण नहीं हो सकता, अपितु भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय
भी यहाँ बहु-विभाज्य है, अतः तन्मूलक 'रसवत्' अलंकार यहाँ होगा ।

अत्रैव पुनरभ्ययाऽऽशङ्क्य निरस्यति—

भक्तिर्नैवात्र प्रतीयत इति चेत्, दरमुकुलितलोचनं विदाहुर्वन्तु सहृदयाः ।

यदि च भक्तिरुदाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्या प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा

सति विस्मयस्यैवात्र प्राधान्येनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपातेन कश्चिन् कथयेत्, तर्हि विषयेऽस्मिन् तदस्या परमात्ताः सहृदया एव भावनयेयन्मीलितनयनं यथा स्यात्, तथा तथ्यातथ्यं जानन्तु, वयं न किञ्चिद्द्रुम इति सारम् ।

आग्रह विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे भक्तेरिह प्राधान्यं विस्मयस्य चाप्राधान्यं व्यक्तं प्रतिभायादिति भावः ।

यदि आप कहें कि 'चित्रं महानेप ...' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूँ ? केवल सहृदयों से इतनी प्रार्थना करूँगा कि आप जरा आँखें मूढ़ कर स्वस्थ होकर सोचें और फिर कहें कि यहाँ भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं अर्थात् दुराग्रह छोड़कर विचार करने से आप को भी, यहाँ भक्ति की प्रधानता अवश्य अवगत होगी ।

अथ हास्यरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

रसविशेषणतयैव पुंस्त्वम्, अन्यथा 'हासो हास्य च' इत्यमरान् क्लीबत्वमेव ।

अथ 'हास्य-रस' का उदाहरण देते हैं—'हास्यो यथा' इत्यादि । हास्य जैसे—
वालिशो नवताकिकपुत्रो प्रवीति—

'श्रीतातपार्लैर्वाहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा ।

अङ्ग गवा पूर्वमहो पवित्र, कथ न वा रासभयमपत्न्या ॥'

श्रीतातपार्लैर्वाहिते, विहिते विरचिते, निबन्धे धर्मानुशासनग्रन्थे, एषा साम्प्रतमुदीर्यमाणा, नूतनाऽनाविष्कृतपूर्वा, युक्तिस्तरुं निरूपिता निर्धारिता, अहो आश्चर्यम्, (यदि) गवा धेनूनाम्, पूर्वमङ्गं पूर्वकाय, पवित्रं मेध्यम्, (तदा तुल्यन्यायात्) रासभय गर्दभस्य, धर्मपरन्या गर्दभ्या (पूर्वमङ्गत्) कथ न वा पवित्रमस्तीति शेषः । गवा पदार्थ-स्यैव धर्मशासनानुसारे पवित्ररे, पूर्वार्थस्य तत्त्वकथनं तत्तुल्यस्कन्धतया गर्दभ्या अपि पूर्वार्थस्य नवीनतर्केण पवित्रत्वोपपादनं चात्र हास्यकरमवसेयम् ।

किमी ताकिक का पुत्र कहता है—श्रीमान् पिताजी से रचे गये निबन्ध में यह एक नवीन युक्ति दीख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अङ्ग पवित्र है, तब गर्दभ को धर्मपरनी का वह अङ्ग पवित्र क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान हैं । धर्मशास्त्र में गौ के पश्चार्ध भाग को ही पवित्र कहा गया है, परन्तु यहाँ उसके पूर्वार्ध भाग को पवित्र घोषित किया गया है और तत्तुल्य न्याय से गर्दभी के उग्र भाग को भी पवित्र मानने की सलाह दी गई है—यही असंगत बात यहाँ हास्यास्पद है ।

आलम्बनाद्याचष्टे—

ताकिकपुत्रोऽत्रालम्बनम्, तदीया निशङ्कोक्तिरुदीपिका, रदनप्रकाशादि-
रुद्रेगादयश्चानुभाष-व्यभिचारिणः ।

ताकिक उक्ताद्भुततर्कवित् । निरशङ्का दृढोक्तिः । रदनप्रकाशो दन्तविवृतिस्तदादिरजु-
भावः । उद्रेगादयो व्यभिचारिणः ।

यहाँ ताकिक का पुत्र आलम्बन है, उसका नि शङ्क कथन उद्दीपन है, दांत का निषोढना अनुभाव है और उद्रेग आदि सञ्चारी भाव हैं ।

अथ हास्यस्य भेदं दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमनुवदति—

अत्राहुः—

'आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् यस्य भेदद्वयं मतम् ।

आत्मस्थो द्र'दुरुत्पन्नो विभावेत्तणमाग्रतः ॥'

हसन्तमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।
 योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः, परस्यः परिकीर्तितः ॥
 उत्तमानां मध्यमानां, नीचानामप्यसौ भवेत् ।
 व्यवस्यः कथितस्तस्य, पद्भेदाः सन्ति चापरे ॥
 स्मितं च हसितं प्रोक्त-मुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
 भवेद् विहसितं चोप-हसितं मध्यमे नरे ॥
 नीचेऽपहसितं चाति-हसितं परिकीर्तितम् ।
 ईपत्फुल्लकपोलाभ्यां, कटाक्षैरप्यनुलम्बणैः ॥
 अदृश्यदशनो हासो-मधुरः स्मितमुच्यते ।
 वक्त्रनेत्रकपोलैश्चे-दु फुल्लैरुपलक्षितः ॥
 किञ्चिद्वक्षितदन्दश्च, तदाहसितमिष्यते ।
 सशब्दं मधुरं काय-गतं वदनरागवत् ॥
 आकुञ्चिताक्षिमन्द्रं च, विदुर्विहसितं बुधाः ।
 निकुञ्चितांसशीर्षश्च, जिह्वार्हाद्रयिलोकनः ॥
 उल्लुखितासिक्रो हासो-नाम्नोपहसितं मतम् ।
 अस्थानजः आश्रुदृष्ट-राकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
 शार्ङ्गदेवेन गर्दितो-रासोऽपहसिताह्वयः ।
 स्थूलकर्णकटुध्यानो-वाप्यपूरप्लुतेक्षणः ॥
 करोपगूडपाश्र्वश्च, हासाऽतिहसितं मतम् । इति ।

यत्र द्रष्टारालम्बनविभावदर्शान् स्ववनुन्वयो हासः, स आत्मस्य । यत्र चारं हसन्तं दृष्ट्वोत्पद्यते, स परस्य इति प्रकारद्वयं हास्यरसस्य । अस्य हास्यरसस्य विभावस्तु परकीय-हास्यदर्शनादुद्भवति । आश्रयस्योत्तम-मध्यमा-धमत्वैर्हास्यस्यापि त्रैविध्यं जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-इषित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसितरूपाः पद्भेदाः । तेषु प्रथमं द्विकमुत्तमे, द्वितीयं मध्यमे, तृतीयं चापरे । अनुल्लणैःप्लुत्कटैः कटाक्षैरुपलक्षित इति शेषः । कायगतं सक्लशरीरव्यापि । कालगतमिति पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुञ्चत्रैहिस्यविशिष्टम् । मन्द्रं गम्भीरमनियुतम् । निकुञ्चितानि सङ्कुचितान्यसौ स्कन्धौ शीर्षं शिरस्य यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । जिह्वया कुटिलया दृष्ट्या विलोकनं यत्र तादृशः । अस्थानेऽनुवितावसरे जातः । आकम्पा अभिव्याप्तकम्पाः स्कन्धौ मूर्धजा केशाश्च यत्र तादृशः । शार्ङ्गदेव आचार्यः । स्थूलप्रबलः कर्णकटुः कर्णाहन्तुदो ध्यानं शब्दो यत्र सः । वाप्यपूरणाश्रुतमूहेन प्लुते व्याप्तो ईक्षणे नेत्रे यत्र सः । कराम्बासुपगूटे हास्यवेगघारणायावलम्बिते पार्श्वे यत्र सः ।

अब हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन आचार्यों की उक्ति का अनुवाद करते हैं—'आत्मस्यः' इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एक आत्मस्य, दूसरा परस्य । आत्मस्य उसको कहते हैं, जो विभाव (हास्य के विषय) के दर्शनमात्र से द्रष्टा में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है तथा जिसका कारण भी हास्य ही रहता है, उसको हास्य-रस के विशेषज्ञ जन परस्य कहते हैं । यह हास्यरस उत्तम, मध्यम और अधम तीनों श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थाएँ कहलाती हैं । इसी तरह हास्य के दूसरे द्वः भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं भीष पुरुष में

अपहसित और अतिहसित होते हैं। जिसमें कपोल अल्प विकसित हों, नेत्रकोण अधिक विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दांत दृष्टि-गोचर न होने पावें और जो मधुर हो, वह हास्य स्मित कहलाता है। जिस हास में मुख, नयन और कपोल विकसित हो जायें और दांत भी थोड़ा दृष्टिगोचर हो जायें, वह हसित कहा जाता है। जिस हास में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार शरीर के सब अङ्गों में उत्पन्न हो जायें, जिसके होने से मुख लाल हो जाय, खालें कुछ टेढ़ी हो उठें और गम्भीर हो, उसको बुधगय विहसित कहते हैं। जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायें, वक्र दृष्टि से देखना पड़े और नाक फँस जाय, उस हास की सजा उपहसित है। जो हास अनवसर का हो जिससे भाँखों में आँसू आनाय और कन्धे तथा केश खूब कम्पमान हो उठे उसका नाम शाईदेव आचार्य ने अपहसित रखा है। जिसमें कर्ण को कटु लगनेवाला बहुत जोर का शब्द हो, नेत्रों में अधु की चाद सी आ जाय और हाथों से पार्श्व-भागों को पकड़ना पड़े, उस हास को अतिहसित मानते हैं।

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

अथ 'भयानक रस' का उदाहरण देते हैं—'भयानको यथा' इति। भयानक-रस जैसे—
रयेनाद्गीतस्य लावकस्य वृत्तं वर्णयति—

'श्येनमम्बरतलाद्गुपागतं, शुष्यदाननविलो विलोकयन् ।

काममानतनुसकुलेक्षण, स्पन्दितुं नहि शशाक लावकं ॥'

अम्बरतलादाकारमण्डलात्, उपागतं सन्निकृष्टम्, रयेनं पक्षिघातकपक्षिविशेषम्, विलोकयन् पश्यन्, शुष्यद् मृत्योर्भयाच्छोष गच्छद् आननं मुखमेव विलं यस्य, तादृशं, कम्पमाना वेपथुमती तनु शरीरं यस्य, तादृशं, तथा आकुले विडले ईक्षणे यस्य तादृशं, लावको वर्तकजातीयो लवेति प्रसिद्धं पक्षिविशेषः, स्पन्दितुमीयच्छित्तुम् (अपि) न शशाक न च क्षम इत्यर्थः ।

मरणं सन्निकृष्टं विभावयन् भौतिविमूढो नभूनेति तात्पर्यम् ।

किरीटिका का कथन है कि विषण लावक (एक प्रकार का पत्ती, जिसे दगोदी कहते हैं) ने जभी गगनतल से झपटते हुए बाज को देखा तभी उसका मुख सूख गया, देह कापने लगी, आँखें आकुल हो गईं, इस तरह वह हिल भी न सका।

अलम्बनादि दर्शयति—

अत्र श्येन आलम्बनम्, सवेगापतनमुद्दीपनम्, आननशोपादयोऽनुभावाः
दैन्यादयः सञ्चारिणः ।

सवेग वेगवदम्बरादापतनं श्येनस्यावसेयम् ।

यहां धात्र आलम्बन है, उसका बहुत वेग से झपटना उद्दीपन है, मुख सूखना आदि अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारीभाव है।

अथ भीमत्सरसध्वनिमुदाहरति—

बीभत्सो यथा—

अथ 'बीभत्स-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं—'बीभत्सो यथा' इति। 'बीभत्स-रस' जैसे—
रसरानं वर्णयति—

'नखैर्विदारितान्त्राणा, शवानां पूयशोणितम् ।

आननेध्वनुलिम्पन्ति, ह्यत्र बेतालयोपितः ॥'

इद्य अप्रसा विपुलमद्यलाम्भान् प्रसन्ना, भूतविशेषणियं, नखैर्विदारितानि पाटितान्य-

न्नामि येषां ते । निदारितान्त्रास्तेषां शवानां मृतकशरीराणां, पूयानां शोणितानां च समाहारः पूयशोणितम्, (पीतावशेषम्) आननेषु स्वमुक्षेषु मिषः सहचरीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थः ।

हर्ययुक्तपेतालों की छियां नखों से मुरदों की अतडियों को फाड़ कर मवाद और कथिर को मुख पर लेप रही हैं । यह रमरान अथवा रण-क्षेत्र का चर्गन है ।

आलम्बनादि दर्शयति—

शवा इहालम्बनम्, अन्त्रविदारणाद्युदीपनम्, आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमीलनाद्योऽनुभावः, आवेगादयः सञ्चारिणः ।

इह बीभत्सरसे । आक्षिप्ता जुगुप्साकार्यतया वैषम्यनिरूप्यतीति योचत ।

यहां मुरदे आलम्बन है, अतडियों का फाड़ना उदीपन है, आक्षेप के द्वारा लम्ब रोमाञ्च, आंखों का मूदना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि सञ्चारीभाव हैं ।

बीभत्स-हास्यरसयोरालम्बनाश्रययोः पृथगप्रतीते रमान्तरेभ्यो वैषम्यमाशङ्कते—

ननु रति-क्रोधो-त्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽलम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः ।

इह रसादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयोः क्रमविपर्ययि मूलं शृण्वन् । 'प्रागुदाहृतेषु' इत्यत्र 'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचितः पाठः सन्ध्यञ्जीलत्वदूषणमाप्तात् । तत्र हासजुगुप्सयोः ।

शृङ्गारादिरसेषु यथा रसादीनामालम्बनादाश्रयः पृथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये बीभत्से च । तत्र हासजुगुप्सोरालम्बनाद्विकृताक्षरादिमतपुरुषादेः पृथक् तयोराश्रयस्य हासादिमतोऽप्रतीतेः प्रागुक्तसप्तकोपेक्षया हास्य-बीभत्सयोर्वैषम्यमिति शङ्कादलारायः ।

यहां एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायीभावों में जिस प्रकार आलम्बन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है, जैसे नल और दमयन्ती में जो परस्पर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक आलम्बन और दूसरा आश्रय होता है अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में वर्णित हो तो दमयन्ती आलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का प्रेम नल में वर्णित हो तो नल ही आलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीत होती हैं । उस प्रकार हास और जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है, आश्रय की नहीं ।

पुनरात्रान्तरिकीं शङ्कासुपन्यस्योन्मूलनं पूर्वपक्षं समापयति—

पद्यत्रे तुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् ।

ननु हासप्रशङ्कं जुगुप्साप्रधानकं च शृण्वन् पुरुष एव हास-जुगुप्सयोरश्रयः स्यादतो न रसान्तरेभ्यो वैषम्यमिति चेत्, उच्यते—लौकिकत्वेनालौकिकत्वेन च हास-जुगुप्सयोरपि रत्यादिद्वैविध्यम् । तत्र पद्यश्रोता काव्योपनिबद्धत्वाद्लौकिकत्वमाश्रययोरेव हास-जुगुप्सयोरश्रयो भनितुमर्हति न तु लौकिकयोरपि, तस्माद्लौकिकयोर्हासजुगुप्सयो रत्यादिवत् पृथगाश्रयानुपलम्भात् वैषम्यं स्थितमेवेति पूर्वपक्षः ।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्थायीभावों में ध्रोता ही आश्रय होते हैं, तो यह समुचित नहीं, क्योंकि वे तो रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस की चर्चणा होती है, अतः वे अलौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते ।

समाधानमभिदधाति—

सत्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् ।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य । तत्र हास्य-बीभत्सयोः । आक्षेप्यः ।

सादाश्रयानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वात् ।

लौकिकयोर्हासजुगुप्सयोरपि कर्तृत्वादाश्रयः क्वचिन्नैकिक पुरुषः स्यादेव । स एवानयो-
राश्रयः कल्पनीय इति न वैषम्यमित्युत्तरपक्षाभिप्रायः ।

उक्त शङ्का सच है, परन्तु वहाँ उन दोनों भावों के आश्रय किसी दर्शक पुरुष-विशेष
का आश्रय कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उसको समझ लेना चाहिये ।

ननु तदाश्रयाद्येपाभावे कागतिरित्यत आह—

तदनाक्षेपे तु, श्रोतुं स्थीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

तदनाक्षेपे तु—आश्रयपुरुषविशेषा कल्पनेऽपि । पुरुष स्वकान्तावर्णनपद्य शृण्वन् लौकिक-
रतेराश्रयोऽपि यथा शृण्वरस्याधिभावस्यालौकिकरतेरप्याश्रयो भवति, तथैव हासजुगुप्सयोरपि
लौकिकालौकिकयोरैक एवाश्रयः स्यात्, लौकिकभावस्याश्रयोऽवस्थाभेदेनाप्यलौकिकभावस्या
श्रयो न स्यादिति नियमस्याभावादिति सारम् ।

यदि उक्त आश्रय करना नहीं चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये, जहाँ स्वपत्नी
विषयक वर्णन वाले पद्यों को सुनकर पति को रस का उद्बोध होता है, वहाँ जैसे लौकिक
प्रेम और अलौकिक रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे यहाँ भी एक ही श्रोता
को लौकिक हास-जुगुप्सा और अलौकिक हास्य-वीभत्स रस दोनों का आश्रय मान लेने
में कोई बाधा नहीं ।

उपसंहरति—

एवं च संक्षेपेण निरूपिता रसाः ।

एवमुक्तप्रकारेण । आलम्बनापनन्ततया रसानामनवधिप्रभेदानां निरूपयितुमनर्हत्वेन
संक्षेपेणैव निरूपणमवसेयम् ।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ रसध्वने रसवदलद्वारस्य च स्वसम्मतं विषयनिर्माणं निर्दिशति—

एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसाज्झारत्वम् ।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनि, अत्रत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदो रस-
वदलद्वार इत्युभयोर्विभक्तविषयव्यवस्थेत्यर्थः ।

अथ रसध्वनि तथा रसवत् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करते हैं 'एषाम्' इत्यादि ।
जहाँ ये रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसध्वनि' का व्यवहार होता है और जहाँ
ये 'रस' अङ्गरूप से व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसालङ्कार' व्यवहार का होता है ।

उभयोर्विभागे परकीयमत प्रतिपादयति—

केचित्तु—'प्राधान्य एषां रसत्वम्, अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव । रसालङ्कार-
व्यपदेशस्त्वलङ्कारध्वनिव्यपदेशवद्, ब्राह्मणधमणन्यायात् । एवमसंलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्यतायामेव, अन्यथा तु वस्तुमात्रम् ।' इत्याहुः ।

एषां—रसानां प्राधान्ये सत्येव रसध्वनित्वम्, अन्यथा—प्राधान्याभावे (प्राधानीभूतान्य-
स्य, पोषकत्वे) तु पुनरलङ्कारत्वं रसवदलद्वारत्वमेव, ननु ध्वनित्वं भवति । रसानां काव्या-
त्मतया स्वयमलङ्कार्यत्वादलङ्कार (रसवदलद्वार) त्वस्य व्यवहारस्तु, ब्राह्मणधमणन्यायात्
तथाहि—यथा पूर्वं ब्राह्मणे पश्चाद् बौद्धसन्न्यासिनि (धमणे) 'सांग्रतिकामावे भूतपूर्व-
स्यावगति' इति सिद्धान्तेन तात्कालिकब्राह्मणत्वभावेऽपि प्राचीनब्राह्मणत्वमादाय 'ब्राह्मण-
धमणोऽयम्' इति व्यवहारः, यथा वा प्राधान्येन व्यङ्ग्यमानतया ध्वनिरूपता भजत्यलङ्कारे
स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कारकत्वलक्षण-तात्कालिकालङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वालङ्कारत्व-
मादाय 'श्रालङ्कारध्वनि' इति व्यवहारः, तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्का-

रत्नव्यवहारो बोध्यः । एवं-रसध्वनित्वं रसबदलद्वारत्वं च, एषा रसानाम्, असंलक्ष्य-
क्रमतायामेव, अन्यथा-संलक्ष्यक्रमतायां तु तेषां व्यङ्ग्यं वस्तुमात्रं, नतु रसा इति
केचिदाहुरित्यर्थः ।

केचिदित्थनेन सूचिताहचिबीजन्तु पूर्वोक्तरीत्यैव रसालङ्कारत्वोपपत्तौ, तदर्थं भूतपूर्वग-
त्याद्याभयणमधिकमानुचितमिति व्याख्यातारः ।

बहु लोको का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गौण
हो जाने पर तो ये अलङ्कार-मात्र कहे जा सकते हैं अर्थात् उनमें तब रस-विशेषण नहीं
लगाया जा सकता । क्योंकि रस ये तभी तक कहला सकते हैं, जब तक अलङ्कार्य हैं और
जब वे गौण हो जाने से स्वयम् अलङ्कार हो जाते हैं, तब उनमें रस कहलाने की योग्यता
ही नहीं रह जाती । फिर भी जो लोग गौण रसों में केवल अलङ्कार पद का प्रयोग न कर
रसालङ्कार पद का प्रयोग करते हैं, उससे अलङ्कार-ध्वनि पद का प्रयोग जैसा समझना
चाहिये अर्थात् ध्वनि (व्यङ्ग्य) अर्थ को अलङ्कृत करने वालों को अलङ्कार कहा जाता
है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अलङ्कार्य । इस स्थिति में जो ध्वनि (व्यङ्ग्य) हो गया, वह
यद्यपि अलङ्कार नहीं कहला सकता, अतः अलङ्कार-ध्वनि ऐसा व्यवहार उचित नहीं,
तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'अभ्रम' (शौच-भिच्छुक्त) बन जाय,
तब वह ब्राह्मण नहीं रह जाता, फिर भी लोग उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-
अभ्रम' कहा करते हैं, जिसका अभिप्राय यह रहता है कि इसने ब्राह्मण-जुल से आकर
संन्यास लिया है, उसी तरह 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो पहले
अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है । अब गौण रसों में जो 'रसालङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है,
उसका भी आशय स्पष्ट हो गया अर्थात् जो कभी रस था, वह अभी अलङ्कार है यही तात्पर्य
वहाँ भी समझना चाहिये । उन लोगों का एक सुझाव यह भी है कि ये (स्वायीभाव)
रस तभी कहे जाते हैं, जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं, संलक्ष्यक्रम हो जाने
पर तो वस्तु शब्द से ही इनका व्यवहार होता है ।

रसानामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं व्यवस्थापयति—

एते चासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः सहृदयेन रसव्यक्तौ ऋगिति जायमानायां
विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शकमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवेधक्रम-
स्येवालक्षणात् ।

एते-निरूप्यमाणा, रसा भावादयश्च असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या न सम्यग् लक्ष्य आशु-
भावितया प्रत्येतुं योग्यो वाच्यव्यङ्ग्यार्थप्रतीत्योः-क्रमो येषु तादृशा भवन्ति, रसव्यक्तौ
कार्यरूपायां रस(प्रथेति)प्रतीतौ, ऋगिति शीघ्रतरं, जायमानायां, कारणरूपस्य वाच्य-
विभावादिविमर्शस्य, यः क्रमः पूर्वापरीभाव, तस्य सतो विद्यमानस्यापि, सूच्या शतपत्रस्य
कमलस्य, पत्राणां शतस्य वेधे यः क्रमस्तस्यैव सम्यक् समीचीनतया, अलक्षणादिप्रत्यया-
दित्यर्थः । यथा सूच्या कमलदलशतवेधे द्रुततरं क्रियमाणे पूर्वापरक्रम औपपत्तिकत्वेन
कल्प्यमानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्य, तथैव वाच्यविभावादिप्रतीतिव्यङ्ग्यरसादि-
प्रतीत्योः कार्यकारणरूपतया ऋम कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय
इत्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशयः ।

ये रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि सहृदयों को रस की प्रतीति बहुत
शीघ्र होनी है, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और
रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम बरतत रहता है, वह लक्षित नहीं होता अर्थात् उसका
ज्ञान नहीं होता । देखिये—व्यङ्ग्यों की असंलक्ष्यक्रमता को रद्द करने के लिये ग्रन्थकार

ने कितना उपयुक्त दृष्टान्त पेश किया है, शतपत्र कमल के सौ पत्तों को तहाकर रखिये, फिर उस पर सुई चुभोइये, सौ-के-सौ पत्ते निमिषमात्र में विध जायँगे, अब आप सोचिये कि वे सब पत्ते एक ही बार विधे, या क्रमशः ? विवेक कहेगा क्रमशः, परन्तु मन ऐसा नहीं समझता अर्थात् मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्ते विध गये। वास्तविकता यह है कि पत्तों के शीघ्र विध जाने से वेध के आगे पीछे का क्रम ज्ञात नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये।

ननु मा क्रम कल्पयामित्याशङ्का निराकरोति—

न त्वक्रमव्यङ्ग्याः, व्यक्तेस्तद्धेतूनां च हेतु-हेतुमन्वायासङ्गत्यापत्तेः।

व्यक्तिवैयञ्जनिकप्रतीति । हेतुहेतुमन्वाव- कार्यकारणभावः ।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्योः क्रमो नास्त्येवेति वक्षुं न शक्यम्, यतस्तयो ममाभावे (यौगपद्ये) कार्यकारणभावस्यैवासम्भवः, कार्योत्पत्त्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवर्तिन एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यभिसन्धिः ।

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहने से रसों को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये अर्थात् क्रम है ही नहीं ऐसा समझना गलत होगा, क्रम है अवश्य, केवल वह ज्ञात नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रस की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, वह असङ्गत हो जायगा क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में जो वहाँ (कार्योत्पत्ति देश में) नियमतः उपस्थित रहे वही कारण कहलाता है, फिर तो कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) का होना अनिवार्य है।

अथ भक्तिरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपहवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः।

अथेति प्रश्नार्थकम् । अत एव नवैव । हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावे । भगवद्भक्तै सहृदयै । अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य । अनुराग प्रीतिरतिरित्यनर्थान्तरम् । स्थायिभाव—रसरूपयोर्भक्त्योर्हार्षयोरिव लौकिकालौकिकत्वाभ्या भेदोऽवश्येय ।

स्थायिभाव-विभावादिसमप्रसामधीसंबलनात् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्तिरसस्थापि दशमस्यापलपितुमशक्यतया रसाना नवत्वमेवेति नियमो न सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षसारासारः ।

अब भक्ति नामक दशम रस की शङ्का करते हैं—'अथ' इत्यादि । रस इतने (नौ) ही क्यों हैं ? क्योंकि भागवत 'आदि पुराणों के श्रवण करते समय भक्त लोग जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं, वह 'भक्ति' नामक दशम रस भी लपलाप करने योग्य नहीं है । साक्षात् भगवान् उस रस के आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाञ्च, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सञ्चारिभाव हैं । तथा इसका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप 'भक्ति' ।

अथान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावमाशङ्कते खण्डयति—

न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् ।

असौ भक्तिरसः ।

भक्तिरसस्थापिभावस्य भगवदनुरागरूपत्वाच्छान्तरसस्थापिनो निर्वेदस्य च वैराग्यरूपत्वाद् विरुद्धस्थायिकस्य रसस्य विरुद्धस्थायिके रसेऽन्तर्भावसम्भवात् भक्तैः शान्तेऽन्तर्भाव इति भावः ।

‘ यदि आप कहें कि ‘भक्ति-रस’ का अन्तर्भाव शान्त-रस में ही हो जायगा, अतः यह धनिरिक्त नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ‘भक्ति-रस’ का स्थायीभाव अनुराग है, और ‘शान्त-रस’ का वैराग्य (निर्वेद), जो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फिर उन दोनों स्थायीभावों को आधार बनाकर होने वाले ‘भक्ति’ और ‘शान्त’ रसों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

समाधान—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्यानुपपत्तेः ।

‘रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथास्त्रितः ।

भावः प्रोक्त-स्वदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः ॥’

इति हि प्राचां सिद्धान्तात् ।

उच्यते समाधिरिति शेषः ।

देव-गुरु-पितृप्रसूतिविषयकरति, प्राधान्येन अश्रितोऽभिव्यक्तिविषयीकृतो व्यभिचारीभावश्च भाव-प्रोक्तः । अनौचित्येन कौटुम्बिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिता काव्ये व्यथहता रसा भवाश्च तदाभासा रसाभासा भावार्थेति कारिकायाः । प्राचा काव्यप्रकाशकाराणाम् ।

भक्तेर्देवादिविषयकरतिरूपाया काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्तानुगतत्वेन यतो भावस्तमेव, ननु रसत्वम्, अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न सम्भव इति समाधानपशामिप्रायः ।

उच्यतीति से दशम ‘भक्तिरस’ है, यह शङ्का स्थिर हो चुकी, अब उसका समाधान देते हैं—‘उच्यते’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी को भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि के विषय में होने वाली रति और व्यञ्जनाकृति से ज्ञात हुये व्यभिचारीभाव ‘भाव’ कहलाते हैं और अनुचित रीति से प्रसूत रस तथा भाव क्रमशः ‘रसाभासा’ और ‘भावाभासा’ कहलाते हैं यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है ।

तत्रैव पुनरुच्यते—

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात् । अस्तु वा भगवद्भक्तौरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगम-काभावादिति घान्यम् ।

यथा कामिनीविषयकरतौ रतित्वं, तथैव देवादिविषयकरतिप्रपीति तुल्यताया कामिनी-विषयकरतेरेव कर्म स्थायित्वम्, अपरासां च रतीना साधारणभावत्वमज्ञीक्रियते ? वैषम्ये बीजाभावादित्येक पूर्वपक्षः । अथवा विनिगमकाभावाद् भवदङ्गीकृतिप्रतिकूलं भगवद्वि-षयकरतेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिविषयकरतीनामेव च भावत्वमज्ञीक्रियतामिति द्वितीय पूर्वपक्षः ।

आप कहेंगे—यदि ऐसी ही बात है, तो कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसको भी ‘भाव’ मानिये, क्योंकि देवतादि विषयकप्रेम और कामिनीविषय प्रेम में कोई भेद नहीं है—आखिर दोनों प्रेम ही तो हैं, अथवा भगवद्भक्ति को ही मन्दार का स्थायीभाव मान लीजिये और कामिनीविषयक रति को ही सञ्चारोभाव, क्योंकि इसमें कोई खास युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायीभाव मानना चाहिये ।

द्वयो- पूर्वपक्षबोरेकमेव समाधानमाह—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात् ।

अत्र साहित्ये, भरतप्रथममुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तीनां रसत्वस्य भाव-

त्वस्य च व्यवस्थापने स्वातन्त्र्ययोग सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात् स्वेच्छया विपरी-
तकल्पना नात्र कर्तुं शक्यत इत्याशयः ।

‘स्वातन्त्र्यायोगात्’ इति पाठे तु भरतादिभिन्नवचनानां रसभावव्यवस्थापने स्वातन्त्र्या-
भावादित्यर्थः ।

उक्त शब्दा के उत्तर में भेरा कथन है कि साहित्य में रस-भाव आदि की व्यवस्था
भरत-आदि मुनियों के चरनों के अनुसार की जाती है, अतः इस विषय में स्वतन्त्रता
का स्थान नहीं है अर्थात् भरत आदि मुनियों ने देवता आदि विषयक रति को भाव और
कामिनी-विषयक रति को स्थायीभाव माना है, इसलिये हम लोगों को भी वैसा ही
मानना चाहिये ।

उक्त समर्थयति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद्
वा कुतः शुद्धभास्त्वं जुगुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात् ।

अन्यथा-भरतादिवचनानामेव रसादिशब्दव्यवस्थापने स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे । पुत्रादिविष-
यत्वं रतेरपुष्टत्वोपलक्षम् । शुद्धभावत्वं स्थायित्वासङ्कीर्णव्यभिचारिभावत्वम् । अखिल-
दर्शनस्य समस्तसाहित्यशास्त्रस्य, वैयाकुली व्याकुलत्वमव्यवस्थितत्वमिति यावत् ।

कस्यापि रसादिविषये व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विशृङ्खलतर्कसम्पर्कात्, सकलं साहित्य-
शास्त्रमेवानियन्त्रितं स्यादिति भरतादिवचनानां रसादिशब्दव्यवस्थापकत्वाङ्गीकार आवश्यक
इति भावः ।

यदि रस-भाव आदि के विषय में किसी को प्रामाणिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना
जाय अर्थात् केवल तर्क से काम लिया जाय, तब तो सकल साहित्य-दर्शन ही उल्ट-पल्ट
जायगा, क्योंकि उस स्थिति में पुत्र आदि के विषय में जो माता-पिता का प्रेम होता है,
उसको भी स्थायीभाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध (स्थायी नहीं) सञ्चारीभाव क्यों
नहीं मान लिया जायगा ?

भक्तोरसत्वरथ स्वीकारे दोषं दर्शयन् प्रसङ्गमुपसहरति—

रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भव्येत, इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः ।

इतिहेतौ । शास्त्रं भरताद्यनुशासनमनतिक्रम्य यथाशास्त्रम् । ज्याय श्रेष्ठम् । यदि भक्ति-
रसोऽपि दशमो भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्त्वदृष्ट्या निर्णयोक्तस्य रसानां नवत्वसङ्ख्या-
वच्छिन्नत्वस्य भङ्ग प्रसज्येत, तस्माद् रसभावादिव्यवस्था भरताद्यनुशासनानुसारिण्येव
सर्वथा श्रेयसीति सारम् ।

इस तरह भरत आदि मुनियों को व्यवस्थापक मान लेने पर दशम ‘भक्ति-रस’ का
स्वीकार न करना ही उचित है, अन्यथा भरतमुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसों की
सख्या नौ बतलाई है, वह असङ्गत हो जायगी। तात्पर्य यह है कि इन सब विषयों में शास्त्रों
का अनुसरण करके चलना ही श्रेयस्कर है ।

अथ प्रमङ्गाद् रसानां परस्परमाविरोधं विरोधं च निर्दिशति—

एतेषां परस्परं कैरपि सहाविरोधः, कैरपि विरोधः । तत्र—धीरशृङ्गारयोः,
शृङ्गारहास्ययोः, धीराद्भुतयोः, धीररीद्रयोः, शृङ्गाराद्भुतयोश्चाविरोधः । शृङ्गार-वीभ-
त्सयोः, शृङ्गारकहणयोः, धीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोश्चविरोधः ।

एतेषां रसानाम् । अविरोध उपकार्योपकारकभावो विरोधश्चाप्युपायकभावः । चकारेण
शान्ताद्भुतयोः, धीरधीमत्सयोश्च ताटस्थस्य सप्तदः । तत्र रसानां विरोधमात्रप्रदर्शनं
दर्शने यथा—

'आद्य' करुण-वीर-रस-रौद्र-वीर-भयानकैः । भयानकेन करुणे-नापि हास्यो विरोधभाक् ॥
करुणो हास्यश्चकार-रसान्यामपि तादृशः । रौद्रस्तु हास्य-शृङ्गार-भयानकरसैरपि ॥
भयानकेन शान्तेन, तथा वीररस स्मृतः । शृङ्गार-वीर-रौद्राल्य-हास्य-शान्तर्भयानकः ॥
शान्तस्तु वीर शृङ्गार रौद्र हास्य-भयानकैः । शृङ्गारेण तु वीररस इत्याह्वयता विरोधिता ॥' इति ।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—'स्नेहान्' हायादि ।
इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध । जैसे—
वीर और शृङ्गार में, शृङ्गार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में एवं
शृङ्गार और अद्भुत में परस्पर अविरोध अर्थात् विरोध नहीं है । शृङ्गार और वीररस में,
शृङ्गार और करुण में, वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और शृङ्गार में
परस्पर विरोध है ।

इत्थं रसानामविरोधं च प्रदर्शयति । प्रबन्धे नियोविहृद्धरससन्निवेशाभापमुपदिशति—

तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्यकामेन, तदभिव्यक्तके काव्ये तद्विरुद्धरसा-
द्धानां निबन्धन न कार्यम् । तथाहि सति, तदभिव्यक्ती विरुद्धः प्रकृतं बाधेत ।
सुन्दोपसुन्दन्यायेन वोभयोरुपहृतिः स्यात् ।

तत्र-तेषु रसेषु, प्रकृत मूलतः प्रस्तुतं रसं, परिपोष्यकामेन प्रयत्नोक्तिमिच्छता, कविना,
काव्ये निरख्यमानप्रबन्धे, तद्विरुद्धरसाज्ञाना प्रकृतरस-विरोधिरसविभावादीनां, निबन्धनं
निवेशनं, न कार्यम् । हि यत्, तथा प्रकृतरसविरोधिरसाज्ञानसन्निवेशे सति, तदभिव्यक्तौ
विरुद्धरसस्य स्थायै पोषितस्य प्रतीतौ, विरोधो रस कदाचित् प्रबलः प्रकृतं रसं बाधेत ।
उभयोः प्रकृतरस-विरोधिरसयोः समबलत्वे वा सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परमुपहृतिरुपपातः
स्यादित्यर्थः ।

सौदरी सुन्दोपसुन्दनामानौ द्वैतौ तादृकानामेकत्रैव खियामासकरया विहृष्टौ तुन्वयल-
त्वान् परस्परमभिजघ्नुरितिद्विपौराणिकमितिवृत्तम् ।

प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पृष्ट करने की चाह यदि कवि को हो अर्थात् यदि उसकी
इच्छा हो कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णतया हो, तब उसको चाहिये कि
उस रस को अभिव्यक्त करने वाले काव्य में उससे विरुद्ध रस के अङ्गों का प्रयोग न करे
क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा
'सुन्दोपसुन्द न्याय' से दोनों रस नष्ट हो जायेंगे अर्थात् एक का भी परिपाक न हो सकेगा ।
सुन्द और उपसुन्द की कथा महाभारत में आई है, वे दोनों सौदर भाई थे, ब्रह्माजी के
बरादान से दोनों ही अल्प्य हो गये, केवल अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार सकता
था, जिसकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु माया की गति प्रबल होती है, किसी
सुन्दरी अप्सरा में दोनों आसक्त हुये, जिससे दोनों में बैर उत्पन्न हुआ और उसके लिये
दोनों आपस में लड़ कर मर मिटे । इस तरह दोनों के समान बलशाली होने के कारण
आपस में लड़ कर नष्ट हो जाने के डर को 'सुन्दोपसुन्द' न्याय कहने हैं ।

प्रयोजनवशाद् विहृद्धरसयोरपि क्वचन समावेशमनुशासत् तस्य प्रकारमुपदिशति—

यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोरैकत्र समावेश इष्यते, तदा विरोध परिहृत्य
विधेयः । तथाहि—(वराधस्तावद् द्विविधः, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च । आद्य-
स्तदधिकरणानुत्तररूप । द्वितीय—तज्ज्ञानप्रतिबन्धज्ञानकत्वलक्षणम् । तत्रा-
धिकरणान्तरे विरोधिनः स्थापने प्रथमो निवर्तते । यथा—नायकगतत्वेन वीररसे
यगोनीये, प्रतिनायके भयानकस्य ।

एकत्र प्रबन्धे । इष्यतेऽभिलाषते कवितेति शेषः । आद्य स्थितिविरोधः, सचैकस्मिन्-

धिकरणेऽवृत्तित्वरूप' । द्वितीयो—ज्ञानविरोध', स च तज्ज्ञानेन विरोधिरसज्ञानेन प्रतिबन्धं
वाप्यं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूपः । 'प्रतिबन्ध' स्याने 'प्रतिषेद्ध' इति पाठे तु प्रतिषेद्धं बाधितं
ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थः । 'प्रतिबद्धज्ञानजनकत्वम्' इत्यपपाठ', प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञान प्रति-
विषयस्य जनकत्वाभावात् । तत्र—तयोर्विरोधयोर्मध्ये प्रथमं स्थितिविरोधो विरोधिरसयो-
रधिकरणभेदेन स्यापने निवृत्तो भवति । यथा—नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानक-
रसस्य यदि वर्णनं कविना भिद्येत, तदैकस्मिन्नपि काव्यप्रबन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानक-
रसयो समावेशो विरोधनिवृत्त्या न दोषाय कल्पत इति सारम् ।

अब विरुद्ध दो वा अनेक रसों का समावेश यदि एक काव्य में करना चाहें, तो कैसे
यह किया जा सकता है ? इसको बतलाते हैं—'यदि तु' इत्यादि । यदि विरुद्ध रसों का एक
जगह समावेश करना इष्ट हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये । विरोध-
परिहार का प्रकार भी समझिये । विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा
ज्ञान-विरोध । स्थिति-विरोध का मतलब है—किसी एक अधिकरण में दोनों का न रह
सकना और ज्ञान-विरोध का मतलब है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का एक जाना
अर्थात् एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न सके, तब ज्ञान-विरोध
कहलाता है । उनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को भिन्न अधिकरण में स्थापित
करने से निवृत्त हो जाता है । जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रति
नायक (उसके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये ।

ननु नायकवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्नधिकरणे समावेशो
विरोधो वा न सम्भवतीत्यत आह—

रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिकवृत्ति-
त्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवाच्च ।

अत्र प्रकरणे विरोध-समावेशादिप्रस्तावे तदुपाधी रसानां स्थिरो धर्म स्थायिभावः ।
वेदान्तरस्पर्शशून्यानां सच्चिदानन्दलक्षणानामपरिच्छेदानां नायकाद्यधिकरणेऽवृत्तीनां
रसानामद्वितीयतया भिधो विरोधस्य समावेशस्य चासम्भव इति तु न विभाङ्गीयम्, यत्
इहत्वं रसपद रसोपाधे रसतन्योग्यस्य वा स्थायिभावस्य बोधकम् । तस्य चापरिच्छिन्नत्वा-
भावाच्च विरोधो न वा समावेशोऽसम्भवः । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'आश्रयैः न्ये विरुद्धोऽयं,
स कायो भिन्नसंश्रयः । रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रस ॥' इति, 'रसपदेनात्र प्रकरणे
स्थायिभावः सप्रसन्दयोः' इति, न. १.

इस प्रकरण में 'रस-पद' से उसके उपाधिस्वरूप स्थायीभावों का ग्रहण समझना
चाहिये क्योंकि रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काव्य के धावक) में रहता है—
नायक आदि में नहीं । दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय आनन्द-मय है अर्थात् ब्रह्मरूप
है—उसके ज्ञान होते समय अन्य किसी का ज्ञान होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर
विरोध का होना असम्भव है ।

प्रथमविरोधपरिहारेण समावेशमुदाहरति—

उदाहरणम्—

स्थिति-विरोध कैसे दूर किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये!।
कथन चातुर्वारो राजानं स्तौति—

'कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरस्तव ।

मृगारातेरिव मृगा, परे नैवावतास्थिरे ॥'

दे राजन् । समराज्ये, कुण्डलीकृतमत्याकर्षणेन वर्तुलीकृतं षोडशं धनुर्वाभ्या,

तादृशौ दोर्दण्डौ भुजरिधौ यस्य, सतपोषः, तथाभूतस्य दुराकृत्यनुपस्तानपुरोऽप्ये, शृगारतो-
सिंहस्य पुटः नृगा हरिणा इव, परे रत्नवो नैव श्रवतस्त्रियरे, भीत्या द्रुतं पलायाधकिर ह्यवर्षः ।

इह नायके वर्णनीयवृत्ते वीररसस्य, प्रतिनायकेषु प्रतीपवृत्तेषु च भयानकरसस्य समावेशो
यथा न दोषाय, तथाऽन्यत्रापि बोध्यम् । मृगशन्दस्य द्विरुपादानन्तु किञ्चिन्महत्कृतिं विच्छिनत्ति ।

कोई कवि राजा की चापलूसी करता है—हे राजन् ! युद्ध में जब आपने कान तक लॉच
कर कुण्डल के समान गोल किये हुये धनुष को हाथ में लिया, तब आपके आगे शत्रु उसी
तरह नहीं उहर सके, जिस तरह सिंह के आगे नृगा नहीं टहरते अर्थात् धनुष लेकर
युद्ध में आपके जाते ही भय के मारे शत्रु भाग खड़े हुये । यहाँ नायक में 'वीर' और
प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन किया गया है जो भिन्न अधिकरण स्थिति होने से
दोषाघातक नहीं है ।

द्वितीयविरोधनिवर्तनादेकत्र समावेशस्योपायमभिधाय बहुदाहरणं दर्शयति—

रसान्तरस्याविरोधिनः सन्धिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निय-
तेति । यथा मन्त्रिर्मितायामाल्यायिक्रियां काण्डाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षेः शान्त-
रसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—'किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम् ? कोऽयमनिर्वाच्यो
यच्चतत्तनाया मधुरिमा ?' इत्यद्भुतरथान्तरव्यस्यापनेन 'वरवर्णिनी' प्रत्यनु-
रागवर्णने ।

सन्धिकर्ता विरुद्धद्वयमैत्रीकारक । अन्तरालेर्द्वयोर्मध्ये । द्वितीयो ज्ञानविरोधः । कण्यः
श्वेतकेतुश्च महर्षी । अनारलितपूर्वमदृष्टाश्रुतपूर्वम् । वरवर्णिनी तदाप्याऽऽख्यायिकाया नायिका ।

अत्र प्रथमं शान्तस्तदनु शृङ्गारो रसस्य मिथो विरुद्धौ स्थापितौ भूयं दोषाय कल्पेताम्,
यदि विरुद्धयोस्तयोर्मध्ये, सन्धिकृदिवोभयाविरुद्धः 'किमिदम्' इत्यादिवाच्यद्वयव्याप्तयोऽद्भु-
तरसो न सन्निवेशेत । तथा विहिते त्वमयोर्नैरन्तर्याभावाज्ज्ञानकृतो विरोधो निवृत्त इति
न कोऽपि दोषः ।

एव द्वितीय 'ज्ञान-विरोध' को निवृत्त करने की विधि बतलाते हैं—'रसान्तर' इत्यादि ।
ज्ञान-विरोध भी तब निवृत्त हो जाता है, जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में स्थिति
(सुलह) करने वाले की तरह किसी अविच्छिन्न (जो उन दोनों रसों का विरोधी न हो)
रस को स्थापित कर दिया जाता है । जैसे—मेरी (पवित्रतरास की) आख्यायिका में—
कण्ठ्याश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्त रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर 'यह
कैसा अतनुभूत रूप है, यह कैसी अवर्णनीय यथन-परिभाटी की मधुरता है,' इस तरह
अद्भुत रस को मध्य में रख कर वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया
गया है । यहाँ शान्त और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन दोनों का ही
अविरोधी अद्भुत आ गया, जिससे उन दोनों का भी विरोध मिट गया क्योंकि उगातार
रहना ही विरोध का मूल धा, यह अब नहीं रहा ।

द्वितीयविरोधनिवृत्तेऽप्यहर्णान्तरं दाढ्याय प्रतिपादयति—

यथा या—

सद्य समरोत्खटशरीर-गौरवतं वर्णयति—

'सुराङ्गनाभिरारिहता-व्योम्नि धीरा विमानगाः ।

विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरुनारीभिराश्रुतान् ॥'

सुराङ्गनाभिरमरारोगि (अमरारोगि) आरिहताः कदाचिदपि प्रागनुपसन्भरता
शब्द अरण्यमात्रिहताः, व्योम्नि गगने, विमानगाः (सद्यः समरे हताः रथी समुं)

म्योभयानारुडा, वीर शूरा, फेरुनारीभि क्रोष्ट्रीभि, आहतान् मासुलोभेन वेष्टितान्,
(रणभुवि निष्प्राणान्) निजान् स्वीयान्, देहान्, विलोकन्ते सोग्माहं पश्यन्तीत्यर्थः ।

अथवा—कोई कवि युद्ध में मर कर स्वर्ग जाने वाले वीरों के वृत्तान्तों का वर्णन करता है—
(युद्ध में मरे हुये) वीर जय देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से आलिङ्गित होकर, विमानों में
बैठे हुये, आकाश मार्ग से (स्वर्ग जाते रहते हैं), तब वे (रणभूमि में) निष्प्राण पड़े हुये
अपने देहों को मादा-सियारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुराङ्गना-मृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभा-
क्षिप्तो वीररसो निवेशितः । अन्तनिवेशश्च तदुभयचर्चणाकालान्तर्वृत्तिकालगत-
चर्चणाकत्वम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्ध एव शृङ्गारचर्चणोत्तरं वीरस्य चर्चणाद्-
नन्तरं च द्वितीयार्धं बीभत्सस्येति स्पुष्टमेव ।

अत्रास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, मृतकशरीरव बीभत्सस्यालम्बनम् । अन्तर्मध्ये
स्वर्गलाभेन पूर्वार्धप्रतिपादितेन, आक्षिप्त उत्साहस्याभिद्वारेण बोधितो वीररस, शृङ्गारवी-
भत्सयोरविरोधी, निवेशितचर्चणागोचरता नीतः । चत्सर्वे । तदुभयस्य विरुद्धरसद्वयस्य
यौ चर्चणायाः कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यगतो यः कालः, तत्र चर्चणा यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेश

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनकशृङ्गाररसचर्चणायाः पश्चात्, शवालम्बनकवीभत्सरसचर्च-
णायाश्च प्राक्, विरोधिनीस्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभयाविरुद्धस्य विलोक-
नोत्साहस्थायिकवीररसस्य सज्जिपेशादवोप इत्याशयः ।

इतत् पुनरत्र विभावनीयम्—‘आय कथण-वीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकै ।’ इति
दर्पणोक्तं शृङ्गारस्य यथा वीभत्सो विरुद्ध, तथैव वीरोऽपि, तस्माद् विरुद्धयोः शृङ्गार-वीभ-
त्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशः सङ्गच्छते ? तारस्थभाभावात् ।

यहाँ देवाङ्गनाओं को आलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को
अलम्बन मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं,
अतः इन दोनों के मध्य में तदुभयाविरोधी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि
वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं है, तथापि स्वर्ग-लाभ की बात से उसका आक्षेप हो
जाता है । अन्तर्निवेश—बीच में प्रवेश—का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के
आस्वादन का जो समय है, उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना । वह यहाँ
स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का आशय होने के बाद वीर-रस
का आस्वाद होता है और उसके बाद द्वितीयार्ध में वीभत्स-रस का ।

पूर्वमव्यत्यासेनोदाहरणान्तरं पुनर्दर्शयति—

‘भूरेणुदिग्धान्’ इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससाम-
ग्रीनशाद् बीभत्सचर्चणोत्तरं तत्सामप्रधात्तिस-निश्शङ्कप्राणत्यागादिरूपसामग्री-
कस्य वीरस्य चर्चणे, शृङ्गारचर्चणेति विवेकः ।

‘भूरेणुदिग्धान्’ ‘नवपारिजात-मालारजोवासितबाहुमभ्या’ ।

गाढ शिवाभि परिरभ्यमाणान्, सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तराला ॥

सशोणितैः मन्वभुजा स्फुरद्भिः, पश्य खगानामुपवीज्यमानान् ।

सवोजिताश्चन्दनवारिकैः, सुगन्धिभिः कल्पलतादुन्दुलैः ॥

विमानपर्यङ्कतले निपण्णा, कुन्डलविष्टतया तदानीम् ।

निर्दिरयमानाङ्गलान्गुलीभि-वीरा स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥’

इति ध्वन्यालोक-काव्यप्रकाशोद्धृत-पद्यत्रयात्मकैव वाक्यविशेष । प्रथमं पूर्वं शुताऽवगता वीमत्सरसस्य या सामग्री, तदज्ञात् तस्या बलाद् वीमत्सस्य चर्चणा, तदुत्तरं तस्यापप्रया वीमत्सरसास्नादजनककारणकूटेन, आक्षिप्ता प्रतीतिपदवीमयतारिता निरराद्भुप्राणत्यागादि-रूपासामग्री वीररसप्रतीतिकारणकूटे यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य वीरस्य चर्चण आस्वादो निष्पन्ने सति, शृङ्गारस्य चर्चणा भवतीति विवेक पूर्वस्मात् पृथग्विचार इत्यर्थः ।

सुराङ्गनेत्याद्युदाहरणे पूर्वं शृङ्गारस्य, मध्ये तदस्यत्वेन वीरस्य, अन्ते विरोधिनी वी-भारसरस्यास्वादः । 'भूरेणुदिग्धान्' इत्याद्युदाहरणे तु पूर्वं वीमत्सस्य, मध्ये वीरस्य, अन्ते शृङ्गारस्य आस्वाद इति द्वयोर्दुदाहरणयोः क्रममात्रेण भेदः ।

'मू-नेणु-दिग्धान् पतितानपरयन् ॥' (सङ्कन टीका पृ. १८० देखें)

यह युद्ध-भूमि का वर्णन है । युद्ध में मारे गये वीरों को विमानों पर सजे सजाये पल्लों के ऊपर बैठा कर अप्परायें स्वर्ग ले जा रही थीं और उन्हें उस समय वे अप्परायें अपनी अङ्गुलियों के इस्तारे से युद्ध-भूमि में गिरे हुये उनके मृत शरीरों को दिग्गल रही थीं तथा वे वीर अपने उन शरीरों को कौतुक पूर्वक देख रहे थे । हा ! उन मृतक मर्त्य शरीरों में और इन सजीव दिग्ग्य शरीरों में कितना अन्तर था ? मृत शरीर, भू-भूलियों से धूसर, शृङ्गारियों से कस कर आलिङ्गित और मासाहारी पक्षियों के रुधिर-लिप्त अत एव चमचमाते हुये पक्षों से झले जा रहे थे और ये दिग्ग्य देह, नवीन पारिजात-गुप्फों की मालाओं के परागों से सुगन्धित बच्च वाले, सुराङ्गनाओं के आलिङ्गनों से भरे हुये भुज-मत्स्यों से युक्त चन्दन जल के सेकों से सुगन्धित एव कल्प-बह्लियों से प्राप्त दिग्ग्यवस्त्रों के द्वारा बने हुये, व्यजनों से झले जा रहे थे । इस काव्यप्रकाश के पद्यों में तो पहले वीमत्स-रस की सामग्री का अचरण होने के कारण उष्का आस्वाद होता है और तदनन्तर वीमत्स-रस की सामग्री से आक्षिप्त-निर्मयता पूर्वक-प्राण-त्यागादि रूप सामग्री से वीर-रस का आस्वाद होता है, उसके बाद शृङ्गार का आस्वाद होता है—यह भेद है । अर्थात् पण्डितराज के पद्य में क्रमशः शृङ्गार, वीर और वीमत्स का आस्वाद होता है और काव्य-प्रकाश के पद्यों में वीमत्स, वीर और शृङ्गार का क्रमिक आस्वाद प्राप्त होता है ।

अपसंहरति—

इत्थं चोदासीनचर्चणेन प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धचर्च-णोदय इति फलितोऽर्थः ।

इत्थं च उक्तप्रकारेण तु, उदासीनस्य तदस्यस्यान्तरालवर्तिनी वीररसस्य, चर्चणेन प्रत्यक्षलक्षणज्ञानेन, प्रतिबन्धक यद् विरोधिरसज्ञानं तस्य (आत्मविशेषगुणानामेवोत्तर-वर्तिविशेषगुणनारयस्वनियमान्) निवृत्तौ विरतौ जातायाम्, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धकामावालि-रन्तरायः, प्रतिबन्धचर्चणस्य द्वितीयविरोधिरसास्वादस्य, उदय उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

ज्ञानानां क्षणत्रयावस्यावित्वान्मध्यमज्ञानोत्पत्तिक्षणे प्रतिबन्धकस्य अयमज्ञानस्य विलये, प्रतिबन्धस्य तृतीयज्ञानस्योत्पत्तौ न किञ्चिद् बाधकमिति भावः ।

इस तरह से फलित यह हुआ कि उदासीन रस के आस्वाद से प्रतिबन्धक विरोधी रस का ज्ञान जब नष्ट हो जाता है (क्योंकि आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि, अग्रिम क्षण में होने वाले विशेष गुणों से नष्ट होते हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है और रूप, रस, शब्द, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रव्य, ज्ञान, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये विशेष गुण कहलाते हैं यह भी समझना चाहिये), तब द्वितीय विरोधी रस का आस्वाद निर्विकार रूप से होता है ।

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्टे—

अङ्गाङ्गिनोः, अङ्गिन्यन्यस्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रधानम् ।

अत्र चाङ्गी च-अङ्गाङ्गिनौ पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोर् यदि परस्परं विरोध स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नोपपद्येत, तथाऽन्यस्मिन् रसेऽङ्गिनि प्रधाने, अङ्गयो पोषकत्वं प्राप्तयो, मियोविरुद्धयोरपि राजनि सेवकयोरिव, रसयोर्विरोधो नोपपद्येत, परको याङ्गतया स्वातन्त्र्यविरहेण विरोधासम्भवादिति रसद्वयविरोधनिवृत्ते प्रकारद्वयमित्यभिप्रायः ।

अथ अन्य प्रकार से विरोध हटाने की युक्ति दिखलाते हैं—'अङ्गाङ्गिनो' इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गीभाव अर्थात् पोष्य-पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग-अङ्गीभाव ही न बने । इसी तरह जहाँ कोई एक रस अङ्गी-मुख्य-हो और उसके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी कहे जाते हों, तो वहाँ भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में वह नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक तीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

तत्र प्रथमं विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्ताच्चिपतिता गतजीवितां प्रेयसी प्रियो ब्रवीति—

‘प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः,

स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः ।

मामद्य मञ्जुरचनेर्वचनैश्च बाले !,

हा लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोपि ॥’

अथि बाले मुग्धे । अद्यास्मिन् दिने, सखीभिरालीभिः, सह, सहसा (मध्यागते) ऋद्रिति, सविनयं विनयपुरस्सरम्, प्रत्युद्गता सत्करणाद्य प्रत्युपस्थिता, स्मेरैरीपद्मासवलितैः, स्मरस्य मदनस्य, सचिवैः सूचकतया सहायैः, सरसावलोकैः सानुरागनिरीक्षणैः, मञ्जुर्मनो-रमा रचना विन्यासो येषां, ते तथोक्तास्तादृशैरतिलितैः, वचनैर्भाषणैश्च (अन्यदिनवत्) हा हन्त ! लेशतोऽपीषदपि, मा, कथं केन कारणेन, सत्करोपि नैव सम्मानयसीति वद कथयेत्यर्थः ।

जैसे—हा ! बाल ! बालो, आज, तुम, सीप्यों के साथ शीघ्र सामने में विनय पूर्वक उपस्थित होकर, कामभाव को जगाने वाली, विकसित तथा सरस चित्तवनों से और सुन्दर-रचना वाले वचनों से, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों न नहीं कर रही हो ?

प्रसङ्गमभिदधाति—

इयं च पुरो निपतितानां प्रमीतानां नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः ।

प्रमीता मृता ।

यह आगे में पढ़ी हुई मृत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावै-रावेगधिपादादिभिः सञ्चारि-भिश्च व्यञ्ज्यमाना, नायकगता रति-स्तुल्यसामप्रथमिव्यक्ते प्रकृतत्वात् प्रधानी-भूते तद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम् ।

तुल्यथा सजातीयया सामप्रथा कारणकूटेनाभिव्यक्ते । प्रकृतत्वान्मरणे वृत्ते प्रस्तुतत्वात् । तद्गते नायकनिष्ठे । प्रकर्षकत्वादुपकारकत्वात् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम्, अश्रुपातप्रभृतयोऽनुभावः, आवेगादयश्च व्यभिचारिणः, तैः सम्भूयाभिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्थापिरूपा नायकनिष्ठा रतिः, नायिकाया निधनात्तदा-
लम्बनस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिपोषितस्य, कदम्बरसस्यायिनः शोकस्य प्रकर्ष-
कत्वाद्बहुमिति परत्र विरोधिनोरपि शृङ्गारकवणयोः प्रकृतेऽज्ञाज्ञिभावनाद् विरोधनिवृत्तिरिदमुदा-
हरणम् । श्वनिकारास्तु—

‘अविरोधी विरोधी ना रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।

परिपोषं न नेतव्यं-स्तथा स्यादविरोधिता ॥’

इत्यङ्गरसपरिपोषाविधानादविरोधमाचक्षते ।

यहां नायिकारूप आलम्बन में नायक की रति (शृङ्गार का स्थायीभाव) अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं सामग्रियों से अर्थात् अश्रुपातादि से नायक का शोक (कवण का स्थायीभाव) भी व्यक्त होता है, परन्तु प्रधानता यहां शोक की है क्योंकि नायिका के मरण-ज्ञान में चली प्रस्तुत है, रति उसका पोषक है—अहं है, कारण ? प्रेम शोक को बढ़ाता है यह अनुभव सिद्ध है ।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् रतेरत्राप्रतीते कथं शोकाङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायांमाह—

यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामप्रथा शोक एव प्रकृतत्वादित्यागृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रस्युद्रमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः पोषिता नायिकाप्रथा रतिरेव तदङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकशोकप्रकर्षहेतुतायाः सर्वसम्भवत्वान् ।

नायकरतिप्रत्ययस्यानुभावित्वादिह तुना, अग्रगृह्यत इत्यनेन चारचिं सूच्यते । निरुक्त-
सामप्रथा रतिव्यञ्जनेन तेनैव कारणदूटेन । तदङ्ग शोकस्य प्रकर्षकम् । नायिकेत्यादिना हेतु-
पन्थात् । अत्र नायिकाया आलम्बनस्य विनाराक्षिरालम्बनाया नायकनिष्ठाया रतेः प्रतीतिर्न
सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति यद्यग्रह- (न तु वास्तविकविचारः)
क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राचीना रतिः, तस्या एव शोषस्थोपकारकत्वा-
द्दृश्यमास्ताम्, तावताऽपि रते शोकाङ्गत्वस्य सिद्धत्वात्, तादृशरतेस्तच्छोकप्रकर्षत्वस्य
विप्रतिपत्तिप्रस्तत्वाभावादिति सारम् ।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यदालम्बनविनाशाच्चायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाभ्युपगम्यते,
तदाऽऽश्रयविनाशाच्चायकानिष्ठरतेः प्रतीतिः कथङ्कार स्यात्, उभयोर्वैषम्ये योजानुप-
लम्भात् । यदि तु बद्धमान्गरीत्या स्मर्यमाणया नायिकानिष्ठाया रते शोकाङ्गत्वं न्याय्यम्,
तदा तादृशया नायकनिष्ठरतेरपि तत्त्वे बाधकभावात् ।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सच्चिदानन्दरूपतया वेदान्तरूपशून्यत्वेन च मिथो
बाध्यबाधकभावलक्षणस्य विरोधस्योपकार्योपकारकभावलक्षणस्याज्ञाज्ञिभावस्य च कथं सम्भव
इति चेत्, उच्यते—रसपदेनान् प्रकरणे रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्वयोग्यतत्तत्स्थायित्वाव
परत्वाभ्युपगमेन दोषाभावात् । अत एव—‘मतान्तरे तु रसानां स्थायितो भावा उपचाराद्
रपरान्देवोच्चाः ।’ इति अनिर्कृतोऽप्यभिदधते ।

यदि यहा यह आग्रह किया जाय कि—नायक की रति (प्रेम) यहा प्रतीत नहीं होती,
परन्तु उक्त सामग्री से उसका शोक ही यहां प्रतीतमान है, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत है अर्थात्
मृत नायिका को आगे में पड़ी देखकर शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब
उस नायिकानिष्ठ रति को ही शोकका अहं समझना चाहिये, जिसका नायक आलम्बन है,

सत्कार के लिये आगे धाना अनुभाव है और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं, क्योंकि यह बात सब आचार्यों को मान्य है कि नायिका का प्राक्तन प्रेमाचरण नायक के शोक को बढ़ाने वाला होता है। यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि—यदि आलम्बन (नायिका) के नाश हो जाने से नायकनिष्ठ रति की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानते हैं, तब आश्रय (नायिका) की विनाश-दशा में नायिकानिष्ठ रति की प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि इन दोनों प्रकारों में विषमता—स्वीकार करने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है। यदि ग्रन्थकार के द्वारा आगे प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को शोक का अङ्ग मानते हैं, तब तो स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को भी शोक का अङ्ग मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मुझे तो ग्रन्थकार का आशय यह मालूम पड़ता है कि नायिका की मृत्यु के बाद नायक को नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अपना प्रेम नहीं, यही समुचित भी है। कारण ? प्राणीमात्र स्वार्थ-पाश में बद्ध है उसे हर समय में अपना ही अभाव खटकता है, फिर उक्त स्थिति में नायक अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे ? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है। हां, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उसकी याद उसे जरूर आती है और सताती भी है क्योंकि वह उसे इस जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उसका अभाव सदा खटकता ही रहेगा। अनुभव भी प्रायः इसी तरह का है।

ननु नायिकानिष्ठरतिरिदानीमविद्यमाना कथं शोकमुपस्फुर्यादित्यत्राह—

न च नायिकाया नाशात् तद्रताया रतेरसन्निधानात् कथमङ्गतेति याच्यम्,
सन्निधानस्याङ्गतायामतन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः।

सन्निधान सन्निकर्ष सत्त्वमिति यावत् । अतन्त्रत्व कारणत्वेनाविवक्षितत्वम् । नायिकाया विनाशान्, तन्निकृतेरविद्यमानत्वेन शोकस्थोपकारकत्वासम्भव इति च न वाच्यम्, नायिकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठशोकोन्मर्षरुत्वसम्भवादङ्गत्वस्थोपपत्तत्वादिरयमिप्राय ।

यदि आप कहें कि नायिका जब नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम भी वर्तमान नहीं है, फिर वह शोक का अङ्ग कैसे हो सकता ? इसका समाधान यह है कि अङ्ग होने में विद्यमान रहना यहाँ अपेक्षित नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी शोक का अङ्ग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मूर्तपदार्थ का अङ्ग वर्तमान मूर्तपदार्थ ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् जहाँ एक प्रकार की भावना का अङ्ग अन्य प्रकार की भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्तमान रहे या अतीत दोनों धराधर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की कीजा सकती है, वैसे अतीत की भी।

अन्यस्मिन्नङ्गव्यङ्गत्वमाप्तयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—

अङ्गयोर्यथा—

तृतीय रस के अङ्गी रहने पर उसके अङ्गभूत विरुद्ध दो रसों का अविरोध, जैसे—
राजानं चाटुभार कथिदभिदधाति—

‘उत्तिष्ठाः कवरीभर, विवलिता, पार्श्वद्वय, न्यक्कृताः,

पादाम्भोजयुग, रूपा परिहृता दूरेण चेलाञ्जनम् ।

गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट—दमापालवामभ्रुवा,

यान्तीनां गहनेषु कष्टकचिता’ के के न भूमीरुहा ॥’

हे राजन् ! गहनेषु काननेषु, भवद्विद्या पलायमानाना भवतो ये प्रतिभटा परिपन्थिन-
दमापालाभूमिषा, तेषा या वामभ्रुवोऽङ्गना, ताताम्, कवरीभरं केशपाशम्, उदूर्ध्वं शिता
उक्षीता सन्त, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलितावकीर्णता, पादाम्भोजयुगं चरणकमलद्वयं,

न्यङ्कृता अथ कृताः, चेलघलं शाटीवसनश्रान्तं, ह्या ओषेन, दूरेणापरात्, परिहृता दविता, कण्टकैस्तीक्ष्णावयवैश्चिता न्यासाः, के के न अपितु सर्व एव, भूमिदहा वृक्षा पृङ्गन्तीत्यर्थः ।

अत्र कण्टकप्रदस्य वृक्षतीक्ष्णावयवै रोमाघे च शक्ति । तथा च प्रस्तुतेषु भूमिघट-कर्तृक-रिपु राजमहिषीकवरीप्रदृणप्रसृतिव्यवहारेभ्यः प्रस्तुतहठममुककर्तृकवत्प्रदवयवद्वाराणा समा-रोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमिदहव्यवहारव्यङ्ग्य करुण, व्यङ्ग्या-प्रस्तुतहठकामुकव्यवहारव्यङ्ग्य शृङ्गारय रसौ मियो विरोधिनापि, प्रयानीभूते वर्णनीयरज-निपयक-वकृतिप्रतिभावेऽङ्गताङ्गतावित्युभयो विरोधनिवृत्त्या समावेशः ।

कोई कवि राजा की चातुकारिता करता है कि—हे राजन् ! आपके शत्रुभूत राजाओं (जो आपके भय से सपरिवार जङ्गल में भाग गये हैं) की जङ्गल में जाती हुई स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है, कौन ऐसे कँटीले घुड़ हैं जो उनसे छेड़ छुटा नहीं करते ! स्त्रिये—उन स्त्रियों के द्वारा ऊँचे किये जाने पर वे दूध केश-पारा को पकड़ लेते हैं, टेढ़े किये जाने पर दोनों दगलों को मोच लेते हैं, नीचे किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं, और दूर हटा देने पर भी सट से बछों के छोर को ही पकड़ लेते हैं ।

तदाचष्टे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्यां तरु-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीकचर्यादिग्रहण-रूपाभ्यां प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्यां व्यक्तयोः करुण-शृङ्गारयो राजनिपयकरति-भावाङ्गत्वम् ।

व्यवहारयो समासोक्तेरवयवत्वं निष्पादकत्वात् । व्यक्तयोर्व्यङ्गनावगतयो । इतरत् स्पष्टम् ।

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंश होते हैं—एक प्रस्तुत का व्यवहार और दूसरा अप्रस्तुत का व्यवहार, जैसे यहाँ वृक्षों के द्वारा स्त्रियों के केश आदि का ग्रहण प्रस्तुत का व्यवहार है और किसी कामी पुच्छ के द्वारा उतका प्रदग्ग अप्रस्तुत का व्यवहार है । इन दोनों व्यवहारों में से प्रथम से करुण-रस की और द्वितीय से शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि यहाँ विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों ही वही वही कवि-निष्ठ-राजा-विषयक-रति-भाव के अङ्ग हैं अर्थात् प्रधान यहाँ उक्त भाव ही है, वे दोनों रस उसके पोषकमात्र हैं अतः उनमें विरोध नहीं होता ।

पुनःप्रकारान्तरेण विरुद्धरससमावेशं प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृतसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धनं कार्यमेव । तथाहि सति, वैरिचिजयकृता वर्णस्थ काऽपि शोभा सम्पद्यते ।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुतरसविरोधिनोऽपि रसस्य, अभिभव-नीयत्वेन निवेशः कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिनः सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव भवति, न तु बाधः, यथा विजितस्य वैरिणः सत्तया वर्णनीयस्थ गहोपतेदृक्कर्म एव सम्पद्यते नत्वपकर्ष इति सारम् ।

अब विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाते हैं—'किंच' इत्यादि । प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की इच्छा रखने वाले कवियों को विरोधी रस का भी बाध्य रूप से वर्णन करना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णनीय (प्रस्तुत) रस की शोभा वैरी (विरोधी रस) का विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो उठती है, अर्थात् बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि ही होती है, बाध नहीं । जैसे विजित शत्रु के वर्णन से वर्णनीय विजेता राजा का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, अपकर्ष नहीं ।

रसस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिना रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्तेः प्रतिबन्धः ।

स्वाङ्गेषु स्वकीयव्यञ्जनोपयोगिष्वालम्बनादियु, विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि, प्रबलैः परिपोषविशेषं प्राप्तै, विरोधिना रसस्य, अङ्गैरालम्बनादिभिरुपकारकैः (कर्तुभिः) निष्पत्तेः प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य, प्रतिबन्धोनिरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः । परिपुष्टविरोधिरसाङ्गकर्तृकापुष्टाङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः ।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्तमान रहने पर भी अपनी (बाध्य रस की) अभिव्यक्ति का रूढ़ जाना । अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन आदि सामग्री के प्रबल (प्राप्त परिपोष) होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना ।

व्यतिरेकं दर्शयन् व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्वं तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभिव्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात् ।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावपोष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तेरास्वादस्य प्रतिबन्धादेव, न तु रसवत् स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, तदास्वादे वापकाभावादित्वर्थः ।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादाभाव, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु तत्पोष्यरसास्वादाभाव इत्युभयोर्व्यतिरेकोऽवसेयः ।

व्यभिचारीभावों का बाध्य होना तो उसके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिये थी, उसका रूढ़ जाना ही है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योंकि व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालने वाला कोई नहीं है । अर्थात् रस के बाध्य होने पर उस रस का आस्वाद नहीं होता और व्यभिचारीभावों के बाध्य होने पर भी उनका आस्वाद होता ही है, परन्तु उन व्यभिचारीभावों से पोषित होने वाले रस का आस्वाद नहीं होता, यही रस और व्यभिचारीभावों की बाध्यता में भेद है ।

ननु विरोधिरसामिव्यक्त्या यया प्रकृतरसास्वादस्य प्रतिबन्ध, तथैव व्यभिचारिभावस्यापि स्वपोष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावाभिव्यक्त्याऽभिव्यक्तिप्रतिबन्ध कुतो नेत्याशङ्कामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या प्रतिबन्धान्नाभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्व्यञ्जकशब्दार्थज्ञानसमये विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानात् प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशबलताया उच्छेदापत्तेश्च ।

विरोधिना रसस्य पोषकत्वाद्गान्ना व्यभिचारिणामभिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रतिबन्धाद्वायाद्, नाभिव्यक्तिर्व्यभिचारिणामिति शेषः ।

तद्व्यञ्जकौ व्यभिचारिप्रत्यायकौ यौ शब्दार्थौ, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिकाले असन्निधानाद् विनष्टत्वात्, उभयोः शब्दार्थज्ञानयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य कल्पनाया प्रमाणाभावात् । किञ्च यदि भावज्ञानयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य कल्पना स्यात्, तदा भावशबलताया उच्छेदे आपयेत्, तत्रैकभावज्ञानस्यापरभावज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मात् व्यभिचारिभावानां बाध्यत्व स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, अपितु स्वपोष्यरसास्वादाभावदिति सारम् ।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस की अभिव्यक्ति से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति रुक जाती है, उसी तरह विरोधी रसके अङ्गभूत व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध हो जाने के कारण प्रकृत रस के व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति क्यों नहीं रुक जायगी ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षा बुद्धिसे अतिरिक्त सब ज्ञान दो ही षण रहते हैं, अतः जिन व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध आशङ्कनीय हो, उनके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान जिस षण में होगा, उस षणमें प्रतिबन्धक रूप से स्वीकरणीय व्यभिचारीभावों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों ज्ञानों में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में कोई प्रमाण ही नहीं है। अर्थात् एक काल में रहने वाले दो ज्ञानों में ही एक दूसरे का प्रतिबन्ध (रुकने वाला) और प्रतिबन्धक (रोकने वाला) हो सकता है। यहां तो दोनों ज्ञान एक काल में रहते ही नहीं, अतः प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा। यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी उनके संस्कार तो रहेंगे ही, अतः उन संस्कारों में ही प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक तो उद्बोधक के रहने पर संस्कार का प्रतिबन्ध अनुभव-विरुद्ध है अर्थात् वह नहीं रुकता है। दूसरी बात यह कि सम्भव होने पर भी उस तरह के प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक-भाव की कल्पना नहीं करनी चाहिये, अन्यथा 'भाव-शबलता' का उच्छेद ही हो जायगा क्योंकि एक पद्य में अनेक विरोधी भावों के जुटने का ही नाम है 'भावशबलता' और उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक से दूसरे का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण एक जगह अनेक विरोधी भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेंगे।

नन्येयमेव रसोऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धे माभूदित्याशङ्क निराकरोति—

रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति तां प्रत्येय विरोध्यङ्गानां बलघता-
मभिष्यक्तेः प्रतिबन्धकत्व न्याय्यम् ।

स्वविरोधिरसाङ्गभिव्यक्त्या रसाभिव्यक्तेः प्रतिबन्धस्तु सहृदयानुभवसिद्धत्वात् प्रामा-
णिकः, तस्माद् बलघतां विरोधिरसाङ्गभिव्यक्तिर्विरोधिरसास्वादस्यैव प्रतिबन्धिका, न तु
व्यभिचार्यासास्वादस्येति भावः ।

यदि कहें कि तब रसाभिव्यक्ति का भी प्रतिबन्ध क्यों मानते हैं ? तो, इसका उत्तर यह है कि विरोधी रस के प्रबल अङ्गों के रहने पर रसाभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रुकाना) अनुभव से सिद्ध है अर्थात् उस स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नहीं होती यह बात सबको अनुभूत है। अतः रसाभिव्यक्ति के प्रति प्रबल-विरोधी रसाङ्गों की अभिव्यक्ति यो प्रतिबन्धक मानते हैं और व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति के प्रति उनको प्रतिबन्धक नहीं मानते, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव से सिद्ध नहीं है।

पुनः प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्तिं प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिन्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिः, तत्रापि
विरोधो निवर्तते ।

मियोविच्छेदरमद्वयव्यञ्जकार्थद्वये, तुल्यानि साधारणानि, यानि विशेषणानि, तथा महिम्ना
प्रभावेण, परस्परं विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्राभिव्यक्तिः, तत्रापि तयोर्विरोधो निवर्तते ।
अन्यथा तादृशास्पृश्वेक्तरप्रतीतिः सुतरानवच्छेदा स्वादित्यभिसन्धिः ।

अब विरोध-निवृत्ति का एक और उपाय बतलाते हैं—'अपि च' इत्यादि । जहां समान
विरोधों के द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहां भी उनका विरोध निवृत्त
हो जाता है ।

उदाहरति—

यथा—

कश्चिद् राजानं स्तौति ।

‘नितान्तं यौवनोन्मत्ता-गाढरक्ताः सदाहवे ।

यसुन्धरां समालिङ्गय, शेरते श्रीर । तेऽरयः ॥’

वीर नृपते ! नितान्तमत्यन्तं, यौवनेन तारुण्येन, उन्मत्ता उद्धता, सदा, आहवे युद्धे गाढं विक्षताङ्गतया विपुल रक्तं हविर येषां, तादृशा, पक्षान्तरे गाढमत्यन्तं रक्ता अनुरक्ता, वसुन्धरा समरभूमिम् भृतत्वात्, पक्षान्तरे नायिका प्रणयात् समालिङ्गय सम्यगुपगूह्य, ते तव, अरयः शत्रव, शेरते स्वपन्तीत्यर्थ ।

इह ‘यौवनोन्मत्ता’ ‘गाढरक्ता’ इत्यादिविशेषणवलादरिमरणप्रतीति प्रथम करुणरसाभिव्यक्ति पश्चाच्च शृङ्गाररसाभिव्यक्तिरिति साधारणविशेषणवलेन प्रतीयमानयोर्विरुद्धयोरपि करुणशृङ्गाररसयोर्विरोधस्य निश्चिति ।

जैसे—हे ! वीर—राजन् ॥ जवानी से अत्यन्त उन्मत्त बने हुये और युद्ध में सर्वदा अङ्गों के सत-विद्धत हो जाने के कारण अत्यधिक रधिर-प्रवाह से युक्त, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनु-रक्त भापके शत्रु लोग, मर कर गिर जाने से समर-भूमिको, दूसरे पक्ष में प्रणय से नायिका को सम्यक् रूप से आलिङ्गन-बद्ध करके सो रहे हैं । यह किसी कवि से की गई राजा की स्तुति है । यहा ‘यौवनोन्मत्त’ ‘गाढरक्त’ इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यायक विशेषणों से पहले करुण-रस की अभिव्यक्ति होती है, पश्चात् उन्हीं विशेषणों से शृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है । इस तरह अन्यत्र विरुद्ध कहे जानेवाले करुण और शृङ्गारमें यहां विरोध इस लिये नहीं होता कि वे दोनों ही यहां एकविध विशेषणों के द्वारा ही अभिव्यक्त हो जाते हैं ।

एव रसानामविरोधप्रनारातुन्त्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा नामिधातुमुचितः, अनास्वाद्यताऽऽपत्तेः । तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात् ।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषेण शृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधेया बाधनमनुचितत्वाद्दोष, अतस्तथापि रसश्चमत्कारापकर्षात्तदास्वादविधुर स्यात् । केवलम्यञ्जनाशुचित्वोप्यत्व एव रसाना चमत्कारकत्वम् । यथा गुडस्य रसनेन्द्रियमात्रसन्निकर्षेण ग्रन्थशात्मक आस्वाद, तथैव रसादेरपि व्यञ्जनयोपस्थापनेनैव । एतच्च ‘कथमपि वाच्यरस्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिके न्वीकारात्’ इत्यनेनापि प्रागुपन्यस्तम् । ‘व्यभिचारि-रस-स्थायिभावना शब्दवाच्यता’ इत्यादिना कान्यप्रकाशो रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम् ।

‘निर्माय नूतनमुदाहरणसुरूपम्’ इत्यादिनाऽऽदौ ग्रन्थकृता कृता स्वकीयोदाहरणदान-प्रतिज्ञा प्रायो दोषमिधया परित्यजेतीह सदुदाहरणद्वयमन्यदीय क्रमेण दीयते—

‘तामनङ्गयमङ्गलमिध, किञ्चिदुचभुजमूल्लोकिताम् ।

नेत्रयो कृतवतोऽस्य गोचरे, कोऽप्यजायत निरन्तर ॥’ इति ।

‘तामुद्रीच्य कुर्यात्सी, शृङ्गारे मममन्तरम् ।’ इति च ।

अथ रस दोषों का शिथेचन करते हैं—‘इत्थम्’ इत्यादि । इस प्रकार विरोध का परिहार कर लेने के बाद भी वर्णनीय रसों का उल्लेख ‘रस’ शब्द अथवा ‘शृङ्गार आदि’ शब्दों से नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिधातृत्ति के द्वारा बोधित होने पर उन रसों में आस्वाद्यता (चमत्कार) नहीं रह जाती । अतएव पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वा-दन करने योग्य होता है, जब व्यञ्जनाशुत्ति से उनका बोध होता है ।

ननु रसाना व्यञ्जनया गम्यमानानामभिधया बोधने वा क्षतिरित्याशाङ्क्यामाह—

यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानं, तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

स्वशब्देन रसशब्देन सुहारादिशब्देन च । सामान्यतोऽविशेषात् । भुक्तस्योद्गिरण-मिव व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधया बोधनमिति वमनतुल्यत्वात्तदाख्या दोषस्य । ग्रन्थोऽयम-पूर्ण इत्यग्रेऽस्य दोषस्यानिरूपणम् ।

व्यङ्ग्यस्य रसस्याभिधया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्वं मोक्षितमिति सारम् ।

जहां वाच्य विभावादिर्को से अभिव्यक्त हुये रस का पुनः रस अथवा शृङ्गार आदि पदों से उल्लेख कर दिया जाय वहां कौन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यङ्ग्य को वाच्य बना देने पर 'वमन' नामक दोष होता है, जितना वर्णन आगे किया जायगा । अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से ज्ञात अर्थ का पुनः अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान करना, खाये हुये अन्न के उगलने जैसा है । अत एव इस दोष का 'वमन' यह नाम करण हुआ । खेद है कि अपूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इस दोष की चर्चा आगे नहीं हो सकी । अखिल व्यङ्ग्यों में होने वाला यह दोष सामान्य है ।

अत्रैव सामान्यदोऽनुक्त्वा विशेषदोषं वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया, रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेय-करूपत्वेन विशेषदोषत्वाच्च ।

रसस्य येन रूपेणास्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदकं रूपं नैयञ्जनिनापरोक्षज्ञान-विषयत्वम् । प्रत्ययाजनकतयाऽऽस्वाद्यजनकत्वाभावेन । वाच्यवृत्तेरभिधाया । कापेयकरूपत्वेन वातरचेष्टिततुल्यत्वेन नैरर्थक्येन । दोषविशेषो नैरर्थक्यं, तद्य 'न कुर्यान्निरर्थकं कर्म' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम् ।

अभिधया रसादीनां शब्दप्रतीतिमात्रं न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद इत्यभिधाया आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसाद्यास्वाद्यजनकत्वाभावाद् रसादीनां व्यङ्ग्यानामपि पुनरभिधया बोधनस्य चेष्टा कपिचेष्टेः निरर्थक्येन नैरर्थक्यरूपदोषविशेषोऽप्रीह सम्भवतीत्याहृतम् ।

रस-शृङ्गारादि पदों से रसों को वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता है क्योंकि आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-स्थल में अभिधा-वृत्ति का प्रयोग बन्दरों की चेष्टा के जैसे निरर्थक है । अभिभाव यह है कि रस आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीयमान हो कर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उसकी प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर तो उस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति कराने का प्रयास व्यर्थ होगा ही । आस्वाद्यतावच्छेदक पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आस्वाद्य होता है अत आस्वाद्यता उसमें रहती है और रस में रहने वाला कोई खास (असाधारण) धर्म उस आस्वाद्यता का अवच्छेदक (परिचायक) होता है, जो महा वैयञ्जनिक-अपरोक्ष-ज्ञान विषयत्व अभिमेत है ।

रसदोषेष्वेवं प्रथमं निरूप्य, द्वितीयं तृतीयं च निरूपयति—

एवं स्थायि-व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः ।

एवं रसवत्, स्थायिना व्यभिचारिणा च भावानां, शब्दवाच्यत्वं रत्यादिशब्दैर्हर्षादि-शब्दैर्भाभिधेयत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तं दर्शये—

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन, स्थायितचारिणोरपि ।' इति ।

तत्र स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं द्वितीय, व्यभिचारिणा तु स्वशब्दवाच्यत्वं तृतीयो दोष । इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादी न तु वाच्यत्वे । विशेषस्तु प्रदीपादवसेय ।

‘सम्प्रहारे प्रहरणै प्रहाराणा परस्परम् ।

‘उणत्कारै श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥’ इति पूर्वस्य ।

‘सब्रीडा दयितानने मरुठणा मातङ्गचर्माम्बरे,

सत्रासा भुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।

सेष्या जङ्घसुताऽवलोकनविधौ, दीना कपालोदरे,

पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टि शिवायास्तु व ॥’

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वश्रोताइस्य स्थायिन, अपरत्र ब्रीडादीना व्यभिचारिणां च स्वशब्देनोपादानात् ।

इसी तरह स्थायीभावों और व्यभिचारीभावों का भी नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करना दोष है अर्थात् अभिधा-वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक प्रकार का घैमुख्य ही श्रोता अथवा द्रष्टाओं को उत्पन्न हो जाता है अतः वैसा नहीं करना चाहिये ।

चतुर्थं पञ्चमं च रसदोषं निरूपयति—

एव विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्वाद् इति तयोर्दोषत्वम् ।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीति । विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयक्षणादौ प्रतीति । तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययो । तदुक्त भट्टमम्मटेन—

‘कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ।’ इति । तत्र विभावा सम्यक् प्रत्यय-विलम्बित

प्रत्यययोरेक एव चतुर्थ, अनुभावा सम्यक्प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोस्त्वपर पञ्चमो रसदोषः

परिहरति रतिं मतिं सुनीते, स्खलतितरा परिवर्तते च भूय ।

इति वत विपमा दशाऽस्य देह, परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्म ॥’ इत्येकस्य,

‘कर्पूरधूलिधवलश्रुतिपूरधौत-दिङ्मण्डले गिशिररोचिपि तस्य यून ।

नीलाशिरौशुकनिवेशविशेषकस्त-व्यक्तस्तनोच्चतिरभूषयनावनौ सा ॥’

इति चापरस्योदाहरणम् ।

इसी प्रकार विभावों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलम्ब से प्रतीत होना दोष है, क्यों कि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं होता ।

षष्ठं रसदोषं निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिशूलरसाज्ञाना निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोषप्रतीपिक-

मिति दोषः ।

रामबलाना प्रबलाना वा प्रतिकूलस्य प्रकृतरसविरोधिना रसस्याज्ञाना विभावादीना निबन्धन निवेशनम्, प्रकृतरसस्य य पोष पुष्टिस्तस्य सुन्दोपमुन्दन्यायेन, मस्त्यन्यायेन वा प्रातीपिक प्रतीप शत्रुस्तत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतोर्दोष इत्यर्थ ।

विरोधिरसाज्ञाना दुर्घलाना वाध्यतया निबन्धनन्तु न दोष, किन्तु गुण एव—‘विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् । वाध्यानामज्ञभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥’ इति च्चन्या-लोकै, ‘सम्भावादेर्विरुद्धस्य वाप्यत्वेन वचोगुणः ।’ इति दर्पणे च दर्शनात् । उदाहरणन्तु—

‘मान माकुड तन्वजि । ज्ञात्वा यौवनमस्तिरम् ।’ इति श्लोकम् ।

जहां जिस रस का वर्णन करना कवि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा समान बलवाले) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा अधिक बल वाले) अङ्गों (विभावादिकों) का वर्णन करना दोष है, क्योंकि वे प्रस्तुत रस के परिपोष में बाधक होते हैं ।

सप्तमं रसदोषं निरूपयति—

प्रथम्ये प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गान्तरेण त्रिच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्रयेण रसात्वाद इति विच्छिन्नदीपन दोषः ।

प्रथम्ये सङ्घटितानानावाक्यसमुदायः, ता च प्रथम्येणस्तदवान्तरप्रकरणरूपमप्येति प्रदीप-
प्रतिपादिते सन्दर्भविषये, स्वसामग्रीबलेन परिपोष प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरेणावान्तरिकान्यविषय-
प्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावच्छेदात्प्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दीपने भूयोभूयःप्रसङ्गने सामाजि-
कानां सचेतसा, सामग्रयेण सावत्येन रसात्वादो न भवतीति हेतोर्विच्छिन्नस्य रसस्य
पुनर्दीपनं दोषः । तथा हि—परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥ रसस्य स्याद्
विरोधाय' इति ध्वन्यालोके, 'उपभुञ्जीति पुनरुपभुज्यमान उपभुञ्जन्मपरिमल इय सहस्र-
यानामास्वादापकर्षक' इति प्रदीपौद्घोतयोश्च प्रतिपादितम् ।

उदाहरणम्—कुमारसम्भवचतुर्यसौ रतिविलापप्रकरणे 'अथ मोहपरायणा सती,
किवशा कामधूर्त्विबोधिता ।' इत्यादिसन्दर्भेणादौ दीपितस्य, 'अथ सा पुनरेव विडला
पमुषाऽऽलिङ्गनधूसररतनी ।' इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वसन्तदर्शनप्रस्तावेनावान्तरे
विच्छिन्नप्रवाहस्य कर्णस्य कर्णविश्रलम्भस्य वा रसस्य 'तमवेक्ष्य रुदोद सा मृशम्'
इत्यादिना पुनर्दीपनं दोषः । अज्ञसानामेव शश्वदीपने दोषः, अङ्गिरसस्य तु शान्तस्य
महाभारतादौ, कर्णस्य रामायणादौ च पुनःपुनर्दीपने नास्वादापकर्षः, प्रत्युत परिपोष
एवेति प्रदीपकृतसम्मतम् ।

किसी भी प्रथम्ये (परस्पर अन्वित वाक्यसमूहात्मक प्रथम्ये अथवा उसका अवान्तर
प्रकरण) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर
से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुनः आगे उसका दीपन करने से—विच्छिन्न
कथा को दुबारा उठाने से—'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद
हो जाने से प्रस्तुत रसका आस्वादन सहस्रदोषों को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता । यहां
प्रदीपकार का मत है कि अज्ञभूत रसों का ही पुनः पुनः दीपन दोष है, अङ्गी रसों का नहीं,
क्यों कि अङ्गी रसों का पुनः पुनः दीपन करने पर भी आस्वाद में किसी तरह की कमी नहीं
होती, वरन् परिपुष्टि ही होती है अत एव महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण
आदि में कर्ण रस का पुनः पुनः दीपन किया गया है ।

अष्टमं नवमं च रसदोषं निरूपयति—

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हेऽवसरे प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः ।

'अक्रान्ते प्रथमच्छेदौ' इति दर्पणोक्तेः सहस्रयानुभावाच्च रसानां प्रस्तावावोग्येऽवसरे
प्रस्तानोऽनुचितत्वादोषः, तथा विच्छेदायोग्येऽवसरे विच्छेदश्च क्रमेणाष्टमो नवमश्च रसदोषः ।

इसी तरह जहां जिस रस का प्रस्ताव नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का प्रस्ताव
करना और जहां जिस रस का विच्छेद नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का विच्छेद कर
देना दोष है ।

तद्दोषद्वयं क्रमेणोदाहरति—

यथा—

सन्ध्यायन्दन-देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते, कथाऽपि कामिन्या सह कस्य-
चित् कामुकस्यानुरागवर्णने ।

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभटेषु, मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु, नायकस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम्'

प्रसक्त श्रौचित्यात् प्राप्ते । महाहवदुर्मदेषु विकटयुद्धोद्धतेषु । प्रतिभटेषु प्रतिकूलयोधेषु । मर्मभिन्दि मर्मस्पृक्तया हृदयविदारकाणि ।

सन्ध्यावन्दनेत्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेष्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्योदाहरणं दर्शितम् । पूर्वत्र शृङ्गारस्यानवसरे प्रस्ताव । उत्तरत्र तु वीरस्य रौद्रस्य वाऽनवसरे विच्छेद ।

जैसे—सन्ध्या-वन्दन, देव-पूजन आदि धर्म-वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का प्रेम-वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, तो वह दोष होगा । और मर्म भेदी वचनों को बोलते हुये विकट-युद्ध-मद-मत्त, शत्रु-बोझाओं की उपस्थिति में नायक के सन्ध्या-वन्दन आदि का वर्णन भी अनुचित होने से दोष है । यहाँ प्रथम उदाहरण में शृङ्गार का अनवसर में प्रस्ताव हुआ है । द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवसर में विच्छेद कर दिया गया है ।

दशम रसदोषं निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाधिधानां चरितानामनेकविधायाश्च सम्पदो नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः ।

नायकस्य प्रतिकूल प्रतिनायक तेभ्यश्चरितादिभ्यः ।

नायकचरितादि-सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि-सम्पर्द्धर्जनमविक्रमं न विधेयम्, तेषामङ्गत्वात्तदतिविस्तृतेर्निषिद्धत्वात् । तदुक्तं भट्टमम्मटेन—'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' इति ।

इसी प्रकार जिनका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं रहता, उस प्रति नायक आदि के नाना प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की, नायक (प्रधान वर्णनीय) के चरित्र और सम्पत्तियों से, अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये ।

मनु तथा वर्णने का हानिरित्यत आह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्धयेत् ।

नायकचरिताद्यपेक्षया प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते सति, नायकस्यापकर्षं, प्रतिनायकस्य चोत्कर्षं सिद्धयेदिति सारम् ।

वैसा करने पर नायक का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसका वर्णन करना इष्ट है । अर्थात् प्रतिनायक का ही उत्कर्ष सिद्ध होगा, जो अभीष्ट नहीं है ।

वाचता का क्षतिरित्याशङ्क्यामभिदधाति—

तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात् ।

तत्प्रयुक्त प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तकः ।

प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य प्रकृतरसात्त्वाद्विच्छेदकत्वाद्दोषत्वमिति तात्पर्यम् ।

और प्रतिनायक-गत-उत्कर्ष की प्रतीति होने पर भी तत्प्रयुक्त रस की पुष्टि नहीं होगी । पुनश्चाहते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावक-नायकोत्कर्षाङ्गत्वात् कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम् ।

तदभिभावकस्य प्रतिनायकरामवकारकस्य ।

विज्ञेयोत्कर्षो हि वर्णितो विज्ञेतोत्कर्षमेव प्रत्याययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनमपि प्रकृतैः प्रमेव, ततस्तस्य कथमवर्णनीयत्वमिति शङ्कापक्षाभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विजेय) का वर्णन उसको परास्त करनेवाले (विजेता) नायक के उत्कर्ष का अङ्ग (पोषक) ही होता है अर्थात् विजेय के उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष की ही प्रतीति कराता है—फिर आप प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन को क्यों अनुचित कहते हैं ?

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदभिभाषकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पादकत्वं तादृशस्येष्टत्वात् । तद्विरोधित एव निषेधत्वात् ।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतृनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वाद्भवेत्, तावच्च निषिध्यते, किन्तु हयप्रीवबधे—प्रतिनायकस्य हयप्रीवस्य जलश्रीवादिवर्णनमिव यन्नायकोत्कर्षानुपकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का जैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष का उपकारक अङ्ग-पोषक हो सके, वैसा वर्णन हमें इष्ट है—स्वीकृत है—निषेध तो उसी प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोधी हो ।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य सर्वस्य विजेतरि सङ्क्रमात् को दोष इत्याशङ्कते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्यमानोऽप्युत्कर्षः स्यात्प्रयत्नवृत्तामात्रादेव प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषवह इति वाच्यम् ।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य । प्रकृतो वर्यमानो नायकः । स्वम्, उत्कर्षः, तस्याश्रयो यः प्रतिनायकः तस्य हन्तृतामात्रात् तत्कर्मकहननकर्तृत्वादेव । मात्रशब्देन प्रस्तुतवैषम्यव्यावृत्तिः । अतिशाययेदतिशयितं कुर्याद् वर्धयेदित्यनर्मान्तरम् ।

प्रतिनायकस्य वर्यमान सर्वोऽप्युत्कर्षः केवलं तस्यायं हन्तेतिहेतोर्नायकस्यैवोत्कर्षं यतो वर्धयति, तस्माच्च तस्य दूषकतेति शङ्कितुराकृतम् ।

यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'यादृश तादृश'—'जैसा वैसा'—निषेध किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजित) का उत्कर्ष किसी भी तरह—अधिक से अधिक भी वर्णित क्यों न हो, वह (उत्कर्ष) अपने आश्रय (प्रतिनायक) को मारने वाले नायक के उत्कर्ष को ही बर्णनेगा, अर्थात् उत्कृष्ट को मारने वाला—जीतने वाला—और अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अतः वैसा समस्त वर्णन दोषाधारक नहीं होगा यही कहना चाहिये ।

निराकरोति—

एवं हि सति महाराजं कमपि विपशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्येव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षः स्यादिति ।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य । शबरस्य पुलिन्दजातीयस्य 'मुसहर' इति प्रतिद्वस्य वनेचरस्य । इति शब्दो हेत्वर्थकः ।

यदि हननादेव सकलो बधोत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विषाक्तवागक्षेपेण विघ्नन्तं नृपं हतवत् शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा, तस्माद् वैषम्यमस्त्येवेति तात्पर्यम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर देते हैं—'एव हि सति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किसी प्रकार से मार देने वाला उससे (मृत से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, यह बात ठीक नहीं ज्ञचती क्योंकि यदि ऐसी बात हो तब तो किसी वीर महान् राजा को एक जहरीले बाण से मार देने वाला साधारण मील भी उस महाराज से उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, परन्तु ऐसा होता नहीं । उसी तरह यदि नायकोत्कर्ष-वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायकोत्कर्ष वर्णन बहुत बड़ा चढा कर कर दिया जाय और अन्त में यह भी कह दिया जाय कि उस उत्कृष्ट प्रतिनायक को नायक ने मार दिया, तथापि उससे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा ।

एकादशं रसदोष निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराऽन्तरा न चेद्, दोषः ।

रसस्य यदालम्बनं यथाश्रय, तयो रत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, अनुसन्धानमन्वेक्षणलक्षण स्मारकमुपादान, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद्दूषणमित्यर्थ । तदुक्तम्—‘अङ्गिनोऽनुसन्धानम्’ इति ।

इह पूर्ववाक्यघटको यथार्थकथेच्छब्द उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादान बलवदपेक्षत इत्यनुसन्धेयम् ।

अथ वारह्वे रस दोष का उल्लेख करते हैं—‘तथा’ इत्यादि । इसी प्रकार रस के धाल-मन और आश्रय का यदि मध्य मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है ।

अङ्गयननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात् ।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽस्वादप्रवाह, हि यत, तदनुसन्धाना-धीनाऽऽलम्बनाश्रयानुसन्धान-प्रयोज्या, अतस्तयोरनुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषण रसस्येभ्यर्थ ।

उक्त दोष के होने में युक्ति बतलाते हैं—‘तदनु’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि रसास्वाद की धारा धालमन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अतः यदि उनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रसास्वाद-धारा विच्छिन्न हो जायगी ।

द्वादशं रसदोष निरूपयति—

एव प्रकृतरसानुपकारकस्य यस्तुनो वर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद् दोष एव ।

प्रकृतरसविरामहेतुत्वादिति दूषकतावीजनिर्देशा । विरामो विच्छेद ।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारकं तद्दर्शनेन प्रस्तुतरसास्वादधारया विच्छेदान् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थ । तदुक्तम्—‘अनङ्गस्य च कीर्तनम्’ इति ।

अब वारह्वे दोष का उल्लेख करते हैं—‘एवम्’ इत्यादि । इसी तरह जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत रस का उपकारक न हो, उसका वर्णन भी एक रस-दोष है, क्योंकि उस तरह का वर्णन भी प्रस्तुत-रसास्वाद धारा को समाप्त कर डालता है ।

त्रयोदश रसदोष निरूपयति—

अनौचित्य तु रसभङ्गहेतुत्वात् परिहरणीयम् ।

अनौचित्यं रसास्वादोपयोगिपदार्थसार्थनिष्ठम् । तुराप्योऽस्य प्रकारान्तरान्तर्भाव व्यवच्छिन्नन्ति । रसेत्यादिना दूषकतावीजनिर्देशा । रसास्वादव्यानातकारणत्वादनौचित्य दोष इति सारम् ।

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रसभङ्ग का कारण होता है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है ।

रसस्य मूर्त्तत्वाभावादासम्भवाद् भङ्गपदार्थमाचष्टे—

भङ्गश्च पानकादिरसादी सि रुतादि-निपातजनितेवारुन्तुदता ।

सिक्ता घालुका । अश्नुदता मर्मच्छेदिताऽप्रियतेति यावत् ।

यथा पानकरसास्वादस्य घालुकापातो विघातवत्, तथैवानौचित्यमप्रापीति रसस्या स्वादविघात एव भङ्ग इत्याशय ।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उसका भङ्ग क्या ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये ‘भङ्ग’ पद की व्याख्या करते हैं—‘भङ्गश्च’ इत्यादि । जिस तरह शरबत आदि तरल

वस्तु में बालुका आदि के पद जाने से यह खटकने लगता है, उसी तरह रस के आस्वाद में खटकने को रस का भङ्ग कहते हैं।

अनौचित्यं विवृणोति—

तत्र जाति-देश-काल-वर्णा-श्रम-वयो-ऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपञ्च-जातस्य तस्य तस्य, यत्लोक-शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि, तद्भेदः ।

तदनौचित्यम् । चस्त्वर्थे । वयोऽवस्थयोर्भेद- प्रागेन निगदित । व्यवहार समुदाचार । प्रपञ्चजातस्य सासारिकवस्तुव्यूहस्य (जात्यादिरूपस्य) ।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-क्रियादिलोक्यतः शास्त्रतश्च सिद्धत्वाद्बुचितं, तद्विज्ञात्वमनौचित्यमित्यर्थः ।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सासारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध तथा उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना ।

अनौचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि । स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि । शिरिरे जल-विहारादीनि, ग्रीष्मे बह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्षणम्, दारोपसंग्रहः । बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः । दरिद्राणां भाट्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः ।

जात्यनुचितं गवादिरित्यादिना, देशानुचितं स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचितं शिशिर-इत्यादिना, वर्णानुचितं ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचितं ब्रह्मचारीत्यादिना, वयोननुचितं चालेत्यादिना, अवस्थानुचितं च दरिद्रेत्यादिना विवृतम् ।

साधुभावे गवादिदर्शनम् । मृगया पशुपक्षिहिंसाऽऽखेट । बाहुजः क्षत्रिय । निगमो-वेद- । यतिः सन्त्यासी । दारोपसंग्रहः पत्नीपरिणयः । आढ्यो धनी, तदाचरणं विपुलव्य-यादि । अत्र सर्वत्र तत्तदनौचित्यं रसभङ्गकारणतया दूषणम् ।

अथ जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण दिखलाते हैं—'जात्यादेः' इत्यादि । जाति-विहङ्ग जैसे—बैल, गाय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि एव सिंह आदि का सीधापन आदि । देश-विहङ्ग जैसे—स्वर्ग में वृद्धत्व, रोग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति । काल-विहङ्ग जैसे—शीतकाल में जल-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन प्रभृति । वर्ण-विहङ्ग जैसे—ब्राह्मणों का शिकार खेलना, क्षत्रियों का दान लेना और शूद्रों का वेद पढ़ना । आश्रम-विहङ्ग जैसे—ब्रह्मचारी और सन्यासियों का ताम्बूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना । अवस्था-विहङ्ग जैसे—बच्चे तथा बूढ़ों का स्त्री-सेवन और युवकों का वैरागी होना । इसी तरह दरिद्रों का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सा आचरण ।

प्रकृत्यनुचितं विवृण्वन् प्रकृतिभेदानाह—

प्रकृतयो दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्याश्च' धीरोदात्त-धीरोदत्त-धीरललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामिनीरति-निर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमा-धनाश्च ।

प्रकृतयो नायकप्रकृतयः—'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः । रसलोकः शुर्वागमो रूढवंशः स्थिरो युवा । बुद्धयु-त्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वितः । शूरो-दृढ तेजस्वी शान्तचक्षुष धार्मिकः ।' इति दत्तात्रयकोकलभङ्गा, दिवि स्वर्गे भवा दिव्या-

देवैकरूपा इन्द्रादयः, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादयः, दिव्यादिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथमं त्रिविधा । ते च—'महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकल्पनः । स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदातो दृढव्रतः ।' 'मायापर प्रचण्डध्वपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः । स्थेयान् निगूढमनो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ।' 'निश्चिन्तो धीरललित कलासक्त सुखी मृदु ।' 'सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिकोधीरशान्तः स्यात् ॥' इति लक्षिता उरसाहप्रधानधीरोदात्त-क्रोधप्रधानधीरोद्धत-कागिनीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीर-शान्ता इति प्रत्येकं चतुर्धा, पुनरुत्तम-मध्यमा-धमत्वैस्त्रिविधा इति सङ्कलनया षट्त्रिंशत्प्रकृतयो बोध्या । शृङ्गाररसेत्वनुकूल-दक्षिण-शृष्ट-शठत्वैः प्रकृतीनां चतुर्विधत्वमाकलयीयम् । नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जरोरुरभेरवसेया ।

अथ प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध का उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले प्रकृति का विभाग करते हैं—'प्रकृतयो' इत्यादि । अलङ्कारशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतियों (नायक की) होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि) होते हैं । इसी तरह उन प्रकृतियों के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उरसाह की प्रधानता रहती है, धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धीरललित नायक, जिनमें स्त्रीविषयक प्रेम की प्रधानता होती है, एव धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है । इस प्रकार नायक के बारह भेद हुये, फिर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान लेने से उक्त बारह भेद छत्तीस हो जाते हैं ।

प्रकृत्यनौचित्ये प्रथम रत्यनौचित्य प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि, रते सम्भोगरूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभावं वर्णनमनुचितम् ।

तत्र तामु प्रकृतिषु, रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां भयभिन्नानामष्टानां रतिप्रभृतीनां, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिषु समत्व एकवित्वे साधारणतया सत्यपि, मनुष्येषु इव उत्तमदेवतासु गौरी-गिरीशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रते, स्फुटीकृता स्पष्टमाप्याता सकलानुभावा सर्वे न्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचितमित्यर्थः ।

पित्रोर्विरोक्तुष्टदेवतयो सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव । उत्तमे-त्युक्त्या मध्यगादिषु कामचार । भयस्याभयभेदेन वैषम्याद् भयातिरिक्तानामित्युक्तम् । वस्तुतस्तु रति-क्रोधादीनामप्याश्रयभेदाद् वैषम्यमनुभविकमेवेति तदुपादानमकिञ्चित्करमिति विभावनोयम् ।

इन सभी प्रकृतियों (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायीभाव यद्यपि समानरूप से होते हैं, तथापि सम्भोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों (आलिङ्गन-सुग्धन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है ।

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्य प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटो-दिनरात्रिव्यययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्येष्विवादिष्येषु ।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादानाचरणीयमित्यनुपज्ञः ।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, भस्मीकरणे, पटोः कुशलस्य तथा दिन च रात्रिश्च दिनरात्री, तयोर्व्यत्ययो दिनस्थाने रात्रि, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यायः, तदादीना-

मनेकाख्याणा कारिण, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद्, अदिव्येषु मानवेषु, वर्णनमनुचित-
मिति नाचरणीयमित्यर्थः ।

जगत को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध
माध्यमजनक कार्यों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया
जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

तत्र हेतुमभिधत्ते—

आलम्बनगताराध्यत्वस्यानुभायगत-मिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः ।
यतस्तयावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्रूपस्य तलिष्ठस्य, आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य,
प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभायगतस्य पूर्वोक्तलोकमस्मीकरणदिलोकान्तरक्रोध-
व्यापारनिष्ठस्य, मिथ्यात्वस्यासम्भन्धतयाऽसत्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लानस्य रौद्रसा-
त्त्वादानुद्रमस्य, आपत्ति स्यात्, तस्मात्तथा वर्णनीयमित्यर्थः ।

उक्त प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं)
में पूज्यतावृद्धि है, यदि उनमें साधारण नायकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा छोड़कर रति
का वर्णन करेंगे, तो उसको सुनकर सहृदयों के हृदयों में रस का विकास नहीं होगा, बरन
एक प्रकार का सङ्कोच ही होगा। इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस
प्रकार के क्रोध का वर्णन किया जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णित किया
जाता है, तो उसमें श्रोताओं को इष्टेयन का ज्ञान होगा। अतः उस वर्णन से रस का विक-
सित होना सम्भव नहीं है ।

ननु प्राग्भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोऽलसितस्य भावनाविशेष-
रूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरणं प्रतिपादित, तेन प्रतिबद्धमालम्बनविषयकमा-
राध्यत्वप्रकारकं ज्ञानमिह नोत्पत्तमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणानाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति चान्यम् ।

विशेषवर्मानवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषधर्मावच्छिन्नप्रकार-
ताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः ।

यदि आप कहें कि रसास्वाद से पूर्व, भट्टनायक मत के अनुसार भावकरव व्यापार से
और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभादिकों का
साधारणी करग हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-वृद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ?

समादधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।
न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसा रसास्वादोऽनुब्यवसाय-
सिद्धः सामग्रीविरहाज्ञोपपद्यते, तत्रैव तद्रूपपत्तयेऽनाद्यत्या तत् कल्प्यत इति फलानुत्तेषां
तत्कल्पनाया प्रकृतेऽनन्वय इत्यभिसन्धिः ।

उक्त शङ्का का समाधान यह है कि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहता
है, वहीं साधारणीकरण की कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं, तात्पर्य यह है कि उक्त
स्थान में सहृदयों का रसानुभव प्रमाण-सिद्ध नहीं है, अतः वहाँ साधारणीकरण की कल्पना
नहीं की जा सकती ।

साधारणीकरणकल्पनाया सार्वभ्रिकत्वाभ्युपगमे दोष दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक-स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनाया सम्भवादित्याराय ।

यदि सब जगह साधारणी करण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बल से

अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसास्वाद होने लगेगा ।

काचित्क विपरीतं दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त-मत्तङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन यथा वर्णयितुं साम्प्रतम् ।

तुनाऽऽचि सूच्यते । अथमुक्त समय सिद्धान्त सङ्ग्रेतो वा । मत्तङ्गजैर्दन्तावलैः । मत्तहस्तिदृष्टान्त समयभेदेने निदानमुन्मत्तं, न तूपपत्तिविवेकं सूचयति । निदर्शनं दृष्टान्तं । इदानीन्तनेनाधुनिकेन कविना । साम्प्रत युक्तम् ।

अनुन्मतेन ययोन्मादिव्यवहारो नानुक्रियते, तथैवाधुनिकेन कविना केषाचित् प्राचा समयोल्लङ्घनं नानुकरणीयम्, प्राचामनौचित्यस्य तन्माहिमातिरेकादिभिरपि तिरोधापयितुं शक्यत्वादिति सारम् ।

यद्यपि जयदेव प्रभृति कुछ कवियोंने गीतगोविंद आदि निबन्धों में उत्तम देवता विषयक सम्भोगवर्णन अनुभावों केस्पष्टीकरण के साथ किया है, परन्तु उन्होने मदमत्त हाथियों की तरह, सम्पूर्ण सहृदय समाज से आहत उक्त मर्यादा को तोड़ डाला है, अतः उनके दृष्टान्त से आधुनिक कवियों को वैसा नहीं करना चाहिये ।

चरमं व्यवहारानौचित्यं प्रतिपादयति—

तथा विद्या-वयो-वर्णा-श्रम-तपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम् ।

विद्यादय उत्कर्षं हेतव । सबहुमानेन वचसा विपुलादरसूचकेन वचनेन । वचसेति-व्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम् । 'सम्बहुमानेनेति' काचित्कपाठे तु सम्यग्बहुमान यत्रेति विप्रहृ ।

विद्यादिभिर्कृष्टैः स्वापेक्षयाऽपकृष्टेषु विधीयमानो बहुमानोऽनुचितत्वाद् रसापकर्षक इति सारम् ।

अथ व्यवहार-विरुद्ध का उदाहरण दिखलाने हैं—'तथा' इत्यादि । इसी प्रकार जो विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तपस्या प्रभृति के कारण उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से अपकृष्ट लोगों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

यत्र तद्व्यवहारौचित्यं, तदाद—

व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेषु ।

विद्यादिभिर्कृष्टैस्तुत्कृष्टेषु मत्तहुमानेन, नचसा, व्यवहर्तव्यौचित्यमित्यर्थः ।

अपकृष्टों को उत्कृष्टों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वाणी के द्वारा व्यवहार करना चाहिये ।

उत्कृष्टेष्वपि विशेषप्रसिद्धाति—

तत्रापि 'तत्रभवन्' 'भगवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जाल्योत्तमैर्द्विजैरेव, नाधमैः क्षुद्रादिभिः, 'परमेश्वर' इत्यादि-सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतयः, सम्बोध्याः ।

तत्राप्युत्कृष्टेष्वपि । तत्रभवच्छब्द-पूज्यार्थक । सम्बोधनैरभिमुखीकरणशब्दः । देवताऽपेक्षयाऽपि गुरोरभ्यर्हितत्वाद् गुरुशब्दस्य पूर्वं निर्देशः । द्विजैर्ब्राह्मण-क्षत्रियवैरयैः । चक्रवर्तिन सम्राजः ।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदाद् व्यवहर्तव्येदाच्च व्यवहारस्योचितानुचितत्वे बोधे इत्याशयः ।

उत्कृष्टों के लिये अपकृष्टों के द्वारा प्रयोग करने योग्य सम्मानसूचक सम्बोधनों का भेदान्भेद से विभाग दिखलाने हैं—'तत्रापि' इत्यादि । 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि

सम्बोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं। वह भी जो जानि से उत्तम-अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हों, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं। इसी प्रकार 'परमेश्वर' आदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि आदि के प्रति नहीं।

अनौचित्यस्य रसभङ्गकारणत्वं प्रमाणयति—

तथा चाहुः—

यही सब सोच समझ कर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्घोष में लिखा है—

आनन्दवर्धनाचार्याध्वन्यालोक्तृतीयोद्घोष इति शेषः ।

‘अनौचित्यादृते नान्यद् , रसभङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥’ इति ।

अनौचित्यादृतेऽनौचित्यं विना, रसभङ्गस्य, अन्यत् कारणं नास्तीति शेषः, यत्. प्रसिद्धस्य लोकशास्त्रादुशिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धो योजनं, तु पुनः, रसस्य, परोक्त्या, उपनिषत् प्रकाशनोपाय इत्यर्थः ।

अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य प्रधानं कारणं, तेन सहृदयवैमुख्यसम्पादानम् । औचित्यं पुनस्तथैव रसं प्रकाशयति, यथोपनिषत् परब्रह्म, तस्मादनौचित्यं सर्वथा परिहरणीयमित्यभिप्रायः ।

कल्प्यप्रकारो तु—‘औचित्योपनिबन्धस्तु’ इति पाठो दृश्यते ।

अनौचित्य से अतिरिक्त रस-भङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही सब से बड़ी रस की उपनिषत् अर्थात् प्रकाशनोपाय है। अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस-भङ्ग का प्रधान कारण है, क्योंकि—उसी से सर्वाधिक वैमुख्य सहृदयों में होता है, अतः उसका (अनौचित्य का) परिहार अवश्य करना चाहिये और औचित्य उसी तरह रसको प्रकाशित करता है, जिस तरह उपनिषत् परब्रह्म का, अतः उसकी रक्षा अवश्य कवियों को करनी चाहिये।

तत्र विशेषमाह—

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टि-स्तावत् तु न वार्यते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेधत्वात् ।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिपोष एव स्यात् (न तु वाध), तत्परिमाणमनौचित्यं तु न निन्द्यते, यतो रसविरोधिना एवानौचित्यस्य निषेध्यत्वमित्यर्थः ।

अनौचित्य-परिहार में भी यह विशेष समझना चाहिये कि जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उतने अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रति कूल हो, उसको निषेध समुचित है।

उक्तमर्थतु साहरणदर्शनेन द्रवयति—

अत एव—

इसी लिये—

रसाविरोध्यनौचित्यस्य मर्यादीयत्वादेव । दशाननद्वारि समुपस्थितान् भद्रादीन् दौबारिको वदति—

‘ब्रह्मब्रह्मध्यानस्य नैव समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्पं बृहस्पते जडमते ! नैषा सभा षष्णिणः ॥
वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्हुरो !
सीता-रत्नकमल-भिन्नहृदय. स्वस्यो न लङ्केश्वरः ॥’

हे ब्रह्मन् ! अध्वयनस्य वेदपाठस्य, एष समयोऽवसरो नास्ति, तत् तूष्णीं ज्ञेयं बहि-
रितो वाप्यस्थले (त्वया) स्वोयताम् । हे जटमते ! वाचालत्वादवसरानवबोधोऽथ विवेकरून्य-
बुद्धे ! गृहस्पते ! स्वल्पमतिस्तोकं (नत्वधिक) जल्प वद, यत् एषा वज्रिण इन्द्रस्य
(त्वच्छिष्यस्य) समा मास्ति । हे नारद ! वीणा महती, सहर चादनाद्विरमय । हे
तुम्बुरो ! देवगायक गन्धर्व ! (तव) स्तुतिकथालापं प्रशसावाक्यभाषणं, अलं न किमपि
फलं स्यात्, यत् सीताया जानक्या रत्नकं ('शिरस्सिन्दूरतरणि स्त्रीणामारत्नकं स्पृष्टम्'
इति हलायुधोक्ते) सीमन्तसिन्दूरलेखैव ब्रह्म 'भाला' इति प्रसिद्धं कुन्त, तेन भिन्नं विदीर्णं
हृदयं मनो यस्य, स लङ्केश्वरो रावण, स्वस्थो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः ।

ब्रह्मन् ! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, चुपचाप बाहर बैठो ! मूर्ख ! गृहस्ते ! यह
इन्द्र की समा नहीं है, कि जब तक मन करे, तब तक अण्टसण्ट बकते रहो, जो कुछ कहना
हो, संक्षेप में कह डालो । नारद ! अपनी वीणा को बन्द करो । हे तुम्बुरो ! इस समय स्तुति
कथायें—चापलूसी की बातें ब्यर्थ हैं, क्यों कि सीता की विरोनियों के भाले से लङ्केश्वर—
महाराज रावण का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं ।

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गीभूत-धीररसाक्षेपपरमैश्वर्य-
परिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधितोषपरस्यानीचित्यं न दोषः ।

इत्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य, अङ्गीभूत
पोषकतयाऽज्ञता प्राप्ते यो रावणनिष्ठो धीररस, तस्याक्षेपक व्यञ्जक वत् (तदीयं) परमैश्वर्यं
लोकोत्तरप्रभुत्वं तस्य परिपोषकतया (हेतुभूतया) स्थितो रावणद्वारि विद्यमानो यो दौवारिको
द्वारपाल, तस्य ब्रह्म-गृहस्पति-नारद-तुम्बुरितरस्कारसूचकं यदिद वचन, तस्य ब्रह्मादीना
तिरस्कारानर्हत्वाद् यदनौचित्यं, तत्र दोष-प्रकृतरसोपस्कारकत्वादित्यर्थः ।

किसी नाटक के इस पद्य में, ब्रह्मा आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल
के वचन का अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि उस तिरस्कार वचन से रावण के परम ऐश्वर्य
की पुष्टि होती है, जिमसे धीर-रस का आक्षेप होता है, जो विप्रलम्भशृङ्गार (रसाभास)
का अङ्ग होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—

एवमेव—'अले ले सद. समुत्पाडिअ-हरिय-कुसगांथिमयाच्छमालापइ-
वित्ति-विस्संभिअ-बालविहवंदः कअणा बम्हणा' इत्यादिविदूषकवचनेऽपि
रेशन्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, हास्यानुगुणत्वात् ।

एवमनौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव । 'अरे रे सद समुत्पादितकुशप्रन्थिमयाञ्ज-
माला-परिवृत्तिविहम्भितयालविधवाऽन्तरकरणा ब्राह्मणा ?' इतिप्रकृतच्छाया । 'अरे रे'
इति नीचसम्बोधनम् । तदनौचित्यम् । तथा न दोषः ।

सद्यस्तत्काल, समुत्पादिता उत्कृता अथ एव हरिता ये कुशप्रन्थयो दर्भपर्वणि, तन्मयी
तद्वाप याञ्जमाला, तस्या परिवृत्त्या (परिवर्तनेन) जयविदम्बनया विशग्मितं विश्वासितम्
(वधितम्) बालविधवानामन्तरकरणं यैस्तादृशा अरे रे नीचा ब्राह्मणा ?' इत्यादिविदू-
षकवाक्ये रेशन्दादीना पूलनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य यदनौचित्यं, तत् प्रकृतस्य हास्य-
रसस्य, यतोनापकर्षकम्, प्रत्युत्तोत्कर्षकमेव, तस्मान्न दोष इत्यर्थः ।

इसी तरह 'अरे ओ ! तत्काल उग्राडे हुये हरित कुशों की गांठों से बनी हुई जयमा-
छाओं के फेरने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वासयुक्त बनाने वाले ब्राह्मणों । '

इत्यादि विदूषक के वचन में भी वाह्यों के प्रति रे शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्यों कि वह हास्य-रस के अनुकूल है।

उपरि परिगणिता एते त्रयोदशैव न रसदोषाः, किन्तु 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' इति मम्मटोक्तैः, सहृदयानुभवाच्चान्येऽपि सम्भवन्ति, तस्मादनया रेत्याऽन्येऽपीदृशा रसदोषा-स्वर्यं सुधीभिरिति प्रतिपादयन् दोषनिरूपणमुपसहरति—

एषा हि दिगुपदर्शिता, अनया सुधीभिरन्यदप्युद्धाम् ।

अन्यदिति सामान्ये नपुंसकम् ।

इस तरह अनौचित्य ज्ञान के लिये वह दिग्दर्शन करा दिया गया है, इसी रीति से बुद्धिमानों को और-और अनौचित्यों का भी स्वयम् उह कर लेना चाहिये।

अथ प्रसङ्गसङ्ख्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चैतेषु निगदितेषु, माधुर्योजःप्रसादाख्यां स्त्रीन् गुणानाहुः ।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाभितत्वान्माधुर्यमोजःप्रसादश्चेति स्त्रीन् गुणान् प्रतिपादयन्ति प्राय इत्यर्थः ।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त गुणों का निरूपण करते हैं—'रसेषु' इत्यादि। इन पूर्वोक्त नौ रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण रहते हैं—ऐसा प्राचीनों का कथन है।

तेषु माधुर्यं कुत्र रसे कियत् तिष्ठतीति निश्चाराया मतत्रयमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे संयोगालये यन्माधुर्यं, ततोऽतिशयित करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जनात्' इति केचित् ।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-शान्तयो-स्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे ।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये ।

अतिशयितमधिकमात्रम् । तत संयोगशृङ्गारात् । ताभ्यां संयोगशृङ्गारकृष्णाभ्याम् । तेभ्यः संयोग-करुण-विप्रलम्भेभ्यः । चित्तस्य द्रुतेर्विलक्षणाद्भीभावस्य । ताभ्यां करुण-शान्ताभ्याम् ।

चित्तद्रुतेर्माधुर्यस्य च तादात्म्याच्चित्तद्रुतितावतम्यमेवानुस्रष्टि रसेषु माधुर्यस्य तारतम्यमिति सम्भोगादधिकं करुणे, सम्भोग-करुणाभ्यामप्यधिकं विप्रलम्भे, सम्भोग-करुण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिकं माधुर्यं शान्ते रसे तिष्ठतीति प्रथमं मतम् । सम्भोगादधिकं (मियस्तु तुल्यमेव) करुण-शान्तरसयो, करुण-शान्ताभ्यामप्यधिकं माधुर्यं विप्रलम्भे तिष्ठतीति द्वितीयं मतम् । सम्भोगशृङ्गारादधिकं (मियस्तु तुल्यमेव) करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीयं मतम् ।

उक्त गुणों के विषय में कतिपय पण्डितों का कथन है कि—सम्भोग-शृङ्गार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में और उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार रस में, एवम् इन सबसे अधिक शांत-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर उचार रस में चित्त अधिक द्रुत होता है। अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्भोग-शृङ्गार से अधिक माधुर्य, करुण और शान्त रसों में होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि—सम्भोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ भी तारतम्य (कमी चेनी) नहीं होता, अर्थात् वे सब समान ही मधुर होते हैं।

मतत्रयं परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्गतयोः—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'

इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्, तस्योत्तरसूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्थापकपानप-
कर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सम्भवात् ।

मध्यस्थे तु मते करुण-शान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृद-
यानामनुभवोऽस्ति, तदा स प्रमाणम् ।

संयोगपेश्या क्रमेण करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वधिकं माधुर्यमिति प्रथममते, संयोग-
पेश्याऽधिकं मियस्तु तुल्यं करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यमित्यन्तिममते च प्राचां मम्मट-
मथाना—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति सूत्रमनुकूलत्वात् प्रमाणम् ।
तथाहि-तस्म कारिकावैररूपस्य सूत्रस्य, 'दीप्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसरिथिति । वीभत्स-
रौद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ।' इत्युत्तर यत् कारिकात्मक सूत्र, तत् 'क्रमेण' इति
पदस्थापकपेण प्रथमा व्याख्या, तदनपकर्षेण चान्तिमा व्याख्या सम्भवतीति ते मते प्राची-
नानुमते प्रामाणिके । संयोगपेश्याऽधिकं मियस्तु समप्रमाणक माधुर्यं करुण-शान्तयो,
ततोऽप्यधिकं विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय)मते तु, यत् करुण-शान्तापेश्याऽ-
धिकं विप्रलम्भे माधुर्यमुच्यते, तत्र प्रमाणान्तरानुपलम्भात्, सहृदयानामनुभवो यदि भवेत्,
तदा स एवानुभव प्रमाणम्, अन्यथा त्वप्रमाण तन्मतमनादेयमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में 'क्रमेण विप्रलम्भे' इत्यादि सूत्रोक्त
मम्मट का सूत्र प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र से अग्रिम 'दीप्यात्मविस्तृतेर्हेतु-
रोजोवीररसरिथिति । वीभत्स-रौद्र-रसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ॥' इस सूत्र में कथित
'क्रमेण' पद का सम्बन्ध उक्त सूत्र में मान लेने पर प्रथम मतानुकूल व्याख्या और उस पद
का सम्बन्ध वहाँ नहीं मानने पर तृतीय मतानुकूल व्याख्या हो सकती है। परन्तु मध्यम मत
में उक्त सूत्र किसी भी तरह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव
हो कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शब्दार्थ में अधिक माधुर्य होता है, तब
इस सहृदयानुभव को ही प्रमाण मान कर मध्यम मत भी ठीक है अन्यथा अप्रामाणिक होने
के कारण वह मत अग्रह्य है ।

दत्थशृङ्गारद्विरसत्रये माधुर्यस्य स्थिति प्रतिपाद्य, वीरद्विरसत्रय योजस स्थिति प्रतिपादयति—
वीर-वीभत्स-रौद्रेयोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्त-
दीप्तेर्जननात् ।

यतो वीरपेश्या वीभत्से, तदपेश्याऽपि रौद्रेऽधिका चित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद् वीर-
रसाधिकं वीभत्से, ततोऽप्यधिकं रौद्ररस योजस्तिष्ठतीत्यर्थः ।

ओज गुण वीर-रस में माधारण, वीभत्स-रस में उससे अधिक और रौद्र-रस में
सबसे अधिक होता है, क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः हृदय में अधिक दीप्ति (जोश) उत्पन्न
करते हैं ।

अथावशिष्टोऽद्भुताद्विरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सद्गोणमिसद्गोणं च
स्थिति प्रतिपादयति—

अद्भुत-हास्य-भयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम् ।
अद्भुते हास्ये भयानके च रसे प्रसाद योज्य गुणौ तिष्ठत इत्येक मतम् । प्रसाद एव
केवल तिष्ठतीत्यपरं मतम् ।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, यह कुछ
विद्वानों का मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहता है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य
विद्वानों का है ।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

माधुर्यमोजश्च प्रतिनियन्तरसत्रयवृत्ति नियतरचनाव्यङ्ग्य च, प्रसादस्तु नाद्भुतादिरसत्रय एव तिष्ठति, किन्तु सर्वेषु, न वा नियतरचनचैव व्यञ्जते, किन्तु सकलाभिरेव रचनाभिरिति माधुर्याजोऽपेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमस्तीत्याशयः ।

इदमिहाकृतनीयम्—काठिन्यादिदोषापगमाहित शृङ्गारादिरसत्रयचर्चणाजन्यचित्तस्या-
द्रीभावरूप आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो द्रुतिरेव माधुर्यं गुण', न तु द्रुतेः कारण माधुर्यम्,
द्रुतेरास्वादाभिन्नतया माधुर्यसर्वत्ववैधुर्यात् । नचैवं माधुर्यस्य रसाभेदापत्तिः, कारणभेदात्,
तथाहि—रसस्य विभागादिसम्बन्धो द्रुतेस्तु शृङ्गारादिरसात्वाद् कारणम् ।

तथा—प्रतिपक्षोत्कर्षदर्शनाद्याहितो वीरादिरसत्रयचर्चणाजन्यचित्तस्य विस्ताररूपो वृत्ति-
विशेषो दीप्तिरेवौजो गुण', न तु दीप्ते' कारणम्, दीप्तिकारणताया वीरादिरसात्वादनष्टत्वात् ।

एव सरलशब्दार्थज्ञानाहितोऽद्भुतादिरसचर्चणाजन्यचित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेष-
प्रसादो गुण', न तु विक्रमस्य कारणम्, प्रागुक्तयुक्ते । स हि शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यलेश-
मिश्रित, वीरादिरसत्रय श्रोजोलेरामिश्रित', अद्भुतादिरसत्रये तु निस्सपत्नस्तिष्ठतीति
रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्तत्रच्छते ।

प्रसाद गुण सब रसों में तथा सब तरह की रचनाओं में रहता है । ताएष्यं यह है कि
माधुर्य तथा ओज गुण उक्त तीन तीन निश्चित रसों में ही रहते हैं, एवम् उक्त दोनों गुणों को
अभिव्यक्त करनेवाली रचना भी नियत ही है । परन्तु प्रसाद गुण के विषय में ऐसी बात
नहीं है, वह सब रसों में होता है और सब प्रकार की रचनाओं से स्पष्ट होता है, यही अन्य
गुणों की अपेक्षा प्रसाद गुण में विशेषता है ।

द्रुत्यादिवृत्तवृत्तीना गुणवदसात्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्व, नतु गुणजन्यत्वमित्याह—

गुणाना चैषां द्रुति-दीप्ति-विकासात्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः,
तच्चद्रुणविशिष्टरसचर्चणाजन्या इति यावत् ।

द्रुत्यादिवृत्तवृत्तीना माधुर्यादिगुणविशिष्टशृङ्गारादिरसात्वादेन साक्षादव्यवत्वाद् गुणप्र-
योज्यत्वं, न तु सासाद्गुणजन्यत्वमिति सारम् ।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओज दीप्ति का और प्रसाद विकास का प्रयोजक है—
जनक नहीं । जनक तो इनके उक्त गुणों से युक्त रसों के आस्वाद होते हैं । अर्थात्—द्रुति,
दीप्ति और विकास ये तीनों चित्तवृत्तियों उक्त तीनों गुणों से साक्षात् उत्पन्न नहीं होतीं,
अपि तु इन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वादन से साक्षात् उत्पन्न होती हैं । सारांश यह है
कि माधुर्य आस्वाद से चित्त पिचल जाता है, ओजस्वी रसों के आस्वाद से चित्त में एक
प्रकार का जोश पैदा होता है और प्रसाद गुणयुक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित
हो जाता है ।

नचैवं गुणाना रसमात्रवृत्तित्वस्याभ्युपगमे गुणविशिष्टरचनाबोधका 'मधुरा रचना'
इत्यादिव्यवहारा गुणाना रचनावृत्तित्वस्य विरहात् क्यमुपपद्येरन्नित्याशङ्का समादधत्प्राचीन-
मतमुपसंहरति—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी वन्धः'
इत्यादयो व्यवहाराः 'आकातोऽस्य शूरः' इत्यादिव्यवहारवदौपचारिकाः' इति
मम्मटभट्टादयः ।

एतेषु त्रिषु । व्यवसितेषु निर्णतेषु । औपचारिका लक्षणिका । मम्मटभट्टादय
आहुरिति शेषः ।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तित्वेनावयवसंस्थानविशेषरूपाकारवृत्तित्वाभावेऽपि 'आकारोऽस्य रसः' इत्यादिव्यवहारः स्वाश्रयाद्यवयवसम्बन्धेन लक्षणदोषपायते, तथैव गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे निर्णीते, 'मधुरा रचना' 'श्रीजस्वीबन्ध' इत्यादयो व्यवहारा स्वाश्रयव्यवहृत्यसम्बन्धेन लक्षणयोपपादनीया इति मम्मटभट्टादीना मतमित्यर्थः ।

इस प्रकार इन गुणों के केवल रस-धर्म (उन्हीं में रहने वाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो-रचना मधुर है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'हमका आकार सूर है' इस व्यवहार के समान लक्षणिक है—मुख्य नहीं। अर्थात् शौर्य आत्मा में रहनेवाला धर्म है, अवयवों के गठन-विशेष-रूप आकार में रह नहीं सकता, फिर 'हमका आकार सूर है' इस व्यवहार को उपपन्न करने के लिये जैसे लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है, उसी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों को रचना और बन्ध में रखने के लिये लक्षणा का आश्रयण करना चाहिये। यह मम्मटभट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत है ।

खण्डनाय प्राचीनमते प्रत्यक्षप्रमाणाभावं दर्शयति—

येऽमी माधुर्योऽजप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्ता; तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादेः कार्यादननगतस्योष्णस्पर्शास्य यथा भिन्नतयाऽनुभवः, तथाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानां सन्ननुभवात् ।

'येऽमी' इत्यारभ्य 'मादशा' इति यावत् सन्दर्भेण परमतखण्डनपूर्वकं स्वमतमुपशितम्। गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीति वक्तुं न शक्यम्, यतो यथाऽग्नेर्दाहादिरूपात् कार्यात् पृथग्दग्नेर्गुणस्योष्णस्पर्शादेः प्रत्यक्षं जायते, न तथा रसानां कार्येभ्यो हृत्वादिचित्तवृत्तिभ्यः पृथग् रसगतानां रसनिष्ठानां माधुर्यादीनां गुणानां हृत्वादिचित्तवृत्तित्वादात्म्यात्प्रत्यक्षजायत इत्यर्थः ।

अग्रे कार्यस्य दाहादेर्गुणस्य चोष्णस्पर्शादेर्भिन्नतया पृथगनुभवः, रसानां तु कार्यस्य हृत्वादेर्गुणस्य च माधुर्यादेर्भिन्नतया न पृथगनुभव इति गुणानां रसवृत्तित्वे प्रत्यक्षप्रमाणाभावो बोध्य इत्यभिसन्धिः ।

अब पण्डितराज गुण के विषय में उक्त प्राचीनों के मत का खण्डन करते हैं 'येऽमी' इत्यादि। उनका कथन है कि प्राचीनों ने जो गुणों को केवल रस का धर्म बतलाया है—अर्थात् उन्होंने जो यह कहा है कि गुण रस में ही रहते हैं—रचना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है ? आप यदि कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उत्करीति से उन-उन रसों के आस्वाद से हमको उन चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है, तब हम कहेंगे कि—नहीं, जैसे अग्नि का कार्य दाह (जलाना) है और उष्ण स्पर्श उसका (अग्नि का) गुण है, इन दोनों का अनुभव हमें अलग-अलग होता है अर्थात् हम जब आग से जलते नहीं, तब भी हमें उसके गुण-उष्ण स्पर्श (गरमी) का अनुभव होता है, उसी तरह रसों के कार्य जो वृत्ति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अनिश्चित रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता ।

तत्रानुमान प्रमाणमप्युपन्यस्य निरस्यति—

तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादि-कारणत्वात् कारणताऽवच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवान् ।

तादृशैर्माधुर्यादिभिर्गुणैर्विशिष्टानां रसानाम् । आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्प्रद्वेगम् । 'हृत्वादिनिष्ठकार्यतानिरूपिता रसनिष्ठा कारणता, किञ्चिद्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्' इत्याकार-

कानुमित्यनन्तरं परिशेषानुमितिर्गुणसाधिका । प्रकोष्ठस्यो नकारो मूलेऽदृशोऽपि नागेशमशानु-
मतः सन्दर्भमङ्गतये स्थापितः । प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारत्वादिविशेषधर्मेण । गौरवं कल्पमानां
शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनेनैव निर्वाहेऽकल्पमाना गुणानां तत्त्वकल्पनाद्
बोध्यम् । कल्पनमनुमानम् ।

द्वुतित्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितगुणवद्रसनिष्ठकारणताऽवच्छेदकत्वेन गुणानामनु-
मानं प्रनाशमस्तीति न वाच्यम्, गौरवेण गुणानुमानासम्भवात् । तथाहि—द्वुतिं प्रति
शृङ्गारः कारणमिति विशेषेण यद्यपि नव कार्यकारणभावा, 'द्वुतिं प्रति माधुर्यवद्रस-करण'
मिति सामान्येन तु भ्रय एव कार्यकारणभावा स्वीकरणीया भवन्ति, किन्तु कल्पमानां शृङ्गार-
त्वादीनामवच्छेदकत्वकल्पनापेक्षयाऽकल्पमाना माधुर्यादीनामवच्छेदकत्वकल्पन एव गौरवं
भवति । तस्मात् सामान्येन कार्यकारणभावो न चानुमानं गुणानामित्यभिगच्छि' ।

यदि आप कहें कि गुणों का प्रत्यव नहीं होता तो न सही, माधुर्य आदि गुणों से युक्त
होकर ही रस, द्वुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् गुणहीन रसों से द्वुति आदि चित्त-
वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः कारणता के अवच्छेदक अर्थात् कारण में रहने-
वाले एक धर्म-विशेष के रूप में उनका अनुमान हो सकता है । तात्पर्य यह है कि 'सभी
कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती हैं' इस तरह की
व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर द्वुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में
रहने वाली कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे घट में
रहने वाली कार्यता से निरूपित दण्ड में रहने वाली कारणता (दण्डत्व से अवच्छिन्न है),
इस तरह की अनुमिति के हो जाने पर परिशेषानुमान से अर्थात् 'रस में रहने वाली कार-
णता के अवच्छेदक, गुण हैं, क्योंकि वे ही उसके (रसके) समनियत (न अधिक में रहने
वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान से गुणों की सिद्धि होगी और धर्मि-
प्रादक मान (जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी) से गुणों की रस-धर्मता भी
सिद्ध हो जायगी । परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं, क्योंकि गुणविशिष्ट रसों से ही
द्वुति-आदि होते हैं, ऐसा मान लेने पर भी द्वुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव
कल्पित होगा, उसमें गुणों को धुसेदने से क्या लाभ ? अर्थात्—द्वुति के प्रति शृङ्गार कारण
है' इस तरह से प्रत्येक रस का नाम लेकर ही कार्यकारणभाव बनाया-जायगा, फिर तो
शृङ्गारत्व आदि कल्प (अनिवार्य) धर्म को ही कारणतावच्छेदक मान लेने से निर्वाह हो
जायगा, अकल्प गुणों की कल्पना से होने वाले गौरव का स्वीकार नहीं करेंगे ।

लाघवमाशङ्क्य निराकरोति—

शृङ्गार-करण-शान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्वुतिकारणत्वं, प्रातिस्विकरूपेण
कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरत्वादिगुणानां
पृथग् हुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारण-
ताया गङ्गुभूतत्वात् ।

परेण मम्मटमशदिना । गङ्गु 'धेघ' इति प्रसिद्धो गलप्रत्यय । शृङ्गारादिरता द्वुत्यादीना
कारणानि, माधुर्यादियुगास्तु प्रयोजका इति प्रागावेदितम् ।

ननु 'शृङ्गारो हुते कारणम्' 'कण्ठो हुते-कारणम्' 'शान्तो हुते कारणम्' इति विशेष-
रूपेण कारणताऽभ्युपगमे भ्रय, दीप्तिविकासयोश्च प्रत्येक भ्रय इति सङ्कलनया नव कार्य-
कारणभावाः कल्पनीया भवन्ति, 'द्वुतिं प्रति शृङ्गार-करण-शान्ता माधुर्यवत्त्वेन कारणानि'
'दीप्तिं प्रति वीर-वीमत्स-वीर्य श्रोत्रोत्त्वेन कारणानि' 'विकासं प्रति चाद्भुत-हास्य-भया-
नमः प्रसादवत्त्वेन कारणानि' इति सामान्यरूपेण कारणताऽभ्युपगमे भ्रय एव कार्य-

कारणभावा कल्पनीया - भवन्तीति सामान्येन कारणत्वाभ्युपगमे लाघवं गुणसिद्धिश्च भवतीति पूर्वपक्षाशय ।

प्राक्प्रतिपादितमम्मटादिमतेन मधुरत्वेन सम्भोगस्य, मधुरतरत्वेन कर्षणस्य, (शान्तस्य च) मधुरसमत्वेन विप्रलम्भस्य च कारणस्य, द्रुते, अतिद्रुते, अतितमा द्रुतेश्च कार्यस्य त्रैविध्यात् 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवान् सम्भोग कारणम्' 'अतिद्रुतिं प्रति नितरा माधुर्यवान् कर्षण. (शान्तश्च) कारणम्', 'अतितमा द्रुतिं प्रति नितरा माधुर्यवान् विप्रलम्भ कारणम्' इति त्रयः सङ्कलनया नव कार्यकारणभावा विशेषरूपेण, त्रयश्च भवदभिमतता सामान्य-रूपेणैति सङ्कलनया द्वादशाना कार्यकारणभावाना कल्पनीयत्वाद् भवता लाघवस्त्वाने गौरव-मेवापतेदित्युत्तरपक्षाशय ।

यदि आप कहेंगे कि उक्त कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि अलग-अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'शृङ्गार द्रुति का कारण है' 'कर्षण द्रुति का कारण है' 'शान्त द्रुति का कारण है' ये तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'वीभक्त दीप्ति का कारण है' 'शैद्र दीप्ति का कारण है' ये भी तीन, पुनश्च 'अद्भुत विकास का कारण है' 'हास्य विकास का कारण है' 'भयानक विकास का कारण है' ये भी तीन, फलतः नौ कार्यकारणभाव मानने पड़ेंगे और 'द्रुति के प्रति माधुर्य' 'गुणयुक्त रस कारण है' 'दीप्ति के प्रति ओज गुण युक्त रस कारण है' विकास के प्रति प्रसाद गुण युक्त रस कारण है' इस तरह इसे गुणद्वारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होते हैं, क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण शृङ्गार, कर्षण और शान्त का, द्वितीय में ओज युक्त होने के कारण वीर, वीभक्त और शैद्र का, तृतीय में प्रसाद युक्त होने के कारण अद्भुत, हास्य और भयानक का समूह हो जाता है। इस स्थिति में लाघवाद गुणद्वारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे, किन्तु यह तर्क भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने शृङ्गारादित्त्रिक में क्रमशः माधुर्य का धीरादित्त्रिक में क्रमशः ओज का और अद्भुतादित्त्रिक में क्रमशः प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार कार्य में भी द्रुति, अतिद्रुति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से तारतम्य माना है। अतः अलग-अलग नौ विशेष कार्यकारण-भाव मानने ही पड़ेंगे और साथ-साथ आप के कथनानुसार उक्त तीन सामान्य कार्य कारणभाव भी होंगे, जो उसी तरह व्यर्थ हैं, जिस तरह गद्दु (घेव-गलप्रस्थि)। सरांश यह हुआ कि गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, अतः अनुमान प्रमाण से भी गुणों की सिद्धि किंवा रस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

निगमयति—

इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम् ।

सामान्यकार्यकारणभावत्रयाकल्पनादिति शेष ।

गुणद्वारक कार्यकारणभाव वाले पक्ष में सामान्य और विशेष के योग से कार्यकारण-भावों की संख्या द्वादश हो जाती है, जिसकी प्रक्रिया ऊपर बताई जा चुकी है और प्रत्येक रस का नाम लेकर (गुण को द्वार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर उक्त रीति से उनकी संख्या नौ ही रहती है, अतः इस पक्ष में ही लाघव भी है।

ननु मम्मटादिरीत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणा सिध्यन्त्ये-
चेत्याशङ्कयामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

सध्विदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तेन कल्प्यात्मभूतानां रसानामपि निर्गुणत्वस्वीचित्याश्च माधुर्यादिगुणसिद्धिरित्याशयः ।

अस्तु उक्त दलीलों से गुणों की रसधर्मतावादी प्राचीनों का कुछ विरोध नहीं, क्योंकि

प्रातिस्थिकरूपेण (गुण को द्वार न बनाकर अलग-अलग) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का धर्म है' यह सिद्ध होगा ही। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार अथवा वीर किञ्चिद्वास्तव्य होने के नाते द्रुति अथवा क्षीति किंवा विकास के कारण नहीं हो सकते, कारण ? ऐसा मानने पर सभी रस दुत्पादि तीनों चित्तवृत्तियों के कारण हो जायेंगे, क्योंकि सभी रस अहंरूप हैं, एक हैं, अतः अगरथा यही मानना पड़ेगा कि शृङ्गार इसलिये द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर इस लिये क्षीति का कारण है कि वह ओज गुण से ओत-प्रोत है, हास्य इस लिये विकास का कारण है कि वह प्रमादगुण से भ्रसादित है और जब ऐसा मान लिया गया, तब तो उक्त प्रातिस्थिक रूप वाले कार्यकारणभाव से भी कारणता-वच्छेदक रूप में गुणों की रसधर्मता सिद्ध होगी ही। इसी अवतरण को हृदय में रख कर अन्यकार पण्डित राज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'विद्य' इत्यादि। गुण, रस-धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस वाक्मरूप है और आत्मा निर्गुण है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वाभावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्यापि भावगुणत्वमेवास्तु, तावताऽपि गुणसिद्धिः स्यादेवेत्याशङ्क्यामभिदधाति—

एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्या-
नौचित्याच्च ।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते ।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्वं युक्तिप्रमाणाभावादनप्यम्, एवं तदुपाधयो रसस्यापि भावा-
ये रत्यादयः, तथा गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावात्, पररीत्या मम्मदायुक्तीत्या रत्यादीनां
मुख्यरूपत्वाङ्गीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्ते-
नासत्त्वाच्चानुपपन्नमित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस उक्ति का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत
रति आदि स्थायीभावों के धर्म गुण हैं, तो यह भी सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो
इसमें कुछ प्रमाण नहीं और दूसरे काव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मत से रति आदि
सुख रूप हैं, अतः वे स्वयं गुण हैं, फिर उनमें अन्य गुणों का होना सम्भव नहीं, कारण ?
गुण में गुण नहीं रहते, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है।

ननु शृङ्गारादिरसेषु माधुर्यादिगुणानङ्गीकारे 'शृङ्गारो मधुरः' 'वीर ओजस्वी' इत्यादयो
व्यवहारः कथमुपपद्येरन्तत्याशङ्क्यामाह—

अथ 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि दुत्पादि-
चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन दुत्पादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु।
व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवद्वचतः ।

दुत्पादीनां शृङ्गारादिवृत्तितया रस्यादिवृत्तितयाधास्वीकारे शृङ्गारे माधुर्यासम्भवात्
'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारः प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्क्याम्—दुत्पादिप्रयोजकत्वम्, अथवा
संसर्गकुक्षिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेणैव भाननियमाङ्गाधवाय प्रयोजकतासम्बन्धेन दुत्पादिकमेव
माधुर्यादिकमस्त्वित्यङ्गीकृत्या माधुर्यादीनां निर्वचनम्, वाजिगन्धया 'असगन्ध' इति
प्रसिद्धया अश्वगन्धोपयेस्तत्कालमुष्णत्वस्यानुपपन्नमेऽपि पारिणामिक तदादाय, यथा 'वाजि-
गन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव शृङ्गारादिरसानां सद्यो दुत्पाद्यभावेऽपि पार्यन्तिका-
स्वादकालिक-दुत्पादिकमादाय 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं
च समाधानं बोध्यम् ।

माधुर्यादीनां दुत्पादिप्रयोजकत्वस्य दुत्पादितादुत्पत्त्यस्य वाऽङ्गीकृतौ सदृश्यत्वानुभवस्य
प्रमाणस्य सत्त्वात् न तान्तरवदप्रमाणत्वमित्याकृतम् ।

अब यहाँ यह साझा हो सकती है कि जब आप के हिसाब से गुण न रस के धर्म हो सके, और न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सका, तब 'शृङ्गार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व (उन चित्तवृत्तियों का परम्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण है, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ उभारने का (प्रयोजकता) सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। इस द्वितीय कल्प में प्रयोजकता को सम्बन्ध कोटि में ले आने से यह लाघव होता है कि उसका भान स्वरूपत हो जायगा अतः प्रयोजकता के आगे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी और प्रथम कल्प में उसका भान स्वरूपतः नहीं होगा जिससे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना करनी होगी, अतः गौरव होगा। यदि आप कहें कि इस प्रकार से गुणों का निर्वचन भले ही कर लिया जाय, परन्तु इसमें 'शृङ्गार मधुर है' इत्यादि व्यवहार तो उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि प्रयोजकता वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं है—अर्थात् उस सम्बन्ध से कोई पदार्थ कहीं रहने वाला नहीं कहला सकता, अतः एव कोई दूसरा दृष्टान्तभूत ऐसा व्यवहार भी दृष्टि गोचर नहीं होता। इसका समाधान यह है कि यदि प्रयोजकता को वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'असगन्ध (औषध) उष्ण (गरम) है' यह व्यवहार कैसे होता ? क्योंकि असगन्ध में उष्णता नहीं है, वरन् वह उष्णता का प्रयोजक है। अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से असगन्ध को उष्णता का आश्रय मान कर 'असगन्ध उष्ण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे उक्त व्यवहार भी होंगे।

ननु द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽदृष्ट-कालेश्वरेच्छादीनां कार्यमात्र-प्रयोजकत्वात् तेष्वपि माधुर्यादिव्यवहार प्रमज्ज्येतेत्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः ।

चकारो हेत्वर्थक । अदृष्टादिविलक्षणमदृष्टायदृष्टि । शब्दार्थाव रसाव रचनाश्चेति द्वन्द्वः । अतिप्रसक्तिरतिव्याप्तिः ।

यतोऽदृष्टायदृष्टि शब्द-तदर्थ-रस-रचनामात्रदृष्टि द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव माधुर्यादि गृह्यते, तस्मान्नादृष्टादिषु माधुर्यादिव्यवहारातिव्याप्तिरिति सारम् ।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रव्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अदृष्ट (धर्म अधर्म) काल आदि में भी रह सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रयोजक हैं, उनकी प्रेरणा के बिना सत्कार के कोई भी कार्य नहीं होता—एक पत्ता भी नहीं द्रिळत, अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता भी उनमें अवश्य स्वीकर्तव्य होगी, फिर तो आप के हिसाब से 'अदृष्ट मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होने लगेंगे। इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रव्यादि प्रयोजकता असाधारण और अदृष्टादि में रहने वाली साधारण है, अतः यहाँ अदृष्ट आदि से व्यावृत्त (उनमें नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना इन सबों में ही रहने वाली प्रयोजकतासम्बन्ध के रूप में ग्राह्य है, अतः उक्त दोष नहीं होगा।

तथाऽङ्गीकारे फलं दर्शयन् स्वमतमुपसंहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः ।

ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपस्य । तुना मम्मटादिव्यवच्छेदः ।

तथा च माधुर्यादीनां द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपताऽभ्युपगमे च, ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोज-

कस्वरूपस्य माधुर्यादेः शब्देऽर्थे च सत्त्वात्, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी वन्य' इत्यादि-
व्यवहारोपपत्तये, उपचारः 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थनोर्मता' इत्युक्तेर्लक्षणा, मम्म-
टादिमतवदस्मन्मते, न कश्चिन्मो भवति मुल्यापान्वयनाधनैधुर्यादिति फलं भवतीति मादृशा
निवेचका रदन्तीति शेषः ।

इदमिहा कलनीयम्—गुणानां शब्दार्थगतत्वं, विशुतित्वं, काव्यशोभाकारित्वेन तदति-
कारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्थितम् । माधुर्यौजःप्रसादात्मकत्वेन त्रित्वं, कमेण
द्रुति-दीप्ति-विकासकारणत्वं, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्यलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च
गुणानां मम्मटेनानुशिष्टम् । विश्रानाथेन तु माधुर्यादीनां हृत्वादितादात्म्यमात्रमभिनवं
स्वीकृत्य मम्मटपथमेवानुसृतम् । जगन्नाथेन पुनर्द्वैत्वादीनां जनकत्वस्य रसास्वादमात्रवृत्ति-
तया, गुणानां तत्प्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्वं चाभिहितम् । तत्र परीक्षायां विघ्ननाय-
मतमेव सर्वथा निर्दोषणं प्रतिभाति । न च गुणानामानन्दविशेषात्मकवृत्त्यादिरूपत्वे रसाभेदा-
पत्तिः, कारणभेदेनोभयोर्मैदस्य प्रमेव निवेदितत्वात् । अत एव रसगुणयोरुपधाराभेयोऽपि
नानुपपन्नः । न च गुणानां रसमात्रवृत्तित्वात्कारे 'मधुरा रचना' इत्यादिषु लक्षणास्वीकाराद्
गौरवम्, उपायान्तरामायेन गौरवस्यैष्टत्वात् । इतरथा 'आकाशोऽस्य शूरः' 'कलिञ्ज साह-
सिकः' इत्यादिष्वपि लक्षणाभयादाकारे शौर्यस्य, देशे साहसिकत्वस्य च स्वीकारेण, रुटि-
मूलकलक्षणा उच्छेद एव कृतः स्यात् ।

इस तरह माधुर्यं आदि गुणों का निर्वचन करने पर एक बड़ा लाभ यह होता है कि
'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली मधुर है' 'यह अर्थ ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को
सिद्ध करने के लिये लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता, क्योंकि उक्त प्रकारक
माधुर्यादि गुण शब्द, अर्थ और रचना आदि में भी रह ही सकते हैं—रहते ही हैं । ये हैं
हमारे (पण्डितराज) जैसे—विद्वानों के निवार ।

इत्थं स्वमतेन गुणान् प्रतिपाद्य, निराधिकीर्यया नामनादिमते प्रतिपादयति—
जरतरास्तु—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ॥

अर्थव्यक्ति-रुदारत्व-मोजः-कान्ति-समाधयः ॥'

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति । नामानि पुनस्तान्येव,
लक्षणं तु भिन्नम् ।

जरतरा अतिशयनीनां नामनादय इत्याहुरित्यर्थः ।

लक्षणमित्येकवचनं तु प्रत्येकमभिप्रायेण योजनीयम् ।

श्लेषादीनि अन्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणानामपीति नामसान्येऽपि तेषां
स्वरूपभेदात्लक्षणभेद इत्याशयः ।

अत्यन्त प्राचीन आचार्य वामन आदि तो :—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्यं सुकुमारता,
अर्थ व्यक्ति, रुदारता, मोज, कान्ति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों
के गुण मानते हैं । नाम दोनों के वे ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं ।

अथ प्रथमं बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नाद्यं श्लेषं कथयति—

तथा हि—

शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिमानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्ण-
विन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।

भिन्नानां विरुपाणाम् । एकत्वेनाभेदेन प्रतिमानस्य ज्ञानस्य प्रयोजकः । संहिताया

परसन्निकर्षेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सदृशानां वर्णानां विन्यासविशेषो विलक्षणरचना ।
गाढत्वमपरपर्यायो नामान्तर यस्य स ।

। भिन्नानामपि शब्दानां व्याकरणानुशिष्टसन्निकर्षविशेषप्रयुक्ताभिन्नप्रकारकप्रतीति-
प्रयोजको गाढत्वनामा श्लेष शब्दगुण इत्यर्थः ।

अथ शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'श्लेष' का लक्षण दिखलाते हैं—'तथाहि'
इत्यादि । भिन्न-भिन्न रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'श्लेष' कहते हैं,
जो एक जातीय वर्णों से युक्त हो और अत्यन्त सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में
रहना) से एक ही तरह के शब्दों से बना हुआ सा प्रतीत हो । उस योजना-विशेष का
दूसरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जाता है ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु—'श्लेषमस्पर्शशैथिल्यम्' इति ।

। श्लेषं श्लेष इति भावे क । अस्पर्शं न स्फुटं शैथिल्य पदानां भेदो यत्र, तत्,
'यद्विनामपि पदानामेकपदवद्भाषनात्मा श्लेष' इत्यन्यत्र दर्शनात् ।

श्लेष के उक्त लक्षण में प्राचीनों की भी सम्मति है—उन्होंने लिखा है कि-श्लेष
उस रचना-विशेष को कहते हैं, जिसमें शिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो ।

श्लेषमुदाहरति—

यथा—

कश्चिच्चाटुकारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविद्वद्बुद्धुमद्रोहिदारिद्र्यमद्यद्विपोहामदपौषविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति ।

अनवरत सतत विद्वास एव परार्थगीतित्वात् फलगौरवनतत्पदाद्वा हुमास्तेषां रोहि-
पीटाकरत्वादिति, यदारिद्र्यं निर्धनत्व, तदेवानिवारणीयत्वान्माद्यन्मुत्तीभवन् द्विपो हस्तो,
तस्य य उहामदपौष उक्तमदराशि, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढः प्रगल्भ पञ्चानन
सिंहस्त्वमसौत्सर्ष । इति भिन्नानामपि शब्दानां सन्निवेशनाभिभवत्प्रतिभानं स्पष्टम् ।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि—हे राजन् ! तुम, विद्वत्समाजरूप
घुघों (दूसरों के लिये जीने वाले) के सर्वदा द्रोह करने वाले दारिद्र्य रूप मद-मत्त
झमी के उक्त गर्व-समूह (मद) को नष्ट करने में महान् सिंह हो-अर्थात् तुम्हारे दर्शन
से विद्वानों की दरिद्रता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह सिंह के दर्शन से मद-
मत्त गजों के दानवारि सूख जाते हैं । यहाँ सन्धि करने के कारण भिन्न-भिन्न पद भी
एक पद के समान प्रतीत होते हैं, अतः यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है ।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ।

भिन्नानामभिन्नतया भानं गाढत्वम्, भिन्नतया भानन्दु शैथिल्यम्, तयोः क्रमेण आदौ
गाढत्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, सन्नियेशस्तु बन्धमाणे समाधिगुणे, अत्र तु व्युत्क्रमेण
विपरीतक्रमेण-आदौ शैथिल्यमन्ते गाढत्वमिति रीत्या सन्नियेश इति समाधि-प्रसादयोर्भेदः ।

अथ 'प्रसाद' गुण का लक्षण देरित्ये—रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा
लगना) और शिथिलता (पदों का भिन्न जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से
मिश्रण अर्थात् रचना का पहले शिथिल और बाद में गाढ होना—'प्रसाद' गुण कहलाता है ।

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजानं चाटुकारो ब्रवीति—

‘किं ब्रूमस्तव वीरतां धयममी, यस्मिन् घराखण्डल !
क्रीडाकुण्डलितभ्रुरोगनयने दोर्मण्डलं परयति ।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूपासहस्रोत्करै-
विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥’

हे घराखण्डल घरणीन्द्र ! यस्मिन्त्वयि, क्रीडया क्रीडामा का कुण्डलिने वतुलीकृते
भ्रुवौ चत्र, तवया स्वान्, तथा शोणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डलं बाहुवलयं परयति सति,
विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहा विन्ध्यावलिकाननकन्दरायतनसन्निकृष्टशूना, तत्कालं तस्मिन्नेव
समये (मिया पलाय्य गतानां त्वद्गैरिनुपाणा) माणिक्यावलिकान्तिभिः शोणमणिश्रेणी-
वृत्तिभिः, दन्तुरतरैरत्युन्नतैः, भूपासहस्रोत्करैः शाखावलम्बितभूषणसहस्रसमुदायैः, रक्षा-
सिता अतितरा शोभितां भवन्ति, तस्य तव वीरता पराक्रमम्, श्रमी वराद्या, वयं किं
भूमः किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

जैसे—किसी चाटुकार (सुनामदी) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे पृथ्वी के इन्द्र !
जिन आप के खेल में भ्रूयुगल को गोल और नेत्रों को लाल करके भुज-मण्डल को देखने
पर तत्काल ही विन्ध्य पर्वत के बनों के कन्दरा-रूप घातों में रहने वाले वृद्ध, माणिक्या-
बलि की कान्तियों से अत्यन्त उन्नत हजारों भामूषणों के समूहों से चमकने लग गये,
उन आप की वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें। श्लोक का सारांश यह है कि जिस
राजा की उक्त चेष्टाओं से घबड़ा कर शत्रुभूत राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की
गुहाओं में जा छिपे, उनकी वीरता का वर्णन साधारणजन क्या कर सकते हैं ।

लपपादयति—

अत्र ‘यस्मिन्नि’त्यन्तं शैथिल्यम्, ‘भ्रू’ शब्दान्तं गाढत्वम्, पुनर्नयने’त्यन्तं
प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

प्रथमं शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्यं
विभाषप्रत्ययभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रुशब्दं यावद्गाढत्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति
यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

इस श्लोक में ‘यस्मिन्’ पद तक सिधिलता है, फिर ‘भ्रू’ शब्दपर्यन्त गाढता है और
पुनः ‘नयने’ पद पर्यन्त सिधिलता है, अतः ‘प्रसाद-गुण’ का उदाहरण होता है, इत्यादि
समझना चाहिये ।

तृतीया समता लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

उपक्रमादारम्भान्, आ समाप्तेरवसानं यावत्, रीतेऽपनागरिकादिद्वैतकल्पनाया
वैदम्यादिः अभेद एकरूपता समता नाम गुण इत्यर्थः ।

अब समता का लक्षण करते हैं—‘उपक्रमात्’ इत्यादि । आरम्भ से अन्त तक एक ही
प्रकार की रीति के होने को ‘समता’ कहते हैं । यहाँ यह भी समझना चाहिये कि—उपना-
गरिका, परुषा और कोमला ये तीन रीतियाँ होती हैं । इन्हीं को वैदमी, गौरी और
पाञ्चाली भी कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—वक्ष्यमाण-माधुर्योदाहरणे ।

‘नितरां परुषा’ इत्यादौ ।

जैसे कि आगे-माधुर्य के उदाहरण ‘नितरां परुषा’... इत्यादि श्लोक में है ।

उपपादयति—

तत्र ह्युपनागरिकयैवोपक्रमोपसंहारी ।

तत्र ‘नितरां’मित्युदाहरणे यत आदेरन्तं यावदेकैवोपनागरिकश्च वृत्तिरतः समतेत्यर्थः ।

वहाँ ‘उपनागरिका’ वृत्ति से ही आरम्भ और उसी से समाप्ति की गई है ।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।

संयोगो ह्रस्वानन्तर्यं परो येभ्यस्तादृशा ये ह्रस्ववर्णा एकमात्रिकाक्षराणि, तेभ्योऽतिरिक्तवर्णैर्घटितत्वे सति, पृथक्पदत्वमसरिलिष्टपदत्वं माधुर्यं गुण इत्यर्थः । संयोगे परे येषां ह्रस्वाक्षराणां गुरुत्वं, तद्विभक्तस्य लक्षणे निवेशः, संयोगश्चात्र परसवर्णैर्नानिष्पन्नैर्ह्रस्वैर्घटितो गृह्यते, तेन तत्पथे ‘पल्लवानां’मित्यत्र पञ्चोत्तरह्रस्वाक्षरस्य लक्ष्यद्रव्यसंयोगपरकत्वेन गुरुत्वेऽपि न क्षतिः, लक्ष्यद्रव्यसंयोगस्य परसवर्णानिष्पन्नत्वात् । पदानां सहितयाच्छिष्टत्वाभावः पृथक्पदत्वम् ।

अब माधुर्यगुण का लक्षण देते हैं—‘संयोग’ इत्यादि । संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यञ्जन) वर्णों के आगे में रहने से पूर्व के जिन ह्रस्व स्वरों को गुरु सज्ञा होती है, ऐसे ह्रस्व स्वरों से अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचिन होना और पदों का अलग अलग रहना—अर्थात् सन्धि और समास से रहित होना, इन दोनों ‘होने’ को सम्मिलित रूप में ‘माधुर्यगुण’ कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकुहयितः प्रणयिनीं वदति—

‘नितरां परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि ।

यदि कोमलता तवाङ्गकाना-भयं का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥’

हे प्रिये ! यदि तब अज्ञवाना मृदुत्वातिशयेनानुकम्पनायावयवाना कोमलता विभाव्यते, तदा सरोजाना सरोजन्यस्त्वेन मृदुतमाना कमलाना, माला सक्, नितरामत्यन्तं, परुषा कर्कशा, प्रतिभाति । मृणालानि विसानि च, विचारे तवाङ्गानि मृणालानि वाऽपिकं कोमलानिति विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिमान्ति । अथ तदुभयातुल्यत्वनिर्णये, पल्लवाना किसलयानां कथा त्वदङ्गसाम्यवर्चाऽपि का ? न काऽपीत्यर्थः ।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णानिष्पन्नसंयोगनिमित्तकगुर्वक्षराघटितानि चेति माधुर्यं गुणः । तच्च प्रयुक्तया समतया, वक्ष्यमाणयाऽर्थव्यक्त्या च सङ्गीर्णम् ।

जैसे—नायक नायिका से क्षुशामदभरी बातें कहता है—हे प्रिये! जब-जब मैं तुम्हारे इन कोमल अङ्गों के विषय में सोचता हूँ, तब-तब मुझे कमलपुष्पों की माला अत्यन्त कठोर मालूम पड़ती है, मृणाल तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखते कि-ये तेरे अङ्गों के समान कोमल हैं—किं वा नहीं, रहे पल्लव सो जब कमल और मृणालों की यह दशा है, तब उनकी तो चर्चा भी तुम्हारे अङ्गों के सामने व्यर्थ है । यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो लकारों का ऐसा संयोग है जिसके परे पकारोत्तर अक्षर को गुरु सज्ञा होती है, तथापि

दोष इतलिये नहीं होता कि-उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे ऐसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की व्याकरणानुसिष्ट सन्धि) के द्वारा अनिप्लव हलवर्णों से युक्त न हो और वहाँ का लकारद्वय संयोग परसवर्ण द्वारा निप्लव नहीं हुआ है, अतः वैसे हलवर्णों से युक्त ही हुआ ।

पद्यमी सुकुमारता लक्षयति—

अपरुपवर्णघटितत्वं सुकुमारता ।

केवलकोमलवर्णघटितत्वं वन्वस्य सुकुमारत्वं गुण इत्यर्थः ।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिन्दे—कठोर वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है ।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति पराचरति वा—

'स्वेदाभ्युत्सान्द्रकणशालि-कपोलपालिदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया ।

आनन्दमधुरयति स्मरणेन काऽपि, रम्या दशा मनसि मे भदिरेक्षणायाः ॥'

स्वेदाभ्युत्सान्द्रकणशालि, कपोलपालिदोलायिताभ्यां कुण्डलाभ्यां, वन्दनीयाश्लापनीया, काऽप्यनिर्वचनीया, भदिरेक्षणाया खजनाख्या (प्रेयस्याः) रम्या मनोरमा, दशाऽवस्था, स्मरणेन (हृदि) आनन्दम्, अधुरयत्युत्पादयतीत्यर्थः ।

जैसे—नायक किसी से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बिन्दुओं से शोभित कपोल-स्थल पर झूलते हुए कानों के कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अनिर्वचनीय, सद्भावे नयन वाली नायिका की रमणीय अवस्था, याद आते ही, हृदय में आनन्द को अंकुरित कर देती है ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे । उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि ।

अत्र श्लोके पूर्वार्धे प्रथमद्वितीयपरणयो कोमलवर्णघटितत्वात् सुकुमारता शुद्धा । उत्तरार्धे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्गीर्णा । लकारस्य चर्करथेऽप्येवक्राकितया न गणना । श्रवणकुण्डलेत्यत्र पौनःकृत्यम्, श्रवणस्थितत्वबोधकत्वेन परिहारस्तु 'स्थितेष्वेतत् समर्थतम्' इत्यनुरासनात् प्राचीनतमोक्तिरेव युक्तः ।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध (प्रथम-द्वितीय धरणों) में सुकुमारता है । उत्तरार्ध (तृतीय-चतुर्थ धरणों) में माधुर्य और सुकुमारता दोनों का मिश्रण है ।

पद्योर्मध्यक्ति लक्षयति—

ऋगिति प्रतीयमानार्थान्वयकस्य मर्थव्यक्तिः ।

ऋगिति शीघ्रयाकाङ्क्षादिसामग्रीसमवधानात् प्रतीयमानोऽर्पणानामन्वय सम्बन्धो यत्र, तत्त्वम्, अत्रिलम्बेन शब्दबोधजनकत्वं पदानामर्थव्यक्तिरित्यर्थः ।

अब 'अर्थव्यक्तिगुण' का लक्षण देखिये—अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान होना अर्थात् शीघ्र ज्ञान-बोध के होने को—'अर्थ-व्यक्तिगुण' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'नितराम्' इत्यादी ।

माधुर्योदाहरणे ।

जैसे कि 'नितरा' परया सरोजमाला इत्यादि—पूर्वोक्त पद्य आदि में ।

सप्तमीमुदारता लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।

टवर्गादिकठोरवर्णघटितत्वं वन्दस्वोदारता गुण इत्यर्थ ।

अथ 'उदारता गुण' का लक्षण परलिये—रचना का टवर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना—जिसे विकटत्व भी कहते हैं—'उदारता गुण' कहलाता है ।

उदाहरति—

यथा—

शिवस्य ताण्डव भक्तो वर्णयति—

'प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालाग्ली-

विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्यानिति ।

ललाटतटविस्फुटभ्रवकृपीटयोनिच्छटा-

हठोद्धतजटोद्धतो गतपटो नटो नृत्यति ॥'

प्रमोदभरेण तुन्दिलैरानन्दतिशयेनोत्फुल्लैः, प्रमथं शङ्करपारिपदैः दत्ताभिर्विहिताभिः, तालावलीभिः कालक्रियामानवोयककरध्वनिपरम्परामि, विनोदिनि कौतूहलमृति, विनायके गणेशो, डमरुं डिण्डिम च वाद्यविशेषं ध्वनयति वादयतीति तच्छीले सति, ललाटतटात् कपालस्थलात्, विस्फुटन्ती प्रकटीभवन्ती कृपीटयोनिरेण्णेश्छटा प्रभा यस्य तादृशः, हठेन नृत्याभिविषेयेन, उद्धताभिरुर्ध्वं विकीर्णाभिः, जटाभिः, उद्धतो विकट, गतपटो दिगम्बर-त्वाभिर्वसन, नटो नर्तकः शिवो नृत्यतीत्यर्थ ।

जैसे—कोई भक्त शिवजी के ताण्डव-नृत्य का वर्णन करता है—भाल-देश से फूटकर निकलती हुई अग्नि की नवीन-झटा से युक्त और हठ से (नृत्याभिविषेय से) ऊपर उछाली हुई जटा के कारण विकट लगाने वाले नगे नटराज (शिव) नाच रहे हैं, अति आनन्द से फले हुये प्रमथ लोगों के द्वारा दी गई तालियों से विनोद-मग्न गणेशजी डमरु और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बजा रहे हैं ।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीना, ऋटिति रणितमासीत्' इत्यादि । तत्र तेपानेतादृशीं विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति स एव जानन्ति ।

ऋटिति स्थानेऽनुकरणार्थको ऋणित्वाति, स्वचरणस्थाने सुचरणेति पाठश्च साधोयान् । तत्र तस्मिन् विषये । तेषा टीकाकाराणाम् ।

• काव्यप्रकाशाव्याख्यातुमिष्यत् 'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इत्युदारताया लक्षणं कृत्वा 'स्वचरणे'त्यायुदाहरणं दर्शितम्, तत्र समीचीनम्, उदारताया ओजस्यन्तर्भावं कुर्वत काव्यप्रकाशान्मकमूलप्रत्यकृतोऽभिमतै विरुद्धत्वादित्याशयः ।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मत है, जिसका अब स्पष्टन करते हैं—'पदानाम्' इत्यादि । काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदा' के नाचने से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टे ...' इत्यादि । इस विषय में पण्डितराज का कथन है कि-टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अभिध उदारता का ओजगुण में अन्तर्भाव करने वाले मूलकार (मम्मट) उनके अनुकूल कैसे हुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में एकवाक्यता कैसे हुई—इसे वे ही जानें ।

तामेवानभिमतं प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति । 'त्रिनिविष्टैर्नूपुरैर्नैतं' इत्यत्र सन्नप्यो-
जसो लवो न चमत्कारी । नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्वं वर्णानामनुभवन्ति सहृदयाः ।
अंशान्तरे तु माधुर्यमेव ।

हि यत् अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे श्रौजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभानं
प्रतीतिर्नास्ति, 'त्रिनिविष्टैर्नूपुरैर्नैतं' इत्येतावदशो संयुक्तपङ्कारटकाररेफघटितत्वान् सन् विद्य-
मानोऽपि, श्रौजसो लवो लेरा', वैपुल्याभानाद् वीराद्योजस्विरसामावाच चमत्कारी न भवति,
वर्णानां नृत्यत्प्रायत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति, अशान्तरे 'स्वचरणे'त्याद्यंशो
यद्दुत्र तु पुनर्माधुर्यमेवास्ति, तस्मान्नात्रौजो गुण इत्यर्थः ।

अत्रौजसो लेरातो माधुर्यस्य तु बाहुल्येन सद्भावान् पदनृत्यत्प्रायत्वाननुभवत्पञ्च
टीकाकर्तुर्उदारताया लक्षणोदाहरणे न रामोचने इति सारम् ।

अत्र उक्त मूलकार और टोकाकार में होने वाले विरोध का स्वरूप तथा उसमें युक्ति
बतलाते हैं— न ह्यत्र इत्यादि । 'स्वचरण' इत्यादि पद्य में प्रचुर रूप से भोजोगुण
भासित नहीं होता । यद्यपि 'त्रिनिविष्टैर्नूपुरैर्नैतं' इस अंश में कुछ भोज है, पर वह
चमत्कारी नहीं और उस पद्य में सहृदयों को नाचते से पदों का अनुभव भी नहीं होता ।
अन्य अंशों में माधुर्य का ही अनुभव होता है । कहने का सारांश यह है कि—उक्त
पद्य में भोज अगर है भी तो अशत और माधुर्य प्रचुर—मात्रा में है और नाचते हुये से पद
भी नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दितलवाये हैं, वे ठीक
नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं ।

अष्टमभोजो लक्षयति—

संयोगपरहस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वभोजः ।

संयोगः परो येभ्यस्तादृशानां हस्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूपं यस्य, तद्गाढत्वं
वर्णादीनामभोजो गुण इत्यर्थः ।

अत्र 'भोजोगुण' का लक्षण सुनिपे—गाढता को 'भोजोगुण' कहते हैं और गाढता कहते
हैं—आगे में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुये हस्व स्वरों की बहुलता को ।

उदाहरति—

यथा—

चाङ्गिहृत् क्षितिपतिं स्तौति—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्वर-

क्षुभ्यत्तीरधिबल्युषीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कपाः ।

तृष्णातान्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता

भूमीभूषण ! भूषयन्ति सुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः ॥'

हे भूमीभूषण घटलङ्कार शृष । साहङ्काराया सबलाभिमानाया, सुरासुरावलेदेवदानव-
पङ्के, करैराकृष्टेन, अत एव भ्रमता घूर्णमानेन, मन्दरेण मन्यानदम्भीभूषणपर्वतेन, क्षुभ्यतो
विलोडनान् सञ्चलत, क्षीरधेर्दुग्धसमुद्रस्य, वन्गुना सुन्दराणा, वीचिवलयाना तरङ्गमण्डलानां,
श्रिय शोभत्या, गर्वस्य श्रेतिमामिमानस्य, सर्वङ्कपा- सर्वापहारकारिका, तृष्णया पिपासया
प्रेप्सया वा, ताम्यद्भिर्व्यप्रीभवद्भिः, अमन्दैरुत्कृष्टैः, तापसकुलैरमरत्वलाभनिमित्तकृतपस्या-
परायणगणैः, सानन्दं रूपतादृश्यादमृताभ्रणेण साहादम्, आलोकिता दृष्टा, भवत कीर्त्तयः,
सुवनानाम्, आभोगं विस्तारं, भूषयन्त्यलङ्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अत्रोक्तसंयोगनिमित्तकसुरासुराहस्ववर्णप्राचुर्यादभोजोगुणः ।

जैसे—कोई चाटुकार राजा की स्तुति करता है—हे धरालङ्कार ! अत्यधिक अभिमानशाली देवों और दानवों की पङ्क्तियों से खिंचे हुये, अत एव घूमते हुये, मन्दराचल से झुबुबने हुये सीर-सागर की मनोहर तरङ्गों के समूह की शोभा के गर्व को सर्वथा मष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल तपस्वियों के झुण्डों से (तृषा-शान्ति का साधन समझ कर) आनन्द पूर्वक देखी गईं आपकी कीर्तियाँ सम्पूर्ण ससार को शोभित करती हैं । यहाँ अभिप्रम संयोग निमित्तक गुस्ता को प्राप्त करने वाले हृत्स्व स्वरों की अधिकता है, अतः 'ओजोगुण' का उक्त लक्षण सभदित हुआ ।

उदाहरणान्तरमाह—

यथा या—'अयं पततु निर्दयम्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

प्राग्ग्रीद्वरसनिरूपणे । 'नवोच्छलित-' इत्यादिपद्ये ।

अथवा, 'रौद्र-रस' के निरूपण-प्रसङ्ग में उल्लिखित 'अय पततु...' इत्यादि पद्य को 'ओजोगुण' का उदाहरण समझना चाहिये ।

नवमी कान्ति लक्षयति—

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः ।

यथा—'नितराम्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

असहृदयाना वैदिकप्रभृतीनां प्रयोगोचितानि यानि पदानि, तानि विहाय, सहृदयै-कविभिः प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याऽलौकिकी शोभा, सैवोज्ज्वलत्वरूपा कान्तिरिति सारम् ।

अत्र विदग्धमात्रप्रयोज्यपदवाहुस्यात् कान्तिः, पूर्वोक्तमाधुर्यार्थव्यक्तिभ्यां सङ्कीर्णा ।

अथ 'कान्तिगुण' का लक्षण देखिये—सहृदयता—शून्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होती है—भिसको उज्वलता भी कहते हैं—उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं ।

जैसे कि—'नितरा परुषा ' ... इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में । इस पद्य में सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्थव्यक्ति' गुण भी हैं, अतः तीन गुणों का सकर यहाँ माना जायगा ।

दशमं शब्दगुण समाधिं लक्षयति—

बन्धगाढत्व-शिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।

बन्धस्य प्राग्गाढत्वं पश्चाच्छिथिलत्वमेवं क्रमेण, न तु प्रसादवद्बन्धुत्वमेण, अवस्थापन विन्यसन समाधिरित्यर्थः ।

अब 'समाधि' गुण का लक्षण करते हैं—रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना—अर्थात् पहले गाढ रचना का और पश्चात् शिथिल रचना का होना—'समाधि' गुण कहलाता है ।

स्वोपि प्राचीनसम्मत्या द्रढयति—

अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः ।

अनयोर्बन्धस्य गाढत्वशिथिलत्वयोरेव, प्राचीनैर्नामनादिभिः, आरोहावरोहयो, व्यपदेशो व्यपहार कृत इत्यर्थः ।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्यं वन्धस्य क्रमेण प्राचीनैः 'सबद्धुजप्रमितवम्-
गदाभिघात-सङ्गुणितोद्युगलस्य सुयोधनस्य । स्त्यानादवद्वधनशोणितशौणपाणि-रुत्तंसवि-
ष्यति कचास्तव देवि ! भीमः ।' इत्यत्रोदाहरे ।

इन्हीं—गाढता और शिथिलता को प्राचीन वामन आदि भाचार्य आरोह और
अवरोह शब्द से कहते हैं ।

प्रसादात् समाधेर्व्यतिरेकं दर्शयति—

क्रम एव हि तयोः, प्रसादादस्य भेदकः, तत्र हि तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तेः ।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमः पूर्वापरीभाव एवास्य समाधेः प्रसादाद् भेदकः, हि यत्-
स्तत्र प्रसादे तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तिः, इह तु क्रमेणेत्युक्तमेव प्रसादरूपणे प्राक् ।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाते हैं—'क्रम एव' इत्यादि । गाढता
और शिथिलता का भिन्न क्रम से रहना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर
भिन्न बनाता है, क्योंकि प्रसाद गुण में ये दोनों (गाढता और शिथिलता) विपरीत क्रम
से रहती हैं । तात्पर्य यह है कि प्रसाद गुण में पहले शिथिलता और पश्चाद् गाढता तथा
समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चाद् शिथिलता रहती है ।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

कविः कश्चिद् वर्णयति—

'स्वर्गनिर्गतनिर्गलगङ्गा-तुङ्गभङ्गुतरङ्गसखानाम् ।

केवलामृतमुचां वचनानां, यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥'

स्वर्गनिर्गताया निपतिताया, निर्गलगा निष्प्रतिबन्धायाः, गङ्गाया मन्दाकिन्या,
तुङ्गा उचा, भङ्गुरभङ्गुरालिख मे तरङ्गा, तत्सखानां तत्तुल्यानां, केवलामृतमुचा पीयूष-
मात्रं प्रवाहयता, वचनानां, लास्यगृहं नृत्यायतनमुल्लासात्परं, यस्य, आस्यं सुखमेव सरोजं
कमलमस्तीत्यर्थः ।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि किसी का वर्णन करता है—जिसका मुख—कमल, स्वर्ग से निकली हुई, अत एव
निर्विघ्न होकर प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी की ऊँची-नीची अर्थात् लचकती हुई
लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) तथा केवल अमृत भरताने वाले वचनों का
नाट्य-गृह है अर्थात् जिसके मुख में सर्वदा ऐसे वचन विराजमान रहते हैं ।

उपमादयति—

अत्रारोहः प्रथमेऽर्धे, तृतीयचरणे त्ववरोहः ।

अत्र स्वर्गत्यादिपद्ये, प्रथमेऽर्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः, आरोहो गाढत्वम्, तृतीयचरणे
त्ववरोहः शैथिल्यमिति समाधिः, गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमेण साक्षवेरात् । इह 'तृतीयचरणे'
इत्यत्र बहुव्रीहिरिति केषाञ्चिद् विवरणं धिन्त्यम्, बहुव्रीहिणा तस्योत्तरार्धपरत्वाभ्युपगमे
तद्वदकचतुर्थचरणे वन्धशैथिल्याप्रतीतेर्भ्रणसमन्वयात्सम्भवात् ।

उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में आरोह (गाढता) और तृतीय चरण में अवरोह (शिथिलता) है ।

अत्रैव पूर्वार्धे माधुर्यसाहचर्यं निराहृत्योत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गेत्यादी माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सत्स्वपि, दीर्घसमालान्तःस्पातितया न
दस्य प्ररोहः । उत्तरार्धे तु सोऽपि ।

उक्तोदाहरणे पूर्वार्धे गङ्गेत्यादिपदघटकवर्णानां माधुर्यव्यञ्जकत्वात् सत्स्वेऽपि, तेषां

दीर्घसमासेषटकत्वेन 'पृथक्पदत्वविरहात् माधुर्यस्य प्ररोहः' ('दाढ्यम्'), उत्तरार्धे तु दीर्घ-
समासभावान्माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसङ्कीर्णं समाधिरस्तोत्यर्थः ।

यद्यपि यहाँ गङ्गा आदि पदों में माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे पद लम्बे
समास के मध्य में पद गण्य हैं, अतः माधुर्य गुण पुष्ट नहीं हो सकता, हाँ, उत्तरार्ध में वह
(माधुर्य) भी अवश्य है, क्योंकि उधर लम्बे समास नहीं हैं । इस तरह यहाँ समाधि
और माधुर्य का सङ्कर है, ऐम्हा समझना चाहिये ।

शब्दगुणनिरूपणमुपसंहरति—

एते दश शब्दगुणाः ।

एते श्लेषादयो दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः ।

ये ही दश शब्द गुण हैं ।

अप्रार्थगुणेषु प्रथम श्लेष निरूपयत्कथयति—

एवं क्रियापरम्परया, विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादक-
युक्तेषु सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः ।

एवं शब्दगुणवत्, विदग्धचेष्टितस्य चतुरचेष्टाया, तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया अव्यक्त-
त्वस्य, तदुपपादिकायास्तद्वयापारसाधिकाया युक्तेरुपायस्य च यत् सामानाधिकरणम्
एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वापरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्) श्रुतत्वम्,
तदूणे य संसर्गः स श्लेष इत्यर्थः ।

चातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्रोपनस्य, तत्साधकोपायस्य चार्थस्य क्रमिकानेकक्रिया-
भिरेकत्रैव नियस्सम्बन्धकरणपूर्विका घटना श्लेषनामाऽर्शगुण इति सारम् ।

'क्रियापरम्परया' इति षष्ठ्यन्तपाठे तु क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितादीना सामाना-
धिकरण्यं बोध्यम् ।

एतदुदाहरणन्तरमरुकवेर्यया—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।

ईषद्विक्रितकन्धरः सपुलक प्रमोक्षसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलकलका धूर्तोऽपरा चुम्बति' ॥ इति ।

धूर्तश्चतुरो जायक, एकासनसंस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठाकनिष्ठे
प्रेयस्यौ, रुद्धा निरुत दूरादवलोक्य, तद्दृष्टिपय परिहरन् पश्चात् पृष्ठत, आदरादतर्किता-
लिङ्गनकौतुकात्, उपेत्योपगत्य, विहित कृतं क्रीडानुबन्धस्याधिनिमीलनरूपलोलानुष्ठानस्य-
छलम् उभयत्र तुल्यप्रेमानानाद् व्याजं येन, तादृश, एकस्या कनिष्ठया, नयने पिधाय,
कराभ्यां निमीलय, ईषद्विक्रितकन्धरो प्रोवाधिकनमने कदाचित् कनिष्ठा रहस्य जानीयादिति मिया
क्रिश्चिदिव कुटिलितप्रोव, सपुलक स्वामीष्टसिद्धिसान्निध्यसम्भूतहर्षात् सरोमाधः, प्रेम्णा
सपरत्यपेतयाऽऽत्मनि पतिप्रणयाधिक्रियावधारणाद्बुद्धभूतया प्रीत्या, उल्लसदामोदमानं मानसं
यस्यास्तादृशीम्, अन्तर्हासिन रहस्यमेदमिया स्मितरुपाव्यच्छिन्नेन, लसच्छोभमानं कपोल-
फलकं सत्क्रिष्टकण्डतल यस्यास्तथाभूताम्, अपरा ज्येष्ठा चुम्बतीत्यर्थः ।

अत्रैकरया वधनेनावरस्यास्तुम्बनं विदग्धचेष्टितम्, तस्यास्फुटत्वमपरयाऽज्ञातत्वात्,
तदुपपादकयुक्तिश्च नयननिमीलपूर्वक क्रीडानुष्ठानम्, तथा पश्चादागमन-नयननिमीलनलीला-
विधान-चुम्बनरूप-कनिकक्रियाणां च सामानाधिकरण्येन निबन्धत श्लेषः ।

अब अर्थगुण-निरूपण के छम में सर्वप्रथम श्लेष का लक्षण करते हैं—'अन्' इत्यादि । इसी तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध करने वाली युक्ति, इनका क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का स्मग्न्ध विच्छिन्न नहीं होने पावे श्लेष कहलाता है । जैसा कि भामरुक् कवि का 'दृष्टीकासनसत्स्थिते' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृतटीका में उद्धृत है । इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—धूर्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमा- (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) एक ही भासन पर बैठी हुई हैं । दूबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के छल से, बन्द कर दिया, इसके बाद रोमाञ्चयुक्त वह नायक अपनी गारदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके उस दूसरी नायिका को घूम रहा है, जिसका मन सपत्नी को अपेक्षा अपने में पति का अधिक अनुराग देखकर प्रेम से प्रमत्त हो रहा है और (सपत्नी न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल क्षोभित हो रहे हैं । यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका को घूमना चतुरता से काम करना है, वह प्रकट भी न हो सका क्योंकि दूसरी नायिका उसको नहीं समझ सकी और उसको सिद्ध करने वाली युक्ति है आँखमिचौनी का खेल । इन सब बातों का पीछे से आना, आँख मूँदना और खेल करना आदि क्रियाओं के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है ।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।

यावदर्थकान्यर्यान्धूनाधिकानि पदानि यत्र, तद्रूपमर्थस्य वैमल्यस्यप्रतीयमानता लक्षणा स्वच्छता प्रसाद इत्यर्थः ।

यत्रैकमपि पदं निरर्थकं विलम्बेनार्थोपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽर्थगुण इति सारम् ।

अब 'प्रसाद गुण' का लक्षण देखिये—जितने अर्थ हों उतने ही पदों का होना अर्थात् पदों का अर्थ से न्यून भवना अधिक न होना 'प्रसाद गुण' कहलाता है, अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

नायको वृत्तौ वा वदति—

'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः' इत्यादि ।

इह वदननिष्ठ-कमलसादरयदाश्रुबोधनात् किलेत्यस्यापि सार्थक्यात् प्रसादः ।

जैसे—नायक कियो नायिका के विषय में कहता है—उसका मुखकमल का अनुकरण निश्चिन रूप से करता है । यहाँ शब्द और अर्थ दोनों नये तुले हैं, 'किल' पद सुत्र में कमल-सादरय को दृढ़ करना है, इसलिये यह भी सार्थक है, अतः प्रसाद गुण का उक्त लक्षण यहाँ समन्वित हुआ ।

स्पष्टप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणान्तु यथा—'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्' इत्यादि ।

अत्र 'अनन्यत्तभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राग्गत-दर्पावगतसम्भवात्प्रायैवैमल्यम् ।

पाठकों को स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये प्रत्युदाहरण का भी निर्देश करते हैं—'प्रत्युदाहरणं तु' इत्यादि । अर्थात् उक्त पद्यांश को ही यदि '(उसका) मुखकमल की कान्ति का अनुकरण करता है' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तो प्रसाद गुण का प्रत्युदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'कान्ति' पद वक्तव्य अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है ।

तृतीया समता लक्षयति—

प्रक्रममाभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैपम्यं समता ।

प्रक्रम आरम्भक्रमस्तस्याभङ्गेनानन्यथाकरणेन, चाऽर्थस्थ घटना, तद्रूपम् अवैपम्यं विपमताऽभाव समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन यस्यार्थस्योपादानं क्रियेत, तेनैव न तु तत्पर्यायेण, अन्तं यावद्विवाहो यत्र विधीयेत, तत्र समतेत्याशयः ।

अब 'समता गुण' का लक्षण सुनिये—विपमता के अभाव को 'समता गुण' कहते हैं और विपमता का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम जिससे भग्न न होने पावे, इस तरह की अर्थयोजना को अर्थात् आरम्भ में जिस तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, अन्त तक उस क्रम का निर्वाह करना ही 'समता' है ।

उदाहरति—

यथा—

भगवद्भूषो वक्ति—

'हरिः पिता, हरिर्माता, हरिर्भ्राता, हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि, हरेरन्यत्र भाति मे ॥'

भाति रोचते, मे मद्यम् । अन्यत् स्फुटमेव ।

जैसे—कोई भक्त कहता है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही सखा हैं । मैं सब स्थानों में हरि को ही देखता हूँ, मुझे कहीं भी हरि से भिन्न वस्तुदृष्टिगोचर नहीं होती ।

उपपादयति—

अत्र 'विष्णुर्भ्राता' इत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मकं वैपम्यम् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, न शब्दानुगमादते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

इत्यभियुक्तोक्ते शब्दस्यापि शाब्दिकनये शाब्दबोधविषयत्वादिह हरिशब्दस्य विष्णु-शब्देन परिश्रुतौ, प्रक्रमान्तहरिपदाभावाद् वैपम्ये नानुदाहरणत्व स्यादिति तात्पर्यम् ।

यहां यदि 'हरि भाई हैं' की जगह 'विष्णु भाई है' ऐसा कह दिया जाय तो प्रक्रमभङ्गरूप विपमता हो जायगी, यद्यपि 'हरि' और 'विष्णु' पद के अर्थ में कोई भेद नहीं है, तथापि शब्द और अर्थ में एक ऐसा तादात्म्य है कि एक अर्थ भी दो तरह के शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने पर दो जैसे लगने लगता है, अतः हरि शब्द से आरम्भ करने पर उसी शब्द से समाप्ति भी करनी चाहिये, तभी समता की रक्षा होगी अन्यथा विपमता दुर्वार है ।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

एकस्या एवोक्तेर्भङ्गचन्तरेण पुनरुक्तनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।

एकस्यैवार्थस्य, भङ्गचन्तरेण भिन्नेन प्रकारेण, पुनरुपादानमुक्तिवैचित्र्यं सत्, तदेव माधुर्यमित्यर्थः । इहोक्तेरर्थस्येति विवरणन्तु 'एपोऽर्थ' इत्यग्रिमवृत्तिप्रन्थानुरोधेन विहितम् ।

अब 'माधुर्य गुण' (अर्थगत) का लक्षण करते हैं—एक ही अर्थ को भिन्न भिन्न भङ्गी (प्रकार) से पुनः पुनः कहना यह जो उक्ति की विचित्रता है, उसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

मत्तो भागीरथी भाषते—

‘विघत्तां निरशङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो,
 सुखं शोषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
 कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः,
 सवित्री कामातां यदि जगति जागति भवती ॥’

भगवति गङ्गे ! कामाना स्वर्गाद्विषयककलाभिलाषाणा, सवित्री पूरयित्री, भवती, यदि अहो ! जगति मूलोके, जागति सावधाना तिष्ठति, अथ तथा, विधिर्द्रष्टा, निरशङ्कं कर्तव्याभावादिस्सन्देहं, निरवधि निस्सीम समाधिं विघत्ताम्, हरिविष्णु सुखं सनिर्वृति शोषेऽनन्तशोषशब्दात्, शेतां स्वरित्तु, हरः शिवः, अविरतं सततं नृत्यतु, प्रायश्चित्तैः पाप-नाराकानुष्ठानविशेषैः, कृतमत्म्, अन्यथैव तत्साध्यसिद्धे, तपोदानयजनैस्तपसा दानेन यष्टेन चालं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त भगवती भागीरथी से कहता है—ब्रह्मा (कुछ भी कर्तव्य नहीं रहने के कारण) सन्देश रहित होकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् शोष-शब्दा पर सुखपूर्वक सोते रहें और शिवजी भी सदा ताण्डव-नृत्य में मान रहा करें, मुझे उन सबों से कुछ प्रयोजन नहीं। अब मेरे लिये प्रायश्चित्तों (पाप-नाशक अनुष्ठान विशेष) की भी कोई आवश्यकता नहीं और तप, दान तथा यज्ञ ये सब भी अब मेरी दृष्टि में व्यर्थ हैं, जब कि हे जगन्माता ! सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली तू संसार में (मेरे लिये) सावधान होकर खड़ी है ।

उपपादयति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येषोऽर्थः, समाधिविधानादि-प्रेरणारूपेणोक्तिवैचित्र्येणाभिहितः, अन्यथाऽनवीकृतत्वापत्तेः ।

अत्रोदाहरणे भवत्या सत्या विधिहरिप्रशतीना किंप्रयोजनमित्येतादृश एक एवार्थः समाधिविषय-सुखशयनादिप्रवर्तनास्वरूपेण गहनत्वेन प्रकारेणोक्त इति भाष्यम् । अन्यथा कथनप्रकारजननवत्वाभावे ‘सदा चरति खे भासु’, सदा वहति मासुः ।’ इत्यादिवाचिनाप्य-नवीकृतत्वदोषस्यापात्तं स्यादित्यर्थः ।

यहाँ ‘ब्रह्मा-आदि से कुछ भी प्रयोजन नहीं है’ इसी एक अर्थ को ‘समाधि में बने रहें’ इत्यादि प्रेरणात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहा गया है, अन्यथा ‘अनवीकृतता’ नामक दोष आ जाता ।

पद्यमौ सुकुमारतां लक्षयति—

अक्षाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुण्यं सुकुमारता ।

अक्षाण्डेऽत्ररे शोकदायित्वं शोकजनकत्वं पारुण्यं कठोरता, तदभावश्च सुकुमारतेत्यर्थः । अथ ‘सुकुमारता-गुण’ का लक्षण दिखलाते हैं—अपारुण्य (कठोरता के अभाव) को ‘सुकुमारता’ कहते हैं और कठोरता का अभाव कहते हैं—बिना खास अवसर के शोक न देने को ।

उदाहरति—

यथा—‘त्वस्या याति पान्चोऽयं प्रियाविरहकातरः ।’

मिथया विरहान् कतरन्नस्तं पान्यः पयिकोऽयं त्वस्या शीघ्रं याति गृहं गच्छतीत्यर्थः ।

जैसे कि—यह पथिक प्रियतमा के वियोग से डरता हुआ शीघ्रता से जा रहा है। यह एक स्त्री की किसी दूसरी स्त्री के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

‘प्रियामरणकातर.’ इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य सत्त्वान् पारुष्यम् । इदञ्चारलीलतादोषव्याप्यम् ।

तरयेत्याद्युदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परिवर्तने च, विरहस्य दुःखजनकत्वेऽपि शोकजनकत्वाभावादपारुष्यम्, मरणस्य स्वात्मन्यनन्तररूपतया शोकजनकत्वेन पारुष्यमिति ब्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटे । इदं पारुष्यं च प्रौढा-जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जनत्वेन त्रिविधस्याश्लोलादोषस्य व्याप्यं तृतीयप्रकारतयाऽन्तर्गतमित्यर्थः ।।

यहाँ यदि ‘प्रियतमा के मरण से डरता हुआ’ ऐसा कह दिया जाय, तो शोक-सूचक ‘मरण’ पद के आ जाने से पद्य में कठोरता आ जायगी। यह कठोरता अमङ्गल-व्यञ्जक ‘अश्लीलता’-नामक दोष के अन्तर्गत है।

पट्टीमर्यव्यक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्यव्यक्तिः ।

वर्णनीयस्य वस्तुन पदार्थस्य तदेकजातिमात्रवृत्तितयाऽसाधारणे इतरव्यावृत्ते, ये क्रियारूपे व्यापाराद्यवसंस्थाने, तयोर्वर्णनमर्यव्यक्तिरित्यर्थः ।

अब ‘अर्थव्यक्तिगुण’ का लक्षण कहते हैं—गिन वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण (सास) कर्तव्य और रूप का वर्णन करना ‘अर्थ-व्यक्ति’ गुण कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—

नायकः सखायं प्रवीति—

‘गुरुमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् ।

रदयन्त्रितरसनाम्रं, तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे ।।’

गुरुणा श्वभ्रुप्रभृतीना मध्ये स्थिता कमलाक्षी नलिननयना प्रिया, कमलाक्षेण पद्मवीजेन, प्रहर्तुकामं ताडयितुमिच्छुं, माम्, रदयन्त्रितरसनाया जिह्वाया अग्रं यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिने चञ्चलीकृते नयने च यत्र, तद्यथा स्यात्तया मयं कार्पीरिति निवारयाञ्चके निवारितवतीत्यर्थः ।

इह कमलवदीर्घनयनरूपस्य रूपस्य, जिह्वाप्रदन्तनिपीडन-लोचनचञ्चलीकरणरूपमोरलु-चिताचरणनिवारणसूचकक्रिययोश्च ललनाजनमात्रहृत्तीना वर्णनादर्शव्यक्तिः ।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई कमल से नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल के बीजों से अपने उपर प्रहार करने के लिये उद्यत मुझको दूर्तों से जीभ के अग्रभाग को दबा कर तथा नेत्रों को चञ्चल बना कर (नचाकर) रोक दिया—सूचन कर दिया, कि ऐसा न कीजियेगा, अन्यथा बड़ी हँसी होगी। यहाँ नायिका के कमलवत्-दीर्घ-नयनारमकरूप और जीभ के अग्रभाग को दवाने तथा नेत्रों के चञ्चल करने-रूप कृत्यों का वर्णन किया गया है, अतः ‘अर्थव्यक्तिगुण’ का लक्षण संघटित हुआ।

अर्थव्यक्तेः स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतामाचष्टे—

अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते ।

अयमर्थव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्वद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते व्यवह्रियते ‘स्वभावोक्तिस्तु हिम्मादे स्वक्रिया-रूपवर्णनम्’ इत्यादिभिरित्यर्थः ।

इसी की आधुनिक विद्वान 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहते हैं ।

सप्तमीसुदारता लक्षयति—

‘सुम्बनं देहि मे भायें ! कामचाण्डालवृत्तये’ इत्यादिग्राम्यार्थ-
परिहार उदारता ।

त्रिविधा हि शब्दा—नागरिका औपनागरिका ग्राम्याश्च । तत्रोत्तमप्रकृतौ वक्त्रि
भार्यादितृतीयशब्दार्थस्यानौचित्येन यद्ग्राम्यत्वं दोषः, तदभाय उदारतेत्यर्थः ।

ग्राम्यभिन्न सर्वमेवोदारताया उदाहरणं सम्भवतीति पृथक् न प्रतिपादितम् ।

अथ 'उदारता गुण' का लक्षण दिखलाते हैं—'सुम्बन देहि मे भायें' नाम चाण्डाल-
वृत्तये' अर्थात् 'अरी मेहरिया ! तू काम-रूप चाण्डाल को वृत्त करने के लिये मुझे
सपना एक सुम्बन दे' इत्यादि ग्राम्य (गमैया) बातों का परित्याग करना ही
'उदारता' कहलाता है । तात्पर्य यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, जिनमें
भार्या आदि शब्द तृतीय श्रेणी के कहे जाते हैं, अतः उत्तम कोटि के वक्ताओं को उनका
प्रयोग नहीं करना चाहिये । इस गुण का उदाहरण अलग करके इसलिये नहीं दिखलाया
गया कि उक्त तृतीय श्रेणी के शब्दों से अतिरिक्त सब शब्दों का प्रयोग होने पर उक्त गुण
का उदाहरण सम्भव है, जिसका समझना सरल है ।

अष्टममोजो लक्षयति—

एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, वहुनां चैकेन, तथैकस्य
वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशे-
षणानां सामिमायत्वं चेति पञ्चविधमोजः ।

एकपद-प्रतिपाद्यस्यार्थस्यानेकैः पदै प्रतिपादन प्रथमः प्रकारः, अनेकपदप्रतिपाद्य-
स्यार्थस्यैकेन प्रतिपादनं द्वितीय प्रकारः, एकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यानेकैर्वाक्यै प्रतिपादनं
तृतीय प्रकारः, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन वाक्येन प्रतिपादनं, चतुर्थः प्रकारः, सार्थ-
विशेषणकत्वं च पञ्चम प्रकार इति प्रकारपञ्चकान्यतमस्वमोज इत्यर्थः ।

अथ 'भोजगुण' (अर्धगत) का लक्षण देखिये—'भोजगुण' के पाँच भेद हैं—१. एक
पद से कहने योग्य अर्थ का अनेक पदों के द्वारा कथन । २. अनेक पदों से कहने योग्य
अर्थ का एक पद से कथन । ३. एक वाक्य से कहने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यों के द्वारा
प्रतिपादन । ४. अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य अर्थ का एक वाक्य के द्वारा
प्रतिपादन । ५. विशेषणों का सप्रयोजन होना-निरर्थक नहीं होता ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिधा ।

श्रौढिव्यास-समासौ च, सामिप्रायत्वमस्य च ॥’ इति ।

विवृणोति—

पूर्वार्धप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास-समासौ चेति चतुष्प्रकारा श्रौढिः, सामिप्रा-
यत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

पदार्थस्य वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम्, -एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यै प्रति-
पादनं व्यास, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासश्चेति प्रकारचतुष्टयस्या श्रौढिः,
अस्य विशेषणसामिप्रायत्वं सार्थकत्वं चेति पञ्चप्रकारकमोज इत्यर्थः ।

इह वाक्यपदं योग्यतादिमतस्तद्रहितस्य च पदसमूहस्य बोधकं बोध्यम् । इतरथाऽनु-
पदं वक्ष्यमाणे 'सरसिजे'-त्याद्युदाहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्वं न स्यात् ।

ओज के उक्त पाँच भेदों के विषय में प्राचीन भाषाओं की भी सम्मति है, उन्होंने लिखा है—एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् घर्णन करने की विचित्र निपुणता और विशेषणों का सप्रयोजन होना—इस प्रकार से ओज के पाँच भेद होते हैं ।

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारस्वप्ननिवारणार्थमभिधत्ते—

प्रौढिः प्रतिपादनवैचित्र्यम् ।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारचतुष्टयबोधिका प्रौढिर्न प्रकारान्तरमित्याशय ।

प्राचीनों की कारिका में 'प्रौढ़ि' से ओज का कोई खास छट्ठा भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये ।

ओजस' प्रथमं प्रकार पदायै वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रभातं व णयति—

'सरसिजवनबन्धु-श्रीसभारम्भकाले,

रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्रा-दुद्रतानां नराणां,

मधुमधुरगिरा च प्रादुरासीद् विनोदः ॥'

सरसिजवनबन्धो सूर्यस्य, श्रिय कान्तो समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रभातसमये, रजनिरमणराज्ये चन्द्रसुषुप्तवैभवे, आशु, नारां लोप प्रयाति सति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्रान्मुखादुद्रतानामुत्पन्नानां नराणां प्राङ्गणानां, मधुमधुरगिरां विनोद- क्षौद्रमधुरसौतमन्त्रो-
च्चारणकौतुकं प्रादुरासीदभवदित्यर्थ ।

जैसे कि—ओज के प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य-रचना) का उदाहरण—जिस समय कमल-कानन के बान्धव (अकारण हितैषी) भगवान् सूर्य की शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रहे थे और निशा-नाथ चन्द्र का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था—अर्थात् चन्द्र अस्त हो रहे थे, उस समय परम पुरुष (जगदीश ब्रह्मा) के मुख से उरपन्न हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के समान मधुर वचनों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ । यह प्रभात का घर्णन है, जिसका सारास है कि प्रातःकाल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारम्भ किया ।

उपपादयति—

अत्रोपसीत्येकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरणः ।

अत्रोदाहरणे, उपसीत्येकपदेन प्रतिपाद्यस्य प्रभातस्य बोधनाय सरसिजेत्यादिराद्यचरणः
समस्तैकपदरूप उपात्त इत्यर्थः ।

यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद के अर्थ में पूर्वार्थ के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बनाये गये हैं ।

अपेऽप्येवमूहितमुपदिशति—

इत्याद्यपेऽपि बोध्यम् ।

अपेऽप्येवमुपपादनमूहनीयमित्यर्थः ।

और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक-एक पदों के अर्थ में आगे के छेद चरण की रचना की गई है, अतः यह 'पद के अर्थ में पद की रचना' का उदाहरण हुआ।

द्वितीय प्रकारमुदाहरति—

'खण्डितानेत्रकञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिताः।

मण्डिताखिलदिकप्रान्ता-श्रृङ्गाशोभाभिन्नि भानवः ॥'

खण्डिताया इतरचलनालयनोत्तरात्रिक-प्रातरुपेत्पतिप्रतिकूलाचरणायगमोदितदु खमा-मित्राया-नेत्रकञ्जालेर्नयननलिनश्रेण्या, मञ्जुनि सुन्दरे, रञ्जने शोणिसम्पादने, पण्डिता निपुणा, मण्डिता प्रभया प्रकाशेन भूषिता अखिला दिकप्रान्ता आशान्ता यैस्तादृशा, चण्डाशोः सूर्यस्य, भानव-किरणा, भान्ति शोभन्त इत्यर्थः।

अथ 'वाक्य के अर्थ में पद की रचना का उदाहरण सुनिये—खण्डिता नायिकाओं के नेत्र-कमलों की पङ्क्तियों को सुन्दरतया रंगने में निपुण तथा दिग्भागों को भूषित करने वाली सूर्य की किरणें शोभित हो रही हैं।

उपपादयति—

अत्र 'यस्याः पराङ्गनागेहान् पतिः प्राप्तर्गृहेऽञ्जति' इति वाक्यार्थे खण्डिता पदाभिधानम्।

'यस्या' इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनाद्भौजसो द्वितीय प्रकार इत्यर्थः।

यहां 'जिसका पति दूसरी नायिका के घर से प्रातःकाल में अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खण्डिता' पद का प्रयोग किया गया है।

तृतीय प्रकारमुदाहरति—

'अयाचितः सुखं दत्ते, याचितश्च न यच्छति।

सर्वस्वं आपि हरते, विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥'

उच्छृङ्खल स्वातन्त्र्यादुन्मुक्तबन्धन, नृणा विधिर्देवम्, अयाचितोऽप्रायित, सुखं, दत्ते वितरति, याचितश्च पुनः सुखं न यच्छति न ददाति, अपि तु सर्वस्वं पूर्वसंक्षितसकलधन-मपि हरते नाशयतीत्यर्थः।

अब 'एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का कथन' का उदाहरण देखिये—कोई वीन व्यक्ति अपने भाग्य को कोसेता है। कहता है—उच्छृङ्खल दैव (भाग्य) बिना भांगे सुख देता है और भांगने पर नहीं देता, वरन् उसका सर्वस्व भी लूट लेता है।

उपपादयति—

अत्र दैवाधीनं सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-वाच्यो विस्तरः।

एकवाक्यार्थस्य चतुर्भिर्वाक्यैरभिधानादिह व्यासरूप भोजसस्तृतीय प्रकारः।

यहां 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य का कथन हुआ है, अतः यह विस्तार है, जिसको प्राचीन आचार्य 'व्यास' कहते हैं।

चतुर्थ प्रकारमुदाहरति—

'तपस्यतो मुनेर्यक्त्राद् वेदार्थमधिगत्य सः।

वासुदेवनिविष्टात्मा, विवेश परमं पदम् ॥'

तपस्यवस्तपः कुर्वत, मुने, वक्त्रान्मुखात्, सः, वेदार्थम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, वासुदेवे भगवति परब्रह्मणि निविष्टः प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, सादृशः परमं पदं मुक्तिपदवीं

दिवेशैत्यर्थं । 'आत्मा क्लेबरे, यत्ने, स्वभावे, परमात्मनि । चित्ते, धृतौ च, बुद्धौ च परव्या-
वर्तनेऽपि च ।' इति धरणिशोशादात्मपदमिह मनोवाचकमवसेयम् ।

'अथ 'अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना' का उदाहरण देगिये—कोई
किसी भक्त के विषय में कहता है कि—उसने तपस्या करते हुए मुनि के मुग में वेद के अर्थ
को समझ कर वासुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया ।

उपपादयति—

अत्र 'मुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वासुदेवे
परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाक्यार्थकलापः शत्रु-क्त्वा-
बहुव्रीहिभिस्तिष्ठन्तेन चानुवाद्यविधेयभावेनैकवाक्यार्थीकृत ।

वाक्यार्थकलाप उल्लिखितवाक्यचतुष्टयार्थसमूहः । तपस्यत इत्यत्र शत्रुप्रत्यय । अधि-
गत्येत्यत्र क्त्वाप्रत्यय । तृतीयचरणे बहुव्रीहिः । विवेशेति च तिष्ठन्तम् । अनुवाद्यमुद्देश्यम् ।
वाक्यचतुष्टयप्रतिपाद्यार्थानामुद्देश्यविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्यप्रतिपाद्यतासम्पादनात्
समास ओजसश्चतुर्थं प्रकारोऽत्र धोष्य ।

यहां (१) मुनि तपस्या करते हैं । (२) उनके मुख से उसने वेद के अर्थ को समझा ।
(३) उसके बाद भगवान् में मन लगाया और (४) तदुत्तर मोक्ष को प्राप्त किया, इतने
वाक्यों के अर्थों का समूह शत्रु-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा-प्रत्यय (अधिगत्य) और
बहुव्रीहि समास (वासुदेव निविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्य रूप से और तिष्ठन्त (क्रिया-
विशेष) के द्वारा विधेय रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है ।

विशेषणस्य साभिप्रायत्वं विवृणोति—

साभिप्रायत्वं च प्रकृतार्थपोषकता ।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य पोषकत्वमुपस्कारकत्वं विशेषणस्य साभिप्रायत्वमित्यर्थः ।

विशेषण की साभिप्रायता से यहां यह तात्पर्य है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट
करना अर्थात् उसमें सहायता पहुँचाना ।

पद्यम प्रकारमुदाहरति—

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रार्थयते—

'गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता वताहमपि ।

सीदन् भवमरुगतैः, करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः ॥'

हे करुणामूर्ते प्रत्यक्षकारुण्यरूप भगवन् । गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलाभिषा वेश्या,
अजामिलस्तष्ठाया कान्यकुब्जदेशीद्भूतो दासीपतिद्विजस्ती मुख्या यैषा, तान् पतितान्,
श्रवता नरकाद् रक्षता, भवता, भव संसार एव क्लेशकरत्वान्मदगतौ निर्जलदेशा-दस्तत्र
सीदन् यातनामनुभवन्, वत हन्त ! अहमपि सर्वथा नितरां न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थः ।
पिङ्गलाऽजामिलयो कथा श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा ।

जैसे कि—हे करुणामूर्ते ! गणिका (पिङ्गला नाम की एक वेश्या) और अजामिल
(एक, दासी-पति द्विज) आदि (पापिजनों में) मुख्याजनों की रक्षा करने वाले आप
संसार रूप महत्कष्ट (निर्जल) गड्ढे में जो मैं सीदित हो रहा हूँ उसकी उपेक्षा नहीं
कीजियेगा । वह एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है ।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाऽभावे करुणामूर्त्तित्वं पोषकम् । पापिष्ठत्वात् करुणाया अभावे,
प्रकृतेऽस्याः सम्पादनाथ गणिकेत्यादि, सीदन्निति च ।

यद्यन्योऽपि कारुणिको दयनीयं न कदाचिदुपेक्षते, तदा सप्तात्करुणामूर्तिः कथमुपे-
शितुमर्हतीति करुणामूर्तिर्त्वं भगवतो विशेषणमनुपेक्षया साधकम्, पापातिशयावरणान्
स्वस्मिन् करुणाया अनुत्पत्तिरसम्भवे पतितेष्वपि भगवतो दयालुताया बोधकत्वाद् गणिके-
त्वादिविशेषणं करुणोत्पादने साधकम्, दुःखिनोऽनुपेक्षणवित्यान् सीदन्निति निजविशेषणं
स्वानुपेक्षया साधकमिहास्तीति विशेषणसाभिप्रायत्वम् ।

यहां 'उपेक्षा न कीजियेगा' इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये भगवान् में 'करुणामूर्ति'
विशेषण लगाया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जब साधारण कारुणिक भी किसी
द्वेष को उपेक्षा नहीं करता, तब आप करुणामूर्ति होकर मेरी उपेक्षा कैसे करेंगे—नहीं
कर सकते । पर यदि महान् पापी समझ कर करुणा न करें, तो यह भी आपके स्वभाव के
अनुकूल नहीं है, इसी धातु को प्रनागिष्ठ करने के लिये गणिका धादि का इष्टान्त दिया
गया है और अयना विशेषण 'सीदिन होता हुआ' लिखा है । हम तरह यहां एक भी पद
निःप्रयोजन नहीं है, सब में कुछ न कुछ अभिप्राय है ।

नवमी कान्ति लक्षयति—

दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

दीप्तं स्फुटप्रतीयमानतयोज्ज्वलो रसो यत्र, तत्त्वं कान्तिरित्यर्थः ।

अथ 'कान्ति गुण' का लक्षण देखिये—दीप्त-रसम्ब को 'कान्ति' कहते हैं ।

दीप्तरसत्वं विश्रुति—

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम् ।

रसप्रतीती स्फुटताऽविलम्बितोत्पत्तिः ।

स्पष्टनया रस के प्रतीत होने को दीप्तरसम्ब कहते हैं । सीप उभय होना ही रस-प्रतीति
की स्पष्टनया यहां विश्रुति है, यह भी समझना चाहिये ।

उदाहरणादर्शानान्यूनता परिहरति—

उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च ।

ग्राम् रसरूपखे 'शयिता' इत्यादिना वर्णितम्, अग्रे वर्णयिष्यते त्वाल्लक्षरप्रसङ्गेन
तदुदाहरणमितीह नोपन्यस्तमित्याशयः ।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'शयितासखिधे' इत्यादि पद्य के द्वारा दिखलाया जा
सुका है और आगे भी दिखलाया जायगा, अतः यहां नहीं दिखलाया गया ।

दशमं समाधिं लक्षयति—

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायाो वेति कवेरालोचनं समाधिः ।

अयं वर्णयमानोऽयं केनापि पूर्वं न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वोऽयोनिरित्यन्यत्र प्रसिद्धः,
अथवा पूर्वं केनापि वर्णितस्वैवार्थस्य छाया (उदाहरण) वर्णितस्तदशोऽन्यच्छायोनिरिति-
प्रसिद्धोऽस्तीति कवेः कविकृतं यदालोचनं विभावनं, तत् समाधिः । तत्रावर्णितपूर्वत्वाल्लोचनं
प्रथमं, पूर्ववर्णितच्छायन्वलोचनन्तु द्वितीयं प्रचारं समापेरिति मारम् ।

अथ 'समाधिगुण' का लक्षण देखिये—कवि अथ किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है,
तब वह सोचता है कि इस वस्तु का वर्णन पहले किसी ने नहीं किया है ? अथवा किसी
के द्वारा पूर्व-वर्णित वस्तु का यह (मेरा वर्णनीय वस्तु) क्या मात्र है ? इस तरह की
कवि की आलोचना को 'समाधि गुण' कहते हैं । तत्पर्यं यह निकल कि समाधि के दो
भेद हैं, एक 'यह अर्थ पूर्व वर्णित नहीं है' इस तरह का आलोचन और दूसरा 'यह पूर्व
वर्णित की छाया है' इस प्रकार का आलोचन ।

आलोचनस्य ज्ञानविशेषरूपतयाऽऽत्मगुणस्थेनार्थगुणत्वसम्पादनायाद्—

ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता ।

ज्ञान समवायेनात्मनि विषयतया तु सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेषरूपा-
लोचनस्यार्थगुणत्वमुपपद्यत इत्याशयः ।

अथ 'आलोचन ज्ञान-विशेष-रूप है, अतः यह आत्मा में रहेगा—अर्थ में नहीं, फिर यह अर्थ-गुण कैसे होगा ?' इस शङ्का का समाधान करते हैं—'ज्ञानस्य' इत्यादि । समाधान का आशय यह है कि ज्ञानात्मक आलोचन यद्यपि समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहेगा, तथापि विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के विषय अर्थ में भी रहता ही है, अतः उसे अर्थगुण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती ।

तयोः प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा—'तनयमैनाकगवेषण-' इत्यादी ।

काव्यतृतीयप्रकारनिरूपणे प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम् । इह मगवत्या भारीरध्या हिमाचलभुजायमानत्वं पूर्वं केनापि न वर्णितमिति 'सद्योमुग्धितमत्तद्रूपविह्वुरूपस्पर्धिनाङ्क-
कम्' इत्यादायिभ कविना केवलं प्रतिभामैव कल्पितम् ।

अब समाधि गुण के प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—जैसे कि 'तनयमैनाक'...'' इत्यादि गद्य में । इस गद्य का पूर्वरूप काव्य के तृतीय भेद के उदाहरण के रूप में पहले दिखलाया जा चुका है, इसकी व्याख्या भी वहाँ की जा चुकी है । इस गद्य में हिमालय की भुजा के रूप में गङ्गा की उल्लेख की गई है, जो सर्वथा नवीन कल्पना है, पहले किसी ने इस तरह की कल्पना नहीं की, अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्य दर्शयन् चामनमतमुपसहरति—

द्वितीयस्तु प्रायशः सर्वत्रैव' इत्याहुः ।

प्रायशो बाहुल्येन 'कविरजुहरतिच्छावाम्' इत्युक्ते । केवलं सर्वत्रैवेत्युक्तौ तु प्रथम-
प्रकारविलोपप्रसङ्गः । उदाहरणान्वेषणे तु नायिकानयननलिनयो सादरव्यस्य कविसमय-
प्रसिद्धत्वे, निजनयनप्रतिविम्बैरम्बुनि बहुश प्रतारिता काऽपि । नीलोत्पलेऽपि विपृशति,
करमर्पयितुं कुमुमलावी ।' इत्येव ज्ञेयम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'जरत्तरास्तु' इत्यनेनान्वयः ।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्वयच्छायायोनि अर्थ का उदाहरण तो प्रायः सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात् अधिकतर वर्णन इसी तरह का होता है, जिससे पूर्व वर्णित की छाया रहती है । यह है अति प्राचीन आचार्य वामन आदि का सिद्धान्त ।

अथ परमतमलम्बितमभ्युपगत भवतीति प्राचीनतरमतं निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैस्त्रिभिर्गुणैर्वच्यमाणदोषाभावालङ्का-
रैश्च गतार्थयन्तः, कश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया, कश्चिद् दोषतया च मन्यमाना
न तावतः स्वीकुर्वन्ति ।

अपरे वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादवस्तु । त्रिभिर्माधुर्योत्रप्रसादैः । वच्यमाणा ये
दोषाभावा अलङ्कारवन्तः । गतार्थयन्तो मिथ्ययोजनीकुर्वन्तः । तावतो दशरथशब्दगुणान् दशार्थ-
गुणाश्च न स्वीकुर्वन्ति । इतरदनुपदं स्फुटीमविशति ।

अथ गुण के विषय में वामन आदि ने नवीन मम्मट आदि आचार्यों के मत का उद्धरण करते हैं—'अपरे तु' इत्यादि । मम्मट आदि विद्वान् तो २० गुण नहीं मानते हैं, क्योंकि वे इन २० गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त स्व सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों में गतार्थ कर देते हैं, कुछ को आगे वर्णित होने वाले दोषों के अभावरूप मान लेते हैं और कुछ को अलङ्कारस्वरूप कह कर उदा देते हैं । इसी तरह कुछ को विचित्रता मान

लेते हैं तथा कुछ को गुण की जगह दोषरूप ही कह सकते हैं। इस प्रकार वे केवल ३ गुण मानते हैं, २० नहीं।

तत्र प्रथमं किञ्चिदन्तर्भवन्त्येव दोषत्यागात् परे प्रिता । अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुञ्चिच्च ततो दश ।' इति समासेन शब्दगुणानां दशत्वस्य ननुपपादयति—

तथाहि—श्लेषोदारता-प्रसाद-समाधीनामौजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः ।

वामनोच्चा श्लेषोदारताप्रसादमभावयो न शब्दगुणा मम्मद्येकौजोगुणव्यञ्जकवर्णरच-
नारूपत्वावित्याकृतम् ।

अर्थात् अथ २० गुण नहीं मानने की युक्तियाँ भी सुनिये। वे कहते हैं—पूर्वोक्त दश शब्द-गुणों में मैं श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का भोजोगुण को अभिव्यक्त करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्राशङ्क्य समादधाति—

न च श्लेषोदारतयोः सर्वशो गाढबन्धात्मनोरोजोव्यञ्जकघटनाऽन्तर्भा-
वोऽस्तु, प्रसादसमाधयोस्तु गाढशायिलात्मनोरशोनीजोव्यञ्जकान्तर्भावेऽप्यंशा-
न्तरेण कुशान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति
सुवचत्वान् ।

वामनोक्तयोः श्लेषोदारतयोः सर्वस्मिन्नशो गाढबन्धस्वरूपत्वादौजोव्यञ्जकरचनायामन्त-
र्भावस्य सम्भवेऽपि, प्रसादसमाधयोः किञ्चिदंशावच्छेदेन गाढबन्धस्वरूपत्वात् किञ्चिदंशा-
वच्छेदेन च शिथिलबन्धस्वरूपत्वाच्चौजोव्यञ्जकरचनाया गाढमात्रबन्धस्वरूपायामन्तर्भावस्या-
सम्भव इति न वाच्यम्, तयोः शिथिलबन्धाशास्त्रे माधुर्यव्यञ्जकरचनाया प्रसादव्यञ्जकरच-
नाया वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशयः ।

यहां यदि आप शङ्का करें कि—श्लेष और उदारता सब अंशों में गाढ रचनारूप होते हैं, अतः उनका अन्तर्भाव भोज को अभिव्यक्त करने वाली रचना में भले ही हो जाय, परन्तु प्रसाद और समाधि तो गाढ और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ) अंश का भोजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अन्तर्भाव किसमें होगा? तो इसके उत्तर में सुख से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अथवा प्रसाद की व्यञ्जक रचना में। अर्थात् शिथिल अंश भी कहीं माधुर्य गुणव्यञ्जक रचना में और कहीं प्रसाद गुणव्यञ्जक रचना में समाविष्ट हो जायगा, अतः ये चार अतिरिक्त गुण नहीं हो सकते।

माधुर्यगुणं निराकरोति—

माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव ।

मम्मदायुक्त-रमनिष्ठ-व्यञ्ज्यमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनेव वामनादिसम्मत माधुर्यं गुण इति तस्यापि गुणत्वं निरस्तमिति भावः ।

शाचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मद के) माधुर्य को अभिव्यक्त करने वाली रचना ही है।

पर्यवसितमाह—

एवं च सर्वत्र व्यञ्जके व्यञ्ज्यशब्दप्रयोगो भाक्तः ।

एवमुच्यतेत्या, सर्वत्र प्राक्प्रतिपादितवामनोक्तान्लेषादिगुणचतुष्टये, व्यञ्जके तत्तद्गुण-
व्यञ्जकरचनाविरोधे व्यञ्ज्यशब्दलेशादिगुणत्रावकस्य श्लेषादिशब्दरथ प्रयोगो भाक्तो लाक्षणिके
श्रेय इति सारम् ।

२०, २१ २० सं०

इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यञ्ज्य (माधुर्य आदि) का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। अत एव ओज गुण का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

समताया गुणत्वं निरस्यति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपासोद्भटत्वानुद्भटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात् ।

सर्वत्रैति समतान्वयि । उद्भटत्वमुद्भटत्वम् ।

अतः क्वचिदेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्राशौ वाच्यमुद्भटत्वम्, तत्रोद्भटा रचनेष्टा, यत्रत्वशौ वाच्य-मनुद्भटत्वम्, तत्र कोमलैव रचनेष्टा, तस्मात् सर्वेषु पद्येषु सर्वाशौ रचनाया एकविधत्वमनौ-चित्यादौष इति मार्गभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्रायः ।

अथ समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि वाच्य्य अर्थ के उद्भट होने से उद्भट और उरकं अनुद्भट होने से अनुद्भट रचना का एक ही श्लोक में होना इष्ट है ।

तदुदाहरण दर्शयति—

यथा—

मुकपित्वाभिमानाप्नातहृदय रुधित् परं निपथित वृत्ते—

‘निर्माणे यदि मामिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-

न्मृद्वीकामधुमाधुरी-मदपरीहारोद्घुराणा गिराम् ।

काव्यं तर्हि सखे ! मुखेन कथय त्व सम्मुखे मादृशां,

नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्वहिर्मा कृथाः ॥’

हे सखे ! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपकतया, द्रवन्त्या सरसीभवन्त्या, मृद्वी-काया द्राक्षाया, मधुनो मधुररसस्य, माधुर्यामिष्टताया, मतस्याभिमानस्य, परीहारे निरा-करणे, उद्घुराणासुषुत्ताना शक्तीना वा, गिरा काव्यवाचा, निर्माणे रचने, मामिको मर्मज्ञ (कुशल) असि, तर्हि मादृशा मत्तल्यानामत्युत्कृष्टकाव्यरचनाकुशलाना, सम्मुखे पुर, स्वरचित काव्य, मुखेन, कथय, नोचेत् तदमामिको ययसि तदा, आत्मना कृत दुष्कृत पातकमिव, तत् काव्यं, स्वान्तात्मनस, बहिर्मा कृथा नितरां गोपयेत्यर्थः ।

जैसे—हे सखे ! यदि तुम अत्यन्त पक जाने के कारण सूते हुये दास के मधुर रस की मधुरता के मद को हटा देने में समर्थ बचनों की रचना में कुशल हो, तब अपने काव्य को मेरे जैसे लोगों के सामने सुखपूर्वक कहो । परन्तु यदि ऐसा (मृद्वीका-मधुर-वाणी-निपुण) न होओ, तो जिस तरह अपने किये हुये पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, उसी तरह उस (अपने काव्य) को अपने हृदय से बाहर न करो-मन ही मन रख लो, जवान पर मत आने दो ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वाधे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न स चतुर्थचरणे कदर्यं काव्यप्रतिपादक इति वैपन्यमेव गुणः ।

मार्गो वर्णरचनारीति । कदर्यं कुत्सितम् । गुणत्वमुपकारकत्वम् ।

‘निर्माणे’ इत्यादावेकस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणान्त यापद् वाच्यस्य लोकोत्तरनिर्माण-स्योद्भटत्वाद्भटत्वा रचना, तुरीयचरणे तु वाच्यस्य कुत्सितकाव्यस्यानुद्भटत्वाद्भटत्वैव रचनेति विपमतैवोपकारकत्वाद्गुणः, ‘वक्तु-वाच्य-प्रवन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति वर्णाना-मन्ययात्वमपीभ्यते ।’ इत्युक्ते—प्रत्युतसमतायामप्रकृतायां दोष एव स्यादित्याशयः ।

यहाँ अलौकिक काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले भादि तीन चरणों में जिस मार्ग (वर्ण-रचना की रीति) का ग्रहण किया गया है, उसका कदर्प (कुसित-हीन) काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ चरण में ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् प्रथम तीन चरणों का वाच्य अर्थ उद्भूत था, अतः वहाँ तदनुकूल उद्भूत वर्ण-विन्यास ही किया गया और चतुर्थ चरण का प्रतिपाद्य अर्थ अनुद्भूत था, अतः वहाँ का वर्ण-विन्यास अनुद्भूत-निमित्त-रखा गया, इस तरह यहाँ विषमता ही गुण (उपकारक) है और यदि समता-एक ही रीति-कर दी जाती, तो दोष ही कहलाता।

कान्तेः सुकुमारतायाश्च दोषाभावरूपत्वाद् गुणत्व निरस्यति—

ग्राम्यत्व-कष्टत्वयोस्त्यागान् कान्ति-सौकुमार्ययोर्गताथता ।

ग्राम्यत्वदोषाभावरूपतया कान्ते, श्रुतिकटुत्वलक्षणकष्टत्वदोषाभावरूपतया च सुकुमारताया गताथता तदभावान्तर्भावाद् गुणत्वाभाव इत्यर्थः ।

कष्टत्वमिह दुरभयत्वम्, न तु दुरुहत्व तस्यार्थवृत्तित्वात् । ओजो व्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपकष्टत्वाभावरूपता, माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपसौकुमार्यस्यासम्भवाच्चिन्तनीयेति केदाचिदाद्योपस्तु, परैरपवर्णघटित सौकुमार्य परवर्णघटितत्व च कष्टत्वमभिदधानैरभयोपरस्परभावरूपता व्यवस्थापयद्भिर्निरस्त ।

अब रही कान्ति और सुकुमारता, वे भी ग्राम्यता और कष्टत्व नामक जो दोष हैं, उनके अभाव में अन्तर्भूत हैं—अर्थात् कान्ति ग्राम्यत्व-दोषाभाव-स्वरूप है और श्रुतिकटुत्वरूप-कष्टत्व-दोषाभाव-स्वरूप सुकुमारता है। तापर्य यह है कि यहाँ 'कष्टत्व' का मतलब 'दुरुहता' नहीं है, क्योंकि वह अर्थ में रहने वाला दोष है और यहाँ शब्द-गुण को दोष में गतार्थ करने का प्रसङ्ग चल रहा है, फिर शब्द-गुण अर्थ-दोष में कैसे गतार्थ किया जा सकता था। यहाँ नागेश ने लिखा है कि कष्टत्व दोष का लक्षण है 'ओजोव्यञ्जकवर्णघटितत्व' और सुकुमारत्व-गुण का लक्षण है 'माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्व' अतः ये (कष्टत्व और सुकुमारत्व) एक दूसरे का अभावरूप नहीं हो सकते, फिर सुकुमारता को कष्टत्व के अभाव में गतार्थ करने की मूलोक बात असङ्गत है। परन्तु विचार करने पर नागेश का कथन ही असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि मम्मट ने कष्टत्व का लक्षण 'परवर्णघटितत्व' किया है और प्राचीनों ने सुकुमारता का लक्षण 'अपरवर्णघटितत्व' कहा है, अब देखिये—कि सुकुमारता, कष्टत्व के अभावरूप सिद्ध होता है या नहीं? कहना पड़ेगा कि अक्षरप, फिर जो नागेश ने अपने मन से लक्षणों की कल्पना करके मूल की असङ्गति दिखलाई है, वह किसी तरह मूल ग्रन्थ का खण्डन करने का बुराग्रह मात्र है।

प्रसादेऽन्तर्भावादर्थव्यक्ति निराकरोति—

प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति ।

प्रसादेन श्रुतेन स्पष्टप्रतीतिजनकत्वरूपाया अर्थव्यक्तेश्च गतार्थतेति शेषः । इत्यंश्च वामनेन-
 'पदव्यासस्य गाटलं वदन्योज कवोश्चरा' । श्रुतत्वमोजता निभ्रं प्रसादं च प्रचक्षते ॥
 यत्रैकपदवद्भावः पदाना भूयसामपि । अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
 प्रतिपादं प्रतिश्लोकमैकमार्गपरिमहः । दुर्वन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः ॥
 आतोहन्त्यचरोहन्ति श्लेषेण यतयो हि यत् । समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूजा सरस्वती ॥
 वन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं बुधैः । वन्धस्याजरठलं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ॥
 विकटत्वं च वन्धस्य कथयन्ति सुदारताम् । पश्चादङ्गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः ॥
 यज्ञार्थव्यक्तिहेतुत्वात्, सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः । औज्वल्यं कान्तिरिस्वाहुर्युषं गुणविशारदाः ॥
 इति प्रतिपादितानां दशानामपि शब्दगुणानामन्तर्भावादिभिर्निराकरणं समाप्तमिति सूचयतीति शब्दः ।

अब केवल 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अवशिष्ट रह जाता है, परन्तु प्रसाद गुण के मान लेने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही वह भी गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार अति प्राचीन आचार्यों का अभिमत, गुणों की विंशति संख्या असंगत है, यह बात सिद्ध हो गई।

अवार्थगुणानामपि दशाना निरसनमारभते—

अर्थगुणेष्वपि—श्लेषः, ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च, वैचित्र्यमात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति ।

वामनोक्तस्य श्लेषस्यैजसमास्तान्तप्रकारचतुष्टयस्य च क्षोदिष्ठचमरकृतिजनकत्वेन दुर्यादिविस्तृप्तिरूपत्वासम्भवात् गुणत्वमिति तात्पर्यम् ।

अब वामन आदि अति प्राचीन आचार्यों से स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का रण्डन आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणेष्वपि' इत्यादि। अर्थ-गुणों में भी श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः उन्हें गुणों के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है।

वैचित्र्यमात्रस्य गुणत्वाङ्गीकारे दोषमाह—

अन्यथा प्रतिरलोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः ।

यदीदृशार्थवैचित्र्यस्यापि गुणत्वमभ्युपगम्येत, तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु यतिकविदर्थवैचित्र्यस्य सत्त्वान् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारवाहुल्यमापयेतेत्यभिसन्धिः ।

अन्यथा (विचित्रतामात्र को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता अवश्य रहती है, वे सब विलक्षणतायें गुण कहलाने लगेंगी, जिनकी गणना भी असम्भव हो जायगी।

ओजःपञ्चमप्रकारसहितं वामनोक्तार्थगुणसप्तक दोषाभावरूपतादर्शनेन निरस्यति—

अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुप्यशरीर सौकुमार्यम्, अप्राम्यत्वरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता, साभिप्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वा-नवीकृतत्वा-मङ्गलरूपारलील-ग्राम्य-भग्नप्रकृमा-पुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन, स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, रसध्वनि-रसवदलङ्कार-योश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि ।

यथासङ्गमन्वयः ।

अधिकपदत्वरूपदोषाभावरूपत्वात् प्रसाद, अनवीकृतत्वदोषाभावरूपत्वान्माधुर्यम्, अमङ्गलरूपारलीलत्वदोषाभावरूपत्वात् सुकुमारता, ग्राम्यत्वदोषाभावरूपत्वान्दुदारता, भग्नप्रकृतत्वदोषाभावरूपत्वात् समता, अपुष्टार्थत्वदोषाभावरूपतया साभिप्रायविशेषणत्वात्मक ओजसः पञ्चमप्रकार, स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्ति, रसप्राधान्ये रसध्वनिरूपतया रसाप्राधान्ये तु रसवदलङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणस्येन गणनामर्हतीति सारम् ।

दश अर्थगुण मानने वाले वामन आदि के मत के अनुसार पद का अधिक न होना प्रसाद है, उक्ति की विचित्रता माधुर्य है, कठोरता का न होना सुकुमारता है, ग्राम्यता का न होना उदारता है और विषमता का न होना समता है, सूत्रों का साभिप्राय होना ओज-गुण का पाचवा भेद है। ये सब क्रमशः अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गल सूचक अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रकृमा और अपुष्टार्थता रूप दोषों के निकाल देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं। इसी तरह किसी वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन करना जो अर्थ-व्यक्ति गुण है वह स्वभावोक्ति अलङ्कार में गतार्थ

है और रस का स्पष्टता प्रतीयमान होना जो कान्ति गुण है, वह रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्यथा रसवत् अलङ्कार में गतार्थ है।

समाधिं निराकरोति—

समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारण, न तु गुणः।

आलोचनात्मकज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्तिः कविनिष्ठः समाधिस्तु न गुणः, किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः।

अब बचा केवल समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि तु काव्य का कारण है, क्योंकि उसका स्वरूप आलोचनात्मक माना गया है और आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है, अतः वह कवि की आत्मा में रहेगा, रस किंवा अर्थ में नहीं, फिर उसे अर्थ गुण कैसे कहा जा सकता? यदि उसे विषयता सम्बन्ध से अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय, तब तो—

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधेः कृतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुण स्यात्, तर्हि प्रायुक्ता प्रतिभाऽपि काव्यस्य कारणत्वाद् गुण स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यभिसन्धिः।

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि आलोचन और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकारके ज्ञान हैं और कवि में रहते हैं तथा विषयता सम्बन्ध से अर्थ में भी रह सकते हैं, फिर यदि प्रतिभा को काव्य-कारण माना जाता है, तब आलोचन को ही गुण क्यों मानें?

निगमयति—

अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः।

अत उच्यतेतुमि, त्रयो माधुर्योच्चरप्रसादा एव, न तु श्लेषादयोऽपि गुणा सम्भवतीति मम्मटभट्टादय आहुरित्यर्थः।

अतः अन्त में यही सिद्ध हुआ कि गुण तीन ही हैं, दश या बीस नहीं। यह है—मम्मट आदि विद्वानों की विचार-पद्धति।

अथ आलोचकगुणानां क्रियता रचनास्वन्तर्भावकयनादचनाज्ञाप्येक्षानां ता- क्रमेण निरूपयन्नादौ माधुर्यव्यञ्जनरचना निरूपयति—

तत्र टवर्गावर्जितानां वर्गाणां प्रथम-तृतीयैः, शभि-रन्तस्यैश्च घटिता, नैक-ट्येन प्रयुक्तैरनुस्वार-परसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः सयोगार्थैरनुम्बिता, अदृष्टिर्दृष्टवृत्तिर्वा रचनाऽऽनुपूर्वा-त्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

तत्र ताथ रचनासु। नैकट्येन सामीप्येन। परसवर्णैस्तदादेशनिष्पन्नवर्णैः। शुद्धैः केवलैरनुनासिकैः। वृत्तिपदं प्रकरणात् समासमात्रपरम्। आनुपूर्वी भक्षणप्रत्ययविषयताऽवच्छेदकं तद्वर्णोत्तरतद्गणत्वम्।

आनुपूर्वीरूपा रचना यदि टवर्गातिरिक्तवर्गानुष्टम्बवधै प्रथम-तृतीयवर्णैः, शभिश्श-पसैः, अन्तस्यैर्यैरल्लैश्च घटिता, अदूरप्रयुक्तानुस्वार-परसवर्णैश्च अनुनासिकयुक्ता, अनुपद-निषेत्स्वमानसंयोगादिरहिता, समासग्रन्थ्याऽल्पसमासा वा स्यात्, तर्हि सा माधुर्यस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवतीत्यर्थः।

अब तत्तद्गुण-व्यञ्जक-रचना-निरूपण के क्रम में सर्व प्रथम माधुर्य-गुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—'तत्र' इत्यादि। आनुपूर्वी (क्रम बद्ध वर्ण-विन्यास) रूपा वह

रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है, जो, टवर्ग से भिन्न वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्गों अर्थात् फ-ग, घ-ङ, त-द, प-ब, इन अक्षरों, तथा श-ष-स एवं य-र-ल-व से युक्त, समीप समीप में प्रयुक्त किये गये अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित, भागें वर्णित होने वाले, साधारणतया और विशेषरूपेण निषिद्ध सयोगादिकों से रहित और समास से गून् अथवा छोटे-छोटे कतिपय समासों से युक्त हो ।

तद्वर्गचतुष्टयघटक-व्यवच्छिन्न-द्वितीयचतुर्थवर्णविषये विशेषमाह—

द्वितीय-चतुर्थास्तु वर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूला, चापि प्रतिकूलाः, दूरतया सन्निवेशिताश्चेत् ।

वर्गों भवा वर्ग्या वर्णा ।

टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयस्यावशिष्टा द्वितीयाश्चतुर्थाश्च वर्णा अस्य माधुर्यगुणस्य, अनुकूला उपकारका न भवन्ति, यदि दूरतया विप्रकर्षेण सन्निवेशिता, तदा प्रतिकूला विरोधिनोऽपि न भवन्ति, किन्तुदासीना एकेवर्ष ।

टवर्ग से अतिरिक्त चार वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण अर्थात् ए-घ, छ-झ, ध-ध, फ-भ, यदि दूर-दूर में प्रयुक्त किये गये हों, तो वे न माधुर्य गुण के अनुकूल होते हैं, न प्रति वृत्त, अर्थात् उदासीन रहते हैं—उनके रहने और न रहने से कुछ बनता, बिगड़ता नहीं ।

तत्रापि विशेषमभिपत्ते—

नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः ।

यदि तदायत्तस्तदासीनोऽनुप्रासो भवति, तर्हि नैकट्येन सामीप्येन सन्निवेशितास्ते द्वितीयादिनर्णा माधुर्यस्य प्रतिकूला अपि न उदासीना भवन्तीत्यर्थ ।

यदि समीप-समीप में उनका प्रयोग हुआ हो और उनसे अनुप्रास भी बन जाते हों, तब प्रतिवृत्त भी हो जाते हैं ।

अत्रैव परस्वीय मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्थानां पञ्चानामप्यविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः ।

टवर्गातिरिक्तवर्गघटकाना पञ्चनामपि (न तु द्वितीयचतुर्थभिन्नानां) वर्णानाम् अविशेषेण तुरन्तया नैकस्थनिवेशादिविचारराहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामन्ये वदन्तीत्यर्थ ।

वर्गद्वितीयचतुर्थवर्णाना नैकट्येन प्रयुक्तानामोजोगुणव्यञ्जकत्वस्थानुपपन्न पद्व्यस्यन्ता लज्ज विचाररमणीयमिति बोध्यम् ।

टवर्ग से भिन्न वर्गों के पांचो अक्षर समान रूप से माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है ।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदाहरति—

उदाहरणम्—

भगवद्भक्त स्वान्तं बोधयति—

‘ता तमालतरुभ्रान्तिलद्विनीं, किङ्करीकृतनयाम्बुदत्तिपम् ।

स्वान्त ! मे कलय शान्तये चिरं, नैचिकीनयनशुश्र्वितां श्रियम् ॥’

हे स्वान्त मानम ! तमालतरुस्तापिच्छद्रुमस्य, वान्ते श्यामशुते, लट्ठिनीमस्ति-
श्यायिनी, किङ्करीकृता विजितत्वाहासीकृता नयाम्बुदस्य नवीनमेघस्य त्पिच्छविर्यया
तादृशीम्, नैचिकीना धेनूनां नयनैश्चुम्बिता प्रेम्णा विलोकिता, श्रियं श्रीकृष्णशोभा, मे
मम शान्तयेऽन्तस्सुखाय, चिर चिन्तय भावयेत्यर्थ ।

इह स्वान्तोत्पत्त्यामन्त्रितराश्रीोत्तरम्—'अमन्त्रितमविलम्बानवत्' इत्यनेनानिवृत्तमान-
वद्भावे पदात्परत्वाभावात्सम्यक्त्वस्य न आदेशश्चिन्तनीयः ।

अथ माधुर्यं व्यञ्जक रचना का उदाहरण देखिये—कोई भक्त अपने अन्तःकरण से कहता है—हे मेरे मन ! तू, शान्ति के लिये चिरकाल तक उस श्री-शोभा की भावना कर, जो तमाल तरु की कान्ति (श्यामद्युति) को लौंन गई है—अर्थात् उससे भी अधिक रयामलता-मनोहर है, और जिसने नवीन जलद की धृति को दास बना लिया है—अर्थात् उसको परान्त कर दिया है—अपने सामने तुच्छ बना डाला है, एवं जो गाणों के नेत्रों से चुम्बित (इकटक देती गई) है। सारांश है कि नवान्बुद-श्यामल भगवान् गोपाल की शोभा का स्मरण सदा करता रह ।

पुनरुदाहरति—

यथा या—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तस्मितालसविलोकनयन्दनीया ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि,
रम्या दशा मनसि मे मदिरेदृश्याया ॥'



पर्यनिदं सप्रसन्ननिर्देशं प्राणविरुत्तमेनेतीह वेवलं उवर्गपरिहाराय परिवर्तितपदमात्रं
व्याख्यायते—अन्तस्मितेनाभ्यन्तरस्यतयाऽव्यक्ताहासेन, अलसविलोकनेन मदधमादिप्रयुक्ता-
लस्ययुक्तनिरीक्षणैः, यद्वाऽन्तस्मितं यत्र, तारशोनालसविलोकनेन, वन्दनीयेत्यर्थः ।

अथवा, जैसे—जिसका कपोल-फलक सधन घर्ष-जल-विन्दुओं से शोभित है और जो
वान्तर (अप्रकट) मन्द हास एव अलसाई हुई चित्तवनों से प्रशसा करने योग्य है, उस
मदमय नयन वाली नायिका की रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करते ही मेरे
मन में आनन्द को पनपा देती है ।

पदाद्वयौदाहरणतामुपपादयति—

प्रथमे पर्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यस्य भगवद्विषयकर-
तेर्वा ध्यन्यमानायाः शान्ता एव पर्येऽसानात् तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका । रचने-
यम् । द्वितीये तु स्मृत्युपपृच्छशृङ्गाररसस्य ।

प्रथमे 'आम्' इत्यादिपर्ये गोविन्दधियस्तामालतरुशान्तिलङ्घन-नवान्बुदस्विकृदासंकरण-
सम्बन्धकल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यरूपव्यभिचारिभावस्य, विनि-
गमनविरहाद् भगवद्विषयकरतिभावनस्य वा व्यञ्ज्यमानस्य प्रपानव्यङ्ग्य-शान्तरसोपस्कारक-
तया शान्तरसदृशतिमाधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति । द्वितीये 'स्वेदाम्बु-' इत्यादिपद्येषु
व्यञ्ज्यमानेन मदिरेदृशादशास्मृतिरूपव्यभिचारिभावेन पोषिते शृङ्गाररसे वर्तमानस्य नाशु-
र्यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः ।

इह 'रतेर्वा' इत्यत्र 'रतिभावरय वा' इति उपपठम् ।

यहा प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सम्बन्ध, तमाल-तरु कान्ति-लघन से और
नव-जलद-कान्ति-दासीकरण से विपलया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है,
जिससे वह भगवान् के ध्यान की उत्सुकता (ध्यामिचारीभाव) अथवा वह भगवान् के
विषय में प्रेम (स्थायीभाव) अलङ्कृत होता है, जो व्यङ्ग्य है, परन्तु ये दोनों भाव यहां
अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, यान् चरम व्यङ्ग्य शान्त रस के पोषक हैं, अतः यहां की
रचना शान्तरस-गत माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है । द्वितीय श्लोक में नायिका की
दशा के स्मरण (व्यभिचारीभाव) से पुष्ट हो कर अभिम्यक्त होने वाले शृङ्गार-रस के
माधुर्य को रचना ध्वनित करती है ।

श्रौजोव्यञ्जकरचना निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्ग-जिह्वामूलीयो-पध्मानीय-विसर्ग-सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो ऋग्-रेफान्यतरघटितसयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः ।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयवर्णैः, टवर्गेण, जिह्वामूलीयेनोपध्मानीयेन, विसर्गेण, सकारेण च बहुलैर्भूयिष्ठैः, समीप्येन प्रयुक्तैर्वर्णैः, घटित, पश्चमवर्णातिरिक्तवर्ग-पश्चकवर्णात्मकेन ऋग्प्रत्याहारेण रेफेण वा घटितो य संयोग, स परो येभ्यस्तादृशैर्ह्रस्व-वर्णैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरुक्ता, दीर्घसमासरूपश्च गुम्फो रचनाविशेष ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः ।

अथ ओजो-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—'नैकट्येन' इत्यादि । वह गुम्फ (रचना-विशेष) ओजोगुण का व्यञ्जक होता है, जो समीप-समीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्णों के द्वितीय और चतुर्थ अर्थात् र-घ आदि वर्णों टवर्ग के पांचो अक्षरों और द्विनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग तथा सकार ये अक्षर अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्णों के आदि चार-चार अक्षररूप क्षय प्रत्याहार अथवा रेफ के द्वारा बने हुये संयोग जिनके भागो हों ऐसे समीप-समीप में प्रयुक्त ह्रस्व स्वरों से युक्त, एव धवे-धवे समास बाधा होता है ।

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिता' प्रथम-तृतीयवर्ग्यां गुणस्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूला-संयोगघटकाश्चेत् । तद्वटकास्त्वनुकूला एव । एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि ।

अस्मिन् गुम्फे, पतिता गुम्फघटका, प्रथमे कावा, तृतीया गाद्याश्च ये वर्ग्यां वर्ग-चतुष्टयघटका वर्णा, ते मापुर्व्यञ्जकत्वात्संयोगस्य, श्रनुकूला न भवन्ति, यदि संयोगस्याघटकास्तदा प्रतिकूला अपि न किन्तूदासीना भवन्ति । त एव पुनस्संयोग-घटका श्रोजसो व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति । इत्यमनुस्वार-परसवर्णा अपि संयोग-घटका उदासीना संयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः ।

इय ओजोगुण व्यञ्जक रचना-विशेष के मध्य में आगत वर्णों के प्रथम और तृतीय-अर्थात् क-ग आदि वर्ण यदि संयुक्त न हों, तब ओजोगुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, और यदि संयुक्त हों, तब तो अनुकूल ही हो जाते हैं । इसी तरह अनुस्वार और परसवर्ण को भी समझना चाहिये अर्थात् वे भी ओज के अनुकूल, प्रतिकूल कुछ नहीं होते ।

उदाहरति—

यथा—'अय पततु निर्दयं दलितदत्त-' इत्यादौ प्रागुदाहृते ।

न वोच्छलित-' इत्यादिनाऽऽरम्भोऽस्य पद्यस्य । गुम्फोऽय ऋग्-संयोगादिघटितत्वा-श्रोजसो व्यञ्जक, किन्तु टवर्गशून्य ।

जैमे—'अय पततु निर्दयम् "' इत्यादि श्लोक में । इस पद्य का आरम्भ 'नवोच्छलित-' इत्यादि वाक्यों से है, और पहले रीढ़-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं । यद्यपि इस पद्य में टवर्ग के वर्ण नहीं आवे, तथापि ऋग् प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने के कारण यह पद्य ओजोगुण व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है । (हन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की अभिव्यञ्जिका है)

प्रसादव्यञ्जकरचना निरूपयति—

द्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य ।

या घटना वर्णविशेषनियमरहिता श्रवणेनैव सद्य करतलस्थितं बदरमिव सर्वादीर्वास्थार्थं निवेदयन्ती वाक्यार्थबोधिका भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकाऽस्तीत्यर्थः ।

अब प्रसादगुण—व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं 'पुनमात्रा' इत्यादि । जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के पैर की तरह दौड़ने लगे—उसके समझने में कुछ भी आयास नहीं करना पड़े—वही रचना प्रसादगुण—व्यञ्जिका कहलाती है ।

अत्र विशेषमाह—

अयं च सर्वसाधारणो गुणः ।

अयमेतद्वदनाव्यञ्जको गुणः प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वाङ्गुरचनासु च साधारणः, केवल-
मिह वाक्यार्थस्य ऋटितिप्रतीतिविषयत्वमपेक्ष्यत इति भावः ।

यह (प्रसाद) गुण सब रसों में सब भावों में रहता है, इस गुण की अभिव्यक्ति भी सब प्रकार की रचनाओं से हो सकती है, यहाँ वे रचनायें ऋटिति अर्थबोधक हों ।

उदाहरणविषये व्रीति—

उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि । तथापि यथा—

यद्यपि मद्रचितानि सर्वाण्येव प्रायशो याहुल्येनात्र प्रसादव्यञ्जकरचनायामुदाहरणानि,
सन्तीति विशिष्यनिर्देशस्यापेक्षा नास्ति तथापि दिग्दर्शनाय किञ्चिद्विद्विश्यते ।

प्रायः मेरे (पण्डित राज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं, तथापि जैसे-
मानिनी मुग्धा सहचरी परिवोधयति—

'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः, सख्यो विहिनप्रभा',

प्राणेशः प्रणयाकुल, पुनरस्तावास्तां समस्ता कथा ।

एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे,

मुग्धे । मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेप्यति ॥'

हे मुग्धे ! त्वदस्थानमानदुरापहेण मनसिजः काम, का परिणतिरस्य स्यादिति चिन्तया
मीलित सङ्कुचितं मानसं यस्य, तादृशोऽस्ति, सख्य सहचर्यथ विपरीतफलशङ्कया विहीन-
प्रमानिस्तैजस्का सन्ति, प्राणेश प्रियतमथ प्रणयेनाकुल स्वापराधानाकलनादव्यप्रवि-
त्तोऽस्ति, (एतदाकल्प्य मानाद्विरम, अथवा) असी सज्जनदौस्थ्यस्य समस्ता कथा पुन-
रस्ता तिष्ठतु (न कथयामि, किन्तु) चेद् यदि, मम सदा हिताचरणपरायणया उक्तिं
हिता स्वोपकारिणीं मन्यसे, तर्हि, 'अधुना पूर्णचन्द्रोदयसमये, मानं मा कुरु, अन्यथा, इदं
निरर्गानिकलद्वमपि रोषकलुषितमिदं तवाननं राकापति' पूर्णचन्द्रो गतनाविधानेन सक-
लद्वोऽपि सुषमाप्रकर्षणं जेष्यति' इत्येतत् त्वां विनिवेदयामि कथयामीत्यर्थः ।

मुग्धा मानिनी नायिका को सखी समझा रही है कि तारे दुराग्रह को देख कर 'इसका
क्या परिणाम होगा' इस चिन्ता से कामदेव का मन सङ्कुचित हो रहा है, सखियाँ विपरीत
फल की आशा से कान्तिहीन हो गई हैं और प्राण-नाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे
हैं—अब भी तो मान का त्याग कर, अरुन्दा, इन बातों को छोड़ भी दे, फिर भी यदि
मेरे कथन को अच्छा मानती है—जैसाकि बराबर मानती आ रही है—तो तुझसे इतना
निवेदन कर देती हूँ कि मुग्धे ! तू अभी मान कर, अन्यथा इस सुन्दर मुरर को पूना का
चौद जात लेगा—कोप से मुग्ध के कलुषित हो जाने के कारण कलङ्की चन्द्र की भी सुषमा
बद जायगी । ऐसी मुग्धता किस काम की ? जिसके चलते अपना दित भी समझ में
न आ सके ।

उपपादयति—

अत्र सर्वावच्छेदेन प्रसादाभिव्यञ्जकत्वम्, अशभेदेन तु माधुर्यौजोऽभि-
व्यञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य माकुर्वदेच्च माधुर्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, सख्य-
इत्यादेशोऽयोगसकत्वात् ।

अत्रास्मिन् पद्ये मनमिज इत्यन्ते 'मा कुरु' इत्यादौ चांशे माधुर्यव्यञ्जकतायाः, सख्य इत्यादावंशे औजोव्यञ्जकताया दर्शनान्दशतो माधुर्यौजोव्यञ्जकत्वेऽपि, सर्वैरंशैर्मदित्यर्थ-समर्पणात् सर्वांशे प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमेवेति मारम् ।

यह सम्पूर्ण श्लोक प्रसाद गुण को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी रचना ऐसी है, जिससे वाक्य के अर्थ को समझने में कोई कठिनाता नहीं होती। हाँ! इस श्लोक का कोई-कोई अंश ऐसा भी है, जो माधुर्य और ओज को भी अभिव्यक्त करता है, जैसे—'चिन्ता-भीलित-मानसो मनसिज' और 'मा कुरु मानमाननमिदम्' ये दोनों अंश माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं, तथा 'सख्यो विहीनप्रभा' इत्यादि भाग ओज को ध्वनित करता है।

अत्रौजोव्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्यत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलाऽस्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गो यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नायिकामानो-पशान्तये कृतानेकयन्त्रायास्तदीयं हितमुपदिशन्त्याः सख्या. सक्रोधरस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासस्य साफल्यत् ।

शृङ्गार आश्रयो यस्येति विग्रहः । तदनुकूला माधुर्यव्यञ्जिका । क प्रसङ्गो वीरादिरसा-प्रतीति । तथा विन्यासस्य-औजोव्यञ्जकवर्णरचनाया । साफल्यत् सार्थकत्वान् ।

इह वीरादिरसाव्यञ्जनादौजोव्यञ्जकरचनाया निरर्थकत्व न शङ्कनीयम्, व्यञ्जसखीकोषो-पहितरौद्ररसप्रतीत्या तद्वृत्त्यौजोरचनाया सार्थकत्वस्य स्फुटं सत्त्वादिति सारम् ।

यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि यहाँ शृङ्गार-रस की प्रधानता है, अतः उस रसमें रहने वाले माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना ठीक है, परन्तु ओज का तो यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) वीर-रस का गुण है और यहाँ रस है शृङ्गार, फिर औजोगुण के अनुकूल रचना क्यों की गई? इसका समाधान यह है कि सखियों ने नायिका के मान को शान्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये पर नायिका ने अपने हृद को नहीं छोड़ा, अथवा उसके हित का ही उपदेश सखियाँ कर रही थीं, किन्तु नायिका उसका ग्रहण नहीं कर रही थी, इस स्थिति में सखियों का क्रोधयुक्त हो उठना स्वाभाविक है, उसी क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये ओजो गुण के अनुकूल वर्ण-विन्यास भी अश-विशेष में किया गया है और वह सफल है।

उत्तरपक्षं समर्थयति—

किं बहुना—रसस्यौजस्विनोऽमर्षादिभावस्य चायिचक्षायामपि, वक्त्रि क्रुद्ध-तया प्रसिद्धे, वाच्ये वा क्रूरतरे, आख्यायिकादौ प्रबन्धे वा परुषवर्णघटनेष्यते ।

यतो ह्यौजोव्यञ्जकरचनाया रौद्रादिरसामर्षादिभावव्यञ्जनस्य एव नैव नियतत्वम्, अतो यत्र रौद्रादिरसस्य, अमर्षादिभावस्य च यत्र न विवक्षा, तत्रापि क्रोधित्वेन प्रख्याते वक्त्रि, अतिवर्कशे (शरुणतरे वा) वाच्ये, दीर्घसमासोचिताख्यायिकादौ प्रबन्धे च 'वक्त्र-वाच्य-प्रबन्धानामौचित्येन क्वचिन् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथास्वमपीष्यते ।' इति मम्मटोपेक्षकृत-वाच्य-प्रबन्धानुरोधेनौजोव्यञ्जकरचना इत्यते, तस्मादुत्तरपक्ष एव सम्यगित्याकृतम् ।

अधिक कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं, जहाँ ओजस्वी रस (वीर आदि) और अमर्ष प्रभृतिभाव (जो ओज गुण के आश्रय के रूप में प्रसिद्ध है) नहीं भी वर्णनीय हो, वहाँ भी यदि वक्ता क्रोधी के रूप में प्रसिद्ध हो, अथवा वर्णनीय अर्थ क्रूरतामय हो, यहाँ लैगनीय निबन्ध आख्यायिका आदि हो, तो क्रूर वर्णों का विन्यास इष्ट है।

पूर्वोदाहरणे माधुर्यसाङ्ख्यादसङ्कीर्णमुदाहरणमाह—

यथा वा—

मत्तो भगवन्तं भाषते—

‘वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिक्षां भदा-

स्तां स्वप्नेऽपि न सस्पृशाम्यहमहम्भावावृतो निखपः ॥

इत्यागशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां विभ्रत-

स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते । मत्तो न मत्तः परः ॥’

हे नाथ ! यदुपते ! निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, सुधामधुरयाऽमृतमिष्टया, वाचा, मह्यमादौ, या कर्तव्यशिक्षा त्वमदा ध्यताशी, अहम्भावोऽभिमानस्तेनामृत आच्छन्नः, निखप कर्तव्यच्यवनोचितलज्जारून्यः, अह स्वप्नेऽपि का कथा जागरणस्य, ता शिक्षा, न संस्पृशामि नानुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागशतशालिनमेवंरूपकापराधशतविधायिनं मा, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वारतीयजनमध्ये, विभ्रतो गणयत, पुणतो वा त्वत्तस्वत्सवाशात्, परोऽन्यो दयानिधि कावणिक्रमो मत्तो मत्सवाशात् परो मत्त एवोऽज्ञानोपहृतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थ ।

अच्छा, यदि माधुर्य और ओजोगुण से सङ्कीर्ण प्रसाद के उदाहरण में आपति उठती है, तो, जाने दीजिये उसको अब शुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण लीजिये—हे नाथ ! आप ने अमृत तुल्य मधुर और निर्मल वाणी के द्वारा, जो शिक्षा दी, उसे अहङ्कार से आच्छन्न तथा निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं छूता—स्मरण करता । हे यदुपते ! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी मुझको आध्यात्मिक जनों में गिनने वाले आपसे अधिक कोई दयालु नहीं है, और मुझ से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है ।

उपपादयति—

अत्र गुणान्तरासमानाधिकरणः प्रसादः ।

अत्र माधुर्यैर्गौजसा वा न प्रसादः सङ्कीर्ण, किन्तु स्वतन्त्र इत्यर्थः ।

यहां अन्य गुणों से अभिभ्रत अर्थात् केवल—प्रसाद गुण है ।

अयोकारचानामु सामान्येन विशेषेण च श्रवणोद्वेजकत्वाद्दर्शनीयानां निरूपणमवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनतमाया निमित्तेः परिचयाय, सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते—

वर्णानां स्वानन्तर्यं सकृदप्येकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

निमित्ते रचनाया ।

किञ्चिदित्यनेन कचित्तस्य क्षम्यता सूच्यते ।

स्वानन्तर्यं स्वाव्यवहितोत्तरत्वं, वर्णानां, किञ्चिदोपत्, अश्रव्यं श्रवणेऽप्रियत्वादनहं तदा भवति, यदि एक पदगतमेकस्मिन्नेव पदे तद्वर्णद्वयं तिष्ठेदित्यर्थः ।

अब उक्त गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय कराने के लिये, साधारणतया—अर्थात् जिनको सब रसों में छोड़ना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् जिनको किसी-किसी खास रस में ही छोड़ना चाहिये, सब में नहीं, त्याज्यों का कुछ निरूपण किया जाता है । एक बार भी यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो बार प्रयुक्त हो, तो वह सुनने में कुछ अज्ञा सा लगता है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिये ।

उदाहरति—

यथा—‘ककुभसुरभिः, विततगात्रः, पल्लमिवाभाति’इत्यादौ ।

ककुमः कुटजः । पल्लं नासम् । अत्र ककारद्वयस्य, तकारद्वयस्य, लकारद्वयस्य चैकप-दपटकस्य सकृदप्यव्यवधानं किञ्चिदश्रव्यत्वाद् वर्जनीयमिति भावः ।

जैसे—ककुभसुरभि (कुटज पुष्पके समान सुगन्धित), विततगात्र (विस्तृत अङ्ग वाला), और पल्लभिवाभाति (मान्म सा दीक्षता है), इत्यादि स्थलों में । तात्पर्य यह है कि यहां क्रमशः क-क, त-त और ल-ल ये अक्षर एक ही एक ही पद में लगातार दो-दो बार प्रयुक्त होने के कारण अश्रव्य हो गये हैं ।

विशेषमावष्टे—

असकृच्चेदधिकम् ।

एकपदघटनाना वर्णानामसकृदनेकवारं यदि स्वानन्तर्यं, तर्हि तदधिकं नितरामश्रव्यत्वाद्दर्शनीयमित्याशयः ।

यदि एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार प्रयुक्त हों, तब तो और अधिक अश्रव्यता-दोष आ जाता है ।

उदाहरति—

यथा—‘वितततरस्तरुरेप भाति भूमौ’ ।

अत्रैकपदघटकस्य तकारस्य द्विस्वानन्तर्यमधिकमश्रव्यम् । अतो न क्षम्यमित्याशयः ।

जैसे—‘वितततर . . .’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में । यहाँ एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है ।

स्वानन्तर्यस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एवं भिन्नपदगतत्वेऽपि ।

एवमेकपदवत् ।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी कुछ अश्रव्य प्रतीत होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘शुक ! करोषि कथं विजने रुचिम्’ इत्यादौ ।

अत्र पृथक्पदघटकयो ककारयो सकृदानन्तर्यमोपदश्रव्यमिति ज्ञेयम् ।

जैसे—‘शुक ! करोषि . . .’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में । यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में ककार का एक बार प्रयोग हुआ है ।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृत् स्वानन्तर्यस्यातिवर्ज्यत्वमभिदधाति—

असकृद्भिन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम् ।

तत पूर्वपक्ष्याऽप्यधिकमश्रव्यम् ।

भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक ध्वन-पीड़ा-दायक होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्’ ।

ककुभोदिश । इह भिन्नपदघटककारासकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम् ।

जैसे—‘पिक ! ककुभो . . .’ इत्यादि मूल के पदों में । यहाँ भिन्न-भिन्न पद में ककार का बार-बार प्रयोग हो गया है । वाक्य का अर्थ यह है कि ‘रे कोकिल ! तू, दिशाओं को यथेच्छ अपनी गूँज से भर दे’ ।

इत्य स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं प्रतिपाद्य, स्ववर्गानन्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—

एवं स्ववर्गानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

एवं स्वानन्तर्यवत् ।

हमी प्रकार त्रिभु वर्ग का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ उसी वर्ग के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी कानों में कुछ राटकता है।

उदाहरति—

यथा—‘वितथस्ते मनोरथः ।’

वितथो निष्कलः ।

अत्र तकार-यकारयोरेकवर्गपदकयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदध्वन्यम् ।

जैसे—‘वितथस्ते मनोरथः’ (तुम्हारा मनोरथ निष्कल है) इस वाक्य में ‘त’ और ‘थ’ का।

विरोपमाह—

असकृच्चेदधिकम् ।

अतहृन् स्ववर्गान्तर्यं वर्णानां यदि स्यात्, तदा नितरा तदध्वन्यमित्यर्थः ।

एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अध्वन्य होता है।

उदाहरति—

यथा—‘वितथतरं वचनं तव प्रतीमः ।’

प्रतीमो जानीमः ।

इह तकार-यकार-तकाराणामेकपदास्थानामसकृदानन्तर्यमधिकमध्वन्यम् ।

जैसे—‘वितथतरम्’ इत्यादि मूल के वाक्य में। यहाँ त-थ-त का प्रयोग। वाक्य का अर्थ यह है कि ‘तेरे वचन को हम अत्यन्त मिथ्या समझते हैं’।

भिन्नपदपदकवर्णानां सकृत् स्ववर्गान्तर्यस्य किञ्चिदध्वन्यत्वमभिधत्ते—

एवं भिन्नपदगतत्वे ।

एवमेकपदपदकवचत् ।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एक-वर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अध्वन्य होती है।

उदाहरति—

यथा—‘अथ तस्य वचः श्रुत्वा’ इत्यादी ।

अत्र भिन्नपदपदकयोरेकवर्गानां सकृदानन्तर्यं किञ्चिदध्वन्यत्वमवसेयम् ।

जैसे—‘अथ तस्य’ इत्यादि मूलपदांश में। यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्गीय ‘थ’ और ‘त’ का प्रयोग।

भिन्नपदपदकस्ववर्गानां सकृदानन्तर्यस्य नितरामध्वन्यत्वमाह—

असकृद् भिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम् ।

तत एरुवारापेक्षयाऽपि ।

भिन्न पदों में भी बार-बार ऐसा होने पर और अधिक अध्वन्य हो जाता है।

उदाहरति—

‘अथ तथा कुरु, येन सुखं लभे’ ।

इह भिन्नपदपदकानां यकार-वकार-यकाराणामसकृदानन्तर्यं नितरामध्वन्यम् ।

जैसे—‘अथ तथा’ इत्यादि मूल की पंक्ति में। यहाँ ‘थ-त-थ’ का प्रयोग।

विरोपमाह—

एतच्च वर्णानां प्रथमद्वितीययो-स्तृतीयचतुर्थयोरानन्तर्यम् ।

वर्गाणां प्रथमद्वितीययोः, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोर्वात् सकृदसकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव नितरामश्रव्यमित्यर्थः ।

यह एक वर्ग के वर्णों का सह-प्रयोग [प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो, तभी अश्रव्य होता है ।

तदतिरिक्तानामोषदश्रव्यत्वमाचष्टे—

प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा भाश्राव्यम्, किन्तुपत्, निर्माणमार्मिकैकवेद्यम् ।

सकृदिति शेषः ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईपत्वस्य विवरणं निर्माणेत्यादि ।

यथा प्रथमद्वितीययोः सकृदानन्तर्यमश्रव्यं, तथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं नाधिकमश्रव्यम्, किन्तु निर्माणे वा यरचनाया ये मार्मिक (निपुणतया-) तन्मात्र-वेशमत्यल्पमित्यर्थः । उदाहरणन्तु 'निगदति खग शुकोऽयम्' इत्यादि श्रेयम् ।

एक वर्गीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय अक्षरों का सहप्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता—बहुत कम होता है, जिसको रचना-मर्मज्ञ जन ही समझ सकते हैं ।

असकृदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

एतदप्यसकृद्धत्, ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोः रानन्तर्यमपि, यवसकृत् स्यात्, तर्हि तत्राश्रव्यत्व-स्याधिकत्वात् साधारणैर्निर्माणमार्मिकभिर्नैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थः ।

यह (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सहप्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण शिष्टिन भी समझ सकते हैं ।

क्रमेणोदाहरति—

यथा—'खग ! कलानिधिरेष विजृम्भते ।' 'इति वदति दिवानिश स धन्यः !'

इह पूर्वत्र खकार-गकार-ककाराणां वर्गद्वितीय-तृतीयप्रथमानामसकृदानन्तर्यात्, परत्र च दकार-तकार-दकाराणां वर्गतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसकृदानन्तर्यादधिकश्रव्यत्वम् ।

जैसे—'खग ' कल' ' ' इत्यादि और 'इति वदति दिवा ...' इत्यादि मूल लिखित वाक्यों में । यहाँ प्रथम वाक्य में ख-ग-क' रूप वर्ग के द्वितीय-तृतीय और प्रथम अक्षरों का अनेक बार सहप्रयोग है, एवं द्वितीय वाक्य में 'द-त-द' रूप वर्ग से तृतीय-प्रथम और फिर तृतीय का अनेक बार सहप्रयोग हुआ है ।

वर्गपञ्चमवर्णानन्तर्यविषये विशेषमाह—

पञ्चमानां मधुरत्वेन स्ववर्गानन्तर्यं न तथा ।

वर्गपञ्चकस्य ये पञ्चमा षकारादयो वर्णा, तेषां स्ववर्ग्यैः सहानन्तर्यं मधुरत्वात् तथाऽश्रव्यं न भवतीत्यर्थः ।

पाँचों वर्गों के पञ्चम अर्थात् 'जमङ्गणन' मधुर अक्षर हैं, अतः उनमें से किसी भी वर्ण का अपने-अपने वर्ग के किसी भी भिन्न अक्षर के साथ प्रयोग अश्रव्य नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—'तनुते तनुतां तनी ।'

अत्र नकारस्य तकारेण सहासकृदानन्तर्यं नैवाश्रव्यं मधुरत्वात् ।

जैसे—'तनुते तनुतां तनी' अर्थात् 'शरीर में दृशता का विस्तार करता है' इस वाक्य में नकार का तकार के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, किन्तु भी अश्रव्यता नहीं हुई ।

विरोधमभिदधाति—

स्थानन्तर्यं त्वन्नव्यमेव ।

वर्गपदानामपि स्थानन्तर्यमभ्यमेव, न तु मधुरम्, स्ववर्गघटकस्वान्यानन्तर्यस्यैव मधुरत्वात् ।

'जमङ्गल' इन पदम वर्गों में भी किन्ही एक ही वर्ण का साथ ही साथ धार-धार प्रयोग तो अशक्य होता ही है ।

उदाहरति—

यथा—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत् ।'

इह मन्त्रस्य मन्त्रेणैवासकृदानन्तर्यमभ्यम् ।

जैसे—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत्' अर्थात् 'मेरे मन में बड़ी व्यथा उत्पन्न हुई' इस वाक्य में मकार का प्रयोग ।

प्रागुचानामपवादनाह—

एतानि चाश्रव्यत्वानि गुरुव्यवायेनापोद्यन्ते ।

गुरुव्यवायेन गुरुवर्णव्यवधानेन । अपोद्यन्ते बाध्यन्ते ।

प्रागुचानन्त्यश्रव्यत्वानि कथितानि, तत्र सर्वत्र यदि गुरुरन्वर्णो व्यवधानं भवेत्, तदाऽश्रव्यत्वदोषस्य बाधः स्यात् ।

पूर्व में जितनी अश्रव्यतायें कही गई हैं, वे सब तब दूर हो जाती हैं, जब दो अश्रव्य व्यञ्जनों के बीच में गुरु स्वर रख दिया जाता है ।

उदाहरति—

'सद्भायतां कथद्द्वारं काके केका-कलस्वनः ।'

इह गुरुभिराकारैकाराकारैर्व्यवधानात् ककारस्यासकृत् स्थानन्तर्यमपि नाश्रव्यम् । काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, तवेत्यप्याहारः । यत्तु टीकायां सप्तम्यन्तपाठस्यैव युक्तस्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति वर्णसमुदायादस्या यमकस्य लामात् पृष्ठी-तत्पुरुषाङ्कारे तवेत्यप्याहारानपेक्षणात् ।

जैसे—'सद्भायतां कथद्द्वारं काके केकाकलस्वनः'—अर्थात् 'कौवे में मयूर-वाणी सा मधुर नगद कैसे हो' इस वाक्य में यद्यपि ककार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रव्य नहीं लगता, क्योंकि बीच-बीच में आदर आदि गुरु स्वर आ गये हैं ।

दार्ढ्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः परागृशति—

'यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मया सरागं नितरां निषेविता ।

तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो-विकृष्य मामेकरस चकार सा ॥'

सा शतशोऽनुभूता प्रसिद्धा वा, तामरसायतेक्षणा सरोजदीर्घनयना, मया, सरागं यत्रयथ नितरामत्यन्तं, यथायथा येन येन प्रकारेण, निषेविता परिचरिता भावितोपभुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा शुद्धतन्त्राङ्गणोपदेशभणितिरिव, माम्, सर्वतां सर्वेभ्यो विषयेभ्यः, विकृष्याकृष्य, एकरसं स्वमात्रसंलभचित्तं चकारेत्यर्थः ।

अत्र 'या-ता' 'या त' 'या त' इत्यंशेषु यकारस्य स्ववर्ण्येण तकारेणानन्तर्यं दीर्घा-वारगुरुव्यवधानात्नाश्रव्यम् । एवं 'मा मे' इत्यंशे स्थानन्तर्येऽपि दीर्घव्यवायादश्रव्यत्वान्नो बोध्यः ।

अथवा जैसे—'यथा यथा' इत्यादि पद्य में। इसका अर्थ है—नायक अपने मित्र से कहता है अथवा स्वयं सोचता है कि—मैंने उस कमलनयनी नायिका का प्रेमपूर्वक ज्यों-ज्यों पूर्णतया सेवन किया, त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (गुरुप्रदत्त ब्रह्मोपदेश) की तरह, सब ओर से र्खाँच कर, एक-रस कर दिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही केवल दीख पड़ता है, वैसे मुझे भी सब जगह वही नायिका दिखाई देने लगी है। यहाँ 'धा-ता-' 'धा त' 'धा त' इन अशों में थकार का स्ववर्गीय तकार के साथ अभ्यवधानेन प्रयोग, दीर्घ आकार-स्वर के मध्य में रत्न देने से अश्रव्य नहीं हुआ।

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्यवाये ।

दीर्घत्वाद् येषां गुरुत्वं, तद्व्यवधानस्येदमुदाहरणम् ।

गुरु स्वर दो प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके आगे में सयुक्त व्यञ्जन होता है। उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के नाते गुरु स्वरों के मध्य में आ जाने के कारण अश्रव्यता निवृत्त हो गई—यह दिखाया गया है।

येषां पुनर्लन्यूनामपि सयोगपरकत्वेनातिदेशिकं गुरुत्वं तद्व्यवधानमुदाहरति—

संयोगपरव्यवाये तु—

'सदा जयानुपज्ञाणा-भङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।

रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥'

सदा सततं, जयेऽनुपज्ञ सम्बन्धो येषां, यद्वा जय एवानुपज्ञ आनुपङ्गिकफलं येषां, तथाभूतानाम्, अङ्गानां गङ्गादक्षिणतटस्थदेशविशेषाणां तद्वासिना वा, सङ्गरस्थलं युद्धस्थानम्, तत्तत्तुरगताण्डवैस्तेषां तेषां तुरगाणामश्वानां ताण्डवैर्मुहुर्मण्डलाकारसञ्चारणरूपोद्धतनृत्यै रङ्गाङ्गणमिव नृत्यशालाप्रस्थलमिव आभाति शोभत इत्यर्थः ।

अत्र चतुर्थचरणे ह्रस्वस्य सयोगपरकत्वप्राप्तगुरुत्वस्यावर्णस्य व्यवाये स्वानन्तर्यं तकारस्य नाश्रव्यम् ।

अब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर आगे में सयुक्त व्यञ्जन के रहने से गुरु हो गये हैं, उनके मध्य में आ जाने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण देखिये—सदा जयानु इत्यादि। कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जय जिनका सर्वदा आनुपङ्गिक-स्वाभाविक फल रहा-अर्थात् जो सदा विजयको ही पाते रहे-कभी पराजित नहीं हुये, उन अङ्गदेश-वासियों का युद्ध-स्थल उन-उन (बिलक्षण) अशों के नृत्यों (गति-विशेषों) से नाटक-घर के प्राङ्गण सा भासित होता है। यहाँ चतुर्थ चरण में तकार का वार-वार लगातार प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं, क्योंकि सयुक्त व्यञ्जन के आगे में रहने से गुरु बना हुआ अकार बीच में आ गया है।

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु बोध्यम्—गुरुयोर्यवधायकस्तयोरेव वर्णयो-रानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमप्यदति, तेनात्र [थकारतकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि] तकारथकारानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव ।

अप्यदति वाधते । अत्र 'यथायथा' इत्यादिषु । अनपनोदितमनिरस्त विद्यमानमेवेति यावत् ।

ययोर्वर्णयोर्मध्यपाती गुरु, तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्वाश्रव्यत्वं व्यपोहति, नतु तदुत्तरस्वाभ्यापि, तस्माद्यथेत्यादिषु गुर्वाकारव्यवहितयोस्यायेति यातेति थकारतकारयोरेवानन्तर्यस्वाश्रव्यत्वव्यापोहम्, नतु तथेति तथेति तकारयकारयो रपि, ततस्तदंशेऽश्रव्यताऽस्त्येवेत्याशयः ।

यहाँ एक बात और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु स्वर

आता है, उन दोनों वर्णों के सामोप्य (एक के बाद एक की स्थिति) से उत्पन्न अश्रव्यता को ही वह गुरु दूर करता है, अतः 'यथा-यथा तामरसा .. ' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'धा-त' 'धा-त' इस अंश में जो थकार के अनन्तर तकार आया है, उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार के आने से जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, वह वनी ही रही-उसकी निवृत्ति नहीं हुई, क्योंकि उसके मध्य में कोई गुरु स्वर नहीं, अपि तु ह्रस्व अकार है।

अभ्रव्यान्तर वदति—

एवं श्यादीनां संयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्यः ।

एवमुक्तत्पलत्र च्यादीनां त्रिप्रवृत्तानां (त्रयाणां चतुर्णां वा) वर्णानां, संयोगोऽपि प्रायेण बहुधाऽश्रव्यो भवतीत्यर्थः । प्रायेणेति क्वचित् श्यादिसंयोगस्याप्यश्रव्यत्वं सूचयति ।

इसी प्रकार तीन अथवा तीन से भी अधिक वर्णों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है। यहां प्राय-पद इम बात को सूचित करना है कि कहीं-कहीं तीन-चार वर्णों का संयोग भी अश्रव्य नहीं होता।

उदाहरन्नुपसंहरति—

'राष्ट्रे तवोद्बृथः परितश्चरन्ति' इत्येवमादयः श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनुभवानुसारेण बोध्याः ।

श्रुतिकाटवं श्रुतिकटुत्वम् ।

राष्ट्र इत्यत्र पकार-टकार-रेफाणां त्रयाणाम् उद्बृथ इत्यत्र च वकाररहितानां तेषां चतुर्णां संयोगः । अन्येऽपि श्रुतिकटुत्वप्रकारा एवमूहनीया इति सारम् ।

जैसे—'राष्ट्रे तवोद्बृथः परितश्चरन्ति'—अर्थात् 'तेरे राष्ट्र में उदरियां चारो ओर चरती—फिरती हैं' इस वाक्य में एक जगह पकार-टकार-रेफों का और दूसरी जगह पकार-टकार-रेफ-यकारों का संयोग है। इसी प्रकार श्रुति-कटुता के अन्य अन्य भेदों को भी अनुभव के अनुसार समझ लेना चाहिये।

पुनरश्रव्यान्तरभावधे—

अथ दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य भिन्नपदगतस्य सकृदित्यश्रव्यम्, असकृत् तु सुतराम् ।

पृथक् पदपदकत्वस्य संयोगस्य सकृदपि दीर्घादव्यवहितोत्तरत्वमश्रव्यमभवति, असकृत् पुनः सुतरामश्रव्यं भवतीत्यर्थः ।

पूर्व पद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक अश्रव्य होता है। यहां एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि-यह दोष संस्कृत में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि वहां भिन्न पद में संयोग के रहने पर भी पूर्व-पद के स्वर का गुरु जैसा उच्चारण करने की रीति प्रायः नहीं है।

उदाहरति—

'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते ।

सेवितं सर्वसम्पद्धि-रपि तद्भवनं वनम् ॥'

यत्र भवने, हरिणीप्रेक्षणा गृहीविलोकना, गृहिणी, न विलोक्यते, सर्वसम्पद्धि-सेवित-मपि तद्भवनं वनमित्यर्थः । अत्र हरिणीपदपदकदीर्घकारानन्तर्यं प्रेक्षणापदावयवस्य प्रेति-संयोगस्य सकृदित्यश्रव्यम् । समारादिद्वैकपदत्वेऽपि भिन्नपदत्वं प्राण्यजुक्तस्याऽवलेप्यम् । ईशान्वधव्यत्यं पण्डितराजस्यापि पद्येण—'प्रकृतिव्या-प्रपन्न' 'रम्या स्फुरति बहुविधा' 'आप्रयागान्' इत्यादिषु बहुश उपलभ्यते । असकृदीर्घाव्यवहितोत्तरसंयोगोदाहरणं मृग्यम् ।

जैसे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र' इत्यादि। अर्थात्—जहाँ गृही स्त्री चपल और विशाल नयनों वाली गृहिणी (घर की मालिकिन) दृष्टि-गोचर नहीं होती, वह गृह स्व सम्पत्तियों से भरा पूरा होने पर भी वन है—निर्जन वन के एकान्त वास जैसा ही वहाँ का वास मन-हूस होता है। यहाँ पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है।

अभिन्नपदकत्वे दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य नाश्रव्यमित्याह—

एकपदगतस्य तु तथा नाश्रव्यम् ।

किञ्चिदश्रव्यं तु भवत्येवेति तथा शब्देन सूच्यते ।

यदि दीर्घस्वर और उसके भागे का संयोग एक ही पद में हों, तब वैसी अश्रव्यता नहीं होती।

उदाहरति—

यथा—'जाग्रता विचितः पन्थाः, शात्रवाणां वृथोद्यमः ।'

वृथा व्यर्थ उद्यमो यत्र, तादृश शात्रवाणां शत्रूणां पन्थाः, मया जाग्रता विचितोऽन्विष्ट इत्यर्थः । इह जाग्रतेत्येकपदघटकत्वे दीर्घानन्तर्यं प्रेतिसंयोगस्य तु तथा नाश्रव्यम् ।

जैसे—'जाग्रता' इत्यादि—अर्थात्—व्यर्थ उद्योग वाले शत्रुओं के मार्ग को मैंने सावधानतापूर्वक खोज निकाला। यहाँ 'जाग्रता' इस एक पद में 'जा' के आगे 'य-र' का संयोग उतना अश्रव्य नहीं होता।

संयोगान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु संयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावात्पर-त्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम् ।

परसवर्णनिष्पन्नो हि संयोग पूर्वपदावयवत्वान् सर्वथा भिन्नपदघटक एकपदाघटको न, मधुरं सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीर्घानन्तर्यं नैपदप्यश्रव्यं भवतीत्यर्थः ।

पर-सवर्ण से बने हुए संयोग का दीर्घ स्वरके अनन्तर विद्यमान होना, नाम मात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह संयोग सर्वथा भिन्न पद-गत नहीं होता और मधुर भी होता है।

उदाहरति—

यथा—'तान्तमालतरुन्नान्ति-' इत्यादिपद्ये ।

पूर्वमुदाहृते ।

जैसे—'तान्तमारु-न्त-कान्ति लङ्घिनीन्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में।

इह 'तान्ते'ति 'नीङ्कि'मिति संयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावात् अश्रव्यमित्याह—
अत्र 'ता'मित्यत्र 'नी'मित्यत्र च परसवर्णस्य पूर्वपदभक्ततया न संयोगो भिन्नपदगतः ।

अक्षरत्वसवयवत्वम् ।

उक्त श्लोक के 'तान्त और नीङ्कि' इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्व-पद का अङ्ग है, अतः यह संयोग भिन्न-पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता।

ननु 'ह्रस्वोऽनन्तरा संयोग' इति सूत्रभाष्ये प्रत्येक ह्रस्वर्णांसा संयोगसंज्ञाया अपि व्यवस्थापना-सत्पक्षे 'तान्ते'त्यादौ संयोगस्य भिन्नपदघटकत्वमस्म्येवेति चेत्, उच्यते—
तथासति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वाभावात् तेन व्यवहितस्य संयोगस्य न दीर्घाव्यवहित-परत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येक संयोगसंज्ञेति पक्षेऽपि भिन्नपदगतः संयोगो न दीर्घाव्यवहितपरः ।

यदि आप कहें कि व्याकरण-भाष्य के कर्ता पतञ्जलि ने 'प्रत्येक संयोगसंज्ञा'—अर्थात्

'संयुक्त व्यञ्जनो मं प्रत्येक व्यञ्जन को पृथक्-पृथक् संयोग कहना चाहिये' यह पक्ष भी माना है, तदनुसार तो उक्त स्थल में 'न' और 'त' आदि दोनों अलग-अलग संयोग कहे जायेंगे, फिर 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत कहलायगा, इसका उत्तर यह है कि उक्त रीति से 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत भवश्य हुआ, परन्तु वह दीर्घ स्वर से अभ्यवहित अग्रिम वर्ण ही नहीं हुआ, क्योंकि मध्य में 'नकार' व्यवहित है। सारांश यह भिन्न हुआ कि समुदाय को संयोगपदक मानिये, चाहे प्रत्येक को, यहां अश्रव्यता नहीं हो सकती।

नन्वेवमपि 'नव-अभ्युद-' इत्यत्र दीर्घादेशस्य पूर्वापरपदद्वयव्यवहारे निर्णयिते, परपदगतस्य 'भ्यु'इति संयोगस्य, पूर्वपदावयवदीर्घाकारादानन्तर्यं भिन्नपदपदकत्वं चास्त्ये-वेत्वध्रव्यत्वं दुष्परिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्यैकपदाघटकत्वपरत्वात्, प्रकृतेर्दीर्घादेशस्य पूर्वपदस्याभ्यनयवन्नेन संयोगघटितपरपदघटकत्वादेकपदाघटकत्वस्या-भावात्त दोष इत्याह—

'नत्राभ्युदे-' इत्यत्र त्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाङ्गिन्नपदगतत्वे सत्य-व्यवहितोत्तरत्वं यद्यपि परस्परर्णकृतसंयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्व-मेकपदगतभिन्नत्वं विवक्षितमित्यदोषः ।

इमी श्लोक के 'नवाभ्युद' पद में 'नव' शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' और 'अभ्युद' शब्द के आदि स्वर 'ज' के स्थान में जो 'आ' दीर्घ हुआ है, वह व्याकरण के नियमानुसार एका-देना है, अतः वह व्याकरण के 'अन्तादिबच्च' सूत्र के बल से दोनों पदों का अवयव माना जाता है, इसलिये जब वह पूर्व पद का अवयव माना जायगा, तब 'भ्यु' में जो संयोग है, वह यद्यपि भिन्न-पद-गत है, दीर्घ से आगे है, तथा उसके बीच में कोई अवधान भी नहीं है, अतः एव यहां अधव्यता दोष हो सकता था। तथापि यहां 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं होता। सारांश यह है कि 'नव' और 'अभ्युद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समास हो जाने के कारण 'नवाभ्युद' रूप एक पद हो गया है, अतः अधव्यता का अवसर नहीं रहा।

इत्थं दीर्घादनन्तरस्य परमवर्णानिष्पन्नस्य भिन्नपदघटकस्य संयोगस्य सकृदपि प्रयोगेऽ-श्रव्यत्वं चेत्, तदा किमुतामकृत्ययोग इत्याशयानि—

असकृत्तु सुतराम् ।

अश्रव्यत्वमिति शेषः ।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तब और अधिक कर्णकट्ट हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला' ।

इह 'प्रिति' 'प्रिति' संयोगयोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तर्यात् दोषः ।

जैसे—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला'—अर्थात्—'यह मेरी प्रियसी लज्जा से व्याकुल होकर कहां गई' इत वाक्य में। यहां उक्त प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् 'प्र' और 'त्र' इन दो स्थानों पर है।

नन्वेवनाश्रव्यत्वेन काव्यस्य का सतिरित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पङ्क्त्यामिव प्रतीयते ।

पङ्क्तं खप्रता ।

पङ्क्तं शरीरस्येवाश्रव्यत्वं काव्यस्यापरुर्धकमित्येव शक्तिरित्याशयः ।

उक्त अधव्यतायें काव्यकी पङ्क्ता (लक्ष्मण) जैसी लगती है—अर्थात् इन अधव्य-

ताओं के कारण काव्य की सरस धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अतः इनका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

अध्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरणं सकृदप्यध्रव्यम् ।

स्वेच्छयेत्यनेन प्रकृतिभावव्यवच्छेदः । सन्धि सन्धिकार्यं यणादि ।

सूत्रापेक्षया सकृदपि यदि सन्धिकार्यं न कियेत, तदप्यध्रव्यं स्यादित्यर्थः ।

अथ सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिये। अपनी इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से) एक वार भी सन्धि का नहीं करना अध्रव्य होता है।

उदाहरति—

यथा—‘रम्याणि इन्दुमुखि । ते किलकिञ्चितानि ।’

किलकिञ्चितं ‘स्मितशुष्करदित-हसित-त्रास-श्लेष-श्रमादीनाम् । साङ्कर्यं किलकिञ्चित-मभीष्टतमसङ्गमादिजाद्वयात् ।’ इत्युत्कलक्षणम् । अत्रेकारद्वयस्य सूत्रप्राप्तोऽपि सवर्णदीर्घ उपेक्षित इत्यध्रव्यता ।

जैसे—‘रम्याणि’ इत्यादि-अर्थात् ‘हे चन्द्रवदने ! सुहारे ये किलकिञ्चिन (अभीष्ट जन के संगम आदि हेतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषत्-हास्य, शुष्क-रोदन, श्लेष, भय और श्रम आदि भावों का मिश्रण) वैसे रमणीय है’। यहाँ ‘रम्याणि’ पद का अन्तिम और ‘इन्दुमुखि’ पद का आदिम इकार का ऐन्द्रिक सन्धि-विरह अध्रव्य है।

प्रगृह्यसंज्ञया प्रकृतिभावे सकृत् सन्धिकार्यकरणे नाध्रव्यत्वम्, अराकृत्वध्रव्यत्वमेवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्यसकृदेव ।

सकृत् सन्ध्यकरणस्य दुष्टत्वे तु विधायकशाल्पवैयर्थ्यं प्रसज्येत ।

प्रगृह्यसंज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह चार-बार आवे, तभी अध्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं।

उदाहरति—

‘अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः’ ।

अत्र द्विरवादेशदीर्घरूपसन्धिकार्यकरणं प्रगृह्यसंज्ञाप्रकृतिभाषप्रयुक्तमित्यध्रव्यता ।

जैसे—‘अहो अमी’ इत्यादि-अर्थात् ‘चन्द्रमुखी नाविका के ये विलास आश्चर्य-जनक हैं’। यहाँ जो + अ और ई + इ में।

एव ‘लोप शाकश्यस्य’ इति सूत्रेण य-वयोर्लोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विरलेपरूप सन्धिकार्याननुष्ठानमप्यध्रव्यमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम् ।

उदाहरति—

‘अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः’ ।

अत्रासकृद्यलोपस्यासिद्धत्वाद्गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्याननुष्ठानादध्रव्यत्वम् । वस्तुतस्त्वत्र सन्धिविरलेपतादोषः । ‘इषव’ इत्यत्र ‘इष त’ इति पाठान्तरम् ।

इसी तरह ‘य’ और ‘व’ के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह भी यदि चार-बार आवे तो कर्णकटु प्रतीत होती है, जैसे—‘अपर इषव’ ‘’ इत्यादि—अर्थात् ‘कामिनीयों के ये कटाक्ष दूसरे बाण हैं’ यहाँ अ + इ और अ + ए में।

स्वीयत्वव्य एतदोपमाशङ्क्य परिहरति—

कथं तर्हि—

चाट्टकारो वृषमान्द्ये—

‘भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरण ! ।

तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥’

इति भवदीयं काव्यमिति चेद्, अकृत्वैव यलोपं पाठान्न दोषः ।

हे श्रवणीरण ! भूयते ! भवतो मन्त्रिणोऽनात्या, गरुडदेवताका गारुड मन्त्रा इव भुजगाना सर्पाणा निवारकत्वादहिता प्रकृतिः स्वभावो येषा तादृशा, पक्षे भुजगाना विद्यानां निरोधकत्वादहिता प्रकृतियेषा, यदा—भुजगाहिता अधिष्ठिता. प्रकृतयः प्रजा, यैस्तादृशा सन्ति । तथा तारा उडव इव, तुरगा अश्वा इव च, शोभने खे नभसि लीना, पक्षे सुष्ठु खलीनं कविना येषा तादृशा, मन्त्रपक्षे सुखे सौख्ये लीनानि मग्ना सन्तीति श्लोकार्थं ।

इह दोषमिम जानताऽपि भवता स्नकाव्ये ‘मन्त्रा इव’ ‘तारा इव’ ‘तुरगा इव’ इत्यत्र त्रिव्यलोपप्रयुक्तो विरलेप. क्यं कृत इति शङ्काया -यलोपस्य वैकल्पिकत्वेन मन्त्रा यिवेत्यादि यशरपटितपाठे विश्लेषविरहात्त दोष इति समाधानम् ।

उक्त प्रसङ्ग पर यदि कोई पूछे कि—‘भुजगाहित’...’ इत्यादि काव्य, जिसका अर्थ है—हे राजन्, आपके मन्त्री गारुड मन्त्रों की तरह, ‘भुजगाहित-प्रकृति’ हैं—अर्थात् गारुड मन्त्रों के स्वभाव जैसे भुजगों-सर्पों के लिये अहित होते हैं, जैसे भुजगों-भूतों के लिये मन्त्रियों के स्वभाव अहित हैं, अथवा भुजगों-बाहुओं से गहित-अधिष्ठित प्रकृति-प्रजाजन वाले हैं और आपके मन्त्री तारे तथा घोड़ों के जैसे सुखलीन हैं—अर्थात् तारे सु-सुन्दर स्व-आकाश में लीन हैं, घोड़े सु-सुन्दर सलीन-लगाम वाले हैं और मन्त्री सुख-आनन्द में लीन-मग्न हैं—कैसे बना ढाला आप ने-यहा तो यलोप-प्रयुक्त सन्धिक्का अभाव बार-बार हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि यकार का लोप न करके पढ़ने से दोष नहीं होगा, अर्थात्—‘मन्त्रा यिवा’ ‘तारा यिव’ ‘तुरगा यिव’ इसी प्रकार पढ़ना चाहिये ।

अभव्यान्तराणि सङ्गह्य वक्ति—

एवं रोरुत्स्य, इति लोपस्य, यण्-गुणवृद्धि-सवर्णदीर्घ-पूर्वरूपादीनां नैकट्येन बाहुल्यमश्रव्यताहेतुः ।

इत्थं ‘वीरो वरो नरो याति’ इत्यादौ रोरुत्स्य, ‘इमा निशा गता व्यर्थम्’ इत्यादौ हलि यलोपस्य, ‘सर्वैर्यदिप्रदमेव्य’ इत्यादौ यण, ‘रमेशोमेरालोकेरा’ इत्यादौ गुणस्य, ‘प्रौढ-सूर्योद्यतो श्रौजा’ इत्यादौ वृद्धे, ‘अयाक्षीन्द्रविधूद्य’ इत्यादौ सवर्णदीर्घस्य, परत्र पूर्वरूप-पररूपप्रभृतीनां निकटतया प्रयोगप्राचुर्यमश्रव्यताया कारणमित्यर्थः । एतान्येव सुभादत-विसर्गतादिदोषरूपेणान्यत्र निरूपितानि ।

इसी प्रकार ‘र’ के ‘उ’, हलपर रहते ‘य’ के लोप, यण्, गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्वरूपादिकों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता का कारण होता है ।

उपसंहृति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः ।

इत्यमिने प्रागुक्ता सर्वेऽपि वर्णस्वानन्तर्षप्रभृतयोऽश्रव्यत्वदोषप्रकारा काव्यसामान्ये, न तु श्रुतिकटुत्वादिवत् काव्यविशेष एव, वर्जनीया नित्यदोषत्वात् परिहरणीया इत्यर्थः ।

इदमिहावगन्तव्यम्—श्रुतिकटुत्व कठोरवर्णपटितत्वेन श्रवणोद्देजरूप्य मधुररसप्रतिकूल-मोजस्तिरसायुकूलमित्यनित्यदोष काव्यविशेष एव परिहारमर्हति । अश्रव्यत्वं त्वनेकविषं कोमलवर्णघटितत्वेनापि, वर्णत्वानन्तर्यादिमूलकं धवणानर्हत्वस्य सर्वरसप्रतिकूलतया निरव-दोषता विश्रुत् काव्यसामान्ये परिहरणीयमित्युक्तव्यं ज्ञातव्यम् ।

ये ऊपर कहे गये अश्रव्यों के सभी भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं, चाहे किसी रस का वर्णन हो, इन अश्रव्यताओं का परिहार करना ही समुचित है। यहाँ यह विशेष समझना चाहिये कि 'श्रुतिकटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष हैं, एक नहीं, क्योंकि 'श्रुतिकटुत्व' का अर्थ है 'कटोर-वर्ण-युक्त रचना का कान में उद्देश्य पैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रति कूल और भोजस्वी रसों का अनुकूल है, अतः अनित्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस वाले काव्य) में ही त्याज्य है। परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कोमल वर्णों से ही क्यों न बनी हो' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल ही है, अतएव नित्य है और सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है।

अथ रसविशेषानुसारं काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वदन्ते, त एतौ जस्वियन्नुकूला, ये चानुकूलतयोक्ता, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः।

तत्र तेषां मध्ये। मधुररसेषु मारुर्ग्युणाधयेषु शृङ्गार-कहण-शान्तरसेषु। अनुपदं दीर्घसमासमित्यादिना वदन्ते। श्रोजस्विष्वो जोगुणाधयेषु चोर-चोमत्स-रौद्ररसेषु। अनुकूला तपकारकत्वादवर्जनीया। अनुकूलतयोक्ता मधुररसेष्विति शेष, टवर्गवर्जितेत्यादिना पूर्वं कथिता। प्रतिकूला विरोधिन श्रोजस्विरसेष्विति शेषः।

मधुररसापकारका श्रोजस्विरसोपकारका, श्रोजस्विरगापकारकाश्च मधुररसोपकारका भवन्तीति साधारणतया निर्णयोऽस्तीत्यर्थः।

अथ विशेषतया वर्जनीयो (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में ही त्याज्य हैं, सब काव्यों में नहीं) का निरूपण किया जाता है। उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रूप से निषिद्ध हैं और जिनका प्रतिपादक सभी किया जायगा, वे भोजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—अर्थात् वहाँ उनका रहना उचित ही नहीं आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों के अनुकूल कहे गये हैं, वे भोजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उन दोषों से उन रसों को बचना चाहिये। यह एक साधारण नियम है।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् गणयन्नादावसकृतप्रयोग एव दूषकान् ब्रवीति—

मधुररसेषु दीर्घसमासं ऋयघटितसंयोगपरह्रस्वस्य, विसर्जनीयादेशसकार-जिह्वामूलीयो-पश्माणीयानां टवर्ग-ऋया, रेफ-हकारान्यत्तरघटितसंयोगस्य, ह्ला ल-म-न-भिन्नानां स्यात्मना मंयोगस्य, ऋषुद्वयघटितसंयोगस्य चासकृत प्रयोगं नैकत्वेन वर्जयेत्।

मधुरेषु, न त्वौजस्विषु रसेषु व्यङ्ग्येषु दीर्घसमासं ऋयादिशब्दप्रतिपाद्यानां नैकत्वेनासकृतप्रयोगं च वर्जयेदित्यन्वयः। पञ्चमवर्णातिरिक्ता वर्गपदसंघटका त्रिंशतिवर्णां ऋयसंज्ञका, तद्वद्वित संयोग परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो विसर्गस्तत्स्थानिकादेशभूत-सकारस्य, अचरपरस्य काक्षभ्या पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्यविसर्जनीयादेशस्य जिह्वामूलीयस्य, अचरपरस्य पफाभ्या पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्योपश्मानायस्य च विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, ऋय (असयुक्तस्य), रेफहकारयोरेन्यनरेण घटितस्य संयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्तानां ह्ला व्यञ्जनवर्णानां स्तामना घटितस्य मंयोगस्य च नैकत्वेनासकृत प्रयोगं दीर्घसमासं च वर्जयेदित्यर्थः।

अथ मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाते हैं—'मधुर' इत्यादि। लभ्ये समास, तिनके आगे ऋय प्रत्याहार के वर्णों अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के संयोग हैं—पेमे ह्रस्वस्वर, त्रिमार्ग, विमार्ग के स्थान में आदेश-द्वारा आये

हुये सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार-द्वारा बने हुये संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के उन्हीं के साथ संयोग—अर्थात् उनके द्वित्व और वर्णों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन सबों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये ।

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो यदौर्वर्जनीयौ, तावाह—

सवर्णभ्रूयद्व्यघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपीति संक्षेपः ।

सवर्ण प्राप्तसवर्णमञ्जाकं यज्जन्प्रत्याहारघटकं वर्णद्वयं तेन घटितस्य संयोगस्य तथा शर्भिन्नैः शपनातिरिचैर्महाप्राणप्रयत्नवद्विर्वर्णपञ्चकपटकद्वितीयचतुर्वर्णघटितस्य संयोगस्य नैकद्वयेन, सकृदपि किमुतासकृत्, प्रयोग मधुररसेषु वर्जयेदित्यर्थः ।

सवर्ण—अर्थात् जिनके स्थान एव प्रथम एक से हों—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों से बने हुये संयोग और श-प-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुये संयोग का एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये । यह लक्षेपतः मधुर-रसों में वर्जनीयों का विवरण दिया गया है ।

अथ वर्जनीयानुदाहरणद्वेषकमेण प्रथमं दीर्घसमासमुदाहरति—

दीर्घसमासो यथा—

अभिसारिका वर्णवति—

‘लोलालकावलि-यलभयनारविन्द-

लीलावराञ्चदितलोकविलोचनायाः ।

सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-

श्रेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥’

लोलया गतिवशाच्चपलाया अलङ्कारलेखूर्णकुन्तलश्रेण्या, यलतोरशङ्कया चञ्चलीभयतो-र्नयनारविन्दयोश्च लीलया विलासिन, यद्वा लोलालकावल्या वलतो संसृज्यमानयोर्नयनारविन्दयोर्लीलाया, वराञ्चैन्दितानि स्वाधीनीकृतानि लोकाना दर्शकयुवजनाना विलोचनानि यथा, तादरया, प्रणयिनो बह्वभस्य भवनं सायाहनि सायंसन्ध्यासमये व्रजन्त्या, अङ्गनाया चरवर्णिन्या, गति, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वार्धे दीर्घसमासस्य प्रयोग शृङ्गाररसप्रतिकूलत्वाद्बर्जनीयः ।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिये । उन्ध्या समास जैसे—‘लोलालका’ ..’ इत्यादि । अभिसारिका का वर्णन है कि—चञ्चल केश-रूपाळ और चपल नेत्र-कमलों की लीला से दर्शक जन के नयनों को पशीभूत कर लेने वाली, साथ समय में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की चाल किसका चित्त नहीं चुराती ? इस श्लोक में शृङ्गार-रस के प्रतिकूल लम्बा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है ।

द्वितीयमुदाहरति—

भ्रूयघटितसंयोगपर-ह्रस्वानां प्राचुर्यं नैकद्वयेन यथा—

कलनावनं विलोक्यन् कोऽपि विस्मरति—

‘हीर-स्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च,

सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः ।

वेधा विधाथ पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं,

दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥’

हीरा वज्रमणय इव शुक्लतया स्फुरन्त शोभमाना ये रदना दन्तास्तेषां शुभ्रिण्या स्वच्छतया, शोभि शोभनशीलम्, किञ्च सान्द्रं धनममृत (मण्डलेऽधरे च) यत्र तादृशम्, एणविलोचनाया मृगनयनाया, चदन मुख, विधाय विरचय्य, विदुषा वरेण्य श्रेयान्, (न त्वनभिज्ञ) वेधा व्रद्धा, पुनरुक्तानिव पुनरुच्चारितपदमिव निष्प्रयोजनं, चन्द्रविम्बमिन्दु-मण्डलं, कथं न दूरीकरोति कुत्रो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यत्र नयत्रका दूरीकरोत्येवेत्यर्थः ।

जिनके आगे क्षय प्रत्याहार के वर्णों के संयोग हों—ऐसे इस्व स्वरों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग, जैसे—'हरि-रुद्र-रन ' ' हृत्वादि । नायिका के मुख को देखाता हुआ कोई अपने मन में सोचता है कि—हीरों के समान चमकते हुये दांतों की स्वच्छता से शोभित और सघन अमृत (अधर-विम्ब-रस) से युक्त मृग-नयनी नायिका के मुख को बनाकर विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता पुनरुक्त के समान (निरर्थक) चन्द्र-विम्ब को क्यों नहीं हटा देता—अब भी गगन में उसे क्यों उगा रखा है ?

उपपादयति—

अत्र भ्रशब्दपर्यन्तं शृङ्गारानुगुणम्, शिष्टन्तु रमणीयम् । उत्तरार्धे ककार-तकाररूपकयद्वयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावात् दोषः । यदि तु 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रामृतम्' इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम् ।

इह क्रमेण फ-द-भ-रूपकमात्रभयूपदितात् 'स्फु-द्र-त्रि-'रूपसंयोगत्रयात् पूर्ववर्तिना मकारयोस्कारस्य च ह्रस्वाना प्राचुर्यं शृङ्गाररसस्यनुपपन्नकम् । शिष्टं तदतिरिक्तं तु दोषराहित्यात् सुन्दरम् । उत्तरार्धे चंतिरुकारतकारयो संयोग सन्नपि प्राचुर्यनिरहात् दूषकः । यदि तु प्रथमचरणे 'दन्तानामशुभि किरणै कान्त मनोहरम्, अरविन्दस्य पत्रस्य रमाया श्रियोऽपहारि' इत्यर्थकं दन्तेत्यादिपाठान्तरं क्रियते, तर्हि तादृशसंयोगपरह्रस्वाभावात् सर्वमेव सुन्दरमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त पद्य में 'त्रि' शब्द पर्यन्त की रचना शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है, क्योंकि यहा कम से 'क-द-भ' रूप क्षय से बने हुये 'स्फु-द्र-त्रि' रूप संयोग से पूर्व में स्थित अकार-द्वय तथा एक उकार रूप स्वरों की अधिकता समीप-समीप में है । अवशिष्ट अश इस पद्य का सुन्दर है—शृङ्गार के अनुकूल है । यद्यपि उत्तरार्ध में 'पुनरुक्त' पद में ककार और तकार का संयोग है तथापि ऐसे संयोगों की अधिकता नहीं रहने के कारण दोष रूप वह नहीं होता और यदि इसी पद्य के प्रथम चरण को 'दन्तांशुकान्त' इत्यादि मूलोक्त रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब सम्पूर्ण पद्य निर्दोष रमणीय हो जा सकता है । परिवर्तित पाठ का अर्थ यह होगा कि—'दांतों की किरणों से मनोहर और कमल की शोभा को चुराने वाला' (मुख) ।

तृतीयमुदाहरति—

विसर्गप्राचुर्यं यथा—

इहोदाहरणानुरोधाद् विसर्गपदं तत्स्थानिकयो सकारध्रुत्वनिष्पन्नशकारदेशयोर्नोपक्रम् ।

विसर्गो—अर्थात् विसर्ग के स्थान में आदिष्ट हुये 'स' और 'श' की अधिकता जैसे—
नायको विभाषयति—

'सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुराशीलशीतलाः ।

हरन्ति हृदयं हन्त ! कान्तायास्स्यान्तवृत्तयः ॥'

अनुरागेण सहिता सानुरागा, अनुकम्पया कृपया समेता सानुकम्पा, चतुरा पर-यशीकरणकुशल, शीलेन विनयार्जवादिसद्वृत्तनेन शीतला योषाद्यौग्यरहिता सन्तापहारका या, कान्ताया स्वान्तवृत्तयो मनोव्यापारा, हन्त यत ! मे हृदय हरन्ति यशीकुर्वन्तीत्यर्थः ।

नायक सोचना है कि—सुन्दरियों की प्रेम से युक्त और दया से मृदुल तथा चतुर और विनय आदि अच्छे आचरणों से शीतल चित्तवृत्तियां, हाय ! हृदय को हरण किये लेती हैं ।

उपपादयति—

अत्र शकारद्वयसंयोगान्तं पूर्वार्धं माधुर्यान्ननुगुणम् ।

इह विसर्गस्थानिकमकारस्य, तत्स्थानिकरुकारस्य, शकारद्वयसंयोगस्य च 'रशी'ति पर्यन्तं पूर्वार्धं प्राचुर्यमोज्ज्वलितरसानुकूलत्वान्मधुररसप्रतिकूलमिति वर्जनीयम् । किञ्चदन्त्यांशविकले पूर्वार्धे प्रयुक्तं पूर्वार्धशब्दोऽवयवे, माधुर्यशब्दश्च तदाप्रथमेषु लाक्षणिकः ।

पूर्व पद्य में दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुर-रस के प्रतिहृल है ।

विसर्जनीयादेशजिह्वामूलीयप्राचुर्यमुदाहरति—

जिह्वामूलीयप्राचुर्यं यथा—

जिह्वामूलीय की अधिकता, जैसे:—

विशोभिनी सखी वृते—

‘कलितकुलिशयाताःकेऽपि खेलन्ति वाताः-
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे ।
अयमपि बत ! गुञ्जन्नलि ! माकन्दमौली,
चुलुक्यति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः ॥’

हे झालि ! कथय, यत कलित कृत कुलिशस्य वज्रस्य घात इव घातो धैस्ते सद्यः-
प्राणहारका, केऽपि विशेषण वर्णयितुमशक्या, वाता मलयानिला, खेलन्ति लतामि
क्रीडन्त इव वहन्ति । अपि च-अयं पुर'स्य, माकन्दमौली रसालशिखरे, गुञ्जन् निस्वतन्,
बधरीको मञ्जुकर, मदीयां चेतनां सखा बत । चुलुक्यति चुलुक्यसलिलमिव निरशोपी-
करोति, तस्मान्मे मम जीविते जीवने, कुशलं कल्याणं कथमिह वा जायताम्, न कथमपीत्यर्थः ।

विरहिणी नायिका सखी से कहती है—वज्र के समान आपात करने वाले न जाने
कौन से वायु (मलयानिल) खेल रहे हैं—लताओं के साथ खेलते से बहरहे हैं, फिर,
भला ! मेरे जीवन में कल्याण कैसे उत्पन्न हो सकता और हे सखि ! सबसे बड़ी खेद की
यात तो यह है कि धाम के शिखरों पर गुँजता हुआ यह भ्रमर भी मेरी चेतना (ज्ञान-
शक्ति) को चुलुक्य किये जा रहा है—नष्ट करता जा रहा है ।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयजिह्वामूलीयपर्यन्तमननुगुणं माधुर्यस्य । यदि च—‘कथय कथ-
मिवाशा जायतां जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः ।’ इति
विधीयते, तदा नायं दोषः ।

इह प्रथमचरणे जिह्वामूलीयस्य द्विधातस्य प्राचुर्यं शब्दारस्य प्रतिकूलत्वाद्दर्जनीयम् ।
मलयाचलस्यसर्पमुखनिस्सृता विरहिणामन्तका वाता वान्तोत्यर्थकपाठान्तरचरणे तु जिह्वा-
मूलीयामावाहोपामावः । वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वाच्च नाश्लीलता ।

उक्त श्लोक में द्वितीय जिह्वामूलीय पर्यन्त का भाग माधुर्य के अनुकूल नहीं है । यदि
यहां पर 'कथय कथमिवाशा'..... इत्यादि मूलोक्त के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को
परिवर्तित कर दिया जाय, तब यह दोष नहीं रहता । परिवर्तित पाठ का अर्थ (जो पूर्व
पाठ में नहीं था) यह होगा कि 'मलयाचल पर रहने वाले सर्पों से वात (उनके मुख से
निकले हुए) विरहिणियों के लिये कृतान्तरूप वायु कहते हैं' ।

त्रिसर्गस्थानिकोपध्मानीयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपध्मानीयप्राचुर्यं यथा—

उपध्मानीयों की अधिकता, जैसे—

निर्विण्णः परामृशति—

‘अलकाऽफणिशावतुल्यशीला-नयनान्ताऽपरिपुङ्खितेषु लीलाः ।

चपलोपमिता खलु स्वयं या, वत । लोके सुखसाधनं कथं सा ॥’

यस्याः स्त्रिया अलकाधूर्णकुन्तला फणिशावतुल्यशीला सर्पशिशुसदृशकुटिलस्वभावाः सन्ति, तथा यस्याः नयनान्ता कटाक्षा परिपुङ्खितेषुणामारोपितपक्ष-वाणाना लीला इव लीला येषा तादृशास्तीक्ष्णतमाः सन्ति, किञ्च या स्वयं खलु चपलया विद्युल्लतयोपमिताऽति-चञ्चलाऽस्ति, सा स्त्री, लोके कथं वत । सुखस्य सौख्यस्य साधन सम्पादिका स्यादित्यर्थः ।

कोई दुःखी जन अपने मन में सोचता है कि—जिसके केश सर्प के बच्चों के सुन्दर स्वभाव वाले हैं, जिसके कटाक्ष पक्षु बाले वाणों की सी लीला दिखलाने वाले हैं और जो स्वयं विद्युल्लता सरीसृपी है, वह (स्त्री) ससार में सुख का साधन कैसे हो सकती ?

उपपादयति—

अथ द्वावुपध्मानीयाधेयं न शान्तानुगुणौ ।

अत्र श्लोकेऽन्येषा शान्तरसल्लुकत्वेषु, पूर्वार्धघटकं त्रिसर्गस्थानिकोपध्मानीयद्वयं केवलं माधुर्यापकर्षकत्वाच्छान्तरसस्य प्रस्तुतस्य प्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयमित्याशयः ।

जिहामूलीयोपध्मानीयोदाहरणयोः ‘कुण्डोऽकऽपौ च’ इति सूत्रस्य वैकल्पिकतदादेश-विधायकत्वेन त्रिसर्गस्थितौ नाय दोषः सम्भवतीति विभावनीयम् ।

उक्त श्लोक में और सब शान्त रस के अनुकूल हैं, परन्तु दोनों उपध्मानीय केवल उस (शान्त रस) के अनुकूल नहीं हैं ।

टवर्गस्य भ्रया च प्राचुर्यमुदाहरति—

टवर्ग-भ्रयां प्राचुर्यं यथा—

प्राहाणवशिष्ठन्यायेन टवर्गस्य पृथगुपादानम् ।

टवर्ग और श्रय् अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्गों की अधिकता जैसे—

न्यङ्कृतो नायको मानिनीमनुनयन्नभिदधाति—

‘वचने तव यत्र माधुरी सा, हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।

अधुना हरिणासि ! हा कथं वा, कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत् ॥’

हे हरिणासि ! यत्र तव कोमले वचने साऽनुभूतपूर्वा माधुरी, कोमले हृदि पूर्णा करुणा च मानात् पूर्वमभूत्; अधुना मानसमये, हा ! तत्र तव वचने कटुता, हृदि कठोरता च कथं वाऽऽविरासीदुदभूदित्यर्थः ।

अत्रोत्तरार्धे टकारठकारात्मकटवर्गस्य ककारधकारादीनां भ्रयां च नैक्येन प्राचुर्यं मधुरतमविप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयम् । ‘कोमले’ इत्यस्य सम्बोधनत्वापेक्षया वचन-हृदयविशेषणत्वमेवाधिक्यमत्वारकम् ।

नायक किसी नायिका से कहता है कि—हे हरिणमेत्रे ! तेरे जिस वचन में वह अनिर्वचनीय मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दयालुता थी, हाय ! आज उन्हीं दोनों (वचन और हृदय) में (क्रमशः) कटु और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई ! यहाँ उत्तरार्ध में टकार-ठकार रूप टवर्ग और ककार धकार आदि रूप श्रय् की समीप-समीप में ही अधिकता है ।

अत्रैव पाठान्तरदर्शनेन दोषं परिहरति—

‘अधुना सखि ! तत्र हा कथं वा, गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ।’ इति त्वनुगुणम् ।

इदानीं सख्या उक्तिरियम् । गुणाना मधुरत्वादीनां गतिरन्यैव विलोक्यते, तत्स्थाने कद्वत्वादीनामुपलम्भादित्यर्थकोतरार्धपाठपरिवर्तने तु उवर्गाद्यभावाद्दोषाभावात् ।

यही यदि सखी की उक्ति के रूप में ‘अधुना सखि.....’ इत्यादि मूलोक्त रीति से उत्तरार्ध को बदल दिया जाय, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुकूल हो जायगा । बदले हुये पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि—‘हे सखि ! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों दृष्टिगोचर होती है’ ।

रेफषटितसंयोगस्यप्राचुर्यमुदाहरति—

रेफषटितसंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे—

अनुपमम्मन्यामन्याऽभिवर्ते—

‘तुला मनालोक्य निजामखर्यं, गौराङ्गि ! गर्वं न कदापि कुर्याः ।

लसन्ति नानाफलभारवत्यो-लता कियत्यो गहनान्तरेषु ॥’

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेशियुवतीषु निजा तुला स्वकीयोरमाम्, अनालोच्य, अखर्यं विपुलं गर्वमनुपमत्वाभिमानं, कदापि न कुर्याः, यतो गहनान्तरेषु काननप्रदेशेषु, नानाफलाना भारोऽस्त्यास्त्विति नानाफलभारवत्यो, कियत्यो भूयस्य, लता (तादृश्य) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थ ।

अत्र रेफषटितसंयोगप्राचुर्यं शृङ्गाररसप्रतिकूलम् ।

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—हे गौरी अङ्गों वाली ! अपनी तुलना न देख कर तुम अत्यधिक गर्व नहीं करना चाहिये । वनों के मध्य में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लताये शोभित हो रही हैं । यहाँ रेफों के द्वारा बने हुये संयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, जो शृङ्गार-रस के प्रतिद्रुह है ।

पाठपरिवर्तनेन दोषं परिहरति—

यदि तु ‘तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्’ इति निर्मायते, तदा साधु ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफसंयोगस्याभावात् दोष इत्याशयः । किन्तु तथापि रेफषटितसंयोगद्वयस्य तादृक्स्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारषटितसंयोगप्राचुर्योदाहरणशुद्धिपूर्तिस्तु—‘विरमिलिताउपगुह्य प्रणयिजनौ गुह्यमकमं वदत’ इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

उक्त पद्य के प्रथम चरण की जगह में ‘तुलामनालोक्य...’ इत्यादि मूलोक्त रीतिसे पाठ-परिवर्तन कर दिया जाय, तब ठीक हो जाय । परिवर्तित अक्ष का अर्थ यह होगा, कि—‘इस दृश्यी पर समानता न देख कर’ ।

लकार-मकार-नकारभिन्नाना व्यञ्जनदर्शानां स्वेनैव संयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—

हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मनासंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

ल, म और न से भिन्न व्यञ्जनों का उन्हीं व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—

खण्डिता नायकमुपालभते—

‘विगणय्य मे निकाय्यं, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।’

हे शठ ! ने मम निकाय्यं भवनं, विगणय्य विहाय, तामन्यां प्रियसीम्, यत् स्वम् अनुयातोऽनुगतोऽसि, तत्रैव न्याय्यमुचितमस्तीत्यर्थः । अत्र यकारस्यासकृत् स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः ।

खण्डिता नायिका उपपत्ति से कहती है कि—मेरे घर की अवहेलना करके (तू) उस (सपनी) के पीछे लगा फिरता, यह न्यायोचित नहीं है । यहाँ यकार 'का वार-वार संयोग, विप्रलम्भ शब्द के प्रतिकूल होने से दोष है ।

नकारादिवर्णत्रयव्यवच्छेदकारणं भणति—

ल-म-नानां स्वात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यमावहति ।

आवहति जनयति । ल-म-नभिन्नानां हला स्वात्मनासयोगो यथाऽश्रव्यता जनयति तथा ल-म-नानां नेति तद्विभक्त्यं हलां निवेशितमिति भावः ।

ल, म और न का जो अपने आपके साथ संयोग होता है, वह इतना कठोर नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—

लक्षितां नायिकामालि पृच्छति—

‘इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते ।

जलदालिमयं जगद् वितन्वन्, कलितः कापि किमालि । नीलमेघः ॥’

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा थी, उल्लसिता नितरामुष्मिभता यदस्ति, यच्च ते नयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तत्, जलदालिमयं वपुःप्रभया नीरद-धेपीमयं अगद्विश्वं वितन्वन् नीलमेघस्तत्त्वैनाप्यवसित—कृष्णचन्द्र, किं कापि कलितो विभोक्तितो मिलितो वाऽभूत् ? । अन्यथेदशोक्तासासम्भवादित्यर्थः ।

अत्र लकारद्वयसंयोगस्य द्वि प्रयोगेऽपि नाश्रव्यत्वम् । एवं मकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि ज्ञेयम् । तदुदाहरणन्तु स्मर्यमेव ।

जैसे—सखी लक्षितागोपी से कह रही है कि—हे सखि ! तेरे मुख की यह शोभा उल्लास युक्त हो रही है, और तेरे दोनों नेत्र-कमल पूरे खिल रहे हैं, यह क्यों ? क्या, कहीं, सगुण संसार को मेघ-माला मय बनाने वाला नील मेघ (भगवान् कृष्ण) मिल गया था ? यहाँ लकार-लकार का संयोग दो बार आया है, फिर भी अश्रव्यता प्रतीत नहीं होती ।

ऋयद्वयसंयोगमुदाहरति—

ऋयद्वयघटितसंयोगस्य यथा—

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलतयाऽश्रव्यत्वमिति शेषः ।

इयद् प्रथमाहारान्तर्गत वर्णों का वार-वार संयोग, जैसे—

नायको मानिनीं प्रवीति—

‘आ सायं सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादरं तपसा ।

अधुनाऽब्जेन मनान् तव, मानिनि । तुलना मुरतस्याता ॥’

अपि मानिनि । आसायं सायंसन्ध्यापर्यन्तं सलिलभरे वारिपूरे, सवितारं सूर्य सादर-सुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तद्रूपतपस्यया, अब्जेन कमलेन, अधुना तद्वितीयदिने माना-वसरे तव मुखस्य तुलना समता, मनागीवत्, आता लभ्येत्यर्थः ।

दूती अथवा सखी किं वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनि ! मन्धा काल तक गहरे जलमें रहकर आदर-पूर्वक सूर्य भगवान् की उपासना करने के बाद उसी तपस्या के बल से अब कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है ।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्थमरम्यम् ।

अत्र वकारजकारयोः पकारतकारयोश्च भयोः संयोग उत्तरार्धे द्विरुपात्तो दोषावहः ।

यहां उत्तरार्ध रमणीय नहीं है, क्योंकि वकार-जकार और तकार-पकार-रूप द्वय का संयोग दो धार आ गया है, जो दोष है ।

तत्परिहाराय पाठं परिवर्तयति—

‘सरसिजकुलेन सम्प्रति, मामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता ।’ इति तु साधु ।

भयद्वयसंयोगामावादिति तु साधु सन्त्यक् । इह तुरीयचरणद्वयस्य मामिनोति सम्बोधन-पदस्याविद्यमानवद्भावात् तवेत्यस्य त आदेशो दुर्लभ इति तवेत्येव तस्मान्ने पठनीयम्, अन्यथाच्युतसंस्कारतास्यात् ।

यदि ‘सरसिजकुलेन’ इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्ध को परिवर्तित कर दिया जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय । परिवर्तित पाठ का यह अर्थ होगा कि—हे मानि ! अब जाकर कमल-कुल ने तेरे मुख की तुल्यता प्राप्त की है । यहां परिवर्तित पाठ में ‘ते’ का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व ‘मामिनि’ यह सम्बोधन पद है, जिसको व्याकरण के अनुसार अविद्यमानवद्भाव हो जायगा, फिर पद से पर नहीं होने के कारण ‘ते’ आदेश होगा ही नहीं, अतः ‘तत्र’ ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा च्युतसंस्कारता नामक अलङ्कार-दोष हो जायगा ।

मध्यद्वयसंयोगस्त्वसकृद्दुष्टः, सवर्णमध्यद्वयसंयोगस्तु सकृदपि दुष्ट इत्युदाहरणम्—

सवर्णमध्यद्वयघटितसंयोगस्य सकृत्प्रयोगो यथा—

सवर्णं शब्द से बने हुये संयोग का एक धार प्रयोग जैसे—

नायको मानिनीमनुनयन् धृते—

‘अयि ! मन्दस्मितमधुरं, वदनं तन्वद्भि ! यदि मनाक्कुरूपे ।

अधुनैव कलय शमितं, राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥’

अयि तन्वद्भि कोमलावयवे ! त्वं यदि वदनं मन्दस्मितेनाव्यकृद्भसितेन, मधुरं मनोहरं, मनागोपदपि कुरूपे, तर्हि अधुनैव न तु कालान्तरे, राकारमणस्य पूर्णमाचन्द्रस्य, साम्राज्यं सुप्रमैकाधिपत्यं, हन्त ! (हर्षे) शमितं निवर्तितं, कलय जानीहीर्यर्थ ।

इह ‘मनाक्कुरूपे’ इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसंयोगस्य सकृदपि सत्त्वाद्दोषः ।

नायक मानिनि नायिका से अनुनयनरी बात कहता है कि—हे कृत्ताङ्गि ! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी मन्द-हास से मनोहर बना ले, तब हर्ष की धात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का साम्राज्य (शोभा के विषय में एकाधिपत्य) अभी-अभी खान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चित समझ । यहाँ ‘मनाक्कुरूपे’ इस अर्थ में दो सवर्णशब्द रूप ककार का संयोग एक धार भी प्रयुक्त होने से अक्षय्य हो गया है ।

सवर्णमध्यद्वयघटितसंयोगनिषेधस्य निषेधान्तरैर्गैतार्थत्वमाराद्भ्य निरस्यति—

नन्वथ ककारद्वयसंयोगस्य हलघटितस्यात्मसंयोगत्वेनैव निषेधात्, क-ख-संयोगस्य महाप्राणसंयोगनिषेधविषयत्वात्, तृतीयसंयोगस्य चासम्भवात्, सवर्णमध्यद्वयसंयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न, सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्यक्यात् । अन्यथा ‘मनाक्कुरूपे’ इति निर्दोषं स्यात् ।

इह ककारद्वयसंयोग', क-ख संयोगश्चेति द्वावेव सवर्णभ्रूयुधटितसंयोग' सम्भवति, न तु तृतीय' कश्चित्, तथा च-ककारद्वयसंयोगस्य हल्स्वात्मसंयोगनिषेधेनैव, क-ख संयोगस्य तु महाप्राणघटितसंयोगनिषेधेनैव निषिद्धत्वात् सवर्णभ्रूयुधटितसंयोगनिषेधो यद्वा विशिष्य विधीयते, तन्निरर्थकमेवेति पूर्वपक्षे—

हल्स्वात्मसंयोग-महाप्राणघटितसंयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेध', सवर्णभ्रूयुधटितसंयोगस्य तु सकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेध' पृथगपेक्षित एव, न तु ततो गतार्थ' । पृथगेतन्निषेधानुपादाने तु 'मनाक्कुक्षये' इत्यासकृत् संयोगाभावाद् दोषाभावः प्रसज्येतेत्युत्तरम् । क-खसंयोगस्तु 'सम्यक् खेलसि' 'मनाक् खिद्यते' इत्यादावहनीय' ।

सवर्ण शब्द का संयोग दो ही मकार का हो सकता है, एक ककार-ककार का, दूसरा ककार-खकार का, तृतीय प्रकार का सवर्ण शब्द का संयोग सम्भव ही नहीं है, अतः यह दाह्य हो सकती है कि सवर्ण दो श्रवणों का संयोग जो पृथक् करके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता, क्योंकि ककारद्वय संयोग (जो उक्त पद्य में आया है) का निषेध तो—ज्यञ्जनों का जो अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उसी से हो जाता है और जहाँ क ख संयोग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उसी से वह गतार्थ हो जायगा । इसका उत्तर यह है कि ज्यञ्जनों का अपने आपके साथ संयोग अथवा महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः उसका निषेध भी उसी स्थिति में किया गया है और सवर्ण शब्द का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः उसका निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग उनका निषेध करना भी आवश्यक ही है । यदि सवर्ण शब्द का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक् कुक्षये' यह निर्दोष ही हो जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ उक्त संयोग नहीं है ।

महाप्राणप्रयत्नचद्वर्णघटितसंयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसंयोगो यथा—

'अयि मृगमद्विन्दुं चेद्बाले बाले समातनुपे ।' उत्तरार्थं तु प्राचीनमेव ।

अत्र महाप्राणप्रयत्नवृत्ता भकारेण घटित संयोगो दुष्ट । मात्रापूर्तावपि, चेच्छब्दस्य प्राग्निवेशेन सम्भवन्ती छन्दःकलशुद्धिं प्रायो महाप्राणसंयोगदर्शनार्थमेवोपेक्षिता । अधुना महाप्राणसंयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयता व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं कथं सङ्गच्छत इति चिन्त्यम् । इह पद्ये चरणद्वयमुपात्तं प्राचीनस्य 'अयि मन्दस्मितमधुर'मित्यादिपद्यस्य पूर्वार्थं विधाय श्लोककुर्याद्विधेया ।

महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों से बने हुये संयोग का प्रयोग जैसे—पूर्वोक्त 'अयि मन्दस्मित' ' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अयि मृगमद्विन्दुम्' इस श्लोक के रूप में परिवर्तित कर देने पर । यहाँ महाप्राण भकार के साथ दकार का संयोग दोपयुक्त है । अर्थ इस परिवर्तित अक्षर का यह है कि 'हे बाले ! यदि ललाट पर करतूरी की बिन्दी लगा लोगी, तब ..' । उत्तरार्ध तो वही रहेगा, निम्नका अर्थ पहले लिखा जा चुका है । यहाँ एक बात विचारने की यह है कि जब ग्रन्थकार ने पूर्व में यह सिद्धान्त कर दिया है कि महाप्राण वर्ण से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब फिर महाप्राणघटित संयोग का 'अयि मृगमद्विन्दुम्' इत्यादि उदाहरण कैसे दिखलाया, क्योंकि यहाँ महाप्राणघटित संयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, बार-बार नहीं ।

अथ मधुररसेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयति—

एवं त्वप्रत्ययं, यदन्तानि, यद्भृगुगन्तान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुर-
रसे न प्रयुञ्जीत ।

एवमुक्तसंयोगवत् कविर्भावार्यकं त्वप्रत्ययं, यदन्तयद्भृगुगन्तानि, पराणि चेद्वरानि
कृतदितान्तानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । अयं निषेधो विपुललक्ष्यानुरोधादसकृत्-
प्रयोगविषयक एव, सकृत्प्रयोगे तेषां दुष्टत्वाभावात् । अत एव, 'अलमतिचपलत्वात् स्वप्न-
मायोपमत्वात्' इत्याद्येवान्यत्र दुःश्रवणत्वेनोदाहृतम् । स्वादीनामसकृत्प्रयोगे कर्कशत्वं स्फुटमेव ।

जैसे उक्त अश्रव्यों का मधुर-रस प्रधान कान्यों में त्याग करना आवश्यक है, उसी
प्रकार—'त्व' प्रत्यय, यदन्त, यद् भृगुगन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग (कृदन्त तदि-
तान् आदि) यद्यपि वैयकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका
प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अथ ध्वनिकारानुमतानि मधुररसेषु वर्जनीयान्याह—

एवं व्यङ्ग्यचर्चणातिरिक्तयोजनविशेषापेक्षा—नापाततोऽधिकचमत्कारिणोऽ-
नुप्रासप्रबन्धान् यमकादींश्च सम्भवतोऽपि कविर्न निबन्धीयात् ।

ये व्यङ्ग्यरसादिचर्चणाया अतिरिक्तं यज्ञविशेषरूपं योजनाविशेषमपेक्षन्ते, तान्, आपा-
ततस्तत्काल एव (न तु परिणामे) चमत्कारिणः परिणतिचमत्कारतुच्छान्, अनुप्रास-
यमक-शब्दश्लेष-विश्रमभेदानतिदुर्घटान् वाचकालङ्कारान्, प्रतिभाप्रभावेण कथञ्चन सम्भ-
विनोऽपि, रसायास्वादिभ्यः प्रथम्यन्निर्वर्त्यस्वेन प्रतिबन्धकान्, कविर्मधुररसव्यञ्जने प्रस्तुते,
न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । अत एवोक्तं ध्वनिकृता—'रताक्षिततया यस्य वन्य शक्यक्रियो भवेत् ।
अप्रथम्यन्ननिर्वर्त्यं सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥' इति ।

व्यङ्ग्यों के भास्वादन करने के लिये जो ध्यान करना पड़ता है, उसमें प्रथम अत
जिनके समावेश में अपेक्षित हो जाय, ऐसे, ऊपरी तौर से (न कि गहरी दृष्टि से विचार
करने पर) अधिक चमत्कार-जनक भी प्रतीत होने वाले अनुप्रास के समूहों तथा यम-
कादिकों का, यद्यपि वे कवि के साध्य हों, तथापि समावेश न करना चाहिये, यह कवि के
लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है ।

तेषां वर्ज्यताया निमित्तमभिधत्ते—

यतो हि ते रसचर्चणायामनन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना
रसपराङ्मुखं विदधीरन् ।

अनुप्रासादीना प्रतीतेः स्ववैचित्र्यविशेषेण रसायास्वादान्तर्भावात् सदा रसास्वादै-
कपरायणस्य सहृदयहृदयस्य स्वाभिमुखीकरणेन रसायास्वादपराङ्मुखीकरणस्य कदाचित्
सम्भवात्, ते मधुररसेषु वर्जनीया इत्यर्थः ।

रस-प्रधान काव्य में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करने का बीज यह है कि यदि
वे अधिक और प्रधान हो जायें, तो उनका समावेश रस के भास्वादन में न हो सकेगा
और वे सहृदय जन के हृदय को अपनी ओर खींच लेंगे, इस कारण रस से विमुख कर
देंगे—अर्थात् सहृदय जन उनके चमत्कार के चक्कर में पड़कर रसास्वाद से वञ्चित ही
रह जायेंगे ।

'विप्रलम्भे विशेषतः' इत्युक्त विप्रलम्भशब्दार्थध्वनौ विशेषेण तन्निषेधमाह—

विप्रलम्भे तु सुतराम् ।

ते वर्जनीया इति शेषः ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में तो खासकर अनुप्रास आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये ।

एतत्प्रतिपादयति—

यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव, तनीयानपि स्या-
तन्मयमावहन् पदार्थ, सहृदयहृदयारुन्दतया न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति ।
सामानाधिकरण्यमेकत्र श्रुति ।

यतोऽस्य विप्रलम्भस्य सम्भोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानक-
रसास्वाद इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्तुन्तरस्य लेशतोऽपि सम्पर्कः सर्वथा सहृदयहृदयो-
द्वेजक स्यात्, तस्मादनेन सहानुप्रासादीना समावेशो न विधेय इत्याशय ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में अनुप्रास आदि के प्रयास नहीं करने के संबन्ध में अधिक साव-
धान रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है
और इसी कारण, उसे शुद्ध चीनी के बनावे हुये शरबन की उपमा दी गई है, उसमें
यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी चीज मिल जाय, जिसका स्वाद अपनी स्वतन्त्र
सत्ता रखता हो, तो वह सहृदयजनों के हृदय में बड़ी भार्मिक पीडा पहुंचाती है, विप्र-
लम्भ शृङ्गार में अनुप्रास आदि ठीक वैसी ही चीजें हैं, अतः उसके साथ उनका रहना
संबंधा अनुचित है ।

एतत्प्रपञ्चोक्तमर्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

ध्वनिकारा इति शेष ।

‘ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिवेशनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः ॥

इह शृङ्गारपद मधुररममात्रपरम् । आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयत्नापेक्षयल्लारान्तरपरिमह ।
शक्तौ प्रतिभाया सत्यामपि प्रमादित्वं कवेरनवधानता दोष । विप्रलम्भस्य मधुरतमत्वात्तत्र
विशेषेण तेषा निषेध ।

जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—‘ध्वन्यात्मभूते इत्यादि—
अर्थात् यदि कवि में ऐसी शक्ति हो कि ध्वनि-काव्य में अनायास यमक आदि की रचना
कर सके, तब भी जिस ध्वनि-काव्य की आत्मा शृङ्गार रस है, उसमें यदि कवि वैसा
यमक आदि का निवेश) करे तो कहना चाहिये कि उसकी असावधानता है जो उसने
उन्हें (यमकादिकों को) शृङ्गार प्रधानकाव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ शृङ्गार
प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये, तब तो विशेष-रूप से कवि की असावधा-
नता समझी जायगी ।

निषेधप्रतिप्रसवमाख्याति—

ये तु पुनरर्काष्टतयाऽनुव्रतस्कन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किन्तु
रसचर्चणायामेव सुमुखं गोचरीकर्तुं शक्या, न तेषामनुप्रासादीनां व्यागो युक्तः ।

अक्रिष्टताऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता । अनुव्रतस्कन्धत्वमनुत्कट्यत्वम् । सुमुखमतिमुपेना-
नायासमिति यावत् ।

ये पुनरनुप्रासादयोऽप्यपृथग्यत्ननिष्पाद्या अपृथग्भावनाविपयीभावयोग्याश्च, रसप्रति-
कूलत्वाभावात्तेषा नैव निषेध इति तात्पर्यम् ।

जो अनुप्रास आदि विलुप्त और विलुप्त न होने के कारण श्रुत्युक्त (रसनिवेश प्रयास
से) पल की अपेक्षा नहीं रखते और न रसास्वाद से श्रुत्युक्त आस्वाद की ही आवश्यकता

रसते, किन्तु रस-परिपाक के लिये जो प्रयत्न किया जाय, उसी से बन जा सकते हैं, उन अनुप्रासादिकों को छोड़ देना भी उचित नहीं ।

मधुररसानुकूलमनुप्रासमुदाहरति—

यथा—

सखी नायिकां व्याहरति—

‘कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं,
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम् ।
प्रीदिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥’

हे श्रालि ! सायं कस्तूरिकातिलक भाले विधाय, स्मेराननेपदसितमुखो, त्वं सौधस्य सुधा(शुकुचूर्णलेप)नयलप्रासादस्य, मौलिं शिखरं, सपदि शीघ्रं शीलयाभ्यास्व, तथा च तैन कुमुदानि मुदामुदारा प्रीटिमतिशयितोह्वानं भजन्तु प्राप्नुवन्तु, हरितो दिशस्य परितो विष्वक्, मुस्तान्दप्रभागान् उल्लासयन्तुद्भ्रामयन्स्त्वित्यर्थः ।

अत्र वृत्त्यनुप्रास-शृङ्गाररसापृथग्यत्ननिपक्षत्वादटुकूल एवेति न निषिद्धः ।

जैसे—‘कस्तूरिकातिलक ...’ इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! वृत्तकाल में कस्तूरी का तिलक लगाकर शीघ्र मन्द मन्द हँसती हुई अटारी पर चढ़ जा, जिसमें कुमुद अपार हर्ष को प्राप्त कर लें—अर्थात् पूर्णरूप से विकसित हो उठें और दिशाओं अपने मुखों की पूर्णतया उद्वलित बना लें उनके प्रारम्भिक भाग धरती तरह प्रकाशमय हो जायें । यहाँ अनुप्रास है, परन्तु कवि उनके लिये शृङ्गार यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, वरन ऐसा ही प्रतीत होता है कि शृङ्गाररस के लिये जो कवि का यत्न हुआ है, उसी से अनुप्रासों की भी सृष्टि हो गई है और इन अनुप्रासों का आस्वादन भी रस के आस्वादन के साथ ही हो जाता है, अतः ऐसे अनुप्रास कोमल रसों में भी प्राद्य हैं ।

माधुर्यगुणाधयरसव्यञ्जकरचनादोषप्रदर्शनमुपसंहरति—

इत्थमेतैः प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां सङ्क्षेपेण निरूपिता दोषाः ।

इहौजस्वि-प्रसङ्ग-रसाभिव्यञ्जकरचनयोर्वर्जनीयानामनमिषानान्मूलता न शङ्कनीया, ‘मधुररसेषु येऽनुकूला’, त एषौजस्विरसेषु प्रतिकूला’ इति प्रागेवौजस्विरसप्रतिकूल्यना सामान्येनाभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसरचनासाधारण्येन तद्व्यञ्जकरचनायां वर्जनीयत्वाभावाच्च ।

इस तरह प्रसंग का जाने के कारण मधुररसों को अभिव्यक्त करने वाली रचना में होने वाले इन दोषों का निरूपण संक्षेप में कर दिया गया है ।

प्रसङ्गाद् वैदर्भी रीतिं निस्पद्यति—

‘एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता ।
माधुर्यभारभङ्गुर-सुन्दर-पद-वर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता ।
तां विबुधा वैदर्भी, वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥’

एभिरुक्तैः सामान्यैर्विशेषैश्च दूषणै रहिता, माधुर्यभारेण भङ्गराणामतिमधुराणामत एव सुन्दराणा पदाना वर्णानां च विन्यासो यत्र, सा, या निर्मातु कवेः व्युत्पत्तिं काव्यशास्त्रादिनिपुणता सुद्गिरन्ती सूचयन्ती, प्रसादेन गुणेन व्यञ्जकतया युता, ता गृहीतः परिपाके रसास्वादपरिनिष्ठा यस्याः तादृशी वैदर्भी वृत्ति रीति, विबुधा काव्यार्थमावनाकुशल्य वदन्तीत्यर्थः । अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति नामान्तरं बोध्यम् ।

भव प्रसङ्ग-प्राप्त वैदर्भीरीति का निरूपण करते हैं—'एभि' इत्यादि। विद्वज्जन उस रचना-विशेष को 'वैदर्भीरीति' कहते हैं, जो उक्त विशेष और साधारण-दोनों प्रकार के दोषों से रहित हो, जिसमें साधुर्य-गुण के भार से भरे हुये अतएव सुन्दर पदों और वर्णों का विन्यास हो, जिससे बनाने वाले (कवि) की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो जो प्रासद गुण से युक्त हो और जिसमें रस का पूर्ण परिपक्व हुआ हो। इसी रीति को कुछ लोग उपनागरिक वृत्ति के नाम से पुकारते हैं।

अस्या. प्रसिद्धिं दर्शयति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि ।

अस्या वैदर्भी रीतौ, उदाहृतानि शृङ्गाररस-माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि, कियन्त्य-
नल्पामि पद्यान्येवोदाहरणानीति न तदपेक्षेत्याशयः ।

इस रीति के उदाहरण हो सकने वाले कितने ही पद्य पूर्व में कहे जा चुके हैं।

तथापि सहृदयहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

मानिनीमालि प्रेयान् वा बोधयति—

'आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं विशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरह्लासयन्ति ध्रियम् ।

वामे । मानमपाकरोपि न मनागद्यापि रोपेण ते

हा हा !! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्वाम्यति ।'

हे वामे मानप्रहिते ! निशा आयाता प्राप्त (न तु निशारम्भे विलम्ब) विशाम-
न्तरं मध्य निशाकरस्य करैः किरणैः कीर्णं व्याप्तमुद्गासितमिति यावत्, भामिन्योऽपरा-
मानवस्यश्च, विलासोचितकालमालोच्य, भवनेषु भोगावासेषु, भूषणगणैः परिहितालङ्कार-
निरैः, ध्रियं शोभामुह्लासयन्ति वर्धयन्ति, त्वं पुनरद्यापीदानीमपि मानं न अपाकरोपि
न त्यजसि, तेन रोपेण बालान्मृणालाद्यापि, अतितमा नितमा तन्वी कोमला, ते तनुस्ता-
म्यति क्लाम्यतीत्यर्थः । अत्रोक्तलक्षणा वैदर्भी रीति । अतितमामित्यत्र तकारस्य स्वान-
न्तर्यादश्रम्यत्व विभावनीयम् ।

अथवा, जैसे —

नायक नायिका से कह रहा है —प्रेयसि ! अब रात आधी गई, उसके आने में थोड़ा
भी विलम्ब नहीं है, विश्वास न हो तो देख निशा-नाथ चन्द्र-देव की किरणों से दिशाओं
के अन्तराल व्याप्त हो चुके हैं और मानिनी खिया मान छोड़कर आभूषणों से ग्रीडा-
मन्दिरों में शोभा को बढ़ा रही है। हे वामे ! तस्य भर से विपरीत ही आचरण करने
वाली ! तू अब भी मान को किञ्चित् भी कम नहीं कर रही है। हाय ! हाय ! देव तो
नवीन मृडाल से भी अत्यन्त दुर्बल यह तेरा शरीर तेरे ही रोप के कारण क्लाम्य हो रहा
है। जाने दे, यदि मेरे ऊपर दया नहीं करती, तो मतकर, परन्तु अपने इस सुकोमल शरीर
पर तो दयाकर। यहा वैदर्भीरीति के उक्त सभी लक्षण घटते हैं।

एतद्रचनाया स्खलनपरिहाराय कवेरवधानातिशयस्यापेक्षा प्रतिपादयति—

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परि-
पाकभङ्गः स्यात् ।

अन्यथाऽवधानाभावे ।

इस रीति के निर्माण करने में कवि को अत्यन्त सावधानी से धरतना चाहिये,
अन्यथा परिपाक का भङ्ग हो जायगा—रस में जितनी माधुरी आनी चाहिये, उतनी नहीं
आ सकेगी।

अमरककवेरनयपानेनोपहितं परिपाकभङ्गमुदाहरति—

यथाऽमरककविपद्ये—

जैसा कि अमरक कवि के पद्य में हुआ हैः—

मुग्धावृत्तं वर्णयति—

‘शून्य वासगृहं विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छूनै-

निद्रान्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

विश्रब्धं परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥’

वासगृहं कीडागारं, शून्य प्रियातिरिक्तलोकरहित, विलोक्य मिलीनसहचरोसद्भाव-
सन्देहाद् विशेषेण दृष्ट्वा, शयनात् उत्पत्वा, किञ्चिदोपदेव (तावन्. पार्श्वपरिवर्तनोप-
न्यासेनाप्यपलपितुं शक्यत्वात्) शनैर्यथाभूपणमणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्, अपर-
कायेनैवोत्थाय, निद्रान्याजमनुरागजिज्ञासया कृतकनिद्राविडम्बनम्, उपागतस्य लब्धवत्,
पत्यु स्वामिनो न तु परिचयप्राचुर्यविरहादवलम्बस्य, मुख सुचिरं जागरणशब्दाद्यु-
त्थोर्षकालं, निर्वर्ण्य निद्रानिर्णयाय निरशेषमवेक्ष्य, विश्रब्धं सविश्वासं यथा स्वात् तथा गार्ढं, परिचुम्ब्य
परित कपोल-नयनादिषु चुम्बित्वा, तेन जातपुलकामुद्भिजरोमाद्या, गण्डस्थलीं कपोल-
पालिम्, श्रालोक्य, लज्जा सावप्रपा. अत एव नम्रमुखी नतानना, बाला षोडशवर्षिकी
(मुग्धा), हसता स्वामोक्षनायामलाभहेतुकहासभृता, प्रियेण, चिरं लज्जाऽपगमपर्यन्तं,
चुम्बिताऽभूदित्यर्थः ।

समानकर्तृक-प्राक्कालिकक्रियाया क्तवो विधानात्तदर्थमिह पञ्चाद्यन्तलज्जापदपार्श्व-
व्यमवरोचम् ।

कसेई मुग्धा नायिका के आचरणों का वर्णन करता है कि—बाला (मुग्धा नायिका)
झीडागृह को जनों से शून्य देखकर-प्रियप्राणेश-मात्र को वहाँ पाकर धीरे धीरे शय्या से
कुड़ उठी और निद्रा का व्याज किये हुये (न कि वस्तुतः सोये हुये) पति के मुख को
चिरकाल तक निहार कर (पति के निद्रा-मग्न हो जाने के विश्वास से) छगी उसके मुख
को शब्दी तरह चूमने, पर चूमने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोल-प्रदेश रोमा-
ञ्जयुक्त हो उठे हैं, तब लज्जा के मारे उसका मुख नीचा हो गया, पति के सामने उसकी
दृष्टि टिक न सकी। फिर क्या था ? पतिमहाप्राय उठ बैठे और हँस हँस कर घण्टों मुग्धा
पत्नी को चूमते रहे ।

उपपादयति—

अत्र ‘उत्थाय किञ्चिच्छूनै’ इत्यत्र सवर्णज्ञयद्वयसंयोगः, तत्रापि नैकट्येन
सुतरामश्रव्यः । एवं ऋघटितसंयोगपरह्रस्वस्यापि । तथा ‘शनैर्निद्रा’ इत्यत्र
‘निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्’ इत्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, ऋघटितसंयोगपरह्रस्वस्य
च प्राचुर्यम् । विश्रब्धम्’ इत्यत्र महाप्राणघटितस्य, ‘लज्जा’ इत्यत्र स्वात्मसवर्ण-
ज्ञयद्वयघटितस्य, ‘मुत्ती प्रियेण’ इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य,
तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्यः, लोकतेश्च द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं
प्रकारायति ।

‘उत्थाय किञ्चिच्छूनै’ इत्यत्र तथयोश्चच्छयोश्च सवर्णज्ञयो सामीप्येन संयोग एक,
भयद्वयघटितसंयोगद्वयात् पूर्वयोर्ह्रस्वोकारेकारयोः सत्त्वादपरश्च दोषः, ‘निद्रा’ इत्यत्र ‘पत्युः’
इत्यत्र च क्रमेण इक्षर-तकाररूपभयघटितसंयोगतः पूर्ववर्तिन इकाराकाररूपह्रस्वस्य

प्राचुर्यं, 'शनैर्निद्रा' 'निर्वण्य' 'पत्युर्मुञ्जम्' इत्यत्र रेफपठितसंयोगस्य प्राचुर्यं च दोषः, 'विश्रब्धम्' इत्यत्र धकाररूपमहाप्राणपठितसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'लज्जा' इत्यत्र मयो ञकारस्य स्वात्मना सवर्णमया संयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र पृथक्पद-पठकस्य शौर्षकारानन्तर-पकाररेरसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'उत्थाय' 'निर्वण्य' 'परिचुम्ब्य' 'आलोक्य' इति पञ्चवारान् क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'आलोक्य' इति द्विलोकधातो प्रयोगो दोषश्च कवे रचयितुः, निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं कव्यरचनाकारणी-भूताया व्युत्पत्त्युद्भाविताप्रतिभाया साहित्यमरूपत्व वा प्रकाशयति बोधयतीति कविभिर्वैदम्भी-रौतिनिर्माणे सावधानं भान्व्यमिति भावः ।

उक्त पद्य में 'उत्थाय' और 'किञ्चिच्छनै' इन दो स्थानों पर दो दो सवर्णक्षरों (तकार-यकार और चकार-झकार) का संयोग है और वह भी समीप-समीप में, अतः अतिशय अश्रव्य है । इसी तरह इसी स्थान पर उक्त क्षरों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके भागे हैं, उन दस्तों (उकार और इकार) का भी प्रयोग हुआ है । तथा 'शनैर्निद्रा' और 'पत्युर्मुञ्जम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बने हुये संयोग की और क्षरों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके भागे हैं, उन दस्तों की अधिकता है । पद्यम् 'विश्रब्धम्' इस जगह महा प्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण क्षरों का अपने ही साथ संयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न पदगामी दीर्घ के बाद का संयोग है । इसी प्रकार रत्ना-प्रत्यय का षौच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वण्य, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन पदों में) और 'लोक्य' धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) प्रयोग किया गया है, जिससे कवि के पास रचना की सामग्री की कमी सूचित होती है ।

'महोदसा दोषोद्धोषणमात्मन एव दूषणं भवतीत्यभियुक्तोक्तिं स्मरन्स्ततो विरमति—

इत्यल्ल परकीयकाव्यविमर्शनेन ।

परकीयकाव्यदोषालोकनेनालम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रशयेन्न गर्हयेत्' इति भगव-द्वादरायणोक्तैरित्यर्थः ।

पर, जाने दीजिये, दूसरों के काव्यों की आलोचना करना व्यर्थ है ।

प्रदान्तं सविरोपरसनिरूपणमुपसंहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसाः ।

रसाना प्रकारानन्वाद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम् ।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ ।

रसाधननिरूपणानन्तर प्राप्तावसरतया भावध्वनिं निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिनिरूप्यते—

अथ भाव-ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

प्रथमं भावस्य ज्ञानाय लक्षणं पृष्ट्वा परोक्षं तत् खण्डयति—

अथ किं भावत्वम् ? विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः ।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावभिन्नत्वस्य रसव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावल-क्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यभिसन्धिः ।

यह सार्व प्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किनको कहते हैं ? उनका लक्षण क्या है ? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों-जिनसे रस व्यक्त हों, उन्हीं को 'भाव' कहते हैं, तो, यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है-अर्थात् रस-प्रति-

पादक काव्य के नाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हुई है और रस-व्यञ्जक भी हैं, अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहान् कुतोऽतिव्याप्तिरत आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् ।

साक्षाद्व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् । तदुक्तम्—'शब्द-
बोध्यो व्यननत्यर्थ, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ।'
इति । इत्थं सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्यैवेत्याशयः । वस्तु तस्तु गीतवा-
द्यादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायकत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादिभिर्निर्णीतत्वेन न
शब्दस्यार्थद्वारैव व्यञ्जकत्वम् । तथा च नाग्रिमनिवेशास्यावसरः ।

यदि धाड़ी कहें कि रस के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रूप
वाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो इसका उत्तर यह है कि साक्षात् रस
व्यञ्जक अर्थ ही भले हों पर उन अर्थों के द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं, अत एव
विद्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोध्यो व्यननत्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकारथ व्यञ्ज-
कत्वे तदन्यस्य सहकारिता'—अर्थात् 'अर्थ शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है,
और शब्द भी अर्थों का आश्रय-नाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है,
अतः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है' । वस्तुतः तो ध्वनिकार
आदि ने शब्दों को भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तदनुसार अर्थद्वारा वाक्य को व्यञ्जक
मानने की आवश्यकता भी नहीं है ।

शब्दस्य साक्षाद्व्यञ्जकत्वमनुष्ठा दोषवारणाय लक्षणे निवेशं विधाय निरस्यति—

द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि
भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च ।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्व्यञ्जकत्वमिति लक्षणे तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य
पुनःपुनरनुसन्धानरूपाया भावनाया एव साक्षाद्व्यञ्जकत्व, भावस्य तु भावनाद्वारैव रसव्य-
ञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्व्यञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भव एक, साक्षाद्व्यञ्जिकाया
भावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्येतद्विकेरोऽसङ्गत इत्यभिप्रायः ।

धाड़ी कह सकते हैं कि इसी लक्षण में 'जो किसी को द्वार न बना कर रसों का व्यञ्जक
हो' इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषण और लगा देंगे, तब तो वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं
होगी, क्योंकि वह अर्थों को द्वार बना कर व्यञ्जक है, परन्तु ऐसा करने पर लक्षण में अस-
म्भव दोष ही आ जायगा—अर्थात् यह भाव का लक्षण कहीं भी सघटित न ही हो सकेगा,
क्योंकि जिनको सब लोग भाव मानते हैं, वे भी भावना (द्वार-द्वार अनुसन्धान) के
द्वारा ही व्यञ्जक होते हैं । दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि बिना
किसी के द्वार बनाये वही रसों की व्यञ्जिका होती है । वस्तुतः तो उक्त रीति से शब्द भी
बिना किसी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होता ही है, अतः वहा तथा भावना में उक्त लक्षण
को अतिव्याप्ति ही होगी—असम्भव नहीं ।

ननु काव्यवाक्येऽतिव्याप्तिं वारयितुं शब्दभिन्नत्वे रसोऽपि लक्षणे प्रवेरयतामित्युक्तिं
निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावभिन्नत्वस्येव] शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे
न निस्तारः । प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्त्यापत्तेश्च ।

निस्तारो निर्वाहः ।

अत एव—भावनाया साक्षाद्व्यञ्जकत्वाच्छब्दभिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेरेव,

एवं भावध्वनौ भावस्य प्राधान्येन व्यञ्ज्यमानतया रसव्यञ्जकत्वाभावाद् भावलक्षणाव्याप्तेश्च शब्दभिन्नत्वनिवेशेनापि न निर्वाह इति सारम् ।

इसी लिये व्यञ्जक में 'शब्द-भिन्नत्व' विशेषण जोड़ने पर भी उद्धार नहीं हो सकता—अर्थात् यदि 'विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा शब्द से भिन्न जो रसों का व्यञ्जक हो, वह 'भाव' है' ऐसा भी लक्षण बनावें, तब भी छुटकारा नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति रहेगी ही । एवम् भाव-ध्वनि-स्थल में जो भाव प्रधान-तया अभिव्यक्त होता है, वह रसों का व्यञ्जक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव में लक्षण संघटित नहीं होगा ।

भावध्वनाव्याप्तिमात्रवारणमाशङ्क्य खण्डयति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोप-प्रसङ्गात् ।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वनानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जन भवत्येव, तत्रच भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वाच्चाप्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम्, यतो भावध्वनावपि यदि पर्यन्ते रसप्रतीति स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव स्यात् न तु भाव-व-नित्यमिति भावध्वनेर्विलोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रतीतिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम् ।

यदि वादी यह तर्क उपस्थित करें कि जहाँ भावही ध्वनि प्रधान होती है, वहाँ भी भाव-ध्वनि के बाद अन्त में रस की ध्वनि होती ही है, अतः उस तरह के भावों में रस-व्यञ्जकता है ही । इसका समाधान यह है कि यदि भाव-ध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहाँ भी रस की ही प्रधानता हो जाने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा, फलतः 'भाव-ध्वनि' का साहित्यिक जगत् में उच्छेद ही हो जायगा, अतः भाव-ध्वनि-स्थल में रस की ध्वनि नहीं माननी चाहिये ।

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यञ्ज्यमानोऽप्यचम-त्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशाद्देतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहितरस-व्यक्तौ मानानाथात् ।

ननु भावध्वनित्यले प्रथमं भावप्रतीति, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र रसप्रती-तिश्चमत्कारकत्वाभावाच्च रसध्वनिव्यवहार, अपि तु भावप्रतीतिश्चमत्कारितया भावध्वनि-व्यवहार एव स्यादिति चेत्, न, 'लोकेश्वरचमत्कारप्रण' 'रसे सारश्चमत्कार' सर्वत्राप्यनु-भूयते' इत्याद्युक्तेरनुभवाच्च चमत्कारितरहिताया रसप्रतीतेरङ्गीकृतौ गानामावादि भाव' ।

यदि इस पर भी वादी यह कहें कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त में रस की अभिव्यक्ति यद्यपि अवश्य होती है, तथापि वहाँ 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इस लिये नहीं होता कि रसाभिव्यक्ति में वहाँ कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है अतः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होता है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठीक नहीं, क्योंकि चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होता ही नहीं ।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिणोऽप्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात् ।

येन सहृदयसमवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणो रसस्य प्रदुर्णं ज्ञानं साधनं वा भवति, वरुणिमाहकं मानम्, तेन यत् सच्चिदानन्दमयो मद्गुणनागिरैव रसो ज्ञापित, तस्मान् तस्य

रसस्य चमत्कारमिन्नानन्दं विनाऽभावाद् रसामिव्यक्तिश्चमत्कारिव्येव, न तु कदापि तद्र-
हिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रसनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयायुभव-रूप प्रमाण से रस पदार्थ
की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) अंश
का अविनाभाव (उसके बिना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब
चमत्कार-रहित रस की सत्ता कैसे हो सकती है ।

इदानीं भावध्वनौ पर्यन्तिकीं रसामिव्यक्तिमभ्युपगत्यापि तद्भावलक्षणं वृण्वति—

अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसामिव्यञ्जकत्वम्,
तथापि देश-काल-पयोऽवस्थादिनानुपदार्थपटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यति-
व्याप्तिः, तस्य विभावानुभावमिन्नत्वे सति रसामिव्यञ्जकत्वात् ।

तथापि भावध्वनाव्याप्यपत्तिवारणेऽपि । तथापि विभावानुभावमिन्नत्वे सति, शब्द-
मिन्नत्वे सति रसामिव्यञ्जकत्वमिति कथनेऽपि । विभावानुभावमिन्नत्वे सतीति शब्दमिन्नत्वे
सतीत्यस्याप्युपलक्षणम् ।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशाया रसामिव्यक्तिरस्तु, तथापि न तपेष्टसिद्धिः, यतो
ध्वन्यमानभावस्य रसामिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तत्रोक्तपूर्वायां भावलक्षणाव्याप्तेर्वारणेऽपि,
काव्यवाक्यार्थस्य देशकालाद्यनेकपदार्थपटितस्य विभावानुभावमिन्नत्वेन शब्दमिन्नत्वेन
रसामिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेर्जागरूकत्वादित्याशयः । इह 'न भावहीनोऽस्ति
रसो न भावो रसवर्जितः' इत्यभित्युक्तोक्तेर्भावध्वनावपि विवाहप्रवृत्तमृत्त्यानुगतराजवद् रसस्य
प्रतीतिरूपचमत्कारा भवन्ती, राजानुगतविवाहप्रवृत्तमृत्त्यवद् भावस्य प्रतीतेश्चमत्कारोत्कर्ष-
निवन्धन प्राधान्यं न विलोपुमर्हतीत्येवाभ्युपगमपक्षस्य निदानम् ।

अब यदि बादी कहे कि रस की अपेक्षा भाव के गौण होने पर भी वाच्य की अपेक्षा
प्रधान होने के कारण, अथवा विवाह में दूल्हे बने हुये दीवान आदि गौकर के पीछे चलते
हुये राजा की तरह (क्योंकि वहाँ राजा की अपेक्षा दूल्हा की प्रधानता रहती है) रस की
अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य में 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार हो सकता है,
तो हम प्रधानतया ध्वनित होने वाले भाव को भी पर्यन्त में रस-व्यञ्जक मान लेते हैं,
परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि देश-काल अवस्था
और स्थिति आदि (जो विभाव-अनुभाव से भिन्न है) अनेक पदार्थों से बने हुये श्लोक के
वाक्यार्थ में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त भी है
और रस का व्यञ्जक भी है । सारांश यह है कि यह लक्षण किसी भी प्रकार से सद्गत नहीं
हो सकता ।

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्यति—

नापि रसामिव्यञ्जकचर्चणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिचर्चणाया-
मतिप्रसङ्गवारणाय चर्चणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

'कालागुरुद्रवं सा, हालाहलवद् विजानती नितराम् ।

अपि नीलोत्पलमालां, बाला व्यालावलि किलामनुते ॥'

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारज्ञानेऽतिव्याप्तेः, तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन
रसामिव्यञ्जकचर्चणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च ।

ननु रसामिव्यञ्जकत्वे सति, चर्चणादिपयोमूलत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य
लक्षणमस्तु, रसामिव्यञ्जकत्वमात्रविशेषणे भावचर्चणायातिव्याप्तेर्वारणाय चर्चणाविषयी-

भूतस्त्वमपि चित्तवृत्तिर्विशेषणमुपात्तम्, तथा च भावादिकर्षणायां चर्षणाविषयत्वाभावात्-
तिव्याप्तिरिति पूर्वपक्षः ।

‘सा दयनीयदरापन्नत्वेन प्रसिद्धा, बाला सदसद्विषयैकविधुरा मम सखी, बालागुरुद्वयं
कृष्णागुरुसमपि हालाहलवत् गरलतुल्यं, विजानती, नीलोत्पलानां कुलप्यानां, मालामपि,
श्यालवलिं कृष्णसर्पश्रेणीम्, श्यामनुते सर्वथा मन्यते, इत्यर्थके नायकं प्रति वियोगिण्या
सङ्घोक्ते ‘काले’त्यादिषु, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्वयाधिष्ठानकस्य हालाहलसादृश्यप्रकारक-
चित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसानुभावत्वाद् रसाभिव्यञ्जकतया चर्षणा-
गोचरतया च तत्रातिव्याप्तिः स्यादती नेदं लक्षणं युक्तमित्युत्तरपक्षः ।

नागेशभट्टास्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावभित्त्वमपि निवेश्यतिप्रसङ्ग वारयन्ति ।

अथ यदि कोई यह लक्षण बनावे कि ‘उस चित्तवृत्ति को ‘भाव’ कहते हैं, जो रस को
अभिव्यक्त करनेवाली चर्षणा (आस्वाद) का विषय हो—उस आस्वाद में आ जाती हो ।
यहां ‘रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति का नाम भाव है’ इतना ही लक्षण करने पर भावों की चर्षणा
(आस्वाद) में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी रस को अभिव्यक्त करती है और
चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः ‘चर्षणा-विषय’ यह विशेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया,
जिससे उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो गया, क्योंकि चर्षणा, चर्षणा का विषय नहीं होती,
यह समझना चाहिये । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि—‘अगर-काष्ठ को जहर के
समान समझने वाली वह बाला (भले घुरे के ज्ञान से शून्य मेरी सखी) नील-कमलों की
माला को भी, मानो, सर्पों की पङ्क्ति मानती है’ एतदर्थक, नायक के प्रति विरहिणी की
सखी के द्वारा कहे गये ‘कालागुरुद्वय सा’...’ इत्यादि पद्य में जो ‘कालागुरु (अगर)
को जहर के समान समझती है’ इत्याकारक नायिका के ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस
ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभव है—वियोग
कालिक प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद
रस का व्यञ्जक भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसाभिव्यञ्जक चर्षणा का विषय है और
चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है । नागेश भट्ट उक्त लक्षण
में ‘अनुभावभित्त्व’ यह एक और विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करते हैं । यहाँ
हिन्दी रसगङ्गाधर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—‘हस स्यात्
पर, सहृदयभावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है, उसमें लक्षण की अति
व्याप्ति हो जायगी । वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ
है—इत्यादि’ परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सङ्गत नहीं जँचता, क्योंकि—सहृदय भावक
को जहर की बराबरी का ज्ञान कैसे होगा ? उस ज्ञान की उत्पत्ति तो वियोग कालिक प्रेम
से होती है, और सहृदय वियुक्त प्रेमी नहीं रहता, हाँ, नायिकानिष्ठ उक्त ज्ञान वा ज्ञान
सहृदय को अवश्य होता है । परन्तु वह ज्ञान—ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस व्यञ्जक ही ।

गत्यन्तरविरहाद् भावत्वमखण्डोपाधि मन्यमानानां मतनपाकरोति—

नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात् ।

भावत्वमिदमखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निर्गदितुं न शक्यम्, भाव-
त्वस्याखण्डोपाधित्वाङ्गीकारेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानाभावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि निर्वक्तुं
शक्यत्वात् ।

यदि वारी कहें कि भावत्व अखण्ड उपाधि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई
आवश्यकता नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—भावत्व को अखण्ड उपाधि मानने में
अनुगत प्रतीति आदि जो ज्ञापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड
उपाधि बिना माने भी निर्वाह हो सकता है, फिर वैसा मानना निरर्थक भी है ।

इत्थं परकीयलक्षणानि प्रतिक्षिप्य, स्वकीयं लक्षणमुपक्षिपति—

अत्रोच्यते—

विभावादिभ्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ।

विभावादिभ्यज्यमानत्वे सति, हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वम् । हर्षादियत्तु विरादनन्तरं निरूपयिष्यन्ते । विशेषणानुक्तौ वाच्यहर्षादियु, विशेष्यानुक्तौ च रसादिध्वतिव्याप्तिः ।

अन्यतमत्वस्य लक्षणकुक्षिप्रवेशे यौरचं, तत्परिहरणं च भया प्रागेवोपन्यस्तमवसेयम् ।

उक्तं रीति से परकीय-भाव लक्षणों का रण्डन करके अथ स्व-सम्मत सिद्धान्तमूल 'भाव' का लक्षण करते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि । विभाव आदि से ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदिकों (जिनकी गणना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम 'भाव' है ।

स्वलक्षणं प्राचीनोक्त्या द्रवयति—

यदाहुः—

'व्यभिचार्यञ्चितो भावः' इति ।

अज्ञितोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थं । अन्यत्र तु प्राधान्ये-नाभिव्यक्तौ व्यभिचारी, अपुष्टः स्यादी च भावः स्थितः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'व्यभिचार्य' इत्यादि । अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभिचारी-भाव को 'भाव' कहते हैं ।

अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्तिं मतत्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधा दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

हर्षादीनां च सामाजिकक्रमात्तानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः ।

न्यायस्तुल्यता ।

वासनारूपेण सामाजिकानां हृदये स्थितानां काव्यनाट्योपस्थापितैरविशद्वैविध्यैश्च भावैरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव प्राधान्यमुपलब्धवता हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे प्राद्युपन्यस्तं प्रथमं सिद्धान्तमतम् ।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में मित्र-भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बतलाये हैं, अथ ग्रन्थकार उन्हीं तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-भूत तरीके का उल्लेख करते हैं—'हर्षादीनाञ्च' इत्यादि । सामाजिकों नाटकादिके देखनेवालों और काव्यके पढ़ने सुनने वालों में वासनारूप से जो हर्षादिक रहते हैं, उन्हीं की स्थायीभावों की तरह अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् वासनारूप से सामाजिकों के रहने वाले और काव्य अथवा नाटक से उपस्थित किये गये अनुकूल तथा प्रतिशूल सभी तरह के भावों से नहीं दबाने योग्य स्थायीभावों की जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान बने हुये हर्ष आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

द्वितीयं मतमाचष्टे—

साऽपि रसन्यायेनेति केचिन् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकानां हृदये स्वभावतो विद्यमानोऽपि पिहितो विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वो-द्वेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भ्रमावरणविदानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्य-ज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्वेकेण भ्रमावरणचिद्विशिष्टा हर्षादयो भावा अपि सामाजिकहृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रसनिरूपणे केनचित्पुनरेवोपन्यस्तं द्वितीयं मतम् ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भावों की अभिव्यक्ति रस की तरह होती है अर्थात् जैसे, सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला भी आत्मानन्द भविष्या से ढका रहता है, पर काव्यगत अलौकिक ध्यापार से उस भविष्यमक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है और उसी आवरणमुक्त स्थायीभाव से उपहित चिदानन्द को रस कहा जाता है, उसी तरह आचरणमुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं ।

तृतीय मतमुपादत्ते—

व्यङ्गयान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यते ।

व्यङ्गयान्तरं रसभिर्जं वस्तुरूपमलङ्काररूपं च ।

वाचकशब्दाद् वाच्योपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन यथा वस्त्वलङ्काररूपो व्यङ्ग्योऽपि श्रोतृणा हृदयेऽभिव्यज्यते, तथैव विभावादिवाचकतत्तच्छब्द-प्रत्ययान्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतृणा हृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रस-निरूपणोऽपर इत्यनेनोपन्यस्त तृतीय मतम् ।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यङ्ग्यों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् जैसे काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद वक्ता एव बोद्धव्य आदि के ज्ञान-द्वारा वस्तु अलङ्काररूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं ।

अथैषा भावानामभिव्यक्तौ कारणं परीक्षते—

विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः ।

अत्र भावव्यञ्जने विभावानुभाववैव व्यञ्जकौ, न तु स्वातिरिक्तौ व्यभिचारिभावो व्यञ्जकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिव्यक्तिकुक्षिप्रवेशे कदाचिद् तस्यैव प्राधान्यस्य सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकत्वमत्र भाषीक्रियत इत्याकृतम् ।

अब इन भावों के व्यञ्जक कौन हो सकते हैं ? इस बात की परीक्षा करते हैं—'विमानुभावो' इत्यादि । विभाव और अनुभाव ये दो ही भावों के व्यञ्जक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभिचारी (जिसको प्रधान व्यङ्ग्य होने के नाते भाव कहते हैं) के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी को व्यञ्जक मानना आवश्यक समझा जायगा, तब वही (व्यञ्जक व्यभिचारीभाव ही) प्रधान हो जायगा । कारण यह है कि जैसे यह (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वह (व्यञ्जक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यञ्जकता उसमें अधिक है । अतः भावों के दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यञ्जक मानना उचित है ।

प्रकरणादीना तात्पर्यनियामकरत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधान्यापत्ते सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयमेवेति सिद्धान्तपक्षमाह—

यस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीयसाम-ग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया तनिमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादी या गर्वस्य ।

प्रकरणादिबलात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावस्य व्यञ्जिका या सामग्री, तथैव-विनाभावित्वेन यतो व्यञ्ज्यमानोऽपरो भावो भवति, तस्मात् स्वल्पतया भासमानोऽपि परो-व्यभिचारिभाव-प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावानुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य

भावव्यपकताङ्गीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः । अत एव गर्वाद्दे भवेदङ्गिति, व्यभिचार्यन्तरस्या-
मर्पस्य, अमर्पादौ चाङ्गिति गर्वस्याङ्गत्वं न विरुद्धमित्यभिप्रायः ।

वस्तुतः तो जय प्रकरण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जायगा, तब उसको ध्वनित करने वाली सामग्री के द्वारा, अन्यभाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही नहीं हो सकता, इस कारण यदि कोई अन्य भाव ध्वनित हो भी जाय और यह प्रकरण प्राप्त भाव को अपेक्षा दुर्बल होने के कारण उसका अङ्ग बनकर रहे तो कोई हानि नहीं— अर्थात् प्रकरण आदि की सहायता से प्रबल बना हुआ एक भाव जब प्रधान हो जायगा, तब दूसरा भाव अन्यथासिद्ध के रूप में अभिव्यक्त होकर भी दुर्बल रहेगा, अतः प्रधान हो नहीं सकता, इसलिये यदि विभाव अनुभाव की तरह ध्वनिचारीभाव को भी भावों का व्यञ्जक माना जाय तो किसी हानि की सम्भावना नहीं है । जैसे कि गर्व के प्रधानतया व्यङ्ग्य होनेपर अमर्प अङ्ग और 'अमर्प के प्रधान व्यङ्ग्य होने पर गर्व अङ्ग होता है ।

नन्वेकस्मिन् भावेऽङ्गिति परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्गपत्त्वं, न तु भावध्वनित्वं
तत्र स्यादित्याशङ्क्य समादधाति—

न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव
(भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् ।

यत्र प्रधानभावव्यञ्जिकाया विभावानुभावरूपतामप्रया गिज्ञया सामप्रया भावान्तरम-
भिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारकारणत्वम्, न त्वङ्गत्वेनैव ।
प्रकृते तुमयोरेकैव सामग्री व्यञ्जिका, सस्मान्नात्र गुणीभूतत्वं सम्भवतीति भावः ।

यदि आप कहें कि इस तरह भाव-ध्वनि-स्थल में एक भाव को अङ्गीरूप में और दूसरे भाव को अङ्ग रूप में व्यङ्ग्य मानने पर वह काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहलायगा 'भाव-ध्वनि' नहीं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान भाव को व्यक्त करने वाले विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त विभाव और अनुभाव से जो गौण भाव व्यक्त होता है, अत एव प्रधान भाव के व्यङ्ग्य होने पर जिसका व्यक्त होना आवश्यक नहीं, अपि तु आकस्मिक है, वही काव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्य-व्यवहार का कारण होता है, भाव-ध्वनिस्थल में तो अङ्गभूत भाव भी उन्हीं विभाव-अनुभावों से अभिव्यक्त हुआ रहता है, जिनसे अङ्गीभाव ध्वनित होता है, अतः वहाँ का अङ्गभूत भाव-व्यङ्ग्य, गुणीभूत-व्यङ्ग्यता का नियामक नहीं बन सकता ।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वने-
रुच्छेद एव भवेत् ।

अत एवाभिलसामग्रीव्यङ्ग्यतादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बन्धयोर्भावयोर्युगप्रधानभावा-
भावः । अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावाभ्युपगमे गर्वादिभावध्वनाव्यमर्पादिभावानामभिल-
सामग्रीव्यङ्ग्यताया बलाद् गुणीभूतव्यपदेशैः सर्वत्र प्रकृते, भावध्वनिव्यपदेशस्य सर्वथा लोप एव
स्यादित्यर्थः ।

जिसलिये उक्त रीति से आकस्मिक भाव ही अङ्गभूत होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता का कारण होता है, इसीलिये भावध्वनिस्थल में प्रधान भाव से भिन्न उसी भाव की ध्वनि होती है, जो नान्तरीयक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनित होने पर जिसका ध्वनित होना आवश्यक होता है—अर्थात् जो प्रधान भाव-व्यञ्जक-सामग्री से ही व्यक्त हुआ रहता है । तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि स्थल में प्रधान भाव से भिन्न उस भाव की ध्वनि नहीं होती, जिसका प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनित होना विधित नहीं है । अन्यथा (यदि प्रधान भाव-ध्वनि के साथ विचलित ध्वनित होने वाले अङ्गभूत भाव भी गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व-

व्यवहार के कारण हों, तब) गर्वादिभावध्वनि का लोप ही हो जाय, कारण यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-स्थल में अङ्गरूप से नियमतः ध्वनित होने वाले अमर्ष आदि को लेकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का व्यवहार ही सर्वत्र हो जायगा ।

विभावस्य भावे निमित्तकारणता वक्ति—

विभावस्त्वन्न व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्येव सर्व-
थैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते ।

अत्र भावध्वनौ । यथा रसे व्यञ्जनीये विभावस्यालम्बनतयोद्दीपनतया चापेक्षा भवति,
तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभावं प्रति विभावस्य निमित्त-
कारणतैव सामान्यत इत्यर्थः ।

विभावपद से यहां व्यभिचारीभाव के साधारण निमित्तकारण का ग्रहण समझना
चाहिये, न कि रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है ।

विरोपमाह—

यदि तु क्वचित् सम्भवः, तदा न वार्यते ।

क्वचित् कस्मिंश्चिद्, भावे व्यञ्जनीये सति, आलम्बनविभाववदुद्दीपनविभावस्यापि यदि
सम्भव स्यात्, तदा ते आलम्बनोद्दीपने न वार्यते । अत एवाग्रे रसाभासोदाहरणप्रसङ्ग उद्दी-
पनस्याप्युपादानं नासङ्गतम् ।

यदि कहीं किसी खास भाव की ध्वनि में विभाव का आलम्बन और उद्दीपन होना
भी सम्भव हो, तो उसका निषेध भी नहीं करना है । अत एव आगे रसाभास के उदाहरण-
प्रसङ्ग में आलम्बन के जैसे उद्दीपन की भी कोई गई चर्चा असंगत नहीं होती है ।

भावरूपता प्राप्तान् हर्षादीन् क्रमेणोद्दिशति—

हर्षादयस्तु—

हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-अम-गर्व-
निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्त-विचोधा-अमर्षा-अवहित्योप्रतोन्माद-मरण-वि-
तर्क-विपादात्सुक्या-अवेग-जडता-अलस्या-असूया-अस्मार-चपलताः ।

प्रतिपक्षकृतधिकारादिजन्मानिर्वेदथेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः । गुरु-
देव-नृप-पुत्रादिविषयारतिथेति चतुस्त्रिंशत् ।

भावानामिहोदेशक्रमः प्राचीनप्रत्यप्रतिकूल ।

हर्षप्रभृतयस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभाषा गुर्वादिविषयकरतिथेति चतुस्त्रिंशद् भव-
सन्तीत्यर्थः ।

इह गुर्वादिविषयकरतिरिति 'रसावस्थः परं भाव स्थायिता प्रतिपद्यते ।' 'रत्यादिष्वेधि-
रङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽथवा । अन्याहभाषभाग् वा स्यात् तदा स्थायिरङ्गभाक् ।' 'रत्या-
द्योऽप्यनियते रसेऽस्युर्व्यभिचारिणः' 'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषयारति । उद्बुद्धमात्र
स्थासौ च भाव इत्यभिधीयते ।' इत्यादिदर्शनात् सामग्रीविरहेणाप्राप्तसरसाभावानामन्येषामपि
स्थाविभावानामुपलक्षणम् ।

अब भावों का परिगणन करते हैं—'हर्षादयस्तु' इत्यादि । भावों की कुल संख्या
३४ है । उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, मद,
अम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विचोधा, अमर्ष, अवहित्या, उप्रता, उन्माद,

मरण, वितर्क, विषाद, श्वासुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मर, चपलता और प्रति पत्नी के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद वे ३३ व्यभिचारी हैं और चौतिसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र आदि के विषय में होने वाला प्रेम ।

ननु पुत्रादिविषयकरतिस्वार्थिकं वात्सल्यनामकं रसान्तरमेवान्यत्रोच्यमिति कुतोऽत्र सत्रतेर्भावत्वेन गणनेत्याशङ्क्यं निराकरोति—

एतेन वात्सल्यारूपं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्, उच्छृङ्खलताया मुनिवचनपराहतत्वात् ।

रससङ्घवात्कीकारे भरतमुनिवचनस्यैव व्यवस्थापकत्वं यतः प्राग् रसनिरूपणेऽनायत्याऽ-
ङ्गीकृतम्, अतस्तेनैव मुनिना पुत्रादिविषयकरतेर्भावत्वेन व्यवस्थापनाच्च वात्सल्यरसोऽ-
स्तीति सारम् ।

अथ किसी किसी विद्वान् ने जो 'वात्सल्य' को रस माना है, उसका खण्डन करते हैं—
'एतेन' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पुत्र आदि विषयक प्रेम को उक्त भावों की श्रेणी में क्यों गिनते हैं ? जब कि अन्य विद्वान् उसको 'वात्सल्य' नामक रस मानते हैं और पुत्र आदि को उस रस का आलम्बन आदि । इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि 'वात्सल्य' नामक कोई रस नहीं हो सकता, क्योंकि भरत मुनि ने ऐसा नहीं माना है और उच्छृङ्खलता उनके वागे चल नहीं सकती, अतः भरत मुनि के कथनानुसार उसे भाव मानना ही उचित है ।

इदानीमेकैकशो हर्षादीन् निरूपयितुमुद्यत उदेशक्रमेणादौ हर्षं निरूपयति—

तत्र—

इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ।

इष्टप्राप्त्यादिजन्म सुखविशेषो हर्ष इति लक्षणम् । भावत्वेनास्य चित्तवृत्तिविशेषरूपता ।
अथ क्रमशः उक्त भावों में से एक एक का निरूपण, लक्षणोदाहरणादि-प्रदर्शन द्वारा करते हैं ।

(अभिलषित वस्तु की प्राप्ति आदि से जो एक तरह का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं ।)

आदिपदप्राप्त्यविभावैः सहास्यानुभावान् दर्शयितुमन्यदीयमपि लक्षणं वक्ति—

तदुक्तम्—

'देव-भर्तु-शुरु-स्वामिप्रसादः प्रियसङ्गमः ।

मनोरथासि रप्राप्यसतोद्हरधनागमः ॥

तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेविभावो यत्र जायते ।

नेत्र-वक्त्रप्रसादश्च, प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥

अश्रुस्वेवादयश्चातुभावा हर्षं तमादिशेत् ॥' इति ।

भर्ता पतिः स्वामी त्वन्यपतिः । पुत्रायुत्पत्तिपर्यन्तं हर्षस्य निमित्तानि विभावाः, नेत्र-
प्रसादादयश्च नैमित्तिकान्द्रशुभावाश्च यत्र जायन्ते, तं हर्षमादिशेदित्यन्वयः ।

हर्ष का परिभाषा प्राचीनों ने भी इसी तरह की है, जैसे—'देवभर्तु इत्यादि जिसका अर्थ यह है कि—देवता, पति, गुरु और स्वामी (अर्थात् पति) की प्रसन्नता, प्रिय समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और शोभ-जनक धन का लाभ या पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता प्रियवचन, रोमाञ्च, आँसू और प्रवेद आदि जिनके अनुभाव होते हैं, उसको हर्ष कहना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं कथयति—

‘अवधौ दिवसावसानकाले, भवनद्वारि विलोचने दधाना ।

अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी धभूय ॥’

अवधौ प्रतिज्ञातागमनसमयसीमनि, दिवसस्यावसानकाले गोधूलिसन्धये, भवनस्य द्वारि दूरादेव मम दिदृक्षया विलोचने रणरणकतिरेकेणोभे अपि नयने, दधाना संयोजयन्ती रामा, तदा तदवसरे समागतं प्राप्तं माम्, अवलोक्य, अथ हर्षोद्भवानन्तर, विकसन्मुखी विहसद्ददना, धभूवेत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—‘अवधौ ’ इत्यादि । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आगमन के अवधि-दिन की गोधूलि बेली थी, प्रियतमा ने घर के द्वार पर अपनी आँखें बिल्ला रखी थीं—मेरे दर्शन की प्रतीक्षा में उसकी आँखें एकटक द्वार की ओर लगी थीं, उसी समय उसने मुझे आया हुआ देखा, फिर क्या था, हर्ष से उसका मुख खिल उठा ।

अत्र हर्षस्य विभावमनुभावं चाह—

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः, मुखविकासोऽनुभावः ।

विभावावुभावज्ञानं भावज्ञानसाधनम् ।

यहां प्रियका आगमन विभाव और मुख का खिल उठना अनुभाव है ।

स्मृतिं निरूपयति—

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।

अनुभवज्ञानानां क्षणत्रयमात्रावस्थायित्थे विलम्बेन स्मरणानुपपत्ते स्मृतिं प्रति ज्ञानस्य कारणता निरस्य चिरस्थायिन संस्कारस्यैव कारणता निर्णयन्ति नैयायिका रत्यनुभावजन्य-संस्कारजन्य ज्ञानं स्मरणमवलेपम् । तदुक्तम्—‘स्मृतिं पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते’ इति ।

किन्हीं वस्तुओं के दर्शनात्मक-श्रवणात्मक आदि ज्ञान से जो हृदय में संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम ‘स्मृति’ है । दार्शनिकों के विचारानुसार सभी ज्ञान (अपेक्षा बुद्धि को छोड़कर) तीन ही चरण रहते हैं, अतः ज्ञान को स्मरण के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, इसलिये अनुभव-जन्य-संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मरण कहा गया है, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये ।

उदाहरति—

यथा—

नायको विमृशति—

‘तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि,

सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः ।

अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !,

सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥’

द्वितीयचरणान्ते समुच्चयार्थकथकार आक्षेप्य, अथवा—‘गामश्व पुष्प पशुम्’ इत्यत्रैव तदर्थप्रतीतिर्बोध्य ।

सायन्तनाम्बुजस्य निमीलन्मुखकमलस्य सहोदरसदृश लोचन यस्या सा तादृशी, तस्या विलासश्रमेण वस्तुतस्त्वानन्दतिरेकेण निमीलयनाया प्रेयस्या, तत्र पूर्वानुभवैक-

गोचरोभूतं मधुमुग्धं मन्दहसितं स्मितम्, तानि श्रुसितानि भ्रगादिजन्मदाताः, सा कलङ्क-
विपुरा निष्कलङ्काऽत एव पूर्णेन्दुसुपमापेक्षयाऽपि मधुरा मनोहरा, आननप्रोर्वदनशोभा च
(स्मर्यमानानि) हन्त ! वत !, मे मम हृदयं मानसम्, अपुनाऽसाक्षिष्यकालेऽपि, उन्मद-
यन्त्युवतां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

जैसे—

नायक अपने मन में सोचता है अथवा किन्नी मित्र से कहता है कि—सायंकालिक
कमलों के समान, अर्ध-मुद्रित नयनों वाली प्रियसी का यह सुन्दर मन्द हास, वैश्रास, बड़
निष्कलङ्क और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को पारल बना रही हैं ।
विभावादि प्रतिपादयति—

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः, ध्रुन्नति-गात्रनिश्चलत्यादय आक्षेपगान्था अनुभावाः ।

चिन्ताविशेषस्य भावताह्यसंस्काररूपस्य स्मृतौ निमित्ततया विभाषत्वम्, अनुक-
त्वादाक्षेपबोधना ध्रुन्नतिप्रयत्नानां च कार्यत्वादानुभावत्वमाशङ्कनीयम् ।

यहां एक तरह की चिन्ता विभाव है, झू-उता का उन्नयन, शरीर का निश्चलीमवन-
आदि जो वाक्य नहीं हैं, फिर भी आक्षेप से समझ में आ जाते हैं—अनुभाव हैं ।

इशोदाहरणे विप्रलम्भध्वनित्वमाशङ्क्य निरस्यति—

यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः सञ्चारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपद-
गम्यस्य हृदयैकल्यरूपानुभावस्य संयोगाद् विप्रलम्भरसाभिव्यक्ते रसध्वनित्वं
शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तदुध्वनित्वमुक्तम् ।

विभावस्यालम्बनस्य । पुरोऽप्रे स्फूर्ति-प्रतीतिर्यस्याः सा पुरस्फूर्तिकी, तस्या भाव-
स्तत्पदम् । तदुध्वनित्वं स्मृतिध्वनित्वम् ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकारूपालम्बनविभावस्य, हन्तपदव्यङ्ग्यहृदयैकल्यरूपानु-
भावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरतौ सन्बन्धाद् विप्रलम्भध्वनिरेवेति
शङ्काया —पथाद्भवन्त्याभत्यचमत्कारायां सत्यामपीह विप्रलम्भप्रतीतिः, पुरो भावित्वाद्-
धिकचमत्कारवत्त्वाच्च स्मृतिप्रतीतिः, स्मृतिभावध्वनित्वमेवात्रेति समाधानम् ।

यद्यपि यहां नायिकारूप विभाव 'हन्त' अथवा 'हाम' पद से व्यक्त होने वाला हृदय
की विकलतास्य अनुभाव और स्मृतिरूप सञ्चारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ-व्यङ्ग्य-रस
की अभिव्यक्ति होती है, अतः यहां रस-ध्वनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव-
ध्वनि इसलिये कही गई कि पहले स्मृति की ही प्रतीति होती है और चमत्कारिणी
भी है, हां । पथात् उक्त रस भी ध्वनित हो सकता है, तो हो, पर उसमें उतना चमत्कार
नहीं होगा ।

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीभूतार्थवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपामा स्मृतेरपि तद्वाच्यतया
कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याराद्धा नतद्वयेन समादयति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये-बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानु-
गमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि
स्मृतिध्वनेन स्मृतेर्यक्तिवैद्यतैव ।

'तच्छब्दस्य प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽर्थबोधकत्वस्य दर्शनादर्थोदिपदवचनार्थ-
कत्वापत्तेर्वारणाय, बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षित-तत्तदमवच्छिन्ने शक्ति । न च
तथापि शक्यताऽवच्छेदकमेदाच्छक्तिर्भेद, शक्यताऽवच्छेदकानां ज्ञानात्वेऽपि, तेषामनु-
गमकस्य बुद्धिरिषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छेदो रैक्यमेव, ननु नानात्वम्,

इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधर्मकुक्षिप्रवेशेऽप्युपलक्षणतया वाच्यत्वा-
भावाद् ध्वन्यमानत्वमशतमेव । तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने शक्तिरिति मतेऽपि,
बुद्धित्वेन सामान्यधर्मेण स्मृतेर्वाच्यतायामपि स्मृतित्वेनासाधारणधर्मेणावाच्यावाद् ध्वनित्वे
न किञ्चिद्वाचकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषभावो बोध्यः ।

ननु द्वितीयमते बुद्धित्वेनाभिधया बोध्यमानाया एव स्मृतेः स्मृतित्वेन व्यङ्ग्यताङ्गीकारे
'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपात्तस्य—'व्यङ्ग्यस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यानालिङ्गितस्यैव चमत्का-
रित्वादित्यालङ्कारिकसमयः' इति स्वकीयग्रन्थस्य विरोध स्फुट एवेति चेत्, उच्यते—
वाच्यताऽवच्छेदके व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्तदन्यो वा यत्रैक एव
धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र तु सामान्यविशेषभावा-
दिनाऽपि तदर्थयोस्तनीयानपि भेद, तत्र नाय नियम, तथा च 'शयिते'त्यादौ वाच्यताऽ-
वच्छेदकस्य मनोरथत्वस्य, व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छात्वस्य च घटत्व-कलशत्ववदवयवम्,
इह तु बुद्धित्व-स्मृतित्वयोर्गुणात्वशान्त्वत्वात् सामान्यविशेषभावाद् भेदस्तस्मान्न दोष
इति व्याख्यातारः ।

यहां एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयीभूत अर्थ' है,
तब तो बुद्धि भी उसके वाच्य की श्रेणी में आगई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि
(ज्ञान) ही है, अतः स्मृति यहां व्यङ्ग्य कैसे होगी ? क्योंकि वाच्य अर्थ को आलङ्कारिक
लोग व्यङ्ग्य नहीं मानते, इसी शङ्का का उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'तदादे' इत्यादि । अभि-
प्राय यह है कि तत्पद के घट-पट आदि अनेक अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वह
(तत्पद) भी नानार्थक क्यों नहीं माना जाय ? यह प्रश्न जब उठा, तब सभी दार्शनिकों
ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई पद नानार्थक नहीं होता,
वरन् किसी पद में अनेक अर्थ गिरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नानार्थक होता
दे, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एका-
र्थक ही कहलाता है और शक्ति के एक होने के नियम ये हैं कि यदि शक्य एक हो, तब
शक्ति एक, यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक हो, तब भी शक्ति एक, यदि
वह भी अनेक ही हों, तब भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के एक होने पर शक्ति एक ही
होती है, सारांश यह कि शक्य के पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक धर्म हो, तो शक्ति
एक होती है । इस पर प्रश्न उठा कि तत्पद में शक्ति एक है ? या अनेक ? इसका उत्तर
भी सबों ने समान ही दिया कि—एक । इसके बाद यह प्रश्न सामने आया कि—क्यों ?
अर्थात् ऊपर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये हैं, उनमें से यहां
कौन सा नियम लागू होता है ? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये । कुछ
लोगों का मत है कि बुद्धिस्थ जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदवच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट
में तत्पद की शक्ति है । जैसे—घटत्व-पटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धिस्थ
कर लेने पर तद्विशिष्ट घट-पट आदि में तत्पद की शक्ति होती है । इस मत के अनुसार
तत्पद से घट-पटादि का बोध असाधारण अर्थात् घटपटादिरूप में ही होता है । इसी
घात को कुछ लोग 'बुद्धि-विषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न' में तत्पद की शक्ति
है' इस रूप से भी कहते हैं, तत्पर्य एक ही है । इस तरह से शक्ति मानने पर यद्यपि
तत्पद के शक्य घट-पट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (उक्त प्रकार) घटत्व-
पटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक घटपटादिकों का अनुगम
करने वाला, शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक, बुद्धिस्थत्व अथवा बुद्धिरूप उपलक्षक धर्म एक
है, अतः शक्ति एक ही होगी और तत्पद नानार्थक नहीं होगा । अन्य लोगों का मत
इससे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—तत्पद की शक्ति बुद्धिस्थावावच्छिन्न में है,

इस मत के अनुसार तत्पद से घट आदि का बोध असाधारण घट आदि के रूप में नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धिरूप के रूप में। इसप्रकार शक्ति मानने पर तत्पद के शक्य घटादि तो अनेक हुये, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धिस्थय एक ही हुआ और अनुगत भी, अतः इस मत में भी अनेक अर्थ निरूपित एक ही शक्ति तत्पद की मिद्ध हुई, इस मत में शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक पर्यन्त, अनुगम के लिये अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह लाघव है। फलतः इस मत के अनुसार भी तत्पद वानार्थक नहीं कहा सकता। अस्तु, ये तो हुये दार्शनिकों के झगड़े। अब प्रकृत में विचार यह करना है कि उक्त दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति (जिसकी ध्वनि यहां मानते हैं) तत्पद का वाच्य होती है या नहीं? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि प्रथम मत के अनुसार तत्पद के अर्थ में बुद्धि का स्थान तीसरे दर्जे—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक में है और किसी भी पद की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहती है अर्थात् शक्य और शक्यतावच्छेदक ही पद के वाच्य होते हैं, उसके आगे शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक नहीं वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहां शक्यतावच्छेदकों का अनुगम कराने के लिये उपलक्षण मात्र है, विशेष्य नहीं, फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि शक्यतावच्छेदक है और विशेष्य भी—उपलक्षण नहीं, अतः वह तत्पद का वाच्यार्थ अवश्य हो गया और स्मृति भी बुद्धिरूप होने से वाच्य हो गई, तथापि बुद्धिख्य इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य हुई, स्मृतिख्य रूप से तो स्मृति व्यङ्ग्य ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति के व्यङ्ग्य होने में कोई बाधा भी नहीं होगी। चाही यदि कहें कि—पहले आप कह आये हैं कि वही अर्थ व्यङ्ग्य हो सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-भूति (अभिधा) का स्पर्श न हो, अत एव आपने 'शयिता सविधे'... इत्यादि पद्य में मनोरथरूपेण वाच्य धन चुकी सुम्बनेच्छाको व्यङ्ग्य नहीं माना है, फिर यहां आप बुद्धित्वेन रूपेण वच्य बनी हुई स्मृति को व्यङ्ग्य कैसे मानते हैं? यह तो आपकी परस्पर विरुद्ध बातें होती हैं, इसका समाधान यह है कि वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक (चाहे वह जातिरूप हो या अन्य कोई) धर्म जहां एक ही रहता है, वही वह अर्थ व्यङ्ग्य नहीं होता और चमत्कारी भी नहीं, जैसे 'शयिता'... इत्यादि पद्य में मनोरथरथ और इच्छात्व जो क्रमशः वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक है—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे घटाव और कलसत्व में कोई भेद नहीं है, वैसे उन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरथरथरूप से वाच्य हो जाने पर इच्छात्व रूप से व्यङ्ग्य नहीं होता।

पर यहां ऐसी बात नहीं है—अर्थात् बुद्धिख्य और स्मृतिख्य एक नहीं है, इन दोनों में सामान्यविरोधभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य होने पर भी स्मृतिख्येन व्यङ्ग्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? किंवा विरोध कैसे होगा? अर्थात् न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा।

स्मृतिरिह पदप्रकारयत्वं व्यवस्थापयति—

तस्याश्चात्र वाक्यवेदात्वेऽपि, पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविषयत्वम् ।
एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न धैचिन्त्यमिति परास्तम् ।

तस्या स्मृतेः । वाक्येन तन्मञ्जिख्यादिना । पदस्य तच्छब्दस्य । कुर्वद्रूपत्वं पैरुशब्द-
मपूर्वशक्तिरिति यावत् । एतेन पदप्रकारयव्यङ्ग्यत्वापि चमत्कारित्वातिशयानुभवेन ।

स्मृतेर्व्यञ्जकं यद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारापेक्षयाऽपि चमत्कार-
स्तात्पदव्यङ्ग्यत्वात् स्मृतेरेवात्तु भूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकारयध्वनित्वमेवात्र प्रतिद्वम् । एता-
वताभावानां पदप्रकारयत्वे नैव चमत्कारो भवतीति वदन्तः प्रत्युक्तान्, तथापि चमत्कृतोरानु-

भविकत्वात्, 'विच्छित्तिशोभिन्नैकेन भूयणेनेव कामिनी । पदयोत्येन सुकवेर्षमिना भाति भारती ।' इति ध्वनिकारानुपपत्त्वाच्च ।

यद्यपि यहां सम्पूर्ण वाक्य से ही स्मृति अवगत होती है, तथापि तत्पद ही कुर्वद्रूप है—अर्थात् वह एक पद ही स्मृति को ध्वनित करने में अप्रसर है, अतः यह 'पद-ध्वनि' का ही लक्ष्य माना जाता है । इससे लोगों की जो यह धारणा है कि—भाव यदि 'पद' के द्वारा ध्वनित हो, तो उनमें कुछ विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती, उसे नष्ट हो जाना चाहिये ।

प्रसङ्गाद्त्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्य प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः ।

नेत्रयोः सायकालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्वं, पश्चात्तदधिकारा आनन्दमग्नत्वं च व्यज्यत इत्याशयः ।

यहां नेत्रों को जो सायकालिक कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि नेत्र उत्तरोत्तर (आगे आगे) अधिक मुद्रित होते जा रहे हैं, जिससे नायिका की आनन्द मग्नता ध्वनित होती है ।

प्रत्युदाहरणमाह—

'दरानमत्कन्धरबन्धमीप-श्रीमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।

अनल्पनिश्वासभरालसाङ्ग, स्मरामि सङ्ग चिरमङ्गनाया ॥'

दरमीपदामन् नलोभवन् कन्धरावन्धो प्रीवाभागो यत्र, तम्, निमीलिते आनन्दातिरेकेण लज्जातिशयेन वा मुद्रिते, विलोचनान्त्रे नयनकमले यत्र, तम्, अनल्पेन भूयसा, निवासभरेण विलासायासजन्यनिरश्वासितभारेणालसानि शिथिलत्वात् क्रियानुन्मुखानि अङ्गानि यत्र, सादृशं च, अङ्गनाया लज्जनाया, सङ्ग चिरं स्मरामीत्यर्थः ।

अथ स्मृति-भाव का प्रत्युदाहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, चिरकाल तक, नायिका के उस सङ्ग का स्मरण करता रहता हूँ, जिसमें सरदन कुछ छुकी रहती है, प्रीति पगे, नयन कमल कुछ कुछ मुद्रित होते रहते हैं और अङ्ग आत्यधिक आस के कारण भलसाये होते हैं ।

समीक्षते—

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात् । नापि स्मरणालङ्कारः, सादृश्यामूलकत्वात्, सादृश्यमूलकस्यैव स्मरणालङ्कारत्वम्, अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात् । किन्तु विभाव एव सुन्दरत्वात् कथञ्चिद्रसपर्यवसायी ।

अत्र पद्ये स्मरामीति स्ववाचकशब्दवाच्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वाभावेन स्मृतिर्न भावः । न चैषा स्मृति स्मरणालङ्कार, सादृश्योद्भाविताया एव स्मृतेरलङ्कारत्वस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् । असादृश्यमूलक्यास्तु व्यङ्ग्याया स्मृतेर्भावित्वम्, वाच्यायास्त्वर्थमात्रता । एव स्थिताविह मनोहरस्य भायिकारूपालम्बनस्यैव माहात्म्यात् कन्धरेपलमन-नयनेपनिमीलनायनुभावस्य, तत्कारणतयाऽऽक्षिप्तस्य लज्जात्मकव्यभिचारिणस्य ससर्गाभायकनिष्ठरते शृङ्गाररसे पर्यवसानमित्याशयः । राजानकव्यकस्तु—वैसादृश्यमूलक्यामपि स्मृति स्मरणालङ्कारमङ्गीकृत्य 'श्रीरीपद्मद्वीगरिषु प्रपेदे, यदा यदा दुःखशतानि सीता । तदा तदाऽस्या भवनेषु सौख्य-लक्षाणि दृष्टौ गलदधु राम ।' इत्युदाहरणम् ।

यहां जिस स्मृति की प्रतीति होती है, उसे 'भाव' नहीं मान सकते, क्योंकि वह साक्षात् स्मृति-वाचक 'स्मरण' पद से ज्ञात होने से वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं, स्मरणालङ्कार यहां नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न स्मरण को ही 'स्मरणालङ्कार' मानते हैं और यहां वा स्मरण किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न नहीं हुआ है। इस तरह सिद्धान्त यह सिद्ध हुआ कि सादृश्यमूलक स्मरण 'स्मरणालङ्कार' होता है और जो सादृश्य मूलक नहीं हो, वह स्मरण यदि व्यङ्ग्य रहे, तो 'भाव' कहलाता है, अतः यहां का स्मरण सादृश्यमूलक और व्यङ्ग्य न होने के कारण 'भ्रंश' अथवा 'भाव' कुछ नहीं है। अब आप पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी बात है तो यहां चमत्कार का बीज ही क्या है, जिससे इस पद्य को काव्य कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि इस में वगित नायिकारूप विभाव ही रमणीय होने के कारण किसी तरह शृङ्गार-रस के रूप में पर्यवसित होता है और चमत्कार पैदा करता है, अत एव इस श्लोक को काव्य कहते हैं। यदा काश्चिद्' पद से जो अस्वारस्य सूचित होता है, यह यह है कि केवल विभाव तो रसरूप में परिणत हो नहीं सकता, अतः प्रीति के नग्रीभाव और नेत्रों के मुग्ध को अनुभाव मानकर उसके कारणरूप में लज्जारूप सञ्चारी का आचरण करना पड़ेगा, जो वलेश-प्रद है।

श्रीडा निरूपयति—

श्रीण, पुरुषमुखालोकनादेः, पुसां च प्रतिज्ञाभङ्ग-पगभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्यधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा ।

परामवो वैरिक्तः । वैवर्ण्यं वर्णान्ययामावः । पुरुषमुखालोकनादिजन्यः श्रीवृत्तिः, प्रतिज्ञाभङ्गादिजन्यश्च पुरुषवृत्तिवैवर्ण्यादिजन्यश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा लज्जेत्यर्थः । तदुक्तम्— 'सञ्चोचधेतसो व्रीडा वैवर्ण्यधोमुखत्वात्' इति ।

अब व्रीडा (लज्जा) का लक्षण करते हैं—'श्रीगान्' इत्यादि। श्रीयों में पुरुष-मुख-दर्शन आदिसे और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग एव पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली और विवर्णता एवं नताननता आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली जो एक तरह की चित्त-वृत्ति है, उसका नाम 'व्रीडा' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको मुग्धावृत्तं सत्तायं व्याहरति—

‘कुचकलशमुगान्तमामकीनं नखाङ्गं,
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना ।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य चाला गवाक्षे,
चकितनतनताङ्गी सद्यः संगो विवेश ॥’

बाला मुग्धा, कुचावेव पृथुलत्वादुन्नतत्वाच्च कलशौ तयोर्युगात्पथुम्भस्यान्तर्मध्ये, मामकीनं मया कृतत्वान्मत्पम्बन्धिनं, नखाङ्गं नखविहं, (रक्षसि) सपुलकतनु हर्षोद्भूतरोमावाधितशरीरं यया स्यात् तथा, मन्दं मन्दं शनैरशनैः, आलोकमाना पर्यवन्ती, गवाक्षे तद्दर्शनाद्वातायने, विनिहितवदनं स्थापितमुखं (पर्यवन्तं) मां वीक्ष्य, चकितान्याद्यर्थेन, नतनतानि नम्रतमानि च लज्जयाऽङ्गानि यस्यास्तादृशी, सद्यस्तत्काले, सद्यः गर्भगृहं विवेशेत्यर्थः ।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान विशाल तथा उन्नत दोनों उरोजों के मध्य में मेरे द्वारा ही किये गये नख-घट के चिह्न को पुलकितान्गी होकर धीरे-धीरे देखती हुई उस मुग्धा नायिका ने ज्यों ही शरीर में मुख ढाले हुये (अपनी ओर

देखते हुये) हमें देखा, क्यों ही वह चकित होकर अपने अङ्गों को सिकोदती हुई घर में भाग गई ।

उपपादयति—

अत्र प्रियस्य दर्शनम्, तेन नायिकाकर्तृकतत्कुचान्तर्यतिप्रियनखत्तावलो-
कनजन्य-हर्षावेदकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभावः । सद्यः सदनप्रवेशोऽनुभावः ।

तेन प्रियेण ।

ताभ्या विभावानुभाव्या प्राधान्येन लज्जाया व्यङ्गनास्त्रिज्ज्वनेरिदमुदाहरणम् ।

यहां नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके उरोजों में प्रिय के नख-चूत के देखने से उत्पन्न हुये हर्ष की सूचना देने वाले रोमाञ्च आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा तुरत घर में भाग जाना अनुभाव है । इन दोनों विभावानुभावों से प्रधानतया लज्जा चञ्चित होती है, अतः यह पद्य 'भाव-ध्वनि' का उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः सन्नायमाह्वयति—

'निरुद्धं यान्तीं तरसा कपोतीं, कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने ।

मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं, सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥'

मयि, तरसा वेगेन कपोतः त्रसाद्वा यान्तीं कपोतीं पारावतवधूं, निरुद्धपावकद्वय, कूज-
तो रिरंतया कलकलं कुर्वत, कपोतस्य, पुरोऽग्रे, ददाने स्थापयति, सति, स्मितेनार्द्रं स्तिमितं
वदनं, मन्दमन्दं सा प्रेयसी, नमयाम्बभूव नम्रीचकारेत्यर्थः ।

अथवा जैसे—'निरुध्य यान्तीम्' ... 'इत्यादि पद्य में । किसी मित्र के प्रति नायक का कथन है कि जब मैं वेग से दूर भाग कर जाती हुई क्यूतरी को बलजोरी रोक कर (कामातुरता के कारण) कूजता हुआ क्यूतर के आगे रख रहा था, तब उस नायिका ने (मेरे आचरण को देखकर) मन्द-हास से आर्द्र, मुख-कमल का घीरे घीरे नीचा कर लिया ।

उपपादयति—

पूर्वत्र त्रास इवात्रापि हर्षो लेशतया सन्नपि व्रीडाया अनुगुण एव । प्रियकर्तृकं
कपोतस्त्रासे कपोतः सप्रर्षणं विभावः, यदननपनपनुभावः ।

यथा पूर्वत्र 'कुचकलरो'त्यादौ चकितत्वेन लेशतया प्रतीयमानत्वासो लज्जाया पोषक-
त्वादनुगुण एव, न तु प्रतिकूल, तथैवात्र 'निरुद्धये'त्यादौ स्मितवदनत्वेन प्रतीयमानो
हर्षोऽपि न प्रतिकूल किन्तु व्रीडाया पोषक एवेत्यर्थः ।

जैसे 'कुच-कलश' ... 'इत्यादि पद्य में नायिका में 'चकित' विशेषण लगावसे त्रास ईषत् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा के अनुकूल (पोषक) हुआ है, उसी तरह यहां (निरुध्य यान्तीम् इत्यादि पद्य में) 'मन्दहास से आर्द्र' इस मुख-विशेषण से हर्ष किञ्चित् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा का पोषक ही होता है, विरोधी नहीं । नायक का क्यूतर के आगे क्यूतरी का रखना विभाव है और नायिका का मुख नीचा करना अनुभाव है, जिनसे यहाँ 'व्रीडा-भाव' अभिव्यक्त होता है ।

मोहं निरूपयति—

भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः ।

भयविशेषप्रवृत्तिभिर्व्याकुलत्वं, तेन च मोहो जन्यत इति प्रयोज्यत्वं निवेशितम् । मोहो
सति न कस्य वस्तुनस्तत्त्वाधारणं न भवतीति तदाख्यानम् । भयविजयव्याकुलत्वजन्यो

वस्तुतत्त्वानवधारणजनकचित्तवृत्तिविशेषो मोह इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘मोहो विचित्रता भीति-
दुःखावेगानुबिन्दनैः । घूर्णनाज्ञानपतन-अभगादर्शनादिकृत् ॥’ इति ।

अब मोह का निरूपण करते हैं—‘भय’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को ‘मोह’ कहते हैं जिसकी उत्पत्ति भय-विशेष आदि से उत्पन्न व्याकुलता के कारण होती है और जिसके कारण किसी भी वस्तु की यथार्थता को समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है— अर्थात् मोह के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का अन्तःकरण शून्य सा हो जाता है, जिससे वह किसी भी चीज को यथार्थरूप से समझने की शक्ति को खो देता है ।

नवीनमतमाह—

‘अवस्थान्तरशबलिता सा तथा’ इति तु नव्याः ।

सा चिन्ताख्या वक्ष्यमाणैव वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थानन्तरं गता चित्तवृत्तिरेव तथा मोहाख्येति तु नव्याः कथयन्तीत्यर्थः ।

नवीन विद्वानों का मत है कि ‘चिन्ता’ नाम की जिस चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जायगा, वही जय एक खास अवस्था तक पहुँच जाती है, तब ‘मोह’ नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् चिन्ता जब इस दशा को पहुँच जाती है कि सूक्ष्मा-समझना सब बन्द हो जाय, तब उसे मोह कहते हैं अतः चिन्ता से पृथक् उसकी (मोह की) गणना नहीं करनी चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

बालया मोहावस्थाव्यापारं वर्णयति—

‘विरहेण विकलहृदया, विलपन्ती दयित । दयितेति ।

आगतमपि तं सविधे, परिचयहीनेष वीक्षते चाला ॥’

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमना, अत एव दयित । दयित । क्वासीति विलपन्ती, सा बाल्य, सविधे समीपे, आगतमपि, तं दयितं, परिचयहीनाऽसज्जातपरिचयेव, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थः ।

अब मोह का उदाहरण देखिये—

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—‘प्यारे-प्यारे’ की रट लगाती हुई उस सुग्ध नायिका का हृदय विरह से हतना कातर हो गया है कि पास में आये हुए भी प्रिय को इस तरह देखती रह जाती है, जैसे उसके साथ उसका कभी का कोई परिचय ही न हो ।

अत्र विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र कान्तविद्योगो विभावः, इन्द्रियवैकल्यं लज्जाद्यभावश्चानुभावः ।

इन्द्रियाणां वैकल्यं ग्राह्याग्राहणम्, तच्चात्र परिचितचरस्य पत्युद्युष्ट्या विषयीकरणेऽपि परिचयाभावात्, लज्जाऽभावश्च बाल्यत्वेऽपि पुरस्यस्य पत्युस्तथादर्शनादवयती विभावानुभावौ नायिकाया मोहरूपं भावं व्यङ्ग्यं ।

उक्त पद्य में प्रिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) की विकलता (ज्ञान-शक्ति का लोप) तथा लज्जा आदि का अभाव अनुभाव है । लज्जा का अभाव यहाँ इस बात से प्रतीत होता है कि नायिका बाला होकर भी पति के सामने में (जय बाला की लज्जालुता प्रसिद्ध है) अपरिचित सी देखती रह जाती है । उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की ध्वनि होती है ।

पुनरुदाहरति—

‘शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले, कङ्गोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालिं, कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥’

कान्ताया प्रियहस्तिन्या अपेतो विरहितः, कङ्गोलिन्याः सरितः, कूले तटे, शुण्डादण्डं शुण्डाहस्त एव दीर्घत्वादण्डस्तं, कुण्डलीकृत्य लम्बमपि वर्तुलं विधाय, कृत्यशून्यः स्वविधे-
यज्ञानविधुरः, गजेन्द्रो हस्तिराजः, अम्बु नद्या मूलं, दिनान्तरवत्, नैवाकर्षति करेण नैव पियति,
अम्बुजालिं सरसिजश्रेणीं चापि प्राग्वत्, नैवाकर्षति नैव गृह्णातीत्यर्थः ।

अत्र कान्तावियोगो विभावः, सरित्तटेऽपि सलिलावनाकर्षणमनुभावश्च वस्तुतत्त्वानव-
धारणरूप मोहमवगमयत । ‘कृत्यशून्य’ इति विशेषणैनाभिहितप्रायो मोह इत्यस्मात्पूर्वमेवो-
दाहरण रुचिरं प्रतिभाति ।

अथवा, जैसे—‘शुण्डादण्डम्’... ‘...’ इत्यादि पद्य में । कोई दर्शक कहता है कि—
हृषिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूंड को वर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ
कुछ सिकोड़ कर नदी के तट पर खड़ा तो है, परन्तु न जल को खींचता है और न कमलों की
पङ्क्ति को । यहाँ कान्ता का वियोग विभाव है और नदी के तट पर रह कर भी जल तथा
कमलों को न खींचता अनुभाव है, जिससे मोह स्पष्ट होता है ।

धृतिं निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतचित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

लोभ-शोक-भयादिभिर्जनितस्य, उपप्लवस्य चित्तशोभरूपोपद्रवस्य, निवारणे कारणी-
भूतचित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—‘अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहा पर्याप्तता धृतिः ।
सौहित्य-वदनोद्भास-सहासवचनादिकृत् ।’ इति ।

अब ‘धृति’ का निरूपण करते हैं—‘लोभ’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम ‘धृति’ है,
जिसके कारण लोभ, शोक और भय आदि से उपपन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

धीरं परामृशति—

‘सन्तापयामि हृदयं, धावं धावं धरातले किमहम् ।

अस्ति नम शिरसि सततं, नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥’

अहं (लोभेनाभिभूत) सतत धरातले (इतस्ततः) धावं धावं धावित्वा धावित्वा,
हृदयं मनः, किं कुत सन्तापयामि पीयामि । यत् परमं सर्वोत्कृष्टं, प्रभुः सर्वं कर्तुमर्ह-
मन्यया वा कर्तुं समर्थः, नन्दकुमारः कृष्णचन्द्रः) मम शिरस्यस्त्येवेत्यर्थः ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्यत्वकथनेन भारभूतत्वप्रतीतिश्चास्ताहानिरिति ‘अस्ति ममाग्रे’
इति पाठ समीचीन प्रतिभाति ।

‘धृति-भाव’ का उदाहरण देखिये—

किसी धैर्य-शाली पुरुष का मानसिक विचार है कि—मैं स्वयं भूतल पर हूँ-उपर
दौड़-दौड़ कर अपने हृदय को बर्षों सतस कर रहा हूँ । मेरे शिर पर प्रभुवर मन्दगन्धन
सर्वदा विराजमान हैं—मुझे विन्ता करने की क्या आवश्यकता ? ये स्वयं सब बातों की
व्यवस्था कर ही लेंगे ।

दिया, जिससे मैं प्रिय के सकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करना चाहते हैं।

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभावः, मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः।

मुखवैवर्ण्यादीनां साक्षाच्छब्दानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम्।

इस श्लोक में राजा का अपराध करना विभाव है और मुख का विवर्ण हो जाना आदि अनुभाव हैं। यद्यपि यहाँ ये अनुभाव कहे नहीं गये हैं, तथापि आक्षेप (ऊपर) से उनका ज्ञान कर लिया जाता है।

शङ्का चिन्ताया व्यतिरेचयति—

इयन्तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता।

इयं शङ्का भयमुत्पाद्य कम्पाद्यनुभावं जनयति, चिन्ता पुनर्न जयतीति कम्पादिजनकत्वमेव शङ्कायाश्चिन्तापेक्षया वैवर्ण्यम्।

उक्त चित्त-वृत्ति (जिसको शङ्का कह आये हैं) चिन्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि शङ्का भय को उत्पन्न कर तद्वारा शरीर में कम्प आदि को उत्पन्न करती है और चिन्ता ऐसा नहीं करती, यह दोनों में भेद है।

ग्लानिं निरूपयति—

आधिब्याधिजन्य-बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलाङ्गत्व-दम्भ्रम-णादिहेतुदुःखविशेषो ग्लानिः।

आधिर्मनोव्यया। व्याधिपदं ध्रुदाद्युपलक्षकम्। दुःखविशेषचित्तवृत्तिविशेष एवेति न प्रक्रमनङ्ग, नापि भावसामान्यलक्षणासमन्वय। उक्तञ्चान्यत्र—'रत्यायासमनस्तापद्भुत्पिपा-सादिसम्भवा। ग्लानिर्निष्प्राणता कम्प-कार्यानुत्साहितादिकृत् ॥' इति। आधिब्याधिजन्याया बलहानेष्टत्वो वैवर्ण्यादिजनकचित्तवृत्तिविशेषो ग्लानिरिति सारम्।

अब 'ग्लानि' का निरूपण करते हैं—'आधि' इत्यादि। उस दुःख-विशेष को 'ग्लानि' कहते हैं, जो मानसिक व्यथा और शारीरिक रोग आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता से पैदा होती है तथा विवर्णता, अङ्गों की शिथिलता और आँखों में चौंध आना आदि अनुभावों को जन्म देती है।

उदाहरति—

यथा—

वियोगिनीदरा वर्णयति—

'शयिता शैवलरायने, सुपमाशेषा नवेन्दुलेखेव।

प्रियमागतमपि सविधे, सत्कुरुते भधुरबीक्षणैरेव ॥'

नवोयन्ती, इन्दुलेखा चन्द्रकलेव, सुपमा परमशोभैव शेषोऽवशिष्टाशो यस्यां तादृशी, शैवलस्य शयने शय्यायां शयिता सुप्ता विरहिणी, सविधे तल्पसमीपे, आगतमपि, प्रियं दयितं, मधुरैर्मनोरमैर्बीक्षणैरालोकनैरेव, न त्वभ्युत्थानादिभिः, सत्कुरुते सम्मानयतीत्यर्थः।

जैसे—'शयिता' इत्यादि पद्य में। एक सखी दूसरी सखी से वियोगिनी के वृत्तान्त का वर्णन करती है कि—नवीन चन्द्र-कला के समान जिसमें परम-शोभा ही शेष पद्य गई है, वह सेवाल की सेज पर सोई हुई सुन्दरी समीप में आये हुये मेरे प्रिय-पति का सम्कार केवल मधुर चित्तवर्णों से ही करती है, (अभ्युत्थान आदि से नहीं) अर्थात् विरह-वेदना से उसके अङ्ग इतने दुर्बल अत एव शिथिल हो गये हैं कि प्रियतम के आने पर भी उठ नहीं सकती, बोल नहीं सकती।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र प्रियविरहो विभावः, मधुरवीक्षणैरेवेत्वेवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गम-
चरणनिपतना-श्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः ।

इह प्रियविरहपदं तन्नन्याधिसम्भूतबलहानिपरं सन्दर्भशुद्धयनुरोधात् । निवृत्तिरभावः ।

उक्त पद्य में प्रियविरह का विरह विभाव है और 'मधुरवीक्षणैरेव' यहाँ के एवकार से ज्ञात कराई गई, स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और धालिहन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है ।

अत्रोदाहरणे श्रमध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र श्रमः शङ्क्य, कारणभावात् ।

इह श्रमस्य प्रधानत्वेन ध्वन्यत इति न शङ्कनीयम्, बहुतरशारीरन्यागारस्य तत्कारणत्वेन
वक्ष्यमाणस्य प्रकृतेऽसत्त्वादित्यर्थः ।

यहाँ श्रम-भाव ही प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रम के जो कारण अधिक शरीर-व्यापार आदि वर्णित किये जायेंगे, उनका यहाँ अभाव है—अर्थात् शारीरिक श्रम का वर्णन यहाँ नहीं है, फिर अकारण श्रम की प्रतीति हो, तो कैसे ?

ग्लानेः परकीयं लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव-बलनाशं ग्लानिमाहुः, तेषां मते चित्तवृत्त्यात्म-
केषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लानेः कथं समावेश इति ध्येयम् ।

व्याध्यादिजन्यबलभाव एव ग्लानिरिति केषां चिन्मतमप्युक्तम्, अभावरूपत्वाङ्गीकारे
ग्लानेरवमत्कारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वभावेन भावत्वाभावाच्चेत्याशयः ।

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल-नाश (बल का अभाव) को ही 'ग्लानि' कहते हैं । परन्तु उनके मत में यह बात विचारणीय है कि जब सभी भाव चित्त-
वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब उन भावों में इस नाश (अभाव जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः उनका कथन अनंगत है ।

परकीयलक्षणै भरतौक्तलक्षणसंवादात् सङ्गतिमाशङ्क्य खण्डयति—

यद्यपि—'बलस्यापचयो ग्लानिरस्यधिव्याधिसमुद्भवः ।' इति लक्षणवाक्या-
दपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःख-
मेव बलापचयशब्देन विवक्षितम् ।

भरतमुनिलक्षणै बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनात् प्रामाणिकं ग्लानेरभावरूपत्वं ध्य-
ष्यसित, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिकया भरतमुनेरेव प्रागुक्तेस्तात्पर्यानु-
पपत्तेरत्रापचयपदस्य तन्नन्यदु लविशेषे लक्षणया पूर्वापरसङ्गतिविधेयेत्यभिप्रेतम् ।

यद्यपि प्रार्थनों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) से उत्पन्न होने वाला
बल का अपचय ग्लानि है' इस उचरण-वाक्य में जो अपचय पद आया है, उससे
बल का नाश ही प्रतीत होता है तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से
उत्पन्न होने वाला दुःख ही यहाँ 'बलापचय' पद से वक्ता का विवक्षित है, ऐसी कल्पना
करनी चाहिये ।

दैन्यं निरूपयति—

दुःख-दारिद्र्या-पराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्त-
वृत्तिविशेषो दैन्यम् ।

दुःसादिजन्य' स्वापकर्षभाषणादिजनकथितवृत्तिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

अब 'दैन्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'दःख' इत्यादि । किसी प्रकार के दुःख, दग्धता तथा अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तवृत्ति अपने आप के विषय में हीन शब्द-प्रयोग आदि का कारण होती है, उसी चित्तवृत्ति को 'दैन्य' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीं विवास्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

'हतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।

अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येष परा सरस्वती ॥'

हतकेन हतभाष्येन विनष्टौचित्तविचारेण वा, मया रामेण, सहसा सपदि (अविचार्यैव) वनान्तरे वाननमध्ये, विवासिता निर्वासिता, वनजाक्षी ! नलिननयना (वीमनाइतया स्वयं प्रतिकर्तुमक्षमा) सती पतिव्रता (कथमपि पत्यन्तरानजोकारिणी) सीता, अधुना सम्प्रति, पतितस्य पातित्यभ्येयोरुपापावरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वात् सर्वोत्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिपाणीव, मम साऽनुभूतापूर्वा, कुत्र ? क ? मिलित्यतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीजिये—'हतकेन ' ' इत्यादि । हत-भाग्य होने से मैंने पहले जिस कमल-नयनी (सीता) को वन में निर्वासित कर दिया, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, वह पतिव्रता अथ मुझे कहाँ मिल सकती है ?

प्रकरणादि दर्शयति—

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्यागरूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः, पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषण-मनुभाव' ।

तच्चन्यमपराधसमुद्भूतम् । अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विकल्पस्य बीजं विनिगमनाविरह' ।

सीता को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान रामचन्द्र की यह अनुतापोक्ति है । यहा सीता का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अपने विषय में 'पतित के समान' यह हीन कथन अनुभाव है, जिससे 'दैन्य' व्यक्त होता है ।

प्राचीनसम्मत्या स्वीकृतिं द्रष्टयति—

यदाहुः—

'चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।

अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गात्रिगौरवात् ॥

देहोपस्करणत्यागाद् दैन्य भाव विभावयेत् ॥' इति ।

'दौर्गत्या इरनीजस्य दैन्य मलिनताऽऽदिकृत् ॥' इति च ।

दौर्गत्यं दासिधम् । शिरसोऽभ्यावृत्तिं पुन पुनर्घूर्णनम् । गात्राणामज्ञाना गौरवं शुद्धत्वं मन्दसत्त्वात्त्वम् । देहस्योपस्करण प्रसाधनम् । विभावनं ज्ञानम् । अनौजस्यमोजोही मता । मनस्तापादिजन्यं शिरोऽभ्यावृत्त्यादिजनकं चित्तवृत्तिविशेषं दैन्य जानीयादित्यर्थः ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'चित्त की उत्सुकता, मानसिकताप और दग्धता इन विभावों से तथा शिर का बार-बार हिलाना, शारीरिक-प्रयाधनों का परित्याग और अज्ञानों के भारोपन इन अनुभावों से 'दैन्य भाव' को पहचानना चाहिये । और यह भी लिखा है कि-दुर्गति आदि के कारण जो ओजस्रिता नष्ट हो जाती है—उसका अभाव हो जाता है, उसी का नाम 'दैन्य' है । वह मालिन्य आदि का जनक होता है ।

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभावोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हनकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतिनोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया, यतः शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्, पतितस्य तु ब्राह्मणार्थविधिना श्रुतिमुत्तमत्वे स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः श्रुतिदूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्येत्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्करोति ।

‘सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती’ति सिद्धान्तेन मयेति कथनात् तु विधिनेत्यस्य प्रतीतिः । शूद्रोपमया ‘कुलभ्येव’ इति पाठकल्पानलभ्यया । जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मनैव वा ‘न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयीयाताम्’ इत्यादिश्रवणात् । स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना वा । तेन ब्राह्मणादिना । तथाविधं पातित्यप्रयोजकम् । तस्य रामस्य । तस्याः सीतायाः । यया पतितो द्विजो जन्मना सुलभामपि श्रुति पातसाचरणात् स्वयं दूरीकरोति । तत्रैव जान्या सुलभामपि सीतामहं स्वपिवेकाद् दूरीकृतवानितिवादिनि रामे पतितद्विजमादरयमेनेवितम्, न तु शूद्रसादरवम्, शूद्रस्य जात्या श्रुतिमुत्तमताया अमम्मवात् । तथा न रामे पतितमादर्यं सीतायाः च श्रुतिसादर्यमेतौपमालङ्कारोऽयं वाच्यो व्यङ्ग्यं स्वापकर्तृमापगतकं दैन्यमुपस्करोति न तुम्हाम्स्मृतिर्गं प्रयानीभवतीति न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसन्देह इति सारम् ।

यहां हनभाग्य में ने सीता को निकाल दिया है—‘न किं विद्याना ने’—इस अर्थ की पुष्टि ‘पतिन’ की उपमा से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विद्याना ने शूद्र-जाति में जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है (‘न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयीयाताम्’ अर्थात् स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें, यह शास्त्रीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनके लिये तो विद्याना ने स्वभावनतः श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि उक्त कुल में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर दिया अर्थात् वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो गये । इसलिये रामचन्द्र की पतित से समानता और भीता की श्रुति से समानता, यह जो वाच्य उपमा अलङ्कार है, वह दैन्य मात्र को ही अलङ्कृत करता है अर्थात् उपमा अलङ्कार यह दैन्य का पोषक है—अङ्क है । अतः यहाँ ‘उपमा अलङ्कार ही प्रधान है’ इस तरह की धाँडा का अवसर नहीं है ।

दैन्योपकारकत्वं दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलङ्गणामूलध्वनिभ्यां कृतप्रत्यकृतश्राव्य-निर्दयत्व-दयावतीत्वाद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेति स्मृत्या च लेशातः प्रतीयमानया ।

अत्र मयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतप्रत्य-निर्दयत्वादिधर्मनिशिष्टत्वायें, सेतितच्छब्दस्य च कृतश्राव्य-दयावतीत्वादिधर्मनिशिष्टत्वायें च, तत्तदतिशयबोधनरूपप्रयोजनवत्या स्वार्थस्याप्युपादानादुपादानलङ्गणायाः सत्त्वान् प्रतीयमानोऽप्योऽपि दैन्यमुपस्करोति, तथा पूर्वानुभूतार्थकेन सेतितच्छब्देन परिपोषकत्वमप्राप्तिरहान् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोतीति सारम् ।

‘हनकेन’ इत्यादि श्लोक में ‘मया’ और ‘सा’ इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान लङ्गण है, जिससे ‘मया’ का ‘जिससे उसने आवन्त कष्टावरण में सी नहीं छोड़ा, उस मैंने’ यह और ‘सा’ का ‘वन-वास की सहचरी उसे’ यह वाच्यार्थ-मिथित लङ्गणार्थ

होता है, जिससे राम की कृतघ्नता तथा निर्दयता एवं सीता की कृतज्ञता तथा दया-लुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होकर दैन्य भाव को ही पुष्ट करते हैं। इसी तरह अनुभू-तार्थक 'सा' इस उत्पद से जो स्मृति की थोड़ी सी (प्रचुर सामग्री के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति होती है, उससे भी दैन्य भाव की ही पुष्टि होती है। अतः यहाँ दैन्यभाव ही प्रधान व्यङ्ग्य रहा। कृतघ्नता आदि गुणीभूत रहे। इसलिये यह पद्य दैन्य-भाव-ध्वनि का उदाहरण हुआ।

चिन्ता निरूपयति—

इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेखना-धोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

इष्टस्याप्राप्तिरनिष्टस्य च प्राप्तिश्चिन्तायाः कारणम् । ध्यानमपरपर्यायो यस्य सः । भूलेखनमधोमुखत्वं च चिन्तायाः कार्यम् । अस्याः कम्पायजनकतया शङ्कतो भेदः । चित्त-वृत्तिविशेषस्य विशेष्यतया विशेषणपदानां पुंस्त्वमेवोचितमिति पाठः परिवर्तितः ।

अथ 'चिन्ता-भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा' इत्यादि । अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना और अनभिलषित वस्तु का प्राप्त हो जाना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता, भूमिका लिरना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली एक तरह की चित्तवृत्ति को 'चिन्ता-भाव' कहते हैं। इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को 'ध्यान' भी कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशानं तथा ।

इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥

सन्तापः स्मरणं चैव कार्यं देहानुपस्कृतिः ।

अवृत्तिश्चानुभावाः स्युः, सा चिन्ता परिकीर्तिता ॥ इति ।

वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वं पाश्चात्ये बोधजायते ।' इति ।

'ध्यानं चिन्ता हितानाम्ने-सन्तापादिकरी मता ।' इति च ।

दारिद्र्यपेक्ष्यभ्रंशानयो- पृथगुपादानादारिद्र्यं जन्मसिद्धमैश्वर्यभ्रंशानं च पश्चाद् भूतमव-सेयम् । स्मरणं नष्टार्थानाम् । वितर्को भावो वक्ष्यमाणलक्षणः । अस्याश्चिन्तायाः । पूर्वं क्षणे पाश्चात्ये परस्मिन् क्षणे वा ।

प्राचीनों ने भी 'चिन्ता' की परिभाषा इसी तरह की-की है। जैसे—'विभावा' इत्यादि-अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्य आदि) से च्युत हो जाना और इष्ट वस्तु का अपहरण विभाव (उत्पादक कारण) हों, और चार-चार श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, सन्ताप, स्मरण, कृशता देह को परिष्कृत न करना और धैर्य का अभाव ये अनुभाव (उत्पादक कार्य) हों, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। इसके पहिले अथवा विद्वले क्षण में वितर्क (जितकी परिभाषा आगे की जायगी) उत्पन्न हुआ करता है। कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'हितवस्तु की अभासि से जो ध्यान (विचार-परम्परा) होता है, उसका नाम 'चिन्ता' है, वह सन्ताप अदिका उत्पादक होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायिकागवलोक्य नायक चिन्तयति—

'अधरवृत्तिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी ।

अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीहराः ॥'

मृगदशो नायिकायाः, अस्तः कान्त्या निमित्तः पल्लवः क्लितलयं यया तादृशी, अधरस्य वृत्तिः, शशिनचन्द्रस्य कान्तेः शुभमाया लङ्घिनी विजयिनो मुखस्य शोभा श्रीः, अकृताऽ-विहिता प्रतिमा तुल्याकृतियस्यास्तादृशी तनुश्च, कस्य धन्यस्य यूनः कृते प्रयोजनाय, विधिना विधाना कृता रचिताऽमूदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । किसी सुन्दरी को देख कर कोई भावक अपने मन में सोचता है कि—विधाता ने किम् (धन्य युवक) के लिये इस मृगनयनी नायिका के, अधर-कान्ति को, पल्लवों को जीतनेवाली, मुख-शोभा को चन्द्र-कला को मान देने वाली और शरीर को अमृत्-प्रतिम-सदृश-द्वितीय रहित-अर्थात् अनुपम, बनाया ।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तदप्रतिविम्भात्, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः ।

तस्या पूर्ववर्णितनायिकाया अप्राप्तिश्चिन्ताया कारणतया विभावः, अनुतापराश्चच्छासो-च्छ्वासप्रवृत्तयश्च शब्दानुफलेऽपि कार्यतया गम्यमाना अनुभावा अत्र सन्तीत्यर्थः ।

यहां नायिका की अप्राप्ति विभाव है और आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले अनुताप आदि अनुभाव हैं ।

श्रौच्छुक्त्वध्वनिप्रकाराद्द्वय निराकरोति—

न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति धाच्यम्, 'कस्य कृते' इत्यनिर्धारितध्वन्यालम्बनाया-श्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनाबोधनात् ।

इह नायिकाया अप्राप्तत्वात्तत्प्राप्तिविषयकोत्कटेच्छ्वासरूपस्यैवौत्सुक्यस्य प्राधान्येन व्यञ्जनात्तदध्वनित्वमेवेति पूर्वपक्षस्य—'कस्य कृते' इत्यनेन 'क' श्लु सुवा धन्य' इत्यादिवत्, अनिर्धारितमनिर्दिष्टं भोक्तारं धर्मिणं विषयतयाऽऽलम्बमानायाश्चिन्ताया एवात्र प्रथमं प्राधान्येन प्रतीते, श्रौत्सुक्यस्य तु पश्चाद्गौणतया च प्रतीतेर्न तद्वनित्वमिति समाधानम् ।

नायिका की अप्राप्ति से उसकी प्राप्ति के विषय में होने वाली उत्कट इच्छास्य 'श्रौत्सुक्य-भाव' ही वहाँ प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कस्य कृते-अर्थात् किसके लिये' इस वाक्य-सङ्घ से किसी अनिश्चित पुरुष के विषय में होने वाली चिन्ता ही ध्वनि होती है, अतः यद्यपि वक्ता में उस नायिका के लिये उत्सुकता है अथवा, तथापि वह इस वाक्य से प्रधानतया नहीं बोधित होती । तात्पर्य यह है कि यदि वक्ता पद्य में 'कस्य कृते'—'हृद्यादि अंशको हृद्या कर उसकी जगह 'धन्यजनस्य हृदये' इस तरह से रचना की गई होती, तब उत्सुकता ही प्रधानतया ध्वनित होती, परन्तु उस पदके रहने पर तो चिन्ता ही प्रधानरूप से व्यक्त होती है, पीछे यदि उत्सुकता भी गौणरूप से व्यक्त होगी, तो होती रहे, वह ध्वनि काव्य-व्यवहार का कारण नहीं हो सकती । फलतः यहाँ 'चिन्ता-भाव-ध्वनि का ही व्यवहार होना उचित है ।

मदं निरूपयति—

मद्याद्युपयोगजन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्ति-विशेषो मदः ।

उपयोगः सेवनम् । उल्लासाख्य उल्लासापरपर्याय ।

अब 'मद-भाव' का निरूपण करते हैं—'मद्याद्यु' इत्यादि । मद्य आदिके सेवन से उत्पन्न होने वाली और शयन-रोदन आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली उल्लास नामक जो एक चित्त-वृत्ति है, उसको 'मद' कहते हैं ।

लक्षणैः प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘सम्मोहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगज’ । इति ।

व्यामोहात्मन सम्मोहस्यानन्दस्यसन्दोह समवाय सम्भेदो वा मदस्तप्रोभवोरनुभावात् ।
 लैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘सम्मोहा’ इत्यादि, अर्थात् मद्य के सेवन से
 उत्पन्न होने वाले, सम्मोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है ।

प्रकृतिभेदेनानुभावभेदं प्रतिपादयति—

तत्रोत्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः । मध्यमे हसितगाने । नीचे तु रोदन-
 परुषोक्त्यादि ।

एतत्—‘अमुना चोत्तम शैते, मध्यो हसति गायति । अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति
 रोदिति ।’ इति दर्पणानुकूलमपि, ‘उत्तमसत्त्व प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृति ।
 परुषवचनाभिधायी शैते रोदित्यधमसत्त्व ।’ इति प्रदीपस्य तु प्रतिकूलमेवेति ज्ञेयम् ।

मदके उत्पन्न होने पर उसका अनुभाव (धार्य) उत्तम पुरुष में स्वाप होता है—अर्थात्
 मद (नशा) से उत्तम पुरुष सो जाता है, मध्यम कोटि का पुरुष हँसता और गाता है
 और नीचे पुरुष रोता तथा गाली गलौज बकता है । यद्यपि यह कथन ‘काव्य-प्रदीप’ के
 उत्तमसत्त्व प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृति । परुष-वचनाभिधायी शैते रोदित्य-
 धमसत्त्व ॥ अर्थात् मद के कारण उत्तम-स्वभाव वाला पुरुष हँसता है, मध्यम-स्वभाव
 वाला पुरुष गाता है और अधम-स्वभाव वाला पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता
 है । इस वचन से विरुद्ध है, तथापि अनुभव ‘रसगङ्गाधरकार’ के ही मत में सही होता
 है, और ‘दर्पणकार’ भी इन्हीं के मत में सम्मति दिये हैं, क्योंकि उन्होंने ने लिखा है—
 ‘अमुना चोत्तम शैते मध्या हसति गायति । अधमप्रकृतिश्चापि परुष वक्ति रोदिति ॥ अयं
 इसका वही है, जो रसगङ्गाधरकार के कथन का है ।

मद त्रिधाविभज्य तत्तत्स्वरूपं दर्शयति—

अथ च मदस्त्रिविधः—तरुणमध्यमाधमभेदात् । अन्वक्तासङ्गतवाक्यैः सुकु-
 मारस्खलद्रुत्या च योऽभिनीयते, स आद्य । भुजाक्षेप-स्खालत-घूर्णितादिभिर्म-
 ध्यम । गतिमद्ग-स्मृतिनाश-हिक्का-च्छर्द्यादिभिरधमः ।

अव्यञ्जैरस्फुटाशरैरसङ्गैरसम्बद्धार्यैश्च वाक्यैः । सुकुमारोऽनुद्धता स्खलन्ती मध्ये-
 मध्ये नुखन्ती चासौ गति सुकुमारस्खलद्रुति, तथा । योऽभिनीयत इत्यस्याप्रिमवाक्य-
 द्वयेऽपि सम्बन्ध । हिक्का ‘हिचकी’ इति भाषाया प्रसिद्धा । छर्दिर्वननम् ।

इस मद के तीन भेद हैं—तरुण, मध्यम और अधम । उनमें से जिसका अभिनय
 (प्रदर्शन) अस्फुट अक्षर वाले और असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्यों, तथा अत्यन्त सूदुल
 एवं फिफलनी हुई चाल से किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है । जिसका अभि-
 नय वाहुओं के हथर-उधर फेंकने, फिफल पड़ने और घूमने आदि से किया जाता है, वह
 मध्यम-मद कहलाता है । इसी तरह जिसका अभिनय गति के एक जने, स्मृति के नष्ट
 हो जाने और हिचकी तथा वमन आदि से किया जाता है, वह अधम मद होता है ।

मध्यमपुरुषगत तरुणमदमुदाहरति—

उदाहरणम्—

मासदृत्तं वर्णयति—

‘मधुरतरं स्मयमान, स्यस्मिन्नेवालपञ्चानैः किमपि ।

कोकनदर्यसिलाकी-मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीनः ॥’

श्रीवामन मधुरतरमति सुन्दरं स्मयमान ईषदसन, स्वस्मिन्नेवात्मगतमेव, किमप्य-
सम्बद्धम्, शनैर्मन्दमव्यक्तम्, आलम्ब्य प्रलयन्, तथा परितो विलोकनेन मदारुणलाचनरुचा
त्रिलोकीं लक्षयन्, कोकनदयन् रत्नाम्बुजवददणीकुर्वन्, आलम्ब्यदर्शयन् निर्लाक्ष्यं यथास्यात्
तथेक्षते परवतोऽर्षे ।

उदाहरण देखिये । किमी नरो बाज का चर्गन हे किं—मदमत्त मनुष्य अत्यन्त सुन्दर
तरिके मे मन्द-मन्द हँसता हुआ और अपने आप से धीरे-धीरे कुछ बातें सा करता हुआ,
तथा मद के कारण अरुण नयन-कान्ति से त्रिलोकी को रक्त कमल सी बनाता हुआ शून्य
की ओर देख रहा है—अर्थात् उसके देखने का कोई लक्ष्य नहीं है ।

निमात्वानुभावौ दर्शयति—

अत्र मादकद्रव्यमेवमं विभावः, अल्यत्कालापागनुभाव ।

मादकद्रव्याणां मैथविजयाणां सेन पानम् ।

यहां मादक पदार्थ का सेवन विभाव है और अस्फुट धोलना आदि अनुभाव हैं ।

इह स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अत्र मत्तस्वभाववर्णनस्य तन्निष्प्रमदव्यञ्जनार्थत्वात्प्रमदभाव एव प्रधानमिति
न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्व्यन्युपस्कारकत्वमेव ।

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्युक्तलक्षणस्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य,
श्रीवामनवृत्तिव्यापारवर्णनादिह प्राधान्यमिति शङ्काया—मत्तस्वभाववर्णनमत्र मत्तनिष्ठमद-
भावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मदभावधनेरुपचरकत्वमेव, न तु प्राधान्य
मित्युतरम् बोध्यम् ।

यहां मत्त-पुरुष के स्वभाव-वर्णन होने के कारण 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार की प्रधानता
है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मत्त-स्वभाव का वर्णन यहां केवल उसके मत्त
को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है, अन ध्वनित होने वाला 'मदभाव' ही प्रधान
और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार उमका पीपक है ।

ननु तथापि नेह मदध्वनि सम्भवति, प्राधान्येन व्यञ्जयमानस्यापि मदस्य मदास्कन्दि-
तन्वर्षकेन क्षीयपदेनाभिधयाऽपि योयनात्, 'अयमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितमयैव व्यञ्जयस्य
चमत्कारत्वम्' इति प्राक् प्रतिपादनात्, अतः स्वभावोक्त्यलङ्कार एव चमत्कारितया प्रधानं,
न तु मदभाव इत्युक्तेरुदाहरणान्तरं दर्शयति—

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

• मत्त प्रिया मूले—

'मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं, तरुणि ! मद्ददने विनिवेशाय ।

मम गृहाण करेण कराम्बुज, पपपतामि हहा ! भभभूतले ॥'

हे तरुणि ! यतस्तव अधरो मधुरसादपि मधुरोऽस्ति, अतस्तं मद्ददने विनिवेशाय,
किं यत्—हहा हा ! हन्त ! भभभूतले भूतले, पपपतामि पतामि, अत करेण मम कराम्बुजं
गृहाण समालम्ब्यस्नेत्यर्थः ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यञ्जयमान मद स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान
है, तथापि मद-ध्वनि नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'श्रीव' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः
उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है, और पहले यह सिद्धान्त सर्व-संगति से
स्वीकृत हो चुका है कि 'किसी भी प्रकार से जिसमें वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही
व्यञ्जय चमत्कारी होता है', फिर तो अगत्या वाच्य स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार से

ही उक्त पद्य को काव्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह पद्य 'मद-भाव-ध्वनि' का उदाहरण नहीं होगा, इसी अभिप्राय से दूसरा उदाहरण दिखलाते हैं—'इदं वा उदाहरणम्—' अथवा, यह उदाहरण लीजिये । मत्त नायक अपनी प्रियसी से कहता कि—हे तरुणि ! मधु के रस से भी अधिक मधुर अपने अधर को मेरे मुख में रख दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ से पकड़ ले, देख तो, अ-ज-जमीन पर गि-गि-गिरता जा रहा हूँ ।

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभावः, अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता प्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च, मदमेव पोषयतः ।

स एव मादकद्रव्यसेवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारणं चतुर्थचरणे । आदिपदेन प्रथम-तृतीयचरणरसज्ञतार्थकालापग्रहणम् । प्राम्योक्तिर्द्वितीयचरणे—'अधरं मददने विनिवेशय' इति प्राम्यजनवदुक्तिः, तृतीयचरणे तरुणीकरस्य समुचितं वमलोपमेयत्वेन प्रतिपादनं विशय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिक्षेभे सम्भूय मदस्यैवोपकारिके इति मदध्वनिरिह ज्ञेयः ।

यहाँ भी वही (मादक-द्रव्य-सेवन ही) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आदि अनुभाव है । पूर्वार्ध का प्राम्य (मेरे मुख में अपने अधर को धर दे, यह) वचन और उत्तरार्ध में ली के हाथों को कमल की उपमा देने की जगह अपने हाथ की उसकी उपमा देना भी 'मद-ध्वनि' को ही पुष्ट करते हैं ।

श्रमं निरूपयति—

बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निश्श्वासा-ङ्गसम्मर्द-निद्रादिकारणी-भूतः खेदविशेषः श्रमः ।

शारीरव्यापारो दूरगमन-बहुभारवहनादि श्रमस्य कारणतया विभावः, निश्श्वासा-दयस्य कार्यतयाऽनुभावा । खेदो दुःखमिषधित्तवृत्तिविशेष एव ।

अथ 'श्रम-भाव' का निरूपण करते हैं—'बहुतर' इत्यादि । खेद नामक उत्त-वृत्ति विशेष को 'श्रम' कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निश्श्वास, अङ्गदाई तथा निद्रा आदि अनुभावों की उत्पत्ति में कारण होता है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अध्व-न्यायाम-सेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।

गात्रसंवाहनै-रास्यसङ्कोचै-रङ्गमोदनैः ।

निश्श्वासाज्जम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।' इति ।

'श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ।' इति च ।

अथवा च व्यायामश्च सेवा चाद्या येषा तैर्विभावैः, गात्रसंवादानादिभिरनुभावैश्च श्रमो ज्ञेयः । अध्वपदं तत्र गमनपरम् । संवाहनं श्रमापनयनाय पीडनमर्दनादि । अज्ञाना मोदनं तदर्थं नमनम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'अध्व-न्यायाम' इत्यादि-अर्थात् मार्ग-गमन, व्यायाम-करण और सेवन आदि विभावों से तथा शरीर दबवाना, मुख का सिकुच जाना, अङ्गदाई लेना, निश्वास लीचना, जम्मा का आना-इन सब अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'श्रम खेदो' इत्यादि-अर्थात्

मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले और निद्रा तथा निषास आदि को उत्पन्न करने वाले खेद को भ्रम कहते हैं ।

भ्रमत्वान्योर्भेदमानले—

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते न तु ग्लानिः, अतो ग्लानेः भ्रमस्य च भेदः ।

ग्लानेराधिव्याधिजन्यबलहानिजन्यत्वात्, भ्रमस्य न बलसद्भावेऽपि शारीरविपुलव्यापारजन्यत्वान्मियो वैलक्षण्यमिति सारम् ।

भ्रम और ग्लानि में परस्पर यह भेद है कि भ्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार करने से उत्पन्न होता है और ग्लानि-आधि व्याधि आदि से बल की हानि होने पर ही उत्पन्न होती है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतवृत्तं सखायं कथयति—

‘विधाय सा मद्ददनानुकूलं, कपोलमूलं हृदये शयाना ।

चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमाऽऽसीत् ॥’

सा तन्वी, कपोलस्य मूलं मद्ददनानुकूलं तदीयमुखसंयोगयोगं विधाय, हृदये ममोरसि शयाना सती (भ्रमेण) चित्रे लिखिता इव, मन्दमीषदपि स्पन्दितुं बलितुं क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः ।

शब्द ‘भ्रम-भाव’ का उदाहरण देखिये :—नायक अपने मित्र को विपरीत-रति के बाद की स्थिति कह रहा है कि—यह कृशाङ्गी अपने कपोल-मूल भाग को मेरे मुख के सामने करके मेरे वचःस्थल पर सो गई और चित्रलिखित की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी नहीं हिल सकी ।

विभावादिदृष्टयति—

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयनाद्योऽनुभावाः ।

स्फुटम् ।

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कार्य विभाव है और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि अनुभाव हैं ।

इह निद्राध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन गतार्थतेति शङ्कथम्, सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यत्रराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमाऽऽसीदित्यस्याततिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीघ्राऽभिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च । भ्रमे त्वानुगुण्यनुचितम् ।

चित्रलिखितत्वोपमया, व्यज्यमाना निद्रैवात्र प्रधानमिति निद्राध्वनिरेवात्र न तु भ्रम-ध्वनिरिति पूर्वपक्ष—चित्रलिखितत्वद्वयान्तेन सुषुप्तिरूपनिद्राया एव व्यञ्जनात्, सुषुप्तेषु ज्ञान-सामान्यशून्यत्वादात्मतिरिक्तविषयज्ञानशून्यत्वाद्वा यत्ररहितत्वे सुखमवगन्तुं योग्ये, यत्र-राहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्थ-वरणोपादानस्य दैवर्ष्यं स्थितं, तस्य स्पष्टावगमार्थकत्वाज्ञोद्यरेऽपि, शयानेतिशोर्षातुना निद्रायाः प्रकारतयाऽभिभावोप्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावाद् ध्वनित्वं न स्यादिति नैव निद्राध्वनिरत्रेत्युत्तरपक्षश्च बोध्यः । भ्रमे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये तु तदर्थस्य भ्रम-ध्वनौनकारकत्वमेवेति न दोष इत्याशयः ।

यदि 'ध्रम-भाव' के लक्ष्य उक्त (विधाय-इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक ही हों, तब 'ध्रम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि यह 'निद्रा-भाव-ध्वनि' में ही गतार्थ हो जायगा, जैसे 'विधाय'... इत्यादि पद्य में 'चित्र-लिखित की तरह' इस उपमा से निद्रा-भाव ध्वनित होता है, यह शब्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यङ्ग्य मानेंगे, तब, 'थोड़ी भी नहीं हिल सकी' यह कथन निष्प्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावाग्या में ज्ञान के नियमनः न होने से यत्र का न होना निश्चित ही है। यदि आप कहें कि निद्रा की बात से विदित होने वाले यत्न-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये यदि किसी शब्द से कह भी दिया गया, तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े ही होती है? इस पर मैं कहता हूँ कि हाँ, भाह ! उससे बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शिद् घातु से जो निद्रा को वाच्य बना दिया गया, वससे तो उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा जरूर होगी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अस्पष्ट अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना जाता है। अतः यहाँ 'ध्रम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार ही उचित है और जब यहाँ 'ध्रम-भाव' को प्रधान व्यङ्ग्य मान लेते हैं, तब उसके अनुभाव होने के नाते निद्रा आदि का वाच्य रूप में वर्णन अनुकूल ही होता है।

गर्व निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपगवहेलनं गर्वः ।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षस्तज्ज्ञानजन्यं यत्परेषामवहेलनं तिरस्कारात्मिकचित्त-वृत्तिः सैव गर्वः । अवहेलनस्य भावत्वसम्पत्तये चित्तवृत्तिपर्यन्तानुधावनम् । तदुक्तम्—

'गर्वो मदः प्रभाव-धी-विद्या-सत्कुल-जन्मभि ।

अवज्ञा-सविलासाद्दर्शना-विनयादिकृत् ॥' इति ।

जब 'गर्व-भाव' का निरूपण करते हैं—'रूपधन' इत्यादि । रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरों की अवहेलना (तिरस्कार) करने का मनोभाव पैदा होता है, उसी मनोभाव (अवहेलनात्मक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्यागर्वितो प्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलान् पयोधे-
र्यावन्त' सन्ति काठ्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।

मृद्रीकामध्य-निर्यन्मसृणरसभरीमाधुरीभाग्यभाजां,

वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्त्यः ॥'

रत्नसानो सुमेरो 'सर्वेषामेव वर्षाणा मेरुस्तरत स्थित' इत्यभिधानाद् आमूलान्मूल-मभिव्याप्य, मलयेन चन्दनगिरिणा वलयिताद्देशितात् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य, आवृलाच्च तटमभिव्याप्य च, यावन्त काठ्यस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणाः सन्ति, ते विशङ्कं निस्तन्देहं यथास्यात्तथा, मृद्रीकाना परिपक्वद्राक्षणा मध्यात्, निर्यतो निस्सरन्ती मयुषा घना च या रसस्य भ्रूरी निर्मर (प्रवाह) तस्या माधुरी मधुरतैव सौभाग्यं भजन्तीति तद्भाज, तादृशीना वाचामाचार्यताया पदं प्रतिष्ठाम्, अनुभवितुमशियन्तु मदन्त्यः, धन्यः पुण्यवान् कोऽस्तीति वदन्तिवत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । पण्डितराज की ही उक्ति है कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से छेकर मलयाचल से घिरे हुये समुद्र के तट तक, जितने काठ्य-निर्माण में निपुण जन हैं, वे

निराश्र होकर कहें कि—दाखों के अन्दर से निकलती हुई विक्रमी रस—धारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—जो उसके समान मधुर है, उन बवनों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझसे भिन्न कोत पुरुष धन्य है, यह तीभाम्य और किमी को प्राप्त हो सकता है ? तत्पर्यं यह कि मुझ जैसा मधुर वचन बोलने वाला, सरस कविता करने वाला मैं ही हूँ, दूसरा नहीं।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभाव', पराधिचैपपरैतादृ-
शावाक्यप्रयोगोऽनुभावः ।

अनन्यसाधारणताऽनुव्यता सर्वोच्छ्रितेति यावत् । पराधिचैपपरस्यान्यतिरस्वरतासर्व-
वस्य, एतादृशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य ।

यहां अपनी कविताओं में सर्वोच्छ्रिता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का तिर-
स्कार करने के लिये इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है।

इह प्रतीयमानासूयाया गर्वपोषकत्वमाह—

इमं चासूयाऽपि लेशतः पुष्पाति ।

अत्र चक्षुमाणलक्षणाऽसूया पराधिचैपेण क्लिप्त प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारि-
तयाऽङ्गमेवेत्यर्थः ।

'आमूलात् ..' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को परतिरस्कार के द्वारा
क्लिप्त प्रतीयमान असूया भी पुष्प ही करती है अर्थात् असूयागर्व का अङ्ग ही हो सकती
है, अङ्गी नहीं।

वीररसध्वनि-गर्वध्वन्योर्भेदं दर्शयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य
विशेषः ।

वीररसध्वनात्साहस्य स्थायित्वेन प्राधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिवारित्या कादाचित्क-
त्वम्, गर्वध्वनौ उत्साहस्याप्रत्ययात् प्रत्ययेवाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्राधान्यमित्युभयोर्भेद इत्यर्थः ।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है, अत एव प्रकट भी, और गर्व गुप्त रहता
है, अत एव अप्रधान भी, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है,
उत्साह की प्रतीति ध्वनि में होती ही नहीं, यदि होती भी है तो गौणरूप से। वही वीर-रस-
ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में विशेष भेद है।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेव-
तयाऽपि साकम्हं धदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः
सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमाधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले
मदन्य इति स्फुटोदितेन सील्लुण्ठयचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः ।

पूर्वपाठानुरोधात् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम् ।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गीष्पत्यादिनाऽपि सह कर्मा कदि-
ष्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो न्वह्वय, ततश्च सर्वापेक्षयाऽहमुत्कृष्ट इति गर्वतनुपकारक-
त्वेनैव व्यज्यत इति वीररसध्वनिः । 'आमूलात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्य' कोऽस्ति' इति
सौतप्राप्तोक्त्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यञ्जनाद् गर्वध्वनिरेव न वीररसध्वनिरित्याशयः ।

ऊपर जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष घतलाया गया है, उसी का अर्थ उपपादन करते हैं—‘तथादि’ इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रसङ्ग में जो ‘अपि वक्तिगिरा पतिःस्वयम्’ यह उदाहरण दिया गया है, उसमें ‘बृहस्पति और चागुदेवी सरस्वती के साथ भी मैं घाद करूँगा’ इस कथन से जो उरसाह ध्वनित होता है, उसको ‘सर्व पण्डितों से मैं अधिक हूँ’ इस रूप में ध्वनित होने वाला गर्व स्पष्ट करता है, न कि ‘आम्-छात् ...’ इत्यादि पद्य की तरह ‘भूलोक में मुझ से भिन्न नहीं ही है’ इस प्रकार स्पष्ट वर्णित विद्वाने वाले वचन रूप अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

निद्रा निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतषाडीप्रवेशाच्चिरिन्द्रियप्रदेशावस्थानम् । तदुक्तम्—

‘चेतस्सन्मीलन निद्रा श्रमकाममदादिषा ।

जृम्भाऽक्षिमीलनोच्छ्वास-गात्रभङ्गादिकारणम् ।’ इति ।

श्रमस्य तल्लक्षणे निद्राजनकत्वेनोपादानात् प्रयोज्यत्वमिह जन्यत्वमेवावसेयम् । अत एवानुपर्षं श्रमं निद्राया निभानं वक्ष्यति ।

अब ‘निद्रा-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘श्रमादि’ इत्यादि । श्रम-भादि के कारण होने वाले चित्त-सम्मीलन अर्थात् पुरीतष नामक नाडी से चित्त के प्रवेश को ‘निद्रा’ कहते हैं ।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वादनुमानानुभावानेवाह—

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

अस्या निद्राया ।

आँसुओं का मुद्रित हो जाना, अङ्गों का निश्चेष्ट हो जाना आदि इसके अनुभाव हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको भ्रवीति—

‘सा मदागमनवृद्धिततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा ।

बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न, प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥’

मदागमनेन प्रवासान्ममागमनेन वृद्धितो वृद्धितस्तोष आहादो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुललापविलासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमितं यापितमखिल समस्त दोषा रात्रिर्यथा, तादृशी, प्रातः प्रभाते, आननजे सुप्तजन्ये सौरभे सुगन्धौ लुब्धैर्लुपै, मधुपैर्भ्रमरै, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाविचेतदित्यर्थ ।

उदाहरण देखिये । नायक किसी से कहता है कि—मेरे आगमन से उसकी प्रसन्नता बहुत बढ़ गई और उसने जग कर सम्पूर्ण रात त्रिता दी, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) सुप्त के सुवास के कोमी भ्रमरों से जगाने पर भी वह नहीं जग सकी ।

विभावानुभावौ ध्रुते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः, मधुपैर्बोधामावोऽनुभावः ।

यहां रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभाव है और भ्रमरों के जगाने पर भी न जगाना अनुभाव है ।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

शास्त्राणां लोकवृत्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्षस्य वस्तुनो निर्धारणं निर्णयरूपचित्तवृत्ति-
मतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—

‘नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।

स्मेरतावृत्तिमन्तोपौ बहुमानश्च तद्भवा ॥’ इति ।

अथ ‘मति-भाव’ का लक्षण करते हैं—‘शास्त्रादि’ इत्यादि । शास्त्र तथा लौकिक
वृत्तान्तों के विचार से जो किसी वस्तु के विषय में निर्णयारमक चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है
उसे ‘मति’ कहते हैं ।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावात् वक्ति—

अत्र निरराद्धतदर्थानुष्ठान-संशयोच्छेदादयोऽनुभावाः ।

अत्र मत्तौ । तदर्थस्य निर्णयार्थस्यानुष्ठानं विधानम् ।

निराशङ्क होकर निर्णय काम को करना और सन्देह का विनाश आदि इसमें (मति
में) अनुभाव होते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमति कश्चिद्विभावयति—

‘निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम् ।

अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त ! मया परिश्रमः ॥’

यदा, निखिलं समस्तं, जगद् विश्वमेव नश्वरं नाराशोलमस्ति, अस्मिन् जगति, कलेवरं
शरीरं पुनर्नितरां नश्वरमस्ति, अथ तदा, तस्यातिनश्वरकलेवरस्य कृते पोषणनित्ताम,
हन्त ! मया, अयं कियान् परिश्रमः क्रियत इत्यर्थः । मूढवन्मन विनश्वरतमवस्तुपोषणाय
परिश्रमस्य करणमिति निर्णयान्मतिरिदानसेया ।

उदाहरण देखिये । कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब यह समस्त संसार ही नाश-
वान् है—अर्थात् इसमें किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इस संसार में जो यह
शरीर अत्यन्त ही नाशवान् है—‘वृणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं विधास्यति’—के अनुसार
एक क्षण के बाद इस शरीर की क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाय ! तब भी मैं इस
क्षणमग्न शरीर के लिये कितना परिश्रम करता हूँ !

विभावानुभावौ वक्ति—

‘शरीरमेतद्जलबुद्बुदोपमम्’ इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः, हन्तपद-
गम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्वितृष्णता चानुभावः ।

विरतिर्निवृत्तिः ।

यहां ‘शरीरमेतद्जलबुद्बुदोपमम्’ (अर्थात् यह शरीर जल के बुलबुले के समान है)
इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुनः पुनः विचार) है और ‘हन्त’ पद से प्रतीत
होने वाले अपनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा तृष्णारहित होना आदि
अनुभाव हैं ।

नन्वत्र शान्तरसधनिरेव न क्यमित्यत आह—

भगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्यतिव्यपदेशाद्देतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन
प्रतीतेः ।

यतोऽत्र भवति प्रतीयमाना मतिरेव नितरां चमत्कारिणी, शान्तरसस्तु विलम्बेनस्वा-
धमानोऽल्पचमत्कारकृत्, ततो मतिष्वनिरेवात्र न शान्तरसधनिरित्याशयः ।

जिसलिये यहां शीघ्र प्रतीयमान मति-भाव का चमत्कार अधिक है और शान्त रस का
आस्याद् विलम्ब से होता है, अतः पुनः अपेक्षाकृत उसका चमत्कार भी न्यून है, इसलिये

मति-भाव-ध्वनि ही वक्तृ पद्य को काव्य-कोटि में छाती है, शान्त-रस-ध्वनि नहीं अर्थात् शान्त-रस-ध्वनि यहाँ नहीं होती, मति-भाव-ध्वनि ही होती है।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।

व्याधिरोगयोरेतेऽन्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपस्वासम्भवात् तन्नन्यमनस्तापोल्लेखः ।

अथ 'व्याधि-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोग' इत्यादि । रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होने वाले मन के ताप को 'व्याधि' कहते हैं । रोग और व्याधि अलग अर्थों में हैं, यह बात प्रसिद्ध है, फिर रोग को व्याधि न कहकर रोगजन्य मानसिक ताप को व्याधि-भाव कहने का तात्पर्य यह है कि—'सभी भाव चित्त-वृत्ति-स्वरूप हैं, इस सिद्धान्त के अनुरोध से चित्त-वृत्त्यात्मक मनस्ताप को ही व्याधि-भाव माना जा सकता है, वाद्य रोग को नहीं, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये ।

लक्षण एव विभावोपोरनुभावान् वक्ति—

गात्रशैथिल्य-श्वासादयं ऽत्रानुभावः ।

अङ्गों की शिथिलता और श्वास आदि व्याधि-भाव में अनुभाव होते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं प्रतिपादयति—

यदाहुः—

'एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ।

वातपित्तकफानां स्युर्न्याधयो ये ऽजरादयः ॥

इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरि-र्यभिधीयते ।'

लोकें वात-पित्त-कफाना मध्ये प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोत्रायाणां त्रयाणां वा दोषाणां प्रकोपाद् ये ऽजरादयो भवन्ति, इह साहित्ये तत्प्रभवस्तदुत्पन्नो मगस्तापश्चित्तवृत्तिविशेषो व्याधिर्भाव उच्यते इत्यर्थः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'एकैकशो ...' इत्यादि । अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रकोप से जो ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को साहित्य शास्त्र में 'व्याधि' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वियोगव्ययिता नायिका वर्णयति—

'हृदये कृतशोभलानुपज्ञा, मुहुर्ज्ञानि यतस्ततः क्षिपन्ती ।

तदुदन्तपरे मुखे सखाना-मतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ॥'

इयं वियोगिनी, हृदये वक्षसि कृत शोचलस्यानुपज्ञा सम्बन्धो यस्या यया वा, तादृशी, तथा मुहुर्वारं वार यतस्तत इतस्तत, अज्ञानि क्षिपन्ती, तदुदन्तपरं नायकवृत्तान्तवर्णन-परायणे सखीना मुखे, अतिदीना दृष्टिमादधाति निक्षिपतीत्यर्थः ।

मुख इत्येकवचनेन सर्वासामेकस्यैव वृत्तस्य कथनं सूच्यते ।

विरह-पीडित नायिका का वर्णन है कि—विरहिणी नायिका सेज पर पड़ी है, सखियों ने विरह-ताप को शान्त करने के उद्देश्य से उसके वक्ष पर सेवार्थों को रग छोड़ा है, फिर भी वह नायिका बार-बार अङ्गों को हथर उधर पटक रही है, अथ बेचारी सखियाँ क्या करें, कुछ उपाय नहीं सूझता, आखिर सब सखियाँ मिल कर उसके प्रिय के सम्यन्ध की बातें करने लगीं, तब नायिका ने प्रिय-वधापरायण सखियों के मुख पर कातर दृष्टि बालने लगी ।

अत्र पद्ये व्याधे विभावानुभावौ दर्शयति—

विरहोऽत्र विभावः, अह्नोत्पादिरनुभावः ।

यहां विरह विभाव है और अह्नो का पटकना आदि अनुभाव है ।

प्रासं निरूपयति—

भीरोर्धोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जधुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषपक्षासः ।

धोरसत्त्वत्वात् मयानकप्राणिना दर्शनात्, स्फूर्जयोर्गन्धनिर्घोपस्य श्रवणाच्च जन्मोत्पत्ति-
र्यस्य, तादृशो भीरो' कातरस्य चित्तवृत्तिविशेषपक्षास इत्यर्थः ।

अथ 'प्रास' का निरूपण करते हैं—'भीरोः' इत्यादि । भीरु (दरपोक) व्यक्ति के हृदय में व्याघ्र आदि मयानक प्राणियों के दर्शन और विजली की कड़क के श्रवण आदि से जो एक तरह की चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम 'प्रास' है ।

अनुभावानाह—

अनुभावाश्चास्य रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः ।

स्तम्भयेष्टप्रतीपात । विभावद्वय तु लक्षण एवोक्तम् ।

रोमाञ्च, कम्प, निश्चेष्टता और भ्रम आदि प्रास-भाव के अनुभाव होते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'औत्पातिकैर्मतं क्षेपपक्षासः कम्पादिकारकः ।'

उत्पातमूचकैरौत्पातिकैर्धोरसत्त्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षेपश्चपलात्मकवृत्तिविशेष' ।

प्राचीनों ने भी कहा है कि—उत्पातकारक वस्तुओं से होने वाले मन के विक्षेप को 'प्रास' कहते हैं और वह कम्प आदि का जनक होता है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायक सखायं पति—

'आलीपु कैलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।

आरादुपाकर्यं गिरं मदीयां सौदाननीयां सुपमामयासीत् ॥'

आलीपु सखीना मध्ये, कैलीरभसेन श्रीकाकौतुकेन, मम सम्बन्धिनामालापं मुहु' उपा-
लपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद् दूरे मदीयां गिरम् बानमुपाकर्यं निराम्य, सौदाननीयां
श्रासोदयादिविरप्रभतया चपलासम्बन्धिनी, सुपमाम् अयासीद् विद्युदिन सशरित्तरोऽभूदित्यर्थः ।
'आलापमुपालपन्ती' इत्यत्र 'वाचमुवाच कौत्स' इत्यत्रेवाधिकपदत्वम् ।

उदाहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका खेल के बेग से सखियों के बीच में मेरे सम्बन्ध की बातें कह रही थी, परन्तु दूर से क्यों ही मेरी आवाज सुनी, त्यों ही विजली की शोभा को प्राप्त कर गई—अर्थात् देखते ही माग गई ।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः, पलायनमनुभावः ।

'शब्दानामनुशासननाचार्येण' इत्यत्रेव पत्येति कर्तारि तृतीया । इह स्वशब्देन नायिका-
परामर्शोऽभिप्रेतः, किन्तु 'निजस्वात्मादिसम्बन्धाना प्रधानभूतक्रियाकर्तृपरामर्शात्पम्' इति
व्युत्पत्तिविरोधात्प्रोक्तः ।

यहां पति के द्वारा स्वकीय वचन का श्रवण करता विभाव और भाग जाना अनुभाव है—

लज्जाप्वनिमत्राशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शैशवेनैव तस्या निरासात् ।

यतो बालापदोपस्थापितेन बाल्येनैव नायिकाया लज्जाया असम्भव, त्रासस्य च सम्भव सूचित, तस्मात्तिरोधानेन नात्र लज्जा व्यज्यते, अपितु त्रास एवेति भाव ।

'बालीषु' 'इत्यादि पद्य में 'लज्जा व्यङ्ग्य है' यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'बाल' पद से नायिका का बचपन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचपन में लज्जा नहीं होती, त्रास होता है ।

ननु 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रती वामा । कथिता मृदुध माने समधिकलज्जा-वती मुग्धा ॥' इत्यन्यत्र लक्षिता मुग्धैवात्र बालापदबोधा, न तु शिशु' । तथा च लज्जा-यास्तस्यामाधिक्याद् व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेत्यरुचेरुदाहरणान्तरमाह—

इदं वाविविक्तमुदाहरणम्—

विविक्त लज्जाऽसङ्कीर्णत्रासव्यञ्जकम् ।

यदि यह बात कही जाय कि यहाँ 'बाला' पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु 'मुग्धा' जिसके लक्षण में 'समाधिक लज्जावती' अर्थात् 'अधिक लज्जावाली', कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान व्यङ्ग्य होगी, तो मैं कहूँगा कि यह कथन आप का ठीक है, इसी अरुचि को हृदय में रखकर ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'इदं वा विविक्तमुदाहरणम्'—अर्थात् अथवा यह विशुद्ध उदाहरण त्रास का लीजिये—

विलम्ब्य गृहमागत क्रुद्धाया मातुस्ताडनोद्यम इत्था प्रस्तो बालकृष्णो मातरं प्रवीति—

'मा क्रुद्ध कशां कराब्जे, करुणावति । कम्पते मम स्वान्तम् ।

खेलन् न जातु गोपै-रन्व ! विलम्ब करिष्यामि ॥'

हे करुणावति ! अन्व ! कराब्जे निजकरकमले, कशा ताडनरज्जु, मा क्रुद्ध मा प्रदी, मे मम स्वान्तं हृदयं कम्पते, पुनरत परं जातु कदाचित्, गोपै पशुपालबालै सह खेलन् अहं विलम्बं न करिष्यामीत्यर्थः ।

अयि ! दयावति ! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोढ़ा मत ले, मेरा मन काँप रहा है । मां ! गोपालों के साथ खेलते हुये अब कभी विलम्ब नहीं करूँगा ।

प्रसङ्ग प्रतिपादयति—

एषा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्तिः ।

लीलाया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुतः परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रत्युक्तिरेषा । इह त्रासस्य कशोत्तोलनं विभाव, कम्पस्वानुभाव । भावान्तरेणासङ्कीर्णत्वात्सोऽत्र ध्वन्यते ।

यह लीला से गोप-किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान की उक्ति है । यहाँ मां का कोढ़ा हाथ में लेना त्रास का विभाव और कम्प अनुभाव है ।

स्वप्नरूपं युतं निरूपयति—

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम् ।

निद्राया विभावोत्थं धर्मादिभ्य उत्थमुत्पन्नं ज्ञानं विषयावभास, स्वप्न एव युतं भाव इत्यर्थः । तदाह—

स्वप्न इति यावत् ।

अथ 'सुप्त' का निरूपण करते हैं—'निद्रा' इत्यादि । निद्रा-रूप विभाव (कारण) से उत्पन्न हुये ज्ञान का नाम 'सुप्त' है । जिसे स्वप्न कहते हैं ।

अमादेर्विभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोक्तत्वाद् अनुभावमात्रं वक्ति—
अस्यानुभावः प्रलापादिः ।

अस्य स्वप्नभावस्य । प्रलापोऽनर्थकभाषणम् । आदिना रोदनहसनादिस्वाप्नव्यारारसङ्ग्रह-
चतुर्दशानां भादि इत्येके अनुभाव हैं ।

ननु अमादयोविभाव इव, नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य कार्यं
नोच्यन्त इत्याशङ्का व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावाः, न त्वस्य, अतिदृक्त्वन्यत्वात् ।

नेत्रनिमीलनादीनां हि निद्राजन्यत्वं, न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो न स्वप्न-
स्यानुभावा । इत्थं स्वप्नस्य निद्रायाश्च कारणैक्येऽपि कार्यभेदाद् भेदो विभावनीयः ।

आंखों का मींचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न
से उत्पन्न नहीं होते ।

प्राचीनोक्तिं स्रग्द्वयति—

यत्तु प्राचीनैः—‘अस्यानुभावा निभृतगान्त्रनेत्रनिमीलनम्’ इत्याद्युक्तम्,
तदन्यथा सिद्धान्तमपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

अन्यथा-सिद्धान्ति कारणान्तरादेवोत्पन्नानि । नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न तु
स्वप्नेन) जनितानि स्वप्नं यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद्भ्रमेण स्वप्नजन्यत्वं
तेषां प्रतिपादितमित्याकृतम् । उक्तवान्यत्र—‘स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु य’ ।
कोपावेगमयगलानि-सुत्तुत्वादिकारकः १ इति ।

प्राचीनों ने ‘सुप्त के अनुभाव अहों की निश्चेष्टता और आंखों का मींचना है’ ऐसा जो
लिखा है, उसका भाषण यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है,
स्वप्न के लिये ये सब अन्यथासिद्ध हैं—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा
से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि ये अनुभाव स्वप्न के व्यापक अचरण हैं—अर्थात् स्वप्ना-
पस्या में भी इनका रहना निश्चित है । सारांश यह हुआ कि स्वप्न की अवस्था में भी
इत (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को नियन्त्रित करते देखकर प्राचीनों को भ्रम हो
गया कि ये स्वप्न के ही कार्य हैं, अतः उन्होंने वैसा लिख दिया । वस्तुतः उनका लिखना
ठीक नहीं है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

स्वप्नाभूतप्रियासमागमो नायको निद्रा वदति—

‘अकहण ! मृषाभाषासिन्धो ! विगुञ्ज भमाञ्जलं,

तव परिचितः स्नेहः सम्यक् मयेत्यनुभाषिणीम् ।

अविरलगलद्राण्यां तन्वीं निरस्तविभूषणां,

क इह भवती भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥’

हे भद्रे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदरो ! भवती विना क इह—‘हे अकहण निर्दय !
मृषाभाषासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिन् ! मम अञ्जलं वसनाग्रं मुख त्यज, तव स्नेहः प्रणय-
परिणित मया तव कपटप्रेमा सुनिन्दित’ इति वाक्यानि, अनुभाषिणीं वदन्तीम्, अविरल-
गलद्राण्यां निरन्तरचयवमानाश्रुधाराम्, निरस्तविभूषणां निष्कसितालङ्काराम्, [तन्वीं प्रियसीं,
विनिवेदयेत् समर्पयेद्दर्शयेदित्यर्थः ।

निद्रे ! तवेवैतन्माहात्म्यं यदविधमानामपि प्रियतमा तथा दूरायसीत्याशयः । इह
शब्दचारिमच्छन्दसोऽनुतोषाद् ‘भवती’मित्यस्य ‘विने’स्वनेन महान् विप्रकर्षः सुयमामपकर्षति ।

अथ 'सुप्त-भाव' का उदाहरण लीजिये। 'हे निर्दय ! हे मिथ्याभाषणों के समुद्र ! मेरे अञ्जल को छोड़ दे, मुझे तेरे प्रेम का अच्छा परिचय प्राप्त हो चुका।' इस तरह कहती हुई और लगातार आंसू बहाती हुई आभूषणविहीन कृशाङ्गी को, हे कल्याणकारिणि ! निद्रे ! तेरे बिना कौन लाकर उपस्थित कर सजता ? हे देवि ! इस तरह प्रिया-समागम करा देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है।

प्रकरणमाह—

एषा प्रयासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवं भाषिणी दृष्टवतो निद्रां प्रति कस्यचिदुक्तिः।

अपिरत्राप्रयोजन प्रतिभाति।

यह उक्त रीति से कहती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किसी प्रवासी नायक की उक्ति है।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यङ्ग्यत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत आह—

'यद्यप्येवम्भूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन निद्रे । मम भवत्या महानुपकारः कृतः' इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुरःस्फूर्तिकतया स्वप्रध्वननमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे।

अत्रोदाहरणे निद्राकर्तृकप्रियतमानिवेदनरूपमहोपकारविधानात्मकवस्तुन शृङ्गाररसस्य च व्यञ्जनाद् वस्तुध्वनि-रसध्वन्योरपि यद्यपि सङ्गाव, किन्तु तयो पश्चात् प्रतीतिरिति साम्यामङ्गभूताभ्या सह पूर्वप्रतीतिकत्वात् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वने साद्भ्यमिति तदध्वनि-व्यपदेश एवेति सारम्।

यद्यपि 'हे निद्रे ! तू ने प्रिया की पतादश दशा (परप भाषण, रोदन और आभूषण-त्याग आदि) का ज्ञान कराकर मेरा महान् उपकार किया है' इस वस्तु तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों की प्रतीति यहां होती है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अतः इस पद्य को स्वप्न-भाव-ध्वनि का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में उक्त वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि, उन्हें रोक नहीं सकती।

जागरणलक्षणं विबोधं निरूपयति—

निद्रानाशोत्तरं जायमानो विबोधः ।

निद्रानाशस्य भावत्वाभावाद् बोध इति, बोधस्य चान्यदाऽपि सम्भवाच्चिद्रेत्यादि च लक्षणे निवेशितम्। तदुक्तम्—'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागम । जृम्भाऽङ्गभङ्गनगनमौलनाङ्गावलोककृत्।' इति।

अथ 'विबोध-भाव' का निरूपण करते हैं—'निद्रानाश' इत्यादि। निद्रा के नष्ट होने के बाद जो बोध होता है, उसको 'विबोध' कहते हैं।

विभावाननुभावांश्च दर्शयति—

निद्रानाशाश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति त एवात्र विभावाः। अक्षिर्मर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावाः।

तत्पूर्तिं निद्रापूर्तिं । स्वप्नान्त स्वप्नप्रदशाऽवसानम्। स्पर्श परकृत । निद्रानाशस्य यानि कारणानि, तान्येव विबोधस्यापीति निद्रानाशकारणान्येवविबोधे विभावा अक्षिर्मर्दनाद-यश्चानुभावा भवन्तीत्यर्थः।

निद्रा का नाश निद्रा के पूर्ण हो जाने से स्वप्न के अन्त हो जाने से और प्रबण शब्दों के श्रवण से तथा किसी के स्पर्श से होता है, इसलिये वे विबोध के विभाव हैं और अक्षिर्मर्दना, शरीर मलना आदि अनुभाव हैं।

उदाहरणवाहुल्यसम्भवादाह—

तत्र सङ्क्षेपेणोदाहरणम्—

यद्यपि इस भाव के उदाहरण बहुत हो सकते हैं, तथापि संक्षेप से ही वे दिखलाये जाते हैं।

स्वप्नोपलम्ब्यमानप्रेयसीसाम्निष्यो भेषगर्जितापगतनिद्रा चिद्यमानः कश्चित् प्रवासी सखायमाख्याति—

‘नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे, बत यामे चरमे निवेदिताया।

सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत् प्रचुकोपवारिवाहः ॥’

अथ, चरमे यामे चतुर्थे प्रहरे, मे मन, नितरा हितया परमोपकारिकया, निद्रया स्वप्नदशया, निवेदिताया प्रापिताया, सुदृशः प्रेयस्या आलपितुमुद्यताया, वचनं, यावद्धं शृणोमि, तावद्धत, मयि, वारिवाहो जलधर प्रचुकोप प्रकुपित इव जगज्जैत्यर्थः ।

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरा अथन्त हित चाहने वाली निद्रा से (स्वप्नावस्था से) रात के अन्तिम प्रहर में उपरिपत की गई सुनयना प्रेयसी का वचन जब तक सुनूँ-सुनूँ तभी मेरे ऊपर जलधर प्रकुप्त हो उठा—उसने अपने मीपण गर्जन से मेरे सुखद स्वप्न को भग्न कर दिया।

विभावमनुभावं चाह—

अत्र गजितश्रवणं विभावः, प्रियावचनश्रवणोल्लासनाशोऽनुभावस्तूनेयः ।

उक्तैः साक्षाच्छब्दानुकोऽपि बतशब्देनावगमनीयः ।

यहाँ संक्षेप-गर्जन का ध्वज विभाव और प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुआ था, उसका विनाश अनुभाव है, परन्तु उस अनुभाव का वर्णन स्पष्ट शब्दों में यहाँ नहीं किया गया, अतः ‘बत’ पद से उसका तर्क कर लेना चाहिये।

मतान्तरेण विबोधं निरूपयति—

केचिद्विद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति । तेषां मते—

‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥’

इति गीतापद्यमुदाहार्यम् ।

अविद्याया संसारनिदानभूताशनस्य ध्वंसेन विनाशेन ध्वंस्यं ज्ञानमपिकेचिद् विबोधभावं मन्यन्ते, तेषां मते—‘हे अच्युत गोविन्द ! त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मकत्वदनुप्रदात्, मम मोहो देहात्मभ्रमो नष्टः, मया स्मृतिराल्मस्मरणं च लब्धापुनरवाप्ता, साम्प्रतं गतसन्देहः कर्तव्याकर्तव्यसंशयरहितः, स्थितोऽस्मि । तेन तव वचनं करिष्ये त्वदादेशं पालयिष्यामी’—त्वयंके ‘नष्टो मोहः’ इत्यादिभगवद्गीतापद्यमत्रोदाहरणीयम्, तत्राविद्याध्वंसजन्यविबोधस्य सत्त्वादित्यर्थः ।

कुछ लोग ‘विबोध’ को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मत के अनुसार ‘नष्टो मोहः ...’ इत्यादि गीता के श्लोक को ‘विबोध-भाव-ध्वनि’ का उदाहरण समझना चाहिये। उस गीता-श्लोक का अर्थ यह है कि—हे भगवान् ! आपकी अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन सत्त्यों को मैं भूल रहा था, वे मुझे पुनः समझ में आ गये। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ, आपके कथन का अधरशः पालन करूँगा। यह महाभारत युद्ध में मोह-प्रस्त धनुन का उपदेश सुन लेने के बाद भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति उक्ति है।

सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणेऽसूयाध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोध-
प्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्ननौचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽ-
सूयाया विलम्बेन प्रतीतेः; परमुखनिरीक्षकत्वात् ।

वाक्यार्थता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम् । तस्मिन् विबोधे । परमुखनिरीक्षकत्वमसूयाया
पराधीनप्रतीतिकत्वम् ।

‘नितरा’मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्राभङ्गक-मेघविषयकासूयाया एव प्राधान्येन
व्यङ्ग्यत्वादसूयाध्वनिरेवेति तु न शङ्कनीयम्, इहासूयाप्रतीते परसापेक्षत्वेन प्रथममुत्पत्तुम-
शक्तत्वात् । तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते, तदनु स्वप्नस्य सुखकरत्वेन
विबोधानौचित्यस्य प्रतीति, तदनन्तरमनुचितविबोधकारणगर्जितविधायकत्वेन मेघविषय-
कासूयाया प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परसापेक्षाऽसूया न प्राधान्यमर्हतीति सारम् ।

‘नितरा हितया’ ‘‘ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का प्रधान वाक्यार्थ मेघ के विषय में होने
वाली असूया है, यह साक्षात् करना समुचित नहीं, क्योंकि जब पहले विबोध-भाव की
प्रतीति हो जायगी, तब उस विबोध में अनौचित्य का—अनवसर में होने का—ज्ञान होगा
और उसके बाद अनुचित विबोध को उत्पन्न करने वाले मेघ में असूया होगी । अतः वह
असूया परमुखापेक्षिणी—अर्थात् स्वोपपादक विबोध का मुँह जोहने वाली है, इसीलिये
उसकी प्रतीति भी विलम्ब से ही होगी, फिर वह प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकती है ?

उक्तार्थं समर्थयितुमसूयाया विषयं विशदीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिबोधकं
किञ्चिदपि स्यात् ।

तस्या-असूयाया ।

यदीह पद्येऽपि ‘भ्रात । तावदह शठेन विधिना निद्रादरिद्रोकृत’ इत्यादौ विधे-
शठत्वनिव, मेघस्य निर्दयत्वादि किमप्यसूयान्यङ्गक विशेषणमुपात्तं स्यात्, तदसूयाया
प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व स्यात्, न च तथा, तस्मान्नासूयाध्वनिरिति भाव ।

उक्त पद्य में असूया की भी प्रधानता हो सकती थी, यदि ‘भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना
निद्रा-दरिद्रोकृत’—अर्थात् हे भाई ! तब तक शठ विधाता ने मेरी निद्रा को भंग कर
दिया’ यहाँ जैसे विधाता को शठ कहा गया है, उसी तरह वहाँ भी मेघ के विषय में
निर्दयता आदि का बोध कराने वाली कुछ बातें वर्णित रहतीं । परन्तु उस तरह की एक
भी बात यहाँ वर्णित नहीं है, अतः यहाँ असूया-ध्वनि नहीं हो सकती ।

स्वप्नध्वनिशङ्कामपि निराकरोति—

नापि स्वप्नध्वनिः, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः ।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरप्र भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भव-
तीत्यर्थ । नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवादित्याशय ।

उक्त पद्य में स्वप्न-भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि
मेघ के गर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से
ज्ञात होने वाला वह स्वप्न प्रधान व्यङ्ग्य कैसे हो सकता ?

अथ जीवनाहरणकर्तृत्वादिगमकस्य वारिवाहपदस्य, बोधनप्रकृतिकत्वावगमकस्य क्रिया-
पदस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनि, स्वप्नभावस्य प्रथमेन भावशान्तिध्वनि च पर्यवेक्ष्य, ताभ्यां
सहसूयाध्वने सादृश्यमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूया च सहास्य सङ्करः ।

सादृश्येऽप्यङ्गिता विबोधध्वनेरेवेत्वाकृतम् ।

यदि कहें कि 'नितरां हितया' इस पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' पद का प्रयोग किया गया है और वारिवाह पद का जल देने वाला (पनमरा) भी एक अर्थ होता है, अतः इन प्रकार के हीन शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति असूया शक्त हो सकती है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की बात तो आप भव्यम् ऊपर कह आए हैं, अतः स्वप्न-भाव-प्रशम की ध्वनि आप के विचार से भी होती ही है, तो इस पर मन्यकार कहते हैं कि—ठीक है, इस तरह यहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ विबोध-भाव-ध्वनि का सङ्कर ही रहे। अभिप्राय यह है कि—इस तरह सङ्कर मान लेने पर भी अही विबोध-ध्वनि ही होगी और उक्त दोनों ध्वनियाँ उसके अङ्ग होकर रहेंगी।

व्युत्पत्तिदार्ढ्याय प्रसुदाहरति—

इदन्तु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्गय सकलां, यामिनीं सहतस्थुपीम् ।

निद्रा विहाय स प्रात-रालिङ्गय चेतनाम् ॥'

स प्रधानं पुमान्, गाढं दृढमालिङ्गय समाश्लिष्य सकला सम्पूर्णं यामिनीमभिव्याप्य, सहतस्थुपीं साकं स्थितवतीं, निद्रामेका नायिकामिव, प्रातः प्रभाते, विहाय, अथ चेतनां सम्शामपरा नायिकामिव, आलिलिङ्गेत्यर्थः ।

अब पाठकों के ज्ञान को दृढ करने के उद्देश्य से विबोध-भाव का प्रसुदाहरण-भी दिलखाते हैं—'इदन्तु नोदाहार्यम्'—अर्थात् यह उदाहरण नहीं देना चाहिये। जो पुरुष रात भर साथ रहने वाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रगाढ़ आलिङ्गन करके रहा, वही मातः-काल में उस (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया।

इतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वान् ।

चेतना-विबोधयोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रागु-क्तरीत्या न वमत्कारिता ।

यहाँ विबोध चेतना पद से वाच्य ही हो गया है, अतः यह पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एनात्र वमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा, यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते; तथैवायं रात्रौ निद्रां, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

इह प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकृत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यङ्गनात्समासोक्त्य-लङ्कारस्येदमुदाहरणं, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्रायः ।

'गाढमालिङ्गय' - 'इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्णित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में उस अप्रस्तुत तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को उपभोग के लिये दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है। अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार प्रधान—वमत्कारी-है। भाव-ध्वनि तो यहाँ है ही नहीं।

अमर्षं निरूपयति—

**परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाकपारुष्यादिकारणीभूत-
श्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ।**

शत्रुकृतास्तिरस्कारप्रवृत्तयो ये नानापराधास्तज्जन्य, मूकीभाव-कठोरभाषणादिजनक-
थाभिनिविष्टस्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः । तदुक्तम्—'निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽ-
भिनिविष्टता । नेत्ररम-शिर-कम्प-भ्रूमङ्गो-तर्जनादिकृत् ।' इति ।

अथ 'अमर्ष-भाव' का निरूपण करते हैं—'परकृता' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का
नाम 'अमर्ष' है, जो दूसरे के किये हुये अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती
और मौन (चुप्पी) तथा कठोर-भाषण आदि को उत्पन्न करती है ।

विभावाननुभावाद्य दर्शयति—

प्राग्वत् कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावानुभावत्वम् ।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावा, मौनादीनि कार्याणि चानुभावा ज्ञेया
इति सारम् ।

पहले ही की तरह यहाँ भी कारणों (परकृत अपमान आदि अनेक अपराधों) को
विभाव और कार्यों (मौन आदि) को अनुभाव समझ लेना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्तं वर्णयति—

'वक्षोजाप्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे, यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्थ ।

शोणाम्राभ्यां भामिनी, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे ॥'

वक्षोजाप्र कुचतट, सहसा, पाणिना करेण, आमृश्य संस्पृश्य, (सन्निधौ ताडनादि-
सम्भवात्) द्राग् भ्रष्टिति, दूरे यातस्य गतस्य, प्रियस्य कृतागसो वल्लभस्य, आननाब्ज मुख-
कमलम्, भामिनी कोपना नायिका, शोणाम्राभ्या रक्तश्रेणभ्या, लोचनाभ्या, जोषं जोष
निर्निमेषं दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोष तूष्णीमेव, अतस्तस्येऽस्यादित्यर्थः । इहाप्रशब्दो द्विरुपात्त ।

उदाहरण देखिये । कुचों के अग्रभाग को हाथ से मलकर दूर भागे हुये प्रियतम
के मुख-कमल को, क्रोध-युक्त नायिका लाल-लाल आँखों से देख-देकर ही चुप
रह गई ।

विभावादि प्रकृतयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाप्रस्पर्शो विभावः, नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणयो
अनुभावौ ।

लक्षणघटकादिप्रकृतविभावानुभावसद्भावसूचकस्तुशब्दः । निर्निमेषनिरीक्षणमिह
सेवन-वीप्सार्थकाभ्या जुपतिणमुल्भ्या प्रकृतिप्रत्ययाभ्या सूच्यते । निर्निमेषनिरीक्षणं
मौनस्याप्युपलक्षणम् ।

यहा अकरमात् स्तनों के अग्रभागों को छूना विभाव है और नेत्रों की रक्तता तथा
टकटकी लगाकर देखना अनुभाव है ।

ननु क्रोधामर्षयो स्थायिव्यभिचारिणो कार्यकारणैक्ये निय कथं भेद इत्यत आह—

ननु क्रोधामर्षयोः स्थायि-सञ्चारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेत्, विषयता-
चैतत्तत्त्वमेवेति गृह्याण ।

विषयताया वस्तुनोद्भववस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदकं जानीहीत्यर्थः ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी-भाव क्रोध और व्यभिचारी भाव अमर्ष में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि वैसे भेद कुल्लुनहीं है, फिर भी दोनों (क्रोध और अमर्ष) की विषयता अर्थात् अवस्था में जो वैलक्षण्य-भेद है, वही क्रोध अमर्ष में परस्पर का भेदक होता है।

ननुभयोर्निषयताभेदः कथमवधार्यत इत्यतोऽभिपद्यते—

तत्र तु गमकं म्प्रति परिनिनाशादौ प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्य-
वैलक्षण्यम् ।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु । यतस्तस्यैव भावस्योत्कटावस्थाया क्रोधरूपतया परविना-
शादौ प्रवृत्ति कार्यं भवति, अनुत्कटावस्थायास्त्यमर्षरूपतया वचनवैमुख्यादिकं कार्यं भवतीति
त्रोयामर्षयो कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यज्ञापकमित्यर्थः ।

क्रोध और अमर्ष की अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, उसका ज्ञान दोनों के कार्य-
वैलक्षण्य अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये । तात्पर्य यह कि क्रोध का
कार्य शीघ्र दूसरों के निनाश में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह
जाना आदि होता है । सारांश यह सिद्ध हुआ कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में
रहता है, तब अमर्ष कहलाता है और जब उत्कटावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब क्रोध
कहलाता है ।

अवहित्यं निरूपयति—

श्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षायनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽ-
वहित्यम् ।

दर्पायनुभावानां 'हर्षस्तिवष्टावातेर्मेन प्रसादोऽश्रुगदसादिकर' इत्युक्तेरश्रुप्रवृत्तीनां हर्षा-
दिकार्याणां, गोपनायापहवाय, श्रीडादिभिः 'श्रीडा-भय-धाष्ट्य-कौटिल्य-गौरव', निमित्तै-
र्हेतुभिः जनित उत्पादित, भावविशेषवित्त इति विशेषोऽवहित्यमित्यर्थः ।

अब 'अवहित्य' नामक भाव का निरूपण करते हैं—'श्रीडा' इत्यादि । हर्ष आदि
भावों के जो अनुभाव आदि अनुभव (कार्य) होते हैं, उनको छिपाने के लिये लज्जा
आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति को 'अवहित्य' कहते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—

'अनुभावपिधानार्थेऽवहित्यं भाव उच्यते ।

तद्विभाष्यं भय-श्रीडा-धाष्ट्य-कौटिल्य-गौरवैः ॥'

पिधानं गोपनम् । विभाव्यमुत्पादनीयं तदवहित्यम् । धाष्ट्यं प्रगल्भतागौरवं महत्त्वम् ।
इमं वात को प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—'अनुभावपिधानार्थं' इत्यादि । अर्थात्
अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे 'अवहित्य' कहते हैं ।
वह भय, लज्जा, छटता, कुटिलता और गौरव इन सब कारणों से उत्पन्न किया जाता है ।

उदाहरति—

यथा—

कुलाश्रनावहित्यं वर्णयति—

'प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-

रुपाकरणं स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः ।

विपज्वालाजालं भगिति वमतः पन्नगपतेः,

फणायां साश्वर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम् ॥'

गुरुषु गुरुजनसमीपे, गोपानां प्रयत्ने कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, यदुपते श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्षम्, उपाकर्ष्य श्रुत्वा, स्थिद्यन्तौ धर्मभाजौ पुलकितौ जातरोमाद्यौ च कपोलौ यस्यास्तादृशी, कुलवधू कुलीनाऽकुलटा वधूर्गोपाङ्गना, प्रणयजस्वेदरोमाश्चापहवाय, विप-ज्वालाना जाल समुदाय, म्गिति सत्वर वमतो मुखशताग्निष्कासयत, पन्नगपते कालिय-नागस्य, फणाया, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धतनृत्यविधानं, साश्चर्यमाश्चर्येण सहितं, कथय-तितरा मुहुर्वदतीत्यर्थ । इह व्रीडया प्रणयजस्वेदरोमाश्चयोगोपनम् ।

जैसे—गोपजनों ने प्रसन्न-वश, गुरुजनों के मध्य में, कृष्ण की महत्ता का वर्णन किया जिसको निकट में रहने वाली किसी कुलाङ्गना ने भी सुन लिया, जिससे उसके कपोलों पर प्रेम के कारण सात्विक भाव के चिह्न पसीना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये । कुलवधू ने देखा कि अब तो मेरा कृष्ण के प्रति प्रेम लोगों पर प्रकट होना चाहता है, बस, उसने द्रष्ट से विप-ज्वाला के समूह को छगानार उगलते हुये अहिराज कालिय के फणों पर कृष्ण के नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे लोग समझ लें कि यह स्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपि तु उनके पराक्रम के वर्णन के कारण हुये हैं ।

विभावानुभावविभक्तौ—

अत्र व्रीडा विभावः, तादृशकालियकथाप्रसन्नोऽनुभावः ।

तादृशस्य विपज्वालाजालवमनकारिण । प्रणयजन्यौ स्वेदरोमाद्यौ लज्जयाऽऽश्चर्य-जन्यत्वेनापहृतौ ।

यहां लज्जा विभाव है और भयङ्कर कालिय नाग के फणों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसन्न अनुभाव है ।

इत्थं व्रीडाप्रयोज्यमवहित्यमुदाहृत्य भयादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामुदाहृत्यमाचष्टे—

एवं भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

अवहित्यमिति शेष ।

इसी प्रकार भय आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अविहृत्य-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये ।

उग्रता निरूपयति—

अधिकेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

अधिकेपो निन्दा, अपमानस्तिरस्कार, आदिपदेन राजापराधस्य, अविद्यमानदोषोद्धो-पस्य, चौरग्रहणस्य च परामर्श । निन्दादिजन्यो बन्धुवधादिजनक क्रूरतारूपक्षित्तवृत्ति-विशेष उग्रतेत्यर्थ ।

अब 'उग्रता-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधिकेप' इत्यादि । निन्दा और अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली 'इसका क्या कर दालूँ' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु.—'नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चोरधारणम् ।

विभावाः स्यु-रथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥

एते यत्रानुभावास्तदीभ्य निर्दयतात्मकम् ।' इति ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावा, बन्धादीनि कार्याणि चानुभावा । अस्य किं करोमीत्याकारा चित्तवृत्तिं करत्वं निर्दयत्वमित्यनर्थान्तरम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है—'नृपापराय' . . . 'इत्यादि। अर्थात् राजा का अपराध, शूरे शेषों का कथन और अपने शोरों को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बांधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, उसे 'उग्रता' कहनी चाहिये, निर्दयता जिसका दूसरा रूप है।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डीवनिन्दयोऽग्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिरं तर्जयति—

'अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराज्ञये, नितान्तमद्वाधिपतेरमङ्गलम् ।

परप्रभावं मम गाण्डिवं धनु-र्विनिन्दतस्तो हृदयं न कम्पते ॥'

हे युधिष्ठिर ! सङ्गराज्ञये युद्धस्थले, अद्वाधिपतेरदेशस्वामिनः कर्णात्, नितान्तमस्य-
न्तम्, अमङ्गलं वीरराणा कृतेऽशुभम्, भङ्ग (पराजयमहीनस्वरूपस्वदोषत्) पराजयम्,
अवाप्य लब्ध्वा, समानिर्पचनीयविक्रमस्यार्जुनस्य, परप्रभावमुत्कृष्टानुभावं, गाण्डिवं तदाह्वयं,
धनुषापं विशेषेण निन्दतोऽधिपत्, ते तव, हृदयं न कम्पते ? इत्यर्थः ।

जैसे—सभर-भूमि में अङ्गराज कर्ण से आयन्त अमङ्गल (शोरों के लिये असोमन)
पराजय को प्राप्त करके, आज तू मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष की निन्दा करता
है ! तेरा हृदय कम्पित नहीं होता !

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूतं, गाण्डिवं निन्दन्तं, युधिष्ठिरं प्रति धनञ्जयस्योक्तिः ।

विशेषणदुर्गं युधिष्ठिरस्य । गाण्डीवशब्दो हस्वगणयोऽपि द्विरूपकोशोऽनुशिष्टः । धन-
ञ्जयोऽर्जुनः ।

यह कर्ण से पराजित और गाण्डीव की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की
उक्ति है।

विभावानुभावी प्रकाशयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दाऽत्र विभावः, वधेच्छाऽनुभावः ।

निर्दोषस्य गाण्डिवस्य निन्दा विभावः, युधिष्ठिरकर्मकवधेच्छा चतुर्भावेऽत्र बोध्यः ।

यहां युधिष्ठिर के द्वारा की गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा
अनुभाव है।

अमर्षादुग्रताया अभेदमाशङ्क्य निरस्यति—

न चामर्षोऽग्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्राग्गुदाहृतेऽमर्षध्वनावुग्रताया
अप्रतीतेः ।

पूर्वोक्ते 'वक्षोजाग्रम्' इत्यामर्षध्वन्युदाहरणे वधेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावानुग्रताया
अप्रतीतिः, इह तु वधेच्छाप्रत्ययासुप्रतीतिरपीति वधेच्छारूपानुभावभेद एवामर्षादुग्रताया
भेदको ज्ञेय इति सारम् ।

'अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है' ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व
में जो अमर्ष-ध्वनि का उदाहरण (वक्षोजाग्रम् . . . ' इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसमें
उग्रता की प्रतीति नहीं होती और यहां होती है, इस बात का परिचय आपको दोनों
उदाहरणों को मिलाकर देखने पर मिल सकता है। तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप
नहीं और उग्रता तद्रूप होती है।

तर्हि शोषोऽग्रतयोरेवैक्यमास्तामित्याशङ्क्यामाह—

नाप्यसौ क्रोधः, तस्य स्थायित्वेन, अस्याः सञ्चारिणीत्वेन भेदात् ।

क्रोधो हि गुरुवन्धुवधादुत्पन्न उत्कटावस्थो रौद्ररसस्य स्थायीभावः, अभावुपता तु वाम-
पराधजन्यत्वात् क्रोधापेक्षयाऽल्पमात्रव्यभिचारिभाव इत्युभयोर्विभावभेदाद्भेद इत्यभिप्रेतव्यः ।

उपता को क्रोधरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है और उपता सञ्चारीभाव, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है । स्पष्ट यात यह है कि एक ही चित्त-वृत्ति जब गुरु-वन्धु-वधादि महान् अपराधों से उत्पन्न होती है, तब क्रोध कहलाकर रौद्ररस का स्थायीभाव घनती है और जब निन्दा आदि साधारण नाविक्रम अपराधों से वही चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उपता नामक सञ्चारीभाव कहलाती है ।

उन्मादं निरूपयति—

विप्रलम्भ-महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः ।

विप्रलम्भात् प्रियजवियोगात्, महापत्तेर्भ्रमत्वात् विपत्तेः, परमानन्दादेरुत्कृष्टाद्वाद्ग्रन्थ-
त्वेव जन्मोत्पत्तिर्यस्य, स', अन्यस्मिन् वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽवभासस्तदभाववद्विशेष्यक
तत्प्रकारवशान्न भ्रमात्मकचित्तवृत्तिविशेष उन्मादो भाव इत्यर्थः ।

अब 'उन्माद-भाव' का निरूपण करते हैं—'विप्रलम्भ' इत्यादि । प्रिय-त्रियोग गुरुतर-
विपत्ति और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न
होता है, उसी भ्रमारमक चित्त-वृत्ति को 'उन्माद' कहते हैं ।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिभात्रेऽति-याति वारयितुं विशेषणं जन्मान्तमुपात्तम्, सर्वेषां
भ्रमाणां साधारणधर्मवद्भ्रमिज्ञानादिप्रतिनियतहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्यत्वादित्याह—

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम् ।

विशेषणमुपात्तमिति शेषः ।

शुक्तिर्यमिंकरजतत्वप्रकारकभ्रमात्मकज्ञानस्य विप्रलम्भाद्यजन्यत्वेन मोन्मादत्वमित्याशयः ।

सभी भ्रमों में उन्माद का लक्षण न चला जाय, इसलिये अवभास (भ्रम) में
'जन्मान्त' विशेषण लगाकर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्देश किया गया है, जिससे
शुक्ति आदि में जो रजत आदि का भ्रम दूरत्व-स्वाकचित्र्यादि दोषों से होता है, उसमें
उन्माद लक्षण की अतिग्राहि नहीं होती, क्योंकि यह भ्रम त्रियोग आदि कारणों से
उत्पन्न नहीं होता ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगेन्मत्तावृत्त कृती निवेद्यति—

'अकरुणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुज-मादायालीजनस्य विकला सा ॥'

'हे अकरुणहृदय प्रियतम ! त्वामित' परं न मुञ्चामि' इति (वाक्य) विकला विप्र-
लम्भेनोद्विप्रहृदया सा नायिका, आलीजनस्य सखीसमुदायस्य, कराम्बुज हस्तकमल प्रियतम-
भयाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । वह, सखी के कर-कमल को पकड़ कर 'हे दयाहीन-हृदय वाले
प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं ।' इस
तरह विकल होकर बातें करती रहती है ।

प्रकरण-विभावानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं पृच्छन्तं [नायक] प्रति कस्याश्चित्
सन्देशहारिण्या चक्तिः । प्रियविरहोऽत्र विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः ।

सन्देशहारिण्या इत्या । प्रियभ्रमेण सखी प्रत्युपादानादुक्तेरसम्बद्धता ।

यह क्षणी नायिका के समाचार पूछते हुये किसी प्रवासी के प्रति संदेश लेकर जाने वाली दूती की उक्ति है। प्रिय का विरह यहाँ विभाव और असम्बद्ध वार्तालाप अनुभाव है।

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावेऽपि पृथगुपादानस्य प्रयोजनं प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावे सम्भवत्यपि, पृथगुपादान व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय।

स्फोरण प्रकारानम्।

उन्मादोऽपि व्याधिरेव, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षयाऽधिक चमत्कारकत्वमिति सूचयितुं पृथक्प्रयनमित्यारायः।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता था, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विलक्षण विचित्रता है यह दिखलाने के लिये इसका पृथक् ग्रहण किया गया है।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्।

श्यादिपदेन निःश्लम्भप्रवृत्तिपरामर्शः। मरणाद्विद्वान्मनात् प्रागवस्था पूर्वकालिकस्थितिः। तदुक्तं प्रदीपे—

‘जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्तितम्।

सम्मोहेन्द्रियसङ्कुलानि-गात्रविद्योपणादिकृत् ॥’ इति।

इन्द्रियाणां सम्यग्गुणनिर्विषयग्रहणाक्षमता।

अथ ‘मरण-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘रोगादि’ इत्यादि। रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं।

ननु प्राणनिष्क्रमणस्य मरणं कुतो न गृह्यत इत्याशङ्का निरस्यति—

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं प्रहीतुम्, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्या प्रसक्तेः।

मुख्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धध्वंसरूपत्वाच्चित्तवृत्त्यात्मकत्वाद्भावत्वाभावात् प्रहणम्।

‘मरण-भाव’ में प्राण-वियोगात्मक (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों को जब चित्तवृत्ति रूप मानते हैं, तब उन में मुख्य मरण का प्रसङ्ग नहीं आता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है।

मुख्यमरणे भावत्वाभावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।

सर्वेषु हर्षादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तच्चित्तवृत्तिरूपव्यापारानुकूलत्वेन, यतः शरीर-प्राणसंयोगो हेतुः, अतो मुख्यं मरणं न भाव इत्यर्थः। प्राणवियोगोत्तरं चित्तवृत्तेरभावश्च तस्य तत्त्वमित्याशयः।

मुख्य मरण का भावों में ग्रहण नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष आदि सभी भावों के प्रति शरीर-प्राण-संयोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि कार्यों/वृत्तियों के पूर्व घण में ही रहे, अपितु ऐसा कि जो कार्य के साथ-साथ भी वर्तमान रहे। इस स्थिति में मुख्य मरण को भाव कैसे कहा जा सकता? क्योंकि उसके साथ शरीर-प्राण संयोग का रहना असम्भव है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सुसुपूर्वनायिकावस्थां वर्णयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती, शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत् ।

अधुना खलु हन्त । सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥’

या कृशाङ्गी वियोगव्यथादुर्वलावयवा सम्प्रति इत किञ्चित्क्षणमेव पूर्वं, दयितस्य प्रियतमस्य, गुणान्, अनुस्मरन्ती प्यायन्ती, शयने तरुपे, विलोकिता दृष्टाऽसीदमूत् । हन्त ! अधुनाऽस्मिन् क्षणे, सा, भाषिता सखीभिः किञ्चिदुक्ताऽपि, गिरं नाङ्गीकुरुते सञ्ज्ञारून्यतया न प्रतिवक्षीत्यर्थः ।

अथ ‘मरण-भाव’ का उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि— जिसको, अभी प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुये, शय्या पर देखा था, हाय ! वह कृशाङ्गी, इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती, उसकी वाक्शक्ति नष्ट हो गई है ।

विभावानुभावविदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, यचनविरामोऽनुभावः ।

यचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः ।

प्रियतम का वियोग यहाँ विभाव और वाक्शक्ति का नष्ट हो जाना अनुभाव है ।

इह मरणध्वने पदप्रकारयतां दर्शयति—

हन्तपदस्यात्रात्यन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्यय भावः, पदव्यङ्ग्यतामावर्हति ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्णेन वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हन्तपदस्य दुःखातिरेकबोधकतया पदान्तरापेक्षयाऽत्यन्तं तत्रोपकारकत्वात् पदव्यङ्ग्य एवात्र स भाव उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

इस पद्य में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण-भाव व्यक्त हुआ है, तथापि वह (मरण-भाव) पद-व्यङ्ग्य ही कहलाता है, क्योंकि ‘हन्त’ पद ही दुःखाधिवय के बोधक होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में अधिक उपकारक है ।

परकीयमतं निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्ताम् ।

एतेन पदव्यङ्ग्यस्यापि मरणभावस्यात्रातिचमत्कारकताया अनुभूयमानत्वेन ।

इससे (उपर के पद्य में मरण-भाव को हन्त-पद-व्यङ्ग्य सिद्ध कर देने से) ‘भाव यदि पद से व्यङ्ग्य हो, तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती’ यह कथन परास्त हो जाता है ।

विप्रलम्भध्वनेः कर्णध्वनेर्वाऽत्र कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्का निवारयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती’त्यनेन व्यज्यमान ‘चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुणविस्मरणनाभू’र्दात वस्तु, विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते भटिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद् विप्रलम्भासम्भव इति कर्णस्यायिशोकीपादानम् ।

इह व्यङ्ग्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य, वस्तुतः शोकस्याधिककर्णस्य पार्थन्ति-

कप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम्, मरणभावस्य तु प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्व-
मिति तद्व्यनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वने, न वा वस्तुध्वनेर्व्यपदेश इत्याशयः ।

उक्त पद्य में 'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती-अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई' इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'उस नायिका को अन्तिम अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ' और इस व्यव्यमान वस्तु से उक्त पद्य के द्वारा सब से अन्त में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की पुष्टि होती है । तात्पर्य यह है कि वैसे तो प्रायः भाव-ध्वनि-स्थल में सर्वत्र अन्त में किसी न किसी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु खासकर मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की ध्वनि अन्त में नियत होती है, अतः यहां भी अन्त में उक्त दोनों रसों में से किसी एक की अभिव्यक्ति होगी और साथ-साथ यहां उक्त वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार यहां भाव-ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले उसी का चमत्कार सदृश्यों को आकृष्ट करता है ।

मरणभावस्य विप्रलम्भ-करुणयोरपि पोषकत्वं विषयभेदेन दर्शयति—

अयं च भावः स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः ।

अयं मरणरूपी भाव । चत्वर्ये । एवं मरणम् । सन्दर्भे प्रबन्धो महावाच्यमिति यावत् । प्रत्युज्जीवनं पुनर्जीवनम् । अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे ।

अयं मरणभाव एकस्मिन् प्रबन्धे स्वव्यञ्जक यद्वाक्यं, तदुत्तरवर्तिना वाक्यशेषरूपेण यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकाद्यात्मनस्य पुनर्जीवन प्रतिपादितं भवति, तदा श्ल-
विच्छेदाद् विप्रलम्भशृङ्गारस्य पोषको भवति, पुनर्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदाद् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुभयपोषकत्वमिति सारम् ।

ऊपर जो यह कहा गया है कि मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में शृङ्गार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह समझा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं ? या एक ? इसका उत्तर यद्यपि यह अनायास दिया जा सकता है कि—'एक', क्योंकि दोनों का एक जगह ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु 'एक' के निर्णय हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि वह एक कौन ? शृङ्गार अथवा करुण ? यदि परिस्थितिभेद से दोनों ही उस 'एक' में आ सकते हैं, यह प्रश्न का तात्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि 'यह परिस्थिति-भेद' क्या है ? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि—मरण-भाव, सन्दर्भ में, इस वाक्य (मरण-भाव-व्यञ्जक वाक्य) के अनन्तर आने वाले दूसरे वाक्य से यदि नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया हो, तब विप्रलम्भ का अन्यथा करुण का पोषक होता है—अर्थात् मरण-भाव-व्यञ्जक वाक्य की अपेक्षा सन्दर्भगत अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विप्रलम्भ-शृङ्गार अन्त में ध्वनित होता है और यदि अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन हो, तब करुण-रस ध्वनित होता है ।

मुख्यमरणानुदाहरणकारणं भणति—

कत्रयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

पुनरशब्दस्त्वर्थकः । न वर्णयन्ति शृङ्गार इति शेषः । तदुक्तम्—'रसविच्छेदहेतुत्वा-
न्मरणं नैव वर्णयति ।' इति । कथये तु तद्वर्णनमपीष्टमेव, यथा-रघुवंशोष्ठमसर्गे ।

कवि लोग इस मरण-भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव एक

तरह से अमङ्गल सा है। यह निषेध शृङ्गार रस के विषय में ही समझना चाहिये, कर्ण में नहीं जब एव 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में कालिदास ने कर्ण की पृष्टि के लिये इस भाव का वर्णन किया है, शृङ्गार में ही यह निषेध समुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'रस-विच्छेदहेतुस्वामरणं नैव वर्णयते—अर्थात् रस-विच्छेद का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है' के द्वारा जो मरण-वर्णन-निषेध का धीज (रस-विच्छेद) दिखलाया गया है, वह शृङ्गार में ही सह्यतित होता है कर्ण में नहीं—अर्थात् मरण-वर्णन से शृङ्गार रस का ही विच्छेद सम्भव है, कर्ण का नहीं।

वितर्कं निश्चयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः ।

सन्देहात् संशयात्, आदिपदेन विपर्ययाच्चानन्तरं जायमान ऊहोऽध्याहारश्चित्तवृत्ति-विरोधो वितर्क इत्यर्थः । तदुक्तम्—'तर्कं विचारं सन्देहाद् भूशिरोऽङ्गलिनर्तकः ।' इति ।

अब 'वितर्कभाव' का लक्षण करते हैं—'सन्देहा' इत्यादि। सन्देह आदि के अनन्तर उपपन्न होने वाला जो ऊह (एक प्रकार का विचार) है, उसे 'वितर्क' कहते हैं ।

चिन्तादिभ्याश्चतये वदति—

स च निश्चयानुक्ताः ।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति क्रमे वितर्कस्यैव निश्चयजनकत्वं, न तु चिन्तादेरिति स्फुटम् ।

वितर्कं निश्चय का जनक होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयामकज्ञान उपपन्न होता है ।

उदाहरति—

'यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि ।

अथ मे कथमस्ति जीवित, न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः ॥'

सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वथा परलोकमेवा-गात्, अथ तदा, मम रामस्व, जीवित जीवनं, कथं केन प्रकारेणास्ति, यत —आलम्बन-मावार विना, आश्रितस्यापेयस्य, स्थितिः कापि न भवतीत्यर्थः ।

जानकीजीवनं विना मञ्जीवनासम्भवान्मञ्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीयमिति सारम् ।

अब इस 'वितर्क-भाव' का उदाहरण लीजिये। यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वथा ही नहीं—अर्थात् परलोक चली गई, तब फिर मेरा जीवन किस तरह वर्तमान है, क्योंकि आधार के बिना आश्रय (आधार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति कहीं नहीं रहती। अभिप्राय यह कि जानकी ही मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चित है। एसावता यह सिद्ध हो गया कि जब मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है।

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैषोक्तिः । भुवि सीताऽस्ति न वेत्ति सन्देहोऽत्र विमानः । भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमाश्रितमनुभावः ।

स्वात्मनि स्वगतं वितर्कणम् । शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं वितर्काम्नायते । आश्रितत्वं शब्दानुक्तत्वात् ।

यह भगवान् रामचन्द्र की अपने मन में उक्ति है। यहाँ 'सीता पृथ्वीपर है अथवा नहीं' यह सन्देह विभाव है और पक्ष में वर्णित न होने पर भी आश्रय के द्वारा श्रात होने वाले भ्रू-छादन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है ।

चिन्तैव कुतो न वितर्क इत्याशङ्कान् निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रत्यप्रयोजकत्वात् ।

यतश्चिन्ताया कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्के तु सर्वदा नियमेन निश्चयो भवतीति चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहाशिक्षयाजनकरवाहितर्काद् भेदो वौच्य इत्यभिप्रायः ।

‘उक्त पद्य में चिन्ता-भाव ही ध्वनित होता है’ यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्ता नियमतः निश्चय का जनक नहीं होती-अर्थात् चिन्ता से कदाचित् कहीं निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति भले ही हो जाय, परन्तु यह नियम नहीं है कि चिन्ता से मदा सर्वत्र निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमतः निश्चय की उत्पत्ति होती ही है, यही चिन्ता तथा वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत पद्य में वितर्क ही ध्वनित होता है, इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुल्लेखात्तदनिवेशे प्रसक्तं पुनस्तयोरैक्यं निवारयति—

‘किं भविष्यति’ ‘कथं भविष्यति’ इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः ‘इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः’ इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्येण ।

किं भविष्यतीत्याद्याकारक्यान्रूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषय इदमित्थं भविष्यति प्रायशः इत्याकारकस्योत्कृष्टकौटिकशब्दात्मकसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निरर्तितो विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि उक्त वितर्क-लक्षण में ‘नियमतः’ पद का निवेश तो नहीं किया गया, फिर जो भेद उन दोनों में ऊपर दिखलाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि जाने दीजिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो, उन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है। विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का आकार होता है ‘किं भविष्यति’ ‘कथं भविष्यति’—अर्थात् ‘क्या होगा’ ‘कैसे होगा’ इत्यादि, अतः चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है ‘इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः’—अर्थात् ‘प्रायः यह ऐसा हो सकता है’ यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है ।

नन्वत्र चरमचरणेऽर्थान्तरन्यासात्तद्वारप्रतीती कथं नावघनित्वमित्यत आह—

‘न विने’त्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः ।

सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासात्तद्वारोऽपि प्रतीयमानोऽस्मिन् वितर्कभाव एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्ताया, तेन नालङ्कारस्य न वा चिन्तायाः प्राधान्यं सम्भवतीत्याशयः ।

उक्त पद्य में ‘न विनालम्बनमाश्रित-स्थितिः’—अर्थात् ‘विना आधार के आश्रय की स्थिति नहीं रहती’ इस कथन के द्वारा जो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार बाध्य होता है, वह भी वितर्क में ही अनुकूल पड़ता है, चिन्ता में नहीं। तात्पर्य यह है कि सामान्य (आधार के विना आश्रय की स्थिति का असम्भव-कथन) से विशेष (ज्ञानकी के जीवन के विना राम के जीवन का असम्भव-वर्जन) का समर्थन करना ही तो यहां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जिससे प्रतिपाद्य वस्तुका निर्णय होता है, तो वितर्क का विषय है, चिन्ता का विषय तो अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन की आवश्यकता ही नहीं होती।

विषादं निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः ।

महता प्रयासेनाप्यभीष्टस्य सिद्धे राज्ञो गुरुणामन्येषा महीपतामपराधाचोरपक्ष-किमिदं कृतमिति पश्चात्तापरुणश्रितश्रुतिविशेषो भाव इत्यर्थः । तदुक्तम्—

‘उपायाभावजन्मा तु विपाद’ सत्त्वसदृश्य’ ।

निरश्वासोच्छ्वासहृत्ताप-सहायान्नेपणादिकृत् ॥’ इति ।

अथ ‘विपाद-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘इष्टा-भित्ति’ इत्यादि । बहुत प्रयास करने पर भी अभीष्ट अर्थ के सिद्ध न होने से तथा राजा और गुरु आदि पूज्य जनों के अपराध आदि के करने से उत्पन्न होने वाली ‘यह क्या हुआ’ अथवा ‘मैंने यह क्या किया’ इत्याकारक पश्चात्तापस्वरूप चित्त-वृत्ति को ‘विपाद’ कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णे मृते युद्धविजयाक्षिराशो दुर्योधन स्वजीवितं व्याहरति—

‘भास्करसूनावस्तं, याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्योधनस्य जीवितं । कथमिव नात्तापि निर्यासि ? ॥’

हे दुर्योधनस्य कर्णकप्राणस्य दशविद्याशौहिणीपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूतपाण्डवस्य वा मम जीवितं । भास्करसूनौ सूर्यसुते कर्णे, अस्तं यातेऽन्तं प्राप्ते सति, पाण्डवाना युद्ध उत्कर्षे आधिक्ये च जाते सति, अद्यापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतो, न निर्यासि त्वं नैव निर्गच्छसीत्यर्थः ।

इह भास्करसूनुत्तेनास्ताङ्गतमनौचित्यं सूच्यते । स्वोच्चारितस्य दुर्योधनपदस्य कर्णकप्राणत्वादिलक्ष्यताऽवच्छेदकविशिष्टे स्ववाच्ये लक्षणमा तु सातिशयव्यञ्जकत्वादर्थान्तरसम्बन्धितवाच्यध्वनिः । इवशब्द-सत्त्वादिबद्ध यामयालङ्कारे श्रेयः ।

उदाहरण देखिये । कर्ण के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुये दुर्योधन का अपने जीवन के प्रति यह कथन है कि—सूर्य-पुत्र कर्ण के अस्त हो जाने पर (यहाँ सूर्य-पुत्र पद से कर्ण का बोध कराने से उसके अस्तगमन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी तिद्धि हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अथवा ग्यारह अशौहिणियों के नायकों से वन्दित होने वाले, किं वा अपने प्रबल-पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के छुके छुड़ानेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी तू क्यों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देखना शेष है ?

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

अत्र स्यापकर्षं परोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः, जीवितनिर्याणाशसा, तदाक्षिप्तं यदननमनादि चानुभावः ।

आशंसा कामना । तथाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनागूरितम् । आदिना निष्प्रभत्वादि ।

यहाँ अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव है और प्राण के निकलने की कामना करना तथा उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाला मुझ का नश्र होना आदि अनुभाव है ।

विपादध्वनिं प्रकृते द्रढयितुमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विपादध्वनौ दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिरनुप्राहकः ।

च हेतौ । अनुप्राहको तु सातिशयव्यञ्जकत्वादुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

इस पद्य में यद्यपि ‘दुर्योधनस्य’ इस छायाणिक पद से (लक्ष्यार्थ का स्वरूप ऊपर में श्लोकार्थ लिखते समय लिखा जा चुका है) ‘अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य’ नामकी दुःसातिशय-ध्वनि भी होती है, तथापि वह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विपाद-ध्वनि का पोषक मात्र है ।

त्रासध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शङ्क्यत्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्या-
प्ययोगात् ।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य ।

इस पद्य में त्रास-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किसी भी तरह नहीं की जा सकती,
बस कि उत्कृष्ट वीर नायक दुर्योधन में लेशतोऽपि त्रास का होना असम्भव है ।

चिन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्ध्वा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात् ।

युद्ध्वा न त्वत्त्वादि त्यक्त्वा । व्यवसायाभिर्घारणात् । चिन्तायां न निश्चयः ।

चिन्ता-भाव की ध्वनि भी यहाँ नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह दृढ़
निश्चय है कि 'युद्ध करके ही मरूँगा, धन-त्याग करके नहीं।' तात्पर्य है कि यदि यहाँ
चिन्ता होती, तो वह निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि चिन्ता से किसी प्रकार का
निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रसङ्गवश लिखी जा चुकी है ।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात् ।

यतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्माद्दुःखादिदैन्यविभावान्वाच दैन्यध्वनि-
रपीति भावः ।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य
ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, जब उसके सप्तम सैनिकों का विनाश हो
चुका, तब भी उसने विपत्ति को नहीं गिना ।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणो परापकर्षजीवितस्योत्साह-
स्याभावात् ।

परस्य परिपन्थिनोऽपकर्षो जीवितं प्रधानं यस्य, तादृशोत्साहस्य सर्वथा स्वापकर्षनिर्णये
मरणमेव शरणमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवान्नात्र वीररसध्वनिरिति सारम् ।

वीर-रस की ध्वनि भी यहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव जो
उत्साह है, उसका प्राण है, शत्रुओं का अपकर्ष—अर्थात् जब तक शत्रुओं में अपने से
अपकृष्टता का ज्ञान रहता है, तभी तक उत्साह भी रहता है और यहाँ तो दुर्योधन ने
मृत्यु की शरण ले ली है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसने अब शत्रुओं को अपने
से उत्कृष्ट समझ लिया है, फिर उसमें उत्साह का रहना असम्भव है और उत्साह
(स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भव है ।

दात्र्याय प्रत्युदाहरति—

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

वस्तु उत्तर सारथिमर्जुनं कथयति—

‘अयि पवनरथाणां निर्दयानां ह्याना,

ऋथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे ।

श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकृष्यद्—

भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः ॥’

अयि सारथे ! पवनरथाणां वायुतुर्यवेगानां निर्दयानां क्रूराणां ह्यानामधानां गतिं
ऋथय मन्दीकुरु, अहं सङ्गरं युद्धं द्रष्टुं नेहे नेच्छामि, यतः प्रकृष्यन्तोऽतिकृष्यन्तो ये

भुजगा सर्पास्तत्रिभास्तत्सदृशा भुजा वाहवो येषां तथाभूतानां बाहुजाना क्षत्रियाणाम्, अमी ध्रुवमाणा निनादा वीरगर्जितशब्दा, मे मम श्रुतिविवर कर्णधिल दारयन्ति पाटयन्तीत्यर्थ । अत्र 'ममी मे' इति स्वासकृदावृत्तिर्न शोभते ।

'अयि पवनरयाणाम्.....' इत्यादि पद्य को विपाद-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि सारथे ! तू पवन के समान वेगवाले इन अश्वों की गति को मन्द कर दे, मैं कुछ देखना नहीं चाहता । क्रुद्ध तपों के समान बाहुवाले इन क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण कर रहे हैं—उन्हें सुन-सुन कर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं । यह कायर विराट-पुत्र 'उत्तर' की अपने सारथि वृहन्नला-वेप-धारी अर्जुन के प्रति उक्ति है ।

उपपादयति—

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विपादस्थाप्रतीतिः ।

उत्तरस्य भीरुत्वप्रकाशेन त्रास एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विपाद इति न विपाद-ध्वनिरियम् ।

यहाँ त्रास-भाव ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है, जतः विपाद-भाव की प्रतीति नहीं हो सकती ।

ननुत्तरीययुद्धोद्यमापरावजानुतापरूपस्य विपादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपलपेत्याशङ्क्यामाह—

लेशतया प्रतीतिं वा त्रास एवानुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोभ्यत्यात् ।

सूक्ष्मतया प्रतीयमानस्याप्यत्र विपादस्य प्रधानव्यङ्ग्यत्रासोपस्कारकत्वमेव, न तु ध्वनि-व्यवहारस्य योग्यता ।

यदि कहें कि उत्तर ने जो युद्धोद्योगरूप अपराध किया, तज्जन्य अनुताप (विपाद) का उसमें उदय होना स्वानाविक है, अतः विपाद की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, तो मैं कहूँगा कि—हाँ ! लघुमात्रा में विपाद की प्रतीति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले त्रास का पोषक होना ही उसके लिये उचित है, अतः वह (विपाद) इस योग्य नहीं है कि उसको लेकर इस पद्य में ध्वनि का व्यवहार किया जा सके ।

श्रौत्सुक्य निरूपयति—

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितिच्छ्रा, औत्सुक्यम् ।

'अधुनेव न तु विलम्बेन, अस्य वस्तुनो लाभो ममास्तु' इत्याकारिकोररुदेच्छैव, श्रौत्सुक्यमिर्यम् । तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्तेरौत्सुक्य कालचोपा सद्विगुता ।

चिततापत्वरारस्नेद-दीर्घनिश्चसितादिकृत् ॥' इति ।

अब 'श्रौत्सुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि । किसी वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो जाय' उस (इच्छा) को 'श्रौत्सुक्य' कहते हैं ।

विभावमनुमावाद्याह—

इष्टविरहादिरत्र विभावः, त्वराचिन्तादयोऽनुभावाः ।

अमीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और क्षीयता पृथक् चिन्ता आदि अनुभाव होते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

उदाहृः—

‘सञ्ज्ञातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।

निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥

अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ।’ इति ।

प्रियसंस्मरणरूपोद्दीपनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावनव्यापारकर्माकृतम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘एआत’ इत्यादि—अर्थात्—अमीष्ट वस्तु के अभाव से उत्पन्न, प्रिय के स्मरण से उद्दीप्त और निद्रा, तन्द्रा, अर्धों का भारीपन, एवम् चिन्ता से अनुभावित भाव को भाव-विशेषज्ञों ने ‘अौत्सुक्य’ कहा है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासाभिवर्तमानो नायक कामयते—

‘निपतद्वाष्पसंरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।

कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशाः ॥’

निपततो निर्गलतो वाष्पस्याश्रुणु’ संरोधेन संस्तम्भेन मुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यं याभ्यां तारक्यौ तारके कर्त्तनिके यस्य तथाभूतम्, मृगीदृशो नयननीलाब्जं नेत्रेन्दीवरम्, कदा कस्मिन् क्षणे, आलोकेय परयेयमित्यर्थ ।

अत्र प्रियानयनदर्शनोत्कटेच्छारूपौत्सुक्यस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया ध्वनिव्यपदेश-हेतुत्वम् ।

उदाहरण देखिये । प्रवास से लौटनेवाला नायक अपने मन में कामना करता है कि—(प्रवास के लिये मेरी यात्रा के समय अपशकुन के भय से) जिसकी पुतली ने गिरते हुए आँसुओं के रोकने से चञ्चलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रही थी, क्योंकि यदि वह थोड़ी भी हिलती तो सम्भव था कि आँसु गिर पड़ते, मृगाक्षी के उस नयनरूप नीलकमल को कब देखूँगा ।

आवेगं निरूपयति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

अतर्कितान्यनिष्ठघटकात्मकेनानर्थातिशयेनोत्पादिता सम्भ्रमाख्या त्वरणरूपा चित्तवृत्ति-रुद्देगापरपर्याय आवेग इत्यर्थः । इत्येते तु हर्षजोऽप्यावेग उत्पत्तयादि—‘आवेगः सम्भ्रम-स्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पत्तजे छस्तताङ्गे, धुमाद्याकुलताऽपिजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलताऽनिलात् ॥’ इति ।

अब ‘आवेग’ का निरूपण करते हैं—‘अनर्था’ इत्यादि । अत्यधिक अनर्थों के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को ‘आवेग’ कहते हैं, जिसका उद्देग भी अपर पर्याय है । हर्षणकार ने तो आवेग को हर्ष-जन्म भी माना है, जैसे—‘उन्होंने कहा है—‘आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पत्तजे छस्तताङ्गे ...’ इत्यादि—अर्थात् आवेग सम्भ्रम को कहते हैं, वह दो प्रकार का होता है, एक हर्षज, दूसरा उत्पत्तज । हर्षज आवेग में अर्धों की सिकुदन होती है और उत्पत्तज में अर्धों की गियिलता ।’ इत्यादि ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रामे युद्धार्थमागते रावणभार्येद्विधा स्वगतं वक्ति—

‘लीलया विहितसिन्धुबन्धनः, सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।

दर्पदुर्विलसितो दशाननः, कुत्र यामि ? निकटे कुलक्षयः ।।’

लीलया न त्वापासेन विहितं सिन्धोर्बन्धनं येन, तादृशः, स बालिवयादिपरायमप्रसिद्धः, अयं पुरो लक्ष्यमाणः, रघुवंशनन्दनः श्रोत्रधरः, एत्यागच्छति, न त्वागमिष्यति, दशाननो रावणो मत्पतिश्च दर्पदुर्विलसितः स्ववीर्यगर्वाचरितदुर्व्यवहार उक्त्राभिमानो वाऽस्तीति कुत्र यामि विपत्प्रतीकारार्थं क्व गच्छामि ? कुलस्य वंशस्य न त्वेकस्य क्षयो नाशो निकटे सन्निधावस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—लीला से समुद्र में सेतु तैयार कर देने वाले वे-बालि आदि का वध करने से प्रसिद्ध—रघुकुलभूषण रामचन्द्र जी आ रहे हैं, न कि भावेंगे और रावण-मेरा पति-है, दर्पबन्ध-कतर्क्याकर्तव्य का विचार नहीं करने वाला-किसी भी परिस्थिति में नष्ट नहीं पढ़ने वाला-अब मैं कहाँ जाऊँ, कुल का विनाश निकट आ गया-रक्षा का कोई भी उपाय दिखाई नहीं पड़ता ?

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्यात्प्रति मन्दोदर्या उक्तिः, रघुनन्दनागमनमत्र विभावः, कुत्र यामीत्ये-
तद्व्यङ्ग्यं स्वैर्याभावोऽनुभावः ।

स्वैर्याभावश्चाद्यम् ।

यह मन्दोदरी की आत्मगत उक्ति है। रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और ‘कुत्र यामि—अर्थात् कहाँ जाऊँ’ इस उक्ति से व्यक्त होने वाला स्थिरताका अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है ।

चिन्ताधनित्वमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्वैर्याभावेनोद्वेगस्यैव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेगचर्च-
णायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति ।

गुणत्वेनाहत्वेन । विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति । यतोऽत्र कुत्र यामीत्युक्त्या स्पष्टं बोध्यमानश्चाद्यस्योऽनुभाव आवेगस्यैव न तु चिन्ताया प्राधान्येन व्यञ्जकः, तस्मात् चिन्ताधनि, किन्तु प्रधानीगता वेगप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव भासत इति सारम् ।

‘लीलया.....’ इत्यादि पद्य में चिन्ता ही प्रधान व्यङ्ग्य है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘कुत्र यामि-कहाँ जाऊँ’ इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से जिस तरह उद्वेग झलकता है, उस तरह चिन्ता नहीं। हाँ, इतना बात अवश्य है कि ‘आवेग-भाव’ के आस्वात् में उसके पोषक होने के नाते गौरवरूप से चिन्ता भी विषय होती है ।

जडता निरूपयति—

चिन्तो-त्कण्ठा-भय-विरहे-प्रानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्या-
र्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

‘चिन्तोत्कर्षः’ इति पाठान्तरम् । इष्टानिष्टयोः प्रियाप्रिययोर्दर्शन ध्वनं च । प्रति-
सन्धानमनुस्मृतिनिर्धारण वा । चिन्तादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानशून्या चित्तवृत्तिर्ज-
डतेत्यर्थः ।

अथ 'जडता' का निरूपण करते हैं—'चिन्ता' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को 'जडता' कहते हैं, जिसका जन्म चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह और प्रिय-जन के अतिष्ठ देखने-सुनने आदि से हुआ हो, एवम् जिस (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने योग्य कार्यों का स्मरण अथवा निर्णय न होने पावे ।

जडताया मोहान् प्राक् पथान्चोत्पत्तिमाह—

इयं च मोहान् पूर्वतः परतश्च जायते ।

इयं जडता मोहान् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः ।

यह जडता मोह से पहले तथा पीछे भी हुआ करती है ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'कार्याविवेको जडता परयतः शृण्वतोऽपि वा ।

तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणो रुजा ॥

अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भाव-विस्मरणादयः ।

सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ॥'

वा शब्द समुच्चयार्थक । विदां रसायान्वादकुशलानाम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'कार्याविवेको' इत्यादि-अर्थात् देखते तथा सुनते हुये भी कर्तव्य का विवेक न होना जडता कहलाती है । प्रिय अथवा प्रिया के अनिष्टों का देखना-सुनना, तथा किसी प्रकार की दुस्सह पीडा ये उसके विभाव हैं, और सुप हो जाना भूल जाना आदि अनुभाव हैं । यह मोह से पहले पीछे भी उत्पन्न हुआ करती है । यह विज्ञों का मत है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी सहचरी न्याहरति—

'यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां, सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत् ।

तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-रथकरणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥'

हे सहचरि ! दैववशेन भाग्यविपर्ययेण, दयित प्रिय, विलोचनाभ्या दूरतोऽभूत् परोक्षमगात्, तदवधि मदीयै-करणैरश्रवणादिभिः, निजक्रियासु स्वजन्यप्रमोत्पादकव्यापारैषु, प्रणय आसक्ति, शिथिलीकृता न्यूनीकृतैर्यर्थः । इहापरान्दोऽनुप्रासमात्रप्रयोजनकः । 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्धावरलोलत्वम् ।

उदाहरण छीजिये । कोई विरहिणी सखी से कहती है कि—हे सदा साथ रहने वाली सखि ! दुभाग्य-वश जब से प्रियतम भाँखों से ओझल हुये, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम करना छोड़ दिया-अर्थात् तब से न मुझे भाँखों से सुझता, न कानों से सुनाई पड़ता, न त्वचा से स्पर्श का बोध होता, न नाक से किसी चीज की गन्ध का पता चलता और न जिह्वा से किसी रस का स्वाद ही परख में आता है । तात्पर्य यह कि सभी इन्द्रियाँ बेकार हो गई हैं ।

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, करणैश्चक्षुरश्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः ।

तत्तत्प्रमितिषु चाक्षुषादि-प्रत्यक्षरूपासु ।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है और आँख-कान आदि इन्द्रियों का अपने-अपने व्या-

पारों—अर्थात् ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना—आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिये वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है ।

मोहाब्जदताया वैलक्षण्यं दर्शयति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषैशिश्टयेन बाहुल्ये-
नाजननमिति तस्मादस्य विशेषः ।

प्रकारविशेषैशिश्टयेन समुचिततत्प्रकारकत्वेन । बाहुल्येन भूषा, तेन क्वचिदुचित
प्रकारकप्रतीतिजननमनुमन्यते । मोहे चक्षुरादीनां सर्वथा व्यापारविरामाच्चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणा-
मनुत्पत्तिरेव, जडताया तु चक्षुरादीनां व्यापारस्य शैथिल्यात् तु निरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां
समुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिर्न त्वनुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिः, क्वचित्त्वित्तेनापि प्रकारेणोत्पत्तिरिति
मोहजडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः ।

मोह और जड़ता में यह भेद है कि—मोह में चक्षुरादि इन्द्रियों सर्वथा व्यापार हीन हो
जाती हैं, जिससे चालुप आदि ज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं होती, परन्तु जड़ता में ऐसी
घात नहीं होती—अर्थात् उनमें चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होता, घन
शिथिल मात्र पड़ जाता है, जिससे चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समु-
चित प्रकार से नहीं होती । तात्पर्य यह कि मोह में आँखों से सूक्ष्मता ही नहीं और जड़ता
में सूक्ष्मता तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता । इसी तरह अन्य इन्द्रियों
के समबन्ध में भी समझना चाहिये । यहाँ मूल में 'बाहुल्येन' पद आया है, जिसका अभि-
प्राय है कि जड़ता में कभी कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में
कभी भी वैसा नहीं होता ।

उक्तं समर्थयति—

अत एवोदाहरणे—'शिथिलीकृत.' इत्युक्तं, न तु 'स्यक्तः' इति ।

अत एव जडताया चक्षुरादिभिः स्वव्यापारात्त्यागादेव ।

जिस लिये जड़ता में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिल मात्र
पड़ते हैं, अत एव 'यदवधि' ... 'इत्यादि उदाहरण में 'शिथिलीकृत' अर्थात् 'शिथिल
कर दिया' ऐसा ही कहा गया है, 'स्यक्तः' अर्थात् 'छोड़ दिया' ऐसा नहीं कहा गया ।

आलस्यं निरूपयति—

अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखताऽऽ-
लस्यम् ।

अत्र क्रियानुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावः, तदाऽभावस्यतयाऽऽ-
लस्य भावो न भवेत्, तस्माज्जाडयविशेषात्तमक क्रियामान्यर्थभेवालस्यम् । तदुक्तम्—
'आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाडयं जृम्भाऽऽसितादिकृत' इति । न चैवं जडताया सहाभेदापत्तिः,
जडताया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचितेनैव प्रकारेणेति 'कार्य-
भेदेनोभयोर्भेदस्य जागरूकत्वादिति विभावेनीयम् ।

अथ आलस्य का निरूपण करते हैं—'अतितृप्ति' इत्यादि । अत्यन्त तृप्ति, गर्भ,
रोग और परिश्रम आदि के कारण चित्त का कर्तव्य-क्रियाओं के प्रति उन्मुख न होना ही
'आलस्य' है ।

पुनर्जडता-ग्लानिभ्यामालस्यं व्यतिरेचयति—

अत्र च नासामर्ष्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरणरूप-
स्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

ग्लानौ जडतायामालस्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न शङ्कनीयः,

ग्लानावसामर्थ्यं नालस्य इति ग्लानिनो भेदस्य, जडताया कार्याकार्यविवेकरान्वयत्वं नालस्य इति जडताबाधं भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

ग्लानि, जड़ता और आलस्य इन तीनों ही भावों में 'कार्यों का न करना' रूप अनुभाव समान है अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में मनुष्य व्यापारहीन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में अभेद की-अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इत तरह की सहा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ग्लानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः ग्लानि से एवं जड़ता में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह नष्ट नहीं होता, अतः जड़ता से भी 'आलस्य' भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्तं मुहुः पृच्छन्तीं सखीमलसा वदति—

'निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-दुपयातेन विबोधिता कथाभिः ।

अधिकं न हि पारयामि वक्तुं, सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥'

हे सखि ! दूरादिप्रकृष्टदेशाद् उपयातेनोपागतेन, प्रियेण, कथाभिर्विविधवार्ताल्पैः, (हेतुभिः) लीलाभिर्वा, निखिलां समस्ता रजनीमभिव्याप्य, विबोधिता जागरिताऽस्तीत्यहं सम्प्रत्यधिकं बहु न वक्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्वं मा जल्प मुहुर्मा प्राणी, तव रसज्ञा जिज्ञा, श्रायसौ लौहनिर्मिताऽस्ति, यदेवं जल्पनेऽपि न धाम्यतोत्यर्थः ।

स्वद्वन्मनापि यथायसी रसज्ञा स्यात्, तदेव सकलप्ररनानामुत्तरं वक्तुं शक्तुयादिति भावः ।

उदाहरण लीलाभिये—पतिदेव दूर से आये थे, (यहाँ 'दूर' पद वद्यपि देनाह्वय दूरी का ही बाधक है, परन्तु न्यजनया वह कालकृत दूरी का भी बोधक होता है—अर्थात् 'दूर से आये थे' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'विलम्ब से आये थे') वे, मुझे कथाओं से-विविध वार्तालापों से-रात भर जगाये रहे । अतः मैं अधिक बोल नहीं सकती, वृथा वक्तुं न कर, मातुल्य पदवा है तेरी रसज्ञा (रसना-जिज्ञा) लोहे की बनी है, यह बात सही है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही धार-धार प्रयास कर रही है, फिर भी उस निगोड़ी को धार-धार व्यापार करने में कुछ भी तो थकना चाहिये, पर वह तो थकती ही नहीं ।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छन्तीं सखीं प्रति रज-निजागरणजनितालस्यायाः कस्याञ्चिदुक्तिः ।

यस्मिन् दिने प्रिय आगतस्तस्माद् द्वितीयास्मिन् दिने ।

यह, पति के आगमन के द्वितीय दिन में, पुनः पुनः रात का समाचार पूछती हुई सखी के प्रति, रात्रि-जागरण से अलसाई हुई किसी नायिका का कथन है ।

विभावानुभावौ प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरणं विभावः, अधिकसम्भाषणभावोऽनुभावः ।

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और अधिक वार्तालाप का अभाव अनुभाव है ।

जडताया आलस्ये वैलक्षण्यान्तरं दर्शयति—

जडतायां मोहात् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रेत्यपरो विशेषः ।

जडतानियमेन मोहात् पूर्वं परं योत्पद्यते, न त्वालस्यमित्युभयोर्भेदोऽयमपि योष्य इत्याशयः ।

'जड़ता-भाव' के विषय में यह नियम है कि वह मोह से पहले अथवा पीछे हुआ करता है पर आलस्य में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् 'आलस्य भाव' के पूर्व अथवा पश्चात्

मोह का होना आवश्यक नहीं है' यह भी एक जड़ता से भालस्य में भेद है। इस भेद का भाव पाठकों को ऊपर के उदाहरण में ध्वरय होना चाहिये, अत एव उदाहरण दिलाने के बाद इस विषय की चर्चा की गई है।

ननु सुरतलीलानामतिगोप्यत्वात् तत्रैव कथाशब्दस्य जहत्स्वार्थलक्षणाया व्यङ्ग्य श्रमातिशय एव प्रधानमिह स्यादित्याशङ्कामंशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु परिपोषक', श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात्।

इह कथाभिरित्यत्र लक्षणाभूलव्यञ्जनया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽऽस्त्वमेव, न प्राधान्यमतो न श्रमध्वनिरित्यभिसन्धिः।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक अत एव समझ लेने योग्य विचार यह है कि—क्या 'निलिळां रजनीम् ...' इत्यादि पूर्वोक्त पद में 'कथाभिः' यह पद वाच्य वार्तालापरूप अर्थ का बोध करा कर कृतार्थ हो जाता है? कभी नहीं, यद्यपि आगे की जागरणोक्ति उस अर्थ से भी उपपन्न सी लगती है तथापि जागरण की वार्तालापहेतुक उपपत्ति भावुकों के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, उस उपपत्ति के मूल में तथ्य का बल है ही नहीं, अत एव वह उपपत्ति बाधित है—चिरकाल पर मिले हुये दम्पति बातों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है? नहीं, निधुवन-विनोद के बिना उनमें प्रमोद असम्भव है। बोलने वाली नायिका का भी 'कथाभिः' पद से सुरत-सम्भोग का बोध करना ही उद्देश्य है, हाँ, वाच्य-व्याया उस गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बतना चाहती, अत एव 'लीलाभिः' न कह कर उसने 'कथाभिः' कहा, जिसका वाच्य (वार्तालाप) अर्थ अविवक्षित है—अर्थात् वह पद सुरतरूप अर्थ में लाक्षणिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक शक्ति अर्जित करने वाले सहृदय भले ही उस पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग) को समझ लें, पर वकी नायिका, सकल साधारण जनों से दी जाने वाली 'निर्लज्जा' उपाधि से तो बच ही गई। एक बात धीर, वह यह कि उक्त प्रकार से 'कथाभिः' पद को सम्भोगरूप अर्थ में लाक्षणिक मान लेने पर इस पद्य का इन्द्रित निम्नलिखित अर्थ की ओर भी मुझे प्रतीत होता है। सरस समवयस्का सखी, चिरमिलित प्रियतम के साथ, रात बिता कर प्रातःकालमिली हुई सखी से, रात्रिकृत-सम्भोग-सुखकी बात, खोद खोद कर, पूछ रही है। परन्तु सखी नायिका साफ साफ वह बात कहना नहीं चाहती और दूधर उधर की बातें बता कर उस बात का आभास करा देने पर भी सखी मानती नहीं, आखिर आजिज आकर नायिका उससे कहती है कि—कह तो दिया, दूर से भाये हुये प्रिय के साथ क्या करने में रात भर जगी रही, अधिक बोल बुलवा कर तन्न मत करो, मैं समझती तो हूँ कि—तू मुझसे साफ शब्दों में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इससे अधिक कुछ न कहूँगी, कह भी नहीं सकती, बोलने में 'भालस्य' हो रहा है और साफ साफ कहने में रस भी नहीं आता, तू जो अपनी बात साफ साफ लोगों से कहती फिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिह्वा नाममात्र की रसशा है, वस्तुतः वह लौह निर्मित पट्टिका है, अतः संक्षिप्त कथन में रस का अनुभव नहीं कर पाती। इस तरह जीभ को लौहमय कह कर उस जीभ वाली पर भी यह आक्षेप किया गया कि तू लोहे की बनी है, तेरा हृदय लोहे का बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछती? मेरे 'कथा' पद का लक्ष्यार्थ को क्यों नहीं समझती?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किसी ने अभी तक कहीं लिखी नहीं, पर मेरे मन में लगा कि यह व्याख्या भी हो सकती है, वस, छेखनी ने उसको कागज पर उतार दिया, अब इसका निर्णय सवसद् विवेक पाठक ही करेंगे। अस्तु, प्रकृत में मन्थकार का कथन है कि यदि उक्त रीति से 'कथाभिः' पद को अविवक्षितवाच्य (लाक्षणिक) मानना युक्ति सद्गत है, तब तो उस लाक्षणिक पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग)

से 'धम-भाव' मने में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी उसी की ध्वनि यहाँ क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर यह है कि—जब आलस्य की उत्पत्ति में ध्रम को एक पृथक् कारण कहा गया है, तब तो ध्रमज-आलस्य-स्थल में उसकी प्रतीति होगी ही, पर, पितृस्थानीय होने के नाते पुत्रस्थानीय आलस्य के पोषकरूप में ही। अतः ध्रम से परिपोषित आलस्यभाव को प्रधानतया ध्वनित होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि पोषक ध्रम गौण पद जाता है।

ननु ध्रमालस्ययोः सर्वत्र सद्गौणविषयत्वे विभावभेदोक्तिरफला स्यादित्याशङ्कामपनयति—
अतितृप्त्यादिजनिते त्वालस्ये ध्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम् ।

ध्यादिना गर्भादिग्रहणम् । ध्रमजन्यं पृथक्स्थे ध्रमसद्गौणविषयता, गर्भादिजन्ये तु विविक्तविषयताया एव सत्यात्त विभावभेदोक्तैर्नैकत्वमिति भावः ।

यदि ध्रमभाव से अमिश्रित आलस्यभाव का उदाहरण कहाँ होगा, यह समझना चाहें, तो—अतितृप्ति आदि कारणों से उत्पन्न 'आलस्य' में समक्षिये ।

असूयां निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।

* असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावाः, परनिन्दादयश्चासूयाभावाः । तदुक्तम्—

'असूयाऽन्यगुणद्वीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।

दोषोद्गोप-भूमिभेदावज्ञा-क्रोधेक्षितादिकृत् ॥' इति ।

क्रोधेक्षितानि निजावरदर्शनादीनि ।

अब 'असूया-भाव' का निरूपण करते हैं—'परोत्कर्ष' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'असूया' है, जिसके, विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देखना आदि हैं और अनुभाव (कारण) दूसरे की निन्दा आदि हैं ।

असूयायाः सञ्ज्ञान्तरमाह—

इमामेवासहनादिशब्दैर्व्यवहरन्ति ।

इमामसूयाम् । असहनमसहिष्णुता ।

इसी असूया को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

'कुत्र शैवं धनुरिदं, क चायं प्राकृतः शिशुः ।

मद्भस्तु सर्वसंहर्त्रा, कालेनैव विनिर्मितः ॥'

इदं शैवं शिवसम्बन्धिं धनुः कुत्र २, अयं प्राकृतो मानव शिशुर्वालो रामश्च कास्ति, तदुभयोर्षटनाया असम्भवाद्, धनुषोमद्भस्तु, सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां संहर्त्रां विनाशकेन कालेनैव नतु रामेण विनिर्मितं कृतोऽभूदित्यर्थः । विनिर्मिते रचनायामेव प्रयोगः कवि-सम्प्रदायसिद्धोऽपीहान्ययाकृत इत्यालोचनीयम् ।

जैसे—कहाँ यह शिवका धनुष और कहाँ यह साधारण मानव-बालक, इसका मद्भ तो संसार के समस्त पदार्थों का सहार करनेवाला काल ने ही कर दिया। तात्पर्य यह है कि चिरकालतक पढ़े रहने के कारण, यह धनुष अपने आप ही शीर्ण हो गया था अन्यथा इसका मद्भ करना इस साधारण क्षत्रियकुमार-रामचन्द्र-के बशक नहीं है।

प्रकरण-विमानानुभावान् दर्शयति—

एषा भद्रहरकामुकस्य रामस्य पराक्रमसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः ।

२८, २९ ३० गं०

अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शन विभावः, प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दाऽनुभावः ।

तत्रायानां सीतापरिणयनार्थमुपस्थितानाम् ।

यह, शिव-धनुष को तोड़ने वाले रामचन्द्र के पराक्रम को न सहते हुए-उस सभा में उपस्थित राजाओं का कथन है । यहां श्रीमान् दशरथतनय रामचन्द्रजी के बलमें सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और 'प्राकृतशिशु-ताधारण बालक' इस पद से श्वक्त होने वाली राम की निन्दा अनुभाव है ।

शुद्धामस्यामुदाहृत्यामर्षसद्दीर्घामुदाहरति—

‘तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरवजे,

मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।

माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,

धातः । किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराहम्बरो ॥’

उच्यन्तमेव चन्द्रमस्युदैराच्छन्नमुदीच्य सकलघटनासम्पादकं विधातारं कथिदाक्वोशति हेधातविधे । अधुना रजनौमुखेचन्द्रोदयावसरे, तृष्णयाचन्द्रिकापिपासया लोले विलोचने यस्य तारशे, चकोरवजे जीवप्रीवसमूहे, प्राचीं दिश कलयति पश्यति सति, विधु कैरवकुले कुमुदसमुदये, मौनं दैनिकमुदणं मुञ्चति त्यजति सति, तथा कामे मन्मये सहायसम्पत्त्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिज्य कुर्वति कम्पयति वा सति, अपि च मानवती-जनस्य भामिनोनिकरस्य माने प्रणयकोपे, स्वावस्थानासम्भावनामालोच्य सपदि शीघ्र, प्रस्थातुकामे प्रयियासति सति, विधौ चन्द्रे, धाराधराहम्बरो मेपाच्छादन, किं नु त्वया विधातुमुचितो युक्तः ? कथमपि नोचित इत्यर्थः ।

अब असूयाभाव का एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसमें अमर्षभाव का मिश्रण हुआ है—उदीयमान चन्द्र को अकस्मात् घन-घटा से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय पुरुष विधाता को कोसता है कि—हे विधे ! अभी-जय कि चन्द्र-उचोरना-पान-छोलुग चकोर-वज्र, पूरव दिशा की ओर आना-भरी अत एव चञ्चल नक्षत्रों से देख रहा है, कुमुद-कुल-दिवस-कृत मुदग को छोड़ रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव अपने धनुष को घुन रहा है—कपा-कपा कर टक्कर शब्द कर रहा है, और मानिनियों का मान क्षीण भागने ही वाला है—अकस्मात् इस तरह 'चन्द्रमा पर मेघ का आवरण ढाल देना क्या तेरा समुचित है ? कभी नहीं, यह जानने बहुत खरा काम किया ।

उपपादयति—

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलतादि[दर्शन]जन्या, अनुचितकारित्वरूपनिन्दा-प्रकाशानुभाविता, कविगता, विधात्रालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शयलितैवास्तौ न विविक्ततया प्रतीयते ।

तदीया विधातृसम्बन्धिनी, उच्छृङ्खलता स्वच्छन्दावारिता । प्रकाश-प्रत्यय । विधात्रालम्बना विधातृविषयिका । कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादसूयाऽमर्षयोरनुभावविभावयोस्तुल्य-कालोपस्थितत्वात् ।

‘तृष्णे’रयाद्युदाहरणे वक्ष्यस्या प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण सद्दीर्घतया न शुद्धा, तस्मात्प्रेद शुद्धासूयोदाहरणमिति तात्पर्यम् ।

यहां भी विधाता के विषय में कविकी असूया अभिव्यक्त होती है जिसका विभाव यहां पद्य में वर्णित विधाता की उच्छृङ्खलता है और अनुभाव है, प्रतीति-पद्य में आनेवाली

अनुचितकारितारूप विधाता की निन्दा, यह बात यद्यपि कही जा सकती है, तथापि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यहाँ शुद्ध असूया की वृत्ति प्रतीति नहीं होती, वरन, असूया के जो अनुभाव-विभाव (कार्य कारण) हैं, उन्हीं से अभिव्यक्त होने वाले अमर्ष-भाव से मिश्रित असूया की ही प्रतीति होती है। सारांश यह हुआ कि यहाँ उक्त (असूया और अमर्ष) भाव-द्वय-गवनीयों का संकर है, यही कहना समुचित है।

ननु 'कुत्र शैबम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्कोर्णैवास्त्या प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्य-तपेत्त्वत आह—

नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणा-
मप्यमर्षोऽभिव्यज्येत ।

यथाऽत्र विधातुरपराधात् तस्मिन् कवेरमर्ष, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञामर्षः प्रतीयेत, तस्मात्तत्रामर्षप्रतीतेः शुद्धोदाहरणमेव तदित्याराय ।

'तृष्णाढोल' '...' इत्यादि पद्य में जैसे विधाता के अपराधी होने के कारण उनमें कवि का अमर्ष व्यक्त होता है, ऐसे 'कुत्र शैबम्' '...' इत्यादि प्रथम असूया-भाव के उदा-हरण में वीरों का राम के प्रति अमर्ष व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि राम अपराधी नहीं हैं, अतः यह घट्टा की जा सकती है कि, वह उदाहरण भी अमर्ष-मिश्रित असूया का है। तात्पर्य यह कि उस उदाहरण को शुद्ध असूया-भाव का समझना चाहिये।

ननु तथापि रामस्य शैबधनुर्भञ्जनमेवापराध इत्यतोऽभिधत्ते—

स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम् ।

यतोऽत्युत्कृष्टकार्यकरणं वीराणां स्वभाव एव तेन शैबधनुर्भञ्जनं रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः ।

यदि कहें कि शिवजी के धनुष को तोड़ डालना क्या राम का अपराध नहीं है? तो, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अत्यन्त उन्नत (जिसको दूसरे न कर सके, ऐसे) कार्यों का करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है-वे किसी को दुःखी बनाने की भावना से वैसा नहीं करते, अतः शिव-धनुर्भङ्ग करना रामचन्द्रजी के स्वभाव में आ जाता है, इसको उनके अपराधों में नहीं गिन सकते।

नन्वत्र वस्तुनो ध्वननाश्लाघ्याध्यनिरित्याशङ्का समादधाति—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननाश्लाघ्यास्त्यसूया-
ध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेर्ध्वन्यन्तराधिरोधित्यात् ।

चन्द्रोद्यातिरिक्तदिनादिकाले वादशचन्द्रवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वम्, कस्मिंश्चिद्वाजकुमारेऽ-
त्युत्कर्मवलम्बमान एवाकस्मिन्कविपदापातनरूपवृत्तान्तस्य च विवक्षितत्वात् प्रस्तुतत्वम् ।
इहाप्रस्तुताभिधानेन प्रस्तुतत्वज्ञानाद् वाच्योऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारस्तत्सोपितस्तु वस्तुध्वनि ।
आस्तामिह वस्तुध्वनिरपि, न तेनासूयाध्वनेर्हानि, नतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना सह
विरोधः, अपि तु मिय सापेक्षत्वादिषु साङ्ख्यम्, नैरपेक्ष्ये तु संवृष्टिरित्याशयः ।

इदन्तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रशंसाया व्यञ्जमानस्य वस्तुनो वाच्योपस्कारकत्वेन गुणीभावेऽपि कथं
वस्तुध्वनिति ।

यदि आप कहे कि यहाँ वस्तुतः चन्द्रमा का वृत्तान्त प्रस्तुत नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसङ्ग-प्राप्त राजकुमारादिकों का वृत्तान्त ध्वनित होता है, तात्पर्य यह है कि 'तृष्णाढोल' '...' इत्यादि श्लोक चन्द्रोदय से भिन्न काल में उस राज-कुमार को उल्लेख करके कहा गया है, जो सब तरह से उन्नति कर ही रहा था, तब तक

अकस्मात् उसके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। इस रिपत्ति में उक्त राजकुमार के घृतान्त को ध्वनित करने के लिये ही चन्द्र-वृत्तान्त का वर्णन किया गया है, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी और इस तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान' रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही वाच्य होकर भी प्रधान है, अर्थात् असूया-ध्वनि यहाँ है ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि यहाँ उक्तरीति से प्रस्तुत राजकुमारादिका-वृत्तान्त ध्वनित होता है, तो, हो, उससे असूया-भाव की ध्वनि होने में बाधा नहीं होगी, क्योंकि एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि का विरोधी होना कोई निश्चित नियम नहीं है।

विरोधाहोकारे चोप दर्शयति—

अन्यथा महावाक्यध्वनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यां कुत्रापि न स्यात् ।

महावाक्यध्वनिः समस्तप्रवचन्यप्रधानव्यङ्ग्यम् । अवान्तरध्वनयस्तदन्तर्गतवाच्यप्रधान-व्यङ्ग्यम् । तेषामवान्तरवाक्यध्वनीनाम् । ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरण्या-सम्भवात् सङ्करसंश्लिष्टिव्यवहारविलोपः प्रसज्येतेति भावः ।

यदि एक ध्वनि दूसरी ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं रह सकती यह सिद्धान्त यदि माना जाय, तब, कहीं भी, महावाक्य की ध्वनियों का अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों के साथ रहना और अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ रहना सङ्गत ही नहीं। सारांश यह कि ध्वनियों का सङ्कर अलङ्कारिकों की अभिमत वस्तु है। अतः उक्त पद्य में भी दो ध्वनियों का समावेश अनुचित नहीं है।

अपरस्मारं निरूपयति—

वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।

मनस्तापस्त्वपाणां व्याधीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपतया भावत्वम् । तदुक्तम्—'मनःक्षेपस्त्वपस्मारी प्रहाशवेशनादिज' । भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि-कारकम् । इति । मनसो नाडीविशेषनिवेशेन घूर्णनं मनःक्षेपम् । महा-प्लुतादयः ।

अब 'अपस्मार-भाव' का निरूपण करते हैं 'वियोग' इत्यादि । वियोग, शोक, भय तथा घृणा आदि की अधिकता पूर्व भूत-प्रेत के डग जाने आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक व्याधि-विशेष-को 'अपस्मार' कहते हैं ।

व्याधिसामान्योपादानेनैव गतार्थत्वेऽपस्मारस्य पृथगुपादाने प्रयोजनं प्रतिपादयति—

व्याधिरत्वेनऽस्य कथनेऽपि, विशेषाकारेण पुनः कथनं बीभत्स-भयानकयो-रस्यैव व्याघेरङ्गत्वं, नान्यस्येति स्फोरणाय ।

विशेषाकारेणापस्मारत्वेन विशेषणम् । स्फोरणाय प्रकाशनाय । बीभत्सभयानक-सद्योरङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याध्यन्तरस्येति वैलक्षण्यं बोधयितुं पृथगुपादानमित्याशयः ।

अपि पूर्व में जो सामान्यतः 'व्याधि-भाव' का निरूपण किया जा चुका है, उसी से इस अपस्मार नामक व्याधिका भी कथन हो जाता है, तथापि विशेष रूप से इस (अपस्मार) का कथन इस लिये हुआ है कि 'बीभत्स' और 'भयानक' रस में यही (अपस्मार) व्याधि अङ्ग हो सकती है, अन्य नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाय ।

विप्रलम्भे विशेषणाद्—

विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च ।

अङ्गत्वमिति शेषः । विप्रलम्भेऽन्येषां व्याधीनामपरस्मारस्य चाङ्गत्वमित्यर्थः ।
विप्रलम्भशृङ्गाररसमैतो वया अपस्मार, वया अन्य, सभी व्याधियों अङ्ग हो सकती हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

श्रीकृष्णागमनथवर्णाक्षित्तस्य कंसस्य वृत्तं वर्णयति—

‘हरिमागतमाकण्ठे, मधुरामन्तकान्तकम् ।

कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले ॥’

कंसो भोजपतिः, श्वन्तरस्य सर्वसहारकस्याप्यन्तकं संहारकं, हरिं श्रीकृष्णं, मधुरा स्ववधार्थमागतम्, आकर्ष्य, भयेन, कम्पमानः श्वसन् महीतले निपपातित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । कति, कृष्ण के आगमन को सुनकर विहसि हुये कंस के घृष्टान्त का वर्णन करता है कि—अन्तक (यमराज) का भी अन्त करने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र को मधुरा में अपने वध के लिये आगत सुनकर, कंस काँपता हुआ तथा श्वास खाँचता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

विभावमनुभावाश्च—

अत्र भयं विभावः, कम्प-श्वास-पतनादयोऽनुभावाः ।

यहाँ भय विभाव है और काँपना, श्वास खाँचना तथा गिरना आदि अनुभाव हैं ।

चपलता निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।

अत्रामर्षादिजन्यवागित्यादि पाठस्तु विशेषणद्वयस्य ‘गुणानां च परार्यवादसम्यन्वयः समत्वारः’ इति मीमांसकसिद्धान्तेनान्वयासम्भवात् समासस्य दुर्घटयोरपेक्षितः । अमर्षादि-जन्या वाक्पारुष्यादिजनिका च चित्तवृत्तिश्चपलतैत्यर्थः ।

जब ‘चपलता’ का निरूपण करते हैं—‘अमर्षा’ इत्यादि । अमर्ष आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली और कट्टुमापग आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली चित्त-वृत्ति ‘चपलता’ कहलाती है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘अमर्ष-प्रतिकूल्येष्यां-राग-द्वेषाश्च मत्सरः ।

इति यत्र विभावाः स्युः अनुभावस्तु भर्त्सनम् ॥

वाक्पारुष्यं प्रहारश्च, ताडनं वध-बन्धने ।

तद्यापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते ॥’ इति ।

प्रतिकूल्य विरुद्धाचरणम् । चकारो भिन्नकम् । प्रहारोऽस्त्रादिभिः । ताडनं हस्तपादादिभिः । अनालोच्य गुणायुक्तविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है ‘अमर्ष-प्रतिकूल्येष्यां-’ इत्यादि । अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हों और धमकाना, वधन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में डाल देना ये अनुभाव हों, उस को ‘चपलता’ कहते हैं, जिसको आप ‘बिना सोचे समझे कार्य कर बैठना’ समझिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपुः प्रह्लादं वदति—

‘अहितव्रत ! पापात्मन् ! त्वं मे दर्शयाननम् ।

आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावितः ॥’

अहितं मदपकारकं भगवदास्यमेव व्रतं नियतविधेयं यस्य, तत्सन्बुद्धौ हे अहितव्रत ! विप्रपकाराचरणादेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्वं मे मह्यम्, एवं धृष्टवत् सस्मितम्, आननं मुखं, मा दर्शय, दूरं गच्छ, येन मदीयेनात्मना शरारेण, त्वं भावित उत्पादितोऽसि, तं द्युष्टोपादकमात्मानं त्वं, हन्तुमिच्छामोत्यर्थं ।

उदाहरण देखिये—हे अहितव्रत ! (भगवान् की दासत्तारूप मेरे अनिष्टकर नियम का पालन करने वाला) पापात्मन् ! (पितृविरोध रूप पाप का आचरण करने वाला) प्रह्लाद ! दू-धृष्ट के जैसे अपना हँसता चेहरा मत दिखाना । तुझे तो मैं लाख उपाय करके भी न सुधार सका और न मार ही सका। अब मैं आत्म-हत्या ही करना चाहता हूँ, क्योंकि तुझ को पैदा करने का अपराध तो मैंने ही किया है ।

प्रसङ्गविभावानुभावानाह—

एषा भगवदनुक्तिविघटनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपोरुक्तिः ।
भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा परुषवचनं चानुभावः ।

पुत्रे स्वतो द्वेषासम्भवाद्द्वेषाधीनद्वेषोपादानम् ।

यह प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में उक्ति है, जब उसकी भगवद्भक्ति को विघटित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था। भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पक्षपाती पुत्र में भी होने वाला द्वेष यहाँ-विभाव है और आत्म-हत्या करने की इच्छा और कठोर वचन अनुभाव हैं ।

अमर्षव्यनित्तमाशङ्क्य खण्डयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भूतत्वेनात्मवधेच्छाया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणया एव चपलताख्यचित्तवृत्ते सिद्धेः ।

अत्र हिरण्यकशिपुश्चैव प्रथमव्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, यत् प्रह्लादस्य भगवद-
नुरागो नाद्यतन एव, किन्तु चिरकालिक इति तन्मयोऽमर्षोऽपि चिरसिद्धित एव भवेत्,
तदस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरहमवधेच्छाया इयं प्रथमा यस्यां सेदम्प्रथमा, तस्या भाव-
स्तत्ता प्रथमोत्पत्तिरेवा न युज्यते । किञ्च यथात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य
कारणं पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्ति काचिन्मन्यते, तदा सैवापूर्वा चित्तवृत्तिश्चपलता सिद्धयति,
तस्मात्प्रथममर्षवनि, अपि तु चपलताचनिरिरेवेत्यभिप्रायः ।

यहाँ हिरण्यकशिपुवृत्ती अमर्ष-भाव ही प्रधान रूप से व्यक्त होता है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सदा से ही भगवान् के साथ प्रेम करने वाले प्रह्लाद के प्रति हिर-
ण्यकशिपु का अमर्ष भी नहीं अपि हूँ पुराना था, फिर यदि इस अमर्ष को ही उसकी
आत्म-वधेच्छा का कारण माना जाय, तब तो इस आत्म-वधेच्छा का प्रथम-प्रथम होना
नहीं सिद्ध होता कारण यह कि अमर्षरूप कारण के पहले भी रहने से उक्त वधेच्छारूप
कार्य का भी पहले होना सम्भावित है, और यह आत्मवधेच्छारूप कार्य हो रहा है आज
पहले पहल, अतः उसका कारण भी कोई नहीं-आज ही होने वाला अवरयहोना चाहिये।
अतः उक्त वधेच्छा के कारणरूप में प्राचीन अमर्षरूपचित्तवृत्ति से विलक्षण चपलता
नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।

पुनरपर्याऽऽश्नुप निरुक्तोति—

नधामर्षप्रकर्षएवात्मवधेच्छादिकारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्याभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात् ।

स्वाभाविकाद् विलक्षणं लक्षणं यस्या सा स्वभाविकविलक्षणलक्षणा, तस्या भावस्तत्ता । प्रकृतस्यामर्षस्यैवात्मवधेच्छास्वकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्तामित्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत साधारणानर्षस्यैवा प्रकृतस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्यं स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवधेच्छास्वविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो विलक्षणगुणः प्रकर्ष एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलताया सिद्धिरिति भावः ।

यदि आप कहें कि 'हिरण्यकशिपुके मन में आत्म-वध की इच्छा जब आज पहले पहल उत्पन्न हो रही है, तब उसका कारण भी कोई नवीन ही आज आ जुटा है, यह अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि प्राचीन अमर्ष से आत्मवध की इच्छा हो सकती, तो पहले भी होती' ये सब तर्क ठीक हैं, तथापि इस नवीन आत्मवधेच्छा रूप कार्य को जन्म देने के लिये एक अभिनव चपलताख्यचित्तवृत्ति की कल्पना करना ध्यर्य है, क्योंकि उसी पुरानी अमर्षात्मक-भृत्ति में केवल एक नवीन प्रकर्ष की कल्पना कर लेनेसे काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहें कि अमर्ष जब तक साधारण था, तब तक आत्म-वध की इच्छा नहीं हुई, पर जब वही अमर्ष चिरकालानुवृत्त होने से आज प्रकृत (उरकृत) हो गया, तब उक्त इच्छा हुई । परन्तु इस जोष तोष से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चपलता नहीं माननी पड़े, यही तो आप का मनोरथ है, जिसकी पूर्ति उस तरह से बात बनाने पर भी सम्भव नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से तद्गत प्रकर्ष का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा, अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रहे जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकर्ष मान लेंगे तब तो चपलता सिद्ध हो ही जायगी अर्थात् हम उसी विलक्षण प्रकर्ष की चपलता मान लेंगे ।

निर्वेदं निरूपयति—

भीचपुरुषेऽप्याक्रोशनाधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्यचेष्टविरहपरसम्पद-शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदनदीर्घ-श्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ।

आक्रोशनाधिक्षेपयोः सामान्यविशेषभावाद् प्राज्ञणवशिष्टान्धायेन पृथगुपादानम् । उत्तमेषु पुरुषेऽपि शेषः ।

अपमपुरुषेऽप्याक्रोशनादिजन्या, उत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्या, रोदनादिजनिका च विषय-द्वेषरूपा चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः । अस्य स्थायिनिर्वेदाद्भेदमनुपदं वक्ष्यति ।

अथ 'निर्वेद' का निरूपण करते हैं—'भीच-पुरुषेषु' इत्यादि । आत्मवध-भेद से, निर्वेद दो प्रकार का होता है, एक भीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला । जिसमें भीच पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति, गाली गलौज, तिरस्कार, रोग, मार खाना, दरिद्र होना, अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति और दूसरे की सम्पत्ति का दर्शन आदि से होती है और उत्तम-पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्त-वृत्ति का नाम है, जिसकी उत्पत्ति अवज्ञा आदि से होती है, अनुभाव दोनों 'निर्वेदों' के एक से-रोदन, जोर-जोर से श्वास ग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होते हैं । इस निर्वेदारमक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयो से द्वेष भी है । स्पष्ट मतलब यह समझिये कि भीच पुरुष को गाली आदि देने से जैसे क्रोध होता है और तत्प्रयुक्त जो विकार उसमें उत्पन्न होते हैं, ठीक वैसे ही क्रोध और तन्जन्य विकार उत्तम पुरुष में साधारण अवज्ञा आदि से होते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

चैदेहीविरही श्रीरामो लक्ष्मणं भणति—

‘यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा, न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।

अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥’

हे लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा सीता, यदि मदीक्षासरणिं मद्दृष्टिपथं, न समेष्यति नाम-
मिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजनकेन, जडजीवितेन हतजीवनेन जगता विश्वेन
वा, मे मम किं फल स्यात् किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्दर्शन एव मे जीवनं जगत् सफलमिति भावः । इह प्रियाविरहो विभावाः, जीवन
जगत्सिफलवाभिधानश्चाभवाव । ‘किं फलमित्यनेन पौनःपुन्यवारणात् विफलेनेत्यस्य
विपरीतफलजनकेनेति व्याख्यानान्ऽपि फलपदस्य द्विरुपादानान् कथितपदत्वं दुष्परिहरणेव ।
उत्तरवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविभृष्टविधेयतामावहति ।

अथ उदाहरण देखिये । चैदेही-विरह-कातर रामलक्ष्मणजी लक्ष्मण से कह रहे हैं कि-
हे लक्ष्मण ! यदि यह मृगाणी (सीता) मेरे नयन-पथ में न आवेगी-अर्थात् यदि
मुझे उसके दर्शन नहीं होंगे तब इस जड़-अर्थात् गति-हीन-जीवन से अथवा विपरीत
फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात्
सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन सार्थक हो सकता है और मेरे लिये यह
संसार भी तभी सार्थक है । यहाँ प्रिया-विरह को विभाव और जीवन तथा जगत् के
निष्फलत्वकथन को अनुभाव समझना चाहिये ।

निर्वेदसद्भावेन शान्तरसध्वनिरेव न कृत इत्यत आह—

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावान्नासौ रसपदव्यपदेशहेतुः ।

यतोऽसौ निर्वेद शान्तरसस्थायिनो निर्वेदाद्भिन्नकारणजन्यत्वाद् भिन्न, तस्मान्नात्र
शान्तरसध्वनिव्यवहारः । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्विवेकेन जन्य-
त्वात्, अस्य चाक्रोशनादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेद्यः ।

‘निर्वेद’ शान्त-रस का स्थायिभाव है, अतः ‘यदि लक्ष्मण “.....” इत्यादि पद्य में शान्त
रस की ध्वनि है, ‘निर्वेद-भाव’ की नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नित्य
और अनिष्ट वस्तुओं के विवेक से नित्यकी उत्पत्ति होती है, यही ‘निर्वेद’ शान्त-रस का
स्थायीभाव होता है, और जो ‘निर्वेद’ भाव रूप होता है, उसकी उत्पत्ति तो नित्यानित्य-
वस्तु-विवेक से नहीं होती, ध्वनि आक्रोश आदि कारणों से होती है, जो पहले कहा जा
चुका है, अतः यहाँ का ‘निर्वेद’ शान्त-रस-पद से व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

इत्यमपरानुदेशप्रभेण भावान् निरूप्य देवादिविषयकरतिभावमुदाहरति—

देवादिविषया रतिर्यथा—

भक्तो भगवन्तं भापते—

‘भवद्द्वारिकृद्ध्यज्ञय-विजय-दण्डाहतिदलत्, ।

किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः ।

वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकथा,

वराका. के तत्र क्षपितमुर । नाकाधिपतयः ॥’

हे क्षपितमुर ! मुरारे ! यत्र भवद्द्वारि, कुम्भतोरनवसरेऽननुमतप्रवेशान् कुप्यतो,
अथविजययोस्तदाख्यद्वारपातयोः, (वारणाय गुरुर्विधीयमानामि) दण्डाहतिभिर्विनापातैः,

दलन्ति विशीर्णभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषां तादृशाः, विधिमहेन्द्रप्रभृतयो मङ्गेन्द्रादयः, क्रीडां दत्तं निवार्यमाणं अपि निरुद्धेगा, युष्माकं नयनयोः परिपातस्य सम्यङ्-निक्षेपस्य उत्कलियोत्कण्ठया, वितिष्ठन्ते, तत्र, वराक्ष दयनीया, नाकाभिपतयः स्वर्गैकदेश-स्वामिन कुबेरप्रभृतयः, के ? न केऽपीत्यर्थः ।

उक्त रीति से अन्य तैत्तिष भावों का निरूपण (कर चुकने के बाद, अब देवादि विषयक रतिभाव का (इसका लक्षण करना यहां आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिखलाते हैं—'देवादि विषयक रतिर्यया' अर्थात् देवादि विषयक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से कहता है कि—हे सुर-रिपो ! क्रोधयुक्त जय-विजय नामधारी द्वारपालों के दण्ड-प्रहारों से जिनके किरीट दूड़े जा रहे हैं, वे ब्रह्मा और महेन्द्र आदि देवता, आपके दृष्टि-पातकी-एक घार अचड़ी तरह देखलेने भर की-उत्कण्ठा से आप के द्वार पर खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदि वहां कौन होते हैं ! अर्थात् जहां ब्रह्मा और इन्द्र आदि की वह दशा है, वहां यम-कुबेर आदि को कौन पूजता है !

इह वस्तुस्वनिशब्दामभ्युपेत्य भावध्वनिं स्थापयति—

अत्रापमानसहन्-भगवद्द्वारनिषेवण-भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मा-दिगता भगवदालम्बना रतिर्नाभिव्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभाषितया कविगतभगवदालम्बन-रत्या ध्वनित्वमन्तमेव ।

अत्र पद्येऽपमानसहनादिभिर्व्यञ्जकैर्ब्रह्मादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभिव्यज्यते इति भावध्वनिरिति वक्तुं न शक्यते, यतो विपुलघनादिलभाशयाऽपि तथा सम्भवः, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्प्रभूणामपि ब्रह्मादीनां तथा स्थित्या भगवदैश्वर्यस्यावर्णनीयत्वमचिन्त्यत्वं च वस्तुप्राधान्येन व्यज्यते इति वस्तुध्वनिरिति पूर्वपक्षाभिप्रायः, व्यज्यतां प्राग् वस्तु प्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवत्स्तथाविधैश्वर्यस्य वर्णनेनानुभावेन कविनिष्ठाया भगवद्विषयाया रतेर्व्यञ्जने बाधामावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्युत्तरपक्षमिच्छामः ।

उक्त पद्य में जो ब्रह्मादिकों कि—अपमान सहना, भगवान् के द्वार का सेवन करना, और उनके कटाक्षपात की इच्छा रखना इत्यादि बातें वर्णित हुई हैं, उनसे भगवान् के विषय में उनका (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिष्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक पनादि लान की आशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण हो सकता है, अतः यह कहना चाहिये कि यहां सर्व-साधन-सम्पन्न ब्रह्मा आदि के उस तरह द्वार पर खड़े रहने से—'भगवान् का ऐश्वर्य अवर्णनीय तथा अचिन्तनीय है' यह वस्तु व्यक्त होती है इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि—आरम्भ में उक्त बात ही प्रधानतया ध्वनित होती है, तो, होवे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु अन्त में कवि का भगवद्विषयक प्रेम तो अवश्य ध्वनित होता है, क्योंकि उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना उक्त प्रेम का ही फल (अनुभाव) है, सारांश यह कि उक्त पद्य को देव-विषयक-रति-भाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है ।

अत्र - रतिप्रतीतेः पश्चाद्भवत्वेनाप्राधान्याद्भावध्वनिस्त्वव्यपदेशो दुर्वर्त इत्यरुचेरुदाहर-
णान्तमाचष्टे—

इदं बोदाहरणम्—

भक्तो भगवन्तं वदति—

'न धनं न च राज्यसम्पद, नहि विद्यामिदमेकमर्थये ।

मयि वेहि मनागपि प्रभो ! करुणामङ्गितरङ्गितां दशम् ॥'

हे प्रभो ! अहं धनं नार्थये न याचे, राज्यसम्पदं च नार्थये, विद्यामपि नार्थये, किन्तु 'करुणामङ्गितरङ्गिता दयोद्रेकोच्छलिता, दशां, त्वं मायि, धेहि निक्षिप' इतीदं केवलमेकमेव, अर्थय इत्यर्थः । अत्र धनाद्युपेक्ष्य भगवद्दयार्द्रवपातमात्रार्थनया रतिः प्राधान्येन व्यर्य इति रतिभावध्वनेरुदाहरणमिदमवसेयम् ।

पूर्वपक्षी यदि कहे कि यहाँ उक्त वस्तु की प्रतीति पहले होती है और कविगत रति की पश्चात्, अतः प्रधान, वस्तु कहलायगी और रति तदुपेक्षया गौण, फिर गौण रति को लेकर भाव-ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो छाड़िये उस पक्ष को, यह दूसरा उदाहरण लीजिये। भक्त भगवान् से कहता है कि—हे प्रभो ! मैं धन नहीं चाहता, राज्य की सम्पदा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ। मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और वह यह कि तू मेरे ऊपर करुणा की शैली से शोभित अपनी दृष्टि थोड़ी भी डाल दे ।

उदाह—

अत्र धनाद्युपेक्षाशून्यस्य भगवद्दयाहृगन्तपाताभिलाषो हि भगवत्कृतानुरक्ति व्यनक्ति ।

अतो रतिभावध्वनिरिति शेषः ।

यहाँ धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के करुणामयकटाप-पात की अभिलाषा उनके विषय में उसके अनुराग को व्यक्त करती है। अतः इस पक्ष को रतिभाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी चाहिये ।

उपसहरति—

एवं सङ्क्षेपेण निरूपिता भावाः ।

एवमुक्तप्रसङ्गेण, संक्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणात् समासेन, भावाश्चतुर्विंशत् निरूपिता इत्यर्थः ।

अथ सचेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ ।

ननु क्वातिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावानां लक्ष्येषु निरीक्षणाद् भावानां चतुर्विंशत्संख्यायामसङ्गतमित्याशङ्क्य समादवाति—

अथ कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-क्लेश्वय-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशयघाष्टर्थादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, न, उक्तेष्वेवैशामन्तर्भावेण सङ्ख्यानंतरानुपपत्तेः ।

अस्येति सामान्याभिप्रायेणैकवचनम् ।

क्वातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीनां लक्ष्येषूपलम्भात् सङ्ख्यानियमोऽसङ्गत इति शङ्काया-मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु यथायथमन्तर्भावान् सङ्ख्यानियमो नामङ्गत इति समाधानम् ।

अथ प्रश्न यह उपरिष्ठत होता है कि भावों की संख्या ३४ ही है, यह नियम कैसे किया जा सकता ? जब कि काव्य आदि में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ (कपट), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लेश्वय (कारणरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, संशय और घृष्टता आदि भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसका उत्तर यह है कि ऊपर गिनाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्वोक्त ३४ भावों में ही समावेश हो जाता है, अतः पृथक् उनकी गणना करना अयुक्त है ।

ऊत्र कस्यान्तर्भाव सम्भवतीति प्रतिपादयति—

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्याख्याद्वात्रारम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः मतेर्विवेक-निर्णययोः, दैन्यात् क्लेश्वयस्य, धृतेः क्षमायाः, शीत्सुख्यात्

वस्तुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद्वाप्यस्य च वस्तुतः मूढमे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदन्तिरिक्तस्यैवाध्यवसायात् ।

यद्यप्यस्यदितो मात्सर्यादीनामीपद्भेदोऽस्त्येव, किन्त्वस्यदीना मात्सर्यादीनां च मियो नियतसम्बन्धरूपाविनाभावादभेदारोपः, तथा च मात्सर्यादीनामसूयादिरूपतयाऽवधारणात् भावना सङ्घाधिक्यस्य सम्भव इत्यभिप्रायः ।

अथ किसका अन्तर्भाव कहा होगा इस बात का प्रतिपादन करते हैं—‘गद्यसातो’ इत्यादि । अर्थात् मात्सर्य असूया में, उद्देश्य प्राप्त में, दम्भ अवहित्या में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति में, श्लेष्य दैन्य में, जमा शक्ति में, कौतूहल और उरुकण्ठा और बुद्धय में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और छटता चपलता में समाविष्ट हो जाते हैं । यद्यपि यहां जिस भाव का समावेश जिस भाव में किया गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और असूया आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक दूसरे के बिना नहीं रहते, अतः उन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया । तात्पर्य यह है कि जहां असूया रहती है, वहां मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर उन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्तर्भूत होनेवाले और अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये ।

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्क्यामाह—

मुनियचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् ।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावना गणयित्वा, सङ्घाधिक्यमूरीक्रियेत, तर्हि ‘एकपञ्चाराद् भावा’ इति भरतमुनिकृता व्यरस्या भज्येत, तद्व्यवस्थोत्पन्नस्यानुचितत्वात् सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशयः ।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी एक भावों को एक मान लेने का कारण यह है कि उस तरह से उन-उन भावों को एक मान लेने से जब कोई चिन्ता नहीं होती और साथ-साथ भरत मुनिके वचन की रक्षा भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खलता करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या ३३ ही मानी है, अतः हम को भी उनकी संख्या उतनी ही माननी चाहिये ।

व्यभिवरिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषा कुत्रचिद्भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चानुभावता च भवतीत्युचोपपादयति—

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये कैचन कोपाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति । तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदम्रप्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम् । चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम् ।

ईर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र विभावानुभावभावो भावना स्वयमूहनीय इत्यर्थः ।

पूर्वोक्त सञ्चारीभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते हैं । जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और असूयाभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ताभाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है । इसी प्रकार अन्यभावों के विषय में स्वयं ऊह कर लेना चाहिये । यहा चिन्ता को निद्रा का विभाव मानना अनुभव-विशद प्रतीत होता है ।

अथ क्रमप्राप्तं रसाभासं निरूपयति—

अथ रसाभासः तत्र—

तत्र रसाभासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ।

परिचये प्रमोदे न विद्वसन्मुखी, (ताम्) मुकृती धन्य, (सः) अहह आश्चर्यं निरश्वासेन-
सहितं सनिरश्वासं यथास्यात् तथा रित्प्यत्यालिङ्गतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीत्रिये । कवि कहता है कि-वह पुण्यशाली पुरुष धन्य है, जो सैकड़ों
उपायों के द्वारा, किसी प्रकार महलों की छोटी पर पहुँचकर, एकान्त में अमृत-फेन के
समान घबल पुष्पशय्या पर सोई हुई कृशाङ्गी राजाङ्गना को जगाता है और जगने पर
जब उसकी आँखें एक बार चमक उठती हैं, तथा मुख-कमल खिल उठता है, तब निश्चाम
के साथ उसका आलिङ्गन करता है । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि
'रसाभास' के उक्त लक्षण से तीन भेद रसाभास के सिद्ध होते हैं-विभाव के अनौचित्य से
रति में अनौचित्य भा जाने से एक, अनेक नायकों के विषय में होने के कारण रति के
अनुचित हो जाने से द्वितीय और एकनिष्ठ होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से
तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद का उदाहरण है ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजमणी । रहो रजन्याद्युद्दीपनम् । साहसेन
राजान्तःपुरे गमनम्, प्राणोपपेक्षा, निरश्वासारलेपाद्यश्चानुभावाः । शङ्कादयश्च
सञ्चारिणः ।

अनुचित परपुरुषविषयकत्वादयुक्तं प्रणयो यस्या सा ।

यहाँ जिसके साथ प्रेम करना अनुचित है, वह राजाङ्गना आलम्बन-विभाव है ।
एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन-विभाव हैं । साहस करके राजा के अन्तःपुर में
जाना, प्राणों की परवाह न करना, साँस का जोर-जोर से चलना और आलिङ्गन करना
आदि अनुभाव हैं, तथा शङ्का आदि सञ्चारीभाव हैं ।

रसाभासत्वमुपपादयति—

निषिद्धालम्बनकत्वाभास्या रतेराभासत्वं रसस्य ।

अस्या अत्र प्रतीयमानाया रते, निषिद्ध परपुरुषत्वाद्धितमालम्बनं यस्यास्तत्वाद्
रसाभासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावकत्वप्रयुक्तो रसाभासस्य प्रथम प्रकारोऽयमित्याशयः ।
यहाँ रति का आलम्बन-राजाङ्गना-लोक तथा काख से निषिद्ध है, अतः रस आभास-
रूप हो गया है ।

अत्र तृतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषस्पर्शासाभिव्यक्त्या रतेरनुभय-
निष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः ।

अत्र 'चकितनयनाम्' इति नायिकाविशेषणन परपुरुषस्पर्शजन्यस्य तस्याभासत्त्वैव
व्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्वः तीतेरनुभयनिष्ठतया रसाभासत्वं, न तु रतेरनुचित-
विभावकत्वेनेति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।

यहाँ राजाङ्गना का जो 'चकितनयना' विशेषण है, उससे यह प्रतीत होता है कि
राजाङ्गना को पर-पुरुष-स्पर्श से त्रास हुआ है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका
को उस नायक से प्रेम नहीं है, अतः रति के एकनिष्ठ (एकाङ्गी) होने से जो रसाभास
का तृतीय भेद कहा गया है, उसका यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के
अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का नहीं, यह किसी की शङ्का है ।

उत्तरायति—

अस्याश्च चिरायतस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तमसम्भा-
वनाया, क एष मां बोधयतीत्युचित एव त्रासः । अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या,

सोऽयं मतिप्रयो मदर्थं प्राणानपि लृणीकृत्यागत इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्य-
ञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं रतिं तदीयामपि व्यनक्ति, परन्तु प्राधान्यं
नायकनिष्ठायै एव रतेः सकलवाक्यार्थत्वात् ।

तदीयां नायिकानिष्ठामपि । सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यञ्जयत्वात् । आदौ
परिचयाभावे नायिकायाः सहसा निद्रातो जागरणात् समुचिता चकितेत्यादिविशेषणेन, प्रास-
प्रतीतिरेव, पश्चात् परिचये सति प्रणयमूलकतदीयसाहसानुष्ठानज्ञानजन्यहर्षव्यञ्जकेन 'स्मेर-
वदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठाऽपि रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्नानुभवनिष्ठताऽप्रा-
भासत्वप्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेतिसारम् । यदीह नायिकायाः सर्वथा प्रास एव
स्यात्, तर्हि हर्षव्यञ्जकं वदनस्मेरत्वं कथं स्यात्, अतः स्मेरत्वव्यञ्जयत्वेन व्यज्यमानाया
नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यञ्जयत्वात्, अपि सकलवाक्येन व्यज्यमानाया
नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभारनीयम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि नायिका चिरकाल से उस नायक में यद्यपि आसक्त
थी, तथापि इस क्षुरचित्त प्रन्त पुर में पर-पुरुष का आगमन श्रयन्त ही असम्भव है,
फिर यह कौन मुझे जगा रहा है इस तरह की भावना से नायिका में प्रास का उदय हुआ
है, न कि पर-पुरुष-दर्श के दयाल से । अत एव, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो
मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह को भी छोड़ कर यहां तक मेरे लिये आ पहुंचा है'
इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को श्रयन्त हर्ष हुआ, इस बात को व्यक्त करने वाला
'स्मेरवदनां' यह विशेषण 'चकितनयनां' के अव्यवहित आगे नायिका में छगाया गया है,
फिर तो उसी विशेषण से 'नायिका का भी प्रेम नायक में है' यह बात भी द्रष्टव्य
हो जाती है, हां इतनी बात अक्षर्य है कि प्रधानता यहां नायकनिष्ठ रति को ही है,
क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ वही है । तात्पर्य यह कि जब इस तरह से नायिका
का भी प्रेम नायक में सिद्ध हो जाता है, तब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो
सकता, फलतः यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है यह निर्विवाद-सिद्ध है ।

द्वितीयप्रकारसुदाहरति—

शया च—

पुंक्षली चरितं वर्णयति—

'भवनं करुणानती विशन्ती, गमनाज्ञातवलाभलालसेषु ।

सरणेषु विलोचनाब्जमाला-मथ बाला पथि पातयान्त्वभूव ॥'

कुन्धिदामन्लन्ती बाला, पथि मार्गे, (स्वकीययौवनसौन्दर्याकृष्टहृदयैस्तरुणैरनुगम्य-
माना) भवनं निजगृहं, विशन्ती प्रविशन्ती, गमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात्मवस्यदेश-
लेशस्यापि लाभायाधिगमाय, लालसेषु लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु तक्ष्णेषु करुणावती
दूतानुसरणादितद्व्याविलोचनान्जमालां कृतज्ञतासूचकशोभलकटाक्षपरम्पराम्, अथ पातया-
न्त्वभूव निविलोपैत्यर्थः ।

इह तादृशद्विनिक्षेपणव्यज्यमानाया रतेस्तरुणेष्विति बहुवचनेन बहुविधयत्वावगमाद्
रसाभासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

अब रसाभास के द्वितीय भेद का उदाहरण देखिये । कवि कहता है कि—गृह में प्रवेश
करती हुई बाला ने जब देखा कि मुझ से जाने की किञ्चिन्मात्र-आज्ञा-प्राप्तिरूप लाभ
के लोभी युवक-मण्डल रास्ते पर सरा है, तब करुणावती उस बाला ने उन युवकों
पर एक साथ नयन-कमलों की माला गिरा दी—स्नेहभरी चितवन से उनकी ओर देखकर
जाने की अनुमति दे दी ।

तदाह—

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्य-
मानायाः कस्याश्चिद् भयनप्रवेशसन्धेय, निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय, गमना-
ज्ञापनरूपलामलालसेषु तेषु, परमपरिश्रमस्मरणसञ्जातकरुणायाम् गमनाहादान-
निवेदकस्य धिलोचनान्बुजमालापरिक्षेपस्थानुभावस्य वर्णनाद्भिव्यज्यमाना रति-
र्षद्वेषचनेन बहुविपया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः।

रफुटम् ।

कोई नवयौवना नायिका कहीं से आ रही थी, रास्ते में मनचले तरणों का एक पूरा
दल उसके पीछे हो लिया, होता भी क्यों नहीं, जब कि उस सुन्दरी ने अपने रूप और
यौवन से उस (दल) का हृदय-हरण कर लिया था। पर उन युवकों को नयनसुख
के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा, एक वाणी सुनने के लिये भी वे बेचारे तरसते ही रहे,
आखिर उस सुन्दरी का घर भी आ गया, वह अपने घर में घुसने लगी, अब वे युवक
क्या करते, रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में यह लालता उठ रही थी कि 'यदि अब
भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही—कम से कम अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा
भी दे दे, तो हम अपनी सेवा को सार्थक समझ लें'। भगवान् ने समझा, उस सुन्दरी के
हृदय में उनके अधिक परिश्रमों की याद कर दया उमड़ आई, अतः उसने 'मैं आप सबों
को जाने की आज्ञा देती हूँ' इस अर्थ के सूचक-वचन-प्रयोग तो नहीं—मयुर-दृष्टि निक्षेप
उनके ऊपर जरूर किया, (फिर क्या था, वे युवक अपने को कृतार्थ समझते हुये हृष-
उधर विलहर गये)। यहाँ दृष्टि-निक्षेपरूप अनुभाव के वर्णन से नायिका की रति अभि-
व्यक्त होती है और वह भी 'तरुणेषु' इस बहुवचन-प्रयोग के द्वारा अनेक नायकों में
प्रतीत होती है, अतः यह पद्य भी रसाभास (अनेक नायक विषयक रतिरूप द्वितीय भेद)
का उदाहरण होता है।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोदावृत्तं वर्णयति—

'भुजपञ्जरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण बधूः।

तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते! नितराम्॥'

नवपरिणीता, नवोदा (अनुसुप्तप्रणय) बधू, वरेण परिणेत्या (न तु प्रियेण)
भुजरूपे पञ्जरे गृहीता बलाद्गृता (गाढमालिङ्गिता) तत्काल सद्यः, जाले पतिता, बाला, कुरङ्गी
हरिणीव, मुक्त्युपायानुपलम्भाद्, रतेरनुद्भवेन प्रासाच्च, नितरामत्यन्तं वेपतेकम्पत इत्यर्थः।

अच्छा अब तृतीय भेद का भी उदाहरण देना लीजिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती
है—नवविवाहित दुल्हिन को पति ने बाहु रूप पिंजरे में पकड़ लिया, अब वह बेचारी
तत्काल जाल में फँसी हुई बच्ची हरिणी की तरह कांप रही है।

उपपादयति—

अत्र रतेर्नवयव्या मनागप्यस्पर्शादिनुभयनिष्ठत्वेनाभासरत्वम् ।

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकायामीपदपि न तिष्ठतीत्यनुभयनिष्ठा रसाभासरूपैव ।
उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ
है, नायिका में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में यह प्रेम (रति) अनुभव-
निष्ठ (एक तरफा) है, अतः यह पद्य रसाभास (अनुभयनिष्ठ रतिरूप तृतीय भेद)
का उदाहरण होता है।

उक्तप्रकारत्रये प्रामाणिकता दर्शयति—

तथा चोक्तम्—

‘उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।

बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥’ इति ।

रसाभास के उक्त तीनों भेदों में प्राचीनोंने भी साक्षित की है। उन्होंने कहा है कि यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है। यहाँ एक बात विचारने योग्य यह प्रतीत होती है कि—इस प्रचीनोक्त कारिका में ‘उपनायकनिष्ठायाम्’ और ‘मुनिगुरुपत्नीगतायां’ ये दोनों ही पद क्यों कहे गये हैं? दोनों पदों की आवश्यकता तो नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि उपनायकनिष्ठ रति से मुनिपत्न्यादिगत रति भी संगृहीत हो जाती है, कारण यह कि मुनिपत्नी आदि में जिसकी रति होगी, वह मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों की रति उपनायक निष्ठ कहलायगी, यदि कहे कि वहाँ मुनिपत्नी आदि की रति नायक में नहीं रहती, तब मैं कहूँगा कि अनुमपनिष्ठ रति से संग्रह हो जायगा। एक बात और यह कि उक्त कारिका से रसाभास के चार भेद प्रतीत होते हैं, पर ग्रन्थकार ने तो तीन ही भेद दिखलाये हैं, जो ठीक भी हैं, अतः इस प्राचीन कारिका में कुछ असंगति अवश्य है।

उच्चायोदाहरणसङ्ग्रहार्थमभिवक्षे—

अत्र ‘मुनिगुरु’ शब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम् ।

श्रादिपदेनागम्यपक्षोक्तानां शिष्यादीनां परिग्रहो बोध्यः ।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उपलब्ध हैं, अतः उन पदों से राजा शिष्य आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः ‘शतेनोपादानाम्’ इत्यादि प्रथम उदाहरण का संग्रह हो जाता है।

रस-सदाभासयोरैकत्र संशयात् पृच्छति—

अथात्र किं व्यङ्ग्यम् ?—

‘व्यानम्राश्चलितार्थैव, स्फारिताः परमाकुलाः ।

पाण्डुपुत्रेषु पाश्चात्याः, पतन्ति प्रथमा दृशः ॥’

पाश्चात्या द्रौपद्या, प्रथमा परिचयान्तरमाया, दृशो दृष्टय, पाण्डो पुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवायोन्या विनता, भीमसेने प्रासाच्चलितायजला, अर्जुने प्रभावोत्कर्षात् स्फारिता विकसिता, नकुलसहदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला अत्युत्सुकश्च, पतन्तीत्यर्थः ।

अत्र पद्ये रतौ रसाभासो वा व्यङ्ग्य इति प्रष्टुराकूतम् ।

अच्छा, अब यह विचार कीजिये कि ‘पाण्डवों के ऊपर, द्रौपदी की प्रथम दृष्टियां अतितप्त चञ्चल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिरती हैं’ पददर्पक ‘व्यानम्रा’ ‘’ इत्यादि पद्य में क्या व्यङ्ग्य है? रस? अथवा रसाभास?

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्तरं नवीनमते रसाभासत्वं व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थू-
ताकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततयाऽलौकिकशौर्यभ्रमणप्रयोज्य-
नर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरीत्सुक्यं

प व्यञ्जयन्तीभिर्दृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविपयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नठ्याः ।

अत्र द्रौपदीदृष्टिनिरोपणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ-धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-प्राप्त-हर्षोत्सुक्यानि व्यञ्जमानानि, द्रौपदीनिष्ठा युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वादनुचिता रति प्राधान्येन व्यञ्जन्तीति शृङ्गाररसाभासध्वनित्वं नवीना मन्यन्त इति सारम् ।

इह शौर्यस्यादृश्यतया यया श्रवणपदोपन्यासः, तथा धर्मात्मताया श्रपीति तत्रापि तदुपन्यास उचितः ।

उक्त विचार के प्रसङ्ग में नवीन विद्वानों का कथन है कि यहाँ रसाभास ही व्यङ्ग्य है, रस नहीं, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर के विषय में भक्ति को, 'चञ्चल' इस विशेषण से स्थूल काय होने के कारण भीमसेन के विषय में त्रास को, 'विकसित' इस विशेषण से अलौकिक शूरता की बात श्रुत होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष को और 'परम व्याकुल' इस विशेषण से अति सुन्दर होने के कारण नकुल तथा सहदेव के विषय में उत्सुकता को अभिव्यक्त करनेवाली दृष्टियों के वर्णन से द्रौपदी की अनेक नायक विषयक रति ध्वनित होती है ।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेरभासतेत्याहुः ।

अपरिणेतार परिणयकर्तृभिः बहुऽनैके नायका विषया यस्या सैव रतीरसाभासः । प्रकृते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकाना परिणेतृत्वाद् विशेषणाभावप्रयोज्य-विशिष्टाभावात् रसाभासत्वम्, अपित्वनौचित्याप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनाना मतम् । इह प्राचीनमतस्य गरीयस्त्वं पक्षाभिर्देश सूचयति । यत्तत्र टीकया तुना सूचितमरुचिर्वाञ्छं लक्षणे परिणेतृभेदानिवेशादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्व इवात्रापि रतेरनौचित्यस्य भान-मुक्तम्, तत्र युक्तम्, रतेरनौचित्यावभासे लोकशास्त्रगर्हितत्वस्यैव हेतुतया, महाभारत-प्रकृतप्रकरणपर्यालोचनया तदसम्भवात्, विशेषपध्नेन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिति विभावनीयम् ।

प्राचीन विद्वानों के मत से उक्त श्लोक में रस ही व्यङ्ग्य है, रसाभास नहीं, क्योंकि वे विधिवत् पाणिग्रहण न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रति को ही रसाभास मानते हैं, यहाँ तो पाचों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करनेवाले ही हैं, अतः उन पाँचों के विषय में होनेवाली द्रौपदी की रति रसाभास नहीं कहला सकती, वरन् शुद्ध रस ही कहलायगी । यहाँ 'प्राञ्चस्तु' इस 'तु' शब्द से अर्थवि सूचित होती है, और उसका कारण यह है कि एक नायिका का अनेक नायकों से प्रेम करना हरहालत में अनुचित ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण कारक हों अथवा उदासीन । और लक्षण में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिससे पाणिग्रहण करनेवाले अनेक नायकों के विषय में होनेवाली रति रसाभास-संज्ञा से मुक्त की जा सके । यह है नागेश का अभिप्राय । कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अर्थविप्रदर्शन समुचित नहीं है कारण यह कि लोक और शास्त्र से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होता है, और महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के पर्यालोचन से द्रौपदी का पाच पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझा जाता, अतः प्राचीनों का मत ठीक ही है ।

रसाभास विभजते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसामासोऽपि द्विविधः—संयोगविप्रलम्भभेदात् ।

तत्र रसामासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविधः, तथा संयोगशृङ्गाररसामासो विप्रलम्भशृङ्गाररसामासश्चेति तद्वामासोऽपि द्विविधस्तुत्यन्यायात् । एवं धीररसामासभेदा अप्यूहनीया इत्यभिप्रायः ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, उसी तरह शृङ्गार रसामास भी दो प्रकार के होते हैं ।

तत्र विप्रलम्भामासोऽहंरसमात्रस्य पक्षमाणत्वेन न्यूनता परिहरति—

संयोगामासस्त्वनुपदमेवोदाहृतः ।

नव्यमते—'व्यानत्रा' इत्यादिना, प्राचीनमते तु 'भुजपञ्चरे' इत्यादिना, तेन न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशयः ।

सम्भोगशृङ्गार रसामास का उदाहरण 'भुजपञ्चरे' इत्यादि सभी ही ऊपर कह आये हैं ।

विप्रलम्भामासमुदाहरति—

विप्रलम्भामासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य दशाननस्य दशां वर्णयति—

'व्यत्यस्तं लपति क्षणं, क्षणमथो मौनं समालम्बते,

सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।

श्वासं दीर्घमुरीकरोति, न मनागङ्गेषु धत्ते धृति,

वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त ! लङ्केश्वरः ॥'

हा हन्त ! वैदेहा जानक्या, कमनीयतया स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो पशीकृतचेता, लङ्केश्वरो रावण, क्षणं व्यत्यस्तमसङ्गतं लपति भाषते (प्रलपति) अथो क्षणं मौनं समालम्बते मूकौ भवति, किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बना रन्यां, दृष्टिं विदधाति करोति, तथा दीर्घमायत्तं, श्वासम्, उरीकरोति चहति, एषम्, अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागीपदेषु, धृति स्थिरता न धत्ते न भारयतीत्यर्थः ।

विदधातीत्यत्र निलेपार्थो विदधातीति पाठोऽधिकं शोभते ।

अव विप्रलम्भामास का उदाहरण देखिये—सीता के सौन्दर्य से बन्दीकृत रावण भी दशा अव्यक्त शोचनीय है । वह क्षणभर अट-संत कुछ बरुता है, तो क्षणभर चुप्पी साध लेता है । सभी वस्तुओं पर दृष्टि डालता है, पर एक भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती । वह जोर-जोर से सांस खींचता है और उसके अङ्गों में तनिक भी स्थिरता नहीं रहती—कभी हाथ और कभी पैर पटकता है, उससे थोड़ी देर भी शान्त नहीं रहा जाता ।

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया जगद्गुरुपत्नी-विषयकतया चाभासतां गता, व्यत्यस्तं लपतीत्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्माद्-ध्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिमिस्तथैवाभासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्यायिन्या रते रावणमात्रनिष्ठतया जगद्गुरु-रामचन्द्रपत्नीविषयकतया च द्विविधानौचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसामासत्वम् । सा हि—'क्षणं व्यत्यस्तं'मित्यादिना व्यज्यमानेनोत्साहेन, 'क्षणमथो' इत्यादिना व्यज्यमानेन ध्रमेण, 'सर्वस्मिन्' इत्यादिना व्यज्यमानेन मोहेन, 'श्वासं'मित्यादिना व्यज्यमानेन चिन्तया, 'न मना'मित्यादिना व्यज्यमानेन व्याधिना च आवेकानौचित्यप्रवृत्ततया भावाभासेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसामासध्वनिव्यपदेशस्य हेतुर्भवतीति सात्त्वम् ।

यहां सीता के विषय में जो रावण का विरहकालिक प्रेम है, वह अनुभयनिष्ठ है— अर्थात् रावणमात्र में है, सीता में नहीं और वह जगद्गुरु रामचन्द्र की पत्नी के विषय में है, अतः उस प्रेम में द्विविध अनौचित्य आ गया, जिससे वह 'आभास' रूप है। उस (प्रेम) को पुष्ट करनेवाले उम्माद, श्रम, मोह, चिन्ता और व्याधि ये सञ्चारीभाव भी जगद्गुरु—पत्नी विषयक होने के कारण 'आभास' रूप ही हैं, इन सञ्चारीभावों के व्यञ्जक क्रमशः अंत-संत षोडश, सुष्पी साधलेना, आलम्बनरहित देखना, जोर-जोर से सांग स्त्रीचना और अङ्गों में स्थिरता का न होना ये अनुभाव हैं। सारांश यह कि यहां रसाभास भी व्यङ्ग्य होता है और भावाभास भी, परन्तु भावाभास पोषक है—अङ्ग है और रसाभास पोष्य है—अङ्गी है, अतः रसाभास ही इस पद्यको ध्वनि कहे जाने का कारण है, भावाभास नहीं।

शृङ्गारवद् रसान्तराणामप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वे रसाभासता व्यवस्थापयति—

एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसाऽ-सृष्ट्वांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः।

यथा रतेर्मुन्यादिपत्नीनिषयत्वेनानौचित्याच्छृङ्गाराभासता, तथैव कलहशीलो य कुपुत्र-स्तद्विषयस्य वीतरागपुरुषनिष्ठस्य च शोकस्यानौचित्यात् कृष्णाभासता, ब्रह्मविद्याया विज्ञानस्यानधिकारिणो ये चाण्डालादयस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य निर्वेदस्यनौचित्याच्छान्ताभासता, कदर्यो नीच कातरो भीष्टस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक ऐन्द्रजालिकस्तद्विषयकत्वेन विस्मयस्याद्भुताभासता, गुरुजनाद्विषयकत्वेन हासस्य हास्याभासता, महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभासता, यज्ञीया वध्यनया यज्ञसम्बन्धिभ्यो ये पशवस्तेषां शान्ति वसासृष्ट्वासादीनि मञ्जारुधिरमासप्रवृत्तीनि तद्विषयत्वेन वर्ण्यमानाया जुगुप्सायाश्च वीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः।

अब शृङ्गार की तरह अन्य रस भी अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर रसाभास हो जाते हैं इस बात की व्यवस्था करते हैं—'एव कलह' इत्यादि। जैसे शृङ्गार रस का स्थायीभाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायीभाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—कहण रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायीभाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वञ्चित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पुरुषों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायीभाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और वीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मञ्जारु, शोणित, तथा मरेय आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः कृष्णरसाभास, शान्तरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास, और वीभत्सरसाभास होते हैं।

तदुदाहरणप्रदर्शनकारणमाह—

विसृतिभयाधामी नेहोदाहृताः सुधीभिरुभेयाः।

प्रत्येकमेवामुदाहरणप्रदर्शने प्रत्यविस्तरः स्यादिति शृङ्गाराभासोदाहरणेनैव सुधीभिस्त-
दुद्द श्यालोपुलाकन्यायेन विधेय इत्यर्थः ।

इन सब रसाभागों के अलग-अलग उदाहरण दिखलाने में प्रत्य के अतिविस्तृत हो
जाने का भय था, अतः वे नहीं दिखलाये गये, विशानों को स्वयं उनका ऊह करना चाहिये ।

विशेषवक्ष्यविरहात् समासेनैव भावाभासान् निरूपयति—

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

एवमेव रसाभासवदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताश्रयनिष्ठ वा
वर्ण्यमाना हर्षादयः पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति 'तदाभासा-अनौचित्यप्रवर्तिता' इति
प्राचीनाभियानादित्यर्थः ।

इसी तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में भय वा
अनुचित आश्रय में वर्णित हों, तो भावाभास कहलाते हैं ।

समासेनैव भावाभासमुदाहरति—

यथा—

अनुचितरतिः प्रवामी प्रिया स्मरत् वदति—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता

विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव ।

सा केवलं हरिणशावकलोचना मे;

नैयापयाति हृदयावधिदेवतेव ।।'

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वेऽपि, विषयास्तत्तदिन्द्रियैरनुभवनीयाः पदार्थाः, विस्मृति-
पथं प्रयाता सुदुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभवन्, (विरसेविता) विद्याऽपि,
खेदकलिता पराङ्गनाप्रणयावधारणेष्वर्थाकषायितास्येव, विमुखीबभूव साम्मुख्यं विहाय दूरं
जगाम केवलमेका, सा दृष्टपूर्वा, हरिणशावकलोचना कुरङ्गशिशुनयना, अधिदेवतेव हृदया-
धिष्ठातृदेवतेव, मे मन हृदयात्, नैयापयाति नैव निस्सरतीत्यर्थः ।

जैसे—सभी विषय विस्मृति के मार्ग पर पहुँच गये—मूल से गये और विद्या भी जिसकी
सेवा मैंने चिरकाल तक की थी—लिप्त होकर मुझे पराङ्गना-प्रणयी समझ कर ईश्या से
कलुषितहृदया होकर-विमुख हो गई, परन्तु केवल वह याल हरिण के समान नयन वाली
याल अधिष्ठा श्री देवी के समान बनी बैठी है, हृदय से कभी निकलती ही नहीं ।

प्रकरणं प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अन्यस्य वा
कस्यचिद्विप्रतिपिद्गमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्त्वेयमुक्तिः ।

गुरुकुलं गुरोर्युहम् । 'अप्रतिविद्गमनाम्' इति पाठे तु निषिद्धालम्बनकरवाभावाद्भावा-
भासतैव दुर्घटा स्यादिति प्रकोष्ठपठकराब्द कल्पितः । इह गुरुकन्या तदन्या वा काचिद-
गम्याऽऽलम्बनम् विषयो यस्याः सा स्मृतिरनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् भावाभासरूपा, व्यङ्ग्याभ्या
व्यतिरेकोपमालङ्काराभ्यामुपस्क्रियमाणा स्मृतिभावाभासध्वनिव्यपदेशस्य बीजमवसैयम् ।

विद्याभ्यास करते समय, गुरु-पुत्री के लान्घ्य से मोहित मनवाले गुरुप की अधवा
जिसका सम्मोग अत्यन्त ही निषिद्ध समझा जाता है, ऐसी किसी कामिनी का स्मरण करते
हुए किसी अन्य की उस समय में यह उक्ति है, जब वह उससे दूर हो गया था ।

व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्य स्मृत्यङ्गत्वं प्रतिपादयति—

अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां सक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां

विद्यायां च कृतज्ञत्वम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकवपुः स्मृतिमेव पुष्पातीति सैव प्रधानम् ।

चिरं सेवितैरपि स्रक्चन्दनादिविषयै, चिरं सेवितया विषया च सेवकस्य स्वात्मन-
स्त्यागं कृत इति तयोः कृतज्ञत्वम्, अस्यां नायिकायान्त्वल्पकालानुष्यातायामपि सतत-
स्मृतिसंसक्तया त्यागमकृतवत्यामपूर्वं कृतज्ञत्वं च व्यज्यमान व्यतिरेकालङ्कारस्वरूपं स्मृति-
भावस्यैवोपकारकमितोद् भावाभासध्वनिरेव, नत्वलङ्कारध्वनिरित्याशयः ।

यहां चिरसेवित स्रक्, चन्दन आदि विषय और चिर-सेवित विद्या—जो इस पद्य में उप-
मान रूप से आये हैं—में, अपने को छोड़ देने के कारण, कृतज्ञता तथा भएवपरिचित
उस मृगाक्षी—जो यहां उपमेय रूप से आई है—में अपने को अभी तक न छोड़ने के कारण,
अलौकिक कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है, अतः उपमान से उपमेय में आधिक्य-वर्णन रूप
'व्यतिरेक' अलङ्कार यहां व्यङ्ग्य है अवश्य, तथापि इस पद्य को अलङ्कार-ध्वनि नहीं कहा
जा सकता, क्योंकि वह व्यङ्ग्य 'व्यतिरेक' यहां उस प्रधान 'स्मृति-भाव' का ही पोषक है,
जो अनुचित प्रवृत्त होने के कारण आभास रूप है । फलतः इस पद्य को 'भावभास-ध्वनि'
ही मानना चाहिये ।

वस्तुव्यङ्ग्योपमाया अपि भावाभासात्त्वत्वं दर्शयति—

एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्व व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमाऽपि ।

यथाऽधिष्ठात्री देवता स्वाधिष्ठानं न जानु त्यजति, तथेयमज्ञानाऽपि ममहृदयं न त्यजती-
तिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्वं व्यङ्ग्य वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतितमत्यपि
स्मृतेरज्ञमेव, न प्रधानमिति भावः ।

इसी तरह 'अधिदेवतेव' इस पद से वाच्य होनेवाली उपमा चमत्कारजनक होकर
भी 'स्मृति-भाव' का अङ्ग ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपमा से यह वस्तुध्वनित होती
है कि जैसे अधिष्ठात्री देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह मृगाक्षी भी
मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती, अतः यह समझना चाहिये कि यह उपमा त्यागाभाव
(न छोड़ने) में सार्वदिकता-चिरस्थायिता को व्यक्त करने के लिये ही केवल गढ़ी गई है ।

भावभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः ।

एषा स्मृति । अनुचितविषयकत्वमालम्बनस्य निषिद्धत्वात्, अनुभयनिष्ठत्वं च नायक-
मात्रवृत्तित्वात् ।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय गुरुकन्या अथवा
अन्य कोई अगम्या नायिका अनुचिन है, और यह स्मृति अनुभयनिष्ठ भी है—अर्थात् नायिका
तो स्मरण करती नहीं, अतः एक तरफा है ।

विषयभेदादिहैव भावध्वनित्वमप्याह—

यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरेव ।

नायिकाया पत्युरेवोक्तिरेषा यदि प्रकरणे नावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकत्वानुभय-
निष्ठत्वयोरभावात्स्मृतिभावाभासध्वनिः, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरेवेति भावः ।

यदि माने कि 'सर्वंऽपि' ' ' ' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणेता (पति) की
ही वक्ति है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये ।

भावशान्तिं निरूपयति—

अयं भावशान्तिः—

निरूप्यत इति शेषः ।

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

प्रागुक्तं विभावानुभावव्यञ्ज्यमान-द्वर्षान्यतमत्वं स्वरूपं यस्मेति बहुमीदृिः । विभावा-
दिव्यज्ञहर्षोद्यन्यतमनाश एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

अथ 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं । अच्छा, पहले उसका लक्षण देखिये—जिनके स्वरूप पूर्व में वर्णित हो चुके हैं, उन हर्ष आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भाव-
शान्ति' कहते हैं ।

विशेषभावहे—

सचोत्पत्त्यत्रच्छिन्न एव प्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात् ।

यत् स भावनाश उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्न) सहृदयाज्ञापक, तस्मात्
स एवात्र प्राह्य इत्यर्थः ।

वह भाव-नाश उत्पत्त्यवच्छिन्न (उत्पत्ति-कालिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं क्योंकि उत्पत्तिकालीन भावनाश ही सहृदयों को स्वसहृत् करता है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्याः सयोऽमर्षव्यंसे वर्णयति—

'मुञ्चसि नाद्यापि रूपं, भामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।

इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाञ्जकोणशोणरुचिः ॥'

'हे भामिनि ! कोपने । अथापीशानीमपि, एवं कोपं मानं न मुञ्चसि न त्यजसि, (पश्य) मुदिरालिमेषनाला, उदियायीदिताऽभूत्' इति पतिवचनैः, तन्व्या कृशाज्ञया (मानिन्या) नयनाञ्जकोणयोर्लोचनकमलप्रान्तयोः, शोणरुचिर्मानोपहिता रक्षच्छ्रुति, अपायि व्यनाशी इत्यर्थः । मानिनी परमोदीपनकादम्बिनीसप्तसहस्रवणात् सद्यः असखादेति भावः ।

उदाहरण लीत्रिये—'अयि ! कोपमयि !! अय भी तू रोप का त्याग नहीं करती, देख तो, घन-घटा धिर आई' इत्र तरह पति के वचनों ने, कृशाज्ञी के नयन-कमल के कोने में जो रक्त छवि थी, उसे पी गया—वह उत्पन्न होने के साथ ही समाप्त हो गई ।

विभावानुभावौ दर्शयति—

इह तादृशाप्रियवचनप्रवणं विभावः, नयनकोणगत-शोणरुचेर्नाशः, तद-
मिच्छकः प्रसादो वाऽनुभावः ।

तादृशं मुदिराल्युदयवोषकम् । प्रियवचनश्रवणस्यामर्षभावशान्तिजनकत्वेन विभावत्वम् ।
नयनकोणशोणरुचिनाशस्य साक्षादमर्षनाशाजन्यत्वादिकरूपः ।

यहां प्रियतम की घन-घटा वाली दातों का तुलना विभाव है और नेत्र-कोण को रक्त-
छवि का भाव अनुभाव है । यदि कहे कि नेत्र की छाटी का नाश तो रोप-नाश का साक्षात्
कार्य नहीं हो सकता—अर्थात् रोप-नाश से प्रसन्नता होगी और प्रसन्नता से कोपमूलक
नेत्र-रक्तता का नाश होगा, तो मैं कहूंगा कि ठीक है, तब नेत्ररक्तता के विनाश के अभि-
व्यञ्जक प्रसन्नता को ही अनुभाव समझिये ।

उपपादयति—

उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोपनाशो व्यङ्ग्यः ।

रोपोऽमर्षस्तेनामर्षभावशान्तिव्यनिरिति सारम् ।

उक्त विभावसौर अनुभावों से उत्पत्ति के समय में ही रोप का नष्ट हो जाना व्यङ्ग्य है ।

भावोदयं निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ।

पूर्वोक्तलक्षणस्य कश्चिद्भावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवीं गतो भावोदयो भवतीत्यर्थः । अथ 'भावोदय' का निरूपण करते हैं । पहले उसका लक्षण देखिये—पूर्वोक्त हर्ष आदि में से किसी भी भाव की उत्पत्ति को 'भावोदय' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराधवोधात् सद्यो मानिन्या वृत्तं वर्णयति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।

अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचक्रप निजबाहुवक्षरीम् ॥

(आलिङ्गन्तीं क्वचित्) दयितस्य वल्लभस्य, वक्षसि हृदये, विपक्षकामिन्या प्रागुपभुक्त-प्रतिनायिकाया, हारलक्ष्म गाढालिङ्गनोद्गतमुक्तामालाचिह्न, वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, (अपराधनिधयात्) भामिनी रोपयती सती, अंसदेशयोर्दयितस्कन्धप्रान्तयो, वलयीकृता मण्डलाकारेण संयोजिता, निजबाहुवक्षरी स्वभुजलताम्, क्षणात् सद्य आचक्रप-श्रमर्षोदयादा-कृशदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—कोई कामिनी एकान्तस्थित प्रियतम के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर गले मिल रही थी, तब तक अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षस्थल में उगे हुए सौत के हार-चिह्न पर पड़ी, फिर क्या था, तुरत वह कामिनी से भामिनी (कोपना) बन उठी और कन्धे पर से अपनी बाहु-लता को खींच लिया ।

विभावमनुभावं व्यङ्ग्य च प्रतिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभावः, प्रियासंदेश-वलयीकृतनिजबाहुलताऽऽकर्षणमनुभावः, रोपोदयो व्यङ्ग्य-यः ।

इहापि रोषपदमर्षबोधकम्, तेनामर्षभावोदयव्यभिर्बोध्यः ।

यहां भी प्रियतम के वक्षस्थल पर सौत के हार का चिह्न देखना विभाव और उसके कन्धे पर से लिपटी हुई मुजलता का खींच लेना अनुभाव है, जिनसे रोष-भाव का उद्ब्य व्यङ्ग्य होता है ।

भावशान्ति-भावोदययोर्विषयैकमाशङ्क्य विषयविभाग दर्शयति—

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्यकत्वाज्ञानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहान्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभागः ।

यत्रैकभावस्य शान्ति, तत्रापरभावस्योदय आवश्यक, यत्र पुनरेकभावस्योदय, तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपेक्ष्यत इति भावशान्ति-भावोदययोः सर्वत्र सद्दीर्घत्वात् स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्कया — नख्येकत्रैव तत्रभावस्य शान्तेरुदयस्य च चमत्कारिता, नवा चमत्कारिता विना व्यवहारप्रवृत्तिरिति निर्णये, यत्र भावशान्तिचमत्कार, तत्र भावशान्तिव्यवहार, यत्र तु भावोदयचमत्कार, तत्र भावोदयव्यवहारो भवतीति तयोर्व्यवहारस्य विषय परसाङ्ग्ये सत्यपि स्वतन्त्र एवेति समाधानम् ।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहां किसी भाव की शान्ति होती है, वहां किसी दूसरे भाव का उदय भी होता ही है, इसी तरह जहां किसी भाव का उद्ब्य होता है, वहां उसके पहले

किसी अतिरिक्त भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावोदय के एक दूसरे से अभिन्न रूपों का मिलना असम्भव है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अलग-अलग व्यवहार करने योग्य रूप नहीं हैं, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारी नहीं होते अर्थात् भावशान्ति की जगह में भावांतर का उदय निश्चित रह कर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की जगह में प्राक्तनभाव की शान्ति नियमतः रहने पर भी चमत्कार जनक नहीं होती और व्यवहार चमत्कार के अधीन है— अर्थात् जिसमें चमत्कार रहता है, उसी का व्यवहार होता है, अतः इन दोनों के पृथक् पृथक् व्यवहार हो सकते हैं।

भावसन्धि निरूपयति—

एवम्—

भावसन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो-रन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम् ।

अन्योन्यं परस्परमनभिभूतयोरवाधितप्रतीतिचमत्कारयोः, अन्योन्याभिभवनयोग्ययो-भियःप्रतीतिचमत्कारपापनसमर्थयोः (अविरहयोस्तुल्यचल्लो) द्वयोर्भावयोः, सामानाधिकरण्यभेददेशककालावच्छिन्नचमत्कारिप्रतीतिविषयत्वं भावसन्धिरित्यर्थः ।

मुन्दोपमुन्दन्यायेन मियोवाधने प्रतीतिचमत्काराभावात्, तादृश्ये परस्परबाधनाक्षमयोस्तु सन्धिप्रयोग्यविजातीयचमत्कारसमशिरस्कचमत्कारविरहाच्च क्लृप्तेन विरोपणद्वयसार्थक्यम् । तदुक्तम्—‘भावयोः सन्धिहभयसामप्रयोगेन परस्परविमर्दः’ इति । ‘सन्धिरेकचल्लमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः’ इति च ।

अब ‘भाव-सन्धि’ का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम उसका लक्षण देखिये—एक दूसरे से दबे हुये न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण्य (एक जगह रहने) को ‘भाव-सन्धि’ कहते हैं। सारर्थ्य यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूसरे की प्रतीति और चमत्कार का वाधित करने की क्षमता रखता हो, परन्तु वाधित करे नहीं, ऐसे—अर्थात् अविरह और सुख्यमल दो भावों की सहस्थिति को भावसन्धि कहते हैं। यहां यदि लक्षण में ‘एक दूसरे से दबे हुये न हों’ यह पूर्व अंश नहीं कहा जाय, तब उन दो भावों की सहस्थिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, जो, परस्पर वाधक होने के कारण अप्रतीयमान अत एव चमत्कारहीन होकर तटस्थ बने पड़े रहते हैं। इसी तरह यदि ‘एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हो’ यह द्वितीय अंश लक्षण में न रखा जाय, तब उन अज्ञानिभावापन्न दो भावों की सह-स्थिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, जिनकी सह-स्थिति से कोई वास चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, अतः दोनों अंशों का निवेश सार्थक है ऐसा समझना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वयस्सन्धिमास्त्वया अगूढायाः शीताया रामचन्द्रे प्रथम इवशतं वर्णयति—

‘यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः ।

सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः ॥’

यौवनस्योद्गमनारम्भेन नितान्तं शङ्किता युवदर्शने नवाङ्कुरितयौवनलज्जातिस्वभावा-दुत्पन्नशङ्का, (राघवस्य) शीलेन सद्वृत्तेन, शौर्येण विक्रमेण, बलेन शारीरिकसामर्थ्येन, कान्त्या सावप्यप्रभया च (प्रत्यक्षविषयेण) लोभिता उत्पादितलोभाद्य, जानक्या ‘शीताया’ नयने एव नीरखे कमले, तयोश्श्रियः शोभा, राघवे रामचन्द्रे (पतन्त्ये) सङ्कुचन्ति

लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति-धौत्सुक्येनोन्मीलन्ति चेत्यर्थः । इह यौवनोद्गमस्योभयपान्वय', उन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलापवेन यौगपद्यव्यवहारः ।

उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है—दोनों में (सीता तथा राम में) यौवन लंकुरित हो जाने के कारण अत्यन्त शत्रुयुक्त और राम की सच्चरित्रता, शूरता, शारीरिक बल और कान्ति के कारण लोभयुक्त कुमारी सीता के नेत्र-कमलों की शोभायें, रघुनन्दन रामचन्द्र के विषय में, संकुचित और विकसित हो रही हैं । भावार्थ यह है कि लंकुरित सीताजी ने जब प्रथम प्रथम यौवनोन्मुख, सचरित्र, धीर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी आँखें उगईं देखने में कुछ संकुचित हो रही थीं क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की शङ्का भी उपस्थित थी, जो किसी नव युवक को देखते समय किसी भी अकुरयौवना के लिये स्वाभाविक है । और कुछ विकसित भी हो रही थीं, क्योंकि उस बिलक्षण यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में लोभ भी था । इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है ।

विभावाद्याह—

अत्र भगवद्धारारधिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्या-
देश्च दर्शनं विभावः, नयनगत-सङ्कोचविवासावनुभावः, प्रौढौत्सुक्ययोः
सन्धिर्व्यङ्ग्यः ।

तादृशस्य लोकोत्तरस्य । नयनद्वारे सङ्कोचेन प्रौढा, विकासेन चोत्सुक्यमिह समकथयता-
ऽऽस्वायेते इति भावसन्धिष्वनिः ।

यहाँ भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उसीतरह के लोको-
त्तर चरित्र-धीरता आदि का दर्शन विभाव है और आँखों का संकुचित होना तथा विक-
सित होना अनुभाव है । जिससे लज्जा और औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य
होती है—अर्थात् नेत्र-संकोच से लज्जा और नेत्र-विकास से औत्सुक्य समानरूप से
स्वनित होते हैं, अतः यह पद्य 'भाव-सन्धि-ष्वनि' का उदाहरण होता है ।

भावशबलत्वं निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा
व्यामिश्रणम् ।

विद्वद्त्वान्मियोबाध्यबाधकभावं प्राप्तानाम्, अथवाऽविरुद्धत्वाद् तदस्थानां भावानां,
व्यामिश्रणं स्वस्वन्यञ्जकपृथग्-वाक्यजप्रतीतिविषयत्वपूर्वकमहावाक्यजन्यचमत्कारकवैयञ्ज-
निक-प्रतीतिविषयत्वं शबलत्वमित्यर्थः ।

जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक दूसरे का बाधक हों, अथवा जो उदासीन-
अर्थात् न परस्पर बाधक न परस्पर सहायक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भाव-
शबलता' कहते हैं ।

तथा शबलत्वं विवृणोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

एकं महावाक्यजन्य चमत्कृतिजनकं यद्वैयञ्जनिवज्ञानं, तद्विषयत्वमित्यर्थः ।

मिथ्यण शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि यद्यपि मिथ-मिथ पाश्य से मिथ-मिथ भाव
अभिप्रेत होते हैं, तथापि उन सब वाक्यों को मिटाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महा-
वाक्य बने, उससे जो एक व्यञ्जना वृत्ति के सहारे चमत्कारी ज्ञान हो, उसमें उन सब
भावों का भासित हो जाना ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीतां विवास्थानुशयानः श्रीरामश्चिन्तयति—

‘पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यथापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना वन वने किं जीवितं धास्यति ? ।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते धदिष्यन्ति मां,
राज्यं यातु रसातल पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥’

(यज्ञभूतिस्तुत्पन्ना बद्धिपरीक्षितशोला) सीताऽपि (धुदापवादमिया) यत्, यापिता राजधान्या निष्कास्य वन गमिता, हन्त । हतेन दुष्टेन दुर्द्वेषोपहतबुद्धिना वा मया, तत् सीतानिर्वासनं पाप कृतमविषेयं विहितम् । सा शतरा सुपरीक्षितप्रणया, इन्दुमुखी सीता, मा विना (एकाकिनी) वने, वत । जीवितं किं धास्यति ? नैव धारयिष्यति । कृततादृश-पापकर्माऽह कृतिना प्राज्ञजनानां मुखानि, कथम्, आलोकेय लज्जया परयेयम् ? । ते कृतिनाः (पापिनं) मा, किं धदिष्यन्ति किं कथयिष्यन्ति ? । यदर्थं मयैतदनुष्ठितं तदिदं राज्यं, पुनः, रसातलं यातु विनश्यतु । अहं प्राणितुमतः परं जीवितु, न कामये नेच्छामि दुःख-दुर्यशो दग्धाजीवनान्मरणस्यैव श्रेयस्त्वादित्यर्थं ।

उदाहरण देखिये । सीता जी को वन में निर्वासित कर देने के बाद राम का कथन है कि मैं बड़ा दुर्बुद्धि हूँ, तभी तो सीता को भी (जिसका शील अग्नि में परीक्षित हो चुका था) निकाल दिया, यह मुझसे बहुत बड़ा पाप किया गया, हाय ! क्या वह (जिसका मुझ में असौम्य प्रेम है) मेरे बिना वन में जी सकती है ? मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूंगा ? ये मुझे क्या कहेंगे ? यह राज्य (जिसके लिये मैंने यह पाप किया है) रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता ।

उपपादयति—

अत्र मत्स्य सूया-विपाद-स्मृति-वितर्क-घ्रीडा शङ्का-निर्वेदानां प्रागुक्तत्वस्यवि-भावजन्मनां शबलता ।

इह ‘पाप’मित्यादिना व्यज्यमानाया मते, ‘हतेने’त्यादिना व्यज्यमानायाः स्वविषय-कासूयाया, ‘सीताऽपी’त्यादिना व्यज्यमानस्य विपादस्य, ‘से’त्यनेन व्यज्यमानायाः स्मृतेः, ‘मामिन्दुमुखी’त्यादिना व्यज्यमानस्य वितर्कस्य, ‘आलोकेये’त्यादिना व्यज्यमानाया घ्रीडाया, ‘किं’इत्यादिना व्यज्यमानायाः शङ्काया, ‘राज्यं’मित्यादिना व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च भावस्य शमलत्वमेकमहावाक्य अर्थव्यञ्जनिकचमत्कारजनकप्रतीतिविषयत्वमस्तीत्यर्थं ।

यहां अपने अपने विभाव से अभिव्यक्त होने वाले मति, असूया, विपाद, स्मृति, वितर्क, घ्रीडा, शङ्का और निर्वेद इन भावों का मिश्रण (जला) है—अर्थात् ‘मैंने पाप किया’ इससे मति, ‘दुर्बुद्धि’ इस आत्मविरोध से स्वविषयक असूया, ‘सीता को भी’ इससे विपाद, ‘वह चन्द्रमुखी’ इससे स्मृति, ‘मेरे बिना जी सकती है’ इससे वितर्क, ‘मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूंगा’ इससे घ्रीडा, ‘ये मुझे क्या कहेंगे’ इससे शङ्का और ‘यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता’ इससे निर्वेद, ये भाव व्यक्त होते हैं और इन सब भावों का समग्र श्लोकजन्यबोध में भाग होता है, अतः यह ‘भाव-शप-लता-ध्वनि’ हुई ।

काव्यप्रकाशान्याख्यातुकृते भावशबलत्वक्षणमुपन्यस्य निरस्यति—

यत्तु काव्यप्रकाराटीकारैः—‘उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता’ इत्यभ्यधीयत, तन्न, ‘पर्येत कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालम्बं

वितर, हहहा ! व्युत्क्रमः क्वसि यासि ।' इत्यत्र शब्दाऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-
दैन्य-मत्स्यौ-सुक्यानामुपमर्दलोशाङ्गन्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन
पञ्चमोक्षासे मूलकृतैव निरूपणात् ।

'इत्थं पृथ्वीपरिवृढ । भवद्विद्विपोऽरण्यवृत्ते, कन्या कथित् फलकिसलयान्याददानाऽभि-
धत्ते ॥' इति काव्यप्रकाशोद्धृतपद्यस्यान्तिमं चरणद्वयम् । तत्र 'परयेत् कश्चिदित्यनेन
शब्दाया, 'चल चपल रे' इत्यनेनासूयाया, 'का स्वरा' इत्यनेन धृते, 'अहं कुमारी' इत्यनेन
स्मृते, 'हस्तालम्बं वितर' इत्यनेन श्रमस्य, 'हहहा' इत्यनेन दैन्यस्य, 'व्युत्क्रम' इत्यनेन
मते, 'क्वसि यासि' इत्यनेनौत्सुक्यस्य च भावस्य व्यञ्ज्यमानतया व्याभिध्रणाद् भावशबल-
ताया वर्णनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कार ।

तत्र काव्यप्रकाशव्याख्याकारेण भावशबलता लक्ष्यता-उत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तरमभिव्य-
क्तिविषयेण भावेन, पूर्वपूर्वमभिव्यक्तस्य भावस्य, उपमर्दाऽन्तिमव शबलत्वम्' इति यदुक्तम्,
तदसङ्गतम्, यतस्तन्मते वाध्यवाचकभावापन्नानामेव भावानामुपमर्दस्य सम्भवे शबलताया
स्वीकारे, 'परयेत् कश्चिदित्यादाउदासीनानामेव शब्दादिभाषाना व्याभिध्रणाच्छबलताया
वर्णनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कारोदाहरणत्वेन काव्यप्रकाशपद्यमोक्षासे गुणीभूत-
व्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्गे नैतत्पर्यं यदुल्लिखितं, तद्विरुद्धं स्यात्, शब्दादिभाषाना मिथो वाध्यवाच-
कत्वाभावात् । तदस्यानामपि भावाना व्याभिध्रणं शबलत्वमिति मन्मते तु न कोऽपि तद्विरोध
इति मूलऽतिकूला टीकाऽदुक्तिर्ह्यैवेत्याकृतम् ।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'अभिध्र-अग्रिम भाव से पूर्व पूर्व
भाव के उपमर्द (दबा दिये जाने) का नाम 'शबलता' है', वह ठीक नहीं, क्योंकि 'परये-
त्कश्चित् ..' इत्यादि पद्य में यद्यपि 'परयेत् कश्चित्', 'चल चपलरे', 'का स्वरा', 'अह
कुमारी', 'हस्तालम्बं वितर', 'हहहा', 'व्युत्क्रम', और 'क्वसि यासि', इन वाक्यांशोंसे
क्रमशः अभिव्यक्त होने वाले शब्दा, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य,
इन भावों के मिश्रणरूप शबलता है, तथापि वह राजविषयक स्तुति-अर्थात् कविनिष्ठ
राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है, प्रधान नहीं, अतः भावशबलता ध्वनि यहा नहीं कहला
सकती-अर्थात् ध्वनि यहा कविनिष्ठ भाव की ही है भावशबलता तो अलङ्कार है, यह
कथा मूलकार-मम्मट ने ही पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपण के प्रसङ्ग पर कही
है । तत्पर्यं यह कि यदि टीकाकारों के अनुसार उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द
को शबलता मानी जाय, तब पूर्वांक रीति से 'भावशबलता यहा राजस्तुति का अङ्ग है'
यह मूलकार का कथन असंगत हो जाय, क्योंकि उक्त भाव एक दूसरे का लेश मात्र भी
उपमर्द नहीं करते, अत उनके हिसाब से यहा शबलता हुई ही नहीं, फिर उपका अङ्ग
होना कैसे संभव हो सकता ? फलत मूलकार के कथन से ही विरुद्ध होने के कारण टीका-
कार का उक्त कथन सर्वथा अमान्य है ।

' नन्दार्तमविशेषगुणाना स्वोत्तरविशेषगुणनश्यत्वस्य तार्किकैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्तिविरो-
पाणा भावानामिच्छादिवदात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वभावाभिमानस्येन 'परये'
दित्यादावपि शब्दादीना मिथस्ताऽऽस्वस्याभावादेककालिकाभिव्यक्त्यसम्भवाच्च कथं शबलत्वं
स्यादिति मूलविरोधस्तुत्य एनेति शब्दा निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्य', नवोपमर्दपदवाच्य.,
नापि चमत्कारी ।

न तुस्य, शब्दादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यञ्जनादुक्त्य-

बोधयत्वाद् विलक्षणसंयोगार्थोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च भावशबलत्वरूपताऽऽसम्भवात्, तथा च त्वन्मत एव मूलविरोध इत्याशयः ।

यदि आप कहें कि चित्त-वृत्ति रूप भावों का नैदायिकों के सिद्धान्तके अनुसार इच्छा आदि विशेष गुणों में समावेश होता है और 'आत्मवृत्ती विशेष गुणों का श्वोत्तरभाव विशेष गुणों से नाश हो जाया करता है' यह नियम है, अतः पूर्व भाव का नाश हुये बिना उत्तर भाव की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि उक्त सिद्धान्त अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु यहाँ उससे काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुणसे होनेवाला पूर्व गुण का नाश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता अर्थात् व्यङ्गनावृत्ति से उसका बोध होना सम्भव नहीं, यदि उस नाश को व्यङ्ग्य मान भी लिया जाय, तो टीकाकार के 'उपमर्द' पद का वह वाच्य नहीं होता, क्योंकि उपमर्द पद का वाच्य विलक्षण संयोग है, यदि कथंचित् उक्त नाश को उपमर्द पद का वाच्य भी मान लें, तो उस नाश में कोई चमत्कार नहीं है, अतः वह भावशबलता रूप नहीं हो सकता ।

निर्गलितमाह—

सप्तात्—

'नारिकेलजल-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे ।

विलक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां संहतौ तथा ॥'

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सिताया श्वेतशर्कराया, कदलस्य रम्भाफलस्य च मिश्रणे मिय संयोजने, यथैकेन वस्तुना वस्त्वन्तरास्वादस्योपमर्दो न क्रियते, किन्त्वास्वादवैलक्षण्यमेव विधीयते, तथैव भावानां शबलत्वरूपसंहतावपि नोपमर्दः किन्त्वास्वादवैलक्षण्यमेवेत्यर्थः ।

अतः यह मानना चाहिये कि जैसे नारियल के जल, दूध, चीनी और केहों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है । सारांश यह कि—पूर्वोक्त नारियल के जल, दूध आदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता, किन्तु सब मिलकर, अपना अपना स्वाद रखते हुये, एक नया स्वाद भी उत्पन्न कर देते हैं, उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुये एक नया आस्वादन भी उत्पन्न कर देते हैं ।

भावशान्त्यादिष्वनित्यवृत्तयस्य भावध्वनिता व्यवस्थापयति—

अत्रेदं बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युद्देशसन्धिशबलताघनय उदाहृता, तेऽपि भावध्वनय एव, विद्यमानतया चर्च्यमाणेष्विव, उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यद्व्यस्यत्व-सन्धीयमानत्वपरस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्च्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विभ्रान्तेः ।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावरान्धि-भावशबलताघनयो येऽत्रोदाहृता, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बोद्धव्याः, यतो विद्यमानावस्थापक्षत्वेनास्वाद्यमानेषु भावेषु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्यं न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापक्षत्वस्य, तथैव भावोदयध्वनावुत्पत्त्यवस्थापक्षत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यद्व्यवस्थापक्षत्वेन, भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापक्षत्वत्वेन, भावशबलताघनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापक्षत्वेन च विशेषणीभूतधर्मैः प्रकारैरास्वाद्यमानेषु भावेषु, धर्मिणां भावानामेव प्राधान्यं, नतुपत्त्यावस्थापक्षत्वादिधर्माणाम् प्राधान्यमुचितम्, यतश्चमत्कारमूलकमेव प्राधान्यं निर्णीतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः ।

अथ भाव-शान्ति आदि ध्वनियों भी भाव-ध्वनियों ही हैं, अतिरिक्त नहीं, इस स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं—'अत्रेद बोध्यम्' इत्यादि । ये जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों उदाहरणों के द्वारा दिखलाई गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियां ही हैं । कारण यह—कि जहां आय, हम-सभी भावध्वनियों मानते हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करते हैं, वहां भी तो भावों की एक अवस्था-विद्यमानता रहती है, फिर भी जिस तरह वहां भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उस विद्यमानता अवस्था का नहीं, उसी तरह जहां आय भावशान्ति आदि की ध्वनियां मानते हैं, वहां भी यही मानना चाहिये कि विनष्ट होते हुये, उत्पन्न होते हुये, एक दूसरे से सटते हुये और एक साथ रहते हुये भावों का ही आस्वादन होता है, अतः वहां भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शबलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव की चर्वणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य को चमत्कार-मूलक माना गया है ।

धर्मधर्मिप्राधान्ये विनिगमनाविरहमाशङ्क्य समादधाति—

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलतानां तत्सम्बन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणाविषयतायां, न प्राधान्यं विनिगन्तु शक्यते, तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायाः कल्पत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभिर्-व्यज्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात् ।

विनिगन्तु निर्धारयितुम् । इह भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्यासमूल चिन्त्यम् । स्थितौ विद्यमानावस्थापक्षत्वविशिष्टभावध्वनौ । तेषु भावेषु शान्ते प्रतियोगिता सम्बन्धिता वैशिष्ट्यमिति यावत् । उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टानां भावानामेकास्वादे भावानामेव प्राधान्यं, नतदुपपत्त्याद्यवस्थानामिति निर्धारणं यद्यपि दुष्करम्, तथापि 'एकत्र निर्णीत शास्त्रार्थोऽपरत्रापि सञ्चरति' इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थायां भावस्य चकारवादिषयत्वेऽपि चमत्कारानुभवाद्भावस्यैव प्राधान्यं यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रशाम्यदवस्था-सन्धीय-मानावस्था-समानाधिकरणावस्थाभिः सहाप्येकास्वादविषयत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचित-त्वादवधारणीयमिरयमिप्रायः ।

यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और इनकी ये अवस्थाएँ समान रूप से आस्वाद (चर्वणा) के विषय होते हैं, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान-अर्थात् भावप्रधान है या उनकी उक्त अवस्थाएँ यह निर्णय होना असम्भव है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की अवस्था में भावों की ही-न कि अवस्था की-प्रधानता स्वीकृत हो चुकी है, तब भाव-शान्ति आदि में भी शान्तिप्रति योगित्व आदि रूप से अर्थात् शान्तिविशिष्टत्वेन, उत्पत्तिविशिष्टत्वेन, सन्धिविशिष्टत्वेन, और शबलताविशिष्टत्वेन रूपेण अभिन्वक्त होने वाले सप्तधावों की ही प्रधानता मानना उचित है, क्योंकि 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो वाचकामावैऽपरत्रापि सञ्चरति' अर्थात् 'एक जगह निर्णय किया गया विषय, किसी खास वाचक के न रहने पर, दूसरी जगह भी माना जाता है' यह सिद्धान्त है ।

अन्यथाऽनुपपत्त्यापि तत्र भावप्राधान्यं निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्त्यादौ भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्या-दिरेवेत्यभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेष्वभिहिततत्प्रशामादिषु काव्येषु भावप्रश-मादिध्यनित्वं न स्यात् ।

स भाव उपसर्जनमप्रधानं यत्र, स तदुपसर्जनकः । यदिति भावशान्त्यादिष्वनौ शान्त्यादेरेव, ननु भावस्य प्राधान्यं स्वीक्रियते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता, शान्त्यादेस्तु वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिष्वनित्वव्यवहारो भवति भावप्राधान्यात्, सम्प्रति शान्त्यादेरेव प्राधान्याभ्युपगमे स नैव स्यात्, शान्त्यादेर्वाच्यत्वान्, तस्माद्भावप्राधान्य-मेवाभ्युपेयमित्याशयः ।

यदि आप यह मानें कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु शीघ्र है— अर्थात् वे शान्ति आदि अवस्थाएँ ही प्रधान हैं, जिनके विशेषण रूप से वहाँ भाव रहते हैं, तत्र वहाँ भावव्यङ्ग्य रहते हैं और उनकी शान्ति आदि अवस्थाएँ वाच्य रहती हैं, वहाँ आप के हिसाब से भावशान्ति आदि की ध्वनियाँ नहीं हो सकतीं ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृशं भावध्वनिमुदाहरति—

तथा हि—

खण्डितावृत्तं वर्णयति—

‘उपसि प्रतिपत्तनायिका-सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये ।

सुदृशो नयनाब्जकोणयो-रुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥’

उपसि प्रभाते, प्रिये वक्ष्ये, प्रतिपत्तनायिकासदनात् सपत्नीशृङ्गात्, अन्तिकं समीपम्, अन्तर्गतमच्छति सति, सुदृशो नायिकाया, नयनाब्जकोणयोर्नेत्रकमलप्रान्तभागयो, अरुणद्यु-तिरुत्सर्जन्त्या रक्तकान्तिः, त्वरया क्वटिति, उदियायोत्पेद इत्यर्थः ।

देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जब प्रियतम प्रातः काल में विरो-धिनी नायिका (सपत्नी) के घर से अपने घर आये, तब सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्रकमल के कोने में छट लहंगकान्ति उदित हो गई ।

अत्र काव्येऽमर्षभावस्योदयो यद्यत्पूर्वकेषु घातुनाऽभिहित, किन्त्वमर्षभावो व्यङ्ग्य-एवेति भवत्येवामर्षभावोदयध्वनिव्यपदेशः, भवन्मते तूदयस्यैव प्रधानस्य वाच्यत्वान् स न स्वादित्याह—

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात् ।

यहाँ ‘उदियाय’ इस क्रियापदकक उत्पूर्वक इण् धातु से उदय की प्रतीति वाच्य रूप से ही कराई जा रही है, अतः आपके हिसाब से यहाँ भावोदय की ध्वनि नहीं हो सकती ।

अप्रधानप्रयुक्तमेव व्यवहारोपपत्तिनाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद्द्वध्वनित्वं सुखमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानोपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तेः ।

‘औपयिकत्वं प्रयोजकत्वम् ।

ननुदयोऽत्र यद्यपि वाच्यः, किन्त्वमर्षो भवस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति समादायैव भावध्वनि-व्यवहार उपपद्येतेति शङ्काम्, ‘प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति सिद्धान्तेन प्रधानस्यो-दयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्राधान्याभा-वाद्द्वध्वनित्वप्रयोजकत्वासम्भवादिति समाधानम् ।

यदि आप कहें कि उदय के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव तो वाच्य नहीं होता, अतः यहाँ अमर्षभावोदय की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी सगत नहीं, क्योंकि आपके हिसाब से तो भावोदय आदि ध्वनिस्थल में उदय आदि ही प्रधान होते हैं, अतः जब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, तब अप्रधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावं दर्शयति—

अस्मन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमभ्युपगच्छतामस्माकं मते त्ववच्छेदकतयाऽप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य भावस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपन्नमेवेत्याकूतम् ।

हाँ! हमारे मत के अनुसार यहाँ अमर्ष-भाव-ध्वनि का व्यवहार अवश्य हो सकता है, क्योंकि हम भावोदय आदि में भी भाव को ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अप्रधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (अमर्ष) के वाच्य नहीं—व्यङ्ग्य होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है ।

भावप्राधान्यात् अभ्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिमपि दर्शयति—

एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रशमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

एव भावोदयवत् व्यज्यमानो भाव प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रशमस्य भावशान्तेः ।

यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यस्तच्छान्तिस्तु वाच्याऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, त्वन्मते प्रधानीभूताया शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

इसी तरह आपके मत में जहाँ शान्ति (शांति) का प्रतियोगी—अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय हो, वह भावव्यङ्ग्य है और शान्ति वाच्य है, वहाँ भावशान्ति की ध्वनि नहीं होगी ।

तदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

‘क्षमापणैकपदयोः, पदयोः पतति प्रिये ।

शेमुः सरोजनयना-नयनारुणकान्तयः ॥’

प्रिये दधिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्षणस्य, एकपदयोरसाधारणस्थानयोः, पद-शोभरणयोः, पतति सति, सरोजनयनाया पश्चाद्या, नयनयोरमर्षजनिता, अरुणकान्तयो रक्तशुभ्रतय, शेमुर्विनेशुरित्यर्थः । अत्र नेत्रारुणकान्तिशान्त्याऽमर्षभावो व्यङ्ग्य, तच्छान्तिरनुवाच्येति भावशान्तिध्वनित्वं सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यात् अभ्युपगमे शान्तेर्वाच्यत्वात् तत्र सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यमभ्युपेयमित्याशयः । इह क्षमतेरादन्तताभावात् पूर्वं शौर्लभ्येन क्षमापणपदसाधनं नामधातुप्रक्रियया कथञ्चन विधेयम् ।

जैसे—एक सखी दूसरी सखी से पहती है कि—क्षमा करने के एक (सर्व प्रधान) रथान चरणों पर पति के गिरते ही सरसिज के समान नयनवाही नायिका के नयनों की अरुण कान्तिर्था शान्त हो गई। यहाँ शान्ति के वाच्य होने पर भी उस शान्ति का प्रतियोगी अमर्षभाव नेत्रगत अरुणकान्ति के कारण रूप में व्यङ्ग्य है, अतः यहाँ भावशान्ति ध्वनि होती है, आप के हिसाब से वह नहीं होगी ।

शान्त्यादिप्राधान्यवादी पुनश्चाहुते—

अनु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैरान्वयादरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य शोभप्रशमादेः, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभेदस्थावरयकत्वात् ।

अन्वय 'शेमु'-रिति पदेन वाच्याऽपि शान्तिर्यतोऽरुणकान्त्यैवान्वेति, तस्मादारुणकान्तिरान्तिरेवात्र वाच्या, नत्वरुणकान्तिशान्तिव्यङ्ग्या शोभरूपामर्षशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य

व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पुरयकाया शान्तरयकत्वाद्भावशान्तिष्वनित्वेऽथ किमपि न वाचक-
मिति पूर्वपक्षाराधः ।

यदि आप कहें कि भावशान्त्वादि स्थल में शान्ति भादि की ही प्रधानता मानने पर भी 'उपलि प्रतिपद्य'..... इत्यादि तथा 'इमापगैक'..... इत्यादि पदों में भावोदयादि-
पत्ति मानी जा सकती है, क्योंकि—उक्त दोनों पदों में जो उदय और शान्ति वाच्य हैं, उभटा, अन्वय अहण्यति और अहणकान्ति के साथ है, अतः अहण्यति का उदय तथा अहणकान्ति की शान्ति भले ही वाच्य हो जाय, परन्तु प्रथम पद्य में अहण्यति के उदय से व्यक्त होने वाला अमर्षभाव का उदय तथा द्वितीय में अहणकान्ति की शान्ति से अभिव्यक्त होने वाली अमर्षभाव की शान्ति वाच्य नहीं होते। कारण, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक (वाच्य) पृथक्-पृथक् होते हैं—यह मानना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि अहण्यति के उदय और अहण कान्ति की शान्ति के वाच्य होने पर भी अमर्ष का उदय और शान्ति (अमर्ष) की शान्ति व्यङ्ग्य ही रहे, क्योंकि अहण्यति का उदय और अहण-
कान्ति की शान्ति व्यञ्जक हैं और अमर्षोदय तथा अमर्षशान्ति हैं व्यङ्ग्य ।

स्वपूर्वपक्षदार्ढ्यार्थमन्तरशङ्का विधाय गिरत्यति—

न चारुण्यव्यङ्ग्यरोपस्थैव वाच्यीभूतप्रशामादन्वय इति वाच्यम्, वाच्य-
व्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया, वाच्यान्वयबोधवेत्तायां वाच्यै सह व्यङ्ग्या-
न्वयानुपपत्तेः ।

अनुपूर्व्यं नमः ।

ननु 'रोमु' रित्येतत्पदाभिहितानां शान्तेः, वाच्यया नयनाहणकान्त्वा, व्यङ्ग्यमानेन
रोपेण (अमर्षेण) सदैवान्वय इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटनेवेत्या-
चोपस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो कार्यकारणभावात् नमिक्तवत्स्यावस्यतया यौगपद्यासम्भवाद्
व्यङ्ग्यस्य रोपस्यात्र वाच्यया शान्त्या तद् वाच्यार्थबोधवसरे व्यङ्ग्यार्थानुपस्थितेरन्वया-
सम्भवाद् व्यङ्ग्यरोपस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयाभावाद् भावशान्तिष्वनित्वं स्यादेवेति समाधानम् ।

यदि हम कहें कि—वाच्य नयनाहणकान्ति से व्यङ्ग्य होने वाले अमर्ष का ही वाच्य
उदय तथा शान्ति के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय
मान लेते हैं, तात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में
वाच्यता हो जायगी, तो आप कहेंगे, यह अयुक्त है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि
पहले वाच्य की रीति (जो कारण है) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो कार्य है), अतः
यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होता है, उस समय व्यङ्ग्य
उपस्थित ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यों के साथ व्यङ्ग्यों का अन्वय कैसा ?

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनाञ्जकोणयोः' इत्यस्यान्यथो न स्यात् ।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि मियोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृश' इत्यादौ वाच्यस्य नाधिकार्या
सुदृशत्वस्य नयनाहणकान्त्युदयव्यङ्ग्येण रोपोदयेन सहाङ्गव्यो वाचितत्वात् स्यात्, तस्मान्ननु-
शब्दात्त्वाभावप्राधान्यनिरसनशङ्का मुस्पैवेत्याशयः ।

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्वय मान लिया जाय, तब 'उपपि' इत्यादि
प्रथम पद्य में 'सुन्दर भयनवाली नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकरण
का एक है, उसका अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकरण कारक का कर्ता अथवा कर्म
के द्वारा ही क्रिया में अन्वय होता है और यहाँ उक्त रीति से 'उदियाय' इस क्रिया का
कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अहण्यति नहीं, फिर कहिये, कैसे उस अमर्ष
रूप कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में उक्त अधिकरण का अन्वय होगा—अर्थात्

अमर्य-चित्त की वृत्ति है, नयन में वह भावेगा कहाँ से ? फलतः उक्त पद्य में अनन्विता-
र्थक-असंगत-हो जायगा, अतः वाच्यशान्ति आदि का अरुणकान्ति आदि के साथ ही
अन्वय मानना ठीक है, सारंश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो
सकती। और जब यह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि की ध्वनियों में
भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष
नहीं होगा।

उत्तरयति—

मैवम् ।

एवं 'क्षमे'—त्याद्युदाहरणे वाच्यव्यङ्गयोरन्वयाभावादनुपपत्तिविरहाद् भावस्य भाव-
शान्त्यादावप्राधान्यं, मा नैवेत्यर्थः ।

पर ऐसा नहीं कह सकते—अर्थात् भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की
अप्रधानता और शान्ति आदि की प्रधानता नहीं मान सकते।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रकाशकं स्थलान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यभावेऽपि ।

क्योंकि उक्त दोनों श्लोकों में उक्त रीति से किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होने
पर भी—

अननुनयेऽपि मानापगमं वर्णयति—

'निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां, शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः ।

चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि, रोपः क्षणप्राद्युगिको बभूव ॥'

अङ्गना गोपनितम्बनीना, धृति धैर्यं, निर्वासयन्तीं दूरे गमयन्तीं, हरेर्गोविन्दस्य,
शोभा ध्रिय, धयन्त्या नयनाभ्यां पिवन्त्या, एणदृशो मृगादया मानिन्या, चिरापराधस्मृत्या
दीर्घकालकृतापरास्मरणेन, मांसलः पुष्टोऽपि रोपोऽमर्ष क्षणप्राद्युगिकोऽविरस्यत्यतिवि-
वर्भवेत्यर्थः ।

अनुनयाभावेऽपि हरिशोभेक्षणाक्षिप्तचित्ता सा सद्यः प्रससादेति सारम् ।

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—ध्रियों के धैर्य को निर्वासित करती हुई
अर्थात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचन्द्र की शोभा को जभी मानिनी मृगाक्षी ने
पिया—सादर देखा, तभी बहुत दिनों तक लगातार किये गये अपराधों के स्मरण से
परिपुष्ट बना हुआ भी रोप (अमर्ष) एक क्षण भर का मेहमान हो गया—नहीं ठहर सका ।

आपत्ति प्रतिपादयति—

इत्यादानपि भावप्रशमभ्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रश-
मस्य व्यङ्ग्यत्वात् ।

'निर्वासयन्ती'मित्यादिपद्येऽपि भावप्राधान्यवादिते भावशान्तिध्वनित्वमापद्येत,
रोपभावस्याप्रधानस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानीभूतायास्तच्छङ्गान्ते क्षणप्राद्युगिकीभवनव्यङ्ग्यतायाः
सद्भावात् । भावप्राधान्यवादिते तु रोपस्य वाच्यत्वान्न तत्त्वापत्तिरिति भावः ।

उक्त श्लोक में आप के मत से भावशान्ति की ध्वनि हो जायगी, कारण यह कि आप
के हिसाब से अप्रधानभाव (रोप-अमर्ष) के वाच्य होने पर भी प्रधान शान्ति वाच्य
नहीं, अपितु 'क्षणप्राद्युगिक'-अर्थात् 'क्षणभर के मेहमान' पद से व्यङ्ग्य ही है।

तत्रैव पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वये शमत्योदयत्वाभ्यां
शमोदययोर्वाच्यत्वादानुदाहरणत्वापत्तेः ।

भावस्य तच्छान्त्यादेयं वाच्यत्वाभाव एव भावशान्त्यादिष्वनित्वमिति स्वीकारे तु 'निर्वास-
यन्ती'मित्यादौ भावरूप वाच्यत्वादापत्तिवारणं स्यादिति न वाच्यम्, यतस्तथा स्वीकारे
'तपसी'त्यादौ 'सने'त्यादौ च क्रमेणोदयस्य शान्तेश्च वाच्यत्वाद् ध्वनित्वमिष्टमपि नोपपद्यत
इति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि प्रधान और अप्रधान दोनों की अवाच्यता-अर्थात् व्यङ्ग्यता
अपेक्षित है, तात्पर्य यह कि जहाँ भाव और उसके शान्ति आदि दोनों ही व्यङ्ग्य रहे, वहीं
भावशान्ति आदि की ध्वनि मानेंगे, अतः उक्त पद्य में शान्ति के व्यङ्ग्य रहने पर भी भाव
(रोप) के वाच्य हो जाने से भावशान्ति-ध्वनि की आपत्ति नहीं हो सकती, तब मैं
कहता हूँ कि इस तरह मानने पर यहाँ तो आपत्ति का वारण हो जायगा, परन्तु पूर्वोक्त
दोनों पद्यों (तपसि... इत्यादि और अमार्गैक... इत्यादि) में उदयरूप से उदय
(फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुणधृति का) और इसी तरह शान्तिरूप से शान्ति
(फिर वह रोप की हो चाहे अरुणकान्ति की) वाच्य हो गये हैं, अतः वे पद्य उन दोनों
ध्वनियों के उदाहरण नहीं हो सकेंगे ।

ननु मा भूत् सदुदाहरणद्वये ध्वनित्वमित्यत आह—

इष्टापत्तिस्तु सहृदयानामनुचितैव ।

साहित्ये सहृदयानुभवस्यैव प्रचानप्रामाण्याङ्गीकारात् सहृदयै स दोषोऽनुभवविरोधात्
सौर्द्धं न शक्यत इत्यभिसन्धिः ।

उक्त आपत्ति को स्वीकार कर लेना—कह देना—कि हम तो इन्हें भावोदय और
भावशान्ति की ध्वनियाँ मानते ही नहीं, सहृदयों के लिये अनुचित है—अर्थात् साहित्य
जगत् में अनुभवसिद्ध वस्तु का अपलाप कम से कम सहृदयों को नहीं करना चाहिये ।

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशामादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशामादे-
स्तूपसर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः ।

अपिशान्तेः भावस्तिपत्तिसमुच्चारकः ।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादि-
ष्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम् । तथाचाप्रधानानां शान्त्या-
दीनां वाच्यत्वं न ध्वनित्वस्य विपटकमिति सारम् ।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेश्चैकरूपतया पृथगुपादानस्याभावो दोष्यः ।

अतः यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भी भाव ही प्रधान
रहते हैं और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपसर्जन अर्थात् गौण ही रहते हैं, अत एव
शान्ति आदि का वाच्य हो जाना भी कोई दोष नहीं, सारांश यह कि शान्ति आदि के
वाच्य हो जाने पर भी यदि भाववाच्य नहीं होंगे—व्यङ्ग्य होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि
की ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं ।

नन्वेवं वैतप्रशामाभावाख्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजन-
कत्वापत्तिरतो वैतप्रशाम्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिष्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—
यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नज्ञामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा
प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशामावस्थात्वादिरेपीति ।

निदानं मूलम् । एकत्र शुद्धभावध्वनिषु । स्थित्यवच्छिन्नत्वं रिर्यतिविशिष्टत्वम् ।
अमर्षस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः । विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद्

‘अमर्पादित्वमेव वा’ इति द्वितीयकल्पोपादानम् । अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु । इतिर्निदान-
समाप्तिरुचक ।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापन्नत्वविशिष्टस्यामर्पादित्वस्य, वस्तुतः केवलमर्पादित्वस्य
प्रकारतयाऽमर्पादित्वप्रकारकचर्चणैव चमत्कारिणी, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्था-
पन्नत्वादिविशिष्टमर्पादित्वस्य प्रसरतया प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टमर्पादित्वप्रकारक-
चर्चणायाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्चणायां भावध्वनिध्वन्यर्थादिनाऽमर्पादीनामेव
भानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टमर्पादिनाऽमर्पादीनां
भानमित्येव विशेष इत्यभिप्रायः ।

अब यहाँ यह शब्दा उपस्थित होती है कि यदि उच्छ्रित से भावध्वनि और भावशा-
न्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देते हैं—अर्थात् उन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं
मानते, तब भावध्वनि से पृथक् भावशान्त्यादि ध्वनि का उल्लेख व्यर्थ है, इस शब्दा
के उत्तर में ग्रन्थकार उक्त समानता के रहने पर भी उन दोनों में भिन्न तरह के वैलक्षण्य
का प्रतिपादन करते हैं—‘इदं पुनः’ इत्यादि । भावध्वनियों की अपेक्षा भावशान्त्यादिध्वनियों
के चमत्कार (आह्लाद) में विलक्षणता है और उस विलक्षणता का कारण यह है कि
भावध्वनियों में भावों की चर्चणा (आस्वादन) स्थितिरूप एक अवस्थाविशिष्ट अमर्-
पादि के रूप में होती है और भावशान्त्यादि ध्वनियों में स्वल्पभेद से शान्ति, उदय
आदि अनेक अवस्थाविशिष्ट अमर्पादि भावों की चर्चणा होती है, वस्तुतः तो
भावध्वनियों में केवल अमर्पादि के रूप में ही भावों की चर्चणा होती है यही कहना
चाहिये, क्योंकि वहाँ स्थितिरूप अवस्था को जोड़ना व्यर्थ है, कारण यह कि विशेषण
किसी सजातीय के वारणके लिये लगाया जाता है—जैसे ‘श्वेत अश्व’ यहाँ श्वेत-विशेषण
श्याम अश्व के वारण के लिये आता है—यहाँ तो ‘स्थित्यवस्थापन्न’ इस विशेषण से किसी
का वारण नहीं होता, क्योंकि भावध्वनियों में सभी भाव स्थित्यवस्थापन्न रहते हैं ।
अभिप्राय यह हुआ कि भावध्वनियों में होने वाली चर्चणा में केवल भावों (अमर्पादिकों)
का ही भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शुद्ध भावास्वादात्म्य आह्लादरूप पर्ववसित
हुआ, और भावशान्त्यादिध्वनियों में होनेवाली चर्चणा में शान्ति-उदय आदि अवस्था
सहित अमर्पादि भावों का भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शान्ति-उदय आदि
सहित भावास्वादात्म्य आह्लाद रूप फलित होता है । स्पष्ट शब्द में यों कह सकते हैं कि
कच्चे आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले और पके आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले
आनन्दों में वस्तु के एक होने पर भी जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही अन्तर शुद्ध
भावास्वादात्म्य और शान्त्याद्यवस्था सहित भावास्वादात्म्य चमत्कार में है ।

ननु भावशान्त्यादिवद् रसशान्त्यादीनां निरूपणं कुतो न कृतमित्यत आह—

रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे धा न चमत्कार
इति स न विचार्यते ।

रसानां सत्वसूत्रन्यायेनाधारतया मूलभूतेषु रथायिभावेषु प्रशाम्यदवस्थादिसम्बन्धसत्त्वे
तेषां स्थायित्वमन्यैव विलोपप्रसङ्गात् तदवस्थासम्बन्ध सम्भवति, यदित्वभिव्यक्तेरद्विधत्वात्-
भिष्टप्रशाम्यदाद्यवस्थानेव रतेष्वारोप्य गौणो रसशान्त्यादिव्यवहार सम्भवतीत्युच्यते,
तदा तत्रश्चमत्कारो न स्याद्, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्, तस्माद्रसशान्त्यादयो न
निरूप्यन्त इत्यर्थः ।

अब भाव के जैसे रसों के भी उदय शान्ति आदि की ध्वनियां क्यों नहीं होती इसका
विचार करते हैं—‘रसस्य तु’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रसों की उदय-शान्ति आदि
अवस्थायें नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मूल है स्थायीभाव, और यदि उसकी भी
उत्पत्ति तथा-शान्ति आदि अवस्थायें होने लगीं, तब तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो

जाय, आदि से अन्ततः 'अकसूत्र' न्याय से उसका बना रहना ही तो उसमें स्थायित्व है, यदि वही न रहे, तब उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहेगा ? यदि कहें कि स्थायीभाव के स्थिर रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति तो स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है, अतः उसके उरपत्ति-विनाश तो हो सकते हैं, फिर उन्हीं उरपत्ति-विनाशों को इसमें आरोप करके गौण रस शान्त्यादि का व्यवहार हो सकता है, तब उसका उत्तर यह है कि आरोप चमत्कारजनक नहीं होता, अचमत्कारी होने के कारण ही रसशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं मानी जाती हैं ।

अथ 'उपपादयिष्यते च स्यात्पादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राक् प्रतिज्ञाता रसादीनां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतामपि व्यवस्थापयति—

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुट्टे प्रकरणे, ऋणिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते । यत्र तु विचारबेद्यं प्रकरणम्, उच्चेया वा विभावादयस्तत्र सामग्री-विलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्यर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येव भवति ।

हेतुहेतुमतो- कारणकार्ययोर्बोध्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसादिप्रतीत्योः । पौर्वापर्यं पूर्वापरी-भावः । अलक्षणमज्ञानम् । मान्यर्यं विलम्बः । निगदितो रसनिरूपणादेतत्पर्यन्तं निरूपितः सर्वोऽप्ययं रसादिलक्षणो रसादिस्वरूपो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदायः, प्रकरणे प्रसङ्गे, स्फुट्टे स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभावानुभावव्यभिचारिभावेषु ऋणित्वविलम्बेन प्रतीतेषु ज्ञातेषु सत्सु, सहृदयतमेनातिभावकेन, प्रमात्राऽऽस्वादकपुरुषेण, सूक्ष्मेणात्पिष्टेनैव समयेन, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य शौच्येण सम्यगलक्षणादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति व्यवहारः । यत्र पुनः प्रकरणस्फुट्टतया विचारेण वेद्यम्, क्वचिन् प्रकरणस्य स्फुट्टत्वेऽपि विभावादय उच्चेया अनुकत्वाद्दूहनीया एव सन्ति, तत्र कारणस्य प्रकरणविभावादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रसादिप्रत्ययस्य विलम्ब्य औपपत्तिक एवेति क्वचित्तरसस्यले रसादि-प्रतीतेः संलक्ष्यक्रमत्वस्यापि व्यवहारः शयाशयः ।

'उपपादयिष्यते च स्यात्पादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' अर्थात् 'स्थायीभाव आदि-रस भाव आदि-भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते हैं, इस बात का उपपादन आगे करूंगा' इस तरह की प्रतिज्ञा प्रत्यकार से पहले की जा चुकी है, तदनुसार रसादिकों की संलक्ष्य क्रमता की व्यवस्था करते हैं—'सौच्यम्' इत्यादि, यह जो पूर्वोक्त रस-भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, वह जहाँ प्रकरणस्पष्ट हो, वहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव की प्रतीति शीघ्र हो जाने से अतिसहृदय पुरुषों को बहुत ही घबरे समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्ता सहृदय को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम लक्षित नहीं होता, इसलिये यह (रसभावादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है । परन्तु जहाँ प्रकरण विचार करने के धाद समझने योग्य हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि का वर्णित न होने के कारण उह करना पड़े, वहाँ सामग्रीसमवधान के विलम्ब मनुक चमत्कार में भी कुछ मन्थरता आ जाती है—अतः वैसी जगह में रसभाव आदि उक्त व्यङ्ग्यों का समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है ।

तदेव स्थलं दर्शयति—

यथा—

'उत्पगताऽपि च सुतनुः' इति प्रागुदाहृते (४१ पृष्ठे) पद्ये 'सम्प्रति' इत्येत-
दर्थान्तरविंलम्बेन ।

एतत्पद्यपटकस्य सम्प्रतीति पदस्य 'ग्राह्णबोधात्वेन तस्याः सङ्कोचोऽन्यविध आसीत्, अथुना प्रियप्रवासपूर्वरज्ज्या तु सङ्कोचोऽपि सङ्कुचित इवाभू'-दित्यादेरर्थस्यावगमः पूर्वा-परसन्दर्भार्थानुसन्धानादेव लभ्य इति व्यङ्ग्यस्य रतिभाषस्य संलक्ष्यक्रमतैवेति भावः ।

जैसे—'तल्पगतापि च मृगनुः' इत्यादि पूर्वोदाहृतपद्यमें 'सम्प्रति' पद का अर्थ विलम्ब से ज्ञात होता है—अर्थात् 'पहले नवोदा होने के नाते नायिका में संकोच की मात्रा अधिक थी, परन्तु अब प्रियगमन की पूर्वरात्रि में भावी विरह के ज्ञान के कारण वह संकोच कुछ शिथिल पड़ गया, इत्यादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद ही होती है, अतः यहाँ शृङ्गार रस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

ननु रसादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायाः सार्वत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विरुध्यतीत्यत आह—

न खलु धर्मिग्राहकमानसिद्धं रत्यादिष्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

येन प्रमाणेन धर्मिणः सिद्धिर्भवति, तद्धर्मिग्राहकं मानमुच्यते, तथात्र रसादौ सहृदय-हृदयानुभव एव ।

रसादिष्वनेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमात्रत्वस्य ह्यपकं धर्मिग्राहकं यदि किमपि मानमुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमनिच्छताऽन्यभ्युपेयं स्यात्, तस्यानुपलम्भे तु संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधकमित्याशयः ।

रति आदि की ध्वनि की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता धर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतारूप धर्म का धर्मो (आश्रय) जो रस आदि है, उसका ग्राहक (उसको सिद्ध करनेवाला) मान (प्रमाण) सहृदयों का अनुभव है, उससे उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, तात्पर्य-यह है, कि सहृदयों का अनुभव यह नहीं कहता कि रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हों, कहीं कहीं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में भी रसादिकों का अनुभव सहृदयजन करते हैं ।

उत्तं समर्थयति—

अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

अत एव रसादिष्वनेरलक्ष्यक्रममात्रत्वाभावादेव ।

विवाहवार्ताश्रवणसलक्ष्यपार्वतीवृत्तं वर्णयति—

'एवंवादिति देवर्षी, पार्श्वे पितुरघोमुखी ।

लीलाक्रमलपत्राणि, गणधामास पार्वती ॥' इति ।

कुमारसम्भवपद्यसर्गषट्कं पद्यमिदम्, पार्वतीविवाहनिर्णयाय हिमवदन्तिकं शिवेन प्रहि-
तोऽङ्गिरा हिमवन्तं यदा तद्भूतमशिश्रवत् तात्कालिकस्थितिवर्णनपरम् ।

देवर्षीवङ्गरसि, एवंवादिनि प्राह्निर्दिष्टशिवसन्देश वदति सति, पितुर्हिमाचलस्य, पार्श्वेपार्श्वमपीपे स्थिता पार्वती, अघोमुखी कुमारीजनसुलभस्वविवाहवृत्ताश्रवणजलमया नता-
नना, लीलाक्रमलस्य स्वहस्तस्थितपत्रस्य, पत्राणि हलानि, गणधामाद्येत्यर्थः ।

जिमलिये रसभाव आदि की ध्वनियाँ भी संलक्ष्यक्रमहोती हैं, अत एव लक्ष्यक्रमों के प्रसङ्ग में 'एवंवादिनि देवर्षी' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है । यह पद्य 'कुमारसम्भव' का है । इसका पूर्व प्रसङ्ग तथा अर्थ यह है—पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वचन दिया । तदन्तर छोटरीति के निर्वाहार्थ शिवजी ने अङ्गिरा ऋषि को पार्वती की भगती के लिये हिमालय के पास भेजा । जब देवर्षि जी हिमालय से पार्वती के विवाह सम्बन्धी बातें कर रहे थे, तब की बात कवि कह रहा है कि—देवर्षि जब इस

नारद वार्ते करने लगे, तब पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके खेळने के लिये रखे हुये कमलों के पत्ते को गिनने लगी ।

उपपादयति—

‘अत्र कुमारीस्याभाष्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योप-
पत्त्या मनाविलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं ब्रीडायाध्वमत्करणा-
ल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः’ इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः । ‘रसभावादिरयो ध्वन्यमान
एव, न वाच्यः, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः ।’ इति चामिनवगुप्तपादाचार्याः ।

देवर्षिरिहाङ्गिरा न तु नारद, ‘अथाङ्गिरसमग्रम्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोदया-
मासु, प्रत्युक्त्वा स भूधरम् ।’ इत्यनेन तत्रत्येन तत् पूर्वेण पद्येन, ‘देवर्षावङ्गिरसि’ इति
महिनायकृततद्विवरणेन च तथैवावधारणम्, विवाहवार्तायै शिवप्रहितेष्वेषुपि नारदस्यानु-
ल्लेखाच्च । अत्र हि पार्वत्या वदतनमनं लीलाकमलगणनं च कुमारीस्वभावादपि सम्भवतीति
न ऋटित्वेव तस्यापारद्वयं लब्धाया भावगोपनरूपादिरियाया वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु ‘इदं
व्यापारद्वयमस्या स्वाभाविकम्, उत भावान्तरप्रयुक्तम्’ इति जिज्ञासाया विवाहवृत्तान्तवर्णना-
त्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेति लज्जाऽवहित्या वा व्यभिचारिभावोऽत्र संलक्ष्यक-
मव्यङ्ग्य एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वादित्यानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीना क्वचित्
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायां प्रमाणम् । तथा ‘रसभावादिरयो रसादिरूप पदार्थं (यद्यपि)
ध्वन्यमानो व्यव्यमान एवास्ति, न तु वाच्यः, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) स सर्वोऽ-
संलक्ष्यक्रमस्यैव न विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादौ) क्वचित् संलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः’
इति लोचनेऽभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम् ।

उक्त पद्य को उद्घृत करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि—यहां जो पार्वती
की अधोमुख होकर लीला-कमल-पत्र-गिनने की बात वर्णित है, वह तो बालिकाजन-
सुलभ-रवभाव के कारण भी हो सकती है, अतः शुरू शुरू में लज्जा की प्रतीति नहीं होती,
किन्तु जब ‘अङ्गिराऋषि की हिमालय से पार्वती के विवाह की बात हो रही थी’ इस प्रसङ्ग
का ज्ञान कुछ विलम्ब से होता है, तब लज्जा झलकती है अतः लज्जारूप सञ्चारीभाव यहाँ
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है । यद्यपि मूल में ‘देवर्षि’ पद का अर्थ नारद मान कर ब्यारया की गई
है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व आये हुये कुमारसम्भव के पद्य और महिनाय की टीका के देखने
से अङ्गिरा ही देवर्षि पद का अर्थ संगत प्रतीत होता है । अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक
की टीका छेचन के निर्माता) का भी यह कथन है कि ‘रसभाव आदि पदार्थ व्यङ्ग्य ही
होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लक्ष्य नहीं होते
अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी होते हैं ।’

रसादीना संलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतन्—

यद्ययं रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे
‘अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः’ इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, ‘तेनाय द्वादशात्मकः’ इति
मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतस्सम्भ-
वित्व कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभि-
स्त्रिविधमापन्नेन पडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनादष्टादशत्व-
प्रसङ्गात् ।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वं यदि स्वीक्रियते, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य वस्तुरूपस्यालङ्कार-
रूपस्य च व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जको यो वाच्यार्थो वस्तुरूपोऽलङ्काररूपश्चेति द्विविधः, तस्य
स्वतस्सम्भवित्वेन कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन च प्रदारेण
प्रत्येकं त्रैविध्यात् षट्प्रकारा वस्तुध्वनयः षट्प्रकाराश्चालङ्कारध्वनय इति मिलिता द्वादश-
प्रकाराः संलक्ष्यक्रमा अर्थशक्त्युद्भवध्वनयो यथा भवन्ति, तथैवेदानीं रसादिव्यनयोऽपि
षड्विधवाच्यव्यङ्ग्यतया षड्विधास्ततोऽधिका स्युः, तथाच सङ्कलनादष्टादशविधत्वे
संलक्ष्यक्रमध्वनेरर्थशक्त्युद्भवस्य, अभिनवगुप्ताचार्यैर्ममटभट्टैश्चोक्तम् द्वादशविधत्व प्रकारा-
धिक्याद् विरुद्धं स्यात्, तस्माद्रसादीनां संलक्ष्यक्रमता नाङ्गीकरणीयेति भावः ।

अथ यहाँ एक बहुत बड़ी शङ्का यह होती है कि यदि रसभाव आदि को भी संलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्य मानते हैं, तो संलक्ष्यक्रमध्वनियों की गणना करते समय जो 'अर्थशक्त्युद्भव-
ध्वनि के चारह भेद हैं' यह अभिनवगुप्त की और 'इस तरह अर्थशक्त्युद्भवध्वनि चारह
प्रकारके हैं' यह ममट की उक्ति कैसे संगत होगी, क्योंकि, व्यञ्जक अर्थ के दो भेद
हैं—एक वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप और उन दोनों भेदों में से प्रत्येक के स्वत-
सम्भवी (अर्थात् संसार में मिल सकने वाला) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित
कथनमात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविके द्वारा वर्णित
वक्ता की प्रौढोक्ति मात्रसे सिद्ध) इन तीन तीन, उपाधियों से तीन तीन भेद होते हैं, इस
तरह से व्यञ्जरुवाच्य अर्थ ६ प्रकार के हो जाते हैं, उनसे व्यङ्ग्य भी वस्तु अलङ्कार दोनों
होते हैं, अतः पहले चारह भेद होते थे, अथ तो वस्तु अलङ्कार के जैसे रस आदि भी छवो
व्यञ्जकों से व्यङ्ग्य होंगे, फिर अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों के भेद चारह की जगह अठारह
हो जायेंगे ।

समाह्वयति—

अत्रोच्यते—

प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः
स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया । रसीभावो हि नाम ऋगिति जाय-
मानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम् । संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु
वस्तुमात्रैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोधः ।

व्यवच्छेदार्थकेनैव कारणे न संलक्ष्यक्रमतयेति लभ्यते । रसीभवत्यरसो रस सम्पद्यते ।
ऋगिति जायमानस्यालौकिकचमत्कारस्य विषय कारणत्वेन गोचर स्थायी स्थायिभावो यस्य
स तादृशस्तस्य भावस्तत्त्वम् । तेषामभिनवगुप्तादीनामाशयस्य वर्णनेन व्याह्यानेन ।
प्रकटै स्फुटप्रतीयमानैर्विभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (ननु संलक्ष्यक्रमत्वेन) व्यज्य-
मानो रत्यादि स्थायिभावो रसीभवत्यरसोऽपि लोकोत्तरचमत्कारजनकत्वेन रस सम्पद्यते,
यतो ऋगितिजायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वमेव रसीभावोऽस्ति, विभावादीनाम-
स्फुटत्वेन संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्तु रत्यादिर्न रसस्तादृशचमत्कारजनकत्वाभावात्,
किन्तु वस्तुमात्रं केवल व्यङ्ग्यवस्तु भवतीत्ययमेवायंऽभिनवगुप्तादीनां तात्पर्यविषयो वर्ण्येत
चेत्, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य रत्यादे रसत्वाभावाद् वस्तुध्वनिप्रकारैरेवैतत्प्रका-
रणामपि गतार्थतया न प्रकाराधिक्यप्रयुक्त पूर्वान्वयमतविरोध इत्याशयः ।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसादित्वस्यैवाभावात् रसादिप्रकाराधिक्यप्रयुक्त प्राचीनोक्ति-
विरोधः इति सारम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि 'जो रति आदि स्थायीभाव स्पष्ट प्रतीत होने वाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा अलक्ष्यक्रम के रूप में व्यक्त होता है, वही रस रूप होता है और जो रसादि संलक्ष्यक्रम के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह रसरूप नहीं होता। क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि कार्यरूप से होने वाले अलौकिक समरकार का शीघ्र कारणरूप से स्थायीभाव विषय बन जाय—अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वाले शब्दाद का शीघ्र होना ही स्थायीभाव का रस होना कहलाता है। हम तरह से यह सिद्ध हुआ कि संलक्ष्यक्रम के रूप में प्रकृत होने वाला स्थायीभाव (रति आदि) रस किंवा भाव नहीं होता, किन्तु वस्तुमात्र रहता है' यदि हम तरह से लभिनवगुण आदि के अभिप्राय का वर्णन कर दिया जाय, तब उक्त आपत्ति नहीं होती, तात्पर्य यह कि इस तरह से उनके अभिप्राय का वर्णन कर देने पर 'अर्थशक्तिमूल ध्वनियों के बारह भेद हैं' इत्यादि उक्तियों का विरोध नहीं होता, क्योंकि अलक्ष्यक्रम के रूप में प्रकृत होनेवाले रति आदि को वस्तुमात्र मान लेने पर वस्तुव्यङ्ग्य के जो ६ भेद होते हैं, उन्हीं में वे भी आजाते हैं, फिर तत्प्रयुक्त १ संख्या और बढ़ जाने से उक्त ध्वनियों की संख्या अठारह तक पहुँच जाने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती।

सर्वत्रासंलक्ष्यक्रमत्वेन प्रसिद्धस्य रत्यादेरिहोक्तमलक्ष्यक्रमत्व कथमुपपद्यत इत्याशङ्कयामाह—

उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया ।

अत्र रत्यादीना संलक्ष्यक्रमत्वस्य स्वीकारेऽर्थे, उपपत्तिं सङ्गतिस्तु विचारणीया सहृदयैः क्षिन्तनीयेत्यर्थः ।

तथाचाहुर्नागेशभट्टः—'विभावादिप्रतीति रसप्रतीतिश्च सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलनेन, तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वानापत्या रसत्वमहापत्तिः । विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानुभवसाक्षिकमिति तत्रापि सम्मतमिति तदुपपत्तिर्शोभ्या । नव्यास्तु—वचवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात् तत्सहितविभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरसप्रतीतिर्विभावादिज्ञानापेक्षया विशमानकमालभ्येन चालक्ष्यक्रमत्वम् । तच्च प्रकल्पादिज्ञानविलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव, नहि विभावादिज्ञानस्य तन्मनकस्य च क्रममदायकत्वमत्वम्, अपितु तन्न्यस्य, एतदेवाभिप्रेत्य 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदा' इत्यभिनवगुणोक्तिर्विद्विद्वाच्यार्थपेक्षया क्रमोऽपि पृथगत इत्यभिप्रेत्य लक्ष्यक्रमत्वोक्तिर्याक्यविलेया, नहि विभावादिप्रतीतिरहितयत्विद्विद्वाच्यार्थमात्रप्रतीतौ विगलितवेद्यान्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका, येन तत्क्रममहणेऽपि रसत्वहानिः स्यादित्याहुः ।

अलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रसादि रस तथा भाव हैं, अन्यथा वस्तुमात्र इस अर्थ में युक्ति क्या हो सकती है यह विचारने की बात है। नागेशभट्ट यहां अपनी टीका में यह युक्ति बतलाते हैं कि रस आदि की (जिनको अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना जाता है) सभी आलंकारिक 'विगलितवेद्यान्तर'—अर्थात् 'रस (रसादि) ज्ञान के समय किसी भी अन्य ज्ञातव्य पदार्थों का सम्पर्क न रहने वाड़ा' मानते हैं, अतः पण्डितराज को भी वह माम्य होगा। सहृदयों का अनुभव भी उसको मानने में सक्षी है। फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो सूक्ष्म काल का अन्तर होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसकी प्रतीति जहाँ सहृदयों को हो जाती है, वहाँ विभावादिकों के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समर्थ में भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् बनी रहेगी और जब वह बनी रहेगी तब विगलितवेद्यान्तरता नहीं रहेगी यह बात स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उस हालत में वह रसादि रसादि रूप नहीं हो सकता, अतः संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रसादि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, यह कथन युक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है।

ननु रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमताया रसत्वाभावो यद्यभिनवगुणादीनामभिमतः स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र संलक्ष्यक्रमरत्यादितात्पर्येण रसपदस्योपादानं न स्यादित्याशङ्क्यामभिधत्ते—

'रसभावादिरर्थः' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः ।

अभिनवगुणोक्तवाक्यघटको रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिनोवक्तव्य एव, तन्मतेऽसंलक्ष्यक्रमतायामेव रसत्वस्याङ्गीकारात् । तथाच प्रकृते न कश्चिद् विरोध इत्यभिसन्धिः ।

यहां आप कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुण' का यह अभिमत होता कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रति आदि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, तब यह कैसे कहते कि 'रसभाव' आदि अर्थ यद्यपि व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही विषय नहीं हैं ।' अर्थात् इस कथन से तो यह सिद्ध हो जाता है कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने वाले रत्यादि को भी ये रसादिरूप मानते हैं । इसका उत्तर यह है कि अभिनवगुण की उस उक्ति में रस और भाव पद रति और व्यभिचारी भावपरक हैं अर्थात् रस आदि पद का अर्थ वहां रति आदि ही समझना चाहिये । नागेश भट्ट अपनी टीका में इस प्रसङ्ग पर एक और नवीन बात कहते हैं, जो बहुत मार्मिक तथा संगत प्रतीति होती है । उनके कथन का भाव यह है कि कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विलक्षणता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही ब्यङ्ग्य होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि तत्सहित विभावादिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस आदि की प्रतीति होती है, और विभाव आदि के ज्ञान तथा रस आदि की प्रतीति के मध्य में होनेवाले क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) के लक्षित न होने के कारण रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है । अतः प्रकरण आदि के ज्ञान में विलम्ब होने से विभाव आदि के ज्ञान में विलम्ब हो भी जाय, तथापि, 'तद्व्यगताऽपि च सुतनुः ...' इत्यादि उदाहरण में असंलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती । क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करने वाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर असंलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, अपितु विभावादिकों के ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने वाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है । अथ इस विचार के अनुसार—'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के चारह भेद होते हैं' इस मन्मटादि के कथन में कोई विरोध नहीं होता, तब रही अभिनवगुण की वह उक्ति, जिसमें कहा गया है कि रसभावादि में सभी असंलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं हैं—अर्थात् कोई कोई संलक्ष्यक्रम का भी विषय होता है । उसका आशय यह समझना चाहिये कि किसी किसी—अर्थात् विभावादि से भिन्न-उदासीन-वाच्यार्थ के ज्ञान और रसादि के ज्ञान का क्रम लक्षित हो भी सकता है । यदि कहें कि किसी भी क्रम के ज्ञान का स्वीकार कर लेने पर विगलितवेद्यान्तरता का अभाव उक्त शीति से क्यों नहीं हो जयया, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेद्यान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता का मूल तन्मयता है और वह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने वाले विभावादिज्ञान से ही होती है यह बात अनुभवसिद्ध है, अतः विभादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित वेद्यान्तरता का न होना ही स्वाभाविक है, फिर उससे रस आदि के रसभावादि की हानि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता । यही है नागेश भट्ट की नवीन बात, इसकी मार्मिकता पाठक स्वयं समझेंगे । उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विचित्र तरह से संमिश्रण हो गया है, अतः मैं जिज्ञासुजनों की आकांक्षा का अनुभव करता हुआ उन मतों का सचेत में कुछ विश्लेषण कर रहा हूँ । पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) असंलक्ष्यक्रम रहने पर ही रत्यादि रसादि हैं और

संलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र हन सिद्धान्त को युक्ति-विहीन मानकर रसादिध्वनियों को अलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण में 'एवं वादिनि' ' ' इत्यादि कुमारसंभव के पद्य को उद्घृत करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को और उसी उदाहरण पर लोचन नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'सभी ध्वनितमात्र होने वाले रसभावादि अर्थ अलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, एतदर्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्ताचार्य को भी साक्षी बनाते हैं और युक्ति यह बतलाते हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किसी भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वैसे स्थलों पर रस-प्रतीति का रूप लक्षित हो जायगा। इसके बाद अपने पद्य में-प्रमाणरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोक्तलिखित वाक्य के अर्थ में उन्हीं की 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के चारह भेद हैं' इस उक्ति से विरोध दिखला कर उसको हटाने के लिये उनके आशय का वर्णन करते हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम के लक्षित हो जाने पर रसादिको वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम-त्राय त्रय सौच्य कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के रसादि संलक्ष्यक्रम भी हैं' इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई? क्योंकि वे तो संलक्ष्यक्रम स्थल में रसादि को रस मानते ही नहीं, रहा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एवं वादिनि' ' ' यह उदाहरण, परन्तु विचार करने पर वह भी पण्डितराज के पद्य में साक्षी होने योग्य नहीं बँचता, क्योंकि उनके नाम से तिन पङ्क्तियों ('कुमारीस्वभाव्यात्' ' ' इत्यादि) को पण्डितराज उद्घृत करते हैं, वे पङ्क्तियाँ ध्वन्यालोक में नहीं मिलती हैं, उनके अभिप्राय का वर्णन करते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह कि मेरे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसमावतदाभासभावशान्वादि-रक्रम'—अर्थात् 'रसमाव आदि अक्रमव्यङ्ग्य है' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—संलक्ष्यक्रम-अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एवं वादिनि' ' ' यह उदाहरण देकर इतना तो उन्होंने अवश्य लिखा है कि 'अत्र हि लीलाकमलपत्रागनमुपसर्जनीकृत-स्वरूपं शब्दवापारं विनैवायान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति'—अर्थात् यहाँ लीलाकमलपत्रागनरूप अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिधा की सहायता के बिना ही वाच्य से मित्र व्यभिचारीभाव (लज्जा) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को संलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमात्र की स्थिति विशेष में संलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता? मैं कहूँगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहाँ भावध्वनि है। मैं तो समझता हूँ कि लक्ष्यक्रम हो जाने से लज्जा को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उसकी ध्वनि कही है, जिसका समर्थन उनके आगे पीछे के ग्रन्थों से भी होता है। देखिये—जिस कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उसमें साफ शब्दों में वे लिखते हैं कि 'परस्वापर्येण वसवन्वद् न्यनयुक्तिं विना स्वतः'—अर्थात् 'जो अर्थ तारपर्येण शब्द की उक्ति के बिना भी स्वयं दूसरी (वाच्य से मित्र) वस्तु—न कि रसादि—को व्यक्त करता है। अत एव अलङ्कार ध्वनि का निरूपण 'अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्य' प्रतीयते' इत्यादि से आगे अलग किया गया है। यदि कहें कि 'एवं वादिनि' ' ' इत्यादि उदाहरण देने के अन्वयवहित वाद में जो 'नचायमलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेः विषय' ' ' इत्यादि ग्रन्थ आया है, जिसका आशय यह है कि 'एवं वादिनि' ' ' इत्यादि पद्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का ही लक्ष्य है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का लक्ष्य यहाँ होता है, जहाँ शब्द के द्वारा बोधित विभावादिकों से साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से तो साफ झलकता है कि 'एवं वादिनि' ' ' इत्यादि पद्य को वे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भाव की ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं कहूँगा कि ऐसी बात नहीं है, उस ग्रन्थ का अभिप्राय यह

है कि 'एवं यादिनि'..... इस पद्य में अन्त में महादेव के प्रति पार्वती की रति भी तो प्रतीत होती है, फिर इस पद्य को रस ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं मानते इस शङ्का का उत्तर उक्त ग्रन्थ से दिया गया है, अत एव आगे आनन्दवर्धन लिखते हैं कि 'इह तु सामर्थ्यासिद्धयभिचारिसुखेन रसप्रतीति.' अर्थात् यहाँ मध्य में ध्वनिभारिभाव (लज्जात्मकवस्तु) के व्यङ्ग्य हो जाने से उसके द्वारा अन्त में अभिव्यक्त होने वाले रस की प्रतीति (सलक्ष्यक्रम) है। यदि लज्जात्मक भावध्वनि के विषय में उक्त शङ्का-समाधान किये गये होते, तब यह (इह तु इत्यादि) पङ्क्ति असंगत हो जाती। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पण्डितराज का मत यहाँ ठीक नहीं है। उसके ठीक न होने के और भी कारण हैं। जैसे—पण्डितराज के हिसाब से जब रसादिध्वनि संलक्ष्यक्रम तथा अलक्ष्यक्रम दोनों हैं, तब 'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के अठारह भेद हो जायेंगे, फिर बारह ही कैसे कहे' यह जो आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लगेगी? वे भी तो अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद मानते हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-रसादि को खेर खार भेद और मानता चाहिये, यह बात दूसरी है कि कविनिपट्टवत्पृथीढोक्तिसिद्ध नामक भेद को नहीं मानने के कारण तन्मूलक चार भेदों को वे नहीं मानते। रसादि को संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होने में उन्होंने जो सुक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को जँचने योग्य खण्डन नागेश ने कर दिया है, जिसको मैं पूर्व में दिखला चुका हूँ। अब रहे मम्मट, वे अपनी जगह पर ठीक हैं, क्योंकि वे चिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनियों को अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मात्र मानते हैं, और ऐसी बात कहीं भी उन्होंने नहीं लिखी, जिससे उस मान्यता में विरोध पड़ता हो। पण्डितराज जो अपने मत के अनुसार अभिनवगुप्त के साथ उनकी उक्ति में भी विरोध दिखला कर उनके आशय का वर्णन अपने ढङ्ग से इस प्रसङ्ग पर किये हैं, वह तो निरर्थक ही मालुम पड़ता है। नागेश भट्ट ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है, वह उनकी अपनी चीज है, जिससे पण्डितराज के मत का तो खण्डन हो ही जाता है साथ-साथ ध्वन्यालोककार के मत में भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि वे 'एवं यादिनि'..... इत्यादि पद्य में लज्जात्मक ध्वनिभारि को संलक्ष्यक्रम हो जाने के कारण वस्तु मात्र मानते हैं अथवा पण्डितराज के कथनानुसार लक्ष्यक्रम भाव ही मानते हैं तो कैसे? क्योंकि नागेशोक्त रीति से यहाँ भी संलक्ष्यक्रमता नहीं होती। अभिनवगुप्त का मत भी नागेश की रीति से असंगत हो हो जाता है। यद्यपि नागेश ने उनके मत को सगत बनाने का प्रयास किया है, परन्तु वह प्रयास अभिनवगुप्त की उक्ति के स्वाभाविक स्वरूप के अनुकूल नहीं मालुम पड़ता। मम्मट नागेश की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं, हो सकता है कि नागेश ने भी अपने शब्दों में मम्मट के हृदय को ही व्यक्त किया हो।

अथ रसादिध्वनेर्भ्यंशकानुपदिशंत्वादौ प्राचीनमतमुपगन्वस्यति—

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-यापय-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागार्गादभिध्वाभिव्यक्तिमामनन्ति ।

इत्थमेवं निरूपितस्य लक्षणोदाहरणादिभिर्विवेचितस्य, अस्य, रसादिध्वनेः प्रपञ्चस्य-समूहस्य, पदैः सुप्तिदन्तैरनन्वितैर्न्यर्तबोधकप्रयोगार्हवर्णरूपैः, वर्णैरकाराद्यक्षरैः, रचनाभिर्वर्ण-पदगुणलक्षणाभिः, वाक्यैर्योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तिमत्पदकन्दैः, प्रबन्धैः महावाक्यस्वरूपैः, पदैकदेशैः प्रकृतिप्रत्ययादिरूपपदावयवैः, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गीतवाद्यादिसम्बन्धिभि रागै आदिपदप्राह्याभिधेष्टाभिध, अभिव्यक्ति चर्चणाम्, आमनन्ति प्रतिपादयन्ति प्राध इति शेषः ।

अब उक्त रस आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इस विचार के

प्रसङ्ग में पहले प्राचीनों का मत विललाते हैं—'अदित्थम्' इत्यादि। पूर्वोक्त रीति से जित रसादि-ध्वनि-समूह का निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, धान्यों, प्रचण्डों (मन्त्रों) और पद के अंशों एवं जो अक्षर रूप नहीं हैं, उन रागादिकों से मानते हैं—अर्थात् स्थलभेद से ये सभी रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक होते हैं।

ननु सर्वत्र नाक्यादेव रसाद्यभिव्यक्तिदर्शनात् कथमेकस्य तद्वदकारस्य व्यञ्जकतोच्यत-
इत्याशङ्का मनसि निधायाभिदधाति—

तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानो-
पायत्वे समानेऽपि, कुर्वद्रूपतया चमत्कारयोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वम्।

उपायत्वं कारणत्वं प्रयोजकत्वं वा । कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता । चमत्कारयोगव्यव-
च्छिन्नत्वं नियतचमत्कारसाहित्यम् ।

अथपि वाक्यार्थबोधे पदार्थोपस्थितेः कारणतया वाक्यघटकानां सर्वेषामेव पदानां स्वस्वार्थोपस्थापनेन तुल्यैव वाक्यार्थबोधोपयोगिता भवतीत्येकस्य कस्यचित् तद्वदकारस्य रसादिव्यञ्जकत्वाद्युभय, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणात् कविदेकेत्यापि पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दर्शानात् पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तात्पर्यम् ।

यद्यपि वाक्य के अन्दर जितने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर होने वाली ध्वनियों का निमित्त (व्यञ्जक) पदसमूहात्मक वाक्य ही सिद्ध होता है, कोई एक पद नहीं, फिर 'पदध्वनि' इस व्यवहार में क्या युक्ति है? यह है यहाँ शङ्का, और उत्तर यह है कि शङ्का के उपपादन में कड़ी गई बातें सही हैं, तथापि वाक्यघटक पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाला (विलक्षण शक्तिशाली) जहाँ रहता है, वहाँ वही पद चमत्कारायोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कारविशिष्ट होता है, तात्पर्य यह कि ओर पद ऐसे रहते हैं, जिनमें चमत्कार का श्रेय नियतः नहीं रहता, अतः वैसे ही जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिकाव्य कहलाने का कारण होता है।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्यं व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

'मन्दमाक्षिपति' इत्यत्र 'मन्द'मित्यस्य ।

उत्तमोत्तमकाव्यत्वेन पूर्वमुदाहृतो 'तरुणताऽपि च सुतनु' इत्यादिपद्ये सर्वेषामेव पदानां व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि, शनैः स्वस्थानप्रापणाद्योपस्थापनद्वारा मन्दमित्यस्य पदस्यैतरेष्वलक्ष्येन रतिव्यञ्जकतेति सारम् ।

जैसे पूर्वोदाहृत (४१ पृष्ठ में) 'तरुणताऽपि' इत्यादिपद्य में 'मन्द' पद अर्थात् यद्यपि उक्त पद्य के सभी पद शृङ्गार रस ध्वनि में समान रूप से सहायक हैं, तथापि 'मन्दम्' इस पद में अन्य पदों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है और वह यह है कि 'धीरे धीरे मिय कर को हटाना' इस मार्मिक अर्थ की उपस्थिति उसी से होती है, अतः यहाँ पद-ध्वनि का व्यवहार होता है।

रचनाता वर्णान्ता च स्वातन्त्र्येणार्थबोधकत्वविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्वं प्राचीनमतेनाह—

रचनावर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकताऽवच्छेदककोटिप्रविष्टत्वमेव,
न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविराष्टरचनात्वेन रचना-

विशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः
कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः ।

अभ्यर्हितत्वादचनाशब्दस्य पूर्वप्रयोगः ।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकत्वं नास्ति, किन्तु पदानां वाक्यानां वा घट-
कत्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा या रसादिव्यञ्जकता, तदाश्रयघटकत्वेन विरोपणीभावात् तद-
घच्छेदकौटौ प्रविष्टत्वं, नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि मुखेन वक्तुं शक्यम्, तथापि यथा घटं
प्रति दण्डविशिष्टचक्रादे कारणत्वम्, आहोस्त्वचक्रादिविशिष्टदण्डस्येत्येकतरपक्षपाति-
युक्तेभावाद् दण्डे चक्रादौ च प्रत्येक पर्याप्त्यैव घटनिरूपितस्वरूपता स्वीक्रियते, तथैव
प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनत्वेन रसव्यञ्जकता, उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति संशये
विनिगमनाविरहात् प्रत्येकमेव पदत्वेन वर्णत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्जकताऽभ्युप-
गम्यत इत्येव वर्णानां रचनादीनां च रसादिव्यञ्जकत्व सिद्धमिति प्राचीनाव दन्तीत्यर्थः ।

रचना और वर्ण, पदों और वाक्यों के अन्तर्गत हो कर ही व्यञ्जक हो सकते हैं, अतः
यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद और वाक्य ही व्यञ्जक हैं,
स्वतन्त्रतया वर्ण और रचना नहीं, वे व्यञ्जकतावच्छेदक-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के
विशेषणों की श्रेणी में रहने वाले मात्र हैं, तथापि रचना और वर्ण से युक्त पद-वाक्य
व्यञ्जक हैं अथवा पद और वाक्य से युक्त रचना और वर्ण व्यञ्जक हैं इन दोनों पक्षों में से
किसी एक पक्ष को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति जय नहीं है, तब रचना, वर्ण, पद और
वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घट का कारण चक्रसहित
दण्ड माना जाय अथवा दण्डसहित चक्र, इनमें एक पक्ष को प्रमाणित करने की जय कोई
युक्ति नहीं है, तब-चक्र और दण्ड दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिये जाते हैं। तदुपर्य
यह कि वर्ण और रचना को भी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है,
ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है ।

तत्र नवीनमतमभिधत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जक-
त्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च ।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्यैव व्यञ्जका, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणां, रसादी-
नाम्, अतः रसाभिव्यञ्जकत्वमस्तीति चेत् तस्मात् रसाभिव्यञ्जकत्वमेव व्यञ्जकत्वमिति चेत् नवीनमतमभिधत्ते—
रचनानां रसादिव्यञ्जकत्वं प्रमाणवैधुर्यं च, तस्माद् वर्णानां रचनानां च रसादिव्यञ्जकत्वं
नास्तीत्यभिप्रायः ।

नवीन विद्वानों का मत उससे भिन्न है। वे कहते हैं कि वर्णविशेष और रचनाविशेष
(वैदर्भी आदि) माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के आश्रयीभूत रसों
के नहीं, क्यों कि ऐसा मानने में एक तो अर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की सख्या बढ़ती है,
दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है।

ननु यदि वर्णानां माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽप्यस्त्येव, यतो
गुणिनो व्यञ्जकता विना गुणानां व्यञ्जकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्कानिराकरोति—

न हि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रि-
यत्रये व्यभिचारान् ।

गुणाभिव्यञ्जकतास्तदाश्रयव्यञ्जकता भवेत्युच्यते निति नियमः, यतो प्राण-रसन-श्रोत्र-
रूप-इन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो हरयते, तथाहि—प्राणोन्द्रियं गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जकं न तु

तदाश्रयस्य पृथिव्याः, रसनेन्द्रियं रसस्य व्यञ्जकं, न तु रसवतो जलस्य, श्रोत्रेन्द्रियं च शब्दस्य व्यञ्जकं, न तु शब्दाधारस्य गगनस्य । इत्थं च माधुर्याव्यञ्जकताऽन्यथाऽनुपपत्त्या वर्णादीना रसाभिव्यञ्जकताकल्पनं नैव सम्भवतीति विभावनीयम् ।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के आश्रय रस आदि के भी व्यञ्जक मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो गुणों (गुण के आश्रय) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता—अर्थात् गुणों के आश्रयों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा—यह कथन सगत नहीं है, क्योंकि 'गुणों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती' यह नियम नाक, जीभ, कान इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचरित होते देखा गया है—अर्थात् इन तीनों इन्द्रियों से गुणों की अभिव्यक्ति के बिना भी गुणों की अभिव्यक्ति होती है । जैसे—नाक से गन्ध (गुण) की अभिव्यक्ति होती है और उसके आश्रय पृथ्वी की नहीं, जीभ से रस की अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय जल आदि की नहीं पदम् कान से शब्द की प्रतीति होती है और शब्दाश्रय आकाश की नहीं ।

गुणादिव्यक्तिमवस्थादर्शनेन स्वपक्षे दोषं परिहरन् नवीनमतमुपसंहरति—

इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकौपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रभिविगोचरता, तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः ।

स्वस्वव्यञ्जकैर्वर्णादिभिः, उपनीताना बोधितानां, गुणिनां पृथिव्यादीना, गुणानां गन्धादीनाम्, उदासीनाना गुणगुणिभावेन मियोऽसम्बद्धाना पदार्थानां च प्रभिविगोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता, कदाचित् उपश्लेषेण गुणानां गुणिना मियस्सम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरौदासीन्येन मियोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिना रसानां, गुणानां माधुर्यादीना चाभिव्यक्तिविषयताऽऽस्तादृगोचरता, कदाचिभिप्रकृतत्वेन, कदाचिच पार्यत्रयेन भवतीति व्यवस्थया, रसाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीना नासम्भविनीति तु नव्या वदन्तीत्यर्थः ।

अपमंक्ष्यकमध्वने प्रयन्ध-वाक्य-पद-तदर्श-वर्ण-रचनाव्यञ्ज्यत्वेन पदविषयत्वं स्वीकुर्वद्भिः प्राचीनैर्वर्णविशिष्टाना रचनाविशिष्टानामेव च पदवाक्यादीनां रसादिव्यञ्जकतायाः सत्याद्रसादिव्यञ्जकताऽवच्छेदकतया तद्व्यञ्जकत्वाभावेऽपि विशिष्टव्यञ्जकभावकरणे विनिगमनाविरहेण गौरवाद् दृग्दादिषु घटादिकारणतेव प्रत्येकं रसादिव्यञ्जकता कल्पते ।

नवीनैस्तु हृदयिभिरिति पृथगपि गुणगुणिनां प्रतीतिं मन्यमानैर्वर्णादिषु माधुर्यादि-गुणमात्रव्यञ्जकताऽङ्गीक्रियते, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावादिप्रदर्शनेन निराक्रियत इति सारम् ।

इस तरह जैसे अपने अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से उपस्थित कराये गये गुणी, गुण और तद्विक्त तदस्य पदार्थ कभी परस्पर सम्मिलित रूप से, कभी उदासीन रूप से उन उन यथार्थ ज्ञानों के विषय होते हैं, वैसे ही रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक् पृथक् व्यञ्जकों (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित किये जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलितरूप से तथा कभी उदासीन रूप से गृहीत (ज्ञात) होते हैं । तात्पर्य यह कि वर्णों और

रचनाओं को रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं, उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये ।

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

उदाहरणन्तु—

‘तान्तमाल—’ इत्यादि प्रागुक्तमेव ।

अत्र भगवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तन्निष्ठमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका रचनेति-
इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुसन्धेयम् ।

वर्णों तथा रचनाओं के द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति का उदाहरण ‘तां तमालतरुकान्ति-
लंविनीम्...’ इत्यादि पहले (पृ० २३९ में) कह ही चुके हैं ।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि ‘आविर्भूता यदवधि—’ इत्यादि च ।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्यं विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम् ।

वाक्य जहाँ व्यञ्जक हुआ हो, वैसे उदाहरण भी ‘आविर्भूता यदवधि मधुत्वन्दिनी नन्द-
सुन्दरी...’ इत्यादि (पृ० १४१ में) कहे ही जा चुके हैं ।

प्रबन्धस्य रसन्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु ‘योगवाशिष्ठ रामायणे शान्त करुणयोः, रत्नावल्यादीनि च
शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निर्देशानि प्रसिद्धानि ।

योगवाशिष्ठं प्रबन्धं शान्तरसस्य, रामायणं प्रबन्धं करुणरसस्य, रत्नावलीप्रभृतयश्च
प्रबन्धा-शृङ्गाररसस्य व्यञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतोदाहरणानि बोध्यानि ।

अथ प्रबन्ध (ग्रन्थ) जहाँ व्यञ्जक होते हैं, वैसे उदाहरण देखिये—सम्पूर्ण योगवाशिष्ठ
ग्रन्थ से शान्तरस और समस्त रामायण ग्रन्थ से करुणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तरह
रत्नावली आदि ग्रन्थ शृङ्गाररस के व्यञ्जक होने के नाते प्रसिद्ध ही हैं ।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्यो भावस्य ।

गङ्गालहरीप्रभृतयः पद्य लहर्यं प्रबन्धा गङ्गादिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका इत्यर्थः ।

पण्डितराज रचित पांचों लहरियां (करुणालहरी, गंगालहरी आदि) भाव-व्यञ्जकता
के उदाहरण होती हैं ।

‘पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति

पदैकदेशस्य च ‘निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि’ इति करूपतद्धितो धीर-
रसस्य प्रागेवोदाहृतः ।

धलवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये ‘जगदण्डकमिति पदावयव’ करूप-
स्तद्धितप्रत्ययो ब्रह्माण्डस्य शोदिष्टतां द्वारीकृत्योस्तादृशपायिकबलवीररसस्य व्यञ्जक-
इत्यर्थः ।

‘निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि’ यहाँ करूप तद्धित (पदैकदेश) धीररसव्यञ्जक है
पद्य भी पहले (पृ० १६१ में) कहा जा चुका है ।

ध्वर्णात्मकरागादीना व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धैवेति प्रतिपादयति—

एयं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम् ।

व्यङ्ग्यत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवाशिकैवेति तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

इसी तरह ध्वर्णात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण है ।

उपसंहरति—

एयमेयां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि ।

एवमुक्त्वा, एषा रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राङ्निरूपितानामुदाहरणानि निरूपितानि ज्ञेयानित्यर्थः ।

इस तरह से प्रधान रहने के कारण ध्वनिरूप रसार्थिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके यह समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे रसादीनामुदाहरणपेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च ।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामुदाहरणानि रसप्रपञ्चस्य रसादीनां नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

जब ये रस आदि गौण-भ्रमधान-हो जाते हैं, तब उनके क्या क्या नाम पड़ते हैं और उनके उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें भारी कही जायगी—अर्थात् रस आदि के गौण हो जाने पर 'रसवत्' प्रपञ्च और ऊर्जस्वि इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण अलंकार प्रकरण (द्वितीय भाग) में कहे जायेंगे । (येद है कि पण्डितराज की यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हो सकी । यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है और जितना भाग उपलब्ध है, उसमें यह विचार नहीं आ सका है)

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

एषा रसादीनां प्राधान्य एव विगलितवेद्यान्तरसभिदानन्दस्वरूपतासम्पत्ते रसादित्वं भवति, अन्यथाऽप्राधान्ये तु तादृशरूपताविरहात् स्थायिमात्रात्मकत्वाद् रत्यादित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

यहां भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गौण हो जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् वस्तुमात्र होते हैं ।

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत्, तर्हि गुणीभूतरसस्य रसवदलङ्कारेति नास्ति रसपदं कथमुपागतमित्याशङ्कयामाह—

नामनि रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येष रसादित्वं, किन्तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैल्लक्ष्ण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथममाननं सम्पूर्णम् ।

रसबदलद्वारेति नामघटकरसपदस्य रसत्वशोभयत्थादिस्थाधिभावेषु लक्षणेति श्रुत्युक्तं
नियमान्नोक्तृणां केषाञ्चिन्नतम् । अन्येषां तु-रसादीनामप्राधान्ये न रसादित्वस्य विलोपः,
किन्तु प्राधान्यविरहाच्च ध्वनिव्यवहारस्य कारणत्वमिति मतम् । तत्र पूर्वमत एव लक्षणा
पेक्षा, नदूतरमत इति बोध्यम् ।

विद्यानाभिनिकेतन-मिथिलाऽन्तःपातिसरिसवधाम् ।

विद्यानाथसुतश्रीवदरीनाथेन निर्मिता कुतुकात् ॥ १ ॥

राधाऽच्युतपदनखविधु-समर्पिता चन्द्रिका सेयम् ।

लभता रसगङ्गापर-संसक्ता शाश्वती सुपमाम् ॥ २ ॥

आशानखमित (२०१०) विक्रम-समासहःपूर्णिमासूर्ये ।

रसगङ्गापरविश्रुतिर्वाणीकृपयाऽगमत् पूर्तिम् ॥ ३ ॥

चिन्ताजराक्षिपण्डीकृतपण्डस्यापि मे नूनम् ।

साहसमेव विवरण, पण्डितराजातिगूढभणितानाम् ॥ ४ ॥

उपकृतिरितोऽपि तावत्, किन्तु भवेदेव केषाञ्चित् ।

मदपि न्यूनमतीनामिति प्रतीते समाश्वसिमि ॥ ५ ॥

इति मैथिलश्रोत्रियपण्डितश्रीवदरीनाथसमर्पितानाम् रसगङ्गाधर-

चन्द्रिकाया प्रथममानन सम्पूर्णम् ।

यदि कहें कि जब गौण हो जाने पर ये रसरूप नहीं होते, तब उस अवस्था के 'रसवत्'
ह्रस्वादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि उन नामों
में रसादि पद रस्यादिका ही बोधक है। यहां दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है, वे कहते
हैं कि गौण हो जाने पर भी उनमें रसत्व अथवा भावत्व रहते ही हैं, केवल गौण हो जाने
के कारण वे काव्य में ध्वनि व्यवहार के हेतु नहीं होते ।

इति दशमस्कान्धकान्तर्गत नवानी ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतसभ्याकरण-

न्याय-साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्य राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रधान-

साहित्याध्यापक 'प० श्री मदनमोहन झा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर ।

(प्रथम आनन) की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

व्याख्याकारः—

न्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य-

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्थरानकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१

संवत् २०१४]

[ई० १९५७]

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्या भवन
घाट, वाराणसी-१

(पुनर्मुद्रणादिका सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)
The Chowkhamba Vidya Bhawan
Varanasi-1
(INDIA)
1957

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
वाराणसी-१

॥ श्री. ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

द्वितीयमाचष्टुम्

अथ संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूप्यते—

राङ्गर-सुख-मरसीरुह-नृत्यध्वनम्बुजद्रन्दा ।
गौरी गौरिव वन्दे प्रथत-जने वत्सला जयति ॥
जयति जनान्न-पालन-दक्षी, दक्षाध्वरध्वरी ।
मन्मथ-भयन-अथितो गिरिजा-कामाङ्कुरं शम्भु ॥
गुह-करुणामृत-विन्दु पुण्यै प्राप्तश्चिरं जयति ।
यः पीतो मुग्धानामुक्तिषु वैदग्ध्यमातनुते ॥
पित्रोर्जयत्यहेतु स्नेहोत्कर्षं सदा सुलभं ।
सिष्ठा सन्तति-लतिक्ता येनोदय-शाखिनं श्रयते ॥
सहृदयजनातिद्वेषा निरनया ‘चन्द्रिका’ जगतात् ।
रसगङ्गाधरसगास्तर्वाङ्गावाप्त-लावण्या ॥

अथ प्रथमानने रसादिरूपासंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरं द्वितीयमातनमारभमाण-
प्रथमं संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणं प्रतिजानते—अथेत्यादिना ।

अथ शब्दोऽयमानन्तर्यार्थकं । तथा चासंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरमिति तात्प-
र्यार्थं । संलक्ष्य-सम्यक् प्रतीतिपथमवतरन् क्रमं कार्यकारणयोः पौर्वापर्यम्, यत्र स
ध्वनिः व्यङ्ग्यविशेषः, निरूप्यते शब्दप्रयोगात्मक-व्यापार-प्रयोज्य-ज्ञान-विषयो विधीयत
इति तदर्थं । मया ग्रन्थकारेणेति शेषः ।

अचपल-चपला-सङ्ग से, अङ्ग-अङ्ग छवि-धाम ।

गैरे गानम में बगै, नवल निमल पन-दधान ॥

प्रथम आनन में रस आदि असंलक्ष्यक्रमध्वनि के निरूपण कर लेने के बाद अब
द्वितीय अगनन के आरम्भ में संलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादिसे ।
अथ शब्द यहाँ आनन्तर्यार्थक है । संलक्ष्यक्रम का तात्पर्य यह है कि जिस ध्वनि में
कार्य (ध्वनि) और कारण (विभाव आदि का ज्ञान) का क्रम-पौर्वापर्य अर्थात्—अप्र
पश्चाद्भाव लक्षित होता हो । निरूपण शब्द का अर्थ होता है, वह शब्द प्रयोगात्मक-व्यापार,
निससे विज्ञास्यपदार्थ का ज्ञान हो सके । इस प्रकरण में ध्वनिशब्द व्यङ्ग्य अर्थ में

प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार मूल का अनुवाद यह होता है कि असलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण के बाद सलक्ष्यक्रमध्वनि का निरूपण किया जाता है।

सलक्ष्यक्रमध्वनि विभजते—

स च तावद्विविधः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च । तत्राद्यो द्विविधः, व्यङ्ग्यस्य वस्तुत्वालकारत्वाभ्यां द्वैविध्यात् । द्वितीयोऽपि वस्तुत्वालकारात्मना लोकसिद्धेन, तथामूलेनैव प्रतिभाभात्र-निवर्तितेन च व्यञ्जकेनार्थेन चतुर्विधेन वस्तुत्वालकारात्मनो द्विविधस्य व्यङ्ग्यस्य प्रत्येक व्यञ्जनादष्टमूर्तिः ।

तावद् आदौ स्थूलतयेति तात्पर्यार्थः । स सलक्ष्यक्रमध्वनि द्वे विधे प्रकारौ यस्यासी द्विप्रकारक इत्यर्थः । तत्र प्रथम, 'शब्दशक्ति' शब्दनिष्ठाव्यञ्जना मूलं कारणं यस्य स । द्वितीयोऽर्थशक्ति अर्थनिष्ठा व्यञ्जनामूलं कारणं यस्य स । शब्दव्यञ्जनाद्योष्य आर्यव्यञ्जनाद्योष्येत्यर्थः । तत्र तयोर्मध्ये, आद्य' शब्दशक्तिमूल पुनर्द्विप्रकारक, यतो व्यङ्ग्यं वस्तुरूपमलकाररूपश्चेति द्विविधं भवति । द्वितीय अर्थशक्तिमूल पुनरष्टविध, यतो व्यञ्जकोऽर्थो द्विविध-वस्तुरूप, अलंकाररूपश्च । द्विविधोऽप्यसौ लोकसिद्धत्वेन, प्रतिभामात्रनिवर्तित्वेन च रूपेण पुनर्द्विविध । अर्थात् वस्तुत्वालकारत्वभेदेन द्विविधोऽपि व्यञ्जकोऽर्थः क्वचित् लोके संभावना-विषयतया लोकसिद्धो भवति, क्वचिच्च केवल कविकल्पनाप्रसूततया कल्पितो भवति । एवञ्च व्यञ्जकरूपार्थस्य चत्वारो भेदा जायन्ते । चतुर्विधैस्तै पृथक् पृथक् वस्तुरूपो-अलंकाररूपद्वयार्थो व्यज्यते इति मिद्धमस्याष्टविधत्वम् ।

सलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद दिग्बलात्ते हैं—न च इत्यादि से । सलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रथमत दो भेद होते हैं—पहला शब्दमूल अर्थात् जिसके मूल में शब्दनिष्ठव्यञ्जनावृत्ति काम करती रहती हो और दूसरा अर्थशक्तिमूल अर्थात् जिसके मूल में अर्थनिष्ठव्यञ्जना काम करती हो । उनमें प्रथम—शब्दशक्तिमूलध्वनि के पुन दो भेद होते हैं । क्योंकि वस्तु और अलंकारभेद से व्यङ्ग्य दो प्रकार के होते हैं । फलतः—१-शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि और २-शब्दशक्तिमूल अलंकारध्वनि, ये दो प्रकार प्रथम भेद के निद्वि हुए । द्वितीय—अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद होते हैं, क्योंकि व्यञ्जक अर्थ प्रथमत दो प्रकार के हो सकते हैं—पहला वस्तुरूप और दूसरा अलंकाररूप, फिर इन दोनों ही प्रकार के दो दो प्रकार हो सकते हैं—लोकसिद्ध (लोक में हो सकनेवाला) वस्तु और कविकल्पनामात्रप्रसूत (जो लोक में सम्भव विषय नहीं हैं, फिर भी कवियों की कल्पना से सिद्ध किए गए हैं) वस्तु । इसी तरह अलंकार भी उक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं । इस तरह से व्यञ्जक अर्थ के चार भेद हो जाते हैं । इन चारों में प्रत्येक से कहीं वस्तु और कहीं अलंकार ध्वनित होते हैं । इन आठों भेदों के नाम पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दिए जाते हैं—१-स्वतःसंभवि वस्तु से वस्तुध्वनि, २-स्वतःसंभवि-वस्तु से अलंकारध्वनि, ३-स्वतःसंभवि-अलंकार से वस्तुध्वनि, ४-स्वतःसंभवि-अलंकार से अलंकारध्वनि, ५-कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, ६-कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि, ७-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से वस्तुध्वनि, ८-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से अलंकारध्वनि ।

ननु अर्थशक्तिमूलध्वनेरष्टविधत्वोक्तिरसंगता, मम्मटादिभि लोकसिद्धकविप्रतिभाभात्रनिवर्तितत्वाविव कविकल्पितवक्तृप्रतिभानिर्वर्तितताभिधानमप्येकं व्यञ्जकार्यस्य भेदमङ्गीकृत्य तस्य द्वादशविधत्वप्रतिपादनादित्यत आह—

प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः । न च

तस्यापि कव्युन्मितत्वानुपायान्तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति याच्यम्, प्रथमो-
न्मितस्यापि लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वलक्षणकवित्वानुपायानुपपन्नभेदप्रयोजकता-
नुपपत्तेः ।

प्रतिभानिर्वर्तितेति प्रतिभासम्प्राप्तित्वर्थः । तदुन्मितेति तन्निबद्धत्वर्थः । तस्यापि
उन्मितोन्मितादेरपीत्यर्थः । अर्थभाव — यथा स्वतः संभविना व्यञ्जकार्येण भिन्न कविप्रौ-
ढोक्तिसिद्धौ व्यञ्जकोऽर्थोऽङ्गीक्रियते, तथा यत्र कविः क्वपि वक्तारं कल्पयित्वा तन्मुखेन
त्रिमपि वर्णयति तत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धोऽप्येको व्यञ्जकोऽर्थः स्वीकार्यः । सोऽपि
वस्त्वलंकारभेदेन द्विविधो भवेत्, तान्या म्यज्यमानस्यापि वस्तुत्वालंकारत्वान्या द्वैविध्य-
मिति अर्थशाक्तिमूलध्वनेधत्वारोऽपरेऽपि भेदाभ्यासिद्धा इति काव्यप्रकाशकारादयो
व्यवस्थापयामासुः । पण्डितराजस्तु कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थे यथाकविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम्,
तथैव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थोऽपीति अभिशोषान्, पृथग्भेदत्वेन तद्रूपनाया अनौ-
चित्यमेव मनुते । अन्यथा कविनिबद्धवक्तुरिव कविनिबद्धनिबद्धवक्तृप्रादेरपि पृथग्भेदनिवृत्त्या-
कृत्वा प्रसज्येत । तच्चेति । अथमभिप्रायः — कवि-निबद्धस्यैव कविनिबद्धनिबद्धादेरुपादाननिह
नोचितम्, तस्यापि कविनिबद्धत्वाविरोधेण प्रथमनिबद्धान्तर्गतत्वात् । इति शब्दाः । समाधानं
तु प्रतिबन्धिरूपमिदं यत्—प्रथमोऽपि कविनिबद्धो वक्ता कविरेव, लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व-
पस्य कवित्वस्य तस्मिन् सत्त्वात् इति न कविप्रौढोक्तिसिद्धान् भिन्न कश्चन कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढोक्तिसिद्धः । 'वृद्धोक्तिविषयाच्छिल्पकविषय इव कव्युक्तिविषयात् कविनिबद्धोक्तिविषये
चमत्काराधिक्यस्यानुभविक्त्वान् पृथगुक्तिः । ततः परं च प्रणिधानसाध्यप्रतीतिक्रिया
चमत्कारस्यानालोम्भितोन्मितादेः पृथग्गुणनेति नव्या' इति नागेशः ।

मम्मट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने अर्थशाक्तिमूलध्वनि के द्वादश भेद माने हैं,
उनका उल्लेख करते हैं—प्रतिभा इत्यादि से । मम्मट आदि आचार्यों ने अर्थशाक्तिमूलध्वनि
के ऊपर कहे गए आठ भेदों से भिन्न चार भेद और माने हैं । उन लोगों के कथन का
अभिप्राय यह है कि जिस तरह कवि-कल्पित अर्थ को व्यञ्जक माना जाता है, उसी तरह
कवि के द्वारा काव्य में वर्णित वक्ताओं की कल्पना से सिद्ध अर्थ को भी व्यञ्जक मानना
चाहिये । उस तरह के अर्थों के भी दो भेद हो सकते हैं—पहला वस्तुरूप और दूसरा
अलंकाररूप । उन दोनों व्यञ्जक अर्थों से वस्तु और अलंकार दोनों अभिव्यक्त हो सकते हैं,
अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से
अलंकारध्वनि, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि और कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि ये चार भेद और स्वीकारणीय हैं । पर पण्डितराज
जगन्नाथ कहते हैं कि कवि-कल्पित और कवि-वर्णित वक्ताओं से कल्पित—दोनों ही—
अर्थ प्रतिभा-प्रसूत हैं, उन दोनों में परस्पर कोई विरोध अन्तर नहीं है, फिर उन दोनों
को पृथक्-पृथक् व्यञ्जक अर्थों की श्रेणी में गिनना उचित नहीं और तत्प्रायुक्त अन्य
पूर्वोक्त चार भेदों का मानना भी ठीक नहीं, यदि इस तरह से भेद बढ़ाये जायें, तब
कविवर्णित वक्ताओं के द्वारा वर्णित वक्ताओं से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर तत्प्रायुक्त
ध्वनि भेद भी मानने पड़ेंगे । यदि आप यह तर्क उपस्थित करें कि कविवर्णित वक्ताओं
के द्वारा वर्णित वक्ता भी तो कविवर्णित वक्ता ही हुआ, अतः तन्मूलक पृथक् भेद मानना
समुचित नहीं होगा, तो इसका उत्तर यह है कि कविवर्णित प्रथमवक्ता भी लोकोत्तर
वर्णन करने में निपुण होने के कारण कवि ही हुआ, अतः तत्कल्पित अर्थ भी कविकल्पित
व्यञ्जक अर्थों में ही अन्तर्भूत हैं, फिर जैसे आप द्वितीयवक्ता से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक
मानकर तन्मूलक भेद नहीं मानना चाहते, वैसे ही प्रथमवक्ता से कल्पित अर्थ को

व्यञ्जक मानकर तत्प्रयुक्त भेद भी नहीं मानना चाहिये । वस्तुतः कविवर्णित वक्ता कवि से भिन्न कोई रहता नहीं—उमके द्वारा कवि ही अपनी कल्पना को रूप देता है । अतः पण्डितराज का कथन उपयुक्त है । प्राचीन मत के समर्थन में भाग्रह रखनेवाले नागेश महोदय ने अपनी टीका में—जैसे वृद्धों की उक्तियों से बच्चों की उक्तियों में अधिक लालित्य होता है, उसी तरह कवि की उक्ति से कविवर्णित वक्ता की उक्ति में अधिक चमत्कार अनुभूत होता है, अतः तन्मूलक पृथक् भेद समुचित ही है । उसके आगे (कविवर्णित चतुर्वर्णित वक्ता की उक्ति) की प्रतीति प्रणिधान द्वारा ही हो सकती है अन्यथा नहीं, अतः उसमें चमत्कार नहीं रह जाता, इसीलिए उन सर्वों की पृथक् गणना नहीं की जा सकती—इत्यादि कहकर प्राचीन मत की पुष्टि की है ।

उपसंहरति—

एवं साकल्येन दशभेदोऽयम् ।

पूर्वोक्तरीत्या मूलक्षयमध्वने दशभेदा बोध्या ।

इस प्रकार सलक्ष्यक्रमध्वनि के कुल भेद दस होते हैं । अर्थात् शब्दशक्ति मूलध्वनि के दो और अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद हैं ।

नानार्थकशब्दस्थले संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थेऽभिधायानियन्त्रिताया द्वितीयोऽर्थो व्यञ्जनया बोध्यते, स एव शब्दशक्तिमूलध्वनिलक्ष्यस्थल इति प्राचीनाभिमत सिद्धान्तं मतभेदेन समालोचयितुमुपक्रमते—

तत्र केचिदाहुः—नानार्थस्य शब्दस्य सर्वेष्वर्थेषु सकेतग्रहस्य तुल्यत्वाच्छ्रुतमात्र एव तस्मिन् सकलानामर्थानामुपस्थितौ, शब्दस्यास्य कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति संदेहे च सति, प्रकरणादिक तात्पर्यनिर्णायक पर्यालोचयत, पुरुषस्य सति तन्निर्णये, तदात्मकपदज्ञानजाया एकार्थमात्रविषयायाः पुनः पदार्थोपस्थितेरनन्तरमन्ययबोध इति नये द्वितीयायाः पदार्थोपस्थितेः प्राथमिक्या इव न कुतो नानार्थगोचरतेति प्रकरणादिज्ञानस्य तदधीनतात्पर्यनिर्णयस्य वा पदार्थोपस्थितौ प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्, अन्यथा शब्दयुद्धेरपि नानार्थविषयत्वापत्तिः ।

नानार्थकशब्दस्थले केपाचिदभिमतोऽन्ययबोधप्रकार प्रदर्शयते—नानार्थस्येत्यादिना । अयमाशयः—नानार्थकशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमं सर्वेषामर्थानामुपस्थिति (स्मृति) जायते, तत्तन्मूलार्थनिरूपितभेदकेतस्य तस्मिन् शब्दे समानरूपेण गृहीतत्वान् । ततः 'अत्र कस्मिन् अर्थे वक्तुस्तात्पर्यमिति संदेह उन्पद्यते श्रोतु । अथ श्रोता संदेहनिवृत्त्यर्थं तात्पर्यनिर्णायकं प्रकरणादिकं पर्यालोचयति । पर्यालोचनेन च तेन तात्पर्य—निर्णयो जायते । तदनन्तरं पुनरेकार्थमात्रविषयकोपस्थितिद्वारोपरिष्ठात्तार्थविषयकान्वयबोधो भवतीति क्रमः । ननु हेतुभूतस्य पदज्ञानस्य क्षणिकतया विनष्टत्वेन कथमेकार्थविषयिणी पुनः पदार्थोपस्थितिरित्यत आह—तदात्मकेति । तात्पर्यज्ञानात्मकेति तदर्थः । 'पयो रमणीयम्' इत्यादौ संदेहनिवर्तनाय त्रियमाणे 'अत्रत्यं पय एव दुग्धतात्पर्येणोच्चारितम्' इत्याकारके तात्पर्यनिर्णये पय आदिक पदं भासते इति तत्तात्पर्यज्ञानमेव पदज्ञानान्मकं सम्पद्यते इति तात्पर्यम् ।

ननु कथमियं द्वितीयोपस्थितेरकार्थमात्रविषया ? प्राथमिक्यामिव तत्रापि सर्वेऽर्था कुतो न भासेरन् इत्यत आह—प्रकरणादिज्ञानस्येति । इन्मत्र रहस्यम्—द्वितीयस्यानुपस्थितौ प्रकरणादिनिर्णीततात्पर्यविषयोभूत एक एवार्थो भासते नान्य, प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वबोधीकारान् । ननु व्यवहिततयोपस्थितिराले नष्टस्य तस्य प्रतिबन्धकत्वबोधम्—

वतीत्यत आह—सदधीनेति । प्रकरणज्ञानस्य तद्व्यवस्थापि तद्व्यवस्थापर्यन्तपरिणामोपस्थितिका-
लान्तस्य प्रतिबन्धकत्वं सम्भवतीति भावः । नानार्थकपदजन्यतदन्वयार्थविषयव्यवस्थापि
प्रति तदर्थविषयकस्तात्पर्यनिर्णयः प्रतिबन्धक इत्याकारकः प्रतिबन्ध—प्रतिबन्धकभाव आस्थेय
इति सरलार्थः । अन्यथेति । उक्तप्रतिबन्धकभावोपस्थितिकारे इत्यर्थः । उपस्थिते-
रप्रतिबन्धे उपस्थितानामपार्थानां शाब्दबोधे भाननियमेन नानार्थस्यले शाब्दबोधोऽपि नानार्थ-
विषयक आपतेत्, अनुभवसिद्धे तत्र तात्पर्यनिर्णयकार्यमात्रविषयकशाब्दबोधः, अत उक्त-
प्रतिबन्धक—प्रतिबन्धकभावोऽपश्यमज्ञीकार्य इति तात्पर्यम् ।

अब शब्दशक्तिमूलध्वनि के विषय में विचार करते हैं—तब केचित् हत्यादि से । मम्मट
आदि प्राचीन आलंकारिकों का मत है कि शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण वहाँ ही
होता है, जहाँ अनेकार्थकशब्दों की अभिधाशक्ति प्रकरण आदि के द्वारा एक अर्थ में
नियन्त्रित हो जाती है—अर्थात् वैसे स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ वाच्य न होकर शब्द-
निष्ठव्यञ्जनावृत्ति से व्यञ्ज्य होता है, उसी को शब्दशक्तिमूलध्वनि कहते हैं । इस
मत का मूलभूत आधार क्या है? इसी का विचार इस प्रकरण में मतभेद सहित किया
गया है । इस प्रसंग पर सर्वप्रथम नानार्थकशब्दों से होने वाले बोध की रीतियाँ दिल्-
लाई गई हैं । नानार्थकशब्दों में समानरूप से सभी अर्थों की शक्ति ज्ञात रहती है—
अर्थात् हम जानते रहते हैं कि हरिशब्द शिष्णु, सूर्य, अश्व, सिंह आदि सभी अर्थों का
वाचक है । अतः उस तरह के शब्दों के श्रवण होने पर उन सभी अर्थों का स्मरण एक
साथ हो जाता है । फिर यह सन्देह उपपन्न होता है कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में
है । अर्थात् वक्ता ने किस अर्थ का बोध कराने के लिये वहाँ इस नानार्थक शब्द का
प्रयोग किया है । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये श्रोता वक्ता के तात्पर्य को निर्णयित
करनेवाले प्रकरण आदि की पर्यालोचना करता है, जिससे उक्त सन्देह की निवृत्ति हो
जाती है । अर्थात् यह निश्चितरूप से ज्ञात हो जाता है कि वक्ता ने वहाँ अमुक
नानार्थक पद का प्रयोग अमुक अर्थ का बोध कराने के लिये ही किया है । इसके बाद
उस एकमात्र अर्थ की—जो प्रकरण पर्यालोचन से वक्तुविवक्षितज्ञात हो चुका रहता
है—पुन उपस्थिति (स्मृति) होती है । यदि आप यहाँ यह शंका करें कि किसी अर्थ
की स्मृति में उस अर्थ के बोधक पद का ज्ञान कारण होने के नाते अपेक्षित होता है,
और यहाँ जो पद का ज्ञान (श्रवण) हुआ था, वह मध्य में बहुत समय के व्यवधान
हो जाने से नष्ट हो जायगा, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अनिश्चित सभी ज्ञान दो चरण मात्र
रहकर नष्ट हो जाते हैं, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है । ऐसी स्थिति में पुनः अर्थ स्मरण
की बात कैसे कहते हैं? तो इसका समाधान यह है कि मध्य में जो 'अमुक पद को अमुक
अर्थ का बोधक कराने के लिये वक्ता बोला है' इत्याकारक तात्पर्य निर्णय हुआ है, उसमें
वह नानार्थक पद भी भासित होता है, अतः वह निर्णय ही पदज्ञानरूप सिद्ध हो जाता
है, फिर पुनः उस अर्थ के स्मरण होने में कोई बाधा नहीं होगी । इस तरह से पुनः उस
एकमात्र अर्थ के स्मरण होने के अनन्तर उस एक मात्र अर्थ का अन्वयबोध होता है,
यह नानार्थक शब्दस्थल में शाब्दबोध की एक रीति है । यद्यपि इस रीति में यह एक
शका की जा सकती है कि जैसे नानार्थक शब्द के श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में होने-
वाले प्रथम पदार्थ स्मरण में उक्त पद के सभी (प्राकरणिक अप्राकरणिक) अर्थ विषय होते
हैं अर्थात् वह स्मरण सर्वार्थविषयक होता है, वैसे तात्पर्यनिर्णयोत्तरकालिक द्वितीय
पदार्थस्मरण में भी वे सभी अर्थ विषय क्यों नहीं होते? तो इसका उत्तर यह है कि
प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा (यदि कहें कि दो चरणमात्र रहने वाला प्रकरण आदि का
ज्ञान तो नष्ट हो चुका रहेगा, तब) तत्प्रयुक्त होनेवाला तात्पर्य निर्णय—जो उस द्वितीय
स्मरण की पीठ पर वर्तमान रहेगा—उन अप्राकरणिक अर्थों के स्मरण में प्रतिबन्धक हो

जायगा, अतः द्वितीय स्मरण प्राकरणिक अर्थमात्र विषयक ही होगा, अप्राकरणिकार्थ-विषयक नहीं। यदि ऐसा प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव नहीं माना जाय तो शब्दबोध भी उन सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

उक्तान्वयबोधमानुसारेण 'संयोगो विप्रयोगश्चे' त्यादिकारिकांश उगमयति—

अत एवोक्तम्—'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति । अनवच्छेदे तात्पर्य-संदेहे । विशेषस्मृतिरेकार्यमात्रविषया स्मृतिः ।

अत एवेति । नानार्थस्थले शब्दबोधमल्योक्तरीत्योपपादनीयत्वादेवेत्यर्थः । उक्त-मिति । 'संयोगो विप्रयोगश्चे'त्यादिहरिकारिकायामिति शेषः । अनवच्छेदशब्दार्थमाह—तात्पर्य-सन्देह इति । विशेषस्मृतिपदार्थं स्फोटयति—एकार्थेति । अर्थभाव—उक्तरीत्या नानार्थक-शब्दस्थले संकेतितसकलार्थोपस्थित्यनन्तरं सति तात्पर्यसंदेहे, मयोगादयं स्वज्ञानाधीन-तात्पर्यनिर्णयद्वारा तात्पर्यविषयार्थातिरिक्तमकेतितार्थविषयकोपस्थिते प्रतिबन्धकरणेनैकार्य-मात्रविषयकोपस्थिते कारणानि भवन्ति ।

पूर्वोक्त अन्वय बोध की रीति को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्त कारिका का तदनुसार व्याख्या करते हैं—एव एव इत्यादि से । नानार्थकपदस्थल में उक्तरीति से शब्दबोध होने के कारण ही कहा गया है कि—वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, इस तरह के सन्देह होने पर संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रयोजन, प्रकरण आदि एक अर्थमात्र विषयक द्वितीय स्मरण के कारण होते हैं—अर्थात् नानार्थक शब्दों के प्रवण से, सभी संकेतित अर्थों की उपस्थिति होने के बाद, तात्पर्य सन्देह होने पर, संयोग आदि, ज्ञात होकर, तात्पर्य निर्णय द्वारा, अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति को रोक कर, एक प्राकरणिक अर्थमात्र की, पुनः उपस्थिति के कारण होते हैं ।

उक्तविचारसरणोः प्रकृतोपयोगित्वं दर्शयति—

इत्थञ्च सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युप-स्थितेरभावात् कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनाव्यापारोऽभ्युपेयः ।

इत्थञ्चेति । उक्तरीत्या नानार्थकशब्दस्थले तात्पर्यविषयीभूतैकार्यमात्रविषयकोपस्थितौ समर्थितायाम् । द्वितीयेति गवादिविषयिकेत्यर्थः । कथं स्यादिति । तात्पर्यज्ञानस्य प्रति-बन्धकस्य सत्त्वादिति भावः । अथमाशय—यदा मुगन्धिमांसं भक्षयत्यावुत्तादौ शालकादि 'सुरभिमांसं भक्षयती'ति वाक्यं प्रयुङ्क्ते, तदा तत्र तस्य वाक्यस्य 'सौरभमयं मांसम्, सुरभे (गो) मांसम्' इति द्वावप्यर्थौ वक्तुरभिप्रेतौ तिष्ठत, बोधोऽपि द्वयोरर्थयोर्जायते, अत एव विदग्धस्य श्रोतुरावुत्तादेर्जायमाना जुगुप्सा समुपपद्यते, इति वस्तुस्थितिः । परन्तु तत्राश्लोकार्थ-विषयकोपस्थितिः भोजनरूपप्रकरणज्ञानजन्यतात्पर्यनिर्णये न प्रतिबन्धितेति दविषयको बोधेऽ-भिधया न शक्यते सम्पादयितुमिति तदर्थं व्यञ्जनाव्यापार-स्वीकार आवरयकः । एवमादिरेव शब्दशक्तिमूलध्वनेर्लक्ष्यस्थल इति प्रोक्तप्रकरणस्य चरमं विवक्षितमवसेयम् ।

उक्त विचार से निकलने वाले प्रकृतोपयोगी निष्कर्ष का निर्देश करते हैं—इत्यादि से । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब शाले आदि ऐसे—जो गाली देने के अधिकारी रहते हैं, भक्ति—वहनोई आदि' ऐसे व्यक्ति, जिन्हें गाली दी जा सकती है—के प्रति 'सुरभि मांस खाता है' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं, तब वक्ता का 'गाय का मांस खाता है' इस अर्थ का बोध कराना भी लभीष्ट रहता है । परन्तु अभिधा-वृत्ति से उस अर्थ का बोध हो नहीं सकता, क्योंकि उक्त रीति से द्वितीय उपस्थिति

सुगन्धित मांसरूप अर्थ की ही होगी, गोमांस की नहीं, और जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होगी, उसका अन्वयबोध हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति उपस्थिति को कारण माना गया है। अतः वहाँ उस स्थिति में गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यञ्जना न्यापार मानना पड़ेगा अर्थात् वहाँ गोमांसरूप अर्थ शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि (व्यङ्ग्य) कहलायगा।

ननु नानार्थकशब्देषु नानार्थनिरूपिता एकेव शक्तिरिति पक्षाद्गोकारे भवदुक्तरीत्या व्यञ्जनावृत्तेरावरयकत्वमास्ताम्, अथ यदि नानार्थनिरूपिता नानाशक्तिर्नानार्थकेषु स्वीक्रियेत, तर्हि तु सम्भवत्यभिधयैव निर्वाह इति शंक्ते समाधत्ते च—

अथैकया शक्त्या प्राकरणिकार्थोपस्थितेरनन्तरं द्वितीयया शक्त्या द्वितीयार्थोपस्थितिस्तथापि स्यादिति चेत् ? न स्यादेव, प्रकरणादिज्ञानस्यप्रतिबन्धकस्यानुपरमात् । अन्यथा प्राकरणिकार्थोपस्थितावेवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य विषयत्वं स्यात् ।

सथापीति । प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपीत्यर्थः । तस्य पूर्वशक्त्या पुनरनुपस्थितौ कृतार्थत्वादिति भावः । प्रकरणादिज्ञानस्येति तात्पर्यनिर्णयस्याप्युपलक्षणम् । अनुपरमादिति । अनाशादित्यर्थः । सत्त्वादिति यावत् । अथ नानार्थकशब्दस्थले नानाशक्तिः स्वीक्रियते, तथा च 'सुरभिमास'मित्यादौ तात्पर्यनिर्णयनाप्राकरणिकाश्लीलार्थविषयकोपस्थितेः प्रतिबन्धात् एकया शक्त्या प्राकरणिकतौरभयमासरूपार्थनात्रोपस्थितावपि द्वितीययाऽभिधाशक्त्यावैवाप्राकरणिवाश्लीलार्थविषयकस्मृतिर्भवेत् तत्र चोक्तप्रतिबन्धकज्ञानमकिञ्चित्करमेव, तस्य प्रथमप्रतिबन्धनेन क्षीणसामर्थ्यात् तथा च व्यञ्जनाव्यापारो निष्फल इति शंकाया समाधानमाह— न स्यादेवेति । अयंभाव—प्रतिबन्धकज्ञानं चावसिष्ठति, तात्पर्यप्रतिबन्धं करोत्येव, न तस्य प्रथमप्रवृत्त्या कृतार्थता, क्षीणसामर्थ्यता वा भवतीति द्वितीययाभिधाशक्त्या विकीर्णमाणामपि अप्राकरणिकाश्लीलार्थविषयकस्मृतिं प्रतिबन्धीयादेव तावत्कालपर्यन्तं वर्तमानं प्रतिबन्धकीभूतस्तात्पर्यनिर्णयः । अन्यथा प्रतिबन्धेतरार्थाया प्रथमशक्तिजन्या प्राकरणिकार्थोपस्थितिस्तस्यामेव द्वितीयावृत्तौ प्रथमशक्त्यैवाप्राकरणिकोऽश्लीलोऽप्यर्थं किमिति न नियमो भवेत् ? तथात्वे च द्वितीयशक्तिस्वीकार एव किमर्थः ? एवञ्च प्रतिबन्धकज्ञाने विद्यमाने प्रतिबन्धोऽभ्युपेय एवेति द्वितीयशक्त्यापि नैष्टसिद्धिसभावना । तथा च शक्तेर्नात्वमप्रामाणिकम्, प्रामाणिकत्वे च तस्य, संकुचितस्थलविषयकत्वमेवेति भावः ।

नानार्थक शब्दों में उन सभी अर्थों—जिनका उन शब्दों से बोध होता है—की एकशक्ति है, इस मत के अनुसार ऊपर कही गई व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकतावाली बात ठीक हो सकती है, पर यदि उन अर्थों की पृथक्-पृथक् अनेक शक्ति नानार्थक पदों में है, यह मत माना जाय, तब तो अभिधावृत्ति से ही निर्वाह हो जाने से व्यञ्जना की आवश्यकता वहाँ नहीं होगी, इस तरह की शङ्का और उसका समाधान अब करते हैं— अब इत्यादि से । तात्पर्य यह है कि नानार्थक शब्दों में अनेक अर्थनिरूपित अनेक अभिधाशक्ति को मान लेने पर 'सुरभि मास खाता है' इत्यादि स्थल में तात्पर्य निर्णय से अप्राकरणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण, एक अभिधाशक्ति से प्राकरणिक सुगन्धित मांसरूप अर्थमात्र की उपस्थिति भले ही हो, पर उसके बाद द्वितीय अभिधाशक्ति से ही उस अप्राकरणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति होगी, उक्त प्रतिबन्धक तो प्रथम उपस्थिति में उसे भासित होने से रोक कर कृतार्थ हो चुका अब उसमें प्रतिबन्ध का सामर्थ्य कहीं ? यह है शंका करनेवालों का अभिप्राय । उत्तर देनेवालों का आशय यह है कि—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इस द्वितीय शक्तिजन्य

उपस्थितिकाल में भी उक्त प्रतिबन्धक जब वर्तमान है, तब यह प्रतिबन्ध भवरथ करेगा, द्वितीयशक्ति से भी अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति नहीं होने देगा। यह बात निर्भूलक है कि—एक बार प्रतिबन्ध कर लेने पर प्रतिबन्धक कृतार्थ हो जाता है अथवा उसका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, अस्तुत्त' प्रतिबन्धक जब तक रहता है, तब तक बार-बार प्रतिबन्ध करता ही रहता है। अन्यथा उक्त द्वितीय शक्ति की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी? प्रथम शक्ति से ही जो प्रथम प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी में द्वितीय बार अप्राकरणिक अर्थ भी क्यों नहीं भासित हो जायगा? प्रतिबन्धक तो आप के हिसाब से एक बार प्रतिबन्ध कर चुकने के कारण अपना सामर्थ्य खो चुका रहेगा। अतः प्रतिबन्धक के रहने पर प्रतिबन्ध मानना ही पड़ेगा, जिससे द्वितीय शक्ति से भी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, फिर यह द्वितीय शक्ति की कल्पना ही अप्रामाणिक है। यदि प्रामाणिक भी हो, तो यही कहना पड़ेगा कि वह कुछ विशेष स्थलों पर ही मान्य है, सर्वत्र नहीं।

ननुत्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावाद्वाहिकारे वैयञ्जनिकाप्राकरणीकार्यविषयकोपस्थितेरपि कुतो न प्रतिबन्ध इत्याशङ्क्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानस्य तादृशपदजन्यार्थोपस्थितिसामान्य एव प्रतिबन्धकत्वाद्द्वयकृत्याऽपि कथमर्थान्तरोपस्थितिरिति वाच्यम्, धर्मिप्राहकमानेनाप्राकरणीकोपस्थापकतयैव तादृशव्यक्तेरुल्लासात्तदजन्योपस्थितिं प्रत्येव प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। व्यक्तिकज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पनाद्वा।

तादृशेति प्राकरणीकार्यविभेदित्यर्थः। अर्थपदार्थान्वयव्यर्थकं पदमेतत्। द्वयकृत्येति व्यञ्जनयेत्यर्थः। अर्थान्तरेति अभिधाद्व्यनुपस्थाप्यार्थेत्यर्थः। धर्मिप्राहकमानेनेति। धर्मो व्यञ्जनात्तदप्राहक मानम् अनुभवसिद्धानानार्थस्थलीयाप्राकरणीकार्यविषयकोपस्थिति, तद्रूपेण प्रमाणेनेत्यर्थः। तादृशेति अर्थान्तरोपस्थापकेत्यर्थः। तदजन्येति व्यञ्जनावृत्त्यजन्येत्यर्थः। विनिगमनभावादाह—व्यक्तिकज्ञानस्येत्यादि।

सामान्यतो नानार्थकपदजन्याप्राकरणीकार्यविषयकोपस्थितिं प्रति प्रकरणादिज्ञानस्य तज्जन्यतान्पर्यनिर्णयस्य वा प्रतिबन्धकत्वे व्यञ्जनयापि अप्राकरणीकार्यविषयकोपस्थितिर्न स्यादिति शङ्कान्ना, धर्मिप्राहकमानेनोक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावपटकप्रतिबन्धकत्वे व्यञ्जनावृत्त्यजन्येति निवेशेन न वैयञ्जनिकोपस्थितिप्रतिबन्ध इति समाधान बोध्यम्।

अथवा अस्तु सामान्य एव प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव, मास्तु च व्यञ्जनावृत्त्यजन्यत्वनिवेश, तथापीष्टसिद्धि सम्भवतोत्याह—व्यक्तिकज्ञानस्येत्यादि। अयभाव—नानार्थकपदजन्याप्राकरणीकार्योपस्थितिं प्रति तदर्थनिष्पितनानार्थकपदनिष्ठव्यञ्जनाज्ञानस्योत्तेजकत्वमङ्गीकृत्य तादृशोत्तेजकभावविशिष्टोक्तप्रकरणादिज्ञानस्योत्तेजकत्वोपस्थितिं प्रति प्रतिबन्धकत्व कल्पनीयम् इति।

अब उक्त प्रतिबन्धक, व्यञ्जनावृत्ति से होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता इस शका का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से। यदि आप कहें कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा तज्जन्य तात्पर्यनिर्णय, नानार्थक पद के प्राकरणिक से भिन्न सभी प्रकार के अर्थों की (अभिधाजन्य अथवा व्यञ्जनाजन्य) उपस्थितियों का प्रतिबन्धक है, फिर व्यञ्जना से भी उक्त अप्राकरणिक गोमास आदि अर्थों की उपस्थिति कैसे होगी? तो, इसका उत्तर यह है कि जब वैसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति कराने के लिये ही व्यञ्जनावृत्ति का उत्थान माना गया है, तब भी यदि व्यञ्जना से होनेवाली उपस्थिति को उक्त प्रतिबन्धक रोक ही दे, फिर तो व्यञ्जना का उत्थान ही व्यर्थ हो जाय, अतः व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न वृत्ति (अभिधा

आदि) के द्वारा होनेवाली अप्राकरणिकार्थविषयक उपस्थिति के प्रति ही प्रकरण आदि के ज्ञान आदि को प्रतिबन्धक मानना चाहिए । अथवा यदि आप मामान्यतः अप्राकरणिकार्थविषयक उपस्थिति मात्र के प्रति प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानना चाहें, तो मानिये, पर व्यञ्जना-ज्ञान को उत्तेजक मान लीजिये अर्थात् जैसे चम्बूकाभ्रमणिरूप प्रतिबन्धक के रहने पर भी सूर्यकान्तमणिरूप उत्तेजक के बल से दाहरूप कार्य नहीं रुकता, उसी तरह उक्त प्रतिबन्धक के विद्यमान रहने पर भी व्यञ्जनाज्ञानरूप उत्तेजक की महिमा से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति ही हो जायगी, रुकेगी नहीं । स्पष्ट सात्पर्य यह हुआ कि उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रकरणादिज्ञान को ही प्रतिबन्धक माना जायगा, जिससे व्यञ्जनाज्ञान के रहने पर उक्त अभाव घटित प्रतिबन्धक का स्वरूप ही उपलब्ध नहीं होगा, फिर उपस्थिति को रोके कौन ?

मम्मटस्योक्तविचारानुसारित्व दर्शयति—

एतदेव सर्वमभिसन्धायोक्तम्—

‘अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाक्यार्थधीकृद्ब्यापृतिरञ्जनम् ॥’

यन्त्रणमपरार्थोपस्थापनप्रतिबन्ध इति ।

उक्तमिति । वाच्यप्रकाशे मम्मटमहेनेति शेष ।

अनेकार्थकस्य शब्दस्याभिधाया संयोगाद्यैर्नियन्त्रितायामन्यत्र वाच्यस्याप्यत्रावाच्य-स्याप्राकरणिकार्थस्य धी-बोध तत्कारक व्यापारः अञ्जनम् व्यञ्जनेत्यर्थ । अनेकार्थकपद-निष्ठाभिधाया संयोगादिकर्तृकनियन्त्रणघात्रान्यार्थोपस्थापकत्वप्रतिबन्धरूपमवगन्तव्यम् ।

काम्यप्रकाशकार मम्मट ने जो अभिधामूलक व्यञ्जना का लक्षण किया है उसका आचार भी उक्त विचार ही है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनकी कारिका को उद्धृत करते हैं—एतदेव इत्यादि से । मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिधामूलक व्यञ्जना का लक्षण किया है कि ‘संयोग आदि से अनेकार्थशब्दों की अभिधा (वाचकता) शक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर, अन्यत्र वाच्य होने पर भी नियन्त्रण स्थल में अवाच्य बने हुए अर्थों की प्रतीति करानेवाले शब्दव्यापार का नाम अञ्जन (व्यञ्जना) है ।’ नियन्त्रण का अर्थ यहाँ अप्राकरणिक अर्थों के उपस्थितिकरण का रूक जाना है । अर्थात् ‘सुरभि मास को खाता है’ इत्यादि स्थल में प्रकरणज्ञान आदि प्रतिबन्धक जब गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति को रोक देता है, तब सुगन्धित मासरूप अर्थ ही अभिधा से उपस्थित होकर अन्वयबोध का विषय होता है, अतः वही अर्थवाच्य कहलाता है, गोमांसरूप अर्थ तो पीछे व्यञ्जना से उपस्थित होकर बोध-विषय होता है, अतः वह शब्दशक्तिमूल व्यञ्ज्य कहलाता है और उसको उपस्थित करनेवाली शब्दशक्ति अभिधामूलक व्यञ्जना कहलाती है । इस तरह स्पष्ट है कि मम्मट ने उक्त सभी बातों का अनुमन्धान करके ही यह लक्षण बनाया है ।

नानार्थस्थलीयपदार्थोपस्थितिशब्दबोधकमसंबन्धितान्तरमाह—

अपरे त्वाहुः—नानार्थशब्दजशाब्दबुद्धौ तात्पर्यनिर्णयहेतुताया अवश्यकल्प्य-त्वात् प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि प्रकरणादभिस्तात्पर्यनिर्णयहेतु-भिरुत्पादिते तस्मिन् यत्र तात्पर्यनिर्णयस्तस्यैवार्थस्यान्वयबुद्धिर्जायते, नान्यस्येति सरणावाश्रीयमाणायां नैकमात्रगोचरस्मृत्यपेक्षा, नाप्यपरार्थोपस्थानप्रतिबन्ध-कत्वकल्पनम् ।

प्रथममिति । तात्पर्यनिर्णयात्प्रामित्यर्थ । तस्मिन् इति । तात्पर्यनिर्णये । अयमत्र विशदार्थ—नानार्थशब्दजन्यबोध प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वमवश्य कल्पनीयम्, अन्यथा

‘हरि’रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वाभावज्ञाने अन्य (सिद्धादि) बोधेच्छयोच्चरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधोपपत्ति । न चेष्टोऽसौ बोध इति वाच्यम्, अनुभवविरोधात् । न च तत्र तादृशबोधवारणायोरुक्तज्ञानयो प्रतिबन्धकत्वं कल्पयामि वाच्यम्, तदपेक्षया हरिपदजन्यविष्णुविषयकबोधं प्रति-‘इदं हरिपदं विष्णुबोधेच्छयोच्चरितम्’ इत्याकारकतात्पर्यग्रहस्य हेतुत्वकल्पने एव व्यापवात् । एवं सिद्धे तात्पर्यनिर्णयस्य शाब्दबोधहेतुत्वे नानार्थकशब्दध्वनानन्तर सकेतज्ञस्य पुरुषस्य प्रथमं सर्वेऽर्था उपतिष्ठन्ते, ततस्तात्पर्यसंदेहो जायते ततश्च प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयकारणैस्तात्पर्यनिर्णयं समुत्पाद्यते, तदनन्तर तात्पर्यविषयस्यैवार्थस्यान्वयबोधो भवति नान्यस्य, इत्यत्र तात्पर्यविषयीभूतस्यैवार्थस्यान्वयबोधोपपत्त्यर्थं पूर्वकल्पे समाश्रिताया एकमात्रविषयस्मृतेनपेक्षा, नापि द्वितीयोपस्थितौ तात्पर्यविषयेतरार्थभानवारणाय तात्पर्यनिर्णयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षा इति ।

अब नानार्थक शब्दों से होनेवाले शाब्दबोध की रीति के सम्बन्ध में द्वितीय मत को उपस्थित करते हैं—अपरे तु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि कम से कम नानार्थक शब्द से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति स्वतन्त्ररूप से तात्पर्य निश्चय को कारण मानना आवश्यक है, अन्यथा जब श्रोता जानता रहता है कि वक्ता ने विष्णु का बोध कराने के लिए हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, अथवा यही जानता रहता है कि वक्ता सिंह भादि (विष्णु से भिन्न) का बोध कराने की इच्छा से हरिपद बोला है, तब भी हरिपद ध्वन के बाद उस श्रोता को विष्णु का बोध हो जाना चाहिये, क्योंकि शक्तिज्ञान आदि सभी (शाब्दबोध के) कारण जुटे ही हुए हैं। यदि आप कहें कि कौन कहता है कि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ?—होता ही है, तो यह तर्क मान्य होने योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ऐसा ही लोगों का अनुभव है, विष्णुविषयक बोध के प्रति ‘यह हरिपद विष्णु का बोध कराने के लिए वक्ता से बोला गया है’ इत्याकारक तात्पर्यनिश्चय को कारण मानने पर तो उक्त स्थिति में विष्णुविषयक बोध का न होना ठीक बनता है, क्योंकि अन्य कारणों के रहने पर भी उक्त तात्पर्य निर्णयरूप कारण का उपस्थिति में अभाव है। इस तरह तात्पर्यनिश्चय की शाब्दबोधहेतुता सिद्ध हो जाने पर पूर्व मत में जो प्राकरणिक अर्थमात्र की द्वितीय बार स्मृति मानी गई है, उसकी अपेक्षा नहीं रह जाती और न रहती है आवश्यकता, अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति में प्रकरणादिज्ञान के प्रतिबन्धकत्व कल्पना की, क्योंकि नानार्थक शब्दध्वन के बाद उन सभी प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक, अर्थों—जिनकी शक्ति नानार्थक शब्द में गृहीत है—की उपस्थिति (स्मृति) होगी, (यहाँ तक पूर्वमत में भी मान्य है) पर अन्वयबोध होगा उन उपस्थित अर्थों में केवल प्राकरणिक का ही, क्योंकि शाब्दबोध के कारणों में अन्यतम तात्पर्यनिर्णय उसीके अनुकूल है और यह अनुकूलता इसलिए है कि प्रकरणज्ञान ही तात्पर्य का निर्णायक होता है और प्रकरणज्ञान ‘सुरभिमास’ इत्यादि स्थान पर सुगन्धित मास के समान किसी एक ही अर्थ के विषय में रहता है यह तो स्पष्ट ही है। इस मत में पूर्वमत की अपेक्षा लाघव है क्योंकि अभिधान्य अप्राकरणिकार्थविषयक बोधवारण के लिए पूर्वमत में प्रकरणज्ञान में अप्राकरणिकार्थोपस्थिति की प्रतिबन्धकता माननी पड़ती थी और प्राकरणिकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति स्वीकृत करनी पड़ती थी, इस मत में शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिश्चय को कारण मान लेने से उक्त बोधवारण अन्यथा हो सिद्ध है, अतः उन दोनों में एक भी नहीं माननी पड़ती ।

एतद्विस्था शाब्दबोधोपपादनेऽपि व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकत्वं दर्शयति—

एव च प्रागुपदर्शितनानार्थस्थले प्रकरणादिज्ञानाधीनात्तात्पर्यनिर्णयात्प्राकर-

णिकार्थशाब्दबुद्धौ जगतायामतात्पर्यविषयाऽपि शाब्दबुद्धिस्तस्मादेव शब्दाज्ञाय-
माना कस्य व्यापारस्य साध्यतामवलम्ब्यताम्, ऋते व्यञ्जनात् ।

एवंचेति । प्रागुक्तरोत्या प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि तात्पर्यविषयार्थस्यैव
शब्दबोधविषयतासिद्धौ चेत्यर्थः ।

प्रागुपदर्शितेत्यादि । 'सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादावित्यर्थः । ऋते इति विनेत्यर्थः ।
तात्पर्यनिर्णयस्य शाब्दबोधे कारणत्वेन भोजनप्रकरणे शालकागुच्चरितात् 'सुरभिमांसं भक्ष-
यतीति वाक्यात् सौरभमगमासभक्षणरूपत्वैवार्थस्य शक्यत्वान्वयबोधः । चिन्तयिषितश्च
तत्र वक्तुर्गोमांसभक्षणरूपार्थविषयको बोधोऽपि । स न शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाङ्गीकारमन्तरा
न साधयितुं शक्य इति भावः ।

इस द्वितीयमत के अनुसार भी व्यञ्जना की आवश्यकता दिखलाते हैं—एव च
हत्यादि से । इस तरह शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने पर 'सुरभि
मांस को खाता है' हत्यादि नानार्थक शब्दस्थल में भोजनरूप प्रकरण के ज्ञान से 'वहाँ
वक्ता ने सुगन्धित मांस का बोध कराने की इच्छा से सुरभिमांस पद का प्रयोग किया
है' इत्याकारक वक्तृतात्पर्य के निर्णय हो जाने के बाद उस तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का ही
शाब्दबोध अभिधावृत्ति से होता है, अप्राकरणिक गोमांस का नहीं, और अनुभव कहता
है कि वहाँ उस सुरभिमांस शब्द से ही अप्राकरणिक गोमांस का भी बोध होता है,
फिर उसके बोध को सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त उपाय ही क्या है ? क्योंकि
शाब्दबोध की इस द्वितीय रीति में जो नानार्थस्थल का अप्राकरणिक अर्थ शब्दशक्ति-
मूल शब्द का उदाहरण होता है ।

'सुरभिमांसमित्यादौ गोमांसभक्षणरूपार्थविषयकबोधस्य शक्तिसाप्यत्वनर्थाङ्गिरस्तमपि
शब्दतो निरस्यति—

न च शक्तिसाध्या सेति वाच्यम्, तद्धीनबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य
हेतुत्वात् ।

सेति । नानार्थकशब्दजन्यातात्पर्यविषयार्थबुद्धिरित्यर्थः । अन्यदत्रापेक्षितं वषण्यं
पूर्वमुक्तमेव ।

नानार्थस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधावृत्ति से नहीं हो सकता, यह
बात अर्थतः पहले भी कही जा चुकी है, पर अब उसी बात को शब्दतः कहते हैं—नच
हत्यादि से । नानार्थक शब्द से होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधावृत्ति से सिद्ध
नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान
लिया गया है ।

ननु व्यञ्जनयापि कथमतात्पर्यविषयार्थबोधः, वैयञ्जनिकबोध प्रत्यापि तात्पर्यनिर्णयस्य
हेतुताकल्पनादित्यत आह—

व्यक्त्यधीनबोधस्तु नावश्यं तात्पर्यज्ञानमपेक्षते ।

नावश्यमिति । नियमेन नैत्यर्थः । यत्रानेकव्यङ्ग्यसंभावना, तत्र तु वैयञ्जनिकबोधेऽपि
तात्पर्यनिर्णय कारणत्वेनापेक्षित एवेति भावः । अतात्पर्यार्थबोधसाधकत्वैव धर्मिप्राहक-
मानसिद्धा व्यञ्जनेति तद्धीनबोधसामान्ये तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वकल्पनं बाधपराहतामिति
भावः । बोधविशेषे तत्सम्भवतीत्यन्यदेतत् ।

' यदि आप कहें कि नानार्थक स्थल में जब अप्राकरणिक अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का
विषय नहीं रहता, तब व्यञ्जना से उसका बोध कैसे सिद्ध किया जा सकता ? इसका

उत्तर यह है कि हाँ, व्यञ्जना से उसका बोध सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वैयञ्जिक बोध के प्रति नियमता तात्पर्यनिर्णय कारण नहीं है। नियमतः से मेरा मतलब यह है कि जहाँ अनेक व्यञ्जनों की सम्भावना हो, उनके बोध में भी तात्पर्यनिर्णय को कारण माना जा सकता है। आप यहाँ यह भी पूछ सकते हैं कि सभी वैयञ्जिक बोधों के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण क्यों नहीं माना जा सकता? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जब उक्त स्थल में अतात्पर्यविषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ के बोध कराने के लिये ही व्यञ्जना की कल्पना की गई है, तब उस तरह के बोध में तात्पर्यनिर्णय को कारण कैसे माना जा सकता है?

अनुपदोक्तव्याख्याने 'सयोगो विप्रयोगश्चेति हरिकारिकाया, अनेकार्थस्येति मम्मटकारिकायाश्चासंगतिमापाद्य निराकरोति—

नन्वेकमात्रगोचरस्मृतेस्तच्छाब्दबुद्ध्यावनपेक्षितत्वे 'विशेषस्मृतिहेतवः, इति प्राचा ग्रन्थः कथं संगच्छते? कथं वा प्रकरणादिज्ञानस्यापराधोपस्थानप्रतिबन्धकत्वविरहे संयोगाद्यैरनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकताया नियन्त्रणोक्तिश्चेति चेत्? इत्थम्—स्मृतिशब्दस्य निश्चयपरतया विशेषस्मृतिशब्देन विशेषविषयस्तात्पर्यनिर्णयो गृह्यते। संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रणचैकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयजननद्वारा शाब्दबुद्धानुकूलत्वम्। अवाच्यार्थोऽतात्पर्यार्थः। एवं च न ग्रन्थासंगतिरित्यपि वदन्ति।

उक्तिधेत्यस्य 'कथं संगच्छते' इत्यत्रानुपपन्नं। वदन्तीति। अन्ये इति भावः। पूर्वस्मिन् कल्पे प्राकरणिकार्थमात्रविषयिणी द्वितीया स्मृति रवीकृतेति तत्र 'विशेषस्मृतिहेतवः' इति हरिकारिकाग्रन्थ स्वरसतोऽनुकूलः। एवं तत्र कल्पे प्रकरणादिज्ञानस्यान्यार्थोपस्थिति-प्रतिबन्धकत्वमाशङ्क्यते इति तत्कल्पव्याख्यावसरे प्रदर्शितया रीत्या संयोगादिकर्तृकानेकार्थक-शब्दनिष्ठवाचकतानियन्त्रणपरको मम्मटग्रन्थोऽपि सगतो भवति, परस्मिन् द्वितीयकल्पे एकार्थमात्रविषयकस्मृतेरावश्यकता निरस्ता प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावोऽपि प्रत्याख्यात इति तयोर्ग्रन्थयोरैतद्विन्या योजनं सम्भवतीति शङ्काशयः। अस्मिन् कल्पे हरिकारिकास्यस्मृति-शब्दस्य निश्चयपरत्व व्याख्याय 'तात्पर्यसन्देहे संयोगादय-विशेषविषयकतात्पर्यनिर्णयहेतवो भवन्ति' इति। एव 'संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रण'मित्यस्य एकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयकरणेन शाब्दबोधानुकूलत्वमित्यर्थं विधाय तयोर्ग्रन्थयोर्योजनं मुलेन सम्भवतीति च समाधानाशयो बोध्यः।

अब उक्त द्वितीय मत में 'सयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका तथा 'अनेकार्थस्य' इत्यादि मम्मटकारिका असंगत हो जायगी, इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि 'सयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका का वह अंश—जिसमें कहा गया है कि ये सब (संयोग आदि) स्मृति विशेष के कारण होते हैं—प्रथम मत में संगत होता है, क्योंकि उस मत में प्राकरणिकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति मानी गई है। इसी तरह 'अनेकार्थस्य शब्दस्य' इत्यादि मम्मटोक्त कारिका में वणिगत वाचकता नियन्त्रणवाली बात भी उस मत में ठीक जँचनी है, क्योंकि उस मत में प्रकरणादि-ज्ञान को प्रतिबन्धक मानकर अप्राकरणिक अर्थ स्मरण के रुकने की पद्धति अपनाई गई है। पर इस द्वितीय मत में तो उन दोनों कारिकाओं के वे अंश असंगत ही हो जायेंगे, क्योंकि इस मत में न एकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मरण माना गया है और न उक्त प्रतिबन्ध प्रतिबन्धकभाव की ही आवश्यकता समझी गई है। इस पूर्व पक्ष के खण्डन

में यह बात कही गई है कि उक्त हरिकारिका में पठित 'स्मृति' शब्द का अर्थ है 'निश्चय', जिससे 'विशेषस्मृतिहेतवः' का अर्थ होता है—विशेषविषयक-तात्पर्यनिर्णय के कारण। अब द्वितीयमत में भी इस अर्थ की असंगति नहीं होती, क्योंकि संयोग आदि के द्वारा तात्पर्यनिर्णय की बात इस मत में भी मानी ही गई है। इसी तरह मम्मट की उक्त कारिका में आई हुई पाचकता नियन्त्रणवाली बात का अभिप्राय है कि संयोगादिज्ञान से केवल एक अर्थविषयक तात्पर्यनिर्णय द्वारा अनेकार्थक शब्दनिष्ठवाचकताशक्ति का एकार्थमात्रविषयक शब्दबोध के अनुकूल हो जाना। अब इस अर्थ की भी असंगति द्वितीय मत में नहीं होती, क्योंकि अभिधाजन्य शब्दबोध को एकार्थमात्रविषयक मान लेने से इस मत में भी उक्त अनुकूलता की रक्षा हो जाती है। द्वितीयमत के अनुसार मम्मटोक्त कारिका उक्त 'अवाच्यार्थी' में अवाच्यार्थ का अभिप्राय अतात्पर्यार्थ है, जो सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि, नानार्थस्थल में व्यङ्ग्य होनेवाला अप्राकरगिक अर्थ तात्पर्यविषय रहता ही नहीं है।

ननु वैयञ्जिनबोधेऽपि पदज्ञानस्य कारणत्वेन शक्तिसाध्यप्राकरगिकार्थबोधानन्तरं तान्-
 र्यज्ञानात्मकपदज्ञानस्य नष्टत्वात् कथं व्यञ्जनयापि अप्राकरगिकार्थबोध इत्याशङ्क्य समाधत्ते—
 अथ प्राकरगिकार्थबोधानन्तरं तादृशपदज्ञानस्योपरमात् कथं व्यक्तिवादि-
 नाप्यर्थान्तरधीः सूषपादेति चेत्? मैवम्, प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारस्य सत्त्वाद्-
 दोष इत्येके। अर्थप्रतीतौ शक्यतावच्छेदकस्यैव पदस्यापि विशेषणतया भाना-
 त्प्राथमिकशक्त्यर्थबोधस्यैव पदज्ञानत्वादित्यपरे। आवृत्त्या पदज्ञानं सुलभ-
 नित्यपि कश्चिन्।

सादृशेति । तात्पर्यज्ञानात्मकेत्यर्थः । तस्यैव सन्निहितत्वादिति भानः । शंकादत्तस्या-
 शयोऽपत्तरण एव स्फुटीकृतम् । उत्तरदलाशयस्त्वेवमवगन्तव्यम्—तात्पर्यज्ञानोत्तरं प्रथमं
 प्राकरगिकार्थस्य शक्यता बोधस्ततो व्यञ्जनयाऽप्राकरगिकार्थस्येति ज्ञाने अद्यपि तृतीयक्षणभा-
 विवैयञ्जिनबोधोपासरे ध्वनिकं तात्पर्यज्ञानात्मकं पदज्ञानं विनष्टमिति सत्यम्, तथापि द्वितीय-
 क्षणभावो शक्यार्थबोधरूपस्तदीयो व्यापारस्तृतीयक्षणे तिष्ठतीति तद्व्यापारात्मकसंबन्धेन तस्य
 सत्त्वाच्च दोषावकाशः । इति एकै प्रधाना इत्यर्थः । अथना 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य-
 शब्दानुगमादते । अगुविदमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' इति हर्युक्तरिशा पदजन्यार्थबोधे
 शक्यतावच्छेदकमिव पदनपि विशेषणतया भासते । तथा च व्यङ्ग्यार्थबोधोऽतः पूर्वक्षणे य-
 शक्यार्थबोधो भवेत्, तस्मिन् पदमपि भासते इति अवनसिद्धं पदज्ञानमिति भावः ।
 इति अपरे मतान्तरवादिन इत्यर्थः । कश्चिन् नानार्थकं पदमावर्त्य पदज्ञानमुपपादयति ।
 परस्मिन् 'कश्चिदि'त्यनेनाहञ्चि' सुचिता । तद्वीज तु कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तौ व्यर्थमावृत्त्या-
 लकं गौरवमिति बोध्यम् ।

पदज्ञान को जिस तरह अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण माना जाता है, उसी तरह
 व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति भी, फिर इस द्वितीय मत में व्यञ्जना से अप्राकरगिक
 अर्थ का बोध कैसे होगा, क्योंकि पदज्ञानरूप कारण नहीं है? इसका समाधान
 करते हैं—अथ इत्यादि से। इस द्वितीय मत में, सर्वप्रथम पद का अवगात्मकज्ञान,
 तदनन्तर पदार्थोपस्थिति, तदुत्तर तात्पर्यनिर्णय, तदुत्तर अभिधाजन्य प्राकरगिक अर्थ का
 शब्दबोध, तदनन्तर व्यञ्जनावृत्तिजन्य अप्राकरगिक अर्थ का बोध होता है यही तो क्रम है।
 इस क्रम में शङ्का होती है कि प्रथम पदज्ञान दो चरण तक रह कर तृतीय तात्पर्यनिर्णयचरण
 में विनष्ट हो जायगा, एवं पदज्ञानरूप मान लिया गया तात्पर्यनिर्णय भी अभिधा-
 जन्यप्राकरगिकार्थबोधोत्तर चरण में विरत हो जायगा, फिर नैपदानिक बोधचरण में

पदज्ञान नहीं रह सकता, अतः व्यञ्जना से भी अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे होगा ? इसका प्रधानाचार्यों के मत से समाधान यह है कि तात्पर्यनिर्णय के तिस तृतीयवृत्त में वैयञ्जनिक बोध होता है, उस वृत्त में यद्यपि लीचे तरीके से तात्पर्यनिर्णय नहीं हो पाता, यह बात ठीक है, तथापि द्वितीय वृत्त में जो अभिधा जन्मबोध होता है, वह अन्त में तात्पर्यनिर्णय का व्यापार होता है और वह व्यापार तृतीय वैयञ्जनिक बोधवृत्त में भी रहता है, जिस (संबन्ध) के द्वारा उक्त तात्पर्यनिर्णय भी तृतीयवृत्त में रहेगा, अतः उक्त आपत्ति नहीं दी जा सकती है। अन्य विद्वानों का मत है कि शब्दबोध में जिस तरह शक्यतावच्छेदक (अर्थगतधर्म) भासित होता है, उसी तरह शक्यताशके विशेषणरूप से पद भी भासित होते हैं, अतः एव भर्तृहरि ने कहा है—'न सोऽस्ति' इत्यादि। (पूरी कारिका संस्कृत टीका में देखिये) अर्थात्—'देसा कोई अर्थबोध जगत में नहीं है, जिसके पीछे शब्द नहीं हो। प्रायः सभी अर्थबोध शब्दों से मिश्रित ही होते हैं।' अतः वैयञ्जनिक बोध से पूर्ववृत्त में होनेवाला अभिधाजन्य बोध ही पदज्ञानरूप होता है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नानार्थक पद की आवृत्ति द्वारा पदज्ञान को सुकर बना लिया जायगा।

प्राचीनमतसुपसहरति—

तदित्थं नानार्थस्थलेऽनुरणनीयं व्यञ्जनं शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परित्यक्त्यसहत्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयन्ति ।

तदिति। तत् तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानादित्यर्थ । इत्यम् पूर्वोक्तप्रकारेण । अनुरणनीयम् सलक्ष्यक्रमम् । व्यञ्जनम् ध्वनिम् । शब्दस्य परित्यक्त्यसहत्वादिति शब्दशक्तिमूलत्वे हेतु । पर्यायान्तरेणऽबोधनादिति तदर्थ । ध्वनिकार आनन्दवर्धनो ध्वन्यालोकप्रणेता, तदनुयायिनो मम्मटभट्टादयः । शब्दशक्तिमूलस्य सलक्ष्यक्रमभेदस्य ध्वनेर्लक्ष्य नानार्थस्थलीयाप्राकरणिकार्थ इति साराशः ।

अब प्राचीन मत का उपसहार करते हैं—तदित्थम् इत्यादि से। इस तरह नानार्थक शब्द स्थल में जो अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य होता है, वह अनुरणनीय और शब्दशक्ति मूलक कहा जाता है। अनुरणनीय उसे इसलिये कहा जाता है कि जिस तरह मन्दिर आदि में एक बार किसी वाद्य के शब्द होने पर बाद में भी उस शब्द की प्रतिध्वनि होती रहती है और उस ध्वनि तथा प्रतिध्वनि के मध्य में रहनेवाला अन्तराल स्पष्ट लक्षित होता है, उसी तरह काणरूप वाच्यार्थज्ञान के बाद जिस वस्तु एवम् अलंकाररूप व्यङ्ग्य का ज्ञान होता है, उन दोनों के बीच का व्यवधान स्पष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार के व्यङ्ग्य को संलक्ष्यक्रम भी कहा जाता है। शब्दशक्तिमूलक उसे इसलिए कहते हैं कि उसके मूल में काम करने वाली व्यञ्जना शब्दनिष्ठ है। यहाँ शब्दशक्ति से अभिधा का ग्रहण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि यहाँ शक्ति का अर्थ अभिधा किया जाय तो 'अर्थशक्तिमूल' जहाँ कहा जाता है, वहाँ शक्ति का अर्थ क्या करेंगे? अतः मेरे विचार से इन दोनों जगहों पर शक्ति का अर्थ व्यञ्जना ही करना चाहिये। यदि आप कहें कि जहाँ शब्दी व्यञ्जना भानी जाती है, वहाँ अर्थ भी तो रहता ही है, फिर उस व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ ही क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर शब्द ऐसे रहते हैं, जिन्हें बदला नहीं जा सकता अर्थात् 'सुरभिमांस' इत्यादि स्थल में सुरभि आदि शब्दों के स्थान में तत्पर्याय सुगन्धि अथवा 'गो' पद नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वे दोनों पद नानार्थक नहीं हैं, अतः मानना पड़ेगा कि शब्द की महिमा से ही वहाँ व्यङ्ग्य हुआ है। जहाँ ऐसे व्यङ्ग्य रहते हैं, जो व्यञ्जक पद के स्थान में पर्यायान्तर के प्रयोग करने पर भी हो सकें, वहाँ मानना पड़ता है कि अर्थ की महिमा व्यङ्ग्य करने में सहायक है, अतः वैसे स्थलों में व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ मानकर अर्थशक्ति-

मूल का व्यवहार होता है। इस प्रकरण में उपर दिखाये गये विचार ध्वनिकार आनन्द-वर्धन के अनुयायी मम्मद आदि के हैं।

अस्मिन् प्रसङ्गे प्रत्यक्षारः स्वमतमुपदर्शयितुं पूर्वोक्त मतद्वयं सङ्घयति—

अन्ये त्वत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते । यत्तावदुक्तमेकार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थिति-स्तदन्वयबोधेऽपेक्ष्यत इति तदसारम् । नानार्थादर्थद्वयोपस्थितावपि प्रकरणादि-ज्ञानाधीनतात्पर्यमहिम्नैव विवक्षितार्थशाब्दबोधोपपत्तेः, एकार्थमात्रोपस्थित्य-पेक्षायां मानाभावात् । अपरार्थोपस्थापकसामग्र्याः पदज्ञानस्य सत्त्वेन तदुप-स्थितेरप्यौचित्याच्च ।

अत्रेति । अनुपदोक्तमतद्वये इत्यर्थः । प्रत्यवतिष्ठन्ते इति । विरुद्ध प्रतिपादयन्तीति तात्पर्यम् । तत्रायमते आह—यत्तावदिति । अयं भाव—नानार्थकपदाच्छक्त्या प्राकरणि-कार्यस्यैवान्वयबोधो भवति नान्यस्येत्यनुभवसिद्धं वस्तु । तत्रान्वयस्यान्वयबोधः कुतो न भवतीति जिज्ञासाया 'तत्र केचिदाहुः' इत्यादिनोक्ते प्रथममते तात्पर्यनिर्णयोत्तरमेकार्थमात्रवि-षयिणी द्वितीयोपस्थितिर्भवतीत्युक्तम् । तथा चान्यार्थस्यानुपस्थितत्वाच्च तदन्वयबोध इति तदभिप्रायः । परमेतन्न युक्तम्, 'अनेकार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधकारणीभूतेन प्रकरणादिज्ञान-जन्यतात्पर्यनिर्णयेनैवास्मिन्कार्यमात्रविषयकशाब्दबोधोपपत्तौ एकार्थमात्रविषयकद्वितीयोपस्थिते-रनावश्यकत्वान् इति । ननु द्वितीयोपस्थितावेव तात्पर्यज्ञानस्योपयोग इति द्वितीयोपस्थिति-एकार्थमात्रविषयावश्यकत्वोक्त आह—अपरेति । तदुपस्थितेरपीति । अपरार्थोपस्थिते-रपीत्यर्थः । द्वितीयोपस्थितिस्तुष्यद्दुर्जनन्यायेनास्थितापि संकेतितनानार्थविषयिकैव स्यात्, नैकार्थमात्रविषया सकलार्थोपस्थापकसामग्रीभूतस्य पदज्ञानस्य विद्यमानत्वादिति भावः ।

अथ ग्रन्थकार प्रकृतप्रसङ्ग में अपना मत बतलाने के लिये पहले पूर्वोक्त दोनों मतों का सङ्घन करते हैं—अन्ये तु इत्यादि से । प्रथम मत में कहा गया है कि नानार्थस्थल में प्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध करने के लिये तदर्थमात्र की उपस्थिति अपेक्षित है, अतः प्रथम बार सकल अर्थों की उपस्थिति होने पर भी द्वितीय बार प्रथक प्राकरणिक अर्थमात्र की उपस्थिति माननी चाहिये । परन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जिस उद्देश्य—प्राकरणिक अर्थमात्र का अन्वय बोध हो, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं—की सिद्धि के लिये आपका वह प्रयास है, उसकी पूर्ति नानार्थकपदजन्य शाब्दबोध के प्रति प्रकरणादि ज्ञानाधीन तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने से हो जाती है, अर्थात् प्रकरण आदि के ज्ञान से होने वाला तात्पर्यनिर्णय प्राकरणिक अर्थबोध को ही उपलब्ध करेगा, अप्राकरणिक अर्थबोध को नहीं, फिर इसके लिये एक अर्थमात्रविषयक द्वितीय उपस्थिति की अपेक्षा करने में कोई प्रमाण नहीं रह जाता । दूसरी बात यह है कि यदि आपके सन्तोष के लिये द्वितीय उपस्थिति मानली जाय, तब भी वह द्वितीय उपस्थिति एक अर्थ विषयक ही होगी सकल अर्थ विषयक नहीं, किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि सकल अर्थ की उपस्थिति करानेवाली पदज्ञान आदि सामग्री वर्तमान है । ऐसी स्थिति में द्वितीय उपस्थिति को स्वीकृत कर लेने पर भी अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध तभी रहेगा, जब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक पदजन्यशाब्दबोध के प्रति धारण माना जायगा । फिर तो द्वितीय उपस्थितिवाली बात निस्तार ही सिद्ध होती है ।

सामग्रीविषयकनाराक्ष्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानं तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा परार्थोपस्थाने प्रतिबन्धक-मिति शक्यं वक्तुम् ? संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्त्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य काप्यदृष्टत्वात् ।

पदज्ञानात्मकसामग्र्या सत्त्वेन द्वितीयोपस्थितिरपि नानार्थविपर्ययैव स्यादिति बहुकम्, तच्च, सामग्रीघटकरप्रतिबन्धकाभावरूपसानान्यकारणविरहात्, किमत्र प्रतिबन्धमिति चेत् ? प्रकरणादिज्ञानम्, तदधीनतात्पर्यज्ञान वा वस्तुतस्तात्पर्यज्ञानमेवेति शंकायां समाधानमाह— संस्कारेति । अनुभवजन्य संस्कारस्तदुद्बोधकत्रयेत्येतद्दहये विद्यमाने स्मृतिर्भवत्येव, तादृशस्थितौ तत्प्रतिबन्ध सकलतन्त्रविच्छेद । एवञ्च प्रकृते प्राकरणिर्गौर्यस्येवाप्राकरणिकार्थस्यापि सकेतमहसमयेऽनुभवो जात एव, तन्नन्य संस्कारस्य समान एव प्राकरणिकाप्राकरणिक-थोर्ययो सुरक्षित श्रोतुरात्मनि सम्प्रति पदज्ञानमुद्बोधकमपि तुल्यमेवेति प्राकरणिका-प्राकरणिकयोश्च स्थितिर्दुर्वारं वेति भावः ।

यदि आप कहें कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थके अन्वयबोधन होने में तात्पर्यनिर्णय का नानार्थकशब्दजन्य शब्दबोधके प्रति कारण होता हेतु नहीं है, किन्तु एकार्थमात्रविषयक द्वितीय पदार्थस्मरण ही है, अर्थात् द्वितीय पदार्थस्मरण, प्राकरणिकार्थमात्र विषयक ही होता है, अतएव अनुपरिघत अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध नहीं होता, और द्वितीय पदार्थस्मरण में पदज्ञान आदि सामग्री के रहने पर भी अप्राकरणिक अर्थों का विषय नहीं होने का रहस्य यह है कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा तदधीन तात्पर्यनिर्णय, अप्राकरणिक अर्थविषयकस्मरण में प्रतिबन्धक है । किन्तु, यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि अनुभवजन्य संस्कार और उस संस्कारके उद्बोधक सामग्रीके रहने पर भी स्मरण रुक गया हो, ऐसी बात कहीं देती नहीं गई । अर्थात् जब ज्ञानज्ञानके अवसर पर प्राकरणिक अप्राकरणिक सभी अर्थों का अनुभव हो चुका है, तन्नन्यसंस्कार आत्मा में सुरक्षित है, तब पदज्ञानरूप उद्बोधकके जुटने पर उन सभी अर्थों का स्मरण नहीं हो, किन्तु एक ही अर्थ का स्मरण हो यह कैसे संभव है? कहने का सारांश यह है कि अपेक्षित कारणके समवधान में स्मरण नहीं रुकता है, उक्त प्रतिबन्धककी बात भ्रामक है ।

अन्यत्रादृशस्यापि स्मृतिप्रतिबन्धस्यात्रैवाङ्गीकारे का बाधेत्याक्षिप्य निरस्यति—

अत्रैव स्मृतावयं प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभावः कल्प्यते, न स्मृत्यन्तरे इत्यय-
हृदयङ्गमम्, तादृशकल्पनाया निष्फलत्वात्, अनुभवविरुद्धत्वाच्च ।

श्रायभाव — सफला चेन्नवीनापि कल्पना संभवति, परमिद्यं स्मृत्यन्तरे अदृष्टा केवल नानार्थकस्मृतौ क्रियमाणा नूतना प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पना तु निष्फलेति न संभवत्येव सा । कुत आस्या कल्पनाया निष्फलत्वमिति चेत् ? तत्कल्पनाद्वारा माधनीयस्य प्राकरणि-
कार्यमात्रविषयबोधस्य सा विनापि शाब्दबोधतात्पर्यनिर्णयशोनिवृत्तेन कार्यकारणभावेनैव सिद्धत्वाविति बोध्यम् । उपायस्योपयान्तरादूपरुत्वात् सा कल्पनापि नानुचितेत्यत आह—
अनुभवेति । इयं कल्पना अनुभवनिवृत्तापीति भावः ।

यदि आप कहें कि अन्यत्र स्मरण का प्रतिबन्ध नहीं देया गया है, तो भले ही न देया गया हो, हम नानार्थक शब्दस्थलीय स्मरणके विषय में ही उक्त प्रतिबन्धककी कल्पना करते हैं ? परन्तु यह भी मन में प्रतीत होने योग्य बात नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने में कोई खास फल नहीं है, अर्थात् इस कल्पनाके द्वारा आप नानार्थक पदसे प्राकरणिक अर्थमात्र का बोध हो, यही तो सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वह नानार्थक पदजन्य शाब्दबोधके प्रति तात्पर्यनिर्णय का कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अन्यथा निर्वाह हे ही नहीं यह कह कर पहले उसके विना भी सिद्ध किया जा चुका है । दूसरा कारण यह है कि स्मृति-प्रतिबन्धवाली बात अनुभवसे भी विरुद्ध है ।

अनुभवविरोधं दर्शयति—

तथा हि नानार्थशक्तिविषयकदृढसंस्कारशालिनां प्रकरणज्ञानवतामपि पयो-
रमणीयमित्यादेर्वाक्यात्प्रथममर्थद्वयोपस्थितिरनुभवसिद्धा । अत एव पयोरम-
णीयमित्यादिवाक्यमकस्मादाकर्णितवद्भिः प्रकरणाद्यभिहैरप्रकरणज्ञाः पांसुर-
पादा वक्तुस्तात्पर्यं बोध्यन्ते, नूनमस्य दुग्धे तात्पर्यं शब्दस्य, न तु जल इति ।
यदि च प्रकरणादिज्ञानं नानार्थशब्दाज्जायमानामप्रकरणिकाथोपस्थितिं प्रति
बध्नीयात्तत्कथमेते तदानीमनुपस्थितजलाः प्रकरणज्ञा जलतात्पर्यं निषेधेयुरित्य-
द्वयङ्गम एवायमप्रकरणिकार्योपस्थापनप्रतिबन्धकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य ।

दृढसंस्कार इति । संस्कारे दृढत्वञ्च परिपक्वानुभवनन्यत्वम्, तेनापरिपक्वानुभव-
जन्यादृढसंस्कारवतां पयोरमणीयमित्यादिवाक्यात्कस्यचिदेकस्यैवार्थोपस्थितावपि न
क्षतिः । अत एवेति । नानार्थशब्दात्प्रकरणज्ञानमपि अर्थद्वयोपस्थितेरनुभवसिद्धत्वादेवे-
त्यर्थः । विपक्षे बाधकमुपदर्शयति—यदि चेति । अनुपस्थितजला इति हेतुगर्भं विशेष-
णम् । तदुपस्थितेरभावादिति भावः । अहृदयंगम इति अमनोम इत्यर्थः, अनुवित
इति भावः । अयमिह सारांशः—पय आदिनानार्थके शब्दे दुग्धजलोभयार्थनिरूपित-
साधोयान् शक्तिग्रहो येषां जातः, तेषामात्मनि तच्छक्तिविषयः संस्कारोऽपि सुदृढः समुत्पन्नः,
अतस्ते पयोरमणीयमिति वाक्यमाकर्ण्य नूनमेव दुग्धजलात्मकमुभयं वाच्यार्थं स्मरन्ति-
दुग्धप्रकरणज्ञाने विद्यमानेऽपि । अन्यथा श्रुतोक्त्वाक्येन दुग्धप्रकरणज्ञानशालिना केनापि-
विदग्धेन कृता, उक्तवाक्यं श्वेतस्तस्त्रलागतान् अत एवाप्रकरणज्ञानं प्रति 'पय'-
पदस्यात्र दुग्धे तात्पर्यं न तु जले' इति वक्तृतात्पर्यबोधनावसरे, जलतात्पर्यनिषेधोऽङ्गती
भवेत्, भवन्मतासुसारं दुग्धप्रकरणज्ञानेन जलोपस्थिते प्रतिबन्धे प्रकरणज्ञस्य निषेध-
शालिनि जलस्यानुपस्थितत्वात् अप्राप्तस्य च निषेधासंभवात् । मन्मते तु सर्वं समञ्जसम्,
सकलाथोपस्थिते समर्थतत्वात् ।

उक्त अनुभव विरोध का स्पष्टीकरण करते हैं—यदि इत्यादि से । जिनको नानार्थक
स्थल में विविध अर्थनिरूपित शक्तिज्ञान ही कुछ ऐसा अंधूरा हुआ है कि संस्कार इत-
नहीं हो सका, उनको यदि नानार्थक पद श्रवण के बाद सभी अर्थों का स्मरण
नहीं होता, तो यह दूसरी बात हुई, पर जिनको नाना अर्थ (जल दूध रूप)
निरूपित शक्ति का ठोस ज्ञान हुआ है, एव उस शक्ति का संस्कार भी सुदृढ है, उनके
सामने जब कोई 'पय रमणीय है' ऐसा वाक्य बोलता है, तब उन्हें प्रकरणज्ञान रहने
पर भी उक्त वाक्य से दूध और जल दोनों अर्थों का स्मरण होता है, यह एक अनुभव-
सिद्ध विषय है । अतएव अकस्मात् उक्त वाक्य को सुननेवाले नवागत अप्रकरणज्ञ व्यक्तियों
को वे प्रकरणज्ञ स्थायी श्रोता, वक्ता के तात्पर्य को समझते हुए कहते हैं कि 'पय' पद का
प्रयोग करनेवाले वक्ता का तात्पर्य दूध में है, जल में नहीं । यदि आप के कपनानुसार
प्रकरणज्ञान नानार्थक शब्द से होनेवाले अप्राकरणिक कार्यविषयक स्मरण को रोक दे,
तो उक्त स्थायी श्रोता को स्वयं जल का स्मरण नहीं होगा, फिर दूसरे को समझते
समय वह 'जल में वक्ता का तात्पर्य नहीं है, यह निरोध भी कैसे करेगा ? अर्थात् अप्राप्त
का निषेध नहीं हो सकता है । ऐसी स्थिति में प्रकरणादिज्ञान को अप्राकरणिकार्यो-
पस्थिति का प्रतिबन्धक मानना उचित नहीं ।

तात्पर्यनिर्णयशब्दबोधो- कार्यकारणभावस्य समर्थकं द्वितीय मतमनूय खण्डयति—

यदधुच्यते प्रकरणादिज्ञानात्प्रकरणिकेऽर्थे तात्पर्यविषयतया निर्जाते तदीय-
शब्दबोधानन्तरमतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधी जायमानो व्यञ्जनव्यापारसाध्य

इति । तत्र किमय नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोपपत्तः, आहोस्वित्कचिदेवेति सम्मतम् ? नाथः । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोः शाब्दबुद्धौ सर्वत्राभ्युपगम्यमानायां तात्पर्यज्ञानकारणतायाः कल्पनस्यै नैरर्थक्यापत्तेः

तदर्थविषयशब्दबोधं प्रति तदर्थविषयकतात्पर्यनिर्णयस्य हतुत्वनं 'सन्ध्वमानये'त्यादिनानार्थस्थले प्रकरणज्ञानेन सैन्धवपदस्य लवणरूपार्थं तात्पर्यनिर्णयात् तस्यैवार्थस्य शक्त्या शाब्दबोधो नाश्वस्य । एवञ्च यदि क्वचित् अश्वबोधोऽप्यभिजितोऽनुभवसिद्धश्च, तदा तत्र संबोधोऽन्वयाऽनुपपन्न इति तदर्थव्यञ्जनाव्यापारस्वीकार इति यदुक्तं प्राक्, तत्र विचार्यते-तत्र किमयमित्यादिना । अयंभाव — भवदुक्तेऽस्मिन् प्रकारे द्वौ कल्पौ संभवतः, नानार्थकस्थले सर्वत्र व्यञ्जनावृत्तिस्वीकार इत्येकः, क्वचिदेव तत्स्वीकार इति द्वितीयः, तयोर्मध्ये प्रथमो न युक्तः, सर्वत्र व्यञ्जनावृत्तिकारे प्राकरणिकस्य शक्त्या, अप्राकरणिकस्य चाश्वस्य व्यञ्जनया सर्वत्रैव बोधोऽङ्गीकृतः स्यात्, तथात्वे च शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयस्य कारणताकल्पनं व्यर्थमेव भवेत्, तदिदं नानार्थकस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधवारणाय स्वीक्रियते, एवञ्च वैयञ्जनिकाप्राकरणिकार्थबोधस्य सात्त्विकत्वे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

अब द्वितीय मत का खण्डन करते हैं—इसमें जो कहते हैं कि शाब्दबोध में जो यह कहा गया है कि प्रकरण आदि के ज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होता है, तदनन्तर तात्पर्यनिर्णय रूप कारण की सहायता से अभिधाजन्य अन्वयबोध केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है, उसके बाद होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना से होता है । उसमें प्रश्न यह होता है कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने के लिए सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव मानते हैं, क्या कतिपय स्थानविशेष में ही ? प्रथम पक्ष स्वगत नहीं हो सकता, क्योंकि जब व्यञ्जना से सर्वत्र, नानार्थक शब्दस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध भाव मान ही लेते हैं, तब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक शब्दजन्य अभिधा द्वारा अन्वयबोध के प्रति कारण मानना व्यर्थ हो जाता है । अर्थात् पहले तात्पर्य निर्णय को कारण मानकर अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को रोक देते हैं, और पीछे फिर सर्वत्र व्यञ्जना से उसी अप्राकरणिक अर्थ का बोध मान लेते हैं, इसमें कौन सी बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है ? इससे तो कहीं अच्छा है कि तात्पर्यनिर्णय को कारण न माने और अभिधा से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध मान लें ।

शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयकारणतायाः सार्थक्यमाशङ्क्यते—

न च शक्तिजबोधे सा कल्प्यते, व्यक्तिजबोधस्तु तात्पर्यज्ञानं विनापि भवतीति तस्स्थाने शक्तिजबोधवारणाय तत्कल्पनमिति याच्यम् ;

शक्तिजबोध अभिधाजन्यशाब्दबोध । नानार्थस्थले इति शेषः । व्यक्तिजबोध व्यञ्जनावृत्तिजन्यशाब्दबोध । तस्स्थाने व्यञ्जनावृत्तिजन्यबोधस्थाने । तत्कल्पनम् तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनम् । शक्तिजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वकल्प्यते । एवञ्च नानार्थकशब्दस्थले शक्त्या अप्राकरणिकार्थबोधो न जायत इति सफलं तत्कल्पनम्, व्यञ्जनावृत्तिजन्यबोधे तत्र कल्प्यत इति व्यञ्जनया स जायत एवेत्यन्यदेतद् इति शङ्कराय ।

शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानने में भूवंपणीय युक्ति का अनुवाद करते हैं—'नच' इत्यादि से । यदि आप कहें कि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्य निर्णय को कारण मानते हैं, और व्यञ्जनावृत्तिजन्य बोध के प्रति तो नहीं, ऐसी स्थिति में नानार्थकशब्द से अप्राकरणिक अर्थ का अभिधा द्वारा बोध न हो, किन्तु वैयञ्जनिक तो होगा ही, इसलिप तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना चाहिए ।

समाधत्ते—

अतात्पर्यार्थबोधस्य सार्वत्रिकत्वे तस्य शक्तिजतायामपि बाधकाभावात् ।

अप्राकरणिकार्थबोधनिरोध एव तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनत्वोद्देश्यम् । एवञ्च यदि ध्वनिदापि प्राकरणिकार्थबोधो नाभविष्यत्, तदैव तत्कल्पनं सार्वकमभविष्यत्, व्यञ्जनया सर्वत्र तद्बोधाङ्गीकारे तु सुधैव तत् । अर्थात् अप्राकरणिकार्थबोधश्चेत् सर्वत्र जायत एव, तर्हि स शक्त्या जायताम्, व्यञ्जनया वा, न कोऽपि विरोध इति शक्तिजन्यतद्बोध एव सर्वत्राङ्गीक्रियताम्, तथाङ्गीकारे च तात्पर्यज्ञानकारणतायाः व्यञ्जनायाश्चानावश्यकताया तदकल्पनप्रयुक्तलाघव करतलामलकायितमेवेति समाधानस्याभिप्रायो विज्ञेयः ।

अथ उक्तं युक्ति का खण्डन करते हैं—अतात्पर्य इत्यादि से । उक्त युक्ति भी आप का सहित नहीं है, क्योंकि जब आप तात्पर्यार्थ से मिला अप्राकरणिकार्थ का भी सर्वत्र बोध मानते ही हैं, तब उसको अभिधान्य ही मान लेने में क्या आपत्ति है ? अर्थात् नानार्थक-स्थल में जब सर्वत्र अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध आपको अभिमत हो है, तब वह अभिधा से हो अथवा व्यञ्जना से हो दोनों बराबर है ।

पुनः प्रकारान्तरेण तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनायाः साफल्यमाशङ्कते—

अथ नानार्थशब्दादर्थद्वयोपस्थितौ सत्यां प्रकरणादिना सत्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णये; तस्यैवार्थस्य प्रथमं शाब्दबुद्धिर्जायते, न अपरार्थस्येति, नियमरक्षणाय शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ तदर्थतात्पर्यज्ञानं हेतुरिष्यते । अन्यथा तात्पर्यविषयतयानिर्णयस्यैवातथाभूतस्यापरस्याप्यर्थस्य प्रथमं शाब्दधीः स्यात् । अनन्तरं तु तात्पर्यविषयार्थबोधादतार्वार्थविषयार्थविषयापि शाब्दधीरिष्यत् इति तन्नन्यतावच्छेदककोटी शक्तिजत्वं निवेश्यत इति चेत् ?

नानार्थशब्दादिति । मुरभिसैन्धवादिपदादित्यर्थः । अर्थद्वयोपस्थितौ इति । प्राकरणिकाप्राकरणिकबोध्ययोः स्मृतौ इत्यर्थः । तस्यैवेति । प्राकरणिकस्यैवेत्यर्थः । अपरार्थस्येति । अप्राकरणिकार्थस्येति यावत् । शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ इति । अभिधावृत्तिजन्यनानार्थकपदार्थविषयकशाब्दबोधे इति भावः । अन्यथेति । कार्यकारणभावास्वीकारे इत्यर्थः । अतथाभूतस्येति । अतात्पर्यविषयस्येत्यर्थः । प्रथममिति । प्राकरणिकार्थबोधशो इत्यर्थः । अनन्तरमित्यस्याभिप्रेतं 'बोधादि'ति पञ्चम्यन्तेनान्वयः । इष्यते इत्यत्र व्यञ्जनयेति शेषो बोध्यः । तज्जन्यतेति । तात्पर्यनिश्चयजन्यतेत्यर्थः । अत्रेदमाकृतम्—नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोक्तात् नानार्थशब्दजन्यबोध प्रत्यास्थितस्य तात्पर्यनिश्चयहेतुत्वस्य वैयर्थ्यं यदापादितं तत्र समीचीनम्, नानार्थकपदार्थद्वयोपस्थित्यनन्तरं प्रकरणादिना वक्तुस्तात्पर्यं निश्चितं प्राकरणिकस्यैवार्थस्य प्रथमं बोधो भवतीति अनुभवबलच्छब्दः सकलजगन्नाश्रितो नियम, स चोक्तकार्यकारणभावाभावे न संगच्छेत्, अप्राकरणिकार्थस्यापि बोधप्रसंगात् एवञ्च तादृशानियमरक्षणार्थैव सकार्यकारणभावोऽङ्गीकार्यः । ननुक्तकार्यकारणभावे स्वीकृते पश्चादप्यप्राकरणिकार्थबोध कथं स्यादित्यत आह—अनन्तरमित्यादि । अनुभवसिद्धपश्चात्कालमान्यप्राकरणिकार्थबोधसिद्धयर्थं तात्पर्यनिर्णयकार्यतावच्छेदकबुद्धौ शक्तिजत्वं निवेशनीयम्, अर्थात् 'शक्तिजन्यतदर्थविषयकबोधं प्रति तदर्थविषयकस्तात्पर्यनिर्णयो हेतु'रित्याकारक कार्यकारणभावोऽङ्गीक्रियते, तथा च व्यञ्जनाजन्याप्राकरणिकार्थबोधे न कोऽपि बाधेतिभावः । एवञ्चोक्तनियमरक्षणमेव तादृशकार्यकारणभावाङ्गीकारफलमिति साराः ।

अब फिर प्रकारान्तर से अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की कारणता का समर्थन करने का प्रयास करते हैं—अर्थ हरयादि से। यहाँ पूर्वपक्षवालों का अभिप्राय यह है कि—नानार्थक शब्द से अर्थद्वय (प्राकरगिक तथा अप्राकरगिक) की उपस्थिति होने के बाद जब प्रकरण आदि के ज्ञान से एक (प्राकरगिक) अर्थ में तात्पर्य का निर्णय हो जाता है, तब उसी (प्राकरगिक) अर्थ का पहले शाब्दबोध होता है अन्य (अप्राकरगिक) का नहीं यह एक अनुभवसिद्ध नियम है, उसी की रक्षा करने के लिये नानार्थक शब्द-जन्य अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा प्राकरगिक तात्पर्यार्थ के समान ही अप्राकरगिक अतात्पर्यार्थ का भी पहले ही शाब्दबोध हो जायगा। तात्पर्यार्थबोध के बाद तो अतात्पर्यार्थ का भी शाब्दबोध अनुभव सिद्ध होने के कारण इष्ट है, अतः तात्पर्यनिर्णयरूप कारण का कार्य अभिधा-जन्यबोध को ही मानते हैं। अर्थात् यदि सामान्यतः नानार्थक शब्दजन्यबोधमात्र के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेंगे, तो व्यञ्जना से जो पीछे अप्राकरगिक अतात्पर्यार्थ का बोध होता है वह भी न हो सकेगा और उसका अनुभव सिद्ध होना तो निश्चित ही है, अतः अभिधाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना ही उचित है। यहाँ भी उसको कारण न मानें यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि अभिधा से अप्राकरगिक अतात्पर्यार्थ का बोध नहीं होता यह भी अनुभव सिद्ध है।

खण्डयति—

सैवम् । 'सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादौ श्लेषकाव्य इव प्रकृतेऽपि प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोर्बोधस्य स्वीकारे बाधकाभावात् ।

'सैवमि'ति । प्राक्तनमूलग्रन्थेनोत्यापिताया शङ्काया खण्डनार्थकं पदद्वयम् । 'सोऽव्यादि'त्यादिपञ्चम्यन्तो ग्रन्थश्च तत्र हेतुपन्यासपरः । इष्टे = अभिमतं, भुजङ्गस्य = सर्पस्य, हारश्च वलयश्च, ते = मात्यकच्छणे (भूषणविशेषौ) यस्य, तादृश स = प्रसिद्धः उमाधवः = मृडानीपति शिव त्वां सर्वदा पायादिति शिवपत्नेऽर्थः । कृष्णपत्ने तु—इष्टः भुजङ्गस्य हार-हरण यस्य तादृश यद्वलम् (वयस्यो श्लेषस्थले ऐक्यस्वीकारादित्यमर्थः) तेन = गृह्णतेत्यर्थः, याति = संचरतीति तादृशः सर्वद-सकलपदार्थप्रदाता माधवः=लक्ष्मीपतिस्त्वा पायादित्यर्थो बोध्यः । एष प्रकृतोपयोगो चक्यव्यर्थः—नानार्थरथलेऽप्राकरगिकार्थबोधाय व्यञ्जनोपेक्षा नावश्यकः, 'सोऽव्यादि'त्यादौ श्लेषकाव्यस्थले यथा शिव-विष्णुरूपौ द्वावप्यर्थौ अभिधाशक्त्यैवावगम्येते, तथा तत्रापि द्वयोरपि प्राकरगिकाप्राकरगिकयोरर्थयोरभिधयैव बोधस्य सम्भवात् ।

अब उक्त प्रकारान्तर का भी खण्डन करते हैं—सैवम् इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि अभिधा से प्राकरगिक अर्थ का ही बोध होता है अप्राकरगिक का नहीं, इस विषय को सिद्धान्त-सा मानकर जो आपने पूर्वोक्त विविध प्रपञ्चों की रचना की है वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'सोऽव्यात् ...' इत्यादि श्लेष काव्यस्थल में जैसे दो अर्थ वाच्य (अभिधा से ज्ञात होनेवाले) होते हैं, वैसे नानार्थक शब्दस्थल में प्राकरगिक तथा अप्राकरगिक दोनों अर्थों का अभिधा से ही बोध मान लेने में कोई बाधा नहीं है। सोऽव्यात् 'हरयादि श्लेषकाव्य के दो अर्थ ये हैं—'जिनको सर्पों से घने हार और कंकड़ प्रिय हैं, वे उमाधव (शिव) सदा तुम्हारी रक्षा करें,' और 'जिसके बल को सर्पों का हरण (सहार) इष्ट है उस (गृह) के द्वारा जाने खानेवाले तथा सब कुछ देनेवाले माधव (लक्ष्मीपति) तुम्हारी रक्षा करें ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्य शङ्कते—

न च दृष्टान्तेऽर्थद्वयेऽपि प्रकरणसान्ध्यात्तात्पर्यज्ञानमस्तीति युगपद्द्वयोर्बोध

उपपाद्यते । दार्ष्टान्तिके त्वेकत्रैव प्रकरणादिवशात्तदिति न युगपदर्थद्वयबोधोप-
पत्तिरिति वाच्यम्,

दृष्टान्ते इति । 'सोऽव्यादि'त्यादौ श्लेषकान्ये इत्यर्थः । युगपदिति । एकस्मिन्नेव क्षण्ये
इत्यर्थः । तदिति । तात्पर्यज्ञानमित्यर्थः । अयं भावः—'सोऽव्यादि'त्येद्दृष्टान्तेन नानार्थक-
स्थले यन् प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोर्युगपद्रोष उपपाद्यते, स न सम्भवति, यतः दृष्टान्तभूते
तत्र श्लेषशब्धे उमाधव-भाधवयो समयोरपि प्रकरणप्राप्ततया द्वयोरपि तात्पर्यज्ञानमस्ति,
अतस्तयोर्युगपद्रोषः (समूहात्मन्वरूपः, ज्ञानयोग्यस्य सिद्धान्तविशुद्धत्वात्) भवितु-
मर्हति, दार्ष्टान्तिके 'सुरगि मामगिन्यादौ' तु भुगन्धिरूपार्थ एव भोजनरूपप्रकरणप्राप्त इति
तत्रैव तात्पर्यज्ञानम्, अतस्तेन तात्पर्यज्ञानविषयीभूतेन 'भुगन्धि'रूपार्थेन सहैकारिण् द्रष्टे
अतात्पर्यविषयस्य बोलुपर्यस्य बोधः समूहात्मन्वरूपोऽपि न सम्भवति ।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में विषमता की शंका करते हैं—न च इत्यादि से । यदि आप
कहें कि—श्लेषस्थल का दृष्टान्त देकर नानार्थस्थल में प्राकरणिक, अप्राकरणिक दोनों
का अभिधा से ही बोध मान लेनेवाली बात समुचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्तभूत श्लेष-
स्थल में दोनों ही अर्थ प्रकरणप्राप्त रहते हैं, अतः दोनों अर्थों में समानरूप से तात्पर्य-
निर्णय होता है, अतएव साथ-साथ दोनों अर्थों का अभिधाद्वारा बोध भी समुचित है,
तो दार्ष्टान्तिक नानार्थकस्थल में वैसी स्थिति नहीं है अर्थात् वहाँ एक ही अर्थ
प्राकरणिक रहता है और जो अर्थ प्राकरणिक रहता है उसी में तात्पर्य निर्णय होता है
अतः उसी का बोध अभिधा से होना उचित है अप्राकरणिक का नहीं ।

समापत्ते—

तात्पर्यज्ञानकारणताया एवासिद्धत्वेन युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिवाचोयुक्तेर-
रमणीयत्वात् । तादृशज्ञानहेतुतासिद्धौ तु शक्येतापीत्यं वक्तुम् ।

वाचोयुक्तेरिति । युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिरूपवतननप्रयोगस्येत्यर्थः । पट्टीसमाप्ते कृते
'वाक्दिकूपर्यदुभ्यो युक्तिदण्डद्वरेषु' इति धार्तिकेन पट्टया अलुक् ।

नानार्थस्थलीयव्यञ्जनोच्चासस्य सार्वत्रिकत्वे निष्फलत्वेन तात्पर्यनिधयस्य शब्दबोध-
हेतुता प्रागेव निररता, अतस्तद्वलेन नानार्थस्थले युगपत् शक्तिजन्यार्थद्वयबोधसम्भवत्वा-
भिधानमसन्तोषकरमेव । यदि कश्चित् शब्दबोधमिति तात्पर्यज्ञानस्य हेतुतामाशययिष्यत्
तदैव तथा वक्तुमशक्यम्, न चेत् साधयति, तर्हि तथाकथनमशोभनमेवेति समाधाना-
शयो विज्ञेयः ।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—तात्पर्य इत्यादि से । ऊपर जो श्लेषस्थल का दृष्टान्त
दिया गया है, उससे मेरा अभिप्राय केवल यह दिखलाना है कि श्लेषस्थल में दो अर्थों
का एक अभिधा से बोध होता है, ऐसा होना कोई अप्रसिद्ध बात नहीं है । तदनुसार
नानार्थकस्थल में भी प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों का एक साथ अभिधा से ही
बोध माना जा सकता है । तब रही बात यह कि श्लेषस्थल में दोनों अर्थ प्राकरणिक
होने के कारण तात्पर्य विषय रहते हैं और नानार्थकस्थल में प्राकरणिक एक अर्थ ही
तात्पर्य-विषय रहता है, पर इससे उक्त दोनों स्थलों में अन्तर तब होता, यदि तात्पर्य-
निर्णय का अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण होना सिद्ध रहता, किन्तु वही सिद्ध नहीं है
अर्थात् तात्पर्यनिर्णय को उक्त बोध के प्रति कारण मानना मैं आवश्यक नहीं समझता
किर प्राकरणिक-अप्राकरणिक होने से कुछ वक्तता विगड़ता नहीं । दोनों ही एक साथ
पाए हो सकते हैं ।

एवं सति तात्पर्यज्ञानस्यानुपयोगमाशङ्क्य निरस्यति—

तर्हि तात्पर्यज्ञानस्य कुत्रोपयोग इति चेत् ? अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रमाण-
मयमर्थः प्रमाणवेद्य इत्यादिनिर्णये प्रवृत्त्याद्युपयोगिनीति गृहण ।

ननु कुरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधकारणत्वे निरस्ते तस्य निरुपयोगित्वमेवापत्तीति
शक्यामाह—अस्मिन्नित्यादि । अयमभिप्राय — नानार्थस्थले शब्दश्रवणानन्तर नानाविधमर्थ
शाब्दयन् श्रोता कस्मिन्नर्थे वक्तुरत्र तात्पर्यमिति सन्दिहीत, सन्दिग्धश्च कापि कार्ये न
प्रवर्तते, प्रवृत्त्यर्थमेव च कार्यबोधक वाक्यं प्रयुज्यते, अतस्तादृशस्थिता श्रोता तात्पर्यज्ञान-
सहकारेण नानार्थकस्य पदस्यार्थविशेषे प्रमाणत्व निर्णयते, अर्थविशेषस्य च प्रमाणवेद्यत्वम्,
तेन वक्तुरभिप्रेते कार्ये तस्य प्रवृत्तिर्भवतीति तात्पर्यज्ञानस्योपयोगः सिद्धयति ।

यदि आप कहें कि उक्त रीति से जब तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं
माना जायगा, तब उसका उपयोग ही क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि इस अर्थ
में यह शब्द प्रमाणभूत है और इस शब्द का यही अर्थ प्रामाणिक है इत्यादि बातों के
निर्णय—जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में उपयोगी होता है—में तात्पर्यज्ञान का उपयोग
है । अर्थात् नानार्थक शब्दश्रवण के बाद अनेक अर्थों को समझनेवाला श्रोता यह
सन्देह अवश्य करेगा कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है ? और उस सन्देह की दशा
में उसकी प्रवृत्ति किसी कार्य में नहीं हो सकती, और कार्यबोधक वाक्य का प्रयोग
किया जाता है किसी कार्यविशेष में व्यक्तिविशेष की प्रवृत्ति कराने के लिये ही । अतः
वैसी स्थिति में श्रोता तात्पर्यज्ञान की सहायता से यह निर्णय करता है कि यहाँ अमुक
नानार्थकशब्द अमुक अर्थ में ही प्रमाण है, अमुक अर्थ ही प्रामाणिक है । इस निर्णय से
श्रोता वक्ता के अभिमत अर्थ में प्रवृत्त होता है ।

नानार्थस्थले सर्वत्र व्यञ्जनेऽपि क्वचिदेवेति कल्पद्वये प्रथमल्पीय वक्तव्यमुपसंहरति—

इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथिलीभवन्त्याम-
तात्पर्यार्थविषयशाब्दबुद्धिसम्पादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव शक्तश्चैव
बोधद्वयोपपत्तेः ।

नानार्थस्थलेऽपीत्यत्रापि पदेनकार्यस्थले तात्पर्यज्ञानकारणतायां सुतरां शैथिल्य सूच-
यति । इदमत्र रहस्यम्—शुकादिवाक्यात्, देवताप्रसादेन पूर्वजन्मसंस्कारेण वा मूर्ख-
बालककृतोत्तमकाव्याच्च वक्तृतात्पर्याभावनिधयेऽपि बोधोदयेन तस्य शाब्दबोधे हेतुत्व न
सम्भवति । वक्तृतात्पर्याभावनिधयश्च वक्तुस्ततरतदर्थबोधोपात् । किञ्च अस्मात् पदात् अर्थद्वय-
विषयको बोधो जायते तात्पर्यं तु क्वेति न जानाम, इति शकलजनानुभवविरोधात् न
तस्य हेतुत्वम् । अत एव 'पय आनय' इत्युक्ते अग्रकरणज्ञस्य दुग्ध जल वाऽऽनेयमिति
प्रश्न सगच्छते । न चैव 'हरि' रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वाभावज्ञाने तदन्य-
सिंहादिविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधोपात्ते पूर्वोक्ताया का गतिरिति
वाच्यम्, बोधो भवत्येव किन्तु तयो ज्ञानयोस्तत्र बोधेऽप्रामाण्यप्रहजनकतया प्रवृत्त्यादिर्न-
भवतीतिस्वीकारात् । एतेन तयो ज्ञानयोस्तादृशबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति परास्तम् ।
तात्पर्यधियः इति । तात्पर्यज्ञानस्येत्यर्थः । उक्तरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य कारणता यदा
निरस्ता, तदा नानार्थकपदात् शक्यत्वात्तात्पर्यविषयस्यापि अप्राकरणीकार्यस्य बोध
स्यादेवेति तदर्थं तत्र व्यञ्जनाद्युक्तिस्वीकारो नावश्यक इति भावः ।

अथ नानार्थकत्वम् में भी सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, इस पक्ष के खण्डन
सबन्धी वक्तव्य का उपसंहार करते हैं—इत्यत्र इत्यादि से । एकार्थकत्व की तो बात ही

क्या ? उक्त रीति से जब नानार्थकस्थल में भी शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की हेतुता समाप्त कर दी गई, तब तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरगिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना अनुचित ही है। क्योंकि अभिधा से ही प्राकरगिक और अप्रामाणिक दोनों अर्थों का बोध हो जायगा यह बात पहले भी मित्र की जा चुकी है। शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय क्यों नहीं कारण हो सकता इसके विषय में कुछ विरोध युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—एक आदि कतिपय पक्षियों के वाच्य से शाब्दबोध होता है। शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय कारण होता है। यह कह नहीं सकते क्योंकि जब पक्षियों को अर्थबोध नहीं होता है तब उसका तात्पर्य किसी अर्थ में हो यह कैसे हो सकता है ? दूसरी युक्ति यह है कि नानार्थकस्थल में सब लोगों का ऐसा अनुभव है कि 'इस पद से दो अर्थों का बोध होता है, पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, यह नहीं ज्ञात होता'। यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शाब्दबोध ही नहीं हो, तो उक्त प्रकार का अनुभव कैसे होता है ? तीसरी युक्ति यह है कि अप्रकरणज्ञ किसी व्यक्ति के प्रति जब 'पय लाजो' ऐसा वाच्य कहा जाता है, तब वह वक्ता से पूछता है कि दूध अथवा जल लाऊँ ? अब बतलाइए कि यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शाब्दबोध ही नहीं होता है, तो श्रोता का उक्त प्रश्न कैसे संभव हो सकता है ? एक बात आप और पूछ सकते हैं कि पहले जो यह कहा गया है कि जहाँ श्रोता को यह निश्चय रहता है कि वक्ता ने विष्णुविषयक बोध की इच्छा से हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, अथवा यहाँ निश्चय रहता है कि सिंह आदि (विष्णु से भिन्न) अर्थ के बोध की इच्छा से हरिपद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ भी विष्णुविषयक बोध न हो जाय इसलिये तात्पर्यनिर्णय को नानार्थकपदजन्यबोध के प्रति कारण मानना चाहिये, उसका क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि मैं यहाँ भी विष्णु का बोध मानता ही हूँ, केवल उक्त दोनों विरुद्धनिश्चय से विष्णुविषयकबोध में अप्रामाण्यज्ञान हो जाता है, अतः विष्णुरूप अर्थ में प्रयुक्ति नहीं होती है।

नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति द्वितीयं कल्पमालोचयितुं प्रकमते—

नापि द्वितीयः, हेतोरभावात्। व्यङ्ग्यार्थविषयककवितात्पर्यज्ञानं तथेति चेत् ? न, व्यक्तित्वबोधे तात्पर्यज्ञानकारणतायास्त्वयानभ्युपगमात्, यत्राश्लीलं दोषस्तत्राप्राकरगिकेऽर्थे सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्य विरहात् तदज्ञानस्य तादृशबुद्धिहेतुताया व्यभिचारदूषितत्वाच्च।

द्वितीय इति। नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति कल्प इत्यर्थः। हेतुमाराद्धते— व्यङ्ग्येति। तथेति। हेतुरित्यर्थः। अयमाराय—नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति द्वितीये पक्षे यद्यपि प्रथमपक्षोक्तदोषस्यावकाशो नास्ति, परन्तु स पक्षः सम्भवदुक्तिक एव न वर्तते, व्यञ्जनोक्तास्य क्वचित्कचनियमानहेतोरैवाभावात्। 'इदं पदं व्यङ्ग्यार्थबोधे-च्छया कविना प्रयुक्तमित्याकारकस्य वक्तृतात्पर्यस्य ज्ञानं तत्र हेतुरिति न शक्यं वक्तुम्, व्यञ्जनाजन्यबोधे त्वया (नानार्थस्थलेऽप्राकरगिकार्थबोधाय व्यञ्जनाऽऽवश्यकतावादिना) तात्पर्यज्ञानकारणताया अन्वहीकारात् इति। नन्वेवमपि फलबलात् स्वीक्रियतेऽत आह- यत्रेति। व्यञ्जनाजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणता न संभवत्येव व्यतिरेकव्यभिचारात्। क्व व्यभिचार इति चेत् ? यत्र प्रससार शनैर्बाधुर्विनाशे तन्नि ते तदा' इत्यादौ काव्येऽशीलता दोषस्तत्रेति बोध्यम्। कथमिति चेदित्यम्—तत्राश्लीलत्वदोषनिदानभूतनाधिकारणपानपवन-निस्सरणरूपा प्राकरगिकार्थप्रतीतिव्यञ्जनाजन्या सर्वाणुभवसिद्धा, कवितात्पर्यध तत्रार्थे कथमपि स्वीकर्तुं नोचितम् इति भावः।

अब नानार्थकस्थल में कहीं-कहीं व्यञ्जना का भाविभाव होता है सर्वत्र नहीं, इस पूर्वोक्त द्वितीयपक्ष की आलोचना करते हैं—नापि इत्यादि से। 'स्थलविरोध में ही व्यञ्जना

का प्रादुर्भाव होता है सर्वत्र नहीं, अतः 'सर्वत्र व्यञ्जना के प्रादुर्भाव मानने पर जो अभिधा से उसकी गतार्थता सिद्ध की गई है उसका अवसर नहीं आया' यह कथन भी आपका संगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्थलविशेष में ही व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होगा इसका कोई कारण नहीं है। यदि आप कहें कि 'अमुक्त पद व्यङ्ग्य का घोष कराने के लिये वक्ता से प्रयुक्त हुआ है' इस तरह के वक्तृतारपर्य का ज्ञान ही व्यञ्जना की क्वाचित्कता का कारण है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि आप व्यञ्जनाजग्यशोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानते ही नहीं फिर उस प्रकार कैसे कह सकते हैं? दूसरी बात यह है कि यदि आप व्यञ्जनाजग्यशोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानना भी चाहें तो यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि उस तरह का कार्यकारण-भाव व्यतिरेक-व्यभिचार से दूषित होने के कारण असंभव है। अर्थात् जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य नहीं रहता उसका भी व्यञ्जना से बोध होता है जैसे 'प्रससार शनैर्वायु विनासो सन्निवृत्ते तदा' (हे कृताङ्गि ! तुम्हारे बियोगकाल में मन्द-मन्द हवा वही) इत्यादि स्थल में अप्राकरणिक अपान-पवन-निस्सरण और नायिका-भरणरूप अर्थ की प्रतीति सभी सहृदयों को व्यञ्जना से होती है, अतएव ऐसे स्थलों में अश्लीलता नामक काव्य-दोष माना गया है। क्या उस अश्लील अर्थ में कवि का तात्पर्य माना जा सकता है? कभी नहीं। कौन ऐसा कवि होगा, जो जान-बूझकर अपनी कविता को अश्लीलता दोष का लक्ष्य बनायेगा?

व्यञ्जनोक्तासस्य क्वाचित्कत्वनिधामक्रमपर हेतुनारंभस्य खण्डयति—

अथ श्रोतुं शक्तिविशेषो व्यक्तेरुक्तासे हेतुः, स च फलबलाद्यमत्कारिण्ये-
कार्यं व्यक्तिमुक्तासयति नाचमत्कारिणीति सिद्ध व्यञ्जनोक्तासस्य क्वाचित्कत्व-
मिति चेत् ? न, हन्तैवं स नियन्त्रितशक्तेरेव वोक्तासकोऽस्त्विति कृत नानार्थ-
स्यते व्यक्तिकल्पनाया ।

शक्तिविशेष इति । बुद्धिशक्तिविशेष इत्यर्थः । स शक्तिविशेष । नियन्त्रितेत्यस्य
प्रकरणादिनेत्यादि' । अयमभिप्राय — बुद्धिः व्यक्तिभेदेन नानाविधा भवति, कस्यचन बुद्धिः
स्थूलमप्यर्थं न गृह्णाति, कस्यचित् स्थूलं गृह्णाति अपि सूक्ष्मं न गृह्णाति, कस्यचित्पुनः
सूक्ष्ममपि । एवञ्च यत्र सूक्ष्मार्थग्रहणप्रवणबुद्धिविशिष्ट श्रोता, तत्र तस्य बुद्धिः नानार्थस्यते
व्यञ्जनामुक्तासयति, यत्र न स तादृशस्तत्र तस्य बुद्धिर्नोक्तासयति ताम् । यत्राप्युक्तासयति
तत्रापि चमत्काराधायक एवार्थं, तत्रैव तदुक्तासस्य साफल्यसम्भवात् । एवञ्च तस्य क्वाचित्क-
त्वेन हेतुविरह इति शकाः । समाधानं तु 'तथा सति श्रोतुं सा बुद्धिशक्तिरतत्र तत्र
स्थलविशेषे नानार्थकस्य शब्दस्य सयोगादिभिर्नियन्त्रितामभिधाशक्तिमेवोक्तासयतु,
तावत्तद्वैष्टसिद्धिरिति सुषैवाय व्यञ्जनाकल्पनायास इत्याकारकं वेदितव्यम् ।

व्यञ्जना की क्वाचित्कता में एक अन्य कारण की भांशंका करके खण्डन करते हैं—
'अथ श्रोतुं' इत्यादि' से । श्रोता का बुद्धिशक्ति-विशेषव्यञ्जना की क्वाचित्कता का कारण है,
अर्थात् बुद्धि व्यक्तिभेद से भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु
को भी नहीं समझ पाती, किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु को समझती हुई भी सूक्ष्म को
नहीं समझ सकती, किसी की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी समझ लेती है, यह एक
प्राकृतिक स्थिति है। ऐसी स्थिति में जहाँ सूक्ष्मार्थग्रहण समय बुद्धिवाला श्रोता रहता है,
वहाँ उसकी बुद्धि नानार्थकस्य में व्यञ्जना को उद्भूत करती है और जहाँ उस तरह
का श्रोता नहीं रहता, वहाँ उसकी बुद्धि व्यञ्जना को उद्भूत नहीं कर पाती। एव
जहाँ व्यञ्जना उद्भूत होती है वहाँ ही चमत्कारी अर्थ के विषय में ही, अचमत्कारी
अर्थ के विषय में नहीं, क्योंकि चमत्कारी अर्थ में ही व्यञ्जना की सफलता संभव है।

इस तरह से व्यञ्जनोद्भव की क्वाचित्कता सिद्ध हो जाती है' यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जब श्रोता का बुद्धि-विशेष ही स्थलविशेष में व्यञ्जना का उद्भावक होगा, तब उससे कहीं अच्छा हो कि हम उस विशिष्ट प्रकार के श्रोता के उस बुद्धिशक्ति-विशेष को प्रकरण आदि के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति का ही उद्भावक मान लें— अर्थात् हम ऐसा मानें कि प्रकरण आदि का ज्ञान, नानार्थकशब्द की जिस अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करके अप्राकरणिक अर्थ के विषय में सफल नहीं होने देता, उस व्यर्थ बनी हुई शक्ति को कहीं-कहीं विशिष्ट श्रोता की विशिष्टबुद्धि उत्तेजित कर देती है अर्थात्—सफल बना देती है, जिससे नानार्थकशब्द की अभिधाशक्ति ही स्थल-विशेष में अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध करा देती है, और जहाँ उद्भावक बुद्धिविशेष नहीं प्राप्त होता, वहाँ वह नियन्त्रित अभिधाशक्ति नियन्त्रित ही रह जाती है। अतः वैसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ का बोध नहीं होता। इसी तरह मान लेने से जब काम चल जाता है, तब नानार्थकस्थल में एक अभिन्न व्यञ्जनावृत्ति की कथना व्यर्थ है।

अभ्युत्पेक्षेऽपि व्यञ्जनोद्भावस्य क्वाचित्कत्वे नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधो व्यञ्जनयेति पक्षो न युक्तोऽनिश्चयपक्षेऽस्ति—

किंच 'उद्भास्यकालकरवालमहान्बुवाहम्' इत्यादिनानार्थव्यञ्जकस्थलेऽ-
गृहीतद्वितीयार्थशक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुनः सर्वथैव
व्यञ्जनया द्वितीयार्थबोधानुदयात्तत्र तथा सदापत्तिस्तत्र दुर्वापः ।

उद्भास्येति । ' . . . देवेन येन जटोर्जितमर्जितेन निर्वापित सकल एव रणे रिपूणा,
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलित प्रताप ॥' इति चरणत्रयशेषो बोधः । अयमस्यवाच्योऽर्थः—
जटोरम् = कटोरम्, ऊर्जित=बलवत् च गर्जितम्=सिंहनादो यस्य तेन येन देवेन=राज्ञः, काल
=धमराजलम् प्राणहस्तात् रिपूणामिति भावः, करवाल=उद्गम एव अभ्युवाह=भेषः तम्,
उद्भास्य=विस्तार्य रणे=युद्धे, धाराजलैः=स्रग्धारात्मकसलिलैः, रिपूणम् = शत्रूणाम्,
सकल एव=सर्वोऽपि त्रिजगति=त्रिलोक्यां, ज्वलित=प्रसिद्ध, प्रताप=प्रभाव, निर्वापित
=शमित, विकटासिधारया यो रणेऽरौ जपानेतिभावार्थः । व्यङ्ग्योऽर्गस्तु येन देवेन=
देवेन्द्रेण, जटोर्जितेन = कटोरेण, ऊर्जितेन बलवता च गर्जितेन युक्तमिति शेषः, कालकरं=
स्यामलकिरणं बालं=न्वानम् अभ्युवाहम्=जलधरम्, उद्भास्य=प्रवृत्त्य, धाराजलैः=
धारासारैः सर्वथै, रिपूणाम्=अग्नीनामिति भावः । त्रिजगति ज्वलित =त्रिलोकीप्रदीप्तः,
प्रताप=प्रवृत्तः तापः निर्वापित इति । नानार्थ इत्यादि । नानार्थकः शब्दः व्यञ्जको यत्र,
तारणे स्थले इत्यर्थः । अगृहीतेति । अगृहीता= न ज्ञाता द्वितीयार्थस्य=अप्राकरणिकार्थस्य
तन्निरूपितेति भावः, शक्तिः अभिधात्मिकेत्यर्थः येन तस्येत्यर्थः । विनगमकाभावादाह—
गृहीतेति । पूर्वं गृहीता, पश्चाद्विस्मृता द्वितीयार्थनिरूपिता शक्तिर्नैवेति भावः । सर्वथा=
सर्वप्रकारेणैव । सिद्धान्ते इत्यादि । द्वितीयेति । अप्राकरणिकेत्यर्थः । तथा=व्यञ्जनया ।
तदापत्ति=द्वितीयार्थबोधपत्तिः । तवेति । नानार्थस्थले व्यञ्जनयाऽप्राकरणिकार्थबोधनादिन
दत्त्यर्थः । अयमभिप्रायः—उद्भास्येत्पादौ इन्द्रपक्षीयाप्राकरणिकार्थनिरूपिताऽभिधाशक्ति-
र्येन न गृहीता, गृहीताऽपि वा पथात् सुहृदसस्कारामाभेन विस्मृता, तस्य तदर्थबोधो न
भवतीति वस्तुस्थितिः । परमिदानीं श्रोतृबुद्धिशक्त्या चमत्कारिण्यर्थे व्यञ्जनोद्भासस्वीकारे
प्रकृतोऽपि इन्द्रपक्षीये चमत्कारिणि अर्थे व्यञ्जनोद्भासस्य समुचिततया तत्र पक्षे व्यञ्जनया
तदर्थबोधो दुर्वापत्वासादादेत, मम मते तु नैतद्विशेषात्, अतो मम नानार्थस्थले प्राकर-

णिकार्यबोधोऽपि अभिधाशक्त्यैवाभिमत सा च शक्ति प्रकृते यस्य अगृह्यता विस्मृता वा, न तस्य तदर्थबोधप्रसंग ।

व्यञ्जनोद्भास की काचित्कता को मान लेने पर भी, नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है, इस मत को असगत सिद्ध करते हैं—किञ्च इत्यादिसे । 'उद्भास्यकालकरवाल ' इत्यादि पूरा पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । जिसके दो अर्थ होते हैं । एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य । वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिंहनादवाले जिस राजा ने शत्रुओं के प्राणहर होने से यमराजस्वरूप खड्ग के धाररूपी जल के फैलाव को बढ़ाकर, सग्राम में उस धाररूपी जलके द्वारा, तीनों लोक में प्रसिद्ध शत्रुओं का समग्रप्रमाव शान्त कर दिया । और व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और सबल गर्जन से युक्त तथा काली कान्तिवाले नवीन घनघटा को प्रकट करके, धारावाहिक जलवृष्टि से शत्रुभूत अग्निषों का त्रिलोकी विषयात् ताप को सर्वथा शान्त कर दिया । उक्त श्लोक प्राचीनों के मत से अनेक अर्थों का व्यञ्जकस्थल है । पर यहाँ यह अनुभव सिद्ध वस्तु है कि व्यञ्जना से उसी को अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है, जिसको उक्त श्लोकवाच्य में अप्राकरणिक अर्थ की भी अभिधा ज्ञात रहती है और उस अभिधा का विस्मरण नहीं हुआ रहता है । उसको नहीं होता, जिसको अप्राकरणिक अर्थ के द्वारा शक्तिज्ञान नहीं हुआ है अथवा ज्ञान होने पर भी किसी कारण से शक्ति का विस्मरण हो गया है । परन्तु अब आपके मत से वैसे (अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृतशक्ति) व्यक्ति को भी व्यञ्जना से इन्द्र पत्नीय अप्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाना चाहिये, क्यों कि वह अर्थ चमत्कारी है, अत श्रोता की बुद्धिशक्ति उस अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना को उत्पन्न कर देगी । मेरे मत में तो यह दोष नहीं हो सकता, क्यों कि मैं नानार्थस्थल में व्यञ्जना नहीं मानता, अभिधा से ही दोनों अर्थों का बोध हो जाता है ऐसा मानता हूँ, और अभिधा से भी बड़ा बोध नहीं मानता हूँ, जहाँ वह ज्ञात हो, अविस्मृत हो । किन्तु जिसको उक्त श्लोक में इन्द्रपत्नीय अर्थ की अभिधा ज्ञात ही नहीं, अथवा ज्ञान होने पर भी विस्मृत हो चुकी है, उसको उस अर्थ का बोध कैसे प्रसक्त हो सकता है ?

एतदोपोद्भासाप्याराकते—

न च येन शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थ-व्यक्तेरुद्भासे हेतुरिति वाच्यम्, 'निःशेषच्युत-' इत्यादौ रमणव्यक्तधनापत्तेः । न ह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्तिप्रहोऽस्ति । सति वा तस्मिन्स्तेनैवोपपत्तौ व्यक्तिफलपनवैयर्थ्यापत्तेश्च ।

रमणेति । नायककर्तृरुमभोगेत्यर्थः । तस्मिन्निति । अधमपदे रमणार्थनिहपितशक्ति-प्रहे इत्यर्थः । तेनैवोपपत्तौ इति । शक्तिप्रहेणैव रमणरूपार्थस्य बोधोपपत्तौ इत्यर्थः । अत्र, 'येन शब्देनेत्यादिमूलोक्तकार्यकारणभावाङ्गाङ्कारे 'उद्भास्ये'त्यादौ प्रागुक्तदोषो नापत्तेः, अग्रहीतद्वितीत्यर्थशक्तिकस्य विस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुरुषस्य इन्द्रपत्नीयार्थनिहपित-शक्तिप्रहस्य तच्छब्दोद्भास्येऽमत्त्वेन तदर्थनिहपितव्यञ्जनाश्रुतेस्तदनुद्भासात् इति शक-दलस्याशयः । 'निःशेषे'त्यादौ रमणार्थनिहपितशक्तिप्रहस्याधमपदेऽभावेन तत्पदनिष्ठतदर्थ-निहपितव्यञ्जनाया उक्तकारणभावानुद्भासेन सर्वानुभूतरमणरूपार्थाभिष्यक्तैरतत्रानापत्तिः । रमणार्थनिहपितशक्तिप्रहोऽधमपदेऽस्तीति दुराग्रहे शक्यैव रमणप्रतीतौ तत्र व्यञ्जनाश्रुति-करणस्य सर्वसम्मतस्य वैयर्थ्यापत्तिस्तस्तादृशकार्यकारणभावाध्रयणमसम्भवमित्युत्तर-दत्ताशयः ।

पूर्वांक दोष के उद्धार के लिये पूर्वपरिचयों के द्वारा दी गई एक युक्ति का उल्लेख करके खण्डन करते हैं—न च येन इत्यादि से । यदि 'उद्धारस्य ...' इत्यादि श्लोकमें विसृष्टाये गण दोष के उद्धारार्थ यह कहें कि जिस शब्द से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही उस अभावकरिणिक अर्थ की व्यञ्जना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्ति ज्ञान होने पर ही व्यञ्जना का उद्भव होता है, अन्यथा नहीं । अतः 'उद्धारस्य ...' इत्यादि नानार्थस्थल में जिस श्रोता को इन्द्रपक्षीय अर्थ में श्लोकवाक्य की अभिधाशक्ति गृहीत नहीं हुई है, अथवा गृहीत होकर भी विसृत हो गई है, उसको उस अर्थ की व्यञ्जना आविर्भूत न होगी और न उस अर्थ का बोध ही होगा । किन्तु यह कहना भी असंगत होगा, क्योंकि इस तरह मानने पर 'नि शेषव्युत् ...' इत्यादि श्लोक में 'अधम' पद से होने वाली सर्वसम्मत 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी, क्योंकि 'अधम' पद की रमण अर्थ में अभिधाशक्ति का ज्ञान किसी को नहीं है—ससार में अधमपद का रमण अर्थ कोई नहीं समझता । इतने पर भी यदि आप दुराग्रह करें कि अधमपद की शक्ति का ज्ञान रमण अर्थ में है—कम से कम नायक को अवश्य है, क्योंकि उससे अधम कहते ही रमणवाली बात झटक जाती है—तब मैं कहूँगा कि ठीक है, रहे आपकी ही बात, किन्तु ऐसा होने पर उस अभिधाशक्ति से ही रमण का बोध हो ही जायगा, फिर वहाँ व्यञ्जना की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

तत्कार्यकारणभावस्य सञ्चिन्तितविषयस्त्वकल्पनेन 'नि शेष' इत्यादौ दोषनिराममाशङ्क्यनिरस्यति—

न च नानार्थव्यञ्जनस्थल एवैवंजातीयकः कार्यकारणभावः कल्प्यते, तत्र च शक्तेरनियन्त्रितत्वेन तद्रूपहस्याप्रयोजकतया व्यक्तिकल्पनीचित्यादिति वाच्यम्, नवीनकार्यकारणभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात् । नियन्त्रणस्य पूर्वमेव दूषितत्वेन तद्वेतोरेवेति न्यायाववाराह ।

येन शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरुद्भासे हेतु' रित्याकारकस्य कार्यकारणभावस्य नानार्थव्यञ्जकस्थले 'सुरभिमामं भवन्वती'त्यादायेव कल्पनम्, न तु 'नि शेष'त्यादावेवार्थव्यञ्जकस्थले, तेन तत्र तन्कारणमन्तरापि व्यञ्जनाया उद्भासे न क्षति । न च नानार्थस्थले व्यक्त्युल्लासहेतुभूतस्य शक्तिग्रहस्य रवोंकारे तेनैव द्वितीयार्थबोधोऽपि बुद्धो नाहोकिमते इत्यत आह—तत्र चेति । अयं भाव—तत्र शक्तिग्रहस्य जातत्वेऽपि न तस्य कार्यकारित्वम्, संयोगादिभि शक्तोनियन्त्रितत्वात्, अतस्तत्र व्यञ्जनाकल्पनस्योचिन्त्यम् । एवञ्चोद्धारस्येत्यादौ उक्तकार्यकारणभावघटककार्यतावच्छेदकान्ते, तन्कारणविरहान् न व्यक्तेरुद्भास इति तत्र शक्तिदोषावकाश । परमेतज युक्तम्, तादृशाभिनवकार्यकारणभावाश्रयणे गौरवात् । नन्वन्ययानुपपाया गौरवं मुसहमित्यपि न, व्यक्त्युल्लासहेतोरतदर्थगतशक्तिज्ञानस्यैव तदर्थबोधजनकत्वसंकारेण सामञ्जस्ये व्यक्त्युल्लासजनरुत्वकल्पनस्य व्यर्थत्वान् । ननु शक्तिनियन्त्रण कथं विरम्यति ? न विरम्यति, किन्तु तत्पूर्वमेव दूषितम् इति नार्थीयते एतच्चाह—तद्वेतोरिति, 'तद्वेतोरेव तदस्तु किं तत्कथमन्या' इति हि न्यायाववहपम् । द्वितीयार्थबोधहेतुभूतव्यञ्जनोद्भासकारणेन शक्तिग्रहेणैव द्वितीयार्थबोधो भवतु, व्यक्त्युल्लासकल्पना इत्येति प्रकृतौ तन्म्याप्यसयोजनप्रकार ।

उक्त कार्यकारणभाव में सञ्चय करके 'नि शेषव्युत् ...' इत्यादि पद्य में दिखलाए गए दोष के निराकरणार्थ पूर्वपरिचयों की शक्ता का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से । अभिप्राय यह है कि शक्ति ज्ञान को व्यञ्जनोद्भास का कारण नानार्थक व्यञ्जकस्थल में ही मान्य है, एकार्थव्यञ्जकस्थल—'नि शेष ...' इत्यादि में नहीं, अतः वहाँ रमण अर्थ में अधमपद का शक्तिज्ञान नहीं रहने पर भी व्यञ्जना का प्रादुर्भाव हो

जायगा । किन्तु नानार्थस्थल में व्यञ्जना के उल्लासक अभिधाशक्ति के ज्ञान से ही अप्राकरणिक अर्थ का बोध क्यों नहीं मान लेते, व्यर्थ व्यञ्जनोल्लास की कल्पना क्यों करते हो ? इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि यहाँ इस प्रकार की शका नहीं की जा सकती, क्योंकि नानार्थकरथल में शक्ति का ज्ञान भले ही अप्राकरणिक अर्थ में भी रहे, पर वह उसका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि वह शक्ति प्रकरण भादि के ज्ञान से नियन्त्रित हो चुकी है—अप्राकरणिक अर्थ के विषय में वेकार कर दी गई है, अतः व्यञ्जना की कल्पना यहाँ आवश्यक है, उसके उल्लासक के रूप में नियन्त्रित होने पर भी अप्राकरणिक अर्थ निरूपित शक्ति ज्ञान कार्य करेगा यह बात दूसरी है । इस उपपादन के द्वारा पूर्व पक्षियों ने यह सिद्ध किया कि—‘उल्लासय’ । इत्यादि पक्ष नानार्थक व्यञ्जक वाला स्थल है, अतः यहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव तब होता यदि अप्राकरणिक अर्थ में शक्ति का ज्ञान रहता, अब यह ज्ञान ही नहीं तो व्यञ्जना का प्रादुर्भाव नहीं होगा । पर पूर्वपक्षियों का उक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि व्यञ्जनोल्लास में शक्तिज्ञान को कारण मानने पर व्यर्थ का गौरव उठाना पड़ता है । यदि आप यह कहें कि उसके बिना काम ही नहीं चल सकता, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस शक्ति-ज्ञान को आप व्यञ्जना का उल्लासक मानते हैं, उसी से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध किया जा चुका है । यदि आप कहें कि नियन्त्रणवाली बात को आप क्यों भूलते हैं ? तो मैं कहूँगा कि मैं भूलता नहीं हूँ, किन्तु उसका खण्डन पहले ही कर दिया गया है, अतः उसको मानता नहीं हूँ । यही बात ‘तद्वेतोरेव’ इत्यादि न्याय के द्वारा प्रत्यकार ने व्यक्त की है । न्याय का पूरा स्वरूप ‘तद्वेतोरेव तदस्तु किं सत्कल्पना’ यह है । अर्थात् यदि कारण के कारणसे ही काम चल सकता है तो बीच में एक और कारण की कल्पना व्यर्थ है । उत्तरपक्ष का सारांश यह हुआ कि ऐसी जगह व्यञ्जना की कल्पना निरर्थक है ।

अथान्यथाशक्तेः—

अथास्त्वप्राकरणिकोऽप्यर्थः शक्तिवेष एवान्वयधीगोचरः परतु यत्र न बाधितः स्यात् । यत्र तु बाधितस्तत्र ‘जैमिनीयमलं वत्ते रसनायामयं द्विजः’ इत्यादौ जुगुप्सितोऽर्थो वहिना सिद्धन्तीत्यादौ वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात् । बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञान प्रति प्रतिबन्धकतायां सर्वजनसिद्धत्वात् । व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिप्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोष इति ।

‘जैमिनीय’मिन्यादिवाच्यस्य प्रथमश्च अथ द्विज जिह्वायां जैमिनीयम् = मीमांसा-शास्त्रम् अलम् अत्यर्थं धारयति इति’ ‘ब्राह्मणोऽयं जिह्वायां जैमिनि-विद्युत् धारयतीति’ च वाच्यव्यङ्ग्यार्थविवसेयौ । इदमिह वक्तव्यरहरयम्—तद्भाषयतान्निध्यात्मस्य बाध-निश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वं सर्वाद्युक्तम्, अत एव ‘वह्निना सिद्धन्तीति वाक्यात् ‘सिक वह्निकरणकत्वत्वात्’ इति बोधो न भवति सेको वह्निकरणकत्वाभावात्’ इत्याहारकस्य बाधनिश्चयस्य वर्तमानत्वात् अत एव चाबोधोपहतार्थकं तादृश वाक्यस्यैव प्रयुज्यते, एवञ्च तादृशबाधनिध्यानापरचले मुनिमास नक्षयता’त्वाद्वा अभिधावेच्यया-प्राकरणिकार्थरथान्वयबोधे सम्पन्नेऽपि ‘जैमिनीयमलं’मिवाद्वा अप्राकरणिकार्थस्य शक्त्य-न्वयबोधो न सम्पन्नमर्हति बाधनिश्चयप्रतिबद्धत्वादिति तदर्थं व्यञ्जनाऽवश्यम् । ननु बाध-निश्चयसत्त्वे व्यञ्जनायापि कथमन्वयबोध इत्यत आह—व्यक्तेस्तु इति । धर्मिप्राहकमानेन व्यञ्जनायां बाधितार्थबोधकत्वं रसोक्तिवत् एवेति भावः । बाधनिश्चयप्रतिबन्धकत्वेऽप्युक्तौ वैयञ्जनिबोधेतरवोदस्यैव निवेश इति तत्त्वम् ।

अथ नानार्थकस्थल में व्यञ्जना मानने वाले पूर्वपक्षी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए कुछ नयी युक्ति देते हैं—अथास्तु इत्यादि से । पूर्वपक्षवालों का कहना है कि अथवा

रहे आपके कथनानुसार अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधा से बोध्य होकर ही अन्वयबोध का विषय अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का बोध भी अभिधा से ही हो जाय, पर वहाँ ही ऐसा हो जहाँ वह (अप्राकरणिक अर्थ) बाधित नहीं हो। पर जहाँ वह बाधित है, जैसे 'जैमिनीय'... इत्यादि में। मूलोक वाक्य का 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर अत्यधिक जैमिनि-मुनि प्रतिपादित भीमांसाशास्त्र का धारण करता है' इस अर्थ के अतिरिक्त 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर जैमिनी के मल (विष्ठा) का धारण करता है' यह घृणित अर्थ, 'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य के सेचन की तरह बाध-पराहत है अर्थात् जैसे अग्नि से सींचा नहीं जा सकता, वैसे ही ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण की बात नहीं हो सकती, अतः जिस तरह अग्निकरणक सेक का बोध अभिधा से नहीं होता, उसी तरह ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण का बोध भी अभिधा से नहीं होगा, क्योंकि—सभी विद्वानों के मत से तद्भाववत्तारूपवाचनिश्चय, तद्दत्ताज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक है। व्यञ्जनावारिणों के मत में तो बाधित अर्थ का भी व्यञ्जना से बोध हो सकता है, होता भी है, क्योंकि वैसे स्थलों पर व्यञ्जना की कल्पना ही उसी के लिए होगी, अतः उससे होने वाले बोध को वाचनिश्चय नहीं रोक सकता अर्थात् वैयञ्जनिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही वाचनिश्चय को प्रतिबन्धक माना जायगा। सारांश यह हुआ कि सुरभि मांस घाता है' इत्यादि स्थल में अबाधित गोमांस का बोध अभिधा से ही भी जाय, पर 'जैमिनीयमलम्'... इत्यादि स्थल में जिह्वा पर विष्ठाधारणरूप बाधित अर्थ का बोध अभिधा से किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अतः उसके बोध के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ेगी।

उत्तराद्वाद्या समाधानाह—

मैवम्, 'गामयतीर्णात्तस्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिन्याजात्,' 'सौवानां नगरस्यास्य मितन्त्यर्केण मौलय ।' इत्यादी वाच्यार्थान्वयौपपादनायानु-सरणीयेन यत्नेन नानावस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिः स्यात्, अन्यथा प्रायशः सर्वैक्यलंकारेषु वाच्यार्थबोधोपपत्तये व्यञ्जनाङ्गीकरणीया स्यात् ।

मैवमिति । पूर्वमुक्त प्रकारो न संभवतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—'गामयतीर्णेत्यादिना अत्र यत् इत्यादिबोधः गामिति सौधानामिति च भिन्नपद्यार्थे । तयोः प्रथमतः 'इयं, पतञ्जलिभेषज सरस्वती पृथिव्या ममागता' इति, द्वितीयस्य च 'अस्य नगरस्य प्रासादानां शिखराणि सूर्येण सह मिलन्ती'ति वाच्यार्थो भवत । अत्र अत्र पतञ्जलः शास्त्रावद्व-दातविद्यारालिचम्, प्रासादानामनुव्रतचञ्चाभिन्वयते । अनयोः पद्यार्थयोः वाच्यार्था-वैध बाधितौ इति तदन्वयबोधोपपादनायार्थं यन्तोऽनुव्रियते, यत्—अनाहार्यत्वस्यैव शब्दान्वयस्यापि बाधनिश्चयप्रतिबन्धतावच्छेदककोटी निवेशः, आहार्ययोग्यताज्ञानसौकर्य । अधिकं स्पष्टनिरूपणे मूलकार एव शुद्धीकरिष्यति । एवजानया रीत्या यदा बाधितार्थैकार्यस्यैवाच्यवाच्यस्यान्वयबोध उपपाद्यते तथा तथैव रीत्या बाधितस्य नानार्थस्पर्शीयाप्राकरणिकार्थस्य वाच्यत्वसौकर्येऽपि अन्वयबोधोपपादयितुं शक्यः । अन्यथेति । उक्तयनानुसरणविरहे इत्यर्थः । गामित्यत्र कैतवापद्रुताविव सौधानामित्यत्र संबन्धातिशयोक्त्याविव सरलेवलंकारेषु वाच्यार्थानां प्रायशो बाधिततया तदन्वयबोधाय व्यञ्जनासमाश्रयणीया भवेत्, न च समाश्रिते केनापि ।

पूर्वपक्षवालों की उक्त युक्ति का स्पष्टन कर रहे हैं—मैवम् इत्यादि से । अभिप्राय यह है कि नानार्थकस्थल में बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए भी व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'यह, पतञ्जलि के झूल से सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर अयतीर्ण हुई है' और 'इस नगर के प्रासादों के शिखर सूर्य से मिलते हैं।' एतदर्थक

मूल में उद्धृत वाक्यों के 'सरस्वती के पृथ्वी पर अवतीर्ण होना' और 'भ्रातादों के शिखरों का सूर्य से मिलना' रूप अर्थ बाधित हैं, अर्थात् ऐसा हो नहीं सकता। अतः ऐसे स्थलों पर वाच्य अर्थों का अभिधा से बोध सिद्ध करने के लिए जिस उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है, उसी से 'नानार्थकस्थलों' में भी बाधित अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा के द्वारा ही सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा उस उपाय का अवलम्बन नहीं करने पर—प्रायः सभी अलंकारों में वाच्य अर्थों का बोध सिद्ध करने के लिये 'व्यञ्जना का स्वीकार करना पड़ेगा। सारांश यह हुआ कि अलंकारप्रधान काव्यों के अधिकांश अर्थ प्रायः बाधित ही रहते हैं, पर बाधित होने पर भी उन अर्थों का बोध सब छोड़ अभिधा से ही मानते हैं और आप भी मानते हैं, तब फिर नानार्थकस्थल में ही बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना का आश्रयण क्यों किया जाय ? तब रही बात यह कि कहीं बाधित अर्थ का बोध अभिधा से कैसे होता है ? बाधनिश्चय उसमें प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर मूलकारने रूपक पर विचार करते हुए, स्वयं लक्षणा प्रकरण में दिया है। जिसका सारांश यह है कि बाधनिश्चय को शब्दजन्यबोध से अन्य बोध के प्रति ही प्रतिबन्धक मानना चाहिये, और बाह्यार्थ योग्यताज्ञान मान लेना चाहिये। फिर बाधित अर्थ का भी अभिधा से बोध होने में कोई बाधा नहीं।

उपसंहृति—

तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचा सिद्धान्त शिथिल एव ।
 'तस्मादि'त प्रागुक्तशुक्ति-कलापोंपसग्राहकम् । 'नानार्थस्येत्यत्र नाना अर्था यस्ये
 ति बहुव्रीहिणा नानार्थक पदमुच्यते । पूर्वोक्तशुक्तिभि नानार्थकपदस्थलेऽप्राकरणिक-
 स्यात् एव वक्तुरतारपर्याविषयस्याप्यर्थस्य शक्यैवावबोध उपपादिते तदर्थे तत्र व्यञ्जना-
 दश्यकैति तादृश एवाभिधामूलव्यञ्जनोदाहरणस्थल इति प्राचीनाना मम्मठादीना सिद्धान्तो
 निरुक्तिरुवादमपत इति भाव ।

अब प्राचीन मतों का उपसंहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि से। उक्त विचारों से यह सिद्ध हुआ कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से होता है—यह प्राचीनों का सिद्धान्त कमजोर ही है। अर्थात् नानार्थक शब्दस्थल का अप्राकरणिक अर्थ ही शब्द-शक्ति मूलध्वनि का लक्ष्य है—इस प्राचीनोक्ति में कोई युक्ति नहीं है, अतः वह असंगत ही है।

प्राचीनमतस्याशिकरूपेण युक्तिमपतत्त्वं कथञ्चिन् एवाकरोति—

प्राकरणिक्प्राकरणिकयोरर्थयोरुपमाया तु सा कदाचित्सादपीत्यत्रा-
 र्स्माक प्रतिभान्ति ।

'उपमाया तु' इत्यत्र 'तुना' अप्राकरणिगर्थं सा व्यवच्छिद्यते। सा व्यञ्जना ।
 अथ भाव —

'दुर्गालक्षितविग्रहो मनसिज सम्मालयस्तेजसा,

श्रीधराजकलो पृष्टीतरिना विष्वन्ततो भोविभि ।

न त्रेणकृतेभ्रणो निरिगुरौ साढा रुचि धारयन्,

गामान्म्य विभूतिभूपिततन् राजन्मुमावज्जम ॥'

इत्यादौ 'उपमावज्जम' पदस्य, उमानामिनाया राश्या वज्जम पति भानुदेवतामा नृपति, उमाया पार्वत्या वज्जम शिवश्चेति दावर्षी, तयो प्रथम प्राकरणिको द्वितीय-
 थाप्राकरणिक् । एतच्च प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरणेन तत्पदाभिधाया नियन्त्रितायामप्रा-
 करणिक पार्वतीवज्जमरूपोऽर्थो न बाक्योऽपि तु व्याज्य, तथाऽप्राकरणिकार्थवैयर्थ्यव्य-

मसबद्धार्याभिवायित्वं पद्यस्य मा प्रमात्रीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयो नृपशिवमी-
रुपमालंकारोऽपि व्यङ्ग्य इति प्राव आमनन्ति । पण्डितराजस्तु उक्तरीत्याऽप्राकरणिकार्य-
स्यापि वाच्यत्वं व्यवस्थान्योपमालंकारमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वमङ्गोक्तते । परन्त्रापि न पण्डित-
राजस्य नर्वशा निर्भर, 'तत्सूपनायैवान्न अथे 'कदाचिदिति' स्यादपीत्यत्रत्यापिशब्दश्च
मंदिरधार्यक प्रयुक्ते । तद्वान्वय तादृशाप्राकरणिकार्थमादान वाक्यस्यासंबद्धार्थकत्व
माभूदिति क्लव्यमानोपमाया अर्थपत्तिवैयत्यस्यापि समव इति बोध्यम् । उक्तश्लोके विरो-
पणपदाना द्वयो पक्षयोर्यायमाना पृथक् पृथगर्या विस्तारभयेनात्र न लिखिता इति
साहित्यदर्पणतो जिज्ञासुभिस्ते विज्ञेया ।

प्राचीन मत के कुछ अंश में युक्तिसंगत होने के नाते पण्डितराज अपनी सम्मति
दिशङ्कते हैं—शकरणिका इत्यादिसे । आशय यह है कि संस्कृतटीका में उद्धृत 'दुर्गालवित'...
इत्यादि श्लोक में 'उमावल्लभ' पद के दो अर्थ हैं, एक—उमा नाम की रानी का चहलभ
श्रियपति भानुदेव नाम का राजा, और दूसरा—उमा पार्वती का चहलभ शिव । उन
दोनों अर्थों में प्रथम प्राकरणिक, दूसरा अप्राकरणिक है । ऐसी स्थिति में प्रकरण से
प्राकरणीक राजारूप अर्थ में उमावल्लभ पद की अभिधा निषन्त्रित हो जायगी, अतः
वाच्य अर्थ नहीं होगा । अप्राकरणीक शिवरूप अर्थ होगा व्यङ्ग्य और अप्राकरणीक अर्थ
का बोध अप्रागल्भिक न समझा जाय, इसलिए 'उमावल्लभ-शिव—जैसा उमावल्लभ राजा,'
इत्याकारक प्राकरणीक तथा अप्राकरणीक अर्थ का उपमालंकार भी व्यङ्ग्य है—यह
प्राचीनों का मत है । पर पण्डितराज उक्त शीति से अप्राकरणीक अर्थ को भी वाच्य ही
मानते हैं, अतः उनके मत से केवल उक्त उपमा अलङ्कार ही व्यङ्ग्य है ।

स्वाभिमत शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणस्थलं दर्शयितुगुपनममातनोति—

एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धतया
रूढधनधिकरणस्य योगार्थलिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीति-
दुर्हपपादा ।

एवमपीति । नानार्थकस्थले शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणामभवेऽपीत्यर्थः । योगरू-
ढिस्थल इति । योगरूढिनांमाभिधाशक्तिविशेष, न च शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्य-
भूतार्थान्वितसमुदायबोधरूपरूप, तस्या स्थले लक्ष्ये पङ्कजपदादावित्यर्थः । अभिधामे-
नित्यणमभिधानिष्पन्नप्रकरणे स्वयमेव ग्रन्थकारो विरतरतो विधास्यति । योगापहरणस्ये-
त्यत्रापहरण वाच । रूढधनधिकरणेति । नित्यकृतानवन्धावच्छिन्नरूढिशक्तिनिष्पत्ता-
धिकरणताग्रन्थस्येत्यर्थः, रूढिशक्त्यनिरूपकस्येति यावत् । योगार्थेति । योगशक्त्यर्थः,
अन्यवाऽर्थान्तरपदेनाग्रिमेण योगार्थस्यैव विवक्षिततया 'योगार्थलिङ्गितस्य योगार्थस्येति'
प्रतानानमगत्यापत्ते । अथमभिप्राय—धोनरूढिविशिष्टान् पदात् हल्यर्थस्यैव वाच्य-
रूढ्या बोधो भवति, न योगार्थस्य 'रूढियोगापहारिणी'ति न्यायान् । परन्तु कश्चित् स्थल-
विशेषे (यमनुपपत्तेवाग्रे ग्रन्थकारो दर्शयिष्यति) एकरमादेव पदात् रूढ्यर्थप्रतीयुत्तरं
योगार्थस्यापि प्रतीतिर्जायते, सा च व्यञ्जनवैधेयपदाशयेतु शक्येति तादृशस्थल एव
शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाया लक्ष्यसम्पन्न इति ।

अथ ग्रन्थकार शब्दशक्तिमूलध्वनि के सम्बन्ध में स्वकीय मत उपस्थित करते हैं—
एवमपि इत्यादि से । उक्त शीति से प्राचीन मत के सिद्धिल हो जाने पर भी अन्यत्र
शब्दशक्तिमूलकध्वनि का लक्ष्य मिल सकता है । जैसे—अभिधा का एक भेद है योगरूढि,
जो शास्त्रकल्पित अवयवार्थमिधित समुदायार्थबोधकरारूप मानी जाती है, जिसका
उदाहरण 'पङ्कज' भादि पद होता है, वहाँ रूढि-शक्तिज्ञान से योगशक्ति का बोधहोता है,

यह वात सभी मर्तो में मान्य है। अतएव 'पञ्ज' पद से पञ्ज से जन्म ग्रहण करनेवाले शैवाल आदि का बोध न होकर केवल तादृश कमलरूप रूढ्यर्थ का ही बोध होता है। परन्तु कहीं-कहीं एक ही योगरूढ पद से रूढ्यर्थ के बोध हो जाने के बाद योगार्थ की भी प्रतीति देखी जाती है। (वैसे स्थल तुरत मूल में ही आगे दिखलाये जायेंगे) वह प्रतीति अभिधा से तो हो नहीं सकती, क्योंकि उस प्रतीति में सहायक योगशक्ति का रूढिशक्ति से बाध हो गया रहता है। अतः अगत्या उस प्रतीति को उपपन्न करने के लिये स्थलनाहुति का ही अवलम्बन करना पड़ेगा अर्थात् वही शब्दशक्तिमूलकभ्वनि का स्थान है।

उदाहरति—

यथा—

‘अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम् ।

तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः ॥’

अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्वल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तावदबला-वारिवाह-चपलाशब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्वाद्यघटितस्यैव तस्यार्थस्य प्रतीतेः। अन्यथा चमत्कारो न स्यात्। अतएव न योगशक्त्यापि केवलया। रूढ्यर्थासंवलितार्थबोधकत्वस्य तस्या रूढिसमानाधिकरणाया असंगतेः। पुंश्वलीत्वादेः सर्वथैव तदविषयत्वात्।

अबलेति। चपला = विद्युतौ वारिवाहै = मेघै सह अबलाना = नायिकाना श्रिय = शोभा हृत्वा = अपहृत्य यत्र = यस्मिन्, काले इति यावत् अनिशम् = सततम् तिष्ठन्ति = चरन्ते, स काल = वर्षासमय, समुपस्थित = समागत इति वाच्योऽर्थः। अत्र ‘अशक्तानां’मित्यादिमूलोक्तार्थोऽपि प्रतीयते, तस्यार्थ प्रतीति अबला-वारिवाह-चपला-पदेभ्यो योगरूढिशक्त्या न सम्य, अशक्तत्वमेघत्वविद्युत्पघटितारय अशक्तमेघविद्युत्पुंश्वैवेति यावत्, अर्थस्य तत्पदनिष्ठयोगरूढिशक्तिविषयत्वात्, प्रतीयमानस्य मूलोक्तार्थस्य च अशक्तत्वमेघत्वविद्युत्वाद्यघटितत्वात्। अन्यथेति। मूलोक्तार्थस्यप्रतीति, अशक्तत्वमेघत्व-विद्युत्वादिपघटितस्यैव तस्य प्रतीति यैत्यर्थः। अयमाशय — अत्र मूलोक्तार्थप्रतीतिरपलापे वाच्यार्थमात्रस्याचमत्कारित्वेन प्रकृतपदस्य काव्यत्वमेव न स्यात्, काव्यत्वस्य चमत्कारार्थान्वात्। तदर्थप्रतीतिरधीकारेऽपि तत्र मेघत्वादिवाच्यधर्मभानममाने पुन स एव चमत्कारामावनिबन्धने दोष इति मूलोक्तरूपेणैव तदर्थप्रतीति र्वीकर्तव्या भवेदगत्या साहित्यरसिकानाम्। ननु योगरूढिशक्त्या मूलोक्तार्थप्रतीत्यसम्भवेऽपि केवलयोगशक्त्या वारिवाहादिपदनिष्ठ्या, तत्प्रतीति सम्भवतीत्यपि न युक्तमित्याह—अत एवेति। वक्ष्य-माण्युक्तेरित्यर्थः। तामेव युक्तिमाह—रूढ्यर्थासवलिति। रूढ्यर्थेन असवलित अघटित अमिश्रित इति यावत् योऽर्थः, तद्विधेयत्वेति भावः। तस्या योगशक्तेः। रूढिसमाना-धिकरणाया इति, रूढ्या शक्त्येति यावत् समानम् एतम् अधिपकरणम् पदरूप रिधिति-प्रदेशो यस्या तस्या रुढिशक्तिमकीर्णया इति यावत्। एतत्पदार्थस्य ‘तस्या’ इति पठ्यन्ताथेऽन्वयः। असंगतेरिति पूर्वोक्त ‘बोधरूढ्यर्थे’त्यनेनान्वितम्। अयमाशय — योग-रूढ्या अबलावारिवाह-चपलाप्रसृतय शब्दा वाच्यशक्त्या न केवल योगार्थं बोधयितुं क्षमन्ते इति।

ननु पदबलान् तथा कल्पयत इत्यत आह—पुंश्वलीति। आदिना पुरुषत्व-रतित्व-परिग्रहः। तदविषयत्वादिति। योगशक्त्यविषयत्वादित्यर्थः। योगरूढपदेभ्यो वारिवाहा-

दिभ्यः केवलयोगार्थबोधरवीकारेऽपि न प्रकृते इष्टसिद्धिः, योगवलेनापि पुंशस्त्रीत्वादेरल्प्रभ
दिति भावः । एववैतादृशेषु स्थलेषु शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनारवीकारावरूपकः, अन्यथा अति-
स्तादादिति ग्रन्थकारस्य हृदयम् ।

अथ ग्रन्थकार अपने मत के अनुसार शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण दिसलाते
हैं—अबलाभाम् इत्यादि से । इस पद्य का प्राकरणिक अर्थात् 'योगरूढि' द्वारा होने वाला-
वाच्य अर्थ यह है—जिस समय मैं विद्युत्प्रकारे रमणियों की कान्ति का अपहरण करके
रात दिन मेघों के साथ रहा करती हूँ, वह वर्षा समय उपस्थित हो गया । परन्तु वहाँ
एक अन्य अर्थ भी अवगत होता है । वह यह है कि—जिस समय मैं कुलटार्ये निर्वल
पुत्रों का घन अपहरण करके जल देनेवाले अर्थात् नीच पुरुषों के साथ रमण किया
करती हूँ, वह समय (घोर कलियुग) आगया । इस द्वितीय अर्थ का बोध 'अबला',
'वारिवाह', और 'अपला' शब्दों की योगरूढिशक्ति से नहीं हो सकता, क्योंकि 'मेघव',
और 'विद्युत्' आदि धर्मों से युक्त अर्थ ही उक्त पदों की योगरूढिशक्ति के विषय हुए हैं
और उक्त द्वितीय अर्थ उन धर्मों से कतई संबन्ध नहीं रखता । यदि कोई यह दुराग्रह
करे कि उक्त द्वितीय अर्थ में भी उन धर्मों का संबन्ध है, अथवा उक्त द्वितीय अर्थ का
यहाँ बोध नहीं होता, तो यह वन नहीं सकता, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में प्रकृत
पद्य में कोई चमत्कार ही नहीं रहेगा, फिर तो इस पद्य को काव्य कहना भी कठिन
हो जायगा, क्योंकि काव्यव्यवहार चमत्कार के ही अधीन है । यदि आप कहें कि
योगरूढिशक्ति से उक्त द्वितीय अर्थ का बोध नहीं हो सकता है तो न हो, केवल
योगशक्ति से हो सकता है, किन्तु यह भी सगत नहीं होगा, क्योंकि 'अबला', 'वारिवाह'
'अपला' प्रकृत शब्द जब योगरूढ़ि हैं, तब वे केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोधक
हो ही नहीं सकते । यदि आप इतने पर भी यह हठ करें कि जब यहाँ उक्त द्वितीय अर्थ
की भी प्रतीति अनुभवसिद्ध है, तब हम अगत्या योगरूढ़ि होने पर भी इन शब्दों से केवल
योगार्थ का भी बोध मान लेंगे, दूसरा उपाय ही क्या है ? ऐसा कहना भी न्यायसंगत
नहीं होगा, क्योंकि उन पदों की योगशक्ति के अन्दर भी तो कुलटा, पुरप और रमणरूप
अर्थ नहीं आते । अतः ऐसे स्थलों में अगत्या उस द्वितीय अर्थ के बोध के लिये शब्दी
व्यञ्जनारूप अन्य उपाय का आश्रयण करना ही पड़ेगा । इस तरह से यह सिद्ध हो
जाता है कि प्रकृत पद्य का उक्त द्वितीय अर्थ शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य है ।

योगरूढेरन्यत्राप्येकत्रैषा स्थितिरिति दर्शयति—

एवं यौगिकरूढिस्थलेऽपि बोध्यम् ।

अभिधाया यौगिकरूढिनामकौऽप्येवो भेदः कैश्चिद्व्रीकृतः यच्चर्चा ग्रन्थकृताऽप्रे विधा-
स्यते । मण्डपादिपदानि तस्य शक्तिभेदस्याभ्याभूतानि । तत्परघटितकान्येऽपि वाच्य-
भिन्नार्थबोधाय व्यञ्जनाया अपेक्षेति साराशः ।

इसी तरह यौगिकरूढिस्थल में भी समक्षिप । अर्थात् अभिधा का यौगिकरूढिनामक
एक भेद—जिसकी चर्चा ग्रन्थकार ने आगे की है—कुछ लोगों ने माना है, जिसके
उदाहरण मण्डप आदि पद होते हैं, उन पदों से रचित काव्य में भी वाच्य से भिन्न अर्थ
का बोध व्यञ्जना से ही होगा, अतः वैसा स्थल भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण
हो सकता है ।

योगरूढिस्थलीयमेवोदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—

'चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां शिथं हरतु ।

विधिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाभां कथं हरति ॥'

अत्र नैवाश्रयकारि चाञ्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तत्र लोचनेन शोभायास्तिरस्कारः, आश्रयकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्याः स इति वाच्यार्थे पर्यवसन्नेऽपि रुदिनिर्मुक्तकेवलयोगनर्यादया मूर्खपुत्राणामतएव प्रसक्तानां नेतृभिश्चोरादौ, श्रियो धनस्य हरणं मुशकम्, न तु गवेप-
काणामत एवाप्रसक्तानामिति जलजनयनमृगशाब्देभ्यः प्रतीयमानोऽर्थः कथं नाम व्यञ्जनाद्व्यापार विनोपपादयितुं शक्यते ।

जलजनयनमृगेति । काव्ये उल्लोकेत्यात् मूर्खरूपस्य नयतीति त्वनमिति ध्युत्पत्त्या नेतृत्वेन चौररूपस्य, मृगयन्तीति मृगा इति व्युत्पत्त्या गवेपकरूपस्य चार्थस्य लाभः । 'मृग-
धन्नेषु' इत्यदन्ताचुरादिधातोः पचाश्च । तथा च योगहृदिशक्याऽयं पदसंज्ञा-
मर्थः—कर्मण्ये चञ्चलतागुणेनास्तीति तदपेक्षया समावृत्तगुणशालिना तत्र नेत्रेण तेषां
कमलानां शोभायास्तिरस्कारः समुचित इति नाश्रयकारि । परन्तु सामान्यतश्चञ्चल तत्र
नेत्रे वनवासिनामिति चञ्चलानां मृगाणाम् शोभायास्तिरस्कारः यत्करोति तदाश्रयकारि इति ।

एतद्वाच्यार्थविगत्यनन्तरमपि जलजनयनमृदानाम् पग रुदिरहितकेवलयोगशक्या-
योऽयमर्थः प्रतीयते—नेतृभिश्चोरादौर्मूर्खतन्यानामितएव प्रमादकारिणा धनापहरण
भवितुमर्हति, परन्तु ये गवेपका अतएव सावधाना गुप्तस्थानवासिनश्च तेषां धनापहरण
चौरैर्न शक्यते विधातुमिति, तदर्थपर्यय प्रतीतिरियं न व्यञ्जनावृत्तिमह्वारमन्तरा कर्तुं
शक्या 'रुदिरयोगार्णहारिणो'तिन्यायमूलोपयुक्तेरिति साराशः ।

अथ 'यथा वा' कहकर योगरुदि स्थल का ही एक और उदाहरण द्विसंज्ञाया जाता है—
गच्छन्व इत्यादि से । योगरुदिराक्ति से इस पद्य का अर्थ होता है कि साधारण
चञ्चलतारूपगुण से युक्त तेरा नेत्र, सर्वथा उस (चञ्चलता) गुण से हीन कमलों की
शोभा का तिरस्कार करे, यह कोई आश्रय की बात नहीं । पर अत्यधिक अर्थात् तुम्हारी
आँखों से भी अधिक, चञ्चलता गुणशाली मृगों की शोभा का भी जो तेरा नेत्र तिरस्कार
करता है, वह अत्यन्त आश्रय की बात है । इस वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर
रुदिरहित केवल योगशक्ति के बल से एक और अर्थ यहाँ प्रतीत होता है । वह यह
है—मृगों के पुत्र अतएव असम्भवात् रहनेवालों के धन का अपहरण, (चोरी) आदि कर
सकते हैं, पर गवेपक अर्थात् हर बात की गोज रखनेवाले अतएव पूर्ण सावधानता
वातनेवालों के धन का नहीं । साराश यह है कि—काव्य में 'ह' और 'ल' पदों का माना
गया है, अतः 'जलदपद' का जड़-मूर्खपुत्र, 'नयति-ले जो जाय' इस ध्युत्पत्ति से
'नयन' पद का नेता-चौर और 'मृगयन्ति-ओ रोज करे' इस ध्युत्पत्ति से 'मृग' पद का
गवेपक-सदा सावधान, अर्थ भी केवल योगशक्ति की रीति से होता है, जिनके अन्वय
से एक द्वितीय वाक्यार्थ तैयार होता है । इस द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जनावृत्ति के
बिना नहीं हो सकता, क्योंकि योगरूपद रुदिराक्ति से अभिधित केवल योगशक्ति
से अर्थ के बोध कराने में सर्वथा अक्षम होते हैं । अतः यह भी शब्दशक्तिमूढध्वनि
का लक्ष्य है ।

योगरुदिस्थले केवलयोगशक्या नार्णान्तरप्रतीतिरिति (वाचिमत् मिदान्तम् अन्वया-
चार्थमते) नवादयति—

अतएव पङ्कजादिपदेभ्यः पङ्कजनिर्गृह्येन कुमुदाद्युपस्थितिर्लक्षणयैवेति
नैयायिका मन्यन्ते । अतएव च 'ईशानो भूतभयस्य स एथाद्य स च श्व' इति
वेदान्तवाक्ये किमैश्वर्यविशिष्टः कश्चिज्जीवोऽत्र प्रतिपादने उतेश्वर इति सशये,

जीव एवेति पूर्वपक्षे च 'शब्दादेव प्रमित.' इति सूत्रितसुत्तरमीमांसाकारैर्बादरायणचरणैः (ब्रह्मसूत्रे १।३।२४) ।

अत एवेति । योगार्थमात्रस्ययोगरूपपदादलाभादेवेत्यर्थः । अर्थभाव —यत् योगरूढि-शक्तिनिशिष्टं पङ्कजपद पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्ट कमलमेव वाच्यवृत्त्या समुपस्थापयितुं क्षमते, न केवलयोगमर्यादया पङ्कजनिकर्तृत्वमुदादि, अतस्तदुपरिधति विकीर्णता चेत्तत्रार्थे पङ्कज-पदस्य लक्षणा समाश्रयणीयेति नैयायिकानां मन्तव्यम् । न केवल नैयायिकैरेव समर्थितोऽयं सिद्धान्तः, अपि तु वेदान्तिभिर्णीति दर्शयितुमाह—अत एव चेति । उक्त एवार्थः । ईशान इत्यस्य 'अहुष्टमात्रं पुष्टयो ज्योतिरिवाधूमक' इत्यादिप्रमथः । कठवह्नीस्यमिदम् (वतुर्य-वह्नी । १२) । अथ वर्तमानकाले स एव अहुष्टमात्र इत्यादिविशेषणविशिष्ट भूतभव्यस्य ईशान अस्ति । यो भविष्यकाले स एव भवितेत्यर्थः । अस्मिन् वेदान्तवाक्ये ऐश्वर्य-विशिष्टस्य कलाननं जीवस्य प्रतिपादनमुत् ईश्वरस्येति सराय । जीव एव, अहुष्टपरिमाणस्य लिङ्गस्य ब्रह्मण्यसंभवान् इति पूर्वं पक्षः । ततः सिद्धान्तार्थं भगवान् बादरायणः 'शब्दा-देवे'ति सूत्रमरचयत्, तस्यावभाशय —परमान्वैवात्र प्रतिपाद्य इति प्रमितम्, कुतः, शब्दादेव, ईशानशब्दादिति तदर्थः । ईशानशब्द परमान्वनि योगरूढः, अतः केवलयोग-मर्यादया ऐश्वर्यविशिष्टजीवस्य ततो बोधो न स्यात्, रुडेयोंगापहारित्वान् । ननु अहुष्ट-मात्र इति लिङ्गस्य परमान्वनि विरोध इति चेत् ? मन्यम्, जीवे ईशान इति श्रुतिरेव विरुद्धा । लिङ्गश्रुत्योर्विरोधे च श्रुतेरेव प्रावलयम्, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानतमाख्यायां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति' अमिनिमुद्रात् । अहुष्टमात्रजीवानुवादेन ब्रह्मभेदप्रतिपादन-परतया अहुष्टमात्रत्वलिङ्गरयानुपपत्तिरपि परिहर्तुं सुराभा इति ।

अथ ग्रन्थकार 'योगरूढपद, केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोध नहीं कराता है' इस स्वसम्मत सिद्धान्त में अन्य भाषाओं की सम्मति दिखलाते हैं—अतएव इत्यादि से। योगरूढिशक्तिवाला 'पङ्कज' पद, जिस लिये पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले कमल का ही अभिप्राय द्वारा बोधक होता है, केवल योगशक्ति द्वारा पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले कुमुद आदि का नहीं, अतएव यदि कहीं पङ्कजपद से कुमुद आदि का बोध कराना अभीष्ट रहता है, तो उसके लिये पङ्कजपद में कुमुद आदि अर्थ की लक्षणा नैयायिक लोग मानते हैं। इसी तरह वेदान्ती विद्वान् भी योगरूढपद से केवल योगार्थ का बोध नहीं मानते हैं। देखिए—कठवह्नी नामक शास्त्रा में 'अहुष्टमात्रः पुरुषो-ज्योतिरिवाधूमक' अर्थात् निर्धम अग्नि-ज्योति के समान अहुष्टप्रमाण एक पुरुष है' इत्यादिरूप से आरम्भ करके 'ईशानो भूतभव्यस्य ...' इत्यादि मूलोक वाक्य कहा गया है। जिसका अर्थ यह है कि आज—वर्तमानकाल में अहुष्टमात्र प्रमाणवाला वह पुरुष ही भूत और भावी का ईशान अर्थात् मालिक है और भविष्यकाल में भी वही मालिक रहेगा। यहाँ यह सन्देह होता है कि यह ऐश्वर्यशाली किसी जीव का वर्णन है अथवा परब्रह्म परमेश्वर का ? इसके उत्तर में पहले यह कहा गया कि जीव का, क्योंकि अहुष्ट प्रमाणरूपचिह्न परब्रह्म में नहीं हो सकता। तदनन्तर उक्त सन्देह का निराकरण करने के लिये उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) कार भगवान् वेदव्यास ने सिद्धान्तभूत 'शब्दादेव प्रमित' यह सूत्र बनाया। जिसका अर्थ यह है—कि उक्त उपनिषद् वाक्य में परब्रह्म का ही वर्णन किया गया है जीव का नहीं, यह बात 'ईशान'शब्द से ही प्रमित—यथार्थरूप में निश्चित है। सूत्रकार का आशय है कि ईशानशब्द परब्रह्मरूप अर्थ में योगरूढ है, अतः केवल योगमर्यादा से ऐश्वर्यशाली जीव का बोधक वह नहीं हो सकता है। यहाँ यदि कोई यह आशय करे कि भगवान् वेदव्यास का उक्त प्रसंग कैसे संगत हुआ, क्योंकि ईशानपद का परब्रह्म अर्थ करने पर 'अहुष्टमात्र प्रमाण' यह

लिङ्ग विरुद्ध हो जाता है ? इसका समाधान यह है कि परब्रह्म अर्थ करने पर लिङ्ग विरोध होता है, पर जीव अर्थ करने पर तो 'ईशान' यह श्रुति ही विरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रुति का अनुरोध करना ही उचित है लिङ्ग का नहीं, क्योंकि—सूत्रकार जैमिनि ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण आदि में उत्तरोत्तर को दुर्बल माना है।

उपसहरति—

तस्मादर्थान्तरमिह न शक्तिवेद्यम् अपि तु व्यक्तिवेद्यमेव ।

तस्मादिति । हृदयैर्योगपरारित्वादेवेत्यर्थः । अर्थान्तरम् कैवल्ययोगमर्यादाप्राप्तम् ।

इह अवलानामित्यादौ । शक्तिवेद्यमिति । शक्त्या योगरुदिराशक्त्या चैव ज्ञेयमित्यर्थः । व्यक्तिवेद्यमिति । व्यक्त्या शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनया ज्ञातव्यमिति भावः ।

प्रकृत प्रसङ्ग पर स्वमत का उपसहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि से। उक्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि 'अवलानाम्' ' ' और 'चाञ्चल्य' ' ' इत्यादि, योगरुद्ध-पदरचित पद्यों में जो दूसरे—अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होते हैं, वे अभिधा के द्वारा नहीं, अपि तु व्यञ्जना के द्वारा ज्ञात होते हैं।

ननु शक्त्यवेद्यत्वेऽपि लक्षणावेद्यत्वमेवास्तु किं व्यञ्जनयेत्यत आह—

यथाश्रुतार्थस्यैवोपपत्तेर्बाधाभावेन लक्ष्यमित्यपि न शक्यं वक्तुम् । तात्पर्यार्थबोधस्तु तदर्थबोधोत्तरं बोध्यः । स एव तु कथं स्यादित्युपायोऽयं विचिन्त्यते । नहापहर्तृव्यवहारो वक्त्रा विवक्षित इति श्रोतुर्बोधे कश्चिदुपायोऽस्ति ऋते सहृदयहृदयोन्मिषितादस्माद्वापारात् ।

यथाश्रुतार्थस्येति । श्रुत शब्दमिति यावत् अनतिशय्य प्रवर्तते इति तादृशो योऽर्थ तस्येत्यर्थः । श्रुतशब्दस्वारस्यसिद्धार्थस्येति यावत् । वाच्यार्थस्येति परमार्थः । उपपत्तेरिति । अन्वयबोधासिद्धेरिति भावः । बाधाभावेनेति । अन्वयाद्योग्यत्वविरहेत्येतेत्यर्थः । अर्थभाव — 'अवलाना धियम्' इत्यादौ 'नायिकाना शोभा हन्वा विद्युतो मेघं सह रमन्ते' इति रीत्या तत्तत्पदार्थस्यान्वयसम्भवे, सुत्यार्थवाधतद्योग-रुद्विप्रयोजनान्यतररूपलक्षणाकारणघटक-सुत्यार्थवाधात्मककारणविरहेण तत्र 'अशक्ताना धनमपहृत्य वारिवाहकैः पुरुषैः सह पुथत्यो रमन्ते' इति प्रतीयमानार्थादौ तद्वाक्यस्य तद्वाक्यघटकपदानां बाल लक्षणा न सम्भवतीति ।

ननु अन्वयानुपपत्तिर्न लक्षणाबीजम् 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' नक्षत्रं हृद्वा वाच विस्जेत' इत्यादौ लक्षणानुपपत्तेरिति तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणानुपपत्तिरिति नानुपपत्तिरिति स भवति तत्र लक्षणेत्यत आह— तात्पर्यार्थेति । द्वितीयार्थेति तदर्थः । तदर्थेति । योगरुदिलभ्यार्थेत्यर्थः । स इति । द्वितीयार्थ-बोध इत्यर्थः । अयमिति । व्यञ्जनाङ्गीकाररूप इत्यर्थः । अपहर्तृव्यवहार 'चाञ्चल्ययोगि' इति पद्ये चौरव्यवहार । ऋते विना । सहृदयेति । सहृदयानां काव्यार्थभावनापरिष्क-शुद्धीनां सचेतसहृदयेभ्य उन्मिषितान् उन्मिषितात् इत्यर्थः । सहृदयशुद्धीतादिति यावत् । अस्माद् व्यञ्जनारूपात् । चाञ्चल्ययोगीत्यादौ प्रथमार्थप्रतीतिबलाया यदि 'अपहर्तृव्यवहारोऽत्र वक्त्रा विवक्षित' इति तात्पर्यं श्रोतुर्वदितमभिव्यक्तं, तदा तदनुपपत्तिमूलिना लक्षणा तत्रार्थं कर्तुं श्रोताऽपारश्रियत्, परन्तु तत्तात्पर्यार्थज्ञानार्थमेव व्यञ्जनाव्यापारस्वीकार इति सिद्धमिह व्यञ्जनाया आवस्यक्यम् । अपरन्तु तद्ज्ञानसाधक उपायो नास्त्येवेति भावः ।

अब लक्षणा से भी उक्त स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता, यह दिखलाते हैं—यथाह्यन इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नैयायिकों की तरह लक्षणा से ही

योगरूढि स्थल में अप्राकरगिक अर्थ का बोध मान लेने की बात भी संगत नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ का बाध रहने पर ही लक्षणा होती है और वहाँ मुख्य अर्थ का बाध नहीं रहता, अर्थात् 'अवलानां श्रियम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पदों में 'नायिकाओं की शोभा का अपहरण करके विजलियाँ मेघों के साथ रहती हैं' इत्यादि रीति से जब वाच्य अर्थ का अन्वय हो ही जाता है, सब लक्षणा का प्रसंग ही वहाँ कैसे उठ सकता है ? क्योंकि लक्षणा के कारणों में एक मुख्य अर्थ का अन्वय न हो सकना (बाध) भी है। यदि आप कहें कि 'काकों से दही की रक्षा कीजिए' इत्यादि स्थलों पर अन्वय की अनुपपत्ति न रहने पर भी लक्षणा होती है अतः तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है अन्वय की अनुपपत्ति नहीं, फिर तो उक्त योगरूढिस्थलों में लक्षणा ही हो सकती है, क्योंकि 'दुर्बल पुरुषों के धन का अपहरण करके कुलदायें जल डोनेवालों के साथ रमण करती हैं' इस अप्राकरगिक अर्थ में—जिसमें वक्ता का तात्पर्य है—अनुपपत्ति स्पष्ट है। इस प्रकार यह फणन भी आपका अज्ञानमूलक ही कहा जा सकता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उक्त अप्राकरगिक अर्थ में है, इसका ज्ञान ही श्रोता को पहले कैसे होगा ? उसी ज्ञान के लिये तो मैं व्यञ्जना मानने की सम्मति दे रहा हूँ और आप उसी व्यञ्जना का खण्डन करने के लिये लक्षणा की बात चला रहे हैं यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् 'चाञ्चल्ययोगि...' इत्यादि स्थलों में प्रथम अर्थ की प्रतीति के समय में 'चौरवाली बात भी वक्ता का विदित है' इस तरह का तात्पर्य श्रोता को यदि ज्ञात रहता, तो वह उस अर्थ की अनुपपत्ति से उस अर्थ में उक्त पद्यवचक एक वा अनेक पदों की लक्षणा कर भी सकता था, पर वह तात्पर्य ही श्रोता को प्रथमार्थ ज्ञानकाल में ज्ञात नहीं रहता। यदि उक्त तात्पर्यज्ञान के लिये उपाय का अन्वेषण करना चाहेंगे, तो व्यञ्जना की शरण लेनी पड़ेगी दूसरा कोई उपाय मिलेगा ही नहीं। और जब व्यञ्जना मान लेंगे तब लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी व्यञ्जना से ही उस अर्थ का बोध मिट्ट हो जायगा।

पूर्वोक्तरीतिरेवान्यत्रापि तादृशस्थलेषु समाश्रयणानिव्याह—

एवमन्यत्राप्युह्यम् ।

प्रागुपदर्शिता सरणिमाश्रित्य अन्यत्रापि योगरूढिस्थले काव्यघटकं रचयनेवेहो विधेयः काव्यमर्मैरिति भावः ।

इस तरह योगरूढ पदों के द्वारा रचित अन्य काव्यस्थलों में भी चाहिए।

योगरूढपदनिबद्धेषु 'अवलानाम्' इत्यादिषु द्वितीयार्थप्रतीत्यपत्तापं दूरीकरोति—

तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति तु गाढतरशब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्न शक्यते वक्तुम् ।

तादृशेति । द्वितीयैत्यर्थः । गाढतरैरिति । गाढतया अनन्यसाधारणया तल्लक्षणैरेति यावत् शब्दार्थयो व्युत्पत्त्या ज्ञानेन मसृणीकृतानि विक्रणीकृतानि व्यङ्ग्यार्थबोधक्षमतामापादितानीति यावत् अन्तःकरणानि हृदयानि हृदयानिष्ठजात्मान इति परमार्थ, येषां तैरित्यर्थः । 'अवलाना'मिन्यादौ द्वितीयार्थप्रतीतिरेव नेति त एव चक्रतुं प्रभवन्ति ये अल्पज्ञा वाच्यार्थमाश्रयणानिपुणा, ये तु काव्यमर्मज्ञा बहुज्ञा व्यङ्ग्यार्थबोधकुशलास्ते न तथा कथयेयुरिति भावः ।

उक्त पदों से उक्त अप्राकरगिक अर्थों की प्रतीति होती ही नहीं है, ऐसा तो वे ही सनन कह सकते हैं जो अल्पज्ञ होंगे—वाच्यार्थमात्र को समझने की शक्ति रखते होंगे, अर्थात् जिन लोगों के हृदय शब्द और अर्थों की गाढ़ी व्युत्पत्ति से मँने होंगे, वे कभी भी उक्त व्यङ्ग्य अर्थों का अपलाप नहीं कर सकते ।

‘इदानीम्’ अनेकार्थस्य शब्दस्य इत्यादिमम्मटोक्तशब्दशक्तिमूलव्यञ्जनात्प्राहकारिका-
स्थाने निबन्धिवैव संप्रहकारिका कर्तव्येत्याह—

तथा चेत्थं समद—

‘योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते । --
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥’

‘योगरूढिशक्तिविशिष्टस्य पदस्य योगशक्तौ रूढिशब्दा नियन्त्रिताया या वृत्तियोग-
शक्तिरुच्चव्यस्यार्थस्य बोध जनयति, सैव शब्दशक्तिमूला व्यञ्जनेत्यर्थ । योगशक्तोनियन्त्रण-
धात्र ‘रुढिर्योगपहारिणी’तिन्यायेन कार्याक्षमत्वविधानमिति बोध्यम् ।

अब स्वमतानुसार शब्दी (अभिधामूल) व्यञ्जना का लक्षण करते हैं—नया न
इत्यादि से । योगरूढ पद की योगशक्ति जब रूढिशक्ति से ‘रुढिर्योगपहारिणी’ के
अनुसार नियन्त्रित कर दी जाती है—कार्याक्षम बना ही जाती है, तब योगशक्ति के
द्वारा लाभ करने योग्य अर्थ का बोध जिस वृत्ति से होता है, उसी का नाम है ‘व्यञ्जना’
अर्थात् शब्दशक्तिमूलव्यञ्जना वही कहलाती है । अब ऐसा ही समझ करना चाहिए,
न कि ‘अनेकार्थस्य शब्दस्य ’ इत्यादि मम्मटोक्त जैसा ।

मम्मटादिप्राचीनाचार्याणां हृदय स्फोरयति—

एवं स्थिते नानार्थस्थलेऽप्युपमाया प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थगतायाः प्रति-
पत्तयेऽवश्यं वाच्यया व्यञ्जनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्तावलं क्लिष्टकल्प-
नयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानार्थद्वयञ्जकत्वमपि न दुष्यति ।

अवश्यं वाच्ययेति । अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वेन गिदान्तेऽस्वीकारादिति भाव ।
क्लिष्टेति । मान्दर्थरथलीयामाकरणिकार्थबोधाय प्राक् प्रतिपादितयेत्यर्थ । यद्यप्युक्तरीत्या
नानार्थस्थले व्यञ्जना विनाप्यप्राकरणिकार्थबोधनिर्वाह सम्भवति, तथापि नानार्थस्थलेऽपि
प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थवर्तिन्या उपमाया बोधाय साऽवश्यमज्ञाकर्तव्या स्यादप्राकरणिका-
र्थस्य वाच्यत्वं व्यवस्थापयद्विरपति तदेवाप्राकरणिकार्थबोधोऽपि स्वीक्यताम्, तदर्थं पूर्वोक्त
केशवकुला कल्पना वृथैवेति प्राचामभिप्रायो वर्णनीयः ।

अब मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के प्रकृत प्रसंग पर प्रतिपादित मतों का जो
मूलभूत सत्य रहस्य है उसका विरलेषण करते हैं—एव स्थितं इत्यादि से । नानार्थक स्थल
में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है यह प्राचीनों का मत है । उसकी जो
स्थिति विरलेषण करने पर होती है वह पूर्व सन्दर्भों में स्पष्ट हो चुकी है । अर्थात् युक्तिरूपी
कसौटी पर परीक्षित होने से वह मत उज्ज्वल नहीं सिद्ध हो सका । तथापि एक बात
उसमें सचचा सत्य है जो सबको मान्य होने योग्य है । वह यह है कि नानार्थक-
स्थल में अर्थद्वय का बोध अभिधा से सिद्ध हो जाने पर भी उन दोनों (प्राकरणिक
तथा अप्राकरणिक) अर्थों की उपमा अभिधा से ज्ञात नहीं होती, किन्तु व्यञ्जना
से ही । ऐसी स्थिति में जब कि वहाँ व्यञ्जना की कल्पना किसी न किसी तरह करनी
ही पड़ी, तब उस व्यञ्जना से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो ही जायगा इस
प्रकार व्यर्थ बलेशप्रद अनेक कल्पनायें नहीं करनी पड़तीं, यह प्राचीनों का अभिप्राय नानार्थ-
व्यञ्जनास्थल में भी दोषावह नहीं कहा जा सकता ।

प्राचीनोक्तनानार्थशक्तिनियमकान् संयोगादीन् निरूपयितुमुपक्रमते—

तत्र नानार्थशक्तिनियमनाय तैः संयोगादयो निरूपिताः—

‘संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्वयस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥'

सन्नेति । निरूपिताया व्यञ्जनायामिव्यर्थः । तैः प्राचीनैः । भर्तृहरिनिर्मितवाक्यपदीय-
प्रन्यस्येयं कारिका । एते संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदुच्छेदद्वारेण विशेष-
स्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः । उपस्थितानामनेकेषामेकतरमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा
तन्मात्रार्थविषयकान्वयबोधजनका इति भावः ।

अथ ग्रन्थकार नानार्थक शब्दों की शक्तियों के नियमब करनेवाले प्राचीनाभिमत
संयोग आदि के निरूपण करने का उपक्रम करते हैं—एत इत्यादि से । अप्राकरगिक अर्थ
की अभिव्यक्ति रथलों में अनेक अर्थों की अभिधाशक्ति को रोकने के लिये—अर्थात्
अभिधानाक्ति को केवल अप्राकरगिक अर्थ का बोधक सिद्ध करने के लिये—प्राचीन
आचार्यों ने जिन 'संयोग' आदि (१५ प्रतिबन्धकों) का निरूपण किया है वे इस प्रकार हैं—
१. संयोग, २. वियोग, ३. साहचर्य, ४. विरोध, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिङ्ग, ८ अन्य
शब्दसन्निधि, ९ सामर्थ्य, १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति, १४. स्वर,
और १५. आदिपदग्राह्य चेष्टा । ये सब 'इस शब्द का यहाँ क्या अर्थ है' इस तरह के
सन्देह होने पर निर्णय के कारण होते हैं । अर्थात् इन सबों के द्वारा छोटा 'धक्का का
कौन सा अर्थ अभिमत है' इस बात का निर्णय करने में समर्थ होता है ।

हरिकारिकोक्तान् संयोगादीनेकैक्यो व्याचिख्यासुरादौ प्रथमोक्तं संयोगं व्याचष्टे—

तत्र—

संयोगो नानार्थशब्दशक्यान्तरवृत्तितया अप्रसिद्धत्वे सति तच्छक्यवृत्ति-
तया प्रसिद्धः संबन्धः ।

यथा—'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र शङ्खचक्रयोः संयोगो भगवन्मात्रनिष्ठतया
प्रसिद्धो भगवति हरिशब्दस्याभिधायानियमेनावस्थापकः, न त्वायुधत्वेनायुध-
सामान्यसंयोगः पाशाङ्कुशादिसंयोगो च । दलद्वयाभावात् । न चासौ लिङ्गा-
न्तर्गत इति मन्त्वव्यम्, शक्यान्तरे नियमेनावृत्तेरेव प्रकृते लिङ्गत्वात् । शङ्खचक्र-
योस्त्विन्द्रादिनापि कदाचिद्वारणसंभवात् ।

तत्र संयोगादीना मध्ये । नानार्थस्य शब्दस्य ह्यार्थः शक्यान्तरेषु विष्णुभिन्नशक्येषु
इन्द्रादिषु वृत्तितया वर्तमानतया पदप्रसिद्धत्वम्, तद्विशिष्ट अथ च तस्मिन् विष्णादि-
ह्ये शक्ये वर्तमानतया प्रसिद्ध संबन्धः संबन्धमामान्यं संयोग इति लक्षणार्थः ।
यत्किञ्चिदर्थप्रतियोगिनो य' यत्किञ्च संबन्धो नानार्थपदवाच्यवदर्थनिरूपिताभिधा नियन्त्रणात्वा
तस्मिन् वर्तमानतया न लोकविख्यातो विख्यातधानियन्त्रणात्वाभिधा निरूपकार्यवृत्तितया,
न संबन्धोऽत्र संयोगपदवाच्य इति परमार्थः । स च स्थलभेदेन अन्वयजनकभावादि-
रूपः सर्वोऽपि ।

उदाहरति—यथेति । 'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र हरिशब्दो नानार्थकः, परमिह शङ्ख-
चक्रयोः संयोगः । हरिपदशक्येन्द्रादिनिष्ठतया अप्रसिद्ध प्रसिद्ध भगवन्निष्ठतयेति स
तत्पदाभिधा भगवति नियन्त्रयति तेनात्र वाच्यवृत्त्या हरिपदात् भगवत् एव बोधो नेन्द्रादेः ।
लक्षणपदशक्यविशेषणदत्तस्य व्यावर्त्यमाह—न त्वायुधेति । आयुधो हरिरित्यत्रायुधसंयोगेन
न हरिपदाभिधायानियमनम्, शक्यान्तरे इन्द्रादां आयुधसंयोगस्याप्रसिद्धिर्नास्ति, तस्य
तत्र वर्तमानत्वादिति विरोधणदलनिन्वेरोन तस्य व्यावृत्तिः । विशेष्यदत्तस्य व्यावर्त्यमाह—
पाशाङ्कुशादीति । स पाशाङ्कुशो हरिरित्युक्तौ पाशाङ्कुशसंयोगेन नहरिपदाभिधानियन्त्रणम्

तस्य नयोरस्य भगवति प्रसिद्धत्वविरहेण विरोध्यदलेन व्याहृते । दलद्वयाभावादिति । पूर्वोक्ते स्थलद्वये पूर्वस्मिन् प्रथमदलस्य द्वितीयस्मिन् द्वितीयदलस्याभावादित्यर्थः । नन्वेवं लिङ्गरूपनियामकान्तर्भाव एवास्य संयोगस्य, नेत्याह—नचासाविति । असौ संयोगः । नियमेनाब्रुत्तेरिति । कालत्रयावच्छिन्नवृत्तिरून्यत्वस्येत्यर्थः । प्रकृते अभिधानियाम-कोक्तकारिकायाम् । लिङ्गत्वादिति । तत्त्वेन प्रहणादित्यर्थः । शक्यान्तरे अस्य स्थिति कदापि न संभाविता तदेवात्र लिङ्गं विवक्षितम्, शङ्खचक्रसंयोगस्तु न तथा तस्य इन्द्रादावप्रसिद्धत्वेऽपि कादाचित्कसंभावनाविषयत्वात् ।

अथ उक्त शक्तिनियामक संयोग भादि की व्याख्या करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम संयोग की व्याख्या करते हैं—उत्र सधोगो हत्यादि से । संयोग उस सबन्धविशेष को कहते हैं जो नानार्थक पद के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हो, और उसी पद के अन्य अर्थों में अप्रसिद्ध हो । अर्थात् नानार्थक पद के जिस अर्थ के बोध को रोकना हो, उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकविख्यात नहीं हो और नानार्थक शब्द के जिस अर्थ के बोध को रोकना नहीं हो उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकप्रसिद्ध हो, ऐसे सभी (संयोग, जन्यजनकभाव आदि) संबन्धों को यहाँ संयोग कहा जाता है, केवल कालाददर्शन-प्रसिद्ध संयोग को ही नहीं । उदाहरण देखिए—‘शङ्ख चक्र सहित हरि’ इस वाक्य में ‘हरि’ शब्द नानार्थक है—अर्थात् उसके विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं । परन्तु यहाँ हरि पद का अर्थ विष्णु ही होता है इन्द्र आदि नहीं, क्योंकि शङ्ख चक्र का संबन्ध (संयोग)—जिसकी स्थिति केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, इन्द्र आदि में नहीं—हरिपद की अभिधाशक्ति को नियमित विष्णुरूप अर्थ में ही केन्द्रित कर देता है । ‘आयुध-सहित हरि’ इस वाक्य में हरिपद की अभिधा विष्णुरूप अर्थ में नियन्त्रित नहीं होगी क्योंकि, आयुध का संयोग विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि अर्थ में भी अप्रसिद्ध नहीं है—अर्थात् इन्द्र आदि भी किसी न किसी आयुध (अस्त्र) का धारण करते ही हैं । इसी तरह ‘पाशा-अङ्गुरा सहित हरि’ इस वाक्य में भी विष्णु-अर्थ में हरि पद की अभिधा नियमित नहीं होगी, क्योंकि पाशाङ्गुरा का संयोग विष्णु में प्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् इन दोनों वाक्यों में हरि पद से इन्द्र आदि का भी बोध होता है । यहाँ यदि कोई यह शका करे कि लिङ्ग नामक जो एक नियामक गिनाया गया है उसी में यह संयोग भी अन्तर्भूत हो जायगा यह शङ्ख-चक्र भी एक तरह से भगवान् विष्णु का चिह्न ही है ? तो यह उक्त नहीं होगा, क्योंकि यहाँ लिङ्ग से ऐसा विह्वल विरोध लिया जाता है जो—जिसका चिह्न बनाया हो—उससे अन्य में कभी (कालत्रय में) संभावित नहीं हो । शङ्खचक्र-संयोग तो ऐसी चीज नहीं है, जो कभी विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि में संभावित नहीं हो—अर्थात् शङ्ख चक्र का संयोग इन्द्र आदि में प्रसिद्ध भले ही न हो, पर इन्द्र आदि यदि उनका धारण कर लें तो उन्हें उससे कोई रोकेगा तो नहीं, अतः उन दोनों चीजों के संयोग की संभावना तो इन्द्र आदि में भी ही जा सकती है ।

विप्रयोग व्याचष्टे—

विप्रयोगो विश्लेषः ।

यथा—‘अशङ्खचक्रो हरिः’ इत्यत्र तयोरेव विश्लेषस्तथा । अत्र हि विश्लेषनियत-पूर्ववर्तिनः सरलेपस्य प्रागुक्तदलद्वयाक्रान्तत्वमपेक्ष्यते । तेनायुषसामान्यविभागः, पाशाङ्गुरादिविभागो वा न तथा । यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसंयोग एवाभिधानियमनायालम्, तथापि गुणप्रधानयोः संनिपाते प्रधानानुसंध एव

न्याय्य इत्यारायेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम् । यद्वा संयोगस्यैव केवलत्वेन विरलेपगुणीभूतत्वेन च द्वैविध्यप्रदर्शनाय तयोक्तम् ।

विश्लेष इति । विभाग इत्यर्थः । उदाहरति—यथेति । तद्योरेवेति । शङ्खचक्रयो-
रित्यर्थः । तथेति । हरिपदाभिधानियामक इत्यर्थः । विभागस्तु संयोगपूर्वकत्वात् शङ्खचक्रयो-
संयोगस्य विष्णो प्रसिद्धौ तद्विभागस्यापि तथैव प्रसिद्ध्या 'अशङ्खचक्रो हरि' इत्यत्र तयो-
र्विभाग- भगवति विष्णो हरिपदस्याभिधा नियमयतीति भावः ।

अतिप्रतज्ञनिवृत्त्यै कथयति—अत्र इति । विरलेपमान विप्रयोगलक्षणम्, विरलेपश्च-
नियमतः सरलेपपूर्वक एव भवति । सरलेपश्च न प्रकृते न नैयायिकन्यप्रसिद्धः संयोग,
अपि तु प्राक्परिभाषित एव विवक्षितः । तेन नानावैत्यादिपरिभाषितसंबन्धात्मकसंयोग-
नाशकस्य विभागस्य विप्रयोगलक्षणत्व फलितम् । अत एव अनायुधो हरि- अपाशाङ्कुरो
हरिरित्यादौ आयुधमामान्यविभाग, पाशाङ्कुरादिविभागो वा न हरिपदाभिधानियमनाय
प्रभवति, पूर्वोक्तरीत्या तयो संयोगयोरेव संयोगलक्षणघटकद्वयेन निरूपे तत्राशकवि-
भागस्यापि विप्रयोगलक्षणानाकान्तत्वादिति भावः । विप्रयोगस्य पृथक् नियामकत्वाभावा-
त्पाशाङ्कुर निरस्यति—यद्यपीति । अत्र विप्रयोगशरीरे । गुणतया प्रकारतया । तादृश
इति । दलद्रव्याकान्तोऽप्यर्थः । अलं सनर्थः । अयंभाव—संयोगनाशकगुणात्मकविभागपदार्थं
सर्वत्र प्रकारतया संयोगो वर्ततेवेति 'अशङ्खचक्रो हरि' इत्यादौ संयोग एवाभिधा नियमयेत्,
किं पृथक् विभागस्य नियामकत्वेन इति । उत्तरयति—तथापीति । अयमाशयः—विभाग-
कुक्षौ वर्तमानोऽपि संयोगो गौण, विभागश्च प्रधान । इत्यत्र गुणीभूतस्य संयोगस्य नियाम-
कत्वबीकारापेक्षया प्रधानोभूतस्य विभागस्यैव तत्रबीकारो न्यायमंगत इति । विभागस्य
नियामकत्वकल्पनप्रयुक्तगौरवात् कृपान्तरनाह—यद्वैति । अस्तु अशङ्खचक्रो हरिरित्या-
दावपि संयोगस्यैवाभिधानियामकत्वम्, तथापि अभिधानियामकेषु विभागस्य पृथगुपादानं
नामंगतम्, ह्यनित् केवलस्य संयोगस्याभिधानियामकत्वं क्वचिच्च विभागगुणीभूतत्वेनेति
द्वैविध्यप्रदर्शनाय तस्य सार्थक्यादित्यभिप्रायः ।

अत्र 'विप्रयोग' की व्याख्या करते हैं—विम इत्यादि से । विभाग अर्थात् एक से दूसरे का
पृथक् को 'विप्रयोग' कहते हैं । जैसे 'शङ्ख चक्र से रहित हरि' इस वाक्य में शङ्ख-चक्र का
विभाग हरि एव की अभिधाशक्ति को विष्णु अर्थ में नियन्त्रित करता है—अर्थात् यहाँ भी
हरि पद से केवल विष्णु का ही बोध होता है, इन्द्र आदि का नहीं । यहाँ एक बात
समझने की यह है कि विभाग से पूर्व संयोग का रहना निश्चित है—अर्थात् जिसका
जिसके साथ कभी संयोग रहता है, उसी का उसी से कभी विभाग भी हो सकता है,
अतः इस 'विप्रयोग' के लक्षण में भी संयोग का समावेश हो ही जायगा और वह
संयोग भी सामान्य संयोग नहीं, अपि तु वही संबन्धविशेष है जिसकी स्थिति नानार्थक
शब्दों के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध रहेगी और अन्य अर्थ में अप्रसिद्ध । इस विचारण से
लभ यह होता है कि 'आयुधरहित हरि' अथवा 'पाश-अङ्कुर से रहित हरि' इन
वाक्यों में आयुध का पार्थक्य तथा पाशाङ्कुर का पार्थक्य हरिपद की अभिधा को विष्णु
में नियन्त्रित नहीं कर सकता, क्योंकि जब उक्त सवन्धारमक पारिभाषिक संयोग ही आयुध
का अथवा पाशाङ्कुर का नहीं बन पाता, तब तादृश-संयोग पूर्वक यह पारिभाषिक
विभाग भी यहाँ नहीं बन सकेगा । यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब इस
'विप्रयोग' के पीछे, गौणरूप से वैसा—जिसको प्रथम नियामक माना जा चुका है—
संयोग लगा ही रहेगा, तब 'शङ्ख-चक्ररहित हरि' इस वाक्य में भी उस गौण संयोग
को ही अभिधानियामक माना जा सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनों की

उपस्थिति में प्रधान का अनुरोध करना ही न्यायतः संगत है, अतएव विभाग को पृथक् नियामक माना गया। अर्थात् विभाग पदार्थ के पेट में संयोग घट्टाया जाता है, तथापि प्रधान वहाँ विभाग ही रहेगा अतः विभाग को नियामक मानना ही उचित है।
 भवत्वा—मानिए 'सह्य चक्र-रहिन हरि' इस वाक्य में भी संयोग को ही अभिधा नियामक, तथापि अभिधानियामकों की श्रेणी में पृथक् विभाग का ग्रहण यह दिखलाने के लिये किया गया है कि संयोग दो प्रकार से अभिधा का नियामक होता है—एक केवल संयोग के रूप में और दूसरा 'विप्रयोग' का विशेषण बनकर। अस्तुतः विप्रयोग पृथक् नियामक नहीं है।

साहचर्यं व्याकरोति—

साहचर्यमेकस्मिन् कार्ये परस्परपेक्षितम् ।

यथा—'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामशब्दस्य ।

कश्चिदेकलक्ष्मणमपि कार्यविशेष सम्पादयितुं न प्रभवति, किन्तु वसन्त्यपरमपेक्ष्यैवेत्याकारिका तयोर्द्वयो परस्परपेक्ष्यैव साहचर्यमित्यर्थः ।

उदाहरति—यथेति । रामशब्दस्येत्यस्यामेऽभिधानियामकमिति शेषो बोध्यः । किमपि युदादि कार्यं रामो लक्ष्मणो वा मिथोऽपेक्षयैव कर्तुं शक्नोतीति तयो परस्परपेक्षात्मक साहचर्यं यद्यप्युभयत्र विभ्राम्यति तथापि रामशब्द एव नानार्थश्रेणं न लक्ष्मणशब्द इति 'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामपदस्याभिधा दशरथापत्ये नियमयति, तेन तत्र रामपदान्न परशुरामादेर्बोध इति भावः ।

अथ 'साहचर्य' की व्याख्या करते हैं—साहचर्यं इत्यादि से । किसी एक कार्य में दो व्यक्तियों की परस्पर अपेक्षा का नाम 'साहचर्य' है। जैसे—'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य में 'राम' पद के—रघुनाथ, परशुराम, बलराम आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु लक्ष्मण का साहचर्य (साथ-साथ युद्ध आदि करना) राम पद की अभिधा को रघुनाथ (दशरथ पुत्र) रूप अर्थ में नियमित कर देता है, अतः यहाँ 'राम' पद का अर्थ रघुनाथ ही होता है, परशुराम आदि नहीं। यद्यपि साहचर्य दोनों ओर से ही होता है—अर्थात् जैसे लक्ष्मण का साहचर्य राम में है, वैसे राम का साहचर्य भी लक्ष्मण में तथापि लक्ष्मण का साहचर्य ही नियामक हुआ क्योंकि राम शब्द ही यहाँ नानार्थक है, लक्ष्मण शब्द का अर्थ निश्चित ही है।

शङ्कते—

अथ किमिदं परस्परपेक्षितं यत्किञ्चित्कार्ये, सर्वेषु कार्येषु वा ? नाद्यः, घटाद्यव्यावर्तनाद्दृष्टसाहचर्यस्यापि रामपदशक्तिनियामकतापत्तेः । न द्वितीयः, लक्ष्मणसाहचर्यस्मापि निवारणापत्तेः । पञ्चद्वयेऽपि रामाद्योऽप्ये रघुरामावित्यत्रानियमापत्तेश्च ।

परस्परपेक्षित्वनाम द्विविधं सम्भवति, यत्किञ्चित्कार्याधिकरणक सकलकार्याधिकरणकत्व । तयो कौटशायिह तदभिप्रेतमिति अपेक्षादिघन्येनारांभ्य समापत्ते—नाद्य इति । यत्किञ्चित्कार्याधिकरणक परस्परपेक्षित्वमत्र नामिप्रैर्मुं शक्यमित्यर्थः । उक्त इति चेत्तत्राह—पटादीति । रामेण सह अत्रिचित्कार्याधिकरणक साहचर्यं घटस्यापि सम्भवतीति तस्यापि रामपदौ इत्यत्र रामपदाभिधानियामकत्वं सर्वजनानभिप्रेतं प्रसज्येत इत्यर्थः । सकलकार्याधिकरणकमपि परस्परपेक्षितं न विवक्षितुमर्हमित्याह—न द्वितीय इति । तस्यानर्हत्वे हेतुमाह—लक्ष्मणेति । सकलकार्याधिकरणक तल्लक्ष्मणस्यापि रामेण सह नीरित, एकले-

नापि रामेण कियतां कार्याणां करणादिति लक्ष्मणसाहचर्यस्याप्यसंघे रामलक्ष्मणौ इत्यथ लक्ष्मणसाहचर्यस्यापि रामपदाभिधानियामकतानापत्तेरित्यर्थः ।

पदाह्वयसाधारणं दोषमाह—पद्मद्वयेऽपीति । अयोध्याया निर्जीवतया रघोश्च रामजीवन-कालेऽवर्तमानतया तयो रामेण सहकार्यरित्त्वगर्भपरस्परपेक्षित्वस्यासंभवेन 'रामायोध्ये' 'रघुरामौ' इत्यादौ रामपदस्याभिधाया अनियमनापत्तेरित्यर्थः ।

साहचर्यके संबन्ध में कुछ शंकायें उठाते हैं—मय इत्यादि से । साहचर्य के स्वरूप-निर्णय में जो परस्पर अपेक्षा की बात कही गई है उसका अभिप्राय—किसी एक कार्य में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों, अथवा सभी कार्यों में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों इन दोनों में क्या है? अर्थात् जो दो व्यक्ति किसी एक कार्य को साथ-साथ करते हों, उन दोनों में साहचर्य समझा जायगा अथवा जो दो व्यक्ति सभी कार्यों को साथ ही करते हों—कभी अलग होकर किसी कार्य को नहीं करते हों, उनमें साहचर्य कहा जायगा? उत्तर—यहां एक भी पक्ष ठीक नहीं जंचता, क्योंकि प्रथमपक्ष मानने पर घट आदि के साहचर्य को भी रामपद की अभिधा के नियमन से रोका नहीं जा सकेगा—अर्थात् 'राम और घट' ऐसे वाक्य में भी घट का साहचर्य राम पद की अभिधा को नियन्त्रित करने लगेगा—राम पद से किसी एक ही राम का बोध होने लगेगा, क्योंकि किसी एक कार्य—जल भरने आदि—में राम और घट की भी परस्पर अपेक्षा रहती ही है । द्वितीय पक्ष को स्वीकृत करने पर लक्ष्मण का साहचर्य भी राम पद की अभिधा का नियामक नहीं हो सकेगा—अर्थात् 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य से जो दशरथपुत्र राम का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि राम और लक्ष्मण के भी सभी कार्य साथ-साथ नहीं होते, पृथक्-पृथक् भी वे दोनों कुछ कार्यों को करते ही हैं अतः उन दोनों में भी साहचर्य सिद्ध नहीं हो सकेगा और दोनों ही पक्षों में 'राम और अयोध्या' एवम् 'रघु और राम' इन वाक्यों में राम पद की अभिधा नियन्त्रित नहीं हो सकेगी अर्थात् इन वाक्यों में भी रामपद से जो दशरथतनय का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि अयोध्या तथा रघु का राम के साथ उक्त प्रकार का साहचर्य असंभव है, अर्थात् साहचर्य जब साथ-साथ किसी एक कार्य को अथवा सभी कार्यों को करने से माना गया है, तब निर्जीव अयोध्या और दिवागत रघु के साथ वह राम का हो नहीं सकता है । इस तरह से सारांश यह निकला कि साहचर्य का यह लक्षण असंगत ही है ।

साहचर्यस्य स्वल्पान्तरमाशंक्य निरस्यति—

नच नानार्थपदसमभिव्याहृतपदान्तरार्थस्य प्रसिद्धं संबन्धस्तत् । स चैकजन्यत्व-दांपत्य-जन्यजनकभाव-स्वामिभृत्यभाव-स्वस्वामिभावादिरनेकविधः, तेन रामलक्ष्मणौ, सीतारामौ, रामदशरथौ, रामहनूमन्तौ, रामायोध्ये, इत्यादौ साहचर्यं नियामकमिति वाच्यम् ; लक्ष्मणादिसंबन्धापेक्षया चक्रादिसंबन्धस्या-विशिष्टतया सहाह्वयक इत्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकतापत्तेः ।

प्रसिद्ध इति । नानार्थपदार्थे इति शेषः । तत्र साहचर्यम् । नानार्थेन पदेन समभिव्याहृतम् (तस्य पूर्वं परतो वा स्थितम्) यत्पदान्तरं तदर्थस्य नानार्थपदार्थे प्रसिद्धः संबन्धः साहचर्यमित्यर्थः । स संबन्धः एकजन्यत्वेति । सौंदर्य इत्यर्थः । अन्वयत् स्पष्टम् । उक्तसंबन्धानां क्रमेणोदाहरणान्याह—तेनेति । रामलक्ष्मणौ इत्यत्र एकजन्यत्वम्, सीतारामौ इत्यत्र दाम्पत्यम्, रामदशरथौ इत्यत्र जन्यजनकभावः, रामहनूमन्तौ इत्यत्र स्वामिभृत्यभावः, रामायोध्ये इत्यत्र स्वस्वामिभावः संबन्धो बोध्यः । ते च संबन्धाः नानार्थेन रामपदेन समभिव्याहृतानां क्रमशो लक्ष्मण-सीता-दशरथ-हनूमत्-अयोध्यारूपाणां पदान्त-

राणां राज्य तत्स्यार्यस्य रागे प्रसिद्धा साहचर्यात्मका रामपदस्य दशरथापत्येऽभिधा निय मन्तीति भाव । उत्तरमाह—लक्ष्मणादीति । रामलक्ष्मणौ इत्यत्र रामपदसमभिव्याहृत लक्ष्मणपदार्थस्यैकजन्यत्वरूप संबन्धो यथा रामे प्रसिद्धस्तथैव सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रापि नानार्थहरिपदसमभिव्याहृतशङ्खचक्रपदार्थयोः संयोगरूप संबन्धो हरौ प्रसिद्ध इति तयोः सम्बन्धयोर्न किमपि वैलक्षण्यम्, एवञ्च सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वे सम्भवति पृथक् संयोगस्योपादानं व्यर्थमित्यभिप्राय ।

अत्र साहचर्यं का दूसरा लक्षण करके उसका भी खण्डन करते हैं—ज न—हरयादि से । यदि यह कहा जाय कि 'साहचर्य' का वह लक्षण नहीं बन पाता तो न सही, यह लक्षण हो सकेगा—नानार्थक पद के आगे या पीछे उच्चरित पद के अर्थ का नानार्थक पद के किसी एक अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध संबन्ध वही 'साहचर्य' है । और वह सम्बन्ध—एक माता-पिता से जन्म ग्रहण करना, पति-पत्नी होना, पिता-पुत्र होना, स्वामी सेवक होना, तथा माल-मालिक होना, प्रभृति स्थान-भेद से अनेक प्रकार का होता है । अतः राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान्, एवम् राम और अयोध्या इत्यादि सभी स्थानों में 'साहचर्य' राम पद का अभिधा नियामक हो सकता है (इन स्थानों में क्रमशः उक्त सम्बन्ध 'साहचर्य' रूप होते हैं, यह समझना चाहिए) । परन्तु यह लक्षण भी सगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस तरह (नानार्थक पद और उसके निकटस्थित पद दोनों के अर्थों के प्रसिद्ध) सम्बन्ध को आप 'साहचर्य' मानते हैं, उसके अनुसार लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा शङ्ख-चक्र का जो राम के साथ संयोग-सम्बन्ध है उसमें कोई भेद नहीं है, अतः वह संयोग-सम्बन्ध भी इसके अनुसार साहचर्य कहला सकता है फिर 'शङ्ख-चक्र-सहित राम' इत्यादि स्थल में भी साहचर्य से ही रामपद की अभिधा का नियमन हो जाने के कारण 'संयोग' को पृथक् नियामक मानने से अव्यवस्था हो जायगी ।

उक्त साहचर्यरूपस्वीकारेऽपि साहचर्यसंयोगयोर्विषय-विभाग सम्भतीत्याशय निराकुरते—

न च सशङ्खचक्र इत्यादौ यत्र सम्बन्धः संयोगरूपस्तत्राद्यस्य यत्र च संबन्धान्तरं तत्र तृतीयस्पादकाश इति वाच्यम्, संयोगस्यैव पृथक्कारे बीजाभावात् ।

आद्यस्य संयोगस्य । यत्र च रामलक्ष्मणौ इत्यादौ । संबन्धान्तरमेकजन्यत्वादिकम् । तृतीयस्य साहचर्यस्य । उक्तरीत्या सर्वेषु सम्बन्धेषु साहचर्यपदार्थतया षण्णितेषु, तत्र संयोगोऽप्यन्तर्भुक्त इति यद्यपि सत्यम्, तथापि संयोगस्थले सशङ्खचक्र इत्यादौ संयोगो नियामक, संबन्धान्तरस्थले रामलक्ष्मणौ इत्यादौ च साहचर्यं तथेत्येवं विभजने संयोगसाहचर्ययोर्द्वयोः कृतार्थता सम्भवतीति शक्यदक्षयाशय । सर्वेषां संबन्धानां समान्तया साहचर्यपदार्थान्तर्भाविं प्रसक्ते किमिति संयोग एव पृथक् नियामकतया परिगण्यते ? संबन्धान्तरमेव कुतो न पृथक् विभजे इत्यत्र कारण नारतीत्युक्तमेव विभजनमित्युत्तरपक्षमभिप्रायो बोध्यः ।

यदि आप कहें कि जहाँ नानार्थक पद के अर्थ के समीपवर्ती पद के अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध रहेगा वहाँ—'शङ्खचक्रसहित राम' इत्यादि स्थल में प्रथम नियामक (संयोग) का लक्षण मानेंगे और जहाँ उस तरह का सम्बन्ध संयोग से भिन्न होगा वहाँ—'राम और लक्ष्मण' इत्यादि स्थल में तृतीय नियामक (साहचर्य) का उदाहरण करेंगे, तो यह भी समुचित नहीं क्योंकि जब सभी सम्बन्ध समान हैं, तब 'संयोग' सम्बन्ध को ही पृथक् नियामक मानने में कोई हेतु नहीं दृष्टिगोचर होता अर्थात् निर्दोष पृथक्करण की रीति से किसी भी सम्बन्ध का पृथक्करण किया ही जा सकता है ।

गंभीरस्यैव पृथक्कारे बीजमुद्भाव्य खण्डयति—

नच यत्र संयोगः शब्दोपात्तस्तत्र स एव नियामकः, यत्र तु सम्बन्धिमात्रं न तु सम्बन्धस्तत्र साहचर्यम्, अत एव सशङ्खचक्र इति संयोगस्य, रामलक्ष्मणाविति च साहचर्यस्योदाहरणमिति वाच्यम्; सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या साहचर्योदाहरणतायां प्रसक्त्यां सशङ्खचक्र इत्यादेरपि तदुदाहरणताया एवौचित्यात् ।

संबन्धिमात्रमित्यस्याप्रे शब्दोपात्तमित्यनुपपद्यते । मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति । अत एवेति । तथा विभागकरणादेवेत्यर्थः । संयोगान्मकस्य संबन्धस्य शब्दोपात्तत्वे तस्य नियामकत्वम्, तस्य शब्दानुपात्तत्वे सम्बन्धिमात्रस्य तत्रात्वे च साहचर्यस्य नियामकत्वम्, यथा सशङ्खचक्र इत्यत्र सहायकेन 'स' इति पदेन संयोग उपात्तः । रामलक्ष्मणावित्यत्रैकजन्यत्वान्मक सम्बन्धो न केनापि पदेनोपात्तः । एवञ्च शब्दोपात्तत्वं संयोगस्यैव पृथक्कारे वाच्यमिति भावः । उत्तरयति—सलक्ष्मण इत्यादि । अयं भावः—संयोगविभागौ न्यायनयप्रमिदौ गुणौ, तयोश्च सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र न प्रतीतिः, परस्परसंश्लिष्टयोरपि एकदेशस्थितयोः रामलक्ष्मणयोः मलक्ष्मणो राम इति प्रयोगदर्शनेन लक्ष्मणप्रतियोगिकसंयोगवान् राम इति प्रतीतिरसम्भवान्, एवं तत्र संयोगप्रतीतिं विलक्ष्मणो राम इत्यतः लक्ष्मणावधिक्रविभागवान् राम इति प्रतीतिरपि तयात्वाच्च, विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात् । साहित्यतदभावमात्रस्यैव ताभ्यां प्रयोगाभ्यां प्रतीतिरिति तत्त्वम् । एवञ्च तदुदाहरणद्वयं साहचर्यस्य न संयोगस्येति सर्वैः स्वीकरणीयमेव । तथा च सशङ्खचक्र इत्यादेरपि साहचर्योदाहरणत्वस्वीकार एव समुचितः । अत्रापि संयोगप्रतीतिर्न भवतीति सारासः । इति । अत्र 'संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या' इति मूलं विवृण्वती 'सरला' पण्डितराज नागेशयोर्मूलध्वरर्त्तिकाकारयोः स्वारस्येन विरुद्धा न वेति सरलामालोक्य निश्चेयं विज्ञैः ।

एव 'संयोग' को ही पृथक् करने में बीजका उद्भावन करके खण्डन करते हैं—नचयत्र इत्यादि से । यदि आप कहें कि जहाँ शब्द से संयोग सम्बन्ध कहा गया हो वहाँ संयोग को नियामक मानना चाहिए और जहाँ केवल संबन्धी ही शब्द से कहा गया हो वहाँ साहचर्य को नियामक समझना चाहिए । अत एव 'सशङ्खचक्रो हरिः' इस संस्कृत वाक्य में सहायक 'स' पद से और 'शङ्खचक्रसहित हरिः' इस हिन्दी वाक्य में सहित पद से संयोग संबन्ध के कहे जाने का कारण 'संयोग' नियामक होगा और 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य में केवल संबन्धी (राम-लक्ष्मण) के शब्दतः कहे जाने के कारण—अर्थात् 'एकजन्यत्व' संबन्ध के शब्दतः नहीं कहे जाने के कारण—'साहचर्य' नियामक होगा—तो यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि संयोग और विभागन्यायशास्त्र-प्रसिद्ध एक प्रकार के गुण हैं । जिनकी प्रतीति 'सलक्ष्मणो रामः' 'विलक्ष्मणो रामः'—अर्थात् 'लक्ष्मण-सहित राम' 'लक्ष्मण-रहित राम' इन वाक्यों में नहीं होती, क्योंकि परस्पर सटे नहीं रहने पर भी एकदेशस्थित राम-लक्ष्मण में 'लक्ष्मणसहित राम' ऐसा व्यवहार होता है और इस तरह से जब संयोग की प्रतीति यहाँ नहीं होती, यह बात सिद्ध हो गई, तब 'लक्ष्मणरहित राम' यहाँ विभाग की भी प्रतीति नहीं होती यह बात माननी पड़ेगी, क्योंकि संयोग नाशक गुण का ही नाम विभाग है । ऐसी स्थिति में इन दोनों स्थानों में साहचर्य को नियामक मानना पड़ेगा फिर 'शङ्खचक्रसहित राम' यहाँ भी साहचर्य को ही नियामक मानना उचित होगा—अर्थात् ऐसे व्यवहार के लिये शङ्ख और चक्र का राम के अङ्गों से संयुक्त रहना आवश्यक नहीं है अलग रहने पर भी वैसे व्यवहार किया जा सकता

है, अतः यहाँ भी संयोगगुण की प्रतीति नहीं ही होती है यही कहना पड़ेगा, क्योंकि संयोग की प्रतीति वहाँ मानी जाती है जहाँ दो चीजें परस्पर संयुक्त रहती हैं।

शङ्कापक्षमुपसहयति

- इति चेत्-?

- इतीति पूर्वोक्तप्रसङ्गः । साहचर्यस्य कोऽपि व्याख्या सामर्थ्यरुरा गतिरित्याशयः ।

इस तरह से जब साहचर्य का एक भी लक्षण ठीक नहीं हो सका, त

मिदान्तयति—

उच्यते—सयोगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्ध सम्बन्धसामान्य शक्तिनियामकं नदाहस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगतं सम्बन्धेषु केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयान् । इत्थं च सगाण्डीवोऽर्जुनः इति संयोगस्य, गाण्डीवार्जुनोविति साहचर्यस्योदाहरणम् ।

उच्यते इत्यस्य वक्ष्यमाणवाक्यार्थं कर्म । आशयस्य सयोगस्य । द्वन्द्वादिगत इति । द्वन्द्वादिसमासपठक इत्यर्थः । केवल इति । शब्दोपात्त इति शेषः । अयमभिप्रायः—शक्तिनियामकेषु कथित संयोगशब्द सम्बन्धसामान्यपर । एवम् कोऽपि सम्बन्धो यत्र शब्दतो बोधितः प्रसिद्ध एव शक्तिः नियमगति तत् संयोगस्योदाहरणम्, यथा सगाण्डीवोऽर्जुन इति । अत्र गाण्डीवरूप संयोगाल्प सम्बन्ध स शब्देन बोधितः सत् सदस-बाहु-श्वेतगुण-तत्त्वविशेषपुष्पिष्ठिरानुजायने सार्थस्यार्जुनशब्दस्याकिञ्चिद् युधिष्ठिरव्रातरि नियमयति । यत्र तु द्वन्द्वादिमासपठक प्रसिद्धः सम्बन्धेव शब्दोपात्तः, न सम्बन्ध तन्साहचर्यस्योदाहरणम्, यथा गाण्डीवार्जुनौ इति । अत्र द्वन्द्वपठकतया प्रसिद्ध गाण्डीवार्जुनरूपः सवन्धी एव, अतो गाण्डीवत्साहचर्यम् अर्जुनपदराक्तिनियामकमिति । अत्र 'प्राचामाशय' इत्युक्त्या स्वाशय निषेधति अन्यतर । अथैव सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यादौ किं नियामकमिति चेत् १ साहचर्यमेव बोद्धव्यम् । प्रथमस्थले कार्यापि सम्बन्धस्य शब्दात्तुपात्तत्वेन द्वितीयस्थले च विभागस्यप्रतीत्या संयोगविशेषोदाहरणतया असम्भवात् । 'रामलक्ष्मणौ इत्यत्र सार्वभौमोभयोर्युगपदेव नियमनमिति नान्योन्याश्रयः । साहचर्यसाहस्य सदस्योरेव सहप्रयोगनियमात्' इति दैव्यावरणसिद्धा तमज्जुषाया नागेशः ।

अथ 'साहचर्य' के विषय में सिद्धान्तभूत बातों का प्रतिपादन करते हैं—उच्यते इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नियामकों की परिगणनवाली कारिका में संयोग का अर्थ न्यायप्रसिद्ध गुण नहीं है किन्तु सम्बन्ध सामान्य अर्थात् सभी स्वबन्ध । ऐसी स्थिति में यदि आप कहें कि तब तो और बिचित्र बात हो गई, क्योंकि साहचर्य का भी अर्थ आपने सम्बन्ध-सामान्य ही किया है, अब संयोग का अर्थ भी सम्बन्ध-सामान्य कर रहे हैं फिर संयोग और साहचर्य के पृथक्करण में कौन सा कारण होगा ? तो मैं कहूँगा—हाँ, है तो संयोग तथा साहचर्य दोनों का अर्थ सम्बन्ध-सामान्य ही, तथापि विभाग में भेद है और यह यह है कि—जहाँ कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा प्रतिपादित होकर शक्ति का नियामक होता है वहाँ प्रथम अर्थात् संयोग का उदाहरण समस्तना आदिपु और जहाँ द्वन्द्व आदि समास के द्वारा केवल सवन्धी कहा गया रहता है वहाँ साहचर्य का उदाहरण समस्तना आदिपु यही प्राचीनों का भाशय है। इस तरह से 'गाण्डीव-सहित अर्जुन' ऐसा कहने पर संयोग और 'गाण्डीव और अर्जुन' ऐसा कहने पर साहचर्य, अर्जुन पद की अभिधा का नियामक होगा अर्थात् इन दोनों स्थलों में क्रमशः संयोग और साहचर्य के सहयोग से अर्जुन पद का अर्थ पाण्डुपुत्र ही होगा कार्तवीर्य अर्जुन आदि नहीं।

विरोधितां निर्दिष्टि—

विरोधिता प्रसिद्धे वैरम्, सहानवस्थानञ्च । तत्रायस्य 'रामार्जुनौ' इत्युदाहरणं प्राञ्चो वदन्ति ।

विरोधिता नाम विरोध एव 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारभूतो धर्मो भाव प्रत्ययार्थ' इति मिदान्तात् । स च प्रकृते द्विविध—प्रसिद्धो वैरभाव, महानवस्थानरूपश्च अप्रसिद्धस्य वैरस्य शक्तिनियामस्त्वेऽतिप्रमत्त इत्यत उक्तं प्रसिद्धमिति । सहानवस्थानश्च एककालवच्छेदेनैकत्र देशे श्रुत्यसम्भव इति बोध्यम् । प्राञ्चः काव्यप्रकाशकृदादयः । वस्तुतस्तु 'रामार्जुनगतिस्तयो' इत्याकारक प्राचामुदाहरणं न तु 'रामार्जुनौ' इत्याकारकम्, उपलब्धकाव्यप्रहाशाशुस्तनेषु तथैव दर्शनात्, श्रुतपदमप्रे प्रत्यकृताऽपि तथैवोद्हरणाच्च । ननु न कोऽपि भेदस्तयोरुदाहरणोर्वैलक्षण्याधायक इति चेन्न, वैलक्षण्यस्याप्रे वक्ष्यमाणत्वात् ।

अथ 'विरोधिता' की व्याख्या करते हैं—विरोधिता इत्यादि से। 'ता' प्रत्यय जिस प्रकृति के भागे जुड़ा रहता है उस प्रकृति से होनेवाले बोध में विशेषणीभूत धर्म ही उस भावबोधक 'ता' प्रत्यय का अर्थ होता है अतः 'विरोधिता' का शब्दार्थ विरोध होता है, और विरोध यहाँ दो प्रकार के विवक्षित हैं—एक प्रसिद्ध वैरभाव, दूसरा एक भाव न रहना। उन दोनों में प्रथम अर्थात् 'प्रसिद्ध वैर' का उदाहरण 'राम और अर्जुन' यह वाक्य है ऐसा प्राचीन आचार्यगण कहते हैं। वस्तुतः प्राचीन मम्मट आदि के ग्रन्थों में 'विरोधिता' के उदाहरण का आकार 'रामार्जुनगतिस्तयोः' अर्थात् 'उन दोनों की गति (दशा) राम-अर्जुन की सी है' ऐसा ही उपलब्ध होता है। प्रत्यकार ने भी आगे स्वयम् वैसा ही आकार उद्धृत किया है। इन दोनों आकारों में जो आधिक अन्तर पड़ता है उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

अथ दीक्षितोक्तं सण्डयितुं प्रथमं तदनुवदति—

वच्यपप्यदीक्षितो वृत्तिवार्तिके प्राचामुदाहरणं निराकुर्वन्नाह—'रामार्जुनपदयोर्वध्यपातकभावविरोधाद्कार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यत इति तदयुक्तम् । रामपदस्याभिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसंधानेनार्जुनपदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिञ्च सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन रामपदस्येत्यन्योन्याश्रयापत्तेः, तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानान्नार्थपदस्याभिधानियमनमिति रामरावणयोरित्युदाहरणं भवितुमर्हति' इति ।

'आहेति क्रियाया 'भवितुमर्हति' इत्येतावन्पर्यन्तवाक्यार्थं कर्म । भावेति । भावस्य विरोधादित्यर्थः । तद् विरोधेति । परशुरामविरोधेत्यर्थः । तस्मिञ्च सतीति । कार्तवीर्येऽभिधानियमनेरातीत्यर्थः । रामपदस्येति । परशुरामेऽभिधानियमनमिति शेषः । तस्मादिति । अन्योन्याश्रयप्राप्तेन प्राचीनोक्तोदाहरणस्यासंगतत्वादित्यर्थः । अन्यतरपदस्येति । नियम्याभिधाभिधानियामरूपदयोर्मध्ये एकतरस्य शब्दरथेत्यर्थः । व्यवस्थिते निवृत्तित्यर्थः । अयं भावः—दशरथापत्यपरशुरामादिबहुविधार्थाभिधायित्वेन रामपदमनेकार्थकम्, एवं कौन्तेयकार्तवीर्यादिबहुतरार्थाभिधायित्वाऽर्जुनपदमपि तथाभूतमिति 'रामार्जुनगतिस्तयोरित्यत्र—

रामार्जुनपदे दशरथापत्यकौन्तेयतात्पर्येणोच्चरिते, उताहो परशुरामकार्तवीर्यतात्पर्येणेति सन्देहे बध्यपातकभावान्मकं प्रसिद्धं वैरं तयो पदयोरभिधा परशुरामकार्तवीर्यरूपयोरर्थयोर्नियमयतीति मम्मटादयः प्रावः । दीक्षितस्तु—'तदुदाहरणं न भवितुमर्हति, अन्योन्याश्रयापत्तेः । तथाहि—'अन्योन्याश्रयो द्विविधो ज्ञानाश्रयः उत्पत्त्याश्रयश्च, प्रकृतेऽर्जुनपदा-

मिधानियमने भाग्वरूपरामपदार्थनिश्चय. समपेक्षित', एव रामपदामिधानियमने कार्त-
व्योर्नृपाजुर्नपदार्थ-निश्चय आवश्यक, अन्यथा निरोधप्रतिसन्धानविरहान्, तौ निश्चयौ च
तयो पदयोरभिधानियमाधीनाविति ज्ञानाश्रयोऽन्योन्याश्रयोऽत्र दुर्वार, अतो यत्रैकं पद
निश्चितार्थकमपरञ्च नानार्थकतया सन्दिग्धार्थकं तत्रैव विरोधिताप्रथमप्रभेदस्योदाहरणत्व
युक्तम्, यथा 'रामरावणौ' इत्यत्र रावणपदस्यार्थो निश्चित इति स्मृततद्विरोधप्रतिसन्धानेन
नानार्थकस्य रामपदस्याभिधाया दशरथपुत्रे नियमनमेत्याचष्टे ।

अथ इस प्रसङ्ग पर खण्डन करने के लिये अप्पयदीक्षित के मत का अनुवाद करते
हैं—पक्ष इत्यादि से। दीक्षितजी अपने दृष्टिवातिक नामक ग्रन्थमें प्राचीनोक्त उदाहरण का
खण्डन करते हुए कहते हैं कि—'राम (परशुराम) और अर्जुन (सहस्रबाहु) में वध्य-
घातकभाव (मारनेवाला और मरनेवाला होना) रूप विरोध है, अतः राम-अर्जुन का
सहस्रयौग रहने पर एक दूसरे की अभिधा का नियामक होता है अर्थात् राम से
परशुराम का ही बोध होता है दशरथपुत्र आदि का नहीं, इसी तरह अर्जुन से सहस्रबाहु
का ही बोध होता है पाण्डुपुत्र आदि का नहीं यह जो प्राचीनों का कथन है वह ठीक
नहीं, क्योंकि जब रामपद की अभिधा परशुराम में नियन्त्रित हो जायगी, तब उसके
विरोध का अनुसन्धान होने पर अर्जुनपद की अभिधा का नियमन सहस्रबाहु में होगा,
और अर्जुनपद की अभिधा का सहस्रबाहु में नियमन हो जाने पर उसके विरोध के
अनुसन्धान से रामपद की अभिधा का नियमन परशुराम में हो सकेगा, इस तरह से
एक पद की अभिधा के नियमन में द्वितीय पद की अभिधा के नियमन की अपेक्षा होने
के कारण 'अन्योन्याश्रय' दोष का प्रसङ्ग आ जाता है, अतः विरोधिता का वह प्राचीनोक्त
उदाहरण असंगत है । अतः ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ एकपद निश्चित अर्थवाला हो
अर्थात् अनेकार्थक नहीं हो और दूसरा पद अनेकार्थक होने से अनिश्चित अर्थवाला हो,
वहीं निश्चितार्थक पद के अर्थज्ञान होने पर उसके विरोध में स्मरण से नानार्थक पद की
अभिधा का जो नियमन होगा वही विरोधिता का उदाहरण है, जैसे—'राम और
रावण' । अर्थात् यहाँ रावण पद का अर्थ निश्चित है, उसके विरोध के अनुसन्धान से राम
पद की अभिधा दशरथ-पुत्ररूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

दोक्षितोक्तं निराचष्टे—

तत्र तावद्दशरथपुत्रयोरिति व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमुदाहरण विरोधि-
ताया नियामकत्वस्य न युक्तम् । रामलक्ष्मणयोरत्यत्रैवात्रापि साहचर्यस्यैव
नियामकत्वात् ।

तत्रेति । दोक्षितोक्तानित्यर्थ । तावत् आदौ । अनुपदमग्रे दोषान्तरमपि प्रदीयत
इति भावः । व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमिति । व्यवस्थितो निश्चित अर्थो यस्य तादृश-
'अन्यतरत्' द्वयोरैक पद यत्र तथाभूतमित्यर्थ । नियामकत्वस्येत्यस्योदाहरणमित्यत्रा-
न्वयो बोध्यः, 'रामरावणौ' इति विरोधिताया नियामकत्वस्योदाहरणमसंगतम्, 'रामलक्ष्मणा'-
वित्यत्र यथा साहचर्यं नियामक तथैव प्रकृतेऽपि तदेव नियामकं संभवतीति पृथक् प्रतिद-
वैरात्मविरोधिताया नियामकेषु गणनाया वैयर्थ्यात् इत्याराय ।

अथ दीक्षितमत का खण्डन करते हैं—तत्र इत्यादि से । दीक्षित का उक्त मत अयुक्त है,
क्योंकि पहले उन्होंने प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता का जो 'राम और रावण' यह उदाहरण
दिखाया है वही ठीक नहीं होता क्योंकि 'राम और लक्ष्मण' यहाँ जैसे साहचर्य
नियामक होता है वैसे वहाँ भी साहचर्य ही नियामक हो सकता है ।

दृष्टान्ते दाष्टान्तिकात्रया वैपम्यमाशंक्य निरस्यति—

न च लक्ष्मणसाहचर्यं रामस्य प्रसिद्धम्, न तु रावणसाहचर्यमिति वाच्यम्, प्रसिद्धतत्सम्बन्धकत्वस्यैव तत्साहचर्यपदार्थकत्वात् । पितृ-भ्रातृ-जायापत्य-भृत्य-नगरीणां संबन्धस्यैव रिपोः संबन्धस्यापि लोकप्रसिद्धत्वात् ।

रामलक्ष्मणौ सहचरत इति रामनिष्ठं लक्ष्मणसाहचर्यं प्रसिद्धम्, रामरावणौ तु नृकापि-सहचरत इति रावणसाहचर्यं रामे न तथा । तथा च कथं तदुदृष्टान्तेन प्रकृते साहचर्योदा-हरणत्वत्प्राशङ्केति शंकायामाह—प्रसिद्धेति ।

प्रसिद्धं तत्संबन्ध (तेन सह संबन्ध) यस्य तत्त्वस्येत्यर्थः । अन्येन सहापरस्य प्रसिद्धं यं कथन संबन्ध एव प्रकृतनियामकमध्यप्रविष्टसाहचर्यपदार्थ इति प्रागुपदर्शित-मेव । एवञ्च यथा जन्यजनकभावसौदरत्वदाम्पत्यस्वस्वामिभावादि पितृभ्रातृपत्नीभृत्यादेः संबन्ध प्रसिद्ध इति साहचर्यान्तर्भूतस्तथैव बन्धुपातकभावात्मकं शत्रो संबन्धोऽपि प्रसिद्ध इति तस्यापि साहचर्यान्तर्भाव समुचित एवेति भावः ।

दृष्टान्त और दाष्टान्तिक में विपमता की जाशंका करके उसका निरास करते हैं—न च हत्यादि । यदि आप कहें कि राम और लक्ष्मण साथ-साथ चलते फिरते थे, अतः राम में लक्ष्मण का साहचर्य (साथ-साथ चलना) प्रसिद्ध है, पर राम और रावण तो कभी कहीं भी साथ साथ विचरण किए नहीं, अतः उन दोनों का साहचर्य सर्वथा अप्रसिद्ध है । ऐसी स्थिति में राम-लक्ष्मण के दृष्टान्त से राम-रावण में साहचर्य को नियामक बतलाना उचित नहीं, तो मैं कहूँगा कि यहाँ साहचर्य का अर्थ सहचरण भाव गलत समझ रहे हैं, क्योंकि यहाँ साहचर्य का अर्थ दो व्यक्तियों का प्रसिद्ध जिस किसी तरह का संबन्ध ही है, न कि सहचरण यह पहले बतलाया जा चुका है, तदनुसार जैसे, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगर का संबन्ध प्रसिद्ध होने के कारण साहचर्य कहलाता है, उसी तरह शत्रु का भी संबन्ध (बन्धुपातक भाव) प्रसिद्ध होने से, साहचर्य कहला सकता है ।

साहचर्यान्तर्भावयोग्याया अपि प्रसिद्धवैरात्मविरोधिताया साहचर्यान्तरापेक्षया यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यमादाय पृथग्गणने का क्षतिरित्यत आह—

एवं स्थितेऽपि विरोधितायाः पृथग्गणने मित्रत्वादेरपि तथा गणनापत्तेः ।

एवं स्थितेऽपीति । साहचर्यस्य नियामकत्वमभवेऽपीत्यर्थः । मित्रत्वादेरित्यत्र गुरु-शिष्यभावादिरादिपदब्रह्मः । तथेति । पृथगित्यर्थः । साहचर्येणैव सप्रहसमभवेऽपि विरो-धितायाः पृथग्नियामकत्वाङ्गीकारे मित्रत्वादेरपि पृथगेव नियामकताऽङ्गीकर्णाय स्यात्, न चाङ्गीक्रियते, इति तदद् विरोधिताया अपि पृथग्गणनं व्यर्थमेव भवेत्त्वदीन्येति भावः ।

उक्त स्थिति में भी यदि प्रसिद्ध वैररूप विरोध की साहचर्य से पृथक् गणना की जाय, तब मित्रत्व आदि की भी पृथक् अभिधानियामकों में गणना करनी पड़ेगी ।

उपसहरति—

तस्मात्प्राचीनोदाहरणमिव त्वदुक्तमुदाहरणमप्यशुद्धमेव ।
तस्मादिति उक्तहेतोरित्यर्थः । त्वदुक्तमपीति अप्यशुद्धोक्तोक्तमित्यर्थः । 'रामा-र्जुनगतिस्तयो'रितिप्राचीनोक्तमुदाहरण यथाऽऽसंगतम्, तथा त्वदुक्त 'रामरावणौ' इत्युदाहरणमप्यसमीचीनमेवेत्याशयः ।

अतः यही कहना पड़ता है कि जैसे प्राचीनों के द्वारा दिया गया विरोधिता का उदाहरण (राम-अर्जुन सी उन दोनों की गति है) असंगत है, वैसे आपके द्वारा दिखलाया गया विरोधिता का उदाहरण (राम और रावण) भी असंगत ही है ।

दोशितोक्तमुदाहरणं निरस्त्यसम्प्रति तस्मिन्निदान्तमपि खण्डयति—

‘अन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थस्य एव’ इत्याद्यप्यसंगतमेव । हरिनागस्येत्यादानुभयोरव्ययस्थितार्थत्वेऽप्येकपदभावाभिप्रेक्षकेन विरोधेन धर्मविशेषाविशेषितेनापि युगपद्विधिशेषद्वयेऽभिधाया नियन्तुं शक्यत्वात् ।

हृतीति । हृत्वि नागधेति समाहारद्वन्द्वे ‘येषां च विरोधः शाश्वतिकः’ इत्येवञ्चोक्तम् । अत एवाह-एकवद्भावोति । धर्मविशेषाविशेषितेनेति । धर्मविशेषेण=(विरोधस्य) आश्रयोभूतेन केनापि प्राणिना अविशेषितेन अविशिष्टोद्देशेनेत्यर्थः, अविशेषित इत्यत्र स्वार्थणिजन्तात् क इति भावः । अथवा धर्मविशेषेण सजातो विरोधो यस्य तेनेत्यर्थः, तारकादित्वादित्यिति भावः । उभयथाऽपि यस्य विरोधस्य धर्मा विशेषरूपेण नोक्तस्तद्व्यतिरेकेण विरोधेनेति तात्पर्यम् । युगपत् एकदेव, न तु क्रमशः । अयमभिप्रायः—यत्रैकं पदमेकार्थकतया निधितार्थरूपपरञ्च नानार्थकतया सन्निधितार्थकम् (यथा रामरावणा इत्यत्र) तत्रैव विरोधिन्याप्रथमभेदस्योदाहणं सम्भवतीति यदुक्तं दोशितेन, तत्र विचारसहम्, हरिनागस्य (यत्र पदद्वयमपि नानार्थकम्) इत्यत्र विरोधितया हरिनागपदशोरभिधाद्वयस्य क्रमशः सिद्धगजल्लाप्योरेकदेव नियमनदर्शनात् । नन्वेवमन्योन्याश्रयात् - कुतो नेति चेन्न, तृतीयस्य विरोधव्यञ्जकस्यैकवद्भावस्य वर्तमानतया अन्योन्याश्रयविरहात् । एतदेवाह—एकवद्भावाभिव्यक्त्यादिना । एकवद्भावश्च द्वयोः समानतयैव विरोधः प्रत्याययति, न तु ‘अयं विरोधस्तर्ता अयं विरोधव्य’ इति विशेषरूपेण । तदेव सूचयति—धर्मविशेषेत्यादिना । इति ।

दोशितोक्तमुदाहरणं का खण्डन करके अब उनके सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं—अन्यतरपद इत्यादि । दूसरे, आपने जो यह कहा है कि ‘दो पदों में कोई एक पद जब निहित अर्थवाला अर्थात् एकार्थक रहेगा, तभी प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से अभिधा का नियमन होगा’ यह भी अपुक्त ही है, क्योंकि ‘हरिनागस्य’ इत्यादि स्थल—जहाँ, दोनों पद अभिधितार्थक ही हैं—अर्थात् हरिपद के भी सिंह, विष्णु अथवा अनेक अर्थ समाहित हैं, और नागपद के भी गज, सर्प आदि विविध अर्थ हो सकते हैं—मैं, प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से हरि और नाग पद की अभिधा क्रमशः सिंह तथा गजरूप अर्थों में एक ही बार नियन्त्रित होती है । यदि आप कहें कि अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि क्रमशः दोनों पदों की अभिधा का नियन्त्रण करने पर अन्योन्याश्रय का अवसर हो सकता था, पर यहाँ एक ही बार दोनों पदों की अभिधा नियन्त्रित होती है, फिर अन्योन्याश्रय का अवसर ही कहाँ है ? दूसरी बात यह है कि दो के रहने पर ही अन्योन्याश्रय होता है, यहाँ तो विरोध को अभिव्यक्त करनेवाला तीसरा एक वचन (‘हरिनागस्य’ में पृथी विभक्ति का एक वचन) भी है अर्थात् ‘येषां च विरोधः शाश्वतिकः’ इस प्राणिनि सूत्र से उक्त प्रयोग में द्वन्द्वसमासोत्तर एकवद्भाव हुआ है, जिससे हरि और नाग पद के अर्थों में शाश्वतिक विरोध अभिव्यक्त होता है और यह विरोध भी एकवद्भाव से दोनों में समानरूप से ही व्यक्त होता है, ‘यह विरोध करनेवाला है और इसका विरोध किया जाता है’ इस विशेषरूप से नहीं । यही बात भूल की ‘धर्मविशेषाविशेषिता’ इस पदिके द्वारा प्रतिपादित हुई है ।

दोशितोक्तमेवाराण्तरं दृश्यति—

यदपि ‘रामार्जुनगतस्तयोः रिति शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणम्, इति स एवाह । तदप्यसत् । त्वया निरूपिते शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणे ‘निषधं परय भूषुतम्’, ‘नागो दानेन राजते’, इत्यत्र चाभिधाया नियतविषयतां विनान्वय-

स्यैवानुपपत्त्या प्रकृते च 'रामार्जुनगतिस्तयो' रित्यत्रार्थान्तरविषयत्वेऽप्यन्वयानुपपत्तेरभावात्प्रसङ्गमिति वैलक्षण्ये शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्वायोगात् ।

स एवेति । अप्यप्यदीक्षित एवेत्यर्थः । असत् असमीचीनम्, असमीचीनत्वे हेतु दर्शयति—त्वयेत्यादिना । निषधमिति । अत्र जनपदविशेषसाधारणस्य निषधपदस्याभिधा पर्वतवाचिभूत्पदसन्निधानात्पर्वतविशेषे नियम्यते । राजसाधारणस्य भूत्पदस्याभिधा च पर्वतविशेषनाचिनिषधपदसन्निधानात्पर्वते । नाग इति । अत्र सर्पसाधारणस्य नागपदस्याभिधा मदवाचिदानपदसन्निधानेन मदजले । सामानाधिकरण्याच्चधिकरणाभ्यां स्वल्भेदप्रदर्शनायोदाहरणद्वयम् । अधिक वृत्तिवार्तिके द्रष्टव्यम् । नियतविषयेति । नियतगमिति यावत् । अर्थान्तरविषयत्वेऽपीति । रामार्जुनवत्पराम्मशालिन्वमित्यर्थान्तरमिति भावः ।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रिति विरोधिताया उदाहरणं प्राञ्ज कञ्चु । दीक्षितस्तत्रान्योन्याश्रयदोषमापाद्यतस्य शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणत्वं प्रतिपादयति । तत्रपण्डनप्रसङ्गे पण्डितराजो वृत्तिवार्तिकोक्तदीक्षिताभिमतशब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणापेक्षया रामार्जुनेत्युदाहरणे वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—'निषध', 'नागो', इत्युदाहरणद्वयं वृत्तिवार्तिकोक्तं शब्दान्तरसन्निधे दक्षितम् । तत्र निषध-भूत्-नाग-दानपदानां पर्वतविशेष-पर्वतसामान्य-गज-मदजलरूपेष्वभिधानियमनात्प्राक् येषां पदानां क्रमशो देशविशेष-राज-सर्पत्यागरूपार्थेषु शक्तिसंचारेणान्वयानुपपत्तेः, तेषामर्थानां मिथोऽन्वयायोग्यत्वात् । रामार्जुनेत्युदाहरणे तु 'तयो-रामार्जुनवद् गतिः' = पराम्मशालिन्वमित्यर्थान्तरकरणेऽपि नान्वयानुपपत्तिः, तथान्वयस्य संभवविषयत्वात् । एवञ्चशब्दान्तरसन्निधेस्तादृशमुदाहरणं ब्रुवतो दीक्षितस्य तदपेक्षयाति-बंधप्रत्यक्षालिने रामार्जुनेत्यत्र शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणत्वस्वीकारोऽयुक्त इति भावः ।

दीक्षित की ही एक दूसरी उक्ति का खण्डन करते हैं—यदिप इत्यादि । अभिप्राय यह है कि प्राचीनों ने विरोधिता के प्रथम भेद-प्रसिद्ध वैर-का-उदाहरण 'राम-अर्जुन की भी उन दोनों की गति' एतदर्थक 'रामार्जुनगतिस्तयो.' इस वाक्य को माना है । पर दीक्षित ने अन्योन्याश्रय दोष दत्तला कर उस वाक्य को विरोधिता का उदाहरण होने में आपत्ति की है, और उस वाक्य को 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है । अब पण्डितराज दीक्षित के कथन का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—आपने (दीक्षित ने) 'निषध पर्य भूत्पदम्' अर्थात् 'निषध नामक पर्वत को देखो' इस सामानाधिकरण (समान विभक्ति) वाक्य को, एवम् 'नागो दानेन राजते' अर्थात् 'मदवारि से मतवाला हाथी शोभित होता है' इस व्यधिकरण (विभिन्न विभक्ति) वाक्य को भी 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है अर्थात् पर्वतवाचक 'भूत्पद' पद के सन्निधान से देशविशेष तथा पर्वतविशेष इन दोनों अर्थों के वाचक 'निषध' पद की अभिधा पर्वतविशेषरूप अर्थ में और पर्वतविशेषवाचक 'निषध' पद के सन्निधान से राजा तथा पर्वतसामान्य इन दोनों अर्थों के वाचक 'भूत्पद' पद की अभिधा पर्वतसामान्यरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, इसी तरह मदवाचक 'दान' पद के सन्निधान से सर्प तथा गज इन दोनों अर्थों के वाचक 'नाग' पद की अभिधा, गजरूप अर्थ में और गजवाचक 'नाग' पद के सन्निधान से—स्वाग तथा दानवारि इन दोनों अर्थों के वाचक 'दान' पद की अभिधा मदजलरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, यह बात स्वीकृत की है—जो शीक भी है, क्योंकि उक्त नियन्त्रण के बिना उक्त वाक्यगत पदार्थों का परस्पर अन्वय ही नहीं बन सकता है अर्थात् उक्त वाक्यों में 'निषध' का राजा और 'भूत्पद' का पर्वत, अथवा 'निषध' का ही पर्वतविशेष और 'भूत्पद' का राजा, इसी तरह 'नाग' का सर्प

और दान का त्याग, अर्थ समझ लिया जाय, तब उन अर्थों की परस्पर सगति ही नहीं बैठेगी। परन्तु 'रामार्जुनगतिस्तयो' इस वाक्य का यदि 'उन दोनों वर्णनीय व्यक्तियों की राम और अर्जुन जैसी धीरता है' यह अन्य अर्थ भी कर लिया जाय, तथापि अन्वय ही जाता है, फिर इस वाक्य को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण आपने कैसे कह दिया? अर्थात् परशुरामवाचक 'राम' पद के सन्निधान से 'अर्जुन' पद की सहस्रबाहु में और सहस्रबाहुवाचक 'अर्जुन' पद के सन्निधान से 'राम' पद की अभिधा परशुराम में नियमित होती है यह आपका तात्पर्य तब संगत होता, यदि आपके निजसम्मत शब्दान्तरसन्निधि के उक्त उदाहरणों से मिलती-जुलती स्थिति यहाँ भी होती, ऐसी स्थिति तो है नहीं, एक जगह नियन्त्रण के बिना अन्वय अनुपपन्न है, और दूसरी जगह उसके बिना भी वह उपपन्न है, इस विलक्षणता के रहते दोनों जगह समानरूप से शब्दान्तर सन्निधि को ही निवामक मानना सर्वथा अनुचित है।

अथापि प्रतीयमाना 'रामार्जुनगतिस्तयो' रितिचिरोचितोदाहरणस्यामगतिमुद्भाव्य निरस्यति—

एवमपि काव्यप्रकाशगतस्य 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति विरोधितोदाहरण-स्यासगति स्थितैवेति चेत् ? न, तयोः कयोश्चित्प्रसिद्धविरोधयो रामार्जुनगती रामार्जुनसदृशी गतिराचरणमिति तदर्थवर्णने विरोधेन प्रस्ताववशात्प्रतीतेन युगपद्भार्गवकार्तवीर्ययो रामार्जुनशब्दाभिधाया नियमनस्योपपत्ते ।

एवमपीति । दीक्षितोक्तोरसगतावपीत्यर्थ । स्थितैवेति । अन्योन्याश्रयदोषस्य दीक्षितोक्तस्यानिरासादिति भाव । तदर्थेति । उदाहरणार्थेत्यर्थ । प्रस्ताव प्रकरणम् । युगपदिति । तथा च नान्योन्याश्रय इति भाव ।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रित्यत्र दीक्षितोक्तान्योन्याश्रयदोषस्तदा सम्भवति, यदि विरोधोपस्थापक न्मिपि तृतीय वस्तु न भवेत्, अपि च रामपदस्यार्थे भार्गवरूपे निर्णीते स्मृतपद-विरोधप्रतिसधानेनार्जुनपदस्य, एवम् अर्जुनपदस्य कार्तवीर्यरूपार्थे निश्चिते तद्विरोधप्रतिसधानेन रामपदस्य अभिधाया क्रमशो नियमनमभिप्रेत स्यात् । इह तु तन्नास्ति, किन्तु मूलोक्तार्थानुसारेण 'तयो'रितिपदप्राप्त प्रकरण तृतीयमेव वस्तु विरोधमुपस्थापयति, तेन च युगपदेव भार्गवकार्तवीर्यरूपयोर्व्ययो रामार्जुनपदाभिधानियमनमिति नान्योन्याश्रयापातप्रयुक्ताऽऽमगतिरित्याशयः ।

उक्त रण्डमण्डन के वाद भी विरोधिता के 'रामार्जुनगतिस्तयो' इस उदाहरण में असगति रहती ही है, इस शका का उद्भावन करके उत्तर देते हैं—एवमित्यादि । यदि कोई कहे कि उक्तरीति से दीक्षित के मत का रण्डन हो जाने पर भी काव्य-प्रकाश में उक्त विरोधिता वा 'रामार्जुनगतिस्तयो' यह उदाहरण तो संगत नहीं होगा अर्थात् दीक्षित ने जो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगाया था, वह अभी भी वर्तमान ही है ? तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष तब होता यदि विरोध को उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु नहीं होती, और राम पद का परशुरामरूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से अर्जुन पद की, एवम् सहस्रबाहु रूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से रामपद की अभिधा का क्रमश नियन्त्रण अभिमत होता, परन्तु यहाँ ऐसी बात है नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ यहाँ यह है कि 'तयो' अर्थात् उन दोनों प्रसिद्ध-वैरभाव वाले व्यक्तियों का रामार्जुनगति' अर्थात् राम-अर्जुन के समान आचरण है।' इस तरह से 'तयोः' पद से ज्ञात होनेवाला प्रकरण (तृतीय वस्तु) यहाँ विरोध को उपस्थित करता है, जिससे

एक बार ही राम तथा अर्जुन पद की अभिधा परशुराम एवम् सहस्रबाहु रूप धर्म में नियन्त्रित हो जाती है । अतः अन्योन्याश्रय का कोई प्रसङ्ग नहीं रह जाता ।

इत्थं न्याख्याने प्रकरणरूपनियामक एयान्तर्भावसम्भवात् पुनः पृथग्विरोधिता प्रथमप्रकरणस्य परिगणनं श्रुत्येवाराक्त्य समाधत्ते—

न च प्रकरणाद्विशेषः? विरोधस्य प्रकान्तत्वेऽपि भार्गवकार्तवीर्ययोः शक्ति-
नियमाधिकरणयोरप्रकान्तत्वात् ।

प्रकरणादिति । शक्तिनियामकसंप्राहृकारिकोक्तप्रकरणरूपनियामकादित्यर्थः । अवि-
रोध इति । विशेषो भेदस्तद्भिन्न इत्यर्थः, अभेद इति यावत् । प्रसिद्धवैरुपरिविरोधिताया
इति शेषः । रामार्जुन इत्यत्र प्रकरणस्य विरोधप्रत्यायकत्वाङ्गीकारे शक्तिनिदानकचमपि
तस्यैवाङ्गीक्रियताम्, कृतमत्र नियामवान्तरान्वेषणेनेति न शकनीयम् । शक्तिनियामकस्य
विरोधस्य प्रकरणप्राप्तत्वेऽपि शक्तिनियामाभययोर्भार्गवकार्तवीर्ययोः प्रकरणप्राप्तत्वात् । एतच्च
शक्तिनियामाभयस्य प्रकान्तत्व एव प्रकरणं नियामकमिति भावः ।

इदमत्र विचारणीयम्—मूले पण्डितराजेनोद्भूत 'रामार्जुनौ' इति प्राचीनोक्तमुदाहरणं
कथं सगच्छेत ? तत्र विरोधप्रत्यायकस्य तृतीयस्य कस्यचिदभावेनान्योन्याभयस्य दुर्वार-
त्वात् । वस्तुतस्तु प्राचीनैरुदाहरणं नैव दत्तमिति पूर्वं मयोरुक्तमेव । पण्डितराजस्य
तयोद्धारणं चिन्त्यमेव । तस्तु पण्डितराजोक्तरीत्या साहचर्यस्यैव कथञ्चिदुदाहरणं संभवतीति
मम प्रतिभाति । रामार्जुनाभयस्य रामार्जुनगतिस्तयोरित्येतदुपलक्षणत्वस्वीकारे तु सर्वं
सुस्थमेवेत्यपि बोध्यम् ।

उक्त व्याख्या के अनुसार 'प्रकरण' में ही 'विरोधिता प्रथम भेद' का अन्तर्भाव
क्यों नहीं मान लिया जाय ? इस शंका का अर्थ समाधान करते हैं—नच इत्यादि । 'रामा-
र्जुनगतिस्तयोः' इस स्थल में उच्यते से जब प्रकरण को ही आप विरोधोपस्थापक
मानते हैं, तब उस 'प्रकरण' को ही अभियानियामक भी क्यों नहीं मान लेते ? अर्थ
नियामकान्तर (विरोधिता) के अन्वेषण से क्या छाम ? ऐसी वाशंका नहीं करनी
चाहिए—क्योंकि, उस तरह से विरोध भले ही प्रकरण प्राप्त हो जाय, परन्तु जिन दोनों
अर्थों में शक्ति यहाँ नियामित होती है वे परशुराम और सहस्रबाहु प्रकरणप्राप्त नहीं हैं ।
तार्पर्य यह हुआ कि 'प्रकरण' वहाँ अभिधा-नियामक होता है, जहाँ नियामक अर्थ
प्राकरणािक हों, यहाँ वह नहीं है अतः 'प्रकरण' नियामक नहीं हो सकता । जगत्या
प्रसिद्धवैरुपरु 'विरोधिता' ही यहाँ अभिधानियामक होती है, यह बात सर्वसम्भवा
माननी ही पडेगी । यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि मूलग्रन्थ में प्राचीनोक्त
उदाहरण को उद्धृत करते हुए पण्डितराज ने जो 'रामार्जुनौ' यह विरोधितोदाहरण
का आकार लिखा, वह कैसे संगठ हो सकता है ? क्योंकि उस आकार में विरोध को
उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु जत्र नहीं है, तब अन्योन्याश्रय दोष दुर्वार ही
होगा । वस्तुतः प्राचीनोक्त उदाहरण का आकार वैसा नहीं है यह बात पहले लिखी
जा चुकी है । पण्डितराज का वैसा उदाहरण गलत ही है । पण्डितराज की रीति से
वह किसी तरह से साहचर्य का ही उदाहरण हो सकता है । 'रामार्जुनौ' इस वाक्य को
यदि 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस वाक्य का उपलक्षण मान लिया जाय तो सबका
सामञ्जस्य है ही ।

विरोधिताया द्वितीयं प्रथममुदाहरति—

सहानवस्थानलणाविरोधिता तु छायातपावित्यादौ बोध्या ।

'छायातपौ' इत्यत्र छायाशब्दस्य सूर्यपत्नी-शान्ति-प्रतिविंबातपाभावरूपा अनेके

अर्थो सम्भवति । परन्तु आतपपदार्थेन सह सहानवस्थानरूपा विरोधिता आतपभावहृप-
छायापदार्थस्यैवेति तथा विरोधितया छायापदस्याभिधा आतपाभावरूपेऽर्थे नियम्यते
इति भावः ।

अब 'विरोधिता' के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाने हैं—सहान इत्यादि 'छाया'
और आतप' इस वाक्य में छाया शब्द के सूर्य-पत्नी, कान्ति, प्रतिबिम्ब और आतप का
अभाव आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु 'आतप' पद का जो निश्चित अर्थ भूप है,
उसके साथ 'सहानवस्थान' (साथ साथ नहीं रह सकना) रूप विरोध, आतपाभावरू-
प छाया पदार्थ को ही है, अतः उस विरोध से 'छाया' पद की अभिधा आतपाभावरू-
प अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है ।

अर्थ निरूपयति—

अर्थः प्रयोजनं चतुर्थ्याद्यभिधेयम् ।

चतुर्थ्यादीति । अत्र तुमनादि आदिपदप्राहम् । चतुर्थ्यादिप्रतिपाद्यं प्रयोजनमर्थ-
पदार्थ इत्यर्थः ।

'अर्थ' की व्याख्या करते हैं—अर्थ इत्यादि । चतुर्थी विभक्ति आदि के द्वारा अभि-
हित होनेवाले 'प्रयोजन' को 'अर्थ' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'स्थाणुं भज भवच्छेदे' इत्यादी भवच्छेदनादि स्थाणुपदस्य भवे ।

मन्तात्प्राप्तानिरुत्थय शिवसुपास्वेत्युदाहरणार्थः । छेदनादित्यस्य प्रयोजनमिति
शेषः । भवे । अभिधानियामकमिति शेषः ।

स्थाणुंमन्त्रेत्युदाहरणे 'भवच्छेदे' इत्यस्य चतुर्थीप्रतिपाद्यं भवच्छेदनरूपं प्रयोजनं
निरशास्त्रतन्त्रिवादिगानार्थकस्य स्थाणुपदस्याभिधा शिवे नियमयति, निरशास्त्रतन्त्रभङ्गेन
भवच्छेदरूपप्रयोजनासिद्धेरिति भावः ।

उदाहरण देखिए—जैसे 'स्थाणुं भज भवच्छेदे'—अर्थात् सप्ताह से छुटकारा पाने के
लिए स्थाणु का भजन करो' इस वाक्य में 'स्थाणु' पद के शिव तथा शुष्क तरु दोनों
अर्थ हो सकते हैं, परन्तु वक्ता का अभिलषित 'भवच्छेद'रूप प्रयोजन की मिट्टि शिव से
ही समझ है शुष्कतरु से नहीं, अतः उक्त प्रयोजन से 'स्थाणु' पद की अभिधा शिव-
रूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

शङ्कते—

नन्वर्थस्य लिङ्गात्को भेदः ? न च लिङ्गनान्यसाधारणस्तद्धर्मः, अर्थस्तु
तद्भजनादेः कार्यम्, न तु वदतो धर्म इति स्फुट एव भेद इति वाच्यम्,
भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वस्य काष्ठावृत्तिभ्रमधर्मत्वादिति चेत् ?

अनन्यसाधारण इति । अन्यस्मिन् निवक्षितादेरनादतिरिक्ते साधारणो यो न
भवति—एतन्मानवृत्तिरिति यावत् ।

'अर्थ'निरूपणप्रकारभोक्ता शब्देऽपि तच्छब्दा शिवबोधना । कार्यमिति फलमित्यर्थः ।
भवच्छेदजनकैति । भवच्छेदजनिकाया भजनक्रिया, तत्पर्यन्तस्य तज्जन्यफलभयान्वरथे-
त्यर्थः । काष्ठावृत्तिरिति । अनेनानन्यसाधारणत्व सूचितम् ।

भवच्छेदस्य शिववृत्तनाधारणधर्मत्वाभावेऽपि भवच्छेदजनकभजनकर्मताया काष्ठावृ-
त्तितया शिवासाधारणधर्मत्वेन 'अनन्यसाधारण' शिवधर्म' शिवस्य लिङ्गम्, भवच्छेदकरूप-
प्रयोजनं तु निवकभजनस्य फलं न तु शिववृत्तिधर्म' इति प्रतीतोदाहरणे लिङ्गार्थयोर्भेद इत्यस्य
वक्तुमशक्यत्वेन बोऽत्र लिङ्गार्थयोर्भेद इति शंभरायो बोध्यः ।

शंका कहते हैं—नन्वर्थ इत्यादि । यहाँ शंका होती है कि 'लिंग' रूप नियामक से इस 'अर्थ' रूप नियामक में भेद क्या है ? 'शिव से भिन्न किसी व्यक्ति में जो नहीं रहता हो, ऐसे धर्म विशेष को शिव का लिंग कह सकते हैं, और यह 'भवच्छेद' रूप अर्थ (प्रयोजन) तो शिव के भजन का कार्य (फल) है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म' यह भेद मानने योग्य है नहीं, क्योंकि भवच्छेद भले ही शिव भजन का फल हो, पर उस फल को उत्पन्न करनेवाली भजन क्रिया का कर्म होना—जो शुष्कतरु में नहीं रह सकता है—तो शिव का लिंग अवश्य है । अभिप्राय यह हुआ कि भवच्छेद-साधक-भजनक्रिया-कर्मत्व, जब, शिव मात्र में, रहनेवाला धर्म है, काष्ठ आदि में वह नहीं रह सकता है, तब उस धर्म को शिव का लिंग माना जा सकता है, और जब उसको लिंग मान लेंगे, तब उसी से प्रकृत वाक्य में स्थाणु पद की अभिधा निश्चित हो ही जायगी, फिर 'अर्थ' को पृथक् नियामक मानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तरयति—

अथाहुः—उक्तस्य विशिष्टधर्मस्य शब्दबोधोत्तरभाविमानसबोधविषयत्वेन प्रकृतशब्दबोधाविषयत्वान्निवृत्तौ वैलक्षण्यौपपत्तिरिति ।

उक्तयेति । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वस्येत्यर्थः । प्रकृतशब्दबोधाविषयत्वादिति भवच्छेदफलक चैत्रादिभिन्नकर्तृक स्थाणुर्नमक भजनमित्याशयकस्य प्रकृतशब्दबोधस्य विषयत्वविरहादित्यर्थः ।

अयं भाव—'स्थाणु भज भवच्छेद' इति वाक्यात् 'भवच्छेदफलकेत्याद्यनुपदीक एव बोधो जायते, व्यापारमुख्यविशेष्यकशब्दबोधस्यैव शाब्दिकसिद्धान्तसिद्धत्वात् । स्थाणुनिष्ठभवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहपो विशिष्टो धर्मस्तु पश्चात्कालभाविनि मानसबोधे भासते । तथा च प्रकृतोदाहरणे भवच्छेदरूपं प्रयोजनम् (अर्थात्मक नियामकम्) शब्दजन्यबोधस्य विषयः, भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहपं लिङ्गं मानसबोधस्य विषय इति तयोर्भेद इति । अयं च भेदे मिद्वेऽपि लिङ्गस्य वर्तमानत्वे तस्यैव नियामकता प्रकृतो वृत्तो नेति चेन्न, प्रथमोपस्थितत्वेनात्तरङ्गरस्यार्थस्य नियामकत्वमंभवे पश्चादुपस्थितत्वेन बहिरङ्गस्य लिङ्गस्य नियामकताया अयुक्तत्वात् ।

अथ उक्त शंका का उत्तर देते हैं—अथाहुः इत्यादि । आशय यह है कि वैयाकरण शब्दबोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं, तदनुसार 'स्थाणु भज भवच्छेद' इस वाक्य से 'भवच्छेदरूप-फलवाली, चैत्रादिरूप कर्तावाली, स्थाणुरूप कर्मवाली, प्रेरणा का विषय भजन क्रिया' यह बोध होगा । वैयाकिक शब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य मानते हैं, तदनुसार उक्त वाक्य से 'भवच्छेदरूप फलवाली, स्थाणुरूप कर्मवाली प्रेरणा-विषयीभूत भजन-क्रिया का कर्ता चैत्र आदि' यह बोध होगा । दोनों ही मतों में 'भवच्छेदजनकभजनकर्मत्व' रूप धर्म शब्दबोध में नहीं आता, अर्थात् शब्द से वह धर्म अवगत नहीं होता । हाँ, उस बोध के बाद जो एक मानस बोध होता है, उसमें वह धर्म विषय हो सकता है, अर्थात् उक्त शाब्दिक बोध के अनन्तर मन से उस धर्म का ज्ञान किया जा सकता है । इस स्थिति में लिंग से अर्थ में विलक्षणता भिन्न हो जाती है—अर्थात् यह प्रकृत अभिधा-नियमनवाची वाच शब्दबोध के उपायरूप में ही कही जा रही है, अतः यह नियमन शाब्दिकबोध से पूर्व ही करना चाहिये, अतः उक्त वाक्य में स्थाणुपद की अभिधा को नियमित करने के लिए शब्दबोध से पूर्व ज्ञान होनेवाला कोई नियामक चाहिए, जो उक्त धर्मरूप 'लिंग' कथमपि नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका ज्ञान शाब्दिकबोध के बाद में हो सकेगा अतः 'अर्थ' को पृथक् नियामक मानना आवश्यक है ।

प्राचीनाभिमत लिङ्गार्थयोर्वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

लिङ्गं त्वेकपदार्थः कोपादिः, अनन्वित एव यः पदार्थान्तरेण प्रकृतशक्य-
धर्मतां शक्यान्तरव्यावृत्ततां च भजते, उक्तधर्मस्तु न तथेत्यपि केचित् ।

एकपदार्थ इत्यस्यैव विवरणं पदार्थान्तरेणानन्वित इत्यादि । कोपादिरिति । कुपितो
मकरध्वज इत्यादाविति भावः । उक्त इति । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहप इत्यर्थः । न
तथेति । पदार्थान्तरेणानन्वितं प्रकृतशक्यधर्मो नैत्यर्थः । नानार्थस्थले येन केनापि पदा-
र्थान्तरेणानन्वितं सन् अभिमतशक्यवृत्तिरभिमतैतराक्यावृत्तिश्च-अर्थात् एकस्यैव पद-
स्यार्थभूत असमस्ताखण्डैकपदार्थ इति यावत् यो धर्मः स लिङ्गम्, यथा कुपितो मकरध्वज
इत्यत्र कोपः । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहपो धर्मस्तु असमस्ताखण्डैकपदार्थो न परस्पर-
रान्वयवशेनैव तस्य तादृशाकारसम्पत्तेरिति न तल्लिङ्गमिति तयोर्भेदं केचिदाचक्षत इति
भावः । अत्र 'केचिदि'त्यनेनाशुचि सूच्यते, सा च तयाङ्गीकारे 'देवस्य त्रिपुराराते'रित्यत्र-
देवपदाभिधानिभनानापत्तिप्रसङ्गरूपा बोध्या, त्रिपुरारातित्वस्याखण्डैकपदार्थत्वविरहेण लिङ्ग-
त्वभावात् । न च शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणमेतद्भवतीति वाच्यम्, पदद्वयस्य नानार्थरू-
त्वभावेन 'नानार्थपदैकार्यमात्रसमर्थ्यान्तरवाचकपदमभिभ्याहार'हपाया' अन्यशब्द-
सन्निधेरिहाप्रसगात् । न च 'नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं' शब्दान्तरसन्निधिरिति
प्राचीनमतानुसारेण निस्तारः, 'करणे राजते नाम' इत्यादावव्याप्या 'कुपितो मकरध्वज'
इत्यादावतिव्याप्या च तादृशान्यशब्दसन्निधेर्निर्वक्तुमशक्यत्वात् । पण्डितराजमते तु
लिङ्गोदाहरणं तद्भवतीति तल्लक्षणासुसन्धानेन विश्लेष्यम् ।

अथ लिङ्ग और अर्थ में प्राचीनाभिमत वैलक्षण्य का उल्लेख करते हैं—लिङ्ग गुह्यादि ।
प्राचीन विद्वान् उक्त आशंका का समाधान इस प्रकार देते हैं—लिङ्ग उसको कहते
हैं जो एक पद का अर्थ हो,—अर्थात् जो किसी अन्य पद के अर्थ से अनन्वित न होकर
ही नानार्थक शब्द के अभिमत अर्थ में रहता हो और अनभिमत अर्थ में नहीं रहता
हो । जैसे—'कुपितो मकरध्वज' इत्यादि स्थल में कोप आदि, क्योंकि 'कोप' कुपितरूप
एक पद का अर्थ है, और मकरध्वजपद के अभिप्रेत कामदेवरूप अर्थ में रहता है,
तथा उस पद के अनभिप्रेत अर्थ मकराकारध्वजारूप अर्थ में नहीं रहता है । पूर्वोक्त
भवच्छेदजनक भजन कर्मत्वरूपधर्म तो किसी एक पद का अर्थ नहीं है अपि तु अनेक
पदों के अर्थों का मिलितरूप है, अतः वह लिङ्ग नहीं कहा जा सकता ।

प्रकरणं निरूपयति—

प्रकरणं वक्तृधोतृबुद्धिस्थता ।

वक्ता च धोता चेतिद्वन्द्वं, तयो बुद्धयो तिष्ठति यत्, तदभाव इत्यर्थः, वक्तृधोतृगान-
विषयतेति यावत् । प्रकरणं प्रस्ताव इत्यनर्थान्तरम् ।

अथ 'प्रकरण' की व्याख्या करते हैं—प्रकरण इत्यादि । वक्ता और धोता दोनों की
बुद्धि में किसी वस्तु का रहना प्रकरण कहलाता है । प्रकरण का दूसरा पर्यायवाची
शब्द प्रस्ताव है ।

उदाहरति—

यथा—राजानं संबोधय केनचिद्भृत्येनोक्ते 'सत्रं जानाति देव' इति यावत्
देवपदस्य युग्मदर्थः ।

युग्मदर्थे इति । संबोधय राजनि इत्यर्थः, संबोधयस्यैव युग्मदर्थत्वान् । इत्त अत्र
अभिधानियमनमिति शेषः । प्रकरणं देवपदस्याभिधा युग्मदर्थे नियमयतीति भावः ।

उदाहरण देते हैं—यथा इत्यादि । कोई सेवक जब राजा को संबोधन करके 'सर्व जानाति देवः—अर्थात् आप सब कुछ जानते हैं' ऐसा वाक्य कहता है, तब उस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि विविध अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही अभिधा का नियमन हो जाता है, क्योंकि वहाँ 'आप' का ही प्रकरण है 'देवता' का नहीं ।

लिङ्ग निरूपयति—

लिङ्ग नानार्थपः शक्यान्तरावृत्तिरेकशक्यगतः साक्षाच्छब्दवेद्यो धर्मः ।

नानार्थपदस्य प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्येऽवर्तमान प्रकृतशक्ये च वर्तमान शब्देन साक्षात् बोध्यो न त्वयांल्लब्धो धर्मविशेषो लिङ्गमित्यर्थः ।

अब 'लिङ्ग' की व्याख्या करते हैं—लिङ्गम् इत्यादि । उस धर्म विशेष को 'लिङ्ग' कहते हैं जो नानार्थक पद के अभिप्रेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थों में नहीं रहता हो । एवं जो साक्षात् शब्द से ही बोधित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त 'भजनकर्मत्व' की तरह मन आदि से ज्ञात न होता हो ।

उदाहरति—

यथा—'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र कोपो मकरध्वजपदस्य ।

मकरध्वजपदस्य । अभिधा नियमयतीति शेषः । अत्र कामरामुद्रद्वयार्थकरय मकरध्वजपदस्य कामरूपात् प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्ये समुद्रेऽवर्तमान प्रकृतशक्ये कामे वर्तमानश्च कुपितपदेन साक्षात् बोध्यः कोप (लिङ्गम्) मकरध्वजपदस्य शक्ति कामरूपार्थे नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । यद्यपि 'मकरध्वज' पद की शक्ति कामदेव, समुद्र आदि अनेक अर्थों में है तथापि 'कुपितो मकरध्वज—अर्थात् मकरध्वज कुपित हो गया' इस वाक्य में 'कोपरूप लिङ्ग' से मकरध्वज पद की शक्ति कामदेवरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, क्योंकि मकरध्वज पद के समुद्र आदि भवेतन अर्थों में नहीं रहने वाला, कामदेव में रहनेवाला और 'कुपित' इस एक पद से ज्ञात होनेवाला 'कोप' कामदेव का 'लिङ्ग (बिह्वविशेष)' हो जाता है । अतः उक्त वाक्य में मकरध्वज पद से कामदेव का ही बोध होता है, अन्य का नहीं ।

अन्यशब्दसन्निधिं निर्वक्ति—

शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्यमात्रसंसर्ग्यर्थान्तरवाचकपदसमभिव्याहारः ।

नानार्थपदस्यानेकार्थाना मध्ये एकार्यमात्रप्रतियोगिकसंबन्धविशिष्टेन अर्थान्तरवाचकेन नानार्थकेनेति यावत् पदेन समभिव्याहारः पूर्वत्वपरत्वान्यतरसंबन्धेन तद्विशिष्टता नानार्थकपदगता शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरित्यर्थः । अत्रैकार्यमात्रप्रतियोगिकसंबन्धविशिष्टत्वमर्थान्तरवाचके पदे पदद्वारकमवगन्तव्यम् ।

अब 'अन्यशब्द की सन्निधि' की व्याख्या करते हैं—शब्दस्य इत्यादि । नानार्थक पद के केवल एक अर्थ से संबन्ध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी वाचक पद का निकट स्थित होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास-पास रहना जिनका कोई एक अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध रखता हो—'अन्यशब्द-सन्निधि' कहलाता है ।

उदाहरति—

यथा—'करेण राजते नागः' इत्यत्र करपदस्य नागपदमादाय नागपदस्य च करपदमादाय शुण्डायां गजे च ।

गजे चेत्थस्याप्रेऽभिधानियमनमिति शेषो बोध्यः । करपदस्य पाणिशुण्डादण्डकिरणा

अर्थात् । नागपदस्य गजसर्पौ वाच्यौ । अतस्त्वंपदद्वयमपि जानार्थकम् । अत्र करपदस्य शुण्डातिरिक्ते नागपदस्य च गजातिरिक्तेऽर्थे स्वीकृते परस्परमन्वयासभवेन वाक्यार्थासप्ततिरिति उक्तरूपो नागपदसमभिव्याहार करपदस्य तादृशकरपदसमभिव्याहारश्च नागपदस्य भ्रमश्च शुण्डादण्डे गजे चाग्निथा निवमयतीति साराशः ।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । पाणि, हाथी का सँड और करण इन तीनों अर्थों में समानरूप से 'कर' पद की अभिधा ज्ञात होती है । इसी तरह 'नाग' पद की अभिधा भी हाथी और सर्प इन दोनों ही अर्थों में एक ही तरह विदित होती है, अतः 'करण राजते नाग' अर्थात् नाग कर से शोभित होता है' इस वाक्य में 'कर' और 'नाग' दोनों ही पद अनेकार्थक हैं । अब यहाँ यदि 'कर' पद के 'सँड' से अन्य हाथ या किरण आदि अर्थ किये जाय, इसी तरह 'नाग' पद का हाथी से अन्य सर्प अर्थ लिया जाय, तब इन अर्थों में परस्पर अन्वय नहीं बन सकेगा, जिससे वाक्य का कुछ अर्थ ही सम्पन्न नहीं होगा, अतः 'नाग' पद की सन्धि से 'कर' पद की 'सँड' में और 'कर' पद की सन्धि से 'नाग' पद की 'हाथी' में अभिधा नियमित हो जाती है । इसी से उक्त वाक्य का यहाँ 'सँड' से हाथी शोभित होता है' ऐसा ही अर्थ अवगत होता है ।

अत्राप्राप्ततो जायमानामन्योन्याश्रयभ्रान्ति निराकरोति—

नचात्रैकशब्दशक्तिनियमनपरशब्दशक्तिनियमोऽपेक्षते येनान्योन्याश्रयः स्यात्, किंतु करनागशब्दबोधार्थान्तरमहस्येऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेव शक्तिनियम्यते ।

नचेति । गङ्गाऽर्थः । अर्थान्तरेति । हस्तसर्पेत्यर्थः । 'करण राजते नाग' इत्यत्र 'गामार्जुना'वित्यत्रेव करशब्दशक्तिनियमो नागशब्दशक्तिनियमन नागशब्दशक्तिनियमो वा करशब्दशक्तिनियमन नापेक्षते अपि तु करनागशब्दयोर्द्वैस्तसर्पादित्पेऽर्थे गृह्यमाणो प्रसङ्गमान्योऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेवोभयो पदयो शक्तिनियम्यत इति नान्योन्याश्रयावसर इति भावः । वृत्तिवार्तिकेऽप्यपदीक्षितस्तु "न ह्यत्र समभिव्याहृतशब्देन तदर्थप्रतिपादनमभिधानियमनायापेक्ष्यते, किंतु स्वायेंन गृहीतसर्गोऽर्थे व्युत्पन्नो य शब्द सासमभिव्याहारमात्रम् । तथा च यथा सबन्धिदर्शनात् सबन्ध्यन्तरस्मृतिस्यले गृहीतमबन्धस्य सबन्धिने दर्शनमात्र सबन्ध्यन्तरमरणायापेक्ष्यते, न तु तदर्शनान्तर तन्सबन्धस्मरणमपीति नान्योन्याश्रय, तत्रेहापी" त्यादिरमणीयमात्स्यम् ।

अब, यहाँ आपातत प्रतीत होनेवाली अन्योन्याश्रय-दोष भ्रान्ति का निराकरण करते हैं—न च इत्यादि । 'अन्यशब्द-सन्धि' का जो उदाहरण पूर्व में दिखलाया गया है, उसमें 'कर' शब्द की अभिधा के नियमन में 'नाग' शब्द की अभिधा का नियमन अपेक्षित नहीं है और न 'नाग' शब्द की अभिधा के नियमन में 'कर' शब्द की अभिधा का नियमन अपेक्षित है, क्योंकि 'कर' और 'नाग' पद के क्रमशः 'सँड' और 'हाथी' से अन्य अर्थ (किरण तथा सर्प आदि) ज्ञात हो जाने पर परस्पर अन्वय के ही असंभव हो जाने से एक साथ ही दोनों शब्दों की अभिधा नियमित होती है, अतः एव यहाँ अन्योन्याश्रय दोष का कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता है ।

प्राचीनोक्त सङ्घटिति—

देवस्य पुरारातेरिति प्राचामुदाहरणे सुरत्वभूपत्वाभ्या देवपदान्नगरा-
रित्वासुरविशेषारित्वाभ्यां पुरारातिपदाञ्चोपस्थितेरुभयोरपि नानार्थत्वादर्थान्-
न्तरस्वीकारेऽप्यन्वयोपपत्तेश्च कथं शक्तेनियम स्यात् ?

अर्थान्तरेति । भुवनाकारित्पेत्यर्थः । अर्थं भावः—प्राचीना वाक्यप्रकाराकारादय

‘देवस्य पुराराते’ इत्यन्यशब्दसन्निधेरुदाहरणमाचार्यु, तदसंगतम् विचारासहत्वात् । तथाहि—अत्र देवपदान् सुरत्वेन भूपत्वेन च रूपेण सुरस्य भूपस्य चोपस्थितिः, पुराराति-पदान् नगरारातित्वेन, अनुरविशेषारित्वेन च रूपेण अग्निदिशगरशत्रुभूतस्य कस्यापि राज्ञः, त्रिपुरासुरवैरिणो महादेवस्य चोपस्थितिरिति पदद्वयस्य नानार्थत्व सिद्धयति, परन्तु तयोः पदयोः क्रमशः भूपनगरारिरूपार्यस्वीकारेऽपि अन्वयः उपपद्यत एव । तथा च नात्र शक्तिनियमनन्यादेका संभयो वा इति ।

एव प्राचीनोक्त उदाहरणों पर विचार करते हैं—देवस्य पुराराते । अभिप्राय यह है कि भ्रमण आदि प्राचीन भाषाओं ने ‘देवस्य पुराराते’—अर्थात् पुरके शत्रुभूत देव का यह ‘अन्यशब्द-सन्निधि’ का उदाहरण दिखलाया है । उनका भाषाय यह है कि शिव याचक ‘पुरारातिपद’ के साक्षिण्य से ‘देव’ पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः ‘देव’ पद का यहाँ राजा अर्थ नहीं होता । परन्तु प्राचीनों का यह उदाहरण सगत नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में केवल ‘देव’ पद ही अनेकार्थक नहीं है, अपितु ‘पुराराति’ पद भी अनेकार्थक ही है, जैसे ‘देव’ से देवता और राजा इन दो अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, वैसे ‘पुराराति’ पद से भी किसी साधारण नगर शत्रु की और त्रिपुरासुर-शत्रु शिव की (दोनों की) उपस्थिति हो सकती है । परन्तु ‘देव’ और ‘पुराराति’ पद से क्रमशः यदि राजा और साधारण नगरशत्रु का भी बोध हो, तथापि अन्वय बन सकता है अर्थात् किसी नगरशत्रु राजा के लिये भी उक्त वाक्य प्रयुक्त हो सकता है, फिर यहाँ अभिधानियमन की आवश्यकता ही क्या है? अथवा वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से आवश्यकता होने पर भी वह (अभिधानियमन) ही कैसे सकता है? क्योंकि ‘अन्यशब्दसन्निधि’ से अभिधा का नियमन नहीं होता है जहाँ उस (अभिधानियमन) के बिना अन्वय अनुपपन्न होता रहता है, जैसा पहले ‘करण राजते नागः’ यहाँ दिखलाया जा चुका है ।

तदुदाहरणसंगतिसाधकं प्राग्यनाशयमुपपाद्यावयति—

न च पुरारातिपदं योगरूढम्, तथा च रूढेर्योगापहारितया शिवत्वेनैव तस्य बोधकत्वाद्देवपदशक्तिनियामकतेति वाच्यम्; पुरारातिपदस्य रूढी मान्यभावात् ।

तत्त्वेति । पुरारातिपदस्यैवैर्यः । पुरारातिपदं शिवे योगरूढम्, तथा च तत्पद शिवत्वेनैव रूपेण बोधं जनयेत् नगरारातित्वेन रूपेण ‘रूढेर्योगापहारिणी’ति न्यायान् । एतच्च पुरारातिपदं न नानार्थकमिति तत्तन्निधिः देवपदस्य सुरे शक्तिं नियन्तुं शक्नोति अन्यथाऽऽन्वयानुपपत्तेरिति शकादलस्याभिप्रायः । उत्तरद्वलाभिप्रायस्तु ‘नैतद्युक्तम्’ पुरारातिपदस्य शिवे योगरूढत्वप्रमाणकस्य बोधादेरभावात् इति बोद्धव्यम् ।

अब उक्त उदाहरण को सगत बनानेवाले प्राचीनभाषाय का उपपादन करके स्पष्टन करते हैं—न च ह्यादि । यदि कहा जाय कि प्राचीन भाषाओं, ‘पुराराति’ पद को शिव में योगरूढ मानते हैं अतः उस पद से केवल शिव की ही उपस्थिति होती है किसी साधारण नगर शत्रु की नहीं, क्योंकि ‘रूढेर्योगापहारिणी’ अर्थात् रूढिशक्ति योगशक्ति का अपहरण कर लेती है । इस तरह से जब ‘पुराराति’ पद का अर्थ (शिव) निश्चित है, तब उसके साक्षिण्य से ‘देव’ पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित की जायगी, अन्यथा अन्वय अनुपपन्न हो जाता है—अर्थात् राजा और शिव का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता है । तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ‘पुराराति’ पद को योगरूढ मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् कोश आदि में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि ‘पुराराति’ पद शिवरूप अर्थ में योगरूढ है ।

पाठान्तरमाश्रित्योदाहरणसर्गतिं कुर्वत प्रदीपकारादेर्मतमवतार्य निरस्थति—

अथ 'देवस्य त्रिपुरारातेः' इति पाठस्तथापि पदान्तरोपस्थापितस्य त्रिपुरा-
सुरवैरित्वस्य लिङ्गतया लिङ्गोदाहरणत्वमेवास्य स्यात्, न तु शब्दान्तरसन्निध्यु-
दाहरणत्वमिति वदन्ति ।

पदान्तरेति । त्रिपुरारातेरित्यर्थ । अस्येति । देवस्य त्रिपुरारेरिति वाक्यस्येत्यर्थ ।
वदन्तीति । वृत्तवार्तिकेण दक्षिणाद्य इति भाव । अयमाशय — यद्यपि मूलकाव्य-
प्रकाशग्रन्थे 'देवस्य पुराराते' इत्येव पाठ तथापि गोविन्दठक्कुर स्वभाष्ये प्रदीपविधाने
काव्यप्रकाशाख्याने देवस्य त्रिपुरारातेरिति पाठमेव प्रतीकृतया धृतवान् । तथापाठे
त्रिपुरारातिपदस्य शिवे रुढे सर्वसम्मततया कोशादिसमर्थिततया च पूर्वोल्लिखितमूल-
ग्रन्थप्रतिपादितरौर्या तद्वाक्यस्य शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्व सम्भवतीति तन्तारपर्यम् ।
दक्षिणादन्यस्तादृशपाठविशिष्टस्यापि तद्वाक्यस्य तदुदाहरणत्व खण्डयन्तीत्यनुवदति ग्रन्थ-
कार तथापीत्यादिना । तत्र निगदव्याख्यातमेवेति नेह प्रतन्यते ।

अब पाठान्तर मानकर उक्त उदाहरण को संगत बनानेवाले 'प्रदीपकार' आदि के
मत का खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि । आशय यह है कि यद्यपि काव्यप्रकाश के मूल
में 'देवस्य पुराराते' ऐसा ही पाठ है, परन्तु 'गोविन्द ठक्कुर' ने स्वकृत 'प्रदीप' नामक
'प्रकाश' की टीका में 'देवस्य त्रिपुराराते' ऐसा ही पाठ माना है, तदनुसार उक्त उदाहरण
हो सकता है, क्योंकि 'त्रिपुराराति' पद, सबके मत से शिवरूप अर्थ में योगरूढ है,
कोश आदि से भी उस पद की योगरूढता समर्थित है अतः पूर्वोक्त रीति से उस पद
का साक्षिण्य 'देव' पद की अभिधा का नियमन 'देवता' में कर सकता है, यह है प्रदीप-
कार का तात्पर्य । परन्तु अप्यदीक्षित आदि उसका भी खण्डन करते हैं । उनका कथन
है कि यदि 'त्रिपुराराते' ऐसा पाठ मानते हैं तब तो 'त्रिपुराराति' पद से उपस्थित होने
वाला त्रिपुरासुरवैरित्वरूप धर्म अनन्यसाधारण होने से शिव का लिङ्ग ही हो जाता है,
अतः उक्त वाक्य 'लिङ्ग'रूपनिवामक का उदाहरण होगा, 'शब्दान्तरसन्निधि' का नहीं ।

पूर्वग्रन्थे वदन्तीत्यनेन सूचितामहवि स्फोरयति—

तत्रैकपदार्थः कोपादिः पदार्थान्तरेणान्वित एव यः प्रकृतशक्यधर्मेतां
शक्यान्तरव्यावृत्तता च भजते स लिङ्गपदेनात्रोक्त इति प्राचाभाराये तु
नोक्तदोषः ।

तत्रैति । 'देवस्य त्रिपुराराते' इति पाठे इत्यर्थ । कोपादिरिति दृष्टान्तोक्ति । नोक्तदोष
इति । उक्तवाक्ये लिङ्गोदाहरणत्वप्रसररूपो दोषो नेत्यर्थ । तथा च सम्भवति तस्य
शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्वमिति भाव । अर्थनिरूपणप्रस्तावे व्याख्यातोऽयं प्राचा-
माशय । तदनुसारमिदं वैरित्वं न लिङ्ग त्रिपुरासुररूपपदार्थान्तरान्विततयैव तस्य
शक्यान्तरव्यावृत्तत्वात् । इत्यभिधानीं समर्थितमपि प्राचामुदाहरण ग्रन्थकारानभिमत-
मेवेति अर्थनिरूपण एव 'केचित्तु' इत्यनेन सूचिताया अरुचेरुपपादानावसरे प्रपथितम् ।

अब दीक्षितद्वेषी पण्डितराज दीक्षितमत का खण्डन करने के लिये वस्तुतः अनभि-
मत रहने पर भी प्राचीन मत का मण्डन करते हैं—तत्रैक इत्यादि । यदि प्राचीनों का
अभिप्राय इस प्रकार से वर्णित हो कि लिङ्ग उस धर्मविशेष का नाम है, जो अखण्ड एक
पद का अर्थ होकर—अर्थात् अन्य पद के अर्थ से अभिधितरूप से ही—नानाभेदक पद के
अभिप्रेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थ में नहीं रहता हो जैसे 'कुपितः मकरपुत्रः'
इस वाक्य में कोप आदि, तब तो दीक्षित के द्वारा 'देवस्य त्रिपुराराते' इस वाक्य का
लिङ्गोदाहरणत्वकथन ठीक नहीं ही है, क्योंकि उक्त अभिप्रायवर्णन के अनुसार 'वैरित्व'

धर्म शिब का लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि, त्रिपुरासुर पदार्थ के अन्वय करने पर ही, वह, 'देव' पद के अनभिप्रेत राजारूप अर्थ से व्यावृत्त होता है अर्थात् केवल वैरिख तो राजा में भी रह ही सकता है, त्रिपुरासुरवैरिख राजा में नहीं रहता, पर उस धर्म का रूप अन्वय से तैयार होता है, और लिङ्ग का यहाँ अर्थ है अनन्वित धर्म, अतः प्राचीनों का 'देवस्य त्रिपुरारातेः' इस वाक्य को शब्दान्तरसन्धि का उदाहरण मानना उचित ही है ।

काव्यप्रकाशटीकाकारैर्गोविन्दकुंरादिभिर्दत्तं शब्दान्तरसन्धिषु स्वरूपमनूय दूषयति—
यत्तु शब्दस्याव्यभिचरितस्य सन्धिः सामानाधिकरणम् इति काव्य-
प्रकाशटीकाकारैरुक्तम्, तत्तु 'करणे राजते नागः' इत्यादावव्यापनात्तन्नियाम-
कान्तरस्य गवेषणौ गौरवात् 'कुपितो मकरध्वजः' इति तन्मूलोक्ते लिङ्गोदा-
हरणोऽतिव्यापनाज्ञोपेक्ष्यम् ।

अव्यभिचरितास्येति । अर्थान्तरा प्रत्यायकस्येत्यर्थः । नियतार्थकस्येति यावत् ।
प्रदीपकारादिभिः नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तरसन्धिधिरित्युक्तम् । तत्तु
युक्तम् । 'करणे राजते नागः' इति शब्दान्तरसन्धियुदाहरणोऽव्याप्यापत्तेः, तत्र करणपदयो-
रेकतरस्यापि नियतार्थकत्वविरहात् । न च तत्र नियामकान्तरमन्वेष्टव्यमिति भाव्यम्,
गौरवात् । कथञ्चित् गौरवाज्ञीकारेऽपि 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र लिङ्गोदाहरणतया काव्य-
प्रकाशकारेणोक्तेऽतिव्याप्या तल्लक्षणस्य दूषितत्वाच्चेति भावः ।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों के द्वारा की गई 'अन्यशब्दसन्धि' की व्याख्या का स्पष्टन
करते हैं—यत्तु इत्यादि । 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार 'गोविन्दकुंर' आदि ने जो यह कहा
कि निश्चितार्थक शब्द के सामानाधिकरण्य (समान विभक्तिक होने) का नाम 'अन्यशब्द
सन्धि' है, वह ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण 'शब्दान्तरसन्धि' के 'करणे राजते नागः'
इस पूर्वोक्त उदाहरण में संघटित नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ एक भी पद निश्चितार्थक
नहीं है—अर्थात् कर और नाग दोनों ही पद नानार्थक होने से अनिश्चित अर्थवाले ही है ।
यदि कहें कि वहाँ दूसरे नियामक का अन्वेषण कर लिया जायगा—जहाँ 'करणे राजते
नागः' यह किसी अन्य नियामक का ही लक्षण माना जायगा, अन्यशब्दसन्धि का नहीं,
तो वह भी समुचित नहीं होगा, क्योंकि जब मेरी रीति से वह 'शब्दान्तरसन्धि' का
ही उदाहरण हो सकता है, तब व्यर्थ उसके लिये अन्य नियामक के अन्वेषण का गौरव
क्यों उठाया जाय । दूसरी बात यह कि उक्त लक्षण अतिव्याप्तिदोषग्रस्त भी है अर्थात्
'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य—जो आप के हिसाब से लिङ्ग का उदाहरण है—में भी
उक्त लक्षण संघटित हो जायगा, क्योंकि यहाँ भी 'कुपित' पद निश्चितार्थक है और उसका
सामानाधिकरण्य भी मकरध्वज पद के साथ है ही । अतः टीकाकारों की उक्त व्याख्या
उपेक्षा के ही योग्य है ।

सामर्थ्यं निरूपयति—

सामर्थ्यं कारणता ।

कारणता च कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिसमिति बोध्यम् ।

अथ 'सामर्थ्य' की व्याख्या करते हैं—सामर्थ्यं इत्यादि । कारण होने का नाम 'सामर्थ्य'
है । कारण उसको कहते हैं, जो कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में कार्यदेश में नियमतः
रहता है ।

उदाहरति—

यथा—'मधुना मत्तः फोकिलः' इत्यत्र फोकिलमदजनकता मधुराब्दस्य
वसन्ते ।

वसन्ते इति । अभिधा नियमयतीति शेष । अर्थान्तरेऽन्वयमाना कोकिलमदकारणता 'मधु क्षौत्रे जले क्षौर मध्ये गुणरसे मधु । दैत्ये चित्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वशोशादनेकार्यकस्य मधुशब्दस्य शक्ति वसन्तरूपार्थे नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिग्गताते हैं—यथा इत्यादि । मधुशब्द के मध, वसन्त आदि अनेक अर्थ होते हैं । परन्तु 'मधुना मत्त कोकिल' अर्थात् कोयल मधु से मत्त हो रही है' इस वाक्य में 'मधु' पद की अभिधा, कोकिलमद-कारणता से वसन्तरूप अर्थ में नियमित हो जाती है—अर्थात् कोकिलों में मधोत्वपत्ति का कारण वसन्त ही हो सकता है, मध आदि नहीं । अतः यहाँ 'मधु' पद से वसन्त का ही बोध होता है, मध आदि का नहीं ।

सम्बन्धाय परकांयोक्तिमनुवदति—

'अत्र कोकिलमादाने मधोरेव शक्तिर्न तु मधुनः । मादकृतं मधुन्यपीति न लिङ्गम्' इति वदन्ति ।

मधो वसन्तस्य । मधुनो मधस्य । मादकृत्व सामान्यतो मदकारणत्वम् । मधुन्यपीति मधोऽपीत्यर्थः । वदन्तीत्यस्य काव्यप्रकाशव्याख्यातार इति शेषः । अनेनाग्ररुचि-सूचिता । अस्याभिप्रायं स्वयमप्रे विरादयेत् प्रन्यकृदिति नेह व्याख्यापेता ।

सम्बन्ध करने के लिये अन्य आचार्य की उक्ति का अनुवाद करते हैं—अथ इत्यादि । 'मधुना मत्त कोकिल' इसको 'लिङ्ग' का ही उदाहरण क्यों नहीं माना जाय ? इस शब्द के उच्चार में कुछ लोभ महते हैं कि साधारणतया मद का कारण मध भी है, पर कोकिल के मद का कारण वसन्त ही है, अतः मादकृत्व वसन्त का लिङ्ग नहीं हो सकता ।

पूर्वसूचितामरुचिमाह—

अत्र सामर्थ्यं लिङ्गान्तर्गतमेव कुतो न स्यात्, इति शङ्कायाः कथमेतदुत्तरसंगच्छते ?

तत्रेति । मधुनेत्युदाहरणविषयोभूतमित्यर्थः । अस्या शङ्कायान्तदुत्तर न भवितु-मर्हतीति भावः ।

पूर्वोक्त उच्चार में 'वदन्ति' पद से सूचित अरुचि का स्पष्टीकरण करते हैं—तत्र इत्यादि । 'सामर्थ्यं' 'लिङ्ग' के अन्तर्गत क्यों नहीं हो जाता—इसको उससे भिन्न क्यों माना जाता है ? इस शब्द का उक्त उच्चार कैसे हो सकता है ?

परामिमात्तुत्तरसंगतिप्रकारसुपपाद्य सगच्छति—

न च मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तितया नासाधारणधर्मत्वरूपं लिङ्गत्वमिति वाच्यम्, मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तित्वेऽपि कोकिलमादनसामर्थ्यस्य वसन्तासाधारणतया लिङ्गत्वस्य दुर्घोरत्वात् ।

मादनैतिकरणत्युज्जन्तम् । लिङ्गशामासाधारणो वस्तुधर्मः । मादनसामर्थ्यं तु सुरावसन्तयो साधारणम्, यतो न तदवगन्तस्य लिङ्गम् । एनोक्तशब्दावा तादुत्तरसंगतमेवेति उदाहरणः । सामान्यस्य मादनसामर्थ्यस्य मधोऽपि वर्तमानतया वसन्तासाधारणधर्मत्वात्तदपि कोकिलमदमादनसामर्थ्यस्य वसन्तमात्रवृत्तितया तदसाधारणधर्मत्वेन लिङ्गत्वे स्थितेन तत्स्योत्तरस्य संगतिरिति तु समाधानाद्यो वेदितव्यः ।

उक्त उच्चार को संगत बनाने के लिये प्रतिपक्षियों के द्वारा दी गई युक्ति का उपपादन करके सम्बन्ध करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'लिङ्ग' उस वस्तु-धर्म को कहा जाता है, जो साधारण हो—अर्थात् उसी वस्तु में रहता हो, अन्य में नहीं । मादकृत्व तो मध और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म है, अतः वह वसन्त का लिङ्ग नहीं

हो सकता, यही मेरे उत्तर का आशय है, फिर वह संगत क्यों नहीं होगा ? तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल मादकत्व भले ही साधारण धर्म हो, पर कोकिलमादकत्व ही साधारण नहीं है—वह केवल वसन्त में ही रहनेवाला धर्म है, अतः उसको वसन्त का 'लिङ्ग' मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, फिर उक्त उत्तर असंगत ही ठहरता है।

कथञ्चित् कोकिलमादनसामर्थ्यस्य साधारणत्वस्थिरीकरणेऽपि न तदोक्तेः संगतिरित्याह—

न च प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्य मधुनः कोकिलमादनसामर्थ्यमप्यस्तीति वाच्यम्, एवं सति सामर्थ्यस्य वाचकता नियामकत्वमसंगतं स्यात्, न तु मधुन इति स्ये क्तिविरोधश्च भवेत् ।

प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्येभ्यश्च प्राणिमात्रमादनस्य सामर्थ्यं यस्मिन् तस्यैति व्यधिकरणपक्षे बहुब्रीहिः । प्राणिमात्रमादनममर्गस्यैति तु पाठः साधोयान्, मधुनः मद्यस्य । एवं सतीति । मद्यस्यापि कोकिलमादनसामर्थ्यसमर्थने इत्यर्थः । वाचकतेति । अभिधा शक्तीत्यर्थः । असाधारणत्वाभावादिति भावः । स्वोक्तिविरोध इति । 'अत्र कोकिलमादने' इत्यादिप्रागनुदितप्रत्ययघटकत्वकथनविरोध इत्यर्थः । मद्यस्य प्राणिमात्रमादनसामर्थ्योक्तितया कोकिलमादनसामर्थ्यस्यापि तत्राङ्गीकारे 'मधुना मत्तं कोकिल' इत्यत्र मधुपदस्य मद्यरूपार्थप्रत्ययेऽपि अन्वययोग्यता शक्तिनियमन्मनावरयकमेव । तत्रेष्टापत्तावपि 'कोकिलमादने मधोरेव शक्तिर्न मधुन' इति स्वोक्तिविरोधो दुस्तर एवेति भावः ।

यदि आप कहें कि कोकिल-मादकत्व भी वसन्त का लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी असाधारण धर्म नहीं है—अर्थात् मद्य एक ऐसी वस्तु है, जिसमें प्राणिमात्र को मत्त बना देने की शक्ति है—वह (मद्य) कोकिल को भी मत्त कर दे सकता है, अतः कोकिल-मादकत्व भी मद्य और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म ही है, तो यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'सामर्थ्य' को अभिधानियामक मानना ही असंगत हो जायगा—अर्थात् जब कोकिल के मद्य का कारण मद्य और वसन्त दोनों हैं, तब 'मधुना मत्तं कोकिलः' इस वाक्य में मधुपद का मद्य अर्थ करने पर भी अन्वय घट ही जायगा, फिर अभिधानियमन की अपेक्षा ही नहीं रहेगी अतः सामर्थ्य को अभिधानियामक मानना व्यर्थ होगा । दूसरी बात यह है कि—जब आप पूर्व में 'न तु मधुन' ऐसा लिखकर मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का निरास कर चुके हैं, तब अब उसी मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का स्वीकार कैसे करते हैं ? यह तो आपकी परस्पर-विपक्ष बात हो रही है ।

अथ सामर्थ्यस्य नियामकत्वे प्रसिद्धधनुरोध इत्यपि न युक्तमित्याह—

प्रसिद्धधात्रये पुनर्लिङ्गत्वमप्रच्युतम् ।

सामान्यतः कोकिलमादनसामर्थ्यमपि मद्ये तिष्ठतु, प्रसिद्धं तु तत् वसन्त एवेति प्रसिद्धसामर्थ्यस्य प्रकृतोदाहरणपदरमणुशब्दशक्तिनियामकता युक्तेति कथनेऽपि न निस्तारः प्रसिद्धकोकिलमादनसामर्थ्यस्यासाधारणत्वेन वसन्तलिङ्गत्व प्रसक्तमेवेति 'सामर्थ्यस्य लिङ्गान्तर्भाव' इतौ नेति शङ्कायास्तदवरयत्वादित्याशयः ।

प्रसिद्धि के धनुरोध करने पर भी निस्तार नहीं हो सकता, इस बात का उल्लेख करते हैं—प्रसिद्ध्या इत्यादि । यदि आप कहें कि सामान्यतः कोकिल-मादन सामर्थ्य भी मद्य में रहता है, तो रहे, पर प्रसिद्धि तो वह वसन्त में ही है—अर्थात् लोक में

यही प्रसिद्ध है कि कोयल वसन्त से मत्त हुआ करती है, अतः प्रसिद्ध भादनसामर्थ्य को उक्त वाक्य में मधुपद को अभिधा का नियामक माना जा सकता है, तो यह भी अनुचित ही है, क्योंकि प्रसिद्ध भादन-सामर्थ्य, वसन्त का असाधारण धर्म ही हो जाता है, फिर तो वह लिंग के अन्तर्गत ही आ जायगा।

स्वसम्मत लिङ्गसामर्थ्ययोर्भेदमाह—

शाब्दत्वाशाब्दत्वाभ्यामेकानेकपदार्थत्वाभ्या वा विशेषस्तु स्यात् ।

विशेषो भेद । लिङ्ग शब्दजन्यबोधस्य विषयो भवति । यथा कुपितो मकरध्वज इत्यत्र कोषाश्रयाभिध काम इति बोधस्य कोषो विषयो भवति । सामर्थ्यं तु न शाब्दबोधविषय, अपि तु शाब्दबोधानन्तरं मानभबोधस्य विषय । यथा—‘मधुना मत्त कोकिल’ इत्यत्र मधुकरणकमदाश्रय पिक इति शब्दजन्यबोधे कोकिलभादनकारणतारूपं सामर्थ्यं न विषय । पश्चात् मानसबोधे तद्भासते इत्यन्यदेतत् । एवञ्च सिद्धो लिङ्गसामर्थ्ययोर्भेद । ईदृशभेदस्य पूर्वमनुक्तवान् कोपसाधनस्य तत्राप्युल्लेखसमवाच भेदान्तरमाह—एकानेकेति । लिङ्गमेकपदार्थरूपम् । यथा-कोप कुपितपदार्थ । कोकिलमदकारणतात्मक सामर्थ्यं तु कोकिलमत्तवृत्तीयाविभक्तिरूपानेकनदार्थ इति द्वयोर्भेद इति तात्पर्यम् ।

अब लिंग और सामर्थ्य में स्व-सम्मत भेद का उल्लेख करते हैं—शाब्द इत्यादि । ‘लिंग’ शब्दजन्य-बोध का विषय होता है । जैसे—‘कुपितो मकरध्वज’ इस वाक्य से होनेवाले ‘कोषाश्रय से अभिध काम’ इस बोध में ‘कोप’ (लिंग) विषय होता है । ‘सामर्थ्य’ तो शब्द जन्य-बोध का विषय नहीं होता है, जैसे ‘मधुना मत्तः कोकिल’ इस वाक्य से होनेवाले ‘मधुकरणकमद का आश्रय पिक’ इस बोध में कोकिल-मद-कारणता, विषय नहीं होती । पीछे मानस बोध का विषय वह भी होता है, यह बात दूसरी है । इस तरह से लिंग और सामर्थ्य में भेद किया जा सकता है । अथवा ‘लिंग’ एक पद का अर्थ रहता है, जैसे—कुपितपद का कोप और ‘सामर्थ्य’ अनेक पदों का मिश्रित अर्थ होता है, जैसे—कोकिल-मद-कारणता उक्त वाक्य में कोकिल, मत्त और वृत्तीया-विभक्ति इन सबों का सम्मिलित अर्थ है । इस तरह से भी उन दोनों नियामकों में परस्पर भेद सिद्ध किया जा सकता है ।

श्रीचिन्ती निर्वक्ति—

श्रीचिन्ती योग्यता ।

योग्यता च सबन्धविशेषाश्रयत्वसमावनेति मन्तव्यम् ।

अब ‘श्रीचिन्ती’ की व्याख्या करते हैं—श्रीचिन्ती इत्यादि । योग्यता को ‘श्रीचिन्ती’ कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—‘पातु वो दयितामुखम्’ इत्यत्र दयितामुखकर्तृकरणकर्मत्वाक्षिप्र-कामार्तानां सबोधयपुरुषाणां त्राण हि तस्या’ सांमुख्येनैव भवति, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तेन त्राणाथोरात् । अतस्त्राणाईत्वं वदन-सांमुख्योभयप्रत्या-यकस्य मुखशब्दस्य ।

मुहुराब्दस्येवस्याग्रे साम्मुख्ये शक्ति नियमयतीति शेष । पातु वो दयितेति वाक्ये दयितामुखकर्तृकरणकर्मत्वाक्षिप्र-कामार्ता सबोधयपुरुषा आक्षिप्यन्ते । एवञ्च तेषां रक्षणं दयितायां साम्मुख्येनैव भवति तथासत्येव कामार्तिरामननिदानभूतनिपुणविनोदा-दिप्रयुक्ते, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तस्याक्षिप्तकरत्वात् । तथा च रक्षणसबन्धाश्रयत्व-

संभवनारूपा योग्यता मुख्यपदाभिधां सामुख्ये नियमयतीति साधारणः । अत्र 'कर्मत्वाक्षित-
कामार्ताना संबोध्यपुरुषाणामिति पाठो न समीचीन' प्रतिभाति, तथा पाठे संबोध्यपुरुषै-
राहाक्षितपदार्थस्थानन्वयेन विवक्षितार्थाप्रतीतेः । अतः कर्मत्वाक्षितकामार्तसंबोध्य-
पुरुषाणामिति सर्वत्र समस्त, कर्मत्वाक्षिताना कामार्ताना संबोध्यपुरुषाणामिति सर्वत्र
व्यस्त एव वा पाठः कल्पनीयः ।

उदाहरणं देखितम्—जैसे—“पातु वो दयिता-मुखम् अर्थात् प्रियतमा का 'मुख' आपकी
रक्षा करे” इस वाक्य में रक्षण-क्रिया के कर्मरूप से 'व.' पद बोध्य कामार्त पुरुषों का
आशेष होता है । ऐसी स्थिति में उन कामार्त पुरुषों की रक्षा, प्रियतमा के सामुख्य
(अनुकूलता) से ही सम्भव है, क्योंकि उसकी अनुकूलता-दशा में ही कामार्त को
शान्त करनेवाले संभोग आदि की प्रवृत्ति हो सकेगी, मुख्यमात्र से कामार्त की रक्ष
सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिकूल रहने पर प्रियतमा का मुख अकिञ्चिद्वर ही सिद्ध होता
है । अतः सामुख्य और मुख इन दोनों अर्थों के वाचक 'मुख' पद की अभिधा, उक्त
रक्षणयोग्यतारूप 'औचित्य' से सामुख्य अर्थ में नियन्त्रित की जाती है ।

देशं निरूपयति—

देशो नगरादिः ।

भ्रमादिपदेन ग्राम-गृहोद्यानादिपरिग्रहः ।

अब 'देश' की व्याख्या करते हैं—देश इत्यादि । नगर, ग्राम, पुष्पवाटिका आदि को
'देश' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यादी परमेश्वरादिशब्दस्य राजादौ । तस्य
नगरादिसंबन्धतद्भावयोः सम्भवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकरणकीर्तनस्य सार्थ-
क्यात् । परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः ।

राजादौ अभिधानियमनमिति शेषः । तस्येति । राजादेशित्यर्थः । अधिकरणकीर्तन-
स्येति । अत्रेत्यनेनेति भावः । सर्वगतस्येति । व्यापकम्येत्यर्थः । सकलदेशस्थितस्येति
यावत् । व्यावर्त्याभावादिति । तदनाधिकर्णभूतदेशाप्रसिद्धेरिति भावः । तदुक्तीति ।
अत्रेत्यधिकरणोक्तवित्यर्थः । परमेश्वरपदं यद्यपि राजपरमात्मोभयवाचकम्, तथापि 'भात्यत्र
परमेश्वरः' इति वाक्ये परमेश्वरपदस्य राजादिरेवाप्यो न तु परमात्मा, अत्रेत्यव्यवच्येन
नगरादिरूपाधिकरणेन तत्पदशक्ते राजादौ नियमनात् । ननु परमात्मपदोऽधिकरणकीर्तन
किं न संभवति, यत्तस्यार्थान्तरेऽभिधानियाकत्वमास्थायते इति चेन्न, अत्र पदवाच्ये
नगरादावधिकरणे राजादिः कदाचित्प्रति, कदाचिन्नोपि नगरादौ तदोपस्थित्यभाववारणाय
राजपदोऽधिकरणोक्तिसार्थक्येऽपि सदा सर्वत्र लिखत 'परमात्मन' कापि स्थितिविरहो न प्राप्त
इति तद्वारणायधिकरणोक्तैरनर्थकत्वात् ।

अब उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । 'परमेश्वर' पद के यद्यपि राजा और
परमात्मा दोनों अर्थ होते हैं, तथापि 'भात्यत्र परमेश्वरः अर्थात् परमेश्वर यहाँ सुशोभित
हो रहा है' इस वाक्य में 'परमेश्वर' पद का राजा ही अर्थ होता है, परमात्मा नहीं,
क्योंकि 'अत्र' पद से कहा जाता हुआ नगर आदि देश, उक्त पद की अभिधा को राजा
रूप अर्थ में नियन्त्रित कर देता है । अभिधाय यह है कि उक्त पद का राजा अर्थ करने
पर ही देश विशेष वाचक 'अत्र' पद सार्थक होता है, क्योंकि राजा का नगर आदि देश के
साथ सम्बन्ध रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता अतः नगर आदि के साथ
समाहित, राजा-सदृशाभाव के धारणार्थ अर्थात् 'राजा, नगर आदि विवक्षित देश में है

ही' इस धातु की सूचना के लिए उसकी सार्थकता होती है। परमात्मा अर्थ करने पर तो वह व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि परमात्मा तो सदा सर्वत्र रहता ही है—व्यापक है, फिर उसके लिए 'यहाँ है' ऐसा कहना व्यर्थ है—अर्थात् उसका कहीं भी न रहना अव्यक्त ही नहीं है, तब देशविशेष की चर्चा किसका कारण करेगी ?

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—

एव 'वैकुण्ठे हरिर्वसति' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

। वैकुण्ठरूपो देशो नानार्थकस्य हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयतीति भावः ।

'देश' का एक दूसरा भी उदाहरण दिखलाया जाता है—एवम् इत्यादि । 'वैकुण्ठ में हरि वास करते हैं' इस वाक्य में 'वैकुण्ठ रूप देश' से विष्णु, अथ, सिंह आदि अनेक अर्थों के वाचक 'हरि' पद की अभिधा, विष्णुरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

उभयोर्उदाहरणयोः प्रदर्शने हेतुभूतं विशेषमाह—

एकत्रार्थान्तरौपग्रहेऽधिपरणोक्तिरैयर्थ्याम्, अपरत्र तु तदधिकरणत्वांप्रसिद्धिरिति विशेषः ।

एकत्र आये । अर्थान्तरेति । परमात्मवानरादाविन्यर्थः, अपरत्र अन्तिमे । भात्यत्रेति वाक्ये परमेश्वरपदस्य परमात्मरूपार्थग्रहणे अत्रेन्यधिकरणकोर्तनवैफल्यम्, वैकुण्ठे हरिरिति वाक्ये तु हरिपदस्य वानरादिरूपार्थ-बोधं तत्सार्थस्य वैकुण्ठरूपाधिकरणप्रसिद्धिपा-सगतिरिति भेदप्रकटनार्थमेवोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

उक्त दोनों उदाहरणों में जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—एकत्र इत्यादि । 'यहाँ परमेश्वर' सुबोधित हो रहा है। इस वाक्य में परमेश्वर पद का परमात्मा अर्थ समझ लेने पर 'यहाँ' इस अधिकरण का उल्लेख व्यर्थ हो जाता है और 'हरि वैकुण्ठ में निवास करते हैं' इस वाक्य में हरि पद का अथ, सिंह आदि अर्थ समझ लेने पर वाक्य ही व्यक्त हो जायगा, क्योंकि, 'उन अर्थों (अथ, सिंह आदि) का वैकुण्ठ में रहना अप्रसिद्ध है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है ।

कालं निरूपयति—

कालो दिवसादि ।

आदिपदेन रात्र्यादिपरिग्रहः । दिनरात्र्यायान्मकं खण्डकालं सूर्यादिक्रियारूपं, तावत्कालस्थायी वस्तुविशेषरूपो वेति सिद्धान्तितः ।

अथ 'काल' की व्याख्या करते हैं—कालो इत्यादि । दिन, रात्रि आदि को 'काल' कहा जाता है ।

उदाहरति—

'चित्रभागुदिने भाति' इत्यादौ चित्रभान्वादिपदानां सूर्यादिषु, एषं 'चातुर्मास्ये हरिः शीते' इत्यस्य ।

इत्यादाविन्यत्रादिपद 'चित्रभान्' रात्रौ भातीत्यादिवाक्यसमाहृकम् । 'सूर्यादिषु' इत्यत्रत्यमादिपद बहुधादिपरम् । सूर्यादिषु अभिधानियमनमिति शेषः । दिनरूपकालं चित्रभानुपदस्य सूर्येऽभिधा नियमति, दिने चित्रभानुपदार्थान्तरस्य बहुधादेशेऽभिधा, उदाहरणान्तरमाह—एवमिति । चातुर्मास्यात्मकं काल-हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयति चातुर्मास्यव्यापकशायनस्य विशुक्लृकायेव प्रसिद्धत्वादिति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—चित्र इत्यादि । 'दिन में चित्रभानु शोभित होता है' इस वाक्य में 'दिनरूप काल' से, सूर्य और अग्नि दोनों अर्थों के वाचक 'चित्रभानु' पद की

अभिधा, सूर्यं मात्र में नियमित होती है अर्थात् दिन में सूर्य का शोभित होना ही प्रसिद्ध है, अग्नि का नहीं। इसी तरह 'हरि चौमासे में सोते हैं' इस वाक्य में, 'चौमासे रूप काल' से नानार्थक हरि पद की अभिधा विष्णुमात्र में नियमित होती है अर्थात् लगातार चौमासे में सोते ही रहना विष्णु के विषय में ही प्रसिद्ध है, हरिपद के अन्य अर्थ के विषय में नहीं।

व्यक्ति निरूपयति—

व्यक्ति स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि ।

स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि व्यक्तिपदार्थतया बोध्यातीति भावः ।

अथ 'व्यक्ति' की व्याख्या करते हैं—व्यक्ति इत्यादि। पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गों का नाम 'व्यक्ति' है।

उदाहरति—

यथा—'मित्रो भाति'-'मित्रं भाति' इत्यत्र मित्रशब्दस्य पुंनपुंसके सुहृत्सूर्ययोः । एवं 'नभो भाति' 'नभा-भाति' इत्यत्रापि ।

पुंनपुंसके इति । पुंस्त्वनपुंराकृत्वे इत्यर्थः । सुहृत्सूर्ययोरिति । सूर्यसुहृदोरिति क्रमो बोध्यः । अथवा तादृश एव पाठोऽङ्गीकार्यः । शक्ति नियमयतः इति शेषः । एवमग्रेऽपि । मित्रो भातीत्यत्र पुंस्त्वव्यक्त्या मित्रपदस्य सूर्ये, मित्रं भातीत्यत्र नपुंसकत्वव्यक्त्या नभः पदस्य विद्यति नभा भातीत्यत्र च पुंस्त्वव्यक्त्या प्राचष्टे नभःपदस्य शक्तिनियम इति स्पष्टार्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—यथा इत्यादि । जैसे—'मित्रो भाति' और 'मित्रं भाति' इन दोनों स्थानों पर एक ही 'मित्र' पद की अभिधा, एक अथवा पुलिङ्ग के कारण 'सूर्य' रूप अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक व्यक्ति के कारण 'सुहृत्' रूप अर्थ में नियमित हो जाती है । इसी तरह 'नभो भाति' इस वाक्य में नपुंसकलिङ्ग के कारण, 'नभः' पद की अभिधा, भाकान-रूप अर्थ में और 'नभा भाति' इस वाक्य में पुलिङ्ग के कारण 'नभः' पद की अभिधा श्रवणमासरूप अर्थ में नियमित हो जाती है ।

स्वरं विवृणोति—

स्वर उदात्तादिः ।

अत्रादिपदेन अनुदात्तस्वरितयोः संग्रहः । स्वरो वेद एव विशेषप्रतीतिकूल काव्य इत्यभियुक्तः । ननु भरतमुनिना अनुसारेण स स्वरोऽपि रसविशेषं प्रत्यापयतीति कथं तस्य काव्ये विशेषप्रत्यायकत्वमिहास्स्यत इति चेन्न, तद्वन्त्वा व्यङ्ग्यविशेषप्रत्यायकत्वेऽपि प्रकान्तानेकार्थक पदशक्तिनियमनरूपविशेषाप्रत्यायकत्वादिति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः ।

अथ 'स्वर' की व्याख्या करते हैं—स्वर इत्यादि । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'स्वर' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'इन्द्रशत्रुः' इत्यत्र समासान्तोदात्तत्वमिन्द्रशत्रुशब्दस्येन्द्रस्य शत्रौ । पूर्वपद-प्रकृति-स्वर-प्राप्तमाद्युदात्तत्वं त्विन्द्रशत्रुके ।

इन्द्रस्य शत्रौ इति । अभिधानियामकमिति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । इन्द्रशत्रु-रित्यन्तोदात्तत्वग्रह इन्द्रस्य शत्रुपिति पठितपुरुषसमासं प्राहयति तत्रैवान्तोदात्तत्व-विधानम् । एवान्तोदात्तत्वस्येन्द्रकर्मक्रातनकर्तारि इन्द्रशत्रुपदशक्तिनियामकत्वम् ।

आद्युदात्तत्वग्रह इन्द्रशत्रु शातयिता यस्येति बहुव्रीहिसमासं प्राहयति तत्रैव तदनुशा-
मनात् । तथाचाद्युदात्तत्वमिन्द्रशत्रुपदस्य इन्द्रशत्रुके इन्द्रकर्तृकरातनकर्मणि शक्ति
नियमयतीति भाव ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि । 'इन्द्रशत्रु' इस वैदिक शब्द को यदि
अन्तोदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब उस पद में षष्ठीतत्पुरुषसमास समझा जायगा,
क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर ही अन्तोदात्तत्व का विधान व्याकरण में किया
गया है, अतः ऐसी स्थिति में उस स्वर के बल से उक्त पद का अर्थ होगा—इन्द्र को
सतानेवाला । और—यदि उक्त शब्द को आदिउदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब वहाँ
बहुव्रीहिसमास माना जायगा, क्योंकि बहुव्रीहिसमास में ही पूर्वपद में प्रकृति-स्वर-
विधान के द्वारा आद्युदात्तत्व होता है, ऐसी स्थिति में उस आद्युदात्त स्वर के बल से
'इन्द्रशत्रु' पद का अर्थ होगा—इन्द्र से सताया गया कोई राक्षस आदि ।

मयोगो विप्रयोगश्चेति कारिकायां 'कालो व्यक्ति-स्वरादय' इत्यत्रत्यादिपदसमाह
स्फोरयति—

आदिनाभिनयादिपरिग्रहः ।

अभिनयादिरपि विरोधप्रतीतिकृद् भवतीति भाव ।

अब 'सयोगक विप्रयोगश्च' इत्यादि कारिका के 'स्वरादय' इस अंश में जो आदि
पद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—आदिना इत्यादि । अभिधानिपात्रकों की गणना
करनेवाली 'सयोगो' 'इत्यादि कारिका में जो आदि पद आया है, उससे अभिनय
(चेष्टा आदि) का संग्रह किया गया है, अर्थात् अभिनय आदि से भी विशिष्ट अर्थ के
शक्तिग्रह में सहायता मिलती है ।

उदाहरति—

यथा—'एहमेतत्तथ्यणिआ' इत्यादी ।

एहेदति । 'एहमेतत्तथ्यणिआ एहमेतेतिं अचिञ्चतेहिं । एहमेतावाथा एहमेतेहिं
दियएहिं ॥' इति सपूर्णा गाथा । 'एतावन्मात्ररतनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्रै । एतावन्मा-
त्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसै ॥' [इतिच्छाया] अत्रैतावदित्यादिपदाभिष्यक्तेन हस्तचेष्टा-
विशेषरूपेणाङ्गिकेनाभिनयेन स्तनादीना कमलकोरकाद्याकारत्वप्रतिरिति भाव ।

जैसे—'एहमेतत्तथ्यणिआ' 'इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—अर्थात्—
'इतने पदों स्तनोंवाली इत्यादि' गाथा में 'इतने षडे' इस शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर
घट तक के सब आकार हो सकते हैं'—उस पद का कोई एक अर्थ नहीं । उनमें से वक्ता
के हाथ वा अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार
उस शब्द की अभिधा, कमलकली आदि के आकार में नियन्त्रित हो जाती है ।

प्रकरणमेनदुपमहरत् सयोगादीना नियामकाना परस्परभेदं पर्यालोचयति—

इहार्थसामर्थ्योचितीनामुदाहरणेषु चतुर्थ्याचैस्त्वृतीयाद्यैरर्थसामर्थ्येन च
बोध्यमानकार्यकारणभाव एव नियामकः, न तु वस्त्वन्तरम् । बोधकवैचित्र्याच्च
नियामकस्य वैचित्र्येणोक्तिः प्राचाम् । वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधा-
रणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्ते संकोच एव न संभवति, नियामकानाम-
समुचितत्वान् । अथ प्रसिद्धत्वादिना तेषामसाधारणतातुद्विर्यथाकथञ्चि-
दुपपाद्यते, तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एतैः, न तु सर्वथैव ततः स्वतन्त्रा इति
बोध्यम् ।

उदाहरणेष्विति । 'स्याणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्त कोकिल', 'पातु वो दायितासुखम्' इत्येतेष्वित्यर्थः । चतुर्ष्यादिरिति । चतुर्ष्यादिविभक्तिभिरित्यर्थः । तृतीयादौरिति । तृतीयादिविभक्तिभिरित्यर्थः । अर्थसामर्थ्येनेति । अर्थयोग्यतयेत्यर्थः । बोधस्त्वैचिन्त्यादिति । कार्यकारणभावबोधकानां चतुर्ष्यादिविभक्तियोग्यत्वादीनां भेदादित्यर्थः । वैचित्र्येण भेदेन । प्राचामित्यनेनाहचि' सूच्यते । अहचिवीच दर्शयति—वस्तुतस्तु इत्यादिना । साधारणत्वे सतीति शेषः । स्वारसिकत्वाभावादाह—असाधारण्येति । प्रागुक्तरीत्याद्यादीनाममंग्रहादाह—प्रायश इति । तेषामपि कर्णचिदन्तर्भावसंभवादाह—सर्वथैवेति । तत् लिङ्गात् । अर्थं भाव—उक्तेषु अर्थसामर्थ्यौचित्यानामुदाहरणेषु कमशधतुर्था, तृतीया, योग्यता च कार्यकारणभावमेव बोधयन्ति, ततश्च तैः प्रतीयमान कार्यकारणभाव एवैकस्तेषु नियामकत्वीकर्तुमुचितः, तथापि कार्यकारणभावबोधकानां तेषां मियो भेदेन नियामकेष्वपि मियो भेदः सिद्ध इति पृथक् पृथक् तेषां नियामकत्वोक्तिः हरिकारिकायामिति प्राचीना प्रतिपादयन्ति । परमार्थतः संयोगादयो लिङ्गान्तर्गता एव तस्यैव ते प्रपञ्चा । कथमिति चेदित्यम्—संयोगादयो ये शक्तिनियामका हरिणोक्तास्ते नानार्थपदप्रतिपाद्यवर्षीयसु साधारणतया वर्तमाना भवितुमर्हन्ति, तथा च तैः शक्तिमत्कोच एवामभवदुक्तिकनियामकानामसङ्कुचितत्वात् (अतिव्याप्तत्वात्) । यदि संयोगादीनां सामान्यतः साधारणत्वेऽपि यत्र ते यस्य प्रसिद्धास्तत्र ते असाधारणा एव यथा शङ्खचक्रसंयोग विष्णौ प्रसिद्धः, इति रीत्याऽसाधारणत्वं संपाद्येत, तर्हि तेषां सर्वेषामपि लिङ्गपदार्थ एवान्तर्भावो भवेत्, असाधारणधर्मस्यैव लिङ्गपदार्थत्वात् इति पण्डितराज । नागेशस्तु लघुमञ्जूषामिध्याने जन्द्शास्त्रशिरोमणिभूते स्वकीये ग्रन्थे 'अत्र सामर्थ्यमेवैकं सुदृढं नियामक संयोगादयस्तद् व्यञ्जकप्रपञ्च' तैः सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तैरिति परे' इत्यप्याहेति बोध्यम् ।

अब इस अभिधा नियामक-परिगणन-प्रकरण के उपसंहार में उक्त नियामकों में जो परस्पर भेद हो सकता है उसकी पर्यालोचना करते हैं—इह इत्यादि । अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में 'अर्थ, सामर्थ्य और औचित्य' के क्रमशः 'स्याणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्त कोकिलः', 'पातु वो दायितासुखम्' ये जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें चतुर्था विभक्ति, तृतीया विभक्ति और योग्यता से एक प्रकार का कार्यकारणभाव ही ज्ञात कराया जाता है, अतः उन स्थलों में उन सबों के द्वारा ज्ञात होने वाले एक कार्यकारणभाव को ही अभिधानियामक मानना उचित था, पर उस कार्यकारणभाव के बोधक उन चतुर्था विभक्ति आदि के परस्पर भिन्न होने से, नियामकों की श्रेणी में भी, पृथक्-पृथक् नियामकों के रूप में, प्राचीनों ने गणना की है । वस्तुतः तो उक्त सभी नियामक 'लिङ्ग' के अन्तर्गत ही आ जाते हैं—अर्थात् सर्वत्र 'लिङ्ग' ही अभिधा का नियमन करता है, क्योंकि संयोग आदि जितने नियामक, हरिकारिका में, गिनाए गये हैं, वे सभी नानार्थक शब्द के स्थलों में सर्वत्र रहते ही हैं, अतः उन असङ्कुचित (सर्वसाधारण) नियामकों से शक्ति का सकोच असंभव ही है । यदि प्रसिद्धि के आधार पर उक्त नियामकों (संयोग आदि) को सङ्कुचित बनाया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि वे नियामक सामान्यतः नानार्थकस्थल में सर्वत्र भले ही रहते हों पर प्रसिद्ध कहीं कोई एक ही रहेगा, जैसे—'शङ्खचक्र-संयोग' की सभावना विष्णु से भिन्न—इन्द्र आदि में भी की जा सकती है, किन्तु प्रसिद्ध है वह विष्णु में ही, अतः प्रसिद्धि के आधार पर वे पृथक्-पृथक् नियामक हो सकते हैं, तो, वैसी स्थिति में वे सब नानार्थक शब्द के अभिप्रेत ज्यों के 'लिङ्ग' ही हो जाते हैं अर्थात् असाधारण धर्म को ही जब 'लिङ्ग' कहा जाता है, तब प्रसिद्धि के आधार पर असाधारण बनाए गये वे संयोग आदि भी 'लिङ्ग' ही सिद्ध हो जाते हैं, यह है पण्डितराज का मत । महावैयाकरण नागेश ने तो अपने लघुमञ्जूषा

नायक प्रतिष्ठितम व्याकरणग्रन्थ में कहा है कि 'सामर्थ्य' अर्थात् कार्यकारणभाव ही एक मुख्य अभिधा-नियामक है, 'सयोग आदि' उसी के अभिव्यञ्जक होते हैं ।

अथ सलक्ष्यमध्वन्युदाहरणप्रदर्शनप्रसंगे प्रथम शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनिमुदाहरन्ति—

यत्र शब्दशक्तिमूलालंकारस्य ध्वनिर्यथा—

‘करतलनिर्गलदविलदानजलोह्लासितायनीवलयः ।

धनदाप्रमदितमूर्तिर्जयतितरा सार्वभौमोऽयम् ॥’

तत्रेति । दशविधसलक्ष्यमध्वनिमव्य इत्यर्थ । अलंकारस्येत्यस्योपमेत्यादि प्राचां मतेन । ग्रन्थकारमते तु रूपकेत्यादिस्तस्य बोध्य । कश्चिन् कवि कमपि राजान स्तौति-करतलेत्यादि । करतलात् पाणिपुटकात्, निर्गलता स्यन्दमानेन, अविलसततम्, दानस्य दीनोद्देश्यक्यागस्य, जलेन चारिणा, उह्लासित आनन्दित, अवनीवलय भूमण्डलो, येन स, तथा धनदाना धनदानपराणाम्, अग्रं आदौ, महिता पृजिता स्तुतेति यावत्, मूर्ति स्वरूप यस्य स, अय वणनोय, सार्वभौम चक्रवर्ती राजा, जयतितराम् अतिशयेन सर्वोत्कृष्ट इति वाच्योऽर्थ । ध्वनिर्यस्तु करतलात् शुण्ठादण्डात्, निर्गलता, अविलं, दानजलेन मदवारिणा उह्लासित अवनीवलयो येन स तथा धनदस्य कुवेरस्य, अग्रे पुर, महिता प्रसासिता, मूर्तिर्यस्य, स अय सार्वभौम दिग्गजो, जयतितरामिति बोध्य । नागेशस्तु ध्वनिर्यमिन्द्रपरकमाह । तत्र पद्ये करतलेति विरोधणवाक्यस्य करतलनिर्गलदविलदानजलेन ऐरावतेन, इति क्रमेणार्थ । सार्वभौम इन्द्र । ध्वन्यत् सर्वं समानोय ।

अथ शब्दशक्तिमूलक ध्वनियोंके उदाहरण द्विललाये जाते हैं—यत्र इत्यादि । पूर्वोक्त दशविध सलक्ष्यमध्वनियोंमें शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनिजैसे—‘करतल’ इत्यादि । कोई कवि किसी राजा की स्तुति करत’ है—हाथ से गिरते हुए सतत ‘दान’-सरूप-के जल से समस्त भूमण्डल को आनन्दमग्न कर देनेवाला तथा धन दायकों में सर्वप्रथम पूजितमूर्तिवाला, यह चक्रवर्ती राजा सबसे उत्कृष्ट है, यह वाच्य अर्थ है । इसके अतिरिक्त यहाँ एक व्यङ्ग्य अर्थ भी है, जैसे—सूँड़ से निरन्तर चूते हुए मद-जल से पृथ्वीमण्डल को आनन्दित कर देनेवाला तथा धनद-कुवेर के हागे प्रशंसितस्वरूप वाला यह सार्वभौम (दिग्गज) सर्वोत्कृष्ट है । नागेश ने व्यङ्ग्यार्थ पद्य में सार्वभौम पद का अर्थ इन्द्र किया है, तदनुसार ‘करतल ’ इत्यादि विरोधणवाक्य का अर्थ ऐरावत किया है, यह भी समझ लेना चाहिये ।

उपपादयति—

अत्र राजप्रकरणे कर दान-धनद-सार्वभौमशब्दानां शक्तौ सकोचितायामपि तन्मूलकेन ध्वननेन प्रतीयमानस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधान मा भूदिति प्रकृता-प्रकृतयोरुपमानोपमेयभाव प्रधानवाच्यार्थतया कथ्यत इत्युपमालंकारध्वनिः ।

अत्र उक्तपद्ये । घटकव्वं गमम्यर्थ । तस्य च शब्दानामिति पद्यी प्रकृत्यर्थेऽन्वय । राजप्रकरणे विद्यमाने इति शेष । सकोचितायामिति । प्रकरणरूपनियामकेन हस्तवितरण-दातृजनभूपरुपाशेष्विति भाव । अर्थान्तरेति । गजवृत्तान्तेत्यर्थ । इन्द्रवृत्तान्तेत्यर्थो वा । प्रकृताप्रकृतयोरिति । नृपदिग्गजयो नृपमिन्द्रयोर्वा इत्यर्थ । उपमानोपमेयभाव इति । अयं सार्वभौम (चक्रवर्ती) सार्वभौम (दिग्गज इन्द्रो वा) इत्येवाकारक इत्यर्थ । प्रधानवाच्यार्थमेति । वाच्यार्थपेक्षया प्राधान्येनेत्यर्थ । अयमेव ध्वनिव्यपदेशहेतु । राजप्रकरणोक्तेऽस्मिन् पद्ये वर्तमानाना द्वर्षराना करवानादिपदाना शक्ति हस्त वितरणार्थेषु प्रकरणेन नियम्यते, तथा च गजादिवृत्तान्तरूपोऽप्रान्तोऽप्योऽभिधामूल-

व्यञ्जनया प्रतीयते । ननु कश्चिद्भिदाप्रामान्तार्यप्रतीतिरङ्गीनियत इति चेत्, द्वयपर्याकानि पदानि प्रयुञ्जानस्य कवेरतदर्थप्रतीतिरप्यभिमतत्वात् । अथाप्रामान्तस्य तरयार्यस्य प्रत्यायन-मनुचितमसबद्धार्थप्रतिपादनस्योन्मानप्रत्यानुत्पन्नादित्यपि न, प्रामान्ताप्रामान्तयोर्त्ययो रुपमानोपमेयभावस्य कविविवक्षाविपर्ययं तस्यापि सुमंषद्गत्यात् । इत्यत्र स उपमा-लंकार एव चमत्कारितया कवे विधायित इति तन्मूलरो ध्वनिव्यवहारोऽत्र भवतीति भावः ।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपशान्त करते हैं—अथ इत्यादि । उक्त पद्य राजा के प्रकरण से कहा गया है, अतः उसमें उक्त कर, दान, धनद और सार्वभौम पदों की अभिधा, क्रमदा हाथ, वितरण, दाता और चक्रवर्ती राजारूप अर्थों में, प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित हो जानी है, जिससे राजपक्षीय अर्थ ही वाच्य होता है । परन्तु वाच्यार्थबोध के बाद शब्दशक्तिमूलक स्पष्टना से पूर्वोक्त दिग्गज अथवा इन्द्र-पक्ष का अर्थ भी ज्ञात होता है । अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अप्रासंगिक राजपक्षीय अर्थ की प्रतीति (व्यञ्जना से ही सही) क्यों मानी जाय ? इसका समाधान यह है कि 'चक्रवर्ती राजा, दिग्गज अथवा इन्द्र जैसा' इस तरह से प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेयभाव की प्रतीति कराने के लिए । अतएव कवि ने जानबूझकर दो दो अर्थ वाले पदों का प्रयोग किया है । हम प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि उक्त उपमालंकार की प्रतीति कराना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है, अतएव चमत्कार भी इसकी प्रतीति में ही है । इन सब कारणों से यह पद्य उपमालंकारध्वनि का उदाहरण होता है ।

मतान्तरमवतारयति—

अथ शिल्पविशेषणायं समासोक्तौ व्यङ्ग्यस्याप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृत-धर्मिण्यारोप्यमाणस्य प्रकृतोपस्कारकतया यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवमिहा-ऽप्युचितम् ।

शिल्पेति । 'अयमैन्द्रीमुखं परय रक्तशुम्बति चन्द्रमा' इत्यादी । अप्रकृतव्यवहार-त्वेति । मुखशुम्बनादिरुपस्येत्यर्थः । आरोप्यमाणेति । अन्वया अतवद्वाभिधानं स्यादिति भावः । इहापीति । कतलेस्यायनुपदोके पश्येऽपीत्यर्थः । 'अयमैन्द्री'त्यादी रक्तमुखादि-विशेषणानि शिल्पानि अनुरागयुक्तकफान्तिविशिष्टादिवाचकानि, तन्मूलव्यञ्जनाया कामिनौमुखशुम्बनादिरुपाप्रकृतव्यवहारो व्यङ्ग्यः । स चासद्यो मां भूदिति प्रकृतधर्मिणि चन्द्रादौ समारोप्यते, तेन 'आरोपितनायकव्यवहारश्चन्द्र आरोपितनायिकाव्यवहाराया ऐन्द्रीया दिशो मुखम् (प्राग्भागमानन्तम्) शुम्बति' इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । अत इदं पद्यं 'समासोक्ति समैर्षत्र कार्यलिङ्गविशेषणैर्व्यवहारसमासोप' प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन ।' इत्यादिलक्षणलक्षिताया समासोक्तैरुदाहरणं भवति । प्रकृते पुनरिदं वक्तव्यम्—यथा तत्र व्यङ्ग्योऽपि मुखशुम्बनादिव्यवहारो वाच्यार्थोपपत्तयाऽल्पचमत्कार-वत्तया च गुणीभूत इति ध्वनिकाव्यव्यवहारस्यादेतु' हेतुश्च गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यवहारस्य तथैव 'कतलेत्यादिपद्येऽपि व्यङ्ग्यो दिग्गजवृत्तान्तरान्मूलैर्गोपमा वा वाच्य-वृत्तान्त-शौभाननकतया गुणीभूत एवेति तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारप्रयोगकत्वमेव युक्तम्, न तु ध्वनिकाव्यव्यवहारप्रयोगकत्वमिति भावः ।

अब उक्त श्लोक पर ध्वनिके विषय में मतान्तर की अवतारणः करते हैं—अथ इत्यादि । 'अयमैन्द्रीमुख परय रक्तशुम्बति चन्द्रमा—अर्थात् यह देखो-रक्त चन्द्र ऐन्द्री (पूर्व) दिशा का मुख चूम रहा है' इस काव्यादा वाक्य में रक्त, मुख और चूम रहा है, ये तीनों विशेषणवाचक पद श्लिष्ट हैं, अतः उनसे अनुरागयुक्त तथा काल कान्तिवाला, ध्यान तथा अप्रमाय, एवम् सुगन्ध तथा स्पर्श ये दो दो अर्थ वाच्य होते हैं । उस श्लोक के आधार

पर ही कामिनी मुखचुम्बनरूप अग्रस्तुत व्यवहार व्यङ्ग्य होना है। वह व्यङ्ग्य अर्थ ध्वंसवद् न होवे इसलिये प्रस्तुत चन्द्र और दिशा के व्यवहार में नायक तथा नायिका का व्यवहार आरोपित होता है, जिससे 'आरोपित नायक व्यवहारवाला चन्द्र आरोपित नायिका व्यवहारवाली पूर्वदिशा का मुख (पूर्वभाग तथा आनन) को घूमता है' ऐसा वाच्यार्थ सम्पन्न होता है। अतः उक्त पद्यांश, संस्कृतटीका में उद्धृत लक्षण के अनुसार समासोक्ति अलंकार का उदाहरण कहलाता है। प्रकृत में अत्र कहना यह है कि जैसे उक्त स्थल पर कामिनीमुखचुम्बनादि व्यवहार व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य अर्थ के पोषक तथा अल्प चमत्कार युक्त होने के कारण, गौण हो जाने से ध्वनिकाव्यव्यवहार का हेतु नहीं होता, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्यव्यवहार का ही हेतु होता है, उसी तरह 'करतल'... इत्यादि प्रकृत पद्य में भी, दिग्भाज भुक्तान्त अथवा सम्मूलक उपमा अलंकार, व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य राजवृत्तान्त के पोषक होने के कारण गौण ही रहेगा, अतः उस व्यङ्ग्य को लेकर उक्त पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण बतलाना ठीक नहीं है, हाँ-गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का उदाहरण यह हो सकता है।

पूर्वग्रन्थप्रतिकूलमाराम्य निरस्यति—

न चोपमा प्रकृतार्थोपस्कारिका न भवतीति शक्यं वदितुम्, 'उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्', 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः' इत्यादी प्राचीनानां पद्ये 'करतल'—इत्यादि प्रागुदाहृतपद्ये च व्यङ्ग्य-चोपमया प्रकृतस्य राज्ञः प्रकर्षस्य न कलानुभवसिद्धत्वात् । अनुभवापलापे तु समासोक्तावप्यप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं नेति सुवचत्वात् ।

प्रकृतार्थोपस्कारकेति । वाच्यार्थशोभातपादिकेत्यर्थः । वाच्यार्थोपस्कारैव सति भावः । उल्लासेति । इदं पद्यं प्राक्... टीकायामुद्धृतं व्याख्यातञ्च । भद्रात्मनोरिति । 'विशालवशोन्नते कृतशिलीमुखसप्रहस्य । यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य दानाम्बुसेकमुभयं सततं करोऽभूत् ॥' इत्यवशिष्टं पद्यार्थः । भद्रात्मनः कल्याणमूर्तेः, धुरधिरोहतनो दुःखेन अधिरोह आक्रमणं गरिमन्, तादृशां तनु शरीर यस्य तस्य विशाल-वशोन्नते विशाला महती, वशस्य कुलस्य, उन्नतिं सृष्टिर्यस्य तस्य, कृतशिलीमुखसप्रहस्य कृत शिलीसुगाना वाणानां सप्रहं सच्चयो येन तस्य, अनुपप्लुतगते अबाधितवीर्य-प्रसरस्य, तथापरवारणस्य रिपुरोषत्तमर्षस्य, यस्य राज्ञः, कर पाणि, सततं सर्वदा दानाम्बुसेकमुभयं त्यागोद्देश्यकसलिलस्यन्दमुन्दरं, अभूत् इति प्रस्तुतोऽर्थः । दुरधि-रोहतनो कष्टारोहणीयशरीरस्य कृतशिलीमुखसप्रहस्य कृतमदलोभिप्रभरनिकरसञ्चयस्य, विशालवशोन्नते महामोहदण्डरस्य, अनुपप्लुतगते मन्दगमनस्य, यस्य भद्रजातीयस्य परवारणस्य उत्कृष्टमजस्य, फलं शुष्णदण्डं सततं, दानाम्बुन मदजलस्य सेकेन सुभयं अभूत् इति चाग्रस्तुतार्थो बोध्यः । उल्लास्य, भद्रात्मनः, करतलेत्यादिपद्येषु व्यवहार-समासोपाभवात् समासोक्ति, अपि तु अग्रस्तुतार्थस्यानवधानमिधानतावारणाय अग्रस्तुता-प्रस्तुतयोरोपमा व्यङ्ग्यथाऽऽस्थीयते, तथाच व्यङ्ग्यभूतयोपमया प्रस्तुतस्य राज्ञः प्रकर्ष-न कलानुभवसिद्धः । तथा च व्यङ्ग्यभूतोपमा प्रस्तुतवाच्यार्थोपस्कारिका न भवतीति वक्तुमयोग्यम्, अनुभवसिद्धस्यापि व्यङ्ग्योपमानिष्ठस्य प्रकृतोपस्कारकत्वस्यापलापे वादि-सम्मतस्य समासोक्तिस्यतीयाप्रस्तुतार्थवृत्तिप्रस्तुतार्थोपस्कारकत्वस्याप्यपलाप-कृतो-भवेदीति भावः ।

पूर्व ग्रन्थ के प्रतिवृत्त आशंका करके उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'करतल'... इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होनेवाला उपमा अलंकार वाच्यार्थ का

पोषक नहीं है—अर्थात् गौण नहीं है—प्रधान है, तो यह असगत होगा, क्योंकि 'उच्चा-
र्य', 'भद्राग्रयो' और 'करतल' इत्यादि प्रकृत पद्य में व्यङ्ग्य उपमा से वाच्य राजा
का प्रकर्ष सिद्ध होता है, यह यात सर्वानुभव-सिद्ध है। उक्त तीनों पद्यों में प्रथम पद्य पूर्व में
उद्घटन और व्याहवात हो चुका है। तृतीय पद्य इस प्रकार के प्रारम्भ में मूलकार ने ही
लिखा है, जिसकी व्याख्या भी की जा चुकी है। द्वितीय पद्य इस स्थल की संस्कृत टीका
में उद्धृत है। इसका अर्थ इस प्रकार है—कष्ट से आक्रमण करने योग्य शरीरवाले,
महान् कुल में उन्नति प्राप्त करनेवाले, अच्छे-अच्छे वाणों का संग्रह करनेवाले, अयाधित
ज्ञानशक्तिवाले और शत्रुओं को रोकनेवाले, जिस कल्याणमूर्ति राजा का हाथ सदा
दान-जल के सेक से सुन्दर रहता था। यह है प्रस्तुत अर्थ। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ
यह है कि—कष्ट से चढ़नेयोग्य विशाल शरीरवाले, मद्दलोमी धमरों के समूह को झकड़ा
करनेवाले, जैसे मेरुदण्डवाले और मन्द-मन्द चलनेवाले जिस मद्रजातीय गजराज की
सूँड़ सदा मद्र-जल के सेक से सुभग-सुन्दर रहता था। यदि आप अनुभवसिद्ध वस्तु
का भी अलप्य करेंगे—अर्थात् कहेंगे कि उक्त पद्यों में व्यङ्ग्य होनेवाली उपमाओं से
वर्णनीय राजा का प्रकर्ष सिद्ध नहीं होता, तब तो समासोक्ति अलकार के ध्यान में भी
व्यङ्ग्य अप्रस्तुतवृत्तान्त से प्रस्तुत वाच्य अर्थ का पोषण नहीं होता है, ऐसा भी कहा
जा सकेगा।

ममासोक्तावप्रकृतस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं सम्भवति, व्यङ्ग्योपमाया तु नेति मिथो
विरोधप्रदर्शनेनाराक्य समाधत्ते—

मनु समासोक्तावश चास्ति विरोधः—यत्तत्र व्यवहारिणो नानार्थशब्दानु-
पस्थाप्यत्वम्, इह तु तदुपस्थाप्यत्वमिति चेत् ? किं चातो न हि व्यवहारिणो
नानार्थशब्दोपस्थाप्यतामात्रेणाप्रकृतधर्मनिरूपिताया उपमायाः प्रकृतधर्म्युप-
स्कारकत्वं वाच्यते, येन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यात्।

व्यवहारिण इति । प्रकृतव्यवहारनिर्वाहकस्य धर्मिण इत्यर्थः । राजादेरिति तु
स्पष्टोऽर्थः । समासोक्तौ-अथमैन्द्रीत्यादी व्यवहारी चन्द्रो न नानार्थशब्दोपस्थाप्य, अपि तु
एकार्थरूपचन्द्रमसूपदोपस्थाप्य एव । करतलेत्यादिव्यङ्ग्योपमास्थले च व्यवहारी नृप
सार्वभौमरूपनानार्थोपस्थाप्य एव—अर्थात् ममासोक्तिस्थले विरोधवाचक शब्दो
नानार्थको न भवति, इह च स कदाचन एव भवतीति द्वयो र्यस्यो भेद स्पष्ट परिलक्ष्यते,
तत्कथं समानरूपेण द्वयो र्स्थलयोर्विचारो विधीयत इति शक्या समाधानमाह—किं चात
इत्यादिना । अयं भाव —समासोक्तिस्थले व्यङ्ग्यस्य गुणीभूत न भवतोऽप्यभिमतमेव, व्यङ्ग्यो-
पमास्थले पुनस्तस्य तस्यै भवतो विरोध, तत्र च व्यवहारिणो नानार्थकपदोपस्थाप्यता
हेतुत्वेनोपस्थाप्यते भवता, परमेतन्न सर्वावीनम्, गजरूपाप्रकृतधर्मिनिरूपिताया उपमाया
नृपरूपप्रकृतधर्मिणोपस्थाप्यस्य, नृपरूपव्यवहारिण सार्वभौमस्वरूपनानार्थकपदोपस्थाप्यता-
मात्रेणाधारणात्, अवारिते च तस्मिन् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात्तन्मध्यमनाव्यताप्रसङ्गो
दुर्वार एवेति ।

समासोक्ति और व्यङ्ग्य उपमा में परस्पर वैलक्षण्य दिखलाकर, प्रतिवादी जो यह
सिद्ध करना चाहते हैं कि समासोक्ति स्थल में अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत का उपकारक होने से
गौण हो जाता है, पर व्यङ्ग्य उपमा वाच्यार्थ की उपकारिका नहीं होती, अतः गौण भी
नहीं होती, उसका खण्डन करते हैं—तनु इत्यादि । 'अथमैन्द्री' इत्यादि समासोक्ति
स्थल में व्यवहारी अर्थात् जिसमें अप्रस्तुत नायक का व्यवहार आरोपित होता है, वह—
चन्द्र अनेकार्थक शब्द से उपस्थित नहीं कराया गया है, अरिस्तु एकार्थक चन्द्रमसु शब्द
से ही और 'करतल' इत्यादि व्यङ्ग्योपमास्थल में व्यवहारी (प्राकरगिक) राजा,

अनेकार्थक मार्वभीम पद मे उपभ्रित कराया गया है । तात्पर्य कहने का यह कि समासोक्तिस्थल में विशेष्यवाचक शब्द अनेकार्थक नहीं रहता है और व्यङ्ग्योपमा-स्थल में विशेष्य-वाचक शब्द अनेकार्थक रहता है, इस तरह से दोनों स्थलों में स्पष्ट अन्तर वे रहने पर भी आप एक ही प्रकारका विचार क्यों करते हैं ? इस शका के उत्तर में ग्रन्थका का कथन है कि उक्त अन्तर के रहने में विवेच्य विषय में तो कोई अन्तर होता नहीं फिर उसके रहने या न रहने से क्या ? अर्थात्—व्यङ्ग्योपमा स्थल में व्यवहारी (प्राकराजिक राजा आदि) अनेकार्थक शब्द से बोधित हुआ रहता है, इससे अप्राकराजिक दिग्गज आदि की उपमा में जो प्राकराजिक रूप आदि अर्थ के प्रति उपकारभाव है; वह क्या रुद्ध हो जायगा ? कथमपि नहीं, उसको रोकनेवाला वह कौन होता है ? और जब उपमा की उपकारकता नहीं स्केगी, तब उसकी गौणता निश्चित है, तथा तत्प्रयुक्त गुणी मूलव्यङ्ग्यता भी उस पद्य की अनिवार्य ही है ।

व्यङ्ग्योपमा येन गुणीभूता न भवति, तादृश युक्त्यन्तरमुद्गम्य खण्डयति—

नचात्रोपमादीनामलंकाराणां स्वभावतः सुन्दरत्वात्काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया च वस्तुमात्रे गुणीभावो न संभवति, यथा वस्तुमात्रेण अभिव्यक्तानामलंकाराणाम् तुल्यन्यायत्वात् । अप्रकृतव्यवहारस्य तु समासोक्त्यत्रयस्य निरलंकारतया वस्तुन्युपस्कारकत्वं समासोक्ताविरुद्धमिति वाच्यम्, एवमपि 'वाघेऽदृढेऽन्यसाम्यात्किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्' इति न्यायेनोक्तयुक्तेः शिथिलत्वात्, अपराङ्गताया दुरपलक्षत्वात् ।

सुन्दरत्वादिस्थस्य वस्तुपेक्षयेत्यादिबोध्यम् । स्वभावतः सुन्दरस्यापि शृंगारदे कचिद् गौणतादर्शनादाह—काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया चेति । अन्यथा नानार्थकपदकदम्बकरम्वित-पथनिर्मितिरूपरुचिप्रयासवैफल्यपाप्तिरिति भावः । वस्तुमात्र इति । प्रवृत्तार्थ इत्यर्थः । यथा वस्तुमात्रेति । 'निशितशरधियार्पयत्यनङ्गो, दृशि सुदृश स्ववल वयस्यराले । दिशि निपतस्ति सा च यत्र तत्र व्यतिकरमेत्व समुन्मिपन्त्यवस्था ॥' इत्यादाविति भावः । तुल्येति । उक्त-हेतोस्तुत्यादिति भावः । समासोक्त्यत्रयस्येति । अवयव निरलङ्कारस्वे हेतुरिति भावः । उक्तयुक्तेरिति । दृष्टान्तप्रदर्शनरूपयुक्तेरित्यर्थः । वाच्या व्यङ्ग्या वा उपमावलङ्कारा स्वभावतो रमणीया अन्यथा तेषामलङ्कारत्वमेव मन्येत । अपि च कर्तलेत्यादिविविधकाव्य-निर्माणे इतिप्रवृत्तेरुद्देश्यमपि व्यङ्ग्यालङ्कारप्रत्यायनमेव, अन्यथा तादृशार्थकपदघटित-काव्यनिर्माणवैयर्थ्यम् । एवञ्च यथा निशितशरत्यादिप्रागुक्तपद्ये वस्तुमात्रव्यङ्ग्यविरोधालङ्कार-स्य वस्तुपेक्षया न गुणत्वम्, तथाऽत्रापि नोपमाया व्यङ्ग्याया गुणत्वम् । अत एव 'व्यङ्ग्यन्ते-वस्तुमात्रेण यदात्कृतयस्तदा । ध्रुव ध्वन्यङ्गता तामा काव्यवृत्तेरतदाभवात् ॥' इत्युक्त-प्वनिवृत्ता प्रदाराकृता च समुद्भूतम् । नन्वेव समासोक्तौ कथमप्रकृतव्यवहारस्य गौणत्व-मङ्गीक्रियते इति चेत्तत्राह—अप्रकृतव्यवहारस्य तु इत्यादि । तत्राप्रकृतव्यवहार समासोक्त्य-वयव इति नालङ्कारता तस्य, अलङ्कारस्यैव च स्वतः सुन्दरत्व मयाऽऽस्थितम् । तथा च समासोक्तावप्रकृतव्यवहारस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्रकृतोपकाररत्वं तन्मूलक गुणत्वञ्च युक्तमिति शङ्कादलस्याजयः । शङ्कादलोक्तमलंकाराणां स्वभावसुन्दरत्वादिक सत्यम्, पर तु कर्तले-त्यादी तादृशेऽन्यकाव्ये वा अप्रवृत्तार्थनिर्हासोपमाया व्यङ्ग्यानोपमाया प्रवृत्तार्थोपकारत्वं यद्यनुमतिगद्गतवाऽपलापानर्हम्, तर्हि तस्या व्यङ्ग्योपमाया अपराङ्गता तत्प्रयुक्तगुणता च केन वार्यते ? 'यथा वस्तुमानाभिव्यक्त्यादिना प्रदर्शितो दृष्टान्तस्तु आकेशित्कर एव, तत्राप्युक्त-युक्त्या व्यङ्ग्यालङ्काराणां गुणत्वमेव न ध्वन्यङ्गत्वमिति मदभिप्रायान् । एतादर्थबोधक एव प्रकृते

‘वाधेऽदृते’ इति न्यायः । वाधे बाधक्युक्तौ, अदृते अप्रबले स्रग्दनाहं इति यावत्, अन्य-
साम्यात् किम् ? वाधनीयार्थसमर्थनाय वादिना दृष्टान्तप्रदर्शनमनुचितमेव, स्रग्दनाहंवाधक-
युक्तेरेव स्रग्दयितुमुचितत्वात् । इदं प्रबलाया स्रग्दनाहंयां वाधक्युक्तौ, पुनस्तथैव दृष्टान्त-
प्रदर्शनममगतम्, दृष्टतरवाधक्युक्त्या दृष्टान्तभूतार्थस्यापि बाधादिति न्यायार्थः ।

व्यङ्ग्य उपमा, जिससे गौण नहीं कही जाय, ऐसे युक्त्यन्तर की उद्भावना करके
उसका स्रग्दन करते हैं—न च इत्यादि । वाच्य हो अथवा व्यङ्ग्य, अलंकार स्वभावतः
सुन्दर होते हैं, अन्यथा उन्हें अलंकार कहा ही नहीं जा सकता और ‘करतल’ इत्यादि
काव्य में कवि का मुख्य उद्देश्य भी व्यङ्ग्य अलंकार का बोध कराना ही रहता है, अन्यथा
अनेकार्थक पदों के द्वारा काव्य की रचना करना ही व्यर्थ हो जाय । ऐसी स्थिति में जैसे
‘निश्चितशरधिया’ इस संस्कृत टीका में उद्धृत पद्य आदि—जहाँ वस्तु से विरोधा-
भास आदि अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं—में व्यङ्ग्य अलंकार, वाच्य वस्तु की अपेक्षा गौण
नहीं होता—प्रधान ही रहता है, वैसे यहाँ (‘करतल’ इत्यादि में) भी व्यङ्ग्य उपमा,
वाच्य प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा गौण नहीं होगी—प्रधान ही मानी जायगी । अतएव ध्वनि-
कार ने भी कहा है—‘वस्तुमात्र से जय अलंकार अभिव्यक्त किये जाते हैं, तब वे निश्चित
रूप से ध्वनि के अङ्ग होते हैं अर्थात् ध्वनि नामक उत्तम काव्य-व्यवहार के कारण होते
हैं ।’ (मूल पङ्क्ति संस्कृत टीका में देखिये) रही बात समासोक्ति की तो वहाँ व्यङ्ग्य
अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अङ्गमूत रहता है, अर्थात् व्यङ्ग्य अप्रस्तुत व्यवहार और
वाच्य प्रस्तुत व्यवहार के मिश्रित रूप का ही नाम समासोक्ति अलंकार होता है, अतः
अप्रस्तुत व्यवहार स्वतः कोई अलंकाररूप नहीं रहता और स्वभावतः सुन्दर होने की
बात कही गई है अलंकार के लिये, अतः वह बात यहाँ सघटित नहीं होगी, फिर वहाँ
(समासोक्ति में) उसका (अप्रस्तुत व्यवहार का) प्रस्तुत के प्रति उपकारक होना तथा
तत्प्राप्त तदपेक्षया गौण होना समुचित ही है । परन्तु प्रत्यकार का कथन है कि उक्त
युक्ति भी आप की टीका नहीं है, क्योंकि एक न्याय है—‘वाधेऽदृते’ इत्यादि, अर्थात्
किसी सिद्धान्त की वाधक युक्ति, यदि अदृते हो-शिथिल हो (प्रबल नहीं हो), तब
दूसरे की समानता से-केवल दृष्टान्त से-नया हो सकता है ? अभिप्राय यह कि शिथिल
युक्ति का स्रग्दन करना ही उचित है, वाधनीय सिद्धान्त के तुल्य दृष्टान्त का प्रदर्शन
नहीं और यदि वाधक युक्ति दृढ़ है प्रबल है, आप से स्रग्दन करने योग्य नहीं है, तब
भी दृष्टान्त-प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि उस स्थिति में वह प्रबल वाधक युक्ति उस दृष्टान्त
भूत अर्थ की भी वाधित कर देगी । कहने का सारांश यह कि ‘जिस तरह वस्तुमात्र से
अभिव्यक्त होने वाले अलंकार वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं होते, उसी तरह यहाँ भी व्यङ्ग्य
उपमा अलंकार राजा के वर्णन की अपेक्षा गौण नहीं हो सकता’ यह आप का कथन ठीक
नहीं है, क्योंकि मैंने जिसे वाधक युक्ति को उपरिष्ठ किया, उसका स्रग्दन आपने
किया नहीं—आप यह नहीं समझा सके कि उपकारक होने पर भी अलंकारों को उपस्कार्य
की अपेक्षा गौण क्यों नहीं माना जाय ? अतः यह सिद्ध होता है कि मेरी वाधक युक्ति
प्रबल है । यदि ऐसा है, तब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों उससे वाधित हो जायेंगे—
अर्थात् वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानतावाला सिद्धान्त भी स्रग्दित हो जायगा,
इस प्रकार से आप की युक्ति शिथिल है, अतः ‘करतल’ इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होने
वाली उपमा अथवा अपराङ्ग व्यङ्ग्य ही सिद्ध होगी ।

करतलेत्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसाधिकाया युक्तेरपराङ्गताया अविदिमापाय निरस्यति—

अथोच्येत—उपमानमुपमेयं साधारणो धर्म इति ह्युपमाशरीरघटकम्, न
तु ततः पृथग्भूतम्, तैर्विना तस्या ध्वनिष्पत्तेः । इत्थं चोपमेयस्य सादृश्यांशो-
पस्कारोऽप्युपमाया नापराङ्गत्वम्, उपमेयस्यापरत्वाभावात् । यथा समासोच्चा-

यप्रकृतव्यवहारेण प्रकृतस्योपस्कारणोऽपि न समासोक्तेरपराङ्गत्वम्, प्रकृताप्रकृत-
घटितत्वात्, एवमिहापि स्यादिति । तथापि समासोक्तेरिवास्यापि प्रभेदस्य गुणी-
भूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः, अस्येव वा समासोक्तेरपि ध्वनिव्यवहारेणैवत्वापत्तेः ।

उपमाशरीरघटकमिति । उपमाशरीरसम्पादक्यामप्रपन्तर्गतमित्यर्थः । तत उपमात् ।
तै उपमानोपमेयसाधारणधर्मै । तस्या उपमाया । इत्येवेति । उपमानोपमेयसाधारण-
धर्माणा मिलितानामेवोपमापदार्थत्वे चेत्यर्थः । उपरवारे इति । परिष्कारे इत्यर्थः । पोररो
इति यावत् । अपरत्वाभावादिति । उपमापदार्थभिन्नपदार्थविरहादित्यर्थः । गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वापत्तेरिति । विशिष्टस्योपमाशरीरस्येऽपि उपमेयशस्य राजादेर्न व्यङ्ग्यत्वम्,
राजस्यैव तद्भावात् । एवोपमाशरीरघटकव्यङ्ग्यशस्य दिग्गजादेरुपमानस्योपमाशरीर-
घटकाच्यारामोपमेयस्यापेक्षयाऽऽधिकचमन्कारित्वविरहेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य दुर्वारत्वा-
दिति भावः । अस्यैव उपमाप्रभेदस्येव । प्रकृत वाच्यम् अप्रकृत व्यङ्ग्यमित्युभयविधमङ्ग-
मादाय समासोक्तिः सम्पद्यते । तत्र व्यङ्ग्यमप्रकृतम् वाच्यस्य प्रकृतस्य यद्यप्युपस्कारक-
नियमतरितादिति, तथापि यथा समासोक्तिरपराङ्गमिति न व्यपदिश्यते, अपरपदेन विव-
क्षितस्य प्रकृतस्य समासोक्तिशरीरान्तर्गततया वस्तुतोऽपरत्वाभावात्, तथैव करतलेत्यादौ
दिग्गजादिरूप व्यङ्ग्यमुपमानम्, राजादिरूप वाच्यमुपमेयम्, करतलेत्यादिसमानविरोध-
विशिष्टत्वरूपं साधारणधर्मं च त्रिविधमङ्गमादायोपमा सम्पद्यते । तत्र साधारणधर्मोऽन-
(सादृश्याशेन) वाच्यस्य राजादेरुपमेयस्योपरकारेऽपि नोपमाया अपराङ्गत्वम् अपरत्वे-
नामित्यस्योपमेयस्योपमाशरीरघटकतया वस्तुतोऽपरत्वाभावादिति शक्यादलाशयः । एव-
मपराङ्गत्वासिद्धावपि समासोक्तिसाम्यनिश्चये तत्रैवात्रापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमुचितम्, समासो-
क्तिस्थलीयव्यङ्ग्यस्य वाच्यानतिशायित्ववत् प्रकृतोपमास्थलीयव्यङ्ग्यपर्यायि वाच्यानतिशायि-
त्वात् । भवदुक्तरात्या प्रकृतोपमाया इव समासोक्तेरपि ध्वनिव्यवहारविषयत्व वा समुचित-
मिति च समाधानदलाशयो बोध्यः । 'अलकाराणामुरीपनविषया रसाद्युपभोगित्वेनालम्बना-
पेक्षयोर्दोषनेऽधिकचमन्कारित्वस्य स्वर्वातुभवसिद्धतया करतलेतिपदवाच्यालम्बनविभावापेक्षया-
तिशायित्वाद् ध्वनिन्वमव्याहृतमेव । रसाद्यपेक्षया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं त्रिष्टमेव । समासोक्ता तु
'आगत्य सम्प्रति वियोगविसंगुलाद्भो' इति सलीशिक्षावाक्येऽप्रकृतनायमन्वृत्तान्ताध्यारोपं
विना तदनुपपत्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व स्पष्टमेव । यत्र तु तस्यापि रसाद्युपकारकतया वाच्य-
दतिशायित्वम्, प्रागुक्तरीत्या तत्रास्तु नाम ध्वनिव्य तस्या । न चैवमप्युमाकृतोत्कर्षमादा-
यास्तु ध्वनिव्यम्, अलकारध्वनिरिति तु कथमिति वाच्यम्, 'अलकारकृतोत्कर्षध्वनावेवा-
लम्बनध्वनिरिति व्यवहारात्' इति नागेशोऽत्र रुचिरमालोचयदित्युपगन्तव्यम् ।

अथ 'करतल' ' ' ' इत्यादि पद को गुणीभूतव्यङ्ग्य सिद्ध करने में जो व्यंग्य उपमा की
अपराङ्गत्वरूप युक्ति दी जाती है, उसकी प्रामाण्य की आशंका बरके स्पष्टन करते हैं—
अथ इत्यादि । प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यंग्य इन दोनों अर्थों को लेकर समासोक्ति
अलकार सम्बन्ध होता है । उसमें अप्रस्तुत व्यंग्य यद्यपि नियमत वाच्य प्रस्तुत का पोषक
रहता है, तथापि समासोक्ति अपरांग नहीं मानी जाती है । क्योंकि अपराङ्ग शब्दगत
अपर पद से विवक्षित प्रस्तुत, समासोक्ति-शरीर प्रविष्ट होने के कारण वस्तुतः अपर-
ध्वन्य-नहीं होता । वही तरह 'करतल' ' ' इत्यादि पद में दिग्गज आदि व्यंग्य उपमान,
राजादिरूप वाच्य उपमेय और 'करतल' इत्यादि समानविरोध—विशिष्टत्वरूप साधा-
रण धर्म इन तीनों अर्थों को लेकर उपमा अलंकार सम्बन्ध होता है, उसमें सादृश्य (साधा-
रण धर्म) अर्थ से वाच्य राजारूप उपमेय के पोषण होने पर भी 'उपमा अपराङ्ग नहीं

कहला सकती। क्योंकि अपर रूप में आपका अभिमत-उपमेय उपमाशरीरघटक होने के कारण वस्तुतः अपर नहीं होगा। ऐसा यदि आप कहें, तो वह भी आपके मनोरथ को सिद्ध करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह समासोक्ति की समता सिद्ध करने पर यह कहा जा सकता है कि जैसे समासोक्तिवाला स्थल गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है, वैसे यह व्यंग्य उपमावाला (करतल इत्यादि) स्थल भी गुणीभूतव्यंग्य ही कहलायगा। अथवा आपके अनुसार जैसे यह व्यंग्य उपमावाला स्थल ध्वनि कहलाता है, वैसे समासोक्तिवाला स्थल भी ध्वनि ही कहलायगा—अर्थात् दोनों स्थलों की स्थिति जब एक सी है, तब एक को ध्वनि और दूसरे को गुणीभूतव्यंग्य कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। पण्डितप्रकाण्ड नागेश का यहाँ कुछ भिन्न ही विचार है और वह बहुत ही हृद्यप्राही है, अतः उसका उल्लेख किया जाता है। उनका कहना है कि अलंकार उद्दीपनरूप से रस आदि के उपकारक होते हैं और आलम्बन की अपेक्षा उद्दीपन में अधिक चमत्कार का होना सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः 'करतल ' इत्यादि पद में वाच्य आलम्बन विभाव की अपेक्षा अधिक चमत्कारी, उद्दीपन, व्यंग्य उपमा अलंकार को लेकर ध्वनि का व्यवहार समुचित ही है। रस आदि की अपेक्षा गुणीभूतव्यंग्यता तो दृष्ट ही है। समासोक्ति में तो अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप जब तक प्रस्तुत में नहीं किया जाता है तब तक वाक्यार्थ ही नहीं बन सकता है, अतः वहाँ व्यंग्य प्रस्तुत व्यवहार का गुणीभूत हो जाना और तत्प्रयुक्त गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य का व्यवहार होना अप्रसंगत नहीं है। यदि कहीं रसादि के उपकारक होने से समासोक्ति स्थल का व्यंग्य भी वाक्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी रहेगा, तो वहाँ भी उसको ध्वनि माना जा सकता है। यदि आप कहें कि इस तरह से उपमाकृत उल्लेख को लेकर 'करतल ' इत्यादि पद को ध्वनि कहते हैं, तो कहिये, परन्तु अलंकार ध्वनि का व्यवहार वहाँ कैसे करते हैं? क्योंकि उपमा (उक्त दोनों अंगों से युक्त) व्यंग्य नहीं है—वाच्य है। तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ अलंकार से ध्वनि में उल्लेख सिद्ध हुआ रहना है, वहाँ अलंकार ध्वनि का व्यवहार होता है।

'उल्लास्य', 'भद्रात्मनो', 'करतल' इत्येतेषु उपमालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वं न, अपि तु रूपकालङ्कारस्यैवेत्याह—

अन्यत्र—श्लेषे हि श्लेषभित्तिकमभेदाध्यवसानं द्वयोरर्थयोरिति सकलालंकारिकनिबद्धम्, अनुभवसिद्धञ्च। तत्र मूलान्वेषणे विधीयमाने एकपदोपात्तत्वात् शक्यते मूलमन्येनिर्वक्तुम्। एकपदोपात्तो ह्यनेकोऽप्यर्थोऽभिन्नतयैव भासते। इत्थञ्च—'उल्लास्य कालकरवाल'—इत्यादावप्येकपदोपात्ततया द्वयोरर्थयोरभेदाध्यवसानस्य युक्तत्वेनाभेदस्यैव व्यङ्ग्यत्वमुचितम्, नोपमायाः।

अन्यच्चेति। किं चेत्पर्यं। श्लेषभित्तिकमिति। श्लेषमूलकमित्यर्थं। विधीयमाने इति। क्रियमाणे इत्यर्थं। एरुपदोपात्तत्वादिति पदमन्तरस्य अन्यदित्यत्रान्वयः। एकरदोपात्त इति। एकपदबोधित इत्यर्थं। 'हि' इति यत् इति हेत्वर्थकं। उल्लास्य' इत्यादानिति। भद्रात्मनो' करतलित्यादिपद्यमात्रादिपदप्रात्यम्। अभेदस्यैवेति। तन्मूलकरूपकालङ्कारस्येति भावः। 'विद्वन्मानमहम्' इत्यादी रिलभ्यमानसपदाहुपस्थितयोश्चित्तारोरूपयोरर्थयोरभेदारोप' सर्वानुभवसिद्ध, मकलैरालङ्कारिकैर्निबद्धञ्च। तत्र तयोरत्यन्तविमदशयोरर्थयोरभेदारोपे किं मूलमिति जिज्ञासाया मानसैत्येकपदबोधितत्वमेव मूल विज्ञातं भवति, नान्यत्। समुचितश्चेत्तर, यत् 'एकपदोपात्तोऽनेकोऽप्यर्थं अभिन्नतयैव भासते' इति सिद्धान्तः। एवञ्च 'उल्लास्य', 'भद्रात्मनो', करतलेत्येतेषु, एवविषयेष्वन्येषु च पदेषु प्रकृताप्रकृतयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोरैकपदबोधिततया अभेदारोपो दुष्करतया च तन्मूलकरूपकालङ्कारस्य व्यङ्ग्यता

समर्थयितुमुचिता नोपमालङ्कारस्य । रूपकालङ्कार एवेशेषु स्थलेषु व्यङ्ग्यो नोपमालङ्कार इति भावः ।

'उल्लास्य ...', 'भद्रारमनो'....., और 'करतल ...' इत्यादि पदों में 'रूपक' अलङ्कार ही व्यंग्य होता है, 'उपमा' अलङ्कार नहीं, इस स्व-सिद्धान्त का अब प्रतिपादन करते हैं—अन्यत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'विद्वन्मानसहस्र ...' इत्यादि श्लेष-काव्य-स्थल में छिष्ट मानसपद से बोधित चित्त और सरोवर रूप अर्थ द्वय में अभेद का आरोप होता है, यह बात सर्वों के अनुभव से सिद्ध है, तथा सभी अलङ्कारिक विद्वानों को मान्य भी है । वहाँ जब यह विचार करते हैं कि अत्यन्त भिन्न प्रकार के उन दोनों अर्थों में अभेद का आरोप क्यों होता है—उसका मूल क्या है? तब मानस रूप एक पद से बोधित होने के अतिरिक्त कोई मूल नहीं मिलता है अर्थात् एक पद से उपस्थित होने के कारण ही सर्वथा भिन्न होने पर भी वे दोनों अर्थ एक जैसे (अमित्र जैसे) प्रतीत होते हैं । यह अमित्र जैसा प्रतीत होना अमुचित है । कारण, 'एक पद से उपस्थापित अनेक अर्थ भी एक जैसे ही भासित होते हैं' यह सर्व-मान्य विद्वान्त है । इस स्थिति में 'उल्लास्य ...', 'भद्रारमनो ...', और 'करतल ...' इत्यादि पदों में तथा इसी तरह के अन्य पदों में भी जब प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यंग्य अर्थों की उपस्थिति एक ही पदों से होती है, तब उन अर्थों में अभेद का आरोप अमुचित है, तथा अभेद-ारोप मूलरूपक अलङ्कार का व्याप्य होना ही मानने योग्य है । उन सब पदों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उपमानोपभेद भाव को व्यंग्य मानना असंगत है । तात्पर्य यह हुआ कि ये पद्य रूपकालङ्कार-ध्वनि के उदाहरण कहे जा सकते हैं, उपमा अलङ्कार ध्वनि के नहीं ।

'उल्लास्य ...' इत्यादिषु अभेदाध्यवसाननिरसनसमीहया श्लेषस्थलाद् वैलक्षण्य प्राचामभिमतमुपपाद्य तस्याभिक्रियाकरतामाह—

श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वम् एककालत्वं च । इह त्वेकस्य वाच्यत्वम्, अपरस्य व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं चेति । एतावन्मात्रेणैकैकपदोपात्तत्वं प्रयुक्तमभेदाध्यवसानं न शक्यं त्यक्तुम्, व्यङ्ग्यताया भिन्नकालत्वस्य चाभेदप्रतिपात्तावधारकत्वात् ।

इह तु 'उल्लास्य'-इत्यादी तु । इति पूर्वग्रन्थसमाप्तौ । प्रतिपत्तौ ज्ञाने । यत्र द्वयर्थकपदघटितकाव्यस्थले प्रकरणाद्योऽभिधानियामका न तिष्ठन्ति, अत एव द्वयर्थकौ वाच्यवृत्तयैव प्रतीयेते, तत्रैव श्लेषः । एवञ्च श्लेषस्थले द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वं समकालीनज्ञानविषयत्वञ्च निश्चितम् । 'उल्लास्य'-इत्यादी तु अभिधानियामकस्य प्रकरणस्य सत्त्वेन राजरुपायैऽभिधाया नियमनात् प्रकृतार्थस्यैव वाच्यत्वम्, अप्रकृतस्येन्द्रादिरुपायस्य व्यङ्ग्यत्वमेव । अत एव तयोर्भिन्नकालज्ञानविषयत्वमपि निर्णीतम्, तथा च कथं श्लेषस्थलदृष्टान्तेनात्र प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसानमिव्याह्ये । प्रकृताप्रकृतयोरभेदज्ञाने एककालीनत्वं वाच्यत्वञ्च न निवामकम्, न वा व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं वा प्रतिबन्धकम् इति श्लेषस्थलात् तादृशवैलक्षण्यं वर्तमानमपि न किञ्चिन्मरुम्, एकपदबोधितत्वप्रयुक्तमभेदाध्यवसानमपि भवेदेवेति च समाधानम् ।

श्लेष स्थल से रसगोपमा-स्थल में वैलक्षण्य दिखलाकर उसकी अभिक्रियाकरता का वर्णन करते हैं—श्लेषे इत्यादि । अनेकार्थक पदों से निर्मित जिस काव्य के स्थल में अभिधा को नियन्त्रित करने वाले प्रकरणादि नहीं रहते हैं, अत एव दो अर्थ वाच्य वृत्ति (अभिधा) से ही प्रतीत होते हैं, वहाँ श्लेष होता है । इस स्थिति में यह निश्चित है

किं श्लेष-काव्य-स्थल में दोनों अर्थ वाच्य रहेंगे और एक काल में प्रतीयमान । और 'उल्लास्य' इत्यादि स्थल—जहाँ अभिधा को नियन्त्रित करने वाला प्रकरण ज्ञान होता रहता है—में प्रकरण ज्ञान से अभिधा के नियमन हो जाने के कारण, राजारूप प्राकरगिक अर्थ ही वाच्य होता है, और अप्राकरगिक इन्द्रादिरूपकार्य होता है व्यंग्य अतएव उन दोनों अर्थों का भिन्न-काल में ज्ञात होना भी निश्चित है । अब सोचिये कि श्लेषस्थल के दृष्टान्त से व्यंग्योपमा-स्थल में प्राकरगिक और अप्राकरगिक अर्थों में अभेदारोप का स्वीकार करना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् नहीं उचित है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्शनिक में नितान्त भिन्नता है । पर पूर्वपक्षियों का यह तर्क भी शिथिल ही है, क्योंकि दो पक्षों को अभिधे समझने में उन दोनों का वाच्य ही होना अथवा एककालिक होना, कोई नियामक नहीं है, और न ही एक का व्यंग्य होना किंवा भिन्न-कालिक होना प्रतिबन्धक, अर्थात् एक के वाच्य और दूसरे के व्यंग्य होने पर भी तथा भिन्नकालिक होने पर भी एकसब्द-बोध्य अर्थ-द्वय में अभेदारोप हो सकता है ।

काव्यप्रकाशटीकाकारोक्तं स्रग्दयति—

एतेन—'रूपकस्थोपमाज्ञानाधीनज्ञानत्वेन प्रथमोपस्थिततया तस्या एव संबन्धत्वं कल्प्यम्' इति काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तं नातीव श्रद्धेयमिति ।

एतेनेति । पूर्वोक्तयुक्तयेति भावः । उल्लास्येत्यादौ प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोः प्रतीतिर्भवतीति सर्वगम्मतम् । तत्रासंबद्धस्याप्रकृताप्यस्य ज्ञान किमर्थमिति प्रश्ने तयोरर्थयोः संबन्ध कल्प्यः । स च अभेदाध्यवमानमूलरूपकान्मक सादृश्यमात्रमूलकोपमानस्यो वेति सन्देहे केचन प्रकाशनाख्यातारः 'उपमाया एव संबन्धव्यकरण युक्तम्, सादृश्यमात्रमूलिकायास्तस्याः प्रथमोपस्थितत्वात् । रूपकस्य ज्ञान तु उपमाज्ञानाधीनम्, सादृश्यप्रतीत्यनन्तरमेव तन्मूलरूपभेदाध्यवमानरूपकज्ञानसंभवात्' इति व्याचक्षते, तन्न युक्तम्, प्रागुपदिशितरीत्या एकशब्दोपात्तत्वरूपयुक्ताभेदाध्यवमानस्य सादृश्यज्ञानमन्तरापि संभवेन रूपकस्यैव प्रथमोपस्थितत्वादिति भावः ।

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों की उक्ति का श्रद्धेय करते हैं—एतेन इत्यादि । 'उल्लास्य' इत्यादि पक्षों में प्राकरगिक तथा अप्राकरगिक दोनों तरह के अर्थों की प्रतीति किसी न किसी तरह होती है, यह सर्वसम्मत है । वहाँ अप्राकरगिक अतएव असंबद्ध अर्थों की प्रतीति क्यों मानी जाय ? इस शका के समाधान के लिये उन दोनों अर्थों में परस्पर किसी तरह के संबन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी । वह संबन्ध अभेदारोपमूलक रूपक ही अथवा सादृश्य-मात्र-मूलक उपमा ही, इस विकल्प में, काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने कहा कि उपमा को संबन्ध मानना उचित होगा, क्योंकि उसकी सिद्धि में केवल सादृश्यज्ञान की अपेक्षा होती है, अतः उसकी उपस्थिति पहले होगी, रूपक का ज्ञान तो उपमा-ज्ञान के अधीन है, क्योंकि सादृश्य-प्रतीति के बाद ही तन्मूलक अभेदारोप-रूप रूपक का ज्ञान होना सम्भव है, अतः उसकी उपस्थिति पश्चात् होगी । परन्तु टीकाकारों का उक्त कथन असंगत है । क्योंकि पूर्वोक्त रीति से सादृश्य-ज्ञान के बिना भी एक शब्दोपात्तत्व-रूप युक्ति से प्राकरगिक तथा अप्राकरगिक अर्थों में अभेदारोप संभव है, अतः रूपक ही पहले उपस्थित होगा । सारांश यह कि रूपक को ही संबन्ध रूप में मानना समुचित है ।

विच्छिन्नप्रायं प्रसङ्गं पुनरुदतारयति—

प्रकृतमनुसरामः ।

अन्युदाहरणप्रदर्शनात्मकं प्रकृतमनुसृत्यैवाग्ने विचारं प्रवर्तयाम इत्यर्थः ।

विच्छिन्नप्राय प्रसङ्ग की पुनः अवतारणा करते हैं—प्रकृत इत्यादि । अब पुनः प्रकृत प्रसङ्ग पर हम आते हैं ।

अलङ्कारान्तरस्यापि शब्दशक्त्युद्भवसलक्ष्यक्रमध्वनित्य प्रतिजानीते—

एवमलंकारान्तरमपि शब्द शक्तिमूलानुरणनस्य विषयः ।

उपमावतिरिक्तता अपि अलङ्कारा मलक्ष्यक्रमनामकशब्दशक्त्युद्भवध्वनेर्लक्ष्यभाव जन्ते इत्यर्थः ।

'इसी तरह अन्य अलंकार भी शब्द-शक्ति-मूलक सलक्ष्यक्रम-ध्वनि में लक्ष्य हो सकते हैं ।

विरोधाभासालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'रविकुलप्रीतिमावहन्ती नरविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा ।'

एवे सूर्यस्य, कुले चरो प्रीतिं प्रेमागमावहन्ती भजयाना, नराणा मनुष्याणां, जीनां पश्याणा च कुले समूहे प्रीतिं भजते । यमुनेति प्रदान्त कर्तृपद बोध्यम् । अवारित अप्रतिबद्ध, प्रवाहो यस्याः सा, शोभन चार्जल, तत्सद्भाह यस्येति सुवारितम्, तादृश प्रवाहो यस्या सा इति पारमार्थिको विवक्षितोऽर्थः ।

अब 'विरोधाभास'-अलंकार-ध्वनि का उदाहरण दिसलाया जाता है—यथा इत्यादि । 'रविकुल ...' इत्यादि मूलोद्धिखित गद्यांश 'यमुना वर्णन' के प्रसङ्ग में लिखा गया है, जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि 'सूर्यनन्दिनी-यमुना' सूर्य कुल में प्रेम रखती हुई मनुष्यों और पक्षियों के समुदाय में प्रेम रखती है, और अप्रतिबद्ध-धारावाही तथा सुस्वाहु सलील से युक्त प्रवाहवाली है ।

उपमादयति—

इह नराणा वीनां च कुलस्य प्रीतिमावहतीति प्रकृतेऽर्थे सिद्धे रविकुलप्रीति नावहतीति द्वितीयोऽप्रकृतोऽर्थः विरोधश्च । एवमन्यत्रापि ।

विरोधेति । अलङ्कारो ध्वन्यते इति शेष अन्यत्रापि । 'अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा' इत्यनेत्यर्थः । अभिधावृत्त्या पूर्वोद्धिखितप्रकृतार्थबोधानन्तरम्, अभिधा-मूलव्यञ्जनया 'न रविकुलप्रीतिमावहति', 'सुवारितप्रवाहा' इत्येताभ्या विशेषणाभ्या क्रमशः 'सूर्यकुलप्रीति नावहति', 'साधुप्रतिबद्धप्रवाहा' इति प्रथमविशेषणद्वयार्थविरुद्धोऽप्रकृतोऽर्थः प्रतीयत इति भवतीति विरोधाभासालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिते भावः ।

उक्त गद्यांश में प्रकृतोपयोगी पक्षधर्मों का उपपादन करते हैं—इह इत्यादि । उक्त गद्यांश में अभिधावृत्ति से अथ पूर्वोक्त प्रस्तुत अर्थ का बोध हो जाता है, तब शब्दशक्ति-मूल व्यञ्जना से, 'न रविकुलप्रीतिमावहन्ती' और 'सुवारित-प्रवाहा' ये दोनों विशेषण, अपने पूर्वोक्त अर्थ से भिन्न और 'रविकुल-प्रीतिमावहन्ती' तथा 'अवारित-प्रवाहा' इन दोनों विशेषणों के उक्त अर्थ के विरुद्ध अर्थों (सूर्यकुल में प्रेम नहीं रखती तथा सुन्दर दृग् से अविरुद्ध धारावाही) को अभिव्यक्त करते हैं । उन विरुद्ध अर्थों में विरोध अलंकार भी अभिव्यक्त होता है । इस तरह यह गद्योप, विरोधाभासालङ्कार-ध्वनि का उदाहरण सम्पन्न होता है ।

अपिपदाभाव एव विरोधाभासस्य व्यङ्ग्यत्वम्, तादृशसत्ये तु तस्य वाच्यत्वमेवेत्याह—

यदि तु रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि न रविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहापि सुवारितप्रवाहा इत्यपिरन्तर्भान्वियते तदा विरोधाशास्यापिनोक्तत्वाद्द्वितीयार्थस्य च तदाक्षिप्तत्वान् ध्वनित्वम् ।

अपिपदं विरोधवाचकमिति नये रविउलेत्यादियमुनावर्णनपरे गद्ये मूलोक्तरीत्याऽऽपि-

पदप्रक्षेपे विरोधो वाच्यः । स च विरोधः पूर्वोक्तमप्रकृतं विद्वद्धार्यं विनाऽऽनुपपन्न इति तेन विरोधेन स अप्रकृतोऽर्थः आक्षिप्यते । एवञ्च विरोधो विरोधाकारभूतोऽप्रकृतोऽर्थव्यङ्ग्यो न भवितुमर्हति, अनन्यलभ्यस्यैवार्थस्य व्यञ्जनाबोध्यत्वमिति सिद्धान्तात् । तथास्त्वे च नैदं ध्वनिवेषय इति साराराः ।

उक्त वाक्य-कदम्ब के मध्य में यदि दो जगह दो 'अपि' पद रख दिये जायें, तब यह गद्यांश ध्वनिकाव्य नहीं कहला सकता है, क्यों ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—यदि तु इत्यादि । जैसे हर एक अर्थ का अपना अपना वाचक शब्द होता है उसी तरह 'विरोध' रूप अर्थ का वाचक है 'अपिशब्द' । और जब साक्षात् 'अपि' से विरोध उक्त होगा (अभिधाकृति से ज्ञात हो जायगा) तब जिन दो अर्थों का वह 'विरोध' वाच्य हुआ रहेगा, वे विरुद्ध दोनों अर्थ, 'आक्षेप' द्वारा ही समझ में आ जायेंगे, फिर तो व्यञ्जना से किसी अर्थ ज्ञान गह्रा हुआ ही नहीं, यह गद्यध्वनि कहलावे तो कैसे ?

ननु 'निपाता द्योतका न तु वाचका' इति नवे समाश्रित्याद्ये विरोधस्य अपिपदवाच्यता-विरहेण पूर्वोक्तमतसंगतम्, नैत्याह—

निपातानां द्योतकतानयेऽपि स्फुटद्योतितस्य तदाक्षिप्तस्य च वाच्यकल्पत्वात् तथात्वम् ।

तथात्वम् ध्वनित्वम् । निपाताद्योतका इति सिद्धान्ते स्वीकृतेऽपि निपातेनापिना विरोध-स्तया स्फुटं द्योत्यते, यथा सविरोधो वाच्यमान एव सपद्यते, विरोधाक्षिप्तोऽप्रकृतार्थोऽपि वाच्यमान एवेति न तत्प्रतीतिर्ध्वनिव्यपदेशहेतुः गूढव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यपदेशहेतु-त्वात् । अत एव 'अगूढमपरस्याह' मिन्यादिना अगूढव्यङ्ग्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यधनामकमभ्य-मकाव्यत्वप्रयोजकत्वमन्यत्रोक्तं संगच्छत इति भावः ।

यदि कहें कि 'निपात' तो सभी द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं । 'अपि' भी एक निपात ही है, अतः उससे 'विरोध' द्योत्य हो सकता है, वाच्य नहीं, फिर तो आप की उक्त कथा असंगत है ? नहीं, क्यों ? इसका कारण कहते हैं—निपातना इत्यादि । द्योतकों की भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों की निरन्तर स्पष्ट रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ-वाच्य से हो-जाते हैं । और कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों को कुछ गूढ रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ वाच्य जैसे स्पष्ट नहीं होते, कुछ क्षिप से रहते हैं । इस द्वितीय कोटि के गूढद्योत्य अर्थ व्यङ्ग्य कहे जा सकते हैं, पूर्वकोटि के वाच्यमान द्योत्य नहीं । 'अपि' द्योतक होकर भी प्रथम कोटि का ही द्योतक हो सकता है, अतः उससे होनेवाला स्फुट द्योत्य, 'विरोध' वाच्यमान हो जाने से व्यङ्ग्य पद को नहीं पा सकता फिर वह किसी काव्यको 'ध्वनि' पद देने में भी समर्थ नहीं हो सकता ।

प्राचीनोदाहरणे शङ्कते—

ननु 'मृणालवलययादिदबदहनराशिः' इत्यत्र विरोधाभासस्य कथं वाच्यता-लंकारत्वम्, विरोधांशस्य शब्दवाच्यताविरहेण व्यङ्ग्य यत्ताया एवाभ्युपगन्तव्यत्वात् ।

'अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलययादिदबदहनराशिः ।

सुमग । कुरङ्गशोऽस्या विधिवरातस्त्वद्वियोगपक्षिपाते ॥'

इति गम्भीरं काव्यप्रकारोक्तं पद्य काचिद्दृष्टी नायकं वक्ति-हे सुमग । (सुमगत्वश्चात्र नायिकादुरागातिशयप्राप्तत्वमूलक बोध्यम्) विधिवशतः द्वैतयोगात्, त्वद्वियोगरूपस्य, पदे-र्वञ्जत्व (वियोगे प्राणहरणसामर्थ्यात्प्राप्तत्वात् चञ्जभेदारोप-), पाते सति, अस्या चर्गनीय-नायिकायाः, कुरङ्गदृशः मृगनयनाया- (कृते इति शेषः) अभिनवा- नलीना, नलिन्याः-

कमलिन्या, किसलया देलानि, मृणालनिर्मितककणादि च द्यदहनस्य वनाग्ने, राशि समूह भवतीति शेषः अत्र नलिनीत्वादिजातीना दहनत्वजात्या विरोधस्य विरहोद्दीपकतया दहननोपचारेण परिहारात्तदाभासालङ्कारः । इदं पद्य वाच्यविरोधाभामालङ्कारोदाहृततया काव्यप्रकाशकृता लिखितम् । तत्र शकने-ननु इत्यादि । अयं भावः—अत्रापिशब्दो विरोधो पस्यापको नारित, अतो विरोधाभयोर्गतयोर्नलनीत्वद्वयत्वयोर्वाच्यत्वेऽपि विरोधाशस्य व्यङ्ग्यत्वमेव रसोक्तस्य भवेत्, तथा च कयमिह वाच्यविरोधाभासोऽलङ्कार इति ।

विरोध के प्रसङ्ग में प्राचीनों के द्वारा उद्धृत एक उदाहरण में कुछ शंका उपस्थित करते हैं—ननु इत्यादि । 'मृणालबलमादि' इत्यादि वाक्याश, जिस पद्य का है, वह सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । नायिका के पक्ष की एक दूती, नायक से कहती है—हे सुभग ! (जो कभी सुधि न ले, पर नायिका उसके विरह में मरने पर उद्यत होवे, उसको भाग्यशाली क्यों नहीं कहा जाय ?) (यद्यपि जानबूझकर अपनी इच्छा से, तुम वियुक्त नहीं हुए थे, तथापि) दैव-योग से होनेवाले तेरे 'वियोग दग्ध' के आपतन के बाद से (समाप्त रूप से प्राणहर होने के कारण विपोग को धन्न कहा गया है) इस मृगाशी के लिये कमलिनी के कोमल किसलय और मृणाल के बने कङ्कण, रत्न के यद्धि-पुञ्ज हो गए थे । यहाँ, विरहोद्दीपक होने के कारण यद्धि-भाव के आरोप से पश्चात् विरोध की शान्ति होने पर भी पहले आपाततः कमलजाति और यद्धिजाति में विरोध सा प्रतीत होता है, अतः यहाँ 'विरोधाभास' नाम का अलंकार माना जाता है । इस पद्य को वाच्य अलंकार के प्रकरण में प्राचीनों ने उदाहृत किया है । अब शंका होती है कि जब यहाँ 'अपि शब्द' नहीं है, तब 'विरोध' वाच्य तो होगा नहीं, आखिर उसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ेगा, फिर यह पद्य वाच्य-विरोधाभास का उदाहरण होगा, तो कैसे ? (एक बात यहाँ समझने की है—जिन दो अर्थों में यहाँ विरोध प्रतीत होते हैं, वे मृणालबल्य और वनवद्धि यद्यपि वाच्य हैं, पर उन दोनों का विरोध वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य है, अतः ऐसी शंका की गई है) ।

-शङ्कितस्यार्थस्यापातसुभगं समाधानमुक्त्वा खण्डयति—

न च विरोधविशिष्टाभेदस्य संसर्गत्वाद्वाच्यार्थबोधविषयतया विरोधस्य वाच्यत्वमिति वाच्यम्, विरोधाभेदयोः परस्परविरुद्धत्वेनैककालावच्छेदेनैक-संसर्गत्वस्यानुपपत्तेः । नामार्थयोरभेदस्यैव संसर्गतया विरोधस्यापि संसर्गत्वे मानाभावाच्च, पर्यन्ते द्यदहनराशिपदस्य सदृशलाक्षणिकतया विरोधांशस्य विरोधाभावाच्च ।

विरोधविशिष्टाभेदस्येति । अभेदे विरोधवैशिष्ट्य सामानाधिकरण्यासंबन्धेनेति भावः । वाच्यार्थबोधविषयतयेति । अन्विताभिधानवादिमतेनेदम् । तन्मतेऽन्वयाद्येऽपि शक्तिस्वीकारादिति भावः । यद्यप्यभिहितान्वयवादेऽपि तात्पर्यवृत्त्युपस्थापितस्यान्वयागस्य वाक्यार्थबोधविषयत्वम् सम्भवति, तथापि तावता तस्य वाच्यत्व न सम्भवति, अपितु तात्पर्यार्थत्वमिति बोध्यम् । मृणालबलयादिपदार्थस्य द्यदहनराशिपदार्थस्य च मियोऽभेदसंसर्गान्वयः, निपातातिरिक्तसमानाधिकरणनामार्थयोरभेदातिरिक्तसंबन्धोऽव्युत्पन्न इति सिद्धान्तात् । स चाभेदः प्रकृते न केवलं संसर्गतया विवक्षितोऽपि तु विरोधविशिष्टः । तयावोक्तपदार्थद्वयविषयकबोधे स संबन्धोऽपि भासेत इति विरोधो वाच्यो जात इति शंका । उत्तरयति—विरोधाभेदयोरिति । विरोधोऽभेदधेति परस्परविरोधिपदार्थद्वयम्, अतः एकरिभन् काले तयोर्द्वयोर्मिथयेनैकसंबन्धश्च न युक्तमित्यर्थः । ननु भेदाभेदधटिततादात्म्यवदुपपत्ति रत्यादिन्यत आह—नामार्थयोरिति । नामार्थद्वयस्य संसर्गस्त्वेण शुद्धोऽभेद एव

प्रसिद्ध इति विरोधविशिष्टस्य तस्य संसर्गत्वमप्रामाणिकमिति भावः । तादात्म्यस्य संसर्गत्वं तु तन्ग्रान्तरे प्रसिद्धमिति तात्पर्यम् । ननु प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरेव मानमिष्यत आह— पर्यन्ते इति । पर्यपत्तान् इत्यर्थः । कान्यत्वोपयोगिवाक्यार्थबोधानन्तरं मृणालबलव्यादि न दग्दहनराशिरिति बन्धप्रतिसन्धाने दग्दहनराशिपदस्य तत्सदृशं लक्षणाऽवश्यमेपितव्या तथा च दग्दहनराशिपदस्य मृणालबलव्यादिति पार्ष्णिकबोधे जाते विरोधोऽत्र भासेतापि न, तथा च कस्य तस्य संबन्धपदकन्वमिति भावः । इत्यत्र मध्योक्तं तामाधानमगतमिति नन्विन्यादिना समुत्पापिता शका स्थिरेति बोद्धव्यम् ।

पूर्व शङ्कित अर्थ का एक असिद्धांगतीय समाधान कहकर उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । 'मृणालबलव्यादिवन-दहनराशिः' यहाँ मृणाल-बलव्य पदार्थ का दग्दहनराशि पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है । क्योंकि निपात से अतिरिक्त दो प्राति-पादिकार्थों में अभेद से अन्य सम्बन्ध अयुक्त माना जाता है । वह यहाँ केवल अभेद के रूप में नहीं, किन्तु विरोध से युक्त होकर उक्त पदार्थ-द्वय का सम्बन्ध बनता है । और अश्विनाभिधानवादिनों के मतानुसार, वाक्य से होनेवाले वाच्यार्थ-बोध में, सम्बन्ध भी भासित होता है अन्यथा अयवद् अर्थों का अन्वय ही नहीं बन सकेगा । अतः विरोध की वाच्य माना गया है—अर्थात् वाच्य अर्थ के बोध में जो भासित होता है, उसी को तो वाच्य कहा जाता है, और यहाँ उक्त रीति से विरोध भी सम्बन्धगत होकर वाच्यार्थ-बोध में भासित हुआ है, अतः वह भी वाच्य कहा जायगा । परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध और अभेद ये दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अतः वे दोनों एक ही काल में मग्निलिख रूप से एकसम्बन्ध रूप नहीं हो सकते—अर्थात् विरोधयुक्त अभेद को एक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । मारांश यह कि—जिन दो पदार्थों में विरोध होता है उनमें अभेद नहीं हो सकता और जिन दो पदार्थों में अभेद होता है उनमें विरोध नहीं हो सकता, अतः किसी भी हालत में साथ नहीं रह सकनेवाले विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध मानना असिद्ध है । यदि आप कहें कि भेद और अभेद को मिलाकर जैसे तादात्म्य नाम का एक सम्बन्ध माना जाता है, वैसी ही विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध क्यों नहीं माना जा सकता ? हाँ, माना जा सकता था, यदि तादात्म्य के समान यह 'विरोधयुक्त अभेद' भी कहीं सम्बन्ध रूप से प्रसिद्ध होता, वह तो है नहीं, भवेत्प्रदो प्रातिपादिकार्थों के सम्बन्धरूप में शुद्ध अभेद ही प्रसिद्ध है, अतः 'विरोधयुक्त अभेद' का सम्बन्धरूप होना अप्रामाणिक है । यदि आप कहें कि विरोध की प्रतीति होती है और वह प्रतीति तबतक नहीं बन सकती, जबतक 'विरोधयुक्त अभेद' को सम्बन्ध न माना जाय, अतः (इस अनुपपत्तिरूप प्रमाण से) वैसा माना जायगा । तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अन्त में 'दग्-दहन-राशि' पद को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक ही मानना पड़ता है, अतः 'विरोध अत्र तिरोहित हो जाता है—अर्थात् लक्षणा के बाद सादृश्य सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है, विरोध की प्रतीति होती ही नहीं । फिर उसकी अनुपपत्ति के बल पर 'विरोधयुक्त अभेद' को आप सम्बन्ध कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? तात्पर्य है कि यद्यपि 'मृणालबलव्य आदि' के 'दावानलसमूहरूप' होने में विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये तापकर होने से उनको उसके समान मानने में कोई विरोध नहीं है । इस तरह से यह चीज का समाधान बन नहीं सकता, अतः यह शंका बनी रही कि 'उक्त पद्य वाच्य विरोधाभास' का उदाहरण कैसे होगा ?

नन्विन्यादिना कृतामाशका समाधत्ते—

मैवम् ।

उक्तशंका न युक्तैति भावः ।

अथ उक्त शंका का खण्डन करते हैं—'मैवम्' इति । अर्थात् उक्त शंका उचित नहीं ।

शक्या अयुक्तत्वे हेतुमाह—

उक्तपद्यस्य विरोधोदाहरणतामात्रे तात्पर्यात्, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तथात्वस्यान-
पायान् । वाच्यविरोधोदाहरणतायां त्वपिरन्वर्त्तनीयः ।

उक्तपद्यस्येति । अभिनवचलिनोप्यादिपद्यस्येत्यर्थः । उदाहरणतामात्रेति । मात्रपदेन
वाच्यत्वनिर्वाहः । तथात्वस्य विरोधत्वस्य । अनशायादिति । अनशादित्यर्थः । अभिनव-
चलिनीति पद्येऽपि पदाभावेन विरोधो वाच्यो न भवति चेत्, न भवतु, तावता न किञ्चिद-
सामग्रस्यम्, व्यङ्ग्यविरोधमादायापि प्रकाशकारस्याभिमतसिद्धे । तस्य विरोधोदाहरण-
प्रदर्शन एव तात्पर्यम्, न तु विरोधस्य वाच्यत्वे इति भावः । यदि तु वाच्यविरोधोदाहरण-
मेवैतात्पर्यमिच्छामहे, तदा मृणालबलयावपि दबदहनराशिरेति रक्ष्या अपिपदान्तर्भावो
विधेय एव ।

उक्त शब्दा क्यों उचित नहीं, इसका हेतु अथ कहते हैं—‘उक्त’ इत्यादि । काव्यप्रकाश-
कार का उद्देश्य केवल विरोध का उदाहरण दिखलाना है, यह विरोध वाच्य हो अथवा
व्यङ्ग्य इससे उन्हें प्रयोजन नहीं । अतः यदि उक्त पद्य में ‘अपि पद्’ के न रहने से विरोध
वाच्य न भी होता—व्यङ्ग्य ही होता है, तथापि प्रकाशकार की अभीष्ट सिद्धि हो ही
जाती है । फिर वहाँ क्रिपी तरह की असङ्गति की आशंका निर्मूल है । वाच्य विरोधाभास-
लकार का उदाहरण दिखलाना यदि अभीष्ट होगा, तब ‘अपि’ पद का पाठ करना ही
पदेगा अर्थात् बीसा ही उदाहरण खोजना होगा, जहाँ अपि पद से विरोध वाच्य होता हो ।

उक्तकाव्यप्रकाशग्रन्थसंगतिसाधकं मतान्तरमाह—

‘केचित्तु—‘विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि विरोधिद्वयस्य वाच्यतामात्रेण विरोधा-
भासस्य वाच्यालङ्कारव्यपदेशोपपत्तिः । इत्यमेव चांशान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽप्ये-
कांशान्तादाय समासोक्त्यादीनामपि वाच्यालङ्कारव्यपदेशः’ इत्याहुः ।

‘मृणालबलयादिदबदहनराशि’ इति प्रकाशग्रन्थे अपिपदस्यात्मत्वेन विरोधाशय
व्यङ्ग्यत्वेऽपि मृणालबलयादिदबदहनराशिरपि विरोधिद्वय वाच्यमेव, तावत्तैव ‘अथ
विरोधाभासालङ्कारो वाच्य’ इति व्यवहारी भवति, यतो विरोधाशो विरोधिद्वयाराध मिलि-
त्वाैव विरोधाभासशरीरम् । तत्रैकस्याशयस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अन्यस्याशयस्य वाच्यत्वेन विरोधा-
भासस्य वाच्यत्व मुत्सर्गम् । यथा समासोक्त्यालङ्कारस्य प्रकृताप्रकृतघटितस्य, अप्रकृता-
शयस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि वाच्यत्वव्यवहार इति भावः । अथ ‘केचित्तु’ इत्यनेनाशयि सूच्यते ।
तदीनं च समासोक्त्यादिषु गत्यन्तराभावेन तथा स्वोदाहरेऽपि विरोधाभासस्थले पूर्वोक्त-
रीया वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोः स्फुटमेवे मभवति तादृशविश्लेष्यन्त्या कृतेत्यादि बोध्यम् ।

उक्त ‘प्रकाश-ग्रन्थ’ को संगत सिद्ध करने के लिये अन्य विद्वानों के द्वारा कहे गये एक
भिन्न प्रकार का उल्लेख करते हैं—‘केचित्तु’ इत्यादि । कुछ लोगों का ध्यान है कि
‘मृणाल बलयादिदब दहन-राशि’ इत्यादि स्थल में ‘अपि पद्’ के न रहने से ‘विरोध’ व्यङ्ग्य
है, वाच्य नहीं, यह बात सत्यरिक्त है, तथापि तिनका विरोध व्यङ्ग्य होता है, ये विरोधी
द्वय-अर्थात् मृणालबलया आदि और दबदहनराशि तो वाच्य हैं,—तावत्तैव यहाँ विरोधा-
भास अलङ्कार वाच्य कहलायगा । तात्पर्य यह कि विरोध अश और विरोधी द्वय अश के
दोनों अश मिलकर ही तो विरोधाभास अलङ्कार का शरीर बनने है, उनमें एक अश
(विरोध) के व्यङ्ग्य होने पर भी और अश के वाच्य होने से विरोधाभास अलङ्कार में
वाच्यत्व का व्यवहार होगा, जैसे—अस्तुत वाच्य और अस्तुत व्यङ्ग्य इन दोनों अशों को
मिलकर बनने वाले समासोक्ति अलङ्कार में एक अंश के व्यङ्ग्य रहने पर भी वाच्यत्व
व्यवहार होता है । यहाँ ‘केचित्तु’ से कुछ अरथि सूचित होती है, जिसका अर्थ यह है

किं समाप्नोक्ति आदि में निरुपाय होकर वैसा मान लेने हैं, पर यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ 'अपि' पद के रहने पर विरोधाभास वाच्य और उसके नहीं रहने पर वह व्यङ्ग्य, हम तरह से जब स्पष्ट भेद संभव है, तब क्यों उस तरह की कष्ट-कल्पना की जाय ?

चन्द्रशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा वा—

‘कृष्णपक्षाधिकर्हाच. सदासम्पूर्णमण्डलः ।

भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥’

कृष्णस्य भगवतः, पक्षे श्ये (न तु सासारिकविषयाशे इति भावः) अधिकं रश्चि. प्रीतिर्यस्य स, सद्भिः सन्नेन, आपूर्णं न्यात, मण्डलं राष्ट्रं यस्य स, निष्कलङ्कं पवित्रं, आत्मा यस्य स, अयं कथनं वर्णनाय, भूपः राजा वसुधातले, मोदते, प्रसीदतीति प्रकृतोऽर्थः । कृष्णपक्षेऽस्तिपक्षे, अधिरश्चिः विशदकान्तिः, सदा सर्वदा, सम्पूर्णमण्डलः पूर्णविव, (न तु कदापि चन्द्रवत् साण्डितविव इति भावः) निष्कलङ्कात्मा कलङ्कराज्य-स्वरूपः इति राजविशेषणोभूत् एव चन्द्रवैधर्म्यबोधकोऽप्रकृतोऽर्थः ।

अथ चन्द्रशक्ति-मूलक 'व्यतिरेक अलंकार' ध्वनि' का उदाहरण देते हैं—यथा वा इत्यादि । जिसकी कृष्ण भगवान् के पक्ष (अंश) में (न किं सासारिक विषय के अंश में) अधिक रश्चि है, जिसका राष्ट्र मण्डल सबनों से परिपूर्ण है, जिसकी आत्मा निष्कलंक है, ऐसा यह राजा, भूतल पर मोद पा रहा है । यह है प्राकरगिक अर्थ, और इसके अतिरिक्त अप्राकरगिक अर्थ भी है, जिसके द्वारा राजा में चन्द्र से वैधर्म्य दिखलाकर आधित्य सिद्ध किया जाता है, जैसे चन्द्र कृष्णपक्ष में कान्तिहीन हो जाता है, पर यह राजा कृष्णपक्ष में भी अधिक कान्तिशाली है, चन्द्रमण्डल सदा पूर्ण नहीं रहता और यह राजा सदा पूर्णमण्डल रहता है, चन्द्र कलंकी है, यह निष्कलंक है ।

उपपादयति—

अत्र भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणो प्रकृतभूपोपयोगित्वात्प्रकृतोऽर्थे शक्त्या प्रतीतिपथमवतीर्णे द्वितीयोऽर्थोऽप्रकृतो वैधर्म्यात्मा तत्प्रयुक्तो व्यतिरेकश्च ।

भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणो योऽर्थोऽनुपदमुक्तः, स एव कृतः प्रकृत इत्यत आह— प्रकृतभूपोपयोगित्वादिति । प्रतीतिपथमवतीर्णे इति । बोधविषये जात इत्यर्थः । द्वितीय इति । पूर्वोद्धिखितचन्द्रवैधर्म्यबोधक इत्यर्थः । वैधर्म्यात्मा इति । वैधर्म्यात्वरूप इत्यर्थः । व्यतिरेकश्च इति । ध्वन्यत इति शेषः । भूपोऽत्र प्रकृतः, तदुपयोगित्वात् भगवत्पक्षाधिक-रश्चिलक्षण उवताभोऽपि प्रकृतः इति तस्मिन्नर्थे प्रकरणेनाभिधा नियम्यते, अतः स एवार्थो वाच्यः । अस्तिपक्षेऽधिककान्तिरित्यादिचन्द्रवैधर्म्यात्मा अर्थस्तु अप्रकृतत्वात् न वाच्यः, अपि तु व्यङ्ग्यं, तत्प्रयुक्तो व्यतिरेकालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यः । तथा च शब्दानां परिवृत्यसह-त्वेन भवतीदं पद्य शब्दशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनेर्लक्ष्यमिति भावः ।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—'अत्र' इत्यादि । उक्त पद्य, राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः राजा प्राकरगिक अर्थ है, और तदुपयोगी होने से 'भगवत् पक्ष में अधिक रश्चि रहने वाला' इत्यादि पूर्वोक्त अर्थ भी प्राकरगिक है, अतः प्रकरण से, उक्त प्राकरगिक अर्थों में पदवाच्य के अन्तर्गत पदों की अभिधासक्ति नियन्त्रित हो जाती है—वे ही अर्थ वाच्य कोटि में आते हैं और 'कृष्णपक्ष में अधिककान्तिशाली' इत्यादि चन्द्र वैधर्म्य अप्राकरगिक अर्थ तो उक्त वाच्य अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद व्यञ्जना से ज्ञात होते हैं—व्यङ्ग्य कोटि में आते हैं, इसी व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर उपमान

चन्द्र से उपमेय राजा में आधिपत्य प्रतिपादनरूप 'व्यतिरेकालंकार' भी व्यङ्ग्य होता है। यहाँ के शब्द धड़के नहीं जा सकते हैं अतः यह पद्य शब्द-शक्ति मूलक व्यातिरेकालंकार-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

अत्र व्यज्यमानस्य व्यतिरेकस्य गुणीभूतावभासार्थं च निररथति—

न चात्र व्यतिरेकस्य काव्यगतरा जायपयकरतिभावात्कर्षकतया गुणीभूतस्य कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं, प्रधानस्यैव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वादिति वाच्यम्, उदासीने वक्त्रि तत्त्वाथकथनपरस्यास्य पद्यस्य वक्तृगततरतिव्यञ्जकवासगतेः, गुणीभूतस्याप्यर्थस्य वाच्यार्थापेक्षया प्रधानतया ध्वनिव्यपदेशहेतुतायाः प्राचीनैः स्वीकाराच्च । अन्यथा—

‘निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलारलाध्याय शूलिने ॥’

इत्यत्र व्यतिरेकध्वनित्वं तैरुक्तमसगतं स्यात् । व्यातिरेकस्य भगवद्विषयकरति-मानाङ्गताया अनुभवसिद्धत्वात् ।

कविगतेति । कविगतं कविहृदयवर्ती, यो राजविषयकं वर्णनीयनृपोद्देश्यक, इति भावः । भक्त्यपरपर्यायं प्रेमभाव, तस्य उत्कर्षकतया षोडशतयेत्यर्थः । अथ च व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वे हेतुः उदासीन इति । रतिरोषोभयानाविष्ट इत्यर्थः । अत्र सतीति 'शेषः । तत्त्वायंति । यथास्थितार्थेत्यर्थः । वस्तु रतिभावाविश्लेषे पद्यस्य राजरतुतिपरकत्वेन व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वेऽपि ध्वनित्वं स्थापयति—गुणीभूतस्यापेक्षादिना । अन्येति । तथागद्भोकार इत्यर्थः । निरुपादानेति । उपादानसंभारं सामग्रीसमूहं 'तुलिकादिकं तद्रहितं यथा श्यातयेति क्रियाविशेषणम् । अभित्तावेव शून्य एव, चित्रं जगत् नामाविर्षं विभ्रम्, तन्वते विस्तारयते, सृजते इति यावत्, तस्मै अग्निर्वचनीयरवरूपाय, कल्या चन्द्र-योदशमागेन, रलाध्याय स्पृहणीयाय शूलिने शिपाय नमः इत्यर्थः । पद्ये चित्रमालेख्यम् । कला आलेख्यक्रियाकौशलम् । तं प्राचीनैः रतिभावाङ्गताया इति । रतिभावषोडशत-नाङ्गत्वम् इति भावः । कृष्णपक्षेतिपत्रं रात्रं स्तुती केनापि रविना प्रयुक्तम् । तथा च कविनिष्ठराजविषयकरतिभाव एवात्र प्रधानव्यङ्ग्यः । व्यतिरेकस्तु व्यज्यमानोऽपि तस्योपकृतया गुणीभूतो न ध्वनिव्यवहारहेतुः प्रधानव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यप्रयोजकतास्वीकारात् इति शङ्का । नेदं पद्यं रात्रं स्तुतीं प्रयुक्तम्, वक्तुं उदासीनत्वात् । अपि तु वास्तविकार्थवर्णनपरमेव पद्यमेतत् । तथा च नारमान्पवात् कविनिष्ठराजविषयकरतेरभिव्यक्तिः । तदनभिव्यक्तौ च न व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्योन्वर्षकत्वं गुणत्वं चेति चोत्तरम् । अथवा आस्तामिदं पद्यं राजरतुतिपरमेव, भवतु च कविगतराजविषयकरतिभावषोडशतया व्यतिरेकस्य गुणीभावः, तथापि व्यतिरेकध्वनित्वमिदं मुस्यमेव, पार्श्वतिकव्यङ्ग्यरतिभावापेक्षया गुणत्वेऽपि वाच्यापेक्षया व्यतिरेकस्य प्राधान्यसत्त्वात्, 'इदमुत्तममनिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिवृत्ते कवित्' इति ध्वनिलक्षणं कुर्वता प्राचीनेन वाच्यमात्रपेक्षया प्रधानस्यैव व्यङ्ग्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुता म्यन्तात् । अतएव—'निरुपादानसंभारः—' इति पद्ये भगवद्विषयकरतिभावषोडशतयाऽनुभवसिद्धमपि व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकालंकारस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं प्राचीनैः प्रदर्शितं संगच्छत इति भावः ।

उक्तं पद्यं मे 'व्यतिरेक' व्यङ्ग्य होने पर भी गौण है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता, इस तरह की भासंका और उमका मण्डन भव करते हैं—न चात्र इत्यादि ।

‘कृष्णपक्षाधिक रवि.....’ इत्यादि पद्य में कविने किसी राजा की स्तुति की है, अतः इस पद्य से वर्णनीय राजा के प्रति कवि-हृदय गत प्रेमभाव ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि उक्त रांति से व्यतिरेक अलंकार भी यहाँ व्यङ्ग्य होता है, पर वह प्रधान-व्यङ्ग्य कविगत रतिभाव का पोषक होने के कारण गुणीभूत है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार के हेतु होने योग्य नहीं है फिर कैसे इस पद्य को व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण मानते हैं ? इस तरह की आपत्तियाँ नहीं करनी चाहिए। क्योंकि एक तो यह कि उक्त पद्य का वक्ता, राजा की चापलूसी करने वाला नहीं है, वह एक उदासीन व्यक्ति है, अतः उसने इस पद्य में जो कुछ कहा है, वह वास्तविक स्थिति का वर्णन है—झूठी प्रशंसा नहीं, फिर इस पद्य से राजा के प्रति वक्ता का प्रेमभाव कैसे व्यक्त हो सकता है ? वह तो वहीं होता है, जहाँ वक्ता झूठमूठ की प्रशंसा करता हो। और जब यहाँ उक्त प्रेमभाव व्यक्त नहीं होगा, तब उक्त व्यतिरेकरूप व्यङ्ग्य की प्रधानता मानी ही जायगी। दूसरा कारण यह भी है कि—जो व्यङ्ग्य किसी दूसरे व्यङ्ग्य की अपेक्षा गौण भी हो, पर वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो, तो उस व्यङ्ग्य को भी ध्वनिव्यवहार का नियामक प्राचीनों ने माना है, अत एव ध्वनिशास्त्र का लक्षण, ‘इदमुत्तममतिराविनि व्यङ्ग्ये वाच्ये ध्वनिर्बुधै कथितः’ अर्थात् वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक उत्तमकारी व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर ‘ध्वनि’ नामक उत्तम वाच्य कहा जाता है’ ऐसा उन्होंने बताया है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तब ‘निरादान’ इत्यादि अर्थात् विना सामग्री के अभिति—निराधार—में ही सत्तार चित्र को बनाने वाले अतएव प्रशंसनीय कला-कौशलवाले शिव जी को मेरा नमस्कार है’ इस पद्य को व्यतिरेकालंकार ध्वनि का उदाहरण, प्राचीन आचार्य कैसे मानते ? तात्पर्य यह कि इस पद्य से भी सर्वप्रधानरूप में कविगत भगवद्विषयक प्रेमभाव ही व्यक्त होता है और व्यतिरेक उस प्रेमभाव के अङ्ग (पोषक) रूप में ही व्यङ्ग्य होता है, ऐसा यद्यपि सत्रों का अनुभव है, तथापि जैसे भावध्वनि की अपेक्षा गौण होने पर भी वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, यहाँ व्यतिरेक को ध्वनिव्यवहार का नियामक मानते हैं, उसी तरह पूर्वोक्त प्रकृत पद्य में व्यतिरेक ध्वनि का व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिसुदाहरति—

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिर्यथा—

‘राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ।

बाले ! वारय पान्थस्य दासदानविधानत ॥’

पान्थ कामपि न्वपौवन्व वक्ति—

हे बाले ! त्वम्, मत्प्रतिकूलान् महद्विरुद्धव्यापारप्रवणान् राह नृभान्, उपस्थितं प्राप्तं पान्थस्य पथिकस्य, मे मम, महद् प्राणोपघातकं भय वासस्य निवामस्थानस्य दानस्य, विधानतः करणात्, वारय इत्यापाततो वाच्योऽर्थः प्रतीयते । मत्प्रतिकूलात् विद्योगिनो ममैवोद्वेजकतया क्लेशप्रदात् (अभ्येषा तु सुखकर एष स इति भावः) राह्यन्द्रात् उपस्थितं, पान्थस्य विद्योगिन (एतेनेकगुणैः शिष्यं श्रेयते) मम मत्त् प्राणहरम्, भयम् कामार्तिरूपम्, वारयस्य निवामस्थानस्य दानस्य संभोगान्ममस्य, विधानतः वारय दूरीकुरु, अर्थात्—विराट्मन्ता विरहकातरतया परमोत्कृष्टतमामयमुदीवमान-धन्द्रो नितरामुद्वेजयति अत उपभोग देहि इति च व्यङ्ग्योऽर्थः ।

अथ शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—शब्द इत्यादि । शब्द-शक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण ‘राज्ञो मत्प्रतिकूला.....’ इत्यादि पद्य होता है । यह पद्य, पथिक के द्वारा किसी युवती के प्रति कहा गया है । इस पद्य से पहले आपा-

ततः चाप्य रूप में यह अर्थ प्रतीत होता है कि बाले—युवावस्था के प्रथम सोपान पर पग रखने वाली सुन्दरि । राजा मुझ से सर्वथा विरुद्ध है, अतः उससे महान् (प्राण-हानि कर) भय उपस्थित हो गया है, मैं एक पथिक हूँ, यहाँ मेरा कोई रक्षक नहीं, अतः तुम अपने यहाँ जगह देकर उत भय से मुझे बचाओ। पर, अभिधामूलव्यञ्जना से यहाँ यह अर्थ विदित होता है कि मैं पथिक हूँ—चिरकाल से बाहर बाहर ही घूमता रहा हूँ, अतः प्रियेसी-समागम-सुख से वञ्चित हूँ। वित्त उत्कण्ठित हो रहा है, अथ तक तो किसी किसी तरह उस ठाकण्डा का दमन करता रहा, पर अद्य दमन समर्थ नहीं। यह आकाश में चमकने वाला राजा (चन्द्र) मेरे विरुद्ध खड्गहस्त होकर खड़ा हो गया है, यह मेरे प्राण लेकर ही छोड़ेगा, अतः हे सुन्दरि ! दाम और दान (स्थान और समोग) के विधान से अर्थात् अपने पास रखकर समोग की सुविधा से मेरे प्राणों की रक्षा कर। संक्षेप में व्यङ्ग्यार्थ का अभिप्राय यह हुआ कि यह चन्द्र, चिरविरही अत एव नितान्त उत्कण्ठित मुझको उद्दिग्ध कर रहा है, अतः समोग को अवसर दो। यह व्यङ्ग्य अर्थ उक्त वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारी है अतः प्रधान है, अतः एव इयं व्यङ्ग्य के आधार पर यह पद्य 'अनि' कहलाने योग्य है।

उपपादयति—

अत्रोपभोग देहीति वस्तु राजपदशक्तिमूलानुरणनविषयः । राजपदाद्यन्त्रो-
पस्थितावेव चन्द्रजनितमयगरणकारणं देनोपभोगस्याभिव्यक्तैः ।

राजपदेति । राजपदनिष्ठा या शक्तिरभिधात्मिका-तन्मूलक यदनुरणन व्यञ्जना, तस्य तज्जन्यवेषस्य विषय इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—राजपदाच्चेत्यादिना । चन्द्रेति । चन्द्रजनितं चन्द्रोदयप्रयोज्यमित्यर्थः । यत् भयं कामपीडाभिष्यसंभावनात्मकम्, तस्य वारणशान्तिः, तत्कारणत्वेनेत्यर्थः । अत्र पूर्वोक्तो द्वितीयोऽर्थः राजपदनिष्ठाभिधामूल-व्यञ्जनैव बोध्यते, राजपदजन्यचन्द्ररूपोऽपिप्रतीत्यनन्तरमेव चन्द्रजन्योद्देशमनहेतु-तया उपभोगरूपार्थप्रतीतिः । एवमाभिव्यक्तस्य राजपदस्य परिदृष्ट्यगहतया शब्दशक्ति-मूलवस्तुष्वनेरुदाहरणमेतत् पद्य भवतीति भावः ।

पूर्वोक्त उदाहरण में अपेक्षित विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ उपभोग प्रदान की याचनारूप वस्तु (बात), राजपद की शक्ति शिमका मूल है, उस अनुरणन (व्यञ्जना) का विषय है अर्थात् राजपदनिष्ठ अभिधामूलक व्यञ्जनावृत्ति से वह वस्तु लक्ष्यत होती है, क्योंकि राज पद में 'चन्द्ररूप' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही चन्द्रोदय से उत्पन्न कामपीडाभिस्यसंभावनात्मक भय की निवृत्ति के कारणरूप में, उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चन्द्र' न हो तो इस श्लोक से समं गवारी बात निकल ही न सके। अतः इस व्यञ्जना का मूल 'राज' पद की अभिधा ही है।

अलकारध्वनित्वमस्य पद्यस्याशनस्य निराकरोति—

न चात्र नृपचन्द्रयोरुपमानोपमेयभावः भेदापोहरूप रूपक वा तथा-
स्तिवति वाच्यम्, इह नृपरूपस्यार्धस्य चन्द्ररूपार्धगोपनामात्रार्थमुपात्तार्थेन
युगपदुल्लसितोपमानोपमेयकयोरुपमाकारयोस्तात्पर्यविषयताया अयोगान् ।

भेदापोहेति । अभेदेत्यर्थः । तथास्तिवति । अनुरणनविषयोऽस्त्वित्यर्थः । युगप-
दिति । युगपर एककालवच्छेदेन, उल्लसिते प्रतीतिपथमवतीर्णं, उपमानोपमेयं ययोस्तयो-
रित्यर्थः । अयोगात् अयुक्तत्वात् । अतलनिर्गलदित्यादाविव प्रयुनेऽपि वर्णनीयो नृप-
चन्द्र इवेत्युपमाकार नृपचन्द्र इति रूपकालकारी वा प्रयेतु शक्यते, तथा चालकारध्वने-
रेवेदमुदाहरण न वस्तुष्वनेरिति शङ्का । धर्म्यं राजपद प्रयुज्य चन्द्ररूपविशितार्थ-

गोपनायैव वक्ता नृपरुषोऽर्थ इहोपात्त । तथा चात्रोपमा रूपकं वा वक्तुस्तात्पर्यविषयो न भवितुमर्हति यत् उपमारूपययो स्थले एवस्मिन् क्षण एव द्वयोपमानोपमेययोः प्रती-
तिर्जायते, इह तु गोपनकारणस्य नृपरुषार्थस्य प्रथम प्रतीतिः, गोपनीयस्य चन्द्ररूपा-
र्थस्य च पश्चात् । अतो नात्रालंकारध्वनिमभावनेति च समाधानम् ।

उक्त पद्य को अलंकार-ध्वनि का उदाहरण क्यों नहीं माना जाय, यह शंका तथा उसका उत्तर अद्य कहते हैं—न चात्र इत्यादि । 'करतल'..... इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में जिस-
तरह 'सार्वभौमः सार्वभौम इव अर्थात् राजा दिग्गज के समान' यह उपमा अलंकार व्यङ्ग्य
माना जाना है, उसी तरह 'राज्ञोमन्'..... इत्यादि प्रकृत पद्य में भी 'राजा (नृप)
राजा (चन्द्र) के समान' यह उपमा व्यङ्ग्य मानी जा सकती है अथवा उपमान तथा
उपमेय का अभेदरूप रूपक व्यङ्ग्य माना जा सकता है, अतः इस पद्य को अलंकारध्वनि
का उदाहरण मानना उचित है, वस्तु-ध्वनि का नहीं, यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए
क्योंकि यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा'-अर्थ केवल 'चन्द्र' रूप अर्थ का गोपन करने के
लिये गृहीत हुआ है, अर्थात् कवि ने अपने अभिप्राय को गुप्त रखने के लिये ही दो अर्थ
वाले पद का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं । अतः 'चन्द्र' रूप
अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी नहीं और उपमा
अथवा रूपक तब होते हैं, जब उपमान और उपमेय की प्रतीति एक साथ हो अन्यथा
सादृश्य अथवा अभेद होगा किन दोनों का । तात्पर्य यह है कि—जब तक 'राज' पद का
'राजा' अर्थ प्रतीत होता रहेगा, तब तक 'चन्द्र' अर्थ नहीं ज्ञात होगा और जब 'चन्द्र'
अर्थ ज्ञात हो जायगा, तब 'राजा' रूप अर्थ का भूत पूर्व ज्ञान भ्रम (झूठ) सिद्ध
हो जायगा । अतः उपमा अथवा रूपक यहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता
को यह अभीष्ट नहीं है कि यहाँ अलंकार व्यङ्ग्य हो ।

अथैवं वाक्यभेदापातिर्नेत्याह—

न चासंसृष्टार्थद्वयबोधने वाक्यभेद इति वाच्यम्, तुल्यकक्षतया द्वयोरसं-
सृष्टयोरर्थयोः प्रतिपिपादयिपित्व एव तस्याभ्युपगमनम् । इह स्वाच्छादकप्रती-
तिसमये आच्छादाऽप्रतीतिः, आच्छाद्यप्रतीती आच्छादकन्यग्भाव एवेति
नास्ति तुल्यकक्षता ।

असंसृष्टेति । असंबद्धेत्यर्थः । वाक्यभेद इति । वाक्यद्वयकल्पनाप्रसङ्ग इति भावः ।
तुल्यकक्षतयेति । समानावस्थकतयेत्यर्थः । प्रतिपिपादयिपित्व इति । प्रतिपादयितुमिष्ट
इत्यर्थे प्रत्युपसर्गाक्षत् प्यन्तपदातीरिच्छायै सनि तदन्तात् कप्रत्यये प्रतिपिपादयिपितेति
तस्य भाव इत्यर्थः । तस्य वाक्यभेदस्य । आच्छादकेति । नृपरुषार्थेत्यर्थः । आच्छाद्येति
चन्द्ररूपार्थेत्यर्थः । न्यग्भावस्तिरोधानम् । राज्ञो मरुप्रतिकृतेति पद्ये प्रतीक्षमानयोर्नृपचन्द्र-
रूपयोरर्थयोर्मियः उपमानोपमेयभावात्मकस्य अभेदात्मकस्य वा संबन्धस्यास्वीकारे तयो-
र्थयोर्बोधाय वाक्यद्वयं कल्पनीयं स्यात्, सकृदुचरितं, शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति
रीत्या एकरमान् वाक्यादर्थद्वयविषयबोधाय सिद्धान्तनिश्चिन्तान् इति शङ्कापक्षीयाभि-
प्रायः । यत्र शब्दस्तेपादिस्यले ममकरी परस्परमनन्तौ द्वार्थौ वक्तुः प्रतिपादयितु-
मिष्टो, तत्रैव वाक्यद्वयरूपनावश्यकता । इह तु आच्छादकस्य (गोपनेतो) नृपरु-
षार्थस्य प्रतीतिकाले आच्छाद्यस्य (गोप्यस्य) चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिरेव न, एवम् आच्छा-
द्यस्य चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिसमये आच्छादकस्य नृपरुषार्थस्य न प्रतीतिः । अर्थात्—
नृपरुषार्थस्याभिधया पूर्वम् प्रतीतिः, चन्द्ररूपार्थस्य च व्यञ्जनया पश्चात्प्रत्यय इति न
तयोस्तुल्यकक्षता, अतो न वाक्यद्वयकल्पनावसरः, अन्यथा स्थग्यस्थले सर्वत्रैव तथा

रूपना प्रमज्येतेति समाधानपक्षाभिप्रायो योग्य । नागेश्वरतु वाले इति संबोधनेनात्र
व्यङ्ग्यस्य वाच्यमानताकरणात् ध्वनिक्यपदेशहेतुत्वमिन्वाचये ।

यदि आप कहें कि इस तरह से जब आप प्रकृत पद्यमें नृप और चन्द्र इन दोनों
अर्थों में सादृश्य अथवा अभेद—उपमा अथवा रूपक-सम्बन्ध नहीं मानते और दोनों ही
अर्थों की प्रतीति मानते हैं, तब तो इन दो अर्थों के बोधार्थ दो वाक्य भी मानने पड़ेंगे,
क्योंकि 'एक बार उच्चारित पद एक ही अर्थ का बोधक हो सकता है' इस नियम के अनु-
सार अक्षरवद् दो अर्थों का बोध एक वाक्य में नहीं किया जा सकता। तो यह तर्क भी
आपका समत नहीं है, क्योंकि वाक्यभेद यहाँ होता है जहाँ शब्दरूपेण आदि के स्थल
में—समान कक्षा (अवस्था) वाले दो अर्थों का प्रतिपादन करना, चत्तु का अभीष्ट
रहता है। पर यहाँ तो दोनों अर्थ समकक्ष नहीं हैं। एक (नृपरूप) है, गोपन करने
वाला और दूसरा (चन्द्ररूप) है, गुप्त होने वाला। अतः गोपक अर्थ की प्रतीति के
समय में गोप्य अर्थ की प्रतीति नहीं रहती और गोप्य अर्थ की प्रतीति हो जाने पर
गोपक अर्थ निरोहित हो जाता है। यहाँ नागेश्वर महोदय का कहना है कि 'वाले' इस
संबोधन पद से गोपनीय (ध्वङ्ग्य) अर्थ स्पष्ट श्लक्ष्णता है—वाच्य अर्थ के समान हो
जाता है अतः उसके आधार पर इस पद्यको 'ध्वनिकाव्य' नहीं कहा जा सकता।

काव्यप्रकाशोक्त शब्दशास्त्रिमूल्यवस्तुव्यनेकदाहरण परीक्षते—

काव्यप्रकाशे तु—'शनिरशनिश्च तमुच्चैः इत्यादिकमुदाहरण्य 'अत्र विरुद्धो
द्वापि स्वदन्वर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यत' इत्युक्तम् । तच्च 'द्वौ शन्य-
शनी उदारानुदारी चैकं कार्यं हननं भ्रानं च' इति व्याख्यातुभिर्व्याख्यातम् ;
तत्र शन्यशन्योर्हननक्रियाकर्तृव्यान्येऽप्युदारानुदारयोर्भ्रानकर्तृत्वपदार्थविशेष-
णयोस्तत्प्रकारविशेषणयोवा माक्षाद्भ्रानकर्तृत्वान्यथाभावात् ध्वन्येककार्यकारित्य
संगतं स्यात् ।

शनिरिति । 'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहितं जुष्यति नरेन्द्र । यस्मै त्वम् । यत्र प्रसी-
दसि पुन स भान्युदारोऽनुदारश्च ।' इति पूर्णम् पद्यम् । हे नरेन्द्र ! यस्मै त्वं जुष्यसि,
तम्—शनिरशनिर्विशेषेण अशनि शनिविरोधी वस्तुतो वज्रम्, उच्चैरित्येव, निहितं । यत्र
पुन—पुन शब्दान्वयं, गतमर्थो विपयत्वम्, तथा च यन्पुनविषये तु इत्यर्थः । प्रसी-
दसि प्रसन्नो भवसि, स पुरुषो देवदत्तादि उदारो दाता महान् वा, अनुदार उदारविरोधी
वस्तुतोऽनुगतदार नृपदसैश्वर्याप्रवासात्, सन् भातीत्यर्थः । हननं भ्रान्त्यति ।
उदतः इत्यनुपपन्नं । कर्तृत्वान्ये इति । कर्तृत्वस्य अन्ये सन्धे इत्यर्थः । उदारानुदार-
योरिति । तत्पदार्थयोरिति भावः । भ्रान्त्यति । भ्रान्तियया कर्ता च पदरथतत्प-
दस्य अर्थं बुद्धिरस्य, तस्य विशेषणयोरित्यर्थः । तत्प्रकारेति । तस्य भ्रान्त्यत्पदार्थ-
स्योद्देश्यतया विशेष्यभूतत्वात्, प्रकार विशेषणीभूतो य विशेष्यरूपो देवदत्तादि, तस्य विशेष-
णयोरित्यर्थः । वा शब्दस्योत्तरपक्षदाटवस्तुक्तत्वाऽऽयमेव पदो युक्त इति बोध्यम् ।
कर्तृत्वावशाभावादिति । कर्तृत्वमवशाभावादित्यर्थः । एवञ्च 'उदारानुदारयोरिति गत-
म्यन्तम् न तु पठ्यन्तमिति भावः । पूर्वत्र शन्यशन्योरित्यपि सार्थवेति बोध्यम् । मूलोद्धृत
प्रमाणध्वन्यव्याख्यानं न युक्तम्, यतस्ततो ध्यागत्यानात् । 'उदारानुदारो मानरूपमेकं कार्यं
उदत' इत्यादि ध्वन्यव्यङ्ग्यपत्ता सिद्धवति, तच्च न गमयति, विचारामदन्वान् ।
तथादि—शनिरशनिर्विरादिपदे भातीति क्रियाया कर्ता स इति उक्तं, तस्य विशेषणम्
उदारोऽनुदारश्चेति, अथवा स इत्युद्देश्यस्य माक्षान् विशेषणं देवदत्तादिविधेयं, तस्य

विरोपणमुदाहरादि, उभयथापि मानकियाकर्तृत्वस्य उदाहरानुदाहरणयोर्न साक्षात् संबन्धः । शन्यरान्योस्तु हननक्रियाकर्तृत्वस्य सवन्धोऽस्तीति तदंशमादाय विरुद्धां द्वा-
वर्णात्प्रादि प्रकाशप्रत्ययस्य संगतावपि व्याख्याग्रन्थोऽसंगत एवेति भावः ।

अथ काव्यमहाशोक, शब्दशान्तिमूलध्वनि के उदाहरण पर विचार करते हैं—काव्य
हत्यादि । काव्यप्रकाश में 'शानिरशानिध'..... इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत
है—एव शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण कहा गया है । कवि का कथन है—
हे राजन् ! आप जिसके ऊपर क्रुद्ध होते हैं, उसको शानि (ग्रहविशेष) और 'अशानि'
(शानि का विरोधी वस्तुतः वज्र) दोनों मारते हैं । और आप जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं
वह उदार (दानशील) तथा अनुदार (उदार से भिन्न, वस्तुतः अनु=अनुगत,
दारा=पानी वाला) शोभित होता है अर्थात् आपके दान से घनी होकर प्रवामी नहीं
होता अतः उसे वियोगजन्य कष्ट कभी नहीं सहना पड़ता । इस उदाहरण का उल्लेख
करके काव्यप्रकाश में कहा गया है कि—'इस श्लोक में 'विरोधी भी दोनों तुम्हारी
अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं' यह बात व्यक्त होती है ।' और व्याख्याकारों ने
इसकी यह व्याख्या की है—'दोनों शानि और अशानि एवम् उदार और अनुदार । एक-
कार्य=मारना और सुशोभित होना ।' अथ यहाँ पण्डितराज का कथन है कि उक्त
व्याख्या ग्रन्थसंगत नहीं प्रतीत होती, कारण, उससे जो यह अभिप्राय निरलता है कि
'उदार तथा अनुदार जोभारूप एक कार्य को करते हैं' यह वस्तु भी यहाँ व्यङ्ग्य होती
है, वह अनुचित है, क्योंकि शानि और अशानि में मारना क्रिया के कर्त्तव्य का संबन्ध है,
अतः उन दोनों का 'मारना' रूप एक कार्य यद्यपि हो सकता है, तथापि दूसरी क्रिया
'सुशोभित होना' का कर्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं, उदार और अनुदार तो
'वह' पद के अर्थ (बुद्धिस्य) के, अथवा उसके अर्थ के विशेषण (देवदत्त आदि सत्यदार्थ
के विशेष) के विशेषण हैं । अतः उनका 'सुशोभित होना' रूप क्रिया के साथ साक्षात्
संबन्ध न हो सकने के कारण 'एक कार्य करने वाला होना' नहीं बन सकता अर्थात् 'उदार'
और 'अनुदार' जब 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्ता ही नहीं हैं, किन्तु कर्ता के विशेषण
अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं, तब 'शोभित होना' उनका कार्य नहीं हो सकता ।

प्रकाशग्रन्थस्याशयं स्पष्टीकरोति—

अतो विरुद्धौ द्वामित्यादि प्रथमार्थविषयम् । द्वितीयार्थे तु विरोधाभास एव ।

अयं भाव—उक्तपद्ये 'शानिरशानिरित्यंशे विरोधाभासालंकारी न संभवति, एकध-
मिगतत्वेन विरुद्धनिर्देश एव तथारक्षितारत् । अशब्दः समुच्चयार्थक एव । एवञ्च पद्य-
प्रथमार्थान्तरस्य 'विरुद्धौ द्वौ (शन्यशनी) त्वदनुवर्तनार्थम् हननरूपमेकं कार्यं कुर्वतः'
इति वस्तुव्यञ्जनत्वं संभवति । उत्तरार्थभागे तु न वस्तुध्वनियभावना, तत्र पूर्वोक्तरी-
त्यैककार्यकरणप्रतीतिः । किं तु उदार अनुदारतरिभ्यो द्वयैव विरोधाभासपरिहारस्तु
चकारस्य समुच्चयार्थकत्वात् । अप्यर्थक्यै तु विरोधस्य चाच्यतैव । विरोधपरिहारस्तु
अनुगतशर इत्यर्थकरणेन इति ।

प्रकाशग्रन्थ के भाषा को स्पष्ट करते हैं—अतः इत्यादि । उक्त अनुपपत्ति से यह
मानना पड़ता है कि प्रकाशकार ने जो उक्त पद्य में 'विरोधी भी दो पदार्थ आपके अनु-
सरण के लिये एक कार्य करते हैं' इस तरह के व्यङ्ग्य की बात कही है, वह पद्य के
पूर्वार्थ के विषय में ही, उत्तरार्थ के विषय में नहीं अर्थात् उक्त पद्य के 'शानिरशानि'.....
इत्यादि पूर्वार्थ में विरोधाभास अलंकार व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता । क्योंकि एक
धर्म में दो विरुद्ध पदार्थों के निर्देश करने पर ही वह होता है—जो यहाँ नहीं है ।
'व' शब्द यहाँ समुच्चयार्थक है, विरोधार्थक नहीं । इस स्थिति में उस अंश से उक्त वस्तु

का व्यङ्ग्य होना मानने योग्य होता है। पर पद्य के उत्तरार्ध भाग में वस्तुष्वन्ति की संभावना ही नहीं है, क्योंकि उस अंश में 'उदार तथा अनुदार' का एककार्यकारित्व प्रतीत नहीं हो सकता, यह पहले कहा जा चुका है। अतः उत्तरार्ध में 'विरोधाभास अलंकार' ही व्यक्त होता है, ऐसा मानना चाहे पद्य अर्थात् 'उदार अनुदार है' यह विरोध—जिसका अर्थ 'अनुगतद्वारावाला' अर्थ से परिहार हो जाता है—पहले प्रतीत होता है, अतः विरोधाभास अलंकार की अभिव्यक्ति मानी जायगी। पर यह बात भी 'घ' पद को समुच्चयार्थक मानने पर ही उचित होगी, यदि 'च' को 'अपि' के तुल्य मानकर विरोध को वाच्य बना दिया जाय, तब विरोधाभास व्यङ्ग्य नहीं, वाच्य होगा। सारांश यह हुआ कि उक्त व्याख्याग्रन्थ असंगत ही है।

उक्तव्याख्याग्रन्थस्यापि सगतिं पूर्वम् तैरुक्तं तत्रत्य विरोध प्रदर्शयति—

कर्तार्यभेदेनान्वयमात्रेण कुरुत इत्यस्योपपत्तिश्चेत् ? अस्तु द्वितीयाधेऽपि विरुद्धी द्वावित्यादि चम्बु व्यङ्ग्यम्। पर त्वर्धद्वयेऽपि विरोधाभासालंकारशबलितमेव। शत्रुविरुद्धस्य शत्रुत्वासभवादेकस्य शन्यशानिकर्तृकहननकर्मत्वायोगेनाद्यार्ध उदारत्वानुदारत्वयोरेकाधिकरणवृत्तित्वायोगाद्द्वितीयाधे च विरोधस्य स्फुटत्वात्।

कर्तरीति। तत्पदार्थे इत्यर्थ। अन्वयेति। उदारानुदारपदार्थयोरिति भावः, उपपत्तिसगति। अर्धद्वयेति। पूर्वार्धे उत्तरार्धे चेत्यर्थः। शबलितम् मिलितम्। उच्चरतुव्यङ्ग्यमित्यनुपपन्नं। शत्रुविरुद्धश्चेत्यादि। शत्रुविरुधी शत्रुर्न भवति, अपितु मित्रमेवेति भावः। भानक्रियाकर्तारि तत्पदार्थेऽभेदसङ्घेनाऽवतयोरुदारानुदारपदार्थयोरपि भानक्रियायामन्वयलाभे उक्तपद्योत्तरार्धेऽपि वस्तुष्वन्ति सभवति। एवञ्च आशुक्तप्रकाराग्रन्थो न पूर्वार्धमात्रविषयकोऽपि उत्तरार्धविषयकोऽपि। एवं तद्व्याख्याग्रन्थोऽपि पूर्वोद्धृत संगत एवेति चेत् ? सत्यम्। परन्तु अर्धद्वयेऽपि विरोधाभासालंकारमिश्रितवरतुष्वन्तिरेव न केवलवरतुष्वन्ति। एवञ्च वस्तुष्वन्तिमात्रमुल्लिखन् प्रकाशकारः, विरोधाभासालंकारमिथणमव्याचक्षणं, पूर्वार्धे विरोधाभासालंकारसभावनाविरह प्रतिपादयन् वा व्याख्याता स्थूलदृष्टिरेव। अयं कथं पूर्वार्धे विरोधाभास, अलंकारत्वमूलमुक्तिरवर्षैकधर्मिकविरुद्धनिर्देशाभावस्योक्तत्वादिति चेत्, शन्यशान्योविरोधस्यालंकारनासभवेऽपि विरोधिरात्रोविरोध्यतरमित्रत्वादेकस्य विरोधिद्वयकर्तृकहननकर्मत्वायोगेन तमिति पदवाच्ये एकरिम्बु शनिर्कर्तृकहननकर्मत्वस्य, शनिविरोध्यशानिकर्तृकहननकर्मत्वाय च विरोधस्य तथाभूततयाऽऽलंकारत्वात्। शन्यशान्योविरोध एव कथं प्रतीयेतेति न वाच्यम्, अशानिरित्यत्र नञो विरुद्धार्थकत्वात्। न च विरोधस्य वाच्यमेवेति शक्यम्, शान्यशान्योविरोधस्य वाच्यत्वेऽपि तन्मूलकहननकर्मत्वयोर्विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वात्। व्यङ्ग्यविरोधपरिहारस्तु राज्ञः अप्रतिहताज्ञत्वज्ञानप्रयुक्त इति बोध्यम्। वेद्यितु विरोधिनोरपि एकशत्रुसमवाप्य तादृशहननकर्मत्वयोर्विरोध इत्याहुः। उदारत्वानुदारत्वयोर्विरोध तन्परिहारभ्यानुपपन्न पूर्वप्रकरणे दर्शित एवेति तत् एव ज्ञेयम्।

अब उक्त व्याख्याग्रन्थ को भी संगत सिद्ध करते हुए हम प्रसंग पर प्राचीनों से अत्र धित कुछ विदित बातों को कहते हैं—कर्तृ इत्यादि। 'शोभित होना' रूप क्रिया का कर्ता है तत्पद वा अर्थ और उसमें अभेद संबन्ध से अन्वित होते हैं 'उदार तथा अनुदार' पद के अर्थ, हम तरह से 'उदार' और 'अनुदार' पद के अर्थों का भी शोभित होना रूप एक क्रिया का करना बन सकता है अतः उक्त व्याख्याग्रन्थ भी ठीक है तथा 'विरोधी भी दोनों' ' ' इत्यादि मूलग्रन्थ भी पूर्वार्धमात्रविषयक न होकर उत्तरार्ध-

विपर्यय भी हो सकता है अर्थात् उत्तरार्ध में भी 'विरोधी' दो पदार्थों आपके अनुवर्तनाय एक कार्य करते हैं। यह वस्तु व्यङ्ग्य माना जा सकता है, ऐसा यदि कहा जाय, तो प्रत्यकार उसको स्वीकृत करते हैं। उनका कथन है कि पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों भागों से एक वस्तु व्यङ्ग्य होती है अवश्य, परन्तु विरोधाभास अलंकार से मिश्रित वस्तु व्यङ्ग्य होती है, शुद्ध वस्तु व्यङ्ग्य नहीं। अतः केवल वस्तुध्वनि की बात लिखनेवाले प्रकाशकार तथा विरोधाभास के मिश्रण वाली बात की व्याख्या नहीं करने वाले अर्थात् पूर्वार्ध में विरोधाभास की समाप्ति नहीं है देया कहनेवाले व्याख्याकार दोनों ही स्थूल दृष्टि वाले हैं। यदि कहा जाय कि पूर्वार्ध में विरोधाभास अलंकार की बात आप कैसे करते हैं? क्योंकि एक घर्ष में दो विरुद्ध बातों का निर्देश रहने पर वह होता है वह पहले कहा जा चुका है, तो मैं कहूँगा, ठीक है, इस नियम के अनुसार शक्ति और अशक्ति का विरोध अलंकाररूप नहीं हो सकता, क्योंकि शक्तिव और अशक्तिव का निर्देश एक घर्ष में नहीं किया गया है। परन्तु शत्रुका विरोधी शत्रु नहीं हो सकता अर्थात् जिन दो व्यक्तियों में विरोध रहता है, उन दोनों में से किसी एक का जो तृतीय विरोधी होगा, वह अन्य का मित्र ही हो सकता है शत्रु नहीं। इस स्थिति में परस्पर विरोधी घृष का एक कोई वच्य नहीं हो सकता, अतः 'तम्' पद के अर्थ में जो शक्तिर्णकहमनकर्मता और शक्तिभिन्न (अशक्ति) कर्णक-हमन-कर्मता यहाँ वर्णित है, वह विरुद्ध है, साथ साथ यह विरोध एकवचिक भी है अतः उस विरोध के आधार पर पूर्वार्ध में भी विरोधाभास अलंकार मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि यह विरोध (जिसे अलंकाररूप मानते हैं) तय सिद्ध हो सकता है, यदि पहले शक्ति और अशक्ति में विरोध सिद्ध हो जाय, पर वह प्रथम विरोध ही कैसे सिद्ध होगा? तो इसका उत्तर है कि अवश्य सिद्ध होगा, क्योंकि 'न शक्ति = अशक्ति' यहाँ तम् विरोधापर्यक है। यदि आप कहें कि तब तो विरोध वाच्य ही हो गया, आप उसको व्यङ्ग्य बतला रहे हैं, वह कैसे? तो मैं कहूँगा नहीं जी, उस विरोध को मैं व्यङ्ग्य नहीं बतलाऊँगा, यह तो वाच्य है ही, परन्तु सम्मूलक उक्त हनन कर्मता के विरोध को मैं व्यङ्ग्य बतला रहा हूँ, जो सर्वथा तप्युक्त है। राजा अप्रतिहत आज्ञा वाला है अतः उसके भय से दो परस्पर विरोधी व्यक्ति भी एक तृतीय का हनन कर सकते हैं, इस बात के ज्ञान से उक्त व्यङ्ग्यविरोध का परिहार होता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'दो परस्पर विरोधी का भी एक तीसरा शत्रु हो सकता है अतः उक्त हनन-कर्मता-द्वय में कोई विरोध नहीं है'। उदाहरण और अनुदाहरण में जो विरोध है तथा उसका निमित्त तब से परिहार होता है, वे मध्य बातें पूर्ववर्तीक की व्याख्या में लिखी जा चुकी हैं।

अयं शक्तिमूलकानुदाहरणप्रसङ्गे प्रथम स्वतन्त्रमविता वस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—

अयं शक्तिमूलानुरणन तथा—

‘गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति संश्रुतम् ।

अवर्तन्ते विवर्तन्ते मरसीपु मधुव्रताः ॥’

कथन नायक काव्यिका कथयति—मधुव्रता मधु एव प्रतयन्ति स्वभोज्यत्वेन प्रति-
जानन्तीति ते भ्रमरा इत्यर्थः, एतेन प्रमराणा वतमानमश्वत्थमभजन्यैकवच्य, भावितश्लोभसम-
वाहनवच्यदर्शानैकवच्य चन्वते। परितः शत्रुर्विद्यु, धनेन मधुव्रताना मधुगणेषु गण्यप्रता
‘व्यज्यते। मञ्जु मनुहरम्, गुञ्जन्ति, गत्वा शत्रुपैक्येति भावः, भ्रमररक्तभावोक्तिरियम् ।
संश्रुतं सरस्या इति मानः, धावन्ति वेगेनापतन्तीति भावः। (एवंरीत्या) मरसीपु मरुदरेषु
भावर्तन्ते आगच्छन्ति, विवर्तन्ते परावर्तनं कुर्वन्ति इत्यर्थः।

अयं अयं शक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण प्रदर्शन के - प्रसङ्ग में पहले स्वतन्त्रमधी

वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिखलाया जा रहा है—अर्थ इत्यादि। कोई नायक किसी नायिका से कहता है—मधुमत- जिन्होंने केवल मधु-पान करने का मत ले रखा है—अर्थात् भ्रमर, (यहाँ मधुमत पद से कवि को यह व्यक्त करना है कि—सम्प्रति मधु के लाभ नहीं होने से वे विकल हैं, और भावी मधुलाम की भाशा से प्रसन्न भी हैं) चारों तरफ (इससे मधुमती की मधुगवेपणाजन्य व्यग्रता सूचित होती है) मनोहर पुञ्ज कर रहे हैं, दूर जाकर फिर उसी तरफ दीर्घ रहें हैं, इस तरह बार बार सरोवरों में भाते और जाते हैं।

उपपादयति—

अत्र मधुमनकर्तृकमञ्जुगुञ्जनाद्यैर्वस्तुभिः कविकल्पितत्वरिहेण स्वतःसम्भविभिरासन्नसरसिजोत्पत्तिध्वननद्वारा शरदागमनैकव्यरूप वस्तु व्यज्यते ।

गुञ्जन्तीति पद्ये वाच्यवृत्त्या वर्णनानि मधुवतवर्तुवमञ्जुगुञ्जनादीनि वस्तूनि स्वतःसम्भविनि न तु कविरल्पितानि, तैश्च प्रथम सरसि सरोजान्मनुत्पत्तिरासन्नेति व्यज्यते तद्द्वारा च शरदतीरागमो निश्चिष्ट इति ध्वन्यते, तथा च भवतां पद्य स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वाच्यवृत्ति (अभिप्रा) के द्वारा जो झरों के गुञ्जन आदि वर्णित हुए हैं, वे सबके सर स्वतःसम्भवी—ससार में स्वाभाविक रूप से होने वाले—हैं अर्थात् कवि कल्पित नहीं हैं। उन वस्तुओं से पहले यह व्यक्त होता है कि 'अथ सरोवरों में कमलों की उत्पत्ति होने ही वाली है—निश्चिष्ट है, और इस व्यङ्ग्य के द्वारा चाद में यह ध्वनित होता है कि शरद ऋतु का आगमन अब सन्निहित (नजदीक) है।

काव्यप्रकाशोक्त स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणमालोचयति—

काव्यप्रकाशे तु—'अरसशिरोमणिधुत्ताणमगिम—' इत्याद्युदाहृत्य 'ममैवोपभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इत्युक्तम् । तत्र केन वस्तुनेद वस्तु व्यज्यते ? न तावदलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणैः, तथा धात्र्यादिवृद्धस्त्रीनिहपितत्वेन तत्रैवोपभोगयोग्य इत्यादिरूपेणैव व्यङ्ग्यस्य वक्तव्यतापत्तेः । विशेषणानां कामिनीनिरूपितत्वे तु ममैवेत्यादिव्यङ्ग्याकारः स्यात् । नापि परिफुल्लविलोचनत्वेन, तस्य हर्षभाषानुभावेन हर्षव्यञ्जकताया एव क्लृप्तत्वात् । मधुपभोगयोग्यत्व हि हर्षभावस्य विभावः । न ह्यनुभाषैर्विभावो व्यज्यत इति तद्विभावव्यञ्जनशक्ये वक्तुम् । केवलस्य परिफुल्लविलोचनस्य ममैवेत्यादिव्यङ्ग्यव्यञ्जने सामर्थ्याभावात् । पुत्रागमनधनप्राप्त्यादिविभावकेऽपि हर्षभावे परिफुल्लविलोचनताया अनैकान्तिकत्वादिति ।

अरसनशिरोमणिधुत्ताणमगिमो पुति धनसमिद्धिमश्रो ।

इअ मणिण्ण णयत्तं पफुल्लविलोचणा आत्था ॥ इति पूर्णा गाथा ।

अलमशिरोमणिधूर्तानामप्रणी पुत्रे धनमृद्धिमय ।

इति भणितेन नताङ्गी परिफुल्लविलोचना जाता ॥ इति तच्छाया ।

अलसशिरोमणिरिति । पतिवरा प्रति धात्र्या प्ररोचनोक्ति पूर्वार्धम्, उत्तरार्धं तु कवे । प्रकरणायायमियथाहार । हे पुत्रि ! अनेन स्वस्य तदीयहितचिन्तकत्वं ध्वन्यते । अयं करो-रुषाना निरवशोगाना, शिरोमणि धेष्ट, धूर्ताना शठानाम्, अप्रणी प्रधान, धनमृद्धिमय धनमृद्धिप्रचुर, इति भणितेन भाषणेन, नताङ्गी काचन कुमारी, परिफुल्ल हर्षविरसिते,

विशिष्टे लोचने यस्या, तादृशी जाता अभूदित्यर्थः । अत्रालसत्वेनान्यत्र गमनाभावः, घूर्त्तनेन संभोगे गुणानादरः, अनृतरत्वं वा, धनसन्निदिमयत्वेन कृपणतया परामै अदातुत्वम्, स्वस्यै दातृत्वं वा धनोदाजितदेतुकप्रवामाभावो वा, व्यज्यते । एतद्व्यङ्गयज्ञानेन नायिकाया हर्षोऽभूत्, तन्मूचनायैव परिफुल्लविलोचनोति नायिकाविरोधणम् । अत्र 'मर्मवोपभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इति यदुक्तं कान्तप्रकाशकृता तत्र विचार्यते—तत्र केनेत्यादिना। तत्पद्य-प्रतिपादितेन केन वस्तुनेत्यर्थः । धात्र्यादीति । पुत्रीन्यामन्ग्रणेन तेषा तन्निरूपितत्वमिति भावः । कामिनीनिरूपितत्वे इति । पुत्रिभणितेनेत्यनयोः पदयोः पद्येऽप्येवं तथा सम्भवः । तस्येति । परिफुल्लविलोचनान्वस्येत्यर्थः । हर्षभायानुभावत्वेनेति । हर्षाद्यव्यभिचारिभावकार्य-त्वेनेत्यर्थः । विभाव कारणम् । तन्मन्त्रएव हर्षोदयार् । नहीन्यत्य मल्लु शम्भयमित्त्वप्राग्वय । तद्भिभावेति । हर्षादिभावविभावेत्यर्थः । द्विपदसूचितमराक्यत्वे हेतुमाह—केवलस्येति । विशिष्टस्य तत्त्वं तु सिद्धान्तसिद्धमिति भावः । विलोचनताया इति । सत्त्वेन तरदा इति शेषः । अनैकान्तिकत्वाद्यव्यभिचारित्वात् । यदि प्रकृतपद्ये पुत्रीन्यामन्ग्रणं भणितेनेति कव्यु-क्तिवसायकत्र पदद्वयत्नामवियन्, तदा कामिन्या स्वगतौकिरेव पद्यनेतदभविष्यत् । तयान्वे चालमशिरोमणिरित्यादिज्ञान्तविरोधणानि कामिनीनिरूपितानि स्युः । तदैव च तेभ्यो विरोधयोग्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य मर्मवैयादिप्रकारोक्त आकारो मवेत् । तयो पदयोः सत्त्वे तु प्रकृतपद्यपदकान्तविरोधणानि धार्त्रानिरूपितानि, एवय तेभ्यः ज्ञायमानस्य व्यङ्ग्यस्य तववोपभोगयोग्य इत्यैवाकारो गवेत्तु मर्मवेति । अथ कामिनी-निष्ठेन प्रफुल्लविलोचनत्वेन व्यङ्ग्यशावगतौ र्वीक्रियमाणया व्यङ्ग्यस्य तदाकारता संभवेति, नेत्याह—नापीति । प्रफुल्ललोचनत्वनाम हर्षस्य कार्यम्, मरुपभोगयोग्यत्वम् हर्षस्य कारणम् । एवय प्रफुल्लविलोचनत्वेन कार्येण स्वकारणस्य हर्षस्याभिन्न्यक्तिसंभवेऽपि स्वकारणकारणस्य मरुपभोगयोग्यत्वस्याभिन्न्यक्तिर् संभवति । क्वमिति चेत् ? धृत्याम्— हर्षं विनाऽऽनुपपद्यमाने प्रफुल्लविलोचनत्वं हर्षं व्यक्तुं शक्नोति, न तु मरुपभोगयोग्यत्वं वस्तु, व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यश्रीर्भावस्य हर्षस्य मरुपभोगयोग्यत्वातिरिक्तपुत्रागमनादिनापि संभवेन प्रफुल्ललोचनतायाः मरुपभोगयोग्यत्ववस्तुव्यङ्ग्येऽसामान्यादिति भावः ।

अथ 'काव्यप्रकाश' में कथित, अर्थात्किमूलक स्वतःसंभवि वस्तु से वस्तुष्वनि उदाहरण को पर्यालोचना करते हैं—काव्यप्रकाशो नृ हृषादि । काव्यप्रकाश में 'अलक्ष विरोमणि ...' हृषादि पद्य—जो सङ्कृत टीका में उद्धृत है—को स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुष्वनि का उदाहरण कहा गया है । यह पद्य, स्वयंवर के समय में, विवाह के इच्छुक उचरिभत युवकों का परिषय करानेवाली धाय (उपमाता) के द्वारा, वरग करनेवाली कन्या के प्रति, कहा गया है । धाय, कन्या से कहती है कि—हे मुनि ! (इस सशोषण से कन्या के प्रति धाय की हितेच्छुता अभिप्रेत होती है) यह (वर) आलसिर्मो का विरोमणि, घूर्त्तो में प्रधान और धनसमृद्धि से परिपूर्ण है ।' इस धाय का इतना कहना था कि उस नताश्री की आँखें खिल उठीं । (यह उपसार्थ कवि का कथन है) यहाँ 'अलक्षविरोमणि' इस विरोधण से नायक का अन्वय गमनाभाव, 'धूर्त्तप्रारब्ध' से सभोग में गुणों का ध्यान व रचना अथवा संयोग से नृत्ति का अनुभव न करना, 'धनसमृद्धिमय' से कृपणता तथा नदृढ़ता दूररे को कुछ न देना अथवा अपने की मधेच्छु चीजों का देना किंवा धन-उपाजन के लिये विदेश-यास की आशयकता का न होना व्यक्त होते हैं । इन व्यङ्ग्यों का ज्ञान होने से कन्या को हर्ष हुआ, निवृत्ती सूचना नायिका के नयन विकास के वर्णन से मिलती है । इस उदाहरण पर प्रकाशकार कहे

है—'हस पद्य से 'यह वर' मेरा ही उपभोग्य है' यह 'वस्तु' ध्वनित होती है।' यहाँ काव्य-प्रकाशकार से यह प्रष्ट्य है कि उक्त वस्तु किस वस्तु से ध्वनित होगी है?—'अलसिरो के शिरोमणि' इत्यादि नायक के विशेषणों से तो यह वस्तु ध्वनित हो नहीं सकती। क्योंकि वे विशेषण धाव आदि किसी वृद्धा स्त्री के द्वारा कहे गए हैं, अतः यदि उन विशेषणों से ध्वनित होता तो व्यङ्ग्य का आकार 'मेरा ही उपभोग-योग्य है' ऐसा होता, 'मेरा इत्यादि' नहीं। यह आकार तो व्यङ्ग्य का तथ होता, यदि वे विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए होते अर्थात् इस पद्य में यदि 'पुत्रि' और 'भणितेन' ये दोनों पद न होते, तब यह पद्य नायिका की स्वगत उक्ति के रूप में समझा जाता और उस स्थिति में 'अलसशिरोमणि' इत्यादि विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए समझे जाते। पर जब वे दोनों पद हैं, तब तो वे विशेषण नायिका से अन्य किसी के द्वारा कहे गए ही समझे जा सकते हैं। यदि आप कहें कि नायिका का जो 'परिपुच्छविलोचना' यह विशेषण दिया गया है, उससे अर्थात् नायिका के नयन-विकाश के वर्णन से अभिव्यक्ति मानने पर व्यङ्ग्य का वह आकार हो सकता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि नयन-विकास, हर्ष का कार्य है अतः नयन-विकाश-रूप कार्य से हर्षरूप-कारण का ही ध्वनित होना निश्चित है, अन्य वस्तु का नहीं। यदि आप यह कहना चाहें कि नयन-विकास का कारण हर्ष है, और हर्ष का कारण 'मदुपभोगयोग्यत्व' है, फिर तब तरह नयन-विकास से उसके कारण हर्ष की अभिव्यक्ति मानते हैं, उसी तरह उस कारण के कारण 'मदुपभोगयोग्यत्व' की भी अभिव्यक्ति मानने में क्या आपत्ति है? तो मैं कहूँगा कि और कोई आपत्ति तो नहीं है, परन्तु नयन-विकार में, अपने कारण (हर्ष) के कारण (उपभोग) की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः वह हो नहीं सकती, यही आपत्ति है। सामर्थ्य क्यों नहीं है इस शका का उत्तर तो स्पष्ट है कि नयन-विकास उपभोग का व्यभिचारी है अर्थात् नयन-विकास हर्ष से होता है यह निश्चित है, पर यह निश्चित नहीं है कि वह हर्ष उपभोग-योग्यता के ज्ञान में ही हुआ हो—पुत्र के आगमन, धन की प्राप्ति आदि अनेक कारण हैं, जिनसे उत्पन्न हर्ष की अवस्था में नयन-विकास हो सकता है। शाप्य यह हुआ कि नयन-विकास हर्ष के विना नहीं होता, अतः उससे हर्ष की अभिव्यक्ति होती है, पर उस हर्ष के कारण—जब कि वे अनेक हो सकते हैं—की निश्चित रूप में, अभिव्यक्ति, नयन-विकास से, नहीं हो सकती है—

उक्तशक्या युक्ततामाह—

सत्यम् ।

उक्ता शका समुचितेति भावः ।

उक्त आशङ्का सर्वथा समुचित है ।

उक्तशक्या समुचितत्वेऽपि प्रकाशप्रत्यय युक्तगतमभिप्राय प्रकटयति—

'इञ् मणिमि' इत्याद्यर्थवशात्प्रापितालसशिरोमणित्वादिविशेषणप्रविशिष्टप्रफुल्लविलोचनत्वेन मदुपभोगयोग्यत्वलक्षणविभावाभिव्यक्तिद्वारा हर्षभावोऽभिप्रेतव्यते । तत्र द्वारीभूतावसावाभिव्यक्तिमादाय काव्यप्रकाशप्रत्ययसंगतिः ।

इञ् मणीति । इति भणितेनेत्यादिपद्योत्तरार्धगतपदानां योऽर्थरतदर्थेन तद्बलेन प्रापितं साधितं यत् अलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणानां नताप्तोक्तं श्रवणं, तद्विशिष्टप्रफुल्लविलोचनत्वधमणेति भावः । वैशिष्ट्यवशात् सामानाधिकरण्यसंबन्धेन बोध्यम् । विभावेति । हर्षस्यभावकारणत्वस्य । द्वारीभूत इति । मध्यगत इत्यर्थः । अयमाशयः—वेदनेन प्रफुल्लविलोचनत्वेन हर्षस्यैवाभिव्यक्तिः समवति, न तु मदुपभोगयोग्यत्वस्य, परमत्र न केवलं प्रफुल्लविलोचनत्वं व्यञ्जकम्, यपि तु अलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणध्रुवणसद-

कृतमेव । ननु किमिह पद्ये तादृशश्रवणसहकारप्रापकमिति चेन्न, इति भणितेनेत्युक्त्या तद्विशेषणश्रवणानन्तरमेव नायिकाया विलोचने प्रफुल्ले इत्यर्थप्रतीति । तथा च तादृशेन विशिष्टेन धर्मेण प्रथमं हर्षस्य कारणीभूतं मनुष्यभोगयोग्यत्वमेव व्यज्येत, तद्व्यञ्जनद्वारा च पश्चात् हर्षभावोऽप्यभिव्यज्येत । केनलस्य प्रफुल्लविलोचनत्वस्य पुत्रागमनादिविभावके हर्ष-भावेऽपि मत्त्वेन मनुष्यभोगयोग्यत्वापेक्षया व्यभिचारितत्वेऽपि विशिष्टस्य तस्य न तदपेक्षया व्यभिचारितत्वमिति सारांशः । इत्येव हर्षभावस्य चरमव्यञ्जनत्वेऽपि मध्यगतस्य द्वारभूतस्य मनुष्यभोगयोग्यत्वरूपस्य व्यञ्जनस्याश्रयण विधाय प्रकाशप्रत्यसंगतिविधेयेति ।

अथ प्रकाशग्रन्थ के सुसंगत अभिप्राय का वर्णन करते हैं—इयं ह्ययात्रि । अभिप्राय यह है कि केवल नयन-विकास से 'हर्ष' की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, मनुष्यभोग-योग्यत्व की नहीं, यह सर्वथा सत्य है । परन्तु यहाँ केवल भयन-विकास व्यञ्जक नहीं है अपि तु 'अलसशिरोमणि' ह्ययादि जो कान्त के विशेषण हैं, उनके श्रवण से सहकृत नयन-विकास व्यञ्जक है और उस श्रवण को सहकारी रूप में उपस्थित करता है, पद्य में ध्याया हुआ 'इति भणितेन-धाप का इतना कहना था कि'—यह पद । इस तरह श्रवण से विशिष्ट नयन-विकास से पहले हर्ष का विभाव (कारण) 'मनुष्यभोगयोग्यत्व' (मेरा उपभोग्य है) व्यक्त होता है, तदुत्तर उस कारण की अभिव्यक्ति के द्वारा उसका अनुभाव (कार्य) 'हर्ष' अभिव्यक्त होता है । उनमें से हर्षरूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति में द्वारभूत विभाव (हर्षभाव का कारण मनुष्यभोगयोग्यत्व) की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाशग्रन्थ संगत हो जाता है । अर्थात् काव्यप्रकाशकार का भासाय है कि धाप के कहे हुए 'अलसशिरोमणि' ह्ययादि नायक के विशेषणों के सुनने के साथ नेत्र के बिल उठने से प्रथमतः नायिका का यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि 'यह मेरे ही उपभोग के योग्य है' और उसके बाद हर्षभाव । काव्यप्रकाशकार के इस भासाय को समझ लेने के बाद कोई आपत्ति नहीं रह जाती अर्थात् व्यञ्जक में व्यभिचार-शेष जो दिया जाता था, वह अब नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध नयन-विकास, पुत्र आदि के आगम प्रभृति कारणों से उत्पन्न हर्ष की दशा में भी होता है, अतः वह मनुष्यभोग-योग्यत्व का व्यभिचारी भले ही हो, पर उन नायक-विशेषणों के सुनने के साथ होने वाला नयन-विकास तो अन्य कारणग्रन्थ हर्ष की दशा में नहीं होता—अपि तु 'यह मेरा उपभोग्य है' इस तरह के ज्ञान से उत्पन्न हर्ष की स्थिति में ही होता है, अतः वह विशिष्ट-नयन-विकास उसका व्यभिचारी नहीं—समन्वित है ।

पूर्वोक्तरीत्याऽभिव्यक्त्याश्रयणे गभवन्तां भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वापत्तिमिष्टापत्या परिहरति—

न च भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वापत्तिः, द्वारस्य संलक्ष्यक्रमत्वादिति वाच्यम्; इष्टापत्तेः । न चापसिद्धान्तः, तस्य प्रागेवोद्धारात् ।

भावध्वनेरिति । हर्षभावध्वनेरित्यर्थः । द्वारस्येति । हर्षनाएणमनुष्यभोगयोग्यत्वाभिव्यक्ति-रूपस्येत्यर्थः । अपसिद्धान्तं सिद्धान्तविरोधः । तस्येति । अपसिद्धान्तत्वस्येत्यर्थः । तथा च सिद्धान्त एवायमिति भावः । मनुष्यभोगयोग्यत्वलक्षणविभावाभिव्यक्तिद्वारा प्रफुल्लविलो-चनत्वेन हर्षभावाभिव्यक्तौ र्वीहतायाम् 'भावशान्त्यादिरकम्' इति सिद्धान्तविरोधः, क्रमस्य लक्ष्यत्वादिति यद्यपि सन्त्यम्, तथापि क्वचित् संलक्ष्यक्रमोऽपि रमादिर्भवतीति प्रथमानानन्तभागोक्तसिद्धान्तेन तस्य सिद्धान्तरस्य संतुचितविषयत्वबोधनेन किञ्चिद्-समञ्जसमिति भावः । एतद्विषयको विशदो विचारो गच्छतप्रथमाननहिन्दोटीकाया द्रष्टव्यः ।

उक्त रीति से अभिव्यक्ति मानने पर 'भावध्वनि' भी सलक्ष्यक्रम हो जायगी, इस आपत्ति को आपत्ति नहीं मानकर इष्ट मान लेने की बात कहते हैं—न च इत्यादि। उक्त विशिष्ट प्रकार के नयन-विहास से मनुष्यभोगयोग्यस्वरूप विभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा हर्षभाव की अभिव्यक्ति मानने पर 'भाव आदि की ध्वनि अलक्ष्यक्रम ही होती है' इस प्राचीनसिद्धान्त का विरोध होगा है, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि स्थिति-विशेष—जिसका विश्लेषण प्रथम ध्यान के अन्त भाग में किया गया है—में रस-भाव आदि की ध्वनि भी सलक्ष्यक्रम होती है, यह जो पण्डितराज का सिद्धान्त है, उसके अनुसार कोई विरोध नहीं होता। इस प्रसंग का विशद विचार, प्रयमानन की मेरी हिन्दी टीका में देखना चाहिए।

स्वतः समविना वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति—

'मृद्धीका रसिता सिता समशिता स्फीत निपीतं पयः',
स्वर्गातेन सुधाऽऽयधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डित' ।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव ! मयता भूयो भवे भ्राम्यता
कृण्वेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः कचिन्नक्षित' ॥'

वन्न भक्त स्वात्मानं पृच्छति—हे मदीयजीव आत्मन् ! भूय पुन पुन, भवे मसारे, भ्राम्यता भ्रमणशीलेन, (अत्र कृतेन पुण्यविशेषेण स्वर्गं प्राप, पुन रीणे पुण्ये मर्त्यलोकमुपाश्रित, एवरीत्या पुन पुन स्वर्गादागमनमंत्र भूयो भवभ्रमणम्) (अत्र लोके) मृद्धीका द्राक्षा, रसिता आस्वादिता, मिता राण्डशर्करा, समशिता सम्यक्मथिता, स्फीत विगुद, पय दुग्धम्, निपीत विशेषेण पानकर्मोद्गतम्, स्वर्गातेन न्वर्गं गतेन (कर्तृ-विशेषणमेतद्) सुधा पीयूषम्, अयधायि (घेद् पाने इत्यस्य कर्मणि वाच्ये लुङि रूपम्) उपायीत्यर्थः । कतिधा कतिभि प्रकारै रम्भाया तन्नामकाग्रम अवर, खण्डित दष्ट आम्वादित इति भावः । एवञ्च नानाविधमधुरपदार्यरगास्वादोऽनुभूतस्त्वया, उदानांश्च कृष्णनाममाधुरी अपि आस्वाद्यते, अतस्त्वामहं पृच्छामि, यत् कृण्वेति द्वयोरक्षरयोर्यादृशौ मधुरिमोद्गार माधुर्योद्दिशोऽस्ति, तादृशास्तेषु पदार्थेषु कचिन्न एवत्रापि लक्षितं अनुभूतं ? एतदुत्तरप्रसंगे सत्यमेव त्वया वक्तव्यम्, अन्यथा निर्धारणीयस्य निर्धारणं न संभवेत्, कृष्णनाममाधुर्यसदृश माधुर्यं कापि नानुभूतं भवेदिति वक्तव्यम् ।

अथ स्वतः समव्री चरतु से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण देते हैं—मृद्धीका इत्यादि। कोई मत्स्य अपनी आत्मा से पूछता है—हे मेरे जीव ! तू ने धार-धार स्वर्ग से इहलोक तक का चक्कर लगाया है—अर्थात् इस लोक में पुण्य-विशेष का उपार्जन कर मरणोत्तर स्वर्ग गया और पुण्य के क्षीण हो जाने पर 'धीमे पुण्ये मर्त्यलोकं विनन्ति' के अनुसार पुनः सप्तार में जन्म ग्रहण किया, तेरा यह गमनागमन अनेकों बार हो चुका है। इस भ्रमण के प्रसङ्ग में तू ने अनेक आस्वाद्य पदार्थों के आस्वादन किए—इस लोक में दूध को चखा, चीनी की चायनी ली, दूध का यथेच्छ पान किया, और स्वर्ग जाकर पीयूष का पान भी किया एवम् अनेक प्रकार से रम्भा (एक जप्सरा) के अक्षरों को भी काटा। अथ कृष्णनाम की माधुरी का भी तू आस्वादन कर रहा है, इसलिये मैं तुझ से पूछता हूँ, सच सच बतलाना—'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जैसा माधुर्योद्गार है, वैसा माधुर्योद्गार कहीं अन्यत्र प्राप्त हुआ ?—मेरा विश्वास है कि वह माधुरी तुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिली होगी।

उपपादयति—

अत्र निष्कृष्टजीवसबोध्यक—परिदृश्यमानस्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघा-
तात्मकास्मत्पदबोध्यकर्तृकप्रश्नविषयेणार्थेन चस्तुना तथाभूतेन भगवन्नाम्नोऽ-
नेकजन्मवृत्तान्ताध्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषतादात्म्याध्यवसायरूपातिशयो-
क्तिर्व्यज्यते ।

निष्कृष्टति । निष्कृष्ट परिदृश्यमानैतच्छरीरवृथङ्गत, जीव आत्मा, संबोधो यस्मिन्,
परिदृश्यमान, स्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघातात्मक अस्मत्पदबोध्य कर्ता यस्मिन्,
तादृशेन, प्रश्नविषयेण वृत्तान्तिपदजिज्ञामितेन, अर्थेन मधुरिमोद्गारेत्यादिरूपेणेत्यर्थः । तथा-
भूतेनेति । एतत् मभावित्यर्थः । नाम्न इति पठन्तरय तादात्म्याध्यवसायित्यत्रान्वयः ।
अनेकेति । नानाजन्मसंबन्धिनिसमाचारप्रत्यक्षीकरणे कारणभूतो यो योगाभ्यासजन्य-
सिद्धिविशेषोप तस्मिन्नित्यर्थः । भगवन्नाम्न उपमानस्य योगसिद्धिविशेषे उपमेये तादात्म्या-
ध्यवसाय इति भावः । एतेन भगवन्नाम्न उपमेयतया विषयस्तेन उपमानतया विषयिणः योग-
सिद्धिविशेषस्य निगरणे कथमतिशयोक्तिः, विषयनिगरणे तत्प्रसंगमिति परास्तम् । अयं
भाव—आत्मा द्विविध, एक शरीरादित पृथग्भूतो निरवच्छिन्न, द्वितीयश्च शरीराद्यव-
च्छिन्न, अस्मच्छब्दबोध्यः । तयो प्रथम सबोध्यत्वेन, द्वितीयश्च, प्रश्नकर्तृत्वेनात्र वर्णितः ।
प्रश्नविषयीभूतश्च मधुरिमोद्गारादिरूपं एतत् संबन्धिवस्तुव्यञ्जकम् । व्यञ्जयथातिशयोक्त्य-
लंकारः । भगवन्नामरूपेणोपमानेनानेकजन्मवृत्तान्तप्रत्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषस्योपमे-
यस्य निर्गीयं कथनमत्रातिशयोक्तिस्वरूपम् । अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानमाधक्योगजसिद्धिलब्ध-
सर्वज्ञत्वविहोर्न प्रति अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानविषयकप्रश्नस्यान्यपानुपपत्तिश्च तदलंकाराभि-
व्यक्तौ बीजमिति ।

भव उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । शास्त्रों
में आत्मा दो प्रकार की मानी गई है—एक शरीर आदि से पृथग्भूत-निरवच्छिन्न और
दूसरी देह-इन्द्रिय आदि से मिश्रित-शरीराद्यवच्छिन्न जो 'मैं' पद से समझा जाता है ।
उन दोनों में प्रथम अर्थात् निरवच्छिन्न आत्मा का संबोध्य रूप में और द्वितीय अर्थात्
शरीराद्यवच्छिन्न आत्मा का प्रश्नकर्ता के रूप में यहाँ वर्णन किया गया है । प्रश्न का
जो विषय है—यैसी माधुरी कहीं देखी ? आदि—वही यहाँ एतत्संबन्धी-सरय-कविकल्पित
नहीं व्यञ्जक अर्थ है और व्यञ्जक है अतिशयोक्ति अलंकार । भगवन्नामरूप उपमान के
द्वारा, अनेक जन्म की बातों के प्रत्यक्षीकरण में कारणरूप योग-सिद्धि-विशेषात्मक उप-
मेय का निगरण करके वर्णन करना ही यहाँ अतिशयोक्ति का स्वरूप है । इस अति-
शयोक्ति की अभिव्यक्ति में मूलभूत रहस्य यह है कि जो सर्वज्ञ नहीं है उससे अनेक
जन्म की बातों का पूछना वन्ता नहीं है और सर्वज्ञता प्राप्त होती है योग-सिद्धि से, जो
यहाँ साक्षात् वर्णित नहीं है, अतः यह कहना करना पड़ती है कि प्रश्नकर्ता ने भगव-
न्नाम को योगसिद्धि से अभिन्न समझकर योगसिद्धि के स्थान में भगवन्नाम का वर्णन
किया है । हिन्दी रसगगाधरकार चतुर्वेदीजी का यहाँ एक आक्षेप यह है कि उपमान से
उपमेय के निगरण होने पर अतिशयोक्ति होती है और यहाँ उपमेय से ही उपमान का
निगरण हुआ है—अर्थात् भगवन्नाम उपमेय है तथा योगसिद्धि-विशेष उपमान, अतः
अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति यहाँ नहीं होगी । परन्तु मुझे 'पण्डितराज से इस तरह की
मोटी गलती होगी' यह बात सगत नहीं जैवती । अतः मैं कहता हूँ कि उपमानोपमेय
भाव तो विवक्षाधीन ही होता है, फिर भगवन्नाम को ही उपमान और योगसिद्धि-
विशेष को ही उपमेय क्यों नहीं मान लिया जाय ? योगसिद्धिविशेष के प्रसंग पर
भी ऐसा पद्य कहा जा सकता है । मेरी समझ से यही पण्डितराज का आशय है ।

शक्ते—

अथ प्रश्नविषयस्यात्र नानाजन्मगतवृत्तान्तरूपतया तद्वत् प्रत्येव प्रष्टु-
मौचित्येनानभिज्ञ स्वजीवं प्रति प्रष्टुमयोग्यत्वात्प्रश्नान्यथानुपपत्त्या आक्षिप्ता,
वाच्यसिद्धयङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपा वा, प्रागुच्यतिशयोक्तिरिह कथं
ध्वनिव्यपदेशहेतु स्यात् ?

तज्जमिति । नानाजन्मवृत्तान्तज्ञमि-त्यर्थ । प्रश्नान्यथानुपपत्त्येति । अतिशयोक्ति-
कल्पनमन्तरा तादृशप्रश्नस्यासम्भवदुक्तिकतयेत्यर्थ । अर्थापत्तिं अमानान्तरत्वविहादाह—
वाच्येति । यो यज्जानाति त प्रत्येव तद्विषयक प्रश्न क्रियते इति साधारणे नियमे वर्तमाने,
'शृद्धीके'तिपद्ये अतीतानागतज्ञानसाधकयोगजसिद्धिहीनतया नानाजन्मवृत्ता-ज्ञानभिज्ञ
स्वजीवं प्रति, इत 'शृद्धीकादिपदार्थेषु कृष्णनाम्नीव मधुरताऽनुभूता किमि'त्यादिनाना-
जन्मवृत्तान्तविषयक प्रश्नोऽनुपपन्न सन् स्वोपपादिका कृष्णनाम योगजसिद्धिविशेषयो-
स्तादात्म्याभ्यवसायरूपाम् अतिशयोक्तिमवरयमाक्षिपेत् । एववार्थापत्तिप्रमाणवेद्य एवाति-
शयोक्त्यलङ्कारोऽत्र न व्यञ्जनाबोध्य, 'अन-यलभ्यो हि शब्दार्थ' इति सिद्धान्तात् । अर्था-
पत्तिर्न मानान्तरमपि तु व्यञ्जनाफलीभूतमेवेति श्चीकारे यद्यपि प्रकृते उक्तातिशयोक्त्यलङ्कार-
स्य व्यङ्ग्यत्व समर्थयितुं शक्यम्, तथापि तद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमेव वाच्योक्तप्रश्नविषयीभूता-
र्थोपपादकतया वाच्यसिद्धयङ्गत्वात् । तथा च तस्मालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं
न युक्तमिति भावः ।

अथ उक्त विषय के सम्बन्ध में एक शका करते हैं—अथ इत्यादि । 'जो जिस विषय
को जानता रहता है, उसीसे उस विषय का प्रश्न किया जाता है' यह एक साधारण
नियम है । तदनुसार यहाँ योगसिद्धि से रहित अतएव अनेक जन्म की बातों को नहीं
समझ सकनेवाले अपने जीव से उक्त अनेक जन्मविषयक बातों का पूछना तब तक
नहीं बन सकता, जब तक कृष्ण नाम और योगसिद्धि में परस्पर भेद (जो
अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जाता है) न समझ लिया जाय । इस तरह से यह सिद्ध
हुआ कि प्रश्न के अन्वया न बन सकने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति का आशेष होगा
और इस तरह के आशेष को ही अर्थापत्ति (प्रमाण) कहते हैं, अतः यहाँ अतिशयोक्ति
अलङ्कार अर्थापत्तिप्रमाण से समझने योग्य माना जायगा, व्यञ्जना से समझने योग्य
नहीं । क्योंकि 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ'—अर्थात् जो अर्थ अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात न
हो सके, उसी को शब्दशक्ति से ज्ञात होने योग्य समझना चाहिए । यदि कहा जाय
कि 'अर्थापत्ति' कोई नवीन प्रमाण नहीं है, व्यञ्जना फलीभूत ही है अतः यहाँ अति-
शयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जा सकता है, तो मैं कहूँगा, ठीक है, इस दृष्टिकोण से
देखने पर अतिशयोक्ति का यहाँ व्यङ्ग्य होना सिद्ध हो सकता है, परन्तु व्यङ्ग्य होकर
भी वह अलङ्कार यहाँ गौण ही होगा, क्योंकि उक्त प्रष्टव्य विषय—जो वाच्य है—की
संगति उस व्यङ्ग्यके द्वारा ही होती है, अतः वह वाच्यसिद्धि का अङ्ग है और वाच्यसिद्धि
के अङ्गभूत व्यङ्ग्य, 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य के व्यवहार का साधक होता है,
'ध्वनि'नामक उत्तम काव्य-व्यवहार का नहीं ।

प्राचीनैरुक्ते एवत सभविना वस्तुनाऽलङ्कारध्वनेऽदाहरणोऽपीव शन समानंथेति
दर्शयति—

इत्यमेव च 'तदप्राप्तिमहादुःख'—इत्यत्राप्यतिशयोक्तेरर्थापत्तिविषयत्वं गुणी-
भूतव्यङ्ग्यत्वं वा युक्तम् । अनेकजन्मोपभोग्यदुःखसुखराशिभ्यां तदप्राप्ति-

महादुःखतश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणेऽशेषपापपुण्यपुञ्जनाशकताया अनुप-
पत्तेः । तद्दुःखसुखानां स्वस्वफलोपहितपापपुण्यनाशकताया एवान्यत्र कृत-
त्वात् । निगरणे तु तयोस्तन्नाशकताबुद्धयुपपत्तिः ।

तदिति । 'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनारोपपातकम् । तश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणप्रम्यवया
तथा ॥ चिन्तयन्ती जगत्सृष्टिं परब्रह्मद्वेषिणम् । निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोप-
कन्यया ॥' इति श्लोकद्वयं विष्णुपुराणे पञ्चमाशे त्रयोदशाध्याये (२१।२२) वर्तते, उदा-
हृतं वाच्यप्रकारो चतुर्योर्ल्लोते । भगवतो ब्रह्मवल्लभस्य रासलीलाया सर्वा गोपालबालिका
सम्मिलिता परन्तु काचनेका गोपकन्या पत्यादिभिः संरक्षकैर्निदग्धा तत्र मंगन्तुं नापारयत् ।
सा च भगवत्सगमालाभेन महादुःखमापत्, तेन दुःखेन तस्या सर्वाणि पातकानि विनष्टानि,
अपि च कृष्णचन्द्रचिन्तनजन्याधिकतरानन्देन तस्या सकलपुण्यश्लेषोऽपि जातः । एवं-
रोच्या जगदुत्पत्तिकारणं परब्रह्मवत्सु कृष्ण चिन्तयन्ती सा निरुच्छ्वासावस्थामाभाव
मोक्षमलभत इति प्रसंगगतितुररसरस्तदर्थो बोध्यः । मुक्तिसमये निरुच्छ्वासता च 'नास्य
प्राणा समुन्नामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इति श्रुतिसिद्धाऽस्ति । एवञ्चलोपहितेति ।
तत्तद्दुःखमुखरूपफलजनकैत्यर्थः । अत्र कृष्णाप्राप्तिजन्यमहादुःखस्याशेषपापनाशकत्वमेव
कृष्णचिन्तनजन्यानन्दरानन्दोत्स्य पुण्यपुञ्जनाशकत्वं यद्वाच्यवृत्त्या वर्णितम्, तद्वरयमने-
कजनमोपभोग्यदुःखसुखसमूहान्याम् तदप्राप्तिमहादुःखतश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणे सूच-
यति — अर्थात् कृष्णाप्राप्तिमहादुःखेन सह नानाजनमभोग्यदुःखस्य तथा कृष्णचिन्ता-
प्रयुक्तानन्देन सह नानाजनमभोग्यसुखस्य तादृश्यमाश्रियते, अन्यथा तदप्राप्तिमहादुःख-
तश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरशेषपापपुण्यनाशकत्वं वाच्यवृत्त्या वर्णयमानमसंगतं स्यात्, यत्पापपुण्य-
जन्ये ये तु संगते तद्दुःखसुखयोरेव तत्पापपुण्यनाशकताया अन्यत्र निश्चितत्वेन प्रकृतकृष्णा-
प्राप्तिजन्यदुःखतश्चिन्तनजन्यसुखयोरेकजनमकृतपापपुण्यनाशकताया असम्भवात् । पूर्वोक्त-
तादृश्याक्षेपे तु तन्सम्भवति एवञ्च 'मृद्वीके'त्यादाविव 'तदप्राप्ती'त्यप्रापि कृष्णाप्राप्ति-
जन्यदुःखतश्चिन्ताजन्यानन्दाभ्या सहानैकजनमभोग्यदुःखसुखयोस्तादात्म्यारोपरूपाति-
शयोक्तिर्यापत्तिवैधतया व्यङ्ग्यतामेव न मजते, अर्थापत्तेर्मानान्तरत्वास्वीकारे च
व्यङ्ग्यता भजमानपि वाच्यसिद्धयद्वात्वा गुणभूता त श्चिन्त्यवहारहेतुरिति भावः ।

प्राचीनों ने स्वतःसभरी वस्तु से चरतु-ध्वनि का जो उदाहरण दिया है, उसमें भी उक्त
भाषाङ्का समानरूप से उपस्थित होती है यही बात अब कही जा रही है—इत्यमेव च
इत्यादि । 'तदप्राप्ति'... 'इत्यादि श्लोकों पर—जो संस्कृत टीका में उद्धृत हैं—विष्णुपुराण
(पञ्चम अंश, त्रयोदश अध्याय २१।२२) के हैं, काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में—उदा-
हृत हुए हैं । भगवान् ब्रह्म-वल्लभ की रासलीला में सभी गोप-कन्यायें सम्मिलित होती
थीं, परन्तु कोई एक गोप-बाला, पति भादि सरलकों द्वारा रोक दिये जाने के कारण
उस (रासलीला में) सम्मिलित नहीं हो सकी, जिससे उसको मितान्त दुःख हुआ,
पर उसी दुःख में उसके सभी पाप नष्ट हो गए (पाप के फल दुःख को भोग लेने से
पाप नष्ट होते हैं) और धनश्याम के निरन्तर चिन्तन से उसे असीम आनन्द भी हुआ,
जिससे उसके सम्पूर्ण पुण्य भी क्षीण हो गए (पुण्य का फल सुख है अतः उसके भोग
से पुण्य समाप्त हो जाता है) । इस तरह ससार-कारण-परब्रह्म-स्वरूप-कृष्णचन्द्र की
चिन्ता करती हुई वह, निरुच्छ्वास अवस्था को पाकर मुक्त हो गई । प्रकरण के अनुसार
यही उन श्लोकों का अर्थ है । यहाँ 'भगवान् के न मिलने के कारण उत्पन्न महादुःख'
से सकल पापों के नष्ट हो जाने की बात तथा 'भगवान् के स्मरण से उत्पन्न आनन्द' से
पुण्य-समूह के नष्ट होने की बात जो वाच्यरूप में वर्णित है, वह तब तक संगत नहीं

हो सकती, जब तक उन दोनों (दुःख और आनन्द) का क्रमशः बनेक जन्मों में भोगे जानेवाले, दुःखों और सुखों के साथ तादात्म्य न समझा जाय । क्योंकि शास्त्रों में जो दुःख जिन पापों के फल हैं और जो सुख जिन पुण्यों के फल हैं उन्हें ही उन पापों और उन पुण्यों का नाशक माना जाता है और ये कृष्ण-वियोग-दुःख और कृष्ण स्मरण-सुख तो उन लौकिक पाप पुण्यों के फल हैं नहीं । अतः 'उन पाप पुण्यों के फल-रूप सुख-दुःखों के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का तादात्म्य'—जो अतिशयोक्तिरूप है—मानना पड़ेगा—तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य पापों के नाशक हो सकेंगे । इस स्थिति में यहाँ भी अतिशयोक्ति, पूर्वोक्त युक्ति से अर्थापत्ति—वैध होकर व्यङ्ग्य ही नहीं होगी, अथवा वाच्यमिदं का अंग बन कर, मध्यम-काव्य-व्यवहार के हेतु होगी—स्वनिकाव्यता का नियामक नहीं हो सकती ।

आशंक्य समाप्यते—

न च वस्तुमात्राभिव्यक्तस्यालङ्कारस्य न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्—

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।

ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥'

इति सिद्धान्तादिति वाच्यम्, बाधे दृढे सिद्धान्तमात्रेणात्र ध्वनित्वस्य स्थापयितुमशक्यत्वादिति चेत् ?

व्यज्यन्ते इति । ध्वन्यालोकस्थेय कारिका । वाच्येन वस्तुमात्रेण न तु सालङ्कारेणापि, अलङ्कृतयोऽलङ्कारा, यदा व्यज्यन्ते, तदा व्यङ्ग्यत्वकाल तामामलङ्कृतानां ध्रुव नियमेन, ध्वन्यङ्गता ध्वनिरूपता वाच्यवस्तुपेक्षयाऽलङ्कारत्वेनैवातिशयितया ध्वनिन्वनिर्वाहकतेति यावत्, भवतीति शेष । कुत इति चेत् ?—काव्यस्य षड्विध्यापारस्य वृत्ते प्रवृत्ते सव्यङ्ग्योऽर्थ आश्रय उद्देश्यतयाऽऽलवन यस्या सा तदाश्रया तस्या भावस्तदाश्रयत्वम्, तदुद्देश्यत्वम्, तदाश्रयत्वम् । इह तदाश्रयादिति भावप्रधानो निर्देश । व्यज्यन्ते इति ध्वनिकारोक्तसिद्धान्तानुसारेण 'मृद्रीका' 'तदप्राप्ती'त्यादीं वस्तुना व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता गम्यतेति शङ्का । वाच्यसिद्धशङ्कतेतुर्गौणतात्मिकाया ध्वनिव्यापकत्वोक्तौ विद्यमानाया ध्वनिकारोक्तसिद्धान्तमात्रेण ध्वनित्वस्थापनं नोचितमिति समाधानम् ।

उक्त आशङ्का के उत्तर के रूप में एक आशङ्का करके उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि अलङ्कार शून्य-केवल, वस्तु से ध्वनित होने वाले अलङ्कार गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं हो सकते, कारण, यह सिद्धान्त है कि—'व्यज्यन्ते ... इत्यादि अर्थात् जब केवल (अलङ्कार शून्य) वस्तु से अलङ्कार ध्वनित होते हैं तब वे निश्चिन रूप से काव्य को ध्वनि (उक्तमोक्षम) बनाते हैं, क्योंकि ऐसे पद्यों में काव्य का व्यवहार उन्हीं अलङ्कारों के आधार पर होता है—उनमें वे अलङ्कार ही चरित्र-विशेष के जनक होते हैं ।' तो यह ठीक नहीं । कारण, जब एक सुदृढ बाधक युक्ति उपस्थित की जा चुकी है—अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अङ्ग बतलाया जा चुका है, तब केवल सिद्धान्त के दल पर—ध्वन्यालोक की कारिका के आधार पर—उन पद्यों को ध्वनि नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

अथ प्ररन्विपथस्येयादिना समुत्थापितामाराहानुपमहरति—

सत्यम्,

'मृद्रीका', 'तदप्राप्ती'त्यादीं व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्गुणीभूतया ध्वनिव्यवहार-प्रयोजना न संभवतीति शङ्का युक्ति भाव ।

अब उक्त आदर्श-ग्रन्थ का उपसहार करते हैं—'सत्यम्' इति । आपका कथन सत्य है—'गृहीका' 'वदप्रति' इत्यादि पद्यों में अनिश्चयोक्ति जब वाच्यसिद्धि का अङ्ग हो जाती है, तब वह उन पद्यों को 'ध्वनि' नहीं बना सकती । परन्तु—

समापत्ते—

यादृशव्यङ्ग्यप्रतिपत्तिं विना यत्र वाच्यस्य सवथाप्यनुपपत्तिस्तत्र तद् वाच्यसिद्धयङ्गम् । यत्र प्रकारान्तरेणापि तस्योपपत्तिः शक्या कर्तुम् न तत्र तथा ।

प्रतिपत्तिमिति । ज्ञानमित्यर्थः । अनुपपत्तिरिति । असंगतिरित्यर्थः । तदिति । व्यङ्ग्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेणेति । व्यङ्ग्यज्ञानातिरिक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । तथा वाच्यमिद्वयङ्गम् । यत्र व्यङ्ग्यमेव केवलं न तु वाच्यादिकं, वाच्यार्थं सोपपत्तिकं कर्तुं प्रभवति, तत्रैव तद्व्यङ्ग्यं वाच्यमिद्वयङ्गं स्वीकर्तुं योग्यम् । यथा—'भ्रमिमरतिमलमहृदयता प्रलयं मूर्च्छां तम' शरीरमादम् । मरणञ्च जलदभुजगजं प्रमथ्य कुक्षते विषं वियोगिनीनाम् ॥ इत्यादौ विषपद-व्यङ्ग्यं हालाहलमेव केवलं जलदभुजगेति वाच्यस्य रूपकस्य सिद्धिकृत् । अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन, भुजग इव जलद इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितममासाप्रयणैनीपमालङ्कारापत्तेः । व्यङ्ग्यमभिन्नत्वेनाप्यवसिते तु जले गुजगन्वीपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकमिद्धि । यत्र पुनः व्यङ्ग्यार्थेन साधयितुं योग्यस्य वाच्यस्य तदतिरिक्तम् (व्यङ्ग्यमतिरिक्तम्) अपि साधकं संभवति, तत्र व्यङ्ग्यं न गुणीभूतमङ्गीकृत्यत इति भावः ।

अब सिद्धान्तमूल समाधान उपस्थित करते हैं—यादृश इत्यादि । उत्तर का अन्तिमार्थ यह है कि उक्त पद्यों में अनिश्चयोक्ति यदि वाच्यमिद्धि का अङ्ग हो तब न वह गुणीभूत होगी, वस्तुतः वाच्य-मिद्धि का अङ्ग वह नहीं है । कारण, वह व्यङ्ग्य वहाँ वाच्यसिद्धि का अङ्ग होता है, जिसके ज्ञान के बिना, जहाँ वाच्य की सिद्धि सवथा नहीं होती, अर्थात् व्यङ्ग्य ज्ञान के अनिश्चित कोई उपाय जहाँ वाच्यार्थ का साधक नहीं रहता वहाँ व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अंग कहलाता है और जहाँ वाच्य, किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ व्यङ्ग्य वाच्य मिद्धि का अङ्ग नहीं होता ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तास्वीकारेऽनुपपत्तिं दर्शयति—

अन्यथा हि 'निःशेषव्युत्तचन्दनं स्तनतटम्' इत्यत्राधमत्वासिद्धयङ्गत्वाद्दूतीरमणस्य वाच्यसिद्धयङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः ।

वाच्यमिति । वाच्यसिद्धयङ्गत्वं यद्गुणीभूतव्यङ्ग्यं तत्त्वापत्तेरित्यर्थः । व्यङ्ग्येन वाच्य-मिद्धेः संभवमात्रेण तस्य गुणीभावादीकारे 'निःशेष'त्यादौ दूतीमभोगरूपस्य व्यङ्ग्यस्याधमत्वरूपवाच्यमाधकतासंभवेन गुणीभूतत्वम्, तद्व्युक्त प्रकृतपदस्य मध्यमकाव्यत्वं च प्रस-ज्येतेति भावः । उक्तसिद्धान्तस्वीकारे तु नानुपपत्तिः, परवैदानानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाप्यर्थेनाधमत्वस्य मिद्धौ संभवन्नया दूतीमभोगस्य व्यङ्ग्यस्यानन्यसाधारणवाच्यमाधकत्व-विरहात् ।

पूर्वोक्त नियम को न मानने पर होने वाली अनुपपत्ति का उल्लेख करते हैं—अन्यथा इत्यादि । यदि उक्त नियम न माना जाय, तब तो प्रथमानन में उदाहृत 'निःशेषव्युत्तचन्दनं स्तनतटम् ...' इत्यादि ध्वनि के उदाहरण में भी 'दूती-रमण'-रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग हो जायगा, क्योंकि वाच्य-नायक की अधमता को वह सिद्ध करता है । उक्त नियम के मानने पर यह आपत्ति नहीं होती । कारण, वाच्य-अधमता की मिद्धि प्रकारान्तर से भी वहाँ हो जाती है अर्थात् नायिका के दुःख-दर्द को न समझ कर वाच्य उसे दुःख-दान से भी नायक की अधमता सिद्ध हो जाती है ।

उक्तसिद्धान्तानुसारेण 'मृद्धीके'ति पद्ये व्यज्यमानातिशयोक्तिर्न वाच्यसिद्धयङ्गमित्यु-
पपादयति—

प्रकृते च भगवन्नाम्नि योगसिद्धितादात्म्याध्यवसायरूपामतिशयोक्तिं विनापि
भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्राप्तिसर्वज्ञबुद्ध्याऽपि प्रश्लोषपत्तेर्न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

प्रकृते मृद्धीकेति पद्ये । भगवन्नामेति । भगवन्नाम्न उच्चारणस्य माहात्म्येन प्राप्त यत्
सार्वभ्यम् तस्य बुद्ध्या ज्ञानेनेत्यर्थ । अयमभिप्राय — मृद्धीकेति पद्ये वक्ता स्वकीय जीव
भगवन्नामोच्चारणसकललब्धसर्वज्ञताक बुद्ध्याऽपि 'मधुरिमोद्गार क्वचिच्छक्षित' इत्यादिना-
नाजन्ममृतान्तविषयक प्रश्न कर्तुं शक्नोतीति तादृशप्रश्नात्मकस्य वाच्यस्य सिद्धिर्न
नियमतो भगवन्नामयोगसिद्धिविषययोस्तादात्म्याध्यवसायरूपा व्यज्यमानामतिशयो-
क्तिमपेक्षते । एवञ्च न तदतिशयोक्तिरूप व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धेरङ्गमिति । 'तदप्राप्ती'ति
प्रकाशोदाहरणे सा व्यापत्तिरस्तौत्यन्यदेतत् ।

उक्त नियम के अनुसार 'मृद्धीका' ' ' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाली अति-
शयोक्ति वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं होती, इस बात का अब उपपादन करते हैं—प्रकृते
इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'मृद्धीका' ' ' इत्यादि पद्य में वक्ता अपनी आत्मा को
भगवन्नाम की महिमा से सर्वज्ञ बनी हुई जान कर भी उससे जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक
प्रश्न कर सकता है अर्थात् जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक प्रश्न—जो वाच्य है—उसकी सिद्धि
आत्मा के विषय में भगवन्नाम-माहात्म्य-मूलक सर्वज्ञता-ज्ञान से भी हो जाती है, अतः
उस प्रश्न को सिद्ध करने के लिये भगवन्नाम में योगसिद्धि के तादात्म्य का आरोप—
जिसको अतिशयोक्ति के रूप में अभिव्यक्त करते हैं—अपेक्षित नहीं है । अतः यहाँ व्यङ्ग्य
होनेवाली अतिशयोक्ति गुणीभूत नहीं है । तात्पर्य यह कि वह व्यङ्ग्य उस पद्य को अति-
वाच्य की श्रेणी में अवश्य ला सकता है ।

भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्येत्याद्यनुपदीकरातिरनुमरणेऽपि उक्तापत्तिसजातीयामेवापत्ति-
माशङ्क्य निरस्यति—

एतेनासवन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्नामोच्चारणमाहात्म्यप्रभवसार्वज्ञ्या-
ध्यवसायेऽपि स्थितेति स दोषस्तदवस्थ इति परास्तम् । भगवन्नामोच्चारणस्या-
चिन्त्यमाहात्म्यतायाः पुराणप्रसिद्धत्वात् ।

एतेनेति । वक्ष्यमाणहेतुनेत्यर्थ । स्वामनि भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्रभवात्सर्वज्ञ्या
तथा प्रश्न इति कथनेऽपि असवन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्विद्यत एव, भगवन्नामोच्चारणे
सर्वज्ञतासंबन्धविरहिणि तादृशसवन्धकल्पनात्, तथा नातिशयोक्तिद्वयमपि वाच्यसिद्धय-
ङ्गतया गुणीभूतमेवेति कथन न सम्यक्, वेदपुराणादौ भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यस्य
सकलभीतीर्थसाधकतायाः प्रसिद्धत्वात् । तथा च धरतुत एव भगवन्नामोच्चारणे सर्वज्ञ-
तायाः सम्बन्ध न तु कल्पित स इन्वयसवन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्निति बोध्यम् ।
एवञ्च मृद्धीकेति पद्य रवत समविना वातुनाऽलङ्काररूपनेदनाहरण सम्भवतीति भाव ।

उक्त रीति के अनुसरण करने पर भी उसी प्रकार की आपत्ति दिखलाकर पुनः खण्डन
करते हैं—एतेन इत्यादि । यदि आप कहें कि भगवन्नाम की महिमा से जीव को सर्वज्ञ
सम्पन्न भी एक प्रकार की (असवन्ध में सम्बन्धरूप) अतिशयोक्ति ही है अर्थात्
भगवन्नामोच्चारण का सर्वज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध वस्तुतः है नहीं, फिर जो सम्बन्ध
माना जायगा वह अतिशयोक्ति का ही एक प्रकार होगा और इस स्थिति में उक्त दोष
पुन उसी तरह वर्तमान रहेगा अर्थात् दोनों ही अतिशयोक्तियों वाच्य-सिद्धि गृह्य होकर
' ' भूत हो जाएंगी, तो यह तर्क आप का समुचित नहीं, कारण, भगवन्नामोच्चारण का

माहात्म्य अचिन्त्य है अर्थात् उससे सब कुछ हो सकता है, यह बात पुराणों में जब प्रसिद्ध है, तब भगवान्‌मोक्षारण का सर्वज्ञता से संबन्ध विद्व है, अतः यहाँ सत्संबन्ध में संबन्ध-रूप अतिशयोक्ति का कोई प्रसंग ही नहीं आता ।

मृद्रीकेतिपद्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युत्थोदाहरणान्तरमनन्तारयति—

अथवा मास्तु प्रागुक्तमुदाहरण यस्तुनोऽलङ्कारव्यञ्जकतायाः, इदं तु भविष्यति—

‘न मनागपि राहुरोधशंका न कलङ्काधिगमो न पाण्डुभावः ।

उपनीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि । ते मुखस्य नित्यम् ॥’

सखी नायिका कथयति—अथि भामिति कामिनि ! ते तव, मुखस्य आननस्य, कापि अनिर्वचनीया शोभा, परितः सर्वतोभावेन, उपनीयते वर्धत एव । (अत्र) मनागपि इयदपि राहुरोधशङ्का राहो रौघस्य आक्रमणस्य, शङ्का भयं, नास्ति, न वा कलङ्काधिगम-कलङ्कसंबन्धो वर्धते, पाण्डुभाव पाण्डुताऽपि नास्त्येव । राहुप्रासप्रासमुक्तस्य, निबलंकरस्य, सुवर्णवर्णस्य तवाननस्य मृगमा सर्वतोभावेन मदा वर्धमानैव विद्यते न तु कदापि चन्द्रवत् क्षीयत इति भाव ।

‘मृद्रीका ..’ इत्यादि पद्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य मान कर स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार-ध्वनि का दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं—अथवा इत्यादि । स्वतःसंभवी वस्तु जहाँ अलंकार की व्यक्तिका होती है, वैसा उदाहरण यदि पूर्वोक्त पद्य (मृद्रीका .. इत्यादि) नहीं हो सकता है, तो न होवे ‘न मनागपि ..’ इत्यादि पद्य तो होगा । यह पद्य सखी के द्वारा नायिका के प्रति कहा गया है । सखी कहती है कि हे सुन्दरि ! तेरे मुख की कोई (अनिर्वचनीय) शोभा सब तरह से सदा बढ़ती ही रहती है । इस मुख में, न तो राहु के आक्रमण का थोड़ा भी भय है, न कलङ्क का संबन्ध है और न पाण्डुरता (सफेदी) है ।

उपपादयति—

अत्र राहुरोधशङ्काभावादिभिर्निरपेक्षैर्वस्तुभिर्न्यतिरेकालंकारो व्यज्यते ।

अत्रेति । न मनागपीत्यादिपद्य इत्यर्थ । राहुरोधेति । कलङ्काधिगमाभावपाण्डुत्वा-भावावादिपदप्राप्तौ । निरपेक्षैरिति । व्यङ्ग्यव्यतिरेकोदात्तोनैरित्यर्थ । अत्र राहुरोधशङ्का-भावादौनि वस्तूनि वाच्यरूपाव्यर्थमानानि तादृशानि सन्ति, येषा माधनाय व्यङ्ग्यपस्यापेक्षा नास्ति अतस्तादृशैस्तेर्वस्तुभि स्वतः समविधि उपमागादिन्दीरपेक्षया उपमेयस्य मुखस्या-धिक्यरूपो व्यतिरेकालंकारो ध्वन्यत इति पद्यमेतद्वचनेरुदाहरणं सम्पद्यत इति भाव ।

मृदूतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में ‘राहु के आक्रमण का भय न होना’ आदि ऐसी ऐसी उदात्तोंन वस्तुएँ हैं जिनकी निबल में व्यङ्ग्य (व्यतिरेकालंकार) की अपेक्षा नहीं होती, अतः उन वस्तुओं के द्वारा जो व्यतिरेकालंकार (उपमान चन्द्र से उपमेय मुख में आधिक्य) ध्वनित होता है, वह इस पद्य में ध्वनि-काव्य-व्यवहार—का कारण होता है ।

स्वतः समविधिनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिमुदाहरति—

‘नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिब्रजाः,

पठन्ति विरुदायलीमहितमन्दिरे वन्दिनः ।

इदं तदवधि प्रभो ! यदवधि प्रवृद्धा न ते,

युगान्तदहन्तोपमा नयनकोणशोणद्युतिः ॥’

कवि कमपि नृपविरोपं वक्ति—हे प्रभो सर्वसमर्थ ! अहितमन्दिरे त्वदीयशत्रु-
भवने, मददन्तित्त मद्दशालिनो वजा, मदपदे अर्शं प्रायजिति भाव । नदन्ति चोत्तुर्बन्ति,
वाजिज्वा तुरगतस्य, परिलसन्ति शोभन्ते, वन्दिन स्तुतिपाठका, विरदावली स्तुति-
परम्परा, पठन्ति गायन्ति । परमिद् सर्वं मद्मत्तदन्तिनादादिक तद्वधि तावत्कालपर्यन्त
भवतीति शेष, यद्वधि शक्यकालपर्यन्तम्, युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकामित्युक्त्या, ते
तव, नयनशोणशोणयुति नेत्रकोणारुणकात्ति, न प्रयुद्धा ममुपचितेत्यर्थ ।

अथ स्वतःसमर्था अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—नदन्तीत्यादि ।
कोई कवि राजा से कहता है—हे प्रभो ! आपके शत्रुओं के भवन में मदमत्त गज चीकार
करते हैं, अर्शों की श्रेणियाँ शोभित होती हैं, और वदीजन विरदावली (स्तुति) पढ़ते हैं ।
परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक प्रलयकालिक अग्नि-शिखा के समान, आपके नेत्र कोण
की अरुण आभा नहीं बढ़ी है ।

उपपादयति—

अत्र युगान्तदहनोपमया यदैव तत्र कोपोदयस्तदैव रिपूणां सम्पदो भस्म-
साङ्घविष्यन्तीति वस्तु व्यवमानं राजविषयकरतिभावेऽङ्गमपि वाच्यापेक्षया
सुन्दरत्वाद् ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

नदन्तीतिपद्ये युगान्तदहन उपमानम्, नयनकान्तिरुपमेयभूता, तयोपमा न,
वाच्यानि, तथा चोपमया तव कोपोदयाव्यवहितोत्तरक्षण एव शत्रुसम्पत्तयो भस्मीसात् नवि-
ष्यन्तीति वस्तु व्यव्यते, तच्च व्यङ्ग्य इत्यपि प्रधानव्यङ्ग्ये कविनिष्ठराजविषयकरतिभावे
पोषकत्वाद्भङ्गम्, तथापि वाच्यापेक्षयाऽऽधिकवमत्कारशालित्वात्प्रधानमिति ध्वनिव्यवहार-
भिदान सपद्यत इति भाव । 'वाच्यातिशायिनिव्यङ्ग्ये ध्वनिस्तरकाव्यमुत्तमम्' इति प्राचीना-
भिमत्ध्वनिलक्षणानुरोधिवचनमिदं पण्डितराजस्य । 'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कम-
प्यर्थमभिव्यङ्ग्यस्तदायम्' इति स्वकृतध्वनिलत्रोत्तु 'गुणीभावितात्मानौ' इति विशेषो-
नापराङ्गव्यङ्ग्यस्य निरास एव । 'कृष्णपक्षाधिकरुचि इति शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वन्युदाहर-
णोपपादनावसरे स्फुटमेतत् ।

उक्त पद्य में अपेक्षित विषयों का उपपादन करते हैं—अथ इत्यादि । इस पद्य में
'प्रलयकालिक अग्नि शिखा के समान नेत्रकोण की अरुण आभा' यह जो वाच्य उपमा
अलंकार है, उससे यह वस्तु व्यङ्ग्य होती है कि 'जमी आपके हृदय में क्रोध का उदय
होगा, तभी शत्रुओं की सारी सम्पत्तियाँ भस्म हो जायेंगी ।' यद्यपि यह व्यङ्ग्य कविगत
राज-विषयक प्रेमभाव—जो हम पद्य से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है—का अङ्ग-पोषक
है, अतः उसकी अपेक्षा गौण है, तथापि वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने के
कारण प्रधान है, अत एव इस पद्य में ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य के व्यवहार करने का
कारण होता है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यपदमस्यास्य निरस्यति—

न च भस्मीकरणपटुत्वरूपस्य नाधारणधर्मस्योपमानिष्पादकात् व्यङ्ग्यस्य
वाच्यसिद्धयङ्ग्यत्व शङ्क्यम्, उपात्तशोणत्वरूपसाधारणधर्मणापि तन्निष्पत्ते
सम्भवात् । उपमेयीभूतशोणयुतिगतस्य भस्मीकरणपटुत्वरूपमाधारणधर्मस्यो
पमानिष्पादकत्वेऽऽद्युपमेयव्यङ्ग्यकोपात्तभस्मीकरणपटुत्वरस्यानथावाच ।

व्यङ्ग्यस्येति । व्यङ्ग्यशरीरघटकतया तस्य व्यङ्ग्यत्व बोध्यम् । तन्निष्पत्तेरिति ।
उपमानिष्पत्तेरित्यर्थ । विनिगमनाविरहेऽप्याह—उपमेयीभूतेति । उपमेयव्यङ्ग्यकोपेति ।

उपमेयेन नयनकोणद्युत्या, व्यङ्ग्यो य कोपरतद्गतेश्वर्य, अतथात्वादिति । उपमाया अन्वि-
 प्यादरुन्वादिश्वर्य । उपमानोपमेययो युगान्तदहननयनकोणद्युत्यो साधारणो धर्मो
 भस्मीकरणपटुत्वम्, तच्च न वाच्यम्, अपि तु 'रिपुतापदो भस्मसाद्भविष्यन्तीति व्यङ्ग्यवस्तु-
 शरीरप्रविष्टतया व्यङ्ग्यं सदेव वाच्यमुपमा निपादयति, तथा च वाच्यसिद्धेरङ्गभूतं
 तद्व्यङ्ग्यं कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुरिति शङ्काबलायाय । भस्मीकरणपटुत्वमिह न तयोः
 साधारणो धर्म, अपि तु वाच्य शौण्डम्येन, यथा युगान्तदहनः शौण्डतया नयनकोणद्युति-
 रित्यभिप्रायान् । तथा च तद्व्यङ्ग्यं भस्मीकरणपटुत्व न वाच्यमिदिक्रममिति ध्वनिव्यपदेश-
 हेतुर्भवेत्तुमर्हतीति च समाधानायाय । ननु भस्मीकरणपटुत्वशौण्डत्वयोर्धर्मयो साधारण-
 धर्मत्वसम्भवे विनिगमनाविहेण भस्मीकरणपटुत्वस्यैव साधारणधर्मता कुतो न ? तथा च
 पुनर्गुणभूतत्वसंका तदवस्थैवेति चेन्न । भस्मीकरणपटुत्वं यथोपमेयभूताया नयनकोणद्युते-
 र्धर्मत्तत्त्वं तेनोपमेयेन व्यङ्ग्यो य कोपरतस्यापि स साधारणधर्मः । एवञ्च नयनकोणद्युति-
 निष्ठं भस्मीकरणपटुत्वमेनोपमानिर्वर्तकम्, न तु तद्व्यङ्ग्यकोपनिष्ठम्, तस्य तस्मिन् शब्देऽनु-
 पस्थिते । तथा च कोपगतभस्मीकरणपटुत्वान्मठं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनित्वेन बाधित्याश-
 यादिति द्वितीयस्योत्तरस्याभिप्राय ।

यदि आप कहें कि यहाँ प्रलयकालिक अग्निरूप उपमान और नयन-कोण को अरुण-
 कान्ति रूप उपमेय में साधारण धर्म (उपमालंकार का एक अङ्ग) 'भस्म करने की क्षमता'
 है, जो वाच्य नहीं है, अपि तु व्यङ्ग्य है और व्यङ्ग्य होकर ही उपमा अलंकार का संपादक
 होता है । ऐसी स्थिति में वाच्य (उपमा) की सिद्धि में अङ्गभूत-अत एव शौण्ड वह
 व्यङ्ग्यध्वनि कहे जाने का कारण कैसे होगा ? ता यह उचित नहीं । कारण, 'भस्म करने
 की क्षमता' को यहाँ में साधारण मानता ही नहीं । मैं वाच्य अरुणता को ही साधारण
 धर्म मानता हूँ, अर्थात् 'जिस तरह प्रलयकालिक अग्नि अरुण होती है, उसी तरह नयन-
 कोण की कान्ति अरुण है' यही कवि का अभिप्राय है । ऐसी स्थिति में 'भस्म करने की
 क्षमता' रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग नहीं होता अतः ध्वनि कहे जाने का हेतु होगा ।
 हतने पर भी यदि आप कहें कि जब दोनों (भस्म करने की क्षमता और अरुणता) धर्म
 साधारण हो सकते हैं, तब 'भस्म करने की क्षमता' को ही क्यों न साधारण धर्म माना
 जाय ? तो मैं कहूँगा-मानिए उसी को साधारण धर्म, तथापि कोई क्षति नहीं । कारण,
 यहाँ दो तरह की 'भस्म करने की क्षमता' है—एक उपमेय नयन-कोण-कान्तिगत और
 दूसरी, उस उपमेय से व्यङ्ग्य कोपगत । उन दोनों में उपमेयगत उक्त धर्म भले ही
 उपमासंपादक होने के कारण वाच्य-मिद्धि का अङ्ग होवे पर व्यङ्ग्यकोपगत वह धर्म
 किसी का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उपमासंपादनक्षण में उसकी उपस्थिति ही नहीं रहती,
 अतः उस कोपगत-भस्मीकरणपटुत्व-रूप प्रधान व्यङ्ग्य के आधार पर इस पद्य को
 ध्वनिकाव्य कहने में कोई बाधा नहीं होती ।

उदाहरणान्तरसाह—

'निर्मिय द्मारुहाणामतिघनमुदर येपु गोत्रांगतेपु
 द्राघिष्ठस्यर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त धित्तन्ति पादान् ।
 यैः संमिन्ने दलाग्रप्रचलद्दिमकण्ठे दाहिमीधीजयुद्ध्या
 चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकरिशरावस्तैऽशयः पान्तु भानोः ॥'

कवि सूर्यकिरणान् स्तौति—द्मारुहाणा तस्याम्, अतिघनम् निमिडतरम्, उदरं
 मन्यभागं, निर्मिय विदार्य, गोत्रा भूमिं, गतेषु प्राप्तेषु, येपु किरणेषु, द्राघिष्ठस्य अतिदीर्घस्य,
 स्वर्णदण्डस्य सुवर्णरचितदण्डस्य, प्रमेण भ्रान्त्या भूतं पूर्णं मनोऽन्तःकरणं येषा तादृशा.

सन्त शुक्लशिशव शुक्लशावकाः, हन्त आश्चर्यम्, पादान् स्वचरणान् धिन्सन्ति स्थापयितु-
मिच्छन्ति । सधनपल्लवशालितद्विवरमाणेण भुवमवतीर्णेषु सूर्यकिरणेषु तिर्यक् प्रसृतरवर्ण-
दण्डभ्रान्त्या तिर्यक्प्रसृतशालाम् स्थित्यभ्यासिन शुक्लशिशवचरणान् स्थापयितुमिच्छन्तीति
भाव । किञ्च (ते एव शुक्लशिशव) यै किरणैः सभिधे मिश्रिते (अत एवाहणवर्षे)
दलानां पत्राणाम्, अग्रे पुरोभागे, य प्रचलध्रपलो, हिमकण तरिमन्, दाहिमीबीजदुदधा
दाहिमफलबीजभ्रमेण, चञ्चूचाखल्यम् चञ्चुचपलताम्, अश्रन्ति कुर्वन्ति, ते भानो सूर्यस्य,
अशव किरणा, पान्तु रक्षन्तु । अस्मान् युमान् वेति शेष । नागेशस्तु द्राधिष्ठेत्स्य
जनविशेषणत्वमास्थाय 'पादान् धिन्सन्ती'त्यस्य सूर्यकिरणान् ग्रहीतुमिच्छन्तीति
व्याचख्यौ । अत्र वाच्यो भ्रान्तिमदलकार ।

स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुध्वनि का एक दूसरा भी उदाहरण देते हैं—निर्मित
हृत्पादि । कवि सूर्य-किरणों की स्तुति करता है—सूर्यो के अति घने मध्य-भाग को भेद
कर जिनके भूतल पर आ जाने के बाद, शुकों के बच्चे विशाल-सुवर्ण-दण्ड के भ्रम से
परिपूर्ण मनवाले होकर-अर्थात् 'ये सुवर्ण के दण्ड हैं' इस तरह के मानसिक भ्रम के
कारण-पैर रखने लगते हैं, और (वे शुक् के बच्चे ही) जिनसे मिश्रित पत्तों के अग्रभाग
में स्थित चञ्चल हिमबिन्दुओं पर अनार के दाने समझ कर चोंच चलाने लगते हैं वे
सूर्य-किरणों (हमारी अथवा तुम्हारी) रक्षा करें ।

उपपादयति—

अत्र भ्रान्तिभृतां तिरश्चामप्येवमानन्दं जनयतीति जगदानन्दहेतुर्भगवानिति
व्यज्यते । एवंप्रकाराया भ्रान्तेर्लोकैऽपि संभवात्स्वतःसंभवित्यम् ।

भ्रान्तिभृतामिति । भ्रान्तानामित्यर्थः । तिरश्चामपीति । अपिपदेन 'वा कथा मनुष्या-
णाम्' इत्यर्थो द्योत्यते । अत्र वाच्येन भ्रान्तिमदलकारेण 'तिरश्चामपीत्यादि मूलोक्त वस्तु
व्यज्यते, एतादृशी भ्रान्तिर्लोकैऽपि संभवतीति तस्या स्वतःसंभवित्य विशेषम् । एवञ्च
स्वतःसंभविनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमेतदिति भावः ।

अब उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी त्रिपत्तियों का उपपादन करते हैं—अथ हृत्पादि । यहाँ
यह स्पष्ट होना है कि जब भगवान् सूर्य भ्रान्त पक्षियों को भी इतना आनन्द देते हैं,
तब वे (सूर्य) अवश्य ही सत्कार के सुखों के निदास हैं । इस तरह का भ्रम लोक में भी
सम्भावित है—अर्थात् कार्पणिक नहीं है—अतः यह वाच्य 'भ्रान्तिमत्' अलंकार स्वतः
संभवी है । सारांश यह कि भ्रान्तिमत् अलंकार से उक्त वस्तु की अभिव्यक्ति होने के
कारण यह पद्य स्वतः संभवी अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण होता है ।

स्वतःसंभविनाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

‘उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिर्गोण ।

मुदितं च सकलललनांचूडामणिरासनेन मदनेन ॥’

कविश्चन्द्रोदय वर्णयति—इन्दोश्चन्द्रमसौ मण्डलम् गोलवम्, उदितम्—नभसि दृष्टि-
गोचरमभवत् । उदितमित्यत्र कर्तारि च । वियोगिनाम् वियोगिनश्च वियोगिनश्चरेति 'पुमान्
द्वियेत्येत्प्रोप, तोपा, वर्गेण समूहेन, सद्य उदयसमकालमेवेति यावत्, रुदितम्, ननुसके
भावे षत् । च पुन सखलानां सर्वासां, ललनानां स्त्रीणाम्, चूडामणि शिरोधार्यमिति
यावत्, शासन मस्य तेन, मदनेन वामदेनेन, मुदितम् मोदोऽनुभूत इत्यर्थः ।

अथ स्वतःसंभवी अलंकार से अलंकार-ध्वनि का उदाहरण उपस्थित करते हैं—
उदित हृत्पादि । कवि चन्द्रोदय का वर्णन करता है—ज्यों ही चन्द्रमण्डल का उदय हुआ,

स्योंही विरही और विरहिनियों का दल रो उठा तथा सभी कामिनियों पर शासन करने वाला कामदेव लिख उठा—उसने प्रसन्नता का अनुभव किया ।

उपपादयति—

अत्र समुच्चयेन क्रियाद्योगपद्यात्मना कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिकातिशयोक्तिः ।

अत्र 'उदितम्' इति पद्ये । कार्यकारणेति । कार्यकारणपौर्वापर्यम्—पूर्वपथाद्भावस्तस्य विपर्ययो नैपरीत्यम् प्रकृते समकालीनत्वमिति यावत्, आत्मा स्वस्वम् यस्या' सेव्यर्थ । अतिशयोक्तिरित्यस्य व्यज्यते इति शेषः । अत्र 'उदितम्', 'ददितम्', 'मुदितम्' इति क्रियात्रयस्य वाच्यं गौणपद्यम् (समकालीनत्वम्) समुच्चयालङ्कारः, स्वतः संभवी, तेनेन्दुमण्डलोद्भवस्य कारणतया पूर्वभाविन, रोदनमोदयोश्च कार्यतया पश्चाद्भाविनो समकालिकत्वकथनानाम्कोऽतिशयोक्त्यालङ्कारो ध्वन्यत इति स्वतः संभवित्वाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरत्र सम्पद्यते इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में 'उदित होना, रोना और मुदित होना' इन तीन क्रियाओं का एक साथ होना समुच्चयालङ्कार कहलाता है । जो स्वतः सम्भवी वाच्य है, उससे कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है—अर्थात् यहाँ जो पदार्थ वर्णित हैं, उनमें चन्द्रोदय कारण है और रोना आदि कार्य, अतः चन्द्रोदय की प्रथमता और रोदन आदि की पश्चाद्भाविता निश्चित है, परन्तु यहाँ उन सबों के साथ-साथ होने का वर्णन किया गया है—यह एक प्रकार की अतिशयोक्ति है ।

एषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

व्यञ्जक इत्यत्र ज्ञान्यभिप्रायेणैकवचनम् । पूर्वोक्तेषु उदाहरणेषु व्यञ्जका अर्थात् बहिरपि सम्भाव्यमानत्वात्स्वतः सम्भविनः सन्तीति भावः ।

पूर्वोक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ ऐसे हैं, जो वाक्य जगत् में भी हो सकते हैं अतः ये स्वतः सम्भवी (व्यञ्जक) कहे जाते हैं ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—

'तद्वधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशास्त्राविवारजो विवेकः ।

यद्वधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः ॥'

कविर्विमृशति—पुराणानां शास्त्राणां स्मृतीनाञ्च शास्त्रस्य यथाह रमणीयो विचारस्तत्रान्यो विवेकः संसारपरमात्मनोर्भेदज्ञानम्, तद्वधि तापकालपर्यन्तम्, कुशली अक्षुण्ण-स्तिष्ठतीति यावत् । यद्वधि शिवकालपर्यन्तम्, हरिणकिशोरस्य शृंगशावकम्प, रगिव हृद् यस्यास्तस्या मृगनयनाया इति यावत्, दृशो न्यनयो, विलासः कटाक्षदि, चित्ते हृदये, पदं चरणं, न दधाति स्थापयतीत्यर्थः । रमणीकटाक्षपहतचेतसः पुंसो विवेको नश्यतीति भावः ।

अथ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—'तद्वधि' इत्यादि । कवि कहता है—संस्कृतों पुराणों, शास्त्रों तथा स्मृतियों के सुन्दर विचारों से उपपन्न विवेक (सत्कार और परमज्ञान में भेद-ज्ञान) तभी तक सकुशल-अक्षुण्ण रहता है, जब तक मृग-शावक-नयना नायिका के नयनों का विलास (कटाक्ष आदि) हृदय में स्थान ग्रहण नहीं करता ।

उपपादयति—

अत्र कामिनीदृग्विलासे चेतसि पदमर्पितवती विवेकस्य नास्ति कुशल-

१० १० १० द्वि०

मिति वस्तुना दृग्बिलासकर्तृकपदार्पणस्य लोकसिद्धत्वाभावात्कविप्रौढोक्ति-
निष्पन्नेन मुनिपण्ये तस्मिन् का कुशलचर्चा विवेकस्येति वस्तु व्यज्यते ।

मुनिपण्ये मुस्थिते । अत्र कामिनीदृग्बिलासो यदा हृदये पद निधत्ते तदा विवेकस्य
कुशलम् (निग्रह्याहा स्थिति) नास्तीति वस्तु वाच्यम्, तत्र कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धम्,
अचेतनदृग्बिलासे पदार्पणकर्तृत्वस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । तथा च तादृशेन तेन वस्तुना
'नायिका-नयन-विलासस्य हृदये पदार्पणमात्रे यदि विवेकनाशस्तर्हि मुस्थिते तस्मिन् विवेक-
सत्तायाश्चैव के'ति वस्तु व्यज्यमान सत् भवत्यस्य पद्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुरिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'कामिनी का नयन-विलास जब हृदय में पैर
रखता है, तब विवेक का कुशल नहीं', यह जो वस्तु यहाँ वाच्य है, वह कवि-कल्पना-
मात्र-प्रसूत है वास्तविक नहीं, क्योंकि अचेतन-नयन-विलास का हृदय में पैर रखना
लोकरीति से असम्भव है । इस तरह कविप्रौढोक्तिसिद्ध उस अर्थ से यह वस्तु व्यक्त
होती है कि—'जब नायिका-नयन-विलास के हृदय में पदार्पणमात्र से विवेक का
अकुशल होने लगता है, तब उसके वहाँ मुस्थिर हो जाने पर विवेक की कुशल-चर्चा ही
क्या की जा सकती है ?'

शिष्यबुद्धिवैशद्यावोदाहरणभासमस्य प्रदर्श्य निरस्यति—

'कस्मै हन्त फलाय सज्जन ! गुणप्रामाज्जने सज्जसि,
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वच पथ्यं समाकर्णय ।
ये भावा हृदय हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुपो दैनदिनं वर्तनम् ॥'

कवि कमपि पृच्छति—हे सज्जन ! कस्मै फलाय गुणप्रामाज्जने गुणसमूहोपाज्जने,
सज्जसि तत्परोऽसि । हन्त इति खेदसूचकम् । स्वात्मोपस्करणाय स्वात्मान भूयधितु, चेन्
यदि, गुणप्रामाज्जने सज्जमीति शेष, तदा पथ्यं हितकरम्, मम मदीय, वच वचनम्,
समाकर्णय शृणु । किं तत् श्रोतव्यमित्याह—ये भावा इति । शोभाभरैः सौन्दर्यरामुद्भवैः,
सभृता परिपूर्णा, ये भावा पदार्था, नितरामन्यन्तम्, हृदय मन, हरन्ति वशीकुर्वन्ति,
तैरेव, गुणपदव्यपदेश्यै पदार्थै न तु कुरुपरगुणैरित्यर्थ, कलेवरपुप देहपोषकस्य,
उदरभरेरिति यावत्, अस्य वर्तमानस्य, कले कलियुगस्य, दैनदिनम् प्रात्यहिकम्, वर्तनम्
वृत्ति, भवतीति शेष । हे सज्जन ! निजाम्बोक्कृष्टतासम्पादनाय गुणगणवरणे तव प्रबला
श्रुतिर्न केवल विपला, अपितु अनिष्टकरी, यत् दुष्टशिरोमणिरय कलि हृदयहारिणो गुणा-
नेव जग्न्वा स्वकीयं वपु पुण्यति, अर्थात् कलियुगावताराणा दुर्जनानामात्रमण गुणिनामेवो-
परि प्रथम भवति अतोऽकाल एव प्रायो गुणिना मरण जायत इति भावः । नागेशस्त्वत्र
'सज्जनगुणप्रामाज्जने' इति समस्त पद मत्वा सज्जनाना गुणग्रामस्य अर्जने इति व्याख्या-
मकार्षीन् ।

अब यहाँ एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जाता है, जिसमें आपातत कवि
प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि मालम पडती है, पर वस्तुतः वह है नहीं—कस्मै
इत्यादि । कवि किसी से पूछता है—हे सज्जन ! तू किस फल के लिये गुण-गण के उपाज्जने
में सलग्न हो रहा है—अर्थात् अन्य आवश्यक कार्यों से भी विमुक्त होकर रात-दिन गुण
प्राप्ति के लिये ही जो तू तपपर रहा करता है, वह किसलिये ? क्या इसलिये कि गुणों
से आत्मा शोभित होती है अर्थात् अपनी आत्मा को अलङ्कृत करने के लिये गुणों का
उपाज्जने करता है ? यदि यही बात ही तो मैं तेरे ही हित के लिये एक बात कहता हूँ,

वसे सुन । यह यह है कि जो वस्तुएँ शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय-हारिणी होती हैं—जिन वस्तुओं के दर्शन से मानव-मन मुग्ध हो जाता करता है, उन्हीं वस्तुओं से शरीर-रोषक—पेटू—इस कलियुग का दैनिक आहार सम्पन्न हुआ करता है । तात्पर्य यह हुआ कि आरम-शोभा-वर्षक गुणों के उपाजन में किसी की प्रवृत्ति केवल व्यर्थ ही नहीं होती, अपि तु अनिष्टकारिणी भी होती है, क्योंकि यह दुष्टराज-कलियुग मनोरम गुणों को ही रमा खाकर जीता है अर्थात् कलियुगावतार दुर्जनों का आक्रमण पहले गुणियों के ऊपर ही होता है, अतएव गुणियों का मरण प्रायः असमय में ही हुआ करता है, अतः हे सज्जन ! इस गुण ग्रहण प्रवृत्ति को छोड़ दो । नागेश यहाँ 'सज्जन पद' को सम्योधान नहीं मानते । वे 'सज्जन गुण-व्याप्तये' इस पद को समस्त मानकर 'सज्जनों के गुण-गणों के उपाजन में' ऐसा अर्थ करते हैं । वह अर्थ भी असंगत नहीं है ।

उपपादयति—

इह यद्यपि रमणीयाः पदार्थाः कलेर्नित्यमदनीया इति वस्तुना प्रौढोक्तिसिद्धेन मर्तुं कामयसे चेद् गुणप्राप्ती यतस्वेति वस्तु व्यज्यते, तथापि तस्य पर्यायोक्तात्मनो वाच्यापेक्षया सुन्दरताविरहाद् गुणीभूतत्वमेव । अलंकारा हि वाच्य-सौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गतं प्रतीयमानं पृष्टतः कुर्वन्ति ।

'कस्मै हन्त' इति पद्ये रमणीया पदार्थाः गुणपदव्यपदेशिनः कलेर्भोज्या इति कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु वाच्यम्, तदेव च 'मर्तुं कामयसे चेद् गुणप्राप्ती यतस्व' इत्याकारेण मङ्गलान्तरेण व्यङ्ग्यम्, अतस्तद्व्यङ्ग्य पर्यायोक्तालंकाररूपम्, 'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वच' इति तद्व्यङ्ग्यात् । एवञ्च वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वोभयदशावत एफस्यैव वस्तुन केन ह्येणाधिकचमत्कारित्वम् इति निचारे क्रियमाणे वाच्यत्वेनैवेति निर्णयोऽनुभवसाक्षिको जायते । यतो वाच्यायसौन्दर्यप्रधाना अलंकारा रवमध्यपतित व्यङ्ग्यं चमत्काराद्ये पश्चात्पदं कुर्वन्ति । तथा चात्र वर्तमानमपि व्यङ्ग्य गुणीभूतमेवेति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनैव व्यवहारो युक्तो न तु ध्वनित्वेनेति भावः ।

उपपादन करते हैं—इह इत्यादि । उक्त पद्य में 'गुण कहे जानेवाले रम्य पदार्थ कलियुग के खाद्य हैं' यह कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु वाच्य है और वही वस्तु 'भारना चाहते हो तो गुणों की प्राप्ति के लिये यत्न करो' इस तरह की निम्न भंगी से व्यंग्य भी है । अतः वह व्यंग्य 'पर्यायोक्त अलंकार' रूप हो जाता है, क्योंकि 'वाच्य-वाचकभाव से अन्य भागी के द्वारा किम् गप् वस्तुवर्णन' को ही 'पर्यायोक्त अलंकार' कहते हैं । ऐसी स्थिति में जब एक ही अर्थ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों रूपों में अवगत हो तब—उन दोनों में से किस रूप में वह अर्थ अधिक चमत्कारी है, यह निचार जब प्रस्तुत होगा, तब यही कहा जायगा कि वाच्यरूप में कारण, अलंकारों में वाच्यार्थकृत चमत्कार ही प्रधान रहता है, अतः वे (अलंकार) अपने मध्य में उनके हुए व्यंग्य के चमत्कार को प्रायः दूषा देते हैं । सारांश यह है कि यहाँ का व्यंग्य गुणीभूत है, अतः उसके बल पर इस पद्य को गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य ही कहा जा सकता है, ध्वनि नामक उत्तम काव्य नहीं ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धेनलकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमाह—

'देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता—

देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्तिनः क्षत्रवीराः ।

यावन्नायाति राजन्नयनविपयतामन्तकन्नासिमूर्ते !

सुग्धारिप्राणतुग्धाशनमस्तृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥'

कवि क्वापि राजानं स्तौति—हे अन्तकत्रासिमूर्ते ! अन्तकत्वात् यमवत्, त्रासिनी

वियते, ध्रमात्मकज्ञाने विशेष्यभूता या कीर्ति तत्रावियमान यदुग्धत्वम्, तत्प्रकारव्यज्ञानत्व-
रूपभ्रमरत्वेन रूपेण चाक्षुपज्ञानविशेषस्य व्यङ्ग्यत्वात् । स्नानन्दावलोकनत्वेन रूपेण च तस्य
व्यङ्गकत्वात् । वाच्यव्यङ्ग्ययोरेवमेवपि वाच्यतावच्छेदकव्यङ्ग्यतावच्छेदकयोर्भेदेन उक्तप्र-
मस्य व्यङ्ग्यत्वमप्युपपन्नमेव । कीर्तिरूपविशेषाश्रितिदुग्धत्वप्रकारकप्रान्तित्वस्नानन्दावलोकन-
त्वयो भ्रमरशो व्यङ्ग्यतावच्छेदकरवाच्यतावच्छेदकयोर्भेद स्पष्ट एव । एकस्यापि वस्तुनो भिन्न-
रूपेण वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोर्न विरोध इति भाव ।

उक्त शका का उत्तर दिया जाता है—वस्तुन इत्यादि । यद्यपि उक्त रीति से व्यङ्ग्य
तथा व्यङ्गक दोनों ही चाक्षुपज्ञानरूप एक वस्तु सिद्ध होते हैं, तथापि उन दोनों
(व्यङ्ग्य तथा व्यङ्गक) में भेद है—कीर्ति को दूध समझना ही तो भ्रम है, अतः उस
भ्रम में विशेष्य है कीर्ति और प्रकार है दुग्धत्व । इस तरह से व्यङ्ग्य चाक्षुपभ्रम का
आकार होता है 'कीर्ति को दूध समझना' । और व्यङ्गक चाक्षुपज्ञान का आकार होता है
'कीर्ति को सहर्ष देखना' । अब देखिए कि इन दोनों में भेद है अथवा नहीं ? आपको भी
कहना पड़ेगा कि 'है' । अब रही दूसरी बात वह यह कि वाच्य, व्यङ्ग्य कैसे हो सकता है ?
उसका उत्तर यह है कि एक भी पदार्थ अवच्छेदक-भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य हो सकता
है अर्थात् जिस रूप में वाच्य होता हो, उससे भिन्नरूप में वही पदार्थ व्यङ्ग्य भी हो
सकता है, अतः यहाँ चाक्षुपज्ञानरूप एक पदार्थ भी रूपभेद से वाच्य तथा व्यङ्ग्य होता
है अर्थात् वाच्य होता है 'सहर्ष अवलोकन' के रूप में और व्यङ्ग्य होता है 'दूध समझने'
के रूप में ।

उक्तार्थे प्राचा सम्मतिं दर्शयति—

तथा चाहु—'यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते' इति ।

आहुरिति । मम्मटभट्टा इति शेष । यदेवेति । यद्वस्तु उच्यते वाच्यतृत्था वर्ण्यते,
तदेव वस्तु व्यङ्ग्यमपि, परन्तु यथा येन प्रकारेण, व्यङ्गनाश्रितिसम्बन्धत्वम्, तथा तेन
प्रकारेण न उच्यते अभिधाश्रितिवोध्यत्वज्ञेत्यर्थः । पर्यायोक्तालकारनिरूपणे मम्मटभट्टस्य
वाच्यप्रकाशप्रत्ययगत्ये पक्तिः । रूपभेदे एकस्यापि वस्तुनो वाच्यता व्यङ्ग्यता च सम्भव-
तीति तदर्थः ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखलाई जाती है—तथा चाहु इत्यादि । मम्मट ने
कार्यप्रकाश के अलंकार प्रकरण में पर्यायोक्त-अलंकार-निरूपण के प्रसङ्ग पर 'यदेवोच्यते .'
इत्यादि पङ्क्ति लिखी है, जिसका अभिप्राय यह है कि—'जो कहा जाता है—जो वाच्य है—
वही व्यङ्ग्य है—वस्तुतः दोनों एक हैं, तथापि जिस रूप में व्यङ्ग्य है उस रूप में वाच्य
नहीं है' । तात्पर्य यह कि कहने की शैली जब बदल दी जाती है, तब एक भी वस्तु
दूसरी हो जाती है, अतः रूपभेद हो जाने पर एक ही वस्तु वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों हो
सकती है, इस सिद्धान्त का समर्थन मम्मट ने भी किया है ।

वविप्रौढोक्तिसिद्धालंकारेणालंकारध्वनिमुदाहरति—

'दयिते रदनत्विपां मियादयि, तेऽमी विलसन्ति केसरा ।

अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृह्यालबोऽलयः ॥'

नायको नायिका वक्ति—अयि दयिते प्रिये । ते तव, रदनविधा दन्तकान्तीनाम्,
मिमात् व्याजात्, अमी प्रत्यञ्जस्वयमाना, केसरा किञ्चत्का, विलसन्ति विशेषेण शोभन्ते ।
अपि च अलकवेषधारिणो वेशस्वरूपतामापन्ना, इमे, मकरन्दस्पृह्यालबो परामलोभिन,
अलय भ्रमरा, विलम्बन्तीत्यर्थः । नैता रदनकान्तय किन्तु केसरा, एव नैते अलका
परन्तु भ्रमरा इति भाव ।

अथ कविप्रौढोक्तिमिदं अलंकार से अलंकारध्वनि का उदाहरण देते हैं—दयिते इत्यादि । नायक भायिका से कहता है—हे प्रिये ! तेरे दशन-किरण-व्याज से ये केसर शोभित हो रहे हैं और कच-कलाप का वेप धारण किए हुए ये पराम के लोभी भ्रमर हैं ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वोत्तरार्धवतिनीभ्यामपह्लुतिभ्यां न त्वं नारी किं तु नलिनीति तृतीया-पह्लुतिर्व्यज्यते ।

'दयिते' इति श्लोके द्रावपद्मस्थलंकारौ वाच्यौ, तयोरेक' रदनतिद्विरुपमुपमेयं निदिध्व्य केसररूपोपमानस्थापनरूप' । द्वितीयधालकरूपमुपमेयं निधिध्वालिरूपोपमानस्थापनरूप । ताम्बा नारीरूपोपमेयनिषेधेन कमलिनीरूपोपमानस्थापनरूपायास्तृतीयापह्लुतेर्ध्वननात् अल-कारेणालंकारध्वनेरुदाहरणमिदं भवतीति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में दशन-किरणरूप उपमेय का निषेध करके केसररूप उपमान का स्थापनस्वरूप एक और कच-कलापरूप उपमेय का निषेध करके भ्रमररूप उपमान का स्थापनस्वरूप द्वितीय अपह्लुति अलंकार वाच्य है । उन दोनों अपह्लुति अलंकारों से नारीरूप उपमेय का निषेध करके कमलिनीरूप उपमान का स्थापनस्वरूप तृतीय अपह्लुति अलंकार ध्वनित होता है अर्थात् 'ये दन्तों की किरणें नहीं अपि तु केसर हैं, और ये केसर नहीं अपि तु भ्रमर हैं' इन वर्णों से यह अभिव्यक्त होता है कि यह नारी नहीं, अपि तु नलिनी है ।

एषु प्रौढोक्तिनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

पूर्वोक्तेषु उदाहरणेषु व्यञ्जक्येनाभिप्रेतो वाच्यार्थ' इति सभाव्यमानताविरहेण कवि-कल्पित इति भाव- ।

उक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ प्रौढोक्तिमिदं हैं अर्थात् उक्त उदाहरण पद्यों के वाच्य अर्थ ऐसे हैं, जो बाह्यगत में सभावित नहीं हैं, अतः कवि-कल्पित हैं ।

स्थलभेदेन ध्वने शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशयोर्वाजमुपन्यस्यति—

यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चैत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्य-साधारणम्, शब्दार्थयोरेतुसन्धानं विना व्यङ्ग्यस्यैवानुल्लासात्, तथापि परिवृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्यं तत्प्रयुक्तात्प्राधान्यात्सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः । परिवृत्तिसहिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थ-शक्तेरेव प्राधान्यात्सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया गल्लप्रामादिवत्प्रधानेनैव व्यपदेशः ।

अनुसन्धानं ज्ञानम् । अनुल्लासादिति । अनभिव्यक्तिरित्यर्थ । सत्या इति वर्तमानाया इत्यर्थः । एवमप्येऽपि । प्रधानानुगुण्यार्थतयेति । प्रधानस्य यदानुगुण्यमानुसूय तदर्थतया तत्सम्पादकतयेत्यर्थः, प्रधानोपकारकतयेति यावत् । सर्वत्र ध्वनिकाव्यस्थले व्यङ्ग्यप्रतिपत्त्यर्थं शब्दस्वार्थस्य च ज्ञानमावरयकम्, अन्यथा व्यङ्ग्यप्रतिपत्तिरेव न स्यात्, शब्दार्थयो-रेकस्यापि व्यञ्जकत्वेऽपरस्य नियमत सहायकत्वात्, अतः शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलक-त्वम मर्बेण व्यङ्ग्येषु तिष्ठत्येव, एषच्च कश्चित् व्यङ्ग्ये शब्दशक्तिमूलकत्वव्यवहार' कनिषार्थ-शक्तिमूलकत्वव्यवहार' कयमिति चेदित्य बोद्धव्यम्—व्यङ्ग्यार्थप्रधानेषु काव्येषु द्विविधाः शब्दा-रितप्रति, केचन परिश्रुत्यसहा येषां परिवर्तने व्यङ्ग्यप्रतीतिर्न भवति, केचन पुनः परिश्रुतसहा येषां परिवर्तनेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिर्भवत्येव । तयोः परिश्रुत्यसहिष्णूनां शब्दानामाधिक्यं यत्र तिष्ठति, तत्र शब्दशक्तेः प्राधान्यम् अर्थशक्तेः वर्तमानाया अपि सहायकत्वमात्रम्,

एवं च परिहृतिरहितानुनेव शब्दानामधिक्यम्, तत्रार्थशेतेरेव प्रधानता शब्दशालेभ्य विद्यमानानां अपि प्रधानोपकारकैव । तथा च 'प्रधानेन व्यवदेशा भवन्ति महत्प्रामाण्यवत्' इति रान्धा प्रधानत्वं लक्ष्मणौ शब्दशक्तिमूलकत्वव्यवदेशः, द्वितीयस्फलीरध्वनौ चार्थशक्तिमूलकत्वव्यवदेश इति भावः ।

ध्वनि कहीं शब्द-शक्तिमूलक कही जाती है और कहीं अर्थशक्तिमूलक, क्यों? इसका बीज अब दिखलाया जाता है—यद्यपि इत्यादि। ध्वनिकाव्य के स्थल में सर्वत्र व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये पहले शब्द तथा वाच्य अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान ही नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ इन दोनों में से एक के व्यञ्जक होने पर भी दूसरा नियमतः सहायकरूप में अपेक्षित रहता है, अतः शब्द-शक्तिमूलकता और अर्थशक्तिमूलकता ये दोनों ही सब व्यङ्ग्यों में यद्यपि साधारण रूप से रहती हैं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दों की बहुलता हो त्रिनका परिवर्तन न किया जा सके अर्थात् जिन्हें बदल देने पर व्यङ्ग्य की प्रतीति न हो सके, वहाँ शब्द-शक्ति की प्रधानता समझी जाती है और अर्थशक्ति (रहने पर भी) की गौणता मानी जाती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ ऐसे शब्दों की अधिकता हो त्रिनका परिवर्तन किया जा सके अर्थात् त्रिनके बदले में पर्यायवाची अन्य शब्दों का निवेश करने पर भी व्यङ्ग्य की प्रतीति हो सके, वहाँ अर्थशक्ति की मुख्यता मानी जाती है और शब्दशक्ति रह कर भी अर्थ-शक्ति की सहायिका ही रहती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को अर्थशक्तिमूलक ही कहा जाता है। वैसे किमी ग्राम में नहीं (पहलवानों) की अधिकता रहने पर उस ग्राम को महत्प्राम कहा जाता है, पर उसका यह अर्थ नहीं होता कि उस ग्राम में पहलवान के अनिरक्त लोग रहते ही नहीं। वय वही रीति यहाँ भी समझनी चाहिए। सारांश यह निकलता है कि परिवर्तित न होने योग्य शब्दों की अधिकता में शब्दशक्तिमूलक और परिवर्तित होने योग्य शब्दों की अधिकता में अर्थशक्तिमूलक, व्यङ्ग्य का व्यवहार होता है ।

ध्वनेः शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वव्यवहारं नारप प्रदर्शयति—

यत्र तु काव्ये परिहृतिं सहमानानामसहमानानां च शब्दानां नैकजातीय-प्राचुर्यम्, अपि तु साम्प्रमेव, तत्र शब्दार्थोभयशक्तिमूलकस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिरिति द्वयुभयो ध्वनिः ।

शब्दानामिति । निर्धारो पद्यो । तादृशाशब्दानां मध्ये इति तात्पर्यम् । यस्मिन् काव्ये परिहृत्सहा परिशुक्तिनाश्र शब्दाः समनख्या एव, नैकजातीया अधिकास्तस्मिन् काव्ये व्यवस्य गद्यार्थोभयशक्तिमूलकत्वेन द्वयुभयध्वनिव्यवहारं प्रवर्तत इति भावः ।

अब जो कहीं-कहीं शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है, यह क्यों? इसका कारण बतलाते हैं—यत्र तु इत्यादि। त्रिन काव्य में परिवर्तित होने योग्य और परिवर्तित न होने योग्य दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में ही हों—किमी एक ताह के शब्दों की अधिकता न हो, तो वैसे काव्य में होने वाले व्यङ्ग्यों का मूल, शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति ही होती है, अतः उन व्यङ्ग्यों को द्वयुभय अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूलक कहा जाता है ।

द्वयुभयध्वनेऽन्यत्रगतार्थतामागक्य निरस्यति—

न चाय शब्दशक्तिमूलकतयैवार्थशक्तिमूलकतयैव वा व्यपदेष्टुं शक्यः, विनिगमकामावान् । नापि शब्दशक्तिमूलकार्थशक्तिमूलकयोः सकरेण गतार्थयितुम्, व्यङ्ग्यभेद एव सकरस्येष्टेः । इह तु व्यङ्ग्यस्यैक्येन तस्यानुत्थानान् ।

अय शब्दार्थोभयशक्तिमूलकता व्यपदिष्टो ध्वनिः शब्दशक्तिमूलकता अर्थशक्तिमूल-

कतया वा कुतो न व्यपदिश्यते इत्युक्तिर्न सम्भवति, तयोरेकतरव्यपदेशानियामिकाया युक्ते-
रभावात् । ननु विनिगमकाभावे द्वयो संकर एवाधीयता किं नवीनभेदकम्पनयेत्यपि न
सर्माचीनम्, शब्दशक्त्या एकौऽर्थाशक्त्या च कथिदपरो व्यङ्ग्यो यत्र प्रतीयते, तत्रैव ध्वनि-
संकरस्येष्टत्वात् । अत्र व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयशक्तिमूलस्यैक्येन तस्याप्रसंगादिति भावः ।

एक शंका—न च ह्यथाद । पूर्वोक्त प्रकार का अर्थात् उभय-शक्तिमूलक व्यङ्ग्य न
केवल शब्दशक्तिमूलक कहा जा सकता है और न केवल अर्थशक्ति-मूलक, क्योंकि जहाँ
दोनों (शब्द और अर्थ) की शक्ति समानरूप से काम करती हो, वहाँ किसी एक ही
शक्ति को मूल मान कर तदनुकूल व्यवहार करने में युक्ति नहीं है । यह भी भाव नहीं
कह सकते कि ऐसे व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यङ्ग्यों का संकर-
स्वरूप मान लिया जाय, क्योंकि जहाँ दोनों शक्तियों से भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्य अभिव्यक्त
होते हों वहाँ संकर माना जाता है । यहाँ तो दोनों शक्तियों से एक ही व्यङ्ग्य ज्ञात होता
है, अतः संकर का यहाँ प्रसंग नहीं है ।

उदाहरणम्—

द्वयुत्थध्वनेरिति भावः ।

अथ उभयशक्त्युद्भव—ध्वनि का उदाहरण देतिम् ।

कवि परामृशति—

‘रम्यहासा रसोल्लासारसिकालिनिपेविता
सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥’

रम्य’ सुन्दर, हास- हास्य विकासो वा यस्या- सा, रसस्य शृङ्गारस्य मकरन्दस्य
वा उल्लास अभिवृद्धिर्यस्या सा, रसिकाना रसज्ञाना जनानाम्, आलिभि समूहे- रसिकै-
रलिभिर्नरैर्वा निपेविता समाधिता, तथा सर्वेषु अङ्गेषु शोभाया संभारो समूहो यस्या सा
पद्मिनी विशिष्टलक्षणलक्षिता नायिका कमलिनी वा, कस्य सहृदयस्य, प्रिया प्रीतिपात्र न
भवतीति शेषः । तादृशी कामिनी कमलिनी च सर्वजनप्रियेति भावः । अत्र कमलिनीकामि-
न्योरुपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः, स च शब्दार्थोभयशक्तिमूल, हास-रसालिपिद्विनीशब्दानो
परिवृत्त्यसहत्वात्, शब्दान्तराणा तत्सहत्वात् ।

कवि अपने मन में सोचता है—जिसका ‘हास’ (हँसो, अन्यत्र विकास) सुन्दर है,
जिसमें ‘रस’ (शृङ्गार, अन्यत्र पराग) भरा है, जो ‘रसिकालि’ (रसिक जनों की पक्षि,
अन्यत्र रसिक अमर) से सेवित है और जिसके सब अङ्ग शोभामय हैं, वह ‘पद्मिनी’
(एक विशिष्ट लक्षणवाली नायिका, अन्यत्र कमलिनी) कितने प्रिय नहीं अर्थात् सर्व-
प्रिय होती है ।

द्वयुत्थध्वनिसंबन्धिविशेषमाह—

अथ च वाक्यमात्रे । पदसमूहश्च वाक्यम् । तेनास्य नानार्थानानार्थघटित-
समासविषयत्वेऽपि न विरोधः । न तु शुद्धैरुपदे, तस्मिन्नानार्थानानार्थयो-
रसमावेशात् ।

तेनेति । पदसमूहात्मक्याक्यभिष्टत्वेनेत्यर्थः । अस्य द्वयुत्थध्वने । न विरोध इति ।
तस्याप्यवान्तरपदान्यादाय पदसमूहत्वादिति भावः । मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति ।
अयं शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवो ध्वनि वाक्य एव भवति, अनेकार्थकैकार्योभयविषयशब्दपटित-
त्वस्य द्वयुत्थध्वनित्वप्रयोजकस्य तत्रैव सभवात् । नन्वेवं समस्ते पदे द्वयुत्थध्वने संबन्धो न
गवेदिति चेत्, तस्य समस्तपदस्यानेकार्थकैकार्यकपदघटितत्वे तत्र तत्संबन्धे विरोधाभा-

वात् । न च पदस्य वाक्यत्व कपमिति वाच्यम्, पदसमूहस्यैव वाक्यत्वेनानन्तरपदान्यादाय समस्तपदस्य वाक्यत्वात् । एवञ्चासमस्ते एकरिम्न पदे ह्युत्थो ध्वनिर्न सम्भतीति पलितम्, तत्रानेकार्थकैकार्यकृद्विधिशब्दयो समावेशासम्भवादित्यभिप्रायः ।

उभयशक्त्युद्भव-ध्वनि के संबन्ध में कुछ विनिष्ट बातें कही जा रही हैं—अथ च इत्यादि । यह शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, क्योंकि एकार्थक और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का रहना—जो उभयशक्तिमूलक ध्वनि का हेतु है—वाक्य में ही सम्भव है । ऐसी स्थिति में यह ध्वनि समस्त पद में नहीं हो सकेगी यह तर्क नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि पदसमूह का ही नाम वाक्य होता है अतः अन्तःपदों को छेकर समस्त एक पद भी वाक्य कहा जा सकता है अर्थात् समस्त एक पद भी यदि एकार्थक और अनेकार्थक पदों से युक्त हो, तो उसमें भी यह ध्वनि हो सकती है—इससे उभयशक्तिमूलक ध्वनि को वाक्यमात्रगत मानने में कोई विरोध नहीं होता । हाँ, शुद्ध (असमस्त) एक पद में यह ध्वनि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें एकार्थक और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का समावेश असम्भव है ।

द्वयुग्धध्वनिन्यन्धिमत्तान्तरमाह—

अन्ये तु—'अर्थशक्तिमूलकत्वव्यपदेशो नानार्थप्रकाशकशब्दशक्त्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्वं तन्त्रम्, विषयप्राचुर्यात् । शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशो तु नार्थशक्त्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्व तथा, विषयदौर्लभ्यापत्तेः । न हि नानार्थशब्दमात्रघटितं पद्यं प्रचुरविषयम्, अतः शब्दशक्तिमूलकत्वेनैवाय शक्यव्यपदेशो ध्वनिः इत्यप्याहुः ।

उल्लास्यत्वेति । जन्यत्वेत्यर्थः । सामान्यशून्यत्वमिति । सामान्याभाव इत्यर्थः । तन्त्र नियामकम्, कारणमिति यावत् । अत इति । शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशोऽर्थगक्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्वस्यातन्त्रत्वादेवेत्यर्थः । अयमिति । द्वयुग्धो ध्वनिरित्यर्थः । यत्र व्यङ्ग्यार्थोपस्थापका अनेकार्थका शब्दा सर्वथा न स्तुस्तत्रैवार्थशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारस्तथावार्थशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारे नानार्थकशब्दशक्त्युल्लास्यत्वसामान्याभावो हेतुः । ईदृशानि बहूनि अर्थशक्त्युद्भवव्यङ्ग्यप्रदानानि काव्यानि मिलेयुर्द्वैकस्यापि नानार्थकशब्दस्य प्रयोगो न भवेत् । शब्दशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारं तु अर्थशक्त्युल्लास्यत्वसामान्याभावो न हेतुः । अर्थात् तत्रैव शब्दशक्तिमूलकध्वनिव्यव्यपदेशो भवेत् यत्र काव्ये सर्वाणि पदानि नानार्थोपस्थापकान्येव स्युः, एकमपि पदमेकार्थक न भवेदिति नाङ्गीकर्तुं शक्यम्—व्यङ्ग्यार्थोपस्थापकत्वेनानेकार्थकशब्दघटितकाव्यस्यात्कल्पमुपलब्धे । तथा च शब्दशक्तिमूलकध्वनिकाव्ये अनेकार्थका एकार्थकाभोभयविधा शब्दा भवेद्युक्ति सिद्धम् । एवञ्च 'रम्यहासा' इत्यादि शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वेनाभिमत काव्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यवहृतुं शक्यमिति पृथक् तस्य गणना मुपेति साराशः । 'अन्ये तु' इत्यनेनात्राध्वनि सूचिता, तद्बीजवर्तन-यत् प्राचीनोक्तरीत्या तृतीयभेदसभवे तस्यागो कारणाभावः । कुत्रापि भेदे लक्ष्याल्पता तद्भेदपरित्यागाय नालम्, अपि तु लक्ष्यागमव इति तत्त्वम् ।

अथ उभयशक्तिमूलकध्वनि के विषय में मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये इत्यादि । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ को उपस्थित करने वाले शब्दों में एक भी अनेकार्थक न हो, वहाँ अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अनेकार्थक शब्द की शक्ति से सर्वथा आविर्भूत न हुआ रहना कारण है । और हम तरह का कार्य-कारण-भाव हमलिये मान्य हो सकता है कि ऐसे बहूतरे अर्थशक्तिमूलक ध्वनिहाण्य मिल सकते हैं, जहाँ एक भी शब्द अनेकार्थक

न हो । परन्तु शब्दशक्तिमूलकध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अर्थशक्ति से सर्वथा आकिर्णित न हुआ रहना नियामक नहीं माना जा सकता अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ स्वयं पद अनेकार्थक ही हों, एक भी पद एकार्थक नहीं हो वही शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा काव्य बहुत ही कम उपलब्ध होगा, जहाँ एक भी शब्द एकार्थक न हो अर्थात् केवल अनेकार्थक शब्दों के द्वारा ही बना हुआ काव्य दुर्लभ है । इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द अधिक हों और एकार्थक शब्द कम, वहाँ शब्द शक्तिमूलकध्वनि का व्यवहार किया जायगा । ऐसी स्थिति में 'रघुवहासा' * इत्यादि पद्यों में भी—जहाँ आप उभयशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार करते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार किया जा सकता है । तत्पर्यं यह है कि 'उभय-शक्तिमूलक' एक पृथक् भेद मानना व्यर्थ है । यह कुछ अन्य विद्वानों का मत है । इस मत के मानने में अर्हति यह है कि जय प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार उक्त तृतीय भेद संभव है, तब उसका त्याग क्यों किया जाय ? अल्प लक्ष्य होने से किसी भेद का त्याग करना उचित नहीं है । हाँ, यदि एक भी लक्ष्य न मिले, तब किसी भेद का त्याग किया जा सकता है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है । केवल अनेकार्थक शब्दों से रचा गया काव्य—अल्प मात्रा में ही सही—मिल सकता है ।

प्रकृतप्रकरणानुपमहरति—

इत्यभिधामूलस्त्रिविधोऽपि सत्त्वेण निरूपितो ध्वनिः । निरूपयिष्यते चां-
शतो यथावसरम् ।

पूर्वापदशितारण्या गन्दरशक्तिमूलोऽर्पशक्तिमूल उभयशक्तिमूलभेति त्रिप्रकारोऽभि-
धामूलध्वनिप्रभेदो निरूपित । अत्रेऽपि ध्वनारमागाद्याशिकरूपेण तस्य निरूपण विधा-
स्यत इति भावः ।

प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—इत्थमित्यादि । इस प्रकार अभिधा-मूलक तीनों प्रकार की ध्वनियों (शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक) का निरूपण संक्षेप से किया जा चुका, और आगे भी यथावसर निरूपण किया जायगा ।

लक्षणामूलध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—

लक्षणामूलस्तु निरूप्यते—

लक्षणामूलध्वनिनिर्णयकज्ञानानुकूलगन्दप्रयोगः क्रियत इत्यर्थः ।

अत्र लक्षणामूलध्वनि-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—लक्षणा इत्यादि । अब लक्षणा-मूल-ध्वनि का निरूपण किया जाता है ।

पूर्वोक्तं निरूपणं प्रारभते—

तत्र पद्यमापलक्षणायां लक्षणायां प्रयोजनवत्याः षड्विधायाः सारोपसा-
ध्यवसानाभ्यां गौणीशुद्धाभ्यां च विभक्तानां भेदानां चतुर्णामिदंकारात्मना परिण-
तत्वाद्द्वौ भेदौ ध्वन्याप्रयतया स्थितौ, जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति । तन्मूलौ
च द्वौ ध्वनेः प्रभेदौ ।

तत्रेति । निरूपणं च लक्षणामूलध्वनाभिन्यर्थः । पद्यमापेति । पद्यमाप लक्षणं यस्या-
स्तस्याभिन्यर्थः । मत्यामिति शेषः । अलंकारात्मनेति । रूपकतिशयोक्तिहेत्वत्कारात्मने-
त्यर्थः । जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति । अनयोरेवोपादानलक्षणा लक्षणलक्षणाशब्देन
प्राचीनैर्व्यवहारः कृतः । यस्या लक्षणाया लक्षणमंत्रं विभास्यते, तस्या द्वौ भेदौ, रुढिमूला
प्रयोजनमूला च । तत्र रुढिमूलाया व्यङ्ग्यस्य सद्भावं एव वेति प्रयोजनमूलमेव चर्चते ।
प्रयोजनमूला च पुनः षड्विधा, गौणी सारोप, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोप, शुद्धा

साध्यवसाना, तथा जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था च। तामु आद्याधन्वारो भेदाः नमशो एषा-
तिशयोक्तिहेत्वलकाररूपे परिणमन्ते । फलतो जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्थेति द्विवेध भेदो
ध्वन्याधारता प्रतिपद्यते इति लक्षणांशुं द्वौ ध्वनिकाव्यस्य प्रभेदौ सम्पद्येत इति भाव ।

अब लक्षणांशुध्वनि के निरूपण का प्रारम्भ किया जाता है—तत्र इत्यादि । लक्षणा
(जिसका लक्षण भागे कहा जायगा) के दो भेद होते हैं—एक रुढिमूलक और दूसरा प्रयोजन-
मूलक । उन दोनों में रुढिमूलक लक्षणा का व्यङ्ग्य से कोई संबन्ध ही नहीं रहता, अतः
वहाँ ध्वनि के प्रसङ्ग में प्रयोजनमूलक लक्षणा की ही चर्चा की जाती है । प्रयोजनमूलक
लक्षणा छ प्रकार की होती है—गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा
साध्यवसाना तथा जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था । इन छहों प्रकारों में आदि के चार
प्रकार रूपक, अतिशयोक्ति, हेतु आदि अलंकारों के रूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात्
उन सब भेदों में व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं रहती है । फलतः जहत्स्वार्था और अजहत्स्व-
स्वार्था ये दोनों भेद ध्वनि के आधार होते हैं—अर्थात् इन दोनों भेदों में व्यङ्ग्य अर्थ की
प्रधानता रहती है, अतः लक्षणांशुध्वनि-काव्य के दो भेद सम्पन्न होते हैं ।

जहत्स्वार्थामूल ध्वनिमुदाहर्तुं प्रतिजानीते—

तयोर्जहत्स्वार्थामूलो यथा—

लक्षणांशुध्वनयोर्ध्वन्योर्मध्ये जहत्स्वार्थामूलध्वनेरुदाहरण तीर्त्तैर्निर्दिष्ट बोध्यमिति भाव ।

उन दोनों में जहत्स्वार्थामूलक ध्वनि का उदाहरण नीचे दिखलाया जाता है—

‘कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमजित चामलं यश ।

यावज्जीवं सखे ! तुभ्य दास्यामो विपुलाशिषः ॥’

हे सखे ! त्वया उन्नतं महत् प्रशंसनीयमिति यावत् कृत्य कार्यम्, कृतं विहितम् । च
पुन श्रमल निर्मलम्, यश कीर्ति, अजितं प्राप्तम् । (वय) यावज्जीवं जीवनपर्यन्तम्,
विपुलाशिष बहून् आशीर्वादान्, तुभ्यं दास्याम वितरिष्याम इत्यर्थः ।

हे सखे ! तूने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है और विमल यश प्राप्त किया है । हम
जब तक जीते रहेंगे तब तक तुझे भूरि-भूरि आशीर्वाद देंगे ।

उपपादयति—

इय कस्यचिदपकारिण प्रत्युक्तिः । त्वया कृतेऽप्यपकारे परमखेदहेती मधुर-
मेव यो भाषेय, न परुष तस्मिन्नेवं जातीयके मयि पापमाचरतस्तव पापिष्ठलं
कथं शक्यते बक्षुमिति व्यङ्ग्यम् ।

प्रत्युक्तिरिति । प्रकृते लक्षणाश्रयणनिदानकथनमेतत् । व्यङ्ग्यकारमाह—त्वयेन्वा-
दिना । कृतमित्यादिपदं कथित् कर्मण्यपकारक जन प्रति ब्रूते, अत उन्नतादिपदाना
मुत्थार्या बाधितास्तेन तेषा पदाना हीनादौ लक्षणा । तथा च ‘त्वया हीनं कृत्यं वृत्ताम्,
मत्किं दुर्ग्रहोऽजितम् अतो नय तुभ्य यावज्जीवनं शापान् दास्याम’ इति वाक्यार्थो निष-
द्यते । अरिमन्त्र्ये उन्नतादिपदान्वाच्यार्थानामतवन्धान् लक्षणाया जहत्स्वार्थान्वयम् । तेन
वाक्यार्थेन ‘त्वया कृते’ इत्यादि मूलोच्चारण वस्तु व्यङ्ग्यते । तदेव व्यङ्ग्य लक्षणाया प्रयो-
जनमिति भाव ।

उपपादन करते हैं—इयमित्यादि । उक्त पद्य, किसी अपकार करने वाले मित्र के प्रति,
अपने मित्र के द्वारा कहा गया है, अत उन्नत आदि पद के मुख्य (वाच्य) अर्थ बाधित
हैं—अर्थात् अपकारक के प्रति कोई यह नहीं कहता कि ‘तूने क्या अच्छा काम किया है’ ।
अत उन पदों की ‘हीन’ आदि अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है । ऐसी स्थिति में उक्त पद्य-
वाच्य का अर्थ यह हो जाता है कि ‘तूने परम हीन कर्म किया है और गन्दा अयश

कमाया है, अतः हम यावन्जीवन तुझे शापते रहेंगे।' इस अर्थ में उन्नत भादि, पद्योक्त पदों के वाच्य अर्थों का संबन्ध बिलकुल नहीं है, अतः यह लक्षणा जहत्स्वार्या कहलाती है। इस लक्षणामूलक वाच्यार्थ से यहाँ यह ध्वनित होता है कि 'तेरे द्वारा अत्यन्त खेद-कर अपकार किए जाने पर भी जो मधुर वाणी का ही प्रयोग करता है—परन्तु कथा नहीं कहना चाहता, ऐसे मुक्त मित्र के ऊपर पापावरण करने वाले तेरे पापों का बर्णन कैसे किया जा सकता है? अर्थात् तेरे पाप अवर्णनीय हैं—तू संसार में सबसे नीच है।' वही व्यङ्ग्य यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है, यह भी समझना चाहिए।

अजहत्स्वार्यामूलं ध्वन्सुदाहरति—

अपरामूलो यथा—

'बधान द्रागेव द्रुडिमरमणीयं परिकरम्
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः ।
न कुर्यास्त्वं हेत्तामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥'

जगन्नाथो गंगा स्तौति—अथि सुरधुनि ! देवन्दि । एतेन 'एतान्कालपर्यन्तं देवैरेव सह तव संबन्ध आसीत्, न मादृशेन पापिना सह'ति व्यज्यते । जगन्नाथस्य एतन्नामकस्य मम, अय, समुद्धारसमय' समुद्धारणकाल, अस्तीति शेष । निषिद्धस्याप्यात्मनामोच्चारणस्य कारणेन वक्तुरातुरतातिशयो व्यज्यते । ननु अस्तु तबोद्धारकाल' मया किं कर्तव्यमित्या-काङ्क्षायामाह-बधानेति । त्वं द्रुडिम्ना दृढत्वेन रमणीय सुन्दरम्, दृढमत एव रमणीय-गिति यावत् । परिकर कटि, द्राक् शंघ्र, बधान । मनोद्वाराय शीघ्र कटिबन्धं कुर्विति भावः । पुनस्त्वं किरीटे मुकुटे, बालेन्दु कलात्मकं चन्द्र, पन्नगगणै सर्पसमूहैः, नियमय बधान । अन्यथा संप्रभे बालेन्दुः किरीट्याच्छ्रयेत् । लोकेऽपि कश्चन समयो जनो व्याघ्रादिपृहीतं जन-मुद्वर्तुं प्रवर्तमानः कटिबन्धशिरोभूषणादिकं दृढं विधत्ते । पुनस्त्वम् इतरजनसाधारणी या धी-बुद्धिस्तया, हेत्ताम् अपहेलनाम्, न कुर्यां मा कुः । त्वद्भक्तिभरत्पूर्णहृदये मयि 'अन्यज-न्दुत्योऽयम्' इति बुद्ध्या उदासीनता न मनस्वेति भावः ।

यह पद्य जगन्नाथकृत 'गंगालहरी' नामक स्तोत्र-ग्रन्थ का है। पण्डितराज गंगा की स्तुति करते हैं—हे सुरन्दि ! (ऐसा कह कर कवि यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं—कि 'अब तक तुम्हारा सबन्ध पुण्यात्मा देवताओं से ही था, मुक्त जैसे पापियों से नहीं।) अन्य साधारण मनुष्यों के समान समझ कर मेरी अपहेलना न करना, यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है, अतः दृढता के कारण सुन्दर अर्थात् दृढतर तथा हृद्य परिकर शीघ्र बाँध लो-मेरे उद्धार के लिये कमर कस लो और किरीट वाली बालचन्द्र को सर्पसमूहों से पुनः स्थिर कर लो, अन्यथा कदाचित् वह हृदयदी में किरीट से दूर न जा पड़े। लोक में भी कोई सामर्थ्य-शाली मनुष्य व्याघ्र भादि हिंसक जन्तुओं से प्रस्त प्राणी का उद्धार करते समय, पहले कटिबन्ध और पगड़ी भादि शिरोभूषण को दृढ कर लेता है।

उपपादयति—

अत्र जगन्नाथस्येत्यनेन शक्य एवानेकपापविशिष्टत्वेन लक्ष्यते । पापानां पदान्तरेणानिर्वाच्यत्वं व्यङ्ग्यम् ।

जगन्नाथपदस्य शक्यार्थो यो व्यक्तिविशेषरतन्मात्रज्ञापनेन न तदीयोद्धारस्यावश्य-न्ता काचित्तिद्धयति, अतस्तदर्थवाधे नानाविधपापकारिणि जगन्नाथे जगन्नाथपदस्य लक्षणा । लक्ष्यार्थे च विविधपापविशिष्टजगन्नाथात्मकव्यक्तिविशेषे मुख्यार्थस्याप्युपा-दानाजहत्स्वार्यात्वम् । लक्षणाप्रयोजनभूतम् पदान्तराप्रतिपाद्यपापकत्वम् व्यङ्ग्यम् ।

उपपादन करते हैं—अत्र ह्यादि । 'जगन्नाथ' पद का वाच्य अर्थ जो एक व्यक्ति-विशेष होता है, उसका बोध यदि केवल व्यक्तिविशेष के रूप में ही जगन्नाथ पद से हो, तो उसके उद्धार की कोई आवश्यकता ही नहीं हो सकती—अर्थात् यदि एक व्यक्ति मात्र की हैसियत से किसी का उद्धार आवश्यक समझा जाय, तब जगन्नाथ का ही क्यों ? किसी अन्य का भी समझा जा सकता है । अतः मानना पड़ता है कि यहाँ जगन्नाथ पद का वाच्य अर्थ शुद्ध रूप में बाधित है, जिससे विविध-पापकारी जगन्नाथामक व्यक्ति विशेषरूप अर्थ में जगन्नाथ पद की लक्षणा होती है और वह लक्षणा अजहत्स्वार्था कहलाती है, क्योंकि उक्त लक्ष्य अर्थ में जगन्नाथरूप मुख्य अर्थ का त्याग नहीं हुआ है । इस तरह की लक्षणा को प्राचीन विद्वान् 'उपादानलक्षणा' कहते हैं । पापों का अन्य किसी पद से प्रतिपादन न किया जा सकता—अर्थात् जगन्नाथ के पाप ऐसे हैं जिनका प्रतिपादन शब्दान्तर से हो ही नहीं सकता, इस अर्थ का बोध करना उक्त लक्षणा का प्रयोजन है, और इस प्रयोजन का बोध होता है व्यञ्जना से, अतः यह पद्य अजहत्स्वार्था लक्षणा मूलध्वनि का उदाहरण होता है ।

प्राचीनोक्तमजहत्स्वार्था उदाहरण समीक्षते—

कुन्ता प्रविशन्तीत्यादौ तु वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम् ।

कुन्ता प्रविशन्तीति अजहत्स्वार्थलक्षणाया प्रसिद्धमुदाहरणम्, अचेतनत्वा प्रवेश-त्रियान्वयासंभवेन बाधितार्थकस्य कुन्तपदस्य उपात्तमुख्यार्थे कुन्तधारिपुरुषे लक्षणाया आश्रयणीयत्वात् । कुन्तधारिषु कुन्तपदवाच्यार्थगततीक्ष्णताप्रतीति प्रयोजनम् । तच्च व्यञ्जनावान्यम् 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम्' इति मूलपङ्क्तिलापन त्वेवविधयम्—तैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम् प्रत्येप्रमित्यर्थ । अथवा लक्ष्यपद लक्ष्यवृत्तितया व्यञ्जयमित्यर्थे लाक्षणिकम् । पूर्वोदाहरणे पापानामनिर्वाच्यत्वान्मक व्यञ्जय न वाच्यार्थवृत्ति, अत्रोदाहरणे तु तैक्ष्ण्यादि तणाभूतमिति भेदप्रदर्शनाभाय ग्रन्थः ।

अजहत्स्वार्था लक्षणा के प्राचीनोक्त उदाहरण की समीक्षा करते हैं—कुन्ता इत्यादि । प्राचीनों ने अजहत्स्वार्था लक्षणा का उदाहरण दिया है 'कुन्ता' प्रविशन्ति—अर्थात् भाले घुस रहे हैं' । यहाँ अचेतन भालों का स्वतः प्रवेशक्रिया में अन्वय बाधित है, अतः कुन्त पद की स्वार्थसयुक्तपुरुष अर्थात् कुन्तधारी में लक्षणा होती है । कुन्तगततीक्ष्णता की कुन्तधारी में प्रतीति करना लक्षणा का प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि व्यञ्जना से होनी है । 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादिलक्ष्यम्' इस मूलपङ्क्ति में 'लक्ष्यम्' का अर्थ है 'प्रत्येयम्' अर्थात् प्रतीचमान । इस ग्रन्थ के द्वारा उक्त स्वोभिसत् उदाहरण से प्राचीनोक्त उदाहरण में भेद दिखलाना गया है अर्थात् उक्त उदाहरण में पापों की अनिर्वाच्यत्वरूप व्यञ्जय जगन्नाथ पद के वाच्य अर्थ में रहनेवाला धर्म नहीं है, और प्राचीनों के उदाहरण में तीक्ष्णत्वरूप व्यञ्जय कुन्त पद के वाच्य अर्थ—भालों—में रहनेवाला धर्म है—इस भेद का दिखलाना ही प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है ।

पदध्वनिवाक्यध्वन्योर्विभाजक विशेष वर्णयति—

तदेषमेते प्रागुक्ता द्व्युत्थातिरिक्ताः सर्वेऽपि ध्वनय एकस्मिन् वाक्ये यथैकपदमात्रगतास्तदा पदध्वनितया व्यपदिश्यन्ते । नानापदगततायां तु वाक्यध्वनितयेति ।

एकस्मिन् वाक्ये यथैकपदमात्रगता इति । एकपदार्थगता इति पिण्डार्थः । नानापदगततायामिति । ध्वनीनामिति शेषः । पूर्वोक्तो द्व्युत्थो ध्वनि वाक्य एव भवति न पदे इति प्रागप्युक्तमेव । तदितरे प्रागुक्ताः सर्वे ध्वनय पदे वाक्ये च भवन्ति । तत्र यदा कस्य-

चिदेकस्यैव पदस्य वाच्यात् व्यङ्ग्यम् प्रतीयते तदा तस्मिन् धाव्ये पदगतध्वनिव्यवहारः ।
यदा तु अनेकपदानां वाच्येभ्यो व्यङ्ग्यप्रतीतिस्तदा तत्र वाक्यध्वनिव्यवहार इति भावः ।

अब पद ध्वनि और वाक्य-ध्वनि की पहचान के लिये दोनों में रहनेवाले अन्तर का उल्लेख किया जाता है—तदेव हायादि । शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, पद में नहीं और तदतिरिक्त सभी ध्वनियाँ पदगत तथा वाक्यगत दोनों तरह की होती हैं । जहाँ एक ही पद के वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ पदगत और जहाँ अनेक पदों के वाच्यार्थों से उसकी प्रतीति हो, वहाँ वाक्यगतध्वनि का व्यवहार होता है ।

अभिधानिरूपणमवतारयति—

अथ केयमभिधा नाम यन्मूलं प्रथमं निरूपितोऽयं ध्वनिप्रपञ्चः ।

यन्मूलो ध्वनिप्रभेदः प्रथमं निरूपितस्तदभिधापदार्थं क इति जिज्ञासितमिति भावः ।

अब अभिधा-निरूपण की अवतारणा की जाती है—अथ इत्यादि । यहाँ एक यह जिज्ञासा उठती है कि जिसको मूल मानकर, सर्वप्रथम, ध्वनि के अनेक भेदों का निरूपण किया गया है, वह 'अभिधा' क्या चीज है ? अर्थात् 'अभिधामूलकध्वनि' इस सजा के अन्तर्गत 'अभिधा' की क्या परिभाषा है यह वहाँ की एक स्वाभाविक जिज्ञासा है ।

जिज्ञासाशान्तिं प्रतिजानीते—

उच्यते—

अभिधापदार्थः कथ्यत इति भावः ।

उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिये प्रतिज्ञा करते हैं कि अब 'अभिधा' पदार्थ कहा जा रहा है ।

अभिधा लक्षयति—

शक्त्याल्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्यार्थगतो वा संबन्धविशेषोऽभिधा ।

शक्त्याल्य इति । शक्ति आख्या पर्यायान्तरं यस्य स इत्यर्थः । विनिगमनाविरहादाह—शब्दस्येति । शब्दार्थयो संबन्धविशेषो बोध्यबोधकभावहृषोऽभिधापदार्थः । स च संबन्धविशेषोऽर्थप्रतियोगिकः शब्दानुयोगिकः, शब्दप्रतियोगिकोऽर्थानुयोगिको नैत्यत्रैकतर-पक्षपालियुक्तिरूपविनिगमना नास्तीत्युभयविधोऽपि तादृश संबन्ध अभिधापदार्थतयाऽभिमतः । तमेव संबन्धविशेषं शक्तिपदेनापि प्रतिपादयन्ति मुधिय इति भावः ।

अभिधा का लक्षण करते हैं—शक्त्याल्य इत्यादि । शब्द और अर्थ के परस्पर संबन्ध को 'अभिधा' कहते हैं । उस संबन्ध को, शब्द का मानकर अर्थ में रहनेवाला और अर्थ का मानकर शब्द में रहनेवाला भी कहा जा सकता है—इन दोनों में से किसी एक पक्ष को मान लेने के लिये कोई प्रबल युक्ति नहीं है । उस संबन्ध विशेष को विद्वज्जन 'शक्ति' नाम से भी पुकारते हैं ।

अभिधाविषयकाणि मतान्तराणि प्रदर्शयति—

सा च पदार्थान्तरमिति केचित् । 'अस्माच्छब्दाद्यमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेश्वरोच्छ्रैवाभिधा । तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात् । अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यम्' इत्यपरे । 'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव न्यायः' इत्यपि वदन्ति ।

केचिदिति, वैयाकरणमीमांसकादयः । अपर इति, नैयायिकाः । एवमपीति । उक्तरीत्याऽतिप्रसङ्गवारोऽर्थान्यर्थः । सा चाभिधा संकेतापरपर्याया ईश्वरोच्छारूपान्, अपितु तदतिरिक्ता

एव बोध्य-बोधकभावरूपा, बोधकतारूपा, बोध्यतारूपा, (शब्दार्थयो) तादात्म्यरूपा वेति वैयाकरणमीमांसकादय आमनन्ति । नैयायिकास्तु—'अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारिका शब्दप्रकारिकाऽर्थविशेषिका, 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु' इत्याकारिकाऽर्थप्रकारिका शब्दविशेषिका वा या ईश्वरेच्छा, तद्रूपं सकेत एवाभिधापदायै, न पदार्थान्तरमिति स्वीकुर्वन्ति । ईश्वरायच्छाया एकवानित्यत्वाच्च घटपदाभिधात्वेन विवक्षिता सा (ईश्वरेच्छा) घट इव पटोऽपि विषयतामबन्धेन तिष्ठतीति पटस्यापि घटपदवाच्यताप्रसङ्गः, अतः 'घटपदजन्यबोधविषयतावान् घटो भवतु', 'पटपदजन्यबोधविषयतावान् पटो भवतु' इत्यादीरीत्या घटादिरूपं वस्तुविशेषमुपाधीकृत्येश्वरेच्छायास्तत्पदाभिधात्व स्वीकर्तव्यम्, अर्थात् एकाऽपीश्वरेच्छा उपाधिभेदेन भिन्न इति घटोपहिता ईश्वरेच्छा घटमात्रे पटोपहिता न पट एव विषयतया तिष्ठेत् तथा च पटादीनां घटादिपदवाच्यताप्रसङ्गो नेति स्वमत-व्याख्याश्च कुर्वन्ति । अन्ये पुन 'यथा ईश्वरेच्छा सर्वविषयिणी नित्या, एका च, तथैव ईश्वरज्ञानमपि सर्वविषयकं नित्यमेकैवेति तथैवाभिधात्वम् कुतो नेति विप्रतिपत्तौ जागरिताया विनिगमनाविरहादुभयोरपि (ईश्वरायच्छेश्वरीयज्ञानयो) अभिधात्वमकामे-नापि स्वीकरणीयं स्यात् तथा च गौखापत्ति, अतः 'पदार्थान्तरमेवाभिधा' इति वैयाक-रणमीमांसकानां मतमेव सम्यक् इति व्याचक्षते । 'सरेतात् शक्तिग्रह' इति चदन्ती वैयाकरणादयोऽपि उक्तेश्वरेच्छा शक्तिग्रहप्रयोजिका मन्यन्त इत्यन्यदेतत् ।

अब 'अभिधा' के विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं—सा च इत्यादि । उक्त 'अभिधा' सकेत अर्थात् ईश्वरीय इच्छा-रूप नहीं है, अपितु उससे भिन्न—बोध्य-बोधकभावरूप, बोधकतारूप, बोध्यतारूप अथवा (शब्दार्थ के) तादात्म्यरूप—ही है । यह है वैयाकरण, मीमांसक आदि का कथन । नैयायिकों का कथन है कि 'अभिधा' कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं, अपितु ईश्वरीय-इच्छा-स्वरूप ही है । और 'अभिधा' के रूप में स्वीकृत ईश्वरीय इच्छा के दो आकार हो सकते हैं—एक 'अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए' और दूसरा—'अमुक पद अमुक अर्थ का बोध करावे' । यद्यपि उक्त दोनों आकारों से तात्पर्य एक ही निकलता है, तथापि परिङ्कतगण, विशेषण-विशेष्य भाव के भेद से उक्त दोनों आकारों में अन्तर मानते हैं अर्थात् प्रथम आकार में 'पद' होता है विशेषण और अर्थ होता है विशेष्य, अतः वह अर्थविशेष्यक इच्छा कही जाती है । और द्वितीय आकार में अर्थ ही हो जाता है विशेषण और पद हो जाता है विशेष्य, अतः वह पदविशेष्यक इच्छा कही जाती है । इस तरह की ईश्वरीय इच्छा को ही 'सकेत' भी कहते हैं । परन्तु नैयायिकों के इस मत में एक दोष उपस्थित होता है कि ईश्वरीय इच्छा एक होती है तथा निरव्य होती है अतः ईश्वर की एक इच्छा भी सर्वविषयक होती है अर्थात् घट पद के लिये जो इच्छा उनकी होगी उसका विषय जैसे घड़ा होगा, वैसे कपड़ा भी । सारांश यह कि ईश्वरीय इच्छा विषयतासबन्ध से घट और पट दोनों में रह जायगी । इस स्थिति में यह बर्दा यह हो सकती है कि घट पद का वाच्य अर्थ पट भी कहलाने लगेगा । इस दोष के निराकरणार्थ उन्हें यह कहना पड़ेगा कि घट-पट आदि वस्तु विशेष को उपाधि बनाकर भिन्न भिन्न पदों को भिन्न भिन्न तरह की ही अभिधा माननी चाहिए अर्थात् ईश्वरीय इच्छा के एक होने पर भी उपाधिभेद से वह भिन्न हो जायगी—विषयतासबन्ध से घटोपहित ईश्वरेच्छा केवल घट में और पटोपहित ईश्वरेच्छा केवल पट में रहेगी, अतः पट आदि घटादि पद के वाच्य नहीं हो सकेंगे । तात्पर्य यह कि 'घड़ा घट-पद-जन्य-बोध का विषय होवे', 'कपड़ा पट-पद-जन्य बोध का विषय होवे' इत्यादि रीति से घट आदि वस्तु-विशेषरूप उपाधि से उपहित ईश्वरीय इच्छा को उन-उन पदों की अभिधा कहेंगे । किन्तु इतने पर भी अन्य

विद्वानों का इस मत पर यह आरोप होता है कि यदि ईश्वरीय इच्छा को अभिधा माना जाय, तब ईश्वरीय ज्ञान अथवा यत्न को अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् ईश्वरीय इच्छा से तदीय ज्ञान अथवा यत्न में कोई अन्तर नहीं है—जैसे इच्छा एक है, निर्य है और सर्वविषयक है उसी तरह ज्ञान और यत्न भी । उनकी इच्छा का जो विषय होगा, वह उनके ज्ञान तथा यत्न का भी विषय होगा ही । फलतः किसी विशिष्ट युक्ति के अभाव में उन तीनों को ही अभिधा मानना पड़ेगा । अतः प्रथम मत अर्थात् अभिधा को भिन्न पदार्थ मानना ही उत्तम है ।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यत्तु वृत्तिवार्तिके 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इत्यप्यप्यदीक्षितैरुक्तम् तत्तु-
च्छम्, उपपत्तिविरोधात् । तथा हि—इह शब्दाज्ञायमानायामर्थोपस्थितौ कार-
णीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता । प्रतिपादकत्वस्य
च प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम् । अतः कथं
नाम प्रतिपादकत्वमभिधेत्युच्यते ? अथ प्रतिपादकत्वं प्रतिपत्त्यनुकूलव्यापाररूपं
ज्ञानं सदेधोपयुज्यते प्रतिपत्तावित्युच्येत, एवमपि शक्त्येत्यनेन शब्दगतार्थगता
वा काचिच्छक्तिः प्रतिपत्तिहेतुतया विवक्षिता, सैवाभिधेति 'अभिधया प्रति-
पादकत्वमभिधा इति लक्षणं पर्यवसन्नम्' । तथा च स्फुटैवासंगतिरात्माश्रयश्च ।
न चाभिधातः शक्तिरतिरिक्ता शब्दजन्यप्रतिपत्तिप्रयोजिका काचिदस्तीत्यत्र
प्रमाणमस्ति ।

उपपत्तिविरोधादिति । युक्तिविरोधादित्यर्थः । युक्तिविरोधनेव प्रकटयति—तथाहीति ।
विवक्षितेति । शक्येति तृतीयप्रयणादिति भावः । स्वज्ञाने स्वज्ञानस्यापेक्षिततयाऽऽत्माश्र-
यस्य स्पष्टत्वादसंगतिमुपपादयति न चेति । न हीत्यर्थः । वृत्तिवार्तिकाल्ये स्वकीयप्रत्येऽप्यय-
दीक्षितेन 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधेति' लक्षणं कृतम्, परन्तु तत्र युक्तम्, यज्ज्ञानं शब्द-
जन्यार्थोपस्थितौ कारणम्, तस्या अभिधानामिकायाः शब्दनिष्ठाया वृत्तेर्लक्षणकरणप्रसङ्गे 'एतत्प-
दनिष्ठं प्रतिपादकत्वमस्ती'त्येतज्ज्ञानमात्रेणार्थज्ञानानुदयात् अर्थज्ञाननिरूपितकारणताविरोहि-
ज्ञानविषयस्य, शब्दनिष्ठस्य प्रतिपत्ति(ज्ञान)हेतुत्वरूपस्य प्रतिपादकत्वस्याभिधात्वासभवेन
तस्या लक्षणत्वात् । प्रतिपादकत्वञ्चाम प्रतिपत्त्यनुकूलो व्यापार, स च ज्ञात सत्त्वेव प्रतिप-
त्तायुपयुक्तो भवति, तथा च प्रतिपत्तिकारणीभूतज्ञानविषयः शब्दनिष्ठो व्यापारविरोधः अभि-
धेत्यर्थकमुक्तलक्षणं समीचीनमिति यदि कथ्यते, तथापि न निस्तारः यत् शक्येतिलक्षण-
घटकतृतीयान्तपदेन शब्दगताया अर्थगताया वा कस्याश्चिच्छक्ते प्रतिपत्तिहेतुता दीक्षितस्य
विवक्षितेति प्रतीयते, प्रतिपत्तिहेतुभूताशक्तिरेव चाभिधा, तथा च 'अभिधया प्रतिपादकत्व-
मभिधेति पर्यवसन्ने लक्षणे आत्माश्रयापातः, अभिधाज्ञानेऽभिधाज्ञानापेक्षणात्, शब्दजन्य-
बोधप्रयोजिकाया अभिधातो भिन्नायाः कस्याश्चन शक्ते प्रमाणसिद्धत्वेन असंगतिश्चेति भावः ।
नागेशस्तु धान्येन धनवान् इत्यत्रैव शक्येत्यत्राभेदायिका तृतीयामासायाय दीक्षितमतं सम-
र्थयति कथंचिदित्यपि बोध्यम् ।

अब अभिधा के संबंध में अप्यप्यदीक्षित के द्वारा स्वीकृत मत का खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । 'वृत्तिवार्तिक' नामक अपने ग्रन्थ में 'अभिधा' का लक्षण करते हुए दीक्षितजी ने लिखा कि—'शब्द में रहनेवाली शक्तिद्वाराकप्रतिपादकता का नाम 'अभिधा' है ।' परन्तु युक्तिविरोध होने के कारण उनका उक्त लक्षण असंगत है । युक्ति-
विरोध देखिए—जिसका ज्ञान, शब्द से होनेवाली अर्थोपस्थिति में कारण होता है, उस

शब्द निष्ठ 'अभिधा' नामक वृत्ति का लक्षण यहाँ यतना है। अब हम विचार करें कि उस 'अभिधा' का लक्षण 'दीक्षित' से बन सका ? 'प्रतिपादकता' शब्द का अर्थ होता है प्रतिपत्ति (ज्ञान) के कारण में रहनेवाला धर्म अर्थात् अर्थप्रतिपादक शब्द में रहनेवाला विशेष, परन्तु उस धर्म का ज्ञान शब्दजन्य अर्थोपस्थिति में कारण होता नहीं अर्थात् 'अमुक शब्द प्रतिपादक है' इस तरह के ज्ञान से किसी अर्थ का स्मरण नहीं होता, अतः 'प्रतिपादकत्व' को 'अभिधा' का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? यदि आप कहें कि 'प्रतिपादकता' का अर्थ उक्त धर्म नहीं है, अपितु ज्ञानजनक व्यापार अर्थात् शब्द में रहने वाली वह क्रिया, जिससे अर्थ का ज्ञान होता हो। अब उक्त लक्षण बन सकता है, क्योंकि उक्त क्रिया स्वयं ज्ञात होकर ही अर्थोपस्थिति का कारण होती है, अतः उक्त दीक्षित-वाक्य का सार यह होगा कि अर्थोपस्थिति का कारण जो ज्ञान उसका विषय जो शब्दगत व्यापार (क्रिया) विशेष, वह अभिधा है। तो उस रीति से भी उक्त लक्षण सगत नहीं होता, कारण, आपने जो लक्षण में 'शक्त्या अर्थात् शक्तिद्वारक' यह विशेषण जोड़ा है उसमें अर्थोपस्थिति में कारणीभूत शब्दगत अथवा अर्थगत कोई शक्ति ही आप की विवक्षित ज्ञान पदनी है और यही शक्ति 'अभिधा' है, अतः आपके कथनानुसार उक्त लक्षण वाक्य का पर्यवसित रूप यह होता है कि 'अभिधा के द्वारा प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है' और इस पर्यवसित रूप में दो-दोष स्पष्ट देख पड़ते हैं, एक असंगति और दूसरा आत्माश्रय। अर्थात् शब्दजन्य अर्थ-बोध में जो कारण हो, ऐसी अभिधा से भिन्न कोई शक्ति जब प्रमाण-भिद है नहीं, तब उक्त लक्षण नहीं बन सकता है और उस शक्ति को अभिधा से अभिन्न मान लेने पर अभिधा के लक्षण में अभिधा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय स्पष्ट ही है अर्थात् अभिधा के ज्ञान करने में अभिधा ज्ञान का अपेक्षित हो जाना ही यहाँ 'आत्माश्रय' दोष है। नागेश यहाँ 'धान्येन धनवान्' की तरह 'शक्त्या' इस तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ मानकर दीक्षितमत का समर्थन करते हैं। हिन्दी रस-गङ्गाधरकार चतुर्वेदीजी नागेशकृत समाधान को असंगत बतलाते हुए कहते हैं कि धान्य और धन में सामान्य विशेषभाव होने से अभेदान्वय हो सकता है, पर शक्ति और अभिधा दोनों विशेष ही हैं, अतः यहाँ अभेदान्वय नहीं बन सकता। बात उनकी ठीक है। परन्तु मुझे वृत्तिवार्तिक के स्वरस्य से ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षित ने यहाँ शक्ति पद का प्रयोग वृत्ति अर्थ में ही किया है। अतः नागेश का समाधान हो सकता है।

अभिधा विभजते—

सेयमभिधा त्रिविधा—केवलसमुदायशक्ति, केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति ।

अवयवार्था प्रतिभासिका शक्तिः केवलसमुदायशक्ति, अवयवार्थमात्रप्रतिभासिका शक्तिः केवलावयवशक्ति, अवयवार्थप्रतिभासिकारा समुदायार्थप्रतिभासिका शक्तिः समुदायावयवशक्तिसंकर इति भावः ।

अब अभिधा का विभाग करते हैं—सेय इत्यादि। पूर्वोक्त अभिधा तीन प्रकार की होती है—केवल समुदायशक्ति अर्थात् जो अवयवार्थ को भासित न करे, केवल अवयवशक्ति अर्थात् जो समुदायार्थको भासित न करे, और समुदाय तथा अवयवों की शक्ति का मिश्रण अर्थात् जो अवयवार्थके भानद्वारा समुदायार्थ को भासित करे।

उपपादनपूर्वमभिधाभेदानुदाहरति—

आधाया डित्यादिकमुदाहरणम्, सत्रावयवशक्तेरभावात्। द्वितीयायास्तु पाचकपाठकादि, सत्र धातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोल्लसितात्पाककर्तृरूपादर्थादन्तेऽर्थान्तरस्थानवभासेन समुदायशक्तेरभावात्। तृतीयायाः पङ्कजादिः। इह धातूपपदप्रत्ययरूपावयवशक्तिवेद्यानां पङ्कजाननकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये

प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादर्यादतिरिक्तस्य पञ्चत्वविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तिरपि कल्पनादुभयोः संकरः ।

आद्याया इति । केवल समुदायशक्तिरित्यर्थः । तत्र डित्यादिशब्दे । द्वितीयाया इति । केवलावयवशक्तिरित्यर्थः । तत्र पाचरूपाठकपदादौ । कृते विना । तृतीयाया इति, समुदायावयवमिश्रितशक्तिरित्यर्थः । उभयोः समुदायावयवशक्तयोः । डित्यादिरव्युत्पन्नप्रातिपदिकम् केवलसमुदायशक्तिरुदाहरणम्, तत्र प्रकृतिप्रत्ययादिरपावयवस्वैवाभावेन तच्छक्तिरप्यभावात् । पाचरूपाठकादिपदानि केवलावयवशक्तिरुदाहरणभूतानि, मतस्तत्र पच् आदि भातो ष्वुल्प्रत्ययस्य चावयवभूतस्य शक्त्याऽवगम्यमानयोः पारकर्तृरूपचोरर्थयोः परस्परमन्वये सति प्रतीयमानो य विक्लितजनकव्यापाराश्रयरूपोऽर्पस्तदितरो न कोऽप्यर्थः प्रतिभासत इति समुदायशक्तिर्न कल्प्यते । पङ्कजादिपदम् समुदायावयवशक्तिरुदाहरणम्, मतस्तत्र जन्धातु-पङ्करूपोपपद-उत्पन्नयत्नान्कावयवशक्तिलभ्यात्, पङ्कवधिक-जन्मकर्तृरूपादर्याञ्च निर्वाहस्तेनानमितस्य शैवालादेरपि शोडीकरणत्, अतः पञ्चविशिष्टरूपार्थ-भासिना समुदायशक्तिरपि कल्प्यत इति भावः ।

अथ पूर्वोक्त अभिधा-प्रकारों के उदाहरण उपपादनपूर्वक दिखलाते हैं—आद्याया इत्यादि । केवल समुदायशक्ति के उदाहरण 'डित्य' आदि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होते हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव रहते ही नहीं, अतः अवयवशक्ति का वहाँ प्रसङ्ग ही नहीं आता । केवल अवयवशक्ति के उदाहरण होते हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि पद । क्योंकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय ष्वुल् = अक आदि की शक्ति से अवगत होने वाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्ययार्थ 'करनेवाला') के अन्वय से प्रकाशित होनेवाले, 'पाक करने वाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ समुदाय-शक्ति का अभाव है । समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण के उदाहरण होते हैं 'पङ्कज' आदि पद । उपपद पङ्क, धातु जन्, प्रत्यय ट, इन तीन अवयवों के योग से पङ्कज पद बना है । उनमें से उपपद का अर्थ 'कीचड़' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है । परस्पर साकाङ्क्ष रहने के कारण उक्त उक्त अर्थों का अन्वय होता है, तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है । किन्तु 'पङ्कज' पद से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में कीचड़ से उत्पन्न होने वाले शैवाल आदि सभी पदार्थ पङ्कज कहलाने लगेंगे । अतः यह मानना पड़ता है कि उक्त अवयवों की शक्ति से भिन्न एक समुदायशक्ति भी यहाँ है, जिसके द्वारा 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है । वह कमलत्वजाति-युक्त पदार्थ भी पङ्क से उत्पन्न होनेवाला ही है अतः अवयव और समुदाय दोनों की शक्तियों का मिश्रण यहाँ समझा जाता है ।

अमीपानभिधाप्रभेदाना प्राचीनैः प्रयुक्तानि पर्यायान्तराणि वर्णयति—

एता एव विधा रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यवहिर्यन्ते ।

विधा प्रकाराः । अभिधायाः प्रागुक्तानां केवलसमुदायशक्ति-केवलावयवशक्ति-समुदायावयवशक्तिसकरालम्-प्रभेदानामेव षडशो रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यवहारः प्राचीनैः क्रियत इति भावः ।

प्राचीन भाषार्यों के द्वारा उक्त अभिधा-प्रभेदों का व्यवहार भिन्न नाम से किया है, इसी बात का उल्लेख करते हैं—एता इत्यादि । प्राचीन आलङ्कारिक केवल समुदायशक्ति का रूढि शब्द से, केवल अवयवशक्ति का योग शब्द से और समुदायावयवशक्तिसकर का योगरूढि शब्द से व्यवहार करते हैं ।

दीक्षितोक्तौ पूर्वोक्तदूषणान्यतिदिशति—

यत्तु—‘अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः । अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः । उभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः ।’ इति वृत्तिवार्तिकेऽप्ययदीक्षितैरुक्तम्, तत्र । अभिधालक्षणोक्तदूषणानामिहापि दुर्वारत्वात् ।

दूषणानामिति । प्रतिपादकत्वनिष्ठतत्त्वासम्बासगत्यात्माश्रयणामिन्वयर्थ । अखण्डा-अवयवविभागरहितकेवलसमुदायनिष्ठा या शक्ति, तथा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता भा रूढि, केवलवयवशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योग, एवम् समुदायावयवोभयशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योगरूढिरित्यर्थकानि यानि मूलोक्तानि रुढि-योग-योगरूढीना लक्षणानि वृत्तिवार्तिकाभिधाने निबन्धे दीक्षितमहाभागेन कृतानि, तानि न सम्प्रधि, प्रतिपक्षिहेतुत्वरूपशब्दगतप्रतिपादकज्ञानस्यार्थ-प्रतिपत्ति प्रत्य-हेतुत्वादसम्भव, अभिधात शक्तेरन्यत्वाभावादसंगति, स्वज्ञाने स्वज्ञानापेक्षणादात्माश्रय इत्येवामभिधालक्षणोक्तदूषणानामत्रापि दुर्वारत्वादिति भावः ।

अथ इत्स प्रसङ्ग पर भी दीक्षित के मत का खण्डन करते हैं—यत्तु इत्यादि । ‘अखण्ड-अर्थात् अवयव विभागरहित केवल समुदायनिष्ठ-शक्ति से पद में रहनेवाली एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम ‘रूढि’ है । केवल अवयवशक्ति की अपेक्षा करनेवाली-पदनिष्ठ प्रतिपादकता का नाम ‘योग’ है और समुदायशक्ति तथा अवयव शक्ति दोनों की अपेक्षा करनेवाली प्रतिपादकता का नाम ‘योगरूढि’ है ।’ ये लक्षण क्रमशः रूढि, योग और योग रूढि के अप्ययदीक्षित ने अपने वृत्तिवार्तिक नामक निबन्ध में किये हैं, परन्तु वे लक्षण ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनके अभिधा लक्षण में जो सब दोष दिखलाये गए हैं, वे सभी दोष यहाँ भी हो सकते हैं और उन दोषों का वारण भी नहीं किया जा सकता—अर्थात् शब्दगत प्रतिपादकता का अर्थ, प्रतीति का हेतु होना ही होता है और उस प्रतिपादकता का ज्ञान अर्थ की प्रतीति में कारण नहीं होता, अतः उक्त लक्षणों में असम्भव दोष हो जायगा, शक्ति से भिन्न रूढि भादि कोई वस्तु होती नहीं अतः असंगति दोष भी होगा, एवम् शक्ति के ज्ञान में शक्ति-ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष का अवसर भी आ जायगा ।

अपेदानोमध्वगन्धादिकतिपयविशिष्टशब्दाना शक्तिरुक्तेषु अभिधाभेदेषु कुत्रान्तर्भवतीति विचारयितुमुपक्रमते—

अथ अश्वगन्धा अश्वकर्ण-मण्डप-निशान्त-कुचलयादिराब्देषु का शक्तिरिति ।

मूलोक्ता अश्वगन्धादन’ शब्दा सर्वे धर्षका, तत्रैकस्यार्थस्य समुदायशक्त्या (रूढ्या) द्वितीयस्यावयवशक्त्या (योगेन) सर्वेभ्य जब्देभ्य प्रतीतिर्भवति, अतस्तेषु शब्देषु का शक्ति ? केवलसमुदायशक्ति केवलवयवशक्ति समुदायावयवशक्तिसकरो वेति विचारणीयमिति भावः ।

अथ अश्वगन्धा आदि कतिपय शब्दों की शक्ति, उक्त अभिधा प्रभेदों में अन्तर्भूत हो सकती है अथवा नहीं इत्यादि विचार का आरम्भ करते हैं—अथ इत्यादि । यहाँ अथ विचारणीय यह है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मण्डप, निशान्त और कुचलय आदि पदों में उक्त तीनों भेदों में से कौन-सी शक्ति है ? इस तरह का विचार यहाँ इसलिये उठता है कि पूर्वोक्त सभी शब्दों के दो-दो अर्थ हैं अर्थात् अश्वगन्धा शब्द के एक प्रकार का औपच, असगन्ध और घोड़ों के गन्धवाली, अश्वकर्ण शब्द के एक औपच और घोड़े का दान, मण्डप शब्द के मँडवा (गृह विरोध) और भात का मँड पीनेवाला, निशान्त

पद के गृह और राशि का अन्त (प्रभात) तथा कुयलय पद के राशि में विकसित होनेवाला कमल और गृध्रीमण्डल अर्थ होते हैं । इन लघों में प्रथम-प्रथम अर्थसमुदाय शक्ति (रुद्रि) द्वारा और द्वितीय द्वितीय अर्थ अवयवशक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होते हैं । अतः यहाँ किसी एक शक्ति से कार्य नहीं बन सकता ।

पूर्वजिज्ञासिता शक्ति मतभेदेन ज्ञापयिष्यन् तावत्प्रथममतमाह—

अत्र केचित्—‘अश्वगन्धारसं पिबेत्’ इत्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदाय-शक्तिः । अश्वगन्धा वाजिशाला, इत्यादिषु तु केवलयोगशक्तिः । समुदायावयव-शक्त्योरुभयोरैकशब्दाश्रयत्वे कथं केवलत्वविशेषितयोरानुद्वितीयभेदयोः प्रस-क्तिरिति तु न शङ्क्यम् । समुदायावयवशक्तिवैद्ययोरर्थयोरन्वयेन तादृशशक्त्योः केवल्यस्य साम्राज्यात् । इदमेव हि केवलत्वमिह विवक्षितम्, यदन्वया योग्यार्थ-बोधकत्वम् । सकरस्त्वन्वययोग्यार्थबोधकयोरैवेति न तस्यात्र प्रसक्तिः’ इत्याहुः ।

अश्वगन्धादिशब्दे क्वचित् केवलसमुदायशक्तिः, क्वचित् केवलयोगशक्तिः, यथा— ‘अश्वगन्धारसं पिबेत्’ इत्यादौ औपधतात्पर्येण प्रयुक्ते प्रथमा, ‘अश्वगन्धा वाजिशाला’ इत्यादौ अश्वस्य गन्धो यस्यामिन्यर्थतात्पर्येण प्रयुक्ते द्वितीया । यद्यपीह कथं तादृशशक्ति-द्वयसमावेश एकरिमत शब्दे, अवयवशक्तेरपि सद्भावेन केवलसमुदायशक्तेः, समुदायशक्ते-रपि सत्त्वेन केवलवयवशक्त्यासत्त्वादिति शङ्का आपाततः समुदेति, तथापि अवयवशक्ति-बोध्यार्थान्वयायोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्य समुदायशक्तौ, समुदायशक्तिबोध्यार्थ-ान्वययोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्यावयवशक्तौ विवक्षणेन सामञ्जस्ये तादृशशब्दाया नोत्या-नम् । योगरह्यपरपर्याय-संकरस्तु नैतादृशस्थले सम्भवति, परस्परान्वययोग्यार्थद्वयबोधक-भेदयोरेव तत्त्वपीकारात् । प्रकृते चाश्वसंबन्धिगन्धविशिष्टौपधिरूपयोरैवो विधोऽन्वययोग्य-त्वविरहात् इति भावः ।

अब पूर्व जिज्ञासा की ज्ञान्ति के लिये मतभेद से उत्तर करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों का कथन है कि—‘अश्वगन्धारस पिबेत्—अर्थात् अश्वगन्ध का रस पीवे’ इत्यादि स्थल-विशेष—जहाँ औपधरूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल समुदायशक्ति (रुद्रि) माननी चाहिए । और ‘अश्वगन्धा वाजिशाला—अर्थात् घोंघों के गन्ध वाली घुदसाल’ इत्यादि स्थलविशेष—जहाँ वाजिशालारूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल अवयवशक्ति (योग) माननी चाहिए । यद्यपि यहाँ यह शका की जा सकती है कि जब समुदायशक्ति (रुद्रि) और अवयवशक्ति (योग) दोनों के लक्षणों में ‘केवल’ विशेषण लगाया गया है, अर्थात् जब समुदायार्थमात्र बोधक पद में रुद्रिशक्ति और अवयवार्थ मात्र-बोधक पद में योगशक्ति मानी गई है, तब अश्वगन्धा इस एक पद में ही दोनों शक्तियाँ कैसे मानी जा सकती हैं अर्थात् यहाँ रुद्रि शक्ति मानी नहीं जा सकती, क्योंकि यह पद अवयवार्थ का भी बोधक, स्थान-विशेष में होता है, योगशक्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्थानविशेष में यह पद समुदायार्थ का भी बोधक होता है; तथापि यह कहा जा सकता है कि ‘केवल’ विशेषण का अभिप्राय यहाँ अन्य अर्थ का बोधक नहीं होना नहीं है, अपितु अन्य अर्थ के साथ अन्वित न हो सकनेवाले अर्थ का बोधक होना है अर्थात् जहाँ समुदायार्थ ऐसा रहेगा, जिसका अन्वय अवयवार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, वहाँ केवल समुदायशक्ति मानी जायगी और जहाँ अवयवार्थ ऐसा होगा, जिसका अन्वय समुदायार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, वहाँ केवल अवयवशक्ति मानी जायगी । अब आप सोचिए कि अश्वगन्धा पद में ये दोनों केवल विशेषणविशिष्ट शक्तियाँ रह सकती हैं या नहीं ? मैं कहूँगा कि अवश्य रह सकती हैं, क्योंकि अश्वगन्धा पद का औपधरूप

समुदायार्थ ऐसा है ही। जिसका वाजिशालारूप अवयवार्थ के साथ अन्वय नहीं होता, इसी तरह घोड़े के गन्धवाली घुड़मालरूप अवयवार्थ भी ऐसा ही है, जिसका उक्त समुदायार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—इस स्थिति में दोनों शक्तियों के मिश्रण-रूप अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढि) से इसमें क्या अन्तर रहा ? तो इसका उत्तर यह है कि मिश्रण वहाँ माना जाता है, जहाँ ऐसे दो अर्थों का बोध होता हो, जो परस्पर अन्वित हो सकें, जैसे पङ्कज पद के स्थल में कमलरूप समुदायार्थ और कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला रूप अवयवार्थ परस्पर अन्वित होने योग्य हैं अर्थात् कमल भी कीचड़ से ही उत्पन्न होता है अतः 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला कमल' ऐसा अन्वित अर्थ ज्ञात होता है। अश्वगन्धा पद के दोनों अर्थ ऐसे नहीं हैं जो परस्पर अन्वित हो सकें, अतः यहाँ शक्ति द्वय मिश्रण का प्रसङ्ग ही नहीं आता।

तादृशकैवल्यविवक्षाया माताभावान् मतान्तरमाह—

अन्ये तु—'अश्वकर्णादिशब्देषु नाभिधाया. प्रथमद्वितीययोर्विधयोः प्रसक्तिः, कैवल्यविरहात् । परन्तु सकरस्य द्वौ भेदौ—योगरूढियौगिकरूढिश्चेति । तत्राद्यस्योदाहरण पङ्कजादिशब्दा । द्वितीयस्य त्वश्वकर्णादयः' इत्याहुः ।

अश्वगन्धा-अश्वकर्णादिशब्देषु कैवल्यविशेषितयोः प्रथमद्वितीयभेदयोरप्रमत्त्या तत्प्र-
हाय सकरस्य यौगिकरूढिनामकोऽप्येको भेद र्शक्यार्थ इति भावः ।

'कैवल्य' विशेषण का जो अर्थ पूर्व मत में किया गया है, उसमें कोई प्रभाव नहीं, अतः मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु इत्यादि। अन्य विद्वानों का कथन है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पदों में अभिधा के प्रथम अथवा द्वितीय अर्थात् रूढि किंवा योगभेद की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ एक ही पद में दोनों तरह की शक्तियों के रहने के कारण कैवल्य नहीं होता। अतः संकरात्मक तृतीय अभिधा भेद के पुनः दो भेद मानने चाहिएँ, एक योगरूढि और दूसरा यौगिकरूढि। उनमें से प्रथम भेद का उदाहरण है पङ्कज आदि पद और द्वितीय भेद का अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पद।

सकरस्य योगरूढिशब्देनैव प्रसिद्धमतान्तरमाह—

'चतुर्थं एवायमभिधाया भेदः' इत्यप्यन्ये ।

अभिधापदमवदेनैवकारेण सकरभेदनिरासः । यौगिकरूढिनामक भेदान्तर न सकरस्य, अपि तु अभिधाया एव । तथा चाभिधायाद्यन्वारी भेदा इति भावः ।

योगरूढि से भिन्न सकर का भेद कहीं प्रसिद्ध नहीं, अतः तृतीय मत दिखलाते हैं—चतुर्थं इति। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि यह यौगिकरूढि नामक संकरात्मक तृतीय अभिधा भेद का उपभेद नहीं है, अतः स्वतन्त्ररूप से अभिधा का ही एक भेद है अर्थात् अभिधाके चार (रूढि, योग, योगरूढि और यौगिकरूढि) भेद हैं, तान ही नहीं।

सिद्धान्तमाह—

विद्यते ॥' इत्यादि । एवञ्च योगशक्तिरस एव नास्ति । विशिष्टपदवाक्यादेर्विशिष्टार्थे रुदिरैवेति भावः । अभिधाया रूढ्याख्य एक एव भेद इति तात्पर्यम् ।

अथ अभिधा के सबन्ध में मिद्वान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—अखण्डा इति । पद दो प्रकार के होते हैं, एक समास काके बनाए गए और दूसरे समासरहित । दोनों ही प्रकार के पद अखण्ड हैं—निरवयव है । केवल लघु उपाय से शब्द ज्ञान कराने के लिये वैयाकरणों ने अपने शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाहार्थे समास में भिन्न-भिन्न पदों का और कृदन्त, तद्धितान्त तथा तिङन्त पदों में प्रकृति प्रथयों का काल्पनिक विभाग मान लिया है अर्थात् वस्तुतः ये सब विभाग हैं नहीं । अत एव उन्होंने कहा है—'अदेन वर्णा विद्यन्ते' इत्यादि अर्थात् पदों में वर्ण नहीं, षणों में अवयव नहीं और वाक्यों में पदों का विभाग भी नहीं है ।' इस युक्ति के अनुसार योगशक्ति का कहीं प्रसङ्ग था ही नहीं सकता । अतः यह मानना चाहिए कि अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ में और अखण्ड वाक्य की अखण्ड वाक्यार्थ में केवल रूढि ही शक्ति है । तात्पर्य यह हुआ कि अभिधा का रूढि नामक एक ही भेद है, तीन अथवा चार नहीं ।

राइते—

अथ—

'गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वा न ।

इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्यकुतरूपं परिच्छेत्तुम् ॥

इत्यादौ रूढ्यर्थमादाय पुनरुक्त्यापत्तिः ।

अपेति । अभिधाया उक्तस्य भेदत्रयरूपभेदचतुष्टयस्य वा स्वीकृतेरुत्तरमित्यर्थः । गीष्पतिरिति । राजवर्णनमिदम्—हे राजन् ! गीष्पति वाच' स्वामां अपि, आङ्गिरस' वृहस्पति', ते तव, गुणगणान् पराङ्गनीदार्यादिगुणसमूहान्, गदितुं वक्तुम्, सगर्वाः साहकारो न भवतीति शेषः । तथा सहस्रनयनोऽपि नैत्रमहस्रसहितोऽपि, इन्द्र', ते, अद्वुतरूपम् आश्चर्यकरं स्वरूपं, परिच्छेत्तुम् अर्थात् इत्युत्तया निधेतुम्, सगर्वा नैत्यर्थः । राजन् ! त्वयि इत्यन्तो गुणा सन्ति, यान् अपरिमितवाक्यशक्तिर्वृहस्पतिरपि वर्णयितुं न प्रभु, एवम् तव रूपे वर्णमानाया आश्चर्यकारिताया इत्युत्ता निधेतु न्यननमहस्रशाली इन्द्रोऽपि न समर्थः, अस्माकं स्वपदाक्राचीना नैत्रद्वयशालिना तु कथं का ? सर्वथा अवर्णनीया तव गुणा, इत्युत्तरहितव रूपमिति भावः । अत्राङ्गिरसेन्द्रराब्दौ रुदिशक्त्या वृहस्पति-द्वेवराजौ बोधयत । गीष्पतिमहस्रनयनराब्दौ च योगरुदिशक्त्या तावेवाभिधत । एवञ्च गीष्पतिसहस्रनयनपद्योहरूढ्यर्थमादाय पुनरुक्तिदोषापात स्पष्ट एवेति भावः ।

इस प्रसङ्ग पर एक शक का उल्लेख करते हैं—अथ इत्यादि । आप कहेंगे कि इतना सब होने पर भी—'गीष्पतिरपि' अर्थात् (हे राजन् !) 'गीष्पति'—वाणी के अधिपति भी—आङ्गिरस—वृहस्पति आपके पराङ्गन, औदार्य आदि गुण गणों का यथावत् वर्णन करने का गर्व नहीं कर सकते और सहस्र-नयन-हजार चक्षुवाले भी इन्द्र आपके आश्चर्यजनक रूप की वृत्ता को बतलाने का घमंड नहीं कर सकते ।' तात्पर्य यह कि 'आप में इतने गुण हैं, जिनको वाचरपति भी नहीं कह सकते, एवम्—आपका रूप आश्चर्यजनक है, जिसका माप कर सकना हजार नैत्रवाले इन्द्र के लिये भी संभव नहीं है, फिर हम अल्प वाक्यशक्ति-वालों तथा दो नयनवालों की बात ही क्या ? सारांश यह कि आपके गुण सर्वथा अवर्णनीय हैं और रूप इत्युत्ता रहित है ।' इत्यादि पद में रूढ्यर्थ को लेकर पुनरुक्ति दोष होने लगेगा अर्थात्—'गीष्पति' और 'सहस्रनयन' पद योगरूढ हैं, अतः उन दोनों पदों से ही योग तथा रूढि दोनों शक्तियों के मिश्रण से क्रमशः 'वाणी का अधिपति आङ्गिरस'

और 'हजार नेत्रकाला इन्द्र' इन अर्थों का बोध हो ही जाता है, फिर 'आङ्गिरस' और 'इन्द्र' पदों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष प्रसृत है।

उक्तापत्ते समाधानामांसमुपपाद्य खण्डयति—

न चैवंविधपदद्वयसमभिव्याहारस्थले योगरूढपदस्यावयवार्थमात्रबोधकत्वम्, तावन्मात्रस्यैव प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषसमर्पकत्वात् इति वाच्यम्। एवमपि योगरूढपदस्य रूढिशक्तेरनियन्त्रण्येन योगार्थमात्रप्रतिपादकताया अनुपादानादुक्तदोषस्यानुवृत्तेः। एकेनैव पदेन योगार्थरूढ्यर्थयोरुभयोरप्यावश्यकयोरर्थयोरुपस्थितिसंभवेन द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापत्तेश्च, इति चेत्।

अतिशयेनि। राजनिष्ठगुणाद्यतिशयेत्यर्थः। अनियन्त्रण्येन असंकोचेन। शक्तिसंकोचकाना प्रकरणादीनामभावादिति भावः। अनुपादानादिति। अग्रहपादित्यर्थः। अज्ञानादिति यावत्। शक्तिनियामकप्रकरणादिमत्त्वेऽप्याह—एकेनैवेति। आवश्यकयोरिति। पदद्वयोर्ल्लेखबलेनोक्तातिशयव्यञ्जनार्थमिति भावः। उक्तपुनरुक्त्यापत्ति तद्वैव संभवति, यदि गोपतिसहस्रनयनपदे योगार्थेन सह रूढ्यर्थमपि बोधयेताम् परन्तु तदेव नास्ति, ईदृशरूढयोगरूढोभयविधशब्दप्रयोगस्थले योगरूढपदस्य योगार्थमात्रबोधकत्वस्वीकारेण तयोपदयोर्वांगधिपति-नेत्रसहस्रविशिष्टमात्रबोधकत्वान्। कुत ईदृशस्थले योगरूढपदस्य योगार्थमात्रबोधकत्वमिति चेत् तावन्मात्रस्यैव राजादिगतगुणरूपयोस्त्वर्णनीयत्वलक्षणातिशयव्यञ्जकत्वेनावश्यकत्वान्, रूढ्यर्थस्य पदान्तरेण बोधनाच्चेति समाधानमापातत-संभाव्यमानमपि न युक्तम्, शक्तिनियामकस्य प्रकरणादेरसत्त्वेन गोपतिसहस्रनयनरूपयोर्गो-गरूढपदयो रूढिशक्तेरनियमनेन योगार्थमात्रबोधकताया अज्ञानात् रूढ्यर्थबोधे अवारिते पुनरुक्त्यापत्तेरतादवस्थ्यात्। प्रकरणादिनियामकमत्त्वाङ्गीकारे पुनस्तथा सम्भवेऽपि आङ्गिरसेन्द्रादिरूपद्वितीयपदप्रयोगनैरर्थक्यापातदोषस्य दुर्भारत्वाच्च। कथं तच्चैरर्थक्यमिति च दित्यम्—योगरूढ रूढ्यर्थ पद प्रयुज्य पुनरुक्तिमिया प्रकरणादिना योगरूढपदस्य रूढशक्तेरनियमन व्यर्थम्। यत् तथाकारे एकेन पदेन रूढ्यर्थस्य द्वित्वेन योगार्थस्य च बोध एव तु उद्देश्यम्। तस्योद्देशस्य पूर्ति एकेन योगरूढपदेनापि सम्भवति। न च प्रकरणादिना संकोचे कथं द्वयोरर्थयोरुभौ एकमान् पदादिति वाच्यम्, अभिधानियामकप्रकरणोक्तवसिष्ठान्तानुसारेण सत्यावश्यकत्वे द्वयोरर्थयोर्बोधस्थोत्पत्ता बाधनाभावादिति भावः।

उक्त शंका के आपातत एक समाधान का उल्लेख कर उसका सन्देह करते हैं—न चैवं इत्यादि। यदि कोई कहे कि इस तरह जहाँ रूढ और योगरूढ दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ हो, वहाँ गोपति आदि योगरूढ पद केवल अवयवार्थ (योगार्थ) के बोधक होते हैं, समुदायार्थ (रूढ्यर्थ) के नहीं, क्योंकि ऐसे स्थानों में अवयवार्थ ही प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशिष्ट प्रकार के अतिशय को उपस्थित करनेवाला रहता है अर्थात् वर्णनीय राजा के गुण रूपों को अवर्णनीय सिद्ध करने में गोपति तथा 'सहस्रनयन पद' के योगार्थ ही सहायक होते हैं रूढ्यर्थ नहीं। तात्पर्य यह कि इस तरह से योगरूढ पद को केवल योगार्थोपस्थापक मान लेने पर पुनरुक्ति नहीं होगी, परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक तो यह कि जब प्रकरण आदि कोई नियामक है नहीं, तब योगरूढ (गोपति आदि) पद की रूढिशक्ति नियन्त्रित नहीं हो सकेगी और अनियन्त्रण की स्थिति में वह पद योगार्थमात्र का प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय ही नहीं हो सकता, अर्थात् योगरूढ पद रूढ्यर्थ का भी बोध कराएगा ही, किन्ती के कथन मात्र से यह शंका नहीं, अतः उक्त दोष (पुनरुक्ति) बना ही रहा, हटा नहीं। दूसरा यह कि यदि किसी तरह नियामक (प्रकरणादि) को सोजकर उक्त योगरूढ पदों को

ईदृश स्थल में योगार्थमात्र के बोधक बना भी देंगे, तब भी यह आपत्ति तो बनी ही रहेगी कि जब योगरूढ (गीष्पति सहस्रनयन) पद से ही योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों के बोध हो सकते हैं, तब पृथक् रूढपद (आङ्गिरस और इन्द्र) के प्रयोग क्यों किये जायें, अर्थात् वे पद व्यर्थ हो जाते हैं । सारांश यह कि प्रकरण आदि को नियामक मानकर द्वितीय पद प्रयोग को सार्थक बनाना समुचित नहीं । अभिधातियामक-प्रकरणोक्त स्व-सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता होने पर दो अर्थों का बोध एक पद से माना जा सकता है । अतः पुनरुक्ति दोषवाली शंका पूर्ववत् बनी रह जाती है ।

सिद्धान्तभूत समाधानमाह—

अत्राहुः—एकपदोपात्तत्वादन्तरङ्गाकाङ्क्षावशेन प्रथमं योगार्थरूढ्यर्थयोरन्वये सति समुल्लसितस्य विशिष्टार्थस्यैव पदान्तरार्थेनान्वयः, न तु तयोरेव विशकलितयोरिति यद्यपि न्यायसिद्धोऽर्थः तथापि शक्यत्वाऽर्थस्य प्रतिपादने स्यादेवम् । लक्षणायां तु योगरूढेन योगार्थमात्रप्रतिपादनेन न किञ्चिद्वाधकमस्ति । नापि द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यम् । तथा सति रूढ्यर्थबोधनेन गतार्थेन योगरूढशब्देन प्रतिपाद्यमानस्य योगार्थस्य पङ्कजाशीत्यादाविव नान्तरीयकत्वराङ्क्या कुर्वद्र पताया अपहृतौ प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषव्यञ्जनस्य पाक्षिकत्वापत्तेः । द्वितीयपदयोगे तु तेनैव रूढ्यर्थप्रतिपादने सिद्धे योगरूढपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य नान्तरीयकत्वराङ्क्या अयोगाल्कुर्यद्रूपत्वेन व्यङ्ग्यविशेषव्यञ्जकत्वं नियमेन सिद्ध्यति ।

एकपदोपात्तेति । अन्तरङ्गत्वे हेतुरयम् । समुल्लसितस्य सम्पन्नस्य । विशिष्टार्थस्येति । वाक्स्वाम्यभिवाङ्गिरसस्य, सहस्रनयनाभिचेन्द्रस्य चेत्यर्थः । पदान्तरेति । आङ्गिरसेन्द्रपदार्थाभ्यामिति भावः । तयो योगार्थरूढ्यर्थयोः विशकलितेति । पदान्तरार्थेनान्वय इत्यस्यानुपपन्नः । गीष्पति-सहस्रनयनपदलभ्ययोगार्थरूढ्यर्थयोः परस्परमन्वितयोः आङ्गिरसेन्द्रपदार्थाभ्यां सहान्वयो नेति भावः । योगार्थमात्रबोधकत्वानुपादानप्रयुक्तपुनरुक्तिरूपमाद्यदोषमुद्घृत्य रूढपदप्रयोगनैरर्थक्यरूप द्वितीयं दोषमुद्धरति—नापीति । तथा सति रूढ्यर्थमात्रबोधकद्वितीयपदानुपादाने सति । नान्तरीयकत्वेति । मुख्यतात्पर्याविषयत्वेत्यर्थः । पाक्षिकेति । नान्तरीयकत्वराङ्क्या अभावे इष्टसिद्धिः सम्बन्धव्यर्थः । अत एवापे नियमेनेति नक्षति । कुर्वद्रूपत्वेनेति । कार्यजननोन्मुखत्वेनेत्यर्थः । योगशक्तिरूढिशक्तिभ्यां गीष्पतिपदेनाभिहितयो वाक्यत्वाङ्गिरसरूपयोरैवं सहस्रनयनपदेनाभिहितयोरनैत्रसहस्रवदिन्द्ररूपयोरर्थयोः प्रथममभेदान्वयः, श्रोतृसमवेततद्विषयकान्वयजिज्ञासात्मकाकाश्या एकपदोपात्तत्वज्ञानमूलकान्तरङ्गत्वेन प्राग्मुदयात् ततस्तथाऽन्वितस्य गीष्पतिपदार्थस्याङ्गिरसपदार्थेन, एवमन्वितस्य सहस्रनयनपदार्थरेयेन्द्रपदार्थेन सहामेदान्वयः, न तु अन्वितस्य गीष्पतिपदवाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्नाङ्गिरसपदार्थेन, एवं सहस्रनयनपदवाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्येन्द्रपदार्थेन, तदन्वयजिज्ञासात्मिकाया आकाश्या भिक्षपदोपात्तत्वज्ञानमूलकबहिर्दृष्टत्वेन पश्चादुदयात् । तथा च 'आङ्गिरस वाक्यत्यभिन्न आङ्गिरस, इन्द्र सहस्रनयनाभिन्न इन्द्र' इत्याकारकान्वयबोध सम्पद्यते, स च नासगतः, घटो नीलघटो न वा दण्डवान् रक्तदण्डवाव वा' इत्यादिसंशयनिवर्तकस्य तत्समानाकारस्य 'घटो नीलघट दण्डवान् रक्तदण्डवान्' इत्याकारकस्य विधेयकोटावधिकवागादिनोऽन्वयबोधस्य नवीनैः स्वीकारात् । परमिय रीतिः गीष्पति-सहस्रनयनादिपदस्य वाचकत्वं स्वीकृत्य शक्याऽर्थप्रतिपादने बोध्या । तादृशस्य योगरूढपदस्य लाक्षणिकत्वमज्ञाकृत्य लक्षणाया योगार्थमात्र-

प्रतिपादने गीष्पत्यादियोगरूपदत्तव्ययोगार्थस्याङ्गिरसादिस्टपदाभेदान्कये तु काऽपि वाधा नास्तीति युगमोऽय पन्था । इत्यत्र पूर्वोक्तं पुनरुक्तिदोष परिहृतोऽभूत् । आङ्गिरसेन्द्रादिस्टपदाप्रयोगे गीष्पतिसहस्रतयनादियोगरूपदत्त रत्नार्थबोधनेन गतार्थमिति तादृश-पदेन प्रतिपाद्यमानोऽपि योगार्थं पञ्चजाक्षीत्यादौ पञ्चजनिकर्तृरूपार्थवत् तात्पर्याविषय इति शङ्कया तत्त्व योगार्थस्य पुर्वद्वरूपता (कार्यकारिता) नश्येत्, तथा चाङ्गिरसो वाक्पतित्वे वर्तमानोऽपि तत्र गुणान् वक्तुमसमर्थ, इन्द्र महस्रतयतत्वेऽपि तत्र रूपं परिच्छेत्तुमशम इत्यर्थबोधनद्वारा राजगतावर्णनीत्यगुणरूपशालिनात्मकातिशयव्यञ्जन न स्यात्, उक्त-शंकाया अन्तुत्थानेऽङ्गीकृते न तदतिशयव्यञ्जन स्यादपीति वैकल्पिक तदतिशयव्यञ्जनं भवेत् । गीष्पतिसहस्रतयनादियोगरूपदत्तप्रयोगे सत्यपि आङ्गिरसेन्द्रादिरूपरूपदत्तस्य प्रयोगे पुन आङ्गिरसादिपदेनैव स्वार्थप्रतिपादने जाते गीष्पत्यादिपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य तात्पर्या-विषयत्वशका न भवितुमर्हति, तज्जाभार्थमेव पृथक् योगरूपदत्तप्रयोगात् । तथा च तस्य योगार्थस्य पुर्वद्वरूपताऽऽगुणा तिष्ठति, तेनोकातिशयव्यञ्जन नियमतो जायते, नवैकल्पिकम् । एषश्च द्वितीयपदप्रयोगनैरर्थव्यापत्तिरपि प्रागुक्ता समाहितेति भावः ।

अथ उक्तं तत्र का सिद्धान्तभूत समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादिः 'गीष्पति' आङ्गिरस' यहाँ योगरूपदत्तके द्वारा 'गीष्पति' का अर्थ होता है वाणी का पति बृहस्पति और रूद्रशक्ति के द्वारा 'आङ्गिरस' पद का अर्थ होता है केवल बृहस्पति । इस स्थिति में इन दोनों पदों के अर्थों का अन्वय किस तरह से हो, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जायगा कि 'गीष्पति' पद से जो दो (योगार्थ तथा रूद्रार्थ—वाणी का पति एवं बृहस्पति) अर्थ उपस्थित हैं, उन्हीं दोनों में परस्पर अन्वय होगा, क्योंकि 'वे दोनों अर्थ एक पद से उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान से श्रोता की अन्वयप्रिययक जिज्ञासारूप आकाङ्क्षा उन्हीं दोनों अर्थों के विषय में पहले उदित होगी, अतः वही आकाङ्क्षा अन्तर्गत होगी । उन एकपदोपस्थापित दो अर्थों का परस्पर अन्वय जब तक नहीं हो जायगा, तब तक उन दोनों अर्थों का अन्वय आङ्गिरस पद के रूद्रार्थ (बृहस्पति) के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि 'दो पदों से वे अर्थ उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान के कारण उन दोनों अर्थों के विषय में अन्वय जिज्ञासारूप आकाङ्क्षा पश्चात् उदित होगी, अतः एवं बहिरङ्ग होगी । इस निर्णय के अनुसार पहले 'वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से 'गीष्पति' पदोपस्थापित अर्थों का अन्वय हो चुकने के बाद उस अन्वित अर्थ का 'आङ्गिरस'पदोपस्थापित रूद्रार्थ (बृहस्पति) के साथ 'बृहस्पति, वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से अन्वय होगा और इस तरह से अन्वय करने में कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'घट नील घट है कि नहीं, दण्डवाला रक्त दण्डवाला है कि नहीं' इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'घटो नीलघट, अर्थात् घट नीलघट है' और 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्त दण्डवाला है' इस तरह के विधेय अंश में अधिक (उद्देश्य अंश से कुछ अधिक) अर्थ को विषय बनानेवाले शब्दबोध को नवीन विद्वानों ने स्वीकृत किया है । उक्त सन्देह की निवृत्ति 'नीलो घट अर्थात् घट नील है' इस बोध (निश्चय) से नहीं हो सकता, क्योंकि समान आकारवाले निश्चय को ही समान आकारवाले सन्देह का निवर्तक माना जाता है । इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि जैसे 'घटो घट, अर्थात् घट घट है' 'दण्डवान् दण्डवान् अर्थात् दण्डवाला दण्डवाला है' इत्यादि बोध के न हो सकने पर भी 'घटो नीलघट अर्थात् घट नीलघट ' 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्तदण्डवाला है' इत्यादि बोध होते हैं, उसी तरह 'बृहस्पति बृहस्पति' इस तरह के बोध के न हो सकने पर भी बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति है इस तरह का बोध हो ही सकता है । यही रीति 'इन्द्रः सदस्रतयन' इत्यादि में भी समझ लेनी

चादिपू। अथ उक्त स्थल पर पुनरुक्ति दोष की शंका चारित हो गई अर्थात् 'बृहस्पति
 बृहस्पति' इस तरह के बोध में ही पुनरुक्ति लगती है, 'बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न
 बृहस्पति' इस तरह के बोध में नहीं। परन्तु इस तरह से पुनरुक्ति दोष का उद्धार तब
 किया जाना चाहिए, जब गीष्पति और आद्विरस दोनों पदों को वाचक ही माना जाय
 और दोनों पदों के शक्य अर्थ का ही अन्वय करना अभीष्ट हो। यदि गीष्पति आदि
 योगरूढ पद को लाक्षणिक मान लिया जाय अर्थात् उस पद से लक्षणया वाणीपतिरूप
 योगार्थमात्र की उपस्थिति मानी जाय, तब तो उस योगार्थ का आद्विरस के रूढार्थ
 बृहस्पति के साथ अन्वय होने में कोई बाधा ही नहीं रह जाती अर्थात् गीष्पति—वाणी
 का पति, आद्विरस—बृहस्पति इस तरह का अन्वयबोध सर्वसम्मत ही है। तात्पर्य यह
 हुआ कि हम रीति से भा वहाँ पुनरुक्ति का उद्धार किया जा सकता है और यह रीति
 उक्त रीति से सरल भी पड़ती है। अब रह जाती है धापकी वद शका, निम्नमें कहा गया
 है कि गीष्पति आदि योगरूढ पद से हो योगार्थ (वाणीपति) और रूढार्थ (बृहस्पति)
 दोनों अर्थों का बोध हो ही जायगा, फिर पृथक् रूढ पद (आद्विरस आदि) का प्रयोग
 स्वर्थ है। परन्तु वह शका भी उचित नहीं, क्योंकि योगरूढ पद से पृथक् यदि रूढ पद
 का प्रयोग नहीं किया जायगा, तब योगरूढ (गीष्पति आदि) पद रूढार्थ का बोध
 कराकर कृतार्थ हो जायगा, अतः उससे योगार्थ का प्रतिपादन होने पर भी, वह
 (योगार्थ) नान्तरीयक समझा जायगा अर्थात् वह समझा जायगा कि वक्ता का
 प्रतिपाद्य अर्थ है रूढार्थ ही, परन्तु उसके लिये उसने प्रयोग कर दिया है योगरूढ पद का,
 अतः अनिवार्य होने के कारण उस पद से योगार्थ का भी बोध हो जाता है, किन्तु वह
 (योगार्थ) वक्ता का अभिप्रेत नहीं है। धाप कहेंगे ऐसे नान्तरीयक अर्थ का बोध कहीं
 दिगलया जा सकता है? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, बेलिए—पङ्कजाची पद का प्रयोग
 करनेवाले वक्ता का 'कमलसदृशनेत्रवाली' यही अर्थ अभिप्रेत रहता है, 'कीचड से उत्पन्न
 होनेवाले कमल के समान नेत्रवाली' यह अर्थ नहीं, और पङ्कजाची पद के अन्तर्गत जो
 पङ्कज अर्थ है उससे उस अर्थ की भी प्रतीति तो अवश्य होती है क्योंकि वह पद योगरूढ
 है। अतः जैसे यहाँ प्रतीयमान होने पर भी 'कीचड से उत्पन्न' यह अर्थ नान्तरीयक
 समझा जाता है—वक्ता का तात्पर्य विषय नहीं समझा जाता, वैसे ही उक्त स्थल में
 भी समझा जायगा। आप पूछेंगे कि इससे क्या हुआ? अर्थात् गीष्पति आदि योगरूढ
 पद से नान्तरीयकरूप में ही सही, योगार्थ का भी बोध होगा तो? तब बिगडा क्या?
 किसी रूप में उसका बोध कराना ही तो अभीष्ट है। इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि
 नान्तरीयकरूप में योगार्थ का बोध यहाँ हुआ है ऐसी शका यदि श्रोताओं को हो जायगी
 तब उस योगार्थ (वाणीपति आदि) में कुर्वरूपता नष्ट हो जायगी अर्थात् वह अर्थ
 कार्यकारी (कारण) नहीं समझा जायगा और जब वह अर्थ कार्यकारी नहीं समझा
 जायगा, तब प्रकृतोपयोगी जो एक प्रकार का विशिष्ट अतिशय उस अर्थ के द्वारा व्यक्त
 होता था, वह नहीं होगा अर्थात् उस अर्थ से जो राजा की अवर्णनीय गुणशालिता
 आदि व्यक्त होती थी वह नहीं होगी। यदि किसी कारण से किसी को उक्त स्थिति में
 भी उक्त योगार्थ में नान्तरीयकत्व की शंका नहीं होगी, तब उसको उस अर्थ से उक्त
 अतिशय की अभिव्यक्ति यद्यपि होगी, तथापि इस तरह से वह अभिव्यक्ति वाचक हो
 जायगी अर्थात् एक पक्ष (नान्तरीयकत्वशका के अभाव) में होगी और एक पक्ष (नान्त-
 रीयकत्व शका के हो जाने पर) में नहीं होगी। और जब योगरूढ (गीष्पति आदि)
 से पृथक् रूढ (आद्विरस आदि) का भी प्रयोग किया जाता है, तब योगरूढ पद से
 प्रतिपादित होनेवाला योगार्थ नान्तरीयक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि रूढ पदका
 पृथक् प्रयोग कर लेने के बाद भी जो वक्ता ने पृथक् योगरूढ पद का भी प्रयोग किया है,
 उससे उसका यही अभिप्राय समझा जायगा कि योगार्थ का बोध कराना वक्ता का परम
 अभिप्रेत है और जब ऐसा समझा जायगा तब उस योगार्थ में कुर्वरूपता (कार्यकारिता)

होगी, जिससे उक्त विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नियमित होगी, पूर्वोक्तरीति से पार्थक्य नहीं।

उपसहरति—

एषा पदद्वयोपादानस्थले गतिरुक्ता ।

मत्र रूढ-योगरूढोभयविधपदप्रयोगस्तत्र प्रागुपदर्शिता निर्नाहरीति कथितेति भाव ।

‘गीष्पतिरधाङ्गिरसः’ इत्यादि प्रकरण का उपसहार करते हैं—एषा इत्यादि। ऊपर जो रीति दिखलाई गई है, वह वहाँ के लिये, जहाँ एक ही अर्थ के बोधक योगरूढ और रूढ दोनों प्रकार के पद प्रयुक्त हों।

नन्वेव यत्र केवल योगरूढ पद प्रयुज्य रूढवर्थस्य योगार्थप्रतीतिद्वारकविशेषस्य च प्रत्यायन क्षियते, तत्र कुर्वद्रूपताया अपरति कुतो नेत्याह—

यत्र तु ‘पुष्पधन्वा विजयते जगत्त्वत्करुणावशात्’ इत्यादावेकेनैव पदेन रूढवर्थोपस्थितिर्योगार्थं । रा निःसारत्वाद्यवगमश्च भवति, तत्र कविकृतमन्मथ-रूढपदान्तरानुपादानपूर्वकपुष्पधन्वपदोपादानप्रतिसंधानेन तदीययोगार्थं कुर्वद्रूपताधानं बोध्यम् ।

‘कामदेव, त्वत्करुणावशात् त्वदीयदयाकारणात्, जगत् ससारम्, विजयते’ इत्यर्थके मूलोक्तवाक्ये यद्यपि पुष्पधन्वैति योगरूढमेव पद केवलम् प्रयुक्तम्, तथा च तत्र कामदेव-रूपरूढवर्थमात्रबोधनेन गतार्थेन तेन पदेन प्रतिपाद्यमानस्य पुष्पात्मकधनुर्धारिरूपस्य योगार्थस्य नान्तरीयकत्वराज्या कुर्वद्रूपताया अपरहती योगार्थद्वारकनि सारत्वव्यञ्जन कथं भवेदिति शका सम्भवति तथापि वर्तमानेषु कामदेवार्थकेषु बहुषु रूढपदेषु किमिति क्वि पुष्पधन्वरूप योगरूढमेव पद प्रायुक्तं, तदवश्यमत्र कवे योगार्थप्रत्यायनद्वारा कस्यचनातिशयस्याभिव्यक्तिरभिलषितेति प्रतिसंधानेन रूढवर्षबोधनगतार्थेनापि पुष्पधन्वरूपयोगरूढपदेन प्रतिपाद्यमाने योगार्थं नान्तरीयकत्वशकानुत्थानपूर्वककुर्वद्रूपताज्ञान भवतीति नोक्तशक्या सभवे इति भाव ।

जब आपने यह सिद्धान्त-सा मान लिया कि जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग रहता है, वहाँ उस पद से प्रतिपादित होनेवाला योगार्थनान्तरीयक कुर्वद्रूपतारहित (कार्यान्तम) हो जाता है, अतः उससे किसी विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तब जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग है और उसी से रूढवर्थ तथा योगार्थ की प्रतीति के द्वारा किसी अतिशय की भी प्रतीति होती है, वह कैसे? अर्थात् वहाँ कुर्वद्रूपता की हानि क्यों नहीं होती? इस शका का समाधान अब करते हैं—यत्र तु इत्यादि। ‘पुष्पधन्वा’ इत्यादि अर्थात् हे भगवन्! पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया से ही संसार का विजय करता है’ इत्यादि स्थानों में जहाँ ‘पुष्पधन्वा’ आदि एक योगरूढ पद से ही कामदेवरूप रूढवर्थ और ‘फूलों के धनुषवाला’ इस योगार्थके द्वारा कामदेव की निरसारता (दुर्बलता) दोनों अर्थ ज्ञान होते हैं—वहाँ यद्यपि उक्त रीति से योगार्थ में कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता) का विनाश हो जाना चाहिए परन्तु होता नहीं है, क्यों? इसलिये कि श्रोता जब यह सोचते हैं कि कामदेव के धाचक बहुतेरे रूढ पदों के उपस्थित रहने पर भी उन सबों को छोड़कर ‘पुष्पधन्वा’ इस योगरूढ पद का ही प्रयोग वक्ता (कवि) ने क्यों किया है? अवश्य कवि को योगार्थके द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करनी है, तब केवल ‘पुष्पधन्वा’ इस योगरूढ पद से भी प्रतिपादित योगार्थ में नान्तरीयकाव की शका नहीं होती, अतः कुर्वद्रूपता का विनाश नहीं होता।

उपसहरति—

तदित्य द्वितीयपदस्योपादानेऽनुपादाने वा न क्षतिः ।

पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र सामग्रस्यसम्भवेन योगरूपद्रूपयोगे सति पृथक्द्रूपपदस्य प्रयोगेऽप्रयोग वा न काव्यनुपपत्तिरिति भाव ।

उपसंहार करते हैं—तद्विषयम् इत्यादि । उक्त विवरणों से यह सिद्ध हुआ कि योगरूप और रूप दोनों तरह के पदों का प्रयोग किया जाय अथवा केवल योगरूप पद का ही—दोनों स्थितियों में कोई आपत्ति नहीं, अर्थात् दोनों रीतियाँ चल सकती हैं ।

स्यलान्तररेऽपि पूर्वोक्ताम् सेतिमतिदिरिति—

एवं जात्यन्तरविशिष्टवाचकपदसमभिव्याहारेऽपि ।

कल्पयित् प्रयुक्तस्य योगरूपस्य शब्दस्य ममीने यदि तदीयैरद्वयगतजातिभिन्नजाति-विशिष्टार्थवाचकं पदान्तरं प्रयुज्यते, तदा तद्योगरूपं परं तत्र लक्षणया योगार्थमात्रप्रतिपादकं भवतीति भाव ।

कतिपय भिन्न स्थानों में भी उक्त रीति का ही अनुसरण करना पड़ता है इसका उल्लेख करते हैं—एतम् इत्यादि । जहाँ किसी ऐसे योगरूप पद का प्रयोग हो जिसके समीप ही उक्त योगरूप पद के रूपार्थ से भिन्न जातीय अर्थ का वाचक दूसरा पद भी प्रयुक्त हो, वहाँ भी उक्त रीति से योगरूप पद को लक्षणया केवल योगार्थ का बोधक मानना पड़ेगा ।

तादृशं वाच्यमुदाहरति—

‘दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि’ इत्यत्रापि जलजादिपदानां लक्षणया योगार्थमात्रबोधकत्वम्, योगशक्त्युल्लासितस्य तु तादृशार्थस्य रूप्योपनिष्ठत्वेन स्यातन्त्येण कुमुदानादन्वयायोगात् ।

‘प्रतिदिशं जलोन्मलानि कुमुदानि वर्तन्ते’ इत्यर्थके गूलोकवाच्ये जलजेति योगरूपं पदं लक्षणया जलावधिकोन्मलितिशालिरूपयोगार्थमात्रप्रतिपादकम्, तत्पदवाच्यैरद्वयकमलगत-कमलत्वजातिभिन्नकुमुदत्वजातिविशिष्टार्थवाचककुमुदपदमभिव्याहारात् । ननु किमर्थ-मिदं लक्षणायात्, जलजपयनिष्ठयोगशक्त्यैव लक्षणालम्ब्यार्थस्य लाभादित्यत आह—योगशक्त्युल्लासितस्येत्यादि । अयं भाव—यद्यपि जलपदनिष्ठयोगशक्त्यापि जलावधिकोन्मलितिशालिरूपोऽर्थो बोध्यते, परन्तु स योगार्थः तत्पदनिष्ठरूपशक्तिबोधकमलत्वजातिविशिष्टार्थमिलित एव प्रतीतिविषयताया च भिन्नजातिविशिष्टमिलितस्य तस्य योगार्थस्य भिन्नजातिविशिष्टार्थं कुमुदपदवाच्येऽन्वयो न भवितुमर्हतीति लक्षणया योगार्थमात्रबोधकत्वं जलजादिपदानामावश्यकमिति ।

उक्त प्रकार के वाक्यों का निर्देश करते हैं—दिशि दिशि इत्यादि । ‘सभी, दिशाओं में जल से उत्पन्न होनेवाले कुमुद हैं’ एतदर्थक मूल वाक्य में ‘जलज’ पद यद्यपि कमलरूप अर्थ में योगरूप है, तथापि यहाँ कमलत्व जाति से भिन्न कुमुदत्व जाति से विशिष्ट (कुमुद) अर्थ के वाचक कुमुद पद के साथ प्रयुक्त होने पर उस (जलज) पद की ‘जल से उत्पन्न होनेवाला’ इय योगार्थ में लक्षणा समझनी चाहिए, अन्यथा जलज पदार्थ का कुमुदपदार्थ के साथ अभेदेन अन्वय नहीं हो सकेगा । यदि कोई कहे कि ‘जल से उत्पन्न होनेवाला’ इस अर्थ में जलज पद की लक्षणा करने की क्या आवश्यकता है, वह अर्थ तो उस पद की योगशक्ति से अभिहित होता ही है ? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, होता तो ठीक है, पर कमलरूप रूपार्थ से मिथितरूप में, अतः कमल से मिथित उस योगार्थ का कमल से भिन्नजातीय कुमुद अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, अतः जलज पद को ऐसे स्थलों पर टाड़णिक मानना ही पड़ेगा, जिससे वह पद योगार्थ का ही प्रतिपादन करे, कुमुद से विरुद्ध कमल का नहीं ।

उपसहरति—

इत्थमभिधा निरूपिता ।

उक्तप्रकारक्रमभिधाया निरूपणभवसितमिति भाव ।

उपसहार—उक्त रीति से आरव्य अभिधा-निरूपण अब यहाँ समाप्त हुआ ।

वाचकवाच्ययो परिचय कारयति—

अनया यः शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचकः । इयं च यस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थेऽस्ति तस्य सोऽर्थोऽभिधेय ।

पूर्वोक्तत्रिप्रकारकाभिधावृत्त्यन्यतमद्वारा य शब्दो यस्यार्थस्य बोधक स शब्दस्त-
स्यार्थस्य वाचक कथ्यते । एवम् यस्य पदस्य अभिधा निरूपकतासंबन्धेन यस्मिन्नर्थे
तिष्ठति, सोऽर्थस्तस्य पदस्य अभिधेयो वाच्यो वा व्यवहियत इति भाव ।

अब वाचक तथा वाच्य का परिचय कराते हैं—अनया इत्यादि । पूर्व में जो अभिधा
के भेद दिखलाये गये हैं, उनमें से किसी एक के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ का बोधक
होता है, वह उसका वाचक कहलगाता है और जिस शब्द की यह अभिधाशक्ति जिस
अर्थ में रहती है, वह अर्थ उस शब्द का अभिधेय-वाच्य समझा जाता है । शब्द की
शक्ति अर्थ में 'निरूपकता' संबन्ध से रहती है यह भी समझना चाहिए ।

इदानीमुपाधीनामेवाभिधेयत्व न व्यक्तीनामित्युपपादयति—

स च जातिगुणक्रियायादृच्छिकात्मकः । तत्र जातिगोत्वादिः संस्थानविशेषा-
भिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसिद्धा गवादिपदानामभिधेया । अनुमानसिद्धा च घ्राणरसन-
त्वादिघ्राणरसनादिपदानाम्, आनन्त्यात्, व्यभिचारश्च व्यक्तीनामभिधेयताया
अकल्पनात् ।

स इति । अभिधेय इत्यर्थ । जातिगुणेति । जातिगोत्वादिजातिवाचकशब्दानाम्,
गुण शुक्लवर्णगुणवाचकशब्दानाम्, क्रिया पाकादि क्रियावाचकशब्दानाम्, तथा शब्दच्छिन्न
यदृच्छ्या निपन्न देवदत्तादि मन्त्राशब्द सज्ञाशब्दानामभिधेय इत्यर्थ । जातेर्द्विविधत्वेन
विशेषतस्तन्ना विवृणोति—तत्रेति । चतुर्विधेषु अभिधेयेषु इत्यर्थ । संस्थानविशेषेण आकृति-
विशेषेण अथयवसपटनेनेति यावत्, अभिव्यङ्ग्या, आश्रयस्य गवादे प्रत्यक्षतया प्रत्यक्ष-
सिद्धा गोत्वादिजाति । घ्राणादीनामतीन्द्रियत्वेन तज्जिज्ञा जातिरपि तथेति घ्राणत्वरसनत्वा-
दिजातिरनुमानेन सिद्धा न प्रत्यक्षप्रमाणेनेति भाव । ननु व्यक्तीनामेवाभिधेयता कुतो नाङ्गी-
रियत इत्यत आह—आनन्त्यादिति । व्यक्तिषु शक्तिरबीकारे व्यक्तीनामानन्त्येन शक्त्या-
नन्त्यम् तत्प्रयुक्त गौरवम्, वस्तुतस्तु सकलव्यक्तीना शक्तिग्रहकालेनोपस्थितिसम्भव उप-
स्थापनाभावात्, तथा चोपस्थितानु कियर्ताषु व्यक्तिष्वेव शक्तिग्रहो भवेत्, न सर्वासु
व्यक्तिषु । तथात्वे च अग्रहीतशक्तीनामपि व्यक्तीना तरमात् पदात्वीधस्यानुभविस्त्वेन
व्यभिचार एवेति न व्यक्तिषु शक्तिरिति भाव । उपाधिशक्तिवादपक्षे तु न शक्यानन्त्यम्,
गोत्वादिजातेरेकत्वात्, न वा व्यभिचार तस्या जात्यादेरुपाधे सकलव्यक्तिषु सत्त्वात् ।

अथ जानि आदि उपाधि ही शब्द का वाच्य है, व्यक्ति नहीं, इसी बात का उपपादन
युक्तिपूर्वक करते हैं—स च इत्यादि । वाच्य अथवा अभिधेय अर्थ चार प्रकार के हैं—
जाति, गुण, क्रिया और वादच्छिद्रक । उनमें गोत्व सब गौर्भो = गाय बेलों में रहने वाला
सामान्य धर्म जिसके कारण उ-हँ 'गौ' कहा जाता है—आदि धर्म जाति कहा जाता
है । वह जाति अवयवों के विशिष्ट प्रकारक गठन से अभिव्यक्त होती है (क्योंकि गाय
घेड़ों के अवयव गठन जिस तरह के होते हैं, वैसे अन्य प्राणियों के नहीं—सभी प्राणियों
के अवयव गठन [अङ्गरचना] भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं) और आश्रय (गाय बेल)

के प्रत्यक्षसिद्ध होने से प्रत्यक्षसिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि शब्दों का वाच्य-अर्थ है। जो आश्रय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं रहता, उसमें रहनेवाली जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होती, अतः उस तरह की जाति अनुमान से सिद्ध होती है, जैसे घ्राण (नासिकेन्द्रियवाची) रसन (जिह्वेन्द्रियवाची) शब्दों का वाच्य अर्थ 'घ्राणत्व', 'रसनत्व' आदि जातियाँ। ये जातियाँ अनुमान से सिद्ध हैं, प्रत्यक्ष से नहीं क्योंकि इन जातियों के आश्रय जो घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय हैं उनका प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता—ये इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं, अतः तद्गत जातियाँ भी अतीन्द्रिय हैं। एक बात यहाँ ध्यान में रख लेनी चाहिये कि प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले हड्डी या चमड़े इन्द्रिय नहीं हैं, अपितु उनके भीतर काम करने वाला तत्त्व जिसका प्रत्यक्ष हमको किसी तरह नहीं होता है। यहाँ, प्रकृति निवृत्ति के योग्य होने के कारण गौ आदि व्यक्तियों को ही गौ आदि शब्दों का अभिधेय अर्थ क्यों नहीं माना जाय, इस तरह की आशंका नहीं करनी चाहिये, कारण, भानन्वय और व्यभिचार दोष के प्रसङ्ग से व्यक्तियों को पदवाच्य नहीं माना जा सकता है। अभिप्राय यह है कि गाय-बैलों की संख्या संसार में अनन्त है, अतः यदि उन व्यक्तियों में गोपद की शक्ति मानी जाय, तब यह शक्ति भी अनन्त होगी जिससे व्यर्थ का गौरव होगा। वस्तुतः तो गोपद का शक्तिग्रह जिस धर्म में किसी को होगा, उस धर्म में उसके सामने सभी गाय-बैल उपस्थित रहेंगे नहीं, अतः जो उपस्थित रहेंगे उन्हीं में गोपद की शक्ति ज्ञात होगी, फिर अनुपस्थित गाय-बैलों का जो बोध जो होता है—अनुभवसिद्ध है—वह तो शक्तिज्ञानरूप कारण के बिना ही होगा। अतः व्यभिचार दोष लगता है।

उक्त व्यभिचारदोषं वारयितुमारोहते—

न च ज्ञातगोत्वादिरूपया गोत्वादिज्ञानरूपया वा प्रत्यासृत्या प्रत्यक्षेण परिकलितासु सकलतदीयव्यक्तिव्यभिधाया कल्पने नास्ति दोष इति वाच्यम् ।

ज्ञानमानं नामान्यं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—ज्ञातगोत्वादीति । सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—गोत्वादिज्ञानेति । प्रत्यक्षेणेति । क्लौकिकेनेति भावः । अदमभिप्राय-प्रत्यक्षो द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकप्रत्यक्षहेतुभूतो लौकिकः सत्तिकर्तृः पशुविधेः, अलौकिकप्रत्यक्षकारणभूतोऽलौकिकः सत्तिकर्तृद्विविधन्तेषु सामान्यलक्षणानामक एकः, तस्य लक्षणपदस्य स्वरूपपरतया सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्येति व्युत्पत्त्या सामान्यरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थः, तथा च बहुश्रुतान्द्रियमयुक्तो गवादिस्तद्विरोधकं गौरिति ज्ञानं यत्र जातं, तत्र ज्ञाने गौत्वं प्रकारस्तत्र तेन गौत्वरूपेण सत्तिकर्तृणं गवा इति सकलगोविपर्ययं ज्ञानं जायते । परन्तु सामान्यपदेनात्र न गोत्वादिजातिरेव विवक्षिता अपि तु—सामान्यं भाव इति योगार्थानुसारेण गवाद्यपि सामान्यम् । तेन च गौरूपेण सामान्येन सत्तिकर्तृणं संयोगेन क्वचिद्भूतत्वे गवादिज्ञाने जाते सकलगोविपर्ययं गौमन्ति भूतत्वानां व्यापारकं ज्ञानं जायते । एवञ्च यत्र तद्गवादिज्ञानान्तरं तद्गवादिवत्ते भूतत्वस्य स्मरणं जातं, तत्र गवाद्यात्मकामामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्गवादिवतां भूतत्वानां ज्ञानं न स्यात्, सामान्यस्य तद्गवादेस्तत्र तदानीमभावान्, अतः सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिः, लक्षणशब्दस्य च विरोधोऽर्थः, तेन सामान्यं लक्षणं विरोधो यस्य तादृशस्य ज्ञानस्य प्रत्यासत्तिव्यभिचि न्यायन्यसिद्धं सिद्धान्तः । प्रकृते च पशुव्याप्तारामपि सामान्यलक्षणव्यापारकलौकिकसत्तिकर्तृणं सकलगोविपर्ययानुपस्थितत्वात् तत्र गोपदशक्तिग्रहणस्य सुलभतया व्यक्तिशक्तिवादेऽपि व्यभिचारदोषावच्छयो नास्तीति ।

उक्त व्यभिचारदोष को हटाने के लिये एक आशंका करते हैं—न च इत्यादि । अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक । उनमें

लौकिकप्रत्यक्ष के कारणीभूत लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं, अलौकिक प्रत्यक्ष के कारणीभूत अलौकिक सन्निकर्ष ३ प्रकार के होते हैं। उनमें एक है सामान्य लक्षणा। 'सामान्य (धर्मविशेष) है लक्षणा (स्वरूप) जिसका' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्यरूप-प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष = सम्बन्ध) उसका अर्थ होता है। इस अलौकिक सन्निकर्ष के घट से अर्थात् चक्षुःसयुक्त गोविशेष्यक 'गौ' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद उस ज्ञान में जो प्रकार हुआ है—गोत्व, उस गोत्वरूप अलौकिक सम्बन्ध से सकल गोविषयक 'गाव' इत्याकारक ज्ञान होता है। परन्तु सामान्य पद से इस सन्निकर्ष में गोत्व आदि जाति ही विवक्षित नहीं है, अपितु 'समानानां भाव' इस योग के अनुसार गो आदि व्यक्ति भी सामान्य कहलाता है, अतः सयोग सम्बन्ध से किसी भूतल में 'गोमद् भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान के बाद गोत्वरूप सामान्य (सन्निकर्ष) से सकलभूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक ज्ञान होता है। इस स्थिति में जहाँ चक्षुःसयुक्त गो का नाश हो गया है, वहाँ जब उस गो से सयुक्त भूतल का 'गोमद् भूतलम्' इस तरह का स्मरण होगा, तब भी जो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकल भूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक स्मरण होता है, वह अब नहीं हो सकेगा, क्योंकि सामान्यरूप से ग्रहण करने योग्य चक्षुःसयुक्त गो का विनाश हो चुका है, अतः वह सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः ज्ञातसामान्य को प्रत्यासत्ति न मानकर सामान्य-ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानना चाहिये। अब उक्त स्थल में भी दोष नहीं होगा, क्योंकि सामान्य (गो) के विनिष्ट हो जाने पर भी उसका ज्ञान रहता है और वही सम्बन्धरूप होता है। इस पक्ष के अनुसार सामान्य लक्षणा शब्द में लक्षण पद का अर्थ विषय मानकर सामान्य है लक्षण = विषय जिसका, ऐसा ज्ञान प्रत्यासत्ति है यह अर्थ समझना चाहिये। (इस विषय में अधिक जिज्ञासा रखने वालों को सिद्धान्त-मुक्तावली आदि पदार्थशास्त्र-ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये।) प्रकृत में व्यक्तिशक्ति-वादी नैयायिकों का कथन है कि उक्त सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति से सभी गो व्यक्ति शक्तिग्रह काल में उपस्थित रहेंगे, अतः उन सभी व्यक्तियों में गो पद की अभिधा गृहीत होगी, फिर उक्त व्यभिचार दोष होगा ही नहीं, अतः व्यक्ति में ही शक्ति माननी चाहिये, उपाधि में नहीं।

समाधत्ते—

सामान्यप्रत्यासत्तेर्निरोकरणात् ।

अयं भाव—सामान्यलक्षणारोकारो व्यर्थ, तदस्वोकारेऽपि एकत्र गोत्वाद्यधये चक्षुःसयोगान् देशान्तरस्थगवादेरपि बोधसंभवात्, एवं व्यतीतगवादेरपि बुद्ध्या विषयीकृत्य गोत्वाद्यधयेन ज्ञानसत्त्वान्, व्यक्तिशक्तिवादेऽपि व्यवहारेण प्रथमतः समुपस्थितव्यक्तौ शक्तिग्रहे पश्चात् अवागोद्वापन्यायेन पुरुषान्तरात् गामानयेत्येतच्छ्रवणानन्तरमेव व्यक्त्यन्तराण्यनयतो मध्यमद्वान् दृष्ट्वा व्यक्तिविशेषे गृहीताया अपि शक्तेस्तज्जाल्याधयमात्रे वानैरवधारणात् । यत्तु पर्वतीयधूमे सामान्यलक्षणामन्तरा व्याप्तिग्रहो न स्यादिति, तत्र, धूमन्वेन रूपेण महान्सीयधूमे व्याप्तिग्रहान् । ननु प्रमिद्धधूमे व्याप्तिरेव गृहीता अप्रमिद्धस्य नानुपस्थित्या 'धूमो वह्निव्याप्यो न वा' इति शशयो न स्यादिति चेन्न, प्रमिद्धधूमे तत्तद्धूमन्वेन व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमन्वेन तत्प्रशयसंभवात् । एवञ्च सामान्यलक्षणाया अनुपयोगमिदम् । किञ्च सामान्यस्य संबन्धत्वम् असंभवदुक्तिकमेव, तत्तदनुयोगिताप्रतियोगिताऽ-विशिष्टसंबन्धस्य कदाप्यनुभवात्, संबन्धस्य विशिष्टबुद्धिनियामकत्वध्रौव्येण तदनियामकस्य सामान्यस्य

संबन्धवत्तयात्वात् । इत्यपि सामान्यलक्षणा नास्त्येवेति तद्वत्तेनोक्तव्यभिचारवारणं न सम्भवतीति ।

अथ उक्त आशंका का समाधान करते हैं—सामान्य इत्यादि। उक्त रीति से व्यभिचार-वारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिके षष्ठ पर ही हो उक्त वारण किया जाता है पर सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सत्तिकर्ष का रण्डन कर दिया गया है । अभिप्राय यह कि सामान्य लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । हमने न मानने पर भी शब्द के आश्रय एक गो में घट्टु-संयोग होने पर 'स्वमयुक्त-समवेत समवाय'रूप लौकिक सत्तिकर्ष से ही देशान्तरस्थ गार्शो का ज्ञान किया जा सकता है । इसी तरह अतीत अनागत गार्शो को भी सुदि-विषय बनाकर उक्त संबन्ध से प्रत्यक्ष किया जा सकता है । सामान्य लक्षणा के बिना भी महानसीय धूममें धूमस्वरूप से ही व्याप्तिनिश्चय मानकर पर्यतीय धूम में भी उसी व्याप्तिनिश्चय की विषयता मानी जा सकती है । दूसरी बात यह कि सभी संबन्ध यत्किञ्चित्प्रतियोगिक और यत्किञ्चित्तु-योगिक होते हैं और इस सामान्यरूप आपके संबन्ध में अनुयोगिता प्रतियोगिता की प्रतीति होती नहीं, अतः यह संबन्धरूप नहीं माना जा सकता । तीसरी बात यह कि सभी संबन्ध विविध सुद्धि के नियामक होते हैं और यह सामान्य विविध सुद्धिनियामक है नहीं, अतः उसको संबन्ध कहना असंभव है ।

तुष्यदुर्जनन्यायेन सामान्यलक्षणास्वीकारेऽप्याह—

गौरवदोषस्यानुद्वारात् ।

सामान्यलक्षणया सकलगोव्यक्तिषु शक्तिप्रहस्य संभवं ध्यात्वाय व्यभिचारवारणेऽपि व्यक्त्यानन्वयप्रयुक्तानन्तशक्तिकल्पनजगौरव व्यक्तिशक्तिवादे दुर्घारमेवेति भावः ।

यदि 'तुष्यदुर्जन' न्याय से सामान्यलक्षणा मान ली जाय, तथापि व्यक्तिशक्ति-वाद पक्षसंगत नहीं यही बात अथ घतलाते हैं—गौरव इत्यादि। सामान्यलक्षणा के षष्ठ से सकल गो व्यक्ति में गोवद-शक्ति-प्रह को संभव बनाने पर भी शक्ति की अनन्तता के कारण शक्ति की अनन्तता से होनेवाला 'गौरवदोष व्यक्तिशक्तिवाद् पक्ष में बना ही रह जाता है ।

प्रकारान्तरेणोक्तव्यभिचारवारणपर्यं गृहीतवत गौरवदोषानुद्वारप्रतिपादनेन दुष्प्रति—
एतेन शक्तिप्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकतयैव हेतुहेतु-
मद्भावादगृहीतसंकेतानामपि व्यक्तिविशेषाणामन्वयबोधविषयताया उपपाद-
नेऽपि न निस्तारः ।

एतेनेति । गौरवदोषानुद्वारेणेत्यर्थः । समानप्रकारकतयैवेत्यत्रैवकारेण समानविशेष्य-
कत्वादिव्यनच्छेदः । शक्तिप्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधेषु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति हेतुता ।
सा च समानप्रकारकतया न तु समानविशेष्यकतया । अर्थात् तत्प्रकारकोपस्थितिं प्रति
तत्प्रकारक शक्तिप्रह, एवम् तत्प्रकारकशाब्दबोधं प्रति तत्प्रकारिकोपस्थितिहेतुरिति
रीत्यैव कार्यकारणभावः, न तु तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यक-
शक्तिप्रहः, एव तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोधं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिहेतु-
रिति रीत्या । एतन्न गोव्यक्तिविशेष्ये जातस्यापि शक्तिप्रहस्य गोत्वप्रकारकतया तेन शक्ति-
प्रहेनैव गोत्वप्रकारकगृहीत व्यक्तिविशेष्यकानुपस्थितिः स्यात्, एवम् गोत्वप्रकारकतया
तयोपस्थित्यैव गोत्वप्रकारकगृहीतव्यक्तिविशेष्यकशाब्दबोधोऽपि भवेत् । इत्ययं सम-
न्वयिकषु शक्तिप्रहभावेऽप्युक्तव्यभिचारो न प्रसजतीति यद्यपि गच्छु मुशकम्, तथापि
व्यक्तिरानितवादे नाङ्गीकृतं योग्य, उक्तगौरवदोषस्य तादवत्त्वादिति भावः । यस्तुतस्तु

समानप्रकारकतयैव कार्यकारणभाव शक्तिप्रहृषदाद्योपस्थितिशाब्दबोधाना न संगत, तथा सति गोत्वप्रकारकशक्तिप्रहृषाश्वविशेष्यकोपस्थितेरेव गोत्वप्रकारकोपस्थित्या गोत्वप्रकारकाश्वविशेष्यकशाब्दबोधस्य च प्रसगादिति विभावनीयम् ।

अन्य ग्रन्थस्य व्याख्याया भट्टमहोदयैरङ्घ्रिक्रिया—'' अर्थात् यत्प्रकारको यद्विशेष्यकश्च शक्तिप्रहृ सतत्प्रकारकतद्विशेष्यकपदार्थोपस्थिति प्रति हेतु, एव यत्प्रकारिका यद्विशेष्यिका च पदार्थोपस्थिति सा तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोध प्रति हेतु । तथा न व्यक्तीनामनन्ततया येषु व्यक्तिविशेषेषु शक्तिप्रहो न जातस्तद्विषयकशाब्दबोधस्य पूर्वोक्तरीत्या (गोत्वेन प्रकारेण) भिद्धि स्यात् । इत्येव समर्थनेऽपि न दोषमुक्ति, व्यभिचारवारणोऽपि अनन्तशक्तिकल्पनगौरवस्य असमाहितत्वात्' इति सरला (टीका) मर्माचीना न वेति निधिन्वन्त विद्वांसः ।

अथ उक्त व्यभिचार दोष के वारणार्थ अन्य विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित होनेवाली एक भिन्न रीति का भी गण्डन उक्त गौरव दोष के अवारित रह जाने के कारण से ही करते हैं—एनेन इत्यादि । शक्तिप्रहृ, पदार्थोपस्थिति और शाब्दबोध इन तीनों में अग्नि-अग्नि के प्रति पूर्व पूर्व कारण हैं और वह कार्यकारणभाव समानप्रकारकतया माना जाता है, समानविशेष्यकतया नहीं, अर्थात् तत्प्रकारक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक शक्तिप्रहृ और तत्प्रकारक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक उपस्थिति को कारण कहा जाता है, न कि तत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शक्तिप्रहृ और तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति को । इस तरह से कार्यकारणभाव मान लेने पर यदि गो आदि पदों की शक्ति सकल गो व्यक्ति में गृहीत न भी हो अर्थात् उपस्थित कतिपय व्यक्ति में ही गो पद की शक्ति ज्ञात हो, तथापि उक्त व्यभिचार दोष नहीं लग सकता, क्योंकि उपरिष्क्त गोव्यक्ति में जो शक्तिज्ञान होगा, उसमें भी प्रकार गोत्व ही रहेगा, अतः वह शक्तिज्ञान गोत्वप्रकारक कहलायगा, और उससे गोत्वप्रकारक उपस्थिति होगी, एवम् उस उपस्थिति से उन गो व्यक्तियों का अवगाहन करनेवाला बोध भी होगा, जिन व्यक्तियों में शक्ति ज्ञात नहीं हुई थी, कारण, वे बोध भी गोत्वप्रकारक ही होंगे । तात्पर्य यह कि जब कार्यकारणभाव में विशेष्यरूप से व्यक्ति को नहीं रखा गया, तब विशेष्य कोई हो, उससे कोई प्रयोजन रहता नहीं, केवल गोत्वप्रकारक हो जाने से सभी व्यक्तियों का बोध हो जा सकता है । परन्तु यह रीति भी इसलिये असंगत मानी जाती है कि शक्ति की अनन्तता इस रीति के अवलम्बन करने से भी बनी रह जाती है अर्थात् शक्तिप्रहृकाल में उपस्थित होनेवाली गोव्यक्तियों की भी सरथा निश्चित नहीं की जा सकती, अत अनन्त गोव्यक्ति में शक्ति माननी ही पड़ेगी और तब शक्त्यानन्तय दोष हो ही जायगा । चतुत्त तो ऊपर लिखी गई समानप्रकारकतया कार्यकारणभाव स्वीकार करनेवाली बात वन भी नहीं सकती, कारण उस तरह से कार्यकारणभाव स्वीकृत करने पर गोत्वप्रकारक शक्तिप्रहृ मे अश्वविशेष्यक उपस्थिति एवम् गोत्वप्रकारक उपस्थिति से अश्वविशेष्यक बोध भी होने लगेंगे ।

पूर्वोन्तरीत्या व्यक्तिशक्तिवादपक्ष निरस्य ज्ञान्याद्युपाधिशक्तिवादपक्ष स्थापित, परमादिमन् पक्षे व्यक्तेरवाच्यतया बोधो न स्यात्, तथात्वे च लौकिकव्यवहारो न भिद्येदिति शक्तं मनसि कृत्वा उपाधिशक्तिवादपक्षे व्यक्तिबोधोपायमाह—

व्यक्तीनां प्रत्ययस्त्वात्तेपाह्लक्षणया वेदयन्वदेतत् ।

व्यक्ति बिना जाल्यादि अनुपपन्नमिति अनुपपन्नेन जात्यादिना व्यक्तेराक्षेप । आक्षेपधर्यापत्तिप्रमाणमेव । न्यायनये आनुमानमेव तत् । अथवा जातेरन्वयानुपपन्न्या

जातिवाचकस्य पदस्य व्यक्तौ लक्षणा । एवञ्चोपाधिशक्तिवादपक्षेऽपि व्यक्तेर्बोधो न दुष्कर इति भावः । तदर्थविषयकशब्दबोधोऽपि तदर्थविषयकवृत्तिज्ञानाधोऽनोपस्थितेहेतुत्वेना-
चोपलब्धार्थस्य शब्दबोधविषयता न स्यादिति लक्षणापक्ष एव श्रेयान् इति परे ।

उक्तं रीति से व्यक्तिशक्तिवाद का खण्डन करके उपाधिशक्तिवाद का स्थापन किया गया परन्तु इस वाद में भी एक नई शका यह उपस्थित हो जाती है कि जब जाति, गुण आदि उपाधियाँ ही पद-वाच्य हुईं तब व्यक्ति का बोध पद से कैसे होगा ? और यदि व्यक्ति का बोध नहीं होगा, तब सांसारिक व्यवहार कैसे चलेंगे ? क्योंकि व्यवहार में व्यक्तियों का ही उपयोग हो सकता है, उपाधियों का नहीं, इसी शका को मन में लाकर उपाधिशक्तिपक्ष में व्यक्ति के बोध का उपाय अथ दिखलाते हैं—**व्यक्तीनाम्** इत्यादि । जाति, गुण, क्रिया आदि उपाधियाँ व्यक्ति के बिना रह नहीं सकतीं, अतः पद से अवगत होने पर भी वे उपाधियाँ तब तक अनुपपन्न ही रहेंगी, जब तक व्यक्ति का आक्षेप न होगा, अतः आक्षेप से व्यक्ति का भी बोध हो जायगा, जैसे—**‘पीनोऽयं देवदत्त’** दिवा न भुङ्क्ते’ अर्थात् मोटा ताजा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता, इस वाक्य का **‘रात्रि-भोजन’** अर्थ शक्ति से यद्यपि ज्ञात नहीं होता, तथापि भोजन के बिना **‘मोटा-ताजा रहना’** असंभव है, अतः उससे रात्रिभोजन का आक्षेप हो जाता है । यह आक्षेप वेदान्तियों के मत से अर्थापत्ति और नैयायिकों के मत से अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत है यह भी समझ लेना चाहिए । अथवा जाति आदि उपाधियों का अन्वय वाच्यघटक अपर पदार्थ के साथ बाधित है, अतः जाति आदि उपाधिवाचक पदों की संग्रह व्यक्ति में लक्षणा होगी, अभिप्राय यह कि उपाधिशक्तिवादपक्ष में व्यक्ति का बोध लक्षणा से होगा । यहाँ दूसरा (लक्षणावाला) पक्ष ही ठीक है, प्रथम (आक्षेपवाला) नहीं, ऐसा अन्य विद्वानों का कथन है, क्योंकि किसी अर्थ के शब्दबोध में जब वृत्ति ज्ञान के द्वारा उल्लेख अर्थ की उपस्थिति को कारण माना गया है, तब आक्षेप से उपस्थित अर्थ शब्दबोध के विषय नहीं हो सकते । कुछ लोग व्यक्ति का बोध सर्वत्र व्यञ्जना से ही मानते हैं ।

जातेर्महत्त्वमुपपादयन् वकगत्या जानिशक्तिवादपक्ष पुष्पाति—

अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणद इत्युच्यते । प्राणं व्यवहारयोग्यतां ददाति सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः ।

अयं जातिरूपोपाधि पदार्थस्य प्राणप्रद । ननु किञ्चाम जाते प्राणप्रदन्वमित्याह—
प्राणमिन्यादि । प्राणपदार्थमेव विवृणोति—व्यवहारयोग्यतामिति । दाधात्वर्थम् स्फोरयति—
नम्पादयतीति । व्यवहारयोग्यतासम्पादनमेव जाते प्राणदत्वमिति भावः ।

अथ जातिरूप उपाधि का महत्त्व दिखलाते हुए उपाधिशक्तिवाद पक्ष की पुष्टि करते हैं—अथ च इत्यादि । यह जातिरूप अर्थ शब्द को प्राण देनेवाला कहा जाता है, क्योंकि शब्द में व्यवहारयोग्यता का सम्पादन यह जाति ही करती है । तात्पर्य यह कि यहाँ व्यवहारयोग्यता-सम्पादन ही प्राण-प्रदान के समान महत्त्व रखता है ।

जाते व्यवहारयोग्यतासम्पादकत्वे युक्तियुक्तामाप्तजनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—**‘गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबन्धाद्गारैः’** इति ।

तदुक्तमिति । प्रकाशकृतेति शेषः । वाक्यपदीयनामकस्य प्रसिद्धनिबन्धस्यैव वाक्यम्, प्रकाशकृता च तत्काल्यप्रकाशे उद्धृतम् ।

जाति की प्राणप्रदता में आप्तजन की सम्मति दिखलाते हैं—तदुक्तम् इत्यादि । **‘गौः स्वरूपेण न गौः’** इत्यादि पंडित वाक्यपदीय की हैं, जिसको सम्मतभट्ट ने अपने काव्य-प्रकाश नामक निबन्ध में उद्धृत किया है ।

‘उक्तवाक्यस्य व्याख्या कुरुते—

- अस्वार्थः—गौः सास्नादिमान् धर्मीस्वरूपेण अज्ञातगोत्वकेन धर्मिस्वरूप-
मात्रेण न गौः न गोव्यवहारनिर्वाहकः । नाप्यगौः नापि गोभिन्न इति व्यवहारस्य
निर्वाहकः । तथा सति दूरादनभिव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाप्रहदशायां गवि
गौरिति गोभिन्न इति वा व्यवहारः स्यात् । स्वरूपस्याविशेषाद्घटे गौरिति गवि
चागौरिति वा व्यवहारः स्यादिति भावः । गोत्वाभिसंबन्धाद्गोत्ववत्तया ज्ञानात्
गौर्गोशाब्दव्यवहार्य इति ।

गौरिति मूलवाक्यस्थपदस्य व्याख्यामाह—सास्नादिति । स्वरूपेणेति मूलस्यपदव्या-
ख्या-अज्ञातगोत्वेनेत्यादि । न गौरिति मूलवाक्याशस्य तान्पर्यमाह—न गोव्यवहारिति । नाप्य-
गौरिति तदस्यास्यारायमाह—गोभिन्न इतीति । तथा सतीति । धर्मिस्वरूपमात्रेण व्यवहारनिर्वा-
हकत्वाद्गौकारे सतीत्यर्थः । गौरिति व्यवहारे इष्टापत्वा आह—गोभिन्न इतीति । अविशेषा-
दिति । व्यक्तिस्वरूपाणां स्वतोऽव्यावृत्तत्वादिति भावः । सास्नादिमद्वर्तिमात्रज्ञानेन गौ
गोभिन्न इति वा व्यवहारो न भवितुमर्हति, दूरत्वदोषेण जातिव्यञ्जिकाया आकृतेरन्भिव्य-
क्त्या गोत्वाज्ञाने सास्नादिमति धर्मिणि गौ गोभिन्न इति वा व्यवहारस्यानुभवात् । अपि
च धर्मिस्वरूपज्ञानमात्रस्य व्यवहारप्रयोजकत्वे व्यक्तिस्वरूपस्य स्वतोऽव्यावृत्ततया गोभिन्ने
घटादावपि गौरिति गवि चागौरिति व्यवहार प्रवर्तते । अत गोत्वादिजातिमत्ताज्ञानमेव
गौरित्यादिव्यवहारप्रवर्तकमिति साराशः । ननु ‘गौ स्वरूपेण न गौ’ इत्येतावतैव विशिष्ट-
ज्ञाने विशेषणज्ञान कारणमिति सिद्धान्तानुसारम् गौरिति विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानविषया
गोत्वज्ञानस्थोपयोगे सिद्धे पुन ‘नाप्यगौ’ इत्यश किमर्थ इति चेन्न, व्यवहारमात्रस्य धर्म-
ज्ञानसाध्यतासूचनय तदुल्लेखात् । तथा चाभावज्ञानेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य
हेतुत्वेन गोत्वज्ञानमन्तरा गोभिन्न इति ज्ञानमपि न सम्भवति ।

अथ उक्त वाक्यपदीय-वाक्य की व्याख्या करते हैं—अस्वार्थ इत्यादि । उक्त वाक्य-
पदीय-वाक्य का अर्थ यह है कि गाय अर्थात् सास्नादिमान्-गले में चमड़ी लटकनेवाला—
प्राणी, स्वरूपतः ज्ञात होने पर भी तब तक गोनामक प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक
नहीं हो सकता, जब तक उस प्राणी में रहनेवाली ‘गोत्व’ जाति ज्ञात न हो जाय । इसी
तरह उक्त जाति के ज्ञान होने से पूर्व एण तक स्वरूपतः ज्ञात होकर भी उक्त प्राणी
‘यह गोभिन्न है’ इस व्यवहार का भी निर्वाहक नहीं हो सकता । स्पष्ट अर्थ यह हुआ
कि स्वरूप किसी का स्वतः ब्यावर्तक नहीं होता अर्थात् कोई न कोई स्वरूप सभी
चीजों में रहता ही है, अत एक चीज से दूसरी चीजों को पृथक् करनेवाला उनका
स्वरूप नहीं, अपितु उन चीजों में रहनेवाला आस खास धर्म (जाति आदि) होता है ।
ऐसी स्थिति में स्वरूपतः ज्ञात होकर भी कोई वस्तु उस ब्यावर्तक धर्म ज्ञान से पूर्व न
‘यह अमुक वस्तु है’ इस व्यवहार का और न ‘यह अमुक वस्तु से भिन्न है’ इसी व्यवहार
का निर्वाहक हो सकती है । यदि उक्त ब्यावर्तक धर्म के ज्ञान से पूर्व भी कोई पदार्थ
व्यवहारनिर्वाहक हो, तब तो उस अवस्था में भी गाय में ‘यह गाय है’ अथवा ‘यह
गाय से भिन्न है’ ऐसा व्यवहार होने लगे, जिस अवस्था में दूर से दिखाई पड़ने पर गाय
की वह आकृति जो जाति को अभिव्यक्त करती है—ज्ञात नहीं होती, केवल इतना
ज्ञात होता है कि यह कोई एक चीज है । एव जाति-ज्ञान के बिना पदार्थ को विशिष्ट
व्यवहारनिर्वाहक मानने पर गो से भिन्न पदार्थ-घट आदि में भी गाय का, और गाय में
भी गोभिन्न का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि यह पहले भी कहा जा चुका है कि केवल
स्वरूप भेदक नहीं होता । इस तरह से सिद्ध हुआ कि ‘इसमें गोत्व जाति है’ इस

प्रकार से जातिविशिष्टरूप में ज्ञात होने पर ही गाय, गो शब्द से व्यवहार करने योग्य होती है ।

गुणक्रियादिरूपाभिधेयसंबद्धं विचारमुत्थापयति—

गुण. शुक्लादिः शुक्लादिपदानामभिधेयः । क्रिया चलनादिशब्दानाम् ।

शुक्लानीकपीतादिपदानां शुक्लनीकपीतादिगुणो शक्तिरतस्ते गुणास्तेषां पदानां वाच्या । चलनाकादिपदानाम् उत्तरदेशसयोगानुसूत्रव्यापारादित्पक्रियासु शक्तिरतस्तेषां शब्दानां तां क्रिया वाच्या इत्यर्थः ।

अब गुण और क्रियारूप वाच्य उपाधि के सम्बन्ध में विचार करते हैं—गुण. इत्यादि । शुक्ल, नील, पीत आदि पदों की शक्ति उजला, हरा, पीला आदि गुणों में है, अतः वे गुण उन पदों के वाच्यार्थ कहलाते हैं । इसी तरह चलन, पचन आदि पदों की शक्ति उत्तरदेशसयोगानुसूत्र, एवम् विक्रियनुसूत्र व्यापारों में है, अतः वे व्यापार (क्रियायें) उन पदों के वाच्यार्थ होते हैं ।

अत्राशक्य समाधत्ते—

शुक्लादीनां चलनादीनां च प्रतिव्यक्तिभेददर्शनादानन्त्यव्यभिचाराभ्यां व्यक्तिशक्तिशब्ददोषाभ्यामिहापि क्लृप्तीकरणमिति चेत्, तेषां लाघवात्प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैकताया अभ्युपगमात् ।

इहापीति । गुणक्रिययोरभिधेयत्वेऽपीत्यर्थः । चेदित्यस्याग्रे तत्रेति शेषो बोध्यः । वक्रादितिर्यग्गतपदादिगतयोश्च शुक्लगुणयोर्भेदोऽनुभूयते, एवं गुडतण्डुलगतयो पाकक्रिययोरपि भेदो दृश्यते, तेन गुणक्रिययोरनेकत्वं सिद्धयति, तथा च व्यक्तिशक्तिवादे यावानन्त्यव्यभिचारदोषो सम्भूताम्, तावत्रापि समापतेतामिति शंका न युक्ता, नान्तात्वे यौरवात्, लाघवात् गुणक्रिययोरैकताया एव स्वीकारान् । ननु लाघवं नानुभवविरोधमज्ञीकारयितुं प्रभवतीति चेन्न, सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु सर्वासु चलनादिक्रियासु च 'स एवायं शुक्लो गुणः, सैवेयं चलनक्रिया' इत्याकारिकायाः प्रत्यभिज्ञायाः लाघवसहकृताया गुणक्रियायैकतानियामकत्वात् ।

अब यहाँ एक टांका और उसका समाधान करते हैं—शुक्लादीनाम् इत्यादि । 'वक्र आदि पदियों की तथा वक्र आदि पदार्थों की शुक्लता में भेद का अनुभव होता है । इसी तरह गुड की तथा चावल की पाक-क्रियाओं में भी भेद दिखाई पड़ता है । इससे यह सिद्ध होता है कि शुक्ल गुण अनेक है और पाक-क्रिया भी अनेक है । इस स्थिति में व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में जो भागभय और व्यभिचार दोष उपस्थित होते थे, वे दोनों दोष यहाँ (उपाधिशक्तिवाद पक्ष में) भी लयेंगे' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शुक्ल आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओं को अनेक मानने में गौरव है, अतः उनको एक ही मानते हैं । यदि आप कहेंगे कि लाघव के बल पर अनुभव-विरोध वस्तु नहीं मानी जा सकती तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सभी शुक्ल गुणों में 'यह वही शुक्ल गुण है' और सभी पाक-क्रियाओं में 'यह वही पाक क्रिया है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा लाघवमूलक होती है, वे प्रत्यभिज्ञायें ही उक्त गुणों और क्रियाओं को एक सिद्ध करती हैं ।

अत्रार्थे प्राचीनोक्तिं प्रमाणयति—

तदुक्तम्—'गुणक्रियायहच्छानां वस्तुत एकरूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते' इति ।

उक्तमिति । प्रकाशकृता मम्मटेनेति शेषः । यथा प्रतिबिम्बाधाराणाम् कृपाणसुकुर-तैलादीनां भेदादेकमप्यननं नानारूपतया भासते, तथैव गुणक्रियायपि आश्रयभेदेनैव भिन्न-तया प्रतीयते, न तु वस्तुतस्तेषु भेद इति भावः ।

प्राचीनों की उक्ति को उद्धृत करके उक्त बात को प्रमाणित करते हैं—तदुक्तम् ह्ययादि । मूलोक्त वाच्य काव्यप्रकाशकार मम्मट का है, जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे—प्रतिबिम्ब के आधार तलवार, दर्पण, तैल आदि के भेद से एक भी मुख अनेक प्रकार के ज्ञात होते हैं, उसी तरह एकजातीय गुण और क्रियाओं में भी आश्रय के भेद से ही भेद सा लक्षित होता है, वस्तुतः उनमें भेद रहता नहीं ।

मम्मटोक्तिप्रलितमाह—

तथा च भेदप्रतीतिभ्रम एवेति भावः । इदमुपलक्षणम् । उत्पत्तिविनाश-
प्रतीतिरपि तथैव, वर्णनित्यतावादे गकाराद्युत्पत्तिविनाशप्रतीतेर्भ्रमत्वस्य स्वी-
कारात् ।

तथा चेति । गुणानां क्रियाणाञ्च मियो भिन्नत्वेन भ्रमस्याश्रयभेदप्रयुक्तत्वस्वीकारेण वस्तु-
तोऽभेदाङ्गीकारे चेत्यर्थः । भ्रम इति । वक्रशौक्यात् पटशौक्यं भिन्नमित्यादयः प्रतीतयः
भ्रान्तिरूपा एव न प्रमारूपा इत्यर्थः । प्रमाशौक्या यद्यपि भेदप्रतीतेरेव भ्रमत्व सिद्धयति,
तथापि तस्या उपलक्षणत्वेन गुणक्रियादिषु उत्पत्तिविनाशप्रतीतीनामपि भ्रमत्वं बोध्य-
मित्याह—इदमुपलक्षणमित्यादिना । एतेन गुणानां क्रियाणां च नित्यता एकता च साधिता ।
नन्वेतादशभ्रमत्वस्वीकारोऽभिनव एव न प्राचीनसम्मतो नेत्याह—वर्णेति । वर्णनित्यता-
यादिनो वैयाकरणे गकारादिषु वर्णेषु जायमानामुत्पत्तिविनाशप्रतीतिं भ्रमरूपा स्वीकुर्वन्ति,
तद्वदिहापीति न कानन नवीनतेति भावः ।

अब उक्त मम्मटोक्ति का फलितार्थ दिखलाया जाता है—तथा च इत्यादि । एकजातीय
गुण और क्रियाओं में परिलक्षित होनेवाला परस्पर का भेद जब आश्रय भेद-मूलक सिद्ध
कर दिया गया, तब 'वक्र के उजलपन से वक्र का उजलापन भिन्न है' इत्यादि तरह
की भेद प्रतीतियाँ भ्रान्तिरूप ही हैं, प्रमारूप नहीं, ऐसा समझना चाहिए । इतना
ही नहीं, गुण और क्रियाओं में उत्पत्ति तथा विनाश की जो प्रतीति होती है वह भी
भ्रम है । तात्पर्य यह कि एकजातीय गुण तथा एकजातीय क्रियायें एक हैं और नित्य ।
इस तरह की प्रतीतियों की भ्रमरूपता वैयाकरणों को भी अभिमत है, क्योंकि वे वर्ण-
नित्यतावाद पक्ष में 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रम
रूप मानते हैं ।

यादृच्छिकात्मकमभिधेय स्फुटयति—

यादृच्छिकस्तु वक्ता स्वैच्छया द्वित्यादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवे-
शितो धर्मः ।

द्वित्यादिपदानां प्रवृत्तिनिमित्तभूत वक्त्रा स्वैच्छया कल्पित धर्मविशेषो यादृच्छिका-
त्मको वाच्य इति भावः ।

अब यादृच्छिक उपाधि के विषय में स्पष्टीकरण करते हैं—यादृच्छिकस्तु इत्यादि । वक्ता
के द्वारा अपने इच्छानुसार 'द्वितीय' आदि पदों के प्रवृत्ति-निमित्त रूप में मान लिये
गया धर्म 'यादृच्छिक' कहलाता है ।

कोऽसौ धर्म इति मतभेदेनाह—

स च 'परम्परया व्यक्तिगतश्चरमवर्णाभिव्यङ्गयोऽरतएडः स्फोटः' इत्येके
'आनुपूर्व्यवच्छिन्नो वर्णसमुदायः' इत्यपरे । 'केवला व्यक्तिरेव' इतीतरे ।

द्वित्यादिमहाशब्दानां वाच्यो यादृच्छिको धर्मः अरतएडस्फोट एव, न पूर्व-पूर्ववर्णात्
भवजन्यगस्कारसहकृतेन चरमवर्णनाभिव्यज्यते । वर्णसमुदायेन तदभिव्यक्तिस्तु असम्भ-
वेव, आशुविनाशिता वर्णानां समुदायस्य सिद्धे । ननु स स्फोटोऽर्थनिष्ठः कयमिति चेत्त्राह—

परम्परयेति । साक्षात्सम्बन्धेन यद्यपि स स्फोट आकाशे तिष्ठति, शब्दानामाकाशदेश-
त्वात्, तथापि मानुषिन्द्रादिसंकेतसम्बन्धेन स अर्थव्यक्तौ तिष्ठेदिति केषाचिन्मतस्य
भावः । अतिरिक्तस्फोटाङ्गीकारे फलाभावादाह—आनुपूर्व्येति । ङकारोत्तरत्वविशिष्टकारोत्त-
त्वविशिष्टकारोत्तरत्वविशिष्टकारोत्तरत्वविशिष्टकारत्वरूपानुपूर्व्या अवच्छिन्न परिमितः
वर्णसमुदाय एव स धर्म इत्यपरेषा मतम् । वर्णानां जन्यत्वेन समुदायासंभवादाह—
केवलेति । सत्तन्नामकव्यक्तिरेव इत्यादिपदानामर्थ इतोत्तरेषा मतम् ।

वह धर्म कौत-सा है, इसका निर्णय मतभेद से करते हैं—स च इत्यादि । अत्रण्ड
स्फोट (शब्दश्रवण) ही दिव्य आदि सज्ञा शब्दों का वाच्य पारच्छिक धर्म है । वह स्फोटरूप
धर्म, पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न सस्कार की सहायता से अन्तिम वर्ण के द्वारा
अभिव्यक्त होता है । वर्णसमुदाय से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि केवल
एक वर्ण रहकर विनष्ट हो जानेवाले वर्णों का समुदाय धन ही नहीं सकता । वह
स्फोट यद्यपि साक्षात् (समवाय) सम्बन्ध से आकाश में ही रहता है क्योंकि शब्दों
का देश आकाश ही माना जाता है, तथापि परम्परा अर्थात् माता-पिता के संकेतरूप
सम्बन्ध से सञ्जी में रहता है । यह एक (प्रधान वैयाकरण) विद्वान् कहते हैं । अति-
रिक्त स्फोट मानने में कोई फल नहीं, अतः ट्, ह, र्, य्, भाव (द्विधत्व) रूप आनुपूर्वी
से अवच्छिन्न-परिमित—(नपा-गुला) वर्णसमुदाय ही वाच्यिक धर्म है, यह अपर
विद्वानों का मत है । आशुविनाशी वर्णों का समुदाय धन ही नहीं सकता, अतः संज्ञी
(वह व्यक्तिविशेष जिसकी यह सज्ञा मानी गई है) ही वह धर्म है और संज्ञा शब्दों
का वाच्य है, यह अन्य पण्डितों का कथन है ।

उक्तमतत्रये वैलक्षण्यं दर्शयति—

तत्राद्यमतद्वये विशेषणज्ञानाद् विशिष्टप्रत्ययः । तृतीयमते च निर्विकल्प-
कात्मकः प्रत्ययः ।

उक्त मतत्रये प्रथमयोर्द्वयोर्मतयो- स्फोटः, वर्णसमुदायो वा धर्मः इत्यादिपदानाम-
भिधेयः साधितः, एवञ्च इत्यादिपदात्प्रथमं तद्वर्णज्ञानं जायते, ततस्तदाक्षिप्तव्यक्तिज्ञानम्,
ततश्च विशेषणविशेष्यभावावगाहि तद्वर्णविशिष्टव्यक्तिज्ञानं सविकल्पकात्मकं समुत्पद्यते ।
तृतीयमते तु व्यक्तिरेव केवला इत्यादिपदाभिधेया सिद्धेति तन्मते इत्यादिपदात् व्यक्ति-
मात्रस्य प्रकारताविशेष्यतारून्यं निर्विकल्पकात्मकमेव ज्ञानं जायत इति भावः ।

उक्त तीनों मतों में जो वैलक्षण्य है, उसका निर्देश करते हैं—तत्र इत्यादि । उक्त
तीनों मतों में प्रथम तथा द्वितीय मत के अनुसार क्रमशः स्फोट और वर्ण-समुदायरूप
पारच्छिक धर्म दिव्य आदि संज्ञाशब्दों के वाच्य सिद्ध किए गए, अतः उन दोनों मतों में
पहले दिव्य आदि पदों से उस धर्म (स्फोट अथवा वर्णसमुदाय) का ज्ञान होता है,
उसके बाद उस धर्म से आवेप के द्वारा व्यक्ति (संज्ञी) का ज्ञान होता है, तदनन्तर
विशेषण-विशेष्यभावावगच्छ, उस धर्म से विशिष्ट व्यक्ति का सविकल्पक ज्ञान होता है ।
तृतीय मत में तो केवल व्यक्तिविशेष दिव्य आदि पद का वाच्य सिद्ध हुआ, अतः उस मत
में दिव्य आदि पद से व्यक्तिमात्र का प्रकारता-विशेष्यता से शून्य-निर्विकल्पात्मक—
ज्ञान होता है ।

उपाधिशक्तिवादफलितार्थमाह—

तदित्यं चतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शयति व्यवस्थितम् ।

उक्तोपाधिशक्तिवादप्रथमकेनेदं फलितम्, चत्-चतुर्विधं शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम्,
जातिरूपं, गुणरूपम्, किरारूपम्, याच्छिद्ररूपम् । अत्रार्थे व्याकरणमहाभाष्यकारस्य

भगवत पतञ्जलेरपि सम्मति—'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति, जातिशब्दा, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदच्छाशब्दाश्चतुर्था' इति तदुल्लेखात् । दर्शनम् मतम् ।

अब उपसहार के रूप में उपाधिशक्तिवादपक्ष का फलितार्थ बतलाते हैं—तद्विषय इत्यादि । उक्त उपाधिशक्तिवादपरक प्रकरण से यह फलित हुआ कि—शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक । इस पक्ष को व्याकरण महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि भी प्रमाणित करते हैं, क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति, जातिशब्दा, गुणशब्दा, क्रियाशब्दा, यदच्छाशब्दाश्चतुर्था' ऐसा उन्होंने लिखा है ।

उपाधिशक्तिवादे मतान्तरमाह—

सर्वेषां शब्दानां जातिरेवार्थः । गुणक्रियाशब्दानां गुणक्रियागतायाः, यदच्छाशब्दानां च बालवृद्धशुकाद्युदीरिततच्छब्दवृत्तेस्तत्सम्यभिन्नार्थवृत्तेर्षां जातिरेवाधिधेयता संभवान् । इति जातिशक्तिदर्शनम् ।

सर्वेषामिति । जातिगुणक्रियायदच्छाशब्दानामित्यर्थ । शब्दनिष्ठजाते परम्परयाऽर्थवृत्तिरूपकल्पने गौरवादाह—तत्समयेति । बालवृद्धवृत्तत्वरूपेत्यर्थः । उपाधिचतुष्टये शक्तिकल्पनारेक्षया जातिरूपोपाधावेव सर्वत्र शक्ति । सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु शुद्धं शुद्धं इत्यभिन्नाकारानुगतप्रतीत्या गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वादिजाते, एवम् शुद्धतण्डुलादिगतासु भिन्नासु पात्रादिक्रियासु यद्दशात्पाक पाक इत्यनुगतप्रतीति तस्या क्रियात्वव्याप्यपाकत्वादिजाते रसोकारात् । नन्वेव शुक्यत्वपाकत्वादिजातिमिदौ तत्र गुणवाचकानां क्रियावाचकानाञ्च शब्दानां शक्तिर्भवन्, यदच्छाशब्दानां कथं जातौ शक्ति, तेषामेकव्यक्तिवाचकत्वेन जातिवाचकत्वासम्भवात् इति चेन्न, बालवृद्धशुकाद्युदीरितानां टिप्प्यादिपदानां मित्यो भिन्नतया तेषु 'आनुपूर्वीव्याप्याया इत्यत्वादिजातेरङ्गीकारात्, न च शब्दनिष्ठायास्तस्या जातेरर्थे परम्परयासम्बन्धेनैव स्थिते कल्पनीयतया गौरवेण नैव रीतिरुचितेति चात्प्यम्, 'वात्ये दृष्टोऽयं देवदत्तो यौवनेऽन्य' मयुक्त' इत्याद्यनुभववलात् वात्य-यौवन-वार्धक्यरूपावस्थाभेदेन टिप्प्यादिव्यक्तेरपि भिन्नतया तासु व्यक्तिषु इत्यत्वादिजातिसिद्धया तत्रैव यदच्छाशब्दानां शक्तिरित्याशयादिति भावः ।

अब उपाधिशक्तिवाद के ही दूसरे मत का उल्लेख करते हैं—सर्वेषाम् इत्यादि । जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक इन चार उपाधियों में शक्ति मानने की अपेक्षा केवल जातिरूप उपाधि में सर्वत्र शक्ति मानने में लाजब है, अतः ऐसा मानना ही समुचित है । तात्पर्य यह कि सभी शुद्ध आदि गुणों में 'शुद्ध शुद्ध' इस तरह की एकाकार अनुगत प्रतीति से गुणत्व-व्याप्य अर्थात् गुणत्व से अल्पदेशवृत्ति शुद्धत्व आदि जाति मान ली जायगी, और गुण तण्डुल आदि में रहनेवाली भिन्न भिन्न क्रियाओं में जिनके चलते 'पाक-पाक' ऐसा एक प्रकार का ज्ञान होता है, उस क्रियात्व-व्याप्य पाकत्व आदि जाति का स्वीकार कर लिया जायगा । यदि आप कहें कि हाँ, इस तरह से गुणवाचक तथा क्रियावाचक शब्दों को जातिवाचक माना जा सकता है, परन्तु यदच्छा शब्दों को कैसे जातिवाचक माना जा सकता है, क्योंकि उन शब्दों का वाच्य एक एक व्यक्ति होता है और एक व्यक्तिमात्र में रहनेवाला धर्म जातिरूप हो नहीं सकता, तो हमका उत्तर यह है कि बाल, वृद्ध, शुक आदि से उच्चरित होकर एक भी द्विष्य आदि पद अनेक हो जाते हैं, अतः उन सभी द्विष्य शब्दों में रहनेवाली आनुपूर्वीव्याप्य इत्याव जाति मानी जा सकती है, अथवा बचपन, यौवन तथा वार्धक्यरूप अवस्थाभेद से एक भी व्यक्ति अनेक हो जाता है, अतएव 'बचपन में देखा गया देवदत्त युवावस्था में दूसरा हो गया' ऐसी प्रतीति हुआ करती है । इस स्थिति में अर्धवृत्ति इत्याव जाति भी

सिद्ध की जा सकती है। अतः सर्वत्र जातिरूप उपाधि में ही शक्ति की कल्पना करनी चाहिये।

लक्षणामूलध्वनिनिरूपणानन्तर लक्षणानिरूपणो संगति दर्शयितुमाह—

अथ केयं लक्षणा, यन्मूलध्वरम निरूपितो ध्वनिः।

जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थाभेदेन द्विविध, अभिधामूलध्वन्यपेक्षयाऽन्तिमो यन्मूलो ध्वनि-
प्राङ्निरूपित, सा लक्षणा केति जिज्ञासितमिति भावः। एतेन चरमध्वनिनिरूपणलक्षणा-
निरूपणयोः प्रकृतोपपादकत्वरूपोपोद्घातसंगतिर्दर्शिता।

लक्षणामूलक ध्वनियों के निरूपण के बाद लक्षणा-निरूपण करने में संगति दिखलाने के लिये कहते हैं—अथ इत्यादि। जिसको मूल मानकर आपने अन्तिम (अभिधामूलक-
ध्वनियों के बादवाली) जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था-भेद से द्विविध ध्वनियों का
निरूपण किया है, वह लक्षणा क्या वस्तु है? अर्थात् अब लक्षणा पदार्थ की जिज्ञासा है।
इस कथन से लक्षणामूलकध्वनिनिरूपण तथा लक्षणानिरूपण में प्रकृतोपपादकत्वरूप
उपोद्घात नामक सहति दिखलाई गई।

उक्तजिज्ञासाशमनं प्रतिजानोते—

उच्यते—

लक्षणापदार्थ इति शेषः।

उक्त जिज्ञासा-शान्ति की प्रतिज्ञा करते हैं—उच्यते इति। अब लक्षणापदार्थ कहा
जाता है।

लक्षणाया लक्षणमाह—

शक्यसम्बन्धो लक्षणा।

यत्किञ्चिच्छक्यार्थप्रतियोगिको यत्किञ्चिदर्थानुयोगिक संबन्धविशेषो लक्षणापदार्थ
इति भावः। स च संबन्धविशेष- स्थलभेदेन नानाविध इति स्वयं मूलकृतैवानुपदं स्फुटी-
करिष्यते। शब्दवृत्तिरूपस्यास्य लक्षणापदार्थस्य स्वप्रतियोगिवाचकत्वसंबन्धेन पदनिष्ठत्वं
बोध्यम् तार्किकमतानुसार्येत्लक्षणालक्षणम्। मीमांसकास्तु 'शक्यादशक्योपस्थितिरुच्यते'
त्याह। 'शक्यतावच्छेदकारो लक्षणा' इत्यपि केचित्। अन्वयाद्यनुपपत्तिज्ञानपूर्वकशक्य-
त्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेनौद्बुद्धशक्तिरस्कारबोधे लक्षणेति व्यवहारः। वस्तुतो भग-
वदिच्छाया सम्मात्रविषयत्वात्तारादावपि गंगादिपदस्य शक्तिरेवेति तु वैयाकरणः।

अब लक्षणा का लक्षण करते हैं—शक्य इत्यादि। जिस किसी पद के शक्यार्थ
(अभिधावृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ) का जिस किसी पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसको
लक्षणा कहते हैं। वह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है
यह बात ग्रन्थकार स्वयं स्पष्ट रूप से मूल में ही कहेंगे। यद्यपि वह सम्बन्ध अर्थ में
रहेगा, तथापि स्व-(सम्बन्ध)प्रतियोगी-(शक्य अर्थ)वाचकत्व सम्बन्ध से पद में
रहने के कारण उक्त सम्बन्धरूप लक्षणा पदनिष्ठवृत्ति समझनी चाहिये। यह
लक्षणा का लक्षण तार्किक मत के अनुसार किया गया है। मीमांसक लोग शक्य अर्थ
से अशक्य अर्थ की उपस्थिति को लक्षणा मानते हैं। कुछ लोग शक्यतावच्छेदक धर्म
(प्रवाह्य आदि) के आरोप को लक्षणा कहते हैं। वैयाकरण लोग लक्षणा को अतिरिक्त
वृत्ति मानते ही नहीं, वे शक्ति के ही दो भेद करते हैं—एक प्रधान और दूसरा गौण
और उस गौणशक्ति में लक्षणा का व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं।

लक्षणाबीज निश्चेतु रचिर चिचारं प्रचारयति—

तस्यात्रार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छे-

दकताया अभावो न तन्त्रम् । शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्य स्वीकारात् । किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्य तन्त्रम् । मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोद्धानं न स्यात् ।

तस्या इति । लक्षणाया इत्यर्थः । अर्थोपस्थापकत्व इति । लक्ष्यार्थविषयकस्मरण-जनने इत्यर्थः । मुख्यार्थतावच्छेदक इति । शक्यतावच्छेदक इत्यर्थः । प्रवाहत्वादाविति यावत् । तात्पर्येति । तात्पर्यविषयीभूतो योऽन्वयः सबन्ध—तद्विशिष्टतावच्छेदकताया इत्यर्थः । तन्त्रमिति । कारणमित्यर्थः । शक्यतेति । प्रवाहत्वेन रूपेणैत्यर्थः । लक्ष्येति । तदादीत्यर्थः । तात्पर्यविषयान्वय इति । तात्पर्यविषयीभूते सबन्धविशेषे इत्यर्थः । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ तात्पर्यविषये अव्यवधिभेदाद्वादादौ सबन्धे दध्युपघातकत्वेन रूपेण काकादिरूपमुख्यार्थप्रतियोगिकताया सत्त्वादाह—मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणैति । तथा चोक्त-सबन्धे काकत्वेन रूपेण काकप्रतियोगिकताया अभावोऽस्त इति भावः । लक्षणोत्थानं न स्यादिति । 'काकावधिकदधिरक्षणम्' इत्याकारकस्यान्वयस्योपपत्तत्वेन मुख्यार्थान्वयानुपपत्ति-रूपकारणस्य विरहादिति भावः । अयमत्र निर्गलितार्थः—अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्ति-र्त्वा लक्षणाबीजमिति मतद्वये प्राप्ते प्रथमं मतम् न युक्तं, तथा सति 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्', 'नक्षत्रं द्वादश वाच विखजेत्' इत्यादौ लक्षणानुपपत्तेः, 'काकावधिकदधिरक्षणम्', 'नक्षत्रदर्श-चोत्तरकालिकवाग्भिसर्जनम्' इत्यादिरीत्याऽन्वयस्योपपत्तत्वात् । तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वे स्वीकृतेऽपि 'मुख्यार्थतावच्छेदकाधिकरणकस्तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावः', 'तात्पर्यविषयान्वयाधिकरणको मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया—अभावो वा तात्पर्यानुपपत्तिपदार्थः' इति मतद्वये संभाविते प्रथममतमसंगतमेव, 'गंगाया द्योप' इत्यादौ प्राप्ते लक्षणोदाहरणे शैत्यत्वपावनत्वादिफलव्यञ्जनसौविध्याय गंगात्वेनैव रूपेण तटबोधस्यालम्कारिकैः स्वीकारेण लक्षणाविरहप्रसगात् । तत्र तात्पर्यविषयीभूतं सबन्ध-तटधोपयो आधाराधेयभावः, तत्रियामकः संयोगो वा, तद्विशिष्टता तटे। एवञ्च तटनिष्ठाया-स्तादृशान्वयिताया अवच्छेदकता मुख्यार्थतावच्छेदके गंगात्वे एवैति न तदभाव कारण-त्वेनाभिमत स्यादिति भावः । अतो द्वितीयं मतमेव सत्यम्, तथा च तत्र गंगात्वेन रूपेण तटभावेऽपि तात्पर्यविषयीभूतस्य उक्ताधाराधेयभावात्प्रकस्यान्वयस्य गंगात्वेन रूपेण तटप्रतियोगिकताया तस्मिन्सबन्धे गंगारूपमुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावस्य वर्तमानतया रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्य शैत्यत्वपावनत्वादेव सत्त्वेन लक्षणा भवतांति । इदमत्र विचारणी-यम्—शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्वीकारकया प्रन्थीक्ता कथं सगतेति । मत- 'कचतद्वस्यति वदनं, वदनात् कुचकुड्मलं विभेति । मध्यादिभेति नयनं नयनादधरं समु-द्विजति' ॥ इत्यत्र अमरा कचवदनकुचमध्यनयनाधरपदानां राहुचन्द्रकर्मलसिंहमृगपक्षव-रूपार्थेषु लक्षणायाम् कचत्वादिरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण राहुदिलक्ष्यमानस्वीकारे प्राप्ता-देरनुपपत्तिः । किञ्च 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणायाम् वाक्यरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण दध्युपघातकान्मकलक्ष्यमानास्वीकारे तत्रत्यतात्पर्यविषयान्व-येऽव्यवधिभेदात्वात् काकत्वरूपमुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणैव वाक्यात्मकमुख्यार्थप्रतियोगिक-ताया मत्त्वेन तदभावस्य प्रत्यक्षदभिमतस्य लक्षणकारणस्यासङ्घटनमेवापद्येत । पर्याप्ति-निर्देशेन 'मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थभाप्रतियोगिकताया अभावस्तन्त्रम्' इत्या-द्ययोरवर्णनेन यद्यपि नैव दोष उक्ताव्यवधिभेदादेव काकत्वेन रूपेण बिडालादिसकलदध्युप-

घातकप्रतियोगिकत्वस्यैव सत्येन कारकस्वरूपमुद्धार्यमात्रप्रतियोगिकताया अभावस्य साम्प्र-
ज्यात्, तथापि प्रथमदोषो दुर्द्वर एव ।

सब लक्षणा का कारण क्या है, इस विषय में कुछ विलक्षण विचार उपस्थित किया जाता है—तस्याश्च इत्यादि । इस प्रतीक का स्पष्ट अर्थ यह है कि—लक्षणा के कारण के संबंध में दो मत हैं, एक मत के अनुसार अन्वय की अनुपपत्ति लक्षणा का कारण है—अर्थात् उस पद की लक्षणा किसी अर्थ में होती है, जिसके शक्य अर्थ का अन्वय, वाक्य-घटक अन्य पदार्थ के साथ नहीं हो सकता हो । परन्तु यह मत संगत नहीं है क्योंकि 'काकेभ्यो षधि रक्षयताम्', 'भक्षत्रं ह्य्वा वाचं विभृजेत्' अर्थात् 'कौवों से दही की रक्षा करें', 'तारे देखकर बोलना चाहिए' इत्यादि जो लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण हैं (इन दोनों वाक्यों में क्रमशः काक तथा नक्षत्र पद की दृश्युपघातकमात्र और रात्रि में लक्षणा होती है, क्योंकि वक्ता का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि कौवों से दही की रक्षा की जाय और कुत्ते आदि से नहीं, इसी तरह द्वितीय वाक्य का यह अभिप्राय नहीं हो सकता कि यदि आकाश के मेघाच्छन्न रहने से तारे नहीं दीख पड़े, तब बोला ही न जाय, अतः 'दही पर जिन-जिन प्राणियों से उपद्रव होने की संभावना हो, उन सबों से दही की रक्षा की जाय, एवम् रात में बौले, इन वक्त्रभिप्रेत अर्थों की सिद्धि के लिए उक्त लक्षणा आवश्यक होती है) वहाँ अब लक्षणा नहीं हो सकेगी, क्योंकि उक्त कारण (अन्वय की अनुपपत्ति) का वहाँ अभाव है अर्थात् 'कौवों से दही की रक्षा करें', 'जब तारे दीख पड़ें तब बोलें' इस तरह से काक और नक्षत्र पद के शक्यायों का भी रक्षा करने और बोलने के साथ अन्वय हो ही सकता है । द्वितीय मत के अनुसार तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का कारण कहा जाता है, जो ठीक है, क्योंकि इस मत के अनुसार उक्त उदाहरणों में तथा अन्य उदाहरणों में भी काम धन जाता है । परन्तु इस मत में भी यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि तात्पर्यानुपपत्ति का क्या आशय ? क्या मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ में रहनेवाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व) में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता अर्थात्—जिस अन्वय में वक्ता का तात्पर्य हो, उस अन्वय के अन्वयी—उस अन्वय से विशिष्ट वस्तु में रहनेवाला जो धर्म तत्ता का अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? कहने का अभिप्राय कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या आशय है कि मुख्यार्थता-वच्छेदक और तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदक धर्म यदि दो रहें, एक नहीं, तभी लक्षणा हो ? अपवा—क्या वक्ता के अभिमत अन्वय में मुख्यार्थतावच्छेदक (उक्त गंगात्व आदि जैसे धर्म) रूप से मुख्यार्थप्रतियोगिकता अर्थात्—मुख्यार्थ होने का अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? सारोक्त यह कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या यह कहना है कि वक्ता का जिस अन्वय में तात्पर्य हो, वह अन्वय अपने रूप में मुख्य अर्थ का न रहे ? इन दोनों में प्रथम आशय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस आशय के मान्य होने पर 'गंगायाम् घोषः अर्थात् गंगा में घोष' इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में लक्षणा नहीं की जा सकेगी क्योंकि यहाँ शैत्यत्व-पावनत्व की अभिन्न्यक्ति के अनुरोध से आलंकारिक विद्वान् शक्यतावच्छेदक (गंगात्व) रूप से ही लक्ष्य (तट) का भाव मानते हैं, अतः यहाँ गंगात्वरूप मुख्यार्थतावच्छेदक में तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता का अभाव नहीं रहेगा अर्थात् यहाँ तात्पर्य विषयीभूत अन्वय है—तट और घोष का संयोग-मूलक आधारार्थभाव, उस अन्वय का अन्वयी होगा तट, अन्वयिता रहेगी तट में और उस अन्वयिता का अवच्छेदक होगा वही गंगात्व, क्योंकि उसी रूप से तट का अन्वय अभीष्ट है, अन्यथा शैत्यत्व-पावनत्व व्यङ्ग्य नहीं हो सकेगा । इस तरह से मुख्यार्थतावच्छे-दकतावत् में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता ही रह गई फिर उसका अभाव यहाँ नहीं रहेगा । अब परिशेषात् द्वितीय आशय ठीक समझना चाहिए क्योंकि उस आशय

के अनुसार "गंगायां घोष" में लक्षणा हो सकती है क्योंकि गंगास्वरूपेण भास्त्रिभान्तो तट का ही होता है, अतः उक्त आधाराधेयभावसम्बन्ध का प्रतियोगी तट होगा नकि गंगा, इसलिये उस अन्वय (सम्बन्ध) में मुख्यार्थ-(गंगा) प्रतियोगिकता का अभाव अलक्षणा है। रुद्धि और प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का रहना भी पृथक् लक्षणा का कारण है। उक्त उदाहरण में शैत्यत्वपावनत्व प्रतीतिरूप प्रयोजन है ही।

लक्षणापदार्थतयाभिमतस्य शक्यसम्बन्धस्य स्थलभेदेन भेदं दर्शयति—

"गङ्गायां घोष" इत्यत्र सामीप्यम्, 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणायां विरोधः 'आयुर्धृतम्' इत्यादौ कारणत्वादयश्च संबन्धा यथायोग्ये, लक्षणाशरीराणि।

• व्यतिरेकलक्षणेति। 'उपकृतं बहुनाम—' इत्यादौ। यथायोग्यम् यथासम्भवम्। लक्षणाशरीराणीति। लक्षणाया स्वरूपाणीत्यर्थं। अत्र नागेश—'लक्षणाज्ञानकार्यतावच्छेदकं च तादृशशक्यसंबन्धप्रकारकलक्ष्यविरोधकशाब्दबुद्धित्वमिति प्राचीनालंकारिकमंतम्। तदनन्तरं व्यजनया तादृशशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोध इति च।' एतेन शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानं मूलोक्तम् कटाक्षितम्।

अथ शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का स्वरूप स्थलभेद से भिन्न भिन्न होता है इस स्पष्टीकरण के लिये तादृश स्थलों का उल्लेख करते हैं—गंगायाम् इत्यादि—'गंगायां घोष' में गंगा और घोष का सम्बन्ध सामीप्य, 'मुखचन्द्र' में मुख और चन्द्र का सम्बन्ध-सादृश्य, अपकारी के प्रति कथित 'आप ने बड़ा उपकार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में अपकारी और अपकार्य का सम्बन्ध-विरोध, 'आयुर्धृतम्' में आयु और घृण का सम्बन्ध कार्यकारणभाव आदि यथायथ लक्षणारूप होते हैं।

'लक्षणाया भेदान् दर्शयति—

'इयं तावद्द्विविधा, निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा, गौणी शुद्धा च। तत्रांघा सारोपा, साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्यथा चतुर्विधा—जहस्वार्था, अजहस्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते।

इयमिति। लक्षणेत्यर्थं। तावत् आदौ। अन्यन् स्पष्टम्।

अथ लक्षणा के भेद लिखे जाते हैं—इयमित्यादि। प्रथमतः लक्षणा के दो प्रकार होते हैं—एक निरूढा और दूसरा प्रयोजनवती। उनमें से ही द्वितीया (प्रयोजनवती) के दो प्रभेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। इन दो प्रभेदों में से गौणी के पुनः दो उपभेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना और शुद्धा के चार उपभेद—जहस्वार्था, अजहस्वार्था, सारोपा तथा साध्यवसाना। इस तरह से प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद बनते हैं (दो गौणी के, चार शुद्धा के)।

निरूढलक्षणाया उदाहरणानि प्रदर्शयति—

तत्र निरूढलक्षणाया अनुकूलप्रतिमूलानुलोमप्रतिलोमलात्रयादय उदाहरणम् नीलादयश्च।

'लाभ्यादय' इत्यादिपदेनालोम्यगताजादिबोधकगजादिपदाना सप्रज्ञे वोथ्य। नीलादय इत्यादिपदेन सर्वेऽपि गुणिपरा गुणवाचका कृष्णर्षितादय शब्दाः सम्यन्ते। अथ निरूढ लक्षणा के उदाहरण दिये जाते हैं—तत्र इत्यादि। उक्त लक्षणा-प्रभेदों में से निरूढ लक्षणा के उदाहरण होते हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम

और लावण्य आदि तथा नील आदि । यहाँ मूल के प्रथम आदि पद से चित्रगत गज आदि के बोधक गज प्रभृति पद संगृहीत होने हैं, एवम् द्वितीय आदि पद से सभी (नील, पीत, कृष्ण आदि) गुणवाचक ये पद लिए जाते हैं, जो गुणों के बोध कराने के उद्देश्य से बोले जाते हैं ।

उपमादयति—

‘धर्मस्यायमनुकूलः’ इत्यादी मुख्यार्थस्य कूलानुगतत्वाद्देर्वाधात् अनादि-प्रयोगप्रवाह्यशादेकवस्तुप्रयणत्वात्मना कूलानुगतादिहपशक्यस्य सादृश्येन संबन्धेनानुकूलादिशब्दैरनुगुणादयो लक्ष्यन्ते । एवं नीलादिपदानां लाघवाद्गुणगतजातेरेव शक्यतावच्छेदकतया गुणद्रव्ययोः ‘नीलो घटः’ इत्यादौ सामानाधिकरण्यानान्वयस्यानुपपत्तेः समवायात्मना गुणरूपशक्यस्य संबन्धेन नीलादिशब्दैर्गुणिनो लक्ष्यन्ते ।

अनुकूलपदस्य ‘कूलमनुगत’ इति व्युत्पत्तियोगात् कूलानुगतत्वविशिष्टो मुख्य (वाच्य) अर्थ । तस्य चार्थस्य ‘धर्मस्यायमनुकूल’ इत्यादौ बाध, एवम् तत्र एवमनुप्रवणत्व- (तदेकसक्तत्व)रूपेण कूलानुगतात्मनानुकूलपदशक्यस्य संबन्धेनानुकूलपदमनुगुणरूपमर्थं लक्षयति, अस्यायं लक्षणावाम् तादृगर्थे तस्य पदस्यानादिप्रयोगप्रवाहृपा दृढिः कारणम् । एव प्रतिकूलपदस्य ‘कूलप्रतिगतः’ इति व्युत्पत्त्या कूलविद्वद्बोधार्थं शक्यं, स च ‘धर्मस्यायं प्रतिकूल’ इत्यादौ बाधित इति तस्य पदस्य ‘विद्वत्त्वात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन विमुखरूपार्थे दृष्टिमूला लक्षणा । अनुलोमशब्दस्य ‘लोम अनुगतम्’ इति व्युत्पत्त्या आनुपूर्व्येण स्थित कचो वाच्यः । तस्य चार्थस्य ‘अनुलोमजातिसंकर’ इत्यादौ बाध इति आनुपूर्व्यात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन तादृशव्यक्तिविशेषे लक्षणा । एव प्रतिलोमपदस्य विद्वद्धर्मजातिविशेषवति व्यक्तिविशेषे लक्षणा बोध्या । लवणभाववाचकस्य लावण्यपदस्य च हृदयंगमत्वरूपनादरयतसंबन्धेन सुपमापिरोपे लक्षणा ज्ञेया । एवं नीलादिपदानामिति । अयं भावः-‘नीलो घट’, ‘नीले टपम्’, इत्युभयविधव्यवहारस्यानुभविस्तया नीलादिपदानां शुद्धे गुणिति वा शक्तिरिति विप्रतिपत्तौ गुण एव शक्तिरङ्गीकार्या, व्याख्यभेदेन भिन्नानां नीलादिगुणानां शक्यतावच्छेदकव्यवहारोपेक्षया गुणगतनीलत्वादिजाते- शक्यतावच्छेदकवाङ्मकारे लाघवात् । एवञ्च गुणवाचकानां नीलादिपदानां द्रव्यवाचकानां घटादिपदानाञ्च ‘नीलो घटः’ इत्यादौ सादृश्येन गुणद्रव्ययो सामानाधिकरण्यनियामकाभेदेनान्वयस्यानुपपत्तेः समवायरूपेण गुणरूपशक्यस्य संबन्धेन नीलादिपदानां तद्वगुणविशिष्टेषु दृष्टिमूला लक्षणा भवतीति ।

उक्त उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का उपादान करते हैं—धर्मस्य इत्यादि । ‘अनुकूल’ पद का मुख्य अर्थ है ‘कूल—नदी तट का अनुगत—अनुगामी’ । परन्तु यह धर्म का अनुकूल है’ इस तरह के वाक्यों में जब हम अनुकूल पद का प्रयोग करते हैं, तब उस पद का उक्त मुख्य अर्थ बाधित प्रतीत होता है क्योंकि ‘नदी-तट का कोई प्रसंग ही यहाँ नहीं है, अतः ‘एकवरतुप्रवणः—एक वस्तु की तरफ झुकना’ रूप (अनुकूल पद के वाक्यार्थ के) : सादृश्य संबन्ध से अनुकूल पद की अनुगुण अर्थ में लक्षणा होती है । प्रतिकूल पद का मुख्य अर्थ है कूलविद्वद् । परन्तु ‘धर्म का प्रतिकूल’ इस वाक्य में यह अर्थ बाधित है, अतः विद्वद्वारूप सादृश्यसंबन्ध से उक्त पद की विमुख अर्थ में लक्षणा समझी जाती है । अनुलोम पद का मुख्य अर्थ है आनुपूर्व्येण (क्रम से) स्थितकेशः । परन्तु ‘अनुलोम जाति संकर’ इत्यादि स्थल में उक्त अर्थ के बाधित होने से उक्त पद की

आनुपूर्व्यात्मक सादृश्यसम्बन्धमूलक सकरजातीय व्यक्तिविशेष में लक्षणा होती है । प्रतिकूल पद की विरुद्धक्रमजातीय व्यक्ति विशेष में लक्षणा होती है । इसी तरह लक्षण-भाव (नमकीन) अर्थ के वाचक लावण्य पद की हृदयगतत्व सादृश्यसम्बन्ध से सौन्दर्य विशेष में लक्षणा होती है । ये सभी उदाहरण सादृश्यसम्बन्ध-मूलक हैं । अन्यसम्बन्ध-मूलक लक्षणा के उदाहरण नील, पीत दिखाये गये हैं । अभिप्राय यह है कि 'नील घड़े' और 'नील रूप' दोनों तरह के व्यवहार होते हैं । इस स्थिति में उन पदों की शक्ति गुणी (धर्मो-द्रव्य) में मानी जाय अथवा गुण (धर्म) में, यह विचार जब उठता है, तब निष्कर्ष यही निकलता है कि गुण में ही शक्ति मानी जानी चाहिये, क्योंकि गुण को शक्य मानने पर गुणगत-नीलत्व आदि अनुगत जाति को शक्यतावच्छेदक होने से लायव होता है । गुणी में शक्ति मानने पर तो अननुगत गुणों को शक्यतावच्छेदक हो जाने से गौरव होगा । अब जहाँ—'नील घड़े' इत्यादि स्थानों पर गुणवाचक (नील आदि) तथा द्रव्यवाचक (घड़े आदि) शब्दों का साथ साथ प्रयोग पाया जाता है, वहाँ सामानाधिकरण्य नियामक भेद सम्बन्ध से गुण द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः गुणरूप शक्य के समवायात्मक सम्बन्ध से नील आदि पदों की उन गुणों से युक्त घट आदि द्रव्यों में लक्षणा होती है । उक्त सभी उदाहरणों में लक्षणा का कारण रूढि (अनादि परम्परा) है—अतः ये लक्षणाएँ रूढिमूला कहलाती हैं ।

उक्तेषु निरुद्धलक्षणोदाहरणेषु विरोपमाह—

तत्राद्यवर्गे सादृश्यसम्बन्धेन द्वितीयवर्गे च तदितरसम्बन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्तेर्निरुद्धाया मपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ति ।

आशयवर्गे-अनुकूलप्रतिकूलादिषु । द्वितीयवर्गे इति । नीलादिवित्यर्थ । सादृश्यसम्बन्धमूलिका गौणी, तदितरमूलिका च शुद्धा, लक्षणेति सिद्धान्तः । तथा च अनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादिषु पदेषु स्वीकृताया निरुद्धलक्षणाया सादृश्यसम्बन्धमूलकत्वेन गौणीत्वम्, नीलपीतादिषु शब्देषु स्वीकृताया लक्षणाया समवायसम्बन्धमूलकत्वेन शुद्धत्वञ्च प्रसक्तमिति निरुद्धलक्षणाया अपि गौणीत्वशुद्धत्वभेदेन भेदद्वयं भवतीति भावः । यद्यपि समीचे सति, 'दण्डी देवदत्त' इतिवत् सत्यपि सादृश्ये 'सिंहवान् देवदत्त' इति विशिष्टबुद्धेरदर्शनात् सादृश्यं न सम्बन्धः, विशिष्टधीयोग्यस्यैव सम्बन्धत्वात्, तथा च गौणी न लक्षणाप्रभेद इति केचिदाक्षिपन्ति तथापि चक्षुःसार्धेर्देनेत्यादिषु सयुक्तसमवायादि-वत् विशिष्टबुद्धयोर्म्यस्यापि तत्सदृशनिष्ठस्य तन्निरूपितसादृश्याधिकरणत्वरूपपरम्परा-सम्बन्धस्य सम्बन्धत्वाद्गीकारे बाधकाभावात्, 'उपकृतं बहु तत्रे'त्यादिव्यतिरेकलक्षणास्यत्वे तन्निरूपितविरोधाधिकरणत्वरूपपरम्परासम्बन्धमात्रेण लक्षणाक्लृप्त्या 'साक्षात्सम्बन्धे विशिष्टबुद्धियोर्म्यसम्बन्धेनासत्येव लक्षणा' इति नियमाभावाच्च, नासावाचेप समुचित इति बोध्यम् । इदं त्वन्नावधारणीयम्-प्राक् सामान्येन निरुद्धलक्षणा मुक्त्वा पश्चात् 'गौणी-त्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्तीत्युल्लिखन् मूलकार पण्डितराज निरुद्धलक्षणाया गौणीत्वे स्वकौयामसम्पत्तिमिव प्रकटयति, तत्र किं बीजमिति ।

रूढिमूलक लक्षणा के उक्त दो श्रेणी के उदाहरणों में विशेष दिखाकर मतभेद का उद्घाटन करते हैं—तत्राद्यवर्गे इत्यादि । सादृश्यसम्बन्ध मूलक लक्षणा गौणी और सादृश्य से अन्यसम्बन्ध मूलक लक्षणा शुद्धा कही जाती है, यही जब सिद्धान्त है, तब रूढि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद होने चाहियें, क्योंकि रूढि-मूलक लक्षणा के जो उदाहरण ऊपर दिखाये गये हैं, उनमें भी दो श्रेणी के उदाहरण हैं, एक श्रेणी (अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि) में लक्षणा का मूल सादृश्य सम्बन्ध है और दूसरी

श्रेणी (गौणी, पीत आदि) में सारय से अन्य समवायसंबन्ध लक्षणा के मूल हैं। अतः रूढि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद (गौणी और शुद्धा) कुछ विद्वान् मानते हैं। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि पहले सामान्य रूप से निरूढ लक्षणा का उल्लेख करके पीछे 'कुछ लोग गौणी शुद्धा भेद से निरूढ लक्षणा के भी दो प्रकार मानते हैं' इस तरह लिखते हुए मूलकार ने निरूढ लक्षणा के गौणी भेद में अपनी असम्मति सूचित की है, यह क्यों ? सारोपसाध्यवसानपदयोरर्थ विज्ञोति—

विषयविषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः। अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्। तत्राद्येन सहिता सारोपा। द्वितीयेन तु साध्यवसाना।

विषयविषयिणोरिति। यत्रारोप्यते स विषय-यया मुखादि'। य' आरोप्यते स विषयी यया चन्द्रादि'। पृथङ्निर्दिष्टयोरिति। पृथगुच्चरितयोरित्यर्थः, अपृथङ्निर्दिष्टे इति। विषयिणा भिन्नेषु इत्यर्थः। आद्येन आरोपेण। द्वितीयेन अध्यवसानेन।

प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पूर्व में प्रतिपादित हो चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदों—नहरस्वार्था और अत्रहस्वार्था—के उदाहरण तो प्वनि प्रकरण में दिए जा चुके हैं। रहे चार भेद—गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना। इनके विषय में इतनी बात तो ऊपर के ग्रन्थ से विदित हो ही जाती है कि—लक्षणा जब माह्वय संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है, तब गौणी कहलाती है और जब अन्य किसी संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अवशिष्ट सारोपा और साध्यवसाना पदों का अर्थ अब बनलाते हैं—विषयविषयिणो इति। विषय—जिसमें आरोप किया जाता है वह, जैसे मुख आदि—और विषयी—जिसका आरोप किया जाता है वह, जैसे चन्द्र आदि—दोनों का अलग अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद 'आरोप' कहलाता है और विषय का अलग निर्देश न करके उसके साथ न किया जाने वाला विषयी का 'अभेद' 'अध्यवसान' कहलाता है। उन दोनों में आरोपसहित लक्षणा सारोपा और अध्यवसान से युक्त लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है।

गौणो सारोपसाध्यवसानलक्षणयोऽदाहरणे दर्शयति—

उदाहरणानि च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादीनि गौण्याः सारोपायाः। 'पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजि विराजते' इत्यादीनि च तस्याः साध्यवसानायाः।

'मुखं चन्द्रः' इत्यादी चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणा, तत्पदशक्त्यर्थस्तेन्दोर्मुखे न सहाभेदान्वयस्य थापितत्वात्। सा च लक्षणा गौणी, सादरयसम्बन्धमूलकत्वात्, सारोपा च, विषयविषयिणोर्मुखचन्द्रयोर्द्वयोर्निर्देशात्। इयमेव लक्षणा रूपकालकारस्य बीजम्। पुरेऽस्मिन्निति। अस्मिन् कर्मिन्निर्देशे वर्णनीये, पुरे नगरे, सौधशिखरे प्रासादोपरिभागे, चन्द्रराजि इन्दुश्रेणी, चन्द्रराजित्वेनाध्यवसिता कमनीयकामिनीमुखपङ्क्तिरिति यावत्, विराजते विशेषेण शोभते इत्यर्थः। तस्या इति गौण्या इत्यर्थः। अत्रापि चन्द्रशब्दस्य स्वसदृशे (मुखे) लक्षणा, सौधशिखरे चन्द्रस्थितेर्बाधितत्वात्। सा च लक्षणा सादरयसम्बन्धमूलकतया गौणी, विषयस्य मुखस्यानिर्देशेन साध्यवसानेति भावः। इयमेव लक्षणा अतिरायोक्त्यलकारविशेषस्य हेतुः।

अब गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण दिखलाते हैं—उदाहरणानि च इत्यादि। 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्रपद की स्वसदृश में लक्षणा होती है, क्योंकि चन्द्रपद के मुख्य अर्थ—इन्दु—का मुख के साथ अभेदान्वय थापित है। यह लक्षणा सादरयसंबन्धमूलक होने से गौणी और विषय मुख तथा विषयी चन्द्र दोनों के पृथक् निर्दिष्ट रहने से सारोपा कही जाती है। यही लक्षणा रूपक अलकार का बीज है। 'पुरेऽस्मिन्'.....इत्यादि अर्थात् इस नगर में अष्टालिकाओं के शिखरों

पर चन्द्रमा की श्रेणी वस्तुतः कामिनी की सुन्दर चमत्कारी हुई, मुख पङ्क्ति शोभित होती है' यहाँ भी चन्द्र पद की मुग में सादृश्यमवन्धरूप लक्षणा है क्योंकि कोंटों पर चन्द्रपङ्क्ति की स्थिति बाधित है। परन्तु यहाँ विषय मुख का पृथक् निर्देश नहीं किया गया है—'चन्द्रराजो' पद से ही उसका भी बोध कराया गया है, अतः यह साध्यवसाना कही जाती है। यही लक्षणा अतिशयोक्ति का एक प्रकार का बीज है।

उत्तसारोभास्थलेऽन्वयप्रकारमुपदर्शयति—

अत्राद्यानां विषयिप्रतिपादकैश्चन्द्रादिशब्दैर्लक्षणयोपस्थापितानां चन्द्रादि-
सदृशानामभेदेन- संसर्गेण मुखादिशब्दोपस्थापितैर्मुखत्वादिविशिष्टैर्मुखादि-
भिरन्वयः ।

आशाशान्ति । 'मुख चन्द्र' इत्यादिस्थलांशसारोपलक्षणायामित्यर्थः । विषयिप्रति-
पादकमिति । उपमानबोधकैरित्यर्थः । 'मुख चन्द्र' इत्यादीं उपमानबोधकैश्चन्द्रादि-
पदैर्लक्षणया चन्द्रसदृशा उपस्थाप्यन्ते । उपमेयबोधकैर्मुखादिशब्दैश्चाभिधया मुखत्वादि-
विशिष्टा मुखादयः उपस्थाप्यन्ते । ततश्चोपमानोपमेयबोधकपदोपस्थापितलक्ष्यार्थवाच्यार्थ-
योरभेदान्वय सम्पद्यते । तेन 'चन्द्रसदृशामिन्नं मुञ्जम्' इति साध्यबोध फलितः ।

गौरी सारोपा लक्षणा के स्थल में साध्य-बोध—प्रकार का वर्णन करते हैं—अत्र
इत्यादि । 'मुखं चन्द्र' इत्यादि स्थल में विषयिप्रतिपादक—उपमान बोधक—चन्द्र आदि
पदों में लक्षणा के द्वारा चन्द्र सदृश की उपस्थिति होती है और विषय-प्रतिपादक—उप-
मेयबोधक—मुख आदि पदों में अभिधा के द्वारा मुख आदि की उपस्थिति होती है।
उपस्थिति के बाद उन लक्ष्य और वाच्य अर्थों में परस्पर अभेद संबन्ध से अन्वय होता
है, अतः 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' ऐसा बोध फलित होता है।

ननु सदृशरूपमलक्षणाया गौरवान् सादृश्यरूपवर्मलक्षणैव कृतो नादीक्रियत इत्यत
आह—

सादृश्यरूपवर्मलक्षणायां तु तेन सह मुखादीनामन्वयो न स्यात्, नामार्थ-
योरभेदान्तिरिक्तसंसर्गेण विशेष्यविशेषणभावस्यानुपपत्तेः ।

तेनेति । सादृश्यान्मक लक्ष्मार्थेनेत्यर्थः । अयमारथः—'मुखचन्द्र' इत्यादि गौण-
सारोपलक्षणोदाहरणैः विप्रविवाचकस्य चन्द्राविशेषस्य स्वमदृशधर्माणिल लक्षणाध्वरुणे गौर-
वान्निरीति सादृश्ये धर्म एव लक्षणोऽऽश्रयणवैति कथनं न युक्तम्, तथासति चन्द्रपदोप-
स्थाप्य चन्द्रसादृश्य रूपलक्ष्मार्थस्य मुञ्जपदोपस्थाप्यमुखत्वविशिष्टरूपवाच्यार्थेन सहान्वयना-
भावप्रसङ्गान् । न च स्वहपसम्बन्धेनान्वयः सम्भवतीति वाच्यम्, 'नामार्थयोरभेदान्तिरिक्त-
सम्बन्धोऽप्युपज्ञ' इति निमग्नस्य जगत्कृत्वात् । अभेदान्द्वय एव भवन्विति तु न पक्षं
शक्यम्, सादृश्यमुञ्जयोरभेदस्य बाधितत्वात् । अतः धर्मिलक्षणैव स्वाकृतव्यति ।

सदृशरूप धर्मों में लक्षणा मानने की अपेक्षा सादृश्यरूप धर्म में लक्षणा मानने पर
आक्षेप है अतः यहाँ क्यों नहीं माना जाय इस शङ्का का समाधान अब करते हैं—सादृश्य
इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्र आदि पद की लक्षणा सदृश-धर्मों में न
मानकर सादृश्यरूप धर्ममात्र में मान ली जाय यदि, चन्द्र पद के लक्ष्य अर्थ चन्द्र सादृश्य
का मुख पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा। यदि आप कहें कि स्वरूप सम्बन्ध से
अन्वय हो सकता है, तो वह ठीक नहीं, कारण, दोनामार्थों (प्रातिपदिकायों) में परस्पर
अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है अन्य सम्बन्ध से नहीं, ऐसा नियम सर्व सममत है।
अभेदान्वय ही हो यह तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि सादृश्य और मुख अभिन्न हो
नहीं सकता। अतः, सदृशरूप धर्मों में ही चन्द्र आदि उपमान वाचक पदों की लक्षणा
माननी चाहिए।

शङ्कते—

नन्वेवं सति बोधवैलक्षण्यबन्धसदृशं मुखमित्युपमानो मुखं चन्द्र इति रूपकस्य कथं भेदः । न च सदृशविशेषणचन्द्रसंबन्धासंबन्धाभ्यामिति वाच्यम् । बोधस्य वैलक्षण्यमात्रेण पृथगलङ्कारताया असिद्धेः । अन्यथा मुखं चन्द्र इवेत्यत्र चन्द्रसदृशमित्येतद्गतात्पृथगलङ्कारतापत्तिरिति चेत् ?

एवं सतीति । धर्मिलक्षणयाऽभेदेनान्वयाङ्गीकारे सतीत्यर्थः । धर्मलक्षणया 'नामार्थयो'रिति व्युत्पत्तौ लक्ष्यार्थातिरिक्तनामार्थविषयकत्वेन संज्ञैवमङ्गीकृत्य भेदान्वये तु बोधवैलक्षण्य संबन्धीति भावः । बोधवैलक्षण्येति । उपमायामपि अभेदेनैव बोधादिति भावः । उपमास्योभेदनिश्चयं बोधवैलक्षण्यं दर्शयति—न चेति । सदृशविशेषणेत्यादि । सदृशो विशेषणभूतो यच्चन्द्रस्तत्संबन्धतदसंबन्धाभ्याम् संसर्गतया भासमानाभ्यामित्यर्थः । बोधवैलक्षण्यमिति शेषः । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदं खण्डयति—बोधस्य वैलक्षण्यमात्रेणेति । अन्यथेति । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदाङ्गीकारे इत्यर्थः । अयं भावः—गौणमारोपलक्षणस्यले धर्मिलक्षणयाऽभेदान्वयाङ्गीकारे 'मुखं चन्द्र' इति तादृशलक्षणांमूलके रूपके, 'चन्द्रसदृशम् मुख'मित्युपमायाव 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' इति समानाकारकस्यैव बोधस्य जायमानतया रूपकोपमयो को भेद इति शङ्का जागर्ति । 'भिन्नपदोपस्थाप्ययोरेवार्थयो ससर्ग ससर्गमर्यादया भासते इति नियमेन 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमास्वले चन्द्रपदात् चन्द्ररूपार्थस्योपस्थितौ, सदृशपदाच्च लक्षणया चन्द्रप्रतियोगिकमादृश्याश्रयरूपार्थस्योपस्थितौ तयोरभेदः ससर्गमर्यादया भासेत भिन्नपदोपस्थाप्यत्वात्, तथा च 'चन्द्राभिन्नं मन्मदृशं तदभिन्नम् मुखम्' इति बोधः । 'मुखं चन्द्र' इति रूपकस्वले च चन्द्रपदस्य तत्सदृशे आक्षणिकतया तत्स्यैकपदार्थत्वात् संसर्गस्यापि लक्ष्यपदकृतया चन्द्रमदृशयोः संबन्धस्य संसर्गविवया न भानमिति तत्र 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' इति बोधः । एवञ्च रूपकोपमयोर्बोधावैलक्षण्यसिद्धया भेदः सिद्धयेदिति तु न समीचीनम्, बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदे 'मुखं चन्द्र इव' 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमालक्ष्यत्वेन सर्वसम्मतयोरपि स्थल्योर्लङ्कारभेदस्याङ्गीकारणीयतापत्तेः, यत—इवेति निपातस्य घातकत्वेन 'चन्द्र इवे'त्यत्र रूपकरीत्या चन्द्रसदृशयोः संबन्धस्य संसर्गमर्यादया न भानमिति प्रागुक्तरूपकस्यलीव एव बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र च पूर्वोपदेशितो भिन्नाकारो बोध इति तयोः स्थलयोरपि बोधवैलक्षण्यमिद्धिः । 'निपाता वाचकाः' इति पक्षेऽपि इवशब्द सादृश्यवाचकः सदृशवाचको वेति पक्षद्वयं संभवति परन्तु पक्षद्वयेऽपि 'चन्द्रसदृशम्' इत्यतो बोधवैलक्षण्यं तत्र दुष्परिहरमेव यत इवपदस्य सादृश्यवाचकत्वपक्षे प्रतियोगित्वस्य संसर्गविवया भानेन 'चन्द्रप्रतियोगिकं सादृश्यम्' इत्यादिबोधाकारः, 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र तु पूर्वोक्त एव । तस्य सदृशवाचकत्वपक्षे 'चन्द्र इव' इत्यत्र स्वप्रतियोगिकाश्रयत्वस्य समर्गत्वेन भाने 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयाभिन्नं मुखम्' इति बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र पुन स एव । इत्यत्र बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदाङ्गीकारणरूपे शिथिलीभूते पूर्वोक्तो 'रूपकोपमयो कथं भेदः' इति पूर्व पक्षो यथास्थित इति ।

अब एक आनेका उपस्थित की जाती है—नन्वेवम् इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—जब आप गौण-सारीपा-लक्षणा के स्थल में चन्द्र आदि पद की धर्मों में लक्षणा मानकर मुख के साथ अभेदान्वय ही मानते हैं, तब 'मुखचन्द्र' इस रूपक तथा 'चन्द्र के समान मुख' इस उपमा—दोनों में 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' यह एक

प्रकार का ही बोध होगा, फिर इन दोनों अलंकारों में भेद क्या रहा ? अर्थात् इन दोनों स्थलों पर दो भिन्न अलंकार क्यों और कैसे मानते हैं ? एक ही क्यों नहीं मान लेते ? यदि कोई कहे कि उक्त दोनों स्थलों के बोध में विलक्षणता हो सकती है। कारण, 'भिन्न-भिन्न पदों से उपस्थित होनेवाले दो अर्थों का संबन्ध ही ससर्ग-भर्पादा-संबन्ध-रूप से भासित होता है' इस नियम के अनुसार 'चन्द्रसदृशमुख' इस उपमा-स्थल में चन्द्र तथा सदृशरूप अर्थों की क्रमशः चन्द्र तथा सदृश पद से उपस्थिति होने से उन दोनों का अन्वय, संबन्धरूप से भासित होता है—अर्थात् वहाँ 'चन्द्र से अभिन्न जो सदृश उससे अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है। परन्तु 'मुखचन्द्र' इस रूपकस्थल में चन्द्र पद से ही लक्षणावृत्ति के द्वारा चन्द्र तथा सदृश पदार्थ की उपस्थिति होती है, अतः उन दोनों अर्थों का संबन्ध संबन्धरूप से भासित नहीं होता अर्थात् वहाँ 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' यही बोध होता है। इस तरह बोध में वैलक्षण्य सिद्ध हो जाने पर उन अलंकारों में भी भेद सिद्ध होगा। परन्तु यह कथन संगत नहीं है क्योंकि यदि बोध में विलक्षणता होने से अलंकार में भेद सिद्ध किया जाय, तब 'चन्द्र इव मुखम्—चन्द्र सा मुख और चन्द्रसदृश मुखम्—चन्द्रतुल्य मुख' इन दोनों स्थानों—जो सर्वसम्भति से उपमा के ही लक्ष्य हैं—में भी दो अलंकार मानने पड़ेंगे, क्योंकि इन दोनों स्थानों पर भी बोध में विलक्षणता हो जाती है। देखिए—'इव' यह निपात है, अतः द्योतक है, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर उक्त रूपक स्थलीय रीति से 'चन्द्र इव मुखम्' में—चन्द्र और सदृश पदार्थ का संसर्ग भासित नहीं होगा, फिर तो वैसा ही बोध होगा, जैसा ऊपर रूपकस्थल में दिखलाया गया है और 'चन्द्रसदृशम् मुखम्' में चन्द्र तथा सदृश पदार्थ का संबन्ध (अन्वय) भासित होगा, अतः वहाँ का बोध भिन्न तरह का होगा। 'निपात वाचक है' अतः 'इव भी वाचक है' इस दृष्टिकोण से भी विचार करने पर बोध में विलक्षणता बनी ही रहती है, जैसे—'इव' सादृश्यवाचक है अथवा सदृशवाचक, यह विकल्प उठता है परन्तु दोनों पक्षों में यहाँ कोई खास लाभदायक अन्तर नहीं होता क्योंकि इव का अर्थ सादृश्य मानने पर उसके साथ चन्द्र का संबन्ध होगा प्रतियोगित्व, जिससे 'चन्द्र इव' में 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्य' इत्यादि रीति से बोध होगा और 'चन्द्र सदृश' इत्यादि में वही बोध रहेगा, जो पहले कहा जा चुका है। 'इव' का अर्थ सदृश करने पर 'चन्द्र इव' में 'स्वप्रतियोगिकाश्रयत्व' का संबन्धरूप से भाव होगा, जिससे बोध होगा 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्याश्रय से अभिन्न मुख' और 'चन्द्रसदृश' में तो कोई परिवर्तन होगा नहीं। इस तरह बोधवैलक्षण्य से अलंकारभेदवाला सिद्धान्त जब सिद्धिल है तब यह दांका बनी रही कि रूपक और उपमा में क्या भेद है ?

उच्चाशङ्कया प्राचामभिमतं मतभेदेन समाधानत्रय प्रतिपादयिष्यन् तावत् प्रथम-मतमाह—

अत्र केचित्—रूपकस्योपमातः स्वरूपसवेदनांशमादायावैलक्षण्येऽपि लक्षणाफलीभूतताद्रूप्यसंवेदनमादाय वैलक्षण्य निर्वाधम् । ताद्रूप्यसवेदनं च विषये मुसादी विषयिताबच्छेदकस्य चन्द्रत्वादेः सप्रत्ययः । ननु लक्षणाप्रयो-ज्यादपि तत्सदृशबोधार्थं नाम ताद्रूप्यप्रत्ययः स्यात्, उपायस्याभावाद्भेद-ज्ञानेन प्रतिबन्धाच्च । अन्यथा चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्रापि ताद्रूप्यप्रत्ययप्रसङ्ग इति चेत्, सैवम् । हलेपस्थल इषात्राप्येकराशब्दोपादानोत्पत्त्यस्य व्यञ्जनभ्योपाय-त्वाद्द्वैयञ्जनिकबोधस्य बाधबुद्धयप्रतिबन्धत्वाच्च । अथ चन्द्रतत्सदृशयोरेवैकपदो-पातत्वाच्चन्द्रसदृशो चन्द्रताद्रूप्यस्य प्रत्ययो यथाकथञ्चिदस्तु, न तु मुखत्ववि-शिष्टं मुखे । अनुभवसिद्धश्च सर्वेषां 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशु-

रञ्जन्मते' इत्यादौ विषये विषयिताद्भ्यस्य प्रत्यय इति सत्यम् । स्वताद्भ्यस्यवद-
भेदबुद्ध्या स्वताद्भ्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धेः' इत्याहुः ।

अत्रेति । उक्तांशकायामित्यर्थः । 'केचित्' इत्यस्य अप्रिमेण 'आहुः' इत्यनेन
संबन्धः । स्वरूपगवैदनेति । शब्दबोधेत्यर्थः । ताद्भ्यसंवेदनम् तादृष्यप्रतीतिः ।
अत्र 'तादृष्यमात्रसंवेदनमित्यर्थः । एतेन भेदाभेदोभयप्रधानोपमा असाधारणरूपेषोप-
मानोपमेययोर्भेदः, साधारणरूपेण त्वभेद इत्यलंकारसर्वस्वकृद्प्रबन्धविरोध इत्यपास्तम्'
इति नागेशः । तादृष्यसंवेदनयत्कतादृष्यपदार्थः स्फोरयितुमाह—तादृष्यमवेदनं चेति ।
शङ्कते—नन्वित्यादि । उपायस्येति । शक्तिलक्षणान्वतरूपस्त्वेत्यर्थः । तत्रापि लक्ष-
णास्वीकारे का वाधेत्यत आह—भेदेति । अन्यथेति । भेदज्ञानस्याप्रतिबन्धकरत्वे इत्यर्थः ।
इत्यत्रापीति । उपमायामपीत्यर्थः । तादृष्येति । तादृष्यमात्रेत्यर्थः । उपायं दर्श-
यति—श्लेषस्थल इवेत्यादि । प्रतिबन्धकं निरस्यति—वैयञ्जनिकेत्यादि । तत्सदृश-
योरैवेति । अत्रेवपदेन सुबन्धविशिष्टमुखव्यवच्छेदः । तदेवाह—न त्विति । सदृशत्वेन
रूपेण मुखोपस्थिते सत्त्वादाह—मुखत्वेति । इष्टापत्तिं परिहरति—अनुभवेति । स्वतादृष्यव-
दिति । चन्द्रतादृष्यधानं य सदृशस्तदभेदबुद्धयेत्यर्थः । तस्मिन् विषये । तस्य तादृष्यप्रत्य-
यस्य । अयमभितन्धि—'मुखं चन्द्र' इति रूपके, 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमायाश्च यद्यपि
क्रमशो लक्षणाप्रयोज्यः, अभिधाप्रयोज्यश्चोक्ताकारकः समान एव शायमिको बोध इति
तदंशमादाय तयोर्न किञ्चिद् वैलक्षण्यम्, तथापि रूपके लक्षणायाः प्रयोजनमूलकतया
उक्तप्रथमबोधानन्तरं प्रयोजनभूतः उपमेये मुखे उपमानतावच्छेदकस्य चन्द्रत्वस्य प्रत्ययो
व्यञ्जनया जायते, उपमाया तु न तयेति वैलक्षण्यं सिद्धयति । रूपकस्थले लक्षणया
चन्द्रसदृशस्यैव बोधात् उक्तः प्रयोजनभूतः प्रत्ययो न भवितुं शक्नोति, तथा प्रत्यये कारण-
त्वेन संभावितयोः शक्तिलक्षणयोरैकतरस्याव्यभावात्, 'मुखं न चन्द्र' इति बाधनिश्चयस्य
मुखाधिकरणकचन्द्रत्वप्रतीतौ प्रतिबन्धकत्वाच्च । कारणविरहेऽपि प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि न
यदि तत्र तथाप्रतीतिरनुमन्यते, तर्हि उक्तोपमायामपि सा स्वीकरणीया स्यात्, तुल्यत्वात्,
इति तु न वक्तुं योग्यम्, श्लेषस्थले यथा एकरात्रदोषादानोत्था व्यञ्जना श्लेषाधारभूत-
योरर्थयोस्तादृष्यबोधे हेतुः, तथा रूपकेऽपि चन्द्रतत्सदृशयोरैकैर्नैव चन्द्रपदेन लक्षणया
उपस्थापनादुत्पिताया व्यञ्जनायाः शक्तिलक्षणयोः समकक्ष्याया वृत्तेः तयोरेकपदोपस्थित-
योरर्थयोस्तादृष्यप्रतीतौ कारणत्वात्, बाधनिश्चयप्रतिबन्धतावच्छेदककृत्यौ वैयञ्जनिकबोधाति-
रिक्तत्वनिवेशेन तादृशप्रतीतिरप्रतिबन्धाच्च । उपमाया तु उत्थापकविरहेण व्यञ्जनाया अनु-
त्थानात् । ननु एकपदोपादान-युक्ति-समुत्था व्यञ्जना यदर्धद्वयबोधकैकपदप्रयुक्ता तदर्थयोरैव
तादृष्यं गमयेत्, तथा च प्रकृते चन्द्रसदृशे एव चन्द्रतादृष्यस्य प्रतीतिव्यञ्जनाया, न मुख-
त्वविशिष्टे मुखे । न च तावत्तैव सामर्थ्येनेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, 'मुखरूपे चन्द्रे वर्त-
माने द्वितीयोऽयं चन्द्रः किमर्थमुदयते' इत्यर्थके 'वक्त्रे चन्द्रमसी'त्यादौ आरोपविषये उप-
मेये मुखे आरोपविषयिणः उपमानस्य चन्द्रस्य तादृष्यस्य प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादिति चेन्न,
चन्द्रतादृष्यत्वान् यः सदृशस्तदभेदस्य मुखे बोधे चन्द्रतादृष्यस्यापि तत्र सुबोधत्वात् तद-
भिधासिद्धस्य तदभिज्ञत्वनियमात् इति । अत्र केचिदित्यनेनाद्यपि सूचिता । तदर्थात् ननु
स्वरूपसंवेदनकृतवैलक्षण्यसंबन्धेन फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमिति ।

उक्त आशङ्का के समाधान प्राचीनों ने तीन प्रकार से किये हैं । उनमें प्रथम
प्रकार पहले दिखलाते हैं—अत्र केचित् इत्यादि । उक्त शङ्का के विषय में कुछ

लोगों का कथन है—यद्यपि 'मुखचन्द्र' इस रूपक से 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा में स्वरूप-संवेदन-प्राथमिक बोध—भिन्न तरह का नहीं होता—अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा मानने पर जैसा बोध होता है, उपमास्थल में लक्षणा नहीं मानने पर भी जैसा ही बोध होता है, अतः उस (प्राथमिक शब्दबोध) अंश को लेकर उन दोनों स्थानों (रूपक तथा उपमा) में कोई विलक्षणता नहीं होती, तथापि रूपकस्थल में लक्षणा प्रयोजनमूला ही हुई रहती है, अतः प्राथमिक बोध के बाद लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो ताद्रूप्य संवेदन होता है, उस अंश को लेकर होनेवाली विलक्षणता में किसी प्रकार की बाधा नहीं। और 'ताद्रूप्य संवेदन' से यहाँ अभिप्राय है कि मुख आदि के विषय में विषयितावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदि की सम्यक् प्रतीति। (सारांश यह कि रूपक और उपमा दोनों स्थानों पर यद्यपि पहले 'चन्द्र सदृश मुख' यह एक प्रकार का ही बोध होता है, तथापि रूपक में सादृश्य की उपस्थिति लाक्षणिक चन्द्र आदि पद के द्वारा होती है और उपमा में इव आदि वाचक पद के द्वारा। और रूपकस्थलीय लक्षणा, रूढ़ि के न रहने के कारण प्रयोजनमूलक ही सिद्ध होती है, तदनुसार रूपक में लक्षणा का प्रयोजन होता है चन्द्र तथा मुख में 'अभेद का बोध' और उपमा में लक्षणा नहीं होती, अतः वहाँ प्रयोजन का प्रसङ्ग ही नहीं आता फिर 'अभेद का बोध' भी नहीं होता। फलतः उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में लक्षणा के प्रयोजन (अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है। यही उक्त दोनों स्थानों में रूपक और उपमा नाम से भिन्न-भिन्न दो अलंकार मानने में युक्ति है।) रूपक-स्थल में लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पद से चन्द्र सदृश आदि का बोध होता है, तो होवे, परन्तु—उस (चन्द्र सदृश बोध) से ताद्रूप्य (मुख आदि में चन्द्र आदि के अभेद) की प्रतीति कैसे होगी? क्योंकि एक तो उक्त अभेद-बोध की सिद्ध करनेवाला कोई उपाय नहीं है अर्थात् किसी अर्थ के बोध में शक्ति अथवा लक्षणा ही तो कारण होती है, और यहाँ अभेद अंश में न किसी पद की शक्ति है न लक्षणा, अतः अभेद का बोध नहीं होगा। दूसरा यह कि 'चन्द्रसदृश मुख' यह जो ज्ञान होता है, उसके साथ ही 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के भेद का ज्ञान भी होगा ही क्योंकि भेद ज्ञान, सादृश्यज्ञान का व्यापक है—अर्थात् सादृश्यज्ञान-स्थल में भेदज्ञान रहता ही है और जित दो पदार्थों में भेद का ज्ञान रहता है, उनमें अभेद का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि बाधनिश्चय को सभी लोग प्रतिबन्धक मानते हैं। यदि उपाय के अभाव और प्रतिबन्धक की सत्ता में भी उस तरह का अभेद बोध हो, तब उपमास्थल में भी 'चन्द्रसदृश मुख' इस बोध के बाद उक्त अभेदबोध का प्रसङ्ग होने लगेगा। यह आशङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्लेष-स्थल में अनेक अर्थों के बोध के लिये एक पद का ग्रहण रहने के कारण उठी हुई व्यञ्जना उन दो अर्थों के अभेदज्ञान का उपाय मानी जाती है, उसी तरह यहाँ भी चन्द्र तथा तद्रसदृश रूप दो अर्थों के बोध के लिये एक लाक्षणिक चन्द्र पद के ग्रहण द्वारा उचित व्यञ्जना (जो अभिधा और लक्षणा के समान ही बोधनियामक वृत्ति है) को उन दोनों अर्थों में अभेदज्ञान का उपाय माना जा सकता है। अब बात रही बाधनिश्चय से प्रतिबन्ध होने की, सो वैयञ्जनिक बोध में बाधनिश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि वैयञ्जनिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही उसको प्रतिबन्धक माना जाता है। उपमा-स्थल में एक पद का ग्रहण नहीं रहता अपितु दो पदों का, अतः यहाँ व्यञ्जना का उद्धान नहीं होता, यह ध्यान रखना चाहिये। यदि आप कहें कि एकपदोपादानरूप युक्ति से उचित व्यञ्जना उस एक पद से अवगत होनेवाले दो अर्थों में ही अभेदबोध करा सकती है, तदनुसार चन्द्ररूप एक पद से अवगत होनेवाले चन्द्रमा तथा तद्रसदृश में व्यञ्जना के द्वारा अभेद हो, परन्तु मुखत्व से युक्त मुख में चन्द्र का अभेद कैसे प्रतीत होगा, क्योंकि मुख की उपस्थिति तो उस चन्द्र पद से नहीं होती, और अनुभव स सिद्ध है 'वयं चन्द्र-

मति"...."इत्यादि अर्थात् मुखरूप चन्द्र की वर्तमानता में यह दूसरा चन्द्र किसलिये उदित होता है' में विषय-उपमेय-सुख में विषयी-उपमान-चन्द्र के अभेद की प्रतीति । तात्पर्य यह कि व्यञ्जना के बल पर चन्द्र तथा चन्द्रसदृश का अभेद ज्ञात होने पर भी चन्द्र तथा मुख का अभेद ज्ञात नहीं हो सकता । तो इसका समाधान यह है कि—कहना जायका यद्यपि सच है, तथापि व्यञ्जना से जब चन्द्र-सदृश में चन्द्र का अभेद ज्ञात हो जायगा, तब जिस मुख को चन्द्रसदृश से अभिन्न समझा जा चुका है, उस मुख में भी चन्द्र का अभेद ज्ञात हो ही जायगा, क्योंकि 'जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है' यह एक न्याय-सम्मत बात है । अतः रूपक स्थल में विषयी का अभेद विषय में अवश्य प्रतीत होता है ।

उक्ताश्चेद्वितीयं मतनुपदर्शयति—

अन्ये तु—'चन्द्रादिपदेभ्यो लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां मुख्यादीनां चन्द्रत्वेन रूपेणैव मुख्यादिपदोपस्थापितैः सहाभेदान्वयबोधो जायते । तत्तत्पदलक्षणाज्ञानस्य तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यान्यबोधत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतायाः, पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वस्यानुभवसाक्षिकवैलक्षण्यकलाक्षणिकयोधातिरिक्तविषयतायाश्च कल्पनाद् । अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र तद्वत्त्वेनाप्युपस्थितस्य तदस्य गङ्गात्वेनान्वयबोधस्तत्प्रयोज्यः शैत्यपावनत्वादिप्रत्ययश्च सगच्छते । प्रकृते तु विषयिचन्द्रादिनिष्ठासाधारणगुणबलप्रत्ययः फलम् । न हि चन्द्रत्वप्रतीतिं विना मुखे चन्द्रत्वनियतगुणवत्त्वधीः शक्योपपादयितुम् । ताद्रूप्यपदेन तदसाधारणगुणवत्त्वमेव प्राचीनैरुक्तम् । इत्थं च स्वरूपसंवित्तिकृतः फलीभूतसंवित्तिकृतश्चोपमातो रूपकस्य भेदः स्फुट एव' इति वदन्ति ।

'अन्ये' इत्यस्मात्प्रतिषेध 'वदन्ति' इत्यनेनान्वयः । चन्द्रादिपदेभ्यः इति । उपमानवाचकेभ्य इति भावः । लक्षणया इति । गौण्यां सारोपया इति भावः, चन्द्रसदृशत्वेनेति । लक्ष्यतावच्छेदकेति भावः । चन्द्रत्वेनेति । शक्यतावच्छेदकेनेति भावः । उपस्थापितैरिति । मुख्यादिरूपेणैविति शेषः । ननु प्राचीनाः शक्यसंबन्धप्रकारकलक्ष्यविशेष्यकशाब्दबुद्धित्वे लक्षणज्ञानकृतावच्छेदकमज्ञोदुर्वन्तीति कथमित्य बोध इत्यत आह—तत्तत्पदेति । 'तत्तत्पदानां—चन्द्रादीनाम्—या लक्षणा—चन्द्रादिपदनिष्ठा या शक्यसंबन्धरूपा लक्षणा वृत्तिरित्यर्थः, तस्यां तद् ज्ञानम् चन्द्रादिपद तत्तदशो लक्षणिकमित्याकारकम्, तत्, तत्तत्पदशक्यतावच्छेदक—चन्द्रादिपदशक्यतावच्छेदक चन्द्रत्वादि-रित्यर्थः, प्रकारो यस्मिन् तादृशो यः लक्ष्यान्यबोधत्वावच्छिन्न—मुखादिविशेष्यकाः सर्वे बोधा—तम् प्रति कारणम्' इत्याकाकार्यकारणभावस्येत्यर्थः । एतद् विवृण्वती 'सत्त्वा' न समीचीनेति द्रष्टव्यं विज्ञे । नन्वेवमपि उपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमो भज्येत इत्यत आह—पदार्थेति । अनुभवसाक्षिकं वैलक्षण्यं यत्र तादृशो यो लाक्षणिकयोधः तदतिरिक्तविषयताया इत्यर्थः । उक्तकल्पनाया आवश्यकतामाह—अत एवेति । शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोधोपादेवेत्यर्थः । तद्वत्त्वेनान्वयप्रापिना समीपत्वसमुच्चयः । ननु प्रकृते फलाभावे इत्यत आह—प्रकृते त्विति । असाधारणगुणवत्त्वेति । विजातीयहादकत्वादीन्यर्थः । चन्द्रत्वनियतेति । चन्द्रत्वसमनियतेत्यर्थः । चन्द्रत्वानाधिकरणावृत्ताति यावत् । नन्वेवं प्राचीनाभिमतसिद्धान्तविरोधः, ताद्रूप्यस्येदनस्य तैः फलत्वेनोक्तत्वादित्यत आह—ताद्रूप्यपदेनेति । इत्यं चेति । रूपकस्थले तादृशो बोधे तथाविधे फले

चाज्ञीक्रियमाणे चेत्यर्थः । उपमातो रूपकस्येति । उपमाया तथाबोधाभावात् साधारणस्यैव गुणस्य प्रतीतिश्चेति भावः । अत्रायं विशदोऽर्थः—चन्द्रादिपदनिष्ठलक्षणाज्ञानस्य चन्द्रादिपद-शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यार्यविशेष्यकबोधं प्रति कारणत्वकल्प्यते एवम् यत्प्रकारिका यदि-शेष्यिकोपस्थितिर्यत्र तत्र तत्प्रकारक तद्विशेष्यक एव बोध इति नियमस्य लक्षणाजन्यबोधाति-रिक्ताविषयकत्वघ स्वीक्रियते, लक्षणाजन्योपस्थिति-तज्जन्यबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्यानुभवसिद्ध-त्वात् । तेन मुखचन्द्र इति रूपकस्थले गौणसारोपलक्षणया चन्द्रपदात् चन्द्रसदृशत्वेन रूपेण मुखस्योपस्थितावपि तस्य मुखपदोपस्थापितमुखेन सहान्वयबोध, चन्द्राभिन्नं मुखमित्याकारकश्चन्द्रत्वेनैव रूपेण भवति । लक्षणास्थले च तादृश कार्यकारणभावः उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वघाकामेनापि स्वीकरणीयमेव, अन्यथा गङ्गाया घोष इत्यत्र शैत्यपावनत्वप्रतीतिर्न स्यात् । तत्स्वीकारे तु तदत्वेनाप्युपस्थितस्य तदस्य गङ्गा-त्वेन रूपेणान्वयबोधे तत्प्रयुक्ता तथाविधप्रतीतिरुपपद्येत । ननु तत्र तथाविधप्रतीतिरूप-फलसिद्धयर्थं तथाज्ञीकारस्य युक्तत्वैऽपि मुखचन्द्र इत्यादौ तत्स्वीकारे किं फलमिति चेन्न, प्राचीनैस्ताद्रूप्यपदेन विधत्तितस्य विजातीयोद्वादकत्वरूपचन्द्रनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वस्य मुखे प्रतीतिः फलत्वात् । न च मुखे चन्द्रनिष्ठा साधारणगुणवत्त्वप्रतीतिसंपादने तत्र चन्द्राभेद-प्रतीते कथमपेक्षेति वाच्यम्, चन्द्रत्वसमनियतगुणवत्त्वप्रतीतेश्चन्द्रत्वप्रतीतिमन्तरोपपाद-यितुमशक्यत्वात् । समनियतवस्तुद्वयमध्यगतमेक नापरव्यतिरेकेण स्यात् प्रभवति । एव-धोपमापेक्षया रूपके न केवल फलात्मकप्रतीतिकृत एव भेद अपि तु प्राथमिकस्वरूपप्रती-तिकृतोऽप्येति । अत्रापि मते प्रत्यक्तुतोऽर्थः प्रतीयते । तद्वर्जं तु प्रसिद्धिविह्वलस्योक्त-कार्यकारणभावस्य उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्य चास्वीकारेऽपि सामञ्जस्यं सम्भव-तीति बोध्यम् ।

पूर्वमत में लक्षणा के फलरूप से प्रतीत होनेवाले विशेष के आधार पर उपमा से रूपक में बिलक्षणता दिखलाई गई है, परन्तु शाब्दबोध में भी जब वैलक्षण्य हो सकता है, तब फलकृत वैलक्षण्यपर्यन्त अनुधावन व्यर्थ है, इस अर्थ को प्यान में रखकर द्वितीय मत का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु ह्यथादि । अन्य विद्वान् उपमा से रूपक में भेद दिखलाने के लिये निम्नलिखित बातें कहते हैं । रूपकस्थल (मुखचन्द्र) में चन्द्र आदि पद की चन्द्रसदृशरूप अर्थ में गौणी सारोप्य लक्षणा हुई रहती है, अतः चन्द्र पद से मुख आदि की ही सही परन्तु 'चन्द्र-सदृशत्व' रूप से प्रतीति होती है अर्थात् लक्षणा के द्वारा चन्द्रसदृश का ही ज्ञान होता है, केवल चन्द्र किंवा मुख का नहीं, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि उक्त रूपकस्थल में मुख आदि पदों से मुखव्यतिरिक्त रूप में उपस्थित मुख आदि अर्थों के साथ चन्द्र पदार्थ का चन्द्रत्वरूप से ही अभेदान्वय होता है, चन्द्रसदृशत्वरूप से नहीं । तात्पर्य यह कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि वाक्य से अर्थ की उपस्थिति 'चन्द्र सदृश मुख' इस रूप में होती है, परन्तु अन्वयज्ञान 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इती रूप में होता है अर्थात् ऐसे स्थानों पर अर्थ की उपस्थिति अन्य रूप से और अन्वयबोध अन्य रूप से होते हैं । यदि कोई कहे कि यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् मुखचन्द्र इत्यादि रूपकस्थल में उपस्थिति 'चन्द्रसदृश मुख' की और अन्वयबोध 'चन्द्राभिन्न मुख' का कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने लक्षणाज्ञान को शक्यसंबन्धप्रकारक लक्ष्यविशेष्यक बोध के प्रति ही कारण माना है, तदनुसार उक्त स्थान पर 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' इस एक रूप में ही अर्थ की उपस्थिति तथा अन्वयबोध दोनों होने चाहिएँ । साथ-साथ प्राचीनों ने उपस्थिति और शाब्दबोध में समानरूपता का सिद्धान्त माना है अर्थात् किसी पद से जिस रूप में जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी रूप में उस अर्थ का

अन्वयबोध भी होता है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है। तदनुसार भी उक्तस्थल में पदार्थपरिस्थिति तथा शब्दबोध में एकरूपता ही होनी चाहिए, आपके कथनानुसार विभिन्न रूपता नहीं। तो इसका समाधान यह है कि हम लक्षणा ज्ञान को लाक्षणिक पद-शक्य-तावच्छेदक अर्थात् चन्द्रस्व आदिप्रकारक और लक्ष्य अर्थात् मुख-आदिविशेष्यक बोध के प्रति कारण मानते हैं और उपस्थितिशब्दबोध की समानरूपतावाले सिद्धान्त को लाक्षणिक पदजन्य बोध से अतिरिक्त विषय में ही स्वीकार करते हैं अर्थात् सामान्य नियम यद्यपि ऐसा है कि उपस्थिति और शब्दबोध एकरूप हो, तथापि लक्षणा के स्थान पर उन दोनों में भिन्नरूपता भी हो सकती है, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा इसलिये मानते हैं, कि लक्षणास्थल पर उपस्थिति तथा शब्दबोध में भिन्नरूपता अनुभव से सिद्ध है। इस तरह की हमारी मान्यता के आधार पर ही 'गङ्गा में घोष (वयान-गॉव) इस प्रसिद्ध लक्षणाके उदाहरण में लाक्षणिक गङ्गा पद से उपस्थिति तटस्वरूप से अथवा सामीप्यरूप से तट की होती है और घोष पदार्थ के साथ अन्वयबोध गङ्गास्वरूप से होता है, जिससे शीतलता तथा पावनता की अभिव्यक्ति होती है' यह विश्लेषण संगत होता है। अन्यथा (लक्षणाज्ञान को शक्यसंबन्धप्रकारक अन्वय-बोध के प्रति कारण तथा उपस्थिति-शब्द-बोध में एकरूपतावाले सिद्धान्त को मान लेने पर) उक्त विश्लेषण की असंगति स्पष्ट है। यदि आप कहें कि वहाँ तो शीतलता आदि की अभिव्यक्ति एक फल है, अतः वैसा माना जा सकता है, परन्तु प्रकृत में तो कुछ फल है नहीं, फिर वैसा क्यों माना जाय ? तो इसके उत्तर में प्रकृत पक्षवालों का विनम्र कथन है कि यहाँ भी विषयी अर्थात् उपमान-चन्द्र आदि में रहनेवाले असाधारण गुण (विजातीय आह्लादकत्व आदि) की मुख में प्रतीति होना फल है। यदि आप कहें कि इस फल के लिये मुख में चन्द्रत्व की प्रतीति कराने का क्या प्रयोजन है ? चन्द्रसादृश्य की प्रतीति होने पर भी उक्त फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि जो गुण चन्द्रत्व के समनियत हैं अर्थात् चन्द्रत्व के साथ ही जो गुण रह सकते हैं, उसके बिना नहीं, उन गुणों की प्रतीति मुख में तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति न हो जाय। तात्पर्य यह कि मुख में चन्द्र-गत आह्लादकत्व आदि गुणों की प्रतीति सिद्ध करने के लिये पहले उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति को सिद्ध करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पूर्वमत में ताद्रूप्यप्रतीति को जो प्रयोजन कहा गया है, उसमें ताद्रूप्य पद से असाधारण गुण ही विवक्षित हैं। इस तरह उपमा से रूपक में स्वरूपसविति (प्राथमिक शब्दबोध) और फलीमूल सविति (लक्षणाप्रयोजन की प्रतीति) दोनों ही विलक्षण होते हैं, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

उक्तमामञ्जस्यसाधकं तृतीयं मतमाह—

अपरे तु—'भेदकरम्बितं सादृश्यमुपमाजीवानुभूतम्, भेदाकरम्बितं च गौणसारोपलक्षणाया इति स्फुटे भेदे कृतं फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन। पक्षेऽस्मिन्भेदागर्भसादृश्यप्रतिपक्षेस्ताद्रूप्यप्रतीतिः कथं नाम फलं भवितुमीष्टे इत्यनुपपत्तिं परिहर्तुमायासोऽपि नापततीत्यपरमनुकूलम्' इत्यन्याहुः।

करम्बितं विशिष्टम्। सादृश्यस्य धर्मरूपत्वेऽतिरिक्तत्वे च भेदागर्भत्वादिति भावः, जीवा-
तुर्जीवनौपपन्नम्। उपमाप्रयोजकमिति पिण्डार्थः। स्फुटे भेदे इति। उपमाया चन्द्राभिन्नं
चन्द्रसादृशमिति बोधः। रूपके तु चन्द्रसादृशमित्येवेति भावः। पक्षेऽस्मिन्निति। अस्य अप-
रमनुकूलमित्यत्र संबन्धः। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोपरमवत्वम् सादृश्यमित्येक पक्षः।
तन्मतानुसारेणोपमाया प्रयोजक सादृश्यं भेदाभेदघटितमिति तत्रत्यबोधे भेदो भासते।
सादृश्यं नोक्ताकारम् अपि तु परमान्तरमेवाखण्डमिति द्वितीयः पक्षः। तद्रीत्या रूपकस्य प्रयो-

जक सादृश्य न भेदघटितमिति तत्रत्यबोधे भेदो न भासते । एवञ्चोपमात्पक्षयो स्वरूप एव भेद सिद्धघर्ताति पश्चात्कालिकवैयञ्जनिकबोधविषयीभूतफलवैलक्षण्यभादाय तयो भेदसाधनोपयामो विफल एव । एतद्वीत्यनुसरणेऽयमपि लाभो यत् मुखचन्द्र इत्यादिरूपके लक्षणाया प्रयोजनमूलरूपा, व्यञ्जनया मुखे चन्द्रताद्रूप्यप्रतीतिरिति प्रयोजन यदुत्तम, तत्र द्विपदे पूर्वमतयो 'व्यञ्जनयाऽपि मुखे चन्द्रताद्रूप्यप्रतीति कथं स्यात्' १ लक्षणया भेदघटितसादृश्यभावेन तस्या बाधितत्वात्' इति शकाया जागरिताया तन्तमाधानाय बाधनिश्चयप्रतिबन्धतावच्छेदरुद्धौ वैयञ्जनिकबोधातिरिक्तविषयत्वनिवेश कर्तव्यो भवति यथा, तथा नारिमन्, मते भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्यात्र कल्पे रवीकारेणोक्तनिवेश विनापि तौद्रूप्यप्रतीति सम्भवात् इति भाव ।

अनुपदोक्त द्वितीय मत में भी ग्रन्थकार की अहचि-सी प्रतीति होती है जिसका कारण यह ज्ञात होता है कि अप्रसिद्ध कार्यकारणभाव तथा उपस्थिति-सादृश्य बोध की भिन्नरूपता को अस्वीकृत करने पर भी जय निर्वाह हो सकता है, तय व्यर्थ उन दोनों बातों का स्वीकार क्यों किया जाय ? अत एव अथ तृतीय मत का उल्लेख करते हैं-अपरे तु इत्यादि । कतिपय विद्वानों का कथन है कि जब सादृश्य पदार्थ के स्वरूप के विषय में दो मत मान्य हैं जिनमें एक के अनुसार 'उससे भिन्न होकर उसमें रहनेवाले अधिकतर धर्मों से युक्त होना' ही सादृश्य पदार्थ है और दूसरे के अनुसार सादृश्य एक अलखण्ड भिन्न धर्म ही है । तब क्यों नहीं इन दोनों मतों के अनुसार उपमा और रूपक को विषय कर दिया जाय ? अर्थात् प्रथम मत-सिद्ध भेद तथा अभेद दोनों में सम्मिलित सादृश्य पदार्थ को उपमा का प्रयोजक मान लिया जाय और द्वितीय मत सिद्ध भेदांशरहित सादृश्य पदार्थ को रूपक का नियामक समझा जाय । तदनुसार 'चन्द्रसदृश मुख' इत्यादि उपमास्थल में 'चन्द्र से भिन्न होकर भी चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' और 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपकस्थल में केवल 'चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' ये दो प्रकार के बोध होंगे । इस तरह से जब स्वरूप सवेदन-प्रयुक्त भेद ही दोनों स्थलों पर स्पष्ट हो जाता है, तब फल-प्रयुक्त भेद का अनुसरण निरर्थक है । लक्षणा से जब भेदघटित सादृश्य की प्रतीति पहले हो जाती है, तब पीछे व्यञ्जना से भी ताद्रूप्य (अभेद) की प्रतीति कैसे होगी' इस आज्ञा के उत्तर में पूर्व के दोनों मत वालों को जो यह कहना पड़ता था कि 'वैयञ्जनिक बोध में बाध-निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता' वह भी इस मत में नहीं कहना पड़ता, क्योंकि इसके अनुसार भेद से अभिभूत सादृश्य का ही बोध रूपकस्थल में लक्षणा से माना जाता है ।

प्राचीनमतवर्णनमार्गति सूचयन्नाह—

तदित्थ प्राचामाशयो मतभेदेन वर्णितः ।

इत्य पूर्वांकप्रकारेण । आशयः अभिप्रायः । मतभेदेनेति । 'केचित्', 'अन्ये', 'अपरे' इति त्रिभिः प्रतीकैः प्रतिपादितेन मतत्रयेत्यर्थः ।

अथ प्राचीन तीन मत की व्याख्या को समाप्त करने की सूचना देते हैं-तदित्थमित्यादि । 'केचित्', 'अन्ये' और 'अपरे' इन तीनों प्रतीकों के द्वारा प्राचीन भाषाओं के अभिप्रायों का वर्णन किया जा चुका ।

सम्बन्धितु नवान्ततत प्रपद्यति—

नव्यास्तु—'मुख चन्द्र, घाहीको गौ' इत्यादी चन्द्रादीनां मुखादिभिः सह सम्भवति लक्षणा विनयाभेदेन ससर्गेणान्वयबोध' । बाधनिश्चयप्रतिबन्ध-तावच्छेदककोटायनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेश्यत्वान् । अत एव

‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थं ज्ञानं शब्दः करोति हि’ इति प्राचां प्रवादोऽपि संगच्छते । न च ‘बहिना सिद्ध्यति’ इत्यतो वाक्यादपि शाब्दबोधोपपत्तिः । योग्यताज्ञानविरहात् । मुखं चन्द्रः, गौरवाहीकः, इत्यादौ त्विष्टचमत्कारप्रयोजकताज्ञानाधीनाया इच्छायाः सत्त्वादाहार्ययोग्यताज्ञानसाग्राज्यम् । अत एव शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य कारणत्वोक्तिः प्राचां संगच्छते ।

नव्या इति : अप्यप्यदोषितादय इत्यर्थः । अस्य दूरस्थेन ‘आहु’ इति क्रियापदेनान्वयः । ननु मुखं न चन्द्र इत्यादिबाधज्ञानसत्त्वेन कथं तथाबोध इत्यत आह— बाधेति । अनाहार्येति । बाधज्ञानसत्त्वेऽपि इच्छारूपोत्तेजकवशादाहार्यस्य जायमानत्वादिति भावः । इदमिन्द्रियसन्निर्घातजन्यत्वदोषविशेषाजन्यत्वबोधोत्पत्त्युपलक्षणम् । अत एवेति । तथानिवेशादेवेत्यर्थः । अत्यन्तासत्यपीति । पदार्थं सर्वथाऽऽवर्तमानेऽपि शब्दात्तदर्थविषयरो बोधो भवत्येवेति तदर्थः । अत एव ‘शशभ्रमं परव’ इत्यादिवाक्यभयणोत्तरत्वेनाना दर्शनोन्मुक्तौ प्रवृत्तिः संगच्छते । प्रसिद्धे भ्रमपदार्थे शशीपत्वभ्रमेण तादृशी प्रवृत्तिरिति केचित् । चाद्यायं बाधितेऽपि बाधार्थस्याबाधितस्य सत्त्वात्तथेत्यपि बहवः । न चेत्यस्यैवमिति शेषः । शाब्दान्यत्वनिवेशे इति तदर्थः । योग्यताज्ञानविरहादिति । योग्यता न परस्परसंबन्धे बाधाभावः । ‘पदार्थं तत्र तादृता योग्यता परिकीर्तिता ।’ इत्यन्ये । एतदपदार्थेऽपरपदार्थसंबन्धो योग्यतेति तदर्थः । नन्वेव प्रवृत्तेऽपि योग्यताज्ञानाभावात्कथं बोधोऽत आह— मुखमिति । इत्येति । इष्ट अभिलषितं यं चमत्कारः सोऽतोत्तरादाह इत्यर्थः । ज्ञानेति । ‘चन्द्राभिन्नं मुखमित्यादिवोधभ्रमत्कारप्रयोजक’ इत्याद्याकारकेत्यर्थः । इच्छामा इति । ‘चन्द्रप्रतियोगिबाधेदसम्बन्धवन्मुखमिति बोधो मे जायताम्’ इत्याकारिकाया इत्यर्थः । आहार्येति । बाधकारालेनेच्छाजन्येत्यर्थः । योग्यताज्ञानेति । ‘चन्द्रप्रतियोगिकाभेदसम्बन्धवन्मुखम्’ इत्याद्याकारकेत्यर्थः । अत एवेति । बाधनिधयप्रतिषेधतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशादेवेत्यर्थः । शाब्दबोधे शाब्दबोधनायच्छिन्ने । अयमभिप्रायः—‘मुखं चन्द्रः’ इत्यादीनि यानि गौणमारोपालक्षणोदाहरणत्वेन प्राचामभिमतानि तेषु लक्षणा नावश्यकी, ननु लक्षणां विना ‘मुखं न चन्द्रः’ इत्यादिबाधनिधये वर्तमाने चन्द्रमुखादिपदवाच्यार्थयोः फलमनेदान्यवयवबोधः, तादृशतासुद्धिं प्रति तदभाववत्तात्मक्यार्थनिधयस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेन्न, बाधनिधयप्रतिषेधतावच्छेदकत्वे यथा अनाहार्यत्वादिकं निवेदयते, तथा शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशनीयत्वात्— अर्थात्, ‘लौकिकसदिकार्यजन्यदोषविशेषाजन्यतादाहार्यशाब्दान्यत्वद्विधावच्छिन्नं प्रति बाधनिधय प्रतिबन्धक’ इत्याकारकस्यैव प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य स्वीकारात् । तथा च बाधितार्थविषयरोऽपि शाब्दबोधो उक्तकारक स्यादेव । ‘अत्यन्ता सत्यपि’ इति प्राचीनोक्तिरपि अत एव सगता भवति । शाब्दबोधस्यापि बोधनिधयेन प्रतिबन्धे तदसंगति स्पष्टैव । न चैव रीत्या ‘बहिना सिद्ध्यति’ इति वाक्यादपि ‘चक्रिकरणकं मेरु’ इत्याकारको बाधितार्थविषयक शाब्दबोधोपपत्तेरिति वाच्यम्, शाब्दबोधोपपत्तेरान्यतमस्य योग्यताज्ञानस्य विरहेण तथाबोधोपपत्तेरभावात् । ‘करणक्रियाभावावयवबन्धेन यद्विमानं मेरु’ इत्याकारकं योग्यताज्ञानं नास्तीति तात्पर्यम्, अथ नुत चन्द्र इत्यादावपि योग्यताज्ञानं नास्त्येवेति कथं तत्र तादृशो बोधो उपपायते इति तु नाशङ्क्यम् । स्वाभाविकयोग्यताज्ञानसत्त्वेऽपि आहार्ययोग्यताज्ञानस्य सत्त्वात् बहिना सिद्ध्यतीत्यनं तु नाहार्ययोग्यताज्ञानस्यापि सम्बन्धः, तज्जनकेच्छाया विरहात् निधयोज-

नेच्छया श्रद्धानात् । मुखं चन्द्र इत्यादौ तु जायते यौग्यता हानेच्छा, इष्ट-
चमत्कारप्रयोजकज्ञानप्रयोज्यत्वेन तस्यास्तत्र सप्रयोजनत्वात् । 'शाब्दबुद्धिवाचच्छिन्ने
यौग्यताहानं कारणम्' इति कार्यकारणभाव प्राचीनाभिमतः, बाधनिश्चयप्रतिबन्धताव-
च्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशस्वीकारादेव संगन्तुमीदृ । अन्वया तु तादृशकार्यकारणभा-
ववारणीयस्य शाब्दबोधस्य बाधनिश्चयरूपप्रतिबन्धकेनैव वारणौ तदसगतिरेवापत्तेः इति ।

अप्ययदीक्षित आदि नवीन विद्वान्, उक्त उपमा और रूपक में भेद सिद्ध करने के
लिये कुछ नवीन ही युक्ति बतलाते हैं जिसका खण्डन यद्यपि आगे ग्रन्थकार को करना
है तथापि खण्डन करने के लिये ही पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—नव्यास्तु
इत्यादि । नवीन विद्वानों का कथन है कि 'मुख चन्द्र है' 'वाहीक (वैल का चरवाहा)
गो (वैल) है' इत्यादि जो गौण सारोपलक्षणा के प्राचीनाभिमत उदाहरण हैं,
उन्हीं लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि आप कहें कि 'बह है' इत्यादि बोध
के प्रति 'वह नहीं है' इत्यादि बाधनिश्चय प्रतिबन्धक होता है, इस नियम के अनुसार
'मुख चन्द्र नहीं है', 'वाहीक गो नहीं है' इत्यादि बाध-निश्चय-दशा में लक्षणा के बिना
(लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पदों का तासदृश अर्थ नहीं करने पर) 'मुख चन्द्र से अभिन्न
है', 'वाहीक गो से अभिन्न है' इत्यादि तरह के अमेदान्वयबोध कैसे हो सकते हैं ? तो
इसका उत्तर यह है कि बाध-निश्चय से प्रतिबद्ध होनेवाले ज्ञान के पीछे जिस तरह
अनाहार्य आदि विशेषण जोड़े जाते हैं, उसी तरह शाब्दबोध से अन्य यह एक और
विशेषण जोड़ना चाहिए । तात्पर्य यह है कि 'शुक्ति रजत नहीं है' इस बाधनिश्चय के
रहने पर भी 'मुझे इस शुक्ति में रजत की बुद्धि होवे' इस इच्छा के बल से जो
शुक्ति के विषय में 'वह रजत है' इस तरह का ज्ञान होता है, उसी की आहार्य ज्ञान
कहते हैं, वह बाध निश्चय से नहीं रहता, अतः बाधनिश्चय-प्रतिबन्धतावच्छेदक-
कोटि में अनाहार्यत्व का निवेश किया जाता है । उसी तरह जब उक्त कोटि में शाब्दा-
न्यत्व का भी निवेश कर दिया जायगा, तब बाधितार्थविषयक भी शाब्दज्ञान होगा ।
अतएव प्राचीनों ने जो यह कहा है कि 'अर्थ की अत्यन्त अवर्तमानता अवस्था में भी
शाब्द अपना कार्य करता ही है—अपने अर्थ का ज्ञान कराता ही है'—वह भी सगत
होता है । यदि बाध-निश्चय से शाब्दज्ञान भी रहता, तब तो उक्त कथन असगत ही
होता, क्योंकि जो अर्थ (जैसे वन्या का पुत्र) ससार में है ही नहीं, वह तो सर्वथा
बाधित है, फिर शाब्द से उसके ज्ञान की बात कैसे कही जा सकती है ? यदि कहा
जाय कि बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध मानने पर 'भाग से सींचता है' इस
वाक्य से भी 'अग्निकरणक लेखन' यह शाब्दबोध होने लगेगा । तो इसका समाधान
यह है कि शाब्द-बोध के अनेक कारणों में से एक जो बाधाभावरूप योग्यता
का ज्ञान है, उसके नहीं रहने से उक्त शाब्दबोध नहीं होगा—अर्थात् लेखन किसी तरह
वस्तु से ही हो सकता है, भाग से नहीं इस तरह का बाध-निश्चय रहने पर बाधाभाव-
रूप योग्यता का ज्ञान—जो शाब्दबोध के कारणों में से एक है—हो नहीं सकता, अतः
उक्त बोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती । इस पर आप कह सकते हैं कि 'मुख चन्द्र है'
इत्यादि स्थल में भी तो बाधनिश्चय है अतः बाधाभावरूप योग्यता का ज्ञान होगा नहीं,
फिर कैसे वहाँ लक्षणा के बिना अमेदान्वय की बात करते हैं ? तो मैं कहूँगा कि कहना
आपका सत्य है, परन्तु यहाँ आहार्य (वाचकालिक इच्छाजन्य) योग्यता-ज्ञान हो जाता
है । यदि आप कहें कि यह तो आपने ऐसी बात कही, जिसके अनुसार पुनः 'भाग से
सींचता है' यहाँ भी बाधित अर्थ का बोध प्राप्त हो जायगा अर्थात् आहार्य योग्यता-
ज्ञान यहाँ भी मान लिया जा सकता है । तो इसका उत्तर यह है कि नहीं भाई, यहाँ
आहार्य योग्यता-ज्ञान भी नहीं हो सकता । कारण, वाचकालीन इच्छाजन्य ज्ञान को

ही तो आहार्य कहते हैं, और किसी वस्तु की इच्छा निष्प्रयोजन होती नहीं, अतः वहाँ जननी इच्छा का अभाव रहता है। आप कहेंगे कि—'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थल में कौन सा प्रयोजन है, जो बाधकालिक ज्ञान की जननी इच्छा को उत्पन्न करता है? तो मैं कहूँगा—'हाँ, वहाँ यह ज्ञान है कि 'मुख चन्द्र से अभिन्न है' इत्याकारक ज्ञान, चमस्कार (अलौकिक आनन्द) का प्रयोजक (परम्परया कारण) है।' अतः 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इस तरह का ज्ञान मुझे होवे यह इच्छा होती है। बाधनिश्चय से रुकनेवाले ज्ञान के पीछे शाब्दान्य विशेषण जोड़ने की बात मान लेने पर ही 'योग्यताज्ञान, शाब्दबोध में कारण है' यह प्राचीनों की उक्ति संगत होती है। अभिप्राय यह है कि बाधनिश्चय रहने पर शाब्दबोध न होवे इसलिए वाधाभाव-रूपयोग्यता-ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रति कारण माना जाता है। अब आप सोचिये कि यदि बाध-निश्चय-प्रतिबन्धितावच्छेदक कोटि में शाब्दान्यत्व निवेश नहीं किया जाता अर्थात् शाब्दज्ञान भी बाधनिश्चय से रोका जाता, तब तो उसीसे यह रुक ही जाता फिर उसको रोकने के लिये योग्यताज्ञान को कारण मानना व्यर्थ हो जाता।

मुखं चन्द्र इत्यादौ लक्षणा विनैवाभेदान्वयबोधोपपादकं प्रकारान्तरमाह—

आहार्य एव वाऽभेदान्वयबोधोऽस्तु । मास्तु वाय बुद्धि-प्रतिबन्धिताव-
च्छेदककोटी शाब्दान्यत्वम् । मा चास्तु शाब्दबुद्धौ योग्यताज्ञानस्य कारणत्वम् ।
आहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति नियमश्च ।

नियमरचंति । अस्य 'मा चास्तु' इति पूर्वतनेन क्रियापदेनान्वयः । अयं भाव —
आहार्ययोग्यताज्ञानरूपनेन मुखं चन्द्र इत्यादौ वाच्यार्थयोरभेदान्वयबोधोपपादने गौर-
वन्चेदुद्भवाव्यते, तर्हि तत्र वाच्यार्थयोरभेदान्वयबोध एवाहार्योऽज्ञीकार्यः । अर्थात् मुख
न चन्द्र इति बाधनिश्चयदशावामपि 'चन्द्राभिन्नं मुखम्' इति बोधो जायताम् इतीच्छया
साहस्यं शाब्दबोधो भवतु । बाधनिश्चयस्तु न त बोधं प्रतिबन्धितान्, तदीयप्रतिबन्धिता-
वच्छेदककोटी अनाहार्यत्वस्य निविष्टत्वात् । एवञ्च बाधनिश्चयप्रतिबन्धितावच्छेदककोटी
शाब्दान्यत्वनिवेशोऽपि न कर्मव्यो भवतीति द्वितीयम् लापचम् । अथ न अनाहार्यस्य
वाधितार्थविषयस्य शाब्दबोधस्य बाधनिश्चयेनैव प्रतिबन्धे, आहार्यस्य च तस्यैष्टत्वे,
योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे कारणत्वमपि नाश्रयणीयं भवतीति तृतीयम् लापचम् । ननु
प्रात्यक्षजन्यमेव ज्ञानमाहार्यं भवतीति नियमव्याकोपोऽत्र बाधक इति चेन्न, तस्य नियमस्य
स्वीकारात्, अतिशयोक्त्यादिषु बहुषु अलंकारेषु आहार्यशाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् इति ।

सारांश लक्षणा के स्थल में अर्थात् 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक में लक्षणा के बिना भी अभेदान्वय हो सकता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये नवीन विद्वानों के द्वारा दी गई एक दूसरी युक्ति का उल्लेख करते हैं—आहार्य एव इत्यादि । आहार्य योग्यता-ज्ञान मान कर रूपक स्थल में लक्षणा के बिना वाच्य दो अर्थों के ही अभेदान्वय की उपपन्न करने में यदि आप गौरव की उदाहरण करें, तो छोटिये उस बात को। वहाँ दो बाधित वाच्य अर्थों के अभेदान्वय-बोध को ही आहार्य मान लीजिये। अर्थात् 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की दशा में भी 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इत्याकारक बोध मुझे होवे, इस इच्छा से वैसा शाब्दबोध हो जाय। बाधनिश्चय तो उस बोध का रोक नहीं सकता, क्योंकि बाधनिश्चय से रुकने वाले ज्ञान के पीछे 'अनाहार्य' विशेषण जुड़ा हुआ है। इस रीति को अङ्गीकृत करने पर बाध-निश्चय से रुकनेवाले ज्ञान के पीछे 'शाब्दज्ञान से अन्य' यह विशेषण भी नहीं जोड़ना पड़ता यह दूसरा लापच है। और बाधित अर्थविषयक अनाहार्य शाब्दबोध, अब बाध-निश्चय की प्रतिबन्धकता से ही रुक जायगा, तथा बाधित अर्थविषयक भी आहार्य

शाब्दबोध इष्ट हो गया, अतः शाब्दबोध के प्रति योग्यताज्ञान को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यह तृतीय लक्षण है। यदि कोई कहे कि 'प्रत्यक्ष-ज्ञान ही आहार्य होता है, शाब्दबोध आदि परोक्ष ज्ञान नहीं' यह जो एक नियम है शाब्दबोध को आहार्य मानने पर उसका विरोध होगा, तो इसके उत्तर में कहना है कि उस नियम को मैं नहीं मानता अर्थात् परोक्ष ज्ञान को भी मैं आहार्य मानता हूँ, अतिशयोक्ति आदि कतिपय अलंकारों में आहार्य शाब्दबोध अनुभव-सिद्ध है।

उक्तार्थं द्रष्टवितुमाह—

अवश्यं मुखचन्द्र इत्यादौ पराभिमतसारोपलक्षणोदाहरणे वाच्यार्थयोरैवाभेदान्वयोऽभ्युपगन्तव्यः, न तु वाच्य-लक्ष्ययोः। अन्यथा 'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्यामालिङ्गति निर्भरम्' 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिक्षितमनोहरमम्बिकाया' इत्यादौ क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमासाधीनयोर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिक्षितमनोहरत्वयोरनुपपत्तिर्निर्णायिकारूपकोपमयोः प्राचीनैस्तत्र तत्र निबद्धा विरुद्धा स्यात्। आद्यपद्ये उपमाया इव रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकस्य तुल्यतया तन्निर्णायकताया असंगते। द्वितीयपद्ये रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकभावेन तन्निवर्तकताया अयोगान्।

पराभिमतेति । एतेन लक्षणाया स्वाभिमतत्व निरस्यति, वाच्यार्थयोरैवाभेदान्वयाङ्गीकारात् । अभेदान्वय इति । आहार्याभेदान्वय इति भावः । एवकारव्यवच्छेदमाह—न त्विति । अन्यथेति । वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयाङ्गीकारे इत्यर्थः । अस्य विद्वेद्यत्रान्वयः उपमितविशेषणसमासेति । वमश 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे', 'मपूरव्यसकादयधे'ति मूरद्वयविहितेत्यर्थः । तत्र तयोरङ्गीकारे या अनुपपत्ति सा वैपरीत्य निर्णायिकेत्येवच्छब्दार्थः । बाधकमेति । सन्कर्तृकालिङ्गनासंभवस्येत्यर्थः । बाधकभावेनेति । तादृशमनोहरत्वामंभवामावेनेत्यर्थः । 'राजनारायणम्' इत्यत्र यदि राजा नारायण इवेति विष्ट्व्य 'उपमित व्याघ्रादिभिः'रित्यनेन समासे उपमालकार स्वीक्रियेत, तदा नारायणसदृशो राजेति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्य पद्योक्तस्यानुपपत्तिः सत्त्वलेन्पन्नानि साध्वीभि रमणीभि पतिसदृश-बुद्ध्या कस्यापि पुम आलिङ्गनासंभवात्, अतस्तत्र राजा चासी नारायण इति विष्ट्व्य मपूरव्यसकादयस्येति समासे रूपकालकारोऽङ्गीकार्यः, तथा च राजाभिन्नो नारायण इति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमुपपद्यते । एवम् 'पादाम्बुजम्' इति पद्ये यदि पादरूपमम्बुजमिति विष्ट्व्य मपूरव्यसकादित्वात्समासे रूपकालकार र्वाङ्गियेत, तदा पादाभिन्नमम्बुजमिति बोधेऽम्बुजस्य प्रधान्येन तत्र मञ्जुमञ्जीरशिक्षितमनोहरत्वस्य श्लोकप्रतिपादितस्यानुपपत्तिः, अम्बुजे तन्व्यामभवात्, अतस्तत्र पाद अम्बुजमिव इति विष्ट्व्य 'उपमित व्याघ्रादिभिः'रिति समासे उपमालकारोऽङ्गीकर्तव्यः, तथा च अम्बुजसदृशपाद इति बोधे प्रधानभूते पादे उक्तमनोहरत्वमुपपद्यते । इति प्राचीनैरुक्तम्, तच्च तदैव संगत भवेत्, यदि रूपकमेतत् लक्षणमस्वाहृत्य वाच्यार्थयोरैवाहार्याभेदान्वयमनुमान्यते लक्षणा कृत्वा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वये तु राजनारायण इत्यत्र उपमारूपकयोरुभयोरपि नारायणसदृशो राजा इत्याकारके एव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्त्या उपमाया तदनुपपत्ते रूपकसाधकत्वं प्राचीनमपगतमेव । एवम् पादाम्बुजम् इत्यत्रापि उपमारूपकयोरुभयोरपि वाच्यलक्ष्यबोधे आसियते अम्बुजमदृशपादः इत्येव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि मञ्जुमञ्जीरशिक्षितमनोहरत्वस्य सम्भवतया तदनुपपत्ते । रूपक-

बाधकत्वं प्राचीनोक्तसंगतं स्यात् । अतः मुख चन्द्र इत्यादी सर्वत्र वाच्यार्थयोरेवाह्वार्या-
भेदान्वयः स्वीकरणीय इति भावः ।

उक्त नवीन मत को दृढ़ करने के लिये कहा जाता है—अवश्यम् इत्यादि । ऊपर
नवीनों के मत में जो यह कहा गया है कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि प्राचीनाभिमत
सारोप लक्षणा के उदाहरणों में—अर्थात् रूपक स्थल में—दो वाच्यार्थों (मुख और
चन्द्र) का ही अभेदान्वय होता है, वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चन्द्रसदृश) का
नहीं, वह विचारदृष्टि से अवश्य मानने योग्य है । अन्यथा प्राचीनों की ही निम्नोद्धृत
उक्ति असंगत हो जायगी । प्राचीनों ने कहा है कि—'राजनारायणम्'—अर्थात् लक्ष्मी
आप (राजनारायण) का दृढ आलिङ्गन कर रही है—वह आपका त्याग कभी नहीं करती'
यहाँ यदि 'राजा नारायण इव' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'उपमित न्याप्रादिभिः
सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से समास हुआ माना जाय और तदनुसार अलंकार
उपमा स्वीकृत किया जाय, तब 'नारायणसदृश राजा' ऐसा बोध होगा, जिसमें पद्य में
वर्णित लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन की अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि मत्कुलोत्पन्न साध्वी
रमणियों के द्वारा पति के समान समझ कर किमी पुत्र का आलिङ्गन असम्भव है ।
अतः वहाँ 'राजा चासौ नारायणः' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'मयूरव्यसकादपद्य' इम
पाणिनिसूत्र से समास हुआ है, ऐसा समझना चाहिए और तदनुसार अलंकार
रूपक मानना चाहिए । ऐसा मानने पर 'राजा मे अभिन्न नारायण' यह बोध होगा,
जिसमें लक्ष्मी का आलिङ्गन उपपन्न होता है । इसी तरह 'पादाभ्युजम्'—अर्थात् नूपुरों के
सुन्दर शब्द से चित्त को चुरा लेनेवाले अभिवका के चरणभ्युजल, आप लोगों के विजय
के लिये हों—आप सब को विजय प्रदान करें' इस पद्य में यदि 'पादरूपम् अभ्युजम्'
ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'मयूरव्यसकादपद्य' इस सूत्र से समास करके रूपकालंकार
स्वीकृत हो, तब 'चरण से अभिन्न कमल' ऐसा बोध होगा, जिसमें प्रधानता रहेगी
कमल की, अतः श्लोक में प्रतिपादित 'मन्हुमक्षीरशिशितमगोहरत्न' अनुपपन्न हो
जायगा, क्योंकि कमल में उसकी संभावना नहीं है, इसलिये वहाँ 'पादः अभ्युजमिव'
ऐसा विग्रहवाक्य मानकर उपमित समास तथा तन्मूलक उपमा अलंकार स्वीकृत
करना चाहिए । इस रीति से होनेवाले 'कमलसदृश चरण' इस बोध में प्रधानी-
भूत चरण में उक्त विशेषण उपपन्न होता है (यही है प्राचीनों की उक्ति) । अथ
सोचिए कि रूपकस्थल में यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय हो, तब उक्त
कथन संगत होगा ? नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर तो 'राजनारायणम्'—'मे उपमा
मानें या रूपक, दोनों ही स्थितियों में बोध होगा 'नारायणसदृश राजा' एक यही, अतः
उपमा के समान रूपक में भी लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन उक्त युक्ति से अनुपपन्न ही
रहेगा । इसी तरह 'पादाभ्युजम्'—'मे भी रूपक मानें अथवा उपमा, दोनों ही अवस्थाओं
में बोध होगा 'अभ्युजसदृश पाद' एक यही । अतः पाद की प्रधानता दोनों ही अलंकारों
में समान रूप से बती रहेगी, फिर रूपक में मन्हुमक्षीरशिशितमगोहरत्न की
अनुपपत्ति नहीं होगी । रूपकस्थल में दो वाच्यार्थों में ही अभेदान्वय मानने पर उक्त
कथन संगत हो सकता है, क्योंकि उस मान्यता के अनुसार दोनों अलंकारों में बोध
भिन्न तरह का हो जाता है । सारांश यह कि 'मुखचन्द्र' आदि जितने सारोप लक्षणा
के उदाहरण प्राचीनों ने माने हैं, उन सभी स्थानों पर लक्षणा वस्तुतः नहीं होती,
वाच्य वाचक का ही आहार्य अभेदान्वयबोध होता है ।

अन्तरूपकस्थले लक्षणाया निर्वाधन्वनाराद्वय राश्रयति—

न च मुखचन्द्रादी समासे कचिदस्तु नाम प्रागुक्तीत्या लक्षणां विनापि
बोधोपपत्तिः, न्यासे तु लक्षणाया नास्ति बाधकमिति वाच्यम् । 'कृपया

सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्' इत्यादौ व्यासेऽप्यनुपपत्तेः ।

प्रागुक्तरीत्येति । नर्वाणोक्ताहार्यशाब्दबोधोपपादनन्यायेनेत्यर्थः । अस्य प्रतीकस्य 'प्राचीनोक्तेत्यर्थः' इति नागेशदाका भ्रामिकैव । नास्ति बाधकमिति । प्राचीनोक्तानुपपत्तिरूप बाधक नास्ति, तस्य राजनारायण इत्यादिसमासस्थल एव दर्शितत्वादिति भावः । कृपयेति । हे हरे भवतापेन मूर्च्छामापन्न मा स्वकृपारूपभीष्मपदारया मित्र येन भवतापजनिता मूर्च्छा मे निवर्तेत इत्यर्थः । अनुपपत्तेरिति । व्यस्तरूपकस्थलेऽपि वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयसमर्थने वाच्यार्थान्वयानुपपत्तेरिति भावः । उदमाकृतम्— 'रूपकस्थले लक्षणा न भवति, किन्तु वाच्ययोरेवोपमानोपमेययो बाधितोऽपि अभेदान्वयबोध स्वीकार्य आहार्यरूप' इत्यस्य सिद्धान्तस्य उदाहरणे या प्राचीनोक्तन्यनुपपत्तियुक्तिन्वेन पुरस्ङ्गता नर्वाणैः, या राजनारायण इत्यादि समामस्थल एव, ततश्च तद्दृष्टान्तेन समामस्थले रूपके त्यज्यता लक्षणा, स्वांश्रियत्वात् वाच्यार्थयोरेवाहार्याभेदबोध, व्यासस्थले लक्षणा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयबोधाद्वाङ्कारेण न क्षतिरिति पूर्वपक्षे, 'कृपया सुधया' इत्यादौ उपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वमदश्ले लक्षणाया सुधासदृशया कृपया इति बोधे वाक्यार्थो नोपपद्येत, सुधातुल्याया कृपाया मेचनकरणताया अमभविन्वात्, अतौ व्यस्तरूपकस्थलेऽपि सुधाऽभिज्ञया कृपया इत्यादि रीत्या वाच्यार्थयोरेवाहार्याभेदान्वयबोध आस्थेयः । तथा च न वाक्यार्थानुपपत्तिः सुधया अभिज्ञाया कृपाया संकल्पित्यकरणत्वस्य समवित्वात् इति समाधानं नर्वाणस्येति ।

व्यस्तरूपकस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, इस भाशझा का समाधान अब करते हैं—न च इत्यादि । यदि कोई कहे कि रूपकस्थल में लक्षणा नहीं होती—दो वाच्यार्थों का आहार्य अभेदान्वय बोध होता है, इस बात की सिद्ध करने के लिये नवीनों ने जो दृष्टान्त दिया है वह समाम स्थल में ही, अतः उस (राजनारायण तथा पादाम्बुज) दृष्टान्त से समास के स्थल में कहीं लक्षणा के बिना भी भले ही अभेदान्वय-बोध सिद्ध हो जाय, परन्तु व्यासस्थल में (जहाँ समास के न रहने पर भी रूपक होता है) लक्षणा मानने में कोई बाधा नहीं है । तो इसका उत्तर है कि 'कृपया सुधया' 'अर्थात् हे हरे ! ताप (सांसारिक पीडा) से मूर्च्छित मुझको कृपारूप सुधा से सांचिपु ।' इत्यादि व्यस्तरूपकस्थल में भी लक्षणा मानने पर वाच्यार्थ की अनुपपत्ति हो जाती है अर्थात् 'कृपया सुधया' में जो रूपक है, वहाँ यदि विषयी—उपमानवाचक (सुधा) पद की स्वमदश्ल में लक्षणा मानी जाय, तब 'सुधासदृश कृपा' ऐसा बोध होगा, जो अनुपपन्न है, क्योंकि कृपा से मेचन नहीं हो सकता, अतः मानना पड़ेगा कि वहाँ भी लक्षणा नहीं होती, अपि तु सुधा और कृपा पदों के वाच्य अर्थों का ही आहार्य अभेदान्वय बोध होता है, तदनुसार सिद्ध होनेवाले 'सुधा से अभिन्न कृपा' इस बोध में कोई अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि सुधा से कृपा को अभिन्न समझ लेने पर सुधागत मेचन योग्यता, कृपा में भी प्राप्त हो जाती है ।

व्यासेऽनुपपत्तिपरिहारमाशङ्क्य समापत्ते—

न च सिञ्चतेरपि विषयीकरणे लक्षणया नानुपपत्तिः । उत्प्रेक्षाद्यतिरिक्तानि शयोक्त्यपह्ननादिप्याहार्यज्ञानेनैवोपपत्तौ लक्षणयायां बीजाभानादनुभवविरोधाच्च ।

मिश्रतेरपीति । अत्रापिना सुधापदस्य लक्षणविषयत्वं समुन्वायते । अत्र 'अदिरंवार्य' इति विद्वन्तो नागेशस्याभिप्रायो दुर्ज्ञेय एव । विषयीकरणे । लक्षणीकरणे । लक्षणयेति । अस्य पदस्य 'विषयीकरणे' इति पूर्वतनेन पदेन मयन्व । नानुपपत्तिरिति । वाच्यार्थान्वयानुपप-

त्तिनेत्यर्थः । उत्प्रेक्षादीति । अत्रादिपदेन भेदप्रधानाना दृष्टान्तादीना ग्रहणं बोध्यम् । अप-
 ह्वादीति । अत्रादिपदेनाभेदप्रधानाना परिणामादीना संग्रहः । बीजाभावादिति । समर्थक-
 युक्तिविरहादित्यर्थः । अतिशयोक्त्यादिरोतिरेवानुमर्तव्या नोत्प्रेक्षादिरोतिरित्यत्र विनिगमका-
 भावादाह—अनुभवैति । अभेदप्रधानेष्वलंकारेषु वाच्ययोऽप्यहोभेदबोधोपस्यैवानुभवमिदत्वा-
 दिति भावः । इदमत्र तत्त्वम्—‘कृपया सुधया’ इत्यादिकाव्यवाक्ये प्रकृततया कृपोपमेवभूता
 सुधा चाप्रकृततयोपमानरूपा, तथा चोपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वमदृशे लक्षणेति प्राचीन-
 निदान्तमर्वाकारे सुधामदृशकृपाकरणकः सेकः इति बोधस्य जायमानस्यानुपपत्तिरिति सुधा-
 पदवाच्यार्थस्यैव कृपापदायैव सहाहार्यभेदान्वयबोध इति यदुपपादितं नवीनैरुदयैर्बुद्धम्,
 भिद्येति त्रिषापदस्यापि योऽन्यरूपार्थे लक्षणासङ्गीकृत्य सुधामदृशकृपाकरणिकायोजनकि-
 येति वाक्यार्थ-निपत्तौ अनुपपत्तिविरहेण व्यस्तरूपकस्यले लक्षणायां बाधकं नास्तीति
 प्राचीनमतममर्थिका शकाः । उत्प्रेक्षादौ भेदप्रधानेऽलंकारे भेदबोधपुरस्सरस्यैव वैयञ्जिका-
 भेदबोधस्य चमत्कारित्वमिति तत्राहाशोऽप्यभेदबोधोऽचमत्कारितया कान्यमर्मज्ञैः सहद-
 यैर्नादोक्तुं योग्यं, किञ्च तत्र ‘मन्ये’ ‘शङ्के’ ‘इवा’दिपदानां भेदमूचकानां सत्त्वेन
 अभेदबोधो विरुद्ध एव भवेत् अत एवोत्प्रेक्षायां संभावनाया अपि आहार्यत्व स्वीक्रियते
 अभेदबोधस्तु दुरापारत इति तदर्थः । एवञ्च तत्र भवतु उपमानवाचकानां पदानां स्व-
 मदृशे लक्षणाः । किन्तु अतिशयोक्त्यादावभेदप्रधानेऽलंकारेऽभेदबोध एव चमत्कारक
 भेदबोधस्तत्र भवन्व्येव नेति तत्र यथा वाच्यार्थयोरेवाहायभेदान्वयबोधः स्वीक्रियते, न तु
 लक्षणायां लक्ष्यार्थवाच्यार्थयोस्तथैव रूपकेऽपि (समस्ते व्यस्ते च) अभेदप्रधाने वाच्य-
 योरेवाहायभेदान्वयबोधस्वीकारेण सामञ्जस्ये तस्यैवौचित्ये च लक्षणाप्रयत्ने युक्तिविरहः,
 अनुभवविरोधरचेति समाधानमिति । अत्र ‘न च तिष्ठतेरपि विषयीकरणे’ इति प्रतीकमुपा-
 दाय ‘अतिशयोक्तौ विषयिणः (उपमानस्य) एव यथा विषयीकरणम् (उपमेयतया
 स्थापनम्) तथाऽत्रापि ‘कुह’ इत्यस्य (विषयस्य) स्थाने सिद्येति विषयिणः प्रयोगः ।
 अतिशयोक्तिमवलने चायमर्थः—‘तापमूर्च्छितास्य मनोपरि सुधानेचनसत्त्वां कृपा कुह’
 इतीत्यादि, ‘यस्मात्’ इत्यान्तरप्रसंगत्वैव, कृपोपेतिरुत्प्रेक्षायां नोत्प्रेक्षाद्विद्वितीयमानन-पदपरित्यक्त-
 वाक्यान्ताराहार्यप्रतिपत्तेरमम्भवात् ।

अब व्यासस्थल में पूर्वोक्त अनुपपत्ति के परिहार की आज्ञा करके समाधान करते
 हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि ‘कृपया सुधया’ इत्यादि तरह के स्थानों में केवल
 उपमानवाचक सुधा पद ही लाक्षणिक नहीं है, अपि तु ‘सिद्ध’ यह क्रियापद भी योजन
 रूप अर्थ में लाक्षणिक है, अतः यहाँ बोध होता है कि ‘सुधासदृश कृपा से मुझे सुक-
 वनाओ ।’ इस बोध में कोई खास अनुपपत्ति नहीं है अतः प्राचीनों के कथनानुसार
 व्यासस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भविष्योक्ति,
 अपह्नव, परिणाम आदि अलंकारों—जो अभेद-प्रधान है, अतः अभेद का बोध ही चमत्कारी
 होता है, अर्थात् जहाँ भेद का बोध होता ही नहीं—में जैसे लक्षणा के विना ही आहार्य
 अभेदान्वय बोध मानकर सब कार्य सिद्ध कर लेने हैं, वैसे ही अभेदबोध के चमत्कारी होने
 के कारण रूपक (चाहे वह समस्त हो अथवा व्यस्त) में भी आहार्य अभेदान्वय बोध
 मानकर जब सब ठीक हो जाते हैं, तब लक्षणा मानने में कोई बीज नहीं दीखता । हाँ,
 उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि जिन अलंकारों में भेद की ही प्रधानता रहती है, अतः पीछे भी
 व्यञ्जना के द्वारा भेदज्ञानपूर्वक अभेदबोध ही होता है, चमत्कार भी उसी तरह के बोध
 में अनुभूत होता है, वहाँ आहार्य-अभेद-बोध भी सहदय-जन-मनोविरुद्ध है, दूसरी बात
 यह कि उत्प्रेक्षा में ‘मन्ये, शङ्के, इव’ आदि पद भेदसूचक रहते हैं, अतः अभेद का बोध

विरुद्ध भी पड़ता है, इसीलिये उत्प्रेक्षा में सभावना को भी आहार्य माना गया है, अभेद बोध तो दूर की बात टहरी। वहाँ उपमानवाचक पदों को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक मानना युक्तिसंगत हो सकता है। यदि आप कहें कि जब दोनों प्रकार के अलंकार होते हैं—अतिशयोक्ति आदि अभेदप्रधान और उत्प्रेक्षा आदि भेदप्रधान, तब रूपक को द्वितीय कोटि के अलंकारों की श्रेणी में ही क्यों न रखा जाय अर्थात् रूपक को भी भेदप्रधान मानकर लक्षणावाली बात को संगत क्यों नहीं माना जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि आविर अनुभव के आधार पर ही तो काव्यशास्त्र की यह विशाल भित्ति खड़ी है, अतः उस अनुभव का अपलाप किसी भी स्थिति में नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह कि रूपक में अभेदबोध का ही चमत्कार अनुभव से सिद्ध है, अतः उसको भेदप्रधान अलंकारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

उक्तानुभवविरोधस्य विमवादाप्रस्तन्यान् रूपकस्थले वाच्यार्थयोराहार्याभेदान्वयबोधना-
धक युक्त्यन्तरमाह—

अपि चोपमानवाचकस्य चन्द्रादिपदस्य रूपके उपमानसदृशे लक्षणा
इति हि प्राचा समयः । तत्र च लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्यम् । तच्च समानधर्म-
रूपम् । स च लक्ष्याशे सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीयते, उताहो सामान्य-
रूपेण ? नाद्य । सुन्दर मुख चन्द्र इत्यादौ पौनुरुक्त्यापत्ते । न चैवमादावु-
पात्तधर्मके रूपके तद्वर्मातिरिक्तो धर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकीभूतसादृश्यरूप इति
वाच्यम् । अनुभवविरोधात् ।

‘अङ्कितान्वक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि ।

शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः ॥’

इत्यादौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसितधर्म बिना धर्मान्तरस्य सर्वथैवास्फूर्तेश्च ।

समय सिद्धान्तः । तत्र रूपकस्थले । समानधर्मरूपमिति । तद्विभ्रत्वे सति तद्गत-
भूयोधर्मत्वस्यैव सादृश्यपदार्थत्वादिति भावः । स च समानधर्मश्च । सामान्यरूपेणेति ।
सादृश्यत्वेन रूपेणेत्यर्थः । सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेणेति प्रथमकल्प दूषयति—नाद्य
इति । तत्र हेतुमाह—सुन्दर मुखमित्यादि । पौनुरुक्त्यापत्तिं निराकर्तुमाशङ्कते—न
चेति । एवमादौ इति । इत्यादावित्यर्थः । अत्रादिपदस्य प्रकारार्थत्वात्तत्रप्रयोजकधर्ममाह—
उपात्तेति । तद्वर्मेति । उपात्तधर्मान्याहादकन्वादिरेत्यर्थः । समाधत्ते—अनुभवविरोधा-
दिति । तादृशस्थले उपात्तस्य सुन्दरत्वादिधर्मस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकतयाऽनुभवादिति
भावः । तथातुभवे मतभेदस्यापि मभवादाह—अङ्कितान्तेति । अक्षणाणाम् इन्द्रियाणाम्,
पद्माक्षणाञ्च, सघातैः समूहैः, अङ्कितानि ध्यातानि, सरोगाणि रोगैः सहितानि मरोव-
गतानि च, शरीरिणा प्राणिना, शरीराणि देहा, कमलानि कमलरूपा मन्तीन्वयत्र मन्देद्दे-
नास्तीत्यर्थः । श्लेषेति—शब्दश्लेषनिमित्तो यो विशेषणार्थयोर्भेदाध्यवसायस्तद्विषया-
भूतो योऽक्षसंघातव्याप्तमरोगत्वरूपो धर्मस्तमित्यर्थः । धर्मान्तरस्येति । शरीरकमलो-
न्यभाधारणस्येति भावः । अस्फूर्तेरिति । ध्यानशयानाहटत्वादित्यर्थः । रूपकस्थले उप-
मानवाचकपदस्य स्वसदृशे लक्षणेति प्राचा सिद्धान्ते लक्ष्यतावच्छेदकसादृश्यस्य समान-
धर्मरूपस्य लक्ष्याशे = उपमये, सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीयते समवति, तथा
सति ‘सुन्दर मुख चन्द्र’ इत्यादिरूपकस्थले ‘मुखं चन्द्र’ इत्येतावतो वाक्यादेव चन्द्र-
गण्य सुन्दर मुखमित्यर्थप्रतीत्या सुन्दरपदस्य पुनरुक्त्यापातात् । तादृशोक्तधर्मरूपर-
स्यने सुन्दरपदस्य एवाहादकन्वादिधर्म सादृश्यरूपो विवक्ष्येत इति तु न शक्यं स्वीक-

तुम्, तत्र तस्यानुभवत्वात् । तादृशानुभवसमर्थकदुराग्रहे च तत्र कथञ्चित्तिर्वाहेऽपि 'अद्वि-
तानि ' इत्यादिपद्ये पुनरुक्त्यापत्तिर्दुर्हृद्भव, तत्रोक्तात् अक्षसंघाताद्वितन्व-सरोगरवै-
स्येत्तद्विषयत्वात् श्लेषभित्तिरामेदाध्यवसितधर्मान् अपरस्य उपमानोपमेयसाधारणस्य
धर्मस्य मुद्रिपयानरोहात् तस्यैव धर्मद्वयस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वोपमेयाद्ये प्रतीतिसमर्थने
च पुनरुक्त्यापत्ते स्पष्टत्वादिति भावः ।

उपर जो अनुभवविरोध की बात कही गई है, उसमें मतभेद हो सकता है अर्थात्
कुछ लोग ऐसा भी दुराग्रह दिखला सकते हैं कि रूपरथल में भेद का अनुभव होता है,
अतः अथ रूपकस्थल में वाच्यार्थद्वय के ही आहार्यामेदान्वय को सिद्ध करनेवाली दूसरी
युक्ति देते हैं—अपि च इत्यादि । रूपकस्थल में उपमानवाचक चन्द्रादि पदों की स्वसदृश
अर्थ में लक्षणा होती है, यह प्राचीनों का सिद्धान्त है तदनुसार लक्ष्यतावच्छेदक (लक्ष्य-
सदृश अर्थ में रहने वाला धर्म) होगा सादर्य और सादर्य का विशिष्ट रूप होता है
समान धर्म । दोनों (उपमान तथा उपमेय) में रहनेवाला कोई एक धर्म, वह एक धर्म
भी दो प्रकार का हो सकता है—एक विशेष और दूसरा सामान्य । अथ हम और आप
विचार करें कि वह समानधर्म रूपक स्थल में लक्ष्य-उपमेय (मुख आदि)—अक्ष में विशेष
रूप से अन्वित होता है अथवा सामान्यरूप से ? यदि आप कहेंगे—विशेषरूप से, तो वह
ठीक नहीं होगा, क्योंकि उस स्थिति में 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि व्यवहार में आनेवाला
रूपक नहीं बन सकेगा । कारण, जब चन्द्र का सादर्य मुख्यरूप लक्ष्य अक्षमें सुन्दरत्वात्मक
विशेषरूप में अन्विन होगा, तब तो 'मुखचन्द्र' इतने से ही 'चन्द्र के समान सुन्दर मुख'
वह अर्थ हो ही जायगा, फिर 'सुन्दर' पद की योजना पुनरुक्तिरूपप्रसक्त हो जायगी ।
यदि आप कहना चाहेंगे कि ऐसे स्थलों—जहाँ कोई एक साधारण धर्म उक्त हो—में
उस उक्त धर्म से अन्य धर्म-विशेष को ही लक्ष्य में रहनेवाले धर्म-सादर्य का रूप दिया
जायगा, अर्थात् 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि स्थानों में चन्द्रसादर्य का अन्वय मुख्य में
सुन्दरत्वरूप से न मान कर अन्य गौरत्व आदि रूप से ही माना जायगा, फिर तो पुन-
रुक्ति नहीं होगी, तो यह कथन भी आपका समुचित नहीं हो सकेगा, क्योंकि सुन्दरत्व
आदि पूर्वोक्त रूप से अन्य गौरत्व आदिरूप से सादर्य का अन्वय अनुभव में नहीं आता ।
यदि आप ऐसा दुराग्रह करेंगे कि वह अनुभव में आता है, तो उस दुराग्रह के बल
पर कर लीजिए किमी तरह वहाँ निवारण । परन्तु 'अद्वैतान्यक्षसघातै' ' ' ' अर्थात् इस
में कुछ सन्देह नहीं कि देहधारियों की देह कमल है, क्योंकि ये दोनों (देह और
कमल) ही 'अक्षों' (देह में इन्द्रियों और कमल में कमलगट्टों) के समूह से चिह्नित
हैं और दोनों ही 'सरोग' (एक जगह रोगयुक्त, दूसरी जगह सरोवर में रहनेवाले)
हैं' इत्यादि श्लेषमूलक रूपक-स्थल में पुनरुक्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ देह
और कमल दोनों में रहनेवाले 'अक्षसघात' से चिह्नित होने और सरोग होने से अन्य
किसी धर्म की स्मृति होती नहीं अतः लक्ष्यतावच्छेदक सादर्य का अन्वय विशेषरूप
से मानने पर उन्हीं दोनों रूपों से कमल का सादर्य देह में अन्वित होगा, फिर तो
'अद्वैतान्यक्षसघातै' और 'सरोगाणि' ये दोनों विशेषण पुनरुक्त हो ही जायेंगे । यद्यपि
वस्तुतः कमल और देह में रहनेवाला कोई एक धर्म नहीं है क्योंकि उक्त दोनों विशेषणों
के दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं, तथापि श्लेष के बल से उन दोनों अर्थों
में अभेद का अभ्यवसाय (आरोप) कर लिया जाता है, अतः 'सरोगरव' आदि रूप से
उसको एक धर्म मान लिया जाता है ।

उपमानपदलक्ष्यतावच्छेदकस्य समानधर्मात्मकस्य सादर्यस्य लक्ष्याद्ये सामान्य-
रूपेण प्रतीतिरिति द्वितीयकल्पं रूपवितुसाह—

नान्यः-। सादर्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमात्वापत्तेः । न च सादर्यस्य वा-

च्यतायामेवोपमाव्यपदेशः । 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ तदभावापत्तेः ।

नान्य इति । सामान्यरूपेणोपमानपदलक्ष्यतावच्छेदक लक्ष्यारो प्रतीयते इति पक्षो न युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुं दर्शयति—सादृश्यस्येति । शब्दोपात्तेति । लक्षणयेति भावः । उपमात्वापत्तिपरिहारायाशङ्कते—न चेति । अत्र तु सादृश्यस्य लक्ष्यतेति भावः । उक्ताभावात् निरस्यति—नलिनैति । आनन सुखम्, नलिनप्रतिपक्षम् कमलाऽमित्रम् इत्यर्थः । तदभावेति । उपमात्वाभावेत्यर्थः । प्रतिपक्षपदस्य सादृश्ये न शक्तिरपि तु लक्षणेति तात्पर्यम् । मुखचन्द्र इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणाया लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य मुखरूपलक्ष्यांशे सादृश्यत्वात्मकसामान्यरूपेण प्रतीती चन्द्रसदृश मुखमित्यत्रैव सादृश्यस्य लक्षणाया शब्दोपात्तनया तथापि उपमालकारप्रसक्तौ रूपकोच्छेदापत्तिः । सादृश्यस्याभिधाबोध्यत्वे एवोपमा, रूपके तु तस्य लक्षणाबोध्यत्वमिति न तत्रोपमाप्रसक्तिरिति तु युक्तम्, नलिनप्रतिपक्षमाननमित्यादौ सादृश्यस्य प्रतिपक्षपदलक्ष्यत्वेऽपि उपमादर्शनान् । तथा च रूपकस्थले लक्षणेति प्राचा पक्षो नोचितः, किन्तु वाच्ययोरेव तत्राहायभेदान्वयबोध इति नवीनाभिमतकल्प एव श्रेयानिति भावः ।

अथ द्वितीय प्रकार—उपमानवाचक पद के लक्ष्यतावच्छेदक समानधर्मात्मक सादृश्य का सामान्य (सादृश्यत्व) रूप से लक्ष्य (उपमेय) अक्ष में भान पक्ष का खण्डन करते हैं—नान्य इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक स्थल में चन्द्र पद की स्वसदृशरूप अर्थ में लक्षणा है इस प्राचीनाभिमत पक्ष में यदि आप कहें कि लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य का मुख रूप लक्ष्य अक्ष में सामान्य (सादृश्य) रूप से अन्वय होता है तो वह भी सगत नहीं । कारण, उस स्थिति में जैसे 'चन्द्रसदृश मुखम्' इस स्थल पर सादृश्य शब्द से उक्त रहता है, उसी तरह 'मुखचन्द्र' इस स्थल पर भी सादृश्य चन्द्र शब्द से लक्षणा के द्वारा उक्त हो गया, अतः प्रथम स्थल के समान द्वितीय स्थल में भी उपमा अलकार ही होने लगेगा । सादृश्य के वाच्य होने पर ही उपमा होती है यह दुराग्रह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' अर्थात् मुख कमल का प्रतिद्वन्दी (शत्रु) है' इत्यादि स्थानों पर भी उपमा नहीं हो सकेगी । कारण, यहाँ भी 'प्रतिपक्ष' पद का सादृश्य वाच्य नहीं—अपितु लक्ष्य ही है । यदि सादृश्य के लक्ष्य होने पर भी यहाँ उपमा मान्य होती है, तब सभी रूपक स्थलों में सादृश्य की लक्ष्यता दशा में उपमा ही हो जायगी, फिर तो रूपक का उच्छेद ही हो जायगा, अतः रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, दो वाच्यार्थों का ही आहाय्य अन्वयबोध होता है यह नवीनों की रीति ही ठीक है ।

'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ उपमात्वाभावस्येच्छेत्वेऽपि नवीनमतसमर्थक युक्त्यन्तरमुपदर्शयति—

किं च 'विद्वन्मानसहंस'— इत्यादौ श्लेषपरस्परितरूपके श्लेषनिष्पत्ती श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानेन मानसवासित्वरूपे भूषहंसयोः सादृश्ये सिद्धे सदृशलक्षणा मूलस्य भूषे ह्मरूपकस्य सिद्धिः । तस्यां च सत्यां सरोमनोरूपार्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्य निष्पत्तिरिति परस्पराश्रयः । न हि रूपकास्पृतां सरोरूपेऽर्थे मानसशब्दस्य तात्पर्यं वेदयितुं किञ्चित्प्रमाणमवतरति । स्फुरिते तु रूपके तद्वृत्तसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदबोधफलकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मनः श्लेषस्य निष्पत्तिः ।

विद्वदिति । विदुषा मानस इत्यमेव मानसात्प्र सर' इति शिष्टरूपकम्, तत्र ह्म !

जलवरपक्षिविरोपस्वरूप । तत्र विहारकारकेति तात्पर्यम्, वैरिणाम् शत्रूणां, वमलाया लक्ष्म्या, सकोच विनाश एव कमलानां पशानाम्, असंकोच विकासः, तत्र दीप्तद्युते । सूर्य । दुर्गाणाम् युद्धकालिकमुखासमर्थस्थानविशेषाणाम्, अमार्गणम् अगवेषणम् अप्रतिमपराक्रमितया सम्मुखयुद्धप्रियत्वादिति भावः, एव, दुर्गायां पार्वत्याः, मार्गणम् गवेषणम्, तत्र नीललोहित शिवरूप । समितः युद्धस्य, स्वीकार एव समिधा काष्ठानां स्वीकारः तत्र वैश्वानर अग्नेः, सन्धे तप्ये, प्रीति प्रणयस्य, निधानमेव, सत्त्वा शिवप्रथमपत्न्याः, अप्रीति रोषस्य, विधानम्, तत्र दक्षप्रजापतेः, विजयस्य शत्रुपराजयस्य, प्राग्भावः प्रथमसत्ता एव विजयस्य अर्जुनस्य, प्राग्भावः पूर्वोत्पत्तिः, तत्र भीम भीमसेनस्वरूपः । प्रभो वरवीर वीरश्रेष्ठ राजन् । त्वम् वैरघ्नम् ब्रह्मणः सचन्धि, चत्वारशतम् शतं वर्षाणि यावन् स्वकीयं साम्राज्यम्, उच्चैः उच्चतः, क्रियाः विद्याः इत्यर्थके 'विद्वन्मानसहस्र, वैरिक्मलासकोचदीप्तद्युते, दुर्गामार्गणनीललोहित, समिन्स्वीकारवैश्वानर । तात्वप्रतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो, साम्राज्य वरवीर, चत्वारशत वैरघ्नमुच्चैः क्रिया ॥' इत्यादावित्यर्थः । श्लेषेति । श्लेषमूलकम् यत् अभेदारोपणम् तेनेत्यर्थः । तस्याम् रूपसिद्धौ । तादृशकेति । लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । अर्थद्वयेति । सरोमनोरूपेत्यादि । अभेदबोधेति । अभेदबोध एव फल यस्य तस्येत्यर्थः । उभयार्थप्रतिपादनरूपस्य श्लेषस्याभेदबोध एव फलमिति भावः । अयं तात्पर्यार्थः—रूपकस्थले लक्षणाङ्गकारे विद्वन्मानसहस्रेत्यादिपद्येऽन्योन्याश्रयापत्या परम्परितरूपकसिद्धिर्न स्यात्, ननु कथं तत्रान्योन्याश्रय इति चेत् १ तथा हि—प्राच्यमानुसारेण सदृशलक्षणांमूलक रूपक सादृश्यप्रतीतिमन्तरा न भवितुमर्हति, सादृश्यप्रतीतिश्च प्रकृते श्लेषनिष्पत्त्यनन्तरम्, यत् श्लेषनिष्पत्त्युत्तरेव श्लेषमूलकभेदाप्यवसानेन भूषणस्यो मानसवासित्वरूपस्य सादृश्यस्य स्फुरणं भवति । एवञ्च रूपकस्योत्पत्तौ श्लेषस्यापेया सिद्धा श्लेषस्योत्पत्तौ रूपकापेक्षाऽपि नर्तते, यत् रूपकसिद्धयनन्तरमेव सरोमनोरुपार्थद्वयाभिधानात्मनः श्लेषस्य स्फुरणं भवति । ननु श्लेषस्फुरणे रूपकापेक्षायां किं बीजमिति चेदित्यम्—रूपकसिद्धिदशायां मानसपदस्य सरोमनोरुपार्थे तात्पर्याक्षरप्रकाशं प्रमाणं नास्ति । रूपकस्फुरणोत्तरम् तु रूपकशरीरप्रविष्टसादृश्यस्य श्लेषं विना अनुपपत्तिरिति तदनुपपत्तिरूपेण प्रमाणेन श्लेषस्य स्फुरणम् जायते, येन सरोमनोरुपार्थद्वयस्याभेदबोधः फलति । इति ।

'नलिनप्रतिपन्नमाननम्' इत्यादि में उपमा है ही नहीं, ऐसा मान लेने पर भी नवीन विद्वान् अपने मत के समर्थन में अन्य युक्ति बतलाते हैं—किं च इत्यादि । 'विद्वन्मानसहस्र' इत्यादि सम्पूर्णं पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । अर्थ है—हि विद्वानों के हृदयरूप मानसरोवर के हसरूप अर्थात् सर्वदा उत्तम विहार करनेवाले, हे शत्रुओं की लक्ष्मी के सकोच (न्यूनता) रूप कमल विकास के लिये सूर्यरूप, हे (युद्ध के लिये) किला न हूँ होनेरूप पार्वती के हूँ होने में शिवरूप, हे युद्धरूप समिधा (लक्ष्मी) के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्य-प्रेमरूप सती (महादेव की प्रथम पत्नी) की अप्रीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओं के पराजयरूप अर्जुन से पूर्व उत्पन्न होने में भीमरूप, वीरश्रेष्ठ राजन् । आप ब्रह्माजी के सौ वर्षों तक साम्राज्य को उन्नत करते रहें । प्रकृत में कहना यह है कि यदि रूपकस्थल में लक्षणा मानी जाय, तब उक्त (विद्वन्मानस 'इत्यादि) पद्य में अन्योन्याश्रय दोष आने लगेगा, जिससे परम्परित रूपक की सिद्धि नहीं होगी । अन्योन्याश्रय दोष कैसे होने लगेगा इसका उत्तर सुनिये—प्राचीनों के अनुसार सारोप लक्षणांमूलक रूपकालंकार सादृश्य की प्रतीति

के बिना हो नहीं सकता और प्रकृत पद में सादर्य की प्रतीति श्लेष की प्रतीति के बाद में हो सकती है, क्योंकि मानस आदि पद में श्लेष की प्रतीति हो जाने के बाद ही श्लेषमूलक अभेदारोप से उपमान हस और उपमेय भूप दोनों में रहनेवाले मानसवासित्वरूप साधारणधर्मात्मक सादर्य की प्रतीति होती है। इस तरह रूपक की उत्पत्ति में श्लेष की अपेक्षा सिद्ध हो गई। इसी तरह श्लेष की उत्पत्ति में रूपक की अपेक्षा भी है, क्योंकि राजा को हस समझनेरूप रूपक की प्रतीति हो जाने के बाद ही सरोवर और मन इन दो अर्थों के प्रतिपादनरूप श्लेष की ओर ध्यान जाता है। यदि कोई कहे कि श्लेष की प्रतीति में रूपक की अपेक्षा होने का कारण क्या है? तो समझिए—जब तक रूपक की प्रतीति नहीं हो जाती—राजा को हस नहीं समझ लिया जाता—तब तक मानस पद कहने से वक्ता का सरोवर में भी तात्पर्य है, हम बात का ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण ही नहीं है। हाँ, रूपक की प्रतीति हो जाने के अनन्तर रूपक के पेट में प्रविष्ट सादर्य की अन्यथा अनुपपत्ति रूप प्रमाण से श्लेष की प्रतीति होने लगती है अर्थात् जब राजा को हस समझ लिया जाता है तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उठती है कि राजा और हस में कौन-सा ऐसा साधारण धर्म है—सादर्य है, जिसके आधार पर राजा को हस से अभिन्न समझा गया है? तब विचार करने पर पता चलता है कि और तो कोई साधारण धर्म इन दोनों में नहीं, अतः अवश्यमेव मानस पद में श्लेष है, अर्थात् हस एक पद से वक्ता मन और सरोवर दोनों का बोध कराना चाहता है। अब वक्ता का उक्त तात्पर्य अवगत हो जाता है, तब अनायास ही 'मानसवासित्व'रूप साधारण धर्म का ज्ञान हो जाता है और उस श्लेष (एक पद से दो अर्थों के प्रतिपादन) से उन दोनों (मन तथा सर) अर्थों में अभेद की प्रतीति फलित होती है।

उपसंहारित—

अतो नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेव रूपकस्थले रमणीया ।

उक्तानेकविधानुपपत्तिवारणानुरोधेन रूपकस्थले वाच्यार्थयोरेवाहार्यभेदान्वयबोधः न नु लक्ष्यवाच्ययोरिति नवीनाभिमतमार्ग एव ज्यायान् इति भावः । वाच्यार्थयोरभेदे स्वीकृते विद्वन्मानसहस इत्यादावपि न कान्चिदनुपपत्तिरिति बोध्यम् ।

अब नवीन-मत का उपसंहार करते हैं—अतो इत्यादि। उक्त समी युक्तियों के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि रूपकस्थल में नवीनों की बात (दो वाच्य अर्थों का ही आहार्यभेदान्वय बोध होता है) ही उत्तम है—उनका मार्ग ही सुन्दर है, प्राचीनों का नहीं अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा रहती है यह प्राचीनों का कथन उचित नहीं है।

प्राचीनाभिमतमन्यदपि दूषयति—

'सदृशलक्षणाया' फल रूपके ताद्रूप्यप्रत्यय इत्यपि न हृदयङ्गमम् । तत्सदृश इति शब्दात्सादर्यप्रत्यये सत्यपि ताद्रूप्यप्रत्ययापत्तेः' इत्याहुः ।

रूपकस्थले उपमानवाचकमदस्य स्वसदृशे यन्लक्षणा ममाधीयते, तस्य फलम् उपमेये उपमानताद्रूप्यप्रतीतिरिति यदुक्तं प्राचीनैस्तदपि न हृदयपाह्वम्, ययो सादर्यप्रतीयते तयोस्ताद्रूप्य पश्चान् प्रतीयते इति प्राचीनोक्तिनिष्कर्षे निर्गलिते चन्द्रगदश इत्यादि-पदान् सादर्यप्रतीतिस्थलेऽपि चन्द्रताद्रूप्यप्रतीतिप्रगणात् । अतो नितान्तमयुक्तं प्राचीनां पक्ष इति भावः ।

प्राचीनों के द्वारा प्रतिपादित एक अन्य युक्ति का भी नवीन विद्वान् खण्डन करते

है—सदृश इत्यादि । प्राचीनों ने जो यह कहा कि रूपकस्थल में विषयिवाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है और उसका फल होता है विषय में विषयी के ताद्रूप्य की प्रतीति, वह भी हृदयग्राही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तब 'तत्सदृश' (उसके सदृश) इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने लगेगी । अतः प्राचीनों का मत अस्वगत ही है ।

नवीनमतसूत्रोपक्रमं कुरुते—

अत्रेदं विचार्यते—यत्तावदुच्यते नामार्थयोरभेदान्वयबोधेनैवोपपत्तौ रूपके नास्ति लक्षणेति, तत्र चमत्कारिसाधारणधर्मानुपस्थितिदशायामुपमालङ्कारस्येव रूपकालङ्कारस्यापि नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वेति सकलहृदयसिद्धम् । कथमन्यथा 'भारतं नाकमण्डलम्', 'नगरं विधुमण्डलम्' इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरमनुन्मिपन्त्या रूपकप्रतिपत्तेः सुपर्वालङ्कृत-सकलकलादिशब्दश्रवणोत्तरमेव समुन्मेषः सर्वेषाम् । इत्थमेव च मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोदाहरणेषुपि, इयांस्तु विशेषः—यदेकत्र साधारणो धर्मः प्रसिद्धतया नियमतः स्वबोधकश्रुतिं नापेक्षते । इतरत्र त्वप्रसिद्धतया तथा । एवं स्थिते साधारणधर्मवत्त्वरूपं सादृश्यं यदि रूपकमध्यं न प्रविशेत्तदा कथमिव धर्मविशेषानुपस्थितिदशायां रूपकं न पर्यवस्येत् । चमत्कारं वा न जनयेत् । उपमानोपमेययोराहार्याभेदबुद्धेरनन्यापेक्षपर्यवसानायाः साम्नाख्यात् ।

नारित लक्षणेति । अत्र नागेरा—'मास्तु लक्षणा । नामार्थयोर्भाभेदान्वय एवास्तु, न च बाधज्ञानं प्रतिबन्धकम् । सादृश्यज्ञानरूपदोषस्योत्तेजकत्वात् । एतज्ज्ञानं य प्रसिद्धसादृश्यकस्थले साधारणधर्मानुपादाने एकराबन्धिज्ञानादपरसंबन्धिप्रमाणन्यायेन । साधारणधर्मस्युक्तौ दोषविशेषसहकारेण शब्दादभेदप्रत्ययः । शङ्के पीतत्वाभाव-निश्चये कान्चकामलादिदोषेण तत्पीतत्वप्रत्यक्षवत् । रूपके आहार्यबुद्धिरिति प्राचीनव्यवहारे बाधबुद्धिकालिकत्वमात्रे आहार्यपदं लाशगिरम् । इतराच्चादित्तमभिन्नाहारे तु तेन भेदधर्मसादृश्यस्यैवोपस्थापनाभाभेदप्रतीतिरिति मम प्रतिभाति ।' इति । शास्त्रार्थकुशले नागेरारतादृशीं रुचिरा शास्त्रार्थपदलिं प्रादुरभावयत् यत्र पण्डितराजस्य नवीनमतखण्डनयुक्तिं कवलीकृतेव प्रतिभातीत्यत्र न मनागपि सन्देहः, परन्तु तस्याशस्तत्राल्पयोगेव, यतः सादृश्यज्ञानस्य दोषता न कापि प्रसिद्धा । किञ्च अभेदबोधे सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्वमपि असमञ्जसमिव प्रतीयते, भेदधर्मत्वे सादृश्यस्याभेदविरोधित्वात् तदधर्मत्वे पुनस्तेनैव कृतार्थतायामभेदबोधस्य सुधात्वापत्तेः । सदृशलक्षणाकल्पनापेक्षया सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पने लाघवमपि नास्त्येवेति मदीयो दृष्टिकोणः । नारित लक्षणेत्यन्तेन नवीनमतमनुद्य तत्र दोषं दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादिना । चमत्कारी यः साधारणधर्मस्तदनुपस्थित्यर्थः । नास्ति निष्पत्तिधमत्कारो वेति । यतो न चमत्कारस्ततो न निष्पत्तिः, अलङ्कारस्य चमत्कारप्राणत्वादित्यर्थः । भारतमिति । भारतम् महाभारताभिधो ऋःश्च, नाकमण्डलम् स्वर्गमण्डलरूप इत्यर्थः । नगरमिति । नगरं वर्णनीयं कश्चन स्थानविशेष, विधुमण्डलम् चन्द्रमण्डलरूप इत्यर्थः । अनुन्मिपन्त्या रूपकप्रतिपत्तेरिति । अनुदीयमानस्य रूपकज्ञानस्येत्यर्थः । सुपर्वालङ्कृत इति । 'सुपर्वालङ्कृतं भारतं नाकमण्डलम् ।' इति पूर्णवाक्यश्रवणोत्तरमिति भावः । 'स्यात् सुपर्वा देवमभा' इति कोशेन देवसमारोभितं स्वर्गमण्डलम्, आदिर्बर्न-विराट्-वर्णत्वादिरीत्या कृतं भागविशेषं शोभितम् भारतमिति च तदर्थः ।

सकलकलेति 'सकलकल नगर विधुमण्डलम्' इति पूर्णवाक्यम् । सकला कला चन्द्रिद्या शस्मिन् इति विधुपक्षे, कलकलै सहितमिति च नगरपक्षेऽर्थः । समुन्मेष इति । अस्य रूपकप्रतिपत्तेरिति प्राक्कनेन संबन्धः । सर्वेषाम् सहृदयविदुषाम् । मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपके न तथेति भ्रान्तिनिरासायाह—इत्यभेवेति । ननु कथमयमित्यकारः प्रसिद्धोदाहरणे साधारणधर्मबोधरूपकप्रतिपत्तेरिति रूपकप्रतिपत्तेर्जायमानत्वादित्यत्र आह—इयानिति । एकत्र मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपकौदाहरणे । इतरत्र 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्याद्यप्रसिद्धतदुदाहरणे । तथेति । स्वबोधकथ्युक्तिमपेक्षत इत्यर्थः । कथमिवेति । केन कारणेनेति तात्पर्यम् । कथमिवेत्यस्य कथमपेक्षति नागेशदीपा तु वाक्यार्थविरुद्धं । अन्यन्यापेक्षेति । अन्यत् साधारणधर्मादिकं नापेक्षत इत्यनन्यापेक्षम्, तादृशं पर्यवमानम् चरमं स्वरूपं यस्यास्तस्या इत्यर्थः । सदृशलक्षणायास्तु साधारणधर्मपेक्षं पर्यवमानमिति भावः । अत्रापि 'रूपकस्य तु' इति नागेशविवरणमममज्ञसमेव, आहार्याभेदबोधकल्पस्यापि रूपकपरतयैवोपस्थापिततया पूर्वसंबन्धविच्छेदकरत्वं 'तु'पदस्यासंगतौ । अयमत्र पिण्डार्थः—'नगर विधुमण्डलम्', 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्येतावदुक्तावपि आहार्याभेदबोधो नवीनमतप्रदर्शितरीत्या सम्भवतीति तावद् वाक्यश्रवणानन्तरम् तत्र रूपकालंकारबुद्ध्या स्फुरणायम्, स्फुर्यते तु न, तावता सिद्धयति, यत्—साधारणधर्मानुपस्थितिदशायाम् उपनालंकार इव रूपकालंकारोऽपि न भवति, चमत्कारकारणस्य साधारणधर्मस्याप्रतीते अत एव सकलकल-सुपर्वालकृतेति शब्दश्रवणोत्तरं पूर्वोक्तवाक्ययो रूपकालंकारबुद्धिः स्फुरति । न चाप्रसिद्धोदाहरण एवैषा स्थितिः मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोदाहरणे तु साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि रूपकबुद्धिः स्फुरत्येवेति भ्रमित्यन्वयम्, तत्रापि साधारणधर्मोपस्थितिदशायामेव रूपकोन्मेषात् । तत्र साधारणधर्मस्य सुन्दरत्वादेः प्रसिद्धतया तद्बोधकाशब्दश्रवणस्य नापेक्षा, अप्रसिद्धसाधारणधर्मस्थले तु तस्यापेक्षेत्यन्यदेतत् । एवञ्च रूपकस्यैव साधारणधर्मात्मकस्य सादृश्यस्य गर्भीकरणाद्योपमानवाचकस्य स्वमदृशे लक्षणेति प्राचा पक्षः निम्नप्रतिपक्ष एवेति ।

अब ग्रन्थकार नवीनों के मत का खण्डन आरम्भ करते हैं—अत्रेदं विचार्यते हायादि । उक्त नवीन विद्वानों के मत के विषय में यह विचार किया जाता है—उन्होंने जो सर्वप्रथम यह कहा कि 'दो नामाधों (दो पदों के वाक्याधों) के आहार्य अभेदान्बध बोध से ही निर्वाह हो जाता है, अतः रूपक के स्थल में लक्षणा नहीं होती' वह दाशों निकों की दृष्टि से भले ही ठीक जैने, पर सहृदय साहित्यिकों की दृष्टि से समुचित नहीं प्रतीत होता । कारण, अलंकारों की कल्पना चमत्कार के आधार पर की गई है । जब तक चमत्कार का अनुभव न हो तब तक कोई अलंकार नहीं माना जा सकता, अतएव 'गौरिव गवय अर्थात् गाय के सदृश गवय' इस वाक्य में उपमा नहीं मानी जाती और 'चन्द्र इव मुखम् अर्थात् चाँद सा मुख' इसमें चन्द्र मानी जाता है । इस स्थिति में यह बात सभी सहृदयों के हृदय में आने योग्य होगी कि जिस तरह चमत्कारजनक किसी साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाले आहादकता आदि) धर्म की अनुपस्थिति अवस्था में उपमा अलंकार नहीं माना जाता, उसी तरह चमत्कारक साधारण धर्म के अभाव में रूपक अलंकार भी नहीं बन सकता, क्योंकि चमत्कार का कारण उस साधारण धर्म का ज्ञान ही होता है और जब वही नहीं रहेगा, तब चमत्कारप्राण अलंकार ही तो कैसे ? यदि ऐसी बात न होती, तो जो 'भारतं नाकमण्डलम् अर्थात् भारत (महाभारत ग्रन्थ अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है' और 'नगर विधुमण्डलम् अर्थात् नगर चन्द्र विन्व है' केवल इन वाक्यांशों को सुन लेने

के वाद महद्यों के हृदय में रूपक अलंकार का अनुभव नहीं होता और उन्हीं वात्यों के साथ क्रमशः 'सुपञ्चलकृत अर्थात् स्वर्गपत्र में वैद-समा-सुशोभित और ग्रन्थपत्र में सुन्दर पर्व-समा, वन, विराट आदि से और भारतवर्षपत्र में सुन्दर पर्वो रवोहारों से सुशोभित' और 'सकलकल अर्थात् चन्द्रपत्र में मद्य कलाओं चन्द्रिकाओं से, नगरपत्र में कलकल दादों से युक्त' इन दोनों विशेषणों को सुन लेने पर स्व के मन में रूपक की प्रतीति उदित हो जाती है, वह क्यों ? दोनों अवस्थाओं में अन्तर तो केवल यही होता है कि पहले साधारण धर्म का ज्ञान नहीं होता और पीछे उक्त दोनों विशेषणों के सुन लेने पर वह हो जाता है। यह स्थिति रूपक के अप्रसिद्ध उदाहरणों में ही होती है, यह बात नहीं, 'मुखचन्द्र' इत्यादि प्रसिद्ध रूपकोदाहरणों में भी साधारण धर्मज्ञान होने पर ही रूपक की बुद्धि जागती है। हाँ, अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध उदाहरणों में इतना अन्तर अवश्य है कि अप्रसिद्ध स्थल में साधारण धर्म का ज्ञान होने के लिये नियमतः साधारण धर्म बोधक पद के श्रवण की अपेक्षा होती है और प्रसिद्ध स्थल में उसके लिये नियमतः बोधरूप-श्रवण की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् 'मुख और चन्द्र' का साधारण धर्म आह्लादकत्व आदि इतना प्रसिद्ध है कि बोधकपद के अभाव में भी 'मुखचन्द्र' कहने पर आप से आप ज्ञात हो जाता है, परन्तु 'नगरं विमुष्ण्डलम्' इत्यादि अप्रसिद्ध स्थल में वह साधारण धर्म (सकलकलाय आदि) तब तक ज्ञात नहीं होता, जब तक उसके बोधक पदों का श्रवण न हो जाय। सरांश यह कि साधारण धर्म का ज्ञान (चाहे वह प्रसिद्धि के कारण आप से आप हो अथवा बोधक पद के द्वारा हो) हो जाने पर ही रूपकालंकार का भी बोध होता है, यह निर्विवाद सत्य है। इस प्रसंग में यह भी सोचने योग्य है कि यदि रूपक के मध्य में सादर्य (जिसका निष्कृष्ट-स्वरूप साधारण धर्म होता है) का प्रवेश नहीं हुआ रहता, तब 'भारतम्', 'नगरम्' इत्यादि उक्त स्थानों पर साधारण धर्म की अनुपरिचितदशा में भी रूपक क्यों नहीं पर्यवसित होता ? तब चमत्कार की ही उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? नवीन मत के अनुसार तो उन दोनों बातों को होना ही चाहिए, क्योंकि उनके हिनाब से रूपक का नियामक जो आहार्य अभेद बुद्धि है, वह उस दशा में भी हो ही सकती है। कारण, आह्लादाभिेद-बुद्धि के होने में सादर्य आदि किसी अन्य बात की अपेक्षा नहीं है—वह अनन्यापेक्षपर्यवमान है।

साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामाहार्यभिेदबुद्धेरप्यभाव इत्येतदुपवादित्रा युक्तिमार्शस्य निरस्त्यति—

न चाहार्यपदार्थद्वयाभेदबुद्धौ तच्चमत्कारे वा साधारणधर्मविशेषज्ञान प्रयो-
जकमिति शक्यवक्तुम् ।

'यद्यनुष्णो भवेद्बह्विष्यशीतं भवेज्जलम् ।

मन्ये हृदयतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक् ॥'

इत्यादौ साधारणधर्मस्याप्रत्ययेऽपि बह्व-यनुष्णत्वादीनामभेदप्रत्ययोपगतेः । न चोपमानोपमेयस्थल एवायं नवीनो विशेष इति वाच्यम् । ईदृशविशेष-
कल्पने मानाभावात् । साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि 'मुख यदि चन्द्रः
स्यात् तदा भूम्यवस्थितं न स्यात्' इत्यादौ तादृशप्रतीत्युपगमाच्च ।

विशेषज्ञानमिति । तथा च तदभावादभेदबुद्धिरपि न स्यादिति भाव । यद्यनुष्ण
इति । बह्विष्यति अनुष्णो भवेत्, जलम् यदि सैत्यदीनं स्यात्, तदा हृदयतः स्थिर-
मत्यवादित्वप्रतिज्ञा, राम, असत्यवागपि मिथ्यावक्ताऽपि स्यात्—अर्थात्—यथाऽनल-
सलिलयोरनुष्णत्वाशीतलत्वे अर्धभविनी, तथा हृदयतस्य रामस्यासत्यवादिन्वमन्यसंभवी-

त्यर्थ । साधारणधर्मोति । बह्वनुष्णत्वाद्यमत्यवाकत्वयोरित्यादि । बह्वनुष्णोति । बह्वनुष्णत्वादिनामसन्धवाकत्वेन सहाभेदप्रत्ययोपगतेरिति भाव । अत्र 'बहवादावनुष्णत्वाभेदप्रतीतिरित्यर्थ' इति नागेशटीका तु 'बह्वनुष्णत्वादीनामभेदप्रत्ययोपगते' इति मूल-क्षरस्वारस्यप्रतिच्छलैव । नागेशानुयायिनी सरलापि तथैव । मदुक्तीत्या प्रन्यलापनतमवे तादृशप्रतिकूलव्याख्याकरणस्य प्रयोजनमपि नास्त्येव । न चोपमेति । बह्वनुष्णत्वाद्यमत्यवाकत्वयोस्तु नोपमानोपमेयत्वविवक्षितम् । अत एव तत्र रूपकादिकं न । अभेदबुद्धिस्तु तत्रास्तीति भाव । नन्वन्यथानुपपत्तिरेव मानमिति चेत् तत्राह—साधारणेति । मुखं यदीति । मुखं यदि चन्द्राम्बिनं भवेत्, तदा धरास्थितं न भवेत्, चन्द्रस्य धरागतत्वाममवादित्यर्थ । तादृशेति । अत्र नवीनमते चन्द्रमुखयोऽपमानोपमेयभावविवक्षाधीनरूपकमत्वेनाभेदप्रतीत्युपगमादित्यर्थ । प्राचीनमतेऽभेदबुद्धावपि सादृश्याप्रतीतेर्न रूपकमिति भाव । आहार्याभेदबोधे साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतया तदभावे तादृशाभेदबोधस्याप्यभावेन साधारणधर्मानुपस्थितिदशाया ह्यपकानुष्मेपस्य ह्यकमथलीयमदृशलक्षणापक्षसाधकत्वं न युक्तमिति कथनं नोचितम्—यद्यनुष्ण इत्यादिपद्ये साधारणधर्मानुपस्थितावपि अभेदबुद्धेर्दद्यात् तत्र पद्य उपमानोपमेयभावो नास्ति, उपमानोपमेयभावरथले एव च साधारणधर्मस्याभेदबुद्धिप्रयोजकता कल्प्यत इत्यपि न सम्यक् 'मुखं यदि चन्द्र इत्यात्' इत्यादावुपमानोपमेयभावरथलेऽपि साधारणधर्मानुपस्थितौ अभेदप्रतीतेर्निवृत्तत्वात् । तस्मादभेदबुद्धौ साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतया दुर्बलतया साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामप्यभेदबुद्धेर्निर्वाधतया तादृशदशायामापततो रूपकानुष्मेपस्य रूपकस्थले मदृशलक्षणासाधकतया प्राचा पक्ष एव सर्वाचीनो न नवीनानामिति भाव ।

साधारण धर्म की अनुपस्थिति में आहार्य अभेद बुद्धि भी नहीं होगी इस बात को सिद्ध करने के लिये शका करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि दो पदार्थों के आहार्य अभेद ज्ञान का अथवा उसके चमत्कार का प्रयोजक है साधारण धर्म का ज्ञान, अतः साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर वे दोनों बातें नहीं होतीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि—'यद्यनुष्णो' अर्थात् यदि आग अनुष्ण हो जाय और जल अशीतल हो जाय, तब यह भी सम्भावना की जा सकती है कि दृढवत (सत्य-प्रतिज्ञ) राम मिथ्याभाषी भी हो जाय' इत्यादि स्थानों में वहि की अनुष्णता आदि तथा असापवादिता इन दोनों पदार्थों में किसी प्रकार के साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर भी अभेद-प्रतीति मानी गई है । यदि आप कहेंगे कि उपमानोपमेय भाव जहाँ रहता है, वहीं इस तरह के नवीन विशेष (साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेद बोध भी नहीं होता) की कल्पना करेंगे अर्थात् उक्त पद्य में वहि की अनुष्णता आदि तथा असत्य वाक्य में उपमानोपमेय भाव की विवक्षा नहीं है, अतएव रूपक आदि भी यहाँ नहीं माना जाता, और साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध नहीं होने की बात हम उपमानोपमेयभावस्थल में ही कहते हैं, अतः वह बात यहाँ लागू नहीं होगी—साधारण धर्म की अनुपस्थिति में भी अभेदबोध होगा, तो यह कथन भी आपका समझ नहीं होगा क्योंकि एक तो 'उपमानोपमेयभावरथल' में ही उक्त कल्पना की रवीकृति में कोई प्रमाण नहीं है । दूसरे 'मुखं यदि चन्द्र इत्यात्' अर्थात् मुख यदि चन्द्र होता तो भूमि पर स्थित नहीं होता इत्यादि में उपमानोपमेय भाव के रहने पर भी साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध माना जाता है ।

दृशलक्षणापक्षेऽप्यगतिमाराद्धव समाधत्त—

ननु रूपकप्रतीतेरुपमानाभेदविषयत्वविरहे 'सिद्धेन सदृशो नाय किन्तु सिद्धो

नराधिपः' इत्यादौ निषेधविधेययोरसद्गतिरिति चेत्, न । अनुपदमेव प्राचीन-
मतद्वयेऽपि रूपके ताद्रूप्यप्रतिपत्तेः स्वीकारस्य प्रतिपादनात् ।

रूपकप्रतीतिरिति । रूपकालकाखुर्दी उपमानस्याभेदे विन्यो न भवतीति स्वीकारे
इत्यर्थः । रूपकस्थले वाच्ययोराहार्यभेदबोधो न भवति किन्तु सदृशलक्षणा भवतीति
प्राचीनपञ्चाश्रयणे इति यावत् । मिहेन सदृश 'इति । अत्र वर्णनीयः कश्चन नराधिपः
राजा, सिंहेन सदृश' सिद्धतुल्यो न, अपितु सिंह एवेत्यर्थः । निषेधेति । सिंहसदृशा-
भेदेत्यर्थः । विधेयेति । सिंहाभेदेत्यर्थः । मतद्वय इति । 'अन्ये तु, अपरे तु' इति प्रती-
वान्यामुपदर्शितयोर्द्वयोर्मतनोरित्यर्थः । रूपकस्थले वाच्ययोरुपमानोपमेययोराहार्यभेदबोधो
न भवति अपि तु उपमानवाचकस्य सदृशलक्षणयोपमानसदृशाभेदस्यैव बोधो भवति
चेत् ? तर्हि सिंहेन इति काव्यवाक्ये सिंहसदृशाभेदस्य निषेध सिंहाभेदस्य विधानश्च
यत्कियते तत्र सगन्धेत् भवतीत्या 'सिंहो नराधिपः' इत्येऽपि सिद्धपदस्य सदृशलाक्षण-
वतया सिंहसदृशाभेदस्यैव विधेयताऽवगमात् तद्विधेयताऽवगमे च सिंहेन सदृशो न
इत्यंशेन तस्यैव निषेधानुपपत्तेः इति शका नोचिता, सदृशलक्षणोपपादकप्राचीनमतद्वयेऽपि
रूपकस्थले उपमानोपमेययोरभेदबोधस्योपपादितत्वात् । एकस्मिन् मते चन्द्रादिपदेभ्यो
लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थिताना मुञ्जादीनां चन्द्रत्वेनैव रूपेण मुञ्जादिपदो-
पस्थापितं सहाभेदान्वयबोधः समर्थितः । तद्युक्तिस्तत्रैव द्रष्टव्या । अपरत्र मते भेदा-
करम्बितं सादृश्यं रूपकजीवानुभूतमज्ञीकृत्य तादृशबोध उपपादितः । इति ।

अत्र 'रूपक-स्थल में विषयिवाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है' इस प्राचीन-
पक्ष में असंगति की आशंका करके खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि । 'सिंहेन सदृश'.....
इत्यादि अर्थात् यह (कोई वर्णनीय) राजा सिंह के समान नहीं, परन्तु सिंह है'
इत्यादि स्थानों पर सिंहसदृशाभेद का निषेध और सिंहाभेद का विधान किया गया
है । अब सोचिये कि यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेदविषय नहीं होता
रहता अर्थात् उपमेय में उपमान के अभेद-ज्ञान के बिना भी रूपक सिद्ध हो जाता,
तो उक्त निषेध और विधान दोनों ही असंगत हो जाते, क्योंकि प्राचीनों के मतानुसार
'सिंहो नराधिपः' इस रूपक में भी सिद्ध पद सदृशलक्षणिक ही माना जायगा और
तदनुसार उसका अर्थ होगा 'सिंहसदृश से अन्तर्गत राजा' । इस स्थिति में सिंहसदृशाभेद
की विधेयता प्रतीत होगी, और जब उत्तर अंश से उसकी विधेयता विदित होगी, तब
पूर्व (सिंहेन सदृशो नायम्) अंश से उसका निषेध बन नहीं सकता । यह है दांका ।
उत्तर है कि—जबो थोडा पहले प्राचीनों के भी अन्तिम ('अन्ये तु' 'अपरे तु' इन दो
प्रतीकों के द्वारा वर्णित) दो मतों में इस बात का प्रतिपादन किया जा चुका है कि
रूपक में सदृशलक्षणा के शब्द भी ताद्रूप्य (अभेद) का बोध होता है (देखिये—उन
दोनों मतों की व्याख्या) ।

प्राचीनमते पुनरपरामसगतिमाशङ्क्य निरस्तान्ति—

अथ विधेयकोटी प्राचां मते सादृश्यापि प्रविष्टतया तन्निषेधानुपपत्तिस्तथापि
स्वियवैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यरूपाया उपमाया एव निषेधत्वात् तिरोभूत-
भेदसादृश्यलक्षणस्य रूपकस्य विधेयत्वाच्च नानुपपत्तिः ।

विधेयकोटाविति । 'सिंहो नराधिपः' इत्यंश इत्यर्थः । प्रविष्टतयेति । उपमानवाचकस्य
सदृशलाक्षणिकत्वादिति भावः । तथापीति । ताद्रूप्यप्रतिपत्त्यङ्कारेऽप्यन्यर्थः । उपमाया
एवेति । अत्रैवपदेन सादृश्यस्य विधिनिधेयबोधाविति । तिरोभूतभेदेति । तिरोभूतो भेदे

यस्मिन् सादृश्ये इति बहुव्रीहि । भेदाघटितेति तदर्थ । पूर्वोक्ते प्राचीनमतद्वये उपमानोपमेययोस्तादृश्यप्रतीतिरुपपादनेऽपि सदृशलक्षणाबललब्धस्योपमानसादृश्यस्यापि प्रतीतिरुपमेये स्यादेव तथा च 'सिंहेन सदृशो ' इत्यादौ सादृश्यनिषेधासगतिर्भवेदेवेति शका, नात्र सादृश्य निषेध्य विषेय वा, अपि तु भेदघटितसादृश्यात्मिकोपमानोपमेया भेदाघटितसादृश्यात्मक रूपकत्र विषेयम् इति तात्पर्यवर्णनम् समाधानमिति भाव ।

प्राचीनों के मत में एक अन्य तरह की असंगति की आशंका करके खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि । यदि आप कहें कि प्राचीनों के उक्त दोनों मतों में उपमान तथा उपमेय के भेद का प्रतिपादन भले ही किया गया हो, तथापि सदृश लक्षणा के बल से उपमान के सादृश्य की भी प्रतीति उपमेय में होगी ही और जब उसकी प्रतीति होगी, तब फिर 'सिंहेन सदृशो नायम्' इस भाग के द्वारा उसी का निषेध तो अनुपपन्न होता ही रहेगा, तो यह कहना उचित नहीं, कारण, सादृश्य जब दो प्रकार के माने जाते हैं—एक भेदघटित—जो उपमा का मूल होता है और दूसरा भेदाघटित अर्थात् जिसमें भेद अशतिरोहित—छिपा हुआ हो—जो रूपक का मूल होता है, तब सादृश्य का ही निषेध और उसी का विधान दोनों एक साथ बन सकते हैं । सारांश यह कि भेदघटित-सादृश्यमूलक उपमा का निषेध और भेदरहित-सादृश्य मूलक रूपक का विधान ही यहाँ विवक्षित है ।

प्राचीनमते दर्शितामनुपपत्तिं परिहर्तुमाह—

यदप्युक्त रूपके लक्षणास्वीकारे 'राजनारायणम्' इत्यत्र 'पादाम्बुजम्' इत्यत्र चोपमारूपकयोर्बाधकतया रूपकोपमयोर्निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वयोरनुपपत्तिः प्राचीनैरुक्ता विरुद्धा स्यादित्यादि, तदपि न । रूपके उपमानतावच्छेदकरूपेण तत्सदृशप्रत्ययस्योपपादितत्वेन 'राजनारायणम्' इत्यादौ विशेषणसमासायत्तस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य नारायणसदृशस्यापि नारायणत्वेनैव प्रतीतेर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनकर्मताया अनुपपत्तेरभावात् । उपमाया उपमितिसमासायत्तायाः स्वीकारे तु प्रधानीभूतपूर्वपदार्थस्य राज्ञो राजत्वेनैव प्रत्ययात्तादृशकर्मताया अनुपपत्तेः । 'पादाम्बुजम्' इत्यादावपि रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदस्यास्याम्बुजसदृशस्याम्बुजत्वेनैव प्रतीतेर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया अनुपपत्तेः । उपमितिसमासायत्तोपमायां तु प्रधानस्य पादस्य पादत्वेनैव प्रतीतस्य नास्ति तस्या अनुपपत्तिरिति न कोऽपि दोषः ।

उपमारूपकयोर्बाधकतया इत्यादि । राजनारायणमित्वत्रोपमाया बाधकतया रूपकस्य निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्तिः, पादाम्बुजमित्यत्र रूपकस्य बाधकतया उपमाया निर्णायकतया च मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वस्यानुपपत्तिरित्यर्थ । उपमानतावच्छेदकेति । चन्द्रत्वादिनेत्यर्थ । विशेषणसमासेति । मयूरव्यसक इति समासेत्यर्थ । उपमिति समासेति । 'उपमित व्याघ्रादिभि -' इति समासेत्यर्थ । तादृशेति । लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनेत्यर्थ । तस्या इति । मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया इत्यर्थ । अन्यत् निगदव्याख्यातमिति नेह प्रतन्यते ।

अथ प्राचीनों के मत में जो दोष नवीनों ने उगाया था, उसका उद्धार करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि । नवीनों ने सर्वप्रथम यह दोष उगाया है कि रूपक में लक्षणा मानने पर प्राचीनों का 'राजनारायणम्' में 'लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गन' को उपमा का बाधक

और रूपक का निर्णायक मानना, तथा 'पादाम्बुजम्' में 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व' को रूपक का वाचक और उपमा का साधक मानना, विरुद्ध हो जायगा। परन्तु वस्तुतः यह प्राचीनों के मत में भी विरुद्ध होता नहीं। कारण, वह विरुद्ध तब होता यदि 'राजना-रायणम्' में रूपक मानने पर भी 'लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन' अनुपपन्न होता, इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में उपमा मानने पर भी 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व' उपपन्न नहीं हो सकता परन्तु वह होता नहीं, क्योंकि प्राचीनों के द्वितीय मत में यह कहा जा चुका है कि रूपकरणल में चन्द्र आदि उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति होने पर भी अन्वयबोध उस उपस्थित अर्थ का उपमानतावच्छेदक-चन्द्रत्व आदि-रूप से ही होता है। अतः 'राजनारायणम्' में 'मपूरव्यंसकादयश्च' इति पाणिनि सूत्र से विशेषणसमास मान कर रूपक स्वीकार करने पर प्रधान माने जाने वाले नारायणसदृशरूप उत्तरपदार्थ की भी प्रतीति अन्वयबोध में नारायणत्व रूप से ही होगी और जब नारायण से अभिन्न राजा को समझ लिया जायगा, तब उसका लक्ष्मी के द्वारा किये जानेवाले आलिङ्गन का कर्म होना अनुपपन्न नहीं होगा-उचित ही होगा। और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति पाणिनि सूत्र से उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान माने जानेवाले राजारूप पूर्वपदार्थ का राजारूप में ही बोध होगा-नारायणसदृशरूप उत्तरपदार्थ विशेषणरूप में यथावत् पढ़ा रहेगा और जब राजा राजा मात्र समझा जायगा-नारायण से अभिन्न नहीं, तब उक्त आलिङ्गन अनुपपन्न होगा। इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में रूपक मानने पर प्रधान माने जानेवाले 'अम्बुजसदृश'रूप उत्तरपदार्थ की प्रतीति अन्वय बोध में अम्बुजरूप से ही होगी और जब अम्बुज प्रधान तथा चरण अभेदेन उसका विशेषण समझ लिया जायगा तब उक्त 'मनोहरत्व' उपपन्न-उचित नहीं होगा। उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान होनेवाले 'चरण' रूप पूर्वपदार्थ की प्रतीति अन्वयबोध में चरणरूप से ही होगी-अम्बुज सदृशरूप उत्तरपदार्थ अभेदेन विशेषण बन कर गौण रूप में पढ़ा रहेगा, और जब पाद की प्रधानता समझी जायगी, तब उक्त मनोहरत्व उपपन्न होगा। सारांश यह है कि प्राचीन मत के अनुसार भी उक्त स्थलों पर किसी तरह की गड़बड़ी नहीं होती, अतः उनका मत ठीक है।

'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोक्तरीतिरसम्भवमाशङ्क्य समाधत्ते—

न चोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकतयैव प्रतीतिरिति न युक्तम् । 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इति प्रागुक्तरूपक इयोपमानताद्रूप्यवदभेद-युद्ध्यातत्ताद्रूप्यस्यात्रापि प्रतिपत्तुं शक्यत्वाल्लक्षणायास्तुल्यत्वादिति वाच्यम् । उपमितिसमासे भेदघटितसादृश्यस्य लक्ष्यकोटिप्रविष्टतया वैलक्षण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

उपमानताद्रूप्येति । उपमानसदृशयोरैकपदोपात्तत्वेनोपमानताद्रूप्यवत्सादृशाभेदयुद्ध्या उपमेये उपमानताद्रूप्यस्योपमायामपि ज्ञातुं शक्यत्वादित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—लथर्योति । रूपक इवोपमितसमासेऽपि सादृश्यवाचकेशब्दाभावेन लक्षणायां रात्वेन तस्यास्तुल्यत्वादिति भावः । वक्ष्यमाणत्वादिति अयोपमितसमासे 'इत्यादिनाऽस्मिन्नेव प्रकरणे' इति भावः । 'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्य पादरूपस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकतादत्वेनैव प्रतीतिरिति युक्तं तन्न युक्तम् 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इति पूर्वोक्तरूपकस्येते यथा लक्षणायां चन्द्रसदृशस्य चन्द्रस्य चैकपदोपस्थान्यत्वप्रयुक्तानेदाध्यवसानेन ताद्रूप्ये चन्द्रताद्रूप्यवता सदृशपदार्थानेभेदात् सुखेऽपि चन्द्रत्व प्रतीयते, तथैव प्रकृते उपमायामपि इवशब्दाभावात् उपमानवाचकस्याम्बुजपदस्य स्वसदृशे लक्षणायां अकामेनाप्यङ्गीकर्त-

व्यतया अम्बुजताद्रूप्यवत्सदृशपदार्थभिदान् पादेऽम्बुजत्वप्रतीतिरिति शका, उपमितसमासे भेदघटितं सादृश्य लक्ष्यकोटिप्रविष्ट, विशेषणसमासे तु तदघटित सादृश्यं तथेति लक्षणायास्तुल्यत्वेऽपि, उपमारूपकयोर्वैलक्षण्यस्याग्रे प्रतिपादनात् उपमितसमासे पादाद्बुजमित्यत्र भेदघटितसादृश्यस्य प्रतीत्या पादेऽम्बुजताद्रूप्यप्रतीतिरभाव इति समाधानमिति भावः ।

‘पादाद्बुजम्’ में उक्त रीति की अमभावना की शङ्का बरके खण्डन करते हैं—न चेत्यादि । ‘उपमित समास’ में पूर्वपद के अर्थ पाद आदि उपमेय की प्रतीति उपमेयतावच्छेदक-पादत्व-आदि के रूप में नहीं हो सकती । कारण, ‘पादाद्बुजम्’ में ह्व आदि सादृश्यवाचक पद तो है नहीं, अत उपमित समास मानने पर भी ‘अम्बुज’ रूप उत्तरपद की जब सदृश-अर्थ में लक्षणा ही मागनी पड़ेगी, तब जैसे ‘वक्त्रे चन्द्रमणि स्थिते हिमपर. शीताशुहृज्जृम्भते’ पूर्वोक्त रूपक में, ‘चन्द्रसदृश’ में ‘चन्द्र’ का ताद्रूप्य मान लेने पर, ‘चन्द्रसदृश’ के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चन्द्र का ताद्रूप्य आप मान चुके हैं, उसी तरह यहाँ भी ‘अम्बुजसदृश’ में ‘पाद’ का अभेदान्वय होने के कारण ‘पाद’ में भी ‘अम्बुजताद्रूप्य’ की प्रतीति हो जानी चाहिए । और ऐसी स्थिति में उक्त अनुपपत्ति यहाँ यती रहेंगी । यह है यहाँ शंका । उत्तर यह है कि उपमितसमास में भेद-घटित सादृश्य, लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है और विशेषणसमास में भेद-रहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है, अत दोनों स्थलों पर समान रूप से लक्षणा के रहने पर भी उपमा तथा रूपक में विलक्षण-विलक्षण बोध होता है (यह बात आगे कही जानेवाली है) । सारांश यह है कि ‘पादाद्बुजम्’ में उपमित समास मानने पर लक्षणा द्वारा भी भेदघटित सादृश्य की ही प्रतीति होगी, अत. ‘पाद’ में ‘अम्बुज’-ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होगी ।

प्राचीनमते नवीनैरारोपितमनुपपत्त्यन्तरमनूय समाधत्ते—

यद्यप्युक्तं सादृश्यस्य शब्देनोपादानादुपमात्वापत्तिरिति तदपि न । भेदाकरम्बितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्वादुपमान्यपदेशस्याप्रसक्तैः ‘सादृश्यमुपमाभेदे’ इति तत्सिद्धान्तात् ।

भेदाकरम्बितेति भेदाघटितेत्यर्थः । प्राचीनमते रूपकस्थले उपमानवाचकस्य स्वगदशे लक्षणायां लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य लक्ष्याशे सादृश्यत्वात्प्रकृतान्यरूपेण प्रतीतौ सादृश्यस्य लाक्षणिकोपमानवाचकशब्देनोपादानात् उपमान्नापत्तिरिति दोषो यदुक्तो नवीनैः, तन्प्राचीनाशयाद्धानविलमितम्, ‘भेदे मति सादृश्यम् उपमा’ इत्युपमालक्षण कुर्वता प्राच्या मने रूपके उपमान्वाप्राप्ते, तत्र भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्य लक्ष्यतावच्छेदकतया तैरुपपादानात् इति भावः ।

प्राचीन मत में नवीनों के द्वारा आरोपित एक दूसरी अनुपपत्ति का अनुवाद करके समाधान करते हैं—यद्यप्युक्तम् इत्यादि । रूपक-स्थल में उपमान वाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है इस प्राचीन मत में, लक्ष्यतावच्छेदक-सादृश्य की लक्ष्य (उपमेय) अंश में सामान्य (सादृश्य) रूप से प्रतीति मानने पर सादृश्य का शब्द द्वारा ग्रहण होने के कारण ऐसे स्थानों में उपमा अलंकार होने लगेगा, रूपक नहीं हो सकेगा, यह जो दोष नवीनों ने दिया है, वह भी समुचित नहीं है । कारण, रूपक स्थल में भेदरहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट है, अत उपमा का कोई प्रमङ्ग ही वहाँ नहीं उठ सकता, क्योंकि ‘सादृश्यमुपमाभेदे’—अर्थात् भेदविशिष्ट सादृश्य को उपमा कहते हैं’ इस लक्षण के अनुसार उपमाव्यवहार के लिये भेद का प्रतीयमान होना आवश्यक माना गया है ।

पुनरन्यथा नवीनाभिमतं शंभुमुन्याप्य खण्डयति—

ननु यत्र भेदघटितसादृश्यवति वक्त्रा लक्षणया मुखं चन्द्र इति प्रयुक्तम् तत्र तथाप्युपमालङ्कारापत्तिः स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यप्रतिपिपादयिपाकाले लक्षणया तद्वति शब्दप्रयोगस्य विरुद्धत्वात्। लक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतिपिपादयिपाधीनत्वान्। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य रुढिव्यतिरिक्त्या लक्षणयाऽर्थप्रतिपादयन्त्याः। भेदताद्रूप्ययोर्विप्रतिपिद्धत्वेन युगपत्प्रतिपत्तृबुद्धयुपारोहासंभवात्।

तद्वति भेदघटितसादृश्यवति मुखादावित्यर्थः। शब्दप्रयोगस्येति। काश्चिन्नचन्द्रादिपदप्रयोगस्येत्यर्थः। समासगतोपमास्थले भेदघटित रूपरस्यले तदघटितसादृश्य लक्षणया बोध्यत इति भवदभिमतम्, तथा च सादृश्यप्रयोगस्य वक्त्रुरिच्छाधीनत्वान् भेदघटित सादृश्य मनसि कृत्वा वक्त्रा यत्र 'मुखं चन्द्र' इति प्रयुज्यते, तत्र भेदघटितसादृश्यस्य शब्दोपात्ततया पूर्वोक्तोपमात्पात्ति स्थितैवेति शब्दा, प्रयोजनमूलायाः लक्षणयास्तादृशस्थले ताद्रूप्यप्रतिपादनेच्छाधीनतया भेदघटितसादृश्यप्रतिपादनेच्छाकाले काश्चिन्नशब्दप्रयोगस्यानुचितत्वम्, भेदताद्रूप्ययो परस्परविरुद्धतया एककालावच्छेदेन बुद्धिविपर्ययसंभवात्। रुढिमूला लक्षणा तु तत्र सम्बन्धेन न तादृशप्रयोगस्य परम्परागतत्वविरहादिति समाधानमिति भावः।

अब पुनः नवीनों के द्वारा प्राचीनों के मत में उठाई गई एक आशंका का समाधान करते हैं—ननु इत्यादि। नवीन विद्वान् यदि कहें कि समासगत उपमा के स्थल में भेदयुक्त और रूपक के स्थल में भेद से अयुक्त सादृश्यलक्षणा द्वारा बोधित होता है, यही तो प्राचीनों का अभिमत है अर्थात् सादृश्य के दोनों प्रकार (भेदयुक्त तथा तदयुक्त) उन्हें इष्ट हैं, फिर तो उन दोनों प्रकारों में से किसका प्रयोग कहाँ किया जाय, यह बात वक्त्रा के ही अधीन रही, अतः जहाँ वक्त्रा 'मुखचन्द्र' इस वाक्य में 'चन्द्र' शब्द का प्रयोग 'भेदयुक्त सादृश्यविशिष्ट' अर्थ में करे, वहाँ 'मुखचन्द्र' में उपमा की आपत्ति हो ही जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि वक्त्रा जिस समय में भेदघटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा करेगा, उस समय में वह सदृशलाक्षणिक पद का प्रयोग कर ही नहीं सकता, क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् ताद्रूप्य का जय प्रतिपादन करना हो, तभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, शिष्टजन रुढिव्यतिरिक्त लक्षणा के द्वारा निष्प्रयोजन अर्थप्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् रुढिमूलक लक्षणा से अन्य लक्षणाओं में प्रयोजन का होना आवश्यक है और यहाँ ताद्रूप्य के अनिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन हो नहीं सकता, अतः भेदप्रतिपिपादयिपाकाल में सदृशलाक्षणिक पद का प्रयोग विरुद्ध है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि भेद और अभेद दोनों की प्रतीति हो, क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरुढ़ नहीं हो सकते, अतः ऐसा कथन असंगत है।

प्राचीनमते शेषशानाय पुनरन्यथा शब्दते—

अथोपमितसमासे पुरुषव्याघ्र इत्यादावुत्तरपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणैवोपगन्तव्या। अन्यथा बोधकाभावेन समासे सादृश्यप्रत्ययो न स्यात्। न च व्याघ्र इवेतीवशब्दस्तद्वोधक इति वाच्यम्, तस्य समासे संबन्धाभावात्। सति च संबन्धे तन्निवृत्तेरयोगान्, निवर्तकशब्दास्याभावात्। विप्रह्वाक्यगतदित्वशब्दः स्वघटितवाक्यस्योपमाप्रतिपादकत्वं सम्पादयितुमीष्टे, न वाक्या-

न्तरस्य । तस्य विवरणत्वानुपपत्तेश्च । न हि विवरणीयवाक्यगतशब्दाप्रतिपाद्य-
स्यार्थस्य विवरणं युज्यते । इत्थञ्च लक्षणाया एवाभ्युपगम्यतया सत्यां च तत्प्र-
योजनीभूतताद्रूप्यप्रतिपत्तौ कथमुपमा द्विलुप्ता तत्र प्राचीनैरुक्तेति चेत् ।

स्वार्थसदृशे इति । व्याघ्रसदृशे इत्यर्थः । अन्यथेति । लक्षणानभ्युपगमे इत्यर्थः ।
बोधकमत्तामाशङ्कते—न चेति । तस्य इवशब्दस्य । तन्निवृत्तेरिति । इवशब्दनिवृत्तेरि-
त्यर्थः । तत्र हेतुमाह—निवर्तकेति । शाल्वेति । सूत्रेत्यर्थः । ननु विग्रहवाक्यगत इवशब्द-
समासे सादृश्य बोधयेदिति चेत्तत्राह—विग्रहवाक्यगतस्त्विति । वाक्यान्तरस्य समास-
वाक्यस्य । समासे मास्तु सादृश्यप्रतीतिरित्यत आह—तस्येति । विग्रहवाक्यस्येत्यर्थः ।
तामेवानुपपत्तिं स्फुटीकरोति—न हीत्यादिना । इत्थञ्चेति । उक्तानुपपत्तौ चेत्यर्थः । तदिति ।
लक्षणेत्यर्थः । कथमुपमेति । ताद्रूप्यप्रतीत्या रूपकस्यैव प्रसन्नादिति भावः । द्विलुप्तेति ।
चस्तुस्थितिकथनमेतत्, न तु तत्र शङ्काविषयता । उपमाया एव शकाविषयत्वे तद्गत-
द्विलुप्तत्वादे र्वत शकाविषयतेति तु अन्यत् । अत्र 'उत्करीत्या धर्मवाचक्यौ सत्त्वेन
कथं धर्मवाचकलुप्तोक्तेत्यर्थः' इति नागेशव्याख्याशोभनैव, यतरतद्वीत्या उपमाया न
राङ्गनीयता, किन्तु तस्या द्विलुप्तत्वे इति प्रतिभाति, तच्च न, साधारणधर्मवाचकस्य 'शूर'
इत्यादेर्लोपस्य स्पष्टत्वात्, भादृश्यवाचकलोपरयोक्तृकाकान्तत्वसमवेऽपि न ग्रन्थकृद-
मिमत्त्वम्, 'अत्रोच्यते' इत्यादिना दायमानस्योत्तरस्य तदनुपयुक्तत्वात् । अत एव
'वाचकलोपस्तु' इत्यादिना पृथगुपपादनं सगच्छते । अत 'उपमा कथम्' इत्येव ग्रन्था-
शयः । तुष्यद्दुर्जनन्यायेनोपमाऽभ्युपगमेऽपि तस्या साधारणधर्मलुप्तात्वमेव सम्भवति,
न वाचकलुप्तात्वम्, एवञ्च द्विलुप्ता कथम् इति वा ग्रन्थाभिप्रायः । साधारणधर्मलोपाशौ न
काऽपि शक्येति साराशः । नागेशस्तु तस्यापि शकनीयतामभिप्रेति । स प्रायः ताद्रूप्यमेव
साधारणधर्मम् युज्यते, अत एवाग्रेऽपि 'नन्वेवमपि ताद्रूप्यप्रतीत्या कथं धर्मलुप्तत्वम्' इति
विवृणुते । (वशिष्ठीकाकारसत्त्वं सर्वत्र नागेशच्छिद्रगवेषणपरोऽत्रायुक्तमपि नागेशोक्तिमनु-
बन्धं शोच्य एव ।) अन्यत् सुगमम् ।

प्राचीन मत में एक नवीन दोष की आशंका करते हैं—अधोपमित इत्यादि ।
'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमितसमास में व्याघ्र आदि उत्तरपद की स्वार्थसदृश (अर्थात्
व्याघ्रसदृश आदि) अर्थ में लक्षणा ही माननी पदेशी, अन्यथा समास में सादृश्य बोधक
शब्द न रहने के कारण सादृश्य का बोध नहीं हो सकेगा । 'व्याघ्र इव पुरुष' इस
विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द को तो सादृश्य का बोधक कहा नहीं जा सकता,
क्योंकि समास में (पुरुषव्याघ्र इत्य पद में) उस 'इव' शब्द का सवन्ध नहीं है । यदि
समास में उसका सवन्ध रहता, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती—अर्थात् उसका ध्रवण
अवश्य होता, क्योंकि उसकी निवृत्ति करनेवाला कोई सूत्र व्याकरण में नहीं है । समास
में 'इव' शब्द का सवन्ध रहे अथवा न रहे, विग्रहवाक्य में तो अवश्य है, वही
समास में भी सादृश्य का बोधक होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता । कारण, जिस
वाक्य में 'इव' रहेगा, उसीके अर्थबोध में वह सादृश्य का भ्रान करा सकता है अतः वह
'इव' शब्द उसी वाक्य को उपमाप्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्यको नहीं—
अर्थात् 'व्याघ्र इव पुरुष' इस विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द के चल पर इसी
वाक्य में उपमा मानी जा सकती है, 'पुरुषव्याघ्र' इस समस्त वाक्य में नहीं । यह भी
नहीं कहा जा सकता कि समास में सादृश्य का बोध होता ही नहीं, क्योंकि यदि
'पुरुषव्याघ्र' इस समासवाक्य से सादृश्य का बोध नहीं होवे, तब 'पुरुष व्याघ्र इव'
इस वाक्य के द्वारा उस समासवाक्य का विवरण करना असंगत हो जाए । कारण,

जिस वाक्य का विवरण किया जाता है, उसमें आए हुए शब्दों से जो अर्थ प्रतिपादित नहीं होते, उन अर्थों का विवरण करना उचित नहीं अर्थात् मूल में जो अर्थ है ही नहीं वह व्याख्या में आ नहीं सकता है। अतः 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि स्थान में उत्तरपद की स्वार्थसदृश में लक्षणा माननी ही पड़ेगी। अब यदि कहा जाय कि जब लक्षणा मानी जायगी, तब तो उक्त युक्ति से लक्षणा का प्रयोजन ताद्रूप्य (अभेद) भी मानना ही पड़ेगा। फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक मान कर द्विलुप्ता—(धर्मवाचक लुप्ता) उपमा कैसे मान ली ?

समाधत्ते—

अत्रोच्यते-उपमितसमासस्य भेदघटितोपमानसादृश्यविशिष्टोपमेये शक्ति-स्तदघटकीभूतोपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढलक्षणाया वा स्वीकाराददोषः ।

शक्तिरिति । 'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पञ्चजशब्दवत्' इति शाब्दिका । विशिष्ट-शक्तौ गौरवमागूरयतो नैयायिकस्य शिष्या आह—तदघटदधीभूतेति । समासगतेति तदर्थः । अयं भाव—पुरुषव्याघ्र इत्यादि समासगोपमास्यत्वे गोपमानवाचकस्य व्याघ्रादिपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणा, पुरुषव्याघ्र इति समस्तसमुदायस्य भेदघटितव्याघ्रसादृश्यविशिष्ट-पुरुषरूपार्थे भिन्ना शक्तिरेव, अथवा पुरुषव्याघ्र इति समुदायघटकव्याघ्रपदस्य भेदघटित-स्वार्थसादृश्यविशिष्टे निरूढेव लक्षणा, उभयथापि ताद्रूप्याप्रतीति रूपकाप्रसंगेगोपमात्वं सुस्थम् । वाचकलुप्तात्वसमर्थन परमवशिष्यते, तदग्रे विधास्यतेऽनुपदम् इति ।

अब उक्त भाषाका का समाधान करते हैं—अत्रोच्यत इत्यादि । उक्त भाषाका का उत्तर यह है कि 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि समासगत उपमा-स्थल में उपमानवाचक व्याघ्र आदि पदों की स्वार्थसदृश में प्रयोजनमूला लक्षणा है ही नहीं, जपि तु 'पुरुष व्याघ्र' इस समस्त समुदाय की भेदघटित व्याघ्रसादृश्यविशिष्ट पुरुषरूप अर्थ में एक भिन्न शक्ति ही है। इसी तरह की शक्ति को वैयाकरण लोग 'समासशक्ति' कहते हैं। उन्होंने कहा भी है—'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पञ्चजशब्दवत् अर्थात् 'पञ्चज' पद की योगशक्ति ने यद्यपि कीचड़ से उत्पन्न होनेवाले शैवाल आदि अनेक वस्तुओं का बोध प्राप्त था, तथापि समुदायशक्ति से केवल कमल का ही बोध होता है, उसी तरह सभी सामासिक पदों में एक भिन्न शक्ति रहती है।' अथवा उक्त-समुदाय-घटक 'व्याघ्र' पद की भेदघटित स्वार्थ-सादृश्य विशिष्ट में निरूढ लक्षणा ही मान लेनी चाहिए। दोनों ही प्रकारों से यहाँ ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होगी, अतः रूपक का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा, फिर उपमा अपनी जगह पर सुस्थिर रहेगी। यद्यपि इतना कहने पर भी यह शंका बनी ही रही छि-द्विलुप्ता उपमा कैसे हुई, क्योंकि साधारण धर्म का अभाव रहने पर भी सादृश्यवाचक का अभाव नहीं है। कारण, उक्त रीति से समासशक्ति द्वारा 'पुरुषव्याघ्र' यह समुदाय अथवा निरूढ लक्षणा द्वारा 'व्याघ्र' पद, सादृश्य का बोधक हो ही जाता है। तथापि इसका उत्तर अन्यकार तुरत आगे देंगे, ऐसा समझना चाहिए।

स्पृहान्तरेऽपि उच्यते: स्वीकरणोपयत्नमतिदिशति—

इधमेव निपातानामिवादीनां द्योतकत्वानये मुखं चन्द्र इवेत्यादौ, वाचक-लुप्तायामुपमायां च गतिरनुसरणीया ।

इयमेवेति । अस्य 'गति रित्यन्तान्वयः । उपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढलक्षणा रूपेति तदर्थः । निपातानामिति । एतद्वेवादीनां द्योतकत्वे युक्तिप्रदर्शनम् ।

‘निपाता द्योतकः’ इति क्विप्ता शाब्दिकना सिद्धान्तः । द्योतकत्वान्ये इति । एतेन सिद्धान्तसिद्धनिपातवाचकत्वान्ये न तादृशागत्यनुमरणस्यारोहेति सूच्यते । वाचकलुप्तता-मिति । तद्विद्गौरीत्यादावित्यर्थः । पुरुषव्याघ्र इत्यत्र यथा व्याघ्ररूपोपमानवाचकपदस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरुद्ध लक्षणा स्वीक्रियते, तथैवैवादीना निपाताना द्योतकत्वमिति नीतावाश्रीयमापाया ‘सुख चन्द्र इव’ इत्यादावपि चन्द्रपदस्य सादृश्यविशिष्टे लक्षणा स्वीकृत्या अन्यथा वाचकविरहेण द्योतकत्वेष्वप्यस्य वाचकत्वात् एव कार्यकारित्वेन न सादृश्यप्रत्ययो न स्यात्, तदभावे उपमानत्वमपि नैव भवेत् । तद्विद्गौरीत्यादौ वाचकलुप्तोपमालंकारस्थलेऽपि पुरुषव्याघ्र इत्यत्र दर्शिता रीतिरेवाश्रयणीया विशेषाभावादिति भावः ।

कतिपय अन्य स्थानों में भी उक्त रीति का अनुसरण करना पड़ता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयमेव इत्यादि । ‘पुरुष-व्याघ्र’ में जैसे व्याघ्ररूप उत्तरपद की भेदघटित सादृश्यविशिष्ट अर्थ में निरुद्ध लक्षणा माननी पड़ी है, उसी तरह, जिनके मत में निपात (इव आदि) द्योतक है वाचक नहीं, उनके हिसाब से ‘सुख चन्द्र इव’ इत्यादि स्थानों में भी ‘चन्द्र’ आदि पद की सादृश्य-विशिष्ट अर्थ में निरुद्ध लक्षणा माननी पड़ेगी । अन्यथा वाचक के अभाव में सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी, अतः एव उपमा भी नहीं होगी । द्योतक (इव आदि) तो रह कर भी कार्यकारी नहीं होगा, क्योंकि द्योतक वाचक की सत्ता में ही अपने अर्थ को द्योतित कर सकता है । ‘तद्विद्गौरी’ इत्यादि वाचकलुप्तोपमा स्थल में भी उसी रीति का आश्रयण करना चाहिए, जिस का आश्रयण ‘पुरुषव्याघ्र’ में किया गया है । अन्तर केवल इतना होगा कि ‘तद्विद्गौरी’ में पूर्वपद की लक्षणा होगी, और ‘पुरुषव्याघ्र’ में उत्तरपद की लक्षणा होती है । ‘तद्विद्गौरी’ में उपमेय नायिका आदिष्ट है, साधारण धर्म गौरत्व उक्त है और ‘पुरुषव्याघ्र’ में उपमेय पुरुष कहा हुआ है, तथा साधारण धर्म नहीं कहा हुआ है । वाचक का अभाव दोनों स्थानों पर समान है ।

न्तु ‘पुरुषव्याघ्र’, ‘तद्विद्गौरी’त्यादौ कथं वाचकलुप्तता, उपमानवाचकपदानामेव लक्षणाया सादृश्यप्रतिपादकत्वादित्यत आह—

वाचकलोपस्तूपमानाद्यकरम्बितसादृश्यतद्विशिष्टान्यतरप्रतिपादकशब्दशून्य-
त्वादुपपादनीयः ।

उपमानाद्यकरम्बित इति । उपमानादिवाचकपदानुपस्थाप्य इति तात्पर्यार्थः । वाचके इवानुपादाने वाचकलुप्तत्वायाद्—सादृश्येति । समतदशाद्यप्रयोगे तत्त्वायाह—तद्विशिष्टेति । सादृश्यविशिष्टेति तदर्थः । तद्विद्गौरीत्यादौ यद्यपि सादृश्यस्य लक्षकं तद्विपरं विघटे, तथापि न तावता वाचकलुप्ततात्वहानिः, तदर्थम् पृथक् इव-सम-सदृशादिपदानां प्रयोगोऽपे-
क्षितः । तदप्रयोगे सादृश्यलक्षकौपमानवाचकपदसत्त्वेऽपि वाचकलुप्तत्वमभ्युत्तमेवेति भावः ।

‘पुरुषव्याघ्र’ ‘तद्विद्गौरी’ इत्यादि स्थानों में जब उपमानवाचक ‘व्याघ्र’ ‘तद्विद्गौरी’ आदि पद की स्वार्थ सहाय में निरुद्ध लक्षणा मान ली गई, तब वे ही पद सादृश्य के प्रतिपादक समझे जायेंगे, अतः उन स्थलों में ‘वाचकलुप्तता’ उपमा का व्यवहार कैसे किया जाता है, इसका उत्तर अब देते हैं—वाचकलोपस्तु इत्यादि । उक्त शब्द का उत्तर यह है कि उपमान आदि से विशिष्ट सादृश्य के प्रतिपादक पदों के रहने पर भी शुद्ध सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट-अर्थात् सहाय अर्थ के प्रतिपादक पदों के नहीं रहने के कारण वाचकलोप का व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् पृथक् ‘इव’ ‘सम’ ‘सदृश’ आदि पदों के रहने पर ही वाचक की सत्ता समझी जाती है, और पृथक् उनके नहीं रहने पर उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा अथवा समासशक्ति के द्वारा सादृश्य का प्रतिपादन होने पर भी सादृश्य-वाचक का लोप ही माना जाता है ।

प्राचीनमतद्रूपकं नव्यमतोक्तं युक्त्यन्तरं निराकृतुमाह—

यच्च 'विद्वन्मानस' इत्यत्र वृषणमभिहितं तद्रूपकप्रकरणे परिहरिष्यते ।

वृषणमिति । रूपकस्थले गृहशालक्षणापत्ते प्राचीनाभिमतं विद्वन्मानस इत्यादौ परस्पराभ्रय, स्तोत्ररूपकयोः सिद्धयोः परस्परसिद्धयपेक्षत्वात् । इति परिहरिष्यते इति । तत्रायं परिहारः—परम्परितेऽन्योन्याभ्रयो नाराङ्कनोपभ्रयः, सकलसिद्धेः रूपनामयत्वेन रूपनायाश्च स्वप्रतिभाधोऽनन्वात् । शिल्पिमि परस्परावष्टम्भमाभाषोऽनिरिषतिवाभिः शिल्लेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणाय । इति ।

प्राचीनों के मत को दूषित सिद्ध करने के लिये नवीनों के द्वारा प्रदर्शित एक अन्य युक्ति का निराकरण करते हैं—यच्च इत्यादि । 'विद्वन्मानस' इत्यादि में अन्योन्याभ्रय दोष की बात जो कही गई है, उसका परिहार ग्रन्थकार रूपक अलंकार के प्रकरण में करेंगे । रूपकप्रकरणोक्त परिहार का स्वरूप निम्नलिखित समझना चाहिए—'परम्परित रूपक में अन्योन्याभ्रय की भांशका नहीं करनी चाहिए। कारण, काव्यजगत् की सभी बातें कल्पनामय होती हैं और रूपना, कल्पक—कवि की प्रतिभा के अधीन की वस्तु है। कहने का अभिप्राय यह है कि अन्योन्याभ्रय आदि दोष ठोस जगत् में ही बाधक हो सकते हैं, काल्पनिक जगत् में नहीं। अथवा ठोस जगत् में भी अन्योन्याभ्रयप्रस्त भी कतिपय कार्य होते ही हैं। जैसे—शिखरीजन, केवल एक दूसरे के आधार पर स्थिर रहने वाले इँटों तथा शिलाएण्डों से विशिष्ट भवनों का निर्माण कर ही लेते हैं। वृक्ष तथा वीज के अन्योन्याभ्रय का बाधक न होना प्रसिद्ध ही है ।'

दूषणान्तरमपि परिहरति—

यदप्युक्तम् रूपके सदृशलक्षणायाः फलं ताद्रूप्यप्रत्ययो न युज्यते । तत्सदृश इति शब्दजन्यबोधान्तरमपि तथा प्रत्ययापत्तेरिति, तन्न । तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाया अभावेन ताद्रूप्यप्रत्ययस्यापादनायोगात् । ताद्रूप्यप्रत्ययो लक्षणायाः फलमिति प्राचां समयः । महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च । नव्यनये तु तेषामाकुलीभावः स्यादिति दिक् ।

तत्रेति । ताद्रूप्येत्यर्थं । तत्सदृश इत्याकारशब्दजन्यबोधोपादपि ताद्रूप्यप्रतीत्यापत्या रूपके सदृशलक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतीतिफलकत्वकथनं प्राचा न युक्तमिति नव्यमतोक्त आक्षेप अकिञ्चित्कर एव, लक्षणाफलत्वेनैव ताद्रूप्यप्रतीति प्राचीनैः सिद्धान्तिततया तन्मदृश इत्यत्र लक्षणाचिरद्वेषे तदापत्तेरयोगात् । एष्य रूपके लक्षणाऽप्येवमधीकरणोवेति भावः । रूपके लक्षणा भवतीत्यत्र युक्त्यन्तरमाह—महाभाष्यादीति । तथा च 'पुयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रे भाष्यम्—'भिन्नानामभेदाभावात्, कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद्भवति । चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते, न तु मुख्यम् । तास्त्प्यात्, ताद्वर्त्यात्, तत्सामोप्यात्, तत्साहचर्यात्, इति । तास्त्प्यायथा 'मघा हसन्ति' । ताद्वर्त्यायथा—'जटी ब्रह्मदत्त' । तत्सामोप्यायथा—'गङ्गाया घोष' । तासाहचर्यायथा—'कुन्तान्प्रवेशय' इति । भाष्येणानेन गम्यते यद्रूपके सदृशलक्षणा भवतीति । नव्यमते तु वाच्यथोरेवाहाव्यभिदे 'चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते न तु मुख्यम्' । इत्यादेरसंगति स्पष्टैवेति साराशः ।

नवीनों के द्वारा प्राचीन मत में लगाए गए अन्य दोष का परिहार करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि । नवीनों ने जो यह दोष दिया है कि—रूपकस्थल में सदृशलक्षणा का फल ताद्रूप्य-प्रतीति को मानना समुचित नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के बाद भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने

के स्थल में मुखस्वरूप से उपस्थिति होने पर भी चन्द्रस्वरूप से शाब्दबोध का होना अनुभवसिद्ध है, अतः उपस्थिति-शाब्दबोध में समानरूपता सिद्ध करनेवाले नियम में लक्षणिक बोध से अन्य बोधविषयकत्व का निवेश कर दिया जायगा। यह बात प्रसङ्गवशात् पहले भी कही जा चुकी है। यह कुछ प्रधान विद्वानों का मत है।

उपस्थितिशब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमे उक्तसंकोचास्वीचूर्तमतेनाह—

‘लक्षणया मुखत्वेन मुखादेः शाब्दबोधे वृत्ते व्यञ्जनयैकराब्दोपात्तत्वाद्ब्र-
भूतया चन्द्रत्वेन बोधः’ इत्यपरे।

चन्द्रपदस्य पाच्योऽर्पध्वन्ः, लक्ष्योऽर्पस्तु मुखम्। तथा च चन्द्रपदनिष्ठलक्षणावृत्त्या मुञ्जाय मुञ्जत्वेनैव रूपेणोपस्थितिः शाब्दबोधस्य तेनोपस्थितिशान्दबोधयोः समानाकार-
त्वनियमो रक्षितः। पथात् चन्द्रपदनिष्ठया व्यञ्जनावृत्त्या मुखस्य चन्द्रत्वेन बोधः प्रकृतौ-
पयोगी सम्पद्यते ननु कुतोऽत्र व्यञ्जनाप्रादुर्भाव इत्याह—एकराब्दोपात्तत्वेति। चन्द्रतुल्य-
मुञ्जबोधनाय चन्द्रमुञ्जेतिपदद्वयप्रयोगमकृत्वा केवलचन्द्रपदं यन्प्रयुक्तं, तेन सा व्यञ्जना
प्रादुर्भाव्यते इति भावः।

उपस्थिति और शाब्दबोध में समानाकारत्ववाले नियम को सार्वत्रिक माननेवाले अन्य विद्वानों के मतानुसार साध्यवसाना स्थल में बोध का विचार करते हैं—लक्षणया इत्यादि। अन्य विद्वानों का मत है कि ‘चन्द्रराजो विराजते’ इत्यादि स्थलों में चन्द्रपद में रहनेवाली लक्षणावृत्ति से मुख की मुखस्वरूप से उपस्थिति होती है और शाब्दबोध भी उसी रूप से होता है अर्थात् लक्षणा के ज्ञान से भी चन्द्र पद द्वारा मुख-
रूप में ही मुख पहले समझा जाता है। अनन्तर व्यञ्जना के द्वारा मुख का चन्द्रत्व रूप से बोध होता है, और यहाँ व्यञ्जना के उद्घान का कारण है एकशब्दोपात्तत्व अर्थात् ‘चन्द्र’ इस एक ही पद के द्वारा चन्द्र और मुख दोनों का बोध कराना। सारांश यह कि चन्द्रतुल्य मुख का बोध कराने के लिये वक्ता को चन्द्र और मुख इन दोनों पदों का प्रयोग करना चाहिये था, परन्तु वैसा न करके केवल चन्द्र पद का जो प्रयोग वक्ता ने किया है, उसी से यहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, जिसके चल से पहले मुखरूप समझ लिये गये पदार्थ को भी पीछे चन्द्ररूप समझ लिया जाता है।

उक्तमतद्वये शाब्दबोधे पदार्थमानरीतिं मतभेदेन दर्शयति—

मतद्वयेऽप्यस्मिन् मुखादौ चन्द्रत्वमानसामप्रथा मुखत्वादेः स्वधर्मस्य भानं न निवार्यते। इत्थं चैकस्मिन्धर्मिणि चन्द्रत्वादीनां मुखत्वादीनां च साक्षाद् भानमेव सारोपातोऽस्या विच्छेदकम्। अपरे तु ‘निवार्यत एव विरुद्धमानसा-
मप्रथा स्वधर्मस्य भानम्। रजतत्वमानसामप्रथा शुक्तित्वस्याभानात्’ इति वदन्ति। मतेऽस्मिन् विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा।

न निवार्यत इति। अनुभवसिद्धविरुद्धधर्मद्वयभानानुरोधेन विरुद्धमानसामप्रथाः प्रति-
बन्धकत्वावच्छेदककृत्वा लक्षणाइत्यनुपस्थाप्यन्वनिवेशादिति भावः। मुञ्जत्वादीनां चेति।
एकपदोपस्थाप्यानमिति बोध्यम्। साक्षादिति। सारोपायां तु चन्द्रत्वस्य चन्द्रसदृशे
भानद्वारा तत्र भानमिति परस्परया तद्भानमिति भावः। अस्या विच्छेदकमिति। साध्य-
वसानाया भेदकमिन्पर्यः। एकधर्म्यधिकरणकोभयभानं तु समानमिति भावः। लक्षणा-
ज्ञानमाहात्म्यात् मुञ्जादेः प्राथमिकः शान्दबोध एव चन्द्रत्वादिना भवतु, व्यञ्जनया वा
द्वितीयस्तादृशो बोधो भवतु, उभयथापि प्रतिबन्धप्रतिबन्धकत्वात् उक्तसंकोचेन मुञ्जादौ
मुञ्जत्वादेः स्वधर्मस्य भाने चन्द्रत्वमानसामप्रो प्रतिबन्धक न भवति। तथा च चन्द्रराजो-

त्यायुक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले 'चन्द्रत्ववान् मुखत्वविधे मुखपदार्थ' इत्याकारो बोधो जायत इति फलितम् । एतद्वीत्यनुसरणे च साध्यवसानलक्षणाया पूर्वोक्तरीत्या मुखपदार्थं चन्द्रत्वस्य मुखत्वस्य च साधादेव भानम्, सारोपलक्षणाया मुख चन्द्र इत्यादौ तु चन्द्रपदस्य स्वसदृशो लाक्षणिकतया चन्द्रत्वस्य प्रथमम् सदृशपदार्थं भानम् सदृशपदार्थस्य मुखे भावमिति परम्परया चन्द्रत्वस्य मुखे भानमित्येवोभयोरलक्षणयोर्भेद इति भावः । साध्यवसानलक्षणास्थले विरुद्धधर्मद्वयभानं नानुभवसिद्धम्, तथा च विरुद्धभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वे नोक्तविधे सकोच प्रामाणिक इति येषां मत, तदनुगारेणाह—अपरे त्विन्यादि । (धर्मस्येति । मुखत्वादेरित्यर्थः । दृष्टान्तविधयाऽऽह—रजतस्येति, दूरत्वचाकचिक्यादिदोषविशेषसहृत्तक्षु सन्निकर्षादिभामग्रया शुक्तौ रजतत्वभानस्थले यथा शुक्तित्वस्य भानं न भवति, विरुद्धरजतत्वभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वात्, तथैव चन्द्रराजीत्यायुक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले मुखे चन्द्रत्वभानसामग्रया प्रतिबन्धेन चन्द्रत्वविरुद्धमुखत्वस्य भानं नैव भवति । तथा चैतद्वीत्या तत्र चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थ इत्येव बोधाकार इति भावः । नन्वस्मिन् मते सारोपात् साध्यवसानाया हिम् भेदकमित्यत आह—मतेऽस्मिन्निति । विषयतावच्छेदकेति । लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । मुखत्वे चावत् । तथेति । सारोपातोऽस्या विच्छेदकमित्यर्थः । सारोपाया मुखे मुखत्वस्य भानं भवति, साध्यवसानाया तु उक्तरीत्या तस्य भानं न भवतीत्येव द्वयोर्विशेष इति भावः । सारोपाया स्यादियु लक्ष्यतावच्छेदकस्य—आहादकत्वादे साधारणधर्मस्य भानं भवति । साध्यवसानाया तु मुखे चन्द्रत्वस्यैव भानं न तु आहादकत्वादेरिति अन्वयाशयं नर्णयन् नागेशस्तदनुयायी सरलाकारेण स्थूलदोष, चन्द्रत्वभाने तत्राहादकत्वभानस्य निधितरत्वात्, यत्र यत्र चन्द्रत्व तत्र तत्राहादकत्वमिति व्याप्तिः ।

उक्तदोनों मतों के अनुसार उक्तस्थलीय शब्दबोध में पदार्थों का भान किस तरह से होता है—इस बात का वर्णन मतभेद से यहाँ करते हैं—मतद्वये इत्यादि । सारांश यह है कि—विरुद्ध धर्म के भान के प्रति विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री प्रतिबन्धक होती है यह यद्यपि सामान्य नियम है, तथापि अनुभव के आधार पर उस नियम में 'लक्षणा वृत्ति के द्वारा जो उपस्थित नहीं होता हो, उस विरुद्ध धर्म के भान के प्रति' ऐसा सकोच कर दिया जाता है । अतः प्रकृत में प्रथम मत के अनुसार लक्षणा-ज्ञान की मदिरा से मुख का पहला ही शब्दजन्य बोध चन्द्रत्वरूप से होवे, अथवा द्वितीय मत के अनुसार व्यवज्ञान से द्वितीय बोध उस रूप से होवे, दोनों ही मतों में चन्द्रत्वरूप विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री से मुख में मुखत्वरूप निर्जा धर्म का भान रोका नहीं जाता । अर्थात्—'चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप में दोनों धर्मों का मुख में साक्षात् ही भान होता है और इन (चन्द्रत्व और मुखत्व) दो धर्मों का साक्षात् भान होना ही सारोपा लक्षणा से साध्यवसाना लक्षणा को भिन्न बनाता है, क्योंकि सारोपा (मुखचन्द्र) में भी यद्यपि उक्त दोनों धर्मों का मुख में भान होता है, तथापि साक्षात् नहीं, परम्परा से । अर्थात्—वहाँ चन्द्र पद की लक्षणा स्वार्थसरता में होती है, अतः पहले चन्द्रत्व का भान सरता अन्त में होता है, पीछे जब सरता का भान मुख में हो जाता है, तब परम्परया चन्द्रत्व का भी मुख में भान सिद्ध होता है । यह है कुछ लोगों का मत । परन्तु अन्य लोगों का मत इससे भिन्न है । उनका कहना है कि साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में दो विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में भासित होना अनुभव से सिद्ध नहीं, अतः उक्त सामान्य नियम में उक्त प्रकार का सकोच नहीं किया जा सकता और जब उक्त सकोच नहीं किया जायगा, तब जहाँ दूरत्व, चक्रवर्ती आदि दोषों से सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, वहाँ जैसे

सीपी को भासित करनेवाली सामग्री चाँदी के भान को रोक देती है, वैसे ही यहाँ भी मुख में चन्द्रत्व को भासित करनेवाली सामग्री (कारण) उसमें मुखत्व के भान को अवश्य रोक देगी। अर्थात् साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में 'चन्द्रत्व से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप से एक ही धर्म (चन्द्रत्व) भासित होगा, मुखत्व नहीं। इस मत के अनुसार केवल चन्द्रत्व का भान होना ही साध्यवसाना को सारोपा से पृथक् करता है अर्थात् साध्यवसाना स्थल में केवल चन्द्रत्व का ही मुख में भान होता है और सारोपा में चन्द्रत्व का भान तो होता ही है, साथ साथ मुखत्व का भी भान होता है।

उक्ताशयमेव विशदयति—

वस्तुतस्तु साध्यवसानायां विषयतावच्छेदकधर्मभानं यदि सहृदय-
हृदयप्रमाणकम्, तदा तद्वारणाय कारणकल्पनाऽनुचितैव। शुक्तिरजतभान-
स्थले तु शुक्तित्वेन भाने पुरोधतिनि रजतत्वभान सर्वथैव विरुद्धत्वाद् रजतत्व-
भानसमये शुक्तित्वभाननिवारणनावश्यकम्। न चेहापि तथा, अनुभवाविरुद्ध-
त्वात्। यदि तु तत्र प्रामाणिकं तदा सोचितैव।

विषयतावच्छेदकधर्ममिति। मुखत्वादीत्यर्थः। सहृदयेति। सहृदयानुभवसिद्धमित्यर्थः।
कारणेति। विरुद्धभानं प्रति विरुद्धभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वहेत्यर्थः। अनुचितेति।
अनुभवसिद्धस्यापलापे सर्वत्र तथा प्रसन्न इति हानौचित्यमिति भावः। सर्वथैव विरुद्ध-
त्वादिति। तथानुभवादिति भावः। 'चन्द्रराजो विराजते' इत्यादि साध्यवसानालक्षणा-
स्थले सहृदया यदि चन्द्रत्वमुखत्वोभयधर्मवान् मुखपदार्थ इत्याकारकमनुभवं कुर्वन्ति,
तर्हि मुखे मुखत्वभाननिर्णाय विरुद्धभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वकल्पन व्यर्थम्। कार्या-
नुरोधेन कारणत्व कल्पना, कार्य चेदनुभवसिद्धं तदा तत्र प्रतिबन्धकनिर्वचनमनुचितमेवेति
सात्पर्यम्। यदि तु तादृशमनुभव सहृदया न कुर्वन्ति, अपि तु चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थ-
इत्याकारकमेवानुभवं कुर्वन्ति, तर्हि मुखे मुखत्वभानवारणायोक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव-
कल्पनीय एव। शुक्ति रजतभानस्थले तु रजतत्वभानदर्शया शुक्तित्वभानं न भवतीति-
सर्वानुभवसिद्धतया निर्णीतम् अतस्तत्र रजतत्वभानसामग्रया शुक्तित्वभानं प्रति प्रतिबन्ध-
कत्वं सर्वसम्मतया कल्पनीयमेवेति भावः।

उक्त ग्रन्थ के भाष्य का ही स्पष्टीकरण करते हैं—वस्तुतस्तु इत्यादि। वास्तविक
बान तो यह है कि कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है, अतः किसी कारण
की कल्पना करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि वह कार्य अनुभवरूप प्रमाण से सिद्ध
है अथवा नहीं, यदि कार्य अनुभवसिद्ध होवे, तब तदनुसार उसके कारण की कल्पना
करनी चाहिए, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में 'चन्द्रराजो विराजते' इत्यादि साध्यवसाना
लक्षणा के स्थल में विषयतावच्छेदक अर्थात् मुखत्व के भान का अभावरूप कार्य
यदि सहृदयजनों के अनुभव से सिद्ध हो, तब तो उसके लिये चन्द्रत्व के भान की
सामग्री को प्रतिबन्धक कारण के रूप में कल्पित करना ही चाहिए, जैसे उक्त भ्रमस्थल
में रजतत्व-भासक सामग्री में शुक्तित्व-भान प्रतिबन्धकता की कल्पना की जाती है।
और यदि उक्त अभावरूप कार्य सहृदय-हृदय प्रमाण से सिद्ध नहीं हो अर्थात् यदि
सहृदयजन उक्त साध्यवसाना-स्थल में चन्द्रत्व तथा मुखत्व दोनों का मुख में अनुभव
करते हों, तब तो उक्त प्रतिबन्धक कारण की कल्पना नहीं ही करनी चाहिए, ऐसी
निराधार कल्पना की भी नहीं जा सकती है। ग्रन्थकार का स्वरस यहाँ ऐसा प्रतीत
होता है कि वे साध्यवसाना स्थल में चन्द्रत्व तथा मुखत्व दोनों के भान को अनुभव-
सिद्ध मानते हैं, अतः वे उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना के पक्ष में नहीं हैं। ठीक भी है।

सामूहिक रूप से एक कार्यकारणभाव अथवा प्रतिघण्य-प्रतिबन्धकभाव तो बन नहीं सकता। कारण, उस स्थिति में व्यभिचारादि अनेक दोषों के प्रसङ्ग उठ खड़े होंगे, अतः लक्ष्यभेद से भिन्न भिन्न ही वे वक्षिप्त होंगे। इस स्थिति में अथ उक्तस्थल पर चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों के भान का अनुमोदन सहृदय हृदय करते हैं, तब मुखत्व के भान को रोकने के लिये प्रतिघण्यक की कल्पना होगी ही नहीं, क्योंकि प्रतिघण्य ही अप्रसिद्ध है। शुक्ति रजत-भान-स्थल की बात भिन्न है, अर्थात् वहाँ दूर में चकचक करता हुआ सीपी का टुकड़ा पड़ा रहता है, द्रष्टा को दूरत्व तथा चाकचक्यादि दोषों से युक्त चक्षुःसन्निकर्परूप सामग्री से उस सीपी के टुकड़े में रजत का भ्रम हो जाता है अर्थात् द्रष्टा उस आगे में पड़े हुए टुकड़े को चाँदी समझ लेता है और जब वह उसको चाँदी समझ लेता है तब फिर उसको सीपी कैसे समझ सकता है अर्थात् उस स्थिति में वास्तविक होने पर भी शुक्तित्व का भान सर्वथा विरुद्ध पड़ता है, अतः वहाँ रजतत्वभान-भ्रमग्री को शुक्तित्वभान के प्रति प्रतिबन्धक मानना आवश्यक हो जाता है। एक बात और रसगङ्गाधर के आधुनिक टीकाकारों ने यहाँ नागेशकृत संस्कृत टिप्पणी को आधार बनाकर कहा है कि 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का भान मुख में साध्यवसाना के स्थल पर नहीं होता, यही 'विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा' इस ग्रन्थ का आशय है, अग्रिम ग्रन्थ की व्याख्या भी इसी आशय के अनुसार उन्होंने की है। परन्तु लाख विचार करने पर भी मेरे मन में यह बात जँचती नहीं, क्योंकि आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म विषयतावच्छेदक अथवा लक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। देखिए—मुख में चन्द्रत्व का आरोप होता है, उस आरोप का विषयी होता है चन्द्र और विषय मुख, अथवा यों समझिए—चन्द्र पद की मुख में लक्षणा होती है, अतः मुख लक्ष्य होता है, और मुख में रहनेवाला धर्म होगा विषयता अथवा लक्ष्यता का अवच्छेदक, फिर यह मुखत्व न होकर आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म कैसे हो जायगा? अवच्छेदक होता है—अन्यून और अन्ति प्रसक्त धर्म, और आह्लादकत्व को आप स्वयं साधारण धर्म बतलाते हैं—मानते हैं। दूसरी बात चन्द्रत्व का भान मुख में होता है यह आपका, मेरा और सब का सिद्धान्त है और जहाँ चन्द्रत्व भासित होगा, यहाँ आह्लादकत्व अवश्य भासित होगा, क्योंकि चन्द्रत्व का व्यापक धर्म आह्लादकत्व है और व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता निश्चित रहती है, यदि चन्द्रत्व का भान होने पर भी आह्लादकत्व का भान नहीं हो, तब चन्द्रत्व-भान का अर्थ ही क्या हुआ? अतः मेरे विचार से नागेश की टिप्पणी (यहाँ की) असंगत है।

लक्षणानिरूपणानन्तरमिदानीमलकारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते—

अपेति । लक्षणानिरूपणानन्तरमित्यर्थ । अभिहितलक्षणस्येति । उक्तारवरूपस्येत्यर्थ । काव्यात्मन इति । काव्यप्राणभूतस्येत्यर्थ । काव्यजगति सर्वती मुख्यस्येति यावत् । अत्र 'भेदे पठ्यम् । काव्यात्मनो यद् व्यङ्ग्यं तस्येत्यर्थ । यद्वा काव्यात्मन इत्यलङ्कारा इत्यनेनान्वेति ।' इति नागेशविवरण संगतं न वेति सुधीभिरावलनीयम् । व्यङ्ग्यस्येति । रसादेरित्यर्थ । रमणीयताप्रयोजका इति । शोभासम्पादका इत्यर्थ । अलङ्कारा निरूप्यन्त इति । अलङ्कारविषयज्ञानानुवृत्ता शब्दा प्रयुज्यन्त इत्यर्थ ।

अब अलकारनिरूपण का उपक्रम करते हैं—अथेत्यादि । लक्षणा के निरूपण के बाद अब जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है, और जो काव्य की भाषा है, उस रसादिरूप व्यङ्ग्य की शोभा के सम्पादक अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है ।

अलङ्कारेषु सर्वतः प्रथममुपमालङ्कारविचारः सयुक्तिवचनार्थते—

तत्रापि विपुलालङ्कारान्तर्वतिन्युपमा तावद्विचार्यते—

तत्रापीति । तेष्वलङ्कारेष्वपीत्यर्थः । विपुलैत्यादि । बहुलङ्कारमध्यप्रविष्टैत्यर्थः । एत-
द्युपमाविचारस्य प्रायस्ये हेतुवन्यासपरं विशेषणम् । तावत् शब्दाः सादर्यमूलकेषु
बहुष्वलङ्कारेषु उपमोपज्ञोन्मभूतेति प्राक् तद्विचारः प्रस्तुत इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का विचार सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जाता है—तत्रापीत्यादि । उपमा
अलङ्कार बहुतेरे अलङ्कारों के अन्दर घतमान रहता है—अर्थात् सादर्यमूलक जितने
अलङ्कार हैं, उन सभी अलङ्कारों का उपजीव्य उपमा ही है, अतः अलङ्कारों में भी सर्व-
प्रथम उपमा का विचार किया जाता है ।

उपमालङ्कारस्य लक्षण लिख्यते—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालङ्कृतिः ।

वाक्यार्थोपस्कारकमिति । वाक्यार्थोभावर्यकमित्यर्थः । यस्मिन् रमणीये सादर्येऽ-
भिहिते सति वाक्यार्थः स्फुटतया कामप्युज्ज्वलतायायते, तादृशं सादर्यमेवोपमालङ्कारतया
व्यपदिश्यते इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का लक्षण करते हैं—सादर्यमित्यादि । वाक्यार्थ को शोभित करने
वाले सुन्दर सादर्य का नाम 'उपमालङ्कार' है ।

लक्षणपटकं 'सुन्दर'पदं स्वयं व्याचष्टे—

**सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम् । चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदय-
प्रमाणकः ।**

चमत्कृत्येत्यादि । चमत्कृते आधायकत्वम्, सम्पादकत्वमित्यर्थः । चमत्कृतिपर्यायम्
स्फोरयति—चमत्कृतिरित्यादि । आनन्दविशेष इति । विलक्षणानन्द इत्यर्थः । अलौकि-
काहाद इति यावत् । सोऽपि न साधारणजनानुभवसिद्ध इत्याह—सहृदयेत्यादि । सचेत-
सामनुभवेन सिद्ध इति भावः । इत्यथ 'येन सादर्येण प्रतिपादितेन सहृदयहृदयेषु
कोऽप्यनिर्वचनीय आनन्द पदं निदध्यात्, तादृश सादृश्यं यदि वाक्यार्थस्योज्ज्वलता-
सम्पादकं स्यात्, तदा तत् सादर्यमुपमालङ्कार कथ्यते' इति लक्षणतात्पर्यं वेदितव्यम् ।

लक्षणवाक्य में आए हुए 'सुन्दर' पद की व्याख्या करते हैं—सौन्दर्यमित्यादि ।
लक्षण में 'सुन्दर' पद का अर्थ है सौन्दर्यविशिष्ट और सौन्दर्य का अभिप्राय यहाँ 'चम-
त्कारजनक होता' है । 'चमत्कार' का अर्थ है वह विलक्षण आनन्द, जिसको सहृदयों का
हृदय प्रमाणित करता है । इस तरह लक्षणवाक्य का फलित अर्थ यह होता है कि—
'वाक्यार्थ को शोभित करनेवाले जित सादर्य से सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण
आनन्द उत्पन्न हो, उस (सादर्य) को उपमालङ्कार कहते हैं ।'

पदकृत्यं दर्शयति—

अनन्वये च 'गगन गगनाकारम्' इत्यादौ सादर्यस्य द्वितीयसब्रह्म-
चारिनिवर्तनमात्रार्थमुपात्तत्वेन स्वयमप्रतिष्ठानाद् चमत्कारितैव । अत एव
तस्यान्वयाभावादनन्वय तमाहुः । व्यतिरेके 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं
कथम्' इत्यादौ चमत्कारिणो निषेधस्य निरूपणाय प्रतियोगिनः सादर्यस्य
निरूपणमचमत्कारकमेव । एवमभेदप्रधानेष्वपि रूपकापद्धतिपरिणामध्रान्ति-
मदुल्लेखादिषु, भेदप्रधानेषु दृष्टान्तप्रतिवस्तूपमादीपकतुल्ययोगितादिषु चम-

त्कारिषु तत्तन्निष्पादकतयावस्थितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारिताविरहेण नास्त्युपमालङ्कृतित्वम् ।

सब्रह्मचारीति । सदृशेत्यर्थ । स्वयमिति स्वस्यापर्यवसानादित्यर्थ । अत एवेति । सादृश्यस्य तात्पर्यविषयताविरहादेवेत्यर्थ । तस्येति । सादृश्यस्येत्यर्थ । 'आहु' इति न्रियापदस्याकाशाभूरकम् 'आलङ्कारिका' इति कर्तृपदमभ्याहार्यम् । लक्षणे 'सुन्दर'-सिन्यस्य निवेद्येन 'गगनम्' इत्याद्यनन्वयालङ्कारोदाहरणे तातिव्याप्ति, तत्र सादृश्यस्याचमत्कारित्वान् । ननु कथं तस्यानमरकारित्वमिति चेत् ? इत्यम्—अनन्वयालङ्कारे वर्णनीयस्य सदृशान्तर नास्तीति बोधनार्थमेव केवल स्वसादृश्यमुपादीयते, अतो वर्णितमपि सादृश्यं तत्र तात्पर्यविषयता नालवते । अनन्वय इति नामकरणमपि तात्पर्यविषयतया तस्य सादृश्यस्यान्वयाभावादेव सगच्छते । एवञ्च तस्याचमत्कारित्व स्पष्टमेव । स्थलान्तरेऽपि सुन्दरेति विशेषणबलेनातिव्याप्तिवारणं दर्शयति—व्यतिरेके इत्यादिना । 'तवाननस्य' इत्यादिव्यतिरेकालङ्कारोदाहरणे यद्यपि सादृश्यस्य वर्णनं तिष्ठति, तथापि तच्चमत्कारकं न भवति, यतो निषेधोऽत्र प्रधानधर्मत्कारी । सादृश्यं तु तन्निषेधप्रतियोगितयोपात्तमपि अप्रधानं सदृशमत्कार्येति भावः । अन्यत्रापि रसासेन तद्विशेषणव्यापत्तयामुक्तं कथ्यति—एवमभेद इत्यादिना । अभेदप्रधानेषु इति । चमत्कारितया प्रतीयमानाभेदेऽप्यित्यर्थः । भेदप्रधानेषु इति । भेदबोधप्रमुखचमत्कारशालिष्वित्यर्थः । तत्तन्निष्पादकतयेति । रूपकादीनां दृष्टान्तादीनामालङ्काराणां सम्पादकतयेति भावः । अयं भावः—उपजीव्यतया वर्तमानं सादृश्यमेव रूपकादीन् दृष्टान्तादीन्वालङ्कारान् निष्पादयति, तत्र प्रथमवर्गोऽभेदगर्भं सादृश्यं नियामकम्, द्वितीयवर्गं च भेदगर्भं तन् तथा, अत उभयत्र वर्गं 'वाक्यार्थोपस्कारकमादृश्यात्मकं सामान्यमुपमालक्षणं प्रसक्तम् । परन्तु सादृश्य-विशेषणतया लक्षणे प्रविष्टं चमत्कारार्थकं सौन्दर्यम् तत्प्रसक्तिं चारयति, तत्र रूपण-दृष्टान्तीकरणादीनां विभिन्नजातीयचमत्कारविधायित्वेऽपि सादृश्यस्याचमत्कारित्वात् इति ।

लक्षणं 'सुन्दर सादृश्य' इति विशेषणविशिष्टं कथनं का फलं दिखलारो हैं—अनन्वये च इत्यादि । 'गगनम्' "अर्थात् आकाश आकाश ही जैसा है" इत्यादि अनन्वयालङ्कार में भी यद्यपि सादृश्यं वर्णितं रहता है, तथापि वह सुन्दर-चमत्कारी नहीं होता, क्योंकि उसका वर्णन 'वर्णनीय आकाश आदि का अन्य कोई पदार्थ सदृश नहीं है' इस बात को सिद्ध करने मात्र के लिये किया गया रहता है, अतः वर्णित होकर भी वह सादृश्य वक्ता का तात्पर्यविषयभूत नहीं रहता, तात्पर्यविषय नहीं होने के कारण ही उसका वाक्यार्थ में अन्वय भी नहीं होता, इसी आधार पर 'अनन्वय' यह नामकरण भी हुआ है । तात्पर्य यह कि विवक्षित पदार्थ ही चमत्कारी होता है, और अनन्वयस्थल में सादृश्यं विवक्षित नहीं रहता, अतः चमत्कारी भी नहीं होता । 'तवाननस्य' "अर्थात् जलज—(दलयो साम्यात् जडजात, फलत-स्वयं भी जड)—कमल, तुम्हारे मुख की तुलना का धारण कैसे करे ?" इत्यादि भ्यतिरेकालङ्कार में सादृश्य का निषेध चमत्कारजनक होता है, अतः उस निषेध के प्रतियोगी (निसका निषेध किया जा रहा है उस) सादृश्य का वर्णन मान्तरायक होने से किये जाने पर भी चमत्कारशून्य ही होता है । इसी तरह अभेदप्रधान रूपक, अपहृति, परिणाम, भ्रान्तिमान् तथा उद्वेग आदि अलङ्कारों में और भेदप्रधान दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, श्लेषक एवं तुल्ययोगिता आदि चमत्कारी अलङ्कारों में यद्यपि उन अलङ्कारों को सिद्ध करने के लिये सादृश्य रहता है, तथापि वह चमत्कारी नहीं होता । अभिप्राय यह है कि रूपक आदि (दो भागों में विभक्त कर कथित) सभी अलङ्कार

सादृश्यमूलक हैं—सादृश्य के बिना उन अलङ्कारों की सिद्धि नहीं हो सकती और सादृश्य भी दोनों भागों में दो प्रकार के रहते हैं । प्रथम (रूपक आदि) भाग में भेद-घटित और द्वितीय (दृष्टान्त आदि) भाग में भेदघटित, अतएव प्रथम भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया भेद की प्रतीति होती है और द्वितीय भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया भेद की प्रतीति होती है । परन्तु किसी तरह का सादृश्य वर्णित रहने पर 'वाक्यार्थोपरकारकसादृश्य' यह सामान्य उपमालक्षण यद्यपि उन अलङ्कारों में प्रसक्त हो सकता था क्योंकि 'सादृश्यमुपमाभेदे' इस मम्मटकृत लक्षण में जिस तरह से 'भेद' का निवेश किया गया है, उस तरह से पण्डितराज के उपलक्षण में नहीं, तथापि पण्डितराज के अनुसार सादृश्य में 'सुन्दर' विशेषण लगाने से इन अलङ्कारों की व्याप्ति हो जाती है । कारण, इन अलङ्कारों में रूपण आदि ही, भिन्न भिन्न तरह के चमत्कारों के जनक होते हैं, अतएव भिन्न भिन्न अलङ्कार भी माने जाते हैं । सादृश्य, मूलरूप में रहकर भी इन सब जगहों पर चमत्कारशून्य ही रहता है । सारांश यह कि 'सुन्दर' इस विशेषण के निवेश से अपहृति, व्यतिरेक और रूपक आदि अलङ्कारों में उपमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

प्रतीति उपमेयोपमाव्याप्तिमाशंक्येष्टापत्या परिहरति—

मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे, चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोप-
मायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वान्नातिप्रसङ्गः शङ्कनीयः तयोः सङ्ग्राह्यत्वात् ।

तयोस्तादृशप्रतीपोपमेयोपमयो । संग्राह्यत्वादिति । निष्कामीमासौकोपमालक्षणदूष-
णावसरे इति भावः । अथमाशयः—प्रतीपे (मूलोक्तप्रकारके) उपमेयोपमायां च यद्यपि
सादृश्य चमत्कारकं तिष्ठति, अतस्तथोरुक्तोपमालक्षणस्यातिव्याप्ति स्थादिति शङ्का-
नोचिता, पण्डितराजमतानुसारं तयोपमात्वस्यैवेष्टत्वात् इति । प्रतीपेत्यादिनामकरणं
प्राचीनमतानुसारेण । वस्तुतस्तु तत्रोपमैवेति सारांशः । अथ "नव्यास्तु 'यत्र चन्द्रा-
द्युपमानप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगित्वबुद्धिकृतचमत्काररतत्रोपमालङ्कारत्वम् । अनन्वये तु न
स्वसादृश्यबुद्धिकृतं स', किंतु निरूपमत्वबुद्धिकृत इति नोपमात्वम् । उपमेयोपमायामपि
न परस्परसादृश्यबुद्धिकृतः स' किन्त्वनयोरेव साम्यं न तृतीय एतत्सदृश इति बुद्धिकृत
इति तस्यामपि न तत्त्वम् । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपेऽपि मुखादौ सादृश्यबुद्धिकृत एव
स, तदनुयोगित्वबुद्धिकृत इति तत्रापि न तत्त्वम् । 'अहमेव गुरु' इति प्रतीपेऽपि उपमान-
तिरस्कृतत्वकृत एव स न तु सादृश्यबुद्धिकृत इति न तत्रापि तत्त्वम् । अलङ्कारभेदे च
चमत्कारनिदानभेद एव निदानम् । रूपकोत्प्रेक्षाश्च तथा क्लृप्तत्वात्, सद्दयानुभवसाक्षि-
कत्वाच्च । एतेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानं यदि सादृश्याप्रतीतिस्तर्ह्यनुभवविरोधः । यदि भेदगर्भे
तदप्रतीतिस्तदा भेदाशनिवेशेन तद्विराणे किं फलम् । उपमेयोपमावत्तस्याव्यस्तुपमात्व-
मित्यपास्तम्' इत्याहुः" इति नागेशः ।

अथ प्रतीप तथा उपमेयोपमा अलङ्कार में अतिव्याप्ति की आशङ्का करके दृष्टापत्ति
द्वारा उसका निराकरण करते हैं—मुखमिव इत्यादि । 'मुख सा चोद' इस प्रतीपालङ्कार
में तथा 'चोद सा मुख और मुख सा चोद' इस उपमेयोपमा अलङ्कार में सादृश्य
चमत्कारी रहता है, अतः उन दोनों में उपमा का लक्षण अतिव्याप्त होगा, ऐसी आशङ्का
नहीं करनी चाहिए । कारण, उन दोनों स्थलों में उपमालक्षण का प्रसङ्ग ही मुखे इष्ट
है अर्थात् मैं उन दोनों को उपमा से भिन्न अलङ्कार मानता ही नहीं हूँ, अपि तु उपमा
के अचान्तरभेद के रूप में ही उन दोनों को संगृहीत करना चाहता हूँ ।

उक्तोपमालक्षणस्याव्याप्तिमाशंक्य निरस्यति—

ननु 'त्वयि कोपो समाभाति सुधांशाविव पावकः' इत्यादावुपमानस्या-

त्यन्तसम्भावितत्वात्सादृश्यमेव न तावत्प्रतिपत्तुं शक्यम्, चमत्कारस्तु पुनः केन स्यादिति चेत्, कविना हि खण्डशः पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पते बाधकाभावात् । कल्पितमसादृश्यं कथं चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारीभवत्कनकनिर्मिताङ्गया मणिमयदशनकान्तिनिर्वासित-ध्वान्तायाः कान्ताया भावनया पुरोऽवस्थापिताया आलिङ्गनस्याह्लादजनकत्वदर्शनात् । उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्ष्ये प्रवेशाभावान्नात्र दापलेशोऽपि ।

त्वयि कोप इति । त्वयि = वर्णनीयाया कस्याचन सुन्दर्याम्, वर्तमान, कोप चन्द्रे विद्यमानो बहिरिव मम प्रतिभाति = मया प्रतीयते इत्यर्थः । उपमानस्येति । चन्द्राधिकरणरुबद्धेरित्यर्थः । प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम् । उत्तरयति—कविना हीन्यादिना । खण्डश इति । प्रतिपद् पृथक् पृथक् इत्यर्थः । स्वेच्छया संभावितत्वेनेति । स्वेच्छानुसारम् 'यद्येव स्यात्' इति सम्भाषणाविषयीभूतेनेत्यर्थः । अत्र 'स्वेच्छया असम्भावितत्वेन न तु सत्येन रूपेण' इति नागेशो विवृणुते, तन्नातीवशोभनं प्रतिभाति । अथ भाव—'त्वयि कोप' इत्यादौ उपमानतया वर्णितचन्द्राधिकरणकोऽनलो नितान्तमसम्भव, चन्द्रेऽनलस्य कदाप्युपलम्भाभावात् । एवञ्च तत्प्रतियोगिक सादृश्यं ज्ञातुमयोग्यम्, अप्रसिद्ध-पदार्थप्रतियोगिकसादृश्यस्याप्यसम्भवात् । अज्ञाते च सादृश्ये चमत्कार एव न भवितुमर्हति, चमत्कारस्य सादृश्यज्ञानाधीनत्वान् । तथा च कथमत्रोपमेरि शक्याम् इदमुत्तरयत्—चन्द्र प्रसिद्ध, अनलोऽपि प्रसिद्ध, एवञ्च तयो पृथक् पृथक् स्मरण कषैराम्नि भवेत् । तयोपस्थिते पर पुन कवि स्वेच्छानुसार यद्येव स्यादिति सभावनाविषयीभूतेन रूपेण चन्द्रवर्तिनो बद्धे कल्पना कुर्यात्, तथा कल्पनान्तरत्र वरिपतेन तेन चन्द्राधिकरणकेन बह्विना सह नायिमानिच्छकोपस्य सादृश्यकल्पना शक्यमिति बाधकाभावात् इति । अथापि शङ्कते—करिपतमित्यादिना । यत् करिपतमत एवावदित्यर्थः । समाधत्ते—परमेत्यादि । परमसुकुमारीभवता अतिक्रमलोकृतेन, कनकेन-सुवर्णेन, निर्मितानि अङ्गानि यस्यास्तस्या इत्यर्थः । सुवर्णनर्णया इति यावत्, मणिमयेति । मणिमयाना मणिरचिता-नाम् दशनानाम्, कान्तिभिः किरणैः, निर्वासित दूरीकृतम्, ध्वान्तमन्धकारो यया तस्या इत्यर्थः । कात्पनिकतया वस्तुतोऽवर्तमानस्य सादृश्यस्य चमत्कारित्वमनुपपन्नम् ? नानुपपन्नम्, दृश्यते हि कनकमयात्री विकिरन्मणिदन्तमिति कामिनीं पुरो विद्यमाना मावयती भानुकस्य तदात्किन्नभावने आनन्द । कात्पनिकमपि वस्तु भानुकानानन्दयतीति भावः । नन्वेव भवतु कल्पितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारजनकता, तथापि लक्ष्ये उपमानोपमेययोर्निवेशेन तयो सन्वयन्यापैक्षिततया कथमुक्तस्थले निर्वहोऽत आह—उपमानोपमेयौ त । लक्ष्ये उपमानोपमेययोर्निवेशोऽपि तयो सन्वय न निविष्टमिति न कश्चि-होप । कात्पनिकतयाऽसत्येऽपि उपमानोपमेयेसमादाय सम्बन्धुपमालङ्कार इति परमार्थः ।

स्थलविशेष में उक्त उपमालक्षण की अव्याप्ति की आशङ्का करके समाधान करते हैं—अनु दृश्यादि । 'त्वयि कोपो' अर्थात् मेरे अन्दर का क्रोध मुझे चन्द्रवर्ती भाग के समान प्रतीत होता है इत्यादि स्थल में जो उपमान है 'चन्द्रवर्ती भाग' आदि, वह सर्वथा असम्भव वस्तु है । ऐसी स्थिति में उस वस्तु का सादृश्य समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि जब कोई वस्तु हो, तब तो उसका सादृश्य समझ में आये—जो वस्तु है ही नहीं, उसका सादृश्य कैसा ? और जब सादृश्य ही समझ में नहीं आया, तब चमत्कार होगा किससे ? कारण, उपमा में चमत्कार, सादृश्यज्ञान के अधीन है यह

सर्वसम्मत बात है, अतः ऐसे स्थलों पर उपमा का उक्त लक्षण संवदित नहीं हो सकता। यह शक्य नहीं करनी चाहिए। कारण, ऐसे स्थलों पर 'चन्द्र में आग' इस सम्मिलित पदार्थ की अप्रसिद्धि होने से उपस्थिति की संभावना नहीं रहने पर भी कवि को खण्डश. चन्द्र और आग की उपस्थिति हो सकती है, क्योंकि पृथक् पृथक् वे दोनों ही पदार्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार 'एडशा' पदार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद, कवि अपनी दृष्ट्या के अनुसार समावित रूप से—अर्थात् 'यदि चन्द्र में आग हो' इस रूप से चन्द्र में आग की कल्पना करता है और जब कल्पना के आधार पर 'चन्द्रवर्ती आग' यह सम्मिलित पदार्थ तैयार हो चुकेगा, तब उसके सादृश्य की भी कल्पना कर लेने में कोई बाधक नहीं। यदि कोई कहे कि—कल्पित सादृश्य तो असत् (मिथ्या) हुआ फिर उससे चमत्कार की उत्पत्ति कैसे होगी—मिथ्या वर्णन के भ्रमण से क्या आनन्द प्राप्त होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि आनन्द सादृश्य से ही प्राप्त हो ऐसा निवम नहीं है, क्योंकि जब आलोक जन भावना के द्वारा, किसी ऐसी कामिनी, जिसके अङ्ग, कोमल बने कमक से बने हों तथा जिसने मणिमय वृन्तकिरणों से अन्धकार को दूर कर दिया हो—को अपने पुरोभाग में उपस्थित कर उसका आलिङ्गन करते हैं, तब उस मिथ्या आलिङ्गन से भी अमन्द आनन्द की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। बात रही लक्षण की, तो उसमें उपमान-उपमेय के साथ होने का निवेश किया नहीं गया है। अतः उपमान के कल्पित होने पर भी 'उपमा' मानने में दोष का लेश भी नहीं है।

कल्पितोपमानोपमेयभावविशिष्टं स्थलान्तरमपि दर्शयति—

अत एव

'स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः ।

शशाङ्कबिम्बतो मेरी लम्बमान इवोरगः ॥'

इत्यादावपि नानुपपत्तिः ।

अत एवेति । उपमानोपमेययो सत्यत्वस्य लक्षणैऽनिवेशादेवेत्यर्थः । स्तनाभोगे इति । चन्द्रबिम्बवन्मृगवर्तुलदीप्तिशालिनो नायिकाया कपोलदेशात् तदीये मेरुव-त्कठोरोरगते कुचप्रदेशे पतन्, कुटिल, केश, चन्द्रबिम्बात्, मेरुशिखरे लम्बमानः कृष्णसर्प इव शोभत इत्यर्थः । नानुपपत्तिरिति । उपमालक्षणाध्याप्तिरूपा अनुपपत्तिर्नै-त्यर्थः । अत्रापि यद्यपि चन्द्रबिम्बावधिकमेरुशिखराधिकरणकलम्बमानोरगरूपमुपमान, तस्य सादृश्यत्वं स्वतोऽसम्भित्वात्कारणिकमेव, तथापि पूर्वप्रतिपादितदिशोपमास्वीकारे बाधकं नास्तीति भावः ।

कल्पित उपमान वाला एक अन्य उदाहरण भी दिखलाया जाता है—अत एव इत्यादि । लक्षण में उपमानोपमेय की सत्यता का निवेश नहीं करने के कारण ही—'स्तनाभोगे' अर्थात् भरे पूरे, ऊँचे स्तनों पर कपोलवत् से गिरता हुआ कुटिल केश, चन्द्रमण्डल से सुमेरु पर्वत के शिखर पर लटकते हुए काले नाग सा प्रतीत होता है' इत्यादि में भी उपमा अलङ्कार स्वीकार करने में किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होती । अर्थात् यहाँ भी 'चन्द्रमण्डल से मेरु पर लटकता हुआ साँप' यह जो उपमान है वह भी स्वतः असम्भव होने से कल्पित, अतएव असत्य ही होगा, अतः 'उपमा' कैसे होगी, यह शक्य हो सकती थी, परन्तु जिन युक्तियों से 'त्वयि कोपः' इत्यादि में 'उपमा' मान ली गई है, उन्हीं उक्तियों से यहाँ भी उपमा मानी जा सकती है ।

एतादृशस्थलेऽन्यत्र वर्णित मतान्तस्मुक्लिष्य सगृह्यति—

परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालङ्कारान्त-

रतामाहुः । तत्र । सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षण्ये प्रवेशाभावात् । उपमानान्तराभावफलकत्वं ह्युपमा-विशेषत्वे साधकम्, न नूपमाबहिर्भावे ।

उपमानान्तराभावफलकत्वेनेति । उपमानान्तरम् अन्यदुपमानम्, तस्य, अभाव-अयोम्यता, फल यत्सारतादृशात्वेनेत्यर्थः । अलङ्कारान्तरताम् अन्यालङ्कारत्वम् । सन्निरूपितत्वेति । सता सन्धेन, उपमानेन, निरूपित सादृश्य स्यात् इत्यस्येत्यर्थः । उपमा-विशेषत्वे उपमाया विलक्षणभेदत्वे । उपमाबहिर्भावे उपमान्यालङ्कारत्वस्वीकारे । अत्र-नैतादृश वस्त्वन्तर संसारे समुपलभ्यते, यत् कपोलात् स्तनपरिसरे पतत कुक्षित-कचरयोग्येयस्योपमानभाव भजेतेति कवेस्तापयेण उपमाया पर्यवसानाभावात् अलङ्कारान्तरमेवेति शक्याया, चमत्कृतिकरस्य सादृश्यस्य स्पष्टं प्रतीति 'सुन्दरं (चमत्कार-जनकम्) सादृश्यमुपमा' इति लक्षणानुसारम् उपमाया रवीकारे बाधकत्वारित । सत्ये-नोपमानेन निरूपित सादृश्य भवेदिति तु प्रकृतलक्षणे न निविष्टम् । उपमानान्तरं नास्तीति प्रतीतिरिह फलभूतेत्येतावताऽपि उपमात्वनिरासो न भवति, प्रस्युत विशिष्टोपमात्वमेव सिद्धयतीति च समाधानस्याशयो बोध्यः ।

ईदृश स्थलों में कुछ विद्वानों के द्वारा माने गए मतान्तर का उल्लेख करके खण्डन करते हैं—परे तु इत्यादि । अन्य विद्वानों का कथन है कि—“स्तनाभोगे ” इत्यादि काव्यों में कल्पित उपमा का फल है 'अन्य किसी उपमान का न होना'—अर्थात् कवि ऐसी उपमा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि ससार में ऐसी वस्तु है ही नहीं, जिसके साथ, कपोल से स्तन पर गिरते हुए केशरूप उपमेय की समानता कही जाय, अतः यहाँ 'उपमा' न मानकर कोई दूसरा ही अलङ्कार माना जाना चाहिए । परन्तु उनका यह कथन समुचित नहीं है । कारण, ऐसे काव्यों में चमत्कारी सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण इसका उपमा अलङ्कार में ही अन्तर्भाव करना उचित है, क्योंकि सादृश्य का 'सत् पदार्थ से निरूपित होना' प्रकृत उपमालक्षण में निविष्ट नहीं है—अर्थात् उपमान सत्य रहे ऐसी बात लक्षण में नहीं कही गई है । रही आपकी यह बात कि—'इस कल्पित उपमा का फल अन्य उपमान का न होना है', सो यह बात तो इसको एक त्रिलक्षण प्रकार की उपमा सिद्ध करती है, इससे, इसका उपमा से बहिष्कार नहीं सिद्ध होता ।

शङ्कते—

अथ

'विलसत्यानन तस्या नासाप्रस्थितमौक्तिकम् ।

आलक्षितबुधारलेप राकेन्दोरिव मण्डलम् ॥'

इत्यादौ साधारणधर्मस्याभावात् कथमुपमानिष्पत्तिः ? बुधमौक्तिकयोरेकैक-मात्रवृत्तित्वात् ।

अपेतिपद् प्रमान्तविषयभिन्नविषयारम्भसूचकम् । विलसतीति । नासां प्रे, स्थित, मौक्तिकम् मुक्ताभूषणम्, यस्मिन्, तत्, तस्या वर्णनीयनायिकाया, आननम् मुलम्, आलक्षित दृष्टिगोचरोभूत, बुधस्य तन्नामकस्य नभ्रप्रविशेषस्य, आरलेप सम्बन्ध (सयोग) यस्मिन्, तादृशम्, आश्लिष्टबुधमिति यावत्, तथा पाठस्तु साधीयान् उपमौक्तिकयोरेत्यभिप्रमन्थानुरोधत्, राकेन्दो पूर्णिमाचन्द्रस्य, मण्डलम्, इव, विलसति शशोमत इत्यर्थः । अत्र बुध तदारलेपो वा राकेन्दुमण्डलमात्रतोर्धर्म, आनने तद-

सम्भवात् । एवम् मौक्तिकम् ध्यानमाधृत्तीधर्मं, चन्द्रमण्डले तस्यावर्तमानत्वात् । तथा च नैकोऽपि धर्मस्तथाविधो यः उपमानोपमेययो चन्द्रमण्डलाननमोहभयो साधारण स्यात् । साधारणधर्माभावे च क्यमुपमालङ्कारत्वम् साधारणधर्मोपस्थितेरुपमाकरणत्वस्य लक्षणाभिरूपणे स्थिरीकृतत्वात् इति शङ्का ।

अथ एकं भिन्नं तरह की भाषा करतें हैं—अथ इत्यादि । 'विलसत्याननम्' इत्यादि अर्थात् नासिका के अग्रभाग में वर्तमान है मुक्ताभूषण जिसमें, ऐसा, उस-चर्गनीय नायिका-का मुख, बुध-तारा-के संयोग से युक्त पूर्णिमा-चन्द्र के मण्डल सा सुशोभित हो रहा है । इत्यादिक में साधारण धर्म के न होने के कारण उपमा अलङ्कार किस तरह मिट्ट हो सकता है ? क्योंकि साधारण धर्म की उपस्थिति को ही उपमा का कारण माना गया है, उसके बिना उपमा हो ही नहीं सकती । 'बुध'-अथवा 'मोती' तो साधारण धर्म हो नहीं सकता । कारण, ये दोनों एक-एक में ही रहनेवाले धर्म हैं—अर्थात् 'बुध' केवल उपमान (चन्द्रमण्डल) में रहनेवाला है, उपमेय (मुख) में उसकी संभावना ही नहीं । इसी तरह 'मोती' केवल उपमेय (मुख) में रहनेवाला है, उपमान (चन्द्रमण्डल) में नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ उपमा का न होना ही उचित होगा यह है शङ्का ।

उक्ताशङ्काया असत्समाधानद्वय तावत् प्रतिपाद्य सङ्घटयति—

न चात्र यदि नासाप्रस्थितमौक्तिकं तस्या ध्यानमालक्षितबुधारलेप राकेन्दोर्मण्डलमिव विलसतीति तादृशराकेन्दुमण्डलनिरूपितसादृश्यप्रयोजक-विलासाश्रयस्तादृशमाननमिति तात्पर्यम् सदा विपूर्वकलसत्यर्थशोभाविशेष एव समानो धर्मः । यदि च तादृशमिन्दुमण्डलमिव यत्तादृशमाननं तद् विलसतीति तादृशसादृश्यावच्छिन्नमाननमुद्दिश्य विलासाश्रयत्व विधेयतया विवदयते तदा-स्या लुप्तोपमात्वात्पद्ममिव मुक्तमित्यादाविवाहादकत्वादिधर्म उन्नेय इति याच्यम् । उपमानोपमेयशोभयोरपि वस्तुतोऽसाधारणत्वात् ।

'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।

कपायवसनो याति कुट्टमालेपनो यतिः ॥'

इत्यादौ धर्मान्तरस्याप्रतिमानादसुन्दरत्वाच्च कोमलातपादीनामसाधारणत्वात्कथमुपमेति चेत्,

तादृशराकेन्दुमण्डलेति । बुधारलेपविशिष्टराकेन्द्वित्यर्थः । एवमप्येऽपि । प्रथमोत्तरे दूषणमाह—उपमानोपमेयेति । द्वितीयोत्तरीत्योक्तप्रसिद्धोदाहरणे निर्वाहेऽप्यप्रसिद्धोदाहरणे दीपमायसाधारणमाह—कोमलेति । कोमलातपत्वम् शोणाभ्रत्व च सन्ध्याकाल-विशेषणम्, बहुनीहे । अत एव कोमलातपादीनामिति वदयति । एवञ्च कोमलं अनुद्वेगकर, आतपी यस्मिन्, तथा शोणम् रक्तवर्णम् अश्रुं मेघो, यस्मिन्, तादृशो यः सन्ध्याकालः, तस्य, सहोदरः गृहशः, कपायम् कपायद्वयद्वयवर्जितम्, वसनं यस्य तादृशं तथा कुट्टमालेपनं कृतकुट्टमलेपो यति गतोन्यर्थः । 'विलसत्याननम्' इत्यत्र साधारणधर्माभावात् क्यमुपमेति शङ्काया 'नामामौक्तिकशोभितं तन्नायिकाननं, बुधारलेपविशिष्टेन्दुमण्डलमिव विलसतीति रीत्यान्वयोपपादने बुधारलेपविशिष्टं यत् राकेन्दुमण्डलम्, तन्निरूपितं च सादृश्यं, तत्प्रयोजको यो विलक्षणः, तस्याश्रयो नासाप्रमौक्तिकविशिष्टं मुखमिति कवेस्तात्पर्यावगमेन विपूर्वकलसत्त्वात्पर्यशोभाविशेष एव साधारणधर्मः'

इत्युत्तर न संभवति, उपमानेन्दुमण्डलगतशोभाया, उपमेयानतनिष्ठशोभायाश्च मियो भिन्नत्वेन साधारणधर्मत्वासम्भवात् । बुधास्तेष्विषिष्टचन्द्रमण्डलसदृश यन्नासामौक्तिक-
गोभित मुख, तत् विलसतीति रीत्यान्वयस्वरूपेण तादृशसादृश्यानुयोग्याननमुद्दिश्य
विलासाश्रयत्व विधीयत इति कवेस्तात्पर्यवर्णने 'पद्ममिव मुखम्' इत्यादिवत् साधारण-
धर्मलोपोपमैव-अर्थात् आह्लादकत्वादिरूप साधारणधर्म ऊहनीय इत्यपि न तस्या
शंङ्कया समुचित समाधानम्, तेन रामाधानेन प्रसिद्धसाधारणधर्मके चन्द्रसुखादौ
निर्वाहेऽपि 'कोमलातप' इत्यादिलक्ष्येषु निर्वाहासम्भवात् । तथाहि—अथ कोमलातपत्व
शोभाभ्रत्व च सन्ध्याकालात्मकोपमानमात्रगतधर्मद्वयम् । कपायवसनत्वम् कुङ्कुमालेपनत्व
च वतिरूपोपमेयमात्रवर्तिधर्मद्वयम् । अतस्तेषु नैकोऽपि धर्म उपमानोपमेयोभयसाधारण ।
यातीति क्रियाया पूर्वरीत्या विधेयत्वेन पूर्वगिद्धत्वाभावे न साधारणधर्मता संभविति ।
लुप्तोपमात्वमज्ञीकृत्य साधारणधर्मोच्चयनरीतिरपि न भवितुमर्हति पूर्वोक्तोभ्यो धर्मोभ्योऽ-
न्यस्य वस्यचन धर्मस्य ध्यानप्रधानागमनात्, बलात्तादागमने कारिते तस्याचमत्का-
रित्वात् । एवञ्च 'विलसती'त्यादौ साधारणधर्माभावे कश्चुपमेति शङ्का यथास्थितेति भाव ।

तब तक उक्त आशङ्का का एक असिद्धान्ती समाधान कहकर खण्डन करते हैं— न
थ इत्यादि । स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'विलसति' दृश्यादिक में साधारण धर्म के
अभाव में उपमा कैसे होगी, इस आशङ्का के दो समाधान हो सकते हैं—(१) 'नासिका के
अग्रभाग में मुक्ताभूषण धारण करनेवाला उसका मुख बुधालिङ्गित चन्द्रमण्डल
समान सुशोभित हो रहा है' इसका तात्पर्य यदि यह हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट मुख,
पूर्वोक्त विशेषणयुक्त चन्द्रमण्डल द्वारा निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली शोभा का
आश्रय है' तब तो वह शोभा विशेष ही साधारण धर्म हो जाता है । और—(२) यदि
यह अभिप्राय हो कि 'उक्त विशेषणविशिष्ट, पूर्णिमाचन्द्र के सदृश उक्त विशेषण
युक्त मुख, सुशोभित हो रहा है (विलास का आश्रय बन रहा है)' और इस रीति
से इस श्लोक में उस तरह के चन्द्रमण्डल से निरूपित सादृश्य के अनुयोगी मुख को
उद्देश्य मानकर विलासाश्रयत्व (शोभा के आश्रय होने) को विधेय बनाना इष्ट
हो, तब यह लुप्तोपमा (साधारणधर्मलोपोपमा) होगी, अत जिस तरह 'कमल
सदृश मुख' इत्यादि में 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का उद्घ कर लिया जाता है,
उसी तरह किसी साधारण धर्म का उद्घ कर लेना चाहिए । अत. यहाँ किसी तरह की
गड़बड़ी नहीं । सारांश यह कि पूर्वोक्त श्लोक में यदि 'विलसति' इस क्रियापद के
अर्थ शोभा विशेष को सादृश्य का प्रयोजक (कारण) माना जाय तब तो वह शोभा
विशेष ही साधारणधर्मरूप हो जाता है और यदि वैसा न मानकर उस शोभा विशेष
को केवल विधेय माना जाय तब विधेय के अपूर्व (पूर्व सिद्ध नहीं) होने के कारण
वह साधारण धर्म नहीं हो सकता, अत यहाँ लुप्तोपमा हो जाने से चन्द्र और मुख
के किसी अन्य साधारण धर्म (सुन्दरत्व आदि) की कल्पना कर ली जानी चाहिए ।
ऐसा यदि आप कहें-तो यह खटत नहीं हो सकता । कारण, परमार्थत उपमेय और
उपमान की शोभा भी अपने अपने में रहनेवाली असाधारण ही होती है । अर्थात् सूक्ष्म
दृष्टि से विचार करने पर मुख की और चन्द्र की शोभा भी भिन्न भिन्न सिद्ध होती है
एक नहीं, अत उसको साधारण धर्म उद्घरानेवाला प्रथम उत्तर नहीं बनता और द्वितीय
उत्तर से 'चन्द्र सा मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में काम चल जाने पर भी—
'कोमलातप' इत्यादि अर्थात् कोमल (अनुद्वेगकर) धूप और लाल लाल बादल वाले
सायंकाल का सहोदर (समान), कपायवस्त्रधारी तथा केसर के लेप वाला संन्यासी जा
रहा है' इत्यादि स्थलों में काम नहीं चल सकता, क्योंकि, यहाँ लुप्तोपमा मानकर

साधारण धर्म का उह कर लेनेवाली युक्ति घन नहीं सकती ! कारण, यहाँ कोई ऐसा धर्म ध्यान में आता ही नहीं, जो साधारण हो सके, यदि खींच-तौंचकर किसी वैसे धर्म को लाया भी जाय, तो वह असुन्दर होगा—जमकार (आह्लाद) से शुन्य होगा। अर्थात् चन्द्र और सुष का साधारण धर्म आह्लादकाव भादि प्रसिद्ध है, अतः वाचरु पद के अभाव में भी वह ध्यान में आ जाता है, परन्तु प्रकृत में सायंकाल और यति का कोई वैसे धर्म प्रसिद्ध नहीं है, अतः बिना कहे वह ध्यान में नहीं आता, बलात् किसी धर्म को ध्यान में लाने पर भी वह आनन्ददायक नहीं होता। रहे पद्य में कथित क्रोमलातपद्य, शोणाभ्रत्व, कपायवसनत्व और केसरलेप धर्म, तो वे साधारण नहीं असाधारण हैं अर्थात्—इन चारों में प्रथम दो केवल उपमान-सायंकाल-में रहनेवाले धर्म हैं और अग्रिम दो केवल उपमेय-सन्यासी में रहनेवाले। फलतः ऐसे स्थानों—जहाँ कोई साधारण धर्म नहीं रहता—में उपमा कैसे होती है यह आशङ्का जैसी की तैसी घनी रही।

इदानीं सिद्धान्तभूत समाधान लिखते—

अत्राहुः—उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलोनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः।

अभेदारोपेणेति भावः । अत्र नागेश —“न चैकधर्मवत्त्वमि-
वोपमानदृष्टिधर्मसदृशधर्मवत्त्वमप्युपमाप्रयोजनमस्तु किमुनाऽभेदाध्यवसायेनेति वाच्यम् ।
साधारणधर्मोपमानोपमेययोर्भेदप्रतीतिकृतचमत्कारस्त्योपमायामिष्टस्य धर्मयोर्भेदाध्यव-
सानं विनानुपपत्तेः । तथा चोक्मलद्वारसर्वरक्ता—‘भेदाभेदप्रधानोपमे’ति बोध्यम्”
इत्याचष्टे । अयं भावः—उक्तीदाहरणेषु केचन उपमेयमात्रगताः केचन उपमानमात्रगता
एव धर्मा बुध-मौक्तिक-क्रोमलातपादयः, अत एव ते न साधारणा इति यद्यपि सत्यम्,
तथापि असाधारणानामपि तेषां धर्माणां मियं सादृश्यमस्तीति नापलापार्हम् । एवञ्च
‘तत्सादृश्यमेव मूल भूत्वा तेषु असाधारणेष्वपि धर्मेषु अभेदम्-ऐक्यम्-आरोपयति
अर्थात् तेषु धर्मेषु सादृश्यं विदन्ती जनास्तन्मूलकं तेष्वभेदमपि विदन्ति । तथा न
भवन्ति ते असाधारणा अपि धर्मा साधारणाः । अत एव तेषु स्थलेषु उपमा-सिद्धौ न
काचिन् वाचाऽवतिष्ठत इति ।

अब उक्त आशङ्का का सिद्धान्ती समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादि। उक्त आशङ्का का सिद्धान्तभूत समाधान यहाँ यह कहा जाता है कि—ऐसे स्थानों पर केवल उपमान और उपमेय में रहनेवाले धर्मों के असाधारण होने पर भी, उन धर्मों में रहनेवाले परस्पर सादृश्य के कारण, उन धर्मों में अभेद का आरोप करके उनको साधारण मान लिया जाता है। अर्थात्—‘बुध’ तथा ‘मौक्तिक’ और ‘क्रोमल धूप’ तथा ‘केसर के लेप’ आदि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें जो क्रमशः शुकता तथा अहणता आदि गुणमूलक समानता है, उसके द्वारा उन्हें अभिन्न मानकर ‘बुध से अभिन्न मोती’ और ‘कपायवस्त्र से अभिन्न केसरलेप’ आदि को साधारण धर्म मान लिया जाता है। अतः उन स्थलों में असाधारण धर्म के भी साधारण हो जाने से उपमा सिद्ध हो जाती है।

पुनश्चकृत्यलेषु उपमाया असिद्धिमन्यप्रकारेणशक्य समाधत्ते—

न च भ्रमात्मकेनाहार्याभेदबोधेन कथं नाम कुङ्कुमालेपकोमलातपादीनां यस्तुतो भिन्नानां साधारणत्वसिद्धयेऽत्यन्तमसन्नभेदः सेद्धं शक्नुयात्, भ्रमेणार्थसिद्धेरभावादिति वाच्यम् । प्रागुक्तेऽपि ‘त्वयि कोपो ममाभावि सुधा-

शाविव पावकः' इत्यादावुपमानोपमेययोरत्यन्तासत्त्वेऽपि कल्पनामात्रतो यथा निष्पत्तिस्तथैव प्रकृते साधारणधर्मस्यापीति व्यक्तमुपपादयिष्यामः ।

भ्रमात्मकेनाहार्याभेदबोधेनेति । आहार्याभेदबोधस्य तदभाववति तद्वत्तावगाहित्वाद् भ्रमन्व बोध्यम् । अत्यन्तमसङ्घिः । सर्वथा मिथ्याभूत इत्यर्थः । सेद्रुम् सिद्धो भविनुम् । भ्रमेणार्थसिद्धेरिति । न हि रब्धौ सर्पभ्रमेऽपि सर्पस्तत्रोपलभ्यत इति भावः । प्रागुक्त इति । यत इत्यादि । 'त्वयि' 'इत्यादावुपमानोपमेययोरिति । यद्यपि चन्द्राधिकरणकान्तरूपोपमानपत् नायिकाधिकरणकत्रोरूपोपमेय न सर्वथा मिथ्याभूतम्, तथापि उपमानसादृश्ययोर्भयोर्मिथ्यात्वे तस्योपमेयत्वमपि मिथ्यैव, उपमानोपमेयत्वयोर्मिथः सापेक्षत्वादिति बोध्यम् । बुधमौक्तिकयोः कुङ्कुमालेपकोमलातपयोश्च वस्तुतो भेद एवानुभवसिद्ध इति तयोर्द्वयोर्द्वयोः स्वतः साधारणत्व न भविजुं योग्यम्, अतस्तयोः साधारणत्वसिद्धये सादृश्यमूलकोऽभेद आरोप्यते । एवञ्च तत्रत्याभेदबोधस्य आहार्यत्वम् फलितम्, आहार्यञ्च ज्ञान सर्वत्र भ्रमात्मकमेव भवति । तथा च 'भङ्गितोऽपि लघुने न शान्तो व्याधि'रिति न्यायस्यैवावतारो जातः । अर्थात् भ्रमेण भ्रमविषयीभूतोऽर्थो न सिद्धवति । एवञ्चाहार्याभेदज्ञानेनापि पूर्वोक्तयोर्वस्तुतो भिन्नयोर्भेद सिद्धवेदित्यत्र शङ्का । 'त्वयि कोपो' 'इत्यादिपूर्वोक्तस्थले उपमानोपमेये एव सर्वथाऽसती यद्यपि, तथापि यथा कल्पनामात्रतस्तत्रोपमानोपमेयभावो भवति, तथैव प्रकृते उक्तधर्मयोरसतोऽपि साधारणत्वस्य कल्पनया सत्त्वं भवेदिति च समाधानम् । एतत्समाधानगतंपदार्थस्य स्पष्टमुपपादनं ग्रन्थकृता स्वयमग्रे विधास्यते ।

फिर उक्त स्थलों में अन्य युक्ति से उपमा की अस्तित्व की आशङ्का करके स्पष्टन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहेंगे कि—'यह जो आहार्य (अपनी हृद्धा से कल्पित) अभेद का ज्ञान है, वह भ्रमरूप है—सर्वथा मिथ्या है, अतः उसके द्वारा 'बुधमौक्तिक' तथा 'कुङ्कुमालेपकोमलातप' आदि वस्तुतः सर्वथा भिन्न धर्मों का, उन्हें साधारण बनाने के लिये किया जानेवाला सर्वथा अवर्तमान अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि भ्रम से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती—रस्सी को भ्रम से साँप समझ लेने पर भी वह साँप नहीं हो जाता', तो इसका समाधान यह है कि 'त्वयि कोपो मन्नाभाति' 'इत्यादि में जैसे उपमान तथा उपमेय के सर्वथा मिथ्या होने पर भी केवल कल्पना के आधार पर उपमा की सिद्धि की जाती है, वैसे ही प्रकृत उदाहरण में साधारण धर्मों की भी कल्पना से सिद्धि की जा सकती है—इस विषय का स्पष्टतया उपपादन हम आगे करेंगे । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि 'त्वयि कोपो' इस पद में 'चन्द्र मे भाग' जिस तरह से अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या है, उस तरह से यद्यपि 'नायिका में कोप' अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या नहीं है, तथापि उपमान-चन्द्र में भाग तथा उसका सादृश्य ये दोनों जब मिथ्या हैं, तब 'नायिका में कोप' इसका उपमेय होना भी मिथ्या हो ही जायगा, क्योंकि उपमान उपमेय ये परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं—एक के सिद्ध होने पर ही दूसरा सिद्ध हो सकता है, अतः यहाँ 'उपमानोपमेययोरत्यन्तासत्त्वःपि' ऐसा लिखा गया है ।

विशेषमाह—

अयमेव विम्बप्रतिबिम्बभाव इति प्राचीनैरभिधीयते ।

अयमेवेति । सादृश्यमूलभेदाध्यवसाय एवेत्यर्थः । वस्तुतो भिन्नयोरपि वस्तुनोर्यः सादृश्यमूलक आहार्याभेदबोधः स एव प्राचीनैरालङ्कारिणैः 'विम्बप्रतिबिम्बभाव'पदेन प्रणिपाद्यत इति भावः ।

एक विशिष्ट बात कहते हैं—अयमेव इत्यादि । वस्तुतः भिन्न होने पर भी दो वस्तुओं में जो सादृश्यमूलक अभेदारोप होता है, उसीको प्राचीन आलङ्कारिक लोग 'विम्बप्रतिविम्बभाव' कहते हैं ।

प्रागुक्तरीत्योदाहरणान्तरेऽप्युपमासिद्धिं दर्शयति—

एवम्

‘भुजो भगवतो भाति चञ्च्रश्चाणूरचूर्णने ।

जगन्मण्डलसंहारे वेगवानिव धूर्जटिः ॥’

अत्र धूर्जटिभगवद्भुजयोराकारेण सादृश्याभावात्प्रकारनिर्मुक्तस्य केवलमान-
स्याप्रयोजकतया चाणूरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वजगन्मण्डलसंहारनिमित्तक-
वेगवत्त्वयोरभेदाध्यवसानेनाभिन्नधर्मप्रकारकमानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मस्य
सिद्धेरुपमासिद्धिः ।

एवमिति । उक्तोदाहरणे उपमासिद्धिवदित्यर्थः । ‘भुजो ’ इत्यादि । भगवतः
कृष्णस्य, चाणूरस्य तन्नामकस्य दैत्यविशेषस्य, चूर्णने दलने, चञ्च्रु धातुनामनेकार्यन्वा-
भाच्चान्वयुक्त, भुजो बाहु, जगन्मण्डलस्य वक्राण्टस्य, संहारे विनाशने, वेगवान् रय-
शाली, धूर्जटिः शिवः, इव, भाति शोभते इत्यर्थः । अत्र प्रकृतपद्ये । वृत्तित्व सप्तम्यर्थः,
तस्य च दूरस्थोपमासिद्धिपदाधिकदेशे उपमायामन्वयः । अथवा प्रतिपाद्यत्वं तदर्थः ।
तथा च प्रकृतपद्यप्रतिपाद्ययोर्धूर्जटिभगवद्भुजयोरित्यर्थः । प्रकारनिर्मुक्तस्येति । निप्रवार-
कस्येत्यर्थः । निनिपयस्येति यावत् । तदर्थस्यैव स्पष्टीकरणयाह—केवलेति । अप्रयोजक-
तयेति । सादृश्यानियामकतयेति भावः । चाणूरचूर्णनेत्यादि । चाणूरचूर्णनं निमित्त
यस्य, तादृशं यत् चाञ्चल्यम्, तद्वत्त्वं च, जगन्मण्डलस्य संहारो निमित्त यस्य, तादृशो
यो वेगस्तद्वत्त्वं चेद्द्वन्द्वः, तयोरित्यर्थः । अभेदाध्यवसानेनेति । आहार्याभेदज्ञानेनेत्यर्थः ।
अभिन्नधर्मप्रकारकेति । अभिन्नः एकः, धर्म उक्तविशेषणविशिष्टचाञ्चल्यवत्त्ववेगवत्त्वरूपो
विषयः, प्रकारो विशेषणं यस्मिन्, तादृशं यत् मानम्, तद्विशेष्यत्वस्येत्यर्थः । प्रथमा-
न्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधपादिना नैयायिकानां मतेनेदृशोक्तिः । ननु ‘भुजो भगवतो भाती’ति
पद्ये कथमुपमायाः सिद्धिः ? तस्तिद्धौ समपेक्षितस्य साधारणधर्मप्रत्ययस्याभावात्, न
च शिवकृष्णभुजयोरुपमानोपमेयतया विवक्षितयोराकार एव तथेति वाच्यम्, तयोराकार-
रसाम्यस्य विरहात् । न च भातीति क्रियापदबोधं मानमेव साधारणधर्मोऽस्त्विति
शक्यम्, प्रकारतया विषयाविशेषितस्य मानमात्रस्य सादृश्याप्रयोजकतया तत्त्वात्तन्मा-
दिति चेन्न, अभिन्नधर्मप्रकारकमानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मत्वात् । कथमेतदिति चेत् ?
इत्यम्—‘चाणूरचूर्णने’ ‘जगन्मण्डलसंहारे’ इत्यनयोः सप्तम्योर्निमित्तत्वमर्थः, तस्य च
चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोरन्वयः । तथा च चाणूरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वम्, जगन्मण्डल-
संहारनिमित्तकवेगवत्त्वं चेति धर्मद्वय फलितम् । तयोश्च सादृश्यमूलकाभेद आरोप्यते ।
एवमभिन्नतामापन्नं वस्तुतो भिन्नमपि तद्धर्मद्वयमेक सम्पद्यते, तथा सम्पन्नश्च त धर्म
प्रकारतया मानेऽन्वेति, तादृशमानविशेष्यत्वं च धूर्जटिभगवद्भुजयोरुपमानोपमेययो
वर्तमानं सत् साधारणधर्मता भजत इति भावः ।

उक्त रीति से ही अन्य लक्ष्य में भी उपमा की सिद्धि दिखलाते हैं—एवम् इत्यादि ।
इसी तरह ‘भुजो भगवतो भाति’ अर्थात् चाणूर नामक दैत्य को चूर्ण करने में चञ्चलता-
युक्त भगवान्—श्रीकृष्ण—की भुजा, संसार के संहार करने में वेगयुक्त शिव जी के समान

प्रतीत होती है' इत्यादि पक्षों में भी समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि—यहाँ 'शिवजी' और 'भगवान् की भुजा' में आकार की समता है ही नहीं और केवल—अर्थात् विषय-रूप विशेषण से शून्य भान (क्रिया) सादृश्य का प्रयोजक हो नहीं सकता—अर्थात् 'प्रतीत होते हैं' केवल इतना कहने से किन्हीं दो पदार्थों में सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः 'चाणूर को चूर्ण करना' जिसका निमित्त है उस चाञ्चल्ययुक्तत्वरूप और 'ससार का सहार' जिसका निमित्त है उस 'वेगयुक्तता'रूप भानक्रिया के विशेषणों में अभेद मान लेने से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ उक्त अभिन्न धर्म जिसके विषयरूप से विशेषण हैं उस 'भान'क्रिया का विशेष्य होना (जो कि शिव और भुजा दोनों में रहता है) साधारण धर्म हुआ और तब उपमा की सिद्धि हुई। यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि—शब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों के मतानुसार उक्त साधारण धर्म की सिद्धि होती है, व्याकरणों के मतानुसार नहीं। कारण, उनके मत से शब्दबोध में क्रिया, मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके मतानुसार 'भानक्रिया' ही मुख्य विशेष्य होगी, फिर तो 'भान-विशेष्यत्व का आश्रय शिव और भगवद्भुज' इस तरह का अन्वय ही नहीं बन सकेगा।

अत्र विशेषमाह—

तत्र चाणूरजगन्मण्डलयोर्वस्तुतो भिन्नयोर्महाकाव्यत्वादिना सादृश्याद्-
बिम्बप्रतिबिम्बभावः । चूर्णनसहारयोश्चाञ्चल्यवेगवस्त्वयोस्त्याश्रयभेदाद्भिन्नयो-
रपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभावः ।

तत्रेति । धर्मयोर्मध्ये इत्यर्थः । तौ धर्माविव श्रमशो निर्दिशति—चाणूरेत्यादिना ।
अर्थं भाव—अत्र शब्दत प्रतीयमानस्य धूर्जटिभगवद्भुजयो सादृश्यस्योदरे चाणूजग-
न्मण्डलयो, चूर्णनसहारयो, चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोश्च सादृश्यानि शब्दमन्तरापि प्रतीयन्त
एव । तत्र चाणूरो जगन्मण्डलय वस्तुतो भिन्नौ पदार्थौ, परन्तु तावुभावपि महा-
काव्यो विनालौ अतस्तयोर्महाकाव्यत्वादिना समानधर्मेण सादृश्यमस्तीति प्राक् परिभाषितो
बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तयो । चूर्णनसंहारौ चाञ्चल्यवेगवत्त्वे च वस्तुत एकौ एव पदार्थौ,
भेदमान तु तयोराश्रयभेदमूलकम् शब्दभेदमूलकम्, अतस्तयोर्न बिम्बप्रतिबिम्बभाव
अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति । एवञ्च 'वस्तुतो भिन्नयोरपि ययोर्द्वयो' पदार्थयो समान-
धर्मप्रयुक्तसादृश्यमूलकभेदाप्यवमान, तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव, एव यौ द्वौ पदार्थौ
वस्तुतो न भिन्नौ, किन्तु आश्रयभेदेन शब्दभेदेन च भिन्नाविव प्रतीयते, तयोर्व्याभेदाप्य-
वसानम्, तत्र तयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति तयोर्भावयोर्भेदो बोध्यः ।

अब यहाँ का विशेष बतलाया जाता है—तत्र इत्यादि । तात्पर्य यह है कि—यहाँ शिव और भगवद्भुज में साक्षात् तथा परम्परा से रहनेवाले छे धर्म हैं, चाणूर और जगन्मण्डल (जो पदार्थ, किसी भी सम्बन्ध से किसी पदार्थ में रहनेवाला होता है, उसको धर्म माना जाता है), चूर्णन और सहार एव चाञ्चल्य और वेग । इन धर्मों में चाणूर और जगन्मण्डल, वस्तुतः भिन्न पदार्थ हैं परन्तु उन दोनों में महाकाव्य—विनाल होने से समानता है, अतः उन दोनों धर्मों में पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' है और 'चूर्णन तथा सहार' एव 'चाञ्चल्य तथा वेग' वस्तुतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु एक हैं, भेद तो इन सब में केवल आश्रय (आधार) के भेदप्रयुक्त भाषित होते हैं, अतः इन दोनों में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है । सारांश यह हुआ कि—यहाँ वस्तुतः भिन्न दो पदार्थों में समानधर्मप्रयुक्त सादृश्य की प्रतीति होने के कारण अभेद माना जाय यहाँ 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' होता है और जो दो पदार्थ वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, पर भिन्न भिन्न आश्रय में रहने के कारण तथा भिन्न भिन्न शब्दों से प्रतिपादित

होने के कारण भिन्न से छिद्रित हों, उन दो पदार्थों का जहाँ (भिन्न से प्रतीत होने के समय में भी) अभेद माना जाय, वहाँ उनका 'वस्तु प्रतिवस्तुभाव' होता है ।

लक्षणनिरूपणमुपसंहरति—

इत्येवं निरूपितमुपमालक्षणम् ।

उक्तप्रकारेण क्रियमाणमुपमालङ्कारस्य निरूपणमवसितमिति भावः ।

लक्षणनिरूपण का उपसंहार करते हैं—इत्येवम् इत्यादि । उक्त रीति से किया जाने-वाला उपमा का निरूपण समाप्त हुआ ।

उदाहरणनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथेवमुदाह्रियते—

अथेति । लक्षणनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । इयम् उपमा । लक्षणनिरूपणात्परमिदानीमुपमाया उदाहरणं दीयत इति भावः ।

उदाहरणनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि । लक्षणनिरूपण के बाद अब उपमा का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं प्रदर्शयति—

‘गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावभावहन्त्याः ।

दलदरविन्दसुन्दरं हा हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि ॥’

नायक स्वसखाय प्रति कथयति—‘हा’ इति खेदसूचकम् । चर्यमानेयं स्थितिनि-
तान्तं खेदावहा भवेति भावः । गुरुजनानाम् वयोवृद्धानां श्रद्धादीनाम् भयम् तत्समचे
निलज्जतापरणप्रयुक्ता भंति, मद्विलोकनम् चेति द्वन्द्वः । तयोः, अन्तर्मध्ये, समुदयन्तम्
प्रादुर्भवन्तम्, आकुलभावम् क्षणिकनयनविकासक्षणिकतन्मुदणात्मिका व्यप्रताम्, आव-
हन्त्या धारयन्त्याः हरिणदृशः मृगनयनाया दलत् विकसत्, अरविन्दम् कमलम् इव,
सुन्दरं रमणीयम् नयनं नेत्रम्, एकचनेनेकनयनकरणककटाक्षषीक्षणं व्यज्यते । न विस्म-
रामि पुनः पुनः स्मरामीति भावः ।

अब उपमा का उदाहरण दिखलाया जाता है—गुरुजन इत्यादि । नायक अपने सखा से कहता है—आह ! एक तरफ, सास आदि गुरुजनों का भय और दूसरी-तरफ-मेरा अवलोकन, इन दोनों के बीच उत्पन्न होनेवाली घबराहट को धारण करनेवाली मृगाक्षी को ईपत् विकसित होते कमल सी सुन्दर आँखों को मैं नहीं भूल पाता—आज भी उस आँख की याद बराबर आती ही रहती है ।

उपपादयति—

अत्र दलदरविन्दशब्दस्योपमानवाचकस्य सुन्दरशब्देन सामान्यवचनेन समासे प्रतीयमानोपमा सकलवाक्यार्थस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य स्मृत्युपस्कर-
णद्वारोपस्कारकतयालङ्कारः ।

अत्रेति । उक्तपद्ये इत्यर्थः । घटकृत्व सप्तम्यर्थः, तस्य च शब्दस्येति पठ्यन्तार्थेन सहान्वयः । तथा च एतत्पद्यघटकदलदरविन्दशब्दस्येत्यर्थः फलितः । सामान्यवचने-
नेति । साधारणधर्मवाचकेनेत्यर्थः । समासे इति । ‘उपमानानि’ इत्यादि सूत्रेणैति भावः ।
अत एव न श्रौतीत्याह-प्रतीयमानेति । आधीति भावः । सकलवाक्यार्थस्येति । सकल-
वाक्यतात्पर्यविषयोभूतस्येत्यर्थः । सपूर्णपद्यव्यङ्ग्यस्येति यावत् । शृङ्गारस्येत्यस्योपस्कार-

कृतयेत्यत्रान्वयः । उपस्कारकृतया शोभाधायकृतया । एतच्च 'अलम्बिते मुख्यवाक्यासौ रसादिरनेने'ति व्युत्पत्तिलब्धस्यालङ्कारस्वगोम्यस्य सम्पत्तेः सूत्रम् । अत्र नाव — अत्र पद्ये 'दलद्वारविन्द'पदबोधोप्युपमानम्, 'सुन्दर'पदबोधोप्ये साधारणधर्म, 'नयन'पदबोधोप्युपमेयं समासशक्त्या उपमानवाचकस्य लक्षणया वा बोध्यम् सादृश्यम् च मिलित्वा उपमाऽलङ्कार सम्पद्यते, वाच्यस्य स्मरणस्य शोभाजननद्वारा व्यङ्ग्यस्य मुख्यवाक्यार्थस्य विप्रलम्भशङ्कारस्य शोभाकरणात् । सा चोपमा न श्रौती, उपादेरमावान्, अपि तु समानगता आर्या इति ।

प्रकृतोपश्रेणी वातों का उपपादन करते हैं—अत्रेत्यादि । यहाँ उपमातवाचक 'दलद्वारविन्द' पद का साधारणधर्मवाचक सुन्दर पद के साथ 'उपमानानि सामान्यवचनै' इस पाणिनिसूत्र से समास होने पर जिस उपमा (सादरय) की प्रतीति होती है, यह इसलिये उपमाअलङ्काररूप होती है कि उससे वाच्य स्मृति के शोभासम्पादन द्वारा सम्पूर्ण पद्य से मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलम्भशङ्कार का शोभासम्पादन होता है ।

आराधन समाधत्ते—

न चात्र स्मृतिः प्रधानतया ध्वन्यत इति वक्तुं शक्यम्, न विस्मरामीति स्मृत्यभावनिषेधमुखेन स्फुटभावेदनात् । नापि पूर्वार्धगतत्रासौत्सुक्ययोः परस्परामिभयकामयोः संधिः प्रधानम्, तस्य नायिकागतत्वेनानुवाद्यत्वात्, उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वाच्च ।

स्मृति स्मृतिभाव', तथा च भावध्वनेरिदमुदाहरण न रसध्वनेरिति भाव । पुनरन्वदाशक्यते—नापीति । प्राप्तेति । गुरुजनभयमद्विलोकनपदबोधोप्युपश्रेणीजनभयमद्विलोकनयोर्मध्यं व्याकुलत्वोदयेन द्वयोरपि तुल्यकक्षत्वम्, अत आह—परम्परिति । परस्परम् अन्योन्यम्, अभिभवे इत्यने, काम इच्छा ययोस्तयोरित्यर्थः । तस्य सधेः स्मृत्यङ्गत्वादिति । परम्परया भयत्रामसधेरपि स्मृतिविषयत्वादिति भावः । इदमाकृतम्—'गुरुजने'तिपद्ये 'न विस्मरामी'त्यनेन विस्मरणस्य—स्मृत्यभावस्य निषेधोऽभिधीयते, तेन च स्मृतिरभिव्यज्यते इति स्मृतिभावध्वनिरेवात्र कुतो नाङ्गवियत इति शङ्काया इत्सुतरयत्, सन्यमन स्मृतिरभिव्यज्यते, परन्तु सा अभिव्यक्तिरतिस्फुटेति वाच्यायमाना स्मृतिर्धनिकाव्यताप्रयोजिका न भवितुमर्हतीति । एवम् पूर्वार्धगताभ्याम् भयविलोकनाभ्यामभिव्यज्यमानाऽपि त्रासौत्सुक्ययोर्भावयो मधि प्रकृतपद्यस्य भावसधिवध्वनिलक्ष्यता संपादयितुं न शक्यते, तस्य नायिकागततयाऽनुवाद्यत्वेन उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वेन चाप्राधान्यात् अत्रप्रधानानुमारिकाव्यव्यवहारस्यानुचितत्वात् । इति ।

आशङ्का करके समाधान करते हैं—न चेत्यादि । आप कहेंगे कि—'स्मृतिभाव' ही यहाँ प्रधान ध्वन्यत क्यों नहीं माना जाय अर्थात् जब यहाँ विप्रलम्भशङ्कार भी अभिव्यक्त होता है और स्मृतिभाव भी, तब जो विप्रलम्भध्वनि ही यहाँ मानते हैं, स्मृतिभावध्वनि नहीं, येता क्यों ? हमें का समाधान यह है कि स्मृति यहाँ 'न विस्मरामी' (मुझे विस्मृत नहीं होता) इस पद से स्मृति के अभाव के निषेधरूप में स्पष्ट हो चुकित कर दी गई है—वाच्य जैसी बना दी गई है, अतः उसके चल पर इस पद्य की ध्वनि नहीं कहा जा सकता । इसी तरह पूर्वार्ध के 'भय और विलोकन' से अभिव्यक्त होनेवाले समकक्ष अतएव पर दूसरे को दबाने की कामना करनेवाले त्रास और औत्सुक्य भावों की मधि, प्रधान ध्वन्यत नहीं हो सकती क्योंकि यह भाव सधिव्यवहार्य

में उदरयभूत नायिका के विशेषणों से अभिप्रेक्त होती है, अतः वह भी अनुवाच ही होगी और उत्तरार्ध में वर्णित स्मरण का अङ्ग भी है, इन दोनों ही कारणों से भावसंधि प्रधान नहीं हो सकती ।

निकृष्टार्थमाह—

तस्माद् भावसन्ध्युपमालङ्काराभ्यामुपस्कृता स्मृतिर्हापदगम्यः सन्तापोऽनु-
भावश्च विप्रलम्भमेवोपस्कुरुव इति तस्यैवात्र प्राधान्यम् ।

तस्मादिति । स्मृति-त्रासौस्तुक्यसन्ध्यो प्रधानव्यङ्ग्यत्वपरिहादित्यर्थः । विप्रलम्भ-
शृङ्गारोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्य, स्मृतिभाव हापदयोन्व सतापरूपोऽनुभावश्च तस्य पोषकौ ।
स्मृतिभावस्य च त्रासौस्तुक्ययो संधि उपमालङ्कारश्च पोषकौ इति भावः ।

उक्त शङ्कासमाधान के बाद निकलने वाले सारांश का अब निर्देश करते हैं—तस्मात्
इत्यादि । तस्मात् यह सिद्ध हुआ कि हम पद्य में विप्रलम्भशृङ्गार ही प्रधान व्यङ्ग्य है और
स्मृतिभाव तथा 'हा'पद से अवगत होने वाला संतापरूप अनुभाव, उस (विप्रलम्भ-
शृङ्गार) के पोषक हैं । एवं 'त्रास तथा ठातुकता' इन दोनों भावों की संधि और
'उपमा' 'स्मृतिभाव' को पुष्ट करते हैं ।

प्राचीनालङ्कारिकोक्तौपमालक्षणान्वालोचयितुमुपक्रममाणस्तान्ददीक्षितकृतलक्षणमालो-
चयति—

अप्पयदीक्षिताः पुनश्चित्रमीमांसायाम्—'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्ण-
नमद्गुष्टमव्यङ्ग्यमुपमालङ्कारः । स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनं वा तथा-
भूतम् तथा' इति लक्षणद्वयमाहुः । तच्चिन्त्यम् । वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य
विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यताविरहेणार्थालङ्कारताया वाधात् । तस्य
सर्वथाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्वविशेषणवैयर्थ्याच्च ।

'दीक्षिता' इत्यस्य, 'आहुः' इत्यत्र सम्बन्धः । 'चित्रमीमांसा' तत्कृतालङ्कारनिरूपणपरो
ग्रन्थः । सख्यति—तच्चिन्त्यमिति । चिन्त्यन्वे हेतुमाह—वर्णनस्येत्यादिना, शब्दोऽपि
शब्दवाच्य इति मते नायं दोषोऽत आह—विलक्षणज्ञानेति । अव्यङ्ग्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वा-
भावात् । 'येन सादृश्येन उपमितिक्रियाया-तुलनाया' सिद्धिर्भवेत्, तादृशो, दोषरहितं,
व्यङ्ग्यताविहीनत्वं, सादृश्यमुपमा' इति दीक्षितकृतप्रथमलक्षणस्य स्वस्य (उपमायाः)
निषेधे स्वस्य पर्यवसानं न भवेत्, तादृशमदोषत्वाव्यङ्ग्यत्वविशेषणविशिष्टं सादृश्यस्य
वर्णनम् उपमेति च द्वितीयलक्षणस्य—स्वरूपं पर्यवस्यति । परन्तु तन्न युक्तम्, निचारा-
सहत्वात् । तथाहि—वर्णनन्नाम विलक्षण शब्दराशि विलक्षण ज्ञानमन्दोहो वा, उभय-
यापि न तस्य शब्दवाच्यता सम्भवति, तत्र शब्दशक्तेरभिधायता अप्रहणात् । एवं
स्थितौ, तस्य (वर्णनस्य) धर्मालङ्कारिता वाधितैव । शब्दोऽपि शब्दानां शक्य इति
मते वर्णनस्य शब्दात्मकचरुत्वे कथञ्चिद्दोषोऽपि ज्ञानात्मकत्वे तस्यैव दोषो दुर्धार एव ।
किञ्च तादृश वर्णनं न कदापि व्यङ्ग्यत्वात् स्यादिति लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणस्य व्यावर्त्याला-
भाद् वैयर्थ्यम् स्पष्टम् इति भावः ।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा किम् गये लक्षणों की आलोचना के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम
अप्पयदीक्षितकृत लक्षण की आलोचना करते हैं—अप्पयदीक्षिता इत्यादि । अप्पय-
दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने अलङ्कारशास्त्रीय निबन्ध में दो प्रकार के
'उपमा लक्षण' बनाए हैं । जिनमें एक का अभिप्राय है कि—'उस सादृश्यवर्णन को

उपमा अलङ्कार कहते हैं, जिसमें कोई दोष न हो, जो व्यङ्ग्य न हो अर्थात् वाच्य हो, और जिससे उपमिति क्रिया-तुलना-की सिद्धि होती हो ।' तथा द्वितीय का आशय यह है कि 'उपमा के निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो—अर्थात् जिससे अन्ततोगत्वा उपमा का निषेध सिद्ध न होता हो—ऐसे दोषहीन अथवा अव्यङ्ग्य सादृश्य-वर्णन को उपमा कहते हैं ।' परन्तु ये दोनों ही लक्षण असङ्गत हैं । कारण, इन दोनों लक्षणों में 'सादृश्यवर्णन' को उपमालङ्कार माना गया है, और वर्णन होता है शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक—अर्थात् वर्णन की ये दो शीतियाँ हो सकती हैं, एक वाच्य और दूसरी मानस, उन दोनों में वाच्यवर्णन शब्द के रूप में होता है और मानस वर्णन ज्ञान के रूप में । ऐसी स्थिति में शब्दों के शब्दवाच्य न होने के कारण, और यदि किसी तरह शब्दों को शब्द-वाच्य मान भी लिया जाय, तथापि ज्ञान के तो संबंधा शब्दवाच्य न होने के कारण, वर्णन का अर्थालङ्कार होना बाधित हो जाता है । सारांश यह कि जिस वस्तु में शब्द की अभिधाशक्ति रहती है, वह वस्तु वाच्य होती है, उसे ही अर्थ कहा जाता है, और वही वाच्य वस्तु जब साक्षात् अथवा परम्परा से रस आदि को सुशोभित करती है, तब वह अर्थालङ्कार कहलाती है । ऐसी परिस्थिति में जिसमें शब्द की अभिधा नहीं—जो शब्दवाच्य नहीं—उसे (अर्थात् वर्णन को) अर्थालङ्कार मानना नितान्त अनुचित है । दूसरे, शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक वर्णन, किसी भी दशा में व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकता, अतः 'सादृश्यवर्णन' में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण भी व्यर्थ है ।

दीक्षितलक्षणस्य सङ्गतिमाशय निराचष्टे—

अथ यदि वर्णनविषयीभूतं तादृशसादृश्यमुपमेत्युच्यते, तदा यथा गौस्तथा गवय इत्यत्रोपमालङ्कारापत्तेः । एवं 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादावपि । अशिष्यत्वादिना प्रधानप्रत्ययार्थवचनसादृश्यस्यात्रापि प्रतिपादनात् ।

तादृशमिति । अदृष्टाव्यङ्ग्यत्वादिविशेषणविशिष्टमित्यर्थः । कालोपसर्जन इति । पाणिने सिद्धान्तकौमुदीस्थम् सूत्रमेतत् । इत्यादावपीति । उपमालङ्कारापत्तिरित्यस्यानुपपन्नम् । अत्रादिपदप्राद्य किमिति चिन्तनीयम् । अत्रापीति । कालोपसर्जनयोरपीत्यर्थः । अयं भावः—सादृश्यवर्णनस्योपमालङ्कारत्वे यौ दोषो उक्तौ, तौ, यद्यपि 'वर्णनविषयीभूतस्य तादृशसादृश्यस्य तत्त्वे तात्पर्यविषयतया विवक्षिते न प्रसजत, तथापि दोषान्तरापत्तौ दुर्भार एव । तथाहि—'यथा गौस्तथा गवय' इत्यस्मिन् वाक्येऽपि गो-गवययो तुलना-साधक दोषहीन वाच्यं सादृश्यमस्तीति उपमालङ्कार प्रसज्येत् । एवम् 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इति पाणिनीयसूत्रवाक्येऽपि तदापत्तिरापत्तेत् । कथमिति चेदित्यम्—'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति सूत्रम्, 'प्रत्ययार्थं प्रधानं भवतीत्येव रूपं वचनमशिष्यम् (शास्त्रद्वारा नानुशासनीयम्) । अस्यार्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्—'प्रत्ययार्थप्राधान्यस्य लोपसिद्धत्वात्—'इत्यर्थम् उक्त्वा 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इति सूत्रमुक्तम् । तस्यायमाशयः—'अतीताया रात्रे' पद्याभेदे आगामिन्या पूर्वाभेदे च राहिते काले (दिवसे) अद्यतने । 'विशेषणमुपसर्जनम्' इत्यादि यत् प्राक्तनैराचार्यैरनुबिहितम्, तत्रापि अशिष्यत्वम् तुल्यम्, लोप एव मिदं । अथार्थं प्रत्ययार्थं प्रधानम् इत्यादि वचनम् यथा अशिष्यम्, तथा अद्यतनोऽयं काल, विशेषण हि उपसर्जनं भवतीत्यादिकमपि अशिष्यम् । अत्र प्रधानप्रत्ययार्थवचनस्य कालोपसर्जनयोश्च अशिष्यत्वरूपवामान्यधर्मोपसादृश्य प्रतिपाद्यते, तत्रापि उपमा स्यात् इति ।

दीक्षितवृत्त लक्षण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करके खण्डन करते हैं—

अथ ह्ययादि । यदि आप कहें कि-वर्णन के विषय-अर्थात् वर्णन में आनेवाले उक्त विशेषणों से युक्त सादृश्य उपमा है (यही दीक्षित का तात्पर्य है) अतः उक्त दोष नहीं हो सकते, तब मैं कहूँगा कि-ठीक है, वे दोष नहीं हो सकते, परन्तु दूसरे दोष तब भी होंगे। जैसे-उक्त लक्षण के अनुसार 'जैसा बेल होता है वैसा ही गवय (नील गाय) होता है' इस वाक्य में उपमालङ्कार हो जायगा, क्योंकि दोषरहित वाच्यसादृश्य यहाँ है। इसी तरह 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' (पाणिनिमूय ३।२।५७) ह्ययादि में भी उपमालङ्कार की आपत्ति हो जायगी। कारण, यहाँ भी 'अशिष्यत्व-अनुशासन न करने योग्य होने-' रूप सामान्य धर्म से काल और उपसर्जन का 'प्रधान प्रत्ययार्थवचन'रूप उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। इस द्वितीय दोष का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' यह है प्रथम सूत्र, जिसका आशय है कि 'प्रत्यय का अर्थ प्रधान हो', इस तरह का वचन बनाना व्यर्थ है-नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि यह बात लोक से ही सिद्ध है। इसके बाद मैं—'कालोपसर्जने च तुल्यम्' यह सूत्र है, जिसका अभिप्राय है कि जैसे प्रत्ययार्थ की प्रधानता का नियामक वचन, लोकसिद्ध होने के कारण, नहीं बनाना चाहिए, वैसे ही 'विगत रात्रि के उत्तरार्ध से लेकर आगामिनी रात्रि के पूर्वार्ध तक का काल अद्यतन है' इस तरह का कालविधायक वचन तथा 'विशेषण उपसर्जन है' इस प्रकार का उपसर्जनविधायक वचन भी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि ये सब बातें भी लोक से ही सिद्ध हैं। अब आप प्रधानप्रत्ययार्थ वचन का सादृश्य काल तथा उपसर्जन में देख सकते हैं।

द्वितीयदोषवारणमाशंभय निराकरोति—

न चात्र वचनभेदस्य दोषस्य सत्त्वादद्दुष्टत्वविशेषण्येन वारणं भविष्यतीति वाच्यम् । एतद्वाक्योपप्लुतवाक्यान्तरप्रतिपादितैकोपमेयके सादृश्ये तथाप्यति-प्रसङ्गात् ।

अत्रेति । 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यत्रेत्यर्थः । उपप्लुतेति । कल्पितेत्यर्थः । वाक्यान्तरेति । 'काल प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनम् प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इत्याकारकेत्यर्थः । 'कालोपसर्जने' इत्यस्य द्विवचनान्ततया 'तुल्यम्' इत्यस्यैक-वचनान्ततया वचनभेदरूपदोषस्य नियमान्तरेण तत्रोपमालङ्कारापत्तिः, लक्षणेऽदुष्टत्वनि-शेषणस्य तद्वारकस्य प्रयेरादिति शङ्का, संग्राहकमेतदेकं वाक्यं भङ्क्त्वाकल्पितयोरेकोपमेय-घटितयोः पूर्वोक्तयोर्वाक्ययोः प्रत्येकस्मिन् तदापत्तिस्तथापि, तदोपस्थाभावादिति च समा-धानं बोध्यम् ।

द्वितीय दोष नहीं हो सकता इस तरह की आशङ्का करके पुनः उस दोष को स्थिर करते हैं—न चात्र ह्ययादि । यदि कोई कहे कि लक्षण में 'अदुष्टत्व' विशेषण जुड़ा हुआ है और यहाँ 'कालोपसर्जने' इस उद्देश्य अंश के द्विवचनान्त तथा 'तुल्यम्' इस विधेय अंश के एकवचनान्त होने से 'वचनभेद'रूप दोष वर्तमान है, अतः यहाँ उपमा की आपत्ति नहीं हो सकती, तो यह कथन आपका सत्य है, परन्तु 'कालोपसर्जने-' यह एक संग्राहक वाक्य है, अतः जब इस वाक्य को मोड़कर 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इस तरह के दो वाक्यों की कल्पना कर ली जायगी, जिसमें प्रथम 'काल' और 'उपसर्जन'रूप एक-एक उपमेय रहेगा, तब उन दोनों वाक्यों से प्रतिपादित होनेवाले 'सादृश्य' में उक्त दोष तथापि लग ही जायगा, क्योंकि उस तरह के वाक्यों में 'वचन-भेद'रूप दोष नहीं रह जाता ।

दीक्षितोक्तलक्षणमज्ञातिसम्पादनाय, प्रोक्तसकलदोषनिरासमुपपाद्य पुनरन्यदोषं ह्यी-
करोति—

न चात्रोपमतिक्रियाया निष्पत्तावपि न सादृश्यवर्णनम्, विषयस्याचम-
त्कारित्वात्, चमत्कारविषयककविब्यापारस्यैव वर्णनपदार्थत्वादिति वाच्यम् ।
एवं हि चमत्कारित्वस्य लक्षणोऽवश्यं निवेश्यत्वेनोपमतिक्रियानिष्पत्तिविशेष-
णस्य वैयर्थ्यात् । न ह्यनिष्पन्नमापाततः प्रतीयमान सादृश्य चमत्कृतिमाधत्ते ।
एवं द्वितीयलक्षणेऽपि निषेधापर्यवसायित्वं निरर्थकम् । व्यतिरेके कमलादि-
सादृश्यनिषेधस्यानन्वये च सर्वथा सादृश्यनिषेधस्य चमत्कारित्वया तदर्थं
सादृश्यस्य निरूपणमिति प्रागेवाभिधानात् ।

अत्रेति । यथा गौरित्यादिपूर्वोक्तनिखिलदोषस्थलेष्वित्यर्थः । व्यतिरेके इति । 'तवा-
नस्य तुलनाम्' इत्यादावित्यर्थः । कमलादिसादृश्येति । कमलादिनिष्ठसादृश्यत्वार्थः ।
चमत्कारो यथा भवेत्सादृश्य कविकर्मैव वर्णनपदार्थः, एवञ्च 'यथा गौस्तथा गवयः', 'वालो-
पसर्जने च तुल्यम्' इत्यादौ व्यवहारसात्रोपयोगिबन्तुव्यापारसिद्धे सादृश्ये चमत्कारो न
भवतीति यद्यनुभवसिद्धं तर्हि तत्र केवलतुलनासिद्धावपि सादृश्यवर्णनं नारतीति मन्तव्य-
मेव, तथा च न तेषु स्थलेषु उपमाप्रसङ्गः, सादृश्यवर्णनस्योपमालक्षणत्वोक्तेरिति चेत् ।
सन्त्यम्, परन्तु, तथा सति वर्णनपदार्थघटकतया चमत्कारित्वस्य लक्षणकुक्षिप्रविष्टताया-
दभिमताया तावत्तव सामञ्जस्येन प्रथमलक्षणे उपमतिक्रियानिष्पत्तिविशेषणवैयर्थ्यापातः,
अनिष्पन्नस्य आपाततः प्रतीयमानस्य सादृश्यस्य चमत्कृतिजनकताविगमात् । एवमेव
द्वितीयलक्षणे निषेधापर्यवसायित्वविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गः, तद्वधावर्थाभिमतायो व्यतिरे-
कानन्वयस्यलौपसादृश्योच्चमत्कारित्वनिवेशेनैव व्यावर्तनात्, तयो रथलयो ('तवानस्य
तुलना दधातु जलजं कथम्', 'मुखं मुखमिवाभाति' इत्यादिवचो) अमश 'तव मुखस्य
सादृश्य कमले नास्ति' इत्याकारकस्य कमलादिनिष्ठसादृश्याभावरय 'सुप्तसदृश किमपि
वस्तु जगति नास्ति' इत्याकारकस्य निरवच्छिन्नानुयोगितासादृश्याभावस्य चमत्कृति-
जनकता, न प्रतियोगिविधया निरूप्यमाणस्यापि सादृश्यस्येति पूर्वमुपपादितत्वादिति भावः ।

दीक्षितकृत लक्षण को सङ्गत सिद्ध काने के लिए पूर्वोक्त सभी दोषों के निरास की
भावाद्वा करके पुनः अन्य दोष दिखलाकर उनके लक्षण में असङ्गति दिखलाते हैं—न चा-
त्रेत्यादि । 'जिससे चमत्कार उत्पन्न हो—जो सद्दोषों के दृश्य में आनन्द पैदा कर सके-
ऐसी कविक्रिया को 'वर्णन' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि उक्त-
दोष स्थलों ('यथा गौस्तथा गवयः' 'वालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादि) में केवल
लौकिक व्यवहार को सिद्ध करने के लिये वक्ता के द्वारा कथित सादृश्य से उपमिति
क्रिया की निष्पत्ति (तुलनामात्र की सिद्धि) मले ही हो जाय, पर उस सादृश्य कथन
को 'सादृश्य वर्णन' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे चमत्कार की सृष्टि नहीं होती,
और जब उन स्थलों में 'सादृश्य वर्णन' है ही नहीं, तब उपमा का आपत्ति उन स्थलों
पर नहीं दी जा सकती' ऐसा यदि आप कहें, तो मैं कहूँगा कि—यह युक्ति आप की
सर्वथा ठीक है, परन्तु इस युक्ति का अवलम्बन करने पर लक्षण में चमत्कारित्व (चम-
त्कारी सादृश्य) का प्रवेश 'वर्णन' पदार्थ के रूप में जब मानना पड़ा, तब प्रथम
लक्षण में 'उपमतिक्रियानिष्पत्ति'—विशेषण का लगाता व्यर्थ हो जाता है । कारण,
अनिष्पन्न—ऊपर ही ऊपर प्रतीत होनेवाला—सादृश्य चमत्कारजनक ही नहीं सकता,
धिर तो अनिष्पन्न सादृश्य को उपमा की श्रेणी से बाहर कर देने के लिये 'सादृश्य'
में 'चमत्कारी' विशेषण ही पूर्ण समर्थ है । इसी तरह अथ द्वितीय लक्षण में 'निषेधा

पर्यवसायिण्य अर्थात् जो सादृश्य आश्रित में अपने निषेध के रूप में परिणत नहीं होता हो' यह विशेषण भी जोड़ना निरर्थक हो जाता है, क्योंकि 'तद्वाननस्य तुलनां श्पातु जलजं कथम् अर्थात् कमल तेरे मुख की तुलना कैसे प्राप्त करे' इत्यादि व्यतिरेक में, तथा 'मुखं मुखमिवाभाति अर्थात् मुख, मुख जैसा ही शोभित होता है' इत्यादि अनन्वय में, अन्ततः अपने निषेध के रूप में पर्यवसित हो जाने वाले सादृश्य में उपमात्व का निराकरण करना जो उस विशेषण का फल था, वह 'चमत्कारी सादृश्य' कह देने से ही सिद्ध हो जाता है। कारण, उन दोनों अलङ्कारों में क्रमशः 'कमल में मुख का सादृश्य नहीं है' इस तरह का कमलमिष्ट सादृश्य का अभाव और 'मुख का सादृश्य कहीं नहीं है' इस तरह का सर्वथा सादृश्य का अभाव ही चमत्कार-जनक होता है, अभाव के प्रतियोगीरूप में नान्तरीयक होने के कारण कथित सादृश्य नहीं यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

ननु 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिनात्' 'स्वनिषेधापर्यवसायी'ति विशेषणद्वय न लक्षणशरीरघटकम्, अपि तु 'अत्रत्यवर्णनपदस्य 'चमत्कारजनकज्ञानविषयीभूतानुयोगिकं सादृश्यं लक्षणप्रविष्टमित्ययं' तात्पर्यमाहकम्, तथा च न तद्वैयर्थ्यमापाद्यतामर्हतीत्यतो दोषान्तरमाह—

किञ्च

'स्तनाभोगे पतन्माति कपोलात् कुटिलोऽलकः ।

शशाङ्कविम्बतो मेरो लम्बमान इवोरगः ॥'

इत्यादौ मुख्यवाक्यार्थत्वेनानलङ्कारभूतायामुपमायामविख्यातिः । उपमिति-क्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनस्यादुष्टाव्यङ्ग्यत्वस्य चात्रापि सत्त्वात् । न चैयमप्युपमा लक्ष्येति वाच्यम् । ध्वन्यमानोपमानिवारणप्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः । न ह्यत्रोपमाभेदप्रधानोत्प्रेक्षा शक्या वक्तुम् । कल्पितोपमाया निर्विपर्ययत्वप्रसङ्गात् ।

'व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः ।

क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा ॥'

इति स्वकृतसूत्रेऽलङ्कारभूतोपमाया एव लक्ष्यत्वेनाभिधानात् । अलङ्कारभूतोपमालक्षणत्वे तदेवादुष्टाव्यङ्ग्यत्वविशेषितमिति तत्रैव पुनरभिधानाच्च । न ह्यत्रोपमानोपमेयसादृश्यादुपमास्वरूपावस्ति कश्चिदतिरिक्तो वाक्यार्थः, येनोपमा तमलङ्कुर्यात् ।

स्तनाभोगे इति । व्याख्यातमिदं पुरस्तात् । मुख्यवाक्यार्थत्वेनेति । तथा च न वाक्यार्थोपस्कारकत्वमिति भावः । एतच्च 'अलङ्करोती'ति योगलब्धम् । तत्फलितमाह—अलङ्कारेति । अतिव्याप्तौ हेतूपन्यासमुखेन लक्षणार्थं संघटयति—उपमितिक्रियेति । सद्ब्रह्मत्वमाराद्धयते—न चेति । प्रतिबन्धा तदुत्तरमाह—ध्वन्यमानेति । अलङ्कारान्तरमुद्भाव्य सादृश्याप्रतीतियुक्तिकं लक्षणप्रसङ्गमाशङ्क्यते—न ह्यत्रेति । रामापानमाह—चलितेति । अनलङ्कारभूतोपमाया अपि लक्षणमिदमिति मनसि कृत्वा तद्विरुद्धं दीक्षितवचनमुद्धरति—व्यापार इति । उपमानाख्य तुलनात्मक, व्यापार क्रिया, उपमिति-क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तम् तुलनासिद्धिं यावत्, यदि, विवक्षितः वक्षुरभिप्रेत, तर्हि, सा, उपमालङ्कृतिरिति तवर्थः । वक्ष्यम् स्फुटोक्तुम्, दीक्षितोऽसन्वयव्युद्धरति—अलङ्कारभूतोपमालक्षणत्वे इति । अत्रत्योपमाया अनलङ्कारत्वं स्फुटमितुमाह—न ह्यत्रोपमेति । अयं भावः—उपमितिक्रियानिष्पत्तीत्यादिविशेषणस्योक्तार्थं तात्पर्यमाहकत्वस्वीकारे यद्यपि

प्रागभिहितो विशेषणवैयर्थ्यरूपो दोषो नापतेत्, तथापि 'स्तनाभोगे' इत्यादौ अतिव्याप्तिरूपो लक्षणस्य दोष आपतेदेव, उपमितिक्रियानिष्पत्तीत्यादिविशेषणविशिष्टप्रकृत-लक्षणार्थस्यात्रापि सह्युपमानत्वात् । ननु नैयमितिन्यासि, अलक्ष्ये लक्षणगमनस्य तावे-नाङ्गीकारात्, प्रकृते च सादृश्यरूपोपमाया प्रतीत्या लक्ष्यत्वस्यैव निर्णयात् इति चेत् ? तस्यम्, परन्तु अलङ्करोतीति योगार्थस्वारस्यानुसारं मुख्यवाक्यार्थोपस्कारक स्वयणुणी-भूतो वाच्यार्थ एव वस्तुतो निखिलालङ्कारलक्षणलक्ष्यभूत, इह च वाच्यतामवगाहमाना-प्युपमा मुख्यार्थरूपैव, उपमानोपमेयसादृश्यात्मकत्वात् तन्स्वरूपादन्यस्य कस्यचन वाक्यार्थस्य विरहात् । एवञ्चैवमुपमा अनलङ्कारभूता न लक्ष्यतामालम्बते । लक्षणे वाच्यार्थो-पस्कारकत्वस्याप्रवेशादत्र तत्प्रसक्तिरतिव्याप्तिरेवेति ग्रन्थस्थाराय । अनलङ्कारभूताऽप्यु-पमा प्रकृतलक्षणस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतेति तु न वक्तुं योग्यम्, लक्षणे 'अव्यङ्ग्यम्' इति विशेषणनिवेशेन ध्वन्यमानोपमानिराकरणप्रयासो व्यर्थ इति प्रतिबन्धा आपतनात् । अनलङ्कारत्वस्य तुल्यत्वे तस्या अपि संग्राह्यतैव तथात्वे समुचितेति सारात् । उरगाल-कस्यो सादृश्य नात्र प्राधान्येन विवक्षितम्, अमेद एव तयोरत्र तथात्वेनाभिमत, अतोऽ-त्रोत्प्रेक्षैवालङ्कार । एवञ्च प्रकृतलक्षणस्य सादृश्यषडितस्य प्रसन्नो नास्त्येवेत्यपि न वक्तुं शक्यम्, एव सति कतिपतोपमायाश्चित्रमीमासादौ स्वनिबन्धे दीक्षितेनापि स्वीकृताया विषयविलोपापातात् । अलङ्कारभूतोपमैव दीक्षितस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतेति कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? 'व्यापार उपमानाहयो' इत्यादि तदीयसूत्रस्य 'अलङ्कारभूतोपमालक्ष-णत्वे' इत्यादि तदुक्तैश्च स्वरसादिति मन्तव्यम् इति ।

'उपमितिक्रियानिष्पत्ति' इत्यादि जिन विशेषणों का वैयर्थ्यापातदोष आपने पूर्व में दिखलाया है, उनको 'वर्णनपदसादृश्य में चमस्कारित्वविशेषण का बोधक है' इस अर्थ में तात्पर्यग्राहक मान लेने पर उक्त वैयर्थ्य दोष नहीं होगा, क्योंकि अब वे विशेषण, लक्षण में एक तरह से रहे ही नहीं, अतः अन्य दोष दिखलाते हैं—किञ्च इत्यादि । उक्त दोष के न होने पर भी 'स्तनाभोगे' इत्यादि पद्य—जिसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है—में दीक्षितकृत उपमालक्षण की अतिव्याप्ति (दोष) हो ही जायगी । अभिप्राय है कि इस पद्य में उपमा (सादृश्य) यद्यपि है, तथापि वह वस्तुतः अलङ्काररूप नहीं हो सकती । कारण, वह स्वयं मुख्य वाक्यार्थ है, और 'अलङ्करोति' अर्थात् 'किसी को सुशोभित जो करे' इस श्युरपत्ति के अनुसार अलङ्कार सामान्य (सभी अलङ्कारों) का लक्षण वही हो सकता है, जो स्वयं गौण होकर किसी दूसरे मुख्य अर्थ को सुशोभित करे । परन्तु यहाँ उपमान, उपमेय और सादृश्य इन तीनों का मिश्रणरूप उपमा से भिन्न कोई अर्थ ही नहीं फिर यह उपमा शोभित करे तो किसको ? हम तरह से यह सिद्ध है कि यह उपमा अलङ्कार का लक्षण नहीं है, अतः इसका वातण करने के लिये लक्षण में 'वाच्यार्थोपस्कारक' आदि कोई विशेषण अवश्य जोड़ना चाहिये था, किन्तु दीक्षितजी ने ऐसा कोई विशेषण जोड़ा नहीं और 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिम्, अदुष्ट तथा अव्यङ्ग्यसादृश्य का वर्णन' इत्यादि जो कुछ उन्होंने लक्षण में कहा, वे सभी बातें यहाँ भी वर्तमान हैं, अतः यह लक्षण इस अलक्ष्य में घट जाने से अतिव्याप्तिदोषप्रसृत है । यह तो आप कह नहीं सकते कि मुझे अलङ्कारभूत (जो अलङ्काररूप नहीं होती उस) उपमा का भी इस लक्षण से समझ करना इष्ट है—अर्थात् यह उपमा भी इस लक्षण का लक्षण ही है, क्योंकि ऐसा कहने पर व्यङ्ग्य उपमा के निराकरण करने के लिये जो 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लक्षण में जोड़ा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा—अर्थात् व्यङ्ग्य उपमा भी तो उपमा है ही, विलक्षणता तो उसमें बँवल इतनी रहती है कि वह आप के मत से अलङ्काररूप नहीं है, ऐसी स्थिति

में जब आप को अनलङ्काररूप किसी उपमा का संग्रह करना अभीष्ट हो गया, तब व्यङ्ग्य अतएव अलङ्काररूप न होनेवाली उपमा का भी संग्रह करना ही उचित था, फिर न्यय उसके वारण का प्रयास क्यों? आप कहेंगे—यहाँ किसी तरह की उपमा है ही कहाँ? क्योंकि उपमा में सादर्य की प्रधानता होती है और यहाँ प्रधानता है ताँप तथा केशों के अमेद की, अतः यहाँ उल्लेख है, फिर उक्त आपत्ति कैसे आपने दे डाली? किन्तु यह कथन आपका सङ्गत नहीं, ऐसा मानने से कल्पितोपमा, निर्विषय हो जायगी—उसका कहीं लक्ष्य ही नहीं रह जायगा। यह तो आप कह नहीं सकते कि मैं 'कल्पितोपमा' नहीं मानता, कारण, 'चित्रमीमांसा' नामक निबन्ध में आपने इसे स्वीकृत किया है। अलङ्काररूप होनेवाली—अर्थात् किसी अपने से भिन्न मुख्य अर्थ को सुशोभित करने वाली उपमा का ही आपने यह लक्षण बनाया है अनलङ्कार रूप उपमा का नहीं, यह बात आपकी अन्य उक्तियों से भी सिद्ध होती है, क्योंकि आपने, 'ध्यापार उपमानाद्यो अर्थात् जय उपमान नामक क्रिया (तुलना) का क्रिया की सिद्धि पर्यन्त कहना अभीष्ट हो, तब उपमा अलङ्कार होता है' इस सूत्र में अलङ्काररूप उपमा को ही लक्ष्य कहा है। इतना ही नहीं, यहाँ पर आपने पुनः कहा है कि 'अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अदृष्ट और अव्यङ्ग्य' ये दो विशेषण और जोड़ देने चाहिएँ।' एक बात पर ध्यान दीजिये—'स्तनाभोगे' इस पद्य के विषय में जो पण्डितराज ने यह कहा है कि यहाँ उपमा के स्वरूप (उपमान, उपमेय और सादर्य) से भिन्न कोई वाक्यार्थ ही नहीं, फिर यहाँ की उपमा अलङ्कृत करे तो किसको? अतः यह उपमा अलङ्काररूप नहीं होती, वह कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि वस्तुतः यदि बात है अर्थात् उपमास्वरूप से अन्य वाक्यार्थ नहीं है, तब पण्डितराज ने स्वयं जो इस पद्य में उपमालङ्कार माना है, वह कैसे? कारण, उनके लक्षण में साफ साफ सादर्य का वाक्यार्थोपस्कारक होना अपेक्षित माना गया है, अतः उनके लक्षण के अनुसार यहाँ उपमालङ्कार नहीं होना चाहिएँ। यदि उक्त श्लोकवाक्य से श्रद्धार को अभिव्यक्त मान कर उसको मुख्य धार्यार्थ माना जाय, और उसको उपरकृत करने के कारण यहाँ की उपमा को अर्थात् अलङ्कार कहा जाय, तब दीक्षित के मत में भी मेरे विचार से कोई दोष नहीं होता।

ननु अलङ्करोतीति योगबोधितोपस्कारकत्वस्यालङ्कारसामान्यस्वरूपत्वेन विशेषलक्षणेन सदनिवेशोऽपि क्षत्यभाव—अर्थात् अलङ्कारपदयोगार्थशून्ये लक्ष्ये पूर्वोक्तविशेषाभिर्न संभवदुक्तिकेत्यत आह—

अपि च लक्षणे सादर्यविशेषणं निरर्थकम् । 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्येतावतैव स्वाभीष्टार्थताभात् ।

सादर्यस्यैव वर्णनम्, उपमितिक्रियानिष्पत्तिकरम्—अर्थात् सादर्यादन्यस्य कस्यचिद्वर्णने तुलनायां सिद्धिर्नैव भवितुमर्हति, तथा च 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिवर्णनमुपमा' इत्येतद्वच एव लक्षणत्वे दीक्षिताभिप्रेतप्राप्तौ 'सादर्योक्तिः' लक्षणे निरर्थकैव । एवञ्च दीक्षितकृतमुपमालक्षणं न समीचीनमिति भावः ।

अलङ्कार पद का योगार्थ ही दूसरे को सुशोभित करनेवाला होता है—शोभाजनक हुए बिना कोई पदार्थ, अलङ्कार, हो ही नहीं सकता, फिर यदि अलङ्कारों के विशेष लक्षण में उस तरह का वाक्यार्थोपस्कार भादि विशेषण नहीं भी जोड़ा जाय, तथापि हानि नहीं हो सकती अर्थात् पूर्व में जो आपने लक्षण की अतिव्याप्ति दिखलाई है, वह वस्तुतः होती नहीं, क्योंकि अलङ्कार इस नामपद से ही उसका वारण, हो जायगा, अतः अन्य दोष दिखलाया जाता है—अपि च इत्यादि। उक्त दोनों लक्षणों में वर्णन के साथ जो 'सादर्य का' यह विशेषण जोड़ा गया है, यह निरर्थक है, क्योंकि 'उपमिति

क्रिया (तुलना) को सिद्ध करनेवाला वर्णन उपमा अलङ्कार कहलाता है' इतना कहने से ही आपकी इष्ट-सिद्धि हो जाती है। कारण, सादर्य से भिन्न किसी अर्थ के वर्णन से 'उपमिति क्रिया की सिद्धि' हो ही नहीं सकती, अतः 'सादर्य' पद के न रहने पर भी 'वर्णन' से 'सादर्य का ही वर्णन' लिया जायगा। सारांश यह कि दीक्षितजी का उपमालक्षण ठीक नहीं है।

विद्यानाथोक्तमुपमालक्षणमालोचयति—

एषम्—

‘स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।

सान्म्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ॥’

इति विद्यानाथोक्तं लक्षणमपास्तम् । व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादर्येऽति-
व्याप्तेः ।

एवमिति । दीक्षितोक्तलक्षणवदित्यर्थं । अस्य च 'अपास्तम्' इति दूरस्थेनान्वयः । स्वतः सिद्धेनेति । स्वतः सिद्धेन अकल्पितेनेति भावः, भिन्नेन उपमेयादतिरिक्तेन, च पुनः सम्मतेन कविसमयप्रसिद्धेन, लिङ्गभेदादिदोषरहितेनेति यावत्, अन्येन अप्रस्तुतेन, वस्तुना, वर्ण्यस्य वर्णनीयस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः, धर्मतः समानधर्मप्रयुक्तमिति भावः, एकदा वारुणेक, साम्य सादर्य, चेद् वाच्यम् अभिधाव्यापारबोध्यम्, अव्यङ्ग्यमिति यावत् तदा तदुपमालङ्कार इत्यर्थं अपास्तम् खण्डितम् । तत्र हेतुमाह-व्यतिरेकेति । 'तवाननस्य "इत्यादावित्यर्थः' निषेधप्रतियोगिनीति । यस्य निषेध फलति तस्मिन्नित्यर्थः । 'उपमिति क्रियानिष्पत्ति-
मत् ' इत्यादिर्दाक्षितोक्त लक्षण यथा न सङ्गतम्, तथैव 'स्वतः सिद्धेन ' इत्यादि, विद्यानाथाभिधेन केनचिदालङ्कारिकेण 'प्रतापरुद्रीये' निबन्धे कथितं लक्षणमपि असङ्गतमेव, 'तवाननस्य तुलना दधातु जलज कथम्' इत्यादौ व्यतिरेकालङ्कारोदाहरणेऽतिव्याप्तत्वात्, निषेधप्रतियोगितया तत्रापि सादर्यस्य प्रतीयमानत्वात् । पण्डितराजकृत लक्षण तु चमत्कारहीनेतया तस्मिन् सादर्ये न प्रसजतीति भावः ।

अथ 'विद्यानाथ' नामक प्राचीन आलङ्कारिक के द्वारा 'प्रतापरुद्रीय' नामक निबन्ध में कहे गये उपमालक्षण का खण्डन करते हैं—एषम् स्वतःसिद्धेन इत्यादि । 'स्वतः सिद्धेन' अर्थात् स्वतः सिद्ध-कवि के द्वारा कविरत नहीं-तथा उपमेय से भिन्न और सम्मत-कविसमयप्रसिद्ध-अर्थात् लिङ्गभेद, वचनभेद आदि दोषों से मुक्त, अन्य-अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय-प्रस्तुत वस्तु का समान धर्म के कारण एक बार, सादर्य, यदि वाच्य हो, तो वह उपमालङ्कार कहलाता है । यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कमल तेरे मुख की तुलना का धारण कैसे करे' इत्यादि व्यतिरेकालङ्कार में अन्ततः होने वाले निषेध के प्रतियोगीरूप से प्रतीय होनेवाले सादर्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है ।

अन्यदपि प्राचीनोक्त लक्षण पर्यालोचयति—

एषम्—

‘उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।

ह्य साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यधेदिभिः ॥’

इति प्राचामपि लक्षण प्रत्युक्तम् । ह्यतामात्रेण निर्वाहे विशेषणान्तरथैषध्यात् ।

उपमानोपमेयत्वेति । उपमानोपमेयभावयोग्ययोर्द्वयोः पदार्थयोः वर्ण्यमान सुन्दर चमत्कृतिसमिति यावत्, साधर्म्यम् सादर्यम्, काव्यधेर्नैकदोपमा इति कथ्यते इत्यर्थः ।

इदमेव लक्षणं न सम्यक्, 'हृदयं साधर्म्यम्' इत्येतावत् एव लक्षणत्वे संभवति अन्य-
विशेषणानां लक्षणोक्तानां निर्यक्तत्वादिति भावः ।

प्राचीनों के एक अन्व लक्षण की भी आलोचना करते हैं—एवम् उपमानोपमेय
इत्यादि । जिस तरह पूर्वोक्त लक्षण सब असङ्गत सिद्ध हुए हैं, उसी तरह प्राचीनों का
'उपमानोपमेयत्व' इत्यादि अर्थात् उपमानोपमेयभाव के योग्य दो वस्तुओं के सुन्दर
सादर्य को काव्यज्ञ अतः उपमा कहते हैं । लक्षण भी असङ्गत ही है, क्योंकि यह
लक्षण व्यर्थ विशेषणों से युक्त अर्थात्-साधर्म्य के साथ केवल हृद्य-सुन्दर-विशेषण
का जोड़ना ही उपमालक्षण में काफी है, फिर जो इस लक्षण में अन्य विशेषण जोड़े गये
हैं, वे सब के सब व्यर्थ ही हैं ।

मम्मटोक्तं लक्षणं परीक्षते—

एवं काव्यप्रकाशोक्तमपि 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति लक्षणं नातीव रमणी
यम् । व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादर्येऽतिव्यापनात् । न च पर्यवसितत्वेन
साधर्म्यं विशेषणोपमिति वाच्यम् । अतन्वयस्थसादर्यस्यापर्यवसायित्वेनैव
वारण्ये भेदविशेषणवैयर्थ्योपत्तेः । काव्यालङ्कारप्रस्तावे लौकिकालौकिकप्रधान-
वाच्यव्यङ्ग्योपमासामान्यलक्षणकारणानौचित्याच्च ।

अरमणीयत्वे हेतुमाह—व्यतिरेक इति । घटकत्व सप्तम्यर्थः । तथा च व्यतिरेक-
घटकसादर्ये इति तात्पर्यार्थः । अतिव्याप्तिनिवृत्त्याय शंक्ते—न चेति । उत्तरयति-अन-
न्वयेति । भेदपदस्य पर्यवसितत्वात् तात्पर्यग्राहकत्वाद्गीकारे तदोपाभावाद्दोषान्तरमाह—
काव्यालङ्कारेति । काव्यप्रकाशमिधाने परमप्रसिद्धे निबन्धे मम्मटेन 'सादर्यमुपमाभेदे'
इति उपमाश लक्षणं कृतम् । उपमानोपमेययोः भेदे सति, भिन्नपदार्थयोः उपमानोपमे-
यभावे सतीति यावत् सादर्यमुपमेति तदर्थः । परमिदमपि लक्षणं न समीचीनम्, पूर्वोक्त
निषेधप्रतियोगिनि व्यतिरेकालङ्कारघटके सादर्ये तस्याप्यतिव्यापतेः । पर्यवसितत्वेन साधर्म्यं
विशेषिते-अर्थात् यस्य निषेधे पर्यवसानं न भवेत् तादृशे-स्वरूपेऽवतिष्ठमाने इति यावत्-
सादर्ये लक्षणघटकतया विवक्षितेऽपि न निस्तारः, तथा सति तेनैव विशेषणं निषेध-
पर्यवसायिनोऽनन्वयालङ्कारस्थस्यापि सादर्यस्य वारण्ये सिद्धे तद्वारकस्य 'भेदे' इति
विशेषणस्य वैयर्थ्योपत्तेः । न च भेदपदस्य सादर्यार्थ एव तात्पर्यग्राहकतया लक्षणं निर्दुष्ट-
मिति वाच्यम्, काव्यशास्त्रप्रसिद्दालङ्कारलक्षणनिर्माणप्रकरणे लौकिकालौकिकी प्रधानाम्,
वाच्याम् व्यङ्ग्या च—सर्वविधमिति यावत्-उपमा सङ्घट्ट-लक्षणस्य निर्माणनौचित्यात्
इति भावः ।

अब मम्मट भट्ट के लक्षण की पर्यालोचना करते हैं—एवं काव्य इत्यादि । अन्य लक्षणों
के समान ही 'काव्यप्रकाश' में मम्मट के द्वारा लिखा गया 'साधर्म्यमुपमाभेदे' अर्थात्
भेद रहने पर अर्थात् उपमान उपमेय के दो रहने पर सादर्य का नाम उपमा है । यह
लक्षण भी अधिक सुन्दर नहीं है । कारण, इसकी भी पूर्वोक्त, व्यतिरेकालङ्कारस्य
निषेधप्रतियोगी सादर्य में अतिव्याप्ति हो जाती है । 'साधर्म्य' में पर्यवसित-अर्थात्
जो सादर्य अपने रूप में ही पर्यवसित होता हो-अन्त तक अपने रूप में रहे, तात्पर्य यह
कि निषेधरूप में जो परिणत न होता हो ऐसा, वह विशेषण लगाने से भी लक्षण को
निर्दुष्ट नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस विशेषण के लगाने पर जिस तरह व्यति-
रेकस्थलीय निषेध में पर्यवसित होनेवाले सादर्य का वारण होगा, उसी तरह उसी
विशेषण से अनन्वयस्थलीय निषेधरूप में परिणत होनेवाले सादर्य का भी वारण ही
ही जायगा, फिर 'भेदे अर्थात् भेद रहने पर' यह विशेषण निवर्धक ही जायगा-अर्थात्

अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय दोनों रहती है, अतः उपमान-उपमेय दो रहे पतदर्पक 'भेदे' विशेषण उपमा-लक्षण में लगाते थे, जिससे अनन्वय में उसकी प्राप्ति न हो, परन्तु अब-जब कि आप सादृश्य में पर्यवसित विशेषण लगा देते हैं—वह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, कारण, व्यतिरेक की तरह अनन्वय में भी उसी विशेषण से काम चलनेवाला है। यदि आप कहें कि—'भेदे' विशेषण की व्यर्थता नहीं हो सकती, मैं लक्षणा आदि के द्वारा उसी का अर्थ 'पर्यवसित' मान लूँगा। पर इतने पर भी निस्तार नहीं। कारण, इस तरह विशेषणवैयर्थ्यदोष से मुक्ति मिल जाने पर भी लक्षण में दूसरा दोष आ ही जाता है और वह, यह कि काव्योपयोगी अलङ्कारों के लक्षण बनाते समय लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और व्यङ्ग्य सभी तरह की उपमाओं को सगृहीत कर लेनेवाले साधारण उपमा लक्षण का बनाना अनुचित है। तात्पर्य यह कि 'अचमत्कारिण' विशेषण जब सादृश्य में नहीं लगाया जाता, तब यह (साधर्म्यमुपमाभेद) ऐसा सामान्य लक्षण हो जाता है, जिससे 'जैसी गाय, वैसा गवय' इत्यादि सभी तरह की उपमार्ये एकबी जा सकती हैं परन्तु यह बात उचित नहीं होती, क्योंकि काव्यालङ्कार का लक्षण निर्माण करने चले हैं, अतः उचित होता कि उसी तरह का लक्षण बनाते, जिससे केवल काव्य में उपयुक्त होनेवाली अचमत्कारिणी उपमाओं का समग्र होता, गोगवय आदि की अचमत्कारिणी उपमाओं का नहीं।

उक्तयुक्त्यैवालङ्कारसर्वस्वोक्तं लक्षणं खण्डयति—

अत एव 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा' इत्यलङ्कारसर्वस्वोक्तमपि लक्षणं तथैव।

अत एवेति । प्रकाशलक्षणोक्तदोषसमूहादेवेत्यर्थः । तथैवेति नातीव रमणीयमित्यर्थः । भेदस्य अभेदस्य च समानरूपेण भासमानत्वे सति सादृश्यम् उपमा इत्यर्थकं 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमे'ति अलङ्कारसर्वस्वग्रन्थोक्तं लक्षणमपि न भव्यम्, काव्य-प्रकाशलक्षणोक्तदूषणानामत्रापि वर्तमानत्वादिति भावः ।

अलङ्कारसर्वस्वकारकृत लक्षण की पर्यालोचना करते हैं—अतएव इत्यादि। 'भेद तथा अभेद दोनों के समानरूप से भासित होते रहने पर जो सादृश्य हो, उसे उपमा कहते हैं' यह अलङ्कारसर्वस्व में लिखित लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् काव्य-प्रकाश-लक्षण के समान अधिक सुन्दर नहीं है, क्योंकि उनके लक्षणों में जो दोष दिये गये हैं, वे इस लक्षण में भी हो जाते हैं।

अपरमपि लक्षणं पर्यालोचयति—

एव 'प्रसिद्धगुणोपमानेनाप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा' इत्यलङ्काररत्नाकरोक्तमपि न भव्यम् । श्लेषमूलकोपमायां तादृशशब्दात्मकस्य धर्मस्य कविनैव कल्पनात् तेन रूपेणोपमानस्याप्रसिद्धेश्च ।

एवमिति । व्यतिरेकोऽतिव्यापनादित्यर्थः । प्रसिद्धगुणेनेति । प्रसिद्धा ख्याता - कल्पिता नेति यावत्-गुणा गुणक्रियारूपधर्मा, यस्य तादृशेन, उपमानेन, सह, अप्रसिद्ध-गुणस्य तादृशधर्मवत्तया न प्रसिद्धस्य, उपमेयस्य, सादृश्यमुपमा कथ्यते इत्यर्थः । ननु पर्यवसितत्वेन विशेषणात्त दोष इत्यत आह—श्लेषमूलकेति । दोषान्तरमाह—तेन रूपेणेति । अलङ्काररत्नाकरोल्लिखितमिदं लक्षणमपि न युक्तम्, व्यतिरेकस्थलीयसादृश्ये पर्यवसाने निषेधरूपेण परिणस्यमानेऽतिव्याप्तं । न च पर्यवसितेद्विविशेषणदानेन तदोप-निरासे लक्षण सन्देहमिति वाच्यम्, श्लेषमूलकोपमास्थले श्लेषशब्दस्य साधारणधर्मतया

विवक्षितस्य कविकल्पिततया उपमानगुणत्वेनाप्रसिद्धेस्तत्राभ्यामे, प्रसिद्धगुणत्वेन रूपेणोपमानस्य क्वापि प्रसिद्धिविरहेण लक्षणेऽप्रसिद्धदोषावताराचेति भावः ।

एक दूसरे लक्षण का भी खण्डन करते हैं—पुत्रम् इत्यादि । 'प्रसिद्धगुणेन' अर्थात् गुण धर्म (गुण क्रिया आदि) जिनके प्रसिद्ध हों अर्थात् कविकल्पित न हों, ऐसे उपमान के साथ, जिनके धर्म प्रसिद्ध न हों, ऐसे उपमेय का जो सादृश्य उसको उपमा कहते हैं' यह अलङ्काररत्नाकर का लक्षण भी ठीक नहीं है । कारण, अन्ततः निषेधरूप में परिणत हो जानेवाले व्यतिरेकस्थलीय सादृश्य में इसकी भी अतिव्याप्ति हो जाती है । यदि आप 'अपने रूप में पर्यवसित होनेवाले' ऐसा विशेषण सादृश्य में लगाकर लक्षण को ठीक बनाना चाहेंगे, तो भी वह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में श्लेषमूलक उपमा के स्थल में लक्षण की अव्याप्ति ही हो जायगी अर्थात् श्लिष्ट शब्द जो उपमान का धर्म माना जाता है, प्रसिद्ध नहीं होता अतः वहाँ यह लक्षण सह्युक्त नहीं हो सकेगा । इतना ही नहीं, वस्तुतः यह लक्षण अप्रसिद्ध ही है अर्थात् कहीं भी सह्युक्त नहीं हो सकता कारण, ऐसा उपमान कहीं मिल ही नहीं सकता, जो प्रसिद्ध गुण वाले के रूप में प्रसिद्ध हो । सारांश यह कि चन्द्र आदि उपमान भी चन्द्ररूप में ही प्रसिद्ध रहता है, 'आह्लादकत्व वाला चन्द्र' इस रूप में नहीं ।

परकीयलक्षणपर्यालोचनसमाप्ति सूचयति—

इत्यलं परकीयदूषणगवेषणया ।

परेषा दूषणान्वेषणं व्यर्थमिति तत्परिहीयत इति भावः ।

अब परकीयलक्षणसमाप्ति की सूचना देते हैं—इत्यलम् इत्यादि । दूसरों का दोषान्वेषण करना निरर्थक है, अतः सब उसको समाप्त करते हैं ।

पुनः प्रकृतानुसरणं सूचयति—

प्रकृतमनुसरामः ।

पुनः प्रकान्तमुपमाविचारं प्रवर्तयाम इति भावः ।

अब पुनः प्रस्तुत विषय पर आने की सूचना देते हैं—प्रकृतेत्यादि । अब अन्य बातों को छोड़कर पुनः प्रसङ्गप्राप्त उपमा के सम्बन्ध में विचार करते हैं ।

प्राचीनाभिमतोपमामेदानामुदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानीते—

अस्याश्चोपमायाः प्राचामनुसारेण केचिद् भेदा उदाह्रियन्ते ।

प्राचा प्रकाशकारादीनाम् । अन्यत् स्पष्टम् ।

इस उपमा के प्राचीनमतसिद्ध कुछ भेदों के उदाहरण दिसलाए जाते हैं ।

उपमाभेदान् प्राचीनाभिमतान् प्रदर्शयति—

तथा हि—उपमा द्विविधा, पूर्णा लुप्रा च । पूर्णा तत्र—श्रीती आर्थी चेति द्विधा भवन्ती वाक्य समास तद्धितगमितया षोढा । लुप्रा च—उपमानलुप्रा, धर्मलुप्रा, वाचकलुप्रा, धर्मोपमानलुप्रा, वाचकधर्मलुप्रा, वाचकोपमेयलुप्रा, धर्मोपमानवाचकलुप्रेति तावत्सप्तविधा, तत्रोपमानलुप्रा—वाक्यगता समासगा चेति द्विविधा । धर्मलुप्रा—समासगता-श्रीती, आर्थी । वाक्यगता-श्रीती, आर्थी । तद्धितगता च-आर्ष्येव, न श्रीती । इति पञ्चविधा । वाचकलुप्रा—समासगता, कर्मक्यगता, आधारक्यगता, क्यङ्गता, कर्मणमुलङ्गता, कर्तृणमुलङ्गता चेति षड्विधा । धर्मोपमानलुप्रा—वाक्यगता, समासगता चेति

द्विविधा । वाचकधर्मलुप्ता किंबहुता समासगता चेति द्विविधैव । वाचकोपमे-
यलुप्ता त्वेकविधा । धर्मोपमानवाचकलुप्ता तु समासगतैकविधा । इति ।

तत्र पूर्णलुप्तयोर्मध्ये । तत्र तासां सप्तानां मध्ये । इतरन्निगदव्याख्यातमिति नेह
प्रतन्यते ।

उपमाभेदों का निर्देश करते हैं—तथा हि इत्यादि । उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा
तथा लुप्ता । उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती पद्य आर्षोभेद से दो तरह की होती है, और
उन दोनों भेदों में से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धितगामी—दूस तरह
कीन प्रकार के होते हैं, अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है । सारांश यह, कि पूर्णो-
पमा छः प्रकार की है—श्रौती वाक्यगता, आर्षी वाक्यगता, श्रौती समासगता, आर्षी
समासगता, श्रौती तद्धितगता और आर्षी तद्धितगता । रही अथ लुप्ता । उसके पहले
ज्ञात भेद होते हैं—उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता,
वाचकोपमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता । उन सातों भेदों में से पुनः, उपमानलुप्ता
के दो भेद—वाक्यगत और समासगत । धर्मलुप्ता के पाँच भेद—श्रौती समासगत, आर्षी
समासगत, श्रौती वाक्यगत, आर्षी वाक्यगत और तद्धितगत केवल आर्षी । तद्धितगत
का श्रौतीभेद नहीं होता । वाचकलुप्ता के छः भेद—समासगत, कर्मार्थकव्यञ्जित,
आधारार्थकव्यञ्जित, व्यङ्ग्य, कर्मार्थकणमुल्लगत और कार्यार्थकणमुल्लगत । धर्मोपमान
लुप्ता के दो भेद—वाक्यगत और समासगत । वाचकधर्मलुप्ता के भी दो भेद—किंप्रत्यय-
गत और समासगत । वाचकोपमेयलुप्ता का एक भेद—व्यचप्रत्ययगत । धर्मोपमान
वाचकलुप्ता का भी एक भेद—समासगत । उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और साद-
श्यवाचक ये चार उपमा के अङ्ग हैं । ये चारों अङ्ग जहाँ शब्दद्वारा स्पष्ट कथित रहते
हैं, वहाँ पूर्णोपमा और इन अङ्गों में से कहीं एक का, कहीं दो का और कहीं तीन का
अभाव जहाँ रहता है, वहाँ लुप्तोपमा होती है । श्रौती तथा आर्षी भेद का रहस्य
यह है कि—शब्दशक्तित्वभाववैचित्र्य के कारण जहाँ 'यथा', 'इव' इवार्थक 'वा' तथा
इवार्थक 'वति प्रत्यय' सादश्य के वाचक रहते हैं, वहाँ शब्दश्रवणानन्तर तुरत उपमा-
नोपमेय का परस्पर सादश्य ज्ञात हो जाता है, अतः वहाँ श्रौती, उपमा कहलाती है
और 'तुल्य', 'सदृश', 'सम' और 'तुल्यार्थक वतिप्रत्यय' आदि जहाँ सादश्य के वाचक
रहते हैं, वहाँ शब्दश्रवणोत्तर उपमानोपमेय में से किसी एक का ही दूसरे में सादश्य
ज्ञात होता है, पश्चात् अर्थात् परस्पर सादश्य की प्रतीति होती है, अतः वहाँ आर्षी उपमा
कही जाती है ।

प्राचीनाभिमतभेदसंख्यासङ्कलन कुरुते—

एवं साकल्येनैकोनविंशतिर्लुप्ताभेदा पूर्णाभेदैः सह पञ्चविंशतिः क्रमेणोदा-
ह्रियन्ते ।

एव पूर्वोक्तप्रकारेण । स्फुटमन्यत् ।

पूर्वोक्त प्रकार से सब मिलाकर लुप्ता के उन्नीस भेद होते हैं । पूर्णा के छः भेदों को
इनमें जोड़ देने से सब पच्चीस भेद सिद्ध हुए । अब प्रमश' इन भेदों के उदाहरण दिखाए
जाते हैं ।

वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमासुदाहरति—

तत्र पूर्णा श्रौती वाक्यगता यथा—

‘श्रीधमचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालससरणतापितमूर्तेः ।

प्रापृपेय्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु वृष्णिवरेण्यः ॥’

तत्रेति । पञ्चविंशतिर्मध्ये इत्यर्थः । अत्र 'पञ्चविंशतीनां मध्ये' इति ध्याचक्षानो
 रैयाकरणशिरोमणिर्निर्गणः 'विंशत्यायाः सदैक्ये' इति नियमं कुतो नारमरदिति न
 विभावयन्नपि निर्णेतुं शक्नोमि । प्रीप्सेति । मक्तं प्रार्थयते—प्रावृषेभ्यः वर्णुर्नुसमुद्भवः,
 वारिधर' जलधर', यथा, प्रीप्सस्य निदाघस्य चण्डकर्मण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य, भीष्मा
 भयङ्करी, ज्वाला तापो, यत्र, तादृशे देशे संसरणेन गमनेन, तापिता, मूर्तिः शरीरं, यस्य,
 तादृशस्य मनुष्यस्य, वेदना सतापपीडा, हरति, तथा वृष्णिवरेण्य' नवनीरदाभो सुरारि'
 प्रीप्सचण्डकर्मण्डलवन् निदाघशालीनसूर्यमण्डलवन्, भीष्मा ज्वाला यस्य, तादृशेन,
 संसरणेन संसारेण, जन्ममरणभ्यामिति यावन् तापिता मूर्तिर्यस्य तादृशस्य, मे मम,
 वेदना भवतापपीडा, हरतु दूरीकरोत्वित्यर्थः ।

उदाहरण शिक्षालाने का उपक्रम करते हैं—तत्र इत्यादि । पूर्वोक्त पद्योपमाभेदों
 में से पूर्णा श्रौती वाक्यगता जैसे—'प्रीप्स च' ' ।' मक्त भगवान् से याचना करता है—
 वर्षा श्रुतु का जलधर (मेघ), जिसतरह, प्रीप्स श्रुतु के सूर्यमण्डल की भयङ्कर ज्वालावाले
 प्रदेश में सञ्चरण करने से सतप्त-शरीरवाले मनुष्य की वेदना को दूर कर देता है, उसी
 तरह यादवश्रेष्ठ-घनरथाम भगवान् धीकृष्णचन्द्र-प्रीप्सकालीन सूर्यमण्डल की भयङ्कर
 ज्वाला के समान ज्वाला वाले सत्तार (जन्म-मरण) से सतप्त शरीरवाले मेरी वेदना का
 हरण करें ।

उपपादयति—

अत्र प्रावृषेभ्य इत्यनेन वारिधरविशेषणेन नैराकाङ्क्षयात्, इवेन समास
 इत्येव पाठान्नित्यत्वाभावाद् वारिधरेणापि नेवस्य समासः । एषा चोपमानोप-
 मेययोर्वारिधरभगवतोर्वेदनाहरणकर्तृत्वस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यबोधकस्येव-
 शब्दस्य चाभिधानात्पूर्णा सादृश्यस्य श्रुत्या बोधनाच्छ्रौती ।

वाक्यगतत्वं स्फुटयति—अत्रेति । उक्तपद्ये प्रावृषेभ्य इति वारिधरस्य विशेषणम्
 इति तस्मिन्नेव साकाङ्क्षम्, न इवायं, अतः प्रावृषेभ्यशब्दस्य इवशब्देन सह समासो
 न प्राप्तः । वारिधरस्य विशेष्यस्य इवायं साकाङ्क्षत्वेऽपि 'सुप्सुपे'त्यनित्यशास्त्रप्रपञ्चभूतस्य
 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इत्यस्वाप्नित्यत्वेन वैकल्पिकं च न भवतीति वाक्यगतत्व-
 मस्या उपमाया बोध्यम् । पूर्णात्व विविनक्ति—एषा चेति । उपमानोपमेयसाधारणधर्म-
 सादृश्यानामुपमाज्ञानं चतुर्णां शब्दैरुपादानात् पूर्णात्वमुपमाया इति भावः । श्रौतीत्वमाह-
 सादृश्यरथेति । परस्परनिर्हपितरथेति शेषः । श्रुत्या श्रवणोत्तरनेनेत्यर्थः । इवशब्दराक्षि-
 स्वाभाव्यात् स्वधवणानन्तरमविलम्बेनैवोपमानोपमेययो परस्पर सादृश्यं प्रतीयते, न
 तत्र वाक्यार्थज्ञानापेक्षा भवतीति श्रौतीय भवति, इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ 'प्रावृषेभ्य' पद के साथ 'इव' शब्द का
 समास प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि प्रावृषेभ्य पदार्थ, वारिधर पदार्थ का विशेषण है, अतः
 वह उसी अर्थ में साकाङ्क्ष है इवायंशब्द में नहीं और समास होता है परस्परसाकाङ्क्षार्थ
 वाचक पदों में । वारिधर यह विशेष्यभूत पदार्थ यद्यपि इवायं में साकाङ्क्ष है, अतः
 वारिधर पद के साथ इव पद का समास प्राप्त है, तथापि वह नहीं किया जायगा ।
 कारण—'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' यह समासविधायक वचन, 'सुप्सुपा' इत्य
 वैकल्पिकशास्त्र के प्रपञ्चभूत होने से वैकल्पिक है और वैकल्पिकशास्त्रों की प्रवृत्ति वचन
 के अर्थात् हुआ करती है । अतः यह उपमा वाक्यगत कहलाती है । पूर्णोपमा यह इस
 लिये कहलाती है कि उपमा के चारों अङ्ग (उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और
 सादृश्य) यहाँ शब्दतः उक्त हैं—अर्थात् मेघरूप उपमान, कृष्णरूप उपमेय, वेदना का

हरण करना रूप साधारण धर्म तथा इवार्थ-सादृश्य-इन चारों उपमाओं के शब्दतः उक्त रहने के कारण यह उपमा पूर्णा कहलाती है। इसी तरह पूर्वोक्त विचार के अनुसार 'इव' पद से सादृश्य के बोध होने के कारण यह उपमा श्रौती समझी जाती है।

वाक्यगतार्थी पूर्णोपमा मुदाहर्तुमाह—

पूर्णा आर्था वाक्यगता यथा—

यत्प्रकारिकोपमा वाक्यगता आर्था पूर्णा च भवति, स प्रकारो निम्ननिर्दिष्टो द्रष्टव्य इति भावः ।

वाक्यगत आर्था पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरति—

‘प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे ।

शशाङ्क केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः ॥’

वाक्यन विरहिणी चन्द्र प्रति वक्ति—अग्नि शशाङ्क ! मृगाङ्क ! कलङ्गिन् ! चन्द्र इति यावत्, त्व, प्राणस्य, अपहरणेन, हेतुना, मे मन्कृते, हालाहलेन उभेण विषेण, तुल्य सदृश, अग्नि भवसि : केन अज्ञातनामशोत्रेण, मुग्धेन मोहाच्छब्देन जटेनेति यावत्, सुधांशु पीमूपकिरण, इति पदेनेति शेष, भाषित त्व कथित इत्यर्थ । प्राणहरणकारित्वेन विषवत्पस्य तव सुधांशुपदेन ब्यानहारो मोहास्तस्यैव कार्यम् न विवेकिन इति भावः । अत्र हालाहलस्योपमानस्य, शशाङ्कस्योपमेयस्य, प्राणहरणकारित्वस्य साधारण-धर्मस्य सादृश्यस्य च शब्दतः उपादानात् पूर्णात्वम्, तुल्यपदेन सादृश्यस्य प्रतिपादाना-दार्थात्वम् 'हालाहलेन तुल्य' इति व्यस्तप्रयोगात् वाक्यगतत्वम् च बोध्यम् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणापहरणेन इत्यादि । चन्द्रमा के प्रति किसी विरहिणी नायिका की वक्ति है—हे शशाङ्क-कलङ्कमय चन्द्र प्राणापहारी होने के कारण, तुम, मेरे लिये, गरल के समान हो । न जाने, किस मूढ़ ने तुम्हें 'सुधांशु' कह दिया । सारांश यह कि जो प्राणहरण करनेवाला है, उसे, विष नहीं, तो घिपतुल्य, अवर्य कहना चाहिए, सो न कहकर उसे अमृतकिरण कह देना मुग्धता के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? यहाँ हालाहलरूप उपमान, शशाङ्करूप उपमेय, प्राणहरणरूप साधारण धर्म और सादृश्य—इन चारों अर्थों का शब्द द्वारा प्रतिपादन होने के कारण उपमा पूर्णा कहलाती है । 'तुल्य' पद से सादृश्य का बोध होने के कारण यह आर्था कही जाती है । 'हालाहलेन तुल्य' यहाँ समास न करने के कारण वाक्यगत उपमा समझनी चाहिए ।

समासगता श्रौती पूर्णोपमा मुदाहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती समासगा यथा—

यत्प्रकारिकोपमा समासगता पूर्णा श्रौती व्यपदिश्यते, स प्रकारोऽधो निर्दिश्यते इति भावः ।

समासगत श्रौती पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिशति—

‘हरिचरणकमलनखगणकिरणश्रेणीय निर्मला नितराम् ।

शिशिरयतु लोचनं मे देवघृतपुत्रिणी देवी ॥’

भक्त गङ्गा प्रार्थयते—हरे विष्णो, चरणौ कमलौ इवे युगमितममास, न तु रूपक-

समास', तत्र 'नस्तगण'प्रतिपादनस्योपमायाः साधकत्वात् रूपकस्य साधकत्वाच्च, तेन कमलपुल्यौ चरणाविति पर्यवसितार्य', तत्र यो नरागणः नक्षत्रमूहः, तस्य किरणध्रेणी प्रभापुञ्जमिव, नितरामत्यन्तं निर्मला स्वच्छा, देवमतेन भीष्मेण, पुत्रिणी पुत्रवती भीष्म-जननीति यावत्, देवी ऐश्वर्यमयी, गङ्गा, मे मम, लोचनं नयनं, शिशिरयतु शीतलयतु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—हरिचरण इत्यादि । मत्क कामना करता है—भगवान् विष्णु के चरणकमलों के नक्षत्रमूह की किरणों की पङ्क्ति के समान अत्यन्त निर्मल, भीष्म की माता, गङ्गादेवी मेरे नयनों को शीतल करे—गङ्गाजी के दर्शन से मेरी अर्द्धि आनन्द प्राप्त करें ।

उपपादयति—

अत्रेवेन समासः ।

'किरणध्रेणीव' इत्यत्र किरणध्रेणीशब्दस्य इवशब्देन सह समास आश्रीयते, तेनोपमाया' समासगतत्वम्, हरिपादनरूपभारूपस्योपमानस्य, गङ्गारूपस्योपमेयस्य, निर्मल-स्वरूपस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यस्य चोपादानात्पूर्णात्वम्, 'इव'पदेन सादृश्यप्रति-पादानात् श्रौतीन्वजावगन्तव्यम् ।

उपपादन देखिए—अत्रेत्यादि । 'हरिचरण' इस पद्य में 'इव' शब्द के साथ 'किरण-ध्रेणी' शब्द का समास हुआ है, अतः यह उपमा समासगत होती है । पूर्णा और श्रौती होने की युक्ति पूर्ववत् समझनी चाहिए ।

समासगामार्थी पूर्णोपमासुराहर्तुमाह—

पूर्णा आर्या समासगा यथा—

व्याख्या पूर्ववत् ।

समासगत आर्या पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आनन्दनेन लोकानामातापहरणेन च ।

कलाघरतया चापि राजन्निन्दूपमो भवान् ॥'

कवि राजानं स्तौति—राजन् ! भवान्, लोकान्य जनानाम्, आनन्दनेन सुखविशेष-विधाहितेन, आतापस्य सन्तापस्य, अपहरणेन दूरीकरणेन, कलाघरतया कलान्य चतु-पष्टिकलाताम्, ज्योत्स्नायाश्च धारकत्वेन च हेतुना इन्दूपमः चन्द्रतुल्यं वर्तत इत्यर्थः । उक्तान्य चतुर्णामहाना शब्दतः प्रतिपादानात्पूर्णात्वम्, 'इन्दूपम' इति समस्तप्रयोगात् समासगतत्वम्, तुल्यार्थकेनोपमापदेन सादृश्यास्यानात् आर्यात्वयात्रीपमाया वेदितव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्दनेन इत्यादि । कवि राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! आप मनुष्यों को आनन्दित करने से तथा उनका सन्ताप हरण करने से और कलाओं के धारण करने से चन्द्र के समान हैं ! यहाँ की उपमा, उक्त चारों अर्थों के शब्दतः उपात्त रहने से पूर्णा, सादृश्यवाचक तुल्यार्थक उपमा शब्द के रहने से आर्या और 'इन्दूपम' पद में समास होने से समासगत होती है ।

श्रौतीमार्थे च तद्विगतता पूर्णोपमासुराहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती आर्या च तद्विगता यथा—

व्याख्यात्रापि प्राग्बदवगन्तव्या ।

भौती स्या आर्षी—दोनों प्रकार की तद्वितगता पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत् ।

अम्बुजवद्विपुलतरे नयने तद्ब्रह्म संप्रये सगुणम् ॥’

भक्तो बक्ति—निखिलेन समग्रेण, जगता ससारेण, महनीया पूज्या, यस्य सगुणस्य ब्रह्मण, आभा कान्ति नवपयोधरवत् नूतनजलधारेण, विद्यत इति शेष । एवम् यस्य ब्रह्मणो, नयने नेत्रे, अम्बुजवत् कमलनुत्ये, विपुलतरे सुविशाले, वर्तते इति शेष, तद् सगुण सर्वरूपम् मायाविग्रहपारीति यावत्, ब्रह्म भगवन्त कृष्णम्, संप्रये आश्रये तस्य शरणगतो भवामीत्यर्थ ।

उदाहरण का विद्वेश करते हैं—निखिलेति । किसी भक्त का कथन है—जिसकी प्रमा, नूतन धनधटा के समान सम्पूर्ण ससार से पूज्य है तथा जिसके नेत्र, वारिज की तरह बहुत बड़े-बड़े हैं, उस सगुण-अपनी माया से शरीर धारण करने वाले-ब्रह्म-भगवान् कृष्ण—का आश्रयण करता हूँ, उसके शरणागत होता हूँ ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे वक्तेः ‘तत्र तस्येव’ इति सादृश्ये विधानाच्छ्रौती उत्तरार्धे ‘तेन तुल्यम्’ इति विधानात्सादृश्यवदर्थकतया आर्षी ।

‘निखिल ’ इति पद्ये ‘नवपयोधरवत्’ इत्यत्र ‘तत्र तस्येव’ इति पाणिनिस्त्रेण द्वयै सादृश्ये वक्तिप्रत्ययो विहित इति तदशो श्रौत्युपमा । ‘अम्बुजवत्’ इत्यत्र ‘तेन तुल्य क्रिया चेत् वक्ति’ इति पाणिनिस्त्रेण तुल्यार्थे सादृश्यविशिष्टार्थे सप्रत्यय कृत् इति तदशे आर्षी सेति भाव । पूर्णात्व पूर्ववत् स्वयमनुसन्धेयम् । तद्वितगामित्व तु स्पष्टमेव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘नवपयोधरवत्’ इस पद में ‘वक्तिप्रत्यय’ का विधान, ‘तत्र तस्येव’ इस पाणिनीसूत्र से ‘इव’ के अर्थ (सादृश्य) में हुआ है, अतः उस अंश में श्रौती और ‘अम्बुजवत्’ इस पद में उसका विधान ‘तेन तुल्य क्रिया चेद्वक्ति.’ इस पाणिनीसूत्र से ‘तुल्य’ के अर्थ—‘सादृश्यवत्’ में हुआ है, अतः उस अंश में आर्षी उपमा मानी जाती है । पूर्णात्व का अनुसन्धान पूर्वोक्त रीति से स्वयं कर लेना चाहिए ।

पूर्णोपमोदाहरणप्रदर्शनानन्तरमिदानीं लुप्तोपमोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथम वाक्यगतामुपमानलुप्तोपमासुदाहर्तुमाह—

उपमानलुप्ता वाक्यगा यथा—

वत्प्रकारिवोपमा उपमानलुप्ता भवति, स प्रसारो निर्दिश्यत इति भाव ।

वाक्यगत उपमानलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरयणपरिमलोद्गारैः ।

कुसुमकुलतिलक चम्पक न वयं त जातु जानीमः ॥’

वक्ति कथयति—अथि, कुसुमकुलतिलक पुष्पमण्डलश्रेष्ठ, चम्पक लोकोत्तरस्य अलौकिकस्य, वर्णस्य रूपस्य, तादृशस्य परिमलस्य गन्धस्य, च उद्गारै उद्गिरणै प्रकाशनैरिति यावत्, यस्य पदार्थस्य, तुलाम् समताम्, अधिरोहसि प्राप्नोमि, त्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । तं त्वनिष्ठतुलाप्रतियोगिभूत पदार्थम्, वयं, जातु कदाचिदपि, न जानीमः नानुसन्दय्य इत्यर्थ । चम्पकस्योपमेयस्योपमानमिह न प्रतिपादितमिति लुप्तोपमानत्वम्, ‘यस्य तुला’ इत्यत्र समासाभावाद् वाक्यगतत्वश्चात्र बोध्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यस्य तुला इत्यादि । कवि का कथन है—हे पुष्पो के सिरताज चम्पक ! अलौकिक रूप और सुगन्ध के प्रकाशन से तुम, जिस चीज की समता को पाते हो, उसको हम कभी नहीं जान पाते । मारांत यह कि तुम्हारा सादर्य किसी पुष्प में नहीं है—पुष्पों में तुम बेजोड़ हो । चम्पक का उपमान, यहाँ लुप्त है—महाँ प्रतिपादित है, अतः यह उपमानलुप्ता हुई । 'यस्य तुला' यहाँ पर समास नहीं किया गया है, अतः वाक्यगत उपमा होती है ।

अन्यन्वत्वात्तेन हृदमेव पद्य समासगताया अपि तथा उदाहरणं सम्भवतीति प्रतिपादयति—

यत्तुलनामधिरोहसीत्याद्यचरणनिर्माणे इयमेव समासगा ।

'यस्य तुलामधिरोहसि' इति प्रथमचरणस्याने 'यत्तुलनामधिरोहसि' इति समासघटितपाठकल्पने इदमेव पद्य समासगाया उपमानलुप्ताया उदाहरणं भवेदिति भावः ।

इसी श्लोक के प्रथम चरण को यदि 'यत्तुलनामधिरोहसि' के रूप में बदल दिया जाय, अर्थात् 'यस्य' को पृथक् न रखकर उसका 'तुलना' शब्द के साथ समास कर दिया जाय, तब यही श्लोक समासगत उपमानलुप्तोपमा का उदाहरण होगा ।

अत्रालङ्कारान्तरत्वभाशक्य निरस्यति—

उपमानाभावेन सादर्याभावस्य पर्यवसानात्सादर्यपर्यवसानस्य योपमाजीवितत्वादलङ्कारान्तरमेवात्र नोपमानलुप्तेति नाशङ्कनीयम् । यस्य तुलामारोहसि न तं धयं जानीम इत्युक्त्या अस्माकमसर्वज्ञत्वादस्मद्गोचरः कोऽपि तवोपमानं भविष्यतीति सादर्यपर्यवसानमस्तीत्युपमानलुप्तैवेयमुपमा नालङ्कारान्तरम् ।

उपमानाभावेनेति सादर्याभावपर्यवसाने हेतुक्तिः । उपमानस्य सादर्यनिरूपकतया, निरूपकाभावे निरूप्यस्याभावः पर्यवस्यतीति भावः । अत्येति । यत् इत्यादि । इत्युक्त्येति । अन्यथा न नास्तीत्युक्तिः स्यादिति भावः । 'यस्य तुला' इत्युपमानं नास्तीति तथिदृषितं सादर्यमपि नास्तीति पर्यवसाने नात्रोपमा समवति, तस्या सादर्यपर्यवसानप्राणत्वादिति शङ्का नीचिता । यत् 'यत्सदृशस्त्वमसि, तं न जानीम' इति कथनेन 'तवोपमानभूतं कश्चन पदार्थो विद्यतेऽवश्यम्, परन्तु सर्वज्ञताविष्णादस्माकमतौ न प्रत्यक्ष' इति प्रतीयते । एवञ्च सादर्यपर्यवसानं नास्तीति वक्तुं न शक्यम्, अत्र उपमानलुप्तोपमाऽत्र निराकाशेति भावः ।

'यस्य तुला' इस पद्य में उपमा नहीं हो सकती, कोई दूसरा ही अलङ्कार मानना पड़ेगा, इस तरह की आशङ्का करके उसका खण्डन करते हैं—उपमानाभावेन इत्यादि । 'यस्य तुला' इस पद्य में उपमान का अभाव है—उपमेयभूत चम्पक के उपमान का निषेध किया गया है । ऐसा करने से अन्ततः सादर्य का भी अभाव सिद्ध हो जाता है । अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि चम्पक का किसी पदार्थ के साथ सादर्य नहीं है और ऐसी स्थिति में यहाँ उपमानलुप्तोपमालङ्कार नहीं हो सकता । कारण, उपमा का जीवन है अन्त तक सादर्य का प्रतीत होने रहना, जो यहाँ नहीं है अर्थात् यहाँ वाक्यार्थ की समाप्ति सादर्य के निषेध में होती है सादर्य में नहीं, अतः यहाँ कोई दूसरा ही अलङ्कार है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए । कारण, यहाँ जो यह कहा गया है कि—'तुम जिसकी समता को पाते हो, उसको हम नहीं जानते', उससे चम्पक का कहीं सादर्य नहीं—यह सिद्ध नहीं होता, अपितु यह सिद्ध होता है कि 'सर्वज्ञ नहीं होने के कारण हम जिस पदार्थ को नहीं जान पाते, ऐसा कोई पदार्थ चम्पक का उपमान

हैं' इस तरह सादृश्य में ही पर्यवसान होता है। अतः यहाँ अलङ्कारान्तर नहीं, उपमान लुप्ता उपमा ही है।

प्राचीनोक्ति खण्डयति—

एतेन

‘दुदुण्तो हि मरीहसि कण्टकलिआइं केअइयणाइं।

मालइकुसुमसरिच्छ भमर भमतो न पावहिसि ॥’

इत्यत्रासमालङ्कारोऽयमुपमातिरिक्त इति धदन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयः परास्ताः।

एतेनेति। उक्तरीत्या सादृश्यपर्यवसानेनेत्यर्थः। अत्रापि तत्प्राप्तिस्तव दुर्लभेत्युक्तं न तु नास्तीति भावः। दुदुणतो इति। ‘दु दुं कृत्वा हि मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि। मालतीकुसुमसदृश भ्रमर भ्रमन्न प्राप्स्यसि’ इति छाया। हे भ्रमर! केतकीवनानि, कण्टककलितानि कण्टकमयानि, अस्तस्तत्र, त्व, दु दु कृत्वा एतच्च वैकल्यकालिकभ्रमररत्नाकरणम्, मरिष्यसि मरणमेव लप्स्यसे नानन्दम्। सत्यं जानीहि, भ्रमन्नपि रसमय परिमलप्रचुर पुष्पान्तरं गवेषयितुमितस्ततः सर्वत्र सञ्चरन्नपि, मालतीकुसुमसदृश मालतीपुष्पसमानं पुष्पान्तरं, न प्राप्स्यसि नासादयिष्यसीति तदर्थः। एषा च स्वसौभाग्य सूचयन्त्या कस्याश्चन नायिकाया स्वप्रियतमसमीपे भ्रमरं प्रत्युक्तिः। तेन— सुधैव त्वं नायिकान्तरमन्विष्यन् कष्टमनुभवसि, मादृशी नापरा प्राप्तुं शक्येति प्रियतम प्रति नायिकाया व्यज्यते। अत्रापि ‘मालतीकुसुमसदृश न प्राप्स्यसी’त्युक्त्या न मालतीकुसुमस्थोपमानाभाव पर्यवस्यति, अपि तु अरमदगोचरं कश्चन पदार्यस्तथोपमानभूत इत्येव। तथा च पर्यवसितसादृश्यमुपमाजीवातुभूतमस्तीति उपमास्वीकारेऽत्र न काचिद् बाधा। एवञ्चात्रासमनामकमुपमातिरिक्तमलङ्कारं समर्थयन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयो न मुक्ताभिधायिन इति भावः।

प्राचीनोक्ति का खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि। ‘दुदुणतो’ अर्थात् हे भ्रमर! तुम, कांटों से भरे हुए केतकी (केवड़ा) के वनों में हूँ हूँ करते हुए मरोगे, पर फिरते-फिरते भी मालती के फूल के समान दूसरे फूल को नहीं पा सकोगे। यह अपने सौभाग्यतिशय की सूचना देती हुई किसी नायिका की प्रियतम के समीप भ्रमर के प्रति उक्ति है। अतः प्रियतम के प्रति नायिका का यह अभिप्राय इस पद्य से व्यक्त होता है कि हे मेरे छालची प्रियतम! न्यर्थ, तुम, विलक्षण सुन्दरी की खोज में इधर उधर क्या भटक रहे हो—कष्ट उठा रहे हो, विश्वास रक्खो, लाख घूमने पर भी मुझ जैसी सुन्दरी रमणी तुम्हें नहीं मिल सकेगी। इस पद्य में ‘असम’ नाम का एक दूसरा ही अलङ्कार है, उपमा नहीं ऐसा ‘अलङ्काररत्नाकर’ आदि का कथन है। परन्तु पूर्वोक्त विचार के अनुसार उनका यह कथन खण्डित हो जाता है—अर्थात् ‘यस्य तुला’ इस पद्य के समान यहाँ भी यह कहा गया है कि ‘मालतीफूल के तुल्य दूसरे फूल का मिलना कठिन है’ न कि ‘मालती फूल के समान कोई नहीं है’ यह, अतः इस उक्ति से उपमान का निषेध पर्यवसित नहीं होता, अपितु हम लोगों से अज्ञात कोई तेरा उपमान होगा वही फलित होता है। इस स्थिति में पर्यवसान में सादृश्य के वर्तमान रहने के कारण यहाँ उपमा निर्बाध रूप से मानी जा सकती है, फिर ‘असम’ नामक अलङ्कारान्तर की कल्पना व्यर्थ एक निराधार है।

श्रीती वाक्यगता धर्मलुप्तोपमानुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता श्रीती वाक्यगता यथा—

‘वाक्यगताया’ श्रीत्या धर्मलुप्तोपमाया यः प्रकारं स प्रदर्शयति इति भावः।

वाक्यगत धौती धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कलाधरस्येय कलावशिष्टां विलूनमूला लवलीलतेव ।

अशोकमूलं परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास ॥’

लवलीलता ‘हरफारेवढी’ इति भाषया प्रसिद्धा । अशोकमूलमिति । ‘उपान्व-’ इति सूत्रेणाधारस्य कर्मसंज्ञा । कवि- रावणापहृता लङ्कागता सीता वर्णयति—कलाधरस्य चन्द्र-मस, अवशिष्टा क्षयानन्तरमपि शेषभूता, कला ज्योत्स्ना, इव, विलूनं छिन्नं, मूलं यस्या-स्तादृशी, लवलीलता लताविशेष, इव, परिपूर्णं यथावधिविरुद्ध, शोको यस्या तादृशी, सा धैर्यपातिगत्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धा, रामस्य, योषा पत्नी, सीता, चिर निरकाल-पर्यन्तम्, अशोकमूलम् अशोकतरोर्मूले, अथुवास निवासं चक्रे इत्यर्थः । अत्राशोकमूले निषमन्ता परिपूर्णशोकेति विरोधो व्यज्यते । एवम् सांतेन्यनुकृत्वा ‘रामयोषे’तिक्रयनेन ‘निप्रदानुप्रदत्तमर्त्यस्य भगवतो रामचन्द्रस्यापि प्रियतमा चेदीदृशी विपत्तिमापत्, तर्हि बलवद्दुर्विधेर्विलसितम्’ इत्याद्यर्थोऽभिव्यज्यते । उपमाद्वयेन सीतायाः क्षीणता पाण्डुता त्रयापि कान्तिमत्ता च प्रतीयन्ते । अत्र सीतानिग्रह्य कलाधरकलालवलीलतयो सादृश्यस्य नियामक-साधारणधर्म-क्षीणत्वपाण्डुरत्वादिर्नोक्त इति धर्मलुप्तता बोध्या ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कलाधर इत्यादि । कवि का कथन है कि—सीण होने पर भी वची हुई चन्द्र की कला-सी और अब कटी हुई हरफारेवड़ी-सी, शोक से भरी हुई, वह रामचन्द्र की धर्मपत्नी-मगवती सीता, चिरकाल तक, अशोकतह की जड़ में निवास करती रही । यहाँ ‘अशोकमूल में घसती हुई शोक से भरी’ इस उक्ति से विरोधा-भास अलङ्कार व्यक्त होता है । सीता न कहकर ‘रामयोषा’ कहने से यह अभिव्यक्त होता है कि ‘जब सब कुछ कर सकने में समर्थ भगवान् रामचन्द्र की प्रेयसी भी इस तरह की विपत्ति में भा पड़ी, तब दुर्दैव का दुर्विलास ही बलवान् है ।’ जिस धर्म के कारण सीता में कलाधरकला और लवलीलता का सादृश्य कहा गया है, वह साधारण धर्म यहाँ उक्त नहीं है, अतः धर्मलुप्ता होती है ।

धर्मलुप्तामधिकृत्य विचारभेदं प्रस्तौति—

‘प्रीप्मचण्डकरमण्डल’ इति प्राग्गुदाहृते पूर्णाया उदाहरणे प्रागुपेण्यो वारि-धर इय यो वृष्णिणयरेण्यः स मे वेदनां हरित्विति वृष्णिणयरेण्यमात्रगतत्वेन वेद-नाहरणकर्तृत्वं विवक्षितम्, वारिधरसादृश्यं च श्यामत्वादिना यदि, उदा तत्रा-प्येषा बोध्या ।

श्यामत्वादिनेति । विवक्षितमित्यनुपपन्नं । तत्रापि ‘प्रीप्मचण्ड-’ इति पद्येऽपि । एषा धर्मलुप्तोपमा । प्रीप्मचण्डेति पद्ये ‘मियो यया सन्तप्तस्य वेदना हरति, तथा यादवश्रेष्ठो हरि- मे वेदना हरतु’ इति वस्तुतात्पर्यविचारणेन वेदनाहरणकर्तृत्वात्मबन्धुक्त साधारण-धर्मनादाय प्राग् पूर्णात्पमुक्तम्, इदानीं च ‘मिय इव यो हरिः स मे वेदना हरतु’ इति तात्पर्यविचारणे वेदनाहरणकर्तृत्वं हरिमानान्वयि न साधारणधर्म, एवञ्च मेघहर्षीं सादृश्यं श्यामत्वादिनाऽनु केनैव धर्मेण वक्तव्यं स्यात्, अतस्तथात्वे तत्रापि धर्मलुप्तोपमेव न पूर्णा-पमेत्युच्यते इति भावः ।

धर्मलुप्ता के आधार पर एक विचार किया जाता है—प्रीप्म इत्यादि । ‘प्रीप्मचण्ड-’ यह पद्य पहले पूर्णापमा के उदाहरणरूप में लिखा जा चुका है अर्थात् ‘जैसे वर्षाकालिक मेघ संतप्त जन की वेदना का हरण करता है, वैसे यादवों में श्रेष्ठ-हरि, मेरी वेदना का

हरण करें' ऐसा अभिप्राय वक्ता का माना गया है। तदनुसार, वेदनाहरणकर्तृत्वरूप साधारण (मेघ और हरि दोनों में रहने वाले) धर्म के उक्त रहने से पूर्णोपमा ठीक थी। परन्तु 'मेघ के समान जो हरि, वह, सुप्त सन्तप्त की वेदना का हरण करें' ऐसा अभिप्राय यदि वक्ता का माना जाय, तब तो 'वेदनाहरणकर्तृत्व' साधारण धर्म ही नहीं सकता, क्योंकि इस अभिप्राय के अनुसार, वह केवल हरि में अन्वित होता है—मेघ में उसका सम्बन्ध रह नहीं जाता, अतः अगरवा मेघ और हरि का सादृश्य 'श्यामत्व आदि' धर्म-जो उक्त नहीं है—से ही कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह पद्य भी धर्मलुप्तोपमा का ही उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नहीं।

तत्र पूर्णोपमास्वीकारे लुप्तोपमास्वीकारे च यो विशेषस्त दर्शयति—

इयांस्तु विशेष—यत्पूर्णायां वृष्णिवरेण्यमात्रमुद्दिश्य प्रावृषेण्यवारिधर-सादृश्यप्रयोजक तादृशवारिधरसादृश्याभिन्नं वा वेदनाहरणकर्तृत्वं विधेयमित्युपमाविधेयिका बोधः। धर्मलुप्तायां तु वारिधरसादृश्यावच्छिन्नवृष्णिवरेण्यमुद्दिश्य वेदनाहरणकर्तृत्वमात्रं विधेयमित्युपमोद्देश्यतावच्छेदिका।

सादृश्यमतिरिक्त पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—प्रावृषेण्य इति। सादृश्य धर्मरूपमेव नातिरिक्त पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—तादृशेति। प्रावृषेण्येत्यर्थः। अवच्छेदिकेत्यस्ये-त्तति शेषो बोधः। अयं भाव—'प्रीन्नचण्ड-' इति पद्ये पूर्णोपमायामज्ञीक्रियमाणायाम् 'मेघसादृश्यप्रयोजकं मेघसादृश्याभिन्नं वा यत् वेदनाहरणकर्तृत्वम्, तद्वान्, हरि' इति नैयायिकरीत्या, प्रथमान्तार्थमुद्देश्यविशेष्यको बोधो भवति। तत्र च बोधे केवलो न तु विशेषणविशिष्ट हरिरुद्देश्यतया, भासते, 'सादृश्यमतिरिक्त पदार्थ' इति मते मेघसादृश्य-प्रयोजकम्, 'सदृशस्य भाव सादृश्यं धर्मरूपम् नातिरिक्त पदार्थ' इति मते च मेघसादृश्याभिन्न वेदनाहरणकर्तृत्वम् (वेदनाहरणम्) च लोडर्थविधेयतया भासते। सादृश्यमेव चोपमा अत एव उपमा विधेया यस्मिन् तादृशः स शाब्दबोधो व्यपदिश्यते। तत्र पुनः लुप्तोपमायां स्वांक्रियमाणायाम् 'मेघसदृशो हरि', वेदनाहरणकर्तृतावान्' इति नैयायिकाभि-मती बोधः। तत्र च बोधे हरिरुद्देश्यभूत इति तद्विशेषणभूतम् उपमापद्वैसायि सादृश्य-मुद्देश्यतावच्छेदकतया भासते, अतः उपमा उद्देश्यतावच्छेदिका कथ्यते इति।

उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर तथा लुप्तोपमा मानने पर जो अन्तर होता है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयांस्तु विशेष हरिवादि। उक्त रीति से उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर, पद्यवाक्य से 'हरि, मेघ के समान वेदनाहरणकर्ता होवे' ऐसा बोध होता है। इस बोध में केवल निर्विशेषण हरि होता है उद्देश्य और वेदनाहरणकर्तृत्व (वेदना हरण) विधेय। यह विधेयभूत वेदनाहरणकर्तृत्व, एक (सादृश्य एक अतिरिक्त पदार्थ है, इस) मत के अनुसार मेघ के सादृश्य का प्रयोजक-सम्पादक-है, और दूसरे (सदृश का भाव-धर्म-है सादृश्य, अतिरिक्त पदार्थ नहीं, इस) मत के अनुसार सादृश्यरूप ही है। उभयथा-उक्त बोध में सादृश्य, विधेय होता है। और सादृश्य ही उपमा है। अतः यह बोध उपमाविधेयक कहा जायगा। लुप्तोपमा मानने पर तो उक्त श्लोकवाक्य से होनेवाला बोध उपमाविधेयक नहीं कहा जा सकेगा। कारण, उस दशा में जो 'मेघसदृश हरि, मेरी वेदना का हरणकर्ता होवे' यह बोध होगा, उसमें मेघ के सादृश्य से विशिष्ट हरि होगा उद्देश्य और केवल वेदनाहरणकर्तृत्व विधेय, अतः सादृश्य-अर्थात् उपमा, उद्देश्यता का अवच्छेदक होगी विधेय नहीं। तात्पर्य यह कि लुप्तोपमा की रीति से होनेवाले धाव्यार्थबोध में उपमा उद्देश्यभाग में आ जायगी, विधेयभाग में नहीं।

वाक्यगतामार्थो धर्मलुप्तोपमासुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता यथा—

व्याख्या प्राग्बन् ।

वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कोपेऽपि चदनं तन्वि तुल्यं कोकनदेन ते ।

उत्तमानां विकारेऽपि नापैति रमणीयता ॥’

नायको मानिनी ब्रूते—तन्वि । दुर्बलाङ्गि । ते तव, चदनं मुखम्, कोपेऽपि क्रोधभाव-
स्थायामपि, स्वस्वभावस्याया तु पक्वव्यमेव किमिति भावः, कोकनदेन रक्तमलेन, तुल्यम्
समानं, वर्तत इति शेष । सामान्येनोक्तमर्थविशेषं समर्थयति—उत्तमानाम् इति । विकारे-
ऽपि कुतश्चन कारणात् विहृतिप्राप्तावपि, उत्तमाना स्वभावतः सुन्दराणां पदार्थानां,
रमणीयता सौन्दर्यं, नापैति न दूर गच्छतीत्यर्थः । अत्र चदनकोकनदयो सादृश्यप्रयोजक-
साधारणधर्मस्यानुकत्वादधर्मलुप्तात्वम्, तुल्यपदेन सादृश्याभिधानादार्थीत्वम्, समासाभावाद्
वाक्यगतत्वोपमाया बोद्धव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कोपेऽपि इत्यादि । नायक, मानिनी नायिका से
कहता है—हे दुर्बल अङ्गोवाली ! तेरा मुख क्रोधभावस्था में भी रक्तकमल के समान है ।
ऐसा होना समुचित भी है । कारण, विहृत होने पर भी उत्तम पदार्थों का सादृज सौन्दर्य
नष्ट नहीं होता । यहाँ उपमा तथा अर्थान्तरन्यास इन दोनों अलङ्कारों की सृष्टि
है । रक्त कमल तथा मुख को तुल्य सिद्ध करनेवाले रक्ता कोमलता आदि धर्म उक्त
नहीं हैं, अतः यहाँ की उपमा धर्मलुप्ता कही जाती है । इसी तरह ‘तुल्य’ पद से सादृश्य
का प्रतिपादन होने से वह आर्थी तथा असमस्त वाक्य में रहने से वाक्यगत भी मानी
जाती है ।

एकस्मिन्नेव पद्ये समासगता श्रौतीम् आर्षीम्, तद्वितगतामार्थीव धर्मलुप्तोपमासुदा-
हर्तुमाह—

धर्मलुप्ता समासगा श्रौत्यार्थी तद्वितगार्थी च यथा—

श्रौत्या आर्ष्याः समासगताया आर्ष्यास्तद्वितगतायाध धर्मलुप्तोपमायाः प्रकारोऽभि-
धीयत इति भावः ।

समासगत श्रौती-जार्थी और तद्वितगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्तिः ।

पयोधिकल्प मतिरसफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये ॥’

कविः कथयति—सुधा अमृतम्, इव, वाणी वाक्, वसुधा पृथ्वी, इव, मूर्ति रत्नरूपम्,
सुधाकरस्य चन्द्रस्य, श्रिया वान्या, सदृशी समाना, कीर्ति यशः, पयोधिकल्पः समुद्र-
तुल्या, मति बुद्धिश्च नहीतले यदि कस्यचिद्वरितं तर्हि, आसफेन्दोः आसफलाननाम्ना
प्रसिद्धस्य नव्यावर्त्येव, अन्यस्य, न, इति मन्ये सम्भाषयामित्यर्थः । अस्मिन् पद्ये सुधेव
वसुधेवैत्युभयत्र समासगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा, ‘इवेन समासो विनक्त्यलोपश्च’ इति
सामाराध्रयणात्, ‘इव’पदेन सादृश्याभिधानात्, माधुर्यगाम्भीर्यादि साधारणधर्मस्या-
नुकत्वाच्च । ‘सुधाकरश्रीसदृशी’त्यत्र च समासगता आर्षी धर्मलुप्तोपमा, श्रिया सदृशीति

तृतीयाममलात्, सदृशपदेन सादृश्यप्रतिपादनात्, निर्मलत्वादे समानधर्मस्यानभिधानाच्च ।
'पयोधिकल्पे'त्यत्र तद्विदितमता ध्यायी धर्मलुप्तोपमा, तुल्यार्थकल्पारूपतद्विदितप्रत्ययेन साद-
श्यस्य बोधात् धोरत्वादे' समानधर्मस्याकथनाच्चेति भावः ।

उदाहरणका निर्देश करते हैं—सुधेव इत्यादि । कवि का कथन है कि इस धरातल पर, अमृत-सी वाणी, पृथिवी-सी मूर्ति, चन्द्रकान्ति सी कीर्ति और समुद्र-सी बुद्धि यदि किसी की है, तो नद्याव आसफखान की ही, दूसरे की नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ । इस पद्य में 'सुधा इव तथा वसुधा इव' इन दोनों अंशों में 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से समास होने के कारण, समासगत, 'इव' पद से सादृश्य का प्रतिपादन रहने से श्रौती और माधुर्य, गाम्भीर्य आदि साधारण धर्म की उक्ति न रहने से धर्म-लुप्ता उपमा होती है । 'सुधाकरश्रीसदृशी' इस अंश में 'श्री' पद का 'सदृशी' पद के साथ तृतीयासमास होने से समासगत, 'सदृश' पद से सादृश्य-कथन के कारण आर्यी और निर्मलत्व आदि धर्म के अकथन से धर्मलुप्ता उपमा मानी जाती है । 'पयोधि-कल्पा' इस अंश में कल्परूप तद्विदितप्रत्यय से सादृश्य के बोध होने से तद्विदितगत तथा आर्यी और धैर्य आदि धर्म की अनुक्ति से धर्मलुप्ता उपमा कही जाती है ।

ननु कल्पप्रत्ययस्येपदस्मान्तर्ये विधानात् कथं 'पयोधिकल्पे'त्यशो उपमा, साद-
श्यस्य तत्त्वरूपत्वादित्यत आह—

ईपदसमाप्तिरपि भङ्गयन्तरेण सादृश्यमेव ।

भङ्गयन्तरेणेति । शैलीभेदेनेत्यर्थः । पयोधिकल्पेत्यत्र कल्पप्रत्ययः ईपदसमाप्तये
विहितस्तथा च 'मति पयोधेरीधन्व्यूने'ति शब्दार्थो बुध्यत इति यद्यपि सत्यम्, तथापि
ईपन्व्यून्व सादृश्य एव पर्यवस्यतीति भावः ।

कल्पप्रत्यय का विधान, 'ईपत् असमाप्ति अर्थात् थोड़ा कम होना' अर्थ में होता है, अतः उससे सादृश्य का बोध होगा नहीं फिर 'पयोधिकल्पा' इस अंश में उपमा कैसे मानी जा सकती है ? इस शब्द का उत्तर देते हैं—ईपदसमाप्ति इत्यादि । उक्त शब्द भाषा की ठीक नहीं है । कारण, 'थोड़ा कम होना' भी दूसरे ढङ्ग से सादृश्य ही है । तात्पर्य यह कि जहाँ लोग 'कमल के समान सुख' ऐसा बोलते हैं, वहाँ ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'सुख, कमल से थोड़ा ही कम है ।' अर्थात् दोनों वाक्यों से समानता का ही बोध होता है, केवल कहने की शैली भिन्न है ।

समासगता वाचकलुप्तोपमा दर्शयति—

वाचकलुप्ता समासगा—'दलदरविन्दसुन्दरम्' इति प्राग्गुदाहृते पद्ये ।

सामान्यत उपमालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनावसरे 'गुरुजनभय' इति पद्यमुल्लिखितम्,
तत्र भेदविशेषविचारे समासगतवाचकलुप्तोपमाया एवोदाहरण मवितुमर्हति, 'दलदरविन्द-
सुन्दर'मिन्यत्र सादृश्यप्रतीतावपि तत्राचकविरहात् ।

समासगत वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है पूर्व में उल्लिखित 'गुरुजनभय' इत्यादि पद्य का 'दलदरविन्दसुन्दरम्' अर्थात् कुछ विकसित होनेवाले कमल के समान सुन्दर' यह अंश । तात्पर्य यह कि यहाँ वाचक- 'इव तुल्य' आदि के बिना ही समास की महिमा से सादृश्य की प्रतीति होती है, अतः यहाँ की उपमा वाचकलुप्ता मानी जायगी ।

वाचकलुप्ताया भेदान्तराण्युदाहर्तुमाह—

कर्मापाक्यजगता क्यङ्गता च यथा—

कर्मार्थक्यजगताया आधारायक्यजगताया क्यङ्गतायाश्च वाचकलुप्तोपमाया
भ्रष्टा प्रदर्यत इति भावः ।

कर्माधिक तथा आधारार्थक वचप्रत्यय और वचउप्रत्यय के द्वारा सम्पन्न होनेवाली वाचकलुप्तोपमा का प्रकार दिखलाया जाता है—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ।

विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥’

दूती नायकनिष्ठे विरहिण्या दशा वर्णयति—(सा) महिला नायिका, मलयानिलम् मलयवाचकपवनम् दक्षिणानिलमिति दावन्, अनलीयति अनलम् = अग्निम् इव आचरति, अग्निप्रदं तस्मिन् चेतते इति भावः, मणिभवने मणिनयप्रासादे, काननीयति कानने = वने इव आचरति, वनमध्यगतेव तत्र व्यवहरतीति भावः (फलतः) क्षणतः विरहेण क्षणिकप्रियवियोगेन, विकलहृदया = व्याकुलचित्ता, सा, निर्जलमीनायते निर्जले = जलशून्यप्रदेशे स्थितो यः मीनः = मत्स्यः स इवाचरतीत्यर्थः । अथवा कविकृतं सामान्य-विरहिणीवर्णनमिदम् । अत्र वने ‘सा’ इति नाभ्याहार्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मलयानिल इत्यादि । दूती, नायक से, विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन करती है—क्षणिक प्रियविरह से व्याकुलहृदयवाली (वह) नायिका, मलयपवन के साथ क्षणिक सा आचरण करती है—दक्षिण दिशा से आने वाली हवा की अग्निरूप समझती है और मणिनिर्मित प्रासाद में वैसा ही आचरण करती है जैसा वन में किया जाता है—मणिभवन में रहना वन में रहने के समान उसे प्रतीत होता है । फलतः यही कहना पड़ता है कि वह अलक्षित स्थान में पड़ी हुई मछली के समान, सभी आचरण करती है—वैतरण छुटपटा रही है । अथवा सामान्य विरहिणी के विरहदशावर्णन-प्रसङ्ग में कवि की यह उक्ति है । इस पद्य में ‘वह’ इस, किसी खास नायिका के बोधक पद का अपवाहण नहीं करना पड़ेगा । पद्य का स्वरस्य ऐसा ही प्रतीत होता है, अतएव कवि ने पद्य में कहीं ‘सा’ नहीं कहा है ।

उपपादयति—

अत्रानलमिवाचरतीत्यर्थेऽनलशब्दात् ‘उपमानादाचारे’ इति सूत्रेण, कानन इवाचरतीत्यर्थे काननशब्दाच्च तत्सूत्रस्थेन ‘अधिकरणाच्च’ इति वार्तिकेन क्यच् । निर्जलमीनशब्दाच्च ‘कर्तुः क्यच् सलोपश्च’ इति क्यच् ।

अत्रेति । ‘मलयानिलः’ इत्यादिपद्ये इत्यर्थः । अन्यत् निगदैव्याख्यातमेव । एवम् ‘अनलीयती’ति कर्मव्यञ्जगतायाः, ‘काननीयती’त्याधारकव्यञ्जगतायाः, ‘निर्जलमीनायते’ इति च क्यच्प्रत्यया वाचकलुप्तोपमाया उदाहरणानि भवन्तीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रानल इत्यादि । यहाँ ‘अग्नि के समान आचरण करती है’ इस अर्थ में अनल शब्द से और ‘वन में जैसा आचरण किया जाता है वैसा व्यवहार करती है’ इस अर्थ में, सम्यन्त होने के कारण अधिकरणार्थक कानन शब्द से ‘क्यच्’ प्रत्यय होता है । दोनों जगहों पर क्यच्प्रत्ययविधायक क्रमशः ‘उपमानादाचारे’ यह सूत्र और उसी सूत्र का ‘अधिकरणाच्च’ यह वार्तिक हैं । निर्जलमीन शब्द से ‘निर्जल स्थान में रहनेवाले मत्स्य का सा आचरण करती है’ इस अर्थ में ‘क्यच्’प्रत्यय होता है । प्रत्ययविधायक सूत्र है ‘कर्तुः क्यच् सलोपश्च’ । सारांश यह कि ‘अनलीयति’ यह कर्मव्यञ्जित, ‘काननीयति’ यह आधारकव्यञ्जित और ‘निर्जलमीनायते’ यह क्यच्प्रत्यय, वाचक लुप्तोपमा के उदाहरण होते हैं ।

ननु कथमेव वाचकलुप्तात्वम्, क्यच्क्यच्प्रत्यययोर्वाचकयोर्वर्तमानत्वादित्यत आह—

आचारमात्रार्थकतया क्यचक्यचोः प्रकृत्यैव लक्षणया स्वस्वार्थसादृश्य-

प्रतिपत्तिरिति नये सादृश्यवाचकाभावाद् वाचकलुप्ता । अनलीयतीत्यादिस-
मुदायस्यैवानलादिसादृश्यप्रयोजकाचरणकर्तृशक्तत्वमिति नयेऽपि सादृश्यसाद-
ृश्यविशिष्टमात्रवाचकाभावाद्वाचकलुप्ता ।

क्यञ्चक्यद्प्रत्ययाच्चारमात्रस्य वाचकौ न सादृश्यस्य । न चैवं कथं तत्प्रत्ययस्यते
सदृशाचारप्रतीतिरिति वाच्यम्, तदन्वयप्रकृतीनां स्वार्थमदृशे न्नाक्षणिकत्वान् । अर्थात्
'अनलीयती'त्यादौ प्रत्ययभागतः केवलाचारस्यैव बोधः, प्रकृतिभागतश्च अनलसदृशादेरर्थ-
स्य । तथा चात्र सादृश्यलक्षकस्य स्थितावपि सादृश्यवाचकस्य स्थितिर्नास्त्येवेति वाचक-
लुप्ता मुस्येति भावः । ननु नेद युक्तम्, अत्र मते इवादीनां द्योतकतानये सर्वत्रैव वाच-
काभावाद्वाचकलुप्तात्वापत्ते, 'चन्द्रप्रतिपक्षमाननम्' इत्यत्रापि तदापत्तेषु, प्रतिपक्षपदेन
सादृश्यस्य लक्ष्यत्वादित्यत्र समाधानान्तरमाह—अनलीयतीत्यादौति । अत्र भावः
उपमाभूत'वाचक'पदेन यथाकथञ्चित् सादृश्यप्रतिपादका एव गृह्यन्ते, अत एव
द्योतकानामिवादीनां लक्षकानां प्रतिपक्षादिपदानां च तत्त्वेन वाचकलोपव्यवहारः तथा
च प्रकृते क्यञ्चक्यद्प्रकृतिभ्यां लक्षणयाऽपि सादृश्यप्रतिपत्तौ वाचकलोपव्यवहारः कथमिति
शङ्का यद्यपि युक्ता, तथापि 'वाचक' इति शब्देन सादृश्य-सादृश्यविशिष्टान्यतरमात्र-
बोधका एव विवक्षिता । क्यञ्चक्यद्प्रकृतयस्तु स्वार्थसादृश्यविशिष्टलक्षका इति न ताव-
न्मात्रबोधका, अतस्तत्सत्त्वेऽपि वाचकलोपव्यवहारः । एवञ्च उक्तान्यतरमात्रबोधका-
भाव एव वाचकलोप इति तत्त्वम्, अत एव च 'अनलीयति' इत्यादौ न प्रकृतिप्रत्यययो-
प्यक् पृथक् अर्थे शक्तिर्लक्षणा वा, अपि तु प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यैव अनलादिमदृशाचरण-
कर्तृरूपार्थे शक्तिरिति मतेऽपि न दोषः, आचारादिरूपाधिकस्वार्थान्यर्थस्य बोधकतया उक्त-
न्यतरमात्रबोधकाभावरूपवाचकलोपस्य साक्षाज्यात् इति ।

वाचकलुप्ता यहाँ कैसे हुई इस भाषा का समाधान करते हैं—आचार इत्यादि ।
तात्पर्य यह है कि 'अनलीयति' इत्यादिकों में जब 'अनल के समान आचरण करनेवाला'
इस अर्थ में क्यञ्चप्रत्यय होता है, तब तो सादृश्य का वाचक वह क्यञ्चप्रत्यय ही हो गया
फिर वहाँ 'वाचकलुप्ता' कैसे इस भाषा के दो उत्तर हो सकते हैं । एक यह कि
'क्यञ्च अथवा क्यद् प्रत्यय, केवल आचार अर्थ के वाचक है, सादृश्य की प्रतीति, उन
प्रत्ययों के प्रकृतियों (अनल आदि शब्दों) की स्वार्थ-(अनल आदि)-सदृश अर्थ
में लक्षणा होने के कारण होती है' इस नैयायिकों के मत में सादृश्य का वाचक कोई
नहीं हुआ अर्थात् प्रकृतिभाग भी सादृश्य का लक्षक ही हुआ, वाचक (अभिधावृत्ति के
द्वारा बोधक) नहीं, अतः इन प्रत्ययों के रहने पर वाचकलुप्ता का व्यवहार समुचित ही
है । दूसरा यह कि केवल सादृश्य अथवा केवल सादृश्यविशिष्ट अर्थ के बोधक पद का न
रहना ही यहाँ 'वाचकलोप' कहा जाता है अर्थात् सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट (सदृश)
का बोधक पद यदि साथ साथ किसी अन्य अर्थ का भी बोधक हो, तब उसके रहने पर
भी सादृश्यवाचक का अभाव ही समझा जायगा, तदनुसार उक्त मत में प्रकृतिभाग के
लक्षणा द्वारा सादृश्यबोधक होने पर भी उसके साथ साथ अनल आदि स्वार्थ का
भी बोधक हो जाने से वाचकलुप्ता हो जाती है । वस्तुतः यही उत्तर ठीक है,—पहला
नहीं, क्योंकि यदि वाचक का अर्थ अभिधाशक्ति द्वारा सादृश्यप्रतिपादक क्रिया जाय
और तदनुसार सादृश्यलक्षक पद के रहने पर वाचकलोप माना जाय, तब तो 'नलिन-
प्रतिपक्षमाननम् अर्थात् कमल के प्रतिद्वन्द्वी मुख' इत्यादि में भी वाचकलुप्ता उपमा
माने जानी चाहिये, क्योंकि 'प्रतिपक्ष पद सादृश्य का वाचक नहीं लक्षक है और
निपातपोतक है' इस मत में इव आदि के रहने पर भी वाचकलुप्ता का व्यवहार
दोने लगेगा । अतः 'वाचक' का अर्थ निम्नी भी तरह सादृश्य का प्रतिपादक होता है,

केवल अभिधा द्वारा प्रतिपादक नहीं, अतः उक्त स्थानों में वाचकलुप्ता नहीं हो सकती ।
हाँ, इतनी बात भवश्यक है कि तभी कोई पद सादर्य का वाचक माना जायगा, जब वह केवल सादर्य अथवा सदृश का बोधक रहेगा। अत एव 'अनलीयति' इत्यादि श्रवणों में 'प्रकृति प्रात्ययसमुदाय की ही 'अनल आदि के सदृश आचरण कर्ता'रूप अर्थ में अभिधाशक्ति है, प्रकृतिप्रत्यय, पृथक् पृथक् अर्थ के वाचक अथवा लक्षक नहीं हैं। इस वैधाकरणानिमित्त पक्ष में भी आपत्ति नहीं होती अर्थात् इस मत के अनुसार भी यहाँ वाचकलुप्ताता ठीक हो जाती है। कारण, इस मत के अनुसार उक्त प्रकृतिप्रत्यय-समुदाय, केवल सादर्य किंवा सदृश का बोधक नहीं होता, अपितु उससे अधिक आचार आदि का भी बोधक होता है।

वाचकलुप्तोपमाया एव भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

कर्तृकर्मणमुल्नाता यथा—

कर्तृकर्मणमुल्प्रत्ययप्रतिपाद्याया कर्तृकर्मणमुल्प्रत्ययप्रतिपाद्यायाश्च वाचकलुप्तोपमाया प्रकारः प्रदर्शयति इति भावः ।

कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य णमुल्प्रत्ययों के द्वारा सिद्ध होनेवाली वाचकलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिशयते—

'निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये ।

जहुजे निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः ॥'

जहुजे ! गङ्गे ! ये नरा, निरपायं निःप्रत्यूहं निरन्तरमिति यावत्, श्रियाविशेषण-मेतत्, तव गङ्गायाः, पयः जलम्, सुधापायम् सुधामिव, पिबन्ति, ते, नरा, भुवि भूलोक एव, निर्जरावासम् निर्जरा देवास्ते इव, वसन्ति सुखेन निवासं दुर्बन्तीत्यर्थः ।

किसी भक्त की उक्ति है—हे गङ्गे ! जो मनुष्य अमृत के समान तेरे जल का निर्विघ्न पान करते हैं, वे घरातल पर, देवताओं की तरह, वास करते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुधापायमिति सुधामिव, निर्जरावासमिति निर्जरा इवेति 'उपमानात् कर्मणि च' इति कर्मणि चकारात्कर्तृयुपमाने उपपदे णमुल् ।

अत्र 'निरपायम् "' इति पये । सुधापायमिति । इत्यत्रैत्यर्थः । सुधामिवेति अस्य 'कर्मणि उपपदे' इत्यत्रान्वयः । अप्रत्ययेनेव । सुधामिवेति कर्मणि उपमाने उपपदे सुधापायमित्यत्र, निर्जरा इवेति कर्तारि उपमाने उपपदे निर्जरावासमित्यत्र च क्रमशः पाधातोः वसुधातोश्च 'उपमानात् कर्मणि च' इति पाणिनिस्मृत्येण णमुल्प्रत्ययो भवति । तथा च पूर्ववत् णमुल् सादर्यतद्विशिष्टान्यतरवाचकत्वविरहात् वानकलुप्तेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ 'सुधापायम्' में सुधारूप कर्म उपमान के उपपद (समीपवर्ती पद) रहते और 'निर्जरावासम्' में निर्जरूप कर्ता उपमान के उपपद रहते 'उपमानात् कर्मणि च' इस पाणिनिस्मृति से णमुल् प्रात्यय हुआ है । यद्यपि उक्त सूत्र में 'कर्ता' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि 'च' से उसका समग्र होता है । अतः 'सुधापायम्' का सुधा की तरह और 'निर्जरावासम्' का निर्जर-देवता की तरह अर्थ होता है । इस तरह सादर्य अथवा सदृश मात्र का वाचक णमुल् हुआ नहीं, अतः इस उपमा को वाचकलुप्ता कहते हैं ।

एवमेकलुप्तामुदाहृत्य 'दिलुप्तामुदाहृतुमाह—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता समासगता च यथा—

धर्म उपमानच यत्र लुप्तो तिष्ठत, तादृश्या वाक्यगताया समासगतायाधोपमायाः प्रकार प्रदर्शयति इति भाव ।

धर्मोपमानलुप्ता—अर्थात् जिसमें साधारण धर्म तथा उपमान दोनों लुप्त रहते हैं ऐसी-वाक्यगत और समासगत उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाञ्च विटपिनः सर्वे ।

सहकारं न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति ॥'

कविराज्ये—हे सहकारं सुगन्धिरसाल ! मधुपेन भ्रमरेण, यद्यपीत्यध्याहारलब्धम्, अखिलम् सम्पूर्णम्, विपिनम् वनम्, गाहितमालोडितम्, परितं चतुर्दिक्षु, सर्वे विटपिनस्तरव, दृष्टा अत्रलोकित्वाच्च, तथापि, जगति ससारे, ते तव, समं समान वस्तु, न प्रपेदे नोपलब्धम् इत्यर्थ । अप्रस्तुतप्रशसेयम्, अप्रस्तुतात् भ्रमराभ्रवृत्तान्तात् प्रस्तुतस्य गुणितदृग्बोधकयो वृत्तान्तस्य प्रतीति । अत्र 'ते समं न प्रपेदे' इत्युक्त्या 'तव सदृश-कश्चित्पदार्यो भ्रमरागौचरे स्थलेऽस्यनरयम्' इत्यर्थप्रतीत्या उपमा, सा च धर्मलुप्ता, अगोचरोपमानप्रतियोगिकोपमेयसहकारानुयोगिकसादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मस्यानुपादानात् उपमानलुप्ता च, उपमानस्य स्पष्टमनुल्लेखात् । तथा चाप्रस्तुतप्रशसोपमनो सहकार इति भाव ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—गाहित इत्यादि । कवि का कथन है—हे सहकार-सुगन्धित आम ! भ्रमरों ने सम्पूर्ण वानर छान डाला और चारों तरफ सभी तरु देख बाले, तथापि, ससार में, तेरे जैसा एक पदार्थ भी नहीं पाया । यह है 'अप्रस्तुत प्रशसा' क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर तथा आम के वृत्तान्त से, प्रस्तुत गुणी तथा उसके अन्येपक का वृत्तान्त ज्ञात होता है । और उस अप्रस्तुतप्रशसा का पोषक है 'समम्' पद से वाच्य उपमा, जिसमें उपमान और उसका वह धर्म-जो उपमेय-आम में भी रहनेवाला हो-लुप्त है, अतः यह धर्मोपमानलुप्ता हुई ।

उक्तान्तके 'गाहितम्' इत्यादिपद्ये उपमाया वाक्यगतत्वमेव । तथा च अवतरणे 'समासगता चे'ति कथन विह्वलम्, अत पाठान्तरेण समासगतत्वमुपपादयति—

'तथापि ते समम्' इति हित्वा 'भवत्समम्' इति यद्यार्या शुद्धैव विधीयते तदेदमेवोदाहरण समासगाया ।

शुद्धैवेति । प्रथमपाठे गीति, आर्याविकृतिरूपा परिवर्तितपाठे च शुद्धा आर्या इति भाव । 'तथापि ते समम्' इत्यस्य स्थाने 'भवत्समम्' इति पाठत्रयणे समासगतधर्मोपमानलुप्तोपमाया उदाहरण बोध्यमिति भाव ।

'गाहित' इत्यादि पद्य को ही पाठभेद के द्वारा समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण बनाते हैं—तथापि इत्यादि । उक्त पद्य में 'तथापि ते समम्' की जगह पर यदि 'भवत्समम्' पाठ कर दिया जाय, तब यह पद्य ही समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण हो जायगा । छन्दःशास्त्र की दृष्टि से दोनों पाठ ठीक होंगे, क्योंकि प्रथम पाठ के अनुसार 'गीति' छन्द होता है जो आर्या का विकृतरूप है और द्वितीय पाठ के अनुसार छन्द 'आर्या छन्द' हो जाता है ।

वाचकधर्मलुप्तोपमागुदाहर्तुमाह—

वाचकधर्मलुप्ता किञ्चिता यथा—

वाचक—सादृश्यप्रतिपादक इवादि, साधारणधर्मश्च लुप्तौ यत्र, तादृशोपमायाः किञ्चित्तायाः प्रकार उच्यते इति भावः ।

किप्प्रत्ययगत वाचकधर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कुचकलशेष्वबलानामलकायामय पयोनिधेः पुलिने ।

क्षितिपाल कीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥’

कवि राजानं स्तौति—हे क्षितिपाल राजन् ! ते तव, कीर्तय यशसि, अबलानां कामिनीनां, कुचकलशेषु कलशाकारेषु कुचेषु, हारन्ति हारवदाचरन्ति, अलकायाम् अलकायाम्, अलकायाम्, हरन्ति हरवदाचरन्ति, एवम्, पयोनिधेः समुद्रस्य, पुलिने तटे, हीरन्ति हीरवदाचरन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कुच इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे घराधीश ! आप की कीर्तिप्राप्ति कामिनीयों के कलशाकार कुचों पर हार (मोती की माला) के समान आचरण करती है, अलकापुरी में शिवजी के तट पर आचरण करती हैं और समुद्र के तट पर हीरों के तुल्य आचरण करती हैं ।

उपपादयति—

अत्र हारहरहीरशब्दा आचारार्थके किपि लुप्ते धातवः । तत्र हारादिशब्दा लक्षणया हारादिसादृश्यं बोधयन्ति । लुप्तोऽपि स्मृतः किञ्चाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोपः स्पष्ट एव । हारादिशब्दा एव लक्षणया तादृशसादृश्याभिन्नमाचारमिति पक्षे सादृश्यस्येव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकामावालोप एव ।

अत्र ‘कुच ’ इत्यादि पक्षे । किपीति । ‘सर्वप्रतिपदिकेभ्यः क्त्विन्वा वक्तव्यः इति । नामधातुस्ववार्तिकविहिते इत्यादि’ । धातव इति । तथा च हारन्तीत्यादिप्रयोगसिद्धिरिति भावः । तत्र उक्तप्रयोगेषु । आचारमिति । बोधयतीति शेषः । तादृशेति । हारादौत्वर्थः । तदित्युचितम् । अभिन्नमिति । सादृश्यस्य धर्मरूपत्वादिति भावः । हारहरहीरशब्देभ्यः आचारार्थेषु क्त्विन्त्येषु विहितेषु तेषां सर्वापहारलोपे ‘तनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुत्वे हारहरहीरधातुभ्यः लडादी हारन्ति, हरन्ति, हीरन्तीति च प्रयोगाः सिद्धयन्ति । तेषु प्रयोगेषु क्त्विन्त्यप्रकृतिभूता हारादिशब्दा स्वार्थसादृश्ये लाक्षणिका, अत्र हारादिसदृशमाचरणं कुर्वन्तीति तेषामर्था भवन्ति । एषमात्र सादृश्यप्रतिपादकानां हारादिशब्दानां स्वार्थरूपसादृश्येतरार्थवाचकत्वेन केवलसादृश्यप्रतिपादकत्वाभावात् वाचकलोपः, आचाररूपसाधारणधर्मवाचककिप्प्रत्ययस्तु स्पष्ट एवेति उपमायाः वाचकधर्मोभयलुप्तता सिद्धा । ननु लुप्तोऽपि पुनः स्मृतः किप्प्रत्यय एव आचाररूपमर्थं बोधयतीति पक्षे तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि ‘यः शिष्यते स लुप्यमानार्याभिधायी’ति रीत्या हारादिपदान्येव लक्षणया स्वार्थसादृश्यस्य प्रयोजकम् अभिन्न वा आचारमपि बोधयन्तीति पक्षे न तथा वक्तुं शक्यम्, एतदनुसारं साधारणधर्मरूपान्तरबोधकानां हारादिपदानां वर्तमानतया धर्मलोपाभावादिति चेन्न, सादृश्यमात्रबोधका एव यथा प्रकृतशास्त्रे ‘वाचका’ कथ्यन्ते, तथैव धर्ममात्रबोधका एव धर्मवाचका विवक्षितास्तथा च हारादिशब्दा ‘अधिकस्यापि

प्रतिपादकतया न सादृश्यवाचका न वा धर्मवाचका अतो धर्मवाचकबोलीप इति विवक्षणीयत्वादिति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ हार, हर और हीर शब्द से पहले आचार अर्थ में 'सर्वप्रतिपदिकेभ्य किंवा वक्तव्य.' इस वार्तिक से क्तिप् प्रत्यय होता है, जिसका पीछे लोप हो जाता है । इस तरह से वे शब्द 'सनाद्यन्ता धातव' इस पाणिनि-सूत्र से धातु संज्ञा हो जाने के कारण धातु बन जाते हैं । उन्हीं धातुओं से छट्-त्तिप् या तिङ्प्रक्रिया करके 'हारन्ति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । अब यहाँ दो पक्ष हो सकते हैं जिनमें एक के अनुसार हार आदि शब्द 'लक्षणा के द्वारा हार आदि के सादृश्य के केवल बोधक होते हैं अर्थात् हार आदि शब्द से हारादिसादृश्य का बोध होता है, और 'आचार' का बोध लुप्त क्तिप्प्रत्यय से ही स्मरण द्वारा होता है—अर्थात् लोप हो जाने के बाद भी स्मृत होकर क्तिप्प्रत्यय ही 'आचार' का बोधक होता है । इस पक्ष में धर्म (आचार) का लोप स्पष्ट ही है—अर्थात् आचार का बोधक क्तिप् का लोप हो चुका है । रहा वाचक-सादृश्यप्रतिपादक-का लोप, सो वह भी है ही क्योंकि केवल उसी (सादृश्य) का बोधक पद कोई नहीं है अर्थात् हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा केवल सादृश्य का बोध नहीं कराते अपितु हार आदि का भी । दूसरे पक्ष के अनुसार 'क्तिप्' जब छला गया, तब उससे किसी अर्थ का बोध कैसा ? फलतः हार आदि शब्द ही लक्षणा के बल से सादृश्य और आचार दोनों के अर्थात् हार आदि के सादृश्य से अभिन्न आचार के बोधक होते हैं । इस पक्ष में यद्यपि सामान्यतः आचार के बोधक हार आदि शब्द वर्तमान हैं, तथापि उनका लोप ही समझा जाता है । इस पक्ष में हम यह कहेंगे कि जिस तरह अन्य किसी अर्थ के साथ साथ सादृश्य का भी बोधक पद के रहने पर भी केवल सादृश्य-बोधक पद के नहीं रहने से 'सादृश्य' का लोप समझा जाता है, उसी तरह अन्य अर्थ के साथ साधारण धर्म के बोधक पद के रहने पर भी केवल साधारणधर्मबोधक पद के नहीं रहने पर साधारण धर्म का लोप ही समझना चाहिए । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में हार आदि शब्द केवल आचार के बोधक नहीं हैं, अतः उनका लोप समझा जा सकता है ।

वाचकधर्मलुप्तोपमाया भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

वाचकधर्मलुप्ता समासगा यथा—

समासगताया वाचकधर्मलुप्तोपमाया प्रकार प्रदर्शयत इति भाव ।

समासगत वाचकधर्म (उभय) लुप्ता यथा—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ते वदनाम्बुजे ।

केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तय ॥'

नायिका प्रति नायकस्योक्ति —हे तन्वि ! ते, वदनाम्बुजे कमलतुल्ये मुखे शोणस्य रक्तवर्णस्य, अधरस्य निम्नरदनच्छदस्य, अशुभि किरणै, सम्भिन्ना मिथ्या, कान्तानाम् कमनीयानां, दन्तानां दशनानाम्, अल्ले पङ्के, नान्तय प्रभा, केसरा, इव काशन्ते ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शोणा इत्यादि । नायक का कथन है—हे तन्वि ! कमलसदृश तेरे मुख में अरणवर्ण अधर (निम्नोष्ठ) की कान्ति से मिश्रित कमनीय दन्तपङ्क्ति की कान्तिर्या केसरों की तरह प्रकाशित हो रही है ।

उपपादयति—

अत्र वदनाम्बुजयोरभेदविवक्षया विशेषणसमासे दन्तालिकान्तीनां केसर-सादृश्योक्तिरसङ्गता स्यात् । यतो ह्यम्बुजतादात्म्यसाधकं दन्तालिकान्तीनां

केसरतादात्म्यं न तु केसरसादृश्यम् । उपमितसमासे तु वदनाम्बुजयोर्धर्मि-
णोरीपम्ये केसरदन्ताजिकान्तीनामपि तद्वर्माणार्थोपम्योक्तिरुचितैव । अतोऽ-
धिकरणतावच्छेदकोपमामादाय वाचकधर्मलुप्तोदाहृता । विधेयतावच्छेदिका तु
पूर्णाव ।

विशेषणसमास इति । मयूरव्यंसकेत्यादिस्त्रेणेति भावः । अधिकरणेति । वद-
नाम्बुजेत्यत्रत्यामित्यर्थः । अवच्छेदिका त्विति । उपमेति शेषः, कान्तयः केसर इव
काशन्ते इत्यत्रत्येति भावः । अर्थं भावः—'वदनाम्बुजे' रूपसुपमा चेत्यलङ्कारद्वयं
संभवति, वदनाम्बुजयोरेदप्रतिपादनेच्छाया 'मयूरव्यंसकादयश्चे'ति विशेषणसमासकर-
णेन रूपकस्य, तयो सादृश्यप्रतिपादनेच्छाया 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'
इत्युपमितसमासविधानेन उपमायाश्च प्राप्तत्वात् । परन्तु उपमितसमासेनैवैव स्वीकर्तु-
मुचिता, दन्तकान्तिकेसरयोरेवमायाः पद्योत्तरार्थोकायाः तत्रैव सङ्गते, रूपकाश्रयणे तु
सा भ्रसङ्गतैव भवेत् । यत रूपके मुखकमलयोस्तादात्म्यं प्रतीयेत, तथा चाप्रंऽपि दन्त-
कान्तिकेमरयोस्तादात्म्यरूपस्य मुखकमलतादात्म्यसाधारण्य रूपकस्यैवोक्तिरुचिता न चैतन्न
रूपकमुक्तं क्विना, तर्हि तत्रापि रूपक नाश्रयणीयम् । फलतः वदनाम्बुजयोर्धर्मिणोरुपमित-
सामान्यार्थोपमैव स्वीकरणीया, तथात्वे च तद्वर्णा केसरदन्ताजिकान्तीनाम् उपमानि-
बन्ध समुचित एव । एवमात्रोपमाद्वयं सम्पद्यते, तत्र दन्तकान्त्यादेरधिकरणत्वेन उक्तं
वदनाम्बुजपदार्थं विशेषणतया भासमाना (अधिकरणतावच्छेदिका) वा उपमा, तामा-
दाय पद्यमिदं वाचकधर्मलुप्तोपमाया उदाहरणम्, तत्र वाचकस्य इवादे' धर्मस्य सुन्दर-
त्वादेशालुपादानात् । विधेयकोटौ भासमाना दन्तकान्तिकेमरयोरेवमा तु पूर्णाव, उपमान-
भूतस्य केसरपदार्थस्य उपमेयभूतस्य दन्तकान्तिपदार्थस्य, सादृश्यस्य कारणरूपसाधारण-
धर्मस्य चोक्तेः । इति ।

उपपादन करते हैं—अन्न इत्यादि । स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—इस पद्य में दो
उपमायें हैं, एक वदनाम्बुज पद में, जो अधिकरणतावच्छेदक होती है, क्योंकि दन्त-
कान्ति और केसररूप धर्मों का आधार है वदन और अम्बुजरूप धर्मों, और उन
धर्मियों की विशेषणकोटि में ही पद जाती है वह सादृश्यरूपा उपमा । दूसरी उपमा
है 'दन्तकान्तियों केसर के समान प्रकाशित होती है' इस अंश में, जो विधेयतावच्छेदक
होती है । कारण, उक्त धर्मरूप उद्देश्य में विहित होनेवाले (विधीयमान) उक्त
धर्म के विशेषणभाव में इस उपमा की स्थिति है । इन दोनों उपमाओं में द्वितीय तो
पूर्णा ही है अर्थात्—उपमान केसर, उपमेय दन्तावलीकान्ति, इवार्थ सादृश्य और
प्रकाशित होना रूप साधारण धर्म इन चारों अर्थों की उक्ति इस उपमा में है । फलतः
यह उपमा, प्रकृत में (लुप्तोपमा का) उदाहरण नहीं हो सकती । अतः प्रथम-अधि-
करणतावच्छेदकीभूत उपमा को लेकर यहाँ वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण दिया गया है
ऐसा समझना चाहिये । यदि आप कहें कि वदनाम्बुज में निश्चितरूप से उपमा मानी
ही कैसे जा सकती है ? कारण, वहाँ यदि मुख और कमल का तादात्म्य (अन्वय) वक्ता
का विवक्षित माना जाय, तब तो विशेषण अर्थात् 'मयूरव्यंसकादयश्चे' से समास मान
कर मुख्यरूप कमल ऐसा रूपक भी माना जा सकता है, तो इसका समाधान है कि-
नहीं, रूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब दन्तकान्तियों
में जो केसरसादृश्य का कथन है अर्थात् पद्य के उत्तरार्ध द्वारा जो केसर और दन्तकान्ति
का सादृश्यमूलक उपमानोपमेयभाव वर्णित हुआ है, वह अतद्गत हो जायगा, क्योंकि
मुख में अम्बुजतादात्म्य को अर्थात् तन्मूलक रूपक अलङ्कार को सिद्ध करनेवाला हो

सकता है, दन्तकान्तिपौं में केसर का तादात्म्य अर्थात् तादात्म्यमूलक केसरदन्तकान्ति का रूपकात्मक वर्णन, न कि दन्तकान्ति में केसर का सादृश्य अर्थात् सादृश्यमूलक उन दोनों की उपमा, और है यहाँ उन दोनों की उपमा ही 'केसरा इव कान्तयः काशम्ते' इन शब्दों में वर्णित। अतः यह सिद्ध होता है कि वदनाम्बुज में भी 'अम्बुज सा मुल' इस विग्रह में उपमित समास (उपमितां न्वाप्रादिभिः मूल से समास) मानकर उपमा ही माननी चाहिये अर्थात् वदन में अम्बुज का सादृश्य ही कविविद्वित्त वस्तु स्वीकृत होनी चाहिए, अम्बुजतादात्म्य नहीं और इस मान्यता के अनुसार कोई भ्रमररूपिणी भी नहीं होती, क्योंकि वदनाम्बुजरूप धर्मों अंश में जब उपमा मान लेते हैं, तब उनके धर्म केसर तथा दन्तकान्ति में भी उपमा का वर्णन समुचित ही है। सारांश यह कि जब तक धर्म में तादात्म्य ज्ञात नहीं होता, तब तक धर्मों में वह ज्ञात नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में धर्मरूप केसर और दन्तकान्ति में जब स्पष्ट कथित रहने के कारण सादृश्य ही ज्ञात होता है तादात्म्य नहीं, तब उन धर्मों के धर्मों वदन और अम्बुज में भी सादृश्य ही समझना पड़ेगा, तादात्म्य नहीं।

शेदान्तराज्युदाहर्तुमाह—

वाचकोपमेयलुप्रा क्यजगता धर्मोपमानवाचकलुप्रा समासगा च यथा—

वाचकमुपमेयश्च यत्र लुप्रे तिष्ठत तादृश्या क्यचप्रत्ययगताया एव धर्म उपमानम् वाचकश्च यत्र लुप्रास्तिष्ठन्ति, तादृश्या समासगतायाश्चोपमाया प्रकार प्रदर्शयते इति भावः ।

वाचक तथा उपमेय इन दो के लोपवाली क्यजगत उपमा का और धर्म, उपमान एवं वाचक इन तीनों के लोपवाली समासगत उपमा का प्रकार दिखलाया जाता है।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘तथा तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा ।

। नमायं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥’

नायक स्वसहाय प्रति वक्ति—तिलोत्तमीयन्त्या तिलोत्तमाभिधाना कवित्ववर्गीया रमणी तयेवाचरन्त्या, मृगशावकस्य हरिणशिशो चक्षुषी इव चक्षुषी यस्यास्तथा, वफुर्मनोगतया कयाचन कामिन्द्या, हेतुना (हेतावत्र तृतीयैति भावः) अयः, मम, मानुषी, लोक, नाकलोक स्वर्गलोक इव, अगवत्-मनुष्यलोक एव मया स्वभोगभाग्यमुपलब्धमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—तथा इत्यादि। नायक अपने सखा से कहता है—तिलोत्तमा (स्वर्गीय अप्सरा) के समान आचरण करती हुई इस मृगाधी के कारण मेरा यह मनुष्यलोक स्वर्गलोक या हो गया—इस लोक में ही स्वर्गीय सुख भोगने का सौभाग्य मुझे मिल गया ।

उपपादयति—

तिलोत्तमीयन्त्येति तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थके क्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य, स्फुटत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य चानुपादानाल्लोपः। स्वयं तु सा नोपमेया। आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कथंमुपमेयायानुपमानत्वात्सङ्गतेः। अत आत्मैवात्रोपमेयतयोन्नेयः। मृगशावकचक्षुषेति मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी अस्या इति ‘सप्तम्युपमानपूर्वस्य’ इति समासोत्तरपदलोपी।

मृगशावकचक्षुःसदृशलाक्षणिकत्वपक्षे वृत्तेर्धिशिष्टार्थवाचकता-
पक्षेऽपि स्वस्वमात्रबोधकपदाभावात्प्रयाणां लोपः ।

वाचकस्येति । इवशब्दस्येत्यर्थः । उपनेषानुपादाने हेतुमाह रकुटत्वेनेति । स्वयं त्विति,
तिलोत्तमीयन्तीति पदबोधनाधिक्येत्यर्थः । तन्मन्त्र्यामिति । आचारकर्म्यामित्यर्थः । उप-
मानवासंगतेरिति । उपमानोपमेययोः समानरूपत्वस्योपमाया नियामकत्वादिति भावः ।
तिलोत्तमामिवात्मानमाचरतीति विप्रदे तिलोत्तमाशब्दात् 'उपमानादाचारे' इति सूत्रेणा-
चारार्थकर्म्यन्प्रत्यये आकारस्येत्वे दीर्घं धातुत्वे तिलोत्तमीयधातोः शतृप्रत्यये तत्प्रयुक्त-
कार्येषु च कृतेषु 'तिलोत्तमीयन्तो'ति तिङ्घटति, तस्य तृतीयान्त रूपमत्र निर्दिष्टम् । अत्र
चाहसादृश्यप्रतीतेरुपमा, सा च वाचकोपमेयलुप्ता, उपमानोपमेयसादृश्यमाधारणधर्माणां
चतुर्णामुपमाज्ञाना मध्ये तिलोत्तमारूपोपमानाचाररूपसाधारणधर्मयोः तिलोत्तमापदक्यचप्रत्य-
याभ्यामुल्लंघ्येऽपि सादृश्यवर्णनीयनायिकारूपोपमेययोरनुल्लेखात् । नन्वेवं सादृश्योपमे-
ययोः प्रतीतिरेवात्र क्यम् २ तदप्रतीती न क्यमत्रोपमा इति न वाच्यम् तिलोत्तमापदस्य
स्वमद्यो लाक्षणिकतया सादृश्यस्य, रकुटतया आक्षेपेणामरूपोपमेयस्य च प्रतीतेः । न
चैवम् तिलोत्तमापदस्यैव सादृश्यवाचकत्वेन वाचकलोपो मास्त्विति शङ्क्यम्, तिलोत्तमाप-
दस्य सादृश्यमात्रवाचकत्वाभावेन पूर्वोक्तदिशा वाचकलोपव्यवहारस्याशक्तत्वात्, न च क्य-
मत्र वर्णनीयनायिकाया-आत्मा उपमेयतया स्वीक्रियते नायिकाया एवोपमेयत्वं श्रुतो न ?
स्वीकृते च तेषां क्यमुपमेयलोपः तद्वाचकस्य 'तया' इत्यस्य सत्त्वारिति वक्तव्यम्,
उपमानोपमेययोः समानरूपताया उपमाया तन्त्रतया नायिकाया उपमेयत्वासम्भवात्, उपमा-
नतयाऽभिमतायास्तिलोत्तमाया आचारकर्मत्वेन उपमेयतया शङ्क्यमानाया नायिकाया आ-
चारकर्तृत्वेन गमानरूपताया विरहात् । आचारकर्तृत्वशालिन्यां वर्णनीयनायिकायामुपमेयतया
स्वीकृतायाम् आचारकर्मभूतायास्तिलोत्तमाया उपमानता असङ्गता स्यात् उपमानता च
तस्या न त्यक्तं शक्या उपमानान्तराप्रतीतिरेव च तदुपमानतानुरोधेन तत्समानरूपस्य
आचारकर्मणो वर्णनीयनायिकाया आत्मन एवोपमेयतो-न्नेयेति भावः । मृगशावकच-
क्षुष्येन्न मृगशावकस्य चक्षुषो इव चक्षुषो जस्य इति विप्रदे समासोत्तररुक्लोपयोः
कृतयोः मृगशावकचक्षुरिति प्रयोगो निष्पद्यते, तस्य तृतीयान्त रूपमत्रोत्तिलखितम् मृग-
शावकचक्षुषेति । अत्रापि रमणीयसादृश्यप्रतीत्या समासगोपमालङ्कारः, स च धर्मोपमान-
वाचकनुपुप्तः, उक्तान् चतुर्णामुपमाज्ञाना मध्ये वर्णनीयनायिकारूपोपमेयस्य चक्षु-
पदेनोपादानेऽपि मृगशावकचक्षुःपरयोपमानस्य, विशालत्वादे साधारणधर्मस्य साद-
ृश्यस्य च प्रतिपादकविरहेऽनुपादानात् । न च प्रतिपादकत्वत्वे तेषां तुल्यत्वेनाभिमत्य-
मानानां त्रयाणामज्ञाना प्रतीतिरेव न स्यात्, तदप्रतीती चोपमालङ्कारो न भवेदिति
सर्वं विवक्षितं व्याजुल स्यादिति वाच्यम्, नेशाधिक्योप्या मृगशावकचक्षुःस्य मृगशावक-
चक्षुःसदृशे लाक्षणिकतया उपमानसादृश्ययोराक्षेपेण विशालत्वादे साधारणधर्मस्य च
प्रतीतेः । अतिरिक्तमाशक्तिमद्भाङ्गवृत्ता शाब्दिकानां रीत्या मृगशावकचक्षुरिति समुदाय-
स्यैव मृगशावकचक्षुःसदृशचक्षुर्निशिष्टरूपार्थे शक्तत्वेन उपमानसादृश्ययोः प्रतीतेः । अया-
नयोर्लोप एव क्वचित् स्थितौ व्यवहर्तुं योग्य इति नापादयितुं शक्यम्, तन्मात्रवाचक-
त्वविरहेण तया समव इति पूर्वमुक्तत्वादिति भावः ।

उपपादनं करते हैं—तिलोत्तम इत्यादि । यहाँ 'तिलोत्तमामिवात्मानमाचरति
धर्मात् अपने मे तिलोत्तमा (एक स्वर्गाय अप्सरा) के समान आचरण करती है' इति

अर्थ में तिलोत्तमा पद से 'आचारार्थक वयच् प्रत्यय' करने से 'तिलोत्तमीय' धातु बन जाती है, उससे 'शतृ' प्रत्यय करने से 'तिलोत्तमीयन्ती' यह रूप स्त्रीलिङ्ग में तैयार होता है, उसीका तृतीयान्त रूप तिलोत्तमीयन्त्या यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इस पद में उपमालङ्कार है, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का सुन्दर सादर्य आत्मरूप उपमेय में प्रतीत होता है। साधारण धर्म है आचार। आप कहेंगे—'तिलोत्तमीयन्त्या' में न 'इव' वादि है, न 'आत्म' शब्द है फिर 'सादर्य' और उपमेय (आत्मा) की प्रतीति कैसे होगी और जब इन दोनों उपमाओं की प्रतीति नहीं होगी, तब उपमा होगी कैसे? इसका उत्तर यह है कि 'तिलोत्तमा पद' स्वार्थसदृश में लाक्षणिक है अतः सादर्य की प्रतीति तो अवश्य होगी, परन्तु वह (सादर्य) लुप्त समझा जायगा, क्योंकि उसका बोधक तिलोत्तमा पद केवल उसीका बोधक नहीं है। आत्मारूप उपमेय अत्यन्त स्पष्ट है, अतः वाचक पद के अभाव में भी आशेष से उसका बोध हो जायगा। इस तरह से अब यह समझने में कठिनाता नहीं होनी चाहिए कि यहाँ उपमाओं में से तिलोत्तमा पद से एक स्वर्गीय नायिकारूप उपमान और वयच् प्रत्यय से आचरण रूप धर्म उक्त हैं, और सादर्य तथा उपमेय (वर्णनीय नायिका की आत्मा) लुप्त हैं, अतः यह उपमा वाचकोपमेयलुप्ता का उदाहरण होती है। यदि आप कहें कि—वर्णनीय नायिका की आत्मा यहाँ उपमेय है यह बात जैचती नहीं, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का उसके समान आचरण करनेवाली वर्णनीय नायिका ही उपमेय मालूम पड़ती है और उसको उपमेय मान लेने पर उपमेय का लोप यहाँ नहीं कहा जा सकता। कारण, उस नायिकारूप उपमेय का बोधक पद इस पद्य में वर्तमान है 'तया', तो इसके समाधान में मेरा कथन है कि—हाँ जी, ऊपर ऊपर से देखने पर वर्णनीय नायिका उपमेय प्रतीत होती है, परन्तु वह उपमेय हो नहीं सकती, क्योंकि उसको उपमेय मान लेने पर तिलोत्तमा का उपमान होना ही असङ्गत हो जायगा और उसका उपमान होना तो यहाँ इतना प्रकट सत्य है कि उसका परित्याग किया ही नहीं जा सकता। तात्पर्य यह कि तिलोत्तमा से अतिरिक्त उपमान होने योग्य कोई पदार्थ यहाँ है ही नहीं, यहाँ विच्छिन्ति के लिये कवि का प्रमुख प्रयास, तिलोत्तमा को उपमानरूप में चुनना ही है। आप घबड़ाते होंगे कि यह कौन सी पहेली बतलाई जा रही है—वर्णनीय नायिका के उपमेय होने पर तिलोत्तमा उपमान नहीं हो सकती और उसीकी आत्मा को उपमेय मानने पर तिलोत्तमा का उपमान होना बन जाता है? समक्षिप-प्रेसा क्यों होता है, किन्हीं दो पदार्थों का उपमानोपमेय होना उन दोनों के अधिक से अधिक समानरूप होने पर निर्भर है—किसी तरह की विरूपता रहने पर उपमानोपमेय-भाव बनता ही नहीं, ऐसी स्थिति में वर्णनीय नायिका—जो 'आचरण क्रिया' की कर्त्री है—यदि, उपमेय हो जाती है, तब तिलोत्तमा जो आचरणक्रिया का कर्म है—उपमान कैसे हो सकेगी? एक कर्ता और दूसरा कर्म इन दोनों में समानरूपता कैसी? अतः 'तिलोत्तमीयन्त्या' इस सिद्ध रूप में वाचक पद के न रहने पर भी उपमेयरूप में वर्णनीय नायिका की 'आत्मा' का तर्क आवश्यक है क्योंकि वह (आत्मा) भी आचरण क्रिया का कर्म है। इस बात को स्पष्ट समझने के लिए उस पद के विग्रहवाक्य पर ध्यान दीजिए—'तिलोत्तमामिव आत्मानम् आचरन्त्या' इसमें 'आत्मान' कर्म है न? और 'तिलोत्तमाम्' भी? अतः वह आत्मा ही उपमेय है, पर उसका बोधक पद, पद्य में है नहीं, अतः उपमेय का लोपपद्य नितान्त अनवद्य है—दृष्ट है। इसी पद्य का 'मृगशावनचक्षुषा' यह अज्ञ धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण होता है। कारण, इस पद का अर्थ है—मृगशूने की आँखों के समान आँखें हों जिसकी ऐसी नायिका। यहाँ उक्त अर्थ वाले 'मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषो यस्याः' इस विग्रह में 'सतस्युपमानपूर्वरय' इस 'अनेकमन्यपदार्थ' सूत्र के माप्यवार्तिक से समास हुआ है और उत्तर पद (उपमानवाचक चक्षुष् पद) का लोप हुआ है। इस समस्त पद से उक्त अर्थ

निकालने के दो तरीके हो सकते हैं । एक नैयायिकों का यह तरीका है कि 'मृगशावक-चक्षुषा' पद के 'मृगशावक' शब्द की 'मृगशिशु के नेत्रों के सदृश' इतने अर्थ में लक्षणा मान ली जाय और तदुत्तर उपमेयवाचक चक्षुष् पद जो श्रयमाण है, के साथ समास किया जाय । दूसरा तरीका वैयाकरणों का यह है कि पदों की शक्ति से भिन्न एक समासशक्ति माननी चाहिए अर्थात् जिन पदों की शक्ति से जो अर्थ निकलता है, उन्हीं पदों में समास कर देने के बाद समासशक्ति के द्वारा, उससे कुछ अधिक अर्थ निकाल लेना चाहिए । लक्षणा करने का आवश्यकता नहीं । इस रीति के अनुसार 'मृगशावक-चक्षुषा' इस समस्त पदसमुदाय का ही उक्त अर्थ हो जाता है, दोनों ही पदों में यहाँ धर्म, उपमान और वाचक ये तीनों उपमाङ्ग लुप्त समझे जाते हैं क्योंकि यहाँ जो उपमान—मृगशावकचक्षु, धर्म—विशालता, चपलता आदि तथा वाचक—सादरप्रबोधक इव आदि होते हैं, उनमें से केवल एक-एक का बोधक पद यहाँ नहीं है अर्थात् समिलित रूप से इन अर्थों के साथ अन्य अर्थों का भी बोधक समस्त पद अथवा लक्षणा द्वारा पूर्वपद अवश्य होता है परन्तु एक एक अर्थ का बोधक एक-एक पद नहीं है । ध्यान रहे कि उपमा के अङ्ग तभी उक्त अर्थात् अलुप्त समझे जाते हैं, जब पृथक् पृथक् उनके वाचक पद हों, अन्य अर्थ के वाचक पदों से किसी तरह इन अर्थों के बोध होने पर भी वे लुप्त ही समझे जाते हैं ।

प्राचीनाभिमतोपमाभेदानां सङ्कलनं पुरुते—

इति पञ्चविंशतिरुपमाभेदाः ।

इति इत्यम् पूर्वोक्तप्रकारेण उपमाया पञ्चविंशतिभेदा प्राचीनैरुक्ता इति भावः ।

इस तरह उपमा के पचीस भेद प्राचीनों के द्वारा कहे गए, समाप्त हुए ।

उक्तपञ्चविंशतिभेदेभ्योऽन्यानपि भेदान् अन्यैरुक्तान् प्रदर्शयति—

इहान्यानपि भेदान्न्ये निगदन्ति—वाचकलुप्रा पङ्क्तिघोषवर्णिता । 'कर्त-
र्युपमाने' इति णिनी सप्तम्यपि दृश्यते । कोकिल इवालपति कोकिलालापि-
नीति । तथाष्टम्यपि—'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि 'लुम्मनुष्ये' इति लुपि चञ्चे-
वेत्यर्थ 'चञ्चा पुरुषः सोऽयं यः स्यहितं नैव जानीते' इत्यत्र । नवम्यपि—
आचारकपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मे दृश्यते । 'आह्लादि वदनं
तस्याः शरद्व्राकामृगाङ्कति' इत्यादी ।

अन्यैरालङ्कारिकैरन्येऽपि उपमाया भेदा कथ्यन्ते, तेषु तावत् वाचकव्यमाया भेदा-
न्तरमभिधातुं वक्ति वाचकेत्यादि । समासकर्मक्यन्-आधारक्यच्-क्यङ्-वर्णनमुल् कर्त-
णमुल्गता वाचकलुप्तोपमाया पदभेदा प्राक् प्रतिपादिता, परन्तु तस्या सप्तमोऽ-
ष्टमो नवमश्च भेदा भविष्यन्ति । कोकिल इवालपतीत्यर्थे 'कर्तव्युपमाने (३।२।७९)'
इति णिनिस्त्रेण 'णिनिप्रत्यये' कृते निष्पद्यमाने 'कोकिलालापिनी'त्यत्र सप्तमो भेदः ।
अत्रोपमा वर्तते, परन्तु वाचक 'इवादि'लुप्त इति भावः । 'चञ्चा पुरुष अर्थात् य-
पुरुष स्वकीय हितं कल्याण न वेत्ति, स चञ्चा तृणनिर्मितपुरुषप्रतिकृतिरिव' इत्यत्राष्टमो
भेदः । 'इवे प्रतिकृतौ (१।२।९)' इति सूत्रेण तृणार्थकात् चञ्चाशब्दात् इवार्थयुक्ते
प्रतिकृतावर्षे कन्प्रत्यये 'लुम्मनुष्ये (१।२।९८)' इति सूत्रेण कनो लोपे चञ्चा इति रूपं
निष्पद्यते । चञ्चा तृणनिर्मितप्रतिकृतिरिवेति तस्यार्थः । एवं चात्राप्युपमालङ्कारो भवति ।
किन्तु इवादिवाचको लुप्त इति भावः । एवम् 'आह्लादि' इत्यादि अर्थात् आह्लादि
शानन्ददायकम्, तस्या नायिकाविशेषस्य, वदनम् मुखम्, शरदं शरत्काल्येण, या राका

पूर्णमा, तस्या, मृगाङ्क चन्द्र, इव, आचरति' इत्यत्र नवमो भेद । शरद्राकामृगाङ्क-शब्दात् आचारार्थं किप्प्रत्यये तस्य लोपे, धातुत्वे तत्प्रयुक्तित्वादिकार्येषु तत्सु 'शर-द्राकामृगाङ्कती'ति प्रयोग सिद्धवति । शरद्राकामृगाङ्क इवाचरतीति तदर्थ, अतोऽत्रोपमा रपष्टा, परन्तु वाचमो लुप्त एव । नन्वय भेद धर्मवाचकीभयलोपे उक्त इति चेन्न, यत्र भ्रमो नीकरतत्र तदभेदप्रसङ्ग, इह तु 'आह्लादि' इति भिन्नविशेषणद्वारा स उक्त एवेति तस्य भेदस्याप्रमङ्गादिति भावः ।

प्राचीनों ने जो पचीस भेद कहे हैं, उनसे अन्य भी कुछ उपमा के भेद अन्य लोग करते हैं । उन्हीं भेदों का विवरण किया जाता है—इहान्यानपि इत्यादि । समासगत, कर्मक्यजगत, आधारव्यजगत, ध्यङ्गत, कर्मणमुत्तगत और कर्तृणमुत्तगत ये छ भेद वाचकलुप्तोपमा के प्राचीनों के द्वारा कहे गए हैं, परन्तु 'कोकिल इवालपति अर्थात् कोयल के समान आलाप करती है' इस अर्थ में 'कर्तृणुपमाने (३।२।७९)' इस पाणिनिसूत्र से 'गिति प्रत्यय' करके बनाए जाने वाले 'कोकिलालापिनी' इस पद में उसका सातवाँ भेद भी देखा जाता है—अर्थात् यहाँ भी सुन्दर सादर्यरूप उपमा है और इवादि के न रहने के कारण वह वाचकलुप्ता है । 'इवे प्रतिकृती (५।३।९)' इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय करके 'लुग्मनुव्ये (५।३।९८)' इस सूत्र से उसका लुप् (लोप) कर देने पर चञ्चा शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है नृण (घास) से बनी हुई प्रतिकृति के समान, क्योंकि शुद्ध चञ्चा शब्द का अर्थ है 'घास' और तद्धितप्रत्यय (लुप्त कन्) का अर्थ है 'बनी हुई प्रतिकृति के समान' । अब, इस तरह से बने हुए इस 'चञ्चा' शब्द का प्रयोग जब 'चञ्चापुरुषः' अर्थात् वह पुरुष घास से बनी प्रतिकृति के समान है जो अपने हित को नहीं समझता' इत्यादि काव्य में किया जाता है, तब वहाँ उपमा होती है और वह भी वाचकलुप्ता । कारण, वाचक इवादि का यहाँ लोप है, अतः यह वाचकलुप्तोपमा का आठवाँ भेद भी देखा जाता है । इसी तरह वाचकलुप्ता का नयाँ भेद भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे—'आह्लादि' अर्थात् उस (नायिकाविशेष) का आनन्ददायक मुख शरःपूर्णमा के चन्द्र के तुल्य आचरण करता है' इत्यादि वाक्य में, क्योंकि 'शरःपूर्णमा चन्द्र के समान आचरण करता है' इस अर्थ में 'शरद्राकामृगाङ्क' पद से आचारार्थक किप्प्रत्यय करने पर 'शरद्राकामृगाङ्कति' प्रयोग बनता है, जिसमें उपमा स्पष्ट है और सादर्यवाचक 'इव' आदि नहीं है । आचारार्थक किप्प्रगत धर्मवाचकलुप्ता नामक जो एक भेद माना गया है उसमें तो यह भा नहीं सकता । कारण, यहाँ दूसरे पद (आह्लादि अथवा आनन्द-दायक) से धर्म उक्त है ।

उपमानलुप्तोपमाया भेदान्तरं दर्शयति—

उपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधोपवर्णिता, तृतीयापि दृश्यते—

'यञ्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्बधोऽस्य कृतः ।

उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम् ॥'

इत्यत्र काकतालशब्दयोर्लक्षणया काकागमनतालपतनबोधकयोरिवार्थे 'समासाद्य तद्विषयान्' इति ज्ञापकात्समासे काक इव ताल इव काकतालमिति काकताल-समागमसदृशञ्चोराणामस्य च समागम इत्यर्थः । ततः काकतालमिहेति द्वितीय इयार्थं पूर्वोक्तेनैव सूत्रेण छप्रत्यये तालपतनजन्यकाकवधसदृशञ्चोर-कर्तृको देवदत्तवध इत्येव स्थिते प्रत्ययार्थोपमायामुपमानस्य तालपतनजन्य-कारुवधस्यानुपादानादुपमानलुप्ता ।

वाक्य-समासगतत्वेन उपमानलुप्तोपमाया द्वावेव भेदौ प्रागुपपादितौ, परन्तु 'चोरा-

णाम् लुप्तकानाम्, अस्य देवदत्तादिव्यक्तिविशेषस्य, च, समागम' सम्मिलनम् यत्, अभूत्, तै' चौरै, अस्य पूर्वोक्तव्यक्तिविशेषस्य, वधश्च, यात्, कृत, एतत्, अपस्मात् उपनतम्—इय दुर्घटना आकरिमकी सम्पन्ना, अत, तत् तस्या घटनाया आकरिमकाभिगमनम्, काकतालीयम्, आसीत् अभूत्' इत्यर्थके पथिकजनदुर्दशावर्णनपर 'यचोराणाम् ' इत्यादिपद्ये तृतीयोऽपि तस्या भेदो दृश्यते । अस्य पद्यस्य कस्मिन्नरो उपमेति चेत् ? काकतालीयम् इत्यशे सा बोध्या । कथमिति चेत् ? इत्यम्—काकतालशब्दावत्र लक्षणाया काकगमनतालपतनयोर्बोधकौ । तयोश्च 'काक इव ताल इव' इत्यर्थे 'समासाच्च तद्विपयात्' इति शापकेन समासे कृते 'काकतालम्' इति रूपं सम्पद्यते । 'काकागमनतालपतनयो रदृश्यम्' इति तस्य सार्वत्रिकोऽर्थः । प्राकरणिकश्च 'काकतालसमागमनरदृशधोरणामस्य देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य च समागम' इत्यर्थः । तदनन्तरम् 'काकतालमिव' इति विग्रहे द्वितीय इवार्थे तेनैव सूत्रेण छप्रत्यये तरगेयादेशे 'काकतालीयम्' इति प्रयोगः सिद्धयति, ततश्च 'तालपतनजन्यो चादृश' काकस्य वधस्तादृश एव चौरै कृतो देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य वध' इत्यर्थः प्रकरणसहकारेण बुध्यते । अतोऽत्र द्वे उपमे भवतः । एका समासार्थरूपा, द्वितीया च प्रत्ययार्थरूपा । तत्र द्वितीया प्रत्ययार्थरूपा उपमा प्रकृते उदाहरणभूता । यतस्तस्यानुपमाया तालपतनजन्यकाकवधरूप यदुपमानम् तस्य 'काकतालीय'मित्यत्र लोपोऽस्ति तदर्थबोधक पद तत्र नास्तीति भावः ।

उपमान लुप्तोपमा के अन्य भेद दिखलाये जाते हैं—उपमान इत्यादि । उपमान लुप्तोपमा के दो भेद—वाचकगत और समासगत—पहले वर्णित हो चुके हैं, परन्तु उसका तीसरा भेद भी देखा जाता है । जैसे—'यचोराणाम्' अर्थात् चोरों का और इस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का जो समागम हुआ और उन चोरों ने इसका वध जो किया—यह दुर्घटना अचानक हो गई, अतः यह 'काकतालीय' हुई । यह किसी पथिक की दुर्दशा का वर्णन है । यहाँ 'काकतालीय' पद के 'काक' और 'ताल' शब्द से, लक्षणाद्वारा, काक (कौए) के आगमन और ताल (ताड़) के पतन का बोध होता है । इन दोनों लक्षणिक पदों का 'इव (= सा)' के अर्थ में 'समासाच्च तद्विपयात् (५४३/१०६)' इस शापक से समास हो जाता है, जिससे 'काकतालम्' रूप बनता है । इस समयस्य शब्द का अर्थ होता है 'कौए के आने के समान और ताड़ के गिरने के समान ।' 'काक इव ताल इव काकतालम्' इस विग्रहवाचक के अनुसार ऐसा ही अर्थ उचित भी है । परन्तु प्रकृत में पद्य के अन्य पदों के सहयोग से 'काकतालम्' का अर्थ किया जाता है—'कौए और ताड़ के समागम (एक के आगमन के साथ दूसरे का पतन) के समान चोरों का और इस (व्यक्तिविशेष) का समागम । इस काकताल शब्द से दूसरे इव के अर्थ में—अर्थात् 'काकतालमिव' इस अर्थ में—उसी (समासाच्च तद्विपयात्) सूत्र से 'छ=ईय' प्रायय करने से 'काकतालीय' पद सिद्ध होता है । उक्त प्रक्रिया के अनुसार 'काकतालीय' पद का अर्थ हुआ—चोरों के द्वारा किया गया उस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का वध, तालपतन से होने वाले काकवध के समान है । अथ यहाँ दो उपमायें होती हैं । एक समासार्थरूप—अर्थात्—काकतालशब्दगत और दूसरी प्राययार्थरूप—अर्थात्—काकतालीय पद के प्रत्यय (ईय) अंतगत । इन दोनों उपमाओं में से द्वितीय अर्थात् प्रत्ययार्थरूप उपमा 'उपमानलुप्ता' का उदाहरण होती है, क्योंकि इस उपमा में तालपतन से होने वाला काकवधरूप उपमान लुप्त है—अर्थात्—'काकतालीय' पद में उसका बोधक अंश नहीं है । वाचकलुप्ता इसको नहीं कह सकते हैं । कारण, 'ईय' प्रत्यय ही यहाँ सादर्य का वाचक है । यह भेद तद्विगत हुआ, अतः पूर्वोक्त वाचकगत और समासगत भेदों से भिन्न हुआ ।

प्राचीनैरनुक्तमेक भेद प्रदर्शयति—

वाचकोपमानलुप्ता तु नाम्नैव न निर्दिष्टा । साप्यत्र प्रकृत्यर्थे दृश्यते—

वाचकोपमानलुप्तात्मको भेद प्राचीनैर्नामितोऽपि नोक्त, उदाहरणात्कुरणमेव तत्र प्रायो हेतु । परन्तु 'काकतालीयम्' इत्यत्रैव छप्रत्ययप्रकृतिभागस्य 'काकतालम्' इति समासस्यार्थभूतोपमा, तद्भेदोदाहरणतया पुर स्थापयितुं शक्या, 'काकतालसमागमसमानक्षोराणामस्य च समागम' इति तत्रत्योपमाशरीरपटककाकतालसमागमरूपोपमानसादृश्ययो 'काकतालम्' इत्यत्र लुप्तत्वात्, तन्मात्रवाचकविरहादिति भावः ।

प्राचीनों से अनुक्त एक नवीन उपमाभेद की चर्चा करते हैं—वाचक इत्यादि । वाचकोपमानलुप्ता नामक भेद का तो प्राचीनों ने नाम भी नहीं लिया । क्यों नहीं लिया इसका कारण प्रायः उन लोगों के सामने उदाहरण की अनुपलब्धि ही रही होगी, परन्तु 'काकतालीयम्' में जो छ प्रत्यय हुआ है उसकी प्रकृति अर्थात् 'काकतालम्' के अर्थ में उसका उदाहरण मिल सकता है । क्योंकि यहाँ जो 'समासार्थोपमा' शब्द से उपमा दिखलाई गई है, उसमें उपमान है 'काकतालसमागम' जिसका वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का ही प्रतिपादक कोई शब्द है ।

भेदान्तरं प्रकटयति—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधैवोक्ता । सा चात्रापि तृतीयचरणोक्तधर्मनिरासे प्रत्ययार्थे दृष्टा ।

तृतीयचरणोक्तेः । 'उपनतमेतदकरमात्' इत्यस्य स्थाने चरणान्तरनिर्माण इत्यर्थः । वाक्यसमासगामितया द्वौ भेदौ धर्मोपमानलुप्तोपमाया प्रागुक्तौ । किन्तु तद्विगतगामितया तृतीयोऽपि तस्या भेदः सम्भवति । स यथा—'यक्षोराणाम्' इत्यस्मिन्नेव पक्षे तृतीयचरणप्रकारान्तरेण परिवर्त्य विरच्येत, तदा काकतालीयशब्दपटकप्रत्ययार्थोपमायाम् । तत्रोपमानलोप प्रागुपपादित एव । धर्मलोपश्च धर्मबोधकतृतीयचरणपरिवर्तनवार्ताया स्पष्टीकृतः ।

धर्मोपमानलुप्तोपमा के दो भेद—वाचकगत तथा समासगत—पहले कहे जा चुके हैं, पर उसका 'तद्विगत' एक तीसरा भेद भी हो सकता है । जैसे—यदि 'यक्षोराणाम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य के तृतीय चरण (उपनतमेतदकरमात्) जो धर्मबोधक है—को हिन्दी अनुवादकार चतुर्वेदीजी के शब्दों में यों बदल दिया जाय कि—'किमिति प्रमो वय मिदमासीद्वत् काकतालीयम्' तब प्रत्ययार्थं (छ = ईय से बोध्य) उपमा धर्मोपमानलुप्ता हो जाती है ।

भेदान्तरं प्रतिपादयति—

वाचकधर्मलुप्ता किम्पमासयोर्द्वयोरेव कथिता । सापि 'चञ्चा पुरुषः सोऽयं योऽत्यन्तं विपययासनाधीनः' इत्यत्र स्वहिताकरणरूपस्य धर्मस्यानुपादाने कनो लोपे विलोक्यते ।

किम्पमासगतत्वेन द्वौ भेदौ वाचकधर्मलुप्ताया उपमाया पूर्वं प्रतिपादितौ । परन्तु यो नितरा सवारजालकवलीकृतस्वान्त परलोकनिमित्त न चेटते, स, पुरुष, चञ्चा कृणरचितप्रतिवृत्तिसमान' इत्यर्थकः 'चञ्चापुरुष सोऽयम्' इति मूलोक्तवाक्यपटकचञ्चाशब्दार्थं तद्विगतगाम्यपि तृतीयो भेदो भवितुं शक्नोति । 'चञ्चा'शब्दे यथोपमा भवति, तथा प्राक् प्रतिपादितमेव । किन्तु तत्र 'स्वहित नैव जानीते' इत्येतेन 'स्वहितानाकरणरूपधर्म' आसीत् । इदानीं तदशापरिवर्तने धर्मलभताऽपि तत्र सञ्जायत इति भावः ।

क्रिप् और समास में होनेवाले दो भेद वाचकधर्मलुप्तोपमा के प्राचीनों ने कहे हैं, पान्तु तद्वित में भी एक तृतीय भेद उसका देखा जाता है। जैसे पूर्वोक्त पद्य के 'चन्द्रापूरुषः सोऽयम्' इस अंश के आगे, 'अपना हित नहीं करना' रूप बोधकधर्म 'यः स्वहितं नैव जानीते' इस भाग को 'योऽत्यन्त विषयवासनाधीन. अर्थात् जो अत्यन्त ही सांसारिक धनपुत्रादिविषयविषयक संस्कार का बन्धीभूत है' इस रूप में बदल देने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप की जगह में।

उपमंहरति—

एवं च द्वात्रिंशद् भेदाः ।

निगदन्त्याहयातमिदम् ।

इस तरह से अब उपमा के बत्तीस भेद हो गये अर्थात् प्राचीनों ने पहले पचीस भेद कहे और पीछे अन्य विद्वानों के मतानुसार सात भेद और अधिक अभी बतलाये गये, दोनों का योग बत्तीस हुआ।

प्राचीनोक्तभेदानालोपयति—

अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि क्यञ्चि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचाम-सद्गतमिव प्रतीयते धर्मलोपस्यापि तत्र संभवान् । न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम् । धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात् । 'नारीयते सपन्नसेना' इत्यादौ वृत्त्यन्तरनिवेदितैः कातरत्वादिभिरभिन्न-तयाप्यवसितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात् । यदि च क्यदर्थ आचारमात्र-मुपमानिष्पादकं स्यात्तदा 'त्रिविष्टपं तत्त्वतु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वा-दिरूपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कृतेरनिष्पत्तेः, तस्यैव च 'सुपूर्वभिः शोमित-मन्तराश्रितैः' इति चरणान्तरनिर्माणे तस्या निष्पत्तेः क्यञ्चाद्यर्थः साधारणोऽपि नोपमां प्रयोजयति । उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचक-शून्यत्वस्यैव धर्मलोपशब्देनाभिधानात् । अन्यथा 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्ल-मिव पङ्कजम्' इत्यादौ पूर्णोपमापत्तेरिति दिक् ।

धर्मलोपस्यापीति । अत्र नागेश —'उपमानादाचारे' इत्युपमानमाचारानिरूपि-तमेव गृह्यते । उदाहरणे च पुत्रपदस्य पुत्रकर्मकाचारसदृशे लक्षणेति वैयाकरणमते च मुतरा धर्मलोपः । न चैतन्मते 'त्रिविष्टपं तत्त्वतु भारतायते' इत्यत्र क्यचोऽनुपपत्तिः । भारताचारसदृशाचारस्य त्रिविष्टपवृत्तेरप्रसिद्धे । 'सुपूर्वभिः शोमितम्' इत्यस्य श्लेषेणा-भेदाप्यवभाष्य एव, न सादस्याप्यवभाष्य इति वाच्यम् । एकशब्दोपात्तत्वेनाभेदबुद्धेरिव शब्दरूपसाधर्म्येण सादर्यबुद्धेरप्युपपत्तेः इत्याहुरिति । ननु नारीयते इत्यादौ आचा-रत्व साधारणधर्मत्वमस्तीत्यत आह—नारीति । वृत्त्यन्तरेति । व्यञ्जनेत्यर्थः । आचार-मात्रमिति । मात्रपदेन किञ्चिदभिन्नतयाप्यवसितत्वव्यवच्छेदः । तस्यैव पद्यम् । तस्याः उपमालङ्कृते । साधारणोऽपि । उभयनिष्ठोऽपि । ननु कथंवागर्थाचारमात्रस्योपमाप्रयोज-कत्वाभावेऽपि साधारणत्वेनोभयधर्मत्वात्तन्परत्वाच्च क्य तल्लोपसम्भवेऽत आह—उपमेति । 'अनलीयति, काननीयति, निर्जलानीयते' इत्यादौ क्रमशः कर्मार्थक्यजाधारार्थकत्रयच्-कर्मार्थकत्रयप्रत्ययान्ते प्रयोगे यथा सादर्यस्य वाचक पदजास्ति, तथा साधारणधर्म-स्यापि वानकं पदं नास्त्येवेति तत्प्रयोगघटितम् 'मल्लयामिलमनलीयति' इत्यादि प्राणु-क्तपद्यम् वाचकधर्मलुप्तोपमाया एवोदाहरण भवितुमर्हति, न केवलवाचकलुप्तोपमाया ।

तथा च कर्माधारकवचनवृत्तत्वेन वाचकस्तुसाया भेदत्रयं प्राचीनैर्ज्ञीकृतमसङ्गतमेव । उपमानोपमेयोमयवृत्तित्वाऽऽचार एव साधारणो धर्मस्तद्वाचकश्च क्यचक्यजादिरनास्तीति तु न वक्तुं योग्यम्, अन्यसाधारणपदार्थभिदाभ्यवसायरहितस्वाचारस्त्योपमाप्रयोजकव्यविरहात् । अत एव 'सुप्रसिद्ध स्वर्गो महाभारतग्रन्थ इवाचरती'त्यर्थके 'त्रिविष्टप तत्त्वतु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वरूपाचारप्रतीतावपि तत्रदुपमालङ्कारो न तिष्ठयते, यावत् 'मध्यभागस्थितै देवै पले तयाविधै आदिसमाप्रयुतिमन्थाभ्यायै शोभितम्' इत्यर्थक 'सुपर्वभि शोभितमन्तराश्रितै' इति श्लिष्ट चरणान्तर तत्र न योग्यते । ननु 'नारीवते सपत्नमेना' इत्यादौ शत्रुसेना नारीवाचरतीत्यर्थके वाक्ये केवलान्चरमेव साधारणधर्ममाधित्योपमानिष्पत्ति कथं भवतीति चेन्न, व्यञ्जनावृत्तिबोध्यकात्स्वादिपदार्थाभिन्नतयाऽध्यवसितमाचार साधारणधर्मतया विदित्वैव तत्रोपमानिष्पत्ते । केवलान्चरमादाय तत्रापि नोपमानिष्पत्तिरिति साराश । एवञ्चोभयनिष्ठोऽपि क्यचक्यार्थ आचार उपमाप्रयोजकी चेति समुदितार्थ । अथ मास्ताम् केवलस्यान्वयस्योपमाप्रयोजकत्वम्, किन्तु तावता तस्योभयनिष्ठत्वेन प्राप्ता साधारणधर्मपदव्यवहार्यता तु न निवारिता स्यात् । अनिवारिताया च तस्याम्, क्यभिह धर्मलोपव्यवहारस्तद्वाचकश्च क्यजादे सत्त्वादित्यपि न मनोरमम्, आदर्शो धर्म उपमा प्रयोजयति तादृशधर्मवाचकपदशून्यतायामेव धर्मलोपव्यवदेशात् । अत एव 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लभिष पद्मजम्' इत्यादौ वस्तुरूपसाधारणधर्मस्य सत्त्वेऽपि धर्मलुप्तोपमेव व्यवहियते न पूर्णोपमा । इत्थं च प्रकृते उपमाप्रयोजकत्वरहितस्य केवलान्चरस्य क्यजादिवाचकत्वेऽपि धर्मलोपव्यवहार एव न्याय्य इति भावः ।

प्राचीनोक्त भेदों की आलोचना करते हैं—अत्रेदमवधेयम् इत्यादि । प्राचीनों ने जो उपमा के पक्षील भेद दिएलये हैं, उनमें एक बात ध्यान देने योग्य है । वह यह है कि—'मलयानिलमन्तलीयति' इस पूर्वोक्त पद्य में 'अन्तलीयति, काननीयति और निर्जलमीनायते' इन अशों की क्रमशः कर्मार्थक क्यच, आधारार्थक क्यच तथा क्यचत वाचकतुता का उदाहरण बतलाना उनका सङ्गतत्वा नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ धर्मलोपव्यवहार भी सम्भावित है । साराश यह कि वे भेद, वाचक और धर्म दोनों के लोप में जा सकते हैं, केवल वाचक के लोप में नहीं । यदि आप कहना चाहे कि उपमान और उपमेय दोनों में रहनेवाला 'आचार' ही साधारण धर्म है और उसका वाचक क्यच आदि यहाँ वर्तमान ही है, फिर धर्मलोप की सम्भावना कैसे की जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं । कारण, केवल आचार अर्थात् जिसका कोई निश्चित रूप नहीं है, वह उभयनिष्ठ होकर भी उपमा का प्रयोजक नहीं होता अर्थात् जैसे आचार को साधारण धर्म मानकर उपमा अलङ्कार नहीं बन पाता । अतएव 'त्रिविष्टप तत्त्वतु भारतायते—अर्थात् सुप्रसिद्ध स्वर्ग, भारत (महाभारत) सा आचरण करता है' इत्यादि स्थानों में सुप्रसिद्धत्वरूप उभय (स्वर्ग और महाभारत ग्रन्थ) निष्ठ आचार की उपस्थिति रहने पर भी तब तक उपमालङ्कार नहीं निष्पन्न होता, जब तक 'सुपर्वभि, शोभित मन्तराश्रितै' अर्थात् मध्य में रहनेवाले सुपर्वों (एकत्र देवताओं, अन्यत्र आदि, समा प्रयुक्ति पर्वों) से शोभित' यह श्लिष्ट विशेषण, उसमें नहीं जोड़ा जाता है । तापस्य यह है कि 'एक विशेषण से युक्त होना' यह शब्दरामक साधारण धर्म की प्रतीति होने पर ही उपमा बन पाती है, उससे पहले आचार की प्रतीति होने पर भी नहीं, इससे सिद्ध होता है कि केवल आचार उपमाप्रयोजक नहीं होता । आप कहेंगे—यदि ऐसी बात होती, तब 'नारीवते सपत्नमेवा' अर्थात् शत्रुओं की सेना नारी—छी ता आचरण करती है' इत्यादि स्थानों में उपमा कैसे होती है ? अर्थात् यहाँ 'आचार' से भिन्न

कोई साधारण धर्म है नहीं, फिर उपमा कैसे मानी जाती है? तो, इसका उत्तर है कि केवल 'आचार' को साधारण धर्म मानकर यहाँ उपमा नहीं मानी जाती, अपितु व्यञ्जना से जब कातरता आदि की प्रतीति होती है और उस कातरता आदि के साथ क्यच् प्रत्यय के अर्थ आचार का अभेद समझ लिया जाता है, तब उपमा धन पाती है अर्थात्—जब वह समझ में आता है कि जैसे नारियाँ कातर होती हैं वैसे शत्रुओं की सेना कातर है, तब उपमा का बोध होता है। स्वरांश यह कि इस दृष्टान्त से भी आप केवल आचार को उपमाप्रयोजक नहीं मित्र कर सकते। यदि आप कहें कि अच्छा, आप ही की बात रहे—केवल 'आचार' उपमा का साधक नहीं होवे, पर उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने के कारण वह साधारण धर्म तो जरूर है, फिर उसके वाचक क्यच् आदि के रहने पर धर्मलोप का व्यवहार कैसे किया जा सकता है? तो, मैं कहूँगा—अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि किसी तरह के साधारण धर्म के रहने पर साधारण धर्म की सत्ता नहीं समझी जाती, अपितु जो धर्म, उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूप से युक्त हो अर्थात् जिस तरह के धर्म के रहने पर उपमा की सिद्धि हो, उस तरह के धर्म की उपस्थिति कराने वाले पद की सत्ता में हो साधारण धर्म की सत्ता समझी जाती है। अतएव 'मुखरूपमिदम् वस्तु' इत्यादि अर्थात् मुखरूप यह वस्तु विकसित कमल स्त्री है' इत्यादि स्थानों में पूर्णोपमा नहीं होती, आप के हिसाब से तो पूर्णोपमा ही यहाँ होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुत्व—जो मुख और कमल दोनों में रहता है—रूप धर्म यहाँ उक्त ही है। मेरे हिसाब से यह भी धर्मलुप्तोपमा होगी, कारण, वस्तुत्व एक ऐसा सामान्य धर्म है जो सभी चीजों में रहता ही है, अतः वह उपमाप्रयोजक हो ही नहीं सकता और दूसरा कोई साधारण धर्म उक्त नहीं है। अन्ततः यह सिद्ध हुआ कि उपमाप्रयोजक साधारण धर्म के न रहने पर धर्मलोप का ही व्यवहार होना समुचित है, चाहे उपमा का अप्रयोजक कोई उभयनिष्ठ धर्म उक्त ही क्यों न हो। इस स्थिति में उक्त स्थल पर केवल आचार अर्थात्—उपमा के अप्रयोजक आचार—के क्यच् आदि के द्वारा उक्त होने पर भी 'धर्मलोप' का व्यवहार होगा।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यद्याप्यदीक्षितैरस्मिन्नेव प्रस्तावे 'धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। 'पटुपटुर्देवदत्तः' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्ये द्विर्भावविधानात्' इति निगदितं तत्तुच्छम्। अत्र च वाचकस्याप्यनुदानाद्वाचकधर्मलुप्तायामेतदाधिक्यमुद्भावयितुमुचितम्, न धर्मलुप्तायाम्। धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्ताशब्देन तैर्विवक्षणात्। अन्यथा एकलुप्तास्वेव द्विलुप्तानां त्रिलुप्तायाश्च प्रहणात्पृथगुपादानमसम्बद्धमेव स्यात्। न चात्र वाचकस्य द्विर्भावस्यैव सत्त्वान्नास्ति लोपः, अपि तु धर्ममात्रस्येति वक्तुं शक्यम्। द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकत्वोक्तैर्भाष्यकैयटादिविरुद्धत्वात्। तदुक्तं कैयटेन 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रे सिद्धं त्विति प्रतीकमुपादाय—'द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्यातीति इति तदर्थो विशेष्यते न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनत्वाद् व्यभिचाराभावात्। तद्प्रहणाद्गुणवचनो यः शब्दो निर्जातस्तस्य सादृश्ये चोत्पे द्वे भवत इति सूत्रार्थः' इति।

'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण सादृश्यार्थे द्वित्वस्य विधीयमानतया 'पटुसदृशो देवदत्त' इत्येके 'पटुपटुर्देवदत्त' इत्यत्रापि वाक्यसमासतद्धितगामितया प्राचीनैरुपदर्शिताया धर्मलुप्तोपमाया एक प्रकारो दृष्टिगोचरो भवतीति यदुक्तं दीक्षितैस्तत्र समीचीनम्, सादृश्यवाचकस्याप्यत्रानुक्ततया, वाचकधर्मोभयलुप्तोपमाप्रभेदेऽपि प्रकारस्यास्य

गणयितुमौचित्यात् । ननु उभयलुप्तात्वेऽपि धर्मलुप्तात्त्वस्यानप्यादाईक्षितोक्तिर्नासमांशानिति चेत्, धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्तापदेन दीक्षितैर्विवक्षितत्वात् । यदि द्विलुप्तादावपि एकलुप्तापदप्रयोगोऽभिमतोऽभविष्यत्, तर्हि एकलुप्ताप्रभेदेऽप्येव द्विलुप्तत्रिलुप्तादानामपि प्रश्लेषे पृथक् तेषां भेदानां प्रहणमसम्बद्धमेवाभविष्यत् । द्विर्भावोऽत्र सादृश्यवाचको कर्तव्य एवेति न तत्क्षोप इति तु न वक्तुमर्हम्, द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकतायां भाष्यकैयटादितोऽसिद्धत्वात् । मूलोद्घृतायां कैयटोक्तस्य सार—‘प्रकारे गुणवचनस्ये’ति सूत्रे गुणवचनत्वं प्रकारस्य विशेषण द्विर्भावस्थानिन पटुशब्दादेवेति विकल्पे, प्रकारस्य सादृश्यस्य सर्वत्र गुणवाचित्वनियमात् व्यभिचारवारकस्य तद्विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद् विशेषणत्वात् ‘गुणवाचकात् शब्दात् सादृश्ये-द्योत्ये द्वित्वं भवती’ति सूत्रस्यार्थं सम्पद्यते इति । अस्मिन् कैयटग्रन्थे द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वमेव कण्ठरवेणोक्तम् न तद्व्याचकत्वम् । एवञ्च सादृश्यवाचकभिरहात् धर्मवाचकलुप्तोदाहरणमेवेदं द्वित्वम् न धर्ममात्रलुप्ताया इति भावः । अत्र—‘द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वेऽपि शक्यत्वरूपवाचकत्वाभावाद् वाचकलोप इति तत्र (पण्डितराजस्य) हृदयम् । तत्तु इवादेशोत्तरानये चन्द्र इव मुपमित्यत्र, चन्द्रमुहुरमुपमित्यत्र च वाचकलुप्तान्वयवहाराभावात् सादृश्यतद्विशिष्टान्यतरबोधकाभापत्यैव वाचकलुप्तान्वयवहारप्रयोजकत्वस्य वाच्यत्वेन द्योतकस्यापि बोधकत्वानपायेन नास्ति वाचकलोप इति तदाशयात् अत्रोभयलुप्तमिति चिन्त्यमिदम् ।’ इति नागेशो रुचिरमाख्यम् ।

दीक्षितोक्ति का स्पष्टन करते हैं—यच्च इत्यादि । ‘धर्मलुप्तोपमा के वाच्यगत, समासगत और तद्धितगत ये तीन प्रकार, प्राचीनों के द्वारा दिखलाये गये हैं, परन्तु उसका चौथा प्रकार भी ‘पटुपटुदेवदत्त’ इत्यादि द्विर्भावस्थल में दीख पड़ता है, क्योंकि यहाँ ‘प्रकारे गुणवचनस्य (८१११२)’ इस सूत्र से सादृश्य अर्थ में पटुशब्द को द्वित्व हुआ है, जिसके अनुसार उसका अर्थ होता है—‘पटु (चतुर) सदस्य देवदत्त’ अर्थात् यहाँ सादृश्य की प्रतीति, ‘पटुपटु’ इस द्विर्भाव से, होती है, अतः यहाँ उपमा है इसमें किसी को आपत्ति नहीं, साथ साथ सादृश्यनियामक धर्म के ग्रहण न होने से इस उपमा के धर्मलुप्ता होने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये, अतः धर्मलुप्ता का यह चौथा प्रकार भी होता है’ यह कथा, इसी प्रसङ्ग पर अक्षय दीक्षित ने कही है जो समुचित नहीं, कारण यहाँ जैसे धर्मवाचक पद का उपादान नहीं है, उसी तरह सादृश्यवाचक पद का भी उपादान नहीं है, ऐसी स्थिति में धर्म और वाचक दोनों के लोप वाले भेद अर्थात् धर्मवाचकलुप्तोपमा के भेद में इस उपमा का उल्लेख करना उचित था, न कि केवल धर्मलुप्ता के प्रभेद में । धर्मवाचकोभयलुप्ता होने पर भी धर्मलुप्ता तो यह उपमा हुई ही, अतः उन्होंने ऐसा कहा, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि धर्मलुप्ता शब्द से केवल धर्मलुप्ता का ही ग्रहण करना उनका अभीष्ट मालूम पड़ता है । यदि ऐसा न होता—अर्थात् धर्मलुप्ता शब्द से धर्मवाचकोभयलुप्ता का भी ग्रहण करना उनका अभिमत होता, तब तो एकलुप्ता के प्रभेदों में ही द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेद भी सगृहीत हो ही जाते, फिर पृथक् द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेदों को गिनाना व्यर्थ ही होता । द्विर्भाव ही यहाँ सादृश्य का वाचक है, अतः वाचकलोप का व्यवहार यहाँ नहीं किया जा सकता, यह कहना भी सही नहीं हो सकता, क्योंकि द्विर्भाव, सादृश्य का वाचक है, यह कथा भाष्य और कैयट आदि ग्रंथों से विरुद्ध पड़ती है । अर्थात् भाष्यकैयटादि ग्रंथों से द्विर्भाव का सादृश्यद्योतक होना ही सिद्ध होता है सादृश्यवाचक होना नहीं । देखिए, ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ इस सूत्र में ‘सिद्धं तु’ इस प्रतीक को लेकर कैयटकार क्या कहते हैं । उनके कथन का भाव है कि ‘प्रकारे’ अर्थात् सादृश्य, सदा सर्वत्र गुणवाचक ही होता है, जाति अथवा क्रिया

का वाचक नहीं, ऐसी स्थिति में 'गुणवचन' यह विशेषण, 'प्रकार' में लपाया नहीं जा सकता अर्थात् 'गुणवाची सादृश्य' में ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सम्भवव्यभिचारार्थं स्याद्विशेषणमर्थवत् अर्थात् कोई विशेषण किसी भी विशेष्य में तभी सार्थक होता है, जब उस विशेषण के अर्थ की, उस विशेष्य में कहीं सम्भावना हो और कहीं उस विशेषणार्थ का व्यभिचार भी हो' ऐसा सिद्धान्त है। तात्पर्य यह कि गुणवाचकत्व का कहीं भी व्यभिचार (अभाव) न रहने के कारण 'प्रकार' में 'गुण-वचन विशेषण' नहीं जोड़ा जा सकता। विशेषणत्वं यह स्थानी (जिसको द्विव्य करना अभीष्ट हो उस पद आदि शब्द) का विशेषण होता है। अतः तदनुसार उक्त सूत्र का यह अर्थ होता है कि 'सादृश्य धोतिल करना हो, तो उस शब्द को द्विव्य कर देना चाहिए, जो निश्चितरूप से गुणवाची ज्ञात हो।' इससे सारांश यह सिद्ध हुआ कि द्विर्भाव सादृश्य का घोटक है वाचक नहीं, अतः 'पदपदुद्धेवदत्त' यह वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण है केवल धर्मलुप्ता का नहीं। नागेश यहाँ दीक्षितमत के समर्थन में कहते हैं कि 'इस प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ 'अभिधावृत्ति के द्वारा सादृश्य का बोधक' नहीं है, अपितु 'किसी भी युक्ति से सादृश्य अथवा सादृश्ययुक्त अर्थ का बोधक है, और ऐसे किसी शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है। अन्यथा 'हव' आदि को घोटक मानने वालों के मत में 'चन्द्र इव मुखम्' इस स्थल पर और उसको वाचक माननेवालों के मत में भी 'चन्द्रसुहृन्मुखम्' इस स्थल पर वाचकलुप्ताका व्यवहार होने लगेगा जो होता नहीं, अतः घोटक द्विर्भाव को भी सादृश्यबोधक होने से वाचक कहलाने में बाधा नहीं रहने के कारण दीक्षित ने यहाँ धर्मलुप्ता मानी है। नागेश की यह मोमांसा सुन्दर है—युक्तियुक्त है, अतः दीक्षित-मत के खण्डन में ग्रन्थकार का यहाँ दुरामह ही शक्यता है।

दीक्षितोक्तमन्यदपि नित्यति—

इदं चान्यत्तस्मिन्नेव प्रस्तावे चित्रमीमांसाकृद्भिरभ्यधीयत—

'नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यवर्गति ।

तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ॥'

अत्र किंप्रकनोलोपि प्रत्येकं वाचकधर्मलोप उभयत्रापि तदरमणीयमेव । कनो वाचकस्य लोपेऽपि तं चन्द्रकलाधरममजन्निति चन्द्रकलाधरमजनराहित्य-रूपस्य धर्मस्य चञ्चामर्त्यसाधारणस्योक्तत्वात्कथं तावद्धर्मस्य लोपः ।

इदं चान्यदिति । वक्ष्यमाणमन्यचेत्यर्थः । किञ्चलोपे तयोर्केयुक्तत्वेऽपि कन्लोपे न युक्तत्वमित्याह—कन इति । 'य शिवं, सेवमानानाम् भजताम्, नृणाम् मनुष्याणाम्, संसारोऽपि जगदपि, अपवर्गति अपवर्गो मोक्ष-स इवाचरति-मोक्षलुप्त्यो भवति, तं, चन्द्रकलाधरम् शिवम्, अमजन् असेवमानो, मर्त्य-संसारो पुष्टः, जगति, चञ्चा तृणर-वितपुल्लिकेव' इत्यर्थके 'नृणाम्' इत्यादि मूलोक्तपद्ये किंप्रकताम् कन्गताच्च वाचकधर्म-लुप्तोपमा यदुदाजहार चित्रमीमांसाकारो दोक्षितः, तत्र मनोरमम्, 'अपवर्गति' इत्यत्र वाचकस्य किंप्र-साधारणधर्मस्य सुसमयत्वादेव वस्तुतो लुप्ततया किञ्चरो तदुक्तैरुक्तत्वेऽपि 'चञ्चा' इत्यत्र वाचकस्य कनो लुप्तत्वेऽपि शिवमजनराहित्यात्मकस्य चञ्चामर्त्योभयवृत्तेः साधारणधर्मस्य 'तं चन्द्रकलाधरममजन्' इत्यनेनोक्ततया धर्मलोपाभावे कनशो तदुक्ते-रयुक्तत्वात् । कनशो केवलशापकृत्तृत्वं न धर्मलुप्तेति भावः ।

दीक्षित की दूसरी उक्ति का भी खण्डन करते हैं—इदं चान्य इत्यादि। इसी प्रसंग पर चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित ने एक दूसरी बात भी कही है और वह यह कि 'नृणाम्' अर्थात् जिते सेवते हुए मनुष्यों का संसार भी मोक्ष सा आचरण करने

उपमा है—मोक्षतुल्य हो जाता है, उस चन्द्रकलाधर (शिव) को न भजने वाला ससारी पुरुष, ससार में चञ्चा है—तृणनिर्मित पुतले के समान है' इस श्लोक में 'अपवर्गति' पद में 'क्विप्' प्रत्यय का और 'चञ्चा' पद में 'क्न्' प्रत्यय का लोप है, अतः इन दोनों पदों में प्रत्येक से वाच्य होने वाली उपमा वाचकलता तो हुई है, क्योंकि सादृश्य-वाचक क्विप् और कन् प्रत्यय लुप्त है, साथ साथ धर्मलुप्ता भी है परन्तु सर्वांश में उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण, क्विप्भाग में संसार तथा मोक्ष दोनों को समान बनाने वाले 'सुखमयत्व' आदि साधारणधर्म के लोप की बात सत्य होने पर भी कन् भाग में तृणरचित पुतले तथा मनुष्यों को तुल्य सिद्ध करने वाला 'शिव के भजन से रहित होना' रूप साधारण धर्म, 'त चन्द्रकलाधरमभजन्' पद से उक्त ही है, अतः उसके लोप की बात असत्य हो जाती है।

दीक्षितमतसमर्थकमवान्तरपूर्वपक्ष कृत्वा खण्डयति—

न चोपमेयमर्त्यविशेषणतयोपात्तस्य चन्द्रकलाधरभजनराहित्यस्य सादृश्योपसर्जने चञ्चायामनन्वयान्न साधारण्यमिति वाच्यम्।

'यद् भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यवर्गति।

तं शम्भुमभजन् मर्त्यश्चञ्चैवात्महिताकृतेः॥

इति पाठे धर्मश्रवणमप्युभयत्रापि संभवति' इति स्वोक्तेरसङ्गतत्वापत्ते'। इहाप्युपमेयससारविशेषणतयोपात्तस्य सुखमयत्वस्य सादृश्योपसर्जनेऽपवर्गेऽन्वयाभावात्कथङ्कार धर्मस्य साधारण्यम्।

यद्भक्तानामिति। यस्य शम्भो, भक्तानाम् सेवकानाम्, ससारीऽपि जगदपि सुखमय-सन्, अपवर्गति मोक्षतुल्यो भवति, तं शम्भुम्, अभजन्, मर्त्यं संसारी, आत्मान स्वस्य, हितस्य कल्याणस्य, अकृते अकरणादेतो चञ्चैव तृणरचितपुत्तलिकानुल्य एवेत्यर्थः। अस्यतिमुपपादयति इहापीति। कथकारमिति, कथ कृत्वेत्यर्थः 'नृणाम्' इत्यादि प्रागुक्तपदे 'अभजन्' इति उपमेयभूतस्य मर्त्यस्य विशेषणरूपेण कथितम् अतस्तदर्थस्य मर्त्यपदार्थ एवान्वयो भवेत्, नोपमानभूतचञ्चापदार्थे, तस्य स्वार्थसादृश्यविशेषणतया पदार्थैकदेशत्वात्। तथा च शिवभजनराहित्यं न साधारणो धर्मः, यत्र साधारणो धर्मः स्वहिताकरणादि स अनुक्त एवेति तत्र धर्मवाचकोभयलुप्तात्वकथन दीक्षितस्य सम्यगेवेति शक्या तत्र तथाहीकारे 'यद्भक्तानाम्' इत्यत्रापि उपमेयभूतस्य ससारस्य विशेषण-रूपेण कथितस्य सुखमयत्वधर्मस्य, अपवर्गपदलक्ष्यार्थसादृश्यविशेषणत्वेन गुणीभूते पदार्थैकदेशे च अपवर्गपदार्थेऽन्वयासम्भवेन साधारणत्वाभाव एव प्रसक्ते 'यद्भक्तानाम्' इत्यत्र तदेव सुखमयत्वमादाय उभयत्रापि (क्विप्कन्भागयो) साधारणधर्मश्रवणकथन तदीयमेव विरुद्धयत इति च समाधानस्याभिप्रायो बोध्यः।

दीक्षितमत को सङ्गत सिद्ध करने के लिये मध्य में एक पूर्वपक्ष करके उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। अनिप्राय है कि—'आप-जो 'शिवजी के भजन से रहित होने' को साधारण धर्म बतलाकर दीक्षितोक्ति का खण्डन करते हैं, वह तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'शिवजी के भजन से रहित होना' साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने वाला) धर्म हो ही नहीं सकता, हो भी कैसे, जब कि 'अभजन्' यह विशेषण, उपमेय-ससारी पुरुष-के लिये पद्य में आया है अर्थात्-उस अभजन् पदार्थ-भजनराहित्य-का अन्वय उपमेय-मर्त्य-में ही हो सकता है, उपमान चञ्चा-तृणरचित पुतला-का नहीं, क्योंकि चञ्चा पदार्थ स्वयं सादृश्य का विशेषण है-गौण है-पदार्थ का एक देश है, पदार्थ नहीं' यह एक पूर्वपक्ष मात्र है, सिद्धान्त नहीं, क्योंकि इसका समाधान यों दिया जा सकता है कि—यदि इस तरह से 'शिवभजनराहित्य' को आप साधारण

धर्म नहीं बनने देते हैं, तब 'पूर्वोक्त 'नृणाम्' इत्यादि पद्य को ही कुछ काट छुट्ट कर 'यद्भक्तानाम्' अर्थात् जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्षतुरग्य हो जाता है, उस धर्म का भजन नहीं करनेवाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण नृणरचित पुतले के समान ही है।' ऐसे पाठ में दोनों तरफ (अपवर्गाति और चञ्चा) साधारण धर्म के ध्वज की भी संभावना हो सकती है अर्थात् इस परिवर्तित पद्य में दोनों स्थल पर केवल वाचकलुप्ता ही होगी धर्मलुप्ता नहीं, क्योंकि धर्म श्रुत ही है छुट्ट नहीं' इन शब्दों में जो दीक्षितजी ने स्वयं 'सुखमयत्व' को साधारण धर्म सिद्ध करने की चेष्टा की है, यह असद्रव्य हो जायगी क्योंकि 'सुखमयत्व भी, सुखमय. समारः' रूप में उपमेय-संसार-का विशेषण है उपमान-अपवर्ग-का नहीं। कारण अपवर्ग स्वयम् सादृश्य का विशेषण है-गौण है-पदार्थ का एक देश है, उसी तरह जिस तरह उक्त 'शिव-भजनराहित्य' है।

पुन दीक्षितमतसमर्थक पूर्वपक्षमुल्लिख्य निराकरोति—

उपमेयगतत्वेनोपमानगतत्वेन चोपात्तस्य धर्मस्य शाब्द उभयान्वयेऽसत्यपि वस्तुतः उभयवृत्तित्वज्ञानमेव साधारणताया न्यायकमिति चेत्, चन्द्रकलाधर भजनराहित्येऽपि दीयतामेवमेव दृष्टिः।

यदन्वयितया यः पदार्थ उच्यते, तस्य तत्रैव शाब्द अन्वयो भवतीति सिद्धान्तः। तथा चोपमेशान्वयितयोक्तस्य धर्मस्योपमेय एव, उपमानान्वयितयोक्तस्य च धर्मस्योपमान एव शाब्द अन्वयो भवेत् नोभयत्रैत्यपि सत्यम्, तथापि यस्मिन् धर्मे वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्तित्वज्ञानं भवति, स धर्म साधारण इति चेत् 'यद्भक्तानामित्यादिपद्ये' शाब्द-सत्त्वोपमेये ससारमात्रेऽन्वीयमानस्यापि वस्तुगत्यापि संसारमोक्षोभयवृत्तित्वेन ज्ञायमानस्य सुखमयत्वस्य साधारणत्वसम्पत्तये निश्चयेत्, तदा 'नृणाम्' इत्यादि पूर्वोक्तपद्ये चन्द्रकलाधरभजनराहित्यस्यापि साधारणत्व स्वीकरणीयनेष तुल्यन्यायात्, यथा सुखमयत्वम् उपमेयान्वयितयोक्तमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्ति, तथा चन्द्रकलाधरभजनराहित्यमपि उपमेयमात्रान्वयितया कथितमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्तीति भावः।

पुनः प्रकारान्तर से दीक्षितमतसमर्थनप्रयास का विराकरण करते हैं—उपमेय इत्यादि। यदि आप कहें कि केवल उपमेय के विशेषणरूप में अथवा केवल उपमान के विशेषणरूप में कहे गये धर्मों का अन्वय शाब्दबोध में उसी पदार्थ के साथ होगा, जिसके विशेषणरूप में वह कहा गया रहेगा यह बात सत्य है, तथापि यद्भक्तानाम्' इस पद्य में 'सुखमयत्व' साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि किसी धर्म को साधारण बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका शब्द अन्वय दोनों (उपमेय तथा उपमान) के साथ होता हो, अर्थात् यह आवश्यक है कि वस्तुतः वह धर्म दोनों में रहता हो-रहनेवाला समझा जाता हो, सुखमयत्व ऐसा है अर्थात् उपमेय संसार तथा उपमान अपवर्ग दोनों में वस्तुतः रहता है, तो मैं कहूँगा कि आपका कथन सर्वथा सत्य है, परन्तु इसी दृष्टिकोण से 'नृणाम्' इत्यादि पद्य के चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को भी क्यों नहीं देखते? अर्थात् इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि सुखमयत्व के समान यह भी धरतुरगया उपमेय भाग्य पुरुर और उपमान चञ्चा दोनों में रहता ही है। तावप्यैव यह कि इस तरह की समान स्थिति में एक को साधारण धर्म आप मानियेगा और दूसरे को नहीं, यह हो नहीं सकता, फलतः दोनों को साधारण धर्म मानना पड़ेगा।

दीक्षितमतसमर्थिका युक्तिमेका कथंचिदङ्गीकुरुते—

यदि चोपमेयतावच्छेदकतयैव चन्द्रकलाधरभजनराहित्यं मम विवक्षितम्,

साधारणधर्मश्च स्वात्महिताकरणरूपः स चात्र लुप्त एवेति शपथेन स्वाभिप्रायः प्रकाशयते तदा निवारितोऽयं दोषः । तुल्यतु भवान् ।

उपमेयतावच्छेदकतयेति । उपमेयान्वयिविशेषणतयेति भावः । शपथेनेत्यादि । मौखिकशपथेन हृदयनिहितसत्यस्यापलापोऽयम्, वापता भवत एव तुष्टिर्न मम तथापि शपथमर्यादारक्षणाय प्रसङ्गेऽस्मिन् मौनमेवावलम्बेऽहमिति भावः । यदि भवान् शपथपूर्वकमिदं वक्तुं पारयेद्यत् 'मृणाम्' इति प्रथमपद्ये चन्द्रकलाधरभजनराहित्यमर्त्यजनरूपोपमेयगामितयैव वक्तुरभिप्रेतम्, अतः स साधारणधर्मो न भवितुमर्हति, यत्र स्वहिताकरणरूपो धर्मः साधारणतया वक्तुरभिमतः स लुप्त एवेति तत्र वाचकधर्मलुप्तावकथनसुसङ्गतमेव । 'यद्भक्तानाम्' इति द्वितीयपद्ये च सुखमयत्वं साधारणतया विवक्षितं वक्तुरतस्तत्र तस्योपादाने न धर्मलुप्तत्वमिति, तदा न कश्चिदत्र दोष इति साराशः ।

दीक्षितमतके समर्थनमें दी गई एक दूसरी युक्ति को (अनिच्छा से ही सही परन्तु) स्वीकार करते हैं—यदि इत्यादि । यदि आप शपथ खाकर अपना अभिप्राय इस रूप में प्रकट करें कि—'मृणाम्' इत्यादि पद्य में जो धर्म—महादेवभजनराहित्य उक्त है, वह उपमेय संसारी जीव के विशेषणरूप में ही यक्षा का विवक्षित है, अतः साधारण नहीं कहा जा सकता और आत्महिताकरण (अपना हित न करना) जो वक्ता का साधारण धर्म के रूप में अभिप्रेत है, वह लुप्त है ही, इसलिए 'वहाँ वाचक धर्मलुप्त है' इस तरह का दीक्षितजी का कथन सङ्गत है, और 'यद्भक्तानाम्' इत्यादि द्वितीय पद्य में 'सुखमयत्वं' उक्त है, उसकी विवक्षा वक्ता ने साधारण धर्म के रूप में ही की है, अतः 'वहाँ साधारण धर्म का अर्थ है' यह कथन भी दीक्षितजी का अनुचित नहीं । तो मैं भी आपकी शपथ मर्यादा की रक्षा की भावना से इस स्थल को निर्दोष मान लेता हूँ । परन्तु है यह मौखिक शपथ के द्वारा हृदयस्थित सत्य का अपलाप ही । इससे मादश जन की मनस्तुष्टि नहीं हो सकती, आप मझे ही सन्तोष का अनुभव कर लें ।

अन्यदपि दीक्षितोक्तमालोचयन् तत्र व्याकरणाशुद्धिं प्रकाशयति—

इदमप्यन्यत्तैरेव वाचकोपमेयलुप्तायामुदाहरणं निरमीयत—

‘रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः ।

पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति ॥’

इदं च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणात् कर्तुं प्रकाशयति । तथाहि पुरत इति नगरवाचिनः । पुरशब्दान्तसिलि हरिणाक्षीणां नगरादित्यर्थस्यासङ्गते । नहि पूर्ववाचकं पुरशब्दः कापि श्रूयते । पूर्वशब्दान्तु 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवञ्चैपाम्' इत्यसौ पुरादेशे च पुर इति भाव्यम्, न तु पुरत इति । अत एव 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' इति प्रायुङ्क्त महाकविः । एवमेव 'सुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः—इत्यप्रस्तुतप्रशसा' इति द्वितीयप्रकरणारम्भेऽप्यपशब्दितं वै । तथा चाहुर्वैयाकरणाः—'पत्या पुरतः परतः', 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि', 'पुरतः सुदती समागतं माम्' इत्यादयः सर्वेऽपि व्याकरणाज्ञानमूला अपशब्दाः इति ।

रूपयौवनेति । रूपेण गौरवादिना, यौवनेन युवावस्थया, लावण्येन 'सुक्ताफलेपुच्छायाया' इत्यादिपरिमापिताभ्यन्तरधर्मविशेषेण, च, स्पृहणीयतरा अतिशयेन कामनाविषयोभूता, आकृति आकारो यस्य तादृश एव वर्णनीय पुरुषविशेष, हरिणाक्षीणाम्

मृगनयनानाम्, पुरतः अत्र, पुष्पायुधोयति पुष्पायुधः कामः स इवाग्रतीतपर्यः । कर्तुं दीक्षितस्य । तसिलीति । अत्र 'इदं चिन्त्यम् । तदप्राप्तं । आशादित्वात्तत्ताक्तिपुचितम् ।' इति नागेशः । महाकवि कालिदासः । तं अप्पवरीक्षितं । पुनरत्र नागेश - 'इदं चिन्त्यम् । 'पुरतः इति निपाताद्भीकारात् । अत एव 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इति कालिदासः, 'पर्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' इति भवभूतिश्च सङ्गच्छते' इति केचित् । अन्ये तु 'दक्षिणोत्तरान्यामतसुच्' इत्यत्रातसुच्वं पुंवद्भावेन सिद्धेऽतमुज्ज्वयान मन्यस्मादपोति प्राप्ताय । तेन पचाद्यन्तात्पुराच्चात्तस्मिन्नित्यसिद्धिः । इत्याहुः । वस्तुतस्तु—'पुर अग्रगमने' इति चौरादिकाणिजभावे इगुपधलक्षणे के 'सार्वाविभक्तिकस्तसि' इति बोध्यम्' इति समुचित दीक्षितमतेन सङ्ग कविभ्रमप्रदायमपि समर्थितवान् । वैयाकरणान् इति । प्राय इत्यादिः । रूपयौवनेति पद्ये 'पुरतः' इति प्रयोगो व्याकरणदिशाऽऽशुद्धः, अविबिभक्षितार्थे 'पुर' इति प्रयोगस्यैव शब्दानुशासनसिद्धत्वादिति साराशः । अन्यत् सुगमम् ।

दीक्षितजी की एक अन्य उक्ति में आलोचना द्वारा व्याकरणाशुद्धि दिखलाते हैं— इदमप्य इत्यादि । दीक्षितजी ने ही वाचकोपमेयलुप्तोपमा के उदाहरण में यह दूसरा पद्य भी धनाया है—'रूपयौवम इत्यादि अर्थात् जिसका आकार रूप (वर्ण), युवावस्था और छावण्य से स्पृहणीय है, ऐसा यह नायक, मृगाक्षियों के आगे कामदेव का सा आचरण करता है ।' यह पद्य अपशब्द (अशुद्ध शब्द) रूप दोष से दूष्ट है, अतः रचयिता का वैयाकरण न होना इससे सूचित होता है । देखिए—'पुरतः' शब्द की सिद्धि, यदि नगरवाची पुर शब्द से, तसिल् (वस्तुतः 'तसि' कहना चाहिए, क्योंकि 'तसिल्' की प्राप्ति यहाँ नहीं होती) प्रत्यय करके, की आयगी, तब उसका अर्थ यहाँ होगा 'मृगाक्षी के नगर से' जो प्रकृत में सङ्गत नहीं होगा । पूर्व (आगे) अर्थ का वाचक 'पुर' शब्द कहीं (कोश आदि में) सुना नहीं जाता—देखा नहीं जाता, अतः पूर्ववाची पुर शब्द से 'तसि' प्रत्यय करके उक्त प्रयोग की सिद्धि करने की बात चलायी ही नहीं जा सकती । रहा पूर्व शब्द, तो उससे 'पूर्वोचरा'... इत्यादि मूलोक्त सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुर' आदेश द्वारा 'पुरः' प्रयोग बनता है, 'पुरतः' नहीं । अत एव महाकवि कालिदास ने 'अमुं पुरः पश्यति देवदाकम्' यह प्रयोग किया है । एक जगह की बात नहीं, इसी तरह दूसरी जगह—चित्रमीमांसा के द्वितीय प्रकरण के आरम्भ में भी दीक्षितजी ने 'मुत्स्य पुरतश्चन्द्रो निष्यम' इत्यादि लिखकर वही गलती की है । 'पुरतः' शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—'पत्या पुरतः परतः', 'भाष्यीय चरणं दधाति पुरतः', 'पुरतः सुदती समागतम्' इत्यादि सभी शब्द अशुद्ध हैं और इन अशुद्धियों के होने में मूल है निर्माताओं का व्याकरणविषयक अज्ञान । नागेश का यहाँ कथन है कि 'पुरतः' शब्द अशुद्ध नहीं है, तीन तरह से उस पद की सिद्धि की जा सकती है । एक निपात मानकर, दूसरा पचादित्वात् अच्प्रत्ययान्त पुर शब्द से प्रापक द्वारा 'अतसुच्' प्रत्यय करके और तीसरा 'पुर अग्रगमने' धातु से चौरादिक णिच् नहीं करने पर 'इगुपधशा प्रीक्षिः क' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करके बनाए गए 'पुर' शब्द से सार्वाविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके । इन तीनों प्रकारों में सूतीय प्रकार सर्वोत्तम है । इस तरह से यह प्रयोग केवल शुद्ध है इतना ही नहीं, महाकवि लोगों ने इसका प्रयोग भी बहुत जगह किया है । जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' कहा है । भवभूति ने उत्तररामचरित में 'पर्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' लिखा है । इस तरह के महाकविप्रयुक्त पदों को लेकर जो पण्डितराज, दीक्षितजी पर कटाघ करते हैं, उससे दीक्षितजी के प्रति पण्डितराज का हार्दिक विद्वेष ही अधिक व्यक्त होता है ।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया पुन प्रकारान्तरेण भेदान् क्वि—

इय चैव भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कार-
योर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा ।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया अलङ्कार्यभेदेन पुनः पञ्च प्रकारा भवन्ति, वस्त्वलङ्काररसभेदेन
त्रिविधाना प्रधानव्यङ्ग्याना वस्त्वलङ्कारभेदेन द्विविधयोर्वाच्ययोश्च स्थलभेदेनालङ्कार्यन्वात् ।
एवञ्च प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतवस्तूपकारिका एका, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतालङ्कारोपकारिका
द्वितीया, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतरसाद्यलक्ष्यभूतपकारिका तृतीया, प्राधान्येन वाच्यवस्तूप-
कारिका चतुर्थी, प्राधान्येन वाच्यालङ्कारोपकारिका च पञ्चमी उपमा भवतीति भावः ।

अथ पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद करते हैं—इयं चैव इत्यादि । अभी अभी जो
उपमा के भेद दिखलाये जा चुके हैं, उन सभी भेदों के पुनः पाँच पाँच भेद होते हैं,
क्योंकि किसी दूसरे अर्थ को अलङ्कृत करने के कारण ही तो उपमा अलङ्काररूप होती है
और अलङ्कृत होने वाले अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं । जैसे—१-वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य,
२-अलङ्काररूप प्रधान व्यङ्ग्य, ३-रसादिरूप प्रधान व्यङ्ग्य, ४-वस्तुरूप प्रधान वाच्य,
और ५-अलङ्काररूप प्रधान वाच्य । उपमा, स्थलभेद से इन पाँचो अर्थों की उपस्का-
रिका-उपकारिका अर्थात्-शोभिका होती है ।

एषु पदेषु प्रकारेषु प्रथम प्रकारमुदाहरतुमाह—

तत्र व्यङ्ग्यरसतूपस्कारिका यथा—

तत्रेति । उक्तपञ्चभेदमध्य इत्यर्थः । उपमाया येन प्रकारेण व्यङ्ग्यवस्तूपस्करण
भवति, स प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

उक्त पाँच भेदों में से व्यङ्ग्य वस्तु को शोभित करने वाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अधिरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम् ।

आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ॥’

अधिरतम् निर्विरामम् सततमिति यावत्, परोपकरणेषु परधीयोपकारमप्यादनेषु,
व्यग्रीभवन्ति अत्यप्राणि व्यप्राणि भवन्तीत्यभूततद्भावे चिन् विषयान्तरे रुदापि व्यग्रता
नानुभवन्त्यपि परोपकारविषये व्यग्रामनुभवन्तीति भावः, अमलानि विशुद्धानि रागद्वेषा
दिशून्यानीति यावत्, चेतसासि हृदयानि, येषां, तेषाम्, महताम् महापुरुषाणाम्
आपातकाटवानि प्रागनुभूयमानकटुत्वकानि, वचनानि, भेषजानि औषधानीव, स्फुरन्ति
प्रकटीभवन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अधिरत इत्यादि । कवि का कथन है—जिनके
विशुद्ध-रागद्वेषादिशून्य-हृदय, सतत परोपकार में व्यग्र रहते हैं अर्थात् जिनके मन
में अन्य प्रकार की व्यग्रता न रहने पर भी परोपकार करने की व्यग्रता सदा बनी रहती
है, उन महापुरुषों के, पहले कटु प्रतीत होनेवाले वचन औषधों के समान स्फुरित-
प्रकट-होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र तादृशि वचनान्यर्थद्वारा सेवमानस्य मनागप्यक्षुभ्यत परिणामे परमं
सुखं भवतीति प्राधान्येन व्यङ्ग्यस्य वस्तुन उपस्कारिका भेषजोपमा ।

तादृशीति । आपातकाटवानीत्यर्थः । अर्थद्वारा सेवमानस्येति । अर्थज्ञानपुरस्सरं तथा
चरत इत्यर्थः । मनागपि ईषदपि । अक्षुभ्यत इति । प्रारम्भिककटुत्वभयेन रागाव्यमानं

वैमुह्यं नासादयत इत्यर्थः । अत्र 'तादृशि "' इत्यादिगुलोकं वस्तु 'आपातकाटवानि' इति पदेन, प्रधानतया व्यज्यते । इदमेव वस्तुव्यङ्ग्यमत्र काव्यजीवातुभूतम्, न रसादिरिति तात्पर्यम् । व्यङ्ग्यमेकमर्थम् भेषजानांवेति पूर्णा भेषजोपमा, भूयति-प्रतिपाद्यमानेन प्रारम्भकटोरवि परिणामसुखस्य भेषजस्य सादर्येण परिपुष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थः समत्कृति-सधिका जनप्रतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ 'जो मानव ऐसे बच्चों का सेवन अर्थतः करता है अर्थात् अर्थ समझकर इन बच्चों के अनुसार व्यवहार करता है और कटुता के भय से जरा भी विकृष्य नहीं होता—बचनसेवन से पराङ्मुक्त नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख प्राप्त होता है' यह अर्थ, 'आपातकाटवानि' पद से व्यङ्ग्य होता है । यही व्यङ्ग्य, इस पद्य में, प्रधान है—काव्यव्यवहार का कारण है और इस व्यङ्ग्य को शोभित करती है 'भेषजानीव' पद से वाक्य हीने वाली औषध की पूर्णोपमा । सारांश यह कि औषध सादर्य से परिपुष्ट होकर वह अर्थ और अधिक समत्कार को उत्पन्न करता है ।

द्वितीय प्रकारमुदाहर्तुमाह—

, व्यङ्ग्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्बन् व्याख्या ।

व्यङ्ग्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निदिरयते—

'अझायमानमलिके मृगनाभिपङ्कम्,
पङ्केरुहाक्षिवदनं तव वीक्ष्य विभ्रत् ।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्षमूला-
श्चञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः ॥'

नायको नायिकानिकटे चाटुकारिता कुरते—हे पङ्केरुहाक्षि कमललोचने ! श्रलिके भालदेशे, अझायमानम् चिहायमानम् चन्द्रगतश्यामचिह्नसहरामिति यावत्, मृगनाभि-पङ्कम् कस्तूरीकादवम्, विभ्रत् रधानम्, तव, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, उल्लासेन आह्लादेन, पल्लवितानि विकसितानि, कोमलानि, पक्षाणां, मूलानि आरम्भभागा येषां तादृशा, चकोरपोता चकोरणा शिशवः चञ्चूपुटम्, चपलयन्ति चञ्चलं कुर्वन्तीत्यर्थः । कलङ्कतुल्यकस्तूरीद्रवविन्दुवन्दितलललललतटे तवानने चन्द्रभ्रमेण चकोरकिशोरका, आनन्देन कोमलानि पक्षमूलानि पल्लवयन्तश्चन्द्रिकापानकामतया चञ्चूपुटं चपलं त्रिदधतीति तद्भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अझायमान इत्यादि । नायिका के प्रति नायक की चाटुक्ति है—हे कमललोचने ! भालदेश में कलङ्क (चन्द्रगत चिह्नविशेष) के समान कस्तूरीद्रव को धारण करते हुए तुम्हारे मुख को देखकर, आनन्दान्तरेक से जिनकी आँखों की जड़े विकसित हो गई हैं ऐसे चकोरों के बच्चे, अपने चोंच को चपल बना रहे हैं—अर्थात् चन्द्रभ्रम से तेरे मुख की चाँदनी को चखने के लिये आतुर हो रहे हैं ।

उपपाद्यति—

अत्र प्राधान्येन व्यङ्ग्ये आरोप्यमाणचन्द्रके भ्रान्तिमत्यलङ्कारे उपपाद-कस्य भालस्थमृगमदपङ्कविषयकस्याङ्काभेदारोपस्याङ्कसादर्यरूपदोषमूलकत्वाद्दु-पमात्रालङ्कारः ।

नच्चत्रोपमालङ्कारो नैयात आह—अत्र प्राधान्येनेत्यादि । व्यङ्ग्ये इति वाक्यव्यङ्ग्ये

द्वयर्थ । अलङ्कारे इति । सतीति शेष । उपपादकस्येत्यस्य तस्येत्यादि । अत्रालङ्कार इति । तथा च तदुपस्कारकत्वमस्या स्पष्टमिति भाव । अद्वायमानमिति पद्ये समप्र वाक्यत स भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते, यत्र चकोरकिशोरकर्तृकचञ्चुपुटचपलनान्यथानु पपत्या मुत्वे चन्द्राभेदारोपो भवति । स चारोपो न तावत् सिद्धुं शक्नोति, यावत् ललाट- देशस्यकस्तूरीद्रवे, कलद्वाभेदारोपो न भवेत्, अतः सोऽप्यारोपो विधीयते । नन्वेवमद्वाय मानमिन्वनेनाद्वाभेद एव बोध्येत, तथा चात्रोपमाया अवसर एव नास्तीति चेन्न, अद्वा भेदारोपसादृश्यरूपदोषाऽमूलकतयाऽऽवश्यकस्य तत्सादृश्यस्यैवाद्वायमान इत्यनेन बोधनात् सादृश्यस्यैव चोपमात्वात् । कस्तूरीद्रवेऽद्वासादृश्यबोध शब्द, तस्मिन् तदभेद- बोधस्तु आर्य इति रहस्यम् । एवञ्च व्यङ्ग्यभ्रान्तिमदलङ्कारोपरकारकत्वमुपमाया स्पष्ट मिति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्र प्राधान्येन द्वायादि । 'अद्वायमान-' इत्यादि पद्य में सम्पूर्ण वाक्य से प्रधानरूप में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार अभिव्यक्त होता है अर्थात् नायिका के मुख को चकोर के चषके चन्द्र समझते हैं, अत एव चन्द्रिकाधान की कामना से वे बार बार अपने चोंचों को चञ्चल करते हैं, फलत यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में चन्द्र का आरोप मुख में किया जाता है और इस आरोप का साधक है ललाटदेश में लगे कस्तूरीद्रव में कलङ्क के अभेद का आरोप और इस द्वितीय आरोप का मूल है कस्तूरीद्रव में रहने वाले अद्वा (कलङ्क) के सादृश्यरूप दोष का ज्ञान । सादृश्य ही उपमा है, जो यहाँ 'अद्वायमान' पद में 'क्यङ्' प्रत्यय का वाक्य अर्थ है । तात्पर्य यह कि 'अद्वायमान' पद से अद्वा का अभेद बोधित नहीं होता, अपितु अद्वा का सादृश्य ही, वीछे इस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अद्वा का अभेद अर्थतः विदित होता है । यहाँ उपमा (सादृश्य), व्यङ्ग्य भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उपस्कारक है—पोषक है, क्योंकि उस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अद्वाभेद का ज्ञान और इस अभेदज्ञान से मुख में चन्द्राभेदरूप भ्रान्तिमान् का ज्ञान होता है ।

तृतीयप्रकारोदाहरणं पूर्वालिखित स्मारयति—

रसोपस्कारिका तु 'दलदरविन्द—' इत्यत्र प्रागेवोदाहृता ।

उपमासामान्योदाहरणत्वेन प्रागुल्लिखितस्य 'गुरुजन ' इत्यादिपद्यस्य 'दलदर- विन्दसुन्दरम्' इत्यंशे वर्तमाना समासगतोपमा सकलवाक्यार्थभूतस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य शोभिकेति भाव ।

तृतीय प्रकार के उदाहरण का—जो पहले ही लिखा जा चुका है—स्मरण कराते हैं— रसोपस्कारिका इत्यादि । 'गुरुजन ' इत्यादि पद्य, पहले (सामान्य उपमा का उदाहरण दिखलाने के समय में) लिखा जा चुका है । उस पद्य के 'दलदरविन्दसुन्दरम्' अंश में जो उपमा है, वह रसोपस्कारिका कही जा सकती है, क्योंकि उस उपमा से उस पद्य का प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भशृङ्गार (रस) शोभित होता है ।

भेदपरिगणने न्यूनताधर्मं निराकुरुते—

रसपदेनासलक्ष्यरुमस्योपलक्षणान्नावाद्युपस्कारिकाप्यत्रैवान्तर्भाव्या ।

रस्यते = आरथायते इति व्युत्पत्तिशोभायत्र शास्त्रे प्रायोऽमलक्ष्यरुमव्यङ्ग्यपमात्रे रस- पदप्रयोग कियते, अत एव 'वाक्य रसात्मक काव्यमिति' विश्वनाथ, एवञ्च प्रकृते वस्त्व- लङ्काररमरूपाणाम्' इति परिगणनपरे वाक्यांशे रसपदेन भावादीना समहोऽभोष्ट । तेन भावाद्युपस्कारिका अपि उपमा सगृहीता एवेति न कापि न्यूनतेति भाव ।

यहाँ अलङ्कार्यभेद से जो उपमा के भेद किये गये हैं, उनमें रस की चर्चा है, पर भाव आदि की नहीं, अतः जो न्यूनता का भ्रम उत्पन्न हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिये लिखते हैं—रसपदेन इत्यादि । इस साहित्यशास्त्र में प्रायः सभी अलङ्कार्यक्रम व्यङ्ग्यों के लिये 'रस' पद प्रयुक्त होता है, क्योंकि 'रस्यते=आस्वाद्यते इति रसः अर्थात् जो आस्वादित हो उसे रस कहा जाता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव आदि सभी अलङ्कार्यक्रम व्यङ्ग्य रस पद के अर्थ हो सकते हैं । इस स्थिति में यहाँ कोई न्यूनता नहीं दीख पड़नी अर्थात् भाव आदि को उपस्कृत करनेवाली उपमाओं का भी समावेश रसोपरकारिकाओं में ही हो जाता है ।

'भावाद्युपस्कारिका' इत्यादिपदप्राप्तयो- रसाभासभावाभासयोरुपस्कारिकाया उपमाया उदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यनं स्मारयति—

यथा—'नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव', 'वन्यकुरङ्गीव वेपते नितराम्' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु ।

'नैवापयाति' इति पद्यम् भावाभासोदाहरणप्रदर्शनादसरे, 'वन्यकुरङ्गीव' इति च रसाभासोदाहरणप्रदर्शनकाले प्रथमानने संसुल्लिखितम् तर्ष्व द्रष्टव्यम् । तत्र प्रथमपद्यस्याधिदेवतोपमाऽनुनितया भावाभासरूपा गुरुकन्याविषयिणी स्मृतिमुपस्करोति, एवं द्वितीयपद्यस्य बालकुरङ्गुपमा, रतेर्नदवेष्या मनागप्यस्पर्शादनुभवनिष्ठत्वेनाभासरूपं शृङ्गाररसमुपस्करोतीति भावः ।

'भावाद्युपस्कारिका' इस मूलोक्त पङ्क्ति के आदि पद से समर्पित होनेवाले रसाभास तथा भावाभास का शोभित करनेवाली उपमाओं के उदाहरणभूत पूर्वोक्तलिखित दो पद्यखण्डों का स्मरण दिलाते हैं—यथा इत्यादि । 'नैवापयाति' इत्यादि पद्य भावाभास के उदाहरण लिखते समय और 'वन्यकुरङ्गीव' इत्यादि पद्य रसाभास के उदाहरण लिखते समय प्रथम आवन में विखलाये गये हैं, अतः सम्पूर्ण पद्य वहाँ देखे जा सकते हैं । उन दोनों में से प्रथम पद्य की 'अधिदेवतेव' यह उपमा, अनुचित होने के कारण भावाभासरूप गुरुकन्याविषयक प्रधान स्मृतिभाव को सुशोभित करती है । इसी तरह द्वितीय पद्य की 'बालकुरङ्गीव' यह उपमा, नववधू में रति की सर्वथा अवर्तमानता से अनुभवनिष्ठ (केवल जापकनिष्ठ) होने के कारण भावाभासरूप शृङ्गाररस को सुशोभित करती है ।

चतुर्थं शृङ्गारमुदाहृतंमाह—

वाच्यवस्तुपस्कारिका यथा—

व्याख्या तु प्राग्वत् ।

वाच्य पद्य को सुशोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अमृतद्रवमाधुरीमृतः सुखयन्ति श्ववसी सखे गिरः ।

नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव ॥'

कथन रससहाय द्रव्ये—हे सखे मित्र ! अमृतद्रवस्य पीपूरसस्य, या माधुरी मधुरता, तत्समाना या माधुरी, ता, विप्रति धारयन्तीति तादृशा, तव, गिरः श्ववसानि, मे, श्ववसी श्रोत्रे, सुखयन्ति आनन्दयन्ति । सम्प्रति, शरदिन्दुप्रतिमं शरचन्द्रनुत्वं, तव, मुखम्, मे, नयने मेधे, अपि, शिशिरीकरोतु शीतलयतु । सुधोषमत्वदीयवचनश्रवणेन कर्णो मयं तुष्टौ, परन्तु शरचन्द्रनिभम् तवाननं न परयदत एवातृणं मम नेत्रद्वयं त्वन्मुखाविलोकनेन तृप्तिमभिलष्यतीति तदपि त्वया पूरणीयमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अमृतद्रव इत्यादि । एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—हे सखे ! अमृतरस की मधुरता के समान मधुरता को धारण करनेवाले तेरे बचन मेरे कानों को सुखी कर रहे हैं, पर तेरे मुखदर्शन की क्यासी मेरी आँखों तरस ही रही है, अतः मैं चाहता हूँ कि शरच्चन्द्र के तुल्य तेरा मुख मेरी आँखों को शीतल करे ।

उपपादयति—

अत्र नयनशिशिरीकरणरूपे वस्तुनि वाच्ये मुखस्य शरदिन्द्रूपमोपस्कारिका ।
अमृतद्रवेति पद्ये यद्यपि रसादिर्ध्वङ्ग्यो नास्ति, तथापि वाच्यार्थस्य चमत्कारित्वेन पण्डितराजकृतलक्षणानुसारेण काव्यत्वम् । तत्र चमत्कारजनक नयनशिशिरीकरणरूप वाच्यं वस्तु मुखोपमेयिणः शरच्चन्द्रोपमानिकोपमा शोभयतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में 'आँखों को शीतल करना' जो वाच्य वस्तु है, उसको मुख में दी गई शरच्चन्द्र की उपमा शोभित करती है—पुष्ट करती है ।

पद्यमभेदमुदाहर्तुमाह—

वाच्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्बत् न्याख्येयम् ।

वाच्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम् ।

न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ॥'

नायकस्य नायकद्वया वा नायिका प्रत्युक्ति—सरोरुह कमलम्, यथा, शिशिरेण शिशिरर्तुना तदागमेनेति लक्ष्यार्थ, शैत्येन वा, 'हेतौ तृतीया तथाप्रेऽपि' अमृतरश्मि मण्डलम् चन्द्रमण्डलम्, यथा, दिवसेन दिनेन, मनागपि ईपदपि न, शोभते, तथा, हे तन्वि । इदम्, तव, आननम् मुखम् (आपि) रोषेण क्रोधेन, ईपदपि न शोभते । रोपाकुल तव मुखम्, शैत्यगलितम् कमलमिव, दिवसम्लानम् चन्द्रमण्डलमिव च, शोभा-विहीन भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शिशिरेण इत्यादि । नायक की अथवा उसकी दूती की नायिका के प्रति उक्ति है कि—जैसे शिशिर ऋतु के आगमन से कमल और दिन से चन्द्रमण्डल धोखा भी शोभित नहीं हो पाता, उसी प्रकार, तेरा यह मुख, रोष से धोखा भी शोभित नहीं होता—ऐसा सुन्दर मुख क्रोध के कारण फीका-फीका सा दृष्टि-गोचर होता है ।

उपपादयति—

अत्र वाच्यस्य दीपकस्योपमोपस्कारिका ।

'शिशिरेण' इति पद्येऽप्रस्तुतयो कमलचन्द्रमण्डलयो प्रस्तुतस्य मुखस्य च शोभाभावरूपे एकरश्मिन् धर्मोऽभिराम्बन्धादीनालङ्कारो वाच्यः । स एव च प्रधान प्रकृत-पश्यन् काव्यत्वनियामकः । यथातथापदनोभ्य उपमालङ्कारस्य वाच्योऽपि तस्य दीपकस्य पोषक एवेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'शिशिरेण' इत्यादि पद्य में अत्राकरणिन् कमल तथा चन्द्रमण्डल का और प्राकरणिक नायिकामुख का शोभित न होने रूप एक धर्म के साथ समबन्ध वर्णित होने के कारण दीपकालङ्कार वाच्य है, अधिक चमत्कारी

होने के कारण वही प्रधान है—प्रकृत पद्य को काव्य सिद्ध करनेवाला है और 'यथा-सथा' पद्य से अवगत होनेवाला उपमालङ्कार वाच्य होकर भी न्यून चमत्कारी होने के कारण गौण है—उस दीपक का ही शोभाधातक है—पोषक है ।

ननु वस्तुलङ्कारयोरिव रसस्यापि वाच्यत्वेन षोढा वस्तुमुचितेयमत आह—

रसादिस्तु न वाच्य इति प्रागेवाभिहितम् ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनाभिगता रसरसाभासभावमानाभासादयो व्यङ्ग्या एव भवन्ति न वाच्या इति पूर्वमुक्तम्, अतः पद्यैव न षोढा इति भावः ।

रस आदि जो अलक्ष्यक्रम कहे जाते हैं—व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है, अतः अलङ्कार्यभेद से उपमा के पाँच ही भेद कहे गये, 'वाच्यरसोपस्कारिका' नामक छठा भेद नहीं ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

अथ कथमलङ्कारस्यालङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वमुच्यते । प्रधानस्यैवालङ्कार्यत्वादिति चेत् मैवम्, अलङ्कारस्योपमादेर्ध्वन्यमानतायां प्राधान्याद्रसादिवदलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे न कोऽपि तावदस्ति विरोधः । एवमेव मुख्यतया वाच्यतायामपि । यथा ह्यापणादौ विक्रीयमाणतायां कनकताटङ्गस्य रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे तस्यैव च कामिनोर्कर्णालङ्कारतायां पुनः प्रधानान्तरसांनिध्यात्ताटङ्गस्य तद्गतरत्नानां च साक्षात्परम्परया च कर्णादिशोभोपस्कारकतया यथा तदलङ्कारत्वम्, एवमेव रसादिसान्निध्ये रूपकादेस्तदुपस्कारकस्यालङ्कारान्तरस्य च रसाद्यलङ्कारतेति ।

प्रधानस्यैवेति । अलङ्कारस्त्वप्रधानमेवेति भावः । वाच्यतायामपीन्द्र न विरोध इत्युपपन्नः । दृष्टान्तविषयाऽऽह—यथा इत्यादि । प्रधानान्तरेति । प्रथमप्रधानतादृशपेक्षयाऽन्यस्य कामिनोर्कर्णरूपप्रधानस्येत्यर्थः । तदलङ्कारत्वम् कर्णालङ्कारत्वम् । रसाद्यलङ्कारतेति । रसादिरूपालङ्कार्यनिरूपितालङ्कारतेत्यर्थः । य प्रधान स अलङ्कार्यो भवति, यश्च गौणः स अलङ्कार इति वस्तुस्थितिः । तथा चोपमाया वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वमूलको भेदो न सम्भवति, उच्युक्तथा वाच्यालङ्कारस्योपस्कार्यत्वासम्भवादिति शङ्का, यत्रोपमादिरलङ्कारो व्यङ्ग्यः, अत एव प्रधानस्तत्र सोऽपि रसादिवन् अन्येनालङ्कारेणोपस्क्रियत इत्यत्र न कस्यापि विमतिः । एवञ्च यत्र वाच्योऽपि कश्चिदलङ्कार रसादिराहित्येन स्वयं काव्यजोबातुभूतो मुख्यो भवेत् (यथा 'शिशिरेण ' इत्यादिपद्ये दीपकालङ्कार) तत्र, तस्य, मित्रेण तदपेक्षयाऽल्पचमत्कारित्वाद् गुणीभूतेनालङ्कारेण, उपस्करणं सम्भवत्येव, विरोधाभावात् । रसव्यञ्जकत्वान्ये तु साक्षात् रसोपस्कारका ये अलङ्कारा ये वा रसोपस्कारकालङ्कारोपस्कारका अलङ्कारा ते सर्वेऽपि साक्षात्परम्परया वा रसोपस्कारका एव व्यवहियेरत् । रीतिरियं लौकिकालङ्कारदृष्टान्तसिद्धैव, विपणिगतकनकनिर्मितताटङ्गालङ्कारे कर्णाद्यसांनिधानेन स्वयं प्रधानीभूते रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वव्यवहारस्य, कर्णगते पुनस्तस्मिन् सर्वप्रधानस्य कर्णस्यैवोपस्कार्यत्वेन तयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोरुपस्कारकवमात्रव्यवहारस्य च दर्शनादिति भावः ।

क्या अलङ्कार भी अलङ्कार को शोभित करता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—अथ इत्यादि । यदि कोई कहे कि यह पाँचवा भेद तो ठीक नहीं हुआ अर्थात् एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार से उपस्कृत-शोभित-नहीं हो सकता, क्योंकि उपस्कार्य-अलङ्कार्य-कोई प्रधान होता है और अलङ्कार तो स्वयं गौण होता है अतएव अलङ्कार कहलाता

है—दूसरे को शोभित करने वाला समझा जाता है, फिर वह अलङ्कार कैसे होगा ? तो इसका समाधान यह है कि जहाँ अलङ्कार-उपमा आदि-प्रधानरूप में ध्वनित होता रहता है, वहाँ वह उसी तरह दूसरे वाच्य अलङ्कारों से शोभित होने वाला माना जाता है, जिस तरह कोई रस आदि, यह सिद्धान्त सर्वमतसिद्ध है। फिर जहाँ-‘शिशिरेण’ इत्यादि तरह के काव्यों में—अलङ्कार वाच्य होकर भी रस आदि प्रधानान्तर के न रहने के कारण स्वयं प्रधान है—चमत्कारी है अतएव काव्य का प्राणभूत है, वहाँ वह भी रस आदि के समान अथवा ध्वनिभूत अलङ्कार के समान, अन्य अल्पचमत्कारी अतएव शौण अलङ्कार से शोभित होने का सौभाग्य क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? अवश्य कर सकता है। तात्पर्य यह कि प्रधानता ही तो अलङ्कार्यता का मूल है, फिर जहाँ रस आदि न हों और कोई वाच्य अलङ्कार ही अपने उज्ज्वल चमत्कार से पदावली को काव्य कहलाने का सौभाग्य प्रदान करे, वहाँ तो उस अलङ्कार को ही मुख्यता की पगड़ी मिलेगी, अतः वैसी स्थिति में पोषकरूप में वर्णित यदि कोई दूसरा अलङ्कार रहेगा, तब उससे वह (प्रधान अलङ्कार) अलङ्कृत हो सकता है। हाँ, जहाँ रस आदि सर्वप्रधान की सत्ता रहेगी, वहाँ सभी अलङ्कार उसी को अलङ्कृत करेंगे—आपस में उन अलङ्कारों का अलङ्कार्यालङ्कारकभाव नहीं होगा। यह रीति लौकिक अलङ्कारों में भी देखी जाती है—जब सोने का बना ताटङ्क (कर्णाभरण) दूकान में बिकता रहता है, तब वही प्रधान रहता है, अतः उस काल में रत्न आदि दूसरे अलङ्कारों से वह शोभित होता है अर्थात् ताटङ्क अलङ्कार्य और रत्न आदि अलङ्कृत करने वाला समझा जाता है, पर जब वही ताटङ्क कामिनी के कानों में झूलता हुआ रहता है, तब वह प्रधान नहीं रह जाता—उस स्थिति में कामिनी के कान ही प्रधान हो जाते हैं, अतः ताटङ्क अलङ्कार्य नहीं कहलाता, ताटङ्क तथा रत्न आदि सभी कान के अलङ्कार कहे जाते हैं।

भेदाः सङ्ख्यन्ते—

एवं च प्राचां मते पञ्चविंशतिभेदायाः पुनः पञ्चविधतायां सपादशतं भेदाः। द्वात्रिंशद्भेदवादिनां तु पष्ट्युत्तर शतम्।

एवं वेति। अलङ्कार्यभेदेनालङ्कारभेदस्वीकारे चेत्पर्यन्तं। पूर्णाया पट्लुतायाश्चैरी-नविंशतिरिति ये पञ्चविंशतिभेदा उपमाया प्राचीनेतसैहकास्तेषा प्रत्येकस्य पुनरलङ्कार्य-भेदेनानुपदं पञ्चविधप्रतिपादने जाते साकृत्येन पञ्चविंशत्यधिकशत भेदा उपमाया निष्प-द्यन्ते। मध्यकालिकैश्च कैश्चिदाचार्यैर्लुताया एकोनविंशत्यधिका सप्त अन्येऽपि भेदा कथिताः। तन्मतानुसारं द्वात्रिंशद्भेदानां पुनः पञ्चविधत्वे पष्ट्यधिकशतभेदा उपमाया जायन्त इति भावः।

भेदों का सङ्कलन किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस प्रकार से जिन प्राचीनों के मत में पहले उपमा के पचीस भेद हुए थे, उनके मत में अब एक सौ पचीस भेद हो गये, क्योंकि पूर्वोक्त पचीस भेदों में से प्रत्येक के और पाँच पाँच भेद अब दिखाये गये हैं और जिन प्राचीनों के मत में पहले बत्तीस भेद हुए थे, उनके मत में अब प्रत्येक के पाँच पाँच हो जाने के कारण एक सौ साठ भेद हुए।

उपमाभेदान्तराणामपि सभावना सूचयति—

इतश्चान्येऽपि प्रभेदा कुशापीयधिपणौ स्वयमुद्भावनीयाः।

इतः इति। उक्तेभ्यो भेदेभ्य इत्यर्थः। प्रभेदा इति। उपमाया इति भावः। कुशा-प्रीयधिपणैरिति। कुशापीया कुशाप्रसवधिनी कुशाप्रसव्येति यावत् धिपणा युद्धियेया तैः त्रीक्ष्णयुद्धिभिरिति भावः। स्वयमिति। प्राचीनोक्तिसाहाय्यविरहेऽपि इति तात्पर्यम्, उद्भावनीया उक्ताः।

उपमा के जितने प्रभेद ऊपर विपलये जा चुके हैं, उन सबों से भिन्न और और भेद भी हो सकते हैं, जिनका उक्त तीक्ष्णबुद्धियों को स्वयं कर लेना चाहिए।

स्वयमुद्गावनीयन्वेनोक्तान् उपमाया प्रभेदान् निर्दिदिषुः प्रथमम् सभानधर्मवैलक्षण्य-मूलान् तान् निर्दिशति—

तत्र क्वचिदनुगाम्येष धर्मः । क्वचिच्च केवलं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्नः । क्वचिदुभयम् । क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितं बिम्ब प्रतिबिम्बभाषम् । क्वचिदसन्नप्युपचरितः । क्वचिच्च केवलशब्दात्मकः ।

तत्रेति । उद्गावनीयेषु भेदेष्वित्यर्थः । क्वचिदिति । कस्याननोपमायामित्यर्थः । एव-मग्रेऽपि । अनुगामीति । सकृन्निर्दिष्टोऽपि एकेन रूपेणोपमानोपमेययोरुभयोरनुगमनकर्ता इत्यर्थः । अत्रैवकारेण धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वं व्यवस्थितयते । धर्म-उपमानो-पमेयोभयसाधारणो गुणवियादिः । केवलमिति । अनुगामित्वरहितमित्यर्थः । बिम्ब-प्रति-बिम्बभावमिति । पृथग्निर्दिष्टत्वे सति वस्तुतो भिन्नत्वे च सति सादृश्यमूलकभेद-मित्यर्थः । आपन्न इति । प्राप्त इत्यर्थः । अत्र 'धर्म' इत्यनुपपद्यते । उभयमिति अनुगा-मित्वं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावं चेत्यर्थः । अत्र 'आपन्न' धर्म' इत्यस्यानुपपत्तौ बोध्यः । अयं च नातिरिक्तो भेदः, अत एवाप्रिमा 'तृतीयोऽपि त्रिविध' इति 'पञ्चो धर्मः' इति चोक्तिः सप्तच्छते । तस्यातिरिक्तभेदत्वे तु 'चतुर्थ' 'सप्तम' इति चोक्तिः स्यात् । वस्तुप्रतिवस्तु-भावेनेति । एकत्वेऽपि आश्रयभेदप्रयुक्तभेदेनेत्यर्थः । करम्बितम् मिश्रितम् । बिम्ब-प्रति-बिम्बभावमित्यस्यामे 'आपन्नो धर्म' इति पूर्वोक्तस्यानुपपत्तौ वैयः । असाक्षपीति । मिथ्या-भूतोऽपीत्यर्थः उपचरित आरोपित । अत्रापि 'धर्म' इत्यस्यानुपपत्तौ । केवलशब्दात्मक इति । गुणक्रियादिरूपो न किन्तु समानशब्दरूपः धर्म इत्यर्थः । एतेन पुनः पञ्चधोपमा विभक्त्येति बोद्धव्यम् ।

उद्गावनीय भेदों में से तब तक समानधर्म की विलक्षणता से होनेवाले भेदों का उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—तत्र ह्यादि । १—किसी किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी अर्थात् एक बार निर्दिष्ट होकर एक ही रूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में सहद्वित होनेवाला रहता है । २—किसी किसी उपमा में समान धर्म केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होता है अर्थात् उपमान तथा उपमेय के धर्म वस्तुतः दो रहते हैं, अतः पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट भी रहते हैं, पर सादृश्यमूलक, उन दोनों धर्मों में अभेद माना गया रहता है अथवा विश्वप्रतिबिम्बभावापन्न और अनुगामी दोनों एक साथ होते हैं । ३—किसी किसी उपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से मिश्रित रहता है अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म के विशेषणरूप में एक ऐसा धर्म कहा रहता है जो वस्तुतः एक ही होता है पर उसका निर्देश भिन्न शब्दों के द्वारा दो आश्रय में दो बार किया गया होता है । ४—किसी उपमा में समानधर्म मिथ्या होकर भी आरोपित रहता है । ५—और किसी उपमा में समानधर्म केवल शब्दरूप होता है गुणक्रियादिरूप नहीं ।

तत्रानुगामिधर्मयुक्तानुपमागुदाहर्तुमाह—

तत्रागो यथा—

स्पष्टम् ।

उपमा के उन धर्ममूलक भेदों में पहला-अर्थात् अनुगामि धर्मवाला भेद जैसे—
उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शरदिन्दुरियाह्लादजनको रघुनन्दन ।

यत्तस्त्रजा विभाति स्म सेन्द्रघाप इवाम्बुदः ॥'

शरदिन्दु शरत्कालीनधनुः (अत्र शर द्रशोपशेन भ्रूलिधूसरतादिदोषमुक्ताश-
सूचनद्वारा चन्द्रमसधन्द्रिकातिशयशालिन्वमावेद्यते तेन चाहादजननेऽप्याधिक्य प्रतीयते,
तदुपमानत्ववर्णनेनोपमेये रघुनन्दनेऽपि तात्सुच्यते) इव, आहादस्य आनन्दविशेषस्य,
जनक सम्पादक, रघुनन्दन राघवो राम, वनसजा वनमालया आषादतललम्बिमालयेति
यावत् । इन्द्रचापेन विगुता, सहित, धम्पुने मेघ इव, विभाति रम विशेषणाशोभत
इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शरदिन्दु इत्यादि । कवि का कथन है कि—शरत्काल
के चन्द्रमा के समान आनन्ददायक भगवान् रामचन्द्र वनमाला से इन्द्रधनुष (विद्युत्)
से पुक मेघ के समान शोभित हो रहे थे ।

उपमादयति—

अत्र पूर्वार्धे सकृन्निर्देशात्कर्मोऽनुगामी ।

'शरदिन्दु ' इति पद्यस्य पूर्वार्धभागे आहादजनकबल्यो धर्म 'आहादजनक'
इति पदेनैकवारमेव निर्दिष्ट एकैर्नैव रूपेण उपमानोपमेययोश्चन्द्ररामचन्द्रयोरन्वेतीति तस्या-
नुगामित्वम् बोध्यम् ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'शरदिन्दु ' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध भाग में
'आनन्दजनक' इस शब्द के द्वारा 'आनन्ददायकता' धर्म एक ही बार उक्त होकर एक
रूप से ही उपमान और उपमेय—चन्द्र तथा रामचन्द्र—दोनों में अन्वित हो जाता है,
अतः यह धर्म अनुगामी कहा जाता है ।

द्वितीयभेदस्योदाहरणभूत पूर्वोक्तपद्य स्मारयति—

केवलबिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नः 'कीमलात्पशोणाध्र-' इत्यत्र बोध्यः ।

'कीमलात्प-' इत्यादि पद्य पूर्वमुपमात्रकरणप्रारम्भे समुल्लिखितम् । तत्र कीमला-
त्पशुमुमालेपनयो क्रमशः सन्ध्याकालरूपोपमानयतिरूपोपमेयमात्रनिष्ठयो सादृश्यमूल-
'कामेदाध्यवसाय इति तस्य धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वम् इति भावः । अधिक
तत्रैव विवेचितं जिज्ञासुभिरवलोकनीयम् ।

केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्म वाली उपमा का उदाहरण होता है 'कीमलात्प-'
इत्यादि पूर्वोक्तपद्य । यहाँ 'कीमलात्प' केवल उपमान सन्ध्याकाल में रहने
वाला है और 'वृद्धमालेपन' केवल उपमेय यति में रहने वाला, अतः उन दोनों में से
एक भी उपमानोपमेय का साधारण धर्म होने योग्य यद्यपि नहीं है, तथापि समान होने
के कारण उन दोनों धर्मों में अभेद का आरोप कर लिया जाता है, जिससे उन दोनों
धर्मों को एक समझ कर उपमा की सिद्धि होती है । यह भिन्न धर्मों का आरोपित अभेद
ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, यह बात पहले लिखी जा चुकी है ।

उपमेयविधधर्मयुक्तामुपमा प्रकृतयति—

द्वितीयार्धे तूभयम् ।

'शरदिन्दु—' इति पद्यस्योत्तरार्धभागेऽम्पुदोषमानिका रघुनन्दनोपमेयिका या उपमा
वर्तते, तत्र द्वौ धर्मौ साधारणौ—एक 'विभाति स्म' इति पदबोध्यो भानकियाह्य, स
चागुगामी, सकृन्निर्दिष्टत्वात् एकलुनेपोपमानोपमेययोरन्विनत्वाच्च, द्वितीय वनसजागिन्द्रचाप-
रूप, स च बिम्ब प्रतिबिम्बभावापन्न, वस्तुतो भिन्नत्वात् सादृश्यमूलकामेदाध्यवसाया-
चेति भावः । अत्र 'द्वितीयार्धे' इत्यस्य 'कथावचनो याति इत्यादी' इति टीका पूर्वार्धो
नागेशो नीचितभावे, तत्र द्वितीयोपमाया एवाभावान् । या चैकोपमा तस्मात्, तस्या

धर्मस्य केवलविम्बप्रतिविम्बभावापन्नत्वस्य व्यवस्थापनात् अनुगामिधर्मस्य विरहात् इत्याकलनीयम् ।

जिस उपमा में साधारण धर्म अनुगामी तथा विम्बप्रतिविम्बभावापन्न दोनों तरह के होते हैं, उसका उदाहरण 'शरदिन्द्रु-' इत्यादि पद्य का ही उत्तरार्ध—'वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इचाम्बुद.' होता है, क्योंकि यहाँ 'विभाति स्म' पदबोधय शोभनक्रियारूप धर्म उक्त युक्ति से अनुगामी है और वनमाला तथा इन्द्रचापरूप धर्म उक्त रीति से है विम्बप्रतिविम्बभावापन्न ।

तृतीयो भेद पुनस्त्रिधा विभज्यते—

तृतीयोऽपि त्रिविधः—विशेषणमात्रयोवशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तुप्रति-
वस्तुभावेन करम्बितः ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितविम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलको यो भेद उक्तस्तस्य पुन-
स्त्रयो भेदा सम्भवन्ति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणस्य त्रिधा सम्भवात् । तथाहि—विशेषण-
मात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम्, विशेष्यमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम्,
विशेषणविशेष्योभयगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावपरिचयः प्रागेव
दत्तः, अग्रोऽप्युदाहरणेषु दीयतेति भावः ।

तृतीय भेद के पुनः तीन अवान्तर भेद करते हैं—तृतीयोऽपि इत्यादि । वस्तुप्रति-
वस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समान धर्म के भी तीन प्रकार हो सकते
हैं—एक केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, द्वितीय केवल विशेष्यों के
वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तृतीय विशेषण विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव
से मिश्रित ।

तेषु विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणमुदाहरणमाह—

तत्राद्या यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'चलद्भ्रममिवाम्भोजमधीरनयनं सुखम् ।

तदीयं यदि दृश्येत कामः शृद्धोऽस्तु किं ततः ॥'

चलन्तं सखरन्तो, भृता भ्रमरा, यत्र, तादृशम्, अम्भोजम् कमलम्, इव, अधीरे
चपले, नयने नेत्रे, यस्मिन्, तादृशं, तदीयं वर्णनीयनायिकासम्बन्धि, सुखम्, यदि,
दृश्येत अनलोक्येत, (सम्भावनयम्), तदा, कामः कामदेव, शृद्धं दुषितं, अस्तु भवतु,
तत् तस्मात्तदोपात्, किम् ? न किमपीति चावत् । अमद्भ्रमराम्भोजतुल्यप्रेयसीमुल-
विलोकनौषधे वर्तमाने कामकोररोगो न दुस्त्याप्य इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—चलद्भ्रम इत्यादि । जिसके मध्यभाग में भ्रमर
सखरण कर रहे हों, उस कमल के तुल्य चपल नेत्रों वाला उसका मुख यदि दृष्टिगोचर
होवे, तब कामदेव, क्रुद्ध होता रहे, उससे क्या ?

उपपादयति—

अत्र चलनाधीरत्वयोर्विशेषणयोर्वस्तुत एकरूपयोरपि शब्दद्वयेनोपादाना
द्वस्तुप्रतिवस्तुभावः । तद्विशेषणकयोश्च भृङ्गनयनयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । इति
तत्करम्बितोऽयमुच्यते ।

‘चलदृष्ट-’ इति पद्येऽम्भोजमुपमानम् मुखचोपमेयम्, तयोः साधारणधर्म पूर्वोक्त-
दिशा विम्बप्रतिबिम्बभावापन्न चलदृष्टज्ञाधीरनयनत्वरूप, तत्र विशेषणीभूतयोश्चलना-
धीरत्वयोर्वस्तुप्रतिबस्तुभाव, वस्तुत एरुहपत्वेऽपि शब्दद्वयेनोत्प्लेखादिति विशेषणमात्र-
गतवस्तुप्रतिबस्तुभावकरम्बितविम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलकरवमरया उपमाया उपपद्यत
इति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ ‘चलन’ और ‘अधीरत्व’ ये दोनों विशेषण
वस्तुतः एकरूप हैं—अर्थात् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, तथापि उस एक ही
अर्थ का प्रतिपादन दो भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा किया गया है, अतः उनका वस्तुप्रति-
बस्तुभाव है और वे जिनके विशेषण हैं उन विशेष्यों ‘अमर’ तथा ‘नेत्र’ का विम्बप्रति
बिम्बभाव है, क्योंकि वस्तुतः भिन्न होने पर भी समान होने के कारण उन्हें अभिन्न माना
गया है, अतः यह विम्बप्रतिबिम्बभाव वस्तुप्रतिबस्तुभाव से मिश्रित कहलाता है ।

केवलविशेष्यगतवस्तुप्रतिबस्तुभावकरम्बणमुदाहरणमाह—

तत्र द्वितीयो यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिबस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलील,

लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तरुस्तमालः ।

देहावसानसमये हृदये मदीये,

देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनामः ॥’

भक्त कामयते—प्रियङ्गुलतया तन्नामकमुवर्णवर्णलताविशेषेण लग्नः ससक्त तमालस्त-
तमालाभिधरयामच्छविषिपि विशेष, इव, जलधिकन्यकया लक्ष्म्या, सलीलम् सविलासम्,
आलिङ्गित आश्लेष, भगवान् अणिमाद्येश्वर्यशाली, अरविन्दनामो देव विष्णुदेव, देहा-
वसानसमये मृत्युकाले, मदीये हृदये चकास्तु भासतामित्यर्थ ।

उदाहरण का निरूपा करते हैं—आलिङ्गित इति । किसी भक्त की अभिलाषा है—
प्रियङ्गुलता से सटे हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से लीलापूर्वक आलिङ्गित भगवान्
पद्मनाभ देव (विष्णु) भरणसमय में मेरे हृदय में भासित हों ।

उपपादयति—

अत्रालिङ्गितत्वलप्रत्वयोर्वस्तुप्रतिबस्तुभावः । तद्विशेष्यकयोश्च जलधिकन्या-
प्रियङ्गुलतयोर्विम्ब प्रतिबिम्बभावः । इत्ययमपि तत्करम्बित एव ।

‘आलिङ्गित—’ इति श्लोके प्रियङ्गुलतालगतमालता जलधिकन्यालिङ्गितविष्णुहृ-
त्सोपमेयस्योपमानम्, तत्रालिङ्गितलग्नपदार्थयोर्विशेषणविधया वर्णितौ जलधिकन्याप्रियङ्गु-
लतापदार्थौ सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायशालितया विम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नौ साधारणधर्मतया
व्यवस्थितौ विशेष्यभूतालिङ्गितत्वलप्रत्वे च वस्तुप्रतिबस्तुभावापन्ने एकरूपं वस्तुन शब्द-
भेदेनाश्रयभेदेन च प्रतिपादनादिति सिद्ध विम्बप्रतिबिम्बभावस्य वस्तुप्रतिबस्तुभावेन
करम्बणम् इति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्रालिङ्गितत्व इत्यादि । ‘आलिङ्गित —’ इस पद्य में ‘आलिङ्गित
होना’ और ‘सटना’ ये जो विशेष्यभूत पदार्थ हैं, वे वस्तुप्रतिबस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि
वास्तविकरूप में वे दोनों एक ही चीज हैं, केवल भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण

और भिन्न-भिन्न शब्दों से उक्त होने के कारण भिन्न से प्रतीत होते हैं । और उन विशेष्यों के विशेषणरूप में वर्णित जलधिक्यया (रुचमी) तथा प्रियदुगुलता में विम्बप्रतिविम्बभाव है, क्योंकि ये दो वस्तुतः दो हैं किन्तु समानता के कारण आरोपित अभेद को लेकर एक समझे जाते हैं । अतः यहाँ का विम्बप्रतिविम्बभाव भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित है ।

तृतीयभेदस्य तृतीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

तत्र तृतीयो यथा—

स्पष्टम् ।

विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘दशाननेन दृष्टेन नीयमाना बभौ सती ।

द्विरदेन मदान्धेन कृष्यमाणोऽपि पद्मिनी ॥’

कविर्वक्ति—दृष्टेन गर्विणा, दशाननेन रावणेन, नीयमाना अपहियमाणा, सती पतिप्रता सीता, मदान्धेन मदमत्तेन, द्विरदेन गजेन, कृष्यमाणा नीयमाना, पद्मिनी कमलिनी इव बभौ शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—दशाननेन इत्यादि । कवि की उक्ति है—दृष्ट—गर्वीले दशानन—रावण से अपहृत की जाती हुई सती सीता, मदमत हाथी से खींची जाती हुई कमलिनी सी, शोभित हुई ।

उपपादयति—

अत्र विशेषणयोर्द्वैप्रत्वमदान्धत्वयोर्विशेष्ययोश्च नीयमानत्वकृष्यमाणत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावेनोभयतः सम्पुटितो दशाननद्विरदयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । इत्ययमपि तत्करन्वितः ।

‘दशाननेने’ति पद्ये मदान्धद्विरदकर्तृकर्षणकर्मभूता कमलिनी उपमानम्, दृष्टदशाननकर्तृकनयनकर्मभूता सीता चोपमेया । तत्र सादर्यमूलकाभेदाभ्यवसायविशिष्टौ द्विरददशाननौ विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नौ साधारणधर्मता गाह्यतः, तयोर्विशेषणभूते ह्यत्वमदान्धत्वे, विशेष्यभूते नीयमानत्वकृष्यमाणत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नानि, एकव्येऽपि पृथङ्निर्दिष्टत्वादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘दशाननेन—’ इस पद्य में ‘दृष्टता’ और ‘मद-मत्तता’ ये दोनों विशेषण, वस्तु प्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों पदार्थ वस्तुनः दो नहीं हैं एक हैं, पर भिन्न भिन्न आश्रय में रहने के कारण और भिन्न-भिन्न शब्दों से अभिहित होने के कारण भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं । इसी तरह ‘नीयमाना अर्थात् अपहृत की जाती हुई’ और ‘कृष्यमाणा अर्थात् खींची जाती हुई’ ये दोनों विशेष्य भी वस्तु प्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों भी आश्रय तथा शब्दभेद के कारण ही भिन्न हैं अन्यथा एक ही हैं । और इन दोनों वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न पदार्थ के मध्य में ही विम्बप्रतिविम्बभावापन्न ‘दशानन तथा द्विरद’, ये विम्बप्रतिविम्बभावापन्न ह्यत्विष्ट है कि वस्तुतः दो पदार्थ हैं, पर सादर्यमूलक अभेद का आरोप हो जाने से एक समझे जाते हैं, अतः यह विम्बप्रतिविम्बभाव, दोनों तरफ से वस्तुप्रतिवस्तुभाव द्वारा सम्पुटित कहा जाता है ।

साधारणधर्मवैविध्यमूलका उपमायाः पद्य भेदा परिगणिता, इदानीं तस्यास्तन्मूलक एवाहचिप्रस्तः पद्यो भेद उच्यते—

‘विमल वदन तस्या निष्कलङ्कमुगाङ्कति’ इत्यत्र वैमल्यनिष्कलङ्कत्ययोर्वस्तुतः

एकरूपयोर्विम्बप्रतिविम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पाद-
कत्वं यद्यस्ति तदा शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येव पट्टो धर्मः ।

निर्मल तन्नायिका नानम् निर्मलचन्द्रवदाचरतीत्यर्थकं 'विमलम्—' इत्यादिमूलोक्त-
काव्यवाक्ये उपमालङ्कारोऽस्ति, तत्र च वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयो साधारणधर्मता स्वीकार्या,
तयोश्च धर्मयोर्न विम्बप्रतिविम्बभाव, वस्तुतो भिन्नत्वाभावात्, अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव-
एव, वस्तुत एतदेवपि शब्दाश्रययोर्भेदेन भेदात् पुन सादृश्यमूलकभेदाच्च । तथा च विम्ब-
प्रतिविम्बभावग्रन्थशुद्धवस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नोऽपि साधारणधर्मो भवतीति सिद्धम् । तादृशश्च
धर्म उक्तपदविधेभेदेभ्यो भिन्न इति पट्टो भेदतन्मूलकधर्मोपमाया अप्येकोऽधिको भेदो
भवेदिति भावः । परमीदृशधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वं युक्तं न वेति मतभेदप्रस्तावतो मूले
'यद्यस्ति' इति यदिपद प्रयुक्तं ग्रन्थकृता तैनेदृशधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वेऽस्ति सूच्यते,
तद्वीक्षणं नागेश स्वटीकायाम्— "एकोऽप्यर्थो भिन्नशब्देनोपात्तो भिन्न इव प्रतीयते ।
अत एव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' इत्यादौ 'रक्त एवास्तमेति च' इति
पाठे दुष्टमेति प्राञ्च । प्रकृते सवन्धिभेदादपि भेदप्रत्ययस्तयो । भिन्नरूपेण प्रतीयमानस्य
च न साधारणता । साधारणीकरणस्य च न कश्चिदुपायः विना विम्बप्रतिविम्बभावापन्नैकधर्म-
सम्बन्धित्वम् । तथा च शब्दाद्भेदेन प्रत्यये, सम्बन्धिभेदाच्च भेदप्रत्यये, विम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्नैकधर्मसम्बन्धित्वेन तयोरभेदाध्यवसाये साधारणत्वमस्येति कथं शुद्धस्योपमानिष्पा-
दकत्वम् । अत एव प्राञ्च विम्बप्रतिविम्बभावकरम्बित एवायमित्याहुरिति" इति ।

साधारण धर्म की विविधरूपता के कारण अमी-अभी उपमा के पाँच भेद गिनाये गए
हैं, अत्र पुनः साधारण धर्म की ही एक खास विलक्षणता के कारण छठा भेद भी उपमा
का दिखलाते हैं—विमलम् इत्यादि । 'विमलम्—इत्यादि अर्थात् उस नायिका का
निर्मल मुख कलङ्कारहित चन्द्रमा के समान आचरण करता है ।' यहाँ 'निर्मलता और
निष्कलङ्कता' में वस्तुतः कोई भेद नहीं है—एक है, पर शब्दभेद तथा आश्रयभेद के
कारण भिन्न सा मानकर पीछे उन दोनों में सादृश्यमूलक अभेद मानते हैं, अतः यह
वस्तुप्रतिवस्तुभाव हुआ, विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं, क्योंकि वह वस्तुतः भिन्न पदार्थों में
सादृश्यमूलक अभेद मानने पर होता है । ऐसी स्थिति में यदि इस तरह के विम्बप्रति-
विम्बभाव से रहित शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को भी उपमा का साधक माना
जाय, तब यह साधारण धर्म का छठा प्रकार होगा । परन्तु यहाँ 'यदि माना जाय' ऐसा
कहकर ग्रन्थकार इस तरह के धर्म को उपमासाधक मानने में अपनी अरुचि सूचित
करते हैं । उसका कारण, नागेशचन्द्र ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है, जिसका आशय
यह है कि—भिन्न भिन्न शब्दों से कहा गया एक अर्थ भी भिन्न सा प्रतीत होता
है । अतएव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च—अर्थात् सूर्य ताम्रवर्ण (लाल)
उदित होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है' यहाँ द्वितीय वाक्य यदि 'रक्त एवास्त-
मेति च' ऐसा कर दिया जाय, तब दोष हो जाने की बात प्राचीनों ने लिखी है । और
प्रस्तुत स्थल में तो निर्मलत्व तथा निष्कलङ्कत्व धर्म के सम्बन्धी मुख तथा चन्द्र भी
भिन्न हैं, इस कारण भी उन दोनों में भेद माना जाना चाहिये । अतः इस तरह से भिन्न
रूप में प्रतीत होने वाले धर्म को तब तक साधारण नहीं माना जा सकता, जब तक
किसी विम्बप्रतिविम्बभावापन्न एक धर्म से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जायगा । अतः
यह सिद्ध हुआ कि—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म, शब्दभेद और सम्बन्धी—आश्रय—भेद
के कारण भिन्न ही प्रतीत होते हैं । ऐसी दशा में केवल वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को
उपमा का साधक कैसे माना जा सकता है ? अतएव प्राचीनों का कथन है कि वस्तुप्रति-
वस्तुभाव, विम्बप्रतिविम्बभाव से मिश्रित ही रहता है ।

'विमलं वदनम्—' इत्यादौ वस्तुप्रतिवस्तुभावाद्गीकारस्यावश्यकत्वात् नास्तीत्याशङ्क्य समापत्ते—

न च 'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः' इत्यादौ यतिसन्ध्याकालयो-
रुपमायां धर्मान्तरस्यानवगमात् कुङ्कुमालेपकपायवसनयोः कोमलातपशोणाभ्र-
योश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथावरयमभ्युपेयः, प्रकृते तु न तथा वस्तुप्रतिवस्तु-
भावः । वदनमृगाङ्गयोः सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मस्य प्रतीयमानत्वेन धर्मान्तरान-
पेक्षणादिति वाच्यम् । एवं तर्हि 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदावृत्तवृन्तशत-
पत्रनिभ वहन्त्या' इति भवभूतिपद्येऽपि प्रतीयमानेन सौन्दर्येणैव सामान्येन
निर्वाहे कन्धरावृन्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वलितत्वावृत्तत्वयोर्धस्तुप्रतिवस्तु-
भावस्य च सकलैरालङ्कारिकैः स्वीकारो विरुद्धः स्यात् । अतो यथास्थित-
मेव साधु ।

उपमाभिर्द्वौ समपेक्षितस्यान्यथाऽसम्पन्नमानस्य साधारणधर्मस्य सिद्धयर्थम् द्वयोर्धर्म-
योर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो वस्तुप्रतिवस्तुभावो वा कल्प्यत इति वस्तुस्थितिः । एवञ्च 'कोम-
लातप—' इत्यादि प्रागुदाहृते पद्ये निबन्धमागया यन्मुपमेयिकाया सन्ध्याकालोपमानिका-
यानुपमायाम् कौऽप्यपर' साधारणधर्मो न स्फुरतीत्यगत्योपमेयवृत्तिङ्कुमालेपादेरुपमानवृ-
त्तिकोमलातपादेः बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमाश्रित्य साधारणत्व कल्प्यते । 'विमलं वदनम्—'
इत्यादि प्रकृतकाव्ये तु वदनचन्द्रयोरुपमायां साधकं सौन्दर्यरूपं साधारणधर्मं अगुञ्जोऽपि
प्रसिद्धतया प्रतीतिपथमवतरतीति धर्मान्तरस्यापेक्षैव नास्ति । सौन्दर्यस्य साधारणधर्मत्वेना-
ङ्गीकारे लुप्तोपमात्वं स्यात् पण्डितु तावता काऽपि हानिर्नास्तीति वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तु-
प्रतिवस्तुभावकल्पना नावश्यकौ, तथा च तन्मूलको भेदोऽसङ्गत इति शंकाया इदं समाधानं
यत् 'भुग्नवृन्तविशिष्टशतदलवमलुत्स्य नार नार भुग्नशिरोप्रभं मुखं धारयन्त्या वारं
वारं परावृत्य पर्यन्त्येति यावत्, गच्छन्त्या पद्ममलयनया मालस्या, मम हृदये, पीयूष-
गरलाभ्या व्याप्तः कटाक्षः गाढ निस्त्रात इव' इत्यर्थके मालतीप्रथमदर्शनानन्तरं माधवेन
स्वमुहदं मकरन्दं प्रति कथिते 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ
वहन्त्या । दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पद्मलाक्ष्या, गाढ निस्त्रात इव मे हृदये कटाक्षः'
इति भवभूतिपद्ये श्वेतं प्रतीतिपथमुपेयुषा सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मोपमाया निद्विसम्भ-
वेऽपि कन्धरावृत्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः वलितत्वावृत्तत्वयो वस्तुप्रतिवस्तुभावश्च कल्प्यते,
'तथा प्रकृतेऽपि सौन्दर्यस्य साधारणधर्मतासम्भवेऽपि वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तु-
भावः कल्पनीय एव । इदमत्र रहस्यम्—यदि सौन्दर्यादेः साधारणत्वं क्विविशितमभवि-
ष्यत्, तदा वैमल्यादेरुपादानं निष्प्रयोजनमापत्स्यत्, अतो वस्तुप्रतिवस्तुभावो बिम्बप्रति-
बिम्बभावो वा यथासम्भवमेतादृशस्थले क्वैरभिमतो लुप्यते, अत एव चमत्कारोऽप्यति-
शयितो भवति, अन्यथा तु स मन्यर एव स्यादिति भावः ।

'विमलम्—' इत्यादि पद्य में वस्तुप्रतिवस्तुभाव की आवश्यकता ही नहीं है इस
आशंका का उपादान तथा समाधान करते हैं—न च इत्यादि । आप कहेंगे—उपमा
की सिद्धि के लिये किसी साधारण धर्म का प्रतीयमान होना आवश्यक है, अतः जहाँ
किसी साधारण धर्म की स्वभावतः प्रतीति नहीं होती, वहाँ उपमान और उपमेय में
रहने वाले भिन्न भिन्न धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभाव कल्पित
होता है, जिससे वह साधारण बन जाता है यही तो वस्तुस्थिति है, अतः 'कोमलातप—'
इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में यति और सन्ध्याकाल की उपमा को सिद्ध करने के लिये

कुङ्कुमलेप आदि और कोमल भातप आदि के विम्बप्रतिविम्बभाव की कल्पना भले ही आवश्यक समझी जाय, क्योंकि वहाँ किसी साधारण धर्म की स्वभावतः प्रतीति नहीं होती, परन्तु 'विमलं वदनम्—' इत्यादि स्थल में विमलता तथा निष्कलङ्कता के वस्तुप्रतिवस्तुभाव की कल्पना आवश्यक नहीं समझी जानी चाहिए, क्योंकि यहाँ उपमान चन्द्र और उपमेय मुख दोनों में रहने वाले परमप्रसिद्ध सौन्दर्यरूप स्वभाविक साधारण धर्म की प्रतीति कहे बिना भी हो रही है, उसीको लेकर उपमा सिद्ध हो जायगी। किन्तु यह कथन आपका समुचित नहीं, कारण, यदि ऐसी बात हो, तब 'यान्वा मुहुः—इत्यादि (सम्पूर्ण पद्य सस्कृत टीका में देखना चाहिए)—अर्थात् हुके ढंठल वाले कमल के तुल्य बार बार तिरछी गरदन वाले मुख को धारण करती हुई—बार बार लौटकर देखती हुई—उस सघन पद्मवाले नयनों से युक्त नायिका (मालती) ने, जाते हुए, अमृत और विष दोनों से सना हुआ एक कटाक्ष, कसकर, मेरे हृदय में मार-सा दिया' इस, मालती के प्रथम दर्शन के बाद भाष्य के द्वारा अपने मित्र मकरन्द के प्रति कहे गए भवभूतिरचित पद्य में कमलमुख के साधारण सौन्दर्य से ही उपमा की सिद्धि हो सकती थी, फिर जो सभी आलंकारिकों ने वहाँ 'गरदन' और 'वृन्त' में विम्बप्रतिविम्बभाव तथा 'झुकने' और 'तिरछे होने' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव माना है—वह विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि आपके हिसाब से वहाँ भी ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं थी। अतः जैसा मैंने माना है, वही ठीक है—अर्थात् 'विमल वदनम्—' में विमलता और निष्कलङ्कता के शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव अथवा विम्ब-प्रतिविम्बभाव से मिश्रित वस्तु-प्रतिवस्तुभाव की कल्पना करनी ही चाहिए। तात्पर्य यह कि—ऐसे स्थलों में सौन्दर्य भावि प्रसिद्ध धर्म को साधारण मानकर उपमा बँधने पर कोई खास धमकार नहीं हो सकता—पुरानी कल्पना को दुहराने में कोई आनन्द नहीं आता, इसलिये तो कवि ने विमल और निष्कलङ्क तथा तिरछी गरदन और टेढ़े ढंठल का पद्य में वर्णन किया है, अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या थी ?

चतुर्थं भेदमुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

यस्यामुपमाया साधारणधर्म उपचरित (आरोपित) भवति, सोपमा प्रदर्श्यते इति भावः ।

उपचरित-अर्थात्-आरोपित समान धर्म वाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैकमयमूर्तेः ।

येनाकारिणि मित्रं स विकलहृदयो विधिर्वाच्यः ॥'

यैन विधात्रा, शतकोटिवन् वज्रवन्, कठिन कटोर, चित्त मन, यस्य तादृश' स सीतानिर्वासनादिविधिधानर्थावारी, अहं रामचन्द्र, सुधैकमयमूर्ते केवलामृतनिर्मिताङ्गया, तस्या सीताया, मित्र पतिरिति यावन्, अकारिणि (कृधातो कर्मणि लुटि उत्तम-पुरुषस्वचने रूपम्) कृत इति तदर्थः, स, विकलहृदयः, हृदयहीन, सति हृदये नैतादृश कुर्वारिति भावः, विधि विधाता, वाच्य निन्दनीय । सीतानिर्वासनकर्मणा मम निन्दा नोचिता, अपि तु सर्वज्ञतामाप्तवन्ोऽपि मादरोन कटोरचेतसा सह ता योजयते । विधेरेव ता योग्येत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शतकोटि इत्यादि । जिस विधाता ने, वज्र के समान कटोर चित्तवाले उस मुहको केवल अमृत से बनी हुई मूर्ति वाली उस (सीता) का मित्र (पति) बना दिया, उस हृदयहीन विधाता की निन्दा होनी चाहिए । अर्थात्

सीतापरित्याग से लोग जो मुझे कलङ्कित करते हैं, वह उचित नहीं, निन्दा तो होनी चाहिए उस विधाता की, जिसने जान बूझकर इस तरह का अनभेद सम्बन्ध कराया ।

प्रकरण बोध्यते—

एषा सीतां विवासितवतः स्वात्मगता रामस्योक्तिः ।

शतकोटीति गार्थार्थं जनापवादभयेन प्राणेभ्योऽपि प्रियां सीतां निर्वासितवतो राम-
चन्द्रस्य मनोमाधुर्य इति भावः ।

प्रसङ्ग वतलाया जाता है—एषा इत्यादि । 'शतकोटि-' यह पद्य उन रामचन्द्र की स्वगत उक्ति है, जो सीता को वन में निकाल चुके थे ।

उपपादयति—

अत्र काठिन्यं पार्थिवो धर्मश्चित्ते उपचरितः ।

शतकोटीति रलोके शतकोटिचित्तयोरुपमाया साधारणधर्मतया निविष्टं काठिन्यम् वस्तुतो न साधारणम्, पृथिवीवर्तिनस्तस्य धर्मस्य पृथिवीविकारभूते शतकोटी सत्त्वसम्भवेऽपि अमूर्तं चित्ते सत्त्वासम्भवात्, तथापि आरोपेण तस्य चित्तशुचिता स्वीक्रियत इति तथैव उपचरित उच्यते ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'शतकोटि-' इस पद्य में वज्र और चित्त की जो उपमा है, उसमें साधारण धर्म होता है 'कठिनता', पर वह वस्तुतः चित्त में है नहीं, क्योंकि 'कठिनता' एक प्रकार का पृथिवीधर्म है, अतः पृथिवी के विकारभूत वज्र में रह सकता है, अमूर्त चित्त में नहीं, अतएव चित्त में वह आरोपित होकर ही रहेगा ।

पद्यमं प्रनेदमुदाहर्तुंमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

उपमाया यस्मिन् प्रकारे साधारणधर्मं केवलशब्दात्मको भवति, स प्रकारः प्रवक्ष्यते इति भावः ।

केवल शब्दरूप समान धर्म को लेकर होनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'यत्र वसन्ति सुमनसि मनुजपशौ च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव ।'

यत्र राज्ये, शीलवन्तः सदाचारिणो, मन्त्रिण सचिवाः, सुमनसि पण्डिते, मनुज-
पशौ महामूर्खे, च सर्वत्र, समानाः एकत्र समानादरकारिण, अपरत्र समदृष्टयः अत एव
मुनय, इव, वसन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यत्र इत्यादि । किसी राज्य का वर्णन है कि—जहाँ सदाचारी सचिव लोग मुनियों के समान रहते हैं क्योंकि वे विद्वान् और महामूर्खों में समान हैं अर्थात् मुनि सच में समदृष्टि हैं और मन्त्री सच में समान आदर करने वाले हैं ।

उपपादयति—

अत्रोपमानोपमेयगतस्यार्थस्यैकस्याभावाच्छब्द एव धर्मः ।

'यत्र वसन्ति-' इत्यादि काव्ये मुनिमन्त्रिणोरुपमाया न कश्चिदार्थिक साधारणधर्म, धर्मवाचकतयोपात्तस्य 'समान'पदस्य उपमानोपमेययोर्भिन्नार्थत्वात्, तथा च स शब्द एवोभयत्र स्वनिर्वाचकत्वानिर्हृतवाच्यताराम्बन्धेन विरोधणीभवन् समानधर्मरूपता प्रति-
पद्यत इति भावः ।

उपपादन करते हैं—भद्रोपमानोप इत्यादि । 'यत्र वसन्ति—' इस काव्य में मुनि और मन्त्री की जो उपमा है, उसमें कोई ऐसा अर्थरूप साधारण धर्म नहीं, जो उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाला हो । तात्पर्य यह कि साधारणधर्म का बोधक पद है यहाँ 'समाना', पर इस पद का मुनि और मन्त्री पक्ष में एक अर्थ नहीं होता, अतः यह मानना चाहिए कि—वह शब्द ही यहाँ साधारणधर्मरूप है । इसी उपमा को अन्यत्र शब्दी उपमा कहा गया है ।

धर्मवैचित्र्यमूलकभेदान्तराणामपि सम्भावना प्रकटयति—

एवमेतेषां धर्माणा व्यामिश्रण च सम्भवति ।

पूर्वोक्ताना पदविधाना साधारणधर्माणा परस्परसङ्घरोऽपि भवितुमर्हति । तथा च तत्प्रयुक्तोपमाप्रभेदसख्याऽपि भूयो वर्धतेति भाव ।

धर्म की विविधरूपता के कारण होनेवाले उपमाप्रभेदों में और अधिक भेदों की संभावना करते हैं—एवमेतेषामित्यादि । जिस तरह शुद्धरूप से साधारण धर्म के पाँच भेद किए गये हैं, उसी तरह परस्पर मिश्रण से उनके और अधिक भेद किए जा सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि उक्त पञ्चविध धर्मों के मिश्रण से उपमा के धर्ममूलक भेद और अधिक बढ़ सकते हैं ।

धर्ममिश्रणप्रयुक्तसम्भावितोपमाप्रभेदोदाहरणं प्रतिज्ञापुनस्मर निर्दिश्यते—

यथा—

'श्यामलेनाङ्कितं भाले बाले केनापि लक्ष्मणा ।

सुरं तवान्तरा सुप्रभृद्गुल्लाम्बुजायते ॥'

नायक कथयति—यदि बाले ! केनापि, श्यामलेन श्यामवर्णेन, लक्ष्मणा चिह्नेन कस्तूरी-तिलकादिनेति यावत्, भाले ललाटे अङ्कित चिह्नित, तत्र, सुखम्, अन्तरा मध्ये, गुप्ता निश्चलता स्थिता, शृङ्गा भ्रमरा, यत्र, तादृशं, यत्, 'कुल्ल विकसितम्, अम्बुजं कमल, तदिव, आचरतीत्यर्थ ।

धर्ममिश्रण का उदाहरण दितलते हैं—यथा इत्यादि । जैसे—श्यामलेन इत्यादि अर्थात्—हे बालिके ! किसी काले चिह्न (कस्तूरी-तिलक आदि) से कपाल पर चिह्नित तेरा मुख, जिसके मध्य में भ्रमर सोए हुए हों ऐसे विकसित कमल के समान आचरण करता है ।

उपपादयति—

अत्र भालगताङ्कप्रसुप्रभृद्गौ विम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नौ क्यङ्कर्णे आचारेऽनुगामिन्यभेदमापद्य स्थितौ ।

'श्यामलेन—' इति पद्येऽम्बुजसुरयोरुपमोपनिबद्धा, तत्र 'अम्बुजायते' इति प्रयोग-घटकवयङ्प्रत्ययार्थ आचार उपमाने अम्बुजे उपमेये मुखे त्रैकरूपेणाऽधीयमानोऽनुगामी साधारणधर्म । मुखश्यामजवदाचरण च विम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नौ—सादृश्ययलारोपिता-भेदयो—भालगताङ्गान्तरासुप्रभृद्यो सम्बन्धित्वासादनमेव । एवञ्चात्र विम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्नश्यानुगामिनश्च धर्मस्य मिश्रणं जातमिति भाव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'श्यामलेन—' इस पद्य में कमल तथा सुर की उपमा वर्णित हुई है, उसमें 'ललाटे का काला चिह्न' और 'मध्य में सोए हुए भ्रमर' ये दोनों विम्बप्रतिबिम्बभावमापन्न हैं, और वे 'अम्बुजायते' पद में जो 'वयङ्' प्रत्यय है उसके अर्थ आचाररूप अनुगामी धर्म से अभिन्न होकर स्थित हैं । अभिप्राय यह कि कमल और सुर की उपमा में आचरण एकरूप से उपमानोपमेय में अन्वित होने के

कारण अनुगामी धर्म है और मुख का कमल के समान आचरण, यहाँ, बिम्बप्रतिबिम्ब-
भावापन्न (सादृश्यमूलक अभेद से युक्त) ललाटगत, विह्व और मध्यसुप्त शृङ्ग से सम्बन्ध
रखना ही है अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा अनुगामी धर्मों का मिश्रण है ।

तथाविधमुदाहरणान्तरमपि दर्शयति—

यथा वा—

‘सिन्दूरारुणवपुषो देवस्य रदाङ्कुरो गणाधिपतेः ।
सन्ध्याशोणान्बरगतनवेन्दुलोखादितः पातु ॥’

सिन्दूरेण रञ्जकद्रव्यविशेषेण, अरुणं रक्तं, वपुः शरीरं, यस्य, तस्य, गणाधिपतेः गणै-
शस्य, देवस्य, सन्ध्यायां सायङ्कालस्य, शोणे रक्ते, अन्वरे आकाशे, गता रिषता, या,
नवस्य नूतनस्य, इन्दो चन्द्रस्य, लेखा कला, सा इव आचरित, रदाङ्कुरः दन्ताङ्कुर,
पातु रक्षतु, गुधमान् अस्मान् वेति शेष इत्यर्थः ।

अथवा जैसे—सिन्दूर से अर्थात् सिन्दूर के लेप से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेश देव
का, सायंकाल के लाल आकाश में स्थित चन्द्रकला के समान आचरण करनेवाला,
दन्ताङ्कुर, आपकी अथवा मेरी रक्षा करे ।

उपपादयति—

अत्र सिन्दूरसन्ध्याभ्यां गणाधिपगगनाभ्यां च बिम्बप्रतिबिम्बभावमा-
पन्नाभ्यां [धर्माभ्यां] सम्पादिताभेदेन विशिष्टधर्मेणाभेदेनावस्थितः क्यश्च-
र्थोऽनुगामी ।

अयमाशय —‘सिन्दूरारुण—’ इति पदोऽदृष्टणत्वशोणत्वे शब्दाश्रययोर्भेदेन भिन्ने
अपि परमार्थत एकरूप इति वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने तदन्विते सिन्दूरसन्धये वस्तुतो भिन्ने
अपि सादृश्यमूलकाभेदारोपविशिष्ट इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने तदन्विते गणपतिगगने
अपि पुन तथाविधतया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न एव । एवञ्च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ना-
दृष्टणत्वशोणत्वविशिष्टबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसिन्दूरसन्ध्याऽभेदयुद्धिविपर्ययीकृतगणपतिगगन-
रूपः । बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो विशिष्ट एको धर्मः सम्पद्यते, तदभिन्नध लेखायितपद-
गतक्यश्चप्रत्ययार्थरूप आचारोऽनुगामी धर्मः यद्बलात् दन्ताङ्कुरचन्द्रलेखशोणरूपमा सि-
ध्यति । यद्यपि प्रसिद्धौ अल्पशोभाविशेषरूपतानाधित्यापि आचारस्यानुगामित्वं सम्भवति,
तथापि तादृशगणपतिगगनरूपतामादायैवाचारस्यानुगामित्वम् कवितात्पर्यविन्वीयूतम्,
अन्यथा तदुल्लेख एव निष्कल स्यादिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘सिन्दूरारुण—’ इस पद में ‘सायङ्काल के लाल
आकाश को चन्द्रकला’ के साथ ‘सिन्दूर से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेशजी के दन्ताङ्कुर’
की मुलना की गई है—इन दोनों पदार्थों की उपमा बाँधी गयी है, और इस उपमा का
साधक है ‘लेखायित’ पद में आए हुए क्यश्च प्रत्यय का अर्थ ‘आचार’रूप समान धर्म,
जो अनुगामी है, परन्तु केवल विषयोदलेखरहित आचार उपमा का प्रयोजक होता नहीं,
अतः ‘गणपति तथा आकाश’ के साथ उस आचार का अभेद कल्पित होता है—अर्थात्
‘दन्ताङ्कुर’ और ‘चन्द्रकला’ का समान आचार यही माना जाता है कि एक गणेश का
है और दूसरा आकाश का । आपके मन में शङ्का होगी कि जब गणेश और आकाश ही
एक वस्तु नहीं, तब उन दोनों का सम्बन्धी आचार कैसे एक होगा ? शङ्का ठीक है, पर
वाप को समझना चाहिये कि कल्पना के द्वारा गणेशजी और आकाश को भी एक कर
लिया जाता है अर्थात् इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव भिन्न होने पर भी सादृश्यमूलक
अभेद—माना जाता है । आप पुनः शङ्का करेंगे कि—इन दोनों में सादृश्य ही कौन सा

है, यन्मूलक अभेद माना जायगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एक (गणेशजी) सिन्दूर से अरुणवर्ण शरीर वाले हैं और दूसरा (गगन) सन्ध्या से छाल है यही सादृश्य है। यदि इस पर भी आप पूछेंगे कि यह कौन सादृश्य हुआ ? एक का सम्बन्ध सिन्दूर से है और दूसरे का सन्ध्या से, फिर सादृश्य कैसा ? यह प्रश्न भी आपका असङ्गत नहीं, परन्तु उत्तर भी बहुत उपयुक्त है कि इन दोनों में भी-अर्थात् सिन्दूर और सन्ध्या में भी-विम्बप्रतिविम्बभाव माना जाता है-भिन्न होने पर भी सादृश्यमूलक अभेद स्वीकृत होता है। और इन दोनों के सादृश्य का मूल है अरुणत्व और शोणत्व। आप कहेंगे कि ये दोनों भी तो एक जैसे नहीं ज्ञात होते, तो मैं कहूँगा कि-है तो ये दोनों एक ही वस्तु, परन्तु शब्द तथा आशय (जितमें ये रहते हैं उन पदार्थ) के भेद से भिन्न जैसे भासित होते हैं। आप कहेंगे कि-हुआ न-किसी तरह जब भेद भासित हो गया, तब अभेद कैसे भासित होगा ? उत्तर है कि-भेद भासित होने के बाद पुनः अभेद की कल्पना की जाती है। वस्तुतः अभिन्न में किसी कारणसे भेद भासित होने के बाद जो अभेद कल्पित होता है उसीको तो 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' कहते हैं। फलतः यहाँ 'अरुणत्व और शोणत्व' वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, 'सिन्दूर-सन्ध्या' और 'गणेश-आकाश' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न हैं और 'भाचार' अनुगामी है। अतः यहाँ धर्मों का मिश्रण समझा जाता है।

धर्ममिश्रणस्य प्रकारान्तर दर्शयति—

क्वचिद्धेतुहेतुमद्भावेन ।

हेतुहेतुमद्भावेनेत्यत्रापि धर्मस्य व्यामिश्रणमिति शेषो बोध्यः । 'रयामलेन—' 'सिन्दूरारुण—' इत्यनयोर्व्यामिश्रणप्रतिविम्बभावापन्नधर्माणाम् अभेदेनानुगामिन्याचारे व्यामिश्रणम्, तथा क्वचित् हेतुहेतुमद्भावेन तथाविधधर्मस्यानुगामिनि व्यामिश्रणमिति भावः ।

धर्ममिश्रण का दूसरा प्रकार दिखलाया जाता है—कश्चित् इत्यादि। अर्थात्-जैसे उक्त उदाहरणों में अभेद सम्बन्ध से विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मों का अनुगामी धर्मों में मिश्रण हुआ है, उसी तरह यहाँ हेतुहेतुमद्भावसम्बन्ध से भी उक्त धर्मों का मिश्रण हो सकता है।

उदाहरण निर्देशमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विस्मृज्यते ।

अपायशङ्किभिलसैर्विषेणाशीविषो यथा ॥’

कवि कथयति—अपाय विनाश, शङ्कते, ये, तथाविधैः निजविनाशशङ्कादुल्लेखितैः यान्, लोके, विषेण विपरुषदोषेण, आशीविषः सर्पः, यथा, दूरेण दूरत, एव, विस्मृज्यते स्पृज्यते, तमेव, खलः नीचभाष्यो जनः, कापट्यदोषेण कपटत्वरूपदोषेण, दूरत परिह्रियत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—खलः इत्यादि। कवि का कथन है—जिस तरह, विपरुष दोष के कारण, सर्प, दूरत परिहृत होता है-लोग उसके पास फटकते तक नहीं, उसी तरह, कपटरूप दोष के कारण अपने विनाश की आशङ्का करनेवाले लोगों से खल-नीचभाष्य मनुष्य-दूर ही छोड़ दिया जाता है।

उपपादयति—

अत्र कापट्यं विपं च विम्बप्रतिविम्बतां गतं दूरतो विसर्जनेऽनुगामिनि हेतुः ।

‘खल’ कापट्य—’ इति पद्ये सर्वल्लयोद्धपमाया ‘दूरतो विसर्जनम्’ अनुगामी—
एकरूपेण द्वयोरन्वयी—साधारणो धर्मः, तत्र च ‘विपकपटता’रूपो विम्बप्रतिविम्बभावा-
पन्न—भेदेऽपि सादृश्यमूलकाभेदविशिष्ट—धर्मो हेतुरिति—अनुगामिविम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्नयोर्धर्मयो कार्यकारणभावेन मिश्रण जातम् । तयोर्विम्बप्रतिविम्बभावं विना
मिश्रणकरणत्वेन दूरविसर्जने भेदप्रतीत्याऽनुगामित्वमेव न स्यादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अन्न इत्यादि । ‘खल’— इस श्लोक में ‘खल’ की उपमा ‘सर्प’
के साथ ही गई है, जिसमें ‘दूर से छोड़ देना’ अनुगामी साधारण धर्म है और उसके
कारण हैं ‘विप’ और ‘कपट’रूप विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्म । अर्थात् जब तक विप और
कपट में विम्बप्रतिविम्बभाव—सादृश्यमूलक भेद—नहीं मान लिया जायगा, तब तक
भिन्न प्रकरण के होने से ‘दूर से छोड़ देने’ में भी भेद प्रतीत होता रहेगा, फिर वह
अनुगामी—एकरूपेण सन्वित होने वाला—धर्म हो ही नहीं सकता । अतः यहाँ अनुगामी
और विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मों का मिश्रण कार्य कारणरूप होने से हुआ है ।

हेतुहेतुमद्भावेन धर्मयोर्मिश्रणस्योदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

वधवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी ।

अन्तःकाटवसम्पूर्णा सुपक्ववेवेन्द्रवारुणी ॥’

रूपवती बाह्यसौन्दर्यशालिनी, अपि, अन्तःकाटवेन अन्तर्गतकटुत्वेन, सम्पूर्णा सर्वतो-
भावेन युक्ता, सुपक्वा अतिपरिपाकवस्था गताः (एतच्च बाह्यसौन्दर्यसम्पत्तिस्वभावः)
इन्द्रवारुणी फलविशेषः (नारुन इति भाषाया प्रसिद्धः) इव, रूपवत्यपि, क्रूरा कठोरहृदया,
कामिनी नायिका, दुःखदायिनी क्लेशप्रदा, भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—रूपवत्यपि इत्यादि । रूपवती (बाह्य सौन्दर्य से
युक्त) होकर भी क्रूरहृदय वाली नायिका, अन्दर कटुहृदय से भरी हुई परिपक्व इन्द्र-
वारुणी (नारुन) की तरह, दुःख देने वाली होती है ।

उपपादयति—

अत्र रूपवत्त्वदुःखदायित्वयोर्द्वयोरनुगामिनोर्मध्ये कौर्यकाटवे विम्बप्रति-
विम्बभावापन्ने दुःखदायित्वेन सह हेतुहेतुमद्भावेन मिश्रिते, अपरेण तु
शुद्धसामानाधिकरण्येन ।

अपरेण रूपवत्त्वेन शुद्धसामानाधिकरण्येनेति । एतेन दुःखदायित्वेनापि कौर्यकाटवयोः
सामानाधिकरण्यमस्येव, परन्तु न शुद्धम्, अपि तु हेतुहेतुमद्भावविशिष्टमित्यर्थः फलितः ।
अयं भाव—इन्द्रवारुणीकामिन्योरुपमाया ‘रूपवत्यपि—’ इति पद्योपनिबन्धात्मानम्,
रूपवत्त्वदुःखदायित्वरूपो द्रावणुगामिसाधारणधर्मो कौर्यकटुत्वात्मकौ च द्वौ विम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्नौ तयाविधौ धर्मौ तत्र तु सदायिन्वप्रति कौर्यकाटवे कारणे—अर्थात् नायिका-
निष्ठदुःखदायित्वं प्रति कौर्य कारणम् तथा इन्द्रवारुणीनिष्ठदुःखदायित्वं प्रति काटवं
कारणम् । एवञ्च विम्बप्रतिविम्बभावापन्नयो कौर्यकाटवयोः दुःखदायित्वस्य चानुगामिन-

हेतुहेतुमद्भावविशिष्टनामानाधिकरण्येन मिश्रणम्, तथाविधयोस्तयोरनुगामिनी रूपवत्त्वय च शुद्धमामानाधिकरण्येन मिश्रणमिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'रूपवत्त्वयि—' इस उदाहरण में इन्द्रवाणी और कामिनी की उपमा के साथ, दो—'रूपवती होना' और 'दुःख देने वाली होना'—अनुगामी साधारण धर्म हैं । उन दोनों धर्मों में से एक—'दुःखदायित्व'रूप अनुगामी धर्म के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता'रूप विषमप्रतिविषयभावापन्न धर्म कार्यकारणभाव विशिष्ट सामानाधिकरण्यसंबन्ध से मिश्रित है, क्योंकि कामिनी में 'क्रूरता' दुःख देने का कारण है और इन्द्रवारुणी में 'कटुता', इसी तरह दुःखदायित्व और 'क्रूरता—कटुता' एक आधार (कामिनी—इन्द्रवारुणी) में रहते भी हैं । 'रूपवत्त्व' के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता' का मिश्रण शुद्ध हेतुहेतुमद्भावरहित सामानाधिकरण्यसंबन्ध से होता है ।

उपसहृति—

एवमन्यैरपि व्यामिश्रणं बोध्यम् ।

एवम् उक्तीत्या । अन्यं = अनुगामिधर्मातिरिक्तं, पूर्वोक्तपञ्चविधमाधारणधर्मान्तर्गतैर्धर्मैः ।

उपसहार करते हैं—एवम् इत्यादि । इसी तरह (पूर्वोक्त रीति से ही) अन्य धर्मों से भी मिश्रण समझ लेना चाहिए ।

उपमाया उक्तेभ्यो भेदेभ्योऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्तीति सूचयितुमाह—

प्रकारान्तरं च लदानुसारेण सुधीभिः स्वयमुन्नेतुं शक्यम् ।

उत्पद्यमानेन गुण्य उपमाया प्रकारान्तराणि स्वयमुद्दिष्टुं पारयन्तीति भावः ।

विद्वज्जन, उदाहरणों के आधार पर, उपमा के अन्य भेदों का भी ऊह, स्वयं कर ले सकते हैं ।

स्वयमुन्नेयत्वेनोक्त प्रकारान्तरमुपमाया दर्शयितुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

।से—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'यथा लतायाः स्तम्भकानताया' स्तम्भकानताया नितरां समाऽसि ।

तथा लता पल्लविनी सर्गर्वे शोणाधराया' सदृशी तथापि ॥'

नायगी नायिका कथयति—स्तम्भकानता कुचभारविनते । (एतच्च स्तम्भकानतलता-साम्यसिद्धयर्थम्) त्वम्, स्तम्भके पुष्पगुच्छं, स्तम्भकानताया नम्रीभूताया, लताया बह्वर्था, यथा येन प्रकारेण, नितराम् अत्यन्तम्, समा सदृशी, अस्मि वर्तसे, तथैव हे सर्गर्वे लतो-पमानत्वलाभजन्यगौरवयुक्ते ! पल्लविनी रक्तवर्णनवकिमलयवती (एतच्च शोणाधरनायिका-सादृश्यसिद्धिकरम्), लता, अपि, शोणाधराया अरुणरदनच्छदाया, तच्च सदृशी तुरया वर्तते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यथा लताया इत्यादि । नायक की नायिका के प्रति उक्ति है—हे स्तम्भों से झुकी हुई ! जिस तरह तू फूलों के गुच्छों से नमी हुई लता के अत्यन्त समान है, उसी तरह, हे सर्गर्वे—अपने को लता का उपमान समझकर गर्व करने वाली !—पल्लवों से युक्त लता भी लाल अधर वाली तेरे समान है ।

उपपादयति—

अत्र स्तम्भकानताया लताया उपमानमस्मीति गर्वं मा विदध्या' ।

यतः शोणाधराया उपमेयायास्तवापि पल्लविनी लतोपमानं भवतीति वाक्यार्थे यथातथापदप्रतिपाद्या कान्तोपमानिका लतोपमेयिकोपमा निष्पादिका । अस्यां चोपमायां निरूपकतासम्बन्धेनोपमानोपमेयगते द्वे उपमे समसदृशराज्याभ्यां प्रतिपादिते बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्ने साधारणधर्मतया स्थिते । तत्र निरूपकतासम्बन्धेन प्रधानीभूतोपमोपमानकान्तागतायामुपमायां प्रतिबिम्बभूतायां गुच्छस्तनयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नतमननस्रीभवनविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वम् । एवं तेनैव सम्बन्धेन लतारूपोपमेयगतायां बिम्बभूतायामुपमायामधरपल्लवयोः ।

उपमानिगादिकेति । एव च वाक्यार्थोपस्कारिकेयमुपमेति भावः । बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्ने इति । अत्र 'यद्यपि समसदृशशब्दान्यां प्रतिप्रादितोपमयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभाव एव, तथापि तद्विशेषणयोः शोणाधरनाधिकारस्तवकावनमल्लयौर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव आवश्यक इति भावः' इति नागेशः । उपमानोपमेयसाधारणधर्ममादृश्यानि समष्टिरूपेणैवोपमा, न सादृश्यमात्रमिति उपमाया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वोक्तिवितर्कितेति तु मम प्रतिभाति । तत्रेति । तथोपमयोर्मध्य इत्यर्थः । निरूपकनेति । प्रतिव्योमित्यर्थः इति नागेशः । प्रधानीभूतोपमेति । यथातथापदप्रतिपाद्येत्यर्थः । उपमानेति । कान्तेत्यर्थः । उपमाया प्रतिबिम्बभूतायामिति । समसदृशप्रतिपाद्यायामित्यर्थः । तेनैव सम्बन्धेनेति । निरूपकतासम्बन्धेनेत्यर्थः । बिम्बभूतायामुपमायामिति । सदृशशब्दप्रतिपाद्यायामित्यर्थः । अधरपल्लवयोरिति । कान्तालताविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वमिति शेषः । अत्र भावः—'यथा लताया—' इति पद्ये लिख उपमा समित तानु 'यथा त्वं लतासदृशी, तथा, लता तव सदृशी' इत्याकारिणा यथा-तथापदप्रतिपाद्या उपमा प्रधानम्, 'स्तनमारवनताडं पुष्पगुच्छमारवनघ्राया लताया उपमानभूतास्मि—तथाविधा वल्लरी-मकलोक्यद्भिः सहृदयं' 'स्तनमारभङ्गुरा कामिनी वेद्य वल्लरी'त्येवं रूपेण तस्यास्तुलना मया सह विधीयत—इति गर्वो न करणोयः । अरुणाधरालिन्या उपमेयभूतावास्तवापि नवकिमलवक्रोमलाया लताया उपमानत्वात्—रकरदनच्छदा त्वामनुपश्यद्भिः सचेतोभिः 'नूतनारुणदलकोमलवल्लरीवेद्यं ललना इत्येवरीत्या लनया सहापि तव तुलनात्' इति व्यङ्ग्यभूतप्रधानवाक्यार्थस्य निष्पादकत्वात् अलङ्कारात् । अस्या प्रधानभूतायामुपमाया कान्ता उपमानभूता लता उपमेयभूता यथा-तथापदप्रतिपाद्यं सादृश्यं चेति त्रौष्यज्ञानि स्पष्टानि । साधारणधर्मश्च विचारवेद्यः । विचारे च । 'स्तनाव-नना त्वं, स्तवकानतलनाया ममा, पल्लविनी लता, शोणाधरायास्तव सदृशी' इति द्वे उपमे एव साधारणधर्मत्वे अवपन्नेते । ननु उपमानोपमेयवृत्तिवै एव कस्यापि पदार्थस्य साधारणधर्मता भवति, इमे उपमे तु नोपमोपमानोपमेयवर्तिता वृत्तितानिग्रामकसम्बन्धस्याम्पुरणादिति चेन्न, निरूपकताया त्रिविधमप्यप्रतियोगिताया वा संबन्धरूपायाः स्फुरणात् । उक्तधर्मरूपोपमाद्वयमध्ये प्रधानसमसदृशप्रतिपाद्या उपमा, निरूपकतासम्बन्धेन स्वोपमाने प्रधानीभूतोपमोपमाने च कान्तायाम्, द्वितीया—सदृशपदप्रतिपाद्या—उपमा च, तेनैव सम्बन्धेन स्वोपमाने प्रधानीभूतोपमोपमेये च लताया वर्तते इति साराशः । न चैवमपि तयोपमयोरेकैकमात्रवृत्तिन्वेन साधारणत्व कथमिति वाच्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावापल्लवैर्नैक्यात् । तत्र, प्रथमोपमा, अचिरस्थायिसौन्दर्यशालिमुष्णगुच्छस्तनात्मकसाधारणधर्ममूलकत्वात्प्रतिबिम्बरूपा, द्वितीयोपमा च तदपेक्षया विरस्थायिशोभाधरपल्लवात्मक-

साधारणधर्ममूलकत्वाद्विम्बरूपेति विवेकः । अधानयो प्रधानोपमाया साधारणधर्मरूपो-
रुपमयो कः कीदृशश्च साधारणधर्म इति चेत् १ प्रधानाया उपमायाऽरुपमानभूताया कान्ताया
निरूपकतासम्बन्धेन वर्तमाना या 'सम'-शब्दप्रतिपाद्योपमा प्रतिविम्बभूता तत्र विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्नतर्यकीभूतौ गुच्छस्तनौ साधारणो धर्मः । तौ च गुच्छस्तनौ, 'स्तव-
ज्ञानताया', 'स्तनावनमे' इति पदद्वयबोध्ययोर्नमननस्रोभवनयो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नयो-
विशेषणभूताविति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितविम्बप्रतिविम्बभावापन्नोऽत्र साधारणधर्मः ।
प्रधानाया उपमाया उपमेयभूताया लताया निरूपकतासम्बन्धेन तिष्ठन्ती या 'सदृश'पद-
प्रतिपाद्या विम्बभूता द्वितीयोपमा, तत्र विम्बप्रतिविम्बभावापन्नतर्यकीभूतावधरपल्लवौ तथा ।
वस्तुप्रतिवस्तुभावशून्यतया शुद्धविम्बप्रतिविम्बभावापन्न इह सधर्म इति बोध्यम् । पूर्व-
मुदाहृतासूपमासु अन्यविधा साधारणधर्मा उक्ता, अत्र तु उपमाद्वयमेवोपमाया
साधारणो धर्म इति वैचित्र्यमिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र हत्यादि । 'यथा लताया -' हत्यादि पद्य से तात्पर्यार्थ
निकलता है कि—'हे सुन्दरि ! 'स्तन-भार से झुकी हुई मैं, पुष्प के गुच्छों से लदी हुई
अतएव नमी हुई लता, का उपमान हूँ—किसी पुष्पगुच्छावनत लता को देखकर कविगण,
'यह लता, स्तनभार से झुकी हुई कामिनी के समान है' इस रूप में मुझसे लता की
तुलना करते हैं, मेरी तुलना लता से नहीं' यह अभिमान न करो, क्योंकि जय लाल
अधर वाली तू उपमेय होती है—अर्थात् लाल अधर को लेकर तेरी तुलना करनी होती
है, तब पल्लवयुक्त लता तेरा उपमान होती है—अर्थात् लाल अधरवाली तुझ तन्वी को
देख कर कवि लोगों के द्वारा 'यह कामिनी पल्लवशोभित लता के समान है' इस रूप में,
तेरी भी तुलना लता से की जाती है ।" इस तात्पर्यार्थ (वाच्यार्थ) को सिद्ध करती है
'यथा और तथा' पदों से प्रतिपादित होनेवाली वह उपमा, जिसमें सुन्दरी नायिका (तू)
उपमान है और लता उपमेय । अतः यह (यथा-तथा पद प्रतिपाद्य) उपमा प्रधान
है । इस प्रधान उपमा के तीन आवश्यक अङ्ग-उपमान सुन्दरी (तू), उपमेय लता
और यथा-तथा पदों से अवगत होनेवाला सादर्य-रूप है, पर चौथा अङ्ग—साधारण
धर्म—उतना स्पष्ट नहीं है, वह गम्भीर विचार से विदित होता है और विदित यह
होता है कि—इस प्रधान उपमा का साधारण धर्म भी दो उपमायें ही हैं—एक 'तू लता
के समान है' यह पूर्वार्धगत 'सम' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली और दूसरी
'लता तेरे सदृश है' यह उत्तरार्धगत 'सदृश' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली ।
आप शका कर सकते हैं कि-उपमायें कैसे उपमा के साधारण धर्म होंगी, क्योंकि साधारण
धर्म वह पदार्थ होता है जो उपमान और उपमेय में रहे और ये उपमायें तो उस (प्रधा-
न) उपमा के उपमान अथवा उपमेय में रहने वाले पदार्थ हैं नहीं, तो, इसका समा-
धान यह है कि—'निरूपकता' सबन्ध से ये दोनों उपमायें क्रमशः प्रधान उपमा के
उपमान और उपमेय में रहने वाले धर्म होते हैं—अर्थात् उपमा का निरूपक होता है उप-
मान और आश्रय उपमेय, अतः पूर्वार्धगत, समशब्दप्रतिपाद्य (तू लता के समान है यह)
उपमा अपने उपमान 'तू' में निरूपकता सबन्ध से रहती है और वहा 'तू' प्रधान
(यथातथापदबोध्य) उपमा में भी उपमान है, फलतः यह उपमा, प्रधान उपमा के
उपमान में रहने वाली वस्तु सिद्ध हुई, इसी तरह, उत्तरार्धगत, 'सदृश पदप्रतिपाद्य
(लता तेरे समान है, यह) उपमा अपने उपमान लता में उक्त सम्बन्ध से रहती है
और वही लता प्रधान उपमा में उपमेय है, फलतः यह उपमा प्रधान उपमा के उपमेय
में रहने वाली वस्तु सिद्ध हो गई । आप कहेंगे—इस विवरण के बाद भी यह समझ में
नहीं आता कि—ये उपमायें साधारण कैसे होंगी, क्योंकि ये दोनों उपमायें दोनों (उपमान
तथा उपमेय) में रहने वाली नहीं हैं—एक केवल उपमान में और दूसरी केवल उपमेय

में रहती है, तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि—इन दोनों उपमाओं को विम्बप्रति-
विम्बभावापन्न होने के कारण एक मानकर दोनों में रहनेवाली समझ लिया जाता है।
सात्पर्य यह कि विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर ये दोनों उपमार्ये प्रधान उपमा में साधारण-
रूप होती हैं। धर्मरूप इन दोनों उपमाओं में से प्रधान उपमा के उपमान 'कान्ता' में
निरूपकता-सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'लता के समान है'—यह उपमा प्रतिविम्ब-
रूप है। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'स्तन और गुरुद्ध'—
अपेक्षाकृत अचिरस्थायी है अतः यह उपमा भी अचिरस्थायिनी होगी। और प्रधान उपमा
के उपमेय 'लता' में उक्त सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'लता तेरे सदृश है' यह—उपमा
है विम्बरूप। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'लाल अधर और
लाल पल्लव' अपेक्षाकृत चिरस्थायी है, अतः यह उपमा भी चिरस्थायिनी मानी जायगी।
स्पष्ट सात्पर्य यह कि विम्ब चिरस्थायी होता है जैसे—मुख और प्रतिविम्ब अचिरस्थायी
जैसे दर्पण में पड़ी सुख की छाया। इनमें से प्रतिविम्बरूप उपमा में, वे 'स्तन' और
'फूलों के गुच्छे' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हैं, जो वस्तुप्रतिवस्तु
भावापन्न 'नमन' और 'नम्रीभवन' (झुकना और नमना) के विशेषणरूप में स्थित हैं
और इसी तरह विम्बरूप उपमा में 'अधर' और 'पल्लव' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर
साधारणधर्मरूप हैं। सात्पर्य यह हुआ कि प्रतिविम्बरूप उपमा में साधारण धर्म, वस्तु-
प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप है, और विम्बरूप उपमा में केवल
विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप—यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव का मिश्रण नहीं है। इन सबका
सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में तीन उपमार्ये हैं जिनमें एक प्रधान है और दो विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्न होकर उस प्रधान उपमा को सिद्ध करनेवाली साधारणधर्मरूप।
और साधारणधर्मरूप होनेवाली दो उपमाओं में से प्रथम उपमा का साधारणधर्म है
वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्न तथा द्वितीय उपमा का है केवल
विम्बप्रतिविम्बभावापन्न। दो उपमाओं का ही तृतीय उपमा में समानधर्म होना इस
उदाहरण की विचित्रता है, अतएव इस तरह की उपमा को एक नवीन उपमाप्रभेद के
रूप में गिना जाना समुचित ही है।

आशङ्क्य समापत्त—

न च तेन सदृश इत्यादी तन्निरूपितसादृश्याश्रयस्योपमेयस्य, तस्य सदृश
इत्यादी च तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्योपमानस्य प्रतीतेः सिद्धत्वात्प्रकृते च सदृ-
शीतिशब्दान्निवेद्यमानेऽप्युपमानभावे कथं नाम लताया उपमेयतेति वाच्यम्।
सदृशशब्दप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमायामुपमानत्वेऽपि यथातथाशब्दवेद्योपमायां
लताया उपमेयभावे बाधकाभावान्।

तन्निरूपितेति । तन्नप्रतियोगिकेत्यर्थः । सादृश्याश्रयस्येति । सादृश्यानुयोगिन इत्यर्थः ।
तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्येति । तदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिन इत्यर्थः । 'चन्द्रेण सदृशम्'
इत्युक्तौ चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगिने सुखादेरुपमेयस्य प्रतीतिः, 'सुखस्य सदृशः'
इत्युक्तौ पुनः सुखानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिनधन्द्रादेरुपमानस्य प्रतीतिर्भवतीति सिद्धं वस्तु ।
एवञ्च प्रकृते 'लता तव सदृशी' इत्युत्तरार्धगतोक्त्या त्वदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिलता-
यामुपमानत्वस्य प्रतीतौ तस्या (लताया) उपमेयत्व मूलोक्तसदृशतमिति शब्दाया समा-
धानं यत्—तदुक्त्या लतायामुपमानता प्रतीयत इति नास्त्या कथा, परन्तु सा उपमानता
सदृशपदप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमाकृता । मूलोक्त लताया उपमेयत्व पुनर्यथातयापदप्रतिपाद्य-
प्रधानोपमाकृतमिति न कोऽपि विरोध इति । एकस्मिन् पद्ये सतीष्वनेकासुपमासु एक एव
पदार्थः कस्यान्नोपमायामुपमानरूपं कस्याच्चित् पुनरुपमेयरूपो भवितुमर्हति विरोधाभा-

वाविति भाव । अत्र 'चन्द्रस्य सदृशम्' अर्थात् चन्द्रस्य सादृश्यं वहति इत्युक्त्वा सादृश्यं चन्द्रस्य सम्बन्धि भवति तदाधारधोपमान भवति [चन्द्रसम्बन्धि सादृश्यं गृह्यते तस्याधार चन्द्र एव स्यात्] सादृश्यस्य (उपमाया) निरूपक च उपमेय भवति' इति सरलाकारकृतं विवरणं युक्तमयुक्तं वेति साहित्यमर्मज्ञैरेव निश्चयेम् ।

एक शब्दा और उसका समाधान लिखते हैं—न च इत्यादि । 'उससे सदृश है' ऐसा कहने पर 'उससे' का अर्थ चन्द्र आदि का उपमान होना और 'सदृश' पद का अर्थ मुख आदि का उपमेय होना प्रतीत होता है, क्योंकि 'उससे' इस तृतीयाश्रय से उपमा के निरूपक का बोध होता है और उपमा का निरूपक होता है उपमान । इसी तरह 'उसका सदृश' ऐसा कहने पर 'उसका' का अर्थ सादृश्य का सम्बन्धी—आश्रय—मुख आदि का उपमेय होना और 'सदृश' पद का अर्थ—उपमानिरूपक—चन्द्र आदि का उपमान होना विदित होता है । इस स्थिति में 'लता तव सदृशी, अर्थात् लता तेरे सदृश है' इस शब्द से साफ 'तेरे' का अर्थ नायिका का उपमेय होना और लता का उपमान होना ज्ञात होगा फिर मूल में लता को उपमेय बतलाना असम्भव है इस शब्दा का उच्चारण यह है कि—हो, उक्त धर्मभूत उपमा में लता की उपमानता जो प्रतीत होती है वह सर्वथा ठीक है, किन्तु साथ ही 'यथा तथा' पद से प्रतिपादित होने वाली प्रधान उपमा में उसकी (लता की) उपमेयता भी ठीक ही है । सारांश यह कि मूल में प्रधान उपमा के हिसाब से लता को उपमेय कहा गया है, अतः वह ठीक है और आपने जो लता के उपमेय होने की बात कही है, वह धर्मभूत गौण उपमा के हिसाब से, अतः वह भी ठीक ही है । तात्पर्य यह कि एक भी वस्तु, एक ही जगह अनेक उपमाओं के रहने पर किसी उपमा का उपमान और किसी उपमा का उपमेय हो सकती है, इसमें कोई विरोध नहीं होता ।

पुनः प्रकारान्तरं सूचयति—

एवमन्येऽपि प्रकाराः ।

पूर्वोक्तप्रकारवत् प्रकारान्तरमपि सम्भवतीति भावः ।

जिस तरह पूर्व के अभिनव प्रकार सब उपमा के हुए हैं, उसी तरह और भी नवीन प्रकार उसके हो सकते हैं ।

तत्प्रकारान्तरमेवोदाहरणप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

‘यथा तवाननं चन्द्रस्तथा हासोऽपि चन्द्रिका ।

यथा चन्द्रसमश्चन्द्रस्तथा त्व सदृशी तव ॥’

यथा तव मुखं चन्द्राभिन्नम्, तथा तव हासोऽपि ज्योत्स्नाऽभिन्न एव । अपि च यथा चन्द्रतुल्यचन्द्र एव नापरस्तथा त्वत्सदृशी त्वमेव नान्येत्यर्थः । अत्र पूर्वार्थं द्वयो-रुपकयोर्हृत्तरार्थं च द्वयोरनन्वययोरुपमा । एवञ्च विलक्षण एवायमलङ्कारेणालङ्कारस्योप-माया प्रभेद इति भावः ।

पूर्वसमाहित उपमा के प्रकारान्तर को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—यथा इत्यादि । कोई नायक नायिका से कहता है—(हे मिये) जैसे तेरा मुख चन्द्रमा है वैसे तेरी हँसी भी चाँदनी है, और जैसे चन्द्रमा चन्द्रमा के समान है—अर्थात् उसका कोई दूसरा उपमान नहीं है, वैसे तू तेरे सदृश है—अपने जैसी आप ही है—अर्थात् तेरी भी तुलना किसी अन्य वस्तु से नहीं हो सकती । यहाँ पूर्वार्थ में दो रूपकों की उपमा है और उत्तरार्थ में दो अनन्वयों की । अतः अलङ्कारों में परस्पर उपमानोपमेय भाव वाला वह एक विलक्षण ही उपमा का प्रभेद सिद्ध होता है ।

उपसंहरति—

एभिर्भेदैः प्रागुक्तानां सधर्माणां भेदानां यथासम्भव गुणने बहुतरा भेदा भवन्ति ।

अनुपदं ये भेदा उक्ता ये च धर्मवैलक्षण्यमूला प्रागुक्ता ये च प्राचीनाभिमतता पूर्णा-
लुप्तादयः प्रभेदा दर्शितास्तेषां सर्वेषां परस्पर गुणनेऽतिप्रभूता उपमाभेदा जायन्ते
इति भावः ।

जमी जो कुछ भेद दिखलाये गये हैं, तथा धर्मवैलक्षण्यमूलक कुछ भेद पहले जो
कहे गए हैं और पूर्णा-लुप्ताभेद से प्राचीनों के अभिमत जितने भेद गिनाए गये हैं, उन
सबों को गुणित करने पर उपमा के बहुतेरे भेद हो जाते हैं ।

पुनः प्रकारान्तरेण उपमाया भेद उच्यते—

तथा धर्माणां वाच्यतायां वाच्यधर्मा बहुधोक्ता । व्यङ्ग्यत्वे व्यङ्ग्यधर्मा
धर्मलोपे गदितैव । लक्ष्यतायां यथा—

अथ भावः—उपमायामपेक्षिता साधारणधर्मा क्वचिद् वाच्या, कुत्रचित् लक्ष्या,
कुत्रचिन् व्यङ्ग्या भवितुमर्हन्ति, तदनुसारमुपमा वाच्यधर्मा, लक्ष्यधर्मा, व्यङ्ग्यधर्मा चेति
त्रिविधा भवति, तत्र वाच्यधर्माया उपमाया अनेकान्युदाहरणानि प्रागुल्लिखितानि, व्यङ्ग्य-
धर्माया अपि धर्मलोपोदाहरणप्रदर्शनावसरे कथितान्येवोदाहरणानि, लक्ष्यधर्माया उदा-
हरणज्ञानं परमवशिष्यते, अतस्तदुपक्रममारभ्यतीति ।

पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद दिखलाने के लिये लिखते हैं—तथा इत्यादि ।
उपमा का एक भावश्यक अङ्ग साधारणधर्म तीस प्रकार का हो सकता है—एक वाच्य,
दूसरा लक्ष्य और तीसरा व्यङ्ग्य । तदनुसार उपमा भी तीन प्रकार की कही जा सकती
है—एक वाच्यधर्मा—जहाँ धर्म वाच्य अर्थात् अभिधावृत्तिबोध्य हो, दूसरी लक्ष्यधर्मा—
जहाँ धर्म लक्षणा से विदित होता हो और तीसरी व्यङ्ग्यधर्मा—जहाँ धर्म की प्रतीति
व्यञ्जना से होती हो । उनमें प्रथम (वाच्यधर्मा) के बहुतेरे उदाहरण पहले ही दिए
जा चुके हैं और तृतीय (व्यङ्ग्यधर्मा) के उदाहरण भी धर्मलुप्तोपमा के प्रकरण में कह
दिये गये हैं, अतः द्वितीय (लक्ष्यधर्मा) का उदाहरण दिखलाना अवशिष्ट है, वह जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सर्प इव शान्तमूर्तिः श्वेदायं मानपरिपूर्णः ।

धीव इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ॥’

कथिदाक्षिपत् वक्ति—अयम् आक्षेपस्य वधिन् पुरुषविशेष, सर्प इव शान्तमूर्ति-
शान्तिमयनाय, श्वा इव गुरुर, इव, मानेन संमानेन, परिपूर्णं सर्वतोभावेन संयुक्तः, धीव
उन्मत्त, इव, सावधान सतर्कः, मर्कट वानर, इव, नितराम् सर्वथा, निष्क्रिय-निश्चेष्टः
वर्तत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—सर्प इत्यादि । कोई किसी पर आक्षेप करता हुआ
कहता है—यह सर्प की तरह शान्तमूर्ति है, कुत्ते की तरह सम्मानपूर्ण है, पागल की
तरह सावधान है, और चन्द्र की तरह अत्यन्त निश्चेष्ट है—लुपचाप बैदा रहता है ।

उपसंहरति—

इत्यत्रोपमानमहिम्ना शान्तमूर्त्यादिशब्दैर्विरुद्धा धर्मा लक्ष्यन्ते ।

उपमानमहिम्नेति । उपमानेषु सर्पादिषु शान्तमूर्तिन्वादेरभावादिति भावः । धर्मा
लक्ष्यन्ते इति । लक्ष्यतावच्छेदकेऽपि लक्षणेति भवेनेदम् । सर्पादयोऽत्रोपमानभूता

पदार्थास्तादृशा सन्ति, यत्र शान्तमूर्तित्वादिक नारित, प्रत्युत तद्विरुद्धमशान्तमूर्तित्वा-
दिकमेवास्ति, अतस्तादृशोपमानप्रभावेण उपमेयेऽपि इदपदार्थे लक्षणया शान्तमूर्तित्वादि-
विरुद्धा एव धर्मा प्रतीयन्ते, तथा च अशान्तमूर्तित्व-तिरस्कारपात्रत्व-प्रमत्तत्व चपल-
त्वानि, क्रमशः शान्तमूर्तिमानपरिपूर्णसावधाननिष्क्रियपदानां लक्ष्यार्थभूतानि, अत्र सर्पा-
देरिद पदार्थस्य चोपमाया साधारणधर्मभूतानीति भावः ।

उपपादन करते हैं—इत्यत्र इत्यादि । 'सर्प इव—' इस पद्य में सर्प आदि ऐसे
उपमान कहे गये हैं, जिनमें शान्तमूर्तित्व आदि वर्णित धर्म तो नहीं ही रहते, प्रत्युत
उसके विरुद्ध अशान्तमूर्तित्व आदि ही रहते हैं, अतः ऐसे उपमानों के बल से शान्त-
मूर्ति, मानपरिपूर्ण, सावधान और निष्क्रिय पदों की क्रमशः अपने विरुद्ध धर्म—अशान्त
मूर्तित्व, तिरस्कृतत्व, असावधानत्व और चञ्चलत्व में लक्षणा करनी पड़ती है, जिससे
यह अर्थ सिद्ध होता है कि यह सर्प के समान अशान्त, कुत्ते के समान तिरस्कृत, पागल
के समान असावधान और बन्दर के समान चपल है । इस तरह यहाँ सर्प आदि के
साथ एक पुरुषविशेष की जो उपमा दी गई है उसमें अशान्तमूर्तित्व आदि लक्ष्य धर्म
साधारण होते हैं ।

उपमाया उपस्कारकत्व पर्यालोचयितुमाह—

इय चोपमा मुख्यार्थस्य क्वचित्साक्षादुपस्कारिणी क्वचिच्चोपस्कारकान्तरो-
पस्करणद्वारा । तत्र साक्षादुपस्कारिणी प्राग् बहुधोदीरिता ।

'सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारक सादृश्यमुपमा' इति प्रकृतोपमालक्षणम् । तथा चोपमाया
उपस्कारकत्व नियतम् । तच्चोपस्कारकत्व द्विधा सम्भवति साक्षात् परम्परया च । तत्र
साक्षादुपस्कारकत्वं प्रागुदाहृतेषु पद्येषु विदितपूर्वमेवेति न पुनरिह तदुदाहरणप्रदर्शनम-
पेक्षितमिति भावः ।

उपमा की उपस्कारकता की पर्यालोचना करने के लिये कहते हैं—इयं च इत्यादि ।
प्रकृत उपमालक्षण में खास कर उपमा का उपस्कारक होना बतलाया गया है—अर्थात्
उपमा मुख्य अर्थ को उपस्कृत (शोभित) करती है यह बात निश्चित है, अतः इसके
विषय में यह एक समझ लेने की बात है कि उपमा कहीं साक्षात् मुख्य अर्थ को उप-
स्कृत करती है और कहीं परम्परा से अर्थात् मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाले किन्हीं
दूसरे पदार्थ (वस्तु अथवा अलङ्कार) को उपस्कृत करने के द्वारा । उनमें साक्षात् उप-
स्कारक उपमा के अनेक उदाहरण पहले दिखलाये जा चुके हैं ।

परम्परयोपस्कारिकामुपमामुदाहर्तुमाह—

परम्परया यथा—

मुख्यार्थोपस्कारकान्यपदार्थोपस्करणद्वारा मुख्यार्थोपस्कारकोपमाया प्रकारोऽभिधीयत
इति भावः ।

परम्परया मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिजत्रा

पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः ।

इदं तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते

युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणशुति ॥'

कविर्नरपति स्तौति—हे प्रभो ! अहितानां तव शत्रूणां, मन्दिरे भवने, मददन्तिन-
मदमत्ता गजा नदन्ति चीत्कारं कुर्वन्ति, वाजिजत्रा अश्वगणा, परिलसन्ति शोभन्ते,

एवम्, वन्दितं स्तुतिपाठकां पुरुषां, विरुदावलीम् कीर्तिगाथाम्, पठन्ति उच्चारयन्ति । परमिदं सर्वम्, तदवधि तावत्कालपर्यन्तम्, यदवधि गावत्कालपर्यन्तम्, युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकानलनुल्या, ते तव, नयनयो- नेत्रयोः, कौणयो कौणभागयोः, शोणा अशना, द्युति कान्ति, न, प्रवृद्धा अधिका, अभूत् इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नदन्ति इत्यादि । किसी राजा की स्तुति कवि करता है—हे प्रभो ! आपके मन्दिर (घर) मदमत्त हाथी तुमुल नाद करते हैं, अर्धों के समूह शोभित होते हैं और बन्दीजन विरुदावली (यशोगाथा) पढ़ते हैं । परन्तु ये सब सब तक हैं, जब तक कि प्रलयकालिक अग्नि के समान आपके नेत्रकौण की अरुण आभा बड़ी नहीं है ।

उपपादयति—

अत्र मुख्यार्थस्य राजविषयायाः कविरतेरुपस्कारकस्य यदैव तत्र कोपोदय-स्तदैव रिपूणां सम्पदो भस्मसाद् भविष्यन्तीति वस्तुन उपस्कारिका नयन-कौणशोणद्युतेर्युगान्तदहनोपमा ।

नदन्तीति पद्ये कविनिष्ठा राजविषयिणी रति (भाव) प्रधानतयाऽभिव्यज्यते इति स एव मुख्यार्थः, तस्य च 'शत्रुसम्पदो नयनकौणशोणद्युतिप्रवृद्धयवधिकन्वृणनेन' व्यज्य-मानम् 'तव कोपोदये क्षणेनैव शत्रूणां सम्पत्तनो भस्मीभूता भवेद्यु' इति वस्तुपरस्कार-कम्, तस्य चोपस्कारिका नयनकौणशोणद्युत्युपमेयिका प्रलयकालिकान्नुपमानिकोपमा एवोपमाया अस्या परम्परया मुख्यार्थभूतभावोपस्कारकस्य सिद्धमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नदन्ति—' इस पद्य से प्रधानतया भाव (कवि का राजा के विषय में प्रेम) अभिव्यक्त होता है, अतः वही (भाव ही) यहाँ मुख्य वाक्यार्थ समझा जायगा । इस मुख्य वाक्यार्थ को शोभित करता है 'जभी तेरा क्रोध उदित होगा, तभी शत्रुओं की सभी सम्पत्तियाँ भस्मीभूत हो जायँगी' यह वस्तुव्यङ्ग्य, जो 'हाथी आदि शत्रुसमृद्धि तय तक है जब तक आपकी आँखों की लाल कान्ति नहीं बड़ी' इस वर्णन से विदित होता है और इस वस्तुव्यङ्ग्य को शोभित करनेवाली है नयनकान्ति में दी गई प्रलयकालिक अग्नि की उपमा । अन्ततः इस उपमा का परम्परया मुख्य अर्थ (उक्तभाव) का उपस्कारक होना सिद्ध हो गया ।

भेदान्तरप्रतिपादनाय स्पष्टोक्तव्ये—

इयं चैवयथावादिशब्दैर्वाचकैः प्रतिपादिता वाक्यालङ्कारः । लक्ष्यापि चाल-कुर्वाणा दृश्यते ।

इयमुपमा यदा सादश्यवानर्क इव-यथा-वाप्रभृतिभिः शब्दैः प्रतिपाद्यते, तदा वाक्या-लङ्कार कथ्यते ; यदा पुनः लक्षणया प्रतिपाद्यते-साक्षणिकशब्दैर्यदा सादश्यप्रतीतिर्भवति, तदापि अलङ्काररूपा स्वीक्रियत इति भावः ।

भेदान्तर सिद्ध करने के लिये एक स्पष्टीकरण करते हैं—इयं चैव इत्यादि । यह उपमा, जब सादश्यवाचक शब्द इय, यथा, वा आदि के द्वारा वर्णित होती है, तब वाक्य अलङ्कार कहलाती है । परन्तु यह उपमा लक्ष्य होकर भी अलङ्काररूप होती हुई दोष पड़ती है—अर्थात् साक्षणिक शब्दों के द्वारा सादश्य की लक्ष्यरूप में उपस्थिति होने पर भी उपमा, अलङ्कार होती है ।

वाच्योपमाया उदाहरणानि पूर्वोद्दिष्टानि सर्वाणि पद्यानि । लक्ष्योपमाया उदाहरण-प्रदर्शनायाह—

यथा—

लक्ष्योपमा-प्रकारोऽभिधीयत इति भावः ।

वाच्य उपमा के उदाहरण वे सभी पद्य होते हैं, जो पहले उदाहृत हो चुके हैं, लक्ष्य उपमा का उदाहरण जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘नीवीं नियम्य शिथिलामुपसि प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः ।
नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे
नाभेनिम्भा सरसिजोदरसोदरायाः ॥’

नायकी निजमुहूर्दं प्रति प्रतिपादयति—उपसि प्रभातसमये, प्रकाशम् सूर्यागमसूचि-
कामुज्ज्वलताम्, आलोक्य दृष्ट्वा, रात्रिसमाप्तिसूचकप्रकाशदर्शनानन्तरमिति यावत् नीवीम्
कटिप्रदेशस्थिताधोवह्नप्रस्थिम्, नियम्य बध्वा, शयनं शय्या, जिहासो हातुमिच्छो
वारिजदृश कमलनयनाया, नायिकाया, सरसिजोदरसोदराया कमलार्भसमानाया,
नाभे उदरगतगर्तविशेषस्य, निभा शोभा, कदापि कस्मिंश्चिदपि क्षणे, मे मग, मानसात्
हृदयात्, नैव, अवरोहति अपयाति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नीवीम् इत्यादि । नायक अपने मित्र से कहता है—
रात बीत चुकी थी । प्रभातकालिक प्रकाश फैलता आ रहा था । कमलतुरूप लोचन
वाली वह कामिनी, रात के रतिसम्मर्द से, क्षिणिलित नीवी (वह्नप्रस्थि) को नियमित
(बाँध) कर शय्या छोड़ना चाहती थी । उस काल में, कमलार्भ की सगी वहन, उस
की नाभि की जो शोभा देख पड़ी, वह मेरे हृदय से, कभी उतरती ही नहीं ।

उपपादयति—

अत्रैकोदरप्रभवत्वरूपस्य मुख्यार्थस्य बाधात्तदीयशोभालक्षणसमानांशहर
त्वस्य प्रयोजनस्य सत्त्वात्सोदरपदेन सदृशो लक्ष्यते । आर्थो च तत्रोपमा
प्रतीयमाना । अवरोहतिलक्ष्यस्य विषयतया स्मृतिशून्यीभवनस्य निषेधेन
प्रतीयमानायाः स्मृतेरुपस्कारिका ।

अत्रेति । ‘नीवीम्—’ इति पद्य इत्यर्थः । मुहूर्त्वार्यस्येति । सोदरपदेत्यादि । शोभा-
लक्षणेति । शोभारूपो य समान अश = भाग तद्वत्त्वस्येत्यर्थः । तत्र नामौ । प्रती-
यमानेति । अस्तीति शेषः । अवरोहतिलक्ष्यस्येति । तत्पदलक्ष्यार्थस्येत्यर्थः । विषयतया
स्मृतिशून्यीभवनस्येति । विषयतासबन्धावच्छिन्नप्रतियोगितास्मृत्यभावस्येत्यर्थः । ‘नीवीं
नियम्य—’ इति पद्ये सोदरपदस्यैकोदरजन्यत्वं चान्योऽर्थः, स च प्रकृते बाधित, नाभौ
तत्त्वस्यासम्भवात्, अतरतत्(सोदर)पद सदृशरूपार्थे लक्षणिकमङ्गीक्रियते । लक्षणा
चेय प्रयोजनमूला । प्रयोजनस्य सरसिजोदरशोभात्मकसमानभागहारित्वम् । यथा सोदर-
विधानु सर्मापात् अपरस्य सोदरस्य समानभागहारी भूत्वा समागच्छति, तर्थावेय कर्ण-
नायनाथिनाभि कमलोदरशोभासमानभाग् भूत्वा समागतेति लक्षणाया प्रयोजनरूपेण
प्रतिव्यत इति तात्पर्यम् । एवञ्च—लक्षणाया सोदरपदात्सादृश्योपस्थितौ—कमलोदरान्भ्यो-
रुपमाऽवगता भवति । तत्र समानशोभाशालिवमर्षभूत साधारणो धर्मः, अत एवेयमुपमा
आर्था । उपस्कारिका च सा पद्यप्रधानव्यङ्ग्यस्य स्मृतिभावस्य । ननु स्मृतिरत्र कथं प्रती-
येतेति चेन्न, बाधितावतरणाम्कमुक्त्यार्थस्य ‘अवरोहति’ इति क्रियापदस्य विषयतया
स्मृतिशून्यीभवनरूपार्थे लक्षणाऽनामेनाप्यङ्गीकर्णीयैव । तथा च तत्पदबोधस्य स्मृति-
विषयत्वाभावरूपतात्पर्यार्थस्य ‘न’ इति निषेधेन स्मृते सुप्रतीयमानत्वादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नीवी नियम्य—' इस पद्य में नाभि का विशेषण दिया गया है—सासिजोदरसोदर—कमलगर्भ की सगी बहन, जिसका मुख्य (अभिधावृत्ति-बोध्य-वाच्य) अर्थ होता है—'एक पेट से उत्पन्न होनेवाली ।' परन्तु यह मुख्य अर्थ यहाँ बाधित—अनन्वित—है, अतः इस पद की 'समान' अर्थ में प्रयोजनमूला लक्षणा करनी पड़ेगी और प्रयोजन है—शोभा में समान भाग ग्रहण करना—अर्थात् विधाता के यहाँ से शोभा के वितरणकाल में दोनों को उसका बराबर हिस्सा मिलना । इस तरह जब सोदर पद की लक्षणा से 'सादरय' की उपस्थिति होती है, तब यहाँ आर्थी—अर्थमूलक उपमा की सिद्धि होती है । यह लक्ष्य उपमा सम्पूर्ण पद्य से प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले स्मृति-भाव की उपस्कारिका—योधिका—है । स्मृति यहाँ कैसे अवगत होगी ? यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि 'उतरना'रूप मुख्य अर्थ बाधित होने के कारण 'अवरोहति' पद की लक्षणा करनी पड़ती है 'विषयतया स्मृतिशून्यीभवन—नाभिकान्ति के विषय में विस्मरण होने—में, और उसके साथ 'न' के योग से अर्थात् 'विस्मृत होने' के निषेध से स्मृति अभिव्यक्त होती है ।

लक्ष्योपमाबोधकशब्दान्तराणि निर्दिश्यन्ते—

एवं प्रतिभटप्रतिमह्लादिशब्दानां तदीयन्याभवनतदीयशोभारूपसर्वस्वापहरणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्सादरयवृत्ति लक्षणैव, न व्यञ्जना । मुख्यार्थस्य बाधात् । प्रयोजने पुनर्व्यञ्जनैवेति ।

यथोक्तस्थले सोदरपदस्य सदृशे लक्षणा, तथैव 'चन्द्रप्रतिभट मुखम्', 'चन्द्रप्रतिमल्ल मुखम्' इत्यादी प्रतिभटप्रतिमह्लादिपदानामपि सादरयविशिष्टे लक्षणा प्रथमस्थले चन्द्रा-ध करणप्रतीते द्वितीयस्थले चन्द्रशोभासर्वस्वापहरणप्रतीते प्रयोजनत्वात्, केचित् एता-दृशस्थले प्रतिभटप्रतिमह्लादिपदेष्वपि व्यञ्जनया सादरयविशिष्टार्थप्रतीतिं प्रतिपादयन्ति, तत्र युक्तम्, तथा शब्दानां मुख्यार्थेषु बाधितेषु समुल्लसति सादरयविशिष्टार्थे लक्षणायाः प्रसङ्गेन व्यञ्जनाया अयोगात् । प्रयोजने व्यञ्जनाऽस्तीत्यत्र न केपामपि विमतिः । तथा चैतादृशपदचटितकाव्येष्वपि लक्ष्यभूतौपमा भवतीति भावः ।

सोदर पद की तरह अन्य उपमालक्षक शब्दों का निर्देश करते हैं—एवम् इत्यादि । सोदर पद की तरह 'प्रतिभट' 'प्रतिमल्ल' आदि पदों की भी स्थलविशेष में 'उसे नीचा कर देना' 'उसकी शोभारूप सम्पत्ति का हरण कर लेना' आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए 'सदृश' अर्थ में लक्षणा की जाती है । तात्पर्य यह कि—'चन्द्र का प्रतिभट मुख', 'चन्द्र का प्रति-मल्ल मुख' इत्यादि स्थान में भी लक्षणा के द्वारा ही प्रतिभट, प्रतिमल्ल आदि पदों से (चन्द्र) सदृश का बोध होता है । अतः किसी का यह कथन कि ऐसे स्थलों में उक्त पदों से व्यञ्जना के द्वारा सदृश का बोध होता है सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि ऐसे स्थल पर उक्त पदों का मुख्य अर्थ बाधित रहता है और बाधित अर्थ में पद की लक्षणा ही होती है व्यञ्जना नहीं, व्यञ्जना तो अन्य सभी वृत्तियों से अवगत नहीं हो सकने वाले अर्थ में ही माना जाता है । हाँ, उक्त प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है इसमें किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता । सारांश यह हुआ कि उक्त (चन्द्रप्रतिभट मुख आदि) स्थल में भी लक्ष्य उपमा होती है ।

व्यङ्गशब्देऽप्युपमाया अलङ्कारत्वं समर्थयति—

क्वचिद् व्यङ्ग्यापि चैयमुपमालङ्कारः ।

स्थलविशेषे व्यञ्जनावृत्तिबोध्याऽपि इयमुपमा मुख्यार्थोपस्कारकत्वाद्द्वाररूपा भव-तीति भावः ।

व्यङ्ग्य होने पर भी उपमा अलङ्काररूप होती है, इस बात का समर्थन करते हैं—
कचित् इत्यादि। कहीं स्थलविशेष में (जहाँ मुख्य अर्थ कोई दूसरा रहता है वहाँ)
व्यङ्ग्य होकर भी उपमा, दूसरे को अलङ्कृत करने के कारण, अलङ्काररूप होती है।

उदाहरण निर्दिष्टमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्रं हृष्यसि ।

भूमण्डलमिदं मूढं केन वा विनिभालितम् ॥’

अथि चन्द्र । त्व, रुचा कान्त्या, आत्मानम् स्वम्, अद्वितीयम् अनुपमम्, मत्वा
स्वीकृत्य, किं, हृष्यसि हर्षमनुभवसि ? अनुवितोऽयं तव हर्षानुभव इत्यर्थः । तत्र हेतु-
माह—मूढं वस्तुतत्त्वानभिज्ञ ! केन जनेन, इदं निखिल, भूमण्डलम् जगत्, विनिभालितम्
विशेषेण दृष्टम् ? न केनापीति भावः । अज्ञानेऽत्र भूमण्डलस्य कापि प्रदेशे तवोपमानभूत
पदार्थं सम्भवतीति तदर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयमिति । हे चन्द्र ! तू अपने को कान्ति से
अद्वितीय समझ कर क्या हृष्ट हो रहा है—क्यों इतना इतरा रहा है ? अरे मूर्ख ! इस
विस्तृत जगत् को किसने खोज देला है—न जाने कहाँ क्या मिल जाय ।

प्रसङ्गमवगमयति—

कस्यचिद्विदेशस्थितस्य किरणैरात्मानं सन्तापयन्तं चन्द्रं प्रत्येपोक्तिः ।

विदेशस्थितो (निरही) नायकः सन्तापकत्वेनानुभूयमानं चन्द्रमुदिरय ‘अद्वितीयम्-’
इति पद्यं वक्तव्यं भावः ।

प्रसङ्ग का ज्ञान कराते है—कस्यचित् इत्यादि । ‘अद्वितीयम्-’ यह पद्य, किसी
विदेशवासी—अर्थात् विरही नायक का, किरणों से अपने को सतप्त करते हुए चन्द्रमा के
प्रति कथन है ।

उपपादयति—

अत्र च अस्ति मम प्रियायाः कदापि बहिरनिर्गतायाः, अत एव त्वयाप्य-
दृष्टाया धाननं त्वत्सदृशमिति प्रतीयमाना उपमा मूढपदेन ध्वन्यमानायां चन्द्र-
विषयायां वक्त्रगततायामसूयायामलङ्कारः ।

अत्र चेति । प्रतीयमानेत्यत्रास्यान्वयः । प्रतीयमाना उपमेति । अत्र ‘अत्रोपमान-
स्योपमेयत्वव्यङ्ग्यतात्मकप्रतीपस्यैव व्यङ्ग्यत्वम् मूढपदस्वारस्यात्, चमत्कारातिशयाच्च,
‘किं हृष्यसि’ इत्येतत्स्वारस्याच्चेति केचित्’ इति भावः । ‘अद्वितीयम्—’ इति पद्ये
उत्तरार्धेनोपमा ध्वज्यते । या मम प्रियया दूरस्थिता कदापि भवनाद् बहिः पदं न दधाना
त्वया न दृष्टा, तस्या मुखं तव समानमिति तस्या उपमाया आनारः । एव रीत्या व्यङ्ग्या-
पीयुषोपमा अलङ्काररूपा, मूढपदाभिष्वज्यमानचन्द्रविषयस्वक्तृपुरुषनिष्ठास्याभावस्य मुख्य-
वाक्यार्थस्योपस्करणादिति ।

उपपादन करते हैं—अथ च इत्यादि । ‘अद्वितीयम्—’ इस पद्य में उत्तरार्ध से उपमा
अभिव्यक्त होती है—अर्थात् यह अभिव्यक्त होता है कि मेरी प्रियतमा, जो कभी घर से
बाहर नहीं निकळी अतएव जिते तू भी देख नहीं पाया, उसका मुख तेरे समान है ।

इस तरह व्यङ्ग्य होकर भी यह उपमा हस्तलिपे अलङ्काररूप होती है कि—वह, मूढ पद से ध्वनित होने वाली चन्द्रमा के विषय में वक्ता की 'असूया' (भाव)—जो इस पद्य का मुख्य वाक्यार्थ है—को उपस्कृत-अलङ्कृत-करती है ।

दीक्षितमतं समीक्षते—

एतेनाप्यदीक्षितैरुपमालक्षणे दत्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणमयुक्तमेव । नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः । प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायां तु प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादलङ्कारलक्षणं तत्र मातिप्रसाहोदित्युपस्कारकत्वेन पुनर्विशेषणीयम्, न त्वव्यङ्ग्यत्वेन, प्रागुक्त्यामसूयालङ्कारोपमायामव्याप्त्यापत्तेः । विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणाद्युपमानां वाच्यसिद्धयङ्गत्वया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, सिद्धार्थस्योपस्करणाभावात् नालङ्कारत्वमिति न काप्यसङ्गतिः ।

एतेनेति । एतेनापीत्यर्थः । अपिना प्रागुक्तदूषणसमुच्चयः । प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामिति । अलङ्कारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामित्यर्थः । मातिप्रसाहोदिति । नातिप्रसक्तं स्यादित्यर्थः । यद्यव्यङ्ग्यस्यैव सादृश्यस्योपमात्वं स्वीकृतं स्यात्तदा 'अद्वितीयम्—' इति पद्यस्यतास्यापोपिक्त्राया व्यङ्ग्योपमाया समूहो न स्यात्, अतः उपमालक्षणपदकसादृश्य-विशेषणस्य दीक्षितैः कृतोऽव्यङ्ग्यत्वनिवेशोऽनुचितः । युक्तं चैतत्, यतो व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधो नास्ति, तयोर्विरोधे वाच्यत्वालङ्कारत्वयोरपि विरोधः कुतो न भवेत् विशेषाभावात् ? सत्यं त्वैतत्, यत् प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधोऽस्ति, प्रधानत्वालङ्कारत्वैनालङ्कारत्वासम्भवात्, अतो यत्र प्रधानतयाऽलङ्कार एवाभिव्यज्यते, तत्र तादृशोपमादावलङ्कारलक्षणप्रसक्तिनिरासान् सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु वाक्यार्थोपस्कारकत्वं निवेशनीयम् । ननु विम्बप्रतिविम्बभावापन्नसाधारणप्रमादिमुल्लिख या उपमा प्रागुक्तास्तत्र विम्बप्रतिविम्बभूतयोर्विशेषणयोरपि उपमा भवत्येव, परन्तु सा व्यङ्ग्या, एतच्च तद्वारणाय लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणं दीक्षितोक्तं युक्तमिति चेन्न, एवंविधोपमायाः वाच्यप्रधानीभूतोपमासाधकतया वाच्यसिद्धयङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति पूर्वसिद्धार्थोभाषामकन्वविरहेण तत्रालङ्कारत्वस्यैवासत्त्वात् । सिद्धार्थालङ्कारादेवालङ्कारत्वं भवति, तादृश्यवान्तरोपमा तु साध्यमानप्रधानीपमापोपेका न सिद्धार्थोपस्कारकैति भावः ।

अप्यदीक्षित के मत की समीक्षा करते हैं—एतेन इत्यादि । 'अद्वितीयम्—' इत्यादि, व्यङ्ग्य उपमा के लक्षण प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि—अप्यदीक्षित ने अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण जो लगाया है अर्थात् उन्होंने जो यह सिद्ध किया है कि व्यङ्ग्य न होने पर ही 'सादृश्य' 'उपमा' है, वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि व्यङ्ग्यता अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है । विरोध यदि है तो प्रधानता और अलङ्कारता में—अर्थात् प्रधान अर्थ अलङ्कार नहीं हो सकता । फलतः प्रधान व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं हो सकता यही वास्तविक बात हुई, अतः प्रधान व्यङ्ग्य में अलङ्कार का लक्षण सङ्घटित नहीं हो इसके लिए उपाय करना आवश्यक है, सो, उसके लिए क्या उपमा क्या अन्य अलङ्कार सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'वाक्यार्थोपस्कारक'-अर्थात् 'मुख्य वाक्यार्थ को शोभित करने वाला-विशेषण जोड़ना चाहिए, 'अव्यङ्ग्य' 'व्यङ्ग्य न रहना' यह विशेषण नहीं, क्योंकि यदि 'वाक्यार्थोपस्कारक' की जगह 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा जायगा, तब उक्त 'असूया' को अलङ्कृत करने वाली व्यङ्ग्य उपमा में उपमालक्षण की अव्याप्ति हो जायगी—अर्थात् 'अद्वितीयम्' इस पद्य में जो व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं है और प्रधान 'असूया' को अलङ्कृत भी करती है, उस उपमा का अलङ्काररूप में संग्रह नहीं हो सकेगा । 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण से तो दोनों

घाते घन जाती है—अर्थात् जो उपमा प्रधान रूप में अधिव्यक्त होगी, उसका निराकरण भी होगा क्योंकि उस तरह की उपमा वाच्यार्थोपस्कारक नहीं होगी—स्वयं वाच्यार्थ रूप रहेगी, और उक्त असूयोपस्कारक उपमा का समग्र भी होगा, क्योंकि यहाँ 'असूया' प्रधान वाच्यार्थ है और उसको अलकृत करने वाली उपमा व्यङ्ग्य होकर भी अधिधान ही है। आप कहेंगे—यदि 'अव्यङ्ग्य' के बदले 'वाच्यार्थोपस्कारक' विशेषण उपमालक्षण में जोड़ा जायगा, तब विशिष्टोपमा—अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण धर्म से बनने वाली उपमा आदि अलङ्कारों के स्थल पर बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न विशेषणों की परस्पर होने वाली व्यङ्ग्य उपमा के वारण के लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लगाना ही उचित है, क्योंकि प्रधान उपमा के उपस्कारक होने के कारण 'वाच्यार्थोपस्कारक' विशेषण से उसका वारण नहीं हो सकता, तो यह कथन अकिञ्चिन्कर है, क्योंकि वैसे स्थलों पर यह विशेषणों की उपमा, वाच्य प्रधान उपमा के साधक होने से वाच्यसिद्धि का अङ्ग होती है, अतएव उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा और इस स्थिति में यह अलङ्काररूप हो ही नहीं सकती, क्योंकि किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलकृत करने के कारण ही कोई अर्थ अलङ्काररूप होता है और यह विशेषणों की उपमा (सादर्य) किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलकृत करती नहीं, अर्थात् यह जिस प्रधान उपमा को अलकृत करती है, वह पूर्व सिद्ध अर्थ नहीं है, अपितु स्वयं साध्यरूप है। फलतः 'अलङ्कार' इस नामकरण से ही उस उपमा का वारण हो ही जायगा, उसके लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण की लक्षण में लाकरपकता नहीं है।

पुनरन्यासपयदीक्षितोक्ति समीक्षते—

यद्यपि "सेयमुपमा सत्त्वैतस्त्रिविधा—कचित्स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता। यथा 'सच्छिन्नमूल' क्षतजेन रेणुः' इत्यादी । कचिदुत्कर्षोपपादनपरा । यथा 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादी । कचिद् व्यङ्ग्यप्रधाना सा" इति तैरेव द्रविड-शिरोमणिभिरभ्यधीयत । तदप्यहचमेव । 'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दु-प्रतिमं मुख तव' इति वाच्यवस्तूपस्कारिकाया शरदिन्दूपमाया अञ्जोढीकरणात् । अलङ्कारभूतोपमामु स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ताया उपमायाः सङ्ग्रहे को नाम ध्वन्य-मानायास्तस्या निरासायाव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानदुराग्रहः ? अहो महद्देवेदमन्या-प्यम्—यदलक्षणीयायाः सङ्ग्रहः ; लक्षणीयायाः सङ्ग्रह इति । प्राचीनानां तूपमा-सामान्यं लक्ष्यतर ध्वन्यमानाया इवास्य अपि सङ्ग्रहो नानुचितः । न तु स्वस्य यत्नेन ध्वन्यमानोपमां निरस्य कण्ठरवेणालङ्कारभूतोपमालक्षकस्य । यदि च प्रधन्यव्यङ्ग्योपस्कारकत्वेनेयं सङ्गृह्यत इत्युच्यते, तदा 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता' इति स्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् । 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यत्र गुणसमूहसमा-नाधिकरण एको दोषो दोषत्वेन न स्फुरतीत्यस्यार्थस्य पूर्वार्थप्रतिपादितार्थ-समर्थनात्मकस्य सामान्यरूपस्य विशेषरूपोदाहरणप्रदर्शनमन्तरेण सम्यगना-कलनादिन्दुकिरणसमानाधिकरणोऽङ्ग उदाहृतः, न तूपमानतया निर्दिष्टः, सा-मान्याद्विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कृतेरज्ञानवता-रादुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्तः । यथा 'इको यणचि' इति वाक्यार्थस्य सामा-न्यस्य विज्ञानापोदकोकारे दधोकारस्य य इति वाक्यान्तरेण तद्विशेष उदाह्रियते तद्वदत्रापीति सत्प्रसङ्गे विवेचयिष्यामः ।

सच्छिन्नमूल इति । 'सच्छिन्नमूल क्षतजेन रेणुस्तस्वोपरिष्ठात्पवनावभूत' । अङ्कारशे-पस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽवमासे' । इति सङ्घर्षम् पद्यम् । (शुबरो राम-

सर्गे) अत्रस्थ रणवर्णनमिदं वनि कथयति—क्षतजेन रुधिरेण, छिन्नमूल कृतमूलदेश-
विच्छेदः, तस्य रुधिरस्य, उपरिष्ठात् उपरिभागे, पदनावधूतः, वायुपेरित- स अश्वत्थुरपुटो-
त्पित, रेणुं धूलिः, अद्भारशेषस्य अद्भारमात्रावस्थया स्थितस्य, हुताशनस्य अग्नेः,
पूर्वोत्थित- अद्भारावस्थयात् प्राक् धूमावस्थया 'प्रसृतः, धूम, इव, अवभाते शुशुभे ।
इति तदर्थः । अनन्तरत्वेति । 'अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणविभाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः ॥' इति सम्पूर्णः रत्नोक्तः ।
(कुमारसंग्रहे हिमालयवर्णनमिदम्—हिम प्रालेयम्, अनन्तरत्नप्रभवस्य अगणनीयरत्नो-
त्पत्तिस्थानभूतस्य, यस्य हिमालयस्य, सौभाग्यविलोपि सौन्दर्यनाशकं, न, जातम् अभूत्,
हि यत्, गुणसन्निपाते गुणसमूहे, एको, दोष, इन्दो- बन्धुमरा, किरणेषु ज्योत्स्नासु,
अङ्क कलङ्क, इव, निमज्जति विलीयत इति तदर्थः) । तैरेवेति । अप्यवदीक्षितरेवेत्यर्थः ।
द्रविडशिरोमणिमिरिति । द्रविडदेशीयजनमुद्ध्यरित्यर्थः । एतेन तस्य तद्देशीयत्वं प्रती-
यते । स्वरयेति । तपेत्यर्थः । नानुचित इत्यर्थानुपपन्नः । तथा च नानुचितो न—अनुचित
एवेति भावः । इयमिति । स्ववैचित्र्यमात्रविभ्रान्तेत्यर्थः । विषया स्यादिति । अत्र "वस्तु-
तस्तु उपमासामान्यलक्षणस्यापि प्रकृतत्वेनोपमासामान्यस्यैवाय विभागः । उपमानोप-
मेयतावच्छेदकत्वोर्भेदाच्चास्त्येवोपमितिनिष्पत्तिः । अत एव सेयमुपमेत्येवोक्तम्, न त्वल-
ङ्कार इति । 'नयने शिशिरोकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव' इत्यत्र तु उक्तार्थोपपादन-
परैव मुखकर्तृकनयनकर्मकशिशीकरणस्य व्युत्कर्षेणोपमयैवोपपत्तेः । उक्तार्थोपपादनेत्यस्य
चोक्तार्थोपपादनेत्युक्तार्थो चोपपादनमित्यर्थव्ययम् विनिगमनाविरहात् इति न दोष इति
निन्त्यमिदमिति बोध्यम् ।" इति नागेशः । उक्तार्थोपपादनपरोपमायास्तदुक्तमुदाहरणं
दूषयति—अनन्तेति । स्फुरतीत्यस्यार्थस्येति । तृतीयचरणप्रतिपादात्स्येत्यर्थः । उपमान-
स्वेनाभिदिष्टत्वे हेतुमाह—सामान्येति । अनवतारादिति । अस्यामे तथा चेति शेषः ।
अलङ्कारोऽयमतिरिक्त इति । अत्र 'अदत्त्वा मादृशो माभूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव' इत्यभिज्ञ-
धर्मिकोपमायाः उपमानतावच्छेदकोपमेयतावच्छेदकभेदेनोपमिति क्रियानिपत्तेरुपमालङ्कारव्यव-
हारस्य च सर्वसम्मतत्वेन तद्विहापि सामान्यधर्मविशेषधर्मयोस्तयोर्भेदेन तन्निष्पत्ते-
संभवाद्मुदाहरणालङ्कारो भास्वतिरिक्त इति तदाशयाच्चिन्त्यगीतत् । इति नागेशः । उद-
कोकारे दधीकारस्य य इति । अत्र ययपि मूले 'उकारे दध्युदकेकारस्येवे'ति पाठो दृश्यते,
तथापि सुमगत्तया नागेशाभिन्न एव पाठो मया मूले समावेशितः । तत्प्रसङ्गे इति ।
उदाहरणालङ्कारप्रसंग इत्यर्थः । स्ववैचित्र्यमात्रविभ्रान्तत्वेन, उक्तार्थोपपादनपरत्वेन,
व्यङ्ग्यप्रधानत्वेन चोपाधिना यदुपमाया संक्षेपतर्कविध्यमुक्तं दीक्षितेन, तत्र युक्तम्,
'नयने शिशिरोकरोतु—' इति प्रागुक्तवाच्यवस्तूपस्कारकशरच्चन्द्रोपमाया असंग्राहात् ।
सोपमा न स्ववैचित्र्यमात्रविभ्रान्ता, वाच्यवस्तूपस्कारणात्, नौक्तार्थोपपादनपरत्वात्, उक्तार्थ-
स्यान्यथाऽप्युपपत्तेः, न वा व्यङ्ग्यप्रधाना नमरकारिणो व्यङ्ग्यार्थस्य तत्राभावादिति
तात्पर्यम् । अपरत्वं तदयुक्तत्वं तदुक्तौ यत् अन्यशोभासम्पादकत्वविद्देशानलङ्कारभूता या
स्ववैचित्र्यमात्रविभ्रान्ता 'सच्छलमूल—' इत्यादिस्वकोशा उपमा (राट्टस्यभात्रम् न
तु अलङ्कार) तस्या अलङ्कारभूतोपमामेदकथनावसरे संग्रहः कियते, या तु अन्यशोभा-
करत्वेनालङ्कारभूता अत एव रुधिरितु शोभया व्यङ्ग्यभूतोपमा, तस्या, रुधरोऽव्यङ्ग्यत्व-
निवेशेन निराकरणं विधीयते इति । ननु प्राचीनैरपि स्ववैचित्र्यमात्रविभ्रान्तोपमायाः
संग्रहो विहित इति नैतन्ममापि दोषायेति चेत्, उपमासामान्यलक्षणं कुर्वताम् प्राञ्च

तत्सङ्ग्रहस्य दोषानाधायकत्वेऽपि अलङ्कारभूतोपमालक्षणं रचयतस्तत्र कृते तत्सङ्ग्रहस्य दोषाधायकत्वधौव्यात् । न च प्रबन्धव्यङ्ग्यस्य रसादेरुपस्कारकतया 'सच्छिन्नमूल—' इत्यत्रत्याया तथाविधाया अन्यस्या अपि उपमाया सग्रह उचित एवेति वाच्यम्, तथा सति तथाविधोपमाया स्ववैचित्र्यमात्रविधान्तत्वकथनस्य विरुद्धत्वापत्ते । अन्याथोपस्कारिकोपमा स्ववैचित्र्यमात्रविधान्ता न भवितुमर्हतीति तत्त्वम् । मयापि सामान्योपमाया एव लक्षणं कृतं नालङ्कारभूतोपमाया इति तु भवता वक्तुमयोग्यम्, तथा सति व्यङ्ग्योपमानिरसनायासस्य वैयर्थ्यापातात् । 'अनन्तरत्न—' इति पद्ये उक्तार्थोपपादनपरोपमा इति यदुक्तं तैर्नैव, तदपि नोचितम्, तत्रोपमाया एवासत्त्वात् । तथा हि— 'विविधरत्नोत्पादकस्य हिमालयस्य सौन्दर्यं दूरीकर्तुं प्रालेय न प्रभवतीति तत्पद्यपूर्वार्धार्थस्य' समर्थनाय, 'गुणसमूहगमानाधिकरण (गुणगणयुक्ते वस्तुनि विद्यमान) एको दोष लोच्छ्रयौ दोषरूपेण न प्रतिभासते' इत्यर्थो वर्णित कविना, स च तावत् स्पष्टो न भवति, यावत् तादृशमुदाहरणं दृष्टिपथं नावतरति, अतस्तादृशोदाहरणप्रदर्शनाय कविना गुणगणगरिष्ठेन्दुकिरणगतं अङ्क उपन्यस्तं, ननु उपमानभावेन । ननुपमानभावेनैव तद्विदेशस्वीकारे का क्षति ? क्षतिस्तु कापि न, परन्तु तत्र तस्योपमानत्व सम्भवत्येव नैव्यसमञ्जसम् । कुतो न तत्र तस्योपमानत्व सम्भवतीति चेद् ? जातन्तु—भिन्नवोरेव पदार्थयोपमानोपमेयभावो भवतीति सर्वसम्मता प्रसिद्धिः, इह तु गुणसमूहगतैकदोषस्य चन्द्रकिरणगतकलङ्कस्य च सामान्यविशेषभावमापन्नस्य 'नहि निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन मियोभेदाभावात् उपमानोपमेयभावो न भवितुमर्हति । एवञ्चात्रोपमालङ्कारो नास्ति, अपि तु उदाहरणालङ्कार एवोपमानो मिश्रः । स चालङ्कारस्तत्र भवति, अत्र सामान्यरूपं किञ्चिदुक्त्वा तद्विशेषं वाक्यान्तरद्वारा प्रतिपाद्यते, यथा 'इको यणचि' (इक स्थाने यण् स्यादचि) इति सामान्यकथनान्तरस्फुटं तदातिपत्तये (दध्युदकम् इत्यत्र) 'उकारे परे दधिशब्दघटकेकारस्य य' इति विशेषं प्रतिपाद्यते स च विशेष उदाहरणशब्देन शाब्दिकैर्व्यवहियते । अस्यालङ्कारस्य विषये विशदमग्रे ग्रन्थकृता विवेचनं विधीयते, अतोऽत्र नाधिकं तद्विषये कथ्यते इति भावः ।

पुनः अप्पयदीक्षित की ही एक अन्य उक्ति की समीक्षा करते हैं—यद्यपि इत्यादि । अप्पयदीक्षित ने ही जो यह कहा कि—सचेप में यह उपमा तीन प्रकार की है—1-कहीं अपनी विचित्रता में ही पूर्ण हो जानेवाली अर्थात् दूसरे किसी को अलङ्कृत नहीं करने वाली, जैसे—'सच्छिन्नमूलः—(सम्पूर्ण पद्य सस्कृतटीका में देखिये) (रघुवश ७ सर्ग) (अज का युद्धवर्णन है । कवि की उक्ति है—घोड़े-हाथी आदि के पैरों से उठी हुई जिस धूलि की जड़ रश्मि ने काट दी अर्थात् रश्मि से आर्द्र हो जाने के कारण जिस धूलि का सन्ध धरातल से विच्छिन्न हो गया, वायु के द्वारा रश्मि से ऊपर उड़ा दी गई यह धूलि, अङ्गारे-मात्र-बची हुई भाग के पहले से ऊपर उठे, धूँ के समान शोभित हो रही थी ।)' इत्यादि में । (यहाँ सम्पूर्ण पद्य का अर्थ उपमारूप है, उससे अन्य अर्थ की पुष्टि नहीं होती, अतः यह उपमा अपने आप में पूर्ण है ।) 2—कहीं उक्त अर्थ को सिद्ध करने वाली, जैसे—'अनन्तरत्नप्रभवस्थ—(सम्पूर्ण श्लोक सरकृतटीका में देखिये) (कुमारसम्प में हिमालय का वर्णन है—अगणित रत्नों के उत्पत्ति स्थान हिमालय के सौभाग्य को, हिम (पाला) नष्ट नहीं कर पाया—हिम के कारण हिमालय की सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं हुआ । कारण, एक दोष, गुणों के समूह में विलीन हो जाता है—उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क ।)' इत्यादि में । (यहाँ कलङ्क की उपमा, हिम से हिमालय के सौभाग्य नष्ट न हो सकनेरूप

उक्त अर्थ को सिद्ध करती है।) और ३—कहाँ ऐसी उपमा होती है, जिससे व्यङ्ग्य (रस आदि) प्रधान अर्थ उपस्कृत होता रहता है। वह भी सुन्दर नहीं, क्योंकि 'नयने शिशिरीकरोगु—अर्थात् शरत्कालिक चन्द्र के तुल्य तेरा मुख, मेरी आँखों को शीतल करे' यहाँ जो वाच्य अर्थ को सुशोभित करनेवाली शरच्चन्द्र की उपमा है, उसका उक्त तीनों प्रकारों में से किसी में भी समावेश नहीं हो सका। इस वर्गीकरण को देखकर पुनः उपमा के लक्षण में आप के द्वारा निवेदित 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण, स्मृतिपथ में, आ जाता है। अर्थात्—जब आपने अलङ्कारभूत उपमा का वर्गीकरण करते समय, 'अपनी ही विचित्रता में पूर्ण हो जाने वाली उपमा' का भी समग्र किया है,—तब व्यङ्ग्य उपमा को उपमा की श्रेणी से हटाने के लिये लक्षण में 'व्यङ्ग्य न हो' यह विशेषण देने का दुराग्रह आपको क्यों है यह समझ में नहीं आता। ओह ! यह बड़े अन्याय की बात है कि—त्रिमका लक्षण नहीं बनाना है (जो अलङ्काररूप है ही नहीं) उसका समग्र किया गया है और त्रिमका लक्षण बनाना उचित है (जो अलङ्काररूप है) उसका समग्र नहीं किया है—उसको छोड़ दिया गया है। तात्पर्य यह कि स्ववैचित्र्यमात्रविधान्त उपमा—जो वस्तुतः उपमा नहीं है—को आपने उपमा की श्रेणी में गिना है और व्यङ्ग्य उपमा—जो वस्तुतः उपमा है—को उपमा की श्रेणी से निकाल बाहर किया है, यह बात सर्वथा न्याय-विरुद्ध है। प्राचीनों ने भी, 'अपनी विचित्रता में ही पूर्ण हो जाने वाली उपमा' को उपमा की श्रेणी से बहिष्कृत करने का कोई प्रयास नहीं किया है—अर्थात् उन्होंने भी उपमा का ऐसा ही लक्षण बनाया है, जिससे उक्तविध उपमा का भी समग्र होता है, अतः यह अनौचित्य—यदि वस्तुतः अनौचित्य है—तो उनमें भी है, यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि प्राचीनों ने व्यङ्ग्य उपमा के कारण के लिये भी कोई यत्न नहीं किया है, अतः यह सिद्ध है कि उन्होंने सामान्यतः उपमा-पदार्थ का लक्षण बनाया है—अलङ्कारभूत उपमा का नहीं। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'स्ववैचित्र्यमात्रविधान्त उपमा' का भी समग्र करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, पर आपने तो उपमालक्षण में 'अव्यङ्ग्य'—विशेषण के द्वारा व्यङ्ग्य उपमा—जो आपके हितानुसार से अलङ्कारभूत नहीं होती—को बहिष्कृत करके स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया है कि मैंने (आपने) अलङ्कारभूत उपमा का ही लक्षण किया है, ऐसी स्थिति में आपको 'अपने आप में परिपूर्ण होने वाली' वस्तुतः अलङ्कारभूत उपमा की गणना उपमा की श्रेणी में नहीं करनी चाहिए थी, किन्तु आपने गणना की है, अतः आप अपने को 'अनुचितकारिता'बोध से मुक्त नहीं कर सकते। यह भी आप नहीं कह सकते हैं कि 'सच्चिन्नमूल—आदि पद्यों में जिस तरह की उपमा है उसका समग्र इसलिए किया गया है कि वह समग्र ग्रन्थ से अभिव्यक्त होने वाले वीर रस आदि की उपस्कारिका रहती है', क्योंकि यदि वह उपमा किसी व्यङ्ग्य को उपस्कृत करती है, तब वह 'स्ववैचित्र्यमात्रविधान्त' नहीं कही जा सकती और आपने उसको बैसा ही कहा है अतः आपकी उक्ति अपनी ही उक्ति से विरुद्ध हो जायगी। इसी तरह आपने जो 'अनन्तरत्नप्रभवस्य—' इस पद्य की चर्चा उक्तार्थोपपादक उपमा के उदाहरणरूप में की है, यह भी गलत है। काग, वस्तुतः उस पद्य में उपमा अलङ्कार है ही नहीं, क्योंकि 'कलङ्क' का निर्देश वहाँ उपमान के रूप में नहीं हुआ है, हो भी कैसे, जब कि वह (चन्द्रकिरण का कलङ्क) एक विशेषरूप है और 'गुणसमूहगत एक दोष' उमीका सामान्यरूप, जिनमें कोई भेद नहीं होता और उपमा ही जाता है किसी भिन्न पदार्थ से ही। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य-विशेषभाव वाले दो पदार्थों में वस्तुतः भेद नहीं होता, अतएव 'न हि निर्विशेष सामान्य भवति—अर्थात् विशेष से भिन्न सामान्य कोई चीज नहीं होती) ऐसा सिद्धान्त माना गया है, ऐसी स्थिति में विशेषरूप चन्द्रकिरणगत कलङ्क के साथ सामान्यरूप गुणसमूहगत एक दोष की तुलना नहीं की जा सकती है। अतः ऐसा मानना चाहिए कि उक्त पद्य के पूर्वार्थ में कथित बात

के समर्थन में उत्तरार्ध के द्वारा यह एक सामान्य बात कही गई है कि—‘गुणसमूह के साथ रहने वाला एक दोष दोषरूप से ध्यान में नहीं आता।’ यह सामान्य बात, जब तक कोई विशेष उदाहरण नहीं दिया जाय, तब तक अच्छी तरह समझ में नहीं आती, इसलिए, ‘चन्द्रमा की किरणों के साथ रहने वाले कलङ्क’ का उदाहरण दिया गया है, अतएव यह ‘उदाहरण’ नाम का उपमा से एक अन्य ही अलङ्कार है। वह (उदाहरणालङ्कार) वहाँ होता है, जहाँ एक वाक्य के द्वारा किसी सामान्य बात के कथन के बाद, दूसरे वाक्य द्वारा विशेष बात कहकर उक्त सामान्य बात का स्पष्ट ज्ञान कराया जाय। जैसे ‘इको यणचि (अर्थात् किसी स्वर के आगे रहने पर पीछे रहने वाले इ, उ, ऋ, लृ इन वर्णों के स्थान में क्रमशः य, व, र, ल ये चार वर्ण हो जाते हैं)’ इस सामान्य बात को समझाने के लिए यह कहा जाता है कि “जैसे—‘दधुकम्’ इस प्रयोग में उदक पद के उकार के परे दधि पद के इकार को यकार हो गया।” व्याकरणशास्त्र में यह उदाहरण नाम से प्रसिद्ध भी है, उसी तरह काव्य में चमत्कारजनक ऐसी स्थिति में उदाहरणालङ्कार होता है, जैसे ‘अनन्तरत्न—’ इस पद्य में हुआ है। आगे जब उदाहरणालङ्कार का प्रकरण आवेगा, तब और अधिक इसके विषय में विचार किया जायगा।

पुन दीक्षितोक्तिमेवाल्लोचयति—

यथाप्यदीक्षितैः ‘लुप्तयां तु नैवं भेदाः। तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामिता-
नियमात्’ इत्युक्तम्, तन्न। ‘मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि
धृतराष्ट्र’ इत्यत्रानुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनानां पाण्डवानाम्, सर्पाणां दुर्यो-
धनादीनां च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव प्रतिपत्तेः।

मलय इवेति। जगति ससारे, पाण्डु तन्नामको महाभारतख्यातो राजा, पाण्डवाना
जनक इति यावत्, मलय मलयाचल, इव, (येन चन्दनकृपा सुखदायका पाण्डवा जनिता)
धृतराष्ट्र रथनामप्रसिद्धो नृप, कौरवाणा पितेति यावत्, च अधिधरणि (अधीत्यव्ययेन
धरणिशब्दस्याव्ययीभावसमास) तेन धरण्यामित्यर्थ, वल्मीक चामलूरविवरम्, इव,
(येन सर्पवद्दुःखदायका कौरवा उत्पादिता) इत्यर्थ। लुप्तोपमायां साधारणधर्मो निय-
मतोऽनुगाम्येव भवतीति तत्र धर्मवैचित्र्यमूला प्रायुक्ता प्रभेदा न जायन्त इति यत्प्रथित
दीक्षितमहाभागेन, तदपि न समीचीनम्, ‘मलय इव’ इति काव्ये मलयपाण्डवो वल्मीक-
धृतराष्ट्रयोशोपमाद्वये लुप्तसाधारणधर्मे, अनुगामिसाधारणधर्मस्याप्रतीत्या प्रथमोपमाया
बिम्बप्रतिबिम्बभावापक्षयोश्चन्दनपाण्डवयो, द्वितीयोपमाया तथाविधयो सर्पकौरवयोश्च
साधारणधर्मतया स्वीकरणीयत्वात्। तथा च लुप्तोपमायानपि यथासम्भव धर्मवैचित्र्यप्रयुक्ता
भेदा भवन्त्येवेति भावः।

पुन दीक्षित के कथन की आलोचना करते हैं—यच्च इत्यादि। अप्यदीक्षित ने
जो यह कहा है कि—‘लुप्तोपमा में तो इस तरह के (साधारणधर्म की विचित्रता के
कारण होने वाले) भेद नहीं होते, क्योंकि उसमें साधारणधर्म का अनुगामी होना
निश्चित है अर्थात् लुप्तोपमा में साधारणधर्म अनुगामी ही होता है, अन्य किसी प्रकार
का नहीं’ वह भी सङ्गत नहीं। कारण, ‘मलय इव—अर्थात् जगत् में पाण्डु—पाण्डवों
का पिता, मलयाचल के सुख है (जिसने चन्दन के समान सुखदायक पाण्डवों को
उत्पन्न किया) और धृतराष्ट्र—कौरवों का पिता, इस पृथ्वी पर, वल्मीक (दीवदे का
भिण्डा) के समान है (जिसने सर्पों के समान दुःखदायी कौरवों को उत्पन्न किया)।’
इस धर्मलुप्ता में कोई अनुगामी समान धर्म विदित नहीं होता, अतः समान धर्म की
पूर्ति के लिये चन्दनों और पाण्डवों का तथा सर्पों और दुर्योधन आदि कौरवों का बिम्ब
प्रतिबिम्बभाव ही मानना पड़ेगा।

अत्र विम्बप्रतिविम्बभावस्यासम्भवमाशंस्य समाधत्ते—

न च शब्देनोपात्तत्वं विम्बप्रतिविम्बभावे तन्त्रमित्याग्रहो विदुषामुचितः । श्रौतत्वार्थत्वाभ्यां विम्बप्रतिविम्बभावस्य द्वैविध्योचिष्यात् । अत एवाप्रस्तुतप्र-
शंसादौ प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपन्यमवयव-विम्बप्रतिविम्बभावमूलं सङ्गच्छते ।

शब्देनोपात्तत्वमिति । विम्बप्रतिविम्बभावाधारतया विवक्षितयोः पदार्थयोरिति भावः । तन्त्रम् नियामम् । विम्बप्रतिविम्बभावस्य द्वैविध्ये प्रमाणमुपन्यस्यति—अत एवेति । तस्य द्वैविध्यादेवेति तदर्थः । तयोरैव पदार्थयो विम्बप्रतिविम्बभावो भवति यौ शब्दे-
नोपात्तौ तिष्ठत । एवञ्च पूर्वोक्तस्थले नन्दनपाण्डवानाम्, सर्पदुर्योधनादीनाञ्च विम्ब-
प्रतिविम्बभावो न भवेत्, तेषां शब्देनात्रानुपादानादिति शङ्काशयः । तादृशनियमे माना-
भावः, अतः शब्देनोपादानस्थले श्रौत तेनानुपादानस्थलेऽपि श्येत. प्रतीतौ पुन आर्यं
इति द्विविधो विम्बप्रतिविम्बभावः । आर्यस्यापि तस्याङ्गीकारादेवाप्रस्तुतप्रसारायलङ्कारे
प्रस्तुतवाक्यार्थबोधकादविरटेऽपि विम्बप्रतिविम्बभावापन्नावान्तरार्थद्वयरूपसाधारणधर्मव-
त्त्वेन प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरुभयमाप्रतीयमाना सङ्गतिनासादयति अतो 'मलय—'इति पद्ये
उपमासिद्धयर्थं शब्देनानुपात्तानामपि नन्दनादीनां विम्बप्रतिविम्बभावो भवितुमर्हतीति
च समाधानारायः ।

एक शब्दा और उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि । 'विम्बप्रतिविम्बभाव के लिये उन पदार्थों का—जिनका विम्बप्रतिविम्बभाव अभीष्ट हो—शब्द के द्वारा उपात्त होना अपेक्षित है' यह भाष्य कम से कम विद्वानों के लिये उचित नहीं, कारण, भीक्षित्य हृत्सीमें है कि शब्द से उपादानस्थल में श्रौत और शब्दतः उपादान नहीं रहने पर भी अर्थात् प्रतीत होने पर आर्ध-इत तरह से दो प्रकार का विम्बप्रतिविम्बभाव माना जाय अत एव तो अप्रस्तुतप्रसारा आदि अलङ्कारों में अप्रस्तुत और प्रस्तुत वाक्यार्थों में सादृश्य सङ्गत होता है, जिसका मूल रहता है उन वाक्यार्थों के अवयवों का विम्ब-
प्रतिविम्बभाव । यदि आर्ध विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं माना जाय, तब प्रस्तुत वाक्यार्थ के साथ अप्रस्तुत वाक्यार्थ का सादृश्य कैसे बन सकता है ? क्योंकि वहाँ प्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादक एक भी शब्द उल्लिखित नहीं रहता । यहाँ चतुर्वेदीनी कृत हिन्दी अनुवाद में लिखा गया है कि—'वहाँ (अप्रस्तुतप्रसारा में) अप्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने के लिये कोई शब्द नहीं होता ।' पर वहाँ मुझे अनुवादक का प्रमाद प्रतीत होता है, क्योंकि अप्रस्तुत अर्थ ही शब्दतः कहा गया रहता है, जिससे प्रस्तुत अर्थ गम्यमान होता रहता है ।

पुन प्रकारान्तरेणोपमाया अष्टौ भेदान् प्रदर्शयति—

इयमपि रूपकयत्केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषय-
सावयवा, एकदेशविचर्त्तिसावयवा, केवलरिल्लपरम्परिता, मालारूपरिल्लपरम्प-
रिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चैत्यष्टधा ।

इयमपि उपमपि । यथा रूपके केवलनिरवयवाद्योऽष्टौ भेदा भवन्ति, तथोपमाया-
यपि ते भेदाः सम्भवन्तीति भावः । अन्यन् मुणमम् ।

उपमा के अन्य आठ भेद दिखलते हैं—इयमपि इत्यादि । यह उपमा भी रूपक की तरह केवल निरवयवा, मालारूप निरवयवा, समस्तवस्तुविषया सावयवा, एकदेश-
विचर्त्तिसावयवा, केवल छिष्टपरम्परिता, मालारूप रिल्लपरम्परिता, केवल शुद्धपरम्परिता
और मालारूप शुद्धपरम्परिता—इस तरह आठ प्रकार की होती है ।

एतद्भेदाष्टकगत केवलम्ब निरवयवत्वञ्च विवृणुते—

तत्रोपमायां केवलत्व मालानन्तर्गतत्वं निरवयवत्वं चोपमान्तरनिरपेक्षत्वम् तत्रेति तासां मध्य इत्यर्थः । एकस्योपमेयस्य यत्रानेकान्युपमानानि निर्दिष्टानि भवन्ति तत्रोपमाया मालरूपत्वम्, तादृशमालारूपता यत्र न भवति, तत्र तस्या केवलत्वम्, एव यत्र कस्याधिदुपमाया अन्योपमानैरपेक्ष्येण सम्पत्तिस्तत्र तथाविधामास्तस्या उपमाया निरवयवत्व भवतीति भावः ।

इन भेदों में प्रयुक्त 'केवल' तथा 'निरवयव' पदों का अर्थ करते हैं—तत्र इत्यादि । जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान कहे जाते हैं, वहाँ उपमा मालारूप मानी जाती है और जहाँ एक उपमा दूसरी उपमा की अपेक्षा करती हो वहाँ उपमा सावयवा कही जाती है, अतः केवल निरवयवा में 'केवल होने' का अर्थ है—किसी मालारूपा उपमा के अन्तर्गत न होना और 'निरवयव होने' का अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न करना ।

अन्यभेदोदाहरणप्रदर्शनायास्य भेदस्योदाहृतत्त्वं प्रकटयति—

इयं च शतशः प्रागेवोदाहृता ।

इयं च केवलनिरवयवा च । केवलनिरवयवाया उपमाया उदाहरणानि प्राग् बहुश प्रदर्शितानीति न पुनस्तदुदाहरणप्रदर्शनमावश्यकमिति भावः ।

इस—केवल निरवयवा—के सैकड़ों उदाहरण पहले दिलाये जा चुके हैं, अतः पुनः इस भेद का उदाहरण दिखलाना आवश्यक नहीं है ।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपनिरवयवा यथा—

स्पष्टम् ।

मालारूप निरवयवा उपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव

कण्ठे कृतातिशिशिराशिराम्बुजमालिकेव ।

आनन्दिनी हृदि गता रसभावनेव

सा नैव विस्मृतिपथ मम जातु याति ॥'

नायकस्य सुहृद् प्रत्युक्ति —नयनयो नेत्रयुगलावच्छेदेन, आह्लादिनी सुलविशेषविभाविनी, ऐन्दवी चान्द्री, रुचि कान्ति, इव, कण्ठे ग्रीवाया, कृता घृता अतिशिशिरा अन्यधिरुशीतला, अम्बुजमालिका कमलस्रग्, इव, हृदि हृदये, गता प्रादुर्भूता, आनन्दिनी, आनन्ददायिका, रसभावना रसास्वाद, इव, सा तव पूर्वपरिचिता, प्रेयसी, जातु कदाचिदपि, मम, विस्मृतिपथम् विस्मरणमार्गम्, नैव याति गच्छति । सदैव सा मम स्मृतिविषय एव तिष्ठतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आह्लादिनी इत्यादि । प्रेमी नायक अपने मित्र से कहता है—नेत्रों में आह्लाद भरने वाली चन्द्रकला की तरह, कण्ठ में पहनी गई अतिशीतल कमल माला की तरह और हृदयस्थ आनन्ददायक रसास्वाद की तरह, वह प्रेयसी कभी भी मेरे विस्मृति के मार्ग में नहीं जाती—उसको मैं कभी भूल नहीं पाता ।

द्वितीयभेदस्यैवोदाहरणान्तर निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कलेव सूर्यादमला नयेन्दोः कृशानुपुञ्जात्प्रतिमेव हैमी ।

विनिर्गता यानुनिवासमध्याद्ध्याबभौ राघवधर्मपत्नी ॥’

कवेरिति —(अमाया अनन्तरम्) सूर्यात् रविबिम्बात् विनिर्गता बहिरागता (अमाया सूर्यबिम्बं चन्द्रमसस्तिरोधानादेवमुक्ति) इन्दो चन्द्रस्य, नवा नूतना, अमला निर्मला, कला ज्योत्स्ना, इव, कृशानुपुञ्जात् अग्निसमूहात्, विनिर्गता, हैमी सुवर्णमयी, प्रतिमा प्रतिकृति, इव च, यानुनिवासमध्यात् राक्षरावासगर्भात्, विनिर्गता, राघवस्य राम-चन्द्रस्य, धर्मपत्नी सीता, अध्याबभौ अधिक शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कलेव इत्यादि । कवि का कथन है—(अमायास्या तिथि के बाद) सूर्य से निकली हुई (अमायास्यातिथि में चन्द्रमा सूर्यबिम्ब में समा जाता है—इस शास्त्रीय प्रसिद्धि के अनुसार ऐसा कथन है) निर्मल नवीन कला की तरह और अग्निसमूह से निकली हुई सोने की प्रतिमा की तरह, राघवों के आवास (लङ्का) के मध्य से निकली हुई रामचन्द्र की धर्मपत्नी-भगवती सीता-अधिक सुशोभित होने लगीं ।

उभयो पद्ययोर्वचन्यमुपपादयति—

पूर्वमनुगामिना धर्मेण भिन्नदेशकालावच्छेदेन, अत्र तु बिम्बप्रतिबिम्ब-भावमापन्नेनैकदेशकालावच्छेदेनेति विशेषः । अत्राधिकदीप्तिरूपे वाक्यार्थे उपमे उपस्कारिके । आत्यन्तिकविनाशहेतुत्वेन देदीप्यमानत्वेन च साधारण्येन सूर्यमण्डलस्य, निष्कलङ्कतामिव्यञ्जकत्वेन भस्मीभवनहेतुत्वेन कृशानुपुञ्जस्य च लङ्काप्रतिबिम्बता । मालारूपत्वं चात्रैकोपमेयकानेकोपमासामानाधिकरण्यात् ।

पूर्वमिति । ‘आह्लादिनी—’ इति पत्ने इत्यर्थः । धर्मेणेति । आह्लादित्वादिनेत्यर्थः । हेतौ तृतीया । अवच्छेदेनेति । वर्तमानेनेति शेषः, तस्य च ‘धर्मण’ इत्यत्रान्वयः, भिन्नदेशकाला-वच्छिन्नेन अनुगामिना धर्मेणेति तात्पर्यम् । उपमेति शेषः । तथा च पूर्वत्र पद्ये तादृशार्थहेतु-कोपमेति पर्यवसितार्थः । एवमप्रेऽपि । अप्रेति । ‘कलेव—’ इति द्वितीयपद्ये इत्यर्थः । विशेषो भेदः । सूर्यमण्डलस्येति । अस्य लङ्काप्रतिबिम्बतेत्यत्रान्वयः । सामानाधिकरण्यादिति । उप-मान्तरनिरपेक्षत्वान्निरव्यवत्वमित्यपि बोध्यम् । अयं भाव —‘आह्लादिनी—’ ‘कलेव—’ इति पद्यद्वयमपि मालारूपनिरव्यवचोपमोदाहरणम्, उभयत्रोपमेयस्यैकत्वेनोपमानानाच्च बहु-त्वेनमालात्वात् उपमान्तरापेक्षाराहित्येन निरव्यवत्वाच्च । परन्तु प्रथमपद्ये उपमासम्पादक-साधारणो धर्मः आह्लादकत्वादि अनुगामी, एकरूपेणोपमानोपमेययोरन्वितत्वात्, भिन्न-देशकालावच्छिन्नत्र, उपमानोपमेययो -चन्द्रकलादिनायिकयोर्भिन्नदेशकालस्यायित्येन तद-मार्गामपि तत्त्वात् । द्वितीयपद्ये चोपमासाधक साधारणो धर्मः सूर्यवानुधानावासमध्ये-त्युभयावधिकविनिर्गतत्वम् एवम् अग्निपुञ्जयातुधानावासेत्युभयावधिकविनिर्गतत्वञ्च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावात्, सूर्यावधिकविनिर्गतत्व-यानुनिवासावधिकविनिर्गतत्वयोरैव बहिपुञ्जावधि-कविनिर्गतत्वयानुधानावासावधिकविनिर्गतत्वयोर्वस्तुतो मित्रप्रेऽपि आत्यन्तिकविनाशहेतु-त्वदेदीप्यमानत्वाभ्याम् सूर्य-लङ्कारूपयानुनिवासेण सादृश्येनाभेदारोपात् एवम् निष्कल-ङ्कतामिव्यञ्जकत्वभस्मीभवनहेतुत्वाभ्याम् अग्निपुञ्जलङ्कात्मक्यानुनिवासेण सादृश्येन तत्त्वा-

रौपात्, यथा चन्द्रकलाविनाशहेतुर्देदीप्यमानय सूर्य तथा लङ्कारूपयातुनिवासोऽपि सीता-
सम्भावितविनाशहेतु सुवर्णमयतया देदीप्यमानय, एवम् यथा अग्निपुञ्जम् सुवर्णप्रतिमाया
निष्कलङ्कताभिव्यञ्जकम् भस्मीभावकारणञ्च, तथैव लङ्काऽवासोऽपि सीताया निष्कलङ्कता-
भिव्यञ्जक सम्भावितभस्मीभावहेतुश्चेति तात्पर्यम्, अग्निदेशकालावच्छिन्नश्च स धर्म,
प्रतिपदि सूर्याबन्द्रस्य, अमाया रावणपथे प्रतिपदेव लङ्कात् सोतायाश्च विनिर्माण
कालैक्यात्, देशैक्य तु आकाशरूपव्यापकदेशमाशय, नान्या गति, अग्निपुञ्जावधिःसुवर्ण-
प्रतिमाविनिर्गम लङ्कावधिकवीताविनिर्गमयोर्देशकालैक्य तु अग्निपुञ्जलङ्करोर्विम्बप्रतिविम्ब-
भावे तन्मम्बन्धिसकलवदार्थानाम् एकत्वेन भानाद् बोध्यम्, एवञ्च धमचैलक्ष्म्यकृत एव
द्रोहोऽराहणयोर्विरोधे । प्रथमपद्यगता तिस्र उपमा व्यङ्ग्यस्मृतिभावोपस्करणादलङ्कार-
रूपा, द्वितीयपद्ये द्वे उपमे वाच्यधिकशोभारूपमुह्यार्वोपस्करणात्तयामूते, इति ।

उक्त दोनों पद्यों में भासद्विक चतुष्टय का उपपादन करते हैं—पूर्वम् इत्यादि ।
'आह्लादिनी—' और 'कलेव—' ये दोनों ही श्लोक, मालारूप निरपमवोपमा के उदाहरण
होते हैं, क्योंकि इन दोनों श्लोकों में एक-एक उपमेय की तुलना अनेक अनेक उपमानों
से कर के उपमा की माला (समूह) तैयार कर दी गई है, और दोनों पद्यों की उपमायें
रेखी हैं जो अपने अवयवभूत किसी पदार्थ की उपमा की अपेक्षा नहीं करती हैं ।
फिर भी दोनों पद्यों की उपमाओं में पूर्ण अन्तर है और वह अन्तर यह है कि प्रथम
पद्य की उपमा को सम्पन्न करने वाला साधारण धर्म 'आह्लादकाव आदि' अनुगामी है—
अर्थात् एकरूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में अन्वित हो जाने वाला है और है भिन्न
देशकालावच्छिन्न-त्रयाद् उपमान चन्द्रमरीचि आदि और उपमेय नाविका के देश
और काल भिन्न हैं—एक आकाश की चीज और दूसरी धरा की वस्तु, इसी तरह एक
सदा की चीज एवं दूसरी वर्तमानमात्र की वस्तु, ऐसी स्थिति में उन भिन्नकालिक
भिन्नदेशिक पदार्थों के धर्म भी भिन्नकालिक और भिन्नदेशिक ही हो सकते हैं ।
द्वितीय पद्य की उपमा का साधक साधारणधर्म 'सूर्य से और राहसों के आवास-लङ्का-से
निकला हुआ होना' एवम् 'अग्निपुञ्ज से और लङ्का से निकला हुआ होना'रूप विम्ब-
प्रतिविम्बमात्रापन्न-अर्थात् सूर्य और राहसनिवास-लङ्का एवम् अग्निपुञ्ज और लङ्का
यद्यपि वस्तुतः दो पदार्थ हैं तथापि सादृश्यमूलक इन दोनों में अभेद का आरोप कर
लिया जाता है जिससे ये दोनों पदार्थ एक से होकर साधारण धर्म बन जाते हैं, इन
दोनों में से सूर्य और लङ्का में सादृश्य यह है कि एक चन्द्रकला के विनाश का कारण है
और दीतिशाली, और दूसरा भी सीता के विनाश का कारण है (क्योंकि यदि सीता
और कुछ दिनों तक लङ्का में रहती, तो, उसका विनाश अवश्य हो जाता) और सुवर्ण-
मय होने से दीतिशाली है, इसी तरह अग्निपुञ्ज और लङ्का में यह सादृश्य है कि एक
सुवर्णप्रतिमा की विशुद्धता का हेतु है और दूसरा सीता की विशुद्धता का कारण
(क्योंकि सीता कैसी विशुद्धचरिता है इसका परिचय ससार को उसके लङ्कानिवास से
ही प्राप्त हुआ) और दोनों दोनों के मरम हो जाने के निमित्त भी है (तात्पर्य यह कि अग्न
सुवर्ण की जलानी है और लङ्का सीता को जला सकती थी) इस तरह से विम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्न होने के कारण ही यह धर्म एकदेशकालावच्छिन्न भी है—अर्थात् उक्त पद्यों में
विम्बप्रतिविम्बभाव-सादृश्यमूलक अभेद-जब मान लिया गया, तब इसके सम्बन्धी
सभी पदार्थ-देश काल आदि-एक ही माने जायेंगे, चन्द्रकला और सीता का सामान
धर्म तो इसलिये भी एक देश और एक काल का समझा जा सकता है कि चन्द्रकला
भसायस के बाद प्रतिपत् तिथि को सूर्य से निकलती है और सीता भी अमावस में
रावण वध के बाद शुक्लप्रतिपत् में लङ्का से निकली थी, देश दोनों का व्यापक आकाश
माना जा सकता है । उक्त दोनों श्लोकों में प्रथम श्लोक की तीन उपमायें स्पृतिभाव

को अलङ्कृत करने के कारण और द्वितीय श्लोक की दो उपमायें वाच्य अधिक शोभा को अलङ्कृत करने के कारण अलङ्काररूप होती हैं ।

तृतीयभेदमुदाहरणमाह—

समस्तवस्तुविषया सावयवा यथा—

स्पष्टम् ।

समस्तवस्तुविषया सावयवा उपमा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कमलति वदनं यस्यामलयन्त्यलका मृणालतो बाहू ।

शैवालति रोमावलिरद्भुतसरसीय सा बाला ॥’

कवेर्वाचि—यस्याम् बालायाम्, वदनं मुखम्, कमलति कमलमिवाचरति, अलकाः केशाः, अलयन्ति अलय-ध्रमरा-इवाचरन्ति, बाहू भुजौ, मृणालत मृणाले इवाचरतः, रोमावलि रोमराजि, शैवालति शैवाल इवाचरति, सा बाला, अद्भुतसरसी कौतुकावहस-रोवरम्, इत, प्रतीयत इति शेषः । अत्र चतुर्षु उपमानादाचारेऽर्थे ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्य किञ्चा वक्तव्य’ इति क्विप् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कमलति इत्यादि । कवि का कथन है—जिसमें मुख कमल के तुल्य, अलक भ्रमरों के तुल्य, भुजाएँ मृणालों के तुल्य और रोमावली सेवाल के तुल्य आचरण करती है, वह बाला एक अद्भुत सरसी सी प्रतीत होती है । यहाँ किसी किसी ने ‘यस्याम् अलयन्ति’ ऐसा विभाग न मानकर ‘यस्याः मलयन्ति’ ऐसा विभाग माना है और तदनुसार ‘केश मल-सर्प-के समान आचरण करते हैं’ ऐसा अर्थ किया है, परन्तु ‘मल’ पद का ‘सर्प’ अर्थ यदि कोश में किया भी गया हो तो प्रसिद्ध नहीं है । दूसरी बात यह कि जब इस क्लृप्तकल्पना के बिना भी संगत अर्थ जो मैंने लिखा है—किया जा सकता है, तब यह विदग्धना व्यर्थ ही है ।

तस्यैव प्रभेदस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरणान्तरं निर्दिश्यते—

‘ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता सकलकलाकान्तकान्तवदनश्रीः ।

राकेव रम्यरूपा राघवरमणी विराजते नितराम् ॥’

कवि कथयति—ज्योत्स्नागम् चन्द्रिकासदृशम्, मञ्जु मनोहर, हसितम् हासो, यस्या, सा, तथा, सकल पूर्णकल, कलाकान्त चन्द्रः, इव, कान्ता कमनीया, वदनश्रीः मुखच्छविर्यस्या वा, राघवस्य रामस्य, रमणी सीता, रम्य रूप यस्यास्तादृशी, राका पूर्णिमा, इव, नितराम् अत्यन्तम्, राजते शोभत इत्यर्थः ।

उदाहरण (द्वितीय) का निर्देश करते हैं—ज्योत्स्ना इत्यादि । कवि कहता है—जिसका हास चँदनी के समान सुन्दर है, जिसकी मुखकान्ति पूर्णचन्द्र के समान कमनीय है, वह राघव (रामचन्द्र) की रमणी—सीता—रमणीरूपवाली राका—पूर्णिमा के समान, अत्यन्त शोभित हो रही है ।

पयद्वयेऽपि समासेन वक्तव्यं विप्रोक्ति—

अत्र सर्वेषामुपमानानां शब्दैरेवाभिधानात् समस्तवस्तुविषया, अद्भोपमा-भिनिष्पाद्यमानत्वाच्च साक्षात् भवति ।

उक्तौदाहरणद्वये सर्वेषामवयवरूपाणाम् अवयवविरूपाणाञ्च उपमानानाम् (प्रथमपद्ये कमलभ्रमरमृणालशैवालसरसीनाम्, द्वितीयपद्ये ज्योत्स्नाचन्द्रराकानाम् इति यावत्) (अत्र सरसीराके अवयवविरूपे उपमाने अन्यान्यवयवरूपाभ्युपमानानीति विवेक) शब्दतः प्रतिपादनात् उपमायां समस्तवस्तुविषयत्व बोध्यम् । तथा च सकलौपमानानां शब्दाभिधेयत्वमेव समस्तवस्तुविषयत्वमिति भावः । अङ्गभूताभिः—कमलवदनयो, अत्यलकयो, मृणालबाहो, शैवालरोमावल्गोश्च प्रथमपद्ये ज्योत्स्नाहासयो, चन्द्रवदनधियोश्च द्वितीयपद्ये उपमाभिः प्रधानयो—सरसीवालयो राक्षराधवरमण्योश्चोपमयो सम्पाद्यमानतया उपमाया अत्र यावयवत्वमवगन्तव्यमिति भावः ।

उक्त दोनों उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का विश्लेषण करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त दोनों पद्यों में से प्रथम में चार उपमायें—मुख की कमल के साथ, अलकों की भ्रमरों के साथ, भुजाओं की मृणालों के साथ और रोमावली की सेवाल के साथ—अङ्गभूत हैं, ये अङ्गभूत उपमायें, प्रधान-अङ्गीभूत-उपमा-वाला की सरसी के साथ-को सम्पन्न करती हैं—अर्थात् उन अङ्गभूत उपमाओं के बिना यह पाँचवीं उपमा हो ही नहीं सकती थी, अतः यह मुख्य उपमा 'सावयवा' कही जाती है, इसी तरह द्वितीय पद्य में दो उपमायें—एक हास की ज्योत्स्ना के साथ और दूसरी वदनश्री की पूर्णचन्द्र के साथ वाली-अङ्गभूत हैं और तीसरी राघवरमणी की राका के साथ वाली उपमा अङ्गीभूत है और यहाँ भी अङ्गभूत उपमायें अङ्गीभूत उपमा की साधिकार्य हैं, अतः यहाँ की भी मुख्य उपमा सावयवा है । दोनों ही श्लोकों में जितनी उपमाएँ हैं, उन सभी के उपमान शब्दतः वक्षित हैं, उनमें एक भी उपमान ऐसा नहीं है जिसका अर्थतः आक्षेप करना पड़ता हो अतः इन दोनों पद्यों की उपमायें 'समस्तवस्तुविषया' कही जाती हैं । फलतः सिद्ध हुआ कि सभी उपमानों का शब्द वर्णन ही 'समस्तवस्तुविषय' पद का अर्थ है ।

चतुर्थं भेदमुदाहर्तुमाह—

एकदेशविवर्तिनी सावयवा यथा—

स्पष्टम् ।

एकदेशविवर्तिनी सावयवा उपमा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘मकरप्रतिमैर्महाभटैः कविभि रत्नसमैः समन्वितः ।

कविताऽमृतकीर्तिचन्द्रयोस्त्वमिहोर्षीरमणासि कारणम् ॥’

कवि कमपि नृप स्तौति—हे उर्वारमण राजन् !, मकरप्रतिमैः प्राहतुल्यै, महाभटै रणशूरैः सैनिकै, रत्नसमै रत्नतुल्यै, कविभिः कवित्वकलासमन्वितैर्विद्वद्भिः, समन्वित-युक्त, त्वम्, इह ससारे, कवितामृतकीर्तिचन्द्रयो अमृतकल्पकवितायाः चन्द्रसदृशकीर्तय, कारणम् हेतु उत्पादक इति यावत्, असि वर्तसे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मकर इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! मकरों-प्राहों-के समान पड़े पड़े योद्धाओं से तथा रत्नों के तुल्य कवियों से युक्त तू, इस ससार में, अमृततुल्य कविता और चन्द्रतुल्य कीर्ति के कारण हो—अर्थात् अमृत जैसी कविता और चन्द्रमा के समान यश को उत्पन्न करते हो ।

उपपादयति—

अत्रोत्तरार्थे उपमितसमास एव, विशेषणसमासवेद्यस्य तादात्म्यस्य प्रकृत्येऽनुपयोगात् । राहो जलधेरुपमाशब्देनानभिहिताऽप्यङ्गोपमाभिराक्षिप्ता प्रतीयते, इत्येकदेशविवर्तनादेकदेशविवर्तिनी ।

उपमितसमास इति । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रकृत समास इत्यर्थः । विशेषणसमास इति । 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति सूत्रविहित समास इत्यर्थः । एकदेशविवर्तनादिति । एकदेशे (अवयवे) विवर्तनात्-स्वरूपगोपनेन अन्यथात्वेन वर्तनात्, अथवा एकदेशे विशेषण-स्फुटतया वर्तनादित्यर्थः । अधिक रूपके स्फुटीभविष्यति । 'मकर—' इति पद्योत्तरार्धघटक्रयोः 'कवितामृत-कीर्तिचन्द्रपदयोः' 'कविता एव अमृतं', 'कीर्तिरेव चन्द्रः' इति विग्रह विशेषणसमासोऽपि गम्भावति, परन्तु तथासमासे कविता-मृतयोः कीर्तिचन्द्रयोश्च यत्तादात्म्यम् (अभेदः) प्रतीयेत, तस्य प्रकृते उपयोगो नास्ति, राजनि समुद्रतादात्म्यस्याविवक्षितत्वात्, अतः 'कविता अमृतमिव', 'कीर्ति चन्द्र इव' इत्येवं विग्रहोपमितसमास एव तत्राश्रयणीयः । तथा च तयोस्तयोः पदार्थयोरुपमाया प्रतीताया प्रथमार्धे स्पष्टयोश्च द्वयोरुपमयो, तद्वलात् राजसमुद्रयोरशान्दोऽप्युपमालङ्कार-आश्रितः सन् अवगम्यत इत्युपयोगसिद्धिः । अत एव—अंशविशेषे शब्दतः कथितत्वात् अंशविशेषे च अर्थतः प्रतीयमानत्वादेकदेशविवर्तनीयमुपमा, अङ्गाङ्गिनोरभयोरुपमाविधानात् सावयवा चेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोत्तरार्धे इत्यादि । 'मकर—' इस पद्य के उत्तरार्धगत 'कविता-मृत' और 'कीर्तिचन्द्र' पदों में विशेषणसमास ('मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र-कृत समास को विशेषणसमास कहते हैं) भी हो सकता था, पदनुसार कविता और अमृत में तथा कीर्ति और चन्द्र में तादात्म्य (अभेद)—अर्थात् रूपकालङ्कार-प्रतीत होता, परन्तु उन पदार्थों के तादात्म्य का प्रस्तुत प्रसङ्ग में—अर्थात् कवि विवक्षित राज-समशोपमासिद्धि में—कोई उपयोग नहीं, प्रयुक्त बाधकरवा ही सम्भव है, अतः उपमित-समास ('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से होने वाले समास को उपमितसमास कहते हैं) ही मानना चाहिये—जिसका उक्त कविउद्देश्य की सिद्धि में उपयोग है । यहाँ राज और समुद्र की उपमा, यद्यपि शब्दतः उक्त नहीं है, तथापि महाभयों को मकरों के साथ, कवियों की रत्नों के साथ, कविता की सुधा के साथ और कीर्ति की चन्द्र के साथ दी गई अङ्गभूत उपमाओं से आक्षिप्त होकर वह प्रतीत होती है, अतः एक देश (एक भाग) में अन्यथारूप से—अर्थात् गुप्तरूप से—प्रतीत होने के कारण यह एकदेशविवर्तनीय उपमा कही जाती है । साथ साथ सावयवा भी यह उपमा कही जाती है, क्योंकि अवयव और अवयवी अर्थात्—अङ्ग और अङ्गी—दोनों की उपमा यहाँ की गई है ।

पद्यमभेदमुदाहर्तुमाह—

केवलश्लिष्टपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

केवल श्लिष्टपरम्परित उपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'नगरान्तर्नदीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः ।

सुरालये खलु क्षीवा देवा इव विरेजिरे ॥'

कवि कथयति—महेन्द्रवत् इन्द्रवत्, महिता पूजिता, श्री सम्पत्तिर्यस्य, तस्य, महीन्द्रस्य राज, नगरान्तः नगरमध्ये, सुरालये सुराया मयस्य, आलये गृहे, सुराणाम् देवानाम्, आलये सुमेरी च, क्षीवा मत्ता, देवा, इव, खलु निश्चयेन, विरेजिरे शुशु-भिरे इत्यर्थः ।

वदाहरण का निर्देश करते हैं—नगरा इत्यादि । कवि का कथन है—जिसकी मग्नति इन्द्रसम्पत्ति की तरह सुश्रुत है, उस महीपति के नगर के अन्तर्गत, 'सुरालय' (मदिरालय तथा देवों के आलय-सुमेरु) में, नरोवाज लोग, देवताओं की तरह शोभित होते थे ।

उपमाद्वयति—

अत्र श्लेषोपस्थापितेन सुमेरुणा मदिरागारस्योपमा श्लोचानां देवोपमाया उपाय इति श्लेषपरम्परिता, अन्योन्योपायत्तरूपस्यैव परम्परित्वस्येह परिभाषणात् । मालारूपताविरहाच्च केवला ।

मदिरागारस्योपमेति । सुरालये इति भाव । नन्वेवं श्लेषोपस्थापि क्वं परम्परित्वमन आह—अन्योन्योपायत्तरूपस्यैवेति । परस्परोपायभावस्येति तदर्थ । अत्र 'सावयवानां परम्परसमर्थकत्वेऽपि नोपायता । ज्योन्मताया हसितचारोप विनापि श्रौज्ज्वत्यादिना साताया राक्षामान्धसिद्धे । इह तु मदिरागारेषु सुमेरुपमा विना श्लेषेषु देवोपमाया न किञ्चित्साधर्म्यम् । तस्मिन् तद्व्यतिरिक्तप्रतीतिमूलभावेदमापन्न सुरालयश्रुतित्वमेव । तथा मदिरागारेषु सुमेरुपमाया न श्लेषेषु देवोपमा विना न साधारणधर्म इन्द्रोन्योन्योपायता । अन्योन्याश्रयपरिहारस्तु रूपकप्रकारे वक्षते' इति भाषणात् । 'सकलसिद्धे कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् शिल्पिभिः परस्परवदन्ममात्र-स्थितिकाभिः शिलेशकामिष्टविशेषनिर्माणाच्च नान्योन्याश्रयदोष' इति रूपकप्रकारणोक्त समाधानं बोध्यम् । 'नगरान्तर्मही—' इति श्लेषके निबन्धाया उपमाया श्लेषपरम्परित्वं नागेशविवरणेनैव स्पष्टम्, केवलत्वेन एकस्योपमेवस्यानेकोपमाननिर्देशान्मकमालारूपन्याभावात् अत्रान्तर्भावम् ।

उपमादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नगरान्तर्—' इस पद्य में भाषे हुए 'सुरालय' पद का प्रासङ्गिक अर्थ है 'मद्यगृह' । परन्तु श्लेष के द्वारा उसी पद से 'सुरों का आलय-सुमेरु' अर्थ की भी उपस्थिति हो जाती है, अतः 'सुमेरु के समान मद्यगृह' इस तरह की श्लेषमूलक उपमा यहाँ भी निश्चि होती है और यह उपमा ही प्रधान-नरोवाजों में देवताओं की उपमा का उपाय है—अर्थात् विना उस उपमा के नरोवाजों के साथ देवताओं की उपमा बन ही नहीं सकती । अतः इस उपमा को श्लेषपरम्परिता कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि—'यहाँ श्लेषशब्दप्रतिपाद्य अर्थों' की उपमा मुख्य उपमा की साधिका हो, वहाँ 'श्लेषपरम्परिता उपमा' होती है । यहाँ 'परम्परित' शब्द का परिभाषित अर्थ है 'एक दूसरे की उपमा का उपाय होना'—एक उपमा के विना दूसरी उपमा का न बन सकता । यहाँ नागेशजी ने अपनी ओर से कुछ सुन्दर विचार किया है, जिसका सारांश यह है—'यद्यपि 'सावयवा' उपमा में भी समर्थ्य समर्थकभाव रहता है—अर्थात् अन्नमूल उपमायें मुख्य उपमा की और मुख्य उपमा अन्नमूल उपमाओं की समर्थिका होती हैं, पर वहाँ उपायोपेयभाव नहीं होता—अर्थात् एक के विना भी दूसरी उपमा हो सकती है । जैसे—पूर्वोक्त 'ज्योत्स्नाममञ्जुहसिता—' पद्य में ह्याम की तुलना चन्द्रिका से न करने पर भी 'उज्ज्वलता' आदि प्रसिद्ध यमान धर्म को लेकर सतिता से पूर्णता की उपमा निश्च हो सकती है । परन्तु परम्परित उपमा में ऐसा नहीं हो सकता—वहाँ एक उपमा के विना दूसरी उपमा नहीं बन सकती । जैसे प्रकृत पद्य—'नगरान्तर्मही—' में मद्यगृह की तुलना सुमेरु से न करने पर नरोवाजों में देवताओं की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि नरोवाजों और देवताओं में कोई समान धर्म इष्टिपथ में नहीं आता, और जब श्लेष के बल से मद्यगृह तथा सुमेरु में उपमा मान ली जाती है, तब उभय एक में रहना ही देवताओं और

नभोज्यों का समानधर्म हो जाता है, इसी तरह मधुगृह और सुमेरु का साधारण धर्म होता है देवताओं और नभोज्यों की उपमा। इस तरह से ये दोनों उपमाएँ परस्परा-पेक्ष हैं। यद्यपि इस स्थिति में अन्योन्याध्यक्ष दोष की शङ्का हो जाती है, पर उसका परिहार रूपकालङ्कार के प्रकरण में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।" रूपकप्रकरण में अन्योन्या-ध्यपरिहार के लिये कहा गया है कि—काव्यजगत् की सभी बातें काव्यनिक हुआ करती हैं और कल्पना कवि के अधीन है। तात्पर्य यह कि ठोस जगत् में भी अन्योन्याध्यक्ष दोष है काव्यनिक जगत् में नहीं। दूसरी बात यह कि—ठोस जगत् में भी कहीं कहीं अन्योन्याध्यक्ष कुछ बिगाड़ नहीं पाता—जैसे अन्योन्याध्यक्ष—केवल एक दूसरे पर अवलम्बित—होकर भी हूँटे और पत्थर के टुकड़े चढ़े चढ़े भयन तैयार कर देते हैं।

पद्य भेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपरिलिष्टपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

मालारूप रिलिष्टपरम्परित उपमा जैते—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘महीभृतां खलु गण्ये रत्नसानुरिव स्थितः ।

त्वं काव्ये वसुधाधीश शृपपर्वैव राजसे ॥’

कवि कथयति—हे वसुधाधीश राजन् ! महीभृता पर्वततुल्याना राजा, गण्ये समूहे, पञ्चनिधयेन, रत्नसानु सुमेरु, इव, स्थित वर्तमान, त्वं, काव्ये शुकाचार्यरूपकवित्त्व-वियये, शृपपर्व दैत्यराज, इव, राजसे शोभसे इत्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—महीभृताम् इत्यादि। कवि की उक्ति है—हे राजन् ! ‘महीभृतां’—पर्वत के तुल्य राजाओं—के समुदाय में सुमेरु की तरह स्थित आप, ‘काव्य’—शुकाचार्य के तुल्य कवित्व—के विषय में शृपपर्व—दानवों का एक प्रसिद्ध राजा—के समान शोभित होते हैं।

उपमाद्वयति—

अत्र श्लेषोपस्थिताभ्यां पर्वतशुक्राभ्यां राजकाव्ययोरुपमे मेरुशृपपर्वभ्यां राज उपमयोरुपायः ।

महीभृताम्—इति पद्ये ‘राजान पर्वता इव’, ‘त्वं सुमेरुविव’, ‘कवित्वं शुकाचार्य इव’ पुनः ‘त्वं दैत्यराज इव’ इति चतसृणामुपमाना माला, तत्र नृपकवित्त्ववाचकमहीभृत्-काव्य-पदगतमाङ्गशान्दरलेवीपरिष्ठापितपर्वतशुक्ररूपार्थभ्या सह राजकवित्वयोः ये द्वे उपमे प्रती-येते, ते सुमेरुदैत्यराजाभ्या सह वर्णनीयस्य राज उपमयोः स्पष्टमुपवर्णितयोरुपासभूते, श्लेषमूलकौपमाभ्या विना साधारणधर्मास्फुरणेन सुमेरुदैत्यराजोपमयोत्तमलाभासम्भवात् । एवञ्चात्रलोपमाया मालारूपरिलिष्टपरम्परितत्व स्पष्टमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘महीभृताम्—’ इस पद्य में ‘महीभृत्’ और ‘काव्य’ पद रिलिष्ट हैं, रलेप के द्वारा अप्रकान्त पर्वत और शुकाचार्य की उपस्थिति होती है, ऐसी स्थिति में श्लेषोपस्थापित वे अप्रकान्त अर्थ असम्बद्ध न हो जायें, इसलिये ‘राजा पर्वत के समान’ और ‘कवित्व शुकाचार्य के समान’ इस तरह की दो उपमाएँ मानी जाती हैं, ये दोनों उपमाएँ, सुमेरु और दैत्यराज के साथ ही गई राजा की दो उपमाओं को सिद्ध करने वाला उपाय है, क्योंकि उन दोनों उपमाओं के बिना साधारण धर्म की अनुपस्थिति में ये दोनों उपमाएँ बन्न नहीं सकतीं। अतः यह उपाय ‘रिलिष्ट-परम्परिता’ कही जाती है, और एक से अधिक (दो) होने से ‘मालारूप’।

आशाङ्क्य समाधत्ते—

नन्वत्र पर्वतानामिव राज्ञां शुक्र इव कवित्वे इत्येवंरूपा उपमा कथं प्रत्येतुं शक्या । उपमानोपमेयशब्दयोः पार्थक्यभावादिति चेत्, श्लेषे ह्येकशब्दोपात्तत्वेन रूपेणाभेदाध्यवसानस्येव तेनैव साधर्म्येण सादृश्याध्यवसानस्यापि सुवचत्वात्, तस्यैव च प्रकृते प्रयोग्योपमानुकूलत्वात् ।

अप्रत्यये हेतुमाह—उपमानोपमेयशब्दयोरिति । उत्तरयति—श्लेषे इति । तेनैवेति । एकशब्दोपात्तत्वेनेत्यर्थः । अभेदाध्यवसानमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—तस्यैव च इति उपमानोपमेययो पृथक्पृथक्शब्दाभ्यामुपस्थितावेवोपमा प्रतीयते । 'महीभृताम्—' इत्यत्र तु 'महीभृताम्' 'काव्ये' इति च शिल्प एक एक एव शब्द ध्रुयते, तथा च पर्वतराज्ञो शुक्रकवित्वयोश्चोपमा प्रत्येतुमशक्या, रूपकञ्च प्रत्येतुं शक्यम्, इति शङ्कादलस्याशयः । श्लेषस्यले एकशब्दोपात्तत्वगुक्त्या यथा शिल्पयोरर्थयोरभेदोऽध्यवसीयते, तथैव एकशब्दोपात्तत्वेनैव साधर्म्येण श्लेषविषयीभूतयोरर्थयो सादृश्यमपि अभ्यवसितुं योग्यम् । ततश्चैकशब्दोपात्तत्वात्मकसमानधर्मेण महीभृताम् (पर्वतानां राज्ञां च) काव्यस्य (शुक्रस्य कवितायाश्च) परस्परमुपमा प्रत्येतुं शक्या । प्रसिद्धयनुरोधेन शिल्पयोरर्थयोरभेदमध्यवसायरूपकमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इति तु न शक्य वक्तुम्, रूपकस्य 'रत्नसानुरिव' 'वृषपर्वेव' इति प्रधानोपमाप्रतिकूलत्वात्, उपमायाश्च तदनुकूलत्वात् । इत्यथ यत्र रूपकमङ्गीभूतम् तत्राङ्गीभूतेषु शिल्पार्थेषु अभेदाध्यवसायः, यत्र पुनरुपमाङ्गीभूता तत्राङ्गीभूतेषु शिल्पार्थेषु सादृश्याध्यवसाय एवेति च समाधानाशयः ।

एक शङ्का और उत्तक समाधान करते हैं—नन्वत्र इत्यादि । आप कहेंगे कि—'महीभृताम्—' इस पद्य में 'पर्वतों के समान राजे' और 'शुक्र के समान कवित्व' ये दोनों उपमायें नहीं बन सकतीं, क्योंकि वही उपमा बनती है, जहाँ उपमान और उपमेय के बोधक पद पृथक् पृथक् उपात्त हों, यहाँ तो 'महीभृत्' और 'काव्य' ये एक एक शब्द ही क्रमशः पर्वत और राजा तथा शुक्र और कवित्व के बोधक हैं, अतः यहाँ इन शिल्प अर्थों में परस्पर अभेद ही समझा जायगा और तदनुसार अलङ्कार बनेगा रूपक, न कि उपमा । तो इस आशाङ्का का समाधान यह है कि जैसे एकशब्दोपात्तत्व (एक शब्द से ज्ञात होने) रूप युक्ति से शिल्प अर्थों में अभेद आरोपित होता है, वैसे ही एकशब्दोपात्तत्वरूप समान धर्म के बल से उन (शिल्प) अर्थों में परस्पर सादृश्य भी समझा जा सकता है, अतः 'महीभृत्' इस एक पद से उपात्त पर्वत और राजा में तथा 'काव्य' इस एक पद से अवगत शुक्र और कवित्व में सादृश्य (उपमा) मानने में कोई आपत्ति नहीं है, उन अर्थों में अभेद भी जब समझा जा सकता है, तब वही क्यों नहीं समझा जाय—अर्थात् रूपक ही क्यों नहीं माना जाय यह तर्क तो उपरिथत किया नहीं जा सकता, क्योंकि आगे जो 'राजा (वर्णनीय नृपति), सुमेरु और वृषपर्वा (देव्यराज) के समान' ये दो मुख्य उपमायें स्पष्ट शब्दों में वर्णित हैं, उनके अनुकूल 'राजे पर्वतों के समान और कवित्व शुक्र के समान' ये उपमायें ही होती हैं 'राजारूप पर्वत और कवित्वरूप शुक्र' ये रूपक नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ अङ्गी (प्रधान) अलङ्कार भी रूपक ही हो, वही, अङ्गीभूत शिल्प अर्थों में भा अभेदारोप करके रूपक माना जाना चाहिये और जहाँ अङ्गी अलङ्कार उपमा हो, वहाँ अङ्गीभूत शिल्प अर्थों में एकशब्दोपात्तत्वरूप साधारण धर्म के कारण उपमा ही मानी जाय यहाँ उचित है ।

'सप्तम भेदमुदाहर्तुमाह—

केवलशुद्धपरम्परिता यथा—

केवला न तु मालारूपा, शुद्धा न तु रिच्छा, परम्परिता-उपायोपेयभावयुक्ता उपमा यपेति भावः ।

केवलशुद्धपरम्परित उपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः ।

द्रुमाणानिव लोकानां मधुमास इवाभवत् ॥’

कवि कथयति—सर्वेषाम्, धर्माणाम्, समाश्रय-रक्षक इति यावत्, नाम्ना युधिष्ठिरः युधिष्ठिरनामक इति भावः, राजा प्रजारजको महाभारतप्रसिद्धो भूषति, द्रुमाणाम् तरुणाम्, इव, तदृशदृशानामिति यावत्, लोकानाम् जनानाम्, कृते इति शेषः, मधुमास चैत्रमासः, इव, श्रवणम् । यथा चैत्रे तारु पुष्पिता फलिताश्च भवन्ति, तथा तद्राज्ये जनता सदा समृद्धिमयी अतिष्ठदित्यर्थः । अत्र मालारूपताविरहात् केवलत्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, अन्योन्योपायतारूपत्वात्परम्परितत्वमिति बोध्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि । कवि का कथन है—सब धर्मों का आश्रय (रक्षक) युधिष्ठिर नामधारी राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा तरुओं के लिये चैत्रमास—अर्थात् चैत्रमास के वृक्षों के समान उसके राज्य में सब लोग खूब फूलते-फलते (सुखसमृद्धिमय) थे । यहाँ ‘चैत्रमास’ और ‘युधिष्ठिर’ की उपमा के बिना ‘तरुओं’ और ‘लोगों’ की उपमा सिद्ध नहीं हो सकती, और न ‘तरुओं और लोगों’ की उपमा के बिना ‘चैत्र’ और ‘युधिष्ठिर’ की उपमा सिद्ध हो सकती है, अतः यह उपमा परम्परिता है, श्लेषरहित है, अतः शुद्धा है और उपमानों की माला नहीं है—एक ही उपमान है, अतः केवल है ।

अष्टमं भेदमुदाहरणमाह—

मालारूपशुद्धपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

मालारूप शुद्धपरम्परित उपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मृगतां हरयन्मध्ये वृक्षतां च पटीत्यन् ।

ऋक्षतां सर्वभूपानां त्वमिन्दुवसि भूतले ॥’

कवि कथयति—हे राजन् ! मृगता मृगवदाचरता, सर्वभूतानां सर्वप्राणिना, मध्ये, हरयन् हरिं सिंहं तददाचरन्, वृक्षता वृक्षवदाचरता, सर्वभूतानां, मध्ये, पटीत्यन् पटीरं चन्दनं तददाचरन्, त्वम्, ऋक्षताम् ऋक्षाणि तारा तददाचरता, सर्वभूतानां, मध्ये, भूतले इन्दुवसि इन्दुरिवाचरसि इत्यर्थः । सर्वत्राचारे जित् । अत्रैकस्य राजरूपस्योपमेयस्य कृते बहूपमाननिर्देशान्मालात्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, परस्परोपायोपेयभावाच्च परम्परितत्वमित्यवगन्तव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मृगताम् इत्यादि । कवि कहता है—हे राजन् ! इस सत्तार में यदि सब प्राणी मृगसदृश आचरण करते हैं तो आप उनमें सिंह के समान आचरण करते हैं, यदि वे वृक्ष के तुल्य आचरण करते हैं तो आप उनमें चन्दन के समान आचरण करते हैं, और यदि वे तारों के समान आचरण करते हैं तो आप उनमें चन्द्र के समान आचरण करते हैं । यहाँ राजारूप उपमेय के लिये अनेक उपमानों का निर्देश किया गया है, अतः यह उपमा मालारूपा है, श्लेष न रहने के कारण शुद्धा है और परस्पर एक दूसरे की उपायभूत होने के कारण परम्परिता है ।

विरोपमाह—

उपमानयोः परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेपोपायता निरूपिता ।

पूर्वोक्तासु यासु परम्परितोपमासु परस्परोपायता प्रदर्शिता, तत्रोपमाद्वयाङ्गभूतमुपमानद्वयमुपमेयद्वयदाविरोधि, परन्तु तयोर्विहृदत्वेऽपि उपमाद्वयस्योपायता मिथः संभवतीति भावः ।

एक विशेष की चर्चा करते हैं—उपमानयोः इत्यादि । पूर्वोक्त जिन परम्परित उपमाओं में दो उपमाओं के परस्पर उपायभूत होने की बात कही गई है उनमें दोनों उपमाओं के उपमान उपमेय अनुकूल थे—अविरोधी थे, पर उनके परस्परविरोधी रहने पर भी उपमाओं में एक दूसरे का उपाय होना बन सकता है, अतः वैसी स्थिति में भी परम्परित उपमा हो सकती है ।

तथाविधमुदाहरण प्रदर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये उपायता यथा—

उपमानोपमेययो परस्पर विहृदत्वेऽपि उपमाद्वयस्य मिथः उपायता यत्र भक्ति तादृशमुदाहरण प्रदर्शयति इति भावः ।

उपमान और उपमेय में परस्पर विरोध होने पर दो उपमाओं में जहाँ उपायोपेय-भाव होता है, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः ।

दीपानामिव साधूनां ऋग्भावात् इवाभवत् ॥’

नाम्ना दुर्योधन दुर्योधननामा, सर्वसत्त्वभयङ्कर सकलप्राणिभयजनक राजा, साधूनाम् सज्जनानां, कृते तथा अभवत्, यथा दीपानां, कृते, ऋग्भावात् वृष्टिविक्रतो महावायु, भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि । कवि कहता है—सब प्राणियों के लिये भयङ्कर दुर्योधन नामक राजा, सज्जनों के लिये वैसा ही था, जैसा प्रदीपों के लिये वृष्टि-मिश्रित विनाकल वायु ।

उपपादयति—

अत्रोपमानयोर्दीपऋग्भावात्तयोरन्योन्यमुपमेययोश्च साधुदुर्योधनयोः प्रातिकूल्येऽप्युपमयोः परस्परमानुकूल्यादुपायतैव ।

‘राजा दुर्योधनो—’इत्यस्मिन् पद्ये द्वे उपमे—दीपसाध्वोरेका, ऋग्भावात्दुर्योधनयोश्च द्वितीया, तत्र द्वितीया मुख्य, प्रथमाऽङ्गभूता यद्यपि अनयोः उपमेयोरुपमानभूतौ, दीपऋग्भावातौ एवम् उपमेयनूतौ साधुदुर्योधनौ परस्पर विहृदौ, तथापि तत्रादुपमानोपमेयकोपमाद्वयस्य परस्परमुपायता भवति, विरोधिद्वयवर्गद्वयस्य सादृश्ययो विरोधाभावाविति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोपमान इत्यादि । ‘राजा दुर्योधनो—’ इस पद्य में दो उपमाएँ हैं—एक साधुओं की दीपों के साथ और दूसरी दुर्योधन की शृङ्गावात के साथ । इन दोनों उपमाओं के उपमान—दीप और शृङ्गावात, एवम् उपमेय—साधु और दुर्योधन यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—विरोधी हैं, तथापि इन विरोधी तत्त्वों को लेकर बनाई गई उक्त दोनों उपमाओं में अद्भुतभाव और उपायोपेयभाव—अर्थात् एक दूसरे का उपाय होना—हो सकता है—होता भी है, क्योंकि उपमाओं में परस्पर विरोध नहीं है, प्रयुक्त

अनुकूलता ही है। तात्पर्य यह कि 'जैसे मोहन, सोहन का विरोधी है, वैसे राधव, माधव का विरोधी है' ऐसा कहने पर उन सादृश्य वाले पदार्थों में भले ही विरोध प्रतीत हो, पर उन दोनों सादृश्यों में तो कोई विरोध दीख पड़ता नहीं, प्रत्युत आधार की समानता के कारण अनुकूलता ही श्लक्ष्णता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए।

प्रागुदाहृता प्रातिकूल्ये केवलपरम्परितोपमा इदानीं मालारूपा वा प्रातिकूल्ये उदाह्रियते—

एवम्—

'सरोजतामथ सतां शिशिरर्तधतापुना ।
दुर्मतां सर्वधर्माणां राजानेन विदुर्मितम् ॥'

इत्यादौ मालारूपतायामपि ।

एवमिति । पूर्वोक्तरीत्यैवैत्यर्थः । अथ च 'मालारूपतायामपि' इत्यस्यामे शेषभूते 'प्रातिकूल्ये उपायता' इत्यत्रान्वयः । सरोजतामिति । कमलवदाचरता सता मध्ये शिशिर-
तुषदाचरतानेन राजा दुर्मतामिति सर्पधर्माणां मध्ये विदुर्मदेशवदाचरितमित्यर्थः । विदुर्म
यथा दुर्मा न प्ररोहन्ति तथास्मिन् रात्रिं धर्मा न प्ररोहन्तीति भावः । अत्रैकस्य राजः
उपमेयस्य स्वभावस्पष्टीकरणायोपमानद्वयनिर्देशात् मालारूपत्वमुपमाया, सरोजशिशिरयो
सम्बन्धनरूपबोधे प्रातिकूल्येऽपि उपायतासत्त्वात् परम्परितत्वम्, श्लेषानामात् शुद्धत्वञ्चेति
बोध्यम् ।

प्रातिकूल्य में भी परस्पर उपायोपेयभाव बाड़ी मालारूप शुद्धपरम्परितोपमा का उदाहरण दिखला रहे हैं—एवम् इति । 'राजा दुर्धर्मो—' इस पद्य में जैसे उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता रहने पर भी परम्परित उपमा मानी गई है, उसी तरह 'सरोजताम्—' अर्थात् कमलों के समान आचरण करनेवाले राजाओं के मध्य में शिशिरवस्तु के मुख्य आचरण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, दुर्म (कुश) के समान आचरण करने वाले सब धर्मों के मध्य में, विदुर्म देश (जहाँ दुर्म नहीं अङ्कुरित होते) के समान आचरण किया है। इत्यादिक मालारूप उपमाओं में भी बही बात—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है। तात्पर्य यह कि प्रतिकूलता में पहला उदाहरण शुद्ध केवल परम्परिता का है और दूसरा मालारूप शुद्धपरम्परिता का ।

उपमाया भेदान्तरं विवृणोति—

उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमानतायां रशानोपमा ।

स्वस्वोपमानानुपमानानामिति । एतच्चोपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिरासाय । तत्रोपमेयं स्वोपमानस्वैवोपमानं भवतीति स्वोपमानानुपमानानुपमादित्यस्यास्य लक्षणवाक्यस्य नातिव्याप्तिः । यत्र किञ्चिदुपमेयं स्वोपमानभित्तस्य कस्यचित् पदार्थस्वोपमानं भवति, तत्र रशानोपमा । नायं भित्तोऽलङ्कारः, सामान्यलक्षणाशान्ततयोपमाया एव प्रभेद इति भावः ।

उपमा का ही एक अतिव्यक्त प्रभेद दिखलाने के लिये पहले उस प्रभेद के योग्य स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं—उपमेयानाम् इत्यादि । जब कोई उपमेय अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का उपमान बन जाय, तब उस उपमा को 'रशानोपमा' कहते हैं। यहाँ 'अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का' ऐसा कथन 'उपमेयोपमा' में अतिव्याप्ति शेष के निराकरणार्थ है, क्योंकि उपमेयोपमा में भी उपमेय, उपमान बनता है, पर अपने उपमान का ही, यह समझना चाहिए ।

रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

रशनोपमा जैसै ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘वागिव मधुरा मूर्तिर्मूर्तिरिवात्यन्तनिर्मला कीर्तिः ।

कीर्तिरिव जगति सर्वस्तवनीया मतिरमुष्य विभोः ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—अमुष्य अस्य, विभो राज्ञ, मूर्ति शरीरं, वागिव वाणीवत्, मधुरा, वाचि माधुर्यं सरसत्वम्, मूर्ती च तन् सौन्दर्यमिति विवेक, कीर्ति यथा, मूर्तिरिव, अत्यन्तनिर्मला नितान्तविमला, जगति ससारे, सर्वे स्तवनीया स्तुत्या प्रशसनीयेति यावत्, मति बुद्धि, कीर्तिरिव, वर्तत इति शेष । अस्य राज्ञो वाग्मूर्ति-कीर्तिमतिषु उत्तरमुत्तरं प्रति पूर्वं पूर्वगुणमानभूतमिति भाव ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—वागिव इत्यादि । किसी राजा की प्रशंसा में कवि का कथन है—इस राजा की जैसी मधुर वाणी है वैसी ही मधुर मूर्ति (शरीर), और जैसी निर्मल मूर्ति है वैसी ही निर्मल कीर्ति, एवं जैसी संसार में सर्वस्तुत्य इसकी कीर्ति है वैसी ही इसकी बुद्धि भी सर्वस्तुत्य है ।

पूर्वोदाहरणगत विशेषमाह—

इयं धर्मभेदे ।

उक्तरशनोपमोदाहरणे माधुर्यनिर्मलत्वादय साधारणधर्मा मियो भिन्ना इति भाव ।

भिन्न-भिन्न साधारण धर्म के रहने पर उक्त उदाहरण में रशनोपमा हुई है ।

धर्मक्ये रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मक्ये तु—

सप्तम्यर्थस्याग्रिमपद्येन सम्बन्ध । तुना पूर्वव्यवच्छेद ।

साधारण धर्म के एक रहने पर तो ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।

सुता इव भटास्तस्थ परमोन्नतविप्रहाः ॥’

कवि स्वाभिमत कमपि नरपतिं स्तौति—तस्य राज्ञ, भूधरा पर्वता इव, मत्तेभा मद्मत्ता गजा, मत्तेभा, इव, सूनव पुत्रा, सुता पुत्रा, इव, भटा योद्धार, परमोन्नत-विप्रहा अतिविशालदेहा सन्तीत्यर्थ । अत्र परमोन्नतविप्रहत्वमेक एव तिसृषु उपमासु साधारणो धर्म ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—भूधरा इव इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—उस राजा के पर्वतों के समान मद्मत्त हाथी, मद्मत्त हाथियों के समान पुत्र और पुत्रों के समान योद्धारण, अति विशाल काय वाले हैं । यहाँ एक ‘विशाल काय होना’ ही तीनों उपमाओं में साधारण धर्म है ।

रशनोपमा धर्मलुप्तमामुदाहर्तुमाह—

धर्मलोपे तु तस्येत्यस्यानन्तरम् ‘भटा इव युधि प्रजाः’ इति बोध्यम् ।

‘भूधरा इव—’ इति पद्ये ‘तस्य’ इत्यस्याग्रे ‘योद्धार इव युद्धे प्रजा -जनता -मन्ती’-

त्यर्थके 'भटा इव युधि प्रजा.' इति पाठे समाश्रिते तदेव पद्य धर्मलुप्ताया रशानोपमाया उदाहरणं सम्मद्यत इति भावः ।

धर्मलुप्ता रशानोपमा के उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—धर्मलोपे इत्यादि । 'भूधरा इव—' इसी पद्य में 'तस्य' के भागे यदि 'भटा इव युधि प्रजा.—अर्थात् योद्धानों के ही समान युद्ध में प्रजापति हैं' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वही पद्य धर्मलुप्ता रशानोपमा का उदाहरण समझा जायगा ।

उपसंहारति—

इयमेवंभेदा प्राचीनैर्भेदैर्गुणने वागगोचरं भूमानं भजमाना नेयतामर्हतीति दिक् ।

इयमिति । उपमेत्यर्थः । वागगोचरं वाचा प्रतिपादयितुमनर्हम् । भूमानम् अतिशयम् भजमाना आसादयन्ती । मनुजानामभिनवान् भेदानां प्राचीनोक्तैर्भेदैः सह गुणने उपमाया द्यन्तो भेदा भवेयुर्धैर्यामित्या परिच्छेदः कर्तुमशक्य इति भावः ।

उपसंहार करते हैं—इयम् इत्यादि । इस तरह इन अभिनव भेदों का प्राचीन भेदों के साथ गुणा करने पर उपमा के इतने अधिक भेद हो जाते हैं कि—उनको कहा नहीं जा सकता, अत एव उनकी इयता—निश्चितसंख्या—असंभव है ।

उपमाया ध्वनित्वमाह—

एषैव च यदा सकलेन वाक्येन प्राधान्येन ध्वन्यते तदा परिदृतालङ्कारभावा ध्वनिव्यपदेशाद्देतुः ।

एषैव उपमैव । प्राधान्येनेति । एतेन गौणतया ध्वनते न ध्वनिव्यपदेशाद्देतुरपि तु व्यङ्ग्यलङ्कार एवेति सूचितम् । यदेयमुपमा सम्पूर्णवाक्यस्य प्रधानभूतो व्यङ्ग्यार्थो भवति, तदाऽलङ्कारत्वं तत्र न तिष्ठति, प्रधानत्वेन तस्य स्वयमलङ्कार्यत्वात् । अपि च प्रधानतया यस्मिन् वाक्ये ध्वन्यते सा, ताकाव्यं तानेव ध्वन्यमानासुपमायादाय ध्वनितानकोत्तमोत्तमकाव्यत्वेन व्यपदिश्यत इति भावः ।

अब उपमा-ध्वनि का विचार करते हैं—एषैव च इत्यादि । यही उपमा जब सम्पूर्ण वाक्य से प्रधानरूप में ध्वनित होती है तब उसको 'अलङ्कारता' नष्ट हो जाती है—अर्थात् वह अलङ्कार नहीं रह जाता है और काव्य के 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहे जाने का कारण हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि उपमा जब वाच्य रहती है तब वह वाच्यालङ्कार कहलाती है और जब उपमा गौणरूप में व्यङ्ग्य होती है तब व्यङ्ग्य अलङ्कार कहलाती है, साथ-साथ वह काव्य—जिसमें इन दोनों प्रकारों में से किसी एक प्रकार की उपमा रहती है—'चित्र-काव्य' कहलाता है । परन्तु जब प्रधानरूप में सम्पूर्ण वाक्य से उपमा ध्वनित होती है, तब उसको अलङ्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अलङ्कार का मतलब होता है दूसरे (प्रधान) को अलङ्कृत करने वाला स्वयं गौण, और इस तरह की उपमा से युक्त काव्य 'चित्र' न कहलाकर 'ध्वनि' कहलाता है, इसी उपमा के बल पर, चाहे अन्य कोई वस्तु या रस आदि न भी ध्वनित होता हो ।

ननु ध्वन्यमानायामपि उपमायाम् 'अलङ्कारध्वनि' इति रीत्याऽलङ्कारव्यवहारो भवति सोऽप्युना क्य सङ्गच्छतामित्यत आह—

अस्यां चालङ्कारव्यपदेशः कदाप्यलङ्कारभावमप्राप्तेषु मञ्जूषादिगतेषु कटाकादिष्विवालङ्काराणां गवधर्ममात्रसंस्पर्शनिबन्धनः ।

धर्ममात्रेति । उपमात्वेत्यर्थः । मात्रपदेतालङ्कारत्वव्यवच्छेदः । यानि कटकादीनि कदापि कामिनीकायरलेपसौभाग्यं नापु—विशेषतया वणिङ्मञ्जूषायामेव मुञ्जितानि,

तेष्वलङ्काराणां शून्येष्वपि कृत्कादिषु यथा कामिनीकायगतालङ्काराणां विशिष्टकृत्कादि-
वर्तिकृत्कचधर्मस्य सत्त्वेनालङ्कारव्यवहारस्तथैव या उपमा प्राधान्येन ध्वन्यमानैव,
अत एवाल्ङ्कृतिकरणताशून्या, तस्यामपि, अलङ्कृतिकरणताविशिष्टवाच्योपमागतोप-
मावधर्मविशिष्टत्वेन स्वरूपयोग्यतया कथंचिदलङ्कारव्यवहार इति भावः । प्राचीनास्त्वत्र
'ब्राह्मणधर्मण्येनालङ्कारव्यपदेशं' साधयामासु परन्तु तदुचितं न प्रतिभाति, स्थल-
भेदेनोपमादेर्मिञ्जला प्राधान्येन ध्वन्यमानस्योपमादे प्रागप्यलङ्कारत्वाभावात् तन्व्याय-
स्याप्रसक्तेः ।

प्रधानरूप में ध्वनि होनेवाले उपमा आदि में 'अलङ्कार' शब्द से व्यवहार होने
का कारण बतलाते हैं—अस्या च ह्येषादि । प्रधानरूप में ध्वनित होनेवाले उपमादिक,
किसी को अलङ्कृत नहीं करते, अतः जैसे उपमादिकों को अलङ्कार कहना—'अलङ्कार-
ध्वनि' शब्द से उनका व्यवहार करना—यद्यपि उचित नहीं है, तथापि जैसे कमी आभूषण
के काम में नहीं लाये गये—केवल सम्पत्ति के रूप में अथवा बेचने के लिये तिजोरी में
बन्द करके रखे गये 'कडे' आदि में—वस्तुतः आभूषण के रूप में धारण किये गये
'कडे' आदि के धर्म (कड़ा का आकार-प्रकार) से युक्त होने के कारण—'कड़ा' का
व्यवहार होता है, उसी तरह कमी किसी को अलङ्कृत नहीं करने वाले उपमादिकों में
भी, वस्तुतः अलङ्कृत करनेवाले उपमादिकों के धर्म (उपमात्व) से युक्त होने के
कारण अलङ्कार का व्यवहार होता है । प्राचीनों ने तो ऐसी स्थिति में 'ब्राह्मणधर्मण-
न्याय' से अलङ्कारव्यवहार को सिद्ध किया है जिसका अभिप्राय यह है कि—जैसे धर्मण
(सन्ध्यामी) की कोई जाति नहीं होती, फिर भी ब्राह्मणकुल से सन्ध्याग्रहण करने के
कारण, पूर्वकालिक ब्राह्मणत्व को लेकर उसको 'ब्राह्मणधर्मण' कहा जाता है, उसी तरह
प्राधान्येन ध्वन्यमानतादशा में अलङ्कार न होने पर भी पूर्वकालिक अलङ्कारभाव को
लेकर उस दशा में भी उपमा आदि को अलङ्कार कहा जाता है, परन्तु यह बात सन्नत
नहीं प्रतीति होती, क्योंकि कमी (पूर्व में) ब्राह्मण रहने पर ही सम्प्रासावस्था में भी
उसको ब्राह्मण कहा जाता है, यहाँ तो वैसी बात नहीं है—अर्थात् जब स्थल के भेद से
उपमा (सादरय) आदि भिन्न भिन्न माना जाता है—तब जो उपमा आदि प्रधानरूप में
ध्वनित होता है, वह कभी अलङ्कार नहीं रहा—पहले भी किसी को अलङ्कृत नहीं किया-
फिर यहाँ 'ब्राह्मणधर्मण' वाला न्याय प्राप्त ही कहाँ होता है ?

उपमाध्वनि विभजते—

कचिदसौ शब्दशक्तिमूलानुध्वननविषयः । कचिदर्थशक्तिमूलानुध्वनन-
विषयः ।

उपमाध्वनिर्द्विविधः—शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप एक, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप द्वितीय ।
अनुरणनरूपत्वकथनेनास्य ध्वने संलक्ष्यक्रमता प्रतिपाद्यते । शब्दशक्तिमूलत्वघ शब्दान्य
परिवृत्तसहन्वाद्, अर्थशक्तिमूलत्वञ्च तेषां तन्तद्वादिदिति भावः ।

उपमाध्वनि का विभाग करते हैं—कचित् ह्येषादि । उपमा की ध्वनि दो प्रकार की
होती है—एक शब्दशक्तिमूलक और दूसरी अर्थशक्तिमूलक—अर्थात् जहाँ शब्द ऐसे हों,
' ' की ध्वनि न
' ' से परिवर्तित
होती है । ये
दोनों ही ध्वनियाँ अनुध्वनन-अनुरणनरूप कही जाती हैं, क्योंकि इन ध्वनियों में
स्पन्दव्यञ्जक का क्रम उसी तरह लक्षित होता रहता है जिस तरह ध्वनि प्रतिध्वनि का
अथवा इम तरह की ध्वनियों को संलक्ष्यक्रम भी कहते हैं ।

प्रथमं प्रकारमुदाहरणमाह—

आद्यो यथा—

शब्दशक्तिमूलोपमाध्यनिययेति भाव ।

पद्वली—शब्दशक्तिमूलक—उपमाध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अविरलविगलदानोदकधारासारसिक्तधरणितलः ।

धनदाप्रमदितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—अविरलं सततम्, विगलता पतता, दानोदकस्य दानो-
द्देश्यस्सङ्कल्पजलस्य, धारायां, आसारेण वर्षणेन, (‘धारासम्पात आसारः’ इति कोशा-
नुसारमासारपदनैव गतार्थतया ‘धारा’पदमनर्थकमिति केचित्, ‘सति विशेषणवाचक-
पदसमकथाने विशिष्टवाचकपदानां विशेष्यमात्रपरत्वम्’ इति न्यायेन ‘सक्तीचकैः—’ इति
कालिदासप्रयोगवत् धारापद सार्यइमित्यन्ये) सिक्तमार्द्रकृतं, धरणितलम् धरातलं, येन
तादृशः, तथा धनदानां धनदायकानां धनिकजनानाम्, अग्रे, महिता पूजिता—सर्वाधिकदातृ-
त्वेन प्रशंसिता—मूर्ति स्वरूपं यस्य, तथाधिष्ठ, अयं अविमनोगता, सार्वभौम सार्वभूमीश्वर-
चक्रवर्ति इति यावत्, जयतितराम् नितान्तं सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति प्राकरणिकोऽर्थः । अविरलं
गलता, दानोदकधारामारेण मदजलवृष्टया, सिक्त धरणितलं येन, तादृशः तथा धनदस्य
कुवेरस्य, अग्रे महिता मूर्तिर्यस्य, तादृशश्च, अयं सार्वभौम उदग्दिग्गज, जयतितराम्,
इति चाप्राकरणिकोऽर्थः । अत्रानेकार्थकानां दान धनद सार्वभौमादिपदानामभिधा यद्यपि
प्रकरणेन राजपञ्चोपायेषु निवन्त्रिता, अतो दिग्गजपञ्चोऽर्थो न वाच्यः, तथापि व्यञ्जना
सोऽर्थो भवत्येवावगतः । एषवाप्राकृतोऽर्थोऽसम्बद्धो मा भूदिति राजदिग्गजयोरुपमा
कल्प्यत इति शब्दशक्तिमूलोपमाध्यनिरूप सिध्यतीति भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अविरल इत्यादि । कवि का कथन है—जिसने
निरन्तर गिरते हुए दानजल (सङ्कल्प के जल) की धारावाहिक घृष्टि से धरातल को
सिक्त कर दिया है और जिसका स्वरूप धनदायकों के आगे पूजित है—प्रशस्त है—ऐसा
यह सार्वभौम (समग्र पृथ्वी का अधिपति) सर्वोत्कृष्ट है और—जिसने सतत गिरते
हुए मद जल (दानवाहि) की धारावाहिक घृष्टि से पृथ्वीतल को आर्द्र कर दिया है
तथा जिसकी मूर्ति (स्वरूप) कुवेर के आगे पूजा-प्रशंसा-पाती है, ऐसा यह सार्व-
भौम (उत्तर दिशा का दिग्गज) सब से परमोत्कृष्ट है । यहाँ ‘प्रकरण’ (एक
अभिधानियामक) से ‘दान धनद-सार्वभौम’-आदि पदों की शक्ति राजपञ्चीय अर्थों में
नियन्त्रित हो गई है, अतः मध्यम (राजपञ्चीय) अर्थ ही वाच्य होता है परन्तु दूसरा
(दिग्गजपञ्चीय) अर्थ भी शब्दों की व्यञ्जना से ज्ञात होता है । इस स्थिति में द्वितीय
असंबद्ध अर्थ का बोधक पद्य नहीं समझा जाय, इसलिये ‘दिग्गज के समान राजा’ यह
उपमा अलङ्कार भी व्यञ्जना से अवगत होने वाला माना जाता है । इस तरह से
शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का यह पद्य उदाहरण होता है ।

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं निर्दिष्टुमाह—

यथा वा—

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं यथेत्यर्थः ।

अथवा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘विमलतरमतिगभीरं सुपवित्रं सतत्त्ववत्सुरसम् ।
हंसावासस्थानं मानसमिह शोभते नितराम् ॥’

कवि कथयति—विमलतरम् कामक्रोधादिराहित्येनातिस्वच्छम्, अतिगभीरम् प्रबल-
धैर्यसयुक्तम्, सुपवित्रम् कुवासनाहीनम्, सतत्त्ववत् बलवत्, सुरसम् शृङ्गारादिनवविध-
रसपेशलम्, हंसावासस्थानम् परमात्मस्थितिस्थानम्, मानसम् मन, इह जगति,
नितरा सर्वथा, शोभते शोभामधिगच्छतीति प्राकरणिकोऽर्थः । विमलतरम् पद्मादिरहितम्,
अतिगभीरम् पातालतलक्षुम्बि, सुपवित्रम् बाह्यविचारहीनम्, सतत्त्ववत् जलजन्तुभि-
सहितम्, सुरसम् शोभनसलिलम्, हंसावासस्थानम् नानाविवराजहंसाश्रयीभूतम्, मान-
सम् तन्नामकं सर, इह जगति, नितरामत्यन्तम्, शोभते इति चाप्राकरणिकोऽर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—विमल ह्यादि । कवि का कथन है—अत्यन्त निर्मल
(क्रोध आदि से शून्य), अत्यन्त गभीर (धैर्ययुक्त) अतिपवित्र, बलशाली, रसिक
और परमात्मा का निवासस्थान मन, इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह
प्राकरणिक अर्थ और—अत्यन्त निर्मल (पङ्क आदि से रहित) अत्यन्त गहरे, अत्यन्त
पवित्र, प्राणियों (जलजन्तुओं) से युक्त, सुन्दर जल वाले और राजहंसों का निवासस्थान
मानससरोवर इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह है अप्राकरणिक अर्थ ।

उपपादयति—

अत्रानेकार्थानामपि शब्दानां प्रकरणेन कृतेऽपि शक्तिसङ्कोचे तन्मूलकेन
ध्वनेन प्रतीयमानस्य, सरोवररूपस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधानं मा भूदिति
प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः प्रधानवाक्यार्थतया कल्प्यते ।

अत्रेति । विमलतरमित्यादिपद्ये इत्यर्थः । अत्र ‘उदाहरणद्वये’ इति नागेशटीका न
सङ्गता, अत्रे ‘सरोवररूपस्यार्थान्तरस्य’ इति स्पष्टमभिधानान् । ‘विमलतरम्—’ इति पद्ये
क्रियापदमपहाय सर्वे शब्दा द्वयर्थका । परन्तु मनोवर्णनप्रकरणे पद्यमिदमुक्तम्, अतस्त-
दनुकलेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां वाचकताशक्ति प्रकरणबलाश्रियम्येत । तथा च तत्पक्षीय
एवायं वाच्य सरोवरपक्षीयार्थ शब्दशक्तिमूलकव्यञ्जनया बोध्यः । असम्बद्धतया
तद्वोधोऽसङ्गतो न भवतु इति सरोवरमनसोऽपमा व्यज्यत इति शब्दशक्तिमूलकोपमाध्वनि-
रत्रेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र ह्यादि । ‘विमलतरम्—’ इस पद्य के सभी पद प्रायः
अनेकार्थक हैं, पर प्रकरण है यहाँ मन का, अतः मन पक्षीय अर्थ में, उन पदों की शक्ति,
प्रकरण के द्वारा, नियन्त्रित हो जाती है, जिससे वाच्यवृत्ति के द्वारा मन-पक्षीय अर्थ
ही अवगत होता है, किन्तु शब्दों के अज्ञान से सरोवरपक्षीय अर्थ का ज्ञान भी होता
है—वह भी रोका नहीं जा सकता । इस स्थिति में सरोवरपक्षीय अर्थ के बोधक होने के
कारण यह पद्य असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादक नहीं समझा जाय इस भय से उन दोनों
(सरोवर और मन) अर्थों में उपमान-उपमेय-भाव की कल्पना की जाती है, अतः यह
भी पद्य शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का उदाहरण होता है ।

द्वितीय प्रकारसुदाहर्तमाह—

द्वितीयो यथा—

अर्थशक्तिमूलकोपमाध्वनिर्यथेत्यर्थः ।

अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अद्वितीयं रुचात्मानं हृष्टा किं चन्द्र इत्यसि ।

भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम् ॥’

अन्तःपुरमात्राधारिण्या सुपमाशालिन्या निजप्रेयस्या सुलमालोक्य बहिरागतस्य कस्यचिन् पुंसः चन्द्रमस प्रत्युक्ति—चन्द्र ! रुचा कान्त्या, अद्वितीयं निरूपणम्, आत्मानं, हृष्टा ज्ञान्या (ज्ञानसामान्यार्थज्ञोऽत्र दृश), किं, इत्यसि गर्वमनुभवसि ? नायं तव गर्वानुभवः समुचित इति भावः । तत्र हेतुमाह—भूमण्डलमित्यादिना । केन जनेन, (वाराण्डो हेतुपर) इदं, सर्वम्, भूमण्डलम्, परिशोधितम् गवेषितम् ? न केनापीति भावः । तथा च सकलप्राण्यपरिशोधितोऽत्र ससारे तथाविधमपि वस्तु लब्धुं शक्यम्, यत्तवोपमानता भजेतेति भावः । अर्धवान्तःपुरे वर्तमानाया मम प्रियतमाया ध्यानं तव तुला बिभर्तीति तात्पर्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयम् इत्यादि। सदा अन्तःपुर में ही रहने वाली अपनी परमसुन्दरी प्रेयसी के मुख को देखकर बाहर निकले हुए किसी पुरुष की चन्द्रमा के प्रति उक्ति है कि—हे चन्द्र ! तुम कान्ति के कारण अपने को अद्वितीय समझ कर क्या गर्व कर रहे हो ? किसने इस समग्र पृथ्वीमण्डल को हूँदा है ?—इस अनन्त पृथ्वीमण्डल में एक से एक सुन्दर वस्तु हैं, कहीं तुम से सुन्दर वस्तु मिल सकती है। तात्पर्य यह कि यहीं अन्तःपुर में रहने वाली मेरी प्रियतमा का मुख तुम से कहीं बढ़कर सुन्दर है।

उपपादयति—

अत्र मूढादिपदाप्रयोगादसूयादेरप्रत्ययान्मुख्यतयोपमैव व्यङ्ग्या ।

अत्रेति । ‘अद्वितीयम्-’ इति मूढादिपदापठिते पद्ये इत्यर्थः । असूयादेरप्रत्ययादिति । असूयादिभावानभिव्यक्तेरित्यर्थः । अत्र ‘अत्र मूढादिपदाप्रयोगेऽपि किं चन्द्र इत्यसित्याद्येपेणामूया व्यङ्ग्या न वेति सहृदयैर्दिभाव्यम्’ इति नागेशः । विरहिण उक्तौ मूढादिपदाप्रयोगेऽपि असूयाऽभिव्यक्तुम् शक्या, उहीपकं चन्द्रं प्रति विरहिणोऽगूयाराम्भवात् । परमिदं पद्यं न विरहिण उक्तिरपि तु कान्तासङ्गत्स्येति कथमिहासूयाभिव्यक्तिरन्भावना ? तस्मात् नापिज्ञाने चन्द्रोपमानभाव एवात्र वस्तुभिप्रेत तथा चोपमैवात्र प्रधानव्यङ्ग्येति युक्तमुपरयाभि । प्रायपि पदमिदमस्मिन्नेव प्रकरणे उदाहृतम्, परन्तु तत्र मूढपदं प्रयुक्तम् । विरहिणोक्तिरुपपादिता, अतस्तत्रासूया प्रधानव्यङ्ग्या, उपमा चाभिव्यज्यमानापि असूयोपस्कारिका अलङ्काररूपा । अत्र तु मूढपदं न प्रयुक्तम् सयोगिन्योक्तिस्वीकृता, अतो नात्रासूयाऽभिव्यक्तिः, किन्तु उपमैव प्रधानव्यङ्ग्या । तेन पदमिदमर्थशक्तिमूलोपमाध्वनेरुदाहरणं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। इसी प्रकरण में यह पद्य पहले भी उदाहृत हो चुका है, पर वहाँ ‘मूढ’ पद का प्रयोग हुआ है और विरही की उक्ति मानी गई है, अतः वहाँ ‘असूया’ मुख्य व्यङ्ग्य होती है जिसकी व्यङ्ग्य उपमा अलङ्कृत करती है, अतएव वह पद्य व्यङ्ग्य उपमा अलङ्कार का उदाहरण कहा गया है। किन्तु वहाँ इस पद्य में ‘मूढ’ पद का प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे यह विरही की उक्ति नहीं कही जा सकती, प्रयुक्त सयोगी की उक्ति है, अतः असूया यहाँ अभिव्यक्त नहीं होती अपितु मुख्यरूप में उपमा ही अभिव्यक्त होती है, अतएव यह पद्य अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि का उदाहरण होता है। यहाँ नागेश का कथन है कि “इस पद्य में ‘मूढ’ पद का प्रयोग न होने पर भी ‘हे चन्द्र ! तू गर्व क्यों करता है’ इस उक्ति से आक्षेप के द्वारा

‘असूया’ अभिव्यक्त होती है अथवा महीं, इसका विचार सहृदयों को करना चाहिए।” इस कथन से, ‘नागेश यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानते हैं’ ऐसा भासित होता है, पर मुझे नागेश का दृष्टिकोण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उद्दीपक चन्द्र के प्रति विरही के हृदय में असूया होती है, अतः पूर्व पद्य-जो विरही की उक्ति है—में असूया की अभिव्यक्ति ठीक है, पर यहाँ तो यह पद्य विरही की उक्ति है नहीं—एक पत्नी के साथ रहनेवाले की उक्ति है, फिर उसके लिये चन्द्रमा सुखद ही है कष्टदायक नहीं, ऐसी स्थिति में यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानना कहीं तक मङ्गल है इस बात का भी विचार सहृदय जन ही करेंगे।

इदानीमुपमास्यलीयशाब्दबोधविचारमारभते—

अथात्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे बोधो विचार्यते—अरविन्दसुन्दरमित्यत्र अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजक लक्ष्यते । तच्च सुन्दरपदार्थैकदेशेन सौन्दर्येणाभेदसंसर्गेणान्वेति । तेनारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमिति धी । निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदान्वयस्याढ्युत्पन्नत्वादभेदानुसरणम् । एकदेशान्वयस्तु देवदत्तस्य नप्तेत्यादाविषात्राप्यभ्युपेय । ‘समासस्यैव विशिष्टार्थे शक्ति’ इत्येके-1- ‘अरविन्दपदमेव लक्षणया सर्वार्थबोधक सुन्दरपद तु तात्पर्यमाहकम्’ इत्यपरे ।

अत्रेति । उपमाप्रकरणे इत्यर्थः । सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे इति । ‘चन्द्र इव सुन्दरं सुखम्’ इत्यादौ चन्द्रसुखोभयवृत्तिसौन्दर्यात्मकनमानधर्म एव सादृश्यम् नातिरिक्तमिति नैयायिका, मीमांसकास्तु स धर्म सादृश्यस्य साधक सादृश्यं तु पदार्थान्तरमेवेति मन्यन्ते तयोरन्तिमे पक्षे इति भावः । रुद्धयत इति । अरविन्दपदेनेति शेषः । अभेदानुसरणमिति । प्रयोजकसौन्दर्ययोरिति भावः । ‘पदार्थं पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन’ इति न्यायविरोधे प्राप्ते आह—एकदेशान्वयस्तु इति । ननु नित्यसाक्षात्क्षयत्वे तथा-ह्नाकारेऽपि अत्र न तथेति चेदत एव मतान्तरमाह—समासेति । अत्र मते गौरवान्मतान्तरमाह—अरविन्दपदमेवेति । सादृश्यमतिरिक्त पदार्थं न समानधर्मरूप इति मीमांसकाभिमतो पक्षे तत्तदुपमाप्रतिपादकवाक्येभ्यः कीदृश कीदृशो बोधो जायते ? कथं च तादृशो बोधो जायते इति विचारः सम्प्रति प्रकान्तस्तत्र प्रथमं ‘अरविन्दसुन्दरम्’ इति समासगतोपमाप्रतिपादकवाक्यान्वायमानस्य बोधस्य विषये विचारः क्रियते, तत्रापि पूर्वम् पदार्थनिरूपणमपेक्षितम्, पदार्थज्ञानमन्तरा वाक्यार्थज्ञानासम्पत्तेरिति पदार्थो निरूप्यते—निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेदान्वय एवेति अरविन्दपदार्थसुन्दरपदार्थयोरभेदान्वय करणीयः, स चारविन्दपदवाच्यार्थपुरस्कारे न सम्भवति, तादृशवाक्यस्थले अरविन्दाभिन्नसुन्दरमिति बोधस्य तादृशबोधेच्छाकालिकसुन्दरपदपूर्वप्रयोगनियमज्ञानाधीनत्वाधप्रस्तवत्वात्, अतोऽरविन्दपदस्य स्वनिर्दिष्टसादृश्यप्रयोजके लक्षणा, तथा चारविन्दपदस्यारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजक लक्ष्योऽर्थः । सुन्दरपदस्य च सौन्दर्यवदित्यर्थः । एवञ्चारविन्दपदलक्ष्यार्थस्याभेदसंसर्गेण सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्येऽन्वयः । ननु कथं प्रयोजकपर्यन्तमरविन्दपदस्य लक्षणा क्रियते ? स्वनिर्दिष्टसादृश्ये एव क्रियता लक्षणा, तस्य च लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकतासम्बन्धेन सौन्दर्येऽन्वयो विधीयताम् इति चेन्न तथा सति पुनः नामार्थयोरभेदातिरिक्त सम्बन्धोऽप्युत्पन्न इति नियमव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रयोजकान्ते तादृशोऽर्थः लक्षणाया तु लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकान्तस्याभेदेनैवान्वय इति न तद्व्याकोपः । न चेन्न तन्नियमरक्षणेऽपि ‘पदार्थं पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन’ इति नियमव्याकोपः

प्रसक्त एव । सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्येऽन्वयकरणादिति वाच्यम्, 'देवदत्तस्य नमः' इत्यत्र देवदत्तपदार्थस्य पुत्रपुत्रकन्यापुत्रान्यतरात्मकनप्तृपदार्थैकदेशीभूतप्रथमपुत्रकन्यान्यतरयो-
र्गथाऽन्वय विषयमाणः सद्यो भवति, तथाऽत्रापि स सद्य इत्याशयात् । इत्यश्चरविन्दसुन्दर-
मिति वाक्यात् अरविन्दनिरूपितमादर्यप्रयोजकामिन्न यत् सौन्दर्यम्, तद्वदभिन्नम्
(मुद्रादि) इति बोधः सम्भवति । यैवाकरणास्तु 'गमासे खलु भित्तैव शक्ति पङ्कज-
शब्दवत्' इत्युक्त्या समाप्ते शक्तिविशेषं स्वीकृतवन्ति, तथा च तन्मतानुसारं न 'अरविन्द-
सुन्दरम्' इति पदान् खण्डशः पदार्थोपस्थितिः, अपि तु समस्तात् तरमात् सम्पूर्णात्
पदान् पूर्वोक्तपर्यवसितबोधविषयत्वेनेको विशिष्ट एवार्थ उपस्थितो भवति शब्दबोध-
विषयश्च भवति । अरिम्न मते न लक्षणा, न वा श्रुत्यापि निग्रमस्य व्याकोपः, तद्रक्षण-
यासौ वा एकदेशान्वयप्रसङ्गो वा भवतीति मुगमोऽय पन्थाः । केचित्तु अरविन्दपदस्यैव
स्वनिरूपितसादर्यप्रयोजकामिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमित्येतावदर्थे लक्षणा, सुन्दरपदं पुनः 'अर-
विन्दपदमत्र एतादृशे (उक्ताकारे) अर्थे लाक्षणिकम्' इत्यर्थे तात्पर्यमाहकम्, यथा
'गर्भात्ताया नद्या घोषः' इत्यादौ तीरपदस्य गर्भानन्दोत्पलशब्दत्वे गर्भरूपदं तात्पर्यमाहक-
मर्थात्कियते । तात्पर्यमाहकवक्ष्याम स्वसमभिव्याहृतपदशक्तिबोधकत्वम् । अरिम्नैवपि पदे
अन्वयादिद्वेषो नास्ति इति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक वाक्यों से होने वाले शब्दबोध के विषय में विचार करते हैं—अथात्र इत्यादि । इस प्रकारण को समझने के लिये आवश्यक है कि पहले 'शब्दबोध' क्या वस्तु है यह समझ लिया जाय अतः संक्षेप में शब्दबोधपदार्थ का विरलेषण कर दिया जाता है । [शब्दबोधपद का सीधा सा अर्थ होता है शब्द से होनेवाला (अर्थ का) ज्ञान । इसके दो विभाग किये जा सकते हैं, एक-किसी एक शब्द से होने वाला (अर्थ-) ज्ञान और दूसरा अनेक शब्दों के समूह (वाक्य) से होने वाला (अर्थ-) ज्ञान । इन दोनों में प्रथम-अर्थात् एकशब्दजन्य अर्थ-ज्ञान सरल है, उसमें अधिक बखेड़ा नहीं होता । मान लीजिए कि-आपने किसी के मुख से 'चन्द्रः' ऐसा शब्द सुना, सुन लेने के बाद—यदि आपको चन्द्र पद की शक्ति ज्ञात है तो आपको उस पद से चन्द्रत्व धर्म से युक्त चन्द्रमा का ज्ञान होगा, आपका वह (चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र इस तरह का) ज्ञान ही चन्द्र पद से होने वाला शब्दबोध कहलायगा । पर द्वितीय अर्थात् पदसमूहात्मक वाक्य से होने वाला ज्ञान अपेक्षया उससे कुछ कठिन है—उसमें बहुतेरे बखेड़े खड़े होते हैं । कारण, एक वाक्य में अनेक पद होते हैं और जिस वाक्य में जितने पद होते हैं, उनमें से प्रत्येक पद के पृथक् पृथक् अर्थ ज्ञात हो जाने के बाद उन अर्थों के अन्वयों-पारस्परिक सम्बन्धों—का ज्ञान करना पड़ता है, सम्बन्धज्ञान हो जाने पर परस्परसम्बद्धरूप में उन पदों का सामूहिक अर्थ—वाक्यार्थविषयक—ज्ञान जो होता है उसी को द्वितीय विभागीय शब्दबोध कहा जाता है, इस प्रकार के शब्दबोध को 'वाक्यार्थज्ञान', 'अन्वयबोध' आदि नामों से भी चिह्नान्न अभिहित करते हैं । कल्पना कीजिए कि-आपने 'रामो ग्राम गच्छति' ऐसा वाक्य किसी से सुना, सुन लेने के बाद यदि आप, उक्त वाक्य के अन्तर्गत 'रामः', 'ग्रामम्' और 'गच्छति' इन तीनों पदों के अर्थ जानते रहेंगे, और साथ साथ उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से भी परिचित रहेंगे, तो उस वाक्य से 'रामाभिन्नश्रयवृत्ति, ग्रामरूपोत्तरदेशनिष्ठसंयोगानुवृत्त, वर्तमानकालिकः स्यापारः अर्थात्-राम से अभिन्न-ग्रामरूप-आश्रय में रहने वाला, ग्रामरूप अभिन्न प्रवेश के साथ होने वाले संयोग का उपादक और वर्तमान काल में होने वाला स्यापार (क्रिया-चरणसंचालन)' ऐसा वाक्यार्थबोध आप को होगा । क्योंकि—उक्त वाक्य में 'रामः' और 'ग्रामम्' इन संज्ञावाचक पदों का अर्थ व्यक्तिबोध और स्थान-

विशेष समस्त लेना कठिन नहीं, रहा 'गच्छति' यह क्रिया-पद, उसमें दो अक्षर हैं एक- 'गम्' (जिसको गच्छ् आदेश-विकार-हो जाता है) धातुरूप प्रकृति और दूसरा-'ति' प्रत्यय, उनमें प्रकृति-धातु-का अर्थ है { (उत्तरदेश-)सयोगानुकूलव्यापार-अर्थात् आगे के प्रदेश से समुक्त करा देने वाली कर्ता की क्रिया जो पादविच्छेप (पैर का उठाना बैठाना)रूप है और ति प्रत्यय के अर्थ होते हैं आश्रय, वर्तमान काल, एवम् एकाव्य सख्या। अब इन अर्थों के अन्वयसम्बन्ध को समझिये-राम का प्रत्ययार्थ आश्रय के साथ अभेदसम्बन्ध है, एवम् उस आश्रय का और काल का क्रिया के साथ वृत्तिव्यसम्बन्ध है और सख्या का तिङर्थ आश्रय (कर्ता) के साथ समवायसम्बन्ध है। इसी तरह ग्राम का उक्त धात्वर्थ के एक अक्षर-सयोग-के साथ निष्ठत्वसम्बन्ध है। स्पष्ट अभिप्राय हुआ कि-धात्वर्थ में दो अक्षर रहते हैं, एक फलअक्षर और दूसरा क्रियाअक्षर, उन दोनों में से प्रथम अक्षर में कर्म का अन्वय होता है और द्वितीय अक्षर में तिङर्थ का। एवम् कर्म से अन्वित प्रथम धात्वर्थाक्षर का भी अन्त में द्वितीय धात्वर्थाक्षर में ही अन्वय हो जाता है, फलतः धात्वर्थ क्रिया, शाब्दबाध में मुख्य विशेष्य होती है। (ऊपर लिखे गये वाक्यार्थबोध में इन सब बातों को मिलाकर देखिये।) शाब्दबोध की यह शैली (जिसके हिसाब से क्रिया मुख्य विशेष्य होती है) वैवाकरणों की है। नैयायिकों की शाब्दबोधशैली इससे भिन्न है। वे प्रथमान्त पद के अर्थ को ही शाब्दबोध में मुख्य विशेष्य बनाते हैं। विस्तार के भय से उस शैली की विशद चर्चा यहाँ नहीं की जाती है। जिज्ञासुओं को इसके लिये मुक्तावली के शाब्दखण्ड आदि देखने चाहिए। वाक्य के अर्थ को स्पष्टरूप में समझने और समझाने के लिये शाब्दबोध की उक्त शैली से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि-उपमा, कितने प्रकार के वाक्यों से वर्णित हो सकती है और उन वाक्यों से कैसा-कैसा शाब्दबोध होता है।] उपमावाक्यों के शाब्दबोध समझने से पूर्व एक बात और समझ लेने योग्य है। उपमा के लक्षण से यह बात विदित हो चुकी है कि-'सादर्य' का ही नाम उपमा है। परन्तु वह सादर्य क्या वस्तु है इस विषय में दो मत हैं। मीमांसक आदि का मत है कि-'सादर्य' एक अतिरिक्त पदार्थ है-उसे किसी अन्य पदार्थ के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता परन्तु नैयायिकों का मत इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि-सादर्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, दो वस्तुओं में परस्पर जो एक से धर्म रहते हैं उन्हें ही सादर्य कहा जाता है। उदाहरण के द्वारा इस मतभेद को स्पष्ट समझ लीजिए-किसी ने कहा-'उसका मुख चन्द्र-सदृश है, क्योंकि ये दोनों सुन्दर हैं' यहाँ मीमांसकों के मतानुसार 'सुन्दरता' और 'सादर्य' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, सुन्दरता सादर्य को सिद्ध करने वाली है, किन्तु स्वयं सादर्यरूप नहीं है। नैयायिकों के मतानुसार तो सुन्दरता ही सादर्य है, उसमें भिन्न सादर्य कोई वस्तु नहीं। तात्पर्य यह निकला कि मीमांसक आदि के कथनानुसार सादर्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है और नैयायिकों के कथनानुसार समानधर्मरूप। अब यहाँ पहले सादर्य को अतिरिक्त पदार्थ मानकर शाब्दबोध का विचार किया जा रहा है-पहले 'अरविन्दसुन्दरम्-अर्थात् कमल-सुन्दर' इस समासगत उपमाप्रतिपादक समस्त वाक्य को लीजिए। इस वाक्य में दो पद हैं- एक अरविन्द, दूसरा सुन्दर। इन दोनों पदों में से 'अरविन्द' पद का वाक्य अर्थ यद्यपि कमल है, तथापि वह अर्थ यहाँ बाधित है-अर्थात् सुन्दर पदार्थ के साथ शुद्ध कमलरूप वाक्य अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता, अतः लक्षणा के द्वारा, उस (अरविन्द) पद का अर्थ यहाँ 'अरविन्दनिरूपित सादर्यप्रयोजक' इतना बढ़ा करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि 'सादर्य' ही मध्य में आकर अरविन्द पदार्थ और सुन्दर पदार्थ को जोड़ता है, उसके बिना ये दोनों पदार्थ जुट ही नहीं सकते-अन्वित नहीं हो सकते। फलतः अब 'अरविन्द-सुन्दरम्' का अर्थ हो जाता है 'अरविन्दमिव सुन्दरम्'-अर्थात् कमल-सा सुन्दर। 'इष (सा)' का अर्थ सादर्य है, और उस सादर्य का निरूपक होता है उपमान-

अरविन्द, अतः 'सादृश्य' 'अरविन्द' से निरूपित कहलाता है। अभिप्राय यह कि-अरविन्द और सादृश्य के सम्बन्धरूप से मध्य में 'निरूपित' शब्द जोड़ना पड़ता है। अब इस 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य' का अन्वय 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त' के साथ करना है। 'सुन्दर' पद के इस समग्र अर्थ के साथ उक्त सादृश्य का कोई सम्बन्ध बन नहीं पाता, अतः उसके एक देश-एक भाग-सौन्दर्य के साथ 'सादृश्य' का अन्वय करना पड़ता है। सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से 'सौन्दर्य' सादृश्य का प्रयोजक-साधक-होता है, अतः अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ में 'प्रयोजक' को भी समेट लेना पड़ता है। इस तरह से 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक' इस अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ का 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त'-के एक भाग 'सौन्दर्य' के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है अतः इन दोनों अर्थों के मध्य में 'अभिन्न' शब्द जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार से अब 'अरविन्दसुन्दर' का अर्थ होता है 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त'। इस अर्थ का भी मुख आदि विशेष्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है, अतः 'अरविन्दसुन्दर' पद का शाब्दबोध होता है 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न'। भाप कह सकते हैं कि-अरविन्द पद की लक्षणा, 'प्रयोजकपर्यन्त' में करना व्यर्थ है, सादृश्यपर्यन्त में ही लक्षणा करनी चाहिये-अर्थात् 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य' इतना ही अरविन्द पद का लक्ष्य अर्थ मानना चाहिए और उसका अन्वय, 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता' सम्बन्ध से कर लेना चाहिए। इस तरह करने पर शाब्दबोध में 'प्रयोजक' के आगे जो 'अभिन्न' शब्द (सम्बन्धसूचक) जोड़ना पड़ता था वह नहीं जोड़ना पड़ेगा, क्योंकि अब 'प्रयोजक' यह शब्द ही सम्बन्धबोधक के रूप में जोड़ा गया है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'निपातों (च, वै, तु, हि आदि) से अन्य दो प्रातिपदिकों के अर्थों का भेद से-अर्थात् अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से परस्पर अन्वय उस स्थिति में नहीं होता, यदि वे दोनों प्रातिपदिक समान विभक्ति वाले हों' ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार 'सादृश्य' का 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता' सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता। कारण, 'सादृश्य और सौन्दर्य' दोनों ही, क्रमशः 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो प्रातिपदिकों के ही अर्थ हैं। अतः लक्षणा के द्वारा अरविन्द पद का प्रयोजकपर्यन्त अर्थ मानकर उसका सौन्दर्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करना पड़ता है। अब रही आशङ्का एक यह कि अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ-प्रयोजकपर्यन्त का अन्वय जो आपने सुन्दर पदार्थ के एकदेश सौन्दर्य के साथ किया है, वह कैसे? क्योंकि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन-अर्थात् पदार्थ दूसरे किसी पूरे पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एक भाग के साथ नहीं' ऐसा नियम है, इस नियम के अनुसार अरविन्दपदार्थ (प्रयोजकान्त) का अन्वय पूरे सुन्दर पदार्थ (सौन्दर्ययुक्त) के साथ होना चाहिए, पदार्थ के एक भाग (सौन्दर्य) के साथ नहीं। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि-यान् वापने सर्वथा ठीक कही है, पर कहीं-कहीं, अगत्या एक देश (एक भाग) के साथ भी अन्वय करना पड़ता है। जैसे—'देवदत्तस्य नत्ता अर्थात् देवदत्त का नाती' यहाँ पर 'देवदत्त पदार्थ' का अन्वय, 'नाती पदार्थ' के एक हिस्से के साथ किया जाता है। तात्पर्य यह है कि—'नत्ता-नाती' पद का अर्थ होता है 'पुत्र का पुत्र' अथवा 'कन्या का पुत्र'। दोनों ही अर्थों में देवदत्त का सम्बन्ध, प्रथम पुत्र अथवा कन्या के साथ हो सकता है, पुत्र पुत्र अथवा कन्या-पुत्र के साथ नहीं। उसी तरह यहाँ भी अरविन्द पद के लक्ष्यार्थ का अन्वय, सुन्दर-पदार्थ के एक हिस्से-सौन्दर्य के साथ कर लिया जाता है। कुञ्ज लोग (वैयाकरण), 'अरविन्दसुन्दर' इस समस्त पद में पद-शक्ति के अतिरिक्त एक समास-शक्ति मानते हैं, अतः वे उस समास शक्ति के द्वारा ही 'अरविन्दसुन्दर'

पद का 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतना बड़ा अखण्ड अर्थ कर लेते हैं। इस मत में 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो पदों का खण्ड खण्ड अर्थ कुछ होता ही नहीं है, फिर अन्वय आदि का झमेला उठे तो कैसे? और जब अन्वय का झमेला ही समाप्त, तब एकदेशान्वय का कोई प्रयत्न ही नहीं आता। अन्य लोग (नैयायिक-मतानुयायी) अतिरिक्त समास-शक्ति मानने में गौरवदोष बतलाकर लक्षणापक्ष को ही ठीक मानते हैं, पर अरविन्द पद की लक्षणा मानते हैं 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य-प्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतने अर्थ में। अब घात रही यह कि—यदि 'अरविन्द' पद की लक्षणा ही उतने अर्थों में मान ली जाती है, तब 'सुन्दर' पद किस रोग की औषध है? अर्थात् उक्त वाक्य में उसका प्रयोग व्यर्थ हो जाता है, तो इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि—'सुन्दर' पद तात्पर्यग्राहक है—अर्थात् उतने अर्थों के बोध कराने के लिये बक्ता ने यहाँ 'अरविन्द' पद का प्रयोग किया है, इस घात का ज्ञान श्रोताओं को कराने के लिये 'सुन्दर' पद का प्रयोग किया गया है। ऐसी लक्षणा कहीं-कहीं अतिवार्यतः करनी पड़ती है। जैसे—'गभीरानदी नदी घोषः अर्थात् गहिरा नदी के तट में वधान' यहाँ पर नदी पद की लक्षणा 'गभीरनदी तट' से की जाती है और 'गभीर' पद को तात्पर्यग्राहक माना जाता है, अन्यथा (अर्थात् यदि नदी पद की लक्षणा केवल नदीतट में की जाय-गभीर नदीतट में नहीं, तब) गभीर पदार्थ का अन्वय, नदी पदार्थ के साथ न बन सके, क्योंकि नदी पद का लक्षणया जो नदीतट अर्थ हुआ है उसमें गभीरता सम्भव नहीं है। इस पक्ष में भी एक पद का ही उतना बड़ा अर्थ हो जाने के कारण न अन्वय करने का झमेला उठता है, न एकदेश के साथ अन्वय-करणरूप दोष का प्रसंग ही आता है।

शाब्दबोधप्रदर्शनपुरस्तर द्वितीयधुममाप्रतिपादक वाक्यमसुल्लिखति—

तथा अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेवार्थे सादृश्येऽरविन्दस्य निरूपितत्व-संसर्गोऽन्वयः। तस्य च प्रयोजकतासंसर्गेण सौन्दर्ये। एव चारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नमिति।

वदभिन्नमिति। बोध इति शेषः। एवमग्रेऽपि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इति व्यस्त वाक्यम्, तेनात्र वाक्यगतोपमा। सादृश्यमन्वेषदेन वाच्यम्, तत्रोपमानभूतसादृश्यविन्द-पदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति। सादृश्यस्य च सुन्दरपदार्थकदेशे सौन्दर्ये प्रयोजकतासम्बन्धेनान्वयो जायते। सुन्दरपदार्थस्य सौन्दर्यवतो सुखादावभेदसम्बन्धेन च। तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तत्प्रयोजकं यत्सौन्दर्यं, तद्वत्ता अभिन्नं सुखादीति वाक्यार्थबोध सम्पद्यत इति भावः।

शाब्दबोध का विचार करने के लिये अब उपमा प्रतिपादक द्वितीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (कमल सा सुन्दर)' यह समासरहित उपमाप्रतिपादक वाक्य है, यहाँ 'इव' शब्द उक्त हुआ है, अतः इस वाक्य से अवगत होनेवाली उपमा भाष्यगता कहलायगी। 'इव' का वाच्य अर्थ है 'सादृश्य' उसमें अरविन्द-कमल-इव उपमान का अन्वय 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से होता है और सादृश्य का अन्वय सुन्दर पदार्थ-सौन्दर्ययुक्त-के एकदेश-सौन्दर्य के साथ 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से किया जाता है। सुन्दर पद के अर्थ का मुख आदि अहुक्त विशेष्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है यह निश्चित ही है, अतः शाब्दबोध में 'अरविन्द' और 'सादृश्य' शब्द के बीच 'निरूपित' शब्द 'सादृश्य' और 'सौन्दर्य' के बीच 'प्रयोजक' शब्द एवम् 'सौन्दर्ययुक्त' के भावे 'अभिन्न'पद जोड़ दिये जाते हैं जिसे उक्त वाक्य का शाब्दबोध होता है 'कमल से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौन्दर्य से युक्त अभिन्न (मुख आदि)।

तदर्थं तथाविध तृतीयं वाक्यमुल्लिखति—

अरविन्दमिवेत्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादृश्यवदिति ।

‘अरविन्दमिव’ इति तृतीये उपमाप्रतिपादकवाक्ये साधारणधर्मबोधकं सुन्दरादिपदं नोक्तम्, अतोऽत्र वाक्यगता धर्मलुप्तोपमा । अत्रोपमानस्यारविन्दपदार्यस्य ‘निरूपितत्व’-सम्बन्धेन इवायं सादृश्येऽन्वयः, सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेनोपमेये मुखादौ तथा चारविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तद्वन्मुखादीति बोधो भवतीति भावः ।

अथ उपमा-प्रतिपादक तृतीय वाक्य का उल्लेख शाब्दबोध दिखलाने के लिये करते हैं—अरविन्दमिव इत्यादि । ‘अरविन्दमिव (कमल सा)’ इस तृतीय वाक्य में समान धर्मबोधक ‘सुन्दर’ आदि पद उक्त नहीं है, अतः यहाँ वाक्यगत धर्मलुप्तोपमा कही जाती है । यहाँ भी अरविन्द (उपमान), ‘इव’ पद के अर्थ-सादृश्य-में ‘निरूपितत्व’-सबन्ध से अन्वित होता है और ‘सादृश्य’ मुख आदि अनुक्त उपमेय में ‘स्वरूप’-सबन्ध से, अतएव इस वाक्य से ‘अरविन्द’ से निरूपित सादृश्यवाला (मुख) इस तरह का शाब्दबोध होता है ।

आयंक्रमेण मनमि कृत्य समाधत्ते—

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता । निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतान्यतरभिन्नविशेष्यतासंसर्गेण नामार्थप्रकारकबोध एव विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वादिवार्यस्य नञर्थस्येव भेदसंसर्गेण नामार्थविशेष्यत्वे विशेषणत्वे च न दोषः ।

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतेति । निपातार्थनिष्ठप्रकारतेति भावः । निरूपितविशेष्यतेति । निपातार्थातिरिक्तनिष्ठविशेष्यतेति भावः । निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतेति । निपातार्थनिष्ठविशेष्यतेति भावः । इवार्थस्येति । सादृश्यस्येत्यर्थः । नञर्थस्येति । भेदादेरित्यर्थः । भेदसंसर्गोति । भेदसंसर्गशब्दः अभेदेतरसम्बन्धेषु परिभाषितः, तथा चाभेदातिरिक्तसंसर्गोति तदर्थः । नामार्थविशेष्यत्व इति । नामार्थनिरूपितविशेष्यत्वे इत्यर्थः । नामार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायामिति यावत् । ‘इवार्थस्य’ इति प्राक्तनेनाह्य सम्बन्धः । विशेषणत्व इति । नामार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतायामित्यर्थः । न दोष इति । कार्यकारणभावविरोधरूपो दोषो नैत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—शाब्दबोधस्य विषये द्वे मते प्रतिष्ठिते । आत्मनिष्ठप्रण्यामत्या बोध इत्येक मतम्, विषयनिष्ठप्रण्यामत्या बोध इति च द्वितीयम् । तत्र द्वितीयमते आकाङ्क्षायोग्यताज्ञानादिरूपेतरसामग्रीसम्बन्धानेऽपि ‘राजा पुरुष’ इत्यादौ स्वन्धादिस्मन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन राजादिप्रकारकपुरुषपबोधस्याशुभवविहङ्गस्य वारणाय भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन नामार्थप्रकारकबोधे विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वम् वाच्यम् । तथा च पूर्वोक्तयोः स्थलयोः प्रथमस्थलेऽरविन्दस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनेवायं सादृश्ये, सादृश्यस्य च प्रयोजकत्वसम्बन्धेन सुन्दरपदार्यकेशे सौन्दर्ये एवम् द्वितीयस्थलेऽरविन्दस्य तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव सादृश्ये सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेन मुखादौ कृता अन्वया क्यमुपपदान्ताम्, तेषामन्वयबोधानां निरूपितत्व-प्रयोजकत्व-स्वरूपान्मकभेदसंसर्गावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन अरविन्देव रूपनामार्थप्रकारकतया तत्कार्यकारणभावपट्टककार्यतावच्छेदकदलाकान्तत्वेऽपि सादृश्य-सौन्दर्य-मुखपदार्यानाम् विशेष्यतयोपस्थितेः क्रमशः इव-सुन्दर-मुखरूपनामन्वयतया कारणतावच्छेदकदलाकान्तत्वादिति चेदत्राहुः—पूर्वोक्तकार्यकारणभावशरीरे

कार्यताबच्छेदसम्बन्धविधया न भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासामान्यं निवेश्यते, अपि तु निपातार्थनिष्ठोपस्थितप्रकारतानिरूपितयत्किञ्चिदर्थनिष्ठविशेष्यता—निपातार्थनिष्ठोपस्थितविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वेन सङ्गुचितैव विशेष्यता तथात्वेन प्रवेश्यते । एवञ्च प्रकृते निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेनारविन्दप्रकारकसादृश्यबोध, प्रयोजकत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन तादृशासादृश्यप्रकारकमौन्दर्यबोध, एव स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन तादृश्यप्रकारकमुल्लादिबोधश्च नोक्तकार्यकारणभावपट्टकार्यतावच्छेदकजुष्टिपतिता भवन्ति, एषु त्रिषु बोधेषु प्रविष्टया प्रथमविशेष्यतायाः स्वरूपनिपातार्थनिष्ठतया द्वितीय-तृतीययोश्च विशेष्यतयोः स्वरूपनिपातार्थनिष्ठोपस्थितप्रकारतानिरूपिततया कार्यताबच्छेदककोटिप्रविष्टविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वाभावात् । अत एव 'पटो न पट' इत्यादौ पटस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन ननयं भेदे भेदस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्वयेन 'पटप्रतियोगिकभेदवान् घट' इत्याकारको बोध सर्वसम्मत समुपपद्यते । कार्यकारणभावस्य सङ्गुचितविषयतया ननयो यथा प्रातिपदिकार्थं प्रति विशेष्यो विशेषणञ्च भवति तथा इवार्थोऽपीति साराश इति ।

अथ हृदयस्थित एक शब्दा का समाधान करते हैं—निपात इत्यादि । अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध के दो तरीके हैं, एक के अनुसार कार्य (बोध) और कारण (पदाधोपस्थिति आदि) को धोता की आत्मा में इकट्ठा किया जाता है । इस तरीके को शास्त्रीय भाषा में 'अरविन्दप्रत्यासत्ति से बोध' कहा जाता है । दूसरे तरीके के अनुसार कार्य-कारण को विषय (प्रकार, विशेष्य आदि) पर लुटाया जाता है, शास्त्रीय भाषा में इसको 'विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध' कहते हैं । सारांश यह कि—बोध आदि सम्यन्धविशेष्य के द्वारा आत्मा में लाया जा सकता है और सम्यन्धविशेष्य के द्वारा विषय में भी लाया जा सकता है । वे सम्यन्धविशेष्य क्रमशः समवाय और विशेष्यता, आदि होते हैं । विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध-पक्ष में यह नियम माना जाता है कि 'भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यता (अभेद से अन्यसम्यन्धमूलक विशेष्यभाव) सम्यन्ध से शाब्दबोध (किसी प्रातिपदिक के अर्थ का अन्वयबोध) उसी विशेष्य पर होगा जिस (विशेष्यभूत अर्थ) की उपस्थिति, विभक्ति (सु-औ-जस् आदि) के द्वारा हुई होगी—अर्थात् भेदेन किसी प्रातिपदिकार्थ का अन्वय विभक्त्यर्थ में ही होगा प्रातिपदिकार्थ में नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि प्रातिपदिकार्थ में जब अन्वय होगा तब अभेदसम्यन्ध से ही । ऐसा नियम हस्तकिये माना जाता है कि 'राजा पुरप.' इत्यादि वाक्यों से स्वस्वामिभावससर्गावच्छिन्नविशेष्यतासम्यन्ध से राजप्रकारक पुरुषबोध-अर्थात् 'राजा का पुरप' ऐसा बोध—अनुभवविरुद्ध है । तात्पर्य यह कि यदि ऐसा नियम न माना जाय, तब यहाँ ऐसा बोध भी होने लगेगा । अब आह्वये प्रकृत में—उपर्युक्त दो वाक्यों से जो आपने क्रमशः 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्ययुक्त से अभिन्न मुख' और 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यवाला मुख' ये दो शाब्दबोध किये हैं, वे कैसे ? क्योंकि उक्त नियम के अनुसार ये शाब्दबोध नहीं हो सकते हैं । कारण प्रथम वाक्य में अरविन्द, इव और सुन्दर तथा द्वितीय वाक्य में अरविन्द, इव और मुख आदि सभी प्रातिपदिक हैं, अतः इन सबों के अर्थों का परस्परअन्वय अभेदसम्यन्ध से ही होना चाहिए, फिर जो 'निरूपितत्व'सम्यन्ध से 'अरविन्द' का इवार्थ-सादृश्य में, 'प्रयोजकत्व'सम्यन्ध से 'सादृश्य' का 'सौन्दर्य' में एवम् द्वितीय वाक्य में 'सादृश्य' का 'स्वरूप' (वाला) सम्यन्ध से मुख आदि में अन्वय किया गया है, वह अनुचित है । यह है हृदयस्थित शब्दा । इसके समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं कि—उक्त नियम में 'भेदसम्यन्धावच्छिन्न विशेष्यतासम्यन्ध से' यहाँ जो विशेष्यता प्रविष्ट की जाती है वह सामान्यतः-स्य विशेष्यतायै-नहीं, अपितु निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता—अर्थात् निपात

(इव, नञ् आदि) के अर्थों को प्रकार (विशेषण) बनाकर विशेष्यीभूत किसी अन्य (प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ आदि) में रहनेवाली विशेष्यता और निपातजन्योपस्थिति-प्रयोज्य विशेष्यता-अर्थात् किसी अन्य अर्थ को प्रकार बनाकर निपातार्थ में रहनेवाली विशेष्यता-इन दोनों में से किसी एक विशेष्यता से भिन्न विशेष्यता ही। तात्पर्य यह कि 'भेदेन किसी प्रातिपदिकार्थ का अन्वय, विभक्त्यर्थ में ही होगा, प्रातिपदिकार्थ में नहीं' यह नियम निपात से भिन्न प्रातिपदिक के अर्थ में ही लागू होता है—अर्थात् निपातरूप प्रातिपदिक का अर्थ, प्रातिपदिक के अर्थों के साथ और किसी भी प्रातिपदिक का अर्थ, निपातरूपप्रातिपदिकार्थ के साथ भेदसम्बन्ध से भी अन्वित हो सकता है। सारांश यह निकला कि निपातार्थ, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से भी प्रातिपदिकार्थ में और अन्यप्रातिपदिकार्थ भी, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से निपातार्थ में विशेषण हो सकते हैं। अब इस सङ्गृहित कार्यकारण-भाव के अनुसार प्रकृत में कोई अनौचित्य नहीं रहा, क्योंकि 'इव' निपात है, अतः उसके अर्थ-सादृश्य में अरविन्दपदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से विशेषण होना और उसी निपातार्थ का 'प्रयोजकत्व'सम्बन्ध से सौन्दर्य में विशेषण होना बन सकता है। इसी तरह द्वितीय वाक्य में भी समझना चाहिये। नञ् निपात के स्थल में भी यही बात होती है—अर्थात् 'घटो न पटः (घटा कपड़ा नहीं है)' यहाँ उक्त सामान्य नियम के अनुसार पट का भेदसम्बन्ध (प्रतियोगिता) से नञ् में और मञ् (भेद) का स्वरूपसम्बन्ध से घट में अन्वय नहीं होना चाहिये था, परन्तु सङ्गृहित नियम के अनुसार ऐसा होता है, अतः इस वाक्य से 'पटप्रतियोगिक-भेदवान् घटः अर्थात् पट के भेद से युक्त घट' ऐसा शाब्दबोध बनता है। नञ् निपात का स्थल शाब्दबोध के विचार में प्रसिद्ध है, अतः प्रकृत में दृष्टान्तरूप से 'नञ् अर्थस्यैव' ऐसा मूल में कहा गया है।

तथाविधं चतुर्थं वाक्य समुञ्जिष्यति—

अरविन्दमिव भातीत्यत्रारविन्दनिरूपितसादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वयादरविन्दसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति ।

इतीति बोध इति शेष । धात्वर्थमाह—धोति । 'अरविन्दमिव भाति' इति वाक्ये भातीति क्रियापदादतिरिक्तोऽश- प्राग्बदेव, अतरतावतोऽशस्य 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यम्' इति बोधोऽपि पूर्वबदेव । अत्र शिष्टं भातीति क्रियापदम् । तत्र भाधातोः ज्ञानमर्थः, तत्रैवार्थस्य सादृश्यस्य 'प्रकारता'सम्बन्धेनान्वयः, तस्य (ज्ञानस्य) च विशेष्यतासम्बन्धेन कर्तरि मुखादावन्वयः । तिङ्गोऽविवक्षितः । अथवा कृतिवाचकस्य तस्य विशेष्ये लक्षणा, अस्मिन् कप्ते न विशेष्यतासम्बन्धः । तथा च अरविन्दनिरूपित सादृश्यं प्रकारो अस्यां, सादृशी या धीः (ज्ञानम्) तद्विशेष्यभूतम् मुखादीति बोधः पर्यवस्यति । इय नैयायिकाणां शैली, वैयाकरणशैलीसमाश्रयणे तु 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकं मुखादिविशेष्यकं ज्ञानमिति बोधो भवेदिति भावः ।

उपमा-प्रतिपादक चतुर्थं वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्दमिव भाति (कमल सा ज्ञान होता है)' इस वाक्य में 'अरविन्दमिव' इतना अंश तो पहले जैसा ही है, अतः उससे होनेवाला बोध—'अरविन्द से निरूपित सादृश्य'—भी परिचित ही है। रहा 'भाति' यह क्रियापद, उसमें प्रकृतिभाग-भाधातु-का अर्थ 'ज्ञान' है, उस (ज्ञान) के साथ उक्त सादृश्य का 'प्रकारता' सम्बन्ध से अन्वय होता है और ज्ञान का मुख आदि के साथ 'विशेष्यतासम्बन्ध' से, अतः इस वाक्य का शाब्द-बोध—'अरविन्दनिरूपित सादृश्य त्रिसका प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य (मुख आदि)' ऐसा होता है। इस शाब्दबोध में धात्वर्थज्ञान के आगे जो 'विशेष्य' जोड़ा गया है,

यह नैयायिकों की शाब्दबोधशैली के अनुसार, क्योंकि वे शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य (विशेष्य) धनाते हैं। पर वैयाकरण यैसा नहीं करते, वे धातु के अर्थ को ही शाब्दबोध में सब से मुख्य बनाते हैं। उनके अनुसार यहाँ 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिसमें प्रकार है तथा मुख जिसमें विशेष्य है ऐसा ज्ञान' यह बोध होगा।

पञ्चम तथाविध वाक्यमुपदर्शयति—

तत्रैव सौन्दर्येणेति धर्मोपादाने तृतीयार्थः प्रयोज्यत्व धात्वर्थे भाने इवार्थे सादृश्ये घान्वेति । तेन सौन्दर्यप्रयोज्यारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति ।

तत्रैवेति । अरविन्दमिव भातीति वाक्य एवेत्यर्थः । तृतीयार्थाभिन्नं प्रयोज्यत्वम् अन्वये कर्तुं । भानस्य सौन्दर्यप्रयोज्यत्वे विसवादादाह—इवार्थे इति । इतीति बोध इति शेषः । 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति' इति वाक्ये साधारणवर्णवाचकसौन्दर्यपदोत्तरतृतीयाविभक्ते प्रयोज्यत्वम् वाच्यम्, तस्य भाधान्वयज्ञाने इवार्थसादृश्ये वाऽभेदेनाम्ययः । वाशब्दस्वोत्तरपक्षदाढर्षसूचकतया सादृश्य एवान्वयो प्रयत्नाराभिमत इति बोध्यम् । तथा च तस्माद् वाक्यात् 'सौन्दर्यप्रयोज्य अरविन्दनिरूपितसादृश्य, तत्प्रकारिका या धी तद्विशेष्यभूतं मुक्तादी'ति बोधो निष्पद्यत इति भावः ।

उपमा-प्रतिपादक पञ्चम वाक्य का उल्लेख करते हैं—तत्रैव इत्यादि । यदि पूर्वोक्त वाक्य (अरविन्दमिव भाति) में ही 'सौन्दर्येण' यह साधारणधर्मबोधक अक्ष भी जोड़ दिया जाय, तब उपमा-प्रतिपादक पाँचवाँ वाक्य होगा 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति (सुन्दरता के कारण कमल सा जग्त होता है)' यह । यहाँ 'सौन्दर्येण' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है 'प्रयोज्यत्व (साध्यता)' और उसका अन्वय होता है 'भा'धातु के अर्थज्ञान में अपवा इव के अर्थसादृश्य में वस्तुतः सादृश्य में ही समझना चाहिये । अन्य अर्थों के अन्वय कहाँ तथा कैसे होते हैं यह पूर्ववाक्य के विवरण में बतलाया जा चुका है, अतः तदनुसार अब इस वाक्य का शाब्दबोध होता है कि—'सौन्दर्य-प्रयोज्य—अर्थात् सौन्दर्य से सिद्ध करने योग्य—जो अरविन्दनिरूपित सादृश्य, वह जिसमें प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य मुख आदि' ।

तथाविध पष्ठ वाक्यमुपदर्शयति—

तथा गज इव गच्छति, पिक इव रीतीत्यादावुपमानपदानां तत्कर्तृक-क्रियायां लक्षणया गजादिगमनादिसदृशागमनाद्यनुकूलकृतिमानिति ।

'गज इव गच्छति' इति वाक्ये गजपदस्य स्वकर्तृक्रियाया लक्षणा, तेन गजपदस्य गजगमन लक्ष्योऽर्थः, इवार्थे सादृश्यम्, गम्धात्वर्थो गमनम् (सयोगानुकूलो व्यापार) तिङ्गयो नैयायिकरीत्या कृति (गतन), एवम् 'पिक इव रीति' इति वाक्ये पिक-पदस्योपमानबोधकस्य स्वकर्तृकरणक्रियायां लक्षणा, तेन, तस्य पदस्य 'पिकरवणमर्थ', इवार्थे सादृश्यम्, रूधात्वर्थो रवणक्रिया, तिङ्गर्थे रृति, एवमर्थानां परस्परमन्वये कृतेषु प्रथमान्तपदार्थेऽनुक्ते देवदत्तादी स्वरूपेणान्वये क्रमशः 'गजगमनसदृशागमनानुकूलकृतिमान्, एवम् पिकरवणसदृशरवणानुकूलकृतिमान् देवदत्तादि' इति बोधी पर्यवस्यत इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक [छठे वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि । 'गज इव गच्छति (हाथी सा चलता है)' और 'पिक इव रीति (कोयल सा बोलता है)' इत्यादि वाक्यों में 'गज-पिक' आदि उपमानबोधक पदों की स्वस्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा होती है—अर्थात् ऐसे स्थलों में गज तथा पिक पद का अर्थ लक्षणा के द्वारा क्रमशः

गज का गमन और पिक का रवण (घोलना) होता है, 'इव' का अर्थ सादृश्य है यह अनेक वार कहा जा चुका है, 'गम् (गच्छ्)' और 'रू' धातु के अर्थ हैं—कमना गमन (आगे के देश से संयुक्त करा देने वाला क्रियाविशेष) और रवण (घोलना), 'ति'-प्रत्यय का अर्थ होता है नैयायिकों के हिसाब से 'कृति' ((यत्न), इसका अन्वय प्रथमान्त पद के अर्थ—देवदत्त आदि के साथ होता है। इस तरह के इन अर्थों का परस्पर अन्वय करने पर वाक्यार्थ बोध होता है—'हाथी के गमन के समान गमन के अनुकूल यत्न करने वाला' और 'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करने वाला'।

आशङ्कते—

ननु घटो न पश्यतीत्यत्र घटान्विताभावस्य दर्शने कर्मतासंसर्गेणान्वय-
वारणाय धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोधं प्रति
विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितेर्हेतुत्वम् । एवं च गज इव गच्छति, पिक इव
रौतीत्यादौ नेवाद्यर्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थेऽन्वयः सम्भवति । तस्माद्गजादि-
सादृश्यस्य गमनादिकर्तृत्वान्वयः स्वगमनादिसदृशगमनादिकर्तृत्वेन समान-
धर्मेण । इत्थमेव चाख्यातवादाशिरोमणिव्याख्यातृभिरपि सिद्धान्वितमिति चेत् ।

कर्तृत्वेति । एवेन लक्षणादिव्यवच्छेदः । समानधर्मेणेति । अस्य पूर्वान्वयः ।
आख्यातवादाशिरोमणीति । आख्यातवादानामको न्यायग्रन्थः, तस्य व्याख्यानभूतो मूल-
ग्रन्थः शिरोमणिग्रन्थः, तस्य व्याख्यातृभिरित्यर्थः । 'घटो न पश्यति' इति वाक्यात्
'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकरदर्शनानुकूलकृतिमान्' इत्याकारकाऽन्वयबोधोऽनुभवविरहोऽपि
प्रसक्त इति तद्वारणार्थम् 'धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वा-
वच्छिन्नं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन विभक्तिजन्योपस्थितिः कारणम्' इत्याकारककार्यकारण-
भावोऽवश्यमाप्त्येयः । एतादृशकार्यकारणभावज्ञाकारे तादृशान्वयबोधप्रसक्तिर्न भवति,
अभावस्य विशेष्यतया ननुपस्थाप्यत्वेन दर्शननिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणाभाव-
बोधं प्रति कारणत्वेन सम्प्रेक्षिताया विभक्त्यर्थोपस्थितेरभावात् । एवञ्च गज इव गच्छ-
तीत्यादौ इवार्थसादृश्यस्य धात्वर्थगमनादावन्वयोऽसम्भवः, पूर्ववत् अत्रापि सादृश्यस्य
विशेष्यतया इवरूपनिपातादुपस्थितत्वेन गमनादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण
सादृश्यबोधं प्रति सम्प्रेक्षिताया विभक्त्यर्थोपस्थितेरभावात् । अतो गज इव गच्छतीत्यादि-
वाक्यात् गमनकर्ता देवदत्तादिः, गजसदृशः (गजकर्तृकगमनसदृशगमनकर्ता) इत्याद्या-
कारक एव बोधः समुचितः ।

एक आशङ्क्या की जाती है—ननु इत्यादि । 'घटो न पश्यति (घट नहीं देखता)'
इस वाक्य में 'न' का अर्थ अभाव है, उसमें घट का प्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय
करने पर अर्थ होता है घटप्रतियोगिक (घट का) अभाव । अब उस अभाव का कर्मता-
सम्बन्ध से 'पश्य' धातु के अर्थ-दर्शन में अन्वय नहीं होता—अर्थात् उक्त वाक्य का 'घटा-
भाव' पश्यति (घटाभाव को देखता है) ऐसा अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि धातु के अर्थ को
विशेष्य बनाकर विशेष्यतासम्बन्ध से होने वाले शाब्दबोध के प्रति, विशेष्यरूप से,
विभक्ति के अर्थ का स्मरण, कारण माना जाता है, तापस्य यह कि धात्वर्थ का विशेषण,
किसी विभक्ति का ही अर्थ हो सकता है प्रातिपदिक का अर्थ नहीं । इस कार्यकारणभाव
के अनुसार उक्त वाक्य में, घटाभाव का दर्शन में 'कार्यता'सम्बन्ध से, अन्वय, वारित
हो जाता है । कारण, अभाव का स्मरण (उपस्थिति), 'न' इस निपात से होता है,
किसी विभक्ति से नहीं । अब प्रकृत में आशङ्क्या उपस्थित हो जाती है कि उक्त नियम
(कार्यकारणभाव) के अनुसार 'गज इव गच्छति' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल में भी 'इव'

के धर्म-‘सादरय’ का अन्वय जो धात्वर्थ-गमन-के साथ किया गया है वह नहीं बन सकता, क्योंकि सादरय की भी उपस्थिति विभक्ति से नहीं अपितु ‘इव निपात’ से हुई है। अतः गज आदि के सादरय का अन्वय, गमन आदि क्रियाओं के कर्ता के साथ होना चाहिए, क्रिया के साथ नहीं और सादरय को सिद्ध करने वाला समानधर्म मानना चाहिए ‘गज आदि के गमन के समान गमन आदि का कर्ता होने’ को। अभिप्राय यह कि-‘गज इव गच्छति’ और ‘पिक इव रौति’ इन वाक्यों से क्रमशः ‘गमनकर्ता (देवदत्त आदि) हाथी के समान है’ और ‘बोलने वाला कोयल के समान है’ ऐसे ही शान्दबोध होने चाहिएँ, न कि पूर्वोक्त आकार के। ‘आख्यातवाद’ की ‘शिरोमणि’ के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही सिद्धान्त किया है।

समापत्ते—

नैवम्, गज इव गच्छतीत्यत्र सादरयस्य विधेयतया प्रतीतेरपलापपत्तेः । गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्याभ्यां भिन्नप्रतीत्योरानुभक्तिवात् । एवं वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ वनादेः सर्वथैवान्वयापत्तेश्च । एवं बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्यानन्वयो बोध्यः । तस्माद्गजनिरूपितसादरयप्रयोजकगमनाश्रय इत्येव गज इव गच्छतीत्यत्र घीः । कारकोपादाने तूपमानपदानां तत्कर्तृकक्रियायां लक्ष्येत्येव साधु ।

पूर्वोक्तशङ्काप्रत्याशयं निषेधति—नैवम् इति । एवम्—पूर्वोक्तोऽयं न युक्त इति भावः । तत्र हेतुमाह—गज इव गच्छतीत्यत्रेत्यादिना । अनन्वयो बोध्य इति । अत्र नागेश—‘वस्तुतस्तु वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छतीत्यादौ वनकर्मकर्मनानुकूलकृति-मद्गजसदृशं समरभूमिकर्मकर्मनानुकूलकृतिमाञ्जूर इत्यादि बोधः । इवशब्देन च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नवनसमरभूमिविशेषणकर्मनमेव धर्मत्वेन बोध्यते । इवादयश्च धर्मत्वेनैव बोधका इति सर्वसम्मतम् । गज इव यः पुरुषः स गच्छतीत्यत्र चेवेन गमनान्वित एव शूरन्वादिधर्मत्वेन बोध्यते । पुरुषो यः स गच्छतीत्यत्र तु गमनमेव तपेति तयोर्विशेषोऽप्यु-पपद्यत एव । उपमाया विधेयत्वं नैतदेव यद्विधेयस्यैव धर्मत्वेनोपमाबोधकबोध्यत्वम् इति चिन्त्यमिदम् । वैयाकरणनये तु क्रिययोरेवोपमानोपमेयभावः । गच्छतीत्यस्य चावृत्त्यो-भयत्रान्वयः । गजादिपदानां स्वकर्तृकक्रियाया लक्षणा वेति दिक्’ इति । कारकोपादाने इति । बिम्बप्रतिबिम्बभावेन कर्मादिकारकग्रहो इत्ययं । अयं भावः—‘गज इव गच्छति’ इत्यादिवाक्यस्य शिरोमणिव्याख्यातुसिद्धान्तितो बोधो नोचितः, विचारासहत्वात् । तथाहि—सादरयवाक्यात् सादरयस्य विधेयगमनविशेषणरूपेण प्रतीतिर्भवतीत्यनुभवसिद्धम्, शिरोमणिव्याख्यातसिद्धान्तितबोधे तु तस्योद्देशगमनकर्तृदेवदत्तादिविशेषणरूपेण भानं भवतीति अनुभवापलापप्रसङ्गः । ननु कथं सादरयस्य विधेयतया प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वम् इति चेन्न, गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्यद्वयात् भिन्नविधप्रतीत्योरनुभवस्य मूलान्वेषणे सादरयस्याविधेयत्व-विधेयत्वयोरन्यस्यानुपलब्धत्वात् । किञ्च शिरोमणिव्याख्यातुसिद्धान्तितबोधाङ्गीकारे ‘वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति’ इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवन-गृहरूपकर्मबोधकपदघटितवाक्यस्यले वनादिरूपस्य कर्मणः सर्वथाऽनन्वयापत्तः, तदोपमाऽपि ‘गमनकर्ता देवदत्तो गजमदृशः’ इत्येव बोधात् । तदोपमापत्तेन कर्मकारकस्यैवैवा स्थितिः, अपि तु बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्य वृत्तान् अपि च प्रामादात्तुष्योऽवतरतीत्यादौ वृक्षप्रामादादेरप्यनन्वयापत्तिरिति तात्प-र्यम् । अतो गज इव गच्छतीत्यादौ गजनिरूपितं यत्सादरयम् तदप्रयोजक यद् गमनम्,

तदाध्य' तदनुकूलकृतिमान् इत्याकारक एव बोधोऽङ्गीकार्य' । यद्यप्ययं बोधः प्रागुक्त-
लक्षणात्मकस्वाभिमितयोधाद् भिन्नाकार एव, तथापि सादृश्यस्य विधेयतेति स्वाभिमित-
मत्रापि रक्षितम्, लक्षणा न गौरवावहा नाधितेति प्रत्यकर्तुरभिप्राय' । परमार्थतस्तु
लक्षणाप्याश्रयणीयैव स्यात्, तत्र तथा निर्वाहेऽपि कारकोपादानस्यले (वनं गज इव
गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ) लक्षणा विना निर्वाहाभावात् । 'वनं गज इव' इत्यादौ
गजपदस्य स्वकर्तृकगमने लक्षणा कृत्वा 'वनं कर्मकाजकर्तृकगमनरादृशगृहकर्मकगमनानु-
कूलकृतिमान् देवदत्त' इत्याकारक एव बोधोऽभ्युपेय', अन्यथा सादृश्यस्य विधेयतया
प्रतीतिर्न स्यात् कर्मणोऽनन्वयश्च प्रसज्येत इति ।

उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—नैवम् इत्यादि । 'गज इव गच्छति' इत्यादि
स्पष्ट में आशङ्कितवाद-सिरोमणि के व्याख्याकारों ने जो बोध दित्तलाया है, वह ठीक
नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य से सादृश्य की प्रतीति, विधेय (विधेय-गमन के विशेषण)
के रूप में होती है-अर्थात् उस वाक्य के सुनने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि-वक्ता, हाथी
और किसी व्यक्तिविशेष की गति में समानता बतलाना चाहता है । पर आपके शब्द-
बोध में इस अनुभव का अपलाप हो जाता है-अर्थात् उस बोध में सादृश्य विधेय
कोटि में नहीं आकर उद्देश्य कोटि में आ जाता है । आप पूछेंगे कि-उक्त वाक्य से
सादृश्य की प्रतीति विधेयरूप में होती है इसमें क्या प्रमाण ? तो इसका उत्तर यह
है कि-'हाथी के समान जो पुरुष है वह जा रहा है' और 'जो पुरुष है वह हाथी के समान
जा रहा है' इन दोनों वाक्यों से दो तरह की प्रतीति होती है इस बात को प्रायः सभी
स्वीकार करेंगे-आप भी स्वीकार करेंगे, अब आप बतलाइये कि-इन दोनों वाक्यों से
दो तरह की प्रतीति क्यों होती है ? इन प्रतीतियों को दो तरह की मानने में क्या मूल
है ? भगव्या आपको कहना पड़ेगा कि प्रथम वाक्य के बोध में सादृश्य उद्देश्यरूप में
भासित होता है और द्वितीय वाक्य के बोध में वह विधेयरूप में ज्ञात होता है यही
अन्तर है ऐसी स्थिति में यहाँ ('गज इव गच्छति' में) उक्त द्वितीय वाक्य के
समान बोध होना चाहिए परन्तु आपके हिसाब से प्रथम वाक्य का सा बोध हो जाता
है । अतः प्रकृत में मेरे कथनानुसार ही बोध उचित है, आपके कथनानुसार नहीं ।
दूसरी बात यह है कि आपके कथनानुसार बोध मानने पर 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो
गच्छति-अर्थात् जैसे हाथी वन को जाता है वैसे देवदत्त घर को जाता है' इत्यादि
वाक्यों में 'वन' और 'गृह' इन कर्मकारकों का संबंधानन्वय नहीं हो सकेगा । तदर्थ
यह कि आपके कथनानुसार यहाँ भी हाथी और देवदत्त का ही सादृश्य समझा जायगा
और उसको समझने में वन अथवा गृह का कोई उपयोग है नहीं, अतः वे अलग पढ़े रह
जायेंगे-वाक्यार्थबोध में नहीं आ सकेंगे । कर्मकारक की ही ऐसी स्थिति होगी, सो नहीं,
विश्वप्रतिविम्बभावापन्न सभी कारकों की यही दशा होगी-अर्थात् 'वृषात् कपिरिव
प्रासादात्मनुष्योऽवतरति-अर्थात् जैसे वन्दर वृक्ष से उतरता है वैसे मनुष्य कोठे से
उतरता है' इत्यादि वाक्यों में वृक्ष और प्रासाद इन अपादानकारकों के भी वाक्यार्थ
में अन्वय नहीं हो सकेगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि-यहाँ केवल 'गज इव
गच्छति' और 'विक इव रौति' ऐसे वाक्य हों, यहाँ प्रथमः 'गज से निरूपित सादृश्य
का प्रयोजक (साधक) जो गमन उसका आश्रय' और 'विक से निरूपित सादृश्य का
प्रयोजक जो रक्षण (बोली) उसका आश्रय' ऐसे शब्दबोध होते हैं । (यद्यपि पहले प्रन्थ-
कार ने इन वाक्यों के भी बोध, लक्षणा के द्वारा, भिन्न तरह के दिसलाये हैं, अतः
प्रन्थकार के अपने मत में भी विरोध सा दीख पड़ता है, तथापि लक्षणा न मानकर भी
यहाँ सादृश्य की विधेयता की रक्षा की जा सकती है और अन्य कारकों का ग्रहण नहीं
रहने से अन्वय का प्ररन भी यहाँ नहीं उठता, ऐसा प्रन्थकार का अभिप्राय समझना

चाहिए।) जहाँ इन वाक्यों में विम्बप्रतिविम्बभावापन्न अन्य कारक भी जुड़े हैं, वहाँ उपमानवाचक गज आदि पदों की स्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा करनी ही पड़ेगी-अर्थात् 'वन गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा के बिना गुजारा नहीं है। यहाँ नागेश का कुल्ल अपना विचार है जो बहुत ही सुन्दर-युक्तिपूर्ण है अतः विज्ञ पाठकों के मनोविनोदार्थ उस विचार का सार यहाँ उद्धृत किया जाता है। नागेश कहते हैं कि आख्यातवाद-शिरोमणि व्याख्याकार का कथन अनुचित नहीं है। कारण, 'वन गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इत्यादि विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समानधर्म वाले वाक्यों से 'वन जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त हाथी के सदृश है वह वीर जो, रणभूमि जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त है' ऐसा ही बोध होता है। तात्पर्य यह कि ऐसे वाक्यों में वर्तमान 'इव शब्द' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न वन और रणभूमिरूप विशेषणों से युक्त गमनक्रिया को ही समानधर्मरूप बतलाता है। 'इव' आदि शब्द, धर्म के रूप में किसी वस्तु का बोध कराने के लिये ही लाये जाते हैं यह बात सर्वसम्मत है। इस तरह से अन्वय करने पर कारकों का अनन्वय वाला दोष नहीं आता, बात रही 'गज इव यः पुरुषः स 'गच्छति' और 'यः पुरुषः स गज इव गच्छति' इन वाक्यों से भिन्न तरह की प्रतीतियों के होने की, सो वह भी ठीक बन जाती है, क्योंकि इन दोनों वाक्यों में से प्रथम में, 'इव' शब्द, 'शूरता आदि' का समानधर्म होना बतलाता है और द्वितीय में 'गमन' का ही समानधर्म होना। तात्पर्य यह कि समानधर्म के भिन्न-भिन्न होने के कारण ही इन दोनों वाक्यों की प्रतीतियों में अन्तर होता है, सादृश्य के भविष्य और विधेय होने के कारण नहीं। रही सादृश्य के विधेय होने की बात, सो उसका अभिप्राय यही है कि-जहाँ 'इव' आदि उपमाबोधक पदों के द्वारा वाक्य का 'विधेय' अर्थात् समानधर्म के रूप में बताया जाय वहाँ उपमा (सादृश्य) विधेय होती है, इस अभिप्राय के अनुसार शिरोमणि-व्याख्याता के मत में 'गज इव गच्छति' 'विक इव रौति' और 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इन सभी वाक्यों से यदि गज आदि और देवदत्त आदि के सादृश्य का भी बोध माना जाय, तथापि 'सादृश्य' विधेय है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि इन वाक्यों के इव शब्दों से समानधर्म के रूप में विधेय (गमन रण) का ही बोध होता है। सारांश यह हुआ कि नैयायिक लोग, क्रियाओं की तुलना, उक्त वाक्यों में नहीं मानते, पण्डितराज, निरर्थक, उनके मतानुसार होने वाले शाब्दबोधों में क्रिया की तुलना वाली बात कहते हैं। हाँ, वैयाकरणों के मतानुसार अवश्य ही ऐसे वाक्यों में क्रियाओं की तुलना होती है-अर्थात् क्रियायें ही उपमान और उपमेय होती हैं। तात्पर्य यह कि-'वन गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इस वाक्य से वैयाकरणों के मतानुसार 'जिसका हाथी कर्ता और वन कर्म है उस गमनक्रिया के तुल्य वह गमनक्रिया है जिसका शूर कर्ता और रणभूमि कर्म है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस बोध में दो गमन-क्रियाओं का उपमानोपमेयभाव स्पष्ट है। यदि कोई इस मत में यह शङ्का उठावे कि 'गच्छति' पद जब एक ही है तब उस (गमनक्रिया) के साथ उपमान-गज और उपमेय-शूर दोनों का अन्वय कैसे होगा, क्योंकि 'सकृद्धारित' शब्द सकृदेवार्थ गमयति-अर्थात् एक बार उक्त पद एक ही बार अर्थबोध कराता है' ऐसा सिद्धान्त है, सो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि-'गच्छति' पद की आवृत्ति मान ली जायगी-अर्थात् दो 'गच्छति' पद मान लिये जायेंगे, अथवा पण्डितराज के कथनानुसार ऐसे वाक्यों में उपमानबोधक (गज आदि) पदों की स्वकर्तृक गमन-क्रिया में लक्षणा मान ली जायगी। सारमात्र यह हुआ कि पण्डितराज का मत, वैयाकरणों के हिसाब से ठीक हो सकता है, पर उन्होंने नैयायिकों का मत मानकर जो वैसी बात लिखी है, वह ठीक नहीं है। यदि पण्डितराज को उक्त वाक्यों में क्रिया के साथ क्रिया की तुलना ही

अभीष्ट थी, तो उन्हें उसके लिये वैयाकरणों के मत का अनुसरण करना चाहिये था—
अर्थात् वैयाकरणों के मत के अनुसार ही शाब्दबोध लिखना उचित था ।

पुनः पूर्वोक्तशङ्कासमाधानान्तरशङ्कासमाधाने आह—

न च प्रागुक्तकार्यकारणभावस्य धात्वर्थनिष्ठेत्यादेर्व्यभिचारः, तस्यानङ्गी-
कारात् । अङ्गीकारे च तूष्णीमारात्पृथगित्याद्यर्थानां धात्वर्थान्वयोऽनुभवसिद्धोऽ-
पलपनीयः स्यात् ।

तस्य कार्यकारणभावस्य । अङ्गीकारे इति । तस्य कार्यकारणभावस्य र्थाकारे इत्यर्थः ।
इत्याद्यर्थानामिति । एषा पदानां येऽर्थास्तोषामित्यर्थः । धात्वर्थान्वय इति । धात्वर्थे
अन्वय इत्यर्थः । अपलपनीयः स्यादिति । तथान्वयो न भवतीति वक्तव्यं स्यादित्यर्थः ।
यदि 'गज इव गच्छति' इत्यादौ इवार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे गमनादावन्वयो ग्रन्थकारा-
भिमतः स्वीक्रियते, तदा 'धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोध प्रति
विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितिर्हेतुः' इति पूर्वोक्तस्य कार्यकारणभावस्य का गतिरिति
चेन्न, तस्य कार्यकारणभावस्यास्वीकारात्, अत एव 'तूष्णीं भुङ्क्ते', 'आरादुपविशति',
'पृथक् शेते' इत्यादौ तूष्णीमारात्पृथक्पदार्थानाम् तत्र तत्र धात्वर्थेऽन्वयो भवति । तेषां
धात्वर्थेऽन्वयो नैव भवतीति तु न शक्यं वक्तुं, तथान्वयानामनुभवसिद्धत्वादनुभवसिद्धस्य
च वस्तुनोऽपलापानर्हत्वादिति भावः ।

उक्त शङ्का और समाधान के अन्तर्गत एक दूसरा शङ्का-समाधान करते हैं—न च
इत्यादि । यदि आप कहें कि—ग्रन्थकार की रीति से 'गज इव गच्छति' इत्यादि धात्वर्थों
में 'इव' के अर्थ—सादृश्य-का अन्वय धात्वर्थ के साथ मानने पर, पूर्वोक्त 'धातु के अर्थ
को विशेष्य पताकर प्रकारतासंबन्ध से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति विशेष्यरूप में
विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति कारण है' यह कार्यकारणभाव व्यभिचारित हो जायगा—
अर्थात् 'धात्वर्थों में विभक्ति का अर्थ ही विशेषण हो सकता है अन्य नहीं' यह नियम
टूट जायगा, क्योंकि यहाँ विभक्ति से भिन्न-इव-प्रातिपदिक-का अर्थ, धात्वर्थ का
विशेषण बनाया गया है । तो इतका समाधान यह है कि—हम उस कार्यकारणभाव
को—उस नियम को—नहीं मानते । कारण, यदि उसको माना जाय तब 'तूष्णीम्
(लुप)' 'आरात् (दूर अथवा समीप)' और 'पृथक्' इत्यादि निपातों के अर्थों का
अन्वय धातु के अर्थ में अनुभवसिद्ध है, उसका अपलाप करना पड़ेगा—अर्थात् अनुभव
करते रहने पर भी चलान् उस अन्वय के विषय में नकारात्मक उत्तर देना पड़ेगा ।
अभिप्राय यह कि—'लुपचाप खाता है', 'नजदीक अथवा दूर बैठता है' और 'अलग
सोता है' इत्यादि स्थानों में क्रमशः उक्त निपातों के अर्थों के 'अन्वय' साक्षात् धातु के
अर्थों के साथ अनुभूत होते हैं, अतः उक्त नियम को न मानना ही अच्छा है ।

पुनः खान्तरशङ्कासमाधान एव तन्वते—

कथं तर्हि घटो न पश्यतीत्यादौ घटाभावं पश्यतीति नान्वयबोधः । धात्वर्थ-
निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधं प्रति नञ्जन्योपस्थितिमात्रस्य
प्रतिशब्धकत्वकल्पनात् । धात्वर्थस्य नामार्थभिन्नत्वेन विशेषण तु द्वयोस्तुल्यम् ।
तेन पाको न याग इत्यादौ न व्यभिचारः । इत्यलमप्रसक्तविचारेण ।

ननु नञ्जन्योपस्थितेस्तादृशबोध प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने 'पाको न याग' इत्यादौ
यागप्रतिशेधिकभेदवान् पाकः (यागभिन्न पाकः) इति बोधो न स्यादित्यत आह—
धात्वर्थस्येति । इति उक्तहयेण । अप्रसक्तविचारेणोत्पन्नावयः । अप्रसक्त इति अप्रसक्तिके-
त्यर्थः । धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधे विभक्तिजन्योपस्थितेः कार-

णत्वानङ्गीकारे 'घटो न परयति' इत्यादौ प्रतियोगितासम्बन्धेन घटान्वितस्य नजर्यस्या-
भावस्य कर्मताससर्गेण दर्शनेऽन्वय विधाय 'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकदर्शानुबूलकृति-
मान्' इत्याकारकौऽन्वयबोध कथं चारित' स्यादिति चेन्न, नज्पदजन्योपस्थिते तादृशा-
न्वयबोध प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन तद्धारणात् । तादृशकार्यकारणभावमस्वीकृत्यैतादृश-
प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनस्य, नजर्यातिरिफनिपातार्थस्य धात्वर्थे प्रकारतासिद्धि फल-
मित्यवगन्तव्यम् । न चैवविधप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावाङ्गीकारे 'पाको न याग' इत्यादावपि
नजर्य-भेद-प्रकारकपाकबोधो न स्यादिति शङ्क्यम्, उक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावघटक-
धात्वर्थे नामार्थभिन्नत्वेन सङ्गोच्चात् । तथा च प्रकृते पाकादे, पाकादिरूपनामार्थतया न
प्रतिबन्ध । न चाय नामार्थभिन्नत्वनिवेश प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पेऽधिक इति
वाच्यम्, कार्यकारणभावकल्पेऽपि तन्निवेशस्यावश्य कर्तव्यत्वात्, अन्यथा तत्कल्पेऽपि
'पाको न याग' इत्यादौ व्यभिचार प्रसज्येतैवेति भावः ।

पुन एक अयान्तर शका-समाधान करते हैं—कथम् इत्यादि । उक्त प्रसंग में अब
केवल एक शका यह रह जाती है कि—यदि धात्वर्थ को विशेष्य बनाकर प्रकारतासबन्ध
से होने वाले शाब्दशेषों में विशेष्यरूप से विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति को कारण नहीं
मानते, तब फिर 'घटो न परयति' इत्यादि वाक्यों से 'घटाभाव को देखता है' ऐसा बोध
क्यों नहीं होता ? अर्थात् कर्मतासबन्ध से 'नज्' के अर्थ—उस अभाव—जिसमें प्रतियोगिता
सबन्ध से घट अन्वित हो चुका है—का धात्वर्थ-दर्शन में अन्वय हो जायगा, तो इसका
उत्तर यह है कि—इस तरह के अन्वय-बोध को रोकने के लिये केवल नज् के अर्थ
के स्मरण को धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारतासबन्ध से होने वाले शाब्दबोध
के प्रति प्रतिबन्धक मान लीजिए । तात्पर्य यह कि इस तरह की गड़बड़ी केवल 'नज्' का
प्रयोग होने पर ही उपस्थित होती है, अतः उक्त प्रतिबन्धक मान लेने से ही निर्वाह
जब हो जाता है तब सब निपातों को समेट कर पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव मानने की
आवश्यकता नहीं रह जाती और उल्टे उस तरह का कार्य-कारणभाव मानने पर दोष
भी हो जाते हैं जो पूर्व में दिखलाये जा चुके हैं । नजर्य भी उस धात्वर्थ में प्रकार होता ही
है जो नाम (प्रातिपदिक) के अर्थरूप में उपस्थित होता है, अतः आपकी उक्त कार्य-कारण-
भाव में और मुझको उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव में 'धात्वर्थ' के विशेषणरूप से नामार्थ
से भिन्न इतना और जोड़ना पड़ेगा, जिससे 'पाको न याग —अर्थात् पकाना यज्ञ नहीं है'
इत्यादि स्थानों में दोष नहीं होगा । अभिप्राय यह कि—यहाँ 'यागप्रतियोगिकभेदवान्
पाक' इस अन्वयबोध में याग नजर्य भेद का और भेद पाक का विशेषण होता है, क्योंकि
पाकक्रिया (जो अन्यत्र धातु का अर्थ होता है) यहाँ पाक प्रातिपदिक के अर्थ के रूप
में उपस्थित हुआ है । फलतः इस अर्थ में हम और आप दोनों घराबर हैं—किसी के
मत में दूसरे मत की अपेक्षा गौरव नहीं है । इस तरह अप्रासंगिक विचार अब यहाँ
समाप्त किया जाता है ।

तथाविध सप्तम बाह्य निर्दिशति—

अथारविन्दतुल्यो भावीत्यत्र कथं धीः । तुल्यपदार्थस्य निपातभिन्ननामार्थ-
त्वेन धात्वर्थे भेदेनान्वयायोगात् । तादृशतुल्यत्वादेर्भानोद्देश्यतावच्छेदकत्वे
भानमात्रविधेयतायां विवक्षितार्थाप्रतीतिः । न च तुल्यपदेन तुल्यत्वप्रकारको
लक्षणयोपस्थापितो ह्यभेदेन धात्वर्थेऽन्वेद्यतीति वाच्यम् । क्रियाविशेषणत्वेना-
रविन्दतुल्यशब्दस्य नपुंसकत्वापत्तेरिति चेत्, व्याकरणस्य सिद्धानुवादकत्वेन
स्तोक पचतीत्यादिमात्रविपयत्वेन क्रियाव्ययविशेषणानां श्रुतत्वेत्येते इत्यस्यो-

पपत्तेः । धातोरेव लक्षणया सकलार्थबोधकत्वमितरस्य तात्पर्यप्राहकतेत्यपि केचित् ।

कथमिति । अभेदेन भेदेन वेत्यर्थः । तत्र साधु इत्याह—तुरत्येति । एतेन 'धात्वर्थ-निश्रयविशेष्यतानिहपित-निपातार्थातिरिक्तवृत्ति-भेदसम्बन्धाधिक्यप्रकारतासंसर्गणाभ्यवबोध प्रति विरोच्यतया विभक्त्यर्थोपरिपत्तिर्हेतुः' इत्याकारकं कार्यकारणभाव सूचितः । अत्र 'उक्तव्युत्पत्तेः' इति नागेशकृतविवरण तु नीपस्युक्तं, महुक्ताकारकव्युत्पत्तेः पूर्वमनुक्तत्वात् । या व्युत्पत्तिः प्रागुक्ता सा न प्रकृतोक्त्यनुकूला तत्र प्रकारतावच्छेदकसम्बन्धविषया भेदाभेदयोरनिवेशात्, निपातार्थातिरिक्तवृत्तिव्येन प्रकारतायामतद्वोचात्, नञ्जन्वोपस्थिति-मात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य तस्या व्युत्पत्तेरनङ्गीकरणोक्तं, महुक्ताकाराया व्युत्पत्तेरा-द्यस्यकता ग्रन्थकृता कथमनुमतेति तु अन्यत् विवृण्वीचिचारणायम् । नाप्यभेदेनेत्याह—न चेति । धात्वर्थे मानस्ये । उपपत्तेरिति । तथा जामेदेनैव पूर्वोक्तरीत्याऽन्वय इति भावः । मतान्तरमाह—धातोरेवेति । इत्यपि केचिदिति । अत्र भागशा 'वस्तुतस्तु उपमाविधे-यकबोधे तात्पर्यं धारविन्दतुल्यमित्येव साधु, न तुल्य इति । यदि तु विधेयस्य धर्मत्वेनोप-माबोधकबोधत्वमेव विधेयत्वमुपमाया इति विभाव्यते तर्हि धारविन्दतुल्यविषयक भानम् भानविषयोऽरविन्दतुल्य इति वा बोधेऽपि भानस्य धर्मत्वेन भानादुपमाया अविधेयत्वमेव । धर्मान्तरस्य तथा भाने तु धारविन्दतुल्य इत्येव प्रयोगः सर्वसम्मतः । उपमाया उद्देश्य-तावच्छेदकत्वं चेति ध्येयम् ।' इति । अयं भावः—'धारविन्दतुल्यो भाति' इत्यधारविन्द-पदार्थस्य निहपितत्वसम्बन्धेन तुल्यपदार्थे सादृश्ये तस्य च प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थे ज्ञानेऽन्वयं विधाय 'धारविन्दनिहपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्य' इत्याकारको बोधो न भवितुमर्हति, निपातार्थस्य भेदेन धात्वर्थेऽन्वयेऽपि तदतिरिक्तस्य नामार्थस्य भेदेन तत्रान्वयस्यानुपबोक्तकार्यकारणभावविरुद्धत्वेन तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थज्ञानेऽन्वयस्यासम्भवात् । तुल्यपदोत्तरप्रथमाविभक्तिजन्वोपस्थिते सत्त्वाश्लोक्तकार्य-कारणभावविरोध इति तु न धनु योग्यम्, प्रथमाविभक्तेः प्रातिपदिकार्थेऽनुशिष्टत्वेनानुवाद-कतया ततः पृथगर्थोपरिथितेरभावात् । न च मास्तु तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे ज्ञानेऽन्वयः, तस्यावश्यकताऽपि नास्ति, 'धारविन्दनिहपितसादृश्यविशिष्टं विशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानवत्' इति बोधमात्पथ सादृश्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वं ज्ञानमात्रस्य च विधेयत्वं स्वाक्रियताम्, इति वक्तव्यम् तथाबोधस्य विवक्षितार्थाविषयकत्वान् । सादृश्यस्य विधेय-घटकतया भानमिह वक्तुरभिप्रेतम्, न च तत्तथाविधे बोधे सिद्धचतीति तात्पर्यम् । एवं स्थितावेप सिद्धान्तः—तुल्यपदस्य तुल्यत्वप्रकारके लक्षणा लक्ष्यार्थस्य च तुल्यत्वप्रकार-कस्य धात्वर्थे ज्ञानेऽभेदेनैवान्वयः, तथा च 'धारविन्दनिहपितसादृश्यप्रकारकाभिज्ञान-विशेष्य' इति बोधे न कश्चिदोपः । न चैव सति 'क्रियाऽन्वयविशेष्यगाना ज्ञावतेष्यते' इति नियमविरोधो दोषः, नियमानुरोधे च क्रियाविशेष्यणत्वेनारविन्दतुल्यपदस्य नपुंसकत्वान्ति-रिति वाच्यम्, सिद्धानुवादकस्य 'क्रियाऽन्वयविशेष्यगाना ज्ञावतेष्यते' इति व्याकरणा-नुशासनस्य 'स्तोत्रं पञ्चति' इत्यादिमात्रविषयकवक्तव्येन सामञ्जस्यात् । भाषातोरेव लक्ष-णया 'धारविन्दनिहपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्य' इति सम्पूर्णाऽर्थः, 'धारविन्दतुल्य' इत्यंशस्तात्पर्यप्राहकः इति पक्षान्तरमपि कियन्तोऽङ्गीकुर्वन्ति । अस्मिन् पक्षे एकपदार्थ-तयाऽन्वयादेरपेक्षैव नास्तीति न व्युत्पत्तिविरोधादेः प्रसङ्ग इति ।

अथ उपमाप्रतिपादक-सप्तमं वाक्यं का उल्लेखं करोते—अधारविन्द इत्यादि ।

अब 'अरविन्दतुल्यो भाति (अरविन्द क समान प्रतीत होता है)' इस वाक्य में यह विचार करना है कि—यहाँ तुल्यपद के अर्थ—सादृश्य—का धात्वर्थ—ज्ञान—में भेदसम्बन्ध से अन्वय होगा अथवा अभेदसम्बन्ध से ? भेदसम्बन्ध से अन्वय नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'निपात से अन्य प्रातिपदिक के अर्थ का भेदसम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय नहीं होता' ऐसा नियम है। तत्पर्य यह कि अरविन्द पदार्थ का तुल्यपदार्थ—सादृश्य—के साथ निरूपितत्वसम्बन्ध से और उस सादृश्य का प्रकारतासम्बन्ध से धात्वर्थ—ज्ञान—के साथ अन्वय मानकर 'अरविन्द-निरूपित-सादृश्य-प्रकारकज्ञान विशेष्य' ऐसा शाब्दबोध नहीं किया जा सकता। कारण, 'तुल्य' यह निपात से अन्य प्रातिपदिक है, अतः उसके अर्थ का प्रकारतारूप भेदसम्बन्ध से धात्वर्थ—ज्ञान—में अन्वय हो ही नहीं सकता। आप कहेंगे कि—यहाँ तुल्य पदार्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय किया ही क्यों जाय ? उसकी कोई खास आवश्यकता तो है नहीं। रहा शाब्दबोध, तो यह तो तुल्य पदार्थ—सादृश्य—को उद्देश्य का विशेषण और शुद्ध धात्वर्थ—ज्ञान—को विधेय मान कर भी किया जा सकता है—अर्थात् उक्त वाक्य से 'अरविन्दसदृश-वस्तु (मुख आदि), विशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञानवाला है—ज्ञान में वह विशेष्य होता है' इसी तरह का शाब्दबोध होगा। (इस बोध में अरविन्दसदृश वस्तु उद्देश्य है और सादृश्य उद्देश्यता का अवच्छेदक अर्थात् विशेषण)। परन्तु यह कथन आपका सगत नहीं हो सकता, क्योंकि इस रीति से और सब बातें तो ठीक हो जाती हैं, लेकिन वक्ता को उक्त वाक्य द्वारा जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है उस अर्थ का बोध ही नहीं हो पाता—अर्थात् सादृश्य का बोध, वक्ता विधेय (विधेय विशेषण) के रूप में कराना चाहता है और उक्त बोध में वह हो जाता है उद्देश्य (उद्देश्य-विशेषण) यही गड़बड़ी हो जाती है। अब रही अभेदसम्बन्ध से तुल्यपदार्थ सादृश्य का धात्वर्थ के साथ अन्वय होने की बात, सो वह वैसे बन नहीं सकती, अतः 'तुल्य' पद की 'तुल्यत्वप्रकारक' इतने अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए और तब उस लक्ष्य अर्थ का 'भा' धातु के अर्थ—ज्ञान—के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके 'अरविन्द से निरूपित जो तुल्यत्व (सादृश्य) तत्प्रकारक से अभिन्न-ज्ञान का विशेष्य' इस तरह का शाब्दबोध स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इस लक्षणावाली रीति में भी यह आशंका होती है कि इस तरह से 'अरविन्दतुल्य' पद का अर्थ, क्रिया का विशेषण हो जाता है, अतः 'क्रिया ध्ययविशेषणाना बलीघतेष्यते—अर्थात् क्रिया और ध्यय के विशेषणरूप में आये हुए शब्दों का नपुसकलिङ्ग होना इष्ट है' इस नियम के अनुसार उस पद से नपुसकलिङ्ग आना चाहिए, पुलिङ्ग नहीं—अर्थात् 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा वाक्य होना उचित है न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' ऐसा। परन्तु यह आशंका कुछ है नहीं। कारण, उक्त नियम व्याकरणशास्त्र का है और व्याकरण, केवल सिद्ध प्रयोगों का अनुवादक है विधायक नहीं—अर्थात् परम्परा से लोग जिस तरह के प्रयोग करते आते हैं उनको सिद्ध करने की प्रक्रिया केवल व्याकरण में बतला दी गई है, लोकप्रयोग के विरुद्ध किसी प्रकार का नियम बनाने का स्वतन्त्र अधिकार उसे नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त नियम 'स्तोक पचति (थोड़ा पकाता है)' इत्यादि स्थलों पर ही लागू होगा, क्योंकि परम्परा से ऐसा प्रयोग होता आ रहा है, न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इत्यादि स्थलों पर, क्योंकि परम्परा से ऐसी जगहों पर पुलिङ्ग का ही प्रयोग होता आया है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्वोक्त समग्र अर्थ, लक्षणा द्वारा, धातु (भा) से ही उपस्थित हो जाता है 'अरविन्दतुल्य' यह अर्थ, तो वक्ता के उक्तलक्षणावाले तत्पर्य का बोधकमात्र है, उसका अपना कुछ खास अर्थ नहीं है। इस मत के दृष्टाव से उक्त पूरा अर्थ जब एकही पद का हो गया, तब अन्वय और उसके साथ उठने वाले ध्युत्पत्तिविरोध आदि के बखेड़े नहीं होते। यहाँ प्रथम पद के सम्बन्ध में नानुश का कथन है कि यदि शाब्दबोध में उपमा को विधेय

घनाना अभिष्ट हो, तब 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा ही वाक्य शुद्ध है 'अरविन्दतुल्यः' यह नहीं। कारण, क्रियाविशेषणों का नपुसकलिङ्ग होना आपके उक्त दलीलों से एक नहीं सकता। यदि 'विधेय का उपमाबोधक (ह्व आदि) के द्वारा समान धर्म के रूप में उपस्थित किया जाना ही उपमा का विधेय होना है' यह नेरी युक्ति अपनाई जाय, तब भी मूलकार की अभीष्टसिद्धि होती नहीं दीख पड़ती, क्योंकि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध, ब्याकरणों के हिसाब से 'अरविन्दसदृश (मुख, कर, चरण आदि) जिसका विषय है वह ज्ञान' और मदायिकों के हिसाब से 'ज्ञान का विषय अरविन्दसदृश' इन्हीं दो प्रकारों से हो सकता है, पर इन दोनों ही प्रकारों में 'ज्ञान' ही समानधर्म के रूप में उपस्थित होता है और यह उपमाबोधक-तुल्य-पद से बोधित होता नहीं, क्योंकि 'तुल्य' पद उक्त शाब्दबोध के अनुसार 'ज्ञान के विषय' का बोधक होता है, 'ज्ञान' का नहीं। अतः उपमा को विधेय बनाने की ह्छला करने पर 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा ही वाक्य बोलना पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं। हीं यदि ज्ञान को साधारण धर्म न मानकर 'सौन्दर्य आदि' अनुक्त वस्तु को मान लिया जाय, तब 'अरविन्दतुल्यः' ऐसा वाक्य हो सकता है, किन्तु उस हालत में भी उपमा उद्देश्यता-बन्धुदक (उद्देश्यविशेषण) ही रहेगी, विधेय नहीं। इसी बात को सर्वसम्मत समझना चाहिए। यहाँ चतुर्वेदीजीकृत हिन्दी रसगयाधर की टिप्पणी पर टिप्पणी करते हुए सगपादक लिखते हैं कि—“'निर्मितिमादधती' इस काव्यप्रकाशके पद्य में 'निर्मिति' पद क्रिया-विशेषण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग है। अतः 'क्रियाविशेषण नपुसकलिङ्ग ही होता है' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इत्यादि।" पर यह टिप्पणी उनकी असन्नत सी-प्रतीत होती है। कारण, उक्त काव्यप्रकाश के पद्य में 'निर्मिति' पद क्रियाविशेषण है ही नहीं, उस पद को क्रियाविशेषण मानने की आवश्यकता भी नहीं है। वह तो शुद्ध कर्मपद है, उसका 'निर्मियते' इस कर्मव्युत्पत्ति से 'जगत्' अर्थ है और 'आदधती' का अर्थ 'प्रकशयन्ती'। यही बात काव्यप्रकाश के सभी मान्य व्याख्याकारों ने लिखी है। यदि किसी टीका में 'निर्मिति' को क्रियाविशेषण मान कर व्याख्या लिखी भी गई हो, तो वह स्वतन्त्र विचार रखनेवाले विद्वज्जनों से आहत नहीं हो सकती।

तथाविधमष्टम वाक्यं निर्दिशति—

अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र बते: 'तेन तुल्यम्—' इति विहितस्य सादृश्य-वदर्थकस्य सादृश्ये लक्षणा। तस्य च सुन्दरपदार्थकदेशेन सुन्दरत्वेनान्वया-दरविन्दमित्य सुन्दरमित्यत्रेव बोधः। एकत्र शक्त्याऽपरत्र लक्षणया च सादृश्य-प्रतिपादनाच्छ्रौत्यार्था च।

अरविन्दमित्य सुन्दरमित्यत्रेवेति । अत्र “वस्तुतस्तु क्रियायास्तुल्यत्वे एव 'तेन तुल्यम्—' इति वतिविधानादरविन्दमित्य सुन्दरमित्यादिवक्तव्य बोध इति चिन्त्यमिदम् । अत एव ब्राह्मणवदधीति इत्यत्र ब्राह्मणकर्तृकाश्वयने ब्राह्मणपदस्य लक्षणेति महाभाष्य-कारादयः । 'अरविन्दवत्सुन्दरम् मुखम्' इत्यत्र च भवतिक्रियाध्याहार्या । अरविन्दपदेन च सुन्दरारविन्दभवन लक्ष्यते । तथा च सुन्दरारविन्दभवनसदृशं सुन्दरमुखभवनमिति शाब्दे बोधे वृत्ते अरविन्दमुखयोः सौन्दर्यधर्मकृतसादृश्यं व्यञ्जनया पुष्यते । एवमारविन्द-वन्मुखमित्यत्रापि अरविन्दभवनसदृशं मुखभवनमित्येव बोधो युक्त इति बोध्यम् ।” इति नागेशः । एकत्र अरविन्दमित्येत्यत्र । अपरत्र अरविन्दवदित्यत्र । अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र 'तत्र तस्येव' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो न प्राप्तः, तस्य षष्ठ्यर्थे विधानात्, षष्ठ्यर्थस्य च (अरविन्दस्येव) सुन्दरमित्यत्रान्वयानम्भवात्, अतः 'तेन तुल्यम्—' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो विधेयः । स च सादृश्यवदर्थकः । सादृश्यवदूपस्य च मुख्यार्थस्य प्रकृते बाधः,

अतस्तस्य-वते-प्रकृते सादृश्यमात्रे लक्षणा । लक्ष्यार्थस्य च सादृश्यस्य सुन्दरपदार्थक-
देशेन सुन्दरत्वेन सह प्रयोजकत्वसम्बन्धेनावय । तेन अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रैव
'अरविन्दमिहपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिधम्' इति शाब्दबोधो भवति । नन्वेव
परतयोर्वाक्ययोर्भेद इति चेन्न, अरविन्दमित्यत्र इवशब्दनिष्ठयाऽभिधया सादृश्योपस्थितौ
परस्परसादृश्यात्मिकाया उपमाया शब्दश्रवणमात्रादवगमेन तस्य वाक्यस्य शाब्दोपमा-
बोवकत्वम्, अरविन्दवदित्यत्र च चप्रत्ययनिष्ठया लक्षणया सादृश्योपस्थितौ परस्पर-
सादृश्यात्मिकाया उपमाया आर्थसमाजप्रतत्वात् पश्चादवगमेन तस्य वाक्यस्यार्थोपमा-
बोवकत्वमिति भेदादिति भाव ।

उपमाप्रतिपादक अष्टम वाक्य का उल्लेख करते हैं-अरविन्दवत् इत्यादि । 'अरविन्द-
वत्सुन्दरम् (अरविन्द के समान सुन्दर)' इस वाक्य में 'तत्र तस्यैव' इस सूत्र से वति
प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पठवर्ध में होता है और यहाँ 'अरविन्द का सुन्दर'
यह पठवर्ध वाला अन्वय बैठता नहीं, वह नच बैठता यदि 'सौन्दर्यम्' यह धर्मप्रधान
शब्द कहा रहता, अतः उक्त वाक्य में वति प्रत्यय का विधान 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः
(५।१।१।५)' इस पाणिनिसूत्र से मानना पड़ता है । और उस 'वति' प्रत्यय का
वाच्य अर्थ होता है 'सादृश्यवान्-अर्थात् सादृश्य से युक्त', जो यहाँ वाधित है-अर्थात्
'सादृश्ययुक्त' अर्थ का अन्वय 'सुन्दर पदार्थ' के साथ बनता नहीं, अतः उसकी (वत्
प्रत्यय की) केवल सादृश्य में यहाँ लक्षणा की जाती है और उस (लक्ष्यार्थ) सादृश्य
का 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से सुन्दर पदार्थ के एक भाग-सौन्दर्य-के साथ अन्वय होता
है, अतः इस वाक्य का शाब्दबोध उसी तरह का होता है, जिस तरह का 'अरविन्दमिव
सुन्दरम्' इसका होता है-अर्थात् यहाँ भी 'अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य उसका
प्रयोजक (साधक) जो सौन्दर्य, उससे युक्त से अभिन्न मुख आदि' ऐसा ही बोध होता
है । इस तरह शाब्दबोध समान होने पर भी दोनों वाक्यों में अन्तर यह है कि एक
जगह (अरविन्दमिव, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'इव' पद की शक्ति (अभिधा)
से होती है, अतः शब्द या शक्ति के स्वभाव से यहाँ परस्पर सादृश्यरूप उपमा की
प्रतीति शब्दश्रवण के बाद तुरत हो जाती है, अतएव यहाँ की उपमा श्रौती कहलाती
है और दूसरी जगह (अरविन्दवत्, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'वत्' की लक्षणा
से होती है, अतः शब्दस्वभाव से उपमा की प्रतीति अर्थज्ञानोत्तर होने के कारण
यहाँ की उपमा आर्थी समझी जाती है । नागेश का कथन इस प्रसङ्ग पर भी कुछ
विलक्षण तथा तथ्य-सा है जिसका सारांश यह कि-"तेन तुल्यम्"-इस सूत्र से वत्
प्रत्यय यहाँ होता है जहाँ क्रिया की समानता बतलानी रहती है, अतः 'अरविन्दवत्सुन्द-
रम्' और 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इन दोनों वाक्यों का शाब्दबोध समान कैसे हो सकता
है ?-अर्थात् 'वत्' वाले वाक्य से क्रियाओं की तुल्यता प्रतीत होती है और 'इव' वाले
वाक्य से वस्तुओं की । अतः पण्डितराज का कथन विचारणीय है । अतएव तो 'महा-
माप्यकार' आदि ने 'ब्राह्मणवदधीते' इत्यादि में ब्राह्मण पद की उसके द्वारा की जाने
वाली अध्ययन क्रिया में लक्षणा मानी है । अतः 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' इस वाक्य में
'भवति (होता है)' इस क्रिया का अप्याहार करना चाहिए और 'अरविन्द' पद का
अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'सुन्दर अरविन्दका होना' इतना करना चाहिए । तब उक्त वाक्य
से 'सुन्दर अरविन्द के होने के समान सुन्दर मुख आदि का होना' ऐसा शाब्दबोध
होगा । इस तरह से बोध हो जाने के बाद व्यञ्जना के द्वारा, सौन्दर्यरूप धर्ममूलक,
अरविन्द और मुख में सादृश्य की प्रतीति होगी । इसी तरह 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' इस
वाक्य का भी 'अरविन्द के होने के समान मुख का होना' यही शाब्दबोध उचित है । यहाँ
हिन्दी रसगङ्गाधर में टिप्पणी करते हुए सम्पादक कहते हैं कि-"अरविन्दवत् सुन्दरम्'
में जो मूलकार ने आर्थी उपमा कही है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि आर्थी उपमा यहाँ

होती है, जहाँ सादश्य-विशिष्ट अर्थ हो, अर्थात् सादश्य की प्रतीति वितोषणरूप से होती हो। यहाँ तो वति प्रत्यय की सादश्य में लक्षणा होने से यह विशेष्यरूप से प्रतीत हो रहा है। यह बात 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में स्पष्ट है। यहाँ मेरा कथन यह है कि-जिन्होंने 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में 'वति' का सादश्ययुक्त अर्थ होने के कारण उपमा को आर्थी कहा है, वे ही पण्डितराज, यहाँ 'वति' का सादश्य-मात्र अर्थ होने पर भी उपमा को आर्थी कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में इन परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले लेखों का रहस्य क्या है? मैं इसका रहस्य यह समझता हूँ कि-इव, यथा आदि पदों का कुछ ऐसा स्वभाव है, जिससे उनके रहने पर पट्टीविभक्ति के समान शब्दध्वन्यमात्र से परस्पर का सम्बन्ध (सादश्य) ज्ञात होता है, अतः उन शब्दों के रहने पर तथा इवार्थक वति प्रत्यय के रहने पर प्रतीति उपमा होती है और तुव्य आदि पदों का स्वभाव ऐसा है, जिससे उनके रहने पर एक तरफा सम्बन्ध का बोध होता है, जैसे 'उसके तुल्य' ऐसा कहने पर उपमेय में ही तुल्यता की प्रतीति होती है उपमेय की तुल्यता उपमान में नहीं, अतः अर्थज्ञानोत्तर विचार करने पर परस्पर सादश्य का बोध होता है और परस्पर का सादश्य ही तो उपमा है एक तरफा सादश्य नहीं, अतः इन शब्दों के तथा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के रहने पर आर्थी उपमा होती है। इस विवेचन के अनुसार 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' में तुल्यार्थक वति प्रत्यय के रहने के कारण उपमा का आर्थी होना समुचित ही है। लक्षणा से यहाँ 'तुल्य' नहीं 'तुल्यत्वं' उसका अर्थ हो गया है, पर उससे क्या? शब्दस्वभाव को कौन रोक सकता है? पण्डितराज के कथन का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय हो सकता है।

तथाविधं नवमं वाक्यं निर्दिशति—

'अरविन्दवन्मुखमित्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादश्यवदभिन्नमिति । सादश्यवदभिन्नमिति । बोध इत्यस्थानुपपन्नं । उल्लापना नेति भावः । अत एव तुः प्रयुक्तः । अरविन्दवन्मुखमित्यत्र वतिप्रत्ययस्तुल्यार्थे, तदेकदेशे तुल्यत्वे (सादश्ये) अरविन्दपदार्थस्य निरूपितत्वेनान्वयः, वत्प्रत्ययार्थस्य तुल्यत्वे (सादश्यत्वे) अभेदेन सुबोध्यव्यं । तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादश्यं, तद्वदभिन्नं मुखमिति शान्दबोध इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक नवम वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्द-वन्मुखम् (अरविन्द के समान मुख)' इस वाक्य में पूर्ववत् 'वति' प्रत्यय की सादश्य में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं होती । उसका वाक्य अर्थ सादश्यवान् (सादश्य से युक्त) ही टीका रह जाता है । तात्पर्य यह कि-अरविन्द पदार्थ का निरूपितत्वसम्बन्ध से 'वति' प्रत्ययार्थ के एक भाग सादश्य के साथ और संपूर्ण 'वति' प्रत्ययार्थ सादश्य-युक्त का मुख के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके, उक्त वाक्य का 'अरविन्द से निरूपित सादश्य से युक्त से अभिन्न मुख' ऐसा शान्दबोध होता है ।

तथाविधं दशमं वाक्यं तमुल्लिखति—

अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्यत्र अरविन्दशब्दस्यारविन्दसौन्दर्यलाक्षणिकतयाऽरविन्दसौन्दर्यनिरूपितसादस्याधिकरणमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति मुखारविन्द-सौन्दर्ययोः सादश्यबोधे शाब्दे, तयोरभेदाप्यवसायादभिन्नधर्ममूला पञ्चान्मुखारविन्दयोरपि सादश्यधीः ।

सौन्दर्यलाक्षणिकतयेति । अत्र 'तत्र तस्येयेति वतेरिदार्थे विहितत्वेन सादश्यार्थकस्य प्रयोजके लक्षणयाऽरविन्दसादश्यप्रयोजकमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति बोधे उपपन्ने अरविन्द-

पदस्यारविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला किंप्रमाणा चेति चिन्त्यमिदम्' इति नागेश । भृ-
महोदयस्तु नागेशोक्तिं कटाक्षयन् 'अस्मिन् (मूलोक्ते) शाब्दबोधे सौन्दर्यरूपसाधारण-
धर्मस्य अस्य इत्युपमेये अरविन्दे इत्युपमाने च सम्बन्ध सुस्पष्ट प्रतीयते । अरविन्द-
सादृश्यप्रयोजकम् एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति नागेशोपपादिते शाब्दबोधे तु उपमेयमात्रे
सौन्दर्यस्यान्वय प्रतीयते । अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्युक्तौ स्वारसिकश्च सौन्दर्यस्योभयत्रा-
न्वय । एव सत्यपि 'अरविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला' इत्यादिना मुपैव खण्डयन् नागेश
महोदयस्तु 'म्यूलदरवैव' इत्याह । परमयं कटाक्षो न समाचीन, नागेशोपपादितोऽपि
बोधे सौन्दर्यस्योभयत्र प्रतीयमानत्वान्, अन्यथा तस्य साधारणधर्मतैव न स्यात् । एता-
दृशबोधे सौन्दर्यस्योभयत्राप्रतीती स्वीक्रियमाणाया 'अरविन्दसुन्दरम्' इत्यादौ 'अरविन्द-
निरूपितसादृश्यप्रयोजकभिन्नसौन्दर्यवदमिदम्' इत्यादयो बोधा मूलकृता प्रागुक्ता सर्व
एवासमञ्जसा स्युः । वस्तुतस्तु-उभाभ्यां (मूलकारतागेशान्याम्) लक्षणा स्वीक्रियत
एव किन्तु मूलकार अरविन्दमुखादिगतयो सौन्दर्ययो सादृश्य शब्दत प्राक् प्रतिपाद्य
पश्चात् व्यञ्जनया अरविन्दमुखादिकयो सादृश्य प्रतिपादयति, नागेशस्तु प्रथममेवारविन्द-
मुखादिकयोरेव तदुपपादयति इत्येव तयोर्विरोध । तत्र मूलकाराश्रिता सरणिरेव श्रेष्ठा,
परमार्थत अरविन्दमुखादिगतयो सौन्दर्ययोरपि भिन्नतया तयो सादृश्यसिद्धिं विना
तदाधारयो सादृश्यस्यासिद्धे । किञ्च 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इत्युक्तौ उपमानोपमेय-
गतसौन्दर्ययोरेव सादृश्य स्वरत' प्रतीयते । अरविन्दमुखादिकयोरुपमा व्यङ्ग्या न वाच्ये-
त्येतावता क्षतिर्नास्तीति दिक् । शब्दे इति । जाते इति शेष । तयोरिति । मुखारविन्द-
सौन्दर्ययोरित्यर्थ । अभेदेत्यस्य सादृश्यमूलेत्यादि । अभिन्नधर्मैति । सौन्दर्यरूपेत्यर्थ ।
'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इति वाक्ये 'तत्र तस्यैव' इति विहितस्य वते सादृश्यमर्थ,
अरविन्दपदस्य च लक्षणया अरविन्दसमवेतसौन्दर्यम्, अस्येत्यस्य मुखादिरुपमेयभूतो
वाच्य । तथा च 'अरविन्दसमवेत यत् सौन्दर्यम्, तन्निरूपित यत् सादृश्यम्, तदधि-
करणम् (तदाश्रय) एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यम्' इत्यन्वयबोध । अरविन्दपदलक्ष्यार्थस्य
निरूपितत्वसम्बन्धेन वतिप्रत्ययार्थे, तस्य च इद पदार्थोपमेयसम्बद्धसौन्दर्येऽधिकरणता-
सम्बन्धेनान्वय इति तात्पर्यम् । नन्वेव बोधे सत्यपि उपमानोपमेययो अरविन्दमुखादि-
कयो सादृश्यात्मिका विवक्षितोपमा न सिद्धेति चेन्नैवम्, तत्र बोधे सौन्दर्ययो सादृश्ये
प्रतीते तयो सादृश्यमूलकाभेदाश्वसत्वात्पेन पश्चात् अरविन्दमुखादिकयो अभिन्नधर्ममूल-
कस्य सादृश्यस्य विवक्षितोपमाहूपस्य व्यञ्जनया प्रतीतेरिति भाव ।

उपमाप्रतिपादक दशम वाक्य का निर्देश करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्दवत्
सौन्दर्यमस्य (इसकी सुन्दरता अरविन्द की सुन्दरता के समान है)' इस वाक्य में
'अरविन्द' पद की 'अरविन्द की सुन्दरता' में लक्षणा है, अतः उस पद का लक्ष्य अर्थ
होता है 'अरविन्दसमवेत सौन्दर्य' और 'वति' का अर्थ यहाँ सादृश्य है, क्योंकि 'इव'
के अर्थ में यह 'वति' प्रत्यय 'तत्र तस्यैव' इस पाणिनिसूत्र से हुआ है । इन दोनों अर्थों
में 'निरूप्य-निरूपकभाव'संबन्ध है—अर्थात् अरविन्द पद के उक्त लक्ष्य अर्थ का उक्त
'वति'प्रत्ययार्थ के साथ 'निरूपितत्व'संबन्ध से अन्वय किया जाता है । इसी तरह
अरविन्द पदार्थ से अन्वित वतिप्रत्ययार्थ का उस सौन्दर्य के साथ 'अधिकरणता-
आश्रयता-'संबन्ध से अन्वय किया जाता है, जिसमें 'अस्य' पद का अर्थ अन्वित
होता है । इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द की सुन्दरता से निरूपित
सादृश्य का अधिकरण (आश्रय) है इस (मुख आदि) की सुन्दरता' ऐसा होता है ।

आप कहेंगे—इस प्रकार से तो सौन्दर्य सौन्दर्य में सादृश्य सिद्ध हुआ, अरविन्द और मुख आदि में नहीं, फिर इन दोनों की उपमा (जो कवि की विवक्षित है) कैसे सिद्ध हुई ? तो इसका उत्तर यह है कि—उक्त प्रकार से जब दोनों सौन्दर्यों में सादृश्य सिद्ध हो जायगा, तब सादृश्यमूलक अभेद का आरोप होगा उन दोनों सौन्दर्यों में । इस तरह से जब ये दोनों सौन्दर्य एक-अभिन्न-समस्त लिये जायेंगे, तब उस एक धर्म को निमित्त मानकर अरविन्द और मुख आदि में भी सादृश्य, व्यञ्जना से, समस्त में आ जायगा । यहाँ नागेश कहते हैं कि—“अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य” इस वाक्य में ‘इव’ के अर्थ में ‘तत्र तस्यैव’ इस सूत्र से किये गये ‘वति’ प्रत्यय का अर्थ ‘सादृश्य’ है—तुल्यार्थक ‘वति’ के समान ‘सादृश्यवत्’ नहीं, अतः उस सादृश्यार्थक ‘वति’ प्रत्यय की ‘सादृश्य प्रयोजक’ में लक्षणा करके ‘अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य उसका प्रयोजक, इसका (मुख आदि का) सौन्दर्य’ यह शाब्दबोध जड़ हो सकता है, तब ‘अरविन्द’ पद की ‘अरविन्द की सुन्दरता’ में जो मूलकार ने लक्षणा मानी है, उसका क्या फल उन्होंने देखा तथा इस तरह की लक्षणा करने में प्रमाण ही कौन-सा उनको प्राप्त हुआ यह विचारणीय प्रश्न है ।” नागेश का अभिप्राय यह हुआ कि शब्दतः पहले सौन्दर्य-सौन्दर्य में सादृश्य समस्तकर पीछे व्यञ्जना से अरविन्द और मुख आदि में सादृश्य को समस्तना व्यर्थ है, सीधे अरविन्द और मुख आदि में ही, मेरी रीति से, सौन्दर्यरूप साधारणधर्ममूलक सादृश्य समस्त लेना चाहिये । मेरी समस्त से मूलकार की रीति ही अच्छी है, क्योंकि लक्षणा तो दोनों (मूलकार और नागेश) को माननी ही पड़ती है, तब यदि मूलकार (पण्डितराज जगन्नाथ) अरविन्द और मुख आदि की सुन्दरता की समानता समस्त कर वद्वारा उनमें (अरविन्द और मुख आदि में) समानता समस्तते हैं तो कोई उचित नहीं, प्रत्युत सीधे अरविन्द और मुख आदि में समानता समस्त लेने की अपेक्षा उचित है । कारण, वस्तुतः उन दोनों के सौन्दर्य भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, अतः उन दोनों में सादृश्य और तन्मूलक अभिन्नता समस्त विना वह साधारण धर्म हो भी नहीं सकता । और ‘अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य’ इस वाक्य से स्वाभाविकरूप में सौन्दर्य-सौन्दर्य की ही समानता प्रतीत भी होती है ।

तथाविधमेकादशवाक्यं विवेचयति—

अरविन्देन तुल्यमित्यत्र तृतीयार्थो निरूपितत्वम् । तस्य च सादृश्येऽन्वया-
दरविन्दनिरूपितसादृश्याश्रयाभिन्नमिति ।

सादृश्ये इति । तुल्यपदार्थैकदेशे इत्यर्थः । अभिन्नमितीत्यस्य बोध इति शेषः । ‘अर-
विन्देन तुल्यम्’ इति वाक्ये अरविन्दपदोत्तरतृतीयविभक्त्यनिरूपितत्वमर्थः । तुल्यपदस्य
च सादृश्यत्वानर्थः । तत्र विभक्त्यर्थस्य निरूपितत्वस्य तुल्यपदार्थैकदेशे सादृश्येऽन्वयः ।
तथा च ‘अरविन्दनिरूपितं यत् सादृश्यम् तदाश्रयाभिन्नम् सुखादिकं’मिति बोध इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक ग्यारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्देन इत्यादि । ‘अरविन्देन
तुल्यम् (अरविन्द के समान)’ इस वाक्य में ‘अरविन्द’ पद के आगे आई हुई तृतीया
विभक्ति का अर्थ है ‘निरूपितत्व’, उसका अन्वय, तुल्यपदार्थ-सादृश्य-युक्त के एक भाग
‘सादृश्य’ में किया जातः है और तुल्यपदार्थ का ‘अभेद’सम्बन्ध से मुख आदि में, अतः
इस वाक्य का शाब्दबोध ‘अरविन्द से निरूपित सादृश्य के आश्रय (सादृश्ययुक्त) से
अभिन्न मुख आदि’ यह होता है ।

तादृशा द्वादशवाक्यं विवेचयितुमवतारयति—

तत्रैव सौन्दर्येणेति धर्मनिर्देशो तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम् । तेनारविन्दनिरूपित-
सौन्दर्यप्रयोज्यसादृश्यवदभिन्नमिति ।

तत्रैवेति । 'अरविन्देन तुल्यम्' इति वाक्य एवेत्यर्थः । धर्मनिर्देशे इति । 'सौन्दर्येणा-
रविन्देन तुल्यम्' इति वाक्ये इति यावत् । अरविन्दनिरूपितेत्यादि । अरविन्दनिरूपित
सौन्दर्यप्रयोज्यञ्च यत् सादृश्यं तद्वदभिन्नमित्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

उपमाप्रतिपादक चारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—तत्रैव इत्यादि । उक्त वाक्य
में यदि 'सौन्दर्येण' इस धर्मबोधक पद का भी निर्देश कर दिया जाय—अर्थात् 'सौन्दर्येणा-
रविन्देन तुल्यम् (सुन्दरता से कमल के समान)' ऐसा वाक्य माना जाय, तब इस
वाक्य में सौन्दर्य पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'प्रयोज्यता'—अर्थात्
'साध्यता' होता है । अरविन्द पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपितत्व' पहले ही
कहा जा चुका है । अतः इस वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द से निरूपित तथा सौन्दर्य
से सिद्ध होने योग्य सादृश्य से युक्त से अभिन्न' यह होता है ।

तयानिधं त्रयोदशवाक्य विवेचयति—

अरविन्दमाननं च सममित्यत्र प्रथमं शब्दात्सादृश्यवदभिन्नमिति बोधे
पश्चान्मानसी वैयञ्जनिकी वा परस्परनिरूपितसादृश्यस्य प्रतीति प्रसिद्धनिरू-
पितसादृश्यस्य वा ।

अभिन्नमिति । अरविन्दमाननञ्चेति शेषः । परस्परेति । मुखसादृश्यस्य कमले,
कमलसादृश्यस्य मुखे इत्यर्थः । विनिगमनाभावादिति भावः । प्रतिद्वेर्विनिगमकत्वादाह—
प्रसिद्धेति । अरविन्देत्यर्थः । सादृश्यस्य चेति । प्रतीतिरित्यस्यानुपगमः । 'अरविन्दमाननं
च समम्' इति वाक्ये 'सम'शब्दार्थस्य अरविन्दपदार्थेन आननपदार्थेन च सहभेदा-
न्वयः, 'निपातातिरिक्तानामार्ययोरेभेदतिरिक्तसम्बन्धोऽप्युपपन्नः' इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । अतो-
ऽस्माद् वाक्यात् प्रथमम् 'सादृश्यवदभिन्नमरविन्दमाननञ्च' इति शाब्दबोधो जायते ।
पश्चात् व्यञ्जनयाऽरविन्दनिरूपितसादृश्यस्य मुखे, मुखनिरूपितसादृश्यसारविन्दे च प्रतीति-
र्भवति । व्यञ्जनामाननद्वीकुर्वाणा नैयायिकादयस्तु मानसमेव परस्परनिरूपितसादृश्यबोधे पश्चा-
न्मन्यन्ते । एकतरनिरूपितसादृश्यबोधस्तु न सम्भवति, विनिगमकाभावात् । तथा चैवं
विधवाक्यस्थले नमशो द्वयोःपमानतोपमेयता चेति तात्पर्यम् । प्रसिद्धेर्विनिगमकत्वाङ्गीकारे
पुनः अरविन्दनिरूपितसादृश्यस्यैव मुखे पश्चाद् वैयञ्जनिकी मानसी वा प्रतीतिः । तथा
चारविन्दमुपमानमाननत्वोपमेयमिति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक चारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्दमाननञ्च
इत्यादि । 'अरविन्दमाननञ्च समम् (कमल और मुख समान है)' इस वाक्य में 'सम'
शब्द के अर्थ का 'अरविन्द' और 'आनन' दोनों पदों के अर्थों के साथ 'अभेद'संघन्ध
से अन्वय होता है, क्योंकि 'दो प्रातिपदिकों—यदि निपात से अन्य हों—के अर्थों में
परस्पर 'अभेद' के अतिरिक्त कोई संबन्ध नहीं होता' यह नियम पहले लिखा जा चुका
है । अतः प्रथमतः इस वाक्य का शाब्दबोध 'सादृश्य युक्त से अभिन्न मुख और कमल'
ऐसा होता है । और तदनन्तर, साहित्यिकों के हिसाब से व्यञ्जना द्वारा, तथा नैयायिकों
के हिसाब से मन द्वारा, परस्परनिरूपित सादृश्य—अर्थात् अरविन्दनिरूपित सादृश्य
की मुख में और मुखनिरूपित सादृश्य की अरविन्द में—प्रतीति होती है । तात्पर्य यह
कि ऐसे स्थलों पर पर्यायक्रम से दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय माना जा
सकता है, क्योंकि निश्चितरूप में किसी एक से निरूपित सादृश्य दूसरे में मानने का
कोई प्रमाण नहीं है । परन्तु यदि प्रसिद्धि को प्रमाण माना जाय—अर्थात् यह कहा
जाय कि सादृश्य का प्रसिद्ध पदार्थ के द्वारा निरूपित होना अनुभवसिद्ध है, तब उक्त
वाक्य में सुन्दरता आदि धर्म के लिये जो प्रसिद्ध हो, उससे निरूपित सादृश्य दूसरे में

समझना चाहिए—अर्थात् पीछे होनेवाले वैयक्तिक अथवा मानसबोध में, सुन्दरता आदि के लिये चित्रप्रतिबिम्ब अरविन्द से निरूपित सादृश्य का भान सुख में होगा ऐसा मानना चाहिए । इस स्थिति में निश्चितरूप से अरविन्द उपमान और सुख उपमेय समझा जायगा ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्मकं चतुर्दशवाक्यं विवेचयितुमाह—

विम्बप्रतिविम्बभावापन्ने तु—

पन्नेत्विति तदापन्नधर्मकेत्विन्यर्थं । विम्बप्रतिविम्बभावपदार्थं प्रागुक्तं ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मवाले वाक्य में तो—

तादृशं वाक्यं निर्दिश्य विवेचयति—

‘कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।

कुङ्कुमालेपनो याति कापायवसनो यतिः ॥’

इत्यादौ कुङ्कुमालेपनादिविशिष्टो यतिः कोमलातपादिविशिष्टसन्ध्याकालसदृशाभ्रमिश्र इति शक्त्या बोधे पश्चात्सादृश्यप्रयोजकधर्माकाङ्क्षायां श्रुतानां कोमलातपादीनामुपमानोपमेयविशेषणानां सादृश्यमूले तदात्म्याध्यवसाने साधारणत्वनिष्पत्तिः ।

सहोदरशब्दार्थमाह—सदृशेति । तादात्म्येति । अभेदेत्यर्थं । अयं भाव—
‘कोमलेन आतपेन रक्तवर्णेन मेघेन च विशिष्टस्य सार्यसमस्य सहोदर’ (लक्षणया तत्सदृश इत्यर्थं) कुङ्कुमलेपकापायवस्त्रवस्त्रितवस्त्राभ्या युक्तं संन्यासी गच्छतीत्यर्थके ‘कोमलातप’ इत्यादिवाक्ये सहोदरपदं सदृशे लाक्षणिकम् । तथा च प्रथमम् ‘कुङ्कुमालेप कापायवस्त्रविशिष्टो यतिः’, कोमलातपशोणाभ्रविशिष्टसन्ध्याकालसदृशाभ्रमिश्र’ इत्यभिधाजन्यो बोध सम्पद्यते । ततः सन्ध्याकालसंन्यासिनोः कथं सादृश्यं ?—क सादृश्यप्रयोजको धर्म ?—इति जिज्ञासायाः समुत्पिताया कोमलातपशोणाभ्रपदार्थोपमानविशेषणतयोक्तौ, कुङ्कुमालेपकापायवसनो उपमेयविशेषणतयोक्ते, भिन्ना अपि सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसानरूपविम्बप्रतिविम्बभावविशिष्टाः सन्तः सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मता भजन्ते इति ज्ञानं जायत इति ।

तादृश वाक्य का निर्देश करके अपेक्षित विवेचन करते हैं—कोमलातप इत्यादि । ‘सूदु धूप और लाल मेघ वाले सन्ध्यासमय का सगा भाई, केसर के लेप और कपाय वर्ण के वस्त्र से युक्त संन्यासी जा रहा है’ इत्यादि अर्थ वाले ‘कोमलातप’ इत्यादि वाक्यों के स्थल में, अभिधा के द्वारा यह शब्दबोध होता है कि—‘केसर के लेप आदि विशेषणों से युक्त संन्यासी, कोमल पूष आदि विशेषणों से युक्त सन्ध्यासमय के सदृश से अभिन्न है (अर्थात् सदृश है)’ । उक्त शब्दबोध के हो जाने पर श्रोताओं के हृदयों में यह आकांक्षा उठती है कि इस—सन्ध्याकाल और संन्यासी की—उपमा में सादृश्य को सिद्ध करने वाला समान धर्म क्या है ? और तब धर्म के अभिन्न होने के लिये उक्त वाक्य में सुने गए ‘कोमल आतप’ और ‘कुङ्कुमलेप’ आदि उपमान तथा उपमेय के विशेषणों का, परस्पर सादृश्य के कारण, तादात्म्य (अभेद) मान लिया जाता है, और इस प्रकार से एक रूप माने हुए वे विशेषण समानधर्मरूप बन जाते हैं । अभिमाय यह कि—यहाँ विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलक उपमा होती है, यहाँ शब्दबोध तो उक्त रीति से हो जाता है—अर्थात् ‘इव’ आदि शब्दों के रहने पर उनके अर्थ ‘सादृश्य’ का ‘आध्रयता’संबन्ध से और ‘सहोदर’ आदि लक्षणा से ‘सदृश’ अर्थ वाले पदों के रहने पर उनके अर्थों का ‘अभेद’संबन्ध से उपमेय में अन्यत्र हो जाता है । पर समान धर्मका

ज्ञान बाद में होता है, जो उपमान और उपमेय के विशेषरूप में यद्यपि कहा रहता है, तथापि साधारणधर्मरूप वह तब तक नहीं हो पाता, जब तक सादरयमूलक अभेद का आरोप उनमें नहीं किया जाता।

पाठभेदेन बोधवित्त्वं दर्शयितुमाह—

कुङ्कुमालेपकापायवसनाभ्यामयं यतिरित्यत्र कुङ्कुमालेपवसनयोरसाधारणयो-
रपि साधारणत्वज्ञानजननद्वारा कल्पनीयसादृश्यनिष्पत्तिप्रयोजकत्वात्प्रयोज्यत्वेन
सादृश्येऽन्वयः । एकदेशान्वयः पुनरेषु पक्षेष्वगतिकतयाश्रीयत इत्युक्तमेव ।

‘कुङ्कुमालेप “यति” इति पूर्वोक्तपयोत्तरार्थस्थाने परिवर्तित पाठ । साधारणत्वेति ।
सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसानेनेत्यादि । अथ भाव—यदि मूलोक्तपयोत्तरार्थस्थाने ‘कुङ्कुमा-
लेपकापायवसनाभ्यामयं यति’ इति पाठो भवेत्, तदा ‘प्रयोज्यत्वं’ तृतीयाविभक्त्यर्थे
स्वीकृत्य ‘कुङ्कुमालेपकापायवसनप्रयोज्यम् यत् कोमलातपशोणात्रसभ्याकात्प्रतियोगिकं
सादृश्यम् तद्वदभिज्ञो यति’ इत्याकारक शान्दबोध करणीय । ननु असाधारणे
कुङ्कुमालेपवसने क्य सादरयस्य प्रयोजके भवेतामिति चेत्, कोमलातपशोणाभ्याम्
सह सादरयमूलकाभेदाध्यवसाने साधारणत्वेन हायमानयोस्तयो सादर्यप्रयोजकताया
विवादाभावात् । यद्यपीत्यं बोधे सतोदरपदलक्ष्यार्थैकदेशे सादर्ये तृतीयार्यान्वयेन ‘एक-
देशान्वयदोषो जातस्तथापि स दोष सद्य एवे’ति प्रागुक्तम् । इति ।

‘कोमलातप—’ इस पद्य में ही पाठभेद कर देने पर बोध में कुछ बिचित्रता हो जाती
है, इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—कुङ्कुमा इत्यादि । ‘कोमलातप—’ इस पद्य
के उत्तरार्थ को बदल कर यदि ‘कुङ्कुमालेपकापायवसनाभ्यामयं यतिः अर्थात्—यह
संन्यासी, केसर के लेप और गेरुआ बख के कारण—’ ऐसा कर दें, तब ‘कुङ्कुमालेप-
कापायवसन’ पद के आगे जो तृतीया का द्विवचन-(भ्याम्) विभक्ति है, उसका अर्थ
‘प्रयोज्यता’ होया उसका अन्वय ‘सतोदर’ पद के लक्ष्य अर्थ ‘सत्ता’ के एकदेश-‘सादर्य’
के साथ किया जायगा । तदनुसार उक्त परिवर्तित पाठ वाले वाक्य का शाब्दबोध
होगा ‘केसर और गेरुआ बख से प्रयोज्य-अर्थात् सिद्ध किया जाता हुआ—जो कोमल
आतप तथा लाल मेघ से युक्त सभ्या-समय का सादर्य, उससे युक्त से अभिन्न यह
संन्यासी है ।’ आप कहेंगे—केसर और गैरिक बख तो असाधारण पदार्थ हैं—अर्थात्
केवल संन्यासी में रहने वाले धर्म हैं, फिर उनसे प्रयोज्य (साध्य) सभ्या का सादर्य
कैसे होगा ? ऐसा तो तब होता यदि वे धर्म साधारण होते—अर्थात् संन्यासी और
संन्यासमय दोनों में रहने वाले होते, पर ऐसा नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि—
जब समान होने के कारण कोमल आतप और लाल मेघ का अभेद, केसरलेप तथा
गैरिक बख में आरोपित हो जाता है, तब तो केसरलेप तथा गैरिक बख साधारण समझे
जाते हैं, अतः उस हालत में उनसे उक्त सादर्य का प्रयोज्य होना भी अयुक्त नहीं
समझा जा सकता । अब बात रही एक यह कि उक्त तृतीयाविभक्त्यर्थ का अन्वय
सतोदर पद के लक्ष्यार्थ-सत्ता-के एकदेश-सादर्य-के साथ करना पड़ता है, सो यह एक-
देशान्वय दोष तो इन पद्यों में आगत्या सहना पड़ता है यह बात पहले ही कही
जा चुकी है ।

सादर्यस्यातिरिक्तान्ने दिग्दर्शनविधया चतुर्दशोपमाप्रतिपादकवाक्याना बोधा आलो-
चिता, सम्प्रति तस्य समानधर्मरूपत्वे कियता वाक्याना बोधानालोचयितुमुपक्रमते—

सादर्यस्य समानधर्मरूपत्वे तु अरविन्दसुन्दरं वदनमित्यत्र लक्षणयाऽ-
रविन्दवृत्तिसमानधर्मः प्रतीयते । तस्य चाभेदेन सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दर-
त्वेनान्वयः ।

लक्षणयेति । अस्त्यारविन्दपदस्येत्यादि । अन्वय इति । तथा च 'अरविन्दरुति समानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्न वदनमि'ति बोध इति भावः ।

पहले सादर्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से दिग्दर्शन कराने के लिये भिन्न तरह के चौदह उपमाबोधक वाक्यों के शाब्दबोध बतलाये गये हैं, अब, सादर्य को समानधर्मरूप मानने वालों के हिसाब से कुछ वाक्यों के अन्वयबोध बतलाये जाते हैं—सादर्यस्य इत्यादि । सादर्य को जब समानधर्मरूप माना जाता है, तब, 'अरविन्दसुन्दर वदनम् (कमलसुन्दर मुख)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद का लक्षणा द्वारा, 'अरविन्द में रहनेवाला समान धर्म' अर्थ होता है और उस लक्ष्य अर्थ का अन्वय 'अभेद'सम्बन्ध से सुन्दर पद के अर्थ सौन्दर्यविशिष्ट के एक भाग-सौन्दर्य के साथ होता है । सुन्दर पदार्थ का मुख आदि के साथ अभेदान्वय होना प्रसिद्ध ही है, अतः उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न मुख' ऐसा होगा ।

तथाविध द्वितीयवाक्यं प्रदर्शयति—

अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रारविन्दपदार्थं आधेयतया संसर्गेण इवपदार्थेन समानधर्मेणान्वेति । शेष प्राग्बत् ।

आधेयतयेति । तिष्ठन्नेतेत्यर्थः । शेषमिति । तस्य चाभेदेनेत्यादौत्यर्थः । तथा च 'अरविन्दनिष्ठसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमि'ति बोध इति भावः ।

द्वितीय वाक्य दिखलाते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (अरविन्द सा सुन्दर)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद के लक्ष्य का अन्वय, 'इव' पद के अर्थ—समान धर्म—के साथ, आधेयता—निष्ठत्व—अर्थात् 'रहने रूप'सम्बन्ध से होता है और लक्षित वातों पहले की तरह—अर्थात् 'इव' के अर्थ समान धर्म का अन्वय, सुन्दर पदार्थ के एक-देश-सुन्दरत्व—के साथ, 'अभेद सम्बन्ध से होता है इत्यादि । इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द में रहनेवाला जो समान धर्म, उससे अभिन्न जो सुन्दरता, तद्युक्त से अभिन्न मुख आदि' यह होता है ।

तृतीयं तादृश वाक्यं समुल्लिखति—

सौन्दर्येणारविन्देन सममित्यत्र सौन्दर्योत्तरतृतीया धान्येन धनीत्यत्रेव अभेदार्थिकया अन्यया च निरूपितत्वार्थिकया सौन्दर्याभिन्नमरविन्दनिरूपितं यत्सादर्यं तद्वदभिन्नमिति धीः ।

'सौन्दर्येणारविन्देन समम्' इति वाक्ये सौन्दर्यपदोत्तरवर्तिनी तृतीयाविभक्तिरभेदार्थिका 'धान्येन धनी' इतिवत् । अरविन्दपदोत्तरतृतीयाविभक्तिश्च निरूपितत्वार्थिका । तयोश्च तृतीयाार्थयोः समपदार्थकदेशे सादर्येऽन्वयः । तथा च मूलोक्तकारः शाब्दबोध-स्तरमाद् वाक्याद् भवतीति भावः ।

तृतीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—सौन्दर्येण इत्यादि । 'सौन्दर्येणारविन्देन समम् (सौन्दर्य के कारण अरविन्द के समान)' इस वाक्य में 'सौन्दर्य' पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' उसी तरह से होता है जैसे 'धान्येन धनी' इस वाक्य में 'धान्य' पद के आगेवाली तृतीया का । तात्पर्य यह कि 'प्रहृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से जहाँ तृतीया विभक्ति होती है, वहाँ उसका अर्थ अभेद होता है, अतएव 'धान्येन धनी' का अर्थ 'धान्य से अभिन्न धनवाला' होता है, उसी तरह यहाँ भी हुआ है । 'अरविन्द' पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपितत्व' है, और इन दोनों तृतीयाओं का अन्वय 'अभेद'सम्बन्ध से 'सम' शब्द के अर्थ—सदृश—के एकदेश—सादर्य—के

साथ होता है। इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'सौन्दर्य' से अभिन्न—अर्थात् सौन्दर्यरूप, और भरविन्द से निरूपित जो सादृश्य, नदाश्रय से अभिन्न मुख आदि यह होता है।

लुप्तोपमास्थले बोध विचारयति—

क्यङ्कर्थाचारो धर्ममात्रम् । तस्य चोपमानपदेन लक्षणययोपस्थितं तन्निरूपितसादृश्य प्रयोजकतासम्भेदेन वा विशेषणम् । विशेष्य चाश्रयतयोपमेयम् ।

धर्ममात्रमिति । समानधर्मरूप एव क्यङ्कर्थाचारो न तु क्रियादिरूप इति भावः । सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे आह—प्रयोजकतेति । धर्मरूपत्वे आह—अभेदेति । विशेष्यमिति अस्य चेत्यादि । अथ भावः—लुप्तोपमा समासगता, तद्धितगता, नामधातुगता, कृदन्तगता च भवन्ति, तत्र समासगतलुप्तोपमाप्रतिपादकस्य 'शरविन्दसुन्दरम्'त्यस्य बोध प्रागुक्तः । तद्धितकृदन्तगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यजबोधे न किञ्चिद् वैचिन्त्यमिति नामधातुगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यस्थले बोधोऽधुना विचारणीयं तत्रापि क्यङ्प्रत्ययस्थले प्रथममत्राह । 'कर्तुं क्यङ् सलोपश्च' इति सूत्रानुशास्त्रस्य क्यङ्प्रत्ययस्याचारी वाच्यः स च समानधर्मरूप, तत्र च उपमानपदलक्ष्यार्थस्य स्वनिरूपितसादृश्यस्यान्वयो भवति, अन्वयश्च स सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वे 'प्रयोजकता'सम्बन्धेन तस्य समानधर्मरूपत्वे पुन 'अभेद'सम्बन्धेन । प्रत्ययार्थस्य चाश्रयतासम्बन्धेनोपमेयेऽन्वयो जायते । तथा च 'निर्जलमीनायते महिला' इत्यादौ 'निर्जलमीननिरूपितसादृश्यप्रयोजकसमानधर्माश्रयाभूता नायिका' इति बोध सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे भवति, तस्य समानधर्मरूपत्वे पुन 'निर्जलमीननिरूपितसादृश्याभिन्नसमानधर्माश्रयाभूता कामिनी' इति । अन्ययोर्बोधयोः प्रत्ययार्थो विशेषणम् कृपमेयपदार्थस्य विशेष्य इति ।

लुप्तोपमास्थल में बोध का विचार करते हैं—क्यङ्कर्था इत्यादि । समास, तद्धित, नामधातु और कृदन्त इन चार स्थलों में लुप्तोपमा का अवसर आता है। उनमें से समासस्थलीय लुप्तोपमा का शाब्दबोध 'शरविन्दसुन्दरम्' में दिखलाया जा चुका है। तद्धित और कृदन्तगत लुप्तोपमा के बोधों में कोई खास बिचित्रता नहीं होती, अतः नामधातुगत लुप्तोपमा के बोध का ही विचार किया जाता है। नामधातु में भी उपमाबोधक दो प्रत्यय होते हैं एक 'क्यङ्' और दूसरा 'क्यच्', उनमें से पहले 'क्यङ्' को लीजिए—'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ होता है 'आचार' जो समानधर्मरूप माना जाता है, क्यङ्कर्त्त—आचार—के समान अनुरूप क्रिया आदि रूप नहीं। उसका विशेषण होता है उसके प्रकृतिभूत उपमानबोधक पद से, लक्षणाद्वारा, उपस्थित उपमाननिरूपित सादृश्य—अर्थात् 'क्यङ् प्रत्यय' जिससे होता है, वह उपमानबोधक शब्द रहता है, क्योंकि 'कर्तुं क्यङ् सलोपश्च' इस पाणिनिसूत्र से उपमानबोधक शब्द के आगे ही 'क्यङ्' प्रत्यय आता है और वह उपमानबोधक पद वहीं नियमतः 'स्वनिरूपित सादृश्य' रूप अर्थ में लाक्षणिक रहता है। इस प्रकृत्यर्थ का उक्त प्रत्ययार्थ में अन्वय होता है। यह अन्वय, अतिरिक्तसादृश्यपदार्थवादी के मत में 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से और समानधर्मरूपसादृश्यपदार्थवादी के मत में 'अभेद'सम्बन्ध से होता है। प्रत्ययार्थ—समानधर्म—उपमेय का विशेषण होता है अर्थात् 'क्यङ्' प्रत्यय वाले वाक्य के बोध में उपमेय सबसे विशेष्य होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्ययार्थ का 'आश्रयता'सम्बन्ध से उपमेय में अन्वय किया जाता है। इस तरह से 'निर्जलमीनायते महिला (नायिका जलरहित प्रदेश की मछली के समान आचरण करती है,)' इत्यादि 'क्यङ्' प्रत्यय वाले वाक्य से शाब्दबोध होता है कि—'जलशून्य देश की मछली से निरूपित सादृश्य के

प्रयोजक (अतिरिक्त सादृश्यमत में) अथवा उक्त सादृश्य से अभिन्न (समानधर्म-रूप सादृश्यमत में) समानधर्म का व्याख्य नायिका ।

क्यञ्प्रत्ययविषये विचारयति—

क्यञ्जर्थाचारध्वानुरूपक्रियादिः ।

अनुरूपक्रियादिरिति । अत्रानुरूपत्वं सदृशत्वं तन्नोपलक्षणम्, न तु पाच्यपुक्षिप्रविष्टम् । क्यञ्जर्थाचारस्य क्रियात्वेन विशेषरूपेण भावमिति भावः । अन्यत् पूर्ववत् । तथा च 'मलयानिलमनलीयति महिला' इत्यादिवाक्येभ्यः 'अनलनिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्यामिन्ना वा या मलयानिलकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती नायिका' इत्यादिरित्या बोधो भवति । 'तिलोत्तमीयन्ती' इत्यादितस्तु 'तिलोत्तमानिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्यामिन्ना वा या ध्वान्मकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती' इत्यादिरित्या बोधः । शब्दशक्तिप्रकाशिकाकारो जगदीशस्तु "आचारसदृश आचारः क्यञ्जर्था तद्विशेषणीभूते आचारे प्रकृत्यर्थस्य विशेष्यीभूते च माणवकादे' कर्मत्वेनान्वयस्तथा च 'पुत्रोयति माणवकं देवदत्त' इत्यादौ 'पुत्रकर्मकाचरणसदृशं यन्माणवककर्मकाचरणं तदनुकूलकृतिमान् देवदत्त' इत्यादिबोधः" इत्याचष्टे ।

'क्यञ्' प्रत्यय के विषय में विचार करते हैं—क्यञ्जर्था इत्यादि । 'क्यञ्' प्रत्यय का भी अर्थ 'आचार' है, पर यहाँ यह आचार 'क्रिया' के रूप में भासित होता है, उस क्रिया के उपमेय का क्रिया के समान होना आवश्यक है । अतः—'महिलामलयानिलमनलीयति (विरहिणी नायिका मलयपवन में अग्नि के तुल्य आचरण करती है)' इत्यादि वाक्य का शाब्दबोध, उक्त रीति से यह होता है कि 'अग्नि से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा अग्निनिरूपितसादृश्य से अभिन्न जो मलयपवनकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृति (यत्) वाली नायिका ।' 'तिलोत्तमीयन्ती—तिलोत्तमामिव धारमानम् आचरन्ती—अर्थात् अपने में तिलोत्तमा सा आचरण करती हुई' इस वाक्य में भी वही 'क्यञ्' प्रत्यय होता है पर यहाँ कर्म है 'आत्मा', अतः इस वाक्य का बोध 'तिलोत्तमा से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा उससे निरूपित सादृश्य से अभिन्न जो आत्मकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृतिवाली कोई नायिका' यह होता है । शब्दशक्तिप्रकाशिकाकार जगदीश भट्टाचार्य ने तो 'क्यञ्' प्रत्यय का अर्थ 'आचारसदृश आचार' माना है और उन दोनों में से प्रथम 'आचार' में क्यञ् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ का तथा दूसरे 'आचार' में वाक्योक्त कर्मपदार्थ का अन्वय स्वीकार किया है । तदनुसार 'मलयानिलमनलीयति' का शाब्दबोध—'अग्निकर्मक आचारसदृश जो मलयपवनकर्मक आचार तदनुकूल यान वाला' ऐसा होगा यह भी समझ लेना चाहिए ।

उपसंहारति—

इति दिक् ।

पूर्वोक्तविचारो दिग्दर्शनम्, अन्यथैव दिशाऽन्यत्राप्यवगन्तव्यमिति भावः ।

उपसंहार करते हैं—इति इत्यादि । इति—अर्थात् पूर्वोक्त विचारसमूह, दिक्—अर्थात् दिशाप्रदर्शनमात्र है । तात्पर्य यह कि—पूर्वोक्त से अन्य उपमाप्रतिपादक चारों के शाब्दबोध भी इसी रीति से समझ लेने चाहिए ।

इवादिरव्ययः सादृश्यस्य द्योतको वाचको वेति विमृशति—

तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गात् । द्योतकत्वं च स्वसमभिव्यथाहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्य-प्राप्तकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः । उपसर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम् ।

अन्यथा उपास्यते गुरु, अनुभूयते सुखम्, गुर्वादिलेनाभिधानं न स्यात् । धात्वर्थकर्मताविरहात् । इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात् । प्रागुक्तहेतु-स्त्वप्रयोजकत्वान्न साधकः । अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव द्योतकतापत्तिरिति नैयायिकाः ।

तत्रेति । सादृश्ये इत्यर्थः । निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य द्योतकत्वे वाचकत्वे वाऽऽन्य, तथा च सादृश्यरूपार्थनिरूपितद्योतकत्वमेवेवादीनां न वाचकत्वमिति भावः । तत्र हेतु-माह—निपात इति । दृष्टान्तमाह—उपसर्ग इति । अत्र द्योतकत्व न साध्यम् निपातत्व-वत्तु अनर्थकनिपातेषु द्योतकत्वाभावेन व्यभिचारात्, किन्तु वाचकत्वाभाव एव साध्यः, अत एव 'न वाचकत्वम्' इत्यंशोक्तिः सङ्गच्छते । तथा च 'इवादयो वाचकत्वाभाववन्त' निपातत्वात्, उपसर्गवन्' इत्यनुमितेराकारः सिद्धयतीति बोध्यम् । नानार्थभिन्नस्थले शक्त्या बोधने तात्पर्यप्राहकानपेक्षणादाह—लक्षणयेति । लेनेति । लकारेणेत्यर्थः । अप्र-योजकत्वादिति । अप्र "—साक्षात्स्वित्ये दयिता" इत्यादौ लेन दयितादेरभिधानसिद्धये निपातत्वे द्योतकतापच्छेदकता कल्प्यते इति चिन्त्यमेतत् ।" इति नागेशः । द्योतकता-पत्तिरिति । न चेषापत्तिः, स्वरादीनां स्वातन्त्र्येण प्रयोगानापत्तेरिति भावः । उपसर्गाणां द्योतकत्वं सर्वैरास्थीयते, तद्दृष्टान्तेन वैयाकरणा निपातानाम् इवादीनामपि द्योतकत्वमेव स्वीकुर्वन्ति, स्व(द्योतक)ममभिव्याहृतेन (पूर्वं पश्चाद् वा स्थितेन) अन्येन पदेन शक्तिप्रयोज्ये लक्षणाप्रयोज्ये वा विलक्षणे बोधे जनयितव्ये तात्पर्यप्राहकतयोपयोगित्वच्च द्योतकत्वमभिव्याहृतं । तथा च पूर्वोक्तेषु सर्वेषु निपातपटितेषु उपमालङ्कारोदाहरणेषु उपमानबोधका शब्दा एव सादृश्यस्यापि वाचकाः । इवादयस्तु तैः शब्दैः सादृश्यबोधने तात्पर्यप्राहकतया समुपयुज्यन्ते । नैयायिकास्तु 'उपास्यते गुरु, अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ उपानुलपानामुपसर्गाणामुपासनानुभवार्थनाचनत्वे तेषामर्थानां धातुवाच्यताविरहेण गुरु-सुखयोर्धात्वर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वाभावे कर्मवाचकेन लकारेण तयोरनुक्ततया प्रथमाद्यनापत्तिरिति तत्र धातूनामेवोपासनाशयवाचकत्वमङ्गीकार्यम्, तथा चोपसर्गाणा-मन्यथा द्योतकत्वेऽङ्गीकृतेऽपि निपातानामिवादीनां वाचकत्वमेव स्वीकार्यम्, तावतापि निपातपटितप्रयोगस्थले तादृशानुपपत्तेरप्रसङ्गात् । न च निपातत्वरूपेण हेतुना इवादीनां द्योतकत्वमनुमितं भवतीति वाच्यम्, तस्य हेतोरप्रयोजकतयोक्तानुमितेरेवासिद्धेः । अन्यथा अन्यस्यत्वेन हेतुना सर्वेषामेवाव्ययानां द्योतकत्वमिति कालुष्येति इति कथयन्ति । तथा च नैयायिकरीत्या पूर्वोक्तेषु उदाहरणेषु उपमानबोधकानि पदानि केवलमुपमानवाचकान्येव, सादृश्यवाचकास्तु इवादयो निपाता एवेति भावः ।

'इव' आदि अव्यय, सादृश्य के द्योतक हैं अथवा वाचक इस बात का विचार अथ करते हैं—तत्र इत्यादि । उपसर्ग—प्र, परा, अनु, भव आदि—अर्थविशेष के द्योतक होते हैं वाचक नहीं, यह बात सभी (वैयाकरण तथा नैयायिक आदि) को मान्य है, पर निपात—इव, यथा आदि—के विषय में मतभेद है । वैयाकरणों का कथन है कि—निपात भी उपसर्ग के समान अर्थविशेष के द्योतक ही हैं वाचक नहीं, और द्योतक उनको कहा जाता है जो अपने अगल-बगल के अन्य पदों से शक्ति द्वारा अथवा लक्षणा द्वारा होने वाले अर्थ-विशेष के बोध में तात्पर्यप्राहकरूप से उपयोगी होते हैं । वैयाकरणों के इस सिद्धान्त के अनुसार 'इव' आदि निपात सादृश्य के द्योतकमात्र हैं, वाचक तो उसके भी उपमानबोधक पद ही होते हैं । नैयायिकों का कथन इससे भिन्न है । वे कहते हैं कि—'उपास्यते गुरु (गुरु सेवित होते हैं)' और 'अनुभूयते सुखम् (सुख अनुभूत होता

है) इत्यादि वाक्यों में यदि 'सैवन' और 'अनुभव' क्रमशः 'उप' और 'अनु'रूप उपसर्गों के अर्थ माने जायें—अर्थात् उन अर्थों का वाचक इन उपसर्गों को कहा जाय, तब 'गुरु' और 'सुख' आदि कर्म नहीं होंगे, क्योंकि कर्म वे ही कहलाते हैं जो धातु के अर्थ—व्यापार से होनेवाले फल के आश्रय हों और अब उक्त रीति से 'सैवन' तथा 'अनुभव' धातु के अर्थ हुए नहीं, इस तरह जब वे कर्म नहीं हो सकेंगे, तब लकार—अर्थात् कर्म-वाच्य—'ते' प्रत्यय से वे उक्त भी नहीं होंगे और उस हालत में उन (गुरु तथा सुख पद) से प्रथमाविभक्ति नहीं हो सकेगी, अतः अगत्या उपसर्गों को भले ही द्योतक माना जाय, (उपसर्ग के द्योतक होने पर 'आस्' और 'भू' धातु ही, 'सैवन' एवं 'अनुभव' के वाचक होते हैं और तब उक्त सभी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं)। पर निपात—इव आदि—को वाचक मानना ही समुचित है, क्योंकि उन्हें वाचक मानने पर भी कोई उस तरह की आपत्ति नहीं होती। तब रही बात उनके निपात होने की, सो वह कुछ नहीं—अर्थात् निपात होना रूप हेतु उनको द्योतक सिद्ध करने में अप्रयोजक—असमर्थ—है। यदि ऐसा हेतु लिया जाय, तब 'अव्ययव'रूप हेतु से—अर्थात् अव्यय होने के कारण सभी अव्ययों को द्योतक क्यों नहीं मान लिया जाय? यह तो आप कह नहीं सकते कि—हम सभी अव्ययों को द्योतक मानते हैं, क्योंकि यदि सभी अव्यय अपने-अपने अर्थ के केवल द्योतक ही हों, वाचक नहीं, तब स्वर्ग के अर्थ में जो केवल 'स्वः' इस अव्यय का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग किया जाता है, वह नहीं हो सकेगा। फलतः नैयायिक लोग निपात को वाचक ही मानते हैं। तदनुसार 'इव' आदि निपात, सादर्यरूप अर्थ के स्वतन्त्र वाचक हैं, उपमानवाचक पद केवल उपमान के बोधक होते हैं। वैयाकरणशिरोमणि नागेश, यहाँ वैयाकरणों के मत के समर्थन में लिखते हैं कि—जिस तरह 'उपास्यते गुरुः', 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से उपसर्गों को द्योतक माना जाता है उसी तरह 'साक्षात्क्रियते इयिता' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से निपातों को भी द्योतक मानना ही चाहिए। तात्पर्य यह कि—यदि निपात को द्योतक न मानकर वाचक माना जायगा, तब उक्त प्रयोग में 'साक्षात्कार' अर्थ 'साक्षात्' इस निपात का ही किया जायगा, 'कृ' धातु का नहीं, फिर तो वे सब आपत्तियाँ यहाँ भी टपक पड़ेंगी, जो उपसर्गों को द्योतक न मानने पर 'उपास्यते गुरु' इत्यादिक में हुई थीं। अतः उपसर्ग तथा निपात द्योतक हैं और इन दोनों से अन्य अव्ययवाचक हैं ऐसा ही मानना उचित है।

उपमादोषानाख्यातु प्रवृत्ते—

अथास्याश्चमत्कारस्यापकर्षकं यावत्तत्सर्वमपि दोषः। कविसमयप्रसिद्धिरहित्वम्, उपमानोपमेययोर्जात्या प्रमाणेन लिङ्गसंख्याभ्यां चानुसङ्गम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिकत्वम्, अनुगामितायामनुपपद्यमानकालपुरुषविध्याद्यर्थकत्वम्, एवमादिः।

अथेति अनन्तरमित्यर्थः। सामान्यत आह—अस्याश्चमत्कारस्येति। एतेन 'उपमाचमत्कारापकर्षकत्वम्' इति उपमादोषसामान्यलक्षणं फलितम्। विशेषत आह—कविसमय-त्वादिना। समय-सङ्केतः। आनुसङ्गमिति। न्यूनमासोत्तरं भावप्रत्ययः। कालो भूतादिः। पुरुष-प्रथमादिः। चमत्कारापकर्षकत्वं दोषसामान्यलक्षणम्। एवदोषमाचमत्कारापकर्षकाणि यावन्ति वस्तूनि तानि सर्वाण्युपमादोषत्वैकनिमित्तानि। तादृशादि च वस्तून्त्यनेकानि सम्भवन्ति, यथा कविसङ्केतविरुद्धत्व प्रथम तादृशं वस्तु, उपमानस्योपमेयस्य च मिथोऽननुसङ्गता द्वितीयं तथापिचं तस्तु, अननुसङ्गता चैवं पुनरनेकधा सम्भवति, कश्चित्तयोर्जातिभेदेन, कुत्रचित् प्रमाणभेदेन, कुत्रचित् लिङ्गभेदेन, कुत्रचित् संख्याभेदेन च, बिम्बप्रतिबि-

स्वभावापन्नधर्मक्रीपमास्थले उपमानगततादृशधर्मपेक्षया उपमेयगततादृशधर्माणां न्यून-
ताऽधिकता च तथाविधे वस्तुनी, अनुगामिधर्मक्रीपमास्थलेनुगामिधर्म(क्रिया)गताः काल-
पुरपविधयस्तादृशा समपेक्षिता येषामुपमानोपमेयोभयाशे उपपत्तिर्भवेत्, तद्विरुद्धत्व
तेषां पुनस्तथाविधम् (चमत्कारापरुष्यकम्) एव वर्तित्वमिति भावः ।

अथ उपमादोष का निरूपण क्रिया जाता है—अथ इत्यादि । चमत्कार (ज्ञानन्द-
जनकता) का अपकर्षक (घटानेवाला) होना सामान्यतः दोष माना जाता है, अतः
जितनी वस्तुएँ उपमा के चमत्कार को अपकृष्ट करनेवाली होंगी, वे सभी उपमा के दोष
हैं । उस तरह की अनेक वस्तुएँ हो सकती हैं, जैसे—सर्वप्रथम—कवियों के सिद्धान्तों में जो
वस्तु जिस रूप में प्रसिद्ध नहीं है उसका उस रूप में उल्लेख, दूमरी—उपमान तथा
उपमेय का जाति, प्रमाण, लिङ्ग और सख्या (वचन) द्वारा परस्पर अनुरूप न होना,
विश्वप्रतिविश्वभावापन्न धर्मों में उपमान तथा उपमेय के धर्मों का न्यूनाधिक होना,
और साधारण धर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष और विधि आदि अर्थों का उपपन्न
न होना—अर्थात् ऐसी क्रिया का अनुगामी धर्म होना, जिसके काल-पुरुष आदि उपमान
अथवा उपमेय अंश में सङ्गत न हो सकें । ये सभी चमत्कारापरुष्यक होने से उपमा
के दोष हैं ।

उपमादोषानुदाहर्तुमाह—

क्रमेण यथा—

स्पष्टम् ।

क्रमशः जैसे ।

कविमयप्रसिद्धिराहित्यस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘प्रफुल्लकह्लारनिभा मुखश्री रदच्छदः कुङ्कुमरम्यरागः ।

नितान्तशुद्धा तव तन्वि वाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥’

नायकस्य नायिका प्रत्युक्ति—हे तन्वि कृशाङ्गि ! तव, मुखश्री मुखकान्ति, प्रफुल्ल-
कह्लारनिभा विकसितरक्तकमलनुल्पा, रदच्छद अधरोष्ठयुगलम्, कुङ्कुमरागम्य केसरवत्
रागेण रञ्जिता रमणीय, नितान्तशुद्धा परमपवित्रा, वाणी वाक् च कर्पूरस्य घनसारत्व
परम्परा समूह, इव, विभाति भासते इत्यर्थः । अत्र क्लृप्तमुखयो कुङ्कुमाधरयो, कर्पूरवा-
प्योक्षोपमानोपमेयभावः कविमयप्रसिद्ध इति भावः ।

कविमयप्रसिद्धिराहित्यदोष का उदाहरण दिखलाया जाता है—प्रफुल्ल इत्यादि ।
किसी नायिका के प्रति किसी नायक की उक्ति है—हे कृशाङ्गि ! तेरे मुख की कान्ति
विकसित क्लृप्तपुष्प (रक्तकमल) के समान, तेरे अधरोष्ठ केसर की सी लाली से रमणीय
और तेरी अतिपवित्र वाणी कर्पूर की श्रेणी के तुल्य भासित होती है । यहाँ मुख और
कह्लार, केसर और अधरोष्ठ एव कर्पूर और वाणी के उपमानोपमेयभाव, कवियों के
व्यवहार में प्रसिद्ध नहीं है ।

उपमानोपमेययोर्जात्याऽनुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मुनिः श्वदयं भाति सततं पर्यटन् महीम् ।

विनिवृत्तक्रियाजातः श्वापि लोके शुश्रायते ॥’

श्वः कथयति—सतत निरन्तरम्, महीम् पृथ्वीम्, पर्यटन् भ्रमन्, अथ कवि-
हृदयस्य, मुनिः श्वन् कुक्कुरवन्, भाति भासते । विशेषण निवृत्तं दूरीभूतम्, क्रिया-
जातम् व्यापारसमूहो यस्य तादृशः, श्वा कुक्कुरः, अपि, लोके संसारे, शुकादते शुकादेश-
मुनिवदाचरतीत्यर्थः । अथ श्वमुन्योः शुकादेशमुनेश्च जात्यानुरूपत्वम् इति भावः ।

उपमान और उपमेय में जाति द्वारा अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—मुनिः इत्यादि । कवि का कथन है—निरन्तर पृथ्वी में चढ़र लगाने वाला यह मुनि कुत्ते के समान प्रतीत होता है । सभी कामों से मुख मोड़ लेने वाला कुत्ता भी शुकदेव मुनि के समान मासित होता है । यहाँ पूर्वार्ध में कुत्ते के साथ मुनि की और उत्तरार्ध में शुकदेव के साथ कुत्ते की जो उपमा दी गई है, वह जाल्या अनुरूप नहीं है, अर्थात् कुत्ते की जाति, सहज उपाय से भी मुनि के सदृश नहीं हो सकती ।

उपमानोपमेययो प्रमाणाननुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सरसि प्लवदाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् ।

आदिकारणतोयौघ इव ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥’

कवेर्कवि—सरसि सरोवरे लवत् तरत्, सुपचेलिमम् सुपकम् एतच्च प्लवनयोग्यता-सम्पादनार्थम्, आनफलस्य तदयोगात् जम्बीरम्, आदिकारणस्य ‘अप एव सरासिर्दौ तासु बीजमवासज्जत्’ इति श्रुतेः दृष्टिप्रथमकारणस्य तोयस्य जलतत्त्वस्य, औषे रामूहे, प्लवन्, ब्रह्माण्डस्य ससारस्य, मण्डलम् नक्षत्रम्, इव, आभाति भासत इत्यर्थः । अत्र सरोवरादिकारणीभूतजलसमूहयो तथा जम्बीरब्रह्माण्डमण्डलयोश्च प्रमाणाननुरूप्यम्, प्रथमयोर्न्यूनपरिमाणत्वात् द्वितीययोश्च महापरिमाणत्वात् इति भावः ।

उपमान तथा उपमेय में प्रमाण (परिमाण) के द्वारा रहनेवाली अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—सरसि इत्यादि । कवि का कथन है—सरोवर में तैरता हुआ अत्यन्त पका नीवू, ‘अप एव सरासिर्दौ ..’ इत्यादि श्रुति के अनुसार आदिकारण-रूप जलसमूह में तैरता हुआ ब्रह्माण्डमण्डल-सा प्रतीत होता है । यहाँ उपमान और उपमेय का प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई आदि) अनुरूप नहीं है । कहाँ छोटा-सा नीवू और कहाँ महाविशाल ब्रह्माण्डमण्डल ! एवम् कहाँ योड़ी दूरी में फँला सरोवर और कहाँ समग्र भुवन को आत्मसाक्ष कर लेनेवाला वह जलसमूह ।

उक्तपद्ये ब्रह्माण्डमण्डलमुपमानं जम्बीरमुपमेयम्, किन्तु तयोः परिवर्तनेऽपि स दोषस्तदवस्थ एवेति प्रतिपादयति—

एतस्यैव किञ्चित्पदव्यत्यासे ब्रह्माण्डस्योपमेयतायां चायमेव दोषः ।

‘सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् । आदिकारणतोयौघे प्लवद्ब्रह्माण्डमण्डलम्’ इतीत्यं परिवर्त्य यदि पूर्वपद्यं पठ्यते, तदा ब्रह्माण्डमुपमेय जायते । परन्तु प्रमाण-तोऽननुरूपतास्यो दोषस्तदवस्थ एव तथापीति सुबोधमेव ।

उक्त पद्य में कुछ पदों को हथर से उधर करके यदि ब्रह्माण्डमण्डल को उपमेय बना दिया जाय—जहाँ पद्य का आकार ‘सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् । आदि-कारणतोयौघे प्लवद्ब्रह्माण्डमण्डलम् ।’ ऐसा कर दिया जाय, तब भी यही (प्रमाणत-अननुरूपता) दोष होगा ।

उपमानोपमेययो लिङ्गसङ्घपाभ्यामननुरूपताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘द्राक्षेव मधुर वाक्य चरितं कौमुदी यथा ।

सदैवार्द्राणि चैतांसि सुखेव सुमहात्मनाम् ॥’

कवेर्वक्ति—सुमहात्मनाम् महामाहात्म्यशालिनाम्, वाक्यं, द्राक्षा, इव, मधुरम्, चरितम् चरित्रम्, कौमुदी चन्द्रिका, यथा इव, चैतांसि हृदयानि, सुखा पीयूषम्, इव आर्द्राणि भवन्तीत्यर्थः । अत्र द्राक्षावाक्ययो तथा कौमुदीचरितयोः पूर्वार्धोक्तयो लिङ्ग-तोऽननुरूपता, उपमानयो लीलिङ्गत्वात् उपमेययोश्च न्यूनसङ्ख्यात् । उत्तरार्धोक्तयो सुखा-

चेतनो लिङ्गसङ्घोमयतोऽनुरूपता, उपमानस्य द्वीलिङ्गत्वादेकत्वतंस्याविशिष्टत्वाच्च उप-
मेयस्य नपुसकत्वात् बहुत्वसङ्घाविशिष्टत्वाच्चेति भावः ।

उपमान तथा उपमेय में लिङ्ग एवं संख्या के भेद से होनेवाली अनुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—द्राक्षेव इत्यादि । कवि का कथन है—अच्छे महात्माओं का वाक्य दाख-सा मीठा, चरित्र चाँदनी सा (निर्मल) और चित्त मुधा की तरह सर्वदा भार्ग्वं (पिपला) रहता है । यहाँ उपमान—दाख, चाँदनी और मुधा—स्त्रीलिङ्ग हैं और उपमेय—वाक्य, चरित्र और चित्त—नपुसकलिंग, अतः लिङ्ग के द्वारा, और—'चेतांसि (चित्त)' बहुवचन है और 'मुधा' एकवचन, अतः संख्या के द्वारा इस उपमा में अनुरूपता दोष होता है ।

विश्वप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मस्य न्यूनताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

'वामाकल्पितवामाज्ञो भासते भाललोचनः ।

शम्पया सम्परिष्वक्तो जीमूत इव शारदः ॥'

कवि शिव वर्णयति—वामया पत्न्या-पत्न्यया कल्पित रचित, वाम दक्षिणैतरम्, अङ्गं येन, तादृश (अर्धनारीश्वर इति यावत्) भाललोचन त्रिनेत्र शिव, शम्पया विदुल्लतया, सम्परिष्वक्त पारिलिप्तः, शारदः शारदाकालीन (एतद् विशेषण गौरवर्णशिव-साहस्यसिद्धयर्थमिति योष्यम्) जीमूतो मेघ, इव, भासते प्रतीयत इत्यर्थः ।

विश्वप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म की न्यूनता का उदाहरण दिखलाया जाता है—वामा इत्यादि । कवि शिवजी का वर्णन करता है—वामा-नारी (पार्वती) से वाम अङ्ग बनाए हुए (अर्धात् अर्धनारीश्वर) छलाह पर लोचन वाले भगवान् शिव, बिजली से आलङ्कित शारदः शरद के मेघ के समान प्रतीत होते हैं ।

उपमादयति—

अत्र जीमूतगतो भालस्थलोचनप्रतिबिम्बो नोपान इति न्यूनत्वम् ।

उक्तपद्ये उपमेयशिवगतवामाकल्पितवामाङ्गत्वप्रतिबिम्बभूतशम्पयाने मेघे शम्पासम्परिष्वक्त यथोपात्तम्, तथोपमानशिवगतभालवर्तिलोचनप्रतिबिम्बभूत किमपि नस्तु उपमाने मेघे नोपात्तम् इति उपमाने धर्मस्य न्यूनतेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में बिम्ब तरह उपमेय-शिव-में कहे गए पार्वतीश्वरलोक के प्रतिबिम्बभूत वस्तु—बिजली का संश्लेष, उपमान-मेघ-में कहा गया है, उस तरह, उपमेय-शिव-में कहे गए भालस्थित नेत्र का प्रतिबिम्बभूत कोई पदार्थ उपमान-मेघ-में नहीं कहा गया है, अतः यहाँ उपमान में धर्म की न्यूनता हो जाती है ।

दोषपरिहारोपायमाह—

'भगवान् भवः' इति कृते तु बिम्बस्यैवाभावात् प्रतिबिम्बापेक्षेति साधु ।

उक्तपद्यस्य 'भाललोचन' इत्यस्य स्थाने 'भगवान् भव' इति पाठो यदि निगते तदोपमेये शिवे बिम्बभूत भाललोचनत्वमेव न तिष्ठतीति उपमाने मेघे तत्प्रतिबिम्बापेक्षा न जायतीति तादृशो पाठो निर्दोषापमा स्यादिति भावः ।

दोषपरिहार का उपाय बतलाया जाता है—भगवान् इत्यादि । उक्त पद्य में जो 'भाललोचन' पद है, उसके स्थान में यदि 'भगवान् भव' ऐसा पाठ मान लिया जाय, तब उक्त दोष दूर हो जाता है, क्योंकि इस पाठ के अनुसार उपमेय-शिव-में ही बिम्बभूत पदार्थ (भाललोचनत्व) नहीं रहता, अतः उपमान-मेघ-में उसके प्रतिबिम्ब की अपेक्षा ही नहीं होती । तादृश्यं यह कि इस परिवर्तित पाठ में मेघ और शिव की उपमा निर्दोष होती है ।

विम्बप्रतिविम्बभावपक्षत्वयोग्यस्य धर्मस्याधिकताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘विष्णुवक्षाःस्थितो भाति नितरां कौस्तुभो मणिः ।

अङ्गारक इवानेकतारके गगनाङ्गणे ॥’

कवि. हरिहृदयस्थलस्थितं कौस्तुभमणिं वर्णयति—विष्णो हरे, वक्षसि उर प्रदेशे, स्थितो वर्तमान, कौस्तुभाख्यो, मणि, अनेकतारके मानाविधनक्षत्रभूपिते, गगनाङ्गणे नमोरूपे प्राङ्गणे, वर्तमान इति शेष, अङ्गारकः मङ्गलाख्यनक्षत्रविशेष, इव. नितरा-मत्यन्तम्, भाति भासत इत्यर्थः ।

विम्बप्रतिविम्बभावयोग्य धर्म की अधिकता का उदाहरण दिखलाया जाता है—विष्णु इत्यादि । कवि भगवान् के वक्ष पर झूलते हुए कौस्तुभमणि का वर्णन करता है—विष्णु भगवान् के उर स्थल पर वर्तमान कौस्तुभमणि, अनेक तारों से युक्त आकाश-मण्डल में स्थित मङ्गल नामक तारे की तरह अत्यन्त शोभित होता है ।

उपमादयति—

अत्र तारकाणां विम्बाभावादाधिक्यम् ।

उक्तपद्ये उपमेयवाक्यायै तादृश किमपि वस्तु नोपात्तम्, यदुपमानवाक्यार्थोपात्ततारकविम्बभावं भजेत्, अतः उपमानवाक्यार्थेऽनेकतारकरूपस्य धर्मस्याधिक्यमित्ययमुपमादोष इति भावः ।

उपमादन करने हैं—अत्र इत्यादि । ‘विष्णुवक्ष.—’ इस पद्य में उपमेय—कौस्तुभ मणि के विशेषणरूप से कोई ऐसी चीज नहीं कही गई है जो उपमात—मङ्गल के विशेषण-रूप से कहे गये तारों का विम्बभूत हो, अतः उपमान अंश में ‘अनेकतारक’ यह धर्म अधिक है ।

दोषोद्धारप्रकारमाह—

‘विष्णोर्वक्षसि मुक्कालिभासुरे भाति कौस्तुभ’ इत्यर्थे तु न दोषः ।

उपमेयवाक्यार्थे ‘मौक्तिकपङ्क्तिरामुज्ज्वले’ इत्यर्थकस्य ‘मुक्कालिभासुरे’ इति विशेषण-स्थोपादाने उपमानवाक्यार्थगतानेकतारकविम्बलाभान्नाधिक्यमिति न दोष इति भावः ।

दोषोद्धार का प्रकार दिखलाया जाता है—विष्णो इत्यादि । ‘भोतियों की पङ्क्ति से घमकते हुए विष्णु के वक्ष स्थल में कौस्तुभमणि शोभित हो रहा है’ इस अर्थ का बोधक मूलोक्त पाठ मानने पर उपमानवाक्यगत ‘अनेक तारों से युक्त’ इस प्रतिविम्बभूत धर्म का विम्बभूत धर्म ‘भोतियों की पङ्क्ति से घमकते हुए’ यह उपमेयवाक्य में आ जाता है, अतः उपमान-अंश में धर्म की अधिकतारूप दोष नहीं होता ।

परिवर्तितपाठे उपमासिद्धिरीति स्फोरयति—

अत्र विशेषणविशेषणयोर्मुक्कालितारकागणयोर्विम्बप्रतिविम्बभावेन वक्षो-गगनाङ्गणयार्विशेषणयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः, तन्मूला चोपमा ।

परिवर्तितपाठविशिष्टो रूपद्ये प्रधानविशेष्यकौस्तुभाङ्गारकविशेषणीभूतवशोगगनाङ्गणविशेषणयोर्मुक्कालितारकागणयोः प्रथम विम्बप्रतिविम्बभावः, ततस्तन्मात्रसादर्येण मुख्यविशेष्यसाद्दिशेषणयोर्विशेषणगगनाङ्गणयोः स ततस्तदात्मकसादर्यमूल्य अङ्गारककौस्तुभयोः उपमा सिद्धयतीति भावः ।

उक्त परिवर्तित पाठ में उपमासिद्धि की रीति बतलायी जाती है—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में जब मूलोक्त रीति से पाठ बदल दिया जाता है तब पहले मुख्य विशेष्य (कौस्तुभ और मङ्गल) के विशेषण (वक्ष तथा आकाश) के विशेषण-भोतियों की

पङ्क्ति और तारकागण में चमचमीरूप सादृश्यमूलक विम्बप्रतिविम्बभाव होता है और पीछे उक्त विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समानधर्म के बल से उक्त मुख्य विशेष्य के साक्षात् विशेषण—वच स्थल और आकाश—में विम्बप्रतिविम्बभाव होता है, तदनन्तर तदात्मक सादृश्यमूलक मङ्गल और कौस्तुभ की उपमा सिद्ध होती है।

अनुगामिधर्मस्थले कालानुपपत्तेरुदाहरण प्रदर्शयति—

‘रराज राजराजस्य राजहंस’ करस्थितः ।

हस्तनक्षत्रससक्त इव पूर्णो निशाकरः ॥’

कश्चेरियमुक्ति—राजराजस्य कस्यचिद् धर्षणीयस्य महाराजस्य कुबेरस्य वा करे हस्ते, स्थितौ वर्तमान राजहंस पक्षिविशेष, हस्ताभ्येन नक्षत्रेण, संसक्त संभिधितः, पूर्ण पूर्णिमातिथिगत, निशाकर चन्द्र, इव, रराज शुशुभे इत्यर्थ ।

अनुगामिधर्मस्थल में काल की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—रराज इत्यादि । कवि का कथन है—राजाधिराज (कुबेर अथवा किसी विशिष्ट राजा) के हाथ पर बैठा हुआ राजहंस, हस्तनक्षत्र से मिलित पूर्णचन्द्र के समान शोभित हुआ ।

उपपादयति—

अत्र रराजेति प्रतिपाद्ये भूतकालावच्छिन्नक्रियाविशेषे राजहंसस्यान्वय इव न निशाकरस्येत्यनुपपद्यमानकालघटितत्वं धर्मस्य ।

‘रराज—’ इति पद्ये ‘रराज’ इति पद भूतकालेन अवच्छिन्नं विशिष्टं भूतकालिकमिति यावत् क्रियाविशेषम् शोभनरूपं बोधयति, तद्विषये च तादृशी तरिपन् क्रियाविशेषे राजहंसस्योपमेयस्यान्वयो घटते, चन्द्रस्य तु न, तस्याकल्पस्थायित्वेन तदीयक्रियाविशेषस्य वर्तमानकालावच्छिन्नतया भूतकालानवच्छिन्नत्वान् एवञ्चानुगामिसाधारणधर्मतयोपात्त शोभनात्मक क्रियाविशेषोऽनुपपद्यमानकालविशिष्टतया शोभावह इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में ‘रराज’ इस पद से भूतकालिक क्रिया कही जाती है, अतः उसके साथ जिस तरह उपमेय ‘राजहंस’ का अन्वय सङ्घटित होता है, उस तरह उपमान—चन्द्र का नहीं, क्योंकि चन्द्र, कल्पान्तपर्यन्त स्थायी पदार्थ है, अतः उसकी क्रिया वर्तमानकालिक होगी भूतकालिक नहीं । तात्पर्य यह कि राजहंस के विषय में ‘शोभित होता था’ ऐसा कहना ठीक हो सकता है, पर चन्द्र के विषय में नहीं, उसके विषय में तो यह कहना ठीक हो सकता है कि ‘शोभित होता है’ । ऐसी स्थिति में यहाँ का ‘रराजपद’बोध्य क्रियाविशेषरूप अनुगामी साधारणधर्म भूतकालरूप उपपन्न न हो सकनेवाली वस्तु से युक्त है ।

अनुगामिन क्रियारूपस्य साधारणधर्मस्यानुपपद्यमानकालघटितत्वमेव पुनरुदाहरति—

‘रणाङ्गणे रावणवैरिणो विभोः शरा समन्ताद् बलिता विरेजिरे ।

निदाघमध्य दिनवर्तिनोऽम्बरे सहस्रभानो प्रखराः करा इव ॥’

कवि कथयति—रावणवैरिणो रावणशत्रो, विभो व्यापकस्य रामचन्द्रस्य, रणाङ्गणे युद्धभूमिस्वे प्राङ्गणे, (अनेन रूपकेण प्रभो समरभूमौ निर्भयव्रमणमावेद्यते) समन्तात् चतुर्दिक्षु, बलिता प्रसृता, शरा बाणा, अम्बरे आकाशे, प्रसृता, निदाघमध्यदिनवर्तिन शीघ्रगतिभ्यामकालिकस्य, सहस्रभानो महत्प्रखरस्य सूर्यस्य, प्रखरा सुतीक्ष्णा, करा किरणाः, इव, विरेजिरे शुशुभिरे इत्यर्थ । अत्रापि पूर्ववत् भूतकालावच्छिन्नस्य विराजनक्रियारूपसाधारणधर्मस्य उपमेयान्वितत्वमिव नोपमानान्वितत्वम्, तदीयविराजनस्य वर्तमानत्वादिति भावः ।

पुनः अनुगामी धर्म में काल की बहुपपत्ति का ही दूसरा उदाहरण दिया जाता है—
रणाङ्गणे इत्यादि। कवि का कथन है—रावण के वैरी विभु-व्यापक-रामचन्द्रजी के,
रणभूमि में चारों तरफ फैले हुए, बाण, आकाश में फैले हुए ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न-
कालिक सूर्य की तीव्र किरणों के समान, सुगोभित हुए। यहाँ भी 'बिरोजिरे' यह भूत-
कालिक क्रियारूप समानधर्म, उपमेय-वाण-अश में सहदित होने पर भी, उपमान—
सूर्यकिरण—अंश में सहदित नहीं हो सकता क्योंकि सूर्यकिरणों की क्रिया (शोभित
होना) वर्तमानकालिक है।

पुनस्तदेवोदाहर्तुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरण निर्देश्यते—

'आगतः पतिरिति रितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम् ।

कौमुदीय शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगोक्षणा ॥'

प्रवासगतो नायकश्चिन्तयति—(तव) पति रक्षक प्रिय, आगत समायात' इति
जनैः स्वजनैः, ईरितम् कथितं, षच इति शेष शृण्वती आकर्णयन्ती, चकितम् चकितेक्षणं
यथा स्यात्तथा (चकितमित्यस्य चकितेक्षणमित्यर्वाकरणमभिगमन्यस्वारस्यात् रामुचित-
त्वाचेति बोध्यम्) देहलीम् गृहद्वारम्, एत्य आगत्य, (सा) मृगोक्षणा हरिणलोचना,
कौमुदी चान्द्रमसी ज्योत्स्ना, इव, मम, लोचने नयते, कदा कस्मिन् क्षणे, शिशिरी-
करिष्यते शीतलत्रिय्याति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आगतः इत्यादि। प्रवासी नायक अपने मन में
सोचता है—(तेरे) पति आ गए' इस सखीजनोक्त वचन को सुनती हुई, चकित-
बिलोकन-पूर्वक देहली पर आकर (वह) मृगनयना प्रेयसी, मेरी भौंहों को, चन्द्र-
ज्योत्स्ना की तरह रूप शीतल करेगी ।

तपसादयति—

अत्र शृण्वतीति शत्रा प्रत्यायितेन श्रवणसमकालमेव प्रियाया देहल्यागमन-
मित्यर्थेनातिशयोक्त्यात्मना गमितस्त्वरतिशयस्तद्रूपमौत्सुक्यातिशयं पुष्पाति ।
कौमुद्युपमा तु तत्परिपोषितं प्रधानीभूतं प्रियगतमौत्सुक्यम् । चकितमित्या-
गमनविशेषणमपि वस्तुतो विचार्यमाणमीक्षणविशेषणीभवत्तस्यैवानुकूलम् । इति
स्थिते भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणस्य साधारणधर्मस्योपमेयान्वितत्व-
मिव नोपमानान्वितत्वम् ।

अत्र उक्तपद्ये । शत्रेति । 'लट्' शत्रुशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति वर्तमान-
कालविहितेनेति भावः । प्रत्यायितेन अभिव्यजितेन । इत्यर्थेनेति । अन्यथा 'श्रुता' इत्यु-
क्तिर्भवेदिति भावः । अतिशयोक्तिः । श्रवणस्यागमनकारणतया पूर्वकालिकत्वघ्नोप्येऽपि
समकालीनत्वप्रतीत्या 'कार्यकारणयोर्पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिः' इति भावः । गमितः
व्यजितः । सद्रूपम् नायिकागतम् । कौमुद्युपमा तु इति । तुना पूर्वव्यवच्छेदः । उपमेयं
नायिकागतमौत्सुक्यं न पुष्पातीति तात्पर्यम् । तत्परिपोषितमिति । नायिकागतौत्सुक्याति-
शयपोषितमित्यर्थः । औत्सुक्यमिति । पुष्पातीत्यस्वानुपज्ञः । तथा च प्रियगतौत्सुक्यस्य
नायिकागतौत्सुक्यातिशयः कौमुद्युपमा चेति द्वयं पोषकमिति भावः । ननु कथं कौमुद्युप-

भाया नायकगौतमुक्यमात्रपोषकत्वम् ? 'कौमुदीव चकितमेत्य' इत्यन्वये तस्या नायिका-
गतौत्सुक्यपोषकत्वस्यापि सम्भवात्, तथात्वे च भविष्यत्कालिक्या एव कौमुद्या उपमानत्व-
प्रतीत्या वक्ष्यमाणदोषानवकाशा इत्यत आह—चकितमित्यागमनेति । आगमनविशेषणम-
पीति । ध्रुव्याऽऽपातत' तद्विशेषणत्वेन ज्ञायमानमिति भाव । वस्तुतो विचार्यमाणमिति ।
इतस्ततो विज्ञेपरूपो नेत्रधर्मश्चकितत्वम्, किञ्च प्रियतमागमनश्रवणकालिकनायिकाकर्तृक-
देहत्यागमने चकितनयनपूर्वक'वविशेषणमेव सहृदयहृदयमवादि, इत्यादयोऽत्र वस्तुतो
विचारा विज्ञेया । ईक्षणविशेषणोपमवदिति । ईक्षण नयन तस्य विशेषणभाव भजमानमित्यर्थ ।
चकितमित्यस्य लक्षणया चकितोक्षणमित्यर्थ करणीय इति भाव । नयनधर्मस्य चकितत्व-
स्यागमने चाहितत्वाल्लक्षणाऽत्र नाहेतुकान्यपि बोध्यम् । अत्र 'मृगक्षणाघटितस्येक्षणस्य
विशेषणम्, अर्थात् मृगवत् चकितमीक्षणं यस्या इत्यर्थ' इति सरलाकारो टिप्पणीमकरोत् ।
तत्र 'मृगक्षणाघटकस्येक्षणस्य' इति वक्तव्ये 'घटित'पद तैरुक्तम् । किञ्च मृगक्षणाघटकेशरे
चकितत्वस्यान्वयो न कथमपि सम्भवतीति पण्डितराज्ञीशमिप्रायविषयत्व तस्योपवर्णयन् स
शौच्य एव । तस्यैवेति । 'कौमुद्युपमा प्रियगतमेवौत्सुक्य पुणाति न प्रेयसीगतम्' इत्यर्थस्यै-
वेत्यर्थ । उक्तरीत्या चकितमित्यस्य चकितोक्षणमित्यर्थे निधिते नयनविहीनाया कौमुद्या आग-
मनान्वयासमवेत न तदुपमाया प्रियागतौत्सुक्य-पोषकता-सम्भवो न वा भविष्यत्कालिक्या
कौमुद्या उपमानत्वप्रतीतिरिति भाव । इति स्थिते इति । अस्या स्थितौ 'भविष्यत्कालिक-
यैव कौमुदी उपमानमत्र' इत्यर्थस्य वक्तव्यशक्यतया वक्ष्यमाणदोषावकाशासूचनाय स्थिति-
वर्णनमिदमिति भाव । तस्यैवेत्यस्य 'ईक्षणस्यैव' इति व्याख्या नागेशकृता तु नैव शोभना,
तथात्वे तदुक्तेरकिञ्चित्करतापत्ते, न च पण्डितराज्ञमुखादकिञ्चित्करोक्ति कथमपि सम्भव-
तीति मे मति । उपमेयान्वितत्वमिदं नोपमानान्वितत्वमिति । उपमेया नायिका, भवि-
ष्यत्काले एव लोचने शिशिरीकरिष्यतीति भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणक्रियारूपस्य
समानधर्मस्य तत्रान्वय उपपद्यते, उपमानभूता कौमुदी तु सर्वदैव शिशिरीकरोति नयने
न तु भविष्यत्काल एव तथा करिष्यतीति न तत्र तादृशस्य तस्य धर्मस्यान्वय उपपद्यते
इत्यर्थ । शरच्चन्द्रमरीचिमये निशीथसमये प्रवासी समाशसते यद्यथाऽधुनेय चन्द्रिका
नयने मे शीतलयति तथा प्राणबल्लभा मम लोचने कदा शीतलीकरिष्यतीति वस्तुस्थितौ
न भविष्यत्कालवर्तिन्या कौमुद्या उपमानत्वमपि तु वर्तमानकालवर्तिन्या एवेति परमार्थ ।
अत्र "एषु सर्वेषु भूतभविष्यत्तत्तत्पदार्थानामेवोपमानोकरणेनान्वयस्य सम्भवोऽऽन्वेवेति
चिन्त्यान्वैतान्युदाहरणानि । 'त्वक्ष्यामि वैदेह्युता पुरस्तात् समुद्रनेमि पितुराह्वयेव' इत्यादि
तूदाहर्तुमुचितम्" इति नागेश । निशाकर-सूर्यकरकौमुद्यादय सर्वकालस्थायिनः तथा च
यथायथ भूतभविष्यत्कालिकाना तेषामुपमानत्वेन विवक्ष्ये उक्तदोषा न सम्भवन्ति तेषु
पद्येषु त्यक्ष्यामीति पद्ये तु पृथिव्या पूर्णं त्यक्तत्वात् भविष्यत्कालान्वयो दुर्घटस्तत्र इति
तद्वै पद्यमनुपपन्नमानकालघटितसाधारणधर्मत्वस्योदाहरण भवितुमर्हतीति तदाशय ।
वस्तुतस्तु अन्यत्र तथा सम्भवेऽपि 'आगत —' इति श्लोके तथा न सम्भवतीति
प्रागुक्तमेव । तथा च तस्य श्लोकस्य प्रकृतदोषोदाहरणता समञ्जसवेति दिक् ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'आगत—' इत पद्य में 'शृण्वती (सुनती हुई)'
इस पद के 'शृत्प्रत्यय (ती हुई इस अक्ष)' से (क्योंकि इस प्रत्यय से वर्तमानकालिक
असमाप्त क्रिया का बोध होता है) श्रवणकाल में ही प्रिया का देहली पर आना यह
अर्थ अभिप्रेक्ष्य होता है जो अतिशयोक्ति अलङ्काररूप सिद्ध होता है—अर्थात् श्रवण

कारण है और देहली पर भावा उसका कार्य, अतः इन दोनों का पूर्वपश्चाद्भाव अवरय-
भावी है, पर उक्त रीति से उन दोनों का एक काल में होना जो प्रतीत होता है—यह
'कारणकार्य का पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति' है, इस अतिशयोक्तिरूप अर्थ से
नायिका का त्वरातिशय (अत्यन्त जल्दवाजी) व्यक्त होता है और यह त्वरातिशय,
नायिका की उत्कट उत्सुकता को पुष्ट करता है। कौमुदी की उपमा तो नायिका की
उत्कट उत्सुकता से पोषित नायक की उत्सुकता को पुष्ट करती है। तात्पर्य यह कि
नायक की उत्सुकता के पोषक यहाँ दो पदार्थ होते हैं—एक नायिका की उत्कट उत्सुकता
और दूसरी कौमुदी की उपमा। सारांश यह कि कौमुदी की उपमा नायिका की उत्सु-
कता का पोषण नहीं करती। आप पूछेंगे कि—ऐसा क्यों? क्योंकि यदि 'कौमुदी इव
चकितमेत्य (कौमुदी के समान चकित आकर)' इस तरह अन्वय किया जाय,
तब कौमुदी की उपमा से नायिकागत औत्सुक्य का भी पोषण हो सकता है और इस
रीति का आश्रय करने पर भी भविष्यकालिक कौमुदी (चन्द्रज्योत्स्ना) का ही उपमान
होना सिद्ध होगा, फिर तो आगे जो भविष्यकाल की अनुपपत्तिरूप दोष दिखलाना है
उसका अवसर ही नहीं रहेगा, तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृत पद्य में शब्दतः
'चकित' यह, आगमनक्रिया का विशेषण ज्ञात होता है, तथापि वास्तविक विचार
करने पर वह (चकित) ईक्षण (नेत्र) का ही विशेषण हो जाता है, तात्पर्य यह कि—
'चकितश्च वस्तुतः इधर-उधर सञ्चालनरूप नेत्र का ही धर्म है—'चकितमेत्य (चकित
आकर)' इसका भी मतलब यही होता है कि 'इधर-उधर ताकती हुई आकर' ऐसी
स्थिति में 'चकित' पद का अर्थ लक्षणा द्वारा 'चकितेक्षण (चकित हैं आँखें जिस क्रिया
में)' ही करना पड़ेगा और जब ऐसा अर्थ, उक्त पद का, करना पड़ेगा, तब आपने जो
'कौमुदी इव चकितमेत्य' ऐसा अन्वय किया है, वह नहीं बन सकता, क्योंकि कौमुदी
को आँखें नहीं होतीं, अतः नेत्रवर्तित अर्थ वाले चकित पद के साथ उसकी सन्नति नहीं
हो सकती। तात्पर्य यह कि उक्त रीति से चकित पदार्थ के नेत्र विशेषण हो जाने पर
'चकित' यह उक्ति भी, कौमुदी की उपमा का नायकगत औत्सुक्य-पोषक होनेवाली बात
के ही अनुकूल होती है। इस स्थिति में अर्थात् 'भविष्यकालिक कौमुदी उपमान नहीं
है' इसका निश्चय हो जाने पर, भविष्यकालिक शक्तिरीकरणक्रियारूप साधारणधर्म
का अन्वय, जिस तरह, उपमेय नायिका के साथ सुसङ्गत होता है उस तरह उपमान-
कौमुदी के साथ नहीं। अभिप्राय यह कि—कौमुदी तो नयन की दीप्तल कर रही है
न कि करेगी अतः भविष्यकालिक क्रिया का अन्वय कौमुदी के साथ नहीं हो सकता
यह उपमा का दोष यहाँ है। नागेश का यहाँ कथन है कि—'कालानुपपत्तिरूप उपमा-
दोष के जो 'रराज—' 'रणाङ्गणे—' और 'आगतः—' ये तीन उदाहरण दिये गये हैं वे
ठीक नहीं हैं, क्योंकि चन्द्र, सूर्यकिरण और चन्द्रज्योत्स्ना ये ऐसे पदार्थ हैं जो सदा
रहते हैं, ऐसी दशा में उपमेयान्वित अनुगामी धर्मों में जहाँ जो काल सङ्गत होगा उस
काल से युक्त तत्तत्क्रिया को ही उपमानान्वयी धर्म माना जायगा अर्थात् 'रराज—' में
भूतकालिक निशाकर, 'रणाङ्गणे—' में भूतकालिक सूर्यकिरण और 'आगतः—' में भवि-
त्कालिक कौमुदी को ही उपमान स्वीकार कर लिया जायगा, अतः इन उदाहरणों में
उक्त दोष नहीं हो सकते। अतएव कालानुपपत्ति का उदाहरण 'त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां
पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराशयेष अर्थात् पिता की आज्ञा से पृथ्वी की तरह जनकसुता-
सीता का परित्याग कहेंगा' इस रामचन्द्रोक्त पद्य को मानना चाहिए।" इसमें सन्देह
नहीं कि नागेशोक्त उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि रामचन्द्र पृथ्वी का त्याग बहुत
पहले कर चुके हैं और सीता का त्याग भविष्य में करेंगे, ऐसी स्थिति में 'त्यक्ष्यामि' पद्य
से अवगत होनेवाली भविष्यकालिक त्यागक्रिया का अन्वय उपमान पृथ्वी के साथ
नहीं बैठता। साम ही यह भी निरसन्देह बात है कि—उक्त उदाहरणों में दोषोद्धार की

वात जो उन्होंने कही है वह भादि के दो उदाहरणों के लिये ठीक है—वहाँ भूतकालिक चन्द्र और सूर्यकिरणों को उपमान माना जा सकता है, पर तृतीय उदाहरण—‘आगत—’ के लिये वह उत्तर समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ भविष्यकालिक कौमुदी को उपमान नहीं माना जा सकता यह बात में पहले युक्तिपूर्वक कह चुका हूँ।

अनुपपत्तमानुपपत्तिरुपपत्तिमुदाहरति—

‘एतावति महीपालमण्डलेऽवनिमण्डन ।

तारकापरिपन्मध्ये राजन्राजेव राजसे ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—हे अवनिमण्डन घरालङ्कार ! राजन्, एतावति हस्तनिर्देशोऽयम्, महति इत्यर्थ, महीपालमण्डले नृपसमूहे, तारकापरिपन्मध्ये नक्षत्र-सभायाम्, राजा चन्द्र, इव, राजसे शोभसे, त्वमिति शेष ।

पुरुष की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—एतावति इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे पृथ्वीभूषण राजन् ! तुम इतने बड़े राजाओं के समूह में उसी तरह शोभित होते हो जिस तरह तारों की सभा में चन्द्र शोभित होता है ।

उपपादयति—

अत्र क्रियायां सम्बोध्योपमेयान्वय इव नोपमानान्वयः ।

‘एतावति—’ इति पञ्चोक्तमध्यमपुरुषविशिष्टराजनक्रियाया, सम्बोध्यस्य युष्मदर्थभूत-स्थोपमेयस्यान्वये सिद्धयत्यपि उपमानस्य चन्द्रस्य युष्मदर्थरूपत्वविरहान् न तत्रान्वयः सिद्धयतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘एतावति—’ इस पद्य में जो ‘राजसे’ यह क्रिया-पद है उसके अर्थ में संबोधित किए जाने वाले उपमेय-राजा-का अन्वय हो सकता है, क्योंकि संबोधन के वाद ‘त्वम् (तू)’-कर्ता का ही आक्षेप होता है, अतः उसके लिये मध्यमपुरुष की उक्त क्रिया उपयुक्त है, पर उपमान चन्द्र का अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि उसके लिये अन्यपुरुष की क्रिया (राजसे) ही उपयुक्त हो सकती थी, अतः यहाँ पुरुषानुपपत्तिरूप उपमा का दोष लग जाता है ।

विधादीभ्यादिपदप्राज्ञप्रार्थनानुपपत्तिमुदाहरति—

‘राजेव सम्भृतं कोप केदारमिव कर्षकः ।

भवन्तं त्रायतां नित्य भयेभ्यो भगवान् भवः ॥’

कविराशीर्वचनमाह—राजा कृपति, सम्भृतम् परिपूर्णम्, कोपमाकरम्, इव, कर्षकं कृषिकारं, केदारम् चैत्रम्, इव, भगवान् अणिमाद्यैश्वर्यशाली, भवः शिव, भवन्तम्, भयेभ्यो, नित्यम् सदा, त्रायताम् रक्षत्वियर्थ ।

‘विष्यादि’ इस पद्य के ‘आदि’ पद से सप्रहणीय प्रार्थना की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—राजेव इत्यादि । कवि आशीर्वाद दे रहा है—राजा जिस तरह खजाने की और किमान त्रिस तरह खेत की रक्षा करता है, उस तरह भगवान् शिव, भयों से सदा तेरी रक्षा करें ।

उपपादयति—

अत्र प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वमुपमेये भव इवोपमानयो राजकर्षकयोर्नास्ति, तयोस्त्राणकर्तृत्वस्य सिद्धत्वात् ।

नास्तीति । प्रार्थ्यमानत्वहृत्परिषेपणामावप्रयुक्तं विशिष्टस्य-प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वस्या-शामासो बोध्यः । तदेव स्फुटयति—तथोरिति । अथ भावः—‘त्रायताम्’ इत्यत्र लोहर्षः

प्रार्थना तथा च प्रार्थ्यमानप्राणकर्तृत्वम् तस्य तिङन्तपदस्यार्थः, स एवात्रोपमानयो राज-
कर्षकयोः रूपमेव भवस्य च साधारणधर्मतया विवक्षितः । परन्तु स साधारणो भवितुं
नार्हति, प्रकृते भवति प्राणकर्तृत्वस्यासिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वसम्भवेऽपि राजकर्षकवृत्तिप्राण-
कर्तृत्वयोः पूर्वसिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वायोगात्, असिद्धस्यैव वस्तुतः प्रार्थनीयत्वात् । अतः
एतादृशप्रार्थनापद्धतिक्रियारूपसाधारणधर्मकन्वयस्यमाया दोष इति ।

उपपादन करते है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—‘लोट्’ लकार का अर्थ
प्रार्थना है, अतः ‘रानेव—’ इस पद्य के ‘त्रायताम्’ पद का अर्थ होता है ‘प्रार्थनीय रक्षण-
क्रिया का कर्ता होना ।’ यही यहाँ साधारणधर्मरूप में विवक्षित है । परन्तु यह यहाँ
साधारणधर्म हो नहीं सकता । कारण, प्रार्थना उस वस्तु की की जाती है जो भसिद्ध—
पहले से प्राप्त नहीं-हो, ऐसी स्थिति में उपमेय शिव में ‘प्रार्थ्यमानप्राणकर्तृत्व’ रह
सकता है अर्थात् पहले से अप्राप्त ‘वापरे’ प्राण को प्रार्थना ‘शिव’ से की जा सकती है,
न कि उपमान-राजा और किसान-से अर्थात् ‘खजाना और खेत’ के प्राण की प्रार्थना
‘राजा और किसान’ से नहीं की जा सकती । कारण, उन दोनों के द्वारा उन दोनों
वस्तुओं का प्राण करना पहले से ही सिद्ध है । तात्पर्य यह हुआ कि राजा अपने खजाने
की और किसान-अपने खेत की रक्षा करते ही हैं—ये प्रार्थनीय वस्तुएँ नहीं हैं, अतः इस
तरह के साधारणधर्मों का ग्रहण उपमा का दोष है ।

दोषोद्धारप्रकाशसुपदर्शनति—

यदि तु त्रायते इति प्रार्थनानिर्मुक्तं प्राणकर्तृत्वमुच्यते तदा धर्मस्य साधा-
रणत्वान्न दोषः ।

त्रायते इतीति । लङन्तमिति भावः । उक्तपद्ये ‘त्रायताम्’ इत्यस्य स्थाने ‘त्रायते’
इति पाठे कृते लोटोऽभावात् प्रार्थना नोपतिष्ठते, तथा च ‘प्राणकर्तृत्वम्’ तदर्थः, स चोक्तो-
पमानोपमेयोभयवृत्तिन्यासाधारणो धर्मो भवतीति दोषानवकाश इति भावः ।

दोषोद्धार की रीति दिखलाते है—यदि तु इत्यादि । उक्त पद्य में ‘त्रायतां (रक्षा
करें)’ के स्थान पर यदि ‘त्रायते (रक्षा करते हैं)’ ऐसा पाठ माना जाय, तब ‘लोट्
लकार’ के स्थान पर ‘लृट् लकार’ के आ जाने से प्रार्थनारहित ‘प्राणकर्तृत्व (रुद्ध रक्षण-
क्रिया का कर्ता होना)’ ही धर्मरूप में उक्त होगा जो उपमान और उपमेय दोनों में
रहने के कारण साधारण है, अतः उस पाठ में कोई दोष नहीं ।

लङन्तपाठेऽपि धर्मस्य साधारण्यहानिमाशङ्क्य समाधत्ते—

अथ त्रायत इति प्रार्थ्यमानतानिर्मुक्तेऽपि प्राणकर्तृत्वेन साधारणत्वम् ।
प्रार्थ्यमानताया इव विधेयतानुवाचत्वयोर्भेदकत्वादिति चेत् । सत्यम् । इह
हि धर्मलोपरहितायानुपमायां धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यैः प्रार्थनाभूतभविष्यद्वर्त-
मानत्वादिभिर्विशेषणैर्विशिष्टधर्मस्योपमानोपमेयसाधारण्याभावे प्रयोजकाभावा-
न्नापमानिष्पत्तिरिति निर्विवादम् । सत्र विधेयत्वानुवाचत्वाभ्यां शब्देनानिर्वेदिता-
भ्याम् विषयताभ्यां विशिष्टस्य धर्मस्य यदि नास्ति साधारण्यम् मास्तु नाम ।
न ह्युदासीनैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य धर्मस्य साधारण्यमपेक्षितम् । अपि तु धर्म-
वाचकशब्दनिर्वेदितैः । एवं चन्द्रवत्सुन्दरं मुखमित्यत्रापि सुन्दरत्वस्योपमानेऽ-
नुवाचत्वे उपमेये च विधेयत्वेऽपि न साधारण्यहानिः ।

प्रार्थ्यमानताया इवेति । प्रार्थ्यमानतातदभावयोरिवेति भावः । विधेयतानुवाचत्वयो-
रिति । उपमाननिष्ठे प्राणकर्तृत्वेऽनुवाचत्वमुपमेयनिष्ठे, तत्र विधेयत्वमिति भावः । उत्तर-

यति—इह हि इति । साधारण्याभावे इति । सतीति शेष । प्रयोजकेति । सादृश्यप्रयोजक-
साधारणधर्माभावादित्यर्थ । तत्रेति । प्रकृतोपमायामित्यर्थ । उदासीनै शब्दाप्रतिपाद्यै ।
प्रसिद्धोदाहरणेषुऽप्येवमेवेत्याह—एवमिति । भेदसाधक यद्यहस्तु, तत्तद्वर्त्मस्य साधारण्य-
विषयत्वम्, तथा च त्रायतामिति लोडन्तपाठपक्षे यथा प्रार्थ्यमानत्वतदभावौ, उपमेयोप-
माननिष्ठयोस्त्राणकर्तृत्वयोर्भेदकौ भूत्वा, साधारण्यविषयकौ समभूताम् तथा लडन्तपाठ-
पक्षेऽपि विधेयत्वानुवाद्यत्वे तयोर्भेदके सति साधारण्य विषयताम् अर्थात् उपमेयशिवनिष्ठ
त्राणकर्तृत्वं विधेयम् उपमानराजकर्षकगतं च तदनुवाद्यम् इति कथम् त्राणकर्तृत्वस्य
साधारण्यधर्मतेति शब्दा, धर्मलुप्तान्तिरिक्तोपमास्वले धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यविशेषणविशिष्ट-
धर्मस्य साधारण्यविरहे नोपमा, उपमात्वेन परिणस्यमानस्य सादृश्यस्य प्रयोजकानुपलब्धे-
रिति सर्ववादिसिद्धान्तः, तथा च यत्र धर्मवाचकै शब्दै प्रार्थ्यमानत्वभूतत्वभविष्यत्व-
वर्तमानत्वादिविशिष्टा क्रियारूपा धर्मा बोध्यन्ते, तत्र यदि विशिष्टास्ते धर्मा उपमानो-
पमेयसाधारणा न भवन्ति, तर्हि तत्र ते उपमाया अनिष्पादका अत एव दोषभूता ।
यथा प्रकृतोदाहरणे लोडन्तपाठपक्षे 'त्रायताम्' इति धर्मवाचकेन शब्देन प्रार्थ्यमानत्व-
विशिष्टं त्राणकर्तृत्वं बोध्यते, तच्च पूर्वोक्तरीत्या न साधारण्यमिति दोषावहम् । लडन्तपाठ-
पक्षे तु त्राणकर्तृत्वमेव केवलम् 'त्रायते' इति धर्मवाचकेन पदेन बोध्यते न तु विधेयत्वेन
अनुवाद्यत्वेन वा विशिष्टं तत्, अत विधेयत्वानुवाद्यत्वाभ्या विशिष्टयो त्राणकर्तृत्वयो-
रसाधारण्येऽपि न हति, शब्दानुपस्थाप्यविशेषणविशिष्टधर्मगतसाधारण्यस्थानपेक्षितत्वात् ।
अत शुद्धं शब्दबोध्य त्राणकर्तृत्वरूपं साधारण्यधर्ममादाय तत्र पाठे सिध्यन्त्येवोपमा ।
विधेयत्वानुवाद्यत्वे न साधारण्यविषयके धर्मवाचकपदानुपस्थाप्यत्वादिति साराशः, अत
एव चन्द्रवन्सुन्दरं मुखमित्यादिप्रसिद्धोपमोदाहरणेषु सुन्दरत्वस्य उपमान्यशेऽनुवाद्यत्वे
विधेयाशे विधेयत्वे च न साधारण्यहानिरिति च समाधानमिति भावः ।

त्रायते इस परिवर्तित पाठपक्ष में एक शब्दा और उसका समाधान करते हैं—अथ
इत्यादि । आप कहेंगे—त्रायते इस पाठ के द्वारा जिस प्रार्थ्यमानतारहित—शुद्ध—त्राण-
कर्तृत्व को आप साधारण्यधर्म बनाना चाहते हैं, वह भी साधारण नहीं हो सकता,
क्योंकि जिस तरह 'त्रायताम्' इस पाठपक्ष में प्रार्थना और उसका अभाव, उपमेय
तथा उपमानवृत्ति 'त्राणकर्तृत्व' को भिन्न बनाकर साधारण नहीं होने देते उसी तरह
'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' परिवर्तित पाठपक्ष में भी उसको भिन्न बनाकर साधारण
नहीं होने देगी अर्थात् जिस तरह प्रथम पाठ में उपमेय-भगवत्त्राणकर्तृत्व, प्रार्थनीय
है और उपमान—राजा तथा कर्षकात् त्राणकर्तृत्व सिद्ध है प्रार्थनीय नहीं अतः वे दोनों
कर्तृत्व एक नहीं होने पाते उसी तरह द्वितीय पाठ में उपमेयगत उक्तधर्म अस्ति
होने के कारण विधेय है और उपमानगत उक्तधर्म सिद्ध होने के कारण अनुवाद्य है अतः
वे दोनों एक (साधारण) नहीं हो सकेंगे, फलतः पाठपरिवर्तन करने पर भी दोष ज्यों
का त्यों बना ही रहा । हम कहते हैं—यह बात आप की सत्य है । परन्तु समझने योग्य
बात यह है कि—जिस उपमा में समानधर्म छुस नहीं रहता—अर्थात् धर्मवाचक शब्द
उक्त रहता है—वहाँ धात्वर्थ, जिस तरह, उस धर्मवाचक पद से प्रतिपादित होता है
उसी तरह धात्वर्थ के विशेषण—प्रार्थना, भूतकालिकत्व, भविष्यत्कालीनत्व और वर्तमान-
कालवृत्तित्व आदि भी उस पद से प्रतिपादित होते हैं । ऐसी स्थिति में यदि उन विशेषणों
से युक्त उक्त धात्वर्थ—क्रिया-रूप धर्म की उपमान तथा उपमेय में साधारणता नहीं
होगी—अर्थात् उन विशेषणों से विशिष्ट होकर यदि वह धर्म उपमान और उपमेय दोनों
में नहीं रहेगा—तब वह धर्म उपमा का साधक नहीं हो सकेगा क्योंकि धर्मवाचक शब्द

का समग्र प्रतिपाद्य अर्थ ही साधारण होकर उपमा का साधक होता है, उसका एक अंश नहीं, यह एक निर्विवाद बात है। अतः 'त्रायताम्' पाठ रखने पर लकारार्थप्रार्थना-विशिष्ट प्राणकर्तृत्व ही यदि उपमानोपमेय दोनों में रहता तो साधारण होता, पर वैसा है नहीं—अर्थात् एक अंश में प्रार्थना का कमी उसको साधारण नहीं होने देती—अतः उस पाठ में दोष होता है। पर 'त्रायते' पाठ कर देने पर ऐसी स्थिति नहीं होती, क्योंकि 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' केवल विषयत्वरूप हैं, उनका धर्मवाचक शब्द से प्रतिपादन नहीं होता, वे शब्दार्थ न होकर भी ऊपर से समझे जाते हैं। अतः यदि उन विषयताओं से सहित धर्म की साधारणता नहीं होती तो न होवे। उपमा की सिद्धि के लिये शब्द द्वारा प्रतिपादित नहीं होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता अपेक्षित भी नहीं है। अपेक्षित है धर्मवाचक पद के द्वारा प्रतिपादित होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता, वह यहाँ है ही—अर्थात् 'त्रायते' पद से प्रतिपादित होनेवाला वर्तमानकालिक प्राणकर्तृत्व साधारण है ही अतः इस पक्ष में कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि जो वस्तु साधारणधर्मवाचक पद से बोधित होती है, उसी की कमी वैसे ही उन धर्म को साधारण होने से रोक सकती है, जैसे प्रार्थना 'त्रायता' पद से बोधित होती है, अतः उपमान अंश में उसकी कमी प्राणकर्तृत्व को साधारण नहीं बनने देती। अनुवाद्यता, विधेयता आदि तो साधारणधर्मवाचक पद से अवगत होनेवाली वस्तु नहीं हैं, अतः उसकी कमी वैसे 'प्राणकर्तृत्व' को साधारण होने से नहीं रोक सकेगी। अतएव 'चन्द्र के समान सुन्दर मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में 'सुन्दरता' के उपमान अंश में अनुवाद्य और उपमेय अंश में विधेय होने पर भी साधारण होने में कोई बाधा नहीं होती।

आशङ्क्य समाधत्ते—

ननु—

'नीलाञ्जलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः ।

प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः ॥'

इत्युपमाने चन्द्रे योगमर्यादाया भासमान एणरूपोऽङ्क आननरूपोपमेय-विशेषणस्वबिम्बामावात्कस्य प्रतिबिम्बः स्यात् । अत आधिक्यापादकतया दोषः । न च हरिणनयनसदृशस्य नयनस्योपादानात्तस्यैव बिम्बस्य प्रतिबिम्बः स्यादिति वाच्यम् । तादृशनयनस्य बहुमीह्यर्थकान्ताविशेषणतया आननाविशेषणत्वेन बिम्बत्वाभावादिति चेत्, मयम् । शब्दानानविशेषणत्वेन तादृशनयनस्याप्रतिपादनेऽपि कान्ताविशेषणत्वेनैवाननवृत्तित्यस्यापि प्रतिपत्तेः । न ह्याननमविषयीकृत्य कान्ता विशेष्यमीष्टे नयनम्, अनुभवविरोधात् ।

नालाञ्जलेनेति । नीलाञ्जलेन नीलाशयप्रान्तभागेन, संवृतम् आच्छादितम्, हरिण-नयनाया- हरिणस्य नयने इव नयने यस्मात्तस्या मृगाद्या इति यावत्, आननम् सुखम् यमुनाया कालिन्दा गभीरस्य गम्भीरस्य पातालतलनुम्बिन इति यावत् नीरस्य जलस्य अन्तः अन्तः प्रवेष्टे, प्रतिबिम्बित' प्रतिच्छायीभूत', एणाङ्क चन्द्रः, इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः । योषति । बहुमीह्यर्थः । स्नेति अद्भुत्यर्थः । तस्यैव बिम्बस्येति । तदात्मकस्य बिम्बस्येत्यर्थः । तादृशेति । हरिणनयनसदृशेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । अविषयीकृत्येति । प्रकारतासंसर्गतान्तरस्येष्टेत्यर्थः । ईष्टे इति । नयनस्याननमात्रराम्बिम्बत्वादिति भावः । तदाह—अनुभवविरोधादिति । आननद्वारैव नयनं कान्ताविशेषणं भवती-येत्तदनुभवसिद्धमिति भावः । अत्र 'विषयतासम्बन्धेन आनने वर्तमानमेव नयनम्' इति 'सरला' वक्षीकरोति विज्ञानवक्त्रम् । 'नीलाञ्जलेन—' इति पद्ये चन्द्र उपमानम् तस्य

च निर्देश 'एणाङ्'—पदेन, तच्च पदम् । एणस्य हरिणस्य, अङ् चिह्नम् यस्मिन्निति बहु-
 व्रीहिसमाससामर्थ्येन चन्द्रं बोधयत् तद्वत्तमङ्गमपि बोधयति । एवञ्च तच्चिह्नविशिष्टचन्द्र
 उपमानरूप पर्यवस्यति, अतो मुखरूपोपमेयाशोऽपि तत्समवर्क्षं किमपि विम्बभूतं वस्तु
 समपेक्षितम्, अन्यथा सादृश्यस्य पूर्णता न प्रतीयेत । परन्तु तादृशं किमपि वस्तु मुख-
 रूपोपमेयविशेषणतयोपात्तं नास्तीति उपमानारागतोऽङ्ग अधिकृतया दोषरूपतामासादयति ।
 उपमेयवाक्यार्थघटकतया 'हरिणनयना' पदेनोपात्तम् हरिणनयनसमानं नयनमेव विम्बभूतम्
 तत्रप्रतिविम्बभूतधोपमानगतोऽङ्ग इति तु न वक्तुं योग्यम् । उपमेयमुखविशेषणीभूतस्यैव
 पदार्थस्थोपमानचन्द्रविशेषणभावापलाङ्घ्यप्रतिविम्बविम्बवत्त्वं युक्तम्, हरिणनयनसमान
 नयन तु हरिणनयनापदबोध, तत्पदीयबहुव्रीहिसमासार्थनायिकाविशेषणम्, अतो न
 तस्य चिह्नत्वमिति निचारासहत्वादित्याशङ्काया, तादृशं नयनं यद्यपि शब्दतो न मुख-
 विशेषणमपि तु नायिकाविशेषणमेव, तथापि नायिकाविशेषणस्य नयनस्य मुखवृत्तित्वेन
 ज्ञानमवरचं भवति, मुखवर्तिनो नयनस्य मुखमद्वारीकृत्य नायिकाविशेषणत्वात्सम्भवात्,
 अनुभवोऽपि तथैव । तथा च मुखगतत्वेन ज्ञातं नयनं विम्बं भवितुमर्हत्येव, यतो मुख-
 विशेषणतया यथा कथञ्चिद् ज्ञानमेव तस्य विम्बभावाद्यालम् न तु शब्दतस्तद्विशेषणतयो-
 पादनमित्युत्तरमिति भावः ।

एक शब्दा और उसका समाधान किया जाता है—ननु इत्यादि । आप कहेंगे—'भीला-
 झलेन—अर्थात् नीलवर्ण सादी के अञ्जल से आच्छादित मृगाक्षी का मुख, यमुना के
 समीप जल में प्रतिबिम्बित मृगाङ्ग (चन्द्र) सा प्रतीत होता है' इस पद्य में उपमान
 चन्द्र का बोध जिस एणाङ् पद से होता है उसी पद से योग्यशक्ति द्वारा उपमानभूत
 चन्द्र में एण—मृग—रूप चिह्न का भी बोध होता है, अतः उस चिह्न से युक्त चन्द्र ही उप-
 मान सिद्ध होगा, परन्तु उपमेय—मुख—के विशेषणरूप में कोई ऐसी विम्बभूत वस्तु नहीं
 कही गई है जिसका प्रतिबिम्ब वक्त मृगरूप चिह्न की माना जाय । ऐसी दशा में उपमान-
 अंश में वह चिह्नरूप विशेषण अधिक है यही कहा जायगा, अतः यह उपमा दुष्ट है ।
 यदि इसका समाधान यह दिया जाय कि—उपमेय वाक्य में जो 'हरिणनयना' पद आया
 है उसका अर्थ होता है—'हरिण के नयन के समान नयनवाली' अतः यह कहा
 जा सकता है कि—उपमेय अंश में वह हरिण के नयन के समान नयन ही विम्बरूप है
 जिसका प्रतिबिम्ब है उपमान अंश में मृग-चिह्न, तो यह ठीक नहीं । कारण, वह हरिण-
 नयनसमाननयन, बहुव्रीहि समास के वाच्य नायिका का विशेषण है, उपमेय-मुख की
 नहीं, अतः वह (नयन) उपमेयविशेषण नहीं होने के कारण विम्बभूत नहीं माना जा
 सकता । इस तरह से उक्त आशङ्का पुनः स्थिर रह गयी, अतः उसका सिद्धान्तभूत
 समाधान यह है कि—यद्यपि उक्त नयन शब्दतः मुख के विशेषणरूप में प्रतिपादित नहीं
 होता तथापि वह (नयन) नायिका का विशेषण होने के कारण ही मुख में रहनेवाला
 सम्भवा जा सकता है, क्योंकि नयन वस्तुतः मुख में ही रहने वाला पदार्थ है, अतः
 उसका मुख-विशेषण होना ही न्याय-प्राप्त था, पर यहाँ उसको शब्दतः नायिका का
 विशेषण बनाया गया है तो वह तभी ठीक हो सकता है, जब बीच में मुख को द्वार
 बनाया जाय अर्थात् नयन, मुख के द्वारा ही नायिका का विशेषण हो सकता है, अनुभव
 सिद्ध भी यही है । तात्पर्य यह हुआ कि—नयन, मुख—विशेषण के रूप में उक्त नहीं होने
 पर भी, मुखवृत्तित्वेन ज्ञात होकर मृगाङ्ग का विम्ब माना जा सकता है ।

पुनरन्यथा शङ्कते—

तथापि समभिध्याहारविशेषमापन्नेन शब्देनाप्रतिपादनाच्छाब्दे बोधे नान-
 नस्य नयनविशिष्टत्वेन विषयत्वमिति चेत् ।

ननु नौकं समाधानं सङ्गतम्, उपायाभावेन नयनपदार्थे मुखवृत्तित्वज्ञानासम्भवात्, न च मुखवृत्तिवृत्तानं विना तस्य कान्ताविशेषणरवानुपपत्तिप्रतिबन्धानं तदुपायतया प्रोक्तमेवेति वाच्यम्, शब्दप्रमाणवैयर्थ्यैव विम्बत्वादिकं समुचितमिति तेनोपायेन मुखवृत्तितया ज्ञातस्यापि नयनस्य विम्बत्वायोगात्, न च कुतो न नयनस्य मुखवृत्तित्वेन शब्दवैयर्थ्येति शक्यम्, समभिव्याहारस्यापि अन्वयबुद्धिप्रयोजकत्वेनात्र पक्षे नयनाननपदयो रमभिव्याहारविरहे नयनविशिष्टत्वेनाननस्य शाब्दबोधविषयत्वासम्भवात्, हरिणनयनापदघटक नयनपदं तु नाननमभिव्याहृतमिति तदाशय इति चेन्नैवम् ।

किर दूसरे दृग् से उक्त शब्दा को उज्जीवित करते हैं—तथापि इत्यादि । आप कहेंगे—यह सब होते हुए भी, उक्त पद में नयन तथा आनन पद समभिव्याहृत नहीं है—पास पास उच्चरित नहीं हैं और अन्वयबोध में पदों का समभिव्याहार भी प्रयोजक है, अतः शाब्दबोध में वह (नयन) मुख का विशेषण नहीं हो सकता—अर्थात् यहाँ 'नयन वाला मुख' ऐसा शाब्दबोध नहीं बन सकता । 'हरिणनयना' में जो नयन पद है वह तो कान्ता समभिव्याहृत है, अतः उससे शाब्दबोध में वह कान्ता का विशेषण होगा मुख का नहीं ।

समाधत्ते—

संसर्गत्वे बाधकाभावात् स्वविशिष्टाननसंसर्गेण तादृशनयनस्य कान्ताविशेषणत्वात् । यथाकथञ्चिदुपमेयवृत्तितान्नानस्य विम्बताप्रयोजकत्वात् ।

उक्तरीत्या यद्यपि नयनपदार्थं मुखनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता प्रकारताख्या, मुखनिष्ठप्रकारतानिरूपिता विशेष्यताख्या वा विषयताशाब्दबोधीया न भासेतेति सत्यम्, तथापि स्व-(नयन)-विशिष्टमुखत्वमेव नयनपदार्थस्य नायिकाविशेषणीभावे सम्बन्ध इति शाब्दबोधीया संसर्गताख्या विषयता नयनविशिष्टे मुखे भासेतैव—अर्थात् प्रकारतया विशेष्यतया भाने शब्दजन्यपदार्थोपस्थितरपेक्षणेऽपि संसर्गतया भाने न तदपेक्षा । तथा च सम्बन्धघटकतया नयनविशिष्टं मुखे शाब्दबोधविषयो जात इति नयनस्य मुखरूपोपमेयाशे विम्बत्व भवितुमर्हति, यथाकथञ्चिदुपमेयवृत्तित्वज्ञानस्य विम्बताप्रयोजकत्वादित्याशयादिति भाव ।

समाधान करते हैं—संसर्गत्वे इत्यादि । आपका उक्त कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह बात यद्यपि सत्य है कि यहाँ शाब्दबोध में मुख को विशेष्य बनाकर प्रकारतया नयन का भान नहीं होगा, कारण, मुखसमभिव्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति नहीं हुई है, तथापि कान्तासमभिव्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति तो हुई है अतः कान्ता को विशेष्य बनाकर नयन का प्रकारतया भान शाब्दबोध में होगा और कान्ता के प्रकाररूप से मुख के भासित होने में 'नयनविशिष्टमुख' ही सम्बन्ध होगा, इस तरह से 'नयनविशिष्टमुख' में शाब्दबोध की संसर्गतानामक विषयता अवश्य रहेगी, इसमें कोई बाधा नहीं है—अर्थात् प्रकार अथवा विशेष्य होने के लिये ही शब्दजन्य उपस्थिति अपेक्षित होती है, सम्बन्ध होने के लिये नहीं । फलतः संसर्ग के रूप से 'नयनविशिष्टमुख' शाब्दबोध में आ गया, वस्तु, इतने से ही काम बन जायगा—अर्थात् उपमेय मुख के विशेषणरूप में जब किसी तरह, नयन, शब्द-ज्ञात हुआ तब यह (नयन) विषय हो सकेगा, क्योंकि किसी तरह 'उपमेय में रहनेवाला यह है' इतना ज्ञान शब्दतः हो जाना ही विषय होने के लिये पर्याप्त है ।

विम्बत्वसाधकस्य मुखवृत्तितया नयनविषयकराब्दप्रयोज्यज्ञानस्य प्रकारान्तरमाह—

यद्वा कान्ताविशेषणतया तादृशनयनयोः शाब्दे बोधे वृत्ते पश्चादाननस्य

तद्विशेष्यतया वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे बाधकाभावात् । एवं च तादृशवाक्य-
प्रयोज्ये ज्ञाने उपमेयविशेषणतया भानस्य तादृशनयनस्य बिम्बस्य सत्त्वा-
त्तदर्थं च चन्द्रगतस्यैकरूपस्याङ्गस्य प्रतिबिम्बतयोपादानमावश्यकमेवेति नाधि-
क्यं दोषः ।

यद्वेति । अतिप्रसङ्गापत्त्या समर्गतया भासमानस्य पदार्थस्य न शाब्दत्वमितीह पक्ष-
न्तरोद्भावनबीजमवसैयम् । तादृशनयनयोरिति । हरणीयत्वनायकीयत्वविशिष्टनयनयोरि-
त्यर्थं । तद्विशेष्येति । नयनविशेष्येत्यर्थः । तादृशवाक्येति । कान्ताविशेषणतया नयन-
बोधकवाक्येत्यर्थः । मानसबोधपक्षे तज्जन्यत्वाभावात् वैयञ्जनिकबोधपक्षेऽपि साक्षात्तज्जन्य-
त्वाभावादाह—प्रयोज्येति । ज्ञाने इति । वैयञ्जनिके मानसे वा इत्यर्थः । तदर्थम् तदप्रति-
बिम्बाकाङ्क्षाशान्त्यर्थम् । अयं भावः—यदि उक्तीत्या नयननिष्ठप्रकारतानिहपितविशेष्य-
सावतो मुक्तस्य ससर्गबिधया भानेऽपि न शाब्दबोधविषयत्वम्, शब्दजन्योपस्थितिविषय-
स्यैव शाब्दबोधविषयत्वस्वीकारादिति विभाव्यते, तदा रीतिरियमास्थेया—‘हरिणनेत्र-
समाननेत्रवती कास्ता’ इत्याकारक कान्ताविशेषणतापचनयनविषयक शब्द (आभि-
विक इति यावत्) बोध प्रथम ‘हरिणनयना’ पदाज्जायते, ततः सुखविशेषणत्वानापचनयन-
निष्ठकान्ताविशेषणत्वानुपपत्तिप्रतिसन्धानोत्थितया व्यञ्जनया मनसा वा तत्सहकृतेन नयन-
प्रकारकमुखविशेष्यको बोधो बाधकविरहादुत्पद्यते । तथा च कान्ताविशेषणत्वेन मृगनयन-
सदृशनयनबोधकवाक्यप्रयोज्ये उक्ताकारके वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे मुक्तरूपोपमेयविशेषण-
तया हरिणनयनसमानस्य नयनस्य भान जातम् इति तन्नयन बिम्बरूप सम्पद्यते, अतः
तत्प्रतिबिम्बाकाङ्क्षानिवृत्तये उपमानचन्द्रासौ मृगरूपस्य चिह्नस्य प्रतिबिम्बरूपेण ग्रहण-
मावश्यकमेवेति न प्रापुक्त प्रतिबिम्बाधिक्यदोष प्रकृतेऽन्तरितुमीष्टे इति भावः ।

यदि कहा जाय कि—उक्त उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि सम्बन्ध के अन्तर्गत विशेषणरूप
से हरिण के नेत्र से सदृश नेत्र का और विशेष्यरूप से मुख का शाब्दबोध में भान
होने पर भी वह शाब्दबोध का विषय नहीं माना जा सकता, कारण, वही पदार्थ
शाब्दबोध का विषय माना जाता है जिसकी उपस्थिति शब्द से हुई रहती है, अतः
दूसरा उत्तर करते हैं—यद्वा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—हरिणनयना शब्द की
अभिधाशक्ति से पहले कान्ता के विशेषणरूप में हरिण की आँखों के समान आँखों का
बोध होगा, उसके बाद, व्यञ्जनावृत्ति से अथवा मन से मुखरूप विशेष्य के विशेषणरूप
में भी उक्त आँखों का बोध होगा, क्योंकि इस तरह के बोध में कोई बाधक नहीं है।
और जब ऐसा बोध—जिसका साक्षात् नहीं तो कम से कम परम्परया आवश्यक, ‘हरिण-
नयना’ पदयुक्त वाक्य ही कारण है, अतः जो एक तरह से शब्द ही कहा जायगा—
हो चुकेगा, सब शब्दत उपमेय—मुख के विशेषणरूप में ज्ञात होनेवाला हरिणनयनसदृश
नयन बिम्ब कहलायगा और जब वह बिम्ब कहलायगा, तब उस बिम्ब की आर्काङ्क्षा के
शान्त्वर्थ उपमान चन्द्र अंश में पुण्य-भृग-रूप अङ्ग चिह्न का प्रतिबिम्बरूप में ग्रहण
करना आवश्यक ही था, अतः उक्त प्रतिबिम्ब की अधिकतारूप दोष का कोई प्रसङ्ग
नहीं रह जाता।

उक्तपद्ये सम्भावितापरदोषाभावं समुपपादयति—

कविसमयसिद्धतया चमत्कारापकर्षकत्वाभावेन लिङ्गभेदोऽपि नात्र दोषः ।

यद्यपि सामान्यतः लिङ्गभेदोऽप्युपमादोष इत्युक्तम्, तथापि यत्र यत्र लिङ्गभेद कवि-
सिद्धान्तप्रसिद्धतया तत्र स म दोषायेति ‘नीलाचलेन—’ इति प्रकृतपद्ये उपमानस्य

एणाद्धस्य पुंलिङ्गत्वम्, उपमेयस्य ध्यानस्य च न्युंसकलिङ्गत्वमिति लिङ्गभेदे सत्यपि दोषो न भवति, कविसमयसिद्धयैतदृशस्य लिङ्गभेदस्य चमत्कारापकर्षकत्वविरहादिति भावः ।

प्रकृत पद्य में सम्भावित एक अन्य दोष का वस्तुतः अभाव धतलाते हैं—कवि इत्यादि । 'नीलाञ्जलेन—' इस श्लोक में उपमेयबोधक 'धानन' पद के न्युंसकलिङ्ग और उपमानबोधक 'एणाद्ध' पद के पुंलिङ्ग होने से 'लिङ्गभेद' दोष यद्यपि भाषावतः प्रतीत होता है, पर वस्तुतः यह (लिङ्गभेद) यहाँ दोषरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा लिङ्गभेद, कवि-सम्प्रदाय-सिद्ध होने के कारण, चमत्कार को न्यून नहीं करता ।

एवमन्यत्राप्यपवादमाह—

एवं च कविसमयसिद्धतया प्रकारान्तरेण वा भागुक्तानां दोषाणां चमत्कारानपकर्षकत्वे नास्त्येव दोषत्वम् ।

पूर्वत्र लिङ्गभेदस्य कविसमयसिद्धतया दोषाभावकथनेनैतत् सिद्धं यत् ये उपमादोषाः प्रागुक्तास्ते सर्वेऽपि तदैव दोषा यदा चमत्कारापकर्षकाः स्युः कविसिद्धे तसिद्धत्वेन अन्येन वा केनचित् कारणेन यदा ते चमत्कारापकर्षका न भवेयुस्तदा दोषा अपि नैव स्युरिति भावः ।

दोष भी स्थितिविरोध में दोष नहीं होते इसी बात का अब उपपादन करते हैं— एवं च इत्यादि । जब उक्त पद्य में कविसमय प्रसिद्ध होने के कारण लिङ्गभेद को दोष नहीं माना गया, तब उस रीति से उक्त सभी उपमादोषों के विषय में यह सारास समझ लेना चाहिये कि कविख्याति अथवा इसी तरह के अन्य कारणों से चमत्कारापकर्षक नहीं होने पर कोई दोष नहीं होता ।

कविसमयसिद्धत्वप्रयुक्तदोषाभावत्वस्य लक्ष्य दर्शयति—

यथा—

'नबाहनेबाह्नयोऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते ।

इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा ॥'

कवेरुक्ति—एष कथन वर्णनीयो मानव', नबाहना नवपरिणीता यथू इव, अहणो प्राहणे, गन्तुम्, अपि प्रकम्पते वेपथुयुक्तो भवति । तथा इयं कश्चिद् वर्णनीया, सौराष्ट्रजा सौराष्ट्रदेशोद्भवा, नारी स्त्री, महाभट' महान् योद्धा, इव, उद्भटा उद्भटा, अस्ति, न कुतोऽपि विभेतोऽन्यथ' । अत्र पुरुषस्य नायिकया, नायिकायाश्च पुरुषेण, सहीपमानोपमेयभावे वर्णितेऽपि न श्रौतुंमुख्ये चमत्काराहानेरिति न दोषः ।

दोष भी जहाँ दोष नहीं होते, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है यथा इत्यादि । कवि कहता है—यह मनुष्य, नववधू के समान, आँगन में पैर रखते कर्पता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्भट है—किसी से डरती ही नहीं । यहाँ पुरुष की स्त्री से और स्त्री की पुरुष से दी गई उपमा उद्भेजक नहीं होने के कारण दोषावह नहीं है ।

एषरीत्या सर्वत्र दोषाभाव समर्थनीय इत्याह—

एवमन्यत्रापि क्षेयम् ।

स्पष्टम् ।

उक्तरीति से अन्य स्थानों में भी दोष का अभाव होता है ऐसा समझना चाहिये ।

पूर्वोक्त दोषत्वदर्शोकरणनिपुणं प्रकारान्तरं यदुक्तं तत्किमिति जिज्ञासाप्रशमनायाह—

शेषं स्मरणालङ्कारप्रकरणे विकल्पप्रकरणे च वक्ष्यामः ।

नायकेन नायिका प्रत्युक्तं 'भवती त्वम्, यथा, तडित् विचलता, इव, तन्वी कृशाङ्गी, तथा, इयं तद्विल्लता, अपि, भवती त्वम्, इव गौरी गौरवर्णा', इत्यर्थके 'तडिदिवे'त्यादिमूलोक्तवाक्ये परस्परोपमालङ्कार सिद्धान्तसिद्ध, तत्र प्रकृतोपमेयोपमालक्षणं मा प्रत्याङ्शीरिति 'भूतान्तम्' उपमानोपमेयभावविशेषणत्वेन लक्षणे निवेशितमिति भावः ।

लक्षण में जो अनेक विशेषण जोड़े गये हैं उनका क्या फल है इस बात का विचार करने के प्रसङ्ग में, सर्वप्रथम, "'वर्णन में आने वाला' यहाँ तक के अर्थों का बोधक जो एक विशेषण है उसका फल, दिखलाया जाता है—तडिदिव इत्यादि । 'तडिदिव—अर्थात् हे प्रिये ! तू बिजली की तरह दुबली-पतली है और यह बिजली (उसकी रेखा) तेरे समान गौरी है।' इस वाक्य में परस्पर की उपमा है 'उपमेयोपमा' नहीं । परन्तु प्रकृत उपमेयोपमालक्षण में यदि 'तीसरे-सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला' इतना अंश नहीं कहा जाता, तब उक्त वाक्य में भी वह लक्षण प्राप्त हो जाता, सो नहीं हो इसलिए उतना अंश लक्षण में जोड़ा गया है ।

उक्तवाक्येऽतिव्याप्तिमुपपादयितुमाह—

अत्र तानवगौरिमभ्यामनुगामिधर्माभ्याम् प्रयोजितमुपमाद्वयं न तृतीयं सदृश व्यवच्छिन्नमिति । एकेन धर्मेणैकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्यैकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशाव्यवच्छेदमाक्षिपति । प्रकृते चैकेन तानवरूपेण धर्मेण तडित्प्रतियोगिके कामिन्यनुयोगिके सादृश्ये निरूपिते तेनैव धर्मेण कामिनीप्रतियोगिकस्य तडिदनुयोगिकस्य सादृश्यस्यार्थतः सिद्धापि न गौरत्वेन धर्मेण सिद्धिरिति तदर्थमुपात्तस्य द्वितीयसादृश्यवचनस्य न तृतीयसदृशाव्यवच्छेदफलकत्वम् ।

उपमाद्वयमिति । यतोऽतः पुनर्वर्त्यमानमिति शेषः । तृतीयसदृशाव्यवच्छेदे हेतुमुपन्यस्यति—एकेनेत्यादिना । अत्र यत् इत्यादिबोध्यः । तदर्थम् तेन धर्मेण सादृश्यमिद्वधर्मम् । 'तडिदिव तन्वी—' इति पद्ये 'तन्वी'—पद—बोध्यस्तनुत्वरूपो धर्मस्तडिदुपमानिकां नायिकेऽपमेयिकासुपमा प्रयोजयति, एवं 'गौरी'—पद—बोध्यो गौरत्वस्यो धर्मो नायिकेऽपमानिका तडिदुपमेयिकासुपमा प्रयोजयति । धर्मो च तावनुगामिनौ, एकपेणोपमानोपमेययोश्चमयोरन्वितत्वात् । एवञ्च भिन्नधर्मप्रयोज्यमिदमुपमाद्वयं तृतीयं समानं वस्तु व्यवच्छेत्तुं न प्रभवति । कुत इति चेदित्यम्—यत्रैकधर्मप्रयुक्तमेव परस्परप्रतियोगिकं परस्परानुयोगिकं च सादृश्यद्वयं शब्दतः प्रतिपादितं तिष्ठति तत्रैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकैकसादृश्यनिरूपणेनैव एकानुयोगिकापरप्रतियोगिकमपि सादृश्यमर्थतः सिद्धमिति, सादृश्यस्य परस्परानिरूपितत्वात् । तथा च शब्दतः प्रतिपादितं सादृश्यं परस्परसादृश्यद्वयं स्ववैशर्ष्याभिराश्रय तृतीयं सदृश व्यवच्छिन्नमिति, प्रकृतपद्ये तु धर्मद्वयं सादृश्यद्वयप्रयोजकम् । तथा चैकधर्मप्रयुक्तैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकसादृश्यनिरूपणेन तदर्थप्रयोज्यैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकसादृश्यस्यैवार्थतः सिद्धिः स्यात्, अतो भिन्नधर्मप्रयुक्तैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकस्य सादृश्यस्य निरूपणं स्वतः सार्थकम् इति न तत्र सदृशान्तरव्यवच्छेदरूपं फलं जनयतीति परमार्थतो नेदं पद्यमुपमेयोपमाया लक्ष्यम् । उक्तविशेषणानिवेशे तु प्रकृतमुपमेयोपमालक्षणमत्रापि प्रसज्येतेति अतिव्याप्तिरिति भावः ।

अतिव्याप्ति दोष का उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'तडिदिव तन्वी—'

इस पद्यखण्ड में दो समानधर्म हैं—एक 'तन्वी' पद से अवगत होनेवाला 'तनुव (दुबली पतली होना)' और दूसरा 'गौरी' पद से ज्ञात होनेवाला 'गौरव (गोरी होना)'। इन दो साधारणधर्मों से यहाँ पृथक्-पृथक् दो उपमायें सिद्ध होती हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न साधारणधर्मों से सिद्ध होनेवाली-उपमायें तीसरे समान पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकतीं। कारण यह है कि-एकधर्ममूलक एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ का सादृश्य सिद्ध हो जाने पर तद्वर्ममूलक उस पदार्थ का भी दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य अर्थात् सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनः दूसरे पदार्थ के साथ उसके सादृश्य का शब्दतः कथन, अपने वैधर्म्य को मिटाने के लिये, उन दोनों के तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति का आशेष कर देता है। तात्पर्ययद्दृष्ट्वा कि उपमान का यद्वर्ममूलक सादृश्य उपमेय में एक बार कह दिया जाता है, तद्वर्ममूलक सादृश्य ही यदि पुन उपमेय का उपमान में शब्दतः कहा जाता है, तब उसका अभिप्राय यह निकल जाता है कि 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है,' क्योंकि अकारण, विज्ञान अर्थात् सिद्ध बात को शब्दतः नहीं दुहराते। इस तरह एक धर्मवाली परस्पर उपमा में तृतीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है। परन्तु प्रकृत पद्य-खण्ड में यह बात नहीं हो सकती। कारण, 'तनुव (दुबली पतली होने)' रूप साधारणधर्ममूलक विजली के साथ कामिनी का सादृश्य वर्णित हो जाने पर यद्यपि तद्वर्ममूलक (तनुवधर्मद्वारक) कामिनी के साथ विजली का सादृश्य अर्थात् सिद्ध हो जाता है, तथापि 'गौरव-(गोरी होने)' रूप साधारणधर्ममूलक कामिनी के साथ विजली का सादृश्य सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रकृत पद्य के दोहरे सादृश्यकथन का फल उन्हीं उपमान उपमेयों (कामिनी और विजली) के भिन्न-भिन्न समानधर्ममूलक सादृश्यों का ज्ञान होता है, न कि तृतीय समानधर्मस्तु का व्यवच्छेदज्ञान। अतः यदि लक्षण में उक्त भाग का निवेश नहीं किया जाता, तब इस पद्य भाग-जो उक्त विचार के अनुसार वस्तुतः उपमेयोपमा का लक्षण नहीं है-में भी उपमेयोपमा का लक्षण चला जाता-अतिव्याप्ति दोष लग जाता।

परस्परपदकृत्यमाह—

‘सदृशी तव तन्वि निर्मिता विधिना नेति समस्तसम्मतम् ।

अथ चेन्नपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक् ॥’

इति तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तियारणाय परस्परमिति ।

‘हे तन्वि कृशाङ्गि ! विधिना ब्रह्मणा, तव, सदृशी समाना, व्यक्तिरिति यावत्, न, निर्मिता रचिता, इति, समस्तसम्मत सर्वजनस्वीकृतम् वस्तु । अथ अनन्तरम्, निपुण सूक्ष्मम्, विभाव्यते विचार्यते, चेत्, तदा, कौमुदी चन्द्रज्योत्स्ना, मनाक् ईपत्, मतिम् बुद्धिम्, आरोहति’ इत्यर्थके ‘सदृशी—’ इति पद्ये कौमुदीशिक्षे कान्तासादृश्यनिवेशस्य शब्दतः कथनात् ईपमादृश्यस्य चन्द्रिकाया कथनात्तृतीयसदृशव्यवच्छेद फलित इति सादृशवर्णनविषयोभूते सादृश्येऽतिव्याप्तिर्मा भूदत् परस्परमिति उपमानोपमेयभाववशेषणं लक्षणे निवेशितम् । निवेशिते च तस्मिन् नातिव्याप्ति, कौमुदीसादृश्योक्तेरभावेन परस्परोपमानोपमेयभावस्याभावादिति भावः ।

‘परस्पर पद’ का फल दिखलाया जाता है—सदृशी इत्यादि। लक्षण में ‘परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का’ यह अर्थ निम्नलिखित अर्थवाले काव्यवाक्य में अतिव्याप्ति न होने के लिये कहा गया है—‘हे तन्वि ! विधाता ने तेरे समान कोई दूसरी नायिका व्यक्ति नहीं बनाई, यह सर्वसम्मत बात है। परन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तब चन्द्रज्योत्स्ना कुङ्कु-कुङ्कु बुद्धि में आरूढ होती है—अर्थात् इतना ज्ञात

होता है कि चन्द्रज्योत्स्ना कुछ तेरी समता रखती है।' इस श्लोक में जो चन्द्रज्योत्स्ना के कुछ-कुछ नायिका के समान होने की बात कही गई है उससे 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है' यह बात सिद्ध होती है। फलतः इस सादर्य-वर्णन का फल तीसरे सदृश की निवृत्ति है ऐसा कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि उपयुक्त अंश लक्षण में नहीं कहा जाता तब यह पद्य भी उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

सुन्दरपदनिवेशफलमाह—

लिङ्गवचनभेदादिदुष्टसादर्यवारणाय सुन्दरमिति—

लिङ्गभेदवचनभेदप्रवृत्तिभिर्दोषैर्दुष्टे वर्णनविपधीभूते सादर्योऽतिव्याप्तिनिरासाय लक्षणैः 'सुन्दरम्' इति सादर्य-विशेषणमुपात्तम् । उपात्ते च तस्मिन् विशेषणे न तत्र दोषः, तादृशादोषप्रस्तस्य सादर्यस्यासुन्दरत्वान् इति भावः ।

सुन्दर पद का फल कहा जाता है—लिङ्ग इत्यादि । लिङ्गभेद, वचन-भेद आदि दोषों से युक्त सादर्य में अतिव्याप्ति न हो—इसलिये लक्षण में सादर्य का विशेषण 'सुन्दर' कहा गया है । दुष्टसादर्य सुन्दर नहीं माना जाता, अतः 'सुन्दर' विशेषण कह देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती ।

उदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानोते—

अथेदमुदाह्रियते—

अथ अर्थान् पदरूपप्रदर्शनान्तर इयम् उपमेयोपमा, उदाह्रियते लक्ष्यगततया प्रदर्शयति इति भावः ।

पदकृत्य दिखलाने के बाद अब उपमेयोपमा का उदाहरण दिखलाया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कौमुदीव भवती विभाति मे कातराशि भवतीव कौमुदी ।

अम्बुजेन तुलित विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम् ॥'

नायकस्य नायिका ग्रन्थुकि—अथ कातराशि भवत्यकितलोचने । भवती, मे कौमुदी चन्द्रकला, इव, विभाति, कौमुदी च भवतीव विभाति । तव, विलोचन नयनं जातिविवक्षयैः चन्द्रनभिति चोष्णम् । अम्बुजेन कमलेन, तुलितं सदृशम्, अम्बुजं च तव लोचनेन सम इत्यर्थः । अत्र कौमुदीनायिकयोः नयनाम्बुजयोश्च परस्परं सादर्यवर्णनेन तृतीयसदृश-व्यवच्छेदादुपमेयोपमा इति भावः । अत्र 'अत्र तुलित सममित्युपमावाचकवैलक्षण्यं पद्य-माणाक्लिप्त्यच्चादिवैलक्षण्यमित्येव दुष्टमिति चिन्त्यमिदम्' इति नागेशः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कौमुदीव इत्यादि । नायक का कथन है—हे कातराशि ! तू मुझे चन्द्रकला सी प्रतीत होती है, और चन्द्रकला तुझ जैसी । तेरे नयन कमल के तुझ हे और कमल तेरे नेत्र के समान है । यहाँ कौमुदी और नायिका एवं कमल और नेत्र की परस्पर उपमा से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति ज्ञात होती है, अतः यहाँ उपमेयोपमालक्ष्य होना है । यहाँ नागेश का कथन है कि—'तुलितम्' और 'समम्' इन उपमावाचकों की विलक्षणता, आगे स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा कही जानेवाली 'किम्' 'वयम्' आदि की विलक्षणता के समान, दुष्ट है, अतः यह उदाहरण चिन्तनीय है । बात ठीक है 'सुन्दर' विशेषण से इस तरह के दुष्ट सादर्य का निराकरण पण्डित-राज को अभिमत है । अतः 'अम्बुजेन खलु लोचनं समं लोचनेन च तवाम्बुजं तथा' अथवा 'अम्बुजेन तुलित विलोचनं लोचनेन तुलितं च तवाम्बुजम्' ऐसा पाठ मानना उचित है ।

उपमेयोपमाया भेदो विवक्ष्यते—

इयं च तावद्द्विविधा—उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च । उक्तधर्मा तावदनुगाम्या-
दिभिः प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा ।

उपमेयोपमायाः प्रथमं द्वौ भेदौ—एक स यत्र साधारणो धर्मः स्पष्टतया शब्दैरुक्त-
रित्यति, अपरत्र स यत्र स धर्मो व्यञ्जनावृत्त्या विज्ञातो भवति शब्दैरुक्तो न भवति ।
प्रथमभेदस्य पुनर्वहवौ भेदा भवन्ति, अनुगामित्वविन्वप्रतिविन्वभावापन्नत्वोपचरितत्वा-
दिभिर्द्रवाधिभिः साधारणधर्मम्यानेकविधत्वादिति भावः ।

उपमेयोपमा का भेद किया जाता है—इयम् इत्यादि । यह उपमेयोपमा प्रथमतः
दो प्रकार की होती है—एक उक्तधर्मा—अर्थात् जिसमें साधारणधर्म स्पष्ट शब्दों में कथित
रहता है और दूसरी व्यक्तधर्मा—अर्थात् जिसमें साधारणधर्म शब्दतः उक्त नहीं रहता,
पर व्यञ्जना से ज्ञात होता है । उन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार—अर्थात् उक्तधर्मा—के
पुनः अनेक प्रकार होते हैं, क्योंकि अनुगामी आदि भेदों से धर्म के अनेक रूप होते हैं ।

उक्तधर्मायाः प्रथमं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

अनुगामी धर्मो यथा—

स्पष्टम् ।

अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘निरिक्षिते निगमकदम्बे लोकेष्वप्येव निर्विवादोऽर्थः ।

शिव इव गुरुगरीयान् गुरुत्वि सौख्यं सदाशिवोऽपि त्रया ॥’

निरिक्षिते सम्पूर्णं, निगमकदम्बे वेदग्रन्थे, अपि च, लोकेषु, एव, अर्थ (इयं वातां)
निर्विवादं ऐकमन्येन सिद्धं, यत्, गुरु, शिव, इव, गरीयान् अतिश्रेष्ठं, एवम्, सौख्यम्
(प्रथमभेदस्यम्) सदाशिवोऽपि, गुरु, इव, तथा गरीयानित्यर्थः । अत्र गरीयस्त्वनुपमानो-
पमेयोपमेयोपेणान्वययोग्यत्वादनुगामी साधारणो धर्म इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निरिक्षिते इत्यादि । सभी वेदों में तथा लोक में
भी यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध है कि—गुरु शिव के समान अतिश्रेष्ठ हैं और ये
परमश्रेष्ठ सदाशिव भी गुरु के तुल्य महत्त्वम हैं । यहाँ ‘अतिश्रेष्ठ होना’रूप साधारण-
धर्म, एकरूप से उपमान-उपमेय दोनों में अन्वययोग्य होने के कारण, अनुगामी हैं ।

उक्तधर्मायाः द्वितीयं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

विन्वप्रतिविन्वभावमापन्नो यथा—

स्पष्टम् ।

विन्वप्रतिविन्वभावमापन्न साधारणधर्मवाली उपमेयोपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘रमणीयस्तवकृत्युक्ता विलसितवश्रोज्जुगलशालिन्यः ।

ललितिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे ललितिकाः ॥’

कवि काविकायां विहरन्तीः कामिनीवर्णयति—ता, वनिता कामिन्यः, रमणीयैः
सुन्दरैः, स्तवकैः पुष्पगुच्छैः, युक्ता युक्ता, ललितिका लता, इव, एवं ललितिका, विलसितैः
शोभिनैः, वश्रोज्जुगलैः रत्नद्वयैः, शालन्ते = शोभन्ते यान्ताहरयः, वनिता कामिन्यः,
इव, रेजिरे शृशुभिर इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रमणीय इत्यादि । वाटिका में विहार करती हुई नायिकाओं का वर्णन कवि करता है—वे वनितायें—नायिकायें, सुन्दर पुष्प-गुच्छों से युक्त लताओं की तरह, और लताएँ, सुन्दर स्तनयुगलों से शोभित नायिकाओं की तरह, शोभित हुईं ।

उपपादयति—

अत्र रमणीयत्वविलसितत्वाभ्यां विशेषणाभ्यां युतत्वशालित्वाभ्यां च विशेष्याभ्यां परस्परं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नाभ्यां पुटितः स्तब्धकस्तनरूपः परस्परं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्मः ।

विशेषणाभ्यामिति । स्तब्धकवञ्जो जयुगलपदार्थयोरिति भावः । विशेष्याभ्यामिति । स्तब्धकवञ्जो जयुगलपदार्थनिष्ठविशेषणतानिष्पितविशेष्यतानिशिष्टाभ्यामित्यर्थः । वदित्विति । वस्तुतस्तयोरेकत्वादिति भावः । पुटितः सम्पुटितः । अयं भावः—'रमणीयस्तवकयुता—' इति पद्ये विशेषणतयोरे रमणीयत्वविलसितत्वे, एवम् विशेष्यतया कथिते युतत्वशालित्वे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने, शब्दाद्ययमेदेन भिन्नत्वेऽपि परमार्थत एकपदार्थत्वात् । तयोर्मध्यगतश्च स्तवकस्तनरूपो धर्मः सादृश्यमूलकभेदाध्यवसानेन बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः सन् साधारणत्वमात्ताद्योपनागभाक्षिपनेषोपमा प्रयोजयतीति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में विशेषणरूप में वर्णित 'रमणीयता' और 'विलसितता' (सुन्दरता) एवं विशेष्यरूप में वर्णित 'युक्ता' और 'शालिता' (शोभितता) परस्पर वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि वस्तुतः ये (दो दो) एक ही पदार्थ हैं, केवल शब्द और व्याख्य के भेद से भिन्न से दीखते हैं । इन दोनों (विशेषण और विशेष्य) के मध्य में कथित 'पुष्पगुच्छ तथा स्तन' सादृश्यमूलक भेदाधारोप के कारण, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हो जाते हैं ।

तृतीयं प्रकाशुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपितो धर्मो दयेत्यर्थः ।

उपचरित (आरोपित) धर्मवाली उपमेषोपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कुलिशमिष कठिनमसतां हृदयं जानीहि हृदयमिव कुलिशम् ।

प्रकृतिः सतां सुमधुरा सुषेव हि प्रकृतिरिव च सुधा ॥'

त्वम्, असताम् अराज्जनानां दुर्जनानामिति यावत् हृदयम् मनः, कुलिशं यज्ञम् इव, एवम् कुलिशम्, असता, हृदयमिव, कठिनं जानीहि विद्धि । सतां सज्जनानाम् प्रकृतिः स्वभावः, सुधा अमृतम्, इव, सुमधुरा अतिमाधुर्यशालिनी, एवम् सुधा, सता-प्रकृतिः, इव, सुमधुरा भवतीत्यर्थः । अत्र पृथिवीनिष्ठकठिनत्वस्य मनसि, सुधानिष्ठमाधुर्यस्य च प्रज्ञाक्षुपचारः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कुलिशमिव इत्यादि । तुम दुर्जनों के हृदय को वज्र की तरह और वज्र को दुर्जनों के हृदय की तरह कठोर समझो । सज्जनों का स्वभाव, अमृत के समान, और अमृत, सज्जनों के स्वभाव के समान, अत्यन्त मधुर होता है । यहाँ पृथ्वीरूप वज्र का धर्म—'कठिनता' हृदय में और अमृत का धर्म 'अत्यन्त मधुरता' स्वभाव में उपचरित (आरोपित) हैं ।

चतुर्थ प्रकारमुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

शिलशब्दरूपधर्मो यथेत्यर्थः ।

केवल शब्द (शिलपद) रूप धर्मवाली उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृकः

भारतमिव सच्चित्तं सच्चित्तमिवाथ भारतं सकृपम् ॥’

अत्र, लोके ससारे, पिशुन द्वित्रिंश, वृक हिंसको जन्तुविशेष (भेडिया इति प्रसिद्धः) इव, अविरतचिन्त (पिशुनपक्षे—परापकारविषयकमार्घादिकचिन्ताशीलः, वृकपक्षे—श्रावियु भेदेषु रता सलग्ना चिन्ता यस्य तादृशः) वृकश्च, पिशुनः, इव, अविरतचिन्तः तिष्ठतीति शेषः । सच्चित्त सत्ता चेतः, भारतं महाभारताख्यग्रन्थविशेषः, इव, सकृप (सच्चित्तपक्षे—सदयम्, ग्रन्थपक्षे—कृपेण कृपाचार्येण, महितम्, प्रतिपादकताससर्गेषु कृपाचार्यमाहितं ग्रन्थे बोध्यम्), भारतम्, च, सच्चित्तम्, इव, सकृप, भवतीत्यर्थः । अत्र निरन्तरचिन्तत्वन्वयः पिशुनवृत्तित्वेऽपि वृकावृत्तित्वात्सकृपत्वस्य भ्रमजनयितृवृत्तिन्वेऽपि भारतग्रन्थावृत्तित्वान् ‘अविरतचित्त सकृप’-रूपौ शिलशब्दानेव साधारणपर्यायित्वात् भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अविरत इत्यादि । इस ससार में पिशुन (बुगल-खोर), वृक (भेडिया) की तरह ‘अविरतचिन्त’ (निरन्तर चिन्तावाला—दूसरे की बुराई सोचनेवाला) होता है और पिशुन की तरह भेडिया ‘अविरतचिन्त’ (अवि = भेदों में, रत = सलग्न, चिन्तावाला—भेदों पर ताक लगाए हुए) रहता है । एवं सज्जनों का चित्त, भारत-महाभारत की तरह, ‘सकृप’ (कृपायुक्त) होता है और सज्जनों के चित्त की तरह, भारत-महाभारतग्रन्थ ‘सकृप’ (कृपनामधारी आचार्य से युक्त) है । यहाँ ‘निरन्तर चिन्तायुक्त होना’ धर्म, ‘वृक’ में नहीं सङ्गत होता और ‘भेदों पर ताक लगाये रहना’ धर्म, ‘पिशुन’ में नहीं बन पाता । इसी तरह ‘कृपायुक्त होना’ धर्म, महाभारत ग्रन्थ में नहीं रहता और ‘कृपाचार्य से युक्त होना’ धर्म, सज्जनों के चित्त में नहीं ठीक बैठता, अतः यहाँ ‘अविरतचिन्त’ और ‘सकृप’ ये दोनों शिलपद ही दोनों (पिशुन और वृक तथा सज्जन-चित्त और महाभारत) के विशेषण होने के कारण साधारण-धर्मरूप माने जाते हैं । यहाँ उक्तधर्मा उपमेयोपमा के उदाहरण समाप्त हुए ।

द्विविधयोरुपमेशोपमयोहकधर्माख्यस्य प्रथमभेदस्यावान्तरभेदानां चतुर्णामुदाहरणानि प्रदर्श्य, सम्प्रति त्रितीयभेदस्य व्यक्तधर्माख्यस्योदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—

व्यक्तधर्मो यथा—

व्यङ्गानावृत्तिबोधसाधारणधर्मयुक्तोपमेयोपमा यथेत्यर्थः ।

व्यङ्गानावृत्ति के द्वारा अवगत होनेवाली साधारणधर्म से युक्त उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशास्त्वयाऽकाशः ।

सेतुरिव स्वर्गज्ञा स्वर्गज्ञेवान्तरा सेतुः ॥’

वारिधि समुद्र, आकाशसम, नियन्तुल्य, तथा, आकाश नियन्, वारिधिसदृश-समुद्रतुल्य, अस्तीति शेष, इत इति चेत् ? अतः अन्तर आकाशमध्ये, सेतु शिलाश-कलमङ्गलिनो मार्गविशेष, इव, स्वर्गज्ञा छायापथ, अस्तीति, तथा अन्तरा समुद्रमध्ये, स्वर्गज्ञा, इव, सेतुर्विद्योतते इत्यर्थः ।

उदाहरण का प्रदर्शन किया जाता है—वारिधर इत्यादि। एक वर्णन है कि—समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान, क्योंकि आकाश में सेतु की तरह स्वर्गज्ञा (द्वायापथ) है और समुद्र में स्वर्गज्ञा की तरह, सेतु (बाँध) है।

उपपादयति—

—अत्रापारत्वादिव्यज्यमानो धर्मः ।

दुर्घटत्वमादिपदमाहम् । व्यक्तपदार्थं सूचयितुमाह—व्यज्यमानेति 'वारिधि—' इति श्लोके समुद्राकाशयो अपारत्वं (निस्तीमत्त्वं) साधारणो धर्म सेतुस्वर्गज्ञयोश्च दुर्घटत्वम् । तौ च धर्मौ नात्र वाच्यौ, वाचकविरहात्, अपि तु व्यङ्ग्यौ, अतः व्यक्तधर्मव्युपमेयोपमेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वर्णित आकाश और समुद्र में 'अपारता' समान धर्म है एवं सेतु और स्वर्गज्ञा में 'दुर्घटता' समानधर्म है, परन्तु इन धर्मों के प्रतिपादक पद पद्यवाक्य में हैं नहीं, अतः ये धर्मवाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माने जाते हैं।

विशेषमाह—

एषा सर्वाऽपि स्फुटे वाक्यभेदे प्रपञ्चिता ।

अत्र वाक्यभेद स्फुटः अर्थात्—द्वयोर्वाक्ययोः सादृश्यद्वयं स्पष्टं निर्दिष्टम्—तादृश-स्थलान्तः पूर्वोक्तोपमेयोपमाप्रपञ्चो बोध्यः । एतेनास्फुटवाक्यभेदस्थलेऽपि उपमेयोपमा-सम्बन्धं सूच्यते ।

अनुपदोक्त उपमेयोपमा का विस्तार उन स्थलों पर किया गया है जहाँ वाक्यभेद स्पष्ट है—अर्थात् शब्दतः दो वाक्यों में दो सादृश्य पृथक्-पृथक् वर्णित रहे हैं। एतावता यह सूचित हुआ कि अस्फुट—अर्थात् अर्थतः बोध्य वाक्यभेद के स्थल में भी यह अलङ्कार हो सकता है।

पूर्वसम्भावितमुपमेयोपमाप्रकारसुदाहर्तुमाह—

आर्थे तु वाक्यभेदे—

वाक्यभेद इति । उदाह्रियत इति शेष

अर्थतः भवगत होने वाले वाक्यभेद के स्थल में तो अब उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अभिरामतासदनमभ्युज्जानने नयनद्वयं जनमनोहरं तव ।

इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वैधसे तुलनामुदञ्चति परस्पररामना ॥'

शब्द 'कस्याश्चिन्कागिन्या' कमनीयं नयनद्वयं नायकमुखेन वर्णयति—अपि अभ्युज्जानने कमलमुखि । अभिरामतायाः परितो रमणीयतायाः, सदनं मन्दिरम् आवासस्थानमिति यावत्, तथा जनमनोहरं दर्शकलोकहृदयार्क्यकम्, च, तव, नयनद्वयं लोचनयुगलम्, इयति निश्चितपरिमाणतयाऽज्ञायमाने, वैधसे वैरधे, प्रपञ्चविषये संसारे, परस्पररामना अन्योन्यरूपेण, तुलनां समताम्, उदञ्चति प्रकाशयतीत्यर्थः ।

नायक, नायिका से कहता है—हे कमलमुखि ! सौन्दर्य का मन्दिर और दर्शकजनों के मन हरने वाला तेरा नेत्रयुगल, इतनी बड़ी विधि-सृष्टि में, केवल परस्पर रूप से ही समता प्रकाशित करता है—अर्थात् इन दोनों (अर्थों) की समता इन्हीं दोनों में है, तीसरे किसी पदार्थ में नहीं।

रेषाम्बियानात् । एकधर्माश्रयेति विशेषणात् 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्धनसन्निर्गैर्जैश्च द्यौरिव सूः' इति कस्यचित्पदस्यार्थे परस्परोपमायां नातिव्याप्तिः, तत्रोपमा-
प्रयोजकधर्मक्याभावात् । भूतलोपमानिकायां प्रयोजकस्य रजसामनुगामियर्म-
स्य, नमस्तलोपमानिकायां प्रयोजकस्य घनसदृशगजानां बिम्बप्रतिबिम्बभावा-
पन्नवर्मस्य च भेदात् । व्यक्त्येति च विशेषणं व्यङ्ग्योपमेशोपमासङ्ग्राहार्थ-
मितीदमुपमेयोपमात्वप्रयोजकं लक्षणमिति ।

प्राचीने लक्षणमिति । 'उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि । उपमेयोपमा सा
स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता ।' इतीत्यर्थः । अव्याप्नोति । 'तद्वत्पुना युगपदुन्मिपितेन तावद्'
इत्यत्राव्याप्तिः । 'रजोभिः स्यन्दनोद्भूतैः' इत्यत्रातिव्याप्तिरिति भावः । (अन्वो पश्यो-
सन्नूर्णं स्वरूपं स्वयं मूलकृतैवानुपदं वदयते ।) अन्योन्येनैत्यत्र तृतीयायां प्रतियोगित्वार्थ-
कतया तदर्थमाह—अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टेति । व्यक्त्या इत्यन्यार्थमाह—व्यञ्जना-
व्यापारेणेति । लक्षणाया अस्मन्मवात् इत्यन्तरेणेत्यस्य व्याख्या करोति—शक्त्या शक्ति ।
इवादिषत्त्वे इति भावः । बोध्या इत्यस्य व्याख्या—वेद्या इति । एकधर्माश्रया इत्यस्य
दीक्षा—एकधर्मप्रयोज्या इति । एक साधारणधर्ममूलकेति तदर्थः । अन्यधर्मकत्वा पदकृत्य-
माह—अन्योन्येति विशेषणादित्यादिना । उभयविधान्तेति । उभयत्र पर्यायमिता न धौती-
त्यर्थः । तस्या निरासे हेतुनाह—अन्योन्यादिना । शक्नोति । समपदेत्यादि । ननु वृत्तिविषये
परस्परनिरपेक्षत्वनिवेशो लक्षणो कुतः इवगम्यते इति चेतनाह—परस्परनिरपेक्षत्वेति ।
'व्यक्त्या इत्यन्तरेण वा' इत्यत्र 'वा'पदं प्रयुज्जानैर्दोषितैर्द्वयोः परस्परनिरपेक्षत्वं सूचि-
तम्, अन्यथा पक्षान्तरकथनानङ्गतेरिति भावः । अर्थ इति । अर्थरूपायामित्यर्थः । रज-
सामिति । प्रयोजकभूतरजोऽभिज्ञानुगामियर्मस्येत्यर्थः । समानविक्रिकत्वस्येव नमान-
वचनत्वस्याभेदान्वये न तन्त्रत्वनित्यभिप्रायेणोदृष्टप्रयोगः । एवमप्येति । घनगजयोर्भेदेन
कथं साधारणत्वमत आह—बिम्बेति । अयं भावः—अप्ययदीक्षितैः चित्रमीमांसालो-
स्वनिवन्धे प्राचीनकृतं लक्षणं निरस्य 'अन्योन्येने'ति उपमेयोपमाया लक्षणं कृतं । तत्रा-
'न्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टा वा उपमा' इत्यर्थकस्य 'अन्योन्येन वा उपमा' इत्यस्य
निवेशेन 'इदं तच्च समम्' इत्युभयपर्यायमितोपमाया व्यावृत्ति कृता, यतस्तत्रोपमा सम-
शब्दशक्तिगम्या, 'इदं तेन समम्, तच्चेनेन समम्' इत्याकारकपरस्परोपमानभावात्मकं
परस्परप्रतियोगिकत्वं पुनर्व्यञ्जनागम्यम् । तथा चास्यानुपमाया शक्तिव्यञ्जनयोर्भयो-
रपेक्षणेन एकवृत्तिबोध्यत्वमस्ति । एकधर्मप्रयोज्येत्यर्थकैकधर्माध्याया इति कथनेन
'रजोभिः—' इति मूलोक्तपरस्परोपमानिरामो विहितः, यतस्तत्र भूतलोपमानकनमस्तलो-
पमेयकोपमाप्रयोजकः साधारणधर्मोऽनुगामो रजोरूपः तथा नमन्तलोपमानकभूतलोपमे-
यकोपमाप्रयोजकश्च साधारणधर्मो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो घनसदृशगज इति तयोप-
मयोर्द्वैकधर्मप्रयोज्यत्वाभाव इति ।

सङ्गठन करने के लिये अप्ययदीक्षित के मत का उपपादन किया जाता है—चित्र
इत्यादि । अप्ययदीक्षितजी ने अपनी चित्रमीमांसा नामक पुस्तक में 'तद्वत्पुना युगपदु-
न्मिपितेन तावद्' इस पद्य में अव्याप्ति और 'रजोभिः स्यन्दनोद्भूतैः' इस पद्य में
अतिव्याप्ति दोष दिखलाकर पहले 'उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि । उपमेयोपमा
सा स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता । अर्थात् यदि दोनों पदार्थ क्रमशः उपमान तथा उपमेय
हों, तब वह उपमेयोपमा होती है । इसके दो भेद हैं ।' इस प्राचीनोक्त लक्षण का सङ्गठन
किया और तदुत्तर स्वयं 'अन्योन्येनोपमा—' यह मूलोक्त लक्षण किया है । सहृदयो

की सुगमता के ध्यान से उक्त लक्षण का अर्थ पदकृत्यसहित संक्षेप में प्रत्यकार, चित्र-मीमांसाकार की रीति से बतलाते हैं—अन्योन्येन = परस्पर दोनों पदार्थ जिसके प्रति-योगी होते हों ऐसी, तथा एकधर्माधया = एक ही साधारण धर्म से सिद्ध होनेवाली, जो उपमा (सादृश्य) शक्त्या = व्यञ्जनावृत्तिद्वारा, अथवा, वृत्त्यन्तरेण = अभिधावृत्तिद्वारा बोध्या = ज्ञात होती हो, उसको उपमेयोपमा माना जाता है—यह तो हुआ इस लक्षण वाक्य का अन्वयानुसारी अर्थ। अब पदकृत्य देखिये—इस लक्षण में उक्त अर्थवाला 'अन्योन्येन' विशेषण इसलिये जोड़ा गया है कि—'इदं तच्च समम्—अर्थात् यह और वह समान है' इस उभयनिष्ठ उपमा में अतिव्याप्ति न हो। इस उपमा में यद्यपि अन्योन्यप्रतियोगिकत्व है—अर्थात् इस वाक्य से 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' इस तरह दोनों का सादृश्य दोनों में सिद्ध होता है, तथापि यह अन्योन्यप्रतियोगिकत्व-दोनों का सादृश्यप्रतियोगी होना—व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ज्ञात होता है—अर्थात् 'इसका सादृश्य उसमें और उसका सादृश्य इसमें' ऐसा ज्ञान शब्दतः नहीं होता और उपमा ज्ञात होती है 'सम' शब्द की अभिधावृत्ति से, अतः अन्य वृत्ति की अपेक्षा किये बिना किसी एक वृत्ति से 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा' यहाँ ज्ञात नहीं होती। तात्पर्य यह कि—उक्त विशिष्ट उपमा का बोध कराने के लिये अभिधा को व्यञ्जनावृत्ति की अपेक्षा करनी पड़ती है। और लक्षण के अनुसार होना चाहिए 'अन्य वृत्ति की अपेक्षारहित एक वृत्ति द्वारा अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा का बोध।' आप पूछ सकते हैं कि—लक्षण में तो 'अन्य वृत्ति की अपेक्षा से रहित' यह बात लिखी हुई है नहीं, फिर आप यह बात कहाँ से ले आए, तो इसका उत्तर यह है कि—लक्षण में जो 'वा (अथवा)' पद है—उसका अर्थ यही होता है—अर्थात् 'वा' पद पञ्चान्तर का बोधक है, अतः यह सिद्ध होता है कि—व्यञ्जना अथवा अभिधा—इन दोनों में से किसी एक के द्वारा उक्त विशिष्ट उपमा का बोध होता हो। 'एकधर्माधया—एकधर्ममूलक (उपमा)' इस अंश का फल यह है कि 'रज (धूलि) से आकाश पृथ्वी के समान और मेघों के सदृश गर्जों से पृथ्वी आकाश के समान' इस किसी पक्ष के अर्थ रूप में आई हुई परस्पर उपमा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, यहाँ दोनों उपमाओं को सिद्ध करनेवाला धर्म एक नहीं है, 'भूतल' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक साधारण धर्म 'रज' यह अनुगामी पदार्थ है और 'आकाश-तल' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक है त्रिभुवप्रतिविम्बभावापन्न मेघ-सदृशगजपदार्थरूप धर्म। 'शक्त्या (व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा)' यह निवेश लक्षण में इसलिये किया गया है कि—इस लक्षण से व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का भी स्पष्ट हो सके। यह लक्षण उपमेयोपमात्व का प्रयोजक—साधक है अर्थात् यह लक्षण जहाँ सघटित होगा, वह उपमा उपमेयोपमा समझी जायगी।

खण्डयति—

तन्न ।

'अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः ।

गवेपणेन लमिहापरेणामेपापि तुल्या तव तावदस्ति ॥'

अत्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वधिशिष्टाया उपमायास्तनुत्वादिरूपैकधर्माश्रयाया वृत्त्यन्तरेण शक्त्या बोधनादुपमेयोपमात्वापत्तेः ।

तन् पूर्वोक्तदीक्षितकथनम् । न युक्तमिति शेष । अयुक्तत्वे हेतुमाह—'अहं—' इत्यादिना । हे गौराङ्गि ! लताया सदृशी लतानुयोगिकसादृश्याधया, अहम्, इति, अखर्वं महान्तम्, गर्वं, कदापि न याया प्राप्नुहि, यतः, इह त्वत्तुल्यविषये, अपरेण अन्येण सम्प्रति लननगोचराणा पदार्थानाम्, गवेपणेन अन्वेषणेन, अलं व्यर्थम्, तावन् प्रथमम्, एषाऽपि नवनगोचरीभूता लताऽपि, तव तुल्या त्वदनुयोगिकसादृश्याधया अस्ति इत्यर्थः ।

अन्वेषणे कृतेऽन्येऽपि तव तुल्यां पदार्था लब्धुं शक्या इति भावः । अप्रेति । अस्य 'इति' इत्यादिः । तनुत्वेति । अस्य 'अनुपात्त' इत्यादि' । शक्यत्वेति । कृत्यन्तरेऽन्यस्य व्याख्येयम् । अयमाशयः—दोशितोकलक्षणानुसारं, 'अहं लतायाः—' इति पद्येऽपि उपमेयोपमालंकारत्वप्रसक्तिः, अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टायाः परस्पररोपमानोपमेयभाव-युक्ताया इति यावत् लतानायिकयोदपमायाः अनुकृततुल्यादिरूपैकधर्मप्रयोज्यायाः, शक्यत्वा ज्ञायमानत्वात् तथा चातिव्याप्तिदोषप्रसक्तिं लक्षणमिति ।

स्रष्टव किया जाता है—सद्य इत्यादि । सब कुछ होने पर भी दीक्षितजी का उपमेयोपमालक्षण ठीक नहीं है । कारण, तदनुसार, 'अहं लतायाः—अर्थात् हे गौराङ्गी ! 'मैं लता के सदृश हूँ (हम दोनों की तुलना में मैं ही उपमान होती हूँ, मेरे उपमान होने योग्य वह क्या ? कोई नहीं है)' इस तरह का मदागर्व तू कभी मत करना । इस विषय में दूसरों को हूँ होने की भावश्यकता नहीं, प्रथमतः यह लता भी तो तेरे सदृश है अर्थात् तुझना में तेरा उपमान बनती है । अभिप्राय है कि—यह (लता) तो बिना हूँ तेरे समान मिल गई, हूँ होने पर तो न जाने कितनी चीजें ऐसी मिल जाँय ।" इस पद्य में भी उपमेयोपमा हो जायगी, क्योंकि यहाँ भी दोनों क्रम-क्रम से जिसके प्रतियोगी होते हैं, ऐसी और तनु'व (दुर्बलता) भादि अनुक्त एक धर्म से सिद्ध होने वाली उपमा का कृत्यन्तर (अभिधा) से बोध होता है । सारांश यह हुआ कि दीक्षितजी का लक्षण यहाँ अतिव्याप्त हो जाता है ।

आशक्य समाधत्ते—

न चात्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वमुपमायां न प्रतीयते, लतादिसम्बन्धिसादृश्या श्रयत्वस्यैवास्मत्पदार्थेऽन्वयादिति वाच्यम् । 'मुखस्य सदृशश्चन्द्रस्य सदृशं मुखम्' इत्युपमेयोपमायामव्याप्तेः ।

सदृशतुल्यादिपदाना धर्मिवाचकतया 'अहं लतायाः—' इति पद्ये 'लतायाः सदृशी' 'तव तुल्या' इत्यंशाभ्या लतासम्बन्धिसादृश्याश्रयत्वस्यास्मत्पदार्थे त्वलम्बन्धिमादृश्या-श्रयत्वस्यैतत्पदार्थे चान्वयावयवमेव अन्योन्यप्रतियोगिकत्वस्य प्रतीतिरुपमाया न भवतीति कथमतिव्याप्तिरिति शङ्का नोचिता, यतस्तथाङ्गीकारे 'मुखस्य सदृशः—' इति मूलोक्तपद्यखण्डे उपमेयोपमोदाहरणतया सर्वसम्मत तल्लक्षणस्याव्याप्त्यापत्तिः, अत्रापि धर्मिवाचकसदृश-पदसत्त्वेन तत्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । यथा 'अहं लताया—' इत्यत्र सदृशतुल्यादिपदात् सादृश्याश्रयत्वस्यैव प्रतीति' न सादृश्यप्रतियोगित्वस्य, तथा 'मुखस्य सदृशः—' इत्यत्रापि उपमेयोपमालानापत्तिः, अतः सदृशादिपदसत्त्वे शब्दतः प्रतियोगिताया अप्रतीता-वपि अर्थतः प्रतीतिर्भवतीति स्वीकार्यमेव तथा चालक्ष्ये 'अहं लतायाः—' इति पद्ये लक्षणप्रसङ्गादतिव्याप्तिं प्रत्यकारोक्त्या समुचितैवेति भावः ।

एक भाशंका और उसका समाधान अब किया जाता है—न च इत्यादि । सदृश, तुल्य आदि पदों से सादृश्यका आश्रय होना विदित होता है सादृश्य का प्रतियोगी होना नहीं । ऐसी दशा में 'अहं लताया—' इस पद्य की उपमा में परस्परप्रतियोगिकत्व की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि पद्य के 'लतायाः सदृशी (लता के सदृश)' और 'तव तुल्या (तेरे तुल्य)' इन अंशों से गौराङ्गी आदि में लता आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सादृश्य का आश्रय होना ही ज्ञात होगा, फिर आपके द्वारा प्रतिपादित अतिव्याप्ति नहीं होगी ऐसी आशङ्का यदि आप करें तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसे स्थलों पर (सदृश आदि पदों के रहने पर) यदि प्रतियोगि अनुयोगिभाव का भाव नहीं माना जाय तब 'मुख के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश मुख है' इस सर्वसम्मत उपमेयोपमा में अव्याप्ति

हो जायगी—यहाँ उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ भी वही बात है—अर्थात् आपके हिसाब से सदृश पद के रहने पर 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्व' की प्रतीति उपमा में नहीं होगी। अतः अगत्या मानना पड़ेगा कि—सदृश आदि धर्मिवाचक पदों के रहने पर शब्दतः प्रतियोग्यनुयोगिभाव की प्रतीति भले ही न हो, पर अर्थतः उसकी प्रतीति अवश्य होती है। ऐसा मानने पर ही 'मुख के सदृश चन्द्र—' इस पूर्वोक्त वाक्य में उपमेयोपमा हो सकेगी और जब ऐसा मान लिया जायगा तब 'अह लतायाः—' इस पद्य में जो अतिव्याप्ति की बात कही गई है वह उचित ही सिद्ध होगी।

ननु 'मुखस्य सदृश —' इतिवत् 'अह लताया —' इति पद्यमपि लक्ष्यमेवोपमेयोप-
मायास्तथा च नातिव्याप्ति, अलक्ष्ये लक्षणमनस्यातिव्याप्तिपदार्थत्वादित्वाद्—

न ह्यह लताया इत्यत्रोपमेयोपमा भवितुमर्हति । गर्वमात्रनिरासपरत्वेनोत्तरार्धोपमायास्तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः । अत एव अन्योन्यपि तत्र सदृशानि सन्त्येव तेषां गवेषणेन किं फलमित्येतदर्थकं गवेषणेनेत्युत्तरार्धं सङ्गच्छते । तृतीयसदृशचारिव्यवच्छेदो ह्युपमेयोपमाजीवितमित्यालङ्कारिकसिद्धान्तः । अन्यथा 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्' इत्यत्राप्युपमेयोपमात्वनि-
वारणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः ।

उपमेयोपमाभवनानर्हत्वे हेतुमाह—गर्वेति । ननु तन्मात्रपरत्व एव किं बीजमत आह—अत एवेति । तत्परत्वेन तस्या साफल्यादेवेत्यर्थः । उत्तरार्धं तदेकदेश । नन्वेवमपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतावेवोपमेयोपमा इत्यत्र किं विनिगमकमत आह—
नृतीयेति । सदृशचारीति नदशोर्यर्थः । नन्वन्येषा तथा सिद्धान्तेऽपि न मम सिद्धान्त-
स्तथेत्युक्तेखसर निवारयति—अन्यथेति । तस्य तज्जीवितत्वानङ्गीकारे इति तदर्थः । भुव-
स्तलमिवेति । रघुवंशाख्यमहाकाव्यघटकपद्याशोऽयम् । अर्थस्तु स्पष्ट एव । यदि तृतीय-
सदृशानिवृत्तिप्रतीतिरून्येऽपि स्थले उपमेयोपमा दीक्षतस्याभिमतोऽभिव्यक्त्या 'भुव-
स्तलमिव—' इत्यत्रान्यसाधनसमुक्तेऽपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदमात्ररहिते पद्ये तद्वारणायात
नासावकरिष्यन्, अकरोचेत्तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्योपमेयोपमाजीवितत्व श्रन्यालङ्कारिकाङ्गी-
कृतं स्वीकर्तव्यमेव तेनापि । तथा च 'अह लताया —' इति पद्य नोपमेयोपमाया लक्ष्यं
भवितु शक्नोति, तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्यात्राप्रतीति । न चोत्तरार्धोक्त्या उपमायास्तृतीय-
सदृशव्यवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, तस्या गर्वमात्रनिरासपरत्वात् । न चास्तु तस्या
गर्वनिरामपरत्व, परन्तु तेन सह तृतीयसदृशव्यवच्छेदकत्वमप्यस्तु, तन्निरासमात्रपरत्वं
कुतोऽवगम्यते इति वाच्यम्, 'गवेषणेनालमिहापरेपाम्' इत्युत्तरार्धभागेन 'अन्यानि तत्र
सदृशानि समित' इत्यर्थस्य स्फुट प्रतिपत्तौ तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतेरङ्गीकर्तुमयोग्यतया
गर्वमात्रनिरासपरत्वस्यावगमादिति भावः ।

यदि आप कहें कि—'अह लतायाः—' इस पद्य को भी मैं उपमेयोपमा का लक्ष्य ही मानता हूँ, तब तो अतिव्याप्ति की बात नहीं उठेगी, क्योंकि अलक्ष्य में लक्षण का संघटित होना अतिव्याप्ति कहलाता है।" इसके उत्तर में कहते हैं—न हि इत्यादि। अभि-
प्राय यह है कि—'अह लताया —' इस पद्य को उपमेयोपमा का लक्ष्य नहीं माना जा सकता । कारण, यहाँ तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती। आप कहेंगे—
यदि तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती तब पद्य के उत्तरार्ध भाग में जो दूसरी उपमा वर्णित हुई है उसका क्या फल है ? तो मैं कहूँगा कि—उसका फल केवल पूर्वार्ध में वर्णित गव का निरास करना है। बात भी यही ठीक है, अन्यथा उत्तरार्ध का 'गवेषणेनालमिहापरेपाम्' यह अंश असंगत हो जायगा, क्योंकि 'तेरे सदृश बहुतेरे

पदार्थ संसार में खोज करने पर मिल सकते हैं" यही उस अंश का अर्थ होता है। तात्पर्य यह कि—उक्त अंश से जब तेरे समान अनेक पदार्थों की सम्भावना व्यक्त की गई है तब तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति कथमपि यहाँ विदित नहीं हो सकती है। आप कहेंगे—तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति अभिव्यक्त होने पर ही उपमेयोपमा मानी जाय इसमें क्या प्रमाण है, तो इसके समाधान में मेरा कथन यह है कि—तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है ऐसा सभी भालङ्कारिकों का सिद्धान्त है। आप इस सिद्धान्त को स्वीकार न करें ऐसी बात तो ही नहीं सकती। कारण, आपने केवल तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति की प्रतीति न होने के कारण, 'भुवस्तलमिव ध्योम कुर्वन् ध्योमेव भूतलम्—अर्थात् पृथ्वी को आकाश के समान और आकाश की पृथ्वी के समान करते हुए' इस रघुवन के पद्यांश में उपमेयोपमा के वारण करने का प्रयास किया है। यदि आप उक्त सिद्धान्त को न स्वीकार करते होते, तब यहाँ उपमेयोपमा के वारण का प्रयास नहीं करते।

दोक्षितमतसमर्थिका युक्तिमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वमुपमाविशेषणं वाच्यम्, विशेषणान्तर-
वैयर्थ्यापत्तेः। विशेषणव्यावर्त्यानामाधुनिकविशेषणैव वारणात्।

वाच्यमिति। 'अहं लताया—' इत्यत्रातिव्याप्तिवाण्येदानीं वक्तव्यमित्यर्थः। विशेषणान्तरेति। अन्योन्येनेत्यादीत्यर्थः। नन्वेवं कथमुक्तदोषव्यावृत्तिरत आह—विशेषणेति। विशेषणान्तरेत्यर्थः। 'अहं लताया—' इत्यत्र दोषनिरासाय लक्षणे तृतीयसदृशव्यवच्छेद-
फलकत्वमुपमाविशेषणं योज्येत चेत्, तर्हि तेन विशेषणेनैव 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूत्वि चौर्यं न संनिभैर्गजैश्च घौरिव भू' इत्यादावतिव्याप्तौ वारिताया तद्वारकविशेषणान्तराणां योजनं निरर्थकं स्यादिति भावः।

दोक्षितमत के समर्थन में एक युक्ति दिखलाकर उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। अब यदि आप कहें कि—'अहं लताया—' इस पद्य में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'तृतीय सदृशपदार्थ' की निवृत्ति जिससे फलित हो ऐसी उपमा' यह विशेषण भी लक्षण में जोड़ देंगे, तो यह भी समुचित नहीं। कारण, ऐसा करने पर आपके द्वारा लक्षण में लायावे गए अन्य सभी विशेषण (अन्योन्येन इत्यादि) व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उन विशेषणों के द्वारा 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूत्वि चौर्यं न संनिभैर्गजैश्च घौरिव भू' इत्यादि स्थानों में जिस अतिव्याप्तिदोष का वारण आपको करना था, उसका वारण अब इसी नवीन विशेषण से हो जायगा।

दोक्षितोक्तमन्यदपि दूषयितुमाह—

अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिमात्रवेद्येत्यप्युक्तमेव। 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ खजलयोः सादृश्यान्वये प्रतियोगित्वस्य संसर्गत्वेन वृत्त्यविषयत्वात्। वृत्तिवेदानां पदार्थानां संसर्गो धृत्यवेद्य इत्यभ्यु-
पगमात्। अन्यथा प्रकारतापत्तेः।

प्रतियोगित्वस्येति। अनुयोगित्वविशिष्टेत्यादिः। ननु कुतो न तस्य वृत्तिविषयत्व-
मित्याह—वृत्ताति। अत्र "उक्तप्रत्यक्षैकवृत्तिकान्नवेद्यत्वे न तात्पर्यं किं तु वृत्तिद्वयवेद्य-
त्वाभावे। यदा तन्नन्यप्रतीती यथाकथंचिन्नासमानत्वमेव तन्मात्रवेद्यत्वम्। अस्ति च
'खमिव जलम्' इत्यादौ। नास्ति च तन्नैति तन्निरास इत्याशयेनादोषाच्चिन्त्यमिदम्" इति
रुचिरमाह नागेशः। तत्तत्पदार्थमात्रे पदानां वृत्तिः, वृत्त्युपस्थापितानामर्थानां पारस्परिकाः
सम्यन्था आकांक्षाभास्याः, न तेषु पदानां वृत्ति 'अनन्यत्वम्यो हि शब्दार्थः' इति

न्यायात्, अत एव सम्बन्धाना प्रकारतया शाब्दबोधे भोगं न भवति, अन्यथा तदपरि-
हार्यं स्यादिति सिद्धान्तः । तथा च 'खमिव जलम्—' इत्यादौ 'खजलपदनिष्ठाभिधावृत्ति-
वेद्ययो आकाशजलपदार्थयो इवपदनिष्ठदृष्टिविद्येन सादृश्यपदार्थेन सह जायमानेऽ-
न्वयबोधे प्रतियोगित्वाद्युपमित्वयो ससर्गविधयेव भानम् न तु तत्र कस्यापि पदस्य काऽपि
(शक्तिरूपणा व्यञ्जना वा) वृत्तिः । एवञ्च प्रागुक्तदीक्षितकृतीपमेयोपमालक्षणे 'अन्यो-
न्यप्रतियोगित्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिवेद्या यदि भवेत्, तदा सोपमेयोपमा' इति कथन-
मसङ्गतमेव. प्रतियोगित्वस्य श्रुत्यवेद्यत्वे तदुद्धतविशिष्टोपमायामपि 'विशेषणभावे विशि-
ष्टाभावः' इति रीत्या वृत्तिवेद्यत्वाभावेन प्रागुक्तलक्ष्ये उपमेयोपमात्वानापत्तेरिति भावः ।

दीक्षितकृत उक्त लक्षण के एक अन्य अर्थ का भी खण्डन करते हैं—अन्योन्ध इत्यादि ।
अन्य किसी तरीके से जो अर्थ ज्ञात न हो सके उसी को शब्द का अर्थ मानना चाहिए
अर्थात् शब्दों की वृत्ति (शक्ति लक्षणा आदि) उसी अर्थ में मानी जाती है जो वृत्ति
के माने बिना ज्ञात न हो सके । तदनुसार पदार्थों के सम्बन्धों (प्रतियोगित्व अनु-
योगित्व आदि) में पदों की वृत्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि उसके बिना भी आकाशा
के द्वारा उनका भान शाब्दबोध में हो जाता है, अतएव शाब्दबोध में सम्बन्धों का
विशेषणरूप से भान नहीं होता है, यदि वे (सम्बन्ध) भी पदनिष्ठवृत्ति से उपरिधत्त
होते रहते, तब अन्वयवृत्तिवेद्य पदार्थों के समान विशेषण ही होते । ऐसी स्थिति में
दीक्षितजी ने जो उक्त लक्षण में यह कहा है कि—'परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्ट
उपमा यदि एक वृत्ति से ज्ञात हो तब वह उपमेयोपमा है' वह सर्वथा असङ्गत है क्योंकि
इस कथन के हिसाब से 'खमिव जलम् जलमिव खम्—अर्थात् जल आकाश के समान
और आकाश जल के समान' इस वाक्य में उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी । कारण, यहाँ
आकाश और जल के सादृश्य के साथ होनेवाले अन्वय-बोध में जो प्रतियोगिता-
अनुयोगिता भासित होती है, वह सबन्धरूप है, अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार उसमें
किसी पद की वृत्ति नहीं है—अर्थात् वह आकाशा भास्य है और 'प्रतियोगित्व' जब
वृत्तिवेद्य नहीं हुआ, तब तर्क होकर उपमा भी वृत्तिवेद्य नहीं कही जायगी । तात्पर्य
यह कि यद्यपि शुद्ध उपमा सादृश्य इव पद की वृत्ति से वेद्य है पर अन्योन्यप्रति-
योगिकत्वविशिष्ट उपमा तो वृत्तिवेद्य नहीं है, अतः यहाँ उक्त लक्षण का सघटन नहीं
हो सकेगा । यहाँ नागेश का कथन है कि 'अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्ट उपमा एकवृत्ति-
वेद्य हो' इस उक्ति का अभिप्राय एकवृत्ति से प्रतियोगिता और उपमा दोनों का अवगत
होना नहीं है, अपितु यह है कि—इस विशिष्ट में के दोनों अर्थ यदि वृत्तिवेद्य हों तो
उन्हें एकवृत्तिवेद्य होना चाहिए और यदि इन दोनों में से कोई अर्थ बिना वृत्ति के ही
अवगत होता हो तो ऐसा हो सकता है—इससे कोई हानि नहीं । अथवा एकवृत्तिजन्य
बोध में भासित होना ही यहाँ एकमात्रवृत्ति से वेद्य होना विवक्षित है, अतः यहाँ जो
दीक्षित का खण्डन किया गया है वह ठीक नहीं है ।

अलङ्कारसर्वस्वकारमतमालोचयितुमुपक्रमते—

यदप्यलङ्कारसर्वस्वकृतोक्तम् 'द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा । तच्छब्द-
बदेनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः । पर्यायो योगपद्याभावः । अत एवात्र वाक्य-
भेदः' इति तन्न । अत्र द्वयोरिति व्यर्थम् । एकस्योपमानोपमेयात्मकत्वे 'गरानं
गगनाकारम्' इत्यादौ वाक्यभेदाभावेन पर्यायाभावादेवाप्रसक्तेः ।

'द्वयो पर्यायेण—' इति लक्षणम् । लक्षणघटकतच्छब्दबोधं स्फोरयति—तच्छब्द-
मेति । पर्यायपदार्थमाह—पर्यायो योग इति । फलितमाह—अत एवेति । खण्डने हेतुमाह—
अत्र इत्यादिना । अलङ्कारसर्वस्वकारकृतम् 'द्वयो—' इत्युपमेयोपमालक्षण न सम्यक्

वाक्यभेदरूपपर्यवसितार्थके पर्यायपदे लक्षणप्रविशिते तद्वत्त्वादेव यत्र, एक एव पदार्थः उपमानभूत उपमेयभूतश्च भवति तादृशे 'गगनं गगनाकारम्' इत्याद्यनन्वयस्थले लक्षणा-
तिव्याप्तिर्न भविष्यतीति, वाक्यभेदराहित्येन पर्यायभावात्, तथा च 'द्वयोः' इति विशेष-
णं व्यर्थम्, व्याचर्याभावात् व्याचर्यत्वेनाभिमतस्य विशेषणान्तरेणैव चारणादिति भावः ।

अथ 'अलङ्कारसर्वस्वकार' के मत की आलोचना की जाती है—यदपि इत्यादि । अल-
ङ्कारसर्वस्वकार ने "—'द्वयोः—इत्यादि अर्थात् दोनों में पर्यायेण यदि वह बात हो, तब
उपमेयोपमा होती है' यह उपमेयोपमा का लक्षण ब्रभाकर स्वयं उसकी व्याख्या
में लिखा है कि—इस लक्षण में 'तस्मिन्' का अर्थ है 'उपमानता और उपमेयता होने पर'
और 'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'एक साथ न होना—अर्थात् भिन्न भिन्न वाक्य से उपमानता
और उपमेयता का वर्णित होना', अतएव उपमेयोपमा में वाक्यभेद हुआ करता है ।"
सारार्थ यह कि—अलङ्कारसर्वस्वकार के हिसाब से 'यदि प्रथम वाक्य का उपमान दूसरे
वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान हो तब उप-
मेयोपमा होती है' । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं । कारण, इस लक्षण में 'द्वयोः' पद
व्यर्थ है । आप कहेंगे—व्यर्थ नहीं है—'गगनं गगनाकारम्' अर्थात् आकाश आकाश के से
आकारवाला है' इत्यादि अनन्वयालङ्कार—जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय
दोनों होता है—में अतिव्याप्तिवारण के लिये उसकी ('द्वयोः' पद की) सार्थकता है,
तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इसका कारण तो 'पर्याय' पद से ही हो जाता है । तात्पर्य
यह कि अनन्वयस्थल में वाक्यभेद नहीं रहता है, अतः वहाँ नियमतः 'पर्याय' पदार्थ
का अभाव रहेगा ही, ऐसी स्थिति में जिस दोष को 'द्वयोः' कहकर आप हटाना चाहते
हैं, वह 'पर्यायेण' पद से ही हट जाता है, फिर 'द्वयोः' की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

आशयविशेषवर्णनेन 'द्वयोः' इत्यस्य सार्थक्ये साधितेऽपि दोषान्तरेण दुष्टमेवैतल्ल-
क्षणमित्याख्यातुं प्रवर्तते—

यदि च स्फुटत्वार्थमुपमानोपमेयत्वयोरुच्यतासम्पादकलिङ्गवचनभेदराहित्य-
प्रतिपत्त्यर्थं कविसमयसिद्धिस्फोरणार्थं वा द्वयोरिति ग्रहणं स्यात्, अथापि
प्रागुदीरिते 'अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वम्' इति पद्ये प्रतिपाद्यामुपमायामति-
व्याप्तेः ।

'तद्वत्त्वाना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्त्वथ प्रचलितधमरं च पद्मम् ॥'

इति कालिदासपद्ये प्रतिपाद्यामुपमानोपमेययोर्युगपदुपमेयोपमानभावायामुप-
मेयोपमायां वाक्यभेदाभावादन्याप्तेश्च ।

स्फुटत्वार्थमिति । एतेन वर्णनीयाशयविशेषस्यापि उभयस्तद्विनैव सम्भवति, परन्तु
तयाल्लक्षोऽप्यसौ न स्फुट इति ध्वनितम् । तत्रेदेऽपि तयोऽयतायां सत्त्वादाह—एवीति ।
इष्टापत्या नातिव्याप्तिरत आह—तद्वत्त्वनेति । प्रकरणसापेक्षोऽयं श्लोकः । अवसिताया-
मपि निशाया निशाशाभ्यामत्यन्त रघोस्ततयमज स्वथवदथात्रामुहूर्तात्तुरोयेन जागरयता
बन्दिजनबालकाना समवयस्कानाम्, तस्यप्रति प्रभातवेलावर्णनपरयेयमुक्तिः—तत् तस्मात्
सम्प्रत्येव इन्दुमत्या आत्मानं वरयितुं त्वया स्वयन्वरतभावा गन्तव्यमस्ति । सूर्य समा-
सतादोदयाचलप्रान्तम्, अस्मात् कारणादित्यर्थः । (इदानीम्) युगपद् एकक्षणा-
वच्छेदेन, बलुना रमणीयेन, उन्मिषितेन प्रकाशेन, अन्तः अन्वन्तरे इत्यर्थः, प्रस्पन्द-
माना स्थानान्तरस्पर्शरहिताऽपि किनारागला चपला इति स्पृष्टार्थः, पश्येतरा कोमला,

तारा कनीनिका यस्य, तादृशम्, तव राजकुमारस्य अजस्यैत्यर्थ, अशुर्नयनम्, एकवचन जातिविवक्षयेति बोध्यम्, प्रचलिताः सस्पन्दा इत्यर्थ, भ्रमरा यस्मिन्, तादृशम्, पद्म कमलम्, च, इति हे, तावत् प्रथम एतेनाग्नेऽग्नेयां तवाहानामस्यापि (चक्षुष) वा अङ्गस्य वस्त्वन्तरेणापि परस्परानुत्प्रसङ्ग समागन्तेति ध्वन्यते । सद्यः तन्कालमिति यावत्, परस्परानुत्प्रसङ्गं श्रन्वोन्यसाम्यम्, अधिरोहताम् प्राप्नुतामिति (स्वय वाञ्छाम) । कालिदासपद्ये इति कालिदासप्रतिरघुवंशाख्यमहाकाव्यषट्कपद्ये इत्यर्थ । भावायामिति । उपमेयोपमानाग्निमिद्वानामित्यर्थ । ननु पर्यायपरनिवेशवारितव्यावर्त्यस्यापि द्वयोरित्यस्य न वैयर्थ्यम्, यद्विनोपमानोपमेययोग्यता न भवति तादृशस्य लिङ्गवचनभेदराहित्यस्य ज्ञानार्थम् तस्य सार्थकत्वान्, न च लिङ्गवचनभेदराहित्यं नोपमानोपमेयभावयोग्यतासम्पादकम् तद्विनाऽपि कविप्रसिद्धानुरोधेन स्थलविष्टे उपमानोपमेयभावस्वीकारारिति वाच्यम्, अन्येव कविप्रसिद्धिस्फोरणार्थमेव तन्सार्थक्यसम्पत्ते, न च कविप्रसिद्धिविरुद्धमुपमानोपमेयत्वं चेन्न भवति, तर्हि 'तस्मिन्' इत्यनेन बोधितादुपमानोपमेयभावादेव कविप्रसिद्धेरपि काम सिद्ध एवेति न तन्स्फोरणार्थं तन्सार्थक्यमिति शङ्क्यम्, तथा लक्ष्यस्यापि कविप्रसिद्धिरूपस्य वस्तुन स्फुटज्ञानार्थं तन्सार्थक्यसम्भवात्, तथा चालङ्कारसर्वस्वकारकृतं प्रागुक्तमुपमेयोपमालक्षणं न दुष्टमिति चेन्न, 'अहं स्ताना —' इति प्रागुक्तप्रतिपाद्योपमायामतिव्याप्तिदोषस्य मत्त्वान्, तत्रापि पर्यायेण कविसमयसिद्धोपमानोपमेयभावस्य वर्णनेन तदीयलक्षणप्रमत्तेः । न च तत्र लक्षणप्रसक्तिरिष्टेवेति नातिव्याप्तिरन्वतिव्याप्तत्वे च पुनः सम्यगेव तल्लक्षणमिति वक्ष्यम्, 'तद्वन्धुना—' इति कालिदासपद्ये वर्णितायाम् एककालवच्छेदेनैव उपमानोपमेययोर्दोषोपमानरूपायामपि तृतीयस्यः शब्दवच्छेदफलकतया वस्तुत उपमेयोपमाया वाच्यभेदाभावादव्याप्तदुष्टत्वात् इति भावः ।

किमी तरह 'द्वयो' पद की सार्थकता सिद्ध कर देने पर भी 'सर्वस्वकार' का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, इस तथ्य का उल्लेख अब किया जाता है—यदि च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'द्वयो' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उस पद के द्वारा धारणीय अतिव्याप्त्यादि दोषों का वारण 'पर्याय' पद से हो जाने पर भी 'लिङ्गभेद वचनभेद' आदि के न रहने पर ही किमी पदार्थ में उपमानोपमेयभाव की योग्यता आती है' इस बात के ज्ञान के लिये उस पद की सार्थकता है । इस पर यदि प्रत्यकार का ओर से यह कहा जाय कि—लिङ्गभेदाभाव आदि उपमानोपमेयभाव की योग्यता का संपादक हो नहीं सकते, क्योंकि उनके न रहने पर भी कविप्रसिद्धि के अनुरोध से 'नवाग्नेयाग्नेयि गन्तुमेष प्रकथने'—इत्यादि स्थलों में उपमानोपमेयभाव माना गया है तो सर्वस्वकार की ओर से यह कहा जा सकता है कि—तब कविसमयप्रसिद्धि की स्फूर्ति के लिये ही 'द्वयो' पद का सार्थक्य माना जा सकता है । इतने पर भी यदि प्रत्यकार की ओर से यह तर्क उपस्थित किया जाय कि कविसमयप्रसिद्धि की स्फूर्ति के लिये किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके बिना जब उपमानोपमेयभाव कहीं हो ही नहीं सकता, तब 'उपमानोपमेयभाव होने पर' इस अर्थ के शोचक 'तस्मिन्' पद से ही उसकी भी स्फूर्ति हो जायगी, तो इसके उत्तर में सर्वस्वकार के समर्थक यह कहेंगे—कि—हाँ, स्फूर्ति तो उसकी उससे हो जायगी, पर स्पष्ट नहीं—धूमिलरूप में, अतः स्पष्टतया उसकी स्फूर्ति के लिये 'द्वयो' पद की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है । तापर्यं यह हुआ कि जब किमी तरह 'द्वयो' पद सार्थक हो गया और अन्य कोई दोष आने अभी तक दिखलाया नहीं तब सर्वस्वकार का उक्त लक्षण समुचित क्यों नहीं माना जाय, तो हम पर प्रत्यकार का कथन है कि—नहीं, उस लक्षण को समुचित नहीं माना जा सकता । कारण, पढ़ता तो यह कि उक्त लक्षण की, पूर्वोक्त 'अहं स्ताना—'

पद्य से प्रतिपादित होनेवाली उपमा में अतिव्याप्ति होगी, और दूसरा यह कि—‘तद्द-
ख्युना—’ इस रघुवद्ध में कालिदास द्वारा रचित-पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में,
जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता अवगत होती है,
अव्याप्ति होगी, क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्य-भेद नहीं है—अर्थात् उपमान की
उपमेयता और उपमेय की उपमानता भिन्न-भिन्न दो वाक्यों से वर्णित नहीं हुई है।
और आपके लक्षण के अनुसार वैयाकरणों का अर्थ होना चाहिए। ‘तद्दख्युना—’ इस पद्य का
अर्थ यों है—महाराज रघु के राजकुमार अज की इन्दुमती-स्वयंवर यात्रा का प्रसङ्ग है।
राजकुमार रात में सुकोमल शय्या पर सोये हुए हैं। उनको जगाने के लिये चन्दीजनों
के बालक (जो उनके समवयस्क हैं) प्रभात-वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—हे राज-
कुमार ! सूर्य अब उदयाचल के शिखर को चूम रहा है, अतः हम चाहते हैं कि इस
समय साथ ही साथ सुन्दरतम त्रिकाश के कारण ये दोनों पदार्थ परस्पर की तुलना को
प्राप्त करें—एक दूसरे के सदृश बनें। कौन ? एक तो वह आपका नेत्र जिसके अन्दर कोमल
पुतली चपल हो उठी है और दूसरा वह कमल जिसके भीतर अमर विचलित हो उठा
है—बाहर निकलने के लिए सचेष्ट हो रहा है।

पुरोदीरितान्याप्तौ कथञ्चित्समाहितायामपि दोषान्तर सम्भवतीत्याह—

न चात्रापाततः शब्दैक्येऽपि पर्यवसितो वाक्यभेदोऽस्तीति वाच्यम् ।
तथापि—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति दिनन्ति यामिन्यः ।

यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥’

इति कस्यचित्कवेः पद्ये परस्परोपमायामतिव्याप्तेः । न चेयमुपमेयोपमेति
शक्यते वक्तुम्, सुखसमये दुःखदोऽपि सुखयति दुःखसमये च सुखदोऽपि
दुःखयति इत्येतावन्मात्रस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः ।

आपाततः संचेपत इति यावत् । पर्यवसितः अर्थ इति यावत् । तथापीति तथात्वेन
सत्र दोषामानेऽपीत्यर्थः । सवितेति । सुखदुःखाभ्यां, वशीकृते कबलकृते, सुखदुःखावस्थयो-
र्वर्तमाने इति यावत्, मनसि हृदये, सतीति भावः, सविता सूर्यः, विधवति विधुश्चन्द्रः स
इवाचरतीति भावः, विधुः, अपि, सवितरति सूर्य इवाचरति, यामिन्यः रजन्यः, दिनन्ति
दिनानीवाचरन्ति, दिनानि च, यामिनयन्ति यामिन्य इवाचरन्ति । सुखसमये मनसि स्वर-
निकरतापकोऽपि सूर्यश्चन्द्र इव शीतलः प्रतीयते, तमोमन्यः कार्यान्तरानासक्तप्राणिप्रसुप्ता-
खिलवलेराविवर्धिका अपि यामिन्यः दिवसा इव प्रकाशमया उत्साहवर्धका अनुभूयन्ते,
दुःखसमये न मानसे शीतलमकिरणोऽपि चन्द्रः सूर्य इव तापकः प्रतीयते, प्रकाशमया अपि
दिवसा रजन्य इव तमोमया अनुभूयन्ते इति भावः । न चेति । न हीन्यर्पः । तथावक्तु-
शक्यत्वे हेतुमाह—सुखसमये इति । मात्रपदव्यवच्छेद्यं स्फुटत्वायाह—तृतीयेति । ‘अभि-
रामतासदन—’ इत्यत्र शब्दतः वाक्यैक्येऽपि अर्थतो जायमान वाक्यभेदमादायोपमेयो-
पमाया भेदान्तरं साधितं ग्रन्थकृता, तथा च ‘तद्दख्युना—’ इति कालिदासपद्येऽपि आर्यों
वाक्यभेदः अर्थात् ‘द्वे परस्परतुलामविरोहताम्’ इत्युक्त्वा ‘वक्षुः पद्यस्य तुलामधिरोहतु’,
‘पद्यं च चक्षुषो तुलामधिरोहतु’ इत्याकारक वाक्यद्वयम्—अकामेनाप्यज्ञोर्नर्तव्यमेव रेण,
एवघाव्याप्तेरमावे लक्षणं निर्दुष्टमिति चेन्मैवम्, ‘सविता विधवति—’ इत्यज्ञातनामकवचित-
चितपद्यवर्णितपरस्परोपमायामतिव्याप्तिप्रसङ्गत्वात्तुष्टोत् । नात्र परस्परोपमा, किंतु उपमे-
योपमैवेतीष्टापत्तिस्तु न शक्या कर्तुम्, सुखावस्थाया दुःखावस्थान्यपि वस्तुनि सुखान्तर्वन्ति

दुःखावस्थाया च मुखकराण्यपि वस्तूनि दुःखमुत्पादयन्तीत्येतावन्तोऽर्थस्य बहिविविधावियय-
तया उपमेयोपमाजीवातुभूतस्य तृतीयसदृशाव्यवच्छेदस्याप्रतीतिरिति भावः ।

किसी तरह उक्त अव्याप्ति का समाधान यदि कर दिया जाय, तथापि दूसरे दोष घने ही रहेंगे इस बात का उल्लेख भव किया जाता है—न चापाततः इत्यादि । 'अभि-
रानतासदन—' इस श्लोक में जैसे आर्थ वाक्यभेद मानकर उपमेयोपमा सिद्ध की गई है
उसी तरह उक्त कालिदासीय पद्य में भी आर्थ वाक्यभेद मानकर वह सिद्ध की जा
सकती है—अर्थात् यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि—'परस्परतुलामधिरोहता द्वे' इस
भापातत एक प्रतीत होनेवाले वाक्य से 'चक्षु पद्म की तुला को प्राप्त करे' और 'पद्म
चक्षु की तुला को प्राप्त करे' ये दो वाक्य पर्यवसित होते हैं—अतः अव्याप्ति नहीं होगी
ऐसा कहकर उक्त अव्याप्तिदोष का समाधान यदि कर भी दिया जाय, तथापि 'सविता
विधवति—अर्थात् जब मन सुख की अवस्था में रहता है, तब सूर्य चन्द्र की तरह
शीतल हो जाता है और रातें भी दिन की तरह प्रकाशमय प्रतीत होने लगती हैं,
और जब मन दुःख की अवस्था में रहता है, तब चन्द्र भी सूर्य की तरह प्रचण्ड
तापक प्रतीत होता है और दिन भी रात की तरह अन्धकारमय ज्ञान होते
हैं।' इस किसी कवि के पद्य में जो परस्पर की—सूर्य आदि की चन्द्र आदि के
साथ और चन्द्र आदि की सूर्य आदि के साथ—उपमा वर्णित हुई है, उसमें अतिव्याप्ति
हो ही जायगी । और आप यह तो कह नहीं सकते कि यहाँ परस्परोपमा नहीं उपमेयो-
पमा ही है, क्योंकि यहाँ 'सुख के समय दुःखदायी भी सुखदायी और दुःख के समय
सुखदायी भी दुःखदायी प्रतीत होते हैं' केवल इतना ही अर्थ कहना वच्चा का अभीष्ट
है अतः इस कथन से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति, जो उपमेयोपमा का प्राण है—
प्रतीत नहीं होती । यहाँ एक बात पर पाठकों का ध्यान में दिखाना चाहता हूँ—
हिन्दिरसगङ्गाधरकार प० श्री चतुर्वेदीजी ने 'सविता विधवति—' पद्य के अर्थ में लिखा
है कि—'जब मन सुख के वश में होता है तब दिन रात्रि की तरह शान्तिप्रद हो जाते
हैं और जब मन दुःख के वश में रहता है तब रात्रियाँ दिन की तरह अज्ञान और
व्यग्रतामय हो जाती हैं ।' परन्तु मुझे यह ध्याय्या समुचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि
एक तो इस तरह की ध्याय्या करने पर क्रमभङ्ग होता है अर्थात् 'सुखदुःखवशीकृत
मनसि' यहाँ जो पहले सुख और पीछे दुःख की चर्चारूप क्रम है, तदनुसार सुखवशीकृत
मन के लिये पहले 'सविता विधवति' फिर दुःखवशीकृत मन के लिये 'विशुरपि सवि-
तरति' ये दोनों उपमायें कहकर पुनः उसी तरह सुखवशीकृत मन के लिये 'दिनन्ति
यामिन्य.' और दुःखवशीकृत मन के लिये 'यामिनयन्ति दिनानि च' ये दोनों उपमायें
ही गई हैं—इस तरह उक्तक्रम की रक्षा होती है, पर चतुर्वेदीजी की ध्याय्या में यह
क्रम नष्ट हो जाता है । दूसरे, दिन में मन चन्द्र कायों की ओर लगा रहता है, अतएव
दुःख का उतना अनुभव नहीं होता, पर रात में मन सर्वथा एकाम्र होता है, अतः
दुःख का अनुभव अधिक होता है, इसीलिये तो दुःखियों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'दिन
तो झिमी तरह ऋत जाते पर रातें काटने पर भी नहीं ऋतीं ।' कहने का तात्पर्य यह कि
रातें दुःखद्वि के लिये प्रसिद्ध हैं, अतः दुःखी के लिये 'दिन भी रात्रि के समान दुःख
हो जाते हैं' यह कथन ही उपयुक्त होगा । इसी तरह सुखी के लिये यह कथन समुचित
होगा कि 'रात्रियाँ भी दिन की तरह उल्लासमय हो जाती हैं ।' कविसम्प्रदाय भी कुल
इसी तरह का है, क्योंकि 'दिन स्वभि मे सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छापापि यामिनी' ऐसी उक्ति
काव्यजगत् में उपलब्ध होती है ।

सर्वस्वकारकृतलक्षणस्यापरत्रापि अतिव्याप्तिमुद्गावयति—

एवम्—

'रजोभि स्यन्दनोद्धतैर्गजैश्च धनसन्निभैः ।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥'

इत्यत्र परस्परोपनायामतिव्याप्तिः ।

रजोभिरिति । रघुदिग्बिजययात्राप्रसङ्गे रघुवशास्य पद्यमिदम्—स्यन्दनेन रथेन, उद्धृतं ऊर्ध्वं नीतं, रजोभिः धूर्त्विभिः, व्योम आकाशम्, भुवस्तलं धरातलम्, इव, तथा घनसन्निभैः मेघसदृशैः, गजैः हरितभिः, च, भूतलम्, व्योम इव, कुर्वन्, रघुः दिग्बिजयायागच्छत् इत्यर्थः । अत्र विभिन्नधर्मिका परस्परोपमा । 'द्वयोः पर्यायिण तस्मिन्नुपमेयोपमा' इति सर्वस्वकारलक्षणमत्रातिव्याप्तमिति भावः ।

सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमालक्षण की अल्पत्र भी अतिव्याप्ति रिललाई जाती है—एवम् इत्यादि । सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमा का लक्षण जिस तरह 'सविता विधवति—' में अतिव्याप्त होता है, उसी तरह 'रजोभिः—अर्थात् रथ से उठी हुई धूर्त्वि से आकाश को भूतल के समान और मेघगुह्य हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाते हुए (राजा रघु दिग्बिजय के लिये गये)' इस परस्परोपमा में भी अतिव्याप्त है ।

विरोपमाह—

सदृशान्तरव्यवच्छेदफलकत्वेन विशिष्यमाणे तु तस्मिन्नत्मदुक्त एव पर्य-
चसानम् ।

'सस्मिन्' इति तत्पदप्रत्ययवृत्त्यगाने उपमानोपमेयत्वे तृतीयसदृशानिवृत्तिफलकत्वमपि विशेषणं यदि दीयत तदा सर्वेषां प्रागुक्तानां दोषाणां परिहारो यद्यपि भवेत्, किंतु तदा मनुकलक्षणनेव पर्यवसितं इति फलतस्तल्लक्षणमसमीचीनमेवेति भावः ।

यदि लक्षण में 'तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति जिससे फलित हो' ऐसे उपमानोपमेयभाव का निवेश करें, तब बात वही आ गई जो हमने कही है । अतः आप का (सर्वस्वकार का) लक्षण अपूर्ण ही है ।

मूलालङ्कारसर्वस्वस्य खण्डनं विधाय सम्प्रति तद्विवरणरूपाया विमर्शिन्या अपि खण्डनं विधातुमाह—

यद्यपि विमर्शिनीकारेणोक्तम् "स च वाक्यभेदः शाब्द आर्धश्च । तत्र शाब्दो यथा—'रजोभिः स्यन्दनोद्धृतैः' इत्यादिः । अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम् । अत एवोपमेयेनोपमेयत्वन्वर्थाभिधत्वम्" इति, तत्तुच्छम् । न हि 'रजोभिः स्यन्दनोद्धृतैः' इत्यत्रोपमानान्तरतिरस्कारः प्रतीयते । द्वयोरुपमेयोरैकधर्मकत्वाभावात्, आख्याया उपमाया अनुगामिधर्मप्रयोज्यत्वात्, द्वितीयायाश्च विन्धप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मप्रयोज्यत्वात् ।

विमर्शिनीकारेणोक्तिः । अलङ्कारसर्वस्वव्याख्याकारेणोत्तर्यः । त चेति । मूलोपमेयत्वेन प्रागुक्त इत्यर्थः । अस्या इति । उपमेयोपमाया इत्यर्थः । उपमानान्तरतिरस्कार इति । तृतीयसदृशानिवृत्तिरित्यर्थः । खण्डयति—तत्तुच्छम् इति । तत्र हेतुमाह—नेति । हि यत् । अनुगामीति । रजोरूपेत्यर्थः । बिम्बेति । घनगजेत्यर्थः । विमर्शिनीकृता मूलोपमेयस्य वाक्यभेदस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमुक्त्वा 'रजोभिः—' इति पदस्य प्रथमप्रभेदोदाहरणत्वमुक्तम्, तदुपपादने च तदुदाहरणवदुपमेयोपमायास्तृतीयसदृशानिवृत्तिफलकत्वमुपवर्ण्य 'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा' इत्यन्वयसंज्ञा साधिता, तदक्षिलं कल्पितमेव, 'रजोभिः—' इत्यत्र वर्णितयोपमेयो' प्रथमस्या अनुगामिधर्ममूलकतया

द्वितीयस्याथ विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलकतया तृतीयसदृशनिवृत्तेरप्रतिपत्तेः, समानधर्ममूलकोपमाद्वयवर्णनस्थल एव तत्प्रतिपत्तेः. पूर्वं सयुक्तिकमुपपादितत्वादिति भावः ।

मूल 'अलङ्कारसर्वस्व' का खण्डन करके अब उसकी व्याख्या—'विमर्शिनी'—का भी खण्डन करते हैं—यच्च इत्यादि । अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक व्याख्या लिखने वाले ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि—“यह वाक्यभेद दो प्रकार का होता है—एक शब्द और दूसरा आर्थ । उनमें से शब्द वाक्यभेद का उदाहरण 'रजोभि—' इत्यादि पद्य है । यहाँ की उपमेयोपमा का फल होता है तृतीय सदृश का तिरस्कार (निवृत्ति) । अतएव उपमेयेनोपमा (उपमेय के साथ—अर्थात् उपमेय को उपमान मानकर जो उपमा हो उसे उपमेयेनोपमा कहा जाता है । इस तरह) इस नाम की सार्थकता होती है ।” पर यह व्याख्या भी असङ्गत ही है । क्योंकि—उनके दिए उदाहरण—'रजोभि—' इस पद्य में अन्य उपमान की निवृत्ति फलित नहीं होती । कारण, यहाँ दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है, प्रथम उपमा का साधक है धूलिरूप अनुगामी धर्म और द्वितीय उपमा का साधक है मेघ तथा गज्जरूप विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्म । और तृतीय उपमान की निवृत्ति तब प्रतीत होती है, जब दोनों उपमाओं को सिद्ध करने वाला साधारणधर्म एक हो, यह बात पहले युक्तिपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है । अतः विमर्शिनीकार का कथन अपने उदाहरण में ही सङ्घटित नहीं होता ।

रत्नाकरोक्त निरसितुमाह—

यदपि 'परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा' इति लक्षणं विधाय 'सविता विधवति—' इत्यादि प्रागुक्तपद्य रत्नाकरेणोदाहारि, तच्च तदीयेनैव 'स चोपमानान्तरनिषेधार्थः' इति ग्रन्थेन विरुद्धम् । न हास्मिन्पद्ये उपमानान्तरनिषेधः प्रतीयत इति प्रागेवावेदनात् । प्रतीयत एवेति चेत्, पुनरपि पृच्छ हृदयमेव स्वकीयम् ।

स चेति । मिय उपमानोपमेयभावश्चेत्यर्थः । हि पूर्वहेतुपरामर्शक । प्रतीयत एवेति । उपमानान्तरनिषेधरूप कर्मपदमत्राध्याहार्यम् । हृदयमेव स्वकीयमिति पुनः । पृष्ट निजहृदयमेव परमार्थं सूचयिष्यतीति भावः । अन्यत् सुगमम् ।

अब अलङ्काररत्नाकर का खण्डन करते हैं—यदपि इत्यादि । 'अलङ्काररत्नाकर' के निर्माता ने 'परस्पर उपमान-उपमेय होने को उपमेयोपमा कहते हैं' यह लक्षण बनाकर 'सविता विधवति—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य उदाहरणरूप में उपस्थित किया है । किन्तु यह उदाहरण 'वद् (अर्थात् परस्पर उपमान-उपमेय होना) अन्य उपमान के निषेध के लिये है' इस अपने ही कथन के विरुद्ध है । कारण, इस पद्य में अन्य उपमान के निषेध की प्रतीति नहीं होती—यह बात पहले ही समझाई जा चुकी है । इतने पर भी यदि हुराग्रह दिखलाते हुए आप कहें कि—उपमानान्तर का निषेध यहाँ प्रतीत होता ही है, तो मैं आप से और कुछ नहीं कहकर केवल इतना ही कहूँगा कि—आप अपने ही हृदय से पुनः पूछिये । वही (आपका अपना हृदय ही) सही-सही उत्तर दे देगा । तात्पर्य यह कि पुनः तदस्थभाव से विचार करने पर आपका भी हृदय इस बात को स्वीकार करेगा कि 'सविता विधवति—' में वस्तुतः अन्य उपमान का निषेध प्रतीत नहीं होता ।

परमतखण्डनप्रसङ्गमुपसहर्तुमाह—

इत्यल विवादेन ।

पूर्वोक्तं शास्त्रायौ व्यर्थं वस्तुतत्त्वस्य विद्मै स्वयमाकलनात् इति भावः ।

अप्या तो छेदिये इस विवाद को ।

‘उपमेयोपमा’ अलङ्कारपदवाच्या कदा भवतीति स्पष्टयति—

इयं चोपमेयोपमा यदि कस्याप्यर्थस्योत्कर्षाधिक्या तदालङ्कारः । अन्यथा तु स्ववैचित्र्यमात्रपर्यवसितेति ।

इतीति । अत्र बोध्यमिति शेषः । कस्यापि-वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा अर्थस्य उपस्कारिका चेदियमुपमेयोपमा, तदा अलङ्कारभाव भजते । अन्यायांपस्करणशून्या तु उपमेयोपमासंज्ञां मज्जमानाऽपि अलङ्कारभावं न भजत इति भावः ।

‘उपमेयोपमा’ अलङ्कार कथं कहलाती है इस बात का स्पष्टीकरण अब किया जाता है—इयं च इत्यादि । यह उपमेयोपमा जब किसी-वाच्य अथवा व्यङ्ग्य—अर्थ को उत्कृष्ट बनाती है—उसे उपस्कृत करती है—अर्थात् शोभासम्पन्न बनाती है तब अलङ्कार कहलाती है, अन्यथा इसकी समाप्ति अपनी विचित्रता में ही हो जाती है । तापर्य यह कि ऐसी दशा में वह केवल उपमेयोपमा कही जा सकती है, उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं ।

अलङ्कारान्तरेष्वपि युक्तेरस्यास्तुल्यत्वमाह—

एवमलङ्कारान्तरेऽपि ज्ञेयम् ।

अन्याथोपस्करणदशायामेवान्यान्यपि रूपकादीनि अलङ्कारपदवाच्यानि अन्यथा स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तान्येवेति भावः ।

यही बात अन्य अलङ्कारों में भी सनती जा सकती है—अर्थात् वे भी जब किसी अन्य अर्थ को उपस्कृत करें तभी उन्हें अलङ्कार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

व्यङ्ग्योपमेयोपमामुदाहर्तुमाह—

अथ ध्वन्यमानेयमुदाह्रियते—

अथ अन्तरम् । ध्वन्यमाना व्यङ्ग्येति भावः । इयं उपमेयोपमा ।

अब व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘गाम्भीर्येणातिमात्रेण महिम्ना परमेण च ।

राघवस्य द्वितीयोऽन्धिरभ्युद्येऽपि राघवः ॥’

कविः कथयति—अतिमात्रेण अतिशयितेन, गाम्भीर्येण गम्भीरत्वेन, परमेण उत्कृष्टेन, महिम्ना महत्त्वेन, च, राघवस्य रामचन्द्रस्य, अन्धिः समुद्रो, द्वितीयः अन्ध्रुपेः समुद्रस्य, च, राघवो द्वितीयः अन्ध्रुस्तृतीयस्तुल्यो नास्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गाम्भीर्येण इत्यादि । कवि का कथन है कि—अत्यधिक गम्भीरता और परम महत्त्व इन दोनों के कारण, रामचन्द्र के लिये समुद्र और समुद्र के लिये रामचन्द्र दूसरा है ।

उपपादयति—

द्वितीयशब्दस्य सादर्यविशिष्टे शक्त्यभावाद् व्यक्तिरेव ।

‘गाम्भीर्येण—’ इति पद्ये द्वितीयपदं सादर्यविशिष्टं बोधयति, परं तु न शक्यता, तदर्थनिरूपितशक्तेस्तत्राभावात्, अपि तु व्यञ्जनात्, अतो व्यङ्ग्योपमेयोपमोदाहरणं पद्यमिदं भवतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—द्वितीय इत्यादि । ‘गाम्भीर्येण—’ इस पद्य में द्वितीय पद सादर्यविशिष्ट अर्थ का बोधक होता है इसमें कोई सन्देह नहीं, पर सादर्यविशिष्ट अर्थ की वाचकता (अभिधा) शक्ति द्वितीय पद में है नहीं अतः व्यञ्जना माननी पड़ती है । अतः यह पद्य व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का उदाहरण होता है ।

उक्तोदाहरणेऽपि मुद्राव्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यदि तु लक्षणा तदेदमुदाहरणम् ।

‘गाम्भीर्येण—’ इति पद्ये द्वितीयपदस्य बाधितमुल्यार्थकस्य, सादृश्ये लक्षणाया लक्ष्यैवोपमेयोपमा न व्यङ्ग्या इति चेत्, तदा निम्नलिखितमुदाहरणं बोध्यमिति भावः ।

उक्त पद्य में द्वितीय पद का मुख्य (अपने से अन्य) अर्थ बाधित है, अतः उसकी सदृश अर्थ में लक्षणा होगी, फिर तो यहाँ की उपमेयोपमा लक्ष्य कही जायगी व्यङ्ग्य नहीं, यदि ऐसी बात आप कहें, तब निम्नलिखित उदाहरण व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का समझना चाहिये ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सुधासमुद्रं तव रम्यवाणी वाच क्षमाचन्द्र सुधासमुद्रः ।

माधुर्यमध्यापयितुं दधाते खर्वंतरामान्तरगर्वमुद्राम् ॥’

कवि- कमपि नृपं स्तौति—हे क्षमाचन्द्र घरासुधाकर ! तव भवत, रम्यवाणी रमणीया वाक्, सुधासमुद्रम् पीयूषसमुद्रम्, तथा सुधासमुद्रं, तव, वाचम्, माधुर्यं माधुरीम्, अध्यापयितुं पाठयितुम्, खर्वंतराम् अस्वर्गाम् महतीमिति यावत्, आन्तरगर्वमुद्राम् मानसिद्धगर्वसूचकाकारव्यक्तिम्, दधाते धत्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुधा इत्यादि । कवि किसी राजा से कहता है—हे पृथ्वी के चन्द्र ! तेरी रमणीय वाणी अमृतसमुद्र को और अमृत का समुद्र तेरी वाणी को, माधुर्य का पाठ पढ़ाने के लिये, आन्तरिक गर्व को प्रकट करनेवाली बहुत बड़ी बाह्य मुद्रा को धारण करते हैं ।

उपपादयति—

अत्र बागादिकर्तृकस्य परस्पराध्यापनस्य बाधान्माधुर्यसक्रान्तिविरोपस्य लक्षणया तुष्यमानस्य प्रयोजन स्वप्रयोज्यान्योन्योपमानोपमेयभावः ।

बाधादिति । अचेतने बागादौ स्वातन्त्र्यघटितकर्तृत्वस्यासम्भवादित्यर्थः । लक्षणयेति । ‘अध्यापयितुम्’ इत्येतत्पदनिष्ठयेति भावः । एवं मुख्यार्थबाधतद्योगरूपं कारणद्वयमुक्त्वा तृतीय कारण प्रयोजनमाह—प्रयोजनमिति । स्वमिति । लक्षणेत्यर्थः । अथ भावः— ‘सुधासमुद्रं—’ इति पद्ये ‘अध्यापयितुम्’ इति पदस्य मुख्योऽर्थः अध्यापनत्रियाकर्तृत्वरूपः, अचेतने बागादौ बाधितः, अस्तस्य पदस्य सङ्क्रमणरूपार्थे लक्षणा, सा च लक्षणा प्रयोजनमूला, रूढेरभावात्, प्रयोजनघ बाक्सुधासमुद्रयोर्मिथ उपमानोपमेयभावावगमः, स च व्यञ्जनयेति सिद्धमुपमेयोपमाया व्यङ्ग्यत्वमिहेति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘सुधासमुद्रम्—’ इस पद्य में वाणी आदि के द्वारा जो एक दूसरे को पाठ पढ़ानेवाली बात वर्णित हुई है, वह बाधित है, अतः लक्षणा द्वारा उसका अर्थ यहाँ यह किया जायगा कि—वे एक दूसरे में अपनी मुरुरता पहुँचाते हैं । इस लक्षणा का प्रयोजन होगा उस लक्षणा से ही सिद्ध होनेवाला ‘परस्पर का उपमान-उपमेय होना’ । उसी का नाम ‘उपमेयोपमा’ है, अतः यहाँ वह व्यङ्ग्य है ।

दोषनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ दोषाः—

दोषा इति । अस्या इत्यादि । उच्यन्ते इति शेषः । तथा उपमेयोपमायाः स्वरूपो-दाहरणादिनिरूपणानन्तरमिदानीं दोषा कथयन्त इति भावः ।

अब उपमेयोपमा के दोष कहे जाते हैं ।

दोषानाह—

तत्र तावत्प्रागुक्ता यावन्त उपमाया दोषाः अनुक्ताश्च विस्तृतिभयात्, ते सर्वेऽप्युमात्वाकान्तत्वादस्यामपि बोध्याः। अयं पुनरन्योऽपि दोषः—यदेकोप-
मावैलक्षण्यमपरस्यानुपमायाम्। यथा—‘कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं
तथा कमलम्’ अत्र श्रोत्यार्थाकृतं वैलक्षण्यम्। ‘कमलति वदनं तस्याः कमलं
वदनायते जगति’ किपुक्चङ्कृतमत्र वैलक्षण्यम्। एवमत्रैव ‘पद्मं वदनायते’ इति
निर्माणे ‘वक्त्रायते’ इति वा उपमानोपमेयवाचकवैलक्षण्यम्। एवंप्रकारैरनेके-
वैलक्षण्यं यदि सहृदयोद्वेजकं तदा दोषः।

तत्रेति। वक्तव्यानां तथा मध्य इत्यर्थः। न तत्परिगणनमित्याह—अनुक्ताश्चेति।
ननुपमादोषा अत्र कथमत आह—उपमात्वेति। अत एवास्या एव भेद इति प्रतिहा-
वाक्ये उक्तम्। तद्वृत्त्यन्यदोषमाह—अयं पुनरिति। इति वेति। कमलमित्यादिः।
निर्माणे इत्यस्यानुपपन्नः। उपमंहरति—एवमिति। यदीत्यनेन तदभावेऽदुष्टत्वमेवेति सूचि-
तम्। अयनुपमेयोपमालङ्कार उपमात्वाकान्तः, अतः उपमाया ये दोषा उक्ता अनुक्ता
अपि ये सम्भवितः तेऽत्रिला उपमेयोपमाना अपि दोषा अवगन्तव्याः। अत्रोपमेयोपमायां
द्वयोरुपमयोः स्थितिः निश्चिता, ते च द्वे उपमे तुला घृत इव यदा सर्वथाऽविलक्षणे तिष्ठत-
स्तदैव चमत्कारो भिन्नालङ्कारव्यपदेशयोग्यता चेति स्थितौ एकोपमातः अपरोपमायां
वैलक्षण्यं पुनः स्वतन्त्र उपमेयोपमादोषः। तच्च वैलक्षण्यं विवर्धे कारणैः सम्भवति, तत्र
कतिपयकारणसम्भूतं वैलक्षण्यमुदाहरणप्रदर्शनद्वारा स्फोरयति यथेत्यादिना। ‘कमलम् इव-’
इति प्रथमोदाहरणे इवपदघटिता एकोपमा श्रौती, समपदघटिताऽपरोपमा पुनरार्थी।
‘कमलति—’ इति द्वितीयोदाहरणे प्रथमोपमा किन्प्रत्ययगता, द्वितीया पुनः ध्यङ्प्रत्यय-
गता। अस्मिन् द्वितीयोदाहरणे एव ‘कमलम्’ इत्यस्य स्थाने ‘पद्मम्’ इति ‘वदनायते’
इत्यस्य स्थाने ‘वक्त्रायते’ इति वा पाठे उपमानोपमेयवाचकभेद इति सर्वत्र वैलक्षण्यं
दोषरूपं सम्पद्यते। अन्यकारणमूलकमपि वैलक्षण्यं सम्भवति, तच्च स्वयमूहनोयं सर्ववैतथ्य
विस्मरणीयं यत् सहृदयजनोद्वेगकरत्वं एवेति दोषा अन्यथा नेति भावः।

दोषस्वरूप का परिचय कराया जाता है—तत्र इत्यादि। यह उपमेयोपमा अलङ्कार
उपमा अलङ्कार से मिथित ही हुआ करता है, अतएव इसको उपमा का ही प्रभेद ग्रन्थकार
ने माना है। ऐसी स्थिति में वे सभी दोष इतके भी दोष कहे जायेंगे जो उपमा के दोष
कहे गए हैं तथा विस्तार के अर्थ से न कहे जाने पर भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त
उपमेयोपमा का एक स्वतन्त्र दोष भी होता है, वह यह कि एक उपमा से दूसरी उपमा
में किसी तरह की विलक्षणता का होना, तात्पर्य यह कि—उपमेयोपमा में दो उपमायें
रहती हैं उन दोनों में विलक्षणता नहीं रहनी चाहिए अर्थात् उन दोनों उपमाओं को एक
ही तरह की होनी चाहिए, तभी चमत्कार आता है—पृथक् अलङ्कार माना जा सकता है,
अतः यदि उन दोनों उपमाओं में किसी तरह की विलक्षणता आ जायनी, तब
वह दोष समझा जायगा, जैसे—‘कमलमिव—अर्थात् इस स्त्री का मुख कमल-सा है और
कमल इसके मुख के तुल्य है।’ यहाँ ‘इव (सा)’ शब्द से बोधित होने के कारण प्रथम
उपमा श्रौती है और ‘सम (तुल्य)’ शब्द से बोधित होने के कारण द्वितीय है अर्थात्।
यह इन दोनों उपमाओं में विलक्षणता है। ‘कमलतति—अर्थात् उस नायिका का वदन
कमल-सा आचरण करता है और कमल मुख-सा।’ यहाँ एक उपमा ‘किप्’ प्रत्यय के
द्वारा अवगत होती है और दूसरी ‘वपङ्’ प्रत्यय के द्वारा। यह विलक्षणता है। इसी
तरह यदि इस पद्य में एक तरह ‘पद्म वदनायते’ अथवा ‘कमल वक्त्रायते’ पना दिया

जाय, तब उपमान-वाचक और उपमेय वाचक शब्दों की विलक्षणता हो जायगी। इस तरह अनेक तरह से होनेवाली विलक्षणता, यदि सहृदयहृदयों में उद्वेग-एक प्रकार का वैमुह्य-को उत्पन्न करनेवाली हो, तब उसे दोष समझना चाहिए। तार्पर्य यह हुआ कि सहृदयजनोद्वेगक न होने पर कोई दोष नहीं होता।

प्रकरणसमाप्ति सूचयति—

इति रसगङ्गाधरे उपमेयोपमाप्रकरणम् ।

रसगङ्गाधरग्रन्थघटकूपमेयोपमाप्रकरणं समाप्तमिति भावः ।

रसगङ्गाधर में उपमेयोपमा का प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुपमेयोपमाप्रकरणम् ॥

अनन्वयालङ्कारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथानन्वयः—

अनन्वय इति । अनन्वयालङ्कारनिरूपणमित्यर्थः । अथेत्यस्यारभ्यते इत्यर्थः ।

अथ अनन्वयालङ्कार का निरूपण आरम्भ होता है।

लक्षणं लिख्यते—

द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयोभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः ।

विशिष्ट सादृश्यम् अनन्वयः, वैशिष्ट्यं च द्विधा, तत्रैकं समानपदार्थप्रतियोग्यजु-योगिकस्वरूपम्, द्वितीयञ्च यस्य वर्णनेन द्वितीयसदृशपदार्थनिवृत्तिः फलिता भवति, तादृशत्वमिति भावः ।

लक्षण दिखलाया जाता है—द्वितीय इत्यादि। उस सादृश्य का नाम 'अनन्वय' है जिसके वर्णन से दूसरे सदृश का निवारण फलित होता है और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ होता है।

लक्षणेऽनुफमपि अलङ्कारेति संज्ञासामर्थ्यावगम्यमानं अर्थं स्फुटत्वायाह—

स च कस्याप्युपस्कारकत्वेऽलङ्कारः । अन्यथा तु शुद्धः ।

शुद्ध इति । स्ववैचित्र्यमात्रविधान्त इत्यर्थः । उक्तलक्षणलक्षितोऽनन्वयस्तदैव

अलङ्कारपदव्यपदेश्यो भवेत्, यदा वाच्यव्यङ्गधान्यतरस्यार्थस्य शोभा जनयेत् । यत्र तात्र जनयेत् तत्र पुनः केवलोऽनन्वय एव स, नालङ्कार इति भावः ।

वह अनन्वय (जिसका लक्षण ऊपर लिखा गया है) तभी अलङ्कार कहलाता है—जब उसके द्वारा किसी अन्य (वाच्य अथवा व्यङ्ग्य) अर्थ की शोभा बढ़ती हो अन्यथा यह शुद्ध अनन्वय कहलायगा, अलङ्कार नहीं।

पदकृत्य प्रदर्शयितुं प्रत्युदाहरण निर्दिश्यते—

'लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूमृतः शिखरम् ।

दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये ॥'

गिरिशिखरवर्णनम्—लोहितपीतैः अरुणपीतवर्णविशिष्टैः, कुसुमैः पुष्पैः, आवृतम् आच्छादितम्, भूमृतः पर्वतविशेषस्य, शिखरं सानु, कदाचित् कस्मिंश्चित्, समये काले, दावस्य वनीयस्य, ज्वलनस्य बहो, ज्वालैः ज्वालाभिः, वनामितापैरिति यावत्, आकीर्णम् ध्यातम्, (स्वम्) इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः ।

लक्षण में जोड़े गए विशेषणों के फल दिखाने के लिये प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—लोहित इत्यादि । लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वत का शिखर, किसी समय बनामि की ज्वालाओं से व्याप्त सा प्रतीत होता है । तात्पर्य यह कि किसी समय वनवह्नि के ताप से व्याप्त रहने पर पर्वत-शिखर जैसा दीखता रहा होगा, आज वैसा ही लाल-पीले फूलों से आच्छादित रहने पर दिखाई पड़ता है ।

उपपादयति—

अत्र लोहितपीतकुसुमावृतं भूमृतः शिखरं स्वेनैव कस्मिंश्चित् समये दाव-
ज्वालाकीर्णोपमीयते, इति तत्सादृश्यवारणाय भूतान्तम् ।

'लोहितपीतैः—' इति पद्ये पर्वतशिखररूपैकपदार्योपमानोपमेयकं सादृश्यं यद्यपि प्रतीयते, तथापि नायमन्वयः, तस्य सादृश्यस्य द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयी-
भूतत्वाभावात् । तथा चैतादृशसादृश्येऽनन्वयत्वापत्तिपरिहाराय लक्षणे भूतान्तविशेषण-
प्रवेश इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'लोहितपीतैः—' इस पद्य में 'लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वतशिखर' की तुलना 'किसी समय बनामि की ज्वालाओं से व्याप्त' अपने आपके साथ की गई है । ऐसा सादृश्य भी अनन्वय न कहलावे इसलिये लक्षण में 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूत' यह सादृश्य का विशेषण जोड़ा गया है ।

स्फुटत्वाय प्रत्युदाहरणान्तरमाह—

इदं वा प्रत्युदाहरणम्—

'नखकिरणपरम्परामिरामं किमपि पदाम्बुरुहद्वयं मुरारेः ।

अभिनवसुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतमिव स्फुटं चकासे ॥'

कविः हरिचरणद्वयं वर्णयति—नखकिरणानां नखकान्तीनाम्, परम्परया श्रेण्या, अमि-
रामं मनोहरम्, किमपि अनिर्वचनीयम्, मुरारे' हरे', पदाम्बुरुहद्वयं चरणकमलयुग-
लम्, अभिनवस्य उत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य, सुरदीर्घिकाया' गङ्गायाः, प्रवाहस्य, प्रकरेण
समूहेन, परीतम् व्याप्तम् (स्वम्) इव, स्फुटं स्पष्टम्, चकासे शुशुभे इत्यर्थः ।

स्पष्ट बोध के लिये दूसरे प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदं वा इत्यादि । अथवा उक्त भूतान्त विशेषण का फल इस पद्य में समझना चाहिये—'अगवान् का अनिर्वचनीय चरणकमलयुगल, नखकिरणों की श्रेणी से मनोहर होकर उसी प्रकार शोभित हुआ, जैसे (जब गङ्गा उन चरणों से निकल रही थी उस समय में) नवीन गङ्गा प्रवाहसमूह से व्याप्त होकर वह शोभित होता था ।'

उपपादयति—

अत्रापि नखकिरणपरम्परामिराम हरेः पदाम्बुजं स्वात्मनैव सुरदीर्घिका-
प्रवाहप्रकरपरीतेनोपमीयते ।

'नखकिरण—' इति श्लोकेऽपि हरिपदाम्बुजयुगलमेव नखकान्तिपङ्क्तिमनोहरताविशि-
ष्टत्वेनोपमेयम्, गङ्गाप्रवाहसमूहव्याप्तत्वेनोपमानशक्ति तथा चैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य
स्थितिरत्र स्फुटा । परन्तु पूर्वोक्तभूतान्तविशेषणार्थयोगान्नात्रानन्वयालङ्कारत्वमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । 'नखकिरण—' इस पद्य में भी 'नख-
कान्तिर्यों की पङ्क्ति से मनोहर हरिचरणकमलों' की तुलना 'गङ्गा के नवीन प्रवाहसमूह
से व्याप्त' अपने आपके साथ की गई है, अतः एक उपमान-उपमेय वाला सादृश्य-
यद्यपि यहाँ है, तथापि यह अनन्वय नहीं कहला सकता, क्योंकि उक्त 'भूतान्त' विशेषण
का अर्थ यहाँ नहीं पड़ता ।

ननु वर्णनकाले भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहपरीतत्वाभावे तद्विशिष्टत्वेनासत् एव तस्योप-
मानत्वकल्पने सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयत एवेत्यत आह—

सम्प्रति सुरदीर्घिकाप्रवाहेण भगवत्पादाम्बुरुहस्य सम्बन्धाभावात्सुरनिम्न-
गोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य तस्योपमानतावगमायाभिनवेति प्रवाहविशेषणम् ।

वर्णनसमये भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहसम्बन्धो नास्तीति यद्यपि सत्यम् तथापि यस्मिन्
काले भगवच्चरणाभ्यां गङ्गा निःसृता, तस्मिन् काले तत्र तत्सम्बन्ध आसीत्, एवम्
गङ्गानिःसारणकालीनभगवच्चरणयुगलस्यैवोपमानता विवक्षिता, अत एव प्रवाहेऽभिनवेति
विशेषणं योजितम् । तथा च नासत् उपमानता न वा द्वितीयसदृशव्यवच्छेद इति भावः ।

वर्णन के समय में हरिचरणों में वस्तुतः गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध है नहीं, ऐसी स्थिति
में उसके सम्बन्ध से युक्त हरिचरण असत् अतएव कल्पित उपमान होगा, फिर तो यहाँ
'सत् उपमान नहीं है' इस रूप में द्वितीय सदृश का निवारण ज्ञात होगा ही, इस शङ्का
का समाधान किया जाता है—सम्प्रति इत्यादि । अभिप्राय है कि—वर्णनकाल में भले
ही हरिचरणों में गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध न हो पर जब उन चरणों से गङ्गा उत्पन्न हुई
थी, तब तो वह था, ऐसी स्थिति में गङ्गोत्पत्तिकालिक हरिचरण को ही यहाँ उपमान
कहा गया है यह समझना चाहिए, अतएव गङ्गाप्रवाह में 'अभिनव' विशेषण दिया
गया है । इस उत्तर से उक्त शङ्का समाप्त हो जाती है क्योंकि अब असत् उपमानवाली
ज्ञात नहीं रही ।

ननु पूर्वोक्तपदयुगलेऽनन्वयालङ्कार कुतो नाङ्गीक्रियते इत्यत आह—

न ह्यत्र सादृश्यवर्णनस्य फलं द्वितीयसदृशचारिव्यवच्छेदः तस्याप्रतिपत्तेः ।
सदृशचारीति । सादृश्यैर्वा । अत्र 'अनन्वयैर्निबन्धनवशाद्धि द्वितीयसदृशव्यव-
च्छेदः फलति । न हि धर्मान्तरावच्छिन्नस्य धर्मान्तरावच्छिन्नेन साधर्म्यमनन्वयि । अत
एवोपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेदः एव साधर्म्यपदको न तु धर्मिणो इत्युक्त
प्राक् । एव चानन्वयैर्निबन्धनप्रयोज्यद्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकसादृश्यवर्णनमनन्वयः ।
एकोपमानोपमेयकत्वविशेषणं नात्रैवार्थं तात्पर्यप्राहकम् । अन्यथा धर्मभेदादेव तत्र चा-
ख्येन तद्वैद्यर्थं स्पष्टमेवेति भावः ।' इति नागेशः । 'लौहितपातै—' 'नलविरण—' इति
च पदद्वये उपमानोपमेयभूतयोर्धर्मिणोरेकत्वेऽपि उपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेदेन
परस्परसादृश्यस्यान्वयो नासन्नत, तथा च न द्वितीयसदृशव्यवच्छेदस्तादृशादृश्यवर्णनफल-
भूतः प्रत्येनो अन्य इति भावः ।

प्रयुदाहरणरूप में ऊपर कहे गए दोनों पदों में अनन्वय माना ही क्यों न जाय
इसका उत्तर अब स्पष्ट रूप में कहा जाता है—न ह्यत्र इत्यादि । तात्पर्य यह है कि—ऊपर
के दोनों श्लोकों में से किसी में भी अनन्वय नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ द्वितीय
सदृश की निवृत्ति फलित नहीं होती और अनन्वय वहीं माना जाता है जहाँ सादृश्य-
वर्णन से द्वितीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है । आप कहेंगे—कहाँ द्वितीयसदृश-
निवृत्ति की प्रतीति फलरूप में क्यों होती है और यहाँ क्यों नहीं होती ? द्वितीयसदृश-
निवृत्ति की इस प्रतीति में क्या रहस्य है ? तो मैं कहूँगा कि—जहाँ दो पदार्थों का
सादृश्य वर्णित होता है वहीं उस सादृश्य का वस्तुतः अन्वय होता है और जहाँ एक
ही पदार्थ का सादृश्य—अर्थात् अपना सादृश्य अपने में ही वर्णित होता है यहाँ उस
सादृश्य का अन्वय वस्तुतः नहीं होता—हो भी नहीं सकता, क्योंकि सादृश्य पदार्थ भेद-
पठित है । हाँ, अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो सकता है—होता भी है, यदि
उस अपने आप का वर्णन दो रूपों से किया गया हो—अर्थात् उपमान और उपमेय के
एक रहने पर भी यदि उपमानतावच्छेदक तथा उपमेयतावच्छेदक (वही रूप) दो हों

तो सादृश्य का अन्वय होता है, उपमान-उपमेय भी यदि दो रहें तब तो और अच्छा । इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि जहाँ उपमान उपमेय अथवा उपमानतावच्छेदक उपमेयतावच्छेदक भिन्न-भिन्न रहेंगे, वहाँ सादृश्य का अन्वय होने में किसी तरह की बाधा नहीं होगी, अतएव वैसे स्थलों में द्वितीय सदृश की निवृत्ति अवगत नहीं होगी, पर जहाँ उन दोनों में से एक भी भिन्न-भिन्न नहीं होगा, वहाँ का (अपने में अपना ही) सादृश्य अन्वित नहीं हो सकता, फिर भी जो उस तरह का सादृश्य वर्णित होता है, उसका फल यह ज्ञात हो जाता है कि इसका सादृश्य किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है । यह तो हुआ वस्तुस्थिति का विश्लेषण । अब आप इस विश्लेषण के आधार पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि ऊपर के दोनों पदों ('लोहितपीतै—' और 'नखकिरण—') में द्वितीय सदृश की निवृत्ति क्यों नहीं ज्ञात होती और कहीं क्यों वह ज्ञात होती है— अर्थात् उन दोनों पदों में क्रमशः पर्वतशिखर और हरिचरण ये एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हैं अदृश्य, पर उपमानतावच्छेदक और उपमेयतावच्छेदक एक नहीं भिन्न हैं, तात्पर्य यह है कि—प्रथम पद्य में पर्वतशिखर, पुष्पाब्जादिरूप में उपमेय है, और वनाग्निव्याप्त्यरूप में उपमान, इसी तरह द्वितीय पद्य में हरिचरण, नखकान्ति मनोहरारूप में उपमेय है और गङ्गाप्रवाह व्याप्तरूप में उपमान अतः इन दोनों स्थलों में अपने आप का भी अपने आप में सादृश्य अन्वयनी नहीं होगा, ऐसी दशा में द्वितीय सदृश की निवृत्ति ज्ञात नहीं होगी ।

एकोपमानोपमेयकेति विशेषणव्याप्यमाह—

‘स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः ।

सुधांशुबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥’

अस्यार्थः प्रागुल्लिखितः ।

‘एक उपमान उपमेयवाला’ इस विशेषण का फल दिखलाया जाता है—स्तनाभोग इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

उपमादयति—

इति कल्पितोपमानिकायामुपमायामतिप्रसङ्गवारणायैकोपमानोपमेयकमिति । अत्रासत् उपमानस्य कल्पनया सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीतिः ।

इति पूर्वपद्यपरामर्शकः । असत् इति । तथा च धर्मभेदोऽत्र स्पष्टः । नास्तीति । अन्यथा तात्पर्यन्तानुषाचन व्यर्थं स्यादिति भावः । ‘स्तनाभोगे—’ इति पद्ये उपमानतया वर्णित सुधांशुबिम्बावधिकनेरुपर्वताधिकरणकलम्बनकर्तृत्वविशिष्ट उरगो न सन् अप्रसिद्धत्वात् । तथा चासत् एव तादृशस्य तस्योपमानता कल्प्या । एव चोपमेयतया च वर्णितस्य कपोलावधिकरतनाभोगाधिकरणकपतनकर्तृत्वविशिष्टस्य सतोऽलकरूपस्योपमेयस्य सदुपमानं नास्तीति प्रतीतिर्दुर्ग्रहवा, अन्यथा सदुपमानं परिहायासदुपमानस्य कल्पना प्रसरमेव न लभेत । तथा च द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयमान लक्षणपदकान्तरं सुम्बल्येव, परन्तु एकोपमानोपमेयकेति सादृश्यविशेषणोपास्य व्यावृत्तिः उरगालक्योरुपमानोपमेययोर्वि-
शत्त्वादिति भावः ।

उपमादन् किया जाता है—इति इत्यादि । ‘स्तनाभोगे—’ इस पद्य की कल्पित उपमानवाली उपमा में अतिव्याप्तिवारण करने के लिये लक्षण में ‘एक उपमान उपमेय वाला’ यह सादृश्य का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि—इस पद्य में असत् (अवास्तविक) उपमान की कल्पना की गई है—अर्थात् चन्द्रमण्डल से मेरुपर्वत पर लटकता हुआ सौंभ वस्तुतः संसार में प्रसिद्ध नहीं है, फिर जो उसका उपमानरूप में

वर्णन किया गया है वह केवल कल्पना के आधार पर, अतः इस तरह के उपमान की कल्पना से यह बात सिद्ध हो जाती है कि—कपोलतट से स्तनतट पर लटकते हुए कुटिल केशरूप उपमेय का वास्तविक उपमान ससार में नहीं है, और जब यह बात सिद्ध हो जायगी, तब यह समझने में कोई बाधा नहीं रहेगी कि इस सादृश्य वर्णन से द्वितीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति फलित होती है। इस तरह से यद्यपि लक्षण का अन्य भाग यहाँ सद्बोधित होता था पर सादृश्य के विशेषणरूप में जो लक्षण का 'एक उपमान उपमेयवाला' यह भाग है उससे इसका वारण हो जाता है, कारण, यहाँ उपमान-उपमेय एक नहीं अपितु दो हैं—अर्थात् उपमान है साँप और उपमेय अलक।

उदाहरणं दर्शयितुमाह—

उदाहरणममृत(पीयूष)लहरीरूपे मदीये गङ्गास्तवे—

गङ्गास्तुतिमये पण्डितराजरचिते अमृतलहरीनामके निबन्धेऽनन्वयालङ्कारोदाहरणभूत पद्यमिदमिति भावः ।

उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—उदाहरण इत्यादि। पण्डितराजरचित अमृतलहरी नामक गङ्गास्तोत्र का निम्नलिखित पद्य 'अनन्वय' अलङ्कार का उदाहरण है।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कृतधुद्राघौघानथ सपदि सन्तप्तमनसः,
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिबन्धाः ।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्,
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ॥’

हे जननि मातर्गङ्गे ! कृत धुद्राणा लपूनाम्, अध्याना पापानाम्, औघ. समूहो यैस्तान्, अथ अल्पपापकरणान्तरम्, सपदि तत्कालमेव, न तु कालान्तरे, प्राक्तन-पुण्योदयादिति भावः, सतप्तमनसः पापतापकुलचेतसः, नरान्, समुद्धर्तुम् पापेभ्यो मोचयितुम्, त्रिभुवनतले त्रिलोक्याः, तीर्थनिबन्धाः तीर्थस्थानानि काराप्रयागादीनि, सन्ति । किन्तु प्रायश्चित्तान् पापनाशकानुष्ठानानाम्, प्रसरणानि प्रसङ्गाः, यत्र तादृशा ये पन्थान मार्गाः, तत अतीतानि दूरगतानि, चरितानि चरित्राणि, येषाम् तान् प्रायश्चित्त-प्रातिविषयत्वात्कान्तावरणकान् इति यावत्, अपि, नरान् मनुष्यान्, ऊरीकर्तुं निष्पापत्वेन स्वीकर्तुम्, त्वम् इव त्वं, विजयसे सर्वोत्कृष्टासि इत्यर्थः । नराणां स्वल्पानि पापानि तीर्थान्तरसेधनेनापि शाम्यन्ति किन्तु महापापानि तु तव (गङ्गाया) सेवनेनैव नश्यन्तीति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कृत इत्यादि। हे मात. गङ्गे ! छोटे छोटे पाप-समूह को कर लेने के बाद तुरत मन में एक प्रकार के ताप का अनुभव करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने के लिये त्रिभुवन में तीर्थों का एक विशाल समुदाय तैयार है। पर प्रायश्चित्तों की पहुँच से बाहर—अर्थात् जिनके प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकते ऐसे—चरित्रवालों को भी—महापापियों को भी—निष्पाप बनाकर अपनाते वाली तेरी जैसी तू ही है। तात्पर्य यह कि महापापियों को भी अपनाते के विषय में तेरी तुलना दूसरों से हो नहीं सकती—इस विषय में तू ही सर्वोत्कृष्ट है।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘इयति प्रपञ्चविषये तीर्थानि कियन्ति सन्ति पुण्यानि ।
परमार्थतो विचारे देवी गङ्गा तु गङ्गेव ॥’

इयति एतावति, निरवधाविति भावः, प्रपञ्चविषये विषयरूपे सन्तरे, पुण्यानि पवित्राणि, कियन्ति अगणितानीति यावत्, तीर्थानि, सन्ति, तेषां पवित्रताया काऽपि विप्रतिपत्तिर्नास्ति, किन्तु परमार्थतः वस्तुतः, विचारे विवेके, त्रियमाणे इति शेषः, गङ्गा देवी इव दिव्या सुरनिम्नगा, इव, तु पुनः, गङ्गा एवेत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इयति इत्यादि। इतने घड़े संसार में पवित्र तीर्थ कितने हैं—उनकी इयत्ता नहीं, उनकी पवित्रता में किसी तरह का सन्देह नहीं। पर वास्तविक विचार करने पर गङ्गा देवी जैसी तो गङ्गा देवी ही हैं—उनकी तुलना दूसरे से नहीं।

उदाहरणान्तरदाने चीजमाह—

पूर्वपद्ये वाच्योऽनुगामी धर्मः । इह तु व्यङ्ग्य इति विशेषः ।

‘कृतश्रुदा—’ इति प्रथमोदाहरणे ‘इयति—’ इति द्वितीयोदाहरणे च सर्वोत्कर्षरूप एव अनुगामी साधारणधर्म परन्तु प्रथमस्थले स ‘विजयसे’ इति तिङ्त्वपदवाच्य, द्वितीयस्थले पुन वाचकविरहाद् व्यङ्ग्य इति भावः । एतद्वैलक्षण्यस्मोरेणायैवोदाहरणान्तरदानमिति साराः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने में चीजभूत विलक्षणता का स्पष्टीकरण करते हैं—पूर्व इत्यादि। उक्त दोनों उदाहरणों में यद्यपि साधारणधर्म एक ही है अनुगामी ‘सर्वोत्कर्ष’, परन्तु प्रथम में वह धर्म ‘विजयसे’ पद से वाच्यरूप में उपस्थित हुआ है और द्वितीय में वाचक का अभाव होने से वह व्यङ्ग्यरूप में ज्ञात होता है। इसी विलक्षणता को दिखलाने के लिये द्वितीय उदाहरण दिया गया है।

द्वितीयोदाहरणयत्क‘तु’पदप्रतीयमानं विशेषं स्फुटीकर्तुमाह—

तुशब्दोऽयं तीर्थान्तरेभ्यो वैलक्षण्य प्रतिपादयन्स्तरप्रयोजकं भगवद्गुणदेवात्मकत्वं धर्मं श्रीगङ्गायां व्यनक्ति ।

‘त्वन्तायादि न पूर्वभाक्’ इति कोशागुशाघनागुस्तार ‘तु’शब्दो वाच्यवृत्त्याऽन्वेष्य-स्तोर्भ्यो गङ्गाया भेद बोधयति । तद्वैदनिदानयूत विष्णुरूपत्व पुनस्तत्र व्यङ्ग्यवृत्त्याऽवगमयतीति भावः ।

द्वितीय उदाहरण में पठित ‘तु’ शब्द से अभिव्यक्त होनेवाले विशेष का उल्लेख किया जाता है—तुशब्दोऽयम् इत्यादि। ‘त्वन्तायादि न पूर्वभाक्—अर्थात् ‘तु’ शब्द और ‘अथ’ पद पूर्व का भजन नहीं करते—पूर्व से भेद चलता है’ इस कोश के अनुसार द्वितीय पद्य में पठित ‘तु’ शब्द अन्य तीर्थों की अपेक्षा गङ्गा में विलक्षणता (भेद) का बोध अभिधावृत्ति के द्वारा कराता है पर साथ ही उस भेद को सिद्ध करनेवाला विष्णुरूपत्व रूप धर्म का बोध भी उसमें व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा विहित कराता है।

उपरितनबोहोदाहरणयोर्वर्णितस्यानन्वयस्यालङ्कारत्व निगमयति—

उभयत्रापि श्रीगङ्गाविषयकरस्तुपस्कारकत्वादलङ्कारोऽयम् ।

रताति । षडिनिष्ठेत्यादि । उपस्कारकत्वात् पोषकत्वात् । अयं अनन्वयः उपरितने द्वे अपि पद्ये कविना गङ्गास्तुती प्रसुके, अत उभयत्र गङ्गाविषयिणी कविरति’ प्रधानतया व्यङ्ग्य । वाच्यधानन्वय ता रति पुष्पजलद्वारभाव भवति इति भावः । एतेन ‘वाक्यार्थो-पस्कारकत्वम्’ अलङ्कारसामान्यलक्षणं सप्तमितम् ।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में वर्णित 'अनन्वय' अलङ्काररूप कैमे होता है इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—उभयत्रापि इत्यादि। ऊपर के दोनों ही पद्य गद्गा की स्तुति में रचे गये हैं, अतः उन दोनों पद्यों से गद्गा के विषय में कवि का प्रेम (भाव) प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है, वही यहाँ काव्यजीवात्तुभूत अर्थ है और उस अर्थ को (कविनिष्ठगद्गाविषयक रति को) पुष्ट करनेवाले के रूप में वाच्य होने के कारण 'अनन्वय' होता है अलङ्काररूप, क्योंकि 'अलङ्करोति इति अलङ्कारः' दूसरे को अलङ्कृत करता है इसलिये 'अलङ्कार' कहा जाता है।

अनन्वये विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नसाधारणधर्मस्यासम्भावना सूचयति—

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो धर्मस्त्यत्र नास्ति । तस्मिंश्च सति किञ्चिद्धर्माव-
च्छिन्नेन स्वेन सादृश्यस्य धर्मान्तरावच्छिन्ने स्वस्मिन्नन्वये वाचकाभावात्स-
दृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेश्चानन्वय एव न स्यात् ।

अत्रेति । अनन्वयालङ्कार इत्यर्थः । वाचकाभावादिति । अवच्छेदकभेद एव सादृश्य-
शरीरप्रविष्टो न तु धर्मभेद इति भावः । यो वाक्यालङ्कारे हेतौ वा । अनन्वये वाचका-
भावो हि सादृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तौ हेतुः । अयं भावः—उपमानोपमेयषट्कतयान-
न्वयेऽपि साधारणधर्मस्तिप्रति परन्तु सोऽत्र विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो न भवितुमर्हति, यत्
उपमानविशेषणीभूत उपमेयविशेषणीभूतश्च पृथक् पृथक् धर्म एव तु मिलित्वा विम्बप्रति-
विम्बभावापन्नो भवति, एवञ्च भिन्नधर्मावच्छिन्नस्वात्मकोपमाननिरूपितसादृश्यस्य भिन्नध-
र्मावच्छिन्नस्वात्मकोपमेयेऽन्वयोऽवाधित, 'स्वस्य स्वस्मिन् सादृश्यम् न भवति' इत्यस्य
स्वावच्छेदकयोरेक्ये तन्न भवतीत्यर्थस्य प्रागुपपादितत्वात् । अवाधिते च तथान्वयेन साद-
शान्तरव्यावृत्ति फलेत्, अकलितायां च तस्या नानन्वय प्रतीतिपथमपनरेत् इति विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्नधर्मस्यलेऽनन्वयो न भवतीति सिद्धम्, तथा चानन्वयालङ्कारे साधारण-
धर्मो विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो न भवतीति ।

'अनन्वय' में साधारणधर्म विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप नहीं हो सकता इस बात का उपपादन अब करते हैं—विम्ब इत्यादि। उपमानोपमेयभाव से युक्त होने के कारण अनन्वयालङ्कार में भी साधारणधर्म रहता अवश्य है, पर वह अनुगामी, आरोपित आदि प्रकार का ही हो सकता है विम्बप्रतिविम्बभावापन्न नहीं। कारण, विम्बप्रतिविम्बभावा-
पन्न धर्मवाले स्थलों में अनन्वय ही नहीं हो सकेगा। अभिप्राय यह है कि—जहाँ उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ हो और उपमानताकाल में तथा उपमेयता काल में उस एक पदार्थ का ही विशेषण भिन्न-भिन्न, पर समानधर्म हो, वहाँ तो विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मवाले अनन्वय की सम्भावना हो सकती थी, पर वैसे स्थलों में अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित होता ही है, क्योंकि वैसे अन्वय में बाधा तो यही उपस्थित की जाती है कि 'सादृश्य' भेदवर्तित पदार्थ है फिर अपने में अपने सादृश्य का अन्वय कैमे होगा? पर यह बात बृहद् है नहीं, क्योंकि सादृश्य में वस्तु का नहीं अपितु वस्तु के विशेषणीभूत धर्म का भेद रहना चाहिए यह पहले कहा चुका है, और विशेषणीभूत धर्म का भेद वैसे स्थलों में नियमन रहेगा ही। ऐसी स्थिति में—जब कि अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो जायगा तब—द्वितीय सदृश की निवृत्ति उस सादृश्यवर्णन से फलित होगी नहीं क्योंकि वह सादृश्य के अन्वय न हो सकने के कारण ही फलित होती है और जब वह फलित नहीं होगी तब 'अनन्वय' माना नहीं जा सकेगा। कारण, वही उसका जीवन है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि अनन्वयस्थल में साधारण धर्मविम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्न नहीं हो सकता।

अनन्वयभेदानाह—

स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद्द्विविधः । पूर्णस्तूपमावत् पञ्चविधोऽपि सम्भवति ।

स च अनन्वयः । तान् प्रादी । पञ्चविधोऽपीति । श्रौतार्थयोस्ततोः प्रत्येकं वाक्य-
समासतद्धितगामिन्वेनेति भावः ।

अब 'अनन्वय' के भेद कहे जाते हैं—स च इत्यादि । अनन्वय प्रथमतः दो प्रकार का होता है—एक 'पूर्ण' और दूसरा 'लुप्त' । पूर्ण अनन्वय उपमा की तरह चूहों प्रकार का हो सकता है ।

पूर्णानन्वयस्य भेदानुदाहर्तुमाह—

यथा—

पूर्णानन्वयस्य भेदाः प्रदर्शयन्ति इति भावः ।

पूर्णं अनन्वय के भेद । जैसे—

उदाहरणानि सार्धपद्येन निर्दिश्यन्ते—

'गङ्गा हृद्या यथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव पावनी ।

हरिणा सदृशो बन्धुर्हरितुन्यः परो हरिः ॥

गुरुवद् गुरुराराध्यो गुरुवद् गौरवं गुरोः ।'

निगद्व्याख्यातम् । अत्रायचरणे श्रौतो वाक्यगः पूर्णः । द्वितीयचरणे समासगः श्रौत पूर्णः । तृतीयचरणे आर्यो वाक्यगः पूर्णः । नृयचरणे समासग आर्यः पूर्णः । पञ्चमचरणे 'तेन तुल्यम्' इति वते, सत्त्वावार्थं स तद्धितगः पूर्णः । षष्ठपादे 'तत्र तस्यैव' इति वते: सत्त्वाच्छ्रौतस्तद्धितगः पूर्ण इति बोध्यम् ।

उदाहरणों का निर्देश किया जाता है—गङ्गा इत्यादि । गङ्गा गङ्गा-सी सुन्दर है । पङ्गा गङ्गा-सी पवित्र है । हरि के समान बन्धु हरि है । हरि के समान उच्छृष्ट हरि है । गुरु गुरु की तरह सेव्य है । गुरु का गौरव गुरु का-सा है । यहाँ प्रथम चरण में श्रौत वाक्यगत, द्वितीय चरण में श्रौत समासगत, तृतीय चरण में आर्य वाक्यगत, चतुर्थ चरण में आर्य समासगत, पञ्चम चरण में 'तेन तुल्यम्' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण आर्य तद्धितगत और षष्ठ चरण में 'तत्र तस्यैव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण श्रौत तद्धितगत पूर्ण अनन्वयालङ्कार है ।

लुप्तानन्वयभेदानाह—

लुप्तैष्वपि धर्मलुप्तः पञ्चविधोऽपि सम्भवति, प्रागुक्ते सार्धपद्ये धर्मवाचक-
पदमपहाय पदान्तरदाने ।

धर्मलुप्तानन्वयस्य पूर्ववत् पत्र प्रकार भवितुमर्हति । तेषामुदाहरणानि च पूर्वोक्त-
सार्धपद्ये त्रमशो धर्मवाचकानां हृद्य-पावन-बन्धु-पर-आराध्य गौरवपदानां स्थानेषु अन्येषां
पदानां निवेशे स्वयमूहनीयानीति भावः ।

अब लुप्त अनन्वय के भेद दिखलाये जाते हैं—लुप्तैष्वपि इत्यादि । लुप्तभेदों में भी धर्मलुप्त अनन्वय पाँचों प्रकार का—अर्थात् श्रौत वाक्यगत, आर्य वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्य समासगत, और आर्य तद्धितगत—हो सकता है । इन भेदों के उदाहरण ऊपर लिखे गए वेद पद्य में ही धर्मवाचक—हृद्य, पावन, पर, आराध्य और गौरव-पदों के स्थान में अन्य पदों का समावेश कर देने पर समझे जा सकते हैं ।

वाचकलुप्तमनन्वयमुदाहरति—

वाचकलुप्तः—

'रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा ।

समान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरु ॥'

इत्यत्र क्यङ्समासयोः ।

'रामसदृशाचरणकर्ता श्रीरामचन्द्र' तथा सीतासमा सुन्दरी सीता इतीमौ द्वावपि जगतो गुरु (मातापितरौ) सदा मम हृदये विहारं कुरुताम्' इत्यर्थकस्य 'रामाय-माण —' इति पश्य रामासौ क्यङ्प्रत्ययगतस्य सीतासौ च समासगतस्य अनन्वया-लङ्कारस्योदाहरणे द्रष्टव्ये इति भावः ।

वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाया जाता है—वाचकलुप्त इत्यादि । 'रामायमाण—'अर्थात् राम के सदृश आचरण करने वाले श्रीरामचन्द्र जी और सीता के समान सुन्दरी श्रीसीताजी—दोनों जगत के गुरु (माता-पिता), मेरे अन्त करण में, सदा, विहार करते रहें ।' इस पद्य के राम अश में 'क्यङ्'प्रत्ययगत और सीता अश में 'समास-' गत वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार के उदाहरण मिलते हैं । तात्पर्य यह कि—सादृश्यवाचक 'क्यङ्' प्रत्यय का तथा इवादि का क्रमशः यहाँ लोप (अदर्शन) हुआ है ।

वाचकलुप्तमेव पुनरन्वयोदाहरति—

'लङ्कापुरादतितरां कुपित' फणीव

निर्गत्य जातु पृतनापतिभिः परीतः ।

क्रुद्ध रणे सपदि दाशरथि दशास्यः

संरब्धदाशरथिदर्शमहो ददर्श ॥'

कविलङ्कारणं वर्णयति—जातु कदानित्, पृतनापतिभिः सेनापतिभिः, परीतो व्यास, दशास्यो रावणः, अतितराम् अत्यन्तम्, कुपित क्रुद्धः, फणी सर्पः, इव, लङ्कापुरात् लङ्काभिधातगरात्, निर्गत्य निरस्तन्यः, सपदि तत्कालमेव, रणे युद्धे, दाशरथि रामचन्द्रम्, संरब्धदाशरथिदर्शम् क्रुद्धरामचन्द्रमिव, ददर्श दृष्टवान् इत्यर्थः । अत्र 'संरब्धदाशरथि-दर्शम्' इत्यत्र संरब्धदाशरथिरिव दृश्यते इत्यर्थे कर्मणि णमुल्प्रत्ययो भवति, अतः कर्मार्थ-कणमुल्प्रत्ययगतवाचकलुप्तानन्वयोदाहरणं पद्यमिदं सम्पद्यत इति भावः ।

कर्मार्थकणमुल्प्रत्ययगत वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाते है—लङ्का-पुरात्—इत्यादि । कवि लङ्का में होनेवाले युद्ध का वर्णन करता है—किसी समय, सेनापतियों से परिवेष्टित रावण ने, अत्यन्त कुपित सर्प की तरह, लङ्कापुरी से निकल कर, तत्काल, क्रुद्ध रामचन्द्र के समान क्रुद्ध रामचन्द्र को रण में, आश्चर्य से देखा ।—यहाँ 'संरब्धदाशरथिदर्शम्' में कर्म अर्थ में णमुल्प्रत्यय हुआ है, अतः णमुल्गत वाचकलुप्त अनन्वय का यह पद्य उदाहरण होता है ।

अन्यत्रापि वाचकलुप्तानन्वयलक्ष्यसम्भावनामाह—

एव कर्तृणमुत्तादावप्यूहाम् ।

पूर्वोक्तकर्मार्थकणमुल्प्रत्यय इव कर्त्रर्थकणमुल्प्रत्यये ततोऽन्यत्र च वाचकलुप्तानन्व-यालङ्कार सम्भवतीति भावः ।

इसी तरह 'कर्तृ-णमुल्' आदि में भी वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार का उद्घ कर लेना चाहिए ।

एवमुत्सुमुदाहृत्य सम्प्रत्यनेकलुप्तानन्वयोदाहरणप्रसंगे प्रथमं भर्तृवाचकोभयलुप्त-मुदाहरति—

'अम्बरत्यम्बरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति ।

विक्रमार्कमहीपाल तथा त्वं विक्रमार्कसि ॥'

यद्वत् गया, अम्बरं आकाशः, अम्बरति आकाशति, समुद्रोऽपि वारिधिरपि, समुद्रति वारिधिरिवाचरति, तथैव, हे विक्रमार्कमहीपाल विक्रमार्कनाम राजन्! त्वम्, विक्रमार्कसि विक्रमार्क इव आचरसि। आकाशसमुद्रमदृशी यथा तावेव तथा त्वत्सदृश-स्त्वनेवेत्यर्थः।

धर्मवाचक लुप्त अनन्वय जैसे—अम्बर इत्यादि। जैसे आकाश आकाशका-मा आचरण करता है और समुद्र समुद्रका-सा (क्योंकि उनके समान दूसरे नहीं हैं), वैसे ही हे विक्रमार्क राजन्! तू भी विक्रमार्क के समान ही आचरण करता है (तेरी तुलना करने वाला भी कोई नहीं है)।

उपपादवति—

अत्र वाक्यार्थावयवेष्वनन्वयेषु धर्मवाचकयोर्लोपः। मुखवाक्यार्थस्त्वनन्वयफलेन निरुपमत्वेन समानधर्मेण प्रयोजितो मालोपमैव। एषा च ज्ञानसौकर्यायात्रैव निरूपिता।

ननु कोऽसौ वाक्यार्थो यदवयवास्त्रयोऽनन्वया अत आह—मुख इति। मुख्य इत्यर्थः। ननु मालोपमाया ईदृशो भेदो नैवास्ति पूर्वमनुकत्वात् अह—एषा चेति। मालोपमा चेत्यर्थः। अत्रैवेति। अनन्वयप्रकरण एवेत्यर्थः। 'अम्बरत्यम्बरम्—' इति श्लोके 'अम्बरम् अम्बरति', 'समुद्रः समुद्रति' तथा 'विक्रमार्क विक्रमार्कति' इति मुख्यवाक्यार्थावयवभूतास्त्रयोऽनन्वया। तेषु सर्वेषु सादृश्यवाचकस्य किंप्रत्ययस्य साधारणधर्मस्य च लोपः। एतदनन्वयप्रयोजितनिरुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोजित 'यद्वत्-तथा'पदयोर्धर्मधरित प्रधानवाक्यार्थरतु मालोपमारूप एव। यद्यपि अनन्वयफलीभूतानुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोज्यमालोपमायाधर्मा उपमाप्रकरण एव कर्तुमुचिता, तथापि अनन्वयज्ञानमन्तरा तदज्ञानासम्भवेन तच्चर्चात्र कृतेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। यहाँ मुख्य वाक्यार्थ के अङ्गरूप में तीन अनन्वय भलङ्कार हैं—पहला 'आकाश आकाश के समान' दूसरा 'समुद्र समुद्र के समान' और तीसरा 'विक्रमार्क राजा विक्रमार्क राजा के समान'। इन तीनों अनन्वयों में विशालता आदि समानधर्म और सादृश्यवाचक 'किं प्रत्यय' का लोप है। मुख्य वाक्यार्थ तो मालोपमारूप है जिसका प्रयोजक होता है उक्त तीनों अनन्वयों से फलित होनेवाला निरुपमत्वरूप समानधर्म। यह मालोपमा 'यद्वत्' और 'तथा' पद से भवगत होती है। आप कहेंगे—आपने उपमा के प्रकरण में, जिसमें अनन्वयफलित अनुपमता समानधर्मरूप हो ऐसी मालोपमा की चर्चा क्यों नहीं की? हम कहते हैं—यह प्रश्न आपका ठीक है पर बिना अनन्वय के समझे ऐसी मालोपमा का समझना कठिन पड़ता और अब सहज में ही समझी जा सकती है, अतः इस मालोपमा का निरूपण यहीं किया गया है। अब आप मालोपमा के प्रभेदों में यह एक भेद और समझ लीजिए।

त्रितुल्यमन्वयमुदाहरति—

'एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे।

केनोपमीयतां तञ्चै रामो रामपराक्रमः ॥'

देवाश्च असुराश्च मानुषाश्चेति इन्द्र, तैः सहिते, एतावति इयद्विशाले, अस्मिन्, प्रपञ्चे संसारे, तञ्चै रामपराक्रमज्ञैर्जनैः, रामपराक्रम रामवत् पराक्रमो यस्येति बहुव्रीहि, स तथाविधो राम, केन उपमानेनेत्यर्थः, उपमीयताम् सोपमानो विधीयताम्? न तादृश-पराक्रमशाली अधिपरो येन तस्य तुलना दीयतेत्यर्थः।

धर्मोपमान वाचकलुप्त अनन्वय जैसे—एतावति इत्यादि । देवता, अक्षुर और मनुष्यों से महित इस इतने बड़े समार में राम के स्वरूप को समझनेवाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रमवाले राम की, उपमा किये दें ? जब उनके समान पराक्रमवाली कोई है ही नहीं तब फिर उनकी उपमा किये में बने कैसे ?

उपमादयति—

अत्र वाचकधर्मोपमानानां लोपः ।

‘एतावति—’ इति श्लोके सादृश्यवाचकस्य इवादेः साधारणधर्मस्य उभयनिष्ठतया प्रतीकमानस्य पराक्रमदेः उपमानवाचकस्य चम्यचित् व्यक्तिविशेषस्य च लोपः । ननु ‘उभयपराक्रम’पदनेवोपमानवाचकमिति चेन्न, तस्य उपमेयविशेषणतरोपमानबोधकत्वविरहान् उच्यते माव ।

उपमादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘एतावति—’ इस पद्य में सादृश्यवाचक इव आदि पराक्रमरूप समानधर्म तथा राम के समान पराक्रमवाली कोई पुरुषविशेष इन तीनों का लोप है । ‘रामपराक्रम’ यह पद तो उपमानबोधक हो नहीं सकता, क्योंकि यह पद उपमेय-राम-के विशेषणरूप में प्रयुक्त है और जब उपमान का ही पता नहीं तब उभयनिष्ठ होने के कारण साधारण कहलानेवाला धर्म आवे तो कैसे ?

न्यूनता निवृत्ते—

अत्र चोपमानलुप्ताद्योऽन्ये भेदा अस्मन्मयादृश्यत्वाच्च नोदाहृताः ।

अस्मिन् अन्वयबालद्वारे शुद्ध उपमानलुप्त एवमन्येषुपि उपमेया लुप्तभेदा न सम्भवन्ति सम्भवन्तोऽपि वा चमत्कारहीना अत्रस्तेषु भेदानालुप्ताहरणानि न लिखितान्तीति माव ।

न्यूनता का निराकरण किया जाता है—अत्र इत्यादि । लुप्त भेद के प्रितने उपमेय उपमा में उदाहरण हुए हैं उन सभी उपमेयों के उदाहरण अनन्वय में भी दिखाए जाने चाहिये, पर दिखाये गए नहीं, अतः यहाँ यह न्यूनता भा जाती है, ऐसी आशंका नहीं की जा सकती क्योंकि लुप्तभेद के जिन उपमेयों के उदाहरण अनन्वय में दिखला दिये गए हैं उनसे अधिक उपमेय-शुद्ध उपमानलुप्त आदि-अनन्वय में हो ही नहीं सकते, सोझ-स्वात कर यदि उन भेदों के उदाहरण उपस्थित भी किये जाय, तो वे वस्तुतः उदाहरण-कौटि में ग्राह्य नहीं हो सकते, कारण, उन तरह के उदाहरणों में चमत्कार का अभाव ही रहता और जब चमत्कार ही नहीं तब उनको उदाहरण माना ही कैसे जायगा ?

सम्बन्धनाय रत्नाकरमतनुत्पादयति—

यत्तु—‘तेन तद्वैकट्येरोनायसितभेदेन चोपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः । उपमेयेतैवोपमानतया कल्पितेनोपमेयस्यामुग्गायमासमानसाधर्म्यापादनमेकोऽनन्वयः । उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पनमपरः । उपमेयस्यैव शक्तिविम्बायादिना भेदेनायसितस्य तद्वचकल्पनं तृतीयः ।

आद्यो यथा—

‘युद्धेऽजुनोऽजुन इव प्रथितप्रतापः’ इत्यादि ।

द्वितीयो यथा—

‘एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।

अनुहरति सुभग तस्या यामार्थं दक्षिणार्थस्य ॥’

तृतीयो यथा—

‘गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्री-
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत्त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्रभित्ति-
स्थीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेपि ॥’

एतूपमानान्तरविरहखिन्वापि भेदेषु गन्धेन । इत्यनन्वयत्रिविधः ।’ इति रत्नाकरणाक्षम् ।

त्रिविधानन्वयसंप्राहकमेकं लक्षणं प्रथमत आह—तेनैत्यादि । अवसितभेदेनेति । निश्चितभेदेनेत्यर्थः । अस्मात् लक्षणात् ‘उपमानतया कल्पितेन तेन सादरयमनन्वयः’ ‘उपमानतया कल्पितेन तदेकदेशेन सादरयमनन्वयः’ एवम् ‘अवसितभेदेन तेन उपमानतया कल्पितेन सादरयमनन्वयः’ इति त्रिविध लक्षणं फलतीति स्फोरयितुम् प्रथमलक्षण-व्याख्यारूपं त्रिविधं लक्षणं मनसा आह—उपमेयेनैवेत्यादिना । प्रथमलक्षणपटकस्य ‘तेन’ इत्यस्य विवरणम्—उपमेयेनैवेति । अनुवेति । अनुत्पद्येत्यर्थः । तथा च ‘अनुत्पाद्यभासमानसाधन्यापादनम्’ इत्यस्य ‘अनुत्पद्यरूपेण अवभासमानम् = प्रतीपमानं यत् साधन्यम् = सादरयम् तस्य आपादनम्—प्रहणम्’ इत्यर्थः । ‘तदेकदेशेन’ इत्यस्य प्रथमलक्षणपटकस्य विवरणम्—उपमेयेकदेशेऽस्येति । तथैव उपमेयवत् । प्रथमलक्षणपटकस्य ‘अवसितभेदेन’ इत्यस्य विवरणम्—उपमेयस्यैव प्रतिबिम्ब इति । प्रतिबिम्बोऽत्र लौकिकः । अवसितस्य निश्चितस्य । तत्त्वेति । उपमाननैत्यर्थः । प्रथमभेदस्फोदाहरणं निर्देष्टुमाह—आयो यथेति । उदाहरणमाह—गुद्धे इति । गुद्धे रणे, अर्जुनः महाभारतनायकः पाण्डुपुत्रः, इव, प्रथितप्रभावः विख्यातमाहात्म्यः, अर्जुन एवेत्यर्थः । द्वितीयभेदस्फोदाहरणं निर्देष्टुमाह—द्वितीयो यथेति । उदाहरणं निर्दिश्यते—एतावति इति । हे सुभग सुन्दर ! सुन्दरेण मनोहरेण, महिलासहस्रेण स्त्रीसहस्रेण, भरिते परिपूर्णं, अपि, एतावति निरवधौ, प्रपद्ये संसारे, तस्याः कल्याणिद् पर्यनीयनायिकामा, वामार्थम् वामार्थभाष, दक्षिणार्थस्य दक्षिणार्थभागस्य (कर्मणः शोषन्वविवक्षया गठी), अनुहरति अनुकरोतीत्यर्थः । तन्नायिकारामाङ्गस्य समता यदि क्वचिदस्ति तर्हि तन्नायिकारक्षिणाङ्गेवेव, नान्यनायिकाङ्गेऽपि भावः । अत्र सन्नुदिता नायिका उपमेयभूता । तृतीयभेदमुदाहर्तुमाह—तृतीयो यथेति । उदाहरणं निर्दिश्यते—गन्धेन—इति । हे सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र गजभ्रेष्ठमुच गणपते ! ते प्रतिज्ञा, ऐरावणप्रभृतयः ऐरावतादयः, गन्धेनापि लेशतोऽपि, मैत्रीम् स्वसादरमिति लक्ष्योऽर्थः, न, शिक्षिता अस्यापिता प्रापिता इति यावत्, त्वयेति शेषः, तत् तस्मात् कारणात्, त्वम्, त्रिनयनाचलस्य शिवशिलारिणः कैलासपर्वतस्येति यावत्, रत्नाभित्तितु रत्नाचित-भित्त्याधारेण, याः स्वीयप्रतिच्छवयः स्वप्रतिबिम्बा, तेषु, यूथपतित्वं दत्ताधिपत्वम्, कथं केन प्रकारेण, एषि प्राप्नोसि—प्रतिज्ञा ऐरावतादयोऽपि यदि तव सहा न भवन्ति तर्हि निष्प्राणाः प्रतिहृतयः कथं तव सहसा भवेयुः, न चेत् प्रतिहृतयः सहसा तर्हि न ता आदाय यूथत्वसम्मतिः, यूथत्वाभावे च कथं यूथपतित्वमित्यर्थः । उपमानान्तरविरह इति । तत्राद्ये एकुट एव सः । द्वितीये तदवयवस्य यदवयवान्तरोपमया तस्यां निहरमन्व सिद्धयति । अन्यया तस्यहरापदार्थावयवेनैवैतदवयवस्योपमा इच्छात् । तृतीयेऽपि प्रतिबिम्बस्योपमानत्वकल्पनयाऽन्यस्योपमानस्याभावो गम्यते ।

सपठन करने के लिये पहले ‘रत्नाकर’ के मत का उपपादन किया जाता है—यत्तु

इत्यादि । 'अलङ्काररत्नाकर' में कहा गया है कि—उस (उपमेय), उसके एकदेश (हिरसे) अथवा किसी तरह निश्चित रूप से भिन्न समझे गए उसी (उपमेय) को जब उपमानरूप में कल्पित करके उसका सादृश्य उसी में वर्णित हो तब उस सादृश्य को अनन्वय कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि—अनन्वय तीन प्रकार का होता है—
 १—उपमानरूप में कल्पित उपमेय के साथ उसी उपमेय का भवाम्बुविक-सादृश्य-ग्रहण । २—उसी तरह उपमेय के एकदेश को उपमानरूप में कल्पित कर लेना, और ३—उपमेय को ही प्रतिबिम्ब के रूप में भिन्न मानकर उपमानरूप में कल्पित कर लेना । इनमें से प्रथम, जैसे—'युद्धे'... इत्यादि अर्थात् युद्ध में अर्जुन सा प्रसिद्ध पराक्रमशाली अर्जुन ही है, कोई दूसरा नहीं । द्वितीय, जैसे—'एतावति'... इत्यादि अर्थात् हे सुन्दर ! यह ह्यत्ता-रहित सत्तार यद्यपि हजारों सुन्दरियों से भरा पडा है, तथापि उस नायिका का वामार्ध (अङ्गों का बायाँ हिस्सा) दक्षिणार्ध (अङ्गों के दाहिने हिस्से) का ही अनुकरण करता है—उसके बायें अङ्गों की तुलना उसके दाहिने अङ्गों से ही की जा सकती है, अन्य नायिका के अङ्गों से नहीं, क्योंकि उसके समान सुघड अङ्गों वाली कोई दूसरी नायिका दुनिया में ही नहीं । यह नायक का मित्र के प्रति कथन है । तृतीय जैसे—'गन्धेन'... इत्यादि अर्थात् हे गणेश्वरवदन (गणेश) ! वे परम प्रसिद्ध ऐरावत आदि हाथी आपकी मित्रता (समानता) को लेश मात्र भी नहीं सीख पाए—आपने अपने समानता उन्हें दी ही नहीं—वे आपकी तुलना कर नहीं सकते । अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि—आप, कॅलास पर्वत की रत्नमय भित्तियों में पडनेवाले अपने प्रतिबिम्बों के यूथपति कैसे बन जाते हैं ? जब सभाग, चिरविद्यात, ऐरावत आदि दिग्गजों में आपकी समता नहीं, तब ये निष्प्राण प्रतिबिम्ब आपके यूथ में कैसे आ सकते हैं ? कदापि नहीं आ सकते, और जब उनको लेकर आपका यूथ नहीं बन सकता, तब आप यूथपति बन कैसे सकते हैं ? इसका रहस्य कुछ समझ में आता नहीं । इन तीनों भेदों में अन्य उपमान का अभाव प्रतीत होता है—अर्थात् प्रथम में 'अर्जुन जैसा अर्जुन ही है' इस कथन से अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट ही है । द्वितीय में जो वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना उसी के अङ्गों से की गई है उससे उस नायिका की निरुपमता सिद्ध होती है, यदि उसके जोड़ की कोई अन्य नायिका उपलब्ध होती, तो उसी के अङ्गों से वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना की जाती, अपने अङ्गों से नहीं । तृतीय में—गणेश जी के प्रतिबिम्बों को गणेश जी का उपमान माना गया है जिससे अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट व्यक्त होता है । अतः अनन्वय तीन प्रकार का है ।"

खण्डयति—

तच्च । उपमानान्तरविरहप्रतीतिमात्रादेवानन्वयत्वे 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यत्रोपदर्शितायाः कल्पितोपमाया अपि तथात्वापत्तेः । यद्यर्थातिशयोक्तावति-प्रसक्तेश्च । तादृशप्रतीतिफलकैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य तत्त्वे पुनः कथ नाम वामार्धदक्षिणार्धयोभिन्नयो सादृश्ये तद्भेदत्वोपन्यासः । न च स तदेक-देशास्तत्प्रतिबिम्बश्चेत्येतदन्यतमप्रतियोगिकसादृश्यमनन्वयः इति काव्याप्तिरति-व्याप्तिर्वेति वाच्यम् । नास्त्यन्वयोऽस्येति योगार्थविरहेण तदेकदेशसादृश्यस्या-नन्वयपदार्थत्वाम्भवात् । अपि चानन्वये 'गगन गगनाकारम्' इत्यादावुप-मेयस्यैवोपमानत्वेनोपन्यासादुपमेयातिरिक्तोपमानविरहप्रतीतिद्वारा निरुपम-त्वमुपमेयगत सिद्धयति । अत्र च वामार्धस्योपमेयस्य दक्षिणार्धरूपोपमानकय-नेन निरुपमत्वं विरुद्धमेव । कान्तागतनिरुपमत्वप्रत्ययस्तु नानन्वयस्य फलं भवितुमर्हति, तस्या अनुपमेयत्वात् ।

षट् पूर्वोपरत्वाकरमतम् । न युक्त नेत्यर्थः । अयुक्तत्वे हेतुमाह—उपमानान्तरे-

त्यादिना । तथात्वेति । अनन्वयत्वेत्यर्थः । इष्टापत्तावाह—यद्यर्थेति । 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इति काव्यप्रकाशोक्ततृतीयातिशयोक्त्युदाहरणे 'राकायामकलकं चेदमृताशोर्भवेद् वपु । तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥' इत्यादाविति तदर्थः । आशयविशेषवर्णनेऽपि न निर्दुष्टत्वमिन्याह—तादृशेति । उपमानान्तरविरहेति तदर्थः । तत्त्वे अनन्वयत्वे । पुनःशब्दस्त्वर्थे । भिन्नयोरिति । तथा च द्वितीयविशेषणाभाव इति भावः । तदुदेत्वेति । अनन्वयविशेषणेत्यर्थः । रत्नाकरमतस्य निर्दुष्टत्वमाशङ्कते—न चेत्यादिना । स इति । उपमेय इत्यर्थः । इदानीमाद्यविशेषण न देयम् । तद्विरहस्य नान्तरांशकत्वादिति भावः । समाधत्ते—नास्त्यन्वय इत्यादिना । विरहेणेति । अबाधितत्वादिति भावः । ननु रुढमेवानन्वयपदमत आह—अपि चेति । अत्र चेति । द्वितीयभेदे चेत्यर्थः । निरूपणत्वमिति । एवममानान्तरेत्यादिना प्रतिगदितमित्यर्थः । ननु तेन प्रन्वेन कान्ताया निरूपणत्वं प्रतिपादितं न तथेत्यत आह—कान्तेति । प्रागुक्त रत्नाकरमतं न समीचीनम्, 'स्तनाभोगे—' इति पूर्वोक्तकल्पितोपमोदाहरणेऽतिन्यासे, उपमानान्तरराहित्यस्य तत्रापि प्रतीतिः । न चैष्टापत्त्यादोष इति वाच्यम्, तत्र दोषामावेऽपि अनुपद टीकोद्घृतेऽतिशयोक्त्युदाहरणेऽतिप्रसङ्गस्य दुर्बारत्वात् । उपमानान्तरविरहप्रतीतिफलकम् एकोपमानोपमेयक्यस्मादस्य तदनन्वय इति विवक्ष्येऽपि न निस्तारः तदनुसारं द्वितीयभेदकयनस्यासङ्गते, तत्र वामार्धस्योपमेयत्वेन दक्षिणार्धस्योपमानत्वेन एकोपमानोपमेयकसादरवस्याभावात् । न च नोपमानान्तरविरहप्रतीतावाग्रहो न वा एकोपमानोपमेयकत्वे, अपितु उपमेय-तदेकदेश-तत्प्रतिबिम्बान्यतमप्रतियोगिकसादरवस्यानन्वयत्व एवोक्तप्रत्यस्य तात्पर्यम्, तथा च पूर्वोक्तदोषाणामनवतर इति वाच्यम्, 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इत्यत्र भिन्नपदार्थयोः सादरवस्यानन्वये बाधकाभावात् अनन्वयपदयोगार्थासङ्गमात् । अनन्वयपद न यौगिकमपितु रूढम् तथा च न तदर्थसिद्धमप्रसङ्ग इति चेदस्तु तथा, तथापि निरूपणत्वकथनं विदुः प्रसज्येत, वामार्धरूपोपमेयस्य दक्षिणार्धरूपोपमानमस्ति इति स्वयमुक्तत्वात् । 'गतन गगनाकारम्' इत्यादौ तु भवत्यनुपमत्वप्रतीतिः, उपमेयस्यैवोपमानत्वकल्पने अन्यदुपमानं नास्त्यस्य फलितत्वात् । कान्ताया निरूपणत्वप्रतीतिरत्रापि भवत्येवेति चेत् ? सत्यम् भवति, परं तु न सा प्रतीतिरनन्वयस्य फलम्, उपमेयस्यानुपमेयत्वप्रतीतिरनन्वयफलम् । न चात्र नायिका उपमेया, वामार्धदक्षिणार्धयोरेवोपमानोपमेयभावस्य विवक्षणादिति भावः ।

खण्डन किया जाता है—तत्र इत्यादि । ऊपर जिसका विस्तारपूर्वक उपपादन किया गया है वह रत्नाकरमत वस्तुतः ठीक नहीं है । कारण, यदि केवल अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होने से अनन्वय माना जाय तब 'स्तनाभोगे - ' यह कल्पितोपमा का उदाहरण जो पहले दिखलाया गया है उसको भी अनन्वय का उदाहरण मानना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है । यदि इष्टापत्ति के द्वारा आप इस दोष से बचना चाहेंगे तो बच सकते हैं, पर 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इस लक्षण के अनुसार मम्मट भादि आलङ्कारिकों के द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के तृतीय भेद के उदाहरण—'राकायामकलकं चेत् - ' (सम्पूर्ण पद्य सङ्कृतटीका में देखिये)—अर्थात् 'पूर्वों की रात में यदि निष्कलङ्क चन्द्र उपलब्ध हो तब उसका (वर्णनीय नायिका का) मुख 'इसकी भी किसी से समता हो सकती है' इस पराभव को प्राप्त करेगा ।' में होनेवाली अतिन्यासि (दोष) से नहीं बच सकते, क्योंकि सर्वसम्मत इस अतिशयोक्ति में इष्टापत्ति की सुविधा सम्भव नहीं है । यदि आप उक्त

लक्षण का यह अभिप्राय प्रकाशित करें कि—'अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति जिसका फल हो और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ हो ऐसे सादृश्य को अनन्वय कहा जाता है' तब उक्त अतिशयोक्तिस्थलीय दोष से भी मुक्ति मिल सकती है, क्योंकि वहाँ सम्भावना-रूप में ही सहो, पर दो पदार्थ उपमान-उपमेयरूप से विवक्षित हैं, एक नहीं। पर तब नायिका के बायें अङ्ग और दाहिने अङ्ग इन वस्तुतः दो पदार्थों के सादृश्य को जो आपने अनन्वय का द्वितीय भेद माना है वही असङ्गत हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी सादृश्य के उपमान और उपमेय दो पदार्थ—दाहिने अङ्ग तथा बायें अङ्ग—स्पष्ट हैं। यदि आप कहें कि—'वह सब कुछ नहीं। उपमेय, उसका एक हिस्सा तथा उसका प्रतिशिब्य इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य यदि वर्णित हो, तब उस सादृश्य को अनन्वय माना जाय' वस, केवल इतना मैं कहता हूँ, फिर आप वतलाइये वहाँ अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति होगी? अर्थात् नहीं होगी, क्योंकि, द्वितीय भेद में उपमेय नायिका के एकदेश का सादृश्य वर्णित है ही अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी और उक्त कल्पितोपमा तथा अतिशयोक्ति में भी इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य वर्णित है नहीं, अतः अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।' तब मैं कहूँगा कि—आपका यह कथन ठीक है—अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं होगी, पर उपमेय के एक हिस्से के सादृश्य को जो आपने अनन्वय माना है, उसमें वस्तुतः अनन्वय पद का अर्थ घटता नहीं क्योंकि 'अनन्वय' पद का अर्थ होता है 'जिसका अन्य न हो सके वह सादृश्य' और 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य अनुहरति' में जो सादृश्य प्रतीत होता है उसके अन्वित होने में किसी तरह की बाधा है नहीं—अर्थात् अपने में अपना सादृश्य वाचिन होता है, यहाँ तो दाहिने का सादृश्य बायें में कहा गया है, फिर उसमें बाधा कैसी? यदि आप कहें कि अनन्वय पद में योगार्थ विवक्षित नहीं, वह केवल एक रूढ सञ्ज्ञावाचक शब्द है, तो मैं कहूँगा—रहे कुछ काल के लिये आपकी यह अयुक्त युक्ति भी मान्य, पर इतने पर भी तो निस्तार नहीं आपका होता, क्योंकि 'एषु उपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते' इस ग्रन्थ के द्वारा जो आपने उपमेय में निरूपमता की प्रतीति को अनन्वय का फल कहा है वह विद्भ्र है—अर्थात् 'गगन गगन-सा है' इत्यादि स्थलों में उपमेय का ही उपमान-रूप में वर्णन किया गया रहता है, अतः उससे पहले अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है और बाद में तद्द्वारा उपमेय की निरूपमता फलित होती है, पर आपके 'बायें अङ्ग दाहिने अङ्गों की समता करते हैं' इयं द्वितीय भेदोदाहरण में तो उपमेय का उपमानरूप में वर्णन हुआ नहीं है—उपमेय—बायें अङ्गों—से मिला—दाहिने—अङ्गों को उपमान माना गया है, अतः यहाँ न अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होगी और न उपमेय की निरूपमता की। सचेप में तात्पर्य यह निकलता है कि—उपमान के रहते निरूपमता की बात करना सर्वथा विद्भ्र है। आप कहेंगे—नायिका की निरूपमता तो उससे अवश्य प्रतीत होती है, तो मैं भी उसको स्वीकार कहूँगा, पर नायिका में जो निरूपमता की प्रतीति होती है वह अनन्वय का फल नहीं है, क्योंकि नायिका वहाँ उपमेय ही नहीं है—उपमेय है उसका वामार्ध जिसकी निरूपमता सिद्ध नहीं होती और उपमेय की निरूपमता ही अनन्वय का फल कहलाती है।

अलङ्कारसर्वस्वकारोत्सुपपाद्य निरस्यति—

यदपि चालङ्कारसर्वस्वकृता 'अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति । अन्यथाऽ-लङ्कारध्वनेर्विपयापहारः स्यात्' इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम् । अस्य ह्युपमान-निषेधफलकमभिन्नोपमानोपमेयक सादृश्यं स्वरूपमित्युक्तम् । प्रकृते च वामार्ध-दक्षिणार्धयोस्तद्वाधितमित्युक्तमेव । कान्तायाः पुनरुपमाननिषेधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यस्य स्वरूपस्याप्रत्ययात् । नहि निरूपमत्व-

प्रतीतिषु सर्वास्वभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्वकत्वमिति नियमोऽस्ति । कल्पितोपमातिशयोक्तयोरसनालङ्कारध्वनौ च व्यभिचारात् । तस्मान्नास्त्येवात्रानन्वयगन्धोऽपि ।

अनन्वयध्वनित्वमिति । अत्र 'तद्वामार्धं दक्षिणार्धमनुहरतीत्युच्यताम् सोऽनुहरतीति व्यङ्ग्यमिति भावः । एवं चास्य होत्यादिना किमुच्यते तद्विचार्यं सहृदये । ईदृशव्यङ्ग्यव्यञ्जने उपायाभाव इत्यपि कश्चिन्' इति नागेश आह । अत्र द्वितीयकल्पे । हि यतः । अस्यानन्वयस्येदं स्वरूपमित्युक्तमतस्तत्तुच्छमित्यर्थः । तदुपपादयति—प्रकृते चेति । तदिति । अभिन्नोपमानोपमेयक सादृश्यमित्यर्थः । तयोर्भेदादिति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । रत्नाकरिके 'अनुहरति शुभ्रं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इति अनन्वयद्वितीयभेदोदाहरणे चाच्यानन्वयालङ्कारत्वस्यासम्भवेऽपि अनन्वयध्वनित्वम् स्वीकरणीयमेव, ईदृशस्थले तस्यानङ्गीकारे अलङ्कारध्वनेर्लक्ष्यमेवापहृत भवेदित्यलङ्कारसर्वस्वकार आख्यत्, परनिबन्धशोभनमेव, पूर्वोक्तस्य उपमाननिषेधकलकाभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यात्मकस्य अनन्वयस्वरूपस्य प्रकृते वामार्धदक्षिणार्धयोः रूपमेयोपमानयोर्भिन्नयोः पदार्थयोर्बाधितत्वात् । ननु कान्तागतनिरूपणत्वस्य व्यङ्ग्यत्वेन तस्या एवोपमेयाया उपमानत्वरूपत्वेन तादृशसादृश्यप्रतीतिर्चामार्धदक्षिणार्धयोस्तस्य बाधितत्वेऽपि अस्येवेति चेन्न, तस्यास्त्वित्त्वेऽपि उक्तस्यानन्वयस्वरूपस्याप्रतीतिः । यदि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्विका एव सर्वा अनुपमत्वप्रतीतयो भवन्तीति नियमोऽभविष्यत्तदा कान्तागतनिरूपणत्वप्रतीतिपूर्वक्षणेऽपि तादृशसादृश्यप्रतीतिः स्वीकृताऽभविष्यत्, परं तु 'स्तनाभोगे...' इति कल्पितोपमायाम्, 'राकायामकलङ्क चेत्...' इति पथार्थकल्पितातिशयोक्तौ, 'मयि त्वदुपमाविधौ...' इति असमालङ्कारध्वनौ च निरूपणत्वप्रतीतिः सत्त्वेऽपि तत्पूर्वक्षणे तादृशसादृश्यप्रतीतेरभावेन व्यभिचारात् स नियमो नाङ्गीकर्तुं योग्यः । अतः 'वामार्धम् दक्षिणार्धस्य' इत्यनानन्वयालङ्कारो नास्त्येवेति भावः ।

अलङ्कारसर्वस्वकार की उक्ति का उपपादन करके खण्डन करते हैं—यद्यपि शृयादि । 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इस स्थल के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो यह कहा कि—'यहाँ चाप्य अनन्वय भले ही न हो पर अनन्वयध्वनि यहाँ अवश्य कही जायगी—अर्थात् यहाँ अनन्वय अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है ऐसा मानना उचित है, यदि यहाँ अनन्वयध्वनि नहीं मानी जाय तब काव्यजगत् से अलङ्कारध्वनि का लक्ष्य ही सठ जायगा ।' पर उनका भी कथन निरस्तार ही है । कारण, यह कहा जा चुका है कि—उपमान का निषेध जिसका फल हो और जिसके उपमान-उपमेय अभिन्न हों—एक ही पदार्थ हों—वह सादृश्य अनन्वय का स्वरूप है । और वैसा सादृश्य 'एतावति प्रपञ्चे...' इस पथ में वर्णित 'वामार्धं' तथा 'दक्षिणार्धं' में तो बन पाता नहीं—यह बात पहले मित्र की जा चुकी है । तब बात रही नायिका के उपमान के निषेध (निरूपणत्व) की, तो उसकी प्रतीति यहाँ अवश्य होती है—उसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ भी अनन्वय का स्वरूप—'अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्य'—प्रतीति नहीं होता और उस स्वरूप की प्रतीति के बिना इस व्यङ्ग्य को अनन्वयरूप माना कैसे जा सकता है ? यह तो कोई नियम है नहीं कि—एभी अनुपमत्व-प्रतीति के पूर्वक्षणे में 'अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्य' की प्रतीति हो ही, क्योंकि—'स्तनाभोगे...' इस कल्पितोपमा, 'राकायामकलङ्क चेत्...' इस अतिशयोक्ति और 'मयि त्वदुपमाविधौ...' इस व्यङ्ग्यमात्र असमालङ्कारध्वनि में अनुपमता की प्रतीति होती है, पर वहाँ वैसा सादृश्य की प्रतीति नहीं होती । फलतः व्यभिचरित हो जाने के कारण वह नियम नहीं माना जा सकता । अतः 'एतावति...' इस पथ में अनन्वयालङ्कार का लेश भी नहीं है ।

अप्यदीक्षितमतमुपपाद्य निरस्यति—

यच्च 'अयमनन्वयो व्यङ्ग्योऽप्यस्ति ।

यथा—

‘अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।

कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥’

अत्र गृहागतं श्रीकृष्णं प्रति विदुरवाक्ये इय त्वदागमनप्रभवप्रीतिर्बहुकाल-
व्यवहितेन पुनरपि त्वदागमनेनैव भवेत् नान्येन, इत्युक्तिभङ्ग्या त्वदागमन-
प्रभवप्रीतेः सैव सदृशी न चितरप्रभवा इति व्यज्यते’ इत्यप्यदीक्षितैरभिहितम्
तदपि न । अमुष्यास्त्वदागमनप्रभवायाः प्रीतेर्वारान्तरत्वदागमनप्रभवा प्रीतिः
सदृशीति प्रत्ययस्य सर्वजनसिद्धतया श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयव-
योर्द्वयोः प्रीतिव्यक्तयोः सादृश्यस्याबाधितत्वाद्योगार्थाभावेनानन्वय एव नायं
भवितुमर्हति । ‘स्वस्मिन् सादृश्यस्यान्वयाभावादनन्वय’ इत्युपमाप्रकरणे स्वय
मेवाभिधानात् । उपमेयस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य सदृशान्तरव्यवच्छेद बाधात्,
तादृशप्रीतिसामान्यस्य चावयविनो निरुपमतया प्रतीयमानस्थानुपमेयत्वात्
पूर्वोदाहरणतुल्यमेवैतत् । क्वचिदवयवयोरुपमाप्यवयवविगतनिरुपमत्वव्यञ्जिकेति
स्थिते सामान्यस्य श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सैव सदृशीति मध्ये स्वसादृश्य-
प्रत्ययकल्पन पुनर्न सहृदयहृदयमारो हुमीष्टे । रत्नाकरोक्तस्यैवानन्वयप्रकारस्यात्र
व्यङ्ग्यतेत्यपि न युक्तम्, तस्य प्रागेव दूषितत्वात् प्रकृतेऽवाच्यत्वात्, स्वयम-
नन्वयप्रकरणे तस्य प्रतिपादनविरहाच्च ।

यच्चेति । अस्य दूरस्थेन ‘अभिहितम्’ इति क्रियापदेन सम्बन्ध । ‘अद्य या मम—’
इति । हे गोविन्द श्रीकृष्ण ! अद्य अरिमन्नहनि, त्वयि भवति, गृहागते भवनमुपेते सती-
त्यर्थ, मम मात्सम्बन्धिनी, मम हृदये इति भाव, या प्रीति प्रसन्नता, जाता उत्पत्ता,
एषा एतादृशीति यावत्, प्रीति, पुन, कालेन चिरकालान्तरम्, तत्रैव न तु अन्यस्य
कस्यचित्, आगमनात्, भवेत् नान्यथेत्यर्थ । सैवेति । त्वदागमनप्रभवप्रीतिरेवेत्यर्थ ।
निरस्यति—तदपि नेति । तत्र हेतुमाह—अमुष्या इति । यत इत्यादि । योगार्थेति ।
अनन्वयपदयोगार्थेत्यर्थ । गुरु उभेवानन्वयपदमभिमतमत आह—स्वस्मिन्निति । व्यवच्छेदे
बाधादिति । तस्य व्यवच्छेदकरोऽसामर्थ्यादित्यर्थ । कालान्तरस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य
सदृशस्य सत्त्वादिति भाव । तादृशेति । श्रीकृष्णागमनजन्येत्यर्थ । पूर्वोदाहरणेति । अनु-
हरतीत्युदाहरणेत्यर्थ । नन्वयविनो निरुपमत्वप्रतीतिवन्मध्ये सादृश्यप्रतीतिरप्यस्तु अत
आह—क्वचिदिति । स्थलविशेषे इत्यर्थ । सैव श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिरेव । मध्य इति ।
वाच्यव्यङ्ग्यार्थयोर्मध्य इत्यर्थ । रत्नाकरोक्तस्येति । अनन्वयद्वितीयभेदतया रत्नाकरेण
कथितस्येत्यर्थ । अनन्वयप्रकारस्य ‘तदेकदेशेन’ इत्यादे । अवाच्यत्वे हेतु प्रागेव दूषित-
त्वादिति । ननु त्वया दूषितोऽपि न मया दूषितस्तत्राह—स्वयमिति । कालानवच्छिन्नं
कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यम् अवयविभूतम्, इदानींतनकालवच्छिन्न भविष्यत्काल-
वच्छिन्नं च कृष्णागमनजन्यप्रीतिद्वय तदवयवभूतम्, तत्रावयवभूतयो प्रीत्यो सादृश्यम्
‘अद्य या मम—’ इति पद्येऽवाच्यमपि दीक्षितप्रदर्शितोक्तिमद्वीविशेषवशात् प्रतीयत इति
सत्यम्, परन्तु तत्सादृश्यमनन्वयरूपं न भवितुमर्हति, भिन्नकालवच्छिन्नप्रीत्योरपि भिन्न-
तया तयो सादृश्यस्यान्वये बाधकाभावात्, बाधितान्वयकसादृश्यस्यैवानन्वयपदार्थत्व-

स्थोक्तात् वाधितान्धवकं चाभिन्नपदार्थप्रतियोगिकानुयोगिकमास्त्रयमेव भवतीति सिद्धान्तान् । कालानवच्छिन्नस्यावयवविभूतस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यस्योपमेयत्वं 'यदि विवक्षितमथास्यत्, तदा तत्सादृश्यं वर्ण्यमानत्वविरहेऽपि व्यञ्जनना प्रतीयमानं स तदनवयवरूपमभविष्यत्, परन्तु तस्योपमेयत्वं विवक्षितमेव नारित, विवक्षितमरित कालविशेषावच्छिन्नस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिविशेषस्यावयवभूतस्य तत्, तस्य चान्यसदृशनिषेधे सान्ध्यमेव नेति पूर्वोक्ते 'वामार्थं दक्षिणार्थस्य' इत्यत्रैव नाप्राप्यनन्वयः । वाच्यवृत्त्या लिङ्गिताभ्यामवयवभूताभ्याः कालावच्छिन्नतादृशप्रीतिविशेषाभ्याः सामान्यरूपाया अवयवनिव्यास्तादृशप्रीतेरुपमत्वं व्यज्यत इत्यत्र तु न कस्यापि विमतिः, तथा च तयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये 'सामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सौ सदृशी' इत्याकारक सादृश्यबोध कल्पनीय एव, एवञ्च तद्बोधविषयीभूतं सादृश्यं ध्वोकानन्वयरूपमिति दीक्षिताशये न काप्यनुपपत्तिरिति चेन्न, विचारासहत्वात् । तथाहि मध्ये यत्सामान्यप्रीत्योः सादृश्यं कल्प्यते तर्हि तदर्थम् ? सामान्यप्रीतिगतनिरूपमत्वव्यक्तिसिद्धयर्थम् इति चेत्तुच्छम्, स्थलविशेषे अवयवयोः सादृश्यमपि अवयवगतनिरूपमत्वव्यञ्जकं भवति, तथा च अवयवभूतकृष्णागमनप्रभवप्रतीयो सादृश्येनापि अवयवभूतसामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतिगतनिरूपमत्वव्यञ्जने सिद्धं तदर्थम् उपाकारकसादृश्यान्तरव्यञ्जनकथायां सादृश्यवनानुभवविद्वन्त्वात् । 'उपमेयैकदेशेन उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः' इति रत्नाकरकथितानन्वयस्यात्र व्यञ्जयता इति तु नोक्तिसम्भवः, तादृशोक्तेः प्रागेव युक्तिभिर्निराकृतत्वात्, सादृशानन्वयप्रकारस्य दीक्षिते स्वप्न्येऽप्रतिपादनाच्चेति भावः ।

अप्ययदीक्षित के मत का उपपादन करके निराकरण किया जाता है—यद्य इत्यादि । 'यह अनवयवालङ्कार व्यवहय भी होता है । जैसे—'अथ वा मम'—'अर्थात् 'हे गोविन्द ! आज आपके मेरे घर में पदार्पण करने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता कालान्तर में पुनः आपके पदार्पण से ही हो सकती है।' घर पर आए हुए श्रीकृष्ण के प्रति, विदुर के इस वाक्य में 'यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत काल के बाद, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकेगी अन्य किसी कारण से नहीं।' इस कहने को विलक्षण शैली से यह व्यक्त होता है कि—'आपके आगमन से होनेवाली प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है, अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती।' यह जो अप्ययदीक्षित ने कहा है, वह भी ठीक नहीं है । कारण यह कि—'आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता के समान ही दूसरी बार आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता है' यह प्रतीति सकलजनसिद्ध है—इसमें किसी को किसी तरह की बाधा प्रतीत नहीं होती । अभिप्राय है कि—कालविशेष से अनवच्छिन्न—अविशेषित—श्रीकृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता एक सामान्य अज्ञीभूत वस्तु है और कालविशेष से अवच्छिन्न अर्थात् समय समय पर हुए श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न होनेवाली दो प्रसन्नतार्य उसके अङ्ग है । इन दो प्रसन्नताओं को भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न भावने में कोई बाधा नहीं, ऐसी विधिति में इन अज्ञभूत प्रसन्नताओं का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता, और सादृश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' पद का योगार्थ यहाँ नहीं घटित होगा, फिर यहाँ अनन्वय कैसे हो सकता है ? आपने स्वयं ही उपमा-प्रकरण में कहा है कि—'अपने सादृश्य का अनन्वय अपने आप में नहीं हो सकने के कारण, यह अनन्वय कहलाता है।' अब आप ही कहिये कि—अत्र प्रकृत पथ में उक्त रीति से सादृश्य अन्वित हो गया तब यहाँ अनन्वय कैसे हुआ ? यहाँ वर्तमानकालिक अज्ञभूत कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता उपमेय है, उसकी तुलना जब दूसरी अर्थात्-अविष्यत्कालिक कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता से की जा रही है, तब अन्य सादृश की

निवृत्ति तो बाधित हो ही गई, अर्थात् इस प्रसन्नता के समान अन्य प्रसन्नता नहीं है
 ऐसी बात नहीं रही, अतः यहाँ इस तरह से तो अनन्वय का लेश भी नहीं आता।
 अब यदि अङ्गभूत सामान्य-कालविशेष से अन्वयविच्छन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता
 की अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी सन्नत
 नहीं, क्योंकि उस तरह की सामान्य प्रसन्नता यहाँ उपमेय नहीं है और उपमेय की
 अनुपमता ही प्रतीत होकर अनन्वय का मूल बनती है। जो अङ्गभूत प्रसन्नता यहाँ
 उपमेय है उसकी अनुपमता सिद्ध ही नहीं होती, यह बात ऊपर के विचार से स्पष्ट है।
 अन्ततः यह सिद्ध हो गया कि यह उदाहरण भी पूर्वोक्त 'अनुहरति सुभग तस्याः...' इस
 उदाहरण के समान ही है—जैसे यहाँ अनन्वय, विचार करने पर सिद्ध नहीं होता,
 वैसे यहाँ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि—इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं के
 प्रतीत होनेवाले सादृश्य से अङ्गभूत सामान्य कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता
 तो अवश्य अभिव्यक्त होती है—उसके होने में किसी का वैमत्य हो नहीं सकता, फिर
 इन दोनों व्यङ्ग्य-व्यञ्जकों के मध्य में 'सामान्य-कालान्वच्छिन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रस-
 न्नता के समान वही प्रसन्नता है दूसरी नहीं' इस तरह के सादृश्य की कल्पना अवश्य
 ही करनी पड़ेगी और जब इस तरह का सादृश्य कल्पित होगा तब फिर उस सादृश्य
 की अनन्वयरूप मानने में आपको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उसमें
 अनन्वय पद का योगार्थ सङ्घटित होता है। ता मैं कहूँगा कि नहीं—यह रीति भी
 मानने योग्य नहीं है। कारण, आपने जो मध्य में सामान्य प्रसन्नता के सादृश्य की
 कल्पना की है वह किसलिये? क्या सामान्य प्रसन्नता की सर्वसम्मत अभिव्यक्ति को
 सिद्ध करने के लिये? तो मैं कहूँगा कि उसके लिए आपका यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि
 स्थलविशेष में अङ्गों के सादृश्य से भी अङ्गी की अनुपमता सिद्ध होती है, ऐसी दशा में
 'आज की कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता, कालान्तर में होनेवाले उनके आगमन से उत्पन्न होने
 वाली प्रसन्नता के समान है' इस अङ्गभूत प्रसन्नता के सादृश्य से भी सामान्य कृष्णा-
 गमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता सिद्ध हो ही जायगी, फिर मध्य में एक अन्य
 सादृश्य की कल्पनावाली बात सहृदयों के हृदयों में ठीक ठीक बैठती नहीं है। अब
 यदि आप कहें कि—रत्नाकर ने जो 'उपमानरूप में कल्पित उपमेय के एकदेश का
 सादृश्य अनन्वय है' यह अनन्वय का भेद बताया है उसी को हम व्यङ्ग्य बता रहे हैं
 तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि एक तो उस भेद की निरसाराता पहले सिद्ध की जा
 चुकी है, दूसरे उस तरह के भेद की चर्चा आपने अपने ग्रन्थों में की भी नहीं है। यदि
 आपको उस तरह का भेद अनन्वय में मान्य होता तो आप उसका उल्लेख अपने
 अनन्वयप्रकरण में अवश्य करते।

'अन्यथा लङ्कारध्वनेर्विपयापहार स्यात्' इति सर्वस्वकारोक्तिं मनसि निधाय तन्मुखमु-
 द्रणाय स्वाभिमतमनन्वयध्वनिमुदाहर्तुमाह—

इदं पुनरनन्वयध्वन्युदाहरणम्—

अनन्वयालङ्कारध्वनेर्निम्ननिर्दिष्टमुदाहरणं वेदितव्यमिति भावः ।

अनन्वयध्वनि का उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—हृदम् इत्यादि। अनन्वया-
 लङ्कारध्वनि का यह (निम्नलिखित) उदाहरण समझना चाहिए।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'पृष्ठाः खलु परपृष्ठाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।

भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसाल मधुपेन ॥'

हे रसाल आनन्द ! मधुपेन भ्रमरेण, खलु निधयेन परपृष्ठाः कीकिला, पृष्ठा त्वाह-
 रदृष्टान्तरं विज्ञासिता, अत्र रसज्ञानाना कीकिलानामन्तिके रसमयतद्विज्ञासाया औचि-

त्यमिति बोध्यम् । परकीयोक्तिषु प्रामाण्यस्य सन्दिग्धत्वादाह—सर्वे न तु कतिपये, (एतेन तत्त्वजिज्ञासाया बलवत्तरत्वमावेद्यते) विटपिन तरप, दृष्टाश्च रवयमवलोकित्वाध, तथापि, भेदेन त्वद्भिन्ने इति यावत्, भुवि समस्ते जगति, तव त्वदीयम्, साधर्म्यम् सादरयम्, न, पेदे प्राप्तमित्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशस्यम् अप्रस्तुताद् अमररसाल्लुप्तान्तात् प्रस्तुतयो कवी-
दित् तत्त्वगवेषकानुपमनरपुंगवयोर्दृष्टान्तस्य प्रतीते- ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पृष्टा. इत्यादि । हे आम्तरु ! अमरों मे रसज्ञ होने के नाते कौकिलों से पूछा और दूसरों के कथन से सम्पुष्ट न होकर खुद भी एक एक कर सभी वृक्षों को देख डाला, पर ससार भर में तेरी समता को उन्होंने भेद सम्बन्ध से— अर्थात् तुम से अन्य में नहीं पाया ।

उपपादयति—

अत्र भेदेनेत्युक्त्याऽभेदे सादश्यमनन्वयात्मक तु पेदे इति ध्वन्यते ।

'पृष्टा ' इति श्लोके 'त्वद्भिन्ने तव समता न पेदे' इत्यर्थकेन 'भेदेन तव साधर्म्यं न पेदे' इति कथनेन 'त्वयि तु तव सादश्यं पेदे' इति व्यज्यते, तत्र व्यङ्ग्यं सादश्यमनन्वय-
रूपमिति सिद्धमस्य श्लोकस्थानन्वयध्वन्युदाहरणत्वमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'पृष्टाः ' इस पद्य में जो 'भेद से नहीं पाया' यह कहा गया है, उससे यह ध्वनित होता है कि—अभेद सम्बन्ध से तुम्हारे सादश्य को उन्होंने पाया—अर्थात् तुमसे अन्य में तुम्हारी समता उन्होंने नहीं पाई । इस कथन से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि तुममें ही तुम्हारी समता प्राप्त की । ध्वनित होने वाला यह सादश्य अनन्वयरूप है, अतः यह पद्य अनन्वयालङ्कारध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवाऽनन्वयालङ्कारध्वनेरिदमुदाहरणं बोध्यम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'नगेभ्यो यान्तीनारं कथय तटिनीनां कतमया

पुराणां सहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिकरुहे ।

कथा वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-

स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ॥'

पण्डितराजरचितगङ्गास्तोत्रगतं पद्यमेतत्—हे सुरधुनि अमरनदि ! जननि मातः । मातृवृत्तसन्ततिकल्याणकारिणीति यावत्, कविभिः वर्णननिपुणैः पण्डितैः, तव, तुलालेशः उपमालवः, यस्या, दीयेत, तादृशी का वर्तते अपि तु न कापीत्यर्थः । ननु बह्वथो विख्याता नद्यः सन्तीति चेत्प्राह—नगेभ्य इति । नगेभ्यः पक्षेभ्यः, 'नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्' इति पाशिकृत्वाच्चनो नकारस्य लोपाभावः । यान्तीनाम् निस्सरन्तीनाम्, मध्ये, 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । कतमया तटिन्या, पुराणा नगराणाम्, सहर्तुर्दाहकस्य शिवस्य, कपर्दः जटामुटः, अधिऋहे अध्यालुटः । नगेभ्यो यान्तीना तटिनीना मध्ये, कथा वा सटिन्या, श्रीभर्तुः विष्णो, पदकमलम् चरणपङ्कजं, सलिलैः जलैः, अक्षालि श्यौतम्, इति त्वं, कथय अस्मान् प्रति वद एवम् उत्कार्यकारित्वविरहात् काऽपि तत्रोपमेया नास्ति किमुतोपमान-
मिति भावः । अक्षालीत्यत्र 'विष्णु भावकर्मणो' इति कर्मणि विष्णादेशः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नगेभ्य इति । हे मातङ्गे । कविगण जिसमें लेशतोऽपि तुम्हारी तुलना दे सकें ऐसी नदी कौन-सी है? कोई नहीं । कहेंगे—है क्यों नहीं—घट्टन सी प्रविद्ध नदियाँ हैं, तो इसका उत्तर कवि के शब्दों में सुनिष्ट—पर्वतों से निकलने वाली नदियों में कौन सी नदी ऐसी है जिसने त्रिपुरदाहक शिवजी के जटाजूट पर भारो-हण किया हो और कौन सी ऐसी है जिसने भगवान् श्रीपति के चरणकमलों को अपने जल से धोया हो, हे मन्ने ! यह तुम ही कहो । तात्पर्य यह कि—इन दोनों कामों को करनेवाली दूसरी कोई नदी नहीं है, अतः हे मन्ने ! तुम्हारी तुलना किसी नदी से नहीं की जा सकती है ।

उपपादयति—

अत्र कया वा त्वदित्तरया श्रीभर्तुः पदं सलिलैरक्षालि यस्यामितरस्यां कविभिस्तव तुलालेशोऽपि दीयेतेत्यर्थेन त्वयि पुनः सलिलक्षालितश्रीरमणचरणायं तव तुला दीयेतैवेत्यर्थोऽनन्वयात्मा श्रीगङ्गागतनिरूपमत्वपर्यवसायी इतरपदमहिम्ना व्यज्यते ।

अत्र पूर्वार्धे तादृशव्यञ्जकमावावाह—कया वेति । पूर्वोदाहरणे भेदेनेत्युक्त्या तादृशव्यञ्जकस्य स्फुट प्रतीति । अत्र त्वस्फुटा । अत एवोदाहरणान्तरदानमिति ध्वन्यकार—इतरपदमहिम्नेति । 'नगेभ्यो यान्तीनाम् ' इति पद्यस्योत्तरार्धेन 'कया वा ' इत्यादि' मूलोक्तार्थ उच्यते, तेन चार्धेन मूलोक्ताकारोऽनन्वयरूपोऽर्थो ध्वन्यते, ध्वन्यमानशार्था गङ्गागतनिरूपमत्वे पर्यवस्यतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'नगेभ्य —' इस पद्य के उत्तरार्ध भाग का जो 'तुमसे अन्य किस नदी ने अपने जल से श्रीपति के चरण कमलों को धोया है? जिसमें कविगण तुम्हारा तुलालेश भी दे सकें' यह अर्थ वाच्य है, उससे 'तुमने तो अपने जल से श्रीरमण के चरणकमलों को धोया ही है, अतः तुम्हारे साथ तुम्हारी तुलना की जा सकती है'—यह अर्थ ध्वनित होता है, जो कि अनन्वयरूप है और जिसका पर्यवसान गङ्गा की निरूपमता में होता है । यहाँ यह अर्थ 'यस्याम्' पद के अर्थरूप 'इतर (अन्य)' पद के प्रभाव से ध्वनित होता है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामनन्वयप्रकरणम् ।

अनन्वयालङ्कार निरूप्य सम्प्रति अक्षमालङ्कारनिरूपणमारम्भमाणस्तावत्तल्लक्षणमाह—

सर्वथैवोपमानिषेशोऽसमाख्योऽलङ्कारः ।

उपमाननिषेध इति । साक्षात्परम्परया चेत्यादि । तथा च साक्षात्परम्परया या उपमाया आत्यन्तिकभावो वर्णनविषयीभूतोऽसमनामकालङ्कारलक्षणमिति भावः ।

अनन्वयालङ्कार का निरूपण कर लेने के बाद अब 'अक्षर' अलङ्कार के निरूपण का आरम्भ करते हुए पहले उसका लक्षण करते हैं—सर्वथैव इत्यादि । साक्षात् अथवा परम्परया उपमा के आत्यन्तिक निषेध को 'अक्षर' अलङ्कार कहते हैं ।

विवेचयति—

अयं चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि तच्चमत्कारानुगुणतया रूपकदीपकादायुषमेव न पृथगलङ्कारव्यपदेश भजते । वाच्यतायां तु स्वातन्त्र्येण चमत्कारितया पृथक् व्यपदेशभाक् ।

तच्चमत्कारानुगुणतयेति । अनन्वयकृतचमत्कारपरिपोषकतयेत्यर्थ । पृथगिति, पृथगलङ्कारित्यर्थ । यद्यप्ययमसमपदार्थः अनन्वयस्थले नियमतो व्यङ्ग्यो भवत्येव, तथापि यथा

रूपकदीपकालङ्कारेषु नियमतो व्यज्यमानाऽप्युपमा रूपदीपनादिकृतविलक्षणचमत्कारपोष-
कताया गुणीभूता पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयता नावगाहते, तत्रैव तत्र व्यज्यमानोऽप्यसम-
अनन्वयवृत्तचमत्कारविशेषोपपेक्ष इति गुणीभूतं पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयो न भवति ।
यत्र पुनर्नाच्योऽयमसमस्तत्र स्वतन्त्रं चमत्कारं जनयन् भवत्येव पृथगलङ्कारव्यवहारविषय-
इति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अयं च इत्यादि । यद्यपि यह 'असमपदार्थ'
'अनन्वय' में नियमतः स्पष्ट होना ही है, तथापि वहाँ अनन्वयप्रयुक्त विलक्षण
चमत्कार का पोषक होकर रहता है, स्वतन्त्र नहीं, अतः, जिस तरह रूपक, दीपक आदि
में नियमतः स्पष्ट होने पर भी उपमा को पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जाता उसी तरह,
इसको भी वहाँ पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जा सकता । पर जहाँ यह असम (सादृश्य
का निषेध) वाच्य रहता है वहाँ स्वतन्त्र चमत्कार को उत्पन्न करता है, अतः वहाँ,
पृथक् अलङ्कार का व्यवहार उत्तम किया जाता है ।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

असमारुद्धारत्वप्रयोजको यः प्रकारः स निर्दिश्यते इति भावः ।

जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'भूर्मानाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-

रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे ।

घाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भाषये-

न्न स्यादेव तथापि तावक्तुलालेशं दधानो नरः ॥'

कवि शहाबुद्दीननामानमितिहासप्रसिद्धं यवनजातीयं नृपं स्तौति—हे शहाबुद्दीननामक
भूर्मानाथ राजन् ! एतेभ्यो भूतेभ्यः वर्तमानेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यः कित्वादिभ्यः, भव उत्प-
त्तिर्यस्य तादृशे प्रपञ्चविषये ससारे, गुणानां गणैः शौर्योदार्यादिसमुद्भयैः, भवतस्तव, तुल्य-
समानो, नास्ति, इति, किं ब्रूमहे कथयान, अकथनेऽपि सर्वैरेतद् ज्ञायते एवेति भावः ।
घाता ब्रह्मा, यदि, नूतनकारणैः प्रसिद्धपञ्चभूतातिरिक्तस्वनिर्मितकारणैरित्यर्थः, पुनः, नवां
नूतनाम्, सृष्टिं संसारम्, भाषयेत् रचयेत्, तथापि नूतनसत्तारनिर्माणेऽपि तावक्तुलालेशं
त्वदीयसमतालेशं, दधानः दधन्, नरो मनुष्यः, नैव, स्यात् भवेत् इत्यर्थः ।

उदाहरणं देखिये—कवि यवनराजा शहाबुद्दीन की स्तुति करता है कि—हे शहा-
बुद्दीन नृपते ! गुणसमूह के कारण, तेरे समान इन वर्तमान पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी आदि
उपादानकारणों) से बने ससार में (कोई) नहीं है, यह क्या कहें, क्योंकि बिना कहे भी
यह सर्वविदित है । कहना तो यह है कि ब्रह्मा यदि नवीन (इन पञ्चमहाभूतों से भिन्न)
कारणों से नवीन ससार को उत्पन्न करें, तब भी तेरी समग्र तुल्य की तो बात ही क्या ?
तेरी तुल्यता के कण को भी धारण करनेवाला मनुष्य नहीं ही हो सकेगा ।

उदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णं विबुधैश्च दानवैः ।

न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापद्म् ॥'

कविः कमपि नृपं स्तौति—हे नृप राजन् । मानवैः मनुजैः, विबुधैः देवैः, दानवैः राक्षसैश्च, परिपूर्णं सर्वतोभावेन व्याप्तेऽपि, भुवनत्रितये त्रिलोक्याम्, यः पुरुषविशेषः, ते तव, तुलापदम् तुलनास्थानं, भजते प्राप्नोति, तादृशं कश्चिदपि, न अभवत्, न वा अस्ति, न वा भविष्यति कालत्रयेऽपि तव तुल्यो नेत्यर्थः । कालत्रयासत्त्वमेवोच्चोदाहरणाद् विशेषः । उदाहरणद्वयेऽपि सर्वयोपमानिषेधावगतेरसमालङ्कारः स्पष्टः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुवन इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! देव, मानव और दानवों से व्याप्त इस त्रिलोकी में वह जो तेरी समानता का स्थान प्राप्त कर सके, न था, न है और न होगा । इन दोनों उदाहरणों में सर्वथा उपमा का निषेध वर्णित है, अतः असमालङ्कार स्पष्ट है । द्वितीय उदाहरण में कालत्रय की उपमा का निषेध है, यही पूर्व उदाहरण से विलक्षणता है ।

ननुदाहरणद्वयेऽपि निषेधस्य प्राधान्यात्कथमलङ्कारत्वम्, परपोषकत्वेनाप्रधानस्यैव तत्त्वादित्यत आह—

राजस्तुत्युत्कर्षकत्वाद्त्रासमालङ्कारः ।

अत्र उदाहरणद्वये । 'भूमोनाथ—' 'भुवन—' इति पद्यद्वयम् राजस्तुतौ प्रयुक्तम्, अतः कविनिष्ठराजविषयकरतिभावोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्यं, वाच्यञ्च 'असम' तत्पोषकत्वाद्-लङ्काररूपः । असमो नाम प्रधानमिति भावः ।

यदि कोई कहे कि उक्त दोनों उदाहरणों में असम (उपमा का निषेध) ही प्रधान है—उसी का वर्णन प्रधान रूप में किया गया है, फिर वह अलङ्काररूप कैसे हो सकता है, क्योंकि अलङ्कार तो वह होता है जो स्वयम् अप्रधान होकर किसी प्रधान को उपरकृत करे, तो इसका उत्तर दिया जाता है कि—हाँ, अप्रधान ही अलङ्कार होता है, यहाँ भी असम अप्रधान ही है क्योंकि प्रधान तो राजा की स्तुति है । तात्पर्य यह कि ऊपर के दोनों ही पद्य राजा की स्तुति में रचे गए हैं अतः इन दोनों से प्रधान रूप में कविगत राजविषयक रतिभाव अभिव्यक्त होता है और उसका पोषक होने के कारण असम (वाच्य उपमानिषेध) अलङ्काररूप बनता है ।

ननुपमानलुप्तोपमयैव गतार्थोऽयमसम इत्याशङ्का मनसि निधायाह—

आत्यन्तिकः काचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तप्रयोर्विधयः । सर्वथैवोपमाननिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानान्नोपमागन्धोऽपि ।

आत्यन्तिक इति । यथासख्यमन्वयः । तथा च आत्यन्तिक सदृशनिषेधोऽसमालङ्कारस्य विषय इति पलितम् । ननु आत्यन्तिकसदृशनिषेधेऽपि कुतो नोपमानलुप्तोपमेत्यत आह—सर्वथैवेति । असमालङ्कारोदाहरणेषु, उपमानस्य सर्वथा निषेधो वर्णितस्तिष्ठति, अतस्तत्र निरूपकं विना सादृश्यं प्रतिष्ठातुमेव न पारयति, अतिप्रतिष्ठिते च सादृश्ये कथमुपमाप्रसरः ? नासम उपमानलुप्ताया गतार्थयितुं शक्य इति भावः ।

'असम' और 'उपमानलुप्ता उपमा' में भेद दिखलाने के लिये कहा जाता है—आत्यन्तिक इत्यादि । सदृश पदार्थ का जहाँ आत्यन्तिक अभाव वर्णित होता है वह है 'असम' का लक्ष्य और जहाँ किसी स्थानविशेष में अथवा किसी कालविशेष में सदृश पदार्थ का निषेध (अभाव) वर्णित रहता है वह है उपमानलुप्तोपमा का लक्ष्य, अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि—यह 'असम' अलङ्कार उपमानलुप्ता उपमा में ही गतार्थ है । आप कहेंगे—यह भेद तो आपने अपने मन से कर लिया है । आत्यन्तिक सदृशनिषेध-रूप में भी उपमानलुप्तोपमा ही क्यों नहीं मान ली जाय ? तो इसका उत्तर यह है

कि—जहाँ (असम के उदाहरण में) उपमान का सर्वथा निषेध वर्णित रहेगा—अर्थात् यह वर्णित रहेगा कि 'अमुक पदार्थ का उपमान कहीं कोई है ही नहीं' यहाँ सादृश्य सदा ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् बिना उपमान के किसका सादृश्य कहा जायगा ? और जब सादृश्य ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा तब वहाँ उपमा की गन्ध भी कैसे आवेगी ? क्योंकि सादृश्य का ही नाम उपमा है ।

रत्नाकरमतमुपपाद्य निरस्यति—

यत्तु—

'दुण्डुलन्तो नरीहसि कण्टक कलिभाई केअइवणाई ।

मालइकुसुमसरिच्छं भयर भमंतो न पावहिसि ॥' इति ।

नेयमुपमानलुप्तोपमा, तस्याः सम्भवदुपमानानुपादानविषयत्वात् । अपि त्वसमालङ्कारः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तदसत् । मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रम-
त्रपि न प्राप्स्यसीत्युक्त्या वर्ततां नाम तत्सदृशं कापि, त्वया तु दुष्प्रापमेवेति प्रत्ययादात्यन्तिकोपमाननिषेधाभावादुपमानलुप्तोपमैवेयं भविष्यति, नासमालङ्कारः । अन्यथा मालतीकुसुमसदृश नास्तीत्येव ज्ञेयात्, न तु प्राप्स्यसीति ।

दुण्डुलन्तो इति । व्याख्यातेयं गाथोपमाप्रकरणे । खण्डयति—तदसत् इति । तस्या-
सत्त्वे हेतुमुपन्यस्यति—मालतीत्यादिना । निषेधाभावादिति । सम्भवदुपमानत्वाच्चेत्यपि चोप्यम् । अन्वयेति । असमस्येष्टत्वे इत्यर्थः । यत्र सम्भवतोऽप्युपमानत्वोपादानं न क्रियते तत्रोपमानलुप्तोपमा भवति 'दुण्डुलन्तो—' इति गाथाया तु उपमानसम्भावनेव निरासितेति नात्र सा किन्तु श्रसमालङ्कार इति रत्नाकरस्याभिप्रायः । परमसौ न सद्गत 'मालतीकुसुम-
सदृशं न प्राप्स्यसि' इति कथनेन 'तत्सदृशं वस्तु विशते जगत्पचरवम् परन्तु त्वया तल्लब्धं न शक्यम्' इत्यर्थस्यैव प्रतीतिः, तथा च नात्रात्यन्तिकोपमाननिषेध इति असमालङ्काराप्रति, अपि च सम्भवतोऽप्युपमानस्यानुपादानेनोपमानलुप्तोपमायाः प्रातिषेधेति विचारासहत्वात् । यत्रासमालङ्कारनिबन्धनं कवयितुरभिप्रेतं स्यात्, तर्हि 'मालतीकुसुम-
सदृशं नास्ती'त्येव कथयेत् । 'न प्राप्स्यसि' इति कथयत कवेः उपमानलुप्तोपमानिबन्धने एव स्वार्थ्यं प्रतीयत इति भावः ।

रत्नाकर के मत का उपपादन करके खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । 'दुण्डु-
लन्तो—' इस पदा—त्रिभुक्ती व्याख्या उपमाप्रकरण में की जा चुकी है—में उपमान-
लुप्तोपमा अलङ्कार नहीं है, क्योंकि वह वहाँ होती है, जहाँ सम्भावित उपमान का उल्लेख नहीं किया गया रहता । यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ उपमान की सम्भावना का ही खण्डन किया गया है, अतः यहाँ असमालङ्कार है । ऐसा जो रत्नाकर ने कहा, वह भी असत् है—असद्गत है । कारण, यहाँ जो यह वर्णित है कि—'हे भ्रमर ! तू समारभर में घूमता हुआ भी मालतीफूल के समान दूसरे को नहीं पा सकेगा ।' उससे यह अर्थ प्रतीत होता है कि—'उसके समान दूसरा भी कोई फूल दुनिया में कहीं हो भले ही पर तू उसको नहीं पा सकता ।' अब आप बतलाइये कि—यहाँ उपमान का आत्यन्तिक निषेध हुआ ? उत्तर देना पड़ेगा 'नहीं' । फिर असम यहाँ कैसे ? उपमानलुप्तोपमा तो हो ही सकती है, क्योंकि सम्भावित उपमान का अनुल्लेख है । यहाँ यदि कवि को असमालङ्कार का निबन्धन करना अभीष्ट होता तो 'मालतीकुसुम सा दूसरा कोई कुसुम नहीं है' यही कहता, नकि 'मालतीकुसुम-सदृश दूसरे को नहीं पावेगा' यह । ऐसा कहने का कारण स्पष्ट है कि कवि को उपमानलुप्तोपमालङ्कार का निबन्धन अभीष्ट है ।

आशक्य समाधत्ते—

अथासमालङ्कारध्वननेनैव चमत्कारोपपत्तेरनन्वयस्य पृथगलङ्कारता कथ-
मिति चेत्, सत्यम् । दीपकादेरप्युपमाभिव्यक्त्यैव चमत्कारोपपत्तौ कथं नाम
पृथगलङ्कारत्वमिति तुल्यम् । न च दीपकादावुपमाया व्यङ्ग्यत्वेऽपि गुणीभावा-
त्प्रकृते तु स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन्नतितमां तिरस्कारेणासमालङ्कारस्यैव मुख्यतया
ध्वननाद्वैपम्यमिति वाच्यम् । यथाहि दीपकसमासोक्त्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यस-
त्त्वेऽप्यलङ्कारत्वं न हीयते एवमनन्वये प्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वेऽपीत न किञ्चिद्विरु-
द्धम् । अनन्वयशरीरस्य स्वसादृश्यमात्रस्य वाच्यत्वेन वाच्यालङ्कारव्यपदेशोऽपि
सुस्थ एव । दीपकाद्यलङ्कारकाव्ये गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य सत्त्वादस्तु नाम
गुणीभूतव्यङ्ग्यचञ्च । ध्वनित्त्वं पुनर्न काव्यलङ्कृतिकाव्ये दृष्टमिति चेत्, पर्या-
योक्तसादृश्यमूलाप्रस्तुतप्रशसादिकाव्ये ध्वनित्वस्य स्फुटत्वात् ।

आशङ्कते—अथेति । प्रतिबन्धा समाधत्ते—सत्यमिति । अत एवारम्भे 'रूपकदीपका-
दावुपमैव' इति दृष्टान्तोक्तिः । दीपकादेरित्यस्य पृथगलङ्कारत्वमिन्नान्वयः । पुनरवान्तर-
शङ्कायाह—न चेति । अवान्तरशङ्काया समाधानमाह यथा हि इति । हि यत् प्रधानव्य-
ङ्ग्यसत्त्वेऽपीति । अलङ्कारव न हीयते इत्यस्यानुपज्ञः । एवमलङ्कारव्यवहारे साधिते
वाच्यालङ्कारव्यवहार तस्य साधयति—अनन्वयेति । शङ्कते—दीपकाद्यलङ्कारेति । बहु-
व्रीहिरत्र बोध्यः । अलङ्कृतिकाव्ये इति तदुक्तकाव्ये इत्यर्थः । तथा चैवमित्याद्युक्तिर-
युक्तेति भावः । समाधत्ते—पर्यायोक्तेति । अप्रस्तुतप्रशसाया अनेकविधावादाह—सादृश्येति ।
अनन्वये स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन् वाच्यत्वरूपे चमत्कारो नियतव्यङ्ग्यसादृश्यनिषेधकृत
एवेति सर्वसम्मतम्, सादृश्यनिषेध एव च वाच्योऽसमाख्योऽलङ्कार, तथा चैतत्सिद्धयति
यत् अनन्वयेऽसमालङ्कारस्य यमतो व्यङ्ग्यत्वम् । अथ इचिद् वाच्यासमालङ्कारकृत-
त्वाच्चिन्न व्यङ्ग्यसत्त्वात्कृतचमत्कार इत्यद्वैतकारेणैव सामञ्जस्ये पृथगलङ्कारश्रेण्या कथमनन्व-
यस्य गणनेति शङ्काया दीपकादावपि नियमतो व्यङ्ग्यमानोपमाकृत एव चमत्कारस्तथा
च तेनैव निबद्धि दीपकादेरपि किमर्थम् पृथगलङ्कारत्वमिति शङ्कायास्तुल्यत्वमिति प्रतिबन्धा-
त्मकं समाधानम् । यथा तत्त्वेऽपि दीपकादेः पृथगलङ्कारत्वम् तथा अनन्वयस्यापीति
भावः । दीपकादौ व्यङ्ग्यमानाऽप्युपमा वाच्यार्थस्य (दीपकत्वादिनाऽभिमतस्य) अपेक्षया
गुणीभूता इति प्रधानवाच्यार्थमूलकदीपकादिव्यवहारो युक्तः, अनन्वये तु वाच्य स्वस्मिन्
स्वसादृश्यम् साधितत्वेन नितान्ततिरस्कारपात्रमेवेति किं तस्य प्राधान्यम् ? फलत व्यङ्ग्य-
मानस्य सादृश्यनिषेधात्मकासमालङ्कारस्यैव प्राधान्यम् इति नानाप्रधानवाच्यार्थमूलकानन्व-
यव्यवहारो युक्त इति तु नोचित वैपम्योपदर्शनम्, अस्य वैपम्यस्याविधित्करत्वात् ।
तथाहि—यद्युपमान्यकगुणीभूतव्यङ्ग्यसत्त्वावेऽपि दीपकादेरलङ्कारत्व न नश्यति तर्हि अस-
मात्मकप्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वावेऽनन्वयस्यालङ्कारत्व कथं नश्येत् ? न नश्येदेव । न च न नश्यतु
तस्यापि तत्, किंनु यत्र कोऽप्यर्थः प्रधानतयाऽभिबन्ध्यते, तत्कृत एव च चमत्कारोऽनु-
भूयते तत्र ध्वनिभाव्यव्यवहार एव भवति नालङ्कारकाव्यव्यवहार इति भवतोऽपि प्रायोऽभि-
मतमेव तथा च प्रधानतोऽभिबन्ध्यमानचमत्कारैककारणासमालङ्कारके काव्येऽनन्वयकाव्य-
व्यवहारः कथं स्यात् ? न च गुणीभूतव्यङ्ग्यसत्त्वावे दीपकादिव्यवहारात् सोऽपि व्यवहारः
स्यादिति शक्यम्, अलङ्कृतिप्रधानकाव्येऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारस्यालङ्कारिकैकज्ञी-
कृततया तत्र तथा व्यवहारस्य सम्भवेऽपि तद्दृष्टान्तेन प्रकृते तथाव्यवहारस्यासम्भवादिति

वक्तव्यम्, पर्यायोक्तसादृश्यमूलकाप्रस्तुतप्रशंसादिकाव्ये ध्वनिव्यत्यालङ्कारकाव्यत्वस्य च स्फुटतया ध्वनिव्यालङ्कारयोः सामानाधिकरण्याद्विगोधात् । अथास्त्वेतत्सर्वम्, परन्तु चमत्कार्यसाध्य व्यङ्ग्यत्वेन कमंशमादाय अनन्वये वाच्यालङ्कारत्वव्यपदेश इति चेत् ? स्वस्मिन् स्वसादृश्यरूपमनन्वयशरीरमादायेति भावः ।

खण्डन-मण्डनपूर्वक 'अनन्वय' को पृथक् अलङ्कार मानने में युक्ति दिखलाई जाती है—अथ ह्यादि । अब यहाँ पाड़ा यह उपस्थित होती है कि—'अनन्वय' में वाच्य अक्षर—अपने में अपना सादृश्य—तो बाधित ही रहता है, अतः उससे कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, फलतः यही मानना पड़ता है कि व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होनेवाले 'उपमाननिषेध (अनुपमता)' अक्षर से ही वहाँ चमत्कार उत्पन्न होता है, और उपमान के निषेध द्वारा सादृश्य (उपमा) का निषेध अथवा सादृश्य के निषेध द्वारा उपमान का निषेध ही असमालङ्कार का स्वरूप है । अतः यह कहना अत्यन्त ही सङ्गत है कि 'असमालङ्कार' को ध्वनित करने से ही 'अनन्वय' में चमत्कार आता है । ऐसी दशा में अनन्वयात्मक वर्णन को 'असमालङ्कार' व्यञ्जकमात्र मान लेने से निर्वाह हो जाता है; फिर पृथक् 'अनन्वय' को अलङ्कार क्यों माना जाय ? उत्तर में कहा जाना है कि दीपक आदि अलङ्कारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कार बन पाता है—यदि सादृश्य की व्यञ्जनया प्रतीति न हो तो दीपक आदि में और चमत्कार ही क्या रह जाता है ? फिर उनको (दीपक आदि को) क्यों पृथक् अलङ्कार माना जाता है ? चात दोनों ही स्थलों पर एक ही है । तात्पर्य यह हुआ कि जैसे प्रतीयमान उपमाश को लेकर ही चमत्कारी होनेवाले दीपकादि को पृथक् अलङ्कार माना जाता है, वैसे ही व्यञ्ज्यमान उपमाननिषेध (असम) अक्षर को लेकर ही चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अनन्वय को भी पृथक् अलङ्कार माना जायगा । यदि आप कहें कि—दीपक आदि का दृष्टान्त देकर जो अनन्वय को पृथक् अलङ्कार सिद्ध करने का प्रयास आपने किया है वह नहीं सफल हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में बड़ी विपमता है और वह विपमता यह है कि दीपक आदि में व्यङ्ग्य होकर भी उपमा गौण ही रहती है, प्रधान रहता है दीपकात्मक वाच्यार्थ ही, अतः प्रधान के अनुसार पृथक् अलङ्कार का व्यवहार सङ्गत हो जाता है, पर प्रकृत में तो अपने में अपना सादृश्य ही वाच्य रहता है जो अत्यन्त ही बाधित अतःपुत्र तिरस्कृत होने योग्य है, अतः असमालङ्कार ही ध्वनित होकर सुगम हो जाता है, ऐसी स्थिति में यहाँ मुख्य असमध्वनिकाव्य का ही व्यवहार होना उचित प्राप्त है न कि असुख्य अनन्वयालङ्कार काव्य का, तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे 'दीपक' 'समासोक्ति' आदि अलङ्कारों में गुणीभूत (अप्रधान) व्यङ्ग्य के रहने पर भी उनकी अलङ्कारता नहीं नष्ट होती—अर्थात् वे अलङ्कार कहलाते ही हैं, उसी तरह 'अनन्वय' में प्रधान व्यङ्ग्य के रहने पर भी उसकी (अनन्वय की) अलङ्कारता नष्ट नहीं होगी, वह भी अलङ्कार कहलायगा । तात्पर्य यह कि—जब अप्रधान व्यङ्ग्य के रहने से किसी पदार्थ का अलङ्कार होना नहीं सकता तब प्रधान व्यङ्ग्य के रहने से वह एक जाय यह न्यायसङ्गत नहीं है । और 'अपने में अपना सादृश्य' यह जो 'अनन्वय' का शरीरस्वरूप है वह तो वाच्य ही है, व्यङ्ग्य नहीं, अतः अनन्वय को वाच्य अलङ्कार कहना भी उचित ही है । यदि आप कहें कि दीपक आदि अलङ्कारों से युक्त काव्यों में सादृश्यरूप व्यङ्ग्य के गुणीभूत (अप्रधान) होने से उन्हें 'गुणीभूत व्यङ्ग्य (उत्तम काव्य)' कहा जाता है तो यह ठीक है, पर किसी अलङ्कार-प्रधानकाव्य का ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य होना कहीं नहीं देखा गया । अभिप्राय यह है कि—बहुतेरे अलङ्कारों में कुछ व्यङ्ग्य गुणीभूत होकर रहते हैं और उन व्यङ्ग्यों में चमत्कार भी रहता है, अतः उन्हें चित्रकाव्य (मध्यम) न कहकर गुणीभूतव्यङ्ग्य (उत्तम) कहा जा सकता है, पर अलङ्कारप्रधान ऐसा कोई काव्य नहीं जो अलङ्कारप्रधान होकर भी ध्वनि (उत्तमोत्तम)

कहला सके। किन्तु अनन्वयालङ्कार में असमालङ्कार प्रधानतया ध्वनित अतएव वाच्या पेक्षया अधिक चमत्कारी भी होता है। ऐसी स्थिति में अब अनन्वयालङ्कारयुक्त काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम)' काव्य कहना पड़ेगा, जो एक अदृष्टपूर्व बात है। इसका समाधान यह है कि-जिस बात को आप अदृष्टपूर्व समझ रहे हैं, वह वस्तुतः अदृष्टपूर्व है नहीं, जरा सी तिरछी नजर करके देखने पर वह बात 'पर्यायोक्त' और सादृश्यमूलक 'अप्रस्तुतप्रशसा' आदि अलङ्कारप्रधान काव्यों में स्पष्ट देखी जा सकती है-अर्थात् उन अलङ्कारों से युक्त काव्य अलङ्कारप्रधान ही कहलाते हैं और साथ साथ वहाँ प्रधानतया ध्वनित होनेवाले अर्थ भी रहते हैं।

मतान्तरमाह—

प्राञ्चस्तु नेदमलङ्कारान्तरमित्यप्याहुः।

'असमो' नालङ्कार ऋक्षित्, तदुदाहरणतयाऽभिमतेषु काव्येषु उपमालङ्कारदूरीकरण-मात्रस्यैव रसाद्यनुगुणतया रमणीयत्वात् इति प्राञ्चो मन्यन्ते। रत्याद्यनुकूलतया कृतशिवदा-द्रूपणापसारण यथा शोभाविशेषाय भवति, तथा स्थलविशेषेऽलङ्कारविशेषस्य दूरीकरणमात्र-मपि रसाद्यनुगुणतया रमणीय भवतीति न तत्रालङ्कारान्तरकल्पनाप्रत्यक्षेति तदाशयः। एतच्च व्यतिरेकालङ्कारप्रकरणे प्रत्यक्षतैवोक्तम्।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन आचार्य 'असम' नामक अलङ्कार नहीं मानते। नहीं मानने में उनकी युक्ति यह है कि-जैसे सम्भोग आदि में अनुकूल होने के कारण नायिका के किसी-किसी अङ्ग से भूषण का हटा देना ही शोभाविशेष के लिए होता है उसी तरह कहीं-कहीं अलङ्कार को दूर कर देना ही रस आदि के लिये उपकारक हो जाता है, अतः जिन काव्यों में 'असम' अलङ्कार माना जाता है, उनमें उपमा अलङ्कार का निरास कर देने मात्र से चमत्कार पैदा होता है, किसी खास अलङ्कार के होने से नहीं, यही मानना चाहिये। 'प्राचीन नहीं मानते' इस कथन से नवीन (जिनमें ग्रन्थकार भी प्रायः सम्मिलित हैं) 'असमालङ्कार' मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, उसमें तर्क यह है कि नये-नये चमत्कारों की उपलब्धि ही तो नवीन-नवीन अलङ्कारों को स्वीकार करने में युक्ति है, फिर जैसे सादृश्य वर्णित रहने पर एक तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से 'उपमा' नाम का अलङ्कार माना जाता है वैसे ही सादृश्यनिषेध वर्णित रहने पर भिन्न तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से एक भिन्न अलङ्कार क्यों नहीं माना जाय ?

व्यङ्ग्यमममालङ्कार दर्शयितुमाह—

अथ चासमालङ्कारो व्यङ्ग्यमानो यथा—

व्यञ्जनावृत्तिबोध्यं यद् असमालङ्कार, जैसे।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'मयि त्वदुपमाविधौ धसुमतीश वाच्यमे

न वर्णयति मामय कविरिति क्रुध मा कृथाः।

चराचरमिद् जगज्जनयतो विधेर्मानसे

पद नहि दधेतरा तव म्लु द्वितीयो नरः॥'

कवि वरपि राजानं स्तौति—हे वसुमतीश राजन् । त्वदुपमाविधौ प्रसिद्धेन इन्द्रा-दिनोपमानेन सह तव तुलनाकरणे (विषयसप्तमीयम्), मयि, वाच्यमे मौनावलम्बिन, सति, अय कवि, मा, न वर्णयति, इति हेतो, क्रुधं कोपम्, मा कृथा न क्रुध, त्वमिति शेष । 'मा कृथा' इत्यत्र 'माञ्जि लुङ्' इति सूत्रेण सर्वलकारापवादभूतो लुङ् । साह्योगा-ददागमाभाव । अचर्णनहेतुकबोधकरणे कारणमाह—चराचरमिति । हि यत, चराचरम्

स्थानरज्जुमात्मकम्, इदं परिदरयमानं, जगत् संसारम्, जन्मयत् उर्यादयत्, विधेः
ब्रह्मणः, मानसे चेतसि, तव द्वितीयः त्वाद्योऽपरः, नरः मनुष्यः, खलु निश्चयेन, पदं
स्थानम्, न दधेतराम् प्रापेत्यर्थः ।

६ उदाहरण का निर्देश किया जाता है—मयि इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति
करता है—हे राजन् ! मैं आपकी किसी के साथ तुलना करने के विषय में चुप हूँ, इस-
लिये आप यह समझकर कि 'यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता' क्रोध न कीजिएगा ।
असली बात यह है कि—इस स्थानर-ज्जुमात्मक संसार को रचनेवाले विधाता के मन में
आपके जैसा कोई दूसरा मनुष्य स्थान ही न प्राप्त कर सका । आप जैसे दूसरे मनुष्य की
रचना करना तो दूर रहे, विधाता यह सोच भी नहीं सके कि आप जैसा कोई दूसरा
हो सकता है ।

उपपादयति—

अत्र य एतावन्तं समयं विधातुर्मानसं नाधिरूढः सोऽप्येऽपि मानाभावाद्भा-
धिरोहेत्, अतः सर्वयैष नास्तीति गम्यते ।

ननु निषेधस्य वाच्यत्वेन कथमसमस्यात् व्यङ्ग्यत्वम्, किंच 'दधे' इति भूतकालिकक्रि-
यापदेन भूतनिषेधप्रतिपादनेनात्यन्तिकनिषेधाप्रतीत्या कथमसम इत्यत आह—अत्रेति ।
अस्मिन् पद्ये इत्यर्थः । मानाभावात् प्रमाणविरहात् । गम्यत इति । गम्यन्वाचमर्थः 'अस-
मालङ्कार'रूपः । एतच्च पदधारणनिषेधस्य शान्दत्वेऽपि भूतकालिकत्वेऽपि च उपमाननिषे-
धस्य व्यङ्ग्यत्वमात्यन्तिकपक्षाङ्गुणमेवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'मयि त्वदुपमाविधौ—' इस पद्य में 'आपके
समान कोई दूसरा मनुष्य विधाता के मन में नहीं आया' इतना तो साफ दर्शित है
और इसीसे यह भी बनायावत् ज्ञात हो जाता है कि—आगे भी आप जैसा कोई उनके
मन में नहीं आयागा, क्योंकि आगे उनके मन में आप जैसा कोई आ ही जायगा इसका
कोई प्रमाण नहीं है । फलतः इस पद्य से यही अभिव्यक्त होता है कि—आप जैसा कोई
सर्वथा ही नहीं है और यह प्रतिप्रमान अर्थ 'असम' रूप है, अतः इस पद्य को व्यङ्ग्य
असमालङ्कार का उदाहरण समझा जाता है ।

व्यङ्ग्यत्वेऽपि कथमत्रासमसमालङ्काररूपतेत्याह—

एवं च ध्यज्यमानोऽप्यसमोऽत्र प्रधानीभूतराजस्तुत्युत्कर्षकतयालङ्कार एव ।
'मयि—' इति श्लोके राजस्तुतिः सर्वतः प्रधाना (कविनिष्ठराजविषयकरतिभावः
सर्वतः प्रधान इति भावः) अतः व्यङ्ग्योऽप्यसम अप्रधानः सन् प्रधानप्रकर्षकारणतया
अलङ्काररूप एव तिष्ठति नालङ्कार्यरूप इति सारांशः ।

व्यङ्ग्य होने पर भी यह अपसम अलङ्काररूप कैसे होता है इसकी उपपत्ति सुनिये—
एवं च इत्यादि । 'मयि—' इस पद्य के द्वारा राजा की स्तुति की गई है, अतः इस पद्य से
राजा के विषय में कवि का प्रेम (भाव) सर्वतः प्रधानरूप से अभिव्यक्त होता है, अतः
व्यङ्ग्य होकर भी 'असम' उसकी अपेक्षा अप्रधान ही रहता है और अप्रधान प्रधान का
पोषक होता ही है । इसीलिये व्यङ्ग्य होने पर भी यहाँ का 'असम' अलङ्काररूप ही है,
अलङ्कार्यरूप नहीं ।

यत्रासम एव मुख्यतयाऽभिव्यज्यते न रसादिस्तादृशमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

मुख्यतया ध्वन्यमानोऽयं यथा—

अवमं अत्तमं । अन्यत् स्पष्टम् ।

जहाँ 'असम' ही प्रधान रूप से ध्वनित होता है, वैसा उदाहरण, जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘सदसद्विवेकरसिकैरालोक्य समस्तलोकमथ कविभिः ।
गणिता गगनलतादेर्गणनाया तन्वि ! तव सदृशी ॥’

हे तन्वि कृशाङ्गि ! सताम् सत्यभूतानाम्, असताम् असत्यभूतानाम्, पदार्यानाम्, विवेके विवेचने, रसिकै रनेहवद्भिः कविभिः, समस्तलोकम् समग्रं जगत्, आलोक्य निभात्य, अथ अनन्तरम् तव सदृशी त्वत्तुल्या, गगनलतादेः आभाशालतायमम्भवद्भस्तुन-
गणनायाम् षोडशै, गणिता सख्याता इत्यर्थः । अत्र ‘असत्पदार्थगणनाया तव तुल्या गणिता इत्युक्त्या त्वत्तुरया जगति नास्तीति प्राधान्येन व्यज्यते, अतः अलङ्कारध्वनिरिति भावः । नालङ्कार इति तदारायः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सदसद् इत्यादि । हे कृशाङ्गि ! सत्य और मिथ्या पदार्थों का विवेक करने में रस लेने वाले कवियों ने समस्त ससार की देख-भाल कर चुकने के बाद तेरी जैसी को ‘आकाशलता’ आदि की गणना में गिना है—अर्थात् ‘आकाशलता’ जैसे ससार में नहीं है वैसे ही तेरे समान भी कोई नहीं हो सकती । यहाँ ‘तेरी बराबरी की कोई दूसरी नायिका नहीं है’ यह असम पदार्थ प्रधान रूप से ही अभिव्यक्त होता है—अर्थात् यहाँ कोई दूसरा प्रधान अर्थ है ही नहीं जिसका पोषण यह असमपदार्थ करे, अतः अलङ्कार (अलङ्कार कहलाने योग्य पदार्थ) की ध्वनि यहाँ मानी जायगी, व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं ।

असमालङ्कारस्य भेदानुपपादयति—

अथ क्वचिदुपमानस्य निषेधात्कचिच्च साक्षादुपमाया एव । आद्यस्तूपदर्शितः ।
उपमानिषेध एव यद्यप्यसमालङ्कारलक्षणे प्रविष्टः, तथापि उपमाननिषेधेऽपि निरूपका-
भावादुपमानिषेधः पर्यवस्यतीति उपमाननिषेधमूलकम् साक्षादुपमानिषेधमूलकञ्च भेदद्वय-
मसमस्य तावद्विध्यम् । तत्रोपमाननिषेधमूलकं प्रथमो भेदः प्रागुदाहृत इति भावः ।

असमालङ्कार के भेद किये जाते हैं—अथम् इत्यादि । यह ‘असमालङ्कार’ कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् उपमा के ही निषेध से । तात्पर्य यह है कि-यद्यपि लक्षण में उपमा के निषेध को ही ‘असम’ कहा गया है, तथापि उपमान-निषेधमूलक भी एक भेद इसका होता है, क्योंकि उपमान के निषेध से उपमा का निषेध ही फलतः सिद्ध होता है । कारण, उपमान ही उपमा (सादृश्य) का निरूपक होता है, फिर निरूपक के अभाव में उपमा कैसे हो सकती है ? इस तरह उपमाननिषेध-मूलक और साक्षात् उपमानिषेधमूलक दो भेद असम के सिद्ध हुए । उनमें प्रथम अर्थात् उपमाननिषेधमूलक भेद का उदाहरण पहले दिखलाया जा चुका है ।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीयो यथा—

द्वितीय अर्थात् साक्षात् उपमानिषेधमूलक असमालङ्कार, जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘पूर्णमसुरै रसातलममरैः स्वर्गो वसुन्धरा च नरैः ।
रघुराश्वीरकुलना तथापि खलु जगति निरवकाशोव ॥’

यद्यपि असुरै रसातलम् पातालम्, पूर्णम्, अमरैर्देवैः, स्वर्गं, पूर्णं, नरैः मनुष्यैः, वसुन्धरा पृथ्वी, च, पूर्णा अस्तीति शेषः । अत्र ‘पूर्णम्’ इत्यस्य लिङ्गव्यत्यासेनान्यत्रान्वयः । तथापि रसातलस्वर्गवसुन्धराणाम् अमुरामरपरिपूर्णत्वेऽपि, जगति ससात्ते,

खलु निश्चयेन, रघुवंशवीरस्य रामचन्द्रस्य, तुलना उपमा, निरवकाशा निग्रसरा निराधारेति यावत्, एवेत्यर्थः । अत्र साक्षादुपमानिषेधादसमः सम्पद्यते इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पूर्णम् इत्यादि । पाताल असुरों से, स्वर्ग देव-ताओं से और पृथ्वी मनुष्यों से यद्यपि पूर्ण है—इन सभी जातियों में एक से एक चीर वर्तमान है, तथापि रघुवंशवीर-रामचन्द्रजी की तुलना-उपमा-निरवकाश ही रह जाती है—अर्थात् उसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है । यहाँ 'तुलना निरवकाशैव' इस उक्ति के द्वारा साक्षात् उपमा का निषेध किया गया है अतः यह पद्य असमालङ्कार के द्वितीय भेद का उदाहरण होता है ।

अन्यभेदानां स्वयमूहनीयतामाह—

एव पूर्णतया लुप्ततया चास्यापि यथासम्भवं भेदा उन्नेयाः ।

यद्योभ्यां पूर्णालुप्तादयो भेदा भवन्ति तथाऽऽसमोऽपि कियन्तो भेदा नवितुमर्हन्ति, तेषामूह स्वयं सुधीभिर्विधातव्य इति भावः ।

जैसे 'उपमा' के पूर्ण-लुप्ता आदि भेद होते हैं, वैसे 'असम' के भी उनमें से कितने ही भेद हो सकते हैं, जिनका वर्णन विस्तार के भय से छोड़ दिया गया है । पर विद्वानों को स्वयं उनका ऊह कर लेना चाहिये ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामसमालङ्कारप्रकरणम् ।

अथोदाहरणालङ्कारनिरूपणमारभमाणस्तानलक्षणमाह—

सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तत्रैकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।

सुखप्रतिपत्तये इति । हुततरं बुद्ध्यालङ्कारायेत्यर्थः । तयोरिति । सामान्यैकदेशो-रित्यर्थः । सामान्यरूपं कमपि पदार्थं प्रागुपवर्ग्यं पश्चात् तस्योपवर्णितस्य सामान्यरूपस्य पदार्थस्य स्पष्टज्ञानाय तद्विरोध उपवर्ग्यते, तयोश्च सामान्यविशेषभूतयोः पदार्थयोः स्वाभाविकोऽवयवावयविभावो यत्र शब्देनाभिधीयते, तत्र तादृशः स अवयवावयविभाव एवोदा-हरणालङ्कार इति भावः ।

साममालङ्कारनिरूपणोत्तर 'अथ उदाहरणालङ्कार-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसका (उदाहरणालङ्कार का) लक्षण किया जाता है—सामान्येन इत्यादि । सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के सांग्र बोध के लिये, उसके एकदेश का वर्णन करके, सामान्य-पदार्थ और उसके एकदेश का, शब्द से उक्त अत्राभिभाव 'उदाहरण' कहलाता है ।

लक्षण विवेचयितुमाह—

अयान्तरन्यान्वाराणायोच्यमान इति । वचनं च इव-यथा-निर्दर्शन-दृष्टा-न्तादिशब्दैः काठरेषु स्फुटम् । न च इवयथारशब्दयोः सादृश्यवचनयोरवयवाव-यविभावे विशेषसामान्यारम्भे नास्ति वृत्तिरिति वाच्यम् । लक्षणायाः साम्ना-व्यात् । अन्यथा ह्यप्रेक्षाबोधकतापि दुर्घटा स्यात् ।

लक्षणषट्कोच्यमानपदस्य दर्शयितुमाह—अर्थान्तरेति । मनु केन केन शब्देनावय-वावयविभाव उच्येतेति जिज्ञासायामाह—वचनं चेति । शब्दते—न चेति । समाधत्ते-लक्ष-णेति । लक्षणाया अवयवसंस्कारणीयतामाह—अन्यथेति । लक्षणानङ्गीकारे इति तदर्थः ।

अर्थान्तरन्यासेऽपि यद्यप्यवयवावयविभावः प्रतीयते, तथापि तत्र स शब्देनोच्यमानो न तिष्ठति । एवञ्चार्थान्तरन्यासे उदाहरणालङ्कारलक्षणं न प्रमज्जत्विति 'उच्यमान'पद लक्षणे प्रवेशितम् । तथा च यत्र सामान्यविशेषयोरवयवावयविभावनस्य बोधकं शब्द उपात्तस्तत्रोदाहरणम् । यत्र च तादृश शब्दो नोपात्तस्तत्रार्थान्तरन्यास इति विवेकः । तयोरवयवावयविभावस्य बोधकाश्च शब्दा इव-यथा-निदर्शनं दृष्टान्तादयो भवन्तीति काव्या-वलोकनेन स्फुटमवगम्यते । विशेषणसामान्यभावात्मकेऽवयवावयविभावे इव यथापदयोरभिधा नास्ति, तयोरभिधायां सादृश्यरूपार्थ एव बोधादिभिर्बोधितत्वादिति चेत् ? सत्यम्, तयोः पदयोस्तत्रार्थे लक्षणाङ्गीकरणीयेति लक्षणकारस्याभिप्रायः । तथा च 'उच्यमान' इत्यस्य नाभिधाबोध्यमान इत्यर्थः, अपितु शब्देन बोध्यमान इत्येव । तच्च लक्षणायामपि न विरुद्धम् इति साराशः । अत एव इव-यथापदयोर्दृष्टप्रेक्षाबोधकता सकलालङ्कारिकाभिमतता सङ्गच्छते । सादृश्यवाचकौ तौ शब्दौ सम्भावनात्मिकामुत्प्रेक्षामपि लक्षणयैव बोधयितुं प्रभवत इति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अर्थान्तर इत्यादि । अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में अतिप्रसङ्ग न हो इसलिये 'उदाहरण' के लक्षण में 'शब्द से उक्त' यह अवयवावयविभाव का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि—अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में भी सामान्य-विशेषभाव प्रतीत अवश्य होता है, पर उस भाव का बोधक कोई पद वहाँ नहीं रहता, अतः उससे पृथक् करने के लिये उदाहरणालङ्कार में उक्त भाव का शब्द द्वारा अवगत होना आवश्यक माना जाता है । काव्यों में उक्त अवयवावयविभाव के बोधक 'इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त' पद स्पष्ट उपलब्ध होते हैं । 'इव' और 'यथा' पद 'सादृश्य' के वाचक हैं, अतः वे दोनों पद सामान्य विशेषरूप अवयवि-अवयवभाव के बोधक किम वृत्ति के बल पर हो सकते हैं ? अर्थात् अभिधावृत्ति के बल पर नहीं हो सकते, तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हाँ, अभिधा के बल पर नहीं हो सकते यह बात सत्य है, पर लक्षणा के बल पर तो हो ही सकते हैं—अर्थात् जहाँ जिस पद की अभिधा बाधित रहती है वहाँ भी उस पद की लक्षणा का साम्राज्य रहता है ऐसी स्थिति में इव यथा आदि पदों की अभिधा भले ही 'अवयवावयविभाव'रूप अर्थ में न हो पर लक्षणा हो सकती है । इसीलिये तो वे पद सम्भावनारूप उत्प्रेक्षा के भी बोधक होते हैं, यदि अभिधा के बल पर ही उन पदों का बोधक होना निश्चित रहता, तब तो सादृश्य के अतिरिक्त किसी भी अर्थ के बोधक नहीं हो पाते और उनको उत्प्रेक्षा-बोधक सभी आलङ्कारिक मानते हैं । ऐसी दशा में लक्षणा द्वारा इव यथा आदि पद उत्प्रेक्षा की तरह अवयवावयविभाव के भी बोधक हैं यह मानने में किसी को किसी तरह की आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

लक्षणं दर्शयितुं कथयति—

उदाहरणम्—

अधोनिर्दिष्टं बोध्यमिति भावः ।

उदाहरणं देखिए ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।

निखिलरसायनराजो गन्धेनोप्रेण लशुन इव ॥'

अमितगुण अपरिमितगुणशाली, अपि, पदार्थ वस्तु, एकेन, दोषेण, निन्दित, निन्दा-विषय, भवति जायते । यथा निखिलरसायनराज सकलेषु रसायनेषु श्रेष्ठ, लशुन स्व-

नामग्यात्. मूलविशेष, उभेण उक्त्वेन, गन्धेन निन्दितो भवतीत्यर्थः । अत्रामितगुणपदार्थसामान्यं प्रागुपवर्णितम्, ततस्तदेकदेशो विशेषभूतो लघुनो निरूपितस्तथोपानयन्यवयवभावः 'इव'शब्देन बोधित इत्युदाहरणालङ्कारोदाहरणं पद्यमेतत्सम्पद्यत इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अमित इत्यादि । अमित-अगणित-गुणों से युक्त भी पदार्थ एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है जैसे सकल रसायनों (आयु आदि को बढ़ाने वाले औषधों) में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो गया है । यहाँ पहले अगणितगुणगणशाली पदार्थ-सामान्य का वर्णन किया गया है, तदुत्तर उसके एक देश-विशेषभूत पदार्थ-लहसुन का । और इन दोनों सामान्य-विशेषभूत पदार्थों में अवयवी-अवयवभाव है—अर्थात् सामान्य अगणितगुणयुक्त पदार्थ अवयवी-अङ्गी है और विशेषभूत सादृश लहसुन है अवयव-अङ्ग । यह अङ्गपञ्चभाव यहाँ इव शब्द से साफ कह दिया गया है, अतः यह पद्य उदाहरणालङ्कार का उदाहरण माना जाता है ।

आशङ्क्य समापते—

न चात्र पदार्थलघुनयोरुपमा शक्या वक्तुम् । तयोः सामान्यविशेषभावेन सादृश्यस्यानुल्लासात् । तथात्वे तु इवशब्दादीनामिव सदृशादिशब्दानामप्यलङ्कारेऽस्मिन् प्रयोगः स्यात् ।

अनुल्लासादिति । मियो भेदाभावेन स्फुटमप्रतीतेरित्यर्थः । तथात्वे न्विति । सादृश्य-स्योपल्लासे न्वित्यर्थः । अस्योपपत्तिरत्रैवमे स्फुटीभविष्यति । 'अमितगुण—' इति श्लोके पूर्वार्धवर्णितस्य पदार्थसामान्यस्योत्तरार्धवर्णितस्य लघुनस्य चोपमैव कविना निबद्धा तथा चात्रोपमालङ्कार एवेति नातिरिक्तोदाहरणालङ्कारकल्पनावश्यकतेति वक्तुं न शक्यम्, सामान्यविशेषभावापन्नयोस्तयो 'विशेष सामान्याभातिरिच्यते' इति सिद्धान्तरोत्या परस्परं भेदविरहेण भेदघटितस्य सादृश्यपदार्थस्य प्रत्येतुमशक्यतयोपमाया अप्रसज्जे- । यद्येवंविधे स्थले सादृश्यं प्रतीतं भवेत्, तर्हि तत्र इव-यथापद-प्रयोगवन् सदृशतुल्यादिपदप्रयोगोऽपि भवेत्, न च भवति अन्नन्वयात्, तथा चैवंविधस्थले सादृश्यस्याप्रतीतिरकामेनापि स्वीकरणीयैवेति भावः ।

एक आशङ्क्य करके उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । 'अमित-गुणोऽपि-' इस पद्य में 'पदार्थ' और 'लहसुन' की उपमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि उपमा सादृश्य का नाम है और सादृश्य की प्रतीति यहाँ हो नहीं सकती । कारण, सादृश्य भेदघटित पदार्थ है, अतः दो भिन्न वस्तुओं में ही वह हो सकता है और सामान्य 'पदार्थ' तथा विशेष 'लहसुन' में भेद ही नहीं अर्थात् 'लहसुन' भी 'पदार्थ' के अन्तर्गत ही है उसमें भिन्न नहीं । यदि इस तरह के सामान्यविशेष भाववाले स्थल—जो उदाहरणालङ्कार का लक्ष्य है—में सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होती, तो जिस तरह 'इव' 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उस तरह सदृश, तुल्य आदि पदों का भी प्रयोग हो सकता । पर ऐसा होता नहीं । प्रकृत उदाहरण में ही देखिए—'जैसे लहसुन' इस वाक्य के ध्यान पर 'लहसुन के सदृश' नहीं कहा जा सकता ।

इवपदपठितमुदाहरणमुक्त्वा यथापदघटितं तद्दर्शयितुमाह—

यथा वा—

'इव'पदयुक्त उदाहरण तो दिखलाया जा चुका । अब 'यथा'पदयुक्त उदाहरण देखिए ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति ।

त्रिपुराद्विधि वीरतां बहन्नवलितः कुसुमायुधो यथा ॥'

अतिमात्रबलेषु स्वापेक्षयाऽत्यधिकबलशालिषु चापल चञ्चलताम् द्वेषभावमिति यावत् विदधान कुर्वाण, कुमति दुर्बुद्धिः जन इति शेष, विनश्यति विशेषेण नाशमुपलभते, यथा त्रिपुरद्विपि त्रिपुरामुरद्वेषिणि शिवे वीरताम् शौर्यम्, वहन् दधान, अवलित गर्वा, कुसुमायुव प्रसूनशर काम इति यावन्, विनष्ट इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अतिमात्र इत्यादि । अत्यधिक बलवालों के विषय में—अर्थात् उनके साथ—चञ्चलता करनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य नष्ट हो जाता है, जैसे त्रिपुरारि (शिव) के विषय में वीरता रखनेवाला—उनके साथ वीरता दिखलाने वाला—घमडी कुसुमायुध (कामदेव) नष्ट हो गया ।

उपपादयति—

अत्र त्रिपुरद्विर्वीरते अतिमात्रबलचापलयोर्विशेषौ । अवलेपकुसुमायुधौ च कुमतिरित्यत्र गुणप्रधानयोः ।

गुणप्रधानयोरिति । कुम्भितमतिरतिशेषयोरित्यर्थः । विशेषाकिन्यरूपानुपपन्नः । 'अतिमात्र—' इति श्लोकेऽतिमात्रबलचापलपदार्थौ सामान्यभूतावत एवावयविनौ त्रिपुरद्वेषिवीरतापदार्थौ च तद्विशेषभूतावत एव तौ तदवयवौ । एवम् कुमतिपदार्थौ कुम्भितमतिरतिशेषौ सामान्यभूतावयविनौ अवलेपकुसुमायुधपदार्थौ च तद्विशेषभूतावत एवावयवौ । एतस्यावयवविद्वयस्य सवन्ध (अवयवावयविमान) यथापदेनोक्त इति इदमपि उदाहरणालङ्कारोदाहरणम् भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अतिमात्र'—इस पद में 'अत्यधिक बलवाले' और 'चञ्चलता' ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और 'शिव' तथा 'कामदेव' ये दोनों पदार्थ हैं उन दोनों के विशेषरूप अतएव उनके अङ्ग, इसी तरह 'दुर्बुद्धि' पद के अर्थ में गीणरूप से आई हुई 'बुरी बुद्धि' और प्रधान रूप से आया हुआ 'बुरी बुद्धिवाला' ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और इन दोनों के विशेष अतएव अङ्गरूप हैं 'घमडी' तथा 'कामदेव' । तात्पर्य यह कि उक्त पदार्थों का अङ्गाङ्गीभाव यहाँ 'यथा' पद से उक्त है, अतः यह पद्य 'उदाहरण' का उदाहरण होता है ।

निदर्शनपदघटितमुदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा वा—

निदर्शनपदयुक्त उदाहरण अद्य देखिषु ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम् ।

मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥'

विपद्गतोऽपि विपत्तिप्रस्तोऽपि सद्गुण समीचीनगुणयुक्त, पदार्थ, नितराम्, अत्यन्तम्, उपकारम्, एव, कुरुते । अत्र विपद्गतस्यापि सद्गुणपदार्थस्वोपकारित्वे, मूर्च्छाम् संस्कारविशेषम् मोहम्, गत प्राप्त, वा अशवा, मृत सस्कारविशेषापन्न निःप्राणम्, पारद, रसविशेष, निदर्शनम् दृष्टान्त इत्यर्थः । अत्र विपद्गतसद्गुणात्मकसामान्यस्य मूर्च्छितपारदान्मकविशेषस्य चावयवावयविभावो निदर्शनपदेनोक्त इत्युदाहरणोदाहरणता प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—उपकार इत्यादि । विपत्तिग्रस्त होकर भी अच्छे गुणों से युक्त पदार्थ अत्यन्त उपकार ही करता है । इस बात का दृष्टान्त है मूर्च्छित अथवा मृत पारा । मूर्च्छित, मृत, बुभुक्षित आदि अवस्था तब पारे की मानी जाती है जब रासायनिक प्रक्रिया से उसका सस्कार किया जाता है । यह पद्य भी उदाहरण-

लंकार का उदाहरण होता है, क्योंकि यहाँ भी विपत्तिप्रस्त अच्छे गुणों से युक्त पदार्थ— जो एक सामान्यरूप है और मूर्च्छित वषया मृत परन्तु उपकारक पारा—जो ठसी का एक विशेष रूप है इन दोनों का अन्तर्भाव 'निदर्शन' पद से उक्त है।

दृष्टान्तपदधटितस्याप्युदाहरणालंकारस्योदाहरणमिदमेव पद्य भवितुमर्हतीति बोधयितुम्
पाठान्तरमाह—

दृष्टान्तो वा—

उक्तपद्यपटनस्य 'निदर्शनम्' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टान्त' इति वा पाठो बोध्यः। तथा-
त्वे च दृष्टान्तपदधटितमिदमुदाहरणं सम्बन्धेति भावः।

'दृष्टान्त'पद वाळा उदाहरण भी उक्त पद्य ही हो सकता है यह समझने के लिये पाठान्तर दिखलाया जाता है—दृष्टान्तो वा इति। अर्थात् उक्त पद्य के 'निदर्शनम्' के स्थान में 'दृष्टान्त' ऐसा पाठ मानने पर यही पद्य 'दृष्टान्त'शब्दधटित उदाहरणालंकार का उदाहरण होता है।

विशेषमाह—

द्वादिशब्दप्रयोगे सामान्यार्थप्राधान्यं वाक्यैक्यम्, निदर्शनादिशब्दप्रयोगे तु विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्चेति विशेषः।

इवशब्देत्यस्य तत्रेत्यादिर्वाच्या। वाक्यैक्यमिति। पदैकवाक्यतापन्नत्वमित्यर्थः, वाक्यभेद इति। पदैकवाक्यत्वं नेत्यर्थः। वाक्यैकवाक्यत्वं तु भवत्येव। इव-यथा-निदर्शन-दृष्टान्तेति चतुर्णामपि शब्दानां सत्त्वे भवत्युदाहरणालंकार, परंतु इवयथेतिपद-द्वयान्यतरधटितोदाहरणे सामान्यार्थ-प्रधानो विशेष्य, विशेष्यार्थं गौणः—विशेषणं भवति। एवम् तत्र सामान्यविशेषयोरर्थयो प्रतिपादकम् वाक्यम् एकम् भवति। निदर्शन-दृष्टान्तेति पदद्वयान्यतरधटितोदाहरणे पुन विशेषभूत एवार्थः प्रधानम् सामान्यार्थं गौणः तत्रप्रतिपादकश्च वाक्यद्वयम् इति विशेषो बोध्यः।

एक विशेष समझाया जाता है—इवादि इत्यादि। इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त इन चारों शब्दों के रहने पर पद्यपि समानरूप से 'उदाहरणालंकार' होता है, तथापि इन और यथा पदों के रहने पर 'सामान्यपदार्थ' प्रधान होता है और 'विशेषपदार्थ' गौण, एवम् इन दोनों शब्दों के रहने पर एक वाक्य होता है और निदर्शन तथा दृष्टान्त शब्द के रहने पर 'विशेषपदार्थ' ही प्रधान होता है तथा 'सामान्यपदार्थ' गौण, एवम् इन दोनों पदों के रहने पर दो वाक्य होते हैं, यह विलक्षणता होती है, ऐसा समझना चाहिए।

तमेव विशेषे शब्दबोधप्रदर्शनेन स्फुटीकरोति—

तत्र तावद् 'अमितगुणः—' इति पद्ये क्रियाप्रधानमाख्यातमिति नयेऽमित-
गुणपदार्थकर्तृकमेकदोषहेतुक निन्दाविषयीभवनं निखिलरसायनराजलशुनकर्तृ-
कोप्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाशयकमिति धीः। प्रथमान्तविशेष्यबोध-
वादिनां तूपगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाशयतादृशलशुनाशयकस्तादृशपदार्थ
एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाशय इति। तत्रापि विशेषवाक्यार्थे क्रियान्वयो
सृज्यते हेत्वन्तरान्वयार्थम्। अन्यथा तादृशलशुनावयवके तादृशपदार्थ एव
क्रियान्वयेनोपपत्तिः स्यात्। एवं यथाशब्दस्थलेऽपि। उपकारमेवेत्यत्र तु
विपद्गताभिन्नः सद्गुण उपकारानुकूलकृतिमानिति पूर्ववाक्यार्थः, अत्रास्मिन्नर्थ
मूर्च्छाङ्गतो मृतो वा पारदो निदर्शनमेकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थे गुण इति केपाञ्चित्।
इतरेषां तु तादृशकर्तृका तादृशक्रियेति पूर्ववाक्यार्थे तादृशः पारद एकदेश

इति । प्रधानावयवस्यैव गुणावयवस्यापि विशिष्टार्थावयवत्वात्, घटमानयेत्यत्र नीलघटवत् ।

तत्रेति । तेषां मध्य इत्यर्थः । बोधवादिनामिति । नैयायिकानामित्यर्थः — तादृशेति । निखिलरसायनराजेत्यर्थः । तादृशेति । अमितगुणेत्यर्थः । इतीति । घोरित्यस्यानुपङ्गः । ननु निन्दितो भवतीत्यादेरेकत्रैवोपादानात्कथमुभयत्र बोध इत्यत आह—तत्रापीति । हेत्वन्तरान्वयेति । उपगन्धदिरूपहेत्वन्तरेत्यर्थः । अन्यथेति । तदनन्वये इत्यर्थः । नोपपत्तिरिति । उपपत्तिर्न स्यादित्यर्थः । पदस्थान्नेत्यस्यार्थमाह—अस्मिन्निति । गुण इति । गुणीभूत इत्यर्थः । कैवाचित् नैयायिकानाम् । इतरेषाम् वैयाकरणानाम् । तादृश-कर्तृका इति । विषद्गताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रियेत्यर्थः । पदस्थान्नेत्यस्यार्थमाह—पूर्ववाक्यार्थे इति । तादृश इति । मूर्च्छां गतादिरूप इत्यर्थः । ननु त्रियारूपस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कथं ब्रह्मरूपं पारदोऽवयव इत्यत आह—प्रभावेति । 'क्रिया प्रधानमाख्यातम्' इति सिद्धान्तं स्वीकुर्वाणा शाब्दिका क्रियामुल्लेखविशेष्यकं शाब्दबोधं मन्यन्ते । तदनुसारम् । 'अमितगुण —' इत्यादीव यथापदघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यात् । 'निखिलरसायनराजो लशुन कर्ता यस्य तादृश तथा उपो गन्धो हेतुर्यस्य तादृश च यत् निन्दाविपर्ययीभवनम् तत् अवयवभूत यस्य तादृश तत् निन्दाविपर्ययीभवनम् यस्य अमितगुणपदार्थकर्ता एको दोषश्च हेतु' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो भवति । आख्यातं नाम तिङ् न तिङन्तम्, तथा च 'क्रियाप्रधानम्—' इति वचनेन तिङर्थेषु क्रियाया प्राधान्यं बोध्यते न तिङन्तवाक्यस्यार्थे, अतो वाक्यार्थबोधे प्रथमान्तपदार्थ एव मुख्यो विशेष्य इति नैयायिका तदनुसारं पुन उक्त्वाक्यात् 'उपगन्धहेतुकनिन्दाविपर्ययीभवनाश्रय सकलरसायनराजो लशुनोऽवयवो यत्त्वं तादृशो योऽमितगुणपदार्थः स एकदोषहेतुकनिन्दाविपर्ययीभवनाश्रय' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो जायते । उभयत्र बोधे सामान्यार्थप्राधान्यं पदैववाक्यत्वम् च स्पष्टम् । ननु एकत्रैव पदे 'भवति' क्रियाया उपादानमस्ति बोधे चोभयत्र तद्गानं प्रदर्शयते कथमेतदिति चेन्न, विशेषवाच्योक्तोपगन्धरूपहेतोरन्वयसिद्ध्यर्थं तदा वृत्ते स्वीकरणीयत्वात् तदस्वीकारे 'सकलरसायनराजलशुनावयवकोऽमितगुणपदार्थ एकदोषहेतुकनिन्दाविपर्ययीभवनाश्रय' इत्याकारक एव बोधो भवेत्, तथा च विशेषवाक्योक्तोपगन्धरूपहेतोरन्वय एव प्रसज्येत । एकस्यामेव क्रियाया हेतुद्वयान्वयस्तु बाधित एवेति तात्पर्यम् । 'उपकारमेव—' इत्यादि । निदर्शनादिपदघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यात् नैयायिकमते 'अनेदसंबन्धेन विपद्रुतपदार्थविशेषणकं सद्गुणपदार्थं उपकारानुकूलकृतिमात्र इत्याकारकं पूर्ववाक्यार्थं अस्मिन्नर्थे (पूर्ववाक्यार्थं) मूर्च्छां गतो मृतो वा पारद एकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थं विशेषणीभूत (गुणीभूत)' इत्यर्थको मूलोक्ताकारको बोध अस्मिन् बोधे विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्च स्पष्टः । नैयाकरणमते पुनरस्माद् वाक्यात् 'विपद्रुताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रिया इति पूर्ववाक्यार्थं मूर्च्छां गतादिरूप- पारदोऽवयव' इति बोधः । अत्रान्तिमबोधे सर्वत्र प्रधानभूतोपकारक्रिया, तदवयव (तद्विशेषणीभूत) च सद्गुणपदार्थं तदवयवश्च तादृश पारद इति स्थितौ सद्गुणकर्तृकोपकारक्रियारूपस्य विशिष्टार्थस्य तादृशपारदोऽवयवो भवतीति कथ्यते । एवमेव 'घटमानय' इति वाक्याज्जायमाने बोधे प्रधानीभूताया ज्ञानयनक्रियाया विशेषणीभूते घटाशे विशेषणीभूतं नीलादिरूपम् ज्ञानयनक्रियाया घटविशिष्टाया विशेषणं स्वीक्रियत. अत एव नीलघटादेरेवानयनं भवति । अत्र 'नीलघटवत्' इति पाठापेक्षया 'नीलरूपवत्' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति । एतेन क्रिया-

स्पस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कस्य द्रव्यरूपं पारदोऽवयव इति शंका निरस्ता । इत्येवादिपठित-
वाक्यस्थले सामान्यविशेषवाक्ययोः पदैकवाक्यता भवतीत्येव वाक्यैक्यम् । निदर्शनादि-
पदपठितस्थले तु सामान्यविशेषवाक्ययोर्वाक्यैक्यता भवतीत्येव वाक्यभेद इति भावः ।

उक्त विशेष का स्पष्टीकरण शब्दबोध दिखला कर किया जाता है—तत्र इत्यादि ।
'क्रियामप्रधानमाख्यातम्—अर्थात् आख्याततिङन्त (तिङन्तपदपठितवाक्य) के बोध
में क्रिया की प्रधानता होती है ।' इस वचन की इस व्याख्या को मानने वाले वैया-
करणों के मत में सभी वाक्यों के बोधों में क्रिया ही मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके
हिंसा से 'अमितगुणः—' इत्यादि उदाहरणालंकारयुक्त काव्यवाक्यों—जिनमें 'इव'
अथवा 'यथा' पद का प्रयोग किया गया हो—से "अमित गुण वाला पदार्थ जिसका कर्ता
है और एक दोष जिसका कारण है वह निन्दित होना ऐसा सामान्य पदार्थ है, जिसका
'सकल रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन जिसका कर्ता है और उग्र गन्ध जिसका कारण है वह
निन्दित होना' अर्थात् एक विशेष पदार्थ—है ।" ऐसा शब्दबोध होता है । नैयायिक लोग
'क्रियामप्रधानम्—' इस वचन की कुछ भिन्न व्याख्या करते हैं—वे कहते हैं कि—
'आख्यात' शब्द का अर्थ तिङन्त नहीं, तिङ्प्रत्यय होता है, अतः तिङ्प्रत्यय के अर्थों
में क्रिया की प्रधानता उक्त वचन से बोधित होती है (याद रहे कि ये क्रिया को भी
तिङ्प्रत्यय का ही अर्थ मानते हैं) इस व्याख्या के अनुसार तिङन्तपदपठित वाक्य के
अर्थबोध में क्रिया की प्रधानता सिद्ध हुई नहीं, फलतः वे सभी वाक्यों के अर्थबोधों में
प्रथमान्तपद के अर्थ को ही मुख्य विशेष्य मानते हैं । तदनुसार, उक्तवाक्य से—'उग्र
गन्ध जिसका कारण है ऐसे निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय (आधार) सकल
रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन जिसका अवयव (अङ्ग) है वह अमितगुणवाला पदार्थ, उस
निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय है जिसका कारण एक दोष है ।' इस तरह का शब्द-
बोध होता है । उक्त पद्य में 'निन्दितो भवति—निन्दित होना रूप क्रिया' केवल एक
बार—(सामान्यपदार्थ के साथ) प्रयुक्त हुई है और शब्दबोध में उस क्रिया का भान
दो बार (सामान्यपदार्थ के साथ और विशेषपदार्थ के साथ) दिखलाया गया है, यह
क्यों ? ऐसी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे स्थलों पर सामान्यपदार्थ-अंश में
जो हेतु रहता है उससे भिन्न हेतु विशेषपदार्थ-अंश में रहता है, जैसे उक्त स्थल पर
सामान्यपदार्थांश में हेतु है 'एक दोष' और विशेषपदार्थांश में हेतु है 'उग्र गन्ध' । इन
दोनों भिन्न भिन्न हेतुओं का किसी भी एक क्रिया में अन्वय असम्भव है और यदि केवल
विशेषपदार्थ का सामान्यपदार्थ के साथ अन्वय करके उस सामान्यपदार्थ का ही
क्रिया के साथ अन्वय किया जाय तो बात बनती नहीं—अर्थात् विशेषपदार्थ-अंश में
कथित हेतु अनन्वित ही रह जायगा । ऐसीदशा में पद्योक्त एक ही 'निन्दित होनेरूप
क्रिया' की भावृत्ति कर ली जाती है, अतः दो बार उसका शब्दबोध में भान होता है । अब
रही 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों के शब्दबोध की बात । उसको भी
समझिए । 'उपकारमेव—' इस निदर्शन अथवा दृष्टान्तपद-पठित वाक्य से नैयायिकों
के अनुसार 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणवाला पदार्थ उपकार के अनुकूल
कृति (यत्न) से युक्त होता है, इस सामान्य अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पाता अङ्ग-
रूप—एक उदाहरण है' ऐसा शब्दबोध होता है । वैयाकरणों के अनुसार तो उक्त
वाक्य से 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणों वाला पदार्थ जिसका कर्ता है उस
उपकारक्रियारूप सामान्य अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पाता अङ्ग रूप है ।' ऐसा
शब्दबोध होता है । यहाँ यह शंका की जा सकती है कि—वैयाकरणानुसारी इस पिछले
शब्दबोध में जो क्रियारूप पूर्व वाक्यार्थ का अङ्ग द्रव्य (पाता) रूप उत्तर वाक्यार्थ को
माना गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि क्रिया का अङ्ग द्रव्य नहीं हो सकता तो इसका
उत्तर यह है कि—यद्यपि 'पाता' 'अच्छे गुणोंवाले पदार्थ' का अङ्ग है क्रिया का नहीं,

तथापि 'पारा' जिसका अर्थ है वह 'अच्छे गुणोंवाला पदार्थ' यहाँ 'उपकार'क्रिया का विशेषण होकर भासित हुआ है, अतः क्रिया के विशेषण का अवयव होने के कारण 'पारा' को भी क्रिया का अवयव कहा जा सकता है। कारण, जैसे प्रधान (विशेष्य) का अवयव विशिष्ट (विशेषणों के सहित पूरे वाक्यार्थ) का अवयव होता है, वैसे ही विशेषणों का अवयव भी विशिष्ट का अवयव हो सकता है—अर्थात् यद्यपि यहाँ 'पारा'रूप विशेष्य पदार्थ 'क्रिया'रूप विशेष्य का अङ्ग नहीं हो सकता, तथापि विपन्नत सद्व्युत्पत्त्यर्थरूप विशेषण से सहित विशेष्य क्रिया (विशिष्ट) का अङ्ग होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं। जैसे कि 'घटा लाओ' इस वाक्य से होनेवाले बोध में अनयनक्रियारूप विशेष्य के अङ्ग घड़े का विशेषण नील आदि रूप उक्त क्रिया का भी विशेषण (अङ्ग) समझा जाता है, अन्यथा 'बडा लाओ' इस वाक्य से श्रोता 'नीले घड़े' के साथ 'लाना' क्रिया का सम्बन्ध न समझ पायेंगे और उस स्थिति में वैसे घड़े को लाना भी नहीं। तात्पर्य यह कि आप बलविशेष्य का अङ्ग समझ कर दोष दे रहे हैं, पर हम 'पारा' को विशेष्य का अङ्ग नहीं, अपितु विशिष्ट का अङ्ग बना रहे हैं, और वैसा हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि— 'इव' 'यथा' आदि पदों वाले वाक्यों में सामान्य अर्थ की प्रधानता और 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों में विशेष अर्थ की प्रधानता रहती है, यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, वह नैयायिकानुसारी शाब्दबोध के अनुरोध से, क्योंकि सबसे अन्तिम वैयाकरणानुसारी शाब्दबोध में उस बात की रक्षा नहीं होती। इसी तरह— "इव, यथा आदि पदों के प्रयोग रहने पर एक-वाक्यता होती है और 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदों के प्रयोग रहने पर दो वाक्य होते हैं।" यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि— प्रथम स्थल में एकैकवाक्यता होती है—अर्थात् पद्य के सभी पद मिलकर एक वाक्य की सृष्टि करते हैं और द्वितीय स्थल में वाक्यैकवाक्यता होती है—अर्थात् एक-एक गिरोह के पद मिलकर पहले अलग-अलग दो वाक्यों की सृष्टि करते हैं, पर पीछे वे दोनों वाक्य मिलकर एक वाक्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि एकैकवाक्यता दोनों स्थलों पर होती ही है।

चन्द्रालोकोक्त 'विकस्वरालकार' गतार्थयितुमाह—

'अर्थिभिरिच्छ्यमानोऽपि स मुनिर्न ह्यकम्पत ।

विनाशोऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति द्रुमो यथा ॥'

कविर्दधीचेदानवीरता वर्णयति—अर्थिभिर्वाचकैर्देवैरिति यावत्, छिद्यमानः भियमानः, अपि, स दधीचि मुनि, न, व्यकम्पत कम्प नापत्। युक्त च तत्, उन्नत महामना, विनाशोऽपि जायमाने इति भावः, स्थैर्यम् स्थिरताम्, न जहाति त्यजति, यथा द्रुमः तद-रिच्छ्यमानोऽपि अविचल एव तिष्ठतीत्यर्थः ।

'चन्द्रालोक' तथा उसकी टीका 'कुवलयानन्द' में माने गए 'विकस्वरालकार' के खण्डन के लिये नवीन उदाहरण उपस्थित किया जाता है—अर्थिभिः इत्यादि। कवि दधीचि मुनि की दान-वीरता का वर्णन करता है—वाचकों (वाचकरूप में उपस्थित देवताओं) द्वारा काटा जाता हुआ भी वह मुनि (दधीचि) कम्पत नहीं हुआ। उचित ही है, उन्नत (महामना) जन विनाश होते रहने पर भी स्थिरता को नहीं ख्याते, जैसे घृच, उसे काटते जाह्ये पर निषेध में एक शब्द नहीं बोलेगा।

उपपादयति—

अत्र दधीच्यालम्बनायां तदीयलोकोत्तरचरितस्मरणोदीपितायामेतत्पद्य-प्रयोगानुभावितायामेतत्पर्यायान्मार्गताया रती प्रधानीभूतायामर्थात्लम्बनस्तत्कृ-तयाच्याश्रवणोदीपतो गात्रच्छेदाभ्यनुष्ठानानुभावितो घृत्या सञ्चारिभावेन

पोपितो मुनिगत उत्साहो गुणः । तत्र चाध्यर्धतृतीयचरणगतस्यार्थान्तरन्यास-
स्योत्कर्षकतया स्थितस्य विवेचनद्वारा लङ्कारणं चतुर्थचरणशकलगतमुदाहरणम् ।

'अर्थिभि'— इति श्लोके कविगता दधीचिविप्रिणी सा रति' (भाव) प्रधान-
तया अभिव्यज्यते, यस्या आत्मन्वनविभावो दधीचिः, उद्दीपनविभावो दधीचिसंघ्निलोको-
त्तरचरित्राकर्णनम्, अनुभावश्च प्रकृतपद्यप्रयोगः । यद्यपि अत्र मुनिगतं स उत्साहोऽपि
प्रतीयते यस्य याचका आत्मन्वनविभावः, तत्कृतयाचनावचनश्रवणमुद्दीपनविभावः, अङ्ग-
च्छेदनानुमतिदानमनुभावः, धैर्यं संचारिभावः, तथापि स. (उत्साहः) प्रधानीभूतरतिभाव-
पोषकतया गौण इति न वीररसरूपः । तस्योत्साहस्योत्कर्षकतया 'विनाशोऽप्युत्त' स्वैर्यं
न जहाति' इत्यध्यर्धतृतीयचरणगत सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः,
तस्यार्थान्तरन्यासस्योत्कर्षकरणान् 'दुमो यथा' इति चतुर्थचरणस्य उदाहरणतसामान्यविशेषयो-
रव्यवाच्यविभावरूप उदाहरणालंकार एवेति न विकस्वरास्य कश्चिदप्यलंकार इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अर्थिभि'— इम पद्य से कविनिष्ठ मुनि-
विषयक वह इति (भाव) प्रधानरूप में अभिव्यक्त होती है, जिसके आत्मन्वनविभाव—
मुनि दधीचि, उद्दीपनविभाव—दधीचिसंघ्नी लोकोत्तरचरित्रों का श्रवण, और अनुभाव-
प्रकृत पद्य की रचना है । यद्यपि इम पद्य से मुनि(दधीचि)निष्ठ वह उत्साह भी
अभिव्यक्त होता है जिसके आत्मन्वनविभाव—याचक-देवगण, उद्दीपनविभाव—याचक-
जनोक्त याचनावचनों का श्रवण, अनुभाव—अङ्गच्छेदन के लिये अनुमतिदान और
धैर्य संचारिभाव हैं, तथापि वह (उत्साह) प्रधानरूप में अभिव्यक्त होनेवाले रतिभाव
का पोषक-गौण ही है, अतएव वह दान वीररसरूप नहीं हो सकता । इस उत्साह को
उत्कर्ष बनाने के कारण इम पद्य के तृतीय तथा भाषे चतुर्थ (३॥) चरण ('विनाशोऽ-
प्युत्त' स्वैर्यं न जहाति) द्वारा प्रतिपादित सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-
न्यास, वाच्य अलंकार है और इस अर्थान्तरन्यास का विवेचक होने के नाते उत्कर्षक,
चतुर्थ चरण के एक भाग में आया हुआ (दुमो यथा) यह सामान्य और विशेष का
अव्यवाच्यविभावरूप 'उदाहरणालंकार' होता है । तात्पर्य यह कि उक्त रीति से इस
पद्य में भी जब उदाहरणालंकार माना जा सकता है तब एक पृथक् 'विकस्वरालंकार'
मानने की आवश्यकता नहीं है ।

अलंकारदृष्ट्या पूर्वोक्तपद्यस्यैव प्राचीनं पद्यान्तरमुदाहरति—

एवमेव—

'अनन्तरज्ञप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः ॥'

इति कालिदासपद्येऽपि बोध्यम् ।

श्विकुल्युगुर' कालिदास' कुमारसम्बन्धे स्वनिबन्धे हिमालयं वर्णयन्नाह—अनन्तेति ।

हिमं प्रालेयम्, अनन्तरज्ञप्रभवस्य अगणितरत्नोत्पत्तिस्थानस्य यस्य हिमालयस्य, सौभाग्य-
विलोपि सौन्दर्यस्य श्रेष्ठताया वा नाशकम्, न जातम् नाभूत् । कुत इति चेत् ? यतः
एकी, दोष, गुणसन्निपाते गुणसमूहे, इन्द्रो- चन्द्रमस, किरणेषु ज्योत्स्नासु, अङ्क- कण्डू,
इव निमज्जति निखीनो भवतोऽन्यर्थः । अत्रापि पूर्वार्धोपवर्णितस्य विशेषपदार्थस्य 'एको
दोषो गुणसन्निपाते निमज्जति' इत्यंशेन सामान्यपदार्थवर्णनरूपेण समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽ-
लंकारः, तदुत्कर्षकतया च—'इन्द्रो- किरणेषु अङ्क इव' इत्यंशे उदाहरणालंकारः । इदं
पद्यं कुत्रलयानन्दे 'विकस्वरालंकारोदाहरणतया प्रदर्शितम्' तच्चेदानो पूर्वपद्यसाम्यक्यनेन
निराकृतं पण्डितराजेन वेदितव्यमिति भावः ।

अलंकार की दृष्टि से पूर्वोदाहृत पद्य के समान एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया जाता है—एवमेव इत्यादि । 'अधिमि,—' इस पद्य में जो बात कही गई है वही बात 'अनन्तरत्न—' अर्थात् अनन्त रत्नों को उत्पन्न करनेवाले हिमालय के सौभाग्य (सौन्दर्य भयवा श्रेष्ठता) को हिम (बरफ) नष्ट नहीं कर सका । कारण एक दोष गुणों के समूह में दूब जाता है—छिप जाता है, जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क ।' इस हिमालयवर्णनपरक कुमारसंभवस्थ कालिदास के पद्य में भी समक्षनी चाहिए । तात्पर्य यह कि—इस पद्य को कुवलयानन्दकार ने जो 'विह्वलकार' का उदाहरण माना है वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस तरह पूर्व पद्य में उदाहरणालंकार होता है, उस तरह यहाँ भी पूर्वार्थ के द्वारा वर्णित विशेष अर्थ का समर्थन करने के कारण 'एक दोष गुणों के समूह में दूब जाता है' यह सामान्य अर्थ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' रूप है और इस अर्थान्तरन्यासभूत पदार्थ को पुष्ट करने के कारण 'जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क' यह अर्थ 'उदाहरणालंकार' का ही विषय है, फिर स्वार्थ एक नवीन अलंकार की कल्पना करना उचित नहीं ।

नन्वेवं साङ्ख्येऽर्थान्तरन्यासविशेषत्वमेवास्तु उदाहरणत्वेनाभिमतस्थलविशेष्येत्या-
शङ्कामाह—

अस्मिञ्चालङ्कारेऽवयवावयविभावबोधकस्येवराब्दादेः प्रयोगः, सामान्य-
विशेषयोरेकरूपविधेयान्वयश्चार्थान्तरन्यासभेदाद् वैलक्षण्ययाधायक इति तत्र-
करणे निपुणतरमुपपादयिष्यामः ।

भेदादिति । विशेषादित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासविशेषापेक्षया वैलक्षण्ययाधायक इति समु-
दितार्थः । अयं भावः—प्रधान्ते उदाहरणालङ्कारे सामान्यविशेषयोरेकरूपविधेयविभाव-
बोधक इवशब्दादि प्रयुक्तस्तिष्ठति, सामान्यविशेषात्मकयोर्द्वयोरपि पदार्थयोर्विधेयभूताया-
मेकस्यामेव क्रियायाम् अन्वयश्च भवति, एतद्वैचित्र्यद्वयविपरीतमर्थान्तरन्याससामान्येऽवय-
वावयविभावबोधक कोऽपि शब्द प्रयुक्तो न तिष्ठति, तथा विधेयभूतविभिन्नक्रिययोः
'सामान्यविशेषयोरेकस्यो भवतीत्येवविधे वैलक्षण्ये विद्यमाने नोदाहरणालङ्कारस्यार्थान्तर-
न्यासविशेषपरत्वराकाप्रसर इति । एष प्रसङ्गोऽर्थान्तरन्यासनिरूपणप्रकरणे निपुणतरमुप-
पादनीय इत्यत्र ग्रन्थकृता सूच्यते । पाठकजनसौविध्याय तत्रत्यो ग्रन्थाशोऽविकलमधस्ता-
दुल्लिख्यते—“न चैवमपि विशेषस्य सामान्यसमर्थनं नार्थान्तरन्यासभेदो भवितुमीष्टे,
प्रागुक्तोदाहरणालङ्कारेणैव गतार्थत्वादिति वाच्यम् । इवादिप्रयोगाभावरस्यैवात्र ततो वैलक्ष-
ण्यात् । एवमपि वाचकाभावादयोऽयमुदाहरणालङ्कारोऽस्तु, नार्थान्तरन्यासभेद इति चेत्,
इदमस्ति वैलक्षण्यम्—सामान्यार्थसमर्थकस्य विशेषवानर्थस्य द्वयो गति । अनुवाचाशमात्रे
विशेषत्वम्, विधेयांशस्तु सामान्यगत एवेत्येका । अनुवाचविधेयोभयाशोऽपि विशेषत्वमित्य-
परा । तत्राद्या उदाहरणालङ्कारस्य विषय, द्वितीया त्वर्थान्तरन्यासभेदस्य । एवं च
'मूर्च्छा गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रस' इत्युदाहरणालङ्कारगते विशेषे उपकारमेव दृष्टं
इति प्राचीनसामान्यार्थगतैव यथोक्तरूपेण क्रिया विधेया । 'शेगानपहरति पारद सकलात्'
इत्यर्थान्तरन्यासगते तु पृथगुपास्त विशेषरूपेणेति ।”

यह 'उदाहरणालंकार' जब 'अर्थान्तरन्यास' से मिश्रित हो पाया जाता है, तब क्यों न इसे 'अर्थान्तरन्यास' का ही एक भेद मान लिया जाय ? अतिरिक्त अलंकार मानने की आवश्यकता क्या है ? इस आशंका का समाधान करने के लिये दोनों में रहनेवाले वैलक्षण्य का उल्लेख किया जाता है—अरिमश्च ह्ययादि । अभिप्राय यह है कि—इस उदाहरणालंकार में सामान्य विषयभूत पदार्थों के अवयवावयविभाव के बोधक 'इव' आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं—और सामान्य (जैसे 'गुणसमूह में एक दोष') और विशेष

(जैसे 'वन्द्य' की किरणों में कलङ्क) दोनों पदार्थों का एक ही विधेय (जैसे 'दूबना' किया) में अन्वय होता है पर अर्थान्तरन्यास में ऐसा नहीं होता—अर्थात् वहाँ अवयवावयवि-भावबोधक इव आदि शब्द प्रयुक्त नहीं होते और सामान्यविशेषभूत दो अर्थों का अन्वय भिन्न-भिन्न विधेय (किया) में होता है। इन्हीं घंटाचण्यों के वर्तमान रहने के कारण 'उदाहरणालंकार' को 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' का भेद नहीं माना जा सकता। फलतः 'उदाहरण' को एक पृथक् ही अलंकार मानना आवश्यक है। इस प्रसंग का विशद उपपादन ग्रन्थकार अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में करेंगे।

प्राचीनतममाह—

प्राञ्चस्तु "नायमलङ्कारोऽतिरिक्तः। उपमयैव गतार्थत्वात्। न च सामान्य-विशेषयोः सादृश्यानुल्लासात्कथमुपमेति वाच्यम्। 'निर्विशेषं न सामान्यम्—' इति सामान्यस्य यत्किञ्चिद्विशेषं विना प्रकृतत्वायोगात्सादृशविशेषमादाय विशेषान्तरस्य सादृश्यानुल्लासे बाधकाभावादिवादिभिरामुखे प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः ॥" इत्यप्याहुः ॥

अमिति। उदाहरणात् इत्यर्थः। प्रकृतत्वायोगादिति। प्रस्तुतत्वासमवादित्यर्थः। आमुखे आदौ। उपमालंकार एवान्तर्भूतत्वाद् उदाहरणाख्यं कश्चिदपरोऽलङ्कारो नास्ति। अमेदेन विशेषोऽन्योन्यान्वयोः सामान्यविशेषपदार्थयोर्भेदनिरहात् भेदगर्भस्य सादृश्यस्या-स्फुरणेन उपमा भवितुमर्हतीति तु न वक्तुं योग्यम्, 'न निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादौ अमितगुणपदार्थतया दोषपदार्थतया च आवन्कावपि विशेषौ (विमलविद्याकामुकत्वादिकौ) न दृष्टेताम्, तद्यत् तयोः प्रस्तुतत्वं न संभवेत्, तयोः प्रस्तुतत्वानवगमे च तत्समर्थकतया लघुनादिरूपविशेषोपन्यासो न सगच्छेत्, अतः सामान्यस्यापि प्रकरणप्राप्तविशेषरूपता स्वीकर्तव्यैव, तथात्वे च तमेव विशेषमादायोक्तस्यापरस्य विशेषस्य सादृश्यस्फुरणे बाधकविरहेणोपमाया साम्राज्य-मिन्त्याशयात्। नन्येवमपि उदाहरणाख्येऽलंकारे इवादीनां सामान्यविशेषमावात्मकावयवा-वयविभावबोधकत्वेन कथं सादृश्यानुल्लास इति चेत्, आदौ इवादिशब्दैः प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य पर्यवसाने सादृश्य एव विभ्रमादिति भावः।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन खालकारिक लोग तो यह भी कहते हैं कि—'यह उदाहरणनामक अलंकार अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि यह उपमा से ही गतार्थ हो जाता है—अर्थात् जहाँ आप उदाहरणनामक अलंकार मानते हैं वहाँ उपमा अलंकार ही माना जा सकता है। यदि आप कहें कि—सामान्य-विशेषभावस्थल में ही तो उदाहरणालंकार माना जाता है और सामान्य विशेष में अमेद माना जाता है फिर भेदविशिष्ट सादृश्य की प्रतीति हो नहीं सकती और जब सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी तब उपमा कैसे हो सकती है? तो इसका समाधान यह है कि—'सामान्य विशेषरहित नहीं होता' इस सिद्धान्त के अनुसार 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादि उदाहरणालंकार के लक्ष्यों में 'अमित गुण' और 'दोष' इन दोनों सामान्य पदार्थों को भी किसी न किसी विशेष (जैसे विमल विद्या तथा कामुकता आदि) के रूप में ही समझना पड़ेगा, अन्यथा वे सामान्य प्रस्तुत वस्तु समझे नहीं जा सकेंगे और जब वे प्रस्तुत नहीं समझे जायेंगे तब उनके समर्थन में जो आगे लहसुन उग्रगन्ध आदि विशेषों का विशेषरूप में उल्लेख किया गया रहता है वही असङ्गत हो जायगा और इस युक्ति से जब सामान्य को भी किसी प्रकरणप्राप्त विशेष के रूप में समझ लिया जायगा, तब उन्हीं विशेषों को लेकर उक्त अन्य विशेष के साथ सादृश्य उल्लसित होगा—हमसे किसी तरह की बाधा नहीं और सादृश्य के उल्लसित हो जाने पर सुखेन उपमा

मानी जा सकेगी। यदि इतने पर भी आप कहेंगे कि—यहाँ तो सामान्यविशेषात्मक अवयवावयविभाव के बोधक 'इव' आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं, अत अवयवावयविभाव का ही बोध होगा सादृश्य का नहीं, तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि—हाँ, आरम्भ में 'इव' आदि शब्दों से सामान्य विशेषभाव का बोध अवश्य होगा पर अन्त में उस सामान्य विशेषभाव का उक्त रीति से सादृश्य में ही विश्राम मानना पड़ेगा अन्यथा गुजारा नहीं।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुदाहरणप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ स्मरणालंकारनिरूपणमारम्भाणरतावत्तल्लक्षणमाह—

सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः ।

'इदमेतस्य सदृशम्' इत्याकारकेण सादृश्यज्ञानेन उद्बुद्धं जागरितं, य, संस्कारः वासना, तत्प्रयोज्यं तन्मूलकम् यत् स्मरणम् (वस्तुविशेषस्य) तत् सहृदयहृदयाहाद-जनक चेत् तदा स्मरणाख्योऽलंकारः कथ्यत इत्यर्थः । किमपि वस्तु दृष्ट्वा यत्तत्सदृश वस्त्वन्तर स्मर्यते तत् स्मरणालंकारपदेन व्यनहियत इति भावः ।

अब स्मरणालंकारनिरूपण प्रसङ्ग में सर्वप्रथम स्मरणालंकार का लक्षण किया जाता है—सादृश्य इत्यादि। सादृश्य के ज्ञान से उद्बुद्ध (जगा हुआ) जो संस्कार उससे साक्षात् अथवा परम्परया होनेवाला जो स्मरण उसको 'स्मरणालंकार' कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि—किसी वस्तु को देखने अथवा सुनने से जो तत्सदृश अन्य वस्तु की स्मृति हो जाती है वह जब काव्य में चमत्काररूप से वर्णित होती है तब उसे स्मरणालंकार कहते हैं।

उदाहरणं निर्दिष्टमाह—

यथा—

स्मरणालंकारप्रयोजक प्रकारः प्रदर्शयत इति भावः ।

जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'दोर्दण्डद्वयकुण्डली कृतलसरकोदण्डचण्डध्वनि—

ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम् ।

वल्गाद्गाण्डिवमुक्ताण्डवलयज्वालावलीताण्डव—

अस्यत्खाण्डवरुप्रपाण्डवमहो को न क्षिणीश स्मरेत् ॥'

कवि कमपि राजान स्तौति—हे क्षिणीश राजन् मध्येरणम् रणस्य = युद्धस्य मध्ये ('पारे मध्ये पृष्ठ वा' इति—अव्ययीभावसमास) दोर्दण्डौ = बट्ट दण्डौ इव इति दोर्दण्डौ (उपमितसमास) तयोर्द्वयेन बाहुयुगलेनेति यावत् कुण्डलीकृतम् (अकुण्डल कुण्डलं कृतमित्यभूततद्भावे चिचि) कुण्डलाकारतया परिणमितम् इति यावत्, अत एव, लसत् शोभमानं यत् कोदण्ड धनुः, तस्य, ये चण्डा भयकरा, ध्वनय- शब्दविशेषाः, तैः, ध्वस्त नाशितम्, उदण्डानाम् उद्धतानाम्, विपक्षणाम् शत्रूणाम् मण्डल समूहो येन तादृशं, त्वाम् वर्णनीय नृपतिविशेषम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, ध जन, वल्गात् वाचालान्, गाण्डि-वान् तजामनात् धनुषः, (गाण्डिवशब्दो हस्तेभ्योऽपि विशिष्टो दीर्घेभ्योऽपि विशिष्टश्चरितः । यथा महाभारते—'धनुर्गाण्डिवार्जुन सव्यसाची धनुश्च तद्गाण्डिव भीमवेगम्' । इति । तथा—
पूर्वमिहापृच्छ शत्रुसेनानिवर्द्धणम् । गाण्डिवमेतत्पार्यस्य लोकेषु विदित धनुः ॥'

इति । व्युत्पत्तिश्च-गाण्डिर्मन्थिरस्यास्तीति विप्रदे । 'गाण्डघञ्जात् संज्ञायाम्' इति चप्रत्ययः । अथवा प्रन्थिवाचकान् गाण्डिशब्दान् 'कृदिकारान्तान्' इति षीषि 'गाण्डी'ति ततो वः ।) मुक्त प्रक्षिप्तम्, यन् काण्डवलयं वाणसमूहः, तस्य मा ज्वालावली तापपुञ्जम्, तस्याः, ताण्डवेन उदतनृत्येन, भ्रश्यन् नश्यन् यन् खाण्डव वनविशेषः, तत्र स्थितम्, दृष्टं कुट्टम्, पाण्डवम् अर्जुनम्, न स्मरेत् न ध्यायेत्, सर्वेऽपि स्मरेदुरिरयर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दोदण्ड इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे राजन् ! दोनों बाहुदण्डों से बुण्डल के समान गोल किये सुन्दर धनुष की प्रचण्ड ज्वलि से उदण्ड अशुसमूह को नष्ट कर देनेवाले तुम्हें युद्ध के मध्य में देखकर, कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो, बाचाल गाण्डीव धनुष से निकले वाण-समूह की ज्वालावली के ताण्डव-रूप से भ्रष्ट होते हुए खाण्डव (एक वनविशेष) में स्थित कुट्ट पाण्डव (अर्जुन) का स्मरण न करे । रणभूमि में धापको देखकर दर्पकों को जैसे अर्जुन की स्मृति हो ही भाती है ।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘भुजभ्रमितपट्टिशोदलितदन्तावलं

भवन्तमरिमण्डलकथन पश्यतः सङ्गरे ।

अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो

न कस्य हृदयं मगिस्यधिरुह देवेश्वरः ॥’

कवि क्वपि नृपं वर्णयति—हे अरिमण्डलकथन शत्रुसमूहनाशक ! भुजाभ्याम् बाहुभ्याम्, भ्रमितेन घूर्णितेन, पट्टिनेन अस्त्रविशेषेण, उदलितान् नाशिताः, दन्ताः मदमत्ताः, दन्तावला गजा येन तम् भवन्तम् प्रकृतं क्वपि राजानम्, सङ्गरे युद्धे, पश्यतः अवलोकयतः, कस्य पुष्पस्य, हृदयम् चेतसांति यावत्, अमन्दाभिः प्रबलामि, कुस्त्रिश्च वज्रस्य आदितिभिः प्रहारैः, स्फुटं स्पष्टम्, विभिन्नं छिन्नं, विन्ध्याचलं विन्ध्यानामकपर्वतो येन तादृशः, देवेश्वरः इन्द्रः, मगिति शीघ्रम्, न, अविरोह आलुडवान्, अपि तु सर्वेषामेव सन्तदन्तावलदलनकारिणं भवन्तमनुपश्यता मानसे प्रबलवज्रप्रहारच्छिन्नविन्धो देवराजः पदं निदधे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुजभ्रमित इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे शत्रुसमूहविध्वंसक ! भुजाओं से घुमाए गये पट्टिश (एक अस्त्र) के द्वारा मदमत्त हाथियों का दलन कर चुकनेवाले आपको, युद्ध में देखते हुए किसके हृदय में, वज्र के प्रबल प्रहारों से स्पष्टरूप में विन्ध्याचल की तोड़नेवाला देवराज इन्द्र तत्काल आरुढ़ नहीं हुआ ।

उपमादयति—

अनयोः पद्ययोः प्रधानीभूताया राजविषयककविनिष्ठरतेरुत्कर्षकतया स्मरण-मलङ्कारः ।

पूर्वोक्तावभावपि श्लोकी राजस्तुतिपरावतस्तयोः कविगतौ राजविषयकः रतिभावः प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, अभिव्यज्यमानं च त प्रधानभावमुपस्कर्त्तुं वाच्यं लक्ष्यं च स्मरणम् अलंकाररूपता प्रतिपद्यत इति भावः ।

न हि सादृश्ये स्मर्यमाणसम्बन्धित्वं विवक्षितम् । एवं वाच्ययोस्तल्पनिद्रास्मरणयोः एतत्कारणतया आक्षिप्तस्य पयोधिस्मरणस्य चाविरोपेण सङ्ग्रहाय लक्षणे जन्यत्वमपहाय प्रयोज्यत्वमुपात्तम् ।

कविमहाभारतयुद्धं वर्णयति—एकीभवदिति । भगवान् मुकुन्दः श्रीकृष्णः, एकीभवन्तो मिथो मिलन्तौ, ये, प्रलयकालस्य पयोधय समुद्रा, तत्कल्पम् तत ईपद्मम् तत्तद्दशमिति यावत् ('ईपदसमाप्तौ कल्पन्देस्यदेशीयर.' इति नल्पप्यत्ययः), संगरगत युद्धमध्यस्थितम्, कुशवीरसैन्यम् दुर्योधनपक्षीयसैनिकम्, आलोक्य दग्धा, अहिपुंगवस्य सर्पराजस्य शेषस्येति यावत्, कायेन शरीरेण, कान्त रमणीयम्, तल्पं शय्याम्, योगकलिता समाधिमयीमिति भावः, निद्रा स्वापम्, च, सस्मार रगृतवानित्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति एकीभवदिति पय इत्यर्थः । तल्पनिद्रेति । तल्पनिद्रयो सादृश्यस्य दर्शनेन तल्पनिद्रानुत्यवस्त्वन्तरदर्शनेन, उद्बुद्धो जागरितो य संस्कारः, तत्प्रयोज्य तन्मूलकमित्यर्थः । सैन्यगतेति । सैन्यगतं यत् पयोधिसादृश्यं तस्य दर्शनेन उद्बुद्धो यः पयोधिविवक्षकः संस्कारस्तद्वन्त्यं साक्षात्तन्मूलकम् तदुत्पाद्यमिति यावत्, यत् पयोधे स्मरणं तदधीनत्वादित्यर्थः । यत्किञ्चित्सादृश्येति सैन्यगतपयोधिसादृश्येत्यर्थः । प्रयोज्यमिति । परम्परया तत्कलीभूतमित्यर्थः । एतच्च पूर्वोक्तस्य तल्पनिद्रयो 'स्मरणम्' इत्यस्य विशेषणम् । स्मर्यमाणसम्बन्धित्वमिति । स्मर्यमाणपदार्थप्रतियोगिकत्वमित्यर्थः । विवक्षितमिति । लक्षणे इति शेषः । एवमिति । वैधर्म्ये दृष्टान्तः । एतदिति । तल्पनिद्रास्मरणकारणतयेत्यर्थः । सप्रहायेति स्मरणालंकारलक्षणलक्ष्यत्वायेत्यर्थः । अयं भावः—'एकीभवत्' इति रलोके मुकुन्दकर्तृकं तल्पनिद्राविषयकं स्मरणं यद्वाच्य-पृथ्या वर्णितमस्ति तत्तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनीदुद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं नास्ति, भगवता तल्पनिद्रासादृश्यपदार्थस्यादर्शनात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि कुशवीरसैन्ये भगवता यत्पयोधिसादृश्यं दृष्टम् तेन पयोधिविषयकः संस्कारो भगवदात्मन्युद्बुद्धस्तेन भगवति पयोधिस्मरणं जातम्, तत्स्मरणवशादेव च भगवति तल्पनिद्रास्मरणमपि जातमित्यपि सत्यमेव । तथा च सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनीदुद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वं पयोधिस्मरणस्यास्तु किन्तु तादृशसंस्कारप्रयोज्यत्वं तु तल्पनिद्रास्मरणयोरप्यभूतमेव, तच्चन्यजन्यस्य तत्प्रयोज्यत्वनिश्चयः । ननु अलंकारत्वेनाभिमतस्य स्मरणस्य प्रयोजको य संस्कारस्तदुद्बोधको योऽनुभवस्तदि-पयोभूते सादृश्ये स्मर्यमाणपदार्थसंबन्धित्वमपेक्षितम्, न च तदिहास्ति, स्मर्यमाणतल्पनिद्रासंबन्धित्वस्य तल्पनिद्रास्मरणप्रयोजकसंस्कारोद्बोधकानुभवविषयसैन्यगतपयोधिसादृश्येऽसंभवात्, पयोधिसंबन्धित्वस्यैव तत्र समवादिति चेत्, लक्षणघटकसादृश्ये स्मर्यमाणसंबन्धित्वस्याविवक्षितत्वात् । एवमप्रकृतपद्ये स्मरणालंकारद्वयं सुस्पष्टम् । तत्रैकं स्मरणालंकारो व्यङ्ग्यः (प्रतीयमानपयोधिविषयकस्मरणालंकारोऽलंकारो व्यङ्ग्यः) । अपरथ वाच्यः (तल्पनिद्राविषयकस्मरणरूपोऽलंकारो वाच्यः) । अत एव लक्षणे जन्यत्वं विहाय प्रयोज्यत्वं निवेशितम्, निवेशिते च तस्मिन् प्रकृते वाच्ययोस्तल्पनिद्रास्मरणयोस्तत्कारणत्वेन प्रतीयमानस्य पयोधिस्मरणस्य च संग्रहः समुचित एवेति ।

उद्घण में 'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार से साक्षात् होने वाला' इतना ही न कह कर 'साक्षात् अथवा परम्परया होनेवाला' ऐसा जो कहा गया है उसका फल दिखलाया जाता है—'एकीभवत्' इत्यादि । कवि महाभारतयुद्ध का वर्णन करता है—एक हीसे हुए प्रलयकालिक समुद्र के समान, युद्ध में डटी हुई कुशवीर—दुर्योधन—की सेना को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्पराज—शेष—के शरीर से बनी सुन्दर शय्या तथा योगनिद्रा

का स्मरण किया। यहाँ 'शय्या' और 'निद्रा' का स्मरण जो वाच्यरूप में वर्णित है वह 'शय्या' और 'निद्रा' का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार का प्रयोध्य (उससे साक्षात् अथवा परम्परया होने वाला फल) यद्यपि नहीं है क्योंकि भगवान् ने यहाँ किसी ऐसे पदार्थ को नहीं देखा जो शय्या अथवा निद्रा के सदृश हो। तथापि यह सत्य है कि भगवान् ने सैनिकों में समुद्र का सादृश्य देखा, उससे भगवान् की आत्मा में समुद्र का संस्कार जगा, जिससे समुद्र का स्मरण हुआ और उस स्मरण से ही शय्या और निद्रा का स्मरण भी हुआ। इस स्थिति में शय्या और निद्रा का स्मरण समुद्र का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कारजन्य (साक्षात् फल) भले ही न कहलावे, पर प्रयोध्य (परम्परित फल) तो अवश्य कहलायगा। आप कहेंगे—उक्त बात ठीक है, पर यह शय्या और निद्रा का स्मरण स्मर्यमाण (जिसका स्मरण होता है उस शय्या और निद्रा) के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध संस्कार का प्रयोध्य तो हुआ नहीं फिर वह अलंकाररूप कैसे होगा? तो, इसका उत्तर यह है कि—लक्षण में यह तो कहा हुआ है नहीं कि सादृश्य स्मर्यमाण पदार्थ का ही लिखा जाय, फलतः किसी भिन्न पदार्थ के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध संस्कार का साक्षात् परम्परया वा फलीभूत किसी भिन्न पदार्थ का स्मरण भी लक्षण से सगृहीत होता ही है। प्रकृत श्लोक के वाच्य शय्या और निद्रा का स्मरण और उसके कारणरूप में प्रतीत होने वाला समुद्र का स्मरण दोनों का एक तरह से समग्र करने के लिये ही लक्षण में 'साक्षात्परम्परासाधारणप्रयोज्यत्व' का निवेश किया गया है। सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में दो स्मरणालंकार हैं जिनमें एक (समुद्रस्मरण) व्यंग्य और दूसरा (शय्या और निद्रा का स्मरण) वाच्य है।

मतान्तरमाह—

केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्य सदृशविषयकमेव स्मरणभलङ्कारः।
भुजगेन्द्रनिद्रास्मृतिस्तु नालङ्कार इत्याहुः।

केचित्तु इति। अत्र मते जन्यत्वनिवेश सादृश्यस्मर्यमाणसबन्धित्वनिवेशश्चेति पूर्वतो भेदः भुजगेन्द्रेति। 'एकसबन्धिज्ञानमपरसबन्धिन स्मारयति' इति न्यायेन तत्पादिस्मरणस्य पयोधिस्मरणजन्यत्वेऽपि तादृशसंस्कारजन्यत्वात्सदृशविषयकत्वाच्चेति भावः। पयोधिस्मरणं तु तादृशसंस्कारजन्य सदृशविषयकश्चेति भवत्यलङ्काररूपमिति सारांशः। अत्र 'केचित्तु' इत्युक्त्याऽऽहचिर्बन्धयते तद्वीजमाह नागेरा—'सादृश्ये स्मर्यमाणसबन्धित्वनिवेशस्यैव सति फलप्रमात्, १. न. द्वि. तादृशसंस्कारजन्य स्मरणं, विस्तारविषयक, सम्भवति। किञ्च पयोधिस्मरणस्यापि सदृशज्ञानात्मकतया तेन तत्पादिस्मरणानुपूर्वसंस्कारस्थोद्बोधनसमयेन तन्जन्यत्वसत्त्वाद्दलङ्कारत्वमेव तस्येति।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि—'सदृश पदार्थ के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न (उस संस्कार का साक्षात्फल) और सदृश के विषय में होनेवाला ही स्मरण अलंकाररूप होता है। अतः 'एकीभवंतु—' इस पद्य में शेषनाग से बनी शय्या और योगनिद्रा का स्मरण अलंकाररूप नहीं है, क्योंकि वह स्मरण पयोधिस्मरण से उत्पन्न हुआ है उक्त संस्कार द्वारा नहीं और स्मरणक का सदृश पदार्थ उसका विषय भी नहीं है। यहाँ नागेरा कहते हैं कि—पूर्वमत से इस मत में दो विलक्षणतायें हैं—एक तो 'साक्षात्परम्परासाधारणफल' के स्थान पर 'साक्षात्फलबोधकजन्यत्व' का निवेश, दूसरे 'सदृश के विषय में होने' का निवेश, जिससे शय्या और निद्रा के स्मरण का अलंकाररूप नहीं होना सिद्ध होता है। पर यह मत अरविप्रत है और अरवि का हेतु यह है कि—एक तो ऐसी स्थिति में इस लक्षण में 'साक्षात् के विषय में होने वाला' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'सदृश के ज्ञान

से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न (उसका साक्षात्कीभूत) स्मरण' अतद्वश के विषय में होता नहीं और दूसरे, 'समुद्र का स्मरण' सदृश ज्ञानरूप हुआ ही, क्योंकि स्मरण भी ज्ञानरूप है और समुद्र सेना के सदृश है। और जब 'समुद्रस्मरण' भी सदृशज्ञानरूप हो गया तब उससे 'शेषज्ञान तथा योगनिदा' के स्मरण को उत्पन्न करने वाले संस्कार का उद्बोधन हो ही सकता है, फलतः उन दोनों का स्मरण भी 'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-जन्य' हो ही गया, अतः इस महीन लक्षण के अनुसार भी उस स्मरण को अलंकाररूप होने से रोका नहीं जा सकता, फिर ये सब प्रयास किसलिये ?'

सादृश्यज्ञाननिवेशफलमाह—

‘इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः ।

परिवर्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमान वदनाम्बुजं स्मरामि ॥’

नायकः कथयति—इत एव मत्संस्कारादेव, निजालय निजभवन, गताया- प्रयातायाः, तथा प्रयाणकाले गुरुभिः श्वश्रुवादिदृष्टस्त्रीभिः, समावृताया परिवेष्टिताया, वनिताया नायिकाया, परिवर्तितकन्धरम् परिवर्तिता कन्धरा=प्रीवा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा त्याक्तया, एवम् नतभ्रु नती = नम्रौ भ्रुवौ यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तया, स्मयमान ईषदास्ययुक्तम्, वदनाम्बुजं मुखकमलम्, स्मरामि, अहमिति शेषः ।

लक्षण में जो 'सादृश्यज्ञानप्रयुक्त' यह विशेषण 'स्मरण' का लगाया है, उसका फल विखलाया जाता है—इत एव इत्यादि। नायक की उक्ति है—यहीं से (मेरे ही निकट से) अपने घर गई और जाने के समय सास आदि वृद्ध स्त्रियों से परिवेष्टित नायिका के, गरदन को घुमाकर और भौंहों को नीचे कर मुसकारते मुख-कमल का स्मरण कर रहा हूँ।

वपरादयति—

अत्र स्मरणं चिन्तोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यत्वान्नालङ्कारः व्यङ्ग्यत्वविरहाय न भावः ।

‘इत एव—’ इति श्लोके यत्स्मरणं वर्णितम् तच्चिन्तया ध्यानेन उद्बुद्धस्य संस्कारस्य फलम् न तु सदृशपदार्थदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य, अतो नैवं स्मरणं अलंकाररूपम् भवति सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यत्वमरणस्यैव लक्षणक्रान्तत्वात् । भावरूपमपि नैतत्स्मरणं भवति व्यङ्ग्यस्यैव सृष्ट्यादेर्भावत्वरवोकारादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘इत एव—’ इस पद्य में वर्णित स्मरण अलंकाररूप नहीं होता क्योंकि यह स्मरण चिन्ता (ध्यान) से उद्बुद्ध संस्कार का फल है, सदृश ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार का नहीं और लक्षण में 'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-फलीभूतस्मरण' को ही अलंकार कहा गया है। और यह स्मरण भावरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य स्मरण आदि को ही 'भाव' कहा गया है और यह स्मरण व्यङ्ग्य नहीं वाच्य है।

उक्तस्थलसमान स्थलान्तरमपि दर्शयति—

एवम्—

‘दरानमत्कन्धरबन्धमीपन्निमीलितकिम्बविलोचनाब्जम् ।

अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गयाः स्मरामि सङ्गं धिरमङ्गनायाः ॥’

इहाँपि स्मृतिर्न भावो नाप्यलङ्कारः । व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणो भावत्वात् । यथा—‘सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः ।’ अयं चालङ्कारिकाणां सम्प्रदायो यत्सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादियदलङ्कारः । तस्याभावे व्यङ्ग्यव्यतार्यां भावः । तयोरभावे तु वस्तुमात्रम् ।

एवमिति । 'एकीभवत्—' इति पद्य इवेत्यर्थः । नायक स्वमित्रं प्रत्याह—दरानम-
दिति । अनल्पानां प्रभूतानाम्, निश्वासानां भरेण समूहेन, अलसानि आलस्ययुक्तानि,
अज्ञानि यस्यास्तस्याः, अज्ञानायां नायिकायाः, दरं अल्पम्, आनमन् नम्रीभवन्, फन्धर-
बन्धः प्रीवासन्धिस्यलविशेषः, यस्मिन् तादृशम्, तथा ईपन् निमोलिते मुद्रिते, स्निग्धे
स्नेहपूर्णं, विलोचनाञ्जे कमलातुल्यनयने यस्मिन् तथाविधम् च सङ्ग सम्भोगम्, चिरं
चहन्ति दिनानि यावत्, स्मरामि अहमिति शेषः । इहापि दरानमदिति श्लोकेऽपि । सा वै
इति । एतत्पद्य प्रथमानने लिखितं व्याख्यातञ्च । सम्प्रदाय इति । परम्परेत्यर्थः । तस्येति
सादृश्यमूलकत्वस्येत्यर्थः । व्यङ्ग्यतायामिति । सत्यामिति शेषः । तयोरिति व्यङ्ग्यत्वसादृश्य-
मूलकत्वयोरित्यर्थः । अयं भाव—यथा 'एकीभवत्—' इत्यत्र वर्णितं स्मरणं नालङ्कारो
न वा भावस्तथैव 'दरानमत्—' इति श्लोके वर्णितं स्मरणमपि नालङ्कारं चिन्तामूलक-
तया सादृश्यमूलकत्वाभावात्, नापि भावः, 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति लक्षणानुसारं
व्यङ्ग्यस्यैव । व्यभिचारिणः स्मृत्यादेर्भावत्वोपगमात् । आलङ्कारिकाणां विदुषामयं सम्प्र-
दायोऽस्ति यत् यत्र स्मरणं सादृश्यमूलकं तत्रालङ्कारः । यथा 'दोर्दण्ड—' इत्यादौ ।
यत्र च न सादृश्यमूलकम्, किञ्च व्यङ्ग्यम् तत् तत्र भावः । यथा 'सा वै कलङ्क—' इत्यादौ ।
यत्र तु न सादृश्यमूलकं न वा व्यङ्ग्यं अपि तु चिन्तादिमूलकं वाच्यं तत् तत्र वस्तु-
मात्रम् । यथा 'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादौ इति ।

स्पष्टज्ञानार्थं पूर्वोक्त स्थल के समान ही दूसरा भी स्थल दिखलाया जाता है—एवं
इत्यादि । इसी तरह—'दरानमत्—'अर्थात् आसन्न आससमूह से आलस्ययुक्त अज्ञोवाली
अज्ञाना के उस सग (सभोग) का स्मरण करता हूँ जिसमें गरदन का सन्धि-स्थल
किञ्चित् झुका हुआ और स्नेहभरे नयन कमल थोड़े से मुँदे हुए थे ।' इस मित्र के प्रति
नायकोक्त पद्य में जो स्मरण वर्णित है वह भी अलङ्काररूप नहीं है, क्योंकि उसके मूल
में सादृश्य का ज्ञान नहीं है, चरन् चिन्ता है और भाव भी वह नहीं है क्योंकि—'व्यभि-
चार्यञ्जितो भावः' के अनुसार व्यङ्ग्य स्मृत्यादि व्यभिचारिभाव ही भावरूप माने गए हैं ।
आलङ्कारिक विद्वानों की यह एक परम्परागत मान्यता है कि—सादृश्यमूलक स्मरण
'अलङ्काररूप' होता है, जैसे—'दोर्दण्ड—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों में, सादृश्यमूलक न होकर
व्यङ्ग्य होने पर 'भावरूप' होता है, जैसे—'सा वै कलङ्क—' इत्यादि प्रथमानने में उद्धृत
पद्य में, और इन दोनों से मिश्र—अर्थात् चिन्तादिमूलक और वाच्य रहने पर स्मरण
वस्तुमात्र कहलाता है, जैसे—'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादि पद्यों में ।

आलोचयितुमप्यदीक्षितमतमुत्थापयति—

अप्यदीक्षितास्तु—

“स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥”

यथा—

‘अपि तुरगसमीपाद्दुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्मीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णं
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥’

यथा वा—

‘दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्दचाहस्ताम् ।
उद्वीच्य त्रियमिव काञ्चिदुत्तर्णीमस्मार्पीजलनिधिमन्यनस्य शौरिः ॥’

एकत्र सदृशादर्शानात्तत्सदृशकर्मिका स्मृतिः । इतरत्र सदृशादर्शानात्तत्सदृश-
लक्ष्मीसम्बन्धिनो जलनिधिमन्यनस्य स्मृतिः । उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तर-
स्मृतिव्यमविशिष्टम् । अत एव सदृशासदृशासाधारण्यार्थतया लक्षणे वस्त्वन्तर-
ग्रहणमर्थवत् ।

‘सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांगुरुज्जम्भते
चण्डांशोनिशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता घञे कुरङ्गं यतः
क्वसि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥’

अत्र श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनस्तत्रयनस्य स्मरणोत्तत्सदृशसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्ब-
न्धिनीतास्मृतिश्चेति । किं त्वेषा व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च । तद्व्यावृत्त्यर्थम-
व्यङ्ग्यत्वविशेषणम् ।

‘अत्युवाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तयाऽन्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्तासि तुभ्यं नमः ।
आश्रयेण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥’

अत्र स्तूयमानमूतन्धिन्यनो भूयुतः स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणा-
लङ्कारः । किं तु स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूयुद्विषयककृतिभावाद्गत्वाऽयेऽलङ्कारः ।
एतद्व्यावृत्तये सादृश्यमूलेति विशेषणम् ।’ इत्याहुः ।’

अप्यवदीक्षितास्तु इति अस्य ‘आहुः’ इति वरस्येन क्रियापदेनान्वयः । उक्षणमाह—
स्तुतिरिति वस्त्वन्तरसमाश्रया अन्यवस्तुविषयिणो अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता अत्राङ्ग्या वाच्येति
यावद्, या, सादृश्यमूलक सदृशपदार्थानुभवप्रयोज्या स्मृतिः, सा स्मरणालङ्कृतिरित्यर्थः ।

उदाहरणं दर्शयति—अपि तुरगेति । रघुचरो दशरथमृगयावर्णनम् । कविः कथयति—
चित्रमात्मानुकीर्णं विविधवर्णकुमुददामन्याते, रतिविगलितबन्धे तन्भोगकालिकमर्षवरो-
न्मुक्तबन्धने (अनेन विशेषणद्वयेन केशपाशे मयूरसाम्यमापूरितम्) प्रियायाः प्रेयस्या,
केशपाशे कवचिचये, सपदि शीघ्रम्, गतमगस्तकः संलक्ष्यचेता, स्मृततादृशाप्रियाकेश-
कलाप इति यावद्, स दशरथः तुरागसमीपात् अपि अश्वनिकवापि (एतेन तद्वेषे
सौकर्यं प्थितम्) उषतन्तम् उन्मोयमानम्, रुचिरकलाप एषणीयवर्द्धम् मयूरम्, न
बाणलक्ष्म्यापकार तस्मिन् बाणक्षेपं नाकरोदित्यर्थः ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—दिव्यानामिति । मापकाच्ये जलकेलिवर्णनम् । कविर्वक्ति-
शौरिः भगवान् श्रीकृष्णः, दिव्यानामपि स्वर्गीयानामपि, कृतविस्मयाम् उरुपादिताश्चर्माताम्
(एतेन सौन्दर्यातिशयो बोध्यते) स्फुरदरविन्दचाहस्ताम् स्फुरता विकसता, अर-
विन्देन कमलेन, चारु सुन्दरौ, हस्तौ करौ, यस्यास्ताम्, अत एव, त्रियं लक्ष्मीम्, इव,
अम्भस्तं जलतं, उत्तरन्तीं विस्तरन्तीम्, काञ्चिद् भायिकाम्, पुरस्तात् अग्रे, एव,
उद्वीच्य दृष्ट्वा, जलनिधिमन्यनस्य समुद्रमन्यनस्य अस्मार्पीन् स्मृतवानित्यर्थः ।

उपपत्त्यति—एकत्रेति । प्रथमोदाहरण इत्यर्थः । सदृशादर्शानदिति । रुचिरकलाप-

मयूरदर्शनादित्यर्थ । सदृशकर्मिकेति । मयूरफलापसदृशप्रियाकेशपाशविपयिणीति भाव । इतरत्रेति । द्वितीयोदाहरण इत्यर्थ । सदृशदर्शनादिति । धारिजभूपितकरवारिनिस्सरदिव्यनारीदर्शनादित्यर्थ । तत्सदृशेति । तज्जारीसदृशेत्यर्थ । उभयत्र द्वयोः उदाहरणयो । अविशिष्टमिति । समानमित्यर्थ । अत एवेति उभयविधस्मरणस्यालंकारत्वेनेष्टत्वादेवेत्यर्थ । 'अपि तुरग—' इत्यत्र रमणीयवर्हमयूरदर्शनेन पुष्पपुञ्जभूपितोन्मुक्तप्रियाकेशविपयकः सस्कार उद्भूतः, तेन तादृशकेशविपयक स्मरण जातमिति सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनावेन स्मृतिकारणस्मृतिविपयरूपौ अत इव स्मृति सादृश्यमूला सदृशविपया च । 'दिव्यानामपि' इत्यत्र तु श्रीसदृशजलनिस्सरदिव्यरूपनारीदर्शनेन समुद्रमन्यनस्मरण वर्णितम्, अतोऽत्र स्मरणकारणस्मरणविषयौ न सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनौ, फलत इव स्मृति सादृश्यमूलापि सदृशविपया नास्ति । परन्तु उभयपद्यगतसुभयविधस्मरणम् अलङ्काररूपम्, लक्षणाक्रान्तत्वात् । लक्षणे हि सादृश्यमूलकसदृशसदृशान्यतरविपयकस्मरणसप्रहाय 'वस्त्वन्तरसमाश्रया' इत्यस्य स्थान, 'तुल्यान्तरसमाश्रया' इति न कृतम् । तथात्वे हि सादृश्यमूलकसदृशविषयकस्मृतेरेव प्रथमस्थलगताकाराया संप्रहं स्यात्, प्रकृतपाठे तु सदृशासदृशवस्त्वन्तरमात्राविपयिकाया द्वितीयस्थलगताकाराया अपि संप्रहो भवतीति भाव ।

लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणव्यावर्त्यमाह—सौमित्रे इति । हनुमच्छाटवगत सीतावियोगकालिकरामलक्ष्मणौक्तिप्रत्युक्तिमयं पद्यमेतत्, राम कथयति—सौमित्रे लक्ष्मण ! ननु निश्चयेन, तरुतल वृक्षमूलदेश, सेव्यताम् आश्रीयताम्, कुत ? यत् चण्डाशु प्रखरकरः सूर्य, उज्ज्वलभते वर्धते । लक्ष्मण कथयति—हे रघुपते रामचन्द्र ! चण्डांशो सूर्यस्य, निशि राज्ञौ, का कथा ? दिवाकरस्य निशास्थिति-चर्चाऽपि नोचिता । तथा न सूर्योऽज्ज्वलभणविपयक भवतो ज्ञान भ्रम एवेति भाव । अथ न चेदसौ सूर्य, तर्हि कोऽयं व्योम्नि प्रकाशते ? इति चेत् तत्राह लक्ष्मण—अथ प्रत्यक्षदृश्यमान चन्द्र उन्मीलति उदयते । राम आह—वत्स लक्ष्मण ! भवता, एतत् नाय सूर्योऽपि तु चन्द्र इत्याकारक वस्तु, कथं केन प्रमाथेन विदितम् ज्ञातम् ? लक्ष्मण आह—यत् यस्मात् कुरङ्ग हरिण कुम्भित रङ्गम् = कालिमान वा धत्ते अथ प्रकाशाधारभूतो वस्तुविशेष इति शेष । मृगाङ्कोऽथ चन्द्र एव न सूर्य इति भाव । कुरङ्गदध्रवणस्मृत-सीतातन्नयनश्च रामो विह्वल इवोन्मत्त इव च भूत्वा प्राह—हे कुरङ्गनयने हरिणनेत्रे ! चन्द्रानने ! प्रेयसि अतिप्रिये, जानकि सीते, क्व कुत्र, अस्मि वर्तसे ? 'हा' इति खेदसूचकमव्ययम् ।

उपपादयति—अत्रेति । 'सौमित्रे' इति पद्य इत्यर्थ । श्रुतकुरङ्गेति । श्रुत कुरङ्गरूप सम्बन्धी यस्य तस्येत्यर्थ, तन्नयनस्येति । कुरङ्गनयनस्येत्यर्थ । तत्सदृशेति । कुरङ्गनयनसदृशेत्यर्थ । तत्सदृशेति, सीतानयनसंबन्धीत्यर्थ । एषा स्मृति अलंकार्यभूतेति । प्रधानेत्यर्थ । तथा च नालङ्कारत्वमस्या स्मृतेरुचितमिति भाव, तद्व्यावृत्त्यर्थमिति । व्यङ्ग्यस्मृतिव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थ, विशेषणमिति । 'अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता' इति रूपेण लक्षणे इति भाव । 'सौमित्रे ननु' इत्यत्र रामस्य कुरङ्गपदप्रचयेन मृगज्ञाने जाते 'एकसम्बन्धितानमपरसम्बन्धितान स्मारयति' इति न्यायेन तस्य मृगनयनस्य स्मरणं भवति । यत् सीतानयनस्य सदृशम् अत सीतानयनसदृशमृगनयनस्मरणेन सीतानयनस्मरणम् ततश्च तदात्मकैकसम्बन्धितज्ञानेन सीतास्मरणम् इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि प्रतीयमानस्य सादृश्यमूलकस्यापि च सीतानयनस्मरणस्यालंकाररूपत्वं न लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणो न चारणात् । किञ्च सा स्मृति प्राधान्यादलंकार्यभूता कथमलंकारत्वमुपगच्छत्वित्यपि बोध्यम् ।

अन्वत्स्मृतिद्वयंतु—अव्यङ्गधन्वविशेषणेन सादृश्यमूलकत्वविशेषणेन च व्यावृत्तम् इति भावः ।

सादृश्यमूलकत्वान्मकस्मृतिविशेषणासाधारणफलमाह—अत्युच्चा इति । कविकृतराज-
विशेषणतुतिरियम् । कविः राजानं प्रति कथयति—अत्युच्चा परमोन्नता, गिरयः पर्वता,
परितः यतुर्दिधु, स्फुरन्ति दृश्यमाना भवन्ति, तथा, स्फाराः विशाला, अन्भोधयः समुद्राः,
अपि, परितः स्फुरन्ति, परमेतान् सर्वानपि विभ्रती एवं पृथिवी न भ्रान्ता रलयः पित्तैति
यावत्, अक्षि वर्तते, अतः, तुभ्यम् भगवन्वै वतुन्धरायै नमः, इति इत्यः प्रकारेण आधारेण
आश्चर्ययुक्तं मन्त्रिति भावः, सुदुर्मुहुं चारम्भारम् यावत्, भुवः पृथिव्याः, स्मृतिं, प्रस्तौमि
प्रारभे, तावत्, इमा पृथिवी, विभ्रत् घारयन्, तव भवतो, भुजो राहु, स्मृतं, ततो वाचः
पृथिवीमनुतिप्रवृत्ता इति भावः, मुद्रिता रुदा इति भावः । हे रामन् ! धराधारकमवद्वज-
स्मरणे सति पर्वतसमुद्रधारणज्ञानमज्ञातं पृथिव्यामुत्कर्षज्ञानं ध्वस्तमिति तदीयस्मृतिप्रवृत्त-
षाड्मुद्रणमेव शरणमकलयमित्यर्थः ।

उपपादयति—अत्रेति । 'अत्युच्चा' इति पद्ये इत्यर्थः । वर्णमाने इति शेषः,
स्मृतिरित्यत्र च तदन्वयः । म्नुयमानेति । म्नुयमाना या भूः तस्याः सवन्धन-
भूतं राज्ञः । सादृश्यमूलेति । अपि तु 'एकसवन्धनज्ञानम्—' इति न्यायमूलेति
भावः । इतीति । अतः इत्यर्थः । अत्र प्रकृतपद्ये । न स्मरणालङ्कार इत्यन्वयः,
सादृश्यमूलेति लक्षणपटकस्मृतिविशेषणेन न्यावर्तनादिति भावः । अथ किं कोऽप्यलङ्कारोऽत्र
नास्तीति चेन्नत्याह—किञ्चेति । स्मृतेरिति । 'स्मृता' इति पद्यपठरूपदोषिताया इति
भावः । सञ्चारीति । वस्तुतः अस्याः स्मृतेः सञ्चारिभावत्वं न सम्भवति वाच्यत्वात्, व्यञ्जयत्वं
एषः स्मृत्यादेस्तयान्वादिति बोध्यम् । एतदनुपदमेव खण्डनग्रन्थे रफुटीभक्तिप्यति भूभूद्विप-
येति । राजस्तुतिपरे प्रकृतपद्ये कविव्रतो राजविषयकरतिभावः एव प्रधानव्यङ्ग्यः काव्यत्व-
प्रयोजकः, स्मृतिश्च तदङ्गभूतेति भावः । प्रेयोऽलङ्कार इति 'गुणीभूतो भावः' प्रेयो नामाऽ-
लङ्कारः' इति तल्लक्षणार्थकोटीश्वरपदिति तान्पर्यम् । आहुरिति । अस्य कियपदस्य
प्रागुक्तेन 'दीक्षिता' इति कर्तृपदेन सम्बन्धः ।

खण्डन करने के लिये मतान्तर का प्रतिपादन किया जाता है—अप्ययदीक्षितास्तु
इत्यादि । अप्ययदीक्षित कहते हैं कि—'किसी (समान अथवा असमान) वस्तु के
विषय में होने वाली उस स्मृति को स्मरणालंकार कहते हैं जो व्यङ्ग्य न हो—
अर्थात् वाच्य अथवा लक्ष्य हो और जिसका मूल सादृश्य हो । जैसे—

'अवि तुरगसमीपात् अर्थात् अर्ध के समीपदेश से भी उड़ते हुए सुन्दर पूँछ वाले
मयूर को दशरथ ने अपने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि विचित्र चमकौली
पूँछ वाले मयूर को देखते ही उसका मन, समीप-समर्प के कारण उन्मुक्त-वन्धन
और विविध वर्ण के पुष्पों से घनी मालाओं से व्याप्त, प्रिया के केशपात्र में चला
गया—मन ही जब पात्र में आवद्ध हो गया तब हाथ बाण चलावे तो कैसे ? आखिर
मन ही तो बाणेंद्रियों का संचालक है । तात्पर्य यह कि उस तरह के प्रियाकेशों का
स्मारक मयूर-पुच्छ भी उसे प्रीतिस्थान प्रतीत हुआ, अतः बाण चला कर उसे वह परवाद
नहीं कर सका ।' कविवर कालिदास ने रघुवश में दशरथमृगया-वर्णन के प्रसंग पर
इस पद्य की रचना की है । अथवा जैसे—

'दिव्यानामपि—अर्थात् स्वर्गीय जनों को भी विस्मित कर देनेवाली किसी नायिका
को, सुन्दर कर में अर्धविकसित कमल क्लिप, लक्ष्मी की तरह अपने सामने, जल से
निकलते देखकर, भगवान् कृष्णचन्द्र ने समुद्रमन्थन का स्मरण किया—लक्ष्मी-प्राप्तुर्भावं

का समय उनके ध्यानपथ में आ गया। जलकेलिवर्णन-प्रसङ्ग पर माघकाव्य में कवि की यह उक्ति है।

इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण (अपि तुरग—) में सदश वस्तु (मयूर-पुच्छ) के दर्शन से उसके सदश (प्रिया के केश पाश) का स्मरण हुआ है और द्वितीय उदाहरण में सदश वस्तु (हाथ में कमल लिये जल से निकलती परमरमणीय रमणी) के दर्शन से उसके (रमणी के) सदश लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन का स्मरण हुआ है। दोनों ही उदाहरणों में सादृश्यमूलक और अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली स्मृति की सत्ता समान है। तात्पर्य यह कि—जिस तरह प्रथम उदाहरण में सदश-मयूरपुच्छ के देखने से तत्सदृश-प्रियाकेशपाश का स्मरण वर्णित है उस तरह यद्यपि द्वितीय उदाहरण में नहीं है—अर्थात् वहाँ सदश (जल से निकलती नायिका) के देखने से तत्सदृश लक्ष्मी का स्मरण वर्णित नहीं हुआ है अपितु लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन—जो जल से निकलती नायिका के सदृश नहीं है—का स्मरण वर्णित है, तथापि दोनों स्थानों में वर्णित स्मरणों के मूल में सादृश्य समानरूप से है। वस, इतने से ही दोनों स्मरण समानरूप से अलंकाररूप हैं। अभिप्राय यह हुआ कि—लक्षण में यह नहीं कहा गया है कि—सदृश वस्तु के देखने से होनेवाला तत्सदृशवस्तुविषयक स्मरण ही अलंकार हो। यदि ऐसा कहना लक्षणकार का अभीष्ट होता, तो, 'वस्वन्तर-समाश्रया (अन्य वस्तु के विषय में होने वाली)' यह विशेषण इस रूप में नहीं कहा जाता अपितु 'तुल्यान्तरसमाश्रया—अर्थात् सदृश अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' इस रूप में कहा जाता। फलतः स्मरण सदृश का ही अथवा विसदृश का, पर उसका मूल यदि सादृश्य हो तो वह अलंकाररूप अवश्य होगा।

'हे लक्ष्मण ! प्रचण्ड किरणों वाला सूर्य उदित है, अतः तरु-तल की सेवा करो—बृष के नीचे चलो। रघुपते ! रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चन्द्र उदित हो रहा है। वत्स ! तुमने कैसे जाना कि यह चन्द्र है ? क्यों न जानेंगा, यह मृग का धारण जो कर रहा है। (इतनी उक्ति-प्रत्युक्ति राम और लक्ष्मण में हुई कि राम कराह उठे—) हाय ! मृगनयने ! चन्द्रमुखी ! प्रियतमे ! जानकी ! तुम कहाँ हो ?' (हनुमत्काव्य)

यहाँ भी यद्यपि लक्ष्मण के मुख से सुने 'मृग' पद से मृग के बोध द्वारा 'एक सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिन स्मारयति' के अनुसार उसके (मृग के) नेत्रों का स्मरण हुआ और उस स्मरण के कारण उन नेत्रों (मृगनेत्रों) के सदृश सीता के नेत्रों का तथा उन नेत्रों (सीता नेत्रों) से सम्बन्ध रखने वाली सीता का स्मरण हुआ है, तथापि यह स्मरण स्पष्ट है और अलंकार है। ऐसे स्मरण में ठक स्मरणालंकार का लक्षण अति-व्याप्त न हो इसलिये 'अभ्यङ्ग्य' यह स्मृति का विशेषण लक्षण में दिया गया है।

'अस्त्युच्चा—अर्थात् चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पर्वत और समुद्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं, हे वसुन्धरे ! इन सब को धारण करती हुई भी तू कुछ भी श्रान्त नहीं हुई, तुझे प्रणाम है'—इस तरह, आश्चर्यपूर्वक, जब तक पृथिवी की बार-बार स्तुति का प्रस्ताव करता है, तब तक उस पृथिवी को भी धारण करने वाले आपके बाहु का स्मरण हो आया, फिर क्या था ! वाणी रुक गई—पर्वत-समुद्र आदि से युक्त समस्त पृथिवी के धारण करने के कारण सर्वश्रेष्ठ आपके बाहु का स्मरण होते ही पृथिवी के प्रति बनी मेरी श्रेष्ठत्व की धारणा समाप्त हो गयी, फिर उसकी स्तुति करते नहीं बनी। यह पद्य कवि के द्वारा किसी राजा की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ जिसकी स्तुति की जा रही है उस पृथ्वी के सम्बन्धी (उसके स्वामी) राजा का स्मरण यद्यपि वाच्यवृत्त्या वर्णित हुआ है, पर उस (स्मरण) के मूल में सादृश्य नहीं है—अर्थात् सदृशवस्तुदर्शन से यह स्मरण नहीं हुआ है, अपितु 'एकसम्बन्धिज्ञानम्—' इस न्याय के अनुसार पृथ्वी का ज्ञान होने से तत्सदृशी

राजा का स्मरण हुआ है, अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं है, किन्तु सञ्चारिभाव-
रूप यह स्मरण कविगत राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है अतः 'प्रियान्' अलंकार
है। इसी तरह के (सादृश्य जिनके मूल में न हों उन) स्मरणों का चरण करने के लिये
लक्षण में 'सादृश्यमूला' यह विशेषण लगाया गया है।"

उक्तदीक्षितमतस्य खण्डनार्थमशालोचना विधत्ते—

तदेतत् सर्वभरमणीयम् । चत्तावदुच्यते सदृशासदृशयोः केशपाशजल-
निधिमन्थनयोः सङ्ग्रहाय लक्षणे नस्त्वन्तरग्रहणमर्थवदिति । तत्र सादृश्यमूला
स्मृतिः स्मरणालङ्कार इत्येतावतैव केशपाशस्मरणस्येव जलनिधिमन्थन-
स्मरणस्यापि सङ्ग्रहाद्वस्त्वन्तरसमाश्रयत्वविशेषणमतर्थकम् । एकत्र सादृश्य-
दर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन, अपरत्र च सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजलक्ष्मी-
स्मरणोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन च सादृश्यमूलत्वाविशेषात् । नहि सादृश्यमूले-
त्युक्ते सदृशविषयेति लभ्यते, येन जलनिधिमन्थनस्मृतेरसङ्ग्रहः स्यात् । यदपि
'सौमित्रे ननु सेव्यताम्—' इत्यत्र स्मृतिर्व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च तद्व्यावृत्तयेऽ-
व्यङ्ग्यत्वविशेषणमित्युक्तम् । तत्र नेयं स्मृतिरलङ्कार्यभूता, किन्तु जानक्या-
लम्बनो निशासमयोद्दीपितः सन्तापादिनानुभावित उन्मादेन सञ्चारिणा परि-
पोषितो विप्रलम्भः प्रधानत्वेनालङ्कार्यः । तस्य च—स्मृतिरुत्कर्षहेतुत्वादलङ्कार
एव । अतो नितरां तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानमनुचितम् । नहि व्यङ्ग्य-
त्वालङ्कारत्वयोर्विरोध इति वक्तुं शक्यम् । नित्यव्यङ्ग्यानां रसभावादीनामपि
पराङ्गतायामलङ्कारावाभ्युपगमात् । प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं
सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेपु देयमिति प्रागेवावेदितम् । यदप्युक्तम् 'अत्युक्ताः परितः
स्फुरन्ति गिरयः—' इत्यत्र स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भ्रूशृङ्गिपरतिभावा-
ङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कार इति, तत्र । भावस्य हि भावाद्यङ्गतायां प्रयोऽलङ्कारत्वम् ।
न ह्यत्र स्मृतिर्भावः । तस्याः स्मरतिना वाचकेनाभिधानात् । नहि वाच्यस्य
व्यभिचारिणो भावत्व वक्तुं युक्तम् । 'व्यभिचार्यङ्गितो भावः' इति सिद्धान्त-
विरोधात् । तथा चोक्तं सर्वस्वकृता—'प्रेयोऽलङ्कारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्त-
निमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः । तत्रापि विभावाद्यामूरितत्वे, यथा 'अहो कोपेऽपि
कान्तं मुखम्' इति । न तु स्वराब्दनिवेद्यत्वे ।

यथा—

'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।

रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्रम् ॥'

इत्यदाविति ।" ननु भावाद्यङ्गीभूतभावत्वं न प्रयोऽलङ्कारलक्षणम् । अपि
तु भावाद्यङ्गीभूतसञ्चारित्वमात्रम् । तथा च प्रकृते स्मरणस्य स्वराब्दनिवेद्य-
त्वेन भावत्वविरहैऽपि सञ्चारित्वानपायात्प्रेयोऽलङ्कारत्वमविरुद्धमेवेति चेत्,
एवं तर्हीतराङ्गीभूतस्थायित्वमात्रं रसालङ्कारत्वम्, न तु व्यङ्ग्यमानत्वविशिष्टम्,
इत्यस्यापि सुवचत्वात् ।

एवं च—

'चराचरोमयाकारजगत्कारणविषमम् ।

कल्पान्तकालसङ्कुटं हरं सर्वहरं नुमः ॥'

इत्यत्र क्रोधस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेऽपि देयताविषयकरतिभावाङ्गीभूतस्या-
यित्वानपायाद्रसालङ्कारता स्यात् । न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तात् । तस्माद्
व्यज्यमानस्यैव स्थायिनः पराङ्गत्वे यथा रसालङ्कारत्वमेवं व्यज्यमानस्यैव सञ्चा-
रिणो भावाद्यङ्गताया प्रेयोऽलङ्कारत्वमिति नात्र स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारता
वाच्या, किं तु भूविषयकरतेः पूर्वार्धव्यङ्ग्याया उत्तरार्धव्यङ्ग्यभूमिद्विषयरतिभा-
वाङ्गत्वाद्युक्ता प्रेयोऽलङ्कारता वक्तुम् । उक्तं च मम्मटभट्टैः—‘अत्र भूविषयो
रत्याख्यो भावो राजविषयरतिभावस्य’ इति । अपि च महदिदमाश्चर्यं यत् स्वेनैव
निर्मितः कुशलयानन्दाख्यः सन्दर्भो विस्मृतः । उक्तं च तत्र—‘विभावानुभा-
वाभ्यामभिव्यञ्जितो निर्वेदादिर्भावः, स यत्रापरस्याङ्गं स प्रेयोऽलङ्कारः’ इति ।

एतत्सर्वमिति । दीक्षितोक्तमखिलमित्यर्थ । अरमणीयमिति । असुन्दरमित्यर्थ ।
अगुक्तमिति यावत् । वक्ष्यमाणदोषादिति भावः । तमेव दाढ्यायानुशाह—यत्ताव-
दिति । तत्रेति । उच्यमाने तस्मिन्नित्यर्थ । ब्रूम इति शेषः । तदाह—सादश्येति ।
एवमप्येऽपि । केशपाशस्मरणस्येवेति । तस्य सदृशविषयकत्वेन दृष्टान्तत्वमिति भावः ।
एकत्रेति । प्रथमोदाहरणवर्णितस्मरण इत्यर्थः । अपरत्रेति । द्वितीविदाहरणवर्णितस्मरण
इत्यर्थः । सादश्येति । सादश्यस्य दर्शनेन = ज्ञानेन, उद्बुद्धो यः सस्कारः (जलनिधिमन्धन-
विषयक) तजम् = तलान्यम्, यत् लक्ष्म्या स्मरणम्, तेन उद्बुद्धो यः सस्कारस्तन्न-
स्वेनेत्यर्थः । स्यादिति । इतीति शेषः । अत्र ‘सादश्यपदस्य नियतसम्बन्धिकतया सम्ब-
न्ध्याकाशयामुपस्थितस्पर्शमाणस्यैवान्वयापत्तिः । नहि जनकत्वमूला पूज्यते इत्युक्ते पुत्र-
जनकत्वेन भार्या पूज्यते । अतो वस्त्वन्तरसमाश्रयेत्यावश्यकमिति चिन्त्यमिदम्’ इति नागेशः ।
‘सादश्यमूला’ इति कथनेन साक्षात्परम्परया वा सादश्यज्ञानेनोत्थापिता सर्वाऽपि (सदृश-
विषया विसदृशविषया च) स्मृतिः सगृह्यते न तु सदृशविषयैव स्मृतिः । तथा च ‘अपि
तुरग’ इत्यत्र चित्रमयूरपिच्छरूपसदृशपदार्थज्ञानोद्बुद्धसस्कारजन्यकेशपाशस्मृतिः (सादश्य-
ज्ञानेन साक्षादुत्थापिता सदृशविषया स्मृतिः) यथा स्मरणालङ्कारकोटौ संगृहीता भवति
तथा ‘दिव्यानामपि—’ इत्यत्र जलनिस्सरत्सुन्दरीरूपसदृशवस्तुज्ञानोद्बुद्धसस्कारजन्यलक्ष्मी-
स्मरणोद्बुद्धसस्कारजन्यसमुद्रमथनरमरणमपि (सादश्यज्ञानेन परम्परयोत्थापित विसदृश-
विषयक स्मरणम्) सगृहीतं स्यादेव स्मरणालङ्कारश्रेण्यामिति तदर्थं दीक्षितेन उक्तम् ‘वस्त्व-
न्तरसमाश्रयत्वविशेषण लक्ष्यै व्यर्थमेवेति भावः’ । अव्यङ्ग्यत्वविशेषणसार्थक्यप्रदर्श-
नाय दीक्षितेनोक्तं प्रत्युदाहरणं निरस्यति—यदपि इत्यादि । अस्य ‘उक्तम्’ इत्यत्रान्वयः ।
नेय स्मृतिरलक्ष्यभूता इति । अत्र ‘अत्र स्मृते हा कासि इत्यादिपदगम्यत्वेन विवह-
न-प्रवृत्तराजानुगम्यमानभूत्यवत्, ‘शठेन विधिना निद्रादरिदीकृत’ इत्यादौ शठादिपदगम्या-
सूयावद्वा तस्या एव प्राधान्यादलङ्कारत्वम् । अनुपस्कार्यत्वाच्च विप्रलम्भस्यैव तत्त्वाचेति
चिन्त्यम्’ इति नागेशः । यस्मिन् प्रकारेण पद्यमिदमुक्तं कविना, तेन प्रकारेण विप्रलम्भो
व्यज्यते, अतः प्रकृतपद्यव्यङ्ग्या स्मृतिः प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भरसोपेक्षा भवेदित्येव
समुचितम् । प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भप्रकाररसपुष्ट्यर्थमेव कविना प्रकृतपद्यस्य रचना च
कृतेति गुणीभूतव्यङ्ग्याया अस्या स्मृते प्रधानरसोपस्कारकत्वादलङ्कारत्वं युक्तमेवेत्यपि
केचित् । विप्रलम्भ इति । रामनिष्ठ इति भावः । नितरामित्यस्यानौचित्येऽन्वयः । तदाशयं
खण्डयति—नह्येति । नित्येति । सर्वथेत्यर्थः । कदाप्यवाच्यलक्ष्येति यावत् । नन्वेवं
प्राधान्येऽप्यलङ्कारत्वापत्तिरत आह—प्रधानेति । सर्वेषु न तत्रैव । तथा चालङ्कारसामान्य-

लक्षणप्राप्तत्वात्तस्य नातिप्रसंग इति भावः । 'सौमित्रे ननु खेव्यताम्—' इत्यत्र स विप्र-
 लम्भश्चकाररस एव प्रधानव्यङ्ग्य यस्य सीताऽऽलम्बनविभाव', निशतसमय उद्दीपनविभाव',
 सन्तापदिरनुभाव', उन्मादश्च सञ्चारिभाव । एवञ्च प्रधानं स रसोऽलङ्कार्य एवेत्यत्र प्रायो
 न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । सीताविपयिणी स्मृतिश्च व्यङ्ग्यापि गुणीभूता प्रधानरसोपस्कारिणी
 अलङ्काररूपैव । तथा च तद्वारणाय लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणनिवेशो दोषितकृतोऽयुक्त
 एव । व्यङ्ग्या स्मृतिः कथमलङ्काररूपा भवेत्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादिति तु नोद्भाव-
 नयोग्यम्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधानङ्गीकारात्, तथात्वे स्वोक्ते पराङ्गतादशापन्नानां
 रसभावादीनामलङ्काररूपत्व सकलालङ्कारिकाङ्गीकृतं भण्येत । नन्वेवं प्रधानव्यङ्ग्यस्यापि
 अलङ्कारत्वमापयेतेति चेन्न, तद्वारणायालङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकञ्च देशमित्यस्य
 प्रायुक्तत्वात् इति साराशः । लक्षणघटकसादृश्यमूलेति विशेषणव्याख्यार्थप्रदर्शनप्रसंगे 'अलुका'
 इति पद्यमुल्लिख्य तत्र दीक्षितोक्त विरोधं सङ्घटितुमाह—यदप्युक्तमिति । सिद्धान्तेति ।
 मम्मटमहादांनमिति शेषः । तदप्रत्यमाह—प्रेयोऽलङ्कारस्त्येत्यादि । इतोत्यन्तेन । तत्रापीति ।
 तदुत्थापितस्मृतिष्वतीति भावः । आगूरितत्वे इति । आविष्कृतत्वे इत्यर्थः ।

अत्रानुगोदमिति । पुष्पकेण लङ्कतोऽयोष्या गच्छतः श्रीरामस्य सीता प्रत्युक्ति
 रियं रघुवरो । अत्र पद्यद्वयम्, अनुगोदम् गोदावरीनदीसमीपे, गृगयानिष्टतः
 आखेटं कृत्वा परावृत्त, तरङ्गवातेन तरङ्गस्पृष्टवायुना (एतेन वायो शैल्यातिशयो व्यज्यते)
 विनीतखेद-अपगतङ्गम, तथा, रहं एकान्ते, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, त्वदुत्सङ्गनिषण्ण-
 मूर्धा त्वदीयजोडविन्व्यस्तमस्तक, सन्, अहम्, चानीरगृहेषु चैतसलतामण्डपेषु, यत् सुप्तं
 स्वापम्, अकार्षम् तत् स्मरामि इत्यर्थः । सुप्त इति मल्लिनाथसम्मतः प्रथमान्तपाठः सुन्दरः ।
 तस्मिन् पाठे अहं सुप्त इति स्मरामि इत्यर्थः, सुप्त इत्येतावन्पर्यन्त वाक्यार्थः कर्म ।
 स्थानमिदमालोक्यतो मम मानसे बलादिव तादृशारायनस्मृतिर्जागर्ताति भावः ।

शङ्कते—नन्विति । प्रतिबन्धा समापत्ते—एवं तर्हीति । इष्टापत्तिं परिहरति—एव चेति ।

चराचरोभयाकारेति । चराः जंगमा, अचराः स्थावरा, जभये द्विविधा, आकाराः
 स्वरूपाणि, यस्य, तादृशं यज्जगत् संसारं, तस्य, कारणं मिदानभूतो, विषह-
 शरीरं यस्य तम्, कल्पान्तकाले प्रलयकाले, संकुद्धम् अतिक्रान्तम्, अत एव, सर्वहरम्
 सकलवराचरसंहारकारकम्, हरं महाकालम्, तुम नमस्कुर्म, वयमित्यर्थः ।

स्वशब्देति । नृद्धमितीत्यर्थः । रतिभावेति । कविनिष्ठेत्यादि । अपसिद्धान्तात् इति ।
 सिद्धान्तविरुद्धत्वादिति भावः । स्मृतिमादायैत्युक्तिप्रसमाह—किं त्विति । एवं च प्रयोऽलङ्का-
 रत्वेऽपि त्वलुक्तम् तदुपपादनं चित्रमीमासास्ययुक्तमिति भावः । स्वोक्तौ मम्मटोक्तिं
 प्रमाणतयोपन्यस्यति—उक्तं येत्यादिना । भावत्येति । अङ्गमिति शेषः । स्वेनैवेति ।
 अप्ययदीक्षितेनैवेत्यर्थः । तत्र कुबलयानन्दे । निर्वेदादिस्त्रयञ्जिरात् । अपरस्य भावादेः ।
 'व्यभिचार्याङ्गितो भावः' इति सिद्धान्तानुसारेण व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणी भावत्यम् ।
 भावस्य च भावाद्यङ्गताया प्रयोऽलङ्कारत्वम् । तथा च 'अलुका —' इति पद्ये स्मृतपदवाच्यं
 स्मरणम् न भावः, भावत्वमप्राप्तस्य च स्मरणस्य कविनिष्ठराजविषयकरतिभावाङ्गत्वेऽपि न
 प्रयोऽलङ्कारत्वसम्भवः । अत एव "सादृश्येतरमूलिकञ्च वाच्यविभावादिव्यङ्ग्या स्मृति प्रयोऽ-
 लङ्कारलक्ष्यभूता यथा 'कोपेऽपि कान्त मुद्यम्' इत्यादौ । वाच्या स्मृतिस्तु न तल्लक्ष्यभूता
 यथा 'अत्रानुगोदम्—इत्यादौ" इति सर्वस्वकारायुक्तिः सगच्छते । संचारी यदि भावाद्यङ्ग-
 भूतस्तदा स प्रयोऽलङ्कार, तस्य संचारिण- भावरूपत्वम् (व्यङ्ग्यत्वम्) प्रयोऽलङ्कारलक्ष्य-

त्वाय नापेक्षितम्, तथा च प्रकृते स्मृतेर्वाच्यत्वेन भावरूपत्वाभावेऽपि संचारित्वसत्त्वेन प्रेयोऽलङ्कारत्वं स्यादिति तु न वक्तुं शक्यम्, तथा सति अन्वयज्ञेयोऽपि (वाच्योऽपि उच्यते) स्थायी यदि इतराज्ञीभावमापन्नो भवेत्, तदा च रसाऽलङ्कार इत्यस्यापि सुवचतया 'चराचर—' इति श्लोके वाच्यस्यापि क्रोधस्य कविगतदेवताविषयकरतिभावाज्ञीभूतस्यावित्वसत्त्वेन रसालङ्कारतापत्तेः। सिद्धान्तविरोधपरिहारानुरोधेनेष्टापत्तिरपि कर्तुमशक्यैव। फलतो व्यङ्ग्यस्थाधिभाव एव यथा पराज्ञतादशाया रसालङ्कारो भवति तथैव व्यङ्ग्य एव सञ्चारिभावाद्यज्ञतावस्थाया प्रेयोऽलङ्कार इत्यक्रमेणापि स्वीकार्यमेव। इत्थं च 'अत्युक्ता—' इति पद्ये स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारप्रतिपादनं दीक्षितकृतमयुक्तम्। पूर्वार्धव्यङ्ग्यकविगत-पृष्ठीविषयकरतिभावस्य उत्तरार्धव्यङ्ग्यकविगतराजविषयकरतिभावाज्ञतया प्रेयोऽलङ्कारता सम्भवतीति तु अन्यत्। सम्मतमत्रापि रतिभावमादायैवात्र प्रेयोऽलङ्कारतां साधयामास। कुवलयानन्दे 'वाच्यविभावादिव्यङ्ग्यसञ्चारिणा भावत्वम् तस्य च भावस्यापराज्ञतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्' इति स्फुटं त्रुवाणो दीक्षितमहोदयः कथं तद्विरुद्धमिहाहस्मेति परमाश्चर्यविषय इति भावः।

उक्त दीक्षितोक्ति का स्रष्टन किया जाता है—तदेतत्सर्वं रमणीयम् इत्यादि। अन्वय-दीक्षित की उक्त सभी बातें असुन्दर हैं—असंगत हैं। देखिए, सर्वप्रथम उन्होंने जो यह कहा है कि—“सदृश अर्थात् स्मरण में मूलभूत मयूरपुच्छ के समान केशपाश और असदृश—अर्थात् स्मृतिमूलभूतपदार्थ जल से निकलती नायिका की समानता नहीं रखने वाला समुद्रमयन दोनों का सग्रह करने के लिये लक्षण में 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' इस अंश का ग्रहण सार्थक है।” वह ठीक नहीं। कारण, 'सादृश्यमूलक स्मरण को स्मरणालङ्कार कहते हैं' इतने कथन से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्रमयन-स्मरण भी संगृहीत हो ही जाता, फिर उसके सग्रह के लिये जो 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' यह अंश कहा गया है वह निरर्थक है। एक जगह (प्रथम पद्य में) स्मरण, सादृश्य-दर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होता है और दूसरी जगह (द्वितीय पद्य में) सादृश्यदर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न हुआ है, फलतः दोनों जगहों पर स्मरण का मूल सादृश्य है ही। अर्थात् एक जगह सादृश्य स्मरण का साक्षात् मूल है, दूसरी जगह परम्परया, पर दोनों ही स्मरण सादृश्यमूलक कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'सादृश्यमूलक' इस कथन से 'सदृशपदार्थ के विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्रमयन के स्मरण' का सग्रह नहीं होगा। यहाँ नागेश दीक्षितोक्ति का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि—“सादृश्य एक ऐमा पदार्थ है जिसका सम्बन्धी नियत निश्चित-होता है, अतः प्रकृत में सम्बन्धी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित स्मर्यमाण (स्मरण किये जाने वाले सदृशपदार्थों) का ही अन्वय होगा, न कि असदृशपदार्थों का। अर्थात् 'सादृश्यमूलक स्मरण' ऐसा कहने पर स्मरणक और स्मर्यमाण पदार्थों का सादृश्य ही अवगत होता है। ठीक भी है 'जनकत्व-मूला पूजित होती है' ऐमा कहने पर कहने वाले की जननी की ही पूजा समझी जाती है, पुत्र-जनक होने के कारण पत्नी की पूजा नहीं। ऐसी स्थिति में 'सादृश्यमूलक स्मृति' इस कथन से सदृश के स्मरण का ही सग्रह होगा, सदृश के सम्बन्धी के स्मरण का नहीं, अतः 'अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' यह अंश सार्थक ही है, क्योंकि इस अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि सदृश तथा असदृश दोनों के स्मरण यहाँ संग्रहणीय हैं, अन्यथा 'सदृश के विषय में होने वाली' ऐसा ही विशेषण जोड़ा जाता।” अब उनकी दूसरी बात को लीजिए। उन्होंने कहा है कि—'सौमित्रे ननु सेव्यताम् तरतलम्—' इस पद्य में स्मरण ध्येय है और अलङ्कार है—अर्थात् प्रधान है, अतः उस स्मरण में स्मरणालङ्कार

का लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा गया है।" पर यह कथन भी उनका उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ 'स्मृति' व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कार्य—प्रधान—नहीं है, अपितु रामचन्द्रगत वह विप्रलम्भश्चरारस प्रधान होने के कारण अलङ्कार्य है जिसका आलम्बन विभाव है जानकी, उद्दीपन विभाव है निशासमय, अनुभाव है सन्ताप आदि और संचारीभाव है उन्माद। तात्पर्य यह हुआ कि उक्त पद्य से स्मृति और विप्रलम्भश्चरारस दोनों ही व्यङ्ग्य होते हैं, पर उन दोनों में प्रधानता विप्रलम्भ की ही रहती है अतः उसी को अलङ्कार्य मानना युक्तिसंगत है। स्मरण तो व्यङ्ग्य होकर भी गौण है और प्रधान रस को उत्कृष्ट बनाने वाला है, अतः उसको अलङ्काररूप मानना ही समुचित है। फिर इस स्मृति को अलङ्कारश्रेणी से निष्कासित करने के लिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण जोड़ना नितान्त अनुचित है। और आप यह तो कह नहीं सकते कि—'व्यङ्ग्यता' और 'अलङ्कारता' में परस्पर विरोध है—अर्थात् जो वस्तु व्यङ्ग्य हो वह उस अवस्था में अलङ्कार हो ही न सके, क्योंकि निरव्यङ्ग्य—अर्थात् जो कभी वाच्य अथवा लक्ष्य होते ही नहीं उन—रस, भाव आदि को भी दूसरे के अङ्ग हो जाने पर अलङ्कार माना जाता है। बात रही प्रधान व्यङ्ग्य के अलङ्कार न होने की, सो वह ठीक ही है और उसके (प्रधान व्यङ्ग्य के) चरण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण लगाना चाहिए यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अभिप्राय यह कि यह सामान्य नियन्त्रण सभी अलंकारों के विषय में लागू किया जाना चाहिए कि—कोई भी अलंकार तभी अलंकार हो सकता है जब वह किसी अपने से निम्न प्रधान काव्यार्थ को उपस्कृत—अलंकृत—करता हो। इस नियन्त्रण से प्रधान काव्यव्यङ्ग्य अर्थ कभी भी अलंकार नहीं हो सकता और जो व्यङ्ग्य प्रधान नहीं और अन्य प्रधान को उपस्कृत भी करता हो उसको तो अलंकारकोटि में गिना ही जाना चाहिए। यहाँ भी नायेस मूलकार का खण्डन और दीक्षित का समर्थन करते हैं। उनके कथन का अभिप्राय है कि—“सौमित्रे ! ननु—” इस पद्य में 'दाय ! कहाँ है' इन पदों से अभिव्यक्त होने वाली स्मृति ही प्रधान है और वह उसी तरह प्रधान है जिस तरह बराती के रूप में चलनेवाले राजा के आगे-आगे विवाह के लिये जाता हुआ नौकर अथवा जिस तरह 'शटेन विधिना निद्रादरिद्रीकृत-' इत्यादिक में 'चाट' आदि पदों से ज्वलित होनेवाली 'असूया'। और जब स्मृति की प्रधानता सिद्ध है तब उसका अलंकार्य होना भी निश्चित रूप से मान्य होना ही चाहिए—अर्थात् यह (स्मरण) किसी का उपस्कारक नहीं है स्वयम् उपस्कार्य है, विप्रलम्भश्चरारस ही उसका उपस्कारक होने से अलंकाररूप है। फलतः दीक्षित का कथन ठीक ही है।" कुछ लोग यहाँ यह भी कहते हैं कि—'उक्त पद्य जिस प्रकरण का है उस समूचे प्रकरण से विप्रलम्भश्चरारस ही प्रधानरूप में ज्वलित होता है, इस पद्य की रचना भी कवि ने प्रकरणव्यङ्ग्य विप्रलम्भ की परिपुष्टि के लिये ही की है, अतः इस पद्य का भी प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भ की ही मानना चाहिये, स्मरण व्यङ्ग्य होकर भी उसका पोषक ही है, अतः वह अलंकाररूप ही माना जा सकता है।' तीसरी बात दीक्षितजी ने यह कही कि—“अत्युदा.—” इस पद्य में स्मृतिरूप सञ्चारीभाव कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का अङ्ग होने के कारण 'प्रेयान्' अलंकार है।" पर यह बात भी उनकी ठीक नहीं। कारण, भाव जब भाव आदि का अङ्ग होता है तब वह 'प्रेयान्' अलंकार कहलाता है। पर प्रकृत पद्य में 'स्मरण' भावरूप है ही नहीं, क्योंकि यहाँ वह 'स्मृतः' पद का वाच्यार्थ है और वाच्य सञ्चारीभावरूप कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर भी 'व्यभिचार्यञ्जितो भाव—अर्थात् व्यङ्ग्य व्यभिचारीभाव कहलाता है' इस (काव्यप्रकाश के) सिद्धान्त का विरोध होता है। काव्यप्रकाश का ही नहीं, अपितु 'अलंकारसर्वस्वकार' का भी ऐसा ही सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि—“प्रेयान्' अलंकार का लक्ष्य तो वह स्मरण होता है

जो सादृश्य से अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित हुआ करता है और वह भी वाच्य-विभावादि से अभिव्यक्त होने पर, जैसे 'अहो ! कोपेऽपि कान्त मुखम्—अर्थात् आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोधावस्था में भी कमनीय था' इत्यादिक में। वाच्य होने पर 'स्मरण' भावरूप नहीं होता अतएव 'प्रेयान्' अलंकाररूप भी नहीं होता, जैसे—'अत्रानुयोदम्—अर्थात् यहाँ, गोदावरी नदी के तट पर शिकार खेलकर लौटा हुआ और जलतरंगों की शीतल हवा से अमरहित किया गया मैं, जो, एकान्त में तेरी गोदी में तिर रसकर वेतस के मण्डपों में शयन करता था उस शयन का स्मरण कर रहा हूँ—इस स्थल को देखते ही उस शयन का स्मरण हो आया।' इस—विमान द्वारा लंका से लौटते समय पञ्चवटी के किसी स्थल को दिखाते हुए रामचन्द्र की सीता के प्रति उक्ति—मे। यदि आप कहें कि—मेरे विचार से 'भाव आदि के अङ्ग बने हुए भाव ही 'प्रेयान्' अलंकार नहीं होते, अपितु भाव आदि के अङ्ग बने हुए सञ्चारीमात्र—अर्थात् उन सञ्चारियों का भावरूप होना आवश्यक नहीं, अतएव प्रकृत में स्मरण यदि वाच्य होने के कारण भावरूप नहीं होता, तो न हो, सञ्चारी तो है ही, वस, इतने से ही पराहतादशा में उसकी प्रेयोऽलंकारता सिद्ध हो जाती है—किसी तरह का विरोध नहीं होता, तो यह भी उचित नहीं क्योंकि आपके कथनानुसार यदि प्रेयोऽलंकार कहलाने के लिये सञ्चारियों का भावरूप (व्यङ्ग्य) होना आवश्यक न माना जाय, तब 'रसवत्' अलंकार कहलाने के लिये स्थायीभावों का व्यङ्ग्य होना भी आवश्यक न मानिये—अर्थात् जिन तरह आप वाच्य सञ्चारी को भी भाव आदि के अंग होने पर प्रेयान् मान लेने के लिये उद्यत हैं उसी तरह वाच्य स्थायी को भी अपराहतावस्था में आप रसवत् मानेंगे, और यदि ऐसा मानेंगे, तब 'चराचरोभया—अर्थात् हम, स्थावर-जंगम दोनों रूप वाले सत्तार के कारणस्वरूप और प्रलय काल में कृपित अतएव सबके सहार करने वाले शिव को प्रणाम करते हैं।' इस पद्य में वाच्यरूप से वर्णित क्रोध (रौद्ररस का स्थायी) भी रसवत् अलंकार हो जायगा, क्योंकि वाच्य हो जाने से भावरूप वह (क्रोध) भले ही न हो पर स्थायी मात्र तो है ही और देवताविषयक कविगत रतिभाव का अंग भी है। इष्टापत्ति तो की नहीं जा सकती, क्योंकि यह बात वस्तुतः सिद्धांतविरुद्ध है। अन्ततः इन सब आपत्तियों से बचने के लिये यह मानना ही पड़ेगा कि—जैसे व्यङ्ग्य स्थायी ही अन्य प्रधान वाक्यार्थ का अंग होकर रसवत् अलंकार होता है उसी तरह व्यङ्ग्य सञ्चारी ही भाव आदि का अंग होकर प्रेयान् अलंकार कहलाता है। अतः 'अत्युच्चा—' इस पद्य में स्मरण को लेकर प्रेयोऽलंकार नहीं कहा जा सकता, किन्तु पद्य के प्रथमार्थ भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत पृथ्वीविषयक रतिभाव-जो पद्य के अन्तिम आधे भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है—को लेकर ही कहा जा सकता है। मम्मटमठ ने भी इस पद्य में प्रेयोऽलंकार सिद्ध करते समय कहा है कि—'यहाँ पृथ्वी के विषय में होने वाला रतिरूप भाव राजा के विषय में होने वाले रति-भाव का अङ्ग है।' मम्मटमठ को भी छोड़िये। स्वयं दीक्षितजी ने भी कुवलयानन्द नामक स्वरचित निबन्ध में कहा है कि—'निर्वेद आदि सञ्चारी जब विभाव और अनुभाव से ध्वनित होते हैं तब वे 'भाव' कहलाते हैं और वे भाष जव दूसरों के अङ्ग हो जाते हैं तब प्रेयान् अलंकार माने जाते हैं।' अब आप हम सोच सकते हैं कि—यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है, दीक्षितजी अपने निबन्ध को भी भूल गए—एक निबन्ध में जैसी बात लिखते हैं दूसरे निबन्ध में ठीक उसकी उलटी बात। इस तरह यह स्पष्ट प्रकट है कि दीक्षितजी की बातें यहाँ सुन्दर नहीं हैं—विद्वानों को सन्तुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

अलंकारसर्वस्वरत्नाकरयोर्मतमनुशावयति—

• यदपि 'सदृशानुभवाद्दस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्वरत्नाकरयोः

स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्, तदपि न । सदशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणोऽव्याप्ते ।

यथा—

‘सन्त्येवास्मिन्नगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।
वैरघ्वक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्याहृदं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥’

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवत्. स्मरणं भगवद्विपर्यतिभावाद्भम् । यदि च ‘सदृशानुभवात्’ इत्यपहाय ‘सदृशज्ञानात्’ इति लक्षणे निवेशयते तदा भवत्यस्यापि सङ्ग्रह इति दिक् ।

अलङ्कारसर्वस्वकारयोर्प्रत्ययो । सदृशेति । स्मर्यमाणसदृशेत्यर्थः । सन्त्येवेति । अस्मिन् परिदृश्यमाने, जगति संसारे, रम्यरूपा सुन्दरकारा, बहवः, पक्षिणः, (यद्यपि) सन्ति, (तथापि) तेषां पक्षिणाम्, मध्ये, चातकेषु स्वदामव्यातपक्षिविशेषेषु, मम, वासना रास्कार, धारयति यावत्, महती गुरुतरा, विद्यते, इति शेषः । निजसखम् स्वमित्रम्, नीरद मेघम्, स्मारयद्भिः, वै चातकैः, अघ्वक्षैः प्रत्यक्षभूतैः, सद्भिः हेतुभिः, किमपि साधारणबुद्धयाऽज्ञायमानम्, कृष्णाभिधानं कृष्णनामख्यातम्, ब्रह्म परमात्मा, स्मृत्याहृदं स्मरणगोचर, भवति जायत इत्यर्थः । उपयादयति—अत्रेति । दर्शनादिति । अस्य ‘ज्ञानात्’ इत्यज्ञाभेदेनान्वयः । चातकदर्शनात्मकैकसम्बन्धिज्ञानादिति यावत् । उत्पन्नेनेति । अस्य ‘स्मरणेन’ इत्यनान्वयः । ‘सदृशपदार्थानुभवोद्बुद्धसंस्कारजन्यं स्मरण स्मरणालङ्कार’ इत्यर्थकम् सर्वस्वकाररत्नाकरोक्त मूलोद्भूत लक्षणम् न सम्यक्, तस्य ‘सन्त्येवास्मिन्’— इति लक्ष्योऽव्याप्तत्वात् । अयं भावः ‘सन्त्येव’ इत्यत्र प्रथमं चातकानुभव, ततः ‘एक-सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति’ इति न्यायेन मेघस्मरणम्, तेन स्मरणेन मेघसदृश-कृष्णविषयकसंस्कारोद्बोधः, उद्बुद्धेन तेन संस्कारेण कृष्णस्मरणम्, तच्च स्मरणं कवि-गतस्य पद्यप्रधानव्यञ्जयस्य भागवद्विषयकवृत्तिभावत्वोपस्कारकत्वाद्भूतमिति समुचितं तस्मालङ्काररूपत्वम् । किंतु पूर्वोक्तलक्षणेन वास्य संग्रह सम्भवति, अस्य स्मरणस्य मेघरूप-सदृशस्मरणप्रयोज्यत्वेन सदृशानुभवप्रयोज्यत्वविरहात् । अतः लक्षणघटकस्य ‘सदृशानु-भवात्’ इत्यस्य स्थाने ‘सदृशज्ञानात्’ इति कथनं युक्तम्, यत्. सदृशज्ञानपदेन सदृशस्मरण-स्यापि बोधे तस्य लक्ष्यस्य संग्रह सम्भवेदिति सांशः ।

अब ‘अलंकार सर्वस्व’ और ‘अलंकाररत्नाकर’ के लक्षण का अनुवाद करके स्पष्टन किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । ‘सदृशपदार्थ’ के अनुभव—प्रत्यक्ष ज्ञान—से होनेवाले अन्य वस्तु के स्मरण का नाम स्मरणालङ्कार है । यह जो ‘अलंकारसर्वस्व’ तथा ‘रत्नाकर’ नामक निबन्ध में लिखा गया है, वह भी ठीक नहीं है । कारण, यह लक्षण उस स्मरण में अव्याप्त है—अर्थात् इस लक्षण से बस स्मरण का संग्रह नहीं होता, जो सदृश पदार्थ के अनुभव से नहीं अपितु सदृश पदार्थ के स्मरण से संस्कारोद्बोध द्वारा उत्पन्न होता है । जैसे—‘सन्त्येवास्मिन्’—अर्थात् इस संसार में यद्यपि बहुतेरे पक्षी रमणीय रूप वाले हैं, पर मेरी वासना-धारणा-सबसे अधिक उन चातकपक्षियों के विषय में ही रहती है अपने मित्र-संबन्धी-मेघ का स्मरण करानेवाले तिन चातकों के नयेगोचर होने से

कृष्णनामक अगोचर ब्रह्म स्मृति पथ में आरुढ़ हो जाता है।' यहाँ चातकरूप एक सबन्धी के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से 'एक सबन्धी का ज्ञान अपर सबन्धी का स्मरण कराता है' इस न्याय के अनुसार उस मेघ का स्मरण होता है जो कृष्ण भगवान् के सदृश है और उस मेघस्मरण से तत्सदृश भगवान् कृष्ण का वह स्मरण होता है, जो पद्य के प्रधान व्यङ्ग्य कविगत भगवद्विषयक रतिभाव का अङ्ग है—पोषक है। तापर्य यह कि यहाँ कृष्णस्मरण सर्वसम्भति से स्मरणालंकार होने योग्य है, किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार इसका सप्रह नहीं हो पाता, क्योंकि यह स्मरण सदृश पदार्थ—मेघ—के अनुभव (प्रत्यक्ष) से उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु उसके स्मरण से उत्पन्न हुआ है। यदि लक्षण में 'सदृशानुभवात्—सदृश पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से' इसके स्थान पर 'सदृशज्ञानात्—सदृशपदार्थ के किसी तरह के (प्रत्यक्षात्मक अथवा स्मरणारम्भक) ज्ञान से' ऐसा निवेश किया जाय, सब उक्त भगवत्स्मरण का भी सप्रह हो सकता है।

स्मरणालङ्कारध्वनि निरूपयितुमाह—

अथास्य ध्वनिः ।

अथेति । परमतनिरसनानन्तरमित्यर्थ । अस्य स्मरणालङ्कारस्य । ध्वनिरिति । उत्तमोत्तमकव्यताप्रयोजको वैयञ्जनिकबोध इति भाव ।

स्मरणालङ्कारध्वनि का निरूपण करने की बात कही जाती है—अथ इत्यादि । अब यहाँ स्मरणालङ्कारध्वनि का आरम्भ समझना चाहिए ।

स्मरणालङ्कारध्वनिमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हन्त वनान्तरालम् ।

सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः ॥’

कमनीयकाननमध्यगत कश्चित् परासृष्टि—हन्त श्रद्धे । स्तबकानताभि पुष्पगुच्छा-पत्राभिः, लताभिः वल्लीभिः, मनोहरम् रमणीयम्, इदं प्रत्यक्षदृश्यमानम्, वनान्तरालम् वनमध्यभागः, सदैव नैरन्तर्येण, सेव्यम् आश्रयणीयम्, कदा ? यदि स्तनभारवत्या कुचभारयुता (एतेन नम्रीभाव आवेद्यते), युवत्या तरुण्या, हृदयं मनः, न, हरेयुः 'चरीकुर्युरित्यर्थः' ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदम् इत्यादि । सुन्दरतम कानन के मध्य में अवस्थित कोई पुरुष अपने मन में सोच रहा है—आह ! पुष्प गुच्छों से नमी हुई लताओं से छलित यह घन-मध्य सदा ही सेवन करने योग्य है, यदि स्तन-भार से युक्त (भवन्त) युवतियाँ हृदय हरण न कर लें ।

उपपादयति—

अत्र स्तबकानताभिर्लताभिः स्तनभारवतीनां युवतीनां स्मरणमलङ्कार्यस्या-न्यस्याभावादनुपसर्जनम्, स्तनस्तबकरूपस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नस्य साधारणधर्मस्य वाच्यत्वेऽपि तत्प्रयोजितसादृश्यमूलकस्य स्वस्य शब्दवाच्यत्व-विरहाद् व्यङ्ग्यं च ।

अत्रेति । 'इदं लताभिः -' इति पद्य इत्यर्थः । लताभिरिति । प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः । अस्य च स्मरणमित्यत्रान्वयः । अनुपसर्जनमिति । अगौणमित्यर्थः । प्रधानमिति यावत् ।

एवमलङ्कारत्वं निरस्य ध्वनित्वात्प्रपादमित्युमाह—स्तनेति । तदिति । साधारणधर्मत्वर्थः । स्वल्प स्मरणस्य । व्यङ्ग्यं च स्मरणमिति पूर्वप्रान्वयः । 'इदं लताभि—' इति पद्यप्रवक्तुः यद्विग्रहितस्य पुष्पस्य स्तबकानतलताज्ञानात् सत्कारोद्बोधक्रमेण स्तनभारयुतपुष्पतीजन-स्मरण जातमिति विप्रतिपत्तिहीनं वचः, तच्च स्मरणं सादृश्यमूलम्, सादृश्यं च विम्बप्रति-विम्बभावापन्नस्तनस्तबकरूपसाधारणधर्मप्रयोज्यम् अतः सर्वथा स्मरणालङ्कारसम्पत्ति-योग्यमिदं स्मरणम्, परन्तु पदाख्यास्य काव्यताया प्रयोजक, चमत्कारवतया प्रपानोऽर्थः । स्मरणमेवैतत्, एवञ्च 'उपस्कारकत्वं'रूपसकलालङ्कारलक्षणप्रविष्टविशेषणैः व्यावर्त्यतेऽ-स्यालङ्कारत्वम्, अतोऽत्र व्यङ्ग्यालङ्कारव्यवहारो न, अलङ्कारत्वमाप्तस्यैव पदार्थस्य व्यङ्ग्यत्वे तथा व्यवहारप्रवृत्तेरिष्टत्वात्, विम्बप्रतिविम्बभावापन्नस्तनस्तबकरूपसाधारणधर्म-प्रयोज्यसादृश्यमूलकोऽयं स्मरणपदार्थो न वाच्यो व्यङ्ग्य एवेत्यत्र यद्यपि न कश्चित् सन्देहः, तथापि नालङ्कारत्वमाप्त इति पूर्वमुक्तम् । एवञ्च स्मरणालङ्कारध्वनिरसमिति फलितम् । अलङ्कारभावानापन्नपदार्थध्वननेऽलङ्कारध्वनिव्यवहार एव कथमिति तु न संशेतव्यम्, अलङ्कार-त्वयोग्यपदार्थध्वनन एवालङ्कारध्वनिव्यवहारस्य प्रागुपपादितत्वात्, अलङ्कारत्वमप्राप्तेऽप्यत्र स्मरणे तद्योग्यत्वं विद्यत एवेति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र हस्तादि । 'इदं लताभि—' इस पद्य में पुष्प-गुच्छों से बनी हुई लताओं द्वारा स्तनभार से युक्त पुष्पियों का स्मरण हुआ है और यह स्मरण ही इस वाक्य का प्रधान अर्थ है—इस वाक्य को काव्य-कोटि में लाने वाला चमत्कारी अर्थ है, इस वाक्य का प्रतिपाद्य कोई ऐसा दूसरा अर्थ नहीं है जो सर्वाधिक चमत्कारी होने के कारण प्रधान हो, फलतः यह स्मरण किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं है, साथ-साथ यह स्मरण व्यङ्ग्य भी है, क्योंकि 'स्तनों' और 'पुष्प-गुच्छों'रूप विम्बप्रति-विम्बभावापन्न साधारणधर्म के वाच्य होने पर भी उसके द्वारा सिद्ध सादृश्य मूलक स्मरण किसी शब्द से वाच्य नहीं है । अतः इस पद्य को स्मरणालङ्कारध्वनि का उदाहरण माना जाता है । स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि—यद्यपि पण्डितराज व्यङ्ग्य अलङ्कार भी मानते हैं तथापि यहाँ व्यङ्ग्य स्मरणालङ्कार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ किसी अन्य अलङ्कार्य—प्रधान—अर्थ के न रहने से यह स्मरण उपस्कारक नहीं है और व्यङ्ग्य अलङ्कार का व्यवहार यहाँ होता है जहाँ कोई श्लेषकारक पदार्थ व्यङ्ग्य होता है । साथ पूछ सकते हैं कि—जब ऐसी स्थिति है तब स्मरणालङ्कारध्वनि का ही व्यवहार यहाँ कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह होगा कि—अलङ्काररूप नहीं अपितु अलङ्कार होने योग्य पदार्थ के ध्वनित होने पर ही अलङ्कारध्वनि का व्यवहार होता है यह बात पहले युक्ति-पूर्वक प्रतिपादित हो चुकी है और यहाँ का स्मरण उपस्कारक न होने के कारण अलङ्काररूप भले ही न हो, पर सादृश्यमूलक होने से अलङ्कार होने की सामान्य योग्यता तो रखता ही है ।

पद्यपटकस्य 'युवत्य' इति पदस्यासाधुतां मनसि कृत्वा समाधत्ते—

युवत्य इति च 'सर्वतोऽकिन्नर्यात्' इति ङीष्णि साधुः ।

यद्यपि ह्रस्वेकारान्तयुवतिपदमेव प्रचुरप्रयोगतया प्रसिद्धं तस्य च प्रथमाबहुवचने 'युवतय' इति रूपमेव समुचितम्, तथापि 'सर्वतो—' इत्यनेन ङीष्णि दीर्घकार-विशिष्टस्य 'युवती'पदस्य प्रथमाबहुवचने 'युवत्य' इत्यपि साध्वेति भावः । अत्र "यौतैः शन्नन्तात् ङीष्णि साधुत्वं भवति । 'सर्वतः—' इत्येतत्पर्यन्तासाधुत्वं व्यर्थम् दुष्टं चेति" नागेशः ।

‘युवत्यः’ इस पद की साधुता दिखलाई जाती है—युवत्य इत्यादि । ह्रस्व इकारान्त ‘युवति’ शब्द—जो अधिक प्रसिद्ध है—का रूप प्रथमावहुवचन में यद्यपि—‘युवत्यः’ ही होता है, तथापि ‘सर्वतः—’ इस धार्तिक से ङीप् प्रत्यय कर देने पर वह दीर्घ ईकारान्त ‘युवती’ शब्द भी निष्पन्न होता है, जिसका ‘युवत्यः’ ऐसा रूप हो सकता है । शतृप्रत्ययान्त यु धातु से ङीप् प्रत्यय करके भी दीर्घ ईकारान्त युवती शब्द बन सकता है यह भी समझना चाहिए ।

उदाहरणान्तर दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘इदमप्रतिम पश्य सरः सरसिजैर्घृतम् ।

सखे मा जल्प नारीणां नयनानि दहन्ति माम् ॥’

द्वयोर्मित्रयोर्हक्तिप्रत्युक्ता । एक कथयति—सरसिजै कमलैः, घृतं परिपूर्णम्, अत एव अप्रतिम अनुपमम्, इदं प्रत्यक्षभूतम्, सर सरोचरम्, पश्य श्रवणोक्तम् । अपर आह—सखे मित्र । मा जल्प ईदृशीं वार्तां न कथय, कुत ? यत नारीणां कामिनीनाम्, नयनानि नेत्राणि, मा दहन्ति दग्धं कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदमित्यादि । यह दो मित्रों की उक्ति-श्रुत्युक्ति है । एक मित्र कहता है—कमलों से परिपूर्ण इस अनुपम सरोवर को देखो । दूसरा मित्र उत्तर देता है—मित्र ! ऐसी बात न करो, मुझे नायिकाओं के नेत्र दग्ध किए डालते हैं ।

उपपादयति—

अत्रापि सरसिजज्ञानाधीनतत्सदृशस्मृतिः प्राधान्येन ध्वन्यते ।

‘इदमप्रतिमम्—’ इत्यत्र कमलानां शाब्दबोधोपात्मकेन ज्ञानेन सरसरोद्बोधोपद्वारा जन्यमानं कमलसदृशानादीनयनस्मरण प्रधानतयाऽभिव्यज्यते इति स्मरणालङ्कारध्वने-रुदाहरणमेतदपि पद्य सम्पद्यते इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । ‘इदम्—’ इस पद्य में भी कमलों के ज्ञान (शाब्दबोधोपात्मक) से होने वाला कमल-सदृश नारी-नयनों का स्मरण प्रधानरूप से ध्वनित होता है, अतः यह पद्य भी स्मरणालङ्कारध्वनि का उदाहरण समझा जा सकता है ।

अपात्यालङ्कारस्य दोषान् निरूपयति—

अथास्मिन् स्मरणालङ्कारे उपमादोषाः प्रायशः सर्वे एव दोषाः । विशेषतश्च नियमेनास्मिन् व्यव्ययमानसादृश्यके सादृश्यस्य शब्दवाच्यतायां दोषः ।

यथा—

‘उपकारमस्य साधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य ।

दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः ॥’

अत्र स्मृत्यैव घनसादृश्य भगवतः प्रतीयमान वाच्यवृत्त्या कदर्थितं निवेद्यते । देवकीतनय इति तु साधु ।

ये उपमादोषाः प्राणुपपादिताः ते सर्वे प्रायः स्मरणालङ्कारस्यापि चमत्कारापकर्षकवा-
दोषाः । तदतिरिक्तश्च सादृश्यस्य शब्दवाच्यत्वमस्य विशिष्टो दोषः । अथ कथमस्य दोषत्व-

मिति चेत्, अत्रालङ्कारे सादृश्यस्य व्यञ्जनया प्रतीयमानत्वनियमेनानावश्यकस्य शब्दद्वारा तदभिधानस्य पुनरुक्तिरूपत्वेन श्रोतुर्भूत्याघायकत्वादिति बोध्यम् । तादृशादोषोदाहरणं दर्शयति—उपकार इति । अस्य प्रत्यक्षभूतस्य, साधोः परोपकारपरस्य, जलदस्य वारिदस्य, उपकारम्, अर्हं, नैव, विस्मरामि, येन जलदेन दृष्टेन प्रत्यक्षभूतेन सता, सहसा हठात्, नवघनश्यामः श्रीकृष्ण, निवेद्यते स्मार्णते इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । अयं भावः—‘उपकारमस्य’ इत्यत्र ‘निवेद्यते’पदबोधेन स्मरणेनैव श्रीकृष्णस्य भेषसादृश्यं प्रतीयत इति पुनः नवघन इव श्याम- इत्येवं विप्रवर्णयेन ‘नवघनश्याम’ इति समस्तपदेन तदभिधानं दोष इति । दोषपरिहारप्रकारमाह—देवको इति । ‘नवघनश्यामः’ इत्यस्य स्थाने ‘देवकीतनय’ इति पाठे कृते निर्दुष्टमिदं पद्य स्यादित्यर्थः ।

अथ स्मरणालङ्कार में होनेवाले दोषों का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि । इस स्मरणालङ्कार में प्रायः ने सभी दोष होते हैं जो उपमा के दोष माने गए हैं, तदतिरिक्त इस अलङ्कार का खास दोष यह है कि—सादृश्य का शब्दवाच्य बना देना और सादृश्य की शब्द वाच्यता इसलिए यहाँ दोषरूप हो जाती है कि जब इस अलङ्कार में सादृश्य की प्रतीति नियमत- व्यञ्जना द्वारा होती ही रहती है तब वह एक तरह से पुनरुक्तिरूप हो जाती है । जैसे—‘उपकारमस्य’ अर्थात् मैं इस परोपकारी जलद का उपकार भूलना ही नहीं, जो दृष्टिगोचर होते ही नवघनश्याम (नवीन भेष के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण) का स्मरण करा देता है । यहाँ ‘निवेद्यते’ पद से जपगत होनेवाले स्मरण से ही भगवान् श्रीकृष्ण का भेषके साथ सादृश्य प्रतीत होता है फिर जो ‘घनश्याम’ पद—जिसका अर्थ समासमर्यादा से घन के समान श्याम होता है—से उस सादृश्य को वाच्य बनाया गया है वह कदर्यना है—दोष है । हाँ, यदि ‘नवघनश्याम’ शब्द के स्थान पर ‘देवकीतनय’ शब्द रक्खा जाय, तब पद्य निर्दोष हो सकता है ।

साधारणधर्ममूलकं विरोधं निरूपयितुमुपक्रमते—

अत्र सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानानुपादानयोरुपमा-यामिषात्रापि व्यवस्था । सथा हि उपमायां तावत्कचिद्धर्मो नियमेन प्रतीयमानः साक्षान्नोपादेय एव । यथा ‘शङ्खवत्पाण्डुरच्छविः’ इत्यत्र पाण्डुरत्वम् । ‘शङ्खवत्पाण्डुरोऽयम्’ इत्यादौ तु नानाधिषेपु धर्मेष्वनेनैव धर्मेण सादृश्यमित्यस्य दुरवगमत्वात्, सर्वत्रोपमानोपमेयसाधारणस्य श्लिष्टशब्दात्मकस्यान्यस्य वा स्वात्मभिप्रेतस्य साधारणधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वसम्भवात्तद्वारणाय पाण्डुरत्वादिधर्मो वाच्यतां नीयते । यथा वा ‘अरविन्दमिव सुन्दरं मुखम्’ इत्यादौ सुन्दरत्वादिः । न नीयते च क्वचित्, वक्तुरन्यस्यानुपस्थानात्प्रसिद्धेः प्राबल्यात् । यथा ‘अरविन्दमिव मुखम्’ इत्यादौ स एव । अप्रसिद्धश्च धर्मोऽवश्यं साक्षादुपादेयः । अन्यथा तस्याप्रतिपत्तौ क्वेस्तदुपमानिर्माणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । यथा ‘नीरदा इव ते भान्ति बलाकारजिता भटाः’ इत्यादौ श्लिष्टशब्दात्मकः । इत्थं च कश्चित्साधारणो धर्मः साक्षादनुपादेय एव । कश्चिदुपादेयानुपादेयश्च । कश्चिदुपादेय एवेति सहृदयसम्मतः समयः । एवमेवोपमाजीवातुकेऽस्मिन् स्मरणालङ्कारेऽपि बोध्यम् ।

अत्रेति । स्मरणालङ्कारे इत्यर्थः । अस्योपादानादावेवान्वयः । दावयोरिति । सतोऽरिति शेषः । अत्रापि इति । स्मरणालङ्कारेऽपीत्यर्थः । स्फुटत्वाय पुनरुक्तिः । प्रतीयमान इति ।

शब्दाभावेऽपि गम्यमान इत्यर्थः । साक्षादिति । उपमानोपमेयविशेषणत्वेनेत्यर्थः । यथेति । उपमेयविशेषणच्छविविशेषणतयोपस्थितपाण्डुरत्वस्यैव प्रत्यासत्त्या तत्र गम्यमानत्वादिति भावः । ननु धर्मान्तरस्योपमाप्रयोजकत्वाभावादेव नैव सादृश्यं दुरवगममत आह—सर्वत्रेति । स्वानभिप्रेतरस्य साधारणधर्मस्येति । अत्र साधारणपदमधिकं प्रतिभाति, 'उपमानोपमेयसाधारणस्य' इति प्रागुक्तविशेषणघटकसाधारणपदेनैव तदर्थत्वाभात् । वाच्यता नीयत इति । वाच्यो विधीयत इति भावः । विशेष वक्तुमस्य द्वितीयमुदाहरणमाह—यथा चेति । न नीयते चेति । वाच्यतामित्यस्यानुपज्ञ । अनुपस्थितौ हेतुमाह—प्रसिद्धेरिति । स एवेति । सुन्दरत्वादिरित्यर्थः । अन्यथा साक्षादनुपादाने । तस्य साधारणधर्मस्य । अप्रतिपत्तौ अप्रतीतौ । 'नीरदा इव.....' इति । बलाकाराजिता बलाकाराभ्याम् अजिता, ते भटा योद्धार, बलाकाभि वक्रपङ्क्तिभिः, राजिता शोभिता, नीरदा मेघा, इव, भान्ति प्रतीयन्त इत्यर्थः । उपसंहारति—इत्थं चेति । यथोपमायामिति शेष । समयः सिद्धान्तः । एवम् उपमावत् । जीवानुजीवनौपधम् । सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानेऽनुपादाने वा सति यथोपमाया व्यवस्था भवति, तद्यथा स्मरणालङ्कारेऽपि सा भवति । क्रीडशी व्यवस्थोपमाया मिति चेदित्यम्—यत्र यो धर्मो नियमेन वाचकमन्तरापि प्रतीयमानः तत्र स धर्म साक्षात्नोपादेयः । यथा—'शङ्खवत्पाण्डुरच्छवि' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्मो नोपादेयः, 'शङ्खवच्छवि' इत्येतावदुच्चावपि पाण्डुरत्वस्योक्तीत्या प्रतीते । यत्र च यो धर्मो न वाचकमन्तरेण नियमतः प्रतीयमानस्तत्र पुनः स धर्म साक्षादुपादेय एव । यथा—'शङ्खवत्पाण्डुरोऽयम्' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्म उपादेय एव, उपादानं विना तस्य प्रतीतेरनियमात्, वक्तुरनभिप्रेतस्यापि श्लिष्टशब्दात्मकस्यान्यस्य धोपमाप्रयोजकस्य धर्मस्य सम्भाव्यमानत्वात् । यत्र च यो धर्मः प्रसिद्धेरनुरोधे नियमतः प्रतीयमानः प्रसिद्धेरनुरोधे पुनर्नियमतः प्रतीयमानस्तत्र स धर्मः साक्षादुपादेयोऽपि नापि नोपादेयः । यथा—'अरविन्दमिव सुन्दर मुखम्' 'अरविन्दवन्मुखम्' इत्यनयो स्थलयो क्रमशः सुन्दरत्वोपादानतदभावश्च । अप्रसिद्धो धर्मः साक्षादुपादेय एव । यथा—'नीरदा इव.....' इत्यादौ 'बलाकाराजित्वादिः, अन्यथा तदप्रतीतौ उपमेव न सम्पद्येत, कश्चित् तत्सम्पत्तौ वा कवि विवक्षितार्थाप्रतीतिरेवेति भावः । अन्यत् सुगमम् ।

साधारणधर्ममूलक कुछ विशिष्ट बातों का विचार किया जाता है—अत्र इत्यादि । इस स्मरणालंकार में भी सादृश्य-साधक-साधारणधर्म के साक्षात् ग्रहण करने और न करने की व्यवस्था उपमालंकार की ही तरह होती है । अभिप्राय यह कि जिस तरह, उपमा में, कहीं, नियमतः—वाचक के बिना भी—प्रतीत होनेवाले धर्म का साक्षात् ग्रहण करना उचित नहीं होता, जैसे—'शंख को तरह श्वेत कान्ति वाला', यहाँ श्वेतत्वरूप धर्म का उपादान उचित नहीं । कारण, साक्षात् ग्रहण न करने पर भी उसकी प्रतीति हो ही जाती है, क्योंकि कान्ति में शंख के समान श्वेतत्व धर्म की ही सम्भावना है, अन्य की नहीं । 'शंख के समान श्वेत यह' इत्यादिक में तो श्वेतत्व धर्म का साक्षात् ग्रहण करना उचित ही है, क्योंकि यदि 'शंख के समान यह' इतना ही कहा जाय, तब ऐसे अनेक धर्मों की संभावना की जा सकती है यन्मूलक शंख की समता 'यह' पदार्थ में दी जा सके, जैसे घुण्टल्य आदि, यह बात दूसरी है कि वे धर्म वक्ता के अभिमत हों अथवा नहीं, ऐसी स्थिति में पाण्डुरत्व धर्ममूलक ही शंख की समता—जो वक्ता का अभिमत है—नहीं समझी जा सकती । स्पष्ट अभिप्राय है कि—सब जगह उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने वाला 'श्लिष्टशब्दरूप' अथवा अन्य कोई कवि का अनभिमत धर्म

भी उपमा का प्रयोजक हो सकता है, अतः अनभिमत धर्म को प्रकृत उपमा का प्रयोजक न समझ लिया जाय इसलिये कवि के अभिमत धर्म का ग्रहण ऐसे स्थलों पर आवश्यक हो जाता है। अथवा जैसे—'कमल-सा सुन्दर मुख' इत्यादि में सुन्दरता आदि धर्म का ग्रहण केवल इसलिये किया जाता है कि इससे भिन्न किसी धर्म को उपमा का प्रयोजक न मान लिया जाय। कहीं ऐसे प्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण नहीं भी किया जाता, जैसे—'कमल सा मुख' इत्यादि में 'सुन्दरता' आदि का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि प्रसिद्धि की प्रवृत्तता से अन्य धर्म की उपस्थिति वक्तु अथवा श्रोता किसी को होती ही नहीं। हाँ, अप्रसिद्ध धर्म का साक्षात् ग्रहण करना अव्यावश्यक होता है, अन्यथा श्रोताओं को उस धर्म का ज्ञान नहीं होने से कवि का उपमासृष्टिप्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। जैसे—'नीरदा इव—अर्थात् वे योद्धा मेघों के समान प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे मेघ 'बलाकाराजित (बगुलों की पङ्क्ति से शोभित) हैं वैसे ही वे भी 'बलाकाराजित' (बल और आकार के कारण अजित—किसी से न जीते गए) हैं।' इत्यादि में 'बलाकाराजित' आदि श्लिष्ट शब्दरूप धर्म। तात्पर्य यह हुआ कि यदि ऐसे धर्मों को स्पष्ट शब्दों में न लिखा जाय तब श्रोतागण समझ ही नहीं पायेंगे कि मेघों और योद्धाओं में क्या समान धर्म है। अतः ऐसे अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण अव्यावश्यक है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में कुछ साधारणधर्म ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण नहीं होना चाहिए, कुछ ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका ग्रहण करना ही चाहिए, यह है सहृदयों का सम्मत सिद्धान्त। यही व्यवस्था स्मरणालङ्कार के विषय में भी समझनी चाहिए। कारण, इस स्मरणालङ्कार में प्राण डालने वाली उपमा ही है, सारांश यह कि स्मरणालङ्कार में भी साधारणधर्म उक्त तीनों प्रकार का हो सकता है।

उक्तविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनायाह—

तत्रानुगामिनि धर्मे 'स्मृत्यारूढ भवति किमपि' इत्यादौ पद्ये निवेदितमेव स्मरणम्। विम्बप्रतिबिम्बभावापन्नेऽपि धर्मे 'भुजभ्रमितपट्टिश—' इत्यादि पद्ये निरूपितम्। कुलिशपट्टिशयोर्भूधरदन्तावलयोश्च विम्बप्रतिबिम्बभावात्।

तत्रेति। प्रागुक्तानुपादेयादिधर्माणा मध्य श्यर्थे। स्मृत्यारूढमिति। एतदन्तिम-
चरणकं सम्पूर्णं पद्यनस्मिन्नेव प्रकरणे प्रागुक्तम्। अत्र श्यामत्वरूपोऽनुगामी धर्मोऽपि-
पात्। निवेदितं कथितम्। स्मरणमिति। स्मरणालङ्कार इति भावः, भुजभ्रमित
इति। इदमपि पद्यं प्रकरणस्यास्य प्रारम्भे उदाहृतं द्रष्टव्यम्। निरूपित स्मरणमिन्वस्यानु-
पत्नं। उपपादयति— कुलिशोत्यादिना। विम्बप्रतिबिम्बभावादिति। पट्टिशदन्तावलयो-
बिम्बत्वं कुलिशाभूधरयोश्च प्रतिबिम्बत्वमिति बोध्यम्। एतच्चात्रावरणकतया साधारणधर्म
उक्त इति भावः।

उक्त तीनों प्रकार के साधारणधर्म उपमा की तरह स्मरणालङ्कार में भी अनुगामी आदि रूप से भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं यह दिखलाने के लिये तादृश उदाहरण दिये जाते हैं—तत्र इत्यादि। उन धर्मों में से अनुगामी साधारणधर्म जहाँ लुप्त है ऐसे स्मरणालङ्कार का उदाहरण 'स्मृत्यारूढ—' इस पद्य के रूप में पहले दिखलाया जा चुका है। यह पद्य सर्वस्वकार आदि के मत का सण्ठन करते समय इसी प्रकरण में लिखा गया है। यहाँ श्यामत्वरूप अनुगामी साधारणधर्म का अप्रहण है। उक्त विचार के अनुसार आवश्यक होने के कारण विम्बप्रतिबिम्बभावात् साधारणधर्म जहाँ उक्त है ऐसा स्मरणालङ्कारोदाहरण भी 'भुज—' इस पद्य के रूप में कहा जा चुका है। यह

पद्य हृत्सी प्रकरण के आदि में ग्रन्थकार ने स्वसम्मत उदाहरण देते समय लिखा है। यहाँ 'वज्र' और 'पट्टिश' एव पर्वत और गज में विग्वप्रतिविग्वभाव है। अर्थात् पट्टिश और गज विग्व हैं तथा वज्र और पर्वत प्रतिविग्व । और ऐसा यह साधारणधर्म यहाँ उपात्त है।

एव श्रुतगामिचिन्वप्रतिचिन्वभावापचेति द्विविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणभूतपद्युगलं स्मारयित्वोपनरितधर्ममूलकतदुदाहरण दर्शयितुमाह—

उपचरिते यथा—

उपचरिते धर्मे स्मरणं यथेत्युपपन्न ।

उक्त द्विविधधर्ममूलक स्मरणालङ्कार के उदाहरणभूत पूर्वोक्त दो पद्यों का स्मरण कराकर अन्यविधधर्ममूलक स्मरण का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है— उप ह्यादि । जहाँ साधारणधर्म उपचरित (आरोपित) रहता है वैसे उदाहरण, जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कचिदपि कार्ये मृदुलं कापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते ।

को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम् ॥’

कवि राजानं स्तौति—हे नराधिप राजन् ! कचिदपि कस्मिंश्चिदपि कार्ये कर्तव्ये विषये, मृदुल कोमलम्, कापि च कुत्रचिच्च कार्ये, कठिन कठोरम्, ते तव, हृदय मन, विलोक्य ज्ञात्वा, श्रौचित्यात् ज्ञानविशेषार्थकस्यापि लोकात्तेरेत्र ज्ञानसामान्यार्थकत्वात्, क मनुष्य, नवनीतम्, किं च तथा शतकोटिं वज्रम् न स्मरति ? सर्वोऽपि स्मरतीत्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कचिदपि ह्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! किसी कार्य में कोमल और किसी कार्य में कठोर तेरे हृदय को समझ कर कौन मनुष्य मक्खन तथा वज्र का स्मरण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ।

उदाहरणान्तर दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अगाध परितः पूर्णमालोक्य स महार्णवम् ।

हृदयं रामभद्रस्य सस्मार पवनात्मज ॥’

स प्रसिद्ध, पवनात्मज हनुमान्, अगाधं अतिगभीरम्, परितः सर्वतः, पूर्णम् अरिफम्, महार्णव समुद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, रामभद्रस्य रामचन्द्रस्य, हृदयं चेतः, सस्मार स्मृतापानित्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अगाधम् ह्यादि । उस सुप्रसिद्ध हनुमान् ने अतलरूपशी तथा चारों तरफ से भरे-पूरे समुद्र को देखकर भगवान् रामचन्द्र के हृदय का स्मरण किया ।

उपपादयति—

अत्र मृदुलत्वाद्यो धर्मो ह्युपचरिताः ।

प्रथमे पद्ये मूर्तेधर्मयोर्मृदुस्त्वस्तेरत्तयोः अमूर्ते हृदये समारोप, एवं द्वितीयपद्ये समुद्रधर्मस्यागाधन्वस्य हृदये स इति भावः ।

उपपादन क्रिया जाना है—अत्र इत्यादि । प्रथम उदाहरण में कोमलता तथा कठोरता—जो मूर्त (दृष्टिगोचर होने योग्य) पदार्थों के धर्म हैं—का अमूर्त हृदय में आरोप हुआ है । इसी तरह द्वितीय उदाहरण में अगाधता—जो समुद्र का धर्म है—का हृदय में आरोप हुआ है ।

उदाहरणद्वयदाननिदानभूतं विशेषमाह—

इयांस्तु विशेष—यदेकत्रानुभूयमाने हृदये स्मर्यमाणनयनीतादेः सादृश्यस्य सिद्धिः, अपरत्र तु स्मर्यमाणे हृदयेऽनुभूयमानसमुद्रस्येति, सादृश्यस्योभयाश्रयत्वात् ।

एकत्र प्रथमपद्ये । अपरत्र द्वितीयपद्ये । समुद्रस्येति । सादृश्यस्य । सिद्धिरित्यस्यानुपपन्नं, उभयाश्रयत्वादिति । उभयनिरूप्यत्वादिति भावः । 'कश्चिदपि—' इत्यत्र रात्रौ हृदयमनुभूयमानं वस्तु तत्र स्मर्यमाणस्य नयनीतशतकोटियुगलस्य सादृश्यं सिद्धयति । 'अगाधम्—' इत्यत्र तु अनुभूयमानस्य, समुद्रात्मकस्य वस्तुन सादृश्यं स्मर्यमाणे हृदये सिद्धयतीति द्वयोर्उदाहरणयोर्विशेषः । एतद्विशेषप्रदर्शनार्थेनोदाहरणद्वयदानम् । अमद्गतोऽयं विशेष इति चेन्न, उभयप्रोपमानोपमेययो सादृश्यं विवक्षितम् । तच्चोभयथापि वर्णयितुं शक्यम्, उपमानप्रतियोगिकोपमेयानुयोगिकतया उपमेयप्रतियोगिकोपमानानुयोगिकतया वा सादृश्यस्योभयनिरूप्यत्वात्, एवञ्च प्रथमपद्ये स्मर्यमाणोपमानप्रतियोगिकानुभूयमानोपमेयानुयोगिकस्य, द्वितीयपद्ये चानुभूयमानोपमानप्रतियोगिकस्मर्यमाणोपमेयानुयोगिकस्य सादृश्यस्य सिद्धौ बाधकविरहादिति भावः ।

दोनों उदाहरणों में परस्पर बैलक्षण्य त्रिखलाया जाता है—इयांस्तु इत्यादि । प्रथम पद्य में अनुभव किये जाते हृदय में स्मरण किये जाते 'मञ्जु' आदि के सादृश्य की सिद्धि हुई है और द्वितीय पद्य में स्मरण किये जाने वाले हृदय में अनुभव किये जाने वाले समुद्र के सादृश्य की, क्योंकि सादृश्य अनुभूत होने वाले और स्मृत होने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बन्ध रहता है । स्पष्ट तात्पर्य यह कि एक जगह उपमेय के अनुभव से उपमान का और दूसरी जगह उपमान के अनुभव से उपमेय का स्मरण हुआ है ।

धर्मान्तरमूलकसुदाहरणं दर्शयितुमाह—

केवलशब्दात्मके यथा—

श्लिष्टशब्दनात्रात्मके धर्मे स्मरणं यथेत्यनुपपन्नं ।

जहाँ केवल श्लिष्टशब्दरूप साधारणधर्ममूलक सादृश्य की प्रतीति होती है ऐसे स्मरणालंकार का उदाहरण । जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाह्माकर्णयामि नियमेन ।

आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्ग्यासः ॥'

कवेरुक्ति—अहम्, यदा यस्मिन् क्षणे, भ्रमरहितं नानाविधपुष्पविकसद्द्वारा मधुप्रापकत्वात् भ्रमराणां हितम्, ऋतुराजं वसन्तम्, आकर्णयामि शृणोमि, तदैव तस्मिन्नेव क्षणे, भगवान् व्यासो मुनिः, स्मृतिपथम् आरोहति स्मृतिविषयो भवति, यत् सोऽपि भ्रमरहितः भ्रमेण होतः—प्रमाता इत्यर्थः ।

३८ २० गं० द्वि०

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—ऋतुराजम् इत्यादि । कवि का कथन है—मैं जब 'भ्रमर-हित'-भ्रमरों के हितकारी—ऋतुराज-वसन्त—को सुनता हूँ, तभी भगवान् व्यास मुनि मेरे स्मृति-पथ में नियमित आरूढ़ हो जाते हैं, क्योंकि वे भी भ्रमर-हित—भ्रमहीन—(यथार्थज्ञानकर्ता) हैं ।

उपपादयति—

अत्र भ्रमरहितशब्दो व्यासवसन्तयोः साधारणः ।

'ऋतुराजम्—' इति पद्ये वर्ण्यमानयोर्व्यासवसन्तयोः सादृश्यस्य साधको न कश्चित् अर्थार्थक साधारणो धर्म, अपि तु 'भ्रमरहित' शब्द एव केवलोऽर्थभेदेनोभयत्र विशेषणी-भवन् साधारणधर्मता प्रतिपद्यत इति भाव ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'ऋतुराजम्—' इस पद्य में वर्णनीय व्यास और वसन्त के सादृश्य को सिद्ध करने वाला कोई अर्थार्थक साधारणधर्म नहीं है, अपितु 'भ्रमरहित' शब्द ही अर्थभेद से दोनों (व्यास और वसन्त) का विशेषण होने से साधारणधर्मरूप होता है ।

उपसहरन्नाह—

एवमन्येऽपि प्रभेदाः सुधीभिरुन्नेयाः । इह पुनर्विज्ञानमुपदर्शितम् ।

उपमावत् स्मरणालङ्कारस्यापि निरूपिततरा कियन्तो भेदाः सम्भवन्ति, ते विज्ञे स्वयमनुसन्धेया । स्वयमनुसन्धाने सहायकतया केवल दिग्दर्शनमत्र कारितं ग्रन्थ-कृत्येति भाव ।

उपसहार किया जाता है—एवमिति । उपमा की तरह स्मरणालङ्कार के भी साधारण-धर्मवैचित्र्यमूलक और अनेक भेद हो सकते हैं जिनका उह स्वयं सुधी जनों को कर लेना चाहिए । ग्रन्थकार ने तो यहाँ केवल दिग्दर्शन कराया है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकाया स्मरणालङ्कारनिरूपण समाप्तम् ।

स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं रूपकालङ्कारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथाभेदप्रधानेषु रूपक तावन्निरूप्यते ।

अथेति । स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थ । अभेदप्रधानेष्विति । अलङ्कारेष्विति शेष । तावन् आदौ । एव च पूर्वं भेदाभेदोभयप्रधाना अलङ्कारा निरूपिता, सम्प्रति बहुलङ्कारव्यापित्वेन प्रसिद्धतया प्राधान्येन च रूपकनिरूपणमिति भाव ।

स्मरणालङ्कारनिरूपण के बाद अब रूपकालङ्कार का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि । जिनमें भेद तथा अभेद दोनों की प्रधानता समानरूप से रहती है उन अलङ्कारों का निरूपण पहले किया जा चुका है, अब, जिनमें अभेद की ही प्रधानता होती है उन अलङ्कारों में भी सर्वप्रधान तथा बहुतेरे अभेद प्रधान अलङ्कारों के मूलभूत रूपकालङ्कार का निरूपण सबसे पहले किया जाता है ।

लक्षण तावन्निरूप्यते—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानता-
दात्म्यं रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कारः ।

उपमेयतावच्छेदकेति । उपमेयतावच्छेदकं मुखत्वादिकं पुरस्कृत्य न तु तत्तिरोपाये-
त्यर्थ । उपमेयतावच्छेदकप्रकारकबोधविरोधे उपमेये इति यावन् । अत्र 'उपमेयतावच्छे-

इवमाश्रयकारकप्रतीतिजनकशब्दबोधे विषये इत्यर्थः । तेनातिशयोक्तौ चन्द्रादिपदान्मुख-
त्वादिना मुखोपस्थितिरिति मतेऽपि नातिव्याप्तिरिति बोध्यमिति' नाशेषः । शब्दान्निर्धाय-
मानमिति । शब्दात्मकप्रमाणजन्यनिश्चयनौचरम्, न तु प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरजन्यनिश्चय-
विषयीभूतमित्यर्थः । उपमानतादात्म्यमिति । उपमानाभेद इत्यर्थः । रूपकम् रूपक-
पदार्थः । तदेव रूपकपदार्थ एव । उपस्कारकत्वेति । प्रधानोत्कर्षकत्वेति भावः । विशिष्टेति ।
युक्त्यर्थः ।

सर्वप्रथम लक्षण किया जाता है—उपमेयता इत्यादि । उपमेयताबच्छेदक (उपमेय
में रहने वाले असाधारण धर्म—मुखत्व आदि) को धारै रखकर—अर्थात् उस धर्म के साथ
समझे जाते हुए, उपमेय (मुख आदि) में शब्द-प्रमाण (न कि प्रत्यक्ष-वस्तु आदि-
प्रमाण) के द्वारा निश्चित की जाने वाली उपमान (चन्द्र आदि) की एकरूपता (अभेद)
को 'रूपक' कहते हैं। यह तो हुआ लोकप्रसिद्ध रूपक पदार्थ का लक्षण, इसीमें यदि
'उपस्कारक अर्थात् प्रधानवाक्यार्थोत्कर्षक' यह विशेषण भी जोड़ दिया जाय, तब यह
साहित्यशास्त्रप्रसिद्ध रूपकालंकार का लक्षण समझा जायगा ।

पदकृत्यं दर्शयति—

उपमेयताबच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपद्भुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्श-
नानां निरासः । अपद्भुतौ स्वेच्छया निषिष्यमानत्वात्, भ्रान्तिमति च तज्जनक-
दोषेणैव प्रतिबध्यमानत्वादतिशयोक्तिनिदर्शनयोश्च साध्यवसानलक्षणाभूलक-
त्वात्उपमेयताबच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कारः । शब्दादिति विशेषणात् 'मुखमिदं
चन्द्रः' इति प्रात्यक्षिकाहार्यानिश्चयगोचरचन्द्रतादात्म्यव्यवच्छेदः । निश्चीय-
मानमिति विशेषणात्सम्भावनात्मनो 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्याद्युत्प्रेक्षाया व्यावृत्तिः ।
उपमानोपमेयविशेषणाभ्यां सादृश्यलाभात् 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यादिशुद्धा-
रोपविषयतादात्म्यनिरासः । सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमात्मन्ति ।

उपमेयताबच्छेदकपुरस्कारेणेति प्रथमविशेषणकृत्यमाह—उपमेयतेति । निरासे हेतु-
माह—अपद्भुतादित्यादिना । तज्जनकेति । भ्रान्तिजनकैत्यर्थः । उपमेयताबच्छेदकस्येति ।
अस्य मध्यमणिन्यायेनोभयभ्रान्तयः । शब्दादिति द्वितीयविशेषणकृत्यमाह—शब्दादिति ।
प्रात्यक्षिकेति । प्रात्यक्षिकं चक्षुरादिजन्यं, य आहार्यं बाधकात्मनैच्छाजन्यं, निश्चय-
निश्चयान्मकं ज्ञानम् तद्गोचरं तद्विषयीभूतम् यत् चन्द्रतादात्म्यम् चन्द्राभेद तस्य व्यवच्छेदो
व्यावृत्तिरित्यर्थः । तृतीयविशेषणकृत्यमाह—निश्चीयमानम् इति । उपमानोपमेवेति । एत-
दूपविशेषणाभ्यामित्यर्थः । उपमानत्वोपमेयत्वयो सादृश्यनिश्चयतादात्म्यमिति भावः । अपद्भुतौ—
'नेदं मुखम् अपि तु चन्द्रः' इत्यादौ उपमेयताबच्छेदकस्य मुखत्वस्य शिष्य एव, भ्रान्ति-
मति—'पद्ममिति भ्रमरा मुखमभिधावन्ति' इत्यादौ भ्रमजन्केत दोषेण तस्य प्रतिबन्ध
एव अतिशयोक्तौ निदर्शनायाव क्रमशः 'चन्द्रोऽयम्' 'अनाया तन्मुख परय चन्द्रदर्शन-
कौतुकी' इत्यादौ साध्यवसानलक्षणया साम्राज्येन तस्याप्रतीतिरिति उपमेयताबच्छे-
दकत्वापुरस्कारेण चतुर्णामेवमलङ्काराणाम् 'उपमेयताबच्छेदकपुरस्कारेण' इति विशेषणाद्
व्यावृत्तिः । 'मुखमिदं न चन्द्रः' इति वापह्जाने जाप्रति 'मुखेऽस्मिन् चन्द्रत्वप्रकारकं
चाक्षुषं ज्ञानं मे जायताम्' इतीच्छाजन्यम् यत् 'मुखमिदं चन्द्रः' इत्याकारकं निश्चयात्मक-
चाक्षुषम् ज्ञानम् तदाहार्यम्, एतदाहार्यनिश्चयविषयीभूतयोश्च मुखचन्द्रयोरपि यद्यपि तादा-
त्म्यम् प्रतीयते, तथापि नास्य रूपकत्वम्, तस्याहार्यनिश्चयस्य चाक्षुषत्वेन शब्दत्वाभावात्

लक्षण 'शब्दादिति' निवेशात् । 'नून मुख चन्द्र' इति वस्तुप्रेक्षायाः सम्भावनारूपाया लक्षणघटकनिश्चीयमानविशेषणाद्वारणम् । 'यत्रयत्रोपमानोपमेयत्वं तत्र तत्र सादृश्यम्' इति व्याप्त्या लक्षणे उपमानोपमेयनिवेशात् सादृश्यं लभ्यते, लब्धेन च तेन सादृश्येन 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यत्रत्यम् शुद्धारोपविषयीभूतम् (सादृश्यमूलकत्वेन गौणारोपविषयीभूतं नेति यावत्) रामासुखयौस्तादात्म्यं निरस्यते । ननु कथं शुद्धारोपविषयस्तादात्म्यं निरस्यते । रवीक्रियता तस्यापि रूपकत्वम् इति चेन्न, सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वेनाहीकारात् इति भावः ।

लक्षणघटक विशेषणों के फल दिखलाये जाते हैं—उपमेयता इत्यादि। अपहृति, भ्रान्तिमत्, अतिशयोक्ति और निदर्शना इन चारों अलंकारों में भी यद्यपि उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य रहता है, पर उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर उस तादात्म्य का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अपहृति—'मुख नहीं, चन्द्र है'—में अपनी इच्छा से घटा उपमेय (मुख) के साथ साथ उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-का निषेध ही कर देता है, भ्रान्तिमत्—'कमल समझकर भौरे मुख की ओर दौड़ते हैं'—में जिस दोष के कारण भ्रमरों को मुख में कमलकी भ्रान्ति होती है उस दोष से ही उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-प्रतिषेध हो जाता है अर्थात् जब मुख को मुख समझा ही नहीं गया तब मुखत्व भासित हो ही नहीं सकता, अतिशयोक्ति—(मुख को देखकर) 'यह चन्द्र है'—में और निदर्शना—'यदि तू अमावस की रात में चन्द्र दर्शनार्थ उस्तुक हो तो उसके मुख को देखो' में—साध्य-वसाना लक्षणा हुई रहती है, फलतः उपमेय मुख का भी धोष चन्द्रत्वरूप से ही होता है अतः उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-की प्रतीति असंभव ही है, इन्हीं चारों अलंकारों में रूपकालंकार के लक्षण की अतिप्रसक्ति को रोकने के लिए लक्षण में 'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर' यह विशेषण जोड़ा गया है। 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के वाध का ज्ञान रहने पर भी 'मुखे मुख में चन्द्र का ज्ञान हो' इस तरह की इच्छा से जो 'यह मुखचन्द्र है' इस तरह का चञ्चुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष निश्चय होता है वह आहार्य कहलाता है, इसी आहार्य-निश्चय के विषयीभूत मुखचन्द्र के तादात्म्य (एकरूपता) को रूपकालंकार की श्रेणी से बहिष्कृत करने के लिये लक्षण में 'शब्दात्' यह निश्चय का विशेषण लगाया गया है, इस विशेषण के द्वारा उक्त आहार्य निश्चय का वारण हो जाता है, क्योंकि यह निश्चय शब्द से नहीं अपितु चञ्चु से हुआ है। 'मुख मानो चन्द्र है' यह वस्तुप्रेक्षा सम्भावनारूप है निश्चयरूप नहीं, इसी का वारण करने के लिये लक्षण में 'निश्चीयमान-निश्चित की जाने वाली' यह विशेषण कहा गया है। उपमानोपमेयभाव सादृश्यव्याप्य पदार्थ है—अर्थात् जहाँ उपमानोपमेयभाव रहता है वहाँ सादृश्य अवश्य रहता है—ऐसी दशा में 'उपमान' और 'उपमेय' ये दोनों पद जो लक्षण में आए हैं उनसे सादृश्य का लाभ होता है अर्थात् सादृश्यमूलक 'एकरूपता'—'तादात्म्य'—को ही रूपक समझा जाता है,—अतः इस विशेषण से 'मनोरम रमणी मुख है' इस निश्चय में आने वाले रमणी और मुख के तादात्म्य का वारण होता है—यह तादात्म्य रूपक नहीं कहलाता, क्योंकि यह तादात्म्य सादृश्यमूलक नहीं है अपितु शुद्ध आरोपमूलक है। यदि कोई कहे कि शुद्ध आरोपमूलक तादात्म्य का वारण क्यों किया जाता है? उसको भी रूपक क्यों नहीं मान लिया जाता? तो इसका समाधान यह है कि सादृश्यमूलक एकरूपता (तादात्म्य) को ही सब लोग रूपक मानते हैं अन्यमूलक एकरूपता को नहीं।

सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वे प्रमाण दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमुदरति—
तथा चाहुः—

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।'

'उपमेय तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।' इति ।

आहुरिति । मम्मदोभेदाद्य इत्यर्थः । अप्रार्थं मम्मतीयम् । अर्थं च इण्डिन । तथा च भिन्नं लक्षणद्वयमिदम् । उपमानोपमेययोर्बोधभेदः (भेदाघटितोऽभेदस्तादात्म्यमिति यावत्) तत् (उद्देश्यविधेययोरेक्यमापादयत्सर्वनामपर्यायेणान्यतरलिङ्गमाग् भवतीति नियमेन विधेयरूपकगतनपुसकलिङ्गनिर्देशः) रूपकम् इति मम्मतीयलक्षणार्थः । तिरोभूतः अविचक्षितः इति यावत्, भेदो भेदाशः, यस्यास्तादृशी उपमेय रूपकं कथ्यत इति इण्डिकृतलक्षणार्थः । उपमाया भेदाभेदघटितं सादृश्यं भासते, रूपके तु शुद्धाभेदघटितमेव सादृश्यं भासत इति परमार्थः । आम्ना लक्षणाभ्या सादृश्यमूलभ्रमैव तादात्म्यस्य रूपकत्वं प्रमाणितं भवतीति भावः ।

सादृश्यमूलकं एकरूपता ही रूपक कहलाता है इस बात को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्तियों का उद्धरण देते हैं—तथा च इत्यादि । 'उपमान तथा उपमेय का जो अभेद (तादात्म्य-एकरूपता) वही रूपक है ।' यह रूपक का लक्षण मम्मटमठ ने किया है । और 'भेद अंश को तिरोहित कर देने पर—छिपा देने पर—उपमा ही रूपक कहलाता है ।' यह रूपक का लक्षण दण्डी ने किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उपमा में भेद तथा अभेद दोनों से मिश्रित सादृश्य भासित होता है और उनमें से यदि भेद अंश को तिरोहित कर दिया जाय—अर्थात् केवल शुद्ध तादात्म्य को ही भासित किया जाय तब वही रूपक हो जाता है । इन दोनों ही लक्षणों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि सादृश्यमूलक तादात्म्य को ही रूपक मानने की परम्परा आलङ्कारिकों में बहुत पुरानी है ।

रूपके तादात्म्यस्य भानं केन रूपेण भवतीति विवेचयितुमाह—

तच्च यत्र विषयविषयिणोरेकविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र संसर्गः, अन्यत्र तु शब्दार्थतया कचिद् विशेषणं विशेष्यं चेति विवेचयिष्यते ।

तच्चेति । उक्तरूपतादात्म्यं चेत्यर्थः । संसर्ग इति । अपदार्थत्वादिति भावः । अन्यत्रेति । निष्कविभक्त्यन्तत्वेन विषयविषयिणोर्निर्देशस्थल इत्यर्थः । विभिन्नमक्राभावादाह—कचिदिति । विवेचयिष्यत इति । उदाहरणनिरूपणप्रसङ्ग इति भावः । यन्मारोपः स-उपमेय इति यावत्-विषयः, यस्यारोपः स-उपमानपदार्थ इति यावत्-विषयी । एवञ्चोपमेयोपमानयोरेकं समानविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र ('मुखं चन्द्र' इत्यादौ) तादात्म्यं न कस्यापि पदस्यार्थ इति संसर्गतया भासते, विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा पदार्थस्यैव भानं भवतीति नियमात् । यत्र पुनस्तयोर्भिन्नविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र कुत्रचित् ('मुखं चन्द्रत्वं प्राप्नोति' इत्यादौ) लक्षणया चन्द्रत्वपदस्यैवार्थतादात्म्यम् इति तत् द्वितीयार्थं कर्मणि विशेषणतया भासते, कुत्रचिच्च ('मुखे चन्द्रत्वम्' इत्यादौ) चन्द्रत्वपदस्य लक्ष्योऽर्थचन्द्रतादात्म्यं विशेष्यतया भासत इति भावः ।

उक्त 'रूपक-तादात्म्य' का भान किस रूप से होता है इस बात का 'विवेचन करने के लिये कहा जाता है—तच्च इत्यादि । अभिप्राय है कि-काव्यों में रूपक (अभेद अथवा तादात्म्य) का भान तीन प्रकार से होता है—कहीं सम्बन्धरूपसे, कहीं विशेषणरूप से और कहीं विशेष्यरूप से । जहाँ विषय और विषयी (जिसमें आरोप किया जाता है वह उपमेय मुस्तादि विषय कहलाता है और जिसका आरोप किया जाता है वह उपमान-चन्द्र आदि विषयी कहलाता है, अतः विषय-विषयी का अर्थ उपमेय-उपमान समझना चाहिये) का निर्देश एक विभक्ति के साथ किया गया हो, वहाँ तादात्म्य का भान सम्बन्धरूप से होता है, क्योंकि वैसे स्थलों पर वह तादात्म्य

किसी पद का अर्थ नहीं होता और विशेषण अथवा विशेष्यरूप से उसी का भाग होता है जो किसी पद का अर्थ होता है ऐसा नियम है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थलों पर मुख-चन्द्र का तादात्म्य-रूपक-सम्बन्धरूप से भासित होता है, और जहाँ उपमेय उपमान का निर्देश भिन्न भिन्न विभक्ति के साथ किया गया हो वहाँ उसके पदार्थरूप हो जाने से दो बातें होती हैं—अर्थात् वैसी स्थिति में कहीं तो तादात्म्य विशेषणरूप से भासित होता है और कहीं विशेष्यरूप से। फलतः 'मुख चन्द्रभाव को प्राप्त करता है' यहाँ लक्षणा के कारण चन्द्रभाव पद का अर्थ बना हुआ 'तादात्म्य' विशेषण होता है और 'मुख में चन्द्रता है' यहाँ 'चन्द्रता' पद का लक्ष्यार्थ चन्द्रतादात्म्य विशेष्यरूप से भासित होता है। इस बात का विशद विवेचन ग्रन्थकार इसी प्रकार में आगे करेंगे।

रत्नाकरमतममूय निरस्यति—

यत्तु 'सादृश्यप्रयुक्त' सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणामूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्येव सम्बन्धान्तरप्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य संप्रहीतुमौचित्यात्, तस्मात् 'दुराग्रह एवाय प्राचाम्—उपमानोपमेययोरभेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयोः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तन्न। अपह्नुत्यादौ भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्य सत्त्वान्तरातिव्याप्तेः। किञ्च 'सादृश्यमूलक स्मरण स्मरणालङ्कारः, न तु चिन्तादिमूलम्' इति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य तादृश्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलङ्कारत्वमभ्युपेयताम्। न च स्मरणस्य भावत्वमुच्यमान निर्विषयं स्यादिति वाच्यम्, तस्य व्यञ्ज्यमानविषयत्वेनोपपत्तेः।

भिन्नयोरिति। नूपमानोपमेययोरित्यर्थः। रत्नाकरमतेनेतत् रूपके उपमानोपमेययोरप्रवेशोऽपह्नुतौ सुतरा तदप्रवेशस्येष्टत्वात्। स्वमते तु तत्रापि तत्प्रवेश एवेत्यन्यदेतत्, निर्विषयमिति सर्वस्यैवालङ्कारत्वेन तदन्यत्वाभावादिति भावः। व्यञ्ज्यमानेति। व्यञ्ज्यमानस्मरणविषयत्वेनेत्यर्थः। 'सारोपलक्षणस्यैव रूपकं भवतीति वस्तुस्थितिः। तथा च सारोपलक्षणा गौणी भवतु शुद्धा वा सर्वत्राविशेषेण रूपकमेवितन्यम्, अत भिन्नयो (सदृशयो कार्यकारणयोर्वा) पदार्थयो सादृश्यमूलक सम्बन्धान्तरमूलको वा-नवोऽपि-सामानाधिकरण्यनिर्देश रूपकालकार, उपमानोपमेययोरेव स तथेति प्राचा दुराग्रहमात्रम्' इति रत्नाकरमतम् न युक्तम्, तन्मतेऽपह्नुत्यादावपि उपमानोपमेययोरप्रवेशस्यैचित्येन। 'न पक्षेषु स्मरस्तस्य सदृश पत्रिणा यत्। चन्दन चन्द्रिका गन्धी गन्धवाह्य दक्षिणः।' इत्यादौ तन्मतसिद्धापह्नुतौ अतिव्याप्ते, भिन्नयो सामानाधिकरण्यस्यात्र सत्त्वात्। अपि च सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणयोस्तादात्म्यस्य रूपकत्वेऽपि तत्रे 'सादृश्यमूलं स्मरण स्मरणालङ्कार' इति स्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात्, रूपकस्येव स्मरणस्यापि सादृश्यामूलकस्य स्मरणालङ्कारत्वेन स्वीकर्तुमौचित्यात्। स्मरणस्य भावत्व स्वीक्रियमाण निर्लक्ष्य भवेत्, मम तु मते न निर्लक्ष्य भवति सादृश्यमूलकस्य स्मरणस्यालङ्कारत्वेऽपि चिन्तादिमूलकस्य तस्य भावत्वादिति तु न वक्तुं शक्यम्, वाच्यस्य सर्वस्यापि (सादृश्यमूलकस्य चिन्तादिमूलकस्य वा) स्मरणस्यालङ्कारत्वेऽपि व्यञ्ज्यस्मरणस्य भावलक्ष्यतासौस्थ्यादिति भावः।

'रत्नाकर' के मत का अनुवाद करके सण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि। 'रत्नाकर' ने कहा है कि—'सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के कारण अर्थात् सभी

तरह के भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के सामानाधिकरण्यानिर्देश (एकविभक्तियुक्तरूप में कथन) को रूपक कहना चाहिए। कारण, सारोपा लक्षण जब दोनों (सादर्यमूलक सामानाधिकरण्यानिर्देश अथवा अन्यसम्बन्धमूलक सामानाधिकरण्यानिर्देश) स्थानों पर समानरूप से रहती है, तब सादर्यमूलक एकरूपता के समान अन्य (कार्यकारणभाव आदि) सम्बन्धमूलक एकरूपता का भी रूपककोटि में समझ करना उचित है। अतः प्राचीनों का यह कथन दुरामहमात्र है कि उपमान उपमेय का भेद (एकरूपता) रूपक है, कार्यकारण का भेद नहीं। परन्तु 'रत्नाकर' का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक तो आप के हिसाब से जब रूपक में उपमानोपमेय का निवेश नहीं किया जाना चाहिए तब अपहृति आदि में भी उसका निवेश न करना ही उचित होगा, अतः वहाँ (अपहृति आदि में) इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह कि दो भिन्न पदार्थों का सामानाधिकरण्य वहाँ भी रहेगा। दूसरे, आपने ही पहले कहा है कि—'सादर्यमूलक स्मरण स्मरणालंकार कहलाता है, चिन्तादिमूलक नहीं।' भय सोचने की बात यह है कि—जब आप सादर्य से भिन्न कार्यकारण आदि सम्बन्धमूलक सादर्य को भी रूपक मानते हैं, तब चिन्तादिमूलक स्मरण की भी स्मरणालंकारता आप को मान्य होनी चाहिए। अर्थात् जब सादर्यामूलक सादर्य को आप रूपक मान ही लेते हैं, तब सादर्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार मानने का आप कहेंगे ? फलतः आप की उक्ति परस्पर विरुद्ध हो जाती है। आप कहेंगे—सादर्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार हम इसलिये मानते हैं—कि चिन्तादिमूलक स्मरण भाव कहलावे, यदि सभी (सादर्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों प्रकार के) स्मरणों को अलंकार ही मान लेंगे तब जो सभी अलंकारिक स्मरण को भाव भी मानते हैं वह असंगत हो जायगा, किन्तु यह युक्ति भी आप की समीचीन नहीं, क्योंकि सभी (सादर्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों तरह के) स्मरणों को वाच्यतादशा में अलंकार मान लेने पर भी व्यङ्ग्यतादशा में स्मरण का भाव कहलाना चरितार्थ है।

सङ्घनायं शोधितमतमनुवदति—

अप्ययशिक्षितास्तु—

“—विम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिद्भुते ।

उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥”

अत्र विम्बाविशिष्ट इति विषयविशेषणात् ।

‘त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।

इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरण विधोः ॥”

इति निदर्शनाया निरासः । तत्र विषयस्य मार्जनस्यालक्तकादिरूपविम्ब-
विशिष्टत्वात् । निर्दिष्ट इति विशेषणान्नितीर्णविषयायाम् ‘कमलमनम्भसि
कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्’ इत्याद्यतिशयोक्तौ नातिव्याप्तिः ।
अनिद्भुते निषेधास्पृष्ट इति विशेषणादपद्भुतौ नातिव्याप्तिः । उपरञ्जकतामाहार्य-
ताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षसमासोक्तिपरिणामभ्रान्तिमत्स्य-
तिव्याप्तिनिरासः । ससन्देहोत्प्रेक्षयोर्निश्चयस्यैवाभावात् । समासोक्तिपरिणाम-
योर्विषयिताद्रूप्यस्यागोचरत्वात्, समासोक्तौ व्यवहारमात्रसमारोपात् । परि-
णामे चारोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यगोचरत्वात् । भ्रान्तिमति च सतः कल्पि-
तस्य वा प्रवृत्त्यादिपर्यन्तिकस्वारसिकभ्रमस्यैव निबन्धनेन तस्यानाहार्यत्वात् ॥”
इत्याहुः ।

दीक्षितास्तु इति । अस्य दूरस्थेन 'आहु' इत्यनेनान्वय । विम्बाविशिष्टे इति ।
 विग्रमीमांसास्यम् । अप्यदीक्षितकृतम् रूपकलक्षणमिदम् । विम्बाविशिष्टे विम्बप्रतिविम्ब-
 भावापन्नविशेषणरहिते, अनिहुते अतिरोहिते, निषेधास्पृष्टे इति यावत्, निर्दिष्टे शब्दिते
 शब्देनाभिरिते इति यावत्, विषये उपमेये, विषयी उपमानम्, यदि, उपरञ्जकताम्
 आहार्यताद्रूपनिश्चयगोचरताम्, एति प्राप्नोति, तदा रूपकम् इत्यर्थः । प्रथमविशेषण-
 फलमाह—अत्रेति त्वत्पादेति । त्वत्पादनसरञ्जानाम् त्वचरणगतनखरूपाणा रङ्गानाम्
 (अत्र रूपकालङ्कार) यत् अलककमार्जनम् अलकककरणकरणम्, इदम् उक्ताकारं
 मार्जनम्, श्रीखण्डलेपेन मलयजरससंपर्केण, विधो चन्द्रमस, पाण्डुरीकरणम् धावल्य-
 प्रापणम् इत्यर्थः । अत्र 'त्वत्पादनखानामलककमार्जनम् श्रीखण्डलेपेन विधो पाण्डुरी-
 करणवत्' इति वाक्यार्थप्रतीतिर्वाक्यार्थनिदर्शनेति भावः । उपपादयति—तत्रेति । इदमत्र
 विशदोकरणम्—यथा चन्द्र स्वतः शुभ्रत्वादनासञ्जनीयाधायत्यस्तथा तथा स्वतोऽर-
 णत्वादनासञ्जनीयारूप्या इति सादृश्येन नखाना चन्द्रस्य च विम्बप्रतिविम्बभाव अलकक-
 चन्दनयोरन्यत्र स्ववर्णासञ्जकत्वेन विम्बप्रतिविम्बभावः । तथा च विम्बभावापन्नजालक-
 कविशिष्ट एव मार्जनरूप उपमेये तत्रप्रतिविम्बभूतचन्द्रचन्दनविशिष्ट पाण्डुरीकरणरूपमुप-
 मानमुपरञ्जकमिति भवत्यस्या निदर्शनाया विम्बाविशिष्ट इति विषयविशेषणाजिरासः ।
 द्वितीयविशेषणफलमाह—निर्दिष्ट इति । कमलामिति । अन्मभसि जलभिन्नप्रदेशे नायिकाया-
 मिति भावः, कमलम् कमलत्वेनाप्यवसितम् मुखम् च पुनः, कमले मुखे इति परमार्थः,
 कुवलये नीलकमल्युगलम्, नयनद्वयीति साराशः, तानि कमलकुवलयानि, कनकलतिकायाम्
 कनकलताखेनाप्यवसिताया गौरवर्णतनुकायनायिकायामित्यर्थः । सर्वत्र यथायोग्यं क्रिया-
 पदमस्त्यादिक्रमप्याहार्यम् । अत्र विषयिभि उपमानैः (कमलकुवलयकनकलतारूपैः)
 विषयाणाम् उपमेयानाम् (मुखनयननायिकाकायवष्टोनाम्) निगणनात् अतिशयोक्तिः,
 तस्याश्च प्रकृतलक्षणघटकेन 'निर्दिष्टे' इति विषयविशेषणोक्त्या व्यावृत्तिः, विषयस्यानिर्दिष्ट-
 त्वादिति भावः । तृतीयविशेषणफलमाह—अनिहुते इति । निषेधास्पृष्ट इति तद्वधाख्या
 'नेदं मुखं चन्द्र' इत्यादावपहुती निषेधास्पृष्टमेवोपमेयमिति तजिरासस्तद्विशेषणा-
 दिति भावः । उपरञ्जकतामिन्यस्य व्याख्यापुरस्सर फलमाह—उपरञ्जकेति । उपमेये
 उपमानतादात्म्यं यथाहार्यनिश्चयविषयीभूत स्यादिति समुदितार्थः । निरासे हेतुमाह—
 ससन्देह इत्यादिना । अगोचरत्वे क्रमेण हेतु आह—समासोक्तावित्यादिना । तस्य
 तादात्म्यनिश्चयस्य । अयमाशयः—ससन्देहे सन्देहस्यैव उत्प्रेक्षाया सम्भावनाया
 एव च प्रतीतिनिश्चयो नास्त्येव प्रतीतिगोचरः । समासोक्तौ व्यवहारमात्रारोपेण
 ताद्रूप्यस्याप्रतीतिरेव । परिणामे उपमेयताद्रूप्यमेवोपमाने प्रतीयते नोपमानताद्रूप्यमुपमेये ।
 भ्रान्तिमति च आदितोऽन्तपर्यन्तम् भ्रमात्मकनिश्चयोऽवाधित एव तिष्ठति अत एव
 प्रवृत्त्यादिरूपयते, एवञ्च स निश्चयोऽनाहार्य एवावाधितत्वात् । तथा चैषु सर्वेष्वलङ्कारेषु
 आहार्यनिश्चयगोचरमुपमेये उपमानतादात्म्यं नास्तीति तदर्थकेन 'उपरञ्जकतामेति' इति
 विशेषण्येन तेषामलङ्काराणा निराम कृतो भवतीति ।

रचन करने के लिये पहले अप्य दीक्षित के मत का अनुवाद किया जाता है—
 अप्यदीक्षितास्तु इत्यादि । अप्य दीक्षित कहते हैं कि—'विम्ब अर्थात् ऐसे विशेषण-
 जिनके प्रतिविम्बरूप विशेषण आगे कहे गये हों—से रहित, अनपहुत अर्थात् न छिपाए
 गए—अनिविद्ध, और निर्दिष्ट (अर्थात् विषयबोधक पद से भिन्न पद द्वारा बोधित)

विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) यदि तदपरभ्रुकता को प्राप्त करे अर्थात् अपना आहार्य (ताद्रूप्य) निश्चय करावे, तब उस आहार्य को 'रूपक' कहते हैं। यहाँ विषय से रहित यह जो उपमेय का विशेषण दिया गया है उससे 'त्वापाद्—अर्थात् स्वरूप आपके चरणनखों का जो महावर से साफ करना (रँगना) है यह चन्द्रन के छेप से चन्द्र का स्वरूप बनाना है।' इस निदर्शना में रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति का कारण होता है क्योंकि यहाँ 'साफ करना' रूप उपमेय 'महावर' आदि विषय से युक्त है। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'जैसे चन्द्र स्वतः घबल होने के कारण किसी अन्य वस्तु से घबल बनाने योग्य नहीं होता वैसे आपके चरणनख भी स्वतः अलग होने के कारण किसी दूसरे से अलग बनाने योग्य नहीं है।' इस तरह के सादृश्य के कारण नख और चन्द्र में विषयप्रतिविषयभाव है—अर्थात् नख विषयरूप हैं और चन्द्र प्रतिविषयरूप। इसी तरह 'जैसे महावर दूसरे में अपने वर्ण (लाली) को पहुँचाने वाला है वैसे चन्द्रन भी दूसरे में अपने वर्ण (तल्लानख) को पहुँचाने वाला है।' इस तरह के सादृश्य के कारण महावर और चन्द्रन में भी विषयप्रतिविषयभाव है—अर्थात् महावर विषय और चन्द्रन प्रतिविषयरूप है। अतः यहाँ का उपमेय (साफ करना) नख तथा महावररूप विषयभूत विशेषणों से युक्त है अतएव इसका 'विषयरहित' विशेषण से वारण हो जाता है। 'मिथ शब्द के द्वारा बोधित' विशेषण से जिसमें उपमान के द्वारा ही उपमेय का ग्रहण होता है, दृश्य नहीं, उस 'कमलमनम्मसि'... 'अर्थात् जलमिथ देश में कमल (वस्तुतः) मुख) है, कमल में दो नीलकमल (वस्तुतः दो नयन) हैं और वे सब (एक कमल और दो नीलकमल) एक सुवर्णलता (वस्तुतः गौरवर्णा पतली चरहरी सुन्दरी) में हैं।' इत्यादि अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह कि इस अतिशयोक्ति में कमल, नीलकमल और सुवर्ण लतारूप उपमानों से क्रमशः मुख, नयनयुगल और सुन्दरीरूप उपमेयों का निगारण हो गया है—उनसे दृश्य इनका निर्देश नहीं है अतः उक्त विशेषण से इसकी व्यावृत्ति सिद्ध होती है। 'नहीं विप्राय गये' का अर्थ है जिसमें निषेध का अर्थ नहीं हो, इस विशेषण से 'अपहृति' में अतिव्याप्ति नहीं होती—अर्थात् अपहृति में 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इस प्रकार से उपमेय का निषेध किया गया रहता है, अतः इसका वारण उक्त विशेषण से हो जाता है। 'उपरञ्ज-कता को प्राप्त करे' इसका अभिप्राय है आहार्य (आपकालिक इच्छाजन्य) स्वकीय ताद्रूप्य निश्चय का विषय होना। इस विशेषण से ससन्देह, उमेया, समासोक्ति, परिणाम और आन्तिमान् इन अलंकारों में रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति वारित होती है। कारण, ससन्देह सशयरूप होता है और उमेया संभाव्यरूप होती है, अतः इन दोनों में किसी तरह का निश्चय होता ही नहीं, समासोक्ति में केवल उपमान के व्यवहार का आरोप होता है उपमान का नहीं, परिणाम में उपमेय के ताद्रूप्य का ही निश्चय उपमान में होता है, उपमान के ताद्रूप्य का निश्चय उपमेय में नहीं, और आन्तिमान् में आदि से अन्त तक अन्तमक, पर अनाहार्य—अवाधित—ही निश्चय रहता है, अतएव प्रवृत्ति आदि बन पड़ते हैं, फलतः इन सभी अलंकारों में उपमान के ताद्रूप्य का उपमेय में आहार्य निश्चय नहीं हो रहा, अतः उक्त विशेषण से इनकी निवृत्ति होती है। फलतः यह लक्षण सर्वथा निरुद्ध है।"

प्रागुक्तरीक्षितमतज्ञानप्रसङ्गे तावत् प्रयनविशेषणव्यावर्त्य खण्डयति—

तत्र । 'त्वत्पादनखरत्रानाम्' इत्यादि निदर्शनाख्यावृत्त्यर्थं चिन्वाविशिष्टत्वं विषयविशेषणं तावदयुक्तमेव । यद्यत्र 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपकान्तर इव सत्यपि धीतारोपे नेदं रूपकम्, अपि तु निदर्शनेत्युच्यते, तदा 'मुखं चन्द्रः' इत्यपि निदर्शनेत्युच्यताम् । निरस्यतां च रूपकदाक्षिण्यक्रीपीनम् । किं च 'त्वत्पाद्'—इत्यत्र—किं पदार्थनिदर्शना, आहोस्विदाक्यार्थनिदर्शना ? नाद्यः ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नपदार्थघटितविशिष्टार्थयोरेवात्राभेदप्रतीतेः । इत्यलया-
नन्दगतनिदर्शनाप्रकरणे त्वयोक्तमार्गेण धर्म्यन्तरे पदार्थे तदवृत्तिधर्मस्य पदा-
र्थस्य भेदेनारोपस्याभावाच्च । न द्वितीयः । वाक्यार्थरूपकोच्छ्रित्यापत्तेः ।
इष्टापत्तौ वैपरीत्यस्य सुवचत्वाच्च । अस्माभिनिदर्शनाप्रकरणे घट्यमाणया
सरण्या अभेदस्य श्रौतत्वार्थत्वाभ्यामुद्देश्यविधेयभावाल्लिङ्गनानालिङ्गनाभ्यां च
रूपकनिदर्शनयोर्वैलक्षण्येन सकलव्यवस्थोपपत्तेः । तस्मादत्र वाक्यार्थरूपकमेव,
न वाक्यार्थनिदर्शना । तस्याश्चैवमुदाहरणं निर्मातव्यम्—

‘त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः ।

इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः ॥’

अत्र कर्त्रोरभेदस्य शाब्दत्वेऽपि क्रिययोरभेदस्याशाब्दत्वात्तस्यैव च समप्र-
भरसहिष्णुत्वान्निदर्शनैव । ननु यदीदमुदाहरणं निदर्शनायां न स्यात्तदा कथ-
मलङ्कारसर्वस्वकृता सत्प्रकरण उदाहृतमिति चेत्, भ्रान्तेनैव प्रतारितोऽसि ।
नहि प्रामाणिकेन भवता कदापि परेणानुक्त किञ्चिदुच्यते । यदपि रूपके बिम्ब-
प्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव । तथा च सर्वस्वटीकायां विमर्शि-
न्यामुदाहृत बिम्बप्रतिबिम्बभावेन रूपकम्—

‘कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लौञ्छित

संलमाञ्जनपुञ्जकालिमकल गरुडोपधानं रतेः ।

व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः सञ्छाद्यमानोदर

परयैतच्छशिः सुधासहचरं बिम्ब कलङ्काङ्कितम् ॥’

अत्र कलङ्कस्य दानाम्बादिभिः प्रतिबिम्बनम्, लाञ्छितत्वाङ्कितत्वयोः
शुद्धसामान्यरूपत्वमित्युक्तं चेत्यास्ताम् तावत् ।

तत्रेति । प्रागुक्तं दीक्षितमत युक्तं नेत्यर्थः । अयुक्तत्वहेतुगर्भम् तन्मतानुवादपूर्वकं
रवाभिप्रायं प्रकटयति—त्वत्पाद इत्यादिना । रूपकान्तरे अन्यरिमन् रूपके । रूपकमध्ये
इति महमहोदयकृता टिप्पणिस्तु शोच्यैव । रूपकदाक्षिण्यकौपीनमिति । एतच्च ‘रूपकमुख-
संश्लेषरूपकौपीनम् इत्यर्थः । निर्लज्जत्वादिति भावः ।’ इत्येवं वाच्ये नागेशः । ‘रूपकमुख-
सङ्कोचेत्यादि नागेशाक्षरस्वारस्य तु नागेश एव विज्ञानीवात्’ इतीत्यं नागेशव्याप्त्या निरा-
चक्षणाणो महमहोदयः ‘रूपकालङ्कारेऽपि परिज्ञानदाक्षिण्यमस्ति इति विद्वत्सु स्वस्य निर्लज्ज-
तानिवारकमवगुण्ठन सम्प्रति निरस्यताम्, एवविधस्थले रूपकमनङ्गीकृत्य प्रसह्य निर्लज्जता-
प्रकटनादित्याशयः’ इत्येव विवृणोति । ‘रूपकमर्यादारक्षणार्थं घृत कौपीनमधोवस्त्रविरोपम्
(लगेटीति प्रसिद्धम्) त्यज्यताम्’ इति हिन्दीरसगङ्गाधरकारचतुर्वेदमहोदयोऽनुवदति ।
गुह्य पुरुषलिङ्ग, कौपीनम् तदावरकत्वाद्भ्रमरखण्डमपि कौपीनम् । तथा च रूपके यदाक्षि-
ण्यम् = रूपकालङ्कारविषयकनैपुण्यं तदात्मकं यत् कौपीनम् = रूपकविषयकाज्ञानावरकम्
तत् निरस्यताम् त्यज्यताम्, ‘त्वत्पाद—’ इत्यत्र रूपकमद्रवतस्तव रूपकविषयकाज्ञान-
प्रकटने जाते तदावरकधारणस्य वृथात्वादित्याशयः इति त्वहं मन्ये । उपमेये शाब्दोपमा-
नताद्भूप्यारोपे रूपकम् इति वस्तुस्थितिः । तथा च ‘त्वत्पाद—’ इत्यत्र मार्जनरूपे-उपमेये
पाण्डुरीकरणरूपोपमानताद्भूप्यस्य शब्दत आरूप्यमाणतया रूपकमेवोचितं न निदर्शनेति
भावः । पुनरन्यथा तत्र निदर्शनात्वं खण्डयति—किञ्चेति । बिम्बप्रतिबिम्बेति । बिम्बप्रति-
बिम्बभावापत्ता ये पदार्थाः नसालककचन्द्रचन्दनरूपाः, तद्वद्विषयो = तद्द्वारा निर्मितयो

विशिष्टार्थयोः = नराकर्मकालकवकरणकमार्जन-धीज्ञण्डलेपकरणकविभुक्कर्मकपाण्डुरीकरणयो-
रित्यर्थः । अभेदप्रतातेरिति । तथा च 'विशिष्टयो (विम्बप्रतिविम्बभावापन्नविशेषण-
विशिष्टयो) धर्मयोरैक्यारोपो चाक्यवार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणसङ्गत्या चाक्यवार्थ-
निदर्शनात्वमुचितमिति भावः । त्वदुक्तपदार्थनिदर्शनालक्षणमपि नात्र सङ्गच्छत इत्याह
कुनल्येति । धर्म्यन्तरे इति । पदस्य न तु वाक्यस्य अर्थभूते अन्यस्मिन् धर्मिणि = उप-
माने उपमेये वा पदार्थभूतरूपे तदवर्तिनो धर्मस्य = उपमानगतस्य उपमेयगतस्य वा
इत्यर्थः । भेदेनेति । निम्नवाक्यगतत्वेनेत्यर्थः । अभावाच्चेति । 'उपमानोपमेयोरन्यतर-
स्मिन् अन्यधर्मारोपः पदार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणार्थस्य विरहादिति भावः ।
चाक्यवार्थनिदर्शनात्वमेव तर्हि अस्तु, नेत्याह—न द्वितीय इति । तत्र हेतुमाह—वाक्यार्थ-
रूपेति । वाक्यार्थरूपकं तर्हि उच्छिन्नं स्यादिति भावः । इष्टापत्तिरपि न शक्या ऋ-
मित्याह—इष्टापत्ताविति । वैपरीत्वस्येति । वाक्यार्थनिदर्शनोच्छित्तेरित्यर्थः । सुवच-
त्वादिति । चाक्यवार्थनिदर्शनोच्छित्त्वा भवत्वित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति भावः । स्वमते
तु ग कस्याप्युच्छेद इत्याह—अस्माभिरिति । व्यवस्थोपपत्तेरिति । "श्रौत—शाब्द,
अभेद, उद्देश्यविधेयभावाल्लिङ्गं च यत्र भवेत् तत्र रूपकम् । यथा—'मुसं चन्द्र' इत्यादौ
मुख्यचन्द्रयोः शाब्दोऽभेद उद्देश्यविधेयभावश्च स्फुटः । यत्र पुनरायः—अर्थबलगत्य-
अभेदः, उद्देश्यविधेयभावाल्लिङ्गं च तत्र निदर्शना । यथा—'यो यावकैर्नखान् रञ्ज-
यति स चन्दनेनेन्दु पाण्डुरीकुरुते' इत्यादौ रञ्जनपाण्डुरीकरणयोरार्योऽभेदः शब्दस्य
भिन्नत्वात्, उद्देश्यविधेयभावाभावश्च ।" इति व्यवस्थाउपपत्तेरिति भावः । पर्यव-
सितमाह—तस्मादिति । अत्रेति । 'त्वत्पाद—' इति त्वदुक्ते प्रत्युदाहरण इत्यर्थः ।
ननु तर्हि निदर्शनाया किमुदाहरणमत आह—तस्या इति । वाक्यार्थनिदर्शनाया इति
तदर्थः । यावकैः अलककरसैः । अर्थस्तु प्राग्वदेव, केवल तात्पर्यं भेदः, स चोपपादने स्फुट
एव । उपपादयति—अत्रेति । कर्त्रोरिति । 'य' 'सः' इति निर्दिष्टयोरित्यर्थः । क्रिययो-
रिति रजयतिपाण्डुरीकरोत्योरित्यर्थः । ननु कर्त्रोरभेदमादाय वाक्यार्थरूपकमेवास्तिव्यत
आह—तस्यैव चेति । क्रिययोरभेदस्यैव चेत्यर्थः । समप्रेति । मुख्यमस्काराधायकत्वादिति
भावः । दीक्षितमतपुष्टवर्षमाशङ्कते—नन्विति । इदं दीक्षितौकम् । आन्तेनैवेति । असहका
सर्वस्वकारोऽपि भयानिव आन्त एषेति भावः । अत्र 'भ्रान्त्यैवेति मुख्यपाठ' इति नागेशः ।
'आ तेनैव' इति काशीमुद्रितपुस्तकपाठः । किंविदुच्यते इति । तथा च परकीयकथानुवादको
भवान् स्थयमत्र एवेति कदुतरोऽमत्यथ दीक्षिते पण्डितराजस्वात्पेपोऽयमिति भावः ।
'विम्बाविशिष्टे' इति विशेषणकालितम् रूपके विम्बप्रतिविम्बभावास्वीकारं दीक्षितकृतं खण्ड-
यिनुमाह—यदपीति । कन्दर्पेति । चन्द्रोदयवर्गनभिदम् । नायको नायिका प्रत्याचष्टे—
मलिनं, दानाम्बुभिः मद्गजैः, लाञ्छितं चिह्नितम्, कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुकामदेववाहनोभूत-
गजश्रवणाभरणामकशङ्खरूपम्, सलमनस्य ससत्तस्य, अङ्गनपुञ्जस्य, कालिम्ना श्यामलत्वेन,
कलं रमणीयम् नयनगतकञ्जलमलिनमिति यावत्, रते' कामपत्न्या, यण्डोपधान कपोल-
सत्वविन्यसनीयलपूपवर्हः (गलतक्रिया इति प्रसिद्धः) तद्रूपम्, तथा, अलिभिः भ्रमरैः,
सच्छाद्यमानं श्रावियमाणम्, उदरम् मध्यभागो यस्य तत्, भ्रमराच्छन्नमध्यमिति यावत्,
म्योम्न आकाशस्य, ये अनौकहाः वृक्षा, तेषां पुत्राणाम्, शुच्छं स्तनकम्, भ्रमरभर-
मलिनमध्यवियत्तरकुमुमस्तवयस्वरूपमिति यावत्, मुयासहचरं मुयासहशम् धवलतममिति
यावत्, पुन, कलहादितं मध्यभागस्थितकालिमेति यावत्, एतत् प्रत्यक्षभूतम्, शशिनः

चन्द्रस्य, विम्बं मण्डलम्, परय अबलोक्य इत्यर्थः । विम्बप्रतिविम्बभावविशिष्टरूपकत्व-
मुपपादयति—अत्रेति । कन्द्रपैति पद्ये शशिविम्बरूपोपमेये क्रमशः कन्द्रगुणोपधानपुष्प-
शुद्धरूपोपमानानां ताद्रूप्यस्य शब्दत आरौगाद्रूपकम्, तच्च विम्बप्रतिविम्बभावापन्नविशेषण-
विशिष्टोपमानोपमेयनिर्दिष्टम्, उपमेयवर्णकलङ्कस्योपमानधर्मे दानाम्बुक्ज्जलप्रसरं सह
विम्बप्रतिविम्बभावात् । तथा च 'रूपके विम्बप्रतिविम्बभावो न भवति' इति दीक्षिताशयो
निरस्त इति भावः । शुद्धसामान्येति । लाञ्छितत्वाद्धितत्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावो नास्तीति
भावः । अत्र 'अनयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नत्वादिदं चिन्त्यम् ।' इति नागेशः । वस्तुतस्तु
नात्र किमपि चिन्ताबीजम्, भवन्त्र वस्तुप्रतिवस्तुभावः, विम्बप्रतिविम्बभावो नास्तीत्ये-
वावन्माने ग्रन्थकर्तृस्तान्पर्यात् । केचित्तु 'शुद्धसामान्यरूपत्वम्' इत्यस्यैव शुद्धवस्तुप्रति-
वस्तुभावोऽर्थः इत्याहुः ।

उक्त दीक्षित मत का खण्डन करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम तदभिमत प्रथम विशेषणकृत
का खण्डन करते हैं—तद्य इत्यादि । पूर्वप्रतिपादित दीक्षित का मत ठीक नहीं है । कारण,
सर्वप्रथम उन्होंने 'त्वत्पाद-' इत्यादि निदर्शना के वारणार्थ उपमेय में 'विम्बरहित' विशेष-
ण जोड़ने की जो बात कही है वह अयुक्त है, क्योंकि जैसे 'मुख चन्द्र है' इत्यादि अन्य
रूपकों में शब्दत, अनेकारोप (उपमान उपमेय का आरोपित ताद्रूप्य) रहता है वैसे
यहाँ ('त्वत्पाद-' इस पद्य में) भी है—अर्थात् यहाँ भी 'साक करना'रूप उपमेय
और 'पाण्डुरीकरण'रूप उपमान का ताद्रूप्य शब्दत प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक
ही है निदर्शना नहीं । यदि ऐसी स्थिति में भी यहाँ रूपक न मानकर निदर्शना मानी
जाय तब 'मुख चन्द्र है' यहाँ भी निदर्शना ही मान लीजिए, रूपकामिश्रता का आवरण
जो ओढ़े हुए है उसको हटा दीजिए । तात्पर्य यह कि 'त्वत्पाद-' इस पद्य में 'रूपक'
न कहकर 'निदर्शना' कह देने के कारण जब आपका रूपकविषयक अज्ञान लोगों के
समक्ष प्रकट हो ही गया तब व्यर्थ रूपकज्ञता की चादर ओढ़े रहने से क्या लाभ ?
यदि आपके कथनानुसार 'त्वत्पाद-' इस पद्य में निदर्शना ही है, तो कौन-सी निदर्शना
है—पदार्थनिदर्शना अथवा वाक्यार्थनिदर्शना ? यदि आप पदार्थनिदर्शना कहे तो
यह सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ विम्बप्रतिविम्बभावापन्न पदार्थों से बने दो पूरे वाक्यार्थों
का ही परस्पर अनेक प्रतीति होता है, अतः 'विशिष्टोपमंयोरैक्यारोपो वाक्यार्थनिदर्शना
अर्थात् विम्बप्रतिविम्बभावापन्न विशेषणों से युक्त दो घर्मों में जो एकरूपता का आरोप
क्रिया जाता है वह वाक्यार्थनिदर्शना है' इस कुवलयानन्दोक्त आपके लक्षण के अनुसार
वाक्यार्थनिदर्शना होनी चाहिए, 'उपमान का धर्म उपमेय में अथवा उपमेय का धर्म उप-
मान में यदि आरोपित हो तब उसे पदार्थनिदर्शना कहते हैं' (उपमानोपमेयोरन्यतर-
स्मिन् अन्यतरधमारोपः पदार्थनिदर्शना) यह कुवलयानन्दोक्त आपका पदार्थनिदर्शना-
लक्षण यहाँ सहजित भी नहीं होता, क्योंकि यहाँ एक का धर्म दूसरे में आरोपित नहीं
है अपितु दो धर्मियों का ही अनेक आरोपित है और वे धर्मों भी पदार्थरूप नहीं हैं अपितु
वाक्यार्थरूप हैं । यदि आप कहें कि पदार्थनिदर्शना न सही, वाक्यार्थनिदर्शना तो हो
सकती है—उसका लक्षण तो सहजित होता है, वस, यही मेरा भी अभिप्राय है अर्थात्
में यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना ही मानता हूँ, तो यह भी मानने योग्य बात नहीं, क्योंकि
यदि यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मान ली जायगी तब वाक्यार्थरूपक का उच्छेद हो
जायगा—उसका लक्ष्य कहीं मिलेगा ही नहीं । अभिप्राय यह कि ऐसे ही स्थलों पर
वाक्यार्थरूपक होता है और आप यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मानते हैं फिर उसका लक्ष्य
मिलना सम्भव ही हो जायगा । दृष्टावति तो की नहीं जा सकती—अर्थात् आप यह
कह नहीं सकते कि वाक्यार्थरूपक का उच्छेद होता है तो हो जाने दीजिए, क्योंकि
इसके बदले में हम भी ऐसा कह सकते हैं कि—वाक्यार्थरूपक ही मानिए और वाक्यार्थ-

निदर्शना का ही उच्छेद हो जाने दीजिए । इस पर आप पूछ सकते हैं कि—मेरे मत में तो आप एक (वाक्यार्थरूपक अथवा वाक्यार्थनिदर्शना) का उच्छेद हो जाने का दोष बतलाते हैं पर आप स्वयं कैसे इन दोनों को पृथक् करने की व्यवस्था बनाते हैं, तो इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि—देखिए मेरा निदर्शना प्रकरण—अर्थात् जहाँ शब्दतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य विधेयभाव हो वहाँ रूपक तथा जहाँ अर्थतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो वहाँ निदर्शना इस तरह से वहाँ मैंने दोनों के पृथग्भाव को व्यवस्था की है । इन सब युक्तियों के कारण उपसंहार में मेरा कथन है कि—'स्वप्नाद-' इस पद्य में (इस पद्य का जैसा स्वरूप आपने लिखा है उस स्वरूप में) वाक्यार्थरूपक हो है, वाक्यार्थनिदर्शना नहीं । यदि आपको वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण देना हो तो उक्त पद्य का पाठ यों मानिये—'स्वप्नादनखरान्नाति अर्थात् जो आपके चरण-नखर-रगों को महावर से रँगता है वह चन्दनलेप से चन्द्रमा को घबल बनाता है ।' यहाँ यद्यपि 'जो' और 'वह' पदों से निर्दिष्ट कर्ताओं का अभेद शब्दतः प्रतीत होता है तथापि 'रँगता है' और 'घबल बनाता है' इन क्रियाओं का अभेद शब्दतः प्रतीत नहीं होता—अर्थात् अर्थतः प्रतीत होता है और चमत्कार का सारा दायित्व क्रियाओं के उस आर्थ अभेद पर ही है—वाक्यार्थ का पर्यवसान यहीं जाकर होता है, अतः यहाँ निदर्शना ही है । तात्पर्य यह कि—कर्ताओं के शब्द अभेद को लेकर यहाँ वाक्यार्थरूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह गौण है, मुख्य क्रियाओं का अभेद तो आर्थ ही है, अतः निदर्शना ही यहाँ मार्ग जायगी । अब कदाचित् आप कहें कि—यदि 'स्वप्नादनखरान्नाम्-' यह पद्य निदर्शना का उदाहरण होने योग्य न होता, तो अलङ्कारसर्वस्वकार इस पद्य को निदर्शनोदाहरण-प्रकरण में क्यों लिखते ? तो मैं कहूँगा कि—बहुत ठीक, उन्होंने ही आपको धोखा दिया है, वे स्वयं तो भ्रम में थे ही, आपको भी भ्रम में डाल दिया । आप तो सामाजिक व्यक्ति हैं, अतः आप दूसरों से कही हुई बात को ही दुहराते हैं । (इस कथन का अभिप्राय यह है कि—आप स्वयं कुछ सोचते विचारते नहीं दूसरों की लिखी हुई बात को अपनी पुस्तकों में दुहरा डालते हैं, फलतः आप 'अर्थम् चौरः' के अनुसार चौर लेसक हैं ।) (पर यह आपने बहुत कुछ असत्य है, कटुतर तो है ही, वस्तुतः दीक्षितजी का पाण्डित्य ईदृश आपेययोग्य है नहीं ।) इसके अतिरिक्त दीक्षितजी ने जो 'विम्बप्रतिविम्बे' इस विशेषण द्वारा तथा अन्यत्र दृष्ट शब्दों से भी यह कहा है कि—रूपक में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता है यह भी भ्रममूलक ही है, क्योंकि अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी नामक टीका में विम्बप्रतिविम्बभावस्थल में भी रूपक दिखलाया गया है । सुनिये—'कन्दर्प-' यह चन्द्रोदय का वर्णन है । नायिका से नायक कहता है—मलिन मद-जल से चिह्नित कामदेव के हाथी का कर्गभरणीभूत शङ्करूप संश्रमकजलपुञ्ज की कालिमा से सुन्दर रति (काम-पत्नी) के गण्डोपधान (गलतकिया) रूप और अमरों से आच्छादित मध्यभागवाले आकाशतः के उजले पुष्पस्तवरूप सुधासरदा- (उजले) कलङ्कयुक्त इस चन्द्रविम्ब को देखो । यहाँ मदजल, कजलपुञ्ज और अमर से फलङ्क का प्रतिविम्बन हुआ है और चिह्नित होना तथा (कलङ्क से) ध्वस्त होना शुद्ध सामान्यरूप है—अर्थात् इस अंश में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं है, वस्तुप्रतिवस्तुभाव है यह बात दूसरी है । अभिप्राय यह है कि—'कन्दर्प-' इस पद्य में उप-मेय चन्द्रमण्डल और उपमानों—शङ्क, गलतकिया तथा पुष्पस्तवरूप—में परस्पर ताद्रूप्य शब्दतः प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक है और विम्बप्रतिविम्बभाव भी है, क्योंकि कलङ्क विमरूप है और मदजल, कजल तथा अमर प्रतिविम्बरूप हैं—ये विम्बप्रतिविम्ब-भावापन्न धर्म ही यहाँ के उपमानोपमेय में सादृश्य को सिद्ध करते हैं और इस सादृश्य के कारण ही उपमान-उपमेय में ताद्रूप्य का आरोप होता है—रूपक बन पाता है । फलतः दीक्षितजी का 'रूपक में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता' यह कथन भ्रममूलक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

द्वितीयविशेषणमेव निरस्यति—

तथा निर्दिष्टे शब्देनाभिहिते इत्यस्य येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहित इत्यर्थः, उताहो उपमेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते ? आद्ये 'सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्' इत्यत्रातिप्रसङ्गः । सुन्दरपदेन सुन्दरत्वेन रूपेण इदंपदेन च विषयस्याननस्य प्रतिपादनात् । न चात्र सुन्दरपदार्थस्यारोप्यमाण-कमलान्वय एव, न तु वदनरूपविषयान्वय इति वाच्यम् । कमलपदेन कमल-ताद्रूपेणाननस्यैव लक्षणयोपस्थानात्तत्रैव सुन्दरादिपदार्थान्वयो युक्तः, न तु विशेषणीभूते कमले । अथ तादृश विषयमुद्दिश्य विषयिताद्रूप्यं यत्र विधीयते इत्यपि लक्षणवाक्यार्थः । प्रकृते च सुन्दरत्वावच्छिन्नमुद्दिश्य कमलताद्रूप्य-स्याविधानान्नातिप्रसङ्ग इति चेत् । न । 'मुखचन्द्रस्तु सुन्दरः' इत्यादिरूपके समासगतयोर्विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तिमन्तरेणोद्देश्यविधेयभावाभावादन्या-पयापत्तेः । द्वितीये त्वनिहृत इति विशेषणवैयर्थ्यम् । अपहृतावुपमेयतावच्छेदस्य निषिध्यमानतया तेन रूपेण विषयस्यानिदिष्टत्वादेव लक्षणस्याप्रसङ्गे । निश्चय-गताहार्यत्वविशेषणवैयर्थ्यं च । भ्रान्तिमति दोषविशेषेण प्रतिबध्यमानतया नास्त्युपमेयतावच्छेदकसंस्पर्श इति तावतैव वारणात् । अपि च 'नाय सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इति कुबलयानन्दे त्वयोक्तायामपहृतावति-प्रसङ्गः । अत्र सुधांशो सुधांशुत्वनिहृवेऽप्यारोपविषयस्यानिहृवात् । न चेदं रूपकमेवेति वाच्यम् । त्वदुक्तिविरोधापत्तेः ।

येन केनचिद्रूपेणेति । उपमेयतावच्छेदकरूपेणेत्यर्थः । उताहो अथवा । 'सुन्दरं कमलम्—' इति । लतायां लतात्वेनाध्यवसिताया नायिकायाम्, अद्भुतं आश्चर्यकरम्, सुन्दरं मनोरमम्, इदं मुखम्, कमलम्, भाति शोभत इत्यर्थः । इत्यत्रेति । रूपकातिश-योक्तिलक्ष्य इत्यर्थः । अतिप्रसङ्गे हेतुमाह—सुन्दरपदेनेति । 'निर्दिष्टे' इत्यस्य 'येन केनचिद्रू-पेण शब्दप्रतिपादिते' इत्यर्थस्वीकारे 'सुन्दरं कमलम्—' इति रूपकातिशयोक्तौ इदंपदबोध्य-स्योपमेयस्य मुखस्य सुन्दरत्वरूपेण सुन्दरपदप्रतिपाद्यत्वादतिव्याप्तिरिति भावः । अतिव्या-प्तिनिरासाय शङ्कते—न चात्रेति । कमलान्वय एवेति । तत्र एव चमत्कारात्साञ्जिव्याच्चेति भावः । समापत्ते—कमलपदेनेति । एतेन रूपकातिशयोक्तिरत्रेति ध्वनितम् । तत्रैवेति । मुख एवेत्यर्थः । न त्विति । 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति—' इति न्यायादिति भावः । आरोप्य-माद्ये—उपमाने कमलपदार्थ एव सुन्दरपदार्थस्यान्वय साञ्जिव्यात्, न तु विषये उपमेये मुखे तथा च केनापि रूपेणोपमेयस्य मुखस्यानिर्देशान्नातिप्रसङ्ग इति न वक्तुं शक्यम्, मुखे साञ्जिव्यात् कमलपदादत्र कमलताद्रूपेण मुखस्यैवोपस्थितिर्विशेष्यतया कमलस्योपस्थि-तिर्विशेषणतयैवेति सिद्धता पदार्थ पदार्थेनेति न्यायानुरोधेन सुन्दरपदार्थस्येदं पदबोध्ये उपमेये—मुखे—एवान्वयस्य युक्ततयाऽतिप्रसङ्गस्य दुरुद्धत्वादिति भावः । अतिप्रसङ्गाभावाय पुनरन्यथा शङ्कते—अथेति । तादृशमिति । येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहितमित्यर्थः । इत्यपीति उद्देश्यविधेयभावघटितोऽपीत्यर्थः । तथा वाक्यार्थं दोषाभावमुपपादयति—प्रकृते चेति । 'सुन्दरं कमलम्—' इत्यत्र चेति तदर्थः । अविधानादिति । तादृशमाननमुद्दिश्य मानक्रियाया एव विधेयत्वादिति भावः । (अत्र 'यद्वा सुन्दरत्वादे कमलत्वादिविशिष्टे विशेषणत्वमेवोद्देश्यतावच्छेदकरूपम् । इयास्तु विशेष-यदतिशयोक्तावुपमेयधर्मस्योद्दे-श्यतावच्छेदकत्वाभाव एव रूपके त्वनिदम इतीति भावः ।' इति विशेषमाह तादृशः ।

समाधत्ते नेति । तत्र हेतुमाह—मुखचन्द्रस्त्विति । मुखरूपचन्द्रः सुन्दर इत्यर्थः । विषय-
विषयिणोऽपमेयोपमात्वयो । पृथगिति । अद्देश्यविधेयभावेन दोषेऽभिन्नविभक्तिजन्यो-
पस्थिते कारणात् । तथा न व्यस्ते तथा प्रतीतिः, न समाप्त इति भावः । केनापि रूपेण
शब्दप्रतिपाद्यमुपमेयमुद्दिश्य यत्रोपमानतादृश्य विधायते तत्रैव रूपकमिति विवक्षणे 'सुन्दरं
कमलम्—' इत्यत्र अतिप्रसन्नं, अत्र मुखमुद्दिश्य मानस्य विधेयतया सुन्दरत्वावच्छिन्नो-
द्देश्येन । कमलतादृश्यस्याविधानादित्यपि न युक्तम्, पृथग् विभक्तिविरहेणोद्देश्यविधेयमा-
बायोऽपमेयोपमानसम्पन्ने 'मुखचन्द्र—' इत्यादि समस्तरूपकेऽप्यस्यापत्या तथा विवक्षण-
स्यासम्भवादिति साराशः । द्वितीयरूपं दूषयति—द्वितीये तु इति । 'निर्दिष्टे' इत्यस्योप-
मेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते इत्यर्थ इति द्वितीयकल्पे तु इति तदर्थः । दोषमाह—
विशेषणवैयर्थ्यमिति । वैयर्थ्यं हेतुमाह—अपह्नता इति । उपमेयतावच्छेदकस्येति । उपमे-
यतावच्छेदकविशिष्टस्येति भावः । उपमेयस्येति नावत् । अनिर्दिष्टत्वादिति । अत्र 'अत्र
निषेधप्रतियोगिविधया निर्दिष्टत्वादिदं चिन्त्यम् । न च तथा निर्दिष्टत्वेऽपि पुरस्काराभावः ।
तर्हि तावन्पर्यन्तविषयज्ञापनार्थमेवानिहुते इति विशेषणसाफल्यमिति बोध्यम् ।' इति
नागेशः । उक्तद्वितीयकल्पे दोषान्तरमप्याह—निश्चयेति । अपरञ्जकतापदार्थभूतेति भावः ।
वैयर्थ्यहेतुगर्गमुपपादनमाह—अन्तीति । तावत्तैवेति । उक्तार्थनिर्दिष्टे इति विशेषणेनैवे-
त्यर्थः । अत्र 'इदं चिन्त्यम् । आहार्यत्वविशेषणस्य निर्दिष्टे इति विशेषणलक्षार्थकपनतात्प-
र्नकत्वात् । अतिशयोक्तौ लक्षणामाहात्म्यान्वयमानज्ञानस्यानादर्यस्यैव जायमानत्वेन ताव-
त्तैव वारणात् । शक्यतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोर्भान्तमिति त्वल्लिखितमतान्तरेऽपि
युगपदेयोमयोर्भानेन बाधस्यैवानुपस्थितत्वात् तद्द्वेराहार्यत्वम् । किञ्च चन्द्रवृत्तिगुणवत्वस्य
लक्ष्यतावच्छेदकस्य चन्द्रत्वस्य च मिथो विरोधभावेन न बाधप्रतिमन्धानम् । मुख-
त्वेन मुख लक्ष्यत इति लक्ष्यदेयमेव । रूपके तु बाधस्य स्फुटमुपस्थितत्वेन साशाद्वचननया
वा जायमाना तादृश्यप्रतिपत्तिरहास्येवेति संशिताराय इति दिक् ।' इति नागेशः । निर्दिष्टे
इत्यस्य उपमेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते इत्यर्थकरणेऽपि न निस्तारः, 'निर्दं मुखं
सुधाशुरसम्' इत्याद्यपह्नतावुपमेयस्यैव निषेधे उपमेयतावच्छेदकरूपेणोपमेयस्य सुतरामन-
भिहिततया निर्दिष्टे इति विशेषणेनैव तद्वारणे सिद्धे तद्वारणार्थकस्य अनिहुते इति विशेष-
णस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, 'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमभिधावन्ति' इत्यादि भ्रान्तिमतिः,
भ्रान्तिजनकदोषविशेषेण उपमेयतावच्छेदकस्य मुखत्वादेः प्रतिवच्यमानतया तेन रूपेणोप-
मेयस्य मुखादेरभिधानस्य सर्वैषैवाशम्भवतया तस्यापि (भ्रान्तिमतोऽपि) तेनैव विशेष-
णेन व्यावृत्तौ तद्वारणाय प्रदत्तस्य निश्चये आहार्यत्वविशेषणस्यापि तथात्वाच्चेति भावः ।
मूर्त्तविशेषणव्यावृत्तिं दूषयति—अपि चेति । 'नायं सुधाशु—' इति । अयं प्रत्यक्ष-
हर्यमान, सुधाशुचन्द्रो, न । तर्हि तदा अस्यासुधाशुत्वे इति यावत्, किं वस्तु सुधाशुः ?
प्रेयसीमुखं प्रियतमाननम्, सुधाशु इत्यर्थः । त्वयोक्त्यामिति । एतेन स्वमते नास्त्य-
पह्नतित्वमिति भावः । अपह्नतौ पर्यस्तापह्नतौ । अतिप्रसन्न इति । तद्गुणरूपकलक्षणाति-
स्यातिरित्यर्थः । अतिप्रसन्नं हेतुमुपपादयति—अत्रेति । विषयस्य मुखत्वम् । विषयस्य सुधारोः
इति नागेशोक्तिश्चिन्त्या । 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र 'नायं सुधाशु' इत्यंशे सुधाशुत्वस्य
निषेधसृष्टत्वेऽपि 'सुधाशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यंशे उपमेयतावच्छेदकमुखत्वेन रूपेण शब्दा-
भिहिते निषेधासृष्टे च मुखरूपे उपमेये उपमानसुधाशुतादृश्यप्रतीत्या रूपकापत्तिं प्रसजन्ती
'अनिहुते' इति विशेषणेनैव धारयितुं शक्येति भावः । रूपकत्वस्वीकारस्तु तव नौप-

पदेत, कुवलयानन्दाख्ये निजनिबन्धेऽपहृतित्वस्य स्पष्टशब्दैस्त्वया स्वीकृतत्वात् । नागेशस्तु
 अत्रापि 'इदमपि चिन्त्यम् । उपमेयोपमादीना वैचित्र्यविशेषेणालङ्कारान्तरत्वविहायु-
 पपत्ते । मतान्तरेऽप्यभेदादिक्रमेण चमत्कारे रूपकम्, निहवादिभिरुक्ते तस्मिन्नु सेति विषय-
 विभागसम्भवात् । चमत्कारित्वस्यालङ्कारसामान्यलक्षणप्राप्तत्वात्समुदितस्यालङ्कारत्वेनारो-
 रूपकत्वे इष्टापत्तेश्च' इत्येभिरक्षरैर्दीक्षितोक्तिं समर्थयन् दृश्यते ।

• द्वितीय विशेषण को दूषित किया जाता है—तथा इत्यादि । प्रथम विशेषण की
 दशा तो आपने देख ली । अब आप द्वितीय विशेषण की दशा को देखें—दीक्षितजी ने
 अपने रूपकलक्षण में 'निदिष्टे' यह दूसरा विशेषण जोड़ा है और उसका अर्थ किया है
 शब्द से प्रतिपादित । अब इसमें प्रष्टव्य यह है कि—'शब्द से प्रतिपादित' इसका क्या
 अर्थ ? जिस किसी रूप से शब्द द्वारा कथित यह, अथवा उपमेयतावच्छेदक—मुखत्व
 आदि रूप से शब्द द्वारा कथित यह ? इन दोनों में यदि प्रथम अर्थ दीक्षितजी को
 स्वीकृत हो, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि तब 'सुन्दर कमलम्—अर्थात् लता में (लता-
 स्वेन अथवसित नायिकाकाययष्टि में) अद्भुत और सुन्दर यह कमल (कमलावेन
 अथवसित मुख) सुशोभित हो रहा है ।' इस रूपकतिशयोक्ति के लक्ष्य में
 उच्चार्यक उक्त विशेषणयुक्त रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण यह कि-
 यहाँ भी 'सुन्दर यह' इन शब्दों के द्वारा सुन्दरत्वरूप से उपमेय-मुख-का प्रतिपादन है ।
 यदि आप कहें कि यहाँ सुन्दर पद के अर्थ का अन्वय आरोपित होनेवाले अर्थात् विषयी
 (उपमान) कमल में ही है, जिसमें आरोपित होता है उस विषय (उपमेय मुख) में
 नहीं (अतः सुन्दरत्वरूप से उपमेय-मुख-का प्रतिपादन नहीं हुआ, अतिव्याप्ति नहीं
 होगी), तो यह भी सद्गत नहीं, क्योंकि यहाँ लक्षणा द्वारा, 'कमल' पद से, कमल के
 रूप में प्रधानरूप से मुख की ही उपस्थिति होती है—अर्थात् यहाँ 'कमल' पद का अर्थ
 केवल कमल नहीं अपितु कमलरूप मुख है, अतः 'सुन्दर' आदि पदार्थों का अन्वय
 मुख में ही होना उचित है, विशेषणरूप बने हुए कमल में नहीं अर्थात् अन्वय के विषय
 में 'पदार्थ' प्रदार्थेनान्वेति न पदार्थेकदेशेन—किसी पद का अर्थ किसी पद के प्रधान अर्थ के
 साथ ही अन्वित होना है, पदार्थ के एकभाग विशेषणीभूत पदार्थ के साथ नहीं ।' इस
 सर्वसम्मत नियम को रक्षा सभी को करनी है । अब यदि आप कहें कि—'जिस किसी
 रूप से शब्द द्वारा अभिहित उपमेय को उद्देश्य बनाकर जहाँ उपमान का ताद्रूप्य
 (एकरूपता) विहित होता हो' यह भी लक्षणवाक्य का अर्थ है—अर्थात् उपमेय का
 उद्देश्य होना और उपमान का विधेय होना भी इस रूपकलक्षण का तात्पर्यार्थ है
 और प्रकृत उदाहरण में 'सुन्दरता' से अवच्छिन्न (युक्त) मुख को उद्देश्य बनाकर
 कमल के ताद्रूप्य का विधान नहीं होता—अर्थात् यहाँ मुख और कमल का उद्देश्य विधेय-
 भाव है ही नहीं, यदि उद्देश्य विधेयभाव है तो मुख और शोभित होना—क्रिया में, अतः
 अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'मुखचन्द्र
 सुन्दर है' इत्यादि रूपक में लक्षण की अतिव्याप्ति ही हो जायगी—यह रूपक कहला ही
 नहीं सकेगा । कारण, यहाँ उपमान तथा उपमेय के लिये पृथक् पृथक् विभक्ति नहीं
 आई है और उद्देश्य विधेयभाव के लिये पृथक्-पृथक् विभक्ति का जाना आवश्यक है,
 अतः असमस्त पापय स्थल में ही उद्देश्य-विधेयभाव होता है, यहाँ समस्त वाक्य में वह
 नहीं हो सकता । अब यदि द्वितीय रूप को दीक्षितजी का अभिमत मानें—अर्थात्
 'निदिष्टे' पद का अर्थ 'उपमेयतावच्छेदकरूप से शब्द द्वारा उक्त' करें तो यह भी असद्गत
 ही होगा, क्योंकि यद्यपि इस रूप में पूर्वकक्षीय दोष नहीं होगा, तथापि—दूसरा
 दोष हो ही जायगा—अर्थात् इस कक्ष (पक्ष) में 'अनिद्भुते' यह विशेषण व्यर्थ हो
 जायगा, क्योंकि इस विशेषण का फल जो 'अपहृति' का वारण माना जाता था, यह
 अब इस 'निदिष्टे' विशेषण से ही सिद्ध हो जायगा । कारण, 'यह मुख नहीं चन्द है'

इत्यादि अपहृतियों में 'उपमेयतावच्छेद'—अर्थात् उपमेय-मुख आदि—का निषेध किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदक रूप से उपमेय का प्रतिपादन न होने से ही लक्षण की भ्रम्राप्ति हो जायगी। इतना ही नहीं, इस द्वितीय पक्ष में 'उपरञ्जकता' की व्याख्या में दीक्षितजी के द्वारा कहा गया 'आहार्य' यह विश्रय-विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा। यह विशेषण 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लगाया गया है, पर वहाँ भ्रमजनक बोध से उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति रोक दी जाती है, अतः वहाँ उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श भी नहीं रहता, इस स्थिति में उसका भी वारण 'निर्दिष्ट' विशेषण से ही हो जा सकता है। और इन विशेषणों का निवेश कर देने पर भी 'नायं सुधांशुः'—अर्थात् यह (प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला चन्द्रमा) चन्द्रमा नहीं है। तो चन्द्रमा क्या है? प्रियतमा का मुख। इस दीक्षिताभिमतकुवलयानन्दगत पर्यस्तापहृति में अतिव्याप्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ उपमेयतावच्छेदक-मुखत्वरूप से प्रतिपादित उपमेय-मुख में उपमान-चन्द्रका साद्रूप आरोपित होकर निश्चित होता है। आप कदाचित् कहें कि—'अनिहृते' विशेषण से इसका वारण होगा, तो यह कथन वन नहीं सकता, क्योंकि यहाँ चन्द्र में चन्द्रत्व का निषेध रहने पर भी उपमेय-मुख-सर्वथा निषेध से अछूता ही है। फलतः 'अनिहृते' विशेषण व्यर्थ ही सा हो जाता है—जिस फल की सिद्धि के लिये जो विशेषण जोड़ा जाता है, वह फल यदि उससे सिद्ध नहीं होता—तब उसकी सार्थकता ही क्या? दीक्षितजी इसको ('नायं सुधांशुः'—को) रूपक तो मान नहीं सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर उन्होंने कुवलयानन्द में स्वयं जो उसको पर्यस्तापहृति माना है—उससे विरोध पड़ जायगा।

चित्रमीमांसायामप्यददीक्षितैर्नोक्तमन्यदपि खण्डयति—

यच्चाप्युक्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणाच्चेदमेवालङ्कारभूतस्य रूपकस्य लक्षणमिति, तदपि न। नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधोऽस्ति। प्रधानव्यङ्ग्यरूपकवारणाय पुनरुपस्कारकत्वं विशेषणमुचितमित्यसकृदावेदनात्। अनलङ्कारत्वस्य तुल्यतया प्रधानव्यङ्ग्यरूपकस्यैव प्रधानवाच्यरूपकस्यापि वारणीयत्वेन तद्वारकविशेषणाभावेन तत्रातिप्रसङ्गाच्च।

इदमेवेति। प्रागुक्तं रूपकलक्षणभेदेत्यर्थः। नन्वेवं कथमतिप्रसङ्गनिर्गोऽत आह—
 प्रधावेति। नन्वेवमपि विनियमनाविरहात्तयोक्तिरत आह—अनलमिति। मन्मते तु तेनैवो-
 भयोर्वारणमिति भावः। अलङ्कारभूतरूपकलक्षणोऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणप्रद्वेषो दीक्षितस्य नोचितः,
 नित्यव्यङ्ग्यत्वस्य रसादेरपि स्थितिर्विरोधेऽलङ्कारत्वस्य स्वीकृततया व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरविरो-
 धसिद्धौ संप्रहणीयस्य व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्यासम्प्रसङ्गात्। ननु अप्राधान्येन व्यङ्ग्यमानस्य
 रूपकस्य संप्रहणीयत्वेऽपि असंप्रहणीयस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यमानस्य रूपकस्य व्यावृत्त्यर्थं
 लक्षणोऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणयोगो युक्त इति चेत्, तदर्थं 'उपस्कारकत्व'-विशेषणस्य योजयि-
 त्तुमौचित्यात्। न चोभाभ्याम् (अव्यङ्ग्यत्वोपस्कारकत्वाभ्याम्) विशेषणाभ्यां समानतया
 प्रधानव्यङ्ग्यवारणसम्भवे 'उपस्कारकत्व'विशेषणस्यैव योजने किमौचित्यमिति वाच्यम्,
 यथा प्रधानतया व्यङ्ग्यमानं रूपकं नालङ्कारः अपि तु अलङ्कार्यम् इति तद्वारणप्रयास आव-
 श्यकः, तथैव प्राधान्येन वाच्यमपि रूपकमलङ्कार्यमेव नालङ्कार इति तद्वारणप्रयासोऽप्यवारयक
 एव, एवञ्च यदि केनप्येकेन विरोधत्वेन तयोर्भयोर्वारणं भवेत्, तर्हि तद्विशेषणयोजने
 औचित्यं निर्विवादम्, अत उभयोर्वारकस्य उपस्कारकत्वविशेषणस्य योजने औचित्य-
 मस्ति, प्रधानव्यङ्ग्यरूपकमात्रवारकस्य 'अव्यङ्ग्य'-विशेषणस्य योजने च तन्नास्तीत्याशयात्
 इति भावः।

अप्यदीक्षित द्वारा चित्रभीमासा में कही गई एक अन्य बात का भी खण्डन किया जाता है—यथापि इत्यादि। और जो दीक्षितजी ने यह कहा है कि—“इसी (पूर्वोक्त सामान्य रूपकलक्षण) में यदि ‘अव्यङ्ग्य’ यह एक और विशेषण जोड़ दिया जाय, तब यह लक्षण अलङ्कारभूत रूपक का हो जायगा,” वह भी समुचित नहीं, क्योंकि व्यङ्ग्यता तथा अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है, नित्यव्यङ्ग्य रस आदि भी स्थितिविरोध में अलङ्काररूप होते ही हैं, फिर व्यङ्ग्यरूपकालङ्कार भी मानना ही पड़ेगा और इस विशेषण से उसका वारण ही हो जायगा—अर्थात् इस विशेषण के कारण लक्षण की व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्थल में अव्याप्ति ही हो जायगी। यदि आप कहें कि—प्रधानीभूत अन्य वाच्यार्थ के पोषक व्यङ्ग्य रूपक भले ही अलङ्कारश्रेणी में सम्प्रहणीय हों, पर प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाला रूपक तो आपके मत से भी अलङ्कारश्रेणी में सम्प्रहणीय नहीं होगा—उसको तो आप भी अलङ्कार्य ही मानियेगा अलङ्कार नहीं, फिर उस प्रधान व्यङ्ग्यरूपक का वारण करने के लिये ‘अव्यङ्ग्य’ विशेषण क्यों नहीं समुचित समझा जायगा, तो यह भी मानने योग्य आपका तर्क नहीं, क्योंकि प्रधान व्यङ्ग्यों का वारण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षण में ‘उपस्कारक-’ विशेषण जोड़ने की बात बार-बार कही जा चुकी है। यदि आप कहें कि—प्रधान व्यङ्ग्य के वारणार्थ ‘उपस्कारक-’ विशेषण ही जोड़ा जाय ‘अव्यङ्ग्य-’ विशेषण नहीं, यह कौन-सी बात है? तो मैं कहूँगा कि—हाँ, है ऐसी कुछ बात जिसके अनुरोध से ‘उपस्कारक-’ विशेषण का जोड़ना ही उचित है और वह बात यह है कि—जिस तरह प्रधानरूप में अभिव्यक्त होने वाला रूपक अलङ्कार नहीं अलङ्कार्य होता है, अतः उसका अलङ्कारश्रेणी से निष्कासन आवश्यक है, वही तरह प्रधानरूप में वाच्य होने वाला रूपक भी अलङ्कार नहीं, अलङ्कार्य ही होता है, अतः उसका भी अलङ्कारश्रेणी से बहिर्भाव आवश्यक है। अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि—‘उपस्कारक’ और ‘अव्यङ्ग्य’ इन दोनों में से कौन सा विशेषण उचित है? ‘उपस्कारक-’ विशेषण से प्रधान व्यङ्ग्य तथा प्रधान वाच्य दोनों का ही वारण होता है और ‘अव्यङ्ग्य-’ विशेषण से केवल प्रधान व्यङ्ग्य का, फलतः इस विशेषण को जोड़ देने के बाद भी प्रधानवाच्य-रूपकस्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी। अतः दीक्षितजी का लक्षण गड़बड़ ही है।

मम्मटगद्गृतकाव्यप्रकाशोक्त लक्षण निरस्यति—

यद्य ‘तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः’ इत्यादि प्राचीनैरुक्तम्, तच्चिन्त्यम्, अपहुत्यादावुपमानोपमेययोरभेदस्य प्रतीतिसिद्धतया तत्रातिप्रसङ्गान्। अथोपमानोपमेययोरित्युक्त्या उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्योपमानतावच्छेदकावच्छिन्नभेद इत्यर्थलामादपहुतौ चोपमेयतावच्छेदकस्य पुरस्काराभावात्त्रातिप्रसङ्ग इति चेत्। न। ‘नूनं मुखं चन्द्रः’ इत्याद्युत्प्रेक्षाया तथाप्यतिप्रसक्तेः।

प्राचीनैः मम्मटगद्गृतं रूपकलक्षणं न सम्यक्, अपहुत्यादाविति। भ्रान्तिमदतिशयोक्त्यादय आदिपद-प्राह्या। उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्येति। भासमानोपमेयतावच्छेदके उपमेये इति भावः। उपमानतावच्छेदकेति। भासमानोपमानतावच्छेदकस्योपमानस्याभेद इत्यर्थः। पुरस्कार-भावादिति। उपमेयस्य निषिध्यमानत्वादिति भावः। ‘उपमानोपमेययोः’भेदस्तद्रूपकम् इत्यर्थकं मम्मटगद्गृतं रूपकलक्षणं न सम्यक्, अपहुत्यादाविति। तत्राप्युपमानोपमेय-योरभेदस्य प्रतीयमानत्वात्। ‘उपमानोपमेययोः’ इति लक्षणे कथनेन ‘मुखं चाद्युपमेय-तावच्छेदकविशिष्टे मुखादावुपमेये चन्द्रत्वाद्युपमानतावच्छेदकविशिष्टचन्द्राद्युपमानाभेदो रूपकम्’ इत्यर्थलामेऽपहुत्यादौ नातिव्याप्तिः, तत्र निषेधादिनोपमेयतावच्छेदकवैशिष्ट्यस्य विरहात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि निस्तारो नास्ति, ‘नूनं मुखं चन्द्रः’ इत्युत्प्रेक्षायामति-

व्याप्तेः सत्त्वात्, अत्र मुख्यविशिष्टमुखाजुयोगिकचन्द्रत्वविशिष्टचन्द्रप्रतियोगिकभेदस्य प्रतीतिरिति भावः ।

मम्मटमदृष्टव काव्यप्रकाशग्रन्थ में उक्त रूपकलक्षण का स्पष्टन किया जाता है—
यच्च इत्यादि । 'उपमान और उपमेय का जो भेद उसको रूपक कहते हैं' यह जो रूपकलक्षणकरणप्रसङ्ग में मम्मटमदृ ने कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय के भेद की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण अपहृति भावि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है अर्थात् इस लक्षण के अनुसार 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इत्यादि तरह के अपहृति भादि अलङ्कार के उदाहरण भी रूपकधेयी में सगृहीत होने लगेते । यदि आप कहेंगे—लक्षण में 'उपमान और उपमेय का' इस तरह के कथन से यह लब्ध होता है कि—'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर—अर्थात् उपमेय—भाव का परिचायक—मुखत्व आदि से युक्त मुख आदि में—उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न का—अर्थात् चन्द्रत्व भादि से परिचित चन्द्र (एक वस्तुविशेष) का भेद रूपक है' और हम जय के अनुसार अपहृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ, 'मुख नहीं है' इत्यादि प्रकार से उपमेय का निषेध किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदक—मुखत्व भादि—का आगे रहना संभव नहीं, तो मैं कहूँगा कि—हाँ, यह तर्क सत्य है, अब अपहृति भादि में अतिप्रसङ्ग नहीं रहा, पर इससे क्या लक्षण निर्दुष्ट सिद्ध हो गया ? कथमपि नहीं, क्योंकि—अपहृति भादि में न सही, उपमेय में तो अब भी अतिव्याप्ति बनी है—'मानो मुख चन्द्र है' यही तो उपमेय का उदाहरण है, यहाँ मुखत्व—उपमेयतावच्छेदक—को आगे रखकर मुख में चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र का भेद साफ झलकता है, फिर उक्त लक्षण की यहाँ प्राप्ति हो जाने में बाधा क्या ? कुछ नहीं, वह हो ही जायगी ।

पूर्वापादिताया उत्प्रेक्षायां मम्मटलक्षणातिव्याप्तेरभावनाशङ्क्य पुनस्ता दृढयति—

न च—

'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपहृतिः ।'

'सम्भावनमयोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ॥'

इत्याद्यपहृत्युत्प्रेक्षादीनां वाचकत्वात्तत्परिगृहीतविषयातिरिक्तो रूपकस्य 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिविषयः स्यात् । यथा 'शरमयं बर्हिः' इत्येतद्विषयातिरिक्तः 'क्षुरामयं बर्हिः' इत्यस्य । यथा वा वसादेशविषयातिरिक्तो विषयः सिधः । लोकेऽपि यथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्', 'सकं कौण्डिन्याय' इत्यत्र तत्रसम्प्रदानातिरिक्तं दध्नः सम्प्रदानमिति वाच्यम् । वैषम्यात् । विशेषशास्त्रं हि स्वविषयातिरिक्तं विषयं प्राह्यत्सामान्यशास्त्रस्य वाचकमित्युच्यते । प्रकृते च रूपकस्य लक्षणं धर्मः । स मद्युत्प्रेक्षादिवृत्तिः स्यात् कस्तस्माद्विषयान्निरस्य विषयान्तरं प्राह्येत् । नहि घटत्वं स्वाधिकरणात् पृथिवीत्वं द्रव्यत्वं वा निरस्य विषयान्तरं प्राह्यित्तुमीष्टे । तस्मादतिप्रसक्तिर्लक्ष्योऽस्मिन्दोषः । ननु सम्भावनात्सिकोत्प्रेक्षा, कथं तस्यामभेदत्वात्मकरूपकलक्षणातिप्रसक्तिरिति चेत् । न । विनिगमकाभावेन सम्भाव्यमानाभेदस्याप्युत्प्रेक्षास्वरूपत्वात् । विषयसम्भावनाऽभेदाभ्यामुत्प्रेक्षायामलङ्कारद्वयव्यवहारोपत्तेश्च । निश्चीयमानत्वेनाभेदो विशेषणीय इति चेदस्मादुक्त एव तर्हि पर्यवसतिरिति दिक् ।

प्रकृतमिति । मम्मटकृतमपहृतिलक्षणमिदम् । प्रकृतं उपमेयं, निषिध्य तिरोघाय, अन्यत् उपमानम्, यद् साध्यते स्थाप्यते, सा अपहृतिः अलङ्कार इत्यर्थः । सम्भावनामिति ।

‘तत्कृतमेवोत्प्रेक्षालक्षणमेतत् । प्रकृतस्य उपभेयस्य, समेन सदृशेन उपमानेनेति यावत्, यत्, सम्भावनम्, सा उत्प्रेक्षा इति तदर्थः । बाधकत्वादिति । विशेषविहितत्वेनापवादत्वादिति भावः । तत्परिग्रहीत इति । ताभ्यामपह्युत्प्रेक्षाभ्याम्, परिग्रहीता’ आक्रान्ता’, ये, विषया लक्ष्याणि, तद्भिन्न इत्यर्थः । मुखं चन्द्र इति । अत्र गमकाभावात्तदुभयं न । तत्र जैमिनीयं दृष्टान्तमाह—यथा शरैति । आभिचारिके कर्मणि विशेषविहितमिदम्, यज्ञसामान्ये विहितस्य ‘कुशमयं बर्हि’ इत्यस्य बाधकमित्यर्थः । व्याकरणोक्तं तमाह—यथा चा क्सेति । ‘शल इग्—’ इति विहितैत्यादि । सिच इति । ‘च्ले सिच्’ इति विहितस्येति भावः । लौकिकं तमाह—लोकेऽपीति । कौण्डिन्यायेति । प्राज्ञाणविशेषस्य संश्लेषम् । लौकिकन्यायोऽयं ‘तत्कौण्डिन्यान्याय’शब्देन व्याकरणे प्रसिद्धः । विशेषविहितेन तत्कदानेन सामान्यविहितस्य दधिदानस्य बाध इति भावः । सम्प्रदानेति । दानपात्रेत्यर्थः । सामान्यशास्त्रे विशेषशास्त्रेण स्वसार्थक्याय स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन सङ्कोचो विधीयते । यथा ‘शरमयं बर्हि’ इति विशेषशास्त्रेण ‘कुशमयं बर्हि’ इति सामान्यशास्त्रे स्वप्रवृत्तियोग्याभिचारिकर्मातिरिक्तत्वेन, यथा वा ‘शल इग्—’ इति विशेषशास्त्रेण ‘च्ले सिच्’ इति सामान्यशास्त्रे स्वप्रवृत्तियोग्येषुपधशलन्तधात्वव्यवहितोत्तरच्लिभिन्नत्वेन, यथा वा ‘तत्कौण्डिन्याय’ इति विशेषविधानेन ‘ब्राह्मण्येभ्यो दधि देयम्’ इति सामान्यविधाने स्वप्रवृत्तियोग्यकौण्डिन्यान्यत्वेन सङ्कोचो विधीयते, तथैव विशेषविहिताभ्याम् ‘प्रकृतम्—’ ‘सम्भावनम्—’ इत्येताभ्यां सामान्यविहिते ‘तद्रूपकम्—’ इत्यस्मिन् प्रकृतनिषेधोत्तरकालिकान्यसाधनान्यत्वेन, प्रकृतविषयकसदृशकरणकसम्भावनान्यत्वेन च सङ्कोचो विधीयते, तथा चापह्युत्प्रेक्षालक्ष्यातिरिक्ते ‘मुखं चन्द्र’ इत्यादावेव रूपकलक्षणस्य प्रवृत्तिरिति नातिन्याप्तिरिति शङ्कादलस्याभिप्रायः । समाधत्ते—वैषम्येति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैलक्षण्यादिति भावः । तदेव वैलक्षण्य स्फोरयति—विशेषशास्त्रम् इति । प्राहयत् इति । न त्वप्राहयदिति भावः । तस्यैव तद्दीजत्वात् । धर्म इति । अभेदत्वरूप इत्यर्थः । अयं भावः—दृष्टान्तभूतानि वस्तूनि, शास्त्ररूपाणि वचनानि, न धर्मरूपाणि, अतस्तत्रैतत्सम्भवति यदेक शास्त्रम्परस्य शास्त्रस्य विषय स्वविषयातिरिक्तत्वेन सङ्घुचितं कुर्यादिति, प्रकृते तु तत्तदलङ्कारस्य धर्मरूपं तत्तल्लक्षणम् इति नैतत्सम्भवति यत्प्रसज्यमानं तद्गर्भात्मक लक्षण स्थानविशेषाभिरस्य स्थानविशेष एव केन्द्रितं कृतं स्यादिति, यथा घटत्व पृथिवीत्वद्रव्यत्वादिरहितेऽधिकरणे स्थापयितुं न शक्यम् इति । उपसद्वरति—तस्मादिति । बाधाधसम्भवादिति तदर्थः । ‘अस्मिन् लक्षणे इति । मम्मदकृतरूपकलक्षणे इत्यर्थः । तथा च दुष्टमेव मम्मटीयमेतद्रूपकलक्षणमिति भावः । पुनर्मम्मदलक्षणसमर्थनायान्यदार्शक्यं समाधत्ते—न चेति । अयमत्र निर्गलितार्थः—उक्तलक्षणानुसारम् उत्प्रेक्षायां सम्भावनं स्वरूपम्, रूपकस्य चाभेदः, तथा च नानयोः सङ्कीर्णताप्रसङ्गं कथमपि सम्भवति, सर्वथा विभिन्नविषयकत्वात्तयोरित्यपि न सम्भवदुक्तिकम्, विनगमनाविरहेण विषयसम्भावनवत् सम्भाव्यमानविषयाभेदस्यापि उत्प्रेक्षास्वरूपत्वेनाङ्गीकरणीयत्वात्, तथा च सङ्कीर्णताप्रसङ्गः इत्याशयात् । ‘अभेदो रूपकम्’ इत्युक्तौ सम्भाव्यमानोऽप्यभेदो प्रदीतः शक्येतेति परमार्थः । ननु भवद्वात्या सम्भाव्यमानोऽभेद उत्प्रेक्षा । ये तु विषयसम्भावनामेवोत्प्रेक्षां मन्यन्ते, तन्मते न रूपकलक्षणस्योत्प्रेक्षायामतिप्रसङ्ग इति चेत् ? सत्यम्, परन्तु तथा मति लक्षणविषये मतभेदात् उत्प्रेक्षायामेव । उत्प्रेक्षा-रूपकमित्यलङ्कारद्वयव्यवहारः आपतेत् । उत्प्रेक्षायां विषयाभेदस्य सम्भाव्यमानतया न निश्चय इति अतिव्याप्तिरित्यासाय रूपकलक्षणे निश्चयगोचरत्वेनाभेदो विशेष-

णीय इति, चेत् ? समागतो मदीयः पन्थाः । कथंचिद्रूपकलक्षणे निद्रयं प्रवेष्टव्योऽन्यथाऽ-
नुगतं लक्षणं न स्यादित्येव ममाभिप्राय इति ।

पूर्वोक्त अतिव्याप्तिवारक कुछ युक्तियों बतलाकर पुनः उनके खण्डन किये जाते हैं—
न च इत्यादि । 'प्रकृतं यत्—अर्थात् उपमेय का निषेध करके उसे उपमान सिद्ध करता
अपह्नुति कहलाता है ।' और 'सम्भावनाम्—अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में
सम्भावना उल्लेख कहलाती है ।' तात्पर्य यह है कि—अभेद के रहने पर भी जहाँ निषेध
हो वहाँ अपह्नुति होती है और जहाँ सम्भावना हो वहाँ उल्लेख होती है । ये दोनों
क्रमशः सम्प्रदत्त अपह्नुति और उल्लेख के लक्षण हैं, जो विशेषरूप हैं और उक्त रूपक-
लक्षण है सामान्यरूप, अतः इन विशेष लक्षणों से उस सामान्य लक्षण का बाध होगा—
अर्थात् ये दोनों विशेष लक्षण, 'मेरी प्रवृत्ति होने योग्य निषेध तथा सम्भावना स्थिति
से भिन्न शब्द अभेद में ही तुम प्रवृत्त होवो' इस प्रकार से उक्त सामान्य रूपकलक्षण
में सङ्कोच कर देंगे, फलतः 'यह मुख नहीं, चन्द्र है' इत्यादि अपह्नुति और 'मानो मुख
चन्द्र है' इत्यादि उल्लेख के लक्ष्यों से भिन्न 'मुख चन्द्र है' इत्यादि ही रूपक के लक्ष्य
होंगे । इस तरह का बाध्य-बाधकभाव भिन्न-भिन्न शास्त्रों तथा लोक में भी देता जाता
है । जैसे—सामान्य यज्ञ के प्रकरण में 'जुसों का बर्हि होना चाहिये' ऐसा विधान
किया गया है और आभिचारिक (नारणायक) यज्ञप्रकरण में 'सरकण्डे का बर्हि होना
चाहिये' ऐसा विधान किया गया है । अब ये दोनों ही विधान ऐसे सार्थक हों, इसलिये
इन दोनों विधानों में बाध्य-बाधकभाव माना जाता है अर्थात् विशेषविहित द्वितीय
वाक्य होता है बाध्य और सामान्यविहित प्रथम वचन होता है बाध्य, फलतः उक्त
विध सङ्कोचप्रक्रिया के द्वारा बाधक वचन के विषयों—आभिचारिक यज्ञों—से अन्य
स्वर्गादिप्रापक यज्ञ ही बाध्यवचन के विषय होते हैं । यह तो हुआ मीमांसाशास्त्र का
दृष्टान्त । अब न्याकरणशास्त्र का दृष्टान्त देखिये—न्याकरणशास्त्र में सामान्यतः 'च्लेः
सिच्' इस सूत्र से 'च्लि प्रत्यय' के स्थान में 'सिच्' आदेश विहित है और उसी 'च्लि
प्रत्यय' के स्थान में 'शल इग्—' इस सूत्र से 'क्स' आदेश भी विशेषतः विहित है ।
अब यहाँ भी दोनों सूत्रों की सार्थकता के लिये बाध्य-बाधकभाव मानना पड़ता है—
अर्थात् विशेषविहित 'क्स' से सामान्यविहित 'सिच्' का बाध होता है, फलतः उक्त
सङ्कोचप्रक्रिया के अनुसार 'क्स' के लक्ष्य से भिन्न ही 'सिच्' का लक्ष्य होता है ।
लोक में भी इस तरह के दृष्टान्त का अभाव नहीं है । देखिये—जब किसी के द्वारा
ऐसा कहा जाता है कि—'सभी ब्राह्मणों को वही दिया जाय' और 'कौण्डिन्य को तक्र'
तब ब्राह्मण होने के नाते यद्यपि 'कौण्डिन्य' को भी वधिदान प्राप्त है, तथापि विशेष-
विहित तक्रदानवचन से सामान्यविहित वधिदानवचन का बाध हो जाने से उस
(कौण्डिन्य) को तक्र ही दिया जाता है वधि नहीं, फलतः तक्रदान का जो सम्प्रदान—
दानपात्र—होता है, उससे भिन्न ही वधिदान का सम्प्रदान—दानपात्र—होता है । ठीक यही
वात प्रकृत में भी है अर्थात् जहाँ निषेध तथा सम्भावना वाला अभेद हो वहाँ क्रमशः
अपह्नुति और उल्लेख होगी और जहाँ केवल अभेद होगा वहाँ रूपक । अतः रूपक-
लक्षण की अतिव्याप्ति उल्लेख में हो जायगी ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, यह
यदि मम्मटभट्ट अथवा उनके समर्थक जन कहें, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि
आपने जो-जो दृष्टान्त उपरिहित किये हैं वे विषम हैं—प्रकृत में ठीक ठीक बैठते नहीं । अभि-
प्राय यह कि ये सब (दृष्टान्त में आये हुये) शास्त्रीय किंवा लौकिक विधायक वचन
हैं, उनमें ऐसी बात हो सकती है कि—जो वचन 'अपने लक्ष्यों से भिन्न लक्ष्यों में ही
तुम लगे' इस तरह का बोध करावे, वह बाधक कहलावे और जिस वचन के विषय
में उक्त प्रकार का बोध कराया जाय वह कहलावे बाध्य, पर यहाँ तो ऐसी बात संभव
नहीं, क्योंकि रूपक का लक्षण क्या है ? रूपक में रहनेवाला असाधारण धर्म (सभी

लक्षण लक्षणीय के असाधारण धर्म ही होते हैं)। वह धर्म यदि उत्प्रेक्षा में भी पाया जाय, तब कौन उसको वहाँ से हटाकर अन्यत्र केन्द्रित कर सकेगा। अर्थात् रूपक का असाधारण धर्म जब उत्प्रेक्षा में रहेगा, तब 'यह उत्प्रेक्षा है, रूपक नहीं' यह बात कोई कैसे समझा सकेगा। रूपक का लक्षण हुआ सामान्य धर्म और उत्प्रेक्षा का लक्षण हुआ विशेष धर्म यही न, पर इससे क्या ? विशेष धर्म सामान्य धर्म को हटाकर रहे ऐसी बात तो है नहीं, घट्टों में 'घटत्व'रूप विशेष धर्म के साथ साथ पृथ्वीत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्म भी रहते हैं, अब यदि कोई पृथ्वीत्व तथा द्रव्यत्व को हटाकर केवल घटत्व को किसी अधिकरण में रखना चाहे तो क्या रख सकता है ? कभी नहीं। उसी तरह अपहृति और उत्प्रेक्षा में निषेध और सभावनारूप विशेषधर्मों के साथ रहनेवाले अभेद-रूप सामान्य धर्म को कोई हटा नहीं सकता। और अभेद जब है, तब रूपक भी वहाँ आपको मानना ही पड़ेगा, क्योंकि आपके लक्षणानुसार उपमान-उपमेय का अभेद रहने पर रूपक होगा ही। अतः इस मम्मटकृत रूपकलक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, आप कहेंगे—उत्प्रेक्षा का स्वरूप है सम्भावना और रूपक का अभेद, फिर 'अभेद होना' जो रूपक का लक्षण है उसकी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति कैसे होगी ? दोनों दो वस्तुएँ हैं। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि—जब उत्प्रेक्षा में सभावना तथा अभेद दोनों की उपलब्धि होती है, तब अभेद से युक्त सम्भावना के समान सभावना से युक्त अभेद को भी उत्प्रेक्षा कहा जा सकता है—अर्थात् सम्भावना को ही प्रधान और अभेद को गौण मानने में कोई खास प्रमाण नहीं है। और जब अभेद की प्रधानता मान ली जायगी, तब उसको रूपक न मानने में आपका कोई भी तर्क सफल नहीं हो सकता। दूसरे, रूपक का ऐसा लक्षण करने पर उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद के हिसाब से रूपक का और सम्भावना के हिसाब से उत्प्रेक्षा का इस तरह दो अलङ्कारों का व्यवहार होने लगेगा। कारण, आप किसी भी व्यवहार को हटा नहीं सकते। अब यदि आप कहें कि—रूपकलक्षण में अभेद के साथ 'निश्चीयमान—अर्थात् निश्चित किया जानेवाला' यह एक विशेषण और लगा देंगे, अतः उत्प्रेक्षास्थलीय सम्भाव्यमान अभेद रूपक नहीं कहला सकेगा, तो मैं भी इसका स्वागत करूँगा—स्वागत न कैसे करूँ, क्योंकि यह तो मेरा ही बताया रास्ता है—अर्थात् जिस तरह मैंने रूपकलक्षण में 'निश्चय' का प्रवेश कराया है उस तरह यदि आप भी उसका प्रवेश अपने लक्षण में करा दें तब तो कोई विवाद ही हम और आप में नहीं रहा।

सम्प्रति प्राचीनाभिमतान् रूपकभेदानाचष्टे—

तदिदं रूपकं सावयवं निरवयवं परम्परितं चेति तावत्त्रिविधम्। तत्रायं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविचर्ति चेति द्विविधम्। द्वितीयमपि केवलं मालारूपकं चेति द्विविधम्। तृतीयं च रिलष्टपरम्परितं शुद्धपरम्परितं चेति द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूपत्याभ्यां चतुर्विधमित्यष्टविधमाहुः।

इदं पूर्वोक्तम्। तावत् आदौ। आहुरिति। प्रकाशकारादय इति भावः। एतत्सूचिता-
रुचिस्त्वमे स्फुटीभविष्यति। अन्यत् सुगमम्।

अब रूपक के प्राचीनाभिमत भेद किये जाते हैं—तदिदमित्यादि। पूर्वोक्त रूपक के प्रथमतः तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परम्परित। उनमें से सावयव रूपक के दो प्रकार होते हैं—एक समस्तवस्तुविषय और दूसरा एकदेशविचर्ति। निरवयव रूपक के भी दो उपभेद होते हैं—एक केवलरूपक तथा दूसरा मालारूपक। परम्परित रूपक के चार उपभेद होते हैं—रिलष्टपरम्परित केवलरूप और मालारूप, इसी तरह शुद्धपरम्परित केवलरूप और मालारूप। इस प्रकार से रूपक के कुल आठ भेद होते हैं—ऐसा मम्मटभट्ट आदि कहते हैं। 'मम्मटभट्ट आदि कहते हैं' इस कथन के कुछ अरुचि सूचित होती है, इस अरुचि का बीज आगे स्पष्ट किया जायगा।

उक्तेषु प्रधानभेदेषु लिलक्षिषितेषु तावत्प्रथमभेदं लक्षयति—

तत्र—

परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम् ।

तत्रैति । उक्तभेदानां मध्य इत्यर्थः । परस्परेति । परस्परं मिथ, सापेक्षा आश्रिता, निष्पत्तिः सिद्धिर्येषां तेषामित्यर्थः । संघातः समूहः । अन्योन्यापेक्षया सिद्धयतां रूपकाणां समूहः सावयवरूपकं कथ्यत इति भावः ।

रूपक के पूर्वोक्त भेदों के लक्षणकरणप्रसङ्ग में सर्वप्रथम प्रथम भेद का लक्षण किया जाता है—तत्र इत्यादि । उक्त भेदों के मध्य में—एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होने वाले रूपकों के समूह को सावयव रूपक कहते हैं ।

सावयवरूपकोपभेदौ लिलक्षयिषुस्तावत् प्रथमोपभेदं लक्षयति—

तत्रापि—

समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।

तत्रापिेति । सावयवरूपकेऽपीत्यर्थः । आरोप्यमाणानीति । आरोपस्य विषयिण इत्यर्थः । उपमानानीति यावत् । यत्र सावयवे रूपके सर्वाण्युपमानानि शब्दतः प्रतिपादितानि तिङ्गित तत्समस्तवस्तुविषयनामक रूपकं कथ्यत इति भावः ।

सावयव रूपक के प्रथम उपभेद का लक्षण किया जाता है—तत्रापि इत्यादि । सावयव रूपक में भी, उसको 'समस्तवस्तुविषय' नामक रूपक कहा जाता है, जिसमें सभी आरोपणीय-उपमानभूत-पदार्थों का ग्रहण शब्दतः किया गया रहता है ।

द्वितीयसावयवरूपकोपभेदं लक्षयति—

यत्र च कचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं कचिच्चार्यसामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति ।

यत्र चेति । यत्र तु संघातात्मकसावयवरूपके इत्यर्थः । अत्र सामर्थ्याक्षिप्तं तत् एकदेशविवर्ति इत्यंशो लक्षणम्, अपराशब्दु नामकरणव्याख्येति विवेकः । अवयवरूपके इति । रूपकसंघातस्यावयविनोऽवयवे कस्मिंश्चिद्रूपके इत्यर्थः । विवर्तनादिति । विरुद्धतया वर्तनादित्यर्थः । विरुद्धत्वमेवाह—स्वेति । कस्मिन् रूपकसंघातात्मकतयाऽवयवविभूते सावयवरूपके एकावयवभूतरूपकपटकमुपमानं शब्दतो गृहीतं तथा अपरावयवभूतरूपकपटकमुपमानं न शब्दतो गृहीतमपि तु अर्थबलवत्त्वं भवति तत् एकदेशविवर्तिरूपकं कथ्यत इति लक्षणार्थः । ननु कथमेतन्नामकरणम् इति चेत् ? एकदेशे—उपमानवाचकपदशून्ये अवयवभूते रूपके—विवर्तनात्—विरुद्धतया वर्तनात्—शब्दोपात्तोपमानकावयवरूपकापेक्षया मिलितया, रूपकस्वरूपगोपनपूर्वकमित्यर्थः, स्थितेरिति बोध्यम् ।

सावयव रूपक के द्वितीय उपभेद का लक्षण किया जाता है—यत्र च इत्यादि । जिस सावयव रूपक में, किसी अवयव में उपमान शब्दतः कथित हो और किसी अवयव में वह (उपमान) अर्थतः आक्षिप्त होता हो, वह 'एकदेशविवर्ति रूपक' कहलाता है । यह रूपक, एकदेश-अर्थात् जहाँ उपमान का ग्रहण शब्दतः नहीं किया हो उस अवयवभूत रूपक—में अपने स्वरूप को विषाय रहता है, अतः उसकी स्थिति अन्यथा—अर्थात् जिनमें उपमान का शब्दतः ग्रहण किया गया हो उनसे भिन्न—होती है, अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

नामकरणबीजविषयकमतभेदमाह—

यथा—

एकदेशे उपात्तविषयिके अत्रयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविषति ॥

-निनिगमनाभावादाह यद्वेति । अत्रयवेति तदर्थ । अत्रयव इति अत्रयवरूपक इत्यर्थ ।

एतच्च 'एकदेशे' इत्यस्य व्याख्या । विवर्तनपदघटकव्युपतर्गस्यार्थमाह-विशेषेणेति । तद्व्याख्यामाह—स्फुटतयेति । अन्यत् स्फुटम् ।

'एकदेशविवर्ति' इस नामकरण में मतभेद से दूसरी युक्ति दिखलाई जाती है—यद्वेत्यादि । अथवा, यह रूपक एकदेश में—अर्थात् जहाँ शब्दतः उपमान गृहीत हो वर्त-विशेषरूप से—अर्थात् स्पष्टतया-वर्तमान रहता है । तात्पर्य यह कि अन्य अंश में स्पष्टतया वर्तमान नहीं रहता है अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

उदाहरण निर्देशुमाह—

समस्तवस्तुविषयं सावयवं यथा—

समस्तवस्तुविषयाख्यसावयवरूपकोदाहरण निम्ननिर्दिष्टमवगन्तव्यमिति भाव ।

समस्तवस्तुविषयं नामक सावयव रूपक, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'सुविमलमौक्तिकतारे धवलशुक्रचन्द्रिकाचमत्कारे ।

वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः ॥'

नायको नायिकामाह—सुविमलानि अतिस्वच्छानि, मौक्तिकानि मुक्ताभरणानि, तारय नक्षत्राणि यत्र तत्तुल्यौ रूपम्, धवलशुक्रम्, अशुक वसनम्, चन्द्रिकाया चन्द्रज्योत्स्नाया चमत्कारो विलासो यत्र सादृश्ये, वदनमुखम्, परिपूर्णं सम्पूर्णमण्डलं, चन्द्रे यत्र सादृश्ये, हे सुन्दरी ! त्वम्, राका पूर्णिमा, असि वर्तसे, अत्र विषये, सन्देह सशयो नास्तीत्यर्थ । अत्र पद्ये चत्वारि रूपकानि—सुखानक्षत्रयोरेकम्, वसनज्योत्स्नयोर्द्वितीयम्, मुखचन्द्रयोस्तृतीयम्, नायिकापूर्णिमयोथ चतुर्थम् । एषा च रूपकाणा सिद्धि परस्परसापेक्षा एकं रूपणं विनाऽपरस्य रूपणस्यायुक्तत्वेनानुत्यानात्, अतः सावयवरूपकोदाहरणस्वमत्र सुस्थम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुविमल इत्यादि । हे सुन्दरी ! तू प्यारी की रजनी हो—इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि-तुम में, तेरे आभूषण में प्यारी मोती के दाने विमलतर तारे हैं, तेरा धवल वसन चाँदनी की चमचमाहट है, तेरा मुख पूरा चाँद है—हम सभी अंगों के जुटे रहनेपर भला तेरे पूर्णिमा होने में कोई सन्देह कर सकता है ? यहाँ, मोती के दाने और तारों में, वसन और चाँदनी की चमचमाहट में, मुख और चन्द्र में तथा सुन्दरी और पूनी की रजनी में रूपक हुए हैं, ये सभी रूपक परस्पर सापेक्ष हैं—एक के बिना दूसरे की सिद्धि ही नहीं सकती, अतः 'सावयव रूपक' का उदाहरण यह पद्य कहा जा सकता है ।

एतदुदाहरणगतं विशेषमाह—

अत्र समुदायात्मकस्य सावयवरूपकस्यावयवानां सर्वेषामपि वस्तुतः समर्थ्यसमर्थकभावस्य परस्पर तुल्यत्वेऽपि कवे राकारूपस्यैव समर्थ्यत्वेनाभिप्रेत-त्वात्समर्थकतयोपादानमितरेषामिति गम्यते । एवं स्थिते समर्थकरूपकाणां विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तैरश्रवणादनुवाचत्वेऽपि समर्थ्यरूपकस्य तयोः पृथग्विभक्तिश्रवणाद्विधेयतया उदादाय सङ्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि विधे-

यत्वमत्र व्यपदिश्यते । यथा भटसङ्घातान्तर्गतस्य मुख्यस्य कल्याणि भटस्य जय-पराजयाभ्यां भटसङ्घातो जितः पराजितश्चेत्युच्यते ।

अवयवानामिति । मुक्तानक्षत्र वसनज्योत्स्ना-मुखचन्द्र-नायिकापूर्णिमारूपाणामवयव-रूपकाणामित्यर्थः । अभिप्रेतत्वादिति । विधेयतया वर्णनीयत्वादिति भावः । तयोर्विषय-विषयिणोः । तदादावेति । तदीयविधेयत्वनादायेत्यर्थः । अत्रेति । प्रकृतपक्ष इत्यर्थः । अन्यधर्मेणान्यत्र व्यवहारे दृष्टान्तमाह—यथेति । अथ भावः—‘सुविमल—’ इति पद्यगतं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपक विधेयमिति आलङ्कारिकसम्मतो व्यवहारः । ननु मुक्तान-क्षत्रयोः, वसनज्योत्स्नयोः मुखचन्द्रयोश्च रूपकाणां समस्तपदगतानां न विधेयत्वव्यवहार-योग्यत्वम्, तेषु उपनेयोपमानयोः पृथग्विभक्त्यन्तपदानुपस्थाप्यत्वात्, उद्देश्य-विधेय-भावबोधे च पृथग्विभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेस्तन्नत्वात्, एवञ्चाविधेयानि तानि रूपकाणि चरम राकारूपकं च समादाय समुदायात्मके सावयवरूपके कथं विधेयत्वव्यवहारः सङ्गच्छे-दिति चेत् ? सैनिकसमूहगतप्रधानसैनिकस्य जये पराजये वा यथा सैनिकसमूहस्य जयः पराजयश्च व्यवहियते, तथैव पृथग्विभक्त्यन्तपदोपस्थाप्यतया विधेयीभूतस्य प्रधानस्य नायिकाराकारूपकस्य समुदायात्मकतावयवरूपकघटकस्य विधेयत्वमादाय समुदायात्मक-सावयवरूपकेऽपि विधेयत्वव्यवहारः सङ्गत इत्याशयात् । न च किमत्र राकारूपके प्रापान्यम् इति वाच्यम्, समर्थत्वस्यैव तत्र तत्त्वात् । न च कुतस्तस्यैव समर्थत्वम्, समूहा-त्मकसावयवरूपकघटवत्सकलरूपकाणां समर्थ्य-समर्थकभावस्य वस्तुतस्तुल्यत्वादिति वक्त-व्यम्, तुल्येऽपि सर्वेषां वस्तुतः समर्थ्य-समर्थकभावे चरमस्य राकारूपकस्यैव समर्थत्वेन क्वविधेयताविषयत्वात् । तथा च तदङ्गानि रूपकाणि समर्थकान्यनुवाचानि चेति ।

‘सुविमल—’ इस उदाहरण में माने जाने वाले सावयव रूपक की विधेयता सिद्ध करने की युक्ति दिखलाई जाती है—अत्र इत्यादि । यह सावयव रूपक अनेक रूपकों का समूह-रूप होता है यह बात लक्षण से ही स्पष्ट है । इस समूह के अन्तर्गत जितने अवयवभूत रूपक होते हैं उन सबों में समानरूप से समर्थ्य समर्थकभाव होता है—अर्थात् सभी को समर्थ्य और समर्थक दोनों कह सकते हैं, क्योंकि सबको सब की अपेक्षा बराबर है, फिर भी यहाँ नायिका और पूर्णिमा का जो रूपक है उसी को समर्थ्य माना जायगा और सबको समर्थक, क्योंकि कवि ने नायिका-पूर्णिमा-रूपक का समर्थन करने के लिये ही अन्य रूपकों का सर्जन किया है । फलतः यहाँ समर्थ्य होने के कारण नायिका पूर्णिमा-रूपक प्रधान है और अन्य रूपक—अर्थात् मुक्तानक्षत्ररूपक, वसनज्योत्स्नारूपक तथा मुख-चन्द्ररूपक, समर्थक होने के कारण, अत्रभूत हैं । ऐसी स्थिति में समर्थक सभी रूपक यद्यपि अनुवाद्य कहे जायेंगे, क्योंकि उन रूपकों में भाए हुए उपमान-उपमेयों की उपस्थिति पृथक्-पृथक् विभक्ति वाले पदों से मही हुई है—अर्थात् वे रूपक समस्त पदों के वाच्य हैं, अतः समुदाय-समस्त पदसमूह-से एक ही विभक्ति भाई है और उद्देश्य-विधेयभाव के बोध में पृथक् विभक्ति वाले पदों से अर्थ का उपस्थित होना कारण माना जाता है, तथापि समर्थ्य (प्रधान)रूपक विधेय कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें भाए हुए उपमान-उपमेय की उपस्थिति पृथक्-पृथक् विभक्ति वाले पदों से हुई है—अर्थात् वहाँ समास नहीं किया गया है और उस एक अक्ष की विधेयता को लेकर ही समूहारमक सावयव रूपक में विधेय होने का व्यवहार किया जाता है । जैसे—योद्धाओं के समूह के अन्तर्गत कितनी मुख्य योद्धा के जय भयवा पराजय से योद्धाओं के समूह का जय अथवा पराजय व्यवहृत होता है । सारांश यह हुआ कि—यदि समर्थ्यरूपक विधेय हो तो समग्र सावयवरूपक विधेय माना जाता है, और उसके अत्ररूप समर्थकरूपकों के अनुवाद्य होने का अनुरोध नहीं किया जाता ।

उदाहरणान्तरमाह—

‘ज्योमाहणे सरसि नीलिमदिप्यतोये
 तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन् ।
 आभाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्ग
 सूर्याभिमुख्यविक्रमं शशिपुण्डरीकम् ॥’

कवि पूर्णेन्दु वर्णयति—नीलिमा नैत्यम्, दिव्य प्रसन्नतमम्, तोयं जलम्, यस्मिन्, तस्मिन्, तथा, तारावली नक्षत्रपङ्क्ति, मुकुलमण्डल कमलकलिकासमुदाय (कर्मधारय), तेन, मण्डितेऽलकृते, अस्मिन् प्रत्यये, ज्योमाहणे सरसि गगनसरोवरे, षोडशकलाः ज्योति शास्त्रख्यातज्ञानत्सङ्घाका ज्योत्स्ना, दलानि पत्राणि यस्मिन् तत्, अङ्क कलङ्क, भृङ्ग भ्रमर, यस्मिन् तत्, तथा, सूरस्य सूर्यस्य, आभिमुख्येन सम्मुखायमनेन, विक्रमं विकसितम्, शशिपुण्डरीक चन्द्ररूप कमलम्, आभाति शोभत इत्यर्थः । परस्परसापेक्ष निष्पत्तिरूपकसङ्घातस्यात्र सत्त्वादिदमपि पर्यं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपकोदाहरण-मिति भाव ।

दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—ज्योम इत्यादि । कवि पूर्णचन्द्र का वर्णन करता है—आकाश एक सरोवर है । नीलिमा उसका दिप्य (प्रसन्न) जल । यह सरोवर नक्षत्रराशिरूप कमलकोरकों से विभूषित है । इस सरोवर में कलङ्क-रूप भ्रमर से युक्त षोडशकलारूप षोडश पत्तों वाला यह विकसित चन्द्र-रूप कमल, शोभित हो रहा है, यह कमल विकसित क्यों नहीं होता ? सूर्य के सामने जो है—सूर्य के सामने पड़े और कमल खिले नहीं यह असम्भव है । यहाँ भी परस्पर-सापेक्ष अनेक रूपकों का समूह वर्णित है, अतः यह पद्य भी ‘समस्तवस्तुविषयक सावयवरूपक’ का उदाहरण समझा जाता है ।

उदाहरणान्तर-दान-निदानभूत विशेषमाह—

अस्य तु सावयवरूपकस्यानुवाद्यत्वमेव ।

पूर्वोदाहरणगत सावयवरूपक विधेयमासीत्, ‘ज्योमेति-’ पद्यगत तत्तु न विधेयम्, अपि तु अनुवाद्यमेव, कतिपयगमयंकरूपकै सह समर्थस्य शशिपुण्डरीकरूपकस्यापि पृथग्-विभक्तिकपदजन्योपस्थितोपमानोपमेयकताविरहेणोद्देश्यविधेयभाचानवगाहित्वात्, सर्वसु-द्विष्य भानक्रियाया एव विधानाच्चेति भाव ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने का चीज बतलाया जाता है—अत्र तु इत्यादि । ‘सुवि-मल-’ इस प्रथम उदाहरण में सावयवरूपक विधेय था, पर ‘ज्योम-’ इस द्वितीय उदाहरण में वह विधेय नहीं है, अपि तु अनुवाद्य है, क्योंकि-समर्थक रूपकों के साथ समर्थ अतएव प्रधानरूपक (चन्द्र-कमल) अश में भी पृथक् विभक्तिवर्णों नहीं हैं, अतः उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता, फलतः यहाँ सभी रूपकाक्रान्त पदार्थों को उद्देश्य बनाकर भान क्रिया का ही विधान किया गया है ।

ननु सर्वमेतत्सत्यम्, परन्तु द्वितीयोदाहरणे सूर्याभिमुख्यविक्रमत्वं चन्द्रमसि वर्णितं कथं सङ्गतम्, सूर्याभिमुख्यकाले दिवसे चन्द्रविकासस्यागिद्धत्वादित्यत आह—

अत्र वर्ण्यस्य पूर्णचन्द्रस्य सूर्याभिमुख्य ज्योति शास्त्रसिद्धम् । तेन सूर्याभि-मुख्ये चन्द्रस्य कथं विकास इति न शङ्कनीयम् ।

‘ज्योमाहणे—’ द्वितीयोदाहरणे पूर्णचन्द्रो वर्णनीय, स च पूर्णिमागत एव सम्भव-तीति निर्वादात्, पूर्णिमाचन्द्रस्य सूर्याभिमुखो भवतीति ज्योति सिद्धान्तसिद्धं वस्तु । अयं

भाव—सूर्यतेजसैव चन्द्रस्तेजस्यै भवतीति नापिदितं रात्रिज्ञानाम्, एवम् पूर्णिमायां पूर्णं सूर्यतेजश्चन्द्रे प्रतिफलति, अत एव तस्यां तिथौ चन्द्रमसः पूर्णत्वम्—अर्थात् तरसा तिथौ पञ्चाशन्तरितौ सूर्याचन्द्रमसौ समानान्तरतया मियोऽभिमुखौ तिष्ठत इति ।

द्वितीय उदाहरण में चन्द्रमा का सूर्याभिमुख होने के कारण विकसित होने की बात कैसे सङ्गत होगी ? क्योंकि 'दिनमें-सूर्य की अभिमुखतावस्था में-चन्द्र का तिरोहित होना ही देखा जाता है' इस आशङ्का का उत्तर दिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'ध्योमाद्गणे—' इस द्वितीय उदाहरण में जिस पूर्णचन्द्र का वर्णन करना कवि को अभीष्ट है, वह पूर्ण चन्द्र पूर्णिमा तिथि में ही होता है और उस तिथि में चन्द्र, सूर्य के धामने सामने रहता है, यह बात ज्योति-शास्त्र के सिद्धान्त भाग में प्रसिद्ध है—अर्थात् सूर्य के तेज से ही चन्द्र में तेज आता है और जिस समय सूर्य के सामने चन्द्र पड़ता है उस समय चन्द्र का पूर्ण प्रकाश दिखाई पड़ता है और वह समय है पूर्णिमा, क्योंकि उस तिथि में सूर्य तथा चन्द्र में छ शक्तियों का अन्तर पड़ता है, अतः समानान्तर रेखा पर स्थित सूर्य-चन्द्र परस्पर अभिमुख रहते हैं, अतएव सूर्य की अभिमुखता में चन्द्र का विकास कैसे होगा यह शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

सावयवरूपकस्य द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

एकदेशविवर्ति सावयव यथा—

सावयवरूपकस्यैकदेशविवर्तिनामत्रो द्वितीयो भेदो येन प्रकारेण सम्पद्यते स प्रकारो लक्ष्यगततया प्रदर्शयते इति भाव ।

सावयव रूपक के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है— एक इत्यादि । एकदेशविवर्ति सावयव रूपक जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘भव-प्रीष्म-प्रीढातप-निवह-सन्तत वपुषो

बलादुन्मूल्य द्राङ्निगडमविधेक व्यतिकरम् ।

विशुद्धेऽस्मिन्नात्मासृत्सरसि नैराश्य-शिशिरे

विगाहन्ते दूरीकृतकलुपजालाः सुकृतिनः ॥’

भवरूपं संसाररामको, भ, प्रीष्मः तापमयं समय-विशेष, तस्य, प्रौढेन बलवत्तरेण, आतप-निवहेन आतपरूपस्य ताप विशेषस्य समूहेन, सन्तप्तानि ध्याकुलोक्तानीति यानत्, नरूपि शरीराणि येषां तादृशाः, सुकृतिनः पुण्यवन्तो जनाः, अविवेकः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योर्भेदज्ञानराहित्यम्, तस्य व्यतिकरम् सम्बन्धम्, निगडं पाशम्, अज्ञानाश्रयस्वप्नध्वन-साधनमिति समुदितार्थं, द्राक् शीघ्रम्, बलात् बलात्कारेण, उन्मूल्य मूलतो निरस्य-दूरीकृतं नाशितम्, कलुपजालं पापपुञ्जम्, यैस्तादृशाः सन्तः, नैराश्येन सासारिकविष-यवैतुह्येन, शिशिरे शीतले, अथ च विशुद्धे निर्मले, अस्मिन् अतिनिवृत्तस्थे आत्मासृत्-सरसि आत्मरूपे पीयूषसरोवरे, विगाहन्ते निमज्जन्ति-मज्जनपूर्वकं स्नानतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भव इत्यादि । संसार वह प्रीष्म ऋतु है जिसके प्रबल धूप-समूह (बलेश विशेष) से मनुष्यों के शरीर झुलसते रहते हैं, पर जब कोई सद्गुरु मिल जाता है, तब उनके सद्गुणों से धर्माचरण में प्रवृत्ति बन जाती है तभी उनके पाप-जाल दूर चले जाते हैं और जब मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं, तब वे अतिशीघ्र जोर जबर्दस्ती, अपने में वर्तमान अज्ञान-सम्बन्धरूप पाश को जड़मूल से तोड़कर विशुद्ध तथा विषयवैतुह्य के कारण शीतल इस आत्मरूप अमृत-सरोवर में अवगाहन करने लगते हैं—डूबकियाँ लगाने लगते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सहचरैर्निगडादिरूपकैः सुकृतिषु गजरूपकमाक्षिप्यते ।

सहचरैरिति । सहवर्णितैरित्यर्थ । अनेनाद्येपकत्वयोग्यता, गजरूपकस्य प्राधान्य च सूचितम् । निगडादीति । आदिपदेन ग्रीष्मसरोवरादिरूपकाणां संग्रहो बोध्यः । अयं भाव - 'भवग्रीष्म—' इति श्लोके मिथ सापेक्षसिद्धिकानि बहूनि रूपकाणि सन्तीति तत्सङ्घातस्य सावयवरूपरुत्वम् तथापि समर्थकरूपकाणाम् उपमानानि शब्दोपात्तानि, समर्थरूपकोपमानं न शब्दोपात्तम् अपि त्वार्थमिति एकदेशविभर्तिन्वञ्चात् सिद्धयतीति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'भवग्रीष्म—' इस पद्य में ससार ग्रीष्म का, अज्ञान सबन्ध-पाश का, आत्मा सरोवर का और गज पुण्यवानों का रूपक वर्णित है जो परस्पद सापेक्ष हैं, अतः इन रूपकों का समूह सावयव रूपक कहलाता है और वह सावयव रूपक भी इसलिये एकदेशविभर्ति कहलाता है कि—समर्थकरूपक शब्दतः कथित है और उन सहचारी समर्थकरूपकों से खासकर पाशरूपक से समर्थ्य-प्रधान 'गज-पुण्यवानों' का रूपक शब्दतः उक्त नहीं रहनेपर भी आक्षिप्त हो जाता है । १५९ अभिप्राय यह कि—जब शरीरताप के कारण वेदी-तोड़कर सरोवर में मज्जन करने की बात मनुष्य में वर्णित हुई है, तब उस वर्णन से मज्जन करनेवाले मानवों की गजरूपता स्वयं विदित हो ही जाती है ।

उदाहरणान्तर दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'रूपजला चलनयना नाभ्यावर्तो कचावलोभुजगा ।

मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणीतरङ्गिणी विपमा ॥'

कवि कथयति—रूप सौन्दर्य, जल यस्या सा, चले चञ्चले, नयने यस्या सा, अत्र नयनयोर्मानरूपताऽक्षिप्यते, नाभि आवर्तो यस्या सा, तथा कचावली केशसमूह भुजगा सर्पो यस्या सा इय प्रपञ्चभूता, सा तादृशी, विपमा भयङ्करी, तरुणीतरङ्गिणी युवतीरूपा नदी, यत्र यस्या नद्या, सन्त राजानां, मज्जन्ति श्रवणाहन्ति ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रूपजला इत्यादि । यह युवती वह भयङ्कर नदी है, जिस में सज्जन डूब जाते हैं । युवती नदी कैसे है ? क्यों नहीं है, जब कि एक नदी में रहने वाली सभी चीजें उस में भी वर्तमान हैं—इस में रूप ही जल है, चञ्चल नेत्र मङ्गलियां हैं, नाभि आवर्त है और केशों की पङ्क्ति सर्प है ।

उदाहरणान्तरदाने धीजमुद्गावयति—

पूर्वं तु कवे समर्थत्वेनाभिमतस्य रूपकस्यात्तेषु, इह तु समर्थकत्वेनाभिमतस्य नयनयोर्मानरूपकस्येति विशेषः ।

'भवग्रीष्म—' इति प्रथमोदाहरणे समर्थत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुक्तस्य 'गजसुकृतिरूपकस्य' अर्थादात्तेषु भवति, 'रूपजला—' इति द्वितीयोदाहरणे पुन समर्थकत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुपात्तस्य नयनयोर्मानरूपकस्यार्थादात्तेषु इति द्वयोः उदाहरणयोर्विशेषः । एतद्विशेष्यप्रदर्शनायैकोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने में धीज कहा जाता है—पूर्वं तु इत्यादि । प्रथम उदाहरण—'भवग्रीष्म—'—में उस गज रूपक का अर्थतः आत्तेषु होता है, जिसे कवि समर्थ

रूप में उपस्थित करना चाहता है, और द्वितीय उदाहरण—'रूपजला'—में उस मीन रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है, जिसे कवि समर्थक रूप में वर्णित करना चाहता है। सारांश यह कि समर्थ्य अथवा समर्थक दोनों रूपकों में से किसी भी प्रकार के रूपक का अर्थतः आक्षेप होने पर एकदेशविवर्ति रूपक होता है—उन में से समर्थ्य के आक्षेप वाले रूपक का उदाहरण है प्रथम पद्य और समर्थक के आक्षेप का उदाहरण है दूसरा पद्य।

ननु रूपकसंघातात्मकस्यास्य सावयवरूपकस्य कथं रूपकभेदेषु पृथग्गणनेति शङ्का समाधातुमाह—

अत्र च चमत्कारविशेषजनकतया रूपकसंघातात्मकमपि सावयवरूपकं रूपकालं कृतिभेदगणनायां गण्यते । यथा मौक्तिकालं कृतिभेदगणनायामेकं नासामौक्तिकमिव सद्घातात्मकमौक्तिकमञ्जरीदयोऽपि गण्यन्ते । अन्यथा माला-रूपस्योपमादेस्तद्भेदगणनेऽगणनप्रसङ्गात् । एतेन 'यथा सद्घातो गोभेदानां कपिलादीनां गणनायां यथा न गण्यते तथा रूपकभेदगणनाप्रस्तुतौ न तत्सद्घातात्मकं सावयवं गणनीयम्' इति परास्तम् ।

जनकतयेति । गणनायां हेतुरयम् । गण्यत इति । पृथगिति शेष । लोकोद्घटान्तेन सिद्धमर्थं प्रतिपाद्य व्यतिरेकसुखेन द्रढयति—अन्ययेति । सद्घातस्य प्रत्येकादवयवात्पृथग्गणने इति तदर्थः । तद्भेदेति । उपमालङ्कारभेदेत्यर्थः । साहित्यशास्त्रे चमत्कारवैलक्षण्य-नेव भेदवैलक्षण्ये निदानम् । तथा च यथा मुक्तालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे एकं नासाभरण-भूतमौक्तिकमिव भिन्नविधशोभासम्पादकतया मुक्तिसमूहात्मका मुक्तामञ्जरीदयोऽपि पृथग्गण्यन्ते, तथैव एकस्य रूपकस्यापेक्षया चमत्कारविशेषोत्पादकतया रूपकसमूहात्मकं सावयवरूपकमपि रूपकालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे पृथक् परिगण्यते । यदि रूपकसद्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्य रूपकालङ्कारभेदेषु पृथग्गणनं न नियेत, तर्हि उपमासमूहात्मकस्य मालोपमादेरपि उपमादिभेदेषु पृथग्गणनं न करणीयं स्यात्, कियते तद्गणनं सर्वैरित्यतस्तद्भेदस्यापि पृथग्गणनं कर्तव्यमेव । अन्यदुद्घटान्तेन सावयवरूपकस्य पृथग्गणनभेदगणनेऽगणनं कैथिदुरप्रेक्षितं निरसितुमाह—एतेनेति । उक्तयुक्त्युपन्यासेनेत्यर्थः । अस्य 'परास्तम्' इत्यत्रान्वयः । प्रस्तुतौ प्रस्तावे । मौक्तिक-कपिलादि तथैवसरे शोसमूहो यथा पृथग् गोभेदत्वेन न परिगण्यते, तथैव रूपकभेदगणनावसरे रूपकसमूहात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि पृथक् परिगणनं नोचितमिति केचिदान्वयते, किंतु तत्र युक्तम्, प्रतिगोव्यक्तित् शोसमूहो नापरं किञ्चित् कार्यं करोतीति तस्य गोभेदगणनेऽगणनेऽपि एकनासामौक्तिकापेक्षया भिन्नविधकार्यकारित्वेन मौक्तिकसमूहात्मकमुक्तामञ्जरीदिवत् भिन्नविधनमत्कारकारित्वेन रूपकसंघातात्मकस्य सावयवरूपकस्य पृथग्गणने बाधकाभावादिति भावः ।

सावयवरूपकं जय रूपकों का समूह ही होता है तब उसकी गणना रूपकालङ्कार के पृथग् भेदों में क्यों की जाती है इस आशङ्का का समाधान करने के लिए कहा जाता है—अत्र च इत्यादि । साहित्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के 'चमत्कारों' को उत्पन्न करने के कारण ही भिन्न-भिन्न भेद माने जाते हैं, ऐसी स्थिति में रूपकों का समूहरूप होने पर भी 'सावयवरूपक' की गणना रूपकालङ्कार के भिन्न भेद में होती है—अर्थात् 'सावयवरूपक' रूपकालङ्कार का एक पृथक् प्रकार माना जाता है, क्योंकि किसी एक रूपक में जैसा चमत्कार उत्पन्न होता है उससे सर्वथा भिन्न तरह का चमत्कार रूपक समूहात्मक 'सावयवरूपक' में होता है । इस बात की पुष्टि लौकिक दृष्टान्त से भी होती है । देखिए—मुक्ताभरणों की गणना करते समय जैसे एक मोतीवाला नासामौक्तिक

(नक़वेसर) एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिना जाता है वैसे ही अनेक दानोवाली (मुक्तासमूह रूप) मोती की माला भी एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिनी जाती है। ठीक भी है, एक मोती से घने आभूषण की अपेक्षा अनेक मोतियों से घने आभूषण में कुछ भिन्न ही शोभा होती है। इसी प्रकार 'सावयवरूपक' के विषय में भी समझना चाहिए। यदि रूपकसमूहात्मक 'सावयवरूपक' की गणना एक स्वतन्त्र रूपकप्रभेद के रूप में नहीं की जाय, तब जो सभी आलङ्कारिक लोग मालोपमा आदि को उपमा आदि के स्वतन्त्र प्रभेद के रूप में गिनते हैं, वह भी न घने, क्योंकि माला पमा भी अनेक उपमाओं का समूह ही होना है। यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे गायों का वर्गीकरण करते समय कपिला आदि की तरह गायों को झुण्ड एक पृथक् वर्ग नहीं माना जाता, वैसे ही रूपकालङ्कार का वर्गीकरण करते समय रूपक समूहात्मक 'सावयवरूपक' को भी पृथक् वर्ग में नहीं गिनना चाहिये, परन्तु ऐसा कहनेवाले उक्त मुक्ताभरण वाले दृष्टान्त से परास्त हो जाते हैं—कारण यह कि गायों का वर्गीकरण उसके वर्ग को आधार बनाकर किया जाता है, अतः भिन्न-भिन्न वर्णवाली गायों को भिन्न-भिन्न वर्ग में गिनते हैं और नाना तरह के वर्णों वाले उसके झुण्ड को किसी खास वर्ग में नहीं गिनते, पर यहाँ तो वैसी बात नहीं है, यद्यपि अलङ्कारों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न तरह की शोभा को उत्पन्न करने के कारण किया जाता है—वर्गीकरण का आधार कार्य होता है, ऐसी स्थिति में भिन्न तरह के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले समूह को भी प्रत्येक से भिन्न अलङ्कार के रूप में गिना जाता है।

सावयवरूपक मालारूपकयोरेकतरेणापरस्य गतार्थत्वमाशङ्क्य तद्वारकं तयोर्वैलक्षण्यमाह—

एवमस्मारसङ्घातात्मकात्सावयवान्मालारूपकस्य सङ्घातात्मकत्वेनाविशेषे-
ऽध्येकविषयकत्व परस्परनिरपेक्षत्वाभ्यामस्ति महान् विशेष ।

एवमिति । सावयवस्य पृथग्गणनवदित्यर्थः । अविशेषेऽपीत्यर्थः । एकविषयकत्वेति । मालारूपकनिष्ठावेतौ धर्मौ । सावयव चानेकविषयकं परस्परसारेक्षत्वेति बोध्यम् । 'सावयव' 'माला' चेति द्वावपि रूपकभेदौ रूपकसमूहात्मकौ, तथा च समूहात्मकत्वरूपेण द्वावप्यभिचौ, यद्यपि, तथापि सावयवदेसनेके विषया (उपमेयीभूतपदार्था), मालायाश्च एक एव विषय । एवम् सावयवसावयवभूतानि रूपकाणि परस्परसापेक्षाणि, मालावयवभूतानि च तानि मियो निरपेक्षाणि, इति वैलक्षण्यद्वयमेतत्तयोर्भेदकमिति भावः ।

'सावयवरूपक' और 'मालारूपक' में भेद बताया जाता है—एवम् इत्यादि । ये दोनों अलङ्कार (सावयवरूपक तथा मालारूपक) अनेक रूपकों के समूह रूप हैं अतः यद्यपि दो पृथक् अलङ्कार कहे जाने योग्य नहीं दिखाई पड़ते, तथापि 'रूपक' के दो भिन्नविध प्रभेद के रूप में ये दो अलङ्कार माने जाते हैं और बहुत ठीक माने जाते हैं, क्योंकि समूहात्मक होने से दोनों की एकता सिद्ध नहीं हो जाती—एक (सावयव) में उपमेय अनेक रहते हैं और 'समूह' की एक-एक इकाई (अवयवभूत एक एक रूप में) परस्पर सापेक्ष रहती है, इसके विपरीत, दूसरे (माला) में उपमेय एक रहता है और 'समूह' की एक-एक इकाई परस्पर निरपेक्ष रहती है। सारांश यह कि—किसी एक अंश में समानता रहने पर भी 'सावयवरूपक' तथा 'मालारूपक', अनेक अंशों में भिन्नता रखने के कारण, दो भिन्न भेद रूपक के होते हैं।

त्रिधा विभक्त्ये रूपकेषु प्रथम सावयवात्मको भेद सौतभेदो निरूपित, इदानीं द्वितीयं निरवयवात्मक भेदं निरूपयितुमाह—

निरवयवं फेवल यथा—

निरवयवस्य यद्यपि लक्षण न कृतम्, तथापि सावयव भिन्नरूपकत्वम् निरवयवरूपक-

त्वम्' इति नामाभ्रस्वारस्यपिद्धं लक्षणं स्फुटमेवावगम्यते, तस्य च तल्लक्षणोद्भव भेद-
स्य केवलमालारूपौ द्वावुपभेदौ, तयोः प्रथमोपभेदस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

सावयव, निरवयव तथा परम्परित ये तीन प्रधान भेद जो पहले रूपक के किण्व
गण्ये, उनमें प्रथम भेद (उपभेद-सहित) का निरूपण किया जा चुका, अब द्वितीय
भेद का निरूपण किया जाता है—निरवयवम् इत्यादि। 'निरवयव' रूपक का लक्षण
यद्यपि पहले करना चाहिये था, पर ऐसा इसलिये नहीं किया गया कि—'निरवयव' इस
नाम से ही "सावयव से भिन्न जो रूपक वह 'निरवयव' कहलाता है—अर्थात् परस्पर
अपेक्षा न रखनेवाले रूपकों का समूह 'निरवयवरूपक' है" यह लक्षण ज्ञात हो जाता
है, इसके भी दो उपभेद होते हैं—एक केवल और दूसरा माला, उनमें से प्रथम जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।

अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते ॥’

बुद्धिर्ज्ञानम्, दीपकला प्रदीपज्वाला, अस्तीति शेष, यया दीपकलाया, लोके संसारे,
सर्वम् वस्तुजातम्, प्रकाशते ज्ञात भवति । अपि च, अबुद्धिरज्ञानम्, तामसी अन्धकार-
मयी, रात्रि रजनिरूपा, विद्यते इति शेष, यया तमोमयरात्रिरुपयाऽबुद्ध्या, किञ्चित् वस्तु,
न भासते अज्ञात तिष्ठतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बुद्धिः इत्यादि । ज्ञान दीपक की ज्वाला है,
जिससे ससार में सभी चीजें प्रकाशित होती हैं—ज्ञात होती हैं और अज्ञान अन्धकारमय
रात्रि रूप है, जिससे कुछ नहीं भासित जाता—सभी चीजें अज्ञात रह जाती हैं ।

उपपादयति—

अत्र रूपकद्वयमपि सापेक्षरूपकसङ्घातात्मकत्वविरहात्त्रिरवयवम् । मालात्म-
कत्वविरहाच्च केवलम् ।

‘बुद्धिर्दीपकला—’ इति श्लोके बुद्धि-दीपकलयोरैकमबुद्धितामसरात्र्योश्च द्वितीयं रूपकं
वर्णितम्, एवञ्च रूपक-सङ्घातोऽत्राप्यस्ति, परन्तु तत्सङ्घातघटकयोर्द्वौ रूपकयो- परस्पर-
सापेक्षता न अस्तीति सापेक्षरूपकसङ्घात-रूपकस्य विरहात् उपवयव-रूपकस्य प्रसक्तौ तिरवयव-
रूपकत्वं सिद्धयति । एकस्मिन्नुपमेयेऽनेनोपमानतादात्म्यत्वम् । मालारूपकालकत्वम्,
तद्भावाच्च केवलरूपत्वमस्य रूपकस्य सिद्धयति । बुद्धयबुद्धयोर्द्वोरुपमेययोर्दीपकला तामस-
रात्रिरुपोपमानद्रवतादात्म्यमेवात्र सम्पादितं कवितेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'बुद्धिर्दीपकला—' इस पद्य में दो रूपक
वर्णित हैं—एक 'बुद्धि दीपकला' का और दूसरा 'अबुद्धि-अन्धकारमयरात्रि' का । इस
तरह यहाँ भी यद्यपि रूपकों का समूह है, पर उस समूह के अन्तर्गत दोनों रूपक
परस्पर सापेक्ष नहीं हैं, फलतः परस्पर सापेक्ष रूपकों का समूह यहाँ तैयार नहीं होता,
अतः यह 'निरवयव' रूपक का उदाहरण सिद्ध होता है । और वह 'निरवयवरूपक'
भी 'केवल' है, क्योंकि यहाँ 'माला' रूपता का अभाव है—अर्थात् यहाँ एक उपमेय में
अनेक उपमानों का तादात्म्य नहीं दिखलाया गया है—बुद्धिरूप उपमेय में दीपकलारूप
उपमान का और अबुद्धिरूप उपमेय में अन्धकारमयरात्रिरूप उपमान का तादात्म्य
दिखलाया गया है ।

निरवयवरूपकस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

निरवयवं मालारूपकं यथा—

निरवयवरूपकोपभेदभूतमालारूपकस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

उपपादयति—

अत्र द्वयोरप्यारोपयोः समर्थ्यसमर्थकभावस्य वस्तुतस्तुल्यत्वेऽप्यहितानामपकरणमेवाहीनां तापकरणमिति श्लेषमूलकेनारोपेण राजनि भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवेरभिप्रायः । अत एव भङ्गरलेपनिवेदितोऽहिभयाभावोऽपि सङ्गच्छते ।

द्वयोरिति । अहिस्मन्निधतापकरणभेषजारोपयोरित्यर्थः । कवेरिति । प्राधान्यादिति भावः । अत एवेति । भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवितात्पर्यविषयत्वादेवेत्यर्थः । भङ्गेति । पदच्छेदेत्यर्थः । ('कुतो हि भयम्' इत्यत्र 'कुतः अहिभयम्-हि = निश्चितम् भयम्' इत्याकारकेति यावत्) 'अहिताप—' इत्यत्र 'शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्य' 'राज्ञि औषधस्य' इति द्वावारोपी (द्वे रूपके) तयोः समर्थ्यसमर्थकभावस्तुल्य-—अर्थात् शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्यारोपे प्राक्कृते यथा राज्ञि भेषजस्यारोप- सौपपत्तिको भवति, तथैव राज्ञि भेषजारोपे एव प्राक्कृते शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्यारोप- सौपपत्तिको जायते इति यद्यपि सत्यम्, तथापि राज्ञि भेषजारोपे एव श्लेषमूलकेन शब्दपकरणे सर्पतापकरणारोपेण समर्थयितुं कवेरभिमतः, अत एव 'कुतो हि भयं स्यात्' इत्यंशे 'अहिभयं कुतः स्यात्' इत्याकारकेण सभङ्गरलेपेण बोधितः सर्पभयविरहः सङ्गतो भवति । यदि राज्ञि कृतेन भेषजारोपेण शब्दपकरणे क्रियमाणस्य सर्पतापकरणारोपस्य समर्थनं कवेरभिमतमनविष्यत्, तदा प्रोक्तसभङ्गरलेपबोधितः सर्पभयाभावो निरवकाश एव प्राप्त-जिष्यत् । एष्व श्लेषपरम्परितत्वं मालारूपताविरहात् केवलत्ववान् सिद्धमिति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अहिताप—' इस पद्य में दो आरोप हुए हैं—एक " 'शत्रुओं के अपकार' में 'सर्पों के ताप उत्पन्न करने का' और दूसरा 'राजा' में 'औषध' का" । यद्यपि इन दोनों आरोपों में समर्थ्य-समर्थकभाव समान है—अर्थात् दोनों ही दोनों के समर्थक और दोनों ही दोनों से समर्थित माने जा सकते हैं, तात्पर्य यह कि जिस तरह 'शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' के आरोप करने से 'राजा में औषध का आरोप' करते वन पड़ता है उसी तरह 'राजा में औषध के आरोप करने से शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' का आरोप सयुक्तिक होता है, अतः इन दोनों आरोपों में से किसी एक को समर्थ्य अथवा समर्थक नहीं कह सकते, तथापि 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'सर्पों को ताप उत्पन्न करने' के श्लेषमूलक आरोपद्वारा 'राजा में औषध' का आरोप कवि को अभिमत है, न कि राजा में औषध के आरोपद्वारा पूर्वोक्त श्लेष-मूलक आरोप का समर्थन । अतएव सभङ्गरलेप (कुतः अहिभयम्, हि = निश्चित कुतः भयम्) द्वारा बोधित सर्प-भय का अभाव सङ्गत होता है । अन्यथा—यदि पूर्वोक्त श्लेषमूलक आरोप (शत्रु अपकरण में सर्पतापकरणारोप) का समर्थन करना ही कवि को अभिमत होता तो—आगे सभङ्गरलेपद्वारा बोधित सर्पभय का अभाव अत्रासङ्गिक हो जाता । इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण है, अतः परम्परित और उन दोनों आरोपों में भी समर्थक आरोप का श्लेषमूलक होने से श्लेष परम्परित रूपक का यह उदाहरण अवश्य है । साथ ही मालारूपता के अभाव रहने के कारण वह श्लेष केवल परम्परित रूपक कहा जाता है ।

श्लेषपरम्परितं मालारूपमुदाहर्तुमाह—

इदमेव मालारूपं यथा—

इदमेवेति । श्लेषपरम्परितमेवेत्यर्थः ।

श्लेष परम्परित मालारूपं, जैते—

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

‘कमलावासकासारः क्षमाधृतिफणीश्वरः ।

अयं कुवलयस्यैन्दुरानन्दयति मानवान् ॥’

कवि. कमपि राजानं स्तौति—‘कमलायाः लक्ष्म्या’, यास एव कमलानाम् वारिजा-
नाम्, आवास, तत्र विषये, कामार-सरोवररूप’, क्षमायास्त्रितिक्षायाः, धृतिः धारणमेव,
क्षमायाः पृथिव्याः धृति, तत्र विषये, फणीश्वर’ शेषनागरूप’, तथा कौः पृथिव्या’, वलयम्
मण्डलमेव, कुवलयम् रात्रिविकासिकमलविरोध’, तस्य, इन्दुचन्द्र’, अयं वर्णनीयो राजा,
मानवान् लोकान् आनन्दयति सुखयतीत्यर्थः । अत्र समर्थकमलवासाधारोपस्य श्लेषमूल-
कस्य चन्द्रारोपे निमित्तत्वात्त्राज्ञि कायारायनेरुपदायाँरोपस्वरत्वाच्च मालाश्लिष्टपरम्परित-
रूपरूपेति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कमला इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति
करता है—यह (वर्णनीय कोई राजा) ‘कमलावास’ (कमला=लक्ष्मी के वास रूप
कमलों के आवास) के विषय में कासार-सरोवर है, ‘क्षमा’ (सहनशीलता रूप पृथिवी)
के धारण करने के विषय में फणीश्वर-शेषनाग है और ‘कुवलय’ (भूमण्डलरूप रात्रि
विकासी कमलों) का चन्द्रमा है, अतः मनुष्यों को आनन्दित कर रहा है । यहाँ समर्थक
कमलावामादि का आरोप चन्द्र के आरोप में निमित्त होता है तथा एक राजारूप
उपमेय में कासार आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुना है अतः यह श्लिष्ट परम्परित
माला रूपक का उदाहरण होता है ।

परम्परितद्वितीयभेदस्य प्रथममुपभेदमुदाहर्तुमाह—

शुद्धपरम्परित केवल यथा—

केवलस्य शुद्धपरम्परितरूपकस्य सम्पत्तेः प्रकार उदाहरणमुत्वेन प्रदरर्यत इति भावः ।

शुद्ध परम्परित केवल रूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता

देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभट्ट-प्रतना वर्तिनः क्षत्र वीराः ।

यादन्नायाति राजन्नयनविषयतामन्तकत्राभिमूर्ते

मुग्धारिप्राणदुग्धारानमसृणुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥’

अर्थशक्तिमूलकध्वन्युदाहरणप्रकरणे (१११ पृष्ठे) व्याख्यातोऽयं श्लोकः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—देवाः इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले
(अर्थशक्तिमूलकध्वनियों के उदाहरण देते समय, पृ० ११२ में) की जा चुकी है ।

उपपादयति—

अत्रापि भुजङ्गारोपो दुग्धारोपसमर्थ्यत्वेनाभिमतः ।

‘देवा के—’ इति श्लोके द्वे रूपके वर्णिते, तत्रैकरिम्भ रूपकेऽरिप्राये दुग्धारोपः,
द्वितीये न कृपाणे भुजङ्गारोपः । अनयोश्च प्रथम आरोपः समर्थकत्वेन द्वितीयश्च समर्थ्य-
त्वेन कवेरभिप्रेतः । एवञ्च परम्परितत्वमेव सिद्धयति । श्लेषानामावात् शुद्धत्वं मालात्मक-
ताविरदाच्च केवलत्वमित्यपि बोध्यम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । ‘देवा के—’ इस पद्य में भी, स्रष्टा में
सर्प के आरोप का, प्राणों में दुग्ध के आरोप द्वारा समर्थन करना कवि को अभीष्ट है ।
अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में दो रूपक वर्णित हुए हैं—एक ‘प्राण-दुग्ध’ का और

दूसरा 'खड्ग-सर्प' का । इन दोनों रूपकों में से, प्रथम में दुग्ध का आरोप प्राण में किया गया है और द्वितीय में सर्प का खड्ग में । इन दोनों आरोपों में प्रथम को समर्थक और द्वितीय को समर्थरूप से कवि ने उपस्थित किया है अतः यह परम्परित, और श्लेष के नहीं रहने से शुद्ध, तथा मालारूप न होने से केवल रूपक कहा जाता है ।

परम्परितद्वितीयभेदस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहरणमाह—

तदेव मालारूप यथा—

तदेवेति । शुद्धपरम्परितमेवेत्यर्थः ।

शुद्ध परम्परित मालारूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'प्राचीसन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणौर्मनिमाणिक्यकान्ति-

ज्वालामाला कराला क्वलितजगतः क्रोधकालानलस्य ।

आज्ञा-कान्ता-पदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसाम्भा

क्षोणीन्दो सङ्गरे ते लसति नयनयोरुद्धटा शोणिमश्रीः ॥'

हे क्षोणीन्दो धराचन्द्र ! समुद्यत उदयं गच्छत, महिमरूपस्य प्रतापरूपस्येति यावत् दिनमणौ सूर्यस्य, प्राचीसन्ध्या प्रभातवेला, मानरूपस्य आत्माभिमानान्धकस्य माणिक्यस्य मुक्ताविशेषस्य, कान्ति, प्रभा, क्वलितं भक्षित दग्धमिति यावत्, जगत, येन तस्य क्रोधरूपस्य, कालानलस्य प्रलयान्ने, कराला भयङ्करी, ज्वालामाला ज्वालापङ्क्ति, तथा आज्ञादपिथ्या, कान्ताया, पदाम्भोरुहतलात् चरणकमलतलात्, विगलत पततः मञ्जो रमणीयस्य, लाक्षारसस्य यावत्कवस्य, आभा कान्ति, इव कान्तिर्वस्थास्ताहारा, उद्धटा उच्छ्रिता, शोणिमश्री आरुण्यशोभा, सङ्गरे युद्धे, ते तव, नयनयोर्ध्रुवो, लसति चकास्तीत्यर्थः । अत्र, तृतीयं चरणं निर्णयसागरमुद्रितप्राचीनसंस्करणगतपाठानुसारि अयमेव पाठः हिन्दीरसगङ्गाधरकारेणापि स्वीकृतो मयाऽनुमोदितः । काशीमुद्रितपुस्तके तु 'आज्ञा, कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' इति पाठो दृश्यते । भट्टमथुरानाथोऽपि स्वसम्पादितेऽधुना प्रचुरप्रचारे संस्करणे काशीमुद्रितपुस्तकपाठमेव समावेशयत्, 'कान्ता-पादलाक्षारसानाम् आज्ञा, तव नयनयो शोणता, लाक्षारसानामाज्ञेव शोणतासम्पादयित्री' इति च तदाशयमाख्यत् । अत्र ममपेक्षाना दिनमण्यायारोपाणा श्लेषामूलकान् सन्ध्या-चारोपेषु निमित्तत्वात् शोणिमश्रिया सन्ध्यायनेकपदार्थारोपाच्च शुद्धपरम्परितमालारूपक-मिदमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—प्राची हत्यादि । हे धराचन्द्र ! जो उदीयमान भवद्दीप-प्रताप-सूर्य की पूर्व सन्ध्या (उपकाळ) है, जो आभाभिमानरूप भोती की कान्ति है, जो ससार को क्वलित (दग्ध) करनेवाले क्रोधरूप प्रलयान्नि की भयङ्कर ज्वालापरम्परा है और जिसकी आभा आज्ञारूप कामिनी के चरणकमलतल से गिरते लाक्षा रस की आभा के तुल्य है, वह अरुणता की उच्छ्रित शोभा, युद्ध में आपकी आँखों में शोभित होती है । इस पद्य के तृतीय चरण में जैसा पाठ मैंने रखा है वह निर्णय सागर से मुद्रित सर्व प्राचीन संस्करण का है । हिन्दी रसगङ्गाधरकार ने भी अपनी पुस्तक में इसी पाठ को स्वीकृत किया है । काशीमुद्रित संस्करण तथा भट्ट मथुरानाथ की सम्पादित संस्करण में तो 'आज्ञा कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है । पर उस पाठ के अनुसार अर्थ ठीक-ठीक बैठता नहीं, वह समझ लेना चाहिए । यहाँ प्रताप आदि में सूर्य आदि के आरोप करने के कारण अरुणता की

शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है और स्तेप कहीं नहीं है, अतः शुद्ध परम्परित माला रूपक का उदाहरण यह पद्य होता है।

अधेदानां सावयवरूपकपरम्परितरूपकयोर्भेदं दर्शयितुमाह—

अद्यपि सावयवेऽप्यारोप आरापान्तरस्योपायस्तथापि तन्नारोपातिरिक्तेन कवि समय सिद्ध-सादृश्येनाप्यारोपान्तरसिद्धिः सम्भवति । यथा प्रागुक्ते 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यत्र मौक्तिकादीनां तारात्वाद्यारोपं विनाप्यौज्ज्वल्यमात्रेणापि सुन्दर्या राकारोपसिद्धेः, इह तु नयनशोणिन्नि ब्यालाद्यारोपोऽनलसमारोपं नियमेनापेक्षते । एव 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः' इत्यत्राकाराखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धतयाऽऽरोपसिद्धयर्थमारोप एवोपाय इति वैलक्षण्यम् । कश्चित्तु बह्वारोपात्मकात् सावयवादारोपद्वयात्मकमेवास्व वैलक्षण्ये बीजमित्याह ।

आरोप इति । अत्र आरोपे इति सप्तम्यन्तपाठमहीकृत्य क्लिष्टा व्याख्या सरलाकारस्थो-चिता न प्रतिभाति, प्रथमान्तपाठमहीकृत्य सरलव्याख्यायां सम्भवात् । अनलसमारोपमिति । यत्र 'राज्ञीति शेषः' इति नामेश आह तद् भ्रममूलकमेव । 'ज्ञेधे इति शेषः' इति ऋचन साधोयः, मतान्तरमाह—कश्चित्त्विति । अत्रास्विबीजं प्रागुक्तीत्या निर्वाह इति । ननु सावयवे रूपके आरोपानाम् परस्पर समर्थसमर्थकभावात्मक कार्यकारणभावस्तिष्ठति, अस्मिन् परम्परितेऽपि च, तथा च कोऽनयोर्भेद इति चेत्, 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यादौ सावयवे मौक्तिकादिषु तारात्वाद्यारोपमन्तरापि औज्ज्वल्यत्वात्मकेन सादृश्येन सुन्दर्या राकारोपस्य सिद्धिः, 'प्राचीसन्ध्या—' इत्यादौ परम्परिते तु क्रोधादावनलाद्यारोपं विना नेत्रशोणतादौ उज्ज्वलाद्यारोपो न सम्भवतीत्येको भेदः, एवम् 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् कारुण्यरूपस्य पुष्पस्य कृते खलु आकाशरूप—आकाशे यथा पुष्पसमम्भवं तथा खले कारुण्यम् इति यावत्' इत्यादौ परम्परिते कारुण्ये बुद्धमारोपं विना खले आकाशाारोपः सम्भवत्येव न, आकाशाखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धत्वात्, सावयवे तु नाप्रसिद्धसादृश्यरूपदार्ढ्योः ह्यणमिति द्वितीयोऽपि भेद इत्याशयात् । सावयवे बह्व-आरोपान् परम्परिते तु द्वेषवारोपौ इत्येव तयोर्भेद इत्यपि कश्चिदिति भावः ।

अव सावयव रूपक तथा परम्परित रूपक में भेद दिखलाया जाता है—अद्यपि इत्यादि । सावयव रूपक में एक आरोप अन्य आरोप का उपायभूत (समर्थक) होता है और इस परम्परित रूपक में भी, अतः इन दोनों में क्या भेद है यह आश्चर्य पद्यपि उठती है, पर यह कुछ है नहीं, क्योंकि दोनों में उक्त एक प्रकार की समस्त रहने पर भी बहुत बड़ा अन्तर है और वह अन्तर यह है कि—सावयव रूपक में आरोप के विना (केवल) कवि-समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है—अर्थात् यदि एक आरोप का उपायभूत दूसरा आरोप रहे तब भी ठीक और न रहे तब भी काम चल सकता है । जैसे पूर्वोक्त 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' यहाँ मोती आदि में यदि-तारा आदि का आरोप न किया जाय तथापि उज्ज्वलता-मात्र के कारण सुन्दरी में पूर्णिमा का आरोप सिद्ध हो सकता है । 'किन्तु 'प्राची—' इत्यादि परम्परित रूपक में ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो नेत्रों की अरुणता में ज्वाला आदि का आरोप श्लेष आदि में अग्नि आदि के आरोप की अपेक्षा नियमतः रक्षता है—अर्थात् अग्नि के आरोप के विना ज्वाला का आरोप हो ही नहीं सकता । इसी तरह 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् दुष्ट जन दयारूप पुष्प का आकाश है, जैसे आकाश में पुष्प असम्भव है वैसे दुष्ट-जन में दया असम्भव है ।' इस परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का उपाय है—अर्थात् दुष्ट जन में आकाशाारोप करने के लिये दया में पुष्प का आरोप करना ही पड़ेगा,

अन्यथा यह रूपक धन ही नहीं संकृता, क्योंकि आकाश और दुष्टजन में सादृश्य अप्रतिष्ठ है—कोई नहीं जानता कि इनमें क्या समता है। धन, इतने से सावयवरूपक तथा परम्परित रूपक में भेद सिद्ध हो गया—दोनों की विलक्षणता ज्ञात हो गई। वृषु लोग कहते हैं कि—सावयव रूपक में अनेक आरोप रहते हैं—अर्थात् एक समर्थ के अनेक समर्थक होते हैं, पर परम्परित में दो ही आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ का एक ही समर्थक होता है। यही दोनों में विलक्षणता है। पर यह मत उतना मनोऽनुसूत नहीं है। कारण, उक्त रीति से जब दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है तब एक और अनेक आरोप की कल्पना व्यर्थ है।

रूपकप्रभेदगणने न्यूनत्व परिहरति—

‘काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा ।

धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा ॥’

अत्र विषयमालाकृतो न कश्चिच्चमत्कारविशेष इति न पृथग्भेदगणनायां गण्यते । आरोप्यमाणमाला तु चमत्कारविशेषशालित्वाद्गण्यत एव ।

काव्यमिति । रसज्ञानाम् काव्य-रस-रहस्य-मर्मज्ञानाम्, काव्यम् कपिहृति-विशेषः, सुधा अमृतरूपम्, कामिनाम् कामज्वालामालाकुलचेतसा जनान्, कामिनी कामभाववती रमणी, सुधा अमृतरूपा, सलोभानाम् धनलोभुपाना जनानां, धनं वित्तं, सुधा अमृतरूपम्, तथा, संन्यासिनाम् विषयविमुक्तानाम् जनानाम्, शान्तिः शमः, सुधा अमृतरूपे-त्यर्थः । यस्य यद् वस्तु प्रियं भवति तस्य कृते तदेव वस्तु सुधारूपं जायत इति भावः । अत्रेति । ‘काव्यं सुधा—’ इति श्लोके इत्यर्थः । विषयमालाकृत इति । सत्येकरिम् उग्रमाने उपमेयसमूहकृत इत्यर्थः । ‘एकस्योपमेयस्य नानोपमानकृत’ इति मर्मप्रकाशस्तु भ्रममूलक-एव । स च भ्रमो नागेरास्य प्रकाशकस्य अन्यस्य वेति तु अन्यत् । न चमत्कार-विशेष इति । अत्र सचेतसामनुभव एव प्रमाणम् बोध्यम् । आरोप्यमाणमालेति । एकस्मिन्नुप-मेयेऽनेवोपमानारोपसमूह इत्यर्थः । चमत्कारविशेष इति । अत्रापि प्रमाणं सहस्रदानुभव-रूपमेवावगन्तव्यम् । अयं भावः—‘काव्यं सुधा—’ इत्यादौ यत्रोपमानं सुधादिरूपमेकम् उपमेयानि च काव्यादीन्धनेकानि, तत्र—तथा रूपकस्य कोऽपि भेदः कृतो नास्तीकियते यथा ‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादौ प्रागुक्तं—यत्र उपमेयं राजादिरूपमेकम् उपमानानि च धर्माणादीनि धनेकानि सन्— इति शब्दा न कार्यं, अलङ्कारप्रभेदत्वाद्भेदस्य अप्तत्कार-विशेष-प्रतीतिमूलकतया चमत्कारविशेष शाल्यारोप्यमाणमालास्यले—‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादौ रूपकप्रभेदतासौकारेऽपि चमत्कार विशेषरूपाविषयमालास्यले—‘काव्यं सुधा—’ इत्यादौ तदङ्गीकारे युक्तिचिरहादिति ।

उपमान एक हो और उपमेय अनेक तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता, इसका उत्तर दिया जाता है—काव्यम् इत्यादि । (रसज्ञानों के लिये काव्य अमृत है, कामियों के लिये कामिनी अमृत है, लोभियों के लिये धन अमृत है और संन्यासियों के लिये शान्ति अमृत है ।) यहाँ उपमान-अमृत-एक है और उपमेयों (काव्य आदि) की माला है, किन्तु इस माला के कारण कोई खास तरह का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसी माला, रूपक के भेदों की गणना में पृथग् नहीं गिनी जाती । उपमानों की माला—‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादि पूर्वोक्त स्थल—में तो एक खास तरह का चमत्कार उत्पन्न होता है, अतः उसकी गणना पृथक् रूपक-प्रभेद के रूप में करनी ही पड़ती है ।

सम्प्रति शिष्य-बुद्धि-वैशद्यार्थम् परम्परितरूपकसम्बन्धिविशेषे विचारणीये प्रथमं शिष्टपरम्परितरूपकसम्बन्धिविशेषं विचारयति—

अथ कथं नाम शिष्टपरम्परिते ‘कमलावासकासारः’ इत्यादावेकस्यारोप-

स्वारोपान्तरोपायत्वम् । यतः श्लेषेण कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य चाभेदमात्रमत्र प्रतीयते, नैकत्रान्यारोपः । तस्य स्वतन्त्रविषयनिर्देशापेक्षत्वात् । न च शुद्धाभेदप्रत्यय एवारोपः । विषयनिगारणात्मिकायामतिशयोक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । न च शुद्धाभेदप्रत्ययेनात्रार्थः यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तर्हि-स्तदभेद इति 'कमलावासकासारः' इत्यादौ राजनि कासारारोपो राजसम्बन्धिनि लक्ष्म्याश्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वाभेदारोपेण समर्थयितुं शक्यः श्लेषेण तु पुनर्लक्ष्म्याश्रयत्वसरोजाश्रयत्वयोरभिन्नत्वेन प्रत्ययादभिन्नधर्मनिबन्धनो राजकासारयोरप्यभेदप्रत्ययः स्यात्, न तु राजनि विषये कासारविषयिकस्वारोपस्य प्रकृतस्य सिद्धिः । इमावभिन्नावित्याद्याकारस्य शुद्धाभेदप्रत्ययस्याप्रकृतत्वात्प्रागुक्त आरोपो मृग्यः । स च न श्लेषसाध्य इति । सत्यम् । श्लेषेण शुद्धाभेदप्रतीती सत्यां प्रकृतारोपसमर्थनायान्तरा मानसस्य राजसम्बन्धिनि कासारसम्बन्ध्यभेदारोपस्य कल्पनाप्रानुपपत्तिः ।

तस्येति । एकत्रान्यारोपस्येत्यर्थः । मृग्य इति । अन्वेपणीयः इत्यर्थः । साधनीय एव नाधुनापि सिद्ध इति तद्भावः । शङ्काया युक्तत्वमङ्गीक्रियते—सत्यमिति । समाधत्ते—श्लेषेणेत्यादिना । नानुपपत्तिरिति । अत्र 'अत्रेदं चिन्तयन्—कमलावासेनायं राजा कासार-इत्यादौ यथा श्लेषमूलकाभेदाप्यवसानेनैवं साधारणधर्ममादाय राजकासारयो रूपकस्य गाम्भीर्येण समुदोऽप्यमित्यादाविध, सम्भवस्तद्वत्कमलावासकासार इत्यादावपि सम्भवाद-किमर्थोऽयं क्लेशः । साधारणधर्मज्ञानस्य चाभेदारोपप्रयोजकत्वात् । इदमेव चास्योपाय-त्वमारोपे एतन्मूलीभूतसाधारणधर्मसम्पत्तिः । साधारणधर्मसम्पत्तिः आरोपेणैवेत्यत्र न किञ्चिन्मानम् । समर्थके रूपकत्वव्यवहारस्तु भाजः । तदापि शिल्लेषु सादृश्यमूलकत्वा-भावादावश्यकः । एवञ्च 'कारुण्यकुमुदाकाशः ललः' इत्यादौ वक्ष्यमाणान्योन्याश्रयोऽपि न । खलाकाशरूपकोऽवबुक्कारुण्यकुमुदयोरभेदस्येच्छाधीनाहार्यस्य सम्भवेन तावतैवोपपत्तेः । न तु समर्थकारोपे सादृश्यमूलकत्वमावश्यकमित्यनुपदमेवोक्तम् । एतेन स्यादेतदित्यादिना सौजन्यनन्द्रिकाचन्द्र इत्यत्रत्य पूर्वपक्षसमाधाने परारस्ते । अस्मदुक्तरीत्या पूर्वपक्षस्यैवाभावा-दिति । इति सचिरमाह नागेशः । अयं भावः—'कमलावासकासारः' इत्यादौ शिल्लेष-परम्परितोदाहरणतयाऽभिमतो स्थले 'कमलावास' इति समर्थकाशे स्वतन्त्रतया विषयस्य (उपमेयस्य) लक्ष्मीवासात्मकस्य निर्देशाभावे स्वतन्त्रविषयनिर्देशासापेक्षस्य एकत्र (उपमेय = लक्ष्मीवासे) अन्या-(उपमान-सरोजावासा) रोपस्य न प्रतीतिः, श्लेषस्तु उपमानोपमेययोः (कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य च) अभेदमात्रं प्रत्याययति, तथा च शिल्लेषपरम्परितो एक आरोपः आरोपान्तरस्योपायो भवतीति कथा कथं सङ्गता ? शुद्धाभेदप्रतीतेरेवारोपपदार्थत्वं तु स्वीकर्तुमशक्यमेव, उपमेयनिगारणरूपायामतिशयोक्तावपि शुद्धाभेदप्रतीत्या रूपरनियतस्वारोपस्य प्रसक्तथापत्तेः । किञ्चात्र शुद्धाभेदप्रतीत्या सिसाध-यिवित प्रयोजनं चेद्भूमिपि नार्हति, यतः 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तर्हिमतदभेदः' इतिन्यायानुशारेण प्रकृते प्रथमतत्पदाप्राह्यराजसम्बन्धिनि कमलाया वासत्वे (लक्ष्म्या-श्रयत्वे) द्वितीयदत्तपदाप्राह्यकासारसम्बन्धिनि कमलानामावासत्वस्य (सरोजाश्रयत्वस्य) श्लेषमूलकेऽभेदे प्रतीते तद्वत्त्वेन प्रथमतत्पदाप्राह्ये राशि द्वितीयतत्पदाप्राह्यस्य कासारस्याभेद-प्रतीयते, न तु राजरूपे उपमेये कासाररूपस्योपमानस्य रूपकालङ्कारतामियामक आरोप-इमा अभिन्नौ' इत्याकारकेण शुद्धाभेदप्रत्ययेनारोपस्याविषयीकरणात् । परम्परितरूपका-

लङ्कारतानियामको राशि कासारारोपसुराजसम्बन्धिलक्ष्याध्रयत्वे (कमलाया वासत्वे) कासारसम्बन्धिसरोजाध्रयत्वा(कमलपुष्पावासत्वा)भेदारोपेण समर्थयितुं शक्य, स च न श्लेषसाध्य इति शङ्काया समाधानमिदं यत् श्लेषेण लक्ष्मीवास-कमलपुष्पा-वासयो' शुद्धाभेदप्रतीती जातायां परम्परितरूपकालङ्कारतानियामकस्य राशि कासारारोप-स्य समर्थनाय मध्ये राजसम्बन्धिनि लक्ष्याध्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाध्रयत्वाभेदारोपो मानस' कल्प्यत इति न किञ्चिदसमञ्जसमिति ।

परम्परितरूपक-सम्बन्धि कुछ विविध बातों पर विचार करने के प्रसङ्ग में पहले रिलेट परम्परितरूपक सम्बन्धि विशेषों का विचार किया जाता है—अथ इत्यादि। विचार यहाँ यह करना है कि—'कमलावासकासार' इत्यादि रिलेट परम्परितरूपक में एक अर्थात् कमला (लक्ष्मी) के निवास में कमलों के निवास का—आरोप, अन्य अर्थात् राजा में सरोवर के—आरोप का उपाय (समर्थक) कहा जाता है, वह कैसे सङ्गत होता है ? कारण, यहाँ श्लेष से 'कमला के वास' और 'कमलों के आवास' का केवल अभेद ही ज्ञात होता है, एक का दूसरे में आरोप नहीं। क्योंकि आरोप के लिये उपमेय का स्वतन्त्र रूप से निर्देश अपेक्षित है—अर्थात् अहाँ उपमेय तथा उपमान के बोधक दो पृथक् पृथक् पद उच्चरित रहते हैं वहीं उपमेय में उपमान का आरोप अवगत होता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि—'कमलावासकासार' आदि में एक पद से श्लेष द्वारा दो अर्थों का एक साथ ज्ञान होने से उन दोनों अर्थों का अभेद ज्ञात होने पर भी उनमें से एक अर्थ का दूसरे अर्थ पर आरोप विदित नहीं होता। यदि कोई शुद्ध-अभेद-प्रतीति को ही आरोप कहना चाहे, तो वह बन नहीं सकता, क्योंकि इस कथन के अनुसार अतिशयोक्ति में भी जहाँ उपमेय निर्णीत रहता है (उपमेय का भी बोध उपमानवाचक पद से ही होता है)—उस आरोप का व्यवहार होने लगेगा, जिसका व्यवहार रूपक ही आलङ्कारिक लोग करते आए हैं। दूसरे, शुद्ध-अभेद प्रतीति से यहाँ का अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध भी नहीं हो सकता। कारण, 'जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है' इस न्याय के अनुसार कमला-वास और कमल-निवास के अभेद से तदात्मक साधारणधर्ममूलक अभेद ही राजा और सरोवर का सिद्ध हो सकेगा, न कि राजारूप उपमेय में सरोवररूप उपमान का वह आरोप जो यहाँ प्रस्तुत है—रूपक की सिद्धि में जिसकी अपेक्षा है, उस आरोप का समर्थन तो तब हो सकता था यदि राजा से सम्बन्ध रखनेवाले कमला-वासत्व (लक्ष्याध्रयत्व) में सरोवर से सम्बन्ध रखनेवाले कमल-निवासत्व (सरोजाध्रयत्व) का अभेदारोप सिद्ध होता, पर श्लेष से वह (अभेद का आरोप) सिद्ध होता नहीं, उससे तो केवल अभेद की ही सिद्धि होती है और जहाँ शुद्ध अभेद ही प्रतीत होता है वहाँ आरोप की बात ही असङ्गत है, जैसे—'ये दोनों अभिन्न हैं' इस कथन से दोनों में अभेद की प्रतीति होने पर भी आरोप की प्रतीति नहीं होती, अतः 'कमलावासकासार' में परम्परितरूपक को सिद्ध करनेवाला 'यह पुनरुप है' इस व्यवहार का नियामक आरोप अन्वेषणीय ही है। यह हुआ एक प्रश्न, और इसका उत्तर यह है कि आपका कथन सत्य है, पर शब्द से श्लेष द्वारा जब लक्ष्मीवासत्व और सरोजावासत्व का अभेद सिद्ध हो जायगा, तब बीच में मनद्वारा उन दोनों में से प्रथम का दूसरे में आरोप हो जाने की कल्पना कर ली जायगी और ऐसी कल्पना इसलिये कर ली जायगी कि राजा में सरोवर का आरोप जो शब्दतः सिद्ध है उसका समर्थन हो सके। और उसका समर्थन आरोप से ही हो सकता है केवल अभेद से नहीं, यह बात पहले लिखी जा चुकी है। तात्पर्य यह कि—कवि ने यहाँ राजा में सरोवर के शब्दतः कथित आरोप का समर्थन करने के लिये ही 'कमलावास' पद में श्लेष किया है और उस श्लेष से आरोप की

प्रतीति न होने के कारण अभीष्ट समर्थन ही नहीं पाता, अतः अगत्या शब्दतः केवल अभेद की प्रतीति होने पर भी समर्थक भाग में मानस आरोप की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसी कल्पना करने पर सब बातें बन भी जाती हैं। नागेश का कथन यहाँ यह है कि—'यद्यपि समुद्र की गम्भीरता और किसी मानव की गम्भीरता दो वस्तु हैं, तथापि एक शब्दोपात्त होने के कारण उन दोनों गम्भीरताओं को एक मानकर 'गम्भीरता से वह मनुष्य समुद्र है' इत्यादि स्थल में श्लिष्ट गम्भीरतात्मक साधारणधर्ममूलक समुद्ररूप के जैसी सिद्ध होता है वैसे ही 'कमलावास के कारण यह राजा सरोवर है' इत्यादि स्थलों पर भी श्लिष्ट एक शब्दोपात्त कमला लक्ष्मी के वास और कमलों के आवास को एक धर्म मानकर सरोवररूपक सिद्ध होता है, फिर इसी तरह 'कमलावासकासार.' इस प्रकृत परम्परित रूपकस्थल में भी कार्य चल ही सकता है, अतः पण्डितराज की मानस आरोप वाली कल्पना व्यर्थ है। साधारणधर्म ज्ञान को अभेदारोप का साधक सभी मानते ही हैं। श्लिष्ट परम्परितरूपक में 'एक आरोप दूसरे आरोप का उपायभूत रहता है' इस कथन का भी अभिप्राय वही है कि द्वितीय आरोप के भूलभूत साधारण धर्म की सिद्धि श्लेष से हो जाती है। साधारणधर्म की सिद्धि आरोप करने पर ही हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। तब रही बात यह कि श्लिष्ट परम्परितस्थल पर समर्थकांश में रूपक का व्यवहार कैसे यनेगा? क्योंकि वहाँ आरोप आप नहीं मानते और रूपक आरोप के बिना होता नहीं। बात यह सत्य है। पर उत्तर भी इसका यह सत्य ही है कि—समर्थकांश में जो वहाँ रूपक व्यवहार होता है वह गौण है, वास्तविक नहीं और यह बात आपको मानस आरोप की कल्पना करने पर भी माननी ही पड़ेगी, क्योंकि उस तरह से आरोप के सिद्ध हो जाने पर भी वह आरोप सादृश्यमूलक नहीं ही होगा और सादृश्यमूलक आरोप को ही आप हम सभी रूपक मानते हैं। इस मेरी रीति के अनुसार करने पर 'काण्वकुमुमाकाशः खलः' इत्यादि स्थलों पर जो आपने भागे अन्योभ्याश्च दिखलाया है उसका भी अवसर नहीं आता। कारण, खल में आकाश-रूपक की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधारणधर्म का ज्ञान काण्व्य और कुसुम में इच्छाधीन आहार्य अभेद मान लेने पर हो ही जाता है। समर्थक अंश में सादृश्यमूलकता आवश्यक नहीं है यह बात तुरत कही जा चुकी है। इस रीति के अनुसार वे शब्दासमाधान भी समाप्त हो जाते हैं जिनका उद्योग पण्डितराज ने 'स्यादेतत्' से आरम्भ कर 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रः' में किया है। कारण इस रीति के अनुसार वहाँ पूर्वपक्ष ही—जो, दिखलाया गया है—नहीं उठता।

शुद्धपरम्परिते विशेषं विचारयति—

कथं तर्हि परम्परितरूपके 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इत्यादौ रूपक-त्वम्, अभेदारोपस्य सत्त्वेऽपि तस्य सादृश्यमूलकत्वाभावादिति चेत्, न। समर्थकारोपेण धर्मैक्यसम्पादने सादृश्यस्य निष्पत्त्युहत्वात्।

तर्हि तदा। समर्थारोपस्य समर्थकारोपहेतुकत्वाङ्गीकारे इति यावत्। सौजन्येति। सौजन्यम् गुणता, तदुपा या चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना, तस्या कृते, चन्द्रं चन्द्ररूपो राजा नृप इत्यर्थः। तस्येति। अभेदारोपस्येत्यर्थः। भावादिति। समर्थकारोपमूलक-त्वादिति भावः। खण्डयति—नेति। तत्र हेतुमाह—समर्थकारोपेणेति। चन्द्रिकाया सौजन्याभेदारोपेणेति तदर्थः। 'सौजन्य—' इत्यत्र राशि चन्द्राभेदारोप इति सत्यम्, किन्तु तस्यारोपस्य मूलम् न सादृश्यम्, अपि तु चन्द्रिकाया सौजन्याभेदारोपः, तथा च कथमिदम् रूपकम्? सादृश्यमूलकारोपस्यैव रूपकत्वस्वीकारात्, इति शब्दादलाशयः, चन्द्रिकाया सौजन्यस्याभेदे समारोपिते चन्द्रिकासौजन्ययोरैक्यं सिद्धयति, तथा चैवता-

पक्षसौजन्य-चन्द्रिकात्मकमाधारणधर्मपयोज्यसादृश्यं चन्द्रराज्ञीनिप्रत्युद्गमिति सिद्धं तयो-
रभेदारोपस्य सादृश्यमूलकवन्निति समाधानद्वाराय इति भावः ।

शुद्ध परम्परित रूपक सम्बन्धी विशिष्ट विचार किया जाता है—रूपमिष्यन्त्रि । आप कहेंगे—जब आप परम्परितमूल में समर्थ आरोप का मूल समर्थक आरोप को मानते हैं तब 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र-अर्थात् राजा सुजननारूप चाँदनी के लिये चन्द्रमा है' इत्यादि शुद्ध परम्परित रूपक में सामान्य रूपक का लक्षण ही कैसे सङ्गठित होगा, क्योंकि आप के हिमाच से, राजा में जो चन्द्र का अभेद आरोपित हुआ है उसका मूल सादृश्य न हो कर चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप है और रूपक के सामान्य लक्षण में सादृश्यमूलक आरोप का ही रूपक होना कहा गया है । पर यह कथन बल महत्व नहीं रखता । कारण, समर्थक आरोप—अर्थात् चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप—जब कर दिया जायगा तब चाँदनी और सुजनता एक धर्म रूप हो जायेंगी और इसतरह एक बने इस साधारण धर्म के कारण राजा और चन्द्र में सादृश्य निर्विभक्त रूप से सिद्ध हो जायगा, फलतः इस स्थिति में राजा में चन्द्राभेदारोप का मूल सादृश्य को मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती है ।

पुनरपरविधं रूपकसम्बन्धि-विचार-विशेष विधातुं शक्यते—

स्यादेतत् । सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र इत्यत्र तत्पुरुषावयवे समानाधिकरण-
तत्पुरुषे चन्द्रिकायामभेदसंसर्गेण सौजन्यस्य विशेषणत्वात्प्रतीयमानश्चन्द्रिका-
गतः सौजन्याभेदो न राजनि चन्द्राभेदात्मकं रूपक समर्थयितुं प्रभवति,
यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेद-इत्यादिप्रागुक्तन्यायान् । अपि तु सौजन्ये विषये
चन्द्रिकाभेदः । यथा—'सौजन्यं ते धराधीश ! चन्द्रिका त्व सुधानाधि ।' स च
दुरुपपाद एव । न चानयोः समानवित्तिवेद्यत्वान्नानुपपत्तिर्गति शक्यं वक्तुम्,
प्रात्यक्षिके हि सामप्रधास्तुल्यत्वात्तत् । न तु शाब्दबोधे व्युत्पत्तिवैचित्र्य-
नियन्त्रिते । एवमन्यत्रापि कथं समासगत-शुद्ध-परम्परिते द्वयोरारोपयोर्निर्वा-
ह-निर्वाहकभावः ? कथं च शशिपुण्डरीकमित्यादौ पुण्डरीकरूपकमुच्यते ?
पुण्डरीकाभेदात्मकस्य पुण्डरीकताद्रूप्यस्याभानात् । शश्याभेदप्रत्यायाश्च पुण्डरीकं
शशीत्यत्रैव शशिरूपकमुच्यताम् । एवं नीलिमदिव्यनोये तारावलीमुकुलमण्डल-
मण्डिते पोटशकलादलमङ्गुलमित्यत्राप्युत्तरपदार्थे पूर्वपदार्थाभेदस्यैव माना-
त्पूर्वपदार्थरूपकापत्तिः ।

तथा—

'सुधिमलमौक्तिकतारे धवलांशुरुचन्द्रिकाचमत्कारे ।

वदन-परिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि ! राकासि नात्र सन्देहः ॥'

इत्यत्र सुन्दर्या विषयभूताया राकातादात्म्यावगमात्स्फुटमेव तावद्राकारूपकम् ।
तत्र चरणत्रयगतानि रूपकाणि राकारूपकानुगुणतयोपात्तान्यपि नानुगुण्यमा-
चरन्ति । ताराचन्द्रिका-पूर्णचन्द्राणां मौक्तिक-रु-धवलांशुक वदनाभिन्नत्वे सिद्धेऽपि
न सुन्दर्या राकातादात्म्यं सेद्धमीष्टे प्रत्युत विपरीतं राकायां सुन्दरीताद्रूप्यं,
तेषां राकासम्बन्धित्वात् सर्वमेव द्याकुलमिति ।

तत्पुरुषावयवे इति । तत्पुरुषसङ्के इति यावत् । समानाधिकरणतत्पुरुषे इति । कर्म-
धारणे इति भावः । सौजन्यचन्द्रिकापदयोरिति शेषः । चन्द्रिकाभेद इति । चन्द्रा-
भेदात्मक रूपकं समर्थयितुं प्रभवतीत्यस्यानुपपत्तिः । 'सौजन्यं ते—' इति । हे धराधीश

पृथिवीपते । ते तव, सौजन्यम्, चन्द्रिकाज्योत्सनापम्, अत, त्वम्, स्याधिः
 चन्द्ररूप इत्यर्थः । स चेति । स तु इत्यर्थः । दुःखपाद इति । सौजन्यचन्द्रिकेभ्यश्चेति
 भावः । अन्यथोरिति । अभेदयोरित्यर्थः । चन्द्रिकागतसौजन्याभेदसौजन्यगतवचिका-
 भेदयोरिति स्पष्टार्थः । समानवित्तीति । समाना तुल्या एवेति यावत्, या विनि
 ज्ञानसाधनभूता सामग्री, तद्व्यवहारादिति भावः । प्रात्यक्षिके ऽति । चक्षुरादिज दृष्टाने
 इत्यर्थः । तदिति । तुल्यवित्तिवैयत्यमित्यर्थः । व्युत्पत्ति इति । कार्यकारणभावेत्यर्थः । निद-
 न्त्रित इति । नियमित इत्यर्थः । अन्यत्रापीति । उदाहृतातिरिक्तस्थलेऽपीत्यर्थः । उदा-
 हृतस्थल एव शब्दो—कथं चेति । नस्त्वर्थः । 'सुविमल—' इति । व्याख्यातमिदं प्रां ब ।
 चरणप्रयगतानेति । इतोऽप्रे यद्यपि 'राकारूपकाप्यनुगुणतया' इत्येव पाठः प्राप्तस्य चोप-
 पन्नमते, तथापि नासौ पाठः सङ्गतो मम प्रतिभाते इति मूलोक्तः पाठः कल्पित इति
 बोध्यम् । सेदुगोटे इति । सम्पत्तुं प्रभवतीत्यर्थः । सुन्दरीतादृष्टमिति । रेदुर्माष्टि इत्याद्या-
 नुयज्ञः । तत्र देतुमाह—तेषामिति । सर्वमेवेति । रूपकप्रकरणोचमिति भावः । इतः प्राक्
 'इति' पदमध्याहार्यम् । इति पूर्वपक्षसमाप्तिसूचकः । अयं भावः—'सौजन्य-चन्द्रिका-
 चन्द्रो राजा' इत्यत्र राजरूपोन्मये चन्द्ररूपोपमानाभेदात्मकस्य रूपकस्य सौजन्यरूपोप-
 मेयगतेन चन्द्रिकारूपोपमानाभेदेन समर्थनात् परम्परितरपकं समर्थनीयम्, तच्च तद्वैव
 सम्भवति यदि 'सौजन्यं ते धराधीश चन्द्रिका—' इत्यादिव्यरत्नस्थल इव सौजन्ये चन्द्रि-
 काभेदः प्रतीयते । परन्तु प्रागुक्ते सम्स्तस्थले तस्मिन् तदभेदः । प्रत्येकमहाकथं, यतः
 तत्र 'सौजन्यं चन्द्रिका' इति विग्रह जायमाने कर्मधारयसमासे चन्द्रिकायामभेदेन सम्ब-
 न्धेन सौजन्यस्य विशेषणत्वात् चन्द्रिकागत सौजन्याभेद एव प्रतीयते, न तु सौजन्य-
 गतचन्द्रिकाभेदः । चन्द्रिकागतसौजन्याभेदेन च प्रतीयमानेन चन्द्रे राजाभेदस्य समर्थनं
 स्यात् न तु राज्ञि चन्द्राभेदस्य, 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेद—' इति प्रागुक्त्यायात्
 अर्थात् चन्द्रसम्बन्धिवचन्द्रिकायां प्रतीयमानः राजसम्बन्धिसौजन्याभेदः चन्द्रे राजाभेदस्य
 निमित्तं भवेत् । एव च कथमिह चन्द्ररूपकम् ? ननु चन्द्रिकायां सौजन्याभेदः सौजन्ये
 चन्द्रिकाभेदश्च तुल्यवित्तिवैयत्यो-अर्थात् तयोरेकस्मिन्नभेदे ज्ञातेऽपरोऽप्यभेदो विज्ञात एव,
 यथा—'रक्तो घटः' इत्यत्र घटे दृष्टे तदीयं रूपमपि रक्तं भवत्येव, अतो न किञ्चिदसमञ्जस-
 मिति चेन्न, प्रात्यक्षिके ज्ञाने तथा सम्भवेऽपि शब्दबोधे तदसम्भवात् । रक्तो घट
 इत्यादि-प्रत्यक्षस्थले रूपघटयोः प्रत्यक्षस्य कारणीभूता सामग्री चक्षुरादिहपा एकैवेति
 तत्र सम्भवति घटतदीयरूपयोस्तुल्यवित्तिवैयत्यम्, 'सौजन्याभिज्ञा चन्द्रिका' 'चन्द्रिका-
 भिन्नम् सौजन्यम्' इत्याकारकयोः शब्दबोधयोस्तु सम्पादिका सामग्री नैता, सामग्री-
 घटकयोः । 'सौजन्यपदोत्तरचन्द्रिकापदत्व'-'चन्द्रिकापदोत्तरसौजन्यपदत्व'रूपयोरुदाहृता-
 ज्ञानभोभिन्नत्वादिति तत्र तुल्यवित्तिवैयत्यं न सम्भवतीति तात्पर्यम् । फलतो न केवल
 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इत्यत्रैव, अपि तु सर्वेषु समासगतशुद्धपरम्परितरपक-
 लक्ष्येषु समपेक्षितो द्रव्योऽशरीरयोर्निर्वाण-निर्वाहकभावो दुःखपादः । एवम्, 'शशिपुण्ड-
 रीकम्' 'नीलिमदिव्यतौय' 'तारावलीमुकुलमण्डलमण्डिते' 'शोडशकलादलम्' 'अदृष्टम्'
 इत्यादिषु रूपकलक्ष्येषु पुण्डरीक-दिव्यतौय-मुकुलमण्डल-दल-भृत्तात्मकोत्तरपदार्थरूपक-
 ब्यवहारासन्नतिः, शशि-नीलिम-तारावली-शोडशकलाऽह्मरूपपूर्वपदार्थरूपकव्यवहारापत्तिश्च,
 पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र पूर्वपदार्थेषु शर्यादिषु उत्तरपदार्थानाम् पुण्डरीकादीनामभेदस्या-
 प्रत्ययात्, उत्तरपदार्थेषु पुण्डरीकादिषु पूर्वपदार्थानाम् शर्यादीनामभेदस्य प्रत्ययाच्च ।

इत्यमेव सुविमल—' इत्यापि प्रागुक्तयुक्तयैव तारा (चन्द्रिका) पूर्णचन्द्रामवैपूतारपदा र्थेषु मौक्तिक (धवलाशुक) वदनरूपपूर्वपदार्थाभेद एव प्रतीयेत, तथा च तानि पूर्वपदार्थ- रूपकाणि स्यु, तादृशानि च तानि रूपकाणि चरम सुन्दर्या राकारूपक न समर्थयितुं समर्थानि, अपि तु राकाया सुन्दरीरूपकमेव समर्थयितुं समर्थानि, प्रागुक्तन्यायात् । न चास्तु तथैव, वा हानिस्तावतेति वाच्यम्, 'सुन्दरि राकासि' इत्युक्त्योपमेयाया सुन्दर्या राकातादात्म्यावगमे राकारूपरूपयैव कविविवक्षितत्वावगमात्, तदनुगुणतयोक्तत्वाद् अन्या शेष्वपि उत्तरपदार्थरूपकानामेवेष्टत्वात् । इत्य च रूपकप्रकरणोक्तः सकलोऽपि सिद्धान्तः कल्पित इति ।

रूपक के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्थिर करने के लिये शंका की जाती है— स्यादेतत् इत्यादि । इतने पर भी यह शंका की जा सकती है कि—पूर्वोक्त 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इस शुद्ध परम्परितरूपक के उदाहरण में दो समास हैं—एक 'सौजन्य-चन्द्रिका' शब्द में और दूसरा इस शब्द को 'चन्द्र' शब्द के साथ जोड़ने में । ये दोनों ही समास यद्यपि तत्पुरुषसञ्ज्ञक हैं, पर प्रथम समास तत्पुरुष का अवयव होने पर भी समानाधिकरण-समानविभक्तिकपद-युक्त होने के कारण एक भिन्न सज्ञा (कर्मधारय) का भाजन हो जाता है और दूसरा तत्पुरुष (पृष्ठीतत्पुरुष) ही कहा जाता है । इस कर्मधारय में 'अर्थात् 'सौजन्य-चन्द्रिका'पदार्थ में 'सौजन्य'पदार्थ अभेदसम्बन्ध से 'चन्द्रिका'पदार्थ का विशेषण होता है । तात्पर्य यह कि—'सौजन्य' विशेषण है और 'चन्द्रिका' विशेष्य । अतः 'सौजन्य-चन्द्रिका' पद के द्वारा 'चन्द्रिका' में 'सौजन्य' का अभेद प्रतीत होता है, न कि 'सौजन्य' में 'चन्द्रिका' का । वह अभेद (चन्द्रिका में सौजन्य का अभेद) 'राजा' में 'चन्द्र' के अभेदरूप रूपक का समर्थन नहीं कर सकता, अपि तु 'चन्द्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन कर सकता है । अभिप्राय यह कि—जय समर्थकरूपकभाग में उपमेय (सौजन्य) का उपमान (चन्द्रिका) में अभेद ही समासमर्थादा से अवगत होता है, तब समर्थ्य रूपक (राजा और चन्द्र) भाग में भी वैसा ही होना उचित है—अर्थात् समर्थकरूपक अपने से विपरीत रूपक का समर्थन नहीं करेगा । और 'जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो, उसमें उसका अभेद होता है' इस पूर्वोक्त न्याय के अनुसार भी उक्त शक्ति की ही पुष्टि होती है—अर्थात् 'सौजन्य' राजा का सम्बन्धी है और 'चन्द्रिका' चन्द्र की सम्बन्धी, उन दोनों में जिसका जिसमें आरोप (अभेद) प्रतीत होगा, उसके सम्बन्धियों में वह आरोप उसी क्रम से प्रतीत होगा । यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार सौजन्य के विशेषण और चन्द्रिका के विशेष्य होने के कारण, सौजन्य का चन्द्रिका में अभेद प्रतीत होता है—सौजन्य का उपमान होना और चन्द्रिका का उपमेय होना विदित होता है । इस हिसाब से समर्थ्य भाग में भी राजा का अभेद चन्द्र में प्रतीत होगा—राजा का उपमान होना और चन्द्र का उपमेय होना समर्थित होने लगेगा, जो कविसिद्धान्तपरम्परा से सर्वथा विपरीत है । वह अनुकूल तब हो सकता है, जब कि चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद प्रतीत हो, जैसे कि— 'सौजन्य ते' अर्थात् हे राजन् । आप का 'सौजन्य चन्द्रिका है और आप चन्द्रमा है ।' इस अन्वयस्त वाक्य में प्रतीत होता है । तात्पर्य यह कि जिस तरह समासस्थल में चन्द्रिका का विशेष्य (विशेषण) होना और सौजन्य का विशेष्य होना स्पष्ट ज्ञात होता है, उस तरह यदि समासस्थल में भी होता तो यथा का अभीष्ट सिद्ध हो सकता पर समासस्थल में ऐसा होता नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्व पदार्थ का विशेषण होना और उत्तर पदार्थ का विशेष्य होना ही विदित होता है । यदि कहा जाय कि—सौजन्य का चन्द्रिका में अथवा चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद—दोनों ही अभेद—एक ही उपाय से समझे जा सकते हैं—ये दोनों तुल्य-वित्त-वेद्य हैं (एक उपाय से समझे जानेवाले दो पदार्थ हैं),

कतः कोई अनुपपत्ति नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—यह बात प्रायश्चित्त (प्रपञ्च-जन्म) ज्ञान के विषय में कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ दोनों तरह के बोधों की सामग्री एक रहती है। परन्तु शब्दबोध में ऐसा नहीं होता—वह तो व्युत्पत्ति की विचित्रता से जकड़ा हुआ है। सारांश यह कि—‘शुद्ध-वित्ति वेद्यत्व’ एक न्याय है जिसका अभिप्राय यह है कि एक साधन से दो तरह की बातें समझ ली जा सकती हैं। पर इस न्याय का उपयोग चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान में ही किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ साधन एक रहता है, जैसे, कपपना कीजिए कि—किसी एक जगह पर घड़ा और कपड़ा दोनों ही चीजें रखी हैं, वहाँ यदि हम इष्टिपात करें तो यह नहीं हो सकता कि घड़े का दर्शन (ज्ञान) हो और कपड़े का नहीं, क्योंकि जिस साधन (आँखों) का संयोग होने से हम घड़े को जान सके हैं उस साधन (आँखों) का संयोग इसी तरह कपड़े के साथ भी होगा जिस तरह घड़े के साथ हुआ है। शब्द से होनेवाले ज्ञान में तो इस न्याय का उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञान के भेद से साधन (कारण) भी भिन्न हो जाता है, जैसे—समासस्थल में सौजन्य का अभेद चन्द्रिका में समझने का एक कारण सौजन्यपदोत्तर चन्द्रिकापद (‘सौजन्यचन्द्रिका’ इस तरह के पद) का ज्ञान है और चन्द्रिका का अभेदसौजन्य में समझने का कारण चन्द्रिकापदोत्तर-सौजन्यपद (‘चन्द्रिकासौजन्य’ इस तरह के पद) का ज्ञान हो जाता है। फलतः शब्दबोध में शब्द के आकार-प्रकार बदल जाने पर बोध का आकार-प्रकार भी बदल जाता है, अतः उक्त न्याय आप के पक्ष में काम नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में ‘सौजन्यचन्द्रिका-चन्द्रो राजा’ यहाँ नहीं अपितु सभी समासगत-शुद्ध परम्परित-रूपक-स्थलों पर यह शंका समान रूप से उपस्थित है कि दो आरोपों (रूपकों) का परस्पर निर्वाण निर्वाहकभाव (समर्थ-समर्थक होना) कैसे बन सकता है ? परम्परित रूपक स्थल में ही नहीं, अपितु अन्य समासगत रूपकों में भी उक्त अभेद प्रतीतिविषयक गद्दबदी के कारण शंका उपस्थित हो जाती है। जैसे—‘शशिपुण्डरीक’ इत्यादि में कमल का रूपक (ताद्रूप्य) कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि कमल के ताद्रूप्य का अर्थ है कमल का शशि (चन्द्र) में अभेद, पर वह ‘शशिपुण्डरीक’ इस कर्मधारयसमास में प्रतीत होता नहीं, प्रतीत होता है कमल में शशि का अभेद। अतः जैसे ‘कमल चन्द्र’ इस स्थान में चन्द्र का रूपक कहा जाता है वैसे ही ‘शशिपुण्डरीक’ में भी चन्द्र का रूपक कहना उचित है, कमल का नहीं। इसी तरह ‘नीलिमदिव्यतोय’, ‘तारावलीमुकुल’, ‘पोडरा-कला-दल’, ‘अङ्गभृङ्ग’ इन सभी स्थलों में पूर्व पदार्थ (नीलिमा, तारावली, पोडरा कलायें और अङ्ग) के रूपक जो इष्ट नहीं हैं वे ही कहे जा सकेंगे, किन्तु उत्तर पदार्थ (दिव्य जल, मुकुल, दल और भृङ्ग) के रूपक जो अनिष्ट हैं वे नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि उक्त युक्ति से इन सभी जगहों में उत्तर पदार्थ (दिव्यतोय आदि) में पूर्वपदार्थ (नीलिमा आदि) का ही अभेद प्रतीत होगा, पूर्व पदार्थ में उत्तर पदार्थ का अभेद नहीं। एवम्—‘सुविमलमौक्तिक—’ इस पूर्वोक्त पद्य में उपमेयरूप ‘सुन्दरी’ में उपमानरूप ‘पूर्णिमा’ का अभेद प्रतीत होता है, अतः पूर्णिमा का रूपक यद्यपि स्पष्ट है, तथापि पद्य के प्रथम तीन चरणों के रूपक, पूर्णिमारूपक की अनुकूलता के लिये निर्दिष्ट होने पर भी, उसकी अनुकूलता नहीं करते। कारण, ‘तारा’, ‘चाँदनी’ और ‘पूर्वचन्द्र’ का क्रमशः मोती, घण्ट बसन और मुख के साथ अभेद सिद्ध होने पर भी सुन्दरी में पूर्णिमा का ताद्रूप्य (अभेदारोप) सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत उसके विपरीत पूर्णिमा में सुन्दरी का ताद्रूप्य सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वे—अभेद के आश्रयरूप में प्रतीत होने वाले ‘तारा’ आदि—पूर्णिमा के सम्बन्धी हैं, सुन्दरी के नहीं। अतः सब गद्दबद है।

समाधत्ते—

अत्र वदन्ति—अभेदस्तावद्विशेषणस्य संसर्गो भवति। स च यथा मुखं चन्द्र

इत्यादौ वाक्यगते रूपके स्वप्रतियोगिनश्चन्द्रस्य स्वानुयोगिनि मुखे विशेषणताया निर्वाहकस्तथैव समासगते मुखचन्द्र इत्यादौ रूपके स्वानुयोगिनो मुखस्य प्रतियोगिनि चन्द्रे विशेषणतायाः । एवं चोभयत्रापि वस्तुतश्चन्द्राभेद एव संसर्गः । क्वचिदनुयोगित्वमुखः, क्वचिच्च प्रतियोगित्वमुखः, विशेषण-विशेष्यभाववैचित्र्यात् । न तु मुखचन्द्र इत्यत्र मुखाभेदः संसर्गः । तथा सति चन्द्ररूपकनापत्तेः, मुखरूपकापत्तेश्च । स्वप्रतियोगिकाभेद एव विशेषणसंसर्गो न तु स्वानुयोगिकाभेद इति तु दुरामहः । एवं च सौजन्यचन्द्रिकेत्यादौ वस्तुतः सौजन्याभेदो न सौजन्यस्य चन्द्रिकाविशेषणस्य संसर्गः, अपि तु चन्द्रिकाभेद एव । तथा च सौजन्यनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी चन्द्रिकेति पर्यवसितेऽर्थे, भङ्गयन्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकाऽभेदसिद्धौ जातायां राजनि चन्द्राभेदोऽपि निष्पद्यते इति परम्परिते नानुपपत्तिः । शशिपुण्डरीकमित्यादावपि शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगिपुण्डरीकमिति पर्यवसितेऽर्थे पुण्डरीकाभेदस्य भानात्पुण्डरीकरूपकमव्याहृतम् । एवमन्येष्वप्यवयरूपकेषु बोध्यम्, एवं सुबिमलमौक्तिकतारे इत्यादावपि ताराचभेदा एव मौक्तिकादिगतो मौक्तिकादीना तारादिविशेषणानां संसर्गाभवन् राकारूपकस्य समर्थको भवतीति सर्वं सुस्थम् । सोऽयमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता । यत्र च प्रतियोगित्वमुखस्तत्रानुवाद्यत्वमिति दिक् ।

चन्द्रे विशेषणताया इति । निर्वाहक इत्यस्यानुपपत्तिः । क्वचिदिति । वाक्यगते इत्यर्थः । क्वचिच्चेति, समासगते इत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यमाह—न त्विति । इत्यत्र समासगते । मुखाभेद इति । मुखप्रतियोगिकाभेद इत्यर्थः । नानुपपत्तिरिति । अत्र 'रूपकत्वस्येत्यादि' इति नागेश । परन्तु तत्र युक्त प्रतिभाति, मुखरूपकत्वस्य तथाप्यक्षते । मुखरूपकं तत्रेष्टं नास्तौति त्वन्यत् । अतः चन्द्ररूपकत्वस्येति विवरणमुचितम् । अन्येष्वप्यवयरूपकेष्विति । 'नीलिमदिव्यतोये' इत्यादावित्यर्थः । सर्वं सुस्थमिति । अत्र "अन्ये तु 'तुल्य-विति वेद्यतया चन्द्राभेदस्यापि मुपे प्रतीतिरार्थं चन्द्ररूपकम् । शान्द व्यस्ते । एवं मुखाभेदस्य समासशास्त्रप्रवृत्त्युपयोगितयाज्ञीकारेऽप्यतात्पर्यविषयत्वाच्च तमादाय मुखरूपकव्यवहारः । किं चात्र पूर्वपदार्थप्रधानमपूरव्यसंज्ञादिममासेन । चन्द्रपुण्डरीकायभेदस्यैव मुखशरयादौ भानान्न दोषः । अत एव विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमिदम्' इति भाष्यकृत । एव च बाध्यतापि चन्द्ररूपकस्य" इत्याहुः । अपरे तु "चन्द्रनिष्ठाभेदश्चन्द्रप्रतियोगिकाभेदश्च रूपकम् । अत एव 'तद्रूपकभेदोपमानोपमेययो' इत्युक्त प्रकाशे । यद्वा विषयनिष्ठाभेदप्रतियोगितया यत्र विषयस्य रञ्जनमित्येव लक्षणार्थः । एव च मुक्तप्रतियोगिकाभेदाश्चन्द्र इत्येवं बोधेऽपि न क्षति' इत्याहुः" इति नागेश । एवं रूपकत्वसाम्येऽपि समासगतवाक्यगतरूपकयोर्भेदस्तमाह—सोऽयमित्यादिना । अयभाच-रव(विशेषण)प्रतियोगिकाभेद एव विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा च मुखचन्द्र इत्यादिसमासगतरूपकस्थले मुखप्रतियोगिकाभेद एव चन्द्रे भासेत, यत्र चाभेदो भासते तदेवोपमेयम्, यस्य चाभेदस्तदुपमानम् इति मुखरूपकापत्तिरित्यभिप्रायेण प्राक् सर्वा अनुपपत्तयो दर्शिता, पर तु तद् ध्रानितमूलकम्, यत स्वप्रतियोगिकाभेदो यथा विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा स्वानुयोगिकाभेदोऽपि । एवञ्च मुखं चन्द्र इत्यादि वाक्यगतरूपकस्थले चन्द्रप्रतियोगिकाभेदवन्मुखम् इति जायमाने बोधे चन्द्रो विशेषण मुखश्च विशेष्यं भवति । मुखचन्द्र इत्यादि समासगतरूपकस्थले तु मुखानुयोगिकाभेदप्रतियोगी चन्द्र इति बोधे मुक्तमेव विशेष्यम् ।

चन्द्रश्च विशेष्यो भवति । उभयत्रापि चन्द्रस्यैवाभेदप्रतियोगितया प्रत्ययेनोपमानत्वं सुस्थम्, अतोऽखिला-पूर्वोक्ता अनुपपत्तयो वारिता, सौजन्यचन्द्रिका इत्यत्र चन्द्रिकाप्रतियोगिकामेदस्यैव सौजन्यात्मकविशेषणसम्बन्धत्वेन सौजन्यानुयोगिकामेदप्रतियोगिनीचन्द्रिकेति बोधे प्रकारान्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकामेदमिदौ राशि चन्द्रामेदस्य समर्थनसम्भवात्, शशिपुण्डरीकम् इत्यत्र शरयनुयोगिकामेदप्रतियोगिपुण्डरीकम् इति बोधे शशिति पुण्डरीकामेदस्य भानेन पुण्डरीकरूपकत्वस्यान्वाहृतत्वात्, नीलिमदिव्यतोये, तारावली-मुकुलमण्डलमण्डिते, षोडशकलादलम्, अद्भुतम् इत्येतेष्वपि उक्तान्त्या उत्तर-पदार्थप्रतियोगिकामेदस्य पूर्वपदार्थे भानेनोत्तरपदार्थरूपकत्वस्याशतत्वात् 'सुविमलमौक्तिकान्तरे—' इत्यत्रापि तारादिप्रतियोगिकामेदस्यैव मौक्तिकवात्सक्यविशेषण-सम्बन्धतया तत्र-समर्थकारो-ताराद्युत्तरपदार्थरूपकत्वसिद्धौ तै रूपकैः राकारूपकस्य समर्थतासम्भवाच्च । अभेदो विशेषणस्य सम्बन्ध इति सत्यम्, परन्तु विशेषण-विशेष्यभाववैविच्येण व्याप्त्यस्य तस्य (अभेदस्य) मुखे (अप्रभागे) अनुयोगित्वं, तिष्ठति 'मुखं चन्द्रः' इत्यादित् चन्द्रप्रतियोगिकामेदानुयोगि मुखम् इत्यादिबोधात्, समासस्थले च तस्य मुखे प्रतियोगित्वं तिष्ठति, 'मुखचन्द्रः' इत्यादितः 'मुखाद्युयोगिकामेदप्रतियोगी चन्द्रः' इत्यादिबोधात् इति तात्पर्यम् । यद्यपि गुह्यमर्मप्रकाशकारस्तदनुसारी सरलाकारस्य 'अनुयोगित्वमुख-प्रतियोगित्वमुख'शब्दयोः 'अनुयोगित्व मुखे = आदौ यस्य' इत्यादि विवरणं विधाय समासस्थलेऽनुयोगित्वमुखत्वं व्याप्तस्य तले च प्रतियोगित्वमुखत्वं निर्णीत-वन्ती, तथाप्यहम् 'सौख्यमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता' इत्यादिप्रिम-श्रुत्यस्वारस्यातुरोधेन 'अनुयोगित्व मुखे = अप्रभागे यस्य, इत्यादि विवृत्य तद्विपरीतम् निराविन्वम् । यदि समासेऽनुयोगिमुखत्वमभेदस्याभिमतमभविष्यत्तदाऽनुयोगित्वमुखाभेद-स्थले रूपकस्य विधेयत्वकथनमसंगतमेवाभविष्यत्, समासे-मुखचन्द्रः इत्यादौ रूपकस्य विधेयताया मुक्ति-सिद्धान्तोभयविरुद्धत्वादिति प्यानीय विद्मैः । एतावत् पुनरवगन्तव्यम् यद्यत्राभेदोऽनुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकं विधेयं भवति—अर्थात् व्याप्तस्थले 'मुख चन्द्रः' इत्यादौ अभेद उक्तयुक्त्याऽनुयोगित्वमुखसिद्धिर्तिष्ठति तत्र औपमानोपमेययोः पृथक्-पृथक् विभक्तिप्रवणानुद्देश्यविधेयभावसम्भवेन रूपकस्य विधेयत्वेन व्यवहारो भवति । यत्र चाभेदः प्रतियोगित्वमुखस्तत्र रूपकमनुवाच्यं भवति—अर्थात् समासस्थले—'मुखचन्द्रः' इत्यादौ—अभेद उक्तयुक्त्या प्रतियोगित्वमुखसिद्धिर्तिष्ठति, तत्र औपमानोपमेययोः पृथक्विभक्तेरश्रवणा-नुद्देश्यविधेयभावासभवेन रूपकस्यानुवाच्यत्वेनैव व्यपदेशो जायत इति ।

उक्त आशका का उत्तर दिया जाता है—अत्र वदन्ति इत्यादि । उक्त आशका के उत्तर में कहते हैं कि—अभेद विशेषण का संबन्ध होता है विशेष्यका नहीं, यह सर्व-सम्मत बात है—अर्थात् अभेदसंबन्ध से विशेषण ही विशेष्य में रहनेवाला समझा जाता है, विशेष्य विशेषण में रहनेवाला नहीं । यह सत्य है पर वह अभेद जैसे 'मुख चन्द्रमा है' इत्यादि वाक्यगत रूपक में अपने प्रतियोगी चन्द्र का अपने अनुयोगी हुए में, विशेषण होना निम्ना देता है वैसे ही 'मुखचन्द्र' आदि समासगत रूपक में अपने अनुयोगी मुख का, अपने प्रतियोगी चन्द्र में, विशेषण होना निम्ना देता है । तात्पर्य यह कि वाक्य तथा समास में विशेषण-विशेष्य होना बटुलता है, अनुयोगी प्रतियोगी होना नहीं, अतः वाक्य तथा समास दोनों ही जगहों पर वस्तुतः 'चन्द्रका अभेद' अर्थात् 'चन्द्रप्रतियोगिक अभेद' ही संबन्धरूप होता है, 'मुख का-मुखप्रतियोगिक-अभेद' नहीं । यह बात दूसरी है कि कहीं (व्याप्तस्थल में) अभेद के आगे अनुयोगित्व आता है

और कहीं (समासस्थल में) प्रतियोगित्व उसके आगे आता है । इस तरह के अप्रागमन का कारण है विशेषण विशेष्य होने की विचित्रता—अर्थात् यह निश्चित नहीं कि अनुयोगी ही विशेषण हो अथवा प्रतियोगी ही, दोनों में से कोई भी विशेषण अथवा विशेष्य हो सकता है । इस विचित्रता के कारण कभी (समास कर देने पर) अनुयोगी-मुख आदि विशेषण हो जाता है और कभी (समास न करने पर) प्रतियोगी-चन्द्र आदि । और जब अनुयोगी विशेषण होता है तब प्रतियोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुखचन्द्र' इस समस्त पद से 'मुख जिसका अनुयोगी है उस अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' ऐसा बोध होता है और जब प्रतियोगी विशेषण होता है तब अनुयोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुख चन्द्र है' इस वाक्य—जिसमें अभेद का प्रतियोगी चन्द्र विधेय होने के कारण विशेषण और उसका अनुयोगी मुख उद्देश्य होने के कारण विशेष्य हुआ है—से 'चन्द्र जिसका प्रतियोगी है उस अभेद का अनुयोगी-वाक्य-मुख' ऐसा बोध होता है । अतः यह नहीं समझना चाहिए कि—'मुखचन्द्र' इत्यादि समासगत-रूपकस्थल में मुख का (मुख प्रतियोगिक-अभेद संबन्धरूप से आया है, चन्द्र का नहीं । कारण, यदि—ऐसा हो अर्थात् 'मुखचन्द्र' आदि में मुख के अभेद को संबन्धरूप से आया हुआ माने—तो ऐसी जगह चन्द्र-रूपक न कहला कर मुख-रूपक कहलाने लगेगा—अर्थात् मुख में चन्द्र का आरोप न मानकर चन्द्र में मुख का आरोप मान्य होने लगेगा । स्वप्रतियोगिक अभेद ही—अर्थात् जिसका विशेषण प्रतियोगी हो वही अभेद संबन्धरूप में आ सकता है, न कि स्वानुयोगिक अभेद—अर्थात् जिसका विशेषण अनुयोगी हो वह अभेद संबन्धरूप में नहीं आ सकता—तात्पर्य यह कि विशेषण सर्वदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं, यह किसी का कथन तो केवल हुराप्रह है, क्योंकि इस तरह के कथन में कोई प्रमाण नहीं । इस स्थिति में 'सौजन्य-चन्द्रिका' आदि रूपक में 'चन्द्रिका के विशेषणरूप सौजन्य' का संबन्ध 'सौजन्य का अभेद' नहीं, अपितु 'चन्द्रिका का अभेद' है—अर्थात् उस अभेद का प्रतियोगिक सौजन्य नहीं, चन्द्रिका है । अतः उक्त सामासिक पद से पर्यवसित होने वाले 'चन्द्रिका सौजन्य में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी है' इस अर्थ में विग्रह के ढङ्ग से न सही, किन्तु दूसरे ढङ्ग से सौजन्य में चन्द्रिका का अभेद सिद्ध हो जाता है और उसके सिद्ध हो जाने पर चन्द्र का अभेद राजा में भी सिद्ध हो जाता है । अतः परम्परित रूपक में कोई गड़बड़ी नहीं । 'शशिपुण्डरीक' आदि में भी 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी कमल' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर कमल का अभेद ही चन्द्र में प्रतीत होता है, अतः कमल का रूपक मानने में कोई बाधा नहीं । इसी तरह अन्य अवयव-रूपकों में भी समझना चाहिए—अर्थात् 'नीलिमतोय, तारावलीमुकुल, षोडश कला-दल, तथा अङ्ग-भृङ्ग' इन सब जगहों में भी उक्त रीतिसे अन्त में उत्तरपदार्थ तोय आदि का अभेद ही पूर्वपदार्थ नीलिमा आदि में समझा जायगा, अतः—यहाँ भी उत्तरपदार्थरूपक मानने में कोई अड़चन नहीं रह जाती । इसी तरह 'सुविमलमौक्तिकतारे' इत्यादि में भी मोती आदि में रहनेवाला तारा आदि का अभेद ही तारा आदि के विशेषणीभूत मोती आदि का संबन्ध होकर राका रूपक का समर्थक होता है । अतः सब ठीक है । हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि—यह अभेद जहाँ अनुयोगित्व मुख हो—अर्थात् जहाँ शब्दबोध में अभेद के आगे अनुयोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः व्यास-स्थल में रूपक विधेय कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुख चन्द्र' इत्यादि रीति से उपमान उपमेय में अलग-अलग विभक्ति के ध्रवण होने से उद्देश्य-विधेयभाव हो सकता है और यह अभेद जहाँ प्रतियोगित्वमुख हो अर्थात् जहाँ शब्दबोध में अभेद के आगे प्रतियोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः समासस्थल में रूपक-अनुवाचक कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुख चन्द्र' इत्यादि रीतिसे उपमान-उपमेय में पृथक् विभक्ति के ध्रवण न होने से उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता है ।

यहाँ 'सर्वसुखम्' इस प्रतीक पर नागेश कतिपय भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं, जो निम्नलिखित हैं—“'मुखचन्द्र' इत्यादि समासगत रूपकस्थल में यद्यपि शब्दतः मुख का अभेद ही चन्द्र में भासित होता है, तथापि तुल्य-वित्तिवेद्य होने के कारण, अर्थात् चन्द्र का अभेद मुख में भी गृहीत हो ही जाता है, अतः ऐसे-समास-स्थलों में आर्य चन्द्र-रूपक होता है। शब्द चन्द्र-रूपक तो 'मुखचन्द्र है' इत्यादि व्यास-वाक्य-स्थल में होता है। यदि कोई कहे कि मुख का अभेद जब शब्दतः चन्द्र में गृहीत हुआ तब मुख-रूपक व्यवहार ही यहाँ क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर यह होगा कि समासशास्त्र की प्रवृत्ति में उपयोगी होने के कारण मुख का अभेद चन्द्र में भले ही माना जाय पर वह वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता के तात्पर्य का विषय तो मुख में चन्द्र का अभेद ही है, अतः मुख रूपक व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा 'मुखचन्द्र' इत्यादि पदों में 'मयूरव्यसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र से ही समास किया जायगा जिस समास में पूर्व पदार्थ की ही प्रधानता रहती है, अतः 'मुखचन्द्र', 'शशिपुण्डरीकम्' इत्यादि में चन्द्र पुण्डरीक आदि का ही अभेद मुख-शशि आदि में भासित होगा, अतः कोई दोष नहीं। अतएव भाष्यकार ने भी कहा है कि 'मयूर-इत्यादि सूत्र विशेष्य के पूर्व प्रयोगार्थ है।' इस रीति को मानने पर उक्त स्थल में चन्द्र रूपक वाक्य भी कहलाता है, अन्यथा वैसा नहीं कहला सकता।" यह धन्य लोगों का मत है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि—“चन्द्र का अभेद और चन्द्र में रहने वाला अभेद—दोनों ही अभेद रूपक कहलाते हैं। अतएव काव्यप्रकाश में 'उपमान-उपमेय का अभेद रूपक है' ऐसा ही उद्धरण किया गया, 'उपमान का उपमेय में अभेद रूपक है' ऐसा नहीं। अथवा 'विषयी उपमान में रहने वाला जो अभेद उसकी प्रतियोगिता से जहाँ विषय उपमेय का रञ्जन हुआ हो वहाँ रूपक होता है' यही उद्धरणवाक्य का अर्थ है। अतः 'मुखचन्द्र' इत्यादि से 'मुखप्रतियोगिकमुख का अभेद वाला चन्द्र' इस तरह का बोध होने पर भी कोई छति नहीं।”

परम्परितरूपकस्य प्रमेदान्तरम्बतारयति—

तत्र 'प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमयोः' इत्यत्रारोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्चानुकूल्ये रूपकयोरनुप्राहानुप्राहकभावो दर्शितः ।

तत्रेति । पदार्थरूपकाणा मध्ये इत्यर्थः । आरोप्यमाणयोः उपमानयोः । परस्परमित्यस्य मध्यमणिन्यायेनोभयत्रान्वयः । आरोपविषययो उपमेययोः । आनुकूल्ये अविद्वत्त्वे । अनुप्राहानुप्राहकभावः समर्थसमर्थकभावः । 'प्राचीसन्ध्या—' इत्यत्रारोप्यमाणौ पूर्वसन्ध्यासूर्यौ आरोपविषयौ महिमनयनगतशोणिमश्रियौ च मिथोऽनुकूलौ, पूर्वसन्ध्याया सूर्यस्य महिम्नि नयनगतशोणिमशोभायाश्च सम्भाव्यमानत्वादिति भावः ।

परम्परितरूपक के अन्य भेदों की अवतारणा की जाती है—तत्र इत्यादि । परम्परितरूपक के प्रभेदों में समर्थरूपक और समर्थकरूपक के उपमानों तथा उपमेयों के परस्पर अनुकूल होने पर समर्थ-समर्थक होता 'प्राचीसन्ध्या—' इस पद्य में दिखाया जा चुका है अर्थात् उक्त पद्य में, उपमान-पूर्वसन्ध्या—और सूर्य आदि परस्पर अनुकूल हैं—पूर्वसन्ध्या (प्रभात) में सूर्य रहता ही है, इसी तरह उपमेय-प्रताप और नयन-शोणता आदि भी परस्पर अनुकूल हैं—प्रतापीजन की आँखें लाल हुआ ही करती हैं ।

पूर्वावतारणासूचितमेदान्तरं दर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये यथा—

आरोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्च विद्वत्त्वे रूपकयोरनुप्राहानुप्राहकभावो ष्येति भावः ।

समर्प्यरूपक और समर्पकरूपक के उपमानों और उपमेयों के परस्पर प्रतिकूल होने पर भी समर्प्यसमर्पक होने का उदाहरण जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘आनन्दमृगदावामिः शीलशारिमदद्विपः ।

ज्ञानदीपमहाबायुरयं खलसमागमः ॥’

अयम् प्रथमभ्रम्यमान, खलसमागम' नीचाशयजनसम्मेलनम्, आनन्दरूपस्य च्युतस्य कृते दावामि' वनवह्निरूपोऽस्ति, शीलम् सदाचारः, तद्रूपो यः शास्त्री तस्य कृते मदद्विपः मत्तगजरूपोऽस्ति, तथा ज्ञानरूपो यो दीपः तस्य कृते महाबायु' मङ्गलावतरूपोऽस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्द इत्यादि । यह खल्लो-नीच धारणावाले जनों—का समागम आनन्दरूप हरिण के लिये वनवह्नि है, सदाचाररूप बृच के लिये मद-मत्त हाथी है और ज्ञानरूप दीपक के लिये महाबायु है ।

उदाहरणान्तरं निर्दिष्टुं कथयति—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ।

यशःसौरभ्यलक्षुनः पिशुनः केन वर्ण्यते ॥’

कारुण्यकुसुमस्य दशरूपपुत्रस्य, कृते आकाश' विषदूष', शान्तिशैत्यस्य शान्तिरूप-शीतलत्वस्य कृते हुताशन' अग्निरूप', तथा यशःसौरभ्यस्य यशोरूपस्य सुगन्धस्य कृते लक्षुन' लक्षुनरूप', पिशुन' कर्णद्वय', केन जनेन, वर्ण्यते न केनापीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कारुण्य इत्यादि । उस चुगलखोर का वर्णन किससे सम्भव है जो दयारूप पुत्र के लिये आकाशरूप, शान्तिरूप शीतलता के लिये धनलरूप और यशोरूप सुगन्ध के लिये लहसुनरूप है ।

उपपादयति—

एकत्र नारयनाशकभावरूपमपरत्र चालन्तिकसंसर्गशून्यत्वरूपं प्रातिकूल्य-मुपमानयोस्तथैवोपमेययोश्च । अनुमाह्यानुमाहकभाव' पुनरारोपयोरविशिष्ट एव ।

लक्ष्मन्तरदाने बांजमाह-एकत्रेति । आये इत्यर्थः । अपरत्रेति । द्वितीये इत्यर्थः । दावामिना यथा मृगस्तथा खलसमागमेन आनन्दो नारयते, एवं च दावामिर्नृपा मृगार्थम् प्रतिकूलस्तथा आनन्दस्य कृते खलसमागम इत्यादिरूपे प्रातिकूल्ये 'आनन्दमृग—' इति परम्परितरूपबोदाहरणम् । एवम्—आद्यशे यथा कुसुमस्य तथा खले कारुण्यस्य संसर्गो मेन्द्रादिरूपे प्रातिकूल्ये 'कारुण्य-' इति 'परम्परितरूपबोदाहरणमिति भावः । एवं प्राति-कूल्यनुपपाद्य तन्नात्वेऽपि समर्प्यनमर्पकभावोऽस्त्वेवेत्युपपादयति—अनुमाह्य इत्यादि । आनन्दे मृगारोपेण शीले शास्त्रारोपेण ज्ञाने दीनारोपेण च खलसमागमे दावामिनिमदद्विप-महाबायुनामारोप' समर्प्यते प्रथमरत्नके, एवं कारुण्ये कुसुमारोपेण, शान्तौ शैत्यारोपेण, यशसि सौरभ्यारोपेण च पिशुने आकाशहुताशनलक्षुनानामारोपः समर्प्यते द्वितीयरत्नके इति साराशः ।

उपपादन किया जाता है—एकत्र इत्यादि । उक्त दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में नारयनाशकभावरूप और द्वितीय उदाहरण में सर्वथा सम्बन्धाहित्यरूप प्रतिकूलता

उपमानों तथा उपमेयों में है। सातत्य यह कि प्रथम पद्य में, समर्थकरूपकगत—
गृह, वृष और क्षीर—एवं समर्थरूपकगत—दावानल, मत्तगज और महाबाहु—
जो उपमान हैं वे परस्पर प्रतिकूल हैं। प्रतिकूलता इनमें यह है कि क्रमशः प्रथमवर्ग
के पदार्थों के नाशक हैं क्रमशः द्वितीय वर्ग के पदार्थ, इसी तरह समर्थकरूपकगत
आनन्द, क्षीर और शान—एवं समर्थरूपकगत—खलसमागम—जो उपमेय हैं उनमें
भी परस्पर प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता भी यही है—अर्थात् खल-समागम
प्रथम वर्ग में गिनाए गये पदार्थों का नाशक है। द्वितीय पद्य में, जो समर्थक-
रूपकगत—कुसुम, सौर्य और सुगन्ध—एवं समर्थरूपकगत—आकाश, अग्नि और
लहसुन—जो उपमान हैं उनमें भी परस्पर प्रतिकूलता है—और प्रतिकूलता यह
है कि—क्रमशः प्रथम वर्ग के पदार्थों के साथ क्रमशः द्वितीय वर्ग के पदार्थों का
कभी किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहता, इसी तरह समर्थकरूपकगत उपमेयों—
दया, शान्ति तथा वन—के साथ समर्थरूपकगत उपमेय—सुगलसोर—का किसी प्रकार
का सम्बन्ध न हो सकना रूप प्रतिकूलता है। पर उक्त प्रतिकूलताओं के रहने पर भी
दोनों ही स्थलों में समर्थ-समर्थकभाव उसी तरह होता है जिस तरह अनुकूलता वाले
उदाहरणों में।

परम्परितरूपकस्य भिन्नविष वैचित्र्यं चित्रयितुमुदाहरणान्तरमाह—

तथा—

‘अयं सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः ।

परदुःखामिशमनमारुतः केन वर्ण्यते ॥’

दुर्जन स्वभावात् परापकारनिरत कमप्युरिश्य कविराह—राज्यनरूपस्य, कार्पासस्य
तूलविशेषस्य, रक्षणे लक्षणया नाशने, एकः अद्वितयः, हुताशनः अग्निरूपः, तथा पर-
दुःखरूपस्य, शमने, शमने लक्षणया वर्धने, आरुत-वायुरूपः, अयं दुर्जन, केन व्यक्ति-
विशेषेण वर्ण्यते ? वर्णयितुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थः ।

भिन्न तरह की विचित्रता का चित्रण करने के लिये परम्परित का एक और उदाहरण
उपस्थित किया जाता है—अयम् इत्यादि। किसी दुर्जन को उद्देश्य कर कवि ने कहा है—
यह सज्जनरूप कपास की रक्षा करने में (लक्षणा द्वारा नाश करने में) एक अद्वितीय
अग्नि है और दूसरों के दुःखरूप अग्नि का शमन (लक्षणया वर्धन) करने में वायुरूप
है। इसका वर्णन कौन कर सकता है ? कोई नहीं।

उपपादयति—

अत्र रक्षणशमनपदे विरोधिलक्षणया विपरीतार्थबोधके ।

‘अयम्’ इति श्लोके हुताशनकर्तृक कार्पासकर्मन रक्षणं यथा बाधितम् तथा दुर्जन-
कर्तृकं राज्यकर्मन रक्षणं बाधितमिति रक्षणपदस्य वैपरीत्यसंबन्धमूलिका नाराणेऽर्थे लक्षणा ।
एवं आरुतकर्तृकं बद्धिर्माक शमनं यथा बाधितं तथा दुर्जनकर्तृकं परकीयदुःखकर्मकं शमन-
मपि बाधितमिति शमनपदस्य वैपरीत्यसंसर्गमूलिका वर्धनेऽर्थे लक्षणा । तथा च समर्थ-
समर्थकभावात्पक्षरूपकद्वयसमूहात्मकेऽत्र परम्परिते । लक्षणाप्रवेश एक वैचित्र्यमिति भावः ।
इदंशपरं वैचित्र्यमिह विभावनीयम्—पूर्वार्धगतयोः समर्थसमर्थकरूपकयोः । उपमानोपमेये
मिथः प्रतिकूलैः कार्पास हुताशनयोः राज्यदुर्जनयोश्च नाश-नाशकभावात्पक्षपदार्थत्वात् ।
उत्तरार्धगतयोः समर्थसमर्थकरूपकयोरुपमानोपमेये तु न मिथः प्रतिकूलैः अग्नि-वायु-
तयोः परदुःखदुर्जनयोश्च परस्परतावर्ष्यसंबन्धकभावात्पक्षेनानुकूलत्वात् ।

व्याख्या द्वारा सूचित की गई लक्षणा का उपपादन किया जाता है—अत्रेति । 'अयम्' इस पद्य में 'रक्षण' तथा 'शमन' पद विपरीत लक्षणा द्वारा वाच्य से विरुद्ध अर्थ—नाशन और वर्धन के बोधक हैं । अभिप्राय यह कि—जिस तरह आग से कपास की रक्षा बाधित है एवं वायु से आग का प्रशमन बाधित है उसी तरह दुर्जन से सज्जन की रक्षा एवं दुर्जन से परकीय दुःख का प्रशमन भी बाधित है, अतः रक्षण तथा शमन पद की लक्षणा क्रमशः नाशन तथा वर्धन अर्थ में करनी पड़ेगी और 'लक्षणा शक्यसंबन्ध' का रसक संबन्ध यहाँ होगा 'विरोध'वैपरीत्य । इस तरह से परस्पर समर्थ्यसमर्थकभावात् अनेक रूपकों के समूहरूप इस परम्परित रूपक में लक्षणा का प्रवेश कराना एक प्रकार की विचित्रता दिखलाई गई । यहाँ दूसरी विचित्रता भी यह है कि—पूर्वार्ध में, समर्थक रूपक का उपमान—कपास और समर्थ्य रूपक का उपमान—अग्नि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक है, इसी तरह उक्त दोनों रूपकों के उपमेय सज्जन और दुर्जन भी परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक ही है । ठीक इसके विपरीत, उत्तरार्ध में समर्थक रूपक का उपमान—अग्नि और समर्थ्य रूपक का उपमान—वायु प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु अनुकूल ही हैं—एक का दूसरा सहायक ही है । इसी तरह इन दोनों रूपकों के उपमेय क्रमशः परकीय दुःख और दुर्जन भी प्रतिकूल नहीं, अनुकूल हैं—एक का दूसरा चर्धक है । इस तरह यहाँ प्रातिकूल्य तथा आनुकूल्य का विचित्र मिश्रण है ।

अवान्तरप्रकरणसमाप्ति सूचयति—

एवं पदार्थरूपक लेशतो निरूपितमेव ।

एव प्रागुक्तरीत्या । पदार्थरूपकमिति । यत्रैकरिम्भु उपमेयभूते पदार्थेऽपरस्य पदार्थ-भूतस्योपमानस्यारोपस्तादृश रूपकमित्यर्थः । लेशत अशत ।

अवान्तर प्रकरण की समाप्ति सूचित की जाती है—एव इत्यादि । इस तरह (पूर्वोक्त रीति से) पदार्थ रूपक (उस रूपक, जिसमें एक पदके अर्थ का आरोप दूसरे पद के अर्थ में होता है) का अशत निरूपण किया जा चुका ।

वाक्यार्थरूपक निरूपयिष्यन् तावत्तल्लक्षणमाह—

वाक्यार्थे विषये वाक्यार्थान्तरस्यारोपे वाक्यार्थरूपकम् ।

उपमेयभूते एवस्मिन् वाक्यार्थे (न तु पदार्थे) उपमानभूतस्यान्यवाक्यार्थस्य (न तु पदार्थस्य) आरोपे-तादृश्ये-वाक्यार्थरूपक भवतीति भावः ।

वाक्यार्थरूपक का निरूपण करने के प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण किया जाता है—वाक्यार्थे इत्यादि । जब किसी एक पद का अर्थ नहीं, अपितु किसी पूरे वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें उपमानभूत पूरे वाक्य के अर्थ का आरोप हो, तब वह आरोप वाक्यार्थरूपक कहलाता है ।

दृष्टान्तद्वारा वाक्यार्थरूपकगत विशेषं स्फोरयितुमाह—

यथाहि विशिष्टोपमायां विरोपणानामुपमानोपमेयभाव आर्थस्तथानापि वाक्यार्थघटकानां पदार्थानां रूपकमर्थावसेयम् ।

विशिष्टोपमायामिति । 'आत्मनोऽस्य तपोदाननिर्मलीकरणं भवेत् । खालन भास्कर-स्येव तारसै सलिलोत्करे ।' इत्यादिप्रकारिकायामित्यर्थः । विशेषणानामिति । आत्म-भास्करयो तपोदानसलिलोत्करयोऽप्युपमेयोपमानविरोपणयोरित्यर्थः । आर्थ इति तदर्थे इवाद्यप्रयोगादिति भावः । अत्रापि वाक्यार्थरूपके । वाक्यार्थघटकानामिति । वाक्यार्थान्तर्गतानामित्यर्थः । अर्थावसेयमिति । आर्थमित्यर्थः । न शाब्दमिति तदारायः ।

दृष्टान्त द्वारा वाक्यार्थरूपक में होनेवाले विशेष का स्पष्टीकरण किया जाता है—

यथा हि इत्यादि । जैसे विशिष्ट-विशेषणयुक्त—उपमा में विशेषणों का उपमानोपमेयभाव अर्थात् अवगत होता है शब्दतः नहीं, क्योंकि वहाँ उपमा सादर्य का बोधक पद 'इव' आदि नहीं रहता, वैसे ही वाक्यार्थ-रूपक में भी वाक्यार्थ घटक—अर्थात् जिनके समूह से वाक्यार्थ बनता है उन पदार्थों का रूपक अर्थात् समझने योग्य होता है, शब्दतः नहीं । अभिप्राय यह कि—यदि 'तप-दान आदि के द्वारा आत्मा को निर्मल करना वैसा ही है जैसा सरोवर के जल से सूर्य का प्रखालन करना' ऐसा कहा जाय तब सभी आचार्य इसको विशिष्ट—अर्थात् वाक्यार्थ की—उपमा मानेंगे और इस उपमा में आत्मा की सूर्य के साथ और तप-दान की जल के साथ होने वाली उपमा अर्थात् ज्ञात होने वाली मानी जायगी, उसी तरह वदयमाण वाक्यार्थ रूपक के उदाहरण में भी विशेषांश का तादृश्य तो शब्दतः ज्ञात होगा पर विशेषांश का तादृश्य शब्दतः नहीं, अर्थात् ज्ञात होगा ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत् ।

क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः ॥’

अस्य स्वतो निर्मलस्य, आत्मनो जीवाद्यस्य ब्रह्मणः, तपोदानै तपस्याभिः परोहे-
र्येनार्थत्यागैश्च, यत् निर्मलीकरणं निर्मलतारात्पादनम्, इदं तत्, सारसैः सरोवरीयैः-
सलिलोत्करैः जलपृष्ठैः, भास्करस्य सूर्यस्य, क्षालनं निर्मलीकरणमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आत्म इत्यादि । स्वतः निर्मल इस आत्मा को तप और दानों से निर्मल करना सरोवर के जल-समूह से सूर्य को धोना है ।

उपपादयति—

अत्रात्मनि तपोदानेषु चारोपविषयविशेषणतया विम्बभूतेषु, भास्करस्य सलिलोत्करादीनां च विषयि-विशेषणत्वेन प्रतिविम्बानां रूपकं गम्यमानं प्रधानीभूतविशिष्टरूपकाद्गम् ।

सलिलोत्करादीनामिति । यद्यप्यत्रोपलब्धपुस्तके 'सलिलक्षालनादीनाम्' इत्येव पाठः-
परन्तु न न संगत इति नागेशेन स्वटीकायामुद्धृतो मूलोक्त पाठ एव मयाहतः । 'आत्म-
नोऽस्य—' इति श्लोके तपोदानकरणकात्मकर्मकनिर्मलीकरणत्वात्के उपमेयभूते वाक्यार्थे
सारससलिलसमूहकरणकभास्करकर्मकक्षालनात्मकस्योपमानभूतस्य वाक्यार्थस्थाभेदारोपहर्षं
वाक्यार्थरूपकं प्रधानं शब्दश्च । उपमेयविशेषणतया विम्बभूते आत्मनि तपोदानौ
चोपमानविशेषणतया प्रतिविम्बभूतस्य भास्करस्य सलिलोत्करस्य चाभेदारोपरूपं रूपक-
द्वयमशब्दमपि अर्थात् प्रतीयमानमज्ञमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'आत्मनोऽस्य—' इस पद्य में 'तप दानों से आत्मा को निर्मल करना' यह वाक्यार्थ उपमेय है, जिसमें 'सरोवर के जल से सूर्य का धोना' इस उपमानभूत वाक्यार्थ का शब्दतः आरोप होता है, अतः यह आरोप शाब्दवाक्यार्थरूपक कहलाता है और यह वाक्यार्थरूपक ही यहाँ प्रधान है । यद्यपि यहाँ, उपमेय के विशेषण होने से विम्बरूप आत्मा में उपमान-विशेषण होने से प्रतिविम्बरूप सूर्य का तथा इसी तरह, विम्बरूप तप-दानों में प्रतिविम्बरूप जल का आरोप भी अर्थात् प्रतीय होता है, अतः ये दो आर्थपदार्थरूपक भी हैं, पर वे दोनों उक्त प्रधान रूपक के अङ्ग-भूत हैं ऐसा समझना चाहिये ।

दीक्षितमतमुत्पाय निरस्यति—

‘नेदं रूपकम् । रूपके विम्ब-प्रतिविम्बभावो नास्ति’ इति केनाप्यालङ्कारिक-
म्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवसो द्रविडस्योक्तिरश्रद्धयैव । ययोरिवादिशब्दप्रयोगे

उपमा तयोरेकत्रान्यारोपे रूपकमिति नियमात् । अत्र यदि रूपकं नाङ्गीकुरुषे मैयाङ्गीकुरु, तर्हि तत्रैव यथादिशब्दप्रयोगे उपमामपि । एवं 'त्वयि कोपो महीपाल सुधांशाविष पावक' इत्यादौ स्वकल्पितेन विशिष्टेन धर्मिणा सादृश्यस्य प्रत्यया-
दुपमां ब्रूये, ब्रूहि तर्हि तत्रैवेवस्य निरासे 'त्वयि कोपो महीपाल सुधाशी हृद्यवाहनः' इत्यादौ रूपकमपि ।

दीर्घश्रवम इति । यशस्विन, लम्बकृष्णस्येति चार्थ । सरस्येति व्यङ्ग्योऽर्थ । अस्याप्रे 'द्रविडस्य' इति पाठो यद्यपि मूले नोपलभ्यते, तथापि नागेशविवरणानुसारं समुचितं स पाठ कल्पित इति बोध्यम् । त्वयि कोप इति । हे महीपाल राजन् । त्वयि कोप त्वद्गतं क्रोधः, सुधाशी पावक चन्द्रगताग्नि, इव, प्रतीयत इत्यर्थ । स्वकल्पितेन कविकल्पितेन । विशिष्टेन धर्मिणेति । आधेयतासम्बन्धेन सुधाशुरुपविशेषणविशिष्टपावकेनेत्यर्थ । सादृश्यस्येति । राजगतकोपानुयोगिकसादृश्यस्येति भाव । 'त्वयि हृद्यवाहन' इति । हे महीपाल ! त्वद्गत कोप सुधाशुगतपावकरूप इत्यर्थ । रूपके विम्ब-प्रतिविम्बभावो न भवति, अतः 'आत्मनोऽस्य—' इति प्रागुक्त श्लोको रूपकोदाहरण नास्ति—फलतो वाक्यगत रूपक न भवतीति दीक्षितेनोक्तं न युक्तम्, यथोरुपमानोपमेयभावापन्नपदार्थयो-
रिवादिप्रयोगदशायामुपमा भवति सादृश्यस्य वाच्यत्वात्, तयोरिवाद्यप्रयोगदशायाम् समानविभक्तिकतया एकत्र—उपमेये अन्यस्य—उपमानस्य आरोपे प्रतीयमाने रूपकं भवतीति नियमे सर्वगम्भते वर्तमाने 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवाद्यप्रयोगे रूपकमनङ्गीकुर्वता दीक्षितेन तत्रैवेवादिप्रयोगे कृते उपमाया अपि अनङ्गीकरणीयत्वात् । ननु उपमामपि नैवा-
ङ्गीकरोम्यह तन्निति यदि दीक्षित कथयेत्, तर्हि किमुत्तर भवत इति चेत् ? इदमुत्तर बोध्यम्—'त्वयि कोपो—' इत्यत्र 'हव पावक' इति पाठविशिष्टे वाक्ये भवता कण्ठरवेणो-
पमा स्वीकृता, अतः तत्रैव 'सुधाशी हृद्यवाहन' इति पाठविशिष्टे वाक्येऽकारणेनापि रूपकमपि स्वीकृतव्यमेव भवता । एवञ्च 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवादिप्रयोगे तदप्रयोगे च कमश उपमारूपके स्वीकरणीये एव भवेता भवता, तुल्यन्यायादिति । तथा च रूपकेऽपि विम्ब प्रतिविम्बभावसिद्धौ वाक्यार्थरूपक प्रागुक्तपद्यस्य तदुदाहरणत्वञ्च युक्तमेवेति भाव ।

अप्ययदीक्षित के मत का स्पष्टन किया जाता है—नेदम् इत्यादि । किसी अलङ्कारिकमध्य (अपने को अलङ्कारसाध्य का वेत्ता समझने वाले) के धोखे में आये हुए दीर्घश्रवा (यशस्वी, अथच लम्बकृष्ण—गद्हा) द्रविड (अप्ययदीक्षित) का यह कथन कि—'यह ('आत्मनोऽस्य—' यह पद्य) रूपक (रूपक का उदाहरण) नहीं है, क्योंकि रूपक में विम्ब-प्रतिविम्बभाव नहीं होता और यहाँ आत्मा तथा सूर्य आदि में विम्ब-प्रतिविम्बभाव है' श्रद्धा करने योग्य नहीं है । कारण उपमानोपमेयभावापन्न जिन दो पदार्थों में 'हव' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है, उनमें 'हव' आदि का प्रयोग न करने पर और साथ-साथ एक (उपमान) के दूसरे (उपमेय) में आरोप की प्रतीति होने पर रूपक होता है—यह नियम है । अतः यदि आप उक्त पद्य में रूपक नहीं मानते तो फिर इसी पद्य में 'हव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी आप को नहीं माननी चाहिये । यदि आप कहें कि—'मैं यहाँ 'हव' आदि का प्रयोग करने पर उपमा भी नहीं मानूँगा, तो छोटिये इस पद्य को, 'त्वयि कोपो—अर्थात् हे राजन् ! आप में कोप चन्द्र में आग की तरह है ।' इस पद्य वाक्य में कवि-कल्पित विशिष्ट—अर्थात् चन्द्र-रूप विशेषण से युक्त धर्मा—अर्थात् अग्नि के साथ राजगत कोप का सादृश्य प्रतीयमान होने के कारण आपने कण्ठर से उपमा मानी है, अब आप कहिये कि यदि इसी पद्य के

‘इय वापकः’ की जगह ‘हन्यवाहनः’ ऐसा पाठ कर दिया जाय—अर्थात् ‘हि रानन् ! आप में कोप धन्व में आगरूप है ।’ ऐसा अर्थ कर दिया जाय—तब आप उसमें रूपक मानियेगा या नहीं ? अगत्या आपको ‘हाँ’ कहना ही पड़ेगा । चस, मेरा अभीष्ट सिद्ध हो गया—अर्थात् इस स्थिति में जब आप यहाँ रूपक मान लेते हैं, तब ‘आत्मनः—’ इस पद्य में रूपक क्यों नहीं मानियेगा ? युक्ति तो दोनों ही जगहों में समान है । तात्पर्य यह कि रूपक में भी विम्ब-प्रतिविम्बभाव होता है, अतः पदार्थरूपक से भिन्न वाक्यार्थरूपक अवश्य मान्य होना चाहिये और उसका उदाहरण भी ‘आत्मनः—’ यह पद्य माना जाना चाहिये ।

वाक्यार्थरूपकस्योदाहरणान्तरमाह—

तथा—

‘कुङ्कुमद्रवलिप्लाङ्ग’ कापायवसनो यतिः ।

कोमलातपसालाभ्रः सन्ध्याकालो न संशयः ॥’

इत्यादावपि विशिष्टरूपकं बोध्यम् ।

कुङ्कुमेति । कुङ्कुमस्य केसरस्य, द्रव्येण रमेण, लिप्लानि, अङ्गानि, यस्य स, तथा— कापायं कपायरज्जुरञ्जितम्, पैरिक्वर्णमिति यावन्, वसनं नल्ल यस्य तादृशध, यतिः संन्यासी, कोमल अतीव्र, आतप, यत्र स, एषं बालं अनिविजमिन्थ्यर्ष, अन्नं मेधो यत्र स, अन्नयोर्विशेषणयोरपि सामान्यविरोपभावविवक्षया कश्चिन् कर्मधारय, अथवा कोमलातपमिति अन्नविशेषणम् तथा च कोमलातपम् इति बहुव्रीहिः कोमलेनातनेन युक्तमिति यावन् बालमध्र यत्रेति विपरीतं बोध्यं । तादृश, सन्ध्याकालस्तद्रूप इति यावन् अस्ति, अन्नं विषये संशयं न भवितुमर्हतीत्यर्थः । विशिष्टरूपकम् इति । विम्ब-प्रतिविम्बभावयुक्तरूपकमिन्थ्यर्षः । वाक्यार्थरूपकमिति भावः । यतिरूप उपमेये सन्ध्याकालरूपस्योपमानस्य शब्दोऽभेदारोप इति तद्विरूपकम्, तस्य च उपमेयविशेषणतया विम्बभूते कुङ्कुमद्रव-क्षेपे उपमानविशेषणतया प्रतिविम्बभूतस्य कोमलातपस्यार्थ आरोप इति तत् तथा तथैव युक्त्या विम्बभूते कापायवसने तथैव युक्त्या प्रति-विम्बभूतस्य बालाप्रत्यार्थ आरोप इति तच्च—रूपकद्रव्यम्—अन्नभूतम् । एतदन्नभूतरूपक-विशिष्टमुक्ताक्षररूपकम् वाक्यार्थरूपकम्—विशिष्टरूपकमिति भावः ।

वाक्यार्थरूपक का ही दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि । उसी तरह, ‘कुङ्कुमद्रव—अर्थात् केसर-रस से अनुलिप्त अङ्गोवाला तथा कापाय-वस्त्रधारी संन्यासी, हल्की धूप और छोटे-छोटे बाल-सफेद मेघोंवाला सायंकाल है इसमें कोई सम्येह नहीं’ इत्यादि में भी विशिष्टरूपक समझना चाहिये । अभिप्राय यह है कि—यहाँ यतिरूप उपमेय में सायंकालरूप उपमान का शब्दतः आरोप प्रधान रूपक है और उपमेय—विशेषण—होने के कारण विम्बभूत केसर-रस-क्षेप तथा गेरुये वस्त्र में उपमान—विशेषण—होने के कारण प्रतिविम्बभूत हल्की धूप तथा छोटे-छोटे बाल-सफेद मेघों का क्रमशः अर्थतः आरोप अङ्गरूपक है अर्थात् अङ्गभूत शब्द एक रूपक के अर्थ दो रूपक अङ्ग हैं, अतः यह पद्य विशिष्ट-रूपक (वाक्यार्थ रूपक) का उदाहरण होता है ।

‘त्वयि कोप’ इत्यतः ‘कुङ्कुम’ इत्यत्र यो भेदस्तमाह—

त्वयि कोप इत्यत्र विषयिणः स्वबुद्धिकल्पितत्वात्कल्पितं विशिष्टरूपकम् ।
इह तु न तथैव विरोपः ।

विषयिणः उपमानस्य, चन्द्राधिकरणकाम्नेरिति यावद् । स्वबुद्धिकल्पितत्वात्तिति । वास्तविके जगति तदसंभवेन कविकल्पितत्वादिति भावः । इह त्विति । ‘कुङ्कुमद्रव—’ इत्यत्र

त्वित्यर्थः । न तथेति । विषयी न स्ववुद्धिकल्पित अपि तु स्वतः संभवी, अतो न कल्पितं विशिष्टरूपकमिति भावः ।

'स्वयि कोप' और 'कुङ्कुम' इन दोनों उदाहरणों में परस्पर भेद दिखलाया जाता है—स्वयि हूयादि । 'स्वयि कोप' इस उदाहरण में उपमान (चन्द्र में अग्नि) कविकल्पित है, अतः वहाँ का विशिष्टरूपक भी कल्पित कहा जायगा और 'कुङ्कुम' इस उदाहरण में उपमान (सन्ध्याकाल) कविकल्पित नहीं, अपितु स्वतः संभवी है, अतः वहाँ का रूपक कल्पित नहीं कहा जायगा यही दोनों उदाहरणों में भेद है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चैवमादौ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वक्तुं शक्या, अभेदस्य निश्चीयमानत्वात् । उत्प्रेक्षार्यां च सत्या सम्भाव्यमानता स्यात् । अन्यथा मुखं चन्द्र इत्यादावपि प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्त्या रूपकविलोपापत्तेः ।

एवमादाविति । आत्मनोऽस्येत्यादावित्यर्थः । इवाद्यप्रयोगात् आह—प्रतयेति । अन्यथेति । तस्य समाव्यमानत्वे इष्टापत्तौ इत्यर्थः । 'सम्भावनमयोत्प्रेक्षा' इति लक्षणा-तुसास्मुत्प्रेक्षास्यलेऽभेद सम्भाव्यमानस्तिष्ठतीति निश्चितम्, एवञ्चात्मनोऽस्येत्यादौ व्यङ्ग्यो-त्प्रेक्षेति कथन नोचितम्, तत्राभेदस्य निश्चीयमानत्वात् । न च सम्भाव्यमान एवाभेदस्तत्रेति दुराग्रह, तथा सति 'मुख चन्द्र' इत्यादिषु सर्वेषु रूपकोदाहरणेषु तादृशदुराग्रहसम्भवेन प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्तौ रूपकोच्छेदापत्तेरिति भावः ।

एक शका और उसका समाधान करते हैं—न चैवम् इत्यादि । 'आत्मनोऽस्य—' इत्यादि पदों में व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा ही मान ली जाय, रूपक नहीं, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ अभेद का निश्चय है, उत्प्रेक्षा यदि होती तो अभेद का निश्चय नहीं, संभावना रहती है । यहाँ भी अभेद की संभावना ही है ऐसा दुराग्रह तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि इस तरह 'मुख चन्द्र है' इत्यादि सभी रूपकोदाहरणों में 'अभेद संभावना' का दुराग्रह किया जा सकता है जिससे सर्वत्र प्रतीयमान उत्प्रेक्षा ही हो जायगी, फिर रूपक का तो कविजगत् से उच्छेद ही हो जायगा ।

अथ रूपकालङ्कारविशिष्टापदाद् वाक्याद्वा जायमान बोध विचारयितुं प्रतिजानीते—

अथ बोधो विचारयते—

रूपकालङ्कारलक्षणोदाहरणादीना निरूपणानन्तर रूपकविशिष्टपदजन्यबोधविषयको विचार आरभ्यत इति भावः ।

अथ रूपकस्थलीय शब्दबोध का विचार किया जाता है ।

तत्र प्राचीनमतमाह—

तत्र प्राञ्चः—“विषयिवाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयो-पस्थितौ, विषये तस्याऽभेदेन ससर्गेण विशेषणतयाऽन्वयः । एवं च मुख चन्द्र इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति धीः । अत एवालङ्कारभाष्यकारः 'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकम्' इत्याह । न च चन्द्रसदृशं मुखमित्युपमातोऽस्य को भेदः । बोधवैलक्षण्याभावेन विच्छिन्नवैलक्षण्याभावात् । वृत्तिमात्रवैल-क्षण्यास्याप्रयोजकत्वादिति वाच्यम् । लाक्षणिकबोधोत्तरं जायमानेन प्रयोजनी-भूतेनाभेदबोधेनैव वैलक्षण्यात् । निरूढलक्षणातिरिक्त्या लक्षणायाः प्रयोजन-यत्नानियमात् । अभेदवुद्धेश्च पृथन्तरवृत्तिभाव्यत्वेन न बाधवुद्धिप्रतिबध्य-त्वम्” इत्याहुः ।

तत्रेति । बोधविषय इत्यर्थः । विषयोति । उपमानेत्यर्थः । आरोपस्य विप्रवि-विषययो-
र्द्वयोरुपादानादाह—सारोपेति । उपस्थितौ सत्यामिति शेषः । विषय इति । उपमेय
इत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकविशिष्टे उपमेये इति स्पष्टार्थः । तस्येति । पूर्वोपस्थितस्योपमान-
वृत्तिगुणवत् इत्यर्थः । 'लक्षणापरमार्थम्' इति । यावता वारणेन लक्षणा एव परमं—
साराशभूतः अर्थो यत्र तादृश तद् वस्तु तावता—तेन वारणेन, रूपकम् = रूपकपदेन तस्य
वस्तुनो व्यवहार इत्यर्थः । रूप्यते = आरोप्यते इति व्युत्पत्तियोगादिति भावः । वृत्तीति ।
शकिलक्षणान्यतरेत्यर्थः । वृत्त्यन्तरवित्तीति । व्यञ्जनाज्ञानेत्यर्थः । आहुरिति । अत्र नायेराः—
'एतन्मते ह्येवं रूपकलक्षणम्—अनिहुतविषयकं पुरस्कृतविषयतावच्छेदकं वा आहार्याभिद-
प्रतीतिफलकोपमानबोधकपदजन्यप्रतीतिविषयीभूतम् साधर्म्यमिति' इत्याचष्टे । रूपकस्थले
सर्वत्रोपमानवाचकस्य पदस्य स्ववृत्तिगुणवति सारोपा लक्षणा भवत्येव, अभेदेन वाच्यार्थान्वयस्य
आधितत्वात् । तथा चोपमानबोधकपदादुपस्थितस्य स्ववृत्तिगुणवद्रूपस्यार्थस्याभेदसम्बन्धे-
नोपमेये विशेषणविधयाऽन्वयो भवति । तेन 'मुखं चन्द्र' इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणा आह्लाद-
कत्वादयस्तद्वदभिन्नं मुखमिति बोधः फलितः । 'लक्षणापरमार्थम्—' इति वरताऽ-
लङ्कारभाष्यकृतापि रूपके लक्षणास्थितिः समर्थिता भवति नन्वेव 'चन्द्रसदृशं मुखम्'
इत्युपमापेक्षया रूपकैऽस्मिन् को भेदः ? सादृश्यस्यापि तद्विभक्त्यै सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व-
रूपतयोपमास्यतेऽपि रूपकस्यलक्षणाकारकबोधस्यैव जायमानत्वेनोभयोः स्थल्योर्बोधवै-
लक्षण्यविरहेण चमत्कारवैलक्षण्यविरहे एकत्वस्यैव पर्ययसानात्, न न वृत्तिवैलक्षण्यकृत-
मुपमारूपकयोर्वैलक्षण्यम्—अर्थात् उपमास्थले चन्द्रवृत्तिगुणवतोऽभिधयोपस्थिति रूपके
तु तस्योपस्थितिलक्षण्येति वाच्यम्, चमत्कारे भेदाभावेन तस्य वैलक्षण्यस्यात्रिविकर-
त्वात् इति चेन्मैवम्, अभिधालक्षणान्यतरजन्यप्रायमिकबोधेऽविलक्षण्येऽपि रूपकस्थले
निवृत्त्वस्यासम्भवेन प्रयोजनमूल्यया एव लक्षणाया अस्तीकृतान्यतया उक्तप्रायमिकबोधा-
नन्तरं नियमतो जायमानेन प्रयोजनात्मकेनोपमानोपमेययोरभेदस्य प्रत्ययेन उपमापेक्षया-
धिकचमत्कारकरणेन वैलक्षण्यस्य सिद्धेः । उपमास्थले उपमानोपमेययोः समानगुणवत्त्वस्यैव
प्रतीतिः, रूपकस्थले तु तयोरभेदस्यापि प्रतीतिरिति तयोर्भेद इति साराशः । न च 'मुखं
न चन्द्र' इति बाधबुद्धौ विद्यमानाया कथं तयोरभेदः प्रत्येत्तु शक्यः, तदभेदबुद्धिं प्रति
तदभेदविषयकबाधबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम्, बाधबुद्धिप्रतिबन्धतावच्छेदकदले
व्यञ्जनाज्ञानजन्यत्वस्य निवेशेन व्यञ्जनाजन्यस्य तयोरभेदप्रत्ययस्य मुक्तक्यत्वादिति
प्राचानालङ्कारिकाणामभिप्रायः ।

रूपकस्थलीय शाब्दबोध के विषय में प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—तत्र
प्राज्ञः इत्यादि । सभी रूपकों में उपमानवाचक पद की 'स्ववृत्तिगुणवत्' (अपने में रहने
वाले गुणों से युक्त) अर्थ में सारोपा लक्षणा हुई ही रहती है, अतः सर्वत्र उपमानवाचक
पद से लक्षणा द्वारा 'स्ववृत्तिगुणवत्' अर्थ की उपस्थिति होती है और उस उपस्थित
अर्थ का उपमेय में अभेदसम्बन्ध द्वारा विशेषण रूप से अन्वय होता है । इस तरह से
'मुखं चन्द्र है' इस रूपकस्थल में लक्षणा द्वारा चन्द्ररूप उपमानवाचक पद से उपस्थित
रूप 'चन्द्रवृत्तिगुणवत्'—(चन्द्र में रहने वाले आह्लादकता आदि गुणों से युक्त) रूप
अर्थ का अभेदसम्बन्ध द्वारा मुख-रूप उपमेय में विशेषणरूप से अन्वय होगा, अतः
उक्त रूपकवाक्य का शाब्दबोध—'चन्द्र में रहने वाले गुणों से युक्त से अनिन्न मुख'
यह होता है । अतएव अलंकारभाष्यकार ने कहा है कि—'जिस लिये लक्षणा ही परम
अर्थ—सारभूत तत्र—रहता है, इसीलिये रूपक कहलाता है ।' साधर्म्य यह कि—'रूप्यते=

आरोप्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रूपक' पद का भी अर्थ 'आरोप-लक्षणा' ही होता है। यदि कोई कहे कि—इस तरह का बोध मानने पर 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा से उक्त रूप का क्या भेद हुआ ? क्योंकि बोध में विलक्षणता न होने से चमत्कार में विलक्षणता न होगी, अभिप्राय यह कि—सादृश्य का अर्थ भी 'उससे भिन्नता रखते हुए उसमें रहने वाले गुणों से युक्त होना ही होता है इस स्थिति में उक्त रीति से रूपकस्थल में जैसा बोध होता है वैसा ही उपमास्थल में भी होगा और जब बोध एक तरह का होगा तब चमत्कार भी दोनों जगहों पर एक ही तरह का मानना पड़ेगा। और जब तक चमत्कार में विलक्षणता न हो तब तक भिन्न अलंकार माना नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि बोध के एक होने पर भी, उपमा में वह बोध अभिधा द्वारा सिद्ध होता है और रूपक में लक्षणा द्वारा, अतः वृत्ति के भेद के कारण उपमा तथा रूपक में भेद हो जायगा। तो यह कथन कुछ मूल्य नहीं रखता। कारण, केवल वृत्ति के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध नहीं होता। सारांश यह कि चमत्कार के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध होता है और वृत्ति-भेद होने पर भी चमत्कार में कोई अन्तर पड़ता नहीं। उक्त 'उपमा और रूपक में क्या भेद हुआ ?' इस आशंका का उत्तर यह है—लक्षणा द्वारा बोध हो जाने के बाद रूपकस्थल में लक्षणा के फल—अभेद (उपमान का उपमेय में अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है, और उपमास्थल में यह वैयञ्जनिक अभेद-बोध नहीं होता, बस, इसी वैयञ्जनिक बोध के होने तथा न होने से चमत्कार में अन्तर पड़ जाता है और यही अन्तर उपमा तथा रूपक को भिन्न-भिन्न अलंकार सिद्ध कर देता है। आप कहेंगे—रूपक-स्थल में लक्षणा होने से फलीभूत अभेद की प्रतीति क्यों मानी जाय ? तो इसका समाधान यह है कि—रुद्रिमूला से भक्तिरिक्त सभी लक्षणाओं में प्रयोजन—फल—होना ही चाहिए ऐसा नियम है और रूपक में रुद्रिमूला नहीं, अपितु उससे अन्य (सारोपा) लक्षणा ही होती है, अतः फलीभूत अभेद-बोध अवश्य मानना पड़ेगा। अब शका रह जाती है एक यह कि जब 'मुख चन्द्र नहीं है' ऐसा बाधनिश्चय (मुख में चन्द्र से भिन्नता का निश्चय) है, तब अभेदबोध होगा कैसे—चन्द्र से अभिन्न मुख को समझ कैसे सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि रूपकस्थल में अभेद का बोध व्यञ्जना के ज्ञान से होता है और वैयञ्जनिक बोध में बाध का अभाव अपेक्षित नहीं होता अर्थात् बाध रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता ही है। स्पष्टार्थ यह है कि—बाध निश्चय की प्रतिबन्धिता के अवच्छेदक भाग में वैयञ्जनिक बोधभिन्नत्व का निवेश किया जाता है अर्थात् वैयञ्जनिक बोध से भिन्न बोध के प्रति ही बाधनिश्चय को प्रतिबन्धक माना जाता है, अतः बाध-निश्चय के रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता है। यह है प्राचीन आलंकारिकों का मत।

तत्रैव नवीनमतमाह—

नव्यास्तु—“नामार्थरोरभेदमसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्न मुखमिति लक्षणा विनैव बोधः। फलस्यान्यथैवोपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याप्यत्वात्। किञ्च यदि च रूपके लक्षणा स्थान्मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयोरुत्तरपदस्य लाक्षणिकत्वाविशेषादेकस्योपमात्वमन्यस्य रूपकत्वमिति व्याहृतं स्यात्। अपि च मुखं न चन्द्रसदृशमपि तु चन्द्र इत्यादौ सादृश्यव्यतिरेकमिश्रिते सादृश्यबुद्धेरयोगात्। एव देवदत्तमुख चन्द्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा, अपि तु चन्द्रसदृशमित्यादौ नवार्थस्य लक्ष्यमाणचन्द्रसदृशान्वयित्वात् 'न चन्द्रसदृशश्चन्द्रसदृशम्' इति बोधकदर्थनापत्तेश्च। नहि नवः फलीभूतज्ञानविषयेणाभेदेनान्यथो युक्तः, एतदन्वयवैलायां तस्यानुपस्थितेः। तादृशाभेदबोधस्य चाहार्यत्वात् बाधबुद्धिप्रतिबन्धत्वम्। यदा आहार्यान्यत्वस्येव शान्दान्यत्वस्यापि

बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ निवेशः । सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्द-
बुद्धेरनुत्पादः, योग्यताज्ञानविरहात् । सति च क्वचिदाहार्यं योग्यताज्ञाने तद्वबुद्धे-
रिष्टत्वात् । अत एव योग्यताज्ञानस्य बाधनिश्चयपराहृतस्यापि शाब्दधीहेतुत्वम् ।
तस्मादन्यतरप्रकारेण काव्ये सर्वत्र बोधोपपत्तिः । अपि च तद्गतधर्मवत्त्वरबुद्धेः
कथं तदभेदबुद्धिः फलं स्यात् । नहि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य
तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं काव्यवगतम् । घटपटयोर्द्रव्यत्वेना-
भेदप्रदेऽपि घटत्वादिना भेदप्रहात् । तदभिन्नत्वेन ज्ञानस्य पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्तिः
फलं स्यात् । प्रवाहाभिन्नज्ञानस्येव शैत्यपावनत्वादिप्रतिपत्तिः ।

अत एव—

‘कृपया सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम् ।

जगज्जीवन तेनाहं जीविष्यामि न संशयः ॥’

इत्यादावमृताभिन्नत्वबोधे सत्प्रेष कृपायाः सेके कारणत्वेनान्वयः । तादृशसेकस्य
जीवने हेतुत्वेन इति दिक् ।

फलस्येति । अभेदबुद्धेरित्यर्थः । अन्यथैवेति । उक्तप्रकारेणेत्यर्थः । उपमितविशेषण-
समासयोरिति । ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ ‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’
इत्याभ्यां पाणिनिसूत्राभ्यां कृतयोः समासयोरित्यर्थः । साधुणिकत्वाविशेषाविति । समास-
शास्त्राणां लक्षणाप्रादुर्भाव इति वदता नैयायिकानां मतमनुसृत्येदम् । अतिरिक्तसमास-
शक्तिमद्गोचरता वैयाकरणानां मते तु रूपकत्वनियामकविशेषणसमासे लक्षणासत्त्वेऽपि उप-
मितसमासे समासशक्त्यैव तादृशार्थबोधे लक्षणा नेति बोध्यम् । एकस्योपमितसमासस्य ।
अन्वयस्य विशेषणसमासस्य । सादृश्यव्यतिरेकेति । सादृश्यभेदेत्यर्थः । न तथेति । न चन्द्र
इत्यर्थः । सदृश इति । सुखपदार्य इति शेषः । बोधकदर्शनेति । बोधोपहास इति भावः ।
ननः ननर्थस्य । फलीभूतज्ञानविषयेणेति । वैयङ्गनिकबोधविषयेणेत्यर्थः । एतदिति ।
ननर्थेत्यर्थः । तस्य अभेदस्य । ननु बाधमत्त्वेन कथमीदृशाभेदबोध इत्यत आह—तादृशेति ।
इदं च शाब्दबोधे बाधज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वमद्गोकृत्य । वस्तुतस्तदेव नेत्याह—यद्वेति ।
नन्वेवं बाधनिश्चयप्रतिबध्यता शाब्दबोधविरहोऽनुभवसिद्धो गोपपद्यत इत्यत आह—सति
चेति । बुद्धेरनुत्पाद इति । अत्र नागेरा —‘इदं तु चिन्त्यम् । शाब्दबोधो हि भवत्येव ।
अत एव बहिना सिञ्चतीति वाक्यप्रयोजुरद्रवेण बहिना कथं सेकं ब्रवीषीत्युपहासः । संग-
च्छते । श्वबोधे हि एतदर्थंन्द्रविडभाषाभ्रवणोत्तर पाठ्यात्यस्येव मूकतैव स्यात् । ननु
पदार्यस्मरणमेव न शाब्दबोध इति चेत्, विमनेन श्रद्धाजाड्येन । बाधज्ञानादीनां च तद्दो-
षेऽप्रामाण्यज्ञानजननद्वारा प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वम्, योग्यताज्ञानादीनां च तत्त्वन्कत्वमेव नेति
रमणीयं पन्थाः ।’ इति रमणीयतममाचष्टे । अत एवेति । बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छे-
दककुक्षौ शाब्दान्यन्वनिवेशादेवेत्यर्थः । एतदन्यतरप्रकारेणेति । शाब्दबोध एवाहार्यः,
अथवा बन्धनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यन्वं निवेश्य योग्यताज्ञानमाहार्यम् इत्य-
न्योरेकतरेण प्रकारेणेत्यर्थः । अभेदप्रदेऽपीति । अत्र नागेरा —‘अन्ये तु चमत्कारिसाधा-
रणधर्मरूपसादृश्यज्ञान एव फलवत्प्रतया शक्तिरूपेणैव नाय दोष इत्याहुः ।’ इति कथञ्चित्
प्राचीनमतं समर्थयन् दृश्यते । प्रतिपत्तिरिति । फलमित्यस्यानुपपत्तः । अत एवेति । रूपक-
स्थले वाच्ययोरेवाभेदादेवेत्यर्थः । ‘कृपया—’ इति । हे जगज्जीवन ससारप्राणप्रद, हरे विष्णोः

तापमूर्च्छितं क्लेशशीडितम्, माम्, कृपया मुधया दयारूपपीयूषेण, सिद्ध आर्द्राङ्कुर ।
 तेन कृपासुवाकरणेन सेकेन, अहम्, जीविष्यामि क्लेशरहितो भविष्यामि, अत्र, संशयो
 नास्तीत्यर्थः । रूपकस्थले—‘मुखं चन्द्र-’ इत्यादौ—उपमानोपमेययो—चन्द्रमुखादिकयोर्भेदो
 दुबोधयिषितः, स च प्रथमं लक्षणया ‘चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखं’मिति बोधेऽपि पश्चात् व्यञ्जनया
 बोध्यते—इति प्राचीना मन्यन्ते । नवीनास्तु ‘नामार्थयोरभेदातिरिक्तं सम्बन्धोऽव्युपपन्नं’ इति
 सिद्धान्ते जाप्रति ‘चन्द्राभिन्नं मुखम्’ इति प्रथममेवाभिधयैव च बोधे सम्भवति लक्षणा-
 धरणं व्यर्थं मन्यन्ते । ननु ‘मुखं न चन्द्र’ इति बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् कथं
 तादृशाभेदबोध इति चेन्न, तादृशाभेदबोधस्याहार्थत्वस्वीकारेण बाधनिश्चयाप्रतिबन्धत्वात्,
 बाधनिश्चयप्रतिबन्धत्वावच्छेदकद्वोटौ अनाहार्यत्वस्य निवेशात् । न चाहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति
 नियमः, तस्यास्वीकारात् । अथवाऽस्तु स नियमः । बाधनिश्चयप्रतिबन्धत्वावच्छेदकदलेऽ-
 नाहार्यत्वस्यैव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशः, तेनैवोक्ताकारको बाधपरारहतोऽपि शाब्दाभेद-
 बोधो जायते । न चैव सति बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधस्यापि अनुत्पत्तिरिति यदनुभव-
 मिदं तद् विरुद्धमेवेति वाच्यम्, बाधनिश्चयदशायां न सर्वविधशाब्दबोधानुत्पत्तिः, अपि
 तु तद्वत्ताशाब्दबोधमात्रानुत्पत्तिः, सापि न बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वेन, अपि तु—
 ‘पदार्थे तत्र तद्वत्ता यौग्यता परिकीर्तिता’ इति लक्षणलक्षितायां यौग्यतायां ज्ञानस्य
 तद्वत्ताशाब्दबुद्धौ कारणत्वे तद्विरुद्धेऽप्येत्याशयात् । अत एव यौग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे
 कारणत्वोक्तिः सगच्छते । बाधनिश्चयप्रतिबन्धत्वावच्छेदकदले शाब्दान्यत्वानिवेशो तु तत्र-
 प्रतिबन्धकत्वेनैव बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधे चारिते तदुक्तिरसगतैव स्यात् । न चैवमपि
 नोक्तस्थले शाब्दाभेदबोधः सम्भवति यौग्यताज्ञानविरहादिति शक्यम्, आहार्ययौग्यता-
 ज्ञानसाम्राज्यात् । एवञ्च शाब्दबोधस्यैवाहार्यत्वस्वीकारेण, तदस्वीकारे वा बाधनिश्चयप्रति-
 बन्धत्वावच्छेदकद्वोटौ शाब्दान्यत्व निवेशादहार्ययौग्यताज्ञानस्वीकारेण काव्ये सर्वत्र
 बाधितार्थविषयकोऽपि शाब्दबोधः उपपद्यत एव । इत्यत्र नवीनमतमेव सम्यक् न प्राचीन-
 मतम्, तन्मते मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयोः उत्तरपदस्य स्वसदृशे लाक्षणिकत्वा-
 विशेषेण प्रथमस्योपमात्वं द्वितीयस्य च रूपकत्वमिति प्रवादस्य व्याहृतत्वात्, ‘मुखं न
 चन्द्रसदृशम् अपि तु चन्द्र’ इति सादृश्यभेदविशिष्टे रूपके प्राचीनं चिकीर्षितस्य चन्द्र-
 पदजन्यतत्सादृश्यबोधस्यायुक्तत्वात् तत्सादृश्यस्य प्रथममेव शब्दतौ निषेधात्, ‘देवदत्तमुखं
 चन्द्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा अपि तु चन्द्रसदृशम्’ इत्यादौ नवर्यस्य चन्द्रपदलक्ष्य-
 चन्द्रसदृशरूपार्थे एवान्वये ‘न चन्द्रसदृशं चन्द्रसदृशम्’ इत्युपहासात्पदबोधप्रसङ्गाच्च ।
 किञ्च ‘मुखं चन्द्र’ इत्यादौ लक्षणया प्रथमं चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वं मुखे प्रतीयते पश्चाच्च
 लक्षणाफलीभूतचन्द्राभेदो मुखे व्यञ्जनया प्रतीयते इत्यभिप्रायोऽपि प्राचाम् न सेद्भु-
 मर्हति । व्याप्यसत्तायां विद्यमानायां व्यापकतायां नियमतास्तिष्ठति, न तु व्यापक-
 ततायां सत्यामपि व्याप्यसत्ता तथा । तथा च कथं चन्द्रगतधर्मवृद्धेर्मुखविशेषिकाया-
 फलम् मुखविशेषिका चन्द्राभेदबुद्धिः स्यात् ? साधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य
 व्यापकत्वेन असाधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य च व्याप्यत्वेन प्रथमज्ञानसत्त्वेऽपि
 द्वितीयज्ञानसत्तायां अनियमान् । अत एव घटपटयोः साधारणात्मकेन द्रव्यत्वेना-
 भेदज्ञानेऽपि असाधारणात्मकेन घटत्वादिना जायमानो भेदग्रहः सगतो भवति ।
 अत एवमास्थेयं यत् प्रायुक्तनवीनमतानुसारेण प्रथमं चन्द्राभेदज्ञानं मुक्ते भवति
 तस्य च फलरूपेण पश्चात् व्यञ्जनया चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वज्ञानं मुक्ते जायते इति ।

एतच्च संभवत्यपि व्याप्ये चन्द्रभेदज्ञाने जाते व्यापकस्य चन्द्रगतसाधारणवर्गवन्वज्ञानस्य नियतत्वात् । नवीनमतस्वीकारादेव च 'कृपया मुख्या—' इत्यत्र कृपाशुभयोर्भेदे बान्धव-
शुभैवावगते कृपायाः सेके करणत्वेन कृपाकरणकर्मकस्य च जीवने हेतुत्वेनान्वय उपपद्यते ।
प्राचीनमताङ्गीकारे तु शुभाग्रहसौ कृपेति बोधे कृपायाः करणत्वेन सेके तादृशसेकस्य च
हेतुत्वेन जीवनेऽन्वयो नैवोपपद्येत तत्सदृशज्ञानात् तत्कार्योत्पत्तेरनुभवविद्वत्त्वादिति भावः ।

अब रूपकस्थलीय शब्दबोध के विषय में नवीनों का मत दिनछाया जाता है—
नव्याम्बु इत्यादि। दो प्रातिपदिकों के अर्थों का अभेद सम्बन्ध से अन्वय श्रुतपत्तिसिद्ध है—
उसको सिद्ध करने के लिये किमी अन्य युक्ति की आवश्यकता नहीं। अतः 'मुख चन्द्र है'
इस वाक्य का शब्दबोध—'चन्द्र से अभिन्न मुख' यह होता है। यहाँ लक्षणा मानने की
कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस अभेद की आप लक्षणा का प्रयोजन मानते हैं वह
जब अपकार—अर्थात् आदि—में स्वतःसिद्ध हो जाता है तब उसके लिये लक्षणा की
व्यवस्था करना न्यायानुसूल नहीं माना जा सकता। दूसरे, लक्षणा मानने में कई एक दोष
भी हैं। यदि रूपकस्थल में लक्षणा हो तो १—'मुखचन्द्र' इस स्थल में 'उपमित-
समास' करने पर अथवा 'विशेषण समास' करने पर आपके हिसाब से उत्तरपद लक्ष-
णिक ही रहेगा फिर जो एक (उपमित-समास) को उपमा और दूसरे (विशेषण-
समास) को रूपक माना जाता है वह व्याहृत—असंगत—ठा जायगा। अनिप्राय यह है
कि—'मुखं चन्द्र इव' इस विग्रह में जब 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस
पाणिनि-सूत्र में समास करके 'मुख-चन्द्र' पद को सिद्ध करते हैं तब उपमा अलंकार यहाँ
माना जाता है और 'मुख चन्द्र' इस विग्रह में जब 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इस
पाणिनि सूत्र में समास करके उक्त पद को घनाते हैं तब यहाँ रूपकालंकार माना जाता
है। यह है वस्तुस्थिति। अब यदि प्राचीनों के कथनानुसार रूपकस्थल में लक्षणा मानी
जाय तब तो उक्त उपमित-समास तथा विशेषण-समास में कोई अन्तर नहीं रह जायगा,
योंकि उपमित समास में जिस तरह उत्तर—चन्द्र—पद की स्वमदश में लक्षणा होने के
कारण 'चन्द्र-मदश मुख' यह अर्थ होता है उसी तरह आपके हिसाब से विशेषण-समास
में भी उक्त पद की उक्त अर्थ में लक्षणा होने के कारण वैसा ही अर्थ होगा फिर प्रथम को
उपमा और द्वितीय को रूपक कहने में कोई युक्ति नहीं रह जायगी। और २—'मुख
चन्द्र सदृश नहीं है, किन्तु चन्द्र है' इत्यादि—जहाँ सादृश्य का निषेध भी मिश्रित रहता
है—रूपकों में लक्षणा वाली प्राचीनों की बात चल नहीं सकती, क्योंकि 'किन्तु चन्द्र है'
इस अर्थ में 'चन्द्र' पद की चन्द्रमदश में ही लक्षणा मानने पर वह ठीक होगी नहीं।
कारण जिस मुख में चन्द्रतः पहले चन्द्रसादृश्य का निषेध किया गया हो उसी मुख में
लक्षणा द्वारा चन्द्रसादृश्य की बुद्धि हो नहीं सकती। इसी तरह, ३—'देवदत्त का मुख
चन्द्र ही है, यज्ञदत्त का मुख तो वैसा नहीं है, किन्तु चन्द्र के सदृश है' इत्यादि स्थानों में
आपके हिसाब से प्रथमवाक्यांशगत चन्द्रपद का अर्थ लक्षणा द्वारा चन्द्रसदृश होगा,
अतः द्वितीय-वाक्यांशगत 'वैसा नहीं है' का अर्थ होगा 'चन्द्रमदश नहीं है'—अर्थात्
नअर्थ का अन्वय चन्द्र पद के लक्ष्यार्थ—चन्द्रसदृश—के साथ ही होगा, अब यदि तृतीय
वाक्यांश के साथ मिलाकर अर्थ करें तो 'जो चन्द्रसदृश नहीं वह चन्द्रसदृश' ऐसा ही
अर्थबोध होगा, पर यह तो कोई बोध हुआ नहीं, अपितु बोध का केवल उपहास हुआ।
यदि आप कहें कि—नअर्थ का अन्वय चन्द्रसदृशरूप लक्ष्य अर्थ के साथ न करके लक्षणा
के प्रयोजनीभूत ज्ञान में विषय होने वाले 'अभेद' के साथ करेंगे—अर्थात् नअर्थ का
अन्वय व्यङ्ग्य 'अभेद' के साथ करके 'वैसा नहीं है' का अर्थ हम यह करेंगे कि 'चन्द्रा-
भिन्न नहीं है', अतः कोई गड़बड़ नहीं होगी, तो यह युक्ति भी आपकी कार्यकर नहीं
हो सकती, क्योंकि इस वाच्य नअर्थ का अन्वय करते समय उस व्यङ्ग्य 'अभेद' की उप-
स्थिति ही नहीं हुई रहेगी, फिर उसके साथ इसका अन्वय हो नहीं सकेगा। तात्पर्य

यह हुआ कि—पूर्वकालोपस्थित वाच्य अर्थ का अन्वय पीछे उपस्थित होने वाले शब्द अर्थ के साथ किया ही नहीं जा सकता। आप कहेंगे—‘मुख चन्द्र है’ इस जगह जो नवीन विद्वान् सीधे अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके ‘चन्द्र से अभिन्न मुख’ ऐसा अर्थ कर लेते हैं वह होगा कैसे? क्योंकि ‘मुख चन्द्र से भिन्न है’ इस प्रकार का बाध-ज्ञान पहले से स्वरूप में बना रहता है और बाधित अर्थ का बोध होता नहीं। कारण, उस तरह के अर्थ-बोध के प्रति बाधज्ञान को प्रतिबन्धक माना गया है तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ का ‘चन्द्राभिन्न मुख’ यह बोध आहार्य (बाधकालिकइच्छा-जन्य) है और आहार्य बोध बाधज्ञान से शकता नहीं, क्योंकि आहार्य से भिन्न बोध के प्रति ही बाध-ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाता है। इस पर यदि आप कहें कि—प्रात्यक्षिक ज्ञान ही आहार्य होता है, शब्द ज्ञान नहीं, फिर उक्त बोध को आहार्य कैसे माना जा सकता है? क्योंकि उक्त बोध प्रात्यक्षिक नहीं, शब्द है, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—उक्त बोध को आहार्य मत मानिए, तथापि उक्त बोध बाध-ज्ञान से प्रतिबद्ध नहीं होगा—क्योंकि जिस तरह बाध-ज्ञानीय-प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में अनाहार्यत्व का निवेश है उसी तरह शब्दान्यत्व का भी निवेश कर दिया जायगा—अर्थात् शब्दबोधोपाति-रिक्त बोध के प्रति ही बाध ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जायगा, अतः बाधित अर्थ का भी शब्दबोध होने में कोई हकावट पैदा नहीं हो सकेगी। इस पर यदि आप कहें कि बाध ज्ञानीय-प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में अगर शब्दान्यत्व का निवेश कर दिया जायगा तब बाधनिश्चय के रहने पर शब्दबोध का न होना जो अनुभव-सिद्ध है उसका क्या होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि बाध-निश्चय के रहने पर सभी तरह के शब्दबोधों का न होना अनुभव-सिद्ध नहीं है, अपि-तु तद्धता-शब्दबोध—अर्थात् ‘घर में घट नहीं है’ इस प्रकार का बाध रहने पर ‘घट वाला घर’ ऐसे शब्दबोध का न होना ही केवल अनुभव-सिद्ध है और वह भी बाध-ज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण नहीं, अपितु ‘पदार्थ तत्र तद्धता योग्यता परिकीर्तिता’ इस योग्यता के ज्ञान का अभाव रहने के कारण। इस स्थिति में यदि कहीं आहार्ययोग्यता-ज्ञान हो जाता है तब वहाँ तद्धता शब्दबोध भी होता ही है—यही दृष्ट है। अतएव (बाधनिश्चय प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में शब्दान्यत्वनिवेश करने से ही) शब्दबोध के प्रति योग्यता ज्ञान को कारण मानना भी शब्दिकों का सगत होता है। अभिप्राय यह कि यदि बाधनिश्चय प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में शब्दान्यत्व का निवेश नहीं किया जाय तब तो बाधनिश्चय से ही वह शब्दबोध—जिसको योग्यताज्ञान की कारणता से शकता कहेंगे—रुक् चन्द्र, फिर योग्यताज्ञान को शब्दबोध के प्रति कारण मानना असगत ही होगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि शब्द अभेदबोध को आहार्य मान कर अथवा योग्यताज्ञान को आहार्य मान कर—दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से, काव्य में, सर्वत्रबाधित अर्थ का भी बोध बन सकता है। यहाँ नागेशभट्ट ने एक भिन्न ही सिद्धान्त स्थिर किया है और वह सिद्धान्त तर्कसगत भी प्रतीत होता है। उनका कथन है कि—“बाधित अर्थ का भी शब्दबोध होता ही है। अतएव तो ‘भाग से सींचता है’ इस उक्ति को सुन कर श्रोता के द्वारा वक्ता का उपहास—‘ओ महाशयजी! भाग क्या कोई तरह पदार्थ है जो आप उससे सींचने की बात करते हैं’—सगत होता है। यदि उक्त वाक्य से बोध ही न होता तब तो जैसे इसी अर्थ वाला द्रविड भाषा का वाक्य सुनकर कोई भी पश्चिमभारतीय लुप हो जाता है वैसे श्रोता लुप हो जाता—उक्त उपहास नहीं करता। उक्त वाक्य के श्रवण से उन पदार्थों का केवल स्मरण होता है, अतएव उक्त उपहास सगत ही है—अर्थात् उस तरह के वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थबोध नहीं ही होता। यह कथन तो केवल प्राचीनों के प्रति अन्धधृष्ट है—जड़ता है। तात्पर्य यह कि पदार्थ स्मरण होता है पर वाक्यार्थबोध नहीं होता यह अयुक्तिक सिद्धान्त है। अतः यह मानना चाहिए कि—बाधित अर्थ का भी शब्दबोध होता ही है। बाध निश्चय

उस बोध में अप्रामाण्य-ज्ञान करा कर वाचित अर्थ वाले वाक्य से ज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति को रोकते हैं, अर्थात् वाचनिय प्रवृत्ति प्रतिबन्धक होते हैं, शब्दबोध-प्रतिबन्धक नहीं, और योग्यताज्ञान शब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं है। यही भाग सुन्दर है !”
 ४—उत्पत्ता मानने में एक यह भी दोष है कि—तत्सादर्य का अर्थ है ‘उस वस्तु में रहने वाले धर्म से युक्त होता’ इस बोध का फल ‘उसके अभेद का बोध’ कैसे हो सकता है ? कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि—साधारणधर्मों से युक्त पदार्थों के अभेद का ज्ञान उन-उन वस्तुओं के असाधारणधर्म से युक्त पदार्थ के अभेद ज्ञान का कारण होता हो। देखा तो यही जाता है कि—बड़े और कपड़े में द्रव्यस्वरूप साधारणधर्ममूलक अभेद ज्ञान होने पर भी ‘घटत्व’ और ‘पटत्व’रूप असाधारणधर्म-मूलक भेद-ज्ञान होता ही है। हाँ, बलदा यह हो सकता है कि—उससे अभिन्न समझने का फल उसके धर्मों का वहाँ रहना समझा जाय, जैसे ‘गंगायां पोष’—अर्थात् गंगा पर ज्ञान है’ इस वाक्य से कल्पना द्वारा जब प्रवाह और तट को अभिन्न समझ लिया जाता है तब प्रवाह के धर्म-शीतलता तथा पवित्रता आदि—का ज्ञान में भी ज्ञान होता है। सारांश यह है कि—किसी व्याप्यधर्म से युक्त होने का ज्ञान जहाँ होता है वहाँ उस व्याप्यधर्मपिचया व्यापक-धर्मों से युक्त होने का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता निश्चित है, जैसे प्रवाहाभेद-ज्ञान है व्याप्य, और शीतलता आदि का ज्ञान है व्यापक, अतः जब तट में प्रवाहाभेद-ज्ञान हो जाता है तब शीतलता आदि का ज्ञान भी वहाँ होता है। इस युक्ति से मुख्य में व्याप्य (चन्द्राभेद) ज्ञान होने पर व्यापक (चन्द्रगत आहादकता आदि) का ज्ञान हो सकता है, पर व्यापक (आहादकता) आदि का ज्ञान होने पर भी व्याप्य (चन्द्राभेद) का ज्ञान नहीं हो सकता। तत्पर्य यह निकलता है कि—अभेद-ज्ञान का फल सादर्य-ज्ञान हो सकता है, सादर्य-ज्ञान का फल अभेद-ज्ञान नहीं हो सकता। रूपक में अभेद-ज्ञान ही होता है, सादर्य ज्ञान नहीं, अतएव—‘कृपया सुधया—अर्थात् हे हरि ! मैं तप से मूर्च्छित हूँ। मुझे कृपारूप सुधा से सींचो। हे जगत् के जीवन ! उससे मैं जी उठूँगा—इसमें सन्देह नहीं।’ इत्यादि में, कृपा और अमृत में अभिन्नता का बोध होने पर ही उसका कारणरूप से ‘सींचने’ में अन्वय होता है—अर्थात् कृपा की अमृत से अभिन्न न मानकर अमृत-सदृश मानने पर वह सींचने का कारण कैसे हो सकता है ? और अभिन्न मानने पर ही वैसा ‘सींचना’ जीवन का हेतु हो सकता है—अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो तब तक उसका ‘सींचना’ जीवन का हेतु नहीं हो सकता। यह नवीन आलंकारिकों के मत का दिग्दर्शन-मात्र है।

तृतीयान्तपदबोधसाधारणधर्मरूपकस्यले बोधं विचारयति—

अथ कथं ‘गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः’ इत्यत्र बोधः।
 शृणु—प्राचां तावन्नक्षत्रमार्णिकदेशे सादर्ये प्रयोज्यताया अभेदस्य वा तृतीयार्थस्यान्वयाद्गाम्भीर्यप्रयोज्यसमुद्रसादर्यवदभिन्नोऽयम्, गाम्भीर्याभिन्नसमुद्रवृत्तिधर्मवदभिन्नोऽयमिति वा घीः। लक्षणां विनैव अभेदसंसर्गेणान्वयवादिनां पुनरित्थम्—कविता स्वेच्छामात्रादुपकल्पिता असन्तोऽप्यन्तकरणपरिणामात्मका अर्थात् सपनिबध्यन्ते मुखचन्द्रादयः। तेषु च साधारणधर्माणामस्त्येव प्रयोजकत्वम्, तद्दर्शनाधीनत्वात्तन्निमित्तैः। एवं च गाम्भीर्यादिप्रयोज्यसमुद्रायभिन्न इति युक्तिरप्रत्यूहेति। यद्वा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वं तृतीयार्थं, बहिमान् धूमादित्यादी पञ्चान्यर्थतया तस्य कल्पनात्। एवं च गाम्भीर्यज्ञानजन्यज्ञानप्रकारसमुद्राभिन्न इत्यादिर्बोधः।

प्रयोज्यताया अभेदस्य वेति। अतभेदान्तसम्भवदुक्ति-वाचोभयोरन्यतरस्य तृतीया-

श्रुत्वमिति भावः, 'प्रकृत्यादिगणाज्जाता तृतीया तु तदात्मताम् । श्रवच्छेदकतावुद्धि प्रकार-
त्वादि शंसति' इति प्राचीनोक्ति, 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इति वार्तिकविहिततृतीयाया
नानार्थकत्व सूचयतीति स्पष्टार्थ । अन्त करणपरिणामात्मका इति । अन्त करणवृत्तिरूपा
इत्यर्थ । मुखनन्दादय इति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपा अर्था इति भावः । तेषु । चन्द्रा-
भिन्नमुखादिरूपेष्वर्थेष्विति भाव । तद्दर्शनेति । चन्द्रभिन्नमुखादिरूपार्थचाधुषेति, चन्द्राभिन्न-
मुखादिरूपार्थज्ञानेति वा अर्थ, दृशोश्चाधुषार्थकत्वात् ज्ञानसामान्यार्थकत्वाच्चेति भाव ।
तन्निमित्तेरिति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपवृष्टेरित्यर्थ । नन्वेवमन्धकवेस्तन्निमित्तिर्न स्यादत
आह—यद्वेति । अथवा । साधारणधर्मज्ञानस्य तन्निमित्तिप्रयोजकत्वेऽपि साधारणधर्माणा
न तत्प्रयोजकत्वमित्यत आह—यद्वेति । तस्येति । ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वस्येत्यर्थ । 'यादृश
गाम्भीर्यं समुद्रे तादृशं त्वयि, अतस्त्वम् समुद्ररूप, एवं यादृश सौन्दर्यं मन्मथे
(कामदेवे) तादृशं त्वयि, अतस्त्वम् मन्मथरूप' इत्यर्थकात् 'गाम्भीर्येण—' इति
वाक्यान् प्राचीनमते 'गाम्भीर्यप्रयोज्य यत् समुद्रसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति,
एवम्—'सौन्दर्यप्रयोज्य मन्मथसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोध, समुद्र-
मन्मथ-पद-लक्ष्यस्वसादृशरूपार्थकदेशासादृश्यान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात्, गाम्भीर्यसौन्दर्य-
पदोत्तरतृतीयाविभक्तयो । अथवा तदाक्यान् तन्मते 'गाम्भीर्याभिन्नो यः समुद्रवृत्ति-
धर्म एव सौन्दर्याभिन्नो यो मन्मथवृत्तिधर्मस्तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोध, गाम्भीर्य-
सौन्दर्य-पदोत्तर-तृतीयाविभक्तयो लक्ष्यमाणैरुद्देश-सादृश्यान्वय्यभेदार्थकत्वात् । रूपके
न लक्षणा, अपि तु अभेदेनोपमानोपमेययोर्वाच्यार्थयोरेवान्वय इति वदता
नवीनाना मते तु 'गाम्भीर्य-प्रयोज्य-समुद्राभिन्न, एवं सौन्दर्यप्रयोज्य-मन्मथाभिन्नोऽयम्'
इति बोध, तृतीयाविभक्तयो क्रमशः समुद्र-मन्मथपदार्थान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात् । ननु
कथं समुद्रमन्मथादय पदार्था गाम्भीर्यादिप्रयोज्या इति चेत् ? इत्यम्—उपमेयराजा-
दिनिष्ठाभेदप्रतियोगिन समुद्रादय पदार्था न वास्तविका अपि तु अन्त करणवृत्तिरूपा
कविकल्पिता, तादृशकल्पनाया औपमेये उपमानवृत्तिधर्मदर्शनमेव मूलम्, तथा च भव-
न्त्येव ते पदार्था साधारणधर्मप्रयोज्या । अथवा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वमीदृशतृतीयावि-
भक्तेरर्थः । ननु नेदृशविभक्त्यर्थं क्वचिद् दृष्ट इति चेत्, 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ पञ्चमी-
विभक्तेस्तादृशार्थकत्वस्य परं स्वीकृतत्वात्, अत एव 'धूमज्ञानजन्यज्ञानप्रकारोभूतवह्नि-
विशिष्ट' पर्वतादिरिति बोधस्तन्मते समुपपद्यते । तथा च प्रवृत्ते 'गाम्भीर्यज्ञानजन्यं
यत् ज्ञान 'अप समुद्र' इत्याकारक तत्र प्रकारीभूतो य समुद्रस्तदभिन्नोऽयम्' इति
एव 'सौन्दर्यज्ञानजन्यं यत् ज्ञान 'अय मन्मथ' इत्याकारक तत्र प्रकारीभूतो यो
मन्मथस्तदभिन्नोऽयम्' इति बोध इति भाव ।

अब उस रूपकस्थल का बोध दिखाना जाता है जहाँ तृतीयाविभक्त्यन्त पद के
द्वारा साधारणधर्म की उपस्थिति होती है—अप इत्यादि । अब 'गाम्भीर्येण—अर्थात्
यह राजा गाम्भीरता से समुद्र और सुन्दरता से कामदेव है ।' इस वाक्य से कैसा शाब्द-
बोध होगा इस प्रश्न का उत्तर सुनिष्ट । १—प्राचीनों के मतानुसार ऐसे स्थलों पर साधा-
रणधर्म बोधक पद—गाम्भीर्य-सौन्दर्य आदि—के आगे जुड़ी हुई तृतीया विभक्ति का अर्थ
'प्रयोज्यता' अथवा 'अभेद' होता है, क्योंकि ऐसे स्थानों में 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्'
इस वार्तिक से तृतीया विभक्ति होती है और उस तृतीया के 'प्रयोज्यता', 'अभेद' आदि
अनेक अर्थ होते हैं । उस तृतीयाविभक्त्यय का यहाँ समुद्र और मन्मथ पद से लक्षणा
द्वारा बोधित सादृश (सादृश्ययुक्त) के एकदेश (सादृश्य) में अन्यय होगा, अतः उक्त

चारुय का शाब्दबोध—'गम्भीरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले समुद्र के सारथ्य से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले कामदेव के सारथ्य से युक्त से अभिन्न यह राजा' ऐसा अथवा 'गम्भीरता से अभिन्न समुद्र के धर्म (सारथ्य) से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता से अभिन्न कामदेव के धर्म (सारथ्य) से युक्त से अभिन्न यह राजा' ऐसा होगा। और जो लोग विना लक्षणा के ही अभेदसम्बन्ध द्वारा अन्वय मानते हैं उन नवीनों के मतानुसार यह बात है कि जो 'मुखचन्द्र' (चन्द्राभिन्न मुख) आदि पदार्थ वास्तविक नहीं होते, केवल अन्तःकरण के परिणामरूप (चित्तवृत्तिविशेष रूप—मानस) होते हैं उनकी सृष्टि कवि कल्पना द्वारा करता है और इस तरह की काल्पनिक सृष्टि में साधारणधर्म ही प्रयोजक (मूल) होते हैं—अर्थात् चन्द्रगत आह्लादकता आदि धर्मों को मुख आदि में देखकर अथवा समझ कर ही ऐसी कल्पना की जाती है। अतः—उक्त वाच्य का बोध—'गम्भीरता आदि के द्वारा सिद्ध किए जाने वाले (प्रयोज्य) समुद्र आदि से अभिन्न यह राजा' ऐसा होता है। सारांश यह हुआ कि ये उपमेय राजारूप कारणिक समुद्र आदि गम्भीरता आदि के प्रयुक्त ही समुद्र आदि होते हैं, अतः उक्त बोध मानने में किसी तरह की विप्रवाधा नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि ऐसी स्थिति में यह अन्वय कवि—जो न चन्द्र को कभी देख सका है न मुख को ही—कैसे इस तरह की कल्पना करेगा? अथवा आपकी युक्ति के अनुसार भी साधारणधर्मों का ज्ञान ही उक्तविध कल्पना का प्रयोजक उहरता है, साधारणधर्म नहीं, फिर उक्त बोध—जिसमें समुद्र आदि को साधारणधर्म-प्रयोज्य बताया गया है—कैसे होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि जोड़िए उस बोध को। 'ज्ञान-जन्य-ज्ञान प्रकाशत्व'-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का प्रकार होना—को तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लीजिये। विभक्त्यर्थ के रूप में इसको नई मान्यता नहीं देनी पड़ेगी, 'बद्धिमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों पर पञ्चमी विभक्ति के अर्थरूप में इसे नैयायिक लोग मान्यता प्रदान कर चुके हैं। तात्पर्य यह कि 'बद्धिमान् धूमात्' का शाब्दबोध नैयायिक लोग 'धूम-ज्ञान-जन्य ज्ञान में प्रकाशीभूत बद्धि वाला पर्वत' करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि—वे 'ज्ञान-जन्य ज्ञानप्रकाशत्व' को 'धूमात्' इस पञ्चमी विभक्ति का अर्थ मानते हैं, फिर हम उसी वस्तु को यहाँ तृतीया विभक्ति का अर्थ क्यों नहीं मान सकते? अक्षरप मान सकते हैं। तदनुसार, उक्त वाच्य का शाब्दबोध होगा—'गम्भीरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत समुद्र से अभिन्न' एवं 'सुन्दरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत कामदेव से अभिन्न यह' ऐसा। स्पष्ट अर्थ यह कि वर्णनीय राजा-रूप उपमेय में रहने वाली गम्भीरता का ज्ञान पहले होता है उस गम्भीरता-ज्ञान से उसी राजा में 'यह समुद्र है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस द्वितीय ज्ञान में विधेयभूत समुद्र विशेषण और यह (राजा) विशेष्य है, अतः इन्हीं बातों को जोड़ कर उक्त शाब्दबोध सम्पन्न हो जाता है।

अभेदात्मकस्यास्य रूपकस्य वाक्यार्थे त्रिधा भानं भवतीति लक्ष्यप्रदर्शनमुत्तेन स्फोर-
यितुमाह—

तदिदं रूपकं विषयविषयिणोः सामानाधिकरण्ये अपदार्थतया संसर्गः। यथा
'बुद्धिर्दीपकला-' इत्यादी।

रूपकमिति। उपमानोपमेययोरभेद इति यावत्। विषयविषयिणोरिति। यन्नाभेदारोप-
स विषयः, उपमेय इति यावत्, यस्याभेदस्यारोपः, स विषयी, उपमानमिति यावत् इति
षोध्यम्। सामानाधिकरण्य इति। समानविभक्तिकपदबोधत्वात् इत्यर्थः। अपदार्थतयेति।
पदनिष्ठवृत्त्येवोप्यतयेत्यर्थः। लक्ष्य-प्रदर्शनायाह—यथेति। 'बुद्धि—' इति। पयमिदमस्मिन्नेव
प्रकरणे प्रागुक्तं व्याख्यातम्। विशेषणविधया विशेष्यविधया वा भानं तस्यैवार्थस्य भवति

यस्योपस्थितिर्भूतिज्ञानाधीना, यस्य तु अर्थस्योपस्थितिर्न वृत्तिज्ञानाधीना, अपि तु आकाशा-
दिवशात् तस्य भान ससर्गविधया भवतीति यस्नुस्थिति । तथा च 'मुख चन्द्र' इत्यादाविव
'बुद्धिर्दीपकला—' इत्यत्र विषयविषयिणोर्बुद्धि-दीपकलयो सामानाधिकरूप्यमिति तत्र तयो-
रभेद संबन्धविधया भासेत, आकाशादिवशात्तस्योपस्थिते । इत्यद्य 'मुख चन्द्र' इत्यादौ
चन्द्रप्रतियोगिकाभेदचन्मुखमित्यादिर्न बोध, अपि तु अभेदसंबन्धेन चन्द्रवन्मुखमित्यादि-
रेवेति भाव ।

यह रूपक (उपमान उपमेय का अभेद) वाक्यार्थ में तीन तरह से भिन्न भिन्न स्थल
में भासित होता है, इसी वैचित्र्य को चित्रित करने के लिये कहा जाता है—तद्विदमि-
त्यादि । जहाँ विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) सामानाधिकरण रहते हैं—
दोनों के बोधक-पदों से एक ही तरह की विभक्ति आई रहती है, वहाँ उसका (अभेद का)
भान संबन्धरूप में होता है, विशेषण अथवा विशेष्यरूप में नहीं, क्योंकि विशेषण
अथवा विशेष्यरूप में उसी अर्थ का भान होता है जो किसी पद का वाच्य अथवा लघ्य
हो, आकांक्षा आदि के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति होती है—उसका भान संबन्ध
रूप में ही होता है । सामानाधिकरूप्यस्थल में अभेद (रूपक) किसी भी पद का वाच्य
किंवा लघ्य नहीं रहता, अतः उसका भान ससर्गरूप में ही होता है । जैसे—'बुद्धिर्दीप'
इस पूर्वोक्त पद्य में बुद्धि रूप विषय और दीपकलारूप विषयी सामानाधिकरण हैं, फलतः
दोनों का अभेद किसी पद का अर्थ नहीं होने के कारण संबन्धरूप में भासित
होता है । अभिप्राय यह कि—'बुद्धिर्दीपकला' इसका शाब्दबोध, 'दीपकला के अभेद से
युक्त बुद्धि' इस तरह नहीं, अपि तु 'अभेद संबन्ध से दीपकला वाली बुद्धि' इस
तरह से किषा जा सकता है । यह हुआ रूपक के भान का प्रथम 'प्रकार' ।

वाक्यार्थेऽभेदात्मकरूपकभानस्य प्रथमा विधा स्फोरयित्वा सम्प्रति द्वितीयां विधा
स्फोरयितुमाह—

वैयधिकरण्ये च शब्दार्थतया कचिद् विशेष्यम् ।

यथा—

'कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-

यागामिन्यखिलेश्वरे रतिपती तत्कालमस्याह्वया ।

आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहां

किं चासीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः ॥'

अत्र शशाङ्कता-तादात्म्य-भेदविगमशब्दैरभिधीयमान रूपक प्रथमान्त-विशेष्यता-
वादिनां मते विशेष्यम् । क्रियाविशेष्यतावादिनां तु तत्रैव किञ्चिद् व्यत्यासेन
निष्ठान्तक्रियादाने ।

वैयधिकरण्य' इति । भिन्नविभक्तिकपदबोध्यत्व इत्यर्थः । अस्यादौ 'विषयविषयिणो'
इत्यस्यानुपपत्तौ बोध्य । शब्दार्थतयेति । शब्दनिष्ठवृत्तित्वोव्यत्ययेत्यर्थः । क्वचित् अधोनिर्दिष्ट-
लक्ष्ये तादृशेऽन्यस्मिन् लक्ष्ये च । विशेष्यमिति । वाक्यार्थमुक्त्याविशेष्यामित्यर्थः । लक्ष्य-
प्रदर्शनायाह—यदेति । लक्ष्यमाह—'कैशोरे—' इति । क्वि वय सन्धिगतायाः
कामिन्या सौन्दर्यं वर्णयति । अत्र 'तन्व्यास्तनौ' इति मध्यमणिन्यायेनोभयत्रान्वेति ।
तथा च—तन्व्या कृशाङ्गता, तनौ शरीरे, क्रमेण वमशा, कैशोरे वयसि किशोरवस्यायाम्,
'तनुता क्षीणताम् आयाति आगच्छति सति, तथा तत्रैव तनौ, रतिपती कामदेवे, अखि-
लेश्वरे सर्वेश्वरे—रक्षि, आगामिनि आगन्तुकामे सति, तत्काल तस्मिन्नेव लक्ष्ये, अर्थ-
व्यत्ययेन, आश्रया आदेशेन, तस्या, आस्ये मुले, पूर्णशशाङ्कता पूर्णचन्द्रत्वम्, आसीत्

अभूत्, नयनयौघक्षुण्णोः अममोरहा नारिजानाम्, तादात्म्यम् अभेदः, आसीत् किञ्च साचि-
स्मिते वक्षेपदास्ये, अमृतस्य पीयूषस्य, तालिशक वास्तविक, भेदविगम अभेदः, आसीत्
इत्यर्थः, वय मन्थिकाले कामदेवनिदेशेनेव कामिन्या अत्रेपु सौन्दर्य स्वयमेव प्रादुरासीदिति
भावः। उपपादयति—अत्रेत्यादिना। अभिधीयमानमिति। बोध्यमानमित्यर्थः। शक्त्या लक्ष-
णया वेति भावः। प्रथमान्तविशेष्यतावादिनामिति। नैयायिकानामित्यर्थः। क्रियाविशेष्यता-
वादिनामिति। शाब्दिकानामित्यर्थः। तत्रैव उक्तपत्र एव। किञ्चिद्व्यत्यासेनेति। 'किञ्चासीत्'
इत्यस्य स्थाने इति भावः। निम्नान्तेति। 'सम्पन्नो हि' इति पाठे इत्यर्थः। विषयविषयिणो-
र्वैयधिकरणस्यत्वेऽभेदः पदनिष्ठवृत्तिबोधो भवति, अतस्तत्र द्वयी गतिः क्वचित्तस्य विरोध्य-
विधया भानं क्वचिच्च विशेषणविधया। तत्र 'केशोरे—' इति पद्य विरोध्यविधया तद्भान-
स्थानम्, यत् तत्र शराङ्कतादिप्रथमान्तपदबोधोऽभावभेद इति 'आस्याधिकरणकभूत-
कालिकसत्तावती पूर्णशराङ्कता' इत्यादिरीत्या जायमाने बोधेऽगोदात्मकस्य रूपकस्य
विशेष्यत्वं सिद्धयति। ननु प्रथमान्तार्थमुख्यविरोध्यकबोधवादिना नैयायिकानामेव मते एतत्
सिद्धयति, न क्रियामुख्यविरोध्यकबोधवादिना वैयाकरणानामते, तथा च नाय विरोध्य-
विधया रूपकभानतिद्वान्त सर्धसम्मत इति चेत् ? सत्यम्, न तिङन्तक्रियापदविशिष्ट-
पाठे वैयाकरणाः प्रथमान्तपदबोध्याभेदविरोध्यकं बोधं कुर्युः, किन्तु कृदन्तक्रियापदविशिष्ट-
पाठे अर्थात्—'सम्पन्नो हि' इति निष्ठासङ्गकप्रत्या यान्तक्रियापददाने तेषु प्रथमान्तार्थ-
विरोध्यकमेव बोध्यं स्वीकुर्युः, तथैव तै सिद्धान्तितत्वादिति भावः।

अब वाक्यार्थ में रूपक (अभेद) के भासित होने का दूसरा प्रकार दिखलाया
जाता है—वैयधिकरण्ये इत्यादि। जहाँ विषय-विषयी भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पदों से
निर्दिष्ट होते हैं वहाँ कहीं रूपक विरोध्यरूप में भासित होता है। जैसे—'केशोरे—
वर्थात् कुशाग्रौ कामिनी के शरीर में किशोरावस्था के चिह्न क्रमशः घीण होते जा रहे
थे—वह कामिनी धौवन की देहली पर पदार्पण कर चुकी थी। अखिलेश्वर (सार्वभौम)
कामदेव का आगमन होनेवाला था। अतः उस आगामी राजा की आज्ञा से, तत्काल
कुशाग्रौ के मुख में पूर्णचन्द्र का भाव, नयनों में कमलों का ताद्रूप्य और वक्र ईपद्
हास्य में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया।' जहाँ 'चन्द्र का भाव' 'ताद्रूप्य'
और 'अभेद' इन प्रथमान्त पदों से रूपक—अभेद—का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह
कि यहाँ उपमेय—मुख, नयन और ईपद्हास्य—का 'आस्ये', 'नयनयोः' तथा 'साचि-
स्मिते' इन सप्रत्ययन्त पदों से पदम् उपमान—चन्द्र, कमल तथा अमृत—का उक्त भाव-
वाचक संज्ञाओं से बोध कराया गया है, जिससे यह वैचित्र्य यहाँ उत्पन्न हो गया है कि
रूपक शब्दबोध हो गए हैं। अतः जो लोग शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को
मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन नैयायिकों के मतानुसार, यहाँ—'मुख में रहनेवाली भूत-
कालिक सत्ता (आसीत् पदवाच्य क्रिया) से युक्त पूर्णचन्द्र का भाव' इत्यादि रीति से
शाब्दबोध होता है। इस बोध में रूपक (पूर्णचन्द्र का भाव—अभेद) विशेष्यरूप में
भासित हुआ है। यद्यपि जो लोग शाब्दबोध में क्रिया को मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन
वैयाकरणों के मतानुसार उक्त रीति से बोध नहीं होगा, फलतः रूपक की विशेष्यता
भी सिद्ध नहीं होगी, तथापि उसी पद्य में जब 'किं चासीत्' के स्थान में 'सम्पन्नो हि'
यह निष्ठान्तकप्रत्ययान्त—कृदन्त—क्रियापद रख दिया जायगा तब उनके मतानुसार भी
प्रथमान्त पद का अर्थ ही शाब्दबोध में विशेष्य होगा, क्योंकि कृदन्त (तिङन्त से भिन्न)
क्रिया पदवाले स्थलों में उनको भी क्रिया का विशेषण होना ही अस्वीष्ट है, फलतः वही
स्थिति में उनके मत से भी रूपक का विशेष्य होना सिद्ध होता है। यह अभेदवाचक
रूपक-भान का दूसरा प्रकार हुआ।

वाक्यार्थेऽभेदात्मकरूपकमानस्य तृतीया विधा स्फोरयितुमाह—

कचिच्च विशेषणम् ।

यथा—

‘अविचिन्त्यशक्तिविभवेन सुन्दरि प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः ।

विधुभावमञ्चरितमां तथाननं नयनं सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥’

इह द्वितीयार्थे विशेषणीभूतं विधुत्वादि विध्वभेदात्मकतया रूपकम् ।

‘अविचिन्त्य—’ इति । अविचिन्त्या अचिन्तनीया, या, शक्त्य सामर्थ्यविशेषा, तद्रूपेण विभवेन सम्पत्त्या, प्रथितस्य प्रख्यातस्य, शम्बररिपो कामदेवस्य, प्रभावतः प्रभावान्, हे सुन्दरि, तव, आननं मुखम्, विधुभाव चन्द्रत्वम्, अञ्चरितमा नियमतः प्राप्नोति, तथा, तव, नयनं जातावेकवचनम्, नेत्रपुगलमिति यावत्, सरोजदलनिर्विशेषता कमलपत्रसारूप्यम्, अञ्चरितमामित्यर्थः । उपपादयति—इहेत्यादिना । द्वितीयार्थे इति । विधुभावपदोत्तरद्वितीयाविभक्त्यर्थ इत्यर्थः । विधुत्वमिति । अत्रादिपदेन सरोजदलसारूप्यं सगृह्यते । निष्कभेदेति । लक्षणयेति भावः । विषयविषयिणोर्वैयधिकरण्ये रूपकं कश्चित् विशेषणतया भासते । यथा—‘अविचिन्त्य—’ इति पद्ये । अत्र विधुभाव-सरोजदलनिर्विशेषतापदान्या रूपके बोध्यते, ते च रूपके विशेषणीभूते, ‘विधुभावनिष्ठा एवं सरोजदलनिर्विशेषतानिष्ठा या कर्मता तन्निरूपकं यदञ्चन तदनुकूलवृत्तिमतः आननं नयनञ्च’ इति बोधात् । ननु कथमिह रूपकम्, अभेदात्मकस्य तस्यात्राप्रत्ययादिति चेन्न, लक्षणया विधुभावादपिपदस्य स्वार्थप्रतियोगिकाभेदपरत्वादिति भावः । इत्यच्चाभेदात्मनमिदं रूपकं कचिद् सम्बन्धविषया, कचिद् विशेष्यविषया, कचिच्च विशेषणविषया वाक्यार्थे भासत इति परमार्थः ।

अब अभेदात्मक रूपक के भान का तीसरा प्रकार दिखलाया जाता है—कचिच्च इत्यादि । उपमान उपमेय के अभेदरूप रूपक का बोध भिन्नविभक्तिक पदों द्वारा होने पर कहीं वह अभेदात्मक रूपक विशेषणरूप में भासित होता है । जैसे—‘अविचिन्त्य—’ अर्थात् अचिन्तनीय शक्तियों के कारण विख्यात कामदेव के प्रभाव से हे सुन्दरि ! तेरा मुख चन्द्रता को और नेत्र कमलपत्र की एकरूपता को प्राप्त कर रहे हैं ।’ यहाँ मूलपद्यगत ‘विधुभाव’ पद और ‘सरोजदलनिर्विशेषता’ पद लक्षणा-द्वारा विध्वभेद (चन्द्राभेद) और सरोजदलाभेद (कमलपत्राभेद) के बोधक हैं, अतः यहाँ दो रूपक होते हैं और वे दोनों ही रूपक (अभेद) द्वितीया विभक्ति के अर्थ—कर्मता—में ‘निष्ठव’ सम्बन्ध से विशेषण हो जाते हैं । तत्पर्यं यह कि इस वाक्य से होने वाले ‘विधुभावनिष्ठ कर्मता की निरूपक अञ्चन प्राप्ति-क्रिया के अनुकूल यत्न वाला मुख’ इत्यादि शाब्दबोध में विधुभाव (चन्द्राभेद) द्वितीया के अर्थ (कर्मता) के विशेषणरूप से भासित होता है । फलतः पर्यवसित अर्थ इस प्रकार का यह हुआ कि अभेदात्मक रूपक का भान तीन प्रकारों से होता है—कहीं सम्बन्धरूप से, कहीं विशेष्यरूप से और कहीं विशेषणरूप से ।

समासगतलक्षणकस्थले बोधप्रकार सूचयितुमाह—

एवं मुखचन्द्र इत्यादातुपमितसमासे तावदुपमैव । विशेषणसमासे तु रूपकम् । बोधश्च शशिपुण्डरीकमित्यादाविधु प्राकृतिपादितदिशा बोध्यः ।

उपमितसमासे ‘उपमित व्याघ्रादिभि—’ इति सूत्रविहितसमासे । विशेषणसमासे चिति । ‘विशेषण विशेष्येण—’ इति सूत्रविहितसमास इत्यर्थः । अत्र ‘चिन्त्यमिदम्’ । चन्द्रमुखमित्यस्यापत्ते । परिणामालङ्कारोदाहरणे तु विशेषणसमास उचितः । अत्र तु

मयूरव्यसकेति समासे त्वित्युचितम् ।' इति युक्तमाह नागेशः । शशिपुण्डरीकमिति । 'शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगि पुण्डरीकम्' इति बोधवदित्यर्थः । बोध्य इति । तथा च मुसनिष्ठाभेदप्रतियोगि मुसमिति बोध इति भावः ।

समासगत रूपकस्थल में शाब्दबोध का प्रकार बतलाने के लिये कहा जाता है—पवं इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि समस्त पदों में उपमितसमास—अर्थात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इस पाणिनिसूत्र से समास होने पर उपमा ही होती है अतः उसका यहाँ प्रसङ्ग नहीं । हाँ, विशेषणसमास—अर्थात् 'विशेषण विशेष्येण—' इस पाणिनिसूत्र से समास—होने पर रूपक हो सकता है और तब बोध भी पूर्वोक्त 'शशिपुण्डरीक' पद के प्रसंग पर कथित रीति से हो जायगा । तात्पर्य यह कि—जिस तरह 'शशिपुण्डरीक' पद का बोध 'शशि में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी पुण्डरीक' इत्याकारक पहले किया गया है उसी तरह 'मुखचन्द्र' पद का बोध भी 'मुख में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' यह होगा । यहाँ विशेषणसमास वाली मूलोक बात पर नागेश लिखते हैं कि "यह गलत है क्योंकि विशेषणसमास करने पर 'मुखचन्द्र' ऐसा नहीं अपितु 'चन्द्रमुख' ऐसा प्रयोग हो जायगा, अतः 'मयूरव्यसकादयश्च इस सूत्र से समास होने पर' ऐसा यहाँ लिखना चाहिए । विशेषणसमास तो परिणामालकार के उदाहरणों—'मुखचन्द्र से अन्धकार दूर हुआ' इत्यादिकों—में होना उचित है ।"

व्यधिकरणरूपकविशेषस्थले शाब्दबोध दर्शयितुमाह—

'मीनवती नयनाभ्यां फरचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती ।

शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥'

इत्यादौ तृतीयाया अभेदार्यकत्वान्तस्य च प्रागुक्तदिशा प्रतियोगित्वमुख-
स्यार्थवशादन्वये, नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनवतीति बोधः । मीनवत्त्वं च
स्वाभिन्नद्वारकम् । एतत्स्फोरणायैव नयनाभ्यामित्युक्तम् । मीनाभिन्ननयनवतीति
तु पर्यवसितम् । नयनाभेदे तु मीनेषु गृह्यमाणे सरसीरूपकापोषणादित्युक्तमेव ।

मीनवतीति । सुरसा सुन्दरः रसः प्रेमा जलत्र यस्या सा, इयं सुन्दरी, नयनाभ्याम्
मीनवती मीनरूपनयनयुक्ता, फरचरणाभ्या प्रफुल्लकमलवती विकसितकमलरूपकरचरणयुक्ता,
तथा केशैः शैवालिनी शैवालरूपकेशयुक्ता सती, सरसी सरोवररूपा सम्भवत इत्यर्थः ।
तृतीयाया इति । 'प्रकृत्यादिभ्यः—' इति विहितया इत्यर्थः । तस्येति । तृतीयार्यस्याभेद-
स्येत्यर्थः प्रागुक्तदिशेति । 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्यत्रोक्तरीत्येत्यर्थः । प्रतियोगित्वमुख-
स्येति । स्वनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वस्येति समुदितार्थ इति भावः । अर्थवशादिति । सरसीरूप-
कानुरोधेनेति भावः । स्वाभिन्नेति । मीनाभिन्ननयनेत्यर्थः । नयनाभेदे इति । नयनप्रति-
योगिकाभेदे इत्यर्थः । उक्तमेवेति 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्येतद्विचारप्रसङ्गे इति भावः ।
प्रकृत्यादिस्वाभाताया नयनादिपदोत्तरतृतीयाया स्वीक्रियमाणस्याभेदरूपार्थस्य प्रतियोगित्वं
अद्यपि स्वप्रकृत्यर्थे नयनादावेव साधारणतया प्राप्तम्, तथापि पूर्वोक्तरीत्या मीनादौ तत्
व्यवस्थाप्यते । तथा च 'नयनादिनिष्ठ तदनुयोगिक इति यावत् योऽभेदः तस्य प्रतियोगी
यो मीनादिस्तद्युक्ता' इति बोधो भवति । ननु मीनादियुक्तत्वम् सुन्दर्यां न सम्भवतीति
चेत् ? इत्यम्, मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तत्वेन मीनादियुक्तत्वे तात्पर्यात् । अत एव 'नयना-
भ्याम्' इत्यादि तृतीयान्तपदप्रयोगः । मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तेति पर्यवसितार्थः । न च
कुतोऽयं द्विविधप्राणायामः ? मीनादिषु नयनादिप्रतियोगिकाभेद एव गृह्यताम् इति वाच्यम्,
तथा सति 'सुन्दरी सरसी' इत्यंशो निर्विवादस्य सरसीरूपकस्य समर्पणं न स्यात्, तत्समर्पण-

मेव च वस्तुभिः प्रेतमित्याशयात् । मीनवतीति पद्ये परम्परितं रूपक कवेर्निबन्धनीयम्, तत्रोपमानभूताया सरस्या उपमेयभूताया सुन्दर्याय तादात्म्यात्मक रूपकं प्रधानं समर्थम्, उपमानभूतानां मीनमल्लशीवाक्यनाम् उपमेयभूतानां नयन-करचरण-केशानाम् तादात्म्यात्मकानि च रूपकाणि समर्थकानि, इति स्थितौ समर्थकाद्यै मीनाद्युपमानाभेदो नयनाद्युपमेये साधयितुमुचितः, तदैव तानि मीनादिरूपकाणि कथ्येरन्, मीनादिरूपकैरेव च सरसीरूपकस्य समर्थनं कुर्यात् । तदर्थे न सरसी रूपकम् अपि तु सुन्दरीरूपकमेवेति तु न शक्यं वक्तुम्, सुन्दर्या एव प्रकृतत्वेनोपमेयत्वादिति स्पष्टार्थः ।

एकं खास व्यधिकरणरूपकस्थलं का शाब्दबोधप्रकारं दितलाया जाता है—मीनवती इत्यादि । 'मीनवती—अर्थात् यह सुन्दरी अच्छे रस (प्रेम तथा लल) वाली सरसी है जो नेत्रों के कारण मछलीवाली, हाथ पैरों के कारण कमलवाली तथा केशों के कारण सेवारवाली है ।' इत्यादिक में नयन आदि पदों से 'प्रकृत्यादिवात्' तृतीया विभक्ति हुई है जिसका अर्थ 'अभेद' है, उसका प्रतियोगी यद्यपि नयन आदि को ही होना चाहिए, पर 'मीजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इस वाक्य के विषय में विचार करते समय कही गई रीति से मीन आदि को ही अभेद का प्रतियोगी माना जाता है और ऐसा इसलिये माना जाता है कि समग्र वाक्य का अर्थ—अर्थात् अग्नि सरसी-रूपक—तभी सगत होता है, अतः उक्त श्लोकवाक्य से 'नेत्र में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी जो मीन उससे युक्त' इत्यादि बोध होता है । और सुन्दरी का 'मछलीवाली होना' है मछलियों से अभिन्न नेत्रों द्वारा—अर्थात् नेत्रों को मछलियों से अभिन्न समझ लेने पर ही सुन्दरी मछलीवाली समझी जा सकती है । इस 'द्वारा' को स्पष्ट करने के लिये ही 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीयान्त पदों का प्रयोग किया गया है । अतः अन्ततः 'नेत्रों के कारण मछलीवाली' का अर्थ होता है 'मछलियों से अभिन्न अर्थात् मछलीरूप नेत्रोंवाली ।' यह उलटफेर इसलिये करना पड़ता है कि—यदि नेत्रों का अभेद मछलियों में समझा जाय तो सुन्दरी में सरसी का रूपक समर्थित नहीं होता, प्रत्युत सरसी में सुन्दरी का रूपक समर्थित होने लगता जो कवि का अभीष्ट नहीं है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है । सारांश यह हुआ कि यहाँ प्रस्तुत होने के कारण उपमेयरूप सुन्दरी में सरसीरूप उपमान का तादात्म्य जो वर्णित है वह सरसीरूपक ही कहलायगा सुन्दरीरूपक नहीं, यह निर्विवाद सत्य है, अब इस प्रधान रूपक के समर्थन में अन्य जो रूपक वर्णित हुए हैं उनमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि—उपमेय सुन्दरी—से संबन्ध रखने वाले पदार्थों को उपमेय और उपमान—सरसी—से संबन्ध रखनेवाले पदार्थों को उपमान माना जाय, इस हिसाब से नयन आदि को उपमेय और मीन आदि को उपमान माना जाता है और इस मान्यता के अनुसार उक्त तृतीयार्थ-अभेद का प्रतियोगी मीन आदि को मानना जरूरी है, क्योंकि उपमान ही प्रतियोगी हो, ऐसा सिद्धान्त है ।

रूपके साधारणधर्मस्थिति विचारयति—

साधारणधर्मश्चात्राप्युपमायामिव कचिदनुगामी कचिद्विम्बप्रतिविम्बमावापन्नं कचिदुपचरितः कचिच्च केवलशब्दात्मा । सोऽपि कचिच्छब्देनोपात्तः, कचित्प्रतीयमानतया नोपात्तः ।

अनुगामी, विम्बप्रतिविम्बमावापन्न, उपचरित (आरोपित) केवलशब्दरूपधेति चतुर्विधा साधारणधर्मा यथोपमायां भवन्ति तथा रूपकेऽपि ते भवन्ति । अथ च तथाविधास्ते चत्वारः साधारणधर्मा कचित् अप्रसिद्धत्वात् शब्दतः कथितास्तिष्ठन्ति, कचिच्च प्रसिद्धतया शब्दमन्तरापि प्रतीतिपथमवतरन्त शब्दतः उपात्ता न भवन्तीति भावः । केवलशब्दरूपरूपात् एव भवतीत्यपि बोध्यम् ।

रूपक में साधारणधर्म किस-किस तरह का हो सकता है इसका विचार अब किया जाता है—साधारण इत्यादि । रूपक में भी साधारणधर्म, उपमा की तरह, कहीं अनुगामी, कहीं विम्ब प्रतिविम्बनावापन्न, कहीं उपचरित (भारोपित) और कहीं केवल शब्दरूप होता है । और ये सभी धर्म भी कहीं शब्द द्वारा उक्त होते हैं और कहीं अर्थात् प्रतीत होने के कारण, शब्द द्वारा उक्त नहीं होते । अभिप्राय यह कि—इन चारों तरह के धर्मों में से कोई एक तरह का धर्म एक जगह रहेगा और वह भी यदि प्रसुर प्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा नहीं होगी—अर्थात् बोधक पद के बिना भी प्रतीत हो जायगा और यदि वह अप्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा होगी—अर्थात् बोधक पद के अभावमें उसकी प्रतीति नहीं होगी । यह ध्यान रहे कि इनमें से कोई-कोई धर्म नियमतः बोधक की अपेक्षा रखता है । जैसे—केवल शब्दरूपधर्म, वह बोधक के अभाव में प्रतीति पथ में आ ही नहीं सकता है ।

उपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

उपात्तोऽनुगामी यथा—

— शब्दतः उक्त अनुगामी धर्म वाला रूपक जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘जडानन्धान्पद्मगून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
महप्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परम भेषजमसि ॥’

कविर्गङ्गा स्तौति—हे शम्भु मात । जडान् कर्तव्यविमुक्तान्, अन्धान् नष्टनेत्रप्रकाशान्, पद्मगून् गमनशक्तिहीनान् प्रकृतिबधिरान् प्रकृत्या स्वभावेन, जन्मत इति यावत्, श्रवणशक्तिरहितान्, उक्तिविकलान् वचनशक्तिहीनान्, फलतः, महप्रस्तान् ‘महैः प्रस्ता इमे’ इत्येवं व्यवहियमाणान्, अत एव, अस्ता-दूरीभूता अखिला सर्वेऽपि दुरित-निस्तारस्य पापोद्धारस्य सरण्य’ मार्गा येषां तपाविधान्, अत एव च, निलिम्पैः देवैरपि किमुन मनुष्यै, निर्मुक्तान् त्यक्तान्, अन्ततः, निरयस्य नरकस्य, अन्तर्मध्ये, निपतत’ पतनोन्मुक्तान्, नरान् मनुष्यान् त्रातुं रक्षितुम् इह ससारे, त्वं, परमम् बल्लुष्टं भेषजम् औपधम्, असि विश्वे इत्यर्थः । त्वत्कृपाया अभावे येषां नरकगमनं निश्चितं तथाविधा अपि अज्ञविकला पापिन’ त्वदीयजल-स्पर्शेन स्वर्गं व्रजन्तीति भाव’ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—जटा इत्यादि । कवि गङ्गा की स्तुति करता है—हे मात’ गङ्गे ! जो जड़, अन्धे, लूले, जन्म से बहरे, गँगे और ग्रहों से जकड़े हैं, जिनके लिये पापों से उद्धार पाने के सभी रास्ते समाप्त हैं, जिन्हें देवगण भी त्याग चुके हैं, अतएव जो नरक के अन्दर गिरने ही वाले हैं उन निरस्त मानव रोगियों की रक्षा करने के लिये तू इस संसार में महान् औपध है ।

उपपादयति—

अत्र भातुमिति तुमुब्रन्तेन शब्देनोपात्तम् जडान्धादित्राणं भेषजभागीरथ्यो भेषज-भागीरथ्योरिति । अनुगामी धर्म इति शेष’ । ‘जडानन्धान्’ इति श्लोके गङ्गे मेयभूता, श्रीपद्मोपमानभूतम्, तयो साधारणधर्मश्च जडान्धादित्राणकर्तृत्वम् तच्चैव

णोपमानोपमेयोभयान्वयित्वादनुगामि 'त्रानुम्' इति तुमुन्प्रत्ययान्तेन शब्देन वर्णितम् । एवञ्चेदृशासाधारणधर्ममूलकामेदारोपात्तयो रूपकम् सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रेत्यादि । 'जडान्' इस पद्य में 'त्रानुम्' इस 'तुमुन्' प्रत्ययान्त पद द्वारा उक्त 'जड-अन्ध आदि लोगों की रक्षा' औपध तथा गङ्गा का साधारण धर्म है । अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में औपधरूप उपमान का गङ्गारूप उपमेय में तादात्म्य, रूपक है और इस तादात्म्य का मूल है उन दोनों में रहने वाला 'जडान्धादि-त्राण'रूप समानधर्म जो यहाँ शब्दत उक्त है तथा एक रूप से दोनों में अन्वित होने के कारण अनुगामी है ।

अनुपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

अयमेवानुक्तो यथा—

अयमेवेति । अनुगामी साधारणधर्म एवेत्यर्थः । अन्यत् रूपम् ।

अनुपात्त अनुगामी साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'समृद्ध सौभाग्य सकलवसुधायाः किमपि त-

न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।

श्रुतीना सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां

सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥'

इयमपि गङ्गास्तुतिरेव । भक्त कथयति—हे गङ्गे ! सकलवसुधाया सम्पूर्णपृथिव्या-किमपि अनिर्वचनीयम्, अथ च समृद्धम् अभ्युन्नतम्, सौन्दर्यम् सुन्दरभाग्यवत्त्वं वा तद्रूपमिति यावन् एवम्, लीलया अनायासेन जनितानि उत्पादितानि जगन्ति येन तस्य, खण्डपरशो शिवस्य, महैश्वर्यम् महाविभूतिरूपम्, इत्यमेव, श्रुतीना वेदाना, सर्वस्वम् सारभूतं प्रतिपाद्यम्, अथ च, सुमनसाम्, देवानाम् मूर्तम् रूपवन्, प्रत्यक्षयोग्यमिति यावन्, सुकृतम् पुण्यरूपम्, एवम्, सुधाया अमृतस्य, साम्राज्यम् विस्तृताशरूपम्, तत् परमप्रसिद्धम्, ते तव, सलिलम् जलम्, न अरमावम्, अशिवम् अकल्याणम्, शमयतु शान्त करोस्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—समृद्धम् इत्यादि । भक्त गंगा से प्रार्थना करता है—हे गङ्गे ! वह तेरा जल हमारे अकल्याण को शान्त करे, जो समग्र पृथ्वी का परमोन्नत और अनिर्वचनीय सौभाग्य सौन्दर्य अथवा भाग्यशालित्व है, जो अनायास सत्कार की सृष्टि करने वाले शिवजी की महती विभूति है और जो वेदों का सर्वस्व, देवताओं का मूर्तिमान पुण्य एवम् अमृत का साम्राज्य है ।

उपपादयति—

अत्र सौभाग्यभागीरथ्योः स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्व-परमोत्कर्षाधायक-त्वादिरनुपात्तः—प्रतीयमानो धर्मः । एवमीश्वरासाधारणधर्मत्व-परमगोप्यत्व-निरतिशयसुखजनकत्वान्यापामरसकलजनजरासृत्युहरणक्षमत्वं चोत्तरोत्तरारो-पेष्वनुगामीति ।

सौभाग्यभागीरथ्योरिति । सौभाग्यभागीरथीजल्योरिति भावः । स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वेति । इनाभावस्य सौभाग्यभावस्य भागीरथीजलाभावस्य वा व्यापकम् समानाधिकरणम्, दौर्भाग्यम् यस्य तद्भावेत्यर्थः । यत्र यत्र सौभाग्यभावस्तत्र तत्र यथा दौर्भाग्यं

तिष्ठति तथैव यत्र-यत्र भागीरथीजलस्याभावस्तत्र तत्रापि दौर्भाग्यम् तिष्ठतीति स्वाभाव-
व्यापकदौर्भाग्यत्वं सौभाग्यभागीरथीजलयो समानो धर्म इति परमार्थः । एवञ्च समृद्ध-
मिति पद्ये सौभाग्यगङ्गाजलयो 'स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वपरमोन्कारित्वरूपौ' द्वावनु-
गामिनौ साधारणधर्मो बोधकमन्तरापि प्रतीयते । एवम् ऐश्वर्यगङ्गाजलयो 'ईश्वरमात्रवृत्ति-
त्वं' साधारणधर्मं अनुक्तोऽपि अनुगामितया प्रतीयते । इत्यमेव श्रुतिसर्वस्वगङ्गाजलयोः
'अतिगोपनीयत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्म उक्तिं विनापि गम्यते । एवम् सुकृतगङ्गा-
जलयोः 'सर्वाधिकसुखजनकत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्मः शब्दतः अनुक्तोऽपि ज्ञायते ।
एवम् अमृत-चात्राज्य-गङ्गाजलयो सकलप्राणिजन्तमरणहरणसमर्थत्वम् अनुगामी धर्मः
अनुपात्तोऽपि प्रतीयत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'समुद्रम्—' इस पद्य में गङ्गाजल ही एक
उपमेय है और उपमान—उत्पत्ता सौभाग्य, शिवेश्वर्य, वेद-सर्वस्व, देव सुकृत और अमृत-
साम्राज्य ये—अनेक हैं । अब यह समझिए कि इस एक उपमेय और उन भिन्न भिन्न उप-
मानों में समानधर्म क्या है ? सौभाग्य और गङ्गाजल के दो समानधर्म हैं—एक 'स्वाभाव-
व्यापक दौर्भाग्यत्व'—अर्थात् जैसे जहाँ-जहाँ सौभाग्य नहीं रहता वहाँ-वहाँ दौर्भाग्य
(भाग्यहीनता) रहता है वैसे ही जहाँ-जहाँ गङ्गाजल नहीं रहता वहाँ-वहाँ भी दौर्भाग्य
रहता है और दूसरा 'परम उत्कर्ष उत्पन्न करना', इसी तरह ऐश्वर्य और गङ्गाजल का
समानधर्म है 'ईश्वर का असाधारणधर्म होना', वेद-सर्वस्व और गङ्गाजल का समान
धर्म है 'परमगोपनीय होना', सुकृत और गङ्गाजल का समानधर्म है 'सर्वाधिक सुख
उत्पन्न करना' और अमृत तथा गङ्गाजल का समानधर्म है 'नीच से लेकर उत्कृष्ट प्राणी
सक के जन्म-मृत्यु का हरण कर सकना' । ये सभी समानधर्म अनुगामी हैं और शब्दतः
अनुक्त होने पर भी प्रतीयमान हैं ।

विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नं साधारणधर्मम् पूर्वमुदाजहारति स्मारयति—

विम्बप्रतिविम्बभावमापन्नो विशिष्टरूपकप्रसङ्गे निरूपितः ।

आपन्न इति । साधारणधर्म इति शेषः । निरूपित इति । 'उद्गुमद्रचलितान्' चाशव-
वसनो यतिः । चोमलातपशोणाश्च सन्व्याकालो न सशयः ।' इत्यादाविति भावः ।

पूर्वोदाहृत विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न साधारणधर्म का स्मरण दिहाया जाता है—
विम्ब इत्यादि । विम्बप्रतिविम्बभावापन्न साधारणधर्म का निरूपण पहले—विशिष्ट रूपक के
प्रसङ्ग में—किया जा चुका है । अभिप्राय यह कि—'उद्गुमद्रच'—इस संस्कृत श्लोक में
उद्धृत श्लोक में साधारणधर्म विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न है ।

उपचरितं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपित साधारणधर्मो यथेति भावः ।

उपचरित आरोपित साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतं पर-कार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन यचोऽमृतम् ।

अपि च मानसमन्मुनिधिर्यशो विमलशारदचन्द्रचन्द्रिका ॥'

अविरतं सततम्, परकार्यकृतां परोपकारिणाम्, सताम्, सच्चानाम्, वचः
वचनम्, मधुरिमातिशयेन माधुर्याधिक्येन, अमृतम् पीयूषरूपम्, अपि च, मानसम् मनः,
अमनुनिधि-समुद्ररूपम्, यशो-शोक्तिः, विमला स्वच्छ या शारदस्य शरत्कालीनस्य,
चन्द्रस्य चन्द्रमसः, चन्द्रिका ज्योत्स्ना तद्रूपमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अविरतम् इत्यादि। जो निरन्तर परोपकार करने वाले होते हैं उन सज्जनों का वचन माधुर्य की अधिकता के कारण अमृत, मन समुद्र और यश शरद् के चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना सा होता है।

उपपादयति—

अत्रामृतरूपके विषये वचस्युपचरितो मधुरिमातिशयः शब्देनोपात्तः।
अम्युनिध्यादिरूपके च गान्भीर्याद्यनुपात्तम्।

‘अविरतम्—’ इति श्लोके त्रीणि रूपकाणि सन्ति वचसि अमृततादात्म्यरूपमेकम्, मानसेऽम्बुवितादात्म्यरूपम् द्वितीयम्, यशसि चन्द्रचन्द्रिकातादात्म्यरूपं च तृतीयम्, तत्र प्रथमरूपके मधुरिमातिशयः साधारणो धर्मः स च विषयिणि अमृते स्वभावसिद्धो विषये वचसि आरोपितो, मधुरिमातिशयस्य वस्तुतस्तत्रासत्त्वात्, द्वितीये रूपके गान्भीर्यम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि अम्युनिधौ स्वाभाविको विषये मानसे आरोपितस्तत्र तस्य वस्तुतोऽसत्त्वान्, एवम् तृतीये रूपके निर्मलत्वम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि चन्द्रे वास्तविको विषये यशसि आरोपितोऽमूर्तत्वेन वस्तुतस्तत्र तस्यासत्त्वान्। एवञ्चात्र त्रिष्वपि रूपकेषु साधारणो धर्मः उपचरित इति सिद्धम्। परन्तु तत्र प्रथमरूपकगत आरोपितोऽपि मधुरिमातिशयरूपः साधारणधर्मः शब्दोपात्तः, अन्यरूपकगतौ च पूर्वोक्तावरोपितौ धर्मौ न शब्दोपात्ताविति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘अविरतम्—’ इस पद्य में अमृत रूपक के विषय (उपमेय) वचन में मधुरिमातिशयरूप आरोपित साधारणधर्म शब्दतः उक्त है और समुद्र आदि के रूपकों में गम्भीरता आदि आरोपित धर्म शब्दतः उक्त नहीं हैं। अभिप्राय यह कि उक्त पद्य में तीन रूपक हैं—वचन में अमृत का तादात्म्य एक, मन में समुद्र का तादात्म्य दूसरा और यश में चन्द्र-ज्योत्स्ना का तादात्म्य तीसरा। इन तीनों में से प्रथम में साधारणधर्म माधुर्य की अधिकता है जो उपमान (अमृत) में वास्तविक है और उपमेय (वचन) में आरोपित, द्वितीय में साधारणधर्म गम्भीरता है जो उपमान (समुद्र) में वास्तविक और उपमेय (मन) में आरोपित है। इसी तरह तृतीय में साधारणधर्म निर्मलता है जो उपमान (चन्द्र) में वास्तविक और उपमेय (यश) में आरोपित है। उपमेय में ये धर्म आरोपित इसलिए कहे जाते हैं कि उनमें वे धर्म वस्तुतः रहते नहीं। इस तरह यह सिद्ध है कि यहाँ के तीनों ही रूपकों में साधारणधर्म उपचरित हैं, पर उनमें भी विलक्षणता यह है कि प्रथम रूपक का आरोपित साधारणधर्म (माधुर्य की अधिकता) शब्दतः उपात्त है और अन्य दो रूपकों के साधारणधर्म (गम्भीरता और निर्मलता) शब्दतः उपात्त नहीं हैं। फलतः यह पद्य उपात्त उपचरित धर्म और अनुपात्त उपचरित धर्म दोनों का उदाहरण होता है।

केवलशब्दात्मकं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

कविन्-कविन् केवल शब्दः साधारणधर्मरूपरहितप्रति नार्थस्तदुदाहरणं यथेति भावः।

केवल शब्दात्मक साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अद्वितान्यश्चसङ्घाते. सरोगाणि सदैव हि।

शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः ॥’

व्याख्यातोऽयं श्लोको लक्षणानिरूपण इति नेह पुनर्व्याख्यायते।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अङ्घ्रितानि इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले लक्षणानिरूपण में की जा चुकी है, अतः पुनरावृत्ति उसकी यहाँ नहीं की जाती ।

उपपादयति—

अत्र सरोगशब्दादिरुपात्त एव प्रतीयते न लुप्तः । आद्यो ह्यभङ्गो द्वितीयस्तु भङ्गः ।

‘अङ्घ्रितानि—’ इत्यत्र शरीररूपोपमेये कमलरूपोपमानतादात्म्यम् रूपकम्, तत्र च न कश्चित् आर्यं साधारणधर्मः, अपि तु अक्षसंघातकरणकाङ्क्षनरूपः, सरोगत्वरूपश्च रिलट्टः शब्द एव तथा श्लेषश्च प्रथमः (अक्षपदगतः) अभङ्गः, द्वितीय (सरोगपदगतः) तु सभङ्गः । एव च धर्म उपात्त एव भवति नानुपात्तस्तथा चात्रैक एव भेद इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अङ्घ्रितानि—’ इस पद्य में शरीररूप उपमेय में कमलरूप उपमान का तादात्म्यरूपक है जिसमें साधारणधर्म ‘अक्षसंघात से अङ्घ्रित’ और ‘सरोग’ ये शब्द ही होते हैं । तात्पर्य यह कि ऐसा कोई धर्म उपलब्ध नहीं होता जो शरीर और कमल दोनों में रहता हो, पर उक्त दोनों सिद्ध विशेषण ऐसे हैं जिसका भिन्न-भिन्न धर्म शरीर तथा कमल दोनों में सघटित होता है, अतः ये शब्द ही यहाँ उपमान-उपमेय दोनों में रहने वाले समानधर्म माने जाते हैं । श्लेष भी यहाँ दो तरह का है—प्रथम अर्थात् ‘अक्ष’ शब्द में अभङ्ग और द्वितीय—अर्थात् ‘सरोग’ शब्द में सभङ्ग । अभङ्ग का अर्थ है बिना टुकड़ा किये दोनों अर्थों का निकल जाना और सभङ्ग का अर्थ है टुकड़ा करने पर दो अर्थों का निकलना । यह शब्दरूप साधारणधर्म बोधक पद के बिना प्रतीत नहीं होता, अतः इसका एक ही भेद (उपात्त) हो सकता है, दूसरा भेद (अनुपात्त-लुप्त) नहीं ।

अस्य भेदान्तरमाह—

अयमेव साधारणो यत्र युक्तिरूपेणोपन्यस्यते तद्धेतुरूपकम् ।

अयमेवेति । केवलशब्दात्मक इत्यर्थः । साधारण इति । धर्म इति शेषः । युक्तिरूपे-
णेति । आरोपोपपादकतयैत्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

रूपक का एक भिन्न भेद दिखलाया जाता है—अयमेव इत्यादि । यही—केवल शब्दा-
त्मक—साधारणधर्म जहाँ युक्ति रूप से (आरोप के उपपादकरूप से) उपन्यस्त (वर्णित)
रहता है वहाँ ‘हेतुरूपक’ होता है ।

उदाहरणं निर्दिष्टमाह—

यथा—

जसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘पञ्चशाखः प्रभो यस्ते शाखा सुरतरोरसौ ।

अन्यथाऽनेन पूर्यन्ते कथं सर्वगनोरयाः ॥’

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे प्रभो राजन् ! ते तव, यः, पञ्चशाखः पञ्चाङ्गुलिः करः, अस्तौ पञ्चाङ्गुलिः करः, सुरतरोः कल्पवृक्षस्य, शाखा तद्वत्, अस्तीति शेषः । अन्यथा-
त्तव करस्य सुरतकशाखात्वविरहे, अनेन तव पञ्चशाखेन, सर्वगनोरया सकलजनाभिलाषाः,
कथं केन प्रकारेण, पूर्यन्ते सफला वियन्ते ? इत्यर्थः । अत्रोत्तरार्धगतराब्दरूपः समानो
धर्म करे सुरतकशाखातादात्म्यारोपस्योपपादक इति हेतुरूपकमिदमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पञ्च इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति

करता है—हे प्रभो ! आपका जो पञ्चशास्त्र—अर्थात् पाँच अङ्गुलियों वाला हाथ है वह कल्प-
वृक्ष की शाखा है। अन्यथा इसके द्वारा सबके मनोरथ कैसे पूर्ण किए जाते हैं ! यहाँ
उत्तरार्धगत (अन्यथा '.....' इत्यादि) शब्दरूप साधारणधर्म हाथरूप उपमेय में कल्प-
वृक्षशाखारूप उपमान के आरोप को उपपन्न करता है, अतः यह 'हेतुरूपक' है।

हेतुरूपकस्वोदाहरणान्तर निर्देशुमाह—

एवम्—

इसी तरह—

उदाहरणमाह—

‘प्राणेशविरहकान्तः कपोलस्तव सुन्दरि।
मनोभवव्याधिमत्त्वात् नृगाङ्कः खलु निर्मलः ॥’

हे सुन्दरि ! प्राणेशस्य पत्यु, विरहेण विद्योगेन, कान्त म्लानः, तत्र, कपोल,
मनोभवव्याधिमत्त्वात् कपोलपक्षे कामजन्यविशिष्टमनोव्यथायुक्तत्वात् नृगाङ्करसपक्षे मनसि
समुत्पन्नस्य क्षयरोगस्य मन्थनकारित्वात्, चन्द्रपक्षे कामभावनाधिक्यप्रयुक्तराज्यक्ष्मास्य-
रोगवत्त्वाच्च, खलु निश्चयेन, निर्मल विमल, नृगाङ्क चन्द्र नृगाङ्करसध तद्रूप इत्यर्थः । -

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणेश इत्यादि । हे सुन्दरि ! प्राणेश के विरह से
म्लान तेरा कपोल 'मनोभवव्याधिमत्त्व' (कपोल के पक्ष में कामजन्यविशिष्ट आधि-
मनोव्यथा—से युक्त होने, नृगाङ्करस के पक्ष में—मन में उत्पन्न होनेवाले रोग—क्षय—का
मन्थन करने, और चन्द्र के पक्ष में कामदेव के रोग—राज्यक्ष्मा—से युक्त होने) के कारण
निर्मल 'नृगाङ्क' (एक तरह का औषध और चन्द्रमा) है ।

उपपादयति—

इह श्लेषेण रसचन्द्रयोः कपोले ताद्रूप्यप्रत्ययाद्द्विरूपकं निरवयवम् । हेतुस्तु
त्रिषु श्लिष्ट एव ।

निरवयवमिति । परस्परमवयवावयविभावाभावनादिति भावः । हेतुरिति । मनोभवेत्यादि
शब्द इत्यर्थः । त्रिविति । उपमानद्वये उपमेये चेत्यर्थः । श्लिष्ट इति । श्लेषप्रयुक्तास्त्रयोऽर्था
पद्यव्याख्यायामुक्तरत एवावगन्तव्या । 'प्राणेश—' इत्यत्र नृगाङ्कपदस्य श्लिष्टतया
नृगाङ्कनामा रसविरोपचन्द्रध्वार्थः । तथा च तयो —रसविरोपचन्द्ररूपयो —द्वयोरुपमानयो
कपोलरूपे एकस्मिन्नुपमेये तादात्म्य प्रतीयते, अतो निरवयव द्विरूपकमेतत् । एतदेवोदाहर-
णान्तरदाननिदानभूत पूर्वोदाहरणतो वैलक्षण्यम् इति बोध्यम् । अस्मिन् द्विरूपके साधारणो
धर्मः 'मनोभवव्याधिमत्त्वात्' इति श्वेत्कशब्दान्मक, स चारोपोपपादकतयाऽत्र वर्णित इति
हेतुरूपकस्य द्विरूपकस्य सिद्धयतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि । 'प्राणेश—' इस पद्य में श्लेष द्वारा नृगाङ्क-
रस और चन्द्र दोनों का तादात्म्य कपोल में प्रतीत होता है, अतः निरवयव (परस्पर
अङ्गाङ्गिभावरहित) 'द्विरूपक' है । अर्थात्—सुन्दरी के कपोल में साथ ही साथ दो
रूपक—दो वस्तुओं के अभेद—यथाए गण्ड हैं । 'मनोभवव्याधिमत्त्व' रूप केवल शब्दात्मक
साधारणधर्म (जिसका वर्णन यहाँ आरोप के हेतुरूप में हुआ है और जिसके कारण यह
हेतुरूपक कहलाता है) तो तीनों (कपोल, नृगाङ्करस और चन्द्रमा) में श्लिष्ट है—उसके
तीन अर्थ तीनों पक्षों में लग जाते हैं । फलतः पहला पद्य एकहेतुरूपक का उदाहरण था
और यह पद्य हेतु द्विरूपक का उदाहरण है । -

भेदप्रदर्शनसमाप्तिं सूचयन्नाह—

एवमन्येऽपि प्रकारा ज्ञेयाः ।

पूर्वोक्तप्रकारका अनुक्ता अपि रूपरूपकारा स्वयमूहनीया इति भाव ।

यहले कहे गए प्रकारों के समान रूपक के अन्य (अनुक्त) प्रकार भी स्वयं समझ लेने चाहियें ।

विशेषमाह—

‘उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पंभयानां

निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्दिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः

सद्वातः कोऽपि धात्रामयमुदथगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥’

अत्रोपमेय उपमानस्य नारोपः, अपि तु कारणे कार्यस्येति रूपकं न भवतीति प्राञ्चः । पतन्मवानुसारेणैवास्माभिरपि लक्षितम् । उच्छृङ्खलाः पुनरारोपमात्रं रूपकं वदन्त इहापि रूपकमेवाचक्षत इति प्रागेव निरूपितम् ।

उल्लास इति । सूर्योदयवर्णनमिदम् । फुल्लाना विकसिताना, पङ्केरुहाणा कमलानाम् पटले समूहे, पतता पातुकानाम् मत्ताना पीतकुसुममधुमदयुकानाम्, पुष्पंभयानाम् भ्रमराणाम्, उल्लास हर्ष तद्देतुरिति यावत्, शोकरूपेण दावानलेन वनवह्निना विकल्पानि हृदयानि यासा तासाम्, कोकसीमन्दिनीना चक्रवाकीनाम्, निस्तार तु खोद्धारस्तद्देतुरिति यावत्, उपहतं गारित महस्तेजो यैस्तेषाम्, तामसाना तमपुञ्जानाम्, उत्पात विनाशः सद्देतुरिति यावत्, चक्षुषा नेत्राणाम्, पक्षपात पक्षपातहेतु सहायक इति यावत्, कोऽपि विकलशय, अथ दृश्यमान. धात्रा तेजसाम् संघात. समूह, उदथगिरिप्रान्तत उदयानल-शिखरात्, प्रादुरासीत् प्रावृर्भवित्यर्थः । अत्रत्यं वक्तव्यम् आह—अत्रेत्यादिना । अयं भाव—उपमेये उपमानारोप एव रूपकम्, अत्र तु उल्लासादिधामत्तपातपदार्ययोरुपमानोपमेयभावो नास्ति, अपि तु कार्यकारणभाव—अतः कारणे कार्यस्यात्राभेदारोप इति नेदम् रूपकम्, किन्तु हेतुलङ्कारोऽयमतिरिक्त इति प्राणीना । रसगद्गाधकारो भट्ट-जगन्नाथोऽपि अस्मिन्शरे प्राचीनमतमेव स्वोक्तते, अत एव ‘उपमेये निश्चीयमानमुपमान-दादात्म्यम्’ इति उपमानोपमेयपरितं रूपकलक्षणं निर्दिमीते । उद्धतस्वभावा- केचनाधुनिकाः आरोपमात्रं रूपकं स्वोक्तवन्त प्रकृते कारणे कार्यारोपमपि रूपकं मन्यन्ते । एष विचारः प्रागपि कृतो ग्रन्थकृता इति ।

एक विचारविशेष देखिये—उल्लास. इत्यादि । सूर्योदय का वर्णन है—‘विकसित कमलों के समूह पर गिरते हुये मधुपान से मत्त बने भ्रमरों का उल्लास (हर्ष) अर्थात् हर्षकारक, शोकरूप दावानल से विकल हृदयवाली चक्रवाकियों का निस्तार (दु खोद्धार) अर्थात् दु खोद्धारक, प्रकाश को नष्ट कर चुके अन्धकारों के समूह का उत्पात (विनाश) अर्थात् विनाश करने वाला, और नेत्रों का पक्षपात अर्थात् पक्षपात करने वाला कोई तेजपुञ्ज उदयाचल के प्राग्त से प्रकट हुआ है ।’ यहाँ उपमेय में उपमान का आरोप नहीं है, किन्तु कारण में कार्य का आरोप है, अतः यह रूपक नहीं होता—अर्थात् ‘हेतु’ नामक एक दूसरा ही अलङ्कार होता है यह प्राचीनों का मत है । पिंडतराज ने भी प्रकृत ग्रन्थ में उक्त प्राचीन मत के अनुसार ही लक्षण किया है—अर्थात् इन्होंने भी रूपक में उपमानोपमेयभाव का रहना आवश्यक माना है अतः उनके मत से भी यहाँ रूपक नहीं हो सकता । पर उद्धतस्वभाववाले कुछ नवीन विद्वान् सभी

आरोपों को—फिर वह उपमेय में उपमान का हो, कारण में कार्य का हो अथवा अन्य कोई—रूपक कहते हैं, अतः उनके मत से उक्त पद्य में भी रूपक ही अलंकार है यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

स्थलविशेषे साधारणधर्मस्वरूप स्फोरयितुं शब्दासमाधाने विवक्षे—

ननु—

‘यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।

कारुण्यकुसुमाकाशः पिशुनः केन वर्यते ॥’

इत्यत्र लशुनहुताशनाकाशैः पिशुनस्य किं साधर्म्यम्, येन तेषामस्मिन् रूपक-मुच्यत इति चेत्, यशःसौरभ्ययोः शान्तिशैत्ययोः कारुण्यकुसुमयोश्च ताद्रूप्ये शब्दादुपस्थापितेऽनन्तरमुपस्थितं यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वमेतत्।

‘यशःसौरभ्य—’ इति। परमेतत् प्रागस्मिन्नेव प्रकारेण व्याख्यातम्। तेषाम् लशुनादीनाम्। अस्मिन् पिशुने श्रमावेति। अत्र यथायथं समवायादिरभावाद्यप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धो विज्ञेयः। एतदिति। एतत् यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वम् साधारणधर्म इति भावः। अयमत्र विशदोऽर्थः—‘यशःसौरभ्य—’ इत्यत्र पिशुनरूपे उपमेये लशुनहुताशनाकाशानामुपमानानां ताद्रूप्यं प्रधानरूपकम्, तच्च साधारणधर्मोपस्थितिमन्तरान् न मेदुः शक्नोति, रूपकेऽपि साधारणधर्मप्रयोज्यत्वस्य प्रागुपपादितत्वात्, एवञ्च लशुनपिशुनयोः हुताशनपिशुनयोरकाशपिशुनयोश्च कः समानो धर्म इति समुचिताया जिज्ञासायाम् एतद् बोध्यम् यत् नात्र पूर्वोक्त प्रधानत्वेन विवक्षितम् एकमेव रूपकम्, अपि तु सत्त्वमर्थकानि अपराण्यपि त्रीणि रूपकानि सन्ति तत्र यशस्युपमेये सौरभ्यस्योपमानस्य ताद्रूप्यम् एकम्, शान्तिरूपमेये शैत्यरूपोपमानस्य ताद्रूप्यम् द्वितीयम्, कारुण्यरूपमेये कुसुमरूपोपमानस्य ताद्रूप्यम् तृतीयम्, एवञ्चैतानि रूपकानि प्राक् शब्दतः उपतिष्ठेरन्, येन तयोस्तयोः पदार्थयोरैक्यविज्ञातमिति पर्यवसितम्, तथा पर्यवसानानन्तरञ्च यशोरूपसौरभ्याभाववत्त्वं लशुनेन, शान्तिरूपसौरभ्याभाववत्त्वं हुताशनेन, कारुण्यरूपकुसुमाभाववत्त्वं च आकाशेन पिशुनस्य साधर्म्यमिति। अर्थात् लशुनो यथा सौरभ्याभाववान् तथा पिशुनयशोऽभाववान्, इत्यर्थकरत्वेन विज्ञातयोर्यथा सौरभ्ययोरभावो लशुनपिशुनयोरस्तः। एवमन्याशोऽपीति।

स्थल विशेष में साधारणधर्म क्या है इस बात का स्पष्टीकरण शब्दा समाधान द्वारा किया जाता है—ननु इत्यादि। ‘यशःसौरभ्य—’ इस पद्य—जिसकी व्याख्या दूसरी प्रकरण में पहले की जा चुकी है—में लहसुन, अग्नि और आकाश के साथ चुगलखोर का क्या समानधर्म है जिसे लेकर यहाँ रूपक कहा जाता है? तो इसका समाधान यह है कि यश और सुगन्ध, शान्ति और शीतलता तथा दया और पुष्प का ताद्रूप्य (अभेद) शब्द द्वारा उपस्थित कर दिये जाने पर बाद में, ‘यशरूप सुगन्ध के अभाव से युक्त होना’ (अर्थात् जैसे लशुन सुगन्ध के अभाव वाला होता है—अपने में तो सुगन्ध होता ही नहीं दूसरे का सुगन्ध भी उसके पास नहीं आ सकता—वैसे ही चुगलखोर यश के अभाव वाला है—किसी यशस्कर कार्य को स्वयं तो करता नहीं, दूसरे का भी यश उस तक नहीं पहुँच पाता, निन्दा ही पहुँच पाती है) यही समानधर्म है। इसी तरह अग्न्य-अग्नि आदि—के साथ भी समझना चाहिए।

एव स्थितौ अन्योन्याश्रयमाशुच्य समाधत्ते—

एवमपि लशुनखलयोस्ताद्रूप्यसिद्धौ सत्यां लशुनरूपखलावृत्तित्वेन यशः-सौरभ्ययोस्ताद्रूप्यं सिद्धयेत्, यशःसौरभ्ययोस्ताद्रूप्यसिद्धौ च यशोरूपसौरभ्य-

शून्यत्वेन लघुनाखलयोस्ताद्रूप्यम्, इत्यन्योन्याश्रयो नाशङ्कनीयः । सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् । शिल्पिभिः परस्परवष्टम्भ-मात्राधीनस्थितिकाभिः शिलेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणश्च ।

ननु यथा प्रधानरूपकषट्कोपमानोपमेययोर्लघुनादिपिशुनयोः साधारणधर्मः यशोरूप-सौरभ्याद्यभाववत्त्वम्, तथा समर्थरूपकषट्कयोर्लघुमानोपमेययोः यश्चसौरभ्ययोः शान्ति-शैत्ययोः काष्ठ्यदुल्लुभयोश्च साधारणधर्मः लघुनादिरूपखला(पिशुना)वृत्तित्वम् एषित्वम्, एवञ्चान्योन्याश्रयापातः, लघुनादिरूपखलावृत्तित्वमूलकस्य यश्चसौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य सिद्धौ यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वमूलकस्य लघुनादिखलयोस्ताद्रूप्यस्य तथा तद्वर्ममूलकस्य-लघुनादिखलयोस्ताद्रूप्यस्य सिद्धौ तद्वर्ममूलकस्य यश्चसौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य समपेक्षित-त्वात्, अन्योन्याश्रितानि च क्वर्याणि न प्रकल्पन्ते, यथा नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति इत्येकमपि रूपकं न सिद्धपेदिति चेन्मैवम्, क्वचित्शैलौ सकल्पपदार्थसिद्धेः कल्पनामयतया कल्पनायाश्च कविप्रतिभाधीनत्वेन तत्रान्योन्याश्रयस्यादुपकृत्वात् (लौकिकषट्कनास्तेवान्यो-न्याश्रयः प्रतिबन्धकः, कविप्रतिभोत्थितकल्पनामु नेत्याशयात्) न चोत्पत्तापि ज्ञानेऽपि अन्योन्याश्रयस्य प्रतिबन्धकतया कथं तथा कविप्रतिभेति वाच्यम्, स्थापत्यकलाकीवि-द्वैर्मिथोऽनष्टम्भमात्राधीनस्थितिकशिलेष्टकादिद्वारा गृहविशेषनिर्माणदर्शनेनोत्पत्तावपि नान्यो-न्याश्रयस्याप्रतिबन्धकत्वं स्वीकर्तुं योग्यम्, किमुत ज्ञाने इत्यभिप्रायान् ।

पूर्वोक्त 'यशोरूप सौरभ्याद्यभाववत्त्व' पदार्थको साधारणधर्म मानने पर अन्योन्या-श्रयदोष की आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—एवमपि इत्यादि । ऐसा मानने पर भी यदि आप यह शंका करें कि—जब लहसुन और जुगलखौर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब 'लहसुनरूप जुगलखौर' में न रहने के कारण यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा और जब यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब यशरूप सुगन्ध से शून्य होने के कारण लहसुन और जुगलखौर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा, इस तरह अन्योन्याश्रय होगा—अर्थात् एक ताद्रूप्य की सिद्धि के बिना दूसरा ताद्रूप्य सिद्ध नहीं होगा—फलतः एक भी ताद्रूप्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, तो इसका उत्तर यह है कि काव्य में सब बातों की सिद्धि कल्पनामय है और कराना है कवि की प्रतिभा के अधीन । अतः प्रतिभा द्वारा दोनों में से किसी भी ताद्रूप्य का पहले निर्माण किया जा सकता है, और जब इस तरह एक ताद्रूप्य बन गया तब अन्य ताद्रूप्य बनने में तो कोई बाधा है नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ अन्योन्याश्रय की बात नहीं चल सकती । न केवल कल्पना में ही किन्तु लोक में भी—कारोबर लोग केवल एक दूसरे के सहारे खड़े रहने वाले ईंट-पत्थरों से विरोध प्रकार के घर बनाते पाए जाते हैं । यदि अन्योन्याश्रय नहीं प्रकार के निर्माण में बाधक हो तब उनका कारोबार ही बन्द हो जाय । अतः यह समझना चाहिए कि अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है, जहाँ उसके कारण, कार्य का रुकना अनुभवसिद्ध हो, अन्यथा नहीं ।

रूपकध्वनिमुदाहरणमाह—

अथास्य ध्वनिः—

अतः परं रूपकालङ्कारध्वनिर्निरूप्यत इति भावः ।

अत्र रूपकध्वनि का निरूपण किया जाता है—

रूपकध्वनेः प्रथमभेदमुदाहरणमाह—

तत्र शब्दशक्तिमूलो यथा—

तत्रेति । रूपकध्वनिमध्य इत्यर्थः । शब्दशक्तिः शब्दनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलको रूपक-ध्वनिर्यथेति भावः ।

रूपकध्वनि दो प्रकार की होती है—एक शब्दशक्ति (शाब्दी व्यञ्जना) मूलक और दूसरी अर्थ शक्ति (आर्थी व्यञ्जना) मूलक। इन दोनों से प्रथम, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘विज्ञत्वं विदुषां गणेषु सुकवितां सामाजिकानां कुले
माङ्गल्यं स्वजनेषु गौरवमयो लोकेषु सर्वेष्वपि ।
दुर्वृत्ते शनितां नृलोकबलये राजत्वमव्याहृतं
मित्रत्वं च वहन्नकिञ्चनजने देव स्वमेको भुवि ॥’

कवि राजान कमपि स्तौति—हे देव राजन् ! विदुषा पण्डितानां, गणेषु समूहे, विज्ञत्वं पाण्डित्य बुधत्वध, सामाजिकानां सभ्यानां साहित्यिकातामिति चापत्, कुले समूहे, सुकविता सुन्दरकाव्यकर्तृत्वं शुक्रत्वध, स्वजनेषु निजाधितलोकैषु, माङ्गल्यं कल्याण-रूपत्वम् आहारकत्वध, अधो अनन्तरम्, सर्वेष्वपि लोकेषु सकलजनेषु, गौरव ध्येष्टत्वम् श्रेष्ठस्पर्तित्वध, दुर्वृत्ते दुराचारिणि जने, अशनिता वज्रत्वम् शनिताध, नृलोकबलये मानबलोकमण्डले, अव्याहृतं अप्रतिहताज्ञम् राजत्व नृपत्वं चन्द्रत्वध, तथा अकिञ्चनजने दरिद्रलोके, मित्रत्वं सहत्वम् सूर्यत्वध, वहन् दधान, त्वम्, भुवि संसारे एकः अद्वितीयः, असीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—विज्ञत्वम् इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! विद्वानों के समुदाय में विज्ञता (व्यङ्ग्य अर्थ बुधत्व) को, सम्य समूह (साहित्यिकों) में सुन्दर कवित्व (व्यङ्ग्य अर्थ शुक्रत्व) को, आत्मीय जनों में कल्याणरूपता (व्यङ्ग्य अर्थ मंगलप्रहत्व) को, सब लोगों में गौरव-श्रेष्ठता (व्यङ्ग्य अर्थ श्रेष्ठस्पर्तित्व) को, दुराचारियों में अशनिता—वज्रत्व (व्यङ्ग्य अर्थ शनिप्रहत्व) को मूणण्डल में अश्याहतराजत्व (व्यङ्ग्य अर्थ चन्द्रत्व) को और दरिद्रजनों में मित्रता (व्यङ्ग्य अर्थ सूर्यत्व) को धारण करनेवाले आप पृथिवी पर एक हैं—अद्वितीय हैं (आपके जोड़ का दूसरा कोई नहीं) ।

उपपादयति—

अत्र शक्तिनियन्त्रणेषु विधुत्व-शुक्रत्वादीनि बुधाद्यभेदरूपाणि राजनि व्यज्यन्ते ।

‘विज्ञत्वम्—’ इत्यत्र राजप्रकरणगते पद्ये विज्ञत्व-सुकवितादीनां पदानां शक्तिः (अभिधा) प्रकरणेन पाण्डित्यसुन्दरकाव्यकर्तृत्वादावर्थं नियम्यते, अतो बुधत्व-शुक्रत्वा-दयोऽर्थां न तेषां पदानां वाच्या किन्तु अनेकार्थकपदप्रयोगरूपयुक्तिसमुल्लसितया तत्तत्पद-निष्ठव्यञ्जनया बुधत्वादयोऽर्थां बोध्यन्ते, बुधत्वादयश्च बुधाद्यभेदरूपां पदार्थां, अभेद एव च रूपकम् इति रात्रूपोपमेये बुधाद्युपमानाभेद रूपकम्—व्यज्यते, अतः शब्दशक्तिमूल-रूपकध्वनेरुदाहरणमिदं पद्यं भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘विज्ञत्वम्—’ यह पद्य राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः ‘विज्ञत्व-सुकविता’ आदि अनेकार्थक पदों की शक्ति (अभिधा) प्रकरण द्वारा ‘पाण्डित्य-सुन्दरकाव्यनिर्माणत्व’ आदि अर्थ में नियन्त्रित हो जायगी—फलतः ‘बुधत्व शुक्रत्व’ आदि अर्थ वाच्य नहीं हो सकेगा, परन्तु अनेकार्थक पद-प्रयोग करने के कारण सटी हुई शाब्दी व्यञ्जना से बुधत्व आदि अप्राकरजिक अर्थ भी ज्ञात होगा और बुधत्व आदि का अर्थ बुध आदि प्रदों का अभेद ही पर्यवसित होता है अतः यहाँ रूपक ध्वनित होता है क्योंकि अभेद को ही रूपक कहा जाता है। तात्पर्य यह

कि—राजारूप उपमेय में पुष आदि प्रहो (उपमानों) का अनेद जो यहाँ ध्वनित होता है वह व्यङ्ग्यरूपक कहलायगा, अतः यह पद्य रूपकध्वनि का उदाहरण है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैते—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

‘अविरलविगलदानोदकधाराऽऽसारसिक्कधरणितलः ।

घनदाग्रमहितमूर्तिदेव ! त्वं सार्वभौमोऽसि ॥’

राजवर्णनमिदम् । हे देव राजन् ! अविरलम्, सततम्, विगलतं सततः दानोदकस्य उत्सर्गजलस्य मदसलिलस्य च, धारासारेण धारावाहिकमम्मातेन, सिक्कमार्द्रकृतम्, धरणितलं येन ताहरा तथा घनदानाम् घनदायकानाम् घनदस्य कुबेरस्य च, अग्ने, महिता भरारता, मूर्ति स्वरूपं यस्य तादृशश्च त्वम् सार्वभौम सर्वभूमिपति (चक्रवर्ती) दिग्गजश्च, असि विशस इत्यर्थः । अत्र व्यर्थज्ञानम् दान-घनद-सार्वभौम-शब्दानामभिधाः प्रकरणेन राजपक्षापार्थेषु नियन्त्रिता, अतो दिग्गजपक्षीया अर्था न वाच्या अपि तु शब्दशक्ति-मूलराज्यजनया बोध्याः—व्यङ्ग्या इति राजरूपोपमेयगतदिग्गजरूपोपमानतद्भूत्याम्बुदं रूपकं ध्वन्यते, अत इदमपि पद्यम् शब्दशक्तिमूलरूपकध्वनेरुदाहरणम् । इदंस्तु विशेषो यत् प्रथमोदाहरणे विशेषान्येव व्यङ्ग्यानि, अत्र तु विशेष्यमपीति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अविरल इत्यादि । राजा का वर्णन है—हे देव ! आप सार्वभौम (चक्रवर्ती राजा अथवा दिग्गज) हैं । आपने निरन्तर गिरते दान-जल (दिग्गजपक्ष में मद-जल) की धारावाहिक वृष्टि से पृथिवीतल को सींच दिया है और आप ‘घनदाग्रमहितमूर्ति’ (राजा के पक्ष में घनदायकों के भागे प्रशस्त स्वरूपवाले, दिग्गज के पक्ष में—कुबेर के भागे प्रशस्त स्वरूपवाले) हैं । यहाँ प्रकरण से दान, घनद और सार्वभौम शब्द की अभिधा शक्ति राजपक्षीय अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः दिग्गजपक्षीय अर्थ शब्दीव्यञ्जना द्वारा ध्वनित होता है जिससे अन्त में राजारूप उपमेय में दिग्गजरूप उपमान का तादृश्य अभिव्यक्त होता है, अतः यह पद्य भी शब्दशक्ति-मूलक रूपकध्वनि का उदाहरण होता है । पर, प्रथम उदाहरण में केवल विशेषणों में ही ध्वनि हुई है और इस द्वितीय उदाहरण में विशेषण तथा विशेष्य दोनों अर्थों में वह होती है यह दोनों उदाहरणों में अन्तर समझना चाहिये ।

अर्परशक्तिमूलकं रूपकध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अर्थशक्तिमूलो यथा—

अर्थशक्तिः = अर्थनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलकरूपकध्वनिर्व्यङ्ग्यः ।

अर्थनिष्ठाव्यञ्जनामूलकं रूपकध्वनि, जसे—

उदाहरण निर्दिशति—

‘कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं

स्नेरानना सपदि शीलथ सौधमौलिम् ।

श्रीदि भजन्तु कुमुदानि मुदामुवासा-

मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुञ्चानि ॥’

सखी नापिकानाह—हे आति सखि ! सायम् सन्ध्यासमये, कस्तूरिकाया मृगागडर, तिलकम् काल्यदिपं, विधाय कृत्वा, स्नेरानना प्रसन्ननुत्री सती, सपदि शोभम्, सौधमौलिम् गृहशोभाम्, शीलथ आश्रय । एवंतते सति किं स्वात्तदाह—श्रीदिम् इति । कुमुदानि रात्रि-

विकाशीनि पुष्पाणि, मुदा विकासानाम्, उदाराम् अतिशयिताम्, प्रौढि पूर्णताम्, भजन्तु प्राप्नुवन्तु, अपि च हरित दिशा, परितः सर्वतोभावेन, मुखानि प्रारम्भिकभागान्, उल्लासयन्तु प्रकाशयन्तु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कस्तूरिका इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू सन्ध्या समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, प्रासाद शिखर का परिशीलन कर, जिससे कुमुद हर्ष की आयन्त अधिकता को प्राप्त करें—अर्थात् पूर्णतया विकसित हो उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—अर्थात् उनके प्रारम्भिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ ।

उपपादयति—

अत्र त्वदीयमाननं कलङ्कचन्द्रिका विशिष्टचन्द्राभिन्नमिति रूपकम् कुमुदविकासादिना ध्वन्यते न तु भ्रान्तिमान् । कुमुदानां हरितां चाऽचेतनत्वात् । न चाऽचेतनेषु मुदामसम्भवादवश्यं कुमुदादिषु चेतनत्वरोपेण भाव्यम्, तेन च भ्रान्तिसिद्धिरिति वाच्यम् । मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकत्वात् ।

अत्र प्रकृतपद्ये । कलङ्केति । कलङ्कश्च चन्द्रिका चेति इन्द्र, ताभ्या विशिष्टो यच्चन्द्रस्तदभिन्नमिति भावः । विकासादिनेति । आदिपदेन हरिन्मुखोल्लास पराम्तरयते । भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमदलद्वार । तस्याध्वने हेतुमाह—कुमुदानामिति । भ्रान्तिस्थापनायाशक्यते न चेति । समाधीयते—मुत्पदस्येति । 'कस्तूरिका—' इति श्लोके स्मेराननाया कस्तूरीतिलकालङ्कृताया नायिकाया साय सौधशिखरारोहणं निमित्तीकृत्य कुमुदविकास दिशामुखोल्लासश्च वर्णितः, स च नायिकाननस्य चन्द्राभिन्नत्वमन्तरा न सम्भवति, तस्य चन्द्रायत्तत्वात् अतः तद्दर्शनेन 'नायिकाननम् सकलङ्क सचन्द्रिकश्च चन्द्र' इति रूपकम् ध्वन्यते । कुमुदानाम् हरिताम् च नायिकानने चन्द्रभ्रम इति भ्रान्तिमदलद्वारध्वनिरेवात्र न रूपकध्वनिरिति तु शक्यम्, वस्तुम् अचेतनेषु कुमुदहरितसु भ्रान्तेरसम्भवात् । अचेतनेष्वपि तेषु चेतनत्वरोपेण, तदधिकरणकुमुदवर्णनस्वान्यथाऽलङ्कृतेरित्यपि न वस्तु योम्यम्, मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकताया लक्ष्यार्थस्य विकासस्याचेतनकुमुदादावपि सम्भवेन चेतनत्वरोपस्यानावश्यकत्वात्, एवञ्चार्यशक्तिमूलकरूपकध्वनेरुदाहरणमिदं पर्यं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कस्तूरिका—' इस पद्य में कस्तूरी का तिलक लगाकर प्रसन्नमुखी नायिका के प्रासाद शिखरारोहण से कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश वर्णित हुआ है, यह वर्णन तब तक सगत नहीं हो सकता जब तक नायिका के मुख को चन्द्र नहीं मान लिया जाय, क्योंकि कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश चन्द्र के ही अधीन है, अतः यहाँ इस वर्णन से 'नायिका का मुख कलङ्क और चाँदनी दोनों से युक्त चन्द्र से अभिन्न है' यह रूपकालङ्कार ध्वनित होता है । कुमुदों और दिशाओं को नायिका के मुख में उस तरह के चन्द्र का भ्रम हुआ, अतः वे विकसित तथा प्रकाशित हो उठे इस अभिप्राय के अनुसार यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार ही ध्वनित होता है, 'रूपकालङ्कार' नहीं—ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कुमुद आदि अचेतन पदार्थ हैं और अचेतनों में भ्रम (किसी तरह का भी ज्ञान) हो ही नहीं सकता । आप कहेंगे—अचेतनों में मुद (हर्ष) भी तो नहीं हो सकता और यहाँ कुमुदों में हर्ष का वर्णन किया गया है, अतः अवश्य ही इन अचेतन पदार्थों में चैतन्य का आरोप करना पड़ेगा और जब चेतनता का आरोप हो जायगा तब हर्ष के समान भ्रम भी उनमें हो ही सकता है तो यह तर्क भी उचित नहीं । कारण, 'मुत्' पद यहाँ 'विकास' अर्थ में लाक्षणिक है, अतः चैतन्य का आरोप आवश्यक नहीं है । फलतः यह पद्य 'अर्थशक्तिमूलक रूपकध्वनि' का उदाहरण होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विविक्तमिति । भ्रान्तिमदमिधितमित्यर्थः । यत्र भ्रान्तिमदलङ्कारस्य सन्देहोऽपि न भवेतादृश रूपकध्वनेरुदाहरणं निम्नमिदिष्टं बोध्यमिति भावः ।

उदाहरणान्तरं दिखलाने के लिये कहा जाता है—इदं वा इत्यादि । अर्थान्तिमूलक रूपकध्वनि का विविक्त—अर्थात् जिसमें भ्रान्तिमत्-अलङ्कार ध्वनि का सन्देह भी नहीं किया जा सकता—उदाहरण इसको—निम्नलिखित पद्य को—समझना चाहिए ।

उदाहरणं दर्शयति—

‘तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम् ।

वदनत्वपस्तव चकोरलोचने ! परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥’

हे चकोरलोचने चकोररूपनयने ! तव वदनत्वपं मुखकागत्य, हरिता शिशा, पुरः अग्रे, स्थितम् प्रद्युतम्, तिमिरम् अन्धकारम्, हरन्ति नाशयन्ति, अथ अन्तरम्, ताप-शालिनाम् तापवताम्, तापं दाहम्, तिरयन्ति दूरीकुर्वन्ति, तथा, सरसीरुहश्रियः कमल-शोभा, परिमुद्रयन्ति मुद्रितां तिरोहितां कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—वदन इत्यादि । कवि किसी सुन्दरी की मुखकान्ति का वर्णन करता है—हे चकोरलोचने ! तेरे मुख की कान्तिर्यां विशाओं के आगे उपस्थित अन्धकार का हरण करती हैं, सत्यों के ताप को दूर करती हैं और कमलों की शोभाओं को मुद्रित करती हैं ।

उपनादयति—

इहापि वदन चन्द्र इति गम्यते ।

‘तिमिरम्-’ इति श्लोकेऽपि ‘मुखं चन्द्र’ इत्याकारक रूपकं ध्वन्यते । न चात्र भ्रान्ति-मदादेः संशयलेरोऽपि, अत इदं पद्यं सर्वसम्मत्या रूपकध्वनेरुदाहरणतां प्रतिपद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इहापि इत्यादि । ‘तिमिरम्-’ इस पद्य में भी ‘मुख चन्द्र है’ इस तरह का रूपक ध्वनित होता है । यहाँ अन्य किसी अलङ्कार के उद्भूत होने की संभावना ही नहीं है, अतः यह पद्य सर्वसम्मति से रूपकालङ्कार ध्वनि का उदाह-रण होता है ।

ध्वनिद्वारोक्तं रूपकध्वनिं निरूपयति—

आनन्दनवर्धनाचार्यास्तु—

‘प्राप्तश्रीरेव कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थत्वेदं विद्ध्य-

न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसगनसो नैव सम्भावयामि ।

सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-

स्त्वप्यायाते विकल्पानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

अत्र रूपकध्वनेयं काव्यचारुत्वव्यवस्थापनाद्रूपकध्वनिः’ इत्याहुः । तच्चि-न्त्यम् । अत्र च जलधिकम्पहेतुत्वेन विकल्पप्रयं कल्पयते ! तच्च प्रकृते राजवि-शेष्यिकां जलनिधिगतामनाहार्यविष्णुतादात्म्यज्ञानरूपां भ्रान्तिमेवाक्षिपति, न रूपकम् । तज्जीवाताराहार्यविष्णुतादात्म्यनिश्चयस्य कम्पाजनकत्वात् । कविज-लधिगतत्वेन वैयधिकरणयाश्च । अज्ञातमेव केवलं विष्णुतादात्म्यं जलधेः कम्पेऽ-नुपयुक्तमेव । चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः ।

‘श्राप्तश्रीरेप-’ इति । कश्चित् चाट्टकारो राजानं प्रत्याह—हे राजन् । त्वयि, आपात उपगते सति, प्राप्ता श्रीर्येन तादृश एव, पुनरपि, मयि, तम् अतुभूतपूर्वम्, मन्यन्वेदम् मन्द-रगिरिकरणकमन्यनपीडनम्, कस्मात्, विदध्यात् कुर्यात्, अनलसमनस इदानीं पालना-वसरे आलस्यशून्यहृदयस्यास्य, पूर्वाम् प्राचीनाम् प्रलयकालिक्रीमिति यावद्, निद्रामपि, नैव, समावयामि तर्कयामि, सकलानां द्वीपानां नार्यैरधिपैरनुयातोऽनुसृतश्चायं भूष पुन, किमिति, सेतुं, वध्नाति, इत्येव विरूपान् ज्ञानभेदान्, दधतो धारयत, इव, पयोधे समु-द्रस्य, कम्प आभातीत्यर्थः । रूपकाश्रयेणेति । अनुरणनरूपकद्वारेत्यर्थः । खण्डयति—तच्चिन्त्यमिति । तत्र हेतुमाह—अत्र चेत्यादिना । प्रकृते इति । ‘प्राप्त’ इति पद्य इत्यर्थः । राजविशेष्यिकामिति । राजा विशेष्यो यस्याम् तादृशीम् राजविषयिकामिति यावद् । जल-निधिगतामिति । समुद्रनिधामित्यर्थः । भ्रान्तेरेतद् विशेषणद्वयम् । तच्चीनातोरिति । रूपक-जीवातोरित्यर्थः । ‘कृपया सुधया सिद्ध’ इत्यत्र सेचनवत् आहार्याभेदनिश्चयतोऽपि भया-दिकं सम्भवतीत्युपपत्त्यन्तरमाह—कविजलधिगतत्वेनेति । अनिश्रितमपि वस्तुगत्या वर्तमानं राक्षि विष्णुतादात्म्यं समुद्रे कम्पं जनयेत्त्याह—अज्ञातमेवेति । अस्य विवरणम्—केवल-मिति । भ्रान्तेरिव निश्चयस्यापि समुद्रे सम्भव इत्यत आह—चमत्कारिण्यपीति । ‘श्राप्त-श्री—’ इत्यत्रोत्प्रेक्षा वाच्या, ततश्च भगवत्तादात्म्यमस्य भूश्रुतोऽवगम्यत इति रूपकाल-कारध्वनि. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धान्तज्ञानव्यङ्ग्य इति ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनाचार्य आह, तत्र युक्तम्, विचारासहत्वात् । तथाहि—‘श्राप्तश्री—’ इत्यत्र समुद्रस्य कम्पो वाच्या, तत्कारणत्वेन च प्रयो विकल्पा कल्पिता—‘मन्यनाय विष्णुरायात्’ इत्येक, ‘शयनाय विष्णुरायात्’ इति द्वितीय, ‘सेतुचन्धनाय राम आगत.’ इति च तृतीय । ते च राक्षि समुद्रस्यानाहार्यविष्णुतादात्म्यभ्रमेण सम्भवन्ति—रज्ज्वादी सर्पाद्यानाहार्यभ्रमस्य भयादिजन-कत्ववत् समुद्रगतस्योक्तभ्रमस्य कम्पजनकतासम्भवात्, न तु तस्मिन् तस्याहार्यविष्णुतादा-त्म्यनिश्चयेन, आहार्यनिश्चयस्य कार्यजनकतया कम्पजनरूपावुपपत्ते । एववात्रानाहार्य-निश्चयमूलको राक्षि समुद्रस्य विष्णुतादात्म्यभ्रमरूप ‘भ्रान्तिमान्’ अलङ्कार एव ध्वन्येत, न तु आहार्यनिश्चयमूलकं राक्षि विष्णुतादात्म्यरूपो रूपकालङ्कार । किञ्च तादृश आहार्यनिश्च-योऽपि कवेरेव जायते, कम्पस्तु समुद्रस्येति न तन्निश्चयस्य तत्कम्पजनकत्वं सम्भवति, समानाधिकरणयोरेव पदार्थयोर्जन्यजनकभावज्ञीकारात् । ज्ञातमेव सर्पादिक यथा भयादि-जनकं भवति तथा ज्ञातमेव विष्णुतादात्म्य ज्ञातरि समुद्रे कम्पं जनयितुमलमिति नाज्ञातस्य विष्णुतादात्म्यस्य कम्पे उपयोग । अपि च समुद्रगता भ्रान्तिरेवात्र चमत्कारजनिकेति भ्रान्ति-मदलङ्कारध्वनिरेवात्र न्याय्य इति भावः । वस्तुतस्त्वत्रेदं रहस्यम्—‘कवि’ समुद्रगत ज्ञान सम्भावयति, तच्च ज्ञानं यदि आहार्यनिश्चयरूपं स्वीकृतं स्यात् तदा रूपकध्वनिर्भवेत्, यदि तु अनाहार्यभ्रमरूपमज्ञीकृतं स्यात् तदा भ्रान्तिमदध्वनिर्भवेत्, एवं स्थितौ प्रन्यकृतोऽयमा-शयोऽवगम्यते यत् तद् ज्ञान नाहार्यनिश्चयरूपं भवितुमर्हति आहार्यात् (बाधकालिकेच्छा-जन्यात्) ज्ञानात् कम्पोत्पत्तेरसम्भवात्, कश्चिदुत्पत्त्यज्ञीकारेऽपि स कम्पोऽभिनयरूप-एव भवेदिति चमत्कारो न स्यात्, अतस्तद् ज्ञानम् अनाहार्यभ्रमरूपमेव स्वीकरणीयम्, यतस्तत् उत्पन्नं कम्पो वास्तविकतया वर्गनीयराजप्रकर्षं साधयन् चमत्कारं जनयेत् । फलतो भ्रान्तेरेव चमत्कारप्रयोजकतया भ्रान्तिमतो ध्वनिरेवात्र स्वीकर्तुमुचितो न रूपक-ध्वनिरिति ।

अथ ध्वनिकार द्वारा पेश किए गए रूपक ध्वनि के उदाहरण का वर्णन किया जाता

हैं—आनन्द इत्यादि । आनन्दवर्षनाचार्य ने तो अपने ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ में 'प्रास-
 श्रीर—अर्थात् हे राजन् ! आपके समुद्रतट पर जाने पर मानो इन विकल्पों को धारण
 करनेवाले समुद्र का कम्प प्रतीत होता है । वह (समुद्र) सोचता है—इन्हें (विष्णु
 को) लक्ष्मी मिल चुकी है, फिर ये उस मन्थन—जिसका बहू अनुभव पहले मुझे हो चुका
 है—का खेद मुझमें क्यों करेंगे ? पहले वाली (प्रलयकाल की) इनकी (विष्णु की) निद्रा
 की भी संभावना नहीं करता, क्योंकि इस समय (पालन के अवसर में) इनके मन
 में आलस्य नहीं है । पुनः बाँध बाँधने की तैयारी कर रहे हों, पर यह भी क्यों ? इस
 समय तो सब द्वीपों के अधिराजि इनके अनुयायी हैं (रावण की तरह द्वीपान्तरवर्ती कोई
 राजा प्रतिद्वन्द्वी आज नहीं है) । इस पद्य में, रूपक द्वारा ही काव्य की सुन्दरता
 व्यवस्थित है, अतः रूपक ध्वनि है' ऐसा कहा है, परन्तु उनका यह कथन विचारणीय
 है । कारण, इस पद्य में समुद्र के कम्प के हेतुरूप में तीन विकल्पों—'मन्थन करने के
 लिये विष्णु आए हैं' एक, 'सोने के लिये विष्णु आए हैं' दो और 'बाँध बाँधने के लिये
 रामरूप में अवतीर्ण विष्णु आए हैं' तीन—की कल्पना की जाती है । और ये तीनों
 विकल्प प्रस्तुत पद्य में, राजा जिसमें विशेष है ऐसी—अर्थात् राजा के विषय में
 होने वाली—और समुद्र में उत्पन्न, आहार्य नहीं, अपि तु सत्य विष्णु-तादात्म्य-(अभेद-)
 ज्ञानरूप, भ्रान्ति का ही आशेष करते हैं, न कि रूपक का, क्योंकि रूपक का जीवनदाता
 जो विष्णु का आहार्य (बाधित होने पर भी इच्छा से कल्पित) तादात्म्य (अभेद)
 निश्चय है वह कम्प को उत्पन्न नहीं कर सकता । तात्पर्य यह कि समुद्र को भ्रम हो
 तभी वह कम्पित हो सकता है, अपने आप झूठी कल्पना करके नहीं । आप कहेंगे—'कृपया
 सुधया सिद्ध—' इस स्थल पर जैसे कृपा में सुधा के आहार्य (अभेद) निश्चय से सेचन कहा
 गया है उसी तरह यहाँ भी राजा में आहार्य (अभेद) निश्चय से कम्प की बात कही जा
 सकती है तो इसका उत्तर यह है कि—हाँ, उक्त आहार्यनिश्चय और कम्प यदि एक ही
 व्यक्ति में होते तब वैसी बात कही जा सकती थी, पर यहाँ वे दोनों एक में हैं नहीं—
 अर्थात् उक्त आहार्यनिश्चय हुआ है कवि को और कम्प होता है समुद्र में, अतः इस
 व्यधिकरण (अन्य में रहनेवाले) ज्ञान से अन्य में कम्प नहीं हो सकता । आप कहेंगे—
 समुद्र को राजा में विष्णु-तादात्म्य-ज्ञान मले ही नहीं हो, पर वस्तुतः राजा में वह
 तादात्म्य जब है तब उससे समुद्र कम्पित क्यों नहीं होगा ? तो मैं कहूँगा कि महाशय
 जी ! रज्जु में सर्प का तादात्म्य यदि रहे भी तो क्या वह अज्ञातावस्था में भय का कारण
 होता है ? आप भी कहेंगे—नहीं, वस, यही बात यहाँ भी समस्त अर्थात् अज्ञात
 विष्णु तादात्म्य समुद्र में कम्प उत्पन्न नहीं कर सकता । आप कहेंगे—उक्त आहार्यनिश्चय
 कवि को है, समुद्र को नहीं, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं—जब कि आप विष्णु-तादात्म्य
 का भ्रम समुद्र में ही मानते हैं, भ्रम भी समुद्र में नहीं मानते, यह तो आप कह नहीं
 सकते, क्योंकि तब आहार्यनिश्चय वाली आपत्ति इस पद्य में भी आ जायगी अर्थात्
 अन्यगत भ्रम से अन्य में कम्प नहीं हो सकेगा, अतः भ्रम तो आप को समुद्र में ही
 मानना है, फिर उक्त आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही क्यों नहीं माना जाय ? अगत्या
 आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही आप को मानना पड़ेगा और तब उससे कम्प की बात
 भी बन जायगी तथा रूपकध्वनि-कथन भी आनन्दवर्षन का ठीक हो जायगा, तो इसके
 उत्तर में यह कहा जायगा कि हाँ, आपके कथनानुसार राजविषयक आहार्य विष्णु-
 तादात्म्यनिश्चय भी समुद्र में माना जा सकता है और मेरे कथनानुसार राजविषयक
 अनाहार्य (विष्णु-तादात्म्य) भ्रम भी समुद्र में माना जा सकता है पर माग्य होना चाहिए
 उक्त भ्रम ही—क्योंकि उसी में चमत्कार है, उक्त निश्चय में नहीं, और जब चमत्कार भ्रम
 में ही है तब ध्वनि भी उसी की मान्य होनी चाहिए । वास्तविक बात यह है कि कवि
 समुद्रगत ज्ञान का उद्घोष करता है । अब यदि वह समुद्रगत ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप

माना जाय तब 'रूपक' ध्वनित होगा और यदि वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप माना जाय तब 'आन्तिमान्' ध्वनित होगा। इस स्थिति में प्रत्यकार का आशय यह है कि वह ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान के आहार्यनिश्चय से समुद्र में कप नहीं हो सकता—'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार का निश्चय रहने पर अपनी इच्छा से रज्जु में सर्प का ज्ञान कर लेने पर भी भय होते नहीं देखा जाता, यदि दुराग्रहवश—आहार्यनिश्चय से समुद्र में कप का होना मान भी लिया जाय तो वह कप एक अभिनयमात्र होगा, वास्तविक नहीं, और इस अवस्था में यह कप की बात सहृदय-हृदयों में चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकती। कारण, इस तरह के अभिनयिक कप से वर्णनीय राजा का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता जो कवि का मुख्य उद्देश्य है, अतः समुद्रगत वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप ही माना जायगा, क्योंकि उससे समुद्र में कप उत्पन्न हो सकता है—रज्जु में सर्प के अनाहार्य भ्रम से भय होते देखा जाता है और इस दशा में समुद्र का वह कप वास्तविक होगा, अभिनयमात्र नहीं, अतः इस कप की बात से सहृदय हृदयों में चमत्कार भी उत्पन्न होगा। कारण, इस तरह के सत्य कप से वर्णनीय राजा का उत्कर्ष जो कवि का मुख्य उद्देश्य है—सिद्ध होता है। फलतः चमत्कार प्रयोजक भ्रम ही है, आहार्य निश्चय नहीं, अतः आन्ति (आन्तिमत्-अलकार) की ध्वनि ही यहाँ मानी जायगी, रूपक की ध्वनि नहीं।

अथास्य दोष निरूपयति—

अथास्यापि कविसमयविरुद्धतया चमत्कारापकर्षका लिङ्गभेदादयो दोषाः सम्भवन्ति ।

अथेति । रूपकविषयकान्यविचारानन्तरमित्यर्थ । अस्य रूपकस्य । 'दोषा' इत्यत्रान्वय । विरुद्धतयेति । चमत्कारापकर्षे हेतुरयम् । भेदादय इति । वचनभेदादय आदिपद्माह्या । कविपरम्पराप्राप्तसिद्धान्तविचक्षा ये लिङ्गभेदादयस्ते रूपकगतं चमत्कारमपकर्षयन्तो रूपकस्य दोषा भवितुमर्हन्तीति भाव ।

अथ रूपकरत्न दोष का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि । कवि सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण चमत्कार को न्यून बनाने वाले 'लिङ्गभेद' (उपमान-उपमेय का भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पक्षों से बोधित होना) आदि दोष रूपक में भी हो सकते हैं ।

दोषोदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा—

जैसे ।

उदाहरण दर्शयति—

‘बुद्धिरब्धिर्महीपाल ! यशस्ते सुरनिम्नगा ।

कृतयस्तु शरत्कालचारुचन्दिरचन्द्रिका ॥’

हे महीपाल राजन् ! ते, बुद्धि, अब्धि, समुद्र, यश, सुरनिम्नगा गङ्गा, तु पुनः, कृतय व्यापाराः, शरत्कालस्य, चारो सुन्दरस्य, चन्दिरस्य चन्द्रमस, चन्द्रिका ज्योत्स्नेत्यर्थ । अत्रोपमेयभूता बुद्धि स्त्रीलिङ्गशब्दबोध्या, उपमानभूता समुद्रश्च पुल्लिङ्गपदबोध्या, एवम् उपमेयभूता यशो नपुंसकलिङ्गशब्दबोध्याम्, उपमानभूता गङ्गा च स्त्रीलिङ्गपदबोध्या इति लिङ्गभेदस्योदाहरणद्वयमिदम् । उपमेयभूतकृतयो बहुवचनान्तपदबोध्या उपमानभूतचन्द्रिका चैकवचनान्तपदबोध्या इति वचनभेदस्येदमुदाहरणमिति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—बुद्धि इत्यादि । हे राजन् ! आपकी बुद्धि समुद्र है । आपका यश गङ्गा है और कृतियर् शरत् ऋतु के सुन्दर चन्द्र की चाँदी है । यहाँ प्रथम दो रूपकों में उपमेय क्रमशः बुद्धि तथा यश स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग है—और उपमान

क्रमशः समुद्र तथा गंगा पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग है, अतः ये दोनों 'लिङ्गभेद' के उदाहरण हैं। इसी तरह अन्तिम रूपक में उपमेय (कृतिर्था) बहुवचनान्त है और उपमान (चन्द्रिका) है एकवचनान्त, अतः यह 'वचनभेद' का उदाहरण है।

दूषकताबीजमाह—

अत्र विषयविषयिणो लिङ्गादिकृतं वैलक्षण्यं तयोस्ताद्रूप्यबुद्धौ प्रतिकूलम् ।

उपमानोपमेययोः साम्यमेव तयोस्तादात्म्यज्ञाने कारणं भवति । एवं स्थितौ यत्रोपमानोपमेययोर्लिङ्गादिप्रयुक्तं वैलक्षण्यं (भेद) भवति तत्र तयोस्तादात्म्यज्ञानं न भवितुं शक्नोतीति दोषत्वम् लिङ्गादिकृतवैलक्षण्यस्येति भावः ।

'लिङ्गभेद' आदि धर्मों दोष है इसमें बीज दिखलाया जाता है—अत्र इत्यादि । यहाँ उपमेय-उपमान में लिङ्गादिक द्वारा की गई विलक्षणता उनके ताद्रूप्य ज्ञान के प्रतिकूल होती है—उसके कारण ताद्रूप्य समझना बाधित हो जाता है, अतः वह (लिङ्ग आदिकृत विलक्षणता) रूपक का दोष कहलाता है ।

दोषत्वैनाभिमतानामपि लिङ्गभेदादीनां क्वचिदोपपत्तामाह—

क्वचित्कविसमयसिद्धतया चमत्कारहानिराहित्ये तु नामी दोषाः ।

अथो लिङ्गभेदादयः । ये लिङ्गभेदादयः कविसिद्धान्तसङ्गृह्यतास्ते चमत्कारहानिं न विदधतीति तादृशा लिङ्गभेदादयोऽदोषा एवेति भावः ।

जो लिङ्गभेद आदि दोष माने गए हैं वे भी कहीं-कहीं अदोष हो जाते हैं यही बात अब कही जाती है—क्वचित् इत्यादि । जहाँ कहीं कवि-सिद्धान्त सिद्ध होने के कारण चमत्कार की हानि नहीं होती हो वहाँ ये (लिङ्गभेद आदि) दोषरूप नहीं होते ।

लिङ्गभेदादेरदोषत्वमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'सन्ताप-शान्तिकारित्वाद्बदनं तव चन्द्रमाः' इत्यादौ हेतुरूपके ।

सन्ताप-शान्तिकारित्वात् सन्तापनाशकत्वात् हेतोः, तव, बदनं मुखं, चन्द्रमा इत्यर्थः । इदम् हेतु-रूपकम्, साधारणधर्मस्मारोपहेतुतयोपन्यासात् । अत्र बदनचन्द्रमसोरुपमेयोपमानयोर्मिश्रलिङ्गकपदबोधव्यत्वेऽपि न लिङ्गभेदाद्यो दोषः, ईदृशलिङ्गभेदस्य कवि-सिद्धान्त-सिद्धत्वेन चमत्कारानपकर्षवत्त्वादिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सन्ताप इत्यादि । 'सन्तापशान्तिकारित्वात्—अर्थात् सन्ताप-शामक होने के कारण तेरा मुख चन्द्रमा है ।' इत्यादि हेतु-रूपक में यद्यपि उपमेय (मुख) अपुत्रकलिङ्ग और उपमान (चन्द्रमा) पुल्लिङ्ग है तथापि दोष नहीं, क्योंकि इस तरह का लिङ्गभेद कविसम्प्रदाय-सिद्ध होने के कारण चमत्कार का अपकर्षक नहीं होता ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां रूपकालङ्कारप्रकरण समाप्तम् ।

रूपकनिरूपणानन्तरं सम्प्रति 'परिणाम'निरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामः—

अथेत्ययं शब्दोऽनन्तरत्वे । तथा च रूपकनिरूपणानन्तरमिति तदर्थः । परिणामं तदाख्योऽलङ्कारः । निरूप्यत इति शेषः ।

रूपकालङ्कार निरूपण के बाद अथ परिणामालङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि ।

तत्र तावत्तद्वक्षणमाह—

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः ।

विषयी उपमानम् । विषयेति । उपमेयेत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यमाह—न स्वातन्त्र्येणेति । स्वस्वरूपेणेत्यर्थः । तत्रेति शेषः । स विषयाभेदः । उपमेयरूपेणोपयुज्यमानमुपमान परिणामालङ्कार इति भावः ।

परिणाम-निरूपण प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण क्रिया जाता है—विषया इत्यादि । जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रसङ्गोपयोगी हो, वहाँ वह (उपमान में उपमेय का अभेद) 'परिणाम' होता है ।

रूपक-परिणामयोर्भेदज्ञापनायाह—

अत्र च विषयाभेदो विषयिण्युपयुज्यते । रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः ।

अत्र चेति । परिणामे चेति भावः । नैवमिति । किंतु विपरीतमिति भावः । रूपकादस्य भेद इति । अत्र "वयं तु ब्रूम"—उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम् । उपमेयप्रतियोगिकाभेद परिणाम प्रतीयकम् । तत्राभेदे उपमेयप्रतियोगिकत्वतात्पर्यप्राहकं प्रकृतकार्योपयोग न तु तच्छरीरेऽस्य प्रवेशः । एवं च यत्रोपमानस्य स्वाम्भनैव प्रकृतकार्योपयोगो यत्र चोदासीनता तत्र रूपकमेव । एव च परिणामो विशेषणसमासायत्तं रूपक मयूरव्यसकादिसमासायत्तम् । मुखचन्द्र इत्यादी यदि तु चन्द्रमुखमिति प्रयुज्यते तदा विशेषणसमासायत्तमपि रूपकमिति । परे तु 'उपमानोपमेयपदानामुपमानप्रतियोगिकाभेदसंसर्गेण बोधकाना 'मयूरव्यसकादयश्च' इति समासेन विशेषणसमासबाधाचन्द्रमुखमिति प्रयोग एव न इत्याहुः ।" इति नागेशः । रूपकपरिणामयोश्चभेदोपि उपमानोपमेयभेदो यद्यपि समानः, तथापि परिणामे उपमेयप्रतियोगिकाभेद उपमाने प्रतीयमान प्रकृतकार्ये उपयोगं व्रजति, रूपके तु उपमानप्रतियोगिकाभेद उपमेये प्रतीयमान प्रकृतकार्ये उपयोगं व्रजतीति तयोर्भेद इति भावः ।

रूपक और परिणाम में जो परस्पर भेद है उसका ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है—अत्र इत्यादि । परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है । पर रूपक में ऐसा नहीं होता, किन्तु उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमेय को उपमान से अभिन्न समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है । यही इन दोनों में परस्पर भेद है । 'रूपकादस्य भेद' इस मूल प्रतीक पर नागेश कहते हैं कि—'उपमान जिसका प्रतियोगी हो ऐसा अभेद—अर्थात् उपमान का अभेद—रूपक है और उपमेय जिसका प्रतियोगी हो ऐसा अभेद—अर्थात् उपमेय का अभेद—परिणाम है, जैसे—प्रतीय । 'इस अभेद का प्रतियोगी उपमेय है' इस वक्तृ-नाट्य का ज्ञापक होता है उसी तरह के अभेद का प्रकृत-कार्योपयुक्त होना । अतः परिणाम के लक्षण में प्रकृतोपयोगवाली बात का निवेश अनावश्यक है । इस तरह से जहाँ उपमान अपने रूप में ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता हो अथवा उदासीन हो—अर्थात् प्रकृत कार्य में उसका (उपमान का) उपयोग होता ही नहीं हो वहाँ रूपक ही होगा । क्लृप्तः 'परिणाम' विशेषणसमास ('विशेषण विशेष्येण बहुलम्' से समास) के अधीन है और रूपक मयूरव्यसकादिसमास ('मयूरव्यसकादयश्च' से समास) के अधीन है । 'मुख चन्द्र' की जगह पर यदि 'चन्द्र मुख' का

प्रयोग किया जाय तब विशेषण समासाधीन भी रूपक ही होगा, कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि उपमान जिसका प्रतियोगी हो वैसे अभेदसम्बन्ध से विशेषण-विशेष्यभाव का बोधक उपमानोपमेयवाचक पदों में मयूरम्यसकादिसमास विशेषणसमास का बोधक हो जायगा, अतः चन्द्र-मुख ऐसा प्रयोग ही नहीं हो सकता ।”

उदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—

अयमुदाह्रियते—

अयम् परिणामालङ्कारः ।

परिणामालङ्कार का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिशति—

‘अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ

सम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडननेः ।

परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलय.

समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥’

अत्र प्रार्थयते—तरणितनयाया यमुनायाः, तीरे तटे, निलय आवासो यस्यासौ, अयम् प्रत्यक्षवत् प्रतीयमानः, हरिनवतमाल हरिरूपो नवीनस्तमालतरुः, अपारे असीन्नि, संसारे जगति, विषमा दुःखकरा इति यावत्, ये विषया भोग्यवस्तूनि स्वरूचन्दनबनितादीनि, तद्रूपे अरण्यसरणौ वनभागैः, विगलितः विरस्तः, विराम विधमः यस्मिन्कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, भ्रामं-भ्रामं भ्रान्त्वा-भ्रान्त्वा, परिश्रान्तस्य क्लान्तस्य, जडननेः शिथिल-बुद्धेः, गमः, सन्तापम् क्लेशविशेषम्, समन्तात् सर्वतोभावेन, तिरयतु निवर्तयत्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अपारे इत्यादि । अत्र प्रार्थना करता है—अपार संसार में, विषम विषयरूप जङ्गली रास्ते पर अदिरामगति से घूम घूमकर धान्त घने मुझ जड़बुद्धि के सन्ताप को यमुना-तटवासी हरिरूप तमाल तरु सब तरह से शान्त करें ।

उपपादयति—

अत्र भगवदात्मतथैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम् । मार्गश्रान्त-जनसन्तापहारकत्वाद्गमणीकशोभाभधारत्वाच्च तमालो विपयितयोपात्तः । अयं समानाधिकरणो वाक्यगः ।

‘अपारे—’ इति पद्ये हरिरुपमेयभूतः तमालोपमानभूतः, तत्रोपमानाभेद उपमेये क्विविवक्षितः प्रतीयते, भगवदभिमततथैव तमालस्य पद्योपनन्दसंसारतापशमनसमर्थत्वात्, तथा च प्रागुक्तलक्षणलक्षितः परिणामालङ्कारोऽय स्पष्टः । ननु हरेरेवोपमानत्वेन रूपक-मेवास्त्विति चेन्न, मार्गश्रमसन्ततजनसन्तापापहारकत्वस्य शोभाविशेषशालिन्वस्य च तमाल एव सत्त्वेन तस्यैवोपमानतयोपादानात् । अयं च परिणामः समानाधिकरणः, उपमेयोपमान-योर्हरितमालयोः समानविभक्तिकपदजन्योपस्थितिमत्त्वात् (अत्र यद्यपि हरिनवतमाल-इति समस्तं पदम्, अतो नोपमेयोपमानयोः पृथग् विभक्तिश्रवणम्, तथापि सुप्तविभवत्यनु-संधानेन समानविभक्तिकत्वं बोध्यम्) । वाक्यगत्वाय परिणामः, प्रकृतकार्योपयोगित्व-पर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वेन कार्यबोधकत्त्रिरयतु’पदस्य समासाघटकत्वात् । क्वचित्तु ‘हरिरिह तमाल’ इति पाठः । तथापाठे प्रकृतकार्योपयोगित्वस्य परिणामशरीरेऽप्रवेशेऽपि वाक्यगत्वं स्पष्टमेवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अपारे—’ इस पद्य में हरि (भगवान्) उपमेय है और तमाल है उपमान, जिन दोनों में परस्पर अभेद आरोप किया गया है, पर

उस अभेद का प्रतियोगी उपमेय (हरि) को ही माना जायगा अर्थात् 'हरि का अभेद तमाल में है' ऐसा ही समझा जायगा, क्योंकि तमाल, संसारताप को, भगवद्भूष होने पर ही निवृत्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि भगवान् को तमालरूप समझने पर संसार-ताप निवर्तकता उसमें सिद्ध नहीं हो सकती। हरि को ही उपमान मानकर 'रूपक' ही यहाँ क्यों नहीं माना जाय ? ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती क्योंकि भाग्य से धके मनुष्यों के समताप को निवृत्त करने की शक्ति तमाल में ही है और रमणीय शोभा का आधार भी वही (तमाल) है, अतः उपमानरूप से उसी का उपादान किया जाना उचित है। यह परिणाम समानाधिकरण कहलाता है क्योंकि यहाँ के उपमेय तथा उपमान एकविभक्ति वाले हैं (यद्यपि 'हरिनवतमाल' समस्त पद है, तथापि 'हरिः तमाल' इस विग्रहावस्था की त्रिभक्तियों को लेकर उन दोनों को एकविभक्ति वाला समझा जाता है)। साथ साथ यह परिणाम वाक्यगत कहलाता है, क्योंकि रसगङ्गाधरकार के हिसाब से 'प्रकृतकार्य में उपयुक्त होना' भी परिणामालङ्कार के शरीर-लक्षण में प्रविष्ट है और कार्य है यहाँ 'निवृत्त करना' जिसका जोषक 'किरियत्' पद समाप्त के अन्तर्गत नहीं है। कोई-कोई यहाँ 'हरिनवतमाल' की अगह पर 'हरिरिह तमाल' पाठ मानते हैं—तदनुसार 'प्रकृतकार्योपयोग' को लक्षणवटक नहीं मानने पर भी इस परिणाम का वाक्यगतत्व स्पष्ट है।

समासगत समानाधिकरण परिणाममुदाहरणमाह—

समासगो यथा—

समासगत समानाधिकरण परिणामालङ्कारो यथेति भावः ।

समासगत समानाधिकरण परिणामालङ्कार जैसे—

उदाहरण दर्शयति—

‘महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावं श्रावं वचःसुधाम् ।

उप (अभि) मन्युसुतो राजा परा मुदमवाप्तवान् ॥’

उपमन्यो अभिमन्योर्वा सुत पुत्र (कश्चिद्ज्ञातनामा परोक्षितो वा), व्यास-पुत्रस्य, महर्षे शुक्रदेवस्य, वच सुधाम् वचनामृतम्, श्राव श्रावम् श्रुत्वा-श्रुत्वा पराम् अतिशयिताम्, मुदम् हर्षम्, श्रावाप्तवान् लब्धवानित्यर्थः । अपि सुधाह्वे उपमाने वचनरूपोपमेयाभेदारोपस्य श्रावणह्वे प्रकृतकार्ये उपयोगि-वासरिणाम् । वचनरूपोपमेयमानाभेदारोपे तु वचनस्यापि सुधात्वात् श्रावण न सम्भवति, अपि तु पानमिति तत्त्वम् । स चाय परिणाम पूर्वोदाहरणोक्तमुक्त्या समानाधिकरण समासगतश्च 'द्वान्यः कालक' इति-चर मयूरव्यसकादित्वात् समासेन 'श्राव श्राव वच सुधाम्' इत्यस्य समस्तैकपदत्वात् । इदं तु बोध्यम्—यद्यपि समासगतत्वसाधनप्रकार प्रकृतकार्योपयोगि-वचनरूपस्य परिणामशरीरत्वमिति प्रत्यक्षदभिमत पक्षमादाय, तावत्पर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वान्नोकारे तु 'वच-सुधाम्' इत्येतावत्समस्तपदमादायापि परिणामस्य समासगतत्वे मिद्वे 'श्राव श्रावम्' इति पृथगसमस्तमेवास्तु तावतापि न क्षतिरिति ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—महर्षे, इत्यादि । उपमन्यु के पुत्र किसी राजा ने अथवा अभिमन्यु के पुत्र-राजा परीक्षित ने व्यास जी के पुत्र महर्षि शुक्रदेव जी के वचनामृत सुन-सुनकर पाम आनन्द प्राप्त किया । यहाँ भी उपमानरूप अमृत में आरोपित उपमेयरूप वचन का श्रावणरूप प्रकृत कार्य में उपयोग हो रहा है—अर्थात् अमृत भी वचनरूप वचन ही 'श्रावण' का कर्म हो सकता है, अन्यथा (अमृत अपने रूप में) 'श्रावण' का नहीं, 'पान' का कर्म हो सकता है—अतः यह भी परिणाम है और पूर्वोक्त

उदाहरण की व्याख्या में प्रतिपादित युक्ति से समानाधिकरण कहलाने योग्य यह परिणाम समासगत कहलाता है, क्योंकि 'श्रावं-श्राव वच सुधाम्' यह एक समस्त पद है। समास यहाँ 'मयूरव्यंसकादिश्वात्' 'धात्वा कालकः' की तरह हुआ है। यहाँ के परिणामालंकार को समासगत बनाने की यह प्रणाली इसलिये अपनाई जाती है कि—'प्रकृत कार्य में उपपुक्त होना' भी 'परिणाम' के लक्षण में प्रविष्ट है और तदनुसार 'श्रावं-श्रावम्' इस कार्यबोधक पद को भी समास के भीतर ले आने पर ही समासगत 'परिणाम' कहा जा सकता है। यदि 'प्रकृतकार्योपयोग' को परिणाम (शरीर) प्रविष्ट नहीं मानें तब तो 'वच-सुधाम्' इतने भर के समस्त होने से ही यह 'समासगत परिणाम' माना जा सकता है, अतः 'श्रावं-श्रावम्' को पृथक् असमस्त पद मानने पर भी कोई हति नहीं।

व्यधिकरणं परिणाममुदाहर्तुमाह—

व्यधिकरणो यथा—

व्यधिकरण इति । भिन्नविभक्तिपदव्योपमानोपमेयक इति भावः ।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति वाला) परिणाम जैसे—

उदाहरणं समुपस्थापयति—

'अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन ।

एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केपां न महीतले स्यात् ॥'

लसता शोभमानेन, आननेन मुखेन, अहीनचन्द्रा पूर्णचन्द्रा (मुखरूपपूर्णन्दुयुक्तेति श्रावत्) अपि पुनः, शुचिस्मितेन शुद्धेपदासेन, ज्योत्स्नावती प्रकाशवती (शुचिरिस्मितरूप-ज्योत्स्नावती) च, अतः मितपक्षदोषा शुद्धपक्षयामिनी (तद्व्येति वाच्य) एषा वर्णनीया, योषा रमणी, महीतले पृथिव्याम्, केपा, तोषाय तृप्तये, न स्यात् ? अपि तु सर्वेषां तोषाय स्यादित्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अहीन इत्यादि । शोभित होनेवाले मुख के द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध ईपदास-द्वारा चाँदनी वाली यह शुकुपच की रात्रिरूपा रमणी शुचिबीतल पर किसके सतोप (वृत्ति) के लिये नहीं होगी ? अर्थात् सभी इससे संगत होंगे । उपपादयति—

अत्र सर्वेषामेव तोषाय स्यादित्यनेन विरहिजनतोषजनकत्वमपि लभ्यते । तच्चारोप्यमाणशुकुपक्षरजन्याः स्वात्मना बाधितम्, योषारूपेण तु सङ्गच्छत इति भवति परिणामः । स च परस्परसापेक्षवद्दुःसह्यात्मकतया सावयवः । तत्राद्यार्धगतौ द्वावत्रययो व्यधिकरणौ द्वितीयार्धगतश्चैकः समानाधिकरणः ।

अत्र सर्वेषामिति । काकुलन्वमिदम् । एवञ्च प्रकृतपद्यघटको नञ् काङ्कामिति सिद्धम् । आरोप्यमाणेति । उपमानेत्यर्थः । अत्र 'योषायाम्' इत्यादिर्बोधः । 'स्वात्मनेति । रजनीरूपेणेत्यर्थः । बाधितमिति । तस्या उद्दीपकत्वेन विरहिजनतापजनकत्वादिति भावः । नन्वेवं समानाधिकरण एवायमिति कुत विपरीतप्रतिज्ञा अत आह—स चेति । प्रकृतपद्यगत परिणामथेति तदर्थः । सावयव इति । सङ्ग इत्यर्थः । तत्र सावयवे परिणामे । 'अहीनचन्द्रा—' इत्यत्र 'तत्तद्विशेषणविशिष्टा एषा योषा केपा तोषाय न स्यात्' इति काकुल्याक्यतो लब्धेन 'सर्वेषामेव तोषाय एषा स्यात्' इत्यर्थेन सर्वपदार्थान्तर्गतविरहिजनतोषायामपि स्यात् इत्यवगम्यते । परन्तु तत् विरहिजनतोषत्वम् उपमेयभूतायाम् योषायाम् उपमानभूतायां शुकुपक्षरात्रेरारोपे न संगतम्, आरोप्यमाणपदार्थस्यैव प्राधान्ये योषाया अपि रात्रिरूपत्वसिद्धौ विरहोद्दीपकत्वेनासंतोषस्यैव सम्पत्तेः, अत उपमानभूताया रात्रौ उपमेयभूताया योषाया आरोपोऽत्र स्वोकार्यः, तथा च रात्रेरपि योषारूपत्वे सिद्धे विरहि-

णामपि संतोषकत्वं संगतं भवति, स्त्रीसाक्षिभ्यस्य विरहविनाशकत्वात् । एवञ्च विषयात्मतया विषयिण प्रकृतोपयोगेनात्र परिणाम- सिद्धयति । अयं च परिणाम साङ्ग । परस्परसा-
पेक्षानेकपरिणामसमूहात्मकत्वात् । तत्र प्रथमार्धगतौ 'मुखेन पूर्णचन्द्रा' 'स्मितेन ज्योत्स्ना-
वती' इत्याकारकौ द्वावन्नभूतौ परिणामौ व्यधिकरणौ, उपमेयोपमानयो विभिन्नविभक्तिक-
पदजन्योपस्थितिकत्वात् । उत्तरार्धगतश्च 'सितपक्षदोषा योषा' इत्याकारकोऽङ्गभूत परिणाम-
समानाधिकरण उक्त्युक्तेरिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अहीनचन्द्रा—' इस पद्य में 'केषां तोषाय न स्यात् ?' इस काकु से यह विदित होता है कि—सबों के संतोष के लिये होगी और इस 'सबों' के अन्दर विरहोजन भी भा जाते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि—शुद्धपद्य की रात्रिरूपा यह रमणी विरहियों के लिये भी संतोषजनक है । अब हम सोचें कि आरोपित होने वाली—अर्थात् उपमानरूप यह शुद्धपद्य की रात्रि क्या अपने रूप में विरहियों के लिये संतोष-जनक हो सकती है ? कभी नहीं, क्योंकि चौदनी रात विरहियों के उत्ताप को ही बढ़ाती है, अतः यह मानना पड़ेगा कि रमणीरूप में ही यहाँ उक्त रात्रि को सकलजन-सन्तोषकर कहा गया है, ठीक भी है, नायिका का साक्षिभ्य विरहियों के लिये भी सन्तोष-कर होता है । फलतः विदित है कि यहाँ उपमान उपमेय के रूप में प्रकृतकार्योपयोगी हो रहा है, अतः यह भी परिणामालंकार का उदाहरण है । परन्तु यह भी समझना चाहिए कि यहाँ एक नहीं अनेक परिणाम हैं । जैसे 'मुख द्वारा चन्द्रवाली' यह एक, 'ईपद् हास द्वारा चौदनी वाली' यह दूसरा और—'शुद्ध पद्य की रात रमणी' यह तीसरा । इन तीनों में प्रथम दो परिणाम व्यधिकरण हैं, क्योंकि उपमेय (मुख तथा स्मित) को उपस्थिति तृतीयान्त पदों के द्वारा और उपमान (चन्द्र तथा ज्योत्स्ना) को उपस्थिति प्रथमान्त पदों के द्वारा हुई है । इन्हीं दोनों परिणामों को लेकर यह पद्य व्यधिकरण परिणाम के उदाहरणरूप में उपस्थित किया गया है । अन्तिम परिणाम तो समानाधिकरण ही है, क्योंकि उस अंश में उपमेय (नायिका) और उपमान (शुद्धपद्य की रात्रि) दोनों को उपस्थिति प्रथमान्त पदों से ही हुई है । इस तरह यहाँ परस्परसापेक्ष इन परिणामों का समूह सावयव (साङ्ग) परिणाम कहा जायगा ।
निरसनीयमप्यदीक्षितमतमुत्पादयति—

यथाप्यदीक्षितैर्वैयधिकरण्येन परिणामे उदाहृतम्—

'तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-

च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिये ।

नदा शेखरिये दशा तिलकिने नारायणेनाश्रिये

नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिये नाथाय सेय नतिः ॥'

यथा वा—

'द्विर्भाव पुष्पकेतोर्विबुधवितपिता पीनस्कृत्य विकल्प-

श्चिन्तारत्नस्य वीप्सा तपनतनुभुवो वासवस्य द्विरुक्ति' ।

द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्व-

आनन्द कोविदानां जगति विजयने श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र- ॥' इति ।

भक्तो भगवन्त भूतनाथं नौति—तारानायकेति । तारानायक चन्द्र शेखर शिरो-
भूषण यस्य तस्मै, जगत सत्तारस्य, अधाराय अधिष्ठानाय, धाराधरस्य मेघस्य, छायाया-
कान्ते . धारिका धारयित्री, कन्धरा प्रीतिा यस्य तस्मै, नीलकण्ठयेति यावत्, गिरिजाया-
पार्वत्या, सङ्ग सहपाठ, एव एक शृङ्गार तद्वै गिरिजामात्रैवकाः तास्यैति यावत्.

नद्या गङ्गाया, शेखरिणे शिरोभूषणवते गङ्गात्मकशिरोभूषाविशिष्टयेति यावत्, दशा तृतीय-
नयनेन, तिलकिने तिलकयुक्ताय तृतीयनेत्रमेव तिलककार्यं यत्र कुर्वते तादृशायेति यावत्,
नारायणेन विष्णुना, अग्निणे अश्रवते नारायणात्मकश्रवयुक्तायेति यावत्, नागैः सर्पैः,
कङ्कणिने वलयवते नागरूपकङ्कणविशिष्टयेति यावत्, नगेन पर्वतेन कैलासेनेति यावत्,
शृष्टिणे गृहवते, पर्वतात्मकगृहवासिने इति यावत्, नाथाय अरमाकं स्वामिने, सा सकल-
मनोरथपूरकतया प्रसिद्धा, इयम् ददानीं मया निधीयमाना, नति- नमस्कारः, अस्तित्वस्यार्थः ।
कवि- राजानं स्तौति—द्विर्भाव इति । पु-पकेतो- कामदेवस्य, द्विर्भावः द्विरावृत्तिः (द्वितीय-
कामदेव इति सरलार्थः), विनुञ्चिदपिनाम् देवतरुणाम् मन्दारादीनामिति यावत्, पौनर-
क्त्यम् पुनरुक्तिं (द्वितीयो देवतरुरिति सरलार्थः), चिन्तारत्नस्य चिन्तामणोः, विकल्पः
अपरपञ्च (द्वितीयचिन्तामणिरिति सरलार्थः), तपन्तनुभुवः सूर्यतनूजस्य कर्णस्येति
यावत्, वीसा द्विर्भावः (द्वितीयः कर्ण इति सरलार्थः), वासवस्य इन्द्रस्य, द्विरुक्तिः
पुनरुक्ति (द्वितीय इन्द्र इति सरलार्थः), दैत्याधिपानाम् दैत्यराजानां हिरण्यकशिप्वादीनाम्
यामयनकला दलनलीला तत्र केलिकारस्य क्रीडाकारस्य—दैत्यगगनाशकस्येति यावत्,
देवस्य विष्णोः, द्वैतम् द्वितीयता (द्वितीयो विष्णुरिति सरलार्थः), श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र-
श्रीनृसिंहनामा नरेशः, कोविदानाम् विदुषाम्, आनन्दम् सुखविशेषम्, कुर्वन् जनयन् सन्,
जगति संसारे, विजयने सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः । इदं पद्यमूलं व्यधिकरणपरिणामालङ्कारो-
दाहरणतया चित्रमोमासाभिधाने निजनिबन्धेऽप्ययशोक्षितेनोल्लिखितम् ।

अत्र अप्पयदीक्षित का खण्डनीय मत उपस्थित किया जाता है—यच्चापि । अप्पय-
दीक्षित ने व्यधिकरण परिणामालङ्कार के उदाहरणरूप से, अपनी चित्रमोमासां में 'ताराना-
यकशेखराय—' और 'द्विर्भावः पुष्पकेतो—' ये दोनों पद्य उपस्थित किये हैं । इन दोनों
पद्यों के अर्थ क्रमशः निम्नलिखितरूप से होते हैं—'चन्द्र जिनका शिरोभूषण है, जो
जगत् के आधार है, जिनका कण्ठ मेघ की कान्ति को धारण करता है, और पार्वती के
साथ ही जिनका एक गङ्गा है ऐसे नदी (गङ्गा) द्वारा शिरोभूषावाले, ललाटचन्द्र द्वारा
तिलक वाले, नारायण द्वारा अश्रु वाले, सर्पों द्वारा कङ्कण वाले और पर्वत (कैलास)
द्वारा घर वाले (हमारे) स्वामी (शिव) के लिये सकलमनोरथपूरकरूप में प्रसिद्ध
यह नमस्कार है ।' (यह प्रथम पद्य भक्त की उक्ति है ।) 'जो, कामदेव का पुहराना
है—अर्थात् दूसरा कामदेव है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है—अर्थात् दूसरा कल्पवृक्ष है,
चिन्तामणि का विश्वरूप है—अर्थात् दूसरा चिन्तामणि है, राजा कर्ण का चार चार कथन
है—अर्थात् दूसरा कर्ण है, इन्द्र की दुवारा उक्ति है—अर्थात् दूसरा इन्द्र है और दैत्या
धिपों के विनाश की लीला करने वाले देव विष्णु का द्वैत है अर्थात् दूसरा रूप है वह
श्री नृसिंहनामा नरेश, विद्वानों के आनन्द को उत्पन्न करता हुआ, संसार में सर्वोत्कृष्टता
को प्राप्त कर रहा है ।' (यह दूसरा पद्य राजस्तुति में कवि के द्वारा कहा गया है ।)

प्रायुक्तं दीक्षितमत निरस्यति—

अत्र चिन्त्यते—तारानायकशेखरायेति पद्ये गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणि भवे
कविकर्तृका नतिः प्रकान्ता । शृङ्गारिता च शेखरादीनि भूषणान्यपेक्षत इति
नद्या आरोप्यमाणशेखररूपतयैवोपयोगः न स्वरूपेण । एवं दृशोऽपि तिलकरू-
पतयेति रूपकमेव शुद्धं भवितुमर्हति । ननु परिणामे विषयाभिन्नतया विषयव-
त्तिष्ठत इत्युक्तम्, प्रकृते च विषयवाचकेभ्यो नद्यादिशब्देभ्यः परस्यास्त्वृतीयाया
अभेदार्यकत्वाच्छेखरादेश्च तदन्वयित्वात्कथं नात्र परिणाम इति चेत्, न ।

विषयाभिन्नत्वेन विषयिणो भानेऽपि तेन रूपेण तस्यानुपयोगात् । द्विर्भावः पुष्प-
केतोरिति पद्येऽपि कोविदानन्दजनन-जगदुत्कर्षौ कथ्येते राज्ञो नृसिंहस्य । तत्र
कोविदानन्दजनकत्वमपि राज्ञ आरोप्यमाणद्वितीयमन्मथादितादृश्येण यथा
सम्भवति न तथा केवलस्वरूपेण । तथाहि—अहो नयनानामस्मदीयानां
साकल्यं यद्यमपरो मन्मथोऽस्माभिरालोक्यत इति मन्यमानानां तेषां नयना-
नन्दस्वावस्युष्पकेतुनैवोपपाद्यते, न तु राज्ञा । एवमपरोऽयं कल्पतरुश्चिन्तामणि-
द्वितीयं कर्ण इन्द्रश्च भूगतोऽयमन्यो द्वारिद्रुधमस्माक परिहरिष्यति । हरिः
स्वत्वयं संसारं हरिष्यतीत्यभिमानान्नायमानस्तेपानानन्दोऽप्यारोप्यमाणैः कल्प-
वृक्षादिभिरेवेति न विषयात्मना विषयिण उपयोगः, अपि तु स्वात्मनैवेति कुत्रास्ति
परिणाम ?

अत्रेति । उक्तदीक्षितमतविषये इत्यर्थः । चिन्त्यते विचार्यते । चिन्तामेव स्फोरयति—
तारानायकेत्यादिना । प्रकान्ता प्रस्तुता । आरौप्यमारोति । उपमानेऽर्थः । स्वहूपेण
नदीरूपेण । शुद्धमिति । परिणामामिश्रितमिन्द्रयर्थः । परिणामश्चमर्थनायाशकते—नन्विति ।
विषयेति । उपमेयेत्यर्थः । विषयति । उपमानमित्यर्थः । तृतीयाया इति । प्रकृत्यादित्वा-
च्चाताया इति भावः । उदन्वयित्वादिति । तृतीयायाभिदान्वयित्वादित्यर्थः । निरस्यति—
मेनि । तत्र हेतुमाह—विषयाभिन्नेति । एवं प्रथमपद्यविषयक विचारं समाप्य द्वितीयपद्य-
विषयक तं कर्तुमुपक्रमते—द्विर्भाव इत्यादिना । कथ्येते इति । 'कुर्वन्' इति शत्रन्तेन
'विजयते' इति लङ्ङन्तेन चेति भावः । तत्रेति । तयोर्द्वयोर्मध्य इत्यर्थः । द्विर्भावः पुष्पकेतोरि-
त्यस्यार्थमाह—अयमपरो मन्मथ इति । विबुधेति वाक्यस्यार्थमाह—अपरोऽयं कल्पतरुरिति ।
विद्यपिनामिति बहुवचनं कल्पभेदाभिप्रायेण । चिन्तारजस्य विकल्प इत्यस्यार्थमाह—
चिन्तामणिद्वितीय इति । द्वितीय इत्यस्याप्रेऽप्यनुपज्ञो बोध्यः । तपनेत्यादेरर्थमाह—कर्ण
इति । वासवस्येत्यस्यार्थमाह—इन्द्रश्चेति । भूगत इत्यनेन प्रसिद्धेन्द्राद् व्यतिरेकः सूचितः ।
द्वैतं देवस्येत्यादेरर्थमाह—हरिरिति । संसारं हरिष्यतीति । जनन-मरणादिसंसारणं नाश-
यिष्यतीत्यर्थः । स्वात्मनैवेति । विषयिहर्षेणैवेत्यर्थः । परिणामः ? इति । काका नास्तीत्यर्थः ।
'तारानायक—' इति प्रथमरत्नेके शृङ्गारिशिवोद्देश्येन ध्वनिना क्रियमाणो नमस्कारः
प्रस्तुतोऽर्थः । शृङ्गारित्वे च शोचरतिलकादीनि भूषणानि समनेहितानि, तानि विना
शृङ्गारित्वानुपपत्ते, तत्र च । नदीदृग्गादीनामुपमेयानाम् शोचरतिलकाद्युपमानरूपतयैव
उपयोगो न स्वत्वहूपेण । तथा च प्रकृतलक्षणानाज्जान्तातया न परिणामः, अपि तु रूपकमेव ।
उपमेयवाचकनदीदृग्गादिपदोत्त(तृतीया)विभक्त्यर्थेऽभेदे शोचरतिलकादेरुपमेयेन पर्यवसिते
'नद्यादिप्रतियोगिकाभेदाश्रयाणि शोचरादीनि' इत्यर्थे परिणामः स्पष्टः, तल्लक्षणे उपमेया-
भिन्नतयोरुपमानावस्थानस्योक्तत्वादिति तु वक्तुं न शक्यम्, 'विषयान्ततया प्रकृतोरयोगी
विषयी' इत्युक्त्या परिणामघटकतया फलितयो विषयभेद-प्रकृतोपयोगयोरशब्दो प्रथमराशस्य
सत्त्वेऽपि द्वितीयांशस्यासत्त्वात् । ननु प्रकृते विषयिणि शोचरादौ विषयस्य नद्यादेरभेद-
शृङ्गारित्वे उपयोगघास्त्वेवेति कथमुत्तराश्रयमत्वहानिरिति चेत् ? सन्त्यम्, विषयिण-
शोचरादेरुपयोगोऽस्ति, परन्तु न विषयाभिन्नत्वेन, अपि तु स्वहूपेणैवेत्याशयः । न चैवं
रूपकमपि कथम् ? तत्रापेक्षितस्य विषयिप्रतियोगिकाभेदस्यात्राप्रतीतेर्विषयप्रतियोगिकाभेद-
स्त्वेव प्रतीतेवेति वाच्यम्, तत्राप्युपकरणोक्तरीत्या विषयिप्रतियोगिकाभेदस्यैवेदृशे स्थले
स्वीकारः । एवं 'द्विर्भाव—' इत्यत्रापि मुक्त्यतया वर्धमानगोरत एव प्रकृतकार्येऽपयो-

राज्ञः कौबिदानन्दजनकत्वजगदुत्कर्षोर्मध्ये कौबिदानन्दजनकत्वाद्ये प्रकृतपद्योपमानभूतानां कामदेव-कल्पतरु-चिन्तामणि-कण्ठ-विष्णुनाम् स्वरूपैर्णवोपयोगः न तु राजात्मकोपमेयरूपेण, यत् 'कामदेवोऽधमाभिर्दृष्टः' 'धरातलावतीर्णः कल्पतरुः, कर्णः, इन्द्रो वाऽयमस्माकं दासिद्वय दूरीकरिष्यति' 'विशुरयं नः संसारयात्रा समापयिष्यति' इत्याकारकाणां ज्ञानानामेवानन्दहेतुत्वम् । तथा चोपमेयरूपेणोपमानोपयोगाभावाद्दत्र न परिणामप्रसङ्गः, अपि तु स्व-स्वरूपेणोपमानोपयोगसत्त्वाद्द्रव्यप्रसक्तिरेव । इत्थं च दक्षिणतमत् न युक्तमिति भावः । अत्र "दक्षप्रधानपरिणामप्रकरणे 'इदं वैयधिकरण्यं रूपकेऽपि दृश्यते' इत्युक्त्वा तारानानायक-शेखरायेलायुदाहृतम् सत्र को दोषः ? । किं न नया शेखरिणे इत्थंशे विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगाभावात्परिणामाभावैऽपि वाच्यमर्थं वा रूपकमपि न वाच्यम् । उपमानप्रति-योगिकाभेदस्योपमेयेऽभानात् । किं च शृङ्गारितोपपादकं शेखरादीत्युक्तमेव । नारा-यणेनाश्रिते इत्यस्य तदुपपादकत्वाभावात् । किं तु नमस्यतासम्पादकशिवमिष्टोत्कर्षबोधका-नीमानि विशेषणानि । तदुपपादकता च शेखरस्य नदीतादात्म्यापत्येति परिणाम एवायम्, शेखरस्य नीचजनसाधारणत्वात् । इत एवास्वरसात् द्विर्भावः पुष्पकेतोमिति पद्यान्तर-मुदाहृत तैः । तस्मात् 'यच्च' इत्यादि 'कुत्रास्ति परिणामः' इत्यन्तं चिन्त्यमिति बोध्यम् ।" इति नागेशः ।

उक्त दक्षिणतम का खण्डन किया जाता है—अत्र चिन्त्यते इत्यादि । 'तारानायक-शेखराय—' इस पद्य में पार्वतीसङ्ग के कारण शृङ्गारी शिव के प्रति कवि द्वारा किया जानेवाला नमस्कार प्रस्तुत अर्थ है । और शृङ्गारी होने के लिये शिरोभूषण आदि वाभ-रणों की अपेक्षा है, क्योंकि उनके बिना शृङ्गारी होना सम्भव नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ आरोपित किए जानेवाले—अर्थात् उपमानभूत पदार्थ—शिरोभूषण, तिलक आदि के रूप में ही नदी, नेत्र आदि उपमेयों का उपयोग सिद्ध होता है, अतः यहाँ शुद्ध रूपक ही होना चाहिए, परिणाम नहीं । 'परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है' यह कहा जा चुका है । और प्रस्तुत पद्य में उपमेयवाचक नदी आदि शब्दों के अर्थ की तृतीया विभक्ति का अर्थ अमेद है और उस अमेद के साथ 'शिरोभूषण' आदि का अन्वय होता है । अतः 'नदीद्वारा शिरोभूषणवाले' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न शिरो-भूषणवाले—अर्थात् नदीरूप शिरोभूषणवाले' । ऐसी अवस्था में नदी का अमेद शिरोभूषण में होता है, न कि शिरोभूषण का अमेद नदी में । फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं ?' यह शङ्का तो की नहीं जा सकती, क्योंकि उक्त रीति से प्रकृत पद्य में उपमेय से अभिन्न उप-मान (नदीरूप शिरोभूषण) की प्रतीति अवश्य होती है—इसमें किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं, पर प्रकृतकार्य—शृङ्गार—में उसका (शिरोभूषणरूप उपमान का) उपयोग उस रूप में (उपमेय नदीरूप में) नहीं होता, अर्थात् अपने आपके रूप में ही । तात्पर्य यह कि-परिणाम-लक्षण में दो बातें कही गई हैं—एक उपमेय से अभिन्नरूप में उपमान का प्रतीत होना और दूसरी उपमेय रूप में ही उपमान का प्रकृत कार्योंपयोगी होना, इन दोनों बातों में से प्रथम बात यहाँ अवश्य सङ्घटित होती है, पर दूसरी बात नहीं, अतः परिणाम का यह लक्षण नहीं हो सकता । आप कहेंगे—जब आप भी यहाँ उपमेय का ही अमेद उपमान में मानते हैं, तब रूपक भी कैसे होगा ? क्योंकि रूपक में उपमान का अमेद उपमेय में भासित होता है, तो इसका उत्तर रूपकप्रकरण की बात का स्मरण करके समझ लीजिये—अर्थात् ऐसी जगहों पर भी अमेद का प्रतियोगी उपमान की ही माना जाता है, अतः रूपक होने में कोई बाधा नहीं । 'द्विर्भावः पुष्पकेतोः—' इस पद्य में श्री राजा मुसिह के विषय में 'विद्वानों के आनन्द को उपपन्न करना' और 'जगत् में उत्कृष्ट होना' ये दो बातें कही जा रही हैं । उनमें से राजा का 'विद्वानों के लिये

आनन्दजनक होना' भी जिस तरह आरोपित किए जानेवाले दूसरे कामदेव आदि के रूप में बन सकता है उस तरह केवल अपने रूप में नहीं। समक्षिए—'ओह! हमारे नेत्रों की सफलता, कि—इस दूसरे कामदेव को हम देख रहे हैं' ऐसा माननेवाले विद्वानों के नेत्रों के लिये आनन्द 'कामदेव' द्वारा ही सिद्ध किया जा रहा है, न कि राजा द्वारा। इसी तरह यह दूसरा कल्पवृक्ष और किन्तामणि है, दूसरा कर्ण है और पृथ्वी पर अवतीर्ण इन्द्र है—यह हमारी दरिद्रता का हरण करेगा। यह विष्णु भगवान् है, अतः हमारी सप्तायात्रा को निवृत्त कर देगा—इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला आनन्द भी 'कल्प वृक्ष' आदि के द्वारा ही बन सकता है, राजाद्वारा नहीं। अतः यहाँ उपमान का उपयोग उपमेयरूप में नहीं है, किन्तु उपमानरूप में ही है। फिर यहाँ परिणाम कहाँ है? अर्थात् रूपक ही है। सारांश यह हुआ कि दीक्षित जी ने जो उक्त दोनों पक्षों को व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण बतलाया, वह असङ्गत ही है। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं—अर्थात् दीक्षित जी ने परिणाम के उदाहरणरूप में इन पक्षों को उपस्थित नहीं किया है, किन्तु यह कहा है कि—“इस तरह का वैयधिकरण्य जैसा परिणाम में होता है—रूपक में भी हो सकता है। जैसे—‘तारानायक—’ और ‘द्विर्भाव—’ इन दोनों पक्षों में।” देखिए—उनकी चित्रमीमांसा के परिणामप्रकरण को। नागोना भी अपनी टीका में यहाँ लिखते हैं कि—“परिणामप्रकरण में ‘यह वैयधिकरण्य रूपक में भी दीख पड़ता है’ ऐसा कहकर दीक्षित जी ने ‘तारानायकशेखराय—’ इत्यादि उदाहरण दिए हैं। उसमें क्या दोष हुआ? और ‘नदी द्वारा शिरोभूषणवाले’ इस अर्थ में उपमेयरूप से उपमान का प्रकृतकार्य में उपयोग नहीं होता, अतः परिणाम भले ही न हो, पर वाच्य अथवा अर्थ रूपक भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान प्रतियोगिक—अर्थात् उपमान का अभेद उपमेय में यहाँ प्रतीत नहीं होता। और ‘शृङ्गार के उपपादक शिरोभूषण आदि हैं’ यह कथन भी अपुत्र है, क्योंकि ‘नारायण द्वारा भूषणवाले’ यह अर्थ शृङ्गार का उपपादक हो नहीं सकता। अतः यह समझना चाहिये कि—ये सब विशेषण यहाँ शिव को प्रणम्य सिद्ध करने के लिये उनके उत्कर्ष के बोधक हैं। और शिव की प्रणम्यता की सिद्धि शुद्ध शिरोभूषण मात्र से होती नहीं, वरन् शिरोभूषण की नदीरूपता से होती है, क्योंकि शुद्ध—अर्थात् किसी तरह का शिरोभूषण किसी नीच जन में भी हो सकता है, फिर उससे किसी का उत्कर्ष कैसा? और प्रणम्यता कैसी? हाँ, नदी को शिरोभूषण बना लेना अवरय ही उत्कर्ष तथा प्रणम्यता का कारण हो सकता है। अतः यह पक्ष परिणाम की ही उदाहरण है। इसी अस्वरस के कारण ‘द्विर्भावः—’ यह दूसरा पक्ष—जहाँ परिणाम का कोई युजाइका नहीं—उदाहरण के रूप में उन्होंने रक्खा। अतः ‘यच्च’ से लेकर ‘कुत्रारित परिणाम.’ तक का मूलग्रन्थ चिन्तनीय है ऐसा समझना चाहिए।”

खण्डनाय सर्वस्वकारमतमुपन्यस्यति—

अलङ्कारसर्वस्वकारस्तु—‘आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः’ इति सूत्रयित्वा ‘आरोप्यमाण रूपके प्रकरणोपयोगित्वाभावात्प्रकृतोपरलक्षकत्वेनैव चेत्येनान्वय भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्थोपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणामति’ इति व्याख्यातवान्।

आरोप्यमाणेति । उपमानैत्यर्थः । एवमप्रेऽपि । प्रकृतोपयोगित्वे इति । प्रस्तुतकार्योपयोगित्वे इत्यर्थः । प्रकरणेति । प्रकृतकार्यैत्यर्थः । प्रकृतोपरलक्षकत्वेनेति । प्रकृतस्य-उप-] मेयस्य-स्वोपरकत्वद्विविधयोःकरणेनेत्यर्थः । प्रकृतात्मतयेति । उपमेयस्वेत्यर्थः । प्रकृतम् उपमेयम् । आरोप्यमाणतया उपमानरूपतया । ‘आरोप्यमाणम् = उपमान यत्र प्रस्तुतकार्योपयोगि भवति तत्र परिणामालङ्कार’ इति सूत्र निर्माय स्वयमलङ्कारसर्वस्वकृत् तस्य सूत्रस्य व्याख्यानमरोत् यत्-रूपके उपमान प्रस्तुतकार्योपयोगि न भवतीति तस्य प्रस्तुत-

कार्येऽन्य* उपमेयोपरस्त्वमात्रेण भवति—अर्थात् उपमेयनिष्ठाहायभिदिनिश्चयगोचरतया भवति । परिणामे पुन* उपमेयल्पेणोपमानस्योपयोगो भवतीति उपमेयमुपमानरूपतया परिणमति, अतः परिणाम इति संज्ञाकरणम् इति भावः ।

अथ स्रग्द्वितीय सर्वस्वकार का मत उद्घटन क्रिया जाता है—अलङ्कारसर्वस्वकारस्तु ह्य्यादि । अलङ्कारसर्वस्वकार ने तो 'आरोपित क्रिया जानेवाला—अर्थात् उपमान यदि प्रस्तुतकार्योपयोगी हो तब 'परिणाम' होता है ।' यह सूत्र धनाकर उसकी व्याख्या में लिखा कि—रूपक में आरोपित क्रिया जानेवाला—उपमान—प्रस्तुतकार्य में उपयोगी नहीं होता अतः उसका कार्य के साथ सम्बन्ध केवल इतना भर होता है कि वह उपमेय का उपरक्षक हो गया रहता है । तात्पर्य यह कि—कार्य में अन्य उपमेय का ही होता है पर उसमें उपमान का इत्था तादात्म्य गृहीत हुआ रहता है जिससे उपमान भी कार्यान्वित सा ज्ञात होता है । परन्तु परिणाम में तो उपमान उपमेयरूप में प्रस्तुतकार्योपयोगी होता है, अतः उपमेय उपमानरूप में परिणत हो जाता है, फलतः वहाँ उपमान का कार्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध होता है ।

प्रागुक्तसर्वस्वकारोक्तं स्रग्द्वयति—

अत्रापि चिन्त्यते—आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोग इत्यस्य प्रकृतकार्ये उप-
योग-आहोस्वित् प्रकृतविषयात्मतया उपयोगोऽर्थः ? न तावदाद्यः ।

‘दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये ।
अद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाप्रै-
र्यत्खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

इति त्वद्दाहृतरूपकोदाहरणे आरोप्यमाणानां कण्टकानां प्रकृतसैद्व्यथारूप-
कार्ये उपयोगेनातिप्रसङ्गात् न द्वितीयः ।

‘अथ पक्विमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः ।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरङ्गमायैः ॥’

इत्यत्र स्वोक्तव्यधिकरणपरिणामोदाहरणासङ्गत्यापत्तेः । यतो राजसङ्घटने क्षुपा-
यनस्यारोप्यमाणस्य स्वात्मनैवोपयोगः, न तु विषयवचोरूपतया । वचसां तु
विषयाणामारोप्यमाणोपायनरूपत्वेन परमुपयोग इति प्रत्युत विपरीतम् । तस्मा-
दस्मदुक्तमेव व्यधिकरणपरिणामस्योदाहरणं साधु । इदं तु पुनर्व्यधिकरणरूपक
भवितुमर्हति । तृतीयार्थान्नेदोऽपि भीनवतीनयनाभ्यामित्यत्रैव प्रकृत्यर्थानुयो-
गिको बोध्यः ।

अत्रेति । सर्वस्वकारोक्तिविषये इत्यर्थः । चिन्त्यते इति । विचारं क्रियते इति भावः ।
चिन्तास्वरूपमाह—आरोप्यमाणस्येत्यादिना । उपयोग इति । वक्ष्यमाणार्थपदस्यात्राप्य-
पकर्षः । दासे इति । कृतागसि कृतापराम्भे, दासे सेवके, प्रभूणाम् स्वामिना, पादप्रहार-
चरणाघातः, उचितो युक्त, एव, भवति, अतः हे सुन्दरि ! अस्मि अहम् (अस्मदर्थक-
मव्ययमेतत्, क्वचित्तु 'अस्मि' इत्यस्य स्थाने 'अत्र' इति पाठो दृश्यते, तथा च अत्र
पादप्रहारविषये न दूये इत्यर्थः) न, दूये दुःखीभवामि । किन्तु उच्यन्ति त्वदीयचरण-
स्पर्शानोत्पद्यमानानि यानि कठोरानि पुलकानि रोमाणि तेषाम् अङ्कुरा एव कण्टकाप्राणि,
तैः, तव, पदं नत् खिद्यते क्लेश प्राप्नोति, ननु निययेत, सा मे, व्यथा वेदना इत्यर्थः ।

नायिका प्रति सापराधस्यानुभूततत्पादप्रहारस्य नायकस्योक्तिरियम् । तदुदाहृतेति । सर्वस्वकारोदाहृतेत्यर्थः । आरोप्यमाणानामिति । पुलकेश्विन्यादि । प्रकृतेति । प्रकृतो यः खेदस्तत्सम्बन्धिनी या व्ययेत्यर्थः । अथ पक्वित्रमतामिति । पूर्वसाक्षात् प्रकरणविशेषघटितमेतत्पद्यम् । अथ अनन्तरम्, कश्चिन् पूर्वप्रमान्तो जन, वक्षत्रपयाधितैः सुखनिःसृते, पक्वित्रमताम् परिपकताम्, उपेयिवद्भिः प्राप्तवद्भिः, अत एव, सरसैः, वचोभिः वचनैः, प्रथमम् प्राक्, तत्परत, तत्पश्चात्, तुरङ्गमाथैः अन्वाथैः, क्षितिभर्तुः राज्ञ, उपायनम् उपहार चकारेत्यर्थः । असङ्गतिसुपपादयति—यतो इत्यादिना । राजसङ्घटने राजमेलने । उपायनस्य उपहारस्य । आरोप्यमाणस्येति । वचसोत्यादि । प्रत्युत विपरीतमिति । अत्र 'अत्रेदं चिन्त्यम्—यत्किञ्चिद्दूषोपायनस्य राजसङ्घटनानुपायत्वात्, क्लिष्टानन्वननुरङ्गमादिरूपस्यैव च तदुपायत्वात्, एव च राजसङ्घटनोपयोगित्वे तुरङ्गमादिरूपेणैवोपायनस्यैतदुक्तिरेव विपरीतेति । अप्रिममवधारणमिदं त्वित्याशुक्तं च चिन्त्यमिति बोध्यम् ।' इति नापेश । पर्यवसितार्थमाह—तस्मादिति । अस्मदुक्तमिति । 'अहो न चन्द्रा—' इति पद्यमित्यर्थः । इदं तु इति । 'अथ पक्वित्रम—' इति पद्यमित्यर्थः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे' इति सूत्राशस्य द्वावर्थौ सम्भवतः, प्रकृतकार्ये उपयोग इत्येक, प्रकृतोपमेयरूपेणोपयोग इति च द्वितीय, तत्र प्रथमो न युक्त, 'दासे कृतागसि' इति सर्वस्वकाराभिमते उपकोदाहरणेऽतिव्याप्ते उपमेयकण्टकाना स्वजन्यनायिकागतखेदसभावनाप्रयुक्तनायकगतव्यथारूपप्रकृतकार्ये उपयोगित्वात् । द्वितीयोऽपि नोचित, 'अथ पक्वित्रमता—' इत्यत्र त्वदुक्तव्यधिकरणपरिणामोदाहरणत्वस्यासङ्गते, उपायनरूपस्योपमानस्योपमेयरूपतया राजमेलनात्मके प्रकृतकार्ये उपयोगभावात्, उपमेयभूतावचनानामेवोपमानात्मनोपयोगेन वैपरीत्याच्च । अतो नैव व्यधिकरणपरिणामोदाहरणम् सम्भवति, व्यधिकरणरूपत्वस्यैव प्रसङ्गे । ननु उपमेयवाचकत्वच पदोत्तरतृतीयाविभक्त्यर्थभिर्दस्य प्रकृत्यर्थप्रतियोगिकतया उपमानप्रतियोगिकाभेदभानाभावात् कथं रूपकमिति चेत्, 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इति प्रायुक्तपद्य इवान्नापि प्रकृत्यर्थानुयोगिकाभेदस्यैव तृतीयार्थताक्षीकारात् । व्यधिकरणपरिणामोदाहरणं पुनर्मदुक्तमेवावगन्तव्यमिति भावः ।

उक्तं सर्वस्वकारमत का स्रष्टवत किया जाता है—अत्रापि चिन्त्यते इत्यादि । उक्तं सर्वस्वकार के मत के विषय में यह विचार किया जाता है कि 'आरोपित किये जानेवाले का प्रकृत में उपयोग' इस सूत्राश का क्या अर्थ ? प्रकृत कार्य में उपयोग अथवा प्रकृत उपमेय के रूप में उपयोग ? दोनों में से एक भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम अर्थ मानने पर 'दासे कृतागसि—अर्थात् हे सुन्दरि ! दास यदि अपराधी हो तो उस पर स्वामियों का पाद प्रहार उचित ही है, अतः मुझ अपराधी पर जो तुमने पाद-प्रहार किया उससे मैं दुखी नहीं हूँ । पर तुम्हारा धरण, उठते हुए कठोर रोमाञ्चों के अद्भुतरूप काँटों की नोकों से, क्षिन्न हो रहा है, बस यही मुझे व्यथा है ।' इस नायक द्वारा यानिनी नायिका के प्रति कहे गए पद्य-जिसको आपने रूपक का उदाहरण माना है—में अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण, यहाँ आरोपित किए जानेवाले-उपमान (काँटों) का प्रकृत व्यथारूप कार्य में उपयोग होता है । द्वितीय अर्थ मानने पर 'अथ पक्वित्रमताम्—अर्थात् उसने पहले मुझरूप पद्य के पथिक-सुख द्वारा उच्चरित-और परिपक, अतएव सरस, वचनों द्वारा राजा की 'नजर' (भेंट) की, बाद में घोड़ा आदि द्वारा ।' इस पद्य में आपका कहा हुआ 'व्यधिकरणपरिणाम' का उदाहरण असङ्गत हो जायगा । कारण, राजा से मिलने में आरोपित किए जानेवाले 'नजर' रूप उपमान का उपयोग अपने रूप में ही होता है, उपमेय वचनरूप में नहीं, प्रत्युत उपमेयरूप वचनों का उपयोग उपमान-

रूप 'नजरों' के रूप में होता है जो आपके कथन से सर्वथा विपरीत है। अतः आपके लक्षण-उदाहरण सभी गद्गद हैं। फलतः मद्गुक्त लक्षण तथा अधिकरणपरिणाम का उदाहरण ही ठीक है। आपका यह उदाहरण तो व्यधिकरण रूपक का हो सकता है। आप कहेंगे—रूपक का यह उदाहरण कैसे हो सकता है? क्योंकि यहाँ वचः पद के भागे की तृतीया विभक्ति के अर्थ-अभेद-का प्रतियोगी प्रकृतार्थ-वचन-होगा, अतः उपमेय-वचन-का अभेद प्रतीत होगा, उपमान-'नजर'-का अभेद नहीं और रूपक की सिद्धि में उपमान के अभेद की प्रतीति आवश्यक है, तो इसका समाधान यह है कि जैसे 'मीनवती नयनाभ्याम्-' में प्रकृतार्थानुयोगिक अभेद ही तृतीयार्थ माना जाता है वैसे यहाँ भी प्रकृतार्थानुयोगिक अभेद को ही तृतीया विभक्ति का अर्थ माना जायगा। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों पर अभेद का प्रतियोगी उपमान ही होता है? उपमेय नहीं, अतः रूपक की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं। यहाँ भा नागेत अपनी टीका में सव-स्वकार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—'राजा से मिलने में जिस किती तरह के उपायन (नजर) का उपयोग नहीं किया जाता, अग्नि विलक्षण उपायन का ही उपयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ उपायन का उपयोग अपने आपके रूप में नहीं, किन्तु विलक्षण वचन अथ आदि के रूप में ही होगा, फिर यहाँ परिणाम अवरय माना जा सकता है, अतः ग्रन्थकार का यह सङ्गठन उचित नहीं है।'

मतान्तरमाह—

केचित्तु "क्वचिक्केवल्लो विषयः स्वात्मना न प्रकृतोपयोगीत्ययमारोप्यमाणा-भिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्रारोप्यमाणपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ'। अत्र वदनमिन्द्रभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्य वदनस्य दृक्छि-शिशिरीकारकत्वायोगात्। क्वचिचारोप्यमाणः स्वात्मना न प्रकृतकार्योपयोगीत्ययं विषयभिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्र विषयपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति'। अत्रेन्दुर्वदनाभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्येन्दोः स्मरतापापनोदकत्वायोगात्। एवं च परिणामद्वयात्मकमिदं रूपकमेव भवितुमर्हति। विषयतावच्छेदक-विषयितावच्छेदकान्यतरपुरस्कारेण निश्चीयमानविषयविषयान्यतरत्वस्य तल्लक्षणत्वात्। अत एवोक्तम्—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति। तस्मान्न रूपकात्परिणामोऽतिरिच्यते" इति वदन्ति।

केवल इति। उपमानाभिन्नत्वेनाप्रतीयमान इति भावः। विषय उपमेयः। आरोप्य-मारोपि। उपमानेत्यर्थः। आरोप्यमाणपरिणाम इति। आरोप्यमाणे परिणाम-परिणतिः तद्रूपतयाऽवस्थानमिति यावत्। विषयस्येति भावः। आरोप्यमाणपरिणाममुदाहरति—यथेति। तन्वी कुराज्ञी नायिका, वदनरूपेण इन्दुना, दृशौ नयने, शिशिरीकुरुते शीतलवती-त्यर्थः। वदनरथेति। तस्य जलभिन्नत्वादिति भावः। विषयपरिणाम इति। विषये-उपमेये-परिणाम-विषयिण इति यावत्। उपमेयत्वेणोपमानावस्थितिर्विषयपरिणाम इति स्पष्टार्थः। विषयपरिणाममुदाहरति-यथेति। कुराज्ञी चन्द्ररूपेण मुलेन कामतापमपनुदतीत्यर्थः। इन्दो-रिति। तस्योद्दीपकत्वेन तज्जलकन्यादिति भावः। ननु कथमयं द्विविध परिणाम रूपकत्वेन स्वीकरणीयः, लक्षणानाकान्तत्वात् इत्यतोऽभिन्न रूपकलक्षणमाह—विषयतावच्छेदकेत्यादिना। तल्लक्षणेति। रूपकलक्षणेत्यर्थः। अमिन्द्रमिदं लक्षण प्राचीनलक्षणेन सवाद्यति-अत एवेति। उक्तमिति मम्मटभट्टेनेति भावः। 'उपमेयतावच्छेदकम् (उपमेयवृत्त्यसाधारणधर्मम्) पुरस्कृत्य निश्चीयमानमुपमेयतादात्म्यम्, उपमानतावच्छेदकम् (उपमानगतासाधारणधर्मम्) पुरस्कृत्य निश्चीयमानमुपमेयतादात्म्यम्' इत्युभयविधं रूपकलक्षणम्। तेन

यत्रोपमेयसुप्रमानरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमेयसुप्रमानात्मना कार्योपयोगि भवति, यत्र चोपमानसुप्रमेयरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमानसुप्रमेयात्मना कार्योपयोगि भवति, तत्रो-
भयत्र रूपकमेव । फलतः परिणामनामक कश्चिद्रूपकातिरिक्तोऽलङ्कारो नास्तीति केषांचिदभि-
प्राय । अत्र 'केचित्' 'वदन्ति' इति पदद्वयेनाहचि सूच्यते, तद्वीजमाह नामेश -'चमत्क-
तिनिदानत्वेनालङ्कारभेद इति सिद्धान्तितत्वादन्यत्रेवात्रापि भेद एवोचितः ।' इति ।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि । कुछ विद्वानों का कथन है कि—'दो तरह से परिणाम होता है । कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे (उपमेय को) आरोपित किए जानेवाले (उपमान) से अभिन्न होकर रहना पड़ता है । ऐसी जगह प्रस्तुत का आरोपित किए जानेवाले के रूप में—अर्थात् उपमेय का उपमान के रूप में—परिणाम होता है । जैसे—'वदनेन्दुना— अर्थात् कृशाङ्गी नायिका चन्द्ररूप मुख से नयनों को शीतल करती है ।' यहाँ मुख को चन्द्र से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल मुख नयन को शीतल नहीं कर सकता । और कहीं आरोपित किया जानेवाला (उपमान) अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे उपमेय से अभिन्न होकर रहना पड़ता है । ऐसे स्थलों पर उपमान का उपमेय के रूप में परिणाम होता है । जैसे—'वदनेन्दुना—अर्थात् कृशाङ्गी नायिका मुखरूप चन्द्र से कामताप को शान्त करती है ।' यहाँ चन्द्र को मुख से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल चन्द्र कामताप को शान्त नहीं कर सकता । इस तरह इन दोनों परिणामों के रूप में रूपक का होना ही उचित है, क्योंकि मेरे हिसाब से रूपक का लक्षण यह होना चाहिए कि—उपमेयतावच्छेदक ('मुखरव' आदि) अथवा उपमानतावच्छेदक ('चन्द्रत्व' आदि) दोनों में से किसी एक को भागे रखकर निश्चित की जाने वाली उपमानरूपता अथवा उपमेयरूपता दोनों में से किसी को भी रूपक कहा जा सकता है । अतएव तो मम्मटभट्ट ने कहा है कि—'तद्रूपक— अर्थात् उपमान-उपमेय का जो अभेद होता है (उन दोनों में से चाहे कोई किसी रूप में परिणत हो) वह रूपक कहलाता है ।' अतः 'परिणाम' 'रूपक' से कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं है ।' 'केचित्तु' तथा 'वदन्ति' इन दोनों ही पदों से इस मत में मन्थकार अपनी अहचि सूचित करते हैं, जिसका बीज नामेश अपनी टीका में यह बतलाते हैं कि 'अलङ्कार के भेद में चमत्कार का भेद ही मूल कारण माना जाता है । ऐसी दशा में जैसे अन्य अनेक भिन्न-भिन्न अलङ्कार माने जाते हैं, वैसे इन दोनों (रूपक और परिणाम) को भी भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानना ही उचित है ।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि—रूपक-जहाँ उपमान प्रधान रहता है और उपमेय गौण—में उपमानकृत चमत्कार होता है और परिणाम-जहाँ उपमेय प्रधान रहता है और उपमान गौण—में उपमेयकृत चमत्कार होता है, अतः ये दोनों चमत्कार दो तरह के होते हैं और चमत्कार जब दो तरह के होते हैं तब अलङ्कार भी दो मानने ही पड़ेंगे ।

अथ परिणामालङ्कारविशिष्टवाक्यजबोप विचारयितु प्रक्रमते—

अथ बोध —

परिणामसम्बद्धविचारान्तरकरणान्तर सम्प्रति परिणामवाक्यजबोधो विचार्यते इति भाव ।

परिणाम के विषय में अन्य विचार कर लेने के बाद अब परिणामवाले वाक्यों से होनेवाले शाब्दबोध का विचार किया जाता है ।

कतिपयेषु स्थलविशेषेषु बोध विचारयति—

हरिनयतमाल इत्यत्र भगवद्भिन्नतमाल इति निर्विवादैव धीः । तथा श्रावं

श्रावं वचःसुधामित्यत्र विशेषणसमासगतपरिणामे वचनाभिन्नां सुधामिति, पायं पायं वच सुधामितिरूपके तु वचोनिष्ठाभेदप्रतियोगिनीं सुधामिति बुद्धिः । एवं च 'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरत्तापं विलुम्पति' इति व्यस्तरिणामे 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुहते दृशी' इति व्यस्तरूपके च बोधवैलक्षण्यम् ।

तथा—

‘शान्तिमिच्छसि चेदाशु सतां वागमृतं शृणु ।

हृदये धारणाद्यस्य न पुनः खेदसम्भवः ॥’

इति परिणामे, शृण्विति बिहाय पिबेति कृते तत्रैव रूपके,

‘विद्धा मर्मणि याग्वाणैर्घर्षन्ते साधवः खलैः ।

सद्भिर्वचोऽसृष्टैः सिद्धाः पुनः स्वस्था भवन्ति ते ॥’

इति रूपके च बोधव्यवस्थितिः । तथा 'अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन' इति व्यधिकरणपरिणामेऽभेदस्य तृतीयार्थत्वाद्भ्रसदाननाभिन्नहीनेतरचन्द्रयुक्तेति धी । मीनवती नयनाभ्यामित्यत्र तु सरसी-त्वादात्म्यारोपो बाधकाभावात्तावत्सिद्धः । तस्य च मीनयोर्नयनाभेदारोपेणासमर्थनान्नयनयोर्मानाभेदारोपो मृग्यः । स च तृतीयायाः प्रकृत्यर्थाभेदार्यक-त्वायां न सम्भवतीति यथाकथञ्चित्तस्याः प्रकृत्यर्थनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वार्थकत्वं वाच्यम् । तेन नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनयुक्तेति धी । एवं चारोप्यमाणे विषयप्रतियोगिकाभेदस्याभानात्र परिणामः, अपि तु रूपकमेव । इयमेव सरणिः 'नया शेखरिये दृशा तिलकिने—' इति प्रागुक्ताप्यदीक्षितदत्तोदाहरणे, 'वचो-भिरुपायनं चकार—' इत्यलङ्कारसर्वस्वोदाहरणे च बोध्या । यदि पुनरारोप्यमाणे यथाकथञ्चित्त्रिपयाभेदप्रत्ययमात्रपरिणामतोच्यते, नाद्रियते च प्रकृतोपयोग-स्तदा 'प्रवृत्तोऽस्याः सेकुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्' इति तदुदाहृतरूप-कस्य परिणामतापत्तिः, प्रेमलतिकामिति समासे प्रेम्णो विषयस्य लतिकाम्या-मारोप्यमाणायामभेदेन विशेषणत्वादिति दिक् ।

हरिनेवेति । अन्यकृता दत्ते परिणामप्रथमोदाहरणे इत्यर्थः । मगवदभिज्ञेति । तमा-लनिष्ठाभेदप्रतियोगी भगवानिति भावः । निर्विवादवेति । परिणामस्य निर्विवादत्वेऽन्यस्या असम्भवादिति भावः । धी- बोधः । अन्यदृष्टुक्तपरिणामद्वितीयोदाहरण आह—तथेति । विशेषणसमासेति । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति सूत्रविहितसमासेत्यर्थः । गत इति । अधीनेत्यर्थः, वचनाभिन्नमिति । सुपानिष्ठाभेदप्रतियोगिवचनानतीति भावः । रूपके चिति । 'श्रावं श्रावम्' इत्यस्य स्थाने स्थाहितस्य 'पायं पायम्' इति पाठस्य सुधाशोषमानश्रावा-न्यमूलरूपकमकन्यादिति भावः । एवञ्चिति । समस्तयो- परिणामस्य क्वोर्धोर्धोर्धोर्धोर्धो-सिद्धौ चेत्यर्थः । बोधवैलक्षण्यमिति । प्रतियोगिन्वसुखानादुभोगिन्वसुखवकृतमिति भावः । तथा च 'इन्दुनिष्ठाभेदप्रतियोगिना वदनेने'ति परिणामे, 'वदनेनिष्ठाभेदप्रतियोगिना इन्दुना' इति च रूपके बोध इति चारांशः । एवमप्यप्याह—तथेति । शान्तीति । स्वम्, शान्ति इच्छमि चेत् ? तदा, आशु शान्तिम्, सता सज्जनानां, वागमृतं वचनसौन्दर्यम्, शृणु, यस्य वचनसौन्दर्यस्य, धारणात्, श्रवणात् पुनः, हृदये, खेदस्य, सम्भवो न भवतीत्यर्थः । परिणाम इति । आरोप्यमाणस्यानृतस्य विषयीभूतवचोरूपतयैव श्रवणान्मके प्रस्तुतकार्ये उपयोगादिति भावः । शब्दवतीति । 'शृणु' इत्यस्य स्थाने 'पिब' इति पाठे

समाश्रिते इति भाव । तत्रैव तरिमान्नेव पद्ये । रूपके इति । आरौप्यमाणस्य स्वरूपेणैव पानात्मके कार्ये उपयोगादिति भाव । विद्वेति । सखे दुर्जनं, वाग्वाणै वचनेषुभि, मर्मणि मर्मभूतहृदयदेशावच्छेदेन, विद्धा आहृता, साधव सज्जना, घूर्णन्ते मस्तकघूर्णनं भजन्ते । पुन, सद्भिः सज्जनै, वचोऽमृतै वाणीसुधाभि, सिक्ता आर्द्राकृता, सन्त, ते दुर्जनवाग्वाणविद्धा साधव, स्वस्था घूर्णनरहिता, भवन्तीत्यर्थ । रूपके चेति । 'विद्धा' इत्यत्र 'वाग्वाणै' 'वचोऽमृतै' इत्युभयमपि रूपमेव, उपमानयो वाणासृतयोः उपमेयवाग्वाणै कार्यानुपयोगित्वात् स्वस्वरूपेण तदुपयोगित्वाच्चेति भाव । बोधव्यवस्थितिरिति । 'वाग्भिन्नममृतम्-' अर्थात् अमृतनिष्ठाभेदप्रतियोगिनीम् वाचम्' इति परिणामे, पितेति पाठानुसार रूपके तु-चाङ्निष्ठाभेदप्रतियोगिभ्यमृतमिति, 'वाणाभिज्ञाभिर्वाग्भि, अर्थात् चाङ्निष्ठाभेदप्रतियोगिभिर्वाग्भि' इति, 'वचननिष्ठाभेदप्रतियोगिभिरमृतै' इति च यथायथ बोधा इति भाव । व्यधिकरणपरिणामस्थले बोध विचारयति—तथेति । लसताऽऽननेनेति । शोभमानमुखाभिन्नपूर्णचन्द्रयुक्तेति बोधार्थ । एव शुद्धिमताभिन्नज्योत्स्नायुक्त्यापि बोधो बोध्य । नन्वेवम् 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इत्यत्रापि तादृशबोधापत्ति तुल्यत्वाभ्येत्याह—'मीनवती' इत्यत्र तिचति । तावन् आदा । तस्य चेति । सुन्दर्या सरसीतादात्म्यस्येत्यर्थ । प्रकृत्यर्थभेदेति । प्रकृत्यर्थप्रतियोगिकाभेदेत्यर्थ । विभवस्या ससर्गबोधनस्य प्रकृत्यर्थप्रतियोगिकस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धत्वेन तदसम्भवादाह—यथाऋषिदिति । तस्या तृतीयाया । तेनेति । तृतीयायाः प्रकृत्यर्थनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वाद्येकत्वकल्पनेनेत्यर्थ । अयमत्र विशदोऽर्थ—'सुन्दरी सरसी' इत्यथो सुन्दर्या सरसीतादात्म्यारोपे न विद्धिद् वाचकमिति प्रधानमिद सरसीरूपकं प्रथमत सिद्धयति । तत समर्थरूपकप्रकाश नयनाभ्यामित्यभेदार्थकतृतीयाविभक्तिभ्रवणाद्यद्यपि ऽकृत्यर्थस्य नयनस्य अमेद — नयनप्रतियोगिकाभेद इति यावत्—प्रात, किन्तु नयनाभेदेन सरसीरूपकस्य समर्थन न भवति, अत एव नयनयोर्मीनाभेद मीनप्रतियोगिकाभेद इति यावत्—सृग्य —यत्नविशेषेणापि स्वीकार्य । स च यत्नविशेष स्थलविरोधातिरिक्तत्वेनोक्तव्युत्पत्तौ सङ्कोचरूप । तथा चोक्ततृतीयाया नयननिष्ठाभेद एवार्थ फलित । एवञ्च 'नयननिष्ठे'ति मूलोक्ताकारो बोधस्तत्र जायते । तादृशबोधविषयीभूतेन चार्थेन सरसीरूपकस्य समर्थन भवतीति । फलितमाह—एव चेति । आरौप्यमाणे—अर्थात् माने विषयप्रतियोगिकाभेदस्य—अर्थात् नयनप्रतियोगिकाभेदस्य अप्रतीतेनात्र परिणाम, किन्तु रूपकभेदेति भाव । उक्तप्रकारेणायमेव बोधोऽन्यत्रेत्याह—इयमेवेति । मरणि पद्धति । उदाहरणे च बोध्येति । 'नदीनिष्ठाभेदप्रतियोगिशेखरयुक्तय' इति, 'दृङ्निष्ठाभेदप्रतियोगितिलकयुक्त्याय' इति, 'वचननिष्ठाभेदप्रतियोगियुपादानम्' इति च बोधा भवन्ति । एवञ्चोक्तयुक्त्याऽत्रापि रूपकमेवेति सिद्धम् इति भाव । अत्र नामेश —“परे तु पूर्वपदार्थप्रधानमधूरव्यसकादिसमासेन मुधाप्रतियोगिकाभेदवद्वच इत्येव बोध । रूपके मीनवती नयनाभ्यामित्यत्र सुन्दर्या सरसीतादात्म्यरूप रूपक मुख्यवाक्यार्थ । तत्र च मीनवत्त्वादि साधारणो धर्म । तस्य च सुन्दर्यामिभावात्प्राप्तबाधबुद्धिस्यगनाय नयनाभ्या मीनवतीति सुन्दरीविशेषणम् । सरस्या च मीनवत्त्व प्रसिद्धमेव । एव च सुन्दर्या मीनवत्त्वमम्पादनरूपप्रकृतकार्योपयोगिता मीनाना नयनतादात्म्यात्पर्यवेति तदयो परिणाम एवेति नयनप्रतियोगिकाभेदवन्मीनवतीत्येव बोध इति दिक् । 'पादाम्बुज भवतु नो विजयाय मञ्जु' इत्यादौ रूपबोधमयो सन्देह एव इति प्राहु ।” इति । मीनवतीति पद्ये परम्परितरूपकम् ।

परम्परिते च समर्प्यसमर्थकभावो नियमतरितेष्टति । रूपवत्स्य समर्थनम् च हपकेणैव सम्भवति, न परिणामेनैति 'भोत्वती नयनाभ्याम्' इत्यशेषि ग्रन्थवाचोचदिशा रूपवमेय न्याप्यम्, न भागेशोकरीत्या परिणाम इति तु मम प्रतिभाति । उपसहारे पुनर्दीक्षिता-शयनिरसनमुखेन परिणामे कार्योपयोगं समर्थयति—यदिति । 'प्रवृत्तौऽस्या—' इति । रूपकोदाहरणतया पयमेतदीक्षितेनैवदृष्टम् । 'कुण्डलीवाङ्गानि रितमितयति गीतश्वनिषु यत्, सखीं वान्तोदन्तं धृतमपि पुनः प्रश्नयति यत् । अनिद्रं यथास्त स्वपिति तदहो । वेप्रथ-भिनवाम्...' इति चरणत्रयशोपो बोध्यः । डुरङ्गी हरिणी, ह्य, गीतश्वनिषु, अङ्गानि, यत्, इतिमितयति निखलीकरोति, धृतमपि, कान्तोदन्तम् प्रियतमसमाचारम्, पुन वारंवारम्, सखीम्, यत्, प्रश्नयति प्रश्न करोति, अङ्गं अनिद्रम् आन्वन्तरनिद्रा विनैव, निद्रा-च्छलेनेति यावत्, यत् स्वपिति स्वापमुद्रा धत्ते, तेनाह वेमि जानामि, किं जानामि ? मनसिजं कामं, अस्या, हृदि, अभिनवाम् नूतनाम्, प्रेमलतिकां प्रीतिवङ्गरीं, सेफुम् आर्द्राकर्तुम्, प्रवृत्त उद्यत इत्यर्थः । सख्या सखीं प्रति नाविदावृत्ताःतनूचनानाञ्चिरियम् । अरिगन् इलोके प्रेमिणि उपमेये लतिवाया उपमानभूतायारतादात्म्यस्यारोपेण रूपम्, न तु परिणामः उपमानभूताया लतिकाया उपमेद(प्रेम)रूपेण सेवात्मके कार्ये उपयोग-भावात् । यदि परिणामे कार्योपयोगाशो न निविश्येत, तदाऽप्रापि परिणाम आपतेत्, लतिकारूपे उपमाने प्रेमहपोपमेयाभेदस्य प्रतीतेरिति भावः ।

परिणामालङ्कार वाले कतिपय वाक्यों में शब्दबोध दिखलाये जाते हैं—हरिनद—इत्यादि । 'हरिनदतमालः' इस ग्रन्थोक्त प्रथम परिणामोदाहरण-वाक्य का शब्दबोध 'हरि से अभिन्न नवीन तमाल—अर्थात् तमाल में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी हरि' यह होता है । इस विषय में किसी को कोई आपत्ति है ही नहीं । 'ध्रुवं ध्रुव वच-सुधाम्—वचनामृत सुन सुनकर' इस ग्रन्थोक्त द्वितीय परिणामोदाहरण वाक्य का शब्दबोध—'वचन से अभिन्न अमृत—अर्थात् अमृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन' यह होता है । इसी वाक्य में 'ध्रुवं ध्रुवम्' की जगह पर यदि 'पाप-पावम्' ऐसा पाठ कर दिया जाय, तब यहाँ परिणाम न होकर रूपक अलङ्कार हो जाता है और तब उस रूपक वाक्य का शब्दबोध—'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अमृत अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन' यह होता है । और अब जब कि समस्त परिणाम तथा समस्त रूपक में शब्दबोध की भिन्नता दिखला दी गई, तब—'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुगपति' इस व्यस्त(वाक्यगत)परिणाम में तथा 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशि रीकुरुते द्यौः' इस व्यस्तरूपक में भी शब्दबोधों की विलक्षणता सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह कि पूर्वोक्तरीति से परिणाम में 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी मुख—अर्थात् मुख से अभिन्न चन्द्र' ऐसा बोध होता है और रूपक में 'मुख में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र—अर्थात् चन्द्र से अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है । जैसे ही—'शान्तिमिच्छसि—अर्थात् यदि तू शान्ति चाहता है तो शीघ्र सज्जनों का वचनामृत सुन, जिसके धारण करने से फिर हृदय में खेद की उत्पत्ति नहीं होती ।' इस परिणाम में, और इसी पद्य में 'शृणु' की जगह पर 'पिब' पाठ कर देने से रूपक धन जाने पर, एव 'विद्या मर्मणि—अर्थात् दुर्जनों द्वारा वचन वाणों से मर्मस्थल में घायल किए गये सज्जन पुरुष चक्र खाते लगते हैं और वे ही सज्जनों द्वारा वचनामृत से सँघे गये पुन स्वस्थ हो जाते हैं ।' इस रूपक में भी शब्दबोध की व्यवस्था हो जाती है । अभि-प्राय यह है कि—परिणाम में पूर्वरीति से 'अमृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन-अर्थात् वचन से अभिन्न अमृत' यह और रूपक में 'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रति-योगी अमृत—अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन' यह बोध होता है । इसी तरह 'वचन-

बाण' का भी बोध समझ लेना चाहिए। तथा—'अहीनचन्द्रा—अर्थात् सुन्दर मुख द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनी वाली' इस 'व्यधिकरण परिणाम' में तृतीया का (तद्द्वारा) अर्थ अभेद होता है, अतः 'सुन्दरमुख द्वारा पूर्ण चन्द्रवाली' इस वाक्य का शाब्दबोध—सुन्दर मुख से अभिन्न पूर्ण चन्द्रवाली—अर्थात् चन्द्र में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी जो मुख उससे युक्त' और 'शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनीवाली' इस वाक्य का शाब्दबोध—'शुद्ध मन्दहास से अभिन्न चाँदनीवाली—अर्थात् चाँदनी में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी जो चाँदनी उससे युक्त' ये होते हैं। 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इत्यादि पूर्वोक्त रूपकोदाहरण में तो, प्रथमतः सरसीरूपक अर्थात् सुन्दरी में सरसी का तादात्म्यारोप—सिद्ध होता है—उसकी सिद्धि में किसी तरह की बाधा नहीं होती। पर उस प्रधानरूपक का समर्थन 'मङ्गलियों में नेत्रों के अभेदारोप से नहीं हो सकता, अतः 'नेत्रों में मङ्गलियों का अभेदारोप' हूँ इने योग्य हो जाता है। और यह 'नेत्रों में मङ्गलियों का अभेदारोप' तब बन नहीं सकता यदि 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीया विभक्ति का अर्थ प्रकृत्यर्थाभेद—अर्थात् तृतीया विभक्ति की प्रकृति—नयन आदि शब्द—का अर्थ जिसका प्रतियोगी हो उस अभेद—को माना जाय, इसलिये जिस किसी तरह तृतीया विभक्ति का अर्थ उस अभेद को मानना पड़ेगा जो अपनी प्रकृति के अर्थ—नयन आदि—में रहनेवाला हो और जिसका प्रतियोगी मीन आदि हों। और जब ऐसे अभेद को तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लिया जायगा तब उक्त सरसीरूपक का उससे समर्थन भी हो सकेगा। इस तरह से अब 'मीनवती नयनाभ्याम्' का शाब्दबोध—'नेत्रों में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी जो मीन (मङ्गलियों) उनसे युक्त' यह होगा। फलतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं होता, क्योंकि आरोप्यमाण—अर्थात् उपमानभूत मङ्गलियों—में विषय प्रतियोगिक अभेद—अर्थात् उपमेय(नेत्रों)का अभेद प्रतीत नहीं होता। हाँ, रूपक अलङ्कार यहाँ अवश्य होता है, क्योंकि आरोप्यमाण उपमानभूत पदार्थ—मङ्गलियों का अभेद उपमेयभूत पदार्थ (नेत्रों) में प्रतीत होता है। यही पद्धति 'नद्या शैलरिगे इशा तिलकिने' इत्यादि अण्यपदीक्षित के उदाहरण में और 'बचोभिरुपायनं चकार' इस अलङ्कारसर्वस्वकार के उदाहरण में समझनी चाहिये। अभिप्राय यह कि—इन पद्यों में परिणामालङ्कार नहीं, अपितु रूपकालङ्कार है, अतः उन वाक्यों का शाब्दबोध रूपक का-सा होना चाहिये। फलतः 'नदी में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी शैलर से युक्त' इस तरह का शाब्दबोध होना चाहिये, न कि 'शैलर में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी नदी से युक्त' इस तरह का। यदि आप इस तरह का दुराग्रह करें कि—किसी भी प्रकार से उपमान में उपमेय के अभेद की प्रतीति का नाम परिणाम है, उस का प्रकृत कार्य में उपयोग हो अथवा नहीं। तब तो 'प्रवृत्तोऽस्या—' जिसका एक चरण मूल में उद्धृत है और अवशिष्ट तीन चरण सस्फुट टीका में उद्धृत हैं तथा जिसका अर्थ यों है—(सखी सखी से नायिका के विषय में कह रही है—) में समझती हूँ कि—कामदेव इसके हृदय में नूतन प्रेमलता को साँचने में प्रवृत्त हो चुका है क्योंकि यह सङ्गीत(ध्वनि)समय में अङ्गों को हरिणी की तरह निश्चल कर देती है, प्रियतम के सुने हुए समाचार को भी सखी से पुनः पूछती है और भीतर से निद्रा के बिना ही सोती है—जागती हुई भी सोई हुई की सी मुद्रा बनाती है।' इस पद्य में जिसको दीक्षित जी ने रूपक का उदाहरण माना है वह परिणामालङ्कार होने लगेगा, क्योंकि 'प्रेमलतिकाम्' इस समस्त पद्य के अर्थ में उपमेय प्रेम, अभेदसम्वन्ध द्वारा, आरोपित की जानेवाली (उपमान) 'लतिका' का विशेषण बन रहा है—उपमेयप्रतियोगिक—अभेद उपमान में भासित हो रहा है। परिणाम लक्षण में 'कार्योपयोग' का निवेश करने पर तो यहाँ परिणाम का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जाता, क्योंकि उपमान लता का उपयोग। सेचन में उपमेय-प्रेमरूप से नहीं, अपितु अपने रूप से ही होता है। सारांश यह हुआ कि परिणाम

लक्षण में 'कार्योपयोग' का निवेश करना ही चाहिये और उस हालत में 'नद्या खे-
रिणे—' इत्यादि पद्यों में रूपक ही माना जा सकता है, परिणाम नहीं। नारीय यहाँ
भी 'अन्य का मत' ऐसा कहकर कुछ भिन्न मत उपस्थित करते हैं। उनके कथन
का सारांश यह है कि—'वच सुधाम्' में 'मयूरम्यसकादयश्च' से समास होता है और
इस समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है, अतः उक्त वाक्य का बोध—'सुधा जिस
की प्रतियोगिनी हो ऐसे अभेद से युक्त वचन—अर्थात् सुधा के अभेद से युक्त वचन'
ऐसा ही समझना चाहिये। 'मीनवती नयनाभ्याम्' इस वाक्य का 'सुन्दरी में सरसी-
साद्रूप्यात्मक रूपक' प्रधान अर्थ है और इस रूपक में उपमान उपमेय का साधारण
धर्म है मछलीवाला होना (मीनवत्त्व)। पर सुन्दरी में इस धर्म का समाव है—अर्थात्
सुन्दरी में मछलियाँ नहीं हैं, अतः जो बाध-बुद्धि (सुन्दरी न मीनवती) प्राप्त है उसी को
स्पष्ट करने के लिये केवल 'मीनवती' न कहकर 'नयनाभ्यां मीनवती' ऐसा
सुन्दरी का विशेषण कहा गया है। सरसी में तो मीनवत्ता (मछलियों का रहना)
प्रसिद्ध ही है। इस रिपति में सुन्दरी को मीनयुक्त बनानारूप प्रस्तुत कार्य में मीनों
का उपयोग नयनरूप होने पर ही होता है, अतः उस अर्थ में परिणामालङ्कार ही है,
अतएव उस अर्थ का बोध भी 'नयन जिसके प्रतियोगी हैं इस तरह के अभेद वाली
मछलियों से युक्त सुन्दरी' ऐसा ही होगा।"

परिणामालङ्कारध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामध्वनिर्विचार्यते—

शाब्दबोधनिरूपणानन्तरं परिणामध्वनिविषयको विचार प्रस्तूयत इति भावः ।

परिणामालङ्कारध्वनिनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि। शाब्दबोध विचार
के बाद अब परिणामालङ्कारध्वनि के विषय में विचार किया जाता है।

अप्ययदीक्षितोक्तमनूय सण्डयति—

सत्र यत्तादृश्यदीक्षितैर्विधाधरोक्तं ध्वन्युदाहरणमनूय दूषितम्—

“तथाहि—

‘नरसिंह परानाथ ! के वयं तव धर्षणे ।

अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते ॥’

अत्र राजपदेन चन्द्रे विषये निर्विण्डे तत्रारोप्यमाणस्य नृपस्याक्रमणरूप-
कार्योपयोगिनः प्रतीतेः परिणामो व्यज्यते इति, तदयुक्तम् । तत्र ह्यारोप्यमाणस्य
नृपस्य नृपात्मनैवाक्रमणोपयोगः, न चन्द्रात्मना” इति । तदसत् । अत्र
विजृम्भण नाम न केवल प्रागल्भ्यमात्र कवेरभिप्रेतम्, येन यशःकर्तृकाक्रमणे
नृपस्य नृपात्मनैव कर्मत्वरूप उपयोगः स्यात् । अपि तु निरतिशयनैर्मल्यगुण-
वत्तायां स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्यप्रयुक्त प्रौढविशेषः । आक्रमण तु न्यग-
भाव एव । एवं चैवविधिविजृम्भणे चन्द्रकर्मकमेवाक्रमणमुपयुज्यते, न तु नृप-
कर्मकमिति विषयितया व्यज्यमानस्यापि नृपस्य चन्द्रात्मनैवाक्रमणोपयोग इति
रमणीयमेव विद्याधरेणोक्त परिणामव्यङ्ग्यतायामुदाहरणम् ।

अवेति । 'नरसिंह—' इति पद्य इत्यर्थः । व्यज्यत इतीति । विद्याधरेणेति भावः ।
विद्याधरोक्तं उण्डयति—तदयुक्तमिति । अयुक्तत्वे हेतुमाह—तत्र ह्यारोप्येत्यादिना । न चन्द्रा-
त्मना इतीति । अस्य प्रागुक्तेन 'दूषितम्' इत्यनैवान्वयः । तद्दूषण निरस्यति—तदसत्
इति । तत्र हेतुमाह—अत्रेत्यादिना । प्रागल्भ्येति । आक्रमणसाफल्याभिमानेति भावः ।

गुणवत्तायाम् तद्रूपसाधारणधर्मे । स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्येति । निजनिप्रतिद्वन्द्विते-
त्यर्थः । प्रौढि उत्कर्ष । न्यग्भाव इति नीचर्चनयनमिति भावः । एव चेति । विजृम्भमाणा-
क्रमणयोश्चरूपत्वे चेत्यर्थः । रमणीयमेवेति । अत्र “अत्रेद् चिन्त्यम्-राजशब्दस्यानेनार्थ-
त्वात्, विजृम्भतेश्च प्रागल्भ्यतदुक्तार्थोभयपरत्वात्, प्रकरणादेश्च शक्तिसङ्कोचकस्याभावात्,
तन्त्रेण शक्यैव तुल्यतयाऽर्षद्वयोपस्थितां ‘सर्वदो माधव पातु’ इतिवत् श्लेष एवायम्,
क परिणाम क वा नृपस्य व्यज्यमानतेति प्रकृतनरसिंहराजोरुर्गस्य च चन्द्रकर्मक्रमणो-
नेचेतरनृपात्रमणेनापि सूपपादत्वात् । न च द्वयोरपि राजपदार्थयोरितरक्रियान्वये राजाना-
विति द्विवचन स्यादिति वाच्यम् । ‘न ब्राह्मण हन्यात्’ इतिवदुपपत्तेः । समाहारद्वन्द्वविप-
येऽप्येकशेषस्य कैश्चिद्वैयार्णैरङ्गीकाराच्च । अस्तु वारोप, तथापि नृपस्यैवारोप्यमाण-
त्वम् चन्द्रस्यैव विपयत्वमित्यत्र नियामकाभावः । अत्रैव च दीक्षिततात्पर्यम् । अपि च
प्रागल्भ्यस्यापि विजृम्भत्यर्थत्वेन प्रकृतकार्योपयोगिता नृपत्वेनापि नृपस्य सम्भवति । ननु
तात्पर्यविपयीभूतप्रकृतकार्यानुपयोगित्वमस्त्येवेति चेत्, तस्यैव तात्पर्यविपयत्वे मान विभाव-
येति ।” इति नागेश । हिन्दीरसगङ्गाधरकारश्चतुर्वेदमहोदयस्तु ‘उभयो कार्ययोस्तात्पर्य-
विपयत्वमम्भवेऽपि विद्याधरोऽतात्पर्यविपयत्वं पण्डितराजोक्तकार्यस्यैव, अन्यथा तेन तस्य
पद्यस्य परिणामध्वनिलक्ष्यतत्रोत्प्लेसासङ्गते’ इति स्वपुस्तके टिप्पणमकरोत् । सरलाकारो
भट्टमहोदयस्तु “‘राजानमात्रम्य यस्य (राज) यशो विजृम्भते’ इत्युक्तौ कवे शिल्प-
दप्रयोगसरम्भात् ‘प्रतिस्पर्धिर्न राजानमाक्रम्य यथाऽय राजा विजृम्भते, तथा अन्येषा राज्ञां
यश उपमानत्वेन प्रसिद्ध राजान (चन्द्रम्) आक्रम्य (न्यक्कृत्य) अस्य यशो विजृ-
म्भते’ इति पर्यवसितार्थानुसारमस्त्येव राजपदस्य चन्द्ररूपार्थे शक्तेनियामक प्रकरणम्”
इत्यप्याह स्म । ग्रन्थाशय पुनरेवमवगन्तव्य — ‘यस्य राज्ञो यश राजानम् (वाच्यवृत्त्या
चन्द्रं, व्यङ्ग्यवृत्त्या च नृपम्) आक्रम्य न्यक्कृत्य, विजृम्भते, हे नरसिंहनामकधराविप,
तस्य तव, वर्णने यद्य के ? न केऽपि (असमर्था यद्य तव वर्णने)’ इत्यर्थकम्
‘नरसिंहधरावाच—’ इति पद्यं परिणामालङ्कारध्वन्युदाहरणम्, राजपदेनोपस्था-
पिते चन्द्रात्मके उपमेये आरोप्यमाणस्य तेनैव पदेनोपस्थापितस्य नृगात्मकोपमानस्य
आक्रमणात्मके प्रकृतकार्ये उपयोगेन परिणामालङ्कारमिच्छते । ननु वाच्यत्वमेव इतो
नास्य परिणामस्येति चेन्न, उपमेयस्य वाच्यत्वेऽपि प्रकृतोऽन शक्ते सङ्कोचादवाच्यस्योप-
मानस्य प्रकृतोपयोगिनो व्यञ्जनयैव प्रतीतेरिति विद्याधर स्वग्रन्थे प्रत्यपादयत् । उपमे-
यात्मनोपमानस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम, अत्र तु उपमानस्य नृपस्य स्वात्मनैवाक्रम-
णात्मके कार्ये उपयोग, न चन्द्ररूपोपमेयात्मना, इति नात्र परिणामो वाच्यो व्यङ्ग्यो वा
सम्भवतीति विद्याधरमण्डयद् दीक्षितः । तत्राह पण्डितराज — नैतत्त्वण्डन दीक्षितकृत
सम्यक्, यतोऽत्राक्रमणमात्रं न कार्यम्, अपि तु आक्रमणपूर्वकं विजृम्भणम्, विजृ-
म्भण च नैर्मत्यातिशयात्मकगुणविषयेऽद्वितीयत्वप्रयुक्तोत्कर्षरूप कविविवक्षाविपयीभूतम्,
आक्रमण च न्यग्भावतम्, तथा चैतदाक्रमणपूर्वकविजृम्भणैकदेशो आक्रमणे यश कर्तुंके
आरोप्यमाणस्य नृपस्य उपमेयचन्द्रात्मतयैवोपयोगः कर्माभवनरूप इति युक्तमेवास्य पद्यस्य
विषयतोऽत्र परिणामध्वन्युदाहरणत्वम् । यदि प्रागल्भ्यमात्रं विजृम्भणम् आक्रमणं च
अन्नादिप्रहारारूप कविविवक्षितमस्यास्यन्, तदा यश-कर्तुंके तत्राक्रमणे नृपस्य स्वात्म-
नैवोपयोग कर्मतारूपोऽभविष्यत् इति तथात्रे दीक्षितकृत तण्डनमपि सम्यक् स्यात्,
परन्तु प्रागल्भ्यमात्रस्य विजृम्भणपदार्थता कवेरभिमतैव नास्तीति ।

दीवितोक्ति का खण्डन किया जाता है—तत्र यत्तावत् इत्यादि। 'नरसिंह—' अर्थात् हे पराधिप नरसिंह ! जिसका यश राजा (चन्द्र तथा नृप) का भी आक्रमण करके विजृम्भित हो रहा है उस आपका वर्णन करने में हम कौन होते हैं ? इस पद्य में 'राजा' पद से 'चन्द्र' रूप उपमेय की उपरिधिति होती है जिसमें उसी पद से अभिव्यक्त होने वाले नृपरूप उपमान का आरोप है और उस आरोप्यमाण (नृप) का आक्रमण-रूप प्रस्तुत कार्य में उपयोग भी हो रहा है—अर्थात् आक्रमण का कर्म, चन्द्र नहीं, नृप ही हो सकता है अतः यहाँ परिणामालङ्कार ध्वनित होता है (उपमेय के वाच्य होने पर भी प्रकृतोपयोगी उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होने के कारण परिणाम, वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माना जाता है) यह क्या विद्याधर ने अपने ग्रन्थ में कही जिसका खण्डन अण्पय व्रीहिति ने अपने ग्रन्थ में किया। खण्डन करने में उनकी युक्ति यह है कि—आरोप्यमाण-नृप का उपयोग आक्रमणरूप कार्य में अवश्य होता है पर अपने रूप में ही-नृपरूप में ही, उपमेय(चन्द्र)रूप में नहीं, अतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं हो सकता, क्योंकि वह वहाँ होता है जहाँ उपमान उपमेय रूप से प्रकृतकार्य में उपयोगी होता हो। इस पर ग्रन्थकार (पण्डितराज) का कथन है कि-दीक्षितजी के द्वारा किया गया उक्त खण्डन उचित नहीं है। कारण, 'विजृम्भण' का अर्थ यहाँ केवल प्रागल्भ्य (शत्रु पर सफल आक्रमण करने से होनेवाला एक प्रकार का हृदय-विकास) कवि का अभिमत नहीं है। यदि वैसा रहता तब यह कहा जा सकता था कि-यशःकर्तृक (यश द्वारा किये जानेवाले) आक्रमण में नृप नृपरूप से ही उपयोगी (उस आक्रमण का कर्म) होगा। अपि तु यहाँ विजृम्भण का कवि-विषयित अर्थ है-सर्वाधिक निर्मलतारूप गुण में अद्वितीय होने के कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष। और आक्रमण का अर्थ तो न्यग्रभाव (नीचा दिखाना) ही है। ऐसी स्थिति में इस तरह के विजृम्भण का उपयोगी चन्द्र-कर्मक (चन्द्र के ऊपर किया गया) आक्रमण ही हो सकता है, नृपकर्मक (नृप के ऊपर किया गया) आक्रमण नहीं। अभिप्राय यह हुआ कि-यहाँ चन्द्ररूप नृप को निर्मलता के विषय में नीचा दिखाकर यश का उत्कर्ष (अद्वितीय निर्मल होना) ही कवि का प्रतिपाद्य है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उपमानरूप से अभिव्यक्त होने पर भी नृप का आक्रमण में उपयोग चन्द्ररूप से ही होता है इसलिये विद्याधर ने जो इस पद्य को परिणामालङ्कारध्वनि का उदाहरण कहा वह सुन्दर-उचित ही है। यहाँ भागीश कहते हैं कि—'विद्याधर की उक्त को सुन्दर धरलाना चिन्तनीय है, क्योंकि यहाँ 'राजा' शब्द अनेकार्थक (चन्द्र और नृप दो अर्थवाला) है, 'विजृम्भते' यह क्रियापद भी द्व्यर्थक (प्रागल्भ्य और निर्मलता के विषय में अद्वितीय होने के कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष इन दो अर्थों वाला) है, और शक्ति को सङ्कचित करनेवाला प्रकरण आदि कुछ है नहीं। ऐसी दशा में 'सर्वदो माधव-' की तरह यहाँ भी दोनों अर्थ (चन्द्र तथा नृप) अभिप्रायशक्ति से ही बोधित होंगे, अतः श्लेष का ही उदाहरण है, फिर परिणाम कहाँ ? और नृप की व्यवस्था कहाँ ? अर्थात् इन दोनों में से एक भी बात यहाँ नहीं है। रहा प्रस्तुत नरसिंह राजा का उत्कर्ष सिद्ध करना, खो वह तो तदीय यशोद्वारा चन्द्र को आक्रान्त करने से जिस तरह सिद्ध होता है उसी तरह अपने द्वारा अन्य नृपों को आक्रान्त करने से भी सिद्ध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में राजपद के दो (चन्द्र और नृप) अर्थों के दो प्रकार की विजृम्भण क्रिया में अन्वय होने से 'राजापौ' यह द्विवचनान्त प्रयोग होना चाहिए इस आपत्ति का उठाना भी कुछ महत्व नहीं रखता, क्योंकि 'न प्राहणं हन्यात्' की तरह एकवचन भी हो सकता है और समाहार द्वन्द्व के विषय में भी कुछ वैयाकरणों ने एकशेष माना है तदनुसार एकशेष करके भी एकवचन को शुद्ध सिद्ध किया जा सकता है।" इस नागेशोक्ति का खण्डन आंशिक रूप से मद्र मधुरानायजी ने अपनी [टिप्पणी में यों किया है—'राजा को आक्रान्त

कर जिस (नृप) का यश विजृम्भित होता है' इस उक्ति में कवि ने श्लिष्ट प्रयोग (राजा) करने का जो प्रयास किया है उससे यह प्राकरणिक अर्थ पर्यवसित होता है कि—'प्रतिस्पर्धा नृप को आक्रान्त कर जिस तरह यह नृपः विजृम्भित होता है उसी तरह अन्य नृपों के उपमानभूत यश को आक्रान्त कर इस नृप का यश विजृम्भित होता है।' इस तरह चन्द्र का प्रकरण साफ ज्ञात होता है, अतः उस प्रकरण से 'राजा पद की शक्ति चन्द्र में अवश्य नियन्त्रित होगी और उसके नियन्त्रित हो जाने पर 'नृप' रूप अर्थ व्यङ्ग्य ही होगा, फिर जो नागेश जी ने 'शक्ति नियन्त्रित नहीं होती, दोनों अर्थ वाच्य ही हैं' इत्यादि बातें कही हैं वे ठीक नहीं।" (मुझे तो भट्ट जी की व्याख्या के अनुसार भी दोनों ही अर्थ प्राकरणिक प्रतीत होते हैं) उक्त भट्ट जी द्वारा वर्णित आशय को हृदय में रखकर अथवा हिन्दी रसगङ्गाधरकार द्वारा कथित 'उक्त द्विवचनापत्ति तथा उसके समाधान की क्लिष्टकल्पना' को हृदय में रखकर आगे नागेश ने कहा है कि— "अथवा रहे आरोप-अर्थात् चन्द्र और नृप में से एक उपमेय तथा दूसरा आरोपित समझा जाय-तथापि नृप ही आरोप्यमाण (उपमान) और चन्द्र ही उपमेय हो इसमें क्या नियामक हो सकता है? अर्थात् आप जो चन्द्र को उपमेय और नृप को आरोप्यमाण मान कर परिणाम की बात करते हैं, सो यह भी तो माना जा सकता है कि नृप ही उपमेय और चन्द्र ही उपमान हो तब आपका 'परिणाम' कैसे होगा? अप्पय दीक्षित का भी तात्पर्य इसी युक्ति में है—अर्थात् उन्होंने जो विद्याधर का खण्डन किया है उसका रहस्य भी यही है कि—नृप नहीं, चन्द्र ही यहाँ उपमान है और उसका उपयोग भी आपके हिसाब से अपने रूप में ही होता है, अतः यहाँ परिणाम नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि प्रागल्भ्य भी तो विजृम्भण का अर्थ है अतः नृपरूप से भी नृप आक्रमण में उपयोगी हो ही सकता है, फिर नृप को उपमान मानकर भी परिणाम नहीं सिद्ध किया जा सकता। आप कहेंगे विजृम्भण का जो अर्थ पण्डितराज ने लिखा है वही कवि का भी तात्पर्य विषय है और तदनुसार तो नृप अपने रूप से आक्रमण में उपयोगी होता नहीं, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि पण्डितराजोक्त विजृम्भण पदार्थ में ही कवि का तात्पर्य है इसमें प्रमाण नहीं।" हिन्दी रसगङ्गाधरकार चतुर्वेदी जी यहाँ कहते हैं कि—'प्रमाण रहे अथवा नहीं, पर विद्याधर का तात्पर्य उसी अर्थ में है जो पण्डितराज ने लिखा है, अन्यथा परिणाम-व्यति की बात यहाँ वे नहीं लिखते।'

दीक्षितोक्तमन्यदपि खण्डयति—

यदपि तैरेव परोक्ति दूषयित्वा स्वयं परिणामस्य व्यङ्ग्यतायामुक्तम्—

“चिराद् विपद्से तापं क्षिप्त ! चिन्ता परित्यज ।

नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः ॥”

अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व तन्निषेवणादयं तत्र तापः शान्तिमेप्यतीति परिणामो व्यङ्ग्यते” इति, तत्तुच्छम् । 'आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृतकार्योपयोगे परिणामः' इति स्वयमेवोक्तम् । तत्र प्रकृतकार्योपयोगमात्रं न परिणामशरीरम् । अपि तु विपयिगतायाः प्रकृतकार्योपयोगिताया अवच्छेदकीभूतं विपयताद्रूपम् । एवं चात्र नखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तन्निषेवणादयं तत्र ताप शान्तिमेप्यतीति प्रकृतोपयोगिताया व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदवच्छेदकीभूतस्य विपयिणि विपयताद्रूपस्य परिणामस्य वाक्यवाच्यत्वात् शक्यससर्गत्वाद्वा सर्वथैव न व्यङ्ग्यत्व वक्तुमुचितम् ।

— तैरेवेति । अप्पयदीक्षितैरेवेत्यर्थः । परोक्तिं विद्याधरोक्तिम् । न्यङ्ग्यतायामिति । उदा-

हरणमिति शेषः । तदुक्तमुदाहरणमनुवदति—चिरादिति । हे चित्त !, त्वम्, चिरात् यद्दोः कालात्, तापम् भवानलज्वालाम्, विपद्भे अनुभवसि, (अतभिन्तितस्तिष्ठसि) परन्तु तां चिन्तां, परित्यज मुन । शौरेः श्रीकृष्णस्य, यत् पादाब्जम् चरणकमलम्, कमलमद-शचरणाविति यावत्, तस्य ये नत्वा' तद्रूपधन्द्रमाः, (शौरेः पादाब्जेत्यत्र 'देवदत्तस्य शुरुकुलम् इतिक्त् समासः) ननु निश्चयेन अस्तीति तदर्थः । समासतापाङ्गलस्य पुंस-स्थमानसं प्रत्युक्तिरियम् । द्दोक्षितोक्तपरिणामध्वनिप्रतिपादनप्रकारमनुवदति—अप्रेति । द्दोक्षितोक्तं निरूपयति—तत्तुच्छमिति । तुच्छत्वे हेतुमाह—आरोप्यमाणस्येत्यादिना । विष-यिगताया इति । उपमाननिष्ठाया इत्यर्थः । विषयतादूप्यमिति । उपमेयतादूप्यम् इत्यर्थः । परिणामशरीरमित्यस्यानुपपत्तः । फलितमाह एवं चेति । उक्तस्य परिणामशरीरत्वे चेत्यर्थः । वैयाकरणमतेनाह—वाक्येति । नैयायिकमतेनाह—शक्येति । 'चिराद् विपद्भे—'इति श्लोके चिरतापार्तं चित्तं प्रति ह्दिरिपादनलचन्द्रसद्भाव उक्तः । तेन 'तमेव सेवस्व, तत्सेव-नादेप ते ताप-शान्तौ भविष्यति इत्यर्थो व्यज्यते । एष चार्थः परिणामालङ्काररूपः, उप-मानस्य चन्द्रस्य नलरूपोपमेयात्मकत्वा तापशान्तिरूपप्रस्तुतकार्ये उपयोगात् । तथा च परिणामालङ्कारध्वनेरुदाहरणं पद्यमिदं भवतीति द्दोक्षितेनोक्तम् न युक्तम्, विचारसदृशत्वात् । तथाहि—'उपमान यत्रोपमेयरूपेण प्रकृतकार्योपयोगि तत्र परिणामः' इति स्वयं द्दोक्षिते-नापि कथितम् । तेन केवलस्य प्रकृतकार्योपयोगस्य परिणामस्वरूपत्व न सिद्धयति, अपि तु उपमानगतप्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकौपमेयतादूप्यस्य तत्स्वरूपत्व सिद्धयति—अर्थात् प्रकृतकार्योपयोगः उपमाने उपमेयतादूप्यम् चेत्युभयाशस्य परिणामरूपता सिद्धयति । एवं द्दियतौ परिणामस्य व्यङ्ग्यताऽत्र न सम्भवति, उक्तोभयाशकपरिणामपदकप्रकृतोपयोगशास्य 'नलचन्द्रमेवनादर्थं तस्य ताप-शान्तौ भविष्यति इत्याकारकस्य, नलचन्द्रसद्भाववर्णनेन व्यङ्ग्यत्वेऽपि 'उपमाने उपमेयतादूप्यस्याशान्तरसस्य परिणामशरीरपदस्याव्याहृतत्वात् । कथं तदरशास्यव्याहृतत्वम् इति चेत् २ वैयाकरणमते ष्वक् समासशक्ते रक्षोकारेण 'पादाब्ज-नलचन्द्रमाः' इति समासत्वाक्यस्य नलचन्द्रमसोरिव तदीयतादूप्येऽपि शक्तेः गत्त्वेन तस्य वाच्यत्वात्, नैयायिकमते पुनः ष्वक्यकैरस्नोकारेण तस्य वाच्यत्वविरुद्धेऽपि संगर्गमर्षा-दया भानात् इति भावः ।

द्दोक्षित द्वारा कथित परिणाम ध्वनि के उदाहरण का अनुवाद कर रण्डन किया जाता है—यदपि ह्दवादि । अप्पयद्दोक्षित ने विद्यापर की उक्ति को दूजिन कर 'चिराद्-विपद्भे—अर्थात् हे धिच ! तू बहुत समय से सन्ताप सह रहा है और चिन्ता कर रहा है, पर मेरा कहना है कि तू चिन्ता करना छोड़ दे । श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नख-रूप हीत्रल चन्द्रमा मिश्रय ही वर्तमान है ।' हम पद्य को परिणामध्वनि का उदाहरण कहा है और उसके उपपादन में लिखा है कि—यहाँ चिरकाल से सन्ताप-पीडित चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणकमल का नगरूपचन्द्र की सत्ता' दिखाने से जो 'उसी का सेवन करो, उसके सेवन से तेरा यह ताप नान्त होगा' यह अर्थ ध्वनित होता है वह परिणामालङ्काररूप है, क्योंकि इस अर्थ में उपमान(चन्द्र)का उपयोग उपमेय(नल) रूप से तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य से स्पष्ट है । पर उनका यह कथन ठीक नहीं है । कारण, विचार करने पर यहाँ परिणाम का ध्यङ्ग्य होना सिद्ध नहीं होता । देखिए—उन्होंने स्वयं कहा है कि—उपमान का उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोग होने पर परिणाम होता है ।' इस कथन में केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग परिणाम का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु उपमान में रहनेवाली कार्योपयोगिता का अवच्छेदक—अर्थात् उपयोगिता का विलक्षण परिचायक—उपमेय का तादूप्य ही परिणाम का स्वरूप (लक्षण)

सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि—उपयोगिता का नाम परिणाम नहीं, अपि तु उपयोगिता के अवच्छेदक ताद्रूप्य का नाम है। सारांश यह निकला कि—कार्योपयोग तथा—उपमान में उपमेय का ताद्रूप्य इन दोनों अंशों का सम्मिलित नाम परिणाम है। ऐसी स्थिति में यहाँ नख-चन्द्र की सत्ता के वर्णन से 'उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त होगा' इस प्रकृत-कार्योपयोगिता—अर्थात् उपमान की उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता—की व्यङ्ग्यता सिद्ध होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदक—उपमान में उपमेय के ताद्रूप्य—(जो परिणाम का स्वरूप है) की व्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वह अश अतिरिक्तसमासशक्तिवादी वैयाकरणों के मत से 'पादाब्जनखचन्द्रमाः' इस वाक्य का वाच्य ही होता है, समास शक्ति नहीं मानने वाले नैयायिकों के मत से भी वह अश (ताद्रूप्य) शब्दार्थ के सम्बन्धरूप से भासित होता है। सारांश यह कि—जिन दो अंशों को मिलाकर परिणाम का स्वरूप तैयार होता है उन दोनों अंशों में से एक अंश यहाँ अवश्य ही व्यङ्ग्य है, पर दूसरा अश व्यङ्ग्य नहीं है—वह वाच्य अथवा सम्बन्ध रूप है, अतः 'परिणाम (उक्त दो अंशों का मिश्रित स्वरूप) यहाँ व्यङ्ग्य हुआ है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः यह पद्य परिणामध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

स्वसम्मत्त परिणामध्वन्युदाहरणं दर्शयितुमाह—

इदं तूदाहरणं युक्तम्—

तु पुन, इदं निम्ननिर्दिष्टम्, उदाहरणं परिणामध्वनेरिति यावत्, युक्तम् उचित-मित्यर्थ ।

परिणामध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित पद्य हो सकता है—

उदाहरण निर्दिशति—

'इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना विना ।

ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते ॥'

परस्य उल्लेख्य, सौन्दर्यस्य रमणीयताया सिन्धुना सागरेण, (एतेन सौन्दर्य-स्यामृतरूपता ध्वन्यते) अतिमुन्दरेणेति यावत्, बन्धुना बन्धुवद्वितसाधकेनेति यावत्, इन्दुना चन्द्रेण (रमणीमुखेनेति न्यङ्गोऽर्थ) विना, विषम भयङ्कर, मम अयम्, तापः विरहताप इति भाव, केन, शमयिष्यते शान्तो विषास्यते, काङ्क्षा न केनापीत्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इन्दुना इत्यादि । परम सौन्दर्य के समुद्र मेरे बन्धु चन्द्रमा के विना (व्यञ्जनया सुन्दर रमणीमुख के विना) मेरा यह विषम ताप (विरहताप) अन्य किस से दूर किया जा सकता है ?

उपपादयति—

अत्र वक्तुर्विरहितया व्यञ्ज्यमानरमणीवदनाभिन्नत्वेनेन्दुरभिप्रेतः । तेन रूपे-
णैव तस्य प्रकृतविरहसन्तापशमनहेतुत्वात् ।

'इन्दुना—' इति पद्यस्य विरही प्रकरणप्राप्तो वक्ता । विरहिणो विरहजन्यतापस्य शमक चन्द्र चन्द्रत्वेन रूपेण न सम्भवति, तस्योद्दीपकत्वेन स्वरूपतो विरहतापवर्षकत्वात् । अतोऽत्र प्रेयसीमुखाभिन्न (तद्रूप) चन्द्रो वक्तुर्विवक्षित । प्रेयसीमुखव तान वाच्यम्, अपि तु वक्तुर्विरहेण प्रकरणशामेन व्यङ्ग्यम् । तथा च वाच्यस्य चन्द्ररूपोपमानस्य व्यङ्ग्यरमणीमुखरूपोपमेयात्मकत्वेन तापशान्तावुपयुज्यमानत्वात्परिणामध्वनिरिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'इन्दुना—' इस पद्य का वक्ता प्रकरणप्राप्त विरही है । अतः ध्वनित होनेवाले सुन्दरी-मुख से अभिन्न रूपमें चन्द्र अभिमत है । तात्पर्य यह कि—विरही वक्ता को सुन्दरी-मुखचन्द्र चाहिए, यह प्रसिद्ध चन्द्र नहीं ।

कारण, विरहताप को चन्द्र रमणीमुखरूप से ही शान्त कर सकता है, अपने रूप से (चन्द्ररूप से) नहीं। अभिप्राय यह कि-यहाँ व्यङ्ग्य(उपमेय)रमणीमुखरूप से, वाच्य उपमान(चन्द्र), तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य में उपयोगी होता है, अतः यह पद्य परिणाम-ध्वनि का उदाहरण है।

अत्रातिशयोक्तिमाशङ्क्य निराकुरुते—

न चात्र विषयनिर्गणनात्मिकातिशयोक्तिर्व्युक्तं शक्या, तस्यां ह्यारोप्यमाणाभिन्नत्वेन विषयस्य प्रत्ययात्। यथा 'कमलं कनकलतायाम्' इत्यादौ कनकलताऽभिन्नायां वनितायां कमलाभिन्नं मुखमिति।

अतिशयोक्तेरेको भेदस्तादृशः सर्वसम्मतो यत्र विषयः (उपमेयभूत पदार्थ) निर्गणितप्रति-अर्थात् उपमेयबुद्धोधयिष्योपमानवाचकपदमेवोपात्त भवति, उपमेयवाचकं पदं न। सौप्तिकशयोक्तेर्भेद एव 'इन्दुना—' इत्यत्र कुतो नाहोक्रियते? अत्रापि उपमेय-तात्पर्योपमानमात्रोपादानादिति शङ्कादलस्याशयः। अतिशयोक्तौ उपमानाभिन्नत्वेनोपमेयस्य प्रतीतिर्भवति-अर्थात् उपमानप्रतियोगिकाभेद उपमेये गृह्यते, यथा 'कनकलताया कमलम्' इत्यत्र सुवर्णलताभिन्नाया कामिन्या कमलाभिन्नं मुखमिति प्रतीयते-अर्थात् 'कनक—' इत्यत्र कनकलताकमल्योरुपमानभूतपदार्थयो अभेद कामिनोत्मुखयोरुपमेयभूतयोः पदार्थयोर्विज्ञायते। अतः तत्रातिशयोक्तेरुक्तो भेदः सम्भवति, प्रकृते तु नेति च समाधानाशयः।

यहाँ अतिशयोक्ति की आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है-न च इत्यादि। 'इन्दुना—' इस पद्य में परिणाम व्यङ्ग्य नहीं है, किन्तु वाच्य अतिशयोक्ति है, क्योंकि यहाँ उपमान-चन्द्र-के द्वारा उपमेय-मुख-का निगरण है, मुख का बोध कराने के लिये ही चन्द्र पद प्रयुक्त हुआ है ऐसी आशङ्का भी उचित नहीं। कारण, अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति उपमान से अभिन्नरूप में होती है। जैसे—'कनकलता में कमल' यहाँ 'कनकलता से अभिन्न कामिनी में कमल से अनिन्न मुख' यह प्रतीति होती है।

ननु प्रकृते कीदृशी प्रतीतिर्नास्तीति शयोक्तेः प्रतिक्रिया परिणामस्य नाहुत्सेति चेद? तादृशीम् प्रतीतिमुपपादयति—

इह तु मुख्यस्य चन्द्राभिन्नत्वेन प्रत्यये न पुनर्विरहतापशमनरूपप्रकृतकार्य-सिद्धिरिति चन्द्रस्यारोप्यमाणस्य मुख्यरूपविषयाभिन्नत्वं मृग्यम्। तच्च व्यङ्ग्य-तायामेव भवतीति परिणामध्वनिरेवायम्, नातिशयोक्तिः।

मृग्यमेवित्यम्। तच्च तदभिन्नत्वम्। व्यङ्ग्यतायामिति। परिणामस्य व्यङ्ग्यता-यामिति भावः। उपमेयस्य व्यङ्ग्यता तूभयोस्तुत्येवेति बोध्यम्। 'इन्दुना—' इति पद्ये उपमानस्य चन्द्रस्योपमेयभूतमुख्याभिन्नत्वं गृह्यते, अर्थात् मुखप्रतियोगिकाभेदाश्रयचन्द्र इत्येवोचितत्वात्प्रतीतिः, ननु मुखरूपस्योपमेयस्य चन्द्ररूपोपमानाभिन्नत्वं गृह्यते—अर्थात् चन्द्रप्रतियोगिकाभेदाश्रयभूतं मुखम् इति प्रतीतिर्न भवति, यतः तादृशप्रतीतौ मुखस्यापि चन्द्ररूपतासिद्धौ प्रस्तुतस्य विरहतापशान्तिरूपस्य कार्यस्य पूर्तिर्न भवितुमर्हत्, चन्द्र-रूपोपमेयम् इति बुद्धेरपि चन्द्रोपमेयम् इति बुद्धिवत् विरहतापकारत्वस्यैवानुभवसिद्धत्वात्। एवमोपमानप्रतियोगिकाभेदाश्रयोपमेयप्रतीतिमूलकातिशयोक्तिर्नैव सम्भवदुक्तिका। परिणामस्तु प्रकृतकार्योपयोग्युपमेयप्रतियोगिणोपमानाश्रयकाभेदप्रतीतिमूलकः सम्भवदुक्तिकः एव। स च परिणामोऽत्र न वाच्यः, उपमेयस्यावाच्यत्वात् अपि तु व्यङ्ग्यः, उपमाननिष्ठ-

तादात्म्यप्रतियोग्युपमेयस्य व्यङ्ग्यत्व एव 'परिणामो व्यङ्ग्यः' इति व्यवहारात् । तथा च परिणामध्वनिरत्र सुस्पष्ट इति भावः ।

प्रकृत पद्य से कैसे प्रतीति होती है जो अतिशयोक्ति के प्रतिबल पदती है और परिणाम के अनुबल ? तथा वैसी ही प्रतीति क्यों होती है ? इन जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये कहा जाता है—इह तु इत्यादि । 'इन्दुना—' इस पद्य से चन्द्ररूप उपमान में मुखरूप उपमेय का अभेद प्रतीत होता है, क्योंकि वही समुचित है और औचित्य यह है कि—उस प्रतीति से चन्द्र को मुखरूप समझना फलित होता है जिससे विरह-तापशान्तिरूप प्रस्तुत कार्य की सिद्धि होती है । प्रेयसीमुखदर्शन से विरहशान्ति अनुभव-सिद्ध है । मुखरूप उपमेय में चन्द्ररूप उपमान का अभेद तो यहाँ प्रतीयमान माना नहीं जा सकता, क्योंकि उस तरह की प्रतीति से मुख को भी चन्द्ररूप समझना फलित होगा और 'चन्द्ररूप यह है' इस तरह की प्रतीति होने पर उक्त प्रस्तुत कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती—अर्थात् किसी को चन्द्ररूप समझ लेने पर विरहियों की ताप-वृद्धि ही अनुभवसिद्ध है । ऐसी स्थिति में यहाँ वह अतिशयोक्ति हो नहीं सकती जिसके लिये उपमेय में उपमारूपता की प्रतीति नियमत अपेक्षित है । हाँ, वह परिणाम अवश्य हो सकता है जिसके लिये उपमान में उपमेयरूपता की प्रतीति अपेक्षित रहती है और उपमेयरूप में ही उपमान का प्रस्तुत कार्योपयोगी होना अपेक्षित ही रहता है । पर यहाँ का यह परिणाम वाच्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस पर चमस्कार निर्भर है वह उपमेय यहाँ वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य वह यहाँ कहा जा सकता है, क्योंकि जिसका तादात्म्य गृहीत होने से चमस्कार उत्पन्न होता है उस उपमेय के व्यङ्ग्य होने पर ही व्यङ्ग्य परिणाम का व्यवहार होता है । अतः यहाँ परिणाम ध्वनि है अतिशयोक्ति नहीं, यह सारांश समझना चाहिए ।

ध्वनि विशेषत्व प्रकृतध्वने. स्फोरयति—

अथ त्वर्थशक्तिमूलः ।

'इन्दुना—' इति श्लोकगत परिणामध्वनि अर्थशक्तिमूल, पदाना परिवृत्तिसहत्वा-दिति भावः ।

'इन्दुना—' इस पद्य में होनेवाली परिणामध्वनि अर्थशक्तिमूलक है, क्योंकि यहाँ के पद परिवृत्तिसह हैं—बदले जा सकते हैं । सारांश यह कि जहाँ शब्द बदलने योग्य रहते हैं—अर्थात् जहाँ जिन शब्दों के स्थान पर तत्पर्याय दूसरे शब्दों को रखने पर भी ध्वनि होती ही रहे—वहाँ वे शब्द ध्वनिसाधक होते नहीं, अपितु वह अर्थ ध्वनिसाधक सिद्ध होता है, अतः वहाँ की ध्वनि अर्थशक्तिमूलक कहलाती है ।

भेदान्तरमुदाहरणमाह—

शब्दशक्तिमूलपरिणामध्वनिर्यथा—

शब्दशक्तिमूलक परिणामध्वनि का उदाहरण जैसे—

उदाहरण निर्दिशति—

'पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि ।

पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ॥'

हे मन्दमते मन्दबुद्धे, पान्थ पथिक ! विरहिन् ! इति याधन्, त्वम्, किम् विमर्षम्, सन्तापं प्रकृत दाहम्, अनुविन्दसि प्राप्नोसि ? पयोधर मेघं (वस्तुतः स्तनम्), समाशास्व, (तस्याशा कुष्ठ इति समुदितार्थ), येन आशाविशेषेण, शान्तिम्, अवाप्नुया-च्छमेया इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पान्थ इत्यादि । हे मन्दबुद्धिवाले पथिक ! तू क्यों सन्ताप पा रहा है ? शीघ्र पयोधर (मेघ वस्तुतः स्तन) की आज्ञा कर, जिससे कि शान्ति प्राप्त हो ।

उपपादयति—

अत्र भ्रगिति तापशमहेतुत्वेनोपस्थिते पञ्चान्मद-(मति-पद)-बोधनीयविशेष्यकस्मरतापवत्तावैशिष्ट्यबुद्धौ सत्यां सहृदयस्य तादृशतापशामकरमणीस्तनरूपविषयताद्रूप्यबुद्धिर्भवति ।

भ्रगिति शीघ्रम् । उपस्थिते इति । मेघे इति भावः । अयं भावः—‘पान्थ—’इत्यत्र पयोधरपदत्वात् प्रथमं तापशान्तिकारणत्वेन प्रसिद्धो मेघरूपार्थ उपस्थितो भवति, ततः ‘मन्दमते’ इति सम्बोधनस्य ‘विरहतापशान्त्युपायानवधारणेन तत्र बुद्धौ मन्दता’ इत्यर्थानुमन्धानेन ‘विरही स्मरतापवत्ताविशिष्ट’ इत्याकारके मन्दमतिपदबोधविरहविशेष्यकस्मरतापवत्तावैशिष्ट्यज्ञाने सति सहृदय प्रागभिषयोपस्थिते पयोधरपदार्थरूपे उपमाने स्मरतापशमनकारणकामिनीस्तनरूपोपमेयतादात्म्यं बुध्यते इति । प्रागभिषयोपस्थितः पयोधरपदार्थो मेघोऽत्रोपमानम्, पश्चाद् व्यञ्जनयोपस्थितः पयोधरपदार्थ एव रमणीस्तन उपमेयः, अन्वयोश्च तादात्म्यमत्र भासते, तत्रोपमेयं तादात्म्यस्य प्रतियोगी, तत्प्रतियोगिकतादात्म्येनैव प्रकृतस्मरतापशान्तिकार्यसिद्धिसम्भवात्, उपमानञ्च तादात्म्यस्याश्रयः । तथा च प्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकोपमाननिष्ठोपमेयप्रतियोगिकतादात्म्यप्रतीत्या परिणामस्पष्टः, स चोपमेयस्य व्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्य इति परिणामध्वनिः पयोधरपदस्य परिवृत्त्यसहत्तया शब्दशक्तिमूल इति स्पष्टार्थः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘पान्थ मन्दमते—’ इस पद में तापशान्तिके कारणरूप में प्रसिद्ध होने के कारण, प्रथमतः ‘पयोधर’ पद से मेघरूप अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा उपस्थित होता है । परन्तु बाद में जब ‘मन्दमति’ इस सम्बोधन की ओर ध्यान जाता है और तापशान्ति का उपाय न सोच सकने के कारण विरही मन्दबुद्धि है यह विदित हो जाता है तब अनायास ही मन्दमति पद से अवगत होनेवाला—विरही—जिसमें विशेष्य होता है और काम ताप जिसमें विशेषण होता है ऐसा—अर्थात् ‘विरही कामतापवाला है’ इस तरह का बोध हो जाता है, और इस बोध के हो जानेपर व्यञ्जना द्वारा कामतापशामकरूप में पयोधर पद से ही उपस्थित होनेवाले कामिनीस्तनरूप उपमेय का तादात्म्य उसी पद से अभिधाद्वारा पहले उपस्थित मेघरूप उपमान में सहृदय को प्राप्त होता है । कहने का सारांश यह कि—अभिधाद्वारा उपस्थित मेघरूप पयोधर पदार्थ उपमान है और व्यञ्जना द्वारा उपस्थित पयोधर पद का ही अर्थ—कामिनीस्तन उपमेय है । इन दोनों में से उपमेय का ही ताद्रूप्य उपमान में यहाँ प्रतीत होता है, उपमान का ताद्रूप्य उपमेय में नहीं, क्योंकि उपमेय(स्तन)से अभिन्न उपमान(मेघ) को समझने से ही कामतापशान्तिकार्य का कार्य की सिद्धि हो सकती है, मेघरूप उपमान से अभिन्न स्तनरूप उपमेय को समझने से नहीं । ऐसी स्थिति में परिणाम यहाँ स्पष्ट है और वह व्यङ्ग्य इसलिये माना जाता है कि—उपमेय व्यङ्ग्य है । फलतः परिणामध्वनि का उदाहरण यह पद्य ठीक है । यह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक इसलिये मानी जाती है कि—‘पयोधर’ पद यहाँ परिवर्तित होने योग्य नहीं है ।

परिणामगतदोषपरिचायतावाह—

दोषाश्चात्रापि पूर्ववदुन्नेयाः ।

हृपके यथा ये लिङ्गमेदादयो दोषा उक्तास्ते तथैवात्रापि बोध्या इति भावः ।

रूपक में जो लिङ्गभेद आदि दोष चतुष्टय गण्य हैं वे ही सब दोष परिणाम में भी हो सकते हैं यह समझ लेना चाहिए ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकाया परिणामालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं ससन्देहालङ्कारनिरूपणं कर्तव्यत्वेन प्रतिजानीते—

अथ ससन्देहः—

अथेति । परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । ससन्देहः । तदाक्योऽलङ्कारः । अनिरूप्यते इति शेषः ।

'परिणाम' का निरूपण कर लेने के बाद अब 'ससन्देह' का निरूपण किया जाता है—

तत्र तावत्तल्लक्षणमाह—

सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धो रमणीया ससन्देहालङ्कृतिः ।

सादृश्यमूलेति । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः । भासमानेति । भासमान = विषयी-भवनं विरोधो यस्याम् सा भासमानविरोधा, ततः समाप्तान्ते कप्रत्यये, पूर्वाकारस्य ह्रस्वत्वे, टापि ययोक रूपं सिद्धयति । धकारोत्तराकारस्येत्वं तु वैकल्पिकत्वान्नेति भावः । समबलेति । समानकोटिद्वयभासकसामग्रीजन्येत्यर्थः । नानेति । स्फुटत्वार्थमिदम् । कोट्यवगाहिनीति । विद्वद्धानेकधर्मविपयिणीति । समुदितार्थः । धो । बुद्धिरित्यर्थः । रमणीयेति । चमत्कारकरीत्यर्थः । ससन्देहालङ्कृतिरिति । सादृश्यधीवृत्तिसन्देहत्वप्रकारकज्ञानविषया बुद्धिः ससन्देहालङ्कृतिरिति विवक्षितोऽर्थः । ईदृशविषयफलं प्रथमोदाहरणव्याख्याया स्फुटीभविष्यति ।

सर्वप्रथम ससन्देह का लक्षण किया जाता है—सादृश्य-ज्ञान-रूप दोष से होनेवाला एवं जिसमें विरोध भासित होता हो और जिसमें अनेक कोटियों को भासित करनेवाली सामग्री (कारणसमूह) समानबलशालिनी हो ऐसा अनेक कोटियों (धर्मविशेषों) का अवगाहन करनेवाला ज्ञान, सुन्दर होने पर, 'ससन्देह' अलङ्कार कहलाना है । तात्पर्य यह कि उक्त तरह के सन्देह पदार्थ का ज्ञान 'ससन्देह' अलङ्कार होता है । इस तरह के तात्पर्य वर्णन का फल उदाहरण की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा ।

पदकृत्यान्याह—

'अविरोप्य हरस्य हन्त चापं परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम् ।

परियोष्यति वा न वा युवाऽयं निरपायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ॥'

अत्र मिथिलास्थजनोंक्तौ तच्चिन्ताभिव्यक्तके संशयमात्रेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यमूलेति । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः । तेन 'सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्' इत्युपमाधिकल्पे धाकारप्रतीतिविरोधकप्रान्तरगमन-गृहसेवन रूपनानाधर्मावगाहिनि सादृश्यविषयकेऽपि नातिप्रसङ्गः । तस्य सादृश्यज्ञानरूपत्वात् । मालारूपकातिप्रसङ्गवारणाय भासमानविरोधकेति । उत्प्रेक्षाव्यावृत्तये समबलेति समानभासकसामग्रीत्वार्थकम् । एतद्विशेषणद्वयप्राप्तस्यैवानेकत्वस्य स्फुटत्वार्थं नानेति । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति लौकिकसंशयनिवृत्तये रमणीयेति, चमत्कारिणीत्यर्थः । एतच्च विशेषणं सामान्यालङ्कारलक्षणप्राप्तमेव ।

एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम् । एतद्विशेषणद्वयस्य सादृश्यमूलत्वस्य चाभावे संशयमात्रमेव ।

सादृश्यमूलेतिविशेषणफलमभिधातुं पर्यमुपन्यस्यति—अधिरोष्य इति । अयं दृगो-
चरीभूतः, युषा युवकः समचन्द्र इति यावत्, हरस्य शम्भोः, चापं घनुः, अधिरोष्य
आकृष्य, बान्धवानां विद्यामित्रादीनाम्, परितार्पं चिन्ताविरोधम्, प्रथमस्य शम्भो-
मित्या, च, मिथिलाधिनायस्य जनकस्य, पुत्रीं तनयाम् सीतामिति यावत्, निरपार्यं
निकृष्टम् यथा स्यात्तथा, परिरोष्यति विवाहमिष्यति, न वा अथवा न विवाहमिष्यति
इति तदर्थः । हन्त इति खेदे । खेदश्चाभिमतसीतारामपरिणयसंशयजन्य इति बोध्यम् ।
वक्तव्यमुपपादयति—अप्रेत्यादिना । तच्चिन्तेति । मिथिलास्यजनचिन्तेत्यर्थः । संशय-
मात्रे इति । अलङ्कारत्वरहिते संशये इत्यर्थः । 'अधिरोष्य-' इत्यत्र रामर्तुकसीताकर्मक-
परिणयतदभावरूपविद्वद्कोटिज्ञानरूपं मन्देहो यद्यपि वर्णितस्तथापि नासावलङ्कारः तस्य
चिन्तामूलकत्वेन सादृश्यमूलकत्वाभावात् । ईदृशसन्देहवारणायैव उक्तश्लोके सादृश्यमूलत्वो-
क्तिरिति भावः । यद्यपि प्रकृतपद्ये सरास्यस्य न सादृश्यमूलत्वमिति यथाश्रुतेनैव वारणं
सम्भवति, तथाप्यन्यत्राप्यदोषाय सादृश्यमूलेति विशेषणस्यार्थविशेषमाह—सादृश्य-
ज्ञानेति । 'इदमस्य सदृशम्' इत्याद्याकारकं यत् सादृश्यज्ञानम् तद्रूपो यो दोषः तज्जन्यः
ज्ञानविशेष इति तदर्थः । एतादृशार्थकरणफलमाह—तेनेति । तयार्थविवरणेनेत्यर्थः ।
'सिंहवद्—' इति । 'सिंहो यथाऽऽरभ्य गच्छति तथा त्वमस्य याहि, अप्रया या कुन्कु-
र, यथा गृहं सेवते तथा त्वमपि गृहं सेवस्व' इत्यर्थः । उपनाविकूलोऽयम् । अत्र 'वा'
पदेन विरोधः, अरण्यगमनश्लेषेनरूपद्वैतियं सादृश्यं च विपत्तया भासन्ते इति
यथाश्रुतसन्देहलक्षणमत्रापि प्रसज्येत अतः 'सादृश्यमूला' इत्यस्यार्थविशेषणकारणावरयकं
जातम्, तादृशार्थकरणे तु नात्रोपमाविकल्पे तत्तत्पातिप्रसक्तिः, तद्वैतनाविकल्पस्य
सादृश्यज्ञानरूपत्वेन सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यत्वविहाव इति भावः । भासनानेतिविशेषण-
व्यावर्त्यं दर्शयितुं प्रक्रमते—मात्रारूपकैति । 'धर्मस्यान्मा भागधेयं क्षमायाः सारः सृष्टेः'
इत्यादावित्यर्थः । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यं राजधर्मिकम् धर्मात्नत्व-समानभागधेयत्व-सृष्टि-
सारत्वरूपनानाधर्मकं ज्ञानं यद्यपि अत्र वर्णितम् तथापि न तादृशं संशयरूपं प्रोक्ताना-
धर्माणां मियोविरोषामावेन 'भासमानविरोधका' इति विशेषणेन वारणात् इति भावः ।
सम्बलेतिविशेषणकलं दर्शयितुं चेष्टते—उप्रेद्येति । 'धूमस्तोमं तमः शङ्के' इत्यादा-
वित्यर्थः । ननु धीविशेषणतयोक्तमपि सम्बलत्वं वस्तुतः कोट्योरेव पर्यवर्तयते तथा च
अयं तेन विशेषणेनोपेक्षाव्यावृत्तिः, तत्रापि तयोस्तुल्यबलत्वस्य सत्त्वादत्त आह—
समानेति । समाना = समानस्थितिका, भासिका = कोटिद्वयभानजनिका सामग्री यस्या
पियस्तादृशी धीरित्यर्थः । तथा च कोटिद्वयभासकनामप्रधाः सम्बलत्वं विवक्षितम्,
न तु कोटिद्वयस्येति भावः । एवञ्च वस्तुतो धीविशेषणमेव सम्बलेति सापेक्षः ।
अयमभिप्रायः—आहार्यसम्भावनात्मिकाया 'धूमस्तोमं तमः शङ्के' इत्याद्युपेक्षायां तम-
आदिविधेयकोटिभासिका सामग्री उत्कृष्टा, विधेयाग्रे आहार्यरदार्यपदकेच्छारूपहेतोर्दृष्ट-
त्वात्, तथा च तत्रत्या धीर्न कोटिद्वयभासकसम्बलध्यानभाजन्वेति तद्वारणाय तदर्थकं
'सम्बला' इति विशेषणमिति । 'समानं भासते तादृशी । भासनाविषयकसामग्री समाना
भवेदित्यारायः ।' इति सरलाकारस्य भट्टमहोदयस्य विवरणं वस्तुतत्त्वं कियत् स्पष्टतरीति
दार्शनिकैः साहित्यिकैरुपधारणोद्यम् । नन्वेवं नानेति व्यर्थमेत आह—एतद्विशेषणद्वयेति ।

‘भासमानविरोधका’ ‘समबला’ इति विशेषणद्वयेन्यर्थः । अनेकत्वस्येति । अनेकधर्मस्य संशयस्येन्यर्थः । रमणीयेति विशेषणफल प्रदर्शयितुमाह—स्याणुरिति । ‘स्याणुर्वा पुरुषो वा’ इति ज्ञानं यद्यप्युक्तसंशयलक्षणान्तरम्, तथापि नालङ्काररूपम्, तस्य लौकिकत्वेन (कविप्रतिभाऽनुत्पापितत्वेन) अचमत्कारित्वात् । एतद्वारणायैव लक्षणे ‘रमणीया’ इति विशेषणप्रवेश इति भावः । नेदं विशेषणमत्र विरोधतो निवेशनीयम्, उपस्कारकत्वस्य रमणीयवत्स्य च मङ्गलालङ्कारलक्षणेषु सामान्यतो निवेशस्य प्रागुक्तत्वादित्याह—एतच्चेति । पर्यवसितमाह—एतदिति । रमणीयवोपस्कारकत्वद्वयेन्यर्थः । य संशयो रमणीयः, उपस्कारक, सादर्यमूलो वा न भवेत्, स केवल संशय, नालङ्कार इति भावः ।

उक्त ससन्देहालङ्कार के लक्षण में द्विप गद्य विशेषणों के फल दिखलाये जाते हैं—अधिरोप्य इत्यादि। ‘अधिरोप्य—अर्थात् हाथ। शिवजी के घनुप को चढ़ाकर और विश्वामित्र आदि बान्धवों का सन्ताप शान्त कर यह युवक (रामचन्द्र) जवकृतनया सीता को निविध्न व्याहृगा अथवा नहीं ? मिथिलापुरी के निवासियों की हम ठिक में, उनकी (मिथिलावासियों की) चिन्ता को अमिष्यक्त करनेवाले शुद्ध (अलङ्कार-शून्य) सन्देह में प्राप्त अतिप्रसङ्ग का कारण करने के लिये लक्षण में ‘सादर्यमूला’ यह विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है ‘सादर्यज्ञानरूपदोष से उत्पन्न होनेवाली’। ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि ‘सिंहवत्—अर्थात् सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा अथवा कुत्ते की तरह घर की सेवा करता रहा’ इस उपमा-विकल्प (जो तरह के सादर्यों का पाचित ज्ञान) में उक्त लक्षण की अतिप्रसङ्ग नहीं होती, क्योंकि यह विकल्प सादर्यज्ञानरूप ही है, सादर्य-ज्ञान-रूप-दोष से उत्पन्न होनेवाला नहीं। यदि ऐसा अर्थ नहीं किया जाता तब तो उक्त उपमा-विकल्प में अतिप्रसङ्ग ही होता, क्योंकि वह भी—‘वा’ (अथवा) इत्ये से त्रिनमें विरोध की प्रतीति होती है ऐसे वनगमन तथा गृहसेवन रूप अनेक धर्मों (कोटियों) का अवगाहन करनेवाला—और सादर्य के विषय में होनेवाला ज्ञानरूप है। सारांश यह कि—‘सादर्यमूला’ इस विशेषण का ‘सादर्य जिसके मूल में ही ऐसी’ यह जो अर्थ आपाततः प्राप्त होता है उससे भी ‘अधिरोप्य—’ इस पर्य में अतिप्रसङ्ग का कारण हो जा सकता है, क्योंकि वहाँ के सन्देह के मूल में सादर्य नहीं अपितु चिन्ता है, तथापि ‘सिंहवत्—’ इत्यादि स्थलों पर अतिप्रसङ्गवारणार्थ उसका पूर्वोक्त अर्थ करना पड़ता है, क्योंकि आपाततः प्राप्त होनेवाले अर्थ से वहाँ काम नहीं चल सकता था। कारण, इस उपमा-विकल्प के मूल में सादर्य ही है। फलतः उक्त दोनों ही स्थलों में अतिप्रसङ्ग का कारण उक्तार्थक उक्त विशेषण का फल होता है ‘यह राजा धर्म की आत्मा, चम्रा का भाग्य और सृष्टि का सार है’ इत्यादि ‘मालारूपक’ में भी समानबल, सादर्यमूलक, अनेककोट्यवगाही ज्ञान होता है। उसमें प्राप्त अतिप्रसङ्ग का कारण करने के लिये लक्षण में ‘भासमान-विरोधका’ यह विशेषण जोड़ा गया है। ‘मालारूपक’ में भासित होनेवाले अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं रहते, अतः उक्त विशेषण से उसका कारण हो जाता है। ‘धूम-स्तोम तम शङ्के—अर्थात् तम में धूमममूह की शङ्का करता हूँ’ इत्यादि उल्लेख में अतिप्रसङ्ग का कारण करने के लिये लक्षण में ‘समबला’ यह विशेषण दिया गया है। आप कहेंगे—उक्त विशेषण शब्दतः यद्यपि ‘धी.’ में दिया गया है, तथापि अर्थतः यह ‘कोटिद्वय’ का ही विशेषण होगा—अर्थात् उक्त विशेषण का फलितार्थ यही होगा कि ‘जिस ज्ञान में समानबलवाली दो कोटियाँ भासित हों।’ ऐसी स्थिति में उक्त विशेषण से उक्त उल्लेख का कारण कैसे होगा ? क्योंकि वहाँ भी दोनों (तम तथा धूम) कोटियाँ समानबलशालिनी हैं, तो इसके उत्तर में प्रत्यकार का कथन है कि ‘समबल’ यह ज्ञान का ही विशेषण है, कोटिद्वय का नहीं और उसका अर्थ है ‘जिस ज्ञान में

दोनों कोटियों को भासित करनेवाली सामग्री (कारण समूह) समान—उत्पन्न—हो । अथ भाव देंते कि उक्त उल्लेख का कारण उससे होता है कि नहीं । अवश्य होता है, क्योंकि उल्लेख आहार्य (बाधित होकर भी इच्छाजन्य) सम्भावनारूप होती है, अतः यहाँ दो कोटियों को भासित करने वाली सामग्री के अन्तर्गत उल्लेख करनेवाले की इच्छा भी एक है और वह इच्छा विधेयकोटि में उत्कट है—अर्थात् उल्लेख में धूम-समूह के भान की जैसी उत्कट इच्छा है वैसी तम के भान की नहीं—अतएव तो वह वस्तुतः तम की धूमत्वेन सम्भावना करता है । इस तरह यद्यपि 'भासमानविरोधका' तथा 'समबला' इन दोनों विशेषणों से ही ज्ञात हो जाता है कि—'जिस ज्ञान में अनेक कोटि हों, तथापि उक्त दोनों विशेषणों से प्राप्त हुई कोटियों की अनेकता को स्पष्ट करने के लिये 'कोटि' में 'ताना' (अनेक) विशेषण कहा गया है । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा—अर्थात् दूँत है अथवा मनुष्य है' इस लौकिक सन्देह की निवृत्ति के लिये लक्षण में 'रमणीया' यह कहा गया है, जिसका अर्थ है 'चमत्कार युक्त' । उक्त लौकिक सन्देह चमत्कार-युक्त नहीं, अतः उसका उक्त विशेषण से कारण हो जाता है । यह (रमणीय) विशेषण अलङ्कार-सामान्य के लक्षण से प्राप्त है—अर्थात् चमत्कार युक्त पदार्थ ही अलङ्कार कहलाता है यह बात सभी अलङ्कारों के लिये समझनी चाहिये, उसी बात की याद दिलाने के लिये यहाँ 'रमणीया' कह दिया गया है । फलतः यह लक्षण का कोई पास अर्थ नहीं है । इसी तरह 'उपस्कारकत्व' भी सभी अलङ्कारों के लिये सामान्य विशेषण समझना चाहिए—अर्थात् जो पदार्थ स्वयं गौण रहकर किसी प्रधान अर्थ को शोभित करनेवाला होता है वही अलङ्कार कहलाता है यह बात समानरूप से सभी अलङ्कारों में समझ लेनी चाहिए । इन दोनों विशेषणों में से एक भी यदि सह्युहित नहीं होता हो और इन दोनों के सह्युहित होते रहने पर भी यदि सादृश्य-ज्ञान-रूपदोष से उत्पन्न न हुआ हो तो अपेक्षित अन्य बातों के रहने पर वह ज्ञान विशेष सशय कहा जा सकता है, ससन्देहालङ्कार नहीं ।

ननु सशये विरोधो न भासते मानाभावात् । किन्त्वविरोधित्वज्ञानानामवविशिष्टज्ञाना-
कोटिकज्ञानमेव संशय इति कुत उक्तलक्षणमित्यतो लक्षणान्तरमाह—

यद्वा 'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशया-
लङ्कृतिः' ।

निश्चयसम्भावनोभयभेदस्यैकस्मिन् निश्चये सम्भावने च सत्त्वात्तयोर्को तत्रातिप्रसङ्गा-
भत्तराह—अन्यतरैति । तथा च सम्भावनाभिन्नत्वे सति निश्चयभिन्नत्वमित्यर्थलाभात्
रूपकोपप्रेक्षादावतिप्रसङ्गस्तत्र निश्चयसम्भावनान्यतत्वेत्यैव सत्त्वादिति भावः । तत्रालिनेत्रं
वेति वाक्याद्विरोधानन्वादिमतेऽलित्ववाच्यमलित्वविद्वदनेत्रत्ववानिति विशिष्टवैशिष्ट्यन्या-
यैव, एकत्र द्वयमिति न्यायेन वा बोधः । अलित्वस्य च वाशब्दसमभिव्याहारे उभयत्रा-
न्वयः । व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । केचित्तु वाशब्दद्वयवत्त्वाल्लिखितविद्वदनेत्रत्ववानर्थं नेत्रत्वविद्वदा-
लित्ववानिति बोधमाह । तदभान्वादे तु अलित्ववानर्थं नेत्रत्ववानिति बोधः । समुच्चये
स्वेतन्मतेऽविरोधनाम्नद्वौकार्यमिति दिक् ।

यदि कहा जाय कि—सन्देह में विरोध नहीं भासित होता । कारण, यहाँ उसके
भासित होने में कोई प्रमाण नहीं है । अतः सन्देह उस ज्ञान को कहना चाहिए जिसमें
ऐसे दो धर्म—ज्ञानके विषय में अविरोध का ज्ञान नहीं हो—विशेषणरूप से भासित हों ।
ऐसी रिपति में सन्देह का उक्त लक्षण ठीक नहीं, अतः दूसरा लक्षण किया जाता है—
यद्वा इत्यादि । निश्चयसमूह-ज्ञान से अन्य तथा सम्भावनामक ज्ञान से भी अन्य
जो सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला चमत्कारजनक ज्ञान वह 'सन्देहालङ्कार' कहा
जाता है । यहाँ मूल में 'निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना—अर्थात् इन दोनों में से प्रत्येक

से भिन्न' ऐसा कहा गया है। क्यों? उसकी जगह 'निश्चयसम्भावनाभयभिन्ना-अर्थात् इन दोनों से भिन्न' ऐसा क्यों नहीं कहा गया? तो इसका रहस्य समझना चाहिए कि यदि ऐसा कहा जाता तब वह कथन व्यर्थ ही न होता, अपितु आपत्ति-जनक भी हो जाता, क्योंकि उभय भेद प्रत्येक में रह जाता-अर्थात् निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों से भिन्न निश्चय भी कहला जाता और सम्भावना भी और ऐसी स्थिति में निश्चयारमक रूपक तथा सम्भावनात्मक उल्लेख में इस लक्षण का अतिप्रसङ्ग हो ही जाता, अतः अन्यतर-भेद का निवेश किया गया है जिसका स्पष्टीकरण हो चुका है व्याख्या में और तदनुसार उक्त दोनों स्थलों में अतिप्रसङ्ग का वारण—जो उस निवेश का प्रयोजन है—सिद्ध हो जाता है। एक बात और—उक्त दोनों लक्षणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि-सशय के विषय में दो पक्ष हैं—एक यह कि उसमें विरोध का भान होता है और दूसरा यह कि वह नहीं होता है। तदनुसार 'यह भ्रमर है अथवा नेत्र' इस वाक्य से विरोधभानवादियों के मत में 'भ्रमरत्वधर्मवाला यह भ्रमरत्व-विरुद्ध नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस बोध को 'विशिष्टवैशिष्ट्य'न्यायानुसारी अथवा 'एकत्र द्वयम्'न्यायानुसारी कह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि इस बोध में भ्रमरत्वविशिष्ट इदं पद (यह) के अर्थ को उद्देश्य बनाकर नेत्रत्ववैशिष्ट्य का विधेयरूप में भान माना जाय अथवा इद पदार्थ को उद्देश्य बनाकर भ्रमरत्व तथा नेत्रत्व दोनों का विधेयरूप में भान माना जाय—दोनों प्रकार हो सकते हैं। इस पक्ष में व्युत्पत्ति की विचित्रता से वाक्य में एक बार उक्त होने पर भी भ्रमर पदार्थ का दो जगहों पर अन्वय करना पड़ता है और ऐसा करने में प्रेरक है वाक्य का 'वा' पद। जो खोग विरोध का भान सशय में नहीं मानते उनके मत में उक्त वाक्य से 'भ्रमरत्वधर्मवाला यह नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा बोध होगा। आप कहेंगे—इस द्वितीय मत के अनुसार 'समुच्चय' और 'सशय' में क्या अन्तर रहा? तो इसका उत्तर यह है कि इस मत के अनुसार 'समुच्चय' में अविरोध वश का भी भान मान लेना चाहिए-अर्थात् 'देवदत्त ब्राह्मण है और पण्डित भी' इत्यादि समुच्चयारमक वाक्यों से 'देवदत्त ब्राह्मणत्व वाला तथा ब्राह्मणत्व से अविरुद्ध पण्डित्य वाला है' इत्यादि रीति से बोध होगा।

सशयालङ्कृति विभक्तिक—

सा च शुद्धा निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति त्रिविधा ।

सा संशयालङ्कृति । शुद्धेति । निश्चयामिधितेत्यर्थ । निश्चयगर्भेति । यस्य गर्भे = मध्ये, निश्चयोऽपि जायते तादृशो य सशयस्तद्रूपेत्यर्थ । निश्चयान्तेति । यस्यान्त एव निश्चयो जायते तादृशो य सशयस्तद्रूपेत्यर्थ ।

सदेहालङ्कार वा विभाग किया जाता है—सा च इत्यादि । उक्त 'ससन्देहालङ्कार' तीन प्रकार का होता है—एक शुद्ध, अर्थात् जिसमें आदि से अन्त तक सन्देह ही बना रहता है। दूसरा निश्चयगर्भ, अर्थात् जिसके बीच-बीच में निश्चय भी होता रहता है, और तीसरा निश्चयान्त, अर्थात् जिसमें आदि से लगातार सन्देह बना रहता है, पर अन्त में निश्चय हो जाता है ।

तत्र प्रथमभेदमुदाहर्तुमाह—

आद्या यथा—

शुद्धससन्देहालङ्कृतिर्यथेत्यर्थ ।

प्रथम-अर्थात् शुद्ध ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

'मरुतमणिभेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेय वा समालः ।

रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादपिनिकरैरिति सशयः प्रपेदे ॥'

वनं गच्छती रघुपतेर्वर्णनमिदम् । ऋषिनिर्करैः मुनिवृन्दैः, तत्र वनमार्गं, दूरात्, रघुपतिं रामभद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, एषः दृश्यमानः, मरकतमण्डोः श्यामवर्णमणिविशेषस्य, मैदिनीधरः पर्वतः, वा अथवा, तरुणतरुः सर्वेषां समृद्धः, तमालवृक्षः तमालवृक्ष-इति संशयः, प्रपदै प्राप्त इत्यर्थः । अत्र यद्यपि शाब्दो बोधो न संशयात्मकः, शब्द एव च बोधः संशयात्मकः प्रकृतेश्चाल्लङ्कारत्वेनाभिमत इति कथमिहालङ्कार इति चेत् ? सत्यम्, तथापि ऋषिनिर्गन्तव्यसंशयत्वप्रकारकशाब्दज्ञानविषयसंशयस्य सत्त्वादलङ्कारत्वमिति भावः । एतच्च लक्षणवाक्याव्याख्यायामपि सूचितं प्राक् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—मरकत इत्यादि । वन जाते राम का वर्णन है—
‘इस वनपथ पर पग बढ़ाते रामभद्र को दूर से देखकर मुनिवृन्दों को यह सन्देह हुआ कि यह मरकतमणि का पर्वत है अथवा पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हुआ तमाल का वृक्ष है । यहाँ शाब्दबोध सन्देहरूप नहीं है अर्थात् शाब्दबोध में दो धर्म भासित नहीं होते, वरिष्ठ सन्देहयुक्त मुनिवृन्दरूप एक ही धर्म, भवतः यहाँ ससन्देहालङ्कार कैसे होगा ? क्योंकि शाब्दबोधात्मक सन्देह को ही अलङ्कार मानना आलङ्कारिकों का अभिमत है यह शङ्का यद्यपि हो सकती है, तथापि मुनिवृत्ती ज्ञान में ‘सन्देहत्वप्रकार सन्देह-विशेषक’ शाब्दबोध तो यहाँ होगा, वस्तु, इसी से ‘ससन्देहालङ्कार’ यहाँ वन जायगा, क्योंकि लक्षणवाक्य का तात्पर्य यही है यह बात पहले भी सूचित की जा चुकी है ।

द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीया यथा—

निश्चयगर्भससन्देहालङ्कारित्यर्थः ।

निश्चयगर्भं ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमाह—

‘तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा

मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यात्त्र सा मधुरा कुतः ।

इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकै-

र्वनवासतिभिः क्लैः कैरादी न सन्दिदिहे जनैः ॥’

रघुपते रामभद्रस्य, कायच्छायायां देहघ्नान्ते, निगेरुने दर्शने, कौतुकं कुतूहलं येषां तैः, क्लैः क्लैः वनवासतिभिः वनवासिभिः जनैः, आदौ प्रथमम्, ‘एषा, तरणितनया कालिन्दी, स्यात् भवेत्, किम् ? न, कुत ? हि यत्, सा, तोयमयी जलमयी, इयं तु न तपेति भावः, वा अथवा, मरकतमण्डोः ज्योत्स्नाप्रभा, स्यात्, किम् ? न, सा, कुतो मधुरा रुचिकरी ? नेत्यर्थः, इयं तु मधुरेति भावः’ इति, न, सन्दिदिहे सन्देहः कृतः, सर्वैस्तथा सन्देहः कृत इत्यर्थः । अत्रापि प्राग्वदलङ्कारत्वमुपपाद्यम् । निश्चयस्य मध्ये प्रतिपादनादत्र निश्चयगर्भत्वं बोध्यम् । प्रसङ्गः प्राग्वत् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तरणितनया इत्यादि । यह भी वनवासी राम का ही वर्णन है—रामभद्र की देहकान्ति के दर्शन में उत्कण्ठावाले किन-किन वनवासी जनों को, पहले, यह सन्देह नहीं हुआ कि—क्या यह यमुना होगी ? नहीं यह तो जलमयी है । तो क्या मरकतमणि की प्रभा होगी ? नहीं, यह मधुर कैसे हो सकती है—उसमें देसी रुच्यता कहाँ से आवेगी ? यहाँ भी अलङ्कारता का उपपादन पूर्ववत् करना चाहिए । यहाँ ‘यमुना नहीं हो सकती’ इत्यादि रूप से दोष-बीज में निश्चय भी हुआ है, अतः यह निश्चय-गर्भ सन्देह कहलाता है ।

तृतीयं भेदनुदाहृतमाह—

तृतीया यथा—

निश्चयान्तसप्तन्देहालङ्कृतिर्यथेत्यर्थः ।

निश्चयान्त सप्तन्देहालङ्कार जैसे—

उदाहरणमाह—

‘चपला जलदाच्छ्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः ।

गुरुनिश्चितैः कपिर्मनीषी निरणैषीत्य तां वियोगिनीति ॥’

अशोकवाटिकाया विरहदुर्वहं जीवन वाचयन्त्या सीताया वर्गनिमिदम्—जलदात्
मेघात्, च्युता पतिता, चपला विद्युलता, इयम्, अपवा, तरुमुख्यात् प्रधानात् वृक्षात्,
च्युता, लता बहरी, इति, संशये सन्देहे, निमग्नः लीन, मनीषी बुद्धिमान्, कपिः हनुमान्,
अथ अनन्तरम्, गुरुभिः दीर्घं, निश्चितैः श्वासवायुभिर्हेतुभिः, ता सीताम्, वियोगिनी
विरहिणी, इति, निरणैषीत् निरचिनोत् इत्यर्थः । श्वापि प्राग्बदेवालङ्कारत्वं निगमनीयम् ।
अन्ते निश्चयस्तोकेनिश्चयान्तोऽयं सन्देहः ।

उदाहरण द्विमलाया जाता है—चपला इत्यादि । हनुमान् जी ने जब अशोकवाटिका
में सीता को देखा तब वे पहले इस सन्देह में हुए गए कि—यह या तो मेघ से गिरी हुई
विद्युत् है या किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है । तदनन्तर बुद्धिमान् हनुमान् ने दीर्घ
निःश्वासाँ द्वारा निर्णय किया कि यह वियोगिनी है—नामविरहकारता जानकी है, विद्युत्
अथवा लता नहीं । यहाँ भी सन्देह को अलङ्कारकोटि में लाने के लिये पूर्वोक्त युक्ति का
अनुसरण करना चाहिए । यहाँ भादि से सन्देह के रहने पर भी अन्त में निश्चय हुआ है,
अतः इसे निश्चयान्त सन्देह कहा जाता है ।

नन्वेपूर्वाहरणेषु सप्तयस्यैव प्राधान्येनान्योपस्कारकत्वविरहान्कथमलङ्कारत्वमेत आह—

एषु सशयेषु मञ्जूपादिगतकटककादिष्विवालङ्कारव्यपदेशः ।

पूर्वोक्तेषु पद्येषु वर्णिताः सन्देहाः स्वयं प्रधानवाक्यार्थाः, तथा चान्योपस्कारकत्वा-
भावात् कथमलङ्कारभावः ते भवेन्न इति शङ्काया इव समाधानं च यथा मञ्जूपादिगताः
कटककाद्यस्तन्कालेऽलङ्कृतिविदारान्या अपि अलङ्कृतियोग्यत्वादलङ्काराः कथ्यन्ते तथैवा-
लङ्कारयोग्यतामादादेष्वपि सन्देहेष्वलङ्कारत्वव्यपदेश इति ।

यदि कोई कहे कि—उक्त उदाहरणों में जो सन्देह वर्णित हुए हैं वे तो स्वयं प्रधान
वाक्यार्थ हैं, किसी दूसरे को शोभित करते नहीं, फिर ये अलङ्कारकोटि में कैसे ला सकते
हैं, तो इसका समाधान यह है कि—हाँ भाई ! ये सन्देह किसी अन्य को शोभित नहीं
करते, पर शोभित करने की योग्यता तो रखते ही हैं, वस, इतने से ही ये सन्देह अलङ्कार-
कोटि में आ जाते हैं । [लोकरीति भी तो ऐसी ही है । देखिए—जो कटक-कुण्डलादि
पेशी में ही घरे रहते हैं—तरहाल किसी की देह की शोभा नहीं बढ़ाते उन्हें भी तो
अलङ्कार कहा ही जाता है । क्यों ? केवल शोभावर्धन की योग्यता रखने के कारण ही
सो । वस, यही रीति यहाँ भी समझ लेनी चाहिए ।

प्रत्युदाहरणं दर्शयति—

एव च—

‘तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतधैर्यवीर्य-

गाम्भीर्यमक्षणविमुक्तसमीपजानिम् ।

वीर्याय दीनमचलाविरहन्यथात्

रामो न वाऽयमिति संशयमाप लोकः ॥’

इत्यत्र सत्यपि चमत्कारे सादृश्यमूलत्वाभावात् संशयस्यालङ्कारत्वम् ।

एवं चेति । उक्तरीत्या सश्यालङ्कारलक्षणस्य सादृश्यमूलत्वपदितत्वे चैत्यर्थः । तं दृष्ट-
वानिति । प्रथमं संयोगदशायाम्, अद्भुतानि आश्चर्यकराणि, धैर्यम्, वीर्यम्, गाम्भीर्य-
तानि यस्य सादृश्यम्, तथा न क्षणं विमुक्ता समीपदेशान्जना (सीता) येन तम्,
(जानिरेत्यत्र 'जायाया निष्' इति सूत्रं स्मरणीयम्) तं रामचन्द्रम्, दृष्टवान्, नोक्तं,
अप रावणकृतसीतापहारोत्तरम्, दान धैर्यादिहीनम्, तथा अबलायाः सीतायाः, विर-
हात्, या न्यया पीडा, तथा, आर्तं पीडितम्, तम्, वीर्यं दृष्ट्वा, 'अथ रामः न वा' इति
संशयम्, आप प्राप्तवान् इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । अयं भाव-यद्यप्यत्र विप्रलम्भ-
पोषकतया चमत्कारी सन्देहो वर्णितस्तथापि नास्त्वलङ्कारः, तस्य सादृश्यमूलकत्वाभा-
वात् इति ।

प्रागुदाहारण विल्लाप्य जाता है—एवं च इत्यादि । सादृश्यमूलक सन्देह ही अलङ्कार
होता है यह निर्णय जय लक्षण द्वारा हो गया तब 'तं दृष्टवान्—अर्थात् संयोगवस्था में
आश्चर्यजनक धीरता, वीरता और गम्भीरता से युक्त तथा क्षण भर के लिये भी अपने
समीप से सीता को अलग नहीं करने वाले राम को देख चुके लोगों ने रावण द्वारा
सीताहरण के बाद, उनको दान तथा सीताविरहजन्य व्यथा से पीड़ित देखकर,
यह सन्देह किया कि—'यह राम है अथवा नहीं' । इस सीताविरहकालर रामवर्णन-
परक पद्य में प्रतिपादित सशय विप्रलम्भशृङ्गार का पोषक होने के कारण चमत्कारजनक
होकर भी अलङ्काररूप नहीं होता, क्योंकि उसके मूल में सादृश्य नहीं है ।

विशेषं सूचयति—

एवमारोपमूलोऽयं सन्देहालङ्कारः ।

अयं = पूर्वोक्तदूतारण्येषु प्रदर्शितः, सन्देहालङ्कारः उपमानोपमेययोर्द्वयोपपादानात्
आरोपमूलः कथ्यते । एवमेवविषयसन्देहालङ्कारे रूपरूपजोड्यमिति भावः ।

विशेष की सूचना दी जाती है—एवमिति । पूर्वोक्त उदाहरणों में दिखलाये गये
ससन्देहालङ्कार आरोपमूलक हैं, क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों का ग्रहण किया
गया है । फलतः इस तरह से ससन्देहालङ्कार में रूपकालङ्कार ही सूचनरूप से कार्य
करता रहता है । सन्देहकृत विलक्षण चमत्कार के कारण सिद्ध अलङ्कार की संज्ञा इसे
दी जाती है ।

प्रागुक्तस्य त्रिविधस्यापि ससन्देहालङ्कारस्यान्यमतसिद्धं त्रैविध्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अप्यवसानमूलोऽपि दृश्यते ।

यथा—

'सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं

क्षिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।

सन्देहं जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्वेषां

घातः प्रातरुपात्तनोतु भवतां भव्यानि भासां निधेः ॥'

अयं च संशयः सवितृविषयककविरतिपरिपोषकतया कामिनीकरगतकङ्कणा-
दिरिव मुख्यतयाऽलङ्कृतव्यपदेश्यः । अत्र च विवक्षितविवेचने क्रियमाये
किरणघाते सिन्दूरत्वादिकोटिकः संशयः पर्यवस्यति । स च न सारोपः । विष-
यत्रिपयिपोस्तदनुकूलविभक्तेरभावात् । अतः सिन्दूरत्वादिना संशयधर्मा किरण-
घातोऽप्यवसीयत इति अत्र विचार्यते—सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवेति पद्ये

तावत्सिन्दूरादिकरणकपरिपूरितत्वादिकोटिको जगन्मण्डलधर्मिकः संशयः शब्दा-
त्प्रतीयते । तस्मिंश्च संशये किमिदं सिन्दूररजो वा स्यात्, आहोस्विज्ञा-
क्षारसः, उताहो कुङ्कुमद्रव इति सूर्यकिरणधर्मिक संशयान्तरमानुगुण्यभावत्वे ।
यथा पुरोवतिनि तुरगे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयो भूतलमिदं स्थाणुमत्पुरुष-
वद्वेति संशये । एवञ्च सूर्यकिरणधर्मिकः संशयो गुणीभूतो व्यञ्जनागम्यत्वा-
द्विषयविषयिणोरारोपानुकूलविभक्तिकतां नापेक्षते । अपेक्षते च साक्षाच्छब्द-
वेद्यतायामिति कुत्राध्यवसानमूलता संशयस्य ? एतेनाध्यवसानमूलता संशयस्य
निरूपयतो विमर्शिनीकारस्योक्तिरपास्ता ।

अध्यवसानमूल इति । उपमानेनोपमेयस्य निगरणादिति भावः । तादृशमुदाहरण
दर्शयति—सिन्दूरैरिति । कविराशोर्मुखेन भास्करभास स्तौति—एतत्, महीमण्डलम्,
सिन्दूरैः, परिपूरितम्, अथवा, लाक्षारसं बाबकद्रवैः, क्षालित धौतम्, वा, कुङ्कुमद्रव-
भरैः केमररससमूहैः, लिप्तम् किमु, इति, दृणा मानवानाम्, सन्देम्, जनयन् उपादयन्,
तथा, परित्राता, रक्षिता त्रयो लोका येन तादृश, भासा निधेः, सूर्यस्य, त्विषा तेजसाम्,
व्रात समूह, प्रात उप काले, भवताम्, भव्यानि श्रेयासि, उपातनोतु विस्तारयत्विति
तदर्थः । पूर्वतो मेदान्तरमाह—अयं धेति । 'सिन्दूरैः—' इति पद्ये कविनिष्ठ सूर्यविषयको
रत्याख्यो भाव प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, तं च भावं वाच्यं सन्देह पुष्पाति । तथा च
मुख्योपस्कारकोऽयं सन्देहोऽलङ्कृतिक्रियाविशिष्टतया कामिन्या करावलङ्घनं कङ्कणादिरिव
मुख्याम् अलङ्कारपदव्यवहार्यता धत्ते इत्यर्थः । एवञ्च पूर्वोदाहरणेभ्योऽस्मिन्नुदाहरणे द्वौ
भेदौ भवतः । एको मुख्यालङ्कारव्यवहाररूपः, अररश्च साध्यवसानस्वरूप इति भावः ।
नचत्रापि महीमण्डलस्य विषयतयोपादानात्सारोपत्वमेव, न साध्यवसानत्वमित्यत आह-
अत्र चेति । विवक्षितेति । तारपर्यायैत्यर्थः । किरणव्राते सिन्दूरत्वादिकोटिक इति । 'किरण-
व्रात सिन्दूरत्ववान्, लाक्षारसत्ववान्, कुङ्कुमद्रवभरत्ववान्वा इत्याकार' इत्यर्थः । 'किरण-
व्रातो वा सिन्दूलाक्षादिक वेद्याकारक' इति 'सरला'विवरण तु शोच्यमेव । स चेति ।
उक्ताकारकसंशयधेत्यर्थः । तस्या सारोपत्वे हेतुमाह—विषयेति । उपमेयोपमानयोरित्यर्थः ।
किरणव्रातसिन्दूरादिकयोरिति यावन् । तदिति । आरोपेत्यर्थः । तथा च तत्त्वेनानुपादान-
सिति अत्र । एतेन 'एवमपि किरणव्रातस्योऽदात्तस्सारोपत्वमेव' इति निरस्तम् । पर्य-
वसितार्थमाह—अत इति । अयं भावः—'सिन्दूरैः—' इत्यत्र किरणव्रातधर्मिक सिन्दू-
रत्वादिनाधर्माविगाहो सन्देह एव वक्तृतात्पर्यविषयः । स च नारोपमूले वक्तुं योग्य,
'सिन्दूरैः' इत्यादेस्तृतीयान्ततया 'त्विषा व्रात' इत्यस्य च प्रथमान्ततया विभक्तिभेदात्,
आरोप्यमाणारोपविषययोः समानविभक्तिकपदबोधत्व एवारोप इति नियमात् । अतोऽगत्या
विषयिवाचकैः सिन्दूरादिपदैः सादृश्याख्यसम्बन्धेन विषयभूत संशयधर्मी च किरणव्रातो
लक्ष्यत इत्येवाङ्गीकरणीयम् । एवञ्च सिद्धमस्य संशयस्याध्यवसानमूलत्वम्, विषयिवाचकेन
पदेन सदृशलक्षणाया विषयोपस्थापनस्यैवाध्यवसानपदार्थत्वात् । न रूपकोपजीव्यक एव
सरावालङ्कारोऽपि तु अतिशयोक्त्युपजीव्यकोऽपीति । प्रागुपपादितं संशयालङ्कारस्याध्य-
वसानमूलकत्वं निरसितुमाह—अत्र विचार्यते इत्यादि । तावन् आरो । इदं किरणजातम् ।
आनुगुण्यम् अनुकूलताम् । आधत्ते सम्पादयतीति यावन् । संशये संशयान्तरस्यानुगुण्या-
धायकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । एव चेति । उक्ताया स्थितादित्यर्थः । गुणीभूत इति ।
उपपादकत्वादिति भावः । उपपाय हि प्रधान भवति । अनोसत्त्वे हेतुमाह—व्यञ्जनेति ।

तर्हि कुत्र तदपेक्षा तत्राह—अपेक्षते चेति । एवमारोपमूलक एवायमपि सन्देह इति भावः । अप्यवसानमूलकस्तु सन्देह आकाररुक्तमनुत्पन्न एव । तदाह—कुत्रेति । एतेनेति । वक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः । इतिरिति । एवधात्रत्यं पूर्वपक्षः विनर्शिनीकारस्यैवेति स्पष्टम् । अयमत्र निर्गलितोऽर्थः—‘सिन्दूरै—’ इति पद्ये द्वौ संशयौ वर्णितौ स्तः । तत्रैक ‘मही-मण्डलं सिन्दूरकरणकपरिपूरितत्ववन्, लाक्षारसकरणकसालितत्ववन्, कुङ्कुमद्रवकरण-कलिप्तत्ववद्’ इत्याकारकं साक्षाच्छब्दवाच्यं प्रथमप्रतीतिविषयः, अपरस्य सूर्यकिरण-समूहविशेषकं ‘अथ सिन्दूरपरागः, लाक्षारसं कुङ्कुमद्रवो वा’ इत्याकारकं साक्षाच्छब्दा-वेद्यतया व्यञ्ज्यः पश्चात्प्रतीतिगोचरः । अनयो प्रथम प्रधानं, उपपाद्यत्वात्, द्वितीय-स्तूपपादकतया गुणीभूतः । तत्र प्रधानीभूतस्य संशयस्य सारोपत्व विप्रतिपत्तिर्हीनमेव, विषयविषयिणोरुभयोरुपादानात् । गुणीभूतस्यस्यापि सारोपत्वस्वीकारे न बाधा काचित्, बाधकत्वोपहितस्य विषयविषयिणो-समानविभक्तिकपदाबोध्यत्वस्य प्रकृतेऽप्र-साहात्, शब्दवेद्यस्य एव तयोः समानविभक्तिकपदाबोध्यत्वस्यारोपनियामकत्वात् । एवधारोपमूलसन्देहालङ्कारोदाहरणमेवैतत्सर्वं भवति । अतः अप्यवसानमूलकसन्देहालङ्कार-स्वीकारो विनर्शिनीकारस्यासङ्गत एव । फलतो रूपकोपजीव्यक एवायमलङ्कारो, नातिशयो-क्त्युपजीव्यकः । तथा न अथ एव भेदा अस्य, न पुनस्तत्रैकैकस्यापि त्रैविध्यमिति ।

सन्देहालङ्कार के विषय में एक विशिष्ट विचार किया जाता है—अप्यवसान इत्यादि । यह सन्देहालङ्कार अप्यवसानमूलक भी देखा जाता है । अभिप्राय यह कि जिस तरह पूर्वोक्त उदाहरणों में आरोप्यमाण तथा आरोपविषय दोनों उक्त हैं, अतः यहाँ के सन्देहालङ्कार आरोपमूलक-अर्थात् रूपकमूलक कहे जाते हैं उसी तरह कहीं-कहीं केवल आरोप्यमाण ही उक्त रहता है और आरोपविषय उससे निर्गीर्ण रहता है, अतः वैसे जगह का सन्देहालङ्कार अप्यवसानमूलक-अर्थात् अतिशयोक्तिमूलक कहा जायगा । जैसे—‘सिन्दूरै—’ अर्थात् ‘यह धरामण्डल क्या सिन्दूर से परिपूर्ण है, अथवा भालते (लाषा) के पानी से धोया हुआ है, किंवा केंपर के रससमूह से पुना हुआ है’ इस तरह के सन्देह को मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न करता हुआ त्रिलोकी-त्राता सूर्य का प्रातःकालीन कान्ति-समूह आपका कल्याण करे ।’ यहाँ का सन्देह सूर्य के विषय में कवि के प्रेम को पुष्ट करता है, अतः कामिनी के हाथ में पहने बङ्गण आदि की तरह मुख्यतया अलङ्कार कहने योग्य है । तात्पर्य यह कि—पूर्वोक्त उदाहरणों में वर्णित सन्देह पंटी में धरे भूषण की तरह अलङ्कृत करने की योग्यता रखने के कारण गौणतया अलङ्कार कहे गये हैं, पर यहाँ का सन्देह अलङ्कृत करने की योग्यता रखने के कारण ही नहीं, अपितु अलङ्कृत करने के कारण अलङ्कार कहा जायगा । यह भी उक्त उदाहरणों से इस उदाहरण में एक विलक्षणता है । ‘सिन्दूरै—’ हम पद्य में, वक्ता के अभिन्न अर्थ का विवेचन करने पर, अन्ततः किरणसमूह में ‘सिन्दूरत्व’ आदि की विशेषता सन्देह सिद्ध होता है । अर्थात् उपर से देखने पर यद्यपि धरामण्डलरूप धर्मा (आधार) में सिन्दूरपरिपूरितत्व भादि अनेक धर्मों का सन्देह दिखाई पड़ता है, पर वास्तविक विचार करने पर जिस सूर्यकिरण के धरा पर फैले रहने के कारण उक्त सन्देह दिखाई पड़ा है उस किरणरूप धर्मों में सिन्दूरत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह ही समझा जायगा । और वह (किरणधर्मिक) सन्देह सारोप-आरोपमूलक—है नहीं, क्योंकि पुरु का दूसरे में आरोप करने के लिये उन दोनों की एकजातीय विभक्तिवाले पदों से उपस्थिति अपे-क्षित रहती है और यहाँ ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ सिन्दूरत्व आदि आरोप्यमाण की उपस्थिति ‘सिन्दूरै’ भादि तृतीया विभक्तिवाले पदों द्वारा होती है तथा किरणरूप आरोपविषय की उपस्थिति ‘रिषया वातः’ इस प्रथमान्त पद द्वारा होती है । फलतः

यहाँ रूपकवाली स्थिति नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि—यहाँ 'सिन्दूरैः' आदि पदों द्वारा 'सिन्दूरस्व आदि' रूप से संशय का धर्मो किरणसमूह अध्यवसित हुआ है—अर्थात् सादृश्यमूलक लक्षणा द्वारा सिन्दूर आदि पद ही किरण का भी बोधक है। फलतः यहाँ अतिशयोक्ति वाली स्थिति है। यह हुआ एक पक्ष। अब दूसरा पक्ष सुनिषे—विचार करने से विदित होता है कि—'सिन्दूरैः परिपूरितम्—' इस पक्ष में, प्रथमतः, पृथ्वीमण्डल-रूप धर्मो (आधार) में 'सिन्दूर आदि द्वारा परिपूर्ण किया गया' कोटियों (धर्मो) वाला—अर्थात् 'पृथ्वीमण्डल सिन्दूर से परिपूर्ण किया गया है, अथवा लाधारस से घोषा गया है, किंवा केसररससमूह से पोत दिया गया है' इस तरह का सन्देह, शब्द द्वारा प्रतीत होता है। उस सन्देह में सूर्यकिरणरूप धर्मो में होनेवाला 'क्या यह सिन्दूररज है अथवा आलते का पानी है किंवा केसर का रस' यह दूसरा सन्देह अनुकूलता उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह कि एक दूसरे सन्देह से पहला सन्देह सिद्ध किया जाता है। जैसे कि सामने खड़े घोड़े के विषय में (घोड़े का जरा भी ज्ञान न होकर) 'यह खम्भा है अथवा पुरुष' यह सन्देह 'यह पृथ्वीतल समूह से युक्त है अथवा पुरुष से' इस दूसरे सन्देह में उपयोगी होता है, क्योंकि विना प्रथम सन्देह के द्वितीय सन्देह बन ही नहीं सकता, वही वान यहाँ भी है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य-किरणरूप धर्मो में होनेवाला (दूसरा) सन्देह व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीत होने के कारण उपमान-उपमेय में आरोप के अनुकूल समान विभक्ति की अपेक्षा नहीं रखता, पर यदि वही साक्षात् शब्दों द्वारा प्रतीत होता (जैसा कि पहला सन्देह है) तो समान विभक्ति की अपेक्षा रखता। अतः यहाँ सन्देह की अध्यवसानमूलकता कहाँ है? अभिप्राय यह कि वाच्य आरोप में उपमान उपमेय एक विभक्तिवाले हैं, व्यञ्ज्य आरोप में नहीं, ऐसी दशा में ऐसे सन्देहों को अध्यवसानमूलक मानना उचित नहीं। सारांश यह कि 'सिन्दूरैः—' इस पक्ष का पहला (वाच्य आरोपवाला) सन्देह सादृश्यमूलक न होने के कारण अलङ्कारश्रेणी में आता ही नहीं, रहा दूसरा (व्यञ्ज्य आरोपवाला) सन्देह, सो उसमें उपमान-उपमेय की, समानविभक्तिक न होने पर भी, उक्त रीति से आरोपमूलकता मानी जा सकती है, अतः अध्यवसानमूलक (अतिशयोक्तिमूलक) सन्देह होता ही नहीं। अतः सन्देहालङ्कार को अध्यवसानमूलक भी मानकर भेदसदृशा बहानेवाले विमर्शिनो (अलङ्कारसर्वस्व की टीका) कार परास्त हो गये।

अप्यदीक्षितोक्तमनूय निरस्यति—

अप्यदीक्षितास्तु—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

रश्मिरैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुण्याकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥'

इत्यत्र चन्द्रादीनां सन्देहधमिणा मेवानेकत्वम् । प्रकारस्तु वर्णनीयवनितास्रष्टृ-
त्वमेकमेवेत्यनेककोटिकत्वाभावाद्बिरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया निबद्धानेक-
कोट्यवगाहित्यरूपस्य संशयलक्षणस्याव्याप्तिमाहुः । तत्र । अत्र हि अस्या सर्ग-
विधौ यः प्रजापतिरभूत्स किं चन्द्रः, किं नु मदनः, किं या नु वसन्त इति सशयः
प्रजापतिधर्मिकश्चन्द्रत्वादिनानाकोटिक एवेति कुत्राभ्याप्तिः । न चात्र चन्द्रादि-
धर्मिकः सशयो युक्तो वक्तुम् । एवं च प्रजापतेः प्रथमोद्देशो न स्यात् ।

'अस्या सर्गविधा'विति । कालिदासकृते विष्णुमूर्धेशीयनाटके उर्वरया वर्णनमिदम् ।

'मालतीमाधवे मालतीवर्णनमिदम्' इति नागेशव्याख्या तु श्रान्तिमूलिकैव । पुरुरवा

उर्वाशीमवलौम्य कथयति—अस्या उर्वरवा, सर्गविधौ सृष्टिकरसो, क, प्रजापति सप्त,
 अभूत् ? कान्तिप्रदः कान्तिदायक, चन्द्र, पु, शृङ्गारैकरसः शृङ्गाररसस्याद्वितीय
 आश्रय, स्वयं, मदन कामदेव, पु, पुष्पाकर कुसुमाकरः मासः चैत्र, वसन्त इति यावत्,
 पु । ननु अस्याः सृष्टौ कथमभिनवप्रजापतिगवेषणम् ? चिरप्रसिद्धश्चराचरनिर्माता विधाता
 एवैनामपि सृष्टेत्, नेत्याह—वेदाभ्यास इति । वेदानाम्, अभ्यासेन = पुन पुनरभ्ययनेन,
 जड शिथिल (उपहासोक्तिरियम्), अत एव विषयेभ्य सासारिकवस्तुभ्यः, व्यावृत्तं
 निरस्तम्, कौतूहल उत्कण्ठा यस्य तादृश, स प्रसिद्ध, पुराणो वृद्ध, मुनिः प्रज्ञा, मनोहरं
 दर्शकजनचित्तकर्षकं रमणीयमिति यावत्, इदं पूर्वाभावनितागतम्, रूपम्, निर्मातुं रच-
 यितुं, कथम्, प्रभवेत् समर्थं, त्याम्, न स्यादित्यर्थः । अत्र यदुक्तं दक्षिणेन तदनुवदति—इत्य-
 त्नेति । अभावादित्यव्याप्तौ हेतुः । संशयलक्षणमाह—विरोधेनेति । परस्परप्रतिषेधकतयेति ।
 मियौऽवमर्दकतयेत्यर्थः । 'भागमानविरोधक समकलः नानाकौटव्यागदौ ज्ञानविशेषः सशय'
 इति सशयसामान्यलक्षणमेवात्र न सद्दृष्टे, 'चन्द्रः, कामः, वसन्तो वा प्रजापतिः' इति ज्ञाने
 विशेष्यस्य चन्द्रादेरनेकत्वेऽपि विशेषणस्य प्रजापतित्वस्य (वर्णनीयनायिकासृष्टिकर्तृत्वस्य)
 एकत्वात्, एवञ्च संशयालङ्कारलक्षणसद्दृष्टेन तु दूरापास्तम् इति दीक्षिताकृतमिति भावः ।
 निरस्यति—तन्नेति । निरासे हेतुमाह—अत्रेत्यादिना । हि यत् । अस्या उर्वरया ।
 'मालत्या' इति नागेशव्याख्या तु पूर्ववदत्रापि भ्रममूलिकैव । कुत्राव्याप्तिरिति । नाव्याप्ति-
 रिति भावः । 'उर्वरया' सृष्टौ यो विधाता स चन्द्रः, कामो, वसन्तो वा' इति ज्ञानाकारोऽ
 त्रामिधेत । तत्र प्रजाप्रतिरेव विशेष्यभूत एक, विशेषणभूतं चन्द्रत्वादिक पुनरनेकमेवेति
 श्लोक्तसंशयलक्षणमत्र सद्दृष्टे एवेति दीक्षितस्याव्याप्तिकथनं न युक्तमिति भावः । तदुपपा-
 दनं स्रग्दयति—न चेति । एवं चेति । यो ह्यर्थः । यत् एष सर्वोत्यर्थः । प्रयमोद्देश इति ।
 प्रागुच्चारणमित्यर्थः । 'अस्याः सर्गविधौ—' इत्यत्र प्रजापतित्वप्रकारक चन्द्रादिविशेष्यकः
 बोधोऽभिप्रेत इति न वक्तुं योग्यम्, तथा सति प्रजापतित्वस्य विधेयत्वेन तद्विषयत्वस्य
 पश्चाद्भिर्दुर्भौचित्यात् 'उद्देश्यमतिक्रम्य न विधेयमुदीरयेत्' इति नियमादिति भावः । प्रजा-
 पते प्राग्निर्देशो नोद्देश्यत्वम्, चन्द्रत्वादेश्च पश्चाद्भिर्देशेन विधेयत्वम्, तथा च ग्रन्थकारा-
 भिमतः प्रागुपदर्शितो बोधाकार एवेष्ट इति साराशः ।

अव अप्पयदीक्षित के मत का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—अप्पयदीक्षिता
 इत्यादि, 'अस्याः सर्गविधौ—अर्थात् इस सुन्दरी की सृष्टि करने में कौन प्रजापति (सृष्टि-
 कर्ता) हुआ होगा ? कान्तिदायक चन्द्रमा, अथवा शृङ्गाररस का एक (अद्वितीय)
 आश्रय स्वयं कामदेव, किंवा कुसुमाकर मास (चैत्र = वसन्त) ? कारण, वेद का सदा
 अभ्यास करते रहने के कारण जड़ बना हुआ, अतएव सांसारिक विषयों से मुक्त मोक्ष
 सुखा वह पुराता मुनि (ब्रह्मा) मला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ? (यह
 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुस्त्रवा द्वारा किया गया उर्वशी का वर्णन है । 'मालती-
 माधव में यह मालती का वर्णन है' ऐसा नागेशकृत 'मर्मप्रकाश' का विवरण भ्रममूलक
 है ।) यहाँ सन्देह के धर्मो अर्थात् ज्ञान में विशेष्यरूप से भासित होने वाले पदार्थ
 चन्द्र आदि ही अनेक हैं, प्रकार—विशेषण तो वर्णनीय नायिका का उत्पन्न करना
 (प्रजापतित्व) एक ही है, अतः यह ज्ञान अनेक कौटियों (एक विशेष्य में अनेक विशे-
 यों) वाला हुआ नहीं—अर्थात् यह ज्ञान अनेक विशेष्यों में एकविशेषणवाला हुआ ।
 ऐसी स्थिति में 'विरुद्ध होने के कारण परस्पर—एक दूसरे को—दबानेवाली अनेक कौटियों-
 विशेषणों—का अवगाहन करनेवाला ज्ञान संशय है' इस लक्षण की उक्त ज्ञान में अभ्यासित

होती है—अर्थात् यह संशयलक्षण वहाँ सङ्घटित नहीं होता, यह अप्ययदीक्षित का कथन है, जो सर्वथा अमङ्गल है। कारण, यहाँ, 'इस सुन्दरी की सृष्टि में जो प्रजापति हुआ है वह क्या चन्द्र है, अथवा कामदेव है, किंवा वसन्त है' इस तरह का ज्ञान अभीष्ट है जिसमें संशय का उक्त लक्षण सङ्घटित होता ही है, क्योंकि इस ज्ञान में प्रजापतिरूप एक विशेष्य के विशेषणरूप से चन्द्रत्व, कामदेवत्व तथा वसन्तत्वरूप परस्परविरोधी पदार्थ भासित होते ही हैं। फिर यहाँ संशयलक्षण की अव्याप्ति कहाँ होती है? यदि कोई कहे कि—पण्डितराज ने जैसा बतलाया है वैसा ही ज्ञान यहाँ होगा, दीक्षित जी ने जैसा बतलाया है वैसा नहीं, इसमें प्रमाण क्या? तो सूत्रिणः प्रमाण—ज्ञान में जो विशेष्य होता है वह रहता है उद्देश्य और जो विशेषण होता है वह रहता है विधेय, यह नियम है, और साथ ही उद्देश्यबोधक पद का विधेयबोधक पद से पहले प्रयुक्त होना भी निश्चित है। ऐसी स्थिति में दीक्षिताभिमत ज्ञान—जिसमें प्रजापतिरूप ही विशेषण और चन्द्र आदि ही विशेष्य माने जाते हैं—के अनुसार 'प्रजापति' का पहले प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके हिसाब से वह विधेयबोधक है। फलतः 'प्रजापति' पद के पूर्वप्रयोगरूप प्रमाण से पण्डितराजोक्त ज्ञान ही सिद्ध होता है, क्योंकि तदनुसार प्रजापति विशेष्य-अतएव उद्देश्य हो जाता है।

दीक्षिताभिप्रेतमन्यदपि निराचष्टे—

यदपि, 'साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा' इति प्राचां लक्षणं महता प्रयत्नेन त एव दूषितवन्तः, तदपि न। साम्यनिमित्ता निश्चयसम्भावनान्यतर-भिन्ना या धीरिति तदर्थकरणे दोषाभावात्। निश्चयत्वं तु संशयापटितमेव निर्वचनीयम्।

'साम्यात्—' इति। 'प्रकृतार्थाभया तज्ज्ञे ससन्देह स श्यते' इति तदुत्तरार्थभाग। अन्वयार्थनिष्ठा प्रस्तुतार्थविरोधिका अप्रस्तुतार्थप्रकारिका या सादृश्यप्रयुक्ता धी स सन्देहालङ्कार इत्यर्थः। त एवेति। आभ्यासदीक्षिता एवेत्यर्थः। दूषितवन्त इति। चित्र-मीमांसायामित्यर्थः। तत्र "साम्यादिति किमन्नाद्वैतोर्धमतीतिविकल्पत्वेन हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, उक्त स्वतो हेतुत्वविवक्षया, आद्येऽप्रकृतसाम्याभिव्यक्तिफलकत्वमर्थः स्यात्। तथा सति 'आनीय दिपताम्—' इत्युदाहरणेऽव्याप्तिः। द्वितीये साम्यादित्यनेन किमेकमेवा-प्रकृतसाम्यं विवक्षितम्, उतैकमनेक वेत्यनियमः। आद्ये 'अथ मार्तण्ड किम्—' इत्युदाहरणेऽव्याप्तिः, मार्तण्डत्वादिविकल्पेषु नैक साम्यं हेतुः। किन्तु प्रतापेन दुर्निरीक्ष्यत्व-साम्यं मार्तण्डत्वविकल्पे, दुरार्थपत्न्याम्यं कृशानुत्वविकल्पे, क्षणेन सकलसद्वृत्त्वसाम्यं कृतान्तविकल्पे च हेतुः। द्वितीये 'इह नमय शिर कलिद्रवदा समरमुखे करहाटवदनुर्वा' इति विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः। अपि चानवधारणेति किमुच्यते। अनिधयात्मकत्वमिति चेत्। तथा सति 'बालेन्दुवकाण्यविकाशभावात्' इत्यादावुदाहरित्यमाणायामप्रकृतसाम्य-निमित्ततत्तादात्म्यसम्भावनारूपायामुत्प्रेक्षायामतिव्याप्तिः।" इत्याशयक दूषणमभिहितम्। तन्निरस्यति—तदपि नेति। तत्र हेतुमाह—साम्यनिमित्तेति। साम्यादित्यस्यार्थोऽयम्। निश्चयसम्भावनेति। अन्वयार्थोऽयम्। ईदृशार्थकरणे सर्वेऽपि दीक्षितो-का दोषा निरस्ता भवन्ति। ननु तदोपनिरासेऽपि संशयलक्षणे निश्चयान्यत्वस्य निश्चय-लक्षणे च संशयान्यत्वस्य प्रवेशादन्योन्याश्रय स्यादिति मनसि निधाय तद्वारकमुपाय-सुपदर्शयति—निश्चयश्च स्थितिः। निश्चयलक्षणे न संशयप्रवेशः, कोटिताल्यविपयतानवगादि-ज्ञानविशेषस्य तल्लक्षणत्वान्। तथा च निर्दुष्टमेव प्राचा 'साम्यादिति' लक्षणमिति भावः।

दीक्षित के ही एक दूसरे अभिप्राय का खण्डन किया जाता है—यदपि इत्यादि।

‘साम्यात्—अर्थात् सादृश्य के कारण प्रस्तुत अर्थ में जो अप्रस्तुत अर्थ का अवधारणा-रहित ज्ञान होता है उसको सन्देह कहते हैं।’ इस प्राचीनों के लक्षण को जो दीक्षित ने बड़े जाड़म्बर के साथ दूषित किया है—अर्थात् उन्होंने “-‘साम्यात्’ का क्या अर्थ ? यदि ‘अज्ञाद्भेतोर्वसति’ की तरह फल को हेतु मानकर की गई पञ्चमी विभक्ति के अनुसार ‘जिस ज्ञान का फल अप्रस्तुत अर्थ की समता का ध्वनित होना हो’ यह किया जाय तब उन्हीं के द्वारा दिग्गम्ये गये ‘अज्ञोय द्विपत्राम्—’ इस उदाहरण में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ अप्रस्तुत की समता को अभिव्यक्त करना कवि का अभीष्ट नहीं है। यदि ‘साम्य’ को स्वतन्त्र ज्ञान का हेतु मानकर पञ्चमी करें और तदनुसार ‘साम्य-हेतुक ज्ञान’ ऐसा अर्थ किया जाय तब यह प्रश्न उठेगा कि हेतुभूत समता एक तरह की हो यह आपका अभिप्राय है, अथवा एक अनेक सब तरह की समता यह अभिप्राय है ? एक भी सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रथम अभिप्राय में ‘अथ नार्तण्डः किम्—’ यह उदाहरण आपका सङ्गृहीत नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भिन्न-भिन्न विकल्प में भिन्न-भिन्न तरह की समता हेतु है, द्वितीय अभिप्राय में ‘इह नमय शिरः कलिद्ववद्वा समरमुत्ते करहाटपद्मनुर्वा—अर्थात् इस युद्ध में कलिद्ववासियों की तरह मरतक नवाओ अथवा करहाटपद्मवासियों की तरह धनुष नवाओ’ यह विवरणालङ्कार का उदाहरण सङ्गृहीत होने लगेगा। इसी तरह ‘अनवधारणा’ का क्या अर्थ ? यदि ‘निश्चय से भिन्न’ यह अर्थ अभीष्ट हो तब ‘शालेन्दुवशाप्यविकाराभावात्—’ इस सम्भावना-स्मरक उल्लेख में अतिव्याप्ति हो जायगी।” इत्यादि बातें कहीं हैं। वह भी ठीक नहीं। कारण, यदि उक्त प्राचीनों की कारिका का ‘सादृश्यनिमित्तक और निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों में से प्रत्येक से भिन्न जो ज्ञान’ ऐसा अर्थ कर दिया जाय—अर्थात् ‘साम्यात्’ के ‘परिच्छिन् सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला’ और ‘अनवधारणा’ घटक ‘अवधारणा’ का निश्चय-सम्भावना दोनों ही अर्थ मान लिये जायें तब उक्त सभी हीनों के वारित हो जाने से प्राचीनों का लक्षण निर्दुष्ट हो जाता है। रही बात यह कि—सन्देह का ऐसा लक्षण बनाने से ‘निश्चय से भिन्न सन्देह’ और ‘सन्देह-भिन्न निश्चय’ इस तरह एक लक्षण में दूसरे लक्षण की अपेक्षा हो जाने से अग्योन्याय्य दोष होगा। पर यह दोष भी नहीं होगा, क्योंकि आपको एक का लक्षण तो ऐसा बनाना ही होगा कि जिसके अन्दर दूसरे का प्रवेश न हो, अतः निश्चय का लक्षण ऐसा बनाइए कि जिसके अन्दर सन्देह का प्रवेश न हो—अर्थात् ‘कोटिता’ नाम की जो एक विषयता मानी जाती है उसका अवगाहन जो न करे उस ज्ञान को निश्चय कहिए। वस, सभी वखेड़े समाप्त।

विरोपमाह—

उक्तेपूनाहरणेषु सौड्यं संशयालङ्कारः स्वशब्दवेद्यत्वाद्वाच्यः ।

‘मरकामणि—’ इत्यादीनि यानि ससन्देहालङ्कारास्थोदाहरणानि प्रागुक्तानि तेषु ससन्देहालङ्कारोऽयं श्रमण ‘संशय’ ‘सन्दिदिहे’ ‘सशये’ इत्येभिः सन्देहवाचकैः पदैः बोधित इत्यतस्तत्रायमलङ्कारो वाच्यत्वेन व्यवहर्तुं योग्य इति भावः ।

विशेष बातों का स्पष्टीकरण किया जाता है—उक्तेषु इत्यादि। उक्त (‘मरकामणि—’ इत्यादि) उदाहरणों में यह ससन्देहालङ्कार अपने वाचक शब्दों—‘संशय’ आदि—से अवगत होता है, अतः वाच्य है।

लक्ष्यं ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह

लक्ष्यो यथा—

लक्ष्य ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमुपदर्शयति—

‘साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा ।

रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोला हरुहे तदानीम् ॥’

लोकैः जनैः, तदानीं विवाहानन्तरम्, रामस्य रामा कान्ताम्, सीतामिति यावत्, अवलोक्य, ऋष्यकेतो कामदेवस्य, साम्राज्यलक्ष्मीः साम्राज्यसर्वस्वम्, सौन्दर्य-सृष्टेः रमणीयतानिर्माणस्य, अधिदेवता अधिष्ठात्री देवी, वा, इयम्, इति दोला (शूला इति भाषा) हरुहे स्म आरूढा इत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—साम्राज्य इति । उस समय (विवाह के अनन्तर) रामचन्द्र की रमणी (सीता) को देखकर लोग ‘यह काम की साम्राज्यलक्ष्मी है अथवा सौन्दर्यसृष्टि की अधिदेवता है’ इस झूले पर आरूढ हुए—इस तरह के सन्देह से युक्त हुए ।

उपपादयति—

अत्र पर्यायेणोभयकोट्यालम्बनतया दोलासादृश्यात् संशयोऽत्र दोलाशब्देन लक्ष्यते ।

दोला यथाऽरोहकैरान्दोल्यमाना पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (पर्यन्तभागयुगलम्) आलम्बते, तथा संशयात्मकं ज्ञानमपि पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (विहृद्धधर्मद्वयम्) अवलम्बते (विषयीकुरुते), अतः ‘साम्राज्य—’ इति पद्ये दोलाशब्दस्य सशये सादृश्य-सम्बन्धमूलिका-गौणी-लक्षणा भवति । तथा चात्रत्यं ससन्देहालङ्कारं लक्ष्य इति व्यपदिश्यते इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । जिस तरह झूला आन्दोलित होने पर दोनों कोटियों (छोरों) का अवलम्बन करता है, उस तरह सशयात्मक ज्ञान भी दोनों कोटियों (विहृद्ध दो धर्मों) का आलम्बन करता है—विषय बनता है । इस तरह झूले का सादृश्य सशय में सिद्ध है । अतः ‘साम्राज्य—’ इस पद्य में ‘दोला’ शब्द की सशय-रूप अर्थ में सादृश्यसम्बन्धमूलक-अर्थात् गौणी लक्षणा होती है । फलतः इस पद्य को लक्ष्य ससन्देहालङ्कार का उदाहरण कहा जाता है ।

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह—

व्यङ्ग्योऽयं यथा—

अयं ससन्देहालङ्कारो व्यञ्जनया प्रतीयमानो यथेत्यर्थः ।

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘तीरे तरुण्या वदनं सहास नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ॥’

मुग्धा अल्पज्ञा, मरन्दे परागे विषये, लुब्धा लोभवती, अलिकिशोराणां भ्रमर-शिशांता, माला पङ्क्ति, तीरे तटे, सहासं हासयुक्तम्, तरुण्या युवत्या, वदनं मुखम्, नीरे जले, च, मिलद्विकास मविक्रसम्, सरोज कमलम्, आलोक्य टट्वा, उभयत्र सुप्तसमीपे कमलसमीपे च, धावति हुत गच्छतीत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तीरे इत्यादि । तदपर हास-युक्त युवती के मुख को और जल में विकसित कमल को देखकर मुग्ध तथा मरन्द-लीमी छोटे-छोटे भ्रमरों की पङ्क्ति दोनों तरफ दौड़ रही है ।

उपपादयति—

अत्र कमलधर्मिकोऽभेदेन संसर्गेण पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयप्रकारकः कमलमिद-
मिदं वेति भ्रमरगतः संशयो व्यङ्ग्यः । न च कमलाभेदबुद्धेर्भ्रमरप्रवृत्त्युपाय-
तयाऽपेक्षणादिदं पदार्थाभेदबुद्धिर्निरर्थिकेति वाच्यम् । एकपदार्थधर्मिकापर-
पदार्थाभेदबुद्धेरपरपदार्थधर्मिकैकपदार्थाभेदबोधप्रयोजकत्वेन कमलाभेदबोधसा-
म्प्राज्यात् । कमलत्वमेतद्बुद्धि तद्बुद्धि वेति सशयाकारः । सोऽयं संशयव्यभिः ।

अत्रेति । 'तीरे तद्वृष्णा—' इति स्लोकै इत्यर्थः । कमलधर्मिक इति । कमलविरोष्यक
इत्यर्थः । पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयेति । तरुणीमुखकमलेतिवस्तुद्वयेत्यर्थः । व्यङ्ग्य इति । वानक-
रुद्राकयोरभावादिति भावः । 'तीरे—' इति पदे वाच्येनोभयत्र भ्रमरकर्तृकधावनेन 'कमलं
इदं इदं वा' इत्याकारक अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारतानिष्ठमितकमल-
निष्ठविरोष्यताक भ्रमरनिष्ठ सन्देहः (अलङ्कार) व्यञ्जते इति भावः । अत्रा-
शाङ्कते—न चेति । कमलाभेदबुद्धेरिति । 'इदं कमलम्' इत्याकारकज्ञानस्येत्यर्थः । इदं पदा-
येति । इदं त्वेनेदम्पदार्थेत्यर्थः । अभेदबुद्धिरिति । 'कमलं इदम्' इत्याकारिका बुद्धिरि-
त्यर्थः । एकपदार्थधर्मिकेति । 'इदं कमलम्' इत्याकारिकाया इदपदार्थधर्मिककमलाभेद-
बुद्धेरिति प्रकृतोऽर्थः । अपरपदार्थधर्मिकेति । 'कमल इदम्' इत्याकारक-कमलधर्मिकेदं
पदार्थाभेदज्ञानेति प्रकृतोऽर्थः । कमलाभेदबोधेति । 'इदं कमलम्' इत्याकारकबोधेत्यर्थः ।
कमले इदंपदार्थाभेदो निरर्थक उभयत्र धावनकर्मणि भ्रमरप्रवृत्तेरिदं पदार्थधर्मिककमला-
भेदज्ञानाधीनत्वात् कमलधर्मिकेदं पदार्थाभेदज्ञानस्य तत्राप्रयोजकत्वात् । तथा च 'इदमिदं
वा कमलम्' इत्याकारकस्थानेकधर्मिकैकप्रकारकज्ञानस्यैवात्रौचित्येनानेककोटिकत्वाभावाच्चायं
संशय इति शङ्कादलाशयः, सम्बन्धरूपतयाऽभेदो द्विष्टः पदार्थः, तथा चैकस्य पदार्थस्या-
परत्राभेदे गृहीतेऽपरस्य पदार्थस्याभेद एकस्मिन् गृहीतो भवत्येवेति इदपदार्थे कमला-
भेदे ज्ञायमाने कमले इदपदार्थाभेदस्य ज्ञानं निष्प्रयोजनमपि स्यादेवेति च समाधानदला-
शयो बोध्यः । पर्यवसितमाह—कमलत्वमिति । 'कमल इदमिदं वा' इत्याकारके कमल-
विरोष्यकेऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारताके सशये जायमाने 'कमलत्व
एतद्बुद्धि तद्बुद्धि वा' इत्याकारक कमलत्वविरोष्यक स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नैतद्बुद्धित्व-
तद्बुद्धित्वोभयनिष्ठप्रकारताक एव सशयः पर्यवस्यतीति भावः । उपसहरति—सोऽवमिति ।
उपसहरति प्रकृतपदे ससन्देहालङ्कारध्वनित्वं सुस्थमिति भावः ।

उपपादनं क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'तीरे—' इस पद में 'तटपर तरुणी-मुख
और जल में कमल को देख लेने के बाद भ्रमरों का दोनों तरफ दौड़ना' रूप वाच्यार्थ
से कमलरूप आधार में, अभेद सम्बन्ध द्वारा, आगे स्थित दो व्यक्ति (एक तरुणी का
मुख, दूसरा कमलपुष्प) जिसकी कोटियाँ हैं ऐसा 'कमल यह है अथवा यह' इस
आकार वाला भ्रमरनिष्ठ सन्देह (अलङ्कार) अभिव्यक्त होता है । आप कहेंगे—कमल-
रूप आधार में 'यह' का अभेद निरर्थक है । कारण, भ्रमर जो दोनों वस्तुओं की तरफ
दौड़ रहे हैं तो 'कमल में यह' के ज्ञान से नहीं, किन्तु 'यह' में कमल' के ज्ञान से गूँड़
रहे हैं । अतः भ्रमरगत ज्ञान का आकार वस्तुतः यह सिद्ध होता है कि—'यह अथवा
यह कमल है' । इस ज्ञान में धर्मों ही अनेक हैं कोटि तो 'कमल' एक ही है, फिर यह
ज्ञान संशय हुआ ही नहीं । पर यह आपका कथन उचित नहीं । कारण, एक पदार्थ में
अन्य पदार्थ का अभेदज्ञान अन्य पदार्थ में एक पदार्थ के अभेद-ज्ञान का निमित्त हुआ
करता है । सारांश यह कि 'अभेद' परस्पर का सम्बन्ध है, अतः 'यह में कमल का अभेद'

मानने पर 'कमल में यह का अभेद' अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये अन्तर्नो-
गत्वा इस सन्देह का आकार यह हो जाता है कि—'कमलत्व इसमें रहनेवाला है अथवा
उसमें रहनेवाला'। इस अनेककोटियों वाले ज्ञान को सन्देह मानने में किसी को
आपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह निकला कि—ससन्देहालङ्कारध्वनि (व्यङ्ग्य
ससन्देहालङ्कार) का यह उदाहरण ठीक है।

ससन्देहालङ्कारध्वनेऽदाहरणान्तरत्रिरस्यति—

‘आज्ञा सुमेपोरविलङ्घनीया किं वा तदीया नवचापयष्टिः।

वनस्थिता कि वनदेयता वा शकुन्तला वा मुनिकन्यकेयम्॥’

यद्यप्यत्रापि वाचकशब्दाभावाद् व्यङ्ग्य एव भवितुमर्हति सशयः, तथापि
विषयनिरूपणेन स्फुटमावेदितत्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुः। अपि तु गुणीभूतव्य-
ङ्ग्यप्रभेदव्यपदेशस्य, अनुगामी चात्र प्रतिप्रकार पृथगेव निदिष्टः।

सीता पश्यता मुनीनामुक्ति—इय सीतात्वेनानिर्णीता सीता, सुमेपो पुष्पेपो. (कामी-
देवस्य) अविलङ्घनीया अवश्यमेव पालनीया, आज्ञा, किंवा, तदीया वामदेवसम्बन्धिनी,
नवचापयष्टि नूतनधनुर्वह्नी, किंवा, वनस्थिता वनवासिनी, वनदेवता वनाधिष्ठात्री देवी,
किंवा मुनिकन्यका मुनितनया, शकुन्तला अस्तीत्यर्थः। उपपादयति—ययपीति। वाचक-
शब्देति। सशय-सन्देहादीत्यर्थः। विपयेति। आज्ञादीत्यर्थः। गुणीभूतेति। गुणीभूत-
व्यङ्ग्यनामको य काव्य प्रभेदस्तद्व्यपदेशस्येत्यर्थः। हेतुरित्यस्यानुपपत्तः। अनुगामीति।
एकस्मिन्पान्तीयमान उपमानोपमेयोभयवृत्तिर्धर्म इत्यर्थः। प्रतिप्रकारमिति। प्रकारतया भास-
माने प्रत्येकस्मिन् उपमाने इत्यर्थः। प्रतिसन्देहमिति स्थूलोऽर्थः। ‘आज्ञा-’ इति पद्ये सन्दे-
हवाचक कथन शब्दो नास्ति, अत इदमर्थधर्मिक अभेदेन कामाज्ञाकामचापयष्टि-
वनदेवताशकुन्तलाव्यपदेशधर्मप्रकारकौ वर्णनीय सन्देहो व्यङ्ग्य इत्यत्र न काऽपि
विचिकित्सा, परन्तु सत्यपि तस्मिन् व्यङ्ग्ये ससन्देहालङ्कारध्वनिव्यवहारोऽत्र न भवेत्,
गूढव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यवहारप्रयोजकत्वात्, अप्रत्यसन्देहरूपव्यङ्ग्यस्य विषयनिरूपणेन स्फुट-
बोधिततयाऽगूढत्वात्। तस्मादत्रैव सन्देहात्मक व्यङ्ग्यमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यम-
काव्यव्यवहार एव स्यात्, अगूढव्यङ्ग्यस्य तद्भेदेऽपि गणनात्। अत्र सीता प्रकृतत्वेनोपमेय-
भूता आज्ञावापयष्टिवनदेवताशकुन्तलाश्चाप्रकृतत्वेनोपमानभूता, तत्र आज्ञासीतयो अविलङ्घ-
नीयत्वम्, चापयष्टि-सीतयोर्नवत्वम्, वनदेवतासीतयो वनवासित्वम्, शकुन्तलासीतयोश्च
मुनिकन्यात्वम्, साधारणोऽनुगामी धर्म इति भावः।

ससन्देहालङ्कारध्वनि का प्रत्युदाहरण दिखलाया जाता है—आज्ञा इत्यादि। सीता
को देखकर मुनियों का कथन है—यह सुमेपो (कामदेव) की अनुलङ्घनीय आज्ञा है,
अथवा उसके नूतन धनुष की यष्टि है, किंवा वनवासिनी वनदेवता है, अथवा मुनिकन्या
शकुन्तला है? इस पद्य में भी सन्देह-वाचक कोई शब्द नहीं है—अर्थात् ‘मुनियों को
यह सन्देह हुआ’ यह बात नहीं लिखी है, अतः यहाँ भी सन्देह (अलङ्कार) व्यङ्ग्य ही
होगा, पर व्यङ्ग्य होकर भी वह सन्देह इस पद्य में ध्वनिकाव्यव्यवहार करने का कारण
नहीं हो सकता, क्योंकि सीता में त्रिन विषयों का सन्देह किया जा रहा है उन आज्ञा
आदि का निरूपण होने के कारण सन्देह स्पष्टतया बोधित हो गया है—गूढ (छिपा
हुआ) नहीं रह सका और ध्वनिकाव्यव्यवहार का कारण वही व्यङ्ग्य होता है जो
गूढ हो। हाँ, ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक’ मध्यमकाव्यव्यवहार का कारण यह अगूढ व्यङ्ग्य
(सन्देहालङ्कार) हो सकता है। अन्यत्र ‘अस्फुटमगूढम्’ इत्यादि शब्दों द्वारा ‘गुणीभूत
व्यङ्ग्य काव्य’ के परिगणनप्रकरण में ‘अगूढ’ व्यङ्ग्य वाले काव्य को मध्यम काव्य में गिना

भी गया है। फलतः 'आज्ञा—' यह पद्य मध्यम काव्य का उदाहरण है, ध्वनि-काव्य का नहीं। इस पद्य में सीता प्रस्तुत होने के कारण उपमेयभूत है और आज्ञा, चाःवष्टि, वनदेवता तथा शकुन्तला है अप्रस्तुत होने के कारण उपमानभूत। इनमें से प्रत्येक उपमान-जो सन्देह में प्रकारतया (विशेषणरूप से) भासित हुए हैं—के साथ उपमेय-सीता-का साधारणधर्म जो अनुगामी (एक ही षार उच्चरित होकर दोनों तरफ अभिवृत्त हो सकने-वाला) है पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हुआ है। जैसे-आज्ञा के साथ 'अनुसङ्गनीयता', चापवष्टि के साथ 'नवीनता' वनदेवता के साथ 'वनवासित्व' और शकुन्तला के साथ 'मुनिकन्यात्व' सीता के अनुगामी साधारणधर्म हैं। यह ध्यान रहे कि-राजा जनक राजा होकर भी मुनि थे, अतः सीता भी मुनिकन्या कही जा सकती है।

निरसिद्धम् अप्ययदीक्षितोक्तं सन्देहध्वन्युदाहरणं तद्विवरणबोद्धवति—

यत्तु चित्रमीमासायां संशयध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे अप्ययदीक्षिताः—

“काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।

वरदः सरयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ॥”

अत्र संशयस्य शब्दोपात्तत्वेऽपि तावन्मात्रस्यानलङ्कारत्वात्तदलङ्कारताप्रयोजकस्य वक्षःस्थले स्थितैव लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरस्तिष्ठतीत्येवं संशयाकारस्य वक्षःस्थलमवैक्षतेत्यनेन व्यङ्ग्यत्वात् सन्देहालङ्कारध्वनिरत्रेति।

यथा—

‘दर्पणे च परिभोगदर्शिनी प्रुष्टतः प्रणयिनो निपेदुषः।

वीक्ष्य बिम्बमनुष्मिन्मात्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया ॥’

इत्यत्र कानि कान्यपीति सामान्यतो निर्दिष्टानुभावविशेषप्रतीत्यर्थं लज्जाशब्द-प्रयोगेऽपि तस्याः स्वविभावानुभावाभ्यां रसानुगुणाभिव्यक्तिरूपो ध्वनिः” इत्याहुः।

काचिदिति। साक्षात् पुरं समुपस्थिताम्, श्रियं लक्ष्मीम्, इव, काञ्चनवत् सुशर्णवत्, गौराणि पीतमच्छणकान्तानि, अज्ञानि यस्यास्तादृशीम्, काञ्चित् सुन्दरीम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, संशयापन्नः जातसन्देहः, वरदः काञ्चीवरम् (मद्रास) नगरे वरदराजनाम्ना ख्यातो विष्णोर्मूर्तिविशेषः, वक्षःस्थलम् स्वकीयमुरोदेशम्, अवैक्षत दृष्टवानित्यर्थः। अप्ययदीक्षित-मूलमुहप्रपञ्च स्थलाचार्यकृतवरदराजवसन्तोत्सवस्यमिदं पद्यम्। उपपादयति दीक्षितः— अत्रेति। तदिति। संशयेत्यर्थः। अयमत्र तदाशयः—‘काञ्चित्—’ इत्यत्र ‘संशयापन्नः’ इति समस्तपदघटक-‘संशय-’पदेन यद्यपि वाच्यवृत्त्यैव सन्देहो बोध्यते, तथापि तद्वि-धितस्यास्फुटाकारस्य तस्य नालङ्कारत्वम्, अतः ‘वक्षःस्थले स्थिता लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरं तिष्ठति अथवा काचिदन्याः कनकगौरी रमणी’ इत्येवं स्फुटाकारस्यैव तस्यालङ्कारत्वं निर्वचनीयम्, स चाकारस्तदाकारविशिष्टसंशयश्च न वाच्यः, अपि तु ‘वक्षःस्थलमवैक्षत’ इत्यनेन व्यङ्ग्य एवेत्यत्र सन्देहालङ्कारध्वनिरिति। एवरीत्या ध्वनिलव्यवहारे दृष्टान्तविधया पदान्तरसुपन्वस्यति दीक्षितः यथा—‘दर्पणे—’ इति। दर्पणे आदर्शः, परिभोग-दर्शिनी सम्भोगचिह्नदर्शिका पार्वती, आत्मनः स्वस्याः, बिम्बमनु प्रतिकृतेः पश्चाद्भागे, प्रुष्टत प्रुष्टदेशे, निपेदुषः उपनिष्टस्य, प्रणयिनः प्रियतमस्य शिवस्य, बिम्बं प्रतिकृतिम्, वीक्ष्य, लज्जया, कानि कानि नानाविधानि चेष्टितानीति यावत्, चकारेत्यर्थः। दीक्षित-प्रत्ये तदुद्धारणात्मकै रसपज्ञाभरे च ‘कानि कान्यपि’ इति पाठः समुपलभ्यते, तदनुसार-मित्यव्याख्या पुनारम्भमेव तु ‘कानि कानि न’ इति पाठो दृश्यते, तदनुसारिणी व्याख्या

स्वयमूहिदु शक्या । कुमारसम्भवे पार्वतीसम्भोगवर्णनमिदम् । उपपादयति स एव—
 श्रुतेति । निर्दिष्टेति । निर्दिष्टा' उपवर्णिता ये अनुभावा' मुखनम्रीभावादय, विशेषरूपेण
 तत्प्रतीत्यर्थमित्यर्थः । तस्या लज्जाया । रघुविभावानुभावान्यामिति । प्रियतमेन नायिका-
 कृतसम्भोगचिह्नदर्शनप्रयासस्य ज्ञानं विभाव, मुखनम्रीभावादिरनुभाव' ताभ्यामित्यर्थः ।
 अन्यत्वं तृतीयार्थः । तस्य चाभिव्यक्तिपदार्थेऽन्वयः । रसानुगुणेति । शृङ्गाररसपोषिका
 या अभिव्यक्ति तद्रूप इत्यर्थः । इदमत्र तदाकृतम् 'दर्पणे-' इति पद्ये 'कानि कानि'
 इत्यनेन अनुभावा निर्दिष्टा परन्तु 'के ते अनुभावा, कस्य वा अनुभावा' इत्यादि न
 तावता विशेषतः प्रतीयते इति तत्प्रतीत्यर्थम् 'लज्जाया' इति कविना प्रयुक्तम् । येन त्रपा-
 नुभावा मुखनम्रीभावादय प्रतीयन्ते । एवञ्चात्र लज्जाया वाच्यत्वाद्यद्यपि न व्यङ्ग्यत्वम्,
 तथापि वाच्यायास्तस्या न प्रकृतशृङ्गाररसपोषकत्वम्, तत्पोषकत्वञ्च स्वकीयविभावानु-
 भावद्वाराऽभिव्यज्यमानायास्तस्या इति लज्जाध्वनिरत्र व्यवहियते यथा, तथा तथापि
 सन्देहध्वनिरिति ।

खण्डन करने के लिये सन्देह ध्वनि का दीक्षितोक्त उदाहरण तथा तत्कृत उसका
 उपपादम अब यहाँ उद्धृत किया जाता है—यत्तु इत्यादि । अप्पय दीक्षित ने अपनी
 'चित्रमीमांसा' में 'सन्देहध्वनि' के उदाहरण के प्रसङ्ग पर लिखा है—'काञ्चित्—
 अर्थात् वरदराज ('काञ्जीवरम्-मद्रास'-में भगवान् विष्णु की 'वरदराज' नाम से प्रसिद्ध
 एक मूर्ति) मानो साक्षात् लक्ष्मी हो ऐसी, सुवर्ण सद्यः गौर अङ्गों वाली किसी कामिनी
 को देखकर सन्देह-युक्त हुए और बच स्थल देखने लगे ।' (यह पद्य अप्पयदीक्षित के
 मूल पुरुष 'बच स्थलाचार्य' द्वारा रचित 'वरदराज-वसन्तोत्सव' का है ।) इस पद्य में
 यद्यपि सन्देहात्मक ज्ञान साक्षात् शब्द द्वारा वर्णित है—अर्थात् 'सशयपत्न' में सशय
 शब्द आया है, तथापि केवल उतना भाग-अर्थात् स्पष्ट आकाररहित सन्देह-अलङ्कार-
 रूप नहीं होता, और 'बच-स्थल' में रहने वाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतरकर आगे
 खड़ी है' इस तरह के आकार वाला जो वही सन्देह अलङ्काररूप है वह उस रूप में
 शब्दोपात्त है नहीं, अपि तु 'बच-स्थल को देखने लगे' इस उक्ति से व्यङ्ग्य होता है ।
 तात्पर्य यह कि-'सशय' पद से निराकार सन्देह के नाश होने पर भी साकार सन्देह
 वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, और साकार सन्देह ही अलङ्काररूप माना जाता है । अतः यह
 पद्य सन्देहालङ्कारध्वनि का उदाहरण है । जैसे कि—'दर्पणे च—अर्थात् दर्पण में
 सम्भोग के चिह्न—नरपत्त आदि—को देख रही पार्वती ने अपने पीछे बैठे प्रियतम-
 शिव-के प्रतिविम्ब को अपने प्रतिविम्ब के पीछे की तरफ देसकर लज्जा से क्या क्या
 न किया ।' (यह अर्थ कुमारसम्भव में उपलब्ध 'कानि कानि न चकार-' इस पाठ
 के अनुसार किया गया है । दीक्षित की चित्रमीमांसा में तथा तदुद्धरणार्थक रस-
 गङ्गाधर में 'कानि कान्यपि चकार' यह पाठ-जो मूल में लिखा गया है-प्राप्त होता है तद-
 नुसार किसी तरह 'नाना प्रकार की चेष्टाएँ कीं' यह अर्थ किया जा सकता है, पर पाठ
 अच्छा नहीं है जो कुमारसम्भव में प्राप्त होता है । यह पद्य पार्वती सुरत-वर्णन प्रसङ्ग
 पर कुमारसम्भव-अष्टम सर्ग में आया है ।) यहाँ 'क्या-क्या' इस तरह सामान्यरूप
 में वर्णित अनुभावों की विशेषरूप से प्रतीति के लिये 'लज्जा' शब्द का प्रयोग
 करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा, लज्जा की रस के अनुकूल अभि-
 व्यक्तिरूप ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों की विशेष रूप में प्रतीति करवाने
 के लिये 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करने में लज्जारूप चित्तवृत्ति
 व्यङ्ग्य ही है । प्रकृत में कहने का तात्पर्य यह है कि-जिस तरह 'दर्पणे च-' इस पद्य में
 लज्जाशब्द का प्रहण रहने पर भी, जिस रूप में वह रस का पोषण कर सकती है उस-
 विभावानुभाव द्वारा प्रतीयमानत्व-रूप में व्यङ्ग्य ही मानी जाती है और तदनुसार

‘लज्जा-ध्वनि’ कही जाती है, उसी तरह ‘काञ्चित्—’ इस पद्य में भी सन्देह को अलङ्कारतावच्छेदकरूप में व्यङ्ग्य माना जा सकता है और तदनुसार उस पद्य को ‘सन्देहालङ्कारध्वनि’ का उदाहरण भी कहा जा सकता है ।

निरस्यति—

तदेतद् ध्वनिमर्मज्ञैरुपहसनीयमेव ।

प्रागुद्भूत दीक्षितोक्त सर्वमनुचितमेवेति भावः । .

दीक्षित द्वारा कही गई उक्त बातों का भव खण्डन किया जाता है—तदेतद् इत्यादि । पूर्वोक्त सभी बातें ऐसी ही हैं जिनका ध्वनिमर्मज्ञ जन उपहास ही कर सकते हैं—आदर नहीं ।

उपहसनोपत्वे हेतुमाह—

तथाहि संशयाविष्ट इत्यत्र संशयपदेनैकस्मिन् पदार्थे विरुद्धनानापदार्थ-सम्बन्धावगाहिज्ञानं साक्षादेव निवेद्यते । तत्र कोऽसौ विरुद्धो नानार्थ इति विशेषाकाङ्क्षायां बक्षःस्थलावेक्षणैः न बक्षःस्थलस्थैश्च लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य किं पु-स्तिष्ठतीत्यादिरर्थो व्यञ्जनाव्यापारेण बोध्यमानः शक्त्या संशयराब्दनिवेदितज्ञानविशेषणीभूतेन सामान्यार्थेन साकमभेदेन पर्यवस्यति । एवं च संशयभात्रस्य शक्त्या बोधनाद्बक्षःस्थलस्थितैवेत्यादिविषयभागस्यापि विरुद्धनानार्थत्वेन सामान्याकारेणावलीढतया तयैव क्वलीकरणाद्वाच्यार्थसंशयपर्यवसायकत्वाच्च न कस्यापि ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम् । सर्वथा वाच्यवृत्त्यनुम्बितस्यैव तथात्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् ।

तथा च द्वितीयोद्घोते—

“शब्दार्थशक्त्याक्षितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।

यत्राविच्छ्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिध्वनेः ॥”

इति सूत्रयित्वा ।

‘सद्देतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृत लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र सद्देतकालमनसं ज्ञात्वा लीलापद्मं निमीलितमिति वदता कविना लीलापद्मनिमीलनस्य प्रदोषाभिव्यञ्जकत्वं स्वोक्त्यैव निवेदितमिति ध्वनिमार्गा-दयमपर एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः ।

यथा वा—

‘अन्वा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामप्रणीरत्र तातो

निःशेषागारकर्मधर्मशिथिलतनुः कुम्भदासी तथाऽत्र ।

अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा

पान्थायेत्ये तर्ह्युष्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥”

अत्र निःशङ्कं रन्तुमावाहीत्यर्थक्षरणत्रयव्यङ्ग्योऽप्यवसरव्याहृतेर्व्याजत्वं प्रु-क्ता कविना स्फुटं स्वोक्त्या निवेदित इत्ययमपि न ध्वनेर्मार्गः” इत्याहुरानन्दव-र्धनाचार्याः ।

तृतीयोद्घोते च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणे ‘व्यङ्ग्यत्वात्स्यार्थस्य यदि मनाग-प्युक्त्या प्रकाशनं तदा गुणीभाव एव शोभते । तस्माद्यत्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थ-

स्तात्पर्येण प्रतीयते तत्र तस्य प्राधान्याद् ध्वनित्वम्' इति तदुक्तिविवेचनेऽभि-
नवगुप्तपादाचार्याः ।

एवं चैवविधेषु विषयेषु व्यञ्जकत्वस्य व्यङ्ग्यत्वस्य वा मनागुक्तिसंस्पर्शमात्रेण
ध्वनित्वं निराकुर्वाणाः 'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी-' इति पद्ये शब्दाभिहितव्यङ्ग्ये
ध्वनित्वं कथमिव स्वीकुर्वीरन् । एतेन 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी' इति प्रागुक्त-
पद्ये लज्जाध्वनित्वं यद्वीक्षितैरभ्यधीयत तदप्यपास्तमिति दिक् ।

इत्यत्रेति । घटकत्वं सप्तम्यर्थः । तथा चैतद्वाक्यघटकसंशयपदेनेत्यर्थः । अस्य 'निवे-
शते' इत्यत्रान्वयः । साक्षात् इति । वृत्त्यन्तरानन्तमविणाभिधयेत्यर्थः । निवेशते बोध्यते ।
तत्र सामान्यज्ञाने । अवेक्षणोनेति । वक्ष्यत्यलङ्काररूपार्थेनेति भावः । अस्य 'धोभ्यमान'
इत्यत्रान्वयः । संशयमात्रत्येति । अल्पप्रतिपत्त्याः सशयपदेनेत्यर्थः । अर्थ-
त्वेन सामान्याकारेणेति । एतद्रूपसामान्याकारेणेत्यर्थः । अवलीटतयेति । बोधयत्येत्यर्थः ।
तथैव शक्यैव । क्वटीति । बोधनादित्यर्थः । नन्वेवमपि विशेषरूपेण व्यङ्ग्यत्वमेवात् प्राह-
वाचार्याथेति । विशेषसंशयस्येत्यादि । तदाह—कस्यापीति । विशेषस्यापीत्यर्थः । सर्वथा
केनापि प्रकारेण । तथात्वम् ध्वनित्वम् । अयं भावः—विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानविशेषा-
त्मकमदेहरूपार्थवाचकं सशयपदमित्यत्र न कस्यापि विमतिः । तादृशं च सशयपद
'काञ्चित्-' इति पद्ये वर्तते । तथा चात्र, सन्देहस्य वाच्यत्वैव, न व्यङ्ग्यता । यद्यपि विरु-
द्धनानाकोटित्वात्मकेन सामान्यरूपेण कोटिद्वयस्य सशयपदवाच्यत्वेऽपि 'वक्ष्यत्यलङ्कार-
रूपेण सशयपदाद्याच्यवृत्त्याऽवगते कोटिद्वये 'किं तत् कोटिद्वयम्' इति विशेषजिज्ञा-
सायाम् पूर्वोक्तरीत्या व्यञ्जनया ज्ञायमाना कोटिः अभिधाबोधितसामान्यकोट्यभिन्नेव
पर्यवस्यतीति स्थितौ विशिष्टात्मकमदेहपदार्थगतविशेष्याशस्य ज्ञानस्याभिधाबोधितया
विषयमागतस्य विशेषणाशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अभिधास्पृष्टतया ध्वनिव्यपदेशोऽत्र न सम्भवति,
अभिधाऽनाल्लिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यत्वस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वादिति । वाच्यवृत्त्यनुमितस्यैव व्य-
ङ्ग्यत्वस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वे ध्वनिः प्रमाणतयोपन्यस्यति—तथा चेत्पादिना । द्वितीयो-
द्घोते इति । ध्यानन्दवर्धनानार्यप्रणीतध्वन्यालोक्तस्येति भावः । शब्दाथेति । शब्दाशक्त्या,
अर्थशक्त्या, समयशक्त्या वा बोधितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थो यस्मिन् काव्ये कविना पुनः स्वीकृत्या
आविष्कृत्यते (अभिधावृत्तिबोध्यो विधीयते) तत्र न ध्वनिः, अपि तु ध्वनेरन्वोऽलङ्कार-
विशेष एवेत्यर्थः । ध्वनिः शब्दोक्त तादृशमुदाहरणमुद्धरति—सङ्केतकालेति । विदग्धया
चतुरया नायिकया, विट स्वस्यामासकं जारपुरुषम्, सङ्केतकाले मनो यस्य तादृशम्,
सङ्केतसमयज्ञानायाकुलमिति यावत्, ज्ञान्वा, लीलापत्रं प्रीडापत्रं करे प्लुतं कमलम्, हस्तता
प्रसीदता, मेत्रेण, अर्पितं सूचितं, आकृतं अभिप्रायविशेषो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा
स्यात्तथा, निमीलितं मुद्रितं मुष्टिगूढं हृत्तमित्यर्थः । अत्रोक्तं तदुपपादनमुद्धरति—अत्रेत्या-
दिना । इति वदतेति । क्वान्तवाक्यविशिष्टकान्तवाक्यं वदनेत्यर्थः । अन्यथा क्वान्तवा-
क्येनैवार्थात्तदभिध्यञ्जकत्वे सिद्धे क्वान्तवाक्यान्तर्यक्ये स्पष्टमेव । तदाह—स्वीकृत्यैवेति ।
क्वान्तवाक्येनैवेत्यर्थः । अयमाशयः—'सङ्केत-' इत्यत्र पत्रनिमीलनचेष्टया प्रदोषकालधौर्धरत-
योम्यो व्यज्यते, स च व्यङ्ग्यं 'सङ्केतकालमनसं विट ज्ञान्वा' इत्यत्रैव वाच्यायमानं कृतं

अतरतं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनिशब्दव्यवहारो न भवति, अपि तु अलङ्कारप्रधानगुणभूतव्यङ्ग्य-
नामकमध्यमकाव्यव्यवहार एवेति । तादृशमुदाहरणान्तरं तदुक्तमुद्धरति—अन्वेति ।
अत्र गृहप्रदेशविशेषे (एवममेऽपि), वृद्धा (एतेन तस्या' चक्षुरादीन्द्रियशक्तिर्नैक्यम्,
तेन च ज्ञानरितात्रामपि तस्या ज्ञानविशेषाभाव आनेऽते) अन्वा माता, शोते (वाक्या-
न्तरेऽपि क्रियापदस्यास्यान्वयो बोध्य), अत्र, परिणतवयसाम् वृद्धानाम्, अप्रगो-
प्रधान', अतिवृद्ध इति यावत्, तात' पिता (अत्रापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यं बोध्यम्) तथा,
अत्र, नि शेषेण सकलेन, आगारकर्मणा गृहकार्येण तत्करणेनेति यावत्, जन्तित' यः श्रम',
तेन, शिथिला आलस्यमयी, तनु' शरीरं यस्याः तादृशी (एतेन तज्जागरणसम्भावनानि-
रास' सूच्यते), कुम्भदासी कुम्भेति पान्थसम्बोधनमिति कथित्, राज्ञामिकां दासीत्यन्य',
जलावाहरणार्थं दासी, न स्त्रीदासीति तु तत्त्वम्, कतिपयेभ्यो, दिवसेभ्य', श्रोपितः
विदेशस्थ', प्राणनाथ स्वामी यस्यास्तादृशी (अत्र कतिपयेरयनेन शीघ्रं तदायमनाभावो
व्यज्यते, प्राणनाथेत्यनेन च तस्मिन् स्वकीयप्रेमाभाव), पापा पापिनो (सकलदुःखाना
पापमूलत्वेन विशेषतः ज्ञेयापि पापमूलत्वात् पापात्वम्), एका एकाकिनी (एतेन रतसौ-
विध्यम् ध्वन्यते), अस्मिन् स्थानविशेषे, शयं इति विभक्तिविपरिणामेनान्वय', इत्यम्
पूर्वोक्तप्रकारेण, तदृश्या नवयौवनशालिन्या (एतेन कामभावोऽकृता व्यज्यते), पान्थाय
पथिकाय (एतेन तस्यापि चिरवियोगित्वेनोत्कण्ठातिशयः सूच्यते), अनसरव्याहृतिः
प्रासङ्गिकी उक्तिस्तद्रूपे यो व्याज कपटम्, स पूर्व' पुरस्सरो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा
स्यात्तथा, कथितम् इत्यर्थ । अप्रत्य तदुपपादनमुद्धरति—अत्रेत्यादिना । अयं भाव—
'अन्वा—' इति पद्ये आद्येन चरणत्रयेण 'शङ्कामपहाय त्व सम्भोग विधातुमागच्छ' इत्यर्थोऽ-
र्थाशक्त्या व्यज्यते, परमासौ व्यङ्ग्योऽर्थश्चतुर्वचरणगतेन अवसरव्याहृतिव्याजेन वाच्योक्त
इति नैतं व्यङ्ग्यार्थमादायात्र ध्वनिव्यपदेश', अपि तु अत्रानुत्पलङ्काप्रधानगुणीभूतव्यङ्ग्य-
काव्यव्यपदेश एवेति । न केवलम् ध्वनिकृतेषु एव सिद्धान्तितम्, अपि तु ध्वन्यालोकस्य
लोचनाभिधा टीका कुर्वता अभिनवगुणाचार्येणापि तथैव सिद्धान्तितमित्याह—तृतीयोद्घोते
चेति । गुणीभाव इति । मनागप्युक्त्या प्रकाशितस्य व्यङ्ग्यार्थस्येति भाव' । तथा च
तादृशस्थले गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यमकाव्यत्वमिति तात्पर्यम् । परितोपलब्धमर्थं स्फोर-
यति—तस्मादिति । यत्र मनागप्यनामृष्टवाच्यवृत्तिसिर्वाङ्ग्यार्थस्तत्रैव ध्वनिनामकोत्तमका-
व्यत्वमित्याशय । ग्रन्थकार प्रकृतमुपसहरन्नाह—एवं चैवविधेभिति । विषयेषु लक्ष्येषु ।
पूर्वोदाहरणाशयेनाह—व्यञ्जकत्वस्येति । द्वितीयोदाहरणाशयेनाह—व्यङ्ग्यस्येति । निरा-
कुर्वाणा स्वङ्ग्यन्त' । स्वाभिमतपुष्ट्यर्थम् दृष्टान्तविधया दोषितोत्थापित' प्रसिद्धोऽपि
उपहासास्पदमेवेत्याह—एतेनेति । अयमभिनन्वि—ध्वनिकार आनन्दवर्धन'. लोचन-
कारोऽभिनवगुप्तश्च सर्वमान्यापालङ्कारिकौ ईपद्वाच्यवृत्तिसृष्टस्यापि व्यङ्ग्यार्थस्य ध्वनिव्य-
पदेशहेतुताम् निराकुरुताम्, अत' 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनो—' इत्यत्र लज्जापदेनाभि-
हितस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्यस्यपि त्रपाभावस्य न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् । इत्यथ
तद्व्यन्तरेण 'काचित्—' इत्यत्र शब्दाभिहितस्य सप्तन्देहालङ्कारस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्य-
त्वमुपपाय ध्वनिव्यवहारेदुता ब्रुवाणो दीक्षितो ध्वनिमर्षादानभिज्ञ एवेति ।

दीक्षित की-बार्तो के उपहासयोग्य होने में हेतु दिखलाया जाता है—तथाहि
इत्यादि । 'सशयापन्न' इत मूलोक्त वाक्य के 'सतय' पद से 'पूक पदार्थ' में, परस्पर-
विरोधी अनेक पदार्थों के सम्बन्धों का अवगाहन करनेवाला ज्ञान' (जिसे सन्देह कहा

जाता है) साक्षात् ही बोधित होता है अर्थात् सशय-पद-घटित 'वरद, सशयापन्न' इस वाक्य का वाच्य अर्थ ही यह है कि वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्परविरोध अनेक कोटियों का ग्रहण कर रहा है। इसके बाद जब 'वह परस्पर-विरोधी पदार्थ (जो कोटिरूप है) कौन है' इस विशेष की जिज्ञासा होती है तब वरदराज के वचनस्थल-दर्शन रूप अर्थ से अभिव्यक्त होनेवाले 'वचनस्थल में रहनेवाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतर कर आगे खड़ी है क्या?' यह (कोटिभूत) अर्थ अवगत होता है। इस तरह विशेषरूप में व्यञ्जना द्वारा ज्ञात होनेवाला यह कोटिभूत अर्थ, अभिधा द्वारा, सशय शब्द से बोधित उक्त ज्ञान में विशेषण बने सामान्य अर्थ (अनेक पदार्थ) के साथ अभिन्नता को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि जिस अश को लेकर आप उक्त पद्य में सन्देह को व्यङ्ग्य मान रहे हैं वह अश अन्ततः वाच्य सन्देह का विवरण मात्र टहरता है, स्वतन्त्र व्यङ्ग्य अर्थ नहीं। इस तरह सारांश यह सिद्ध हुआ कि 'काञ्चित्—' इस पद्य में केवल (विषयाधारहित) सन्देह तो अभिधा द्वारा ज्ञात होने के कारण वाच्य है ही, साथ ही उसके एक अश का विवरणरूप 'वचनस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतर कर सामने खड़ी है' यह विषयभाग भी 'विरोधी अनेक पदार्थ' रूप होने के कारण विशेषरूप से व्यङ्ग्य होकर भी सामान्यरूप से अभिधा द्वारा आक्रान्त है। ऐसी स्थिति में अभिधावृत्ति का प्राप्त बन जाने से इस अर्थ को स्वतन्त्र-तया व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता इस और व्यङ्ग्य अर्थ की समाप्ति भी वाच्यार्थ-विषयक सन्देह में ही होती है। अतः यहाँ एक भी ऐसा अर्थ नहीं जो इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम) बना सके। कारण, ध्वनिमार्ग-प्रवर्तकों का सिद्धान्त है कि जिसमें अभिधावृत्ति का स्पर्श सर्वथा नहीं हो वही व्यङ्ग्य काव्य में 'ध्वनि'भ्यवहार करा सकता है। देखिए—'ध्वन्यालोक' के द्वितीय 'उद्घोष' में 'आतन्दवर्धनाचार्य' ने—'शब्दार्थ-शक्त्या—अर्थात् शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति किंवा उभयशक्ति (शब्दनिष्ठ व्यञ्जना अथवा अर्थनिष्ठ व्यञ्जना किंवा उभयनिष्ठ व्यञ्जना) द्वारा आच्छिन्न (बोधित) भी व्यङ्ग्य अर्थ, जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्ति से पुनः प्रकट कर दिया जाता है, वह 'ध्वनि' से भिन्न ही अलङ्कार है—ऐसी जगह 'ध्वनि' नहीं, किन्तु अलङ्कार माना जाना चाहिये।' यह सूत्र बनाकर कहा है कि "सक्रेत—अर्थात् चतुर नायिका ने जार की सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मन वाला जानकर, हँसती आँखों से अपने अभिप्राय को प्रकट करने के साथ, लीलाकमल को मूँद दिया।' यहाँ 'जार को सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मन वाला जानकर' इस अश से युक्त 'लीलाकमल को मूँद दिया' इस वाक्यांश को कहते हुए कवि ने 'लीलाकमलमुद्रण' में वर्तमान 'प्रदोषकालव्यञ्जकता' को अपनी उक्ति द्वारा ही प्रकट कर दिया, अतः ध्वनिपद्धति से भिन्न यह गुणीभूत व्यङ्ग्य की पद्धति है। अभिप्राय यह कि यदि 'जार को सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मनवाला जानकर' इस वाक्यांश का उच्चारण कवि नहीं करता तब 'लीलाकमल-मुद्रण' की 'प्रदोषव्यञ्जकता' प्रकट नहीं होती—छिपी रहती, अतः उस स्थिति में यह पद्य ध्वनि-काव्य कहलाता, पर ऐसा हुआ नहीं, अतः यह मध्यमकाव्य ही कहलाता है। अथवा जैसे—'अम्बा सोते—अर्थात् यहाँ वृद्धी माता सोती है, यहाँ वृद्धों के अगुधा अति-वृद्ध पिता सोते हैं तथा यहाँ सारे घर के कामों को करने से श्रान्त अतएव सिधिल शरीरवाली 'कुम्भदासी' (कुम्भ नामकी दासी अथवा जल ढोने के लिये घड़ा उठाने वाली दासी, क्रीड़ा दासी नहीं) सोती है, और इस जगह, कुछ दिनों से दूरस्थ पति से वियुक्त अतएव पापिनी में अकेली सोती हूँ, इस तरह युवती ने प्रासङ्गिक उक्ति के झुल से, पथिक को कहा।' (यहाँ 'माता को वृद्ध और पिता को वृद्धों का अगुआ' कहने से उनके जगने का कोई भय नहीं, जग जाने पर भी इष्टिशक्ति श्रवणशक्ति आदि से हीन होने के कारण, उन पर हमारे आचरणों के प्रकट होने का भय नहीं, हत्यादि अर्थ व्यक्त

होते हैं, इसी तरह 'हृग्भवासी' को धान्त तथा शिथिल शरीरवाली कहने से उसके लगने का भी भय नहीं, यह अर्थ ध्वनित होता है, एवं अपने को पतिविरुक्ता तथा खेकेली सोनेवाली कहने से नायिका की उत्कट सम्भोगेच्छा प्रतीत होती है, पति को 'प्राणनाथ' कहने से 'हृदयनाथरव' का वारण श्लक्ष्णता है, 'पथिक को' इस कथन से उसका भी सम्भोगोत्सुक होना सिद्ध होता है। यहाँ 'निःशङ्क होकर रमण करने आओ' यह अर्थ पद्य के प्रथम तीन चरणों से यद्यपि व्यङ्ग्य होता है, तथापि कवि ने 'प्रासङ्गिक उक्ति' को छलरूप बहते हुए उस व्यङ्ग्य अर्थ को अपनी उक्ति से स्पष्ट अवगत होने योग्य बना दिया। अतः यह भी 'ध्वनि' का मार्ग नहीं है।" यह तो हुई ध्वनिद्वयध्वन्याचार्य की बात। इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक व्याख्या लिखनेवाले अभिनवगुप्ताचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्घोष में ध्वनिद्वयध्वन्याचार्य की युक्तियों का त्रिवेचन करते हुए गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपण-प्रसङ्ग में लिखा है—'व्यङ्ग्य अर्थ यदि उक्ति द्वारा प्रकाशित हो जाय तब उसका अधधान होना ही शोभित होता है। तात्पर्य यह कि उस स्थिति में व्यङ्ग्य को प्रधान कहना उचित नहीं। अतः जहाँ उक्ति के बिना ही व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यतः प्रकाशित होता है वहाँ उसकी प्रधानता होने के कारण काव्य को 'ध्वनि' माना जाता है, अन्यत्र नहीं।' इन उद्धरणों से यह सिद्ध हुआ कि जो ध्वनिमार्गप्रवर्तक आचार्य 'सकेतकाल—' इत्यादि लक्ष्यों में व्यञ्जना अथवा व्यङ्ग्य का उक्ति (अभिधा) के साथ किञ्चित् भी-स्पर्श हो जाने पर 'ध्वनिकाव्यता' का निराकरण करते हैं वे 'काञ्चिकाञ्चनगौराङ्गीम्—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में—जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ प्रकारान्तर से स्पष्टतया अभिधाशक्ति बोध्य हो गया है—'ध्वनिकाव्यता' कैसे स्वीकार करेंगे? इसी से 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी—' इस पूर्वोक्त 'कुमारसम्भव' के पद्य में जो दीक्षित जी ने 'ध्वनिकाव्यता' का दृष्टान्तरूप में उल्लेख किया है, वह भी समाप्त हो गया। तात्पर्य यह कि न 'कुमारसम्भव' का पद्य ही 'ध्वनिकाव्य' (उत्तमोत्तम) है, न दीक्षित जी का उदाहरण ही।

ससन्देहालद्वारे साधारणधर्मस्थितिं विचारयति—

अस्मिंश्च संशये नानाकोटिषु कचिदेक एव समानो धर्मः। कचित् पृथक्। सोऽपि कचिदनुगामी, कचिद् विन्वप्रतिविन्वभावमापन्नः, कचिदनिर्दिष्टः, कचिन्निर्दिष्टः।

अथ ससन्देहालद्वारोऽपि सादृश्यमूलकः, अतोऽत्रापि सादृश्यनियामकः समानो धर्मः तिष्ठति। स च समानो धर्मः कुत्रचित् सन्देहे विरोपणीभूतानामुपमानभावापन्नानाम् अनेकपदार्थानाम् सादृश्यस्य विशेष्यभूते उपमेयभावापन्ने पदार्थे नियामक एक एव भवति, कुत्रचित् भिन्नो भवति। अन्योऽपि विधयो समानधर्मयो प्रत्येको धर्मः पुन्धनुर्विधो भवति, अनुगामि-विन्वप्रतिविन्वमानापचानिर्दिष्टनिर्दिष्टरूपत्वात् इति भावः।

ससन्देहालद्वार में साधारणधर्म की क्या स्थिति होती है इसका विचार अब किया जाता है—अस्मिंश्च इत्यादि। यह ससन्देह भी सादृश्यमूलक अलद्वार है, अतः इसमें भी सादृश्य को सिद्ध करनेवाला साधारणधर्म होता है—अर्थात् सन्देह में जो विशेष्य-भूत पदार्थ रहता है वह उपमेय तथा सन्देह में जो कोटिभूत (विशेषण) पदार्थ रहते हैं वे उपमान कहे जा सकते हैं। अब उस एक उपमेय में उन अनेक उपमानों का सादृश्य जिसके कारण सिद्ध होता है वह समानधर्म अनेक प्रकार का हो सकता है जैसे—कहीं वह एक रहता है। तत्पर्य यह कि एक उपमान के साथ उपमेय का जो साधारणधर्म होगा वही दूसरे उपमान के साथ भी। और कहीं वह भिन्न-भिन्न रहता है। अभिप्राय यह कि एक उपमान के साथ जो उपमेय का साधारणधर्म रहेगा, उससे भिन्न दूसरे उपमान के साथ। इन दोनों प्रकार के साधारणधर्मों में से प्रत्येक पुनः चार-

चार प्रकार का होता है, जैसे—कहीं अनुगामी, कहीं विम्बप्रतिविम्बभाषापन्न, कहीं अनुक्त और कहीं उक्त।

ममेण तत्तद्धर्मोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथममनुगामिनोऽनिर्दिष्टस्यैकस्य तस्योदाहरणमाह—
तत्र 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा' इति प्रागुदाहृतपद्ये श्यामाभिरामत्वं धर्मिणो रामस्य कोट्योश्च तमाल-मरकत-भूधरयोरेक एवानुगामी धर्मः प्रतीयमानत्वादिनिर्दिष्टः ।

तत्रेति । तेषां धर्माणाम् मध्य इत्यर्थः । श्यामेति । श्यामत्वविशिष्टाभिरामत्वमित्यर्थः । धर्मिण इति । सशयीयविशेष्यताश्रयस्येत्यर्थः । उपमेयस्येति यावत् । कोट्योरिति । संशयीयप्रकारताध्ययोरित्यर्थः । उपमानयोरिति यावत् । 'मरकतमणि—'इति पद्ये तमाल-रामयो मरकतपर्वतरामयोश्चैक एव साधारणो धर्मः श्यामत्वधमानाधिकरणाभिरामत्वरूपः । स चात्रानिर्दिष्ट अनिर्देशोऽपि प्रसिद्धिबलात्प्रतीतिः ।

अब क्रमशः उन धर्मों के उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले अनुक्त एक अनुगामी धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है—तत्र इत्यादि। उक्त धर्मों में से अनुगामी एक अनुक्त समानधर्म का उदाहरण 'मरकतमणि—' यह पूर्वोक्त पद्य होता है, क्योंकि वहाँ धर्मों (सन्देह में विशेष्यरूप से भासित होनेवाला पदार्थ) राम तथा तमाल और मरकतपर्वत इन दोनों कोटियों में 'श्यामसुन्दरता'रूप एक ही धर्म है जो अनुगामी है तथा प्रसिद्धिबल से प्रतीत हो जाने के कारण अनुक्त है।

निर्दिष्टमेकमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

स एव निर्दिष्टो यथा—

स एवेति । अनुगामी एक एवेत्यर्थः ।

उक्त अनुगामी एक समानधर्म, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम् ।

सरोजं चन्द्रबिम्बं वेत्यखिलाः समशेरत ॥'

अखिला सर्वे जना, रामाया सुन्दर्या, नेत्राभिरामम् नयनरमणीयम्, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, तत्क्षणम् तस्मिन्नेव समये, इदम्, सरोज कमलम्, चन्द्रबिम्बं चन्द्रमण्डलम्, वा, इति, समशेरत सशय कृतवन्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नेत्राभिरामम् इत्यादि। सुन्दरी के नयन-मनोहर मुख को देखकर सब लोग तत्काल 'कमल है अथवा चन्द्र-मण्डल' इस तरह सन्देह करने लगे।

उपपादयति—

अत्र नेत्राभिरामत्वरूपस्त्रिण्वेक एवानुगामी धर्मो निर्दिष्टः ।

'नेत्राभिरामम्—' इत्यत्रोपमेयस्थानोये सशयधर्मिणि रामावदने यथा नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रयो = नेत्रदेशावच्छेदेन नेत्राभ्या वा अभिरामत्वम्) तथोपमानस्थानोययो-सरोजचन्द्रबिम्बयोरपि नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रवदभिरामत्वम्) इति रिक्तशेष्यमेकत्रिण्व अनुगामी साधारणधर्मः । स चात्रोक्त इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'नेत्राभिरामम्—' इस पद्य में सुन्दरी-मुख, कमल और चन्द्रबिम्ब तीनों में एक ही अनुगामी समानधर्म 'नयन-मनोहरत्व' शब्द द्वारा प्रतिपादित है। अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में सशय में विशेष्यभूत

पदार्थ (उपमेय-सुन्दरीमुख) जिस तरह नयन-मनोहर (नयन-वेदना में मनोहर अथवा नयनों से मनोहर) है उसी तरह सशय में कोटिभूत पदार्थ (उपमान-कमल तथा चन्द्र-विम्ब) भी नयन मनोहर (नयन के समान मनोहर) है, अतः श्लेषद्वारा एक 'नयन-मनोहरता' ही तीनों में रहनेवाला धर्म होता है जो शब्दद्वारा यहाँ कथित है ।

उक्तभिन्नानुगामिधर्मोदाहरणं स्मारयति—

पृथगनुगामी निर्दिष्टो यथा प्रागुदाहृते 'आज्ञा सुमेपोः' इत्यादौ ।

उपपादितमिदं प्राक् ।

शब्दद्वारा उक्त भिन्न-भिन्न तरह के अनुगामी समानधर्म—जो पहले उदाहृत हो चुके हैं—का स्मरण कराया जाता है—पृथग् इत्यादि । 'आज्ञा सुमेपोः—' इस पर में उस तरह का धर्म है जिसका उपपादन पहले ही किया जा चुका है ।

तादृशस्य धर्मस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'सम्पश्यतां सामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासितसर्वलोकां ।

सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत् ॥'

अतिमात्रतन्वीम् नितान्तदुर्बलाङ्गीम्, तथा, शोभाभिः, आभासितां प्रकाशितां, सर्वे लोकां यथा ताम् ('सम्बन्धिष्वब्द' साक्षात् शोभित्य सर्वं समस्यते' इति नियमेन 'शोभाभिः' इत्यस्य पृथङ्निर्देशोऽपि 'आभासितसर्वलोकां' इत्यत्र समासो वैष्य), ताम् वर्णनीयां नायिकाम्, सम्पश्यताम् समबलोक्यताम्, जनानाम्, हृदि हृदये, 'इयं सौदामिनी नियुक्ता, अथवा सितयामिनी शुक्लपद्मीरात्रि' इति, संशयः, अभूदित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सम्पश्यताम् इत्यादि । अत्यधिक दुर्बल अङ्गी वाली तथा शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करने वाली उस सुन्दरी के दर्शकों को 'विचुहता है अथवा शुक्लपद् की रात्रि है' यह सन्देह हुआ ।

उपपादयति—

अत्रातिमात्रतनुत्वं सौदामिन्या, शोभाभिराभासितसर्वलोकात्वं च सितयामिन्या सह कान्तायाः पृथगनुगामी समानो धर्मः ।

सौदामिन्येति । सह कान्त्येवप्रान्वेति । 'सम्पश्यताम्—' इत्यत्र सौदामिनी-कान्तयोऽतिमात्रदुर्बलत्वम्, सितयामिनी-कान्तयोश्च शोभाभासितसर्वलोकात्वं अनुगामी साधारणो धर्मः पृथक् पृथक् उक्त इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'सम्पश्यताम्—' इस पर में 'अत्यधिक दुर्बली होना' विचुहता के साथ और 'शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना' शुक्लपद्मीय रात्रि के साथ—इस तरह एक ही कामिनीरूप उपमेय के अनुगामी समान-धर्मं पृथक् पृथक् उक्त हुये हैं ।

अनुक्तभिन्नानुगामिसाधारणधर्मोदाहरणप्रदर्शनायाह—

अत्रैव पूर्वार्धगतविशेषणद्वयत्यग्रे स एवाभिर्दिष्टः ।

'सम्पश्यताम्—' इत्यस्मिन्पद्य एव यदि धर्मबोधके पूर्वार्धगते 'अतिमात्रतन्वीम्' 'शोभाभिराभासितसर्वलोकां' इति विशेषणपदे अनिर्वचयेयाताम्, तदा तदेव पद्यमनुक्त-पृथगनुगामिसाधारणधर्मोदाहरणतां प्रतिपद्येतेति भावः ।

‘सम्पश्यताम्—’ इस पद्य में ही यदि पूर्वार्ध के दोनों (‘अत्यधिक दुबली होना’ तथा ‘शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना’) धर्मबोधक विशेषणों को छोड़ दिया जाय—अर्थात् उक्त दोनों विशेषणों का समावेश न करके ही पद्य-रचना की जाय—तब यह पद्य अनुक्त पृथक् अनुगामी समानधर्म का उदाहरण हो जायगा।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नपृथक्निर्दिष्टसाधारणधर्मोदाहरणं स्मारयति—

विम्बप्रतिविम्बभावमापन्नो यथा ‘तीरे तरुण्या वदनं सहासम्’ इत्यादौ प्रागुक्ते ।

‘तीरे तरुण्या —’ इति श्लोके ‘सहासत्वम्’ ‘मिलद्विकाशत्वम्’ चेति द्वौ साधारणधर्मौ शब्दत कथितौ तौ च विम्बप्रतिविम्बभावापन्नाविति भावः ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्न साधारणधर्म, जैसे—‘तीरे तरुण्या—’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में। अभिप्राय है कि ‘तीरे तरुण्या—’ इस पद्य में ‘हसयुक्त होना’ और ‘विकास-युक्त होना’ ये दो समानधर्म पृथक् पृथक् शब्दत उक्त हैं और ये दोनों धर्म साधारण इसलिये होते हैं कि विम्बप्रतिविम्बभावापन्न हैं।

तादृशधर्मोदाहरणान्तर निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा किमिय नु पद्मिनी ।

समुल्लसत्पाणिपदां स्मिताननामितीक्षमाणैः समलम्भि संशयः ॥’

समुल्लसत्पाणिपदा शोभमानकरचरणाम्, तथा, स्मितानना सेपद्वासमुत्तीम्, कामिनीम्, ईक्षमाणै पर्यङ्गिर्जनै, ‘सपल्लवा किसलयवती, वल्लरी लता, विभाति शोभते, किं नु अथवा, सफुल्लपद्मा विकसितकमलकौशयुक्ता, पद्मिनी नलिनी, विभाति, किं नु’ इति इत्याकारक’, संशय, समलम्भि लब्ध इत्यर्थे (अत्र ‘नु’शब्दो धितकै)। अत्र ‘पाणिपदा स्मिते’ति प्रतीकमुपादायाह नागेश—‘पादप्रतिविम्बानिर्देशान्व्यूनताऽत्र। अत एव पाण्याननयोरित्यप्रिमोक्षे सन्नच्छते। वस्तुतस्तु फुल्लपद्य पाणिवत् पादयोरपि प्रतिविम्ब इति न दोषः। व्याख्यानं तूपलक्षणत्वेन योज्यम्।’ इति।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सपल्लवा इत्यादि। शोभायुक्त कर-चरणोंवाली तथा सन्देशसयुक्त मुखवाली उस कामिनी को देखने वालों को यह सन्देह हुआ कि ‘यह क्या पल्लवोंसहित लता शोभित हो रही है अथवा विकसित कमलयुक्त पद्मिनी?’

उपपादयति—

अत्र पल्लवफुल्लपद्मे पाण्याननयो प्रतिविम्बकोटयोः पृथक् निर्दिष्टे ।

‘सपल्लवा—’ इति पद्ये नायिकारूपे धर्मिणि वल्लरी-पद्मिनीरूपविरुद्धकोटिकः सन्देहो वर्णित, सन्देहस्थां साधारणधर्मवत्ताज्ञानजन्य, साधारणधर्मश्च वल्लरीनायिकयो पल्लव-पाणिरूप, पद्मिनी-नायिकयोश्च फुल्लपद्मानरूप । ननु पल्लवो वल्लरीमात्रवृत्ति पाणिव्य नायिकामात्रवृत्ति, एवम्, फुल्लपद्य पद्मिनीमात्रवृत्ति, आनन च नायिकामात्रवृत्ति, एवं स्थितौ कथं तयो मिलितयो (पल्लवपाण्यो फुल्लपद्माननयोश्च) साधारणतेति चेत्, विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नत्वेन तयोरेकवाच्यवसायात् । पाणिरूपस्य विम्बस्य पल्लव प्रतिविम्ब, आननरूपस्य च विम्बस्य फुल्लपद्य प्रतिविम्बभूतम् । प्रतिविम्बभूतौ च द्वौ पदार्थौ पृथक् पृथक् निर्दिष्टाविति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अथ इत्यादि। 'सण्णवा—' इस पद्य में हाथ पैर के प्रतिविम्ब 'पल्लव' और मुख का प्रतिविम्ब 'चिकितित कमल' उता और पश्चिमीरूप दोनों कोटियों में पृथक्-पृथक् शब्दतः उक्त हुए हैं। यद्यपि मूल में 'पाण्याननयो।' ऐसा कह कर हाथ मात्र का प्रतिविम्ब 'पल्लव' को कहा गया है, पर उक्त कथन में 'पाणि' को 'पद' का भी उपलक्षण समझना चाहिए, अन्यथा 'न्यूनता' हो जायगी।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्य निर्दिष्टयोदाहरणं दत्त्वाऽनिर्दिष्टस्य तदाह—

‘इदमुदधेरुदरं वा नयन वाऽत्रेकतेश्वरस्य मनः ।

दशरथगृहे तदानीमेवं संशेरते स्म कवयोऽपि ।।’

कवयोऽपि यस्तुतत्त्वयेपका अपि, किन्तु अन्ये, तदानीं रामोत्पत्तितमये, 'इदम्, उदधे समुद्रस्य, उदर मध्यभाग, अथवा, अत्रेस्तन्नाम्नो मुने, नयनम्, उत, ईश्वरस्य, मन' इत्येषम्, दशरथगृहे तद्विषये, संशेरते स्म सन्देहं कृतवन्त इत्यर्थः। पुराणे चन्द्रस्य त्रिषोत्पत्ति वर्णिता समुद्रादग्निनेत्रात्परमेश्वरमनसश्चेति भावः ।

उक्त विम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म का उदाहरण देकर अब अनुक्त तादृश धर्म का उदाहरण दिया जाता है—इदमित्यादि। राम-जन्म के समय, दशरथ के घर के विषय में कवि भी इस तरह सन्देह करते थे कि—'यह समुद्र का मध्य-भाग है अथवा क्षत्रिमुनि का नेत्र है कि वा परमेश्वर का मन है?' (इस सन्देह के मूल में पुराणों की यह उक्ति काम कर रही है जिसमें तीन प्रकार से चन्द्रमा की उत्पत्ति वर्णित है—समुद्र के मध्य से, अग्नि के नेत्र से और परमेश्वर के मन से)।

उपपादयति—

अथ तदानीमिति प्रकरणसाहाय्यवशाद्दशरथगृहेण धर्मिणाऽक्षितस्य तत्कालजातस्य भगवतो रामस्य जलध्युदरादिसंशयकोटिज्याक्षिप्तः साधारणचन्द्रः प्रतिबिम्बः। इमो च बिम्बप्रतिबिम्बावनिर्दिष्टावपि प्रतीयमानौ सादृश्यं प्रयोजयतः। एतेन 'अनुगाम्येव धर्मो लुप्तः सम्भवति, न तु विग्नितः' इति वदन्तः परास्ताः। इति दिक्।

धर्मिणेति। संशयविरोधताप्रयोज्येति। रामस्येति। बिम्बरूपस्येति भावः। साधारण इति। जलध्यादिकोटिज्ये वर्तमान इत्यर्थः। इमाविति। रामचन्द्रावित्यर्थः। एतेनेति। ईदृशोदाहरणोपलम्भेनेत्यर्थः। अयं भावः—'इदमुदधे—' इति श्लोके दशरथगृहधर्मिक समुद्रोदराग्निनेत्रात्परमेश्वरमनोरूपविरुद्धकोटिक सशयो वर्णितः। तत्र 'तदानीम्' इति पदप्रतिपाद्यप्रकरणसहकृतेन सशयधर्मिणा दशरथगृहेण तत्कालोत्पन्नो राम आक्षिप्यते, तं विना तत्रोक्तकोटिकसशयस्यानुदयात्, एव संशयकोटिभूते समुद्रोदरादिभिस्त्रिभिः त्रिषु साधारणचन्द्र आक्षिप्यते, तं विना तेषां संशये कोटित्वासम्भवात्। आक्षिपायोधानयो रामो बिम्ब, चन्द्रश्च प्रतिबिम्बः। एवं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्यैक्यभावात् 'रामचन्द्र'पदार्थः समुद्रोदरादेरुपमानभूतस्य, दशरथगृहस्य चोपनेत्रभूतस्य साधारणधर्म सम्पादते। अनुक्तवपि तौ बिम्बप्रतिबिम्बौ प्रतीयते सादृश्यं च प्रयोजयत इतीह वैचित्र्य बोध्यम्। 'अनुगामी धर्म एवाहुक्तः प्रतीयते, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्तु न' इति ये कथयन्ति ते अनेनानुक्तप्रतीयमानबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मोदाहरणेन परास्ता इति।

* उपपादन क्रिया जाता है—अथ इत्यादि। 'इदमुदधे.—' इस पद्य में रामजन्मसमय-रूप प्रकरण की सहायता से संशयधर्मों (जिसके विषय में विभिन्नकोटिक सन्देह

होता है उस) दशरथगृहरूप अर्थ से तत्कालोत्पन्न राम का आश्रय होता है, इसी तरह संशय में कोटिभूत पदार्थ समुद्र के मध्यभाग, अत्रि-नेत्र और परमेश्वर-भन इव तानों से, तानों में रहनेवाले (तीनों से उत्पन्न होनेवाले) चन्द्र का आश्रय होता है। ये आश्रित पदार्थ (राम और चन्द्र) विम्बप्रतिविम्बभावापन्न हैं—अर्थात् राम विम्ब और चन्द्र प्रतिविम्ब है। यद्यपि ये दोनों विम्ब और प्रतिविम्ब (राम तथा चन्द्र) एक में उक्त नहीं हैं, तथापि इन दोनों की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, क्योंकि जब तक इनकी प्रतीति नहीं होगी तब तक उक्त सन्देह बन ही नहीं सकता। और जब ये दोनों पदार्थ विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर प्रतीत हो जाते हैं तब ये ही साधारणधर्मरूप होकर दशरथगृह का समुद्रमध्यभाग आदि उक्त तानों पदार्थों के साथ सादर्य मिद कर देते हैं और सादर्य सिद्ध हो जाने पर तन्मूलक उक्त सन्देह (दशरथगृह के विषय में समुद्र-मध्यभाग आदि का सन्देह) भी धन जाता है। इस उदाहरण से वे सब परास्त हो जाते हैं जो 'अनुगामी धर्म ही अनुक्त हो सकता है, विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्म नहीं' ऐसा कहते हैं।

विशेषमाह—

अयं च क्वचिदनाहार्यः, क्वचिदाहार्यः। यत्र हि कविना परनिष्ठः संशयो निवध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः। यथा 'तीरे तरुण्याः' 'भरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु पद्येषु। तत्र भ्रमरादीनां संशयानानां प्रायनिश्चयाभावात्। यत्र च स्वगत एव तत्राऽहार्यः।

यथा—

'अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चित् विभासते।

अरविन्दं मृगाद्धो वा मुखं वेदं मृगीहराः॥'

अत्र वक्तुः कवेस्तत्त्वज्ञतया संशयावाहार्यावेव।

अयं चेति। संशयक्षेत्र्यम्। अनाहार्य इति। वायकालनेच्छाजन्यो नेत्यर्थः। अनाहार्यसंशयस्यल परिभाषते—यत्र कविनेति। परनिष्ठ इति। स्वभिल्लनिष्ठ इत्यर्थः। कुत्रचिद् वदभिचारदाह प्रायश इति। अनाहार्यसंशयोदाहरणमुपदर्शयति—यथा 'तीरे' इत्यादि। अनाहार्यम्बुपपादयति—तत्रेति। संशयानानामिति। भ्रमरादिविशेषणमेतत्। प्रायनिश्चयेति। ज्ञातव्यवस्तुनिश्चयेत्यर्थः। आहार्यसंशय परिभाषते—यत्र चेति। स्वगत एवेति। एवेन परनिष्ठव्यवच्छेदः। आहार्यसंशयोदाहरण प्रदर्शयति—यथा 'अलि-' इति, यत्र मुखरूपे वस्तुनि, अलि भ्रमरः, मृग हरिणः, अथवा नेत्रम्, किञ्चित् एषु इदतयाऽनश्चित्तमेकम्, विभासते शोभते, इदम् मुखरूप वस्तु, अरविन्दं कमलम्, वा, मृगाद्धमृगो वा, मृगोहगः, मृगनयनाया नायिकाया मुख वा अस्तीत्यर्थः। उपपादयति—अत्र वक्तुरिति। तत्त्वज्ञतयेति। चास्तविकवन्तुनिर्णयविशिष्टतयेत्यर्थः। संशयाविति। नेत्रधर्मिनः भ्रमरहरिणोभयकोटिक एक संशयः, मुखधर्मिक कमलमृगोभयकोटिक द्वितीय इति भावः। मुखे कमलसंशये नेत्रे भ्रमरसंशयः, मुखे चन्द्रसंशये च नेत्रे चन्द्रमध्यगत-हरिणसंशय इति सादर्यः। अलद्वारमृतोऽयं सन्देहो द्विविध सम्भवति आहार्यः अनाहार्यः। यत्र कविः परगतं सन्देह वर्णयति तत्र—'तीरे तरुण्याः' 'भरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादौ—अनाहार्यः, संशयकारकाणाम् भ्रमरादीनाम् संशयविषयीभूतविषयकोटिगतैकपदार्थनिश्चयाभावात्। यत्र तु कवि स्वयं संदेशि तत्र—'अलिर्मृगो वा—' इत्यादौ आहार्यः, कवेर्महानिश्चयसत्त्वेऽपि इच्छामात्रजन्यत्वात्स्येति भावः।

एक अन्य रीति से ससन्देहालङ्कार का विभाग किया जाता है—अर्थ च इत्यादि । यह ससन्देहालङ्कार दो प्रकार का होता है, क्योंकि अनाहार्य और आहार्यभेद से सन्देह दो प्रकार के हो सकते हैं (आहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक वस्तु को जानते रहने पर भी इच्छाजन्य सन्देह और अनाहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक सन्देह—अर्थात् ज्ञान्तविक वस्तु को न जानने के कारण होनेवाला सन्देह) । जहाँ कवि दूसरे किसी को होनेवाले सन्देह का वर्णन करता है वहाँ प्रायः (प्रायः इतलिये कि कहीं इसके विपरीत बात भी हो जा सकती है) अनाहार्य सन्देह होता है । जैसे—‘तीरे तरुण्या-’ ‘भरकत-मणि-’ इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्यों में । ऐसे स्थलों के सन्देहों को अनाहार्य मानने में खास कारण यह है कि यहाँ जिन (अमर, ऋषिचन्द्र आदि) के सन्देहों का वर्णन कवि द्वारा किया गया है उन्हें ज्ञातव्य वस्तु का निश्चय नहीं है—वे वास्तविक वस्तु क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं जानते रहते हैं । जहाँ कवि स्वयं सन्देह करता है—किसी दूसरे के सन्देह का वर्णन नहीं करता—वहाँ सन्देह आहार्य होता है, क्योंकि वैसे स्थल में कवि वास्तविक वस्तु को जानकर भी केवल अपनी इच्छा से सन्देह का उद्धान करता है, जैसे ‘अलिर्मृगो वा—अर्थात् जिसमें भ्रमर, हरिण भयवा नेत्र बुद्ध भासित हो रहा है यह कमल है, चन्द्रमा है अथवा मृगाक्षी नायिका का मुख है ?’ यहाँ का सन्देह आहार्य है, क्योंकि यहाँ कवि तस्वज्ञ है अर्थात् वह ‘मृगाक्षी की आँख है यह, और उस आँख से शोभित यह उसका मुख है’ इस वास्तविक तथ्य को जानता है, फिर जो उसने नेत्र में भ्रमर और हरिण का पूर्व मुख में कमल और चन्द्र का सन्देह किया है वह उस (कवि) की इच्छा का बिलास है ।

अपरं विशेषमाह—

परम्परितोऽपि चायं सम्भवति—

‘विद्वद्दैन्यतमस्त्रिभूर्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी-

दायाप्रिः किमहो महोज्ज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः ।

किंवाऽनङ्गसुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणां

केपामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः ॥’

अत्राप्याहार्यः ।

परम्परितोऽपीति । अत्रारोपस्यारोपमात्रोपायत्वेन परम्परितत्वम्, न तु संशयोपायत्वेन । दैन्यादीना तमस्त्वादिसन्देहाविययत्वादिति बोध्यमिति नागेशः । विद्वद्दैन्येति । रात्रस्तुतिरियम्—एष वर्णनीय, नराधिप- राजा, विदुषा पण्डितानाम्, दैन्यम् दारिद्र्यमेव, तम- अन्धकार (रूपकम्, एवमप्येऽपि) तस्य कृते, त्रिभूर्तिः सूर्य, अयं किम् ? अथवा, वैरीन्द्रा विरोधिष्ठा राजान, एव, वशाटवी वशाट्वयम्, तस्य, कृते, दायाप्रि वनहि, किम् ? अथवा, महोज्ज्वल परमरक्त्तम्, यश- कीर्तिरेव शीतांशुचन्द्र, तस्य कृते, दुग्धाम्बुधि पय पारानार, किम्, अथवा, अनङ्गेन कामदेवेन तद्रूपेणेति यावत्, सुजङ्गेन सर्पेण, दशः कृतदशाः अतिक्रामाकुला इति यावत्, या, वनिता कामिन्व, तस्मां कृते, जीवातु जीवनीयधम्, किम् ? इत्येवंप्रकारिका, अल्पेतरा अनल्पा, कल्पनाः संशयान्, केषां नृणां मनुष्याणाम्, न, जनयति उत्पादयति ? सर्वेषां तथा कल्पना जनयतीत्यर्थः । अत्र दारिद्र्यादिषु तमस्त्वादेरारोपो राजनि सूर्यत्वाद्यारोपस्य कारणमत एव परम्परितत्वम् । संशयधात्रापि स्वयततयाऽऽहार्य इति भाव ।

एक विशेष इस बलङ्कार के सम्बन्ध में बतलाया जाता है—परम्परितोऽपि इत्यादि ।

यह सन्देहालङ्कार रूपक की तरह परम्परित भी हो सकता है, जैसे—'विद्वदैन्य—' अर्थात् यह राजा विद्वानों के दारिद्र्यरूप अन्वकार के लिये त्रिमूर्ति (सूर्य) है, अथवा शत्रुओं में श्रेष्ठ राजाओं रूप बौत के वन के लिये वनबद्धि है, किंवा अतिनिर्मल यश-रूप चन्द्र के लिये घोरसागर है, आहोस्विव काम-रूप सर्प से ढँसी हुई कामिनियों के लिये जीवनौषध है, इस तरह यह राजा किहूँ अनेक कल्पनाएँ (सशय) उररध नहीं करता अर्थात् स्वामी के हृदय में इसे देखकर ऐसी कल्पनाएँ उत्पन्न होती ही हैं ।' यहाँ दारिद्र्य आदि में अन्वकार आदि का आरोप जिस लिये किया जाता है इसलिये ही राजा में सूर्य आदि का आरोप किया जाता है । फलत एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अतएव यहाँ का सन्देहालङ्कार परम्परित कहलाता है, न कि एक सन्देह का दूसरे सन्देह के प्रति कारण होने से, क्योंकि वैसी स्थिति यहाँ नहीं है— अर्थात् दारिद्र्य में अन्वकार सन्देह नहीं, अपि तु आहार्यनिश्चय ही है । सन्देह यहाँ का भी आहार्य ही है । कारण, कवि स्वयं सन्देह करता है—वस्तुस्थिति को निश्चितरूप से जान कर भी ।

'यत्र स्वगत एव संशयस्तत्राहार्य' इति यदुक्तं प्राक् तत्रैवकारेण कृतमवधारणमुक्तमिति साम्प्रतमाह—

कश्चित् परनिष्ठोऽपि कविना निबध्यमान आहार्यो भवति ।

न केवलम् स्वगत एव, अपि तु परगतोऽपि कविर्गणितः सन्देहः कविदाहार्यो भवतीति भावः ।

'स्वगत सन्देह ही आहार्य होता है' यह जो पहले सामान्यतः कहा गया है, अब उसका अपवाद कहा जाता है—कश्चिद् इत्यादि । कहीं कहीं कविद्वारा वर्णित परकीय सन्देह भी आहार्य होता है ।

उदाहरणमुदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा—

जैते—

उदाहरणमुपन्यास्यति—

'गगनाद् गलितो गमस्तिमानुत वाऽयं शिशिरो विभावसु' ।

मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समशेत राघवे ॥'

सकलज्ञ सर्वज्ञ, अरुन्धतीपतिः मुनि वशिष्ठ, (जातकर्मसमये) राघवे रामचन्द्रे धर्मिणि, अयम्, गगनाद्, गलितः पतितः, गमस्तिमान् सूर्य, उत, शिशिरः शीतल, विभावसु अग्नि, एवम्, समशेत सशय कृतवानित्यर्थः । (यद्यपि विद्वदैन्येत्यत्रोदाहृतोऽपि सशयः परनिष्ठो भवति, तथापि केषामिति सामान्येन निर्देशात् स्वनिष्ठोऽपि भव-) तीति द्वितीयमिदमुदाहरणमुक्तमिति बोध्यम्) ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगनाद् इत्यादि । अरुन्धती के स्वामी सर्वज्ञ वशिष्ठमुनि (जातकर्म के समय), रामचन्द्र के विषय में, 'यह आकाश से गिरा हुआ सूर्य है अथवा शीतल भनल है' इस तरह सन्देह करने लगे । (यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए । वह यह कि यद्यपि 'विद्वदैन्य—' यह पहला पद्य भी परगत सन्देह का उदाहरण हो सकता है पर यहाँ 'केषाम्—किहूँ' इस सामान्य कथन के कारण वह स्वगत सन्देह का भी उदाहरण हो जा सकता है, अतएव शुद्ध परगत फिर भी आहार्य, सन्देह का यह दूसरा उदाहरण दिया गया है) ।

उपपादयति—

अत्र मुनेर्वशिष्ठस्य सर्वज्ञत्वेनोपात्तस्य संशय आहार्य एव ।

‘गगनाद्—’ इति पद्ये वशिष्ठो मुनिः सर्वज्ञतयोपवर्णितः । तथा च तस्य बरुतत्त्वा-
नमित्त्वमसम्भवम् । एवं स्थितौ माहानियमवधौ मुने सन्देह इच्छाजन्यत्वादाहार्य एव
‘भविष्यति’ इत्यत्र सिद्धम् परगतस्यापि सन्देहस्याहार्यत्वमिति भावः ।

‘उपपादम क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘गगनाद्—’ इस पद्य में वशिष्ठ मुनि को
सर्वज्ञ कहा गया है, अतः उनको वास्तविक सन्देह नहीं हो सकता यह सिद्ध है । ऐसी
स्थिति में जो उनके सन्देह का वर्णन किया गया है वह आहार्य ही हो सकता है अर्थात्
यही यहाँ उचित समझा जा सकता है कि मुनि सब कुछ जान कर भी अपनी इच्छा से
सन्देह कर रहे हैं ।

‘गगनाद्—’ इति पद्यवर्णितस्य सन्देहस्यानाहार्यतामार्शक्य समाधत्ते—

यद्यप्यत्र ‘मुनीनां च मतिभ्रमः’ इत्युक्त्या तस्यानाहार्य एव संशयो वक्तुं
शक्यः, तथापि कोटितावच्छेदकयोः शिशिरत्वगगनगलितत्वयोरग्निसूर्यरूपको-
टिद्वये आहार्यबोधस्यैवावश्यवाच्यतया पुरोवर्तिनि कोटिद्वयाभेदांशेऽपि तस्यैव
न्याप्यत्वात् । इह च कोट्योर्धर्मिसादृश्यदाह्यायोऽप्यत्वगगनगतत्वरूपवैधर्म्यनि-
रासकमविद्यमानमपि गगनगलितत्वं शिशिरत्वं चारोप्यते वक्तव्यम् ।

अत्र ‘गगनाद्—’ इति पद्ये । मुनीनां चेति । चकारोऽन्यसमुच्चारक । तस्य वशिष्ठ-
स्य । कोटितावच्छेदकयोः विशेषणतावच्छेदकयोः । विशेषणविरोधयोरिति भावः ।
पुरोवर्तिनि श्रीरामे । इतोऽप्ये यद्यपि ‘अभेदेन कोटि—’ इतीदृश एव पाठो मूले लिखितो
विलोकितः, तथापि असन्नततया ‘अभेदेन’ इत्यशौ मया त्यक्तः । नागेशोऽपि स्वपुरमर्मा-
प्रकाशे ‘वर्तिन्यभेदेनेति चिन्त्यम्’ इति प्राकाशयत् । तस्यैव आहार्यबोधस्यैव । ननु
तयो कोटितावच्छेदकयोर्निवेश एव विमर्शः इत्यत्र आह—इह चेति । ‘मुनीनां च मति-
भ्रमः’ इत्याप्तनोक्तिः सर्वज्ञस्यापि मुने प्राकृतजनवत् व्यवहारदशाया भ्रमनशायादिकं
सूचयति । तथा च सर्वज्ञस्यापि वशिष्ठस्य नास्तविक संशयो भवितुमर्हति, अतः ‘गग-
नाद्—’ इति पद्ये वर्णितः सशयः अनाहार्य एव स्वीकर्तुमुचितः, नाहार्य इति शब्दादल-
स्याशयः, सशयो यो विशेष्यो भवति ये च विशेष्ये भवत, तयोरुपमेयोपमानभाव एव
तिष्ठति—अर्थात् विशेष्यसुपमेय भवति विशेषणयोश्च प्रत्येकं पृथक् पृथक् उपमानं भवति ।
एवं च तयोः सादृश्ये आवश्यके सादृश्य च सति वैषम्ये न सम्भवति, अतः प्रकृते कोट्यो-
र्योग्यो वस्तुतो वर्तमानयोरपि वैधर्म्यसाधकयोर्धर्मयो गगनगतत्वोऽप्यत्वयोर्निराकारण्य
वस्तुतोऽवर्तमाने अपि गगनगलितत्व-शिशिरत्वे कमशस्तयोरारोप्यते वर्णयित्रा ध्वनिना ।
इत्थं चारोपितयोस्तयोर्बोधो मुनेरपि आहार्य एव सम्भवति अग्निसूर्यरूपकोटिद्वयात्मके
विशेष्ये । ततश्च तद्वच्छिन्नप्रकारताकः अभेदसम्बन्धाच्छिन्नपुरोवर्तिरामनिष्ठविशेष्यताकः
मुनिनिष्ठः संशयोऽपि आहार्य एव स्वीकर्तुमुचित इति च समाधानदलास्याशयो बोध्यः ।

एक शब्दा और उसका समाधान क्रिया जाता है—यद्यप्यत्र इत्यादि । ‘मुनियों को
भी मति-भ्रम होता है’ इस उक्ति के अनुसार सर्वज्ञ वशिष्ठ को भी व्यवहार-दशा में
सन्देह हो सकता है, अतः ‘गगनाद्गलित—’ इस पद्य में वर्णित वशिष्ठ जी का सन्देह
अनाहार्य ही कहा जा सकता है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वशिष्ठ जी सब
कुछ जानते हुए भी स्वेच्छया सन्देह कर रहे हैं, अपितु यही कहा जा सकता है कि
सचमुच वशिष्ठ जी को वैसा सन्देह हुआ है । इस शब्दा का उक्त यह है कि वस्तुतः
सशय का आधार उपमेय और सशय के विषय भिन्न भिन्न उपमान ही रहते हैं, अतः
उन दोनों में परस्पर सादृश्य का बोध होना उपमा की तरह सशयालङ्कार के लिये भी
अपेक्षित है और यदि उन दोनों में से किसी एक में भी वैधर्म्य (सादृश्यविरोधी धर्म) .

ज्ञात होगा तब सादृश्य बन नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यहाँ संशय विपरीत सूर्य और अग्नि में ज्ञात होनेवाले विरोधी धर्म—गगनवासित्व और उष्णत्व—को दूर करने के लिये वक्ता अपनी इच्छा से उन दोनों में क्रमशः 'गगन से गिरा हुआ होना' और 'शीतलता' का आरोप करता है, अन्यथा उन दोनों (सूर्य-अग्नि) में सदायाधार राम का सादृश्य ही सिद्ध नहीं होगा और सादृश्य की सिद्धि के बिना सन्देह मिट्ट हो नहीं सकता। इस तरह आवश्यक समझकर आरोपित 'गगन-गलित्व' और 'शीतलत्व' जो यहाँ कोटितावच्छेदक—अर्थात् कोटिमूल सूर्य अग्नि के विशेषण हैं—का बोध वशिष्ठ जी को भी आहार्य हो होगा—ऐसा मानना ही पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं, फिर आगे स्थित राम में उन आरोपित विशेषणों से विशिष्ट सूर्य अग्नि के अमेद का ज्ञान (सत्य) भी आहार्य ही माना जाय यही उचित है।

उपसहरति—

एवमादयोऽन्येऽपि प्रकाराः सुधीभिः स्वयमुन्नेयाः ।

वाक्या वाक्याः संशयालङ्कारस्य भेदा प्रागुक्तास्तारुणा अन्येऽपि भेदा अत्य सम्भवन्ति, ते च विद्वद्भिः स्वयमुन्नीया इति भावः ।

उपसंहार किया जाता है—एवमादय इत्यादि। जिस तरह के भेद सन्देहालङ्कार के पहले दिखलाए गये हैं वैसे भेद और भी हो सकते हैं, पर उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया, सुधीजन स्वयं उन भेदों का उद्घ कर लें।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां ससन्देहालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं भ्रान्तिमदलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ भ्रान्तिमान्—

अथेति । अनन्तरं इत्यर्थः । ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिति भावः । भ्रान्तिमानिति । निरूप्यत इति शेषः । अथवा—अनेन्यथ शब्दोपेक्षारथः । भ्रान्तिमदलङ्कारो निरूप्यत्वेनापेक्षितो वेदितव्य इति भावः ।

ससन्देहालङ्कार—निरूपण कर लेने के बाद अब प्रत्यक्षर 'भ्रान्तिमद्' अलङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि। अब 'भ्रान्तिमद्' अलङ्कार का निरूपण प्रारम्भ समझना चाहिये।

आदौ भ्रान्तिमदलङ्कारस्य लक्षणमाह—

सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यधर्मत्कारो प्रकृते भ्रान्तिः । सा च पशुपस्यादिगता यस्मिन् वाक्पसन्दर्भेऽनूयते स भ्रान्तिमान् ।

अन्यत्र नैवमिच्छा—प्रवृत्त इति । पञ्चादांति । आदिना मनुष्यप्रदृग्म् । तादात्म्य-सन्ध्यावच्छिन्नवर्त्यन्तरनिष्ठप्रकारत्वानिस्सतिसदृशधर्मिणिसदृशविरोधताशाली सादृश्यज्ञावा-धेन, अनाहार्य, अनदृष्टिको निश्चय अलङ्कारात्प्रसिद्धभ्रान्तिपर्यायः । पशुपति-मनुष्यनिरुद्धादृष्टभ्रान्तिपर्यायवर्तनरते वाक्पसन्दर्भे भ्रान्तिमन्पर्याय इति भावः ।

सर्वप्रथम 'भ्रान्तिमद्' अलङ्कार का लक्षण किया जाता है—सदृशे इत्यादि। सादृश्य-युक्त धर्मों (वाधार) में, अमेदयम्बन्ध से, अन्य किसी धर्मों का, अनाहार्य (वास्त-विक) और सादृश्यज्ञान का कारण होनेवाला निश्चयामक ज्ञान, चमत्कारयुक्त होने पर अलङ्कारशास्त्र में, 'भ्रान्ति' कहा जाता है और पशु, पक्षी, धयव मनुष्य में रहनेवाली

उस 'भ्रान्ति' का वर्णन जिस वचनसमूह में किया जाता है वह वचनसमूह 'भ्रान्ति-मान्' कहलाता है। इस लक्षण में 'अलङ्कार शास्त्र में' ऐसा जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह कि अन्य (न्यायादि) शास्त्रों में 'भ्रान्ति' का लक्षण ऐसा नहीं, अपि तु भिन्न तरह का किया गया है।

प्रतिज्ञाविरोधाभावायाह—

अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कारः । भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः । तथा चाहुः—

'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननुद्यते ।

स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः ॥' इति ।

औपचारिक इति । भ्रान्तिनिष्कलङ्कारत्वस्य तद्व्यारोपान् । भ्रान्तिवदतोरभेदारोपा-
द्वेति भावः । ससन्देह इति व्यवहारोऽप्येवमेवेति प्रागुक्तम् । अस्मिन्नर्थेऽन्यसम्मर्तिं दर्श-
यति—तथा चाहुरिति । प्रमात्रन्तरेति । भ्रान्तिरूपा, प्रमात्रन्तरस्य कविभिन्नस्य ह्यनु-
धीर्बुद्धिः, यस्मिन् वाक्सन्दर्भे, अनुद्यते वर्ण्यते, स वाक्सन्दर्भः, 'भ्रान्तिमान्' इति ख्यात
भ्रान्तिमच्छब्देनोच्यते स्म, अलङ्कारे तु, स शब्दः, औपचारिक इत्यर्थः ।

प्रत्यकार ने अलङ्कारनिरूपण की प्रतिज्ञा की है और 'भ्रान्तिमान्' शब्द से अलङ्कार का बोध होता नहीं, अतः जो विरोध आपाततः दिखाई पड़ता है उसे दूर करने के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि । 'भ्रान्तिमान्' शब्द में 'भ्रान्ति' मात्र अलङ्कार की संज्ञा है । 'भ्रान्तिमान् अलङ्कार' इस तरह का व्यवहार तो औपचारिक (आरोपमूलक) है । अभिप्राय यह कि भ्रान्तिमात्र में रहनेवाली अलङ्कारता का भ्रान्ति अलङ्कार से युक्त वाक्य में आरोप कर देने से वैसा व्यवहार होता है जयवा भ्रान्ति अलङ्कार तथा उस अलङ्कार से युक्त वाक्य इन दोनों में भेद का आरोप होने से उक्त व्यवहार किया जाता है । इस प्रसङ्ग पर दूसरे आचार्य भी यही बात कहते हैं—“प्रमात्रन्तर—
अर्थात् जिस वचन-सन्दर्भ में जानकार से अन्य—अर्थात् कवि से भिन्न—के भ्रामक-
बोध का अनुवाद किया जाता है, वह वचन सन्दर्भ 'भ्रान्तिमान्' कहलाता है । अलङ्कार में इस शब्द का प्रयोग आरोपमूलक है ।” ('ससन्देह' शब्द का अलङ्कार अर्थ में प्रयोग भी इसी तरह आरोपमूलक है यह बात पहले कही जा चुकी है) ।

लक्षणे निविष्टानां विरोपणानां फलान्युपदर्शयति—

लक्षणे मीलित-सामान्य-तद्गुण-वारणाय धर्मिग्रहणद्वयम् । रूपकवित्ति-
वारणायानाहार्य इति कविभिन्नगत इति वा । संशयवारणाय निश्चय इति । इदं
रजतमिति रत्नविशेष्यकबोधवारणाय चमत्कारीति । कविप्रतिभानिर्वर्तित
इत्यर्थः । रत्ने रजतमिति बुद्धेर्लौकिकतया न कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम् ।

'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ॥'

इत्यत्र नायिकासन्देशहरस्योक्तौ व्यज्यमानस्योन्मादस्य वारणाय सादृश्य-
प्रयोज्य इति । न चात्रोन्मादस्य प्राधान्यात् सकलालङ्कारसाधारण्येनोपस्कारक-
त्वविशेष्येनैव वारणमिति वाच्यम् । तस्यापि पार्थन्तिकविप्रलम्भोपस्कारक-
त्वात् । यद्वा सन्देशहरात् सन्देशं श्रुतवतो नायकस्य स्वमित्र प्रति यदेवं वाक्यं
'अकरुणहृदय—' इत्यादि तदास्मिन्नेव पद्ये सेतिपदव्यङ्ग्यायाः स्मृतेरुपस्कारके
उन्मादे, तथाप्यतिप्रसङ्गापत्तेः सादृश्यप्रयोज्यत्वमावश्यकम् । लक्षणे चात्रैकत्वं

विवक्षितम् । अन्यथा वक्ष्यमाणानेकप्रहीतकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसङ्गापत्तेः । अत एवैकवचनमपि सार्थकम् ।

‘लक्षणे’ इत्यस्य सर्वत्रान्वयो बोध्यः । धर्मिद्वयनिवेशफलमाह—मौलित इति । यदि लक्षणे धर्मिद्वयग्रहणं न स्यात् ‘अन्यस्मिन् अन्यप्रकारकनिश्चय’ इत्येवमुक्तिः भवेत्, तदा मौलित-सामान्य-तद्गुणालङ्कारोदाहरणेषु प्रकृतलक्षणमतिप्रसज्येत, तत्रापि धर्मान्तरे धर्मान्तरस्यानाहार्यनिश्चयस्य वर्णितत्वात् । धर्मिग्रहणे कृते तु नैव दोषः, धर्मिणि धर्म्यन्तरनिश्चयाभावादिति भावः । अनाहार्यनिवेशफलमाह—रूपकेति । वितर्ज्ञानम् । ‘प्रमात्रन्तरधी—’ इति परश्रौयलक्षणानुसारमाह—कविभिन्नगत इति चेति । उपमेये उपमानतादात्म्यरूपस्य रूपकस्य ज्ञानमपि भ्रम एव, सोऽपि सादृश्यमूलं चमत्कारी चेति तत्र प्रकृतलक्षणातिप्रसङ्गवारणाय ‘अनाहार्यत्व-निवेश’ । तन्निवेशे तु न तत्रातिप्रसङ्गः, तद्ज्ञानस्वाहार्यत्वस्य सर्वसम्भवात् इति भावः । सश्यालङ्कारे भ्रान्तिलक्षणातिप्रसङ्गिनिरासाय निश्चयनिवेशः । चमत्कारीत्यस्य कविप्रतिभोन्वित इत्यर्थः । अभेदेन रजतप्रकारकरङ्गविशेष्यकलौकिकप्रमचारणाय तन्निवेशः । सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेशफलमाह्यातुमाह—अकरण इति । नायिकादूतो नायक प्रत्याह—‘हे अकरणहृदय निर्देयचित्त, प्रियतम ! अहम्, इत परम् अचारभ्य, त्वा, न, मुचामि त्यजामि’ इति आलौजन्य सखीजनस्य, कराम्युजम् हस्तकमलम्, आदाय गृहीत्वा, विकला वियोगवैकल्यमनुभवन्ती, सा तव प्रेयसी, आलपति वक्तव्यम् । उपपादयति—अत्रेति । उन्मादस्येति । ‘विप्रलम्भहा-पदादिजन्मा अन्यस्मिन्नन्यावभास उन्माद’ इति मतेनेदम् । ‘अकरण—’ इति पद्यात्मिक्या नायक प्रति नायिकासन्देशहरस्योक्त्या नायिकाया उन्मादो व्यव्यते । स चोन्मादोऽन्यस्मिन्नन्यावभास एव । तथा च भ्रमरूप एवासी सम्पद्यते । तस्मिन् प्रकृतग्रगालङ्कारलक्षणं मा प्रसाक्षीत् इति भ्रमात्मकनिश्चये सादृश्यप्रयोज्यत्व निवेशयते । निवेशिते च तस्मिन् न तत्रातिप्रसङ्गसम्भावना, तस्य (उन्मादस्य) वियोगजन्यतया सादृश्यप्रयोजकत्वाभावात् इति भावः । आशङ्क्य समाधत्ते—न चेत्यादिना । ‘अकरण—’ इत्यत्र प्रतीयमान उन्माद एव प्रधानवाक्यार्थं काव्यत्वप्रयोजकः । तथा च तत्र नालङ्कारत्वसम्भवति, अनुपस्कारकत्वात्, अलङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकत्वस्य निविष्टत्वात् । एकवचनप्रसङ्गानुपस्कारकत्वान्तर्गतैस्तत्त्वोन्मादस्य आरुणे सिद्धे विशेषलक्षणे तद्गारकविशेषणं व्यर्थमेवेति शङ्कादलस्य, नोन्मादोऽत्र प्रवानो वाक्यार्थः, अपि तु विप्रलम्भ, तदुपस्कारक एव चोन्माद इति न सामान्यलक्षणानाकान्तत्वं तस्य, अतो विशेषलक्षणे तद्गारकविशेषणप्रक्षेप आवश्यक एवेति च समाधानदलस्थाशयो बोध्यः । ननु विप्रलम्भजन्यत्वेनोन्मादस्य कथं तदुपस्कारकत्वमत आह—यदेति । ‘अकरण—’ इति न नायकं प्रति नायिकासन्देशहरस्योक्तिः, अपि तु श्रुतनायिकासन्देशस्य नायकस्य स्वमित्रं प्रतीयभिप्रेते पद्यपटकेन ‘सा’ इत्यनेन पदेन ‘भरणम्’ सर्वप्रधानतयाऽभिव्यक्तं स्यात्, उन्मादश्च तत्पेपकतया प्रतीतो भवेत् । तथा च तदृश्ये उन्मादेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेश आवश्यक इति भावः । ननु एवमपि उल्लेखालङ्कारे प्रकृतग्रमलक्षणातिप्रसङ्गिर्दुर्दरैव, उल्लेखस्यानैकव्यक्तिसमवेतानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रमसमूहरूपत्वात् प्रकृतलक्षणपटकमकलविशेषणसङ्गमनादिति चेन्न । प्रकृतलक्षणे ‘निश्चय’ इत्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वेन निश्चयसमुदायान्मके उल्लेखे तस्याप्रसङ्गः । तत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वादेव तत्रत्यैकवचनस्य सार्थक्यमपि भवति । अन्यथा विशिष्यैकवचनोक्तैर्वैकल्प्यमेवेति सारांशः-

लक्षण में जोड़े गए भिन्न-भिन्न विशेषणों के फल द्विसल्लाप जाते हैं—लक्षणे इत्यादि । लक्षण में दो चार 'धर्मी' पद के ग्रहण करने का फल यह होता है कि मीलित, सामान्य और तद्गुण अलङ्कारों में 'भ्रान्ति' अलङ्कार का लक्षण अतिप्रसक्त नहीं होता, क्योंकि उन अलङ्कारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रमात्मक निश्चय नहीं होता, अपितु एक धर्म में दूसरे धर्म का । यदि 'भ्रान्ति-लक्षण' में दो चार धर्मी का ग्रहण नहीं होता तब 'अन्य में अन्य का निश्चय' यही फलित होता और उस स्थिति में उन अलङ्कारों का भी संग्रह होने लगता । रूपक-ज्ञान में प्रकृत लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो, इसलिये यहाँ 'अनाहार्य (वास्तविक)' अथवा 'कवि से भिन्न में रहने वाला' यह 'निश्चय' का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि उपमेय में उपमान का भ्रमात्मक निश्चय रूपक में भी रहता है पर वह निश्चय वास्तविक नहीं, कृत्रिम (इच्छाजन्य) रहता है । सन्देश में अतिप्रसन्नवारणार्थ 'निश्चय' कहा गया है, ज्ञान-सामान्य नहीं । 'यह चाँदी है' इस जगह जो रीति में चाँदी का ज्ञान होता है—इस भ्रम में अतिव्याप्ति-निराकरणार्थ प्रकृतलक्षण में 'चमाकारी' पद दिया गया है—जिसका अर्थ है 'कवि की प्रतिभा से सम्पन्न किया हुआ' । रीति में जो चाँदी का ज्ञान होता है वह लौकिक है, कविप्रतिभा से सम्पन्न नहीं हुआ है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती । "अकरुणहृदय—अर्थात् वह सखी का करकमल पकच कर 'हे निर्दय हृदय वाले प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें नहीं छोड़ती—छोड़ ही नहीं सकती ।" इस तरह विकल होकर यातें करती रहती है ।" नायक के प्रति इस नायिका का सन्देश लाने वाले की उक्ति में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रकृत लक्षण में निश्चय का विशेषण 'सादृश्यप्रयोज्य—सादृश्यज्ञान से सिद्ध होने वाला' कहा गया है । अभिप्राय यह है कि—'वियोग और इसी तरह की अन्य महा विपत्तियों के कारण जो अन्यतरतु में अन्यतरतु का ज्ञान होने लगता है' उसीको उन्माद कहा जाता है । ऐसी स्थिति में उक्त पद्य में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है वह भी भ्रमात्मक निश्चय ही है, अतः 'सादृश्य-प्रयोज्य' इस विशेषण के अभाव में प्रकृत लक्षण की उस उन्माद में अतिव्याप्ति हो जाती । उस विशेषण के रहने पर तो यह जापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह उन्मादात्मक भ्रम सादृश्यज्ञान के कारण नहीं हुआ रहता, अपितु वियोग से हुआ रहता है । आप कहेंगे—उस उन्माद का वारण करने के लिये इस विशेष लक्षण में किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह 'उन्माद' यहाँ प्रधान स्वयं के रूप में आया है, अतः वह स्वयम् उपस्कार्य है, किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं, ऐसी स्थिति में उसका वारण अलङ्कार-सामान्य-लक्षण में जोड़े गए 'उपस्कारकत्व' विशेषण से ही हो जाएगा । पर यह कथन ठीक नहीं । कारण, यह उन्माद भी अन्ततः अभिव्यक्त होनेवाले 'विप्रलम्भशृङ्गार' का उपस्कारक है, अतः सामान्य लक्षण-गत 'उपस्कारकत्व' विशेषण से उसका वारण नहीं हो सकता, फलतः विशेष लक्षण में उसके वारण के लिये विशेषण का जोड़ा जाना आवश्यक ही है । इस पर यदि आप कहें कि—'उन्माद' तो 'विप्रलम्भशृङ्गार' का ही फल है, फिर वह 'उन्माद' अपने जनक- (विप्रलम्भशृङ्गार) का उपस्कारक कैसे हो सकता है ? तो मैं भी इस युक्ति को मान लेता हूँ, पर इसका अर्थ यह नहीं कि विशेष लक्षण में 'सादृश्य प्रयोज्यत्व' के निवेश की आवश्यकता नहीं रही—उसकी आवश्यकता तब भी है ही । कारण, 'अकरुण-' इस पद्य को यदि सन्देश-वाहक द्वारा नायिका के सन्देश को सुन चुके नायक की क्षणिक मित्र के प्रति उक्ति मानी जाय तब उस पद्य के 'ता' पद से 'मरण' अभिव्यक्त होगा और उस मरण का उपस्कारक होगा प्रथम अभिव्यक्त 'उन्माद', जिसमें आपको भी आपत्ति नहीं होगी । अब आप सोचें कि उस स्थिति में उस 'उन्माद' का वारण साधारण विशेषण (उपस्कारकत्व) से होगा ? आप भी कहेंगे—नहीं, फिर उसके वारण के

लिये विशेष लक्षण में उक्त विशेषण की आवश्यकता है अथवा नहीं यह आप स्वयं समझ सकते हैं। लक्षण में 'निश्चय' का एक होना अभीष्ट है—अर्थात् एक ही लक्षणोक्त-विशेषण-विशिष्ट निश्चय को 'भ्रान्ति' अलङ्कार कहते हैं, भिन्न-भिन्न अनेक तादृश निश्चयों को नहीं। अन्यथा जिन भ्रान्तियों में अनेक ज्ञाता तथा अनेक विशेषण हों और विशेष्य एक हो ऐसी भ्रान्तियों के समूहरूप आगे कहे जाने वाले 'उच्छ्लेषालङ्कार' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतएव 'निश्चय' पद में एकवचन लिखना सार्थक है।

भ्रान्त्यलङ्कारोदाहरणं निर्देष्टुमाह—

उदाहरणम्—।

निम्ननिर्दिष्ट बोध्यमिति शेषः ।

'भ्रान्ति' अलङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित पद्य को समझना चाहिए—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया ।

चपलायुतवारिदभ्रमात्रनृते चातकपोतकैर्वने ॥'

चातकपोतकै चातकाख्यपक्षिशिशुभिः, कनकद्रवस्य सुवर्णरसस्य, कान्तिरिव या कान्तिः, तथा, कान्तया रमणीयया, कान्तया रमण्या, सीतयेति यावत्, मिलितं सङ्गतम्, रामम्, उदीक्ष्य दृष्ट्वा, चपलया विद्युता, युतस्य मिलितस्य, वारिदस्य मेघस्य, ब्रमात्, घने, नृते नृत्यं चके इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कनक इत्यादि। सुवर्ण के रस की सी कान्ति-से रमणीय रमणी (सीता) से युक्त राम को देखकर, वन में, चातकों के घने, विद्युत् से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे।

उपपादयति—

अत्र चातकगतहर्षोपस्कारकतया तद्रता भ्रान्तिरलङ्कारः ।

'कनकद्रव—' इति पद्ये 'नृते'पदेन चातकगतो 'हर्षभाव' व्यज्यते, तं च वाच्या चातकनिष्ठा भ्रान्तिरुपस्कारोतीति सा 'भ्रान्ति'रत्रालङ्कार इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'कनकद्रव—' इस पद्य में 'नाचने लगे' इस उक्ति से चातकगत 'हर्षभाव' व्यक्त होता है और उस 'हर्षभाव' को पुष्ट करता है चातकनिष्ठ भ्रम (सीतायुक्त राम में विद्युत् युक्त मेघ का ज्ञान), अतः यह 'भ्रम' अलङ्कार है।

विधिद्वयत्यासेन प्रोक्तपद्यस्यैव भ्रान्तिध्वनेरुदाहरणत्वं दर्शयति—

यदि 'परिफुल्लपतत्पल्लवैर्मुमुदे चातकपोतकैर्वने' इत्युत्तरार्धं निर्मायते तदायमेव भ्रान्तिध्वनिः ।

परिफुल्लेति । पतत्राणि पक्षाणि, पल्लवा इव इति पतत्रपल्लवा, ते परिफुल्ला विकसिता येषां तादृशै चातकपोतकैरित्यर्थः । अत्र पाठे भ्रमो न वाच्यः, वाचकविरहात्, अपि तु प्रधानतयाऽभिब्यज्यमानस्य हर्षभावस्य कारणतया तत्रोपको भ्रमोऽपि व्यक्त एवेति । तादृशपाठविशिष्टमिदं पद्यं भ्रान्त्यलङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

'भ्रान्तिअलङ्कारध्वनि' का उदाहरण दिखलाने के लिये उक्त पद्य में कुछ अक्षरों का परिवर्तन करने की बात कही जाती है—यदि इत्यादि। 'कनकद्रव—' इस पद्य का ही उत्तरार्ध भाग यदि 'परिफुल्ल—अर्थात् पल्लवों के समान विकसित पंखोंवाले चातकों के चरने, वन में, नाचने लगे।' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तब यही पद्य 'भ्रान्तिध्वनि' का उदाहरण हो सकता है। अभिप्राय यह है कि-उक्त परिवर्तित पाठ में

भ्रान्ति-वाचक कोई शब्द नहीं रह जाता, अतः 'भ्रान्ति' वाच्य नहीं होती, पर प्रधान-तया अभिव्यक्त होने वाले 'हर्ष' के कारणरूप में 'भ्रान्ति' व्यङ्ग्य होती है और वह 'भ्रान्ति' हर्ष को उपस्कृत तो करती ही है। फलतः उस परिवर्तित पाठ के अनुसार उक्त पद्य 'भ्रान्ति-अलकार-ध्वनि' का उदाहरण हो जाता है।

दीक्षितोक्तं लक्षणमनुधावयति—

यथाप्यदीक्षितैर्लक्षणमुक्तम्—

'कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहित्वात्मनि ।

आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ॥' इति ।

'तत्र कविसम्मतसादृश्यप्रयोज्ये विषये आरोप्यमाणानुभवो यत्र वाक्यसन्दर्भे स भ्रान्तिमान्' इति भ्रान्तिमतो लक्षणं विधाय रूपकव्यावृत्त्यर्थं पिहित्वात्मनी-त्युच्यते। न चैतद्युक्तम्। नहि रूपकवाक्ये आरोप्यमाणस्यानुभवो वर्ण्यते, किं तु तस्मान्जायते। न चात्रानुभवान्तं भ्रान्तेर्लक्षणमभिमतं च भ्रान्तिमतः। तत्र भ्रान्तिलक्षणे रूपकेऽतिव्याप्तेर्वारणाय विषये पिहित्वात्मनीति विशेषणमिति वाच्यम्। अनुभवत्वघटितस्य भ्रान्तिलक्षणस्यानुभूयमानाभेदात्मके रूपके कथमप्यप्रवृत्तेः। यदि च रूपकपद रूपकबुद्धिपरमिति ग्रन्थसामञ्जस्य विधीयते तदापि विषयतावच्छेदकानवगाहिनि 'भरकतमणिमैदिनीधरो वा तरणतरस्त-रुरेप वा तमालः' इति संशयेतिप्रसङ्गात्, 'कमलमिति चञ्चरीयाश्चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिसमुदायात्तन्म्युल्लेखेऽतिव्याप्तेश्च। अत्र भ्रान्त्या सङ्कोर्ण उल्लेख इति चेत्, नह्येतावतो ल्लेखांशातिव्याप्तिर्न दोषः। नहि दुग्धजलभागानां व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षण जलांशातिव्याप्तिकं कर्तुं युक्तम्।

कविसम्मतेति। अस्यायोऽनुपदं 'तत्र-इत्यादिना ग्रन्थहृत्तव द्रियते। सादृश्य-प्रयोज्ये विषये इति। सादृश्यमूलकोपमेयभावापन्ने इत्यर्थः। पिहित्वात्मनीति। निहृत-स्वरूपे इत्यर्थः। तत्वेनाणुहीते इति यावत्। उच्यते इति। अत्र 'अयं भाव—तद्विशेष्ये-नारोप्यमाणानुभवस्य स्वारिकस्य कविप्रतिभया कल्पनं विवक्षितम्। तस्यैव विषय-पिधानसामर्थ्यादिति' इति नागेशः। खण्डयति—नैतत् इति। तत्र हेतुमाह—नहीति। अथमाशयः—'कविसमयमिदसादृश्यद्वारोपमेयत्वमाप्ते वस्तुनि उपमानस्य निधयो यरिभन्-धाम्ये वर्णितो भवति तद् वाक्यं भ्रान्तिमत' इति भ्रान्तिमतो लक्षणं क्रियते दीक्षि-तेन। एवञ्च तस्मिन्लक्षणे रूपकारकं 'पिहित्वात्मनि' इति विशेषणं नोचितम्, रूप-कारकवारविशिष्टे वाक्ये उपमाननिधयस्यावर्णनेन तत्र तद्विशेषणमन्तरापि लक्षणस्या-प्रसक्तं। रूपकवाक्यादुपमानस्य निधयो भवतीति तु अन्यत्। नहि उपमानानुभवस्य सम्पत्तिस्तस्य वर्णनमिति व्यपदिश्यते इति। आशयान्तरमुपवर्ण्यं तद्विशेषणसार्थक्यं शङ्कते—न चेति। अस्तु नाम भ्रान्तिमतो लक्षणे तस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, भ्रान्तिलक्षणे रूपकारकं तत्सार्यकमिति शङ्कादलाभिप्रायः। तत्रापि तद्व्यर्थमेवेति समाधत्ते—अनुभव-त्वेति। निधीयमानत्वोपमानस्य तादात्म्यं रूपकम् तत्र निधयात्मिकाया भ्रान्तेः प्रसक्ति-नांस्त्विति तद्वारणप्रयारो व्यर्थं एवेति समाधानदलाभिप्रायः। पुनर्यान्तरकरणेन तद्विशेषणसार्थक्यं शङ्कते—यदि चेति। 'रूपकव्यावृत्त्यर्थम्' इति दीक्षितग्रन्थपठकरूपक-पदस्य रूपकज्ञानपरत्वे स्वीकृते रूपकज्ञानेऽतिप्रसङ्गतो भ्रान्तिलक्षणास्य प्रवृत्तेर्वारणाय 'पिहित्वात्मनि' इत्यस्य सार्थक्यं भवतीति भावः। तस्य विशेषणस्य सार्थक्येऽपि लक्षणं

दुष्टमेवेत्याह—तदापीति । उक्तविशेषणस्य सार्यक्त्वेऽपि इति तदर्थः । विषयतावच्छेद-
 केति । उपमेयतावच्छेदकेत्यर्थः । रामत्वेति यावत् । तथा च रामत्वाविषयके इति समुदा-
 यार्थः । संज्ञाये इति । लक्षणपटकाणुभवपदस्य हानसामान्यार्थकत्वे एष दोषो बोध्यः ।
 ननु तस्य निघ्नपरत्वे नैव दोष इत्यतो दोषान्तरमाह—'कनकमि'ति । अर्थोऽस्य रफुट
 एव । भ्रान्तिरामुदायात्मके उल्लेखे भ्रान्तिलक्षणस्यातिप्रसङ्गः, सादर्यप्रयोज्ये पिहितात्मनि
 विषये आरोप्यमाणानुभवस्य तत्रापि सत्त्वादिति भावः । दोषाभावमाशङ्क्य पुनर्दोषं
 ब्रूयति—अत्र भ्रान्त्या इति । भ्रान्तिमिश्रिते उल्लेखे भ्रान्तिलक्षणप्रसक्तिरुचितैव, न
 दोषायेति शङ्काया इदं समाधानम् यत् यथा नियमतो दुग्धे जलभागस्य मिश्रणे सत्यपि
 दुग्धलक्षणं जलाशयव्यावृत्तमेव विधीयते, तथैव उल्लेखस्य भ्रान्तिसङ्कीर्णत्वेऽपि भ्रान्ति-
 लक्षणम् उल्लेखाशयव्यावृत्तमेव कर्तुमुचितम्, अन्यथा यथा जलाशातिव्याप्तं दुग्धलक्षण
 दुष्टमेव भ्रान्तिलक्षणमुल्लेखाशातिव्याप्तं दुष्टमेव स्यादिति । अत्र 'अतिव्याप्तिश्च' इति
 प्रतीकमुपादाय "उल्लेखचभ्रान्तित्वयोरत्र सङ्कीर्णत्वम् । बाधकाभावात् । भूतत्वमूर्तत्वयोरिव
 नरैर्बर्गतिप्रदेत्यञ्जल्लेखत्वस्य, कनकद्रव्यत्वस्य भ्रान्तित्वस्य सावकाशत्वादिति कथित् ।
 वनिनेति वदन्त्येता लोका इति स्वदुदाहृतापहृतिसङ्कीर्णत्वे उपमेयतावच्छेदकनियेष-
 सामानाधिकरूपेणेनोपाप्यावृत्तिलक्षणातिव्याप्तिस्तवाप्यस्ति । एवं तत्तदलङ्कारसङ्कीर्णं
 तत्तदलङ्कारलक्षणस्य सा दुर्वारिति चिन्त्यमिदमित्यपरे ।" इति नागेशः ।

अथ अप्यपदीक्षितकृत भ्रान्तिलक्षण का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—
 यच्च इत्यादि । अप्यपदीक्षित ने 'कविसम्मत—' इत्यादि लक्षण 'भ्रान्तिमान्' का किया
 है । इस लक्षण में "कवियों के अभिमत सादर्य द्वारा सिद्ध होनेवाले उपमेय में उपमान
 का अनुभव जिस वाक्य में वर्णित हो वह वाक्य 'भ्रान्तिमान्' है ।" इस तरह 'भ्रान्तिमान्'
 का लक्षण बनाकर रूपक में अतिव्याप्तिवारणार्थ उपमेय का 'पिहितात्मनि (जिसका
 स्वरूप छिपा दिया गया हो)' यह विशेषण दिया गया है । इस विशेषण से यह अभि-
 प्राय प्रकट होता है कि उक्त अनुभव कविप्रतिभोत्थित होना चाहिए, क्योंकि बैसा
 न होने पर उसके द्वारा उपमेय का छिपाना नहीं बन सकता—अर्थात् उपमेय को
 उपमान समझना (भ्रम) नहीं हो सकता । पर दीक्षितजी का उक्त लक्षण ठीक नहीं
 है । कारण, वापका लक्षण 'भ्रान्तिमान् (भ्रान्तियुक्त वाक्य)' का है, अतः उसकी
 अतिव्याप्ति रूपक के वाक्य में हो सकती है, रूपक में नहीं, फिर जो आपने "रूपक-
 वारणार्थ इस लक्षण में 'पिहितात्मनि' विशेषण लगाया गया है" ऐसा लिखा वह अस-
 ज्ञत हो जाता है । यदि आप कहें कि 'भ्रान्ति' तथा 'भ्रान्तिमान्' दोनों का लक्षण किया
 गया है—'अनुभव' पर्यन्त का भाग 'भ्रान्ति' का लक्षण है और अग्रिम भाग 'भ्रान्तिमान्'
 का । उनमें से 'भ्रान्ति'लक्षण में 'पिहितारामनि' यह उपमेय का विशेषण दिया गया
 है और वह इसलिए दिया गया है कि रूपक में भ्रान्तिलक्षण का अतिप्रसङ्ग न हो,
 तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भ्रान्ति का लक्षण है 'अनुभव' । अब आप सोचें कि
 अनुभवरूप भ्रान्तिलक्षण का अनुभव में आनेवाले अभेदरूप रूपक में अतिप्रसङ्ग होता
 ही कहाँ है जिसके वारणार्थ आप विशेषण जोड़ रहे हैं । तात्पर्य यह कि भ्रान्ति अनुभव
 का नाम है और रूपक है अनुभव में आनेवाले अभेद का नाम, फिर इन भिन्न पदार्थों
 में किसी एक का दूसरे में अतिप्रसङ्ग कैसे हो सकता है ? अब यदि आप 'रूपकव्या-
 वृत्त्यर्थम्' में 'रूपक' पद का 'रूपक का ज्ञान' अर्थ करके ग्रन्थ को सज्जत बनाना चाहें
 अर्थात् रूपक का ज्ञान अनुभवरूप हो जाता है, अतः उसमें अतिव्याप्तिवारणार्थ
 भ्रान्तिलक्षण में उक्त विशेषण दिया गया है (उस विशेषण से उक्त अतिव्याप्ति इसलिये
 वारित हो जाती है कि रूपक अथवा उसके ज्ञान में उपमेय पिहितात्मा—छिपे

रूप वाला नहीं रहता, अपितु प्रकृत रूपवाला ही रहता है) तो बना लें उस ग्रन्थ को सङ्गत, पर इतने पर भी उक्त लक्षण निर्दुष्ट नहीं होगा, क्योंकि यदि उक्त लक्षण में अनुभव का अर्थ ज्ञानसामान्य किया जाय तब 'मरकतमणि—' इस पूर्वोक्त सन्देह—जहाँ उपमेयतावच्छेदक अर्थात् रामत्व का भवगाहन नहीं हुआ है, तात्पर्य यह कि जहाँ रामरूप उपमेय लिपा ही हुआ है—में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी, यदि अनुभव का अर्थ निश्चय किया जाय तब भी 'कमलमिति चञ्चरीका—अर्थात् तेरे मुख को भ्रमर कमल और चकोर चन्द्रमा समझकर पीछे-पीछे दौड़ते हैं' इस भ्रान्तिर्यों के समूहरूप उल्लेखालङ्कार में उक्त भ्रान्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति रहेगी ही । यदि आप कहें कि यह उल्लेख है ही भ्रान्ति से मिश्रित, अतः उसमें यदि भ्रान्ति का लक्षण सहित हो जाता है तो वह होना ही चाहिये यह कोई दोष (अतिव्याप्ति) नहीं, तो यह भी समुचित नहीं हो सकता । कारण, दूध जलभाग से नियततः मिश्रित रहता है, अतः दूध का लक्षण ऐसा नहीं बनाया जाता जिसकी जलभाग में अतिव्याप्ति हो जाय । फलतः शीघ्रतज्जों के लक्षण को असङ्गत ही कहा जायगा ।

दीक्षितोद्भूतं भ्रान्तिविशेषोदाहरणमनूयालोचयति—

यच्चापि भिन्नकर्तृकोत्तरोत्तरभ्रान्तावुदाहृतम्—

'शिक्षानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बित चञ्चरीकै-

स्वसोह्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः ।

तल्लोपायालपन्त्य. पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-

रित्य चोलेन्द्रसिंह त्वदरिभृगादृशां नाप्यरप्यं शरण्यम् ॥' इति ।

यत्र विधायते—स्तनकलशयुगे हि न तावन्मञ्जरीसादृश्यं कविसमयसिद्धम्, येन तन्मूला चञ्चरीकाणां भ्रान्तिरूपनिबन्धेत । दोषान्तरमूला तु सा नालङ्कार इत्यनुपदमेव निरूपितम् । अपि च घर्मिणि कलशरूपकानुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिबन्धमानमुद्वेजकमेव सहृदयानाम् । नहि सादृश्यमूलैकालङ्कारावच्छिन्ने सादृश्यमूलालङ्कारान्तरं शोभते । यथा 'मुखकमलं तव चन्द्रवत् प्रतीप्तः' इति प्रागेव निवेदनात् । प्रत्युत कलशरूपकेण मञ्जरीसादृश्यतिरस्काराच्च । 'तत्रासोह्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः' इत्यत्र विधेयाविमर्शाद्विधेयान्तरमाकाङ्क्षितम् । कीरैर्दृष्टा इति तु भाव्यम् । जाता इत्यप्याहारोऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमविवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत । एव 'तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकैः' इत्यत्र न तावत्पिकनिनदास्ताडनयोग्याः काकानाम्, येन तादृश्या आलापन्त्यस्तैस्ताड्येण । नापि पिकनिनदधम आलापन्तीषु सम्भवति । सम्भवन्वा न सादृश्यमूलः । पिकनिकरधियेति तु भाव्यम् । अथ तदालापेषु पिकनिनदबुद्धेरपि तासु पिकबुद्धयुत्पादनद्वारा सम्भवत्येव ताडनोपयोग इति प्रयोज्यत्वार्थकृत्तीयया पिकनिनदधीप्रयोज्यका ककर्तृकताडनकर्मत्वमालपन्तीनां सुप्रतिपादमेवेति चेत्, नैवम् । तथा प्रतीतेरसिद्धेः । 'चौरबुद्ध्या हतः साधुः' इत्यादौ चौरबुद्धिहननयोः सामानाधिकरण्यात् हेतुहेतुमद्भाषणमकत्वव्युत्पत्तेः । एवं 'दन्तबुद्ध्या हतः शूर्पराहो वनगोचरः' इत्यत्रापि विशेष्यतया घराहृत्तेर्दन्तबुद्धेर्घराहृत्तिहेतुभावावगमः । स्वदुक्करीत्या दन्तबुद्धयेति कृते बोधकदर्थनैव । किं च पिकानां हि कूजितादिशब्दैरेव शब्दो षण्यते, न तु निनदादिशब्दैः सिंहदुन्दुभ्यादिशब्दप्रयोगयोग्यैः ।

तथा प्रथमद्वितीयचरणस्थयोः स्तनपाण्योर्यथाकथञ्चित् व्यवहितमपि जातान्वयमपि त्वदरिमृगदृशामिति पृष्ठथन्तमन्वेतु शक्नुयात्, न तु तृतीयचरणस्थे आलपन्त्य इत्यस्मिन् विशेषणे विशेष्यभावेनेति तासां ताटस्थमेव स्यात् । विभक्तिविपरिणतावपि प्रक्रमभङ्गासङ्गुलत्वाभ्यां स्थितमेवेति पद्यमव्युत्पन्ननिर्मितमेव । दीक्षितैस्तु भ्रान्त्यलङ्कारांशमात्रमादायोदाहृतमिति दिक् ।

भिन्नकर्तृकेति । भिन्न कर्ता यस्या तादृशी या उत्तरोत्तरभ्रान्तिस्तस्यामित्यर्थः । विविधव्यक्तिसमवेताया पूर्वपूर्वभ्रान्तिप्रयुक्ताप्रिमाप्रिमाभ्रान्ताविति यावत् । शिञ्जानैरिति । हे चोलेन्द्रसिंह चोलदेशनरेशमुख्य । त्वदरिमृगदृशा भवदीवरात्रुरमणीनाम्, त्वद्भयेन पलाय्य वनं श्रितैः शत्रुभिः सह गतानामिति यावत्, अरण्यं वनम्, अपि, शरण्यं शरणदायकम्, नाभूत् । यत, तत्र, शिञ्जानैर्गुञ्जि, चधरीकं भ्रमरैः, मञ्जरीति-बुद्ध्या, तासाम्, स्तनकलशम्, सुम्बितम्, तत्रासोज्ज्वलासलीला भ्रमरभयजननजातचेष्टा, तासां, पाणय, किसलयमनसां किसलया इमे इति चेतसा, कीरदृष्टा शुर्कदृष्टा तथा तज्जोपाय कीरदूरीकरणाय, आलपन्त्य वदन्त्यस्ता, काकलोकैः काकैः, पिकनिन्दधिया कोकिलकूजनबुद्ध्या, ताडिता आहता इत्यर्थः । अत्र स्तने मञ्जरीभ्रमो भ्रमरसमवेतः, तद्भ्रमोपद्रवशमनप्रयासहेतुक पाण्डु किसलयभ्रमः कीरसमवेतः, तद्भ्रमजनितोपद्रव-दूरीकरणप्रयत्नमूलक मृगाश्रीषु पिकनिन्दभ्रमः काकसमवेत इति भवतीदं पद्यम् अनेक-कर्तृकौत्तरोत्तरभ्रान्तेरुदाहरणमिति भावः । पद्यमिदमालौचयितुमुपपद्यते—तत्र विचार्यते इति । ननु यथाकथञ्चित् सादरयमप्यस्तीत्यत आह—अपि चेति । धर्मिणि स्तनस्ये । अलङ्कारावच्छिन्ने अलङ्कारविशिष्टे । मुखकमलमिति रूपकम् । अभ्युपेत्याह—प्रत्युतेति । 'शिञ्जानैः—' इति श्लोके वर्णितस्य स्तनकलशाधिकरणकस्य मञ्जरीभ्रमस्यालङ्कारत्वं नोपपद्यते, दोषान्तरमूलकस्य भ्रमस्यालङ्कारत्वानङ्गीकारात् । ननु सादरयमूलक एव स्तन-कलयो मञ्जरीभ्रम इति चेन्न, स्तने मञ्जरीसादरयस्य कविसमयासिद्धतया तन्मूलकस्य तत्र तद्भ्रमस्यासम्भवात् । ननु स्तने यत्किञ्चित् मञ्जरीसादरयमस्त्येव, कविसमयासिद्धत्वं तस्याधिकृतमेवेति चेत् ? तथास्तु । परन्तु न तावतापि प्रकृते सामञ्जस्यम्, अधिकारणे स्तने कलशारोपरूपे रूपके जाते तदनुवादेन मञ्जरीभ्रमस्यालङ्कारान्तरोपनिबन्धस्य सह-दयोद्वेजकत्वात् । 'मुखकमलं तव चन्द्रवत् प्रतीम' इत्यत्र मुखगतकमलरूपकमनूय चन्द्रोप-मेव सादरयमूलककालङ्कारविशिष्टे सादरयमूलकमेवालङ्कारान्तरं न शोभत इति तस्य सहदयोद्वेजकत्वं बोध्यम् । तुष्यदुदुर्जनन्यायेन स्वीकृतैःपि तादृशालङ्कारान्तरस्य सह-दयानुद्वेजकत्वे प्रकृते न गति स्तने कलशारोपणेन वस्तुतो मञ्जरीसादरयस्य तिरस्कृततयाऽ-नुदयादिति भावः, एवमाये दोषमुक्त्वा द्वितीये दोषमाह—तत्रासोज्ज्वलासिति । विधेयाविमर्शा-दिति । विधेयस्याकथनादित्यर्थः । उद्देश्यकोटिप्रविष्टं सर्वमिति भावः । अत्र—'पाणीनु-दिरय विशिष्टस्य कीरकर्तृकदृष्टत्वस्य विधेयत्वे को दोष इति चिन्त्यमिदम्' इति नागेश । अदोषप्रकारमाह—कीरैर्दृष्टा इति । अप्याहारेण विधेयपूर्तौ दोषमाह—जाता इत्यप्या-हारे इति । विवक्षितस्येति । दृष्टत्वस्येत्यर्थः । अविवक्षितस्येति । जातत्वस्येत्यर्थः । द्वितीय-चरणे पाणीनुदिरय दृष्टत्वस्य विधेयत्व विवक्षितं वक्तुं, परन्तु दृष्टत्वबोद्धव्यस्य सन्नात-पटकतया न तस्य विधेयतयाऽवगमः, अतोऽपरं त्रिचिद् विधेयमिहाकाङ्क्षितं भवति । 'कीरैर्दृष्टा' इत्येवमसमस्तपदविन्यासे वक्तुरभिमतं सेद्धमर्हति । ननु 'जाता' इत्यस्या-प्याहारेण विधेयकाङ्क्षाभ्रान्तिः सम्भवतीति चेत्, सत्यम्, किन्तु विधेयाकाङ्क्षाभ्रान्ता-

वपि वक्तुमभिप्रेतस्यासिद्धिरेव, यतो दृष्टत्वस्य विधेयत्वमभिप्रेतं वक्तुः । तथाकरणे तु न तस्य विधेयत्वमपि तु जातत्वस्येति दुष्टमेवास्य पद्यस्य द्वितीयं चरणमिति भावः । तृतीयं तन्माह—एवमिति । तावत् श्राद्धौ । दोषमूलं सम्भवनीत्याह—सम्भवन्वेति । अदोष प्रकारमाह—पिकनिकरेति । तृतीयचरणे पिकनिनदधीहेतुककाकर्तृकताडनकर्मत्वमाह पन्तीनामुपवर्णितम्, तच्च न युक्तम्, पिकनिनदस्यैव काकर्तृकताडनायोग्यतया तद्धी-हेतुकान्यताडनस्य काकर्तृकस्य सुतरामयोग्यत्वेनासम्भवात् । किञ्च तृतीयचरणगतपद-स्वारस्येन आलपन्तीषु काकानां पिकनिनदभ्रमो यत् प्रतीयते तदपि न सङ्गतम्, द्रव्या-त्मकव्यक्तौ गुणात्मकनितदभ्रमस्य सादृश्यमूलकस्यासम्भवात्, द्रव्यगुणयोः क्वचित्तमत-सादृश्यविरहात्, दोषान्तरमूलकस्य तादृशभ्रमस्य सम्भवेऽपि भ्रलङ्कारत्वायोगात् । 'पिक-निकरधिपा' इति पाठभेदभविष्यत्, तदा निर्दोषताऽसेत्त्यत्, यतस्तुत्यमाधुर्ययुक्ताब्द-वत्त्वात्मकसादृश्यमूलकं आलपन्तीषु पिकनिकरभ्रमः सम्भवति, तथा काकताडनयोग्य-पिकनिकरधीहेतुककाकर्तृकताडनकर्मत्वमपि तासु सुसङ्गतमिति भावः । यथास्थितपाठेऽपि दोषात्प्रहितमाशङ्क्य समाधत्ते—अधेत्यादिना । तदालापेषु इति । आलपन्तीनां मृग-दृशामालापेभिव्यर्थः । तृतीययेति । पिकनिनदधीपक्षोत्तरयेत्यर्थः । तथाप्रतीतेरिति । 'पिक-निनदधोप्रयोज्यकाकर्तृकताडनकर्माभूता आलपन्त्या' इति प्रतीतेरित्यर्थः । तथाप्रतीतेर-निर्दो हेतुमुपदर्शयति—चौरुद्धयेति । सामानाधिकरण्यानेति । विरोप्यतासम्बन्धेन यत्र (साधौ) चौरुद्धिं तत्र कर्मतासम्बन्धेन हनन इत्याकारकेष्वेत्यर्थः । तादृशं स्थलान्तर-माह—एवं 'दन्तिबुद्धये'ति । चौरैः धने दृष्टिपयमुपेतो वराहो गजभ्रमेण हत इति तदर्थः । दन्तिबुद्धयेति श्रुते इति । अत्र यद्यपि मूले । 'दन्तिबुद्धया' इत्येव पाठः प्राप्तपुस्तके ष्टः, तथापि नामी सङ्गत इति मूलोक्त- पाठान्तरं कल्पित । नाधिकालापेषु सादृश्यमूलकं पिकनिनदभ्रम सम्भवति, स च भ्रमो नाधिकालेषु सादृश्यमूलकं पिकनिनदभ्रमोऽपि परम्परया काकर्तृकनायिकाकर्मकताडने उपयुज्यत एवेति 'पिकनिनदधिपा' इत्यत्र तृतीयाविभक्ते- प्रयोज्यत्वमर्थमास्थाय 'पिकनिन-दधीप्रयोज्य-' इति प्रागुक्तबोधे क्रियमाणे नासङ्गतिं काचित्—इति शङ्कादलस्याभिप्रायः, 'चौरुद्धया-' इत्यत्र 'दन्तिबुद्धया-' इत्यत्र च सामानाधिकरण्यात् चौरभ्रमहननयोः दन्ति-भ्रमहननयोश्च हेतुहेतुमद्भावस्यानुभवसिद्धतया 'पिकनिनदधिपा' इत्यत्रत्यतृतावायाः प्रयो-ज्यत्वार्थकत्वात्मन्धे प्रागुक्तो बोधो न सेदं प्रभवतीति च समाधानदलस्याभिप्रायो बोध्यः । दोषान्तरमपि दर्शयति—किं चेति । शब्दप्रयोगयोग्यैरिति । शब्दे प्रयोगयोग्यैरित्यर्थः । 'पक्षिषु कूजितप्रायम्' इति कविमयानुसारं पिकानां शब्दः कूजितादिशब्दैरेव वर्णयितुमुचितः, न तु निनदादिशब्दैः, निनदादिशब्दानां सिंहदुन्दुभ्यादीनां शब्देष्वेव प्रयोगस्य कविसमय-मिदन्त्वादिति भावः । अपरामप्यनुपपत्तिमुद्गाठयति-तथेति । स्नारसिकयोरसत्त्वाकाङ्क्षयो-रभावादाह—यथाश्रयविति । जातान्वयेति । नाप्यरप्यं शरप्यमिति संनिहितेनेति भावः । नत्विति । विभिन्नविभक्तिरत्वात्स्वदिग्मन् स्वमेद्राभावाच्चेति भावः । न्तु विभक्तिविपरिणामेना-भेदान्वयः सुलभोऽत आह—विभक्तीति । नन्वेव दीक्षितैः क्यमुदाहरणत्वेनोद्भूत पद्यमेत-दित्यत आह—दीक्षितैरिति । अन्वयबोधं प्रति आसत्त्वाकाङ्क्षयो कारणत्वं सर्ववादि-सिद्धम्, तथा च प्रकृतपरीयचतुर्ध्वचरणघटकस्य 'मृगदृशाम्' इति पद्यन्तपदस्यार्थ-आसन्नेत साक्षाद्भेदेन च 'नाप्यरप्यं शरप्यम्' इत्यस्यार्थेन सहैवान्वेत्तुं यद्यपि योग्य, तथापि तुष्यद्दर्शनन्वायेन श्रत्वारमिक्त्वावपि आसत्त्वाकाङ्क्षे कल्पयित्वा उक्तपद्यान्ता-

यस्य प्रथमद्वितीयचरणषट्कस्तनपाणिपदार्थान्वया सहान्वय कथञ्चिदुपपादयितुं शक्यः । किन्तु तृतीयचरणस्यभिन्नविभक्तिरुपदबोध्यालपशायिकारमके विशेषणे विशेष्यतयोक्त-पष्ठ्यन्तपदार्थान्वयः कथमपि नोपपादयितुं शक्यः । अभिमतस्तु तदन्वयोऽपि वक्तुरिति 'अभयन्मतसम्बन्ध'-अपि महादोषोऽस्मिन् पद्ये । विभक्तिविपरिणामेनान्वयमुपपाद्य तदो-पनिरासेऽपि, भ्रमप्रक्रमताऽऽगुल्यताऽन्या दोषाभ्यामादान्तमेव पद्यमेतत् इति भावः । इत्यद्याव्युत्पन्नकविरचितमिदं पद्यं दीक्षितेन परमव्युत्पत्तेन स्वप्रन्ये नोद्धर्तुमुचितम् इति साराशः ।

भ्रान्ति विशेष के उदाहरण देने के क्रम में दीक्षित द्वारा उद्धृत एक पद्य की आलो-चना की जाती है—यद्यापि इत्यादि । और जो दीक्षितजी ने भिन्न-भिन्न व्यक्ति को एक के बाद दूसरा इस क्रम से होनेवाले भिन्न-भिन्न तरह के उदाहरण में 'शिक्षानं—अर्थात् गूँजते हुए भ्रमरों ने मंजरी समझकर कलशरूप स्तनयुगल को चूम लिया । भ्रमरों के भय से नाना तरह की चेष्टाओं को करनेवाले हाथों को शुकों ने पल्लव समझकर काट खाया । शुकों को हटाने के लिये बोलती हुई रमणियों को कोयलों के शब्द समझकर कौबों ने ताड़न करना शुरू किया । हे बोलनेवालों में सिंह ! तेरे शत्रुओं की मृगाची नायिकाओं को वन में भी शरण नहीं मिल सकी ।' यह पद्य उद्धृत किया है उस पर विचार किया जाता है । प्रथम तो कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी का सादर्य कवि समुदाय-सिद्ध नहीं है कि उसको मूल बनाकर भ्रमरों के भ्रम का वर्णन किया जाय । और यदि किसी अन्य (सादर्य से भिन्न) दोष के कारण भ्रमरों को कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी का भ्रम हुआ हो तो वैसा भ्रम अलङ्काररूप नहीं होता—यद्यत्त अभी थोड़े ही पहले निरूपित हो चुकी है । यदि आप कहें कि स्तनयुगल में मंजरी का कुछ न कुछ सादर्य हो ही सकता है, रही बात उसके कविसमुदायसिद्ध न होने की, सो यह कुछ नहीं, तो मैं भी आपकी बात मान लेता हूँ, पर तब भी कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी-भ्रम की उक्ति उचित नहीं, क्योंकि स्तनरूप धर्मी में कलश के रूपक का अनुवाद करके मंजरीभ्रमरूप अन्य अलङ्कार की कल्पना सहृदयों को उद्विग्न ही बनाती है । उद्विग्न बनाये भी क्यों नहीं, कारण, सादर्यमूलक एक अलङ्कारवाले पदार्थ में सादर्यमूलक ही दूसरा अलङ्कार शोभित नहीं होता, जैसे कि 'तेरे मुत्त-कमल को हम चन्द्र सा समझते हैं' इत्यादि में । तात्पर्य यह कि जैसे मुत्त में कमलरूपक हो जाने के बाद उसी में चन्द्रो-पमा नहीं सुन्दर प्रतीत होती, उसी तरह प्रकृत में स्तन में कलशरूपक हो जाने के बाद उसी में मंजरीभ्रम नहीं अच्छा लगता है । प्रत्युत कलशरूपक द्वारा मंजरीसादर्य का तिरस्कार हो जाता है अर्थात् स्तन को कलश के समान मान लेने पर मंजरी के समान मानना बनता नहीं है । यह तो हुई प्रथम चरण की बात । अब द्वितीय चरण को लीजिए । द्वितीय चरण के 'कीरदृष्टा' पद में 'विधेयाविमत्ता' दोष है—अर्थात् हाथों को उद्देश्य बनाकर 'दृष्टता' का विधान करना कवि का अभीष्ट है, पर 'दृष्टता' बोधक 'दृष्टा' पद 'कीर' पद के साथ समस्त कर दिया गया है जिससे 'दृष्टता' का विधेय होना अवगत नहीं हो पाता क्योंकि स्वतन्त्र पदार्थ का ही विधेयभाव अवगत होता है यह एक स्वाभाविक नियम है, अतः यहाँ किसी दूसरे विधेय की आकांक्षा बनी ही रहती है । वस्तुतः यहाँ 'कीरदृष्टा' ऐमा असमस्त ही होना चाहिए था । यदि 'कीरदृष्टा' के साथ 'जाता' पद का अध्याहार करके विधेयपूति की चेष्टा की जाय तब 'विनायकं प्रकुर्वाणो रक्षयामास वानरम्' हो जायगा—अर्थात् जिस 'दृष्टता' का विधान करना चाहते थे वह विधेय नहीं होता और जिसका विधान नहीं करना चाहते थे वह 'जाता' पद का अर्थ विधेय हो जायगा । इसी प्रकार तृतीय चरण में—प्रथम तो कोकिलों के शब्द ही कौबों के ताड़न करने योग्य नहीं—क्या कोई शब्दों की ताड़ना कर सकता है ? नहीं, फिर उनके भ्रम से दूसरों की (बोलनेवालों की) ताड़ना कैसे की जा सकती है ? और बोलनेवालों

में कोकिलों के शब्दों का भ्रम हो नी नदी सकता। अभिप्राय यह कि द्रव्य (बोलने-वाली नायिकाओं) में गुण (शब्दों) का भ्रम सादृश्यमूलक नहीं सम्भव है और अन्यदोषमूलक भ्रम सम्भव होकर भी बलद्वाररूप ही नहीं माना जाता है। वस्तुतः यहाँ 'पिकनिनदधिपा (कोकिलों का समूह समझकर)' पाठ होना चाहिए। इस पाठ में सब बातें ठीक हो जाती हैं अर्थात् बोलनेवालीयों में समानशब्द मातुर्यरूप सादृश्य-मूलक कोकिलसमूह का भ्रम भी हो सकता है और कोकिलसमूह के कौशों द्वारा ताड़न योग्य होने से कोकिलसमूहभ्रम के कारण बोलनेवालीयों का कौशों द्वारा ताड़न भी हो सकता है। आप कहेंगे—नायिकाओं की वाणियों में कोकिलों के शब्दों का भ्रम सादृश्यमूलक होगा और वह भ्रम नायिकाओं में कोकिलों के भ्रम को उत्पन्न करेगा, इस तरह से नायिकाओं की वाणियों में होनेवाले कोकिलशब्दभ्रम का भी परम्परया उपयोग काक द्वारा नायिकाओं के ताड़न में हो सकता है, अतः 'पिकनिनदधिपा' पद में आई हुई तृतीया विभक्ति का 'प्रयोज्यता (सिद्ध होने योग्य होना)' अर्थ मानकर उस वाक्य का 'कोकिलों के शब्दों का भ्रम जिसका परम्परया साधक है ऐसी कौशों द्वारा की जानेवाली ताड़ना का कर्म बोलने वाली' यह अर्थ सहज में ही प्रतिपादित हो सकता है, अतः कोई गड़बड़ी इस चरण में नहीं है। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् उक्त प्रकार से उस वाक्य का अर्थ नहीं किया जा सकता। कारण, 'चौर के भ्रम से साधु मार डाला गया' इत्यादि स्थलों में चौरभ्रम तथा हनन में सामानाधिकरण्येन अर्थात् साक्षात् ही कारण-कार्यभाव का अवगत होना नियमसिद्ध है। इसी तरह 'वीरों ने सूकर को हाथी के भ्रम से घन में मार डाला' इस वाक्य में भी विशेष्यतासम्बन्ध से सूकर में रहनेवाले हाथीभ्रम का सूकर में कर्मतासम्बन्ध से रहनेवाले हनन के प्रति हेतु होना अवगत होता है। आपके हिमाव से यदि 'हाथी के भ्रम से' की जगह 'हाथीदाँत के भ्रम से' कह दिया जाय तब तो बेचारे बोध की मिट्टी पलीद होगी—अर्थात् 'हाथीदाँत के भ्रम से वीरों ने सूकर को मारा' ऐसा ही वाक्य रचना जाय और उसकी व्याख्या यों की जाय कि सूकर के दाँत में हाथीदाँत का भ्रम सूकर में हाथी के भ्रम को उत्पन्न करेगा, अतः सूकर के दाँत में हाथीदाँत का भ्रम भी सूकर के हनन में परम्परया उपयोगी होता ही है, फिर 'प्रयोज्यत्व' 'दन्तबुद्ध्या' पदगत तृतीया का अर्थ मानकर उक्त रीति से अर्थबोध किया जाय तो वह अर्थबोध क्या होगा? अर्थबोध का उपहासमात्र होगा। सारांश यह कि जब 'चौरबुद्ध्या' 'दन्तबुद्ध्या' इत्यादि स्थलों में चौरबुद्धि (चौरभ्रम) और हनन में एवं दन्ति बुद्धि और हनन में साक्षात् ही कारण-कार्यभाव अनुभवमिद है अर्थात् हननरूप कार्य के प्रति चौरभ्रम तथा दन्ति-भ्रम का साक्षात् कारण होना ही विदित होता है तब 'पिकनिनदधिपा' में भी ताड़न के प्रति पिकनिनदध्रम का साक्षात् कारण होना ही समझा जायगा और जब साक्षात् कार्यकारणभाव ही इन सब जगहों में होगा तब 'प्रयोज्यत्व' तृतीया का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह परम्परया साधक होनेवाली स्थिति में माना जाता है। फलतः ऐसी जगहों में 'हेतुता' ही तृतीया का अर्थ माना जायगा और उस अर्थ के अनुसार प्रकृत में वाक्यार्थ बैठ नहीं सकता, क्योंकि पिकनिनदधुद्धि काक द्वारा नायिकाताड़नरूप कार्य के प्रति हेतु (साक्षात् कारण) होती नहीं, आप दावा करेंगे—उन्हीं दो पदार्थों में कार्य-कारणभाव होता है जो किसी एक अधिकरण में रहते हों, जैसे घट के प्रति दण्ड इसलिये कारण होता है कि वे दोनों ही कपाल (घड़े के दो टुकड़ों) में रहते हैं अर्थात् घट समवायसंबन्ध से और दण्ड सयोगसंबन्ध से कपालरूप एक अधिकरण में रहते हैं, फिर यहाँ जो चौरभ्रम को कारण और हनन को कार्य बतलाते हैं वह कैसे? क्योंकि भ्रम समवायसंबन्ध से आत्मा में और हनन (क्रिया) कर्मतासंबन्ध से साधु आदि में रहनेवाले हैं, तो इसका समाधान

आपको यह समझना चाहिए कि जिस साधु आदि में 'कर्मता'संबन्ध से हुनन रहता है उन साधु आदि में ही 'विशेष्यता'संबन्ध से उक्त भ्रम भी रहता है अतः उक्त कार्य-कारणभाव के होने में किसी तरह की बाधा नहीं। इसके अतिरिक्त इस पद्य में और भी दोष है, जैसे—कोकिल आदि पक्षिजातीय प्राणियों के शब्द 'कूजित' आदि शब्दों से ही वर्णित होते हैं, न कि 'निनद' आदि शब्दों से, क्योंकि वे शब्द सिंह, नगाड़े आदि के शब्दों में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं। अतः 'विकनिनद' में 'व्यातिविरुद्धता' दोष है। इसी तरह प्रथम तथा द्वितीय चरण में आये 'स्तनों' और 'हाथों' के साथ किसी तरह, दूर होने पर भी तथा दूसरे शब्द (शरण्यम्) के अर्थ के साथ अन्वित हो चुकने पर भी चतुर्थ चरण के 'मृगदशाम्' इस पद्यन्त पद का अर्थ अन्वित हो सकता है, ['किसी तरह' कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः ऐसा भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति आसक्ति (साक्षिभ्य) और आकांक्षा का ज्ञान कारण होता है और यहाँ 'मृगदशाम्' के अर्थ की आसक्ति और आकांक्षा 'शरण्यम्' पदार्थ के साथ ही है, तथापि अन्वय द्वारा स्तनों और हाथों के साथ भी उन दोनों के ज्ञानरूप कारण की कदपना कर ली जा सकती है] पर तृतीय चरण में आये 'आलपन्वयः' इस प्रथमान्त विशेषणपदार्थ के साथ विशेष्यरूप से उस पद्यन्त पद के अर्थ का अन्वय किसी तरह नहीं हो सकता। अतः इस विशेषण के साथ 'मृगाक्षिणों' की तटस्थता ही हो जाती है—वह उनके साथ किसी तरह नहीं जुड़ सकता। और उसके साथ भी उसका जुड़ना कवि को इष्ट था। फलतः यहाँ 'अभयन्मतसम्बन्ध' दोष है। इतने पर भी यदि आप विभक्ति बदलकर अन्वय कर भी दें, तथापि 'भ्रमप्रकमता' (दो चरणों में 'मृगदशाम्' पद्यन्त होना और एक में प्रथमान्त होना) एव 'असंप्लुता' (जबदृष्टावदपन) ये दोष रह ही जाते हैं। अतः यह पद्य किसी अक्षुण्ण जन का ही बनाया हुआ है। दीक्षितजी ने 'भ्रान्तिमदलङ्काराश' मात्र को लेकर इस पद्य को उदाहरणरूप से अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया है।

सर्वस्वकारोक्तं लक्षण परीक्षते—

यत्त्वलङ्कारसर्वस्वकृता लक्षितम्, 'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इति तत्र । प्रागुक्ते सशयालङ्कारे बह्यमाणायामुत्प्रेक्षायां चातिप्रसङ्गात् । प्रतीतिपदस्य निश्चयपरत्वे रूपकवित्तावतिप्रसङ्गात् । विषयतावच्छेदकानवगाहित्वेन निश्चयो विशेषणीय इति चेत्, विशेष्यताम् । तथाप्यतिशयोक्तिवित्तावतिप्रसक्तिवारितैव । अनाहार्यत्वेन निश्चयविशेषणत्वे पुनरस्मदुक्त एव पर्यवसितिः, मतुषर्थासङ्गतिश्च ।

'सादृश्याद्वेतोर्वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्य प्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इत्यर्थक मूलोक्तं सर्वस्वकारोक्तं लक्षण न सम्यक्, तत्रत्यप्रतीतिपदस्य ज्ञानसामान्यार्थकत्वे संशयालङ्कारे उत्प्रेक्षा-लङ्कारे चातिव्याप्ते, तत्रापि सादृश्यमूलिकाया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्य 'प्रतीति' सत्त्वात्, तत्रत्यप्रतीतिपदस्य निश्चयार्थकत्वे संशयसम्भावनारूपयोस्तयो रतिव्याप्तेर्वारोऽपि रूपकस्य वित्तौ (ज्ञाने) अतिव्याप्तेस्तादवस्थाच्च । उपमेयतावच्छेदकाविषयको निश्चय इति तात्पर्ये चर्चमाने रूपकवित्तावन्तिव्याप्तिर्विद्यपि वारिता भवति, तथापि अतिशयोक्तिवित्तौ या तिष्ठयेव, तत्र उपमेयतावच्छेदकानवगादिनो निश्चयस्य वर्तमानत्वात् । अनाहार्यो निश्चय इत्याशयोपवर्णने यद्यपि सौऽपि दोषो निरस्तो भवति, तथापि तदा न सर्वस्वकारस्य विज्ञयोऽपि तु मर्मैव, अस्मदुक्तलक्षण एव तदुक्ते पर्यवसानात् । किंच 'भ्रान्तिमान्' इत्यपरमनुषर्षस्यासङ्गतिस्तथापि, भ्रान्तिमात्रस्यैव तल्लक्षणविपर्ययत्वादिति भावः । आशेषस्तु

‘शनाहार्यत्वेन’ इति प्रतीकमुपादाय ‘नन्वेनमपि कथमतिशयोक्तावतिव्याप्तिवारणम् । तत्पामनाहार्याभिदज्ञानत्पैव सर्वतन्तत्वात् प्रागुक्तत्वाच्चेति चेत्, चिन्त्यमेतत् ।’ इत्याचष्टे ।

सर्वस्वकारकृत लक्षण की आलोचना की जाती है—यत् इत्यादि । ‘अलङ्कारसर्वस्वकार’ ने जो ‘भ्रान्तिमान्’ का ‘सादरयात्—अर्थात् सादरय के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति को ‘भ्रान्तिमान्’ अलङ्कार कहते हैं’ यह लक्षण किया वह ठीक नहीं है । कारण, इस लक्षण की पूर्वोक्त ‘सन्देहालङ्कार’ और आगे कहे जानेवाले ‘उपेयालङ्कार’ में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सन्देह तथा सम्भावना भी प्रतीतिरूप है । यदि आप कहें कि—‘प्रतीति’ शब्द का अर्थ यहाँ ‘निश्चय’ है—केवल ज्ञान नहीं, अतः यह दोष नहीं हो सकता, तो तथापि रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी । आप कहेंगे—इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये ‘निश्चय’ में विषयतावच्छेदज्ञानवगाही—अर्थात् उपमेयतावच्छेदक (मुख्य भाद्रि) को जो विषय नहीं बनाता हो—यह विशेषण जोड़ दें, तो जोड़िए, पर तब भी अतिशयोक्तिज्ञान में होनेवाली अतिव्याप्ति का वारण नहीं ही हो सकेगा, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक का अवगाहन नहीं किया गया रहता है । अथ यदि आप ‘निश्चय’ में ‘अनाहार्य’ विशेषण लगाना चाहें, तब दोष का वारण तो होगा, पर आपके लक्षण की समाप्ति भी तब मेरे लक्षण में ही हुई । फलतः सर्वस्वकार के लक्षण में इतनी न्यूनता है ही । और इतना सब करने पर भी यह लक्षण ‘भ्रान्तिमान्’ का नहीं, अपितु ‘भ्रान्ति’ का हुआ, अतः ‘मत्पु (मान्)’ का अर्थ तब भी असद्रत ही रहा ।

भ्रान्त्यलङ्कारे साधारणधर्मस्थिति विचारयति—

तत्र ‘कनकद्रवकान्तिकान्तया’ इत्यत्र सीतातडितोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः । युतत्वमिलितत्वयोश्च शुद्धसामान्यरूपता ।

‘रामं स्निग्धतरस्यामं विलोक्य वनमण्डले ।

धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः ॥’

अत्र स्निग्धत्वस्यामत्वयोरनुगामित्वम् ।

अत्रेति । उक्तोदाहरणानां मध्ये इत्यर्थः । भ्रान्त्यलङ्कारेऽपि साधारणधर्मां प्राग्बदनेकविधा भवन्ति । तत्र ‘बनकद्रवे’ति पद्ये सीतातडिते बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने राती साधारणधर्मता प्रतिपद्येते । युतत्वमिलितत्वे च शुद्धसामान्यरूपे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने इति भावः । अनुगामिधर्मोदाहरणमाह—राममिति । शिखावला मयूरा, वनमण्डले, स्निग्धतरस्यामं चित्रचमय च श्यामलम्, रामम्, विलोक्य, धाराधरधिया मेघभ्रमेण, धीरं यथा स्यात्तदा नृत्यन्ति स्म ननृतिरे इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । स्निग्धत्वं श्यामत्वञ्च रामधाराधरयोरनुगामिनी साधारणधर्माविति भावः ।

‘भ्रान्ति’ अलङ्कार में साधारणधर्म की स्थिति क्या है इसका विचार अब किया जाता है—यत्र इत्यादि । ‘भ्रान्ति’ अलङ्कार में भी साधारणधर्म पूर्ववत् अनेक प्रकार के रहते हैं । उनमें से ‘कनकद्रव—’ इस पूर्वोक्त उदाहरण में ‘सीता’ और ‘विद्युत्’ में विषय प्रतिबिम्बभाव है और ‘युतत्व’ तथा ‘मिलितत्व’ में शुद्ध सामान्यरूपता—अर्थात् वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है । ‘रामं स्निग्धतरस्यामम्—अर्थात् मयूर, वन में, अतिस्निग्ध श्याम-वर्णवाले रामचन्द्र को देखकर, मेघ के भ्रम से, मन्द-मन्द, नाचने लगे ।’ इस पद्य में ‘स्निग्धता’ और ‘श्यामता’ ये दो धर्म अनुगामी हैं—अर्थात् ये दोनों धर्म पुरुष से राम तथा मेघ में अन्वित होनेवाले हैं ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां भ्रान्तिमदलङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

भ्रान्तिमदलद्वारनिरूपणानन्तरमिदानीमुल्लेखालद्वारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथोल्लेखः—

उल्लेखालद्वारनिरूपण प्रारब्ध वेदितव्यमिति भाव ।

‘भ्रान्तिमान्’ अलंकार के निरूपण के बाद अब ‘उल्लेख’ अलंकार के निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि । अब ‘उल्लेखालद्वार’ का निरूपण आरब्ध होता है । तल्लक्षणमादी वृत्ते—

एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद्यनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः ।

अनेककर्तृकम्, अनेकप्रकारकम् एकविशेष्यकम् यत्तकारणकं ज्ञानम् स उल्लेखइति भाव । सर्वप्रथम ‘उल्लेख’ का लक्षण किया जाता है—एकस्य इत्यादि । एक वस्तु का, अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का सकारण ज्ञान ‘उल्लेख’ कहलाता है—अर्थात् उस ज्ञान को ‘उल्लेख’ कहा जाता है जिसके कर्ता एक से अधिक व्यक्ति हों और जिसमें विशेष्य एक तथा विशेषण अनेक हों एवम् जो सकारणक हो ।

लक्षणे योजिताना विशेषणानाम् फलान्याचष्टे—

‘अवरं विम्बमाज्ञाय मुखमञ्जं च तन्वि । ते ।

कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां सुदम् ॥’

अत्र कीरचञ्चरीकाभ्यामधरवदनयोर्विम्बत्वेन पद्मत्वेन च ग्रहणे भ्रान्तिरूपेऽतिप्रसङ्गवारणायैकस्य वस्तुन इति । ‘धर्मस्यात्मा भागधैर्यं क्षमायाः’ इत्यादि-मालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वकं ग्रहणविशेषणम् ।

‘नृत्यस्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-

रालोकालोकभूमीधरमतुलनिरालोकभावं प्रयाते ।

विश्रान्ति कामयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोकाः

कोकाः ऋन्दन्ति शोकानलविकलतया किं च नन्दन्त्युल्लाः ॥’

अत्र धूलिजालरूपस्यैकस्य वस्तुनोऽनेकैर्लोककोकोल्लोकैर्ग्रहीतृभिरनेकैर्नैव रजनीत्वरूपेण प्रकारेण ग्रहणमिति तत्रातिप्रसङ्गवारणायानेकप्रकारकमिति । ग्रहणमिति ग्रहणसमुदायो विवक्षितः । एकत्वं जातो । अनेकग्रहीतृकस्यैकस्य ग्रहणस्याप्रसिद्धेः । तेन द्वयोर्ग्रहणं वा ग्रहणं निमित्तवशादिति तु वस्तु-कथनमात्रम् ।

विशेष्यभूते वस्तुनि एकविशेषणस्य फलमाह—अधरमिति । हे तन्वि कुराहि । ते, अधरम्, विम्बम्, आशाय ज्ञात्वा, कीरा शुका, तथा, ते, मुखम्, अञ्जम्, कमलम्, आशाय, चञ्चरीका भ्रमरा, च, परमाम् उत्कृष्टाम्, सुदम् हर्षम्, विन्दन्ति लभन्ते इति तदर्थं । उपपादयति—अत्रेति । ‘अधरम्—’ इति पद्ये कीरकर्तृकम् अधरविशेष्यकं विम्ब-त्वप्रकारकम् एकम्, द्वितीयं चञ्चरीकर्तृकम्, मुखविशेष्यकम् अञ्जत्वप्रकारकम्, ज्ञान वर्णितम् । ज्ञान्द्वयमप्येतद् भ्रमरूपम् भ्रान्तिमदलद्वारताप्रयोजकम् । तत्र प्रवृत्तोल्लेख-लक्षणं नानिव्याप्त्यति तल्लक्षणे विशेष्यभूतस्य वस्तुनो विशेषणमेकत्वमुपात्तम् । एपात्ते च तस्मिन् प्रवृत्तवर्णितज्ञानविशेष्ययोः अधरमुखयोर्वस्तुद्वयात्मकतयाऽतिव्याप्तिविरिता भवतीति भाव । लक्षणेऽनेककर्तृकस्य ग्रहणविशेषणस्य योजने फलमाह—धर्मस्यात्मा इति । ‘धर्मस्यात्मा—’ इति मालारूपकेऽपि राजरूपैकविशेष्यकम् धर्मात्मत्वाद्यनेकप्रकारकं ज्ञान वर्णितमन्तीति तत्रोल्लेखलक्षणातिव्याप्तिर्न भवतिविति अनेककर्तृकत्वार्थकम् ‘अनेकैर्ग्रही-

तृभिः' इति ज्ञान-विशेषणं योजितम् । तथा च न तत्रातिव्याप्यवकाशः, तत्रत्यज्ञानस्यैक-
कर्तृकत्वात् । नन्वेवं बहुवचनान् आदिकर्तृकज्ञान एव लक्षणसंगतिः, न द्विकर्तृकज्ञाने इति
चेन्न, बहुवचनसमाविनशितत्वात्, प्रकृत्यंशतश्चाधिककर्तुरेव लभादिति भावः । अनेक-
प्रकारकत्वस्य ग्रहणविशेषणस्य निवेशे फलसुपदर्शयति—नृत्यदिति । हे राजन् । नृत्यताम्
मण्डलाकारेण भ्रमताम्-स्वदाजिनाम् त्वदीयाश्चानाम्, राजे समूहस्य, प्रखरैस्तीक्ष्णैः
खुरपुटैः खुराप्रभागैः, प्रोद्धतैरुत्पाद्योच्छ्वालितैः, धूलिजालैः रजःपुञ्जैः, आलोकालोकभूमि-
धरम् लोकालोकनामकपर्वतपर्यन्तम्, भूतलैः, अतुलनिरालोकभावम् अत्यन्तनिष्प्रकाशभावं,
प्रयाते गते संति, रजनि रात्रिः, समागता, इति धिया, सर्वे लोकाः मनुष्याः, विभ्रान्तिम्
विभ्रमम्, कामयन्ते इच्छन्ति, फोका चक्रवाकाः, शोकानलेन विकलतया, क्रन्दन्ति, किं च,
उल्लुकाः, नन्दन्ति प्रसिद्धान्तिवर्धः । उपपादयति—अनेति । नृत्यदितिपदान्तिते लोक-
दात्रीलूकरूपानेकव्यक्तिकर्तृके धूलिजालरूपैकविशेषके रजनीत्वरूपैकप्रकारके ज्ञानेऽति-
प्रसङ्गनिरासायानेकप्रकारकमिति ग्रहणविशेषणमिति भावः । लक्षणघटकग्रहणपदं व्याचष्टे—
ग्रहणमिति । ग्रहणपदस्य ज्ञानसमूहोऽर्थो बोध्यः । नन्वेव ग्रहणातीति बहुवचनान्तं पदं
प्रयोज्यमुचितमित्यत आह—एकत्वमिति । ज्ञानत्वज्ञानवच्छिन्नबोधनायैकवचनान्तोऽपि
प्रयोगो न दोषावह इति भावः, एकवचनान्तस्य ग्रहणपदस्य ग्रहणसमूहोऽर्थो नोपरिष्ठाद्
व्याख्येयोऽपि तु प्रकृते स एवोचित इत्याह—अनेक इति । एकवस्तुविशेषकत्वानेकप्रकार-
कत्वस्येत्यादिः । ज्ञातृभेदेन ज्ञानभेदस्य नित्यसिद्धतया अनेकज्ञातृकैकज्ञानस्याप्रसिद्धत्वाद्
ग्रहणपदस्य प्रकृते ज्ञानसमूह औचित्यबललब्ध एवार्थ इति भावः । फलितमाह—तेनेति ।
अनेकग्रहीतृकैकग्रहणस्याप्रसिद्धत्वेन हेतुनेति तदर्थः । 'ग्रहीतृभिः' इत्यत्र बहुवचनस्याविद-
क्षितत्वस्योक्ततया । द्विग्रहीतृकस्थलासुरोधेनाह—द्वयोरिति । ज्ञानयोरिति भावः । द्वयधिक-
ग्रहीतृकस्थलासुरोधेनाह—बहूनामिति । ज्ञानानामिति भावः । ग्रहणमिति । बोध इत्यर्थः ।
एकत्वनान्तादपि ग्रहणपदादिति भावः । भवतीति शेषः । ननु 'निमित्तवशात्' इति
विशेषणं लक्षणोऽव्याप्यतिव्याप्तिनिरासाय अन्यथा वा ? आद्ये वृत्तो न तत्कलोपन्यासः ?
द्वितीये व्यर्थविशेषणघटितत्वं लक्षणस्येत्यत आह—निमित्तेति । अव्याप्यतिव्याप्तिनिरास-
कत्वाभावेऽपि न निर्निमित्तं ज्ञानं भवतीति वस्तुस्थितिस्फोरणाय सार्थकतया न व्यर्थ-
विशेषणघटितत्वं लक्षणस्येति भावः । अत्र "न च कीर्त्ता विरहूर्तिमत्यां ते मृणात्क्षीर-
शङ्खिनः । द्वयेऽपि नागास्तन्वन्ति जिहान्तोल्लोलनं मुहुः ॥" इति भ्रान्तिमदुदाहरणे एकस्या
एव कीर्त्तनेनेन कुञ्जरभुजगरूपेण ग्रहीत्रा मृणात्क्षीरपत्नानेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति,
तत्रातिव्याप्तिनिरासाय निमित्तभेदादित्यर्थं निमित्तवशादित्यावश्यवम् । तत्र कीर्त्तिगतं
धावत्यमेकमेबोल्लेखद्वयेऽपि निमित्तमिति वाच्यम् । रत्नप्रियाहारलिप्साहूपनिमित्तभेदस्यापि
तत्र रत्नेन संग्राह्यत्वादिति भावः ।" इति नागेशः ।

लक्षण में लगाने गए भिन्न-भिन्न विशेषणों के फल दिखलाने के लिये कहा जाता है—अधरम् इत्यादि । 'अधरम्-अर्थात् हे कृष्णाङ्गि ! तेरे अधर को विम्बफल और मुख को कमल समझकर सुगमे तथा मीरे परम हर्ष को प्राप्त करने हैं ।' इस पद्य में दो ज्ञानों का वर्णन है । एक वह जिसमें सुगमों द्वारा अधर को विम्बफल समझा गया है और दूसरा वह जिसमें मीरों द्वारा मुख को कमल समझा गया है । ये दोनों ही ज्ञान भ्रमात्मक होने के कारण 'भ्रान्तिमान्' अलंकार के विषय हैं । इन ज्ञानों के समूह में प्रस्तुत 'उल्लेख-लक्षण' की अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'एक वस्तु का—अर्थात्—एक विशेषक' यह विशेषणभाग जोड़ा गया है । उस विशेषण के जोड़ने पर अतिव्याप्ति

हसलिये नहीं होती कि यहाँ एक वस्तु का नहीं, अपितु अधर तथा मुख इन दो वस्तुओं का ज्ञान वर्णित है। 'धर्मस्यात्मा—अर्थात् यह राजा धर्म की आत्मा है, चमा का भाव है' इत्यादि पूर्वोक्त मालारूपक में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लक्षण में 'अनेक ज्ञाताओं द्वारा (अनेककर्तृक) यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। उक्त मालारूपक में ज्ञाता एक है, अनेक नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि—'अनेकैर्ग्रहीतृभिः' इस मूल पद में बहुवचन वक्त्र (लक्षणकार) का अभीष्ट नहीं है, अतः एक से अधिक ज्ञाता का होना ही अपेक्षित है और एक से अधिक ज्ञाता दो ज्ञाताओंवाले स्थल में एवम् बहुत ज्ञाताओंवाले स्थल में समानरूप से हो सकता है। फलतः दोनों ही स्थलों पर उल्लेखालंकार होगा। 'नृत्यत्वद्वाजि—अर्थात् हे राजन्! आपके अश्वों के समूह के तीव्र गुराग्रभागों से उड़ते धूलिसमूहों द्वारा, 'लोकालोक' पर्वत पर्यन्त—अर्थात् समस्त संसार में—ऐसा प्रकाश का अभाव हो गया कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अतः 'रात्रि हो गई' यह समझकर पृथिवीतल पर सब लोग विभ्रम चाह रहे हैं, शोकान्नि से विकल होने के कारण चक्रे रो रहे हैं और उल्लू भानन्द मना रहे हैं।' यहाँ धूलि-समूहरूप एक वस्तु में लोक, चक्रवाक और उल्लू इन अनेक ज्ञाताओं द्वारा किए जाने वाले स्वरूप एक-विषयक-ज्ञान में अतिव्याप्ति वारणार्थ लक्षण में 'अनेकप्रकारक' यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। इस विशेषण के लगने पर अतिव्याप्ति इसलिये नहीं होती कि यहाँ प्रकार (विशेषण) एक ही (रात्रिस्व) है, अनेक नहीं। 'ज्ञान' शब्द से लक्षण में 'ज्ञान का समूह' कहना अभीष्ट है। कारण, अनेक ज्ञाताओं द्वारा किया जानेवाला ज्ञान एक ही नहीं सकता—अर्थात् ज्ञाता के भेद से ज्ञान भी भिन्न हो ही जाता है। आप कहेंगे—तब 'ज्ञान' शब्द में एकवचन क्यों लिखा गया? तो इसका उत्तर यह है कि एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिये एकवचन का विधान शब्दशास्त्र में किया गया है, वही एकवचन यहाँ है। अतः इस एकवचनान्त 'ग्रहण' पद से दो अथवा दो से अधिक ज्ञानों का ग्रहण समझना चाहिए। 'सकारणक' यह लक्षण का भाग तो केवल वस्तुस्थिति-कथन है—अर्थात् यह विशेषण अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये नहीं, किन्तु ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये है।

उदाहरण प्रस्तौति—

उदाहरणम्—

प्रस्तुत इति भावः ।

उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापरो-

त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसङ्घैरपि ।

हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्घैरियं

तनोतु मम शं तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना ॥'

वरगति ब्रह्म-सुखप्राप्ति तत्प्रदा, इयम्, इति बुद्ध्या, नरैः, स्वकीयापगा मन्दा-
फिनी इति धिया, सुरैः देवैः, उदारतरसिद्धिदा अत्युत्कृष्टसिद्धिदायिनी, इति धिया,
अखिलैः सर्वैः सिद्धसङ्घैः, हरेस्तनु विष्णुकायरूपा, इति धिया, अस्तसङ्घैः विषयविमुखैः,
मुनिभिश्च, श्रिता सेविता, इयम् नयनगोचरीभूता, शन्तनोः तन्नामकस्य राजर्षेः, अङ्गना
पत्नी, गङ्गेति यावत्, मम, तनो शरीरस्य, शं कल्याण, तनोतु विस्तारयतु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नरैः इत्यादि। कवि गङ्गा की स्तुति करता है—

श्रेष्ठ गति (मुक्ति) देने वाली है इस धारणा से मानवों द्वारा, अपनी नदी है इस धारणा से देवताओं द्वारा, बहुत बड़ी सिद्धि देने वाली है इस धारणा से सभी सिद्ध-समूहों द्वारा, भगवान् विष्णु की शरीररूपा है इस धारणा से आसक्ति-रहित मुनियों द्वारा, सेवित यह चान्तनु की पत्नी (श्री गङ्गा) मेरे शरीर का कल्याण करे ।

उपपादयति—

अत्र च लिप्सास्त्वचिभ्यां निमित्ताभ्यामस्त्यनेकग्रहीतृकवरगतिप्रदात्वाद्यनेक-
प्रकारकग्रहणसमुदायो गङ्गाविषयकरतिभावोपस्कारकः ।

लिप्सेति । कामेच्छेत्यर्थः । तादृशग्रहणसमुदायस्यालङ्कारत्वात्—गङ्गेति । कवि-
निष्ठेत्यादिः । 'नरैर्वरगतिप्रदा-' इति पद्ये 'नर-सुर-सिद्ध-मुनि-रूपा अनेके ज्ञातारः गङ्गा-
रूपमेकं वस्तु धरगतिप्रदात्वस्वकीयापगत्योदारतरसिद्धिदात्वहरितनुत्वात्मकैरनेकैः प्रकारैः'
लिप्सास्त्रिरूपाभ्यां कारणभ्याम् जानन्ती'ति वर्णितम् । तेषां तानि ज्ञानानि (तादृशज्ञान-
समुदाय) कविनिष्ठं गङ्गाविषयकं रतिभाव पद्यप्रधानव्यङ्ग्यम् पुष्पन्ति, अतः स ज्ञान-
समुदाय उल्लेखालङ्काररूपं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादनं किंया जाता है—अत्र च इत्यादि । 'नरैर्वर-' इस पद्य में ऐसा ज्ञान समूह
वर्णित है जिसका कारण अपनी-अपनी लिप्सा (लान की इच्छा) तथा अपनी-अपनी
स्वचि है, और जिसके कर्ता (ज्ञाता) नर, सुर, सिद्ध तथा मुनि-रूप अनेक व्यक्ति हैं,
एवम् जिसमें उत्कृष्ट गति देनेवाली होना आदि अनेक प्रकार (विशेषण) हैं, इसी तरह
जो गङ्गारूप एक वस्तु के विषय में हुआ है—अर्थात् जिसमें विशेष्य एक गङ्गा ही है ।
यह ज्ञान-समूह यहाँ 'उल्लेखालङ्कार'-रूप होता है, क्योंकि वह (ज्ञान-समूह) पद्य से
प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले कविगत गङ्गाविषयक रतिभाव का उपस्कारक (पोषक) है ।

विशेषमाह—

शुद्ध एवात्रायमुल्लेखालङ्कारः, रूपकाद्यमिश्रणात् ।

उल्लेखालङ्कारो द्विविधः शुद्धः सङ्कीर्णश्च, तत्रालङ्कारान्तरामिश्रणो शुद्धः । यथा 'नरैर्वर-
गति-' इति श्लोके । अत्र रूपकाद्यलङ्कारान्तरविविधोऽल्लेख इति भावः ।

उदाहृत उल्लेख की विलक्षणता सूचित की जाती है—शुद्ध इत्यादि । उल्लेखालङ्कार
दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण । उनमें शुद्ध उसको कहा जाता है
जिसमें किसी अन्य अलङ्कार का मिश्रण न हो । जैसे—'नरैर्वर-' इस पद्य में जो उल्लेख
है वह शुद्ध है, क्योंकि यहाँ रूपक आदि अन्य अलङ्कारों का मिश्रण नहीं है ।

यत्रोल्लेखालङ्कारेऽलङ्कारान्तरयोगो भवति, स सङ्कीर्णं कथ्यते । तादृशमपि लक्ष्यं
नालभ्यमित्याह—

सङ्कीर्णोऽपि दृश्यते ।

उल्लेख इति भावः ।

जिसमें अन्य किसी अलङ्कार का मिश्रण पाया जाता हो उसको 'संकीर्ण' उल्लेख
कहते हैं । वैसे उल्लेख भी दिखाई पड़ता है ।

तादृशमुदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'आलोक्य सुन्दरि ! मुखं तव मन्दहासं

नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।

किञ्चालि । पूर्णं मृग-लाञ्छन-सम्भ्रमेण
चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥'

हे सुन्दरि ! तव, मन्दहासम् ईषदासशोभितम् (एतच्च दरमुकुलितकमलमाम्यसि-
द्धयर्थम्) मुखम्, आलोक्य, मिलिन्दा भ्रमरा, अरविन्दधिया कमलभ्रमेण, अमन्दम्
अधिकम्, नन्दन्ति आनन्दमनुभवन्ति । किञ्च हे आलि सखि ! तादृशं तव मुखमालोक्य,
चकोरा पक्षिविशेषा, पूर्णस्व राकागतस्य, मृगलाञ्छनस्य मृगाङ्कस्य चन्दस्थितं यावत्,
सम्भ्रमेण सम्यग् भ्रान्त्या, चिरं कियत्काल यावत्, चञ्चूपुटम्, चटुलयन्ति चपलं पुर्वन्ति
इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आलोक्य इत्यादि । हे सुन्दरि ! तेरे मन्द हास-
युक्त मुख को देखकर, भ्रमर, कमलभ्रम से अत्यधिक आनन्दित होते हैं और हे सखि !
चकोर, पूर्णचन्द्र के भ्रम से, बहुत समय तक चोंचों को चञ्चल बनाते रहते हैं ।

उपपादयति—

अत्रैकैकप्रहरणरूपया भ्रान्त्या समुदायात्मक उल्लेखः सङ्कीर्णः ।

'आलोक्य-' इति पदे मिलिन्दकर्तृकम् मुखविशेष्यक कमलचक्रकारकम् एकम् अपरञ्च
चकोरकर्तृकम् मुखविशेष्यकम् चन्द्रत्वप्रकारकम् ज्ञान वर्णितम् । ज्ञानद्वयमध्येतत् भ्रमरूपम्,
अन्यस्मिन् पदार्थेऽन्यपदार्थावगाहित्वात् । तथा च भ्रान्तिमदलङ्कारद्वयमत्र सिद्धयति । किन्तु
तादृशभ्रमद्वयसमूहात्मक उल्लेखालङ्कारोऽप्यत्र भवति, सञ्चणान्तत्वात्—अर्थात् मुख-
रूपैकधर्मिक-चन्द्रत्वकमलत्वात्मकानेकप्रकारक-भ्रमरचकोररूपानेककर्तृक-ज्ञान-समूहोऽत्र वर्णित
एवेति न कस्यापि विप्रतिपत्तिरुल्लेखालङ्कारे । निमित्ताभावश्च स्वप्रियाहारलिप्ता । इत्यथ
भ्रान्तिमदलङ्कारमिश्रितोल्लेखालङ्कारोदाहरणत्वमस्य पद्यस्य सुस्थिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'आलोक्य-' इस पद्य में दो ज्ञान वर्णित
रूप हैं—एक वह जिसमें भ्रमर कर्ता है, मुख विशेष्य है और कमलत्व प्रकार है,
अर्थात् एक ज्ञान में भ्रमर द्वारा मुख को कमल समझा गया है और दूसरा वह जिसमें
चकोर कर्ता है, मुख विशेष्य है तथा चन्द्रत्व प्रकार है, अर्थात् दूसरे ज्ञान में चकोर
द्वारा मुख को चन्द्र समझा गया है । ये दोनों ज्ञान अन्य में अन्यविषयक होने से भ्रम-
रूप हैं, अतः ये दोनों भ्रमात्मक ज्ञान दो पृथक्-पृथक् 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार-रूप हो जाते
हैं । और इन दोनों भ्रमात्मक ज्ञानों का समूह तृतीय अलङ्कार 'उल्लेख'-रूप होता है,
क्योंकि अपने-अपने प्रिय भोजन के लाभ की इच्छा रूप कारण से मुखरूप एक वस्तु का
भ्रमर तथा चकोर-रूप अनेक व्यक्ति द्वारा कमल तथा चन्द्रमा-रूप अनेक प्रकार से ज्ञान-
समूह यहाँ स्पष्ट है । फलतः यह 'उल्लेख' 'भ्रान्तिमान्' से मिश्रित है ।

भ्रान्तिसङ्कीर्णमुल्लेखमुदाहृत्यापह्नुति सङ्कीर्णं तमुदाहरति—

'वन्ति तेति वदन्त्येता लोकाः सर्वे वदन्तु ते ।

यूनां परिणता सेय तपस्येति मतं मम ॥'

सर्वे लोकाः, एताम्, वन्ति नायिका, इति वदन्ति । ते वदन्तु । परन्तु यूना
शुक्लाना, सा लोकोत्तरा, तपस्या, इय परिणता इत्य रूपेणावतीर्णा, इति, मम, मतम्
अस्तीत्यर्थः ।

'भ्रान्ति' मिश्रित 'उल्लेख' का उदाहरण दिखलाकर अब 'अपह्नुति'-मिश्रित 'उल्लेख'
का उदाहरण दिखलाया जाता है—वन्तिता इत्यादि । सब लोग इसे 'स्त्री' कहते हैं । वे
मझे ही कहें, पर मेरा मत तो यह है कि—युवकों की तपस्या इस रूप में परिणत हुई है ।

उपपादयति—

अत्र विषयतावच्छेदकस्य परसम्मतत्वेन निषेध्यतयोपन्यासादपहृत्या सङ्कीर्णः।

अवच्छेदकस्येति । वनितात्वस्येत्यर्थः । भिष्येति । आर्यैकेत्यादिः । 'वनिता-' इति पद्ये एतदर्थविशेष्यकं वनितात्व तपस्यात्वप्रकारकं तत्पर्यार्थमल्पदार्थप्रहीतृकं ज्ञानसमूहो वर्णित इति त 'उल्लेखः', तस्मिंश्च उपमेयतावच्छेदकस्य मुखस्वस्य परसम्मततया वर्णना-भिषेधस्यार्यतः फलितत्वेन सम्पद्यमानस्य अपहृत्यलङ्कारस्य मिश्रणमिति भवतीदं पद्यमपहु-तिसंकीर्णोत्प्लेखोदाहरणमिति भावः ।

उपपादन क्रिया ज्ञाता है—अत्र इत्यादि । 'वनिता-' इस पद्य में 'पूताम्' पदार्थ को लोग वनिता समझते हैं और मैं तपस्या समझता हूँ, ऐसा वर्णन है जिससे एक वस्तु का मिश्र-भिन्न व्यक्ति द्वारा मिश्र-भिन्न-प्रकारक ज्ञान फलित होता है, अतः यह 'उल्लेख-लंकार' होता है जिसमें उपमेयतावच्छेदक-वनितात्व को दूसरों का माना हुआ बताने के कारण उसका अर्थतः निषेध फलित हो जाने से सिद्ध होने वाले अपहृति लंकार का मिश्रण है ।

दीक्षितोक्तमनूय निरस्यति—

अप्ययदीक्षितास्तु—“एवमपि यदि—

‘कान्त्या चन्द्रं विदुः कैचित्सौरभेणाम्बुजं परे ।

वक्त्रं तव वयं व्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम् ॥’

इत्यपहृत्योदाहरणविशेषेऽतिव्याप्तिः । शङ्कया, तदानीमनेकधोल्लेखनं निषेधा-स्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् । तत्राद्योल्लेखनद्वयं परमतस्योपन्याससामर्थ्यादस्य-माननिषेधमिति नातिव्याप्तिः” इत्याहुः । तत्र । 'द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च' इत्युक्त्वा “श्रीकण्ठजनपदवर्णने—‘यस्तपोवनमिति मुनिभिर-गृह्यत' इत्यादौ शुद्धः, 'यमनगरमिति शत्रुभिः, वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः' इत्यादौ भ्रान्तिरूपकादिसङ्कीर्णः” इति स्वयमेवोक्तत्वात् । इहाप्यपहृत्या सङ्कीर्णं ल्लेख इत्यस्य मुखत्वत्वात् । यदि चैवंविधापहृतिवारणाय निषेधास्पृष्टत्वं विशेषण-मुच्यते तदा—

‘कपाले मार्जारः पय इति कराल्लेदि शशिन-

स्तरुच्छिद्रप्रोतान् विसमिति करी सङ्कलयति ।

रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति

प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥’

इति त्वदुदाहृताभ्रान्तावतिप्रसङ्गः कथं नाम वार्येत । मार्जाराद्यनेकप्रहीतृकानेकधोल्लेखनस्य तत्रापि सत्त्वात् । स्वस्वप्रियाहारलिप्सारूपनिमित्तभेदात् । तस्मात् सङ्कीर्णनिवारणाय यत्नोऽनर्थक एव ।

एवमपीति । उक्तविशेषणदानेऽपीत्यर्थः । कान्त्येति । नायिक प्रति नायकस्योक्ति—

केचित् जना, तव, वक्त्रम् मुखम्, कान्त्या कांतिमत्तया कारणेन, चन्द्रं, विदुः जानन्ति, परे अन्ये जना, तव, वक्त्र, सौरभेण सुगन्धेन हेतुना, अम्बुजं कमलम्, विदुः । वयं तु, तपसा तपस्याबलेन, ऐक्यं मिश्रणम्, गतम्, द्वयम् चन्द्रवमलात्मकं युगलम्, तव, वक्त्रम्, व्रूम कथयाम, इत्यर्थः । अतिव्याप्तिरिति । उल्लेखलक्षणस्येति भावः । तत्रेति । 'कान्त्या—' इति पद्ये द्यर्पणः । उल्लेखनद्वयमिति । ग्रहणद्वयमित्यर्थः । चन्द्रत्वज्ञानं वमलत्व-

ज्ञानं प्रति यावन् । परमतत्वोपन्यासेति । 'परे विदुः' इत्यादिकथनेत्यर्थः । गम्यमानेति । व्यज्यमानेत्यर्थः । 'कान्त्या—' इति पद्येऽपह्नुत्वलङ्कारोदाहरणेऽतिव्याप्तिनिरासयोऽल्लेखालङ्कारलक्षणे निषेधास्पृष्टत्वं विशेषणं देयम् । दत्ते च तत्र विशेषणं न तत्रातिव्याप्यवसरं, मुखविशेष्यकं चन्द्रत्वप्रकारकम् कान्तिहेतुकम् किंपदार्यकर्तृकम् एकम् ज्ञानम्, मुखविशेष्यकं कमलचक्रप्रकारकम् सौरभहेतुकं परपदार्यकर्तृकम् द्वितीयम् ज्ञानम्, मुखविशेष्यकं कमलत्वचन्द्रत्वोभयप्रकारकम्—पूर्वोक्तगुणद्वयहेतुकम् अस्मत्पदार्यकर्तृकं तृतीयं ज्ञानमिति ज्ञानत्रयस्योल्लेखत्वप्रयोजकस्य सत्त्वेऽपि प्रथमज्ञानद्वयस्य परमतत्वोपन्याससामर्थ्याभिव्यज्यमाननिषेधास्पृष्टत्वादिति पूर्वपक्षिणो दीक्षितस्याशयः । निरस्यति—तद्येति । तत्र हेतुमाह—द्विविध इत्यादिना । श्रीकण्ठेति । शुद्धस्यैकमुदाहरणमुक्त्वाऽन्यदाह—यथा वा हर्षचरिते इत्यादि । यस्तपोवनमित्यादिगद्यम् । अशुद्धतेत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः । यच्छब्दार्थः श्रीकण्ठजनपदः । शुद्ध इति । अलङ्कारान्तरस्याप्रसङ्गादिति भावः । यमनगरत्वादीनां तादृश्यानुभवगोचरतयाऽन्वये भ्रान्तीति । यदि तेषामुपरज्ज्वातामात्रेणान्वयस्तदाह—स्पन्देति । ततः प्रकृते किमायातमित्याह—इहापीति । दीक्षितोचिनिरासे हेत्वन्तरमाह—यदि चेति । एवविधेति । विलक्षणेत्यर्थः । कपाले इति । चन्द्रकरवर्णनमिदम्—मार्जारं विडालं, पयःदुग्धम्, इति बुद्ध्या, कपाले तत्र स्थितान्, शशिनं चन्द्रस्य, करान् निरणान्, लेखि आस्तादयति, करो गजं, विसम् मृणालम्, इति बुद्ध्या, तदच्छिद्रप्रोतान् वृषविवापातिनं, शशिनं करान्, सङ्कुलयति सचिनोति, वनिता नायिका, अपि, रतान्ते सम्भोगसमाप्तौ, अंशुकम् धवल वसनम्, इति बुद्ध्या, तल्पस्थान् शय्याप्रसृतान्, शशिनं करान्, हरति शृङ्गति । अहो आश्चर्यम् ! प्रमया कान्त्या, मत्तं, चन्द्रं, इदं परिदृश्यमानम्, जगत् संसारं, विभ्रमयति भ्रान्तं करोतांन्यर्थः । त्वदुदेति । त्वया प्रथमं मुख्यत्वेनोदाहृतेत्यर्थः । तादृशभ्रान्तिविशेषस्यापि नारणावश्यकत्वात् । अन्यथा सङ्कीर्णं तत्त्वप्रसादादुदाहृतम् । तद्विषयविषयस्यैवादातुदाहर्तुमौचित्यात् । अन्यथाऽलङ्कारभेदो न स्यादिति भावः । अनेकधेति । पयस्त्वादीत्यर्थः । उपनहरति—तस्मादिति । अलङ्कारान्तरमकीर्णोऽप्युल्लेखो यदा दीक्षितं स्वीकृतं उदाहृतं, तदा 'कान्त्या—' इति पद्येऽपि अपह्नुति-सङ्कीर्णं उल्लेखं स्वीकर्तव्यस्तैः । तत्संकारे च तद्वारणप्रयासा (निषेधास्पृष्टत्वविशेषप्रक्षेप) मत्कृतो व्यर्थ एव । किञ्च यदि अपह्नुतिमङ्गीर्णं उल्लेखं उल्लेखलक्षणप्रसचेवार्णीयं, तदा भ्रान्तिसङ्कीर्णोऽपि स ततो वारणीय एव तुल्यत्वात् । तथा च 'कपाले—' इति पद्यगतभ्रान्तिसङ्कीर्णोऽपि वारणायापि उल्लेखलक्षणे त्वया मित्रिद् विशेषणं दातव्यमासीत्, न च दत्तम् इति न्यूनता स्यात् । ननु 'कपाले—' इत्यत्र भ्रान्तितरेव केवला, नोल्लेख इति चेन्न, मार्जारयनेकर्तृकस्य शशिकविशेष्यकस्य पयस्त्व-विसत्वाशुकत्वात्मकानेकप्रकारकस्य स्वस्वप्रियभोजनप्राप्तिलोभहेतुकस्य ज्ञानमुदाहृतस्य उल्लेखत्वप्रयोजनस्य सत्त्वेनेल्लेखस्य स्पष्टत्वात् । तथा च तादृशस्थलेषु अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णं उल्लेखं स्वीकरणीय एव, न तद्वारणप्रयासो विधेय इति उत्तरपक्षिणो जगन्नाथस्याशयः ।

दीक्षितजी की उक्ति का सण्डन किथा जाता है—अप्ययदीक्षितास्तु इत्यादि । दीक्षितजी का कथन है कि—“यदि हूँ विशेषगोके लगाने के बाद भी 'कान्त्या—' अर्थात् तेरे मुख को कान्ति के कारण कुछ लोग चन्द्र कहते हैं, दूसरे लोग सुगन्ध के कारण कमल कहते हैं, पर हम तो कहते हैं कि—तप करके दोनों एकता को प्राप्त हो गए हैं—भत-नेरा मुख उन दोनों (चन्द्र तथा कमल) का मिश्रणरूप है ।” इस नायिका के प्रति नायक की उक्ति—जो अपह्नुति-विशेष का उदाहरण है—में अतिव्याप्ति की शका हो तो

‘उल्लेख’ के लक्षण में ‘अनेक प्रकार के उल्लेखन (ज्ञान)’ का ‘निषेध से स्पष्ट जो न हो’ यह एक विशेषण और लगा देना चाहिए। ऐसा कर देने पर उक्त (कान्त्या इत्यादि) पद्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ जो ‘सुख चन्द्र है, सुख कमल है, सुख दोनों का मिश्रण है’ ये तीन ज्ञान वर्णित हुए हैं उनमें से प्रथम दो ज्ञान निषेध से स्पष्ट हैं। कारण, उन दोनों का वर्णन ‘अन्य-मत’ के रूप में हुआ है जिससे उन दोनों ज्ञानों का निषेध ध्वनित होता है। पर यह कथन दीर्घचित्तजी का ठीक नहीं है। कारण, आपने स्वयम् ही ‘यह उल्लेख दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित’ यह कहकर भागे कहा है कि—“श्रीकण्ठ देश के वर्णन में ‘जिसे मुनि लोग तपोवन समझने थे’ इत्यादि में शुद्ध उल्लेख है और ‘शत्रुगण यमराज का नगर समझते थे, शरणागतजन वज्र का पिंजरा समझते थे’ इत्यादि में भ्रान्ति अथवा रूपक से मिश्रित है।” ऐसी स्थिति में उपरिलिखित पद्य को भी अपहृति से मिश्रित उल्लेख का उदाहरण माना जा सकता है—अर्थात् यह उचित नहीं कि अन्य अलंकार से मिश्रित उल्लेख माना जाय और अपहृति से मिश्रित उल्लेख नहीं माना जाय। दूसरी बात यह कि यदि ऐसी अपहृति के वारणार्थ ‘निषेध से स्पष्ट नहीं हो’ यह विशेषण लगाया जाता है तब—‘कपाले मार्जार’—अर्थात् कपाल (खप्पर) में स्थित चन्द्र-किरणों को दूध समझकर विलाड़ चाट रहा है, वृष के विवरों में ग्यास उन चन्द्र-किरणों को मृगाल समझकर हाथी समेट रहा है और शरया पर फौली हुई उन किरणों को साही समझकर सुरत के अन्त में, कामिनी भी ठठा रही है। ओह ! प्रभा से मत्त बना यह चन्द्र इस ससार को भ्रान्त बना रहा है।’ इस आपकी उदाहृत भ्रान्ति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे वारित होगी ? क्योंकि इसके वारण के लिये तो आपने उल्लेख-लक्षण में कोई विशेषण जोड़ा नहीं है। और जब आप उक्त अपहृति का वारण करने के लिये विशेषण जोड़ते हैं तब आपके लिये इस भ्रान्ति के वारणार्थ भी विशेषण जोड़ना उचित था। पहाँ (‘कपाले मार्जार—’ में) उल्लेख है ही नहीं यह तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि मार्जार आदि अनेक व्यक्तिओं द्वारा चन्द्र-किरणरूप एक वस्तु का दूध आदि अनेक प्रकारक ज्ञान यहाँ भी किया गया है—ऐसे ज्ञानों का किया जाना वर्णित है—और उन भिन्न-भिन्न ज्ञानों का भिन्न-भिन्न कारण भी है—अपने अपने प्रिय भोजन की प्राप्ति की इच्छा। अतः यहाँ भी भ्रान्ति-मिश्रित उल्लेख अवश्य है। ऐसी वृत्ता में यदि आप इसके वारणार्थ कोई प्रयास नहीं करते हैं, तब उक्त उपहृति के वारणार्थ भी प्रयास मत कीजिए। फलतः मिश्रित उल्लेख के निवारण का प्रयास व्यर्थ ही है—जब मिश्रित उल्लेख होता ही है तब फिर उसे हटाने की क्या आवश्यकता है ?

संशयसङ्कोर्णमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

संशयसङ्कीर्णो यथा—

ससन्देहालङ्कारमिथितोल्लेखालङ्कारो यथेति भावः ।

ससन्देह अलंकार से मिश्रित उल्लेखालंकार जैसे—

उदाहरणं समुपन्यस्यति—

‘भानुरभिर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिबिः ।

प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि ॥’

यद्यपि कल्पि कृपं प्रति वक्ति—हे राजन् ! प्रत्यर्थिनः शत्रवः, त्वयि भवति, ‘भानुः सूर्यः, अग्निः, यमो, वा, अयम्’ इति विकल्पन्ते संशेरते तथा अर्थिनो याचकानः, त्वयि, ‘बलिः, कर्णः, अथवा शिबिः, अयम्’ इति विकल्पन्ते इत्यर्थः । बलिकर्णशिबिनामान् परमदानिनो राजान् प्रसिद्धा पुराण्यदौ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भानुरित्यादि । कवि किसी राजा को कह रहा है—हे राजन् ! शत्रुजन आपमें सूर्य, अग्नि और यमराज का सदेह करते हैं तथा याचक-जन आप में बलि, कर्ण और शिबि का सदेह करते हैं । बलि, कर्ण और शिबि इतिहास-प्रसिद्ध दानी राजा हो चुके हैं ।

उपपादयति—

अत्र द्वयोर्ग्रहणयोः प्रत्येकं संशयत्वम् समुदायस्य तूल्लेखता ।

ग्रहणेति । ज्ञानेत्यर्थः । समुदायस्य ग्रहणसमुदायस्य । 'भानु—' इति पद्ये त्वद-र्यराजविशेष्यकम् प्रत्ययिकर्तृन्म्, भानुत्वाग्निन्ध्वयमत्वप्रकारकम् भयजनकत्वहेतुकम् एकं ज्ञानम्, राजविशेष्यक याचककर्तृकम् बलित्व-कर्णत्व-शिबित्वप्रकारकम्, दानुत्वहेतुकम् चापरं ज्ञानं वर्णितम् तयोः प्रत्येकं संशयरूपम्, एकस्मिन् धर्मिणि विद्वन्नानाद्येव्यवगा-हित्वात् । तयोः ज्ञानयोः समूहस्तु उल्लेखालङ्काररूपः, लक्षणाङ्गान्तत्वात् । एवञ्च सप्तदेहालङ्कार-सङ्कीर्णोऽल्लेखालङ्कारोऽदाहरणत्वमस्य पद्यस्य सिद्धयतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'भानु—' इस पद्य में दो ज्ञान वर्णित हुए हैं, दोनों ही पृथक् पृथक् संशयरूप हैं, क्योंकि एक में राजा को शत्रुओं द्वारा सूर्य, अग्नि तथा यम इन तीनों में से एक अनिश्चितरूप में समझा गया है और दूसरे में राजा को याचकों द्वारा बलि, कर्ण तथा शिबि इन तीनों में से एक अनिश्चित रूप में समझा गया है । तात्पर्य यह कि ये दोनों ही ज्ञान एक धर्मी में विद्यमान अनेक कोटियों का अवगाहन करने के कारण सदेहात्मक हैं । फलतः ये दो सप्तदेहालङ्कार होते हैं । पर इन दोनों सदेहात्मक ज्ञानों का समूह उल्लेखालङ्काररूप हो जाता है, क्योंकि शत्रु तथा याचकरूप अनेक शक्तियों द्वारा राजारूप एकवस्तु का अग्निव्य भादि तथा बलित्व आदि अनेक-प्रकारक जो ज्ञान तद्गुण ही पर्यवसन्न होता है । अतः यह पद्य सप्तदेहालङ्कार से मिश्रित उल्लेखालङ्कार का उदाहरण होता है ।

भेदान्तरमाख्यातुं पूर्वोदाहृतेषु पद्येषु भेदस्वरूपं विवृणोति—

अथ च स्वरूपमात्रोल्लेखे स्वरूपोल्लेखः प्रागेव निरूपितः ।

अयं चेति । उल्लेखश्चेत्यर्थः । उल्लेखे इति । सतीति शेषः । एवमप्येवमपि । वस्तुस्वरूपमात्रज्ञाने वर्णिते स्वरूपोल्लेखे स्वीक्रियते, तस्य निरूपणं प्राक् कृतम् इति भावः ।

उल्लेख के अन्य भेद दिखलाने के लिये पूर्वोदाहृत पद्यों में भेद का विवरण करते हैं—अथ च इत्यादि । जब किसी वस्तु के केवल स्वरूप का उल्लेख हो—ज्ञान वर्णित हो—तब स्वरूपोल्लेख होता है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है—पूर्वोदाहृत पद्यों में स्वरूपोल्लेख ही है ।

भेदान्तरस्य स्वरूपं विवृण्वन् तदुदाहरणं निर्देशुमाह—

फलानामुल्लेखे फलोल्लेखो यथा—

फलानाम् (प्रयोजनानाम्) उल्लेखे (पूर्वोपाकारे ज्ञाने) सति फलोल्लेखो भवति । स यथेति भावः ।

जब फलों (प्रयोजनों) का उल्लेख हो तब फलोल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातराः ।

जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देव ! जानते ॥'

कविनृपं प्रति कथयति—हे देव ! 'दातुम् दानं कर्तुम्, एव, अयं, जात' उत्पन्न.' इति इत्य रूपेण, 'अर्थिनो याचका', 'त्रातुम् रक्षितुम्, एव, अयं जात' इति, कातरा

भीताः, तथा, 'हन्तुम्, एव, अयं जातः' इति, वीराः, त्वा, जानते विदन्तीत्यर्थः । त्वदि-
शोष्यकाणि विभिन्नहेतुकानि गानाविधानि ज्ञानानि तेषां जायन्ते इति भावः । अत्रैकस्य
राजरूपस्य वस्तुभेदार्थि-कातर-वोरामकानेकजनकर्तृकाणि दातृत्व-वातृत्व हन्तृत्वप्रकारकाणि
ज्ञानानि वर्णितानीत्युल्लेखत्वं स्पष्टम् । तत्र प्रकाराणां दातृत्वादीनां फलरूपतया फलोत्पत्ते-
त्वव्यवहार इति साराशः ।

उदाहरण का निर्देश क्रिया जाता है—अर्थिनो दातृमित्यादि । हे देव ! याचक लोग
आपको देने के लिये, कापर लोग रक्षा करने के लिये और वीर लोग आपको मारने के
लिये ही उत्पन्न हुआ समझते हैं । यहाँ राजारूप एक वस्तु का याचक आदि अनेक-
व्यक्तियों द्वारा दातृत्व आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः 'उल्लेख अलकार'
होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—दातृत्व आदि—प्रयोजन (फल) रूप
है, इसलिये इसे फलोत्पत्तेय कहा जाता है ।

पूर्वनत पुनरपरस्य भेदस्य स्वरूपं प्रकृत्यन् तदुदाहरणनिर्देशं प्रतिजानीते—

हेतूनामुल्लेखे हेतुल्लेखो यथा—

कारणानां तथाविधे ज्ञाने वर्णिते हेतुल्लेखो भवति, स यथेति भावः ।

हेतुओं का उल्लेख होने पर हेतुल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणगुणन्यस्याति—

'हरिचरण-नखर-सङ्गादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये ।

त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरे सुरतदिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥'

हे सुरतदिनि गन्ने ! एके कतिपये, हरिचरणयोः, नखराणाम् नयानाम्, सङ्गात्
संसर्गात्, अन्ये, हरस्य शिवस्य, मूर्धनि मस्तके, स्थितेः नासात्, अपरे, पुन, वस्तु-
माहात्म्यात् स्वदीयस्वरूपस्यैव महत्त्वात्, त्वा भवतीम्, पुण्यतमाम् पवित्रतमाम्, प्राहुः
कथयन्तीत्यर्थः । अत्र पुण्यतमात्वहर्षणविशेष्यकस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनख-
सङ्गादिविधिविधप्रकारकस्य ज्ञानसमुदायस्य वर्णनादुल्लेखः । तत्र प्रकारीभूतस्य पदार्थस्य
हरिचरणनखसङ्गादेहेतुत्वात् हेतुल्लेखत्वव्यपदेशः । अथवा युगमत्पदार्थगङ्गाहर्षणविशेष्य-
कस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुकपुण्यतमात्वप्रकारकस्य ज्ञानसमूहस्य वर्ण-
नादुल्लेखः । अत्र कल्पे एनस्यापि पुण्यतमात्वस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुभेदेन भेदादनेक-
प्रकारकत्वं ज्ञानस्य बोध्यम् । प्रकारस्य हेतुगर्भत्वाच्च हेतुल्लेखत्वव्यपदेश इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश क्रिया जाता है—हरिचरण इत्यादि । हे गन्ने ! आपको कुछ
लोग भगवान् के चरण-नख के सङ्ग के कारण, दूसरे लोग शिवजी के शिर पर रहने के
कारण और अन्य लोग वस्तु के माहात्म्य के—अर्थात् आप हैं ही ऐसी वस्तु, इस—कारण
अत्यन्त पवित्र कहते हैं । यहाँ अत्यन्त पवित्रत्वरूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा
भगवान् के चरण-नख-सङ्ग आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः उल्लेख
अलकार होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूतपदार्थ (भगवच्चरण-नख-सङ्ग आदि) के
हेतुरूप होने से यह 'हेतुल्लेख' कहलाता है । अथवा गङ्गा रूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न
व्यक्ति द्वारा भगवच्चरणनख-सङ्ग आदि-हेतुक अत्यन्त पवित्रता-प्रकारक ज्ञान किया गया
है, अतः 'उल्लेख' होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—अत्यन्तपवित्रता—के
पीछे उपाधिरूप से हेतुभूतपदार्थ जुड़े हैं, इसलिये यह 'हेतुल्लेख' कहलाता है । इस
पद में अत्यन्त पवित्रत्वरूप प्रकार यद्यपि एक ही है, तथापि हरिचरणनखसङ्ग आदि हेतु
के भेद से एक भी पवित्रता अनेक हो जाती है, अतः प्रकार की अनेकता समझी जाती है ।

प्रथममुल्लेखं निरूप्य द्वितीयमुल्लेखं निरूपयितुमिच्छुस्तावत्तल्लक्षणं सावतरणमाह—

अत्र प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते—यत्रासत्यपि प्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रय समानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्वम् ।

समानाधिकरणेति । समानम् अधिकरण सञ्चरणस्यानं येषां तादृशेत्यर्थः । तथा च विषयाश्रयसहचरादिरूपा ये सम्बन्धिनस्तेषामिति स्पष्टोऽर्थ इति भावः । पूर्वं यथा ज्ञातृभेदादेकस्य वस्तुनोऽनेकया ग्रहणं भवति स्म तथा यदि नापि भवेत्—अर्थात् ज्ञाता यथेकोऽपि भवेत्, तथापि यदि विषयस्य, आश्रयस्य, सहचरादेव भेदेनैकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्व स्यात्, तदा सोऽप्युल्लेख इति लक्षणार्थः ।

प्रथम उल्लेख का निरूपण किया जा चुका । अब द्वितीय उल्लेख का निरूपण करना है, अतः सर्वप्रथम अवतरणपूर्वक द्वितीय उल्लेख का उद्घरण किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'उल्लेख' एक अन्य प्रकार से भी देखा जाता है । वह वहाँ होता है जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा समानाधिकरण-सहचर (साथ रहने वाले) आदि सम्बन्धियों में से किसी की भी अनेकता के कारण एक वस्तु अनेक तरह की हो जाय ।

द्वितीयस्याप्युल्लेखस्य पूर्ववद् भेदमाह—

अयमपि द्विविधः, शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च ।

अयमपीति । द्वितीय उल्लेखोऽपीत्यर्थः ।

यह उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित ।

तत्र प्रथममुदाहर्तुमाह—

शुद्धो यथा—

द्वितीय उल्लेख शुद्धो यथेत्यर्थः ।

शुद्ध द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्धी

काव्यालापेषु, तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना ।

लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि परविपदर्शने कांदिशीका

राजनाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः ॥’

हे राजन् ! दीनव्राते दीनप्राणितमूढे, दयार्द्रा करुणाकिञ्चा, निखिलानां सर्वेषां रिपूणां कुले समूहे, निर्दया दयारहिता, काव्यालापेषु काव्यकथासु, मृद्धी कोमला (केचित्तु व्यालापेषु उक्तिसामान्ये, मृद्धीका द्राक्षात्पेति व्याचक्षते), तर्कस्य प्रतिवचनविधौ उत्तरकरणे, कर्कशत्व कठोरताम्, दधाना धारयन्ती, धर्मेषु धर्मविषये, लुब्धा लोभवती, वसुनि धनविषये, अलुब्धा लोभरहिता, किं च, परेषाम् अन्येषाम्, पराया महत्या वा (पत्नी-तत्सुहृद् धर्मधारयी वा) विपद, विपत्ते, दर्शने साक्षात्कारे ज्ञाने वा, सतीति शेष, कादिशीका कस्या दिशि गन्तव्यम् इति पीविशिष्टा ('तदाह माराब्दादिभ्य उपसत्यानम्' इति चार्तिकेन ठक्, शृणोदरादित्वात्साधु, 'कादिशीको भयद्रुत' इति कोश), अत एव बहुविधा अनेकप्रकारिका, तावकी त्वदीया, आजन्मरम्या स्वभावतो रमणीया, चित्तवृत्ति, स्फुरति प्रकटीभवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दीनजाते इत्यादि । हे राजन् ! दीनों के समूह पर दया से आर्द्र, समस्त शत्रु-समुदाय पर निर्दय, काव्यों की कथा करने में कोमल, तर्कों के उत्तर देने में कठोरता को धारण करनेवाली, धर्म में लोभयुक्त, धन में लोभरहित, और अन्य की विपत्ति का दर्शन होने पर अतिभीरु, अतएव अनेक प्रकार की सहज सुन्दर भाषकी चित्तवृत्ति स्फुरित हो रही है—घमक रही है ।

उपपादयति—

अत्र दीनघ्रातादीनां विषयाणामनेकत्वाच्चित्तवृत्तेरनेकविधत्वम् । राजविषयक-रतिभावोपस्कारकोऽयमुल्लेखः । यद्यपि चित्तवृत्तिव्यक्तीनामत्रैक्यं नास्ति, तदीयचित्तवृत्तित्वेन सामान्येन तासामेकत्वं विवक्षितम् ।

अस्यालङ्कारत्वायाह—राजेति । कविनिष्ठेत्यादि । नास्तीति । तथा चैकस्य वस्तुन इत्यंशभावात्नेदं लक्ष्यमिति भावः । समाधत्ते—तथापीति । 'दीनघ्राते—' इति पद्ये शत्रु-रेकरवेऽपि विषयतया चित्तवृत्तिसम्बन्धिना दीनसमूहादीनाम् भेदात् चित्तवृत्तिरूपस्यैवस्य वस्तुन दयार्द्रत्वादिविधप्रकारत्वं वर्णितम्, तच्च कविगतराजविषयकरतिभावस्य प्रधानव्यङ्ग्यस्य पौषकमिति द्वितीयोल्लेखरूपतामासादयति, ननु चित्तवृत्तिव्यक्त्य स्वतो भिन्ना इति तासामेकत्वाभावेन कथमेकस्य वस्तुन इत्यंशसङ्गतिरिति चेत् ? सत्यम्, राजरीयचित्तवृत्तित्वात्मकनामान्यरूपेण तासामेकत्वमिह वक्तुरभिप्रेतमिति साराशः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दीनघ्राते—' इस पद्य में राजा की एक चित्तवृत्ति को भिन्न भिन्न प्रकार से समझने वाला ज्ञाता यद्यपि एक ही व्यक्ति है, तथापि चित्तवृत्ति के विषय 'दीनों का समूह' आदि अनेक हैं, अतः एक ही व्यक्ति एक ही चित्तवृत्ति को दया से आर्द्र, निर्दय आदि अनेक प्रकार से समझता है और चित्तवृत्ति का दयार्द्र आदि अनेक प्रकार का होना, पद्य से प्रधानतया ध्वनित होने वाले राजा के विषय में कवि प्रेनभाव को पुष्ट करता है, अतः वह चित्तवृत्ति का अनेक प्रकार का होना द्वितीय उल्लेखालङ्कार रूप होता है । यह उल्लेखालङ्कार शुद्ध है, क्योंकि इसमें किसी अन्य अलङ्कार का मिश्रण नहीं है । आप कहेंगे—चित्तवृत्तियों तो सभी व्यक्तिगतरूप से विभिन्न होती हैं फिर यहाँ राजा की चित्तवृत्तियों को एक कैसे मान सकते हैं ? और जब चित्तवृत्ति की एकता सिद्ध होती नहीं तब उल्लेख का उद्घण घटेगा कैसे ? क्योंकि लक्षण में 'एक वस्तु यदि अनेकरूप हो' ऐसा कहा गया है तो इसका उत्तर यह है कि चित्तवृत्तित्वेन रूपेण उन्हें एक कहना यहाँ अभीष्ट है ।

तथा लक्षणे विवक्षया अभावादुदाहरणान्तर प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः ।

अर्थेष्वलोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः ॥'

परदुःखेषु अन्यदुःखविषये, कातरा भीता, निजदुःखेषु स्वदुःखविषये, अकातरा अभीता, अर्थेषु धनविषये, अलोभा लोभरहिता, यशसि यशोविषये, सलोभा लोभवन्ताः, साधवः सत्पुरुषाः, सन्ति अशुनापि जगति विद्यन्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कातरा इत्यादि । दूसरों के दुःखों में कायर और अपने दुःखों में निर्भय, धन में लोभरहित और यश में लोभयुक्त सत्पुरुष आज भी संसार में हैं ।

उपपादयति—

अत्रापि साधवः सन्तीत्यनेन मृता अपि न मृतास्ते, इतरे पुनरमृता अपि मृता एवेत्यर्थाभिव्यक्तिद्वारा व्यवस्थाने साधूत्कर्षविशेषे उपस्कारकोऽयम् ।

अत्र परदुःखादीना विषयागमनेकत्वात्माधूनामनेकविधत्वम् स्पष्टमुपेक्ष्यालंकारत्वमुपपादयति—अत्रापिति । 'कातरा -' इति पद्ये एकस्य साधुरूपस्य वस्तुन एकेनैव महीना परदुःखादिविषयभेदप्रयुक्तमनेकप्रकारकम् (कातरत्वादिप्रकारकम्) ज्ञानं कृतमिति द्वितीय उल्लेख । नतु कथमत्रोल्लेखस्यालंकारत्वम् इति चेन्न, 'साधव सन्ति' इत्येतद्वाक्यार्थेन 'मृता अपि तादृशाः साधव न मृता—जीविता एव, अन्यादृशा जना पुन जीविता अपि मृता एव' इत्यर्थोऽभिव्यज्यते, तेन चाभिव्यक्तेश्चैतद् साधूत्कर्षविशेषो ध्वन्यते, तस्य च साधूत्कर्षस्य प्रधानव्यङ्ग्यस्य पोषकत्वादुल्लेखस्यालंकारत्वमित्याशयादिति भावः ।

उपपादनं कियदा जाता है—अत्रापि इत्यादि । अभिप्राय है कि—'कातरा -' इस पद्य में 'साधुरूप' एक वस्तु का परदुःखादिरूप विषयभेद के कारण एक ही व्यक्ति द्वारा काव्यर आदि अनेक प्रकारक ज्ञान किया गया है और यह एक वस्तु का अनेक-प्रकारक होना साधु के उस उत्कर्ष-विशेष का उपस्कारक है जो 'सधुरूप' हैं' इस उक्ति से होने वाली 'मर कर भी वेमे सधुरूप जीवित ही हैं और अन्य साधारण जन जीकर भी मरे हैं' इस अर्थ की अभिव्यक्ति से अभिव्यक्त होता है, अतः यह द्वितीय उल्लेख (शुद्ध) का उदाहरण होता है ।

एवविषयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहृत्याश्रयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहर्तुमाह—

यथा वा—

आश्रयानेकत्वप्रयुक्त उल्लेखो यथेति भावः ।

विषय की अनेकता से होने वाले द्वितीय शुद्ध उल्लेख का उदाहरण दिखलाकर अब आश्रय की अनेकता से होने वाले द्वितीय उल्लेख के शुद्ध भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—यथा वा इति । अथवा जैसे—

उदाहरणं रामुपन्यस्यति—

'तुपारास्तापसव्राते तामसेषु च तापिनः ।

दृगन्तास्ताडकाशत्रोर्भूयासुर्मम भूतये ॥'

तापसव्राते तापससमूहोपरि, तुपारा शीतला, तथा तामसेषु तमोगुणप्रधानेषु राक्षसादिषु तदुपरीति यावर, तापिन तापका, ताडकाशत्रोः ताडकाहन्तु, श्रीरामस्य, दृगन्ता कटाक्ष, मम, भूतये ऐश्वर्याय, भूयासु भवन्त्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—तुपारा इत्यादि । तपस्वियों के ऊपर शीतल, और तामसों (तमोगुण-प्रधान राक्षस आदिकों) के ऊपर सापदायक श्री रामचन्द्र के कटाक्ष मेरे ऐश्वर्य के लिये हों ।

पूर्वोदाहरणद्वयाद् नैलक्षण्य तृतीयोदाहरणे दर्शयति—

पूर्वपद्ययोर्विषयानेकत्वप्रयुक्तम्, इह त्वाश्रयानेकत्वप्रयुक्तमनेकविधत्वं दृगन्तानाम् ।

'दीनव्राते—' 'कातरा' इत्यनयो प्रागुक्तयो श्लोकयो विषयभेदप्रयुक्तमेकत्व वस्तुनो भिन्नप्रकारत्व वणितम् । 'तुपारा —' इति तृतीये पद्ये तु दृगन्तानामाश्रयीभूता तापसा' तामसाश्च भिन्ना इत्याश्रयभेदप्रयुक्तम् एकस्य दृगन्तरूपस्य वस्तुन तुपारत्व-तापित्व रूपा-नेकप्रकारत्व वर्णितमित्यत्रापि शुद्धो द्वितीय उल्लेख इति भावः ।

पूर्व उदाहरणों से तृतीय उदाहरण में विलक्षणता दिखलाई जाती है—पूर्व इत्यादि । 'दीनप्राते—' तथा 'कातराः—' इन दोनों पद्यों में विषयों की अनेकता से एक वस्तु का भिन्न-भिन्न-प्रकारक होना वर्णित हुआ है, पर 'तुपाराः—' इस तृतीय पद्य में कटाक्ष के आश्रय (तापस और तामस) भिन्न हैं, अतः कटाक्षरूप एक वस्तु के शीतलता और तापकतारूप अनेक प्रकार वर्णित हैं । तात्पर्य यह कि यह तीसरा पद्य भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण होता है ।

समानाधिकरणानेकप्रयुक्तमुदाहरति—

'विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः ।

स्वीयेषु तु गरोद्वारा नानाकाराः क्षितौ खलाः ॥'

विद्वत्सु विद्वज्जन्मविधे, विमलज्ञाना-निर्मलबोधत्वेनात्मानं स्थापयन्तः, यतिषु संन्यासि-जनसन्निधौ, विरक्ता विरक्तवदात्परन्तः, तु पुनः, स्वीयेषु स्वजनसंमौले, गरोद्वारा विषवमन-वारिणः, अत एव, नानाकारा विविधरूपाः, खला दुर्जना, क्षितौ पृथिवीतले, सन्तीत्यर्थः ।

समानाधिकरणों (सहचरों) की अनेकता से होने वाले शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण दिखलाया जाता है—विद्वत्सु इत्यादि । विद्वज्जनों के समीप निर्मल ज्ञान वाले, संन्यासियों के निकट विरक्त, और स्वजनों पर विषवमन करने वाले, इस तरह पृथिवी पर, दुर्जन लोग अनेक आकार धारण किए हुए हैं ।

उपपादयति—

अत्र विद्वदादिसहचरभेदप्रयुक्त खलानामनेकविधत्वम् ।

'विद्वत्सु—' इति पद्ये खलरूपरथैकस्य वस्तुनः विद्वदादिसहचरभेदाधीनम् विमलज्ञान-त्वाद्यनेकप्रकारत्वं वर्णितमितिदमपि पद्यं शुद्धद्वितीयोक्तेसोदाहरणत्वमेतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'विद्वत्सु—' इस पद्य में विद्वान् आदि सहचरों के भेद के कारण खल अनेक प्रकार के बताने गए हैं—अर्थात् यहाँ विद्वान् आदि सहचरों की भिन्नता से खलरूप एक वस्तु के विमलज्ञानत्व आदि अनेक प्रकार हो गए हैं, अतः यह भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का एक प्रभेद है ।

रक्षणपटके 'समानाधिकरणादीनाम्' इत्यत्र वर्तमानेन 'आदि'-पदेन सगृह्यमाणं स्फोरयति—

एवमन्येषां सम्बन्धिनां भेदेऽप्युह्यम् ।

विषयाश्रयसमानाधिकरणात्मकसम्बन्धिभेदप्रयुक्तं यत्रैकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वं तत्र यथा द्वितीय उल्लेखो भवति, तथैव अन्यविषयसम्बन्धिभेदप्रयुक्तमपि यत्रैकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्वं स्यात्तत्रापि स भवेदिति भावः ।

लक्षण में आये हुए 'आदि' पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा जाता है—एवम् इत्यादि । जिस तरह विषय, आश्रय और सहचर के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होने पर द्वितीय उल्लेख होता है उसी तरह जहाँ इन तीनों (विषय आदि) से अन्य संबन्धी के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होंगे वहाँ भी यह उल्लेख हो सकता है इस बात का ऊह स्वयम् कर सकते हैं ।

अलङ्कारान्तरसंशोर्णं द्वितीयमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

सङ्कीर्णो यथा—

अलङ्कारान्तरमिश्रितो द्वितीय उल्लेखो यथेति भावः ।

मिश्रित द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले ।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल ! तव कीर्तयः ॥’

हे भूपाल राजन् ! तव, कीर्तय, गगने चन्द्रिकायन्ते चन्द्रिका इवाचरन्ति, हिमाचले हिमपर्वते, हिमायन्ते हिमवदाचरन्ति, तथा, पृथिव्या सागरायन्ते समुद्रवदाचरन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगने इत्यादि । हे राजन् ! आपकी कीर्तियाँ आकाश में चन्द्रिका-सा, हिमालय में हिम (बरफ)-सा और पृथिवी पर समुद्र-सा आचरण करती है ।

उपपादयति—

अत्रोपमया आपाततः प्रतीयमानया, पर्यवसितया चोत्प्रेक्षया ।

उपमानाल्प्यडो विधानादाह—उपमयेति । तत्र तात्पर्याभावादाह—पर्यवसितयेति । उत्प्रेक्षयेति । सकीर्ण इति शेषः । ‘गगने—’ इति श्लोके कीर्तिरूपैकवस्तुन गगनाद्याश्रय-भेदप्रयुक्तम् चन्द्रिकात्वादिविविधप्रकारत्वम् वर्णितमस्तीति द्वितीय उल्लेख सिद्धः । स च न शुद्धः । क्यङ्प्रत्ययस्य सर्वत्रोपमानबोधकप्रकृतिविहितत्वेनापाततः प्रतीयमानेनोपमालङ्कारेण, वस्तुतस्तु उपमानोपमेयभावस्यात्र क्विविविधाविषयत्वविरहेण सम्भावनाया एव प्रतीत्या उत्प्रेक्षालङ्कारेण तस्य सकीर्णत्वादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘गगने—’ इस पद्य में एक व्यक्ति द्वारा कीर्तिरूप एक वस्तु के गगन आदि आश्रय (भेद) प्रयुक्त चन्द्रिकात्व आदि अनेक प्रकार वर्णित हैं, अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख होता है और वह उल्लेख यहाँ ऊपर से प्रतीत होनेवाली उपमा, पर अन्ततः सिद्ध होनेवाली उत्प्रेक्षा से मिश्रित है । तात्पर्य यह कि ‘चन्द्रिकायन्ते’ आदि पदों में उपमानबोधक प्रकृति से आचारार्थक ‘क्यङ्’ प्रत्यय हुए हैं, अतः आपाततः पहले उपमा की प्रतीति हो जाती है, पर जब वक्ता के अभिप्राय का अनुसन्धान किया जाता है तब ज्ञात होता है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ उसका अभिप्रेत नहीं है, अतः वक्ता का अभिप्रेत सम्भावना सिद्ध होता है, इसलिये अन्त में उत्प्रेक्षा की ही प्रतीति होती है ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णस्य द्वितीयोल्लेखस्योदाहरणान्तरं दर्शयति—

‘उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवान् ।

अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥’

उपरि वहि, करवालस्य असे, धाराया, आकार इव आश्रितो येषा तादृशा, तथा भुजङ्गमपुङ्गवान् सर्पश्रेष्ठात्, क्रूरा क्रूरा, परन्तु, अन्तः हृदये, साक्षात्, द्राक्षाणाम् मृद्धीकानां, दीक्षासु गुरव उपदेष्टार, अतिमधुरा केमलाश्चेति यावत्, केऽपि कतिपये, जना, जयन्ति सर्वोत्कृष्टतया वर्तन्त इत्यर्थः । अत्र “आर्थापूर्वार्थे ‘नेह भवति विषये ज’ इति नियमादत्र च विषये सतमस्थाने जगणस्य सत्त्वाच्छन्दोभङ्ग-दूषितमेतदार्यापूर्वार्थमिति ज्ञेयम् ।” इत्याहुः काव्यमालासम्पादका अष्टमहोदयाश्च । अहं तु मन्ये नासीं नियम सर्व-सम्मत, यत ध्रुतबोधकारेण ‘यस्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥’ इत्येवोक्तम् । अस्मिन् लक्षणे स नियमो न कृतः । किन्तु रमणाऽप्यत्रच्छन्दोभङ्ग न सूचयति, अतः “आर्थापूर्वार्थसम द्वितीयमपि यत्र भवति दृश्यते । छन्दोविदस्तदानीं गीतिं ताममृतवाणि भाषन्ते ॥” इत्येव लक्षणकमीतिच्छन्दो-वद्वेऽस्मिन्पद्ये न छन्दोभङ्गदोष इति ।

अलंकारान्तर से मिश्रित द्वितीय उल्लेख का दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—
 उपरि इत्यादि । उपर से तलवार की धार के समान आकार वाले तथा सर्पराज से भी
 कर, पर अन्तःकरण में साक्षात् दात्यों को भी दीक्षा देने वाले गुरु (अति मधुर और
 कोमल) कतिपय पुरुष सर्वोत्कृष्ट हैं । यहाँ 'आर्या छन्द के विपम स्थानों में जगण नहीं
 होता, पर यहाँ सतम स्थान में जगण है, अतः यह आर्या का पूर्वार्ध छन्दो-भङ्ग-दूषित
 है ।' यह काव्य-माला-मन्पादक ने पहले लिखा और उसका अनुवाद पीछे हिन्दी रस-
 गङ्गाधरकार आदि ने भी अपनी टिप्पणी में किया है । पर मैं समझता हूँ कि वस्तुतः
 यहाँ छन्दोभङ्ग है नहीं, क्योंकि एक तो जिद्दा यहाँ छन्दो-भङ्ग की सूचना नहीं देती,
 दूसरे जिस नियम के अनुसार यहाँ छन्दोभङ्ग कहा गया है वह सर्व-सम्मत है भी नहीं ।
 देखिए—श्रुतयोधकार ने 'पद्या' प्रथमे पादे द्वादश मात्रा—' इत्यादि संस्कृत टीका में
 उद्धृत किए गए आर्या-लक्षण में उस नियम की चर्चा नहीं की है । ततः 'आर्यापूर्वार्ध—'
 इत्यादि संस्कृतटीकोद्घृत लक्षण के अनुसार 'गीति' छन्द में निबद्ध इस पद्य में कोई
 दोष नहीं आता ।

उपपादयति—

अत्रोपमाव्यतिरेकाभ्यां तयोः समुच्चयेनोत्प्रेक्षया च सङ्कीर्णः ।

उपमेति । 'करवालधाराकारा' इत्यश इति भावः । व्यतिरेकेति 'कूरा' इत्यंश इति
 भावः । तयोरुपमाव्यतिरेकयोः । उत्प्रेक्षयेति । 'गुरव' इत्यंशो प्रतीयमानयेति भावः ।
 'उपरि—' इति पद्ये जनरूपस्यैकत्व वस्तुनः बहिरन्तर्देशपात्रय-भेद-प्रयुक्तम् करवाल-
 धाराकारत्वायनेकप्रकाररत्वं वर्णितमिति द्वितीय उल्लेख सिद्धयति । स च उपमाव्यतिरे-
 काभ्याम्, तयोः समुच्चयेन, गम्योत्प्रेक्षया च सङ्कीर्ण इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'उपरि—' इस पद्य में जनरूप एक वस्तु
 के 'उपर और अन्दर' रूप आशय-भेद-प्रयुक्त करवालधाराकाराव आदि अनेक प्रकार
 वर्णित हैं, अतः द्वितीय उल्लेख यहाँ होता है, वह उल्लेख शब्द नहीं है, अपि तु—'धार
 के समान आकारवाले' इस अंश में उपमा से, 'सर्पराज से भी कर' इस अंश में व्यतिरेक
 से, इन दोनों के समुच्चय से और 'द्रापाओं को दीक्षा देनेवाले गुरु' इत्यंश में गम्य
 उपमेसा से मिश्रित है ।

द्वयोरुल्लेखयोः सङ्करमादिपदप्राह्यसम्बन्धिभेदप्रयुक्तत्वं च दर्शयितुमाह—

'यमः प्रतिमहीश्रुतां हुतवहोऽसि तन्नोश्रुतां

सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम् ।

गृहं शरणमिच्छतां कुलिराकोटिभिर्निर्मितं

त्वमेक इह भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः ॥'

हे राजन् । प्रतिमहीश्रुता शत्रूणां, कृते, यमः अन्तरूपः, तन्नोश्रुता प्रतिपशराज-
 जनपदानाम्, कृते हुतवहः अमिरूपः, सतां सञ्जनानाम्, कृते, खलु निययेन, युधिष्ठिरः
 तद्रूपः, धनाकाङ्क्षिण धनयाचकानाम्, कृते, धनपति कुबेरः, शरणम्, इच्छताम्, कृते,
 कुलिराकोटिभिः वज्राप्रभागैः, निर्मितं, गृहं भवनरूपः, त्वम्, असि, अतः, इह, भूतले,
 एकोऽपि, त्वम्, विधात्रा व्रजणा, बहुविधः नानारूपः, कृत इत्यर्थः ।

अब दो उल्लेखों के संकर (मिश्रण) तथा 'आदि' पद से ग्रहण किये गये संबन्धि-
 भेद-प्रयुक्तता को दिखलाने के लिये कहा जाता है—यमः इत्यादि । हे राजन् ! शत्रुभूत-
 राजाओं के लिये यम, उनके देशों के लिये अग्नि, सज्जनों के लिये युधिष्ठिर, धन चाहने
 वालों के लिये कुबेर और शरण चाहने वालों के लिये वज्र की नोकों से बनाया हुआ
 घर इस तरह एक ही तुझे विधात्रा ने पृथिवीतल पर अनेक प्रकार का बनाया है ।

उपपादयति—

अत्र कविना यमत्वादिना रूपेण राज्ञो रूपवतः करणाद्रूपकेण, विपक्षभूपा-
लादीनामेतस्मिन्नायाते यमत्वादिना भ्रान्तिरपि सम्भवतीति भ्रान्तिमता, विपक्ष-
भूपालादिभिरनेकैर्प्रदीवृभिर्यमत्वादिभिरनेकैर्धर्मैरुल्लेखनात् प्रागुक्तोल्लेखप्रकारेण च
सह सङ्कीर्णोऽयं सम्बन्धिपद्यन्तभेदप्रयुक्तव्यर्थानेकविधत्वर उल्लेखः ।

यमत्वादिना भ्रान्तिरपीति । अत्र 'शरणोच्छ्रान्ता भ्रान्तिवर्णने राजोत्कर्षविरोधीति
चिन्त्यमिदम्' इति नागेश । अहं तु मन्ये सादृश्यमूलकाहार्यारोपस्य रूपकं चेन्न विरोधि
तर्हि सादृश्यमूलिका भ्रान्तिरपि न विरोधिनी राजोत्कर्षे, तुरयन्वादिति । प्रागुक्तोल्लेखेति ।
अत्रापि 'इदमपि चिन्त्यम् । ज्ञानस्यानिवन्धने च ज्ञानपर्यन्तस्य पूर्वोल्लेखस्य कथमप्यत्रा-
सत्त्वात् । नियतव्यञ्जकमामग्राभावेनार्यस्यापि तस्यासत्त्वाच्चेति दिष्टम् । इतोऽपि भ्रान्तिरपि
सम्भवतीति चिन्त्यमिति बोध्यम् ।' इति नागेश । विषयाश्रयसहचराणां सम्बन्धिन मन्त्रा-
सत्त्वादाह—सम्बन्धिपद्यन्तेति । पद्यन्तार्थमम्बन्धीत्यर्थः । क्वचित्तथैव पाठः । 'यम—'
इतिश्लोके युग्मदर्शयैकम्य राज्ञ प्रतिमतीष्टदादिपद्यन्तार्थसम्बन्धिभेदप्रयुक्तम् यमत्वाद्य-
नेरूपकारत्व वर्णितमिति द्वितीय उल्लेखो भवति । स च न शुद्धः रूपकेण, भ्रान्तिमता,
प्रथमोल्लेखेन च सङ्कीर्णत्वान् । तत्र वर्णनीये राज्ञि सादृश्यमूलक्यमाशुपमानाभेदारोपाद्रूपकम्,
वर्णनीये राज्ञि समागते प्रतिपक्षराजादीनां यमत्वादिना भ्रान्ते सम्भवाद् भ्रान्तिमान्,
प्रतिपक्षराजादिभिरनेकैः शातृभिरेकस्य वर्णनीयस्य राज्ञ यमत्वादिनानाप्रकारकत्वेन ज्ञानात्
प्रथमोल्लेखश्चेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'यम—' इस पद्य में कवि ने अपने स्व-
रूप में विद्यमान राजा को 'यम' आदि रूपों में बताया है—अर्थात् कवि द्वारा
वर्णनीय राजारूप उपमेय में 'यम' आदि उपमानों का सादृश्यमूलक अभेदारोप किया
गया है, अतः रूपक से, वर्णनीय राजा के आने पर शत्रुभूत राजा आदि को 'यम' आदि
का अम भी सम्भव है, अतः भ्रान्तिमान् से और शत्रुभूत राजा आदि अनेक ज्ञाताओं
द्वारा वर्णनीय राजारूप धर्मी में यमत्व आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः
प्रथम उल्लेख से—इतने अलङ्कारों से—मिश्रित द्वितीय उल्लेख है, क्योंकि 'प्रतिमतीष्ट-
ताम् (शत्रुभूत राजाओं)' आदि पद्यन्त पद के अर्थ—सबन्धियों—के भेद के कारण
वर्णनीय एक राजा का 'यम' आदि अनेक प्रकार का होना यहाँ वर्णित है । नागेश यहाँ
कहते हैं कि—“द्वितीय उल्लेख के इस भेद को 'भ्रान्तिमान्' और 'द्वितीय उल्लेख' से
मिश्रित बताना उचित नहीं । कारण, एक तो शरणोच्छ्रान्तों द्वारा वर्णनीय राजा के विषय
में किसी तरह की भ्रान्ति हुई है यह वर्णन वर्णनीय राजा के उत्कर्ष का विरोधी है, दूसरे
द्वितीय उल्लेख की भी यहाँ सम्भावना नहीं, क्योंकि उसके लक्षण में ज्ञान-पर्यन्त का
समावेश है और यहाँ यम आदि के ज्ञान का वर्णन है नहीं—अर्थात् जब यहाँ ज्ञान-वाचक
कोई शब्द नहीं है और न ज्ञान व्यञ्जक कोई निश्चित स्वामी ही है तब शब्द अथवा
आर्थ किसी तरह का—ज्ञानारमक प्रथम उल्लेख कैसे हो सकता है ? इससे यह सिद्ध
हुआ कि—भ्रान्ति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः शब्द द्वारा अथवा अर्थ द्वारा
ज्ञान का वर्णन न होने के कारण भी भ्रान्ति की सम्भावना नहीं ।”

द्वयोल्लेखयोर्वल्लभ्य दर्शयति—

अत्रेदं बोध्यम्—प्रथमनिरूपितोल्लेखप्रकारे 'यं महाविष्णुरिति यैष्णवाः,
शिव इति शैवाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, स्वभाव इति लौकायतिकाः, ब्रह्मे-
त्यौपनिषदाः वदन्ति सोऽयमादिपुरुषो हरिः' इत्यादी तत्तद्ब्रह्महीतृकतत्तत्प्रकार-

कज्ञानसमुदायस्य चमत्कारजनकताया अनुभवसिद्धत्वेनालङ्कारत्वम् । द्वितीये तु प्रकारे 'यः शिष्टेषु सद्यः दुष्टेषु कराजः' इत्यादौ तत्तद्विषयभेदभिन्नस्य प्रकारसमुदायमात्रस्य तथात्वम् । न तु विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्य, चमत्कारित्वेनाननुभवात् । चमत्कारनिबन्धनो ह्यलङ्कारभाव उपमादीनाम् । अत एवास्माभिः 'विषयाद्यन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्' इति द्वितीयं उल्लेखो लक्षितः ।

यमिति । वर्णनीय व्ययन राजा यत्पदार्थः । लौक्ययतिवा-चार्याका । जनकताया इति । इदं ज्ञान चमत्कारीत्यनुभवाकार । य इति । 'अत्रापि वर्णनीय' कश्चिन्नृप एव यन्पदार्थः । तथात्वम् चमत्कारित्वेनानुभवसिद्धत्वम् । प्रकारविशेषणमात्रव्यवच्छेदयमाह— न स्थिति । विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्येति । एकस्य वस्तुन- भिन्नवस्त्वात्मकता ज्ञानविषयनिबन्धनं सम्भवतीत्यतौ ज्ञानांशस्य विद्यमानता बोधा । अत एवेति । विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वान् उपमादीनामलङ्कारत्वस्य चमत्कारनिबन्धनत्वाच्चेत्यर्थः । 'यं महाविष्णुरिति वैष्णवा —' इत्यादौ प्रथमोल्लेखोदाहरणे वैष्णवाद्यनेकज्ञातृक-महाविष्णुवाद्यनेकप्रकारकवर्णनीयराजवर्णनज्ञानसमुदाय एव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्ध इति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्य प्रथमोल्लेखलक्षणे प्रवेशश्च । 'य शिष्टेषु सद्यः—' इत्यादौ द्वितीयोल्लेखोदाहरणे पुनः शिष्टादिविषयभेदप्रयुक्तभेदविशिष्टस्य सद्यत्वादिप्रकारसमुदायस्यैव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्धतेति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्यैव च द्वितीयोल्लेखलक्षणे प्रवेशश्च । ननु प्रागुक्तादिके द्वितीयोल्लेखोदाहरणेषुपि एकज्ञातृक-वर्णनीयधर्मिक-विषयादिभेदेहेतुक-नानाप्रकारवज्ञानसमूहस्य स्थितिरवश्यमेपितव्या, एकवस्तुगतानेकप्रकारत्वस्य ज्ञाननिबन्धनत्वात्, तथा च तत्रापि तस्यैव (ज्ञानसमूहस्यैव) अलङ्कारत्वं किमिति नाङ्गीक्रियते इति चेत्, सतोऽपि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वेनालङ्कारत्वायोगात् उपमादेरलङ्कारत्वस्य चमत्कारमूलकताया सर्वसम्मतत्वात् एवञ्च द्वयोल्लेखयोर्वैलक्षण्यं स्पष्टमिति भावः ।

दोनों उल्लेखों के प्रयुक्करण में युक्ति दिखलाई जाती है—अग्नेदम् इत्यादि । 'जिसे वैष्णव महाविष्णु कहते हैं, याज्ञिक यज्ञपुरुष कहते हैं, चार्वक स्वभाव कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं वह आदिपुरुष हरि यह (वर्णनीय राजा) है ।' इत्यादि प्रथम उल्लेख के उदाहरणों में भिन्न भिन्न ज्ञाताओं द्वारा किए गये भिन्न-भिन्न प्रकारों (विशेषणों) वाले ज्ञानों—जैसे प्रकृत में वैष्णव आदि ज्ञाताओं द्वारा किए गये महाविष्णुत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकारों वाले ज्ञानों के समूह में ही चमत्कारोत्पादकता अनुभवसिद्ध है—अर्थात् उन ज्ञानों के द्वारा ही सदृश्यों के हृद्यों में आनन्द उत्पन्न किया जाता है, अतः उन्हें (ज्ञानों को) ही अलंकार माना जाता है । 'जो (वर्णनीय राजा) शिष्टों के विषय में दयायुक्त है, दुष्टों के विषय में भयंकर है ।' इत्यादिक द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में तो उन-उन विषयों के भेद के कारण होने वाले एक व्यक्ति के भिन्न भिन्न प्रकार—अनेक रूप होना—(जैसे प्रकृत में शिष्ट आदि विषयों के भेद के कारण वर्णनीय राजा का दयायुक्त आदि अनेकरूप होना) ही चमत्कारी अनुभूत होता है, अतः उन (प्रकारों) को ही अलंकार माना जाता है । यद्यपि द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में भी ज्ञान अंश रहता अवश्य है, क्योंकि ज्ञान के भेद (समझ की भिन्नता) से ही एक वस्तु की अनेकप्रकारता हो सकती है, अन्यथा नहीं, तथापि ऐसे स्थलों में रह कर भी ज्ञान अंश चमत्कारी (आनन्दोत्पादक) नहीं अनुभूत होता, अतः उस अंश को अलंकार नहीं माना जाता । कारण, चमत्कारोत्पादक होने के कारण ही उपमा आदि को भी अलंकार माना जाता है । अतः पर्य दूसरे उल्लेख का लक्षण 'विषय आदि में से किसी एक की अनेकता के कारण एक

वस्तु के अनेक प्रकार होना' थीं धनाया गया है। सारांश यह कि प्रथम उल्लेख में ज्ञान-समूह को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार समूह को अलंकार माना गया है।

एकरूपेण द्वयोर्ल्लेखयोरनुगमं दर्शयति—

एव च 'लक्षणद्वयान्यतरत्वमुल्लेखसामान्यलक्षणतावच्छेदकम्' इत्याहुः। परे तु 'प्रकारद्वयेऽपि धर्मेणवृत्तित्वेन भासमानप्रकारसमुदाय एवोल्लेखः' इत्यपि वदन्ति।

उक्तरीत्या द्वयोर्ल्लेखयोः पृथग्लक्षणकत्वेऽपि तल्लक्षणान्यतरत्वेन रूपेणानुगमं सम्भवति। यदि तु अन्यतरत्वस्य गुरुत्वम् दुर्ज्ञेयत्वं च विभाव्यते तदा 'अनेकैर्प्रहीतुभिः' 'असत्यपि प्रहीतनेकत्वे' इत्यशब्दयः लक्षणद्वयघटकं निरस्य वर्णनीयैकवस्तुगतप्रकारसमुदायस्य प्रहीतु-विषयाध्यायन्यतमभेदप्रयुक्तस्योल्लेखसदृशसाधारणलक्षणत्वमज्ञीकार्यम्। स्वीकार्यम् च सर्वत्र प्रकारसमुदायस्यैव चमत्कारित्वमिति भावः। तथा चैकविध एवोल्लेख इति सारांशः।

दोनों उल्लेखों का एक रूप से अनुगम करने की रीति दिखलाई जाती है—एवं च इत्यादि। ऐसी स्थिति—जब कि एक जगह ज्ञानों और दूसरी जगह प्रकारों में चमत्कार अनुभूत होने के कारण दो तरह के उल्लेख माने गए—दो तरह के लक्षण किए गए—में 'इन दोनों लक्षणों में से किसी एक का होना' यदि उल्लेख-सामान्य लक्षण का अवच्छेदक (परिचायक) धर्म मान लिया जाय तब अनुगम हो सकता है यह कुछ लोग कहते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि—एक तो 'अन्यतरत्व (दो में से एक का होना)' परिष्कार-पद्धति के अनुसार गौरवप्रस्त वस्तु है दूसरे 'अन्यतरत्व' के स्वरूप का ज्ञान होना भी कठिन है, अतः दो लक्षण करके उसको एकरूप से कहने का प्रयास असंगत है, अपि तु दोनों उल्लेखों के भेद को मिटा कर एक लक्षण कर लेना—एक प्रकार का उल्लेख मान लेना—ही समुचित है, अर्थात् 'ज्ञानों, विषयों, आश्रयों आदि की अनेकता के कारण होने वाले एक वस्तु के अनेक प्रकार उल्लेख है' एक वही लक्षण—फलत एक ही उल्लेख—मानना चाहिए और सर्वत्र प्रकारांश में ही चमत्कार मान लेना चाहिए—पहले जो प्रथम उल्लेख में ज्ञान को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार को चमत्कारोत्पादक मानते थे उस मान्यता को छोड़ देना चाहिए।

व्यङ्ग्यमुल्लेख निरूपयितुमाह—

अथोल्लेखस्य ध्वनिः—

उल्लेखालंकारध्वनिर्निर्हण्यत्वेनारभ्यत इति भावः।

व्यङ्ग्य उल्लेख का निरूपण करने के लिये कहा जाता है—अथ इत्यादि। अथ उल्लेखालंकार की ध्वनि का निरूपण आरब्ध समक्षिप।

व्यङ्ग्यमुल्लेखसमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'अनल्पतापाः कृन्कोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।

विलोक्य गद्गां विचलन्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति ॥'

कविर्गद्गा वर्णयति—अनल्प आधिक्य, तापो येषाम् ते, बहुताया इति यावत्, कृतानि कोटिसंख्यकानि पापानि यैस्ते, गदैकै प्रधानरोगै, शीर्णा विरुल्लङ्गा, तथा, भवस्य ससारस्य, दुःखै क्रोधादिभिः, जीर्णा जर्जरमनस, इति, अमी, समस्ता सर्वविधा अपि लोका, विचलन्त चञ्चलीभवन्त, तरङ्गा यस्याम् तादृशीम्, गद्गाम्, विलोक्य, सुखिनः, भवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अनरूप इत्यादि । गद्गा का वर्णन है—आय-
धिक ताप धाले, करोड़ों पाप करने धाले, प्रदान ही गों से गलित्वाद् भीर संसार के दुःखों
(कामक्रोध आदि) से जर्जरित, वे सब के सब—लहराती हुई गद्गा को देखकर
सुखी होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धोदीरितानां चतुर्णां विलोकनकर्तृणाम् । सुखित्वोक्तया क्रमेण
ताप-पाप-रोग-भय-नाशकत्वप्रकारकाणि ग्रहणान्याक्षिप्यन्ते ।

‘अनरूप—’ इति श्लोके पूर्वार्धवर्णितनतुविधगद्गादर्शकजनममवेतसुखवर्णनेन क्रमशः
ताप-पाप-रोग-भय-नाशकत्वप्रकारकज्ञानममूहः (अर्थात् अनल्पतापजनकर्तृकं तापनाशकत्व-
प्रकारम्, कृतकोटिपापजनकर्तृकं रोगनाशकत्वप्रकारकम्, गददर्शजनकर्तृकम् रोगनाशकत्व-
प्रकारकम् तथा भयदुःखजीर्णजनकर्तृकम् भयनाशकत्वप्रकारकम् गद्गाविशेष्यकं ज्ञानम्)
उल्लेखालङ्कारत्वपर्यवसायो व्यज्यते इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अनल्पतापा —’ इस पद्य में पूर्वार्धवर्णित
‘चारों प्रकार के दर्शकों के सुखी होने की बात’ से चारों शताओं द्वारा किण्ण गद्य ‘गद्गा
ताप-नाशिनी है, गद्गा पापनाशिनी है, गद्गा रोगनाशिनी है तथा गद्गा संसारनाशिनी
है—’ ये चार प्रकार के ज्ञान ध्वनित होते हैं और ऐसे ज्ञानों का समूह ही ‘उल्लेख’ है,
अतः यह पद्य उल्लेख-ध्वनि का उदाहरण होता है ।

विशेषमाह—

अयं च शुद्धस्योल्लेखस्य ध्वनिः ।

‘अनल्पतापा —’ इत्यत्र ध्वन्यमान उल्लेख शुद्ध, अलङ्कारान्तरामिश्रितत्वा-
दिति भावः ।

शुद्ध (अन्य अलंकार से अमिश्रित) उल्लेखालंकार की यह (‘अनल्प—’ इस पद्य
में दिखाई गई) ध्वनि है ।

सङ्कीर्णोल्लेखध्वनिमुदाहरणमाह—

सङ्कीर्णस्य तथा—

अलङ्कारान्तरमिश्रितस्योल्लेखालङ्कारस्य ध्वनिर्येति भावः ।

अन्य अलङ्कार से मिश्रित उल्लेख अलङ्कार की ध्वनि, जैसे—
उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् ।

चकोराश्चञ्चरीकाञ्च मुदं परतरां ययुः ॥’

सख्युर्नायकस्य वा उक्तिरियम्—चकोरा स्वनामख्याता पक्षिविशेषा, चञ्चरीका
भ्रमरा, च, तत्र क्वचित् स्थानविशेषे, स्मयमानम् रास्मितम्, ध्यानतम् मुञ्जं, यस्यास्ताम्,
ताम् अनुभूता प्रसिद्धा वा, विलासिनीम् कामिनीम्, विलोक्य, परतराम् अस्तुच्छाम्,
मुदम् दर्पम्, ययुः प्राहवन्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्मयमान इत्यादि । वहाँ (किसी स्थान-
विशेष में) मन्वहासपुत्र सुखवाली उस विलासिनी को देखकर चकोर तथा भ्रमरों ने
परम हर्ष प्राप्त किया ।

उपपादयति—

अत्र ध्वन्यमानया एकैकग्रहणरूपया ध्रान्त्या तदुभयसमुदायात्मा उल्लेखः
सङ्कीर्णः ।

एवैकेति । चन्द्रत्वेन कमलत्वेन च ग्रहणेत्यर्थः । तदुभयेति । ग्रहणद्वयेत्यर्थः । 'स्मयमानाननाम्—' इति श्लोके चक्रीराणाम् चञ्चरीकाणाञ्च सरिमतमुखकामिनी-विचोकर-जन्य-सुप्रसिद्धिर्घनेन सस्मिते कामिनीमुखे चक्रीराणा चन्द्रत्वग्रम, चञ्चरीकाणाञ्च कमलत्व-ग्रमो व्यज्यते । तौ च ग्रमौ भ्रान्तिमदलङ्कारद्वयरूपौ, तयोर्भ्रान्त्यो समूहश्च नानाप्रही-तृवैकविशेष्यकानेकप्रकारकज्ञानसमुदायरूपतया उल्लेखालङ्काररूपः । एवञ्च भ्रान्तिमद-लङ्कारद्वयसंकीर्णोल्लेखालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिदं पद्य सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'स्मयमानाननाम्-' इस पद्य में जो सस्मित मुखवाली कामिनी के बढलेकन से चकोरों तथा ग्रमरों के हर्ष की प्राप्ति वर्णित है उससे नायिका-मुख में चकोरों का चन्द्र-ग्रम तथा ग्रमरों का कमल-ग्रम—ये दोनों ग्रम—अभिव्यक्त होते हैं । ये दोनों ही ग्रम पृथक्-पृथक् रूप में दो 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार हैं और इन दोनों ग्रमों का समूह अभिव्यक्त होकर 'उल्लेख' अलङ्काररूप होता है, क्योंकि ग्रमों का यह समूह अनेक व्यक्ति द्वारा किया गया एक वस्तु के विषय में अनेक प्रकारक ज्ञानरूप है ही । अतः यह पद्य 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार से मिश्रित 'उल्लेख' अलङ्कार की ध्वनि का उदाहरण होता है ।

आशङ्क्य समावृत्ते—

न चात्र भ्रान्तेरेव चमत्कार इति शक्यापहव उल्लेखः । अनेककर्तृका-नेकधाग्रहणस्थालङ्कारान्तरविचित्रविषयस्य चमत्कृतेरिहापि सच्चात् ।

शक्यापहव इति । नैवात्रोल्लेखोऽस्तीत्यर्थः । समावृत्ते—अनेकेति । विचित्रविषय-स्येति । अनेकधाग्रहणस्य विशेषणमेतत् । अलङ्कारान्तरेभ्यो विचित्रं पृथग्भूतो विषयो लक्ष्यम् यस्य तादृशस्येत्यर्थः । जन्यञ्च ग्रहणपदोत्तरपठ्या अर्थधमत्कृतावनेतीति भावः । 'स्मयमानाननाम्—' इत्यत्रैकग्रहणरूपया भ्रान्तेर्यथा चमत्कारोऽनुभवविषय-स्तथाऽनेककर्तृकविशेष्यकानानाप्रकारकज्ञानसमुदायस्यैकस्य स्वतन्त्रमन्योल्लेखालङ्कारस्य चमत्कारोऽपि अनुभवविषय इति "नान्नोल्लेखः, 'भ्रान्तिमान्' एव केवलः" इति न वर्तु-शक्यमिति सागराः ।

एक शब्द और उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । 'स्मयमानान-ननाम्—' इत्य पद्य में भ्रान्ति का ही चमत्कार है, अत उल्लेख द्विपाया जा सकता है—अर्थात् उल्लेख यहाँ है ही नहीं ऐसा कहा जा सकता है यह भाप नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक कर्ताओं द्वारा किया जाने वाला एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् उल्लेख), जिसका विषय अन्य अलङ्कारों से पृथक् है—अर्थात् जिसको उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, उसका चमत्कार भी यहाँ स्वतन्त्र रूप से है । तात्पर्य यह कि एक-एक ग्रम के चमत्कार को लेकर भ्रान्तिमान् जैसे होगा वैसे ग्रम-समूहइत चमत्कारविशेष को लेकर उल्लेख भी यहाँ होगा ही ।

प्रथमोल्लेखस्य शुद्धस्य सर्गार्णस्य च ध्वनेरुदाहरणे प्रदर्श्य द्वितीयोल्लेखध्वनि-सुदाहर्णुमाह—

द्वितीयोल्लेखस्य ध्वनिर्यथा—

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'भासयति व्योमगता जगदरिल कुमुदिनीर्विक्रसयति ।

कीर्तिस्त्वथ घरणिगता सगरमुतायासमफलता नयते ॥'

राजधृतिरियम्—हे राजन् ! तव, कीर्ति, व्योमगता आकाशगता सती, अखिलं

समग्रं, जगत् संसारम् भासयति प्रकाशयति, तथा कुमुदिनी, विकासयति, धरणिगता धरातलगतता सती च, सगरमुतानाम् सगरराजतनयानाम् आयासम् सागरनिर्माणप्रयासम्, अप्रकृतताम् व्यर्थताम्, नयते प्रापयते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भासयति इत्यादि । हे राजन् ! आपको कीर्ति आकाशव्यापिनी होकर समग्र संसार को भासित करती है तथा कुमुदिनियों को विकसित करती है और पृथिवीगत होकर सगर राजा के पुत्रों के परिश्रम को निष्फल कर रही है ।

उपपादयति—

अत्राधिकारणभेदप्रयुक्तमेकस्यामेव कीर्तौ चन्द्रिकात्वसागरत्वरूपानेकविधत्वं रूपकसङ्कीर्णं ध्वन्यते ।

‘भासयति—’ इतिरलौके एकस्या कीर्तौ जगद्भासन-कुमुदिनीविकासन-सागरमुताया-सवैक्यनयनकर्तृत्वेन वर्णनात् कीर्तौचन्द्रिकात्वसागरत्वात्मकानेकरूपकारत्वं द्वितीयोल्लेखा-त्मकम् व्यङ्ग्यं भवति, तत्र च प्रकारभेदे ज्योतिर्धरणिरूपाधिकारणभेद प्रयोजकः । उल्लेख-ध्यायं न शुब्द रूपकमङ्गोर्णत्वात् । रूपकवाच्यं व्यङ्ग्यमेव कीर्तिरूपोपमेये चन्द्रसागररूपोप-मानद्वयतादात्म्यरूप बोध्यम् । शुद्धद्वितीयोल्लेखध्वनिरनुदाहृतोऽपि स्वयमूहनीय इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘भासयति—’ इस पद्य में आकाश तथा धरातलरूप आधार-भेद के कारण कीर्तिरूप एक वस्तु के अनेक प्रकार—‘चौदनीपन’ तथा ‘समुद्रपन’—(अर्थात् द्वितीय उल्लेख) ध्वनित होता है । यह उल्लेख व्यङ्ग्यरूपक से मिश्रित है । कीर्तिरूप उपमेय में चन्द्र तथा समुद्ररूप उपमानों का तादात्म्य यहाँ रूपक का स्वरूप है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुल्लेखालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

उल्लेखालङ्कारनिरूपणानन्तरमपह्नुत्यलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथापह्नुतिः—

अपह्नुति- अपह्नुति-निरूपणम्, अथ आरब्धं वैदितव्यमिति भावः ।

उल्लेख अलंकार का निरूपण कर लेने के बाद अब अपह्नुति अलंकार के निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि । अब अपह्नुति निरूपण का आरम्भ किया जाता है ।

अपह्नुति-निरूपण-प्रसङ्गे तावत्तल्लक्षणमाह—

उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणसुपमानतादा-
त्म्यमपह्नुतिः ।

उपमेयतावच्छेदकस्य उपमेयवृत्त्यसाधारणधर्मस्य (मुखत्वादेः) यो निषेध शब्द-प्रतिपादितोऽर्धशतलक्ष्यो वा भावस्तत्सामानाधिकरण्येन तदधिकरणवृत्तित्वेन, आरोप्य-माणम् आहार्यनिश्चयविपर्ययीक्रियमाणम्, उपमानस्य चन्द्रादेः, तादात्म्यम् अभेदः, अपह्नुत्यलङ्कार इत्यर्थः । यस्मिन्नधिकरणे मुखत्वादेर्निषेधः शब्दतोऽर्थतो वा प्रतिपाद्यते तस्मिन्नेवाधिकरणे (मुखदानुपमेयभूतपदार्थे) चन्द्रादेरुपमानस्य तादात्म्यमारोप्यमाण-मपह्नुतिरिति भावः ।

अपह्नुति अलंकार निरूपण प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसका (अपह्नुति का) लक्षण किया जाता है—उपमेयतावच्छेद इत्यादि । जिस मुख आदि अधिकरण में उपमेयवृत्ति-असा-धारणधर्म (मुखत्व आदि) का निषेध शब्दतः, अथवा अर्थतः किया जाता हो उसी में

(मुख आदि में) आरोपित किया जाता है या उपमान (चन्द्र आदि) का अन्वय अपहृति अलंकार कहलाता है ।

लक्षण विवेचयति—

रूपकवारणाय तृतीयान्तम् । अस्यां चोपमेयतावच्छेदकस्य निषेधादुपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्विरोधो गम्यते । रूपके तु तयोः सामानाधिकरण्यप्रत्ययात् स निवर्तते ।

रूपकवारणायैतिभ्रान्त्यादेरप्युपलक्षणम् । तदुपपादयति—अस्या चेति । स विरोध । 'नेद मुख किन्तु चन्द्रः' इत्याद्यपहृतौ मुखत्वादेर्निषेध इति मुख्यत्वचन्द्रत्वयोर्विरोधो व्यक्तो भवति । 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपके पुनर्मुखत्व-चन्द्रत्वयोरेकाधिकरणवृत्तित्वाप्रतीतेरविरोध एव भासते । 'चन्द्रधिया चकोरास्त्वन्मुखमभिधावन्ति' इत्यादिभ्रान्तिमत्यपि तयोर्विरोधो नैव भासते, मुख्यत्वस्य शब्दत अप्रतीयमानत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धत्वा अर्थतथ निषेधाभावात् । तथा चोपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकगतमित्योर्विरोधव्यक्तिपर्यवसाध्यर्थकलक्षणघटकतृतीयान्तभागेन रूपकभ्रान्तिमदादिवारणं भवतीति भाव ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—रूपक इत्यादि । पूर्वोक्त अपहृति-लक्षण में 'जिस अधिकरण में उपमेयतावच्छेदक का निषेध किया जाता हो' इतना अर्थ रूपक में अति-प्रसन्न का वारण करने के लिये कहा गया है । अभिप्राय यह कि अपहृति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का परस्पर-विरोध व्यक्त होता है अर्थात् 'मुख नहीं, चन्द्र है' इत्यादि अपहृति में जब 'मुख नहीं' के द्वारा मुख्यत्व का निषेध कर दिया जाता है तब यह साफ झलक उठता है कि मुख्यत्व तथा चन्द्रत्व परस्परविरोधी पदार्थ हैं, अन्यथा उक्त निषेध करने की आवश्यकता ही क्या थी, 'मुख-चन्द्र है' ऐसा ही कहते । रूपक में तो उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का साथ साथ एक स्थल में रहना प्रतीत होता है, अतः उन दोनों का विरोध नहीं व्यक्त होता, अपितु अविरोध ही भासित होता है, अर्थात् 'मुख चन्द्र है' इत्यादि रूपक में मुख्यत्व तथा चन्द्रत्व की एक ही मुख में जब प्रतीति होती है तब उन दोनों का अविरोध ही सिद्ध होता है । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अपहृति-लक्षण के उक्त अर्थ—जिसका पर्यवसित अर्थ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक का पारस्परिक विरोध व्यक्त होना है—से रूपक का वारण हो जाता है । रूपक का ही नहीं, किन्तु भ्रान्तिमत् आदि का भी वारण उसी अर्थ से होता है, क्योंकि वहाँ भी उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का विरोध व्यक्त नहीं होता । वस्तुतः वहाँ उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति ही भ्रान्त को नहीं होती, फिर उसके साथ किसी का विरोध भासित होगा कैसे ?

लक्ष्यप्रदर्शनायाह—

उदाहरणम्—

उदाहरण, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'स्मित नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणा च विकसितं

मुख व्रूते मूढः कुमुदमिदमुद्यत्परिमलम् ।

स्वनद्वन्द्वं मिथ्याकनकनिभमेतत्फलयुगं

लता रम्या सेषं अमरकुलनम्या न रमणी ॥'

एतत् अनुभूयमान वस्तु, स्मितम् ईषदास, नास्ति, किं तु, प्रकृत्या स्वभावेन

एव युवान, कथम्, नितराम् अत्यन्तम्, मोहम् मूर्च्छाम्, सुदम् हर्षम्, च, दधते धारयन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—श्यामम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—कि श्याम और श्वेत सुनयना के नयनों का स्वरूप नहीं है, किन्तु स्पष्ट है कि यह विष तथा अमृत है । कारण, यदि ऐसा न हो तो इन आँखों के पतन से तत्काल ही युवकगण मोह और हर्ष को कैसे प्राप्त करते हैं ? क्योंकि यह विष तथा अमृत का ही काम है ।

अत्रापि निरवयवत्वस्य स्फुटतया तदुपपादनमुपेक्ष्य प्राग्वद् भेदमाह—

अत्र प्रतिज्ञानार्थवैपरीत्ये बाधकोपन्यासाद्धेतुत्वपहृतिः ।

'श्याम मितम्' इत्यत्र श्यामत्वमित्यन्वेषोपमेयतावच्छेदकनिषेधयामानाधिकरण्येन गरलामृतरूपयोश्चमानयोस्तादात्म्यस्य वमश आरोपमाणन्वादपहृतिः । सा च निरवयवा, अपहृतिसङ्घातात्मकत्वाभावान् । प्रतिज्ञातस्य गरलामृततादात्म्यरूपस्यार्थस्य वैपरीत्ये 'नो चेत्' इत्यादिना बाधकहेतोःपवर्णनान् हेत्वपहृतिशब्देनेयमपहृतिर्व्यवहित इति भावः ।

यहाँ भी निरवयवत्व स्पष्ट है, अतः उसका उपपादन न करके अन्य विशेष वतलाया जाता है—अत्र इत्यादि । 'श्यामम्—' इस पद्य में श्यामत्व आदि उपमेयतावच्छेदक का निषेध करके विष आदि उपमान के तादात्म्य का आरोप किया गया है, अतः अपहृति है और वह भी निरवयव है, क्योंकि यह समर्थ-समर्थकभावयुक्त अपहृतियों का समूहरूप नहीं है, यहाँ की अपहृति को 'हेतु अपहृति' भी कहा जाता है । कारण, यहाँ विष तथा अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गई है उसके विपरीत पद्य (श्याम तथा शुद्ध नयनों का स्वरूप ही है इस पद्य) में बाधक हेतु का वर्णन 'नो चेत्' इत्यादि द्वारा किया जाता है ।

अपहृतिभेदान्तरं—

अस्यां च नव्यादिभिः साक्षात्, परमतसिद्धत्वाद्यपन्यासैश्च किञ्चिद् व्यवधानेन विषयस्य निषेधे बोध्यमाने प्रायशो वाक्यस्य भेदः । मिपच्छलच्छद्वाकपटव्याजवपुरात्मादिशब्दैस्तु तस्मिन्स्तस्यैक्यम् । कचिदपहृत्पूर्वकत्व कचिच्चारोपपूर्वकत्वम् कचिद्विषयिताद्रूपविषयनिषेधयोरेकस्य शब्दत्वमेकस्यार्थत्वम् कचिदुभयो शब्दत्वमथोभयोरार्थत्व विधेयत्वमनुवाकत्वं चेति । एतन्नेके प्रकाराः सम्भवन्ति ।

किञ्चिदिति । प्रान्त्यादीन्त्यर्थः । तस्मिन् तद्विषये । तस्य वाक्यस्य । निषेधयोरिति । मध्य इति शेषः । अथेति । क्वचिदित्यर्थः । अनुवाकत्वं चेति । उभयोरप्यनुवाकत्व विधेयत्वं चेन्नर्थः । अयमपहृत्यलङ्कारस्तावद् द्विविधः, एकत्र वाक्यभेदोऽपरत्र वाक्यैक्यम् । तत्र यत्र नन्-शब्दादिभिः, साक्षात् उपमेयस्य निषेधः, 'फरे एव वदन्ति (नाहमेव वदामि)' इत्याद्यनुवादेन भ्रान्त्याद्यलङ्कारान्तरं मध्ये निषेधः ततो वा उपमेयस्य निषेधः, तत्र प्रायो वाक्यभेदो भवति । यत्र तु मिपच्छलादिशब्दैरुपमेयस्य निषेधतत्र वाक्यैक्यम् भवति । प्रकारान्तरेणापि अपहृतेर्भेदाः भवन्ति । यथा कुत्रचित् प्रथममुपमेयस्य निषेधस्तत उपमानतादात्म्यस्यारोपः, कुत्रचित्प्रथममारोप एव ततो निषेधः, एव कुत्रचित् उपमानतादात्म्योपमेयनिषेधयोर्मध्ये एकस्य शब्दतः प्रतिपादनमपरस्यार्थतोऽवगमः, कुत्रचित् तयोर्द्वयोः शब्दत एव प्रतिपादनम्, कुत्रचित् द्वयोरर्थत एव बोधः, एव कुत्रचित् उपमेयनिषेधोपमानतादात्म्ये निषेधे प्रधाने (अनुवाक्यकोटिप्रविष्टत्वेन गुणाभूतेन) भवतः, कुत्र-

विच तै उभे अपि अनुवाये गुणीभूते तिष्ठत । इत्थं च बहो भेदा अपहुतेर्भक्ति-
मर्हन्तीति भावः ।

अपहृति अलङ्कार के भेद किये जाते हैं—अस्यां च इत्यादि । इस अपहृति में जब 'नञ् (नहीं)' आदि शब्दों द्वारा साक्षात्, अथवा 'यह दूसरे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता' इत्यादि रीति से किसी अन्य अलङ्कार (भ्रान्ति आदि) को मध्य में लाकर, उपमेय का निषेध ज्ञात कराया जाता है तब प्रायः वाक्य भेद होता है, अर्थात् उपमेय का निषेध एक वाक्य में और उपमान का ताद्रूप्य दूसरे वाक्य में रहता है । पर जब वही निषेध म्रिय, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से अवगत कराया जाता है तब वाक्य ही एकता होती है, अर्थात् उक्त दोनों चार्ण एक ही वाक्य में आ जाती है । इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है, कहीं आरोप पहले । कहीं उपमान का तादात्म्य और उपमेय का निषेध इन दोनों में से एक शब्द द्वारा वर्णित होता है, दूसरा होता है अर्थात् प्राप्त । कहीं दोनों शब्द द्वारा ही वर्णित होते हैं, कहीं दोनों अर्थ प्राप्त ही रहते हैं । कहीं दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुवाच्य । इस तरह अपहृति के अनेक प्रकार हो सकते हैं ।

सत्स्वपि पूर्वोक्तेष्वनेकेषु प्रकारेषु न ते सर्वे प्रकारा अलङ्कारत्वेन परिगणयितु-
मुचिता इत्याह—

परं न ते वैचित्र्यविशेषमावहन्तीत्यगणनीयाः ।

प्रागुक्ता सर्वे प्रकारा सम्भवन्तोऽपि बालङ्कारकोटौ प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, वैचित्र्यविशेषा-
नापायकत्वात्, वैचित्र्यविशेषस्यैव बालङ्कारजीवातुभूतत्वादिति भावः ।

अपहृति के जितने प्रकार ऊपर यथापु गए हैं, उन सबों की अलङ्कारश्रेणी में गणना करना उचित नहीं, क्योंकि उनमें कोई विलक्षण-वैचित्र्य (चमत्कार) नहीं होता और विलक्षण-वैचित्र्य को ही अलङ्कार माना जाता है ।

ते प्रकारा भवन्त्येव नेति शाङ्कानिरासाय तेषा दिग्दर्शनं कारयति—

एवमपि विद्वात्रमुपदर्शयते—तत्र प्रागुक्तायां सावयवापहृतौ प्रथमावयवेऽ-
पह्वपूर्वकत्वमुभयोः शाब्दत्वं विधेयत्वं वाक्यभेदश्च । द्वितीयावयवे तु वक्तृगत-
मूढतोक्त्या सद्रतभ्रान्तिप्रतिपत्तिव्यवहिता निषेधप्रतिपत्तिरिति निषेध अर्थः ।
ताद्रूप्यं शाब्दम् । विधेयवाक्यभेदापह्वपूर्वकत्वानि पूर्ववत् । चतुर्थावयवे पुनरा-
रोपपूर्वकोऽपह्ववः । उभयोः शाब्दत्वविधेयत्वे वाक्यभेदश्च प्रथमवदेव ।

'वदने विनिवेशिता भुजंगी पिशुनानां रसनामिषेण घात्रा ।

अनया कथमन्यथाऽवलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः ॥'

अत्रैकवाक्यत्वं निषेधताद्रूप्ययोरार्थत्वमनुवाच्यत्वं च, निवेशनस्य विधे-
यत्वात् ।

एवमपीति । चमत्कारित्वाभावेऽपीत्यर्थः । उपदर्शयत इति । उक्तप्रकारजातमिति शेषः ।
तत्र तेषा मध्ये । प्रथमेति । स्मितमिति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः । अपह्वनेति । निषेधस्य
प्रागुल्लेखादिति भावः । उभयो ताद्रूप्यनिषेधयोः । एतत्पदार्थस्थो हेरयत्वादाह—विधेयत्व-
मिति । द्वितीयेति । मुसामिति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः । तुरुक्तवैलक्षण्ये । तदेवाह—वस्तु-
गतेति । तद्वृत्तेति । वक्तृगतेत्यर्थः । भ्रान्तीति । भ्रान्तिमदलङ्कारेत्यर्थः । प्रतिपत्तिरिति ।
वैयञ्जिनबोधेत्यर्थः । पूर्ववदिति । प्रथमवरणवदित्यर्थः । स्तनद्वन्द्वमिति पादप्रतिपाद्य-
तोयावयवस्य द्वितीयेन तुल्यत्वात्सुपेक्ष्याह—चतुर्थेति । लतेतिपादप्रतिपाद्य इत्यर्थः ।
पुनःशब्दो वैलक्षण्ये । आरोपपूर्वक इति । उपमानताद्रूप्यस्य प्रागुल्लेखादिति भावः ।

उभयो ताद्रूप्यनिषेधयो । वाक्यैक्यस्योदाहरण सप्रकारभेदमाह—वदने इति । धात्रा विधिना, पिशुनाना, मुखे, रसनानिषेधेन जिह्वाच्छलेन । भुजङ्गी सर्पिणी, विनिवेशिता स्थापिता । अन्यथा तथात्वाभावे, अनया जिह्वा, अन्वलीला आस्वादिता-रुच्यैक्यता इति यावत्, जना, अमन्त्रा विफलमन्त्रात्मकप्रतिकारा सन्त' कथम्, मनाक् ईपदपि, क्षणमपीति यावत्, न, जीवन्ति भ्रियन्त इत्यर्थ' । उपपादशति—अत्रैकेति । अनुवाद्यत्व चेति क्वचित् पुस्तके 'विधेयत्व च' इति पाठ उपलभ्यते परमसौ न युक्त । अरसगतत्वात्, 'विनिवेशनस्य' इत्यभिप्रान्यविरोधाच्चेति भाव । 'वदने-' इतिश्लोके 'मिष'पदेन निषेधस्य बोध्यमानतया वाक्यैक्यम् निषेधताद्रूप्ययोर्भयोरर्थाद्वगमो, न शब्दात्, अर्थावगतयोश्च तयोरनुवाद्यत्वमेवात्र, न विधेयत्वम्, निवेशनस्यैव विधेयत्वादिति साराश ।

पूर्वोक्त अपह्नुति के प्रकार हैं अवरय, अलकारकोटि में उनकी गणना भले ही न हो। यहाँ यदि कोई यह कहे कि इतने प्रकार होते ही नहीं तो ऐसा कहने वालों के मुख-मुद्गणार्थ उन प्रकारों का दिग्दर्शन कराया जाता है—एवमपि इत्यादि । देखिए—'मित्तं नैतव—' यह जो पहले सावयव अपह्नुति का उदाहरण कहा गया है उसमें चार अवयव हैं जिनमें से प्रथम अवयव—अर्थात् प्रथमचरणगत अपह्नुति—में अपह्ववपूर्वक आरोप है—अर्थात् निषेध पहले किया गया है और ताद्रूप्यारोप पीछे एवम् निषेध और ताद्रूप्य दोनों शब्द द्वारा वर्णित हैं और हैं दोनों के दोनों विधेय तथा यहाँ वाक्य-भेद है । दूसरे अवयव—अर्थात् द्वितीयचरणगत अपह्नुति—में तो वक्ता को मूढ कहने के कारण वक्ता का भ्रम ज्ञान होना है और उसके बाद निषेध, अतः निषेध अर्थप्राप्त है और ताद्रूप्य शब्द द्वारा वर्णित । विधेयता, वाक्य-भेद और निषेध का प्रथम होना—ये सब प्रथम अवयव की तरह हैं । अर्थात् इस अवयव में भी निषेध तथा ताद्रूप्य दोनों विधेय हैं, दो वाक्य हैं और पहले निषेध तब आरोप होता है । तृतीय चरणगत अपह्नुति में सभी बातें द्वितीय अवयव की सी ही हैं । चतुर्थ अवयव अर्थात् चतुर्थ चरणगत अपह्नुति—में फिर रीति बदल जाती है अर्थात् वहाँ पहले आरोप है और निषेध पीछे । और निषेध-आरोप दोनों का शब्द द्वारा वर्णित होना, विधेय होना और वाक्य भेद ये सब प्रथम अवयव के समान ही हैं । एक उदाहरण और देखिए—'वदने—अर्थात् विधाता ने जिह्वा के मिष (छल) से जुगलस्रोतों के मुख में सर्पिणी रख दी है । अन्यथा इस जिह्वा से आस्वादित—इसके चक्कर में पड़े हुए—जन अमन्त्र अर्थात् मन्त्रात्मक प्रतिकार से भी निराका होकर कुछ देर भी क्यों नहीं जीते ।' यहाँ एकवाक्यता है अर्थात् 'उपमेव (जिह्वा)' का निषेध, और 'उपमान (सर्पिणी)' का ताद्रूप्य दोनों एक ही वाक्य में आए हैं । दोनों (निषेध तथा ताद्रूप्य) अर्थप्राप्त और अनुवाद्य हैं । अनुवाद्य इसलिए कि न यहाँ निषेध विधेय है न ताद्रूप्य, किन्तु 'निवेशन (रखना)' विधेय है । किसी किसी पुस्तक में 'अनुवाद्यत्व च' की जगह पर 'विधेयत्व च' ऐसा पाठ प्राप्त है, पर वह असंगत है, क्योंकि भागे साफ लिखा जा रहा है कि "निवेशन' विधेय है ।"

भेदविचार समापयन्नाह—

एवमन्यदप्युह्यम्—

अपह्नुतेयं प्रकारा उपास्तेषु येषामुदाहरणानि प्रदर्शितानि तदतिरिक्तानामुदाहरणादि-कम् स्वयमूहनीयमिति भाव ।

उक्त प्रकारों के विषय में अन्य बातें स्वयं समझिए ।

लक्षणघटकाहार्यपदार्थं विवृण्वन् तत्फलमाह—

अत्र च लक्षणे आरोप्यमागमित्यस्याहार्यनिश्च . क्रयमाणमित्यर्थः ।
तेन—

‘सङ्ग्रामाङ्गणसन्मुखाहत्कियद्विधम्भराधीश्वर-

व्यादीर्णाकृतमध्यभागविषरोन्मोलन्नभोनीलिमा ।

अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलं

मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥’

अत्र च विरहिजनवाक्ये नाय शशाङ्कः, अपि तु सच्छिद्रो मार्तण्ड इति-
च्छायाभात्रमपहतेः, न त्वपद्रुत्यलङ्कारः । सञ्ज्ञानस्य दोषविशेषजन्यत्वेनाना-
हार्यत्वात्, किं तु भ्रान्त्यलङ्कार एव ।

‘अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते ।

अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं चेदं मृगीदृशः ॥’

इत्थत्र मुखमरविन्द वेति कविनिष्ठाहार्यसशये मुखनिषेधसामानाधिकरण्येन
विषयीभवतोऽरविन्दादात्म्यस्य निश्चयविषयत्वाभावात् सङ्ग्रहः । न चात्र
विषयनिषेधस्यापदार्थत्व शङ्कथम्, वाशब्दार्थत्वात् ।

आरोप्यमाणपदस्थायं विवृणुते—अत्र च लक्षणे इति । निषये आहार्यत्वनिवेशफल-
माह—तेनेति । सङ्ग्रामेति । सङ्ग्रामाङ्गणे युद्धभूमौ, सन्मुखाहताः सन्मुखयुद्धेन गृताः,
ये, कियन्त कतिपये, विधम्भराधीश्वरा धरापतय, तै, व्यादीर्णाकृतेन विदारितेन, मध्य-
भागेन, यद् विवरम्, तस्मात्, उन्मोलन् प्रकाशमान, नभोनीलिमा आकाशनैत्ययुणो
यस्य तादृश, तथा, अङ्गारप्रखरैः अङ्गारत्वतोदयैः, करैः किरणैः, जगन्मण्डलम्, सद्यः
साक्षात्, कवलयन् भक्षयन्, अयं प्रत्यक्षं दृश्यमान, मार्तण्डः सूर्य, उदेति, केन पशुना
लक्षण्या पशुवदज्ञानेन, लोके, अयम्, शशाङ्कीकृतः शशाङ्कचन्द्रः स यो न भवति तं तथा
क कृतवानित्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । समामेतिपय इति तदर्थः । छायाभात्रम्
सादृश्यमात्रम् । तज्ज्ञानस्येति । सच्छिद्रमार्तण्डज्ञानस्येत्यर्थः । दोषविशेषेति । विरहेत्यर्थः ।
अनाहार्यत्वात् इति । इच्छाजन्यत्वाभावेनेति भावः । विरहिजनेके ‘सङ्ग्राम—’ इति-
श्लोकवाक्ये ‘नायं चन्द्रः किंतु सविवर- सूर्य’ इत्याकारकोऽपह्नवो यद्यप्यापाततः प्रतीयते,
तथापि वस्तुतो नापह्नव, मार्तण्डतादात्म्यनिश्चयस्य विरहजन्यत्वेनानाहार्यत्वात् । तथा च
दोषविशेषजन्यस्य सादृश्यमूलकस्य उपमेये उपमानध्रमस्य सत्त्वाद् भ्रान्तिमान् अलङ्कार
एवान्नेति सादृशः । आरोप्यमाणपदार्थकुक्षौ ज्ञानध्रमपहाय निश्चयत्वस्य निवेश्यमानस्य
फलमाह—अलिरिति । व्याख्यातमिदं पद्यमनुपदं सत्सन्देहालङ्कारप्रकरण इति नेह पुनर्व्या-
ख्यायते । प्रकृतमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । ‘अलि—’ इतिपद्येऽपि ‘मुद्धम् कमलम् वा’
इत्याकारकं कविसमवेतं ज्ञान वर्णितम् तत्र च ज्ञाने उपमेयमुखनिषेधाधिकरणवृत्तितया
उपमानभूतकमलतादात्म्य विषयीभवति यद्यपि, तथापि न तत्रापह्नवः, तस्य ज्ञानस्य
संशयरूपतया निश्चयान्मकलाविरहान् । उपमेयनिषेधोऽत्र न कस्यापि पदस्यार्थः, एवञ्च
तावत्तत्र नापह्नविरिति तदर्थं निश्चयत्वपर्यन्तानुपावन व्यर्थमिति न शङ्कथम्, तन्निषेधस्य
चापदार्थत्वादिति भावः ।

लक्षण में आप हुए ‘आरोप्यमाण’ पद के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उसका फल
दिसलाते हैं—अत्र च इत्यादि । इस अपह्नव-लक्षण में ‘आरोप्यमाण—अर्थात् आरोपित
किया जानेवाला’ शब्द का अर्थ है ‘आहार्यनिश्चय का विषय किया जाना ।’ तात्पर्य यह
कि वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका निश्चय अपनी दृष्टि से बन्दा ने (इस ही सही
धर) कर लिया हो । उक्त पद का ऐसा अर्थ करने का फल यह हुआ कि ‘सङ्ग्रामाङ्गण
अर्थात् समरभूमि में सगुल मारे गए कितने ही राजाओं द्वारा विदीर्ण किए गए मध्यभाग

के विद्र से आकाश की नीलिमा प्रकट हो रही है। उस नीलिमा से युक्त वह सूर्य अगारों के समान तीक्ष्ण किरणों से भुवन मण्डल को तत्काल भरमसात् करता हुआ उदित हो रहा है। किस पशु ने इसे चन्द्रमा न होते हुए भी संतार में चन्द्रमा कर दिया ? इस विरही के वाक्य में अपभ्रुति अलंकार नहीं होता, क्योंकि यहाँ जो विरही को 'यह चन्द्रमा नहीं, किंतु क्षिप्रवदित सूर्य है' ऐसा मिथ्य होता है वह विरहरूपदोष के कारण, अतः वह आहार्य (इच्छान्य) नहीं है। हाँ, अपभ्रुति की छाया यहाँ अवश्य है, पर वस्तुतः अलंकार यहाँ भ्रान्तिमान ही है। दूसरा फल यह हुआ कि—'अलिर्मुगे वा—' यह पद्य जिसकी व्याख्या सप्तदेहालंकारप्रकरण में की जा चुकी है—अपभ्रुति कोटि में सगृहीत नहीं होता। कारण, यहाँ जो कवि को 'यह सुप्र है अथवा कमल' ऐसा आहार्यज्ञान होता है उसमें यद्यपि सुप्र के निषेध के साथ ही कमल का ताद्रूप्य भी विषय हुआ है, तथापि वह ज्ञान आहार्यसहाय है, आहार्यनिश्चय नहीं। यहाँ उपमेय-मुख का निषेध किसी पद का अर्थ नहीं—अर्थात् निषेध वाचक कोई पद यहाँ नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'वा' शब्द का अर्थ भी एक प्रकार से निषेध ही होता है—यदि कवि को मुख का निषेध करना अभीष्ट न होता तब 'अथवा' कह कर उसका उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

दीक्षितमतमनूय खगड्यति—

यत्तु कुत्रलयानन्दाख्ये सन्दर्भे अप्यदोक्षितैरपभ्रुतिप्रभेदवचनप्रस्तावे पर्यस्तापह्रुत्याख्यं भेद निरूपयद्भिर्भिहितम्—

'अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्रुतिरस्तु सः।

नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥' इति।

अत्र चिन्त्यते—नायमपह्रुतेर्भेदो यत्तु युक्तं, अपह्रुतिसामान्यलक्षणाना-
क्रान्तत्वात्। तथा हि 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यस्ताध्यते सा त्वपह्रुतिः, उपमेयमसत्यं
कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते साऽपह्रुतिः' इति काव्यप्रकाशोक्तलक्षण-
बहिर्भावस्तावत् स्फुट एव। एव 'विषयापह्रुते वस्त्वन्तरप्रतीतापह्रुतिः' इत्य-
लङ्कारसर्वस्वोक्तलक्षणमपि नात्र प्रवर्तते।

'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।

सान्यादपह्रुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥'

इति चित्रमीमांसागत तन्निमित्तमपि लक्षणमिह तथैव। तस्मात् 'नायं सु-
धांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र दृढारोप रूपकमेव भवितुमर्हति,
नापह्रुतिः। उपमेयतोपमानतावच्छेदकयोः सामानाधिकरणस्य निष्प्रत्यूर्ण
भान्नात्। तदुक्तं विमर्शिन्याम्—'न विप विपमित्याहुर्ब्रह्मस्य विपमुच्यते।' अत्र
विपस्यनिषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोप रूपकमेव, नापह्रुतिः ॥'
इति। यदि च प्राचीनमतमुपचालङ्काररत्नाकरेणैव मयाऽप्यय प्रकारोऽपह्रुतमध्ये
गणित इत्युच्यते, तदा आहार्यताद्वयनिश्चयस्य समानत्वाद्रूपकभेद एवापह्रुति-
रित्युच्यताम्। निरस्यतां च प्राचीनमुखदाक्षिण्यम्। एवमपि चित्रमीमांसा-
गतत्वन्निमित्तापह्रुतिलक्षणस्यात्राव्याप्तिः स्थितैव। अपि च यदि 'नायं सुधांशुः
किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र पर्यस्तापह्रुतिरित्युच्यते, तदा तस्यामेव
व्यक्तचित्रमीमांसागतस्य—

'विष्णोर्विशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिहते।

उपरलक्षकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥'

इति रूपकलक्षणस्यातिरिक्त्यातिर्वञ्चलैपायिता स्यात्, विषयिणो निह्वयेऽपि विषयस्यानिद्रुतत्वात् । अथापिचित्रमीमांसायां प्राचीनमतानुसारेण रूपकलक्षणम्, कुयल्लयानन्दे च रत्नाकराद्यनुसारेणापह्नवित्योक्तिरिति यथाकर्याञ्चत् सामञ्जस्यं विधेयमिति दिक् ।

अन्यत्रेति । अन्यत्र उपमेये आरोपार्थ उपमानतादृश्वारोपप्रयोजनक, तस्य उपमानस्य, स अपह्नव पर्यस्तापह्नवितिरिति लक्षणार्थ । उत्तरार्धेनोदाहरणमाह—नायमिति । अय गगनस्थ, सुधाशु चन्द्रो, न, किन्तु प्रेयसीमुलम् सुधाशु, इत्यर्थः । सण्डवितुमाह—अत्र चिन्त्यत इत्यादि । 'नायं सुधाशु—' इत्यत्रापह्नविति भवितुमर्हति, तत्रापह्नविसामान्यलक्षणाप्रसक्तेरिति भाव । अप्रसज्यमानानि नानाविधानि लक्षणाभ्युद्धरति—तथाहि इत्यादिना । 'प्रकृत—' इति । इव मन्मटगदस्य कारिका, प्रकृतम् उपमेयम् । अन्यत्र उपमानम् । उपमेयमसत्यमिति । कारिकाकालकृत कारिका-विवरणमेतत् । विषयापह्नव इति । विषयस्य उपमेयस्य, अपह्नवे सति वस्तुन्तरस्य उपमानस्य, प्रतीतो, जायमानायाम्, अपह्नवितिरलङ्कारो भवतीत्यर्थ । प्रकृतस्य निषेधेनेति । प्रकृतस्य उपमेयस्य निषेधेनतद्द्वारेत्यर्थ, राम्यान् सादृश्यमूलकम्, अतः, अन्यत्पस्य उपमानत्वस्य, प्रकृतान्, सा, अपह्नविति एवमात्म्यगतत्वेन भिन्नवस्तुगतत्वेन च द्विप्रकारित्वेत्यर्थ । उपरि समुद्धृतानि त्रीण्यपि अपह्नवे सामान्यलक्षणानि 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र न सपटन्ते, सर्वत्रोपमेयनिषेधस्य निवेशात्, प्रकृते चोपमानस्यैव निषेधेनोपमेयस्यानिषेधादिति सात्तः । उपसहरति—तस्मादिति । दृष्टारोपमिति । आरोपदाढ्यसम्पादकमित्यर्थ । रूपकस्य सत्त्वेऽपह्नवत्वात्तत्त्वे हेतुमुपन्यस्यति—उपमेयतेति । मुख्यसुधाशुत्वयोरेकाधिकरणश्रुतिताया निर्विन्न भासमानत्वादित्यर्थ । अत्रार्थे प्राचीनोक्तिं [सवादयति—तदुक्तमिति । न विषमिति । विषं, विषं, न आहु. कथयन्ति, प्रकृतं ब्राह्मणस्वामिकं धनम् । विषम्, वच्यते कथ्यते इत्यर्थ । विषमोक्तुं कथयिदनाशेऽपि ब्रह्मचरमोक्तुर्नाशो ध्रुव इति तद्भाव । अत्रत्यं विमर्शनीकारकृतसुपादानमुद्धरति—अत्रेति । विषयस्य उपमानतया विवक्षितस्य । ब्रह्मस्वविषये इति । ब्रह्मस्वरूपे उपमेये इत्यर्थ । आरोप्यमाणत्वादिति । विषयस्येति पूर्वोक्तान्त्वय । यथा युक्त्वा 'न विषम्—' इत्यत्रापह्नवितिरसत्त्व रूपकस्य च सत्त्वम् विमर्शनीकारोऽसाधयत्, तस्यैव पुनत्या 'नायं सुधाशु—' इत्यत्रापि तथा सिद्धयतीति पत्नार्थ । अत्र 'इदं चिन्त्यम्—नेदं मुलं चन्द्र इति प्रसिद्धापह्नवितुदाहरणेऽपि मुलनिषेधस्य चन्द्रारोपदाढ्यसम्पादकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वेनानुभवसिद्धत्वेन वापह्नविमात्र-स्वोच्छेदापत्ते । यदि तु निषेधपूर्वकारोपे चमत्कारविशेषस्यानुभवसिद्धत्वात्तद्द्वारांतरत्वं तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यमिति ।' इति नागेश । वस्तुतस्तु 'नेदं मुलं, चन्द्रः' इति प्रसिद्धापह्नवितुदाहरणे उपमेयतावच्छेदकस्य सुलत्वस्य निषेध स्पष्ट, अतोऽत्र रूपककथनं दुराग्रह-मात्रम्, 'विषये यच्चनिह्वते' इति दीक्षितवृत्तरूपकलक्षणानुसारमपि विषयनिषेधस्य रूपकत्वविरोधित्वात् । विषयनिषेधस्य रूपकदाढ्यसम्पादकत्वमित्युक्तिरपि चक्षुषोर्भूविशेष एव । विषये निषेधे कौपमानतादात्म्यारोप ? तादात्म्यारोप एव चासिद्धे का पुनस्तस्य दाढ्यसम्पादनाया ? 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र तु 'प्रेयसीमुलं सुधाशु' इति रूपकं चादिप्रतिवादिविधया स्फुटमेव सिद्धयति, 'नायं सुधाशु.' इति गगनस्थितस्य चन्द्रस्य कृते कृतो निषेधः प्रकृतारोपदाढ्याय एवेति स्वीकर्णायमकमेनापीति मार्मिका विद्युशान्तु । ननु वस्तुस्थितेरेवानुरोद्धव्यतया प्राचीनैरज्ञोक्तोऽभ्येपोऽपह्नवतेर्भेदः स्वीक्रियत इत्याह—

यदि चेति । रत्नाकरेणैवेति । दृष्टान्तोल्लेखात्तदनुरोधेनायं भेदो गणित इति सूचितम् । प्रतिबन्धा जागरूकत्वेन तदपि न सम्भवतीत्याह—तदेति । रूपके यद्योपमानाहार्यताद्रूप-निश्चयो भवति तथापहृतावपीति रूपकप्रकारविशेषा एव सर्वा अपहृतय इत्यपि वक्ष्यं भवतीति भाव । ननु प्राचीनसिद्धान्तविरोध इति चेन्नह—निरस्यता चेति । प्राचीना प्रकाशकारादयस्तदनुरीधस्यज्यतामिति तात्पर्यम् । ननु निषेधपूर्वकारोपे नमत्कारविशेष-स्यानुभवसिद्धत्वेन कथमपलाप, अतो दोषान्तरमाह—एवमपीति । उक्तरीत्या तथा-ज्ञोकारेऽपीत्यर्थ । लक्षणस्येति । 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इत्यादे प्रागुद्धृतस्येत्यर्थ । अत्रेति । 'नायं सुधाशु—' इति लक्ष्ये इत्यर्थ । अव्याप्तिरिति । प्रकृतनिषेधाभावादिति भाव । दोषान्तरमाह—अपि चेति । तस्यामेवेति । पर्यस्तापहृतावेत्यर्थ । 'विम्बाविशिष्टे—' इति । रूपकप्रकरणे समुद्धृता व्याख्याता चैव कारिका । वज्रलेपायितेति । दुर्वारित्यर्थ । अतिव्याप्तेर्वज्रलेपायितत्वे हेतुमाह—विषयिण इति । 'नाय सुधाशु —' इत्यत्र सुधाशो-रूपमानस्य निषेधेऽपि मुख्यस्योपभेयस्यानिषिद्धतया त्वदुक्तलक्षणप्रसङ्गेरतिव्याप्तिरिति भाव । दीक्षितहृदयमुद्धृतयति—अथापीति । रत्नाकरादीति, आदिना दण्डिग्रहणम् । इत्थ हि काव्यादर्शे (२।३०४) तेनोक्तम्—'अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्' इति । यथा कथंचित् सामञ्जस्यमिति । अत्र "एतदनन्तरमत्र किञ्चित्पठितम् । तत्सर्वपुस्तके दुर्लभमेव अनन्तर 'विवेकमिति दिक्' इति ग्रन्थ ।" इति नागेश ।

अनुवाद करके दीक्षितमत का खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । 'कुवल्या बन्द' नामक ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने अपहृति के भेद कहने के प्रसङ्ग पर 'पर्यस्ता-पहृति' नामक भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि "अन्यत्र—अर्थात् उपमेय में उप-मान का आरोप करने के लिए (उपमान के) अपहृत्व को 'पर्यस्तापहृति' कहते हैं, जैसे यह आकाश में स्थित चन्द्रमा, चन्द्रमा नहीं है, तो फिर चन्द्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख" उक्त दीक्षित-कथन पर विचार किया जाता है—'नाय सुधांशु —' को अपहृति का भेद कहना समुचित नहीं, क्योंकि इसमें अपहृति का सामान्य लक्षण सघटित नहीं होता । देखिए—'प्रकृतं प्रतिषिध्य—अर्थात् उपमेय को मिथ्या कहकर उपमान का स्थाप-तया स्थापन करना अपहृति है । यह लक्षण काव्यप्रकाशकार मरमट ने किया है । 'विषयापहृत्ये—अर्थात् उपमेय के द्विपाने पर अन्य वस्तु की प्रतीति को अपहृति कहते हैं । यह लक्षण सर्वस्वकार ने बनाया है । स्वयं दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' में 'उप-मेय का निषेध करके, सादृश्य के कारण, अन्य होने की रूपना को अपहृति कहते हैं । वह कहीं एकवाच्यगत वहाँ दोवाच्यगत होने से दो तरह की है । यह लक्षण लिखा है । ये तीनों ही अपहृति के सामान्य लक्षण प्रकृत में सघटित नहीं होते । कारण, इन तीनों ही लक्षणों में उपमेय का निषेध आवश्यक माना गया है और यहाँ ('नायं सुधांशु' में) उपमेय का निषेध नहीं हुआ है । अतः 'नाय सुधांशु —' इस वाक्य में द्वाारोप रूपक ही होना उचित है, अपहृति नहीं । कारण, यहाँ उपमेयतावच्छेदक (सुखत्व) और उपमानतावच्छेदक (चन्द्रत्व) दोनों का एक अधिकरण (आधार) में रहना—जो रूपक का साधक है—निर्विघ्न रूप से भासित होता है—अर्थात् उपमान-उपमेय का विरोध—जो अपहृति का साधक होता है—यहाँ भासित नहीं होता । यही बात 'विमर्शिनी' में उपलब्ध भी होती है—"न विषम—अर्थात् जहर को जहर नहीं कहते अपि तु ब्राह्मण के धन को जहर कहते हैं, यहाँ पहले विष का निषेध कर अनन्तर उसका 'ब्रह्मस्वरूप उपमेयमें आरोप किया जा रहा है, अतः यहाँ द्वाारोप रूपक ही है, अपहृति नहीं ।" यदि आप कहें कि—'अलङ्कार-रत्नाकर' को तरह मैंने भी प्राचीन मत की उल्लेख करके इस भेद को अपहृति में ही गिना है, तो मैं कहूँगा कि आहार्य ताद्रूप्य का निश्चय तो

अपहृति में भी बैठा ही रहता है जैसा रूपक में, अतः अपहृति को भी रूपक का ही भेद कहा जानिए और प्राचीनों का सुँड जोहना छोड़ दीजिए । यदि आप निषेधपूर्वक आरोप में विलक्षण चमत्कार अनुभूत होने की बात कहकर उक्त प्रतिपत्ती से घचना चाहें तो घच सकते हैं, पर अन्य आपत्ति से नहीं घच सकते—अर्थात् 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इस पूर्वोद्धृत चित्रमीमांसागत आपके लक्षण की ख्याति यहाँ हो ही जायगी, तावप्यं यह कि जब आप 'नाय सुधाशु —' को अपहृति का भेद मानते हैं—तब उसमें आपका सामान्य अपहृति लक्षण सघटित हो यह उचित है, पर घेना होता नहीं—यह दोष आपके मत में होगा ही । इतना ही नहीं, यदि आप 'नाय सुधाशु —' में 'पर्यस्तापहृति' कहते हैं, तब उसी पर्यस्तापहृति में चित्रमीमांसागत आरका 'विम्बाविशिष्टे—' यह रूपकलक्षण जो रूपक-प्रकरण में व्याख्यात हो चुका है—अतिप्रसक्त हो जायगा, क्योंकि वहाँ उपमान का निषेध होने पर भी उपमेय का निषेध नहीं हुआ है । इतने पर भी 'चित्रमीमांसा' में प्राचीनों के मत के अनुसार रूपक का लक्षण किया गया है और 'कुवलयानन्द' में रत्नाकर, दण्डी आदि के अनुसार इस भेद को अपहृति कहा गया है इस तरह किसी प्रकार सम-न्वय किया जा सकता है । यहाँ नायेश का कथन है कि—'सामञ्जस्यं' के बाद लुप्त प्रथ्य मुद्रित है, जो किसी भी पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता ।

भेदान्तरसुराहरति—

'अनल्पजाम्बूनददानवपं तथैव हर्षं जनयञ्जनेषु ।

दारिद्र्य घर्म-क्षपणक्षमोऽयं धाराधारो नैव धराधिनाथः ॥'

कवि वमपि राजानं स्तौति—अनेपु लोकेषु, अनल्पं प्रभूतं यन्जाम्बूनददानम् सुवर्ण-वितरणम्, स एव वपंः वृष्टिः, तम्, तथैव, हर्षम् सुखम्, जनयन् सम्पादयन्, श्रयम् वर्णनीयं पुरुषविरोप, दारिद्र्यरूपस्य घर्मस्य रौद्रस्य, क्षणशो नाशने, क्षमं रामर्षं, धाराधरं मेघं, अरितं, धराधिनाथं समुधाधिपं (राजा) नैव, अस्तीत्यर्थः ।

अपहृति का अन्य भेद उदाहरण द्वारा दिखलाया जाता है—अनल्प इत्यादि । कवि किसी राजा के विषय में कहता है—मानवीं में अत्यधिक सुवर्णदान रूप वृष्टि तथा दर्प उत्पन्न करता हुआ यह दरिद्रता-रूप ताप के नाश करने में समर्थ मेघ है, राजा नहीं ।

मेघं फुटयति—

सावयवारोपेयमपहृतिः ।

'अनल्प—' इतिलोके दाने यथारोपेण 'धराधिनाथो न किन्तु धाराधरः' इत्यपहृतिः सावयवारोपा (श्रवयवारोपसहिता, श्रवयवरूपकसहितेति यावत्) व्यवहियत इति भावः ।

भेद का स्पष्टीकरण किया जाता है—सावयवा इत्यादि । 'अनल्प—' इस पद्य में जो अपहृति है वह सावयवारोपा (श्रवयवांश में आरोपसहिता) कही जाती है । सारांश यह कि—यहाँ 'दानवपम्' इस श्रवयव-भाग में आरोप हुआ है—अर्थात् दान में वृष्टि-भाव आरोपित है (फलतः रूपक है), अतः 'राजा नहीं, किन्तु मेघ है' यहाँ की यह अपहृति 'सावयवारोपा' कही जाती है ।

पुनर्भेदान्तरमाह—

आरोपमात्रोपायत्वे परम्परिताप्येषा सम्भवति ।

आरोपेति आरोपस्येत्यादि । मात्रपदेन अपहृतेरपहृत्युपायत्वं व्यवच्छिद्यते । यस्या अपहृतेरवयवाशो एक आरोपोऽपरस्यारोपस्योपायभूतो भवेत्, साऽपहृतिः परम्परिता कथ्यत इति भावः ।

पुनः अन्य भेद किया जाता है—आरोप इत्यादि । जिस अपहृति के श्रवयवांश में

ऐसे दो आरोप हों जिनमें एक दूसरे का उपायभूत रहे तब वह अपह्नुति परम्परिता भी हो सकती है।

उदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘मनुष्य इति मूढेन खलः केन निगद्यते।

अथ तु सज्जनान्भोजवनमत्तमतङ्गजः ॥’

केन, मूढेन, खल दुष्टो जन, ‘मनुष्य’ इति पदेन, निगद्यते कथ्यते। मनुष्यो न, अपि तु अथम् सज्जनममूढरूपस्य, अम्मोजवनस्य कमलपुञ्जस्य, कृते, मत्त, मतङ्गजः हस्ती, अस्तीत्यर्थः। अत्र सज्जनसमुदयेऽम्भोजवनन्वारोप खले मतङ्गजन्वारोपस्योपाय इति परम्परितताऽस्या अपह्नुतेर्वोप्या।

उदाहरण द्विललाया जाता है—मनुष्य इत्यादि। कौन मूख ‘दुष्ट’ को मनुष्य कहता है। यह तो सज्जनरूप कमल-वन के लिये मत्त हाथी है—जैसे मत्त हाथी कमलवन को तोड़ फोड़कर बिनष्ट कर देता है, उसी तरह दुष्ट सज्जन को नष्ट कर देता है। यहाँ दुष्ट में हाथीपद के आरोप का उपायभूत है सज्जनों में कमल वन भाव का आरोप, अतः ‘मनुष्य नहीं, हाथी है’ इस अपह्नुति का व्यवहार ‘परम्परित’ शब्द से किया जाता है।

अपह्नुतिपनिमुदाहर्तुमाह—

अस्याश्च ध्वनिर्यथा—

अस्या अपह्नुते।

अपह्नुति की ध्वनि जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘दयिते रदनत्विषां मिपादयि। तेऽमी विलसन्ति केसराः।

अपि चालकवेपधारिणो मकरन्दस्पृह्यालबोऽलयः ॥’

व्याख्यातमिदं प्राक् (११४ पृष्ठे)।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दयिते इत्यादि। (इसका अर्थ ११४ पृ में देखें)।

उपपादयति—

अत्र ‘नैता रदनत्विषां, किंतु किञ्चत्कपरम्पराः। न चैतेऽलकाः, अपि त्वलयः’ इति पूर्वोत्तरार्थाभ्यां द्वे अपह्नुती तावत्प्राकट्येनैव निवेदिते। ताभ्यां च ‘न त्वं नारी, किं तु कमलिनी’ इति तृतीयापह्नुतिर्व्यञ्जनव्यापारेण प्राधान्येन निवेद्यते, तत्सम्बन्धिवस्तुनिषेधारोपयोस्तन्निषेधारोपनिवेदकत्वस्य न्याय्यत्वात्। तुल्य-योगिता तु गुणतया स्थिता।

तावत् आदौ। अप्राधान्ये ध्वनित्वाभावादाह—प्राधान्येनेति। तदिति। अवयवी-त्यर्थः। ननु वाच्यतुल्ययोगिताया एवात्र प्राधान्येन कथं ध्वनिवमत आह—तुल्ययोगिता इति। ‘दयिते—’ इतिश्लोके रदन्वित्त्वनिषेधसामानाधिकरण्यानारोप्यमाणकेसरतादात्म्यरूपा एका अपह्नुति पूर्वार्धेन, अलकत्वनिषेधमामानाधिकरण्यानारोप्यमाणश्रमरतादात्म्य-रूपा च द्वितीया अपह्नुति द्वितीयाधेन, वाच्यवृत्त्यैव बोध्यते। तेन आपह्नुतिद्वयेन। नारी-त्वनिषेधमामानाधिकरण्यानारोप्यमाणकमलिनीतादात्म्यरूपा ‘न त्वं नारी, किंतु कमलिनी’ इत्याकारा तृतीयाऽपह्नुतिर्भवत्येते। एतत्तृतीयापह्नुतिव्यञ्जनत्व प्रथमवाच्यापह्नुतिद्वयस्य सम-

चितमेव, यत् अवयवमम्बन्धिवस्तुनिर्दिधारोपौ अवयवनिर्दिधारोपयो बोधकौ भवत एव—
अर्थात् अवयवविभूतनारीमम्बन्धिरदन्तकान्तिनिर्दिधोऽवयविरूपनारीनिर्दिधस्य, एवम् अवय-
विभूतकमलिनीसम्बन्धिक्रमरूपरूपोप कमलिन्यारोपस्य बोधकौ भवेताम् । अस्याश्च
अहपापहृते सर्वाधिकवन्तकारितया प्रधान्येन तदुपनिर्ध्व्यवहारोऽत्र क्रियते । ननु
अप्रकृतयो केसरभ्रमरयोर्विलासरूपकवियान्वयित्वेन जायमाना तुल्ययोगिताऽत्र प्रधानेति
चेत्, तस्या गुणताया एव स्वीकरणादौचित्याच्चेति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'द्विधिते—' इस पद्य में 'ये दन्त-कान्तियो
नहीं हैं, किन्तु केसर पत्तियाँ हैं' और 'ये केस नहीं हैं, किन्तु भ्रमर हैं' ये दो अपभ्रंशियाँ
तो क्रमशः पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध द्वारा प्रकट रूप में ही निवेदित हैं—अर्थात् वाच्य ही
हैं । इन दोनों अपभ्रंशियों द्वारा 'वू खी नहीं, किन्तु कमलिनी है' यह तृतीय अपभ्रंशित,
व्यञ्जनावृत्ति से, प्रधानतया ध्वनित होती है । कारण, 'अवयवी से सम्बन्ध रखनेवाली
वस्तुओं के निषेध और आरोप से अवयवी के निषेध और आरोप विदित होते ही हैं'—यह
वात न्याय प्राप्त है । तात्पर्य यह कि नारी-सम्बन्धि दन्तकान्तियों का निषेध नारी-निषेध
का और कमलिनी-सम्बन्धि केसरों का आरोप कमलिनी-आरोप का व्यञ्जक न्यायतः होगा ।
आप कहेंगे—यहाँ उपमान होने के कारण अप्रस्तुत केसर तथा भ्रमरों का विलास-
क्रियारूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध है, अतः जो तुल्ययोगिता वाच्य होती है वहीं प्रधान
है, फिर अप्रधान स्पष्टव्य अपभ्रंशित को लेकर ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो मैं
कहूँगा कि—आपका कथन ठीक नहीं है । कारण, तुल्ययोगिता यहाँ है अवश्य, पर
प्रधान नहीं किन्तु गौण, अतः उक्त ध्वनि का व्यवहार यहाँ अर्थान्त समुचित है ।

राज्यनाय दीक्षितोऽमुद्वरति—

यस्योपयद्दीक्षितैरपहुतिध्वनावुक्तम्—

“त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वी विरचिते
विधायैका चक्र रचयति सुपर्णामुत्तमपि ।

अपि स्वियत्पाणिस्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति ॥”

इत्यादावप हुतिध्वनिरुदाहर्तव्यः । अत्र हि चक्रसुपर्णलोखनेन 'नायं साधारणः
पुरुषः', किन्तु पुण्डरीकाक्षः' इति कयाचिद् व्यञ्जितम् । अन्यथा तु—तस्यात्येता-
दृश रूपं न सम्भवतीत्याशयेन 'नायं पुण्डरीकाक्षोऽपि, किन्तु—मन्मथः' इति
तदुभयमपमृज्य पुष्पसायकमकरध्वजलोखनेन व्यञ्जितम् ॥” इति ।

कस्यचन नापकस्य वर्णनम् त्वदालेख्ये इति । कवि कथयति—कौतूहलेन उद-
क्या, तरल्या चपल्या, तन्व्या कृशाङ्गा नायिक्या, विरचिते निर्मिते, त्वदालेख्ये
त्वध्रतिहृतिभूते चित्रे, एका नायिका, चक्रं सुदर्शनाख्यम्, तच्चित्रमिति यावत्,
विधाय कृत्वा, सुपर्णामुत्तं गरुडम्, तच्चित्रमिति यावत्, अपि रचयति । स्वियन्तौ
स्वेदमुक्तोभवन्तौ, पाणी करौ, यस्यास्तादृशी, अपरा तृतीया वाचिवायिका, एतदपि चक्र-
गरुडचित्रमपि, त्वरितं शीघ्रम्, उपमृज्य शीञ्चय, करे चित्रलिखितत्वदस्ते, पौष्पं प्रसून-
मयम्, चापं धनुः, उपरिष्टाच्च, मकरम्, लिखतीत्यर्थः । अत्र 'स्वियत्पाणि' इति विशेषण
चित्रापमार्जवयोग्यता व्यक्तिके । तस्यापीति । पुण्डरीकाक्षस्यापि । तदुभयमिति । चक्रसुपर्-
णद्वयमपीत्यर्थः । अथ भावः—दीक्षितेन 'त्वदालेख्ये—' इति पद्यमपहुतिध्वन्युदाहरणतया
स्वीकरणीयमिगुक्त्वा तदुपपादने कथितम्, यत् अस्मिन् पद्ये चक्रसुपर्णचित्रनिर्माणेन
(तादृशनिर्माणवर्णनेन) 'नायं साधारणः पुरुषः', अपि तु विष्णु' इत्याकारिकाऽपहुति-

ध्वन्यते । पुन विष्णोरोदश रूपं न भवितुमर्हतीत्यभिप्रायवदपरनायिकां कर्तृकृतप्रोञ्जित-
पूर्वककटाधिकरणकपुष्पधनुरादिनिर्माणवर्णनेन 'नाय विष्णुरपि, अपि तु कामदेव' इत्याश-
रिकाऽपराऽप्यपहृतिध्वन्यत इति । इति ।

खण्डन करने के लिये दीक्षितजी का मत उद्धृत किया जाता है—यत्तु इत्यादि ।
अप्यदीक्षित ने अपहृति-ध्वनि के विषय में कहा है कि—“ शत्रुदालेहवे—अर्थात् उलकथा
से घञ्जल बनी कृशाङ्गी नायिका द्वारा रचित तेरे चित्र में दूसरी नायिका सुदर्शन-
चक्र (उसका चित्र) बनाकर गरव् बना रही है । और तीसरी नायिका—जिमके हाथों
में प्रवेद आ रहे थे (इससे चित्र को मिटाने की योग्यता सूचित होती है) शत्रु से चक्र
और गरव् को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष तथा ऊपर मगर लिख रही है ।” (यह
किसी नायक का कविकृत वर्णन है ।) इत्यादिक में अपहृति-ध्वनि का उदाहरण देना
चाहिए, क्योंकि यहाँ किसी नायिका द्वारा चक्र तथा गरव् के चित्रण का वर्णन होने से
'यह साधारण पुरुष नहीं, किंतु विष्णु है' यह अपहृति ध्वनित होती है और पुनः अन्य
नायिका द्वारा 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से 'शीघ्र चक्र तथा
गरव् दोनों को मिटाकर पुष्पमय धनुष और मगररूप ध्वजा के चित्रण का वर्णन होने से
'यह विष्णु भी नहीं, किंतु कामदेव है' यह अपहृति भी ध्वनित होती है ।”

खण्डयति—

सदेतदापातरमणीयम् । यत्तावदुच्यते—‘चक्रमुपर्णलेखनेन नाय साधारण’
पुरुषः, किन्तु पुण्डरीकाक्षः’ इति कयाचिद् व्यञ्जितमिति । तत्रापहृतेर्द्वौ भागौ-
उपमेयनिपेधः, उपमानारोपश्चेति । तयोस्तावदुपमानारोपभागः पुण्डरीकाक्षोऽय-
मित्याकारश्चक्रमुपर्णलेखनेनाभिव्यङ्क्तुं शक्यः, चक्रमुपर्णयोस्तत्सम्बन्धित्वात् ।
न तु नायं साधारणः पुरुष इत्युपमेयनिपेधभागोऽपि, व्यञ्जकस्यारोपमात्रव्यञ्जन-
समर्थस्य तादृशनिपेधव्यञ्जने सामर्थ्याभावात् । नाप्यनुभवसिद्धं सः, येन
तद्व्यञ्जनोपायो गवेष्येत । नापि गवेष्यमाणोऽपि तद्व्यञ्जनोपायः शब्दोऽर्थो वा
उपलभ्यते, येनानुभवकलहोऽपि स्यात् । न च साधारणपुरुषनिपेधमन्तरेण
पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपो दुर्घट इति सोऽपि व्यञ्जयत इति वाच्यम्, रूपको-
च्छेदापत्तेः । मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखनिपेधमन्तरेण चन्द्रत्वं दुरारोपमित्यस्यापि
शुभ्रत्वात्, नन्वापि मुखनिपेधावगमे जितमपहृत्या ।

अथ मुखं चन्द्र इति रूपके मुखत्वसामानाधिकरण्यात् चन्द्रताद्रूप्यस्यारोप्य-
माणतया न मुखनिपेधापेक्षेति चेत्, प्रकृतेऽपि तर्हि सादृशसाधारणपुरुषत्व-
सामानाधिकरण्यात् पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपरूपमसौ राजा पुण्डरीकाक्ष
इत्याकाररूपकमेव भवितुमीष्टे, नापहृति’ ।

यद्यपि चोच्यते 'नाय पुण्डरीकाक्षः, अपि तु मन्मथः' इत्यादि । तत्र यद्यपि
चक्रमुपर्णदूरीकरणेन नाय पुण्डरीकाक्ष इति निपेधः, पुष्पचाप-ध्वजगतम करयो-
र्लेखनेन च मन्मथोऽयमित्युपमानारोपश्च व्यञ्जयो भवितुमर्हति, तथापि
नासावपहृतिः । 'प्रकृतस्य निपेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्' इति त्यक्तनलक्षण-
स्याप्यत्रासत्त्वात् । अत्र हि निपेधस्य भगवत् पुण्डरीकाक्षस्थावयत्वेना-
प्रकृततया प्रकृतनिपेधाभावात् । नहि पूर्वारोपिततामात्रेण प्रकृतत्वं वक्तुं
शक्यम् । प्रकृतपदस्यारोपविषयपरताया 'निषिध्य विषयम्' इत्यादिना क्त्वाप्रत्यय-
फलं भ्रुवता भवतैव तत्र स्फुटीकरणात् । काव्यप्रकाशकृतापि 'प्रकृत यन्निषिध्या-

न्यत्साध्यते सा त्वपहुतिः' इति सूत्रं व्याचक्षाणेन 'उपमेयमसत्यं कृत्वा' इत्यादिना प्रकृतपदस्योपमेयपरतयैव व्याख्यानाच्च ।

प्राचीनमतसिद्धेयमपहुतिर्व्यङ्ग्यत्वेनात्माभिरिहोच्यत इत्यपि कुशकाशा-
चलम्बनमात्रम्, 'प्रकृतस्य निषेधेन' इत्यादिलक्षणं कुर्वता भवसैष तस्या
बहिःकुरुणात् ।

एवमप्युक्तपथे कोऽलङ्कारो व्यङ्ग्य इति चेत् ? निच्छित्तवैलक्षणेऽतिरिक्तः,
अन्यथा त्वपहुतिरेवास्तु । लक्षणं तु तदा प्रसक्तयत्किञ्चिद्वस्तुनिषेधसामाना-
धिकरण्येन कियमाणवस्त्रन्तरारोपत्वमेव । तस्मात् सर्वमेधेदमहृदयज्ञं
सहृदयानाम् ।

तदेतदिति । पूर्वोद्धृतं दीक्षितमतमित्यर्थं । आपातरमणीयं बहिःसुन्दरम् ।
वस्तुतो दुष्टमिति यावन् प्रथममशविशेषमन्यं सञ्चयति—यत्तावदिति । तत्रेति । उच्यत-
इति शेषः । तस्मिन्विशेषादिति । पुण्डरीकमन्वन्धिन्वादित्यर्थः । भागोऽपीति ।
अभिव्यङ्क्तुं शक्य इत्यनुपपन्नं । व्यञ्जकस्येति । चक्रमुपपत्तौ चतस्येत्यर्थः । नन्वेवं कथं
तदनुभवोऽत आह—नापीति । स इति । तादृशनिषेधभाग इत्यर्थः । उक्तपथ इति शेषः ।
गवेष्येत अन्विष्येत । ननु विनिगमनाविरहोऽत आह—नापीति । उपलभ्यत इति ।
प्रकृतपद इति शेषः । अलम्बकलह इति । 'निषेधभागो नानुभूयते' इति वरता मया सह
'अनुभूयत एव स भाग' इतिवदतस्तवानुभवविषयको विवाद इत्यर्थः । निषेधभागा-
भिव्यक्तौ स्वीकरणीयत्वे युक्तिं शङ्कते—न चेति । दुर्घट इति । तज्ज्ञानस्य तत्र प्रतिबन्धक-
त्वादिति भावः । सोऽपीति । निषेधभागोऽपीत्यर्थः । अनुपपत्त्येति भावः । समाधत्ते—
रूपकोच्छेदेति । कथं तदुच्छेदः, 'मुखं चन्द्र' इत्यादौ सावकाशत्वादित्यत्राह—मुखं चन्द्र
इति । ननु तत्रापि तस्वीकारोऽत आह—तत्रापीति । रूपकोऽपीत्यर्थः । एव न तदुच्छे-
दापत्तिरिति भावः । बाधज्ञानमाहायज्ञाने न प्रतिबन्धकमित्याशयेनाह—अथेति । सामा-
नाधिकरण्येनेति । मुखत्वविशिष्टमुद्ररूपाधिकरणवृत्तितयैत्यर्थः । अत्र 'न त्वच्छेदका-
च्छेदेन' इति परिशिष्टार्थविवरणं तु न सुसन्नतं प्रतिभाति, अप्रासङ्गिकत्वादिति सुधीभि-
रावलनीयम् । आरोप्यमाणतयेति । आहार्यज्ञानविपरीत्यक्रियमाणतयैत्यर्थः । पूर्वोक्तं
'त्वच्छेदे—' इति पदस्यापहुतिष्वनुदाहरणताकथनं न युक्तम्, यदस्तत्र प्रथमापहुते-
र्ध्वननं न सम्भवति, अपहुतिशरीरप्रविष्टयोऽपमेयनिषेधेपमानारोपात्मकयोर्द्वयोर्भागयो-
रन्तिमभागस्य 'पुण्डरीकाक्षोऽयम्' इत्याकारकस्य पुण्डरीकमन्वन्धिचक्रादिलेखनवर्णनरूप-
व्यञ्जकेन व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रथमभागस्य 'नायं साधारणः पुण्यः' इत्याकारकस्याव्यङ्ग्यत्वात् ।
ननु कुतोऽव्यङ्ग्यत्वं तद्भागस्येति चेत् ? व्यञ्जकामावादिति बोध्यम् । चक्रादिलेखनमेव
तद्भागस्यान्यभिव्यञ्जकं किं न स्यादिति चेन्न, उदासीनतया तद्व्यञ्जने तस्यासमर्थत्वात्,
उदासीनस्यापि व्यञ्जकत्वे यत्किञ्चिदनभिमतार्थव्यञ्जकत्वस्याप्यापत्तेः । उपमेयनिषेधावगम-
न्तरारोपमानतारूप्यारोपः सम्भवत्येव नैति कथनं तु न किञ्चित्, तथाङ्गीकारे रूपकविदो-
पात् । तथा चात्रापि उपमेयतापच्छेदकपुरस्कारेणोपमानतादात्म्यावगमात् रूपकत्वनिरेव,
नापहुतिष्वनिरिति सारामो बोध्यः । द्वितीयाप्यपहुतिर्ध्वन्यमानतया दीक्षिताभिमतया न
सम्भवतीत्याह—यदपीति । ननु निषेधसायानाधिकरण्येणोपमानतादात्म्यारोपरात्वात्कथं
तदभावोऽत आह—अत्र हीति । ननु पूर्वमारोपितत्वात्प्रकृत एव सोऽत आह—नहींति ।

निदिध्य विषयमित्यादिनेति । “-निदिध्य विषय साम्यादन्यारोप’ इति तु क्त्वाप्रत्ययेन लक्षणं नोक्तम् । वक्ष्यमाणोदाहरणे आरोपपूर्वकापहवेऽव्याप्तिप्रमङ्गात्” इति तैःकम् । फल क्वचिदव्याप्तिरूपमनिष्टम् । तत्र चित्रमीमासायाम् । ‘त्वत्कृतलक्षणस्यापि’ इत्यत्रापिपदेन सूचित लक्षणान्तरस्यासत्त्व स्फुटयति—काव्येति । व्याख्याताचेति । पुण्डरीकाक्षस्तूपमानमिति भाव । ‘नाय पुण्डरीकाक्ष, अपि तु मन्मथ’ इत्याकारा द्वितीयोपहृतिर्ध्वन्यते इति कथनमपि दीक्षितस्यायुक्तमेव, एतदाकारान्तर्गताशब्दस्य मूलोक्तरीत्या व्यङ्ग्यत्वसम्भवेऽपि अपभ्रुतित्वस्यैव विरहात् । निदिध्यस्य विणोरवर्णनीयतया प्रकृतपदबोधयता-विरहेण ‘प्रकृतस्य निदिधेन—’ इति तदर्थोपहृतिलक्षणस्याप्यप्रोक्तं । ननु प्रकृतपदेन पूर्व-रोपितार्थस्यैव ग्रहण, तथा च प्रकृते पुण्डरीकाक्ष प्रकृत इति चेत्, प्रकृतपदस्योपमेयपर-ताया भवता काव्यप्रकाशकृता च व्यवस्थापनादिति भाव । पुनरन्यथा दीक्षितोक्ते-सङ्गतिमाशक्य समाधत्ते—प्राचीनेति । प्रागुक्तदण्डिमतेत्यर्थ । इह चित्रमीमासायाम् । कुशकाशेति । यथा ससारकाष्ठाद्यलम्बनमेवोचितम् न कुशाद्यसारतृणालम्बनम्, तथा सर्वसिद्धससारमतालम्बनमेवोचित नैऋदेशिमतालम्बनमिति भाव । तदेवाह—प्रकृतेति । एष प्रत्यासत्तिबोधक । दण्ड्यादिमतेन ‘त्वदालेख्ये—’ इत्यत्रापहृतिष्वनि-सुस्थ एवेति मयापि तन्मतानुसार तथा लिखितमित्यपि न दीक्षितेन वक्तुं शक्यम्, ‘प्रकृतस्य—’ इत्यपहृतिलक्षण रचयता तेन दण्ड्यादिमतस्य तिरस्कारात्, स्वयं तिरस्कृतस्य स्वयं पुरस्कारोऽनुचित एवेति भाव । उक्तखण्डनोत्तर जायमाना जिज्ञासा शमयितुमाह—एवमपीति । अन्यलक्षणबहिर्भावे इत्यर्थ । उक्तपद्ये इति । त्वदालेख्ये इति पद्य इत्यर्थ । विच्छित्ति चमत्कृति । अतिरिक्त इति । अपभ्रुतेरन्य रूपकाख्य अलङ्कार इत्यर्थ । अन्यथेति । विच्छित्तिविशेषाभावे इत्यर्थ । ननु प्रागुक्तसर्वसम्भतापहृतिसामान्यलक्षणा-नाकान्तत्वात्कथं तत्त्वमत आह—लक्षणं त्विति । तदेति । तत्रापहृत्यङ्गीकरणे इत्यर्थ । प्रसक्तैति । प्राप्तैत्यर्थ । प्राप्तत्वं च यथाऋचिह—न तु प्रकृतत्वापेक्षेति भाव । ‘अस्तु’ ‘तदा’ इत्येताभ्यामस्य एवानभिमतत्वं सूचितम्, अतः स्वमिद्वान्तरीत्योपसंहारमाह—तरमादिति । सर्वमेवेदमिति । दीक्षितस्य मूर्च्छित प्रकृत मतम्, यथाऋचिह तत्समर्थनं चेत्यर्थ । अन्यपदं मुपमम् । अत्र ‘अहदयङ्गमम्’ इति प्रतीकमुपदाय नागेश विचारान्तरमुपस्थापितवान् । तद्वधस्तात्रिदिश्यते—“अत्रेदं चिन्त्यम्-दीक्षितैर्हि दण्डी अपहृते साधर्म्यमूलत्वनियममनाहत्य ‘अपहृतिरपहृत्य-विधिदन्वार्थसूचनम्’ इति लक्षयित्वा उदाजहार-‘न पठ्येपु स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणा वत् । चन्दनं चन्द्रिका गन्धो गन्धवाहश्च दक्षिण ।’ इत्यायुपक्रम्य ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुक्तमिति । तदनुसारेणैव तत्रापहृतिष्वनिरुदाहृत इति न त्रिविधद्वयङ्गमम् । प्रकाशविरोधोऽपि न । तत्रोपमेयपदस्य पदार्थोपलक्षणत्वात् । अन्यथा ‘केसेसु बल-मोडिञ्च’ इत्यत्र ‘स्वयं न प्रपलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु तत् पराभव सभाव्यं तात्-कन्दरा न त्यजन्तीत्यपहृतिर्व्यज्यते-’ इति प्रकाशग्रन्थासंगति स्यादिति बोध्यम् । अत्र ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुदाहरण दण्डिमतानुसारमिति नागेशमहाभाग समाधत्त । किन्तु चित्रमीमासाया ‘साधर्म्यमूलत्वात्पहृतिरिति तेन व्याहृता’ अत्रैव दण्डिमतानुवाद-समाप्यते । ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुदाहरणं दत्त्वा ‘इत्यादावपहृतिष्वनिरुदाहृत्य’ इति दीक्षि-तानां स्वमतमिदम् । अन्यथाऽलङ्कारान्तरेष्विवात्र ध्वनेरुदाहरणानुल्लेखारप्रकरणपूर्तिरेव न सिद्धयेत् । किञ्च दण्डिकृतापहृतिलक्षणमस्वीकृतवता दीक्षितमहोदयेन तन्मतानुसारमप-

हुतिष्वनिरुदाहृत इति न सम्भाव्यते । प्रकाशविरोधपरिहारोऽपि नगेशकृतो विचारणीय एव । यतः कारिकाया 'प्रकृत'-पदं विवरणे चोपमेयपदं स्पष्टमुक्तिवत्तः, उपमानोपमेय-भावस्थल एव चापहृतिभेदानुदाहरतो मम्मटभट्टस्य दण्डिमतानुयायित्वं न कथमपि मिदधति । उपमेयपदस्य पदार्थोपलक्षणत्वकथनमपि मूलाक्षरस्वारस्यप्रतिकूलमेव, प्रायो नागेशातिरिक्तदोषाकारानभिमतश्च । —'केमेसु बला मोडिय' इत्यापहृतिर्ध्वज्यते—' इत्युक्तिस्तु 'ये दण्ड्यादय ईदृशे स्थलेऽपहृतिमङ्गीवृत्तंति तथा अतेऽपहृतिरपि व्यङ्ग्यत्वेना- हीकर्तुम् शक्या' इत्याशयेनापि सङ्गता भवितुमर्हतीति तु नह्य ।

उक्त दीर्घितमत का खण्डन किया जाता है—तदेतत् इत्यादि । ऊपर उद्धृत किया गया अप्पयदीर्घितजी का कथन आपातमनोहर है—ऊपर से सुन्दर प्रतीत होने पर भी भीतर से परम कुरूप है (दोषयुक्त) है । देखिये, प्रथमतः यहाँ कहा जा रहा है कि—“नायिका द्वारा चक्र तथा गरुड के लेखन से 'यह साधारण पुरुष नहीं, किन्तु विष्णु है' यह अपहृति ध्वनित होती है ।” इसके सम्बन्ध में मेरा कथन है कि—अपहृति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप । उनमें से दूसरा भाग अर्थात् उपमानारोपभाग—जिसका आकार है 'यह विष्णु है'—चक्र तथा गरुड के लेखन से ध्वनित हो सकता है, क्योंकि चक्र और गरुड विष्णु से सम्बन्ध रखते हैं । पर 'यह साधारण पुरुष नहीं है' यह उपमेयनिषेध भाग भी यहाँ ध्वनित होता है—यह नहीं कहा जा सकता । कारण, चक्र-गरुडलेखन-रूप व्यञ्जक केवल आरोप भाग को ध्वनित करने में परमार्थ है, उक्त उपमेय निषेध-भाग को ध्वनित करने का सामर्थ्य उस व्यञ्जक में है ही नहीं । और यहाँ उपमेयनिषेधभाग अनुभवसिद्ध भी नहीं है—सहृदयों को यहाँ उस अंश की प्रतीति होती भी नहीं, यदि वैसी प्रतीति होती रहती तब उसको ध्वनित कर सकने वाला सपाय (व्यञ्जक) खोजा भी जाता । खोजने पर भी उस भाग का व्यञ्जक शब्द अथवा अर्थ यहाँ उपलब्ध नहीं होता, यदि वह उपलब्ध होता तब अनुभव के विषय में कलह भी हो सकता—अर्थात् व्यञ्जक के उपलब्ध होने पर 'उस अंश की भी प्रतीति यहाँ होती है' इस तरह का मतभेद भी खड़ा किया जा सकता था । साधारण पुरुष का निषेध किये बिना विष्णु के तादात्म्य का आरोप हो नहीं सकता, अतः वह अंश भी ध्वनित होता है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर रूपक का उल्लेख हो जायगा—उसके लिये सत्तार में कहीं स्थान ही नहीं रह जायगा । कारण, ऐसी स्थिति में 'मुख चन्द्र है' इत्यादिक में मुख का निषेध किये बिना मुख में चन्द्रत्व का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा । यदि यहाँ भी मुख-निषेध की प्रतीति स्वीकृत कर ली जाय तब अपहृति का विजय हुआ और वस्तुतः रूपक उच्छिद्य हो गया । अब यदि आप कहें कि—'मुख चन्द्र है' इस रूपक में मुखत्व के अधिकरण में ही चन्द्र ताद्रूप्य का आरोप होता है—अर्थात् मुख को समस्तते हुए चन्द्र समझा जाना है, अतः यहाँ मुख के निषेध की अपेक्षा नहीं है, तो मैं कहता हूँ कि, प्रकृत में भी पूर्वोक्त साधारणपुरुषत्व के अधिकरण में विष्णु तादात्म्य का आरोप होता है, अर्थात् यहाँ भी साधारण पुरुष को पुरुष समस्तते हुए ही विष्णु समस्तते है, फलतः 'यह राजा विष्णु है' इस तरह का रूपक ही यहाँ हो सकता है, 'राजा नहीं, विष्णु है' इस तरह की अपहृति नहीं । यह तो हुई एक बात । दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि—'यह विष्णु नहीं, किन्तु कामदेव है' इत्यादि । इस कथन में यद्यपि कुछ सत्यता है—अर्थात् इस अंश में यद्यपि चक्र तथा गरुड के चित्र को पोंछ डालने से 'यह विष्णु नहीं है' यह निषेधभाग और पुष्पमय धनुष तथा पञ्ज-स्थित मगर के लेखन से 'यह कामदेव है' यह आरोपभाग—इस तरह दोनों भाग ध्वनित हो सकते हैं, तथापि यह अपहृति नहीं है, क्योंकि 'प्रकृतस्य—अर्थात् प्रस्तुत के निषेध द्वारा

अन्य की कल्पना अपहृति कहलाती है। यह आपका अपना लक्षण भी यहाँ नहीं स्पष्टित होता—दूसरों के लक्षण की तो बात ही क्या। कारण, यहाँ जिसका निषेध किया जा रहा है वे भगवान् विष्णु वर्णनीय नहीं है, किन्तु राजा वर्णनीय है, अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध नहीं है। आप कहेंगे—जब पहले राजा में विष्णु का आरोप किया जा चुका है तब विष्णु प्रस्तुत क्यों नहीं? पर यह कथन भी ठीक नहीं, अर्थात्—केवल पहले आरोपित हो जाने से कोई पदार्थ—प्रकृत में विष्णु—प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। कारण, चित्रमीमांसा में आपने ही 'निषिध्य विषयम्' इत्यादि ग्रन्थ से निषिध्य पद में आप 'क्वा' प्रत्यय का फल कहते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ 'आरोप का विषय—अर्थात् उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। स्पष्ट अभिप्राय है कि चित्रमीमांसा में दीक्षितजी ने कहा—'विषय का निषेध करके (निषिध्य) साम्यमूलक अन्य का आरोप' इस तरह 'क्वा' प्रत्ययघटित लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब जहाँ पहले आरोप करके अपहृत्व किया जाता है वहाँ अन्यसि हो जायगी। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे (दीक्षितजी) प्रकृत पद का अर्थ उपमेय मानते हैं। और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी 'प्रकृत यन्निषिध्य—' इस कारिका की व्याख्या करते हुए 'उपमेय को असत्य बनाकर—' इत्यादि कथन द्वारा 'प्रकृत' पद का अर्थ 'उपमेय' माना है। आप कहेंगे—प्राचीनों—दण्डी आदि—के मत से तो यह अपहृति अवश्य है, क्योंकि उनके लक्षण में उपमेय की बात नहीं है—अर्थात् उन्होंने 'अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्—किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपहृति है' ऐसा ही लक्षण किया है, बस, उन्हीं के मत को मानकर मैंने भी यहाँ अपहृति ध्वनि लिखी है। तो यह भी 'इयते को तिनके का सहारा' जैसा ही है। कारण, 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए आपने ही उस तरह की अपहृति का बहिष्कार कर दिया है। तत्पर्य यह कि जब आप दण्डी आदि के लक्षण को नहीं मानते तब उनके मतानुसार उदाहरण उपस्थित करना आपका कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी यदि आप पूर्ण कि—उक्त पद्य में कौन अलकार व्यङ्ग्य है? तो इसका उत्तर यह है कि—यदि हममें अपहृति के चमत्कार से विलक्षण चमत्कार आपको अनुभूत हो तब अन्य अलकार—अर्थात् रूपक मानिए, अन्यथा अपहृति ही मानिए। पर तब आपको दण्डी आदि की तरह 'प्रसक्त यत्किञ्चित् (उपमेय अथवा तद्भिन्न) पदार्थ के निषेध के साथ किया जाने वाला अन्य पदार्थ का आरोप अपहृति है' ऐसा ही लक्षण बनाना चाहिए। सारांश यह सिद्ध हुआ कि इन सब गद्गदियों के कारण ये सब कथन सहृदयों के लिए हृदयङ्गम नहीं हैं—इन बातों से सहृदयों को सन्तोष नहीं हो सकता। यहाँ नागेश कहते हैं कि—पण्डितराज का यह कथन विचारणीय है। कारण, दीक्षितजी ने "दण्डी ने तो 'अपहृति के सादर्यमूलक होने' के नियम का अनादर करके 'अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्' यह लक्षण बताकर उदाहरण दिया है 'न पञ्चोपे रमरस्तरस्य सहस्र पत्रिणां यतः। चन्दन चन्द्रिका चन्द्रो गन्धवाहश्च दक्षिण। (अर्थात् कामदेव पञ्चबाण नहीं हैं, क्योंकि उनके हजारों बाण हैं, चन्दन, चाँदी, चन्द्रमा और मलयानिल आदि)" इत्यादि आरम्भ करके (शब्दालेख्ये—) यह पूर्वोक्त उदाहरण दिया है। अतः यह ध्वनि दण्डी आदि के अनुसार कथित होने के कारण अहृदयंगम नहीं है। प्रकाशविरोध भी नहीं होता, क्योंकि प्रकाश-ग्रन्थ में 'उपमेय' पद पदार्थमात्र का उपलक्षण है। अन्यथा—

'केसेसु चलामोदिय तेण असमरग्नि जअसिरी गहिया।

जह कन्दरादि विहुरा तरस दह कठ अग्नि सटविआ॥

अर्थात् उसने सप्राम में बलाकार से जयलक्ष्मी को वैसे ग्रहण किया, जैसे कि गुफाओं में उसके विपुल (शीरहित) चैरियों को अपने कण्ठ (अन्दर के हिस्से) में इदतया स्थापित कर किया।' इस उदाहरण में 'चैरी अपने आप भाग कर नहीं गय, किन्तु गुफाएँ उससे

पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़ती—यह अपहृति अभिव्यक्त होती है' यह प्रकाशकार का ग्रन्थ असंगत हो जायगा, क्योंकि यहाँ उपमेय का निषेध नहीं है। बहुत लोग नागेश की आलोचना करते हुए कहते हैं कि नागेश का कथन ठीक नहीं है। कारण, पहले जो उन्होंने यह समाधान दिया कि—दण्डी के मतानुसार 'खदालेख्ये—' यह अपहृतिष्वनि का उदाहरण दिया गया है, वह सगत नहीं जंचता, क्योंकि चित्रमीमांसा में दण्डी के मत का अनुवाद पहले समाप्त हो जाता है तब 'खदालेख्ये—' यह उदाहरण दिया जाता है और उसके आगे 'इत्यादि स्थलों पर अपहृतिष्वनि का उदाहरण देना चाहिए' ऐसा लिखा जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह दीक्षितजी का यह अपने मत है और यह बात जैवती भी है क्योंकि जब दण्डी के लक्षण को दीक्षितजी ने नहीं माना तब उनके मत से उदाहरण कैसे वे दे सकते हैं ? और यदि यह उदाहरण दूसरे के मत से दिया गया होता तब अपने मत से दूसरा उदाहरण अवश्य देते, जैसे सभी अलंकारों में देते हैं। दूसरा समाधान जो उन्होंने दिया है प्रकाश विरोध परिहार वाला, वह भी सर्वथा मानने योग्य नहीं दीख पड़ता, क्योंकि जब सम्मटभट्ट ने मूल फारिका में 'प्रकृत' पद लिखा और उसकी व्याख्या में उसका अर्थ स्पष्ट 'उपमेय' किया तथा सभी उदाहरण भी उपमानोपमेयमावस्थल में ही दिखलाए, तब उस 'उपमेय' पद को पदार्थमात्र का उपलक्षण कटकर सम्मट को दण्डमतानुयायी घनाना उचित नहीं, रही बात 'केसेसु—' इस पद्य में अपहृतिष्वनि लिखने की। तो उसका आशय इस तरह वर्णित हो सकता है कि—उक्त पद्य में 'उपमेयाष्वनि और काव्यलिङ्गष्वनि है' और जिन—दण्डी आदि—के मत से ऐसे स्थलों पर अपहृति हो सकती है उनके मत से अपहृतिष्वनि भी समक्षिप् ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामपहुरयलङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

अपहृतिनिरूपणानन्तरमुत्प्रेक्षाप्रकरणं प्रारब्धव्यतया प्रतिजानीते—

अथोत्प्रेक्षाप्रकरणम्—

उत्प्रेक्षाप्रकरणमारब्धं वेदितव्यमिति भावः ।

अपहृतिनिरूपण के बाद अथ उत्प्रेक्षानिरूपण-प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि । उत्प्रेक्षाप्रकरण, अथ आरम्भ स्वस्वस्वरात् आदि ।

तत्रादौ तद्विशयमाह—

तद्विन्नत्वेन तदभावत्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्-
वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्गर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन
वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।

प्रमितस्येति । यथार्थज्ञानविषयीकृतस्येत्यर्थः । विनिगमनाविरहादन्नोन्त्याभावात्प्रता-
भावपदितलक्षणद्वयस्य युगपदुक्तिरियम् । तथा च 'तद्विन्नत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय-
तद्दृष्टितद्गर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा' इत्येकम् 'तदभावत्वेन प्रमितस्य
पदार्थस्य रमणीयतत्समानाधिकरणतद्गर्मसम्बन्धनिमित्तकं तद्वत्त्वेन सम्भावतमुत्प्रेक्षा', इति च
द्वितीयं लक्षणं फलितम् । अत्र लक्षणद्वये त्रयस्तच्छब्दाः प्रयुक्ताः, तत्र प्रथमेन तच्छब्देन
विषयी, द्वितीयेन तेन विषयः, तृतीयेन च तेन पुनर्विषयी धर्तव्यः । सम्भावनं ज्ञानविशेषः ।
अयोग्यत्वाभावानुसन्धानमिति यावत् । अयमत्र स्पष्टोऽर्थः—चन्द्रादिभिन्नत्वेन ज्ञानस्य
मुखादेः मुखवृत्तिचमत्कारकाहादकत्यापात्मकचन्द्रधर्मसम्बन्धप्रयुक्तम् चन्द्रत्वेन सम्भा-
वनमुत्प्रेक्षा । इदं सम्भावनं तादात्म्य (अभेद) सम्बन्धेन अतो धर्म्युत्प्रेक्षा । एवं

'निधि लावण्यानाम्—' इत्यादौ (अत्र उदाहृते पद्ये) मोहामावर्षणेन ज्ञातस्य प्रज्ञानः मोहसमानाधिकरणरमणीयाविचार्यकारित्वात्मकधर्मसम्बन्धप्रयुक्तम् मोहवर्षणेन सम्भावन-मुत्प्रेक्षा । इत्थं सम्भावन तादात्म्येतरण-समतायसम्बन्धेन अतो धर्मोत्प्रेक्षा । इति ।

उत्प्रेक्षा-निरूपणप्रकरण में सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा का लक्षण किया जाता है—तद्विज्ञानेन हत्यादि । जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ की, उस पदार्थ के रूप में दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर, की जानेवाली सम्भावना, अथवा—जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ में उस धर्म से युक्त होने की ऐसी सम्भावना, जो उस धर्म के साथ रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है । अभिप्राय यह है कि—अभाव दो प्रकार के होते हैं, एक अन्योन्याभाव और दूसरा अत्यन्ताभाव । (यद्यपि अभाव के दो अन्य प्रकार भी होते हैं, पर प्रकृत में उनका कोई उपयोग नहीं, अतः उनकी चर्चा नहीं की जाती) अन्योन्याभाव उस अभाव को कहा जाता है जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक हो—अर्थात् जिसके द्वारा 'घट पट नहीं' हत्यादि रीति से दो धर्मियों की परस्पर अभिन्नता चारित हो—जिसका व्यवहार 'भेद' शब्द से किया जाता हो, और अत्यन्ताभाव उस अभाव को कहा जाता है जो निरर्थ हो—अर्थात् जो जहाँ कदापि नहीं रहे वहाँ उसका अभाव—जैसे वायु में रूप का अभाव । अब प्रकृत में कहना यह है कि—इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेश उत्प्रेक्षालक्षण में अदर्श करना है, क्योंकि आखिर 'अन्य में अन्य की सम्भावना' को ही सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षा मानते हैं, पर इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेश करने में कोई खास युक्ति नहीं है, अतः पण्डितराज ने दोनों अभावों का वैकल्पिक रूप में निवेश किया है । फलतः प्रथम लक्षण अन्योन्याभाव-वदित और दूसरा लक्षण अत्यन्ताभाव-वदित बनाया गया है । प्रथम लक्षण का लक्ष्य 'मुख में चन्द्र की सम्भावना' है, क्योंकि यह सम्भावना चन्द्र से भिन्नरूप में यथार्थतया ज्ञात मुख में चन्द्रवृत्ति आह्लादकता का सम्बन्ध रहने के कारण की जाती है । यह सम्भावना 'तादात्म्य' सम्बन्ध से की जाती है, अतः 'धर्मों की उत्प्रेक्षा' कहलाती है । द्वितीय लक्षण का लक्ष्य 'मूला में मोह की सम्भावना' है, क्योंकि यह सम्भावना उस मूला में उस मोह की की जाती है जिसमें जिसका अभाव सदा यथार्थतया ज्ञात है और इस सम्भावना में निमित्त होता है 'मोह' के साथ सदा रहने वाला 'अविचार्यकारित्व-विना, विज्ञाने कृष्ण-कृष्णा' धर्म-का-मूला में सम्बन्ध' यह सम्भावना 'सम्पत्त-सम्बन्ध' से की जाती है, अतः 'धर्मोत्प्रेक्षा' कहलाती है ।

लक्षणघटकपदकृत्यान्वाह—

'लोकोत्तरप्रभाव । त्वां मन्ये नारायण परम्' इत्यत्र तादृशप्रभावस्य नारायणत्वव्याप्यतासम्भावनादशार्थां सामप्रथभावेनानुमित्यनुदथाज्ञायमानाया नारायणेनानेन प्रायशो भवितव्यमिति सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय तद्विज्ञानेन प्रमितस्येति सम्भावनायामाहार्यता गमयति ।

एतेन—

'रामं स्निग्धतररयामं विलोक्य वनमण्डले ।

प्रायो धाराधरोऽय स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः ॥'

इत्यत्र सम्भावनायाम्, 'धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः' इत्यत्र ध्रान्ती च नातिप्रसङ्गः ।

‘वदनकमलेन बाले स्मितसुपमालेशमावहसि यदा ।
जगद्दिह तदैव जाने दशार्धनाथेन विजितमिति ॥’

अत्र जगज्जयसम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय रमणीयतद्दर्शनमित्तकमिति ।
स्मितस्य सम्भावनोत्थापकत्वेऽपि जगद्विजितरूपविषयविषयिसाधारणत्वाभा-
वान्न दोषः ।

एतेन—

‘प्रायः पतेद् द्यौः शकलीभवेद् ग्लौः सहाचलैरम्बुधिभिः स्वलेद् गौः ।

नूनं ज्वलिष्यन्ति दिराः समस्ता यद् द्रौपदी रोदिति हा हतेति ॥’

अत्रापि रोदनकारणीभूतकेशमहणादिजन्यपापनिमित्तोत्थापितायां स्वर्ग-
पतनसम्भावनायां नातिप्रसङ्गः । प्रायः स्थाणुनाऽनेन भवितव्यम्, नूनं
पुरुषेणानेन भाव्यम्, दूरस्थोऽयं देवदत्त इवाभाति, इत्यादौ निश्चलत्वचञ्चल-
त्वादिसाधारणधर्मनिमित्तायां सम्भावनायामतिप्रसङ्गः स्यात्, अतो रमणीयत्वं
धर्मगतमुपात्तम् । रूपकवित्तावतिप्रसङ्गवारणाय सम्भावनमिति ।

अपि राजानं प्रति कस्यचिदुक्तिः—लोकोत्तरेति । हे लोकोत्तरप्रभाव ! राजन् । त्वा
परम् उक्तुम्, नारायणं, मन्ये, इति तदर्थः । सम्भावनादशायामिति । एतेन नारायण-
सम्भावनाया कारणमुक्तम् । नन्वेव नारायणत्वस्य निश्चयात्मिकानुमित्तिरेव, न सम्भावनेति
चेत्तेत्याह—सामप्रथमावेनेति । निश्चयरूपव्याप्तिज्ञानादिरूपानुमितिसामप्रथमावेनेत्यर्थः ।
अनुमित्यनुदयादिति । नारायणत्वानुमित्यनुत्पत्तेरित्यर्थः । ननु कथमेतासा सम्भावना
तेन नारणमत आह—सम्भावनेति । इदं चेत्यादि । सम्भावनाया लक्षणघटकीभूतायाम् ।
लक्षणे ‘तद्विघ्नत्वेन प्रमितस्य’ इत्युक्त्या ‘तत्त्वेन सम्भावनस्य लक्षणोक्तस्य बाधकारि-
केच्छाजन्यत्वरूपाहार्यत्वं प्रतीयते । तेन ‘लोकोत्तरप्रभाव—’ इत्यत्र ‘लोकोत्तरप्रभावो
नारायणत्वव्याप्यः प्रायः’ इति सम्भावनाजन्यायाम् ‘प्रायः नारायणेनानेन भवितव्यम्’
इत्याकारिकाया सम्भावनायाम् नातिव्याप्तिः, इच्छाजन्यत्वविरहेणानाहार्यत्वात् । नारायण-
त्वस्य निश्चयात्मिकाऽनुमितिरस्तु नात्र सम्भवदुक्तिका, लोकोत्तरप्रभावे नारायणत्वव्याप्य-
तानिश्चयदशायामेव तत्प्रसङ्गेः । अत्र तु सत्र तस्याः सम्भावनेव, न निश्चय इति भावः ।
अत्र ‘सम्भावनाया आहार्यत्वस्वीकारेण—असामान्ये राजनि अलौकिकप्रभाववशाद् या
अनाहार्या (सत्या) नारायणत्वसम्भावना [नारायणत्वं कामसत्यम् परं तत्त्वसम्भावना
तु सत्यैव] तस्यामुपेक्षात्वं न प्रसक्तम् ।’ इति ‘सरला’ जलोपरि प्लवमाना नौकेव
तलगतं रत्नं वस्तुत्त्वं नैव स्पृशतीति सुधीभिराकलर्नायम् । आहार्यत्वनिवेशस्य फलान्तर-
माह—एतेनेति । कवेरुक्तिः—राममिति । केचिनो मयूरा, वनमण्डले, त्रिभूततरस्यामम्
अतिचिक्वणं श्यामलवर्णम् च, रामम्, निलोक्य, अय, प्रायः, धाराधरः मेघः, स्यात्,
इति, सम्भावनाया, नृत्यन्तीति तदर्थः । अत्रैव पद्ये उत्तरार्धं परिवर्त्य पठति—‘धाराधर-
धिया—’ इति । सादृशं राममालोक्य—धाराधरधिया मेघप्रान्त्या, शिखावला मयूरा,
नृत्यन्ति स्म नृत्यं कृतवन्त इति परिवर्तितपाठेऽर्थः । प्रथमपाठे रामे जायमानाया मेघ-
सम्भावनायाम्, परिवर्तितपाठे च रामे जायमानायाम् मेघप्रान्तौ नातिव्याप्तिः, तयो-
(मेघसम्भावनामेघप्रान्त्यो) बाधाकालिस्तया अनाहार्यत्वात् । ननु कथमेताहार्य-
त्वनिश्चय इति चेत् ? नृत्यरूपकार्यस्थोत्पत्तेर्दर्शनात् इति बोध्यम् । आहार्यज्ञानात् न
कार्योत्पत्तिरिति भावः । ‘तद्दर्शनमित्तकम्’ इत्यस्य व्यावर्त्यमाह—‘वदन—’ इति । हे

वाले । त्वं, अदा, वदनकमलेन मुखपद्मद्वारा, स्मितमुपमालेशम् ईषदास्यसोभालम्, आबद्धसि धत्से, तदैव तस्मिन्नेव क्षणे, अहं, जाने वेदि, यत् इह अस्मिन् स्थाने, दशार्ध-
 क्षणैः पञ्चबाणेन (कामेन) जगत्, विजितम् इति तदर्थ । उपपादयति—अत्रेति ।
 जगन्नेति । जगत्कर्मस्य जयस्य सम्भावनायामित्यर्थः । तद्वर्मेति । तद्वर्मसम्बन्धेत्यर्थ ।
 ननु स्मितरूपवर्त्मनिमित्तकत्वमस्त्येवात् आह—स्मितेति । जगदिति । जगद्बिजितरूपौ
 यौ विषयविषयिणौ तद्विजितत्वाभावादित्यर्थः । 'वदनकमलेन—' इत्यत्र नायिकामुखगतस्मि-
 तस्य कामदेवकर्तृकजगन्नेये सहचारितया तन्मूलकतारुण्यजगन्नेयसम्भावनाया न प्रकृतो-
 त्प्रेक्षालक्षणातिप्रसक्तिः, 'रमणीयतद्वर्मगम्बन्धनिमित्तकम्' इत्यनेन व्यावृत्ते । स्मित तु
 न जगदात्मकविषयवर्त्म, न वा तद्वर्मस्य विजितत्वामकविषयिणि सम्बन्ध इति भाव ।
 तस्यैव विशेषणस्य व्यावर्त्यान्तरमाह—एतेनेति । प्राय इति । यत् यस्मात्, द्रौपदी
 पाण्डवपत्नी, 'हा हता' इत्युक्त्वा, रोदिति, तस्मात्, प्राय, यौ 'स्वर्ग', पतेत् भूतस्मा-
 गच्छेत्, ग्लौ चन्द्र, शकलौभवेत् खण्डश स्यात्, अम्बुविभि रामुद्रै, अचलै पर्वनै,
 च सह, गौ पृथिवी स्पलेत्, विचलेत्, समस्ता सर्वा, दिशश्च, नूनम् निधितम्,
 ज्वलिष्यन्ति ज्वालामया स्थुरित्यर्थ । उपपादयति—अत्रापीति । रोदनेति । रोदन-
 कारणीभूतं यत् केशप्रहणादि तच्चन्य यत्पापम् तद्रूपेण निमित्तेन, उत्थापितायामिति
 विवक्षितोऽर्थः । नातिप्रसङ्ग इति । पापस्य 'यौ पतेत्' इत्यादिविषयविषयिणाधारणत्व-
 विरहादिति भाव । धर्मे रमणीयत्वविशेषणस्य फलमाह—प्राय स्थाणुना इत्यादि ।
 स्थाणुना वृक्षेण । ययान्म धर्मानाह—निश्चलेति । आदिता विलक्षणाकारत्वपरिग्रहः ।
 रमणीयत्वमिति । तच्च च क्विप्रतिमानिर्वर्तितत्वमिति भाव । निश्चलत्वादिसाधारणधर्म-
 सम्बन्धनिमित्तिकासु 'प्राय स्थाणुनाऽनेन भवितव्यम्—' इत्यादि सम्भाषणसु नाति-
 व्याप्ति, तेषा धर्माणा लौकिकत्वेन क्विप्रतिमानिर्वर्तितत्वाभावेन रमणीयत्वविरहादिति
 भावः । 'ज्ञानम्' इत्यपहाय 'सम्भाषणम्' इत्युक्ते फलमाह—एवेति । निश्चयात्मके
 रूपकज्ञाने प्रकृतलक्षणं मातिप्रसाङ्गीदिति लक्षणे सम्भावनेकि । ज्ञानोक्तौ तु तत्राति-
 प्रसङ्गो दुर्वार एवेति भावः ।

अब लक्षण का विवेचन किया जाता है—लोकोत्तर इत्यादि । 'हे लोकोत्तर प्रभाव
 वाले राजन् ! मैं आपको उत्कृष्ट नारायण (विष्णु) मानता हूँ ।' इस स्थल पर जब
 लोकोत्तर प्रभाव में नारायणत्व-व्याप्यता की सम्भावना—अर्थात् प्रायः जहाँ-जहाँ लोको-
 उत्तर प्रभाव है वहाँ-वहाँ नारायणत्व है इस तरह की सम्भावना—रहती है तब उस
 लोकोत्तर प्रभाव को हेतु बनाकर नारायणत्व की अनुमिति नहीं की जा सकती, क्योंकि
 अनुमिति की मामूली नहीं है अर्थात् लोकोत्तर प्रभाव में नारायणत्व व्याप्यता की
 सम्भावना है, निश्चय नहीं, और अनुमिति का कारण व्याप्ति-निश्चय माना जाता है,
 अतः उक्त व्याप्यता-सम्भावना से 'प्रायः यह नारायण होगा' ऐसी सम्भावना उत्पन्न
 होगी । इस द्वितीय सम्भावना में अतिव्याप्ति न हो इसलिए लक्षण में 'जिस पदार्थ
 का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो' यह अंश कहा जाता है । आप कहेंगे—इस
 अंश के कहने से उक्त सम्भावना में अतिव्याप्ति का कारण कैसे होगा ? तो मैं कहूँगा
 कि इस अंश से प्रकृत सम्भावना का आहार्य होना—बाधित रहने पर भी इच्छा से
 उत्पन्न होना—ज्ञात होता है अर्थात् तद्विध रूप में निश्चित पदार्थ को पुनः तद्रूप समझना
 आहार्य ही हो सकता है और उक्त सम्भावना आहार्य—अर्थात् बाधकालिक इच्छान्य—
 नहीं है, अपितु प्रयोज्य व्याप्यता सम्भावनाजन्य है, अतः उसका कारण उक्त
 अंश से होता है । इसी अंश से 'रामम्—अर्थात् आर्यन्त चिकने स्याम वर्णवाले राम

को धन में देखकर 'प्रायः यह मेघ होगा' इस सम्भावना से मयूर नाच रहे हैं।' इस सम्भावना (अर्थात् राम में, मेघ की सम्भावना) में, एवं इसी पद्य का उत्तरार्ध 'धाराधर-धिया इत्यादि अर्थात् मेघ की वृद्धि (भ्रान्ति) से मयूर मन्द-मन्द नाचते रहते थे।' यों बदल दें तो इस भ्रान्ति (अर्थात् राम में मेघ की भ्रान्ति) में अतिव्याप्ति वारित हुई—अर्थात् यह सम्भावना अथवा भ्रान्ति आहार्य (वापकालिक ज्ञानरूप) नहीं है। यदि आहार्य होती तब उससे नाचने की प्रवृत्ति मयूरों में नहीं बन सकती थी, क्योंकि वाधितार्थ-विषयक इच्छाजन्य ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती। 'वदनकमलेन—अर्थात् हे वाले! जब तू मुखकमल द्वारा मन्दहास की शोभा का एक लेश धारण करती है, मैं उसी क्षण जान लेता हूँ कि इस जगह, जगत् को कामदेव ने जीत लिया—यहाँ आनेवाला कामवतीभूत हुए बिना रह नहीं सकता।' इस पद्य में जो जगत् के जय की सम्भावना यर्गित है उसमें अतिव्याप्ति को वारित करने के लिये लक्षण में 'उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर' यह अंश जोड़ा गया है। तात्पर्य यह कि उक्त सम्भावना किसी ऐसे धर्म को निमित्त मानकर नहीं की गई है, अतः इस अंश से उसका वारण हो जाता है। यद्यपि उक्त सम्भावना का निमित्त स्मित(मन्दहास)को माना जा सकता है, पर वह मन्दहासरूप धर्म साधारण नहीं है—विषय—'जगत्' और 'जीत लिया'—विषयी में से एक में भी वह नहीं रह जाता है। इसी से—'प्रायः पतेद् शौ.—अर्थात् सम्भव है स्वर्ग गिर जाय, चन्द्र टूट जाय, पर्वतों और समुद्रोंसहित पृथ्वी विचलित हो जाय और यह तो आत्यधिक सम्भव है कि सारी दिशाएँ जल बँडनी, क्योंकि द्रौपदी 'हाय! गरी' कहकर रो रही है।' यहाँ भी रोदन के कारणरूप 'केश पकटने' आदि से उत्पन्न पाप को निमित्त मानकर उठाई गई 'स्वर्ग के गिरने' आदि की सम्भावना में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पापरूप निमित्त उभय साधारणधर्म नहीं है—अर्थात्—स्वर्गरूपविषय और पतनरूप विषयी इन दोनों में से एक में भी वह (पाप) रहनेवाला नहीं होता। 'प्रायः इसे ठूँठ होना चाहिये' 'निश्चित ही यह पुरुष हो सकता है' और 'दूर खड़ा यह देवदत्त सा ज्ञात होता है', इत्यादि में क्रमशः निश्चलता, चञ्चलता और एक विशिष्ट प्रकार के आकाररूप समानधर्म को निमित्त मानकर की जानेवाली सम्भावनाओं में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अतः निमित्तभूत धर्म में 'सुन्दर—अर्थात् कवि—प्रतिभा—निर्मित' विशेषण दिया गया है। उक्त धर्म ऐसे नहीं हैं, अतः वन्मूलक उक्त सम्भावनाओं को उपरोक्त नहीं कहा जा सकता। रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'सम्भावना' कही गई है। रूपक का ज्ञान सम्भावनारूप नहीं, किन्तु निश्चयरूप होता है।

नन्वेवमपि तदभाववत्त्वेनेत्याद्यधिकमत आह—

अत्र च तादात्म्येन संसर्गेण धर्म्युत्प्रेक्षायाः, संसर्गान्तरेण धर्मोत्प्रेक्षायाश्च सङ्ग्रहार्थकोक्त्या लक्षणद्वयं विवक्षितम् ।

अत्र चेति । लक्षणवाक्य इत्यर्थः । धर्म्युत्प्रेक्षा-धर्मोत्प्रेक्षा-भेदेनोत्प्रेक्षा द्विविधा । तत्र धर्म्यन्तरे धर्म्यन्तरोत्प्रेक्षणे प्रथमा धर्मिणि धर्मोत्प्रेक्षणे च द्वितीया भवति । धर्म्युत्प्रेक्षायां तादात्म्य मन्वन्धः, धर्मोत्प्रेक्षायाव तदितरः सामानाधिकरण्यादिः (समवायादिः) । धन-योहमनोऽन्प्रेक्षयो संग्रहाय लक्षणद्वयं पूर्वोक्तलक्षणवाक्ये यक्षुरभिप्रेतमिति भावः ।

उपर जो कुछ कहा गया है वह 'जिस पदार्थ का भेद—' इत्यादि प्रथम लक्षण के विषय में ही, अतः 'जिस धर्म का अभाव—' इत्यादि द्वितीय लक्षण ध्यर्थं सा प्रतीत होता है इस सन्देह को निवृत्ति के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त दो प्रकार की है—एक धर्म्युत्प्रेक्षा, जिसमें एक धर्म की दूसरे धर्म के रूप में उपरोक्त की जाती है, और दूसरी धर्मोत्प्रेक्षा, जिसमें धर्म की धर्मों में उपरोक्त

की जाती है। धर्म्युत्प्रेक्षा तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य सम्बन्ध (समवाय आदि) द्वारा। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं का समुद्र करने के लिये मूल में एक उक्ति द्वारा दो छत्तनों का कथन अभीष्ट है। टीका में तो दोनों छत्तन पृथक्-पृथक् लिखे गये हैं।

उत्प्रेक्षा विभजते—

सा चोत्प्रेक्षा द्विविधा—वाच्या, प्रतीयमाना च। इयं, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शङ्के, उत्प्रेक्षे, इत्यादिभिः क्यङ्काचारकिञ्चिदिभिः प्रतिपादकैः सहिता यत्रोत्प्रेक्षासामग्री, तत्र वाच्योत्प्रेक्षा। यत्र च प्रतिपादकशब्दरहित तत्सामग्रीभात्रम्, तत्र प्रतीयमाना। यत्र तत्सामग्रीरहित प्रतिपादकभात्रम्, तत्र सम्भाव्यनभात्रमेव, नोत्प्रेक्षा। सापि प्रत्येकं त्रिविधा—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति। तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपाणां तद्भावरूपाणां च पदार्थानां तादात्म्येनेतरेण वा सम्बन्धेन जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकैर्ब्यस्तैः समुचितैरुपात्तैरुपात्तैर्निष्पन्नैर्निष्पत्तैर्विषयैर्वा निमित्तभूतैर्धर्मैर्यथासम्भवं जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु विषयेषुत्प्रेक्षणं स्वरूपोत्प्रेक्षा। तत्राभेदेन नसर्गेण धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा, ससर्गान्तरेण धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षेति चोच्यते। उक्तविधेषु पदार्थेषु प्रागुक्तप्रकाराणां पदार्थानां तथाविधैरेव निमित्तैर्यथासम्भवं हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावन हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा चोच्यते। एताश्च क्वचिन्निष्पन्नशरीराः क्वचिन्निष्पाद्यशरीराश्चेत्येवमाद्यनल्पविकल्पाः सम्पद्यन्ते। तथापि दिङ्मात्रमुपदर्शयते।

प्रतीयमानेति। अर्थसामर्थ्यावसेयेत्यर्थः। न तु व्यङ्ग्येति भावः। एतच्चाप्रे मूल एव स्फुटीभवित्यति। उत्प्रेक्षासामग्रीति। सा च रमणीयतद्धर्मसम्बन्धादिरूपा। प्रतिपादकशब्देति। इवादीत्यर्थः। नोत्प्रेक्षेति। अलङ्कारत्वेनेत्यर्थः। पुनरन्यथा विभजते—साऽपीति। एव च द्वादश भेदा सम्पन्ना इति भावः। स्वरूपोत्प्रेक्षादीनां स्वरूपपरिचयायाह—तत्रेति। तासां तिष्ठणा मध्य इत्यर्थः। द्रव्येति। सज्ञाशब्दाभिप्रायमिदम्। एवमत्रेऽपि। व्यस्तैरिति। पृथग्भूतैरित्यर्थः। समुचितैरिति। मिलितैरित्यर्थः। उपात्तशब्दबोधितैः। अनुपात्तं शब्दाबोधितैः। अर्थसामर्थ्यलब्धैरिति यावत्। निष्पन्नै स्वतः सिद्धैः। निष्पाद्यैः कल्पमया साध्यमानैः। विषयेष्विति। प्रकृतैर्विन्यर्थः। जात्यादीनि निमित्तिकृत्य जात्यादिषु विषयेषु जात्यादिरूपाणाम् विषयिणा सम्भावन स्वरूपोत्प्रेक्षेति सारांशः। उक्तमेव विरादयति—तत्रेति। तासां स्वरूपोत्प्रेक्षाणां मध्य इत्यर्थः। हेतूत्प्रेक्षा-फलोत्प्रेक्षे आह—उच्येति। जात्यादिविन्यर्थः। एवमत्रेऽपि। जात्यादिषु पदार्थेषु जात्यादिभिर्निमित्तैर्जात्यादे पदार्थस्य हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावनम्-अर्थात् जात्यादिरूपः पदार्थो जात्यादिरूप पदार्थं प्रति हेतु फल वा यत्र सम्भाव्यते तत्र-हेतुफलोत्प्रेक्षे भवत इति भावः। पुनरपरथा विभजते—एताश्चेति। पूर्वोक्ता उत्प्रेक्षा इत्यर्थः। निष्पन्नेति। स्वतः सम्भविपदार्थगता इति भावः। निष्पाद्येति। क्वचिकल्पितपदार्थगता इति भावः। अनल्पेति। बह्वित्यर्थः। तथापीति। तेषां सर्वेषां प्रभेदानामुपदर्शनस्याशक्यत्वेऽपीत्यर्थः।

उत्प्रेक्षा के भेद किए जाते हैं—सा च इत्यादि। पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना (प्रतीयमाना का अर्थ व्यङ्ग्यता नहीं है, किन्तु अर्धतः अवगत होनेवाली, यह समझ रखना चाहिए)। जहाँ संस्कृत में इव आदि मूलोक्त उत्प्रेक्षा-बोधक शब्दों एवम् हिन्दी में मानो आदि तद्बोधक शब्दों से युक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री (सुन्दर विषय-गत धर्म-सम्बन्ध आदि) हो वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा कहलाती है। और जहाँ

बोधक शब्द न हों, किन्तु केवल सामग्री हो वहाँ प्रतीयमानोपेक्षा कहलाती है। जहाँ सामग्री न हो और उपेक्षा-बोधक शब्द हों, वहाँ केवल 'सम्भावना' मानी जाती है उपेक्षा नहीं—अर्थात् वहाँ सम्भावना को अलङ्काररूप नहीं माना जाता। ये उपेक्षाएँ प्रायः तीन-तीन प्रकार की होती हैं—स्वरूपोपेक्षा, हेतुपेक्षा और फलोपेक्षा। फलतः उपेक्षा के बारह भेद इस तरह से सम्पन्न होते हैं। जैसे—वाच्यधर्मिस्वरूपोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मिस्वरूपोपेक्षा, वाच्यधर्मस्वरूपोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मस्वरूपोपेक्षा, वाच्यधर्मिहेतुपेक्षा, प्रतीयमानधर्मिहेतुपेक्षा, वाच्यधर्मिहेतुपेक्षा, प्रतीयमानधर्मिहेतुपेक्षा, वाच्यधर्मिफलोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मिफलोपेक्षा, वाच्यधर्मफलोपेक्षा और प्रतीयमानधर्मफलोपेक्षा। ससार के सभी पदार्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (सज्ञाशब्दस्थल में) रूप तथा इन चारों के अभावरूप हैं। इन पदार्थों की, अभेदसम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप—पृथक्-पृथक् अथवा मिलित, शब्दद्वारा वर्णित अथवा अवर्णित और सिद्ध अथवा साध्य—धर्मों को निमित्त मानकर, यथासम्भव, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप विषयों (प्रकृत पदार्थों) में, उपेक्षा करना स्वरूपोपेक्षा कहलाती है। उक्त तरह के पदार्थों की, उक्त तरह के पदार्थों में, उक्त तरह के निमित्तों द्वारा, यथासम्भव, हेतुरूप से अथवा फलरूप से सम्भावना की जाय तो क्रमशः हेतुपेक्षा और फलोपेक्षा कहलाती है। इन उपेक्षाओं का शरीर (स्वरूप) कहीं सिद्ध होता है (अर्थात् सर्वांश में स्वतःसम्भवी पदार्थों को लेकर बना रहता है) और कहीं साध्य (अर्थात् अज्ञ विरोध में अथवा सर्वांश में कविकल्पित पदार्थों को लेकर बना रहता है)। इस तरह ऐसे अव्यक्तिक विकल्प बन सकते हैं, तथापि यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

उदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं जातिस्वरूपोत्प्रेषोदाहरणप्रदर्शनायह—

आख्यायिकायां जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

जात्यवच्छिन्नेति । जातिविशिष्टस्य धर्मिणो धर्म्यन्तरे तादात्म्येनोत्प्रेक्षेत्यर्थः ।

जात्यवच्छिन्न पदार्थ के स्वरूप की उपेक्षा (आख्यायिका में), जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘तनयमैनाकगवेपणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी’ इति ।

यमुनावर्णनम्—इयं, यमुना, तस्या भगवत्या ऐश्वर्यविशेषशालिन्या, भागीरथ्याः गङ्गाया, सखी, विद्यते, या, तनयस्य, मैनाकस्य उदाख्यपर्वतविशेषस्य, गवेपणाय श्रान्ते-पणाय, लम्बीकृतः दीर्घाकृतः, तथा जलधेः समुद्रस्य, जठरे उदरे, प्रविष्टस्यो हिमगिरे-हिमालयस्य, भुजो बाहुः, स इवाचरतीत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तनय इत्यादि। यमुना का वर्णन है। यह यमुना उस ऐश्वर्यशालिनी गङ्गा की सखी है, जो अपने पुत्र मैनाक (एक पर्वत) को हूँदने के लिये लम्बी की हुई और समुद्र के उदर में घुसी हुई, हिमालय पर्वत की भुजा सा आचरण करती है।

उपपादयति—

अत्र भागीरथ्यां द्रव्ये जातौ वा हिमगिरिसम्बन्धी भुजत्वजात्यवच्छिन्न-स्तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते। तत्र च भागीरथीगतानां शैत्यशैत्यलम्बत्वजलधिजठर-प्रविष्टत्वानां धर्माणाम् निमित्ततासिद्धये विषयिहिमगिरिभुजायत्वमवश्यं सम्पादनीयम्। तेषां च मध्येऽनुपात्तयोः शैत्यशैत्ययोर्हिमगिरिसम्बन्धित्वादेव भुज-गतत्वं सम्पन्नम्। इतरयोरपि सम्पादनाय तनयमैनाकगवेपणं फलमुत्प्रेक्षितम् ;

तत्साधनताज्ञानस्य लम्बत्वजलधिजठरप्रवेशानुकूलयत्नजनकत्वात् । एवं च विषयिगततादृशगवेषणफलकलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वाभ्यां विषयगतयोः साहजिकलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वयोरभेदाध्यवसानातिशयोक्त्या साधारण्यसम्पत्ती निमित्तता । न चात्र फलस्याप्युत्प्रेक्षेति वक्तुं शक्यम् । उत्प्रेक्ष्यमाणफलनिष्पादितनिमित्तोत्थापितायां स्वरूपोत्प्रेक्षायामेव विधेयत्वाच्चमत्कृतेर्विश्रमात्, उत्प्रेक्षाप्रतिपादकस्य प्रत्ययस्य फलेनानन्वयाच्च, तयैवात्र व्यपदेशो युक्तः । अनिगीर्णविषया चेयमुपात्तानुपात्तगुणक्रियात्मकनिमित्ता निष्पाद्यविशिष्टशरीराजात्युत्प्रेक्षा, हिमगिरिभुजस्य कविनैव निष्पादितत्वात् ।

द्रव्ये जातौ वेति । सज्ञाशब्दाच्याया जातिशब्दाच्यायां वेत्यर्थः । तत्र चेति । तारिभ्रुत्प्रेक्षण इत्यर्थः । अस्य च 'निमित्ततासिद्धये' इत्यन्तन्वयः । तेषां वेति । उक्तधर्माणामित्यर्थः । इतरयोरपीति । लम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वयोरित्यर्थः । तत्साधनतेति । गवेषणसाधनतेत्यर्थः । यत्नेति । अन्यथा गवेषणासम्भवादिति भावः । विषयिगतेति । विषयिहिमगिरिभुजगताभ्यामित्यर्थः । तादृशेति । तनयमैनाकेत्यर्थः । विषयेति । भागीरथीत्यर्थः । साहजिकेति । स्वाभाविकेत्यर्थः । अभेदाध्यवसानेति । विषयनिगरणपूर्वकाभेदारोपेत्यर्थः । तन्मूलक्यातिशयोक्त्येति समुदितार्थः । सम्पत्ताविति । सिद्धावित्यर्थः । शङ्कते—न चेति । समाधत्ते—उत्प्रेक्ष्यमाणेति । फलेति । गवेषणेत्यर्थः । निमित्तेति । साधारणीकृतलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वैत्यर्थः । विधेयत्वादिति । विधेयत्वेन प्राधान्यादित्यर्थः । चमत्कृतिविश्रमे विनिगमनाविरहादाह—उत्प्रेक्षाप्रतिपादकत्वेति । प्रत्ययस्य क्यञ्च । तादर्यत्वेति भावः । फलेनेति । गवेषणेनेत्यर्थः । उपसहरति—तयैवेति । एव चेत्यादि । स्वरूपोत्प्रेक्षयैवेत्यर्थः । अत्र भेदानुपपादयति—अनिगीर्णेति । भागीरथ्या उपादानादिति भावः । उपात्तेति । इदं च यथासम्भव बोध्यम् । न तु यथासक्यम् । तथात्वे गुणयोरैवोपात्तासिद्धिः, गुणौ च श्वैत्यशैत्यात्मकावनुपात्ताविति ग्रन्थासङ्घति स्यात् । निष्पाद्यत्वे हेतुमाह—हिमेति । एव चैकदेशस्य सिद्धत्वेऽपि विशिष्टस्य निष्पाद्यत्व स्पष्टमेवेति भावः । अयमत्र विशदोऽर्थः—'तनयमैनाकः—' इतिगद्यवाक्ये गङ्गाया हिमालयबाहुरभेदेनोत्प्रेक्ष्यते । बाहु(भुज)पदश्च बाहुत्वजातिविशिष्टवाचकमिति जातिस्वरूपेनेत्येवम् । भागीरथीपदञ्च यदि सङ्गाशब्दरूपम् सदाऽत्र द्रव्ये जातिस्वरूपेनेत्येवम्, यदि पुनस्तत्पदम् कल्पभेदाभिप्रायेण भागीरथीत्वजातिविशिष्टवाचकम् स्वीक्रियते तदा जातौ जातिस्वरूपोत्प्रेक्षेति त्वन्यत् । अस्याद्योत्प्रेक्षायाम् श्वैत्यशैत्यलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वात्मकाश्चत्वार साधारणा धर्मा निमित्ततानुपयान्ति । कथमेषा साधारण्यतेति चेत् ? इत्थम्—भागीरथ्या विषयभूताया ते धर्मा स्वतः सिद्धा एव । विषयिभूते हिमालयभुजेऽपि अनुक्ते श्वैत्यशैत्ये भुजस्य हिमालयीयतया सिद्धप्राये । लम्बत्वसमुद्रोदरप्रविष्टत्वे यद्यपि भुजविशेषणतयैव शब्दबोधिते तथापि गङ्गायामिव भुजेन तयो सिद्धत्वम्, अतस्तयोर्भुजगतत्वसिद्धये प्रयासोऽपेक्षितः, स च प्रयास तनयमैनाकगवेषणरूपफलोत्प्रेक्षात्मक कविनाऽत्र कृतः । ननु कथं तेन प्रयासेन तयोर्भुजगतत्वसिद्धिरिति चेत् ? लम्बीकृते समुद्रोदरप्रविष्टे च भुजे गवेषणसाधनताज्ञानवता हिमालयेन (भुजे लम्बत्व समुद्रोदरप्रविष्टत्वञ्च येन स्यात् तादृश) यत्नोऽवश्य कृतोऽभूदित्यनुमिन्त्या भुजे तयो सिद्धिरिति बोध्यम् । एवमपि यद्यपि विषयिभुजगते ते यत्नपूर्वके गवेषणफलके च, विषयगङ्गागते पुनस्ते स्वाभाविके इति मियो भिन्न एवेति न तयो साधारण्यता, तथापि तयोर्भेदाध्यव-

सान्मूलकतिशयोक्तेरङ्गीकारेणैक्यात्साधारणता सम्पद्यते । एवञ्च साधारणभूतान् तान् चतुरो धर्मान् निमित्तोक्तयोक्तोत्प्रेक्षा क्रियते । यद्यप्यत्र गवेषणात्मकफलस्याप्युत्प्रेक्षणमिति सत्यम्, तथापि नात्र तद्व्यवहारः, व्यवहारस्य प्रधानानुरोधित्वात् । प्राधान्यज्ञात्र चमत्कृतिविभ्रमधामभूताया विषेयाया उत्प्रेक्ष्यमाणफलनिष्पादितनिमित्तोत्थापितायाः स्वरूपोत्प्रेक्षाया एव । किञ्चात्रोत्प्रेक्षा वाच्या, चाचक्ष्य 'भुजायमान-' पदगत' क्यङ्प्रत्यय', तदर्पस्य च भुजपदायैर्नैवान्वय', न फलीभूतेन गवेषणेनेति कथं फलोत्प्रेक्ष्याव्यवहारः स्यात् ? अत्र च भागीरथीरूपो विषय उपात्त एव, न निर्गोण, एवम् निमित्तभूतेषु प्रागुक्तेषु धर्मेषु, सम्बलजलभिजठरप्रविष्टस्वरूपो क्रियात्मकौ धर्मावुक्तौ, श्रैत्यशैत्यरूपौ च गुणात्मकौ धर्मा अनुक्तौ इति अनिर्गोणविषया उपात्तानुपात्तोभयविधधर्मनिमित्ता चेयं जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा निष्पाद्या । ननु निष्पाद्यत्वं कुत', विषयत्वाया गङ्गाया निष्पन्नत्वादिति चेन्न, विषयिणो हिमनिरिभुजस्य क्विनैव निष्पादिततया विशिष्टस्य निष्पाद्यत्वाक्षते' । इति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'तनयमैनाक—' इस गद्यवाक्य में यदि भागीरथी-पद को एकव्यक्तिवाचक (अर्थात् सज्ञाशब्द) माना जाय तो गङ्गारूप द्रव्य में, और यदि कल्प भेद से अनेक-व्यक्तिवाचक (अर्थात् जाति शब्द) माना जाय तो जाति में हिमालय से सम्बन्ध रखनेवाले 'भुजाय' जाति से अवच्छिन्न (विशिष्ट) पदार्थ (अर्थात् 'भुज') की, अमेदसम्बन्ध द्वारा, उत्प्रेक्षा की जाती है । इस उत्प्रेक्षा में, श्वेतता, शीतलता, लम्बता और समुद्रोदरप्रविष्टता ये चार धर्म साधारण (गङ्गा तथा भुज दोनों में वृत्ति) होकर निमित्त होते हैं । अब ये चारों धर्म साधारण कैसे होते हैं यह समक्षिप्त-गङ्गा में ये चारों धर्म श्वेतः रहते ही हैं, भुज में भी हिमालय के सम्बन्धी होने से वाक्य में अनुक्त दो धर्म (श्वेतता तथा शीतलता) सिद्ध हो जाते हैं । अब बचे लम्बता तथा समुद्रोदर-प्रविष्टता ये सम्बन्धी दो धर्म । ये दोनों यद्यपि भुज के ही विशेषण बनाए गए हैं वाक्य में, तथापि वस्तुतः ये गङ्गा के ही धर्म हैं, भुज के नहीं, अतः इन्हें भुजगत सिद्ध करने के लिये उपाय अपेक्षित है, वही उपाय 'तनयमैनाक-गवेषणात्मक-फल' की उत्प्रेक्षा के रूप में कविद्वारा किया गया है—अर्थात् 'पुत्रमैनाक को हूँ देने के लिये' इस रूप में की गई उत्प्रेक्षा स उक्त दोनों धर्मों की भुजवृत्तित्ता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जब हिमालय को लब्ध बनाए गए और समुद्र के उदर में घुमे हुए भुज में उक्त गवेषण-साधनता का ज्ञान हुआ होगा—अर्थात् जब हिमालय ने यह समझा होगा कि लब्धीकृत तथा समुद्रोदरप्रविष्ट भुज द्वारा ही पुत्रमैनाक को समुद्र में खोजा जा सकता है तब उन्होंने (हिमालय ने) अवरय ही भुज को लब्ध और समुद्रोदरप्रविष्ट बनाने के उपयुक्त यत्न किया होगा यह अनुमान करना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि 'तत्साधनता का ज्ञान तत्साधनतोपयोगी' पदार्थ के उपादक यत्न का जनक होता है' यह एक नियम-सिद्ध बात है । यद्यपि इतना-सब कुछ-करने पर भी उक्त दोनों धर्म वस्तुतः साधारण हुए नहीं, क्योंकि भुज में रहनेवाले लम्बत्व और समुद्रोदरप्रविष्टत्व उक्तरीति से यत्नपूर्वक तथा गवेषणरूप फल वाले हैं और गङ्गा में रहने वाले वे दोनों धर्म स्वाभाविक तथा उक्त फल से शून्य हैं, फलतः ये केवल एक-एक में रहनेवाले भिन्न ही धर्म हैं—इनमें से कोई भी धर्मद्विक दोनों में रहनेवाला नहीं, तथापि विषयी (भुज) गत उक्त दोनों धर्मों के साथ विषय (गङ्गा) गत उक्त दोनों धर्मों का अभेदाध्यवसान मान लिया जाता है—अर्थात् एक तरह की अतिशयोक्ति मान ली जाती है जिससे वस्तुतः भिन्न होने पर भी विषयि-गत तथा विषयगत वे धर्म एक समझ लिये जाते हैं, अतः ये दोनों धर्म भी साधारण हो जाते हैं । श्वेतता तथा शीतलतारूप धर्म साधारण हो ही चुके हैं । इस तरह ये चारों धर्म उक्त उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं । यदि कोई कहे कि यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा क्यों कही जा रही है ? यहाँ फल (गवेषण) की भी तो उत्प्रेक्षा है, अतः फलोत्प्रेक्षा ही क्यों

नहीं व्यवहृत होती ? तो इसका समाधान यह है कि—एक तो, जिस फलोत्प्रेक्षा की बात आप कर रहे हैं उसके द्वारा सिद्ध किए गए निमित्त (लम्बाय तथा समुद्रोदरप्रविष्टत्व) से उठाई गई 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही यहाँ विषय है—प्रधान है, अतः चमत्कार का विश्राम वहीं जाकर होता है, फलोत्प्रेक्षा में नहीं। दूसरे, उल्लेखाबोधक प्रायय—'भुजायमान' पदान्तर्गतक्यङ्—का फल के साथ अन्वय नहीं है, किन्तु भुज के साथ है। ऐसी स्थिति में स्वरूपोत्प्रेक्षा का व्यवहार होना ही समुचित है। यह जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, विषयवाचक गङ्गापद के पृथक् विद्यमान रहने के कारण, अनिगीर्णविषया, और लम्बाय तथा समुद्रोदरप्रविष्टत्व इन दो क्रियात्मक धर्मों के उपात्त (उक्त) रहने के कारण, उपात्तनिमित्ता, एवम् स्वतन्त्रता तथा शीतलता इन दो गुणात्मक धर्मों के अनुपात्त रहने के कारण, अनुपात्तनिमित्ता भी, और कवि कल्पित हिमालयभुजरूपविषयी से युक्त होने के कारण, निष्पाद्या है। आप कहेंगे—उक्त विषयी के निष्पाद्य होने पर भी गङ्गारूप विषय तो स्वतोनिष्पन्न ही है, ऐसी दशा में उल्लेखा को निष्पाद्य कैसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर है कि विषयी तथा विषय दोनों मिलकर ही तो उल्लेखारूप होते हैं, फिर उन दोनों में से एक का भी निष्पाद्य होने पर विशिष्ट को निष्पाद्य कहा ही जा सकता है।

भेदान्तरमुदाहरणमाह—

तादात्म्येन गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

अभेदसम्बन्ध से गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘अम्भोजिनीबान्धवनन्दनायां कूजद्वकानां समजो विरेजे ।

रूपान्तराक्रान्तगृहः समन्तात् पुञ्जीभवञ्शुक्त इवाश्रयार्थी ॥’

कविर्यमुना वर्णयति—अम्भोजिनीबान्धवस्य सूर्यस्य, नन्दनाया तनवाया यमुनाया-मिति यावत्, कूजता शब्दायमानाना, बकानाम्, समज' सङ्घ, रूपान्तरेण श्यामत्वेन, आक्रान्त बलाद् व्याप्तम्, गृहम्, यस्य तादृश, अतः, समन्तात् सर्वतः, पुञ्जीभवन-एकत्र समुपतिष्ठन्, आश्रयार्थी स्थितिस्थानाभिलाषी, शुक्ल शुक्लगुणः, इव, विरेजे शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अम्भोजिनी इत्यादि। अम्भोजिनीबान्धव (सूर्य) की नन्दना (कन्या यमुना) में कूजते हुए बगुलों का झुंड ऐसा शोभित हुआ, मानो, दूसरे रूप (कालावन) से जिसका गृह आक्रान्त हो गया है वह अतएव सब तरफ से इकट्ठा हो रहा आश्रय की इच्छावाला शुक्लगुण (स्वैतवर्ण) हो ।

उपपादयति—

अत्रैकाधिकरण्यापन्ने कूजनविशिष्टे बकत्वजात्यवच्छिन्ने विषये पुञ्जीभवनविशिष्टः शुक्लगुणस्तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते । तत्र बकगतानां कूजननैर्मल्य-पुञ्जीभवनानां शुक्लगुणगतत्वमन्तरेण बकशुक्तयोरभेदस्य दुरुपपादत्वात्तत्सिद्धये तेषां विषयिगतत्वं साध्यम् । तत्र नैर्मल्यस्थानुपात्तस्य यथाकथञ्चिदुत्प्रेक्ष्यमाणो विषयिणि सिद्धत्वात् कूजनपुञ्जीभवनयोर्निष्पादनाय रूपान्तराक्रान्तगृहत्वमाश्रयार्थित्वं च हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितम् । इहापि प्राग्वत् साहजिकयोः कल्पिताभ्यामभेदाध्यवसानात् साधारण्यम् । एवमन्यत्राप्यूहम् । पूर्वं हि यथा फलरूपोत्प्रेक्षणेऽपि न फलोत्प्रेक्षा तथेहापि हेतोरिति ।

अत्रेति । ‘अम्भोजिनी—’ इति पदे इत्यर्थः । ऐकाधिकरणवाचक इति । समुदायापन्न इत्यर्थः । तत्रेति । तयोर्विषयविषयिणोर्मध्य इत्यर्थः । अन्तरेणेति । विनेत्यर्थः ।

तत्सिद्धये शुक्लगुणगतत्वसिद्धये । तेषामुक्तधर्माणाम् । विषयीति । शुक्लगुणेत्यर्थः । तत्र तेषां धर्माणां मध्ये । नैर्मल्यस्य गुणात्मकस्य धर्मात्मकस्य वा द्रव्यवृत्तित्वा, न शुक्लादिगुणवृत्तितेत्यत आह—यथावर्थाचरिति । गुणगतदोषविशेषाभाववत्त्वस्य नैर्मल्यपदेन विषयगुणादिति भावः । नन्वेवं कूजनपुञ्जीभवनयोर्विषयिणि सिद्धत्वेऽपि विषयगताभ्यां ताभ्यां मिश्रत्वेन कथं साधारण्यमित्यत आह—इहापीति । इदगुणलक्षणम् । नैर्मल्ययोरपि विषयविषयिगतयोर्मिश्रत्वेनाभेदारोपादेव साधारण्यं बोध्यम् । ननु स्थान्तराक्रान्तगृहत्वाध्यापित्वयोर्हेतुत्वैर्नोत्प्रेक्षणे हेतूप्रेक्षैवेयं वृत्तो नेत्यत आह—पूर्वं हीति । अयं भावः—सकलजातिविशिष्टवत्परब्रह्मे विषये शुक्लगुणस्य विषयिणस्तादात्म्येनोत्प्रेक्षणात् ‘अम्मोजिनी—’ इत्यस्य गुणरूपोत्प्रेक्षोदाहरणत्वं सम्पद्यते । अरिमधोत्प्रेक्षणे कूजननैर्मल्यपुञ्जीभवननात्मका धर्मा साधारणा सन्तो निमित्तभावं भजन्ते । ननु कथमेता साधारण्यमिति चेदित्यम्—सकलवृत्तित्वा स्पष्टवैषाम् । नैर्मल्यस्य पुनः कथञ्चित् शुक्लगुणवृत्तित्वापि सिद्धैव । कूजनपुञ्जीभवनयोः शुक्लगुणवृत्तित्वा स्थान्तराक्रान्तगृहत्वाध्यापित्वयोर्हेतुत्वैर्नोत्प्रेक्षणात् निष्पद्यते, अन्यथाक्रान्तगृहाणामाश्रयार्थित्वाच्च शब्दायमानत्वस्य सङ्गीभवनस्य च लोकप्रसिद्धत्वात् । न चैवमपि विषयगतेभ्यस्तेभ्यो विषयिगतास्ते भिन्ना एव भवेयुरिति कथं साधारण्यमिति शङ्क्यम्, अभेदाप्यवसानेनैकत्वाङ्गीकारात् । हेतूप्रेक्षणे सत्यपि हेतूप्रेक्षायव्यपदेशस्तु न शक्यते विधातुम्, प्राग्वत् हेतूप्रेक्षाया निमित्तमात्रनिष्पादकताया गुणत्वेनाचमत्कारित्वात् । स्वरूपोत्प्रेक्षा तु प्रधाना चमत्कृतिभूमिरिति भवति तथा व्यपदेश इति ।

उपपादन किया जाता है—अत्रैकाधिकरण्यापन्न इत्यादि । ‘अम्मोजिनी—’ इस पद में ‘एकत्र स्थित’ और ‘कूजन’—युक्त वकत्व जाति से अवच्छिन्न वगुलारूप विषय—अर्थात् जातिरूप पदार्थ—में इकट्ठे हो रहे शुक्लगुण की अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है यहाँ वगुलों में रहनेवाले कूजन, निर्मलत्व और पुञ्जीभवन (इकट्ठे होना) इन तीन धर्मों की सिद्धि जब तक शुक्लगुण में भी न हो तब तक वगुलों और शुक्लगुण का अभेद सिद्ध होना कठिन है । अतः उन धर्मों की स्थिति विषयी (शुक्लगुण) में साधनीय है । उनमें से अनुपास धर्म (निर्मलत्व) की स्थिति किसी तरह विषयी (शुक्लगुण) में सिद्ध हो जाती है । (‘किसी तरह’ कहने का अभिप्राय यह है कि—वस्तुतः निर्मलता स्वयं गुणरूप है, अतः वह किसी द्रव्य में ही रह सकती है, पर यहाँ ‘मल’—अर्थात् किसी तरह का दोष, उसका अभाव ही ‘निर्मलता’ से विवक्षित है जो गुण में भी रह सकता है) । जब अवशिष्ट रहे ‘कूजन’ और ‘पुञ्जीभवन’ ये दो धर्म । इन दोनों धर्मों की सिद्धि शुक्लगुण में करने के लिये ‘दूसरे रङ्ग से आक्रान्त गृह वाले होने’ की और ‘आश्रय की इच्छा वाले होने’ की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि हेतुरूप से उक्त दोनों बातों की उत्प्रेक्षा करने से शुक्लगुण में भी ‘कूजन’ और ‘पुञ्जीभवन’ की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि जिनका घर दूसरी से आक्रान्त हो जाता है तथा जो दूसरों के यहाँ आश्रय चाहते हैं वे जोर-जोर से वाद करते हैं और इकट्ठे हो जाते हैं यह बात लोकप्रसिद्ध है । यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह स्वाभाविक विषय वक्रगत उन धर्मों का कल्पित विषयि (शुक्ल) गत उन धर्मों के साथ अभेद मान लेने से इन धर्मों की साधारणता (दोनों में रहना) सिद्ध होती है । इसी तरह अन्यत्र भी तर्क कर लेना चाहिये । प्रथम उदाहरण में जैसे फल के उत्प्रेक्षित होने पर भी फलोत्प्रेक्षा नहीं व्यवहृत होती, वैसे यहाँ भी हेतु के उत्प्रेक्षित होने पर भी हेतूप्रेक्षा नहीं व्यपदिष्ट होती है । अभिप्राय यह है कि यहाँ की हेतूप्रेक्षा भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा के निमित्त की सिद्ध करने के लिये की गई है, अतः अनुवाच्य है—गौण है, उसमें कोई चमत्कार नहीं अनुभूत

अप्यवसानेति । अप्यवसानं च मद्या क्रोशन्तीत्यादिवह्नियुक्त्वाचपराब्देनेति । बोध्यम् । तादृशेति । विशेषणद्वयविशिष्टेत्यर्थः । एवमप्येऽपि । तादृशेति । एकविशेषणविशिष्टेत्यर्थः । क्रियायामिति । क्रोशनेत्यादि । एव चेति । एव सतीति भावः । प्राग्नुदिति । उक्तनैयायिकमतसिद्धव्याख्यान इवेति भावः । अयमाराम—तिङन्ते क्रियाप्राधान्यवादिष्वव्याकरणानामते प्रकृते शब्दनक्रियाया क्रोशनक्रियाया अभेदेनोत्प्रेक्षा भवति, अतो भ्रम्युत्प्रेक्षैवैयं तन्मतेन । ननु शब्दनमात्रं प्रयत्नविशिष्टम्, अपि तु विशेषणमध्यगततयेति कथं तस्य विषयत्वमिति चेत् ? सत्यम्, मद्या क्रोशन्तीत्यत्र मद्येषु विषयिषु यथा मद्यस्यानामभेदाध्यवसानम् तथा शब्दवर्तुषु चक्षुषु शब्दनस्याप्यवसानान् तस्य विषयत्वं बोध्यम् । अथ विषयविषयिभावश्चायं । शब्दे तु बोधे विशेषणविशिष्टा वक्ता क्रोशनेऽनुपगन्ति, वक्त्रेषु च विशेषणा शशिकिशोरा अभेदेन । शशिकिशोराणां साक्षात्क्रियान्वये वक्ता अनन्विता एव भवेयुः । एवञ्च 'ध्वान्तकर्तृत्वैरहेतुवन्निगरणवर्माभिन्ना ये शशिकिशोरास्तदभिन्ना अथ च यमुनाजलार्थमनकृतभूरिशब्दाभिन्नाथ ये वक्तास्तत्कर्तृत्वक्रोशनेक्रिया' इति बोधः । अरिमक्षपि मते विषयविषयिविशेषणान् विम्बप्रतिविम्बभावमूलकोऽभेद पूर्ववदेवावगन्तव्य इति ।

शब्दबोधसहित उदाहरणतोपयोगी उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । जो लोग (नैयायिक) शब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को प्रधान बनाते हैं उनके मत से 'कलिनदजा—' इस पद्य में अभेदसम्बन्ध द्वारा विशेषण बने हुए 'यमुना के जल में आधे दूबे' और 'कोलाहक करनेवाले' इन दो अर्थों से युक्त वक्त्ररूप विषयों (वाचार्थों) में 'क्रोशनकर्तृत्व—अर्थात् चिह्नाना क्रिया के कर्ता होने' रूप धर्म की उत्प्रेक्षा होती है । पर इस उत्प्रेक्षा से पहले उन्हीं वक्त्रों में उन 'चन्द्रमा के चर्चों के तादात्म्य' की उत्प्रेक्षा होती है जो कल्पित है और अन्धकाररूप कर्ता से वैर के कारण की जानेवाली निगरण- (निगलना) क्रिया के कर्म हैं । सारांश यह कि इस पद्य में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'वक्त्रों में चन्द्रकिशोरों' की, दूसरी 'चन्द्रकिशोरों से अभिन्न वक्त्रों में क्रोशनकर्तृत्व' की । अथ यह निश्चय है कि जहाँ अभेदसम्बन्ध द्वारा किसी पदार्थ में किसी पदार्थ की उत्प्रेक्षा होती हो वहाँ उस उत्प्रेक्षा को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं, जैसे उक्त दोनों उत्प्रेक्षाओं में प्रथम उत्प्रेक्षा, और ऐसी उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है विषय तथा विषयी दोनों में रहनेवाला साधारणधर्म, और जहाँ अभेद के अतिरिक्त समवाय आदि किसी अन्ध सम्बन्ध द्वारा किसी पदार्थ में किसी पदार्थ की उत्प्रेक्षा होती हो वहाँ उस उत्प्रेक्षा को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं, जैसे—उक्त उत्प्रेक्षाओं में द्वितीय उत्प्रेक्षा, और ऐसी उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है उत्प्रेक्षित होनेवाले धर्म के साथ रहनेवाला वैसा धर्म जो विषय में भी रहता हो । ऐसी स्थिति में, प्रकृत पद्य में क्रोशनकर्तृत्वरूप धर्म की समवायसम्बन्धमूलक उत्प्रेक्षा में निमित्त बनाना पड़ेगा उस क्रोशनकर्तृत्व के साथ शशिकिशोरों में रहनेवाले निगरणकर्म—अर्थात् निगलना क्रिया का कर्म होने—को । पर यह धर्म तब तक निमित्त हो नहीं सकता जब तक विषय (वक्त्रों) में भी उसकी स्थिति सिद्ध नहीं हो पाय । अतः अनुवाच (गौण) रूप में वक्त्रों में चन्द्रमा के चर्चों की तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा उत्प्रेक्षा की जाती है । इस द्वितीय धर्म्युत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म है अनुक्त 'श्वेतता' अर्थात् श्वेत होने के कारण वक्त्रों को चन्द्रमा के चर्चों से अभिन्न मान लिया गया है । अथ जैसे विनिष्टोपमा में उपमान-उपमेय के विशेषणों तथा उन विशेषणों के विशेषणों का शब्द न होने पर भी अर्थात् परस्पर सादर्य मान लिया जाता है, उसी तरह यहाँ भी वक्त्ररूप विषय के विशेषण 'आधे दूबने' और उसके विशेषण 'यमुना-जल' का, मूलभूत-अर्थात् प्रधानोत्प्रेक्षा की संपादिका उत्प्रेक्षा के विषयी 'चन्द्रमा के चर्चों' के विशेषण 'निगरण' और उसके विशेषण 'अन्धकार' के साथ अर्थात् अभेद माना जाता

है। तापर्य यह कि 'आधे दूबने' को 'निगरण' से और 'यमुनाजल' को 'अन्धकार' से अभिन्न मान लिया जाता है। इस तरह बकों का अन्धकार द्वारा निगरण जय सिद्ध हो जाता है—अर्थात् चन्द्रमा के बच्चों का अन्धकार द्वारा निगरण जय सिद्ध है तब उनसे अभिन्न बकों का भी वह सिद्ध हो जाता है—तब मुख्य उल्लेख-अर्थात् बकरूप विषय में क्रोशनकर्तृत्व की उल्लेख का निर्वाह हो जाता है। यहाँ क्रोशन (चिह्नाने) और शब्दन (कोलाहल करने) का भी विषयप्रतिविम्बभाव के कारण अभेद है, फलतः ये दोनों पदार्थ भी एक होकर साधारणधर्म के कर्तव्य पूर्ण कर सकते हैं—यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है। उक्त रीति के अनुसार नैयायिकों के मत में प्रकृत पद्य का "यमुना जल में आधे दूबे और अवधिक शब्द करते इन दोनों से अभिन्न बगुले, अन्धकार से निगले जा रहे और चन्द्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न होकर 'क्रोशन'रूप क्रिया के अनुकूल चेष्टा से युक्त हैं।" यह शाब्दबोध होता है। यह तो हुई शाब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों की बात। अब जो लोग 'तिङ्न्त'पदयुक्त वाक्यार्थ के बोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं उन नैयायिकों के मत की बात सुनिये। उनके विचार से यहाँ अभेदसम्बन्ध से 'क्रोशन'(चिह्नाने)-क्रिया की उल्लेख होती है। इस उल्लेख में विषय बगुले नहीं हो सकते, क्योंकि द्रव्य में क्रिया का अभेद बाधित है, अतः शब्दन (कोलाहल करने) को ही आक्रोशनक्रियो-ल्लेख का विषय समझना चाहिए। यद्यपि शब्दन वृषक निर्दिष्ट नहीं है, उसकी प्रतीति शाब्दबोध में धक के विशेषणरूप में होती है, अतः वह विषय नहीं हो सकता, तथापि अभ्यवसान के चल से वह (शब्दन) विषय होता है—अर्थात् जिस तरह 'मञ्जाः क्रोशन्ति' में मञ्जस्थ जनों का मञ्जरूप विषयी के साथ अभेदाभ्यवसान होता है उसी तरह यहाँ भी शब्द करनेवाले बकों में ही शब्दन का अभ्यवसान (आरोप) करके उक्त उल्लेख की सिद्धि की जाती है। फलतः यह उल्लेख अर्थ (अर्थतः, ज्ञात होनेवाली) है। शाब्दबोध में तो उक्त विशेषणों से युक्त बगुले 'क्रोशन'क्रिया में विशेषण बनते हैं और जैसे बगुलों में उक्त विशेषणयुक्त शशिकिशोर विशेषण होते हैं। इस शाब्दबोध में शशिकिशोर ही साक्षात् क्रिया में विशेषणरूप से अन्वित नहीं हो सकते, अपितु उक्त रीति से बगुले के विशेषण बनकर ही परम्परया अन्वित हो सकते हैं, क्योंकि यदि साक्षात् शशिकिशोर का ही अन्वय क्रिया के साथ कर दिया जाय तब बगुले अनन्वित ही रह जायेंगे। फलतः नैयायिकों के मत से प्रकृत पद्य का शाब्दबोध "अन्धकार से निगले जा रहे शशिकिशोरों से अभिन्न तथा यमुना-जल में आधे दूबे और कोलाहल करते—इन दोनों से भी अभिन्न बगुले जिसके कर्ता हैं, वह 'क्रोशन'" यह होता है। आशयबोध के अनुसार यहाँ क्रियास्वरूपोल्लेख मानी जाती है। विषय और विषयी के विशेषणों का, इस मत में भी, पूर्व मत के अनुसार ही विषयप्रतिविम्बभाव माना जाता है।

क्रियास्वरूपोल्लेखाया एवोदाहरणान्तरमुपदर्शयितुमाह—

तथा—

इसी तरह—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'राज्याभिपेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः।

सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥'

कविश्चन्द्रजीवना वर्णयति—सुधाकरधन्द्र, शम्बरासुरवैरिणः कामदेवस्य, राज्याभिपेकं राजन्वसूचकविधिविशेषम्, आज्ञाय विदित्वा, जगतीमध्यं धरातलान्तरालम्, सुधाभिः पीयूषैश्च च चूर्णैः, लिम्पति इत्येत्यर्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—राज्याभिपेक इत्यादि। कवि चन्द्रिका का वर्णन

करता है—चन्द्रमा, कामदेव का राश्याभिषेक समझकर, मानो, सुधा (अमृत-चूने) से पृथिवी के मध्यभाग को पोत रहा है ।

उपपादयति—

अत्रापि चन्द्रे विषये तादृशलेपनकर्तृत्वरूपधर्मोत्प्रेक्षेत्येक दर्शनम् । किरणव्यापने विषये चन्द्रकर्तृकसुधाकरणकलेपनस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षणमिति द्वितीयम् । तत्र प्रथमे मते धवलीकारकत्वरूपनिमित्तानुपादानादनुपात्तनिमित्ता, विषयस्योपादानादुपात्तविषया । द्वितीयेऽपि तस्यैव निमित्तस्यानुपादानादनुपात्तनिमित्ता, विषयस्य निगीर्णतयानुपात्तविषयेति विशेषः ।

अत्रापोति । 'राज्याभिषेक' इति पद्येऽपीत्यर्थः । तादृशेति । सुधाकरणध्वजगन्धकर्मकेत्यर्थः । चन्द्रकर्तृकेति । चन्द्राभिषेककर्तृकेत्यर्थः । करणकेति । जगन्ध्वकर्मकेत्यपि बोध्यम् । विषयस्य चन्द्रस्य । तस्यैव धवलीकारकत्वस्यैव । विषयस्य किरणव्यापनस्य । निगीर्णैति । सुधाभिलिम्पतीत्यनेनेति भावः । 'राज्याभिषेक—' इति पद्येऽपि पूर्ववत् चन्द्रात्मके विषये तादृशलेपनकर्तृत्वमुत्प्रेक्षयत इति प्रथमान्तार्थविशेष्यकबोधवादिनो नैयायिका इति तन्मतेनात्र धर्मोत्प्रेक्षा । सा च धवलीकारकत्वरूपोत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणधर्मात्मकनिमित्तस्यानुक्ततयाऽऽनुक्तनिमित्ता, चन्द्रात्मकविषयस्योक्ततयोक्तविषया । किरणव्यापनात्मके विषये तादृशलेपनस्याभेदेनोत्प्रेक्षेति च व्यापारमुख्यविशेष्यकबोधवादिनो वैयाकरणा इति तन्मतेनेय धर्म्युत्प्रेक्षा । सा च धवलीकारकत्वरूपसाधारणधर्मात्मकनिमित्तानुपादानादनुपात्तनिमित्ता किरणव्यापनात्मकविषयानुल्लेखादनुपात्तविषया च । वैयाकरणानां मतमनुसृत्यैव क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षात्वमनयो पद्ययोरिति भावः ।

'उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । 'राज्याभिषेक—' इस पद्य में भी चन्द्र में लेपनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है यह एक सिद्धान्त है नैयायिकों का । इस मत के अनुसार समवायसम्बन्धमूलक यह धर्मोत्प्रेक्षा हुई । यहाँ धवलीकारकत्व (श्वेत बनाना) रूप निमित्त (समानाधिकरण धर्म) उक्त नहीं है और चन्द्ररूप विषय उक्त है, अतः यह उत्प्रेक्षा अनुक्तनिमित्ता तथा उक्तविषया कहलायगी । किरणव्यापन (किरणों का फैलना) रूप विषय में लेपनक्रिया की तादात्म्यसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है यह दूसरा सिद्धान्त है वैयाकरणों का । इस मत के अनुसार तादात्म्यसम्बन्धमूलक यह धर्म्युत्प्रेक्षा हुई । यहाँ धवलीकारकत्वरूप निमित्त (साधारणधर्म) उक्त नहीं है और किरणव्यापनरूप विषय भी सुधालेपन द्वारा निगीर्ण ही है—अनुक्त ही है, अतः यह उत्प्रेक्षा अनुक्तनिमित्ता तथा अनुक्तविषया कहलायगी । यही दोनों मतों में अन्तर है । उक्त दोनों पद्य वैयाकरणों के मत के अनुसार ही क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण होते हैं यह समझना चाहिए ।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

तादात्म्येन द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

अभेदसम्बन्ध द्वारा द्रव्यस्वरूप की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कलिन्दशैलादियमाप्रयाग केनापि दीर्घा परिखा निखाता ।

मन्ये तलस्पर्शविहीनमस्यामाकाशमानीर्लामिद विभाति ॥'

वशि यमुनां वर्णयति—कलिन्दशैलात् कलिन्दाख्यपर्वतात्, आरभ्य, आप्रयाग प्रयागपर्यन्तम्, केनापि अज्ञातनामधेयेन जनेन, इयम्, दीर्घा बहुदूरव्यापिनी, परिखा गर्तविशेष, निखाता रचिता । अस्या परिखायाम्, तलस्पर्शविहीन अतलस्पर्शि, आनीलम् ईष्यन्नीलवर्णम्, इदं प्रत्यक्षदृश्यम्, आकाश गर्तगतं गपनम्, विभाति शोभते इति मन्ये इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कलिन्द इत्यादि। कवि यमुना-वर्णन प्रपन्न में कहता है—कलिन्द पर्वत से लेकर प्रयागपर्यन्त, किसी ने, यह लम्बी लाई खोद दाखी है। मानो, इसमें अगाध होने के कारण, नीचे हिस्से के स्पर्श से रहित यह यमुनाजल के रूप में गहरा नीला आकाश शोभित हो रहा है।

उपपादयति—

अत्र यमुनायां नीलत्वदीर्घत्वनिमित्तकमाकाशतादात्म्योत्प्रेक्षणम् । आकाशस्य स्वरूपात्मकत्वाद्द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षेयम् । अत एवाकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वानुपस्थितिदशायामप्याकाशधीः । नीलत्वरूपनिमित्तस्य विपथिणि सिद्धार्थं तृतीयधरणोपादानम् । दीर्घत्वरूपनिमित्तसिद्धार्थं च पूर्वार्थम् ।

अत्रेति । 'कलिन्द—' इति श्लोक इत्यर्थः । ननु प्राग्वज्जात्युत्प्रेक्षेयं कुतो न, अत आह—आकाशेति । नन्वाकाशत्वं शब्दाश्रयत्वादिरूपमिति कुतः स्वरूपात्मकमत आह—अत एवेति । तस्य स्वरूपात्मकत्वादेवेत्यर्थः । आदिना शब्दसमवायिकारणत्वपरिग्रहः । विपथिणि आकाशे । तृतीयेति । तलस्पर्शोत्पादीत्यर्थः । अत्र 'तलस्पर्शं सति प्रतिबिम्बासम्भव इति भावः ।' इति नागेश । वस्तुतस्तु प्रतिबिम्बस्यात्र न कश्चन प्रसङ्गः । 'उपरितनमाकाशं गर्तं प्रतिबिम्बितं सत् विभाति' इति ग्रन्थाशयं प्रायो नागेशो वेति । अहं तु मन्ये, नासौ ग्रन्थाशयः, अपि तु गर्तगते जलेऽतलस्पर्शजलशून्यगर्तगतगगनसम्भावनात्र ग्रन्थकृतोऽभिप्रेता । तत्र यथोपरितने महाकाशे वस्तुतोऽर्जतमानमपि नैत्यम् अपारत्वादाकाशस्य प्रतिभाति तथा गर्तगते आकाशोऽपि तलस्पर्शाहित्यहेतुको नैत्यविभ्रमः । तलस्पर्शं तु गर्तस्य घटावच्छिन्न आकाश इव न तद्रूपेऽप्याकाशे नैत्यं प्रतिभायात् । इति । सिद्धार्थं चेति । आकाश एवेति शेषः । अत्रापि 'गर्तोपरितनस्याकाशस्य तदीर्घत्वारोपादिति भावः ।' इति नागेशोक्तिर्मदुष्प्रवचारायाज्ञानमूलिकैव । उपरितने प्रसिद्धे महाकाशे नीलत्वं दीर्घत्वञ्च प्रसिद्धमिति तद्द्वयं कलिन्दस्पर्शतारब्धप्रयागावधिकखातगतजलरूपे विषयेऽपि वर्तमानं साधारणधर्मात्मकतया निमित्तीभवत् आकाशरूपद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा जनयति । ननु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वं शब्दसमवायिकारणत्वं वेति नैयायिकाः, तथा च नाकाशत्वमाकाशात्मकमिति कुतोऽत्र द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षात्मम् इति चेन्न, नैयायिकमतस्य विचारासहत्वात्, तथाहि—यदि शब्दाश्रयत्वादिकमाकाशत्वं स्यात् तर्हि शब्दाश्रयत्वादि-रुपायस्मरणदशायामेवाकाशपदादानाशबोधो भवेत्, न चैवं दृश्यते, दृश्यते तु तात्स्थार्य-स्मरणाभावदशायामपि आकाशपदादाकाशबोधो भवतीति स्वरूपात्मकमेवाकाशत्वम्, अतो द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षात्व सुस्थम् इति । अन्यत् पदकृत्यप्रसङ्ग एव स्फुटीकृतम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कलिन्द—' इस पद्य में 'नीलेपन' और 'लम्बेपन' को निमित्त बनाकर यमुना से आकाश के अभेद की उपप्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि जैसे यह प्रसिद्ध महाकाश नीला और लम्बा है वैसे यमुना (खाते का जलभाग) भी नीली और लम्बी है, अतः 'नीलत्व' तथा 'दीर्घत्व' इन दो साधारणधर्मों के कारण, कवि, यमुनारूप विषय में आकाशरूप विषयी की, अभेदसम्बन्ध से सम्भावना करता है । आकाश एक है, अतः आकाशत्व आकाशरूप ही पदार्थ है, जातिरूप नहीं, कारण, अनेक में रहनेवाला धर्म ही जातिरूप हो सकता है, एक में रहनेवाला नहीं । फलतः आकाशस्वरूप आकाशत्व द्रव्यरूप होता है, अतः इस पद्य में 'द्रव्योत्प्रेक्षा' हुई । आप कहेंगे—नैयायिक लोग आकाशत्व को 'शब्दाश्रयत्व' अथवा 'शब्दसमवायिकारणत्व'रूप मानते हैं, ऐसी स्थिति में आकाशत्व आकाशस्वरूप हुआ

नहीं, फिर कैसे यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा मानी जा सकती है ? तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि नैयायिकों की उक्त मान्यता अनुभव विरुद्ध है। कारण, यदि आकाशव शब्दाश्रयत्व आदिरूप होता तो 'शब्द का आश्रय है आकाश' इस अर्थ के स्मरण होने पर ही आकाश पद से अर्थबोध होता, पर ऐसा होता नहीं-होता तो यह है कि जो लोग 'शब्द का आश्रय आकाश है' ऐसा नहीं भी जानते रहते हैं उन्हें भी आकाश पद से आकाश का बोध होता है, अतः आकाशव आकाशरूप ही है, और कुछ नहीं, फलतः यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा सर्वथा उचित है। आकाश में 'नीलेपन'रूप निमित्तभूत धर्म को सिद्ध करने के लिये इस पद्य का तीसरा चरण ('नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित' यह विशेषण) रचा गया है। तात्पर्य यह कि-जैसे यह महाकाश इसलिये नीला प्रतीत होता है कि उसका कहीं आर पार नहीं है-निरवधि है-सर्वथा शून्य है-ऊपर कहीं कोई आवरण नहीं है, उसी तरह इस लम्बी खाई के अन्दर का आकाश भी निरवधि है-सर्वथा शून्य है, क्योंकि खाई की तलहटी टूट चुकी है, अतः इस आकाश में भी 'नीलेपन' की प्रतीति होती है। यहाँ नागेश अपनी टीका में लिखते हैं कि-'तलस्पर्शे सति प्रतिबिम्बासम्भवः-अर्थात् अतलस्पर्शो न होने पर ऊपर के आकाश की तद्वत् नीलत्व की परछाई नहीं हो सकती।' पर मेरे विचार से यह विवरण सङ्गत नहीं है। कारण, प्रतिबिम्ब का यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता। प्रायः नागेशमहोदय यहाँ खाई में प्रतिबिम्बित उपरितन महाकाश की सम्भावना जल में समझते हैं। पर वस्तुतः बात यह है नहीं, अपितु यह है कि-यदि कलिन्द पर्वत से प्रयाग पर्यन्त एक अतलस्पर्शिणी खाई खोद दी जाय और उसमें जल नहीं हो, तब उस खाई के अन्दर का आकाश लम्बा और नीचे की ओर निरवधि होने के कारण ऊपर के महाकाश के समान ही नीला दीख पड़ेगा, वस, उसी स्थिति की सम्भावना यहाँ नीले जल में की गई है। और इस पद्य के पूर्वार्ध की रचना आकाश में 'लम्बेपन'रूप निमित्तभूत धर्म की सिद्धि के लिये की गई है-अर्थात् इतनी लम्बी खाई का गोदना वर्णित हुआ है, क्योंकि खन्दक के अनुसार ही उसके अन्दर का आकाश होता है। यहाँ भी नागेशजी ने 'गतोपरितनाकाशस्य तदीर्घत्वारोपात्' लिखकर उसी प्रतिबिम्बवाली भूल को दुहराया है।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

जात्यादीनामभावोत्प्रेक्षा यथा—

जातेर्गुणस्य च शोऽभाव (अत्यन्ताभावो ध्वंसो वा) तस्याभेदेन सम्भावना यथेति भावः ।

जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'बाहुजानां समस्तानामभाव इव मूर्तिमान् ।

जयत्यतिबलो लोके जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥'

समस्तानां सर्वेषाम्, बाहुजानां क्षत्रियाणाम्, मूर्तिमान् सविप्रह, अभावः अत्यन्ताभावः, इव, प्रतापवान् पराक्रमविरोपविशिष्ट, अतिबल परमबलशाली, जामदग्न्यः परशुरामः, लोके, जयति सर्वोत्कृष्टेण वर्तत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बाहुजानाम् इत्यादि। समस्त क्षत्रियों का, मानो मूर्तिमान् अभाव हो ऐसे परमप्रतापशाली अत्यधिक बलवाले परशुराम, सत्तार में, सर्वोत्कृष्ट हैं।

उपपादयति—

अत्र जात्यवच्छिन्नाभावो विरोधित्वनिमित्तेन तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते ।

जातीति । जातिः क्षत्रियत्वम्, तदक्षच्छिन्नानाम् अभाव इत्यर्थः । ममप्रक्षत्रियाभाव इति यावत् । विरोधिवेति । ज्ञानवच्छिन्नत्वादि । जामदग्न्य' क्षत्रियत्वजातिमता विरोधी । ततश्च विरोधित्वनिमित्तेन जामदग्न्ये द्रव्ये क्षत्रियत्वजातेरभावस्तादात्म्येन सम्भाव्यत इति जात्यभावधर्ममुपेक्षा सेयमिति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'वाहुजानाम्—' इस पद्य में क्षत्रियत्व जाति से अवच्छिन्न के अभाव (अस्त्यभाव) की, क्षत्रियत्व जाति के विरोधी होने को निमित्त मानकर, उपेक्षा की जाती है ।

पाठभेदेन भेदान्तरतामापादिते प्रकृतपथे विशेषमुपपादयति—

विनाश इवेत्युक्ती तु ध्वंसः । 'समस्तलोकदुःखानाम्' इति प्रथमचरणे कृते गुणभावः ।

यदि प्रकृतपथप्रकारभावपदस्थाने 'विनाश'-पदं स्थापयित्वा पद्यं रचितमभिव्यक्तदा क्षत्रियत्वज्ञानवच्छिन्नत्वरोधप्रैक्षा समपत्स्यत् । यदि तु समप्रथमचरणस्थाने 'समस्त-लोकदुःखानाम्' इत्यपठित्यत्, तदा गुणभावोपेक्षाऽभिव्यक्त, दुःखानां गुणत्वादिति भावः ।

यदि इसी पद्य में 'अभाव इव' के स्थान पर 'विनाश इव' पाठ मान लिया जाय तब यही पद्य 'ध्वंसभाव' की उपेक्षा का उदाहरण हो जायगा । और यदि इसी पद्य का प्रथम चरण 'समस्तलोकदुःखानाम्—सब लोगों के दुःख के' इस प्रकार बना दिया जाय तो यही पद्य गुणभाव की उपेक्षा का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'दुःख' गुण है ।

क्रिनाभावोपेक्षोदाहरणमाह—

'घोरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथा यत्रे ।

जगदखिलमपि ययालीनिलोचनवर्गसर्गमिव ॥'

शोः आशरा', अञ्जनकालीभिः कज्जलवच्छ्यामाभिः, जलदालीभिः मेषपङ्क्तिभिः, तथा तेन प्रकारेण, वत्रे श्याच्छादिता, यथा, अखिलम् सकलम्, अपि, जगत् संसार', निर्बेचना-नेत्ररन्त्या, ये जना, तथा, वर्ग' समूह', तस्य, सर्गः सृष्टिः, इव, आसीत् 'अभूदित्यर्थः' ।

क्रिया के अभाव की उपेक्षा का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—घोरित्वादि । आकाश, काजल-सी काली मेष-पङ्क्तियों से ऐसे घिर गया, मानो सारा ससार नेत्रहीन जनों की सृष्टि हो गया । तात्पर्य यह कि घन घटा के कारण सब लोग भूचे हो गए, कोई किसी को दिखाई नहीं पड़ता था ।

उपपादयति—

अत्रापि चाक्षुषज्ञानशून्यत्वेन निमित्तेन पार्यन्तिकः क्रियाभावो धर्मः ।

निमित्तेनेति । अनुपात्तेनेति भावः । पार्यन्तिक इति । अत्र नागेश' 'यद्यपि सर्गमिति नृपुंसकोक्त्या तन्कि जगदन्तरमिवैतज्जगदिति पूर्वं बोध, तथापि तादृशजगदन्तराप्रसिद्धया अभावोपेक्षावाधापत्त्या चात्रैव धर्मिणि जयति लोचनवर्गस्य सर्गो दानं संसर्गः प्रसरणं वा यत्र दर्शने तदभावो निरा बोध्यते इति दर्शनक्रियाभावरूपो धर्मः वद्रेच्यते पश्चादित्यर्थः । तदाह क्रियाभावो धर्म इति ।' इति ।

उपपादन क्रिया जाता है—'घोः—' इस पद्य में 'नेत्रहीनक ज्ञान से सर्वधारित होने' को निमित्त मानकर, अन्ततोगया क्रिया (दर्शन) के अभावरूप धर्म की उपेक्षा की जा रही है । अभिप्राय यह है कि—'निलोचनवर्गसर्गमिव' का बोध पहले यद्यपि यह होता है कि—लोचनवर्ग का सर्ग (सृष्टि) निमित्त (दूर) हो गया है तितसे ऐसे जगत् के समान (अखिल

जगत्), पर वस्तुतः ऐसा जगत् कहीं प्रसिद्ध नहीं है जिसमें आँरों की सृष्टि सर्वथा हो ही नहीं, अतः अन्त में उक्त समस्त षट् का अर्थ 'लोचनदर्श का सर्ग समग्र (सत्त्व)' है जिसमें ऐसी जो दर्शनक्रिया षट् निर्गत (दूर) हो गई है जिससे ऐसा सात भाग इस तरह से करना पड़ता है, अतएव अन्त में जगत् रूप धर्म में दर्शनक्रियाऽभाव रूप धर्म की उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

अमाचोत्प्रेक्षोदाहरणदानप्रसङ्गमुपसंहरन्वाह—

एवं द्रव्याभाचोत्प्रेक्षाऽपि स्वयमूह्या ।

एवं पूर्वोक्तरीत्यैव । उह्या तर्कणीया ।

इसी तरह द्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा का भी ऊह स्वयं कर लेना चाहिये।

विरोधमाह—

मालारूपाऽप्येषा सम्भवति ।

एषा स्वरूपोत्प्रेक्षा ।

यह स्वरूपोत्प्रेक्षा मालारूप भी हो सकती है।

उदाहर्तुमाह—

यथा—

जैत्रे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव

द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितयपुर्मनोभूरिव ।

भराकृतिरिवान्धुयिर्गुरिव क्षमामामतो

मुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः ॥'

'द्विनेत्र' नेत्रद्वयसहित न तु सहस्रनेत्र, वासव इन्द्र, इव, करयुगः द्विहस्त द्विकिरणो वा, न तु सहस्ररश्मि- (करयुगपदे करयुगम् अस्यस्येत्यर्श आद्यच्, करयोर्युग अस्थेति व्यधिकरणकहुनीहिवां), विवस्वार सूर्य, इव, द्वितीय अक्षर, 'चन्द्रमा', इव, श्रितयपुः धृतशरीर, मनोभू काम, इव, भराकृति मनुष्याकार, 'अन्धुधि समुद्र', इव, क्षमा भुवम्, आगत अवतीर्ण, गुरु बृहस्पति, इव, निखिलै सर्वै, भूसुरै ब्राह्मणै, मुत' अभिमन्दिता, कोऽपि अनिर्वचनीय भूमीपति राजा, जयति सर्वोत्कृष्टेण वर्तते इत्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—द्विनेत्र इत्यादि । मानो दो नयन वाला इन्द्र हो, मानो दो कर (हाथ अथवा किरण) वाला सूर्य हो, मानो दूसरा चन्द्रमा हो मानो देहधारी कामदेव हो, मानो मनुष्य के समान आकारवाला समुद्र हो और मानो पृथिवी पर अवतीर्ण बृहस्पति हो ऐसा, सकल ब्राह्मणों से अभिमन्दिता कोई-अनिर्वचनीय राजा सर्वोत्कृष्ट है ।

राज्ञसमाधानपुरस्सरमुपपादयति—

अत्र राजगतानां द्विनेत्रत्वादीनां वासवादिवादात्त्वविरोधिनां विरोधनिवर्तनाय विपर्ययु वासवादिष्वारोपेण साधारणीकरणम् । न चात्रोपमा शक्यनिरूपणा, द्विनेत्रत्वादीनामुत्प्रेक्षेनिष्प्रयोजनकत्वापत्तेः । न चोपमाया निष्पादकं तेषां साधारण्यम्, तद्भावेऽपि परमैश्वर्यादिभिः प्रतीयमानैस्तस्या निष्पत्तेः । अमुन्दरत्वादुपमानिष्पादकत्वेन कषेरनभिप्रेतत्वाच्च । नहाद्य द्विनेत्रत्वादिभिर्धर्मैर्वासवादिसादृश्यं राज्ञः कषेरभिप्रायविषयः । एव द्वितीयत्वादीनां चन्द्रादिष्व

रोपोऽप्युपमायां सत्यान्नर्थक एव स्यात् । अभेदप्रतिपत्तौ तु सहस्रनेत्रेण सहस्रकरेण विधिसृष्टायेकेन वपुर्विहीनेन जलाकारेण स्वर्गगतेन च तेन तेन कथमस्याभेदः स्यादिति प्रतिबुद्धधियमपसारयतां विषयिगतानां द्विनेत्रत्याचारोपगणानस्त्येवोपयोगः । अत्रैवैवशब्दस्याभावे दृढारोपं रूपकम् । विषयिगतविशेषणानामभावे उपमा । उभयेपामेकतरस्याप्यभावे शुद्धरूपकमिति विवेकः ।

ननुपमैवात्रास्तु इत्याशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—द्विनेत्रत्वादीनामिति । पुनः शङ्कापक्षसमर्पणापोफमुत्तरमाक्षिपन्नाशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—तदभावेऽपीति । तस्या उपमायाः । तनुपात्तधर्माभाव एव प्रतीयमानधर्मादरोऽत आह—अनुन्दरोति । विच्छित्तिविशेषाजनरुत्वादित्यर्थः । ननुत्प्रेक्षापक्षेऽपि तदुक्तिवैयर्थ्यमत आह—अभेदेति । करेण किरणेन । येन तेनेति । वासवादिनेत्यर्थः । अस्य वर्णनीयस्य राज्ञः । उभयाभावस्यैकदिग्गतिं सत्त्वादाह—एकतरस्येति । प्रत्येकस्येति भावः । 'द्विनेत्र—' इति पद्ये एकत्र राजरूपे विषये वासवादीना बहूना विषयिणा तादात्म्यस्य सम्भावनामालाक्ष्या द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा । तत्र द्विनेत्रत्वादिविशिष्टे विषये सहस्रनेत्रत्वादिविशिष्टानां विषयिणा कथं तादात्म्यम्, द्विनेत्रत्वादिसहस्रनेत्रत्वाद्योर्विरोधित्वादित्याशङ्कापनौदनाय विषयिषु द्विनेत्रत्वादिकमारोप्यते, येन विषयविषयिणो साम्यं सह्यते । उपमाऽत्र नाङ्गीकर्तुं शक्या, विषयिषु द्विनेत्रत्वाचारोपस्य निरर्थकत्वात् । उपमासम्पादकसाधारण्यसम्पादनाय तदावश्यकत्वमपि न वक्तुं योग्यम्, प्रतीयमानपरमेश्वर्यादिकसाधारण्यमादावापि उपमायाः सिद्धे सम्भवात् । किञ्च द्विनेत्रत्वादधर्ममूलकं राशिं वासवादिसादृश्यं कविविद्वशाविषयीभूतमपि नास्ति, तादृशासादृश्यस्य प्राणिमात्रप्रतियोगिकत्वेनाचमत्कारित्वात् । एवमत्रोपमास्वीकारे चन्द्रमसि द्वितीयत्वारोपोऽपि व्यर्थ एव भवेत्, सदृशस्य द्वितीयत्वप्रौढ्यात् । उल्लेखास्वीकारे तु द्विनेत्रत्वाचारोपं सार्थकं, यत् उत्प्रेक्षायामभेदप्रतिपत्तिर्भवति, द्विनेत्रत्वादिविशिष्टे राशिं वासवादेरभेदस्य प्रतिपत्तौ च वासवादेः सहस्रनेत्रत्वादिकानि बाधकानि भवन्ति, अतः वासवादी द्विनेत्रत्वाचारोपो बाधकसहस्रनेत्रत्वादियुद्धिनिरासक इति भावः । अस्मिन्नेव पद्ये यदि इवशब्दा न स्युस्तर्हि दृढारोपो रूपमालङ्कारः स्यात्, यदि च इवशब्दा यथावत् भवेयुः विषयविशेषणानि द्विनेत्रत्वादिकानि न भवेयुस्तदोपमालङ्कारो भवेत्, यदि इवशब्दा विषयविशेषणानि च न स्युस्तदा शुद्धरूपकालङ्कारो भवेदिति शिष्यतुद्धिवैश्याय विवेकं कृत इति बोध्यम् ।

राज्ञा समाधानसहित उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'द्विनेत्र—' इस पद्य में इन्द्र आदि का तादात्म्य राजा में कहना अभीष्ट है, पर यह तादात्म्य स्वभावतः घन नहीं सकता, क्योंकि राजा दो आँखोंवाला, दो करोंवाला, एक चन्द्र से भिन्न, शरीरधारी, मनुष्याकार और पृथ्वीगत है और इन्द्र है सहस्राक्ष, सूर्य है सहस्ररश्मि, चन्द्र है एक, कामदेव है अशरीरी, समुद्र है जलाकार एवं बृहस्पति हैं स्वर्गवासी, अतः इस विरोध को हटाने के लिये राजारूप विषय में रहनेवाले द्विनेत्रत्व आदि का आरोप इन्द्र आदि में यथापथ कर दिया गया है जिससे वे धर्म साधारण होकर विषयविषयी की समता को सिद्ध करते हैं । आप कहेंगे—यहाँ उपमा ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहेंगे—यहाँ उपमा का निरूपण नहीं हो सकता । कारण, उपमा मानने पर इन्द्र आदि में द्विनेत्रत्व आदि का आरोप करना व्यर्थ हो जायगा । आप कहेंगे—यह व्यर्थ क्यों होगा ? यह तो उपमा का साधक साधारणधर्मरूप ही है । तो यह ठीक नहीं । कारण, इन आरोपित धर्मों के बिना भी अनुक्त, पर प्रतीयमान परम पेश्वर्य आदि साधारणधर्म को लेकर उपमा सिद्ध हो सकती है । दूसरे, ये धर्म सुन्दर (चमत्कार-

(विशेषजनक) भी नहीं और कवि इन्हें उपमा के साधक मानता भी नहीं—अर्थात् यहाँ द्विनेत्रत्व आदि धर्म के कारण राजा में इन्द्र आदि की तुलना करना कवि को अभिप्रेत नहीं। ऐसा अभिप्राय कवि का हो भी कैसे सकता है? कारण, द्विनेत्रत्व के कारण यदि इन्द्र से तुलना की जाय तब तो सबों की तुलना इन्द्र से हो जाय, क्योंकि सभी द्विनेत्र हैं। इसी तरह 'द्वितीयत्व' का चन्द्र में आरोप भी उपमा मानने पर व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि 'चन्द्र जैसा' इतना कहने पर भी उपमा बन सकती है, उसके लिये 'दूसरे चन्द्र जैसा' यह कहना आवश्यक नहीं है। हाँ, अभेद-ज्ञान में इन आरोपित विशेषणों का उपयोग सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अभेद-ज्ञान में हमें ये ज्ञान प्रतिबन्धक होते हैं कि-इन्द्र हजार भौलों वाला है, सूर्य सहस्रकर (हजार किरणवाला) है, चन्द्रमा विधाता की सृष्टि में एक है, कामदेव शरीररहित है, समुद्र जलरूप है एवं बृहस्पति स्वर्ग में रहता है, और राजा में ये बातें हैं नहीं, फिर उनके साथ इसका (राजा का) अभेद कैसे हो सकता है? इस प्रतिबन्ध को दूर करने में इन विशेषणों का उपयोग है। अतः यहाँ अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा ही है और वह भी मालारूप, क्योंकि एक विषय (राजा) में अनेक विषयी (इन्द्र आदि) के तादात्म्य की सम्भावना की गई है। इसी पद्य में यदि 'इव' पद हटा दिया जाय तो यही पद्य हृदारोपरूपक का, यदि इव शब्द रहे और विषयी (इन्द्रादिक) के विशेषण (द्विनेत्र आदि) हटा दिए जायँ, तो उपमा का और यदि 'इव' पद पूर्वोक्त विषय-विशेषण दोनों हटा दिए जायँ, तो शुद्धरूपक का उदाहरण हो सकता है। यह विभाग शिष्य बुद्धि वैशेषार्थ दिखला दिया गया है।

उपसंहरति—

एय स्वरूपोत्प्रेक्षादिगुपदर्शिता ।

पूर्वोक्ता स्वरूपोत्प्रेक्षाया विधिभेदाया रीति प्रकाशिता, अगवा रीत्या स्वरूपोत्प्रेक्षाया अनुक्ता अपि ते ते विशेषा स्वयमूहनीया इति भावः ।

उपसंहार किया जाता है—एवं इत्यादि। इस तरह स्वरूपोत्प्रेक्षा का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध की अन्य बातें स्वयं समझ लीजिए।

अथान्तरभिन्नप्रकरणारम्भं सूचयति—

अथ हेतुत्प्रेक्षा ।

जात्यादीनां पदार्थानां हेतुरनेनोत्प्रेक्षाया निरूपणमारभ्यत इति भावः ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा-निरूपण के बाद अब जाति आदि पदार्थों की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का निरूपण किया जाता है।

उदाहर्तुमाह—

यथा—

जातिहेतुत्प्रेक्षा यथेति भावः ।

जातिहेतुत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘त्वत्प्रतापमहादीपशिखाचिपुलकञ्जलैः ।

नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते ॥’

राजानं प्रति कवेरुक्ति—हे राजन् ! त्वत्प्रताप एव महादीपस्तस्य शिखाया, विपुलैः प्रभूतै, कञ्जलै, नभस्तले आकाशे, नीलिमा नीलिमा, नूनं मिथिलम्, नित्यं प्रतिदिनम्, नूतनायते नूतन इव भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्वप्नताप इत्यादि। कवि राजा से कहता है—
हे राजन् ! मानो, भाषके प्रतापरूप महादीपक की निगा (लौ) के विपुल काजलों से
आकाश में 'नीलत्व' (कालापन) मित्य मया-सा होता रहता है।

उपपादयति—

अत्र नीलिमसामानाधिकरण्येनोत्प्रेक्षितस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम् ।

अत्रेति । 'स्वप्नताप' इत्यत्रेत्यर्थः । नीलिमसामानाधिकरण्येनेति । नैत्याधिकरणोभूता-
कारणतत्वेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्षितस्येति । कज्जलस्येति भावः । हेतुत्वेनेति । नूतनीभवन इति
भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'स्वप्नताप—' इस पद्य में 'नीलता' की
उत्प्रेक्षा जिस अधिकरण (आकाश) में की गई है उसी अधिकरण—अर्थात् आकाश—में
ही उत्प्रेक्षित 'काजलों' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। तात्पर्य यह कि इस पद्य में
दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'नीलता' की, दूसरी 'काजलों' की। ये दोनों ही उत्प्रेक्षाएँ आकाश-
रूप आधार में हुई हैं। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में 'नीलता' की उत्प्रेक्षा प्रधान है और
'काजलों' की उत्प्रेक्षा उसके हेतुरूप में की गई है। इसी अप्रधान उत्प्रेक्षा को लेकर यहाँ
यह पद्य उदाहरण होता है। यह उदाहरण जाति-हेतुत्प्रेक्षा का है, क्योंकि 'कज्जल'
जातिवाचक शब्द है।

पाठान्तरेऽस्यैव पद्यस्य हेतुत्प्रेक्षाप्रभेदान्तरोदाहरणता संभवतीत्याह—

'कज्जल-लेपनैः' इति कृते इयमेव क्रियाहेतुत्प्रेक्षा ।

'विपुल कज्जलै' इत्यस्य स्थाने 'कज्जल-लेपनै' इति पाठे विहिते लेपनस्य क्रियारूप-
तया क्रियाहेतुत्प्रेक्षोदाहरणता प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः ।

इसी पद्य में यदि 'विपुल-कज्जलै' के स्थान में 'कज्जल-लेपनै' पाठ कर दिया जाय
तब यही पद्य क्रिया-हेतुत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'लेपन' एक क्रिया है।

हेतुत्प्रेक्षाप्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

गुणहेतुत्प्रेक्षा यथा—

गुणहेतुत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'परस्परसङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः ।

तयोरमृष्यत्रयमुन्नति परामवैमि मध्यस्तनिमानमन्नति ॥'

नतभ्रुवः नम्रीभूतभ्रूलतिकाया नायिकाया, पयोधरौ स्तनी, परस्परसङ्गसुखान् मिथो-
मिलनानन्दात् हेतौ, पीनतरौ अतिस्थूलौ, बभूवतु संजातौ, तथा, तयो स्तनयो, पराम्
उत्कृष्टाम्, उन्नतिम् उत्कर्षम्, अमृष्यन् असहमान, अयं मध्य नायिकाकटिप्रदेश,
तनिमानम् कृशताम्, अन्नति प्राप्नोति, इति, अत्रैमि जानामीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—परस्पर इत्यादि। नतभ्रु नायिका के दोनों
स्तन, परस्पर आसक्त होने (बड़-बड़ कर मिल जाने) के सुख से अत्यन्त पीन (पुष्ट)
हो गए हैं और उन दोनों की इस परम उन्नति को न सहता हुआ मध्यभाग (कटि-
प्रदेश) कृशता को प्राप्त कर रहा है ऐसा मैं जानता हूँ, मानता हूँ ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वोर्वे सुखस्य गुणस्य हेतुत्वं तावत् पञ्चम्यैव निर्दिष्टम् । अपराधे
धर्मिविशेषणतया अनूद्यमानस्य गुणाभावस्य त्वार्थम् । यथा 'भोक्ता भुञ्जानो
वा कृष्यति' इत्यादी भोजनादेः ।

अपरार्थ इति । उत्तरार्थ इत्यर्थः । आर्थत्वे हेतुगर्भं विशेषणमाह—धर्माति । मध्य-
त्यर्थः । गुणाभावस्येति । मर्पणाभावस्येत्यर्थः । आर्थमिति । हेतुत्वमिति पूर्वोक्तस्यानुपज्ञोऽत्र
बोध्यः । आर्थहेतुत्वप्रतीतिस्थल दृष्टान्तविषयाऽह—यथा भोक्तेति । भोक्तेत्यत्र काल-
सामान्यप्रतीतिविशेषोदाहरणमाह—भुज्जानो वेति । 'परस्पर—' इत्यत्र पयोधरगते
स्वाभाविके वय कृते वा पीनतरत्वे परस्परसङ्गसुखस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते । सुखं च गुणः,
अतो गुणहेतुत्वेऽप्युदाहरणत्वमस्य पयस्य सिद्धयति । मध्यगते वयःकृते तनुत्वे स्तन-
गतोन्नतिमर्पणाभावस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते इति गुणाभावहेतुत्वेऽप्युदाहरणत्वमपि प्रकृतपयस्य ।
ननु मर्पणाभावो नात्र पृथग्हेतुतया निर्दिष्टोऽपि तु मध्यविशेषणतयेति कथं तस्य हेतुत्वेन
प्रत्यय इति चेन्न, यथा 'भुज्जानं तृप्यति' इत्यादौ शब्दतः कर्तृविशेषणतयोरुक्तस्यापि
भोजनस्यार्थतस्तुमी हेतुत्वं प्रतीयते तथैव प्रकृतेऽपि मर्पणाभावस्य तनुत्वे शाब्दहेतुत्वा-
प्रतीतावपि आर्थ हेतुत्वं प्रतीयत इत्याशयादिति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र पूर्वार्धं इत्यादि । 'परस्पर—' इस पद्य में अवस्था-
कृत स्तनों की पुष्टता के प्रति परस्परमिलनजन्यसुखरूप गुण की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा
की गई है । उक्त सुख का हेतु होना पञ्चमी विभक्ति (सुखात् सुख से) द्वारा स्पष्ट
कह दिया गया है । इसी धना को लेकर यहाँ यह पद्य उदाहृत हुआ है । उत्तरार्ध में
मध्य की कृशता के प्रति मर्पणाभाव (स्तन की उन्नति को न सह सकने) की हेतुरूप
से उत्प्रेक्षा हुई है । यद्यपि मर्पणाभाव यहाँ पृथक् हेतुरूप में निर्दिष्ट नहीं है, 'किन्तु
मध्यरूप धर्मा (विशेष्य) के विशेषणरूप में । ऐसी स्थिति में उसका हेतु होना
शब्दतः अवगत नहीं होता तथापि जैसे 'खानेवाला अथवा खरता हुआ मनुष्य वृत्त होता
है' इत्यादि वाक्यों में खाने आदि (जो शब्दतः मनुष्य का विशेषण है) का वृत्ति आदि
हेतु होना अर्थतः प्राप्त हो जाता है उसी तरह यहाँ भी मर्पणाभाव का कृशता
के प्रति हेतु होना भी अर्थतः सिद्ध होता है । फलतः इस अक्ष में गुणाभाव-मर्पणाभाव-
(मर्पण मन का धर्म है अतः उसको भी कतिपय दार्शनिक गुण मानते हैं)—हेतुत्वेऽहं है ।

उत्प्रेक्षाप्रकरणे नैयायिकोक्तगुणानामेव गुणपदेन ग्रहणं न, अपि तु दार्शनिकान्तर-
भिमतगुणानामपीति स्फुटयितुमुदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—

'व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीतामाकर्ण्य स्तुतिमुदयत्प्रपातिरेकात् ।

आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽरण्येऽस्मिन्नत्रनिरुहा कुटुम्बकानि ॥'

अस्मिन्, अरण्ये वने, व्यागुञ्जताम्, मधुकराणाम्, पुञ्जैः, मञ्जु मधुरं यथा स्यात्तथा,
गीताम्, स्तुतिं स्वप्रशंसाम्, आकर्ण्य श्रुत्वा, उदयन्त्या आविर्भवन्त्या, त्रपाया
लज्जाया, अतिरेकात् आधिक्यात्, अवनिरुहा तरुणाम्, कुटुम्बकानि समूहा, आभू-
मीतलं भूमितलमभिव्याप्य, नता नद्योभूता, कन्धरा शाखा, येषाम्, तादृशानि, सम्पन्नानि
चन्तीति मन्ये इत्यर्थः । अत्रापि स्वाभाविके तरुशाखानद्योभावे लज्जागुणस्य हेतुत्वमुत्प्रे-
क्षितमिति भावः ।

उत्प्रेक्षाप्रकरण में गुणपद से नैयायिकों द्वारा परिभाषित गुण ही नहीं लिये जाते,
अपितु अन्य दार्शनिकों के अभिमत गुण भी गृहीत होते हैं इस बात को स्पष्ट करने के
लिये दूसरा उदाहरण उपस्थित किया जाता है—यथा वा इत्यादि । इस वन में, गुँजते
अमरों के झुण्डों द्वारा मधुर-मधुर गाई गई अपनी स्तुति (प्रशंसा) सुनकर, मानो
उत्पन्न हुई लज्जा की अधिकता के कारण, वृक्षसमूह अपनी गरदनें पृथिवी-तल तक
घुकाए हुए हैं । यहाँ 'लज्जा' (जो अन्य दार्शनिकों के मत से ही गुण है, नैयायिकों के
मत से नहीं) के हेतु होने की उत्प्रेक्षा है ।

हेतुप्रेक्षायाः प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाहेतुप्रेक्षा यथा—

क्रिया हेतुप्रेक्षा, जैसे—

गद्यात्मकमुदाहरणमुपन्यस्यति—

'महागुरुकलिन्दमहोदरविदारणाविर्भवन्महापातकावलिबेङ्गनादिषु श्या-
मलिता' इति ।

यमुनां वर्णयति कवि—(या यमुना) महागुरोः पितुः, कलिन्दमहोदरस्य कलिन्दा-
त्यस्य पर्वतस्य, उदरस्य मध्यभागस्येति यावत्, विदारणोत्त भेदनेन, आविर्भवतः
उत्पद्यमानस्य महापातकस्य, आवलेः पङ्के, वेङ्गनात् प्राप्ते हेतो, इव, श्यामलिता संजात-
श्यामगुणा इत्यर्थः । अत्र वेङ्गनात्मिकायाः क्रियाया हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति भावः ।

गद्यात्मक उदाहरण उपस्थित क्रिया जाता है—महागुरु इत्यादि । यमुना का वर्णन
है—(जो यमुना) महागुरु (जन्मदाता) 'कलिन्द'पर्वत का उदर विदीर्ण करने से
उत्पन्न होते हुए महापातकों की पङ्क्ति के प्राप्त हो जाने से, मानो, काळी हो गई है । यहाँ
'वेङ्गन' (प्राप्त हो जाने)-रूप क्रिया का हेतु होना उत्प्रेक्षित हुआ है ।

हेतुप्रेक्षाया एवावशिष्टं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्रव्यहेतुप्रेक्षा यथा—

द्रव्यहेतुप्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'वराका यं राकारमण इति बलान्ति सहसा

सरः स्वच्छं मन्ये मिलद्भृत्वमेनन्मखमुजाम् ।

अमुष्मिन्या कापि द्युतिरतिघना भाति सिधता-

मियं नीलच्छायादुपरि निरपायाद्गगनतः ॥'

कवि कथयति—वराका कृपणा मूका इति यावत्, सहसा हठात्, यं चन्द्रम्,
राकारमणं पूर्णिमापतिः, इति, बलान्ति कथयन्ति । अहं मिलद्भृत्वम् अमृतमयम्,
मखमुजा देवानाम्, स्वच्छम्, सरः सरोवरम्, मन्ये । अमुष्मिन् तस्मिन्, सिधतां
पश्यताम्, या कापि, अतिघना निविष्टा, द्युतिः नीलकान्ति, भाति, इयं द्युतिः, उपरि
वर्तमानात्, नीलच्छायात् नीलकान्तेः, निरपायात् अविनश्यत्, गगनतः आकाशा-
द्देतोःरित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश क्रिया जाता है—वराका इत्यादि । कवि की उक्ति है—पामर
लोग जिसको राकारमण—पूर्णिमा पति (चन्द्र) शब्द से कहते हैं, इसे, मैं, अमृतमय
देवताओं का स्वच्छ सरोवर मानता हूँ । इसके अन्दर देखनेवालों को जो अत्यन्त गहरी
अतएव काळी चमक दिखाई पड़ती है, यह चमक उसके ऊपर वाले नीलकान्तियुक्त
और प्रतिबन्धरहित आकाश के कारण है ।

उपपादयति—

अत्रामृतसरोरूपत्वेनोत्प्रेक्षिते चन्द्रमसि नीलत्वेनाध्यवसिते कलङ्के उपरि-
वर्तिनभोहेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते । एतेन द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणं नास्तीति प्राचां
प्रवादो निरस्तः ।

नीलत्वेनेति । द्युतिरित्येनेति भावः । 'वराका-' इति पदे चन्द्रोऽमृतसरोरूपत-
योत्प्रेक्ष्यते, चन्द्रे च वर्तमाने कलङ्क नीलत्वात्मकद्युतिपदाद्यर्थतयाऽध्यवस्यते, तथाऽध्य-

वधिते च तत्रोपरि वर्तमानाकाश हेतुकन्वमुत्प्रेक्ष्यत इति द्रव्यहेतुत्प्रेक्षोदाहरणत्वमस्य पदास्य सिद्धयति । एवञ्च द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा न सम्भवतीति प्राचीनालङ्कारिकाणां मतं परास्तमिति भावः ।

उपपादनं क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'वराका.—' इस पद्य में चन्द्रमा की उपप्रेक्षा अमृतसरोवर के रूप में की गई है और इस रूप में उपप्रेक्षित चन्द्र में द्युतिपद-बोध्य नीलत्वारूप से स्वीकृत 'कलङ्क' में अमृतसरोवर के ऊपरवाले आकाश के कारण होने की उपप्रेक्षा की जा रही है जो प्रकृत में उदाहरण है । इस उदाहरण से प्राचीनों का यह प्रवाद (अफवाह) कि-द्रव्य की हेतुरूप में उपप्रेक्षा नहीं होती, उद्घृष्ट जाता है ।

अभावहेतुत्प्रेक्षासुदाहर्तुमाह—

एषामेवाभावानां हेतुत्वोत्प्रेक्षा यथा—

एषाम् = आर्यादीनामेव येऽभावास्तेषां हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा यथेति भावः ।

जाति आदि के ही अभावों की हेतुरूप में उपप्रेक्षा, जैसे—

तत्र प्रथमं जात्यभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षाया उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नितान्तरमणीयानि वस्तूनि करुणोष्मिताः ।

कालः सहरते नित्यमभावादिव चक्षुषः ॥'

काल, चक्षुषो नेत्रस्य (अत्रैकवचनेन 'यद्येकमपि चक्षुरभविष्यत्तदा नैवमकरिष्यदिति' सूच्यते) अभावात्, इव, करुणोष्मिता त्यक्तकरण (आहिताग्न्यादित्वाग्निघ्नान्तस्य परनिपात), सन्, नितान्तरमणीयानि अतिसुन्दराणि, वस्तूनि, सहरते नाशयतीत्यर्थः ।

उनमें पहले जात्यभाव की हेतुरूप में उपप्रेक्षा का उदाहरण निर्दिष्ट किया जाता है—नितान्त इत्यादि । काल, अतिसुन्दर पदार्थों का, मानो नेत्र न होने के कारण, निर्दय होकर नित्य सहार करता रहता है—दो आँखों की तो बात क्या, यदि एक भी आँख काल को होती तो वह ऐसा निर्दय नहीं बन पाता और न ऐसा झूर कार्य ही उससे बन पड़ता ।

उपपादयति—

अत्र कालस्य साहजिके संहारकत्वे चक्षुरभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा ।

कालो यद्यपि स्वभावतः संहारकस्तथापि 'नितान्त—' इत्यत्र स्वभाविके तस्य संहारकत्वे नेत्राभावहेतुकन्वमुत्प्रेक्ष्यते, नेत्रत्व च जातिरिति जात्यवच्छिन्नाभावहेतुत्वोत्प्रेक्षोदाहरणत्वमस्य पदास्य सिद्धयतीति भावः ।

उपपादनं क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'काल.—' इस पद्य में काल की वस्तुतः स्वभाविक संहारकता के हेतुरूप में 'नेत्रों के अभाव' की उपप्रेक्षा की गई है, अतः यह पद्य जात्यवच्छिन्न अभाव हेतुत्प्रेक्षा का उदाहरण सपन्न होता है । सात्पर्य यह कि नेत्रत्व जाति है और यहाँ तद्विशिष्ट के अभाव की हेतुरूप में उपप्रेक्षा हुई है ।

गुणभावहेतुत्वोत्प्रेक्षोदाहरणमुपन्यस्यति—

'नि सीमशोभा सौभाग्यं नताङ्गया नयनद्वयम् ।

अन्योन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम् ॥'

नि सीमाया इत्यन्तारहितायाः शोभाया, सौभाग्यं साम्राज्यरूपम्, नताङ्गया, नयनद्वयम्, अन्योन्यस्य परस्परस्य, आलोकनेन दर्शनेन, य, आनन्द, तस्य, विरहात् अभावात्, इव, चञ्चलम्, भवतीत्यर्थः ।

अत्र गुणभाव को हेतुरूप में उपप्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—नि.सीम

इत्यादि । सीमारहित सोभा के सौभाग्यस्वरूप, नताही नायिका के दोनों नेत्र, मानो, परस्परदर्शनजन्य आनन्द के अभाव से चञ्चल हो रहे हैं ।

उपपादयति—

अत्र गुणाभावस्य ।

‘नि सीम—’ इति पद्ये आनन्दरूपगुणाभावस्य नयनचञ्चल्यहेतुत्वेनोत्प्रेक्षेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘नि.सीम—’ इस पद्य में आनन्दरूप गुण के अभाव की नेत्रगत चञ्चलता के हेतुरूप में उल्लेख की गई है ।

क्रियाभावहेतुत्वोत्प्रेक्षादाहरणमुपन्यस्यति—

‘जनमोहकरं वधालि मन्ये चिकुराकारमिदं घनान्वकारम् ।

यदनेन्दुरुचामिहाप्रचारादिव तन्वद्भि नितान्तकान्तिकान्तम् ॥’

सखी नायिकां प्रति व्रूते—हे आलि ! सखि ! जनमोहकरं दर्याक्यनमोहकम्, तव चिकुराचार केशाकृतिघरम्, इदं घनान्वकारं निविडं तमः, अहम्, मन्ये—अर्थात् केशसमूहो नायम्, किन्तु तम पुञ्जम् । हे तन्वद्भि कृशाब्धि ! इह मस्तकोपरिभागे यदनेन्दुरुचा मुखचन्द्रज्योत्स्नाम्, अप्रचारात् प्रचरणाभावात् इव, नितान्तकान्त्या अतिशयितनीलप्रमया, कान्तं रमणीयम् । इदं घनान्वकारविशेषणम् इत्यर्थः ।

अब क्रियाभाव की हेतुरूप में उपप्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—जनमोहकरम् इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! लोगों को मोहित करनेवाले तेरे केशों के आकार में, मैं, इसको गहरा अन्धकार मानती हूँ—अर्थात् यह केश नहीं किन्तु अन्धकार है । हे कृशाब्धि ! मानो, यहाँ मुखरूप चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रचार न होने के कारण यह अन्धकार अत्यधिक कान्ति (नीली प्रभा) से रमणीय हो रहा है ।

उपपादयति—

इह द्वितीयार्धे क्रियाभावस्य । प्रथमार्धे तु जात्यवच्छिन्नस्य जात्यवच्छिन्नाभावस्य वा स्वरूपोत्प्रेक्षैव ।

कियेति । प्रचारस्य क्रियात्वादिति भावः । तुरक्तवैलक्षण्ये । एतेन प्राप्तत्रिकत्वमस्य सूचितम् । अत एव ध्युक्कमेणोक्तिः । अन्धकारोऽतिरिक्तं पदार्थ इति मीमांसकमतेनाह—जात्यवच्छिन्नेति । तेजोऽभाव एव त इति नैयायिकमतेनाह—जात्यवच्छिन्नाभावेति । ‘जनमोहकरम्—’ इति श्लोके प्रचारक्रियाभावस्य नितान्तकान्तिकान्तत्वे स्वभावसिद्धे हेतुत्वेनोत्प्रेक्षेति प्रकृतोदाहरणतासिद्धिः । यद्यपि पूर्वार्धोत्प्रेक्षाऽस्ति, तथापि न सा हेतुत्प्रेक्षा, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षैव । तत्रापि मतभेदः । येऽन्धकारमतिरिक्तं पदार्थं मन्यन्ते तेषां मते चिकुरेऽन्धकारत्वजात्यवच्छिन्नस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षा । ये तु तेजोऽभावमेवान्धकारं स्वीकुर्वन्ति तेषां मते चिकुरे तेजस्त्वजात्यवच्छिन्नान्भावस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि । ‘जनमोहकरम्—’ इस पद्य के उत्तरार्ध में क्रिया के अभाव की हेतुरूप में उल्लेख की जाती है । तात्पर्य यह कि—केशाकार निविड अन्धकार यद्यपि स्वभावतः ‘नितान्तकान्तिकान्त’-मुन्दर है, तथापि यहाँ मुखरूप चन्द्र की कान्तियों के प्रचरण न होने के कारण उसको वैसा कहा गया है, अतः ‘नितान्तकान्तिकान्तत्व’ के प्रति मुखचन्द्रकान्तित्वतः प्रचरणक्रिया के अभाव की हेतुरूप में सम्भावना स्पष्ट है । यद्यपि पूर्वार्ध में भी ‘केश में अन्धकार की सम्भावना’रूपा एक उल्लेख है, पर वह हेतुत्प्रेक्षा नहीं, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षा है और स्वरूपोत्प्रेक्षा नी यहाँ मतभेद से भिन्न भिन्न रूप की है—अर्थात् जो लोग (मीमांसक) अन्धकार को एक भावपदार्थ मानते हैं उनके मत से यहाँ जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा होती है । पर जो लोग

(नैयायिक) अग्नकार को तेज का अभावमात्र मानते हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, उनके मत से यहाँ जायमावस्वरूपोद्येश होती है ।

द्रव्याभावहेतुत्वोद्येशोदाहरणमुपन्यस्यति—

‘न नगा, काननगा यद्दुदतीषु त्वदरिभूपसुदतीषु ।

शकलीभवन्ति शतघा शङ्के श्रवणेन्द्रियाभावान् ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—(हे राजन् !) तव, अरिभूतानाम्, भूपानाम्, सुदतीषु सुन्दरदन्तयुक्ताषु कामिनीषु, रुदतीषु रोदनं कुर्वतीषु सतीषु, काननगाः वनस्थिताः, नगाः वृक्षाः पर्यंता वा, यन्, शतघा, न, शकलीभवन्ति विदीर्यन्ते, तन्, श्रवणेन्द्रियस्य श्रोत्रदुहरस्य, अभावादेतोरिति, शङ्के मन्ये इत्यर्थः ।

द्रव्याभाव की हेतुरूप में उद्येश का उदाहरण दिखलाया जाता है—न नगा इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—(हे राजन् !) आपके शत्रुमूल राजाओं की सुन्दर दन्तावलीवाली कामिनियों के रोते रहने पर वन के वृक्षों अथवा पर्वतों के जो सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते, मानो, इसका कारण कर्णेन्द्रिय का अभाव है ।

उपपादयति—

इह श्रोत्रत्वस्य जातिगुणक्रियाभ्योऽतिरिक्तस्य विवेके क्रियमाणे आकाशस्वरूपतया तदवच्छिन्नाभावस्य द्रव्याभावस्य हेतुत्वेनोद्येशः । निमित्तं क्रियाभावः ।

शङ्कुन्यवच्छिन्नमतः श्रोत्रत्वादाह—विवेक इति । भावस्यैत्यस्य व्याख्या द्रव्याभावस्येति । निमित्तमिति । तस्य तत्त्वेनोद्येशो निमित्तमिन्यर्थः । क्रियेति । शकलीभवनरूपेण्यर्थः । श्रोत्रत्वं न जातिरूपम्, न गुणरूपम्, न वा क्रियारूपम्, तेभ्यो भिन्नं चेदं विचारे क्रियमाणे आकाशरूपमेव पर्यवस्यति, आकाशाच्च द्रव्यम्, तथा च तदवच्छिन्नभावो द्रव्याभाव एव सिद्धयति, अतः ‘न नगा-’ इत्यत्र नगाशकलीभवनाभावे तस्य हेतुत्वेनोद्येश द्रव्याभावहेतुत्वोद्येशो उदाहरणतामासादयति । अस्याद्योद्येशां शकलीभवनाभावो निमित्तभूत इति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—इह इत्यादि । कर्णेन्द्रिय जाति, गुण और क्रियाओं से भिन्न वस्तु है । फलतः विवेचन करने पर वह आकाशरूप सिद्ध होती है, जो कि एक द्रव्य है । अतः आकाश का अभाव द्रव्याभाव हुआ, उस अभाव का ‘न नगा-’ इस पद्य में हेतुरूप में उद्येश की गई है । उद्येश का निमित्त है ‘टुकड़े होने’ रूप क्रिया का अभाव । सारांश, यह कि इस तरह यह पद्य द्रव्याभावेनोद्येश का उदाहरण ठीक है ।

उपसंहारि—

एवं हेतुत्वोद्येशि ।

एवम् उक्तप्रकारेण, हेतुव्येशया, टिक्, उपदर्शिता इति शेषः । अथवा एवम् = एव-मूला, हेतुव्येशया, टिक् रीतिः, बोध्येति शेषः ।

उपसंहार क्रिया जाता है—एवम् इत्यादि । इस तरह हेतुव्येश की दिशा (रीति) दिखला दी गई ।

अवान्तरमन्यन् प्रकरणमारमते—

अथ फलोद्येशः—

फलोद्येशविचारः प्रकान्तो वेदितव्य इति भावः ।

अथ फलोद्येश के सबन्ध में विचार क्रिया जाता है ।

तत्र प्रथमं जातिफलोत्प्रेक्षादाहरणमुपन्यस्यति—

‘दिवानिशं वारिणि कण्ठदध्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती ।

वक्षोजतायै किमु पद्मलाद्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेवा ॥’

दिवानिशम् अहोरात्रम्, कण्ठदध्ने कण्ठप्रमाणे, वारिणि जले, दिवाकरस्य सूर्यस्य आराधनम् उपासनम्, आचरन्ती कुर्वती, एषा, अम्बुजपङ्क्तिः कमलमाला, पद्मलाद्याः सधनपद्मयुक्तनेत्राया नायिकया, वक्षोजतायै स्तनतायै स्तनत्वप्राप्तय इति यावत्, तपः, चरति, किमु इत्यर्थः ।

जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—दिवानिशम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—दिन रात गले भर पानी में सूर्य की आराधना करती हुई वह कमलों की पङ्क्ति, क्या सधनपद्मयुक्त भर्खीवाली नायिका का स्तनत्व पाने के लिये तप कर रही है ।

उपपादयति—

अत्र वक्षोजत्वमवयववृत्त । जातिस्तत्प्रत्ययार्थः । त्वतलोः प्रवृत्तिप्रवृत्ति-निमित्ते भावे विधानात् । स एव चात्र तपश्चरणक्रियायाः साहजिकजलावस्थानभिन्नतयाऽध्यवसितायाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते ।

अवयवेति स्तनेत्यर्थः । स एवेति । जातिरूपतत्प्रत्ययार्थ एवेत्यर्थः । वक्षोजत्वं स्तन-रूपनायिकाद्रवृत्तिपदार्थः, स च जातिरूपः, जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपेषु प्रवृत्तिनिमित्तेषु अन्येषां बाधितत्वेन जातिरूप एव वक्षोजपदप्रवृत्तिनिमित्तात्मके भावे वक्षोजपदात्तत्प्रत्ययश्चात्र विधानात् । सा जातिरेव चात्र तस्याः तपश्चरणक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते या तपश्चरणक्रियाऽत्र स्वाभाविकजलावस्थानेऽध्यारोप्य वर्णिता । एषश्च जातिफलोत्प्रेक्षादाहरणता प्रकृतपद्यस्य समुचितैवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘दिवानिशम्—’ इस पद्य में वर्णित ‘वक्षोजता’ (स्तनत्व) एक अङ्ग (स्तन) में रहनेवाला पदार्थ है । और वह जातिरूप ही हो सकता है, क्योंकि ‘तल’ प्रत्यय का अर्थ यहाँ जाति ही है । कारण, ‘त्व’ और ‘ता’ प्रत्यय जिस शब्द से विहित होते हैं, उनका उस शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तरूप भाव में विधान होता है । तात्पर्य यह कि—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इस तरह कुछ चार प्रकार के प्रवृत्ति निमित्त होते हैं, उनमें से ‘स्तन’ का प्रवृत्तिनिमित्त जातिरूप ही है, अतः यहाँ ‘ता’ प्रत्यय का अर्थ जाति हुआ । उसी जातिरूप अर्थ की यहाँ कमलों के स्वाभाविक धर्म—जल में रहने—से अभिन्नरूप मानी हुई ‘तपश्चरण’-क्रिया के फलरूप में उपप्रेक्षा की जा रही है । अतः यह पद्य जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है ।

आशक्य समाधत्ते—

न चात्र प्राप्तिक्रियामन्तरेण जातेः शुद्धाया अफलत्वात् क्रियाया एव फलत्वमिति वाच्यम् । प्राप्तेः संसर्गतया तद्द्वारैव जात्यादेः फलत्वोपपत्तेः । अन्यथा फलत्वबोधकचतुर्थ्या अनुपपत्तेः । अत एव—‘ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्’ इत्यादयः प्रयोगाः ।

अफलत्वादिति । क्रियाया जातेरुत्पत्तिपरिदं फलत्वं न संभवतीति भावः । क्रियाया इति । प्राप्तिरूपाया इत्यर्थः । संसर्गतयेति । तथा च लक्षणा नेति भावः । अन्यथेति । यथाकथञ्चिदफलत्वानङ्गीकारे इत्यर्थः । उक्तार्थं द्रष्टव्यं—अत एवेति । क्रियाद्वारकफलत्वस्य जातेरपि संभवादेवेत्यर्थः । ब्राह्मण्यायेति । बालरामायणगतं पदाद्यमेतत् । विश्वामित्रः जन्मना क्षत्रियो राजा, ब्राह्मण्याय ब्राह्मणत्वलाभाय, सुदारुणं, तपः, तेपे इत्यर्थः । केवल्य

वशोजन्वजाति तपश्चरणक्रियाया फल न भवितुमर्हति, अपि तु वशोजत्वप्राप्तिरिति मूले 'वशोजतायै' इत्यत्र वशोजतापदस्य स्वकर्मकप्राप्तिमित्याया लक्षणाया स्वीकर्तव्यतया क्रियाफलोत्प्रेक्षात्वमेव, न जातिफलोत्प्रेक्षात्वमिति शङ्का न कर्तव्या, अपवादार्थभूतामपि संसर्गविषया भासमाना प्राप्तिक्रिया द्वारोक्तस्य नित्याया वशोजन्वजातेरपि फलत्वं संभवतीत्याशयात्, तथा च न लक्षणाया अत्रावश्यकतेति साराशः । अत एव वशोजता-पदान् विहितान् फल-वार्थिका चतुर्थी उपपद्यते । एवंविध प्रयोग प्रागपि कृत सुधौमि-यया 'ब्राह्मण्याय—' इति । इति भावः ।

एक आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । आप कहेंगे—यहाँ 'प्राप्ति' क्रिया के बिना केवल 'स्तनत्व' जाति फल नहीं हो सकती, क्योंकि 'जाति' नित्य पदार्थ है और 'फलत्व' है उत्पत्तिघटित पदार्थ—अर्थात् जन्य वस्तु ही फलरूप हो सकती है, नित्य वस्तु नहीं, अतः तपश्चरणक्रिया का फल यहाँ 'प्राप्ति' क्रिया को मानना उचित है, न कि 'जाति' को । तो इसका समाधान यह है कि—'प्राप्ति' क्रिया यहाँ सम्यग्व्यरूप से भासित होती है, उसके द्वारा नित्य पदार्थ (जाति) भी फलरूप हो सकता है । फलतः इस पक्ष में 'वशोजता' पद की 'वशोजताप्राप्ति' से लक्षणा नहीं करनी पड़ी । पूर्वपक्ष में तो वह करनी ही पड़ती । 'वशोजता' को फल मानने पर ही 'वशोजता' पद से फलत्वावर्थक चतुर्थी विभक्ति का विधान सङ्गत होता है । अन्यथा वह असङ्गत हो जाता । इस तरह का प्रयोग कुल्लु नया नहीं है—प्राचीनों ने भी इस तरह का प्रयोग किया है । देखिए—बालरामायणकार ने लिखा है—'ब्राह्मण्याय—' अर्थात् विश्वामित्रजी ने—जो जन्मना एत्रिय थे—ब्राह्मणत्व के लिये भक्तिदारुण तप किया । यहाँ का 'ब्राह्मण्याय' प्रयोग इसी तरह का है ।

-फलोत्प्रेक्षाया प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

गुणफलोत्प्रेक्षा यथा—

गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ।

प्रियसङ्गसुखायैव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥'

हे वियोगिनि विरहिणि ! वियोगरूपस्य वहे, कुण्डे खाते, अस्मिन्, ते, हृदये, मुक्ताहारं मौक्तिक दाम, मुक्त आहारो येन स इति श्लिष्टोऽर्थ, प्रियसङ्ग एव सुखं तस्मै, इव, तपस्यति तप करोतीत्यर्थ । अत्र सुखरूपगुणस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षण स्पष्टमेव ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—वियोग इति । हे विरहिणि ! इस विरहाग्नि के कुण्डरूप तरे हृदय में मोतियों का हार (मुक्त कर दिया है आहार को जिसने ऐसा—अतः शनव्रती—उपवास करनेवाला) मानो, प्रियतमसङ्गरूप सुख के लिये तपस्या कर रहा है । यहाँ 'सुख'रूप गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है ।

फलोत्प्रेक्षाया एव प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाफलोत्प्रेक्षा यथा—

क्रिया की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'शालाहलकालानलकाफोदरसङ्गतिं करोति विधुः ।

अभ्यतितुमिव तदीयां विद्यामद्यापि हरशिरसि ॥'

विशुभन्द्र, अद्यापि, हरशिरसि महाकालमस्तके, तदीया तत्सम्बन्धिनीम्, विद्यां

मारणकलारपाम्, अभ्यसितुम्, इष, हालाहलस्य विषस्य, कालानलस्य प्रलवाग्ने, हाको-
दरस्य सर्पस्य, च, सद्गतिं संतर्गम् ; करोतोन्पर्य ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—हालाहल इत्यादि । आज दिन भी चन्द्रमा,
महादेवजी के मस्तक पर विष, प्रलयग्नि और सर्पों की सद्गति, मानो उनकी विद्या
(मार डालने की कला) का अभ्यास करने के लिये कर रहा है ।

उपपादयति—

अत्र विरहिवाक्येऽभ्यसनक्रियायास्तुमुना फलत्वं लभ्यते ।

‘हालाहल—’ इति विरहिजुक्तं वाक्यम्, तत्र ‘तुमुन्’प्रत्ययप्रकृत्यर्थभूताया ‘अभ्य-
सितुम्’ इति पदबोध्यावा अभ्यसनक्रियायाः ‘तुमुन्’प्रत्ययेन हालाहलादिसद्गतिफलत्वं
लभ्यते । तथा चाभ्यसनक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्षा सिद्धेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘हालाहल—’ इस विरही के वाक्य में
‘अभ्यास करने’रूप क्रिया का फलरूप होना ‘तुमुन्’(के लिये)प्रत्यय द्वारा प्रतीत
होता है । अतः यह पद्य क्रियाफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है ।

उपसहरानि—

एवं लक्ष्यानुसारेण यथासम्भवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

पूर्वोक्तरीतिमनुष्ठेय यथासम्भवं तादृशानि उदाहरणान्तराप्यपि दातुं शक्यन्ते याद-
शानामुदाहरणानां लक्ष्याणि समुपलब्धानि स्युः । उक्ता यावन्त उत्प्रेक्षायाः प्रभेदान्ता-
वन्त एव सम्भवन्तीति न कश्चन नियमः, अपि तु लक्ष्योपलब्धौ प्रभेदान्तराप्यपि सम्भ-
वन्तीति साराशाः ।

उपसहार किया जाता है—एवं इत्यादि । इसी तरह लक्ष्य के अनुसार यथासम्भव
अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं । तात्पर्य यह कि जितने प्रभेद उत्प्रेक्षा के दिख-
लाये गये हैं उतने ही हो सकते हैं यह कोई नियम नहीं है । यदि रूप्य प्राप्त करा दिये
जाय तब और-और भेद भी इसी तरह माने जा सकते हैं ।

स्वमतसिद्धं विरोपमाह—

इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोषादुदाहृताः । वस्तुतस्तु तेषां चम-
त्कारे वैलक्षण्यमस्तौत्यनुदाहार्यतैव । चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्म-
कानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति ।

प्राचामिति । अलङ्कारसर्वस्वकारादीनामित्यर्थः । एतेत्यस्य बोध्यमिति शेषः ।

अन्यकार अपने मत की विशिष्ट बातें कहते हैं—इह इत्यादि । यहाँ (उत्प्रेक्षाप्रकरण
में) जाति भादि भेदों के उदाहरण अलङ्कारसर्वस्वकार भादि प्राचीन विद्वानों के अनुरोध
से लिखे गए हैं । वस्तुतः इन भेदों के चमत्कार में कोई विलक्षणता नहीं है—अर्थात्
जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा की अपेक्षा गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा में कोई खास तरह का चमत्कार नहीं
उपलब्ध होता, अपितु स्वरूप की उत्प्रेक्षाप्रयुक्त एक ही तरह का चमत्कार प्राप्त
होता है, अतः इन भेदों का पृथक् पृथक् उदाहरण देना आवश्यक नहीं है । फलतः यह
समझना चाहिए कि—चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप—इन तीन
भेदों में ही है । तात्पर्य यह कि वस्तुतः उत्प्रेक्षा के हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा,
ये ही तीन भेद होने चाहिये, अन्य भेद अनुचित हैं ।

अपरं विशेषमाह—

प्रागुदाहृतेष्वेव परेषु वाचकानामिवादीनां त्यागे प्रतीयमाना, अर्थसा-
मर्थ्यावसेयत्वात् । न तु व्यङ्ग्येति भ्रमितव्यम्, तस्याः प्रकृते प्रसङ्गाभावात् ।

१७, १८ २० ग० द्वि०

अर्थमामर्थ्येति । अर्थात्मकमामग्रीज्ञेयत्वादित्यर्थः ।

दूसरा विशेष बतलाया जाता है—प्राक् इत्यादि । पूर्व में जो पद्य उदाहृत हुए हैं उन्हीं में से यदि 'हव' आदि उपप्रेक्षावाचक शब्द हटा दिए जायें तो प्रतीयमाना (गम्या) उपप्रेक्षाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वैसी स्थिति में केवल अर्थ के बल पर, अतः, उपप्रेक्षा माननी पड़ती है । किन्तु साथ ही इतना और ज्ञात होना चाहिए कि यहाँ प्रतीयमाना अथवा गम्या का अर्थ व्यङ्ग्य नहीं है, ऐसा उचित नहीं । कारण, प्रकृत में व्यङ्ग्योपप्रेक्षा का कोई प्रसङ्ग नहीं—यहाँ तो सामग्री के प्रबल होने के कारण अर्थतः प्राप्त उपप्रेक्षा का वर्णन है ।

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षामुदाहृत्य धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षामुदाहर्तुमाह—

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

धर्मस्वरूप की उल्लेखा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो

महामोह मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् ।

उपेक्ष्य त्वा यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती

कलाहीनं दीन विकल इव राजानमतनोत् ॥’

लावण्यानां सौन्दर्याणाम्, निधिं श्राकरम्, तव, मुखम्, निर्मितवत रचितवत, सरसिरुहसूनो प्रह्लाण, खलु निधयेन, उपचितं समृद्ध, महामोहम् अज्ञानान्धकारम्, मन्ये, यस्मात्, कृती कुशल, अयं प्रह्ला, विकल व्यथ, इव इह ससारे, त्वाम्, उपेक्ष्य, कलाहीन निरुहम्, अयं च, दीन दैन्यपरीतम्, उत्साहरहितमिति यावत्, विधुं चन्द्रम्, राजानम् सर्वश्रेष्ठ (चन्द्रस्य 'राजा' इति संज्ञा कल्पनामूलभूतेति स्मरणीयम्), अतनोत् अकरोत् इत्यर्थः । विकलो विधि 'त्वन्मुखं राजपदयोभयम्, चन्द्रो वा तत्पदयोग्य' इति विवेकानाशयदिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निधिम् इत्यादि । विधाता जब सौन्दर्यों के निधिरूप तेरे मुख को बना चुके तब उनमें महान् मोह (जड़ता) उमड़ आया ऐसा मैं मानता हूँ और ऐसा हसलिये मानना पड़ता है कि इसने (प्रह्ला ने) कुशल होते हुए भी, तुम्हारी उपेक्षा करके, कलाओं से हीन और दीन चन्द्रमा को, घबराए की तरह, राजा बना दिया—उन में इतना सोचने की शक्ति ही नहीं रह गई कि राजा बनाने योग्य तेरा मुख है अथवा चन्द्रमा । (संस्कृत भाषा में चन्द्रमा का एक नाम 'राजा' भी है, उसीके आधार पर यह कल्पना खड़ी की गई है ।)

उपपादयति—

पूर्वाधोत्प्रेक्षितमोहरूपधर्मसिद्धये द्वितीयाधोऽविचार्यकारित्वं तत्सामानाधिकरण्येनोपात्तम् ।

पूर्वाधोत्प्रेक्षितेति । अक्षररूपधर्मिणीति भावः । उपात्तमिति । अकस्मादित्यनेनेति भावः । वस्तुतो निर्माहे व्रजगि मोहस्य समवायसम्बन्धेन सम्भावनमिति 'निधिं लावण्यानाम्—' इत्यत्र धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा । अस्या च धर्मोत्प्रेक्षायाम् उत्प्रेक्ष्यमाणमोहाधिकरण-प्रसङ्गति (सामानाधिकरणम्) अविचार्यकारित्वम् निमित्तम् । तच्चोत्तरार्धेन-तत्रापि विशेषतः 'अस्मान्'पदेन—उक्तमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—पूर्वाधोत्प्रेक्षा इत्यादि । 'निधिम्—' इस पद्य के पूर्वार्ध में 'प्रह्ला'-रूपधर्मों में 'मोह'रूप धर्म की समवायसम्बन्ध से सम्भावना की गई है, अतः यह

धर्मोपेक्षा है। यद्वा में मोहरूप धर्म की निद्रि के लिये, उत्तरार्ध में, उस मोह के साथ रहनेवाले धर्म के रूप में 'अविचार्यकारित्व' (बिना विचारे करने) का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि—धर्मोपेक्षा का निमित्त होता है 'समानाधिकरण धर्म' यह पहले कहा जा चुका है तदनुसार यहाँ उक्त मोहरूप धर्म की उपेक्षा में 'अविचार्यकारित्व' धर्म निमित्त है, क्योंकि यह धर्म मोह का समानाधिकरण है—अर्थात् मोह जिस ब्रह्मरूप आधार में है उसी में 'अविचार्यकारित्व' भी रहता है। यह निमित्तभूत धर्म यहाँ उत्तरार्ध में 'अकस्मात्' पद से उपात्त है।

निमित्तार्थे प्रागनुक्तं विशेष्यमुपदर्शयति—

अस्यां च स्वरूपस्य विपर्ययत्वे निमित्तभूतो धर्म उपमायामिव विम्बप्रति-
विम्बभावादिभिर्मिन्न उपात्तोऽनुपात्तश्च । हेतुफलबोधिपर्ययत्वे तु यं प्रति हेतुफले
निरूपिते स धर्मः कल्प्यमानोऽपि विपर्ययतसाहजिकधर्मोभिन्नतयाऽध्यवसी-
यमानो निमित्तं सम्पद्यते । स चोपात्त एव भवति । अन्यथा कं प्रति हेतु-
फलयोरनन्वयः स्यादिति सङ्क्षेपः ।

अस्या चेति । उत्प्रेक्षात्वावच्छिन्नतायामित्यर्थः । स्वरूपस्येति । धर्मिरवरूपस्य धर्म-
स्वरूपस्य वैत्यर्थः । भावादिभिरिति । आदिना अनुगामित्वादिपरिग्रहः । एवं च चतुर्विधः
इति भावः । तदाह—भिन्न इति । कल्प्यमानोऽपीति । अपि स्वभावविक्रममुच्चायकः ।
अयमाशयः—यथा 'त्वत्प्रतापमहादीप—' इत्यत्र हेतुत्प्रेक्षायाम्—नभस्तलगतं यं नीलि-
मधर्मं प्रतिप्रतापहृदयकञ्जल हेतुनिरूपितः स नीलित्तधर्मः कञ्जलजन्यत्वेन कल्प्यमानोऽपि
नभस्तलगतस्वभावविक्रमनीलिमाभिन्नतया अध्यवसीयते । स एव च नीलिमा कञ्जलस्य हेतु-
त्वेनोत्प्रेक्षणं प्रति निमित्तं भवति । स च नीलिमा सर्वदोपात्त एव भवति । अन्यथा
(तस्यानुपात्तत्वे) कं प्रति हेतोरन्वयः स्यात्, अर्थात् नीलिमः शब्दानुपात्तत्वे कञ्जल-
रूपहेतोरन्वयः कुत्र स्यात् ? एव फलोत्प्रेक्षायामपि यस्यास्तपश्चरणत्रियाया फलत्वेन
बक्षोजता (तत्प्राप्तिः) उत्प्रेक्ष्यते स तपश्चरणरूपो धर्मः स्वभावसिद्धजलावस्थानाभिन्नतया-
ऽध्यवसीयते । स एव चोत्प्रेक्ष्यमाणा बक्षोजता प्रति निमित्तं भवति । इदं निमित्तं (तप-
श्चरणम्) यद्यनुपात्तं स्यात् तर्हि बक्षोजताप्राप्तिरूपस्य फलत्वात्त्वयः कुत्र स्यात् ? इति ।

निमित्तभूतधर्म के विषय में कुछ नवीन विचार किया जाता है—अस्यां च इत्यादि ।
उत्प्रेक्षा में जब स्वरूप विषयी होता है तब—अर्थात् स्वरूपोत्प्रेक्षास्थल में—निमित्तरूप
में अनेवाला धर्म, उपमा की तरह, विम्बप्रतिबिम्बभाव आदि उपाधियों से युक्त होकर
अनेक प्रकार का होता है। और अनेकप्रकारात्त धर्म भी कहीं उपात्त और कहीं अनु-
पात्त रहता है। किन्तु जहाँ हेतु तथा फल विषयी होते हैं वहाँ—अर्थात् हेतुत्प्रेक्षा और
फलोत्प्रेक्षा के स्थलों में—तो जिस धर्म के प्रति हेतु और फल का निरूपण किया जाता
है वही धर्म कल्पित होने पर भी (स्वभावविक्रम भी हो सकता है), उत्प्रेक्षा के विषयभूत
पदार्थ में रहनेवाले स्वभावविक्रम से अभिन्नरूप में अध्यवसित होकर उत्प्रेक्षा का
निमित्त होता है। अतः वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त कभी नहीं। अन्यथा हेतु
और फल का अन्वय होगा किसके साथ ? उदाहरण के आधार पर इस प्रसङ्ग को स्पष्ट
कर देना अच्छा होगा, अतः निम्नलिखित कुछ पङ्क्तियों पर ध्यान दीजिए—'त्वत्प्रताप-'
इत्यादि पूर्वोक्त हेतुत्प्रेक्षा में आकाशगत जिस 'नीलेपन' धर्म के प्रति प्रताप-दीप-कञ्जल
की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा हुई है वही 'नीलापन' धर्म आकाशगत स्वभावविक्रम 'नीलेपन'
से अभिन्नरूप में अध्यवसित होकर उक्त हेतुत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। ऐसी स्थिति
में वह 'नीलापन' सदा उक्त रहेगा ही। यदि वह उक्त न रहे तब कञ्जलरूप हेतु का
अन्वय ही कैसे और कहीं होगा ? इसी तरह 'दिवादिशम्—' इस पूर्वोक्त फलोत्प्रेक्षा में

नित्त तपश्चरणक्रिया के फलरूप में 'स्तनत्वप्राप्ति' की उपेक्षा होती है वह तपश्चरण-क्रियारूप धर्म ही स्वाभाविककमलसम्बद्ध जलावासरूप धर्म से, अभिन्नरूप में अप्यवसित होकर उक्त फलोपेक्षा का निमित्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि वह 'तपश्चरण' उक्त नहीं रहे तो 'स्तनत्वप्राप्ति'रूप फल का अन्वय कैसे होगा? सारांश यह निकला कि-स्वरूपोपेक्षा के निमित्त उक्त और अनुक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं, पर हेतूपेक्षा तथा फलोपेक्षा के निमित्त सदा उक्त ही रहते हैं, अनुक्त नहीं।

शान्दबोधप्रकारज्ञानाय प्राचीनार्वाचीनभेदेन मतद्वयसत्तां सामान्यत सूचयित्वा प्रथम प्राचीनमतमुपदर्शयति—

अत्र च प्राचामर्बाचां धानेकधा दर्शनं व्यवस्थितम् । तत्र प्राचामित्यम्-सर्वत्राभेदेनैव विपयिणो विपये उत्प्रेक्षणम्, न सम्बन्धान्तरेण । तथाहि धर्मि-स्वरूपोत्प्रेक्षायाम् 'मुख चन्द्र मन्ये' इत्यादौ तावद्विपयिणश्चन्द्रस्याभेदो विपये मुखे स्फुट एव, नामार्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पत्तेः । उपात्तविपयां चयेन् । एवम् 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यत्र नैपथपद्ये (७१६४) धर्मस्वरूपो-त्प्रेक्षायामपि मुनिसम्बन्धिनि धर्मान्तरे विपये दमयन्तीविपयकमोहस्य विपयिणोऽभेदेनैवोत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्षयाश्च साध्यवसानत्वाद्विपयस्यानुपादान सङ्गच्छते । निमित्तधर्मश्च तत्तद्गङ्गासक्तवृत्तित्वम् । एवम् 'लिम्पतीव तमोद्गानि वर्षतीवाङ्गनं नमः' इत्यादौ कस्यापि पद्ये न प्रथमान्तार्थे कर्तरि लेपनकर्तृत्वादेरुत्प्रेक्षणम्, तस्यास्यान्तार्थविशेषणत्वेनैकदेशत्वात् । नापि लेपनादिकर्तृभेदेन, तस्य क्रिया-विशेषणत्वेनाप्राधान्यात् । किन्तु तमःकर्तृकमङ्गकर्मकं लेपनमुत्प्रेक्ष्यते, तमः-कर्तृकमङ्गकर्मकं वर्षणं च । उत्प्रेक्ष्यमाणाभ्यां च ताभ्यां विपयस्य तमःकर्तृक-व्यापनस्य निर्गोर्णत्वादानुपादानम् । अत एव एवमादावियमनुपात्तविपयोच्यते । निमित्तधर्मश्च रयामोकारकत्वादिरनुपात्त एव । अत एव 'सम्भाधनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति लक्षण विधायोक्तम् 'व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्' इति मम्मटभट्टैः । एवम्—

'उन्नेपं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-

मिन्दोरिन्दीवरदलहृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।

नीतः शान्ति प्रसभमनया चक्रकान्त्येति हर्षा-

ल्लमा मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मी ।।'

इत्यादौ प्राचीनपद्ये हेतूप्रेक्षायामपि न हर्षरूप हेतुमात्रमुत्प्रेक्ष्यते लक्ष्मीरूपे विपये, किन्तु तद्धेतुकं कार्यं लगनादिरूपं विपयि तादात्म्येन साहजिकलगनादौ विपये । कार्यस्य निमित्ततावादिनामपि विपयगततत्समानजातीयेनाभेदाध्य-वसानस्यावश्यवाच्यत्वात् । अन्यथा हेतुरूपविपयिधर्मसमानाधिकरणधर्मस्य कार्यरूपस्य विपयावृत्तित्वेनोत्प्रेक्षैव न स्यात् ।

एवम्—

'चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः ।

अद्यापि किं वानुभविष्यतीति व्यपाटयन् द्रष्टुमिच्छाक्षराणि ।।'

इत्यादिपरपद्ये फलोत्प्रेक्षायां कण्टकिपु वनान्तेषु विपयेषु न केवलं भालत्व-ग्विपाटननिमित्तं ललाटाक्षरदर्शनं फलमुत्प्रेक्ष्यते । किन्तु तत्फलकं भालत्वग्वि-

पाठनादिरूपं विपयिः कण्ठकजविपाठनादौ विपये तादात्म्येनेति सर्वत्राभेदेनैव विपये विपयिण उत्प्रेक्षणीमिति दर्शनम् ।

१ अत्र चेति । उत्प्रेक्षाविपये इत्यर्थः । अर्वाचाम् आधुनिकानाम् । दर्शनं मतम् । तत्र तयोर्मध्ये । तावत् । आदौ । इयमिति । 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादिधर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा इत्यर्थः । धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षास्यलं आह—एवमिति । अस्यामिति । 'अस्यां मुनीनामपि मोहं मूढे भृगुर्महान् यत्कुर्वन्शरीली' । 'नानारदाद्वादि मुखं धितोऽर्वासी महाभारतसर्गयोग्यः' इति सम्पूर्णपद्यम् । 'दमयन्तीवर्णनप्रसङ्गे नलोक्ति—यत् यस्मात्, महान् पूज्यः, भृगुः एकः ऋषिः ('विशालं विशिष्टाकारः पर्वतभाग' इति वस्तुतोऽर्थः), कुचशैलश्रीली दमयन्तीस्तनपर्वतसेवकः, मुखं दमयन्तीवदनम्, नानारदाद्वादि अनारदाद्वादि = नारदस्यानाहादकम्, नः, अत्रस्यं नारदाद्वादिमिति भावः (नानाविधैः रदैः = दन्तैः आहादि इति वस्तुतोऽर्थः), तथा, महामारतस्य तदाख्यनिबन्धस्य य सर्गः सृष्टिः तद्योग्यः (महाभा महाज्ञानिः, अत्र च रतस्य सभोगस्य, सर्गे सृष्टौ योग्य उचित इति वस्तुतोऽर्थः) व्यासः मुनिः (निस्तार इति वस्तुतोऽर्थः), धितोः दमयन्त्या ऊरुयुगल धितः, तस्मात्, अस्या दमयन्त्या विपये, मुनीनां भृग्यादीनाम्, अपि, मोहं मुग्धताम्, कूढे तर्क्यामि इति तद्व्याख्या धर्मान्तरे दर्शनादौ । वृत्तित्वमिति । वित्तवृत्तित्वमित्यर्थः । धर्मोत्प्रेक्षया एव स्थलान्तर आह—एवमिति । लिम्पतीवेति । अन्धकारोऽज्ञानि लिम्पति इव, आकाराः षण्णल वर्पति इत्येत्यर्थः । कस्यापीति । मृच्छकटिकप्रयोगे तु शूद्रकस्येत्यर्थः । एव इति । 'असत्पुरुषसैवैव दृष्टिर्विकलता गता' इत्युत्तरार्धयुक्ते मृच्छकटिकवतुर्थाङ्गगत इति भावः । वैयाकरणरीत्या आह—वस्येति । प्रथमान्तकर्तुरित्यर्थः । अभेदेनेति । प्रथमान्ताये उत्प्रेक्षणमित्यस्यानुपपन्नः । तस्येति । लेपनादिकर्तुरित्यर्थः । वर्णनं चेति । अस्य उत्प्रेक्ष्यत इति शेषः । -न्तु कुत्र सा अत आह—उत्प्रेक्ष्यमाणान्या चेति । अत एवेति । निर्गोर्णत्वादनुपादानादेवेत्यर्थः । एवमादाविति । इत्याद्युदाहरण इत्यर्थः । अध्याये प्रकाशकारस्य सम्मतिमाह—अत एव 'सभावन्'मिति । अयं भावः—विपयविपयिणौ धर्मिस्वरूपौ धर्मस्वरूपौ वा भवताम् उत्प्रेक्षा सर्वत्राभेदेनैव, न समनायादिना सम्बन्धान्तरेण । तत्र विपयविपयिणोः धर्मित्वत्वे—अर्थात् धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणतया प्रसिद्धे 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादौ 'नामार्गयोरभेदातिरिक्त' संबन्धोऽव्युत्पद्य' इति सिद्धान्तानुरोधेन मुखात्मके विपये चन्द्रात्मनो विपयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षणं सर्वसम्मतमेव । ईदृशोत्प्रेक्षणस्यले विपयस्य शब्दतो प्रहृणं निमतम्, अत 'उपात्तविपया' इत्यनेनैतादृशयुत्प्रेक्षैव परामृश्यते । यत्र पुनः 'अस्या मुनीनाम्' 'लिम्पतीव' इत्यादौ अभेदातिरिक्तेन सम्बन्धेन धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा बहुवो न्यनहरन्ति—अर्थात् प्रथमस्थले समवायेन मुनिरूपे धर्मिणि मोह-रूपस्य धर्मस्य द्वितीयस्थले च तम आदौ धर्मिणि लेपनकर्तृत्वादेस्तेनैव सम्बन्धेनोत्प्रेक्षेति प्रतिपादयन्ति तत्रापि वस्तुतो मुनिसम्बन्धिनि दमयन्तीकर्मके दर्शनात्मके धर्मे दमयन्ती-विपयकमोहात्मकस्य धर्मस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षा, एव तमकर्तृके अङ्गवर्मके तथा तमकर्तृके नमःवर्मके च व्यापने तम कर्तृकाङ्गकर्मकलेपनस्य तथा नमः कर्तृकाङ्गनकर्मकवर्णस्य चाने-देनैवोत्प्रेक्षा । जन्वेव दर्शनव्यापनादीना भवदभिमतविपयाणामुपादानावावश्यकम्, न च तदस्तीति कथमेतदिति चेन्न, विपयिणा विपयस्य निर्गोर्णत्वं नाम साध्यवसानत्वम्, तदात्मकत्वादेवविधायां धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षया विपयोपादानस्यातावश्यकत्वात् । निमित्तधर्मश्च तत्तद्भासकमनोवृत्तिर्च प्रथमस्थले उक्तम्, द्वितीयस्थले च श्यामीकारकत्वादिरलुप्तः ।

विषयस्तु सर्वत्रैवविधोत्प्रेक्षास्थले नियमतोऽनुक्त एव भवतीति 'अनुपात्तविषया' इत्यनेन-
दृश्येवोत्प्रेक्षा बोध्यते । 'व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्' इति मम्मटमहोक्तिरपि
उक्तार्थे साक्षिता कुर्वते । युक्तियुक्तोऽपि पशोऽयमेव, यतः 'लिम्पति' इत्यत्र प्रथमान्तपदार्थे
कर्तृकारके तमसि लेपनकर्तृत्वस्योत्प्रेक्षणं सम्भवदुक्तमेव नास्ति, तिष्ठार्थाश्रयविद्येषणो-
भूतप्रथमान्तपदार्थे लेपनादेरन्वयस्य 'पदार्थ' पदार्थेनान्वेति, न पदार्थेकदेशेन' इति
न्यायविशदत्वात् । लेपनकर्तृत्वस्तिवर्षस्याभेदेन प्रथमान्तार्थं उत्प्रेक्षेत्यपि न वक्तुं योग्यम्,
तिष्ठार्थस्य घात्वर्थक्रियाविशेषणत्वेनाप्रधानस्य विधेयत्वासम्भवात् । 'तस्याम्—' इत्यत्र
निमित्तधर्म प्रागुक्तो गुणरूपः, 'लिम्पतीव—' इत्यत्र च स प्रागुक्तः क्यारूप इत्यन्यत् ।
इति । हेतुत्प्रेक्षास्थल आह—एवमिति । 'उन्मेपम्—' इति । नायको नायिका व्रूते—
वातिवैरी कमलचजातिविशिष्टद्वेषी, यं चन्द्र, निशाया रात्रौ, मम कमलचजातिवि-
शिष्टस्य, उन्मेपं विक्रास, न, सहते मर्षयति, तस्य, इन्दो, सौन्दर्यदर्पः सुन्दरतागर्वः,
अनया, इन्दीवरदलदशा नीलकमलपत्राद्या, चक्रकान्त्या मुखसौन्दर्येण, प्रसभं बलात्,
शान्तिं नाशाम्, नीतं प्रापित', इति, हर्षात्, पद्मलक्ष्मी कमलशोभा, हे ललिततनु
सुन्दरगात्रि । ते, पादयो, लग्ना संसक्ता, इति, अहं मन्ये इत्यर्थः । हेतुत्प्रेक्षाधामपीति ।
तत्त्वेनाभिमततायामपीत्यर्थः । इदं च तादात्म्यं परमतेऽन्वावरपकमित्याह—कार्यस्येति ।
समानजातीयेन साहजिकलगनेन । तदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—अन्ययेति । हेतु-
रूपेति । हर्षात्मकेत्यादि । इदमाकृतम्—'उन्मेपम्—' इत्यत्र लक्ष्मीरूपे विषये हर्षा-
त्मकस्य हेतोरुत्प्रेक्षा न, किन्तु हर्षहेतुकस्य पादाधिकरणकस्य पद्मलक्ष्मीकर्तृकस्य
रुगनस्य विषयिणः पादाधिकरणके पद्मलक्ष्मीकर्तृके स्वाभाविके लगने विषयेऽभेदेनोत्प्रेक्षा ।
नन्वस्मिन्पक्षे द्वयोरलगनयोरभेदाध्यवसानं कर्तव्यं भवतीति गौरवमिति चेन्न, परमतेऽन्यस्य
गौरवस्य तादवस्थेनावदृश्यत्वात् । स्याद्दि—येऽत्र हर्षरूपं हेतुमात्रमुत्प्रेक्षन्ते तेऽपि
सादृशोत्प्रेक्षणे निमित्तं हर्षकार्यभूतं पद्मलक्ष्मीकर्तृकं पादलगनमेव मन्यन्ते, तत्र पादलगनं
तावन्निमित्तं न भवितुमर्हति यावत् तस्य स्वाभाविकपद्मलक्ष्मीकर्तृकेन पादलगनेन सहाभेदो
नाध्यवसितः स्यात्, यत उत्प्रेक्ष्यमाणो धर्मः परमते हर्षरूपस्तत्समानाधिकरणेषु धर्मो विषयगतो निमित्तत्पो
भवति, प्रकृते च उत्प्रेक्ष्यमाणो धर्मः परमते हर्षरूपस्तत्समानाधिकरणेषु धर्मस्तद्धेतुकपद्म-
लक्ष्मीकर्तृकपादलगनरूपः, स च न पद्मलक्ष्मीरूपविषयगतः, स्वाभाविकस्यैव पादलगनस्य
वस्तुतस्तद्गतत्वात्, इत्यत्रोत्प्रेक्षैव न भवेत् । द्वयोरलगनशोरभेदाध्यवसाने तु भवितु-
मर्हति । इति फलोत्प्रेक्षास्थल आह—एवमिति । 'चोलस्य—' इति । राज्ञो नृसिंहस्य
वर्णनम्—कण्टकान् कण्टकाङ्गोर्णाः, वनान्ता वनप्रदेशा, अद्यापि पूर्वं यदनुभूतवान्
तदनुभूतवानेव, इतोऽप्रे, किम् अनुभविष्यति, इत्येतद्बोधकानि अक्षराणि विधिलिखित-
वर्णवली, द्रष्टुम् शशुम्, पठितुमिति यावत्, यस्य नृसिंहदेवस्य, भोत्या भयन, पलायि-
तस्य प्रपलाप्य वन श्रितस्य, चोलस्य चोलनरेशस्य, भालत्वच मस्तकचर्म, व्यापाटयन्
उत्पाटितवन्त इत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षाया तत्त्वेनाभिप्रेतायाम् । 'चोलस्य—' इत्यत्र
कण्टकाङ्गोर्णवनप्रदेशात्मके विषये भालत्वचगुरपाटनहेतुकललाटाक्षरदर्शनरूपफलस्योत्प्रेक्षा न,
अपि तु कण्टकाङ्गोर्णवनप्रदेशकर्तृकनिफलत्वग्विपाटनात्मके विषये ललाटाक्षरदर्शनफलक-
भालत्वचविपाटनरूपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षेति भावः । उपसंहरति—इति सर्वत्रेति ।
इत्यत्र सर्वत्राभेदसम्बन्धेनैव विषये विषयिण उत्प्रेक्षेति प्राया मतं व्यवस्थितम् ।

शान्दशोधप्रकार का ज्ञान कराने के लिये प्राचीन-नवीन भेद से दो मतों की सामा-

न्यतः सूचना देकर पहले प्राचीन मत का उल्लेख करते हैं—अत्र च इत्यादि। उद्येष्टा के विषय में प्राचीनों और आधुनिकों का अनेकप्रकारक मत व्यवस्थित है। उनमें से प्राचीनों का मत इस प्रकार का है—विषयी की विषय में सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उद्येष्टा होती है, अन्य (समवाय आदि) किसी सम्बन्ध से नहीं। अभिप्राय यह कि—विषयी तथा विषय ये दोनों अथवा इन दोनों में से कोई एक धर्मरूप हो अथवा धर्मरूप हो, इससे उद्येष्टा के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं होता—सर्वत्र एक में दूसरे की सम्भावना अभेदसम्बन्ध से ही की जाती है। देखिए—‘मुख मानो चन्द्रमा है’ इत्यादि धर्मिस्वरूपोद्येष्टास्थल में तो विषयी चन्द्र का विषय मुख में अभेद स्पष्ट ही है—अर्थात् ऐसी स्थलों में अभेदसम्बन्ध से ही उद्येष्टा होती है यह बात सर्वसम्मत है, क्योंकि दो नामार्थों का भेदसम्बन्ध द्वारा साक्षात् अन्वयव्युत्पत्ति के विरुद्ध है। और यह उद्येष्टा उपात्त- (उक्त) विषया है, क्योंकि विषय मुख शब्दतः वर्णित है। कहने का तात्पर्य यह कि—धर्मिस्वरूपोद्येष्टा सर्वत्र उपात्तविषया ही होती है। कारण, इस तरह को उद्येष्टा में विषय का शब्दतः वर्णित रहना निश्चित है। इसी तरह “अस्या मुनीनाम्—(सम्पूर्ण पद्य सरकृत टीका में उद्धृत है) दमयन्तीवर्णनप्रसङ्ग में नल की उक्ति है—दमयन्ती के विषय में मुनियों को भी मोह हो गया है ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि महान् (पूजनीय, परशुतः पहुँच बढ़ा) ‘मृगु’ (एक ऋषि, वस्तुतः विना किनारे का ढलाव) इसके स्तम्भरूप पर्वत का सेवन कर रहा है, मुख ‘मानारदाहादि’ (नारद को सम्नुष्ट न को ऐसा नहीं, किन्तु अवरप सम्नुष्ट करनेवाला, वस्तुतः अनेक दौनों के कारण आहादम्बक) है और ‘महाभारतसंगयोग्य’ (महाभारत निबन्ध बनाने की योग्यता रखनेवाला, वस्तुतः ‘महामा.’=महाकान्तियुक्त और ‘रतसंगयोग्य’=रति की सृष्टि के योग्य) ‘व्यास’ (कृष्णद्वैपायन, वस्तुतः-विरतार) ने इसकी जाँचों का आश्रयण कर लिया है।” इस नैपथीय पद्य में जो धर्मिस्वरूपोद्येष्टा है वहाँ भी मुनियों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी धर्म (‘दर्शन’ आदि) रूप विषय में दमयन्तीविषयक मोहुरूप विषयी की अभेदसम्बन्ध से ही उद्येष्टा है। तात्पर्य यह कि यहाँ भी मुनिरूप विषय में मोहुरूप विषयी की समवायसम्बन्ध से उद्येष्टा नहीं है। आप कहेंगे—दर्शन आदि धर्म ही यदि यहाँ विषयरूप है तब यहाँ उसका वर्णन क्यों नहीं? फलतः जिसको पद्य में शर्वा ही नहीं वह विषयरूप माना कैसे जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि—यह उद्येष्टा साध्यवसाना है—यहाँ विषयीद्वारा विषय निगल लिया गया है, अतः उसका ग्रहण न करना सङ्गत है—अर्थात् ऐसा करने में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों में विषयबोधक पद द्वारा ही विषय का बोध किया जाता है, जैसे अतिशयोक्तिस्थल में उपमानबोधक पद से ही उपमेय का भी बोध कर लिया जाता है। इस उद्येष्टा का निमित्तमूत धर्म है ‘दमयन्ती के उन-उन अङ्गों में मुनिमतोवृत्ति का आसक्त हो जाना’ जो यहाँ अपने दङ्ग से उक्त ही है। इसी तरह ‘लिम्पति—(सम्पूर्ण पद्य मूल तथा सरकृत टीका में उद्धृत है) अन्धकार मानो, अङ्गों को पोत रहा है, आकाश, मानो, काजल बरसा रहा है।’ इत्यादिक किसी कवि (मृच्छकटिकनिर्माता शूद्रक) के पद्य में प्रथमान्त पदार्थ ‘कर्ता’ (अन्धकार और आकाश) में ‘पोतना’ तथा ‘बरसाना’ रूप क्रियाओं के ‘कर्तृत्व-अर्थात् उन क्रियाओं’ की उद्येष्टा नहीं है। कारण, यह कर्ता (प्रथमान्त पदार्थ) आख्यात (विद्=लिम्पति आदि में ‘ति’ आदि प्रायय) के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है, अतः शाययार्थ का प्रधान अंग नहीं, किन्तु एकदेश है। फलतः यहाँ उद्येष्टा करके ‘लेपनकर्तृत्व’ का अन्वय करने में एकदेशान्वय हो आया जो कि ‘पदार्थ’ पदार्थेनाम्बेति, ननु पदार्थिकदेशेन-अर्थात् पदार्थ पदार्थ के साथ ही धन्वित होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ नहीं’ इस सिद्धान्त से विरुद्ध होता है। और न यहाँ ‘लेपनादि कर्ता’ (पोतने आदि के कर्ता) की अभेदसम्बन्ध द्वारा प्रथमान्त

पदार्थ अन्धकार आदि में उल्लेख ही मानी जा सकती है, क्योंकि 'कर्ता' क्रिया का विशेषण होने के कारण अप्रधान है (यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि वैयाकरणों के मत से सम्पूर्ण वाक्यार्थ में क्रिया ही प्रधान होती है और अन्य सब शब्दों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं) । तात्पर्य यह कि अप्रधान पदार्थ विधेय नहीं हो सकता और उल्लेख्यमाण पदार्थ विधेय ही होता है । किन्तु यहाँ, 'अन्धकार' जिसका कर्ता है, और 'अद्' जिसका कर्म है उस 'लेपन'(पोतने)रूप क्रिया की, तथा आकाश जिसका कर्ता है और काजल जिसका कर्म है उस 'वर्षण'रूप क्रिया की उल्लेख की जा रही है । उन दोनों उल्लेखित किए जानेवालों-अर्थात् 'लेपन' और 'वर्षण' द्वारा, जिसका अन्धकार कर्ता है उस व्यापन(व्याप्त होना)रूप क्रिया को जो इस उल्लेख का विषय है, निर्गोर्ण (उदरस्थ) कर लिया गया है, अतः उसका (विषयरूप व्यापन क्रिया का) उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । तात्पर्य यह कि-यहाँ अन्धकारकर्तृक व्यापनरूप विषय में अन्धकारकर्तृक लेपन आदि विषयी की अभेदसम्बन्ध से सम्भावना की जाती है पर साध्यवसाना होने के कारण इस उल्लेख में विषय का उल्लेख नहीं किया गया है । अतएव ऐसे-ऐसे स्थलों में यह उल्लेख अनुपात्तविषया कहलाती है । इस उल्लेख का निमित्तभूत धर्म है 'श्यामीकारकत्व—काले कर डालना' आदि जो अनुपात्त है । सारांश यह कि-प्राचीनों के मत से धर्मोत्प्रेक्षा भी अभेदसम्बन्ध से ही होती है और उसके विषय सर्वदा अनुक्त ही रहते हैं । निमित्त कदाचित् उक्त और कदाचित् अनुक्त भी होते हैं । निमित्तभूत धर्म प्रायः दो तरह के होते हैं—गुणरूप और क्रियारूप, उनमें से गुणरूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है उपर्युक्त नैपथ का पथ और क्रियारूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है 'लिम्पतीव—' । यह पथ । अतएव मम्मटभट्ट ने—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा—अर्थात् प्रस्तुत विषय की उसके सट्टा के साथ सम्भावना को उल्लेख कहते हैं ।' यह लक्षण बनाकर 'लिम्पतीव—' इस उदाहरण के प्रसङ्ग में कहा है कि-व्यापनादि—अर्थात् यहाँ व्याप्त होने आदि की सम्भावना 'पोतने' आदि के रूप में की गई है । अभिप्राय है कि—मम्मटभट्ट ने भी 'सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उल्लेख होती है' इस तथ्य का समर्थन किया है । इसी तरह—'उन्मेष यो मम—अर्थात् 'जो जातिवैरी रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता उस चन्द्रमा का सुन्दरताभिमान, इस कमलपत्राक्षी ने अपनी सुख-कान्ति द्वारा, बलात्, शान्त कर दिया ।' मानो, इस हर्ष के कारण, हे सुन्दराक्षि ! कमल की शोभा तेरे पैरों में चिपट पड़ी है ।' इत्यादिक प्राचीनों के पथ—जिसको लोग हेतुत्प्रेक्षा का उदाहरण कहते हैं—में भी 'शोभा'रूप विषय में केवल 'हर्ष'रूप हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है किन्तु 'हर्ष' जिसका हेतु है उस 'चिपटने' आदि विषयी की, अभेदसम्बन्ध से, स्वाभाविक 'चिपटने' आदि विषय में, उल्लेख की जा रही है । तात्पर्य यह कि—पथ की शोभा पैरों में स्वभावतः चिपटी ही हुई है, न कि हर्ष के कारण, उस स्वाभाविक चिपटने में 'हर्ष' के कारण चिपटने (जो कल्पित है) की उत्प्रेक्षा की जा रही है । जो लोग हर्ष के कार्य कल्पित 'चिपटने' को उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं उन्हें भी विषय—शोभा—में रहनेवाले, उक्त कल्पित 'चिपटने' के सजातीय स्वाभाविक 'चिपटने' के साथ उस कल्पित चिपटने का आरोपित अभेद अवरय कहना पड़ेगा । यदि ऐसा नहीं कहेंगे तब उक्त हर्ष-कार्य-कल्पित 'चिपटना' निमित्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि विषयी-हर्ष-के अधिकरण में रहने वाला कल्पित 'चिपटना' विषय-शोभा-में है ही नहीं-उसमें तो स्वाभाविक 'चिपटना' ही है और जब उक्त धर्म निमित्त नहीं हो सकेगा तब यह उल्लेख ही नहीं हो सकेगा । हाँ, उन दोनों धर्मों (कल्पित-हर्षहेतुक चिपटना तथा वास्तविक-स्वाभाविक चिपटना) में अभेद मान लेने पर सब बातें धन सकती हैं । तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों में सम्यग्धान्तर द्वारा हेतु-मात्र की उत्प्रेक्षा का निमित्त नियमतः उस

हेतु के कार्य को ही मानते हैं और वह कार्य रहता है नियमतः कल्पित। ऐसी स्थिति में उसको निमित्त बनाने के लिये—अर्थात् उस विषयिसमानाधिकरण कार्यमूल धर्म को विषयगत निवृत्त करने के लिये (याद रहे कि-सम्बन्धान्तरद्वाराक धर्मोत्प्रेक्षा में वे लोग उत्प्रेष्यमाणधर्मसमानाधिकरणविषयगत धर्म को निमित्त मानते हैं) यह आवश्यक है कि विषयिसमानाधिकरण उस कल्पित कार्यरूप धर्म का विषयगततत्सजातीयस्वाभाविक धर्म के साथ आरोपित अभेद माना जाय। सारांश यह कि इस तरह का अभेद दोनों मतों में समानरूप से मानना ही पड़ता है अन्तर केवल यह होता है कि एक मत में उस अभेद के दोनों सम्बन्धी उत्प्रेक्षा के विषय-विषयी होते हैं और दूसरे मत में अभेद के दोनों सम्बन्धी एक होकर उत्प्रेक्षा के निमित्त बनते हैं। ऐसी दशा में उचित तो यही प्रतीत होता है कि अभेद के उन सम्बन्धियों को उत्प्रेक्षा के विषय विषयी ही मान लें। इसी तरह—‘चोलरथ—अर्थात् जिस (वर्णनीय मूर्तिहृदेव) के डर से भगे हुए चोलनरेश के ललाट की चमड़ी, कँटीले घनप्रदेशों ने, मानो, अब भी ‘न जाने यह क्या अनुभव करेगा’ इस रहस्य के बोधक विधाता के अचर को देखने के लिये, उधेड़ डाली।’ इस परकीय पद्य-जिसको फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण मानते हैं—में, कँटीले घन-प्रदेशरूप विषय में ललाट की चमड़ी को उधेड़ने से होने वाले ललाटगत विधि-धर्मावली दर्शनरूप फल की केवल उत्प्रेक्षा नहीं है, किन्तु वह ललाटगत विधि धर्मावली-दर्शन जिसका फल है उस ललाटत्वचोत्पादनरूप विषयी की कण्टक से होने वाले, निष्कल अतः स्वाभाविक ललाटत्वचोत्पादनरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है। सारांश यह निकला कि विषय में विषयी की उत्प्रेक्षा सर्वत्र (धर्मोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा में) अभेद सम्बन्ध से ही होती है—यही है प्राचीनों का मत।

प्राचीनमतमालोचयितु प्रथममाणस्तदुक्तयुक्तीनिरस्यति—

तत्र विचार्यते—न सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति नियमे किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, लक्ष्येषु भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्—‘अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे’ इत्यादौ। न च मुनिसम्बन्धिनि धर्मविशेषे मोहस्याभेदेनोत्प्रेक्षणमिति चाच्यम्। भेदेनोत्प्रेक्षणे बाधकाभावेनेदृशकल्पनाया निरर्थकत्वात्। नह्यभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति वेदेन बोधितम्, यदर्थमयमाग्रहः स्यात्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनत्वान्। ‘लिम्पतीव तमोऽङ्गानि’ इत्यत्रापि लेपनादिकर्तृत्वं समआदिषु विषयेषु प्रेक्ष्यत इत्येव युक्तम्। अनुकूलव्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्वैवाख्यातार्थत्वात्। तस्य च प्रथमान्ते विशेष्ये आश्रयताससर्गेणान्त्रयान्न दोषः। ‘भावप्रधानमाख्यातम्’ इत्यस्य ‘भावो व्यापारस्वार्थकमाख्यात तिङ्’ इत्यर्थकरणान्न विरोधः। ‘सत्त्व-प्रधानानि नामानि’ इत्युत्तरवाक्यस्य प्रधानशब्दस्याभिधेयपरत्वात्। फलमात्रार्थस्यापि घातो राख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणत्वसमानाधिकरणत्वाभ्यामर्थगताभ्यां सकर्मकाकर्मकत्वव्यवहारः। नामार्थयोर्भेदेनान्वयाभावाच्च भावकृदर्थ-व्यापारस्य न नामार्थेऽन्वयः। अत एव च ‘कर्त्तरि कृत्’ इत्यनेन विशिष्टशक्ति-घोषकेन न घवादिषु भावग्रहणस्य विशेषणशक्तिबोधकस्य गतार्थत्वम्, शब्दानुवृत्तिपक्षस्वीकाराच्च ‘कर्त्तरि कृत्’ इत्यत्र धर्मिपरस्यापि कर्त्तृग्रहणस्य ‘तः कर्मणि—’ इत्यत्र धर्मपरतायामपि न दोषः। यद्वा आस्तां फलव्यापारी घातोः, आश्रयश्च तिङोऽर्थः। परं तु देवदत्तः पचमान इत्यादाविव देवदत्तः पचतीत्यादिष्वपि प्रथमान्तार्थ एव तिङर्थस्याभेदेन विशेषणत्व युक्तम्, न तु भेदेन घात्वर्थभावनायाम्। सर्वजनसिद्धस्योद्देश्यविधेयभावस्य भङ्गापत्तेः।

सत्यां हि गतौ 'प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थो विशेषणम्' इत्यस्योत्सर्गस्याप्यनुग्रह एव न्यायः । 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यस्य 'भावनार्थको धातुः' इत्यर्थकरणान्न विरोधः । न च वैयाकरणमतविरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रत्वेनालङ्कारिकतन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् । प्रपञ्चयिष्यते चैतदधिकमुपरिष्ठादिति प्रकृतमनुसरामः । एवं च 'लिम्पतीव—' इत्यादौ भेदेनाभेदेन वा तिङ्र्थस्यैव प्रथमान्तार्थ एवोत्प्रेक्षणम् । न तु धात्वर्थस्य स्वनिर्गणे व्यापनादौ, सर्वजनसिद्धाया इवार्थस्य विधेयताया अनुपपत्तेः । सम कर्तृकं लेपनमित्येवस्मादपि उद्देश्यविधेयभावशून्यवान्यादुत्प्रेक्षाप्रतीत्यापत्तेश्च । यदि च विपयिसम्बन्धिना लेपनादिना विपयिसम्बन्धिनो व्यापनादेनिमित्ततासम्पत्तये स्वताद्रूप्यसम्पादनेन निगीर्णत्वादनुपात्तविपयत्वमध्यवसानमूलत्वं चोच्यते तदा रूपकेऽप्यनुपात्तविपयत्वमुच्यतामध्यवसानमूलत्वं च । 'लोकान् हन्ति खलो विपम्' इत्यादौ खलसम्बन्धिनो दुःखदानादेविपयिसम्बन्धिहननात्मनाऽध्यवसानात् । तस्मान्निमित्तांशेऽतिशयोक्तिरेव । एवम् 'उन्मेषं यो मम न सहते' इत्यत्र लक्ष्मीरूपे विपये लगनहेतुत्वेन हर्षं उत्प्रेक्ष्यते । तत्र साहजिकसम्बन्धे तादात्म्येनाध्यवसितं लगनमेव निमित्तम् । तथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वधरणारविन्दविरलेपदुःखदिव बद्धमौनम् ॥'

अत्रापि मौनहेतुत्वेन नूपुरे विरलेपदुःखमुत्प्रेक्ष्यते । तत्र निश्चलत्वनिमित्तकनिःशब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्, विरलेपदुःखसमानाधिकरणत्वे सति नूपुरवृत्तित्वात् । न तु निश्चलत्वनिमित्तके निःशब्दत्वे विपये विरलेपदुःखहेतुकमौनमभेदेन । उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्सर्गसिद्धत्वात् । विपयस्य निगीर्णतया विपयिणो विधेयत्वानुपपत्तेश्च । निमित्तान्तरगवेपणापत्तेश्च । यद्यप्येककालप्रभवत्वादिरस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम् । तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात् । एव फलोत्प्रेक्षायामपि बोध्यम् । एतेन 'यद्वा हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि तादात्म्येनैवोत्प्रेक्षा' इति प्राचां मतमनुसरता द्रविडपुङ्गवेन यदुक्तं तदपि परास्तम् ।

दर्शनादिति । स्वरसतया प्रतीतेरिति भावः । प्रायुक्तं तदीय प्रकारं खण्डयति न चेति । ननु लक्षणानुरोधेन तथोच्यतेऽत आह—लक्षणेति । सर्वत्राभेदसम्बन्धेनैव विपये विपयिण उच्येतेति नियमाङ्गीकारे प्रमाणाभावः । ननु भेदेनोत्प्रेक्षणस्य लक्ष्याप्राप्तिरेव प्रमाणमिति चेन्न, 'अस्याम्—' इति प्रायुक्तनैपथीयपद्यात्मकस्य लक्ष्यस्य प्राप्तेः । न च तथापि अभेदेनोत्प्रेक्षणप्रकारं प्रदर्शित इति वाच्यम्, भेदेनोत्प्रेक्षया स्वारसिकायाः स्वीकारे बाधकानावात् तादृशवृत्त्यप्रकाराङ्गीकारस्य वैयर्थ्यात् । यदि अभेदेनैवोत्प्रेक्षा भवतीति भेदेन बोधितं भवेत्, तदा तादृशवृत्त्यप्रकाराङ्गीकारस्यौचित्यं सिद्धयेत्, ततु नामतीति कथं तदङ्गीकारौचित्यम् ? लक्षणमुत्प्रेक्षया अभेदसम्बन्धघटितमेवोपलभ्यत इति तदनुरोधेन तयाङ्गीकार इत्यपि न युक्तम्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनतया भेदसम्बन्धघटितलक्षणनिर्माणस्यापि कर्तुं शक्यत्वादिति विरादीकरणम् । नन्वेवमपि लिम्पतीत्यादौ नान्यथा निर्वाह इति प्राचीनोक्तं मान्यमत आह—लिम्पतीवेति । फलमात्रस्य धात्वर्थत्वादाह—अनुकूलव्यापारेति । यत इत्यादि । एतेन धर्मिव्यवच्छेदः । आह्वयतेति ।

तिङित्यर्थः । प्रथमान्ते इति । प्रथमान्तार्थ इति भावः । नन्वेवं यास्कविरोधोऽत आह—
भावेति । ननु प्रथानपदस्यार्थपरत्वमहद्वमत आह—सत्त्वेति । ननु धातोर्व्यापारावाचकत्वे
सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरत आह—फलेति । व्यापारस्योभयत्रान्वयः ।
अन्वय इति । आश्रयतासम्बन्धेनेति भावः । ननु 'कर्त्तरि कृत्' इत्यतः कर्त्तरिति 'ल
कर्मणि—' इत्यत्रानुवर्तते । तत्र तत्त्वानुकूलव्यापारार्थकत्वे कृद्विधायकेऽपि तथैव स्यात् ।
पाचको देवदत्त इत्यादौ सामानाधिकरण्यव्यवहारस्तु लक्षणयत्थाशङ्कानोदनायाह—अत
एवेति । वक्ष्यमाणयुक्तोरेवेत्यर्थः । नन्वेवं लकारविधायकेऽपि तदर्थकत्वापत्तिरत आह—
शब्दानुवृत्तिपक्षेति । अयमाशयः—'लिम्पतीव—' इत्यत्र समवायसम्बन्धेन 'लेपनादि-
व्यापारात्मकस्य लेपनादिकर्तृत्वस्यैव तम आदिशुद्धेशः । ननु प्रथमान्तार्थस्य तम आदेः
कर्तुराख्यातार्थविशेषणत्वेनैकदेशत्वमुक्तमिति चेन्न, धातोः फलमात्रनर्गः कर्तृत्वम् (अनु-
कूलो व्यापारः) तिङर्थः, एतच्च तिङर्थस्य व्यापारस्याश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तार्थे कर्त्तरि
अन्वय इति न प्रथमान्तार्थस्य कर्तृविशेषणत्वमित्याशयात् । न चैवरीत्या तिङ्द्वित्वाक्य-
जन्यबोधे प्रथमान्तार्थस्य प्राधान्ये स्वीकृते 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कसिद्धान्त-
विरोध इति शङ्कम्, 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्युत्तरवाक्ये प्रधानपदस्याभिधेयपरत्व-
त्वात् उक्तपूर्ववाक्येऽपि प्रधानपदस्य तथार्थकत्वम्, आख्यातपदस्य तिङ्परत्वज्ञातीकृत्य
'भावार्थकरितब्' इति व्याख्यानेनाविरोधान् । 'तिङ्र्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वम्
सकर्मकत्वम्, तिङ्र्थव्यापारममानाधिकरणफलवाचकत्वमकर्मकत्वम्' इत्येवं परिष्कारेण
सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरपि न भवितुमर्हति । ननु व्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्य
प्रथमान्तार्थे तमसि विशेष्ये आश्रयतासम्बन्धेनान्वयमङ्गीकृत्य 'लेपानुकूलव्यापाराश्रयः
तम' इति बोधो यथा प्रागुपपादितस्तथाऽधुना कृदर्थस्यापि भावस्य (व्यापारस्य)
आश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तार्थेऽन्वयमङ्गीकृत्य 'तमो लिम्पति' इत्यर्थे 'तमोलेपः' इत्यु-
च्यतामिति चेन्न, 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति सिद्धान्ते जायति
घनार्थस्य तमसि आश्रयत्वाऽन्वयासम्भवात् । न च व्यापाररूपार्थे तिङो विधानाय
'कर्त्तरि कृत्' इत्यतोऽनुवृत्तस्य 'कर्त्तरि' इत्यस्य 'ल कर्मणि—' इत्यत्र 'कर्तृत्वे' इत्यर्थ-
करणीयस्तथा च 'कर्त्तरि कृत्' इत्यत्रापि तस्य पदस्य तादृश एवार्थ आस्थेयः स्यात्,
अनित्यात्, तथा च प्लुल्लूजादीना कृत्यप्रत्ययानामपि व्यापारार्थकत्वापत्तिरिति
वाच्यम्, 'शब्दानुवृत्ति' 'अर्थानुवृत्ति' इत्युभयो प्रतिष्ठितयो पक्षयो प्रथमपक्षस्यैवात्रा-
ङ्गीकारेण 'ल कर्मणि—' इत्यत्र कर्तृत्वार्थकत्वा स्वीकरिष्यमाणस्यापि 'कर्त्तरि' इत्यस्य
'कर्त्तरि कृत्' इत्यत्र व्यापाराश्रयार्थकत्वाङ्गीकारे सतिविरहात् । अत एव 'भावे' इति
घनादिविधायकसूत्रस्य पदं सार्थकं भवति । यदि तु 'कर्त्तरि कृत्' इत्यत्रापि कर्तृत्वार्थकं
कर्त्तरितिपदं स्यात् तदा तेनैव सूत्रेण अन्यैः कृतप्रत्ययै सह घनादेरपि भावार्थे विधाने सिद्धे
तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव भवेत् इति । शब्दानुवृत्तिपक्षेऽनुवृत्तस्य शब्दस्य पुनस्तत्रार्थबोधे
करणीये आकाशाज्ञानादिरर्थबोधतामभौ पुन उपादनीया ततश्च तत्र पक्षे गौरवम्,
अर्थानुवृत्तिपक्षे तु न तद्गौरवमिन्यत पश्चान्तरमाह—यदिति । तिङ्र्थस्य कर्तुः । अग्नेदेनेति ।
सामान्यविशेषयोरभेदान्वयादिति भावः । भजापत्तेरिति । एकप्रदोपस्थाप्ययोस्तत्त्वे तु
एकप्रसरतामज्ञापत्तेरिति भावः । युक्तान्तरमाह—सत्या हीति । प्राग्वद्त्रापि मते निरुक्त-
विरोध प्रकारान्तरेण परिहरति—भावेति । पूर्वमाख्यातपदेन तिङ् गृहीतः, इदानीं
धातुरिति विरोधः । ननु वैशाकरणमतीत्या प्राकपोक्तमिति तद्विरोधोऽत आह—न

चेति । उपसहरति प्रपञ्चयिष्यते चेति । उपरिष्ठादिति । एतेन । 'पण्डितराजोऽमिसच्चिद्वन्द्वे स्वतन्त्रालकारिकतन्त्रसिद्धान्तप्रतिपादक स्वतन्त्र प्रकरणं रित्त्वयिपुरासीत्' इति प्रतीयते, परन्तु पाठकजनदुरदृष्टवशादुपलब्धेऽरिमन्निबन्धे तत्प्रकरणं नायातम् । अर्थाधिकारानुरोधेन 'कर्तरि कृत्' 'ल कर्मणि च—' इत्युभयत्र 'कर्तरि' इति पदम् व्यापाराप्रयथोपक्रमेव, तथा च 'लव्यापारौ धातौराश्रयश्च तिङोऽर्थ इत्येव फलितम्, एवञ्च 'लेपनादिकर्तृत्व तमश्चादि-भूत्येक्ष्यते' इति प्रागुक्तं न सम्भवतीति चेत् ? सत्यम्, किन्त्वेषमपि तिङर्थस्य कर्तुरभेदेन प्रथमान्तार्थे तमश्चादाबुद्धेः, 'देवदत्त पचमान' इत्यादाविव 'देवदत्त पचति' इत्यादावपि तिङर्थस्याभेदेन प्रथमान्तार्थ एव विशेषणत्वस्योचित्यात्, सामान्यविशेषयोरभेदान्वये बाध-कामावात् । तिङर्थस्याप्रयस्य वृत्तित्वात्मकभेदसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽन्वय इति प्रार्थानाना-पन्यास्तु न शोभन, 'देवदत्त पचति', 'तमो लिम्पति' इत्यादी प्रथमान्तार्थस्योद्देश्यत्वं तिङर्थस्य च विधेयत्वं यासर्वं स्वारसिकं प्रतीयते तस्य भङ्गापत्तेः । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहाय्यं वृत्तस्यो प्रत्ययार्थं प्रधानम्' इति व्युत्पत्तिव्यवधानजन्यपापप्रणोदकप्रायश्चित्तप्रसङ्गा-पत्तेः । मन्मते तु धात्वर्थस्य तिङर्थं प्रति विशेषणत्वसिद्धया न तदापत्तिः । ननु 'भाव-प्रधानम्—' इति यास्कचनविरोधं पुनरस्मिन् कल्पे समापततीति चेत्, आख्यातपदस्य धातुपरत्वं स्वीकृत्य 'भावनार्थको धातु' इति विवरणे विरोधाभावात् । प्रथमान्तार्थमुख्य-विशेष्यक एव बाध्यायबोधो, न तु व्यापारमुख्यविशेष्यक इति साराशः । अलङ्कारिक-तन्त्रस्य स्वतन्त्रतया वैयाकरणमतविरोधो न दोषायेति भावः । पूर्वोक्तं प्रकृतानुसरणं विरुद्धाह—एव चेति पूर्वमतेनाह—भेदेनेति । द्वितीयमतेनाह—अभेदेनेति । प्रथमान्तार्थं तमसि लेपनकर्तृत्वस्य आश्रयतासत्तरेण आश्रयतानियामकमवायसत्तरेण वा भेदात्म-केन सम्भावनम् (उल्लेक्षणम्) इति प्रथममतसिद्धा रीतिः, प्रथमान्तार्थं तमसि लेपन-कर्तुरभेदेन (तमोल्लेपनकर्तृ इव) इत्याकारकम् उल्लेक्षणम् इति द्वितीयमतसिद्धा रीति-रिति भावः । क्रमेणैव मतद्वयव्यवच्छेद्यमाह—न त्विति । तम कर्तृकव्यापने निर्गोणे विषये तम कर्तृकलेपनस्य निगरणकर्तृविषयिणोऽभेदेनोल्लेक्षणमिति प्रार्थानोक्तं नैति भावः । तत्र हेतुमाह—सर्वजनसिद्धाया इवार्थस्य विधेयताया इति । विषयनिष्ठोद्देश्यता-निहितम् इवार्थसम्भावनाविषयिणो लेपनादे प्रतीयमानं यद् विधेयत्व तस्य भङ्गापत्तेरि-त्यर्थः । विषयस्य तत्र मते विषयिणोचकेन निर्गोणत्वादिति भावः । ननु निर्गोणस्य विषय-मादाय तदमज्ञोऽत आह—तम इति । विषयनिगरणस्यलेऽपि उद्देश्यविधेयभावस्वीकारे 'तम कर्तृक लेपनमिव' इति वाक्यादपि उद्देश्यविधेयभावप्रतीत्यात्मकोल्लेखाप्रतीत्यापत्ति-रिति भावः । अनुवादपुरस्सरं शेषान्तरमाह—मदि चेति । विषयैति । विषयिणो तपः-सम्बन्धिनेत्यर्थः । विषयेति । विषयस्य तम सम्बन्धिन इत्यर्थः । स्वेति । लेपनेत्यर्थः । रूपकेऽपीति । अनुचनिमित्तके रूपके इत्यर्थः । मयदीत्या तत्रापि निमित्तरूपविषयस्यानु-पादानं अन्वयसान्धारस्तीति भावः । तदेवाह—'लोकात्—' इति । उपसहरति तस्मादिति । ये तमसि लेपनकर्तृत्वस्योल्लेखा मन्यन्ते, ते तम कर्तृकव्यापनं तादृशोल्लेखाया निमित्त-मज्ञीर्षवन्ति । तद्य निमित्तं तदा स्यादिति उल्लेख्यमाणलेपनकर्तृत्वसमानाधिकरणं सद् विषयवृत्ति भवेत् । परन्तु तम कर्तृकव्यापनस्य तत्त्वं स्वतो न सम्भवति, लेपनकर्तृत्वस्य परतुतोऽधिकरणे लेपनकारके चेतने तस्यावृत्तितया प्रोक्तसामानाधिकरण्यविरहात् । लेपन-व्यापनयोर्मिथोऽभेदे आरोप्यमाणे तत्सम्भवति, अतो विषयितया स्वीकृतेन लेपनेन विषय-तया स्वीकृतस्व व्यापनस्य निगरणमावश्यकम्, अन्यथाऽभेदो न स्यात्, अभेदाभावे च

निमित्तता तस्य न भवेत्, निमित्ताभावे उद्योक्षपि न सिद्धयेदित्यक्त्वामेव कामेन वा तैरपि
 लेपने व्यापनाध्यवसानं स्वीकार्यमेव । एवं स्थितौ यदि वय (प्राचीनाः) उत्प्रेषाया
 विषयविपरिणोरेषाध्यवसानं स्वीकुर्महे तर्हि को नोपराधः ? इति शङ्काया इदं समाधानं—
 यदस्मदीयनिमित्ततासम्पादन्युक्तिमादाय भवन्तो न निज दोषं मार्जयितुं प्रभवन्ति यतो
 वय केवलं निमित्ततासम्पादनाय (उत्प्रेक्षमाणधर्मसमानाधिकरणभूतधर्मस्य विषयवृत्ति-
 तासम्पत्तये) लेपनेन व्यापनस्य निर्णीतत्व मन्वामहे । भवन्तस्तु एतदध्यवसानमादायो-
 त्प्रेक्षामेवानुपात्तविषयामध्यवसानमूला चाचक्षते । यदि भवन्तो निमित्तस्यानुपात्तत्वेनाध्य-
 वसानमूलकत्वेन च विषयस्यानुपात्तत्वमलङ्कारस्याध्यवसानमूलकत्वञ्चाभिप्रयन्ति तदा रूप-
 कस्यापि अनुपात्तविषयत्वमध्यवसानमूलकत्वञ्च भवद्विरङ्गीकरणीय स्यात्, यतो 'लोकान्
 हन्ति स्रलो विषम' (स्रलरूप विष लोकान् भारयतीत्यर्थः) इत्यादौ निमित्तस्य
 स्रलगतदुःखदार्तत्वस्य अनुपादानं विषयगतहन्तृत्वात्मनाध्यवसानमास्ति । न केवल-
 मस्मिन्नेव रूपके एष दोषः, अपि तु 'मुखचन्द्र' इत्यादिप्रसिद्धरूपकेऽपि, तत्रापि
 निमित्तस्य मुख्यताहादकत्वस्यानुपादानात्, चन्द्रगताहादकत्वात्मनाऽध्यवसानाच्च । अतो
 निमित्तभागस्यानुपात्तत्वमध्यवसानमूलकत्ववादाद्योत्प्रेषायस्तत्त्वं नाङ्गीकर्तुं चोभ्यम्, यस्य
 रूपकादेस्तत्त्वं भवतामपि नाभिमत तत्रापि भवदोषात् तत्प्रसङ्गात् । अतो निमि-
 त्ताद्योऽतिशयोक्तिरेवालङ्कारो मन्तव्यः, तेन च निमित्तसम्पत्तौ मङ्गलरीत्योत्प्रेक्षा स्वीकार्या
 इति विशदोऽर्थः । हेतुत्प्रेषायामाह—एवमिति । तत्र तस्यामुत्प्रेषायाम् । सम्बन्धे
 शोभासम्बन्धे । लग्नमेवेति । हर्षहेतुकं लग्नमित्यर्थः । 'उन्मेषं य—' इत्यत्रापि पश-
 च्छमीरूपे विषये लग्नहेतुतया हर्षस्योत्प्रेक्षा, तत्रोत्प्रेषाया हर्षहेतुकपादलग्नं निमित्तम्,
 तच्च पूर्ववत्तावन्न निमित्तं भवितुमर्हति शान्तनाभाविके शोभालग्नैऽध्यवसितं न स्यात्,
 अतस्तावन्ते पूर्ववदतिशयोक्तिरिति भावः । हेतुत्प्रेषाया एवोदाहरणान्तरमाह—तथेति ।
 'सैषा—' इति । लङ्घातः अयोध्यामागच्छन् रामभद्रः सीता प्रत्याचष्टे—त्वाम्, विचिन्वता
 गवेपयता, मया, उन्मां पृथिव्याम्, भ्रष्टं पतितम्, त्वचरणारविन्दस्य त्वदोगपादकम-
 लस्य, विरलेपेण वियोगेन, यद्दुःखम्, तस्माद्धेतोरिव, धद्रमौनं स्वीकृतमूकत्वम्, एकम्,
 नूपरं चरणभरणविशेषः, यत्र, अदृश्यत दृष्टम्, सा, एषा, स्यली अकृत्रिणा भूर्नरस्ती-
 त्यर्थः । उपपादयति—अत्रापिति । मौनं द्विविध निश्चलत्वहेतुकं तु खहेतुकञ्च, तथोरभेद-
 माह—तथेति । निःशब्दत्वाध्यवसितमिति । निःशब्दत्वे तादात्म्येनाध्यवसितमित्यर्थः ।
 तस्योभयनिष्ठत्वमाह—विरलेपेति । 'सैषा स्यली—' इत्यत्रापि प्राग्वन्नुपुरे मौनकारणतया
 वियोगजन्यदुःखस्य समवायसम्बन्धेनोत्प्रेक्षा, तत्र चोत्प्रेषाया निश्चलत्वनिमित्तकमौनत्वे तादा-
 त्म्येनाध्यवसिततया विरलेपदुःखसमानाधिकरणत्वविशिष्टनूपुरवृत्तित्ववद्दुःखनिमित्तकमौनं
 निमित्तं भवति । एवं च निमित्ताद्योऽत्रापि पूर्ववदतिशयोक्तिरिति भावः । ननु निश्चलत्वनिमित्त-
 कनि शब्दत्वात्मके विषये विरलेपदुःखहेतुकमौनस्याभेदेनोत्प्रेक्षा कुंठो नेति चेन्न, उत्प्रेषाया
 इवशब्दार्थाङ्गित्वस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्सर्गसिद्धाया भङ्गापत्तेः । 'दुःखादिव' इत्युक्तौ इवशब्दा-
 र्थाङ्गित्वतो दुःखपदार्थ एवेति तस्यैवोत्प्रेक्ष्यता समुचिता, परन्तु तथाङ्गीकारे सा न स्यादिति
 तात्पर्यम् । न च आकाङ्क्षादिना दुःखहेतुकमौनपदार्थ एवेत्यर्थान्वयोऽस्ति क्वचन्यम्,
 तथा सति पूर्वोक्तदोषाभावेऽप्यपररोपापत्तेः । तथाहि उत्प्रेक्षास्थले नियमतः उद्देश्यविषय-
 भावो भवत्येव, तत्र विषय उद्देश्यम्, विषयी च विषेयो भवति । एवञ्चानयोः उद्देश्य-
 विषेयभावाय पूर्वपद्याद्भावेन निर्देश आवश्यकः, एकतरस्यापि अनिर्देशो व्युत्क्रमेण वा

निर्देशे तत्त्वासम्भवात् । तत्र मते तु विषयभूतं निश्चलत्वहेतुकं मौन निर्गोणं (अनिर्दिष्टम्) अतो निर्दिष्टस्यापि विषयिभूतस्य तु सहेतुकमौनस्य विषेयत्वं न भवेत् । ननु निर्गोर्णमेव विषयमादाय कथञ्चित् उद्देश्यविषयमानं स्यादिति चेत् १ भवतु नाम, तथापि तादृशो-
लक्षणं न युक्तम्, निमित्तानुपलब्धे । न चैककालप्रभवत्वं निश्चलत्वहेतुकमौनदु सहेतुक-
मौनयो साधारणो धर्म इति तदेव निमित्तमिति वाच्यम्, अत्रमत्कारिणस्तस्य धर्मस्यो-
पमायामिवोद्देश्यायामप्यप्रयोजकत्वात् । फलोद्देश्यास्यत्वेऽपि 'चोलस्य—' इत्यादौ अभेदा-
तिरिक्तेन सम्बन्धेन फलस्यैवोद्देश्या, नामेदेन फलसाधकविपाटनादेरित्यपि बोध्यम् ।
एतेन सर्वत्राभेदेनैवोद्देश्येति प्राचीनमत वैकल्पिकरूपेण समर्थयन् अप्यप्यदोक्षितोऽपि निरस्त
इति भाव ।

अब उक्त प्राचीन मत पर विचार किया जाता है—तत्र इत्यादि । विचार यह है कि-
सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उपदेशा होती है यह जो प्राचीनों ने नियम-सा मान रखा
है उसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि लक्ष्यों-उदाहरणों-में भेदसम्बन्ध से भी उपदेशा
देखी जाती है, जैसे—'अस्यां मुनीनामपि मोहमूढे—' इत्यादि में 'मोह' आदि की मुनि
आदि में उपदेशा समवायसम्बन्ध से । आप कहेंगे—प्राचीनों के मत में पहले ही कहा
जा चुका है कि—वहाँ मुनियों से सम्बन्ध रखने वाले 'दर्शन' आदि में मोह की, अभेद-
सम्बन्ध से उपदेशा है, कि 'मुनियों' में 'मोह' की । तो इसके उत्तर में मेरा कथन
यह है कि—जब भेदसम्बन्ध से उपदेशा करने में कोई बाधक नहीं है तब ऐसी कल्पना
स्वर्ग्य है । 'अभेदसम्बन्ध से ही उपदेशा होती है' ऐसा कोई चेदबोधित नियम तो है
नहीं कि जिसके लिये ऐसा आप्रह किया जाय । आप कहेंगे—वेदबोधित नियम वैसा
भले ही न हो, पर लक्षण तो अभेदसम्बन्ध से ही उपदेशा का बोध करता है—अर्थात्
लक्षण ऐसा ही उपदेशा का उपलब्ध होता है जिसमें अभेदसम्बन्ध से उपदेशा सिद्ध
की गई है, फिर भेदसम्बन्ध से उपदेशा किस लक्षण के आधार पर मानी जायगी, तो
इसका समाधान यह है कि—लक्षण कोई परायत्त वस्तु थोड़े ही है, वह तो पुरुषों के
अधीन की ही चीज ठहरी—भेदसम्बन्ध से होने वाली उपदेशा का भी लक्षण बनाया
जा सकता है (जैसा प्रत्यकार ने बनाया भी है) । यह तो हुई आपके प्रथम उदाहरण
की बात । अब दूसरे उदाहरण 'लिम्पतीव तमोऽज्ञानि' को लीजिए । यहाँ भी अन्वकार
आदि विषयों में 'लेपनकर्तृत्व' आदि का ही 'आश्रयता' किंवा 'समवाय'सम्बन्ध से
उपदेशा होती है—यही मानना उचित है । आप कहेंगे—ऐसा नहीं हो सकता यह बात
युक्तिपूर्वक प्राचीनमत में सिद्ध की जा चुकी है—अर्थात् अन्वकार आदि प्रथमान्त पदार्थ
तिष्ठर्थ-आश्रय का विशेषण है—अप्रधान है, अतः उसमें 'कर्तृत्व' (व्यापार) की उपदेशा
नहीं हो सकती और उम निष्ठर्थ आश्रय की ही अभेदसम्बन्ध से अन्वकार आदि में
उपदेशा मानने यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह आश्रय धात्वर्थ-व्यापार-का विशेषण
है इत्यादि बातें प्राचीन मत में कही जा चुकी हैं । तो इसका उत्तर यह है कि—प्राचीनों ने
जो निष्ठ का अर्थ आश्रय माना है वह गलत है, वस्तुतः अनुकूल व्यापाररूप कर्तृत्व ही
तिष्ठ का अर्थ है और उसका अन्वय प्रथमान्त पदार्थ—जो वाक्यार्थबोध में सब से
विशेष्य होता है—में आश्रयतासंबन्ध से होता है, अतः कोई दोष नहीं । तात्पर्य यह
कि प्रथमान्तार्थ—अन्वकार आदि—सब से प्रधान ही है उनमें तिष्ठर्थ 'कर्तृत्व-व्यापार'
की उपदेशा मानने में कोई अड़चन नहीं । आप कहेंगे—ऐसा मानने पर 'भावप्रधान-
साध्यातम्' इस निरक्त के बावजू से विरोध होगा, क्योंकि उसका अर्थ है—'आख्यात
अर्थात् तिष्ठन्त में भाव अर्थात् व्यापार प्रधान होता है' और आप के हिसाब से प्रधान
हो जाता है प्रथमान्त पदार्थ । तो इस विरोध के परिहाराय उक्त निरक्ता के वाक्य का
अर्थ इस तरह कर लेना चाहिए कि आख्यात अर्थात् तिष्ठ (तिष्ठन्त नहीं) प्रत्यय का

प्रधान—अर्थात् वाच्य—‘भाव’ (अर्थात् व्यापार) होता है। इस अर्थ के अनुसार कोई विरोध नहीं। आप कहेंगे—‘प्रधान’ शब्द का अर्थ आपने ‘वाच्य’ किस आधार पर कर लिया ? तो इसके उत्तर में मेरा कहना यह है कि—मिसल आधार पर उक्त ‘निष्क-वाच्य’ के अग्रिम वाक्य ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि = प्रातिपदिक के वाच्य सत्त्व (द्रव्य) होते हैं’ में प्रधान पद का अर्थ वाच्य किया जाता है। तात्पर्य यह कि इस द्वितीय वाक्य में प्रधान पद का अर्थ ‘मुख्य’ हो नहीं सकता, क्योंकि अनेक अर्थों के होने पर ही किसी एक अर्थ की मुख्यता कही जा सकती है और प्रातिपदिक का ‘द्रव्य’ से अन्य कोई अर्थ होता ही नहीं, अतः वहाँ प्रधान पद का अर्थ ‘वाच्य’ मानना ही पड़ता है, फिर यदि उस वाक्य के पूर्व वाक्य (‘भावप्रधान—’ में) प्रधान शब्द का ‘वाच्य’ अर्थ किया जाय तो यह कोई निराधार बात नहीं हुई। आप कहेंगे—यदि धातु का अर्थ केवल फल किया जाय, व्यापार नहीं, तब सकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का विभाग कैसे किया जायगा ? तात्पर्य यह कि जय धातु के फल और व्यापार दोनों अर्थ माने जाते थे तब ‘फल जिसमें रहता हो उससे भिन्न में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु सकर्मक और फल जिसमें रहता हो उसी में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु अकर्मक’ इस तरह से विभाग होता था अब तो वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि आपके हिसाब से किसी भी धातु का अर्थ व्यापार होता ही नहीं, किन्तु तिङ् प्रत्यय का अर्थ व्यापार होता है तो इसका समाधान यह कि—सकर्मक-अकर्मक धातुओं के विभाग के लिये ‘फल और व्यापार एक अर्थ के ही अर्थ हों’ यह आवश्यक नहीं है, आवश्यक है उन दोनों (फल तथा व्यापार) का एक में रहने और न रहने का, अतः उन दोनों को भिन्न भिन्न अर्थ (धातु और तिङ्प्रत्यय) का अर्थ मानने पर भी उक्त विभाग हो जायगा। तात्पर्य यह कि—अब ‘तिङ् प्रत्ययार्थ-व्यापार के अधिकरण से अन्य अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु सकर्मक और तिङ्प्रत्ययार्थ व्यापार के अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु अकर्मक’ इस प्रकार से कहा जायगा। इस बात को स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह समझिए कि—सकर्मक धातुओं के स्थल में ‘फल’ (कर्ता के व्यापार से सिद्ध होनेवाली वस्तु) कर्म में रहता है और व्यापार (फल को सिद्ध करनेवाली क्रिया) कर्ता में रहता है, जैसे—‘सोहन चावल पकाता है’ यहाँ ‘पकाने (फूँकने) आदि’ का फल (विक्रिति-चावल का फूलना) कर्म (चावल) में रहता है और ‘पकाना (फूँकना) आदि क्रिया’ कर्ता (सोहन) में रहती है और अकर्मक धातुओं के स्थल में ये दोनों (फल तथा व्यापार) कर्ता में ही रहते हैं, जैसे—‘मोहन नहाता है’ यहाँ ‘व्यापार = गोता लगाना आदि’ मोहन में रहती है और उस व्यापार का ‘फल = सफाई आदि’ भी उसी में रहता है। आप कहेंगे—यदि आपके कथनानुसार तिङ्प्रत्ययका अर्थ व्यापार और उसका ‘आश्रयता’संबन्ध से ‘प्रथमान्त पदार्थ’ में अन्वय माना जाय तो ‘भाव-अर्थात् व्यापार’ अर्थ में जो कृत् प्रत्यय-घञ् आदि होते हैं उनका भी अर्थ ‘व्यापार’ होता है, अतः उस व्यापार का भी ‘आश्रयता’संबन्ध से अन्वय क्यों न हो जाय ? अभिप्राय यह कि—‘देवदत्तः पचति’ की तरह उसी अर्थ में ‘देवदत्तः पाकः’ प्रयोग होने में क्या बाधा रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—कृत्प्रयान्त शब्द प्रातिपदिक होते हैं—उनकी ‘कृत्प्रयान्तसमासाश्च’ इस पाणिनि-सूत्र से प्रातिपदिक लक्ष्य होती है, और दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबन्ध (भेद से अतिरिक्त अन्य किसी संबन्ध) द्वारा अन्वय हो नहीं सकता यह नियम है, अतः कृत्प्रत्ययार्थ भाव (व्यापार) का प्रथमान्तार्थ के साथ ‘भाभ्रयता’संबन्ध से अन्वय नहीं होता। अब शक्य रही यह कि—‘लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः’ इस सूत्र से ‘कर्ता’ अर्थ में तिङ्प्रत्यय का विधान होता है और इस सूत्र में ‘कर्तरि’ पद ‘कर्तरि कृत्’ सूत्र से अनुवृत्त होता है। अब यदि ‘लः कर्मणि—’ में ‘कर्त्’ शब्द का अर्थ ‘कर्तृत्व’ (व्यापार) किया जाय तो फिर ‘कर्तरि कृत्’ सूत्र में भी ‘कर्त्’

शब्द का अर्थ वही करना पड़ेगा, क्योंकि एक ही शब्द के दो सूत्रों में दो अर्थ तो बिप नहीं जा सकते और तब कृत् प्रत्यय (शुल्, वृच् आदि) भी 'कर्ता' अर्थ में न होकर 'व्यापार' अर्थ में होने लगेंगे और वस्तुतः ऐसा होता नहीं अतः आपकी सारी भूमिका ही विनष्ट हो रही है। तो इसका उत्तर यह है कि—'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्ता' (व्यापार का आश्रय) ही है, अतएव तो 'घञ्' आदि प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ समझाने के लिए 'भावे' सूत्र बनाना व्यर्थ नहीं होता, यदि 'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ केवल व्यापार माना जाय तब तो उस सामान्य सूत्र के चल से ही अन्य कृत्प्रत्ययों के साथ-साथ 'घञ्' आदि प्रत्ययों का भी विधान भाव=व्यापार अर्थ में हो ही जाता, फिर 'भावे' सूत्र की सृष्टि ही निरर्थक हो जायगी। फलतः 'भावे' सूत्र की सार्थकता के लिये 'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तरि' शब्द का अर्थ व्यापाराश्रय (कर्ता) माना जायगा, पर 'ल' कर्मणि—' इस सूत्र में 'कर्तरि' पद का अर्थ 'कर्तृव=व्यापार' मानने में भी कोई उस तरह की अनुपपत्ति नहीं होती, अतः वहाँ वही अर्थ माना जायगा। यत्न, मेरी भूमिका ठीक रह गई। आप कहेंगे—एक ही शब्द का अर्थ दो सूत्रों में दो तरह का कैसे किया जा सकता है—अर्थात् एक ही 'कर्तरि' पद का अर्थ जो आपने 'कर्तरि कृत्' में कर्ता और 'ल' कर्मणि च' में व्यापार कर लिया है यह तो उचित नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्र में अनुवृत्ति के विषय में दो पक्ष माने गये हैं—एक शब्दानुवृत्तिपक्ष और दूसरा अर्थानुवृत्तिपक्ष, उनमें से द्वितीय पक्ष का आश्रयण करने पर आपकी कही हुई अनुपपत्ति हो सकती है—अर्थात् अर्थानुवृत्तिपक्ष के अनुसार एक शब्द के दो अर्थ नहीं हो सकते यह बात सही है, पर प्रथम पक्ष में उक्त दोष नहीं आता—अर्थात् उस पक्ष के अनुसार अन्यायक शब्द का भी अन्यत्र अनुवृत्त होने पर दूसरा अर्थ किया जा सकता है। फलतः, 'कर्तरि कृत्' में धर्मी—व्यापाराश्रय—परक 'कर्तरि' पद को 'ल' कर्मणि—' इस सूत्र में धर्मी—व्यापार—परक मानने में कोई बाधा नहीं। यदि आप कहें कि—शब्दानुवृत्तिपक्ष में बड़ा गौरव है—अर्थात् शब्द को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर पुनः उस शब्द से अर्थबोध करने में अर्थबोध के कारणों—आकाश, ज्ञान आदि को द्वारा जुटाना पड़ता है और अर्थानुवृत्तिपक्ष में यह गौरव नहीं है, क्योंकि अर्थ को ही एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं पुनः अर्थबोध आदि का कोई बखेड़ा ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में अर्थानुवृत्ति ही की जायगी—अर्थात् 'कर्तरि कृत्' में 'कर्तरि' पद का जो अर्थ है व्यापाराश्रय, वहाँ 'ल' कर्मणि च—' में भी अनुवृत्ति होने पर होगा, होगा क्या, वह अर्थ उठकर जायगा शब्द नहीं, और जब 'ल' कर्मणि—' से व्यापाराश्रय अर्थ में तिङ् का विधान होगा तब आपकी कही हुई सभी बातें समाप्त हो जायेंगी, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—अर्थात् आपके कथनानुसार ही मैं भी मान लेता हूँ कि फल तथा व्यापार दोनों ही धातु के अर्थ हैं और तिङ् प्रत्यय का अर्थ आश्रय ही है, पर उस तिङ् अर्थ का अन्वय अभेदसबन्ध से प्रथमान्त पदार्थ में ही होगा—अर्थात् 'पचमानो देवदत्त = पकाता हुआ देवदत्त' यहाँ जैसे 'शानच्'प्रत्ययार्थ आश्रय का अभेदेन देवदत्त में अन्वय होता है उसी तरह 'देवदत्त पचति = देवदत्त पकाता है' यहाँ भी तिङ् अर्थ आश्रय अभेदसबन्ध से देवदत्त का ही विशेषण हो यही उचित है। (सामान्यविशेषणोभेदान्वयः = सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ का अभेदान्वय होता है, जैसे 'नीला घड़ा' यहाँ नीला है सामान्य और घड़ा है विशेष, उसी तरह तिङ् अर्थ आश्रय है सामान्य और प्रथमान्त पदार्थ देवदत्त आदि है विशेष, अतः उन दोनों में अभेदान्वय हो सकता है।) वैयाकरणों के अनुसार आपने जो तिङ् अर्थ आश्रय का भेदसबन्ध (वृत्तित्व) से धात्वर्थ (व्यापार) में विशेषण होता लिखा है वह कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो, सब लोगों को जो ऐसे वाक्यों में प्रथमान्त पदार्थ कर्ता की वहेरपता और तिङ् अर्थ की विधेयता प्रतीत होती है उसका भङ्ग होता है—

अर्थात् आपके हिसाब से तिङ्गर्ध उद्देश्य और धात्वर्थ (व्यापार) विधेय हो जाता है जो अनुभवविरुद्ध है। दूसरे 'प्रकृतिप्रत्ययौ साहाय्यं धृतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्— अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय साथ साथ अर्थ को कहते हैं पर उनमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है' इस श्रुति से जो यह फलित होता है कि—'प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है' यह यद्यपि एक उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, तथापि गति रहने पर उसका पालन करना ही उचित है और वैवाकरणानुयायी प्राचीनों के मत में इसका पालन नहीं होता, क्योंकि वे प्रत्यय तिङ्ग के अर्थ (आश्रय) को ही प्रकृति (धातु) के अर्थ व्यापार का विशेषण बताते हैं। अब रहा 'भावप्रधानम्' इस पूर्वोक्त निरूपणवाक्य से विरोध। उसका भी समाधान 'आख्यात' पद का अर्थ धातु कर लेने से हो जाता है। तत्पर्य यह कि—पूर्व मत में 'आख्यात' पद का अर्थ तिङ्ग किया गया था और अब उसका अर्थ 'धातु' करेंगे यदनुसार अब उस वाक्य का अर्थ होगा 'आख्यात—अर्थात् धातु का वाच्यभाव व्यापार है' इस अर्थ में कहीं कोई दोष नहीं। आप कहेंगे—ऐसा मानने से वैवाकरणों के मत का विरोध होगा—यह भी तो एक दोष ही है। तो मैं कहता हूँ—यह कोई दोष नहीं। आलङ्कारिकों का अपना एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है, वे वैवाकरणों के मत का अनुसरण करते चले इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात को हम आगे और विरह्य करेंगे, अतः अब प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं। (यहाँ यह समझना चाहिये कि प्रायः पण्डितराज आलङ्कारिकों के स्वतन्त्र सिद्धान्त के प्रसङ्ग पर एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखना चाहते थे पर दुर्योगवशात् अन्य अपूर्ण रह गया और उपलब्ध भाग में वह प्रकरण नहीं जा सका।) इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—'लिम्पतीव'—इत्यादि तिङन्तपदयुक्त वाक्यगत उल्लेख में भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से तिङ्प्रत्यय के अर्थ की ही उल्लेख प्रथमान्त-पदार्थ में होती है। 'भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से' इस कथन का अन्विष्ट यह है कि यदि 'तिङ्प्रत्यय का अर्थ व्यापार है' यह प्रथम पक्ष माना जाय तब उस तिङ्गर्ध की प्रथमान्तार्थ में भेदसम्बन्ध (आश्रयता किंवा आश्रयतानियामक समवाय) से उल्लेख और यदि 'यद्वा' वाला 'तिङ्ग का अर्थ आश्रय है' यह द्वितीय पक्ष माना जाय तब उस तिङ्गर्ध की प्रथमान्तार्थ में अभेदसम्बन्ध से उल्लेख। सारांश यह कि धात्वर्थ—लिपिधातु के अर्थ लेपनात्मक व्यापार की उस लेपन द्वारा निर्गुण व्यापनात्मक व्यापार में उल्लेख है इस बात को सिद्ध करनेवाला आपका (प्राचीनों का) पक्ष ठीक नहीं है। कारण, एक तो, 'इव' के अर्थ (संभावना) की (वस्तुतः संभावना के विषयी लेपन आदि क्रिया की) विधेयता, जो कि सर्वजनवेद्य है, उस पक्ष में नहीं बन पाती, क्योंकि—उद्देश विधेय-भाव के लिये उद्देश्य और विधेय का भिन्न भिन्न पदों से प्रतिपादित होना अनिवार्य है। दूसरे, यदि आपके कथनानुसार लेपन में अश्वयसित व्यापन को विषय मानकर उसमें लेपनरूप विषयी की उल्लेख मानी जाय तब 'अन्धकार जिनका कर्ता हो तादृश लेपन जैसा' इस वाक्य से—जिसमें उद्देश्यबोधक कोई पद नहीं—उल्लेख की प्रतीति होने लगेगी, क्योंकि वैसा अध्यवसान तो यहाँ भी माना जा सकता है। अब यदि प्राचीनों के मत का समर्थन करनेवाले यह कहें कि जो लोग 'भेद-सम्बन्ध से अन्धकार आदि में लेपनकर्तृत्व को उल्लेख' मानते हैं वे भी उस तरह की उल्लेख का निमित्त 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' को ही मानते हैं और तादृश 'व्यापन' तब तक निमित्त हो नहीं सकता जब तक अन्धकारसम्बन्धी लेपन को विषयी मानकर उसमें अन्धकारसम्बन्धी व्यापन को विषय मान कर उसका ताद्रूप्यारोप न कर दें—अर्थात् लेपन से व्यापन को निर्गुण नहीं मान लें, क्योंकि ऐसी (भेदसम्बन्ध-मूलक) उल्लेखाओं में वह धर्म निमित्त होता है जो उल्लेखित होने वाले धर्म के साथ रह कर विषय में भी रहे और उक्त 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' स्वतः (जब तक 'अन्धकार-

कर्तृक' लेपन के साथ उसका आरोपित अभेद नहीं मान लिया जाता तब तक) ऐसा है नहीं । कारण 'लेपनकर्तृक' घस्तुतः रहता है पोतने वाले किसी मनुष्य में, न कि अन्धकार में, अतः 'व्यापन' लेपन के साथ रहने वाला ही नहीं होता । हाँ, जब 'लेपन' तथा 'व्यापन' में अभेद मान लिया जायगा—'लेपन' शब्द से ही 'व्यापन' की सूचना समझ ली जायगी तब 'व्यापन' उक्त उल्लेखा का निमित्त होगा । फलतः निमित्त बनाने के लिये आप को भी (नवीनों को भी) लेपन में व्यापन का अध्यवसान मानना पड़ता ही है । ऐसी स्थिति में यदि हम (प्राचीनों) ने उन परस्पराप्यवसान वाले लेपन व्यापन को निमित्त न मानकर उल्लेखा का विषयी विषय ही मान लिया तो क्या अनुचित किया ? तात्पर्य यह कि—आप लेपन और व्यापन को अध्यवसान का विषयी तथा विषय मानकर उनको उल्लेखा का निमित्त बनाते हैं और हम उन्हीं लेपन तथा व्यापन को उल्लेखा का भी विषयी और विषय भी मान लेते हैं, कोई गौरव-लाभ तो दोनों के मतों में होता नहीं, तो इसके उत्तर में नवीनों का कथन है कि—प्राचीन हमारी दी हुई निमित्तता-साधक युक्ति को लेकर, अपने पक्ष को निर्दुष्ट नहीं बना सकते, क्योंकि हम केषल निमित्त बनाने के लिये (अर्थात् धर्म के साधारणीकरण के लिये) 'लेपन' से 'व्यापन' को निर्गीण मानते हैं, उसके चलते 'उल्लेखा' में किसी तरह की नवीनता नहीं मानते, पर आप तो इस निगरण के कारण उल्लेखा को अनुपात्तविषया और अध्यवसानमूलक कह रहे हैं । यदि आप के विचार से निमित्त के अनुपात्त और अध्यवसानमूलक होने मात्र से विषय का अनुपात्त होना और अलङ्कार का अध्यवसानमूलक होना माना जाय तो रूपक को भी अनुपात्तविषय तथा अध्यवसानमूलक मानिए । कारण, 'लोकान् हन्ति खलो विषम्-अर्थात् खलरूप विष लोगों को मारता है' इत्यादि रूपक में भी 'खल का दुख देना'रूप निमित्त अनुपात्त है और 'विषकर्तृक हनन'रूप से उस निमित्त का अध्यवसान भी है । यही नहीं, किन्तु 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकों में भी वैसी ही स्थिति है—अर्थात् 'आह्लादकरव'-रूप निमित्त अनुपात्त है और निमित्तरूप से अभिमत मुखगत 'आह्लादकरव' चन्द्रगत 'आह्लादकरव'रूप से अध्यवसित है, अन्यथा साधारणता के अभाव में वह निमित्त ही नहीं हो सकता । अतः उन प्रसिद्ध रूपकों को भी अनुपात्तविषय तथा अध्यवसान-मूलक मानना पड़ेगा, जो आपको भी दृष्ट नहीं, किसी का अभिमत नहीं । अतः यह मानना चाहिए कि 'लिम्पतीध—' इत्यादि में निमित्त अश में अध्यवसान हुआ है अतः उस अश में अतिशयोक्ति अलङ्कार है और उस अतिशयोक्ति द्वारा निमित्त तैयार होने पर तन्निमित्तक अन्धकार में लेपनकर्तृक की भेदसम्बन्ध से उल्लेखा होती है । यह तो हुई धर्मोपेक्षा की बात । जब हेतूप्रेक्षा को लीजिए । 'उन्मेध यो मम न सहते—' इस हेतूप्रेक्षोदाहरण में भी 'पद्मलक्ष्मी (कमलशोभा)' ही उल्लेखा का विषय है और उसमें 'चिपटने के हेतु' रूप से 'हर्ष'रूप विषयी की उल्लेखा होती है । इस उल्लेखा में निमित्त है 'पैरों के साथ शोभा के स्वाभाविक सन्ध (चिपटने)' से अध्यवसित 'हर्ष के कारण चिपटना' । हेतूप्रेक्षा का एक और प्रसिद्ध उदाहरण देखिए—'सैषा स्पली—' लका से लौटते हुए रामचन्द्रजी सीता से कह रहे हैं—यह वही अकृत्रिम भूमि है, जहाँ तुमसे हूँ बते हुए मीने, पृथिवी पर गिरा हुआ तेरा एक नूपुर देखा था, जो मानो तेरे चरण कमल के विद्योत के दुख से मौन साधे हुए था—एकदम चुप हो रहा था । यहाँ भी मौन के हेतुरूप से नूपुर में विद्योत-जन्म्य दुख की उल्लेखा की जा रही है । तात्पर्य यह कि—यहाँ उल्लेखा का विषय है 'नूपुर' और विषयी है 'विद्योतजन्म्य दुख' । इस उल्लेखा में निमित्त है 'निश्चलता के कारण शब्दरहित होने' में तादात्म्येन अध्यवसित 'मौन' । अभिप्राय यह कि 'दुःखहेतुक मौन'—जो यहाँ उक्त है—वही निमित्त है, पर निमित्त बनाने के लिये उसका निश्चलताहेतुक मौन में तादात्म्यारोप किया गया है । कारण,

इस तरह पुरुष रूप माना हुआ मौन ही वियोगजन्य दुःख के साथ रहते हुए नूपुर में रहनेवाला होता है। इस तरह यह उल्लेख भी भेदसंबन्ध से ही होती है। प्राचीनों ने जो यहाँ निश्चलता के कारण होनेवाले शब्दराहित्यरूप विषय में वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाले 'मौन' की अभेदसंबन्ध से उल्लेख सिद्ध की है वह कथमपि उचित नहीं, क्योंकि एक तो, उल्लेख में 'इव' शब्द का अन्वय जिसके साथ हो उसी की उल्लेख होती है यह एक नियमसिद्ध बात है और यहाँ 'इव' शब्द का अन्वय 'कुःक्ष' के साथ ही है। दूसरे, जब विषय (आपके हिसाब से निश्चलता के कारण होनेवाली निःशब्दता) को निर्गोर्ण मानते हैं तब विषयी (आपके हिसाब से वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाला मौन) विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होना अनुभव-विरुद्ध है। तीसरे, ऐसी स्थिति में अन्य किसी निमित्त को हूँदना पड़ेगा। यद्यपि यहाँ एक धर्म ऐसा है जो प्राचीनमतसिद्ध उल्लेख के विषय तथा विषयी दोनों में रहनेवाला है और वह है 'एक काल में उत्पन्न होना' (यह धर्म निश्चलताहेतुक मौन और वियोग-दुःखहेतुक मौन दोनों में है—अर्थात् वे दोनों ही 'मौन' एक काल में उत्पन्न हुए हैं) अतः इसी धर्मको उक्त अभेदेन उल्लेख का निमित्त मान लिया जाय ऐसा कहा जा सकता है, तथापि ऐसा कहना सगत नहीं होगा, क्योंकि जैसे उपमास्थल में उसी साधारणधर्म को उपमाप्रयोजक (साधक) माना जाता है जो चमत्कारी हो उसी तरह उल्लेखस्थल में भी उसी साधारणधर्म को उल्लेख-साधक माना जाना चाहिए जो चमत्कारी हो और उक्त साधारणधर्म चमत्कारी है नहीं, अतः वह उल्लेख का निमित्त नहीं हो सकता। इसी तरह फलोत्प्रेक्षा में भी समक्षिप्-अर्थात् वहाँ भेदसंबन्ध से ही उल्लेख होती है, अभेदसंबन्ध से नहीं। इस आलोचना से, द्रविडश्रेष्ठ (अप्यवर्णित) ने जो प्राचीनों के मत का अनुसरण करते हुए 'अथवा हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा के उदाहरणों में भी अभेदसंबन्ध से ही उल्लेख होती है' यह कहा है, वह भी परास्त हो जाता है।

पूर्वसूचितमर्वाणा मतमुत्थापयति—

अलङ्कारसर्वस्वकृता तावदुत्प्रेक्षाया लक्षणमित्थं निगदितम्—'विषयनिगरो-
नाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। स च द्विविधः—सिद्धः, साध्यश्च। तत्र
साध्यत्वप्रतिपत्तौ व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति।' अस्यार्थः—सिद्धत्वं निर्गोर्ण-
विषयत्वम्। साध्यत्वं च निर्गोर्णमाणविषयत्वम्। यत्र हि सिद्धत्वं तत्राध्यव-
सितप्राधान्यम्—यथाऽतिशयोक्त्यादीं। यत्र साध्यत्वं तत्र व्यापारस्याध्यवसान-
क्रियायाः प्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति। एवमभेदगर्भमुत्प्रेक्षालक्षणं विधाय—“सैषा
स्थली यत्र” इत्यत्र नूपुरगतस्य मौनित्वस्य हेतुत्वेन दुःखं गुण उत्प्रेक्ष्यते। तत्र
मौनित्वमेव नूपुरगतनि शब्दत्वाभेदेनाध्यवसितं निमित्तम्।” इत्युक्तम्। एवं
'यत्र धर्म एव धर्मिगतत्वे' इत्यादिना धर्मोत्प्रेक्षाप्रसङ्गे “लम्पतीव तमोऽङ्गानि'
इत्यत्र लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षणे व्यापनादि निमित्तम्।” इत्युक्तम्।

तत्रेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। एवमप्येऽपि। व्यापारप्राधान्ये इति। अध्यवसानक्रिया-
प्रधानतायामित्यर्थः। सर्वस्वकारोक्तस्यार्थं प्रथकार आह—अस्यार्थ इति। निर्गोर्णविष-
यत्वमिति। निर्गोर्णो विषयो यत्र तद्भाव इत्यर्थः। निर्गोर्णमाणविषयत्वमिति। निर्गोर्णमाणो,
न तु निर्गोर्णः, विषयो यत्र तद्भाव इत्यर्थः। अध्यवसितप्राधान्यमिति। विषयिणः प्राधान्य-
मित्यर्थः। अभेदगर्भमिति। द्वयोरनयोरेकत्वात्तयोर्भेदेऽपि अध्यवसानम् उभयत्र परित्यहीतम्।
अध्यवसानमदार्थगर्भं चाभेदप्रतिपत्तितुप्रविष्टा, 'विषयनिगरोनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽ-
ध्यवसाय' इति प्रागुक्त्वात्, अत एवोत्प्रेक्षालक्षणमभेदगर्भमिति भावः। नूपुरगतस्य

मौनित्वस्य हेतुत्वेनेति । नूपुरवृत्तिमौनहेतुत्वेनेत्यर्थः । तत्र दु खगुणोत्प्रेक्षायाम् । मौनित्वमेवेति । दु खहेतुकमौनित्वमित्यर्थः । निशब्दत्वेति । निश्चलत्वहेतुकिं शब्दत्वेत्यर्थः । लेपनक्रियेति । अन्धकारादावित्यादि । व्यापनादीति । अन्धकारकर्तृकव्यापनादीत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ।

अथ आधुनिकों का मत उपस्थित किया जाता है—अलङ्कारसर्वस्वकृता इत्यादि । अलङ्कारसर्वस्वकार ने, प्रथमतः, उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार बनाया है—‘विषयी द्वारा विषय का निगारण हो जाने (अन्तःप्रविष्ट कर लेने) के कारण जो विषयी का विषय के साथ अभेद (अभिन्नता=एकरूपता) ज्ञात होता है उसीको अध्यवसाय (एक प्रकार का विषयी का विषय में आरोप) कहा जाता है । वह अध्यवसाय (अभ्यवसान) दो प्रकार का है—एक सिद्ध और दूसरा साध्य । उन दोनों में से जहाँ अध्यवसान की साध्यता प्रतीत होती हो—वह सिद्ध नहीं हुआ हो, किन्तु सिद्ध हो रहा प्रतीत होता हो—और व्यापार (अध्यवसान क्रिया) की प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।’ इसका अर्थ यह हुआ कि—विषय के निगारण हो चुकने (विषयी-द्वारा विषय के कुत्तरिथ कर चुकने) का नाम अध्यवसान का सिद्ध हो जाना है—अर्थात् जहाँ विषयवाचक शब्द पृथक् उक्त न हो वहाँ अध्यवसान ‘सिद्ध हुआ’ समझा जाता है । और विषय के निगारण होते रहने का नाम अध्यवसान का ‘साध्य होना’ है—अर्थात् जहाँ, विषयवाचक शब्द पृथक् उक्त तो हो पर उस (विषय) की स्थिति सुदृढ़ न हो, किन्तु विषयी में विलीन होती-सी हो वहाँ अध्यवसान ‘साध्य’ समझा जाता है । इन दोनों में से जहाँ अध्यवसान ‘सिद्ध’ रहता है वहाँ अध्यवसित—अर्थात् विषय को कुत्तरिथ कर चुके विषयी—की प्रधानता होती है, जैसे—‘अविशयोक्ति’ आदि में । और जहाँ अध्यवसान सिद्ध नहीं, साध्य हो—अर्थात् सिद्ध हो ही रहा हो वहाँ विषय को कुत्तरिथ करने की क्रिया की प्रधानता होती है—अर्थात् वहाँ विषयवाचक पद के पृथक् उक्त रहने पर भी विषय विषयी में प्रविष्ट होता दिखाई पड़ता है, ऐसी जगह उत्प्रेक्षा होती है । इस तरह, जिसके अन्दर अभेद आया हुआ है (अध्यवसान पदार्थ के पेट में अभेद का निवेश है और अध्यवसान पदार्थ उत्प्रेक्षा के लक्षण में प्रविष्ट है) ऐसा उत्प्रेक्षा का लक्षण बनाकर—अर्थात् उत्प्रेक्षा केवल अभेदसम्बन्ध से ही होती है, यह मानकर, पीछे से, कहा है कि—‘सैषा स्थली पत्र-’ इस पूर्वोक्त पद्य में, नूपुर में रहने वाले मौन (नि शब्दत्व) के कारणरूप में दु खरूप गुण की उत्प्रेक्षा की जाती है । इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है वह ‘मौनीपन’ जिसमें निश्चलता के कारण नूपुर में रहनेवाली नि शब्दता के अभेद का अध्यवसान है । इसी तरह ‘जहाँ धर्म ही धर्मों में रहने वाले के रूप में—’ इत्यादि से आरम्भ करके ‘धर्मोत्प्रेक्षा’ के प्रसङ्ग में कहा है कि—‘लिम्पतीव—’ इस पद्य में लेपनक्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है और उसमें ‘व्यापन-व्याप्त होना’ आदि निमित्त है ।

उक्तमलङ्कारसर्वस्वकारमतमालोचयति—

तदेतत्सर्वं परस्परविरुद्धम् । नहि दु खगुणोत्प्रेक्षायामभेदगर्भोऽध्यवसायोऽस्ति । मौनाशे सन्नप्यध्यवसायः सिद्धत्वाद्दतिशयोक्तेरेव विषयो भवितुमर्हति, नोत्प्रेक्षायाम् । त्वन्मते मौनस्य निमित्तत्वेनानुत्प्रेक्ष्यत्वाच्च । एवं ‘लिम्पतीव’ इत्यत्र लेपनाध्यवसायोऽपि । तस्यापि व्यापनरूपतया स्थितस्य त्वया कर्तृत्वोत्प्रेक्षानिमित्तत्वेनोक्तत्वाच्च । ‘व्यापनादी तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यदन्वेष्यं स्यात्’ इति त्वयैव बाधकोपन्यासात् । निमित्ताशाध्यवसान तूपमादावपि स्थितम् । किञ्च, ‘नून मुखं चन्द्र-’ इत्यादौ कुत्राध्यवसायः, विषयस्य जागरूकत्वात् । न च सिद्धेऽध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्य-

माणन्वात्पृथगुपलविधिरिति वाच्यम्, साध्याध्यवसाये मानाभावात् । धन्यया रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः । किञ्च, अध्यवसानं लक्षणाभेदः । न चात्र विधेयांशे लक्षणास्ति । अभेदादिसंसर्गोत्तराहार्यबोधस्यैव स्वीकारात् । तस्मात्प्राचीनानामाधुनिकानां चोक्तयो न क्षोदक्षमाः ।

तदेतदिति । पूर्वोक्तमलङ्कारमर्बस्वकारमतमित्यर्थः । परस्परविद्वत्त्वमेव स्फुटयति—
नहीत्यादिना । 'सैषा स्थली-' इत्यत्रत्यं सर्वस्वकारकृतं विचारं परीक्ष्य सम्प्रति 'लिम्पतीव-'
इत्यत्रत्यं तद्विचारं परीक्षते—एवम् इत्यादि । लेपनाध्यवसायोऽपीति । अत्र सिद्धत्वा-
दित्यायर्हतीत्यन्तानुपपन्नं । प्राम्बदाह—तस्यापीति । ननु मया तथोक्तमपि नेदं खण्डित-
मित्युपलक्षणत्वेनोक्तमतं आह—व्यापनादाविति । इदमन्यत्रापि दृष्टमित्याह—निमित्ता-
शेति । परस्परविरोधमुपपाद्य तदुक्त्यामुत्प्रेक्षायामध्यवसानस्थितिमेव निरस्यति—किञ्चेति ।
अन्यथेति । पृथक्विषयवाचकपदोपलब्धावपि अध्यवसानस्वीकारे इत्यर्थः । पुनस्तामेव
युक्त्यन्तरेण सण्डयति—किञ्चेति । लक्षणाभेद इति । सारोपा साध्यवसाना चेति भेद-
करणादिति भावः । अत्र उत्प्रेक्षायाम् । उपसंहरति—तस्मादिति । क्षोदक्षमा इति ।
विचारसत्ता इति भावः । सर्वस्वकृता स्वकीयोत्प्रेक्षालक्षणेऽभेदगर्भोऽध्यवसायो निवेशितः,
उदाहरणत्वेन च 'सैषा स्थली-' इति पद्यमुक्त्वा 'नूपुरे दुःखगुणोत्प्रेक्षाऽत्र' इति व्याख्या-
सम् । तत्र परस्परविरोधि वच, सैषा स्थलीत्यत्रत्योत्प्रेक्षाविषयविषयिणोर्नूपुरदुःखगुणयो-
रभेदगर्भाध्यवसायाभावात् । यद्यपि मौनशोऽभेदगर्भोऽध्यवसायो वर्तते, 'मौनिन्वमेव
नूपुरगतनिःशब्दत्वाभेदेनाध्यवसितं निमित्तम्' इति स्वीकारात्, तथापि निमित्ताशे सं-
नोत्प्रेक्षयाशे, निमित्ताशमताध्यवसायमादाय च न तदुक्तलक्षणसङ्गतिः । किञ्च निमित्ताशे
वर्तमानोऽध्यवसाय तदुक्तपरिभाषानुसारं सिद्ध एव, न साध्य इति सोऽतिशयोक्ते-
र्विषयः स्यात्, नोत्प्रेक्षया, साध्याध्यवसायस्यैवोत्प्रेक्षाकुक्षौ तेन प्रवेशितत्वात् । एवं
'लिम्पतीव-' इत्यस्योत्प्रेक्षोदाहरणत्वमपि तदुक्तं स्वोक्तिविरुद्धम्, तत्रापि विषयविप-
यिणोरतमोलोपनकर्तृत्वशोभेदाध्यवसायविरहात् । निमित्तभूतव्यापने सन्नपि लेपनाध्यव-
साय पूर्ववत् सिद्धत्वादतिशयोक्तेर्विषयो, नोत्प्रेक्षया, तत्र निमित्तता स्वीकुर्वता तेनोत्प्रे-
क्षता स्वीकृतापि नेति किं तत्राध्यवसायेन स्थितेनापि फलम्^३ तत्र निमित्तता स्वीकुर्व-
ताऽपि मयोत्प्रेक्षयता न खण्डिता, एवञ्च तदंश एवोत्प्रेक्षताऽपि ममाभिमततेति तु वक्तुम-
शक्यम्, 'व्यापनादौ उत्प्रेक्षाविषयतया स्वीक्रियमाणे निमित्तान्तरं गवेषणीयं स्यात्' इति
वदता त्वया तदंशे उत्प्रेक्षयताया वाधकस्य स्वयमुपन्यासात् । निमित्ताशमताध्यवसान-
मादायालङ्कारस्याध्यवसानमूलकचाङ्गीकारे उपमादेरपि तदङ्गीकरणोप्यं स्यात्, तत्रापि
निमित्ताशोऽध्यवसानस्य सत्त्वात्, 'मुखं चन्द्र इवाह्लादयति' इत्यादौ चन्द्रगतस्य मुख-
गतस्य चाह्लादकवत्स्य मिथो निघ्नत्वेपि अभेदाध्यवसायोत्तरेणैव निमित्तत्वसम्भवात् ।
ननु धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षास्थलेऽभेदगर्भाध्यवसायः स्पष्ट इति चेत्, 'नूनं मुखं चन्द्रम्' इत्यादौ
विषयस्य मुखादेरुत्प्रेक्षोऽध्यवसायगन्धस्यापि स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । सिद्धेऽध्यवसाये विप-
यिजठरनिर्लीनतया विषयस्योत्प्रेक्षाभावेऽपि साध्येऽध्यवसाये निर्गौर्यमाणतादशापन्नस्य
विषयस्य पृथगुल्लेखो नासङ्गत इत्यपि न, साध्याध्यवसानसत्त्वे प्रमाणविरहात् । विषयस्य
पृथगुपलब्धावपि साध्याध्यवसायस्वीकारे रूपकायलङ्कारस्यापि अध्यवसानगर्भतापत्तेः ।
किञ्चाध्यवसानं लक्षणाप्रभेदान्नातिरिच्यते लक्षणा च 'मुखं चन्द्रो नूनम्' इत्यादौ, चन्द्र-
रूपविधेयाशे नाहीत्तुं योग्या 'न विधौ पर' शब्दार्थः' इत्यभिप्रायवत्या विधेयाशे तस्या

असम्भवात् । कथं तर्हि तत्रान्वयबोध इति चेत् ? अभेदादिसम्बन्धैरुद्धार्यबोध इति बोध्यम् । इत्यथ प्राचामर्षाणां च कथनानि विचारनिकरूपरोशायामसङ्गतान्येव सम्पद्यन्ते इति भावः ।

अर्वाचीनों के मत पर विचार किया जाता है—उदेतत् इत्यादि । अर्वाचीनों (अलङ्कारसर्वस्वकारादिकों) की उक्त सभी बातें परस्परविरुद्ध हैं । कारण, उन्होंने अभेदगर्भ उल्लेखालक्षण बनाया है—अर्थात् अभेदसङ्घट्ट से सर्वत्र उल्लेख मानी है और उदाहरण दिया है—'सैया स्थली—' यह पद्य और कहा है कि 'यहाँ दुःखगुण की उल्लेख नूपुर में होती है।' यह उदाहरण लक्षण के हिसाब से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि दुःखगुण की उल्लेख में जिसके गर्भ में अभेद हो ऐसा अभ्यवसान नहीं है । हाँ, 'मौन' अक्षर में अभ्यवसान अक्षर्य है, क्योंकि 'निःशब्दता के कारण होनेवाले' शब्दराहित्य को 'मौनत्व-मौवीपन' का अन्त प्रविष्ट समझकर अभेद मान लिया गया है, परन्तु यह अभ्यवसान सिद्धरूप है, अतः अतिशयोक्ति का विषय हो सकता है, उल्लेख का नहीं, क्योंकि उल्लेख का विषय साध्य अभ्यवसान होता है । और आपके मत में 'मौन' को उल्लेख का निमित्त माना गया है, अतः आपके मत में उसकी उल्लेख मानी भी नहीं जा सकती । इसी तरह 'ल्लिप्तीव—' इस पद्य में श्लो आपने अन्वकार में लेपनकर्तृत्वस्व धर्म की उल्लेख कही है वह भी अभेदगर्भ अभ्यवसायघटित लक्षण से विरुद्ध है, क्योंकि यहाँ भी अभेदगर्भ अभ्यवसान नहीं है । लेपन में व्यापन का अभ्यवसान यदि है भी तो वह सिद्धरूप होने के कारण एक तो पूर्ववत् अतिशयोक्ति का लक्ष्य होगा, उल्लेख का नहीं, दूसरे आपने उसे यहाँ की उक्त उल्लेख का निमित्त माना है, फिर उस अंश में अभ्यवसान के रहने ही से क्या ? आप उस अंश की उल्लेख मान नहीं सकते । आप कहेंगे—'ल्लिप्तीव—' में लेपनकियाकर्तृत्व की उल्लेख का निमित्त व्यापन भावि होता है" इतना ही तो मैंने कहा है और उसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि 'कर्तृत्व की उल्लेख मानने पर उक्त व्यापनादि निमित्त हो सकता है' इससे यह तो सिद्ध होता नहीं कि मैं व्यापन में लेपन की उल्लेख नहीं मानता, अतः यदि कहा जाय कि मैं वैसा ही मानता हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि—आप वैसा कह ही नहीं सकते, क्योंकि आपने स्वयं कहा है कि—व्यापन को यदि उल्लेख का विषय फलतः लेपन को विषयी माना जाय तब किसी अन्य निमित्त की खोज करनी पड़ेगी । तात्पर्य यह कि जब आप 'व्यापन में लेपन की उल्लेख है' इस पद्य की बाधिका युक्ति स्वयं दे चुके हैं तब आप उसी पद्य को कैसे मान सकते हैं । निमित्तभागागत अभ्यवसान को लेकर अलङ्कार में अभ्यवसानमूलकरव व्यवहार तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि उपमादि अलङ्कार-स्थल में भी निमित्तभागागत अभ्यवसान रहता है और फिर भी उन अलङ्कारों को दूसरों के साथ आप भी अभ्यवसानमूलक नहीं मानते । अन्य उल्लेखों को छोड़िये । धर्मस्वरूपोद्देश्य में प्रायः आपको सबसे अधिक अभ्यवसान का गन्ध आता है, अतः आइये, उसी पर विचार कर लिया जाय । 'नून मुख चन्द्र, = मुख मानो चन्द्र है' इस उल्लेख में भी अभ्यवसान कहाँ है ? क्योंकि यहाँ विषय (मुख) जीता जायता उप-स्थित है—वह जब तक विषयी द्वारा निर्गीर्ण न हो तब तक अभ्यवसान कैसे माना जा सकता है ? आप कहेंगे—जहाँ अभ्यवसान सिद्धरूप रहता है यहाँ विषय विषयी द्वारा निर्गीर्ण हो गया रहता है—अर्थात् विषयी से पृथक् विषय उपलब्ध नहीं होता, पर साध्य अभ्यवसान में तो विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होती ही है, फिर आप विषय से पृथक् विषय की उपलब्धि होने से अभ्यवसान का अस्वीकार क्यों करते हैं तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि साध्य अभ्यवसान को ही मैं नहीं मानता, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि इस तरह से विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होने पर भी साध्य अभ्यवसान माना जाय तब रूपक आदि अलङ्कार भी

अध्यवसानगर्भं माने जाने लगेगे। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान नहीं रहता इस बात को सुष्ट करनेवाली एक तीसरी युक्ति यह भी है कि 'अध्यवसान' लक्षणा का एक प्रभेद है, क्योंकि 'सारोपा', 'साध्यवसाना' ये सब लक्षणा के ही प्रभेद कहे गये हैं। अब सोचिए कि उत्प्रेक्ष्य विधेय अंश में लक्षणा यहाँ है? कहना पड़ेगा कि 'नहीं', क्योंकि 'विधेयांश में लक्षणा नहीं होती' ऐसा सिद्धान्त है। आप कहेंगे—लक्षणा के बिना 'मुख्यमानो चन्द्र है' इत्यादि स्थल में प्राप्त्यबोध हो कैसे सकता है तो इसका उत्तर यह है कि—अभेद भादि सदर्थों से आहार्य (बाधित होने पर भी इच्छाजन्य) बोध ही यहाँ माना जाता है जो लक्षणा के बिना भी हो ही सकता है। इस तरह उपसहार में कहना यह है कि—प्राचीनों तथा भाषुनिकों दोनों ही की उक्तियाँ आलोचना की कसौटी पर कसने से घरी नहीं उतरती हैं।

प्राचीनानामाधुनिकानाथ मतान्युपपाद्य सामान्यतः समालोच्य च सन्न्यति तद्विषये स्वसम्मत निष्कर्षमाह—

एवं प्राप्ते भ्रूमः—तत्र तावद्धर्म्युत्प्रेक्षानिष्कर्षः प्राचीनमतपरीक्षावसरे कृत एव । हेतूत्प्रेक्षायां पञ्चम्यर्थो हेतुः, अभेदश्च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्ग इति पक्षे विरलेपदुःखाभिन्नहेतुः पञ्चम्यन्तार्थः । तस्य च प्रयोज्यतासंसर्गोत्प्रेक्षणमिवादिना बोध्यते । प्रयोज्यत्व पञ्चम्यर्थ इति दर्शने निरूपितत्वं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गः । आश्रयतासंसर्गोत्प्रेक्षणम् । उभयथापि पञ्चम्यर्थ एवोत्प्रेक्ष्यः, तेनैवेवाश्रयार्थान्वयात् । उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसंबन्धेनोत्प्रेक्ष्यसमानाधिकरणश्च धर्मोऽतिशयोक्त्या मौनाभिन्नत्वेनाध्यवसितनिश्चलत्वादिनिमित्तम् । बद्धमौनं च विषयः । मौनद्वारक च बद्धमौनस्य प्रयोज्यत्वं संभाव्यते । एवं प्रयोज्यधर्मके धर्मिणि सर्वत्रापि धर्मद्वारक एव पञ्चम्यर्थान्वयः । यत्र तु धर्म एव किञ्चिद्धर्माभिन्नत्वेनाध्यवसितः साक्षाद्विषयस्तत्र विषयतावच्छेदकधर्मो निमित्तम् । यथा तत्रैव 'विरलेपदुःखादिप मौनमस्य' इति निर्माणे मौनत्वम् । एवं तृतीयार्थोऽपि बोध्यम् ।

एवं प्राप्ते इति । प्राचीनाधुनिकोक्तानां क्षोदक्षमत्वाभावे प्राप्ते इत्यर्थः । 'भ्रूमः' इति क्रियायां चक्षमाणपदार्थमूहं कर्म, अस्मदर्थभूता ग्रन्थकाराथ कर्तृभूताः । रात्र उत्प्रेक्षानिष्कर्षमन्वये तावन् आदौ । परीक्षेति । विचारित्यर्थः । कृत एवेति । धर्मिरवरूपोत्प्रेक्षास्थलेऽभेदसंबन्धेनोत्प्रेक्षा भवतीति सर्वमतसिद्धं सिद्धान्त इति भावः । इदमुपलक्षणम् । गुणक्रियाभेदेन द्विविधशोर्धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षबोर्मध्ये गुणात्मकधर्मोत्प्रेक्षोदाहरणे 'अस्या मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादी भेदसंबन्धेनोत्प्रेक्षेत्यपि निष्कर्षस्तत्र कृत एव । अवशिष्टायां किरारूपधर्मोत्प्रेक्षायां यद्यपि महान् घ्रातभेदस्तथापि तद्विषयेऽपि महता संरम्भेण 'लिम्बतीव' इत्यादौ प्रथमान्तार्थे विषये प्रकृतक्रियार्तृत्वस्य 'आश्रयता'-संबन्धेन, तिर्ष्यस्य कर्तुरभेदसंबन्धेन चोत्प्रेक्षेति द्विविधौ निष्कर्षौ कृतावेव । अवशिष्टायां हेतूत्प्रेक्षायां निष्कर्षं कुर्वन्नाह—हेतूत्प्रेक्षायामित्यादि । उभयथापीति । हेतोः पञ्चम्यर्थत्वे प्रयोज्यत्वस्य तात्वे केच्यर्थः । पञ्चम्यर्थ एवेति । पदमीप्रकृत्यर्थ एव व्यवच्छेद्यः । तत्र हेतुमाह—तेनैवेति । उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसंबन्धेनेति । येन संबन्धेनोत्प्रेक्षा कियते स संबन्ध उत्प्रेक्षतावच्छेदक (प्रयोज्यता आश्रयता वा) तेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यसमानाधिकरण इति । उक्तसंबन्धेनोत्प्रेक्षस्य पदार्थस्य यदधिकरणं तत्र वर्तमान इत्यर्थः । निश्चलत्वादिमिति । निश्चलत्वनिमित्तज्ञाने शब्दत्वादिरिति भावः । बद्धमौनं चेति । मौनविशिष्टं नूपुरमित्यर्थः ।

विषय इति । उत्प्रेक्षाया इति यावत् । ननु दु खप्रयोज्यता वस्तुतो मौने, न बद्धमौने इति कथं तादृशप्रयोज्यताया आश्रयतासम्बन्धेन तत्र विषये सभावनामित्यत आह—मौनद्वारकं चेति । इयमुक्तिर्द्वितीयपक्षाभिप्रायेण । प्रथमपक्षे प्रयोज्यतासम्बन्धेन दु खामिन्नहेतोर्बद्धमौने समाधनमपि मौनद्वारक बोध्यम् । फलितमाह—एवमिति । प्रयोज्यधर्मके इति । दु खानिर्विधिहेतुप्रयोज्यो धर्मो यस्य तादृशे इत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—‘विश्लेषदु-खादिव बद्धमौनम्’ इत्यत्र “दु खपदोत्तरपक्षमीविभक्तोरयो ‘हेतु’ प्रकृत्यर्थविभक्त्यर्थयोश्च सम्बन्धोऽभेद” इति पक्षे विश्लेषदु खामिन्नहेतुरूपस्य पञ्चम्यन्तपदार्थस्य विषयिणः ‘बद्धमौने’ (मौनविशिष्टे नूपुरे) विषये प्रयोज्यतासम्बन्धेनोत्प्रेक्षा । अस्या उत्प्रेक्षावाम्, प्रयोज्यता-त्मकेनोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदकेन सम्बन्धेन दु खामिन्नहेतुरूपस्योत्प्रेक्ष्यस्याधिकरणे मौनविशिष्टनूपुरे (मौनद्वारक प्रयोज्यतासम्बन्धावच्छिन्न तदधिकरणत्वं नूपुरे बोध्यम्) विद्यमानोऽति-शयोक्तिरूपेण मौनाभेदाध्यवसानेन विशिष्टो निश्चलवहेतुर्कनि शब्दत्वात्मको धर्मो निमित्तं भवति । ‘दु खपदोत्तरपक्षमीविभक्तेः प्रयोज्यत्वमर्थं निरूपितत्वं च प्रकृत्यर्थविभक्त्यर्थयो सम्बन्ध’ इति पक्षे तु विश्लेषदु खानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपस्य पञ्चम्यन्तपदार्थस्य विषयिणः मौनविशिष्टनूपुरात्मके विषये आश्रयतासम्बन्धेनोत्प्रेक्षा । अस्यामप्युत्प्रेक्षाया पूर्वोक्तरीत्या पूर्वोक्तमेव निमित्तं भवति । अत्रोत्प्रेक्ष्यतावच्छेदक सम्बन्ध आश्रयतेति विशेषः । तेन सम्बन्धे-नोत्प्रेक्ष्यस्य निष्कप्रयोज्यत्वस्याधिकरणता बद्धमौने (नूपुरे) पूर्ववदेव मौनद्वारिका बोद्धव्या । पक्षद्वयेऽपि तेन तेन उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तस्य तस्य उत्प्रेक्ष्यस्य स्थितिर्वस्तुतो मौनरूपधर्माश्च एवेति तेन तेन सम्बन्धेन तस्य तस्योत्प्रेक्ष्यस्य सम्भावनामपि यद्यपि तत्रै-वोचितं, न मौनविशिष्टे धर्मिणि, तथापि धर्मद्वारक धर्मिणि तत्सम्भावनामपि नानुचितम् । एवञ्च मौनरूपधर्मद्वारकै दु खपदोत्तरपक्षमीविभक्त्यर्थस्य मौनरूपधर्मविशिष्टे नूपुरे धर्मिणि अन्वयो भवति । एतादृशे स्थले सर्वत्रैषैव गतिः । एतेन पक्षद्वयेऽपि पञ्चम्यर्थस्योत्प्रेक्ष्यता सिद्धा भवति, न प्रकृत्यर्थस्य । युक्तं चैतत्, पञ्चम्यर्थे न सहैव इवाद्यर्थान्वयात् । इत्यथ ‘बद्धमौनम् (नूपुरम्) प्रयोज्यतासम्बन्धेन त्वचरणारविन्दवियोगजन्यदु खामिन्न-हेतुप्रकारिकाया सम्भावनाया विषयः’ इति प्रथमपक्षे, ‘बद्धमौनम् (नूपुरम्) आश्र-यतासम्बन्धेन त्वचरणारविन्दवियोगजन्यदु खानिरूपितप्रयोज्यत्वप्रकारिकाया सम्भावनाया विषयः’ इति च द्वितीयपक्षे बोध पर्यवस्यतीति । धर्मिणो विषयत्वे उत्प्रेक्षणप्रकारमुक्त्वा धर्मस्य विषयत्वे तत्प्रकारमाख्यातुमाह—यत्र तु इति । अयं भावः—‘विश्लेषदु खानिर्वि-मौनमस्य’ इत्यत्र मौनात्मके विषये, प्रयोज्यतासम्बन्धेन विश्लेषदु खामिन्नहेतुरूपस्य विषयिणः, आश्रयतासम्बन्धेन विश्लेषदु खानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपस्य विषयिणो वा उत्प्रेक्षा । अरसां चोत्प्रेक्षाया प्रयोज्यत्वात्मकेनोत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसम्बन्धेन दु खामिन्नहेतुरूपोत्प्रे-क्ष्यस्य, आश्रयतात्मकेनोत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसम्बन्धेन दु खानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपोत्प्रेक्ष्यस्य वा अधिकरणे मौने वर्तमान मौनत्व निमित्तं भवति । अत्र सम्भावनेऽधिकरणत्वे वा न पूर्ववत् कस्यचिद्द्वारता समाश्रयणीया भवति, प्रयोज्यतासम्बन्धेन दु खामिन्नहेतो आश्रयता-सम्बन्धेन दु खानिरूपितप्रयोज्यत्वस्य वा मौने स्वत एव सत्त्वात् । इति पञ्चम्यन्तवाक्यगत-हेतुत्प्रेक्षास्थलीयामेना रीतिमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति । तृतीयाथेऽपीति । हेताविति शेषः । विश्लेषदु खेनैव बद्धमौनम्—(मौनमस्य इति वा) इति चानये हेत्वर्थकतृतीया-सत्त्वेऽपि पूर्वोक्तरीत्येनोत्प्रेक्षणादिक ज्ञातव्यमिति भावः ।

पहले प्राचीनों तथा आधुनिकों के भिन्न-भिन्न मतों का उपपादन किया गया, कि

उन मतों की सामान्यता आलोचना की गई, अब अपने मत के अनुसार निष्कर्ष लिया जाता है—एवं प्राप्ते भूमः इत्यादि। जब प्राचीनों तथा आधुनिकों-दोनों की उधियाँ विचार करने पर टिकने योग्य नहीं हुईं, तब हम कहते हैं—उक्त उपप्रेषा-प्रभेदों में से 'धर्म्युपप्रेषा' का निष्कर्ष तो प्राचीनों के मत पर विचार करते समय कर ही दिया गया है—अर्थात् 'मुख मानो चन्द्र है' इत्यादिक में अभेदसम्बन्ध से ही उपप्रेषा होती है—इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। [इसी तरह धर्मोपप्रेषा के दो प्रकार के उदाहरणों में से गुणरूप धर्म की उपप्रेषा के उदाहरण 'अस्यां मुनीनामपि नोहसूहे' आदि में भेद सम्बन्ध (समवाय आदि सम्बन्ध) से उपप्रेषा होने का सिद्धान्त भी स्थिर किया जा चुका है। क्रियारूप धर्मोपप्रेषा के उदाहरण 'लिम्पतीव—' आदि में विविध मतभेदों के रहने पर भी विशद साख्यार्थप्रक्रिया से यह सिद्ध किया जा चुका है कि यहाँ प्रथमान्त पदार्थ अन्धकार आदि में प्रकृत स्वेपन आदि क्रिया के 'कर्तृत्व' की 'आश्रयता'सम्बन्ध से, अथवा 'कता' (तिङ्य) की 'अभेद'सम्बन्ध से, उपप्रेषा मानना समुचित है।] हेतुप्रेषा में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ 'हेतु' होता है और प्रकृति (जिस शब्द से पञ्चमी की गई हो उस) के तथा प्रत्यय (पञ्चमी विभक्ति) के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'अभेद'। यह एक पक्ष है। इस पक्ष में 'वियोगदुःखात्-वियोगदुःख से' इस पञ्चम्यन्त पद का अर्थ होता है 'वियोगदुःख से अभिन्न हेतु'। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से उपप्रेषा 'इव' आदि उपप्रेषावाचक पदों से योजित होती है। 'प्रयोज्यता' पञ्चमी विभक्ति का अर्थ है यह दूसरा पक्ष है। इस पक्ष के हिसाब से प्रकृति तथा विभक्ति के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'निरूपितत्व' और उपप्रेषा होती है 'आश्रयता'सम्बन्ध से। दोनों पक्षों में पञ्चमी के अर्थ की ही उपप्रेषा होती है, प्रकृति के अर्थ की नहीं, क्योंकि 'इव' आदि के अर्थ का अन्वय उसी से होता है। उस उपप्रेषा का निमित्त होता है वह निखलताहेतुक निःशब्दत्व आदि धर्म जो उपप्रेषतापच्छेदकसंबन्ध— अर्थात् जिस सम्बन्ध से उपप्रेषा होती है उस=प्रयोज्यता अथवा आश्रयतासंबन्ध— से उपप्रेष्य—अर्थात् दुःखाभिन्न हेतु में अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता—के अधिकरण—मौनयुक्त नूपुर (यहाँ मौनयुक्त नूपुर 'मौन' द्वारा अधिकरण कहलाता है, स्वतः नहीं अर्थात् वस्तुतः अधिकरण 'मौन' है, पर उसके द्वारा मौनयुक्त नूपुर भी अधिकरण कहलाता है यह समझना चाहिए) में रहता है और जिसमें 'मौन' के अभेद का अति-शयोक्तिद्वारा आश्रयस्तान हुआ है। और इस उपप्रेषा का विषय है 'मौनयुक्त' पदार्थ— अर्थात् नूपुर। तात्पर्य यह हुआ कि 'विरलेपदुःखादिव यद्मौनम्' में एक पक्ष के हिसाब से 'मौनयुक्त' नूपुररूप विषय में 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से 'विरलेपदुःखाभिन्नहेतु'रूप विषयी की और दूसरे पक्ष के हिसाब से उक्त विषय में ही 'आश्रयता'सम्बन्ध से 'विरलेपदुःखनिरूपित प्रयोज्यत्व'रूप विषयी की उपप्रेषा होती है। यदि कोई कहे कि— यह रीति तो ठीक नहीं है, क्योंकि विरलेपदुःखरूप हेतु से प्रयोज्य (साध्य) वस्तुतः मौन (शब्दरहित होना) है, मौनयुक्त पदार्थ नहीं, अतः प्रयोज्यतासम्बन्ध से उक्त दुःखाभिन्न हेतु की उपप्रेषा (सम्भावना) मौन में की जा सकती है, मौनयुक्त में नहीं, इसी तरह विरलेपदुःखनिरूपित प्रयोज्यता का वस्तुतः आश्रय मौन ही है, मौनयुक्त नहीं, अतः आश्रयतासम्बन्ध से उक्त प्रयोज्यता की भी उपप्रेषा मौन में ही हो सकती है, तो मैं बर्हूंगा कि कथन आपका ठीक है, पर मौनरूप धर्म द्वारा मौनयुक्त धर्म भी दुःखप्रयोज्य अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता का आश्रय होता है, अतः प्रयोज्यता-सम्बन्ध से दुःखरूप हेतु की अथवा आश्रयतासम्बन्ध से दुःखनिरूपित प्रयोज्यता की मौनयुक्त में उपप्रेषा की जा सकती है। सारांश यह कि—किसी पदार्थ से प्रयोज्य (साध्य) धर्मवाले धर्मों में पञ्चम्यर्थ का अन्वय धर्म द्वारा ही सर्वत्र होता है। अर्थात् जब 'चौराद् भीतः-चौर से डरा हुआ' इस तरह का वाक्य बोला जाता है तब 'चौर से'

इस अंश का अन्वय 'भीत' के साथ होता है, पर उस अंश का अन्वय साक्षात् तो 'भीत' के साथ हो नहीं सकता, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ वस्तुतः 'चौर से जो भय उपसे युक्त' यह होता है—चौर, भय का कारण है, भययुक्त का नहीं, फिर अगत्या भय-द्वारा उक्त अंश का अन्वय 'भीत' के साथ किया जाता है। उसी तरह यहाँ भी 'दुःख' के कारण मौनयुक्त' इस वाक्य में 'दुःख' के कारण' इस अंश का अन्वय 'मौनयुक्त' में मौन-द्वारा ही करना पड़ेगा। इस तरह 'विरलेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इस वाक्य का शब्दबोध—'मौनयुक्त पदार्थ—अर्थात् नूपुर, प्रयोज्यतासम्बन्ध से वियोगजन्य दुःख से अभिन्न हेतु की सम्भावना (तादृशहेतुप्रकारक सम्भावना) का, विषय (विशेष्य) है' यह होता है प्रथम पक्ष के अनुसार और द्वितीय पक्ष के अनुसार—उक्त वाक्य का शब्दबोध 'मौनयुक्त पदार्थ, आश्रयतासम्बन्ध से वियोगजन्यदुःख-निरूपित प्रयोज्यता की सम्भावना का, विषय है' यह होता है। अन्वय आदि करने में उक्त 'द्विविड-प्राणायाम', वहाँ करना पड़ता है जहाँ हेतुप्रेक्षा का विषय धर्मरूप (जैसे पूर्वोक्त 'मौनयुक्त') होता है। जहाँ धर्म ही किसी अन्य धर्म के अभेदाध्यवसान से युक्त होकर हेतुप्रेक्षा का विषय होता है वहाँ उक्त 'द्विविड-प्राणायाम' नहीं करना पड़ता। जैसे—उक्त वाक्य के स्थान पर 'विरलेषदुःखादिव मौनमस्य—अर्थात् वियोगजन्य दुःख के कारण, मानो, इसका मौन (निःशब्दता) है' इस तरह से वाक्य-निर्माण कर देने पर, 'मौन' रूप विषय में, पक्षभेद से, 'वियोग-दुःखाभिन्न हेतु' की प्रयोज्यतासम्बन्ध से अथवा 'वियोग-दुःखनिरूपित प्रयोज्यता' की आश्रयतासम्बन्ध से उल्लेखा मानी जायगी और इस माय्यता के अनुसार, यहाँ, उक्त 'द्विविड-प्राणायाम' का अवसर नहीं आता, क्योंकि मौन, दुःख प्रयोज्य है ही—अर्थात् दुःख-साध्यता 'मौन' में साक्षात् ही है, अतः 'प्रयोज्यता' सम्बन्ध से साक्षात् ही दुःख का अन्वय मौन में होगा, किसी के द्वारा अन्वय करने का बखेड़ा यहाँ नहीं, इसी तरह दुःख-प्रयोज्यता का साक्षात् ही आश्रय जब मौन है तब आश्रयतासम्बन्ध से दुःख प्रयोज्यता का अन्वय मौन में करने के लिये भी किसी को द्वार बनाना आवश्यक नहीं होता, फलतः प्रयोज्यता अथवा आश्रयतासम्बन्ध से मौन-रूप विषय में भिन्न-भिन्न मत से भिन्न भिन्न उक्त पञ्चमर्थ की सम्भावना (उल्लेखा) करने में भी किसी को द्वार (जैसे पूर्व वाक्य में बनाना पड़ता है) नहीं बनाना पड़ता। यहाँ मौन जो विषय होता है, वह अध्यवसान द्वारा निःशब्दत्व से अभिन्न होकर ही, यह बिना कहे भी समझा जा सकता है। इस तरह की उल्लेखा में निमित्त होता है विषयतावच्छेदक (विषय में रहनेवाला) धर्म। जैसे—यहाँ उल्लेखा-विषय 'मौन' में रहनेवाला 'मौनत्व' धर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि यह 'मौनत्व' धर्म इसलिये उल्लेखा का निमित्त होता है क्योंकि वह, 'उल्लेखावच्छेदकसम्बन्धेन उल्लेख-समानाधिकरण' है—अर्थात् प्रयोज्यतासम्बन्ध से दुःख के अथवा आश्रयतासम्बन्ध से दुःखनिरूपित प्रयोज्यता के अधिकरण—'मौन' में रहता है। ये ही सब बातें यहाँ भी समझनी चाहिएँ जहाँ हेतुप्रेक्षा में पञ्चमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति आई हो। सारांश यह कि तृतीयाविभक्तिबोध हेतु की उल्लेखा के विषय में भी उक्त प्रकार की प्रक्रिया का ही अवलम्बन करना पड़ता है।

फलोत्प्रेक्षास्वलीय निरूपणमाह—

फलोत्प्रेक्षायां तुमुन्नादेरर्थः फलम् । प्राग्बन्धकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोरभेद-संसर्गः । तच्च साधनतासंसर्गोणान्वेतीति तेनैव ससंसर्गोत्प्रेक्ष्यते, यत्र चोत्प्रेक्ष्यते-तदस्य विशेषणतया भासमानो धर्मो निमित्तम् । स च धर्मिणि विषये अभिन्नत्वे-नाध्यवसितो धर्मः, तथाभूते च धर्मे विषये तद्विशेषणीभूतोऽन्य इति विवेकः । ।

तुमुन्नादेरिति । आदिपदेन चतुर्थीविभक्तिः परासृज्यते । प्राग्बन्धिति । पूर्वोक्तप्रथम-

पक्षवदित्यर्थः । तच्चेति । फलं चेत्यर्थः । तथामूने चेति । किञ्चिद्धर्माभिन्नत्वेनाप्यवसिते चेत्यर्थः । तद्विशेषणीभूत इति । विषयतावच्छेदकधर्म इत्यर्थः । विवेको विभागः । 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यत्र फलोपप्रेक्षा समुदाहृता । तत्र दृश्यावतूत्तरवर्तिनस्तुमु-
न्प्रत्ययस्यार्थः फलम्, तस्मिन् तुमुन्प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थस्य दर्शनस्याभेदेनान्वयः । तथा च 'देशानाभिन्नं फलम्' इति 'द्रष्टुम्' पदस्यार्थः । अस्यार्थस्य च 'साधनता (प्रयोज-
कता) सम्बन्धेन वनान्तपदार्थेऽन्वयो भविनुमर्हति अतस्तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव तस्य'
(फलस्य) उपप्रेक्षापि भवति । यद्यपि ललाटाक्षरदर्शनरूपफलप्रयोजकता साक्षात्ललाट-
त्वग्विपाटन एव, न वनान्तेषु, तथा च प्रयोजकतासम्बन्धेन तत्रैव फलान्वयो युक्त-
स्तथापि ललाटत्वग्विपाटनस्य गुणोद्भूततया न तत्रान्वयः सम्भवति, एकदेशान्वयस्या-
स्वोकारान्, अतोऽस्या ललाटत्वग्विपाटनद्वारा वनान्तेषु फलान्वयः प्रयोजकतासम्बन्धेन-
विधेय एव । एतच्च ग्रन्थकृता प्राक् स्फुटीकृतम्, अप्रेक्ष्य स्फुटीकरिष्यतेऽनुपपदम् । अस्या
चोपप्रेक्षायामुपप्रेक्षाविषयीभूतवनान्तविशेषणतया भासमान (वनान्तगतश्च) स्वाभाविक-
ललाटत्वग्विपाटनरूपो धर्मो ललाटाक्षरदर्शनरूपफलकत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाप्यवसितो
निमित्तम् भवति । इत्यत्रोक्तवाक्यस्य शाब्दबोधः—“ललाटत्वग्विपाटनानुकूलव्यापारा-
ध्या वनान्ता, प्रयोजकतासम्बन्धेन ललाटाक्षरदर्शनाभिन्नफलप्रकारिकायाः सम्भावनाया
विषया” इत्याकारः पर्यवस्यति । यदि धर्मरूपो वनान्तपदार्थः उपप्रेक्षाया विषयो न
भवेत्, अपि तु ललाटाक्षरदर्शनरूपफलकत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाप्यवसितं स्वाभाविक ललाट-
त्वग्विपाटनमेव धर्मरूप-भवेत्तु उपप्रेक्षाविषयः—अर्थात् यदि 'वनान्तैर्ललाटत्वो विपाटनं
अक्षराणि द्रष्टुमिव' इतीदं वाक्यं स्यात् तदा प्रयोजकतासम्बन्धेन तादृशो धर्मात्मके
विषय एव अक्षरदर्शनरूपफलमुपप्रेक्ष्येत, निमित्तं च तदा विषयविशेषणीभूत—अर्थात्
विषयतावच्छेदको ललाटत्वग्विपाटनत्वात्मको धर्म एव स्यादिति भावः ।

अथ फलोपप्रेक्षाविषयक निष्कर्षं दिखलाया जाता है—फलोपप्रेक्षायां हत्यादि ।
फलोपप्रेक्षा में 'तुमुन्' प्रत्यय (के छिये) आदि का अर्थ 'फल' होता है । और हेतुप्रेक्षा
के प्रथम पक्ष की तरह प्रकृति (जिस घातु से 'तुमुन्' आदि प्रत्यय किए गए हों) तथा
प्रत्यय ('तुम्' आदि) के अर्थ (फल) का 'अभेद' संबंध होता है । और उस फल
(प्रकृत्यर्थ से अभिन्न प्रायपार्थ) का अन्वय ऐसी जगहों में 'प्रयोजकता'संबन्ध (साध-
नता'संबन्ध) से ललाटत्वग्विपाटन आदि रूप धर्म द्वारा वनान्त आदि धर्मों में होता
है, अतः ऐसी जगहों में 'फल' की उपप्रेक्षा भी उसी सम्बन्ध से होती है । तापर्यं यह
कि फलोपप्रेक्षा सदा सर्वत्र 'साधनता' (प्रयोजकता) संबंध से ही होती है, पर कहीं
धर्मों में और कहीं धर्म में । जिस अंश में फल की उपप्रेक्षा होती है उस विषयांश में
विशेषणरूप से आसित होने वाला धर्म उस फलोपप्रेक्षा का निमित्त होता है । वह धर्म
भी जहाँ कोई धर्मो उपप्रेक्षा का विषय रहता है वहाँ विषयी में रहने वाले धर्म से अध्य-
वसान द्वारा अभिन्न होकर 'निमित्त' होता है और जहाँ अध्यवसान द्वारा किसी धर्म से
अभिन्न होकर कोई धर्म ही उपप्रेक्षा का विषय होता है वहाँ विषय का विशेषणीभूत—
अर्थात् विषयता का अवच्छेदकीभूत—कोई दूसरा ही धर्म निमित्तरूप होता है । सारांश
यह कि—'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' यह जो फलोपप्रेक्षा का उदाहरण पहले लिखा
जा चुका है वहाँ 'वनान्त' (वनप्रदेश)—जो धर्मो रूप है—विषय है उसमें 'प्रयोजकता'-
(साधनता)संबन्ध से ललाटाक्षरदर्शनाभिन्न फल की उपप्रेक्षा होती है । यद्यपि उक्त
फल का साक्षात् प्रयोजक वनान्त नहीं, 'ललाटत्वग्विपाटन' है, अतः उस फल का
अन्वय तथा उपप्रेक्षा उस संबंध (प्रयोजकतासंबन्ध) से उसी में होना उचित है तथापि
वह (ललाटत्वग्विपाटन) एकदेश है—यौग है । अतः उसमें फल का अन्वय किंवा

उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकते इसीलिये यहाँ (ऐसे सभी स्थलों पर) धर्म (उक्त विपाटन) द्वारा धर्मो (वनान्त) में ही फल का अन्वय तथा उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है यह रहस्य पहले भी ग्रन्थकार सूचित कर चुके हैं और अनुपद भागों भी सूचित करायेंगे। यहाँ की इस उत्प्रेक्षा में निमित्त होता है विषय (वनान्त) में रहने वाला स्वाभाविक ललाटत्वविपाटन, (यह वनान्त में विशेषरूप से भासित भी होता है), पर उक्त विपाटनरूप धर्म निमित्त तर्ष होता है, जब उसमें ललाटाक्षरदर्शनरूप फल साधक कथित ललाटत्वविपाटन के अभेद का अध्यवसान मान लिया जाता है। इस तरह, उक्त वाक्य का शाब्दबोध 'ललाटत्वविपाटनानुसूक्त व्यापार वाले वनप्रदेश प्रयोजकतासंबन्ध से की जानेवाली ललाटाक्षरदर्शनरूप फल की समावना के विषय है' यह होता है। यदि अध्यवसान द्वारा ललाटाक्षरदर्शनफलक ललाटत्वविपाटन से अभिन्न माना गया स्वाभाविक (कण्टकी होने के कारण स्वतः वनप्रदेश द्वारा होने वाला) ललाटत्वविपाटन को ही उत्प्रेक्षा का विषय बना दिया जाय-अर्थात् 'वनान्तैर्ललाटत्वो विपाटनम् अक्षराणि द्रष्टुमिव (वनान्तों द्वारा ललाट की खचा का उद्देष्टना मानो, ललाट के अक्षरों को देखने के लिये हो रहा है)' इस तरह का पाठ्य मानकर यदि ललाटत्वविपाटनरूप विषय में ही ललाटाक्षरदर्शनरूप फल की उत्प्रेक्षा प्रयोजकतासंबन्ध से की जाय तब विषयतावच्छेदक (उक्तललाटत्वविपाटनरूप विषय में रहनेवाला) धर्म तादात विपाटनत्व उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा। ऐसे स्थलों में परम्परया अन्वय किंवा उत्प्रेक्षा करने का बखेदा नहीं होता यह ध्यान में रखना चाहिये।

इदानीं हेतुफलोत्प्रेक्षासाधारणं स्पष्टीकरणं कुर्वते—

एवं च यत्र समासप्रत्ययगुणीभूते विषये हेतुफलान्वयो न साक्षात् सम्भवति तत्र प्रधान एव विषये तादृशविशेषणद्वारकप्रयोज्यत्वप्रयोजकत्वाभ्यां संसर्गाभ्यां हेतुफलयोर्दृष्टेक्षा बोध्या।

समासेति। समासप्रत्ययाभ्यां गुणीभूते इत्यर्थः। अत्र 'अयं भाव—समासादे-कारणात् अन्यपदस्य प्रत्ययस्य वाऽर्थो यत्र प्रधानं स्यात्' इति 'सरलायाः' सरलौकरणं कीदृशमिति विद्वैर्विवेचनीयम्। अयं भाव—'विरलेपदु'खादिव बद्धमौनम्' इत्यत्र वस्तुतः उत्प्रेक्षाया विषय मौनपदार्थः, परन्तु स बहुमोहिसमासान्तर्गततया गुणीभूतः। (अत्रैव 'बद्धमौनम्' इत्यस्य स्थाने 'मौनवत्, मौनी' इति वा कृते प्रत्ययप्रयुक्तगौणत्व बोध्यम्।) एव स्थितौ दु खस्य प्रयोज्यतासम्बन्धेन तत्र (मौनपदार्थे) अन्वयः साक्षात् न सम्भवति, 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न पदार्थैकदेशेन' इति नियमात्, अतोऽत्र 'बद्धमौनम्' (मौनयुक्तं नूपुरम्) एवोत्प्रेक्षाया विषयो मन्तव्यः, तत्रैव च मौनद्वारा प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन दु खस्योत्प्रेक्षा बोध्या। एव 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यत्र वस्तुतः उत्प्रेक्षाया विषय ललाटत्वविपाटनपदार्थः परन्तु स मुक्तिप्रत्ययार्थाभ्यां गुणीकृतः (अत्रैव 'अक्षराणि द्रष्टुमिव विपाटितभालत्वो वनान्ताः' इत्येवकरणे समासप्रयुक्तं गौणत्व बोध्यम्) एवं स्थितौ अक्षरदर्शनरूपस्य फलस्य प्रयोजकतासम्बन्धेन तत्र साक्षादन्वयो न सम्भवति उक्तयुक्तेः, अतः वनान्तपदार्थस्यैवोत्प्रेक्षाविषयत्वमास्थेयम्, तत्रैव च प्रयोजकतासम्बन्धेन ललाटत्वविपाटनद्वारा दर्शनरूपफलस्योत्प्रेक्षा मन्तव्या। दिग्दर्शनमात्रमेतत्। सर्वत्रैवविषयस्थितानेवविषयैव सरणिराश्रयणीया। इति।

अब सामान्यतः हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा दोनों के विषय में एक स्पष्टीकरण किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ वास्तविक उत्प्रेक्षाविषय समास तथा प्रत्ययद्वारा गौण हो गया हो, अतः हेतु तथा फल का उसके साथ साक्षात्

अन्वय न हो सकता हो (ईदृश अन्वय के न हो सकने में 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न पदार्थे-
कदेशेन—अर्थात् किसी पद का अर्थ किसी पद के पूरे अर्थ के साथ ही अन्वित होता है,
किसी पद के पूरे अर्थ के एक भाग से नहीं' इस नियम को कारण समझना चाहिए)
वहाँ प्रधान पदार्थ ही उल्लेख का विषय माना जाता चाहिये । और वस्तुतः
विषय की योग्यता रखनेवाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता'
संबन्धों से क्रमशः हेतु की तथा फल की उल्लेख समझनी चाहिये । तात्पर्य यह कि-
जैसे 'विरलेषुत्तादिव बद्धमौनम्' इस हेतुल्लेख की जगह, उल्लेख का वास्तविक
विषय होने योग्य 'मौन' पदार्थ के बहुव्रीहि समासान्तगत हो जाने के कारण गौण हो
जाने से 'बद्धमौन' (मौनयुक्त) रूप प्रधान पदार्थ को ही विषय माना जाता है और
उसी में मौनद्वारा दुःख की उल्लेख 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से मानी जाती है, उसी तरह
'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाचराणि' इस फलोल्लेख की जगह में भी उल्लेख का वास्तविक
विषय होने योग्य 'भालत्वविपाटन' पदार्थ के सुश्लिष्ट प्रत्ययों के कारण गौण हो जाने
से प्रधान पदार्थ (वनप्रवेश) को ही विषय माना जाता है और उसी में उक्त वास्त-
विक विषय होने योग्य पदार्थ द्वारा प्रयोजकतासम्बन्ध से ललाटाद्वारदर्शनरूप फल
की उल्लेख मानी जाती है । उक्त हेतुल्लेखस्थल में 'बद्धमौनम्' की जगह 'मौनवत्'
अथवा 'मौनी' पद के रहने पर प्रत्ययप्रयुक्त गौणता होगी, इसी तरह उक्त फलोल्लेख-
स्थल में 'अचराणि द्रष्टुमिव विपाटितभालत्वचो वनान्ताः' ऐसे वाक्य के रहने पर
समासप्रयुक्त गौणता होगी यह समझना चाहिये । ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऐसी रीति
से ही काम लेना चाहिये ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

" यथापि विशेषणोऽपि यथाकार्यचिद्धेतुफलयोरन्वयाद्विशेषणस्यापि विषयत्वमु-
चितम् । तथापि विषयविषयिणोरुद्देश्यविधेयभावप्रत्ययस्यानुरोधद्वारं सरणि-
राश्रिता । यदि च सख्य नास्त्येवानुरोधस्तदा प्राचां दर्शनमेव रमणीयं स्यात् ।

यथाकार्यचिद्धेतुफलयोरिति । 'शिखी च्छतः', 'रवर्गो च्छतः', 'नीलरूपवान् जातः'
इत्यादाविति भावः । तस्येति । तयोर्द्वयविधेयभावप्रत्ययस्येत्यर्थः । हेतुफलोरन्वयस्थले-
हेतुफलयोरन्वयः पदार्थकदेशतया शुष्णभूतेषु धर्मेषु न सम्भवतीति धर्मद्वारा धर्मिणि
प्रधानेऽन्वयः करणीय इति श्रुतं तदर्थचित्करम्, 'शिखी च्छतः' इत्यादाविष एकदेशा-
न्वयस्यापि सम्भवेन परस्परया धर्मिण्यन्वयस्यायुक्तत्वात् । तथा च 'विरलेषुत्तादिव—'
'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ मौनव्यपाटनार्थां धर्मानानेतेल्लेखाविषयत्वमुचितम्
इति शब्दादलायनः, उल्लेखस्थले विषयः (धर्मिण्यन्वयेषा भवति स पदार्थः) उद्देश्यो-
भवति विषयो (उल्लेख्यः पदार्थः) विधेयो भवतीत्यनुभवसिद्धं वस्तु । अस्य चानुभवस्य
रक्षण उक्तस्थलेषु तदैव भवति यदा धर्मद्वारकमन्वयमङ्गीकृत्य प्रधानत्व धर्मिणो उल्लेखा-
विषयत्वमङ्गीक्रियते, धर्मिणोऽल्लेखाविषयत्वे रवीकृते तदनुभवरक्षा नैव भवेत्, यतः प्रधान-
स्यैव पदार्थस्य उद्देश्यताविधेयता वा भवतीति नियमः, धर्मस्तु तत्र न प्रधानः इति प्रागुप-
पादितम्—अर्थात् 'विरलेषुत्तादिव—' 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ मौनव्यपाटना-
दीना धर्मानानुल्लेखविषयत्वे स्वीकृत्यमात्रे तेषामुद्देश्यत्वसम्भवेनोद्देश्यत्वतापेक्षस्य विधे-
यत्वस्यापि हेतुफलोरुद्देश्यविधेयभावप्रतीतिरनुरोधो न विधीयते तदा प्रागुपपादितेषु हेतुफलोरन्वय-
स्थानुभवसिद्धस्य भङ्गापत्तिरिति तदनुरोधेन धर्मद्वारकमन्वयमङ्गीकारेण प्रधानीभूतधर्मिण्यन्वय-
त्वाङ्गीकारमात्रं स्वीक्रियत इति च समाधानदलायनो बोध्यः । यदि उल्लेखस्थले विषय-
विषयिणोरुद्देश्यविधेयभावप्रतीतिरनुरोधो न विधीयते तदा प्रागुपपादितेषु हेतुफलोरन्वय-
स्थानुभवसिद्धस्य भङ्गापत्तिरिति तदनुरोधेन धर्मद्वारकमन्वयमङ्गीकारेण प्रधानीभूतधर्मिण्यन्वय-
त्वाङ्गीकारमात्रं स्वीक्रियत इति च समाधानदलायनो बोध्यः ।

स्यु प्राचीनोक्तरीत्या निश्चलचनिमित्तकनिशब्दत्वादौ विरहेऽभेदेन विरलेषु हेतुक-
मौनादे, कष्टकजविपाटनादौ विरयेऽचरदर्शनरत्नकमालचण्विपाटनादेधाभेदेनोपेक्षैव
किं न स्वीक्रियेत, यतस्तत्त्वज्ञेऽपि अनुभवविज्ञोद्देश्यविधेयभावमज्ञ एव प्रधानो दोष,
स चेदानीमपि स्वीक्रियत एवेति प्रोक्तसमाधानोपोद्धतक्युक्तिपरयायाः 'यदि च...रमनीयं
स्यात्' इति पक्षेऽभिप्रायः ।

एक आशङ्का और उमका समाधान किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । यद्यपि विशेष-
ण में भी, किसी न किसी तरह, हेतु तथा फल का अन्वय ही जाने से विशेषण का
विषय होना उचित है—अर्थात् 'विरलेषु दुःखात्—' तथा 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—'
इत्यादि स्थानों में, धर्मों (मौन तथा विपाटन) में हेतु तथा फल (दुःख एव दर्शन)
का अन्वय गौण होने के कारण नहीं हो सकता, अतः धर्मद्वारा धर्मियों (मौनयुक्त तथा
वनप्रदेशों) में उनके अन्वय किए जाते हैं यह जो कहा गया है सो अकिञ्चिन्कर है,
क्योंकि कहीं-कहीं (जैसे 'शिखी घ्वस्त हुआ' आदि में) एकदेशान्वय भी देखा जाता
है तदनुसार यहाँ भी उक्त धर्मों में ही हेतु तथा फल का अन्वय किया जा सकता है और
जब वैसा अन्वय किया जा सकता है तब उन धर्मों को ही विषय मानकर उनमें ही
हेतु-फल की उल्लेखा भी की जा सकती है, तथापि उल्लेखा में जो विषय की उद्देश्यता
और विषयी की विधेयता सर्वानुभवसिद्ध है, उसके अनुरोध से इस मार्ग का अनुसरण
करना पड़ता है—अर्थात् उल्लेखस्थल में उल्लेखा का विषय (जिसमें उल्लेखा होगी है
वह पदार्थ) उद्देश्य और उल्लेखा का विषयी (उल्लेख्य पदार्थ) विधेय होता है ऐसा
अनुभव सभी को होता है और यह भी निश्चित है कि—किसी की उद्देश्यता सिद्ध होने
पर ही किसी की विधेयता भी सिद्ध होती है—ये दोनों परस्पर सापेक्षभाव हैं, ऐसी
स्थिति में यदि उक्तस्थलों में मौन तथा विपाटनरूप गौण धर्मों को उल्लेखा का विषय
बनाया जायगा तब वे उद्देश्य नहीं हो सकते, क्योंकि उद्देश्य किंवा विधेय प्रधान
पदार्थ ही होता है और जब वे उद्देश्य नहीं हो सकेंगे, तब हेतुफल (दुःखदर्शन)
रूप उल्लेख्य विधेय भी नहीं हो सकेंगे, फलतः अनुभवसिद्ध वस्तु का अप-
रूप होने लगेगा, अतः धर्म द्वारा प्रधान धर्मों (मौनयुक्त तथा वनप्रदेश) को
उल्लेखा का विषय माना जाता है, जिससे उद्देश्यविधेयभावानुभव की रक्षा होती
है । यदि उद्देश्यविधेयभाव का अनुरोध न किया जाय तब तो प्राचीनों का मत ही
श्रेष्ठ था—अर्थात् उक्त भाव का अनुरोध नहीं करने पर प्राचीनों के हिसाब से हेतु-
फलोल्लेखाओं में भी अभेदसंबन्ध से ही उल्लेखा मानना उचित था—निश्चलताहेतुक
निशब्दता में दुःखहेतुक मौन की और कष्टकजन्य विपाटन में अचरदर्शनरूप फलवाले
आलम्ब्यविपाटन की उल्लेखा अभेदसंबन्ध से मानना युक्त था, क्योंकि उद्देश्यविधेय-
भाव का भङ्ग ही उस मत में प्रधान दोष होता था, वह भङ्ग भी हो ही रहा है और
आप उस दोष को दोष-कोटि में गिनना नहीं चाहते ।

प्राचीनमते न केवल उद्देश्यविधेयभावभङ्गापत्तिरेव दोष, अपि तु दोषान्तरमपीत्याह—

किञ्च प्राचां मते हेतुफलोत्प्रेक्षास्यले तद्धेतुकतत्फलकयोः कार्यकारणयोरेव
निग्रीर्णं विषये उत्प्रेक्षणान् स्वरूपोत्प्रेक्षायामेव पर्यवसानम्, न हेतुफलयोः । एवं
च विभागधिरन्तनानामुच्छिन्नः स्यात् । अथ स्वरूपतादात्म्याविशेषेऽपि हेतु-
फलाविशेषणकमुद्भवस्वरूपोत्प्रेक्षया हेतुफलविशेषणकस्वरूपोत्प्रेक्षायामस्ति हेतु-
फलकृत एव भेद इति चेत् 'तनयमैनाकगवेपणलम्ब्रीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-
हिमगिरिमुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति प्रागुदाहृतायां स्व-
रूपोत्प्रेक्षयां तनयमैनाकगवेपणरूपस्य फलस्योत्प्रेक्ष्यविशेषणकोटिप्रविष्टत्वा-

‘फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, उत्प्रेक्ष्ये साक्षाद्विशेषणताया अप्रयोजकत्वात् । इत्यलं स्वगोत्रकलहेन ।

हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले इति । हेतुःप्रेक्षास्थले फलोत्प्रेक्षास्थले चेत्यर्थः । तद्वेतुकत्फल-
फयो’ कार्यकारणयोरिति । तद्वेतुकस्य कार्यस्य, तत्फलकस्य कारणस्य चेत्यर्थः । न हेतु-
फलयोरिति । उत्प्रेक्षया पर्यवसानमिति पूर्वतनातुपक्ष । तावता किं स्यादित्याह—एवं
चेति । स्वरूपतादात्म्याविशेषे इति । यदिकश्चित्पदार्थस्वरूपस्य तादात्म्येन (अभेदेन)
उत्प्रेक्षा इत्यस्य तुल्यत्वे इत्यर्थः । हेतुफलाविशेषणकेति । हेतुश्च फलश्च ते न विशेषणे
अयोस्तादृशे अत एव शुद्धे ये पदार्थस्वरूपे तयोदत्प्रेक्षाया इत्यर्थः । एवमप्येवमपि । ननु
तत्तद्योतिप्रविष्टत्वेऽपि तस्य न तत्र साक्षाद्विशेषणत्वमत आह—उत्प्रेक्ष्ये इति । अभेद-
सम्बन्धेनैव सर्वत्रोत्प्रेक्षा समर्थयता प्राचा मते प्रागुक्ता दोषास्तु सन्त्येव । अपरोऽप्ययं
दोषस्तन्मते यत् स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुःप्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति चिरन्तनाचार्यकृतो विभाग
उचित्तो भवेत्, यतस्ते ‘समा मन्ये ललिततनु ते पादयो’ पद्मलक्ष्मी’ ‘विरलेपदु’खादिव
बद्धमौनम्’ इत्यादिहेतुःप्रेक्षादाहरणे ‘स्वाभाविके शोभाकर्तृके पादलगने हर्षहेतुकपाद-
लगनस्य, निश्चलत्वहेतुकनि’शब्दत्वे दुःखहेतुकमौनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षामङ्गीकुर्वन्ति, एवं
‘द्रष्टुमिवाशराणि’ इत्यादिफलोत्प्रेक्षादाहरणेऽपि कण्टकजन्यभालत्वग्विपाटनेऽक्षरदर्शन-
फलकभालत्वग्विपाटनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षा मन्यन्ते, तथा चासामुद्येक्षणः स्वरूपोत्प्रेक्षा-
स्वेव पर्यवसानं जातम् । ननु यत्रोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदककुक्षी हेतुफले भासमाने भवतस्ते
हेतुफलोत्प्रेक्षे, यथा ‘विरलेपदु’खात्—’ ‘व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—’ इत्यादौ, यत्र पुन-
रुत्प्रेक्ष्यतापच्छेदककुक्षी हेतुफले न भासमाने तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा ‘मुखं चन्द्रं मन्ये’
इत्यादावित्येवं रीत्या चिरन्तनकृतो विभाग उपपद्यते एवेति न कश्चिदपि इति चेन्न, एवं-
रीत्या विभागे समुपाद्यमाने ‘तनयमैनाकगवेषण—’ इति प्रागुदाहृतस्वरूपोत्प्रेक्षाया अपि
‘फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, तत्रापि भुजगतोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदककुक्षी - तनयमैनाकगवेषणात्मकस्य
फलस्य प्रविष्टत्वात् । हेतुफलयोः साक्षादुत्प्रेक्ष्यविशेषणतैव हेतुफलोत्प्रेक्षाशब्दव्यवहारनि-
यामिका ‘तनयमैनाक—’ इत्यत्र तु प्रोक्तस्य फलस्य न साक्षादुत्प्रेक्ष्यभुजविशेषणतेति न
दोष इति न शक्यं वदितुम्, तथा कल्पनायामनुकूलतर्कविरहादिति भावः ।

प्राचीनों के मत में पूर्वोक्त दोष तो है ही, अन्य दोष भी हैं यही अर्थ दिखलाया
जाता है—किन्तु प्राचाम् इत्यादि । प्राचीनों के मत से हेतुःप्रेक्षास्थल में हेतु की उपप्रेक्षा
तो होती नहीं, अपितु तद्वेतुक कार्य की अनुक्त विषय में अभेदसंबन्ध से उपप्रेक्षा होती
है, जैसे ‘विरलेपदु’खादिव—’ में उनके मत से अनुक्त निश्चलत्वहेतुक निःसम्बन्धस्वरूप
विषय में वियोगजन्य दुःखहेतुक मौन की उपप्रेक्षा अभेदसंबन्ध से होती है, एवं उनके
मत से फलोत्प्रेक्षास्थल में भी फल की उपप्रेक्षा नहीं होती, अपितु तत्फलक कारण की
अनुक्त विषय में अभेदसंबन्ध से उपप्रेक्षा होती है, जैसे ‘व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाशराणि—’ में
उनके हिसाब से अनुक्त कण्टकजन्य भालत्वग्विपाटनरूप विषय में ललाटापरदर्शन-
फलक भालत्वग्विपाटन की अभेदसंबन्ध से उपप्रेक्षा मानी जाती है । ऐसी स्थिति में
ये उपप्रेक्षाएँ भी स्वरूपोत्प्रेक्षा के रूप में ही परिणत हो जाती हैं—अर्थात् एक धर्म की
दूसरे धर्म में जब अभेदसंबन्ध से उपप्रेक्षा हुई तब वह स्वरूप की उपप्रेक्षा के अतिरिक्त
क्या कहला सकती है ? आप कहना चाहें कि इति क्या है ? मान लीजिए सब को
स्वरूपोत्प्रेक्षा ही । तो मैं कहूँगा—चिरन्तनों का किया हुआ विभाग समाप्त हो जायगा—
अर्थात् पहले जो चिरन्तन आचार्य ‘स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुःप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद
उपप्रेक्षा के कहते थे वह कथन निर्या हो जायगा—अब स्वरूपोत्प्रेक्षात्मक एक ही

भेद उपप्रेक्षा का रह जायगा । यदि आप कहें कि—तीनों उपप्रेक्षाओं में 'स्वरूपतादात्म्य' समानरूप से होता है अथवा—अर्थात् तीनों उपप्रेक्षाओं में एक पदार्थस्वरूप की ही अभेदेन दूसरे पदार्थस्वरूप में सम्भावना की जाती है इतनी समानता है, पर इस समानता के रहने पर भी कुछ भेदक है जिससे उक्त विभाग बन सकता है और यह भेदक है हेतु तथा फल का उपप्रेक्ष्यविशेषणकोटि में आना एवं न आना—अर्थात् जहाँ उपप्रेक्ष्य के विशेषणरूप से हेतुभूत पदार्थ आता हो वह हेतुप्रेक्षा, जहाँ फल उपप्रेक्ष्यविशेषण हो वह फलोप्रेक्षा और जहाँ इन दोनों में से एक भी उपप्रेक्ष्य का विशेषण न हो वह स्वरूपोप्रेक्षा, इस तरह विभाग किया जा सकता है । तो इसके उत्तर में कहना यह है कि यदि इस तरह से विभाग किया जाय तब 'तनयमैनाक—' यह गद्य जो स्वरूपोप्रेक्षा के उदाहरण में लिखा गया है वह भी फलोप्रेक्षा का उदाहरण कहलाने लगेगा, क्योंकि वहाँ भी उपप्रेक्ष्य भुज (भुजायमान पद पर ध्यान दीजिए) के विशेषणभाग में पुत्रमैनाक का अन्वेषणरूप फल भाया है । आप कहेंगे—वहाँ फल यद्यपि विशेषण है, तथापि उपप्रेक्ष्य का साक्षात् विशेषण नहीं किन्तु परम्परया है, अतः वह गद्य फलोप्रेक्षा का उदाहरण नहीं कहला सकता । तो मैं कहता हूँ कि—फल उपप्रेक्ष्य का साक्षात् विशेषण हो तभी फलोप्रेक्षा कही जायगी इस तरह की कल्पना करने में कोई अनुकूल तर्क नहीं है, क्योंकि दोनों ही स्थानों पर अधिधानता समान है । फलतः प्राचीनों का मत इस गड़बड़ी के कारण भी ठीक नहीं है । पर अब छोड़िए इस शगड़े को । कारण अपने ही गोश्रवालों (साहित्यिकों) से कलह करना व्यर्थ है ।

अभेदानामुपप्रेक्षाणा साङ्ख्यै कयोत्प्रेक्षया व्यपदेश इति वक्तुं प्रयतते—

उत्प्रेक्ष्यमाणेष्वपि यस्य विपयिण उत्प्रेक्षा विधेयतया भासते तदीयोत्प्रेक्ष्यैव व्यपदेशः, प्राधान्यात् । तेन 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इत्यत्र नूपुरगतत्वेन दुःखस्योत्प्रेक्ष्योऽपि न तदुत्प्रेक्षया व्यपदेशो न्याय्यः, तस्या अङ्गत्वेनानुवाद्यत्वात् । किन्तु पञ्चम्यर्थोत्प्रेक्षया, तस्या एव इवशब्दवेद्यत्वेन विधेयत्वात् । तथा 'चोलस्य' इति पद्येऽपि धनान्तगतत्वेन न ललाटाक्षरदर्शनोत्प्रेक्ष्याऽपि, अपि तु तुमुत्रर्थोत्प्रेक्षया । एव 'तनयमैनाक—' इत्यादिगद्ये न फलोत्प्रेक्षया व्यपदेशः । नापि 'कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना' इत्यत्र शशिकिशोरतादात्म्योत्प्रेक्षया, तदुत्थापितया ध्वान्तकर्तृकयैरहेतुकनिगरणकर्मतादात्म्योत्प्रेक्षया वा, प्रागुक्तादेव हेतोरिति दिक् ।

पञ्चम्यर्थोत्प्रेक्षयेति । व्यपदेश इत्यस्यानुपपन्न । एवमप्येऽपि । प्रागुक्तादेवेति । अङ्गत्वेनानुवाद्यत्वादित्यस्मादेवैतत्पर्यं । 'विश्लेष—' इत्यत्र पञ्चम्यर्थस्य हेतोः, 'चोलस्य—' इत्यत्र 'तुमुत्र'प्रत्ययार्थस्य फलस्य, 'तनयमैनाक—' इत्यत्र भुजत्वजात्यवच्छिन्नस्य, 'कलिन्दजा—' इत्यत्र क्रीडनक्रियायाश्च क्रमशः उत्प्रेक्षासु इवादिपदवेद्यत्वेन बाध्यासु क्रमशो दुःखस्य, दर्शनस्य, तनयमैनाकगवेषणात्मकस्य फलस्य, शशिकिशोरतादात्म्यस्य ध्वान्तकर्तृकनिगरणकर्मतादात्म्यस्य चोत्प्रेक्षाणा नियमतो व्यञ्जनया प्रतीयमानत्वेऽपि न व्यङ्गपाभिस्तत्तदुत्प्रेक्षाभिस्तत्र तत्र व्यवहारः, तासां व्यङ्गयोत्प्रेक्षाणामङ्गत्वेनानुवाद्यत्वात् । अपि तु पूर्वोक्ततद्वाच्योत्प्रेक्षाभिरेव तत्र तत्र व्यवहारः, तासामुत्प्रेक्षाणामेव इवादिपदवेद्यानां विधेयत्वेन प्राधान्यात् । एवबानिकविधोत्प्रेक्षासाङ्ख्यै यस्य विपयिण उत्प्रेक्षा विधेयतया भासते, प्राधान्यात्तदीयोत्प्रेक्ष्यैव व्यवहार इत्यनुगमः फलितो भवति । अनयैव दिशा सर्वत्रोत्प्रेक्षाव्यवहरणीयेति भावः ।

• अब जहाँ अनेक उपप्रेक्षाओं का साङ्ख्य हो वहाँ किस उपप्रेक्षा का व्यवहार करना चाहिये

इस वाच का निर्णय किया जाता है—उत्प्रेक्ष्यमानेष्वपि इत्यादि । जहाँ अनेक उत्प्रेक्षाएँ हैं वहाँ भी जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेयरूप से भासित होती हो उसकी उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार करना उचित है, क्योंकि प्रधानता उसी उत्प्रेक्षा की होती है । इस अनुगम के अनुसार 'विरलेप-' इस जगह नूपुररूप विषय में दुःखरूप गुण की उत्प्रेक्षा के व्यङ्ग्य होने पर भी, उस उत्प्रेक्षा का व्यवहार उचित नहीं होता—अर्थात् गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा यहाँ नहीं कही जाती है । कारण, यह उत्प्रेक्षा अज्ञ होने के कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं । किन्तु 'पद्ममी के अर्थ (हेतु) की उत्प्रेक्षा (हेतुत्प्रेक्षा) का व्यवहार ही उचित है, क्योंकि 'इय' शब्द से उसी का बोध होने के कारण विधेय वही है । इसी तरह 'चोत्स्य यज्ञीतिपलायितस्य—' इस पद्य में भी 'वनप्रदेश'रूप विषय में 'ललाटाचरदर्शन' की उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य अवसर होती है, पर व्यवहार उसका नहीं होता—अर्थात् 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' यहाँ मानी नहीं जाती, क्योंकि वह उत्प्रेक्षा भी अज्ञभूत है—अनुवाद्य है । किन्तु 'तुमुन्'प्रत्यय के अर्थ (फल) की उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार होता है । कारण, 'इव'पद-बोध्य होने के कारण वही विधेय है—प्रधान है । इसी तरह 'वनयमैनाक—' इस पद्य में भी यद्यपि 'पुत्रमैनाकान्वेषणरूप फल की उत्प्रेक्षा व्यञ्जनावृत्तिद्वारा प्रतीत होती है, पर व्यवहार उसका नहीं होता—अर्थात् 'फलोत्प्रेक्षा' का उदाहरण वह पद्य नहीं कहा जाता । किन्तु 'सुखदजायवच्छिन्नोत्प्रेक्षा' का ही व्यवहार होता है—अर्थात् जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण ही उस पद्य को कहा जाता है । कारण वही है जो उक्तस्थलों पर था । इसी तरह 'किल्बिन्दजानीर—' इस पद्य में भी यद्यपि 'वक'रूप विषय में 'चन्द्रकिशोर' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है, और उसी उत्प्रेक्षा के बल से 'चन्द्रकिशोर'रूप विषय में 'अन्धकारकर्तृक धरहेतुक निगारणकर्म' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा भी व्यङ्ग्य होती है, तथापि इन दोनों में से किसी भी उत्प्रेक्षा का व्यवहार नहीं किया जाता । किन्तु 'वक'रूप विषय में होनेवाली 'क्रोशन'-विधेयोत्प्रेक्षा का ही व्यवहार होता है । कारण यहाँ भी पूर्ववत् समझना चाहिए ।

उत्प्रेक्षानिमित्तभूतधर्मसम्बन्धविशेषमाह—

द्विविधो हि तावद्धर्मोऽपि—स्वत एव साधारणः साधारणीकरणोपायेनासाधारणोऽपि साधारणीकृतश्च । स चोपायः क्वचिद्रूपकम्, क्वचिच्छ्लोपः, क्वचिदुपहृतिः, क्वचिद्विम्बप्रतिबिम्बभावः, क्वचिदुपचारः, क्वचिदभेदाध्यवसायरूपोऽतिशयः ।

द्विविधो हीति । हि यतः । स्वत एवेत्यादिद्विविध्य प्राप्नोऽतस्तावद्धर्मोऽपि । द्विविध इत्यर्थः । स चोपाय इति । स साधारणीकरणोपाय इत्यर्थः । अन्वयिगदव्याख्यातमेव ।

उत्प्रेक्षा के निमित्तभूत धर्म के संबन्ध में कुछ विविध बातें बताई जाती हैं—द्विविधो हि इत्यादि । उत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म भी दो प्रकार का है—एक स्वतः साधारण (विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला, जिसे 'अनुगामी' कहते हैं), दूसरा साधारण बनाने के उपाय द्वारा असाधारण होने पर भी साधारण बना लिया गया । उनमें से स्वतः साधारण के विषय में तो कुछ कहना नहीं है । रहा साधारण बनाने का उपाय, तो वह कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपहृति, कहीं विम्बप्रतिबिम्बभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेद का अध्यवसान (एक धर्म के प्रतिपादक वाक्य में अन्य धर्म को प्रविष्ट समझ लेना) रूप 'अतिशय' होता है ।

उपायेन साधारणीकृतानां धर्माणामुदाहरणेषु निर्देशेषु प्रथमं रूपकोपायसाधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

यथा—

'नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरं मिलदिन्दिरम् ।

इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराङ्गि तवाननम् ॥'

अयि सुन्दराङ्गि । नयनान्येव, इन्दिन्दिरा' भ्रमरा, तेषाम्, आनन्दस्थ, मन्दिरं स्थानम्, तथा मिलन्ती सयुज्यमाना, इन्दिरा लक्ष्मी (शोभा), यस्मिन्, तादृशम्, इदम्, तव, आननं सुखम्, इन्दीवरं कमलम्, मन्ये, इत्यर्थः ।

उक्त उपायों द्वारा साधारणीकृत धर्मों के उदाहरण दिखलानेके प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'रूपकारमक उपाय द्वारा साधारणीकृत धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है, यथा—नयनेः हृत्पादि । जैसे—हे सुन्दराङ्गि ! नयनरूप भ्रमरों का आनन्दस्थान तथा शोभासयुक्त यह तेरा सुख, मानो कमल है ।

उपपादयति—

अत्र प्रथमार्धगतः प्रथमो धर्मो रूपकेण विषयविषयिसाधारणीकृतः । द्वितीयश्च विलक्षणशोभयोरभेदाध्यवसायेन ।

प्रथम इति । नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वरूप इत्यर्थः । द्वितीय इति । मिलदिन्दिरत्व-रूप इत्यर्थः । अद्यवसायेनेति । विषयत्याद्यनुपपद्यते । 'नयने—' इति श्लोके आनन्दरूपे विषयेऽभेदेन इन्दीवररूपस्य विषयिण उल्लेखः । तस्याव्युत्प्रेक्षाया 'नयनेन्दिन्दिरानन्द-मन्दिरत्वम्' 'मिलदिन्दिरत्वम्' चेत्येतौ धर्मो निमित्तभूतौ । निमित्तता च तयोः प्रथमस्य रूपकेण द्वितीयस्याभेदाध्यवसायेन साधारणीकरणद्वारा । कयमिति चेत् ? इत्यम्—नयनानन्दमन्दिरत्वम् आनन एव इन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वञ्चेन्दीवर एव । नयनेन्दिन्दिरयोः रूपके कृते तु नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्व तयोः साधारण सम्पद्यते । एवम् आननस्येन्दिन्द्राभिन्नाऽऽनन एव इन्दीवरस्येन्दिन्द्राभिन्ना इन्दीवर एव । तयोरभेदाध्यवसाये तु मिलदिन्दिरत्व तयोः साधारणं भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'नयने' इस पद्य में मुख्यरूप विषय में कमलरूप विषयी की अभेदसम्बन्ध से उल्लेखा की जाती है और उस उल्लेखा में 'नयनभ्रमरानन्दस्थानत्व' और 'शोभासयुक्तत्व' ये दो धर्म निमित्त होते हैं, पर ये धर्म स्वतः निमित्त हो नहीं सकते, क्योंकि स्वतः विषय विषयी दोनों में रहनेवाले नहीं हैं—अर्थात् 'नयनानन्दस्थानत्व' सुख में है तथा 'भ्रमरानन्दस्थानत्व' कमल में है—उभयानन्दस्थानत्व किसी एक में नहीं है । इसी तरह सुख की शोभा तथा कमल की शोभा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतः सुख की शोभा से युक्त सुख और कमल की शोभा से युक्त कमल ही हो सकता है—किसी एक शोभा से युक्त दोनों नहीं होते, इसलिये नयन और भ्रमर में अभेदारोपरूप रूपक मानकर और सुख-शोभा तथा कमल-शोभा में अभेदाध्यवसान (अतिशयोक्ति) मानकर उक्त दोनों धर्मों को विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला (साधारण) बना लिया जाता है और साधारण बन जाने पर उक्त दोनों धर्म उक्त उल्लेखा के निमित्त होते हैं ।

सोदाहरणमुक्तप्रकारातिरिक्तमेकं निमित्तधर्मप्रकारं प्रकृतयति—

केवलशब्दात्मकोऽप्यय सम्भवति ।

'अङ्कितान्यक्षसङ्घातैः सरोगाणि सदैव हि ।

शङ्के पङ्केरुहाणीति शरीराणि शरीरिणाम् ॥'

अयं निमित्तभूतो धर्मः उल्लेखाया शब्दात्मकोऽपि उपमादाविव भविष्यति । यथा—'हि यत, अक्षसङ्घातैः इन्द्रियतामूहैः' (अन्यत्र कमलबोजे), अङ्कितानि चिह्नितानि, सदैव, सरोगाणि रोमसहितानि (अन्यत्र सरोवरगतानि च), शरीरिण प्राणिनाम् ।

शरीरणि, सन्ति, अतस्तानि, पद्मेरुहाणि कमलानि, इति शब्दे' इत्यर्थके 'अङ्किता—' इति श्लोके 'अक्षसद्वाताङ्कित'शब्दः 'सरोग'शब्दश्च । अयं भाव —अर्थतः अक्षसद्वाताङ्कितत्वं 'इन्द्रियसद्वाताङ्कितत्वं'रूपम्, 'बीजसद्वाताङ्कितत्वं'रूपञ्च, एवं सरोगतत्वं अर्थतः 'रोगसद्वाताङ्कितत्वं'रूपं 'सरोवरगतत्वं'रूपञ्च । तत्र प्रथम प्रथम शरीरेषु द्वितीयं द्वितीयञ्च कमलेषु इति न कोऽप्यर्थात्मको धर्मः शरीर-कमल साधारणः । शब्दात्मको तु तौ द्वावपि धर्मौ 'प्रतिपाद्यता'संयन्धेन तदुभयसाधारणौ सन्तौ शरीरात्मके विषये पद्मेरुहात्मकस्य विषयिण उद्वेशां प्रयोजयस इति ।

उदाहरणसहित निमित्त-धर्म का एक अपर प्रकार दिखलाया जाता है—केवल इत्यादि । यह निमित्तभूत धर्म उपमा आदि की तरह उद्वेचा में भी केवल शब्दात्मक हो सकता है । जैसे—'अङ्किता'—अर्थात् मैं दाङ्का करता हूँ कि-शरीरधारियों के शरीर कमल हैं । कारण, ये 'अक्षसद्वाता' (इन्द्रियसमूहों, अन्यत्र कमलमण्डों के समूहों) से अङ्कित हैं और 'सरोग' (रोगमहित अन्यत्र सरोवरागत) हैं । इस पद्य में 'अक्षसद्वाताङ्कित' और 'सरोग' ये दो शब्दरूप धर्म हैं । अभिप्राय है कि-प्रकृत पद्य में शरीरों में कमलों की उद्वेचा 'अभेद'संयन्ध से की जाती है और उसमें निमित्त होते हैं उक्त दोनों धर्म । पर ये धर्म अर्थतः निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त दोनों धर्मों में से प्रथम धर्म अर्थतः 'इन्द्रियसमूहाङ्कितत्व' तथा 'बीजसमूहाङ्कितत्व'रूप सिद्ध होता है जिनमें प्रथम रूप केवल शरीर में तथा द्वितीयरूप केवल कमल में रहनेवाला है । इसी तरह द्वितीय (सरोगाव) धर्म अर्थतः 'रोगसहितत्व' तथा 'सरोवरगतत्व'रूप सिद्ध होता है जिनमें पहला केवल शरीर में तथा दूसरा केवल कमल में रहनेवाला है । अतः केवल शब्दतः ये दोनों धर्म निमित्त होते हैं—अर्थात् 'अक्षसद्वाताङ्कित' तथा 'सरोग' ये दोनों शब्द ही 'प्रतिपाद्यता'संयन्ध से शरीर-कमल दोनों में रहनेवाले धर्मरूप होकर उक्त उद्वेचा के निमित्त होते हैं ।

शब्दात्मके निमित्तधर्मों को विशेषतत्पमाट—

अयमुपात्त एव भवति ।

उद्वेक्षायां शब्दात्मको निमित्तधर्म उक्त एव, नानुत्तोऽमम्भवादिति भावः ।

उद्वेक्षा का यह शब्दात्मक निमित्त धर्म उक्त ही होता है, अनुक्त नहीं ।

प्रसङ्गाच्छब्दात्मकेतरेषु धर्मेषु ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

अर्थमयोऽनुपात्तश्चापि भवति । यथा 'द्विनेत्र इव वासवः' इत्यादौ जगद्वा-
श्वरत्वादिः । न चात्र द्विनेत्रत्वादिरूप उपात्त एव साधारणो धर्मः । साधार-
ण्यार्थमेव तस्य विषयिण्यारोपादिति वाच्यम् । तस्यारोपेण साधारणत्वे कृतेऽपि
असुन्दरत्वेनोत्प्रेक्षोत्थापकत्वविरहात् । साधारणीकरणं तु प्रतिबन्धकनिरासार्थ-
मित्युक्तमेव ।

अर्थमय इति । प्रागुक्तोऽर्थमय इत्यर्थः । शब्दातिरिक्ता ये स्वतः साधारण उपायेन साधारणीकृताव धर्माः प्रागुपपादितास्तेऽनुपात्ता अपि भवन्ति, उपात्तास्तु भवन्त्येवेति भावः । उदाहरणप्रदर्शनेनानुपात्तत्वं द्रष्टव्यं—अथेति । 'द्विनेत्र इव—' इति पद्यं प्रागु-
क्लिखितं व्याख्यातव्यं । तत्र रानरूपे विषये क्रियमाणाया वासवाशुभेक्षार्यां जगदीश्वर-
त्वादिनिमित्तभूतो धर्मः स चानुपात्त इति भावः । उद्धृते—न चात्रेति । द्विनेत्रत्वादिर्यत्र
तत्र विषयभूतराजवृत्तिरेव यस्तुतो, न विषयि-वासवादिवृत्तिस्तथा च न साधारणस्तथापि
विषयिणि वासवादौ समारोपेण स साधारणीकृतो निमित्तो भवितुं योग्यः, स न उक्त
एवेति कथं तत्रानुपात्तस्य जगदीश्वरत्वादेनिमित्ततेति भावः । समापत्ते—तस्यारोपेणेति ।

आरोपेण साधारणीकृतोऽपि द्विनेत्रत्वादिरचमत्कारितयोत्प्रेक्षोत्थापको न भवितुमर्हतीति अनुपात्तस्यैव जगदीश्वरत्वादेश्रमत्कारिणो निमित्ततेति भावः । नन्येध द्विनेत्रत्वादे साधारणीकरणं व्यर्थमस्य आह—साधारणीकरणं न्विति । द्विनेत्रत्वादिधर्मवति विषये (राज्ञि) विषयिण (वासवादे) उपप्रेक्षायाः विषयितृत्तिः सहस्रनेत्रत्वादिधर्मं प्रतिबन्धक इति तदुपाकरणाय विषयिणि द्विनेत्रत्वादेश्रारोप इति न तस्य साधारणीकरणं व्यर्थमिति भावः ।
 “-इव” शब्दस्तत्र सम्भावनार्थक एव, न सादृश्यार्थक” इत्यस्यार्थस्य स्फुटत्वायापि द्विनेत्रत्वादे साधारणीकरणस्य धर्मकृतेत्यपि बोध्यम् ।

प्रसङ्गवश, शब्दात्मक धर्म—नो केवल उपात्त ही होता है—से अर्थात्मक धर्म में विलक्षणता घटलाई जाती है—अर्थमय इत्यादि । अधात्मक उत्प्रेक्षा-निमित्तभूत धर्म जो स्वतः साधारण अथवा उपाय द्वारा साधारणीकृत पूर्व में बनाए गए है वे अनुपात्त भी हो सकते हैं (उपात्त तो होते ही हैं) । जैसे—‘द्विनेत्र इव वासव’—इस पूर्वोक्तिखिन्नालोत्प्रेक्षा में निमित्त होने वाला ‘जगदीश्वरत्व (जगत्पति होना)’ आदि अनुपात्त है । आप कहेंगे—वहाँ अनुपात्त (जगदीश्वरत्व आदि) धर्म को निमित्त मानने की आवश्यकता ही क्या है ? उपात्त ‘द्विनेत्रत्व’ आदि धर्म ही निमित्त हो सकता है, निमित्त बनाने के लिये ही तो ‘आरोप’रूप उपाय द्वारा द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण किया गया है—अर्थात् ‘द्विनेत्रत्व’ आदि, विषय (राजा) में ही रहनेवाला था, विषयी (इन्द्र आदि) में रहने वाला नहीं, अतः विषयी में आरोप करके ‘द्विनेत्रत्व’ आदि को साधारण बनाया गया है और जब वह साधारण बन गया तब वह निमित्त भी हो ही सकता है फिर अन्य किसी धर्म को निमित्त मानना व्यर्थ है । पर यह कथन आपका ठीक नहीं । कारण, द्विनेत्रत्व आदि धर्म साधारण हो जाने पर भी उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं हो सकता—उत्प्रेक्षा का उत्पापक नहीं हो सकता क्योंकि वह सुन्दर (चमत्कारी) नहीं है और उत्प्रेक्षा का निमित्त (उत्पापक) वही धर्म होता है जो सुन्दर हो । आप कहेंगे—यदि ऐसी बात भी तब द्विनेत्रत्व आदि को उपाय (आरोप) द्वारा साधारण बनाया ही किसलिये गया ? तो इसका उत्तर यह है कि—वह (द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण) तो ‘सहस्रनेत्रत्व (सहस्र आँख वाला होने)’ आदि उत्प्रेक्षाप्रतिबन्धक धर्म को हटाने के लिये किया गया है यह पहले कहा ही जा चुका है । यदि द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण नहीं किया जाता—अर्थात् यदि ‘द्विनेत्र इव वासव’ ऐसा न कहकर केवल (वासव इव) इतना ही कहा जाता तब ‘इव’ शब्द सादृश्यबोधक ही सिद्ध होता सम्भावनावोधक नहीं, और उसका साधारणीकरण कर देने पर—अर्थात् वैसा कहने पर, वह सम्भावनावोधक सिद्ध होता है । फलतः ‘इव’ शब्द सम्भावनावोधक है इततत्प्य का बोध करना भी उक्त साधारणीकरण का एक प्रयोजन है यह भी समझना चाहिये ।

श्लेषरूपेणोपायेन साधारणीकृत धर्ममुदाहरति—

‘दृष्टिः सम्भृतमङ्गला बुधमयी देव त्वदीया समा
 काव्यस्याश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः ।
 श्रोत्रस्तेशानिभूरनल्पधिपण स्वान्त तु सोमास्पद
 राजान्नूनमनूनविक्रम भवान् सर्वप्रहालम्बनम् ॥’

कविः राजान् स्तौति—द्वे देव । त्वदीया, दृष्टि, सम्भृतमङ्गला परिपूर्णशुभा (अन्यत्र परिपूर्णमङ्गलप्रदा), त्वदीया, समा, बुधमयी पण्डितमयी (अन्यत्र बुधप्रद-शुभा), त्वदीयम् आस्य मुखम्, काव्यस्य कविताया (अन्यत्र शुभप्रदस्य), आश्रय-
 १. स्थानभूतम्, त्वदीय सुन्दरः, अधरः अक्षणाधारः रत्नम् आश्रयः (अन्यत्र

सूर्यग्रहस्य आघार'), ते, क्रोध, 'अशनि' वज्ररूप' (अन्त्यत्र शनिग्रहरूप'), ते, स्वान्तं हृदयम्, तु पुनः, सोमास्पदम् उभया सहितः सोमः शिवः तस्य आस्पदम् अथवा 'चन्द्रमा मनसो जात' इति श्रुतेर्जनकतासम्बन्धेन चन्द्रविशिष्टम् (अन्त्यत्र चन्द्रग्रह-युक्तम्), अस्ति, अतः, हे अन्तर्पथिण महामते ! अन्नविन्म महापराक्रम ! राजन् ! भवान्, नूनम्, सर्वप्रहालम्बनं सर्वेषां ग्रहाणाम् अवलम्बन्तो, विद्यत इत्यर्थः ।

श्लेष द्वारा साधारण किम् गम् निमित्त धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है— दृष्टिः इत्यादि । कवि राजा की स्तुति करता है—हे देव ! आपकी दृष्टि 'मङ्गल' (शुभ + मङ्गलग्रह) से परिपूर्ण है, आपकी सभा 'बुधमयी' (विवध विद्वानोंवाली + बुधग्रहरूप) है, आपका मुख 'काव्य' (कविता + शुक्रग्रह) का आश्रय है, आपका सुन्दर अधर 'अहण' (ललाई + सूर्यग्रह) का आघार है, आपका क्रोध '(५) शनि' ('अशनि = वज्र + शनिग्रह) का स्थान है, और आपका हृदय 'सोम' (उमासहित = शिव + चन्द्रग्रह) का निवासस्थान है । अतः हे महामते ! तथा महाविक्रम ! राजन् ! आप निश्चित ही, सच ग्रहों के आलम्बन हैं—एक भी ग्रह ऐसा नहीं जो आपसे संबन्ध नहीं रखता हो ।

उपपादयति—

अत्रोत्प्रेक्ष्यमाणस्य सर्वप्रहालम्बनस्य धर्मेषु तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वेषु विशेषणीभूतैस्तत्तद्ग्रहैर्विषयस्य राज्ञो धर्मेषु कल्याणाश्रयत्वादिषु विशेषणानां कल्याणादीनां श्लेषेण तादात्म्यसम्पादनद्वारा तादृशधर्माणां साधारणतासम्पत्तिः ।

उत्प्रेक्ष्यमाणस्येति । विषयिण इति शेषः । कल्याणाश्रयत्वादिष्विति । कल्याणाभिताङ्गकत्वादिष्वित्यर्थः । 'दृष्टिः—' इति श्लोके राजस्ये विषयेऽभेदसंबन्धेन सर्वप्रहालम्बनात्मकस्य विषयिण उत्प्रेक्षा । तत्र च तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वरूपो धर्मो निमित्तम् । ननु कथमस्य धर्मस्य प्रोक्तविषय-विषयिसाधारण्यम् ? साधारण्यविरहे च कथं तस्य धर्मस्य निमित्ततेति चेत् ? तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वानि विषयिणः सर्वप्रहालम्बनस्य धर्मा [यथा दृष्टे संवृत-मङ्गल(भौम)त्वम्, सभाया बुध(बुधग्रह)मयत्वमोत्यादीनि] । एषु धर्मेषु विशेषणीभूतानां तत्तद्ग्रहाणां (मङ्गल-बुध-काव्यादीनाम्) राज्ञो धर्मेषु कल्याणाभिताङ्गकत्वादिषु विशेषणी-भूतैः कल्याणादिभिः सह श्लेषेण (एकेन पदेन अनेकार्थोपस्थापनरूपेण) तादात्म्यं (अभेदः) सम्पाद्यते । अत एव तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वस्य विषय-विषयिसाधारणधर्मत्वम्, साधारण-धर्मत्वे च प्रोक्तोत्प्रेक्षा-निमित्तत्वम् इति बोध्यम् । अयमारण्य-—मङ्गलबुधादिग्रहाणां यद्यपि वस्तुतो राज्ञो धर्मेषु न प्रवेशस्तथापि शुभादर्यको मङ्गलादिशब्दः रिल्लतया भौमग्रहाधर्मिचार्यको जातः । एवप्रकारेण विशेषणानामभेदे सति तादृशविशेषणचरित-धर्माणाम् (सम्भृतमङ्गलबुधमयत्वादीनाम्) अपि अभेदेन साधारणधर्मतासम्पत्ति-निष्पत्त्येति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दृष्टिः सम्भृतमङ्गला—' इस पद्य में 'सर्व ग्रहों के आलम्बन' की 'अभेद'सम्बन्ध से राजा में उत्प्रेक्षा की जाती है । उस 'आलम्बन' के धर्म है 'उन-उन ग्रहों से आश्रित अङ्गोंवाला होना' क्योंकि जिसके अङ्गों में ग्रह आश्रित हों वही तो 'ग्रहों' का आलम्बन कहा जा सकता है । वे धर्म 'दृष्टि 'मङ्गल' से परिपूर्ण है' इत्यादि अनेक रूपों में आये हैं, उनके विशेषणरूप में आप हुप वे वे (अर्थात् मङ्गल आदि) ग्रह, उत्प्रेक्षा के विषय 'राजा' के धर्म 'शुभ से परिपूर्ण होने' आदि के विशेषण बने हुए 'शुभ' आदि धर्मों के साथ, श्लेष द्वारा अश्रित बना दिए गए हैं । तापर्य यह कि—यद्यपि 'मङ्गल' आदि ग्रह का राजा के धर्म में किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता, तथापि मङ्गल आदि शब्द के दूसरे अर्थ 'शुभ' आदि का प्रवेश उसके

धर्म में हो सकता है। अतः 'मङ्गल' आदि शब्द में उन उन दो-दो अर्थों का श्लेष होने के कारण वे अर्थ अभिन्न बना दिए गए हैं। और उस अभिन्नता के कारण वैसे (पूर्वोक्त) धर्मों की साधारणता सिद्ध हो जाती है। और इस तरह से साधारण बने वे धर्म उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं।

श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्योदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘विभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ।

कपोलपालिं तव तन्वि मन्ये नरेन्द्रकन्ये दिशमुत्तराख्याम् ॥’

नायको नायिका वक्ति—हे तन्वि कृशाङ्गि ! नरेन्द्रकन्ये राजपुत्रि ! ललितालकायाम् ललिता = सुन्दरा, अलका केशा यस्या तथाभूतायाम्, (अन्यत्र ललिता अलका = तन्नामिका पुरी यस्या तथाभूतायाम्) यस्याम्, कपोलपात्याम् (अन्यत्र उत्तराख्यदिशि) मनोहरा = रमणीया, वैश्रवणस्य वै = निधयेन, कर्णस्य, (अन्यत्र वैश्रवणस्य = कुबेरस्य) लक्ष्मी शोभा, विभाति भासते, तव, कपोलपालिम्, ताम्, उत्तराख्याम् उत्तराभिधाम्, दिशम्, मन्ये, अहम् इति शेष । इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—विभाति इत्यादि। नायक नायिका से कहता है—हे कृशाङ्गि राजपुत्रि ! ‘ललितालका’ (सुन्दर अलकों = केशोंवाली, अन्यत्र सुन्दर अलकापुरीवाली) जिसमें ‘वैश्रवण’ (निश्चितरूपेण कर्णों, अन्यत्र कुबेर) की मनोहर शोभा भासित होती है। ऐसी तेरी कपोलभित्ति को मैं, ‘उत्तर’नामवाली दिशा मानता हूँ।

उपपादयति—

इहापि विषयविषयिधर्मविशेषणयोरलकालकयोः श्रवणवैश्रवणयोश्च श्लेषेणाभेदे धर्मस्य साधारण्यम् ।

धर्मस्येति। ललितालकत्वस्य वैश्रवणशोभाभानस्थानत्वस्य चेत्यर्थः । ‘विभाति-’ इति पद्ये। विषयस्य कपोलपाल्या. धर्मं ललितालकत्व (सुन्दरकेशत्वम्) श्रवणलक्ष्मीभानस्थानत्वञ्च तत्र अलका श्रवणश्च विशेषणै, एव विषयिण उत्तराख्यदिशः धर्मं ललितालकत्व (सुन्दरालकापुरीकत्वम्) वैश्रवणलक्ष्मीभानस्थानत्वञ्च तत्र अलकापुरी वैश्रवणश्च विशेषणै, तयोस्तयोश्च विशेषणयोः श्लेषेणाभेदः सम्पद्यते। सम्पन्नाभेदेन च तेन तेन विशेषणैर्न विशिष्ट प्रायुक्त धर्मद्वय साधारणीभूतं कपोलपालीरूपे विषये उत्तराख्यदिगात्मकस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षामुत्पापयतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इहापि इत्यादि। ‘विभाति—’ इस पद्य में भी विषय (कपोलभित्ति) का धर्म है ‘सुन्दर अलकों = केशोंवाली होना’ तथा ‘श्रवण = कर्ण की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना’ इसी तरह विषयी (उत्तर दिशा) का धर्म है ‘सुन्दर अलकापुरीवाली होना’ तथा ‘वैश्रवण = कुबेर की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना’। इन धर्मों के विशेषणरूप में ‘अलक’ तथा ‘अलका’ और ‘श्रवण’ तथा ‘वैश्रवण’ आए हैं। श्लेष द्वारा ये विशेषणीभूत अर्थ (अलक-अलका तथा श्रवण-वैश्रवण) अभिन्न हो जाते हैं और इनके अभिन्न हो जाने पर इनसे घटित (युक्त) धर्म (‘ललितालकत्व’ तथा ‘वैश्रवणलक्ष्मीभानस्थानत्व’) साधारण हो जाते हैं और साधा-

रण हो जाने पर ये धर्म यहाँ कपोलपात्रीरूप विषय में उत्तरदिशारूप विषयी की अभेद सवन्ध से उत्प्रेषा में निमित्त होते हैं ।

पुनः श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्तोदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘नासत्ययोगो वचनेषु कीर्त्तौ तथार्जुनः कर्मणि चापि धर्मः ।

चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वरांवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः ॥’

कवे राजानं प्रत्युक्तिः—हे राजन् । ते, वचनेषु, यत्, नासत्ययोग (असत्यस्य योगो न, अन्यत्र अधिनीकुमारयो = नकुलसहदेवयो संयोगः), कीर्त्तौ यशसि, अर्जुनः (श्वेतता, अन्यत्रार्जुन), कर्मणि, धर्म (पुण्यम्, अन्यत्र युधिष्ठिर), अपि च, चित्ते जगत्प्राणभव, (जगता प्राणभूतो भव = परमेश्वर, अन्यत्र भीम = वायुपुत्र), आस्ते, तत् किं पाण्डुपुत्रा, ते वरांवदा अधीनाः ! इत्यर्थः । (अत्र ‘जगत्प्राणभव’पदस्य ‘हनूमान्’ अपि अर्थो नागेशमहाभागव्याख्यात, परन्तु स मूलकारस्वारस्वविप्लवः मूलकारेणोपपादनग्रन्थे परमेश्वरस्य तदर्पतया स्पष्टमुल्लेखान् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नासत्य इत्यादि । राजा के प्रति कवि की उक्ति है—हे राजन् ! आपके वचनों में जो ‘नासत्ययोग’ (असत्य-योग नहीं, अन्यत्र अधिनीकुमारों = नकुल-सहदेव का संयोग) है, कीर्त्ति में ‘अर्जुन’ (श्वेतता, अन्यत्र अर्जुन) है, कर्म में ‘धर्म’ (पुण्य, अन्यत्र युधिष्ठिर) है, और चित्त में ‘जगत्प्राणभव’ (जगत् के प्राणभूत भव=परमेश्वर, अन्यत्र जगत्प्राण=वायु का भव=पुत्र—भीम) है, तो क्या पाण्डव लोग आप के वशवर्ती हैं ? (यहाँ ‘जगत्प्राणभव’ पद का अर्थ नागेश ने ‘हनूमान्’ भी किया है, पर वह अर्थ मूलकार के स्वारस्य से विरुद्ध है, क्योंकि आगे उन्होंने उस पद का अर्थ ‘परमेश्वर’ स्पष्ट ही लिखा है ।)

उपपादयति—

अत्र पाण्डुपुत्रेषु विषयेषु राजवरांवदतादात्म्योत्प्रेक्षया राजाधितत्वरूपो विषयिधर्मः श्लेषेण विषयाणां तदाश्रितानां चासत्याभावशुक्लगुणपुण्यपरमेश्वराणामभेदसम्पादनद्वारा विषयसाधारणीकृतः ।

राजवरांवदेति । धर्मान्तीयराजवरांवदा ये राजानस्त एव विषयिणस्तत्तादात्म्योत्प्रेक्षया । विषयाणां पाण्डुपुत्राणाम् । तदाश्रितानां चेत्प्रेक्षया । राजाश्रितानां चेत्प्रेक्षया । विषयेति । पाण्डुपुत्रत्वार्थः । ‘नासत्य—’ इत्यत्र पाण्डुपुत्रात्मकेषु विषयेषु धर्मान्तीयनृपवरांवदराजविरोधात्मकानां विषयिणामभेदेनोत्प्रेक्षा भवति । तत्र न ‘राजाधितत्वरूपो धर्मः’ निमित्तम् । ननु कथमर्थं धर्मो निमित्तं राजवरांवदरूपविषयिमात्रवर्तिनस्तस्य पाण्डुपुत्रात्मविषयसाधारण्यविरहात्, इति चेन्न, दिल्लैः नासत्ययोगादिपदैः उपस्थाप्यमानानां पाण्डवासत्याभावाद्वाजा श्लेषमूलकेऽभेदेऽसत्याभावादिबत् पाण्डवानामपि राजाधितत्त्वसिद्ध्या साधारण्यसम्पत्तेः । श्लेषश्च कथितः सभङ्गः कथिदभङ्ग इत्यन्यत् । इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘नासत्य—’ इस पद में ‘पाण्डव’ विषय है जिनमें धर्मान्तीय राजा के वशवर्ती अन्य रामारूप विषयी की अभेदसवन्ध से उत्प्रेषा की जाती है और इस उत्प्रेषा का निमित्त है ‘राजाधितत्व’ (राजा का आधित होना) रूप धर्म । आप कहेंगे—कैसे यह धर्म उत्प्रेषा का निमित्त है ?—अर्थात् यह धर्म

निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल विषय (राजधर्मवद्) का धर्म है, विषय (पाण्डवों) का नहीं, ऐसी दशा में वह साधारण हुआ ही नहीं और साधारण धर्म ही निमित्त हो सकता है यह बात बार-बार लिखी जा चुकी है। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि—हाँ, आपकी बात ठीक है—'राजाश्रितत्व' धर्म स्वतः साधारण नहीं है, पर श्लेषरूप उपाय द्वारा उसको साधारण बना लिया गया है—अर्थात् यहाँ वस्तुतः जो राजाश्रित हैं वे अस्तव्याभाव, शुक्लगुण, पुण्य और परमेश्वर जिस-जिस पद ('नासत्य' आदि) से उपस्थित होते हैं उसी पद से श्लेषद्वारा एक-एक पाण्डव भी। फलतः श्लेष की महिमा से वे एकपदोपस्थाप्य अर्थ परस्पर अभिन्न हो जाते हैं और उनके अभिन्न हो जाने पर जैसे अस्तव्याभाव आदि राजाश्रित होते हैं वैसे अस्तव्याभाव आदि से अभिन्न समक्षे गण पाण्डव भी राजाश्रित समक्षे जाते हैं, अतः अन्ततः 'राजाश्रितत्व', विषय (पाण्डवों) का भी धर्म हो जाता है फिर उसकी साधारणता में बाधा क्या? उपायभूत श्लेष किसी अंश में 'सभङ्ग' और किसी अंश में 'अभङ्ग' है वह एक निश्चय बात है, उससे प्रकृत में कोई हानि या लाभ नहीं।

अपह्नुतिरूपेणोपायेन साधारणीकृत धर्ममुदाहरति—

‘स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।
मनोऽनुरागि ते तन्वि मन्ये बल्लभमीक्षते ॥’

सखी नायिकामाह—हे तन्वि कृशाङ्गि ! स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः सत् बहिरुपागत स्तनमध्यगतमाणिक्यस्वरूपेण बहिरागतम्, अनुरागि अनुरागयुक्तम्, ते, मन, बल्लभ प्रियतमम्, ईक्षते पर्यतीत्यह मन्ये इत्यर्थ ।

अपह्नुतिरूप उपाय द्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण दिया जाता है—स्तनान्तर्गत इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे कृशाङ्गि ! स्तनों के मध्यवर्ती माणिक्य के रूप में बाहर आया हुआ तेरा अनुरागी मन, मनो, प्रियतम को देख रहा है।

उपपादयति—

अत्र बल्लभेक्षणस्य मनस्युत्प्रेक्षायां तन्निमित्तमन्तःप्रदेशाद्बहिरागमनमपेक्ष्यम् । तच्च बहिःप्रदेशसम्बन्धरूप माणिक्यमात्रवृत्ति मनसो न सम्भवतीति माणिक्यापह्नवस्या मनोगतं क्रियते ।

‘स्तनान्तर्गतम्—’ इति श्लोके प्रियतमकर्मकदर्शनक्रियाया समवायसम्बन्धेन मनोरूपे विषये उत्प्रेक्षा क्रियते, तत्रान्त प्रदेशाद्बहिरागमन निमित्त समपेक्षितम् । परन्तु तदवधिक-बहिरागमनस्य निमित्तता तदैव सम्भवति यद्योत्प्रेक्ष्यमाणदर्शनसमानाविकरणता स्यात्, सा च नास्ति बहिःप्रदेशसयोगरूपस्य बहिरागमनस्य माणिक्यवृत्तित्वेऽपि मनोवृत्तित्व-विरहात्, अतः ‘माणिक्यवपु’ इत्यत्र ‘वपु’पदेन माणिक्यापह्नवेन बहिरागमनस्य मनो-वृत्तित्व सम्पाद्यत इति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘स्तनान्तर्गतम्—’ इस पद्य में प्रियतम के दर्शन-रूप क्रियात्मक धर्म की मनरूप विषय में समवायसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की जाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त ‘मन का अन्दर से बाहर आना’ अपेक्षित है, क्योंकि बाहर आए बिना ‘देखना’ नहीं बन सकता। ‘बाहर आने’ का अर्थ है बाहर के देश (देश के किसी भाग) से सम्बन्ध (सयोग), जो केवल ‘माणिक्य’ में रह सकता है, मन (अमूर्त पदार्थ) में उसका सम्भव नहीं, अतः माणिक्य की ‘अपह्नुति’ द्वारा (अर्थात् माणिक्य को ‘वपु’ पद की उक्ति से छिपा कर) उस धर्म को ‘मन में रहने वाला’ बनाया गया है।

विम्बप्रतिविम्बभावात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरतुं प्राशुक्तं पद्यं स्मारयति—

विम्बप्रतिविम्बभावस्तु 'कलिन्दजानीरभरेऽर्धमप्रा' इत्यत्रैव निरूपितः ।

'कलिन्दजा—' इत्यत्र बकरूपे विषये क्रियमाणाया क्रोशनकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया निमित्तं विम्बप्रतिविम्बभावेन साधारणीकृत (क्रोशनाभेदमापादितः) शब्दनात्मको धर्मो भवतीति प्राशुपर्दाशितमेवेति भावः ।

विम्बप्रतिविम्बभावात्मक उपाय द्वारा धर्म का साधारणीकरण ठो 'कलिन्दजा—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में लिखा ही जा चुका है । तात्पर्य यह कि उक्त पद्य में 'क्रोशन' की उत्प्रेक्षा 'बकरूप विषय में की जाती है और उस उत्प्रेक्षा का एक निमित्त होता है विम्ब-प्रतिविम्बभावद्वारा क्रोशन से अभिन्न बनाया गया बकवृत्ती स्वाभाविक 'शब्दन' धादि ।

उपचारात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

'माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता ।

पिबतामनल्पसुखदा वमुघाया ननु सुधा कविता ॥'

माधुर्यस्य, परमसीमा परमानधि (यदधिकं माधुर्यं क्वचिदपि नास्तीति यावत्) सारस्वतस्य सरस्वतीसम्बन्धिनः साहित्यशास्त्रस्य तद्रूपस्थेति यावत्, जलधेः समुद्रस्य, मथनेन शालीजनेन मननेनेति यावत्, सम्भूता उत्पन्ना, पिबताम् आस्वादयताम्, अनल्पसुखदा प्रभूतसुखदायिका, कविता काव्यम्, वमुघायाम्, ननु निश्चयेन, सुधा पीयूषम् अस्तीत्यर्थः ।

उपचाररूप उपाय द्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—माधुर्य इत्यादि । मधुरता की परमावधि (जिससे अधिक मधुरता कहीं न हो ऐसी), सरस्वतीसंबन्धी (साहित्यरूप) समुद्र को मथन करने से उत्पन्न हुई और पीनेवालों को अत्यधिक सुखदायक कविता, मानो पृथिवी पर अमृत है ।

उपपादयति—

अत्र कवितायां माधुर्यपानयोर्मुख्ययोरस्तम्भशादास्वादश्रवणयोरमुख्ययोरुप-
चारेण मुख्याभ्यां साधारणीकरणम् । लक्षणया शब्दाभेदेन लक्ष्यबोधनात् ।

उपचारेणेति । लक्षणयेत्यर्थः । मुख्याभ्यामिति । सहाभेदसम्पादनद्वारा तयोर्धर्मयो-
रिति शेषः । 'माधुर्य—' इति श्लोके कवितारूपे विषये सुधालपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षा
विधीयते, तत्र माधुर्यं पानत्र निमित्तम् । निमित्तता च तयो स्वतः न सम्भवति, कवि-
तात्मकविषयेऽविद्यमानत्वात्, अतो माधुर्यपानयोः मनसा आस्वादश्रवणयोर्लक्षणया माधु-
र्यास्वादयोः पानश्रवणयोश्चाभेदः सम्पाद्यते, सम्पन्ने चाभेदे आस्वादश्रवणवन्माधुर्यपान-
नोरपि प्रोक्तविषयवृत्तितया साधारण्येन निमित्ततेति भावः । ननुपचारेऽमुष्णस्यैव प्रतीत्या
मुख्याप्रतीत्या दोषस्तदवस्य एवात आह—लक्षणयेति । लक्षणाद्वारा माधुर्याभिन्नतया
आस्वादस्य, पागभिन्नतया च श्रवणस्य, बोध इति न दोष इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'माधुर्य—' इस पद्य में अमृत की अभेद-
सम्बन्ध से कवितारूप विषय में उत्प्रेक्षा की जाती है । उस उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं
'माधुर्य' और 'पान'रूप धर्म । पर ये दोनों धर्म स्वतः निमित्त होने योग्य हैं नहीं,
बशर्तकि मुखरूप में ये दोनों धर्म केवल अमृत में ही रह सकते हैं, कविता में नहीं, अतः
लक्षणा द्वारा ये दोनों धर्म आस्वाद तथा श्रवण से अभिन्न बना लिये जाते हैं और उन
दोनों से अभिन्न हो जाने पर आस्वाद तथा श्रवण की तरह माधुर्य और पान भी कविता-
में रहने वाले हो जाते हैं । इस तरह साधारणीकृत माधुर्यपान उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त

होते हैं। सात्पर्य यह कि—यहाँ के माधुर्य तथा पान पद क्रमशः आस्वाद तथा भ्रवण रूप अर्थ में लाक्षणिक हैं। आप कहेंगे—लक्षणा मानने पर तो उन दोनों पदों से उत्तर अर्थ (आस्वाद तथा भ्रवण) का ही बोध होगा और उस स्थिति में पुनः उनका निमित्त होना असम्भव ही रहेगा, क्योंकि तब माधुर्यपदार्थ आस्वाद और पानपदार्थ भ्रवण कविता में ही रहने वाले होंगे, अमृत में रहने वाले नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि लक्षणा से वाच्यार्थ के अभिव्यक्तिरूप में ही लक्ष्यार्थ का बोध होता है।

अभेदाध्यवसायरूपेणातिशयेन साधारणोक्तस्य धर्मत्वोदाहरणभूतं पूर्वोद्धिखितं पर्यं स्मारयित्वोपपादयति—

अभेदाध्यवसायमात्रं यथा प्राग्गुदाहृतायां हेतुत्प्रेक्षायाम् । 'व्यागुञ्जन्मधुकर-
पुञ्जमञ्जुगीताम्' इत्यत्र शाखानीचत्व कन्धरानमनयोरभेदाध्यवसाय एव
त्रपाहेतुत्प्रेक्षानिमित्तयोपात्तस्य कन्धरानमनस्य नीचशाखनतकन्धरोभयसाधा-
रण्ये बीजम् ।

अध्यवसायमात्रमिति । मात्रपदेन पौनरुक्त्यं परिहृतम् । पूर्वं रूपधर्मोऽभेदाध्यव-
साय उक्त इति भावः । नीचशाखनतकंधरोभयेति । नीचा शाखा यस्य स नीचशाखो
वृक्षः, नता कंधरा यस्य स नतकंधरो मनुष्यः तदुभयेत्यर्थः । 'व्यागुञ्जन्—' इत्यत्रावनिर्गह-
कुटुम्बकेषु विषयेषु त्रपारूपस्य हेतोरुभयतासम्बन्धेनोत्प्रेक्षा भिद्यते । तत्रोपात्त कंधरानमनं
निमित्तम् । ननु वृक्षात्मकविषयावृत्तेस्तस्य साधारण्यविरहेण कथं निमित्तत्वमिति चेत् ?
शाखानीचत्वं वृक्षधर्मं, कंधरानमनं च मनुष्यधर्मं, तयोरभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिः,
अतिशयोक्त्या चान्या शाखानीचत्वाभिन्नस्य कंधरानमनस्य वृक्षवृत्तित्वेन साधारण्या-
न्निमित्ततेति भावः ।

अभेदाध्यवसानरूप अतिशयद्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण उपस्थित
किया जाता है—अभेदाध्यवसाय इत्यादि । यद्यपि 'नयनेन्द्रिन्द्र—' इस पद्य में अभेदा-
ध्यवसायरूप अतिशय उदाहृत हो चुका है पर वहाँ वह रूपक से मिश्रित था, अब
केवल अभेदाध्यवसान का उदाहरण दिया जाता है, अतः पुनरुक्ति का प्रसङ्ग नहीं आता
यही रहस्य मूल में 'मात्र' पद से सूचित किया गया है । 'व्यागुञ्जन्—' इत्यादि पूर्वो-
दाहृत हेतुत्प्रेक्षा में शुद्ध अभेदाध्यवसानरूप अतिशयोक्ति द्वारा धर्म का साधारणीकरण
हुआ है । सात्पर्य यह कि—उक्त पद्य में वृक्षरूप विषय में 'लज्जा'रूप हेतु की उल्लेखा
की जाती है और उस उल्लेखा का निमित्त होता है पद्य में उपात्त 'कंधरानमन' । यद्यपि
कंधरानमन प्राणिधर्म है, अचेतन वृक्ष में वह नहीं रह सकता, तथापि 'कन्धरानमन'
से यहाँ 'शाखानमन' निर्गोण है—अर्थात् कन्धरानमन तथा शाखानमन (शाखा की
सूचता) इन दोनों में अभेदाध्यवसानरूप अतिशयोक्ति है । फलतः ये दोनों धर्म अभिन्न
(एक) समझ लिये जाते हैं, फिर जैसे शाखानमन वृक्ष में रहता है वैसे कन्धरान-
मन भी रहेगा अतः कन्धरानमन साधारणधर्मरूप होकर उक्त उल्लेखा का निमित्त
होता है ।

पर्यवसितार्थमाह—

एव सर्वत्र हेतुफलयोरुत्प्रेक्षणे यस्य हेतुः फलं चोत्प्रेक्ष्यते सोऽनेन प्रवारेण
साधारणोक्तो निमित्तमित्यसकृदावेदितम् ।

अक्षरार्थ स्पष्ट एव । 'विरलेष—' इत्यत्र मौनस्य हेतुत्वेन विरलेषु समुत्प्रेक्ष्यते,
अत एव तन्मौन अध्यवसानात्मकातिशयद्वारा निःशब्दत्वाभिन्नं सत् यथा निमित्तं भवति,
यथा वा 'व्यपाटयन्—' इत्यत्र विपाटनस्य फलत्वेन दरानमुत्प्रेक्ष्यते, अत एव तद्विपाटनं

अध्यवमानानाम्कालिशयद्वारा स्वामाविक्रान्तकर्तृद्विपादनाभिन्नं सन्निमित्तं भवति, तथा सर्वत्र हेतुफलोत्प्रेक्षास्यले कार्यकारणयोर्निमित्तता बोध्यते भावः ।

पर्यवसित अर्थ दिखलाया जाता है—एवम् इत्यादि । इस तरह, यह पर्यवसित हुआ कि—हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्थलों में जिस (कार्य) का हेतु (कारण) और जिस (कारण) का फल (कार्य) उत्प्रेक्षित होता है वह (हेतुत्प्रेक्षास्थल में कार्य और फलोत्प्रेक्षास्थल में कारण) उक्त प्रकार से (अर्थात् अभेदाप्यवसानरूप अतिशय द्वारा साधारणीकृत होकर) निमित्त होता है । यह बात पहले भी जनेक बार लिखी जा चुकी है ।

निमित्तधर्मं विरोपमाह—

एवं कचिदुपात्तो धर्मो विषयविषयिसाधारण्यामात्रादसुन्दरत्वाद्वा स्वयमुत्प्रेक्षणं साक्षादुत्थापयितुमसमर्थोऽपि तदुत्थापनद्वयधर्मान्तरोत्थापनेनानुकूल्यविधानादुपयुज्यते ।

साधारण्यसत्त्वेऽप्याह—असुन्दरेति । उपयुज्यत इति । एवं च तदानर्थक्यं नेति भावः । कुत्रचिदुक्तो धर्म एतादृशो भवति सो विषयविषयिणोः साधारणो न, कुत्रचिच्च विषयविषयिसाधारणोऽपि चामात्प्रजननको नेति तौ स्वयमुत्प्रेक्षानिमित्तौ न भवितुं शक्नुतो यद्यपि, तथापि तादृशयोस्तयोर्धर्मयोरानर्थक्यं नाशङ्कनीयम्, यतस्तादृशयोरपि धर्मयोः प्रेक्षानिमित्तत्वयोग्यधर्मान्तरोत्थापनद्वारा सार्थक्यं भवतीति भावः ।

निमित्त धर्म के विषय में एक विशेष बतलाया जाता है—एवम् इत्यादि । कहीं धर्म उक्त होने पर भी, या तो विषय और विषयी दोनों में साधारण न होने के कारण, या सुन्दर न होने के कारण, स्वयं उत्प्रेक्षा को उठाने में यद्यपि असमर्थ होता है—अर्थात् स्वयं निमित्त नहीं हो सकता, तथापि उत्प्रेक्षा के उठाने में समर्थ किसी अन्य धर्म के उपधान में अनुकूलता करने के कारण उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है ।

तत्राद्योदाहरणं सोपपादनमाह—

यथा 'दौरञ्जनकालीभिः—' इति प्रागुदाहृते पद्ये दिवो जलदालीसमावृत-
त्वहूपो धर्म उपात्तो जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वोत्प्रेक्षायां वैयधिकरण्यादप्रयोज-
कोऽपि स्वप्रयोज्यनिविदान्धकारप्रयुक्तचाक्षुषज्ञानशून्यत्वस्य तथाविधोत्प्रेक्षा-
निमित्तस्योत्थापनेन ।

स्वेति । जलदालीसमावृतत्वैत्यर्थः । तथाविधोत्प्रेक्षेति । जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वो-
त्प्रेक्षेत्यर्थः । 'दौरञ्जन—' इत्यत्र जगदूपे विषये निर्लोचनवर्गसर्गत्वस्योत्प्रेक्षा क्रियते, तत्र
चोपात्त 'आकाशस्य मेघमालासमावृतत्वहूपो' धर्मो न स्वयं निमित्तं भवितुमर्हति, तस्य
जगदवृत्तिवैनेन्द्रिद्यमाणनिर्लोचनवर्गसर्गत्वसामानाधिकरण्यामावात्, अतस्तस्य सार्थक्यं
तस्यासुत्प्रेक्षायां स्वप्रयोज्यचनान्धकारप्रयुक्तचाक्षुषज्ञानशून्यत्वस्य प्रोक्तोत्प्रेक्षमाणधर्म-
सामानाधिकरणस्य यत् एव प्रोक्तोत्प्रेक्षानिमित्ततायोग्यस्योत्थापनेन भवतीति भावः ।

स्वयं निमित्त नहीं होने योग्य उक्त दो प्रकार के धर्मों में से प्रथम का (विषय-विषयी में जो साधारण नहीं होता उसका) उदाहरण उपरोक्तसहित दिखलाया जाता है—
यथा इत्यादि । 'दौरञ्जनकालीभिः—' यह जो पद्य पहले उदाहरणरूप में लिखा जा
चुका है उसमें 'जगत् के नेत्रहीनों के समूह की सृष्टि से युक्त होने' की उत्प्रेक्षा की जाती
है, उस उत्प्रेक्षा में प्रोक्त 'आकाश' का 'मेघमाला से आवृत होना' रूप धर्म स्वयं यद्यपि
निमित्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि वह धर्म उत्प्रेक्षित होनेवाले उक्त धर्म का सामाना-
धिकरण नहीं है—अर्थात् जगत् रूप विषय में रहनेवाला नहीं है, तथापि उसके उपादान

की यहाँ सार्थकता है, क्योंकि वही 'आकाशगतमेघमालासमावृतत्व', उल्लेखमाण 'निलोचनवर्गसर्गत्व' के समानाधिकरण होने के कारण निमित्त होने योग्य 'सघन अन्धकारप्रयुक्त नेत्र से होनेवाले सब प्रकार के ज्ञान से रहित होना' रूप धर्म को उपस्थित करता है। तात्पर्य यह कि जगत् रूप विषय में की जानेवाली 'निलोचनवर्गसर्गत्व' की उद्देश्यता में जगत्गत 'सघन अन्धकारप्रयुक्त चाक्षुषज्ञानसामान्यशून्यत्व' रूप धर्म निमित्त होता है पर वह निमित्त धर्म उक्त नहीं है, उसकी उपस्थिति उक्त 'आकाशगत मेघमालासमावृतत्व' से होती है—अर्थात् 'आकाश मेघ-माला से आवृत है' ऐसा कहने पर आपसे आप घना अन्धकार और उस घने अन्धकार के कारण सत्सार का नेत्रद्वारक सभी ज्ञानों से वञ्चित होना सिद्ध हो जाता है, इस तरह से उक्त धर्म का प्रकृत उद्देश्यता में उपयोग, साक्षात् न सही, पर परम्परया अचरय होता है।

विषयगत विशेष स्फोरयति—

विषयोऽप्युपात्तो निरूपित एव । कचिदयमपहृतोऽपि भवति ।

निमित्त-धर्मवत् उद्देश्याया विषयोऽपि राब्दोपात्त पूर्वोदाहरणेषु ('तनयमैनाक—' इत्यत्रोद्देश्यस्य विषयिणो हिमगिरिमुजस्य भागीरथीरूपो विषयः, 'अम्भोजिनीशान्धव—' इत्यत्र शुक्रगुणस्य विषयिणः बकसमजस्यो विषयः, एवमादि) निरूपित एव । अयं विषयः कचिदपहृतोऽपि भवतीति भावः ।

विषयगत विशेष का स्पष्टीकरण किया जाता है—विषयोऽपि इत्यादि । निमित्तभूत धर्म के समान उद्देश्यता का उपात्त विषय भी निरूपित हो चुका है—अर्थात् 'तनय-मैनाक—' इस पद्य में 'भागीरथी'रूप, 'अम्भोजिनीशान्धव—' इस पद्य में 'बकसमाज'-रूप इसी तरह अन्यत्र अन्यरूप, उपात्त विषय दितलाया जा चुका है । पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि विषय सर्वत्र उपात्त ही होता है । कहीं-कहीं यह अपहृत (छिपा हुआ) भी होता है ।

अपहृत विषयमुदाहरणमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यन्ति—

'जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरापूरयनयं नितराम् ।

उदयति उदनच्याजात् किमु राजा हरिणशावननानायाः ॥'

इति रसगङ्गाधर उद्देश्यप्रकरणम् ।

अमृतमयैः शुभामयैः, अशुभिः किरणैः, जगदन्तरं जगन्मध्यम्, नितराम् अत्यन्तम्, आपूरयन्, हरिणशावननानायाः शृगाक्ष्या, उदनच्याजात् मुखच्छलात्, अयं दृश्यमानः, राजा चन्द्रः, उदयति उदेति किमु ? इत्यर्थः । अत्र मुखरूपो विषयोऽपहृत तदपहृतश्चात्र—राजतादात्म्यसम्भावनादाढ्ययिति बोध्यम् ।

चकास्ति लघुकायोऽपि केविदारमोदवर्षण ।

मिथिलास्वर्णदीशोभिसरोजधियमाधित ॥ १ ॥

'नवानी' नामको ग्रामो गुणग्रामाभिमण्डितः ।

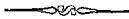
मण्डले दरमहाख्ये विख्यातबुधजन्मभू ॥ २ ॥ (युग्मकम्)

तत्तिमन्मातृपुरे, पित्र्यं पुरं 'शतलला'भिधम् ।
 विद्याय विद्यामध्वैष्ट विशिष्टा योऽतिमिष्टवाक् ॥ ३ ॥
 समाप्याध्ययनं यत्र संप्रामपुरवर्तिनि ।
 विशाल्ये विप्रपुत्रात् पञ्चवर्षीण्यपाठयत् ॥ ४ ॥
 मुजफ्फरपुरे राजमहाविद्यालये तु यः ।
 साहित्यविषयस्यास्ते प्रधानाध्यापकोऽधुना ॥ ५ ॥
 रहस्यमतिसंक्षिप्तं रसगङ्गाधरस्य यः ।
 प्रागुदात्तवचोमहत्वा प्राकारायदुदारधी ॥ ६ ॥
 रसगङ्गाधरस्यैव प्रथमाननभागगाम् ।
 हिन्दीष्याख्या ततो यत्र विशदामुदपादयत् ॥ ७ ॥
 'मदनमोहन'-नामसुधीरिमामरचयश्चुचिर स च 'चन्द्रिका'म् ।
 शुभजनो यदि ता निनिभालयेत्, ध्रम दहैप तदा सफलो भवेत् ॥ ८ ॥
 यदि मनागपि सज्जनमानसे नृदुलतानलिनीनिलयेऽनुत्से ।
 रुचिमुदञ्चयिता मम 'चन्द्रिका' किमधिकैरपि दुर्जनदूषणैः ॥ ९ ॥
 जगन्नाथकृतस्यैव रसगङ्गाधरस्य वा ।
 चन्द्रिकाख्या महाभित्त्या व्याख्या सहचानता मुदे ॥ १० ॥
 प्रारब्धाऽऽब्धि-धरा-व्योम-नेत्र-सल्लासमन्विते (२०१४) ।
 वैक्रमेऽब्दे गता पूर्ति कुण्ठोत्पत्तितियौ तु सा ॥ ११ ॥ (युगमकम्)

इति मैथिलब्राह्मणवंशावतसेन विहारप्रान्तीयमुजफ्फरपुरस्वरराजकीयधर्मतमाज-
 संस्कृतमहाविद्यालये साहित्यप्रधानाध्यापकपदमलङ्कृता श्रीमदन-

मोहनभा शर्मणा कृतायां रसगङ्गाधर-चन्द्रिकाया

द्वितीयखाननादिरुत्प्रेक्षान्तो भागः समाप्तः ।



उदाहरण का निर्देश किया जाता है—जगदन्तर इत्यादि । अमृतमय अपनी किरणों से जगत् के मध्यभाग को अत्यन्त पूर्ण करता हुआ, यह क्या, मृगाक्षी के मुख के मिय से चन्द्र उदित हो रहा है ? यहाँ मुखरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से चन्द्रमा की उपेक्षा की जाती है । पर मुखरूप विषय यहाँ 'ध्याज' पद कहकर छिपा लिया गया है और इस छिपाने का फल है 'मुख में चन्द्रमा के अभेद की संभावना का दृढ़ हो जाना' । अर्थात् इस तरह कहने से उपेक्षा और भी दृढ़ हो जाती है ।

इति दरभङ्गाभण्डलान्तर्गत 'नवानी'ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतंस, स्थाकरण-
 न्याय साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्य राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीय साहित्य-
 प्रधानाध्यापक श्री मदनमोहन झा रचित रसगङ्गाधर

(द्वितीय खाननगत उपेक्षानिरूपणान्त भाग) की

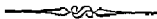
'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

समाप्तश्चाऽयं द्वितीयखाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः

टीकाकर्तुः परिचयः

मान्ये मियिलादेशे सविरोपे सदयुगैरसिलैः ।
 सीतासम्भवभूमौ सुसुनिलोभात्पदे पूते ॥ १ ॥
 'कोइलख'पदविदितो प्रामो गुणिगणाश्रयो जयति ।
 यत्रैकस्मिन् मञ्चे मृत्यन्तौ वाङ्-रमे दृष्टे ॥ २ ॥ (युगमकम्)
 तत्रासीदतिधीरो 'विद्यानायो' विदा श्रेष्ठः ।
 मैथिलभूसुरभूषाभूतो भवसेवया पूतः ॥ ३ ॥
 तत्तनयो 'मणि' नामा मणिरिव किरणोज्ज्वलो जातः ।
 'सीमा' नाम्नि प्रामे स्ववासमसौ कल्पयामास ॥ ४ ॥
 तत्रासौ शुभशीलो निश्विशुद्धबुद्धिबलमूलम् ।
 धेनु-धरा-धान्य-धनं सपनयशाशोभितं लेभे ॥ ५ ॥
 कन्यां कृपतडागौ ल्यातस्तत्र खानितौ तेन ।
 अथापि तस्य कीर्तिं कथयन्तौ लोलकलोलैः ॥ ६ ॥
 भ्राता तस्य कनीयान्तुलवल कोऽपि महोऽभूत् ।
 तत्रागोऽद्य यदानीतपृथुलशिला शोभते पृष्ठा ॥ ७ ॥
 मणिरुपलेभे ललितं 'ललितलाल'नामकं तनयम् ।
 विनयविभूषितहृदयं सद्यः सकलशक्तियोगोऽपि ॥ ८ ॥
 तस्य ह्यै समभूताम् पुत्रौ जननीचनानन्दार्त्ता ।
 'सिंहेश्वर'-'कपिलेश्वर'नामानौ परिणते वयसि ॥ ९ ॥
 अयं दैवाहरभङ्गा राजकर्मचारिणिः प्रबलैः ।
 समुपहृतं स्वकीयं ग्रामं तौ दुर्णमत्यजताम् ॥ १० ॥
 नेदीपरचतिरन्ध्रे स्वयुरपुरे 'शतलक्षा'संज्ञे ।
 चतः 'सिंहेरपरशर्मा' कृतवततिर्जाचनं निन्द्ये ॥ ११ ॥
 'कपिलेश्वर'स्तदानीं बालो 'नरहा' पुरे मातुः ।
 विहिताश्रयोऽधुनावधि जीवति बहुभिः सुतैः साकम् ॥ १२ ॥
 पुत्राश्रयो विनांताः 'सिंहेश्वर' शर्मणो जाताः ।
 त्यक्त्वा यानतिबाल्ये पिता पुरन्दरपुरीं प्रात्यात् ॥ १३ ॥
 पूज्यो 'दुग्धकिशोरो' मम तु पिता मध्यमस्तेषाम् ।
 कृतकृत्योऽसौ सम्प्रति जीवति देवार्चने स्तन ॥ १४ ॥

अहम्भानस्य 'नवानी' वसतौ मातुः कृतावासः ।
निजजीवनं निनीषे 'चक्रमचिन्त्य हि देवस्य' ॥ १५ ॥
'प्रजमोहनोप्रमोहननामानौ धातरौ धीरौ ।
विद्या-विनय-समेतौ प्राणसमौ मे प्रियां भवत ॥ १६ ॥
'कामेश्वरी' प्रिया मे सत्कुल-शीलान्विता पत्नी ।
कुटिला जीवनयात्रा सरलमेवाधुना कुदते ॥ १७ ॥
'आनन्द' खलु प्रथमो 'धीरेन्द्र'श्च द्वितीयो मे ।
पुत्रो विनयसमेतो विलसति विद्यार्जने लीन ॥ १८ ॥
कन्ये द्वे कमनीये 'गङ्गा-सरिता'-भिधे गेहम् ।
सुखरयतो मधुकल्पैर्बाल्योचितवचनविन्यासै ॥ १९ ॥
श्रीमान् 'यदुपतिमित्रो' गुरुस्तमिस्राजुले नयने ।
प्रोन्मीलयन् मदीये बहुविधबीधाघ्नै पूर्वम् ॥ २० ॥
बुधगणवन्दितचरण. शरणागतवत्सलो जयति ।
श्रीमा'नीश्वरनाथो' शो भयि शुभवैदुषी व्यतनोन् ॥ २१ ॥
व्याकृतिकलाप्रवीण साखड्कृतिवाव्यमर्मज्ञम् ।
तत्पादाम्बुजसेवा मामकरोदल्पकालेन ॥ २२ ॥
प्रात स्मृतिविषयौऽसौ 'श्रीजगदीशो'ऽतिशिवभक्तः ।
निपुण नव्यन्याये कृत्वा मामुद्यत चक्रे ॥ २३ ॥
श्रेष्ठ 'षष्ठीनाथ' श्रोत्रियवशाचतसो मे ।
वैदान्तज्ञानगुरु कारया परलोकपथिकोऽभूत् ॥ २४ ॥
मम परिचयमेन स्पष्टमक्षितरूप
गुणमयमगुण वा नूतन कौतुकेन ।
द्विचररसविचारग्रन्थपाठप्रसङ्गे
परकृतिषु प्रतीता साधवो भावयन्तु ॥ २५ ॥



प्रथमाननस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
अकल्प मृषाभाषा	३०१	ता तमालतरुकान्ति	३३४	यौवनोद्गमनितान्त	३४९-
अकल्पहृदय	३१०	तुलामनालोकेय निजा	३५५	रणे दीनान्देवान्दश	३५८
अघरघृतिरस्तपञ्जवा	२८८	तृष्णालोलविलोचने	३२३	राघवविरहवत्या	६३-
अपहाय सकल	१४३	दयितस्य गुणाननु	३१२	लीलया विहितसिन्दु	३२०
अपि अल्लदहनजाल	१६२	दरानमरुतधर	२७८	लोलालकावलिघळ	२५१
अपि यत्किं विरां	१६१	धनुर्विदलनपवति	१४८	वञ्जोत्रां पाणिना	३०६
अपाचितः सुखं	२२५	न कपोतकपोतकं	१५७	वचने तव यत्र	२५३
अपि पवनरवाणां	३१७	मलैर्विदारितान्त्राणां	१७०	वाचा निर्मलया सुधा	२३२
अपि मन्दरिमित	२५७	न धन न च राज्य	३३३	वाचो माङ्गलिकीः	१४०
अलका' फणिशाय	२५४	मयनाञ्जलावमर्श	१४१	विधत्तां निशङ्कं	२२१
अवधौ दिवसावसान	२७४	मारिकेलजटकीर	३५३	विधाय सा मददना	२९३
अवाप्य मङ्गं खलु	३०९	निविलं जगदेव	२९७	विधिवञ्चिन्वया	२८३
अद्वितमत्तपादा	३३०	निखिलां रजनीं	३२३	विरहेण विकलहृदया	२८१
आ मूलाद्वलसानो	२९४	नितरां दितयाद्य	३०३	वीथय वचसि विपद्य	३४८
आयातैव निशा निशा	२६२	नितरां पुरुषा सरोज	२१२	वपरयस्तं लपति धनं	३४३
आलीपु केलीरभसेन	२९९	नितान्तं यौवनोन्मत्ता	१८८	व्यामन्नाञ्जलिताश्चैव	३४१
आविर्भूता भद्रवधि	१४१	निपतद्वाप्यसंरोध	३१९	दातेनोपायातां कथ	३३४
आ साय मलिलभरे	२५६	निरुद्धय वान्तीं	२८०	शयिता शैथिलशयने	२८४
इयमुल्लयिता मुखस्य	११	निर्मन्त्रे यदि मार्मिको	२३०	शयिता सविषेण्यती	३४-
उत्थिता कवरीभरं	१८४	निर्वासयन्तीं घृति	३५८	शुण्डादण्डं कुण्डली	२८२
उग्राम्य फुल्लपञ्चे	७७	परिहरतु घरां फणि	१६३	शुच्यं वासगृहं	२६२
उपति प्रतिवद्य	३५५	पापं हन्त मया	३५१	श्येनमगवर्तलादु	१००
एववादिनि देवर्षी	३६२	प्रत्युद्रता सविनयं	१८२	श्रीतातपादैर्बिहिते	१६८
औष्णिङ् दोढवल्डं	५०	प्रमोदमरतुन्दिल	२१९	सदा जयानुपदाणा	२४४
कलितकुलिशघाताः	२५३	प्रयङ्गे गोपानां	३०७	सन्तापयामि हृदय	२८२
कस्तूरिकानिलक	२६१	प्रहरविरतौ मध्ये	६७	सपदि निलयमेतु	१६०
कालागुरद्वयं सा	२६७	प्रक्षय्ययमम्य	१९२	सरसिजयतवन्तु	२२७-
किं प्रमस्तव वीरतां	२११	भय धर्मिभ्य वीमल्यो	४७	सर्वैरपि विस्मृतिपथं	३४५
किपदिदमधिकं	१५७	यवनं करुणावती	३३९	सानुरागा साजुकम्पार	२५२
कुचकलशयुगान्त	३७९	भास्करसूनावस्तं	३१६	माङ्गिद्वीपमुलाचलां	१५३
कुण्डलीकृतकोदण्ड	१७८	शुद्धगाहितप्रकृतयो	२४९	सा मदागमनघृहित	२९६
कुत्र शैव धनुरिदं	३२५	शुजपञ्जरे गृहीता	३४०	साहकारसुरासुरा	२१५
कम्पापणैकपदयो	३५६	मधुरतरं मयमान.	२९०	सुरस्रोतरिष्यया	१४२
खण्डितानेत्रकञ्जालि	२२५	मधुरमाम्मुर हि	२९१	सुराज्जनाभिराक्षिष्टा	१७९
गणिकाडजाविलमु	२२६	मलयानिलकाल	१४३	स्वर्गनिर्गतनिरसकं	२१७
गाढमालिङ्गय सकलां	३०५	मा कुरु कसा करान्ते	३०७	स्वेदान्मुमान्द्रकण	२३५
गुरुमध्यमता मया	४०	मिशाविपुत्रनेत्राय	७२	स्वेदान्मुमान्द्रकण	२१३-
गुरुमध्ये कमलाक्षी	२२२	मुञ्जसि नाद्यापि रप	३४७	सूतकेन मया यनान्तरे	२८६
चराचरजगजाल	१६५	यथा यथा तामरसा	२४३	हरि पिता हरिमाता	२२०
चिन्तामौलितमानसो	२३७	यद्दक्षि दयितो विलो	३२१	हरिणीप्रेक्षण यत्र	२७५
तन्मञ्जु मन्दहसितं	२७४	यदि लक्ष्मण म्या	३३२	हरिसागतमाकर्ण्य	३२९
तपस्यतो मुनेर्वेत्राद्	२२५	यदि सा मिथिलेन्द्र	३१४	हीरस्फुरद्ददनशुधि	२५१
सकपमतापि च सुतनुः	४१	यस्योद्दामदिवापि	१५२	हृदये कृतसैवलायु	२९८-

द्वितीयाननोत्प्रेक्षान्तभागस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
शंकराणहृदय प्रियतम	५९१	अस्याः सर्गविधौ	५६८	कलिन्दगिरिनन्दिनी	६५४
अथाथ परितः पूर्ण	४४४	अह लतायाः सददी	३६६	कलिन्दशैलादियमा	६५८
अष्टायमानमलिके	२५५	अहितापकरण	४७७	कलेव सूर्यादमला	२९३
अङ्कितान्यक्षस	१७२	अहीनचन्द्रा लसता	५३५	कस्त्रिकातिलक	५२५
अङ्कितान्यक्षसधा	५१८	आज्ञा सुमेधोरवि	५७४	कस्मे हन्त फलाय	११०
अङ्कितान्यक्षसधा	७०६	आमनोऽस्य तपो	४९७	काचित्काञ्चनगौरा	५७५
अतिमात्रवलेपु	४११	आनन्दनेन लोकाना	२२३	कातराः परदुःखेषु	६१५
अत्युच्चाः परितः	४२७	आनन्दसृगादावा	४९४	कान्त्या चन्द्र विदुः	६०९
अत्रानुरोद मृगया	४३१	आलिङ्गितो जलधि	२६४	कारुण्यकुसुमाकाशः	४९४
अथ पवित्रमतामुपे	५४४	आलोक्य सुन्दरि	६०७	काव्य सुधा रस	४८२
अथ या मम गौविन्द	३९६	आहादिनी नयनयो	२२२	कुङ्कुमद्रवलिताङ्ग	४९९
अद्वितीयं ह्यारामानं	२८४	इत एव निजालय	४२५	कुचकलशोभवला	२३५
अधर विन्वमाज्ञाय	६०४	इद लताभि स्तवका	४३८	कुलिशमिव कठिन	३६१
अधिरोप्य हरस्य	५५८	इदमप्रतिमं पश्य	४४०	कृतसुद्राघौघानय	३८४
अनन्तरत्नप्रभवस्य	४१७	इदमुदधेरुदरं वा	५८५	कृतं त्वयोक्तं कृत्य	१२०
अनल्पनाम्नूतद	६३५	इन्दुना परसौन्दर्यं	५५४	कृपया सुधया सिद्ध	५०३
अनल्पताया कृत	६२२	इत्यति प्रपञ्चविषये	३८५	कृष्णपत्राधिकरुधि	८५
अपारे ससारे विषम	५३३	उदित मण्डलमि	१०८	कैशोरे वयसि क्रमेण	५१०
अपि तुरगसमीपा	४२६	उन्मेष यो मम	६७६	कोपेऽपि वदन तन्वि	२२९
अवलानां भ्रिय ह्यत्रा	३२	उपकारमस्य साधो	४१०	कौमलातपशोणाभ्र	२०१
अभिरामतासदन	३६३	उपकारमेव कुरते	४१२	कौमुदीव भवती	३५९
अमितगुणोऽपि	४१०	उपरि करवाल	६१८	कच्चिदपि कार्ये मृदुलं	४४४
अमृतद्रवमाधुरी	२५७	उल्लास कुल्लपङ्के	५२१	खल कापट्यदोषेण	२७२
अम्बरसम्बर	३८८	शत्रुराज अमरहित	४४५	गगनाङ्कितो गभस्ति	५८८
अग्न्या शोतेऽत्र नृद्धा	५७७	एकीभद्रप्रलय	४२२	गगने चन्द्रिकापन्ते	६१८
अम्भोजिनीवानधव	६५२	एतावति प्रपञ्चे सुन्दर	३९०	गङ्गा हृद्या यथा	३८७
अय सज्जनकार्पास	४९५	एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन्	३८९	गन्धेन सिन्धुर	३९१
अर्थिनो दानुमेवेति	६९२	एतावति महीपाल	३४८	गात्रमीर्येणातिमात्रेण	३७७
अर्थिभिश्चिद्यमानां	४१६	कन्दर्पद्विपकर्णकम्बु	४५४	गाहितमखिल विपिन	२३६
अलिभृङ्गो वा	५८६	कनकद्रव्यगन्धि	५९४	गोष्पतिरप्याद्विरसो	१३१
अविचित्रयज्ञाङ्कि	५१२	कपाले मार्जारः पय	६०९	गुञ्जन्ति मञ्जु परितो	९३
अविरतचिन्तो लोकै	३६२	कमलति वदन	२९५	गुरुजनभयमद्विष्टो	२०७
अविरतपरोपकरण	२५४	कमलावास्तकासार	४७९	ग्रीष्मचण्डकरमण्डल	२२०
अविरलविगल	३०७	करतलनिर्गलद्	७०	घण्टा जलदाच्युना	५६४
अविरलविगल	५२५	कलाधरस्येव कला	२२७	चराचरोभयाकार	४३१

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
चलद्भ्रमिवान्भोज	२६३	न नगाः कानन	६७०	मरुतमगिमेद्वित्री	५६२
चाञ्चल्ययोगि न	३३	न भनागपि राहु	१०५	मलयानिलमनली	२३१
विराद्विपहसे तापं	५५२	नरसिंह धरानाथ	५४३	महपेंग्यांसपुत्रस्य	५३४
बोलस्य यज्ञीतिपला	६७६	नरैर्वरगतिप्रदे	६०६	महीभृतां खलु शणे	२९९
जगदन्तरममृत	७१६	नवाङ्गनेवाङ्गोपि	३५५	माधुर्यपरमसीमा	७१३
जडानन्धान्पद्मप्रकृ	५१५	नासत्ययोगो वच	७११	मीनवती नयनाभ्यां	५१३
जनमोहकरं तवालि	६६९	निःसीमशोभा सौभाग्य	६६८	मुनिः श्वद्वयं माति	३४०
ज्योत्स्नाभिर्मञ्जुसिता	२९५	निखिलजगन्मह	२३४	मृगतां हरयन्मप्ये	३०१
हुँदुगन्तो हि मरीह	२२६	निखिले निगम	३६०	मृद्रीका रसिता सिता	९८
हुण्डुलन्तो मरीहसि	४०३	नितान्तरमणीयानि	६६८	यशोराणामस्य च	२४२
सदवधि कुशली	१०९	निधि लावण्यानां	६७४	यथा तवानन चन्द्र	२०८
सद्वलगुना युगपदु	३७१	निरपाय सुधापायं	२३३	यथालतायाः स्तवका	२७४
तं दृष्टवान् प्रथम	५६४	निरपादानसंभा	८६	यद्गङ्गानां सुखमयः	२५०
तया तिलोत्तमीयमया	२३८	निर्मिथ एमारहाणा	१०७	यद्यनुष्णो भवेद्द्वि	१७९
तरणितनया किं	५६३	नीलाञ्जलेन संवृत्त	३५१	यमः प्रतिमहीभृतां	६१९
तारानायकशेखराय	५३६	नीर्वी नियम्य शिधि	२८२	यशः सौरभ्यलक्षण	५२२
तिमिर हरन्ति	५२०	नृगा य सेवमानानां	२४२	यस्य तुलामधि	२२४
तीरे तरण्या वदनं	५७२	नृत्यश्वहाजिराजि	६०४	रजोभिः स्वन्दनो	३७४
तुपारास्तापसघाते	६१६	नेत्राभिरामं रामाया	५८२	शशाङ्गो शवण	३४४
त्वत्पादन खरत्वा	४५१	पद्मशाश्वः प्रभो	५१९	रमणीयस्तवकयुता	३६०
त्वत्पादन खरत्वा	४५४	परस्परसङ्गसुखा	६६५	रम्यहासा रसोक्तासा	११७
त्वत्प्रतापमहादीप	६६४	पान्य मन्दमते किंचा	५५६	रराज राजराजस्य	३४४
त्वद्दालेख्ये कौतूहल	६३७	पूर्णमसुरे रसातल	४०८	राजद्विरहज्वाला	६३
दयिते रदनम्बिषां	११४	पृष्ठा खलु परपुष्पाः	३९८	राजा हुयींधनो	३०२
दरानमाकम्बर	४२५	प्रफुल्लकहारनिभा	३४०	राजा युधिष्ठिरो	३०१
दपेणे च परिभोग	५७५	प्राचीसंप्या समुद्य	४८०	राजैव सम्भृत कोप	३४८
दशाननेन हतेन	२६५	प्राणापहरणेनासि	२२२	राज्ञो मरुतिक्लान्मे	८७
दासे कृतागसि भव	५४४	प्राणेशविरहकृन्तः	५२०	राज्याभिपेकनाशाय	६५७
दिवानिदा धारिणि	६७१	प्राप्तश्रीरेष कस्मा	५२७	रामं खिण्यतररयाम	६४४
दिश्यानामपि	४२७	वधान द्रामेव दृढिम	१२१	रामं खिण्यतररयाम	६०३
दीनवाते दयाद्रां	६१४	बहुजानां समस्ता	६६०	रामायमाण श्रीरामः	३८७
दृष्टि सम्भृतमङ्गला	७०८	घुद्धिरन्धिर्महीपाल	५३०	रूपजला चलनयना	४७२
देवाः के पूर्वदेवाः	१११	घुद्धिर्दीपकला लोके	४७५	रूपयौवनलावण्य	२५३
दोर्दण्डद्वयकुण्डली	४२०	भवघ्नीष्मश्रीढातप	४७१	रूपवत्यपि च क्रूरा	२७३
शौरभ्रमकालीभिः	६६३	मातुर प्रियंमो वाय	६११	लङ्कापुरादतितरां	३८८
दाक्षेव भुजुरं वाक्य	३४१	भामयति द्योमगता	६२४	लोहितपोतैः कुमुमै	३८०
द्विनेत्र इव वासवः	६६१	भुजत्रमितपद्मिनी	४२१	वदनकमलेन घाले	६४५
द्विर्भावः पुष्पकेतो	५३६	भुजो भगवतो माति	२०५	वदने विनियेसिता	६२९
धर्मस्यामा भाग	४७६	भुवनत्रितयेऽपिमानधै	४०१	वनितेति वदनयेतां	६०८
नखकिरणपरम्परा	३८३	भूधरा इव सत्तेभा	३०४	वराका यं राका	६६७
नगरान्तर्महीन्द्रस्य	२९७	भूमीनाथ शहाब	४०१	वागिव मधुरा	३०४
नगेभ्यो यान्तोनां	३९९	मकरप्रतिमैर्महा	२९६	वामाकल्पितवामाङ्गो	३४२
नदन्ति मददन्तिन	१०५	मनुष्य इति भूदेन	६३६	वारिधिराकाशसमो	३६२
		मयि त्वदुपमाविधौ	४०६		

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
विद्वत्त्वं विदुषां गणे	५२४	शोणाधराशुसमिष्ठा	२३६	साहंकारसुरासुरा	११२
विद्वानर्मणि वाग्भागे	५४५	श्याम सित च सुद	६२७	सिन्दूरारणवपुषो	२७१
विद्वत्सु विमलज्ञाना	६१७	श्यामलेनाद्धितं भाले	२७०	सिन्दूरैः परिष्कृत	५६५
विद्वद्वैभ्यस्तमस्त्रिमूर्ति	५८७	संकेतकालमनसं	५७७	सुधासमुद्रं तव	३७०
विभाति धर्यां ललिता	७१०	सङ्ग्रामाङ्गणसमुखा	६२१	सुधैव वाणी वसु	२२५
विमलतरमतिगभीरं	३०८	सदसद्विषेकरसिकै	४०८	सुविमलमौक्ति	४६५
वियोगवद्विकुण्ठे	६७२	सदृशी तव तन्वि	३५८	सौमित्रे ननु सेव्यता	४२५
विलसत्याननं तस्या	२००	सन्त्येवास्मिञ्जगति	४३७	स्तनान्तर्गतमाणि	७१२
वष्णुवचं स्थितो	३४३	सपहवा किं नु	५८४	स्तनाभोगे पतन्भाति	१५९
न्यागुञ्जमधुकर	६९६	सगृह्णे सौभाग्यं	५१६	स्मयमानाननाम्	६२३
द्योमाङ्गणे सरसि	४७०	सपश्यता तामति	५८३	स्मितं मैतरिकतु	६२६
प्रातकोटिकठिनचित्त	२६८	सरसि भ्रुवदाभाति	३४१	हरिचरणकमल	२२२
शरदिन्दुरिवाह्लाद	२६१	सरोजतामय सठां	३०३	हरिचरणनक्षर	६१३
शान्तिमिच्छसि चेदा	५४५	सपं ह्य शान्तमूर्ति	२७९	हालाहलकालानल	६७२
शिक्षानैर्मञ्जरीति	५९७	सविता विधवति	३७३		
शिशिरेण यथा सरो	२५८	साम्राज्यलक्ष्मीरिव	५७२		



प्रातिस्थानम्—

चौखम्बा विद्या भवन,

चौक, वाराणसी-१